ओ३म्

सत्यार्थभास्कर

महर्षि दयानन्द-विरचित
सत्यार्थप्रकाश का विस्तृत भाष्य

(प्रथम भाग)

Arshlibrary

भाष्यकार
स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

प्रकाशक
रामलाल कपूर ट्रस्ट
सोनीपत (हरियाणा)

https://t.me/arshlibrary

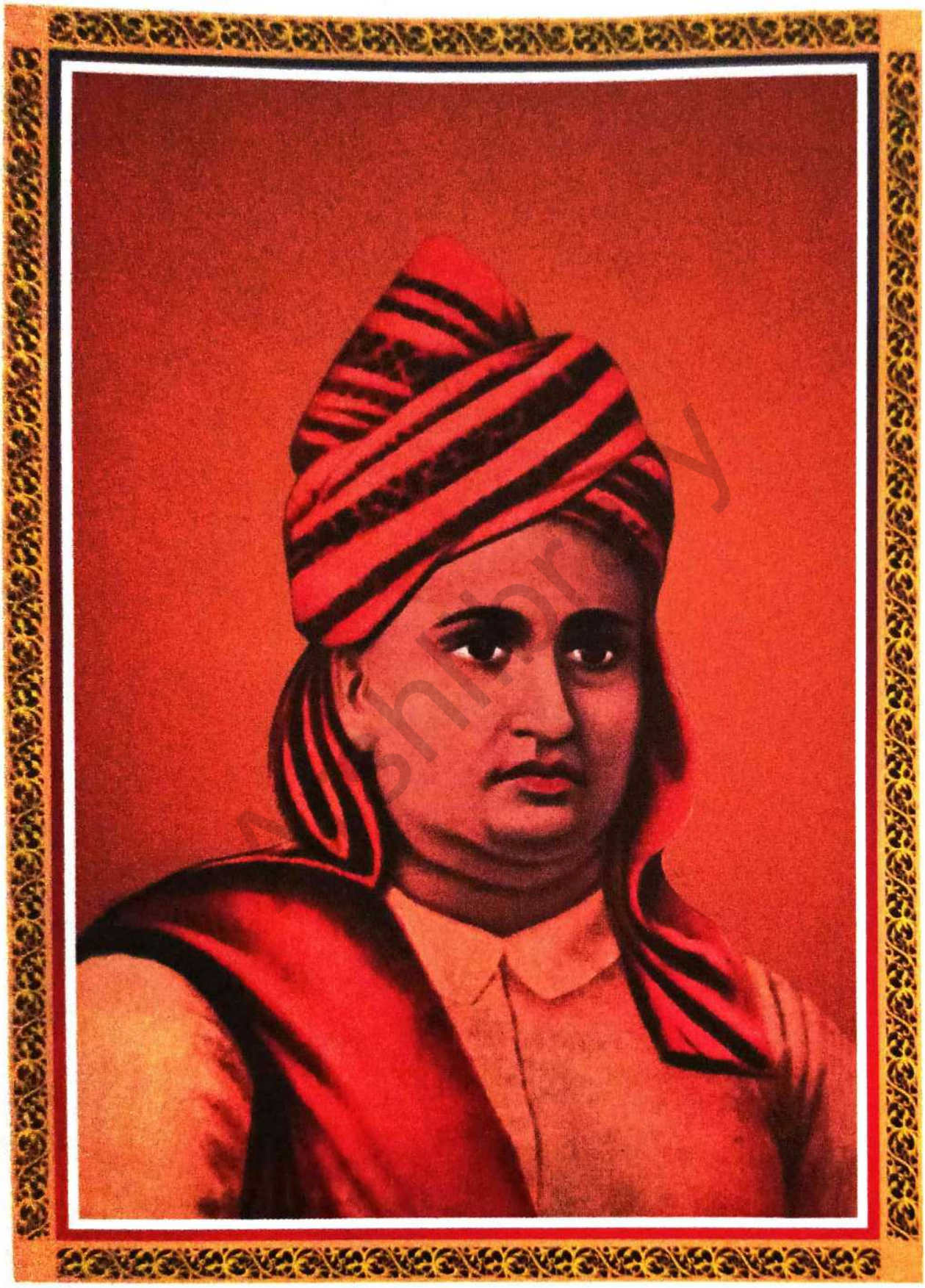

महर्षि दयानन्द सरस्वती

https://t.me/arshlibrary

प्रकाशकीय

सत्यार्थप्रकाश महर्षि दयानन्द सरस्वती की अद्‌भुत अमर रचना है। यह वैदिक सिद्धान्तों और महर्षि के मन्तव्यों का विश्वकोश है। वेद, स्मृति, दर्शन तथा अन्य विभिन्न आर्ष ग्रन्थों के प्रमाणों और ग्रन्थकार की युक्तियों से परिपूर्ण यह ग्रन्थ-रत्न वैदिक धर्मावलम्बियों के लिए प्रकाशस्तम्भ है। ऋषि दयानन्द ने वेद के अनुयायी मध्य तथा वर्त्तमान काल के विकृत मतों-सम्प्रदायों की समीक्षा के साथ-साथ अवैदिक मतों-सम्प्रदायों की समीक्षा आर्ष पद्धति से निष्पक्षभाव से प्रस्तुत की है। उनके वचनों-वाक्यों की व्याख्या और स्पष्टीकरण का प्रयास अनेक आर्य विद्वान् समय-समय पर करते रहें है। स्वामी वेदानन्द, पं० उदयवीर शास्त्री और पं० युधिष्ठिर मीमांसक ऋषि के वचनों की व्याख्या तथा स्पष्टीकरण में उल्लेखनीय योगदान कर चुके हैं। उन्हीं स्वनामधन्य विद्वानों के पदचिह्नों पर चलते हुए इस कड़ी में स्वामी विद्यानन्द सरस्वती का नाम भी जुड़ गया है।

पूर्व आश्रम में श्री लक्ष्मीदत्त दीक्षित नाम से विख्यात, डी०ए०वी० कालेज के सफल प्रिंसिपल स्वामी विद्यानन्द सरस्वती वस्तुतः सरस्वती के वरदपुत्र थे। आप आजीवन वैदिक धर्म के प्रचार प्रसार में संलग्न रहे। अनेक संस्थाओं से आप का सम्बन्ध था। अनेक वर्ष तक रामलाल कपूर ट्रस्ट के प्रधान पद को सुशोभित करते रहे। आप की लेखनी सतत प्रवाहित रही, जिससे संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी के लगभग पैंतीस उत्कृष्ट रचनाएँ निर्झरित हुईं। उनके प्रकृत ग्रन्थ सत्यार्थभास्कर में महर्षि के कथनों का विशदीकरण एवं स्पष्टीकरण किया गया है। आप ने युक्तियों और प्रमाणों से महर्षि की मान्यताओं तथा सिद्धान्तों का परिपोषण किया है। आप ने अनेक उलझी गुत्थियों को सुलझाने का स्तुत्य प्रयास किया है। आप के सभी ग्रन्थों का आर्यजनता ने सादर स्वागत किया है।

यह ग्रन्थ पहली बार स्वामी विद्यानन्द सरस्वती के अन्य ग्रन्थों के समान इण्टरनेशनल आर्यन फाउण्डेशन के द्वारा प्रकाशित किया गया था और विक्रय रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा होता था। पूर्व प्रकाशित संस्करण समाप्त हो गया है। अतः स्वामी जी ने अपने सभी ग्रन्थों को प्रकाशित करने का अधिकार रामलाल कपूर ट्रस्ट को प्रदान कर दिया था, अतः इस ग्रन्थ का पुनः प्रकाशन उक्त ट्रस्ट द्वारा किया जा रहा है। हमें पूर्ण विश्वास है कि आर्य जनता पूर्ववत् हमें अपना सहयोग प्रदान करती रहेगी।

—मन्त्री, रामलाल कपूर ट्रस्ट

दि० २०.८.२००६

रेवली, सोनीपत-१३१०३९ (हरियाणा)

https://t.me/arshlibrary

विष्य-सूची

सत्यार्थभास्कर

		पृष्ठ संख्या
१.	प्राक्कथन	६
२.	भूमिका	८५
३.	प्रथमसमुल्लास—ईश्वरनामव्याख्या	१०३
४.	द्वितीयसमुल्लास—बालशिक्षाविषय	१६८
५.	तृतीयसमुल्लास—अध्ययनाध्यापनविधि	२५३
६.	चतुर्थसमुल्लास—समावर्त्तनविवाहगृहाश्रमविधि	३८८
७.	पञ्चमसमुल्लास—वानप्रस्थसंन्यासविधि	५१८
८.	षष्ठसमुल्लास—राजधर्मविषय	५५४
९.	सप्तमसमुल्लास—ईश्वरवेदविषय	६५१
१०.	अष्टमसमुल्लास—सृष्ट्युत्पत्तिस्थितिप्रलयविषय	८१५
११.	नवमसमुल्लास—विद्याऽविद्याबन्धमोक्षविषय	६२८
१२.	दशमसमुल्लास—आचराऽनाचारभक्ष्याभक्ष्यविषय	६६६

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

प्राक्कथन

विशुद्ध वैदिक धर्म का लोप हुए सहस्रों वर्ष हो चुके थे। पौराणिक हिन्दू धर्म के रूप में उसके अवशेष यत्र-तत्र मिलते थे। जिस सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म की राम और कृष्ण उपासना करते थे, उसे छोड़कर उपासक राम और कृष्ण को उपास्य मानकर उन्हीं की धूप-नैवेद्य आदि से पूजा करने लग गये थे। गीता में कहा था— **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** (१८।६१), परन्तु भक्तजनों ने उसे अपने हृदय-मन्दिरों से निकालकर गली-कूचों में बने ईंट-पत्थरों के मन्दिरों में कैद कर दिया था। **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'** की मनमानी घोषणा करके ईश्वर और वेद के नाम पर निरीह पशुओं की हत्या करके तथाकथित भक्तजन प्रसन्न होते थे। गुण-कर्म-स्वभाव पर आश्रित प्राचीन वर्णव्यवस्था का स्थान जन्म पर आधारित दूषित जाति-प्रथा ने ले लिया था। दुधमुँहे बच्चों के विवाह कर दिये जाते थे। परिणामतः लाखों बाल-विधवाएँ अभिशप्त जीवन व्यतीत करने को विवश होती थीं। पुरोहितवर्ग पति की मृत्यु पर पत्नी को स्वर्ग का प्रलोभन देकर अथवा सामाजिक दण्ड का भय दिखाकर सती के नाम पर जीते-जी चिता पर जलने के लिए विवश करता था। ब्राह्मणवर्ग तरह-तरह के पाखण्ड रचकर जनता को लूटते थे। रोगों को भूत-प्रेत की लीला बताकर जहाँ एक ओर अपनी जेब गर्म करते थे, वहाँ दूसरी ओर रोगी को समुचित चिकित्सा के लाभ से वंचित कर मौत के मुँह में धकेल देते थे। ज्योतिष के नाम पर ठगविद्या जोरों पर थी। तीर्थस्थान व्यभिचार के अड्डे बने हुए थे। **'स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः'** का मिथ्या प्रचार करके देश की आधी आबादी को तो नियमतः शिक्षा से वंचित कर रक्खा था और कुछ साधनों के अभाव में अशिक्षित रह जाते थे। इस प्रकार भारत अनपढ़-गँवारों का देश बनकर रह गया था।

इस देश के इतिहास और संस्कृति का परिचय देनेवाली पुस्तकें राजा राममोहनराय को आधुनिक भारत के निर्माता के रूप में प्रस्तुत करती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उस युग में राजा राममोहनराय पहले व्यक्ति थे जिन्हों ने सामाजिक कुरीतियों और अन्धविश्वासों पर प्रहार करके समाज-सुधार का मार्ग प्रशस्त किया। इन्हीं के प्रयत्न से सन् १८२८ में सती-प्रथा के विरुद्ध कानून बना। उन्हीं के प्रान्त के अन्य महापुरुष ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने १८५६ में विधवा-विवाह को वैधता प्रदान करनेवाला कानून बनवाया। मूलतः राजा राममोहनराय वैदिक विचारधारा के प्रति आस्थावान् थे। उनके द्वारा संस्थापित 'ब्रह्मसमाज' का ट्रस्ट-डीड ८ जनवरी १८३० को लिखा गया था। उसके अनुसार ब्रह्मसमाज के निम्न सिद्धान्त निर्धारित किये गये थे—

१. वेद और उपनिषदों को मानना चाहिए।
२. इनमें एकेश्वरवाद का प्रतिपादन है।
३. मूर्तिपूजा वेदविरुद्ध होने से त्याज्य है।
४. बहु-विवाह, बाल-विवाह, सती-प्रथा आदि सब वेदविरुद्ध हैं, इसलिए त्याज्य हैं। मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था—

"If dolatory, as now practised by our countrymen and which the learned Brahman so zealously supports as conducive to morality, is not only universally rejected by the Shastras, but must also be looked upon with great horror by common sense, as leading directly to immorality." *(Monotheistical system of the Vedas, p. 123)*

अर्थात्—जो मूर्तिपूजा हमारे देशवासियों में आजकल प्रचलित है और जिसको विद्वान् ब्राह्मण सदाचार का साधन बतलाने में इतना उत्साह दिखाते हैं, वह न केवल सभी शास्त्रों द्वारा निषिद्ध है, प्रत्युत साधारण

https://t.me/arshlibrary

बुद्धि से भी बड़ी भयानक है, क्योंकि इससे दुराचार बढ़ता है।

इससे आगे महादेव और पार्वती की मूर्त्तियों की भीषणता के याथातथ्य चित्र का संकेत करते हुए राजा राममोहनराय का कहना है कि मूर्त्तिपूजा और पुराणों में उपलब्ध गाथाओं से जिनके आधार पर मूर्त्तिपूजा प्रचलित है, सदाचार-शिक्षा की आशा करना रेत की नींव पर दीवार बनाने जैसा है। अन्यत्र वे लिखते हैं—

"For, whenever, a Hindu purchases an idol from the market, or constructs one with his own hands, or has one made under his superintendence, it is his inveriable practice to perform certain ceremonies, called Prana-pratishtha (प्राण-प्रतिष्ठा) or the endowment of animatiom, by which be believes that its nature is changed from that the mere materials of which it is formed and that it acquires not only life but also supernatural powers. Shortly afterwords, if the idol be of the masculine gender, he marries it to a feminine one, with no less pomp and magnificence than he celebrates the nuptials of his own children. The mysterious process is now complete and the god and goddess of their own making are esteemed the arbiters of his destiny." *(English Works of Raja Ram Mohan Rai by H. C. Sarkar, 1982, p. 72)*

जब एक हिन्दू बाजार से मूर्त्ति मोल लेता है, या अपने हाथों से बनाता है, या अपने निरीक्षण में किसी से बनवाता है तो सदा उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करवाता है। इसका तात्पर्य यह है कि वह मानता है कि प्राण-प्रतिष्ठा करने से मूर्त्ति की प्रकृति बदल जाती है और उसमें न केवल प्राण ही आ जाते हैं, किन्तु उसमें देवत्व भी आ जाता है। यदि वह मूर्त्ति पुल्लिग हुई तो उसका स्त्रीलिंग मूर्त्ति से उसी प्रकार विवाह किया जाता है जैसे अपनी सन्तान का। इस रहस्यपूर्ण प्रक्रिया के पूर्ण हो जाने पर उसी के बनाये हुए ये देवी-देवता उसके भाग्य-विधाता बन जाते हैं।

मौर्यकाल के बाद पुष्यमित्र के समय में जिस धर्म का पोषण किया गया उसे इतिहास में ब्राह्मणधर्म के नाम से अभिहित किया गया। ऋषि दयानन्द ने उसे पौराणिक धर्म कहा (यहाँ हम धर्म शब्द का प्रयोग वर्तमान में उसके रूढ़ अर्थों में कर रहे हैं) यह धर्म अपनी परम्परा के अनुकूल संदा राज्य का आश्रय लेता रहा। मध्यकाल में इस वर्ग ने इस्लाम की सहायता से अपना प्रभुत्व बनाये रक्खा। इन्हीं के कारण सिन्धी भाषा देवनागरी की जगह अरबी अक्षरों में लिखी जाने लगी, क्योंकि यह वर्ग **'स्वार्थसिद्धये राज्याय नमो नमः'** अथवा **'यथा राजा तथा प्रजा'** में विश्वास रखता था। अंग्रेजों के युग में इस वर्ग ने नौकरियाँ पाने के लिए अंग्रेजी को अपनाया। भाषा के साथ उसके साहित्य का और साहित्य के साथ उसकी सभ्यता और संस्कृति का तो गहरा सम्बन्ध है ही, कालान्तर में उसकी अस्मिता भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहती।

राजा राममोहनराय प्रतिभाशाली पुरुष थे। उनके चिन्तन में मौलिकता थी। उन्होंने अनुभव किया कि यदि हिन्दूधर्म को जीवित रहना है तो उसके वर्तमान रूप को सुधारना होगा। न हिन्दू धर्म को ज्यों का त्यों चिपटाये रहने से काम चलेगा और न उसका त्याग करके ईसाइयत को अपनाने से कल्याण होगा। इसलिए उन्होंने मध्यम-मार्ग को अपनाने का प्रयास किया। धीरे-धीरे वे अपना सन्तुलन खोने लगे। अपने 'Autobiographical Sketch' में उन्होंने लिखा—

"Finding them generally more intelligent, more steady and moderate in their conduct, I gave up my prejudice against them and became inclined in their favour, feeling persuaded that their rule, though a foreign yoke, would lead more speedly and surely to the amelioration of the native inhabitants."

अर्थात् जब मुझे ज्ञात हुआ कि ये (अंग्रेज) प्रायः अधिक बुद्धिमान्, अधिक धैर्यवान् और व्यवहार में सन्तुलित होते हैं तो उनके प्रति मेरा पूर्वाग्रह जाता रहा और मैं उनके अनुकूल होता गया। मुझे विश्वास हो गया कि उनका राज, विदेशी होते हुए भी, भारतवासियों की उन्नति के लिए निश्चित रूप से उपयोगी है।

राजा राममोहनराय की हीन-भावना के द्योतक तथा अत्याचारी विदेशी शासकों की ठकुरसुहाती के

https://t.me/arshlibrary

साक्षी ये वचन ऋषि दयानन्द के निम्न वचनों की तुलना में कितने हेय हैं—

"कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है अथवा मत-मतान्तर के आग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ भी विदेशियों का राज्य पूर्ण सुखदायक नहीं है।" (स. प्र. अष्टम समुल्लास)

इससे स्पष्ट है कि राजा राममोहनराय की धार्मिक अवधारणा (ब्रह्मसमाज) विशुद्ध भारतीय न होकर ईसाइयत से प्रभावित थी। इस विषय में रोम्या रोलां (Romain Rolland) का स्पष्ट मत था कि "राजा राममोहनराय ने जहाँ से प्रारम्भ किया था वह मार्टिन लूथर द्वारा प्रवर्त्तित प्रोटेस्टेण्ट एकेश्वरवाद था। उसके सम्पूर्णरूप से ईसाइयत में विलीन होने के कारण भारतीय जनसाधारण का उसमें विश्वास नहीं रहा था" (रोम्या रोलां—रामकृष्ण परमहंस, पृ. १५५)। यही कारण था कि राममोहन ने उस अंग्रेजी शिक्षा-व्यवस्था का समर्थन किया जो मेकाले के अनुसार भारतीयों की प्रवृत्ति, सम्मति, नैतिकता एवं प्रज्ञा में अंग्रेज-ईसाई बनाने का सुनियोजित षड्यन्त्र था (पी. वी. काणे—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ५, पृ. ४१६)। स्वयं मेकाले ने लिखा था—

"We must do our best to form a class who may be interpreters between us and the millions whom we govern; a class of persons Indian in blood and colour, but English in taste, in opinions, words and intellect."

अर्थात् हमें इस देश में एक ऐसा वर्ग पैदा करने के लिए पूरा प्रयत्न करना चाहिए जो हमारे और हमारे द्वारा शासित करोड़ों भारतीयों के बीच दुभाषियों का काम कर सके। यह वर्ग हाड़-मांस और रंग से भले ही भारतीय दीखे, परन्तु आचार-विचार, रहन-सहन, बोल-चाल और दिल-दिमाग से अंग्रेज बन जाए। इस प्रयास में अंग्रेजों की सफलता का विवरण भी मेकाले के शब्दों में ही मिल जाता है। सन् १८३६ में अपने चाचा को लिखे एक पत्र में उसने लिखा था—

"No Hindu, who has received English education, ever remains sincerely attached to his religion. Some continue to profess it as a matter of policy, but many profess themselves pure theists and some embrace Christianity. It is my firm belief that if our plans of education are followed up, there will not be a single idolator among the respectable classes in Bengal thirty years hence."

अर्थात् जो भी हिन्दू अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण कर लेता है, वह अपने धर्म में सच्ची श्रद्धा और विश्वास खो बैठता है। कुछ केवल दिखावे के लिए उसे मानते रहते हैं। अधिकतर सिर्फ एकेश्वरवादी बन जाते हैं या ईसाई बन जाते हैं। मेरा पक्का और निश्चित विश्वास है कि यदि हमारी योजना पर पूरी तरह काम हुआ तो अब से तीस वर्ष के बाद बंगाल के प्रतिष्ठित घरानों में एक भी हिन्दू नहीं बचेगा।

मेकाले की शिक्षा नीति पर आधुनिक सन्दर्भ में टिप्पणी करते हुए डाक्टर राधाकृष्णन् ने लिखा है—

"The policy inaugurated by Macaulay is so careful as not to make us forget the force and vitality of Western culture, it has not helped us to love our own Culture. In some cases, Macaulay's wish is fulfilled and we have educated Indians who are 'more English than the English themselves' to quote Macaulay's own words."

आशय यह है कि मेकाले की शिक्षा नीति के अनुसार शिक्षित भारतीय स्वयं अंग्रेजों की अपेक्षा अधिक अंग्रेज हो गये हैं।

राजा राममोहनराय ने मेकाले की अंग्रेजी शिक्षा-व्यवस्था का समर्थन ही नहीं किया, अपितु सन् १८२२ में स्वयं एक अंग्रेजी स्कूल की स्थापना की। इतना ही नहीं, "सन् १८२३ में गवर्नर जनरल लार्ड एमहर्स्ट को एक पत्र लिखकर कलकत्ता बंगाल सरकार द्वारा स्थापित किये जा रहे संस्कृत कालेज को अनावश्यक तथा भारतीयों की उन्नति में बाध ी बताया" (आर. एन. सामधर—राजा राममोहनराय, पृष्ठ २४-२५)।

https://t.me/arshlibrary

केशवचन्द्र सेन—राजा राममोहनराय के पश्चात् केशवचन्द्र सेन ब्रह्मसमाज के शीर्षस्थ नेता के रूप में उभरकर सामने आये और अपनी वक्तृत्व शक्ति के कारण बंगाल में ही नहीं, देशभर में प्रसिद्धि पा गये। केशवबाबू के अपने कोई सिद्धान्त नहीं थे। हिन्दूधर्म की मान्यताओं को नकारने के कारण उनके द्वार सबके लिए खुल गये। वस्तुतः केशवबाबू पूरी तरह ईसाइयत के रंग में रंगे हुए थे और इस कारण वे ब्रह्मसमाज को ईसाई समाज का भारतीय संस्करण बनाना चाहते थे। उन्होंने अपने हृदय की भावना को ६ अप्रैल १८७६ को कलकत्ता के टाउन हाल में 'भारत पूछ रहा है—ईसा कौन है ?' नामक भाषण में इन शब्दों में व्यक्त किया था—"मेरा ईसा, मेरा मधुर ईसा, मेरे हृदय का सर्वाधिक मूल्यवान् हीरा, मेरी आत्मा का कण्ठहार जिसे मैंने बीस वर्ष तक अपने सन्तप्त हृदय में धारण किया है, इत्यादि" (सत्यकेतु विद्यालंकार—आर्यसमाज का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १६३)। फ्रांसीसी मनीषी तथा लेखक रोम्या रोलां ने लिखा है—"ईसा ने उनके अन्तस्तल को स्पर्श किया था। अब उनके जीवन का लक्ष्य ईसा को ब्रह्मसमाज में प्रतिष्ठित करना बन गया था। वे उसे संसार की धार्मिक चेतना का सर्वोच्च विचार मानते थे। क्या अब भी कोई बात उन्हें ईसाइयत से पृथक् कर सकती थी ? केशवबाबू उस समय बड़े ज़ोर से उद्‌बुद्ध हो रही राष्ट्रीय चेतना के विरुद्ध चल रहे थे" (Romain Rolland : Prophets of New India)। १० सितम्बर सन् १८६८ को केशवबाबू ने अन्तर्जातीय विवाहों को वैध करार दिये जाने के उद्देश्य से गवर्नर जनरल की कौंसिल में एक बिल प्रस्तुत कराया। १६ मार्च १८७२ को यह बिल 'Native Marriage Bill' के नाम से पास हुआ। पहले उसका नाम Brahmo Marriage Act अर्थात् ब्रह्मविवाह एक्ट रक्खा गया था। जो लोग अपने-आपको हिन्दू कहते थे वे उस बिल को अपने ऊपर लागू करना नहीं चाहते थे, उन्होंने उसका विरोध किया। इसलिए केशवबाबू की सहमति से यह स्पष्ट कर दिया गया कि—"The term 'Hindu' does not include the Brahmos who deny the authority of the Vedas." अर्थात् हिन्दू शब्द ब्राह्मों पर लागू नहीं होता, क्योंकि वे वेदों को प्रमाण नहीं मानते (सत्यकेतु—आर्यसमाज का इतिहास भाग १, पृष्ठ १६८)। यही नहीं, उन्होंने भारत पर अंग्रेजों के शासन को ईश्वरीय वरदान के रूप में स्वीकार किया था। केशवबाबू को इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण तत्कालीन वायसराय लार्ड लारेंस ने भारतीय जनता का उद्धारक कहकर अभिनन्दित किया था (वही, पृ. १६३)। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि प्रारम्भ में भारत में नवजागरण के निमित्त राजा राममोहनराय ने प्रशंसनीय कार्य किया, तथापि पाश्चात्य शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता के प्रति उनकी तथा उनके बाद केशवचन्द्र सेन की नीति ने उन्हें भारतीय जनता से दूर कर दिया।

रामकृष्ण परमहंस—उस काल के धार्मिक पुरुषों में रामकृष्ण परमहंस की उपेक्षा नहीं की जा सकती, किन्तु तत्कालीन समाज-सुधारकों में उनका कोई स्थान नहीं है। उन्हें समाज से कोई लगाव नहीं था। उनका सारा समय काली को विश्व की और अपनी माता मानकर घण्टों उसी की स्तुति, उपासना और कीर्त्तन में व्यतीत होता था। तन्त्रशक्ति से परिचय रखनेवाली एक ब्राह्मण संन्यासिनी उनकी मार्गदर्शिका थी। वस्तुतः उनकी प्रसिद्धि का श्रेय उनके प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानन्द को है। श्रीरामकृष्ण ने अपने जीवन और व्यवहार से इस बात को झुठला दिया कि मूर्त्तिपूजा ईश्वरप्राप्ति की सीढ़ी है और समाधि लगाने में सहायक ध्यान का अभ्यास करने का साधन है। श्री रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द दोनों अन्तिम श्वास तक पहली सीढ़ी पर खड़े रहे। स्वामी विवेकानन्द की जीवनी *(Vivekananda—A Biography by Swami Nikhilanand, Pub. by Advaita Ashram, Calcutta)* के लेखक ने लिखा है—

"At two muinutes past one early in the morning of August 16, 1886 Shri Ramkrishna uttered three times in a ringing voice the name of his beloved Kali and entered into Samadhi from which his mind never again returned to the physical world". (Page 66)

https://t.me/arshlibrary

अर्थात्—मृत्यु के दिन प्रात: एक बजकर दो मिनट पर श्रीरामकृष्ण ने तीन बार अपनी प्यारी काली का नाम लिया और उस समाधि में चले गये जिससे वे फिर कभी भौतिक जगत् में नहीं लौटे।

इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द की मृत्यु का वर्णन करते हुए लेखक ने लिखा है—

"On the supreme day he expressed his desire to worship Mother Kali at the Math and asked two of his disciples to procure all the necessary articles for the worship." (page 339).

अर्थात्—मृत्यु के दिन स्वामी विवेकानन्द ने मठ में स्थित काली की मूर्त्ति की पूजा करने की इच्छा व्यक्त की और दो शिष्यों को पूजा की पूरी सामग्री लाने के लिए कहा।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि गुरु (श्रीरामकृष्ण) तथा शिष्य (स्वामी विवेकानन्द) दोनों को मरते समय भी काली की ही याद आई, भगवान् की नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि हम मूर्त्तियों को ईश्वर नहीं मानते, हम उन्हें केवल मानसिक विकास का साधन मानते हैं। इस विषय में राजा राममोहनराय का कहना है—

"Hindus of the present age have not the least idea that it is the attributes of the Supreme Being as figuratively represented by shapes corresponding to the nature of those attributes, they offer adoration and worship under the denomination of gods and goddesses. On the contrary, the slightest investigation will clearly satisfy every inquirer, that it makes a material part of their system to hold as articles of faith all those particular circumstances, which are essential to the belief in the independent existence of the objects of their idolatory as deities clothed with divine power. *(English Works of Raja Ram Mohan Rai by H. C. Sarkar, page 71)*

आशय यह है कि वर्तमान युग के हिन्दुओं में किसी को यह ज्ञान नहीं कि जिन देवी-देवताओं की वे पूजा करते हैं, वे परब्रह्म के गुणों के प्रतिनिधिरूप हैं। थोड़ी-सी भी जाँच से पता चल जाएगा कि ये लोग उनकी स्वतन्त्र संज्ञा मानते हैं और ईश्वर मानकर ही उन्हें पूजते हैं।

स्वामी विवेकानन्द यह भी बताते हैं—"Idolatory is the attempt of undeveloped minds to grasp spiritual truths" (Teachings of Swami Vivekanand, P. 142) अर्थात् मूर्त्तिपूजा अविकसित मस्तिष्क-(अल्पबुद्धि)-वाले लोगों के लिए आध्यात्मिक सचाइयों को ग्रहण करने में समर्थ होने में साधनरूप है।

यदि मूर्त्तिपूजा अविकसित मस्तिष्कवाले लोगों के लिए है तो जिनकी सारी आयु मूर्त्तिपूजा में ही बीती हो और जिन्होंने मूर्त्ति की पूजा करते-करते और काली का नाम जपते-जपते प्राण त्यागे हों, उन्हें क्या कहा जाए ?

अलवरनरेश मूर्त्ति-पूजा के विरोधी थे। स्वामी विवेकानन्द के जीवनीकार लिखते हैं—

"The Maharaja of Alwar ridiculed the worship of images which to him were nothing but figures of stone, clay or metal. The Swami tried in vain to explain to him that Hindus worshipped God alone, using images as symbols. The image was helpful for concentration, especially at the beginning of his spiritual life. The Maharaja was not convinced."

अर्थात् अलवर के महाराजा मूर्त्तियों को मिट्टी, पत्थर या धातु की आकृतियों से अधिक कुछ नहीं मानते थे। स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें समझाने का भरसक, किन्तु व्यर्थ यत्न किया कि मूर्त्तियाँ मन को एकाग्र करने में सहायक होती हैं और उनकी पूजा ईश्वर के प्रतीकरूप में की जाती है, परन्तु महाराजा को विश्वास नहीं हुआ।

किसी वस्तु को अपने यथार्थ स्वरूप में देखना ज्ञानी का लक्षण है। अलवर-नरेश ज्ञानी थे, इसलिए वे पत्थर को पत्थर और मिट्टी को मिट्टी समझते थे। गारे को गारा समझना विद्या है, उसे हलवा समझना अविद्या है। हिरण निश्छल भाव से, पूर्ण श्रद्धा से बालू को जल समझता है, किन्तु उससे जल का काम नहीं ले सकता। साधन की आवश्यकता तभी तक रहती है जब तक साध्य की प्राप्ति नहीं होती और यथार्थ साधन उसी को माना जाता है जो साध्य की प्राप्ति करा दे। यदि मूर्त्तिपूजा ईश्वर-प्राप्ति में सहायक होती तो जीवनभर मूर्त्तिपूजा करनेवाले

https://t.me/arshlibrary

श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द को अन्तिम समय में ईश्वर का ध्यान होना चाहिए था, काली की पूजा का नहीं, पर ऐसा नहीं हुआ।

वस्तुतः स्वामी विवेकानन्द का मूर्त्तिपूजा के प्रति आग्रह उनके अनेक प्रकार के अन्धविश्वासों के कारण था। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—"यदि मूर्त्तिपूजा में नाना प्रकार के कुत्सित विचार भी प्रविष्ट हो गये हों तो भी मैं उसकी निन्दा नहीं करूँगा" (विवेकानन्दचरित, पृष्ठ १४६)।

मूर्त्तिपूजा की बात करते समय स्वामी विवेकानन्द विवेक को ताक पर रख देते थे, यह निम्नलिखित घटना से स्पष्ट हो जाता है—

"When Miss Noble came to India in January 1898 to work for the education of India, he gave her the name of Sister Nivedita. At first he taught her how to worship Shiva and then made the whole ceremony culminate in an offering at the feet of Buddha." *(Vivekanand--A Biography by Swami Nikhilanand, p. 260)*

शिक्षासम्बन्धी कार्य के लिए आनेवाली एक विदेशी महिला को सबसे पहले शिवजी की पूजा सिखाना और विधि पूरी हो जाने पर शिव-पूजा के विरोधी महात्मा बुद्ध के चरणों में भेंट चढ़वाना कहाँ की समझदारी है ?

श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द की आराध्या देवी के विषय में उक्त जीवनी में लिखा है—

"One day in the Kali Temple of Calcutta a western lady shuddered at the sight of blood of goats sacrificed before the Deity and exclaimed— 'Why is there so much blood before the goddess ?' Quickly the Swami (Vivekanand) retorted—'Why not a little blood to complete the picture ?" (Ibid 261)

श्रीरामकृष्ण की सम्पूर्ण साधना आत्मकेन्द्रित थी। समाज-सेवा, देशभक्ति, समाज-सुधार आदि को वे पाखण्ड मानते थे। इतना ही नहीं, देश या समाज की सेवा में प्रवृत्त लोगों की खिल्ली तक उड़ाते थे। वे मूर्त्तिपूजक तो थे ही, उससे जुड़े अन्धविश्वासों, क्रिया-कलापों, चमत्कारों आदि के प्रति भी पूर्ण आस्थावान् थे। उनका चिन्तन भावना-प्रधान था, तर्क के लिए उसमें कोई स्थान नहीं था। विवेकानन्द के फ्रैंच जीवनी-लेखक रोम्या रोलां के अनुसार रामकृष्ण एक मुसलमान से प्रभावित होकर अपने देवता को भूलकर, अल्लाह का नाम रटने लगे। उन्होंने मुसलमानी पोशाक भी पहन ली और गोमांस-भक्षण तक के लिए तैयार हो गये। (भवानीलाल भारतीय—महर्षि दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द, पृष्ठ २१६)। यह सिद्ध करने के लिए कि रामकृष्ण मिशन के माननेवाले हिन्दू नहीं हैं, उनके वकील ने कलकत्ता हाईकोर्ट में बहस करते हुए कहा था—

"During his SADHANA of Islam Ram Krishna was on the verge of eating beef. According to Dr. S. C. Chatterji, during his practice of Islam Ram Krishna often read Quran."

"The practice of Islam or SADHANA took place under the guidance of Govind Ray, a convert to Islam. When the Sadhana was completed Ram Krishna saw a luminous figure appearing before him. The luminous figure is said to be that of Mohammad. Ram Krishna used to say Namaz three to five times a day in order to make it conform to the authentic five times of Islam." —Indian Express, New Delhi, 20. 9.90.

स्वामी विवेकानन्द—यहाँ हम स्वामी विवेकानन्द के हिन्दूधर्म तथा भारत-विरोधी और इसलाम तथा ईसाइयत के पोषक कुछ विचार उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत कर रहे हैं। इन विचारों का संकलन हमने अद्वैत आश्रम कलकत्ता से प्रकाशित निम्नलिखित दो पुस्तकों में से किया है—

I. Vivekanand—A Biography by Swami Nikhilanand Sarasvati.

II. Teachings of Swami Vivekanand.

https://t.me/arshlibrary

सुविधा के लिए बार-बार पुस्तक का नाम न लिखकर हमने संकेतरूप में उपर्युक्त क्रम के अनुसार I और II लिखा है ।

स्वामी विवेकानन्द के भाषणों या लेखों में परस्पर विरोधी विचारों की भरमार है । पदे-पदे वदतोव्याघात के उदाहरण मिलते हैं । इस बात को ध्यान में रखकर 'Teachings of Swami Vivekanad' के सम्पादक ने अपनी भूमिका में लिखा है—

"Vivekanand was the last person in the world to worry about formal consistency. He almost always spoke extempore, fired by the circumstances of the moment, addressing himself to the condition of a particular group of hearers, reacting to the intent of a certain question. That was his nature—and he was supremely indifferent if his words today seemed to contradict those of yesterday."

स्वामी विवेकानन्द के विचार

1. "To the accusation from some Hindu that the Swami was eating forbidden food, he retorted—"If the people of India want me to keep strictly to Hindu diet, please tell them to send me a cook and money enough to keep him. " I, 129

   जब कुछ लोगों ने स्वामी विवेकानन्द के गोमांस खाने पर आपत्ति की तो उन्होंने कहा कि यदि भारत के लोग चाहते हैं कि मैं हिन्दुओं में निषिद्ध भोजन न करूँ तो उनसे कह दो कि मुझे एक रसोइया भेज दें ओर उसके वेतन की भी व्यवस्था कर दें ।

   किसी शाकाहारी महापुरुष ने कभी ऐसी बेहूदा माँग नहीं की ।

2. Orthodox Brahmans regarded with abhorrence the habit of eating animal food. The Swami told them about the habit of beef eating by the Brahmans in Vedic times. (I, 260)

   अर्थात् ब्राह्मण मांसाहार से घृणा करते हैं । स्वामीजी ने बताया कि वैदिक काल में ब्राह्मण लोग गोमांस खाते थे।

3. एक समय ऐसा भी था कि इसी भारत में कोई ब्राह्मण बिना मांस खाए ब्राह्मण नहीं रहता था । तुम वेद पढ़ो, तुम देखोगे, जब संन्यासी या राजा मकान में आता था, तब किस तरह और कैसे बकरों और बैलों के सिर धड़ से जुदा होते थे । (स्वामी विवेकानन्द से वार्तालाप—अनु० स्वामी ब्रह्मस्वरूपानन्द)

4. He advocated animal food for the Hindus, if they were to cope at all with the rest of the world and find a place anong the great nations. (I, 96)

   उनका कहना था कि यदि हिन्दू समस्त संसार का मुक़ाबला करना चाहते हैं और बड़े राष्ट्रों में अपना स्थान बनाना चाहते हैं तो उनके लिए मांसाहारी होना अनिवार्य है ।

5. So long as vegetable food is not made suitable for human system there is no alternative to meat eating. What we now want is an immense awakening of Rajasik shakti. So, I say, eat large quantities of flesh and meat. (II, 70)

   अर्थात् जब तक शाकाहार मानव-शरीर के लिए उपयुक्त नहीं बन जाता तब तक मांसाहार ही उसका विकल्प है । अब हमें राजस शक्ति की आवश्यकता है, इसलिए मैं कहता हूँ, खूब मांस खाओ ।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

6. एक भक्त ने पूछा, "मांस तथा मछली खाना क्या उचित और आवश्यक है।" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"खूब खाओ भाई, इससे जो पाप होगा, वह मेरा होगा।.....वैदिक तथा मनु के धर्म में मछली और मांस खाने का विधान है।....घास-पात खाकर पेट-रोग से पीड़ित बाबाजी के दल से देश भर गया है।.....अतः अब देश के लोगों को मछली-मांस खिलाकर उद्यमशील बनाना होगा।"—विवेकानन्दजी के संग में, पृ. २६७—२७०

मांसाहार के सम्बन्ध में इस प्रकार के विचार उसी के हो सकते हैं, जिसने न वेद पढ़े हैं, न मनुस्मृति, न जिसे भारतीय संस्कृति का ज्ञान है और न शरीरविज्ञान या चिकित्सा की जानकारी।

इसलाम या ईसाइयत

1. "The vast majority of perverts to Islam and Christianity are perverts by the sword or descendents of those." (II, 113)

मुसलमान-ईसाइयों में बहुत बड़ी संख्या उन हिन्दुओं की है जिनका तलवार के बल पर धर्मपरिवर्तन हुआ था।

2. "The Mohammadon rligion allows Mohammadons to kill all those who are not of their religion. It is clearly stated in the Koran-"Kill the infidles if they do not accept Islam. They must be put to fire and sword." (II, 189).

अर्थात् इसलाम उन लोगों को क़त्ल करने की आज्ञा देता है जो उनके धर्म के माननेवाले नहीं हैं। क़ुरान में स्पष्ट लिखा है—"काफिरों को मार डालो अगर वे इसलाम को स्वीकार न करें। या तो उन्हें तलवार के घाट उतार देना चाहिए या आग में झोंक देना चाहिए।

3. "The Mohammadons came upon the people of India always slaughtering and killing. Slaughtering and killing, they over-ran them." (II, 151)

वस्तुतः इसलाम के ख़लीफा एक हाथ में क़ुरान और दूसरे हाथ में तलवार लेकर यही कहते थे—"या तो इसलाम स्वीकार करो या मौत को अपनाओ।"

इतना सब होने पर भी स्वामीजी कहते हैं—

1. "It is the followers of Islam and Islam alone who look upon and behave towards all mankinds as their own soul." (I, 254)

केवल इसलाम के अनुयायी ही ऐसे लोग हैं जो मनुष्यमात्र को अपनी आत्मा के समान मानते और वैसा ही व्यवहार करते हैं।

2. "Without the help of Islam the theories of Vedant, however fine and wonderful they may be, are entirely valueless." (I, 255).

वेदान्त के सिद्धान्त कितने ही अच्छे और विलक्षण क्यों न हों, इसलाम की सहायता के बिना किसी काम के नहीं।

3. "The spirit of democracy and equality in Islam appealed to Narendras' (Vivekanand's) mind and he wanted to create a new India with Vedantic brain and Islamic body." (I,79)

इसलाम में लोकतंत्र तथा समानता की भावना से नरेन्द्र (विवेकानन्द) प्रभावित थे और वे एक नया भारत बनाना चाहते थे जिसका शरीर इसलाम का हो और मस्तिष्क वेदान्त का।

4. एक ओर वे इसलाम के थोथे भ्रातृभाव और उसकी तथाकथित सार्वभौमता की आलोचना करते हुए कहते हैं—"मुसलमान सार्वजनिक भ्रातृभाव का शोर मचाते हैं, किन्तु वास्तविक भ्रातृभाव से कितनी दूर

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

हैं ? जो मुसलमान नहीं हैं वे भ्रातृसंघ में शामिल नहीं हो सकते । उनके गले काटे जाने की ही अधिक संभावना है ।" (धर्मरहस्य, पृष्ठ ४३) । दूसरी ओर वे कहते हैं—

"For our own motherland a junction of the two great religious systems-Hinduism and Islam-is the only hope." (I, 255, II, 218)

हमारी मातृभूमि के लिए संसार के दो महान् धर्मों का मेल ही कल्याणकारी हो सकता है ।

5. फिर एक जगह वे कह देते हैं—"I want to lead mankind to the place where there is neither Veda, nor the Bible, nor the Koran." (I,255) मैं संसार के लोगों को वहाँ ले जाना चाहता हूँ, जहाँ न वेद हों, न बाइबल और न कुरान ।

देश प्रेम

1. "There are people whose brains have become turned by western luxurious ideals and who have drunk deep of enjoyment, this curse of the west." (II, 159) ऐसे लोग भी हैं जिनके दिमाग पश्चिम के भोगवादी आदर्शों से दूषित हैं और जो पश्चिम के इस भोगवाद में आकण्ठ डूब गये हैं । फिर भी—

2. On April 1897 the Swami, in the course of a letter to the lady editor of an Indian magazine, had written—"It has ever been my conviction that we shall not be able to rise unless the western countries come to our help," (I, 255)

अर्थात् मेरा सदा से यह विश्वास रहा है कि पश्चिम की सहायता के बिना हम उन्नति नहीं कर सकते ।

3. "When his spiritual daughter, M.E. Noble, expressed her desire to come to India, the Swami wrote on July 29, 1897—"India cannot produce great women. She must borrow them from other nations. Your education, sincerity and above all your celtic blood make you just the women wanted." (I, 259)

जब उनकी आध्यात्मिक पुत्री एम.ई. नोबल ने अपनी भारत आने की इच्छा व्यक्त की तो उत्तर में स्वामीजी ने २६ जुलाई १८६७ में लिखा—"भारत में महान् स्त्रियाँ पैदा नहीं हो सकतीं, भारत को ऐसी स्त्रियाँ दूसरे देशों से मंगानी पड़ेंगी । अपनी शिक्षा, निष्ठा और सबसे अधिक अपने केल्टिक रक्त के कारण आप बिल्कुल ऐसी स्त्री हैं, जैसी भारत को चाहिए ।

"They (women of America) are Lakshmi (the Goddess of Fortune) in beauty, and like Saraswati (Goddess of learning) in virtue—they are the Divine Mother incarnate and by worshipping them one verily attains perfection in everything. I am really struck with wonder to see the women here. Most wonderful women these." (II, 136)

जिस देश ने शास्त्रार्थ-समर में विश्वविजयी जगद्गुरु शंकराचार्य को पराजित करनेवाली भारती देवी को, जनक की सभा में महर्षि याज्ञवल्क्य को शास्त्रार्थ की चुनौती देनेवाली वाचक्नवी गार्गी को, कालिदास के समकालीन देशभर के पण्डितों को धूल चटानेवाली महारानी दुर्गावती और झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई को, राष्ट्र की रक्षार्थ अपने इकलौते पुत्र का बलिदान करनेवाली पन्ना धाय को, सद्योविवाहिता अनुपम सुन्दरी पत्नी के मोह में पति चूड़ावत को ग्रस्त देखकर अपने हाथों से अपना सिर काटकर युद्ध क्षेत्र में बिदा करनेवाली हाड़ा रानी को, अपने सतीत्व की रक्षार्थ जलती चिता में तथा कुएँ में कूदकर प्राण देनेवाली पद्मिनी जैसी वीरांगनाओं को और लीलावती जैसी वैज्ञानिकों को जन्म दिया हो उसके विषय में विवेकानन्द के भारतविरोधी कथन को पढ़कर यही कहना पड़ता है कि—

https://t.me/arshlibrary

घर से वैर अपर से नाता । ऐसी बहू मत देहु विधाता ॥

4. "I belong to the world as much as to India. No country has a special claim on me. Am I India's slave ?" मैं जितना भारत का हूँ उतना ही संसार का । मैं भारत का गुलाम नहीं हूँ ।

५. ब्रिटिश सरकार की प्रसन्नता को दृष्टि में रखते हुए ही उन्होंने अपने सहयोगियों को निर्देश दिया था कि "भाषण तैयार करते समय ऐसे मुद्दों पर खास ध्यान दिया जाए जिनसे रानी (विक्टोरिया) के प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकट हो ।" (महर्षि दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द० पृ० ३००)

६. उन्हें भारत की अपेक्षा अमरीका में रहना अधिक पसन्द था । उनकी स्पष्टोक्ति थी कि "यहाँ मुझे खाने-पीने और कपड़े-लत्ते की सभी सुविधाएँ उपलब्ध हैं । फिर मैं कृतघ्नियों तथा बुद्धिहीनों के देश में क्यों लौटूँ ?" (वही ३०६)

७. "अंग्रेजी राज का गुणगान करने के कारण ही विवेकानन्द को सर्वप्रथम अंग्रेजों ने ही उठाने का प्रयास किया । उन्हें यह उनकी राजभक्ति का पुरस्कार था ।" (बी. बी. मजूमदार—हिस्ट्री ऑफ सोशल एण्ड पोलिटिकल आइडियाज, पृष्ठ २६७)

मैक्समूलर

मैक्समूलर ही वह व्यक्ति था जिसने लार्ड मेकाले से प्रेरणा पाकर घोषणापूर्वक भारतीय साहित्य को जानबूझकर विकृत रूप में प्रस्तुत किया । उसी के लगाए विषवृक्ष के फलों का यह परिणाम है कि आज का शिक्षित समाज अपने साहित्य, समाज, सभ्यता, संस्कृति और इतिहास को हेय दृष्टि से देखता है । स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में मैक्समूलर से बढ़कर देशभक्त हमारे देश में नहीं हुआ । उनके जीवनीकार ने लिखा है—

"The Swami was deeply affected to see Maxmuller's love for India. He wrote enthusiastically—"I wish I had a hundredth part of that love for my motherland. Endowed with an extra-ordinary and, at the same time, an intensely active mind, he has lived and moved in the world of Indian thought for fifty years or more." (I, 192)

मैक्समूलर के वैदुष्य का बखान करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने यहाँ तक कह डाला—"कभी-कभी मुझे ऐसा अनुमान होता है कि स्वयं सायणाचार्य ने अपने ही भाष्य का पुनरुद्धार करने के लिए मैक्समूलर के रूप में जन्म लिया है ।" (विवेकानन्द के संग में, पृ. ६१) |

स्वामी विवेकानन्द के मैक्समूलर की प्रशंसा में युक्ति और तर्क की सीमा को लांघ जाने का कारण यह था कि उसने स्वामीजी के गुरु रामकृष्ण परमहंस की जीवनी और उपदेशों पर एक बड़ा सुन्दर ग्रन्थ लिखा था—"Ramkrishna : His Life and Say.ngs."

Maxmuller invited Vivekanand to lunch with him in Oxford on May 28, 1896. The swami asked Maxmuller—"When are you coming to India ? All men there would welcome one who has done so much to place the thought of their ancestors in a true light." (I, 193)

मैक्समूलर ने स्वामी विवेकानन्द को २८ मई १८६६ को भोजन पर बुलाया । वहाँ स्वामी विवेकानन्द ने मैक्समूलर से पूछा—"आप भारत कब आ रहे हैं ? वहाँ के लोग उस व्यक्ति का स्वागत करेंगे जिसने उनके पूर्वजों के विचारों को उनके सही रूप में प्रस्तुत करने में इतना परिश्रम किया है ।"

वस्तुतः यदि स्वामी विवेका नन्द ने मैक्समूलर के ग्रन्थों को और उसके जीवनवृत्त को पढ़ा होता तो कभी इस प्रकार की बात कहने का दुस्साहस न करते । इस विषय में हम आगे यथास्थान विस्तारपूर्वक

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

विचार करेंगे। उसे पढ़ने पर पता चलेगा कि मैक्समूलर ने जो कुछ किया उसका उद्देश्य हिन्दुओं को ईसाई बनाकर भारत की दासता की जंजीरों को सुदृढ़ करना था। मैक्समूलर की स्तुति करके स्वामी विवेकानन्द ने जाने-अनजाने अपने को इस पाप में भागीदार बनाया।

श्रीरामकृष्ण ईश्वरावतार

1. "Bhagwan Shri Ramkrishna incarnated himself in India."

भगवान् श्रीरामकृष्ण ने भारत में अवतार लिया।

2. Two days before the death of R.K., Narendra was standing by the Master's bedside when a strange thought flashed into his mind. Was the Master truly an incarnation of God ? He said to himself that he would accept Shri R.K.'s divinity if the Master declared himself to be an incarnation. He stood looking intently at the Master's face. Slowly Shri R.K.'s lips parted and he said in a clear voice—"O my Narendra ! Are you still not convinced ? He who in the past was born as Rama and Krishna, is now in this body as R.K." Thus R.K. put himself in the category of Rama and Krishna who are recognised by the Hindus as Avatars or incarnations of God." (I, 66-67)

इस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने स्वयं अपने को राम और कृष्ण के समान ईश्वर का अवतार होने की घोषणा की।

3. Krishna was the greatest of all incarnations of God. (II, 174)

4. On April 4, 1896 he wrote to India that R.K. was God. If people worship him as God, no harm.

5. If I had written about R.K. I would have proved, quoting from scriptures and even the holy books of Christians that R.K. was the greatest of all the prophets in the world. (I, 193)

6. Of Buddha he said that he was the greatest man that ever lived. (I, 269)

7. The omnipresent God of the universe cannot be seen, until he is reflected by the prophets, the incarnations, the embodiment of God. (II, 145-46)

8. On August 2, 1896 Swami Vivekanand entered the cave of Amarnath. He had a vision of Shiva himself. The details of the experience he told, except that he had been granted the grace of Amarnath not to die until he himself willed it. For days he spoke of nothing but Shiva. He said—"The image was the Lord himself." (I, 271)

चंगेज़खाँ ईश्वरावतार

One day he spoke of Genghis Khan and declared that he was not a vulgar oppressor. He compared him to Napoleon and alexander, saying that they all wanted to unify the world and it was the same soul that had incarnated itself three times in the hope of bringing about human unity through political conquest. In the same way one soul might have come again and again as Krishna, Buddha and Christ to bring about unity of mankind through religion. (I, 266-67)

अर्थात्—एक दिन स्वामीजी ने चंगेजखां के विषय में कहा कि वह कोई आतंकवादी या अत्याचारी नहीं था। उसकी तुलना नेपोलियन और सिकन्दर से करते हुए उन्होंने कहा कि ये सब संसार को एक करना चाहते थे। एक ही आत्मा ने राजनीतिक विजय के द्वारा मनुष्यमात्र को एकता के सूत्र में बाँधने की

https://t.me/arshlibrary

आशा में तीन बार अवतार धारण किया। इसी प्रकार एक ही परमात्मा धर्म के द्वारा संसार में एकता स्थापित करने के लिए बार-बार कृष्ण, बुद्ध और ईसा के रूप में आया होगा ?

इस पर किसी प्रकार की टिप्पणी की अपेक्षा नहीं, सिवा इसके कि बहुरूपिया बनकर भी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर संसार में एकता स्थापित नहीं कर सका—इस संसार में जो (स्वामी विवेकानन्द के अनुसार) इसका अपना ही रूप था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी विवेकानन्द के विचार न तर्कप्रतिष्ठित हैं और न उनमें कोई संगति या सामंजस्य है, न उनमें हिन्दुत्व के प्रति कोई निष्ठा है, न भारतीयता के प्रति आग्रह। जैसे उनके गुरु आत्मकेन्द्रित थे, वैसे विवेकानन्द गुरु-केन्द्रित थे। इसी का यह परिणाम हुआ कि उनके द्वारा संस्थापित रामकृष्ण मिशन सन् १९८६ में कलकत्ता हाईकोर्ट से यह निर्णय कराने में सफल हो गया कि उन्हें हिन्दू न माना जाए। उनका तर्क है कि "हिन्दू वह होता है जो वेदों को मानता है। हम वेदों को नहीं मानते, हमारे लिए वेद, बाइबल, कुरान आदि सब समान हैं, इसलिए हम हिन्दू नहीं हैं।"

सर सैयद अहमद खाँ—पंजाब के हिन्दुओं के समक्ष बोलते हुए सर सैयद ने कहा था—"The word 'Hindu' that you have used for yourselves is, in my opinion, not correct because that is not in my view the name of a religion. Rather, every inhabitant of Hindustan can call himself a Hindu. I am, therefore sorry that you do not regard me as a Hindu, though I too am an inhabitant of Hindustan."

अर्थात् आपने अपने लिए 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग ठीक नहीं किया है। हिन्दू शब्द किसी सम्प्रदाय या धर्म का वाचक नहीं है। हिन्दुस्तान में रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति अपने को हिन्दू कह सकता है। मुझे दुःख है कि आप लोग मुझे हिन्दू नहीं मानते, यद्यपि मैं हिन्दुस्तान का रहनेवाला हूँ।

आज कौन विश्वास करेगा कि उपर्युक्त शब्द कभी, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के संस्थापक सर सैयद अहमद खाँ के मुँह से निकले थे। कुछ ही दिन बाद इन्हीं सर सैयद अहमद खाँ ने लिखा—"I object to every Congress, in every shape or form, whatsoever, which regards India as one nation." अर्थात् मैं किसी भी रूप में हिन्दुस्तान को एक राष्ट्र मानने के लिए तैयार नहीं हूँ। इन शब्दों से स्पष्ट है कि १९४७ में भारत-विभाजन के लिए जिम्मेदार द्विराष्ट्र (Two nation theory) के प्रवर्त्तक सर सैयद अहमद खाँ थे, न कि मुहम्मद अली जिन्नाह। अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटीरूपी विषवृक्ष का बीजारोपण मुहम्मडन ऐंग्लो ओरियण्टल (M.A.O. College) के रूप में १८७५ में सर सैयद अहमद खाँ द्वारा हुआ था।

सन् १८८३ में बैक (Beck) नामक एक अंग्रेज की नियुक्ति इस कालेज में प्रिंसिपल के पद पर हुई। १८९९ तक यह व्यक्ति अपने पद पर बना रहा। इन १६ वर्षों में सर सैयद अहमद खाँ और उनका कालेज पूरी तरह मि० बैक के प्रभाव में रहे। परिणामतः वे दोनों राष्ट्रविरोधी गतिविधियों का केन्द्र बन गये। इंगलैंड से भारत रवाना होने से पूर्व इन्हीं मि० बैक ने वहाँ एक भाषण दिया था। अपने भाषण में भारत के लिए प्रस्तावित संसदीय पद्धति का विरोध करते हुए मि० बैक ने कहा था कि इस प्रणाली के लागू हो जने पर—

"The Muslims will be under the majority opinion of the Hindus, a thing which will be highly resisted by the Muslims and which, I am sure, they will not accept quietly."

इस प्रकार मुसलमानों को हिन्दुओं के विरुद्ध भड़काकर, हिन्दुओं और मुसलमानों को आपस में लड़ाने के इरादे से इस देश की धरती पर क़दम रक्खा और जब तक वह यहाँ रहा, इस दिशा में प्रयत्न करता रहा। सन् १८८५ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई। इसके तीन वर्ष बाद सन् १८८८ में मि० बैक के परामर्श और सहयोग से सर सैयद ने Patriotic Association की स्थापना की, जिसका उद्देश्य

https://t.me/arshlibrary

ब्रिटिश पार्लमेंट को यह विश्वास दिलाना था कि भारत के मुसलमान स्वराज्य के लिए किये जा रहे आन्दोलन में हिन्दुओं के साथ नहीं हैं।

सन् १८६५ में मि० बैक ने इंगलैंड में एक भाषण दिया जिसका सार-संक्षेप अलीगढ़ कालेज के मैगज़ीन में इन शब्दो में छपा था—

"A friendship between the English people and Muslims was possible but not between the Muslims and followers of other religions."

अर्थात् अंग्रेजों के साथ तो मुसलमानों का मेल हो सकता है, किन्तु किसी अन्य मत वाले के साथ नहीं। इस प्रकार की भावना के रहते साम्प्रदायिक सद्भावना तथा देशभक्ति का विचार भी मुसलमानों के भीतर कैसे ठहर सकता था ?

सन् १८६८ में सर सैयद के और १८६६ में बैक की मृत्यु के बाद बेक के उत्तराधिकारी थियोडोर मौरिसन ने बेक का काम जारी रखा। वह मुसलमान विद्यार्थियों को बराबर भड़काता रहता था कि भारत में लोकतंत्र का अर्थ होगा—अल्पसंख्यक मुसलमानों को लकड़हारे, घसियारे और पानी भरनेवाले झींवर बना देना।

मौरिसन के बाद कालेज के प्रिंसिपल के पद पर आर्चिबाल्ड नामक अंग्रेज की नियुक्ति हुई। उन दिनों बंग-विभाजन के कारण लोगों में भारी उत्तेजना थी। उसे शान्त करने के लिए अंग्रेज सरकार शासन में कुछ सुधार करना चाहती थी। जैसे ही इस बात की भनक आर्चिबाल्ड को पड़ी, वह तत्काल शिमला पहुँचा और वायसराय लार्ड मिंटो से साम्प्रदायिक आधार पर मुसलमानों के प्रतिनिधित्व की मांग की। इसी निमित्त १ अक्तूबर १९०६ को एक शिष्ट मण्डल सर आगाखाँ के नेतृत्व में भेजा गया। ब्रिटिश सरकार तो 'फूट डालो और राज्य करो'(Divide and rule) के अनुसार इसके लिए पहले से तैयार बैठी थी। उसी दिन शाम को वायसराय की पत्नी लेडी मिण्टो के नाम भेजे गये पत्र में एक अधिकारी ने लिखा था—

A big thing has happened today. A work of statesmenship that will affect India and Indian history for a long time. It is nothing less than the pulling out of 63 million people from joining the ranks of sedicious opposition."

इस प्रकार ६ करोड़ मुसलमानों को राष्ट्र की मुख्य धारा से काटकर हिन्दू और हिन्दुस्तान दोनों का कट्टर विरोधी बना दिया। अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी में शिक्षित व दीक्षित मुसलमानों ने १९२० के बाद जो कुछ किया, उसी के परिणामस्वरूप १९४७ में भारत का बंटवारा हुआ।

यह थे आधुनिक भारत के निर्माताओं और समाज-सुधारकों में अग्रणी माने जानेवाले सर सैयद अहमद खाँ।

अंग्रेज कृतघ्न नहीं निकला। मार्च १९४७ में वायसराय बनकर भारत आने से पूर्व लार्ड माउण्टबेटन भारत की स्वतन्त्रता के कट्टर विरोधी चर्चिल से मिलने गये। इंगलैंड की सहायता करने के लिए मुसलमानों का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हुए चर्चिल ने माउण्टबेटन से कहा—

"I am not going to tell you how to do it. But I will tell you one thing-whatever arrangements you make you must see that you don't harm a hair on the head of a single Muslim. They are the people who have been our friends and they are the people Hindus are now going to oppress. So you must take steps that they can't do it." (Indian Express Magazine, April 4, 1982)

लार्ड माउण्टबेटन ने चर्चिल को दिये वचन को पूरी तरह निभाया और भारत का बंटवारा इस प्रकार किया कि मुसलमानों को भारतभूमि का एक भाग काटकर पाकिस्तान के रूप में एक स्वतन्त्र देश मिल गया

Arshlibrary
https://t.me/arshlibrary

और शेष भारत पर उनका अधिकार ज्यों-का-त्यों बना रह गया। यही कारण है कि भारत में हिन्दू-मुस्लिम समस्या आज भी वैसी ही बनी हुई है जैसी १९४७ से पहले थी।

ईसाइयत का आक्रमण—सन् १८५७ तक भारत पर अंग्रेजों का शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के माध्यम से था। कम्पनी के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स के चेयरमैन मि० मेंगल्स ने ब्रिटिश पार्लमेंट में अपने वक्तव्य में कहा था—

"Providence has entrusted the entensive empire of Hindustan to England in order that the banner of Christ should wave triumphant from one end of India to the other. Everyone must exert all his strength that there will be no dilatoriness on any account in continuing in the country the grand work of making all Indians Christions."

विधाता ने हिन्दुस्तान का विशाल साम्राज्य इंगलैंड के हाथों में इसलिए सौंपा है कि ईसामसीह का झण्डा इस देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक फहरा सके। प्रत्येक ईसाई का कर्त्तव्य है कि समस्त भारतीयों को अविलम्ब ईसाई बनाने के महान् कार्य में पूरी शक्ति के साथ जुट जाए।

भारतीय स्वाधीनता के प्रथम युद्ध (Mutiny ?) की समाप्ति के दो वर्ष बाद इंगलैंड के तत्कालीन प्रधानमन्त्री लार्ड पामर्स्टन ने घोषणा की—

"It is not only our duty but in our own interest to promote the diffusion of Christianity as far as possible throughout the length and breadth of India." (Christianity and Government of India by Mayhew, page 194)

अर्थात् यह हमारा कर्त्तव्य ही नहीं, अपितु हमारा हित इसी में है कि भारत में ईसाइयत का अधिक-से-अधिक प्रसार हो।

बम्बई के गवर्नर लार्ड री ने सन् १८७६ में ईसाई मिशनरियों के शिष्टमण्डल को प्रिंस ऑफ वेल्स के सामने प्रस्तुत करते हुए कहा था—

"They are doing in India more than all those civilians, soldiers, judges and governors your highness has met."

जितना काम आपके सिपाही, जज, गवर्नर और दूसरे अफसर कर रहे हैं, उससे कहीं अधिक ये (मिशनरी) कर रहे हैं।

विदेशी शासन और ईसाइयत का चोली-दामन का साथ रहा है। हमारी दासता की बेड़ियों को सुदृढ़ करने में ईसाइयों ने अंग्रेजों के कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर काम किया है। आक्रान्ता के रूप में जाने से पहले ईसाई मिशनरी भेजे जाते थे। मिशनरियों द्वारा मैदान तैयार होने के बाद सेनाएँ उतरती थीं। सैनिक शक्ति के सहारे शासन जम जाने पर सरकार की ओर से देश के ईसाईकरण में हर प्रकार का सहयोग मिलता था। महात्मा गांधी जैसे असाम्प्रदायिक व्यक्ति को भी स्वाकीर करना पड़ा कि ईसाइयों द्वारा किये जा रहे सेवाकार्यों का वास्तविक उद्देश्य असहाय लोगों की विवशता का लाभ उठाकर उन्हें ईसाई बनाना है। आज भी केरल, नागालैण्ड, मिजोरम, असम आदि में जहाँ-जहाँ ईसाइयों का जोर है, वहाँ-वहाँ राष्ट्रविरोधी गतिविधियाँ जोरों पर हैं।

मुसलमान आक्रान्ता के रूप में इस देश में आये और लगभग सात सौ वर्ष तक उन्होंने शासन भी किया। यह ठीक है कि भारत के मुसलमानों में प्रायः सभी इस देश के रहनेवाले हैं, किन्तु उन्होंने स्वयं कभी भी इस देश पर शासन नहीं किया। यहाँ शासन करनेवाले—गुलाम, तुगलक, खिलजी, लोधी, मुगल आदि—सभी विदेशी थे। तथापि उनके विदेशी होने के कारण इस देश के मुसलमानों ने कभी उनका विरोध

https://t.me/arshlibrary

नहीं किया। इतिहास इस बात का साक्षी है कि मुसलमानों की यह मनोवृत्ति आज भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। सच तो यह है कि कट्टर-से-कट्टर देश-भक्त भी कलमा पढ़ते ही देशद्रोही बन जाता है। बड़े-से-बड़े राष्ट्रवादी (?) मुसलमान के हृदय में भी जो आदर विदेशी आक्रान्ता महमूद गज़नवी, मुहम्मद गौरी या बाबर के लिए है, वह महाराणा प्रताप, शिवाजी, राम या कृष्ण के लिए नहीं है।

सन् १६०१ में जनसंख्या के अध्यक्ष (Census Commissioner) मिस्टर बर्न (Bern) ने ठीक ही लिखा था—

"Dayanand feared Islam and Christianity because he considered that the adoption and adaptation of any foreign creed would endanger the national feelings he wished to foster."

ऋषि दयानन्द को आशंका थी कि इसलाम और ईसाइयत जैसे विदेशी मतों को अपनाने से देशवासियों की राष्ट्रिय भावनाओं को, जिन्हें वह जाग्रत् करना चाहते थे, ठेस पहुँचेगी।

१६११ की जनसंख्या के अध्यक्ष मिस्टर ब्लण्ट ने लिखा था—

"The Arya Samaj doctrine and Arya Education alike sing the glories of ancient India and by so doing arouse a feeling of national pride in its disciples who are made to feel that their country's history is not a tale of humiliation." (Census Report of 1911, Vol. XV, Part I, Chap. IV, page 135)

अर्थात् आर्यसमाज के सिद्धान्त और शिक्षा दोनों समानरूप से भारत के प्राचीन गौरव के गीत गाते हैं और ऐसा करके अपने अनुयायियों में राष्ट्र के प्रति अभिमान जगाते हैं। इस कारण वे समझते हैं कि हमारे देश का इतिहास पराभव की कहानी नहीं है।

भारत की अस्मिता पर प्रहार

इसकी विरोधी भावना से भारतीयों को ग्रस्त करने के लिए अंग्रेजों का अभियान जारी था। लार्ड मेकाले ने अपने मित्र मिस्टर राउस को लिखा था—"अब केवल नाममात्र नहीं, हमें सचमुच नबाब बनना है और वह भी कोई पर्दा रखकर नहीं, खुल्लमखुल्ला बनना है।" (मिल्स कृत भारतीय इतिहास, खण्ड ४, पृ. ३३२)। इसी योजना के अन्तर्गत १८६६ में आर्थर ए. मैकडानल ने 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' लिखा। ईसाइयत के प्रचार से भारत के उद्धार की बात करने से पहले यह सिद्ध करना आवश्यक था कि भारत के लोग सदा से बर्बर और असभ्य रहे हैं। कारण ? यदि उन्हें पहले से सभ्य मान लिया जाए तो वे उन्हें सभ्य बनाने का दावा कैसे कर सकते थे ? मैकडानल रचित पुस्तक में जो कुछ लिखा गया उसके निदर्शनार्थ कतिपय वाक्य यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

"इतिहासपूर्व काल में जिन आर्यों ने भारत को जीता था वे स्वयं पुराने समय में दूसरों के शिकार होते चले आये थे (पृ. ४०८); भारत में इतिहास का अस्तित्व ही नहीं है। उन्होंने कभी इतिहास लिखा ही नहीं, क्योंकि कभी कोई ऐतिहासिक कार्य किया ही नहीं (पृ. १०-११); ईरान को भारत कीमती भेंट देता था (पृ. ४०६)।

इस प्रकार भारत सदा से हारनेवाला देश रहा है—यह सार-संक्षेप है उस इतिहास का जिसे मिथ्या होते हुए भी हमने अपनी मानसिक दासता के कारण **"आंग्लवाक्यं प्रमाणम्"** के अनुसार स्वीकार किया हुआ है।

वास्तव में इस मत के प्रवर्त्तक मैक्समूलर थे। अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए उन्होंने बलपूर्वक कहा कि पाणिनि के समय तक तो भारतीय लोग लिखना-पढ़ना भी नहीं जानते थे। अपनी पुस्तक 'प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास' में उन्होंने अपने पूर्वाग्रह को खुलकर व्यक्त किया, परन्तु

https://t.me/arshlibrary

वैदिक सभ्यता के इतने ऊँचे शिखर पर पहुँचा हुआ समाज लेखन से अपरिचित रहे, इसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। वस्तुतः वेदों की भाषा, काव्य-सौष्ठव, अन्तर्वस्तु और वैचारिक गम्भीरता को देखते हुए कौन मान सकता है कि इनकी रचना निरक्षर लोगों द्वारा सम्भव थी ? सन् १७८६ में रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल के मंच से दिये गये अपने भाषण में सर विलियम जोन्स ने कहा था—"संस्कृतभाषा की प्राचीनता चाहे जो भी हो, उसका गठन अद्भुत है। वह ग्रीक से अधिक निर्दोष, लेटिन से अधिक सक्षम और इनमें से किसी की भी तुलना में अधिक परिमार्जित है।" संस्कृत के सम्बन्ध में कही गयी इस बात को उच्छृंखल भावोद्गार नहीं माना जा सकता। भाषा का विकास शून्य में नहीं होता। वह मानव समाज के सांस्कृतिक संघर्ष के बीच अर्जित ज्ञान, अनुभव, कौशल, चिन्तन और प्रत्ययन का, उसकी अनुभूति, अभिरुचि और सौन्दर्य-दृष्टि का, उसके भौतिक योगक्षेम, नैतिक मूल्य, चेतना और सामाजिक सम्बन्धों, संस्थाओं और व्यवस्थाओं का याथातथ्य प्रतिबिम्ब होता है। यह एक सार्वभौम निरपवाद नियम है। वैदिक भाषा की यह समृद्धि इस बात का अकाट्य प्रमाण है कि वैदिक जन वैदिक काल में एक अत्यधिक विकसित सभ्यता के निर्माता थे। उन्हें सामान्य पशुचारी यायावर के रूप में प्रस्तुत करना तथ्यों के विपरीत है।

मैक्समूलर के अनुसार वेदों को श्रुति इसलिए कहा जाता रहा है, क्योंकि इनका संक्रमण और प्रसार श्रुत-परम्परा से ही होता रहा है। यह इस बात का सूचक है कि वैदिक काल में लेखन का प्रचलन नहीं था, परन्तु मैक्समूलर की इस मान्यता के अनुसार तो वेद ही नहीं, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों आदि तक के काल में, यहाँ तक कि पाणिनि के समय तक, लेखन का प्रचलन नहीं था। इससे तो इन सबका संक्रमण और प्रसार श्रुत-परम्परा से ही सिद्ध होता है। तब वेदों की तरह इन सबका नाम भी श्रुति क्यों नहीं है ? यदि मैक्समूलर इस प्रश्न का उत्तर ढूँढते तो उन्हें 'श्रुति' शब्द के पीछे कोई अन्य कारण दिखाई देता। सच तो यह है कि यदि वैदिक भारत लेखन से परिचित सिद्ध हो जाता है तो उनका यह कहना मिथ्या सिद्ध हो जाता है कि प्राचीन काल में भारतीयों का कोई इतिहास उपलब्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में उनके द्वारा गढ़े गये इतिहास की प्रामाणिकता कैसे रह सकती थी ? इसलिए वह ऐसे प्रत्येक साक्ष्य का प्रत्याख्यान करते चले गये जिससे उस काल में लेखन के प्रचलन की पुष्टि हो सकती थी।[1]

रैप्सन के अनुसार "पाणिनि के युग-प्रवर्त्तक ग्रन्थ में वर्णित उच्च और शुद्ध भाषा से वैदिक वाङ्मय की भाषा निश्चित पूर्वकालीन है। यह आवश्यक नहीं कि वह बहुत पूर्वकालीन हो। सूत्रग्रन्थ भी, जो निस्सन्देह ब्राह्मणग्रन्थों के उत्तरवर्त्ती हैं, एक स्वच्छन्दता दिखाते हैं, जो पाणिनि के पूर्ण प्रभाव के पश्चात् आसानी से समझ में नहीं आता।[2]"

इस लेख में इतनी सच्चाई है कि सूत्रग्रन्थ पाणिनि से पूर्वकालिक हैं, पर रैप्सन को पाणिनि के काल का पता नहीं। वह पाणिनि को ३०० ईसा-पूर्व का मानता है, जबकि पाणिनि का वास्तविक काल विक्रम से लगभग २६५० वर्ष पूर्व है। अनेक सूत्रग्रन्थ उससे कई वर्ष पूर्व के हैं। पाणिनि स्वयं उनका स्मरण करता

१ Jesperson : Language, its Nature, Origin and Development.

२ The language also of the Vedic literature is definitely anterior, though not necessarily much anterior, to the classical speach as prescribed in the epoch-making work of Panini; even the Sutras which are undoubtedly later than the Brahmanas, show a freedom which is hardly conceivable after the period of the influence of Panini." —Cambridge History of India, P. 113

https://t.me/arshlibrary

है—'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (अष्टा० ४।३।१०५)—अर्थात् पाणिनि से पहले पुरातन और उनसे अपेक्षाकृत नवीन दोनों प्रकार के सूत्रग्रन्थ बन चुके थे। पैङ्कीकल्प और आरुणपराजी (आरुण पाराशरी) आदि नूतन सूत्रग्रन्थ थे और आश्मरथ्यकल्प अपेक्षाकृत नूतन सूत्रग्रन्थ थे, किन्तु थे ये सभी पाणिनि से पूर्वकालीन। इससे भी अधिक पाणिनि के अगले सूत्र (४।३।१०६) के अनुसार शौनक की शिक्षा, शौनक की बृहद्देवता, शौनक का प्रातिशाख्य आदि भी बन चुके थे। पाणिनि से पहले अनेक वैयाकरण हो चुके थे जिन्हें पाणिनि ने स्मरण किया है। इतने अधिक व्याकरण ग्रन्थों की रचना से पूर्व अन्यान्य साहित्य भी रचा गया होगा। उसमें चिकित्सा, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, दर्शन, विज्ञान आदि अन्यान्य विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थ रहे होंगे। इतना विशाल साहित्य मौखिक रूप से रचित, प्रसारित तथा सुरक्षित रहा—यह कथन सर्वथा उपहासास्पद है। ये ग्रन्थ महाभारत-युद्ध के ३०० वर्ष पश्चात् तक अथवा विक्रम से ३००० वर्ष पूर्व तक बन चुके थे, अतः रैप्सन का अन्यत्र (पृ. ६०) यह लिखना कि ईसा से २५०० वर्ष पूर्व आर्यों ने भारत में प्रवेश किया था, सर्वथा अयुक्त है।

सूत्रों तथा पुरातन स्मृतियों की भाषा महाभारत-सदृश है। महाभारत-सदृश भाषा यास्कीय निरुक्त में भी है, अतः यदि यास्क और सूत्रकार ऋषि पाणिनि से पहले के हैं तो महाभारत भी पाणिनि से पहले का है। महाभारत (पूना-संस्करण) में यद्यपि शोध का स्थान है, तथापि उसमें पाणिनि से पूर्व के और सूत्र-सदृश प्रयोग अधिक हैं। महाभारत में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि महर्षि वेदव्यास ने महाभारत लिखने के लिए गणेश से अनुरोध किया था। गणेश अपने समय के आशुलिपि में लिखनेवाले कुशल लेखक (Stenographer) थे। उन्होंने कुछ नियत शर्तों पर महाभारत लिखना स्वीकार कर लिया था।

वेदों, ब्राह्मणों, दर्शनों, उपनिषदों, व्याकरणग्रन्थों आदि का विभाग करते हुए मण्डल, सूक्त, काण्ड, अध्याय, प्रपाठक, पाद, खण्ड आदि का उल्लेख मिलता है। ये सब लिखित ग्रन्थों के ही विभाग-उपविभाग हो सकते हैं। अन्य किसी भी रीति से इन नामों का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। मौखिक रूप में भी एक दिन का पाठ विभिन्न शिक्षकों, पाठशालाओं और पीढ़ियों में वही बना रहे, और वह भी तब जब उनका आकार भिन्न हो, लिखित रचना के अभाव में असम्भव है। शतपथब्राह्मण और काठक संहिता[1] आदि में वाणी को लिपिबद्ध करने का स्पष्ट उल्लेख है' अथर्ववेद में एक स्थल पर कोश अथवा पेटिका से निकालकर वेद का पाठ करने और फिर उसे सँभालकर उसी में रख देने का उल्लेख इन शब्दों में मिलता है—

यस्मात् कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम्। —अथर्व० १६।७२।१

अर्थात् जिस प्रकार पेटी से वेद का ग्रन्थ उठाते हैं और पढ़ चुकने के बाद उसी में रख देते हैं, उसी प्रकार जिस परमेश्वर से हम वेदमय ज्ञान प्राप्त करते हैं, पुनः उसी के भीतर उसे समाया पाते हैं। कोश अर्थात् पेटिका में बड़े आकार के ग्रन्थों को सँभालकर रखने का प्रचलन पुराना है और शायद इसी कारण पिटक और कोश विशाल आकार के ग्रन्थों के पर्याय बन गये प्रतीत होते हैं। वेद का यह कथन लिखित या मुद्रित ग्रन्थों के लिए ही सार्थक हो सकता है।

अथर्ववेद (७।५०।५) में **'संलिखितम्'** शब्द पठित है। 'लिख' का अर्थ होता है—'अक्षरों का विन्यास'। इस प्रकार **'संलिखितम्'** का अर्थ हुआ 'लिखा गया या लिखा हुआ'। 'सम्' उपसर्ग के साथ इसका अर्थ

१ यज्ञमुखे वै यज्ञं रक्षांसि जिघांसन्ति यत् परिलिखति रक्षसां अपहत्यै तिसृभिः परिलिखति—का.सं. १६।३।७

https://t.me/arshlibrary

'अच्छी प्रकार लिखा हुआ या शिला आदि पर खुदा हुआ' भी हो सकता है। इस प्रकार वेद में लिखने का स्पष्ट निर्देश उपलब्ध है। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद का यह मन्त्र भी महत्त्वपूर्ण है—**'उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्'** (१०।७१।४)। अर्थात् कोई वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता और कोई वाणी को सुनता हुआ भी नहीं सुनता। वाणी को 'देखना' और 'सुनना' पृथक्-पृथक् क्रियाएँ हैं। देखना दृष्टि का काम है और सुनना कान का। वाणी तभी देखी जा सकती है, जबकि वह लिखित रूप में हो।

पाणिनि ने 'लोप' का लक्षण करते हुए कहा है—**'अदर्शनं लोपः'** (अष्टा० १।१।५९) जो कोई वस्तु होकर न रहे, दिखाई न पड़े, उसे 'अदर्शन' कहते हैं अर्थात् विद्यमान के अदर्शन की लोप संज्ञा होती है।[1] जो कभी दृश्य ही न रहा हो उसको अदर्शन नहीं कहा जा सकता। यदि भाषा लिपिरूप में न होकर श्रुतरूप में ही होती तो **'अदर्शनं लोपः** के स्थान पर **'अश्रवणं लोपः'** कहा गया होता और 'वर्णविनाश' न कहकर 'ध्वनिविनाश' कहा गया होता।

पुरातत्व की खोजों के अनुसार ब्राह्मी लिपि के नमूने मौर्य युग से मिले बताये जाते हैं, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उक्त लिपि का आविष्कार उसी समय हुआ था। यदि मौर्य राजाओं के आदेश की खुदाई करने के लिए ही उस लिपि का सर्वप्रथम प्रयोग हुआ था तो उसका नाम ब्राह्मी क्यों हुआ ? 'ब्रह्म' शब्द का प्रसंगप्राप्त अर्थ वेदमन्त्र है। वेदमन्त्रों को लिपिबद्ध करने के लिए जिस लिपि का प्रयोग किया गया है, वह ब्राह्मी लिपि कही जा सकती है। देवनागरी का ही प्राचीन नाम ब्राह्मी है, क्योंकि इसका सर्वप्रथम प्रयोग ब्रह्मदेव ने किया था। लिपिज्ञान का संकेत ऋग्वेद के **'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्'** (१०।७१।४) मन्त्र में किया जा चुका है। वाणी का दर्शन श्रवण के प्रतिपक्ष में ही सम्भव है। इसी आधार पर ब्रह्मा ने ब्राह्मी लिपि की रचना की। स्वामी दयानन्द के अनुसार अक्षर, स्याही आदि से लिखने की रीति लोग इक्ष्वाकु के समय में प्रचार में लाये, क्योंकि इक्ष्वाकु के समय वेद को कण्ठस्थ करने की रीति का ह्रास होने लग गया था। जिस लिपि में अक्षर लिखे जाते थे, उसका नाम देवनागरी था।

पौराणिक साहित्य एवं परम्पराओं में जीवात्माओं के शुभाशुभ कर्मों का लेखा-जोखा रखने के लिए यमराज के कार्यालय में चित्रगुप्त के नाम का उल्लेख मिलता है। ईरान में भी जिधर से आर्यों के भारत में आने की सम्भावना मानी जाती है, स्वर्ग में कर्मों का लेखा रखने विषयक लेख को हर्त्सफ़ील्ड[2] ने प्राचीन ईरानियों में लेखन के प्रचलन का प्रमाण माना है' आर्यों के ईरान से भारत में आया मानने या भारत से ईरान में गया मानने—दोनों विकल्पों में से किसी भी अवस्था में भारतीय आर्यों को लेखनकला से अनभिज्ञ मानने में कोई तुक नहीं है।

भारतीय दृष्टिकोण से रामायण, महाभारत, पुराण, राजतरंगिणी, नेपाल-राजवंशावली, कलियुग-राजवृत्तान्त, अनेक नाटक तथा चम्पूग्रन्थ आदि सब इतिहास के उपजीव्य हैं। इनके बिना केवल अधूरे शिलालेखों, सिक्कों, मूर्तियों तथा परदेशी-प्रवास-वर्णनों के सहारे तो ऑक्सफ़ोर्ड के विद्वान् भी अपने 'भारत के इतिहास' नहीं लिख सकते थे। भारत के प्रसिद्ध पुरातत्वविद् महामहोपाध्याय डॉ. हरप्रसाद शास्त्री ने (जिनकी शिक्षा इंग्लैंड में हुई थी) लिखा है—

---

१ न दर्शनम् अदर्शनम्, नञ्तत्पुरुषः। यद् भूत्वा न भवति तद् अदर्शनम्=अनुपलब्धिः, वर्णनाशस्तस्य लोप इति संज्ञा भवति। अर्थात् प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञकं भवति।

२ हर्त्स 'फ़ील्ड—ज़ेरास्ट एण्ड हिज़ वर्ल्ड, १९४७', पृ. ३०७

https://t.me/arshlibrary

भारत में इतिहास-लेखन

अल्बेरूनी ने लिखा है—"दुर्भाग्य से हिन्दू घटनाओं के ऐतिहासिक क्रम पर पूरा ध्यान नहीं देते। वे अपने राजाओं के राज्यारोहण के तिथिक्रम की उपेक्षा करते हैं।"[1] 'प्रसिद्ध इतिहासकार प्रो० भण्डारकर ने अल्बेरूनी के इस कथन का प्रत्याख्यान करते हुए लिखा है कि अल्बेरूनी का यह कथन उस समय के लिए कुछ सत्य हो सकता है, जब वह भारत में आया था और जब उसकी (भारत की) सभ्यता और संस्कृति पतनोन्मुख थी, किन्तु यह कहना कि मध्यकाल से पहले भारतीयों को इतिहास की समझ नहीं थी, तथ्यों के विपरीत होगा। भारतीय लोगों ने इतिहास लिखा ही नहीं, यह सफेद झूठ है। प्राचीनकाल में इतिहास और पुराण दोनों शब्दों से इतिहास का बोध होता था। अथर्ववेद (१५।६।११-१२) में लिखा है—**"तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्। इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद।"** अमरकोश में इतिहास का पर्याय **'पुरावृत्त'** लिखा है। **इति-ह-आस**=ठीक ऐसा हुआ था। **पुरा-वृत्तम्**=जो पहले हुआ। इस प्रकार साधारणतया दोनों शब्दों से अतीत की घटनाओं के संकलन की इतिहास या पुराण संज्ञा ठहरती है। यास्क के निरुक्त में आये **'इत्यैतिहासिका:'** अर्थात् 'ऐसा इतिहास माननेवाले कहते हैं' से भी उस काल में इतिहास का अस्तित्व सिद्ध होता है, परन्तु भारतीय तथा अन्य इतिहास-लेखकों के दृष्टिकोण में अन्तर है। भारत के लोगों की दृष्टि में इतिहास का हेतु यह है—**"धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्। पूर्ववृत्तं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते।"** सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित लक्षणयुक्त 'पुराण' कहाते हैं।[2] इसी प्रकार याज्ञवल्क्य, जनक, गार्गी, मैत्रेयी आदि कथाओं का नाम 'गाथा' है। वंशावलियाँ तैयार करनेवाले 'पुराविद्' कहाते थे। कौटिल्य (चाणक्य) के समय में इतिहास का इतना महत्त्व बढ़ गया था कि कौटिल्य ने राजा के लिए प्रतिदिन मध्याह्नोत्तर इतिहास सुनना अनिवार्य ठहराया। उसके अनुसार पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र इतिहास के अन्तर्गत हैं। वर्तमान में हमारे विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में धर्मशास्त्र (Law) तथा अर्थशास्त्र (Economics) को एक दूसरे के पूरक के रूप में स्वीकार किया गया है। कौटिल्य ने इन्हें इतिहास का अनिवार्य अंग माना था। प्रो० भण्डारकर कहते हैं कि क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि कौटिल्य ने उस समय इन्हें राजकुमारों और प्रशासकों के प्रशिक्षण के लिए अनिवार्य विषयों के रूप में निर्धारित किया था ?

"उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में मेरे यूरोपीय मित्र मुझे कहते थे कि भारत के इतिहास के लिए रामायण, महाभारत तथा पुराणों को हाथ मत लगाइए। उनका लक्ष्य था केवल सिक्के, शिलालेख, परदेशियों के प्रवास-वर्णन, पुरातत्वीय शिल्प इत्यादि से इतिहास तथा कालक्रम निश्चित करना, परन्तु अब मिस्टर पार्जिटर तथा मिस्टर जायसवाल ने पुराणों से ही कालक्रम ढूँढ निकाला है। पार्जिटर का अन्तिम कार्य पुराणों का महत्त्व प्रकट करता है। तात्पर्य यह है कि हमारे पुराणों जैसे साधन और परम्पराएँ जो पहले अविश्वसनीय मान ली गयी थीं, उनका महत्त्व पुनः प्रतिष्ठित हो गया है।"[3]

---

१ Unfortunately the Hindus do not pay much attention to the historical order of things. They are very careless in relating the chronological succession of their Kings.

२ सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्।

३ 'जर्नल ऑफ़ बिहार ओरियण्टल स्टडीज़', ग्रन्थ १४, पृ. ३२५-२६।

https://t.me/arshlibrary

भारतीय इतिहास परिषद् (Indian History Congress) के इलाहाबाद में १९३८ में हुए अधिवेशन के अवसर पर प्रो० भण्डारकर ने अपने अध्यक्षीय भाषण में उन भारतीय इतिहासकारों की बड़े जोर से भर्त्सना की थी जो पाश्चात्यों की विचारधारा से प्रभावित होकर यह कहते रहते हैं कि भारतीयों को इतिहास की समझ नहीं थी। एक इतिहासकार के रूप में कल्हण को न केवल भारतीयों ने, अपितु सर ऑरेल स्टीन (Aurel Stein) जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने भी मान्यता प्रदान की है।

कल्हण ने अपने से पहले के लगभग एक दर्जन ग्रन्थों का उल्लेख किया है जिनसे उसने अपना ग्रन्थ लिखने में सहायता ली है। इसी प्रकार कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र के लिखने में सहायक पूर्ववर्ती अनेक विद्वानों के प्रति आभार व्यक्त किया है। हमें यह न भूलना चाहिए कि विदेशी बर्बर, अधर्मी व विधर्मी आक्रान्ताओं द्वारा हमारे सरस्वती-भण्डारों (पुस्तकालयों) में सुरक्षित हज़ारों नहीं, लाखों हस्तलेखों को नष्ट किया जा चुका है। इसी प्रकार यह कहना भी मिथ्या है कि मुसलमानों के आने से पहले भारतीयों को लेखन-सामग्री का पता नहीं था। वास्तव में वे भोजपत्रों व ताड़पत्रों का ही नहीं, कपास से बने कागज़ और चिकने कपड़े का भी लिखने के लिए प्रयोग करते थे। स्वयं अल्बेरूनी के लेख से पता चलता है कि विजयनगर के राजाओं के यहाँ महिला सचिव होती थीं। जिनका काम राज्य में घटनेवाली प्रत्येक घटना को लिखते रहना था।

पाश्चात्य दृष्टिकोण

जब पाश्चात्यों का संस्कृत भाषा से सर्वप्रथम परिचय हुआ तो उनकी प्रवृत्ति संस्कृत को आदिम और मूलभाषा मानने की थी। जर्मन संस्कृतज्ञ श्लेगल एवं फ्रैंच बॉप आदि की यही भावना थी, परन्तु कालान्तर में जब उन्होंने इस सत्य के फलितार्थ को समझा तो वे शीर्षासन करने लगे। तब तक प्रो० मैक्समूलर लॉर्ड मेकाले से पूरी तरह प्रभावित हो चुका था। इसीलिए जब फ्रैंच वैयाकरण बॉप ने ग्रीक, लैटिन आदि शब्दों का मूल संस्कृत को बताना शुरू किया तो मैक्समूलर ने प्रलाप किया कि कोई अच्छा विद्वान् कभी भी ग्रीक या लैटिन शब्दों के संस्कृत से निष्पन्न होने की बात नहीं सोच सकता।[१] उसने आगे लिखा कि—"अब संस्कृत को ग्रीक, लैटिन और ऐंग्लो-सैक्सन का मूल मानने की कोई कल्पना नहीं कर सकता।"[२]

कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति भाँप लेगा कि यहाँ मैक्समूलर जान-बूझकर सत्य के साथ अन्याय कर रहा है। इसका कारण था मेकाले से मिलने और उसकी अधीनता स्वीकार करने के पश्चात् उसका भारतीय इतिहास के विरुद्ध रचा गया षड्यन्त्र। मैक्समूलर ने परिस्थितियों से विवश होकर मेकाले की दासता स्वीकार की थी और भारतीय इतिहास के विरुद्ध रचे गये षड्यन्त्र में वह अपनी आत्मा का हनन करके शामिल हुआ था। यह बात उसने २८ दिसम्बर १८५५ को मेकाले से भेंट होने के पश्चात् भारी मन से इन शब्दों में व्यक्त की—"मैं पहले की अपेक्षा अधिक दुःखी, किन्तु बुद्धिमान् बनकर ऑक्सफोर्ड लौटा।"[३] दुःखी इसलिए कि विद्वान् होकर उसने एक राजनितिज्ञ के आगे आत्म-समर्पण कर दिया था और बुद्धिमान्

१ 'No sound scholar can ever think of deriving any Greek or Latin words from Sanskrit.'
—Maxmueller : 'Science of Language, Vol. I, 4492.

२ 'No one supposes any longer that Sanskrit was the common source of Greek, Latin or Anglo-Saxon.'
—India, What can it teach us ?

३ 'I went back to Oxford a sadder but a wiser man'. —Camb. 'Hist, of India', Vol. VI, 1932

https://t.me/arshlibrary

इसलिए कि अब वह संसार के सुखों का उपभोग करते हुए जीवित रह सकेगा। वास्तव में उन दिनों जर्मनी में राजनीतिक उथल-पुथल के कारण मैक्समूलर आर्थिक अभावों में जी रहा था। मेकाले ने उसे इस ओर से निश्चिन्त कर दिया तो मैक्समूलर दुधारी तलवार लेकर इस देश के सर्वनाश पर पिल पड़ा।

अंग्रेजों ने भारतीय संस्कृति की जड़ को देखा, समझा और मुसलमानों के समान तलवार का सहारा न लेकर कूटनीति से काम लिया। वे भारतीय संस्कृति से प्रशंसक थे, क्योंकि यह पहले अनेक संस्कृतियों को आत्मसात् कर चुकी थी। वे यह जानते थे कि युद्ध में पराजित भारतीय, सांस्कृतिक दृष्टि से अब भी अपने-आपको अंग्रेजों से उत्कृष्ट मानते हैं, अतः उन्होंने एक ऐसा मायाजाल रचा जिससे स्वयं भारतीय संस्कृति के भीतर से ही उसका विरोध होने लगा। मेकाले के मार्गदर्शन में उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा का जाल बिछाया। इस जाल में फंसनेवालों को बड़े-बड़े प्रलोभन दिये गये। कॉलेजों से संस्कृत में एम० ए० करनेवाले मेधावी छात्रों को उच्चतम छात्रवृत्ति देकर ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज में भेजा जाता था। वहाँ शिक्षा प्राप्त करके स्वदेश लौटनेवालों को यत्र-तत्र प्रिंसिपल या उच्चकोटि का प्रोफेसर नियुक्त किया जाता था। लाहौर के ओरियण्टल कॉलेज और बनारस के क्वींस कॉलेज में ऑक्सफोर्ड में निर्धारित पाठ्यक्रम रक्खा गया और इस प्रकार भारतीयों को ऑक्सफ़ोर्ड और कैम्ब्रिज के रंग में रंगा जाने लगा। उन्हें इस बात का विश्वास दिलाया गया कि पाश्चात्य संस्कृति की तुलना में उनकी अपनी (भारतीय) संस्कृति हेय है। कालान्तर में दास को अपनी दासता में ही आनन्द की अनुभूति होने लगी और इस प्रकार विजेता की विजय हो गयी।

पाश्चात्य विद्वानों तथा उनके पालित भारतीय विद्वानों ने वेद, उपनिषद् आदि पर ऐसे मतों को आरोपित किया कि भारतीय नवयुवकों के दिमाग़ फिर गये। उनके मन में अपने साहित्य और संस्कृति के प्रति हीनता की भावना भर गयी। स्कूल-कॉलेजों में सिखाया गया कि 'आर्य' नाम से अभिहित इस देश की ८०प्रतिशत आबादी विदेशी है, इसलिए कि उनको यह अभिमान न हो सके कि यह सुजला-सुफला-शस्यश्यामला भारतभूमि उनकी अपनी है। इससे नयी पीढ़ी के मन में यह भाव अंकुरित हुआ कि भारतवर्षरूपी धर्मशाला में जिस प्रकार आर्य, शक, हूण, मंगोल, तुर्क और अफ़गान आये उसी प्रकार अंग्रेज भी आये और उनका भी इस देश पर वैसा ही अधिकार बनता है जैसा अन्य पूर्ववर्ती लोगों का। इसके लिए उनके अनुकूल प्रमाणों को उजागर किया गया और प्रतिकूल प्रमाणों को दबा दिया गया। उदाहरणार्थ यहाँ मैगेस्थनीज़ के एक उद्धरण को प्रस्तुत करना उपयोगी होगा जो लगभग २३०० वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में आया बताया जाता है और जिसके उद्धरणों को बड़े प्रामाणिक रूप में बार-बार प्रस्तुत किया जाता है। मैकक्रिण्डल द्वारा सम्पादित Ancient India of Megasthanese के पृष्ठ ३४ पर उद्धृत है—"भारत एक विशाल देश होने के कारण उसमें विभिन्न एवं बहुसंख्यक जातियाँ बसती हैं, जिनमें मूलतः एक भी विदेशी नहीं है।"[१]

आधुनिक पाश्चात्य इतिहासविदों तथा पुरातत्ववेत्ताओं के मत से 'अनुमानतः २५०० से १५०० ईसा पूर्व तक आर्यजाति भारत में प्रविष्ट हुई और उसने इस देश के आदिम निवासियों को पराजित कर इस देश

१ 'It is said that India, being of enormous size when taken as a whole, is peopled by races both numerous and diverse, of which not even one was originally of foreign descent, but all were evidently indigenous; and moreover that India neither received a colony from abroad, nor sent out a colony to any other nation'
—Mac Crindle : Ancient India, Megasthanese.

https://t.me/arshlibrary

पर अधिकार कर लिया। ये आर्य हिन्दू, पारसी, काकेशीय, ग्रीक तथा अन्यान्य यूरोपीय जातियों के पूर्वज थे। भारत के बाहर किसी स्थान में इनकी प्राचीन बस्ती थी।' यदि यह सचमुच सत्य है तो आर्यों का यह अभियान मैगेस्थनीज़ के भारत में आने के प्रायः १२०० वर्ष पूर्व हो चुका था। परन्तु मैगेस्थनीज़ ने बलपूर्वक कहा है कि भारत में रहनेवाले सभी लोग यहाँ के मूल निवासी हैं। इससे स्पष्ट है कि अब से २३०० वर्ष पूर्व बसे भारतीयों और तथाकथित विदेशियों में भी किसी को पता नहीं था कि आर्यजाति के रूप में हम कहीं बाहर से आकर यहाँ बस गये हैं।

अब मुसलमानों और ईसाइयों की ओर से यह कहा जाने लगा है कि इस देश के लोगों में से मुसलमान और ईसाई बननेवाले लोगों में अधिसंख्य छोटी जातियों—अनुसूचित जातियों एवं जन-जातियों तथा गिरिजनों आदि में से हैं, क्योंकि इन्हीं वर्गों के लोग भारत के आदि=मूल निवासी हैं, इसलिए हिन्दू से मुसलमान और ईसाई बने लोग ही इस देश के असली मालिक हैं, अन्य सब विदेशी हैं। अंग्रेज चले गये, परन्तु भारत पर सबसे पहले आक्रमण करनेवाले आर्यों को पहले निकलना चाहिए था।'[१]

४ सितम्बर १९७७ को संसद् में राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत फ्रैंच एन्थोनी ने माँग की थी कि संविधान के आठवें परिशिष्ट में परिगणित भारतीय भाषाओं की सूची में से संस्कृत को निकाल देना चाहिए, क्योंकि यह विदेशी आक्रान्ताओं=आर्यों द्वारा लाई जाने के कारण विदेशी भाषा है।'[२] सन् १९७८ के प्रारम्भ में भारत ने अपना पहला उपग्रह अन्तरिक्ष में छोड़ा था। उसका नाम भारत के प्राचीन वैज्ञानिक आर्यभट्ट के नाम पर रक्खा गया था। इस अवसर पर २३ फरवरी १९७८ को द्रमुक (द्रमुक मुनेत्र कषगम) के प्रतिनिधि के. लक्ष्मणन् ने राज्यसभा में माँग की थी कि भारतीय उपग्रह का नाम 'आर्यभट्ट' नहीं रक्खा जाना चाहिए था, क्योंकि यह विदेशी नाम है। कुछ वर्ष हुए, तमिलनाडु के सलेम नामक नगर में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के आर्य होने के कारण उनकी मूर्ति के गले में जूतों का हार पहनाकर झाड़ुओं से मारते हुए बाजारों में जलूस निकाला गया था। इस प्रकार एक ओर उनके साहित्य को विकृत कर भारतीयों के मन में अनेकविध शंकाएँ व भ्रान्तियाँ उत्पन्न की गयीं और उन्हें अपने धर्म व संस्कृति से वितृष्ण करके अपने आत्मसम्मान से वंचित करने का प्रयास किया गया तो दूसरी ओर अंग्रेजी के माध्यम से उन्हें ईसाइयत की ओर प्रेरित किया गया।

इसी षड्यन्त्र के परिणामस्वरूप पाश्चात्यों ने भाषाविज्ञान के नाप पर एक भारोपीय भाषा की कल्पना की जिसे संस्कृत का भी मूल बताया गया और भारतीय एवं यूरोपीय भाषाओं की तुलना करके उनसे उल्टे

---

१ इस संदर्भ में दिल्ली से प्रकाशित 'Muslim India' के २७ मार्च, १९८५ के अंक में प्रकाशित यह वक्तव्य द्रष्टव्य है—"This land (India) belongs to those who are its original inhabitants and hence its rightful owners. It is they who built the Harappa and Mohenjodaro, the world's most ancient civilisation. Most of India's Muslims and Christians are converts from these sons of the soil. They are either Dalits or tribals. In all foreign invasions, it is these people who defended India. They (Aryans) don't belong to India and hence don't love India. They are foreigners, the enemy within. As Aryans, they are India's first foreigners. If Muslims and **Charistians** are foreigners and must get out of India, as India's first foreigners, the Aryans are dutybound to get out first. Those who came first must leave first."

२ 'Sanskrit should be deleted from the 8th schedule of the constitution because it is a foreign language brought to this country by foreign invaders, the Aryans.' —Indian Express, 5.9.77

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

परिणाम निकालकर उल्टी गंगा बहाना शुरु किया। तब उन्होंने घोषणा की कि भाषा का साक्ष्य अकाट्य है जो प्रागैतिहासिक युगों के विषय में विश्वसनीय है।[१]' जर्मन संस्कृतज्ञों ने यहाँ तक दम्भ करना शुरू कर दिया कि वेद का अर्थ जर्मन-भाषाविज्ञान से अच्छी तरह समझा जा सकता है। इतना ही नहीं, वे जर्मनी को भाषाविज्ञान का जन्मदाता भी कहने लगे।[२]' मिथ्या भाषाविज्ञान के आधार पर प्रागैतिहासिक युग में आर्य-प्रव्रजन की कथा गढ़ी गयी। इसी के नाम पर इण्डो-यूरोपियन की कल्पना करके उसके आधार पर आर्यों का मूल अभिजन किसी यूरोपियन देश में बताया गया जहाँ से वे भारत आदि देशों में उपनिविष्ट हुए।

सारा संसार जानता है कि भाषा और व्याकरण का जैसा अप्रतिम अध्ययन भारत में हुआ वैसा संसार में कहीं नहीं हुआ। इन्द्र से लेकर पाणिनि तक शतशः महान् भाषाशास्त्री इस देश में हो चुके हैं और वे भी तब जब यूरोप के लोगों को प्रायः पढ़ना-लिखना भी नहीं आता था, परन्तु राज्याश्रय के बल पर एक ज्ञानलवदुर्विदग्ध संस्कृतज्ञ को एक महानतम विद्वान् के रूप में प्रस्तुत करके वैदिक धर्म और संस्कृति की जड़ें खोदने के लिए उसके वेदभाष्य तथा उसपर आधारित अनेकानेक ग्रन्थों को भारत के विद्यालयों-महाविद्यालयों-विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम में प्रतिष्ठित कर दिया गया। मेकाले द्वारा मैक्समूलर की अंगुलियों में ज़बरदस्ती पकड़ाई गयी कलम से निःसृत वेदों के विद्रूप अर्थों का उद्देश्य क्या था, इसे हम अपने शब्दों में न कहकर स्वयं मैक्समूलर के शब्दों से प्रमाणित करना चाहते हैं। वेदों के सम्बन्ध में अपनी भावना को स्पष्ट करते हुए मैक्समूलर ने लिखा—"वैदिक सूक्तों की एक बड़ी संख्या बिल्कुल बचकानी, निकृष्ट, जटिल और अत्यन्त साधारण है।"[३]

चन्द्रनगर के प्रधान न्यायाधीश फ्रैंच विद्वान् लुई जैकालियट (Louis Jacolliot) ने संवत् १९२६ (सन् १८६९) में 'La Bible Dans Linde' (भारत में बाइबल) नामक एक ग्रन्थ लिखा। एक वर्ष पश्चात् उसका अंग्रेजी-संस्करण प्रकाशित हुआ। भारत को मानवता का दोला (Cradle of humanity) बताते हुए उसने सिद्ध किया कि संसार की समस्त विचारधाराएँ आर्यविचार से निकली हैं। भारत की प्रशंसा पढ़कर मैक्समूलर बौखला उठा। पुस्तक की समीक्षा करते हुए उसने लिखा—"जैकालियट अवश्य ब्राह्मणों के बहकावे में आ गया है।"[४]

मैक्समूलर को इतने से सन्तोष नहीं हुआ। अपनी खीज मिटाने के लिए उसने अपने पुत्र को लिखे एक पत्र में अपनी भावना इन शब्दों में व्यक्त की—"संसार की सब पुस्तकों में नया अहदनामा (बाइबल या New Testament) सर्वोत्कृष्ट है। इसके पश्चात् कुरान को, जो एक प्रकार से बाइबल का रूपान्तर है, रक्खा जा सकता है। तत्पश्चात् पुराना अहदनामा (Old Testament), बौद्ध त्रिपिटिक, वेद और अवेस्ता हैं।"[५]

---

१ 'The evidence of language is irreferable and it is the only evidense worth listening with regard to anti-historical periods.' —History of Sanskrit Literature, P. 13

२ The principles of German school are the only one which can ever guide us to an understanding of the Vedas. Germany is far more than any other country, the birth-place and home of the science of language.' —'Language' by W.D. Whitney

३ 'A large number of Vedic hymns are childish in the extreme, tedious, low and commonplace.' —Chips from a German Workshop. Ed. 1866, P. 27

४ 'The auther seems to have been taken in by the Brahmans in India.'

https://t.me/arshlibrary

जैसे हम वेदों को कण्ठस्थ करनेवाले दाक्षिणात्य ब्राह्मणों के ऋणी हैं, वैसे ही हम पाश्चात्य विद्वानों के भी ऋणी हैं। भारतीय ब्राह्मणों ने वेदों को नष्ट होने से बचाया तो पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों को भारत में ही सीमित न रहने देकर विश्व की सम्पत्ति बना दिया। यूरोपीय विद्वानों के प्रयत्नों से सारे संसार में वेदों की चर्चा होने लगी, किन्तु जैसे सायणादि का दृष्टिकोण यज्ञपरक था और उनके अनुसार वेद के हर मन्त्र का लक्ष्य यज्ञ की किसी प्रक्रिया को सामने रखकर मन्त्र का नियोजन करना था, वैसे ही पाश्चात्य विद्वानों का लक्ष्य वेदों का भाष्य करते हुए उनपर विकासवादी दृष्टिकोण से विचार करना था। मैक्समूलर के भाष्य पर सायण और डार्विन दोनों छाये हुए हैं। मैक्समूलर ने विकासवाद को सामने रखकर सायणभाष्य का अनुवाद किया। वस्तुतः पाश्चात्य भाष्यकारों की विचारधारा का आधारभूत सिद्धान्त विकासवाद का विचार है। इन लोगों के लिए विकासवाद पहले है, उसके बाद जो कुछ आया उसे विकासवाद के सिद्धान्त पर घटाकर देखा जाता है। विकासवाद की कसौटी पर परखकर ही ये लोग किसी बात के सही या ग़लत होने का निश्चय करते हैं। इस प्रकार का चिन्तन वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। श्री अरविन्द घोष पाश्चात्य विद्वानों के वेदभाष्य पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—

"पाश्चात्य भाष्यकारों का मत है कि वेद का ऋषि जब अग्नि की उपासना करता था, तब उसमें उन गुणों का भी वर्णन कर देता था जो किसी भी अन्य देवता में पाये जाते हैं और जब वह वायु की उपासना करता था तो वायु में उन सब गुणों का समावेश कर देता था जो किसी भी अन्य देवता में पाये जाते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि वह एक देवता का उपासक न होकर अनेक देवताओं में विश्वास करता है, यह बात युक्तिसंगत भी है, जब यह मान लिया जाता है कि एकेश्वरवाद का विचार मानव-मस्तिष्क में बहुत देर में आया था। जब उनसे यह कहा जाता है कि वेद में "**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः** "—इस मन्त्र द्वारा यह कहा गया है कि ईश्वर एक ही है, अग्नि, यम मातरिश्वा आदि उस एक ही ईश्वर के भिन्न-भिन्न नाम हैं, तब पाश्चात्य विद्वान् कह उठते हैं कि यह मन्त्र पीछे से डाला गया है। इस विचारधारा पर चलते हुए मैक्समूलर ने बहुदेवतावाद (Polytheism) तथा एकेश्वरवाद (Monotheism) के एक नये मत की कल्पना की जिसे उन्होंने हीनोथीइज्म (Henotheism) का नाम दिया। हीनोथीइज्म का अर्थ है—जब किसी देवताविशेष की उपासना की जाए, तब उसी में सारे गुण आरोपित कर दिये जाएँ और इस प्रकार अन्य देवताओं को उससे हीन कल्पित कर लिया जाए।"[१]

परन्तु यह कल्पना सिर्फ इसलिए की जाती है, क्योंकि मैक्समूलर विकासवाद के विपरीत यह मानने को तैयार नहीं कि मानव-संस्कृति के प्रारम्भिक काल में एकेश्वरवाद जैसा उत्कृष्ट विचार मानव के मस्तिष्क में आ सकता था। मैक्समूलर इस बात का प्रमाण नहीं दे सके कि '**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**' यह मन्त्र वेद में पीछे से डाला गया है।[२] यह मन्त्र वेद का अभिन्न अंग है और यदि इससे विकासवाद

---

५ 'Would you say that any one sacred book is superior to all others in the world ?... I say The New Testament. After that I should place the Koran, which, in its moral teachings, is hardly more than a later edition of the New Testament. Then would follow....the Old Testament, the Buddhist Tripitaka...The Veda and The Avesta.'

१ The Oxford English Dictionary defines Henotheism as the belief in a single God, without asserting that he is the only God; a stage between Polytheism and Monotheism. According to prof. Clayton, it denotes that each of the several divinities is regarded as the highest, the one which was worshipped and, therefore, treated as if he were the absolute being, independent and supreme for the worshipper.'

https://t.me/arshlibrary

खण्डित होता है तो पाश्चात्य विचारकों को इसके लिए तैयार रहना चाहिए। सबसे बड़ी बात तो यह है कि अपने अर्थ को स्पष्ट करने के लिए स्वयं वेद की अन्तःसाक्षी प्रमाण होगी या रुडोल्फ़, राथ तथा मैक्समूलर जो कहेंगे वह प्रमाण होगा। वेदों का अर्थ यदि वेदों से ही स्पष्ट होता है, तब उस प्रक्रिया का सर्वोच्च स्थान होना चाहिए। स्वयं वेद कहता है—'**एकं सत्**' ईश्वर एक है, '**बहुधा वदन्ति**' उसे अनेक नामों से पुकारा जाता है। स्वयं वेद में एकेश्वरवाद का इतना स्पष्ट वर्णन होत हुए मैक्समूलर के हीनोथीइज्म को कैसे माना जा सकता है ? श्री अरविन्द लिखते हैं—

"We are aware how modern scholars twist away from the evidence. This hymn, they say, was a late production; this lofty idea which it expresses with so clear a force rose up somehow in the mind or was borrowed by those ignorant fire-worshippers, sky-worshippers from their cultured and philosophical Dravadian enemies. But throughout the Veda we have confirmatory hymns and expressions. Agni or Indra or another is expressed hymned as one with all the other Gods. Agni contains all other divine powers within himself; the Maruts are described as all the Gods; the one deity is addressed by the names of others as well as his own, or, more commonly, he is given as Lord and King of the universe, attributes only appropriate to the Supreme Deity. Why should not the foundation of Vedic thought be natural monotheism rather than this new fangled monstrocity of henotheism ? Well, because primitive barbarians could not possibly have risen to such high conceptions, and if you allow them to have so risen, you imperil our theory of evolutionary stages of human development. Truth must hide itself, commonsense disappear from the field so that a theory should flourish. I ask, in this point, and it is the fundamental point, who deals most straightforwardly with the text, Dayanand or the western scholars ?"

श्री अरविन्द का कहना है कि वेदों के पाश्चात्य भाष्यकार वेदों का भाष्य करते हुए विकासवाद के पूर्वाग्रह को साथ लेकर चलते हैं। अगर वेदों का अर्थ विकासवाद के सिद्धान्त को पुष्ट नहीं करता तो वे अर्थ को तोड़-मरोड़कर अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा करते हैं। श्री अरविन्द के कथनानुसार दयानन्द का भाष्य इस प्रकार की तोड़-मरोड़ नहीं करता। फिर भी, जादू वह जो सिर पर चढ़कर बोले ! यद्यपि पाश्चात्य भाष्यकार विकासवादी पूर्वाग्रह से पीड़ित हैं तो भी वेदों में इतने उच्चस्तरीय विचार मिलते हैं कि वे कभी-कभी बरबस इस सन्देह में पड़ जाते हैं कि उनका पूर्वाग्रह उचित भी है या नहीं। ऋग्वेद-संहिता के चौथे खण्ड में मैक्समूलर ने लिखा—

"It is impossible for one scholar, it will probably be impossible for one generation of scholars to decipher the hymns of the Rigveda to a satisfactory conclusion."

अर्थात् मैक्समूलर के विचार में एक वैदिक विद्वान् अथवा विद्वानों की एक पीढ़ी द्वारा भी ऋग्वेद की ऋचाओं के रहस्य को खोज निकालना असम्भव है। ऋग्वेद के सम्बन्ध में इस प्रकार की भावना व्यक्त करने के लिए मैक्समूलर तभी विवश हुए होंगे जब उन्हें वहाँ इतने ऊँचे विचार दीख पड़े होंगे जिनके

५ मैक्समूलर के प्रमुख शिष्य मैक्डानल ने अपनी पुस्तक 'A Vedic Grammer for Students' की भूमिका में लिखा है—ऋग्वेद के १० मण्डलों में ८ मण्डल पहले लिखे गये, फिर नौवाँ और अन्त में दसवाँ।" उनके लिखने का अभिप्राय यह है कि पहले ८ और अगले २ मण्डलों के लिखे जाने का समय भिन्न-भिन्न है, परन्तु 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' तो पहले मण्डल के १६४वें सूक्त का ४६वाँ मन्त्र है। फिर भी इसे प्रक्षिप्त माना जाता है। केवल इसलिए कि यह विकासवादी विचारधारा में फिट नहीं बैठता।

https://t.me/arshlibrary

मुकाबिले में विकासवाद की दीवारें हिलती जान पड़ी होंगी। ऐसी स्थिति में वेदभाष्य करते हुए उनका विकासवाद के खूँटे से बँधे रहना दुराग्रहमात्र है।

धर्मान्तरण और वेदार्थ

यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों पर बहुत परिश्रम किया, तो भी वे उनमें निहित ज्ञान की थाह न पा सके। सच्चाई तक पहुँचने में विकासवाद के अतिरिक्त उनका पूर्वाग्रह और स्वार्थ भी आड़े आया। यूरोपीय समाज भारत को ईसाई बनाने के कार्य में प्राणपण से जुटा हुआ था। ब्रिटेन के लोग समझते थे कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को स्थायी बनाने के लिए भारतवासियों को ईसाइयत के साँचे में ढालना आवश्यक है। पाश्चात्य विद्वान् भी इस काम में काफी रुचि रखते थे। इसलिए उन्होंने वेदों का ऐसा भाष्य किया जिसे देखने के बाद इस देश के लोग अपनी प्राचीन सांस्कृतिक विचारधारा को हेय दृष्टि से देखने लगे। विदेशी विद्वानों का उद्देश्य ही भारतीय जनता में अपनी प्राचीन संस्कृति, सभ्यता तथा साहित्य के प्रति अश्रद्धा और घृणा पैदा करना था। इस दृष्टि से उन्हें सायण-भाष्य अपने अनुकूल जान पड़ा। उन्होंने वेद और वैदिक वाङ्मय के जो अनुवाद अंग्रेजी में किये, वे सब प्रायः सायण के आधार पर ही किये और वे वेदों को गडरियों के गीत, जंगलियों की बड़बड़ाहट और धार्मिक विश्वासों के विजड़ित पोथे सिद्ध करने में सफल हो गये।

वेद के अनुसन्धान और अनुवाद-कार्य में लगने के अपने कार्य को स्पष्ट करते हुए मैक्समूलर ने सन् १९६६ में अपनी पत्नी को भेजे पत्र में लिखा था—"मेरा यह संस्करण और वेद का अनुवाद कालान्तर में भारत के भाग्य को दूर तक प्रभावित करेगा। यह उनके धर्म का मूल है। मेरा यह निश्चित मत है कि उन्हें यह दिखाना कि यह मूल कैसा है, गत तीन हज़ार वर्षों में इससे उत्पन्न होनेवाली सब चीजों को जड़ समेत उखाड़ फैंकने का एकमात्र उपाय है।"[1] १६ दिसम्बर १८६८ को भारत-सचिव ड्यूक ऑफ आर्गाइल को एक पत्र में मैक्समूलर ने लिखा—"भारत का प्राचीन धर्म अब नष्टप्रायः है। अब यदि ईसाइयत उसका स्थान नहीं लेती, तो यह किसका दोष होगा ?"[2] ईसाइयत के प्रचार की दिशा में मैक्समूलर के प्रयासों की सराहना करते हुए उसके घनिष्ठ मित्र ई.बी. पुसे ने लिखा था—"भारत को ईसाई बनाने की दिशा में किया गया आपका प्रयास एक नये युग का सूत्रपात करनेवाला होगा।"[3]

ऐसे थे मैक्समूलर, जिनकी हिन्दूधर्म के प्रति की गयी सेवाओं पर मुग्ध होकर उन्हें भारत आने का निमन्त्रण देते समय स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि "भारत के लोग उस व्यक्ति का स्वागत करेंगे, जिसने उनके पूर्वजों के विचारों को उनके सही रूप में प्रस्तुत करने में इतना परिश्रम किया है।"

---

१ 'This edition of mine and the translation of the Veda will, hereafter, tell to a great extent on the fate of India. It is the root of their religion and to show them what the root is, I feel sure, is the only way of uprooting all that has sprung from it during the last three thousand years.'
—Life and letters of Frederick Maxmueller, Vol. I , Chap. XV. P. 34.

२ 'The ancient religion of India is doomed. Now, if Christianity does not step in, whose fault will it be ?'
—Ibid, Chap. XVI, P. 378.

३ 'Your work will mark a new era in the efforts for the conversion of India.'

https://t.me/arshlibrary

वस्तुतः उनके गुरु श्रीरामकृष्ण की प्रशंसा में मैक्समूलर द्वारा लिखी गयी पुस्तक के कारण विवेकानन्द उसके हाथ बिक गये थे और केशवचन्द्र सेन की तरह ईसाइयत के रंग में रंग चले थे। उनके लिए ईसा का व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक था। उन्होंने ईसा के ईश्वरत्व की घोषणा करते हुए कहा था—"ईश्वर ने ईसा होकर जन्म लिया" (देववाणी, पृ० ४०) "ईसामसीह में अलौकिक शक्तियाँ थीं। ईसा, बुद्ध, राम, कृष्ण आदि के समान अवतार पुरुष ही धर्म दे सकते हैं।" (देववाणी, पृ० ४६)। 'ईशदूत ईसा' नामक एक लेख में उन्होंने लिखा—इसी महापुरुष ईसा ने कहा है—"किसी भी व्यक्ति ने ईश्वरपुत्र के माध्यम के बिना ईश्वर का साक्षात्कार नहीं किया है और यह कथन अक्षरशः सत्य है" (ईशदूत ईसा, पृ० ३)। वार्तालालप के एक प्रसंग में उन्होंने कहा—"ईसा ईश्वरावतार थे। लोग उनकी हत्या नहीं कर सकते थे। उन्होंने जिसे सूली पर चढ़ाया था वह उसकी छायामात्र थी।" (विवेकानन्द से वार्तालाप, पृ० १२०)। "यदि मैं ईसा की उपासना करूँ तो मेरे लिए ऐसा करने की एक ही विधि है—और वह है उसकी ईश्वर के रूप में आराधना करना।" (ईशदूत ईसा, पृ० १७)।

स्वामी विवेकानन्द का अध्ययन गीता और उपनिषदों तक सीमित था। मूल वेद उन्होंने नहीं पढ़े थे और गुरुभक्ति में वे इतने अन्धे हो गये थे कि वे मैक्समूलर की चालों को समझ पाने में असमर्थ थे। इसलिए **'मैक्समूलरवाक्यं प्रमाणं वाक्यम्'** मानकर उसी की इच्छानुसार ईसा के मार्ग पर आँखें मूँदकर चल पड़े थे।

इसमें सन्देह नहीं कि विदेशी विद्वानों ने संस्कृत-साहित्य में, विशेषतः वैदिक वाङ्मय में, अनुकरणीय उद्योग किया, परन्तु जातीय पक्षपात, राजनैतिक स्वार्थ तथा शास्त्र-विषय में अज्ञानमूलक अनेकविध भ्रान्तियों के कारण वे वैदिक साहित्य को उसके यथार्थरूप में प्रस्तुत न कर सके। जिस ध्येय को लक्ष्य में रखकर उन्होंने इतना परिश्रम किया उसका पता मोनियर विलियम्स द्वारा अपनी संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी की भूमिका में लिखे इन शब्दों से लग जाता है—"(ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में) बोडनपीठ के संस्थापक कर्नल बोडन ने अपने स्वीकार-पत्र (अगस्त १८११) में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा था कि उसकी इस विपुल राशि की भेंट का मुख्य उद्देश्य यह है कि धर्मग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद किया जाए जिससे उसके देशवासियों को भारतीयों को ईसाई बनाने के काम में आगे बढ़ने में सहायता मिले।"[1] कुछ समय बाद इसी मोनियर विलियम्स ने लिखा—"जिस दिन ब्राह्मण-(वैदिक)-धर्म के किले की दीवारें क्रॉस के सैनिकों (ईसाई पादरियों) द्वारा आक्रान्त होकर ध्वस्त हो जाएँगी, वह ईसाइयत की पूर्ण और अपूर्व विजय का दिन होगा।"[2]

मोनियर विलियम्स बोडन पीठ का दूसरा उत्तराधिकारी था। इस पीठ का प्रथम प्राध्यापक होरेस हेमन विलसन अपने-आप में एक भला आदमी था, पर अपने अन्नदाता के भावों के प्रति कर्त्तव्य-भावना से विवश था। उसने एक पुस्तक लिखी—"Religious and Philosophical Systems of the Hindus". इस पुस्तक के प्रणयन के उद्देश्य के विषय में लिखा गया है—"ये व्याख्यान जॉन म्यूर के दो सौ पौण्ड पुरस्कार के प्रत्याशियों को सहायता

---

१ 'The founder (of the Boden Chair at Oxford) Col. Boden had stated most explicitly in his will (dated August 15, 1811) that the special object of his munificent bequest was to promote the translation of the scriptures into English to enable his contrymen to proceed in the conversion of the natives of India to the Christian religion.' —Sanskrit-English Dictionary by Monier Williams, 1899, Preface, P. IX.

२ "When the walls of the mighty fortress of Brahmanism are encircled, undermined and finally stormed by the soldiers of the cross, the victory of Christianity must be signal and complete."

—Modern India and the Indians, Ed. 3, 1879, P. 261.

https://t.me/arshlibrary

देने के लिए लिखे गये हैं। हिन्दूधर्म के खण्डन में लिखे गये सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ का लेखक इस पुरस्कार का अधिकारी होगा।"[१] इसी जॉन म्यूर ने "The Oriental Studies" नामक एक ग्रन्थ लिखा था इसके प्रकाशकों ने उसके ऊपर लिखा था—"यह पुस्तक ईसाई पादरियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।"[२]

पादरी बाप-दादा की सन्तान मेकाले तो जन्म से ही ईसाई मिश्नरी था। उसके प्रभाव में आकर मैक्समूलर (जो मूलतः विद्याव्यसनी था) भी मिश्नरी बन गया था। मेकाले कूटनीतिज्ञ था तो उसके हाथ की कठपुतली मैक्समूलर कलम का धनी था। दोनों की मंजिल एक थी—ईसाइयत का प्रचार करके भारत में विदेशी शासन की नींव को सुदृढ़ करना।

विदेशी शासन और ईसाइयत का चोली-दामन का साथ रहा। भारत की दासता की कड़ियों को सुदृढ़ करने में ईसाई पादरियों ने ब्रिटिश शासकों के कन्धे से कन्धा मिलाकर काम किया है। भारतीय स्वाधीनता के प्रथम युद्ध की समाप्ति के दो वर्ष बाद ब्रिटेन के तत्कालीन प्रधानमन्त्री लॉर्ड पामर्स्टन ने घोषणा की कि "यह हमारा कर्त्तव्य ही नहीं, अपितु हमारा अपना हित इसी में है कि भारत-भर में ईसाइयत का प्रचार-प्रसार हो।"[३] इससे पूर्व ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स के चेयरमैन मिस्टर मेंगल्स ने पार्लियामेण्ट में कहा था—"विधाता ने हिन्दुस्तान का विशाल साम्राज्य इंगलैंड के हाथों में इसलिए सौंपा है कि ईसामसीह का झण्डा इस देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक लहराये। प्रत्येक ईसाई का कर्त्तव्य है कि समस्त भारतीयों को अविलम्ब ईसाई बनाने के महान् कार्य में पूरी शक्ति के साथ जुट जाए।"[४] सन् १८७६ में बम्बई के गवर्नर जनरल लार्ड री ने प्रिंस ऑफ वेल्स के सामने पादरियों के शिष्टमण्डल को प्रस्तुत करते हुए कहा था—"जितना काम आपके सिपाही, जज, गवर्नर और दूसरे अफसर कर रहे हैं, उससे कहीं अधिक ये (मिश्नरी) कर रहे हैं।"[५] लॉर्ड मेकाले व उसके सहयोगी तथा उसके भारतीय मानसपुत्र आज तक जो करते आये हैं उसके फलस्वरूप विसकित देश की मानसिकता पर टिप्पणी करते हुए प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् तथा भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने लिखा है—

---

१ These lectures were written to help candidates for a prize of £ 200 given by John Muir, the well-known old Hailebury man and great Sanskrit scholar, for the best refutation of the Hindu Religious System.'
—Eminent Orientalists, Madras P. 72.

२ The publishers of John Muir's book 'The Oriental Studies' admit that this book will prove most serviceable to the Christian Missionaries. —Ghosh and Bros. 61 Sankaritollah, Calcutta, 1878.

३ It is not only our duty; but in our own interest to promote the diffusion of Christianity, as far as possible, throughout the length and b eadth of India. —Christianity and Government of India, Mathew, P. 194.

४ Providence has entrusted the extensive empere of India to England so that the banner of Christ should wave triumphant from one end of India to the other. Everyone must exert all his strength that there may be no dilatoriness on any account in continuing in the country of the grand work of making all Indians Christians.'

५ "They are doing in India more than all those civilians, soldiers, judges and governors your highness has met."

https://t.me/arshlibrary

"Naturally some of these are not behind the hostile foreign critic in their estimate of the history of Indian culture. They look upon India's cultural evolution as one dreary scene of discord, folly and superstition. They are eager to imitate the material achievements of Western States, and tear up the roots of ancient civilisation, so as to make room for the novelties imported from the West. One of their number recently declared that if India is to thrive and flourish, England must be her 'spiritual mother' and Greece her 'spiritual grandmother'."

आचार्यों ने प्राचीन आर्ष परम्परा का अनुसरण करते हुए जहाँ वेदों को पवित्र, अपौरुषेय व ईश्वरीय ज्ञान माना, वहाँ पाश्चात्य विद्वानों ने उन्हें प्रायः मानव-पुस्तकालय में सबसे प्राचीन ग्रन्थ (Oldest book in the library of the world) मानते हुए भी उन्हें पवित्र दिव्य ज्ञान और विविध विद्याओं का भण्डार नहीं, अपितु ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण संग्रह माना जिनसे प्राचीन असभ्यप्राय जंगली लोगों के विचारों और रीति-रिवाजों का पता चलता है।[1]

मैगेस्थनीज़ की विश्वसनीयता

जब सर विलियम जोन्स, हैनरी टॉम्स, कोलब्रुक, श्लैगल, हमबोल्ट और शोपनहावर के माध्यम से भारतीय वाङ्मय पश्चिम में पहुँचा तो लोगों की रुचि भारत से आनेवाले प्रत्येक साहित्यिक ग्रन्थ को अति प्राचीन युग का मानने की थी। कुछ लोगों को भारत के उत्कर्ष की यह बात अखरने लगी। इसका प्रमाण ए.एच. सेस के इस लेख से मिलता है—"परन्तु जहाँ तक मनुष्य का सम्बन्ध है, उसका इतिहास अभी तक बाइबल के प्रान्तों पर लिखी गयी तिथियों तक सीमित था। मनुष्य के अचिरकालीन आविर्भव का यह पुराना विचार अभी तक ज्यों-का-त्यों बना हुआ है और तथाकथित सूक्ष्म इतिहासवेत्ता प्राचीन इतिहास की तिथियों की पुरातनता को कम करने में संलग्न हैं। वस्तुतः मनुष्यों की उस पीढ़ी के लिए, जो इस विचार में पली है कि मानव की उत्पत्ति ईसा-पूर्व ४००० वर्ष अथवा इसके आस-पास हुई थी, यह विचार कि मनुष्य एक लाख वर्ष पुराना है, सर्वथा अकल्पनीय एवं अविश्वसनीय है।"[1]

पाश्चात्य लेखक बुद्ध से पूर्व के इतिहास को इतिहास ही नहीं मानते, उसे प्रागैतिहासिक युग मानते हैं। जिस एक आधारतिथि (ईसा-पूर्व ३२७) के ऊपर उन्होंने भारतीय तिथिक्रम का सम्पूर्ण ढाँचा खड़ा किया है, वह है चन्द्रगुप्त मौर्य तथा यूनानी आक्रान्ता सिकन्दर की तथाकथित समकालीनता की कहानी, जिसे मैगेस्थनीज़ द्वारा लिखा बताया जाता है, परन्तु जब स्वयं मैगेस्थनीज़ का भारत में आना ही विवादास्पद है, तब उसके आधार पर निर्धारित तिथिक्रम को प्रामाणिक कैसे माना जा सकता है ? यदि मैगेस्थनीज़ भारत में आया होता और मगध की राजधानी पाटलीपुत्र में रहा होता तथा चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालिक होता तो यह कैसे हो सकता था कि वह नन्द और विश्वविख्यात राजनीतिज्ञ चाणक्य का उल्लेख न करता ! परन्तु उसने इनमें से किसी का नाम तक भी नहीं लिया। इतने मात्र से मैगेस्थनीज़

१ "But as far as man was concerned, his history was still limited by the dates in the margin of our Bibles. Even today the old idea of his recent appearance still prevails and the so-called critical historians still occupy themselves in endeavouring to reduce the dates of his early history....To a generation which had been brought up to believe that 4000 B.C. or thereabout the world was being created, the idea that man himself went back to 1,00,000 years ago was both inconceivable and incredible." —Antiquity of Civilised Man, Anthropological Institute of Great Britain and Ireland, Vol. 60, July-December, 1930.

https://t.me/arshlibrary

के नाम पर गढ़ी गयी चन्द्रगुप्त मौर्य और सिकन्दर की समकालिकता की कहानी नितान्त मिथ्या सिद्ध हो जाती है। फिर उसके आधार पर निर्धारित अन्य समस्त तिथिक्रम स्वत: खण्डित हो जाता है। भारतीय स्रोतों के अनुसार बुद्ध, चन्द्रगुप्त मौर्य, आदि शंकराचार्य आदि का काल प्रचलित काल से लगभग १२०० वर्ष पीछे चला जाता है। वास्तव में मैगेस्थनीज़ द्वारा लिखा बताया जानेवाला ग्रन्थ 'इण्डिका' आज तक किसी ने नहीं देखा। उसके नाम की माला फेर-फेरकर भारत का इतिहास लिखा जाता रहा है। वी आर. रामचन्द्रन ने 'A Peep into Historical Past' (१८६२) तथा रामचन्द्र दीक्षितार ने 'Mauryan Polity' में कहा है कि तत्कालीन समाज व सैन्य-रचना का जो वर्णन चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है, वह मैगेस्थनीज़ के वर्णन (Classical Accounts of India—1860) से मेल नहीं खाता। प्रो० कीथ ने भी इसकी विस्तृत चर्चा की है। जहाँ पुराणों में शक, यवन, पारसी, हूणों के आक्रमणों का वर्णन है, उसमें सिकन्दर का कोई उल्लेख नहीं है। प्लीनी ने तो साफ शब्दों में लिखा है कि मैगेस्थनीज़ के वर्णन परस्पर विरोधी और अविश्वसनीय हैं। डॉ० खानबाख का भी कहना है कि इसमें सन्देह है कि मैगेस्थनीज़ ने एक बार भी पालीबोथ्रा की यात्रा की थी या नहीं ! स्ट्रेबो ने साफ शब्दों में लिखा है कि भारत के विषय में लिखनेवाले अधिकांश ग्रीक लेखक मिथ्यावादी थे, परन्तु ऐसे लेखकों को ऑक्सफोर्ड के विद्वानों ने अपने भारतीय इतिहास की आधारशिला बनाया है और भारतीयों ने भी इन्हीं के आधार पर इतिहास की रचना की है।

आजकल के पश्चिमी लेखक तो नये तथ्यों का पता लगने पर उनपर विचार करके अपने पूर्वाग्रहों को सुधारने लगे हैं, परन्तु जिन दिनों अंग्रेजी राज्य की नींव रक्खी जा रही थी उन दिनों यह स्थिति नहीं थी। समस्त लेखन पूर्वाग्रहों के आधार पर ही किया जाता था। विस्तारवादी यूरोपियनों को भारतीयों के सामने प्रस्तुत करने के लिए एक आदर्श वीर की मूर्त्ति गढ़ना आवश्यक था। इसके लिए उन्हें सिकन्दर की मूर्त्ति उपयुक्त जान पड़ी। वस्तुतः ग्रीक लेखकों के मूलग्रन्थ नष्ट हो चुके थे। बाद के साहित्य से उनके उद्धरण एकत्रित किये गये। डॉ० खानबाख़ द्वारा जर्मनभाषा में प्रस्तुत यही संकलन 'इण्डिका' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। १८७७ में मैकक्रिंडल ने 'Ancient India after accounts of Magasthanese and Aryan' नाम से इसका अंग्रेजी में रूपान्तर किया। इसी का विस्तार कर तथा मनगढ़न्त नक़शे बनाकर विन्सेण्ट स्मिथ ने 'Oxford History of India' में उसका उपयोग किया और हमने अपने गौरांग महाप्रभुओं को आप्तपुरुष मानकर उनका अनुकरण किया, परन्तु कालान्तर में स्वयं पाश्चात्य लेखकों ने ही इन ग्रीक लेखकों को अविश्वसनीय बताना शुरू कर दिया। 'सिकन्दर और चन्द्रगुप्त मौर्य समकालीन थे' विलियम जोन्स ने इस कथन का प्रतिवाद प्रो० एम० ट्रायर ने अपनी 'कल्हणकृत राजतरंगिणी' की प्रस्तावना में किया। इस विषय में उसने मैक्समूलर को पत्र भी लिखा था, परन्तु मैक्समूलर ने उसके मत का उल्लेख न करके अपने 'History of Sanskrit Literature' में विलियम जोन्स की पुष्टि करते हुए लिखा—"भारत के इतिहास को ग्रीस के इतिहास से सम्बन्धित करने तथा कालक्रम को घटाकर ठीक करने का यही एक उपाय है। कुछ उपायों विशेषकर मि० ट्रायर के राजतरंगिणी में किये गये आक्षेपों के बावजूद चन्द्रगुप्त मौर्य तथा ग्रीस के सैंड्राकोटस को एक मानने में कोई आपत्ति नहीं है।" ग्रीस के सिकन्दर तथा भारत के चन्द्रगुप्त मौर्य की समकालीनता के सम्बन्ध में विलियम जोन्स के मत का पुनर्मूल्यांकन आवश्यक है।

वेदों की स्थिति

भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से वेदों का अत्यधिक महत्त्व रहा है। भारतीय परम्परागत दृष्टि से वेद मनुष्य के लिए अपेक्षित सम्पूर्ण ज्ञान का अक्षय भण्डार हैं। उन्हें धर्म का मूल माना गया है—'**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**'। आस्तिकता और नास्तिकता का मानदण्ड भी वेद की निन्दा और स्तुति पर आधारित रहा

https://t.me/arshlibrary

है—**'नास्तिको वेदनिन्दकः'** —'वेद की निन्दा करनेवाला नास्तिक है।' अर्थापत्ति से इसका अभिप्राय है कि जो वेद की निन्दा नहीं करता वह आस्तिक है। वेद समस्त वैदिक वाङ्मय का उपजीव्य हैं। परोक्षरूप से संस्कृत में रचित लौकिक साहित्य की विभिन्न विद्याओं में भी वह अनेक प्रकार से अनुस्यूत हैं। वेद के महत्त्व के कारण सभी धार्मिक एवं दार्शनिक सम्प्रदाय अपना मूल वेद में खोजने का प्रयास करते रहे हैं।

आज चाहे संसार ने कितनी ही उन्नति कर ली हो, परन्तु मानवीय समस्याओं का जैसा समाधान वेद में है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। मानव जीवन के लिए जो कुछ उपयोगी है, वेद में उस सबका निदर्शन है। वेद में ऐहिक के साथ पारलौकिक ज्ञान, भौतिक के साथ आध्यात्मिक ज्ञान और अभ्युदय के साथ निःश्रेयस का विवेचन है। यदि मानव के लिए वेद इतना उपयोगी न होता तो ब्राह्मणों ने प्राण देकर भी उनकी रक्षा के लिए प्रयास न किया होता, दाक्षिणात्यों ने वेदों को कण्ठस्थ करना अपने जीवन का लक्ष्य न बनाया होता। आज भी अनेक वेदपाठी इसकी युग-युग पुरानी श्रवण और मौखिक परम्परा का पालन कर रहे हैं। उनके मुख में वेद आज भी उसी रूप में सुरक्षित हैं जिस रूप में कभी आदि ऋषियों ने उनका उच्चारण किया होगा। विश्व के इसी अद्भुत आश्चर्य को देखकर एक पाश्चात्य विद्वान् ने भावविभोर होकर कहा था कि यदि वेद की सभी मुद्रित प्रतियाँ लुप्त हो जाएँ तो भी इसे ब्राह्मणों के मुख से पुनः प्राप्त किया जा सकता है।

वेद की महनीयता को भारत ने स्वीकारा और इसकी सुरक्षा के लिए विश्व के इतिहास में अपने ढंग का अनूठा प्रयास किया। वेदमन्त्रों की सुरक्षा के लिए जो उपाय किये गये उन्हें आजकल की गणित की भाषा में Permutation and combination कहा जा सकता है। वेद-मन्त्र स्मरण रखने और उनमें एक भी अक्षर या मात्रा का भी लोप या विपर्यास न हो सके, इसके लिए उसे १३ प्रकार से याद किया जाता था—इन्हें संहितापाठ, पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ, पुष्पमालापाठ, क्रममालापाठ, शिखापाठ, रेखापाठ, दण्डपाठ, रथपाठ, ध्वजपाठ, घनपाठ और त्रिपदघनपाठ नाम से जाना जाता है। पाठों के इन नियमों को 'विकृतिवल्ली' नामक ग्रन्थ में विस्तार से दिया गया है। इन प्रयत्नों की सराहना करते हुए मैक्समूलर ने अपने ग्रन्थ 'Origin of Religion' में पृष्ठ १३१ पर लिखा है—

"The texts of the Vedas have been handed down to us with such accuracy that there is hardly a various reading in the proper sense of the word or even an uncertain aspect in the whole of Rigveda."

यदि ब्राह्मणों ने वेदों को कण्ठस्थ कर अपनी छाती में सुरक्षित न रक्खा होता, तो मुस्लिम शासन के बाद वेद न बचे रहते। ऐसी स्थिति में, भले ही उन पण्डितों को वेदों के अर्थों का ज्ञान न रहा हो, उन्होंने वेदों को कण्ठस्थ करके जो उनकी रक्षा की, उसके लिए सम्पूर्ण मानवजाति उनकी ऋणी रहेगी। प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या यह केवल अन्धविश्वास ही था ? या इसकी पृष्ठभूमि में कोई गहन चिन्तन था! केवल अन्धविश्वास के आधार पर कोई भी मान्यता निरवधिक काल तक नहीं टिक सकती। मनन-चिन्तनशील मानव किसी-न-किसी कालखण्ड में उसकी परीक्षा करना चाहेगा और जब उसे अपनी मान्यता थोथे विश्वास पर आधारित लगेगी तो उसे स्वीकार न कर पाने में उसे विवशता का आभास होने लगेगा। आश्चर्य इस बात का है कि भारत के चिन्तनशील मानव को—सांख्य, वैशेषिक और न्यायदर्शन के रचयिताओं को कभी यह आभास नहीं हुआ। इससे स्पष्ट है कि अति प्राचीनकाल की पीढ़ियों को वेदार्थ सुस्पष्ट था और इस कारण वे लोग वेदों की महनीयता के प्रति भी आश्वस्त थे। परम्परा के आधार पर एक-दूसरे को वेदार्थ का ज्ञान कराने की परम्परा का लोप होने पर धीरे-धीरे वेदार्थ का ज्ञान धूमिल होने लगा।

https://t.me/arshlibrary

इस प्रकार वेदार्थ या वेदभाष्य की परम्परा का उपक्रम तब हुआ जब लोगों को मौखिक उपदेश द्वारा वेदार्थ को समझने में असमर्थता अनुभव होने लगी। वेदार्थ करनेवाले आचार्यों ने वेद को अपनी-अपनी दृष्टि से देखा और उसी के अनुसार अर्थ किया। यही कारण है कि प्राचीन प्रामाणिक आचार्यों ने भी वेदमन्त्रों के अलग-अलग अर्थ किये।

वैदिक विचारधारा में यज्ञों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। कालान्तर में यज्ञों का प्राधान्य हो जाने से वेदमन्त्रों का विनियोग यज्ञों में ही होने लगा। जैसे-जैसे यज्ञों का महत्त्व बढ़ता गया, वैसे-वैसे वेदों का आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक प्रक्रियानुसारी अर्थ गौण होता गया और याज्ञिक प्रक्रियानुसारी अर्थों में उनका पर्यवसान कर दिया गया। वेदमन्त्रों के केवल आधियाज्ञिक अर्थ किये जाने का प्रत्यक्ष प्रहार आधिदैविक प्रक्रिया पर हुआ। प्राचीनकाल में आधिदैविक प्रक्रिया के अनुसार वेद के जो वैज्ञानिक अर्थ किये जाते थे, वे धीरे-धीरे लुप्त होते गये। परिणामतः अत्युत्कृष्ट वैज्ञानिक अर्थों के प्रतिपादक मन्त्र चारण-भाटों के स्तुतिवचन बनकर रह गये और इस प्रकार वेद का सर्वज्ञानमयत्व नष्ट हो गया। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से वेदार्थ करनेवाले ये भाष्यकार याज्ञिकवाद की कीली के गिर्द घूमते रहे। सायण के काल तक यह स्थिति हो गयी कि आध्यात्मिक तत्त्वों का स्पष्ट निर्देश करनेवाले मन्त्रों को भी पकड़-पकड़ कर बलात् याज्ञिक प्रक्रिया में घसीटा जाने लगा। यजुर्वेद के २३वें अध्याय के राजधर्म का प्रतिपादन करनेवाले मन्त्रों का महीधर ने ऐसा अश्लील अर्थ किया कि हम सभ्य संसार के सामने मुँह दिखाने लायक न रहे।

वस्तुतः महीधर का अर्थ इतना अश्लील है कि कामशास्त्र के निकृष्टतम प्रकरणों में भी वैसी बेहूदा भाषा का प्रयोग नहीं मिलेगा। वैसा अर्थ तो मन्त्रों को तोड़-मरोड़कर भी नहीं हो सकता। ऐसी हालत में तो महीधर के अर्थों को तभी माना जा सकता है जब हमारा इरादा ही वेदों के विरुद्ध घृणा फैलाना हो। महीधर के अर्थ को पढ़कर ही चार्वाकों को कहना पड़ा—

त्रयो वेदस्य कर्त्तारः धूर्तभण्डनिशाचराः ।
जर्फरी-तुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम् ॥
अश्वस्यास्य शिश्नं तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम् ।
भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यं जातं प्रकीर्तितम् ।
मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम् ॥

महीधर का अर्थ इसीलिए त्याज्य नहीं कि वह अश्लील है, अपितु इसलिए भी कि मन्त्रों का वह अर्थ है ही नहीं।

शतपथब्राह्मण में भी ऐसा ही अर्थ उपलब्ध है, परन्तु शतपथ में ही अन्यत्र इस मन्त्र का अत्यन्त शुद्ध, युक्तियुक्त एवं उपादेय अर्थ भी उपलब्ध है। इससे स्पष्ट है कि मांसभक्षण, मदिरापान, पशुबलि, गुप्तेन्द्रियपूजन आदि आसुरी प्रवृत्तियों का ब्राह्मणादि ग्रन्थों में प्रक्षेप कर दिया गया और उन्हें वेद की संज्ञा देकर अपनी मान्यताओं की वेद के नाम पर पुष्टि कर दी गयी। क्या वेद इसी प्रकार के कुकृत्यों का प्रतिपादन करता है ? यदि इसका उत्तर 'हाँ' में है तो बुद्ध जैसे महात्मा के स्वर-में-स्वर मिलाकर हम भी यह कहने को विवश होंगे कि हम ऐसे वेद को नहीं मानते, परन्तु इसमें दोष वेद का नहीं है। दोष उस ऐनक का है जिसमें से सब हरा-ही-हरा दिखता है।

लॉर्ड मेकाले को अपने मिशन में पूरी सफलता मिली। लोकमान्य तिलक जैसे देशभक्त की कलम से उसने लिखवा दिया कि भारत में रहनेवाले आर्य (हिन्दू) इस देश के मूल निवासी न होकर आक्रान्ता के

https://t.me/arshlibrary

रूप में बाहर से आकर बसे हुए लोग हैं। अपने ही घर में हम पराये बनकर रह गये। बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न ने अपनी पुस्तक 'मानवेर आदि जन्मभूमि' में लिखा है—"तिलक महोदय का मत (आर्यों के मूल स्थान के सम्बन्ध में) संशोधन करने के लिए गत वर्ष जब हम उनके घर गये तो उन्होंने हमसे सरलतापूर्वक कह दिया—'आमि मूल वेद अध्ययन करि नाई। आमि साहब अनुवाद पाठ करिया छे' अर्थात् हमने मूल वेद नहीं पढ़े, हमने तो केवल साहब लोगों का अनुवाद पढ़ा है। सायण और तदनुयायी मैक्समूलर के दूषित वेदार्थ ने सबकी आँखों पर ऐसी पट्टी बाँधी कि आज तक भी वह नहीं खुल पायी। भारतीय संस्कृति के पोषक कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने अपनी पुस्तक 'लोपामुद्रा' में ऋग्वेद के आधार पर लिखा—

"आर्यों की भाषा में अभी भी जंगली दशा के स्मरण मौजूद थे। मांस भी खाया जाता था और गाय का भी। '**अतिथिग्व**' गोमांस खिलानेवाले की बहुमानास्पद उपाधि थी। ऋषि सोमरस पीकर नशे में चूर रहते और लोभ तथा क्रोध का प्रदर्शन करते थे। सर्वसाधारण सुरा पीकर नशा करते थे। वे जुआ खूब खेलते थे। ऋषि युद्धक्षेत्र में हजारों का संहार करते थे। वे रूपवती स्त्रियों को आकर्षित करने के लिए मन्त्रों की रचना करते थे। कुमारी से उत्पन्न बच्चे अधम नहीं माने जाते थे। कई ऋषियों के पिताओं का पता नहीं था। आर्य भेड़िये की तरह लोभी थे। बीभत्सता या अश्लीलता का कोई विचार न था। आत्मा का कोई ख्याल ही नहीं था। ईश्वर की कोई कल्पना नहीं, कोई नाम नहीं, मान्यता नहीं। स्वदेश की कोई कल्पना नहीं थी। दस्यु भारतवर्ष के शिवलिंगपूजक मूल निवासी थे।

जब हमने पत्र लिखकर उनसे ऋग्वेद के उन मन्त्रों को उद्धृत करने का आग्रह किया जिनके आधार पर उन्होंने यह सब लिखा था तो उन्होंने वैसा ही उत्तर दिया जैसा लोकमान्य तिलक ने दिया था। उन्होंने हमारे नाम अपने पत्र दिनांक २ फरवरी १९५० में लिखकर भेजा—

"I believe the Vedas to have been composed by human beings in the very early stage of our culture and my attempt in this book has been to create an atmosphere which I find in the Vedas as translated by western scholars and as given in Dr. Keith's Vedic Index. I have accepted their views of life and conditions of those times."

अर्थात्—मैं वेदों को अपनी संस्कृति के प्रारम्भिक काल में मनुष्य द्वारा रचित मानता हूँ। मैंने अपनी पुस्तक में आर्यों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उसका आधार पाश्चात्य विद्वानों, विशेषतः डॉक्टर कीथ द्वारा किया गया वेदों का अनुवाद है। मैंने उस समय के लोगों के जीवन और रहन-सहन आदि के सम्बन्ध में उनका प्रामाण्य स्वीकार किया है।

सायण और तदनुयायी पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों का निरुक्त-प्रक्रिया की उपेक्षा करके लौकिक संस्कृत के आधार पर वेदार्थ करने का यह दुष्परिणाम निकला कि सब सत्य विद्याओं के पुस्तक वेद किस्से-कहानियों का पिटारा बनकर रह गये। इतना ही नहीं, ब्राह्मणग्रन्थों, शाखाओं, श्रौतसूत्रों आदि अनेकानेक संस्कृतग्रन्थों को भी वेद मानकर समय-समय पर उनमें हुए प्रक्षेपोंसहित सब-कुछ वेदों के मत्थे मढ़ दिया गया और इस प्रकार हमारी मस्तिष्करूपी भूमि में वेदों के प्रति अश्रद्धा की पथरीली चट्टानें खड़ी कर दी गयीं।

ऋषि दयानन्द का प्रादुर्भाव

ऐसी विषम परिस्थिति में दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ। वस्तुतः वही भारतीय पुनर्जागरण (Renaissance) के पुरोधा थे। फ्रॅंस के महान् लेखक रोमा रोलाँ ने लिखा है—

https://t.me/arshlibrary

"This man with the nature of a lion is one of those, whom Europe is too apt to forget when she judges India, but whom she will probably be forced to remember to her cost; for he was that rare combination, a thinker of action with a genius for leadership. He was a hero with the athletic strength of a Hercules who thundered against all forms of thought other than his own, the only true one. He was so successful that in five years Northern India was completly changed. He possessed unrivalled knowledge of Sanskrit and the Vedas. Never since Shankara had such a prophet of Vedism appeared. Dayanand was not a man to come to an understanding with religious philosophers imbued with western ideas."

यह पुरुषसिंह उनमें से एक था जिन्हें यूरोप प्रायः उस समय भुला देता है जबकि वह भारत के सम्बन्ध में अपनी धारणा बनाता है, किन्तु एक-न-एक दिन यूरोप को अपनी भूल मानकर उसे याद करने के लिए विवश होना पड़ेगा, क्योंकि उसमें कर्मयोगी, विचारक और नेतृत्व के लिए अपेक्षित प्रतिभा का दुर्लभ सम्मिश्रण था। शारीरिक बल में वह हरकुलीस (Hercules—a hero of Greek and Roman mythology, celebrated for his great strength and for the accomplishment of twelve extraordinary tasks. After death he was ranked among the gods) के समान था, जो सत्य के विरोधी हर प्रकार के विचार के विरुद्ध गरजता था। पाँच वर्ष के भीतर उसने उत्तर भारत को पूरी तरह बदल डाला। संस्कृत और वेदों के ज्ञान में उससे बढ़कर कोई नहीं था। शंकर के बाद दयानन्द के समान वेदों का प्रवक्ता दूसरा नहीं हुआ। पाश्चात्य विचारों से प्रभावित किसी धार्मिक या दार्शनिक विचारधारा से उन्होंने कभी समझौता नहीं किया।

ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य पर टिप्पणी करते हुए श्री अरविन्द ने १९१६ में लिखा था—

"In the matter of Vedic interpretation, I am convinced that whatever may be the final complete interpretation, Dayanand will be honoured as the first discoverer of the right clues. Amidst the chaos and obscurity of old ignorance and agelong misunderstanding, his was the eye of direct vision that pierced to the truth and fastened on to that which was essential. He has found the keys of the doors that time had closed and rent asunder the seals of the imprisioned fountains."

—Vedic Magazine : Dayanand and the Veda, Lahore, Nov. 1916.

अर्थात् वैदिक व्याख्या के विषय में मेरा यह विश्वास है कि वेदों की सम्पूर्ण अन्तिम व्याख्या कोई भी हो, यथार्थ निर्देशों के प्रथम आविर्भावक के रूप में ऋषि दयानन्द का सदा मान किया जाएगा। पुराने अज्ञान और पुराने युग की मिथ्या ज्ञान की अव्यवस्था और अस्पष्टता के बीच यह उनकी अन्तर्दृष्टि थी जिसने सच्चाई को खोजा और उसे वास्तविकता के साथ जोड़ दिया। समय ने जिन द्वारों को बन्द कर रखा था उनकी चाबियों को उसने पा लिया और बन्द पड़े हुए स्रोत की मुहरों को तोड़ कर फैंक दिया।

मैक्समूलर का हृदय-परिवर्तन

अपनी आर्थिक विपन्नता के कारण मैक्समूलर को अपनी आत्मा का सौदा करके लॉर्ड मेकाले की दासता स्वीकार करनी पड़ी थी। ऑक्सफोर्ड में रहते हुए अपने प्रारम्भिक वर्षों में उनके लिए अपने अन्नदाताओं को सन्तुष्ट करना आवश्यक था। इसलिए उस अवधि में उन्होंने जो कुछ लिखा वह उस स्थिति का परिणाम था। इस आत्मसमर्पण के कारण उनकी आत्मा उसे कचोटती रही। इसलिए जैसे ही उसे इस स्थिति से उबरने का अवसर मिला, वैसे ही उसका मन विद्रोह कर उठा और भीतर की बातें बाहर आने लगीं। वे भीतर की बातें क्या थीं ? मैक्समूलर ने लिखा है—

https://t.me/arshlibrary

"Of the Rigveda, the most ancient of Sanskrit books, two editions are now coming out in monthly numbers. The one published at Bombay by what may be called the liberal party; the other at Prayag (Allahabad) by Dayanand Sarswati, the representative or Indian orthodoxy. The former gives a paraphrase in Sanskrit and Marathi and English translation, the latter a full explanation in Sanskrit followed by a vernacular (Hindi) commentary. These books are published by subscription and the list of subscribers among the natives of India is very considerable."

—India : What can it teach us.

मैक्समूलर प्रयाग से स्वामी दयानन्द द्वारा मासिक रूप में प्रकाशित हो रहे ऋग्वेदभाष्य के नियमित ग्राहक थे और उनका नाम मुखपृष्ठ पर प्रकाशित ग्राहकों की सूची में शामिल था। स्वामीजीकृत ऋग्वेदभाष्य को पढ़कर मैक्समूलर की आँखे खुल गयीं और उसके विचार पलटा खाने लगे। सन् १८८२ में कैम्ब्रिज में मैक्समूलर के कुछ व्याख्यान हुए जो सन् १८८३ में 'India : What can it teach us' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। इन व्याख्यानों में स्वामी दयानन्द, वेद और भारत के सम्बन्ध में मैक्समूलर का स्वर बदला हुआ था। कभी स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए मैक्समूलर ने लिखा था—

"He (Dayananda) actually published a commentary in Sanskrit on Rigveda. But in all his writings there is nothing which could be quoted as original, beyond his somewhat strange interpretations of words and whole passages of Vedas."

—Maxmueller : A Real Mahatma, P. 8.

अर्थात् स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेद का भाष्य किया है, पर उसके समूचे साहित्य में ऐसा कुछ नहीं है जिसे मौलिक कहा जा सके, सिवा इसके कि उन्होंने वैदिक शब्दों और वाक्यों के कुछ विचित्र-से अर्थ किये हैं।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका को पढ़ने के बाद मैक्समूलर ने इस महान् ग्रन्थ को संस्कृत साहित्य के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हुए स्वामी दयानन्द और उनकी कृति का इन शब्दों में स्तवन किया है—

"We may divide the whole of Sanskrit literature beginning with the Rigveda and ending with Dayanand's Introduction to his commentary of the Rigveda, into two parts."

—India : What can it teach us, P. 102.

इस प्रकार मैक्समूलर ने जहाँ संस्कृत साहित्य के एक ध्रुव पर ऋग्वेद को रखा, वहाँ दूसरे ध्रुव पर दयानन्द की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका को प्रतिष्ठित किया।

सन् १८६६ में मैक्समूलर ने लिखा था—"A large number of Vedic hymns are childish in the extreme, tedious, low and common place."

—Chips from a German Workshop, Ed. 1866, P. 27

अर्थात् वैदिक सूक्तों की एक बहुत बड़ी संख्या बिल्कुल बचकानी, जटिल, निकृष्ट और साधारण है। उनमें न परस्पर संगति है और न सुलझे हुए अर्थों की स्थापना। वेद धार्मिक विश्वासों के विजड़ित पोथे हैं। जिनका अधिकांश बुद्धिगम्य नहीं है। मानवजाति के सीखतड़ बच्चे जिस आश्चर्य से जगत् को देखते हैं, उसी की छाया मन्त्रों में है।

https://t.me/arshlibrary

उन्हीं मैक्समूलर ने १८८२ में लिखा—"वेद में जैसी भाषा पायी जाती है, उसमें जैसा जीवन-दर्शन है और जैसे धर्म का दर्शन होता है, उनसे जो दृश्यावली दृष्टिगत होती है, वर्षों में तो कोई उसकी दूरी नाप नहीं सकता। वेद में ऐसी भावनाओं का प्रकाश हुआ है जो हम यूरोपियनों को १६वीं शती में आधुनिक प्रतीत होती हैं। उससे अधिक प्राचीन साहित्यिक कृति का हमें नाम भी सुनने को नहीं मिला। मानव विचारधारा के इतिहास के विषय में जो जानकारी हमें वेद से मिलती है, वह वेदों की खोज से पूर्व हमारी कल्पना से भी परे थी।" (हम भारत से क्या सीख सकते हैं, पृष्ठ १३०)

सन् १८६८ में मैक्समूलर ने अपने पुत्र को लिखे पत्र में वेदों का अवमूल्यन इन तिरस्कारपूर्ण शब्दों में किया था—

"Would you say that any one sacred book is superior to all others in the world ?.....I say, the New Testament. After that I should place the koran which, in its moral teachings is hardly more than a later edition of the New Testament. Then would follow..... The Old Testement, the Buddhist Tripitaka... The Veda and the Avesta ."

अर्थात् संसार की सब पुस्तकों में नया अहदनामा (The Bible or New Testament) सर्वोत्कृष्ट है। इसके पीछे कुरान को, जो एक प्रकार से बाईबल का ही रूपान्तर है, रक्खा जा सकता है। तत्पश्चात् पुराना अहदनामा (Old Testament) बौद्धत्रिपिटिक, वेद और अवेस्ता हैं।

बाद में सन् १८८३ में मैक्समूलर ने इन शब्दों में वेद का प्रशस्तिगान किया—"यदि किसी को **मानव जाति** का अध्ययन करना हो, या आप चाहे तो यूँ कह सकते हैं कि यदि किसी को आर्य-जीवन के विषय में अध्ययन करना हो तो उसके लिए वैदिक साहित्य का अध्ययन ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होगा। **संसार का कोई भी साहित्य वैदिक साहित्य की तुलना में नहीं ठहर सकता।**" (हम भारत से क्या सीखें, पृ० १२४)

"लोगों ने वेद की महत्ता को कम करने के कोई कम प्रयत्न नहीं किये, पर उसका महत्व आज भी वैसा ही है। आज भी धार्मिक, सामाजिक या दार्शनिक विवादों में वेद को ही अन्तिम प्रमाण माना जाता है।"

—वही पृ० २२७

स्वामी दयानन्द ने पाणिनि की अष्टाध्यायी और यास्क के निरुक्त के आधार पर किये गये वेदों के व्याख्यान को प्रामाणिक माना था, जबकि मैक्समूलर आदि लौकिक संस्कृत के अनुसार वेदभाष्य कर रहे थे। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का अध्ययन करने पर उनका दृष्टिकोण बदला और उन्होंने लिखा—

"वास्तव में वेदों को समझने के लिए वैदिक प्रणाली ही एकमात्र प्रणाली है। अन्य प्रणाली से उनका स्पष्टीकरण सम्भव नहीं। ईसा से ४०० वर्ष पूर्व यास्क नाम के एक विद्वान् हुए हैं। उन्हीं का अनुसरण करके हम वेदों को ठीक-ठीक समझ सकते हैं।" (भारत से हम क्या सीख सकते हैं, पृ० १५०)

पाश्चात्य मत के अनुसार वैदिक आर्य अनेक देवी-देवताओं की उपासना करते थे। मैक्समूलर भी यही मानता था, क्योंकि वह विकासवाद के विपरीत यह मानने के लिए तैयार नहीं था कि मानव संस्कृति के प्रारम्भिक काल में एकेश्वरवाद जैसा उत्कृष्ट विचार मानव के मस्तिष्क में आ सकता था। बाद में उसका यह विचार बदल गया। तब उसने लिखा—

"There are hymns in the Rigveda that assert the unity of the Divine. Thus it is said—'That which is one, sages name it in various ways. They call it Agni, Yama, Matarishwa'—"**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः**" —ऋ. १।१६४।४६ —India : What can it teach us, P. 128.

https://t.me/arshlibrary

'श्राद्ध' शब्द की मैक्समूलर द्वारा की गयी निम्नलिखित व्याख्या निश्चय ही स्वामी दयानन्द के एतद्विषयक विचारों को मानने का परिणाम है—

"श्राद्ध शब्द अर्थपूर्ण है। इस शब्द के विषय में सर्वाधिक मनोरंजक तथ्य यह है कि यह शब्द न वेद में मिलता है और न ब्राह्मणग्रन्थों में, अतः यह परिणाम निकाला जा सकता है कि यह शब्द काफी देर बाद प्रचलित हुआ है। श्राद्ध शब्द के कई अर्थ होते हैं। वास्तव में 'श्रद्धया यत्कृतमिति श्राद्धम्' अथवा 'श्रद्धार्थमिदं श्राद्धम्'। ऐसी स्थिति में जो लोग श्राद्ध शब्द को सपिण्डतिलोदकदान तक सीमित समझते हैं, वे भूल करते हैं।" वही पृ० २१६

पाश्चात्यों एवं तदनुयायी भारतीय विद्वानों का यह मत रहा है कि भारत के मूल निवासी द्रविड़, दास और दस्यु नाम से पुकारे जानेवाले लोग थे। कालान्तर में आर्यों ने इस देश पर आक्रमण कर इस देश के आदिवासियों को पराजित करके बलात् अधिकार कर लिया। इसके विपरीत स्वामी दयानन्द की मान्यता थी कि आर्य इस देश के मूल निवासी हैं। उनके सम्पर्क में आने पर मैक्समूलर के विचारों ने पलटा खाया और प्रकारान्तर से उसने घोषणा की कि हम सब भारत से आये हैं। उसने लिखा—

"We have all come from the East—all that we value most has come to us from the East and by going to the East everybody ought to feel that he is going to his 'old home' full of memories, if only we can read them. —India P. 21

अर्थात् यह निश्चित है कि हम सब पूर्व से ही आये हैं। इतना ही नहीं, हमारे जीवन में जो कुछ मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण है, वह सब हमें पूर्व से मिला है। ऐसी स्थिति में जब भी हम पूर्व की ओर जाएँ तभी हमें यह सोचना चाहिए कि पुरानी स्मृतियों को संजोए हुए हम अपने पुराने घर की ओर जा रहे हैं।

सन् १८६८ में अपनी पत्नी को लिखे मैक्समूलर के पत्र से स्पष्ट है कि मैक्समूलर योजनाबद्धरूप में भारतीयता का सर्वनाश करने पर तुला हुआ था। इसी मैक्समूलर ने भारत की प्राशसनिक सेवा (I.C.S.=Indian Civil Service) में नियुक्त युवकों को इंगलैंड से भेजे जाते समय भारत का परिचय देते समय बताया—

"आप अपने विशेष अध्ययन के लिए चाहे जो भी शाखा अपनाएँ—भाषा, धर्म, दर्शन, कानून, परम्पराएँ, प्रारम्भिक कला या विज्ञान—हर विषय का अध्ययन करने के लिए भारत ही सर्वाधिक उपयुक्त क्षेत्र है। आप पसन्द करें या न करें, परन्तु वास्तविकता यही है कि मानव के इतिहास की बहुमूल्य एवं निर्देशक सामग्री भारतभूमि में संचित है, केवल भारतभूमि में।"

वस्तुतः वेदविषयक सारे अनर्थ की जड़ मध्यकालीन आचार्यों, विशेषतः सायण की वेदार्थ-विषयक भ्रान्त धारणाएँ हैं। इन विदेशी विद्वानों को सायण की अपेक्षा वेद का उत्तम भाष्य मिला होता तो सम्भवतः वेद की ऐसी दुर्दशा न होती। पिछले पाँच हजार वर्ष में अनेकानेक आचार्य हुए किन्तु वेद के वास्तविक स्वरूप को बतानेवाला एक भी नहीं हुआ। वेदों की पुनः प्रतिष्ठा के लिए और वेद के विषय में प्रचलित विविध मिथ्या मतों का उन्मूलन करने के लिए स्वामी दयानन्द ने स्वतन्त्ररूप से प्राचीन पद्धति को लेकर वेदभाष्य का उपक्रम किया और इस प्रकार वेदों के गूढार्थ को प्रस्तुत करने का प्रयास किया। पर वे समय से पूर्व ही स्वर्लोक चले गये। इसलिए वेदों के विषय में उनका प्रयत्न मार्गदर्शनमात्र है। यदि वे अधिक समय तक जीवित रहते और चारों वेदों का भाष्य कर पाते तो वे वेद के 'सर्वज्ञानमयत्व' तथा **'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति'** इत्यादि मनु की स्थापना को सत्यापित करने में सफल होते। उनके समस्त चिन्तन का केन्द्रबिन्दु वेद था। इसलिए चैत्र शुक्ला पंचमी संवत् १९३२ तदनुसार १० अप्रैल सन् १८७५ को जब स्वामी

https://t.me/arshlibrary

दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की तो उन्होंने लिखा था—"आ समाजनो मुख्य उद्देश्य ए छे के वेदविहित धर्मतत्त्वो प्रत्येक सभासदे मान्य करवो अने तेनो प्रसार देश-प्रदेश करवाने यथाशक्ति प्रयत्न करवो।" स्थापना के समय यही आर्यसमाज का 'पहलो नियम' निर्धारित किया गया था। स्वामीजी का विश्वास था कि वेद को अपनाने से व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और अन्ततः विश्व की सभी समस्याओं का समाधान हो जाएगा। इसी विश्वास और संकल्प के साथ उन्होंने वेदविरुद्ध मत-मतान्तरों तथा समाज में व्याप्त अन्धविश्वासों एवं कुरीतियों के निवारणार्थ प्रचार करना प्रारम्भ किया।

सत्यार्थप्रकाश की रचना

स्वामीजी ने अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए वाणी और लेखनी दोनों का उपयोग किया। सर्वप्रथम उन्होंने सन् १८६७ में हरद्वारकुम्भ के अवसर पर 'पाखण्ड-खण्डन' नाम से एक छोटी-सी पुस्तक छपवाई थी, जिसे उन्होंने बड़ी संख्या में वितरित कराया था। तत्पश्चात् १८६९ में काशी के पण्डितों के साथ हुए शास्त्रार्थ का पूरा विवरण संस्कृत तथा हिन्दी में प्रकाशित हुआ। उससे स्वामीजी के मन्तव्यों के प्रचार में अच्छी सहायता मिली थी। काशी में रहते हुए ही स्वामीजी ने 'अद्वैतमत-खण्डन' नाम से एक पुस्तक लिखी जो सन् १८७० में वहीं से प्रकाशित हुई थी। हुगली में पण्डित ताराचरण तर्करत्न का जो शास्त्रार्थ हुआ था वह भी पुस्तकरूप में १८७३ में काशी से ही प्रकाशित हुआ था। सन् १८७४ में स्वामीजी ने ग्रन्थरचना में विशेष तत्परता दिखाई जिसके फलस्वरूप अगले दो-तीन वर्षों में उनके कितने ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था—सत्यार्थप्रकाश।

सत्यार्थप्रकाश की रचना के प्रेरणास्रोत राजा जयकृष्णदास थे। वे मुरादाबाद के रहनेवाले 'राणायनीय' शाखाध्यायी सामवेदीय ब्राह्मण थे, जो स्वामीजी के उपदेशों से प्रभावित होकर उनके परम भक्त बन गये थे। वे डिप्टी कलेक्टर के पद पर नियुक्त थे। उन दिनों कलेक्टर, जज आदि उच्च पदों पर अंग्रेजों को ही नियुक्त किया जाता था। इसलिए राजा जयकृष्णदास का डिप्टी कलेक्टर का पद प्राप्त करना बहुत बड़ी उपलब्धि थी। वे समय-समय पर स्वामीजी से मिलते रहते थे। जब ज्येष्ठ संवत् १९३१ (मई १८७४) में स्वामीजी काशी पधारे तब राजा जयकृष्णदास वहाँ के डिप्टी कलेक्टर थे। एक दिन जब वे स्वामीजी से मिलने गये तो उन्होंने सुझाव दिया—"भगवन्! आपके उपदेशामृत से वे ही लोग लाभ उठा पाते हैं जो आपका व्याख्यान सुनते हैं। न तो सब लोग व्याख्यान-सभा में उपस्थित हो सकते हैं और न आप स्वयं सर्वत्र पहुँच सकते हैं। इसलिए यदि आपके मन्तव्य लेखबद्ध होकर पुस्तकरूप में छप जाएँ तो बहुत लोग लाभ उठा सकेंगे। इस प्रकार आपके उपदेश स्थाई भी हो जाएँगे और भविष्य में होनेवाले लोग भी लाभान्वित हो सकेंगे।" इस निवेदन के साथ ही राजाजी ने ग्रन्थ के लिखवाने और छपवाने के व्यय का सारा भार अपने ऊपर ले लिया। 'नेकी और पूछ-पूछ'—स्वामीजी को बात जंच गयी और उन्होंने राजाजी के प्रस्ताव को तत्काल स्वीकार कर लिया। राजाजी ने पुस्तक लिखने के लिए चन्द्रशेखर नामक एक महाराष्ट्रिय पण्डित को नियुक्त कर दिया।

स्वामीजी का विश्वास था—"**क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम्।**" वे जिस कार्य को उपयोगी समझ लेते थे उसको प्रारम्भ करने में देर नहीं लगाते थे। तदनुसार आषाढ़ बदि १३, संवत् १९३२ (१२ जून १८७४) शुक्रवार के दिन सत्यार्थप्रकाश लिखाने का कार्य आरम्भ कर दिया गया। स्वामीजी बोलते जाते थे और पं० चन्द्रशेखर लिखते जाते थे। सम्पूर्ण सत्यार्थप्रकाश के लेखन में लगभग ढाई मास का समय लगा। ५०० पृष्ठों का यह ग्रन्थ १८७५ में स्टार प्रेस वाराणसी द्वारा मुद्रित होकर प्रकाशित हो गया। इसमें १२ समुल्लास थे। ईसाई और मुस्लिम मतों से सम्बन्धित १३वाँ और १४वाँ समुल्लास जो

https://t.me/arshlibrary

वर्तमान में प्रचलित संस्करण में हैं, वे प्रथम संस्करण में नहीं थे। संशोधित व परिवर्धित सत्यार्थप्रकाश यद्यपि १८८४ में प्रकाशित हुआ, तथापि उसका मुद्रण स्वामीजी के जीवनकाल में आरम्भ हो चुका था। आर्यसमाज को सन् १८८४ में प्रकाशित संस्करण ही मान्य है, जिसमें १४ समुल्लास हैं और स्वमन्तव्यामन्तव्य शीर्षक से स्वामीजी के अभिमत सिद्धान्तों का स्पष्टतः उल्लेख कर दिया गया है।

प्रथम संस्करण में १३वाँ-१४वाँ समुल्लास

कई व्यक्ति आरोप लगाते हैं कि वर्तमान सत्यार्थप्रकाश में उपलब्ध १३वाँ और १४वाँ समुल्लास प्रथम संस्करण में नहीं छपे थे, इसलिए ये स्वामीजी के लिखे हुए नहीं हैं। इन्हें आर्यसमाजियों ने स्वामीजी की मृत्यु के बाद छपनेवाले संस्करण में अपनी ओर से जोड़ दिया है। इस आक्षेप के समाधान के लिए हम यहाँ प्रथम संस्करण के दशम समुल्लास के पृष्ठ ३०७ की फोटोस्टेट कापी का ब्लाक छाप रहे हैं, जिससे स्पष्ट सिद्ध है कि स्वामीजी १३वाँ और १४वाँ समुल्लास लिखना चाहते थे। यह फोटोस्टेट हमने अपने निजी पुस्तकालय में सुरक्षित प्रथम संस्करण की दुर्लभ प्रति से कराया है। कहा जा सकता है कि 'लिखना चाहते थे' से यह कैसे सिद्ध हो गया कि 'लिखे थे'। ऐसे लोगों के लिए स्वामीजी का वह पत्र प्रमाण है जो उन्होंने माघ बदि २, संवत् १८३१ (२३ जनवरी १८७५) को स्टार प्रेस काशी के लाला हरवंशलाल को लिखा था। उस पत्र का एतद्विषयक अंश इस प्रकार है—

"आगे मुरादाबाद में कुरान के खण्डन का अध्याय शोधने के वास्ते गया रहा सो शोधके आपके पास आया कि नहीं ? जो न आया हो, तो राजा जयकृष्णदासजी को ख़त लिखो, जल्दी छापने के वास्ते भेज देवें और बाइबिल का अध्याय सब शोधके छाप दो।" (पत्र-व्यवहार पृ० २२)

इस पत्र से कुरान और बाइबल दोनों के खण्डन-मण्डन स्वामीजी के जीते-जागते छापे जाने का स्पष्ट उल्लेख है। इससे यह निश्चित हो जाता है कि किसी कारण वे छप नहीं सके थे। इसकी पुष्टि संशोधित सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में लिखे स्वयं स्वामीजी के इन शब्दों से हो जाती है—

"परन्तु अन्त के दो समुल्लास और पश्चात् स्वसिद्धान्त (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश) किसी कारण से प्रथम न छप सके थे, अब वे भी छपवा दिये हैं।"

प्रथम संस्करण की हस्तलिखित प्रति राजा जयकृष्णदासजी के पौत्र राजा ज्वालाप्रसादजी से प्राप्त करके उसका फोटोस्टेट करवा लिया गया है, जो परोपकारिणी सभा अजमेर में सुरक्षित है। उसमें १३वें समुल्लास में कुरान मत की और १४वें समुल्लास में ईसाई मत की समीक्षा है।

उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि संशोधित सत्यार्थप्रकाश की सम्पूर्ण पाण्डुलिपि ऋषि ने अपने निर्वाणकाल से लगभग १४ मास पूर्व तैयार कर ली थी और उसकी प्रेस कापी बनाकर उसे प्रेस में भेजना प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्ध की अव्यवस्था के कारण सत्यार्थप्रकाश उनके जीवनकाल में छपकर प्रकाशित नहीं हो सका। इसी कारण विपक्षियों को यह कहने का अवसर मिल गया कि संवत् १९४०वाला सत्यार्थप्रकाश असली नहीं है, स्वामीजी के बाद आर्यसमाजियों ने बनाकर उनके नाम से छाप दिया है।

ऋषिकृत ग्रन्थों में अशुद्धियाँ

स्वामी दयानन्द ने १८६० से १८६३ तक गुरु विरजानन्दजी के पास रहकर विद्याध्ययन किया। इन तीनों वर्षों में उन्होंने व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया। स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—"आगे जब उनसे (गुरुवर से) परिचय हुआ तो 'तीन वर्ष में व्याकरण आता है' उनके ऐसा कहने पर मैंने उनसे

https://t.me/arshlibrary

वर्तमान में प्रचलित संस्करण में हैं, वे प्रथम संस्करण में नहीं थे। संशोधित व परिवर्धित सत्यार्थप्रकाश यद्यपि १८८४ में प्रकाशित हुआ, तथापि उसका मुद्रण स्वामीजी के जीवनकाल में आरम्भ हो चुका था। आर्यसमाज को सन् १८८४ में प्रकाशित संस्करण ही मान्य है, जिसमें १४ समुल्लास हैं और स्वमन्तव्यामन्तव्य शीर्षक से स्वामीजी के अभिमत सिद्धान्तों का स्पष्टतः उल्लेख कर दिया गया है।

प्रथम संस्करण में १३वाँ-१४वाँ समुल्लास

कई व्यक्ति आरोप लगाते हैं कि वर्तमान सत्यार्थप्रकाश में उपलब्ध १३वाँ और १४वाँ समुल्लास प्रथम संस्करण में नहीं छपे थे, इसलिए ये स्वामीजी के लिखे हुए नहीं हैं। इन्हें आर्यसमाजियों ने स्वामीजी की मृत्यु के बाद छपनेवाले संस्करण में अपनी ओर से जोड़ दिया है। इस आक्षेप के समाधान के लिए हम यहाँ प्रथम संस्करण के दशम समुल्लास के पृष्ठ ३०७ की फोटोस्टेट कापी का ब्लाक छाप रहे हैं, जिससे स्पष्ट सिद्ध है कि स्वामीजी १३वाँ और १४वाँ समुल्लास लिखना चाहते थे। यह फोटोस्टेट हमने अपने निजी पुस्तकालय में सुरक्षित प्रथम संस्करण की दुर्लभ प्रति से कराया है। कहा जा सकता है कि 'लिखना चाहते थे' से यह कैसे सिद्ध हो गया कि 'लिखे थे'। ऐसे लोगों के लिए स्वामीजी का वह पत्र प्रमाण है जो उन्होंने माघ बदि २, संवत् १८३१ (२३ जनवरी १८७५) को स्टार प्रेस काशी के लाला हरवंशलाल को लिखा था। उस पत्र का एतद्विषयक अंश इस प्रकार है—

"आगे मुरादाबाद में कुरान के खण्डन का अध्याय शोधने के वास्ते गया रहा सो शोधके आपके पास आया कि नहीं ? जो न आया हो, तो राजा जयकृष्णदासजी को ख़त लिखो, जल्दी छापने के वास्ते भेज देवें और बाइबिल का अध्याय सब शोधके छाप दो।" (पत्र-व्यवहार पृ० २२)

इस पत्र से कुरान और बाइबल दोनों के खण्डन-मण्डन स्वामीजी के जीते-जागते छापे जाने का स्पष्ट उल्लेख है। इससे यह निश्चित हो जाता है कि किसी कारण वे छप नहीं सके थे। इसकी पुष्टि संशोधित सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में लिखे स्वयं स्वामीजी के इन शब्दों से हो जाती है—

"परन्तु अन्त के दो समुल्लास और पश्चात् स्वसिद्धान्त (स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश) किसी कारण से प्रथम न छप सके थे, अब वे भी छपवा दिये हैं।"

प्रथम संस्करण की हस्तलिखित प्रति राजा जयकृष्णदासजी के पौत्र राजा ज्वालाप्रसादजी से प्राप्त करके उसका फोटोस्टेट करवा लिया गया है, जो परोपकारिणी सभा अजमेर में सुरक्षित है। उसमें १३वें समुल्लास में कुरान मत की और १४वें समुल्लास में ईसाई मत की समीक्षा है।

उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि संशोधित सत्यार्थप्रकाश की सम्पूर्ण पाण्डुलिपि ऋषि ने अपने निर्वाणकाल से लगभग १४ मास पूर्व तैयार कर ली थी और उसकी प्रेस कापी बनाकर उसे प्रेस में भेजना प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्ध की अव्यवस्था के कारण सत्यार्थप्रकाश उनके जीवनकाल में छपकर प्रकाशित नहीं हो सका। इसी कारण विपक्षियों को यह कहने का अवसर मिल गया कि संवत् १९४०वाला सत्यार्थप्रकाश असली नहीं है, स्वामीजी के बाद आर्यसमाजियों ने बनाकर उनके नाम से छाप दिया है।

ऋषिकृत ग्रन्थों में अशुद्धियाँ

स्वामी दयानन्द ने १८६० से १८६३ तक गुरु विरजानन्दजी के पास रहकर विद्याध्ययन किया। इन तीनों वर्षों में उन्होंने व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया। स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—"आगे जब उनसे (गुरुवर से) परिचय हुआ तो 'तीन वर्ष में व्याकरण आता है' उनके ऐसा कहने पर मैंने उनसे

https://t.me/arshlibrary

पढ़ने का निश्चय किया।" अष्टाध्यायी और महाभाष्य के अतिरिक्त उन्होंने किन ग्रन्थों का अध्ययन किया, इस विषय में निश्चितरूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इतना निश्चित है कि दण्डीजी से उन्हें वह दृष्टि प्राप्त हो गयी थी जिसके द्वारा वे सत्यासत्य का निर्धारण करने में समर्थ थे, परन्तु गुरुवर से चाबियाँ पाकर भी ताले खोलने में काफी समय लगा। आत्मकथा के अनुसार—"विद्याध्ययन समाप्त करके दो वर्ष तक मैं आगरा में रहा।" आगरा से वे जयपुर गये। वहाँ उन्होंने शैव-वैष्णव विवाद में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उसके सम्बन्ध में उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है—"वहाँ (जयपुर में) मैंने प्रथम वैष्णवमत का खण्डन करके शैवमत की स्थापना की। जयपुर के महाराजा रामसिंह ने शैवमत ग्रहण किया। इससे शैवमत का इतना विस्तार हुआ कि सहस्रों रुद्राक्ष मालाएँ मैंने अपने हाथ से दीं। यहाँ शैवमत इतना दृढ़ हुआ कि हाथी-घोड़े आदि सबके गले में रुद्राक्ष की माला पड़ गयीं।" जयपुर में स्वामीजी अक्तूबर १८६६ तक रहे। फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा १९२३ वि. (१ मार्च अथवा पं० लेखराम के अनुसार १२ मार्च, १८६७) को स्वामीजी हरद्वार पहुँचे। इस समय हरद्वार में कुम्भ का महामेला लगा हुआ था। वहाँ पहुँचकर उन्होंने सप्तसरोवर नामक स्थान पर अपना डेरा जमाया और 'पाखण्ड-खण्डनी' पताका लहराकर मूर्तिपूजा, अवतारवाद, भागवतादि पुराण, जल-स्थानों का तीर्थ नाम, कण्ठी, तिलक आदि साम्प्रदायिक चिह्नों का खण्डन प्रारम्भ कर दिया।

इस प्रसंग को विस्तार देने का हमारा उद्देश्य यह बताना है कि सन् १८६३ में गुरुवर से विदा लेने के समय से अक्तूबर १८६६ में जयपुर से प्रस्थान करने तक का समय अपने मत एवं सिद्धान्तों को क्रमशः निर्धारित करने का काल था। कर्म-क्षेत्र में अवतीर्ण होने से पूर्व की यह भूमिका थी। तब तक वे नानाविध विषयों से सम्बद्ध जटिल प्रश्नों का समाधान खोजने में लगे रहे थे। पहली बार हम दयानन्द को हरद्वार में 'पाखण्ड-खण्डिनी' के नीचे गुरुवर द्वारा प्यार में दिये गये 'कुलक्कर' या 'कालजिह्व' नामों को सार्थक करते हुए पाते हैं। 'कुलक्कर' का अर्थ है खूँटा—जो अपने पक्ष पर खूँटे की तरह अविचलित रहकर प्रतिद्वन्द्वी को पराभूत करदे, वह है 'कुलक्कर'। समय आने पर दयानन्द ने शास्त्रार्थ-संग्राम में प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित करके, इस नाम को सर्वथा सार्थक कर दिखाया। असत्य के खण्डन में जिसकी जिह्वा काल के समान बन जाती थी—ऐसा दयानन्द यथार्थ में कालजिह्व था।

सन् १८८३ में ऋषि दयानन्द का देहावसान हो गया। इस प्रकार ऋषि का कार्यकाल १८६७ से १८८३ तक कुल १६ वर्ष रहा। इस अवधि में दिये उनके व्याख्यानों की गिनती कौन कर सकता है ? पौराणिकों, जैनों, वेदान्तियों, ईसाइयों, मुसलमानों और उनके अनेकानेक सम्प्रदायों की ओर से चुनौती देनेवाले अनेक और उन सबके प्रहार सहनेवाला एक—अकेला दयानन्द। प्रायः द्वन्द्वयुद्ध होता था। पर ऐसे अवसर भी आते थे जब अभिमन्यु की तरह अकेले दयानन्द पर एक साथ सात-सात (और अधिक भी) महारथी टूट पड़ते थे। १९६९ में हुए प्रसिद्ध काशी-शास्त्रार्थ में ऐसा ही हुआ था। उस समय यात्रा के लिए आज जैसी सुविधाएँ उपलब्ध नहीं थी। फिर भी उन्होंने दक्षिण को छोड़कर समूचे भारत की यात्रा की। उनके द्वारा लिखे गये पत्रों की संख्या भी हज़ारों में है। जहाँ भी जाते या रहते, बड़ी संख्या में लोग मिलने आते और अपनी शंकाओं का समाधान करते। इसपर भी उन्होंने छोटे-बड़े लगभग ३२ ग्रन्थों की रचना की, परन्तु इन व्यस्तताओं के कारण वे न अपने हाथों से अधिक लिख सके, न प्रेस-कापियों का निरीक्षण कर सके और न प्रूफ ही देख सके। मुंशी बख्तावरसिंह के नाम श्रावण शुक्ला १३, बुध संवत् १९३७ (१८ अगस्त, १८८०) को भेजे एक पत्र में स्वामीजी ने लिखा था—

https://t.me/arshlibrary

"जो संस्कृतवाक्य-प्रबोध पुस्तक छपाया है, सो बहुत ठिकानों में संस्कृतवाक्य-प्रबोध में अशुद्ध भी छपा है। इस अशुद्धि के तीन कारण हैं। एक शीघ्र बनना, मेरा चित्त स्वस्थ न होना। दूसरा भीमसेन अधीन शोधने का होना और मेरा न देखना, न प्रूफ को शोधना। तीसरा छापेखाने में कोई कम्पोजीटर बुद्धिमान् न होना।" (ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, तृतीय संस्करण, १९८०, भाग १, पृ० ३८७-८८)।

सत्यार्थप्रकाश स्वामीजी ने पण्डितों को बोलकर लिखवाया था। पण्डितों के लेख को हाथ में लेकर देखने का उन्हें अवकाश कहाँ था। ज्यों-का-त्यों प्रेस में दे दिया। स्वामीजी की विवशता का लाभ उठाकर लेखक पण्डितों ने उसमें ऐसी बातों का समावेश कर दिया जो स्वामीजी के मन्तव्यों के विपरीत थीं, पर इस बात का पता तो छपने के बाद चला। द्वितीय संस्करण में महर्षि ने जिन भूलों का संशोधन किया, वे महर्षि की न होकर लेखक पण्डितों की थीं, इस बात की पुष्टि स्वयं राजा जयकृष्णदास के इस कथन से होती है—

"सत्यार्थप्रकाश में जो मत स्वामीजी का लिखा गया था, जो कुछ पीछे परिवर्तित हुआ, उसके लिए स्वामीजी इतने उत्तरदायी नहीं हैं। स्वामीजी को उस समय प्रूफ देखने का अवकाश नहीं था। पहले-पहल स्वामीजी सभी लोगों को अच्छा समझकर उनका विश्वास कर लेते थे। हो सकता है कि लेखक या मुद्रक द्वारा यह सब मत सत्यार्थप्रकाश में छप गया हो।" वे बातें स्वामीजी को अभिमत नहीं हैं, इस आशय का एक विज्ञापन ऋग्वेद और यजुर्वेदभाष्य के अंक १ और २ के मुखपृष्ठ पर छपवा दिया गया था। इस विज्ञापन से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में लिखने और शोधन करनेवालों की भूल के कारण ऐसी अनेक बातें छप गयीं थीं, जो ऋषि के विपरीत थीं।

स्वामीजी की भाषा पर विचार करते समय केवल यही ध्यान में नहीं रखना चाहिए कि हिन्दी उनकी मातृभाषा नहीं थी, बल्कि यह भी कि उनके पास इतना समय भी नहीं था कि वे कहीं बैठकर सुस्थिर चित्त से ग्रन्थों की रचना करते। वे निरन्तर गतिमान् रहते थे और उनके पत्रों से पता चलता है कि उनके सहकर्मी उनके आदेशों-निर्देशों का पूरी तरह पालन नहीं करते थे—

१. भीमसेन अब भाषा बहुत ढीली बनाता है। उसको शिक्षा कर देना कि भाषा के बनाने में ढील न हुआ करे।

२. हमने भीमसेन के शोधे गये पुस्तक देखे तो बहुत भूल निकलती है। इससे ज्ञात होता है कि वह बड़ा ग़ाफिल है।

३. और अब यह भाषा भी अच्छी नहीं बनाता जैसीकि पहले बनाता था। वह प्रतिदिन गिरता जाता है। कहीं ग्रामीण भाषा लिख देता है और 'च' का अर्थ 'और' करना चाहिए, यह 'भी' कर देता है। (पत्र और विज्ञापन पृ. ३१७, ३३४, ४५५)।

इससे स्पष्ट है कि स्वामीजी अधिक स्पष्ट और परमार्जित भाषा चाहते थे। पर यह काम शान्त वातावरण और समय चाहता है और उनके जीवन में दोनों का अभाव था।

ग्रन्थों के मुद्रण आदि कार्यों में भी ऋषि दयानन्द को कैसे-कैसे लोगों से काम लेना पड़ा, यह उनके पत्र-व्यवहार से स्पष्ट है। ऐसी अवस्था में लेखन और मुद्रण में साधारण भूलों का होना स्वाभाविक है। स्वामीजी को सारे जीवन में एकमात्र मुंशी समर्थदान ही ऐसा व्यक्ति मिला जो ऋषिभक्त होने के साथ-साथ सर्वथा विश्वसनीय और ऋषि के कार्य की महत्ता को समझनेवाला था। उसके समय में ऋषि के जो ग्रन्थ छपे, उनमें उसने बड़ी सतर्कता बरती।

https://t.me/arshlibrary

प्रथम संस्करण में विशेष

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में कुछ ऐसी बातें हैं जो संशोधित द्वितीय संस्करण में नहीं हैं। वे बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं और उनमें से कुछ बातें तो ऐसी हैं जिन्हें हम बड़े गर्व के साथ उद्धृत करते रहे हैं। उनके कारण महर्षि का भी गौरव बढ़ा है और आर्यसमाज का भी। वे क्यों निकाल दी गयीं, यह विद्वानों द्वारा अन्वेष्य है। निदर्शनार्थ उनमें से कुछ यहाँ दी जा रही हैं—

१. विवाह में बहुत धन का नाश करना अनुचित ही है, क्योंकि वह धन व्यर्थ ही जाता है। इससे बहुत राज्य नष्ट हो गये और वैश्य लोगों का तो विवाह में बहुत धन के व्यय से दिवाला निकल जाता है। इससे धन का नाश कभी नहीं करना चाहिए। (समुल्लास ४, पृ. ११०)

२. यह बात भी अवश्य जाननी चाहिए कि देश-देशान्तर में विवाह का होना उचित है, क्योंकि पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम में रहनेवाले मनुष्यों में परस्पर विवाह करने से प्रीति होगी और देश-देशान्तरों के व्यवहार भी जाने जाएँगे, बलादिक गुण भी तुल्य होंगे और भोजन व्यवहार भी एक ही होगा। इससे मनुष्यों को बड़ा सुख होगा। जैसेकि पूर्व दक्षिण देश की कन्या और पश्चिम उत्तर देश के पुरुषों से विवाह जब होगा और पश्चिम उत्तर देश के मनुष्यों की कन्या और पूर्व तथा दक्षिण में रहनेवाले पुरुषों से विवाह होगा तब बल, बुद्धि, पराक्रमादिक तुल्य गुण हो जाएँगे। पत्र द्वारा और आने जाने से परस्पर प्रीति बढ़ेगी और परस्पर गुण-ग्रहण होगा और सब देशों के व्यवहार सब देशों के मनुष्यों को विदित होंगे और परस्पर विरोध जो है सो नष्ट हो जाएगा। इससे मनुष्यों को बड़ा आनन्द होगा। (समु० ४, पृ० १३६-४०)

३. जैसे ईश्वर किसी देश का नहीं, किन्तु सब देशों का है वैसे ही संस्कृत किसी एक देश की नहीं। परन्तु ऐसा जाना जाता है कि आर्यावर्त्त देश में पहले प्रवृत्ति अधिक थी। सब ऋषि-मुनि और राजा लोग आर्यावर्त्तदेशवासी लोगों ने परम्परा से संस्कृत पढ़ा और पढ़ाया है। सब देशभाषाओं की मूल संस्कृत है, क्योंकि संस्कृत जब बिगड़ती है तब अपभ्रंश कहाता है। (समु० ७, पृ० २४६-५०)

४. मुसलमान की भाषा पढ़ने में अथवा कोई देश की भाषा पढ़ने में कुछ दोष नहीं होता, किन्तु कुछ गुण ही होता है। **'अपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दज्ञाने धर्मः'** यह व्याकरण महाभाष्य का वचन है। इसका यह अभिप्राय है कि अपशब्दज्ञान अवश्य करना चाहिए, अर्थात् सब देश-देशान्तर की भाषा को पढ़ना चाहिए, क्योंकि उनके पढ़ने से बहुत व्यवहारों का पता चलने से उपकार होता है और संस्कृत शब्द के ज्ञान का भी उनको यथावत् बोध होता है। जितनी देशों की भाषा जानें उतना ही पुरुष को अधिक ज्ञान होता है, क्योंकि संस्कृत के शब्द बिगड़के देशभाषा सब होती हैं। महाभारत में लिखा है कि युधिष्ठिर और विदुरादिक अनेक देशों की भाषाएँ जानते थे। सोई जब युधिष्ठिरादिक लाक्षागृह की ओर चले तब विदुरजी ने युधिष्ठिरजी को म्लेच्छ भाषा में समझाया और युधिष्ठिरजी ने म्लेच्छ भाषा में प्रत्युत्तर दिया। यथावत् उसको समझ लिया।

महाभारत में लिखा है—

प्राज्ञः प्राज्ञप्रलापज्ञः प्रलापज्ञमिदं वचः।
प्राज्ञं प्राज्ञः प्रलापज्ञः प्रलापज्ञं वचोऽब्रवीत्॥ —आदिपर्व १४४, २०

तथा राजसूय और अश्वमेघ यज्ञ में देश-देशान्तर तथा द्वीप-द्वीपान्तर के राजा तथा प्रजास्थ आये थे। जो देश-देशान्तर की भाषा न जानते तो उनका व्यवहार कैसे सिद्ध होता ? इस्से क्या आया कि देश-देशान्तर की भाषा जानने में कुछ दोष नहीं, किन्तु बड़ा उपकार ही होता है। (समु० ११, पृ. ३२७)

https://t.me/arshlibrary

५. नोन और पौन रोटी में जो कर लिया जाता है, वह मुझको अच्छा नहीं मालूम देता, क्योंकि नोन के बिना दरिद्र का भी निर्वाह नहीं होता, क्योंकि नोन सबको आवश्यक होता है और वे मजूरी मेहनत से जैसे-तैसे निर्वाह करते हैं , उनके ऊपर भी यह नोन का कर दण्डतुल्य रहता है । इस्से दरिद्रों को क्लेश पहुँचता है । इस्से ऐसा होय कि मद्य, अफ़ीम, गांजा, भांग इनके ऊपर दुगना-चौगुना कर स्थापन होय तो अच्छी बात है, क्योंकि नशादिकों का छूटना ही अच्छा है और जो मद्यादिक बिल्कुल छूट जाएँ तो मनुष्यों का बड़ा भाग्य है, क्योंकि नशा से किसी का कुछ उपकार नहीं होता । इससे इनके ऊपर ही कर लगाना चाहिए और लवणादिक के ऊपर न चाहिए । पौन रोटी पर कर से गरीब लोगों को बहुत क्लेश होता है, क्योंकि गरीब लोग कहीं से घास छेदन करके ले आवे या लकड़ी का भार । उनके ऊपर कौड़ियों के लगने से अवश्य क्लेश होता होगा । इस्से पौन रोटी का जो कर स्थापन करना सो भी हमारी समझ से अच्छा नहीं । (समु० ११, पृ. ३८४-८५)

६. सरकार कागद (स्टाम्प) बेचती है और बहुत-सा कागजों पर धन बढ़ा दिया है । इससे गरीब लोगों को बहुत क्लेश पहुँचता है । सो यह बात राजा को करनी उचित नहीं, क्योंकि इसके होने से गरीब लोग दुःख पाके बैठे रहते हैं । कचहरी में बिना धन के कोई बात होती नहीं । इससे कागजों के ऊपर जो बहुत धन लगता है सो मुझको अच्छा मालूम नहीं देता । इसको छोड़ने से प्रजा में आनन्द होता है । (समु० ११, पृ. ३८७)

७. वार्षिक उत्सवादिकों से मेला करना इसमें भी हमको अत्यन्त श्रेय गुण मालूम नहीं देता, क्योंकि इसमें मनुष्य की बुद्धि बहिर्मुखी हो जाती है और धन भी अत्यन्त खर्च होता है । (समु० ११, पृ. ३६५)

८. केवल अंग्रेजी पढ़ने से सन्तोष कर लेना, यह भी अच्छी बांत उनकी नहीं, किन्तु सब प्रकार की पुस्तक पढ़नी चाहिए । परन्तु जब तक वेदादि सत्य सनातन संस्कृत पुस्तकों को न पढ़ेंगे तब तक परमेश्वर, धर्म, अधर्म, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य विषयों को नहीं जानेंगे । इससे सब पुरुषार्थ से वेदादिकों को पढ़ना चाहिए । (समु० ११, पृ. ३६५)

अन्तिम दोनों उद्धरण तत्कालीन ब्राह्मसमाज की समालोचना के प्रकरण के हैं । परन्तु आपाततः ये वर्तमान में आर्यसमाज को लक्ष्य करके लिखे गये जान पड़ते हैं । ऋषि भविष्यद्रष्टा थे । जिसकी उन्हें आशंका थी आज वही हो रहा है । शताब्दी-समारोह, आर्य-महासम्मेलन, पुस्तक-विमोचन, उद्घाटन, स्वागत समारोह आदि की आड़ में आर्यसमाज के प्रचार के नाम पर होनेवाले ये उत्सव केवल कुछ व्यक्तियों के आत्मप्रचार तथा शक्तिप्रदर्शन के निमित्त बनकर रह गये हैं । परिणामतः तालियों की गड़गड़ाहट, नारों के तुमुलनाद, पण्डाल की सजावट और बिजली की चमक के कारण बाहर से हृष्ट-पुष्ट दीखनेवाला आर्यसमाज भीतर से खोखला होता जा रहा है । जिन दोषों को दूर करने के लिए आर्यसमाज की स्थापना की गयी थी वे स्वयं आर्यसमाज में घुसकर अपने को सुरक्षित अनुभव कर रहे हैं और भीतर-ही-भीतर आर्यसमाज को खा रहे हैं । यह समय **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'** के कार्यक्रम को कुछ काल के लिए स्थगित करके आत्मालोचन के द्वारा **'कृण्वन्तो स्वयमार्यम्'** का है ।

सन् १८३४-३५ के लगभग भारत में अंग्रेज सरकार के सामने यह प्रश्न पैदा हुआ कि यहाँ किस प्रकार की शिक्षापद्धति को अपनाया जाए । लार्ड मेकाले ने इस प्रश्न का हल करते हुए एक लेख लिखा था, जिसमें उसने स्पष्ट शब्दों में अपने मन की बात कह दी थी । उसने लिखा था—

"We must do our best to form a class of persons who may be Indian in blood and colour but English in taste, opinions, words and intellect. "

https://t.me/arshlibrary

अर्थात्—हम एक ऐसा वर्ग पैदा करने का पूरा यत्न करेंगे जो हाड़-मांस और रंग में भले ही भारतीय लगे परन्तु आचार-विचार, रहन-सहन, बोल-चाल और दिल-दिमाग़ से अंग्रेज बन जाए। क्या आज हम आर्यसमाज की ओर से दयानन्द के नाम पर चलाये जा रहे Dayanand English Medium Co-educatioal Public Schools से ऐसा ही वर्ग पैदा नहीं कर रहे हैं, जो सचमुच वैसा ही है जैसा मेकाले चाहता था। सूट पर टाई लगाये लड़के, स्कर्ट पहने, बाल कटी लड़कियाँ जो अपनी मातृभाषा में बातचीत करने में अपनी हेठी समझते हैं, नमस्ते की जगह गुडमार्निंग कहते हैं, हिन्दी की अपेक्षा अंग्रेजी फिल्में देखना पसन्द करते हैं, आमलेट का नाश्ता करते हैं—Nationality (राष्ट्रियता) के खाने में "भारतीय" लिखा देखकर ही उनके भारतीय होने का अनुमान होता है। अन्यथा वे Tuesday को तो पहचानते हैं, मंगलवार को नहीं। इसकी नींव उसी दिन पड़ गयी थी जिस दिन 'दयानन्द' और 'वैदिक' के बीच 'ऐंग्लो' ने अपना आसन जमाया था। डी. ए. वी. कालेज की स्थापना करनेवाली त्रिमूर्त्ति (महात्मा हंसराज, लाला लाजपतराय और पं. गुरुदत्त विद्यार्थी) में से एक ला० लाजपतराय ने अपनी पुस्तक 'स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज की मौजूदा हालत' में लिखा है—"सारी स्कीम की कमजोरी इसमें थी कि कालेज का नाम 'ऐंग्लो वैदिक' रखा गया था और 'वैदिक' पर 'ऐंग्लो' को तरजीह (वरीयता) दी गयी। इसी कमजोरी के कारण सरकारी व मिशन कालेजों में और दयानन्द कालेज में बहुत थोड़ा फर्क रह गया। हमारी पार्टी हमेशा वैदिक पर ऐंग्लो को तरजीह देती रही।"

सत्यार्थप्रकाश हिन्दी में

महर्षि दयानन्द और काशी के पण्डितों के बीच मूर्त्तिपूजा विषय पर प्रसिद्ध शास्त्रार्थ १६ नवम्बर १८६६ को मंगलवार के दिन हुआ था। मूर्त्तिपूजा के समर्थन में एकत्र मण्डली में निम्नलिखित विद्वान् थे—

स्वामी विशुद्धानन्द, पं० बालशास्त्री, पं० शिवसहाय, पं० माधवाचार्य, पं० वामनाचार्य, पं० देवदत्त शर्मा, पं० जयनारायण तर्कवाचस्पति, पं० चन्द्रसिंह त्रिपाठी, पं० राधेमोहन तर्कवागीश, पं० दुर्गादत्त, पं० बस्तीराम द्विवेदी, पं० काशीप्रसाद शिरोमणि, पं० हरिकृष्ण, पं० अम्बिकादत्त व्यास, पं० घनश्याम, पं० ठाकुरदत्त, पं० हरिदत्त दुबे, पं० भैरोंदत्त, पं० श्रीधर शुक्ल, पं० विश्वनाथ मैथिल, पं० नवीननारायण तर्कालंकार, पं० मदनमोहन शिरोमणि, पं० कैलाशचन्द्र शिरोमणि, पं० मायाकृष्ण वेदान्ती, पं० नारायण शास्त्री, पं० धनीराम, पं० देवधर, पं० नरसिंह शास्त्री, पं० जवाहरदास उदासी, पं० ताराचरण तर्करत्न, पं० गणेशप्रसाद श्रोत्रिय, स्वामी निरंजनानन्द, पं० रामशास्त्री, पं० शालि ग्राम शास्त्री, पं० ढुंढिराज शास्त्री, पं० रामस्वामी मिश्र, पं० भारद्वाज शास्त्री, पं० रामकृष्ण शास्त्री, पं० दामोदर शास्त्री, प्रमदादास मित्र।

उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त काशी के अन्य प्रतिष्ठित पुरुषों को भी शास्त्रार्थ-स्थल पर बैठने के लिए समुचित स्थान दिया गया था। वे थे—

काशीनरेश महाराज ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह, काशी नरेश के भाई राजकुमार वीरेश्वरनारायण सिंह शर्मा, बाबू फ़तहनारायणसिंह शर्मा, ऐश्वर्यनारायणसिंह शर्मा, तेजसिंह वर्मा रईस मैनपुरी, राय कृष्णदेवशरणसिंह, चौधरी गुरुदत्तसिंह शर्मा, हज़ारी यदुनन्दन नागल, भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र गुप्त, बाबू गोकुलचन्द्र गुप्त (भारतेन्दु के भाई)।

स्वामी विशुद्धानन्द और बालशास्त्री के पाण्डित्य की तो स्वयं स्वामीजी भी प्रशंसा करते थे। जमनत स्वामीजी के विरुद्ध था। सभापति काशीनरेश मूर्त्तिपूजा के पक्षधर तो थे ही, अपने नगर के पण्डितों से

https://t.me/arshlibrary

उनकी सहानुभूति होना भी स्वाभाविक था। फिर भी निष्पक्ष पत्रिकाओं ने जो कुछ लिखा वह निस्सन्देह विचारणीय है। 'हिन्दु पेट्रियट' (१७ जनवरी १८७०) ने शास्त्रार्थ का विवरण प्रस्तुत करके लिखा था—

"Finding it impossible to overcome the great man by regular discussion, the Pandits resorted to the adoption of a sinister end to subserve their purpose. The host of the Pandits headed by the Maharaja himself clapped their hands signifying the defeat of the great pandit in the religious warfare. Though mortified greatly at the unmanly conduct of the Maharaja, Dayanand Swami has not lost courage. Though alone, he stands undaunted in the midst of a host of opponents. He has the shield of truth to protect him. He has issued a circular calling on the Pandits of Benaras to show which part of the Vedas sanctions idol worship. But no one has ventured to make his appearance. "

अर्थात् जब काशी के पण्डितों को निश्चय हो गया कि वे शास्त्रार्थ में स्वामी दयानन्द को पराजित नहीं कर सकते तो वे ओछे हथियारों पर उतर आये और महाराजा के नेतृत्व में तालियाँ बजा-बजाकर अपनी विजय का प्रदर्शन करने लगे, परन्तु उनके व्यवहार से दुःखी होने पर भी दयानन्द ने हिम्मत नहीं हारी। अपनी रक्षार्थ सत्य का कवच पहने वे शत्रु सेना के बीच निर्भीक खड़े हैं। उन्होंने बार-बार पण्डितों को वेदों से मूर्त्तिपूजा का प्रतिपादक एक भी मन्त्र दिखाने के लिए ललकारा है, किन्तु किसी ने सामने आने का साहस नहीं किया।

"पायोनियर" (१५ जनवरी १८७०) ने लिखा था—

"The Swami maintained that the Vedas did not inculcate idolatory and the Pandits could not produce at the time, nor have they produced since a single passage from the Vedas that could dislodge the Swami from his position. The answers of the Pandits were all evasive. They made a 'tamasha' of it. How can one, in the face of these facts, boldly assert that the Swami got the worst of the fight?"

अर्थात् 'मूर्त्तिपूजा वेदविहित है या नहीं' काशी के शास्त्रार्थ का यही मूल विषय था, किन्तु काशी के पण्डित इसका उत्तर न तब दे सके और न बाद में आज तक दे सके। उन्होंने शास्त्रार्थ को तमाशा बना दिया। ऐसी दशा में कोई कैसे कह सकता है कि स्वामीजी पण्डितों से पराजित हो गये ?

पर जादू वह जो सिर पर चढ़कर बोले। जय-पराजय सापेक्ष शब्द हैं। इतना सब जानते हैं कि इस प्रसंग के बाद स्वामीजी की ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी। उनके जीवनीकार देवेन्द्रकुमार मुखोपाध्याय ने २० वर्ष तक शोध के पश्चात् प्रमाण-पर-प्रमाण देकर इस तथ्य की पुष्टि की है। उन्होंने लिखा है—

"काशी-शास्त्रार्थ के पश्चात् स्वामीजी प्रयाग, मिर्जापुर आदि होकर पुनः बनारस आये। इस बार काशी-नरेश ने आग्रहपूर्वक उन्हें अपने राजमहल में आमन्त्रित किया और सिंहासन पर आसीन करके शास्त्रार्थकालीन अपने दुर्व्यवहार के लिए क्षमायाचना की।"

इस शास्त्रार्थ के समय कलकत्ता के सुप्रसिद्ध बैरिस्टर श्री चन्द्रशेखर सेन काशी में ही थे। वे स्वामीजी से बहुत प्रभावित हुए और कलकत्ता आने के लिए उन्हें आमन्त्रित किया। ऐसा ही निमन्त्रण कुम्भ मेले के अवसर पर महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर (विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के पिता तथा ब्रह्मसमाज के वरिष्ठ नेता) भी दे चुके थे। उन्होंने स्वामीजी की प्रखर प्रतिभा को पहचान लिया था। इसलिए कलकत्ता में उनके आगमन की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा की जा रही थी। सन् १८७२ में स्वामीजी कलकत्ता पहुँचे। उनके आगमन का समाचार ३० दिसम्बर १८७२ के 'इण्डियन मिरर' में इस प्रकार प्रकाशित हुआ था—

https://t.me/arshlibrary

"The redoubtable Hidu iconoclast, Pandit Dayanand Saraswati, who recently discomfited the learned Pandits at Benares in an open theological encounter, and has otherwise made himself famous throughout Northern India, has come down to Calcutta, and is now staying in the suburben garden house of Rajah Jotindra Mohan Tagore at Nynan. He has issued notices in Sanskrit, Hindi, Bengali and English inviting inquirers and others to come and discuss the theological subjects with him."

"मूर्त्तिपूजा के महावैरी पण्डित दयानन्द सरस्वती जिन्होंने थोड़े दिन पहले काशी के पण्डितों को शास्त्रार्थ में पराजित करके भारत के उत्तरांचल में ख्याति प्राप्त की थी, अब कलकत्ता में आकर राजा यतीन्द्र मोहन ठाकुर के नगर के निकट नैनान उद्यान (प्रमोद कानन) में ठहरे हैं और जिज्ञासुओं तथा अन्य व्यक्तियों के साथ धर्मविचार करने के अभिप्राय से उन्होंने संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी तथा बंगला भाषा में विज्ञापन भी दिया है।"

स्वामी दयानन्द की मातृभाषा गुजराती और अध्ययन की भाषा संस्कृत थी, पर वे तो देशभर में फैले अविद्यान्धकार को दूर करने के तथा पाखण्ड, दम्भ और मिथ्या आडम्बरों पर प्रहार करने चले थे। इसलिए उन्हें घूम-घूमकर व्याख्यान देने पड़ते थे। प्रारम्भ में वे संस्कृत में बोलते थे। इसका कारण उन्हीं के शब्दों में यह था—"भारत में अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। तब मैं किस भाषा में बोलूँ ? संस्कृत समस्त भारतीय भाषाओं का मूल है, अतः संस्कृत में बोलना ही उचित है।" किन्तु संस्कृत में बोलने के कारण उनका प्रचार-क्षेत्र विद्वानों तक सीमित होकर रह गया।

उन दिनों कलकत्ता में एक-से-एक बढ़कर विद्वान्, साधक और महात्मा रहते थे। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, रामकृष्ण परमहंस, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन, राजनारायण बसु, महेशचन्द्र तर्करत्न, ताराचन्द तर्कवाचस्पति अनेक में से कुछ नाम हैं। कलकत्ता की जनता पर उनका क्या प्रभाव पड़ा, इसका विवेचन श्री नगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'महात्मा दयानन्द की संक्षिप्त जीवनी' में इस प्रकार किया है—

"केशव बाबू के घर जिस दिन मैंने प्रथम बार दयानन्द की वक्तृता सुनी, उस दिन एक ही बात मैंने अनुभव की। मैं नहीं जानता था कि संस्कृत में ऐसी मधुर और सरस वक्तृता हो सकती है। वे ऐसी सहज संस्कृत बोलने लगे कि संस्कृतभाषा में जो व्यक्ति महामूर्ख हो वह भी अनायास उनकी बात समझ लेता था और एक विषय में मुझे आश्चर्य हुआ। अंग्रेजी भाषा से अनभिज्ञ हिन्दू संन्यासी के मुख से धर्म और समाज के विषय में ऐसे उदार विचार मैंने पहले कभी नहीं सुने थे।"

वस्तुतः उनकी वाणी और व्याख्या सुनकर श्रोता मुग्ध हो उठते थे। वे यह विश्वास नहीं कर पाते थे कि एक कोपीन-कमण्डलधारी संन्यासी जो अंग्रेजी से एकदम अनभिज्ञ है, समाज और धर्म के विषय में इस प्रकार के परिमार्जित, उत्तम और उच्च विचारों का पोषण कर सकता है। इस प्रसंग में स्वामी श्रद्धानन्दजी के जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना का स्मरण हो आता है। बरेली में महर्षि दयानन्द के भाषण हो रहे थे। पुलिस अधिकारी के नाते उनके व्याख्यानों की व्यवस्था का भार स्वामी श्रद्धानन्द (उस समय मुंशीराम) के पिता ला० नानक चन्द के ऊपर था। वे स्वामीजी के भाषणों से प्रभावित थे। उन्होंने चाहा कि उनका पुत्र स्वामीजी के व्याख्यान सुने। कह-सुनकर एक दिन वे उसे अपने साथ ले-जाने में सफल हो गये। भाषण सुनकर लौटने के बाद युवक मुंशीराम बरबस कह उठे—'Oh ! He reasons so well without the knowledge of English.' यह लार्ड मेकाले की शिक्षा-नीति का परिणाम था कि अंग्रेजी न जाननेवाले भारतीयों को अनपढ़-गंवार समझा जाता था।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

मथुरा के प्रज्ञाचक्षु दण्डी स्वामी विरजानन्द के बाद बंगाल के मनीषियों ने स्वामी दयानन्द की शक्ति को पहचाना। पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और केशवचन्द्र सेन जैसे सुधारकों के मन में बार-बार यह विचार कौंध रहा था कि स्वामी का जनता से सीधे साक्षात्कार होना चाहिए। सदियों से नानारूप रूढ़ियों, कुरीतियों और अन्धविश्वासों में ग्रस्त जाति का उद्धार स्वामी दयानन्द के सिवा कोई नहीं कर सकता। इसलिए एक दिन बातों-ही-बातों में उन्होंने स्वामीजी से कहा—"यदि आप जनता के बीच में जाकर प्रचलित देशी भाषा में अपने विचार उनके सामने रखें तो निश्चय ही देश का बड़ा उपकार होगा। प्रायः अनुवाद करते समय अनुवादक आपके मन्तव्यों को विकृतरूप में प्रस्तुत करते हैं। इससे आपके प्रति अन्याय होता है। इसलिए आपको बिना मध्यस्थ के जनता से सीधे बात करनी चाहिए और यह प्रचलित देशी भाषा में ही हो सकता है।"

सत्य के अन्वेषक और प्रचारक दयानन्द ने तुरन्त यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। यह प्रचलित देशी भाषा हिन्दी थी, जिसे उन्होंने 'आर्यभाषा' का नाम दिया। इस नाम के दिये जाने का मूल कारण उनके पुणे में दिये गये आठवें व्याख्यान में मिलता है। जिसमें उन्होंने कहा था—

"मनुष्य-सृष्टि के उत्पन्न होने पर कुछ काल पश्चात् आर्य और दस्यु दो भेद हुए—**'विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवः'** (ऋ० १।१५।८)। इस प्रकार आदि सृष्टि में दो ही जातियां थीं—आर्य और दस्यु। आर्य अर्थात् सुज्ञ विद्वान् लोग और दस्यु अर्थात् दुष्ट।"

इसके औचित्य पर विचार करना यहाँ अभिप्रेत नहीं है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि अनेक कारणों से यह नाम अपनाया नहीं जा सका और आर्यभाषा के लिए 'हिन्दी' नाम ही रूढ़ हो गया। रूढ़ हो जाने पर किसी शब्द के पुराने अर्थ खोज का विषय बनकर रह जाते हैं। हिन्दी देश की बहुसंख्यक जनता की भाषा थी। स्वामीजी हिन्दी में व्याख्यान देने लगे। हिन्दी में उनका पहला व्याख्यान मई १८७४ में काशी में हुआ। व्याख्यान तो हिन्दी में ही हुआ, परन्तु संस्कृत बोलने का अभ्यास होने और हिन्दी का अभ्यास न होने के कारण वाक्य-के-वाक्य संस्कृत में बोल गये।

हिन्दी में व्याख्यान देने का यह परिणाम हुआ कि सर्वसाधारण अधिक संख्या में भाषण सुनने आने लगे, पर पण्डितों की संख्या कम होने लगी। स्वामीजी भाषा को विचारों के आदान-प्रदान का साधन मानते थे। अधिक-से-अधिक लोगों तक अपनी बात पहुँचाने की दृष्टि से ही उन्होंने हिन्दी को अपनाया था। जब वे संस्कृत बोलते थे तो वह भी इतनी सरल होती थी कि संस्कृत का सामान्य ज्ञान रखनेवाले भी उसे समझ जाते थे। क्लिष्ट संस्कृत को वे 'काकभाषा' कहते थे। स्वामीजी के समकालीन और कालान्तर में आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् म० म० पं० आर्यमुनिजी ने सन् १९३३ में अजमेर में सम्पन्न ऋषि-निर्वाण अर्द्धशताब्दी के अवसर पर स्वामीजी विषयक संस्मरण सुनाते हुए पण्डित युधिष्ठिरजी मीमांसक को बताया था कि एक दिन काशी के एक प्रसिद्ध नैयायिक ने स्वामीजी से कहा कि जब आपको संस्कृत बोलनी नहीं आती (उसकी दृष्टि में स्वामीजी की सरल और प्रसादगुणयुक्त संस्कृत, संस्कृत नहीं थी) तो यहाँ काशी में आकर बखेड़ा क्यों मचाते हो? इसपर स्वामीजी ने सौम्य तथा सरल भाव से कहा कि मैं तो वही संस्कृत बोलता हूँ जो पतञ्जलि ने महाभाष्य में लिखी है। यदि वह संस्कृत नहीं है तो मैं मान लेता हूँ कि मुझे संस्कृत नहीं आती, पर आप बताएँ आपकी संस्कृत कौन-सी है?

इसपर उस नैयायिक ने कहा कि मैं आपसे नव्यन्याय में शास्त्रार्थ करूँगा। यदि नव्यन्याय की भाषा में शास्त्रार्थ नहीं कर सकते तो अपनी पराजय स्वीकार करो। इसपर स्वामीजी ने 'तथास्तु' कहकर शास्त्रार्थ करना स्वाकार कर लिया। पं० आर्यमुनिजी ने बताया कि उस अवसर पर मैं स्वयं उपस्थित

https://t.me/arshlibrary

था। मुझे भी विश्वास था कि स्वामी दयानन्द नव्यन्याय की भाषा में शास्त्रार्थ नहीं कर सकेंगे, पर मुझे (आर्यमुनि को) यह देखकर आश्चर्य हुआ कि स्वामीजी न थोड़े ही समय में नव्यन्याय की भाषा में उस नैयायिक के छक्के छुड़ा दिये। अन्त में स्वामीजी ने श्रोताओं से पूछा कि "क्या आपलोग हमारे वार्तालाप को समझे ?" श्रोताओं के इन्कार करने पर स्वामीजी बोले कि जैसे दो कौवे लड़ते हों तो कोई उनकी भाषा नहीं समझता, ऐसी ही नव्यन्याय की भाषा है। इसलिए मैं इसे काकभाषा कहता हूँ। मैं पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए नहीं, लोगों को अपनी बात समझाने के लिए सरल संस्कृत का ही प्रयोग करता हूँ।

कलकत्ता आने से पूर्व स्वामी दयानन्द हिन्दी से सर्वथा अपरिचित नहीं रहे होंगे। गुजरात छोड़ने के बाद वे अधिकतर हिन्दीभाषी प्रदेशों में ही प्रचार करते रहे थे। उस काल में सधुक्कड़ी अर्थात् बोलचाल की हिन्दी के कामचलाऊ अनेक शब्द सीख गये होंगे, किन्तु शास्त्रीय विषयों पर व्याख्यान देने के लिए जिस प्रकार की परिष्कृत भाषा की अपेक्षा होती है, उस समय तक उसके अभ्यस्त वे अभी नहीं हो पाये थे। उसका सूत्रपात तो काशी में हुए उनके पहले व्याख्यान के साथ ही हुआ था। जिस हिन्दी में वे व्याख्यान देते थे उसी का प्रयोग उन्होंने सत्यार्थप्रकाश की रचना में किया।

सत्यार्थप्रकाश की हिन्दी

जैसाकि हम पहले लिख आये हैं, सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण का लेखन १२ जून १८७४ को प्रारम्भ हुआ था। तब तक स्वामीजी हिन्दी भाषा पर अधिकार नहीं कर पाये थे। इसलिए उसमें जाने-अनजाने भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से अनेक अशुद्धियाँ हो गयी थीं। अभ्यास के कारण उनमें निखार आया। इसलिए सन् १८८२ में लिखित और १८८४ में प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश के दूसरे संस्करण को प्रामाणिक माना जाता है।

स्वामीजी की मातृभाषा गुजराती थी और उनके अध्ययन की भाषा संस्कृत, अतः उनकी हिन्दी पर दोनों का प्रभाव था। वे संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक करते थे, तद्भव का कम। स्वामीजी पुराणे, पुनरपि, पुरश्चरण, पाषण्ड, नैरोग्य आदि शब्दों का बार-बार प्रयोग करते हैं। संस्कृत शब्दों का प्रयोग भी वे संस्कृतव्याकरणानुसारी करते हैं। इसी कारण उनकी हिन्दी में आत्मा, आयु, सन्तान, विजय आदि शब्द पुंल्लिग हैं, देवता स्त्रीलिंग। संस्कृत में नपुंसकलिंग माने जानेवाले शब्दों को हिन्दी में पुंल्लिग की भाँति प्रयुक्त किया है, जैसे—'कोई भी दूसरा वस्तु नहीं था', 'एक प्राचीन पुस्तक जो विक्रम के संवत् १८७२ का लिखा हुआ था', 'बिना पढ़े संस्कृत कैसे आ सकता है', 'यह अग्नि का सामर्थ्य है' आदि। गुजराती होने के कारण उसके अनेक शब्द उनकी भाषा में ज्यों-के-त्यों आ गये हैं, जैसे—ऊंदर, ससा, कुम्भार, जमणे (दायें)। संस्कारविधि में जातकर्म संस्कार में स्वामीजी ने लिखा है—'तत्पश्चात् घी और मधु दोनों बरोबर मिलाके.....बालक की जिह्वा पर 'ओ३म्' लिखके....।' आयुर्वेद के अनुसार घी और मधु बराबर मिलकर विष बन जाता है, किन्तु गुजराती में 'बरोबर' का अर्थ 'समान मात्रा में' न होकर 'उचित मात्रा' में होता है। 'अपन सब मिलके' यह वाक्य-रचना भी गुजराती से प्रभावित है।

आवश्यकतानुसार, विशेषतः इस्लाम के खण्डन के प्रसंग में उन्होंने मज़हब, फरिश्ता, खर्च, सरकशी, बहिश्त, हुक्म, इंसाफ और कयामत जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में जबलौं, होवै, रहै, विचारना, प्रकाशना जैसे नामधातुओं का तथा 'रखता हूँ' क्रिया के स्थान पर 'धरता हूँ' का प्रयोग तथा बहुत करके 'हारा' प्रत्यय का व्यवहार व्रज भाषा के प्रभाव के द्योतक हैं। स्वामीजी को अन्धविश्वासों और कुरीतियों का खण्डन करने के लिए सशक्त भाषा की आवश्यकता थी। ऐसी भाषा में मुहावरों और

https://t.me/arshlibrary

कहावतों का खूब प्रयोग होता है। अपने व्याख्यानों को प्रभावशाली बनाने के लिए स्वामीजी उनका भरपूर प्रयोग करते थे। उदाहरणार्थ—

"जब संवत् १९१४ के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर, मूर्त्तियाँ अंग्रेजों ने उड़ा दी थीं तब मूर्त्ति कहाँ गयी थी ? मूर्त्ति मक्खी की एक टांग भी न तोड़ सकी। जो कोई श्रीकृष्ण सदृश होता तो इनके धुर्रे उड़ा देता और ये भागते फिरते।"

"धिक्कार है पोप और पोपरचित इस महा असम्भव लीला को जिसने संसार को भ्रमा रक्खा है। भला इन महाझूठ बातों को वे अन्धे पोप और भीतर की फूटी आँखोंवाले उनके चेले सुनते और मानते हैं।" रोचकता के लिए वे दृष्टान्त कथाओं का प्रचुरता से प्रयोग करते थे। सन् १८७६ में प्रकाशित 'व्यवहारभानु' में ऐसी अनेक कथाएँ मिलती हैं। अपने लेखों और व्याख्यानों को रोचक बनाने की दृष्टि से जिस सशक्त शैली को उन्होंने जन्म दिया उसपर मुग्ध होकर वीर विनायक दामोदर सावरकर ने लिखा था—"ऐसी सरल हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा बने, जिसमें ऋषि दयानन्द ने 'सत्यार्थप्रकाश' की रचना की।" (स्वामी दयानन्द सरस्वती की हिन्दी सेवा पृ. ६६)

स्वामी दयानन्द मूलतः प्रखर चिन्तक और विचारक थे। उनके शुद्ध गद्य का रूप तो इतिवृत्तात्मक शैली में प्रकट हुआ है, जिसे उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के पूर्वार्द्ध (प्रथम दश समुल्लास) में प्रायः अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में अपनाया है। विषय के अनुरूप उनकी गहन, गम्भीर तथा अर्थव्यंजक भाषा के दर्शन हमें उनकी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में होते हैं।

श्री विष्णुप्रभाकर के शब्दों में "उनकी (स्वामीजी की) हास्य-व्यंग्यप्रधान शैली कहीं तो बड़ी कठोर है तो कहीं सहज हास्य से छलकती मन-प्राणों को पुलकित कर देती है। श्राद्धतर्पण का खण्डन करते हुए उनका व्यंग्य पैनी तलवार की तरह अन्तर को चीरता चला जाता है।" मृत जीवों के लेने के लिए यमदूत धरती पर आते हैं। इस बात पर उपहास उड़ाते हुए वे लिखते हैं—

"जब जंगल में आग लगती है तब एकदम पिपीलिकादि जीवों के शरीर छूटते हैं। उनको पकड़ने के लिए यम के असंख्य गण आवें तो वहाँ अन्धकार हो जाना चाहिए और जब आपस में जीवों को पकड़ने को दौड़ेंगे तब कभी उनके शरीर ठोकर खा जाएँगे तो जैसे पहाड़ के बड़े-बड़े शिखर टूटकर पृथिवी पर गिरते हैं वैसे उनके बड़े-बड़े अवयव गरुड़-पुराण के बांचने-सुननेवालों के आंगन में गिर पड़ेंगे तो वे दब मरेंगे या घर का द्वार या सड़क रुक जाएगी तो वे कैसे निकल वा चल सकेंगे। श्राद्ध, तर्पण, पिण्ड-प्रदान उन मरे हुए जीवों को नहीं पहुँचता किन्तु मृतकों के प्रतिनिधि पोपजी के उदर और हाथ में पहुँचता है। वैतरणी पर गाय नहीं जाती, पुनः जीव किसकी पूँछ पकड़कर तरेगा ? और हाथ तो यहीं जला या गाड़ दिया गया, फिर पूँछ को कैसे पकड़ेगा ?"

इसी से सम्बन्धित एक और उद्धरण निम्न प्रकार है। आक्रमण इसमें भी है, परन्तु स्वामीजी इसमें हास्य का पुट देकर इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि श्रोता इसपर खिलखिलाकर हँसे बिना नहीं रह सकता—

"मथुरा तीन लोक से न्यारी तो नहीं परन्तु उसमें तीन जन्तु ऐसे लीलाधारी हैं कि जिनके मारे जल, थल और अन्तरिक्ष में किसी को सुख मिलना कठिन है। एक—चौबेजी, कोई स्नान करने जाए तो अपना कर लेने को खड़ा रहकर बकते रहते हैं—लाओ भांग और लड्डू खाएँ-पिएँ, यजमान का जय-जयकार मनाएँ। दूसरे—जल के कछुए काट ही खाते हैं। जिनके मारे घाट पर स्नान करना भी कठिन है। तीसरे—आकाश के ऊपर लाल मुख के बन्दर। पगड़ी, टोपी, गहने और जूते तक न छोड़ें, काट खाएँ, धक्के दे गिराकर मार डालें और ये तीनों पोप और पोपजी के चेलों के पूजनीय हैं।"

https://t.me/arshlibrary

सत्यार्थप्रकाश का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव

काशी-प्रवास में स्वामीजी की भेंट भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से हुई थी। १९६९ में हुए प्रसिद्ध काशी-शास्त्रार्थ में भारतेन्दु उपस्थित थे। उस समय वे स्वामीजी के विरोधी थे। पर १० वर्ष बाद जब उन्होंने स्वामीजी को एक सच्चे देशभक्त, प्रखर समाज-सुधारक और हिन्दी के प्रबल पक्षपाती के रूप में पहचाना तो उनकी दृष्टि बदल गयी। जब दूसरी बार स्वामीजी काशी में आये तो स्टेशन पर स्वामीजी के स्वागतार्थ आये काशी के प्रतिष्ठित लोगों में भारतेन्दुजी सबसे आगे खड़े पाये। तत्पश्चात् वे स्वामीजी से मिलने उनके स्थान पर आये और खण्डन-मण्डन को लेकर विचार-विनिमय किया। भारतेन्दुजी के साहित्य पर स्वामीजी के विचारों का प्रभाव प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। भारतेन्दुजी के 'भारत-दुर्दशा', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' तथा 'प्रेमयोगिनी' नाटकों में रूढिमूलक धर्म तथा पाखण्ड की तीव्र आलोचना को पढ़ते हुए दयानन्द उनके प्रेरणास्रोत जान पड़ते हैं। एक बात बहुत कम लोग जानते हैं कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का सुप्रसिद्ध नाटक 'अन्धेर नगरी' कथ्य की दृष्टि से उनकी मौलिक कृति नहीं है। स्वामीजी इस कथा का प्रयोग उनके नाटक के लिखे जाने से दो वर्ष पूर्व कर चुके थे। अपनी पुस्तक 'व्यवहारभानु' में आदर्श राजा के रूपक के रूप में इस कथा को अपनी भाषा में लिखा है। नाटक संवत् १९३८ वि० (सन् १८८१) में प्रकाशित हुआ था, जबकि 'व्यवहारभानु' का प्रकाशन संवत् १९३६ (सन् १९७९) में हो चुका था। भारतेन्दु नाटक वहीं पर समाप्त कर देते हैं, जहाँ लोग राजा को टिकटिकी पर खड़ा कर देते हैं, परन्तु स्वामीजी उसको फाँसी लग जाने के बाद उसके छोटे भाई सुनीति को गद्दी पर बैठाकर उसके सुराज का वर्णन करते हैं—

"और जब जिस देशस्थ प्राणियों का सौभाग्य उदय होनेवाला होता है तब सुनीति के समान धार्मिक विद्वान्, पुत्रवत् प्रजा का पालन करनेवाली राजसहित सभा और धार्मिक पुरुषार्थी पिता के समान राज-सम्बन्ध में प्रीतियुक्त मंगलकारिणी प्रजा होती है।"

स्वामीजी की विनोदप्रियता प्रायः व्यंग्यप्रधान और शिक्षाप्रद होती थी। राजा के बैंगन की प्रशंसा करने पर दरबारियों के प्रशंसा करने और राजा के बैंगन के दोष बताने पर दरबारियों के उसकी निन्दा करने सम्बन्धी कथा का बाद में पं. राधेश्याम कथावाचक ने अपने एक नाटक में प्रयोग किया था।

भारतेन्दुजी के अतिरिक्त उनके प्रभामण्डल के अन्य कई सदस्य भी स्वामीजी के विचारों से प्रभावित थे। ऐसा कहा जाता है कि प्रतापनारायण मिश्र कुछ समय तक आर्यसमाज से जुड़े रहे थे। उनका प्रसिद्ध भजन 'पितु मातु सहायक स्वामी सखा.....' उसी काल की रचना है। भारतेन्दुजी द्वारा सम्पादित 'कविवचनसुधा' तथा 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' के सम्पादक मण्डल में पं. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, नवीनचन्द्र राय, सत्यव्रत सामश्रमी आदि के साथ स्वामीजी का नाम भी लिखा जाता था। सिद्धान्तरूप में स्वामीजी से सहमत न होते हुए भी भारतेन्दुजी ने स्वामीजी की पुस्तक 'अद्वैतमतखण्डन' को 'कविवचनसुधा' में दो अंकों में प्रकाशित किया था। स्वामीजी के विज्ञापन भी उसमें प्रकाशित होते थे। स्वामीजी की आत्मकथा खड़ी बोली में हिन्दी की सबसे पहली आत्मकथा मानी जाती है।

प्रचलित अर्थों में स्वामी दयानन्द को साहित्यकार नहीं माना जा सकता। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, प्रहसन, निबन्ध, पत्रकारिता आदि साहित्य की किसी विधा में प्रत्यक्षतः स्वामीजी का कोई योगदान नहीं है, परन्तु उनका प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। भारतेन्दु तथा द्विवेदी काल की सभी रचनाओं में दयानन्द प्रच्छन्न रूप से ओत-प्रोत हैं। रामधारीसिंह दिनकर के अनुसार यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि "रीतिकाल के ठीक बादवाले काल में हिन्दीभाषी क्षेत्र में जो सबसे बड़ी सांस्कृतिक घटना घटी, वह

https://t.me/arshlibrary

थी स्वामी दयानन्द का पवित्रतावादी दृष्टिकोण। इस काल के कवियों को शृंगार की कविता लिखते समय यह प्रतीत होता था जैसे स्वामी दयानन्द पास खड़े सब-कुछ देख रहे हैं। इस भय से छायावादी कवि भी प्रत्यक्ष नारी के बदले 'जूही की कली' अथवा विहंगिनियो का आश्रय लेकर अपने भावों का विवेचन करने लगे।"

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय के सहपाठी प्रेमचन्द के प्रारम्भिक साहित्य पर दयानन्द और उनके द्वारा संस्थापित आर्यसमाज की विचारधारा का व्यापक प्रभाव पड़ा। जयशंकर प्रसाद और मैथिलीशरणगुप्त ने अपने साहित्य में यत्र-तत्र-अनेकत्र जो अतीत का गौरवगान किया है, उसके मूल में भी दयानन्द द्वारा सत्यार्थप्रकाश में वर्णित प्राचीन आर्यावर्त्त की गौरवगाथा का विस्तार है और दिनकर के अनुसार तो 'साकेत' के राम दयानन्द के 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का नारा लगाते हैं। वाद-विवाद के लिए पद्य उपयुक्त साधन नहीं है। उसके लिए सरल, सहज और सशक्त और लोकप्रचलित भाषा की आवश्यकता होती है। इसी कारण संस्कृतज्ञ और गुजराती होते हुए भी स्वामीजी की भाषा में शक्ति भी है और सहजता भी है। वह हँसाती और गुदगुदाती तो है ही, संघर्ष के लिए ललकारती भी है।

डा० राममनोहर लेहिया ने एक बार हिन्दीलब्धप्रतिष्ठ लेखक श्री विष्णुप्रभाकर से कहा था—"किसी देश पर मध्यप्रदेश का शासन होता है, सीमान्त प्रदेशों का नहीं। भारत के मध्यप्रदेशों की भाषा हिन्दी है, वही इस देश की राजभाषा होगी।" ऋषि दयानन्द ने अपनी दिव्यदृष्टि से इसी बात को सौ वर्ष पूर्व समझ लिया था और दयानन्द के नेत्र वह दिन देखना चाहते थे जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक नागरी अक्षरों का प्रचार होगा। "मैंने आर्यावर्त्तभर में भाषा का ऐक्य सम्पादन करने के लिए ही अपने सकल ग्रन्थ आर्यभाषा में लिखे और प्रकाशित किये हैं।" इसी आग्रह के साथ उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में लिखा—"जब पाँच-पाँच वर्ष के लड़का-लड़की हों तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें, अन्य देशीय भाषाओं का भी।" ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (वेदानां नित्यत्वविचारः) में उन्होंने लिखा है—"जो किसी देशभाषा को पढ़ता है उसको उसी देशभाषा का संस्कार होता है।" इसलिए उन्होंने अन्य देशीय भाषाओं से पहले देवनागरी अक्षरों के अभ्यास पर बल दिया है।

स्वामीजी उर्दू को म्लेच्छभाषा नहीं कहते थे, लेकिन पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के अनुसार उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट और पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' की उपस्थिति में उसे विलासिनी और हिन्दी को कुलकामिनी कहा था। इसका एक कारण यह था कि उस समय उनके मित्र और प्रशंसक सर सैयद अहमद खाँ तक हिन्दी को गंवारू भाषा कहकर उसका उपहास उड़ाते थे। आज वही गंवारू (?) भाषा हिन्दी राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित है। भारतीय संविधान की धारा ३४३ के अनुसार—"The official language of the Union (of India) shall be Hindi in Devanagari script."

अर्थात् संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवानागरी होगी। फिर धारा ३५१ के अनुसार—

"It shall be the duty of the Union to promote the spread of the Hindi language, to develop it so that it may serve as a medium of expression for all the elements of the composite culture of India and to secure its enrichment by assimilating without interfering with its genius, the forms, the style and expressions used in Hindustani and in the other languages of India specified in the English Schedule and by drawing, wherever necessary or desirable, for its vocabulary, primarily on Sanskrit and secondarily on other languages."

अथात् संघ का यह कर्त्तव्य होगा कि वह हिन्दी भाषा का प्रसार बढ़ाये, उसका विकास करे जिससे वह भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके और उसकी संस्कृति में हस्तक्षेप किये बिना हिनदुस्थानी में और आठवीं अनुसूची में निर्दिष्ट भारत की अन्य भाषाओं में प्रयुक्त

https://t.me/arshlibrary

रूप, शैली और पदों को आत्मसात् करते हुए और जहाँ आवश्यक या वाञ्छनीय हो वहाँ उसके शब्दभण्डार के लिए मुख्यतः संस्कृत से और गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करे।

भारतीय संविधान में उपर्युक्त धाराओं का समावेश १४ सितम्बर १९४९ को हुआ, परन्तु यह उस आन्दोलन का परिणाम था जिसका सूत्रपात ऋषि दयानन्द ने सन् १८८२ में सरकार द्वारा नियुक्त हंटर कमीशन के पास हिन्दी के पक्ष में हस्ताक्षरयुक्त ज्ञापन भिजवाये थे। हिन्दी के प्रसंग में यह बात समझ लेनी चाहिए कि वे हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के प्रयास में किसी पूर्वाग्रह या पक्षपात की भावना से ग्रस्त होने के कारण प्रवृत्त नहीं हुए थे। इसके विपरीत वे राष्ट्रभाषा की आवश्यकता अनुभव करते-करते हिन्दी तक जा पहुँचे थे। उन्होंने समझ लिया था कि संस्कृत के देववाणी होते हुए भी उसमें वर्तमान में जनवाणी बनने का सामर्थ्य नहीं है। भाषा के हर शब्द की एक पृष्ठभूमि होती है। वह उस देश की संस्कृति और परम्पराओं से बनता है। भाषा के बदल जाने पर उस संस्कृतिविशेष में उथल-पुथल होने की पूरी सम्भावना रहती है। संस्कृति समाज की आत्मा होती है। उसके नष्ट हो जाने पर समाज जीवित नहीं रहता। स्वामीजी अंग्रेजी या किसी भी भाषा के पढ़ने-पढ़ाने के विरोधी नहीं थे, परन्तु वह जानते थे कि अंग्रेजी विदेशी शासकों की भाषा है और उन्हें इस बात का दुःख था कि अंग्रेजी लोगों की मातृभाषा बनती जा रही थी। इसलिए उन्होंने देशभर के आर्यसमाजों को आदेश दिया कि वे भाषा-निर्धारण हेतु गठित हंटर आयोग के पास बड़ी संख्या में हस्ताक्षरयुक्त ज्ञापन भेजें। आर्यसमाज के फ़र्रुख़ाबाद के स्तम्भ बाबू दुर्गादासजी को १७ अगस्त १८८२ को लिखे अपने पत्र में स्वामीजी ने लिखा था—"यह काम एक के करने का नहीं है और अवसर चूके, वह अवसर आना दुर्लभ है। जो यह कार्य सिद्ध हुआ तो आशा है मुख्य सुधार की नींव पड़ जाएगी।" स्वामीजी के प्रयासों से देश के 'कोने-कोने से हिन्दी को राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित कराने हेतु स्मरण-पत्र भेजे गये। कानपुर से भेजे गये मैमोरियल से ज्ञात होता है कि लगभग दो लाख मनुष्यों के हस्ताक्षरों से युक्त दो सौ मैमोरियल हंटर आयोग को भेजे गये थे। आर्यसमाज मेरठ द्वारा २०×२६ /८ आकार का १६ पृष्ठों के मैमोरियल में हिन्दी के प्रयोग तथा देवनागरी लिपि में शिक्षा देने की तर्कप्रतिष्ठित आधार पर माँग की गयी थी। इसी प्रकार कानपुर के निवासियों की ओर से सर एल फ्रैड कामिन्स, लेफ्टिनेंट गवर्नर पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध क्षेत्र को जो ज्ञापन दिया गया था, उसमें भाषा आयोग के अध्यक्ष हंटर तथा सदस्य जस्टिस महमूद द्वारा हिन्दी के पक्ष में प्रस्तुत विचारों का उल्लेख करते हुए हिन्दी को राजभाषा बनाने का इस प्रकार निवेदन किया गया था कि "जब शिक्षा कमीशन इलाहाबाद में मेयो हाल में बैठा था, तब प्रेजिडेण्ट डॉ० हंटर साहब को कहना पड़ा था कि पश्चिमोत्तर प्रदेश में हिन्दी की बड़ी चाह है। उसी समय जस्टिस महमूद साहब ने भी कहा था—'यद्यपि मैं मुसलमान हूं, लेकिन यहाँ के लोगों की राय प्रकाशित करता हूँ। सब लोग यही चाहते हैं कि हिन्दी सब जगह प्रचलित होवे और उर्दू, जो टेढ़ी-मेढ़ी लिखी जाती है, मेरी राय से न रहे।"

हम यहाँ आर्यसमाज मेरठ तथा कानपुर के निवासियों की ओर से भेजे गये दो ज्ञापनों को उद्धृत कर रहे हैं। ये ज्ञापन पं० भगवद्दत्तजी द्वारा संपादित 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' (द्वितीय भाग) में पृष्ठ ६६० से ६७४ तक छपे हैं।

आर्यभाषा को राजकीय कार्यों में प्रचलित करने के लिए ऋषि दयानन्द की प्रेरणा से भेजे गये

मेमोरियलों के नमूने

https://t.me/arshlibrary

ऋषि दयानन्द की प्रेरणा से आर्यभाषा के राजकार्य में प्रवृत्त कराने के लिए अनेक स्थानों से राज्याधिकारियों के पास २०० मैमोरियल भेजे गये थे[1]। उनमें से हम एक ममोरिल और एक निवेदन-पत्र की प्रतिलिपि नीचे देते हैं, जिससे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाएगा कि राजकार्य में आर्यभाषा हिन्दी को प्रवृत्त कराने में आर्यसमाज तथा उसके प्रवर्त्तक ने (उस काल में जब कि इस ओर किसी का ध्यान भी नहीं गया था) कितना महान् कार्य किया था। आज हिन्दी के इतिहास में आर्यसमाज और उसके प्रवर्तक के हिन्दी के प्रचार के कार्य का उल्लेख केवल ३-४ पंक्तियों में लिखकर समाप्त कर दिया जाता है। हमारे विचार में इसका प्रधान कारण आर्यविद्वानों का इस क्षेत्र (इतिहास-लेखन) से उदासीन रहना ही है, अन्यथा किसी भी हिन्दी के इतिहास के लेखक को ऐसी धृष्टता करने का साहस ही न होता। भारत सरकार द्वारा की गयी सहायता से कई भागों में काशी नागरी प्रचारिणी से प्रकाशित 'हिन्दी के बृहद् इतिहास' में ऋषि दयानन्द के द्वारा किये गये हिन्दी भाषा के प्रचार के विषय में कुछ भी नहीं लिखा गया।

आर्यसमाज मेरठ द्वारा प्रेषित मैमोरियल[2]

(मुख पत्र)

ओ३म्

मेमोरियल

अर्थात् श्रीयुत डाक्टर हंटर साहिब बहादुर की सेवा में

नागरी प्रचारक निवेदन पत्र

जिसको आर्यसमाज मेरठ की आज्ञानुसार एक सभासद ने लिखा

मिति माघ बदी १२ रविवार

संवत् १९३६

विद्या दर्पण यन्त्रालय में छपा

ओ३म्

मेमोरियल

अर्थात् नागरी प्रचारक निवेदन पत्र

श्रीयुत विज्ञातिविज्ञ महामान्यवर एज्यूकेशनल कमीशन के प्रधानाध्यक्ष श्रीमान् डाक्टर हंटर साहिब की सेवा में अति विनयपूर्वक प्रार्थना।

---

१ अगले कानपुर से भेजे गये निवेदन-पत्र के पैरा ३ से व्यक्त होता है कि दो सौ मेमोरियल शिक्षा कमीशन के पास भेजे गये थे।

२ यह मैमोरियल २०/२६ अठपेजी आकार के १६ पृष्ठों पर लीथो में छपा है।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

यद्यपि आज तक जितने देवनागरी प्रचारक प्रार्थनापत्र अर्थात् (मैमोरियल) आपकी सेवा में भेजे गये हैं सम्भव है कि उनकी अपेक्षा यह निवेदन पत्र अति ही तुच्छ हो, परन्तु न्यायाधीश महाशयों के लिए संकेत मात्र ही बहुत होता है, इसलिए आशा है कि इस छोटे-से निवेदन-पत्र पर अवश्य ध्यान होगा और विचारपूर्वक यथार्थ और प्रजाहित सम्मति दी जाएगी ।

प्रश्न—जिस देश में जिस भाषा के द्वारा शिक्षा दी जाती है क्या वह वहाँ के सब लोगों को शिक्षा देने के लिए उपयोगी है ॥

उत्तर—जिस देश में जिस भाषा के द्वारा वहाँ के लोगों को शिक्षा दी जाए वह वहाँ के लोगों की प्राकृत और स्वाभाविक भाषा हो, अर्थात् सब स्त्री-पुरुष उसको बाहर-भीतर बिना सोचे-विचारे रात-दिन बोलते चालते हों, क्योंकि उस भाषा के केवल अक्षराभ्यास हो जाने पर क्या बालक और युवा सब स्त्री-पुरुष शीघ्र शब्द निकालने और पढ़ने लगेंगे । कारण इसका यह है कि बोली तो वही है जो माता-पिता, भाई-बन्धु और संगियों से सुनी-सुनाई और बोली हुई है, केवल अक्षरों के सीखने और उनके जोड़-तोड़ में श्रम करना रह जाएगा, परन्तु वह मातृभाषा आपस की बोल-चाल और लेख का निर्वाहमात्र ही न हो किन्तु उसमें आगे बढ़ने और विद्वान् बनने के लिए कविता और विद्या के विस्तृत मार्ग भी हों । अब रहे अक्षर उस मातृभाषा के ऐसे होने चाहिए जो सुलभ हों और उनमें सब प्रकार के शब्द लिखे जा सकें और पढ़ने में ज्यों-के-त्यों आएँ और एक के लेख को दूसरा निर्भ्रम और शुद्ध पढ़ ले । रहा यह विचार करना कि इस देश की कौ न-सी प्राकृत भाषा है—यों तो इस आर्यावर्त में बंगाली, गुजराती, मरहटी आदि बहुतेरी भाषा जो क्रम से बंगाल, गुजरात और महाराष्ट्र आदि देशों में बोली जाती हैं, परन्तु हमारे पश्चिमोत्तर देश में मुख्य नागरी भाषा जिसे अब लोग हिन्दी कहने लगे हैं बोली-चाली जाती है और इसको छोड़ अवध, पंजाब और मारवाड़ आदि प्रदेशों में भी यही भाषा किसी-किसी शब्द की उलट-पुलट और ऊँचे-नीचे स्वरों के भेद से बोली जाती है और इसी लिए एक की बोल-चाल को दूसरा भली-भाँति समझ लेता है और यह मातृभाषा ऐसी सुगम है कि कई प्रदेशों के अनन्तर और प्रदेशों के लोग भी बंगाली, दक्षिणी आदि बिना पढ़े और सीखे समझ लेते हैं और केवल मेल-मिलाप से ही स्पष्ट बोलने लगते हैं । यह तो इसकी सुगमता-सरलता का थोड़ा-सा वर्णन हुआ अब इसके पूरे होने का व्याख्यान सुनिए कि इसमें कैसी-कैसी कविता सीधी-सीधी बोल-चाल में है कि बड़ी-बड़ी प्रसिद्ध भाषाओं की कविता लगा नहीं खातीं । टुक सूर, तुलसी, केशव और बिहारी आदि कवियों की कविता पर ध्यान दीजिए कि कैसे-कैसे अद्भुत अलंकार और गूढ़ आशय इस भाषा में बंधे और समाये हैं । गद्य भी इस ललित भाषा की बहुत रोचक है । प्रेमसागर, राजनीति, शकुन्तला आदि ग्रन्थों के देखने से उसकी उत्तमता और उत्कृष्टता भली-भाँति सिद्ध होती है ।

गणित, भूगोल, इतिहास और वैद्यक आदि विद्याओं की अनगिनत पुस्तकें बन गयी हैं और प्रतिदिन बनती जाती हैं । निदान यह प्राकृत भाषा सर्वथा सबके पढ़ने और लिखने के योग्य है ।

अब रहे वह अक्षर कौन-से हैं जिनमें इस भाषा और अन्य भाषा के शब्दों का पूरा-पूरा निर्वाह हो सके और वह यथावत् लिखे-पढ़े जाएँ और लिखने और पढ़नेवाला कहीं रुके और अटके नहीं ।

यह अनुपम और अपूर्व अक्षर संस्कृत भाषा के जो पृथिवीमात्र के सम्पूर्ण अक्षरों से उत्तम और सुन्दर हैं । सबसे बढ़कर उनमें यह बात है कि अक्षर-अक्षर का रूप निराला है । पढ़ने-लिखने में भ्रम कभी नाम

---

१. वर्णों का यह वर्णन वर्णोच्चारण-शिक्षा के अनुसार किया गया है । वस्तुतः सानुनासिक यम वर्ण नहीं हैं, वह तो स्वरों का एक उच्चारण विशेष है । उसे द्योतित करने के लिए स्वर के ऊपर ँ ऐसा चिह्न किया जाता है, जोकि किसी स्वतन्त्र वर्ण का चिह्न नहीं है । यम स्वतन्त्र वर्ण हैं ।

https://t.me/arshlibrary

को भी नहीं पड़ता और ऐसे सीधे और सुगम हैं कि दो चार-दिन के अभ्यास से आ जाते हैं। यों तो संस्कृत भाषा के तेरसट अक्षर हैं जिनमें बाईस स्वर, तेंतीस व्यंजन, चार अयोगवाह और चार यम हैं। परन्तु हमारी प्राकृत नागरी भाषा में बहुधा बारह स्वर, तेंतीस व्यंजन, दो अयोगवाह विसर्जनीय और अनुस्वार और एक यम सानुनासिक[1] अर्थात् सब अड़तालीस अक्षर काम आते हैं और इन्हीं से इस भाषा और अन्य शब्दों का यथोचित निर्वाह हो सकता है और इन मनोहर अक्षरों में सर्वोपरि यह गुण है कि इनमें घटा-बढ़ाकर कुछ-का-कुछ नहीं बना सकते।

मुसलमानों के इस देश में आने और हेल-मेल से जो अरबी-फ़ारसी के शब्द नागरीभाषा में मिल गये हैं उसी को लोग उर्दू कहने लगे हैं, परन्तु यह उर्दू बहुधा दिल्ली, लखनऊ आदि दो चार बड़े-बड़े नगरों में जहाँ पहिले बादशाह लोग रहते थे बोली जाती है। सो उनमें भी फ़ारसी पढ़े-लिखे लोग, शेष सब स्त्री-पुरुष वही अपनी मातृभाषा बोलते हैं। हमारी भाषा में आपसी मेल-जोल से जो कोई अरबी-फ़ारसी का तथा अंग्रेजी का कोई शब्द मिल गया और सब लोगों में प्रचार पा गया, उसका बोलना और लिखना कोई ऐसी बुराई की बात नहीं जिससे कुछ हानि हो। पर हाँ, बुराई और हानि की बात तो यह है कि लोगों के जी में जो यह बात समा रही है कि फ़ारसी आरसी है उसके पढ़े लिखे बिना मनुष्य की बोल-चाल और शील ही नहीं सुधरता और संवरता है, इसलिए वह लोग फ़ारसी पढ़-पढ़कर अपने लेख में निरे अरबी-फ़ारसी के शब्द कूट-कूटकर भरते हैं और जहाँ तक हो सकता है अपनी भाषा के सीधे-सीधे शब्दों की जगह ढूँढभाल कर अरबी-फारसी के टेढ़े-मेढ़े शब्द बोलते और लिखते हैं। यहाँ तक कि इज़ाफत और तरकीब आदि भी अरबी फ़ारसी ही की लाते हैं।

यह फारसी के नाम पर उधार खानेवाले अपने बोल-चाल में तो बड़े-बड़े लुग़त ही अरबी-फ़ारसी के बोलते हैं। जिनको साधारण लोग नहीं समझते और बहुधा कह देते हैं कि यह तेरी फ़ारसी तो हमारी समझ में नहीं आती, ढ़बसिर कहें तो समझें। परन्तु उनका लेख जुलैख़ा बहार दानिश और माधोराम से कम नहीं होता जिसका समझना तो क्या और लोग मौज को भी नहीं पाते, फिर कहिए यह नाम की उर्दू जो सचमुच फ़ारसी का घूंघट काढ़ रही है, लोग कैसे उसको सुगम सुलभ देख सकते हैं ? कदापि नहीं॥

भला जब आदमी की सारी उमर अकेली उर्दू के लिए फारसी पढ़ते-पढ़ते बीत गई तो आगे और क्या करेगा और वह फारसी भी कैसी जिसमें ऊपरी और मुँह देखी बात बनाना, लल्लो पत्तो, चापलूसी और रसिक बातों के सिवाय और कुछ न हो॥

इसका फल जो कुछ यहाँ के लोगों पर हुआ है उसको निश्चय चतुर मनुष्य जानते होंगे। कदाचित् यह उर्दू जिससे बहुत बड़ी हानि हुई और हो रही है सर्कारी दफ़्तरों में लिखी-पढ़ी न जाती तो कभी प्रचार न पाती और जैसा अब लोग नौकरी के लालच से पढ़ते हैं, नाम भी न लेते। इसपर भी तो उर्दू जान्ने वाले नागरी जान्नेवालों का मसां करके सवां (सौवां) भाग भी नहीं। कारण इसका वही ठेठ बोल-चाल और अक्षरों की सुगमता का है। इस उर्दू भाषा का दफ्तरों में प्रचार होने से बड़ी भारी हानि तो यह है कि साधारण लोग अपने मुआमले और मुकद्दिमे के मध्ये की लिखत पढ़त सुनकर गूंगे-बहरों के समान मुँह तकते रह जाते हैं बहुतेरा कान लगाते हैं, पर समझते नहीं, जो कहीं पढ़ने-लिखनेवाले ने किसी कारण और प्रयोजन से अपना सिर खपाया और सैकड़ों दृष्टान्त दिये तो जाकर कहीं औंधा-सीधा मतलब समझे तो समझे, नहीं तो नहीं, हारकर जैसाकि किसी ने कहा वैसा मान लिया। जो पक्षपात को काम में न लावें तो वकील, मुख्तार इसकी साक्षी दे सकते हैं। साधारण लोगों के पास जब कोई सर्कारी काग़ज वा खत पत्र जाता है तो बेचारे उसको लिये मारे-मारे फिरते हैं। जो दैव से फ़ारसी पढ़ा मिल गया तो मिल गया, नहीं तो

https://t.me/arshlibrary

दस दस पांच कोस जाकर पढ़वाते हैं और वह भी खाली हाथ नहीं किन्तु दे लेकर अपना काम साध लेते हैं। वह फ़ारसी पढ़े जैसा रात-दिन बोलते हैं वैसा भी नहीं लिखते। लिखने के समय निरी फारसी छौंकते हैं (मानों इनकी जन्मघुट्टी फ़ारसी ही है) और क्यों न फ़ारसी बघारें, इसी में तो उनकी बड़ी जीत है। बात-बात में लोगों को मूँडते और ज़रा-ज़रा-से लिखने-पढ़ने का बहुत कुछ माँग लेते हैं जो यहाँ की ठेठ बोल-चाल में लिखें तो ओलट ही क्या रहे और किस मिष से लोगों को ठगें। निदान कहाँ तक लिखा जाए, इस उर्दू का दफ्तरी (में)प्रचार होने से बड़ी-बड़ी बुराइयाँ और लोगों की हानि हुई और होती है। उदाहरण एक नहीं हजारों दे सकते हैं। इसलिए यह तीन काल में पढ़ने और दफ्तरों में प्रचार पाने योग्य नहीं।

और यह भाषा तो जो कुछ है सो है ही, परन्तु इसके अक्षर, जिनमें यह आजकल लिखी जाती है बहुत ही निषिद्ध है। उन्होंने रहा-सहा लोगों का मठ मारा है।

इन फारसी अक्षरों की लिखत को पढ़नेवाले केवल अन्धे की लाठी के समान टटोलते चलते हैं और जो कुछ पढ़ते हैं उसको प्रसंग से निकालते हैं और प्रसंग के विना कोई किसी के लेख को निर्भ्रम और ठीक नहीं पढ़ सकता और दूसरी भाषा के शब्दों का लिखना पढ़ना तो मानो असम्भव ही है और किसी ने टूटा-फूटा लिख भी लिया तो पढ़ने में कदापि शुद्ध नहीं आता, कुछ-का-कुछ मुँह से निकल जाता है। बहुतेरे नागरी, संस्कृत और अंगरेजी के शब्द इनही अक्षरों के प्रताप से बिगड़ गये, जिनको सुनकर हँसी आती है। यह कुछ लिखने-पढ़नेवालों का दोष नहीं है, किन्तु अक्षर ही ऐसे हैं कि फ़ारसी के अनन्तर और किसी भाषा के शब्द उनमें शुद्ध नहीं लिखे जा सकते और जो सच पूछो तो फ़ारसी का भी निर्वाह यथावत् नहीं होता, क्योंकि प्रथम तो साकिन्, मुतहर्रिक आदि का भेद और पढ़ने के समय अलिफ़, ऐन और ते, तोय और से, सीन, स्वाद और हे, हे और ज़ाल, जे, ज्वाद, ज़ोय का भेद लिखने के समय पूर्वस्मरण और लुग़त की किताब के विना स्पष्ट नहीं हो सकता॥

दूसरे इन अक्षरों में अलिफ, ऐन, वाव, ये —ये चार स्वर हैं, जिनमें से ऐन अरबी में ही आता है और **'वाव ये'** व्यंजन का भी काम देते हैं और **जेर, जबर, पेश** —ये चार स्वरों के संकेत और उनकी मात्रा है जो बहुधा लगाई नहीं जाती। इनही स्वर और संकेतों से सारे स्वरों का खेंच-तानकर उच्चारण करते हैं।

तीसरे इनकी बनावट और मिलावट भी बहुत भ्रमणीक है। जैसे बे, पे, ते, से और जीम, चे, हे, खे, और दाल, जाल, और रे, जे और सीन शीन और स्वाद, ज्वाद और तोय,जोय और ऐन, गैन और काफ़, गाफ़ बनावट और मिलावट में और फ़े, काफ़ और बे, पे, ते, से, नून, ये की केवल बनावट में नुक्तों और शोशों के सिवाय कुछ अन्तर नहीं अर्थात् जब ये दूसरे अक्षरों से मिलाये जाते हैं तब सबका रूप एक-सा दिखाई देता है, जो चाहो सो पढ़ लो। यदि पढ़नेवाले के भाग्य से नस्तालीक ख़त (जिसमें पूरे पूरे अक्षर और नुक्ते और शोशे लगे हुए होते हैं) हाथ का लिखा हुआ वा छपा हुआ तो उसने पढ़ लिया, नहीं तो माथा पकड़कर रह गया, परन्तु हरकात के बिना उच्चारण तब भी ठीक नहीं होगा॥

इस नस्तालीक ख़त में प्रायः पुस्तकें लिखी जाती हैं और वह मनमानी घसीट जिसमें रात-दिन लोग चिट्ठी, पत्री आदि निज के और सर्कारी काम करते हैं, उसका पढ़ना अलबत्तह कुछ काम रखता है। ऐसे-वैसे का काम नहीं जो पढ़ सके, बैठा सिर धुना करता है। उसके बांचने में अभ्यास करने के लिए लोग पढ़ने-पढ़ाने से भी अधिक श्रम करते हैं। तब भी यह लिखत बहुत सोच-विचार और पूर्वापर के सम्बन्ध से जों तों कर पढ़ने में आती है और यथार्थ में वह अक्षर और लिखित तो ऐसी नहीं कि जिसको कोई पढ़ सके, केवल पढ़नेवाले के अभ्यास की बात है। ऐसी लिखत को पढ़कर सुनाने कि लिए लोग

https://t.me/arshlibrary

पहले से देखभाल रखते हैं और फिर भी जो शब्द पढ़ने में नहीं आते उनकी जगह और-का-और सुना देते हैं। इन अक्षरों में जब फारसी ही की यह दुर्दशा है तो और भाषा की तो क्या कथा, जो लिखने में ही नहीं आती। यद्यपि फारसीवालों ने यहाँ की बोल-चाल के लिए 'टे, डाल, ड़े' नये अक्षर घड़े तो भी यहाँ की भाषा का यथोचित निर्वाह नहीं हो सकता। इसलिए उन्होंने बहुतेरे यहाँ की बोली के शब्दों को अपने ढंग पर बना लिया। जैसे ब्राह्मण को बिरहमन और दक्षिण को दकन आदि। निदान इस शिकस्त ख़त में ही वही शब्द पढ़ने में आते हैं जो जबान पर चढ़े रहते हैं और उनमें भी जो बहुधा एक ही प्रकार से लिखे जाते हैं दुब्धा में डालते हैं और जहाँ इतर भाषा का शब्द आया और मुँह से कुछ-का-कुछ निकला, देखो जैसे नांव, गांव ठांव कभी ठीक नहीं पढ़े जाते हैं॥

निदान इन फ़ारसी अक्षरों और उनकी लिखत की कहाँ तक बुराइयाँ लिखी जाएँ, उनसे इस देश के लोगों की बड़ी भारी हानि है। नित नये जाल बनते हैं, रात-दिन लोग धोके खाते हैं। ज़रा-ज़रा-से लिखवाने-पढ़वाने के लिए गिड़गिड़ाते फिरते हैं। सरह नाम उठवाई और कलम पकड़वाई के लिए नित उठ लुटते हैं। पृथिवीभर के लोगों की यही परिपाटी है कि जहाँ बालक पाँच-सात वर्ष का हुआ और उन्होंने उसको पहिले मातृभाषा लिखानी पढ़ानी आरम्भ की और जब वह उसमें प्रवीण हो गया और गणित, भूगोल, इतिहास आदि विद्या सीख चुका तब उसकी रुचि के अनुसार इतर भाषा और विद्या सिखाते हैं। यहाँ कुछ काल से एक निराली चाल पड़ गयी है अर्थात् जब तक माँ बाप की गोद में खेलता और तुतलाता रहा तब तक तो मातृभाषा सीखता रहा और जब पढ़ने-लिखने के योग्य हुआ तब ही मुल्ला और मियाँ जी को सौंप दिया गया और यह गीत कि—

करीमा बबख्शाय बर हाल मा। कि हस्तम असीरे कमदे हवा॥

गाने लगा और यह राग केवल जीभ तोड़ने और गला फाड़ने के लिए होती है, क्योंकि वह अवस्था तो ऐसी है ही नहीं कि दूसरी भाषा सीख सकें और उसके भार को उठा सकें, परवश विचारे शिथिल और मन्द होकर अधम रह जाते हैं। न अपनी भाषा जैसी चाहिए आई, न दूसरी जो मारपीट करके। बहुत हुआ तो दोनों भाषा का सार यह याद रहा कि—

अय अकरीम बख़्शीश कर ऊपर हाल हमारे के।
कि हूँ मैं कैदी हवा और हविस का॥

बस यही मुंशी लोगों की सारी ऊमर की मेहनत का निचोड़ है, जिसको उन्होंने अदालतों और दफ्तरों में फैला रखा है और केवल इतनी ही करतूत पर आपे को बड़ा मान्ते हैं और जान्ते हैं कि इल्म है तो फारसी और सदा घमंड से यह पढ़ते हैं कि—

कलम गोयद की मन शाहे जहानम। कलम कश रा बदौलत मे रसानम।

और कौतुक यह कि ज़रा-ज़रा-से लड़के छाती पर हाथ रख रसिक शेर पढ़ते हैं और ठंडी सासें लेते हैं और आपे को संवारने और वेश बनाने में वेश्या को मात करते हैं। विचार करने का स्थान है कि जिस भाषा का ऐसा बुरा गुण हो, वह क्या शिक्षा देने और प्रचार पाने योग्य है ? कभी नहीं॥

निस्संदेह यहाँ तक हो सकता है कि जो भाषा ऐसी क्लेश साध्य हो और उसमें निरे अवगुण भरे हों उसको लोग पढ़ते-पढ़ाते ही क्यों हैं ? तो इसका समाधान यह है कि न उसमें सर्कारी कामकाज होते, न लोग उसको अंगीकार करते। कदाचित् प्रतीत न हो तो देख लीजिए, जो लोग अपनी लड़कियों की शिक्षा चाहते हैं वह सब नागरी पढ़वाते हैं। और कोई उनसे कहे भी कि अजी आप तो उर्दू-फारसी जानते हैं, लड़कियों को क्यों नहीं सिखाते तो तुरन्त उसके उत्तर में यही कहते हैं कि उनको कौन-सी नौकरी-चाकरी

https://t.me/arshlibrary

करनी रह गयी। और जी में यह भी जान्ते हैं कि उर्दू, फ़ारसी पढ़कर लड़कों की क्या दशा हुई जो लड़कियों की होगी। वास्तव में पेट ऐसा ही है जो कुछ नहीं करना है, उसके लिए करना पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि उर्दू, फ़ारसी वही लोग पढ़ते-पढ़ाते हैं जो अदालतों से सम्बन्ध और प्रयोजन रखते हैं। शेष सब गुणग्राही पहले अपनी मातृभाषा सीखते हैं। देखिए इस देश में हजारों चटशाला और पाठशाला हैं, जिनमें लाखों लड़के नागरी पढ़ते हैं। यदि अपनी मातृभाषा में रुचि न होती तो कौन पढ़ता ?

इस लेख से हमारा यह प्रयोजन नहीं है कि अपनी मातृभाषा के सिवा कोई कुछ न पढ़े, किन्तु बड़ा मनोरथ यह है कि प्राथमिक शिक्षा हमारी मुख्य नागरी में हो, तदनन्तर जिसकी जो रुचि हो उसके अनुसार संस्कृत, अंगरेजी और अरबी आदि पढ़े, और जब तक अपनी भाषा में निपुण न हो ले तब तक दूसरी भाषा में शिक्षा न दी जाए। इस नियम के बिना जो कुछ हानि हुई, उसकी साक्षी बहुधा फ़ारसी और अंग्रेजी वालों की बोलचाल और उनके अनुवाद दे रहे हैं। हाँ, रहा इसका वर्ताव, वह तबही हो सकता है जब सरकारी दफ्तरों में नागरी का प्रचार हो। निदान कहाँ तक वर्णन किया जाए, नागरी भाषा और उसके अक्षरों से जो कुछ प्रजा का लाभ है उसको सब जान्ते हैं। यहाँ तक कि विदेशी लोग भी सराहते और उसके पढ़ने में उद्यत हैं तथा च अभी इंगलिस्तान कमिश्नरों ने सिविल सर्विस की परीक्षा के उर्दू की जगह में नागरी को आवश्य[क] और प्रधान ठहराया है। इसलिए आशा है कि हमारी प्रार्थना भी अवश्य सफल होगी ॥

अलमिति

आर्यसमाज मेरठ के एक सभासद ने लिखा। मिति माघ वदि १२ रविवार सम्वत् १९३९ विक्र०

—: 0 :—

कानपुर निवासियों द्वारा प्रेषित

निवेदन-पत्र[1]

अशेषगुणसम्पन्न महामान्य महामहिम श्रील श्रीयुक्त सर एल्फ्रेड कामिन्स लायक के, सी, बी, सी, आई, ई पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध के लफ्टिनेण्टगवर्नर महाशय प्रबल प्रतापेषु।

सविनय निवेदनमिदम्।

हम रईस प्रार्थी जिला कानपुर के आपसे विनय करते हैं कि हम लोगों की दीन दुर्दशा पर ध्यान दीजिए ! न्यायशीला सर्कार की यह इच्छा है कि प्रजा को कष्ट किसी प्रकार से न हो। हम लोगों को मूर्ख न रहने देना और हमारी साधारण भाषा में शिक्षा देना यही न्यायशीला सरकार अंग्रेज का मत चला आया है। हम लोगों को बहुत आनन्द हुवा कि जब सर्कार से शिक्षा-कमीशन के बैठने की आज्ञा हुई। यह सोचकर कि अब हम लोगों की दीन दशा पर शिक्षा कमीशन अपना मत आप तक यथोचित प्रकाश करेगी। पर बड़े शोक की बात है कि हम लोगों के विषय में अर्थात् जो-जो हम आपके प्रार्थियों ने पुकारा था कुछ ध्यान न दिया गया। यहाँ पर हिन्दी-उर्दू की जगह याने देवनागरी अक्षर फ़ारसी अक्षरों की जगह सब सरकार के दफ्तरों में हो जाते, यही हमलोगों की पुकार थी। जो-जो बुराइयाँ उर्दू के जारी रहने से

१. यह निवेदन पत्र नीले रंग के फुलस्केप कागज पर ४ पृष्ठों में ग्रेट टाइप में छपा है।

https://t.me/arshlibrary

होती जाती हैं उनके वर्णन करने का आपके सामने जो खुद भली-भाँति जानते हैं, कुछ प्रयोजन न था। पर हम लोगों को उर्दू से बहुत दिक्कत उठानी पड़ती है। इससे आपसे, जो हमारे पिता सदृश हैं, संक्षेप में कहते हैं।

(१) १८५४ ई. के डिस्पैच में इस बात पर बड़ा जोर दिया गया था कि लोगों को साधारण शिक्षा उनकी अपनी बोली में देनी चाहिए। उर्दू कि जिसमें आज तक उत्तर हिन्दुस्तान में शिक्षा दी जाती है लोगों की बोली नहीं है। हमारी मातृभाषा और देशी बोली जो हमारे घरों में स्त्री-पुरुष, लड़के-बाले नित्य प्रति बोलते-चालते हैं, हिन्दी है, किन्तु उर्दू नहीं है। हम लोगों को हमारी मातृभाषा में शिक्षा नहीं दी जाती है। हमारी प्रथम शिक्षा हिन्दी ही के द्वारा उचित है और सर्वसाधारण मनुष्यों में हिन्दी ही के द्वारा शिक्षा फैल सकती है।

(२) हिन्दी याने जो हम लोगों की बोली है और देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती है बंगाली, गुजराती, मरहटी की तरह संस्कृत की एक शाखा है। पर बेंगाल, गुजरात और महाराष्ट्र देशों में उनकी प्रत्येक भाषा दफ्तरों में प्रचलित है और सर्वसाधारण को शिक्षा इन्हीं में दी जाती है। इसलिए हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि उसी तरह यहां पर भी दफ्तरों में लिखा-पढ़ी होवे।

(३) शिक्षा-कमीशन की रिपोर्ट से यह प्रत्यक्ष प्रकट होता है कि हिन्दी के द्वारा प्रथम शिक्षा चाहनेवाले अधिक मनुष्य हैं, क्योंकि दो लाख मनुष्यों के अनुमान से **दो सौ मेमोरियल** इसी प्रयोजन से शिक्षा-कमीशन की सेवा में पहुँचे और उर्दू को लाचार होकर इस कारण सीखते हैं कि देश के दफ्तरों में उर्दू लिखी-पढ़ी जाती है और उर्दू का जो कुछ प्रचार हुआ वह तभी से हुआ है जब से यह दफ्तरों की बोली ठहरायी गयी है।

(४) हिन्दी में बहुत सुगम शब्द जो सबको समझ पड़ते हैं, होते हैं और देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती है। उर्दू में आधे से अधिक फारसी और अरबी के शब्द बोले जाते हैं, जो सबकी समझ में नहीं आते। केवल फारसी और अरबी पढ़े मनुष्य समझते हैं और यह फारसी और अरबी अक्षरों में लिखी जाती है।

(५) मुसलमानों के राज्य के पहिले यहाँ पर इन्हीं देवनागरी अक्षरों में काम होता था।

(६) यद्यपि मुसलमान और सर्कार अंग्रेजी ने उर्दू को दफ्तरों की भाषा बनाकर इसकी पाठशाला बिठाकर इसके फैलाने के बड़े-बड़े उपाय किये तथापि सर्वसाधारण मनुष्यों ने इसको अंगीकार नहीं किया और न करना चाहते हैं। केवल बड़े-बड़े नगरों में कुछ लोग उर्दू बोलते हैं शेष सब हिन्दू-मुसल्मान गांवों और कसबों में हिन्दी ही बोलते-चालते हैं। जब कभी कोई सर्कारी कागज उर्दू में लिखा हुआ उनके पास पहुँचता है तो उसके पढ़ाने को गांव-गांव भटकते फिरते हैं। हिन्दी में यह कष्ट कभी नहीं देखने में आ सकता, क्योंकि हर एक गांव और कसबे में एक दो आदमी हिन्दी पढ़े-लिखे होते ही हैं।

(७) शिक्षा विषयक डैरक्टर साहब की रिपोर्ट से और मर्दुमशुमारी की किताबों से यह साफ निश्चय हो जाएगा कि अब भी लाखों हिन्दू, मुसल्मान, सहस्रों ईसाई हिन्दी पढ़े हुए हैं। बड़े-बड़े नगरों में उर्दू पढ़े केवल वही मनुष्य हैं जो कचहरियों में नौकरी चाहते हैं या जिनका काम कचहरी में पड़ता है।

(८) ईसाई लोगों की पुस्तकें इन्हीं देवनागरी अक्षरों में उपदेश के लिए बनी हैं। इससे साफ प्रकाश पाया जाता है कि हिन्दी जाननेवाले लोग बहुत हैं।

(९) प्रेसिडेण्ट शिक्षा कमीशन श्रीमान् हण्टर साहब ने लाहौर में अपनी वक्तृता में कहा था कि मेमोरियल अधिकतर हिन्दी के लिए दिये गये हैं और विपक्ष में बहुत कम। और जिन्होंने हिन्दी के वास्ते

https://t.me/arshlibrary

दिया है वह सर्वसाधारण लोग हैं और जिन्होंने उर्दू के लिए दिया है वह सर्कारी नौकर हैं। और जिनको सर्कार अमला क्लास कहती है। इस से भी साफ जाहिर है कि हम सब लोग हिन्दी ही चाहते हैं।

(१०) मुफस्सिल में जो तहसीली और हल्काबंदी पाठशाला जारी हैं, उनमें अधिकतर हिन्दी ही पढ़ाई और लिखाई जाती है। इस विषय में इंस्पेक्टरों और डैरेक्टर स्कूल से पूछ लिया जाए और नार्मल स्कूलों में भी ज्यादा हिन्दी में ही शिक्षा दी जाती है। इसलिए आपसे प्रार्थना करते हैं कि सर्कार का बड़ा लाभ होगा यदि दफ्तरों में हिन्दी जारी करने की आज्ञा दी जावे, नहीं तो इतना रुपया जो इन मदर्सों में खर्च होता है व्यर्थ जाता है।

(११) जो सर्कार यह चाहती है कि सर्कार की शिक्षा सर्वसाधारण मनुष्यों में फैल जाए, सर्कार की प्रजा सभी पढ़ी-लिखी हो जावे, गांव का गंवार कचहरी का कागज ऐसा ही पढ़ ले जैसा अब कचहरी का कागज कचहरीवाला पढ़ सकता है तो सर्कार का यह प्रयोजन हिन्दी को सर्वसाधारण के लिए प्रथम शिक्षा बनाकर अंग्रेजी के साथ इसको दूसरी भाषा नियत करने में सिद्ध हो सकता है। साधारण शिक्षा का प्रचार उर्दू के द्वारा कभी नहीं हो सकता।

(१२) दफ्तरों में फारसी और अरबी अक्षरों के स्थान में देवनागरी अक्षर कर देने की जितनी आवश्यकता समझी गयी है उसमें बड़ी आवश्यकता यह है कि जब दफ्तरों में देवनागरी अक्षरों का प्रचार हो जाएगा, सर्वसाधारण में शिक्षा फैल जाने का आप ही एक कारण हो जाएगा और दफ्तरों में देवनागरी अक्षरों का प्रचार बड़ी सुगमता के साथ हो सकता है। वही नौकर, वही परवाना, वही रूबकार हिन्दी से लिखे हुए को छः महीने का समय पाकर सीख सक्ता है, क्योंकि देवनागरी अक्षर बड़े सुगम हैं और बड़ी जल्दी आ सकते हैं।

(१३) हम लोग आपसे प्रार्थना करते हैं कि सेण्ट्रल प्राविन्सेज अर्थात् मध्यप्रदेश में और बिहार में जहाँ कि अभी हाल ही में हिन्दी जारी हुई है और जिला तराई और राज्य रीवां वहाँ भी हिन्दी का प्रचार कर दिया गया है आप सब रिपोर्ट इस संक्षेप से देखें।

(१४) देवनागरी अक्षर ऐसे सुगम हैं कि हिन्दू, मुसल्मान, ईसाई तीन दिन में ४८ अक्षर और १२ मात्रा सीखकर लिखने-पढ़ने लगते हैं और ६ महिने में तो इतना अभ्यास हो सक्ता है जैसा अब कचहरीवालों को उर्दू अक्षरों के लिखने पढ़ने में छः वर्ष लगते हैं।

(१५) सब हिन्दू, मुसल्मान अपनी बही खाता देवनागरी व उसी के अदल-बदल के अक्षरों में लिखते हैं।

(१६) पटवारियों के कागज अधिकतर इन्हीं देवनागरी अक्षरों में लिखे जाते हैं।

(१७) उर्दू अक्षरों में बड़े-बड़े दोष हैं। अलग-अलग अक्षरों का जो उच्चारण होता है वह उनको शब्द में मिलाने से और का और हो जाता है। लिखा कुछ जाता है और पढ़ा कुछ जाता है। एक बिन्दु के छोड़ने वा जोड़ देने से इधर का जगत् उधर हो जाता है। अब उर्दू में जाल तो बड़ी सुगमता से होता है औ सर्कार कुछ बन्दोबस्त नहीं कर सकती। इसलिए आपसे प्रार्थना करते हैं कि जड़ ही काट डालिए ताकि फिर पेड़ अर्थात् उर्दू ही नहीं रहेगी तब जाल काहे को होगा और सर्कार का एक बड़ा भारी उपकार होगा। उर्दू अक्षरों में बहुतों का उच्चारण एक-सा और सूरत भिन्न-भिन्न होती है।

https://t.me/arshlibrary

(१८) उर्दू अक्षरों में तीन मात्रा और ३३ व्यंजन हैं। देवनागरी अक्षरों में १२ मात्रा और ३३ व्यंजन हैं, मात्राओं में तीन भेद ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत। यही कारण है कि अरबी, तुर्की, अंग्रेजी किसी बोली का शब्द हो जैसा उच्चारण होता है वैसा ही देवनागरी में लिखा जाता है, तैसा ही पढ़ा जाता है। उर्दू में एक शब्द कई-कई प्रकार पढ़ा जाता है। आपसे प्रार्थना करते हैं कि नक्शा देखिए, जिसमें यह थोड़ा सा-प्रकाश किया गया है कि किस तरह उर्दू कई तरह से पढ़ी लिखी जाती है।

शब्द	उर्दू में कितनी तरह से पढ़ा जा सकता है।
१-निरंजन	निरज्जन, बिरहमन
२-प्यारेलाल	प्यारेलाल, बिहारीलाल
३-वच्चन	थम्मन, भम्मन, वच्चन
४-साहेब दर्या पार होंगे कसबी मौजूद रहै।	किश्ती मौजूद रहे
५-नवात सुफेद	बनात सुफेद।
६-मुरैथा	मुड़ैना, मुरनिया, मुरंथा, मुरंतिया, मुरटा, मुहना, मरहटा।
७-आलूबुखारा	उल्लू विचारा
८-वेनी ने मारा	नवी ने मारा, तैंने मारा।
९-पारवती	नारायनी
१०-तमस्सुक	नमक, तमक।
११-होली फुकवा दो	होली फिकवा दो
१२-एक साहब 'छतमरा पट्टी दनका' को	'जमराही डंका' पढ़ते थे
१३-और 'खुगौर कुहनह' को	चुकर घंट

(१९) जब शिक्षा कमीशन इलाहबाद मेयोहाल में बैठी थी तब प्रेसीडेन्ट ओनेरिबिल डाक्टर हंटर साहेब को कहना पड़ा था कि हिन्दी की पश्चिमोतर प्रदेश में बड़ी चाह है।

(२०) उसी समय ओनेरेबिल जस्टिस् सय्यद महमूद ने भी कहा था कि यद्यपि मैं मुसलमान हूँ लेकिन यहाँ के लोगों की राय प्रकाश करता हूँ वह सब लोग यही चाहते हैं कि हिन्दी सब जगह प्रचलित होवे और उर्दू जो टेढी-मेढी लिखी जाती है मेरी राय में न रहनी चाहिए।

(२१) आपसे प्रार्थना करते हैं कि हिन्दी के जारी होने के लिए कमिश्नर मेजिस्ट्रेट और सेशन्स जजों की राय ली जावे।

(२२) शिक्षा कमीशन के साम्हने लगभग ४० आदमियों ने पञ्जाब से शिक्षा विषय में साक्षी दी थी और उसमें आधे से ज्यादह पुरुषों ने उर्दू के स्थान में हिन्दी प्रचलित करने के लिए जोर दिया था, विशेष कर पञ्जाब के लार्ड पादरी ने भी इसपर अच्छी तरह साक्षी दी थी।

(२३) अब आपसे हम लोगों की यही प्रार्थना है कि आप ऊपर की लिखी हुई बातों और शिक्षा कमीशन की रिपोर्ट पर विचार करते समय हिन्दी पर पूरा-पूरा ध्यान दीजिए और हिन्दी और देवनागरी

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

अक्षरों को कचहरियों में वर्तने की आज्ञा दे दीजिए और हम सब लोग आपकी प्रजा आपके चिरंजीवी होने की विनय करते हैं।

—: 0 :—

स्वामीजी ने तत्कालीन राजाओं को प्रेरित किया कि वे अपने राज्य का काम हिन्दी में चलाएँ। तदनुसार उदयपुर के महाराजा ने देवनागरी लिपि में लिखी जानेवाली हिन्दी को राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया। राजकीय कार्यालयों के नाम संस्कृत शैली में रक्खे, जैसे-महद्राज सभा, शैलकान्तार सम्बन्धिनी सभा, निज सैन्य सभा, शिल्पसभा आदि। मेवाड़ राज्य का राजपत्र (गज़ट) सज्जनकीर्त्तिसुधाकर' नाम से प्रकाशित होने लगा। उन्होंने जोधपुर नरेश को पत्र लिखा कि राजकुमारों को पहले हिन्दी (देवनागरी), फिर संस्कृत और तत्पश्चात् (यदि समय हो) अंग्रेजी पढ़ाएँ। १२ अगस्त सन् १८८३ को राज्य के प्रधानमन्त्री के अधिकार से कर्नल प्रतापसिंह ने एक दिन अर्जियाँ सुनते समय उर्दू में लिखी ५०-६० अर्जियाँ फाड़कर फैंक दीं। उसी दिन से राज्य का सारा काम हिन्दी में होने लगा।

हिन्दी देश की एकता के लिए आवश्यक समझ लेने के बाद वे जीवन के अन्तिम क्षण तक उसके प्रचार व प्रसार के लिए सर्वात्मना समर्पित रहे। उन्होंने श्री श्यामजी कृष्णवर्मा को वेदभाष्य के डाक पार्सलों पर देवनागरी में पते लिखने की प्रेरणा की। महाराष्ट्र के प्रतिष्ठित समाजसुधारक श्रीगोपाल हरिदेशमुख को आर्यभाषा के प्रचार में पुरुषार्थ करने को प्रेरित किया। उन्हीं से प्रेरणा पाकर कर्नल आल्कॉट ने हिन्दी पढ़नी प्रारम्भ की।

एक सज्जन ने जब उनसे उनके ग्रन्थों का उर्दू में अनुवाद करने की अनुमति चाही तो उन्होंने लिखा—"जिन्हें सचमुच मेरे भावों को जानने की इच्छा होगी वे इस आर्यभाषा को सीखना अपना कर्त्तव्य समझेंगे। अनुवाद तो विदेशियों के लिए होता है।" मैडम ब्लैवत्स्की को स्वामीजी ने लिखा था—"मेरा विचार आपको अनुवाद करने से रोकने का नहीं है, क्योंकि बिना अंग्रेजी अनुवाद के यूरोपियन जातियाँ सत्य-सत्य के प्रकाश को नहीं पा सकतीं। किन्तु भारत की आर्यजनता मेरे भाष्य के अंग्रेजी में प्रकाशित होने पर संस्कृत और हिन्दी का अध्ययन त्याग देगी। मेरा वेदभाष्य समझने के लिए संस्कृत और हिन्दी का अध्ययन, जो मेरा मुख्य उद्देश्य है, नष्ट हो जाएगा।"

स्वामीजी का किसी भी भाषा से द्वेष या विरोध नहीं था, किन्तु उनका कहना था कि "जो इस देश में उत्पन्न होकर इसकी भाषा नहीं सीख सकता उससे और क्या आशा की जा सकती है ?" इसलिए उन्होंने आर्यभाषा (हिन्दी) का जानना प्रत्येक आर्यसमाजी के लिए अनिवार्य ठहराया था।

हिन्दी के जिस स्वरूप का प्रचार व प्रसार स्वामीजी चाहते थे उसका एक उत्कृष्ट उदाहरण सत्यार्थप्रकाश में यह है—

"जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है, उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्यार्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश करे, किन्तु जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है।"

देवनागरी लिपि की श्रेष्ठता

स्वामी दयानन्द आर्यभाषा हिन्दी की श्रेष्ठता और देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता के प्रति पूरी तरह आश्वस्त थे। नागरी लिपि की परिपूर्णता को उन्होंने किस प्रकार सिद्ध किया, इससे सम्बन्धित एक घटना प्रकाश में आई है—

https://t.me/arshlibrary

"एक प्रसिद्ध मौलवी और एक प्रसिद्ध पादरी का अपनी-अपनी लिपियों की श्रेष्ठता पर वाद-विवाद हुआ। स्वामीजी ने कहा कि जो लिपि तीनों में श्रेष्ठ हो, वही स्वीकार की जाए, शेष दो का त्याग किया जाए। श्रेष्ठता का ज्ञान कैसे हो, इसके लिए यह निश्चय हुआ कि अपनी-अपनी भाषा के कठिन-से-कठिन वाक्य सब बोलें और उन्हें जिस लिपि में ठीक-ठीक लिखा जा सके वही लिपि श्रेष्ठ होगी। स्वामीजी को जो भी वाक्य अरबी या अंग्रेजी के सुनाएँ गये उन्होंने देवनागरी में वैसे ही लिख दिया, परन्तु स्वामीजी ने जो शब्द बोले वे अरबी या रोमन लिपि में नहीं लिखे जा सके। स्वामीजी ने जो शब्द बोले थे, वे पाणिनि के प्रत्याहार-सूत्रों में से एक 'अमङणनम्' था। इसके लिए देवनागरी को छोड़कर अन्य किसी लिपि में वर्ण ही नहीं हैं।" (सरस्वती, अक्तूबर १६३६ में पं० धर्मदेव शास्त्री का लेख 'रोमन लिपि का मोह')।

स्वदेशी

स्वदेश में बनी वस्तुओं से स्वामीजी को कितना प्रेम था, यह उनके इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है—"हम और आपको उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है, आगे भी होगा उस देश की उन्नति तन, मन, धन, से सब मिलकर प्रीति से करें।"

पर भाषा पर भाव पर भूषण पर परिधान।
पराधीन नर की अहो यह पूरी पहचान॥

देश की आर्थिक स्थिति पर ऋषि दयानन्द ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया। विचार ही नहीं किया अपितु निश्चित योजना भी तैयार की और उसके आधार पर देश के औद्योगीकरण के लिए विदेशों से पत्र-व्यवहार भी किया, दैवगति से वह अपनी योजनाओं को कार्यान्वित नहीं कर पाये। स्वामीजी इस बात को बड़े दुःख के साथ अनुभव करते थे कि विदेशी माल की खपत से देश को कितनी हानि हो रही है। सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने लिखा कि—"जब परदेशी स्वदेश में व्यवहार (व्यापार) करें तो बिना दारिद्र्य और दुःख के दूसरा कुछ नहीं हो सकता।" यह उन दिनों की बात है जब "भारत के निवासी प्रायः मानचेस्टर में बने सूती वस्त्र धारण करते थे। बच्चे इंगलिश और फ्रैंच खिलौनों से खेलते थे, मुंशी लोग विदेशी कागज को लिखने के काम में लाते थे। भारतीय विलायती गिलास से ब्रिटिश और फ्रैंच ब्रांडी पीते थे।" इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन भारतीयों की समग्र मानसिकता समग्ररूप से विदेशी रंग में रंग चुकी थी और स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग फैशन या आधुनिकता के विरुद्ध समझा जाता था। ऐसी स्थिति में स्वामी दयानन्द ने विदेशी वस्तुओं तथा रहन-सहन का बहिष्कार करने और स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने की प्रेरणा करते हुए बड़े जोरदार शब्दों में कहा था—"इतने ही से समझ लेओ कि यूरोपियन लोग अपने देश के जूतों का भी जितना मान प्रतिष्ठा करते हैं, उतना भी अन्य देशस्थ मनुष्यों का नहीं। अपने देश के बने जूते को कार्यालय और कचहरियों में जाने देते हैं, इस देशी जूती को नहीं। देखो ! कुछ सौ वर्ष ऊपर इस देश में आये यूरोपियनों को हुए और आज तक ये लोग मोटे कपड़े आदि पहनते हैं जैसेकि स्वदेश में पहनते थे, परन्तु उन्होंने अपने देश का चलन नहीं छोड़ा और तुममें से बहुत-से लोगों ने उनकी नकल करली। इससे तुम निर्बुद्धि और वे बुद्धिमान् ठहरते हैं। अनुकरण करना किसी बुद्धिमान् का कार्य नहीं।" (स.प्र.)। संस्कारविधि में भी स्वामीजी ने विवाह-संस्कार के प्रकरण में विशुद्ध स्वदेशी (हाथ के कते, हाथ के बुने) वस्त्रों का प्रयोग करना वैध ठहराया है। 'अन्य देशस्थ मनुष्यों का भी उतना मान नहीं करते जितना अपने देश के बने जूते का' लिखनेवाले व्यक्ति के हृदय में विदेशी शासन और विदेशी वस्तुओं के प्रयोग के विरुद्ध कितनी घृणा होगी ? छावली निवासी ठाकुर ऊधोसिंह को विदेशी वेशभूषा में देखकर महर्षिजी ने बड़े मार्मिक शब्दों में कहा था—"क्या तुम इस विदेशी कपड़े से बने

https://t.me/arshlibrary

वेश से विभूषित होकर अपने पिताजी से अधिक संस्कृत हो गये हो ? अपने ही देश के वस्तुवेश को अपनाने में शोभा है ।" वास्तव में स्वामीजी के आचार-विचार, रहन-सहन, वेश-भूषा, मस्तिष्क, हृदय सभी पर स्वदेश की छाप थी । उनका अन्दर बाहर सभी स्वदेशी के रंग में रंगा था ।

स्वामी जी ने अपने समसामयिक ब्रह्मसमाज एवं प्रार्थनासमाज की भर्त्सना करते हुए लिखा है—"इन लोगों में स्वदेश-भक्ति बहुत न्यून है । ईसाइयों के आचरण बहुत-से लिये हैं । खान-पान विवाहादि के नियम भी बदल दिये हैं । अपने देश की प्रशंसा या पूर्वजों की बड़ाई करना तो दूर, उसके स्थान पर भरपेट निन्दा करते हैं ।"

महर्षि का प्रयास विफल नहीं गया । जोधपुर राज्य के कर्मचारी, पदाधिकारी और अभिजात्य वर्ग के लोग मारवाड़ में खादी वस्त्रों का प्रयोग करने लगे । कर्नल प्रतापसिंह ने आदेश देकर राजकर्मचारियों के लिये खादी पहनना अनिवार्य कर दिया । स्वामी दयानन्द की शिक्षा का यह परिणाम था कि अंग्रेजी समाचार पत्र 'स्टेट्समैन' की १४ अगस्त सन् १८७६ की रिपोर्ट के अनुसार "पं० दयानन्द सरस्वती द्वारा लाहौर में स्थापित आर्यसमाज के सब सदस्यों ने समाज-मंदिर में एकत्र होकर यह निर्णय किया था कि विदेशी वस्त्रों को धारण नहीं करेंगे और केवल अपने देश में बने वस्त्रों को ही प्रयोग में लाएँगे ।" श्री दत्तात्रेय वाब्ले ने अपनी पुस्तक 'The Arya Samaj' में पृ. १३७ पर लिखा है—"यही कारण है कि भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने महात्मा गांधी के स्वदेशी आंदोलन के आधार का श्रेय स्वामी दयानन्द के विचारों को देते हुए कहा था कि "स्वामी दयानन्द ने अपनी भविष्यदर्शी दृष्टि द्वारा हस्तनिर्मित वस्त्रों एवं अन्य स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग का जो विचार प्रस्तुत किया उसी को पचास वर्ष के बाद महात्मा गांधी ने स्वतन्त्रता संग्राम का एक मुख्य मुद्दा बनाया ।"

गोरक्षा

भारतीय संस्कृति में अनादिकाल से गौ का उतना ही आदर रहा है जितना मातृभूमि का । जन्मदात्री माता, गौमाता तथा धरती (भारत) माता तीनों समान रूप से श्रद्धा, सेवा तथा रक्षा के पात्र रहे हैं । भारत में तो वह व्यावहारिक अर्थशास्त्र का केन्द्रबिन्दु रही है । सत्यार्थप्रकाश विविध विषयविभूषित ग्रन्थ है । उसका एक विषय गौ है, किन्तु इस विषय को लेकर उनके 'गोकरुणानिधि' नाम से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना करने से इस विषय का महत्त्व बढ़ जाता है । दयानन्द वास्तव में दयासागर थे । एक बार उदयपुर में दशहरे के अवसर पर चढ़ाई जानेवाली पशुबलि से दयार्द्रहृदय दयानन्द ने द्रवीभूत होकर महाराणा सज्जन सिंह से पूछा—"आप राजा हैं, न्यायासन पर विराजमान हैं । मैं इन मूक प्राणियों का वकील बनकर आपके सामने अभियोग लेकर उपस्थित हूँ । बताइए, इनका क्या अपराध है जो देवताओं के नाम पर इन्हें प्राणदण्ड दिया जा रहा है ?" महाराणा ने चिरकाल से चली आ रही इस प्रथा को बन्द करने का वचन दिया ।

"गोकरुणानिधि" में स्वामीजी ने लिखा है—"हे परमेश्वर ! तू क्यों इन पशुओं पर, जो निरपराध मारे जाते हैं, दया नहीं करता ? क्या इनपर तेरी प्रीति नहीं है ? क्या इनके लिए तेरी न्यायसभा बन्द हो गयी है ? क्यों नहीं उनकी पीड़ा छुड़ाने पर ध्यान देता ? क्यों नहीं उनकी पुकार सुनता ?" यहाँ खुल्लमखुल्ला ईश्वर की न्यायव्यवस्था को चुनौती दी जा रही है । उसपर क्रूरता अत्याचार और पक्षपात का आरोप लगाया जा रहा है । उसे विश्वासघातियों तथा कृतघ्नों का रक्षक बताया जा रहा है । और यह सब वह कर रहा है, जिसके मुंह से कभी बड़ी-से-बड़ी आपत्ति आने पर आह नहीं निकली । वह जिसका परमेश्वर की दया और न्याय पर इतना अटल विश्वास था कि मरते समय भी "हे दयामय ! तेरी इच्छा पूर्ण हो,

https://t.me/arshlibrary

तूने अच्छी लीला की" कहता है। गोहत्या के कारण कितनी कष्टदायक पीड़ा होगी दयानन्द के हृदय में जिससे दुःखी होकर उसने यह सब कह डाला। दयानन्द के अनुसार दुष्कर्म में प्रवृत्त व्यक्ति के मन में भय, शंका और लज्जा का भाव उत्पन्न होता है। इसी को स्मरण कर वह अपने प्रभु से याचना करता है कि तू "क्यों तू इन मांसाहारियों के आत्माओं में दया का प्रकाश कर निष्ठुरता, कठोरता, स्वार्थपन और मूर्खता आदि दोषों को दूर नहीं करता, जिससे वे इन बुरे कामों से बचें।"

जिसने विदेशी शासकों द्वारा अपनी रक्षार्थ की जानेवाली व्यवस्था को ठुकरा दिया वही दयानन्द गौमाता के प्राणों की भीख माँगने के लिए उनके द्वार खटखटाने में संकोच नहीं करता। कभी वह अजमेर में मेजर ए.जी. डेविडसन कमिश्नर के पास जा पहुँचता है और कभी कर्नल ब्रुक से गोवध बन्द करने की माँग करता है। ब्रुक ने अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए दयानन्द को इस सम्बन्ध में वायसराय से बात करने का अनुरोध किया। इसी क्रम में स्वामीजी ने सन् १८७३ में फर्रुखाबाद में उत्तर प्रदेश (तब संयुक्त प्रान्त) के लेफ्टीनेंट गवर्नर श्री म्योर से गोहत्या जैसे नृशंस कुकृत्य को समाप्त करने के सम्बन्ध में पूछा कि यदि लण्डन में आप इण्डिया कौंसिल के सदस्य हो जाएँ तो क्या आप गोवध को बन्द कराने का प्रयास करेंगे ? स्वामीजी ने अपने ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद किये जाने की अनुमति नहीं दी। परन्तु 'गोकरुणानिधि' का अंग्रेजी में अनुवाद कराके विलायत भेजे जाने का प्रयत्न करना तथा समय-समय पर अंग्रेजों से वार्ता करना स्वामीजी की गोवंश के प्रति दया तथा प्रेम के आतिशय्य का द्योतक है।

स्वामी दयानन्द ने अपनी मान्यताओं में से दो को सार्वजनिक आन्दोलन का विषय बनाया था और इस निमित्त हस्ताक्षर-अभियान का आश्रय लिया था। हिन्दी को राजभाषा बनवाने से सम्बन्धित मतसंग्रह का उल्लेख किया जा चुका है। गोरक्षार्थ जनमत-संग्रह के लिए उन्होंने दो करोड़ हस्ताक्षर कराने का अभियान चलाया था। उनकी योजना थी कि हस्ताक्षरयुक्त एक ज्ञापन ब्रिटिश साम्राज्ञी विक्टोरिया की सेवा में तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड रिपन (जिसका कार्यकाल सन् १८८४ तक शेष था) के माध्यम से दिया जाए। इस ज्ञापन की वैधानिकता के सम्बन्ध में उन्होंने उच्च कोटि के अनेक वकीलों से भी परामर्श कर लिया था। (देखें—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र तथा विज्ञापन, सं. ३, भाग २, पृ. ५३७, ५५८, ७५६ तथा भाग ३, पृ. ४४६, ४६०-६१)। बंबई से आर्यसमाज दानापुर के मन्त्री के नाम १२ मार्च १८८२ को भेजे एतद्विषयक पत्र में उन्होंने इस प्रकार लिखा था—

"मैं आप परोपकारप्रिय धार्मिक जनों को सब जगत् के उपकारार्थ गाय, भैंस और बैल की हत्या के निवारणार्थ दो पत्र—एक तो सही करने का दूसरा जिसके अनुसार सही करनी है—भेजता हूँ। इसको आप प्रीति और उत्साहसहित स्वीकार कीजिए जिससे आप महाशय लोगों की कीर्त्ति इस संसार में सदा विराजमान रहे। इस काम को सिद्ध करने का विचार इस प्रकार किया गया कि दो करोड़ से अधिक राजे महाराजे और प्रधान आदि महाशय पुरुषों की सही कराके आर्यावर्त्तीय श्रीमान् गवर्नर जनरल साहेब बहादुर से इस विषय की अर्ज़ी करके उपरिलिखित गाय आदि पशुओं की हत्या को छुड़वा देना। मुझको दृढ़ निश्चय है कि प्रसन्नतापूर्वक आप लोग इस महोपकारक कार्य को शीघ्र करेंगे। अधिक प्रति भेजने का प्रयोजन यह है कि जहाँ-जहाँ उचित समझें वहाँ-वहाँ भेज कर सही करा लीजिए। पुनः नीचे लिखित स्थान में रजिस्टरी कराके भेज दीजिए।"

इस आशय के पत्र स्वामीजी ने अनेक स्थानों पर भेजे थे। महारानी विक्टोरिया को भेजे जानेवाले ज्ञापन का प्रारूप यहाँ संलग्न है—

https://t.me/arshlibrary

सही करने का पत्र

ओ३म्

ऐसा कौन मनुष्य जगत् में है, जो सुख के लाभ होने में प्रसन्न और दुःख की प्राप्ति में अप्रसन्न न होता हो। जैसे दूसरे के किये अपने उपकार में स्वयं आनन्दित होता है, वैसे ही परोपकार करनें में सुखी अवश्य होना चाहिए। क्या ऐसा कोई भी विद्वान् भूगोल में था, है और होगा, जो परोपकाररूप धर्म और परहानिस्वरूप अधर्म्म के सिवाय धर्म व अधर्म की सिद्धि कर सके ? धन्य वे महाशय जन हैं, जो अपने तन, मन, और धन से संसार का अधिक उपकार सिद्ध करते हैं। निन्दनीय मनुष्य वे हैं जो अपनी अज्ञानता से स्वार्थवश होकर अपने तन, मन और धन से जगत् में परहानि करके बड़े लाभ का नाश करते हैं। सृष्टिक्रम से ठीक-ठीक यही निश्चय होता है कि परमेश्वर ने जो-जो वस्तु बनाया है, वह-वह पूर्ण उपकार लेने के लिए है। अल्पलाभ से महाहानि करने के अर्थ नहीं। विश्व में दो ही जीवन के मूल हैं, एक अन्न और दूसरा पान। इसी अभिप्राय से आर्य्यवर शिरोमणि राजे महाराजे और प्रजाजन महोपकारक गाय आदि पशुओं को न आप मारते और न किसी को मारने देते थे। अब भी इन गाय, बैल, भेंस को मारने और मरवाने देना नहीं चाहते हैं, क्योंकि अन्न और पान की बहुताई इन्हीं से होती है। इससे सबका जीवन सुख से हो सकता है। जितना राजा और प्रजा का बड़ा नुकसान इनके मारने और मरवाने से होता है, उतना अन्य किसी कर्म से नहीं। इसका निर्णय गोकरुणानिधि पुस्तक में अच्छे प्रकार प्रकट कर दिया है। अर्थात्—एक गाय के मारने और मरवाने से ४,२०,००० चार लाख बीस हज़ार[1] मनुष्यों के सुख की हानि होती है। इसलिए हम सब लोग स्वप्रजा की हितैषिणी श्रीमती राजराजेश्वरी क्विन् विक्टोरिया की न्याय-प्रणाली में जो यह अन्यायरूप बड़े-बड़े उपकारक गाय आदि पशुओं की हत्या होती है इसको इनके राज्य में से प्रार्थना से छुड़वाके अति प्रसन्न होना चाहते हैं। यह हमको पूरा निश्चय है कि विद्या, धर्म्म, प्रजा-हित-प्रिय श्रीमती राजराजेश्वरी क्विन् महाराणी विक्टोरिया पार्लियामेण्ट सभा और सर्वोपरि प्रधान आर्य्यावर्त्तस्थ श्रीमान् गवर्नर जनरल साहिब बहादुर सम्प्रति इस बड़ी हानिकारक गाय, बैल तथा भैंस की हत्या को उत्साह और प्रसन्नतापूर्वक शीघ्र बन्द करके हम सबको परम आनन्दित करें। देखिए कि उक्त गाय आदि पशुओं के मारने और मरवाने से दूध, घी और किसानों की कितनी हानि होकर राजा और प्रजा की बड़ी हानि हो गयी और नित्य प्रति अधिक हो जाती है। पक्षपात छोड़के जो कोई देखता है तो वह परोपकार को ही धर्म और पर-हानि को अधर्म निश्चित जानता है। क्या विद्या का यह फल और सिद्धान्त नहीं है कि जिस-जिससे अधिक उपकार हो उस-उसका पालन, वर्धन करना और नाश कभी न करना। परमदयालु न्यायकारी सर्वान्तर्यामी सर्वशक्तिमान् परमात्मा इस समस्त **जगदुपकारक काम करने में ऐकमत्य करे** ॥

हस्ताक्षर

विज्ञापनपत्रमिदम्[2]

सब आर्यपुरुषों को विदित किया जाता है कि जिस पत्र के ऊपर (ओम्) और नीचे (हस्ताक्षर) ऐसा वचन लिखा है वही सही करने का है। उसपर सही इस प्रकार करनी होगी कि जिसके स्वराज्य व देश में ब्राह्मण आदि मनुष्यों की जितनी संख्या हो उतनी संख्या लिखके अर्थात् इतने सौ, हजार, लाख व करोड़ मनुष्यों की ओर से मैं

---

१. इसका पूर्ण विवरण 'गोकरुणानिधि' (रा.ला.क. ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित दयानन्दीय लघुग्रन्थ-संग्रह, पृ. ५४७-५४८) तथा सत्यार्थप्रकाश समु. १० (आ.स. शताब्दी सं. २, पृ. ४१५-४१६) में देखें। दोनों ग्रन्थों में संख्य में कुछ भेद है।

२. सही करनेवाले पत्रों के साथ यह विज्ञापन भी अनेक स्थानों में भेजा गया था।

https://t.me/arshlibrary

अमुक नामा पुरुष सही करता हूँ इस प्रकार एक श्रीयुत महाशय प्रधान पुरुष की सही में सर्व साधारण आर्यपुरुषों की सही आ जाएगी, परन्तु जितने मनुष्यों की ओर से एक मुख्य पुरुष सही करे, वह उनसे सही लेके अपने पास अवश्य रखे। और जो मुसलमान वा ईसाई लोग इस महोपकार विषय में दृढ़ता और प्रसन्नता से सही करना चाहें तो कर दें। मुझको दृढ़ निश्चय है कि आप परम उदार महात्माओं के पुरुषार्थ उत्साह और प्रीति से यह सर्वोपकारक महापुण्य कीर्तिप्रदायक कार्य यथावत् सिद्ध हो जाएगा।

चै० कृष्ण ६ सं० १६३६[1], तदनुसार १४ मार्च १८८२ मुंबई

दयानन्द सरस्वती

इस हस्ताक्षर अभियान में स्वामीजी को अपेक्षित सफलता मिली। शाहपुराधीश सर नाहरसिंह द्वारा ४०,०००, फर्रुखाबाद के गोपालराव हरि द्वारा ७२०००, कटिला की ठकुरानी साहिबा द्वारा ६०,३०८, एटा के जालिमसिंह रूपधनी तथा उनके भतीजे गुलाबसिंह द्वारा १०,०००, बंबई के सेवक लालकृष्णदास द्वारा १५३२०, बाबू कृपारामजी द्वारा ५०,००० (कुल २,७७,६२८) हस्ताक्षरयुक्त पत्र प्राप्त हुए थे कि दुर्भाग्यवश स्वामीजी के निधन के कारण यह कार्य सम्पन्न न हो सका।

महर्षि द्वारा किये गये सभी कार्यों में फर्रुखाबाद के आर्यसमाज का बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। सरकार को भेजे जानेवाले आवेदन-पत्र पर हस्ताक्षर कराने के साथ-साथ इस कार्य के लिए धन जुटाने में भी उसने समुचित उत्साह दिखाया। महर्षि से प्रेरणा प्राप्त कर २८ जनवरी सन् १८८१ के दिन आर्यसमाज की अन्तरंग सभा ने गोरक्षा के लिए क्रियात्मक रूप से कार्य करने का निश्चय किया। सभा का विचार था कि यदि एक वर्ष में दो सौ गौवों को मृत्यु के मुख से बचाकर उनको क्रय कर लिया जाए और उनके पालन की उचित व्यवस्था की जाए तो इस कार्य में ६५०० रुपये वार्षिक व्यय होगा। अन्तरंग सभा ने अपने बजट में प्रतिवर्ष होने वाले इस व्यय को स्वीकृति दे दी।

महाराणा सज्जनसिंह ने गवादि पशुओं की हत्या बन्द करने के विषय में जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह को पत्र लिखा था। उसके उत्तर में जोधपुर-नरेश ने लिखा था—

"म्हारी प्रजा १४,६१,१५६ हिन्दू ने, १,३७,११६ मुसलमान या तीन पशु (गाय, बैल और भैंस) नहीं मारिया जावणरा प्रबन्ध में खुशी है और मैं पिण रजामन्द हां। सं.१६३६., पोष बदि ५

दस्तखत—राजराजे श्वर महाराजाधिराज जसवन्त सिंह

मारवाड़, जोधपुर

यह पत्र ठाकुर जगदीश सिंह गहलोत ने अपने 'राजपूताना का इतिहास' भाग १, पृ. २८७ पर उद्धृत किया है। सं० १६३६, पौष बदि ५ को शुक्रवार २६ दिसम्बर १८८२ था। इन दिनों में महर्षिजी उदयपुर में थे। जयपुर राज्य में भी गोवध और पशुओं के निर्यात पर रोक लगा दी गयी थी। दानापुर के ईसाई जोन्स साहब ने स्वामीजी की युक्तियों से प्रभावित होकर भविष्य में गोमांस भक्षण को त्यागने की प्रतिज्ञा की थी।

आर्यसमाज के ही नहीं, आधुनिक भारत के इतिहास में रिवाड़ी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका कारण वहाँ की वह गौशाला है जिसकी स्थापना महर्षि की प्रेरणा से राव युधिष्ठिरसिंह (राव वीरेन्द्र

१. यहाँ सं० १६३८ चाहिए, चैत्र शुक्ल १ से नया सं. चलता है। फर्रुखाबाद का इतिहास नामक ग्रन्थ पृ. २०० पर भी सं. १६३६ ही छपा है। वहाँ अंग्रेजी तारीख २४-३-१८६८२ दी है, वह भी अशुद्ध है। १४ मार्च चाहिए।

https://t.me/arshlibrary

सिंह के पितामह) ने १८७६ में की थी। सम्भवतः आधुनिक युग में यह भारत की सबसे पहली गौशाला थी जिसे सार्वजनिक हित की दृष्टि से स्थापित किया गया था।

समाज में नारी का स्थान

फ्रांस के मनीषी रोमां रोलां के अनुसार, "आर्यसमाज सब मनुष्यों और देशों के प्रति न्याय और स्त्री-पुरुषों के समानता के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। वह जन्मना जाति का विरोधी है। स्वामी दयानन्द से बढ़कर हरिजनों के हितों का रक्षक कोई कठिनाई से ही मिलेगा। स्त्रियों को दयनीय स्थिति से उबारने और समान अधिकार दिलाने में दयानन्द ने बड़ी उदारता से काम लिया।" दयानन्द ने स्त्री को मात्र भोग्या न मानकर उसे प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के समान समर्थ घोषित कर एक क्रान्तिकारी चेतना को जन्म दिया। नारी-उत्थान की दिशा में महर्षि की यह संकल्पना उनके चिन्तन की उदात्त भावना की द्योतक है। उनका अभीष्ट था कि स्त्रियों को भी पुरुषों के समान शिक्षित और प्रशिक्षित किया जाना चाहिए, जिससे वे राजकार्य और न्याय-प्रशासन आदि में पुरुषों से पीछे न रहें। न्यायकार्य में स्त्री की सहभागिता का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—"राजाओं की स्त्रियों को चाहिए कि सब स्त्रियों के लिए न्याय और अच्छी शिक्षा देवें और स्त्रियों का न्यायादि पुरुष न करें, क्योंकि पुरुषों के सामने स्त्री लज्जित और भययुक्त होकर बोल ही नहीं सकती।" (यजुर्भाष्य १०।२६)। स्वामीजी के अनुसार रानी राजा से कहे—"जैसे आप पुरुषों के न्यायाधीश हो, वैसे ही मैं स्त्रियों का न्याय करनेवाली हूँ। मैं आपसे न्यून नहीं हूं" (ऋग्भाष्य १।१२६।७)। न्याय प्रशासन जैसे कठिन कार्य में स्त्रियों की सहभागिता का उद्घोष तत्कालीन भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में एक अभूतपूर्व क्रान्ति का सूत्रपात था, जिसे स्वतन्त्र भारत ने संवैधानिक मान्यता प्रदान की।

ऋषि दयानन्द नैयायिक प्रक्रिया में स्त्रियों के साथ सम्भावित कुचेष्टाओं के प्रति सावधान थे। इसलिए उदयपुरनरेश महाराणा सज्जनसिंह को उन्होंने निर्देश दिया था—"स्त्रियों की साक्षी में स्त्रीजनों से पूछकर निश्चय करें, परन्तु स्त्रियों से राणी पूछे। अथवा यदि पड़दे में रक्खे तो बड़े प्रबन्ध से रखके पूछें जिससे वहाँ उसके बदले दूसरी स्त्री न बोले। यदि सामने होवे तो कोई उसपर दृष्टि न डालने पाये, न हास्य करे और न डरावे" (ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र व विज्ञापन, सं० ३, भाग २, पृ. ६२६)।

सत्यार्थप्रकाश

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च। —मनु० १।१०८

श्रुति (वेद)तथा स्मृति में निर्दिष्ट आचरण सर्वश्रेष्ठ धर्म है। परन्तु 'श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी'—श्रुति और स्मृति में परस्पर विरोध होने पर श्रुति का प्रामाण्य होगा। श्रुति में शाश्वत धर्म का प्रतिपादन होता है, जबकि स्मृतियों में देश और काल की विशेष परिस्थितियों में अपेक्षित धर्म का निर्देश होता है। वेद ईश्वरीय ज्ञान होने से स्वतःप्रमाण हैं, स्मृतिग्रन्थ मनुष्योक्त होने से परतःप्रमाण हैं। इसलिए मनु का वचन है—**'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'**। दूसरे शब्दों में स्मृतियों की प्रामाणिकता उसी अंश तक है जहाँ तक वे वेदाविरूद्ध हैं।

अरब लोगों ने जब सिन्धु को अपने अधीन कर हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाना, उनकी स्त्रियों का अपहरण करना और उनके साथ बलात्कार करना आरम्भ किया तो एक नई समस्या उत्पन्न हुई। इसके समाधान के लिए देवल मुनि ने एक स्मृति बनाई, जिसमें बलपूर्वक मुसलमान बनाये गये व्यक्तियों को शुद्ध

https://t.me/arshlibrary

करके फिर से हिन्दू धर्म में सम्मिलित करने की व्यवस्था की गई। इस कारण देवलमुनि की कृति को स्मृतिग्रन्थ के रूप में मान्यता मिली। सन् १९४६ में पाकिस्तान की प्राप्ति के लिए मुसलिम लीग के आदेशानुसार पूर्वी बंगाल के अन्तर्गत नोआखाली क्षेत्र में हज़ारों हिन्दुओं को बलपूर्वक मुसलमान बनाया गया और हज़ारों को तलवार के घाट उतार दिया गया। शान्ति स्थापित होने पर मुसलमान बनाये गये हिन्दुओं के परावर्तन पर विचार करने के लिए डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी (अखिल भारत हिन्दु महासभा के तत्कालीन अध्यक्ष) ने एक बैठक बुलाई। उस बैठक में सनातनधर्म का प्रतिनिधित्व स्वामी करपात्रीजी कर रहे थे और आर्यसमाज का प्रतिनिधित्व इन पंक्तियों के लेखक पं. लक्ष्मीदत्त दीक्षित कर रहे थे। स्वामी करपात्रीजी ने कहा कि हिन्दूधर्म में पुनः प्रवेश के इच्छुक व्यक्ति को धर्मशास्त्र के अनुसार एक पाव गौ का गोबर खाना होगा। इसपर डॉ. मुकर्जी ने एक मार्मिक घटना सुनाई। उन्होंने कहा कि नोआखाली में बलात् मुसलमान बनाई गयी एक बुढ़िया से मैंने पूछा कि तुम्हें मुसलमान कैसे बनाया गया था ? उसने मुझे बताया कि मुझे और मेरी तरह अन्य बहनों को इस प्रकार मुसलमान बनाया गया कि दो मौलवियों ने पगड़ी का एक-एक छोर पकड़ा और हमें तलवार का भय दिखा कर पगड़ी को हाथ लगाने का आदेश दिया। डर के मारे हमने पगड़ी अपने हाथों में लेली। मौलवियों ने कलमा पढ़ा और हमें मुसलमान मान लिया गया, परन्तु जिस रामय वे मौलवी कलमा पढ़ रहे थे तो मैं मन-ही-मन राम-राम कर रही थी। मुझे बताओ, वह बुढ़िया मुसलमान कहाँ हुई जो मैं उसे फिर से हिन्दू बनने के लिए एक पाव गोबर खाने के लिए कहूँ ? यह कहकर डॉ० मुकर्जी ने मेरी राय पूछी तो मैंने कहा—जो यह कहे कि मैं हिन्दू हूँ, उसे हिन्दू मान लिया जाए। उसके लिए किसी प्रकार के शुद्धि-संस्कार की आवश्यकता नहीं है। डॉ० मुकर्जी ने मेरी दी हुई व्यवस्था को स्वीकार करते हुए सर्वत्र तदनुसार घोषणा करादी। यह स्मार्त्त धर्म था। मनुस्मृति आदि के समान सत्यार्थप्रकाश ऋषि दयानन्द द्वारा रचित स्मृति है।

ऋषि दयानन्द के प्रादुर्भाव के समय देश की धार्मिक एवं सामाजिक अवस्था का अनुमान करके ही कलेजा काँप जाता है। व्यक्तियों के धर्म-कर्म और समाज की सामाजिक व्यवस्था पर पण्डों, पुजारियों, पुरोहितों और पंचों का एकाधिपत्य था। राजा लोग उनकी मार्फ़त प्रजा पर अपना पंजा जमाये हुए थे। ऐसा लगता था जैसे सबने मिलकर भोली-भाली अनपढ़ जनता को लूटने का षड्यन्त्र रचा हुआ था। यह स्थिति केवल हमारे देश की ही नहीं थी। किसी-न-किसी रूप में सारा संसार ही इस दुरवस्था का शिकार था। यूरोप में पोप की, टर्की में ख़लीफ़ा की और अन्य देशों में वहाँ के धर्म-गुरुओं की तूती बोलती थी। राजा से अधिक शक्ति इन लोगों के हाथों में थी। भगवान् के ठेकेदार जिसको चाहें स्वर्ग में भेज सकते थे और जिसको चाहें, नरक में धकेल सकते थे। जन्म की आकस्मिक घटना को इतना महत्त्व दिया जाता था कि उसके सामने मनुष्य की योग्यता, क्षमता और परिश्रम आदि का कोई मूल्य नहीं था। मनुष्य-मनुष्य के बीच जन्मगत जात-पात, छूत-छात और धर्म-कर्म की फ़ौलादी दीवारें खड़ी कर दी गयीं थीं। धर्म के नाम पर मन्दिरों में, सड़कों पर और गलियों में खून की नदियाँ बहाई जाने लगी थीं। ईर्ष्या, द्वेष, विरोध, वैमनस्य और विनाश की सृष्टि धर्म की नींव पर खड़ी थी। अभ्युदय और निःश्रेयस का साधक धर्म विभिन्न रूपों में व्यक्ति, समाज और देश के सर्वनाश का कारण बन गया था। ईश्वर के जितने भी नाम मिल सके, उतने ही देवी-देवताओं की कल्पना करके न जान कितने मत, मठ और सम्प्रदाय इस देश में कुकुरमुत्तों या बरसाती मेंढकों की तरह उभर रहे थे। सत्यार्थप्रकाश के उत्तरार्द्ध की अनुभूमिका में ऋषि ने इनकी संख्या एक हज़ार से अधिक बताई है। जैनियों के बारे में यह व्यवस्था दी गयी कि हाथी के पैर तले कुचले जाने का भय होने पर भी आत्मरक्षा तक के लिए जैन मन्दिर में नहीं जाना चाहिए। जैनियों

https://t.me/arshlibrary

ने यह उपदेश देना शुरू किया कि गंगा आदि तीर्थों और काशी आदि क्षेत्रों से कुछ भी परमार्थ सिद्ध नहीं होता और गिरनार, पालिताना तथा आबू आदि तीर्थ-क्षेत्र मुक्ति देनेवाले हैं। पुराणों की समीक्षा करते हुए ऋषि ने लिखा है कि—"शिवपुराण में शैवों ने शिव को परमेश्वर मानके विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा, गणेश आदि को दास बनाया। वेष्णवों ने विष्णुपुराण में विष्णु को परमात्मा माना और शिव आदि को विष्णु का दास, देवी भागवत में देवी को परमेश्वरी और शिव, विष्णु आदि को उसके किंकर बनाया। गणेशखण्ड में गणेश को ईश्वर और सबको उसका दास बनाया। शिवपुराणवाले शिव से, विष्णुपुराणवाले विष्णु से, देवीपुराणवाले देवी से, वायुपुराणवाले वायु से सृष्टि की उत्पत्ति और उसी में प्रलय मानते हैं। अब सोचिए, इन सबमें परस्पर एकमत, एकता, मेल-मिलाप और सद्भाव होगा या परस्पर द्वेष, विरोध, मतभेद और लड़ाई झगड़ा ?" ऋषि ने कहा है कि—"यदि ऐसे पाखण्ड न चलते तो आर्यावर्त्त देश की दुर्दशा क्यों होती ?"

ऋषि ने प्रथम समुल्लास में परमेश्वर के सौ नामों की व्याख्या इसलिए की कि आर्यावर्त्त में प्रचलित मत-मतान्तरों के आराध्य देवों की एकरूपता बनाई जाए। पुराणों एवं पौराणिक ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि किस प्रकार परमात्मा के एक-एक नाम को लेकर उसी को सब-कुछ मानते हुए एक-एक मत प्रवर्तित कर दिया गया। शैवों ने शिव, वैष्णवों ने विष्णु आदि एक ही परमेश्वर के भिन्न-भिन्न नामों को लेकर अनेक सम्प्रदाय चला दिये। ऋषि ने लिखा कि शिव, विष्णु आदि एक ही अखण्ड सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर के विविध नाम हैं। "इन नामों का जैसा अर्थ प्रथम समुल्लास में कर आये हैं, उस सात्यार्थ को न जानकर शैव, वैष्णव, शाक्त आदि लोग परस्पर एक-दूसरे की निन्दा करते हैं। मन्दमति लोग तनिक भी अपनी बुद्धि को फैलाकर नहीं विचारते कि विष्णु, रुद्र, शिव आदि सब एक ही सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर के अनेक गुण-कर्म-स्वभाव-युक्त होने से उसी के वाचक हैं।" सम्पूर्ण जगत् का उत्पादक होने से ब्रह्मा, रक्षक होने से विष्णु, संहारक होने से रुद्र, नियामक होने से यम आदि एक ही परमात्मा के भिन्न-भिन्न कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम हैं। इस बात को न समझकर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के लोगों ने एक-एक नाम को लेकर भक्ति चालू कर दी। यह भेद बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ा कि वह पारस्परिक निन्दा, विरोध एवं द्वेष में परिणत होकर सिर फुटौवल, यहाँ तक कि पारिवारिक कलह का कारण बन गया। इस प्रकार के वैर-विरोध को दूर करने के लिए महर्षि ने प्रथम समुल्लास में परमात्मा के सौ नामों की व्याख्या की।

स्वामीजी के खण्डनात्मक लेखों का अभिप्राय समझने के लिए प्रारम्भिक भूमिका तथा ११वें से १४वें समुल्लासों के आदि की भूमिका-अनुभूमिकाओं को पढ़ना आवश्यक है। हो सकता है कि कोई उनसे पूरी तरह सहमत न हो और किसी को उनकी भाषा कठोर और तीखी लगे, परन्तु उनकी भावना की सराहना किये बिना नहीं रहेगा। ग्याहरवें समुल्लास की अनुभूमिका में ऋषि लिखते हैं—"इन सब मतवादियों, इनके चेलों और अन्य सबको परस्पर सत्यासत्य के विचार करने में अधिक परिश्रम न हो, इसलिए यह ग्रन्थ बनाया है। पश्चात् सबको अपनी-अपनी समझ से सत्य मत का ग्रहण करना और असत्य को छोड़ना सहज होगा।" फिर लिखते हैं—"इस मेरे कर्म से यदि उपकार न मानें तो विरोध भी न करें, क्योंकि मेरा तात्पर्य किसी की हानि या विरोध करने में नहीं, किन्तु सत्यासत्य का निर्णय करने-कराने का है। ..... मनुष्यजन्म का होना सत्यासत्य का निर्णय करने कराने के लिए है, न कि वाद-विवाद व विरोध करने-कराने के लिए। .....यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या-द्वेष छोड़ सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना-कराना चाहें, तो हमारे लिए यह सब असाध्य नहीं है। यह निश्चय है कि इन विद्वानों के विरोध ही ने सबको विरोध-जाल में फँसा रखा है। यदि ये

https://t.me/arshlibrary

लोग अपने प्रयोजन में न फँसकर सबके प्रयोजन को सिद्ध करना चाहें तो सभी ऐक्यमत हो जावें।" इसी प्रकार बारहवें समुल्लास की अनुभूमिका में उन्होंने लिखा है—"जो-जो जैनियों के मत-विषय में लिखा गया है, सो-सो उनके ग्रन्थों के मतपूर्वक लिखा है। इसमें जैनी लोगों को बुरा न मानना चाहिए, क्योंकि जो-जो हमने इनके मत के विषय में लिखा है, वह केवल सत्यासत्य के निर्णयार्थ है, न कि विरोध व हानि करने अर्थ। इस लेख को जब जैनी, बौद्ध व अन्य लोग देखेंगे, तब सबको सत्यासत्य के निर्णय में विचार और लेख करने का समय मिलेगा और बोध भी होगा। जब तक वादी-प्रतिवादी होकर प्रीति से वाद या लेख न किया जाए, तब तक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता। जब विद्वानों में सत्यासत्य का निश्चय नहीं होता तभी अविद्वानों को अविद्यान्धकार में पड़कर बहुत दुःख उठाना पड़ता है। इसलिए सत्य की जय और असत्य की क्षय के अर्थ मित्रता से वाद व लेख करना हमारी मनुष्यजाति का मुख्य काम है। यदि ऐसा न हो तो मनुष्यों की उन्नति कभी न हो।"

तेरहवें समुल्लास की अनुभूमिका में भी अपने इसी आशय को स्पष्ट करने के लिए ऋषि ने लिखा है—"यह लेख केवल सत्य की वृद्धि और असत्य का ह्रास होने के लिए लिखा है, न कि किसी को दुःख देने वा हानि करने अथवा मिथ्या दोष लगाने के अर्थ।" चौदहवें समुल्लास में इसलाम की आलोचना की गयी है। हिन्दू-मुस्लिम एकता की दृष्टि से उसे काफी आपत्तिजनक माना गया है। सन् १६४२ में सिन्ध की मुसलिम लीगी सरकार ने सत्यार्थप्रकाश के १४वें समुल्लास के पढ़ने, छापने, बेचने, रखने आदि पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। प्रतिबन्ध को हटाने के लिए सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा तथा सिन्ध सरकार के बीच पत्र-व्यवहार होता रहा। जब इसका कोई फल नहीं निकला तो २१-२२ फरवरी को दिल्ली में डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी की अध्यक्षता में आर्य-महासम्मेलन हुआ, जिसमें अखिल भारतीय स्तर पर सत्याग्रह करने का निर्णय हुआ। शान्तिपूर्ण हल निकालने के उद्देश्य से एक बार फिर सिन्ध के प्रधानमन्त्री (अब मुख्यमन्त्री) सर गुलाम हुसैन हिदायतुल्ला के साथ पत्राचार का क्रम चला। अन्ततः सार्वदेशिक सभा ने सत्याग्रह की घोषणा कर दी। सभा के निश्चयानुसार सभा-प्रधान महात्मा नारायण स्वामीजी के नेतृत्व में ५ सत्याग्रहियों का पहला जत्था कराची पहुँच गया। इस जत्थे में शामिल थे—

१. ला. खुशहालचन्द आनन्द (श्री आनन्द स्वामी)—पंजाब
२. श्री स्वामी अभेदानन्द सरस्वती—बिहार
३. राजगुरु श्री धुरेन्द्र शास्त्री (स्वामी ध्रुवानन्द सरस्वती)—उत्तर प्रदेश
४. कुंवर चांदकरण शारदा—राजस्थान
५. पं. लक्ष्मीदत्त दीक्षित—दिल्ली

जत्थे के पहुँचते ही सिन्ध सरकार ने हथियार डाल दिये और महात्मा नारायण स्वामीजी ने सपलतापूर्वक सत्याग्रह की समाप्ति की घोषणा कर दी।

इस चौदहवें समुल्लास की अनुभूमिका में ऋषि ने लिखा है—"न किसी अन्य मत पर, न इस मत पर झूठ-मूठ बुराई या भलाई लगाने का प्रयोजन है, किन्तु जो-जो भलाई है, वही भलाई और जो बुराई है वही बुराई सबको विदित होवे। न कोई किसी पर झूठ चला सके और न सत्य को रोक सके और सत्यासत्य प्रकाशित किये पर भी जिसकी इच्छा हो, वह माने वा न माने, किसी पर बलात्कार नहीं किया जाता। यह लेख हठ, दुराग्रह, ईर्ष्या, द्वेष, वाद-विवाद और विरोध घटाने के लिए किया गया है, न कि इनको बढ़ाने के लिए, क्योंकि एक-दूसरे की हानि करने से पृथक् रह परस्पर को लाभ पहुँचाना हमारा मुख्य कर्म है।" इसी समुल्लास के अन्त में स्वामीजी ने लिखा है—"परमात्मा सब मनुष्यों पर कृपा करें

https://t.me/arshlibrary

कि सबसे प्रीति, परस्पर मेल और एक-दूसरे के सुख की उन्नति में प्रवृत्त हों। जैसे मैं अपना या दूसरे मत-मतान्तरों का दोष पक्षपातरहित होकर प्रकाशित करता हूँ, वैसा ही यदि सब विद्वान् करें तो क्या कठिनता है कि परस्पर का विरोध छूट, मेल होकर आनन्द में एकमत होके सत्य की प्राप्ति सम्भव हो।"

सत्यार्थप्रकाश के अन्तिम प्रकरण 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' में ऋषि लिखते हैं—"मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूँ कि जो तीन काल में सबको एक-सा मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना वा मतामतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है, किन्तु जो सत्य है उसको मानना-मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना-छुड़वाना अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त्त में प्रचरित मतों में से एक का आग्रही होता, किन्तु जो-जो आर्यावर्त्त वा अन्य देशों में अधर्मयुक्त चालचलन है उसका स्वीकार और जो धर्मयुक्त बातें हैं, उनका त्याग नहीं करता, न करना चाहता हूँ, क्योंकि ऐसा करना मनुष्य-धर्म से बहिः है।" इन सब उद्धरणों को पढ़ने के बाद महर्षि पर पक्षपात या असहिष्णुता का दोष लगाना सर्वथा अन्याय्य होगा।

भारत में दार्शनिक सम्प्रदायों में खण्डन-मण्डन सदा से होता आया है। समन्वयवाद के नाम पर आजकल यह कहना कि 'अपनी-अपनी जगह सब सही हैं' आधुनिकता या भलमनसाहत की पहचान बन गया है। अधिक समझदार लोगों को यह कहते सुना जाता है—समालोचना तक तो ठीक है, पर खण्डन करना उचित नहीं है। ऐसा कहते हुए उनके मन में 'समालोचना' अंग्रेजी के criticism का तथा खण्डन अंग्रेजी के condemnation का भाव लिये रहते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि वे लोग समालोचना और खण्डन शब्दों के निहितार्थों को नहीं समझते। रामालोचना शब्द सम्+आ उपसर्गपूर्वक 'लुच्' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ होता है किसी वस्तु को सब प्रकार से विधिपूर्वक देखने की व्यवस्था। ध्यानपूर्वक देखने में हम उस वस्तु के रूप-रंग, गुण-कर्म-स्वभाव एवं गुण-दोष के आधार पर उससे सम्भावित हानि-लाभ का विवेचन करते हैं। तभी हमें उस वस्तु का पूर्ण अनुभव और ज्ञान प्राप्त होता है। किसान या माली अपने खेत या बगीचे में उत्पन्न घासपात और पौधों पर समालोचनात्मक दृष्टि से देखता है। खरपतवार के नाम से बदनाम व्यर्थ के या हानिकारक घासपात को वह निकाल फैंकता है और उपयोगी पौधों को खाद-पानी देकर पुष्ट करता है। इसी प्रकार समाज के हितचिन्तक महापुरुष समाज में व्याप्त दोषों, अन्धविश्वासों और कुरीतियों को दूर कर समाज के विकास में सहायक विचारों का प्रचार व प्रसार करते हैं। यही खण्डन-मण्डन का वास्तविक स्वरूप है। शरीर को हानि पहुँचानेवाले अंग को काटकर फैंक देना और स्वस्थ अंग का उसके स्थान पर प्रत्यारोपण करना शरीरशास्त्र की दृष्टि से खण्डन-मण्डन ही तो हैं। समाज को स्वस्थ तथा पुष्ट बनाने के लिए मिथ्या विश्वासों को दूर करना आवश्यक था। दयानन्द के खण्डन का यही प्रयोजन था।

ऋषि की दूरदर्शिता

महर्षि कितने निरभिमान और दूरदृष्टि थे, इसके निदर्शनार्थ हम 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' से आर्षसाहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् तथा महर्षि के ग्रन्थों के गवेषक महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिर मीमांसक के वक्तव्य का एक अंश यहां उद्धृत कर रहे हैं—

"ऋषि दयानन्द के जीवनचरितों, उनके ग्रन्थों, पत्र और विज्ञापनों में ऋषि दयानन्द की दीर्घदृष्टि के अनेक उदाहरण मिलते हैं। ऐसा ही एक प्रसंग हम यहाँ उपस्थित कर रहे हैं। बम्बई आर्यसमाज की स्थापना से पूर्व एक घटना 'मुंबई आर्यसमाजनोइतिहास' में पृ. ८ पर उल्लिखित है—

.....त्यार बाद (शास्त्रार्थ में जीवनजी के पराभव के बाद) एमना निवासस्थान मा एमने माटे मान धरावता मुम्बई ना संभावित गृहस्था ए जाई ने धार्मिक चर्चा करता-करता मुम्बई मां आर्यसमाज स्थापन करवानी स्वामीजी ने विनंति करी। त्यारे एमणे सर्वने उद्देशो ने स्पष्ट जणावी दीयुं के'(= उसके

https://t.me/arshlibrary

बाद [शास्त्रार्थ में जीवनजी के पराजय के पश्चात्] इनके निवासस्थान पर इनके प्रति सम्मान रखनेवाले बम्बई के सम्भ्रान्त गृहस्थों ने जाकर धार्मिक चर्चा करते करते बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की स्वामी जी से प्रार्थना की। इसपर उन्होंने सबको उद्देश करके स्पष्ट बता दिया कि)—

"भाई हमारा कोई स्वतन्त्र मत नहीं है। मैं तो वेद के अधीन हूँ और हमारे भारत में पच्चीस कोटि आर्य हैं। कई-कई बात में किसी-किसी में कुच्छ-कुच्छ भेद है। सो विचार करने से आप ही छूट जाएगा। मैं संन्यासी हूँ और मेरा कर्त्तव्य यही है कि जो आप लोगों का अन्न खाता हूँ, इसके बदले जो सत्य समझता हूँ उसका निर्भयता से उपदेश करता हूँ। मैं कुछ कीर्त्ति का रागी नहीं हूँ। चाहे मेरी कोई स्तुति करे या निंदा करे, मैं अपना कर्त्तव्य समझके अर्थबोध कराता हूँ। कोई चाहे माने वा न माने, इसमें मेरी कोई हानि-लाभ नहीं है।"

त्यारे एक भाई ए कह्युं के अमे जो समाज स्थापन करीए, तो एमां कोई सार्वजनिक नुकसान छे ? तेनो जवाब स्वामीजी ए दीं के—(=एक भाई ने कहा कि हम जो समाज स्थापित करें तो इसमें कोई सार्वजनिक नुकसान है ? इसका जवाब स्वामीजी ने दिया कि)—

"आप यदि समाज से पुरुषार्थ कर परोपकार कर सकते हो, तो समाज कर लो। इसमें मेरी कोई मनाई नहीं। परन्तु इसमें यथोचित व्यवस्था न रखोगे तो आगे गड़बड़ाध्याय हो जाएगा। मैं तो मात्र जैसा अन्य को उपदेश करता हूँ वैसा ही आपको भी करूँगा और इतना लक्ष में रखना कि कोई स्वतन्त्र मेरा मत नहीं है और मैं सर्वज्ञ भी नहीं हूँ। इससे यदि कोई मेरी भी गलती आगे पाई जाए, युक्तिपूर्वक परीक्षा करके इसको भी सुधार लेना। यदि ऐसा न करोगे तो आगे यह भी एक मत हो जाएगा और इसी प्रकार से **'बाबावाक्यं प्रमाणम्'** करके इस भारत में नाना प्रकार के मतमातान्तर प्रचलित होके, भीतर-भीतर दुराग्रह करके धर्मान्ध होके, लड़के नाना प्रकार की सद्विद्या का नाश करके यह भारतवर्ष दुर्दशा को प्राप्त हुआ है। इसमें यह भी एक मत बढ़ेगा। मेरा अभिप्राय तो यह है कि इस भारतवर्ष में नाना प्रकार के मतमतान्तर प्रचलित हैं वे सब भी वेदों को मानते हैं। इस से वेद-शास्त्ररूपी समुद्र में यह सब नदी-नाव पुनः मिला देने से धर्म ऐक्यता होगी और धर्म ऐक्यता से सांसारिक और व्यावहारिक सुधारणा होगी और इस से कला कौशल्यादि सब अभीष्ट सुधार होके मनुष्यमात्र का जीवन सफल होके अन्त में अपना धर्म-बल से, अर्थ, काम और मोक्ष मिल सकता है।"

ऋषि दयानन्द के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना करने की स्वीकृति बहुत झिझकते हुए दी थी। मतमतान्तरों का जो इतिहास उनके सामने था, उसको ध्यान में रखते हुए उन्हें यह आशंका होती थी कि कहीं आर्यसमाज भी मेरे पीछे मेरे नाम पर एक सम्प्रदाय न बन जाए।"—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, सं. ३, भाग २, पृ. ८।

वस्तुतः मनुस्मृति के प्रवक्ता मनु के पश्चात् मनुष्य के व्यक्तिगत तथा समष्टिगत एवं ऐहिक तथा पारलौकिक जीवन के लिए अपेक्षित समग्र धर्म का प्रतिपादन करनेवाला दयानन्द से अतिरिक्त अन्य कोई आचार्य अथवा ऋषि नहीं हुआ। ऋषि दयानन्द अपनी बात सीधी वेद के आधार पर कहते थे। वेद के बाद मनुष्योक्त ग्रन्थों में उन्हें मनु का प्रमाण्य स्वीकार था। मनुस्मृति के बाद यह गौरव सत्यार्थप्रकाश को प्राप्त है।

श्री युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार "ऋषि दयानन्द के लेखों को समझने के लिए यह ध्यान में रखना अत्यावश्यक है कि ऋषि दयानन्द की शैली पर महर्षि पतञ्जलिकृत महाभाष्य का अत्यधिक प्रभाव था। अतः जैसे महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य में अनेक स्थानों पर प्रौढ़िवाद से समाधान किये हैं, उसी प्रकार ऋषि के ग्रन्थों में भी कुछ स्थलों में प्रौढ़िवाद का आश्रयण लिया गया है। इस प्रकार के समाधान सामयिक होते हैं; सिद्धान्त नहीं माने जाते। प्रौढ़िवाद को ऋषि दयानन्द अवस्थाविशेष में स्वीकार करना अनुचित नहीं समझते। इस प्रसंग में उनके शंकराचार्य के विषय में लिखे गये 'जो (शंकराचार्य ने) जैनियों के

https://t.me/arshlibrary

खण्डन के लिए उस (अद्वैत) मत को स्वीकार किया हो तो **कुछ अच्छा है**' शब्द ध्यान देने योग्य हैं। इस दृष्टि से दयानन्द का कौन-सा लेख सिद्धान्तयुक्त है और कौन-सा प्रौढ़िवाद से लिखा गया है, इसका भेद करना भी आवश्यक है। अन्यथा प्रौढ़िवाद से दिये गये समाधान को सिद्धान्त मान लेने पर कई स्थानों पर वेदादि सच्छास्त्रों से (और कहीं-कहीं उनके अपने लेख से भी—भाष्यकार) विरोध होगा।''

ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में सत्यार्थप्रकाश अन्यतम है। सत्यार्थप्रकाश वेद नहीं है, पर वेदमार्ग पर अग्रसर होने में परम सहायक है। वैदिक सिद्धान्तों तथा महर्षि की मान्यताओं का वह विश्वकोश (Encyclopaedia) है। सत्यार्थप्रकाश-सम्बन्धी शंकाओं के समाधान तथा उस पर उठाई गयी आपत्तियों के निवारणार्थ आर्यविद्वान् पहले से प्रयास करते रहे हैं। वे सभी हमारे लिए वन्दनीय हैं। सम्पूर्ण सत्यार्थप्रकाश के भाष्य की चर्चा तो अनेक बार हुई—आर्यसमाज के संगठन के विभिन्न स्तरों पर, परन्तु सफलता नहीं मिली। इसलिए इस कार्य में मेरे सदृश अल्पमति का प्रवृत्त होना अनधिकार चेष्टा ही मानी जाएगी। सत्यार्थप्रकाश वैदिक ज्ञान का अगाध सागर है। उसकी थाह तो कोई ऋषिकल्प आप्त पुरुष ही पा सकता है। सागर की गहराई की थाह पाना मछली के सामर्थ्य से बाहर है। पर वह उसकी लहरों में उछलकूद मचाकर आनन्दलाभ तो कर ही सकती है। इस ग्रन्थ के विषय में मेरी यही स्थिति है—**स्वान्तः सुखाय**।

सत्यार्थप्रकाश के 'सत्यार्थभास्कर' नामक इस भाष्य में मैंने महर्षि के कथन का स्पष्टीकरण और विशदीकरण करते हुए अतिरिक्त युक्तियों और प्रमाणों से यथासम्भव उनकी मान्यताओं की पुष्टि करने का प्रयास किया है। यह सम्भव है कि इस भाष्य में कुछ विषयों पर अत्यल्प लिखा गया हो और कुछ अस्पष्ट भी रह गये हो। यह भी सम्भव है कि जाने-अनजाने कहीं कुछ अन्यथा भी लिखा गया हो। मानुषदोष, स्वभावदोष, स्मृतिदोष आदि के कारण अल्पबुद्धि मनुष्य की कृति में दोष एवं अनेक प्रकार की त्रुटियों का होना अवश्यम्भावी है। यह ग्रन्थ भी इसका अपवाद नहीं होगा। अपनी अल्पबुद्धि के अनुसार जितना और जैसा बन पड़ा, उतना और वैसा कहने का साहस मैंने किया है। उसका मूल्यांकन विद्वानों द्वारा ही सम्भव है। आशा है अन्य विद्वान् मेरी भूलों का परिमार्जन करते हुए समाधेय गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास करेंगे।

इस महान् उद्योग में प्रत्यक्ष सहयोग करनेवाले विद्वज्जनों के अतिरिक्त ज्ञात-अज्ञात कितने ही ऐसे विद्वान् हैं जिनके ग्रन्थों से मैंने सहायता ली है। उन सबको में कृतज्ञतापूर्वक नमन करता हूँ।

यदि मैं पूज्य स्वामी वेदानन्दजी तीर्थ, पं० युधिष्ठिर मीमांसक तथा आचार्य उदयवीर शास्त्री का नामोल्लेखपूर्वक स्मरण न करूँ तो कृतघ्नता का दोषी हूँगा। श्री पं० युधिष्ठिरजी तथा स्वामी वेदानन्द जी द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश सदा मेरे सामने रहे हैं, अतः मेरी इस कृति में उनका चिन्तन अनेकत्र ओत-प्रोत है। उनके प्रति आभार को शब्दराशि में व्यक्त करना उसे सीमित करना होगा, जो केवल साहस कहा जा सकता है। पाठ के विषय में मैंने प्रायः श्री मीमांसकजी का अनुसरण किया है। प्रथम समुल्लास की टिप्पणियां प्रायः उन्हीं की हैं। आचार्य उदयवीरजी शास्त्री के प्रति मेरे मन में जो श्रद्धा और आदर भाव है उसे प्रकट करने में मैं सर्वथा असमर्थ हूँ।

मैं इस दुरूह कार्य को न कर पाता यदि मुझे समय-समय पर पूज्यपाद स्वामी सर्वानन्दजी महाराज के आशीर्वाद का सम्बल प्राप्त न रहता। उनके प्रति मेरा विनयावनत होना स्वाभाविक है।

डी-१४/१६ माडल टाउन, दिल्ली — **विदुषामनुचरः**

विजयादशमी (आश्विन शुक्ला दशमी २०४६ वि.) — **विद्यानन्द सरस्वती**

तदनुसार २६ सितम्बर १६६० ईसवी

https://t.me/arshlibrary

सत्यार्थ-प्रकाशः

वेदादि-विविध-सच्छास्त्र-प्रमाण-समन्वितः

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

सत्यार्थभास्कर

सत्यार्थप्रकाशविषयक अप्रकाशित पाँच श्लोक

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण (संवत् १९३२ विक्रमी) की कापी में सत्यार्थप्रकाश की रचना से सम्बन्धित श्लोक एक पत्रे पर लिखे हैं, जो इस प्रकार हैं—

दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितस्-
सरस्वत्यस्यान्ते निवसति मुदा सत्यशरणा ।
तदा ख्यातिर्यस्य प्रकटितगुणा राष्ट्रिपरमा,
स को दान्तश्शान्तो विदितविदितो वेद्यविदितः ॥१॥
सत्यदर्थप्रकाशाय ग्रन्थस्तेनैव निर्मितः ।
वेदादिसत्यशास्त्राणां प्रमाणैर्गुणसंयुतः ॥२॥
विशेषभागीह वृणोति यो हितं,
प्रियोऽत्र विद्यां सुकरोति तात्विकीम् ।
अशेषदुःखात्तु विमुच्य विद्यया,
स मोक्षमाप्नोति न कामकामुकः ॥३॥
न ततः फलमस्ति हितं विदुषो,
ह्यधिकं परमं सुलभन्नु पदम् ।
लभते सुयतो भवतीह सुखी,
कपटी सुसुखी भविता हि न सः ॥४॥
धर्मात्मा विजयी स शास्त्रशरणो विज्ञानविद्यावरो-
ऽधर्मेणैव हतो विकारसहितोऽधर्मस्सुदुःखप्रदः ।
येनाऽसौ विधिवाक्यमानमनसा पाखण्डखण्डः कृतः,
सत्यं यो विदधाति शास्त्रविहितन्धन्योऽस्तु तारब्धि सः ॥५॥

इस प्रकार के श्लोक ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, संस्कारविधि, आर्याभिविनय आदि के प्रारम्भ में भी लिखे हैं। उसी परम्परा में सत्यार्थप्रकाश के आदि में लिखे उक्त श्लोक प्रथम संस्करण में भूल से छपने से रह गये थे। इसी कारण वे द्वितीय संस्करण, एवं तदनुसारी बाद के संस्करणों में भी नहीं छपे। स्वल्पभेद से प्रथम श्लोक 'संस्कारविधि' तथा 'आर्याभिविनय' के आरम्भ में तथा तृतीय श्लोक 'आर्याभिविनय' के आरम्भ में मिलता है।

https://t.me/arshlibrary

ओ३म् सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः

भूमिका

जिस समय मैंने यह ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' बनाया था, उस समय और उससे पूर्व संस्कृत-भाषण करने, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने, और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था, इससे भाषा अशुद्ध बन गयी थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है। इसलिए इस ग्रन्थ को भाषा-व्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है। कहीं-कहीं शब्द-वाक्य-रचना का भेद हुआ है, सो करना उचित था, क्योंकि इसके भेद किये विना भाषा की परिपाटी सुधरनी कठिन थी, परन्तु अर्थ का भेद नहीं किया गया है, प्रत्युत विशेष तो लिखा गया है। हाँ, जो प्रथम छपने में कहीं-कहीं भूल रही थी, वह निकाल, शोधकर ठीक-ठीक कर दी गयी है।

यह ग्रन्थ १४ (चौदह) समुल्लास, अर्थात् चौदह विभागों में रचा गया है। इसमें १० (दश) समुल्लास पूर्वार्द्ध और ४ (चार) उत्तरार्द्ध में बने हैं, परन्तु अन्त्य के दो समुल्लास और पश्चात् स्वसिद्धान्त किसी कारण से प्रथम नहीं छप सके थे, अब वे भी छपवा दिये हैं।

(१) **प्रथम समुल्लास में ईश्वर के ओङ्काराऽऽदि नामों की व्याख्या।**
(२) **द्वितीय समुल्लास में सन्तानों की शिक्षा।**
(३) **तृतीय समुल्लास में ब्रह्मचर्य, पठनपाठन-व्यवस्था, सत्यासत्य ग्रन्थों के नाम, और पढ़ने-पढ़ाने की रीति।**

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण के लेखन का प्रारम्भ आषाढ़ बदी १३ संवत् १९३१ तदनुसार १२ जून सन् १८७४ शुक्रवार के दिन हुआ था और पं० भगवद्दत्तजी के अनुसार 'यह सारा लेख संवत् १९३१ के मध्य अथवा सितम्बर १८७४ में लिखा गया होगा।'

"इस ग्रन्थ की भाषा व्याकरणानुसार ..... ठीक-ठीक कर दी गयी है।" इन शब्दों से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ने प्रथम संस्करण को सर्वथा अप्रामाणिक नहीं कहा है। परन्तु "जो प्रथम छपने में कहीं-कहीं भूल रही थी, वह निकाल, शोधकर ठीक कर दी है" तथा "प्रत्युत विशेष तो लिखा गया है" इन शब्दों से यह भी स्पष्ट है कि प्रथम संस्करण में से कुछ छोड़ा गया है तो द्वितीय संस्करण में कुछ जोड़ा गया है। अपनी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए ग्रन्थकार ने अपने ऋग्वेदभाष्य तथा यजुर्वेदभाष्य के प्रथम तथा द्वितीय अंक, जो श्रावण और भाद्रपद संवत् १९३५ में छपे थे, के मुखपृष्ठ पर निम्न विज्ञापन छपवाया था—

"सबको विदित हो कि जो बातें वेदों की और उनके अनुकूल हैं, मैं उनको मानता हूँ, विरुद्ध बातों को नहीं। इससे जो-जो मेरे बनाये 'सत्यार्थप्रकाश' व 'संस्कारविधि' आदि ग्रन्थों में गृह्यसूत्र वा मनुस्मृति आदि पुस्तकों से बहुत-से वचन लिखे हैं, उनमें से वेदार्थ के अनुकूल का साक्षिवत् प्रमाण और विरुद्ध का अप्रमाण मानता हूँ। जो-जो बातें वेदार्थ से निकलती हैं, उन सबको प्रमाण मानता हूँ, क्योंकि वेद ईश्वर-वाक्य होने से मुझको सर्वथा मान्य हैं और जो-जो ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त महात्माओं के बनाये वेदानुकूल ग्रन्थ हैं, उनको भी मैं साक्षी के समान प्रमाण मानता हूँ।"

इस विज्ञापन का उद्देश्य एक साथ सभी भ्रान्तियों का निवारण करना था।

चौदह समुल्लास—प्रथम संस्करण राजा जयकृष्णदास (मुरादाबाद) ने छपवाया था। वे अंग्रेजों के

https://t.me/arshlibrary

(४) चतुर्थ समुल्लास में विवाह और गृहाश्रम का व्यवहार ।
(५) पञ्चम समुल्लास में वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम की विधि ।
(६) छठे समुल्लास में राजधर्म ।
(७) सप्तम समुल्लास में वेदेश्वर-विषय ।
(८) अष्टम समुल्लास में जगत् की उत्तत्ति, स्थिति और प्रलय ।
(९) नवम समुल्लास में विद्या-अविद्या, बन्ध और मोक्ष की व्याख्या ।
(१०) दशवें समुल्लास में आचार-अनाचार और भक्ष्याभक्ष्य विषय ।
(११) एकादश समुल्लास में आर्यावर्त्तीय मतमतान्तर का खण्डन-मण्डन विषय ।
(१२) द्वादश समुल्लास में चारवाक, बौद्ध और जैनमत का विषय ।
(१३) त्रयोदश समुल्लास में ईसाई-मत का विषय ।
(१४) चौदहवें समुल्लास में मुसलमानों के मत का विषय ।

और चौदह समुल्लासों के अन्त में आर्यों के सनातन वेदविहित मत की विशेषतः व्याख्या लिखी है, जिसको मैं भी यथावत् मानता हूँ ।

मेरा इस ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य-सत्य अर्थ का प्रकाश करना है, अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य, और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना, सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है । वह सत्य नहीं कहाता, जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाए, किन्तु जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना 'सत्य' कहाता है ।

पृष्ठपोषक और उनकी चाकरी में थे । राजा की उपाधि भी उन्हें अंग्रेज शासकों से मिली थी । उधर राजाजी का मुसलमानों (सर सय्यद अहमद खाँ आदि) से भी विशेष सम्पर्क था । वे इन लोगों को रुष्ट नहीं कर सकते थे । इस कारण प्रथम संस्करण में १३वाँ और १४वाँ समुल्लास नहीं छपे । राजाजी के परिवार में प्रथम संस्करण की हस्तलिखित कापी सुरक्षित है । उसमें ये दोनों समुल्लास विद्यमान हैं । परोपकारिणी सभा के स्वर्गीय मन्त्री दीवान बहादुर हरविलास शारदा ने राजाजी के उत्तराधिकारी से प्रथम संस्करण की हस्तलिखित कापी मँगवाकर उसे फोटोस्टेट (Photostate) करवा लिया था | यह फोटो कापी परोपकारिणी सभा के संग्रह में सुरक्षित है, परन्तु उसमें (हस्तलेख में) १३वाँ समुल्लास इसलाम के सम्बन्ध में है और १४वाँ ईसाई मत के सम्बन्ध में है ।

प्रयोजन—सत्यार्थप्रकाश के प्रणयन में ग्रन्थकार का प्रयोजन मनुष्यमात्र को सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में समर्थ करना था । वे अन्यत्र लिखते हैं—

"इन मतों के थोड़े-थोड़े ही दोष प्रकाशित किये हैं, जिनको देखकर मनुष्य लोग सत्यासत्य का निर्णय कर सकें और सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करने-कराने में समर्थ होवें ।"

"इन सब मतवादियों, इनके चेलों और अन्य सबको परस्पर सत्यासत्य के विचार करने में अधिक परिश्रम न हो, इसलिए यह ग्रन्थ बनाया है । जो-जो इसमें सत्य मत का मण्डन और असत्य का खण्डन करना लिखा है वह सबको जनाना ही प्रयोजन समझा गया है । इसमें जैसी मेरी बुद्धि, जितनी विद्या और जितना इन चारों मतों (पुराणी, जैनी, किरानी और कुरानी) के मूलग्रन्थ देखने से बोध हुआ है, उसको सबके आगे निवेदन कर देना मैंने उत्तम समझा है, क्योंकि विज्ञान लुप्त हुए का पुनर्मिलन सहज नहीं है । पक्षपात छोड़कर इसको देखने से सत्यासत्य सबको विदित हो जाएगा । पश्चात् अपनी-अपनी समझ

https://t.me/arshlibrary

जो मनुष्य पक्षपाती होता है, वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है। इसलिए वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिए विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश वा लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्याऽसत्य का स्वरूप समर्पित कर दें। पश्चात् वे स्वयं अपना हिताऽहित समझकर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द में रहें।

मनुष्य का आत्मा सत्याऽसत्य का जाननेवाला है, तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़ असत्य में झुक जाता है, परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं रक्खी है, और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि पर तात्पर्य है, किन्तु जिससे मनुष्य-जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्याऽसत्य को मनुष्य लोग जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें, क्योंकि सत्योपदेश के विना अन्य कोई भी मनुष्य-जाति की उन्नति का कारण नहीं है।

के अनुसार सत्य मत का ग्रहण करना और असत्य मत को छोड़ना सहज होगा।"—अनुभूमिका १

"इस लेख को जब जैनी, बौद्ध व अन्य लोग देखेंगे तब सबको सत्यासत्य के विषय में विचार और लेख करने का समय मिलेगा और बोध भी होगा।" —अनुभूमिका २

तुलनात्मक अध्ययन—सब मतमतान्तरों का तुलनात्मक अध्ययन किये बिना सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता। एतदर्थ ग्रन्थकार ने यत्र-तत्र-सर्वत्र विभिन्न मतों के प्रतीक वा प्रतिनिधियों को वादी-प्रतिवादी के रूप में प्रस्तुत करके उनके परस्पर संवाद द्वारा सत्यार्थ को जानने-जनाने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है—

"जब तक वादी-प्रतिवादी होकर प्रीति से वाद वा लेख न किया जाए तब तक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता।" —अनुभूमिका २

"इस लेख से यही प्रयोजन है कि सब मनुष्यमात्र को देखना, सुनना, लिखना आदि करना सहज होगा।..... सब मनुष्यों को उचित है कि सबके मतविषयक पुस्तकों को देख समझकर कुछ सम्मति व असम्मति देवें वा लिखें, नहीं तो सुना करें, क्योंकि जैसे पढ़ने से पण्डित होता है, वैसे सुनने से बहुश्रुत होता है। यदि श्रोता दूसरे को नहीं समझा सके तथापि आप तो समझ ही जाता है। यदि एक मत वाले दूसरे मत वालों के विषय में जानें और अन्य न जानें तो यथावत् संवाद नहीं हो सकता, किन्तु अज्ञानी किसी भ्रमरूप बाड़े में घिर जाते हैं। ऐसा न हो, इसलिए इस ग्रन्थ में प्रचरित सब मतों का विषय थोड़ा-थोड़ा लिखा है। इतने ही से शेष विषयों में अनुमान कर सकता है कि वे सच्चे हैं वा झूठे। जो-जो सर्वमान्य सत्य विषय हैं, वे तो सबमें एक-से हैं। झगड़ा झूठे विषयों में होता है। अथवा एक सच्चा तथा दूसरा झूठा हो तो भी कुछ थोड़ा-सा विवाद चलता है। यदि वादी-प्रतिवादी सत्यासत्य निश्चय के लिए वाद-प्रतिवाद करें तो अवश्य निश्चय हो जाए।" —अनुभूमिका ३

"यह लेख केवल मनुष्यों की उन्नति और सत्यासत्य निर्णय के लिए है, अर्थात् सब मतों के विषय में थोड़ा-थोड़ा ज्ञान होवे, इससे मनुष्यों को परस्पर विचार करने का समय मिले और एक दूसरे के दोषों का खण्डन कर गुणों का ग्रहण करें। न किसी अन्य मत पर, न इस मत पर झूठ-मूठ बुराई वा भलाई लगाने का प्रयोजन है, किन्तु जो भलाई है वही भलाई और जो बुराई है वही बुराई सबको विदित होवे। न कोई किसी को झूठा चला सके और न सत्य को रोक सके और सत्यासत्य विषय प्रकाशित किये जाने पर भी जिसकी इच्छा हो वह माने वा न माने, किसी पर भी बलात्कार नहीं किया जाता। और यही सज्जनों की

https://t.me/arshlibrary

इस ग्रन्थ में जो कहीं-कहीं भूल-चूक से अथवा शोधने तथा छापने में भूल-चूक रह जाए, उसको जानने-जनाने पर जैसा वह सत्य होगा, वैसा ही कर दिया जाएगा और जो कोई पक्षपात से अन्यथा शङ्का वा खण्डन-मण्डन करेगा, उसपर ध्यान न दिया जाएगा। हाँ, जो वह मनुष्यमात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा, उसको सत्य-सत्य समझने पर उसका मत संगृहीत होगा।

यद्यपि आजकाल बहुत-से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं। वे पक्षपात छोड़ **'सर्वतन्त्र सिद्धान्त'** अर्थात् जो-जो बातें सबके अनुकूल सबमें सत्य हैं उनका ग्रहण, और जो एक-दूसरे से विरुद्ध बातें हैं उनका त्याग कर परस्पर प्रीत से वर्तें-वर्त्तावें, तो जगत् का पूर्ण हित होवे, क्योंकि **विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़कर अनेकविध दुःख की वृद्धि और सुख ही हानि होती है। इस हानि ने, जोकि स्वार्थी मनुष्यों को प्रिय है, सब समुष्यों को दुःखसागर में डुबा दिया है।**

इनमें सें जो कोई सार्वजनिक हित लक्ष में धर प्रवृत्त होता है, उससे स्वार्थी लोग विरोध करने में तत्पर होकर अनेक प्रकार विघ्न करते हैं। परन्तु **'सत्यमेव जयते नानृतं, सत्येन पन्था विततो देवयानः'**, अर्थात् 'सर्वदा सत्य का विजय और असत्य का पराजय, और सत्य ही से विद्वानों का मार्ग विस्तृत होता है' इस दृढ़ निश्चय के आलम्बन से आप्त लोग परोपकार करने से उदासीन होकर कभी सत्यार्थ-प्रकाश करने से नहीं हटते।

रीति है कि अपने वा पराये दोषों को दोष और गुणों को गुण जानकर गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग करें और हठियों का हठ-दुराग्रह न्यून करें-करावें।"—अनुभूमिका ४

सत्य का स्वरूप—पाँचवें समुल्लास में 'सत्य' का लक्षण इस प्रकार किया है—"जैसा आत्मा में, वैसा मन में, जैसा मन में वैसा वाणी में और जैसा वाणी में वैसा कर्म में वर्त्तना अर्थात् जो पदार्थ जैसा हो उसको वैसा ही समझना, वैसा ही बोलना और वैसा ही करना भी सत्य कहाता है।"

योगदर्शन के अन्तर्गत (२।३०) सत्य का स्वरूप वर्णन करते हुए व्यासभाष्य में लिखा है—"सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे, यथा दृष्टं यथानुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति। परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागयुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिबन्ध्या वा भवेदिति " अर्थात् यथाभूत अर्थयुक्त वाक्य और मन ही सत्य है, अर्थात् जिस प्रकार का दृष्ट, अनुमित अथवा श्रुत हुआ है, उसी प्रकार का वाक्य और मन अर्थात् कथन और चिन्तन सत्य है। वह वाक्य यदि वञ्चनात्मक या भ्रान्तिकारक या श्रोता के पास अर्थशून्य न हो (तो वह वाक्य सत्य होता है)।

वृद्धचाणक्य (२।६०) का वचन है—**"मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्"**।

आत्मा की पवित्रता—जीवात्मा स्वभाव से पवित्र है। इसलिए वह सत्यासत्य का निर्णय करने में सर्वथा समर्थ है। वे अन्यत्र लिखते हैं—"मनुष्य का आत्मा यथायोग्य सत्यासत्य का निर्णय करने का सामर्थ्य रखता है। हाँ, जो कोई पक्षपातयानारुढ होके देखते हैं, उनको न अपने, न पराये गुण-दोष विदित हो सकते हैं।"—अनुभूमिका १

हानि करना नहीं—किसी के मन को दुखाना, किसी की हानि करना, किसी का विरोध करना या किसी पर मिथ्या आरोप लगाना ग्रन्थकार को अभीष्ट नहीं था। वे लिखते हैं—

"इस मेरे कर्म में यदि उपकार न मानें तो विरोध भी न करें, क्योंकि मेरा तात्पर्य किसी का विरोध वा हानि करने में नहीं, किन्तु सत्यासत्य का निर्णय करने-कराने में है।—अनुभूमिका १

"इसमें जैनी लोगों को बुरा न मानना चाहिए, क्योंकि जो-जो हमने इनके मत-विषय में लिखा है, वह

https://t.me/arshlibrary

केवल सत्यासत्य के निर्णयार्थ है, न कि विरोध या हानि करने के अर्थ ।"—अनुभूमिका २

"यह लेख केवल सत्य की वृद्धि और असत्य के ह्रास होने के लिए है, न कि किसी को दुःख वा हानि करने अथवा मिथ्या दोष लगाने के अर्थ ।"—अनूभूमिका ३

"क्योंकि यह लेख हठ, दुराग्रह, ईर्ष्या, द्वेष, वाद-विवाद और विरोध घटाने के लिए किया गया है, न कि इनको बढ़ाने के अर्थ, क्योंकि एक-दूसरे को हानि करने से पृथक् रह परस्पर को लाभ पहुँचाना हमारा मुख्य धर्म है ।"—अनुभूमिका ४

सत्यासत्य को जानने का उद्देश्य—सत्यासत्य का विवेचन मात्र बुद्धि-विलास नहीं है । इसका उद्देश्य मानवजाति की उन्नति में सहायक होना है । महर्षि वेदव्यास ने अपने योगदर्शन के भाष्य में लिखा है—

"एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय, यदि चैवभप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यात्न सत्यं भवेत् पापमेव भवेत् । तेन पुण्याभासेन पुण्याप्रतिरूपकेण कष्टंतमम प्राप्नुयात् । तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात् ।"—योगसूत्र २।३०

अर्थात् सत्य का कथन करनेवाला वाक्य सर्वभूत का उपघातक न होकर उपकाररूप से प्रयुक्त होना चाहिए, क्योंकि वाक्य कहने पर यदि किसी का उपघात हो जाए तो वह सत्यरूप पुण्य नहीं, परन्तु पाप ही होता है । इस प्रकार पुण्यवत् प्रतीयमान, पुण्य वाक्य से दुःखमय तम का लाभ होता है, अतएव सर्वहितजनक सत्यवाक्य ही कहना चाहिए ।

ग्रन्थकार की मान्यता है कि "सत्य के जय और असत्य के क्षय अर्थ मित्रता से वाद (संवाद) और लेख करना हमारी मनुष्यजाति का मुख्य काम है । यदि ऐसा न हो तो मनुष्यों की उन्नति कभी न हो।"—अनुभूमिका २

"मनुष्य जन्म का होना सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए है, न कि वाद-विवाद, विरोध करने-कराने के लिए । इसी मतमतान्तर के विवाद से जगत् में जो-जो अनिष्ट फल हुए, होते हैं और होंगे उनको पक्षपातरहित विद्वज्जन जान सकते हैं । जब तक इस मनुष्यजाति में परस्पर मिथ्या मत-मतान्तर का विरुद्धवाद न छूटेगा तब तक अन्योऽन्य को आनन्द न होगा । यदि हम सब मनुष्य और विद्वज्जन ईर्ष्या-द्वेष छोड़, सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना-कराना चाहें तो हमारे लिए यह बात असाध्य नहीं है ।"—अनुभूमिका १

सत्य के प्रति अगाध श्रद्धा और आस्था के कारण ही ग्रन्थकार ने अपने द्वारा संस्थापित आर्यसमाज के नियमों में उसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया । आर्यसमाज का चौथा और पाँचवाँ नियम क्रमशः इस प्रकार हैं—

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए ।

५—सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य को विचार कर करने चाहिएँ ।

ईश्वर और वेद के प्रति दृढ़ विश्वास, असीम श्रद्धा एवं गहरी आस्था के मूल में भी ग्रन्थकार की यह मान्यता थी कि ईश्वर "सब सत्य विद्याओं का आदिमूल" (नियम १) है, और वेद "सब सत्य विद्याओं" का पुस्तक है ।

संशोधन—सत्य को सर्वोपरि मानने के कारण ग्रन्थकार ने अपनी बात को कभी **'अन्तिमेत्थम्'** के रूप में प्रस्तुत नहीं किया । लेखन अथवा मुद्रण में असावधानी के कारण हुई भूल का संकेत होने पर 'जैसा वहाँ सत्य होगा वैसा ही करने' के लिए वे सदा तत्पर रहते थे । मुंशी बख्तावरसिंह के नाम भेजे अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा था—

https://t.me/arshlibrary

"जो संस्कृत वाक्यप्रबोध पुस्तक छपाया है, सो बहुत ठिकानों में उनका लेख अशुद्ध है और कै ठिकानों में संस्कृतवाक्यप्रबोध में अशुद्ध भी छपा है। इस अशुद्धि के कारण तीन हैं। एक शीघ्र बनना, मेरा चित्त स्वस्थ न होना। दूसरा भीमसेन के अधीन शोधने का होना और मेरा न देखना, न प्रूफ को शोधना। तीसरा छापेखाने में कोई कम्पोज़ीटर बुद्धिमान् न होना।"—मुंशी बख़्तावरसिंह के नाम ग्रन्थकार का पत्र, श्रावण शुक्ला १३, बुध संवत् १९३७ (१८ अगस्त १८८०)—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, तृतीय संस्करण १९८०, भाग१, पृष्ठ ३८७-८८

धार्मिक एकता—ग्रन्थकार का विश्वास था कि "विभिन्न मत वाले विद्वानों के विरोध ही ने सबको विरोध-जाल में फँसा रक्खा है। यदि ये लोग अपने-अपने प्रयोजन में न फँसकर सबके प्रयोजन को सिद्ध करना चाहें तो अभी ऐक्यमत हो जाएँ।"—अनुभूमिका १

सन् १८५७ की याद अभी लोगों को भूली नहीं थी, परन्तु उसके कारण जो स्वाभाविक एकता भारतीयों में पैदा हो गयी थी वह धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही थी। जनता में निराशाजन्य अकर्मण्यता की भावना व्याप्त होती जा रही थी, मानो १८५७ की पराजय के बाद उसने अपने-आपको भाग्य के हाथों में सौंप दिया था। उसकी दशा उस रूपवती विधवा जैसी थी जिसका जीवन-साथी तो चला गया हो, किन्तु रूप के कारण अनेक लोलुप और कामुक पुरुष उसपर अत्याचार कर रहे हों। ऐसी दशा में वह पीड़ा और व्यथा के कारण किसी का सामना न कर पाने के कारण अपने-आपको उनकी दया पर छोड़ने को विवश हो जाती है।

पर जहाँ अन्याय और अत्याचार होता है, वहाँ उसका प्रतिरोध करनेवाले भी पैदा हो जाते हैं। देश में व्याप्त असन्तोष के फलस्वरूप यत्र-तत्र विद्रोह के अंकुर फूट रहे थे। बंगाल में राजा राममोहन राय की परम्परा में ब्रह्मसमाज के वरिष्ठ नेता महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर और ओजस्वी वक्ता बाबू केशवचन्द्र सेन थे। बम्बई में प्रार्थनासमाज के महादेव गोविन्द रानाडे और रायबहादुर भोलानाथ साराभाई आदि सुधारक थे। मुसलमानों में सर सैय्यद अहमद खाँ एक नया जीवन फूँक रहे थे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रान्तों में अलग-अलग कारणों से भारत का नव-निर्माण होता दिखाई दे रहा था, परन्तु अखण्ड भारत की एकता अभी तक छिन्न-भिन्न थी। इस दिशा में प्रयत्न अवश्य हो रहे थे। स्वामी दयानन्द यत्र-तत्र-सर्वत्र उभरती हुई शक्तियों को देख रहे थे। उन्हें ऐसा लगा जैसे एक ही सचाई का भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकाश हो रहा हो। उनकी प्रतिभा केवल भेदों को देखने और काट-छाँट करनेवाली न थी। वे बुराइयों को दूर करके बची हुई भलाई के आधार पर सारी मनुष्यजाति को एकता के सूत्र में पिरोना चाहते थे। वे चाहते थे कि देश के भिन्न-भिन्न धार्मिक नेताओं को एक मंच पर लाकर उन्हें ऐसी प्रेरणा करें जिससे उनकी विचारधारा में एकता आ जाए और वे सब मिलकर सुधार की दिशा में आगे बढ़ें। वे उपयुक्त अवसर की तलाश में थे। 'जहाँ चाह तहाँ राह'—उन्हें राह मिल गयी।

जनवरी १८७७ में भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल और वायसराय लार्ड लिटन ने महारानी विक्टोरिया के भारत की सम्राज्ञी घोषित किये जाने के उपलक्ष्य में दिल्ली में एक शानदार दरबार का आयोजन किया। ऐसा जान पड़ता था कि वह दरबार ब्रिटिश साम्राज्य के वैभव और भारत में ब्रिटिश सरकार की शक्ति का प्रदर्शन था। इस दरबार में राजकुल और शासन से सम्बन्ध रखनेवाले प्रमुख व्यक्तियों के अतिरिक्त भारत के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता तथा समाजसुधारक महापुरुष भी आये। **'सन्तन कहा सीकरी सों काम'**—पर स्वामी दयानन्द भी वहाँ पहुँचे। सबके आने के कारण अलग-अलग थे। स्वामी दयानन्द इसलिये आये थे कि वहाँ पर एकत्र सामाजिक नेता मिलकर चलने का कोई मार्ग निर्धारित करें।

https://t.me/arshlibrary

उनका विचार था कि देश के सारे राजा लोग वहाँ इकट्ठे होंगे और यदि वे मेरी बात सुनेंगे तो बहुत जल्दी देश में एकता हो जाएगी, परन्तु राजराजेश्वरी के दरबार के अवसर पर राजाओं को अपना-अपना वैभव प्रदर्शित करने से अवकाश कहाँ था कि वे एक ऐसे संन्यासी की बात सुनते जो उस समय का सबसे बड़ा विद्रोही था और घोर नास्तिक के रूप में विख्यात था। इसलिए इस दिशा मे उन्हें सफलता नहीं मिली।

स्वामी दयानन्द के दरबार में आने का दूसरा कारण भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों से आये सुधारकों से मन्त्रणा करना था। इसलिए दरबार में आये हुए समस्त सुधारक नेताओं को उन्होंने अपने निवास-स्थान पर आमन्त्रित किया। आज के युग में इस प्रकार के एकता-सम्मेलनों का होना सामान्य बात है, परन्तु उस समय इस प्रकार का आयोजन एक अनोखी बात थी। उसे भारत का पहला एकता सम्मेलन कह सकते हैं। उसमें भारत के सभी सुधारक सम्मिलित हुए थे। कलकत्ता से प्रकाशित 'इण्डियन मिरर' (Indian Mirror) ने अपने १४ जनवरी १८७७ के अंक में लिखा था—"हमने सुना है एक पापुलर मीटिंग देहली में हुई। पं० दयानन्द सरस्वती के मकान पर एक कान्फ्रेंस इसलिए हुई कि भारत के वर्तमान सुधारकों में परस्पर एकता का सम्बन्ध स्थापित किया जाए। हमारे मिनिस्टर श्री केशवचन्द्र सेन भी उसमें मौजूद थे। यदि भिन्न-भिन्न स्थानों के सुधारकों में एकता का सम्बन्ध सच्ची और व्यावहारिक नींव पर स्थिर हो जाए, तो इसमें सन्देह नहीं कि बहुत भारी और नेक परिणाम पैदा होंगे। हम इसकी सफलता की प्रार्थना करते हैं।" इस सम्मेलन में आमन्त्रित नेताओं में प्रमुख थे—ब्रह्मसमाज के श्री केशवचन्द्र सेन, लाहौर के प्रसिद्ध ब्रह्मसमाजी नेता श्री नवीनचन्द्र राय, मुसलमानों के सर्वाधिक प्रतिष्ठित नेता सर सैय्यद अहमद खाँ, रायबहादुर श्री गोपालराव हरिदेशमुख पूना, प्रसिद्ध वेदान्ती मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी लुधायाना, मुंशी इन्द्रमणि मुरादाबाद, बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि बम्बई और पं० मनफूल।

स्वामी दयानन्द के साथ राजा जयकृष्णदास सी.आई.ई. आदि अनेक प्रमुख लोग भी थे, परन्तु वे सभा में सम्मिलित भी हुए थे या नहीं, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। इस सभा का पूरा विवरण कहीं नहीं मिलता, परन्तु इतना निश्चय है कि उसमें बड़ी स्पष्टता और उदारता के साथ विचार हुआ था। स्वामी दयानन्द ने अपना विचार रक्खा था कि यदि हम सब लोग एक मत हो जाएँ और एक ही रीति से देश के सुधार की दिशा में काम करें तो देश शीघ्र सुधर सकता है। देश की एकता और सुधार के सम्बन्ध में सब एक मत थे। देश का लोकमत भी उनके साथ था। 'इण्डियन मिरर' की भावना का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। लाहौर के 'बिरादरे हिन्द' ने इस बारे में लिखा था—

"हम दिली मुसर्रत के साथ इस बात का इजहार करते हैं कि दिल्ली दरबार की तकरीब में हिन्दुस्तान के मशहूर और लायक रिफार्मर्स (इसलाह कुनन्दगान) ने पं० दयानन्द सरस्वती के मकान पर एक जलसा खास इस गरज से मुनक़द किया कि हमारी असल अलगताई इन मजहब से एक ही है। बेहतर हो कि आइन्दा से बजाय अलहदा-अलहदा काम करने के कुल मुत्तफिक होकर कौम की इसलाह में मसरूफ हों और आपस में अगर किसी तरह का इख़्तलाफ़ हो तो उसका भी बाहमी तन्कीह के साथ फैसला कर लें।"—बिरादरे हिन्द, लाहौर, जनवरी १८७७

इतना सब-कुछ होते हुए भी यह सभा एकमत न हो सकी। इसकी असफलता के बारे में इस सभा के एक सभासद बाबू नवीनचन्द्र राय ने आठ वर्ष बाद अपने पत्र 'ज्ञानप्रदीप' में लिखा था—"फिर दूसरी बार हम लोगों की मुलाकात स्वामीजी से दिल्ली में क़ैसरे हिन्द के दरबार में हुई। वहाँ उन्होंने हमें बाबू केशवचन्द्र सेन और श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को आमन्त्रित किया और हम लोगों से प्रस्ताव किया कि हम लोग अलग-अलग धर्मोपदेश न करके एकता के साथ काम करें तो अधिक फल होगा, पर मूल विश्वास

https://t.me/arshlibrary

में हम लोगों का उनके साथ मतभेद था। इसलिए जैसा वह चाहते थे, एकता न हो सकी।"

—ज्ञानप्रदीप, भाग ४, नं. ३१-३२, जनवरी १८८५

स्वामी दयानन्द का विश्वास था कि देश का अभ्युदय और मनुष्य का कल्याण तब तक नहीं हो सकता जब तक देशभर का एक धर्म न हो जाए और वह एक धर्म वैदिक धर्म ही हो सकता है। ब्रह्मसमाजी और मुसलमान वेद को निभ्रान्त ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। इस सम्मेलन की असफलता के कारण का स्पष्ट उल्लेख बा० केशवचन्द्र सेन की जीवनी में मिलता है—

"बाबू केशवचन्द्र सेन जब फिर दिल्ली में स्वामी दयानन्द से मिले तो उन्होंने कहा कि वे बहुत-सी बातों में उनसे सहमत हैं, किन्तु एक बात उनकी समझ में नहीं आती कि वेद का सहारा लिये बिना धार्मिक शिक्षा कैसे दी जा सकती है।"

—पी.एस.बसु द्वारा लिखित 'Life and Words of Keshav Chandra Sen', P.328

इस प्रकार इस सम्मेलन का जहाज वेद की अपौरुषेयता तथा निर्दोषता पर आकर टकरा गया। इस बात की पुष्टि इससे भी होती है कि बा० केशवचन्द्र सेन ने एक बार स्वामीजी से कहा था कि यदि आप वेद की बात न कहकर यह कहें कि मैं जो कुछ कहता हूँ वह ईश्वर का सन्देश है तो लोग आसानी से आपकी बात मान लेंगे और आपको अपने एकता के प्रयासों में सफलता मिल जाएगी। स्वामीजी ने इसे स्वीकार नहीं किया। हज़रत मुहम्मद या ईसामसीह की तरह वे अपने आपको खुदा का पैग़म्बर कैसे मान सकते थे ?

सर सैयद अहमद खाँ स्वामीजी का आदर ही नहीं करते थे, बल्कि यह भी मानते थे कि जिस प्रकार स्वामीजी वेदों का अर्थ करते हैं, वही ठीक है। इतना ही नहीं, स्वामीजी की अर्थ करने की नीति पर ही उन्होंने कुरान का अर्थ किये जाने पर भी बल दिया।

तीन वर्ष बाद दिसम्बर १८८० में स्वामीजी ने सेंट पीटर्स चर्च आगरा के बिशप महोदय से कहा कि यदि हम, आप तथा अन्य धर्मों के नेता केवल उन बातों का प्रचार करें जिन्हें सब मानते हैं तो एकता स्थापित हो सकती है। फिर हमारे मुक़ाबले पर नास्तिक ही रह जाएँगे। यह उनका अन्तिम प्रयास था, क्योंकि तीन वर्ष बाद १८८३ में उनकी मृत्यु हो गयी, किन्तु प्रयत्नों के विफल होने पर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वे ईमानदारी से भारत की एकता में विश्वास रखते थे और इसके लिए वे धार्मिक नेताओं के परस्पर मतभेद को दूर करना आवश्यक समझते थे।

स्वामीजी जब एकता के प्रयत्नों में असफल होते गये तो स्वाभाविकरूप से उनका मत वेद और वैदिक धर्म पर केन्द्रित होता गया और जो कुछ भी उन्हें वेद के विरुद्ध लगा, उसका उन्होंने बलपूर्वक प्रत्याख्यान किया, परन्तु उनकी आलोचना में कहीं द्वेषभाव का लेशमात्र भी नहीं रहा। बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि से उन्होंने कहा था—"मेरा उद्देश्य सबको ऐसे प्रयास में मिलाना है, जैसे जुड़े हुए हाथ। मैं कोल से लेकर ब्राह्मण तक में एकजातीयता को जगाना जागता हूँ। मेरा खण्डन हित के लिए है।" (देवेन्द्रनाथ मुखोपध्याय लिखित जीवनचरित)

उनके सम्पर्क में आनेवाले सभी लोग उनकी सद्भावना से पूरी तरह अवगत थे। उन्होंने गिरजे में जाकर बाइबल का खण्डन किया और जहाँ भी अवसर मिला, कुरान की भी भरपूर आलोचना की, तथापि अनेक प्रबुद्ध ईसाई और मुसलमान उनके भक्त थे। लाहौर में उनके प्रचार का केन्द्र डॉ० रहीम खाँ की कोठी बनी तो बम्बई में आर्यसमाज मन्दिर के निर्माण में एक मुसलमान ने उदारतापूर्वक सहयोग दिया। स्वामीजी की महानता को सभी ने स्वीकार किया था और उनके विरोधी (जिनमें काशी और महाराष्ट्र के

https://t.me/arshlibrary

प्रकाण्ड विद्वान् थे) भी उनकी विद्वत्ता को हो ही नहीं मानते थे, बल्कि यह भी स्वीकार करते थे कि जो कुछ स्वामीजी कहते हैं, वही ठीक है, परन्तु युग का विरोध करके उनका साथ देने का साहस वे नहीं कर सकते थे ।

लेकिन फिर उन्हें गलत क्यों समझा गया ? वस्तुतः किसी व्यक्ति और उसके विचारों को समझने के लिए उसे बार-बार हर पहलू से देखना आवश्यक है । तब उसका वह रूप दिखाई देगा जो एकदम नया लगेगा । जो इस प्रकार देखेगा उसे दयानन्द की बाहरी रूक्षता के पीछे प्रेम से छलकते हुए कोमल और उदार हृदय के दर्शन होंगे । टाल्स्टाय परम आस्तिक था और मैक्सिम गोर्की परम नास्तिक परन्तु टाल्स्टाय के प्रति अपने हृदय की भावना को व्यक्त करते हुए गोर्की ने जो शब्द लिखे हैं, वे कितने भावपूर्ण और सत्य हैं—

"नास्तिक होते हुए भी मैंने किसी अज्ञात प्रेरणा से खूब सावधान होकर, किन्तु डरते-डरते, उन्हें देखा और देखकर सोचा—यह मनुष्य तो परमात्मा जैसा है !"

दयानन्द के सम्बन्ध में कुछ ऐसा ही कहने को मेरी लेखनी मचल रही है ।

यह कहा जा सकता है कि यदि स्वामी दयानन्द को एक सर्वसम्मत धर्म की स्थापना करना अभीष्ट था तो उन्हें वेद पर आग्रह नहीं करना चाहिए था, परन्तु उनका ऐसा करना सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से सर्वथा उचित था । वेदों का सबसे प्राचीन होना निर्विवाद है । उनकी महनीयता को भी विश्व ने स्वीकार किया है । क्या यह केवल अन्धविश्वास था या इसकी पृष्ठभूमि में कोई गहन चिन्तन था? केवल अन्धविश्वास के आधार पर कोई भी मान्यता निरवधिक काल तक नहीं टिकी रह सकती । मनन-चिन्तनशील मानव किसी-न-किसी कालखण्ड में उसकी परीक्षा करना चाहेगा ही और जब उसे अपनी मान्यता थोथे अन्धविश्वास पर आधारित लगेगी तो उसे स्वीकार न कर पाने में उसे विवशता का आभास होने लगेगा । वेद के सम्बन्ध में किसी को यह आभास नहीं हुआ । वेदों की प्राचीनता को ध्यान में रखते हुए यह मानना भी कठिन नहीं होना चाहिए कि वेद द्वारा प्रतिपादित मूलधारा ही विविध सम्प्रदायों व मतों के रूप में विभक्त हो गयी है । जस्टिस गंगाप्रसाद द्वारा लिखित 'Fountain Head of Religions' में इस विचार तो सर्वथा सिद्ध किया गया है । क्रियात्मक दृष्टि से इसका एक लाभ यह था कि हिन्दुओं के सभी सम्प्रदायों की वेद में श्रद्धा होने के कारण उन्हें एक मंच पर लाना आसान था । अन्य मत-मतान्तर भी किसी सीमा तक वेद के प्रति आस्थावान् हैं ।

वेदों के प्राचीनतम होने से किसी भी धर्म के वैदिक धर्म से प्राचीन अथवा समकालीन होने का प्रश्न ही नहीं उठता । वर्तमान में संसार में अनेक मत प्रचलित हैं । सभी के अपने-अपने धर्मग्रन्थ हैं । इसलिए उनके किसी-न-किसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित होने के कारण वे सभी साम्प्रदायिक हैं । इसके विपरीत वेदों के समय में अन्य किसी भी धर्म का अस्तित्व न होने से वेदों तथा इस कारण वैदिक धर्म का मानवधर्म के रूप में असाम्प्रदायिक, सार्वभौम, सार्वकालिक एवं सर्वमान्य होना तर्कप्रतिष्ठित है । विवाद के लिए कम-से-कम दो का होना आवश्यक है । अनेक में से किसी एक का भी छाँटना विवाद का विषय हो सकता है, किन्तु जब केवल एक ही हो तो उसका चुनाव निर्विरोध सर्वसम्मत हो सकता है । इस प्रकार सब मत-मतान्तरों में एकता के लिए स्वामी दयानन्द का साँझे धर्म के रूप में वैदिक धर्म के प्रति आग्रह सर्वथा युक्तियुक्त तथा अवसरोचित था ।

इसी प्रकार की एक सभा का आयोजन स्वामी दयानन्द के गुरु दण्डी स्वामी विरजानन्दजी ने सन् १८६१ के प्रारम्भ में करना चाहा था । उस समय देशी रियासतों के राजाओं का एक दरबार आगरा में हुआ

https://t.me/arshlibrary

यह बड़ा दृढ़ निश्चय है कि—**'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्''** यह गीता (१८।३७) का वचन है। इसका अभिप्राय यह है कि 'जो-जो विद्या और धर्म-प्राप्ति के कर्म हैं, वे प्रथम करने में विष के तुल्य, और पश्चात् अमृत के सदृश होते हैं'। ऐसी बातों को चित्त में धरके मैंने इस ग्रन्थ को रचा है। श्रोता वा पाठकगण भी प्रथम प्रेम से देखके इस ग्रन्थ का सत्य-सत्य तात्पर्य जानकर यथेष्ट करें।

इसमें यह अभिप्राय रक्खा गया है कि जो-जो सब मतों में सत्य-सत्य बातें हैं वे-वे सबमें अविरुद्ध होने से उनका स्वीकार करके जो-जो मत-मतान्तरों में मिथ्या बातें हैं उन-उनका खण्डन किया है। इसमें यह भी अभिप्राय रक्खा है कि सब मत-मतान्तरों की गुप्त वा प्रगट बुरी बातों का प्रकाश कर विद्वान्-अविद्वान् सर्वसाधारण मनुष्यों के सामने रक्खा है। जिससे सबसे सबका विचार होकर, परस्पर प्रेमी होके एक सत्य मतस्थ होवें।

था, जिसमें बहुत-से राजा-महाराजा उपस्थित हुए थे। जयपुर के राजा रामसिंह उनमें प्रमुख थे। दण्डीजी ने उनके सामने यह विचार प्रस्तुत किया था कि एक सार्वभौम सभा का आयोजन किया जाए जिसमें देशभर के पण्डित आमन्त्रित किये जाएँ। वे इस विषय पर विचार करें कि कौन-से ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थ हैं जिन्हें सत्यासत्य एवं धर्माधर्म का निर्णय करने के लिए प्रमाण माना जा सकता है। राजा जयसिंह ऐसी सार्वभौम सभा का सारा खर्च उठाने को तैयार थे, परन्तु अनेक कारणों से इस सभा का आयोजन नहीं किया जा सका। १६ वर्ष बाद गुरुवर विरजानन्द के शिष्य स्वामी दयानन्द ने वैसा ही प्रयास किया, पर वे भी सफल न हो सके। हा हन्त !

यत्तदग्रे विषमिव—गीता १८।३७ का यह पूरा श्लोक इस प्रकार है—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥

अर्थ—जो आरम्भ में तो विष के समान जान पड़ता है, परन्तु परिणाम में अमृत के तुल्य है, जो आत्मनिष्ठ बुद्धि की प्रसन्नता से प्राप्त होता है वह (आध्यात्मिक) सुख सात्त्विक होता है। आशय यह है कि जब बुद्धि अन्तर्मुख और आत्मनिष्ठ हो जाती है तब मनुष्य को सत्य और अत्यन्त सुख का अनुभव होता है। यहाँ इस वचन को उद्धृत करने का ग्रन्थकार का अभिप्राय पाठकों को यह स्पष्ट करना प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ में मैंने जो कुछ लिखा है, वह आपाततः कटु हो सकता है, किन्तु जब इसपर गम्भीरता से विचार किया जाएगा तो यह सर्वहितकारी सिद्ध होगा। इंजेक्शन की सुई की तरह इसकी चुभन से पीड़ा अनुभव होने से यह भले ही अच्छा न लगे, किन्तु अन्ततः यह मानवमात्र के आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक रोगों को शान्त करनेवाली सर्वश्रेष्ठ ओषधि सिद्ध हो—इस पवित्र भावना से यह ग्रन्थ लिखा गया है।

मत-मतान्तरों का जाल—

ग्रन्थकार के समय में ही असंख्य मत और सम्प्रदाय विद्यमान थे। उनकी संख्या का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वैष्णव, शैव और शाक्त इन तीन बड़े मतों में से अकेले वैष्णव मत के निम्नलिखित २१ सम्प्रदाय थे, जो एक-दूसरे को झूठा कहते थे—

१. श्रीसम्प्रदाय, २. वल्लभाचारी, ३. मध्वाचारी, ४. सनकादि सम्प्रदाय, ५. रामानन्दी, ६. राधावल्लभी, ७. नित्यानन्दी, ८. कबीरपन्थी, ९. खाकी, १०. दादूपन्थी, ११. मलूकदासी, १२. रामदासी, १३. सेनाई, १४. मीराबाई, १५. सखीभाव, १६. चरणदासी, १७. हरिश्चन्द्री, १८. साधनापन्थी, १९.

https://t.me/arshlibrary

यद्यपि मैं आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और वसता हूँ, तथापि जैसे इस देश के मत-मतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर याथातथ्य प्रकाश करता हूँ, वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मतोन्नतिवालों के साथ भी वर्त्तता हूँ। जैसा स्वदेशवालों के साथ मनुष्योन्नति के विषय में वर्त्तता हूँ, वैसा विदेशियों के साथ भी तथा सब सज्जनों को भी वर्त्तना योग्य है, क्योंकि मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता, तो जैसे आजकाल के स्वमत की स्तुति, मण्डन और प्रचार करने, और दूसरे मत की निन्दा, हानि और बन्ध करने में तत्पर होते हैं, वैसे मैं भी होता, परन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन से बाहर हैं। क्योंकि जैसे पशु बलवान् होकर निर्बलों को दुःख देते और मार भी डालते हैं, जब मनुष्य-शरीर पाके वैसा ही कर्म करते हैं, तो वे मनुष्यस्वभावयुक्त नहीं, किन्तु पशुवत् हैं और जो बलवान् होकर निर्बलों की रक्षा करता है, वही **'मनुष्य'** कहाता है और जो स्वार्थवश होकर परहानिमात्र करता रहता है, वह जानो पशुओं का भी बड़ा भाई है।

माधवी, २०. वैरागी, २१. नागे।

शैवों के सात बड़े सम्प्रदाय हैं—

१. संन्यासी या दण्डी आदि, २. योगी, ३. जंगम, ४. ऊर्ध्वबाहु, ५. गूदड़, ६. रूखड़, ७. कड़ा लिंगी।

शाक्तों के बड़े भेद निम्नलिखित हैं—

१. दक्षिणाचारी, २. कानचेलिये, ३. वाणी, ४. कसरी, ५. अघोरी, ६. गाणपत्य, ७. सौरपत्य, ८. नानकपन्थी, ९. बाबा लालो, १०. साध, ११. सतनामी, १२. प्राणनाथी, १३. शिवनारायणी, १४. शून्यवादी।

कतिपय अन्य सम्प्रदाय—चारवाक, वाममार्ग, चक्राङ्कित, रामस्नेही, ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, स्वामी-नारायण।

बौद्ध और उसके भेद ; जैन और उसके भेद।

विदेशी मत—ईसाइयत और उसके भेद ; इसलाम और उसके भेद।

तब से अब तक न जाने कितने नये-नये मत पैदा हो चुके हैं और कुकुरमुत्तों की तरह आये दिन पैदा होते जा रहे हैं। जैसे—राधास्वामी, निरंकारी, ब्रह्माकुमारी, हंसामती, साईंबाबा, रजनीश, महेश योगी, आनन्दमार्ग, झूलेलाल आदि।

एकधर्म की निश्चायक प्रक्रिया—अनेक मत-मतान्तरों के बीच सत्यासत्य का निर्णय होकर वास्तविक धर्म का निश्चय कैसे हो, इसका उपाय ग्रन्थकार ने ११वें समुल्लास में बताया है। वहाँ लिखा है—

एक जिज्ञासु ने किसी आप्तपुरुष के पास जाकर कहा—महाराज ! अब इन सहस्रों सम्प्रदायों के बखेड़ों से मेरा चित्त भ्रान्त हो गया है, इसलिए आप मुझे उपदेश कीजिए जिसको मैं ग्रहण करूँ। आप्त-पुरुष ने कहा—जिस बात में सब एकमत हों, वह वेदमत ग्राह्य है और जिसमें विरोध हो, वह कल्पित, झूठा, अधर्म, अग्राह्य है। जिज्ञासु ने पूछा कि इसकी परीक्षा कैसे हो ? आप्तपुरुष ने बताया—

"तू जाकर इन-इन बातों को पूछ। सबकी एक सम्मति हो जाएगी। तब वह उन सहस्रों की मण्डली के बीच खड़ा होकर बोला—'सुनो सब लोगो ! सत्याभषण में धर्म है वा मिथ्याभाषण में ?' सब एकस्वर होकर बोले—सत्यभाषण में धर्म और मिथ्याभाषण में अधर्म है।' वैसे ही 'विद्या पढ़ने, ब्रह्मचर्य करने, पूर्ण युवावस्था में विवाह, सत्संग, पुरुषार्थ, सत्यव्यवहार आदि में धर्म है वा अविद्याग्रहण, ब्रह्मचर्य न करने, व्यभिचार करने, कुसंग, असत्यव्यवहार, छल-कपट, हिंसा, परहानि करने आदि में ?' सबने एकमत होकर

https://t.me/arshlibrary

कहा कि विद्यादि के ग्रहण में धर्म और अविद्यादि के ग्रहण में अधर्म है।"

जो लोग स्वामी दयानन्द को एक संकुचित सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं वे उपर्युक्त पंक्तियों में प्रस्तुत धर्म के यथार्थ स्वरूप और दरबार के अवसर पर एकता की दिशा में किये गये उनके प्रयास पर विचार करेंगे तो उनकी यह धारणा बदले बिना न रहेगी। ग्रन्थकार की सत्य के प्रति निष्ठा की साक्षी यत्र-तत्र-सर्वत्र मिलती है। विभिन्न मतमतान्तरों का प्रत्याख्यान करते समय भी उनका लक्ष्य शाश्वत सत्य की खोज करके मनुष्यमात्र में उसको प्रवृत्त करना था। पूर्वार्द्ध की समाप्ति पर दशम समुल्लास के अन्त में वे लिखते हैं—

"विद्वानों का यही काम है कि सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करके परम आनन्दित होते हैं।"

मनुष्य का लक्षण—"मनुष्य उसी को कहना जो मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे, अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं, किन्तु, अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं की, चाहे वे महा अनाथ और निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी, चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी हो, तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे, अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्यरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।"

—स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश

सत्याग्रह—स्वामीजी ने जो कहा, उसे जीवनभर जिया। जिस 'मनुष्यरूप धर्म' का उपर्युक्त पंक्तियों में उल्लेख हुआ है, उन्होंने अपना सारा जीवन उसकी सोदाहरण व्याख्या में लगा दिया।

स्वामी दयानन्द प्रचारार्थ बरेली गये। वहाँ वे उस समय करोड़पति समझे जानेवाले ख़जानची लक्ष्मीनारायण की कोठी पर ठहरे। अंग्रेजों का राज था। लक्ष्मानारायणजी स्वामीजी की सत्यनिष्ठा, स्पष्टवादिता और निर्भीकता से शंकित रहते थे। बरेली के कमिश्नर से आदेश पाकर उन्होंने एक दिन डरते-डरते स्वामीजी से कहा कि अंग्रेजों को नाराज़ करना अच्छा नहीं। उस रात्रि को टाउन हाल में स्वामीजी का व्याख्यान हुआ। उस समय वहाँ कमिश्नर मिस्टर एडवर्ड्स, कलक्टर रीड, पादरी स्काट और १५-२० अन्य अंग्रेज उपस्थित थे। उस दिन के व्याख्यान का विवरण स्वामी श्रद्धानन्द (जो उस समय सभा में उपस्थित थे) ने अपनी आत्मकथा (कल्याणमार्ग का पथिक) में इन शब्दों में प्रस्तुत किया है—

"व्याख्यान का विषय था—आत्मा का स्वरूप। व्याख्यान में सत्य के बल का विषय आया। सत्य की व्याख्या करते हुए आचार्य (दयानन्द) ने कहा—'लोग कहते हैं कि सत्य को प्रकट न करो, कलक्टर क्रोधित होगा, अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा। अरे ! चक्रवर्ती राजा भी क्यों न अप्रसन्न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे।' इसके पीछे एक श्लोक (संभवतः—**नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः** ॥—गीता २।२३) पढ़कर आत्मा की स्तुति की। न शस्त्र उसे काट सके, न पानी उसे गला सके और न हवा उसे सुखा सके। वह नित्य है, अमर है। फिर गरजते शब्दों में बोले—'यह शरीर तो अनित्य है, इसकी रक्षा में प्रवृत्त होकर अधर्म करना व्यर्थ है।' फिर चारों ओर तीक्ष्ण दृष्टि डालकर सिंहनाद करते हुए कहा—'किन्तु वह वीर पुरुष मुझे दिखाओ जो मेरी आत्मा का नाश करने का दावा करे। जब तक ऐसा वीर पुरुष इस संसार में दिखाई नहीं देता तब तक मैं यह सोचने के लिए भी तैयार नहीं कि मैं सत्य को दबाऊँगा वा नहीं।' सारे हाल में सन्नाटा छा गया। रुमाल का गिरना भी

https://t.me/arshlibrary

अब आर्यावर्त्तियों के विषय में विशेषकर ११ ग्यारहवें समुल्लास तक लिखा है। इन समुल्लासों में जो कि सत्यमत प्रकाशित किया है, वह वेदोक्त होने से मुझको सर्वथा मन्तव्य है और जो नवीन पुराण, तन्त्रादि ग्रन्थोक्त बातों का खण्डन किया है, वे त्यक्तव्य हैं।

यदपि जो बारहवें समुल्लास में चारवाक का मत लिखा है, वह इस समय क्षीणाऽस्त-सा है, और यह चारवाक बौद्ध-जैन से बहुत सम्बन्ध अनीश्वरवादादि में रखता है। यह चारवाक सबसे बड़ा नास्तिक है। उसकी चेष्टा का रोकना अवश्य है, क्योंकि जो मिथ्या बात न रोकी जाए, तो संसार में बहुत-से अनर्थ प्रवृत्त हो जाएँ।

चारवाक का जो मत है वह, तथा बौद्ध और जैन का जो मत है, वह भी बारहवें समुल्लास में संक्षेप से लिखा गया है। और बौद्धों तथा जैनियों का भी चारवाक के मत के साथ मेल है, और कुछ थोड़ा-सा विरोध भी है और जैन भी बहुत-से अंशों में चारवाक और बौद्धों के साथ मेल रखता है, और थोड़ी-सी बातों में भेद है, इसलिए जैनों की भिन्न शाखा गिनी जाती है। वह भेद १२ बारहवें समुल्लास में लिख दिया है, यथायोग्य वहीं समझ लेना। जो इनका भिन्न है, सो-सो बारहवें समुल्लास में दिखलाया है। बौद्ध और जैनमत का विषय भी लिखा है।

सुनाई देता था।"

शाहपुरा से जोधपुर के लिए प्रस्थान करते समय अजमेर के आर्यपुरुषों ने स्वामीजी को जोधपुर जाने से विरत करने का प्रयास करते हुए कहा—

"जोधपुर के लोग वहाँ की धरती की तरह शुष्क प्रकृति, संवेदनाहीन तथा कठोर स्वभाव के हैं। आपका वहाँ जाना किसी भी प्रकार श्रेयस्कर नहीं है।" अजमेर के लोगों ने तो तत्कालीन मारवाड़ को राक्षस-भूमि की संज्ञा दी और स्वामीजी के आसन्न अहित की कल्पना से वे बड़े दुःखी हुए; परन्तु स्वामीजी भय और उद्वेगहीन वाणी में बोले—"सत्य के प्रचारार्थ बड़े-से-बड़े कष्ट को सहन करने में भी उन्हें कोई संकोच नहीं होगा।" अपने इसी कथन का उपबृंहण करते हुए उन्होंने यहाँ तक कह दिया—"यदि वहाँ के लोग उनके सत्य कथन से चिढ़कर उनकी अंगुलियों को बत्तियों की तरह जला भी दें तो भी वे सत्य को कहने से पीछे नहीं हटेंगे।"

उदयपुर राज्य राजस्थान का शिरोमणि है। उसके तत्कालीन शासक महाराणा सज्जनसिंह ने एक दिन स्वामीजी से कहा—"मेवाड़ राज्य में एकलिंग महादेव की अत्यधिक प्रतिष्ठा है। मेवाड़ के शासक महाराणा भी अपने-आपको एकलिंग महादेव के दीवान मानकर ही देश का शासन करते हैं। कितना अच्छा हो यदि आप इसके महन्त बन जाएँ। लाखों की सम्पत्ति के आप स्वामी होंगे। जिसका उपयोग आप वेदभाष्य-प्रकाशन तथा अन्य लोकोपकारी कार्यों में कर सकेंगे। आप मूर्तिपूजा न करें। बस, नीति के तौर पर उसका खण्डन न करें।"

महाराणा के इस सद्भावनापूर्ण विचित्र प्रस्ताव को सुनकर दयानन्द जैसे धीर प्रकृति के पुरुष भी एक बार क्रोधाविष्ट हो गये। उन्होंने ओजस्वी, किन्तु प्रखर वाणी में कहा—"राणाजी ! यह प्रस्ताव आप किस व्यक्ति के सामने रख रहे हैं ? आपका राज्य तो इतना छोटा है कि मैं एक दौड़ लगाकर इसके बाहर जा सकता हूँ, परन्तु सत्य को छोड़कर परमेश्वर के ब्रह्माण्डरूपी राज्य को छोड़कर कहाँ जाऊँगा ?"

जैनियों के ग्रन्थ—आर्यसमाज मुम्बई के तत्कालीन मन्त्री श्री सेवकलाल कृष्णदास ने अपने १५ जनवरी

https://t.me/arshlibrary

इनमें से बौद्धों के **दीपवंशादि** प्राचीन ग्रन्थों में बौद्धमत-संग्रह **'सर्वदर्शनसंग्रह'** में दिखलाया है, उसमें से यहाँ लिखा है और जैनियों के निम्नलिखित सिद्धान्तों के पुस्तक हैं।[1] उनमें से—

४ **चार मूलसूत्र,** जैसे—१. आवश्यकसूत्र, २. विशेष आवश्यकसूत्र, ३. दशवैकालिकसूत्र, और ४. पाक्षिकसूत्र।

११ **ग्यारह अंग,** जैसे—१. आचारांगसूत्र, २. सुगडांगसूत्र, ३. थाणांगसूत्र, ४. समवायांगसूत्र, ५. भगवतीसूत्र, ६. ज्ञाताधर्मकथासूत्र, ७. उपासकदशासूत्र, ८. अन्तगड़दशासूत्र, ९. अनुत्तरोववाईसूत्र, १०. विपाकसूत्र, और ११. प्रश्नव्याकरणसूत्र।

१२ **बारह उपांग,** जैसे—उपवाईसूत्र, २. रावप्सेनीसूत्र, ३. जीवाभिगमसूत्र, ४. पन्नगणासूत्र,

---

१८८१ के पत्र में जैनियों के निम्नलिखित सिद्धान्त ग्रन्थों का उल्लेख किया है। पं० श्री युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार सेवकलाल कृष्णदास ने ये पुस्तक श्री स्वामीजी महाराज के आदेश से संगृहीत किये थे। इस पत्र के अन्त में जैनियों के अन्य बहुत-से ग्रन्थों के नाम भी लिखे हैं, जिन्हें उन्होंने संगृहीत किया था। यह पत्र महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धान्द) जी, द्वारा सम्पादित 'ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार' प्रथम भाग में पृ० २५५ से २६४ तक छपा है। सत्यार्थप्रकाश में छपे नामों से इस पत्र में जिन नामों में स्वल्प भेद है, वे इस प्रकार हैं—

ग्यारह अङ्ग.....३-ठाणांगसूत्र.....।

बारह उपांग.....२-रायपसेनीसूत्र.....४-पन्नवणासूत्र..... ५-जम्बुद्दिपपन्नत्तीसूत्र ६-चन्दपन्नत्तीसूत्र ७-सुरपन्नत्तीसूत्र ८-निरियावलिसूत्र ११-पुप्पिया़सूत्र १२-पुप्पचूलियासूत्र।

छः भेद....४-पिण्डनिर्युक्तिसूत्र ५-औघनिर्युक्तिसूत्र ६-पर्युषणासूत्र।

दशपन्नसूत्र.....१-चतुःशरणसूत्र २-पंचखानसूत्र ३-तंदुलवैयालिकसूत्र ४-भक्तिपरिग्यानसूत्र ७-गणिविज्वासूत्र ६-देवेन्द्रस्तवनसूत्र १०-संस्थारसूत्र।

पाँच पंचाँग.....२-निर्युक्ति ३-चर्णी.....।

न देते न सुनाते—इत्यादि लिखने के कारण जैन लेखकों ने ग्रन्थकार को अनेक कुवाच्य लिखे हैं।

---

१. नीचे लिखे गये जैनियों के सिद्धान्त-पुस्तकों के नाम श्री सेवकलाल कृष्णादास, मन्त्री आर्यसमाज बम्बई के १५ जनवरी सन् १८८१ के पत्र में उल्लिखित हैं। सेवकलाल कृष्णदास ने ये पुस्तक श्री स्वामीजी महाराज के आदेशानुसार संगृहीत किये थे। इस पत्र के अन्त में जैनियों के अन्य बहुत-से ग्रन्थों के नाम भी लिखे हैं, जिन्हें उन्होंने संगृहीत किया था। यह पत्र महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) जी द्वारा सम्पादित 'ऋषि दयानन्द का पत्रव्यवहार' प्रथम भाग में पृष्ठ २५५ से २६४ तक छपा है। सत्यार्थ-प्रकाश में छपे नामों से इस पत्र में जिन नामों में स्वल्पभेद है, वे इस प्रकार हैं—
ग्यारह अङ्ग .....३. ठाणांगसूत्र ..... ।
बारह उपाङ्ग .....२. रायपसेनीसूत्र ..... ४. पन्नवणासूत्र
५. जम्बुद्दिपपन्नत्तीसूत्र ६. चंदपन्नत्तीसूत्र ७. सुरपन्नत्तीसूत्र ८. निरियावलिसूत्र.....११. पुप्पियासूत्र १२. पुप्पचूलियासूत्र। छः छेद... ४. पिण्डनिर्युक्तिसूत्र ५. औघनिर्युक्ति सूत्र ६. पर्युषणासूत्र।
दस पन्नासूत्र.. १. चतुःशरणसूत्र २. पंचखानसूत्र ३. तंदुलवैयालिकसूत्र ४. भक्तिपरिग्यानसूत्र ... ७. गणिविज्वासूत्र ...६. देवेन्द्रस्तवनसूत्र १०. संस्थारसूत्र।
पांच पंचांग... २. निर्युक्ति ३. चर्णी ...।
सत्यार्थ-प्रकाश और सेवाकलाल द्वारा निर्दिष्ट ग्रन्थ-नामों में कुछ अशुद्धियाँ हैं। हमने द्वि० सं० का ही पाठ रक्खा है।

https://t.me/arshlibrary

५. जम्बुद्वीपपन्नतीसूत्र, ६. चन्दपन्नतीसूत्र, ७. सुरपन्नतीसूत्र, ८. निरियावलीसूत्र, ९. कप्पियासूत्र, १०. कपबड़ीसयासूत्र, ११. पूप्पियासूत्र, और १२. पुप्पचूलियासूत्र ।

५ पाँच कल्पसूत्र, जैसे—१. उत्तराध्ययनसूत्र, २.निशीथसूत्र, ३. कल्पसूत्र, ४. व्यवहारसूत्र, और ५. जीतकल्पसूत्र ।

६ छः छेद, जैसे--१. महानिशी वृहद्वाचनासूत्र, २. महानिशीथलघुवाचनासूत्र, ३. मध्यमवाचनासूत्र, ४. पिंडनिरुक्तिसूत्र ५. औघनिरुक्तिसूत्र, ६. पर्य्यूषणासूत्र ।

१० दश पयन्नसूत्र[1], जैसे—१. चतुस्सरणसूत्र, २. पञ्चखाणसूत्र, ३. तदुलवैयालिकसूत्र, ४. भक्तिपरिज्ञानसूत्र, ५. महाप्रत्याख्यानसूत्र, ६. चन्दाविजयसूत्र, ७. गणीविजयसूत्र, ८. मरणसमाधिसूत्र, ९. देवेन्द्रस्तवनसूत्र[2] और १०. संसारसूत्र । तथा नन्दीसूत्र, योगोद्धारसूत्र भी प्रामाणिक मानते हैं ।

५. पञ्चाङ्ग, जैसे—१. पूर्व सब ग्रन्थों की टीका, २. निरुक्ति ३. चरणी[3], भाष्य । ये चार अवयव और सब मूल मिलके **'पञ्चाङ्ग'** कहाते हैं ।[4]

इनमें ढूंढिया अवयवों को नहीं मानते और इनसे भिन्न भी अनेक ग्रन्थ हैं कि जिनको जैनी लोग मानते हैं । इनके मत पर विशेष विचार १२ बारहवें समुल्लास में देख लीजिए ।

जैनियों के ग्रन्थों में लाखों पुनरुक्तदोष हैं और इनका यह भी स्वभाव है कि जो अपना ग्रन्थ दूसरे मत वाले के हाथ में हो वा छपा हो, तो कोई-कोई उस ग्रन्थ को अप्रमाण कहते हैं । यह बात उनकी मिथ्या है, क्योंकि जिसको कोई माने कोई नहीं, इससे वह ग्रन्थ जैन मत से बाहर नहीं हो सकता । हाँ, जिसको कोई न माने, और न कभी किसी जैनी ने माना हो, तब तो अग्राह्य हो सकता है । परन्तु ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं है कि जिसको कोई भी जैनी न मानता हो । इसलिए जो जिस ग्रन्थ को मानता होगा, उस ग्रन्थस्थ-विषयक खण्डन-मण्डन भी उसी के लिए समझा जाता है, परन्तु कितने ही ऐसे भी हैं कि उस ग्रन्थ को मानते-जानते हों, तो भी सभा वा संवाद में बदल जाते हैं । इसी हेतु से जैन लोग अपने ग्रन्थों को छिपा रखते हैं । दूसरे मतस्थ को न देते, न सुनाते और न पढ़ाते हैं । इसलिए कि उनमें ऐसी-ऐसी असम्भव बातें भरी हैं, जिनका कोई भी उत्तर जैनियों में से नहीं दे सकता । झूठ बात को छोड़ देना ही उत्तर है ।

ऐसे लोगों के सन्तोष के लिए हम यहाँ एक प्रामाणिक जैन विद्वान् की पुस्तक से एक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—

Worse than this, they were religiously averse to letting non-Jains read or even see or touch their sacred books.—Qutlines of Jainism, Preface, Page XII by Jagmandralal Jain M.A.

अर्थात्—इससे भी बुरी बात यह है कि जैन अपने पवित्र ग्रन्थ अजैनों को पढ़ने तो क्या, देखने या छूने भी नहीं देते ।

आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति तथा तात्पर्य के बिना वाक्य का वास्तविक अर्थ समझ में नहीं आता ।

---

१. 'पयन्नासूत्र' अपपाठ संस्करण ८ से छप रहा है ।
२. अ० मु० सं० ६ से 'देवेन्द्रस्तमनसूत्र' ऐसा अपपाठ छप रहा है ।
३. चरणी=चूर्णि ।
४. इसके आगे संस्करण ३४ (अजमेर मुद्रित) में कोष्ठक में [तुलना कीजिए—प्रकरणरत्नाकर भाग १, पृष्ठ १७१ से] पाठ मूलग्रन्थ में बढ़ाया है । सं० ३५ में भी यह पाठ छपा है ।

https://t.me/arshlibrary

तेरहवें समुल्लास में ईसाईयों का मत लिखा है। ये लोग बायबल को अपना धर्म-पुस्तक मानते हैं। इनका विशेष समाचार उसी १३ तेरहवें समुल्लास में देखिए और १४ चौदहवें समुल्लास में मुसलमानों के मत-विषय में लिखा है। ये लोग कुरान को अपने मत का मूल पुस्तक मानते हैं। इनका भी विशेष व्यवहार १४वें समुल्लास में देखिए और इसके आगे वैदिकमत के विषय में लिखा है।

जो कोई इसे ग्रन्थकर्ता के तात्पर्य्य से विरुद्ध मनसा[1] से देखेगा, उसको कुछ भी अभिप्राय विदित न होगा, क्योंकि **वाक्यार्थबोध में चार कारण होते हैं**—'आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य, जब इन चारों बातों पर ध्यान देकर जो पुरुष ग्रन्थ को देखता है, तब उसको ग्रन्थ का अभिप्राय यथायोग्य विदित होता है—

आकाङ्क्षा—किसी विषय पर वक्ता की और वाक्यस्थ पदों की आकाङ्क्षा परस्पर होती है।

योग्यता—वह कहाती है कि जिससे जो हो सके। जैसे जल से सींचना।

आसत्ति—जिस पद के साथ जिसका सम्बन्ध हो, उसके समीप उस पद को बोलना वा लिखना।

तात्पर्य—जिसके लिए वक्ता ने शब्दोच्चारण वा लेख किया हो, उसी के साथ उस वचन वा लेख को युक्त करना।

बहुत-से हठी-दुराग्रही मनुष्य होते हैं, कि जो वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध कल्पना किया करते हैं, विशेषकर मत वाले लोग, क्योंकि मत के आग्रह से उनकी बुद्धि अन्धकार में फँसके नष्ट हो जाती है। इसलिए जैसा मैं पुराण, जैनियों के ग्रन्थ, बायबल और कुरान को प्रथम ही बुरी दृष्टि से न देखकर उनमें से गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग तथा अन्य मनुष्य-जाति की उन्नति के लिए प्रयत्न करता हूँ वैसा सबको करना योग्य है।

इसलिए ग्रन्थकार ने यहाँ इसका निर्देश करना आवश्यक समझा। साधारणतया 'आकांक्षा' का अर्थ किया जाता है—पद से प्रतीत होनेवाले अर्थ का अन्वय-बोध कराने से अभिलाषा का न होना, परन्तु ग्रन्थकार के अनुसार इससे वाक्यस्थ पदों का एक-दूसरे की, वक्ता की भाँति आकांक्षा करना अभिप्रेत है, अर्थात् वाक्य रचना ऐसी हो जिसमें पद परस्पर सम्बद्ध हों। तभी उनमें योग्यता की भी सम्भावना हो सकती है। ग्रन्थकार का यह मत मनमाना नहीं है, किन्तु आकांक्षा पद के लोकसिद्ध अर्थ के अनुकूल है। वाक्य में किस पद का किसके साथ अन्वय होना चाहिए, इसका निर्धारण आकांक्षा के द्वारा ही होता है। अतएव आकांक्षा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिए ग्रन्थकार ने सबसे पहला स्थान आकांक्षा को दिया है। इस रीति से विचार करने पर आसत्ति गौण हो जाती है। वात्स्यायन मुनि ने कहा है—**'यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः। अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्'**—न्यायभाष्य १।२।६

अर्थात्—जिस पद का जिस पद के साथ अर्थगत सम्बन्ध हो वह दूर होता हुआ भी उसी का है, अर्थ से असमर्थ=निराकांक्ष और अयोग्य पदों की समीपता भी अन्वय का कारण नहीं बन सकती। इसीलिए आलंकारिकों ने आसत्ति के उदाहरण देते हुए कहा कि एक पद 'गाम्' को प्रातः काल और दूसरे पद 'आनय' को सायंकाल बोला जाए तो इन पदों के अन्वय की योग्यता होने पर भी ये वाक्य नहीं कहला सकते।

योग्यता—योग्यता का सामान्य अर्थ है—सामर्थ्य, सक्षमता, अनुरूपता, समुपयुक्तता अथवा औचित्य।

---

१. 'मन' शब्द के तृतीया के एकवचन का प्रतिरूपक शब्द। इसी का अपभ्रंश 'मन्शा' प्रयुक्त होता है। मन्शा=इरादा वा विचार।

https://t.me/arshlibrary

इन मतों के थोड़े-थोड़े ही दोष प्रकाशित किये हैं, जिनको देखकर मनुष्य लोग सत्याऽसत्य मत का निर्णय कर सकें और सत्य का ग्रहण तथा असत्य का त्याग करने-कराने में समर्थ होवें, क्योंकि एक मनुष्य-जाति में बहकाकर विरुद्ध बुद्धि कराके, एक-दूसरे को शत्रु बना लड़ा मारना विद्वानों के स्वभाव से बहिः है ।

यद्यपि इस ग्रन्थ को देखकर अविद्वान् लोग अन्यथा ही विचारेंगे, तथापि बुद्धिमान् लोग यथायोग्य इसका अभिप्राय समझेंगे । इसलिए मैं अपने परिश्रम को सफल समझता, और अपना अभिप्राय सब सज्जनों के सामने धरता हूँ । इसको देख-दिखलाके मेरे श्रम को सफल करें और इसी प्रकार पक्षपात न करके सत्यार्थ का प्रकाश करके मुझ[1] वा सब महाशयों का मुख्य कर्त्तव्य काम है ।

सर्वात्मा सर्वान्तर्यामी सच्चिदानन्द परमात्मा अपनी कृपा से इस आशय को विस्तृत और चिरस्थायी करे ॥

अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्विद्वद्वरशिरोमणिषु ॥

इति भूमिका ॥

स्थान महाराणाजी का उदयपुर
भाद्रपद, शुक्लपक्ष संवत् १९३९

(स्वामी) दयानन्द सरस्वती

दर्शन में यह शब्दों द्वारा संकेतित वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध की असंगति के अभाव की द्योतक है । 'जलेन सिंचति' योग्यता का उदाहरण है, जबकि 'अग्निना सिंचति' में योग्यता नहीं है । इसकी परिभाषा है—**'एकपदार्थेऽपरपदार्थसंसर्गो योग्यता ।'**

आसत्ति—**'कारणं सन्निधानं तु पदस्यासत्तिरुच्यते'**—जिससे निकटस्थ पदों के सम्बन्ध तथा उनके द्वारा अभिव्यक्त भाव का ज्ञान होता है, उसे आसत्ति कहते हैं ।

तात्पर्य—**'वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्तितम्'**—वक्ता जिस विचार से प्रेरित होकर शब्दोच्चारण करता है, उसे तात्पर्य कहते हैं । इसके निश्चायक तत्त्वों का उल्लेख इस श्लोक में किया गया है—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

अर्थात् उपक्रम (आरम्भ), उपसंहार (समापन), पुनरुक्ति, अपूर्वता, अर्थवाद (स्तुति), अवाप्ति (युक्तियुक्त होना) के द्वारा तात्पर्य का पता लगाता है ।

---

१. अर्थात् मेरा । यह गुजराती भाषा का प्रयोग है । अजमेरमुद्रित संस्करण ४ में 'करके मेरा वा' तथा संस्करण ५ से 'करना मेरा वा' पाठ छप रहा है ।

https://t.me/arshlibrary

-:ओ३म्:-

अथ सत्यार्थ-प्रकाशः

[अथ प्रथम-समुल्लासारम्भः]

[अथेश्वरनामानि व्याख्यास्यामः]

ओ३म् शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्य्यमा ।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥
नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव
प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि ।
तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्तारम् ॥
ओ३म् शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ॥ १॥

['ओम्' की संक्षिप्त व्याख्या]

अर्थः—**(ओ३म्)** यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है, क्योंकि इसमें जो अ, उ और म्

अथ अथवा ओङ्कार (ओ३म्) शब्द के प्रयोग को माङ्गलिक माना जाना भारतीय साहित्य में परम्परागत है। दर्शनशास्त्रों के प्रारम्भिक सूत्रों तथा अन्य सूत्रग्रन्थों के आदि में माङ्गलिक प्रयोग की प्रवृत्ति तथा मङ्गलाचरण-भावना स्पष्ट उपलब्ध है। प्रारभ्यमान ग्रन्थ के नामनिर्देश में 'अथ' पद का प्रयोग भी इसी भावना का द्योतक है। यद्यपि 'अथ' पद का अर्थ 'प्रारम्भ करना' माना जाता है, पर प्राचीन परम्परा उच्चारणमात्र से इसे माङ्गलिक मानती आई है। अज्ञातकाल से गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा एक श्लोक चला आता है—

ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥

ग्रन्थ को प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार ने प्राचीन परम्परागत शैली का अनुसरण किया है। 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के प्रारम्भ में **'सहनाववतु'** इत्यादि पाठ भी इसी परम्परा का द्योतक है। मङ्गलाचरण की प्रथा मध्यकालिकचार्यों से चली है—ग्रन्थकार इससे सहमत नहीं हैं। उन्हें मङ्गलाचरण की पौराणिक व तान्त्रिक प्रथा अमान्य है, प्राचीन वैदिक प्रथा नहीं। पौराणिक परम्परा में मङ्गलाचरण के शब्दों के उल्लेखमात्र को विघ्न-बाधाओं का नाशक माना जाता है। वैदिक मान्यता के अनुसार किसी कार्य

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

की निर्बाध सम्पन्नता अथवा किसी ग्रन्थ की सम्पूर्णता व्यक्ति के तद्विषयक ज्ञान, धैर्य, अध्यवसाय तथा अनवरत परिश्रम पर निर्भर करती है। किसी भी कार्य में अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाएँ सम्भव हैं। ऐसी बाधाओं के प्रतीकार भी भिन्न-भिन्न होते हैं। मङ्गलाचरण के शब्दों के उल्लेखमात्र से उनका प्रतीकार सम्भव नहीं, अतः मङ्गलाचरण की वास्तविकता को समझकर ही उसकी उपादेयता पर ध्यान देना उपयुक्त होगा।

ओ३म्—यहाँ पर 'ओ३म्' मन्त्र का अवयव नहीं है। प्रारम्भ में प्लुत ओङ्कार के उच्चारण का शास्त्रों में विधान होने से यहाँ प्लुत ओङ्कार मन्त्र के आरम्भ में पढ़ा है। (**ओमभ्यादाने** पाणिनि ८।२।८७) मन्त्रों का उच्चारण करते समय उनके प्रारम्भ में 'ओम्' पद का उच्चारण परम्परागत है। कार्यारम्भ के अवसर पर भगवन्नामस्मरण सर्वसम्मत मङ्गलाचरण है। वेद इस बात का आदेश देता है कि कार्यारम्भ में परमेश्वर के नाम का स्मरण अवश्य करना चाहिए। ऋग्वेद की प्रथम ऋचा 'अग्निमीळे' इत्यादि इसका ज्वलन्त उदाहरण है। अन्यत्र (ऋ०१।५७।४) इसका स्पष्ट निर्देश इन शब्दों में किया है—**"इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो।"** वैदिक वाङ्मय में अनेकत्र उपलब्ध उक्त सन्दर्भ के द्वारा परमेश्वर के सहाय से प्रारब्ध कार्य में सफलता की कामना की गयी है। यह प्रार्थना तो है ही, जिन भावनाओं के साथ ग्रन्थकार ने इस महान् ग्रन्थ का प्रारम्भ किया, यह सन्दर्भ एक प्रकार से उसका प्रतिज्ञावाक्य भी है—उसके सदुद्देश्य का प्रतीक है।

उद्धृत सन्दर्भ तैत्तिरीय आरण्यक (प्रपाठक ७, अनु० १) के अन्तर्गत है। तैत्तिरीय आरण्यक प्रपाठकों में बँटा हुआ है। उसी का ७वाँ, ८वाँ तथा ९नवाँ प्रपाठक तैत्तिरीय उपनिषद्रूप हैं। वहाँ भी (शिक्षावल्ली, अनु० १) यह ज्यों-का-त्यों उपलब्ध है। सन्दर्भान्तर्गत **"शन्नो मित्रः..... उरुक्रमः"** इतना अंश वेदमन्त्र है। (ऋग्० १।९०।९ ; यजुः० ३६।९ ; अथर्व० १९।९।९)

ओम्—वेदादि शास्त्रों में ओंकार शब्द यदि प्रारम्भ में उच्चरित हो तो उसकी 'टि' को प्लुत हो जाता है, ऐसा वैदिकों का नियम है और उसके द्योतन के लिए 'ओ३म्' इस प्रकार लिखा जाता है। यहाँ प्लुत निर्देश होने पर भी अभिप्राय शुद्ध 'ओम्' पद से है। शास्त्रों में वह प्रायः इसी रूप में उपलब्ध होता है। तद्यथा—

ओम् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतं स्मर।—यजुः० ४०।१५
ओम् खं ब्रह्म।—यजुः० ४०।१७
ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास अगत। दाश्वांसो दाशुषाः सुतम्। —ऋ० १।३।७
मनोजूतिर्जुषतामाज्यस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोत्वरिष्टम्।
यज्ञं समिमं दधातु विश्वे देवास इह मादयन्तामों प्रतिष्ठ॥ यजुः० २।१३

उपनिषदों में ओम् शब्द का प्रयोग

छान्दोग्य—ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत।—१।१।१;
ओमिति ह्युद्गायति।—१।४।१;
ओमित्येतदक्षरमुद्गीथः।—१।१।५;
एतन्मिथुनम् ओम् इत्येतस्मिन्नक्षरे संसृज्यते।—१।१।६;
यद्धि किञ्चानुजानाति ओमित्येव तदाह।—१।१।८;
ओमित्याश्रावयति, ओमिति शंसति, ओमित्युद्गायति।—१।१।८;

https://t.me/arshlibrary

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ।—१।४।१;
यदा वा ऋचमाप्नोति ओम् इत्येवातिस्वरति ।—१।४।१
ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ।—१।५।१;
ओ३म् अदा३म्, ओ३म् पिबा३म्, ओ३म् देवः.....अन्नमिहाहराहर, ओ३म् इति ।—१।१२।५ ;
स ओ३म् इति वा होद्गायीयते ।—८।६।५
ईश—ओ३म् क्रतो स्मर ।—१७
कठ—तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ओमित्येतत् ।—२।१५
प्रश्न—पुनरेतत् त्रिमात्रेणैव ओमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायति ।—५।५; द्रष्टव्य—५।१, ५।२; तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ।—५।७
मुण्डक—ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम् ।—२।२।६
माण्डूक्य—ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् ।—१
तैत्तिरीय—ओमिति ब्रह्म, ओमितीदं सर्वम्, ओमित्येतदुनुकृति ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति, ओमिति सामानि गायन्ति, ओम् शोमिति शास्त्राणि शंसन्ति, ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति, ओमिति ब्रह्मा प्रस्तौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति, ओमति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति, ब्रह्मैवोपाप्नोति ।—१।८।१
बृहद्—ओमिति होवाच.—५।६।१ (यहाँ ७ बार आया है) । ओं खं ब्रह्म ।—५।१।१ ; ओमिति होवाच.—५।२।१, २, ३, ६।२।१ ; ओं क्रतो स्मर—५।१५।१
गीता—ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।—१७।२३
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।—१७।२४
'ओम्' शब्द—इस विषय में चिरकाल से दो विचारधाराएँ चली आती हैं । एक में इसे अव्युत्पन्न प्रातिपदिक एकाक्षररूप माना गया है, और दूसरी में व्युत्पन्न प्रातिपदिक । दूसरी धारा के फिर दो रूप हैं । एक में वह प्रकृति-प्रत्यय द्वारा निष्पन्न एक शब्द है और दूसरी में वह भिन्न-भिन्न तीन अक्षरों का समुदाय है । प्रत्येक अक्षर का अपना-अपना अर्थ है और ऐसे तीन अक्षरों से मिलकर 'ओम्' बना है । इस प्रकार समूहावलम्ब से इस विषय में तीन मान्यताएँ हमारे सम्मुख आती हैं—

१. अव्युत्पन्न प्रातिपदिक एकाक्षररूप ओम् ।
२. प्रकृति-प्रत्यय द्वारा निष्पन्न ओम् ।
३. पृथक्-पृथक् अर्थोंवाले तीन अक्षरों से निष्पन्न ओम् ।

अव्युत्पन्न प्रातिपदिक

'ओम्' को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक माननेवाली धारा का उल्लेख गोपथब्राह्मण में मिलता है । वहाँ ओंकार को निपात और अव्यय मानकर एकाक्षररूप अव्युत्पन्न लिखा है—

स्वरितोदात्त एकाक्षर ओंकार ऋग्वेदे, त्रैस्वर्योदात्त एकाक्षर ओंकारो यजुर्वेदे, दीर्घप्लुतोदात्त एकाक्षर ओंकारः सामवेदे, ह्रस्वोदात्त एकाक्षर ओंकारोऽथर्ववेदे ।—गो०पू० १।१५

अर्थात् एकाक्षर ओंकार ऋग्वेद में स्वरितोदात्त, यजुर्वेद में त्रैस्वर्योदात्त, सामवेद में दीर्घप्लुतोदात्त और अथर्ववेद में ह्रस्वोदात्त माना गया है । आगे चलकर फिर ब्राह्मणकार कहते हैं—

निपातेषु चैनं वैयाकरणाः समामनन्ति उदात्तं तदव्ययीभूतम् ।
अर्थात् वैयाकरण इसको निपात मानकर उदात्त अर्थात् अव्यय मानते हैं ।

https://t.me/arshlibrary

इस व्याख्या में ओंकार एक ही अक्षर है। इसीलिए उपनिषदादि में ओंकार को एकाक्षररूप कहनेवाले अनेक वचन उपलब्ध होते हैं। यथा—**ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत** ।—छां०१।१।१

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम् ।—मा० १
त ओमित्येतदेवाक्षरं समारोहन् ।—जै०उ०ब्रा० १।१८
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम् ।—गीता २।१६
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।—गीता ८।१३

इन सबमें ओंकार को एकाक्षर माना है। ऐसा मानने पर ही **'वर्णात् कारः'** (पा०३।३।१०८) वार्तिक से 'कार' प्रत्यय होकर 'ओंकार' बन सकता है। योगसूत्र भी कहता है—**'तस्य वाचकः प्रणवः'** (१।२५) अर्थात् ओंकार (प्रणवः) उसका (तस्य) प्रतीक (वाचकः) है। 'प्रणव' शब्द 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'णु स्तुतौ' धातु से निष्पन्न है। जिस पद द्वारा प्रकृष्टरूप से परमेश्वर की स्तुति की जाए उसे 'प्रणव' कहते हैं। ऐसा वह पद 'ओम्' है। **(य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथः।**—छां०१।५।१) 'ओम्' ईश्वर का वाचक है और ईश्वर उसका वाच्य। ओम् अभिधान और ईश्वर अभिधेय है। प्राचीन साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों के अनुसार ओम् पद और ईश्वर का वाच्य-वाचक सम्बन्ध संकेतजन्य नहीं, नित्य है। 'प्रणव' ईश्वर का वाचक है' यह संकेतकथन पहले से विद्यमान सम्बन्ध को अभिव्यक्त करता है, उत्पन्न नहीं करता। जिस प्रकार 'देवदत्त, यज्ञदत्त का पिता और यज्ञदत्त, देवदत्त का पुत्र है' यह संकेतकथन पिता-पुत्र के सम्बन्ध को उत्पन्न नहीं करता, प्रत्युत पहले से विद्यमान सम्बन्ध को अभिव्यक्त करता है; अथवा जैसे अँधेरे घर में रक्खे पदार्थों को दीपक केवल प्रकाशित करता है, उन्हें उत्पन्न नहीं करता—इसी प्रकार प्रणव ईश्वर का वाचक है, यह कथन ईश्वर और प्रणव के वाच्य-वाचक सम्बन्ध को उत्पन्न नहीं करता, प्रत्युत पहले से विद्यमान सम्बन्ध को केवल प्रकट करता है, फलतः यह वाच्य-वाचक सम्बन्ध नित्य है, संकेतजन्य नहीं।

व्युत्पन्न प्रातिपदिक—प्रकृति-प्रत्यय का योग

वैयाकरण ओम् पद को 'अव' धातु से निष्पन्न मानकर 'अवतीत्योम्' ऐसा निर्वचन मानते हैं। (अव-रक्षण-कान्ति-गति-प्रीति-तृप्ति-अवगम-प्रवेश-श्रवण-स्वामी-अर्थ-याचना-इच्छा-क्रिया-दप्ति-अवाप्ति-आलिंगन-हसा-दान-भाग-वृद्धिषु। **'अवतेष्टिलोपश्च'**—(१।१४१) उणादिसूत्र से 'मन्' प्रत्यय और 'टि' लोप होकर 'अव' धातु से ओम् शब्द सिद्ध होता है।) ग्रन्थकार ने भी निर्वचन 'अवतीत्योम्' ही माना है, किन्तु अर्थ का सम्बन्ध 'रक्षण' से माना है, अर्थात् रक्षा करने से भगवान् 'ओम्' पद वाच्य है। योगशास्त्र की दृष्टि से 'ओम्' का निर्वचन है—**'उन्नमयतीत्योम्'**। योगसम्बन्धी अथर्वशिख उपनिषद् में लिखा है—**'ऊर्ध्वमुन्नयतीत्योंकारः'**। इस अवस्था में 'उत्' पूर्वक 'नम्' धातु से ओम् बनेगा। अर्थ होगा—जीव का उन्नयन करने से भगवान् ओम् कहाते हैं। यही विषय अथर्वशिख में इस प्रकार कहा गया है —**अथ कस्मादूर्ध्वोच्यते ओंकारो यस्मदुचार्यमाण एव प्राणानूर्ध्वमुत्क्रामयति**। अर्थात्—क्योंकि ओम् के उच्चारण से प्राणों का उत्क्रमण ऊर्ध्वोन्मुख होता है, अतः उसे ओम् कहते हैं।

ओम् की रचना के विषय में ब्राह्मणकार कहते हैं—**को धातुरिति आप्धातुः अयतिमप्येके रूपसाम्याद् अर्थसाम्यान्नेतीयस्तस्मादापेरोंकारः सर्वमाप्नोतीत्यर्थः कृदन्तमर्थवत् प्रातिपदिकम्** (गो० पू० १।२६)।

आशय यह है कि ओंकार किस धातु से बना है ? 'आप्' (सम्भवतः यही आप् कालान्तर मे आप्लृ बन गयी) धातु से। कोई-कोई ओंकाररूप सादृश्य से 'अव' धातु भी मानते हैं, किन्तु अर्थ की दृष्टि से आप्

https://t.me/arshlibrary

धातु समीप है। ओंकार कृदन्त प्रातिपदिक है। इसका अर्थ है—सबमें व्याप्त होना। इस दृष्टि से निर्वचन हुआ 'आप्नोतीत्योम्'।

व्युत्पन्न प्रातिपदिक—तीन अक्षरों का योग

इस मत में 'ओम्' को अ-उ-म् इन तीन अक्षरों से मिलकर बना हुआ माना गया है, किन्तु इस बना हुआ समुदित शब्द 'ओम्' किसी एक अर्थ का वाचक है या नहीं ? यदि है तो उसका वाच्य ईश्व ही है या कुछ और—यह विवेच्य है। अकार-उकार-मकार से मिलकर ओम् बना है, यह विचार ऐतरेय ब्राह्मण में उपलब्ध होता है। वहाँ ऋग्वेदादि की क्रमागत उत्पत्ति का उल्लेख करने के बाद पाँचवीं पञ्चिका के पाँचवें अध्याय में लिखा है—

तान् वेदानभ्यतपत्। तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त भूरित्येव ऋग्वेदादजायत भुव इति यजुर्वेदात् स्वरिति सामवेदात्। तानि शुक्राण्यभ्यतपत्। तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्त अकार—उकारो मकार इति। तानेकदा समभरत् तदोमिति।

अर्थात् वेदों को तपाया, उन तपे हुए वेदों से तीन शुक्र उत्पन्न हुए—ऋग्वेद से भूः, यजुर्वेद से भुवः और सामवेद से स्वः। फिर उन तीन शुक्रों को तपाया गया और उनसे तीन वर्ण उत्पन्न हुए—अकार, उकार, और मकार। इन तीनों से मिलकर 'ओम्' बना।

इसका यह तात्पर्य हुआ कि ओम् सब वेदों का सार है और इसलिए वही वेदों का मुख्य विषय है। इसी बात को मनुस्मृति में इस प्रकार कहा है—

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवःस्वरितीति च ॥ —२।७६

अर्थात्—प्रजापति (परमात्मा) ने अकार, उकार और मकार (अ-उ-म्=ओम्) अक्षरों और भूः, भुवः, स्वः (गायत्री की तीन व्याहृतियों) को तीनों वेदों से दुहकर साररूप में निकाला।

माण्डूक्योपनिषद् में यह भाव इस प्रकार व्यक्त किया है—

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा, अकार उकार मकार इति ॥८॥

अर्थात्—यह आत्मा (परमात्मा) अक्षर में अधिष्ठित है। वह अक्षर ओंकार=ओम् है। वह ओंकार मात्राओं में अधिष्ठित है और वे मात्राएँ अकार, उकार और मकार हैं।

विश्वादि—जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्रा (माण्डूक्य ९) अर्थात् ओम् की प्रथमा मात्रा 'अकार=अ' है। उसका सम्बन्ध जागरित स्थान से है और वह वैश्वानर=विश्वानर=विश्वसम्बन्ध है।

तैजसादि—स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रा (मा० १०) अर्थात् ओम् की द्वितीया मात्रा 'उकार =उ' है। उसका सम्बन्ध स्वप्नस्थान से है और वह तैजस् है।

प्राज्ञादि—सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा (मा० ११) अर्थात् ओम् की तृतीया मात्रा 'मकार = म्' है। उसका सम्बन्ध सुषुप्तस्थान से है और वह प्राज्ञ है। (आप्टे के कोष में इस विषय में लिखा है—The letter 'A' is Vaishvanar, the spirit of waiking souls; 'U' is Taijas, the spirit of dreaming souls in the world of dreams and 'M' is Prajna, the spirit of sleeping souls.)

ग्रन्थकार के लेख से चार बातें स्पष्ट होती हैं—

१. ओंकार परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है।

२. यह अ, उ, और म् इन तीन अक्षरों का समुदित रूप है।

https://t.me/arshlibrary

तीन अक्षर मिलकर एक **ओ३म्** समुदाय हुआ है, इस एक नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आते हैं। जैसे—अकार से **विराट्, अग्नि** और **विश्वादि**; उकार से **हिरण्यगर्भ, वायु** और **तैजसादि**; मकार से **ईश्वर, आदित्य** और **प्राज्ञादि** नामों का वाचक और ग्राहक है। उसका ऐसा ही वेदादि सत्यशास्त्रों में स्पष्ट व्याख्यान किया है कि प्रकरणानुकूल ये सब नाम परमेश्वर ही के हैं।

---

३. अ, उ, और म् पृथक्-पृथक् ईश्वर के भिन्न-भिन्न नामों के वाचक हैं।

४. ओंकार विराट् आदि नामों का वाचक और ग्राहक है।

वाचकता व ग्राहकता में भेद—वाचकता और ग्राहकता में भेद इस प्रकार समझा जा सकता है—'द्विरेफ' पद वाचक है 'भ्रमर' शब्द का और ग्राहक है उस कृष्णवर्ण जीव का जो फूलों से रस लेता फिरता है। यही स्थिति ओम् की बनती है। जब ओम् का प्रत्येक घटक ईश्वर के भिन्न-भिन्न नामों का वाचक है तो उनका समुदाय भी उनसे सम्बद्ध होगा। इसलिए वह शब्द ग्राहक तो होगा, वाचक नहीं। प्रकृति-प्रत्यय से निष्पन्न ओम् ईश्वर का वाचक है। उसी रूप में वह परमेश्वर का निज नाम है।

फिर एक व्यवस्था ऐसी हो सकती है जिससे प्रत्यक्षर का भिन्न-भिन्न अर्थ मानने पर भी समुदित अ पद ईश्वर का वाचक हो सकता है। गोपथब्राह्मण (पू० १।५) में अ, उ और म् को क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु उ शिव का वाचक बताया है। कोशकार भी इन अक्षरों का अर्थ ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र मानते हैं।

वैदिक दृष्टि से संसार को उत्पन्न करनेवाली भगवान् की शक्ति ब्रह्मा कही जाती है, पालन-पोषण करनेवाली विष्णु, संहार करनेवाली शिव। पौराणिक मान्यता के अनुसार भी ब्रह्मा का कार्य संसार को उत्पन्न करना, विष्णु का पालन-पोषण करना और शिव का संहार करना है। अ, उ और म् इनके प्रतीक हैं। इस प्रकार ओम् का वाच्य होगा वह 'जिससे संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है'। निश्चय ही वह ब्रह्म वा ईश्वर है। उसी को लक्ष्य करके तैत्तिरीय उपनिषद् (३।१) में कहा है—**'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म'**। इसी को बादरायण (वेदव्यास) ने अपने वेदान्तदर्शन (ब्रह्मसूत्र) में इस प्रकार सूत्रबद्ध किया है—**'जन्माद्यस्य यतः'** (१।१।२) इस प्रकार तीनों अक्षरों का वाच्य एक में संगत हो जाता है।

ओम् का महत्त्व—'ओम्' परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है—वैदिक तथा लौकिक साहित्य में ग्रन्थकार के इस वचन के पोषक अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। तद्यथा—

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्। —तै० उ० १।८
ओमित्येतदक्षरं ब्रह्म सर्वं तस्योपव्याख्यानम्। —मण्डूक्य० १
तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्। —योगसूत्र १।२७-२८
य उद्गीथः स प्रणव यः प्रणवः स उद्गीथः। —छान्दोग्य० १।५।१
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। —मुण्डक० २।२।४
सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥ —कठ० २।१५
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्। —कठ० २।१६
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥ —कठ० २।१७

https://t.me/arshlibrary

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ –गीता ८।११
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ –गीता ८।१३
ओंकारः स्यात्परं ब्रह्म सर्वमन्त्रेषु नायकः । –वृद्धहारीत १०।३५
अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः ।
तस्योंकारः स्मृतो नाम तेनाहूतः प्रसीदति ॥ –योगियाज्ञवल्क्य

शंकराचार्य ने माण्डूक्योपनिषद् (माण्डूक्योपनिषत्कारिका) के नाम से विष्णुसहस्रनाम के भाष्य में यह उद्धरण दिया है—

प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदये स्थितम् ।
सर्वव्यापिनमोंकारं मत्वा धीरो न शोचति ॥

अर्थात् मनुष्य ओम् को सबके हृदय में बसनेवाला ईश्वर ही जाने । उस सर्वव्यापी का मनन करके बुद्धिमान् शोकादि में नहीं पड़ता ।

किसी समय ओंकार का इतना महत्त्व था कि यहूदियों, ईसाइयों, मुसलमानों ने भी किञ्चित् रूपान्तर करके इसे अपने धर्म का अंग माना और आज भी मानते हैं । मुसलमानों का 'आमीन' तथा यहूदियों तथा ईसाइयों का 'एमन' (Amen) ये सब ओम् के ही विकृत रूप हैं ।

(Buddhists place OM at the beginning of their Shadakshari or mystical formulary in six Syllables, Viz. On mani Padme Hum—Sanskirt English Dictionary by Monier Williams.

अकारादि से गृहीत नाम—अकारादि से विराट् आदि का ग्रहण यदृच्छया न होकर शास्त्रानुमोदित है । माण्डूक्योपनिषद् से उद्धृत प्रमाण के आधार पर अकार से वैश्वानर, उकार से तैजस तथा मकार से प्राज्ञ का ग्रहण होना स्पष्ट है । शेष नामों की व्याख्या इस प्रकार है—

उपनिषद् में वैश्वानर शब्द तो आया ही है । वैश्वानर और विश्व एक ही नाम हैं । गौडपादाचार्य की कारिका, उपनिषद् पर शांकरभाष्य और उसपर आनन्दगिरि की टीका में अनेक स्थलों पर वैश्वानर के विकल्प में विश्व का प्रयोग हुआ है—

बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तः प्रज्ञस्तु तैजसः ।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधास्मृतः ॥ —का०२

इस कारिका में वैश्वानर के स्थान पर विश्व आया है । माण्डूक्य की श्रुति ६ पर आनन्दगिरि की टीका देखें—

विश्वस्य वैश्वानरस्य जगद्व्याप्तिं श्रुत्यवष्टम्भेन स्पष्टयति ।

यहाँ स्पष्ट ही विश्व का अर्थ वैश्वानर बताया है । वैश्वानर शब्द अग्नि का पर्याय है यह अनेक कोशों में लिखा है । शब्दकल्पद्रुम कोश में अग्नि के पर्यायवाची शब्दों में वैश्वानर लिखा है । आप्टे ने अपने कोश में लिखा है— वैश्वानरः—an epithet of fire—अग्नि का नाम है ।

२. **त्वत्तः खाण्डवरङ्गताण्डवनटो दूरेऽस्तु वैश्वानरः**—भामिनी० १।५७
३. **जठराग्निः—अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।**
प्राणापानसमासयुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ वेदान्त०
४. परमात्मा ।

https://t.me/arshlibrary

[अनेकार्थक शब्दों के अर्थ-निश्चय में हेतु]

प्रश्न—परमेश्वर से भिन्न अर्थों के वाचक विराट् आदि नाम क्यों नहीं ? ब्रह्माण्ड, पृथिवी आदि भूत, इन्द्रादि देवाता और वैद्यकशास्त्र में शुण्ठ्यादि[1] ओषधियों के भी ये नाम हैं, वा नहीं ?

उत्तर—हैं, परन्तु परमात्मा के भी हैं।[2]

प्रश्न—केवल देवों का ग्रहण इन नामों से करते हो, वा नहीं ?

उत्तर—आपके ग्रहण करने में क्या प्रमाण है ?

विराट् अग्नि का नाम है—**विराडग्निः** । —शत० ६।२।२।४४, ६।१।१।३१

अतः इस प्रकार अकार से विराट्, अग्नि और विश्वादि का ग्रहण शास्त्रसम्मत है । इसी प्रकार—

उकार से तैजस का ग्रहण ऊपर माण्डूक्योपनिषद् में किया है । शंकराचार्य अपने माण्डूक्यभाष्य में लिखते हैं—

तैजसो हिरण्यगर्भः । —आगमाख्य प्रथम संस्करण

शतपथ में आता है—**प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः** । —६।२।२।५

ऐतरेय में कहा है—**वायुर्ह्येव प्रजापतिस्तदुक्तमृषिणा पवमानः प्रजापतिः** । ४।२६

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार—**तेजो वै वायुः** । —३।२।६।१

इससे स्पष्ट है कि हिरण्यगर्भ, वायु और तैजस नामों का उकार से ग्रहण होता है ।

मकार से प्राज्ञ का ग्रहण माण्डूक्य में किया गया है । उपनिषद् में उसी स्थल पर कहा है कि मकार माङ् धातु का है, अर्थात् जो मापनेवाला, न्याय व शासन करनेवाला है । न्याय वा शासन करनेवाला ईश वा ईश्वर है । शासन वा न्याय बुद्धि=प्रज्ञा से होता है, अतः ईश्वर नाम का प्राज्ञ से सीधा सम्बन्ध है ।

शतपथ में आता है, **आदित्यो वा ईशानः आदित्यो ह्यस्य सर्वस्येष्टे** (६।१।३।१७) । स्पष्ट है कि ईशान और आदित्य पर्यायवाची हैं, अतः मकार से आदित्य, ईश्वर और प्राज्ञ का ग्रहण स्पष्ट है ।

पञ्चदशी में इन नामों का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

प्राज्ञस्तत्राभिमानेन तैजसत्वं प्रपद्यते ।
हिरण्यागर्भतामीशस्तयोर्व्यष्टिसमष्टि ॥ —१।२४
तेजसा विश्वतां याता देवतिर्यङ्नरादयः ॥ —१।२६

अनेकार्थवाची शब्द—ग्रन्थकार **'सर्वाणि नामान्याख्यातजानि'** इस मत के समर्थक हैं । तदनुसार संस्कृत के प्रायः सभी शब्द आख्यातज हैं—प्रकृति-प्रत्यय के योग से निष्पन्न हैं । इसी कारण वे यौगिक कहाते हैं । उणादि को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि 'अमुक शब्द अमुक धातु से अमुक प्रत्यय करके बनता है'। इस प्रकार प्रत्येक शब्द के मूल में एक-न-एक धातु निहित है । यौगिकवाद का मूलाधार धातुओं की अनेकार्थता है । इसलिए सभी वैयाकरणों तथा वेदभाष्यकारों को न्यूनाधिक धातुओं की अनेकार्थता का सिद्धान्त मान्य है । महाभाष्यकार की तो स्पष्ट घोषणा है—**'बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति** (१।३।१) । जब

---

१. ऊपर पढ़े गये नामों में 'विश्व' शब्द का स्त्रीलिंग 'विश्वा' रूप आयुर्वेदिक निघण्टुओं में 'शुण्ठी' का पर्याय माना गया है ।

२. यहाँ प्रश्न में निर्दिष्ट 'विराट्' आदि पद ईश्वर के वाचक भी हैं, यह तात्पर्य जानना चाहिए, न कि 'ब्रह्माण्ड.... शुण्ठी' आदि ।

https://t.me/arshlibrary

एक-एक धातु के अनेक अर्थ होंगे तो उनसे निष्पन्न शब्द भी अनेकार्थवाची होंगे। ऐसी अवस्था में अर्थ की नियामकता कैसे होगी ? किस शब्द का वहाँ कौन-सा अर्थ अपेक्षित है—इसका निर्धारण कैसे होगा ? इस विषय में भर्तृहरि ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—

वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्याद् देशकालतः ।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात् ॥
संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यमविरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥ २।३१६, ३१७

शब्द के वाच्यार्थ का निर्णय केवल रूप को देखकर नहीं कर लेना चाहिए, अपितु इसके निर्णय के लिए वाक्य, प्रकरण, औचित्य तथा देशकालादि का भी ध्यान रखना चाहिए। संसर्ग, विप्रयोग, साहचर्य, अविरोध, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग तथा अन्य शब्द का सामीप्य—इन आठ नियमों के अनुसार वाच्यार्थ का निर्णय करना चाहिए।

मीमांसा के अनुसार **श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्** (३।३।१८)—श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या (संज्ञा), ये छह अर्थ के नियामक हैं। इनमें भी पर-पर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व बलवान् होता है।

लोक में भी प्रकरणभेद से एक शब्द अनेक अर्थों का वाचक होता है। जैसे—'गुण' शब्द सामान्यतया धर्म, स्वभाव, विशिष्टता, श्रेष्ठता आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है, परन्तु व्याकरणशास्त्र में **'अदेङ् गुणः'** (पाणिनि १।१।२) । सूत्र के अन्तर्गत वह गुणसंज्ञा के रूप में प्रसिद्ध है, तो अलंकारशास्त्र में माधुर्य आदि गुणों का वाचक है। सांख्यदर्शन में सत्त्व-रजस्-तमस् के लिए प्रयुक्त है तो वैशेषिकदर्शन में वह छह पदार्थों में से एक है। संगीतशास्त्र में वह वाद्य-यन्त्र का तार है तो धनुष् के प्रसंग में वह उसकी डोरी और मेखला के साथ लगकर सामान्य रस्सी के लिए प्रयुक्त है। गणितशास्त्र में संख्या के साथ समास के अन्त में लगकर (द्विगुणः, चतुर्गुणः) आवृत्ति का द्योतक है।

इसी प्रकार वैदिक साहित्य में इन्द्र आदि नाम प्रकरणानुसार परमात्मा तथा अन्य पदार्थों के वाचक हो जाते हैं। इन्द्र शब्द किस प्रकार जीवात्मा, परमात्मा, सूर्य, विद्युत्, आकाश, अश्व, प्राण, वायु, राजा आदि का वाचक है, यह निम्नलिखित उद्धरणों से जाना जा सकता है—

इन्द्र इति ह्येतमाचक्षते य एष (सूर्यः) तपति । –शत० ४।६।७।११
स यस्स आकाश इन्द्र एव सः । –जै० उ० १।२८।२।१
तस्मादाहुरिन्द्रो वागिति । –शत० ११।१।६।१८
प्राण एव इन्द्रः । –शत० १२।६।१।१४
हृदयमेवेन्द्रः । –शत० १२।६।१।१५
स्तनयित्नुरेवेन्द्रः । –शत० ११।६।३।६
वीर्यं वा इन्द्रः । –तां० ६।७।५।८
इन्द्रो वा अश्वः । –कौ० १५।४
तस्मादाह इन्द्रो ब्रह्मेति । –कौ० ६।१२

मायावादी शंकरस्वामी भी **'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'** में इन्द्र शब्द का अर्थ स्वर्गस्थ पौराणिक देवता न करके **'इन्द्रः परमेश्वरः'** करते हैं (बृहद० उप०)। महर्षि वेदव्यास वेदान्तदर्शन के प्रथम सूत्र से ब्रह्मजिज्ञासा की प्रतिज्ञा कर आगे १८ सूत्रों में (२ से १६ तक) ब्रह्म के इसी स्वरूप का वर्णन करते हैं।

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—देव सब प्रसिद्ध और वे उत्तम भी हैं, इससे मैं उनका ग्रहण करता हूँ।

उत्तर—क्या परमेश्वर अप्रसिद्ध और उससे कोई उत्तम भी है ? पुनः ये नाम परमेश्वर के भी क्यों नहीं मानते ? जब परमेश्वर अप्रसिद्ध नहीं और उसके तुल्य भी कोई नहीं, तो उससे उत्तम कोई क्योंकर हो सकेगा ? इससे आपका यह कहना सत्य नहीं, क्योंकि आपके इस कहने में बहुत-से दोष भी आते है। जैसे—**'उपस्थितं परित्यज्याऽनुपस्थितं याचत इति बाधितन्यायः।'** किसी ने किसी के लिए भोजन का पदार्थ रखके कहा कि—आप भोजन कीजिए' और वह जो उसको छोड़के अप्राप्त भोजन के लिए जहाँ-तहाँ भ्रमण करे, उसको बुद्धिमान् न जानना चाहिए, क्योंकि वह उपस्थित नाम समीप प्राप्त हुए पदार्थ को छोड़के अनुपस्थित अर्थात् अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति के लिए श्रम करता है। इसलिए जैसा वह पुरुष बुद्धिमान् नहीं, वैसा ही आपका कथन हुआ, क्योंकि आप उन विराट् आदि नामों के जो प्रसिद्ध प्रमाण-सिद्ध परमेश्वर और ब्रह्माण्डादि उपस्थिति अर्थों का परित्याग करके असम्भव और अनुपस्थित देवादि के ग्रहण में श्रम करते हैं। इसमें कोई भी प्रमाण वा युक्ति नहीं।

[अर्थज्ञान में सहायक—प्रकरण]

जो आप ऐसा कहें कि—''जहाँ जिसका प्रकरण है, वहाँ उसी का ग्रहण करना योग्य है। जैसे किसी ने किसी से कहा है कि—**'हे भृत्य ! त्वं सैन्धवमानय'** अर्थात् तू सैन्धव को लेआ। तब उसको समय अर्थात् प्रकरण का विचार करना अवश्य है, क्योंकि सैन्धव नाम दो पदार्थों का है—एक घोड़े और दूसरा लवण का। जो स्वस्वामी का गमन-समय हो तो घोड़े, और भोजन का काल हो तो लवण को ले आना उचित है और जो गमन-समय में लवण और भोजन-समय में घोड़े को ले आवे, तो उसका स्वामी उसपर क्रुद्ध होकर कहेगा कि—'तू निर्बुद्धि पुरुष है। गमन-समय में लवण और भोजनकाल में घोड़े के लाने का क्या प्रयोजन था ? तू प्रकरणवित् नहीं है, नहीं तो जिस समय में जिसको लाना चाहिए था, उसी को लाता। जो तुझको प्रकरण का विचार करना आवश्यक था, वह तूने नहीं किया, इससे तू मूर्ख है, मेरे पास

अनन्तर प्रथम अध्याय की समाप्ति तक मुख्यरूप से कतिपय ऐसे पदों का विवेचन करते हैं जो उपनिषद् आदि आध्यात्मविषयक शास्त्रों में ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुए हैं, पर जिनसे आपाततः स्पष्ट एवं अस्पष्ट रूप से अन्य अर्थों की प्रतीति होती है। शास्त्र में ब्रह्म का वर्णन अनेक पदों द्वारा हुआ है, जो लोक में और वेद में अन्य अर्थों के भी वाचक हैं। **'आकाशस्तल्लिङ्गात्'**,**'अत एव प्राणः'** (वेदान्त० १।१।२२, २३) में 'आकाश' एवं 'प्राण' पद ब्रह्मवाचक हैं। इसका निश्चय करानेवाले चिह्न उन सन्दर्भों में हैं। शंकर, भास्कर आदि भाष्यकारों ने इन शब्दों को परमात्मवाची ही माना है। शंकरस्वामी ने तो माना ही नहीं, युक्ति और प्रमाणों से सिद्ध भी किया है कि ये और ऐसे ही अनेक पद परमात्मा के वाचक हैं। **'अग्ने नय सुपथा राये'** में 'अग्नि' का अर्थ परमात्मा ही संगत हो सकता है, क्योंकि भौतिक अग्नि से सुपथ और कुपथ में विवेक की आशा नहीं की जा सकती। वस्तुतः अध्यात्मशास्त्र में इन्द्र, सविता, वायु आदि परमात्मा के ही पर्याय हैं। अग्नि आदि शब्दों का अर्थ परमात्मा कैसे है, इसकी व्याख्या ग्रन्थकार ने अपने ऋग्वेदभाष्य में प्रथम मन्त्र के व्याख्यान में विस्तार से की है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में कहा है—**सर्वाण्येतानि नामानि परस्य ब्रह्मणोऽनघ** (३।१२३।१३) अर्थात् ये सब नाम परब्रह्म के हैं।

'उपस्थितं परित्यज्य' इत्यादि लोकव्यवहारोपयोगी इस कहावत के कई रूप हैं। मीमांसान्यायप्रकाश की प्रभाटीका में इसका **'उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितकल्पनाया अन्याय्यत्वात्'** रूप है। अर्थ दोनों का एक ही है।

https://t.me/arshlibrary

से चला जा।' इससे क्या सिद्ध हुआ कि जहाँ जिसका ग्रहण करना उचित हो, वहाँ उसी का ग्रहण कर चाहिए।" तो ऐसा ही हम और आप सब लोगों को मानना और करना भी चाहिए।

॥ अथ मन्त्रार्थः ॥

ओं खम्ब्रह्म ॥१॥ —यजुः० अ० ४० । मं० १७ ।

देखिए वेदों में ऐसे-ऐसे प्रकरणों में **'ओम्'** आदि परमेश्वर के नाम हैं।

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ॥२॥ —छान्दोग्य उपनिषत् १।१॥

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम् ॥३॥ —माण्डूक्य उपनिषत् १॥

खम्ब्रह्म—खम् पद लोकव्यवहारमें 'आकाश' का पर्याय है, परन्तु अध्यात्मप्रसंगों एवं सृष्टिकर्तृत्वादि प्रसंगों में वह परमात्मा का वाचक है और उसकी सर्वव्यापकता को अभिलक्षित करता है। इस प्रकार 'खं ब्रह्म' का अर्थ 'ब्रह्म आकाश है' न होकर 'ब्रह्म आकाशवत् व्यापक है' बनता है। वैयाकरणों का निर्वचन है—**'खर्वत्यस्मिन् जगदिति खम्'** (खर्व गतौ-भ्वा० प०)जिसमें समस्त जगत् गति करता है, वह खम् है। खम् और आकाश पर्यायवाची हैं। छान्दोग्य उपनिषद् (१।६।१) में प्रसंग है—प्रवाहण जैवलि शिलक शालावत्य से कहता है—**'अस्य लोकस्य का गतिरिति आकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्'**। इस लोक की गति—आश्रय क्या है ? उत्तर मिला—आकाश है, क्योंकि ये सब भूत आकाश से ही उत्पन्न होते, उसी में लीन होते हैं। आकाश ही इनसे महान् है, वही इनका आधार है। यह सब भूताकाश के लिए नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार उस ब्रह्म से स्वतः आकाश की उत्पत्ति बताई है—**'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'** (२।१)। वहीं ३।१में बताया है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।
तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्मेति।

इससे सर्वथा स्पष्ट है कि जिसमें समस्त जगत् गति करता है, वह खम् है और वही ब्रह्म है। इस प्रकार खम् ब्रह्म का वाचक है।

उद्गीथः—'गै शब्दे' (भ्वा.प.अ.) से निष्पन्न। **'उदुपपदाद् गाधातोस्थक्। य उद्गीयत उच्चैः शब्दयते स उद्गीथः सामध्वनिः प्रणवो वा'**—उणादि २।१० ; **'उद्गीथः प्रणवः सामवेदध्वनिः'** इत्यरुणः।

ओम् उद्गीथ नाम से उद्गाता द्वारा सोमयज्ञ में उच्च स्वर से गायन किया जाता है। सोमयज्ञ सात प्रकार के होते हैं—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र तथा अप्तोर्याम। इन यज्ञों में प्रायः १६ ऋत्विज् होते हैं, जिनमें ४ अनिवार्यतः सामवेदी होते हैं। उन सामवेदियों में मुख्य उद्गाता होता है। व्रती उद्गाता सामवेद के भाग, उद्गीथ को, ओम् से आरम्भ करके गाता है।

सर्वं तस्योपव्याख्यानम्—'ओम्' यह छोटा-सा अक्षर है, परन्तु यह सम्पूर्ण जगत् उसी का विस्तार है—उसी की व्याख्या है। जैसे 'अदस्' परोक्ष का द्योतक है, 'इदम्' प्रत्यक्ष की ओर संकेत करता है। प्रत्यक्ष संसार इदम् ही नहीं , जो था, जो है और जो होगा (भूतं भवद् भविष्यत्) वह सभी (सर्वम्) उसकी व्याख्या है। इतना ही नहीं, यदि इन तीनों कालों से बाहर भी कुछ रह जाता है, (यच्च अन्यत् त्रिकालातीतम्) वह भी ओंकार ही है (तदपि ओंकार एव)। यास्काचार्य का कथन है—**'महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते, एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति** (निरुक्त ७।४)। अर्थात् उस एक परमात्मदेव के सर्वशक्तिमत्वादि अनेकविध ऐश्वर्य होने से वही बहुत प्रकार से स्तुति किया जाता

https://t.me/arshlibrary

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥४॥
—कठोपनिषत्, वल्ली २ मं० १५

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥५॥
एतमग्निं वदन्त्यके मनुमन्ये प्रजापतितम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥६॥
—मनु० अ० १२ । श्लोक १२२, १२३

है—अनेक गुणों के कारण वह अनेक नामों से बखाना जाता है । अन्य सब देव एक परमात्मा—महादेव—के सामर्थ्यैकदेश में प्रकाशित होते हैं । इसलिए ग्रन्थकार के मत में **'नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थे अत्यन्तं त्यागो भवति'** (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—प्रतिज्ञाविषयः) निर्देश है । इस प्रकार वेद का मुख्य प्रतिपाद्य परमेश्वर है ।

सर्वे वेदाः—'आ' उपसर्गपूर्वक 'म्ना' धातु से निष्पन्न 'आमनन्ति' का अर्थ है 'बार-बार कथन करते हैं'। जिस पद के द्वारा वेदों में परमेश्वर का बार-बार बखान किया गया है और जिसे जानने और पाने के लिए ब्रह्मचर्यादि व्रतों का पालन किया जाता है, उन सबका संक्षिप्त रूप 'ओम्' है । इस एक पद में सबका समावेश हो जाता है ।

एतमग्निमिति—मनु ने परमेश्वर का मुख्य नाम ओम् माना है (२।४६,५३) । प्रस्तुत श्लोक के अन्तर्गत 'ओम्' पदवाच्य परमात्मा के कतिपय गौण नामों का उल्लेख हुआ है । इनसे परमात्मा के स्वरूप एवं गुणों पर प्रकाश पड़ता है —

अग्निः—'अञ्चु गतिपूजनयोः' या 'अग-अगि गतौ' धातुओं से अग्नि शब्द सिद्ध होता है । गति के तीन अर्थ होते हैं—ज्ञान, गमन और प्राप्ति । पूजा का अर्थ है यथायोग्य सत्कार । 'योऽञ्चति, अच्यते, अगत्यङ्गतेति सोऽयमग्निः' अर्थात् जो ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ, सबके जानने योग्य, प्राप्त करने योग्य और पूजा के योग्य है, उसे अग्नि कहते हैं । वह परमात्मा है, इसलिए अग्नि शब्द उसी का वाचक है । ब्राह्मणग्रन्थों में कहा है—'आत्मा एव अग्निः' (शत० ६।७।१।२०) ।

आत्मा शब्द से जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों का बोध होता है । **'अग्निरेव ब्रह्म'** (शत० १०।४।१।५)। **'सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः'** (अथर्व० १३।४।५) अर्थात् वही अग्नि (नामक) है, वही सूर्य (नामक) है तथा वही महायम नामक है ।

मनु—'मन् ज्ञाने' अथवा 'मनु अवबोधने' धातुओं से निष्पन्न मनु परमात्मा का नाम है । 'यो मन्यते, ज्ञायते, अवबुध्यते स मनुः'— जो विज्ञानरूप है, और ज्ञेय है, वह मनु है ।

प्रजापति—प्रजा एवं पति का समस्त रूप है प्रजापति । निरुक्त में कहा है—'प्रजापतिः पाता वा पालयाता वा'=प्रजापति प्रजा का पालक व रक्षक होता है । ब्राह्मणग्रन्थों में कहा है—**'ब्रह्म वै प्रजापतिः'** (शत०१३।६।२।८) 'प्रजापतिहि आत्मा (शत० ६।२।२।१२) 'प्रजापतये मनवे स्वाहा' (यजुः० ११।६६) अर्थात् प्रजापालक मनु (नामक) भगवान् के प्रति निष्ठामयी वाणी बोलो । **'प्रजापतिर्वै मनुः स हीदं सर्वममनुत'** (शत० ६।६।१।१६) अर्थात् प्रजापालक भगवान् का नाम मनु है, क्योंकि वह समस्त संसार का मनन (ज्ञान) करता है ।

https://t.me/arshlibrary

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्सोऽक्षरस्स परमः स्वराट् ।
स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः ॥७॥ —कैवल्य उपनिषत् १।८

'दिवो धर्त्ता भुवनस्य प्रजापतिः' (ऋक्० ४।५३।२) अर्थात् प्रजापति संसार को धारण करनेवाला है ।

'एतोन्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना' (साम० १४०२) अर्थात् आओ शुद्ध इन्द्र =परमात्मा की शुद्ध साम के द्वारा स्तुति करें ।

'तस्मादिन्द्रो ब्रह्मेति' (कौ०उप० ६।१४) इसलिए इन्द्र ब्रह्म का नाम है ।

इन्द्र—'इदि परमैश्वर्ये' धातु से 'ऋज्रेन्द्राग्रवज्र०' (उणादि० २।२६) सूत्र से 'रन् 'प्रत्यय के योग से 'इन्द्रः'शब्द सिद्ध होता है । इन्दति परमैवर्यवान् भवति स इन्द्रः' —अखिल ऐश्वर्युक्त होने से परमात्मा का नाम इन्द्र है । **'इन्दतेर्वा ऐश्वर्यकर्मणः'** (निरुक्त १०।८) । **'यो ह खलु वाव प्रजापतिः स उ वेवेन्द्रः'** (तै० १।२।२।५) ।

प्राण—प्र पूर्वक 'अन् प्राणने' धातु से प्राण शब्द सिद्ध होता है । प्राणनात् प्राणः—सबका जीवन-मूल=जीवनरक्षक होने से ईश्वर का नाम प्राण है । **'प्राणापानौ देवः=ब्रह्म'** (गोपथ० १।२।११) ।

'प्राणो ब्रह्म' (छन्दोग्य० ४।१०।१५) । 'प्राणो ह सर्वस्येश्ववरो यच्च प्राणति यच्च न' (अथर्व ०११।४।१०) अर्थात् चाहे कोई वस्तु सांस लेती हो, चाहे न लेती हो—प्राण सबका ईश्वर है ।

ब्रह्म—'बृहि वृद्धौ' धातु से **'बृहेर्नोच्च'** (उणादि० ४।१४६) सूत्र से मनिन् प्रत्यय होकर ब्रह्म शब्द सिद्ध होता है । 'योऽखिलं जगत् निर्माणेन बर्हयति वर्द्धयति स ब्रह्म' जो सम्पूर्ण जगत् को रचकर बढ़ाता है, इस कारण ईश्वर का नाम ब्रह्म है ।

(ब्रह्म शब्द परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति तीनों का वाचक है । परमात्मा के अर्थ में इस शब्द के साथ 'ज्येष्ठ', जीवात्मा के अर्थ में 'इदम्' तथा प्रकृति के अर्थ में 'महत्' पद जोड़ दिया जाता है । तद्यथा—

'तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः' । —(अथर्व० १०।८।१ ; १०।७।३२-३४)
'तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते' । —(अथर्व ० ११।८।३२)
'इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति' । —(अथर्व ० १।३२।१)
'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' । —(गीता ०१४।३)

जहाँ केवल ब्रह्म पद का प्रयोग होता है, वहाँ उसके अर्थ का निश्चय प्रकरणानुसार होता है । तथापि ब्रह्म पद से प्रायः परमात्मा का ग्रहण होता है ।

स ब्रह्मा—वर्तमान में उपलब्ध संस्करणों में प्रायः यह पाठ मिलता है—

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालाग्निः स चन्द्रमाः ।

दोनों के अर्थ में कोई भेद नहीं है । वस्तुतः वेद को छोड़कर संस्कृत साहित्य में शायद ही कोई ऐसा ग्रन्थ होगा जिसमें प्रक्षेप न हुए हों । बड़े-बड़े प्रामाणिक ग्रन्थों में पाठभेद पाये जाते हैं । आद्य शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र १।३।३० के भाष्य में मनुस्मृति के दो श्लोक इस प्रकार उद्धृत किये हैं—

तेषां ये यानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रपेदिरे ।
तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः ॥
हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानते ।
तद् भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते । —मनु० १।२८-२९.

https://t.me/arshlibrary

यह पाठ बंगाल एशियाटिक सोसायटी की ओर से मुद्रित संस्करण में है, किन्तु निर्णयसागर मुद्रणालय मुम्बई द्वारा प्रकाशित संस्करण में यह पाठ नहीं है—

यं तु कर्मणि यस्मिन् स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः ।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ।
हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ।
यद्यस्य सोऽदधात् सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत् ॥

यहाँ ग्रन्थकार पर या आचार्य शंकर पर जानबूझकर पाठपरिवर्तन का आरोप लागाना न उचित है, न युक्तियुक्त। वास्तव में जो प्रति शंकर को मिली होगी उसमें वही पाठ रहा होगा जो उन्होंने अपने वेदान्त-दर्शन के भाष्य में उद्धृत किया है और निर्णयसागर मुद्रणालयवालों को जो पाण्डुलिपि ग्रन्थ छापने के लिए मिली होगी उसमें वही पाठ रहा होगा जो उन्होंने छापा है। इसी प्रकार कैवल्योपनिषद् की जो प्रति ग्रन्थकार को मिली होगी उसमें वही पाठ रहा होगा जो उन्होंने यहाँ उद्धृत किया है।

ग्रन्थकार ईशादि दस उपनिषदों को प्रमाण मानते हैं। कैवल्योपनिषद् उनमें नहीं है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिस ग्रन्थ को वह प्रामाणिक नहीं मानते उसे प्रमाणरूप में प्रस्तुत क्यों करते हैं? वस्तुस्थिति यह है कि जिन ग्रन्थों को ग्रन्थकार सर्वथा प्रामाणिक नहीं मानते उनकी भी वेदानुकूल अथवा वेदाविरुद्ध बातों को मानने का विरोध नहीं करते।

दूसरे यह कि जो लोग किसी ग्रन्थ को प्रामाणिक मानते हैं यदि उसी के प्रमाण से हम अपने मत का पोषण और उनके मत का प्रत्याख्यान करके दिखाते हैं तो सत्यासत्य का निर्णय करने में सहायता मिलती है।

(बहुत दिन हुए, उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमन्त्री और विशिष्ट विद्वान् डॉ० सम्पूर्णानन्द ने 'गणेश' नाम से एक पुस्तक लिखी थी। उसमें उन्होंने **'गणानान्त्वा गणपतिं हवामहे'** इत्यादि प्रसिद्ध मन्त्र (यजु० २३।१९) का अत्यन्त अश्लील और बेहूदा अर्थ प्रस्तुत किया था। जब हमने इसपर आपत्ति की तो उन्होंने अपने पत्र दिनांक १५ फरवरी १९५१ में लिखा—"जब मुझे उन मान्यताओं और प्रथाओं का खण्डन करना होता है जो आज सनातनधर्मावलम्बी जनता में प्रचलित हैं तो मैं सदा एक काम करता हूँ। लोगों के सामने मैं उन्हीं पुस्तकों को रखता हूँ, जिनको वह प्रमाण मानते हैं और उन्हीं अर्थों को आधार बनाता हूँ जिनको वे स्वीकार करते हैं। इसी का अवलम्बन 'गणेश' में किया है। मेरे तर्क का रूप यह है—

मेरी निजी सम्मति कुछ भी हो, आप लोग उव्वट और महीधर के भाष्य को प्रामाणिक मानते हैं। उन दोनों ने इस मन्त्र को अश्वदैवत माना है और अश्वमेध की एक विशेष क्रिया में इसका विनियोग किया है। अतः आपके माने हुए आचार्यों के ही अनुसार यह मन्त्र गणेशदैवत नहीं हो सकता, क्योंकि आप गणेश को अश्व का पर्यायवाची नहीं मानते, अतः आपके माने हुए प्रमाणों के ही अनुसार श्रुति गणेश के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती।" इस प्रकार श्री सम्पूर्णानन्दजी ने सनातनधर्मावलम्बियों के प्रामाणिक अर्थों के आधार पर ही सिद्ध किया कि जिस वेदमन्त्र से आप लोग गणेशपूजन करते हैं, उसका सूँडवाले गणेश और उसकी पूजा से कोई सम्बन्ध नहीं है।

स ब्रह्मा स विष्णुः—ब्रह्मा—'सब जगत् के बनानेवाला' इस अर्थवाला 'ब्रह्मा' शब्द 'बृह उद्यमने' (धातु० ६।१९) धातु से निष्पन्न होता है।

'ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति। ब्रह्मा सर्वविद्यः, सर्वं वेदितुमर्हति। ब्रह्मा परिवृढः श्रुतितः' (निरुक्त १।८)। 'जातविद्यां' इस समस्त पद का विग्रह—जाते जाते विद्यां वेदत्रयीं वाचम्। ब्रह्मा सम्पूर्ण त्रयी विद्या

https://t.me/arshlibrary

को जाननेवाला होता है, वह सब-कुछ जानने के योग्य होता है। यह निर्वचन ब्रह्मा नाम के ऋत्विक् को दृष्टि में रखकर किया गया है। वस्तुतः जो हर प्रकार से सबसे बड़ा है, जो **'ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यश्च वेदान् प्रहिणोति तस्मै'** (श्वेत० ६।१८) वह **'सर्वतः परिवृढं'** सबसे बड़ा व समर्थ है, वही ब्रह्मा है

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे॥ —अथर्व० १६।४३।८

विष्णु—'विष्लृ व्याप्तौ' इस धातु से 'नु' प्रत्यय होकर विष्णु शब्द सिद्ध होता है—**'वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः'** जो सब जगत् में व्यापक होय, वही विष्णु है (स० प्र० प्र० सं०)। श्रुति का वचन है—**'स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु'** (यजुः० ३२।८)। निरुक्तकार ने विष्णु शब्द को 'वि' उपसर्गपूर्वक 'षिञ् बन्धने, विश प्रवेशने तथा वि पूर्वक अशूङ् व्याप्तौ' (१२।१८) धातु से बनाया है। वहाँ का लेख है—**'अथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुरिति'** यहाँ विपूर्वक षिञ् धातु है। निर्वचन का रूप होगा—**'विषिनोति विषिनाति वा स विष्णुः'**। अथवा **'विष्णुर्विशतेर्वा'** यहाँ धातु 'विश प्रवेशने' है। निर्वचन होगा—**'विशतीति विष्णुः'** अथवा **'विशति सर्वस्य ब्रह्माण्डस्यान्तः प्रविशति यद्वा व्यश्नुते व्याप्नोति सर्वं जगत् इति विष्णुः'**। (तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्—तै० २।६)। **'विविधैः कर्मभिः तत्फलैश्च सिनोति जीवान् इति विष्णुः'** अर्थात् कर्म तथा कर्मफल के बन्धन में डालने से भगवान् विष्णु है। इस शब्द के निम्न निर्वचन भी भगवत्परक हैं—

'विश्वं नियमपतीति विष्णुः'—संसार का नियमन करने से ईश्वर विष्णु कहाता है। **'विशेषेण नूयते स्तूयते जनैरिति विष्णुः'**—जिसकी नाना प्रकार से स्तुति की जाती है, वह विष्णु कहाता है। तद्यथा—

विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः (ऋक्० १।१५४।५) अर्थात् सर्वव्यापक परमेश्वर के परम पद में आनन्द का स्रोत है।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥ (ऋक० ७।२२।२०) अर्थात् सर्वव्यापक भगवान् के प्राप्तव्य पद को विद्वज्जन आकाश में प्रकाशमान सूर्य की भाँति स्पष्ट देखते हैं।

रुद्र—'रुदिर् अश्रुविमोचने' इस धातु से 'णिच्' प्रत्ययान्त से रक् प्रत्यय होने से **'रोदेर्णिलुक् च'** (उणादिकोष, २।२२) सूत्र से रुद्र शब्द सिद्ध होता है। **'यो रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः'** जो दुष्ट कर्म करनेवालों को रुलाता है, इससे परमेश्वर रुद्र कहलाता है। उणादिकोष के उक्त सूत्र की व्याख्या में ग्रन्थकार ने फिर लिखा है—'पापिनो रोदयतीति रुद्रः'। सर्वत्र निर्वचन में मूल स्वर है—**रोदयतीति रुद्रः**। विष्णुसहस्रनाम के शांकरसम्प्रदायानुसारी भाष्य में 'प्रजा संहरन् रोदयतीति रुद्रः' प्रजाओं का नाश कर रुलाने से भगवान् रुद्र कहाते हैं, ऐसा निर्वचन दिया है।

कुछ अन्य निर्वचन भी इस शब्द (रुद्र) के मिलते हैं, जो परमेश्वर की विविध शक्ति और गुणों का निदर्शन कराते हैं, जैसे—

(क) **तापत्रयात्मकं संसारदुःखं रुत् तं द्रावयतीति रुद्रः**—जगत के तापत्रय से उद्धार करने के कारण भगवान को रुद्र कहते हैं।

द्रष्टव्य—**'रुत् संसाराख्यं दुःखम्, तद् द्रावयत्यपगमयति विनाशयतीति रुद्रः।**
—सायण, ऋग्भाष्य १।११४।४

(ख) **रुदन्ति जना, अस्मिन्निति रुत्, स्थावरजङ्गमात्मकं जगत्, तं राति आदत्ते प्रलयकाले इति रुद्रः** अर्थात् जगत् का प्रलय करने से भी भगवान् रुद्र हैं।

(ग) **रुत् शब्दराशिर्वेदः तं कल्पादौ राति ददातीति रुद्रः**—अर्थात् सर्ग के आदि में वेद-प्रदाता होने से भगवान् रुद्र हैं।

https://t.me/arshlibrary

द्रष्टव्य—**रुत् शब्दात्मिका वाणी तत्प्रतिपाद्या आत्मविद्या वा ताम् उपासकेभ्यो राति ददातीति रुद्रः ।**

—सायण, ऋग्भाष्य १।११४।१

रूतः शब्दरूपा उपनिषदः ताभिः द्रूयते गम्यते प्रतिपाद्यते इति रुद्रः ।

—तदेव

अर्थात्—वेदप्रतिपाद्य वेदविद्या का प्रदान करने तथा उपनिषत्-प्रतिपाद्य होने से भगवान् रुद्र कहाते हैं। निम्न मन्त्र में रुद्र शब्द भगवान् का वाचक है—

य इमा विश्वा भुवनानि चक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये ।

—अथर्व ० ७।६१।१

शिव—'शिवु कल्याणे' इस धातु से शिव शब्द सिद्ध होता है । **'बहुलमेतन्निदर्शनम्'** इससे शिवु धातु माना जाता है । **'सर्वनिघृष्वरिष्वलष्व'** आदि उणादिसूत्र (१।१५३) की व्याख्या में लिखा है—**'शेते सर्वमस्मिन्निति शिवः'** अर्थात् जिसमें प्रलयकाल में सम्पूर्ण जगत् शान्तिपूर्वक सोता है, वे भगवान् शिव हैं। निरुक्तकार इस शब्द को शिष् धातु से निष्पन्न हुआ मानते हैं । वे लिखते हैं—**'शेव इति सुखनाम शिष्यतेः वकारो नामकरणः अन्तःस्थान्तरोपलिङ्गी विभाषितगुणः, शिवमप्यस्य भवतीति'** (निरुक्त १०।१७) ।

सारांश यह कि शेव का अर्थ सुख है । यह शिष् धातु से व प्रत्यय करके बनता है । तब निर्वचन का स्वरूप होगा—'शिष्यते सुखावहो भवतीति शिवः ।' तात्पर्य वही कि सुख देने वा कल्याण करनेवाले भगवान् को शिव नाम से स्मरण करते हैं ।

'शिवमस्यास्तीति शिवयतीति वा शिवः' स्वयं कल्याणरूप होने तथा जगत् का कल्याण करने से भगवान् शिव कहाते हैं । महाभारत में लिखा है—**'मनुष्यान् शिवमन्विच्छन् तस्मादेष शिवः स्मृतः'** (अनु० १६१।१०)। अथवा **शेते सर्वं कारणसहितं जगदस्मिन्निति शिवः, सर्वाधारः स्वयं च निराधारः'** प्रलय में कारणसहित जगत् इसमें लीन होकर रहता है, इसलिए भगवान् शिव कहाते हैं ।

नैरुक्त धातुप्रक्रिया को दृष्टि में रखकर निर्वचन होगा—**'शिष्यते प्रलयानन्तरमिति शिवः'** अर्थात् प्रलय के पश्चात् भी बचे रहने से शिव कहाते हैं । श्रुति कहती है—**'आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनासः'** (ऋक्० १०।१२६।२) । **'नमः शिवाय'** (यजुः० १६।४१) अर्थात् कल्याणकारी (शिव) परमात्मा को नमस्कार हो ।

'विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति' (श्वेत० ४।१४) । अर्थात् सबको लपेटनेवाले अद्वितीय शिव को जानकर अत्यन्त शान्ति प्राप्त करता है ।

अक्षर—उणादिसूत्र 'अशेः सरः' (३।७०) की व्याख्या में ग्रन्थकार ने लिखा है—**'अश्नुते व्याप्नोतीत्यक्षरम्'** । सर्वव्यापी तथा अविनाशी होने से भगवान् का नाम अक्षर है । अन्यत्र ग्रन्थकार ने यह शब्द 'अशूङ् व्याप्तौ' तथा 'क्षर संचलने' इन दो धातुओं से बनाया है—**'यः सर्वमश्नुते न क्षरति न विनश्यति तदक्षरम्।'** निरुक्तकार लिखते हैं—**'अक्षरं न क्षरति=क्षीयते वा क्षयं भवति, वाचोऽक्षर इति वा'** (निरुक्त १३।१२) । इस दृष्टि से निर्वचनों का स्वरूप होगा—'न क्षरतीत्यक्षरम्' । जिसका संचलन व परिणाम नहीं होता । इस निर्वचन का मूल है—**'वाग्वै समुद्रो न वै वाक्क्षीयते'** (ऐत० ब्रा०५।३।१) । यद्यपि निरुक्तकार का यह निर्वचन वर्णवाची अक्षर का है, तथापि परमेश्वर के वेदरूपी वाणी का क्षय=निवासस्थान व धुरा होने से यह भगवत्परक भी हो सकता है ।

समस्त भौतिक जगत् क्षर है, क्योंकि वह विनाशी है और भगवान् अविनाशी होने से अक्षर है । तदनुसार गीता में कहा है—**'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते'** (गीता १५।१६) । इस श्लोक में अक्षर पद का वाच्य परमात्मा है ।

https://t.me/arshlibrary

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥८॥
—ऋ० मं० १। सू० १६४ । मं० ४६॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः । —ऋ०१।१६४।३६

आकाशवत् व्यापक जिस अविनाशी भगवान् का सब मन्त्र प्रतिपादन करते हैं, '**तदेतदक्षरं ब्रह्म**' (मुण्डक० १।२।३) सो यह ब्रह्म अक्षर=अविनाशी है ।

स्वराट्—'**स्वराट् स्वयमेव वश्यः** अर्मकवश्यः **विधिनिषेधकिंकरो न भवतीति यावत्**' । आशय यह है कि किसी के अधीन न होने से वह स्वराट् नाम से जाना जाता है । निम्न मन्त्रों में स्वराट् पद ईश्वर का वाचक है—

स्वयुरिन्द्रः स्वराडसि । (ऋक् ० ३।४५।५) । तू स्वयु, इन्द्र और स्वराट् है ।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा, य आविविशुरुर्वन्तरिक्षम् ।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥
—अथर्व० १८।३।५६

अर्थात् जो हमारे पिता, पितामह आदि इस महाशून्य में प्रवेश करते हैं, अर्थात् जिनका स्वर्गवास हो चुका है उनको प्राणों को प्राप्त करानेवाले अर्थात् पुनर्जन्म देनेवाले स्वराट्=परम स्वाधीन भगवान् स्वकर्मानुसार शरीर प्रदान करते हैं ।

कालाग्नि—'**ज्ञः कालकालो गुणी सर्ववित्**' (श्वेत० ६।१६) अर्थात् वह परमेश्वर काल का काल (कालाग्नि) सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक है । प्रलयकाल में जगत् के संहारकर्त्ता होने से भगवान् कालाग्नि हैं ।

'**कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृतः**'। —गीता ११।३२

'**ततः कालाग्निरूपोऽसौ भूत्वा सर्वहरो हरिः**' ॥ —विष्णुपुराण ६।३।२४

चन्द्रमा—'चदि आह्लादने' धातु से चन्द्र शब्द सिद्ध होता है । 'चदि' धातु का अर्थ दीप्ति भी है—'चदि आह्लादने दीप्तौ च' । '**यश्चन्दति चन्दयति वा स चन्द्रः**' आनन्दस्वरूप और सबको आनंन्ददायक होने से ईश्वर का नाम चन्द्र है । यास्क लिखते हैं—'**चन्द्रः चन्दतेः कान्तिकर्मणः**' (निरुक्त ११।५) । चन्द्रमाह्लादं मिमीते निर्मिमीते, मिमीते आनन्दम् इति माः=चन्द्रमा । '**चन्द्रमा वै ब्रह्मा**' (शत० १२।१।१।२), '**प्रजापतिर्वै चन्द्रमा**' (शत० ६।१।३।१६) । छान्दोग्यब्राह्मण (१।६।१२) में चन्द्र शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग हुआ है—

'**चन्द्र व्रतपते व्रतं चारिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयम्**' ।

इन्द्रं मित्रमिति—(विप्राः) बुद्धिमान् लोग (अग्निं) अग्निस्वरूप (एकं) एक=अद्वितीय परमेश्वर को (बहुधा) अनेक नामों से (वदन्ति) पुकारते हैं, जैसे—इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम तथा मातरिश्वा । यहाँ उत्तरपद 'अग्नि' विशेष्य है जो परमेश्वर का वाचक है, शेष सभी नाम पद-विशेषणरूप हैं ।

मित्र—'ञिमिदा स्नेहने' धातु से 'क्त्र' प्रत्यय होकर मित्र शब्द सिद्ध होता है—'**मेद्यति स्निह्यति स्निह्यते वा स मित्रः**'—जो सबसे स्नेह करने और सबको प्रीति करने योग्य है, इससे परमेश्वर मित्र कहाता है । निरुक्तकार ने इस शब्द को अलग-अलग तीन धातुओं से निर्वचन करके बनाया है—'**मित्रः प्रमीतेस्त्रायते सम्मिन्वानो द्रवति मेदयतेर्वा** (निरुक्त १०।१२) ।

'प्रमीतेस्त्रायते इति मित्रः'—'**प्रमीतिः=कृच्छ्रं कष्टं वा ततः त्रायते**', सब कष्टों से रक्षा करनेवाला

https://t.me/arshlibrary

होने से ईश्वर मित्र कहाता है। निरुक्तसमुच्चय के रचयिता वररुचि के अनुसार **'मात्या निर्माय कृत्स्नं जगत् त्रायते इति मित्रः'** सम्पूर्ण जगत् की रचना करके उसकी रक्षा करने से भगवान् मित्र कहाते हैं। मित्र शब्द के निर्वचन इस प्रकार भी हो सकते हैं—

(क) 'माति परिमापयति इति मित्रम्'—सब संसार को मापे हुए है, इससे ईश्वर मित्र कहाता है।

(ख) 'मितं कर्मफलं ददातीति मित्रः'—कर्मफल-दाता होने से भी भगवान् को मित्र कहते हैं।

निम्न मन्त्र में मित्र शब्द भगवान् का वाचक है—

मित्रो जनान् यातयाति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।
मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत॥ —ऋक् ० ३।५६।१

(मित्रः) कष्टों तथा दुःखों से रक्षा करनेवाला भगवान् (ब्रुवाणः) वेद का उपदेश देकर (जनान् यातयाति) मनुष्यों को शुभकर्म करने के लिए प्रेरित करता है। (मित्रः) जगत् की रचना और उसकी रक्षा करनेवाला भगवान् (पृथिवीं उत द्यां दाधार) पृथिवी, आकाशादि सम्पूर्ण जगत् को धारण किये हुए है। (मित्रः) शुभाशुभ कर्मों का फल देनेवाला भगवान् (अनिमिषा) भलीभाँति (कृष्टीः) कर्म करनेवाले मनुष्यों को (अभिचष्टे) देखता है। ऐसे (मित्राय) मित्र=परमेश्वर के लिए (घृतवत् हव्यं जुहोतन) घृत तथा हविष्य प्रदान करो अर्थात् यज्ञ आदि शुभ कर्मों द्वारा भगवान् की उपासना करो।

दिव्य—निरुक्तकार लिखते हैं—'दिव्यः दिविजः' (७।८)। निरुक्त का यह निर्वचन इस पद को सूर्य का विशेषण मानकर लिखा गया है। सूर्य के सामान प्रकाशमान होने से भगवदर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। विद्याविज्ञानसम्पन्न प्रकाशस्वरूप भगवान् के रूप में निम्न मन्त्र में इस शब्द का प्रयोग हुआ है—**(देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं न पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु"** (यजुः० ६।१) अपने पवित्र ज्ञान से संसार को पवित्र करनेवाले, वेदवाणी को धारण करनेवाले दिव्य -(प्रकाश)-स्वरूप भगवान् हमारे ज्ञान को पवित्र करें। **'दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः'** (मुण्डक० २।१।२) अर्थात् वह बाहर-भीतर सर्वत्र पूर्ण, अजन्मा, अमूर्त्त परमात्मा दिव्य है। **'दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विश्वीड्यः'** (अथर्व० २।२।१) अर्थात् वह परमात्मा दिव्य गन्धर्व है जो अकेला ही संसार का पति है, वही नमस्कार और पूजा के योग्य है।

वरुण—'वृञ् वरणे, वर ईप्सायाम्' इन दो धातुओं से वरुण शब्द सिद्ध होता है। **'वृणोति सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून् मुक्तान् धर्मात्मनो यः स वरुणः'** अथवा **'व्रियते शिष्टैः मुमुक्षुभिः मुक्तैः धर्मात्मभिः यः स वरुणः'** अथवा **'वरयति शिष्टादीन् वर्यते वा शिष्टादिभिः स वरुणः परमेश्वरः'** अर्थात् जो वृणोति नाम स्वीकार करता है, शिष्ट मुमुक्षुओं और धर्मात्माओं को उसका नाम वरुण है। सो वरुण नाम परमेश्वर का है। व्रियते नाम शिष्टादिक जिसका स्वाकीर करते हैं उसका नाम वरुण है। अथवा वरयति नाम जो सबको प्राप्त हो रहा है, उसका नाम वरुण है। वर्यते नाम और जो सब श्रेष्ठ लोगों को प्राप्त होने योग्य होय उसका नाम वरुण है और यह भी अर्थ होता है कि वरुणो नाम वरः वरो नाम श्रेष्ठः जो सबों में श्रेष्ठ होय उसका नाम वरो वरः परमेश्वर ही है और दूसरा कोई भी नहीं। (स० प्र० प्र० स० पृ० ७)

आशय यह है कि वरणीय ईप्सिततम होने से तथा सर्वश्रेष्ठ होने से भगवान् वरुण कहाते हैं। निरुक्तकार ने भी वरुण शब्द का निर्वचन **'वृणोतीति सतः'** (१०।४) लिखकर 'वृञ् वरणे' से माना है, किन्तु इस शब्द का अर्थ अपनी दृष्टि के अनुसार सूर्य या विद्युत्परक किया है। इस शब्द की रचना चुरादिगणीय 'वृञ् आवरणे' से भी हो सकती है। तब निर्वचन होगा 'वारयतीति वरुणः'। सम्पूर्ण जगत् का आच्छादन करने से भगवान् वरुण कहाते हैं। अलब्धमूल एक लेख यह भी है—

https://t.me/arshlibrary

वरं वृणन्ति तं देवा वरदश्च वरार्थिनाम् ।
धातुर्वै वरणे प्रोक्तः तस्मात् स वरुणः स्मृतः ॥

इसी आशय से ग्रन्थकार ने 'शिष्टैर्मुमुक्षुभिः धर्मात्मिभः व्रियते' लिखा है ।

'वरुणो वै सर्वेषां देवानामात्मा' (शत० १४।३।२।४) अर्थात् वरुण सब पदार्थों का आत्मा=अन्तर्यामी है । **'सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् । संख्याता अस्य निमिषो जनानाम्'** (अथर्व० ४।१६।५) अर्थात् सर्वप्रकाशक जगद्राजा वरुण उस सबको देखता है जो इस त्रिलोकी में और जो उससे भी परे है । प्राणियों के तो निमेष-उन्मेष उसके गिने हुए हैं ।

यस्तिष्ठति यश्चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् । द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥ (अथर्व० ४।१६।२) । इस मन्त्र में वरुण राजा (परमेश्वर) की सर्वान्तर्यामिता, सर्वव्यापकता तथा गुप्त-विज्ञता दर्शाने के लिए कहा है—जो खड़ा है, जो चलता है, जो दूसरे को ठगता है, जो छिपकर कहीं जाता है, जो दूसरों पर अत्याचार करता है और जो दो पुरुष मिलकर गुप्त मन्त्रणा करते हैं, उन दोनों के बीच तीसरा वरुण=परमेश्वर उनकी बातों को जान लेता है ।

सुपर्ण—निघण्टु में सुपर्ण शब्द आता है । उसका व्याख्यान करते हुए देवराज यज्वा ने लिखा है—**'शोभनं पृणान्ति पालयन्ति जगत् शीतादिनिवारणाद् अथवा पूरयन्ति वृष्ट्या, शोभनं पतनं गमनमेषामिति वा, सुष्ठु प्रीणयन्ति तर्पयन्ति जगत् वर्षप्रदानेनेति वा सुपर्णाः । यद्वा सुः मत्वर्थे, भावे च 'न' प्रत्ययः पतनादिमन्तः सुपर्णाः'** । निघण्टु में सुपर्ण शब्द किरणों का वाचक लिखा है, अतः यज्वा ने निर्वचन भी तदनुसार ही किये हैं, परन्तु सु=**शोभनं पृणाति=पालयति जगत्, पूरयति च विविधैः पदार्थैः—शोभनं पतनं ज्ञानं यस्य, सुष्ठु प्रीणयति तर्पयति च जगद् इति सुपर्णः परमेश्वरः** । इस प्रकार ये निर्वचन भगवत्परक भी हो गये हैं । विष्णुसहस्रनाम की व्याख्या में इस शब्द के तीन निर्वचन किये हैं—

१. **शोभनं पर्ण यस्येति सुपर्णः**—शोभन है पर्ण जिसका । पर्ण से अभिप्राय यहाँ फलप्रदान के सामर्थ्य से है ।

२. **शोभनधर्माधर्मरूपपर्णत्वात् सुपर्णः**—उत्तम धर्माधर्म पर्णवाला होने से भगवान् सुपर्ण कहाते हैं । धर्माधर्म से आशय यहाँ धर्माधर्मजन्य फल से है, अर्थात् समुचित रूप से धर्माधर्म का फल देने से भगवान् सुपर्ण कहाते हैं ।

३. **शोभनानि पर्णानि छन्दांसि संसारतरुरूपिणोऽस्येति सुपर्णः**—अर्थात् छन्द=वेद ही जिसके सुन्दर पर्ण हैं । गीता में कहा है—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दाँसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ —गीता १५।१

विशिष्टाद्वैतानुसारिणी व्याख्या में लिखा है—

संसारपारनयनात् सुपर्ण इति वा मतः ।
प्रत्यायन्नसमाधीन् यः समाधेः परिपाकतः ।
तमसः पारं नयति सुपर्ण इति कथ्यते ॥

आशय यह है कि सामर्थ्यवान् होने से, संसार-सागर से पार करने से तथा समाधि का परिपाक होने पर अज्ञान का नाश कर परमपद प्राप्त कराने से भगवान् सुपर्ण कहाते हैं ।

इस व्याख्या में त्रैतवाद अर्थात् ईश्वर, जीव तथा प्रकृति तीनों की पृथक्-पृथक् सत्ता का प्रतिपादन हुआ है—पार लेजानेवाला परमात्मा, पार जानेवाला जीवात्मा तथा जिससे पार जाना है, उस तमस्=प्रकृति (संसारसागर) का ।

https://t.me/arshlibrary

वृद्धहारीत (१०।५२) के अनुसार 'छन्दोमयमुदाहृतम्' वेदमन्त्रों द्वारा वर्णीय होने से भगवान् सुपर्ण कहाते हैं—**'सुवर्ण एव सुपर्णः वर्णव्यत्ययात्'** । निम्न मन्त्रों में सुपर्ण नाम से भगवान् का उल्लेख हुआ है—

एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं भुवनं वि चष्टे ।

—ऋक् ० १०।११४।४

अर्थात् वह अद्वितीय सुपर्ण=उत्तम पालक परमात्मा संसार में अवशिष्ट है, व्यापक है । वही इस संसार का ज्ञाता तथा ज्ञापयिता है ।

सुपर्णं विप्रा कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति ।
छन्दाँसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश ॥

—ऋक् ० १०।११४।५

आशय यह है कि वेदवित् तत्त्वदर्शी अज्ञान का नाश करके संसार-सागर से पार उतारनेवाले सुपर्ण नामधारी भगवान् को नाना रूपों और नाना नामों से स्मरण करते हैं और सोमादि यज्ञों द्वारा उन्हीं की उपासना करते हैं । इस मन्त्र का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने लिखा है—

विप्रा मेधाविनः कवयः क्रान्तप्रज्ञा मनुष्याः सुपर्णं सुपतनमेकं सन्तं परमात्मानं वचोभिः स्तुतिलक्षणैर्वचनैर्बहुधा बहुप्रकारं कल्पयन्ति किं च त एव कवयोऽध्वरेषु यज्ञेषु छन्दांसि गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि दधतः धारयन्तो द्वादश संख्याकान् सोमस्य ग्रहान् ग्रहणसाधनानि पात्राण्युपांश्वन्तर्यामादीनि मिमते निर्मिमते ।

इस प्रकार सुपर्ण शब्द का अर्थ सायण ने 'सुपतनमेकं सन्तं परमात्मानम्' किया है । सुपर्ण नाम परमात्मा का स्वीकार करने पर इस मन्त्रगत अन्य नामों का भी परमात्मपरक होना स्वतः सिद्ध है ।

गरुत्मान्—निरुक्तकार कहते हैं—**'गरुत्मान् गरणवान् गुर्वात्मामहात्मेति वा'**(निरुक्त ७।१८) । यहाँ प्रथम निर्वचन आधिभौतिक है, दूसरा आध्यात्मिक । ग्रन्थकार ने द्वितीय का उपादान कर लिया है—'यो गुर्वात्मा स गरुत्मान्' । निरुक्त के व्याख्याकार स्कन्द गरुत्मान् का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं—**'गरुत्=गरणं भौमानां रसानां रश्मिभिर्गरणेन तद्वान् अथवा गुर्वात्मा सन् गरुत्मान्'** । यहाँ भी प्रथम वचन आधिभौतिक तथा सूर्यपरक है, किन्तु **'गरुत् गरणं निगरणं प्रलये सर्वस्य जगतः निगरणेन गरुत्मान् परमेश्वरः'** इस प्रकार परमात्मपरक अर्थ भी बन सकता है, अर्थात् प्रलय में सम्पूर्ण जगत् को निगलने से भगवान् गरुत्मान् हैं ।

प्रजापतिर्वै सुपर्णो गरुत्मान् (शत० १०।२।२।४) अर्थात् परमेश्वर सुपर्ण=सुपालक गरुत्मान् है । यजुर्वेद में निम्न मन्त्र में इसी का विशदीकरण है—

सुपर्णोऽसि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद ।
भासान्तरिक्षमापृण ज्योतिषा दिवमुत्तभान् तेजसा दिश उद्दृंह ॥ —यजुः० १७।७२

अर्थात् हे परमेश्वर ! आप गरुत्मान् हैं, न किसी के पास आपसे अधिक बल है और न शक्ति, अतएव आप सुपर्ण हैं । आपके तेज से यह सब प्रदीप्त हैं, प्रकाशित हैं, उद्भासित हैं । आप मेरे हृदयाकाश में ऐसा प्रकाश करें जिससे अज्ञान का नाश होकर ज्ञान का उदय हो ।

मातरिश्वा—निरुक्तकार ने मातरिश्वा का निर्वचन इस प्रकार दर्शाया है—**'मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति मातर्याश्वनितीति वा'** (नि० ७।२६) । यह निर्वचन मातरिश्वा को वायु का पर्याय मानकर किया है । यही निर्वचन अन्तर्णीत ण्यर्थ मानकर ईश्वरपरक भी उपपन्न हो जाता है । **'मातरि मातुर्योनौ श्वसिति प्राणयति आशु अनिति आनयति वा स मातरिश्वा भगवान् ।'** अर्थात् जो माता के गर्भ में भी प्राणित करता है, वह भगवान् मातरिश्वा है ।

https://t.me/arshlibrary

'ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः सर्वा दिशः पवते मातरिश्वा' (अथर्व० १३।३।१६), अर्थात् मातरिश्वा सर्वव्यापक परमेश्वर ज्ञानपूर्वक सृष्टि के विस्तार का निर्माण करता हुआ सब दिशाओं को पवित्र करता है।

समञ्जन्तु विश्वे देवा समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ॥ —ऋक्० १०।८५।४७

यह मन्त्र विवाह-प्रकरण में विनियुक्त है। पति-पत्नी भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि वायु के समान बलवान् तथा प्राणवायु के समान प्रिय मातरिश्वा भगवान् हमारे हृदयों को परस्पर एक कर दे।

ऋग्वेद १।१६४।४६ में **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** तथा १०।११४।५ में **'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति'** में स्पष्टतः वैदिक एकेश्वरवाद का प्रतिपादन हुआ है। इस पर डॉक्टर ग्रिस्वोल्ड (Dr. Griswold) की टिप्पणी है—

"Swami Dayananda's theory of Monotheism in the Rigveda—Taking his case from the late passages R.V.I. 164-46 and X .114-5, the founder of Arya Samaj held that all the gods mentioned in the Rigveda are simply variant names for one God. This process of reduction from multiplicity to unity would have been easier if there had been no dual gods or group gods mentioned in the Rigveda..... The monotheistic interpretation of the Rigveda involved on the part of Swami Dayananda much wild and unscientific exegesis....."—Religion of the Rigveda, Pages 109, 110.

अर्थात् "स्वामी दयानन्द का ऋग्वेदीय एकेश्वरवाद—आर्यसमाज के प्रवर्तक ने ऋग्वेद के पीछे के बने हुए स्थल ऋक् १।१६४।४६ और १०।११४।५ को आधार बनाकर यह वाद खड़ा किया कि ऋग्वेद में आये हुए सब देवता एक परमात्मा के ही भिन्न-भिन्न नाम हैं। यह बहुत्व से कम करते-करते एकत्व पर पहुँचने का ढंग सरल होता, यदि ऋग्वेद में द्वित्व देवता या गणदेवता न होते। ऋग्वेद-मन्त्रों का एकेश्वरवादीय अर्थ करने में स्वामी दयानन्द को बहुत-सी अप्रासंगिक और विज्ञानविरोधी खींचातानी करनी पड़ी है।"

वस्तुतस्तु ग्रिस्वोल्ड की यह टिप्पणी सर्वथा अनपेक्षित है, क्योंकि ग्रन्थकार का यह सिद्धान्त ही नहीं कि वेदों में सब देवता सब स्थलों पर परमात्मा के ही वाचक हैं और न ही उन्होंने अपने वेदभाष्य में ऐसे अर्थ करने का प्रयास किया है। ग्रन्थकार की मान्यता है—"जहाँ-जहाँ स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण लिखे हैं, वहीं-वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है। ..... जहाँ-जहाँ उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, अल्पज्ञ, जड़, दृश्य आदि विशेषण भी लिखे हैं, वहाँ-वहाँ परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता। ..... जहाँ-जहाँ इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख और अल्पज्ञादि विशेषण हों, वहाँ-वहाँ जीव का ग्रहण होता है।" ग्रन्थकार के इस लेख से स्पष्ट है कि उनकी मान्यता के अनुसार देवतावाची पदों से प्रकरणानुसार ईश्वर, जीव, प्रकृति आदि का भी ग्रहण होता है। जब उनका यह सिद्धान्त ही नहीं कि प्रत्येक देवता सब स्थलों पर ईश्वरवाची है तो उनके खींचातानी करके वैसा सिद्ध करने का प्रश्न ही नहीं उठता। द्वित्व देवता (Dual gods) तथा गणदेवताओं (Group gods) के प्रकरणानुसार अन्यान्य अर्थ हो सकते हैं—इसे सिद्ध करने के लिए हम यहाँ एक-एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

ऋग्वेद १।१०८ सारे सूक्त का देवता इन्द्राग्नी है। इसके मन्त्र १, २, ३ में इन्द्राग्नी का अर्थ ग्रन्थकार ने 'वायुपावकौ' अर्थात् वायु और अग्नि किया है। मन्त्र ४, ११, १२ में वायु और विद्युत् किया है; ५, ७, ८ में स्वामी और भृत्य किया है; ६, १० में न्यायाधीश और सेनाध्यक्ष किया है; ९ में स्वामी और शिल्पी किया है तथा १३ में परम धनाढ्य और युद्ध-विद्या में प्रवीण किया है—परमात्मा अर्थ एक भी मन्त्र में नहीं किया है।

ऋग्वेद १।११० के देवता ऋभु (गणदेवता) हैं। इस सूक्त में ऋभु का अर्थ मेधावी, सूर्य की किरणें

https://t.me/arshlibrary

और बहुत विद्याओं के प्रकाशक विद्वान् किये हैं। इस सारे सूक्त में इस शब्द को परमात्मा का वाचक कहीं भी नहीं लिखा है। प्रार्थना, उपासना आदि के प्रकरणों में द्वित्व देवता तथा गणदेवता को परमात्मा की शक्तियाँ बताने में कोई खींचातानी नहीं है।

भारतीय इतिहासविदों में डॉ० ताराचन्द का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी खोज के अनुसार आदि शंकराचार्य को एकेश्वरवाद की प्रेरणा नवम शताब्दी में मालाबार के तट पर उतरनेवाले अरब व्यापारियों से मिली थी। भारतीय स्रोतों के आधार पर आदि शंकर का जन्म ५०६ ईसापूर्व में हुआ था। शंकर ६ वर्ष की आयु में घर छोड़कर वेदाध्ययन के लिए नर्मदा-तट पर स्थित ओंकारनाथ के निकटस्थ गोविन्द भगवत्पाद के आश्रम में चले आये थे। पाश्चात्यों के अनुसार शंकर स्वामी का काल ईसा की सातवीं शताब्दी में पड़ता है। डॉ० ताराचन्द इतना भी न सोच सके कि सातवीं शताब्दी (उनकी मान्यता के अनुसार) में जन्म लेनेवाले और नर्मदा के तट पर रहनेवाले व्यक्ति का नवम शताब्दी में मालाबार के तट पर उतरनेवाले अरबों से कैसे सम्पर्क हो सकता था ? फिर शंकर के जन्म-समय (सातवीं शताब्दी) तो अभी मुहम्मद साहब ने मक्का में इसलाम का प्रचार प्रारम्भ किया था। यह भी ज्ञातव्य है कि स्वयं मुहम्मद साहब को एकेश्वरवाद की प्रेरणा अब्राहम से मिली थी, जबकि शंकराचार्य के दादागुरु गोविन्दपाद के गुरु गौड़पादाचार्य थे। —Influence of Islam on Hindu Culture.

वस्तुतः पाश्चात्य विद्वानों की विचारधारा का आधारभूत सिद्धान्त विकासवाद का पूर्वाग्रह है। इन लोगों के लिए विकासवाद का सिद्धान्त पहले है, उसके बाद जो कुछ आता है, उसे विकासवाद के सिद्धान्त पर घटाकर देखने का प्रयास किया जाता है। विकासवाद की कसौटी पर परखकर ही ये लोग किसी बात के सही या ग़लत होने का निश्चय करते हैं। इस प्रकार के चिन्तन को वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। श्री अरविन्द पाश्चात्य विद्वानों के इस दृष्टिकोण पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं—"पाश्चात्य भाष्यकारों का मत है कि वेद का ऋषि जब अग्नि की उपासना करता था, तब उसमें उन सब गुणों का समावेश कर देता था जो किसी भी अन्य देवता में पाये जाते हैं। जब वह वायु की उपासना करता था तो वायु में उन सब गुणों का समावेश कर देता था जो अन्य किसी देवता में देखता था। इससे यह प्रतीत होता है कि वह एक देवता का उपासक न होकर अनेक देवताओं में विश्वास करता था। यह बात युक्तिसंगत भी है, क्योंकि एकेश्वरवाद का विचार तो मानव-मस्तिष्क में बहुत देर बाद आया। जब उनसे यह कहा जाता है कि वेद में **"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः"** इस मन्त्र द्वारा यह कहा गया है कि ईश्वर एक ही है, अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि उस एक ही ईश्वर के भिन्न-भिन्न नाम हैं, तब पाश्चात्य विद्वान् कह उठते हैं कि यह मन्त्र पीछे से डाला गया है। (मैक्समूलर के प्रमुख शिष्य, मैक्डानल ने अपनी पुस्तक 'A Vedic Reader for Students' की भूमिका में लिखा है—'ऋग्वेद के १० मण्डलों में से आठ मण्डल पहले लिखे गये, फिर नौवाँ और अन्त में दसवाँ। उसके कहने का अभिप्राय यह है कि पहले आठ और अगले दो (९-१०) के लिखे जाने का समय भिन्न है। परन्तु **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** तो ऋग्वेद के पहले मण्डल का मन्त्र है। फिर भी इसे बाद का माना जाता है। केवल इसलिए कि यह उनकी विकासवादी विचारधारा में फिट नहीं बैठता)। इस विचारधारा पर चलते हुए मैक्समूलर ने बहुदेवतावाद (Polytheism) और एकेश्वरवाद (Monotheism) के मुकाबले में एक नये मत की कल्पना की, जिसे उन्होंने हीनोथीइज़्म (Henotheism) का नाम दिया। हीनोथीइज़्म का अर्थ है—जब किसी देवता की उपासना की जाए, तब उसी में सब गुण आरोपित कर लिये जाएँ, अन्य देवताओं को उससे हीन कल्पित कर लिया जाए।

https://t.me/arshlibrary

भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री ।
पृथिवीं यच्छ पृथवीं दृं ह पृथिवीं मा हिं सीः ॥६॥

—यजुः० १३।१८

इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छवइन्द्रः सूर्यमरोचयत् ।
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे स्वानास इन्दवः ॥१०॥

—सामवे० प्रपा० ७। त्रिक ८। मं० २॥

(The Oxford English Dictionary defines Henotheism as the belief in a single God, without asserting that he is the only God; a stage between Polytheism and Monotheism. According to Prof. Clayton it denotes that each of the several divinities is regarded as the highest, the one that was worshipped and, therefore, treated as if he were the absolute being, independent and supreme for the worshipper.)

परन्तु यह कल्पना इसलिए की जाती है, क्योंकि मैक्समूलर विकासवाद के विपरीत यह मानने के लिए तैयार नहीं कि मानव-संस्कृति के प्रारम्भिक काल में एकेश्वरवाद जैसा उत्कृष्ट विचार मानव के मस्तिष्क में आ सकता था। मैक्समूलर इस बात का प्रमाण नहीं दे सके कि **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** वेद में पीछे से डाला गया है। यह मन्त्र वेद का अभिन्न अंग है और इससे विकासवाद खण्डित होता है तो पाश्चात्य विचारकों को इसके लिए तैयार रहना चाहिए। सबसे बड़ी बात तो यह है कि अपने अर्थ को स्पष्ट करने के लिए स्वयं वेद की अन्तःसाक्षी प्रमाण होगी या रुडोल्फ, राथ तथा मैक्समूलर जो कहेंगे, वह प्रमाण होगा। वेदों का अर्थ यदि वेदों से ही स्पष्ट होता है तो उस प्रक्रिया का सर्वोच्च स्थान होना चाहिए। वेद स्वयं कहता है—**'एकं सत्'** ईश्वर एक है, **'बहुधा वदन्ति'** उसे अनेक नामों से पुकारा जाता है। स्वयं वेद में एकेश्वखाद का इतना स्पष्ट वर्णन होते हुए मैक्समूलर के हीनोथीइज़्म को कैसे माना जा सकता है?" श्री अरविन्द आगे लिखते हैं—

"We are aware how modern scholars twist away from the evidence. This hymn, they say, was a late production; this lofty idea which it expresses with so clear a force rose up somehow, or was borrowed by those ignorant fire-worshippers from their cultured and philosophic Dravadian enemies. But throughout the Veda we have conformatory hymns and expressions. Agni or Indra or another is expressed hymned as one with all other Gods. Agni contains all other divine powers within himself; the Maruts are described as all the gods; the one deity is addressed by the names of others as well as his own, or, more commonly, he is given as Lord and King of the universe, attributes appropriate to the Supreme Deity. Why should not the foundation of Vedic thought be natural monotheism? Well, because primitive barbarians could not possibly have risen to such high conceptions, and if you allow them to have so risen, you imperil our theory of evolutionary stages of human development. Truth must hide itself, common sense disappears from the field so that a theory may flourish. I ask—in this point, and it is the fundamental point, who deals more straightforwardly with the text, Dayananda or the Western scholars ?"

श्री अरविन्द का कहना है कि वेदों के पाश्चात्य भाष्यकार वेदों का भाष्य करते हुए विकासवाद के पूर्वाग्रह को साथ लेकर चलते हैं। यदि वेदों का अर्थ उनकी विकासवाद की मान्यता को पुष्ट नहीं करता तो वे अर्थ को तोड़-मरोड़कर अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा क्यों करते हैं। श्री अरविन्द के अनुसार दयानन्द के भाष्य में ऐसा नहीं किया गया।

इन्द्रो मह्नेति—(इन्द्र) परमेश्वर ने (मह्ना) अपनी महिमा से (रोदसी) द्युलोक और भूलोक में (शवः) अपना अनन्त बल (पप्रथत्) फैलाया हुआ है। (इन्द्रः) परमेश्वर ने (सूर्यम्) सूर्य को (अरोचयत्) चमकाया है। (इन्द्रे) परमेश्वर में (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकलोकान्तर (येमिरे) नियन्त्रित हैं। (इन्दवः) ज्ञान से

https://t.me/arshlibrary

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥११॥

—अथर्व वे द काण्ड ११ । सू० ४। मं० १

अर्थः—यहाँ इन प्रमाणों के लिखने का तात्पर्य वही है कि जो ऐसे-ऐसे प्रमाणों में ओङ्कारादि नामों से परमात्मा का ग्रहण होता है, यह लिख आये ।

तथा परमेश्वर का कोई भी नाम अनर्थक नहीं, जैसे लोक में दरिद्री आदि के धनपति आदि नाम होते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि कहीं **गौणिक** कहीं **कार्मिक** और कहीं **स्वाभाविक** अर्थों के वाचक हैं ।[1] 'ओ३म्' आदि नाम सार्थक हैं । जैसे—

(ओं खं०) 'अवतीत्योम्, आकाशमिव व्यापकत्वात् खम्, सर्वेभ्यो बृहत्वाद् ब्रह्म' रक्षा करने से **'ओ३म्'**, आकाशवत् व्यापक होने से **'खम्'** और सबसे बड़ा होने से **'ब्रह्म'** ईश्वर का नाम है ॥१॥

(ओमित्ये०) 'ओ३म्' जिसका नाम है, और जो कभी नष्ट नहीं होता, उसी की उपासना करनी योग्य है, अन्य की नहीं ॥२॥

(ओमित्येत०) सब वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर का प्रधान और निज नाम 'ओ३म्' को कहा है, अन्य सब गौणिक नाम हैं ॥३।

(सर्वे वेदा०) क्योंकि सब वेद, सब धर्मानुष्ठानरूप तपश्चरण जिसका कथन और मान्य करते, और जिसकी प्राप्ति की इच्छा करके ब्रह्मचर्याश्रम करते हैं, उसका नाम **'ओम्'** है ॥४॥

(प्रशासिता०) जो सबको शिक्षा देनेहारा, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, स्वप्रकाशस्वरूप, समाधिस्थ बुद्धि[2] से जानने योग्य है, उसको परमपुरुष जानना चाहिए ॥५॥

(एतम०) और स्वप्रकाश होने से **'अग्नि'**, विज्ञानस्वरूप होने से 'मनु', सबका पालन करने से **'प्रजापति'**, और परमैश्वर्यवान् होने से **'इन्द्र'**, सबका जीवन-मूल होने से **'प्राण'**, और निरन्तर[3] व्यापक होने से परमेश्वर का नाम 'ब्रह्म' है ॥६॥

प्रकाशित तथा शीतल स्वभाववाले उपासक (स्वानासः) सदुपदेश देते हुए (इन्द्रे) परमेश्वर के ही आश्रय में रहकर (रेमिरे) अपने नियमों का पालन करते हैं ।

प्राणायेति—(प्राणाय) समस्त जगत् के मुख्य प्राण परमेश्वर को (नमः) नमस्कार हो (यस्य वशे) जिसके वश में (इदं सर्वम्) यह सब जगत् है । (भूतः) अनादिकाल से वर्तमान सत्स्वरूप (यः) जो प्राण (सर्वस्य) समग्र जगत् का (ईश्वरः) अधीश्वर है और (यस्मिन्) जिसमें सम्पूर्ण जगत् (प्रतिष्ठितम्) स्थित है।

जड़-चेतन जगत् के प्रत्येक पदार्थ में अपना-अपना प्राण है, जिसके कारण उस-उस पदार्थ की सत्ता बनी रहती है । यह प्रातिस्विक प्राण परमेश्वररूप प्राण द्वारा प्रत्येक पदार्थ को प्राप्त है । अतएव परमेश्वर

---

१. गौणिक=गुणनिमित्तक, कार्मिक=कर्मनिमित्तक, स्वाभाविक=स्वभावनिमित्तक । द्रष्टव्य— इसी समुल्लास में १०० नामों के आगे का सन्दर्भ—'उनमें से प्रत्येक गुण, कर्म्म और स्वभाव का एक-एक नाम है ।'

२. जर्मन विद्वान बूहलर ने यहाँ Sleep (like abstraction) अनुवाद किया है । यह मूल के अभिप्राय के विरुद्ध है ।
—भगवद् दत्त

३. निर् अन्तर=विना व्यवधान के अन्दर-बाहर सर्वत्र व्यापक, अर्थात् सबसे बड़ा । इस अर्थवाला 'ब्रह्म' शब्द 'बृहि वृद्धौ' (धातु० १।४८८) धातु से बनता है ।

https://t.me/arshlibrary

(स ब्रह्मा स विष्णुः) सब जगत के बनाने[1] से **'ब्रह्मा'** सर्वत्र व्यापक होने से **'विष्णु'**, दुष्टो को दण्ड देके रुलाने से **'रुद्र'**, मंगलमय और सबका कल्याणकर्त्ता होने से **'शिव'**। **''यः सर्वमश्नुते न क्षरति न विनश्यति तदक्षरम्' ॥१॥ 'यः स्वयं राजते स स्वराट्' ॥२॥ 'योऽग्निरिव कालः कलयिता प्रलयकर्ता स कालाग्निरीश्वरः' ॥३॥ 'अक्षर'** जो सर्वत्र व्याप्त अविनाशी, **'स्वराट्'** स्वयं प्रकाशस्वरूप, और **'कालाग्नि'** प्रलय में जो अग्नि के समान सबका काल और काल का भी काल है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'कालाग्नि'** है ॥७॥

(इन्द्रं मित्रं०) जो एक अद्वितीय सत्य ब्रह्म वस्तु है, उसी के इन्द्रादि सब नाम हैं। **'द्युषु द्युष्वेषु पदार्थेषु भवो दिव्यः'; 'शोभनानि पर्णानि पालनानि पूर्णानि कर्माणि वा यस्य स सुपर्णः'; 'यो गुर्वात्मा स गरुत्मान्'; 'यो मातरिश्वा वायुरिव बलवान् स मातरिश्वा'**।

'दिव्य' जो प्रकृत्यादि दिव्य पदार्थों में व्याप्त, **'सुपर्ण'** जिसके उत्तम पालन और पूर्ण कर्म हैं, **'गुरुत्मान'** जिसका आत्मा अर्थात् स्वरूप महान् है, **'मातरिश्वा'** जो वायु के समान अनन्त बलवान् है इसलिए परमात्मा के **'दिव्य'**, **'सुपर्ण'**, **'गरुत्मान्'** और **'मातरिश्वा'** ये नाम हैं। शेष नामों का अर्थ आगे लिखेंगे ॥८॥

(भूमिरसि०) 'भवन्ति भूतानि यस्यां सा भूमिः'[2] जिसमें सब भूतप्राणी होते हैं, इसलिए ईश्वर का नाम **'भूमि'** है। शेष नामों का अर्थ आगे लिखेंगे ॥९॥

(इन्द्रो मह्ना०) इस मन्त्र में **'इन्द्र'** परमेश्वर ही का नाम है इसलिए यह प्रमाण लिखा है ॥१०॥

(प्राणाय०) जैसे प्राण के वश में सब शरीर और इन्द्रियाँ होती हैं, वैसे परमेश्वर के वश में सब जगत् रहता है, इससे परमेश्वर का नाम् **'प्राण'** है ॥११॥

समस्त जगत् का मुख्य प्राण है।

यास्कादि नैरुक्तों का सिद्धान्त है—**'अर्थनित्यः परीक्षेत'** (नि०२।१)। उपलब्ध परम्परा अथवा व्यवहार प्राप्त अर्थ का निर्वचन द्वारा समर्थन किया जाना चाहिए। न्यायानुमोदित शास्त्रप्रसिद्ध तथा व्यवहार-प्राप्त सिद्धान्त के अनुसार सब शब्द भगवान् के वाचक हैं। अतएव अर्थानुसारी निर्वचन करने के लिए तदनुकूल प्रकृति-प्रत्यय का ग्रहण करना अवश्यक है। 'प्राण' शब्द का निर्वचन करने के लिए ग्रन्थकार ने इसी नियम का आनुसरण किया है। यदि इस शब्द का निर्वचन **'प्राणतीति प्राणः'** अर्थात् सांस लेने से भगवान् प्राण कहाते हैं, ऐसा किया जाए तो वह भूतार्थ नहीं होगा, क्योंकि भगवान् सांस नहीं लेते। इसलिए मुख्यार्थ में इसका व्यवहार हो ही नहीं सकता। तब, यह व्यवहार औपचारिक है। तदनुसार ग्रन्थकार ने निर्वचन का स्वरूप रखा है—**'सर्वेषां प्राणस्य=जीवस्य मूलं प्राणः'**। आशय यह है कि 'प्राणकारणत्वात् **प्राणं ब्रह्म यथा आयुष्कारणत्वात् आयुर्घृतम्'**। उपनिषत् में कहा है—**'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः'** (केन० १।२)। अर्थात् भगवान् श्रोत्र को श्रवणशक्ति, मन को मननशक्ति, वाणी को उच्चारण शक्ति तथा प्राण को प्राणनशक्ति देते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्राण शब्द का ईश्वर अर्थ में जो व्यवहार है,

---

१. इस अर्थवाला 'ब्रह्म' शब्द 'बृह उद्यमने' (धातु० ६।५६) धातु से निष्पन्न होता है।

२. 'भूमि' शब्द भीमादिगण में पठित है, अतः 'भीमादयोऽपादाने' (अ० ३।४।७४) के नियम से अपादान में प्रत्यय होना चाहिए। ग्रन्थकार के स्वीय उणादिकोष ४।४६ की वृत्ति में भी 'भवन्ति पदार्था अस्यामिति भूमिः' ऐसी व्युत्पत्ति जाननी चाहिए।

https://t.me/arshlibrary

इत्यादि प्रमाणों के ठीक-ठीक अर्थों के जानने से इन नामों करके परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। क्योंकि 'ओ३म्' और अग्न्यादि नामों के मुख्य अर्थ से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। जैसाकि व्याकरण, निरुक्त, ब्राह्मण, सूत्रादि ऋषि-मुनियों के व्याख्यानों से परमेश्वर का ग्रहण देखने में आता है, वैसा ग्रहण करना सबको योग्य है।

['अग्नि' आदि नामों के ईश्वर या भौतिक अर्थ में नियामक हेतु]

परन्तु **'ओ३म्'** यह तो केवल परमात्मा ही का नाम है और **'अग्नि'** आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियम-कारक हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि **जहाँ-जहाँ स्तुति प्रार्थना उपासना आदि प्रकरण, और सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण लिखे हैं, वहीं-वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है।**

और जहाँ-जहाँ ऐसे प्रकरण हैं कि—

ततो॑ वि॒राड॑जायत वि॒राजो॒ अधि॒ पूरु॑षः ॥१॥
श्रोत्रा॑द्वा॒युश्च॑ प्रा॒णश्च॒ मुखा॑दु॒ग्निर॑जायत ॥२॥ —यजुः० ३१।१२
तेने॑ दे॒वाअ॑यजन्त ॥३॥ —यजुः० ३१।६
प॒श्चाद् भूमि॒मथो॑ पु॒रः ॥४॥ —यजुः० ३१।५

उसी को दृष्टि में रखकर उक्त शब्द लिखे गये हैं। अन्यत्र लिखा है—**'प्राणः प्रजापतिः'** (शत०६।३।१।६); **'प्राणस्य प्राणम्'** (बृहद्० ४।४।१८)। **'अतएव प्राणः'** (वेदान्त० १।१।२३) पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य ने लिखा है—**'ब्रह्मविषयः प्राणशब्दो दृश्यते, प्राणशब्दो ब्रह्मैव'**। पुनः **'प्राणस्तथानुगमात्'** (वेदान्त० १।१।२८) पर शंकराचार्य लिखते हैं—**'प्राणशब्दं ब्रह्म विज्ञेयम्'**। इन सूत्रों पर भामती और रत्नप्रभा टीकाओं में भी यही स्वीकार किया गया है।

ततो विराडिति—पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥ —यजुः० ३१।५

अध्यात्म के सम्बन्ध में 'विराट्' शब्द परमेश्वरवाची है, परन्तु सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय के सन्दर्भ में उससे ब्रह्माण्ड का ग्रहण होता है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अन्तर्गत सृष्टिविद्याविषय में ग्रन्थकार ने इस मन्त्र का विनियोग ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति में करते हुए लिखा है—**'सर्वशरीराणां समष्टिदेहो विविधैः पदार्थैः राजमानः सन् विराट् ब्रह्माण्डरूपः'**। मन्त्र की विस्तार से व्याख्या करते हुए वहाँ लिखा है—"**(ततो विराडजायत)** ततस्तस्माद् ब्रह्माण्डशरीरः सूर्यचन्द्रनेत्रो वायुप्राणः पृथिवीपाद इत्याद्यलंकारलक्षणलक्षितो हि सर्वशरीराणां समष्टिदेहो, विविधैः पदार्थैः राजमानः सन् विराडजायतोत्पन्नोऽस्ति। (विराजो अधिपूरूषः) तस्माद् विराजोऽधि उपरि पश्चाद् ब्रह्माण्डतत्त्वावयवैः पुरुषः, सर्वप्राणिनां जीवाधिकरणो देवः पृथक्-पृथक् अजायतोत्पन्नोऽभूत्। **(स जातो)** स देहो ब्रह्माण्डावयवैरेव वर्धते, नष्टः संस्तस्मिन्नेव प्रलीयत इति। परमेश्वरस्तु सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽतिरिच्यतातिरिक्तः पृथग्भूतोऽस्ति। **(पश्चाद् भूमिमथो)** पुरः पूर्वं भूमिमुत्पाद्य धारितवांस्ततः पुरुषस्य सामर्थ्यात् स जीवोऽपि धारितवानस्ति। स च पुरुषः परमात्मा ततस्तस्माज्जीवादप्यत्यरिच्यत पृथग्भूतोऽस्ति।"

अर्थात्—"ब्रह्माण्ड, जिसका अलंकाररूप से वर्णन किया है, जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है, जिसको मूल प्रकृति कहते हैं, जिसका शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य, जिसके सूर्य-चन्द्रमा नेत्रस्थानी हैं,

https://t.me/arshlibrary

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधिभ्योऽन्नम् । अन्नाद्रेतः । रेतसः पुरुषः[1] । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ॥५॥

—यह तैत्तिरीयोपनिषद् (ब्र० वल्ली१) का वचन है ॥

वायु जिसका प्राण और पृथिवी जिसका पग है, इत्यादि लक्षणवाला जो यह समष्टि देह है, को विराट् कहाता है । वह प्रथम कलारूप परमेश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न होके अप्राणी और प्राणियों का देह पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुआ है । जिसमें सब जीव वास करते हैं और जो देह उसी पृथिवी आदि के अवयव अन्न आदि ओषधियों से वृद्धि को प्राप्त होता है, सो विराट् परमेश्वर से अलग और परमेश्वर भी इस संसाररूप देह से सदा अलग रहता है । फिर भूमि आदि जगत् को प्रथम उत्पन्न करके पश्चात् जो धारण कर रहा है ।"

आचार्य सायण ने भी यहाँ विराट् का अर्थ ब्रह्माण्ड किया है—**"विस्पष्टं राजत इति ब्रह्माण्डदेहः पुरुषो विराट्"** । कहीं-कहीं उन्होंने ब्रह्माण्डाभिमानी देव को भी विराट् कहा है—**'विराट् कृत्स्नब्रह्माण्डाभिमानी देवः'** । ग्रन्थकार ने यहाँ जिस ब्रह्माण्डरूप विराट् का संकेत किया है, अथर्ववेद (१०।७।३२-३४) में उस ब्रह्म की पुरुषाकृति का आलंकारिक वर्णन स्पष्टतः उपलब्ध है । (द्रष्टव्य—अथर्ववेद १०।७।१८-१६ ; ६।५।२०-२१ तथा ११।३।१-२)

महाभारत में लोकात्मा का इस प्रकार वर्णन किया है—

यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः ।
सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः ॥ —शान्तिपर्व ४७।६६

उपर्युक्त शेष सन्दर्भों को उदाहरणरूप में उद्धृत करके ग्रन्थकार ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि जहाँ सृष्टि की उत्पत्त्यादि का प्रसंग होता है वहाँ विराट्, अग्नि आदि शब्दों से परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता, सृष्टि के निमित्तकारण के रूप में अथवा स्तुतिप्रार्थनोपासनादि के प्रसंग में ही इनसे परमेश्वर का ग्रहण होता है । इस सिद्धान्त को न समझने के कारण पाश्चात्य विद्वानों एवं तदनुयायी भारतीय विद्वानों ने यह धारणा बना डाली है कि वेदों में जड़ पदार्थों (अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा आदि) की पूजा का विधान है ।

तस्मादिति—(तस्माद्वा एतस्मादात्मनः) उस आत्मतत्त्व से आकाश सम्भूत हुआ । (आकाशाद्वायुः) आकाश से वायु (वायोरग्निः) वायु से अग्नि (अग्नेरापः) अग्नि से जल (अद्भ्यः पृथिवी) जल से पृथिवी (पृथिव्या ओषधयः) पृथिवी से ओषधियाँ (ओषधिभ्यः अन्नम्) ओषधियों से अन्न (अन्नाद्रेतः) अन्न से वीर्य (रेतसः पुरुषः) वीर्य से प्राणी बना । शरीर अन्न के रस से बनने के कारण पुरुष अन्नरसमय कहा जाता है—**'सः वा एषः पुरुषः अन्नरसमयः'** । यहाँ सृष्ट्युत्पत्ति का प्रसंग होने से आकाशादि नाम लौकिक= भौतिक पदार्थों के वाचक हैं, परमेश्वर के नहीं ।

सत् से ही सत् होता है, असत् या अभाव से सत् या भाव उत्पन्न नहीं होता । इसलिए जब उपनिषद् कहती है कि आत्मा से आकाशादि उत्पन्न हुए तो इसका यह अर्थ है कि आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी—इन सबका बीजरूप में आत्मा के साथ अस्तित्व वर्तमान था । दूसरे शब्दों में, इसका अर्थ यह हुआ

---

१. तै० उ० और तै० आ० में प्रायः 'ओषधिभ्योऽन्नम् अन्नात् पुरुषः' पाठ मिलता है । ग्रन्थकार द्वारा निर्दिष्ट पाठ तै० आरण्यक ८।२ के पाठान्तर में उपलब्ध होता है । द्र०-आनन्दाश्रम पूना-संस्करण । बम्बई की छपी 'मणिप्रभायुक्त एकादशोपनिषद्' में भी यह पाठ मिलता है ।

https://t.me/arshlibrary

ऐसे प्रमाणों में विराट्, पुरुष, देव, आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि आदि नाम लौकिक पदार्थों के होते हैं, क्योंकि **जहाँ-जहाँ उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, अल्पज्ञ, जड़, दृश्य आदि विशेषण भी लिखे हों, वहाँ-वहाँ परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता। वह उत्पत्ति आदि व्यवहारों से पृथक् है।** और उपरोक्त मन्त्रों में उत्पत्ति आदि व्यवहार हैं, इसी से यहाँ 'विराट्' आदि नामों से परमात्मा का ग्रहण न होके संसारी पदार्थों का ग्रहण होता है। **किन्तु जहाँ-जहाँ सर्वज्ञादि विशेषण हों वहीं-वहीं परमात्मा, और जहाँ-जहाँ इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और अल्पज्ञादि विशेषण हो, वहाँ-वहाँ जीव का ग्रहण होता है।** ऐसा सर्वत्र समझना चाहिए, क्योंकि परमेश्वर का जन्म-मरण कभी नहीं होता। इससे 'विराट्' आदि नाम और जन्मादि विशेषणों से जगत् के जड़ और जीवादि पदार्थों का ग्रहण करना उचित है, परमेश्वर का नहीं।

अब जिस प्रकार 'विराट्' आदि नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है, वह प्रकार नीचे लिखे प्रमाणे जानो—

['ओम्' की विस्तृत व्याख्या]

अथ ओङ्कारार्थः—'वि' उपसर्गपूर्वक **राजृ दीप्तौ** इस धातु से **'क्विप्'** प्रत्यय करने से 'विराट्' **शब्द** सिद्ध होता है। **'यो विविधं नाम चराऽचरं जगद् राजयति प्रकाशयति स विराट्'** विविध अर्थात् जो बहु प्रकार के जगत् को प्रकाशित करे, इससे **'विराट्'** नाम से परमेश्वर का ग्रहण होता है।

कि आत्मा (परमात्मा) सृष्टि का उपादानकारण न होकर निमित्तकारण है, जिससे पहले से कारणावस्था में विद्यमान प्रकृतितत्त्व से जगत् सम्भूत=अभिव्यक्त होता है। इसी से मिलता-जुलता वर्णन छान्दोग्योपनिषद् (६।२।१।४) में मिलता है।

विराट्—वैयाकरणों के मतानुसार दीप्त्यर्थक धातुएँ आकर्मक होती हैं, यथा— **'लज्जासत्तास्थिति-जागरणं, वृद्धिक्षयजीवितमरणम्।.....रुचिदीप्त्यर्थान् धातुगणानकर्मकमाहुः'**। अतः यहाँ 'राजते' को अन्तर्णीतण्यर्थक समझना चाहिए। इसकी पुष्टि उत्तर उद्धरण के 'राजयति' निर्देश से भी होती है। इसी दृष्टि से उभयत्र दीप्त्यर्थक 'काशृ' से णिजन्त 'प्रकाशयति' प्रयोग भी अञ्जसा उपपन्न हो जाता है।

विविध जगत् को प्रकाशित करने का अभिप्राय अव्यक्तावस्था से व्यक्त करना है, अभाव से भाव की उत्पत्ति करना नहीं। इस प्रकार भगवान् में जगत्कर्तृत्व आने से वे जगत् के कर्त्ता सिद्ध होते हैं। **'विशेषेण राजते इति विराट्'** विशेषरूप से प्रकाशित होने से भगवान् विराट् कहाते हैं। भगवान् के प्रकाशित होने में विशेषता यही है कि वह पर-प्रकाश्य न होकर स्वयंप्रकाश है। इस निर्वचन का मूल **'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'** (मुण्डक० २।२।१०) इस वचन में निहित है। आचार्य सायण **'ततो विराडजायत'** का भाष्य करते हुए विराट् पद का निर्वचन करते हैं—**'विविधानि राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट्'**। जिसमें नाना प्रकार की वस्तुएँ (स्थावर-जंगमात्मक जगत्) विराजमान है, अतः वह भगवान् विराट् है। श्रुति का वचन है—**'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्'** (यजुः० ३१।२) यहाँ 'पुरुष एवेदं सर्वम्' का अर्थ 'पुरुषस्थ एवेदं सर्वम्' अर्थात् 'यह सारा ब्रह्माण्ड भगवान् में ही है' ऐसा समझना चाहिए। **'यो ब्रह्माण्डस्यान्तरबहिर्व्याप्नोति स विराट्'** (रामोत्तरतापन्युपनिषद् ५) अर्थात् जो ब्रह्माण्ड के भीतर-बाहर व्याप्त है, वह विराट् है। **'प्रजापतिर्विराट् चैव'** (चूलिकोपनिषद् १३)—प्रजापति विराट् ही है। **'विराड् वाग् विराट् पृथिवी .... स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु'** (अथर्व० ६।१०।२४)। आशय यह है कि सम्पूर्ण जगत् भगवान् की शक्ति से व्यक्त होकर उसी में विराजता है, अतः वह विराट् कहाता है।

https://t.me/arshlibrary

अञ्चु गतिपूजनयोः:अग, अगि, इण् गत्यर्थक धातु हैं, इनसे 'अग्नि' शब्द सिद्ध होता है। **'गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति। पूजनं नाम सत्कारः'**। **'योऽञ्चति' अच्यते, अगति, अङ्गति, एति वा सोऽयमग्निः** जो ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ, जानने, प्राप्त होने और पूजा करने योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'अग्नि'** है।

अग्नि—'गति' के गमन और प्राप्ति अर्थ तो लोकप्रसिद्ध हैं, ज्ञानार्थ वैसा प्रसिद्ध नहीं है, अतः इस निमित्त कतिपय प्रमाण प्रस्तुत हैं—(१) **'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः'** (स्कन्दस्वामी निरुक्तटीका २।१६)। (२) **'गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वाद् गमेर्ज्ञानार्थता'** (ऋग्भाष्यटीका, जयतीर्थ, पृ० २)। (३) **'गत्यर्था ज्ञानार्थाः'** (न्यायसंग्रह, हैमपरिभाषापाठ, पृ० २०)।

निरुक्तकार ने अग्नि शब्द के अनेक निर्वचन दिये हैं। प्रथम निर्वचन है—'अग्रणीर्भवति' और द्वितीय निर्वचन है—**'अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते'**। यतः यास्क मुख्यतः आधिभौतिक एवं आधिदैविक दृष्टिकोण से लिख रहे हैं, अतः उनके निर्वचन भी वैसे ही हैं, परन्तु ग्रन्थकार ने ऋग्भाष्य के नमूने के अंक में तथा ऋग्वेदभाष्य (१।१।१) में 'अग्रणीः' का अर्थ 'सर्वोत्तमः' तथा 'अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते' का 'सर्वेषु यज्ञेषु पूर्वमीश्वरस्यैव प्रतिपादनात्' किया है। आचार्य शंकर ने भी 'अग्रणीर्भवति' का अर्थ अपने वेदान्तभाष्य में इस प्रकार किया है—**'अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयेण परमात्मविषय एव भविष्यति'** (१।२।२८)। परमेश्वर 'अग्रणीर्भवति' क्योंकि किसी भी कार्य में सर्वप्रथम उसी का स्मरण-स्तवन किया जाता है।

'तदेवाग्निस्तदादित्यः' (यजुः० ३२।१) पर भाष्य करते हुए महीधर ने लिखा है—**'अग्निः तदेव कारणं ब्रह्मैव आदित्यस्तदेव वायुस्तदेव चन्द्रमास्तदेव। उ एवार्थे। शुक्रं शुक्लं तत् प्रसिद्धम्..... ताः प्रसिद्धा आपः जलानि स प्रसिद्धः प्रजापतिरपि तदेव ब्रह्म'**। इसमें महीधर ने स्पष्ट ही अग्नि को परमात्मा का वाचक बताया है।

'श्रुतिसिद्धान्तसंग्रह' में अग्नि का एक नवीन निर्वचन इस प्रकार किया है—**'न गच्छति स्वतो न प्रवर्त्तते इत्यगः, विश्वम् अगं नयतीत्यग्निः'** अर्थात् इस जड़ जगत् का संचालन करने से भगवान् अग्नि कहाते हैं। यह संचालन दो प्रकार से होता है। एक सर्गादिकाल में प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करके जगद्रचनारूप से, दूसरा निर्मित जगत् के नियन्त्रणरूप से।

वैयाकरण 'अगि' धातु से अग्नि शब्द को सिद्ध करते हैं। उणादि का सूत्र है—**'अङ्गेर्नलोपश्च'** (४।५०)। तब निर्वचन होगा—'अङ्गतीत्यग्निः'। इस उणादिसूत्र की व्याख्या में ग्रन्थकार ने लिखा है—**'अङ्गति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा सोऽग्निः'**। वैदिक वाङ्मय में अनेकत्र अग्नि के परमेश्वरवाची होने का उल्लेख मिलता है। तद्यथा—**'अग्निरेव ब्रह्म'** (शत० १०।४।१।५)। **'अग्निपरेशमाहुः'** (ऋग्वेद १।१६४।४६ पर आत्मानन्द का भाष्य)। **'ब्रह्म वा अग्निः'** (कौषी० ६।१।५; शत० २।५।४।८ तथा तैत्ति० ३।६।१६।१)।

पाहि नोऽग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेरराव्णः।
पाहि रीषत उत वा जिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठ्य॥ —ऋक्० १।३६।१५

इस मन्त्र में अग्नि नामक परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि वह धूर्तों और राक्षसों से रक्षा करे। अग्नि के परमेश्वरवाची होने में सबसे बड़ा प्रमाण ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र है—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥ —ऋक्० १।१।१

https://t.me/arshlibrary

विश प्रवेश ने इस धातु से 'विश्व' शब्द सिद्ध होता है **'विशन्ति प्रविष्टानि भवन्ति सर्वाण्याकाशादीनि भूतानि यस्मिन्, यो वाऽऽकाशादिषु सर्वेषु भूतेषु प्रविष्टः स विश्व ईश्वरः'** जिसमें आकाशादि सब भूत प्रवेश कर रहे हैं, अथवा जो इनमें व्याप्त होके प्रविष्ट हो रहा है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'विश्व'** है। इत्यादि नामों का ग्रहण अकारमात्र[1] से होता है।

'ज्योतिर्वै हिरण्यम्'[2] ; **'तेजो वै हिरण्यम्'**[3]। इत्यैतरेयशतपथब्राह्मणे[4]। **'यो हिरण्यानां सूर्यादीनां तेजसां गर्भ उत्पत्तिनिमित्तमधिकरणं स हिरण्यगर्भः'** जिसमें सूर्यादि तेजवाले लोक उत्पन्न होके जिसके आधार रहते हैं, अथवा जो सूर्यादि तेजःस्वरूप पदार्थों का गर्भ नाम [उत्पत्ति] और निवास-स्थान है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'हिरण्यगर्भ'** है। इसमें यजुर्वेद के मन्त्र का प्रमाण है[5]—

इस मन्त्र में आये विशेषण तथा क्रियापद इस बात को प्रमाणित कर रहे हैं कि यहाँ अग्नि शब्द परमात्मा का वाचक है। भौतिक अग्नि से सुपथ-कुपथ में भेद करने और फिर प्रार्थयिता को सुपथ से ले जाने की प्रार्थना अथवा आशा कैसे की जा सकती है ?

(अग्नि शब्द ब्रह्म का वाचक है, इसके विस्तार से जानने के लिए ग्रन्थकार के ऋग्वेदभाष्य के नमूने का अंक तथा ऋग्भाष्य के प्रथम मन्त्र की व्याख्या देखें। ग्रन्थकार के समकालीन पं० महेशचन्द के एतद् विषयक आक्षेपों का उत्तर ग्रन्थकार ने अपनी पुस्तक 'भ्रान्तिनिवारण' में दिया है।)

विश्व—उणादिसूत्र १।१५१ की व्याख्या में एक निर्वचन यह किया है—**'विशति सर्वत्र स विश्वः'**। यह निर्वचन भगवान् की सर्वव्यापकता की दृष्टि के किया है। भगवान् इस जगत् में ओत-प्रोत हैं—**'स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु'** (यजुः० ३२।८)। विष्णुसहस्रनाम की शांकरमतानुसारी व्याख्या में इस शब्द के दो निर्वचन इस प्रकार मिलतें हैं—**'विशतीति विश्वं ब्रह्म'** अर्थात् जगत् में प्रवेश करने से वह विश्व कहाता है। इस निर्वचन का मूल **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** (तै०उ० २।६) इस उपनिषद्वचन में निहित है। 'संहृतौ विशन्ति सर्वाणि भूतान्यस्मिन्निति विश्वं ब्रह्म'। प्रलयकाल में सम्पूर्ण जगत् उसमें लीन होता है, इसलिए परमात्मा को विश्व कहते हैं। इस निर्वचन का मूल **'यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'** इस उपनिषद्वचन में उपलब्ध है।

ऋग्वेद में कहा है—**"गर्भो यो अपां गर्भो वनानां गर्भश्च स्थातां गर्भश्चरथाम्। अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोणे विशां न विश्वो अमृतः स्वाधीः।"** (ऋक्० १।७०।२) अर्थात् जो जलों का गर्भ=आधार है, जो वनों का आधार है, जो स्थावरों का आधार है, जो जंगमों का आधार है, प्रजाओं के समान देह में दीर्ण न होनेवाले जीवादि में रहनेवाला यह विश्व=परमात्मा अविनाशी तथा स्वाधार है। जो सम्पूर्ण कार्यजगत् में प्रविष्ट है और सम्पूर्ण कार्यजगत् जिसमें प्रविष्ट है, इससे दोनों प्रकार से विश्व ब्रह्म है।

---

१. उत्तरवर्ती संस्करणों में 'अकारमात्रा, उकारमात्रा' पाठ मिलता है। ग्रन्थकार ने भी इस प्रकरण के अन्त में 'एक-एक मात्रा से' ऐसा निर्देश किया है। 'माण्डूक्य उपनिषद्' में भी 'मात्रा' शब्द का ही प्रयोग है। अतः 'अकारमात्र' आदि में 'मात्रा' का ही पुल्लिग प्रयोग जानना चाहिए।

२. शत० ब्रा० ६।७।१।२॥ ज्योतिर्वै शुक्रं हिरण्यम्। ऐ० ब्रा० ७।१२॥

३. तै० ब्रा० ८।१।६।१॥

४. मूलपाठ यही है। उत्तरवर्ती संस्करणों में 'ऐतरेये शतपथे च ब्राह्मणे' पाठ बनाया है। मूलपाठ में 'ऐतरेयं च शतपथं च=ऐतरेयशतपथम्, ऐतरेयशतपथं च तद् ब्राह्मणं च ऐतरेयशतपथब्राह्मणम् तस्मिन्' ऐसा समास जानना चाहिए।

५. यजुः० १३।४॥

https://t.me/arshlibrary

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

इत्यादि स्थलों में **'हिरण्यगर्भ'** से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है ।

हिरण्यगर्भ—ग्रन्थकार ने इस शब्द में बहुव्रीहि और तत्पुरुष दोनों समास माने हैं—**'हिरण्यं तेजसो नाम हिरण्यानि सूर्यादीनि तेजांसि गर्भे यस्य स हिरण्यगर्भः'** तथा **'हिरण्यानां सूर्यादीनां तेजसां गर्भः हिरण्यगर्भः।'** (स. प्र.प्र.सं.) निघण्टु में हिरण्य शब्द धन के पर्यायों में लिखा है । देवराज यज्वा इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—**'अथवा द्विधातुजं रूपं हिनोतेः रमतेश्च धातुद्वयात् समुदितात् कन्यन् प्रत्ययो बाहुलकाद् रूपसिद्धिश्च, हितं च तद् आपदि दुर्भिक्षादौ रमयति च सर्वदा सर्वमिति ।'** आशय यह है कि हितकर तथा रमणीय होने से धन का नाम हिरण्य है । यह निर्वचन भगवान् में इस प्रकार संगत है—'हितं च रमणीयं च हिरण्यम्' अर्थात् हितकर तथा रमणीय पदार्थ कहाते हैं, 'हिरण्य' और हिरण्य का गर्भ अथवा निवासस्थान होने से भगवान् हिरण्यगर्भ है । श्वेताश्वतर के भाष्यकार निरुक्त को दृष्टि में रखकर हिरण्यगर्भ का एक सुन्दर निर्वचन करते हैं—**'हितं रमणीयमत्युज्ज्वलं ज्ञानं गर्भे अन्तःसारो यस्य'** अर्थात् रमणीय तथा उज्ज्वल ज्ञान जिसमें विद्यमान है, वह भगवान् हिरण्यगर्भ है ।

सुबोधिनीकार कहते हैं—**'हर्षते स्वप्रभया दीप्यते इति हिरण्यम्'** अर्थात् स्वयंप्रकाशपिण्ड हिरण्य कहाते हैं, **'एतादृशानां हिरण्यानां गर्भ उपादाता हिरण्यगर्भः परमेश्वरः'** इन तेजस्वी पदार्थों के उपादाता होने से भगवान् का नाम हिरण्यगर्भ है ।

मैत्र्युपनिषद् ६।८ में लिखा है—**'एवं हि खल्वात्मेशानः शम्भुर्भवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसृग्धिरण्यागर्भः'।**

यहाँ आत्मा, ईशान, शम्भु, भव, रुद्र, प्रजापति, विश्वसृक् और हिरण्यगर्भ परमात्मा के नाम हैं । शतपथ ब्राह्मण ६।२।२।५ में लिखा है—'प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः' । ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत मन्त्र ऋग्वेद १०।१२१ (हिरण्यगर्भसूक्त) का प्रथम मन्त्र है । इसपर भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने लिखा है—**'प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः'**। तथा च तैत्तिरीयसं०—'प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः....' (तै.सं. ५।५।१।२) ।

मन्त्रगत 'हिरण्यगर्भ' शब्द अत्यन्त सारगर्भित है । यह समस्त पद ईश्वर और प्रकृति के लिए प्रयुक्त संयुक्त पद है, जिसका सीधा अर्थ है—हिरण्य को अपने गर्भ में धारण करनेवाला । हिरण्य यहाँ प्रकृति का उपलक्षण है । प्रलयावस्था में प्रकृति परमात्मा के भीतर समाई रहती है । व्यवहार में न होने से सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व यह प्रकृति अव्यक्तावस्था में अदृश्य रहती है । सर्ग से पूर्व प्रलयकाल में परमात्मा अकेला नहीं, प्रकृति को अपने भीतर समेटे हुए बना रहता है—**'आनीदवातं स्वधया तदेकम्'** (नासदीयसूक्त) । यदि उस काल में प्रकृति का अभाव होता तो सर्गकाल में वह कहाँ से आ जाती—**'कथमसतः सज्जायेत'** (छान्दोग्य) । उसी हिरण्यगर्भ परमेश्वर ने सर्गकाल में पृथिवी-द्यौ आदि को धारण कर रखा है । उसी के लिए अन्यत्र कहा गया है—**'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व स्तभितं येन नाकः । यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः'** (यजुः०३२।६) ।

न्यूटन के आगमन से पूर्व विज्ञान के क्षेत्र में यह प्रमुख प्रश्न था कि सूर्य बिना किसी माध्यम के किसी ग्रह आदि को कैसे आकृष्ट कर सकता है । न्यूटन के ही समकालीन प्रमुख दार्शनिक जॉनलॉक (John Locke) की मान्यता थी कि कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ से टकराये बिना न उसमें गति पैदा कर सकता है और न उसके सम्पर्क में आये बिना उसे प्रभावित कर सकता है, पर न्यूटन ने युक्ति तथा प्रमाणों से सिद्ध कर दिखाया कि निराकार होकर भी विभिन्न तरंगें चलकर अन्य पदार्थों को प्रभावित करती हैं । बाद

https://t.me/arshlibrary

वा गतिगन्धनयोः[1] इस धातु से 'वायु' शब्द सिद्ध होता है। **गन्धनं हिंसनम्**[2]। **'यो वाति चराऽचरं जगद्धरति [जीवयति] प्रलयति बलिनां बलिष्ठः स वायुः** जो चराऽचर जगत् का धारण, जीवन और प्रलय करता, और सब बलवानों से बलवान् है, इससे उस ईश्वर का नाम **'वायु'** है।

में यह तथ्य भी सामने आया कि विद्युच्चुम्बकीय तरंगें निर्वात में भी, एकदम शून्य आकाश में महावेग से चलकर दूरस्थ पदार्थों को प्रभावित करती हैं। सूर्य द्वारा अन्य लोकों को आकर्षित करने का यही आधार है। अथर्ववेद के एक सूक्त (१०।७) में बार-बार पूछा गया कि वह खम्भा बताओ जिसके सहारे यह समस्त विश्व टिका है—**'स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः'**। इसके उत्तर में बताया गया—वह परब्रह्म परमेश्वर है। अन्ततः लॉक को स्वीकार करना पड़ा कि 'जो कुछ हमारी समझ से परे है, वह परमात्मा की शक्ति से बाहर नहीं है।' यह 'सः (परमेश्वरः) दाधार' इस वैदिक सिद्धान्त की विजय थी।

वायु—'वी' धातु के दो अर्थ व्याप्ति तथा प्रजनन हैं—**'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु'** (धातुपाठ)। तब निर्वचन का स्वरूप होगा— 'वेति व्याप्नोति प्रजनयति वा सर्वं जगत् स वायुः' सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त होने से तथा सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करने से भगवान् वायु कहाते हैं। **'कृवापाजिमिस्वदि-साध्यशूभ्य उण्'** इस उणादिसूत्र (१।१) का व्याख्यान करते हुए वायु का निर्वचन होगा—'वाति गच्छति जानाति वेति वायुः'। यहाँ 'गच्छति' साधारण वायु की दृष्टि से है और 'जानाति' भगवान् की दृष्टि से।

यहाँ एक शंका यह हो सकती है कि हिंसार्थक धातु से धारण करना अर्थ कैसे बन सकता है। एक अन्य शंका यह भी हो सकती है कि 'बलिनां बलिष्ठः' का निर्वचन से क्या सम्बन्ध है ?

प्रथम शंका का समाधान यह है कि यद्यपि धातु का सम्बन्ध तो प्रलय से ही है, तथापि उत्पत्ति के बिना प्रलय की कल्पना नहीं हो सकती, अतः अविनाभाव सम्बन्ध के कारण उत्पत्ति का स्वयं ही ग्रहण हो जाता है। इसी दृष्टि से ग्रन्थकार ने उपलक्षणपरकतया उत्पत्ति तथा स्थिति का उल्लेख भी कर दिया है।

निरुक्तकार के अनुसार तीन ही देवता हैं—अग्नि, वायु या इन्द्र तथा सूर्य—**तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः, अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुर्वा इन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः'** (निरुक्त ७।५)। आगे चलकर फिर कहा है—**'या का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्'** (निरुक्त ७।१०)। यहाँ पर व्याख्याकारों ने अनेक तर्क उठाकर यह प्रमाणित कर दिया है कि वायु और इन्द्र ये दो नाम एक ही देवता के हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण बल सम्बन्धी कार्य वायु का ही है, अतः ग्रन्थकार का वायु के सम्बन्ध में 'बलिनां बलिष्ठः' तर्कसंगत है। इस विषय—वायु के ईश्वरवाची होने में निम्न मन्त्र प्रमाण हैं—

स धाता स विधर्त्ता स वायुः। —अथर्व० १३।४।३
तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुः। —यजुः० ३२।१

तैजस्—निघण्टु में तेजः शब्द किरणों के पर्याय में पढ़ा है। देवराज यज्वा ने इसे **'तिज निशाने'** तथा **'तेज पालने'** दोनों धातुओं से निष्पन्न माना है। 'तिज निशाने असून् निश्यति तनूकरोति तमः पापं

---

१. धातु० २।४३॥

२. द्र०—'बस्त गन्ध अर्दने' (धातु० १०।१५२), 'अर्द हिंसायाम्' (धातु० १०।२५५)। 'गन्धनं मर्दनम्' इति क्षीरतरङ्गिण्यां क्वाचित्कः पाठः (२।४३, पृष्ठ १७८, रामलाल कपूर ट्रस्ट सं०)।

https://t.me/arshlibrary

तिज निशाने[1] इस धातु से तेजः, और इससे तद्धित[2] करने से 'तैजस' शब्द सिद्ध होता है। जो आप स्वयंप्रकाश और सूर्यादि तेजस्वी लोकों का प्रकाश करनेवाला है, इससे उस ईश्वर का नाम **'तैजस'** है। इत्यादि नामार्थ उकारमात्र से ग्रहण होते हैं।

ईश ऐश्वर्ये[3] इस धातु से 'ईश्वर' शब्द सिद्ध होता है। **'य ईष्टे सर्वैश्वर्यवान् वर्त्तते स ईश्वरः'** जिसका सत्य विचारशील ज्ञान और अनन्त ऐश्वर्य है, इससे उस परमात्मा का नाम **'ईश्वर'** है।

वा' इस निर्वचन के अनुसार 'तेजसि=निश्यति तनूकरोति वा अज्ञानं पापं वेति तेजः' स्वार्थे अण् तैजसः—इस प्रकार यह शब्द परमात्मा का वाचक सिद्ध होता है। 'स्वप्नस्थानस्तैजसः' (माण्डूक्य १०)। इसपर गौडपादाचार्य की कारिका है—'विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक् —कारिका ३

ईश्वरः—उणादिकार की दृष्टि से ईश्वर शब्द का निर्वचन है—**'आशुः करोतीतीश्वरः'** तथा धातु होगी **'अशूङ् व्याप्तौ'**। वहाँ का सूत्र है—**'अश्नोतेराशुकर्मणि वरट्'** (५।५७)। इस प्रकार ईश्वर में व्यापकत्व तथा आशुकर्त्तृत्व आता है। अथर्ववेद (११।४।१) के अनुसार **'यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्'** जो सबका ईश्वर है और जिसमें यह सब स्थित है, (वह ईश्वर कहाता है)। यजुर्वेद में बताया है—'य ईशे महतो महान्' जो महान्-से-महान् का भी सर्वोपरि स्वामी है (वह ईश्वर है)। गीता (१८।६१) में कहा है—**'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** हे अर्जुन ! ईश्वर प्राणिमात्र के हृदय में विद्यमान है। न्यायदर्शन के अनुसार ईश्वर के बिना कर्मफल की व्यवस्था नहीं हो सकती—**'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्'** (४।१।१९)। माण्डूक्योपनिषद् पर अपने भाष्य में गौडपादाचार्य लिखते हैं—

प्रणवं हीश्वरं विद्यात् सर्वस्य हृदि संस्थितम्।
सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति॥ —कारिका २८

यहाँ सबके हृदय में विद्यमान प्रणव को ईश्वर का पर्यायवाची बताया है। ऋक्परिशिष्ट (२३।१८) में लिखा है—

योऽसौ सर्वेषु वेदेषु पठ्यतेऽनघ ईश्वरः।
अकार्यो निर्वर्णो ह्यात्मा तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

लोकलोकान्तरों के ईशनकर्त्ता=रचयिता होने से वेद जिन्हें प्राणदाता ईश्वर कहते हैं (**स उ प्राणस्य प्राणः**—केन २) जो सर्वव्यापक हैं, नित्य (अकार्य) हैं तथा अविकारी (अव्रण) हैं, वे भगवान् मेरे मन को शुभ विचारोंवाला करें।

विष्णुसहस्रनाम के शांकरसम्प्रदायानुसारी भाष्य में लिखा है—**'निरुपाधिकमैश्वर्यमस्येतीश्वरः'**—जिसका ऐश्वर्य निरुपाधिक है, वह ईश्वर है।

अद्वैतमतानुसार ब्रह्म तथा ईश्वर नाम से अभिहित दो स्वतन्त्रता सत्ताएँ हैं। ब्रह्म सर्वथा निरपेक्ष एवं निष्क्रिय सत्ता है, जबकि ईश्वर में कर्त्तृत्व होने से वह सृष्टि के व्यापार से सम्बद्ध है। शांकरमत में ब्रह्म के दो रूप हैं—एक परब्रह्म जो सर्वथा निर्गुण है, और दूसरा अपर ब्रह्म जो माया की उपाधि के कारण बन जाता है। परब्रह्म सत्तामात्र है और निर्विकल्प समाधि का विषय है। माया की उपाधि से बननेवाला अपर ब्रह्म 'ईश्वर' कहाता है जो सविकल्प समाधि का विषय है। परब्रह्म सृष्टि की उत्पत्त्यादि के बखेड़े में नहीं

---

१. धातु० १।६६८॥

२. **'प्रज्ञादिभ्यश्च'** (अ० ५।४।३८) सूत्र से प्रज्ञादि के आकृतिगण होने से स्वार्थ में 'अण्'।

३. धातु० २।१०॥

https://t.me/arshlibrary

दो अवखण्डने[1] इस धातु से [नञ् अव्यय उपपद होने से] 'अदिति', और इससे तद्धित[2] करने से 'आदित्य' शब्द होता है। **'न विद्यते विनाशो यस्य सोऽयमदितिः, अदितिरेव आदित्यः'** जिसका विनाश कभी न हो, उसी ईश्वर की **'आदित्य'** संज्ञा है।

ज्ञा अवबोधने[3] 'प्र' पूर्वक इस धातु से **'प्रज्ञ'** और इससे तद्धित[4] करने से 'प्राज्ञ' शब्द सिद्ध होता

पड़ता। माया की उपाधि से अभिभूत ब्रह्म का घटिया रूप ईश्वर है। वही जगत् का निमित्तोपादानकारण है। मायारूपी अपनी शक्ति (प्रकृति) के सहयोग से वह लोकों की रचना करके उनका नियमन करता है—**'ब्रह्मैव स्वशक्तिप्रकृत्यभिधेयमाश्रित्य लोकान् सृष्ट्वा नियन्तृत्वादीश्वरः'**। वस्तुतस्तु ब्रह्म तथा ईश्वर एक ही सत्ता के दो नाम हैं।

बादरायण के ब्रह्मसूत्रों (वेदान्तदर्शन) में ब्रह्म का यह भेद कहीं उपलब्ध नहीं होता। ब्रह्मसूत्र का आरम्भ **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** से होता है। इस प्रकार उसका प्रतिपाद्य ब्रह्म है। दूसरे सूत्र (**जन्माद्यस्य यतः**) में उसी ब्रह्म का लक्षण किया है। दोनों सूत्रों को मिलाकर पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि जिज्ञास्य ब्रह्म वही है जिससे सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय होती है। शांकरमत के अनुसार तो यह लक्षण अपर ब्रह्म अर्थात् ईश्वर का ठहरता है, परन्तु सूत्र में तो इस बात का संकेत तक नहीं है कि अपर ब्रह्म अथवा माया की उपाधि से ईश्वर बना हुआ ब्रह्म सृष्टि की उत्पत्त्यादि का कारण है। यदि दुर्जनतोषन्याय से इसे माया की उपाधि से अध्यस्त ब्रह्म मान लिया जाए तो बादरायण ब्रह्मजिज्ञासु को अध्यस्त ब्रह्म अर्थात् ईश्वर के बताने के दोषी होंगे। यह जल के प्यासे को मृगतृष्णिका की ओर भेज देने जैसा होगा। फिर, जैसे सीप में अध्यस्त चाँदी के आभूषण नहीं बन सकते और रस्सी में अध्यस्त साँप के बच्चे नहीं हो सकते, वैसे ही अतात्विक=अध्यस्त ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति आदि नहीं हो सकती।

वस्तुतः ब्रह्म और ईश्वर में किंचिद् भेद नहीं है। एक होने पर भी परमात्मा को विविध नामों से पुकारा जाता है।

(In the eyes of the Hindus, there is but one Supreme God. This was stated long ago in the Rigveda in the following words—'Ekam sadvipra bahudha vadanti' which may be translated as—'The sages name the One Being variously'—An Englishman defends Mother India by Ernest Wood, P.128.)

विष्णुसहस्रनाम के भाष्य से उद्धृत वचन से स्पष्ट है कि परमात्मा को ईश्वर इसलिए कहते हैं कि उसका ऐश्वर्य निरुपाधिक अर्थात् निरवच्छिन्न है, इसलिए नहीं कि वह उपाधिग्रस्त है।

आदित्य—'दो अवखण्डने' इस धातु से दिति शब्द सिद्ध होता है। 'अवखण्डनं नाम विनाशः' उससे क्तिन् प्रत्यय करने से दिति शब्द होता है। दिति किसका नाम है, जिसका नाश होता है। उससे जब नञ्

---

१. धातु ४।३६॥

२. 'अदिति' शब्द की सिद्धि के लिए कोष्ठान्तर्गत पाठ आवश्यक है। तुलना करो—'शनैश्चर' नाम की व्याख्या। 'चर गतिभक्षणयोः; इस धातु से शनैस् अव्यय उपपद होने से.....।'

३. 'अदित' शब्द से अ० ४।१।८५ सूत्र से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में 'ण्य' प्रत्यय होकर 'आदित्य' शब्द सिद्ध होता है। ग्रन्थकार ने स्वार्थ में तद्धित प्रत्यय माना है। अतः यहाँ 'चातुर्वर्ण्यादीनां स्वार्थ उपसंख्यानम्' (महा० ५।१।१२४) वार्तिक से स्वार्थ से 'ष्यञ्' प्रत्यय जानना चाहिए। चातुर्वर्ण्यादि आकृतिगण हैं।

४. धातु० ६।४०॥

५. अ० ५।४।३८। सूत्र से स्वार्थ में 'अण्'।

https://t.me/arshlibrary

समास हुआ तब अदिति शब्द सिद्ध हुआ। अदिति जिसका कभी नाश न होय। जो आदिति है, वही अदित्य है।

—सत्यार्थप्रकाश, प्रथम संस्करण

यहाँ यह शंका होती है कि **'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः'** (४।१।८५) सूत्र से अपत्यार्थ में ण्य प्रत्यय होता है, ऐसा पाणिनि का मत है, तब स्वार्थ में ण्य प्रत्यय कैसे हो सकता है? परन्तु पाणिनि ने 'दित्यदित्यादित्य' आदि सूत्र से ण्य प्रत्यय केवल अपत्य अर्थ में विधान नहीं किया, अपितु 'प्राग्दीव्यतीयार्थ' में। 'तस्येदम्' अर्थ प्राग्दीव्यतीय है। शब्द का स्वार्थ भी 'तस्य-इदम्' उसका सम्बन्धी है। अतः यहाँ **'तस्येदम्'** (४।३।१२०) सूत्र से स्वार्थ में ण्य हो सकता है। सूत्रकार ने इसी सूत्र से आदित्य शब्द से भी तो ण्य प्रत्यय का विधान किया है। यह आदित्यपद अपत्यार्थक प्रत्यय के बिना ही तो बना है। अपत्यार्थक प्रत्यय अपत्य अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थों में भी हुआ करते हैं, ऐसा प्राचीन आचार्यगण मानते चले आये हैं। पूर्वमीमांसा के वेदापौरुषेयाधिकरण में **'ववरः प्रावाहणिरकामयत'** इस वाक्य में प्रावाहणि कोई प्रवाहण का पुत्र व्यक्तिविशेष नहीं है, यह प्रतिपादन करते हुए पूर्वमीमांसा के भाष्यकार शबरस्वामी लिखते हैं—**'इकारस्तु यथैवापत्ये सिद्धः तथा क्रियायामपि कर्तरि, तस्माद् यः प्रवाहयति, स प्रवाहणिः'** (पूर्वमीमांसा १।१।८।३०) अर्थात् अपत्यार्थक इञ् कर्त्ता अर्थ में भी होता है। इसी प्रकार यहाँ उफ्त्यर्थक ण्य प्रत्ययस्वार्थ में हुआ है, परन्तु इस इञ् से उपसर्ग और धातु दोनों में वृद्धि नहीं हो सकती।

उपनिषत्कार इसका निर्वचन भिन्न प्रकार से करते हैं—**'यस्मात्सर्वमादत्ते तस्मादादित्यः'** सबका आदान करने से भगवान् आदित्य कहाते हैं। (तुलना करें—**यस्मात् सर्वमाप्नोति सर्वमादत्ते सर्वमत्ति च**.....शाण्डिल्योप० ३।२।१) यहाँ प्रथम **'आदानात् अदितिः तस्य भावः आदित्यः'** यह स्वरूप समझना चाहिए। बृहदारण्यक में आङ्पूर्वक दद और इण् धातु से आदित्य बनाया है। वहाँ का निर्वचन है—**'ते यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति'** (बृहद० ३।६।५)।

विष्णुसहस्रनाम के शांकरसम्प्रदायानुसारी भाष्य में आदित्य पद के ये निर्वचन मिलते हैं—(क) **'अदितायाः अखण्डितायाः पतिः'** (ख) **'आदित्यात् साधर्म्याद् आदित्यः'**। आशय यह है कि भगवान् अपनी अखण्डता— अविनाशिनी शक्ति के स्वामी हैं, इसलिए उन्हें आदित्य कहते हैं अथवा आदित्य सबका प्रकाशक है, उसी सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान के प्रकाशक होने से भगवान् आदित्य कहाते हैं। आदित्य के परमात्मवाची होने के कतिपय प्रमाण—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । —यजुः० ३२।१
सोमं राजानं वरुणमग्निमन्वारभामहे ।
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ —साम०पू०१।२।१०।१
असौ वा आदित्यो ब्रह्म । —शत० ७।४।१।१४
आदित्यो वै ब्रह्म । —जै०उ० ३।४।६
हन्तेति चन्द्रमा ओमित्यादित्यः । —जै०उ० ३।६।२
ओमित्यादित्यः । —जै०उ० ३।१३।१२

प्राज्ञः—स्वार्थ में अण् प्रत्यय लगकर प्रज्ञ से प्राज्ञ शब्द बनता है। प्राज्ञ शब्द के निम्न निर्वचन भी बनते हैं—

प्रज्ञा अस्यास्तीति प्राज्ञः—यह निर्वचन वैयाकरणों का है।

https://t.me/arshlibrary

है। **'यः प्रकृष्टतया चराऽचरस्य जगतो व्यवहारं जानाति स प्रज्ञः, प्रज्ञ एव प्राज्ञः'** जो निर्भ्रान्त ज्ञानयुक्त सब चराऽचर जगत् के व्यवहार को यथावत् जानता है, इससे ईश्वर का नाम **'प्राज्ञ'** है। इत्यादि नामार्थ मकार [मात्र] से गृहीत होते हैं। जैसे एक-एक मात्रा से तीन-तीन अर्थ यहाँ व्याख्यात किये हैं, वैसे ही अन्य नामार्थ भी ओंकार से जाने जाते हैं।

[मन्त्रगत 'मित्र' आदि नामों की व्याख्या]

जो **(शन्नो मित्रः शं व०)** इस मन्त्र में मित्रादि नाम हैं, वे भी परमेश्वर के हैं, क्योंकि स्तुति, प्रार्थना, उपासना श्रेष्ठ ही की की जाती है। **'श्रेष्ठ'** उसको कहते हैं—जो गुण, कर्म, स्वभाव और सत्य-सत्य व्यवहारों में सबसे अधिक हो। उन सब श्रेष्ठों में भी जो अत्यन्त श्रेष्ठ, उसको **'परमेश्वर'** कहते हैं। जिसके तुल्य कोई न हुआ, न है और न होगा। जब तुल्य नहीं, तो उससे अधिक क्योंकर हो सकता है? जैसे परमेश्वर के सत्य, न्याय, दया, सर्वसामर्थ्य और सर्वज्ञत्वादि अनन्त गुण हैं, वैसे अन्य किसी जड़ पदार्थ वा जीव के नहीं है। जो पदार्थ सत्य है, उसके गुण, कर्म, स्वभाव भी सत्य होते हैं।

प्रकृष्टा ज्ञा यस्य स प्रज्ञ, प्रज्ञः एव प्राज्ञः, अर्थात् जिनमें प्रकृष्ट ज्ञान विद्यमान है। **'प्राज्ञः सुषुप्तस्थान'**ः (माण्डूक्य ११)।

'अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्' (बृहदारण्यक ४।३।२१)। यह पुरुष (जीवात्मा) प्राज्ञेनात्मना (परमात्मा) के साथ सम्पर्क में आया हुआ न कुछ बाहर जानता है, न अन्दर।

श्रेष्ठः—श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ —६।८

अर्थात् वह (परमात्मा) न किसी का उपादानकारण है और न उसका कोई कारण है। न उसके समान कोई है और न ही कोई उससे बड़ा है। उसकी महती शक्ति सुनी जाती है—उसका ज्ञान, बल और क्रिया स्वाभाविक है।

वस्तुतः चेतन सत्ता न किसी का कार्य होती है और न किसी का उपादानकारण हो सकती है। वह नित्य है। सांसारिक मित्रादि नश्वर हैं। एक-दूसरे की अपेक्षा से छोटे-बड़े भी हैं। इसलिए उपासना के प्रसंग में 'महेश्वर' एवं 'परमदेव' **(तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्**—श्वेत० ६।७) ही सर्वश्रेष्ठ होने से उपासना के योग्य है—वही 'ईड्य' है।

शन्नो मित्र—**'देवो देवानामसि मित्रोऽद्भुताः'** (ऋक्० १।६४।१३) अर्थात् आप देवों के देव और अद्भुत मित्र हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में आता है—**'ब्रह्म वै मित्रः'** (शत० ४।१।४।१) ; **'ब्रह्म हि मित्रः'** (शत० ५।३।२।४)।

मित्रं पवित्रं वनितां विनीतां सम्पत्तिमापत्तिहरीमुर्के ।
त्येजत् स्वतः को गुणवान् समर्थो वैधोऽन्तरायो यदि नान्तरो स्यात् ॥

इस और ऐसे अनेक वाक्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि देवतावाचक सूर्यार्थक मित्र शब्द पुल्लिग होता है और सखिवाचक नपुंसकलिंग, परन्तु वेद में अनेक स्थलों पर मित्र शब्द सखिवाचक होते हुए भी पुल्लिग में आया है। ऊपर उद्धृत मन्त्र (ऋक्० १।६४।१३) में मित्र शब्द स्पष्ट ही सबके सखा परमात्मा के लिए आया है, सूर्य के लिए नहीं। यह शब्द सखावाचक है, इसके लिए इस मन्त्र पर सायण का भाष्य द्रष्टव्य है—

https://t.me/arshlibrary

इसलिए मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर ही की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करें, उससे भिन्न की कभी न करें, क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, महादेव नामक पूर्वज महाशय विद्वान्, दैत्य-दानवादि निकृष्ट मनुष्य, और अन्य साधारण मनुष्यों ने भी परमेश्वर ही में विश्वास करके उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करी, उससे भिन्न की नहीं की। वैसे हम सबको करना योग्य है। इसका विशेष विचार मुक्ति और उपासना-विषय में किया जाएगा।

[मित्रादि यहाँ ईश्वर के ही वाचक हैं]

प्रश्न—मित्रादि नामों से सखा, और इन्द्रादि देवों के प्रसिद्ध व्यवहार देखने से उन्हीं का ग्रहण करना चाहिए।

उत्तर—यहाँ उनका ग्रहण करना योग्य नहीं, क्योंकि जो मनुष्य किसी का मित्र है, वही अन्य का शत्रु और किसी से उदासीन भी देखने में आता है। इससे मुख्यार्थ में सखा आदि का ग्रहण नहीं हो सकता, किन्तु जैसा परमेश्वर सब जगत् का निश्चित मित्र, न किसी का शत्रु और न किसी से उदासीन है, इससे भिन्न कोई भी जीव इस प्रकार का कभी नहीं हो सकता, इसलिए परमात्मा ही का ग्रहण यहाँ होता है। हाँ, **गौण अर्थ में मित्रादि शब्द से सुहृदादि मनुष्यों का ग्रहण होता है।**

ञिमिदा स्नेहने[1] इस धातु से औणादिक **'क्त्र'**[2] प्रत्यय के होने से 'मित्र' शब्द सिद्ध होता है। **'मेद्यति स्निह्यति स्निह्यते वा स मित्रः'** जो सबसे स्नेह करने और सबको प्रीति करने योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'मित्र'** है।

वृञ् वरणे; वर ईप्सायाम्[3] इन धातुओं से उणादि **'उनन्'**[4] प्रत्यय होने से 'वरुण' शब्द सिद्ध होता है। **'यः सर्वान् शिष्टान्मुमुक्षून् धर्मात्मनो वृणोति, अथवा यः शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्मभिर्व्रियते वर्य्यते वा स वरुणः परमेश्वरः'** जो आप्तयोगी विद्वान् मुक्ति की इच्छा करनेवाले मुक्त और धर्मात्माओं का स्वीकारकर्त्ता, अथवा जो शिष्ट मुमुक्षु, मुक्त और धर्मात्माओं से ग्रहण किया जाता है, वह ईश्वर **'वरुण'** संज्ञक है। अथवा **'वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः'** जिसलिए परमेश्वर सबसे श्रेष्ठ है, इसीलिए उसका नाम **'वरुण'** है।

'हे अग्ने देवो द्योतमानस्त्वं देवानां सर्वेषामद्भुतो महान् मित्रोऽसि प्रौढः सखा भवसि।'

इसी प्रकार निम्नलिखित मन्त्र और उसपर सायणभाष्य भी ग्रन्थकार के मत का पोषक है—

त्वं जामिर्जनानामग्ने मित्रो असि प्रियः। सखा सखिभ्य ईड्यः॥

—ऋक्० १।७५।४

इसपर सायणभाष्य—**"हे अग्ने त्वमुक्तप्रकारेणाचिन्त्यरूपोऽप्यनुग्रहीतृतया सर्वेषां जनानां जामिर्बन्धुरसि, तथा प्रियः प्रीणयिता त्वं यजमानानां मित्रः प्रमीतेस्त्रायकोऽसि।"** **'मित्रं वयं हवामहे'** (ऋक्० १।१३।४) इन दोनों मन्त्रों में मित्र शब्द पुल्लिग होते हुए भी स्पष्टतः सखावाचक है।

---

१. धातु० ४।१२६॥

२. 'अमिचिमिदिशंसिभ्यः क्त्रः' (उ० ४।१६५) से। सूत्र का यही प्रायिक पाठ है। उणादिकोष ४।१६५ में 'अमिचिमिदिशंसिभ्यः क्त्रः' पाठ मानकर 'मिञ्' (स्वादि) धातु से व्युत्पत्ति दर्शाई है।

३. वृञ्—धातु० ५।५८; 'वर'—धातु० १०।२८०॥

४. **कृवृदारिभ्य उनन्** (उ० ३।५३) बहुल-ग्रहण से 'वर' धातु से भी 'उनन्' जानना चाहिए।

https://t.me/arshlibrary

ऋ गतिप्रापणयोः[1] इस धातु से **'यत्'**[2] प्रत्यय करने से 'अर्य्य' शब्द सिद्ध होता है, और **'अर्य्य'** पूर्वक **माङ् माने**[3] इस धातु से **'कनिन्'**[4] प्रत्यय होने से **'अर्य्यमा'** शब्द सिद्ध होता है। **'योऽर्य्यान् स्वामिनो न्यायाधीशान् मिमीते मान्यान् करोति सोऽर्य्यमा'** जो सत्यन्याय के करनेहारे मनुष्यों का मान्य, और पाप तथा पुण्य करनेवालों को पाप और पुण्य के फलों का यथावत् सत्य-सत्य नियमकर्त्ता है, इसी से उस परमेश्वर का नाम **'अर्य्यमा'** है।

वरुण— **मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः ।**
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ॥ —यजुः० ३२।१५

इस मन्त्र में सर्वश्रेष्ठ वरुण परमात्मा और अग्नि, प्रजापति आदि नामक परमात्मा से मेधा की प्रार्थना की गयी है। मैत्र्युपनिषद् में कहा है—

त्वमग्निर्वरुणो वायुस्त्वमिन्द्रस्त्वं निशाकरः । —५।१

सन्ध्या के अन्तर्गत 'प्राची दिगग्निः' आदि मनसापरिक्रमा के मन्त्रों तथा उनके ऋषिकृत अर्थों को देखकर यह भ्रान्ति हो सकती है कि अग्नि, वरुण आदि शब्द दिक्पालों के वाचक हैं, परमात्मा के नहीं। परन्तु मनसापरिक्रमा मन्त्रों के अर्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने लिखा है—

'सर्वासु दिक्षु व्यापकमीश्वरं सन्ध्यायामग्न्यादिभिः नामभिः प्रार्थयेत्' अर्थात् सन्ध्या में अग्न्यादि नामों से सब दिशाओं में व्याप्त परमेश्वर से प्रार्थना करे। **'प्रतीची दिग्वरुणो.....'** मन्त्र का अर्थ करते हुए वे लिखते हैं—**'वरुणः सर्वोत्तमोऽधिपतिः परमेश्वरः'** (पञ्चमहायज्ञविधि)।

अर्यमा—भाषा की दृष्टि से निर्वचन होगा—**'ऋच्छति मनुष्याणां शुभाशुभानि कर्माणि जानाति अथ च तेभ्यस्तेषां फलानि प्रापयतीत्येतदर्यमा'**। ऐसा निर्वचन होने पर यह शब्द ऋ धातु से मनिन् प्रत्यय होकर निपातन से सिद्ध होगा। 'श्वन्-उक्षन्-पूषन्' इत्यादि उणादिसूत्र का व्याख्यान करते हुए ग्रन्थकार ने एक और निर्वचन किया है—**'अर्यं स्वामिनं मिमीते मन्यते जानातीति वा अर्यमा'** शुभाशुभ कर्मों के ज्ञानपूर्वक फलप्रदाता होने से, शुभाशुभ कर्मों को जानकर फलांश में उनका नियमन करने से, सत्यवक्ता, न्यायकारी मनुष्यों को सम्मानकर्त्ता होने से भगवान् अर्यमा कहाते हैं।

वैयाकरण अर्यमा का निर्वचन **'ऋ गतौ'** जुहोत्यादिगणी धातु से करते हैं। तब निर्वचन का स्वरूप होगा—**'इयर्तीत्यर्यमा'**। इस अवस्था में सर्वत्र व्याप्त होने से भगवान् अर्यमा है, क्योंकि गति से ज्ञान, गमन और प्राप्ति गृहीत होती है। ब्राह्मणकार कहते हैं—**'अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति'** (तै०ब्रा० १।१।२।४)। आशय यह है कि जो दाता है वह अर्यमा है। तब निर्वचन होगा—**'अरं गच्छतीत्यर्यमा'** (तै०ब्रा० १।१।२।४) सर्वकर्मफल प्रदाता ईश्वर ही है, यह सर्वथा सत्य है।

अथर्ववेद में कहा है—**'सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः सोऽग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः'** (१३।४।५); वह अर्यमा है, वह वरुण है, वह रुद्र है, वह महादेव है, वह अग्नि है, वह सूर्य है और वही महायम है। वहीं आगे कहा है—

---

१. धातु० १।६७०॥
२. अर्यः स्वामिवैश्ययोः (अ० ३।१।१०३) सूत्र में स्वामी अर्थ में यत्प्रत्ययान्त निपातन किया है।
३. धातु० ३।६॥
४. **श्वन्नुक्षन्.....अर्यमन्.....**(उ० १।१५६) में कनिन्-प्रत्ययान्त निपातित है।

https://t.me/arshlibrary

इदि परमैश्वर्ये[1] इस धातु से **'रन्'**[2] प्रत्यय करने से 'इन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। **'य इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः परमेश्वरः'** जो अखिल ऐश्वर्ययुक्त है, इससे उस परमात्मा का नाम **'इन्द्र'** है।

'बृहत्' शब्दपूर्वक पा रक्षणे[3] इस धातु से 'डति'[4] प्रत्यय, बृहत् के तकार का लोप और सुडागम[5] होने से 'बृहस्पति' शब्द सिद्ध होता है। **'यो बृहतामाकाशादीनां पतिः स्वामी पालयिता स बृहस्पतिः'** जो बड़ों से भी बड़ा और बड़े आकाशादि ब्रह्माण्डों का स्वामी है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'बृहस्पति'** है।

अर्यमणं यजामहे सुबन्धुं पतिवेदनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनात् प्रेतो मुञ्चतु नामुतः॥ —अथर्व० १४।१।१७
इन्द्र—सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते।
त्वामभि प्रनोनुमो जोतारमपराजितम्। —साम० उ० २।१।१६

कौषितकि ब्राह्मण का वचन है—**'तस्मादाहेन्द्रो ब्रह्मेति'**। —६।१४

शंकराचार्य भी इन्द्र शब्द से देवराज इन्द्र नामक व्यक्तिविशेष का ग्रहण नहीं करते। बृहदारण्यक २।५।१६ के भाष्य में उन्होंने लिखा है—**'इन्द्रः परमेश्वरः'**।

बृहस्पति—ग्रन्थकार ने 'बृहत्' तथा 'पति' इन दो शब्दों से मिलाकर बृहस्पति शब्द को बनाया है। (द्रष्टव्य—**तद् बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च** (महाभाष्य ६।१।१५७)। इस शब्द के निर्वचन सम्बन्धी पाश्चात्य मत के निराकरण के लिए श्री युधिष्ठिर मीमांसक कृत 'वैदिकस्वरमीमांसा' ग्रन्थ का अध्याय ८ देखना चाहिए।) यहाँ बृहस्पति शब्द के तीन अर्थ किये हैं—

१. **बड़ों से भी बड़ा**—निरुक्तकार बृहत् पद का अर्थ करते हुए लिखते हैं—**'बृहदिति महतो नामधेयम् परिवृढं भवति'** (नि० १।७)। परिवृढ शब्द के विषय में पाणिनि कहते हैं—**'प्रभौ परिवृढः'** (७।२।२१) अर्थात् परिवृढ का अर्थ है— प्रभु वा पति। इस प्रकार बृहस्पति का अर्थ हुआ बड़ों-से-बड़ा।

२. **आकाशादि ब्रह्माण्डों का स्वामी**—जड़ पदार्थों में आकाश, काल, दिक् आदि महान् हैं। ब्रह्माण्ड भी महान् है। इन बड़ों के पालक, रक्षक भगवान् बृहस्पति हैं। इस प्रकार आकाशादि ब्रह्माण्डों के स्वामी हैं।

३. **ब्रह्मादिकों का स्वामी**—चेतनों में ब्रह्मा सबसे बड़े हैं, वे महान् हैं, पूज्य हैं, क्योंकि वे सृष्टि के आदि में उत्पन्न होनेवाले चारों वेदों के प्रवक्ता महापुरुष हैं—**'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै'** (श्वेता० ६।१८)। इन ब्रह्मा को उत्पन्न करके वेद का ज्ञान देनेवाले भगवान् निश्चय ही ब्रह्मा से बड़े हैं। आशय यह है कि जड़-चेतन जगत् में सबसे बड़े होने से भगवान् बृहस्पति कहाते हैं।

पति का अर्थ योगक्षेम करनेवाला भी होता है। इस प्रकार **'बृहतां ब्रह्माण्डानां पतिः योगक्षेमकरः बृहस्पतिः'** भगवान् ही समस्त चराचर के पालक एवं संरक्षक हैं। पति शब्द **'पा पाने'** से भी बनता है।

---

१. धातु० १।५१॥
२. **ऋज्रेन्द्राग्र०** (उ० २।२६) सूत्र में रन्-प्रत्ययान्त निपातित है।
३. धातु २।४६॥
४. **पातेर्डतिः** ॥ उ० ४।५८॥
५. **तद् बृहतोश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च** (गण० ६।१।१५१ के) पारस्करादिस्थ गणसूत्र से।

https://t.me/arshlibrary

विष्लृ व्याप्तौ[1] इस धातु से **'नु'**[2] प्रत्यय होकर 'विष्णु' शब्द सिद्ध हुआ है। **'वेवेष्टि व्याप्नोति चराऽचरं जगत् स विष्णुः'** चर और अचररूप जगत् में व्यापक होने से परमात्मा का नाम **'विष्णु'** है।

'उरुर्महान् क्रमः पराक्रमो यस्य स उरुक्रमः' अनन्तपराक्रमयुक्त होने से परमात्मा का नाम **'उरुक्रम'** है।

तब बृहतः—**'ब्रह्मणः तृणपर्यन्तान् लोकान् पिबति विनाशकाले इति बृहस्पतिः'** अर्थात् प्रलयकाल में बड़े-बड़े लोकलोकान्तरों को अपने में लीन करनेवाला होने से भगवान् बृहस्पति है।

सोमं राजानं वरुणमग्निमन्वारभामहे ।
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ —साम० ६१

इस मन्त्र में परमात्मा के कई नाम आये हैं, उन्हीं में एक बृहस्पति है।

कतिपय अन्य प्रमाण इस प्रकार हैं—'स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु' (ऋक् ० १।८९६) ; **'ब्रह्म वै बृहस्पतिः'** (ऐत० १।१३।१।१६ ; कौषी० ६।१० ; शत० ३।१।१४-१५ ;जै०उ० १।३७।६) ; **'ब्रह्म बृहस्पतिः'** (गोपथ० ६।७)।

विष्णु— 'यस्माद् विष्टमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः ।
तस्मादेवोच्यते विष्णुर्विशेर्धातोः प्रवेशनात् ॥' —विष्णु० ३।१।४५

अर्थात् जो समस्त जगत् में व्यापक हो, वह विष्णु है। व्याप्ति अर्थवाले विष्लृ धातु से नुक् प्रत्यय लगकर विष्णु शब्द बनता है। इसलिए वह विष्णु कहाता है।

उरुक्रमः—इस शब्द का यह निर्वचन भी हो सकता है—**'उरुः महान् क्रमः क्रान्तिर्यस्य'** अर्थात् जिसकी क्रान्ति महान् है। जो **'धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्'** (ईश ४) बैठा-बैठा ही दौड़नेवालों से आगे निकल जाता है, क्योंकि वह 'पूर्वमर्षत्' सर्वव्यापक होने से पहले ही सर्वत्र विद्यमान है=पहुँचा हुआ है—यही उसकी क्रान्ति है। निम्न स्थल पर उरुक्रम शब्द भगवान् के लिए प्रयुक्त हुआ है—

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवमवो भवन्ति ।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥

—ऋक् ० १।१५४।५

वाचस्पत्य कोष में उरु शब्द का अर्थ लिखा है—**'उरवो भूम्यादिव्यापकत्वात् क्रमाः पादविक्षेपो यस्य ।'**

मित्रादि शब्दों की व्याख्या के अनन्तर ग्रन्थकार ने लिखा है—

'ब्रह्मा, विष्णु, महादेव नामक पूर्वज महाशय विद्वान् इत्यादि ।'

परन्तु इससे पूर्व वे बलपूर्वक इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते रहे हैं कि वेदों में किन्हीं व्यक्ति-विशेष के नाम न होकर यौगिक अर्थों के आधार पर परमेश्वर के ही वाचक हैं और उसके विविध प्रकार के गुणों या धर्मों का बोध कराते हैं। इससे ग्रन्थकार वदतोव्याघात के दोषी हैं, क्योंकि ये दोनों पाठ परस्पर विरोधी हैं। ग्रन्थकार के मन्तव्य को भली प्रकार न समझने के कारण यह बात कही जा सकती है। वास्तव में उन्होंने यह कहीं भी नहीं लिखा कि ब्रह्मा, विष्णु आदि अन्य पदार्थों या मनुष्यों के नाम नहीं हो सकते। इनका कहना है कि—

---

१. धातु ३।१३॥
२. विषेः किच्च । उ० ३।३९॥

https://t.me/arshlibrary

जो परमात्मा (उरुक्रमः) महापराक्रमयुक्त, (मित्रः) सबका सुहृत्, अविरोधी है, वह (शम्) सुखकारक, वह (वरुणः) सर्वोत्तम, वह (शम्) सुखस्वरूप, वह (अर्य्यमा) [न्यायाधीश, वह] (शम्) सुखप्रचारक, वह (इन्द्रः) [सकल ऐश्वर्यवान्] (शम्) सकल ऐश्वर्यदायक, वह (बृहस्पतिः) सबका अधिष्ठाता, विद्याप्रद, और (विष्णुः) जो सबमें व्यापक परमेश्वर है, वह (नः) हमारा (शम्)[1] कल्याणकारक (भवतु) हो ।

(वायो ते ब्रह्मणे नमोऽस्तु) **बृह बृहि वृद्धौ**[2] इन[3] धातुओं से 'ब्रह्म' शब्द सिद्ध हुआ है । जो सबके ऊपर विराजमान, सबसे बड़ा, अनन्तबलयुक्त परमात्मा है, उस **'ब्रह्म'** को हम नमस्कार करते हैं । हे परमेश्वर! (त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि) आप ही अन्तर्यामिरूप से प्रत्यक्ष ब्रह्म हो । (त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि) मैं आप ही को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा, क्योंकि आप सब जगह में व्याप्त होके सबको नित्य ही प्राप्त हैं । (ऋतं वदिष्यामि) जो आपकी वेदस्थ यथार्थ आज्ञा है, उसी को मैं सबके लिए उपदेश और आचरण भी करूँगा । (सत्यं वदिष्यामि) सत्य बोलूँ सत्य मानूँ और सत्य ही करूँगा । (तन्मामवतु) सो आप मेरी रक्षा कीजिए । (तद्वक्तारमवतु) सो आप मुझ आप्त सत्यवक्ता की रक्षा कीजिए कि जिससे आपकी आज्ञा में मेरी बुद्धि स्थिर होकर विरुद्ध कभी न हो, क्योंकि जो आपकी आज्ञा है वही **'धर्म'** और जो उससे विरुद्ध वही **'अधर्म'** है ।

"ओं यह तो केवल परमात्मा का ही नाम है और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियामक हैं ।"

मनुस्मृति के निम्न श्लोक से वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाती है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥

वाचस्पति, वरुण, बृहस्पति, आदित्य, विश्वेश्वर आदि नाम परमेश्वर के भी हैं और लोक में अनेक मनुष्यों के भी, परन्तु जहाँ वेद में ये नाम यौगिक हैं वहाँ लोक में रूढ़ हैं । सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह समझने की है कि व्यक्तिवाचक नाम वेद से लोक में आये हैं, लोक से वेद में नहीं ।

मित्र आदि शब्दों से मुख्य अर्थ में परमेश्वर का ही ग्रहण करना चाहिए, गौण अर्थ में सुहृद् आदि का ग्रहण किया जा सकता है । इसी प्रकार माता, पिता, पति आदि शब्दों से मुख्यरूप में परमेश्वर का तथा गौणरूप से इन सम्बन्धों से निर्दिष्ट मनुष्यों का ग्रहण करना युक्त है । कारण ? पूर्णरूप से इन शब्दों के अर्थ परमेश्वर में ही घट सकते हैं । अन्य वस्तुओं में तो इन अर्थों का कुछ अंश ही पाया जाता है । जैसे—अग्नि का गुण प्रकाश है, किन्तु भौतिक अग्नि में तो बहुत कम प्रकाश होता है और वह भी कुछ समय के पश्चात् नष्ट हो जाता है । इसके विपरीत परमेश्वर नित्य प्रकाशस्वरूप है । यही स्थिति अन्य नामों की समझनी चाहिए । इसलिए अग्नि आदि नामों से मुख्यरूप से परमेश्वर का ही ग्रहण करना चाहिए।

प्रत्यक्ष ब्रह्म—प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण न्यायदर्शन में इस प्रकार किया है—**"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्** " (१।१।४) । एतदनुसार इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के बिना

१. वैयमु० संस्करणों में '(शम्)' पद पूर्व पंक्ति में 'विद्याप्रद' शब्द से पूर्व अस्थान में पठित है ।

२. धातु० १।४८८॥

३. बृंहेर्नोच्च (उ० ४।१४७) सूत्र से 'बृहि (बृंह) धातु से बनाया है । 'बृह' पक्ष में बहुलग्रहण से 'अम्' आगम जानना चाहिए ।

https://t.me/arshlibrary

किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। परमेश्वर इन्द्रियातीत है—इस विषय में सभी एकमत हैं। इसलिए ग्रन्थकार का परमेश्वर के लिए **'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि'** कहना किसी प्रकार उपपन्न नहीं होता, किन्तु ग्रन्थकार का यह कथन उपनिषत्कार के अनुकूल है और उपनिषत्कार साक्षात्कृतधर्मा ऋषि है। इसलिए यह वचन अन्यथा नहीं हो सकता।

चक्षु, श्रोत्रादि पाँच बाह्येन्द्रियाँ हैं। इनसे अतिरिक्त एक आन्तरेन्द्रिय 'मन' है। (**'एकादशं पञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम्'**; **'कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम्'** (सांख्य २।१७,१६) अर्थात् कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों के साथ ग्यारहवीं इन्द्रिय मन है।) चक्षु आदि इन्द्रियों के वर्ग में मन का उल्लेख इनके धर्मभेद के कारण नहीं किया जाता। इन्द्रियाँ भौतिक हैं, भूतों से याथायथ इनकी उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत मन अभौतिक पदार्थ है, पृथिवी आदि भूतों से उत्पन्न नहीं होता। इसके अतिरिक्त चक्षु आदि इन्द्रियों के समान रूपादि नियत विषय का ग्राहक न होकर मन रूप, रस आदि सभी का ग्रहण करता है। बाह्य इन्द्रियों के साथ मन का यह भेद होने के कारण इन्द्रियवर्ग में इसका पाठ नहीं किया जाता, परन्तु है यह एक आन्तर इन्द्रिय और इसी के द्वारा आत्मा आदि प्रमेय का (मानस) प्रत्यक्ष होता है।

इन्द्रियों द्वारा विषय के सम्पर्क से भिन्न-भिन्न अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं। जल के प्रत्यक्ष में स्पर्श से शीतलता, जिह्वा से रस, चक्षुओं से रूप व तरलता आदि की पृथक्-पृथक् अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं। अलग-अलग ये अनुभूतियाँ केवल शब्द, स्पर्श आदि की सूचनामात्र हैं। मन में इन सबकी सूचनाओं के एकत्र हो जाने पर उनके संयोग-वियोग द्वारा बुद्धि उन अनुभूतियों को समवेत रूप देकर उन्हें किसी नाम से अभिहित कर देती है। इसी को विषय का प्रत्यक्ष कहते हैं। वस्तुतः इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से गुणों का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु गुण-गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से गुणों के साथ गुणी का प्रत्यक्ष मान लिया जाता है।

जिस प्रकार घ्राण आदि के द्वारा गन्ध आदि गुणों का प्रत्यक्ष होने से गुणी पृथिवी का प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही परमात्मा के लिङ्गों को देखकर लिङ्गी परमात्मा का प्रत्यक्ष हो जाता है। जगद्रचना को देखकर उसके रचयिता का, नियमों के उपपन्न होने से उसके नियामक का, कर्मफलव्यवस्था को देखकर उसके व्यवस्थापक का ऐसे ही प्रत्यक्ष हो जाता है जैसे बग़ीचे की शोभा और व्यवस्था को देखकर माली का। कलाकृति को चक्षु से प्रत्यक्ष करते हुए कलाकार का मानस प्रत्यक्ष हो जाता है।

इस व्यवस्था का मूल ऋग्वेद के इस मन्त्र में उपलब्ध है—

अयमस्मि जरितः पश्य मेह विश्वा जातान्यभ्यस्मि महना। —८।१००।४

परमेश्वर कहता है— हे स्तुतिकर्त्ता! मैं तेरे सामने प्रत्यक्ष हूँ। मुझे यहाँ इस जगत् के रूप में देख। मैं अपने महान् सामर्थ्य से सब पदार्थों को वश में किये हुए हूँ।

उपनिषद् ने उसे **'आविः सन्निहितं गुहाचरन्'** (मुण्डक० २।२।१) प्रकट, निकट और हृदय में स्थित बताया है। यजुर्वेद (४०।५) में उसे **'तद्दूरे तद्वन्तिके'** दूर और निकट कहा है। अपने ही भीतर निकटस्थ होने से उसे देखा जा सकता है—**'दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'**। सूक्ष्म बुद्धिवाले सूक्ष्मदर्शी योगियों के लिए वह प्रत्यक्ष है, चर्मचक्षुओं से देखनेवालों के लिए परोक्ष है। महर्षि दयानन्द वेदविद्या में पारङ्गत, परम तपस्वी एवं योगविद्या में निष्णात योगी थे। साक्षात्कृतधर्मा होने के कारण ही उन्होंने ग्रन्थ के आरम्भ में घोषणा की—**'त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि'** और अपनी प्रतिज्ञा का उन्होंने अक्षरशः पालन किया। इसलिए ग्रन्थ में अन्त में घोषणा की—**'त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्'**। इस प्रसंग में प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् आचार्य नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ और महर्षि के शिष्य एवं वेदभाष्य में उनके सहयोगी पं० ज्वालादत्त

https://t.me/arshlibrary

शर्मा के बीच हुआ निम्न वार्तालाप द्रष्टव्य है—

आचार्यजी ने पं० ज्वालादत्त से पूछा कि स्वामीजी वेदभाष्य कैसे करते थे ? पण्डितजी ने बतलाया—

"प्रातः नित्यकर्मों से निपटकर हम सब पण्डित (३ या ४) नियत समय पर, नियत स्थान पर एकत्र हो जाते थे। इतने में स्वामीजी आ विराजते। आते ही स्वामीजी कहते—चलो, वेदमन्त्र पढ़ो। हममें से कोई वेदमन्त्र पढ़ता था (प्रायः मैं ही पढ़ता था)। दो-तीन बार वेदमन्त्र पढ़ने के पश्चात् स्वामीजी हमको पदच्छेद, अन्वय लिखाते थे फिर पूछते, निरुक्त क्या कहता है, पूर्वमन्त्र में क्या है, अगले मन्त्र को पढ़ो इत्यादि। यह सब-कुछ हो जाता तब स्वामीजी पासवाले कमरे में चले जाते, कमरे के दरवाज़े बन्द हो जाते और घण्टे के पश्चात् स्वामीजी बाहर आकर संस्कृत में भाष्य लिखवाते, भावार्थ भी लिखवाते। फिर हमसे कहते कि इसकी हिन्दी करदो। भीतर कमरे में स्वामीजी समाधि लगाते थे। उनकी समाधि का फल ही वेदभाष्य है। किसी-किसी समय स्वामीजी आध घण्टे में ही बाहर आ जाते थे। स्वामीजी की समाधि और तर्क-ऋषि ही निर्णय करते थे।

इस कथन की पुष्टि स्वामीजी के साक्षात्कर्त्ता इतिहासपुरुष श्री नथमल तिवाड़ी के 'परोपकारी' के अगस्त १६८६ के अंक में प्रकाशित लेख से भी होती है। ऋषि दयानन्द को परमेश्वर प्रत्यक्ष था। परमेश्वर से अनभिज्ञ व्यक्ति न वेदों का सत्यार्थ कर सकता था और न **'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि'** की घोषणापूर्वक प्रतिज्ञा कर सकता था।

ऋत एवं सत्य—वेदों में अनेकत्र ऋत और सत्य का एक साथ प्रयोग पाया जाता है। **'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत'** (ऋ० १०।१६०।१) इस मन्त्र में भी ये दोनों शब्द एक साथ आये हैं। इससे प्रतीत होता है कि ये दोनों शब्द एक वर्ग के किन्तु सर्वथा एकार्थवाची नहीं हैं। ऋग्वेद ६।११३।८ में ऋत शब्द सत्य के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है—**'ऋतवाकेन सत्येन'**। इससे स्पष्ट है कि सत्य से ऋत ऊँची वस्तु है। सत्य कैसा हो ? ऋतवाक् हो, अर्थात् सत्य की वाणी में ऋत हो। यह सब देखकर निष्कर्ष यह निकलता है कि ऋत दैवीय नियम है, सत्य सामाजिक नियम हैं। ऋत अखण्ड ईश्वरीय विधान के लिए प्रयुक्त हुआ है और सत्य सामाजिक विधान के लिए। ईश्वरीय विधान अखण्ड, अपरिवर्तनीय है; सामाजिक विधान सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। इसलिए सामाजिक विधान ईश्वरीय विधान के अनुकूल होना चाहिए।

ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थों में अनेकशः इन दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। उनके विचारों के अनुसार—

ऋतम्—यथार्थसर्वविद्याऽधिकरणं वेदशास्त्रम्; ऋतस्य प्राप्तसत्यस्य; सर्वविद्यायुक्तस्य वेदचतुष्टयस्य सनातनस्य जगत्कारणस्य वा।

सत्यम्—यद् वेदविद्यया, प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः, विदुषां सङ्गेन सुविचारणाऽऽत्मशुद्ध्या वा निर्भ्रमं, सर्वहितं, तत्त्वनिष्ठं, सत्यप्रभवं सम्यक् परीक्ष्य निश्चीयते तत्।

जब मनुष्यों में वेद का ज्ञान, शास्त्रीय ज्ञान, अधीत ज्ञान और अनुभूत ज्ञान समा जाता है तब वह कह सकता है—**'ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि'**। उसी अनन्त ज्ञानमय सामर्थ्य से सब विद्याओं के आदिमूल वेदों का प्रकाश हुआ और उसी से त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्त्व-रजस्-तमस् रूप प्राकृत जगत् का आविर्भाव हुआ। मैं अध्यात्म तथा भौतिक दोनों क्षेत्रों में सत्य का पोषण और असत्य का खण्डन करूँगा। सत्यार्थप्रकाश में ग्रन्थकार ने इस प्रतिज्ञा का पूरी तरह पालन किया है। इसी कारण उन्होंने अन्त में लिखा—**'ऋतमवादिषं सत्यमवादिषम्'**।

https://t.me/arshlibrary

(अवतु मामवतु वक्तारम्) यह दूसरी बार पाठ अधिकार्थ[1] के लिए है। जैसे—**'कश्चित् कञ्चित् प्रति वदति त्वं ग्रामं गच्छ गच्छ'** इसमें दो बार क्रिया के उच्चारण से तू शीघ्र ही ग्राम को जा, ऐसा सिद्ध होता है। ऐसे ही यहाँ कि आप मेरी अवश्य रक्षा करो, अर्थात् धर्म से सुनिश्चित प्रीति और अधर्म से घृणा सदा करूँ, ऐसी कृपा मुझ पर कीजिए। मैं आपका बड़ा उपकार मानूँगा।

[त्रिविध ताप-निवारण]

(ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः) इसमें तीन बार शान्तिपाठ का यह प्रयोजन है कि त्रिविध ताप अर्थात् इस संसार में **तीन प्रकार के दुःख हैं**। एक **'आध्यात्मिक'**[2] जो आत्मा, शरीर में अविद्या, राग-द्वेष मूर्खता और ज्वर पीड़ादि होते हैं। दूसरा **'आधिभौतिक'** जो शत्रु, व्याघ्र और सर्पादि से प्राप्त होता है। तीसरा **'आधिदैविक'** अर्थात् जो अतिवृष्टि, अतिशीत, अति उष्णता मन और इन्द्रियों की अशान्ति से होता है। इन तीन प्रकार के क्लेशों से आप हम लोगों को दूर करके कल्याणकारक कर्मों में सदा प्रवृत्त रखिए, क्योंकि आप ही कल्याणस्वरूप, सब संसार के कल्याणकर्त्ता, और धार्मिक मुमुक्षुओं के कल्याण के दाता हैं। इसलिए आप स्वयं अपनी करुणा से सब जीवों के हृदय में प्रकाशित हूजिए कि जिससे सब जीव धर्म का आचरण और अधर्म को छोड़के परमानन्द को प्राप्त हों, और दुःखों से पृथक् रहें।

सत्य का अनुष्ठान अत्यन्त दुष्कर है। **'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥'** (मनु० ४।१३८) ; **'अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः'** (महा० उद्योगपर्व) **'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः'**: इतने अवरोधों के होते हुए सत्यवक्ता होना छुरे की तीक्ष्ण धारा पर चलने के समान है—**'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया'** (कठ० ३।१४)।

इस कठिन मार्ग पर दयानन्द जैसे दृढ़व्रती ही चल सकते हैं—**'दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति'** (कठ० ३।१४)। इसपर चलते हुए ग्रन्थकार को कितनी विघ्न-बाधाओं से जूझना पड़ा, यह सर्वविदित है। अचिन्त्य भगवान् के अनुग्रह के बिना यह सम्भव न होता। इसलिए ग्रन्थकार ने अत्यन्त विनीत शब्दों में भगवान् की रक्षा की प्रार्थना की है।

'तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्तारम्' इस कथन में पुनरुक्तिदोष प्रतीत होता है। वास्तव में 'प्रयोजनशून्यत्वे पदवाक्ययोः पुनः पुनः कथनं पुनरुक्तिदोषः'—शब्द या वाक्य का बार-बार निष्प्रयोजन बोलना पुनरुक्तिदोष कहलाता है, परन्तु जहाँ शब्द या शब्द-समूह का बार-बार प्रयोग सोद्देश्य होता है वहाँ वह पुनरुक्त न होकर 'अनुवाद' कहाता है। **'अनुवादोपपत्तेः'** न्यायदर्शन के इस (२।१।६०) सूत्र की व्याख्या करते हुए वात्स्यायनभाष्य में लिखा है—

अनर्थकोऽभ्यासः पुनरुक्तम्, अर्थवानभ्यासोऽनुवादः शीघ्रतरगमनोपदेशात्। अर्थात् निरर्थक पुनररुक्ति दूषित होती है। यहाँ **'मामवतु तद्वक्तारमवतु'** का दूसरी बार कहना वक्ता की भावना की तीव्रता को व्यक्त करने के लिए है।

सूर्य—**'सूर्यात्मा जगतस्तस्थुषश्च'** (यजु:० ७।४२) यह लिङ्ग है। सूर्य का अर्थ परमेश्वर करने में निरुक्तकार सूर्य का व्याख्यान करते हुए लिखते हैं—

---

१. अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते ॥ निरुक्त १०।४२॥

२. इन पदों की व्याख्या देखो—स०प्र० समु० ६ के अन्त में।

https://t.me/arshlibrary

[अन्य ईश्वर-नामों की व्याख्या]

'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' । इस यजुर्वेद[1] के वचन से जो 'जगत्' नाम प्राणी चेतन और जंगम अर्थात् जो चलते-फिरते हैं, 'तस्थुषः' अप्राणी अर्थात् स्थावर जड़ अर्थात् पृथिवी आदि हैं, उन सबके आत्मा होने, और स्वप्रकाशरूप, सबके प्रकाश करने से परमेश्वर का नाम **'सूर्य्य'** है ।

अत सातत्यगमने[2] इस धातु से 'आत्मा' शब्द सिद्ध होता है । **'योऽतति व्याप्नोति स आत्मा'** जो सब जीवादि चराऽचर जगत् में निरन्तर व्यापक हो रहा है । [3]**'परश्चासावात्मा च, य आत्मभ्यो जीवेभ्यः सूक्ष्मेभ्यः परोऽतिसूक्ष्मः स परमात्मा'** जो सब जीव आदि से उत्कृष्ट, और जीव, प्रकृति तथा आकाश से भी अतिसूक्ष्म, और सब जीवों का अन्तर्यामी आत्मा है, इससे ईश्वर का नाम **'परमात्मा'** है ।

सामर्थ्यवाले का नाम 'ईश्वर' है । **'य ईश्वरेषु समर्थेषु परमः श्रेष्ठः स परमेश्वरः'** जो ईश्वरों का ईश्वर अर्थात् समर्थों में समर्थ, जिसके तुल्य कोई भी न हो, उसका नाम **'परमेश्वर'** है ।

'सूर्यः सर्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा' (निरुक्त १२।१४) निरुक्तकार के ये वचन भौतिक सूर्य की दृष्टि से हैं, किन्तु निम्नरूप में ये निर्वचन भगवत्परक हो जाते है—

(क) 'सरति जानाति व्याप्नोति वा सर्वं जगत् स सूर्यः'—सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक होने से भगवान् सूर्य है ।

(ख) 'सुवति प्रेरयति चराचरं स्वस्वकर्मसु इति सूर्यः'—सम्पूर्ण जगत् के प्रेरक होने से भगवान् सूर्य हैं । गीता में कहा है—**'अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते'** (गीता १०।८) ।

(ग) 'सुष्ठु ईर्यन्ते कम्प्यन्ते स्वीर्यन्ते उपताप्यन्ते वा दस्यवः अनेनेति सूर्यः'—दुष्टों का उपतापन करने से भगवान् सूर्य कहाते हैं ।

निघण्टु व्याख्याकार यज्वा महोदय ने सूर्य शब्द की व्याख्या में दो अन्य निर्वचनों का निर्देश किया है—

(क) 'सूर्यो मेधाविनस्तानर्हतीति सूर्यः' ।

(ख) 'सूरिषु साधुरिति सूर्यः' ।

ये दोनों निर्वचन परमेश्वर के अर्थ में सुसंगत हैं । भगवान् को मेधावी पुरुष ही पा सकते हैं, तथा मेधावियों के प्रति वह साधु भी है । सूरि का लक्षण है—

आत्मन्येव गतिर्येषां स्वस्मिन् ब्रह्मणि चाचले ।
ते सूरा इति विख्याताः सूरयश्चापि ते मताः ॥

आशय यह है कि सूर तथा सूरि दोनों एक ही अर्थ के वाचक हैं । जो अविचल भाव से भगवान् का ध्यान करते हैं, भगवान् से प्रेम करते हैं, वे 'सूर' या 'सूरि' कहाते हैं ।

निघण्टु में स्वृ धातु पूजार्थक भी पढ़ी है—**'स्वरतिरर्चतिकर्मा'** (निघण्टु ३।१) । 'स्वीर्यते अर्च्यते भक्तैरिति सूर्यः' अर्थात् भक्तजनों द्वारा पूजित होने से भगवान् सूर्य कहाते हैं ।

विशिष्टाद्वैतमतानुसारी भाष्य में लिखा है—**'सरत्यस्मादिति सूर्यः'** क्योंकि उसके भय से सारा संसार

---

१. यजुः० ७।४२॥

२. धातु० १।३१॥ इस धातु से 'सातिभ्यां मनिन्मनिणौ' (उ० ४।१५४) से 'आत्माशब्द सिद्ध होता है ।

३. यहाँ 'परम्' अर्थवाले 'पर' शब्द से अर्थ-निर्देश किया है । विग्रह 'परमश्चासावात्मा परमात्मा' ही जानना चाहिए ।

https://t.me/arshlibrary

नियमित रूप से चलता है, इसलिए परमात्मा का नाम सूर्य है। इस निर्वचन का मूल उपनिषदों में विद्यमान है—

(क) **'भीषाऽस्मात् पवते वातः भीषोदेति सूर्यः'** । —तै०उ० ब्रह्म ८

(ख) **'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'** ।—कठ० ५।११

निम्न वाक्यों में सूर्य पद ईश्वरवाची है—

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥

—ऋक्०१।५०।१ ।

अर्थात् प्रत्येक वस्तु में विद्यमान भगवान् सूर्य चराचर के आत्मा को सबके दिखाने के लिए सब पदार्थ चिह्न होकर उत्तमता से धारण कर रहे हैं।

'सूर्यो वै सर्वेषां देवानामात्मा' (शत० १३।३।२।६)—सूर्य (परमात्मा) सब पदार्थों का जीवनाधार है।

आत्मा—उणादिकोश में 'सातिभ्या मनिन्मनिणौ, (४।१५३) की व्याख्या में **'अतति निरन्तरं कर्मफलानि प्राप्नोति व्याप्नोति वा स आत्मा'** यह निर्वचन जीव तथा ईश्वर दोनों की दृष्टियों से किया गया है। जीव कर्मफल पाने से आत्मा है और ईश्वर व्यापक होने से। ग्रन्थकार जीव को परिच्छिन्न मानते हैं, विभु नहीं।

आचार्य यास्क आत्मा शब्द को 'आप्लृ' धातु से निष्पन्न मानते हैं—

'आत्मा अततेर्वा आप्नोतेर्वा आप्त इव स्याद् यावत् व्याप्तिभूतः' (निरुक्त ३।१५) । इस अवस्था में निर्वचन होंगे—

(क) आप्नोति सर्वं व्याप्नोतीत्यात्मा ।

(ख) सर्वत्र आप्त इव प्राप्त इवेत्यात्मा ।

द्वितीय निर्वचन में 'इव' न उपमा में है, न उत्प्रेक्षा में। अपितु 'एव' (ही) अर्थ में है, अर्थात् सर्वत्र व्याप्त ही है, इसलिए आत्मा है।

निरुक्त के प्राचीन व्याख्याकार स्कन्दस्वामी इस शब्द के मूल में आङ्पूर्वक **तनु विस्तारे, डुदाञ् दाने** तथा **अद् भक्षणे** धातु भी मानते हैं—'आतनोतेराददातेरत्तेराप्नोतेर्वा आत्मा' । तदनुसार निर्वचन होंगे—

(क) आततनात् आत्मा ।

(ख) जीवेनान्तःकरणेनादत्त इत्यात्मा ।

(ग) आसमन्ताद् अत्तीत्यात्मा ।

वेदान्तसिद्धान्त में आत्मा के निर्वचन चार भिन्न धातुओं से किये गये हैं—

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह ।
यच्चास्य सन्ततो भावः तस्मादात्मेति गीयते ॥

तदनुसार निर्वचनों के स्वरूप होंगे—

(क) आप्नोति विषयान् इत्यात्मा ।

(ख) आदत्ते विषयान् इत्यात्मा ।

(ग) अत्ति विषयान् इत्यात्मा ।

(घ) अतति सातत्येन गतो भवतीत्यात्मा ।

ये चारों निर्वचन जीवात्मा की दृष्टि से किये गये हैं, किन्तु वेदान्तसिद्धान्त में आत्मा तथा परमात्मा में अभेद होने से इन्हें परमात्मपरक माना जा सकता है। अथवा धातुओं का कर्मप्रवचनीय कर देनेमात्र से

https://t.me/arshlibrary

ये चारों निर्वचन भगवान् में भी सुसंगत हो जाते हैं—

(क) आप्नोति व्याप्नोति जगद् इत्यात्मा परमेश्वरः ।

(ख) आदत्ते प्रलयकाले जगद् इत्यात्मा ।

(ग) अत्ति विनाशकाले जगद् इत्यात्मा ।

(घ) अतति सन्ततो भवतीत्यात्मा ।

निम्न स्थलों में आत्मा शब्द भगवान् के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

चित्रं देवानां..... आत्मा जगतस्तस्थुषश्च । —ऋ०१।११५।१, यजुः० ७।४२

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः । —ऋ०१०।१६६।४

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । —तै०उ० २।१

आत्मत एवेदं सर्वम् । —छा० ७।२६।१

ऐतरयोपनिषद् १।१ पर शांकरभाष्य—

आत्मेति—आत्मा आप्नोतेरत्तेरततेर्वा परः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरशनायादिसर्वसंसारधर्मविवर्जितो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽजोऽजरोऽमृतोऽभयोऽद्वयो यै ।

परमात्मा—ग्रन्थकार के निर्वचन पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि 'परश्चासावात्मा' ऐसा विग्रह करने पर 'परात्मा' पद बनेगा, न कि परमात्मा । इसलिए परम शब्द का आत्मा शब्द के साथ सम्बन्ध होने से 'परमश्चासावात्मा' ऐसा विग्रह होना चाहिए था, अतः ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत विग्रह अशुद्ध है । इसका समाधान यह है कि ग्रन्थकार ने परमात्मा शब्द की व्याकरण की दृष्टि से निरुक्ति नहीं की है, बल्कि इस शब्द का अर्थमात्र किया है । वस्तुतः 'परश्चासावात्मा' विग्रहवाक्य न होकर फलितार्थकथनपरक वाक्य है । प्राचीन आचार्यों के लेखों में ऐसा लेख अनेकत्र देखने में आता है । जैसे—

'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' इस न्यायसूत्र (१।१।३) का भाष्य करते हुए वात्स्यायन लिखते हैं—**'अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्'** इस वाक्य को प्रत्यक्ष शब्द का विग्रह मानकर कोई भाष्यकार पर आक्षेप न करे, इसलिए वार्तिककार लिखते हैं—**'प्रतिगतमक्षं प्रत्यक्षमिति प्रादिसमासः भाष्यं तु फलितार्थकथनपरम् अन्यथा अव्ययीभावसमासाश्रयणे अक्षस्येति षष्ठीश्रवणानुपपत्तेः'**। आशय यह है कि 'अक्षस्याक्षस्य' आदि भाष्यकार का वचन विग्रहपरक न होकर फलितार्थकथनपरक है । यहाँ भी ऐसा ही समझना चाहिए ।

'नीचीनवारं वरुणः कबन्धम्' (ऋ० ५।८५।३) इस मन्त्र में आये 'नीचीनवारं' पद का व्याख्यान करते हुए स्कन्दस्वामी निरुक्तभाष्य (१०।४) में लिखते हैं—**'नीचं वारं यस्य स नीचीनवारोऽधोमुखम्'** । यहाँ भी आचार्य ने 'नीचीनं' के स्थान पर 'नीचं' शब्द ही निरुक्ति में दिया है । 'नीचं वारं यस्य' वाक्य फलितार्थकथनपरक है ।

निरालम्बोपनिषत्कार कहते हैं—**'देहादेः परतरत्वात् ब्रह्मैव परमात्मा'** । यहाँ निर्वचन का स्वरूप होगा—'परमश्चासावात्मा परमात्मा' । निम्न स्थलों पर परमात्मा शब्द भगवान् का वाचक है—

यो वै वेद महादेवं प्रणवं पुरुषोत्तमम् ।
ओंकारं परमात्मानं तन्मे मनः शिवसंल्पमस्तु ॥ —ऋक्परि० ३२२१

परमात्मनं परमं ब्रह्म । —नृसिंहोत्तरता० ४

आत्मानं सन्धत्ते परमात्मनि । —ब्रह्मोप० ३

स वै ब्रह्म परमात्मोच्यते । —हंसोप० १

https://t.me/arshlibrary

षुञ् अभिषवे; षूङ् प्राणिगर्भविमोचने इन धातुओं से 'सविता' शब्द सिद्ध होता है। **'अभिषवः प्राणिगर्भविमोचनं चोत्पादनम्। यश्चराचरं जगत् सुनोति सूते वोत्पादयति स सविता परमेश्वरः'** जो सब जगत् की उत्पत्ति करता है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'सविता'** है।

दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु[1] इस धातु से 'देव' शब्द सिद्ध होता है। (क्रीडा) जो शुद्ध[2] जगत् को क्रीडा कराने, (विजिगीषा) धार्मिकों को जिताने की इच्छायुक्त, (व्यवहार) सब चेष्टा के साधनोपसाधनों का दाता, (द्युति) स्वयं प्रकाशस्वरूप, सबका प्रकाशक, (स्तुति) प्रशंसा के योग्य, (मोद) आप आनन्दस्वरूप, और दूसरों को आनन्द देनेहारा, (मद) मदोन्मत्तों का ताड़नेहारा, (स्वप्न) सबके शयनार्थ रात्रि और प्रलय का करनेहारा, (कान्ति) कामना के योग्य, और (गति) ज्ञानस्वरूप है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'देव'** है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । —गीता ०१५।१७
स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ।
—योग० १।२८ पर व्यासभाष्य

परमेश्वर—'य ईश्वरेषु समर्थेषु परमः श्रेष्ठः स परमेश्वरः' यह परमेश्वर शब्द का विग्रह नहीं, फलितार्थकथनमात्र है। विग्रह होगा—'परमश्चासावीश्वरः परमेश्वरः'।

स.प्र. प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—"ईश्वर नाम सामर्थ्यवाले का है। जो ईश्वरों में परम श्रेष्ठ होय उसका नाम परमेश्वर है। ब्रह्मादिक देवों में से एक-एक ऐश्वर्यवाला है। जैसाकि मनुष्यों में एक-एक ऐश्वर्यवाला है, वैसे ही जो ब्रह्मादिक देवों में सबसे श्रेष्ठ होय और चक्रवर्त्यादिक राजाओं में परम नाम श्रेष्ठ होय, उसका नाम परमेश्वर है।

मैत्र्युपनिषद् के निम्न सन्दर्भ में परमेश्वर शब्द भगवद्वाचक है—

सत्यसंकल्पः सत्यकाम एष परमेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूपालः । —७।७

सविता—निरुक्तकार ने **'षू प्रेरणे'** से सविता शब्द को बनाया है। **'सविता सर्वस्य प्रसविता'** (निरुक्त १०।३१)। परमेश्वर जगत् को उत्पन्न करके उसके प्रत्येक घटक को अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त करता तथा मनुष्यमात्र को शुभ कर्मों में प्रेरित करता है। ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थों में सविता शब्द से प्रायः उत्पादक तथा प्रेरक अर्थों का ग्रहण किया है।

सविता पश्चात्तात् सविता पुरस्तात् सवितोत्तरात् सवितेधरात्तात्।
सविता नः सुवतु सर्वतातिं सविता नो रासतां दीर्घमायुः ॥ —ऋ० १०।३६।१४

ऋग्वेद के इस मन्त्र में सविता शब्द का प्रयोग सर्वत्र भगवदर्थ में हुआ है। ऋग्वेद के ही पाँचवें मण्डल के ८२वें सूक्त के सभी नौ मन्त्रों का देवता सविता है। **"सखाय आ निषीदत सविता स्तोम्यो नु नः। दाता राधांसि शुम्भति"** (ऋ० १।२२।८)। इस मन्त्र में परमेश्वर का उत्पादक, स्तोतव्य तथा दाता के रूप में सविता नाम से स्मरण किया है।

देव—स.प्र. प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—

---

१. धातु० ४।१॥

२. यह पद असम्बद्ध-सा है, अथवा इसे परमात्मा का विशेषण जानना चाहिए, अर्थात् स्वयं शुद्ध, निर्लेप रहता हुआ भी जगत् को क्रीड़ा करानेवाला है। अथवा जो प्रकृति से शुद्ध जगत् को क्रीड़ा कराने, अर्थात् 'कार्यरूप में परिणत कराने' ऐसा अभिप्राय जानना चाहिए।

https://t.me/arshlibrary

अथवा—**'यो दीव्यति क्रीडति स देवः'** जो अपने स्वरूप में आनन्द से आप ही क्रीड़ा करे, अथवा किसी से सहाय के विना क्रीड़ावत् सहज स्वभाव से सब जगत् को बनाता, वा सब क्रीड़ाओं का आधार है। **'[यो] विजिगीषते स देवः'** जो सबका जीतनेहारा स्वयं अजेय, अर्थात् जिसको कोई भी न जीत सके। **'[यो] व्यवहारयति स देवः'** यो न्याय और न्यायरूप व्यवहारों का जाननेहारा और उपदेष्टा। **'यश्चराऽचरं जगत् द्योतयति स देवः'** जो सब चराऽचर जगत् का प्रकाशक। **'यः स्तूयते स देवः'** जो सब मनुष्यों की प्रशंसा के योग्य, और निन्दा के योग्य न हो। **'यो मोदयति स देवः'** जो स्वयं आनन्दस्वरूप, और दूसरों को आनन्द कराता, जिसको दुःख का लेश भी न हो। **'यो माद्यति स देवः'** जो सदा हर्षित शोकरहित, और दूसरों को हर्षित, करने और दुःखों से पृथक् रखनेवाला। **'यः स्वापयति स देवः'** जो प्रलय-समय अव्यक्त में सब जीवों को सुलाता। **'यः कामयते काम्यते वा स देवः'** जिसके सब सत्य काम, और जिसकी प्राप्ति की कामना सब शिष्ट करते हैं। तथा **'यो गच्छति गम्यते वा स देवः'** जो सबमें व्याप्त और जानने के योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'देव'** है।

"दिवु क्रीडाविजिगीषा.....कान्तिगतिषु" इस धातु से देव शब्द की सिद्धि होती है। **'दीव्यति स देवः'** दीव्यति नाम जो स्वयं प्रकाशस्वरूप होय और जो सब जगत् का प्रकाशकर्त्ता है, इससे परमेश्वर का नाम देव है। **'क्रीडते स देवः'** क्रीडते नाम अपने आनन्द से अपने स्वरूप में आप ही जो क्रीडा करे अथवा क्रीडामात्र से अन्य की सहायता के बिना जगत् को क्रीडा की नाईं जो रचे व सब जगत् की क्रीडाओं का आधार जो होय इससे परमेश्वर का नाम देव है। **'विजिगीषते स देवः'** विजिगीषते नाम सबका जीतनेवाला और आप सदा अजेय है जिसको कोई न जीत सके इससे ईश्वर का नाम देव है। **'व्यवहारयति स देवः'** व्यवहारयति नाम न्याय और अन्याय व्यवहारों का जो ज्ञापक नाम उपदेष्टा और सब व्यवहारों का जो आधार भी है इससे परमेश्वर का नाम देव है। **'द्योतयति स देवः'** द्योतयति नाम सब प्रकाशों का आधार जो अधिकरण है इससे परमेश्वर का नाम देव है। **'स्तूयते स देवः'** स्तूयते नाम सब लोगों के स्तुति करने योग्य होय और निन्दा के योग्य कभी न होय इससे परमेश्वर का नाम देव है। **'मोदयति स देवः'** मोदयति नाम आप तो आनन्दस्वरूप ही है औरों को भी आनन्द करावे जिसको दुःख का लेश कभी न होय इससे भी परमेश्वर का नाम देव है। **'माद्यति स देवः'** माद्यति नाम आप तो हर्षस्वरूप होय जिसको शोक का लेश कभी न होय इससे भी परमेश्वर का नाम देव है। **'स्वापयति स देवः'** स्वापयति नाम प्रलय में सभों को शयन अव्यक्त में जो करावे इससे भी परमेश्वर का नाम देव है। **'गच्छति गम्यते वा स देवः'** गच्छति गम्यते नाम जो सभों में गत नाम प्राप्त होय, जानने योग्य होय उसको कहते हैं देव। देव नाम परमेश्वर का है।"

निरुक्तकार ने देव शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है—**'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युःस्थानो भवतीति वा'** (निरुक्त ७।१५)। इसका आशय यह है कि देव शब्द **डुदाञ् दीपी दाने, दीप्तौ** तथा **द्युत दीप्तौ** इन धातुओं से बना है। क्योंकि देव ऐश्वर्य के प्रदाता हैं, तेजोमय होने से प्रदीप्त हैं, अतएव दूसरों के प्रकाशक हैं। निरुक्तकार दिवु धातु से देव शब्द नहीं बनाते, किन्तु अन्य वैयाकरण **'दीव्यतीति देवः'** निर्वचन करके दिवु धातु से देव शब्द को सिद्ध करते हैं। तैत्तिरीय सन्ध्याभाष्य में कृष्ण पण्डित ने देव शब्द के तीन निर्वचन किये हैं—

(क) दीव्यति प्रकाशते स देवः।

https://t.me/arshlibrary

कुबि आच्छादने[1] इस धातु से 'कुबेर' शब्द सिद्ध होता है। 'यः सर्वं कुम्बति स्वव्याप्त्याच्छादयति स कुबेरो जगदीश्वरः' जो अपनी व्याप्ति से सबका आच्छादन करे, इससे उस परमेश्वर का नाम 'कुबेर' है।

(ख) ध्यानत्वाद् हृदयारविन्दे क्रीडतीति देवः।

(ग) द्युलोकवर्तित्वाद् वा देवः।

इनमें से प्रथम दो निर्वचन धात्वार्थ के आधार पर किये हैं, अन्तिम निरुक्त के 'द्युस्थानो भवतीति' पर आश्रित है।

विष्णुसहस्रनाम के शांकरसम्प्रदायानुसारी भाष्य में देव शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा है—"यतो **दीव्यति क्रीडति सर्गादिभिः विजिगीषतेऽसुरादीन् व्यवहरति सर्वभूतेषु आत्मतया द्योतते स्तूयते स्तुत्यैः** सर्वत्र **गच्छति, तस्माद् देवः।**" आशय यह है कि संसार की उत्पत्ति आदि जिनकी क्रीड़ा है, दुष्टों का दमन करनेवाले हैं, सर्वव्यवहार के उपदेष्टा हैं, स्वयं प्रकाश हैं, उपासक उनकी स्तुति करते हैं तथा वे सर्वत्रगत अर्थात् सर्वव्यापक हैं, इसलिए भगवान् देव कहाते हैं।

निम्न स्थलों में देव शब्द भगवदर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

देवो देवानामसि मित्रोऽद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे। —ऋ० १।६४।१३
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति। —अथर्व० १०।८।३२
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। —श्वेत० उप० ६।११
निवृत्ते सर्वदुःखानामीशानः प्रमुख्यः।
अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः॥ —गौडपादकारिका० १०

कुबेर—उणादिसूत्र **'कुम्बेर्नलोपश्च'** (१।५६) की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा —'कुम्बत्यन्यानाच्छादयति इति कुबेरः', अर्थात् सम्पूर्ण जगत् को अच्छादित करने=सर्वत्र व्याप्त होने से परमेश्वर कुबेर कहाता है—**'ईशावास्यमिदं सर्वम्'** (यजुः० ४०।१)। एक निर्वचन यह भी है—'कुम्बत्याच्छादयति परेषामैश्वर्यमिति कुबेरः'। जो सबके ऐश्वर्य को आच्छादित करता है, वह परमेश्वर कुबेर कहाता है। परमैश्वर्यवान् होने से ही पुराणों में कुबेर की देवताओं के कोषाध्यक्ष के रूप में कल्पना की गयी है। निम्न स्थलों में कुबेर शब्द भगवद्वाची है—

कुबेर ते मुखं रौद्रं नन्दिन् आनन्दमावहः।
ज्वरमृत्युभयं घोरं विश नाशय मे ज्वरम्॥ ऋक्परि० २६।४२
कुबेरः सर्वपक्षाणां क्रतुनां विष्णुरुच्यते। महा० अनु० १४।३१६
तस्य कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्रं पात्रम्। अथर्व० १०।१०।१०

पृथिवी—प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—'जो आकाशादिकों से विस्तृत है उसका नाम पृथिवी है, इससे परमेश्वर का नाम पृथिवी है।' जहाँ कहीं 'प्रथ' धातु से पृथिवी शब्द को निष्पन्न माना गया है वहाँ भी निर्वचनादि करते हुए इस शब्द का मूल धातु **'प्रथ विस्तारे'** स्वीकार किया गया है। आचार्य यास्क ने

---

१. धातुपाठ १।२६०॥ पर्वगान्त प्रकरण में पाठ होने से 'कुबि' पाठ निश्चित है। 'कुम्बेर्नलोपश्च' उणादिसूत्र (१।५६) में भी 'ब' सार्वत्रिक पाठ है। अथर्व० ८।१४।१०; पै०सं० १६।१३५।६; श०ब्रा० १२।६।१।३; जै०उ०ब्रा० ३।७।४१; तै० आ० १।३१।६ आदि में बकारवान् पाठ असन्दिग्ध है, अतः हमने यहाँ 'कुबि' 'कुंबति' 'कुबेर' शब्दों में बकारवाला पाठ बनाया है। 'कुवेर' दन्त्योष्ठ्य वकारवान् पाठ क्वचित् मिलता है, परन्तु वह उच्चारणदोषज भ्रष्ट पाठ है।

https://t.me/arshlibrary

पृथु विस्तारे[1] इस धातु से 'पृथिवी' शब्द सिद्ध होता है। **'यः पर्थति सर्वं जगद्विस्तृणाति स पृथिवी'** जो सब विस्तृत जगत् का विस्तार करनेवाला है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'पृथिवी'** है।

जल घातने[2] इस धातु से 'जल' शब्द सिद्ध होता है। **'जलति घातयति दुष्टान्, संघातयति अव्यक्तपरमाण्वादीन् तद् ब्रह्म जलम्'** जो दुष्टों का ताड़न, और अव्यक्त तथा परमाणुओं का अन्योऽन्य संयोग वा वियोग करता है, वह परमात्मा **'जल'** संज्ञक कहाता है। [3]**यद्वा यज्जनयति लाति सकलं जगत् तद् ब्रह्म जलम्'** अथवा जो सबका जनक और सब सुखों का देनेवाला है, इसलिए भी परमेश्वर का नाम **'जल'** है।

काशृ दीप्तौ[4] आङ्पूर्वक इस धातु से 'आकाश' शब्द सिद्ध होता है। **'यः सर्वतः सर्वं जगत् प्रकाशयति स आकाशः'** जो सब ओर से जगत् का प्रकाशक है, इसलिए उस परमात्मा का नाम **'आकाश'** है।

---

१. संस्करण १,२ में तथा संवत् १९३२ में प्रकाशित 'पञ्चमहायज्ञविधि' पृष्ठ १२७, (दयानन्दीय लघुग्रन्थसंग्रह' अन्तर्गत मुद्रित पृष्ठ ३५०) में भी यही पाठ है। सं० ३ से 'प्रथ विस्तारे.....यः प्रथते' पाठ मिलता है। हमारा पाठ सं० २ के अनुसार है। 'पृथु' स्वतन्त्र धातु धातुपाठ में पठित नहीं है, पुनरपि **'तद् यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातुर्भवति तद् द्विप्रकृतीनां स्थानमिति प्रदिशन्ति। तत्र सिद्धायामनुपपद्यमानायामितरयोपपिपादयियेत्। तत्राप्येकेऽल्पनिष्पत्तयो भवन्ति'** इस निरुक्त (२।२) के वाचनानुसार उन सभी धातुओं, जिनमें सम्प्रसारण का विधान करके वैयाकरण रूपान्तर बनाते हैं, का सम्प्रसारणवाला रूप स्वतन्त्र धात्वन्तर भी माना जाता है। तदनुसार यहाँ ग्रन्थकार ने 'प्रथ' के कृतसंप्रसारणरूप 'पृथ' को स्वतन्त्र धातु मानकर निर्देश किया है। वैयाकरण जिन प्रकृतियों में लोप, आगम, आदेश करके रूपान्तर बनाते हैं, वे सब वस्तुतः स्वतन्त्र प्रकृतियाँ हैं (विशेष द्र०—'ऋषि दयानन्द की पदप्रयोगशैली', पृष्ठ ४-१७)। '। 'पृथ' को स्वतन्त्र प्रकृति मानने पर 'पृथु', 'पृथिवी' आदि शब्दों में सम्प्रसारण की आवश्यकता नहीं रहती। निरुक्तकार ने १०।२३ में वैयाकरणों द्वारा 'ग्रह' धातु को सम्प्रसारण तथा हकार को भकारादेश करके बनाये गये 'गृभ' रूप को स्वतन्त्र धातु माना है —गर्भो गृभेः'। अथवा धातु० १०।२२ में पठित **'पृथ प्रक्षेपे'** धातु का अर्थतः अनुवाद है। प्रक्षेप का अर्थ बिखेरना —फैलाना भी होता है। 'अनित्यणिजन्ताश्चुरादयः' मत में णिच् के अभाव में **'पर्थति'** रूप बनता है।

'प्रथ विस्तारे' पाठ में भी 'विस्तारे' अर्थ का निर्देश चिन्तनीय है। धातुपाठ में 'प्रथ प्रख्याने' (१।५१६) पढ़ी है। ग्रन्थकार ने स्वीय उणादिकोष १।२८, १५०) की व्याख्या (प्र० सं०) में विस्तारार्थ ही स्वीकार किया है। निरुक्त १।१२,१३ में भी 'प्रथन' का विस्तार अर्थ ही माना है। सायणाचार्य ने अथर्व ६।१०१।१ के भाष्य में 'प्रथ विस्तारे चुरादिरदन्तः निर्देश किया है।

२. धातु० ।५७५।

३. यह पाठ वैयमुद्रित सं० २-३३ नहीं है। ३४वें संस्करण में हस्तलेखानुसार बढ़ाया है। भाषार्थ के अनुसार यहाँ 'यज्जनयति सकलं जगत् लाति ददाति सकलं सुखं तद् ब्रह्म जलम्' ऐसा पाठ होना चाहिए। यहाँ 'लाति' का अर्थ 'देना' स्वीकार किया है। धातुपाठ में ला आदाने' (२।५१) ऐसा पाठ मिलता है। यह धातुपाठ के संहितापाठ 'ला दाने' का वृत्तिकारों द्वारा विगृहीत पाठ है। संहितापाठ लादाने का 'ला दाने' 'ला आदाने' दोनों प्रकार से पदच्छेद होता है (द्र०-माधवीया धातुवृत्ति, यही धातु-राति लाति द्वावपि दानार्थौ इति चान्द्राः। यहाँ 'लाति' का दान अर्थ स्वीकार किया है।

४. धातु० १।४३०।।

https://t.me/arshlibrary

भी प्रसंगवश निरुक्त में पृथिवी शब्द का निर्वचन किया है—**'प्रथनात् पृथिवीत्याहुः..... अथ वै दर्शनेन प्रथुः'** (निरुक्त १।१४) हैं आशय यही 'यतः पृथुस्ततः पृथिवी'। यद्यपि वहाँ निर्वचन भौतिक दृष्टि से किया है, तथा सर्वव्यापक होने से परमपृथु भगवान् ही पृथिवी नाम का समुचित अधिकारी है। गीता में कहा है—**'त्वया ततं विश्वमनन्तरूपं'** (११।३८)। सारांश यही है कि विस्तृत आकाशादि से भी विस्तृत होने तथा सम्पूर्ण जगत् का विस्तार करने से भगवान् का नाम पृथिवी है। पृथिवी शब्द का ईश्वरार्थ में प्रयोग—

स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशिनी।
यच्छास्मै शर्म सप्रथः॥ —अथर्व० १८।२।१६
त्वमन्नस्त्वं यमस्त्वं पृथिवी त्वं विश्वं खमथाच्युतः।
विश्वेश्वर नमस्तुभ्यं विश्वात्मा विश्वकर्मकृत्।
विश्वभुग्विश्वायुस्त्वं विश्वक्रीडारतप्रभुः॥ —मैत्र्युप० ५।१

जल—प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—"**जनी प्रादुर्भावे** और **'ला आदाने'** इन दो धातुओं से जल शब्द सिद्ध होता है। 'जनयति नाम उत्पादयति सर्वं जगत् तज्जम् लाति गृह्णाति नाम आदत्ते चराचरं जगत् तल्लम् जं च लं च तज्जलम् ब्रह्म।' ज शब्द से सभों का जनक, ल शब्द से सभों का धारण करने वाला, उसका नाम जल, जल नाम परमेश्वर का है।"

इस निर्वचन का मूल छान्दोग्य में उपलब्ध है—**'तज्जलानीति शान्त उपासीत'** (३।१४।१)।

वहीं (प्रथम संस्करण में) इतना और लिखा है—"**जल प्रतिघाते** धातु से जल शब्द सिद्ध होता है। 'प्रतिहन्ति परमाण्वादीनि परस्परं तज्जलम्' जो अव्यक्त से व्यक्त को और एक परमाणु से दूसरे परमाणु को अन्योन्य संयोग-वियोग के वास्ते जो हनन-प्रतिहनन करनेवाला होय उसका नाम जल है। इससे परमेश्वर का नाम जल है।"

निम्न अन्य निर्वचन भी भगवत्परक हैं—

(क) 'जलयति अपवारयति दोषान् भक्तेभ्यो ज्ञानिभ्यो वा तत् जलम्'—भक्त अथवा ज्ञानियों के दोष निवारण करने से भगवान् जल कहाते हैं। यहाँ धातु जल अपवारण में है।

(ख) 'जैः जातैः प्राणिभिः लायते आदीयते इति जलम्' इसको सब प्राणी पुकारते हैं —इसलिए ये जल हैं। श्रुति कहती है—**'मां हवन्ते पितरं न जन्तवः'** (ऋ० १०।४८।१)। भगवान् कहते हैं संसार के जीव मुझे पिता के सदृश पुकारते हैं।

भगवद्वाचक जल शब्द का निगम अन्वेषणीय है।

आकाश—जगत् को प्रकाशित करने का एक अर्थ है अव्यक्तावस्थापन्न जगत् को व्यक्त करना। वेदान्तदर्शन में कहा है—**'आकाशस्तल्लिङ्गात्'** (१।१।२२) आकाश पद ब्रह्मवाचक है, उसके निश्चायक लिङ्गों (चिह्नों) के कारण। छान्दोग्य उपनिषद् (१।९।१) में प्रसंग है—प्रवाहण जैवलि शिलक शालावत्य से कहता है—**'अस्य लोकस्य का गतिरिति आकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यते, आकाशं प्रत्यस्तं यान्ति'**। इस लोक की गति—आश्रय क्या है? उत्तर मिला—आकाश है। ये सब भूत आकाश से ही उत्पन्न होते और आकाश में ही लीन होते हैं। आकाश पद लोक-वेद में भूताकाश और ब्रह्म दोनों अर्थों का वाचक देखा जाता है। वेदान्तसूत्र कहता है, यहाँ आकाश पद ब्रह्म का वाचक है, क्योंकि वही समस्त भूतों की उत्पत्ति का कारण है। ब्रह्म की प्रेरणा के बिना जगत्-सृष्टि संभव नहीं होती। ये सब धर्म भूताकाश में सम्भव नहीं। तैत्तिरीय उपनिषद् में स्वयं आकाश की उत्पत्ति आकाश से

https://t.me/arshlibrary

अद भक्षणे[1] इस धातु से 'अन्न' शब्द सिद्ध होता है—

'अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते' ॥[2]
'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः ॥

—तैत्ति० उपनि० ॥[3]

'अत्ता चराऽचरग्रहणात्' ॥ यह व्यासमुनिकृत शारीरक [१।२।९] सूत्र है ॥

जो सबको भीतर रखने, सबको ग्रहण करने योग्य, चराऽचर जगत् का ग्रहण करनेवाला है, इससे उस ईश्वर के **'अन्न'**, **'अन्नाद'** और **'अत्ता'** नाम हैं । और जो इसमें[3] तीन बार पाठ है, सो आदर के लिए है । जैसे गूलर के फल में कृमि उत्पन्न होके उसी में रहते और नष्ट हो जाते हैं, वैसे परमेश्वर के बीच में सब जगत् की अवस्था है ।

बताई है—**'तस्माद्वा एतस्मादाकाशः संभूतः'** (तै० उ० २।१)। तब वह सब जगत् का कारण कैसे कहा जा सकता है ? इस सूत्र पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य लिखते हैं—**"आकाशशब्देन ब्रह्मणो ग्रहणं युक्तम् । कुतः ? तल्लिंगात् । परस्य ब्रह्मण इदं लिङ्गम्—'सर्वाणि वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते'** (छा० १।९।१) ।" अर्थात् आकाश शब्द से ब्रह्म का ग्रहण करना चाहिए ।

'आसमन्तात् काशन्ते प्रकाशन्ते सूर्यादयोऽत्रेति आकाशः' इस निर्वचन से सूर्यादिकों का प्रकाशक होने से भगवान् 'आकाश' कहाता है । इस निर्वचन का मूल है—**'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भास सर्वमिदं विभाति'** (मुण्डक० २।२।१०) यह उपनिषद् वचन है ।

'आसमन्तात् काशयति प्रकाशयति वेदान् सृष्ट्यादौ' इस निर्वचन के अनुसार सृष्टि के आदि में वेद=ज्ञान का प्रकाशक होने से भगवान् आकाश कहाता है ।

'कश गतौ' धातु से निष्पन्न होने पर आकाश शब्द का निर्वचन होगा—'आसमन्तात् कशति=गच्छति व्याप्नोतीति यावद् आकाशः' । गति का अर्थ ज्ञान, गमन तथा प्राप्ति होते हैं । सर्वगत अर्थात् सर्वत्र व्याप्त होने से भगवान् का नाम आकाश है । यहाँ सर्वत्र प्राप्ति ही व्याप्ति है ।

अन्न, अन्नाद, अत्ता—प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—**"अद भक्षणे** इससे अन्न शब्द सिद्ध होता है 'अत्ति भक्षयति चराचरं जगत् तदन्नम्' जो चराचर जगत् का भक्षक है और काल को भी खाके पचा लेता है, उसका नाम अन्न है । इसमें प्रमाण है **'अद्यते ,अत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते'** (तै० उ० २।२) यह तैत्तिरीय उपनिषद् का वचन है । **'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्', 'अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः'** (तै० उ० १।१०) यह भी उसी उपनिषद् में है । 'अन्नमत्तीत्यन्नादः' अन्न शब्द से चराचर जगत्, उसका जो ग्राहक उसका नाम अन्नाद है । यह वचन परमेश्वर ही का है । इस विषय में व्यासजी का सूत्र प्रमाण है—**'अत्ता चराचरग्रहणात्'** (ब्र.सू. १।२।९) अत्ता नाम खानेवाले का है, उसी का नाम अन्नाद है । चराचर नाम जड़ और चेतन जगत् उसके ग्रहण करने से परमेश्वर का नाम अत्ता, अन्न और अन्नाद है । जैसे गूलर के फल में कृमि उत्पन्न होके उसी में रहते हैं और उसी में नष्ट हो जाते हैं । इससे परमेश्वर का नाम अत्ता, अन्न और अन्नाद है ।"

उणादिसूत्र 'कृवृजॄसिद्रुपन्यनि' (३।१०) की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—'अनिति

---

१. धातु २।१॥

२. क्रमशः—ब्रह्मानन्दवल्ली २; भृगुवल्ली १०॥

३. अर्थात् तै० उ० के वचनों में 'अन्न, अन्नाद' पद तीन बार पठित हैं ।

https://t.me/arshlibrary

वस निवासे[1] इस धातु से 'वसु' शब्द सिद्ध हुआ है। **'वसन्ति भूतानि यस्मिन्'**, अथवा **'यः सर्वेषु वसति स वसुरीश्वरः'** जिसमें सब आकाशादि भूत वसते हैं, और जो सबमें वास कर रहा है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'वसु'** है।

जीवयतीत्यन्नम्, ओदनादिकम् वा'। यह निर्वचन आधिभौतिक दृष्टि से है, किन्तु भगवान् पर भी यह भली-भाँति संगत है। उपनिषत् कहती है—**'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्'** (तै० उ० २।७) अर्थात् यदि भगवान् न हो तो संसार में कौन जीवित रह सकता है। इसलिए 'अनिति जीवयतीत्यन्नं ब्रह्म'।

निरुक्तकार ने **'अद भक्षणे'** के अतिरिक्त आङ्पूर्वक नम से भी अन्न की सिद्धि मानी है। वे लिखते हैं—**'अन्नं कस्मादानतं भूतेभ्यः अत्तेर्वा'** (निरुक्त ३।६)। यह निर्वचन भौतिक अन्न की दृष्टि से है, किन्तु 'आनमन्ति भूतान्यस्मै इत्यन्नम्' इस प्रकार निर्वचन करने पर इसी प्रकृति से भगवत्परक अन्न शब्द भी बन सकता है।

'अत्ता चराचरग्रहणात्' इस सूत्र का भाष्य करते हुए शंकराचार्य प्रश्न उठाते हैं—**'तत्र किमग्निरत्ता स्यात्, उत जीवः, अथवा परमात्मेति संशयः'**। अर्थात् क्या अग्नि अत्ता है, जीव अत्ता है अथवा परमात्मा अत्ता है—यह संशय है। इस संशय को उठाकर अन्त में निश्चय करते हैं—**'अत्तात्र परमात्मा भवितुमर्हति'**, अर्थात् अत्ता यहाँ परमात्मा हो सकता है। इसमें हेतु है—**'कुतः ? चराचरग्रहणात्'** चराचर के ग्रहण करने से। फिर कहते हैं—**'न परमात्मनोऽन्यः कात्स्न्र्येनात्ता सम्भावित'** परमात्मा से अन्य कोई पूर्णतया अत्ता नहीं हो सकता। उपसंहार में कहते हैं—**'सर्ववेदान्तेषु सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वेन ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वात्। तस्मात् परमात्मैवेहात्ता भवितुमर्हति'**।..... इसलिए परमात्मा ही यहाँ, अत्ता हो सकता है।

उक्त तीनों शब्दों का ईश्वर अर्थ में प्रयोग—

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
यो मा ददाति स इदेवमावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि॥

—साम० पू० ६।१।६

यो अन्नादो अन्नपतिर्बभूव ब्रह्मणस्पतिरुत यः।
भूतो भविष्यद् भुवनस्य यस्पतिः॥ —अथर्व० १३।३।७
यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥

कठ० १।२।२५

वसु—निरुक्तकार लिखते हैं—**'वसवो यद्विवसते सर्वम्'** (१२।४२)। यहाँ भी शब्दरचना वस धातु से ही मानी गयी है। **'वस निवासे'** तथा **'वस आच्छादने'**—दोनों से परमेश्वर का सबमें वास करना तथा सबका परमेश्वर में वास करना सिद्ध होता है। **'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः'** (यजुः० ४०।५) में यही भाव निहित है। अथर्ववेद के प्रसिद्ध मन्त्र—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे॥ २०।१०८।२

में वसु शब्द का ईश्वरार्थ में प्रयोग हुआ है।

---

१. धातु १।७३१॥

https://t.me/arshlibrary

रुदिर अश्रुविमोचने[1] इस धातु से 'णिच् और रक् प्रत्यय'[2] होने से 'रुद्र' शब्द सिद्ध होता है। **'यो रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः'** जो दुष्ट कर्म करनेहारों को रुलाता है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'रुद्र'** है।

'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति यत् कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते'। यह यजुर्वेद के ब्राह्मण का वचन है। जीव जिसका मन से ध्यान करता, उसको वाणी से बोलता, जिसको वाणी से बोलता उसको कर्म से करता, जिसको कर्म से करता उसको प्राप्त होता है।

इससे क्या सिद्ध हुआ कि जो जीव जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है। जब दुष्ट कर्म करनेवाले जीव ईश्वर की न्यायरूपी व्यवस्था से दुःखरूप फल पाते, तब रोते हैं और इसी प्रकार ईश्वर उनको रुलाता है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'रुद्र'** है।

'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

—मनु० अ० १। श्लोक १०

जल और जीवों का नाम 'नारा' है, वे अयन अर्थात् निवासस्थान हैं जिसका, इसलिए सब जीवों में व्यापक परमात्मा का नाम **'नारायण'** है।

रुद्र—इस नाम पर पहले विचार हो चुका है। यहाँ इतना विशेष है—**'यन्मनसा....तदभिसम्पद्यते'**। आजकल ऐसा पाठ मिलता है—**'स यथा कामो भवति तथा क्रतुर्भवति; यथाक्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते; यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते॥** (शत० १४।७।२।७)। काण्व शतपथ में भी यही पाठ है। वाजसनेय शतपथ के प्राचीनकाल में १५ पाठ थे। सम्भव है उसके किसी पाठ में यह आनुपूर्वी रही हो। तुलना करो—**नृसिंहपूर्वतापिनी उप० १।१**

मा त्वा रुद्र चुक्रुधामा नमोभिर्मा दुष्टुती वृषभ मा सहूति।

—ऋ० २।३३।४

हे दुष्टों के रुलानेवाले रुद्र परमात्मन्! हम तुझे दुष्ट स्तुति से क्रोधित न करें, समान स्पर्धा आदि से भी कुपित न करें।

नारायण—प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—"आप नाम जल का है और नार संज्ञा भी जल की है और वे प्राण जलसंज्ञक हैं। वे प्राण जिसका अपना निवासस्थान हैं इससे परमेश्वर का नाम नारायण है।" यहाँ मनुस्मृति के श्लोक का शब्दार्थ नहीं किया है। इसमें ग्रन्थकार को यही बताना अभिप्रेत था कि भगवान् मनु के अनुसार नारायण नाम परमात्मा का है।

प्रलयकाल में सब जीवों का निवासस्थान होने से भगवान् नारायण कहाते हैं—'नराणां जीवानामयनत्वात् प्रलये नारायणः'। विष्णुसहस्रनाम के निर्वचन नाम के व्याख्यान में लिखा है—

'नराः स्वरूपप्रवाहनित्यवस्तूनि तेषां समूहो नाराः, ते अयन श्रौतनिरुक्तानुसाराद् आश्रयो यस्य तेषामयनमिति वा'। आशय यह कि कुछ वस्तुएँ स्वरूपनित्य हैं जीवादि, कुछ प्रवाहनित्य हैं सृष्टि

---

१. धातु० २।६०॥
२. 'रोदेर्णिलुक् च' ॥ उ० २।२२॥

https://t.me/arshlibrary

चदि आह्लादे[1] इस धातु से 'चन्द्र' शब्द सिद्ध होता है। **'यश्चन्दति चन्दयति वा स चन्द्रः'** जो आनन्दस्वरूप, और सबको आनन्द देनेवाला है, इसलिए ईश्वर का नाम **'चन्द्र'** है।

मगि गत्यर्थक[2] धातु से **'मङ्गेरलच्'**[3] इस सूत्र से 'मङ्गल' शब्द सिद्ध होता है। **'यो मङ्गति मङ्गयति वा स मङ्गलः'** जो आप मङ्गलस्वरूप, और सब जीवों के मङ्गल का कारण है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'मङ्गल'** है।

आदि—इनका समूह जिसके आश्रित है तथा उस समूह में जो व्यापक है वह भगवान् नारायण है। 'नारा अनश्वरविभूतिका मुक्तात्मानः, तेषामयनं नारायणः' मुक्तात्मा भगवान् में विचरण करते हैं, इससे भी भगवान् नारायण कहाते हैं।

श्रीमध्वाचार्य कहते हैं—

न यज्जातानि तत्त्वानि नाराणीति ततो विदुः ।
तेषामयनभूतो यः स नारायण इति स्मृतः ॥

अर्थात् सब तत्त्वों का आधार होने से भगवान् को नारायण कहते हैं। मैत्र्युपनिषद् का वाक्य है—

'प्राणो हंसः शास्ता विष्णुर्नारायणोऽर्कः
सविता धाता विधाता सम्राडिन्द्र इन्दुरिति' (६।८)।

चन्द्र—प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—"**चदि आह्लादे** इस धातु से चन्द्र शब्द सिद्ध होता है—'चन्दति सोऽयं चन्द्रः' जो आह्लाद नाम आनन्दरूप होय और जो मुक्त पुरुष जिसको प्राप्त होके सदा आनन्दस्वरूप ही रहै, उसको दुःख का लेश कभी न होय, इससे परमेश्वर का नाम चन्द्र है।"

आशय यह कि स्वयं आनन्दस्वरूप होने तथा अन्यों को आनन्द देनेवाला होने से भगवान् चन्द्र कहाता है।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ —यजुः० ३२।१
चन्द्रो वै सर्वेषां देवानामात्मा । —शतपथ १४।२।३।११

मंगल—उणादिकोष में **'मङ्गेरलच्'** (५।७) की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—'मङ्गति प्राप्नोति सुखं येन तन्मङ्गलम् ब्रह्म'। परम सुख का प्रापक होने से भगवान् मङ्गल है। आशय यह कि कल्याणस्वरूप होने से भगवान् का नाम मङ्गल है।

निरुक्तकार ने इस शब्द का प्रासङ्गिक निर्वचन किया है। वे लिखते हैं—**'मङ्गलं गिरतेर्गृणात्यर्थे, गिरत्यनर्थानिति वा मज्जयति पापमिति नैरुक्ताः, मां गच्छतु इति वा'** (६।४)। निर्वचन इस प्रकार होंगे—

(क) स्तुत्य—गृ स्तुतौ+अच् और मम् का आगम=मङ्गर—मङ्गल। 'मां गृणात्यनेन तन्मङ्गलम्'—जिनसे मेरी स्तुति की जाए वे मंगल हैं। इस अवस्था में वैदिक ऋचाएँ स्तोत्र आदि मङ्गलपदवाच्य होंगे। अतएव प्रत्येक कार्य के आरम्भ में वैदिक ऋचाओं द्वारा परमेश्वर की स्तुति की जाती है।

(ख) गृ निगरणे+अच्। 'अनर्थान् गिरतीति तन्मङ्गलम्'—जो अनर्थों का नाश करे वह मङ्गल कहाता है। अतएव प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में ईश्वर का स्मरण किया जाता है।

---

१. धातु० १।५६॥ २. धातु० १।८८॥ ३. उणा० ५।७०॥

https://t.me/arshlibrary

बुध अवगमने[1] इस धातु से 'बुध' शब्द सिद्ध होता है। **'यो बुध्यते बोधयति वा स बुधः'** जो स्वयं बोधस्वरूप और सब जीवों के बोध का कारण है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'बुध'** है।

ईशुचिर् पूतीभावे इस धातु से 'शुक्र' शब्द सिद्ध हुआ है। **'यः शुच्यति शोचयति** वा **स शुक्रः'** जो अत्यन्त पवित्र और जिसके सङ्ग से जीव भी पवित्र हो जाता है, इसलिए ईश्वर का नाम **'शुक्र'** है।

(ग) **'मज्जयति पापकमिति'**—दुरितों का नाश करके जो शुद्ध करे, उसे मङ्गल कहते हैं। वह परमेश्वर है।

(घ) 'मां गच्छत्विति मङ्गलम्'—मुझे प्राप्त हो, इस इच्छा का विषय होने से भगवान् को मङ्गल कहते हैं।

(ङ) 'अङ्गलं-मङ्गलम्' इसमें मकार उपजन है। यास्काचार्य के इस निर्वचन के अनुसार—'यः अङ्गैः, योगाङ्गैः, लायते प्रादीयते प्राप्यते तन्मङ्गलम्'। यम-नियमादि योगाङ्गों के अनुष्ठान से प्राप्य होने के कारण भगवान् मङ्गल कहाता है। मङ्गल शब्द का ईश्वरपरक प्रयोग—

असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः।
ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषां हेडईमहे॥

—यजुः० १६।६

मङ्गल नामवाले भगवान् से हम 'ईमहे' याचना करते हैं कि 'ये एनम् अभितो दिक्षुः सहस्रशः रुद्राः श्रिताः' ये जो अनेक जीव आपके आश्रित हैं, 'एषां हेडः' इनके दुःख-कष्ट आदि को 'अव (यज)' दूर कीजिए। यही हमारी मङ्गलकामना है।

बुध—**'कवौ बुधः'** (त्रिकाण्डशेषकाश ३।२१६) अर्थात् बुध का अर्थ है कवि। कवि ईश्वर का नाम है (यजुः० ४०।८)।

शुक्र—यास्काचार्य ने इस शब्द की व्युत्पत्ति **'शुच दीप्तौ'** से मानी है—'शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः' (निरुक्त ८।११)। यास्क लिखते हैं—शुक्र शुच धातु से बनता है और उसका अर्थ दीप्ति या प्रकाश है। स्वयं प्रकाशित होने और दूसरों को प्रकाशित करने के कारण ब्रह्म का नाम शुक्र है। ईश्वर की दृष्टि से यह निर्वचन सर्वथा उपयुक्त है—'शोचति स्वयं प्रकाशते शोचयति प्रकाशयति चान्यत् तत् शुक्रं ब्रह्म'। यास्कीय निरुक्त के महान् व्याख्याता स्कन्दस्वामी ने परमेश्वर के दीप्तिमान् होने से उसे शुक्र नाम से अलंकृत माना है—**'शुचेर्दीप्तार्थस्य शुक् रो मत्वर्थीयः'**। निघण्टु के प्राचीन टीकाकार देवराज यज्वा ने स्कन्दस्वामी के अर्थ की पुष्टि करते हुए लिखा है—**'यद्वा शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः सम्पदादित्वात्'** (३।३।६५) **क्विप् शुच, तद् यस्य रो मत्वर्थीयः, दीप्तमित्यर्थः'** (पृ. १२८)। अर्थात् दीप्त्यर्थक शुच् धातु से क्विप् प्रत्यय करके शुक्र बनता है। फिर उससे मतुप् अर्थ में 'र' प्रत्यय करके शुक्र शब्द बनता है जिसका अर्थ होगा दीप्तिमान् भगवान्।

यजुर्वेद ४०।८ में, अथर्व० १७।१।१६ में, कठोपनिषद् ५।८ आदि में अनेकत्र शुक्र शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद का मन्त्र इस प्रकार है—

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि। स यथा त्वं भ्राजता भ्राजोऽस्येवाहं भ्राजता भ्राज्यासम्॥ १७।१।१६

हे भगवन्! आप 'शुक्रोऽसि' स्वयं पूत एवं अन्यों के पावक, सर्वव्यापक तथा सर्वज्ञ होने से शुक्र नाम से पुकारे जाते हैं। आप 'भ्राजोऽसि' ज्ञानमय हैं, प्रकाशस्वरूप हैं। 'स यथा त्वं भ्राजोऽसि' जिस प्रकार आप

---

१. धातु १।५६७॥

https://t.me/arshlibrary

चर गतिभक्षणयोः[1] इस धातु से **'शनैस्'** अव्यय उपपद होने से 'शनैश्चर' शब्द सिद्ध हुआ है। **'यः शनैश्चरति स शनैश्चरः'** जो सबमें सहज से प्राप्त, धैर्यवान् है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'शनैश्चर'** है।

रह त्यागे[2] इस धातु से 'राहु' शब्द सिद्ध होता है। **'यो रहति परित्यजति दुष्टान्, राहयति त्याजयति वा स राहुरीश्वरः'** जो एकान्तस्वरूप, जिसके स्वरूप में दूसरा पदार्थ संयुक्त नहीं, जो दुष्टों को छोड़ने और अन्य को छुड़ानेहारा है, इससे परमेश्वर का नाम **'राहु'** है।

कित निवासे रोगापनयने च[3] इस धातु से 'केतु' शब्द सिद्ध होता है। **'यः केतयति चिकित्सति वा स केतुरीश्वरः'** जो सब जगत् का निवासस्थान, सब रोगों से रहित, और मुमुक्षुओं को मुक्ति-समय में जन्म-मरणादि सब रोगों से छुड़ाता है, इसलिए उस परमात्मा का नाम **'केतु'** है।

प्रकाश एवं ज्ञान के भण्डार हैं, 'एवाहं भ्राजता भ्राज्यासम्' इसी प्रकार मैं भी आपके ज्ञान की दीप्ति से दीप्त होऊँ।

शनैश्चर—**'चर गतिभक्षणयो'** में 'चर भक्षणे च' 'चर गतौ च' दोनों अर्थों को मिलाकर पढ़ा है। **'चरतीति चरः शनैश्चासौ चरश्चेति शनैश्चरः'** परमात्मा की चक्की धीरे-धीरे पीसती है, किन्तु ठीक पीसती है, इस लोकोक्ति में यही भाव निहित है, अर्थात् परमात्मा का न्याय समय पर होता है, किन्तु वह पूर्ण होता है।

इन्द्रो विवस्वान् दीप्तशुः शुचिः सौरिः शनैश्चरः ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च स्कन्धो वै वरुणो यमः ॥—सूर्यशतनाम

इस सन्दर्भ में शनैश्चर शब्द को ब्रह्मा, विष्णु आदि का पर्याय बताया है। ब्रह्मा, विष्णु आदि का ईश्वर-वाचक होना निर्विवाद है। इससे शनैश्चर का ईश्वरवाची होना सिद्ध है।

राहु—स्वर्भानुः राहुः—स्वरभानु का अर्थ है आनन्द का प्रकाश करनेवाला।

केतु—निवास और रोगापनयन के अतिरिक्त भी कित धातु के अनेक अर्थ हैं, जिनका निर्देश 'च' से किया गया है। वैयाकरण **'चायृ पूजानिशामनयोः'** से **'चायः की'** (उणादि १।७४) सूत्र द्वारा केतु शब्द बनाते हैं। तब निर्वचन होगा—'चाय्यते पूज्यते यः स केतुरीश्वरः'। सर्वजगत् से पूजित होने से ईश्वर केतु है।

निरुक्त की व्याख्या करते हुए दुर्ग ने प्रसंगतः केतु शब्द की रचना पर प्रकाश डाला है। उनका कथन है—'कित ज्ञाने, तस्य केतः, केतुरपि सत्यैव' (निरुक्त ३।१३)। तब निर्वचन होगा—**'केतति जानातीति केतुः'** अर्थात् सर्वज्ञ होने से भगवान् केतु है। अथवा—**'केतयति ज्ञापयति विविधा विद्याः पुरुषेभ्य इति केतुः'** अर्थात् मनुष्यों को वेद द्वारा नाना ज्ञान देने से भगवान् को केतु कहते हैं। 'कित ज्ञाने' धातु इस समय धातुपाठ में अनुपलब्ध है। सम्भव है दुर्ग के समय में विद्यमान किसी अन्य धातुपाठ में रही हो।

केतु शब्द का परमात्मा के अर्थ में प्रयोग—

मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतं सपर्यति ।
दूरे दृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शंसत ॥ —ऋक्० १०।३७।१

---

१. 'चर भक्षणे च' (धातु० १।३७६) चाद् गतौ च। यहाँ दोनों अर्थों को मिलाकर पढ़ा है।
२. धातु० १।४८६॥
३. धातु १।७१६॥

https://t.me/arshlibrary

यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु[1] इस धातु से 'यज्ञ' शब्द सिद्ध होता है। **'यज्ञो वै विष्णुः'** यह ब्राह्मणग्रन्थ का वचन है[2]। **'यो यजति विद्वद्भिरिज्यते वा स यज्ञः'** जो सब जगत् के पदार्थों को संयुक्त करता, और सब विद्वानों का पूज्य है, और ब्रह्मा से लेके सब ऋषि-मुनियों का पूज्य था, है और होगा, इससे उस परमात्मा का नाम **'यज्ञ'** है, क्योंकि वह सर्वत्र व्यापक है[3]।

हु दानाऽऽदनयोः, आदाने चेत्येके[1] इस धातु से 'होता' शब्द सिद्ध हुआ है। **'यो जुहोति स होता'** जो जीवों को देने योग्य पदार्थों का दाता, और ग्रहण करने योग्यों का ग्राहक है, इससे उस ईश्वर का नाम 'होता' है।

स रेवाँ इव विश्यतिर्देव्यः केतुः शृणोतु नः ।

—ऋक्० १।२७।१२

यज्ञ—परमेश्वर का एक नाम विष्णु है। **'विष्लृ व्याप्तौ'**, **'विश प्रवेशने'** अथवा वि पूर्वक **'अशूङ् व्याप्तौ'** से णु प्रत्ययान्त विष्णु शब्द निष्पन्न होता है। निघण्टु में यास्काचार्य ने यज्ञ के पर्याय १५ शब्दों में विष्णु शब्द पढ़ा है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।३।६।११) में कहा है—'यज्ञो वै विष्णुः'। इस प्रकार यज्ञ और विष्णु के पर्यायवाची होने से यज्ञ का भगवद्वाची होना सिद्ध है। अन्यत्र ब्राह्मणग्रन्थों में लिखा है—

ब्रह्म हि यज्ञः (शत० ५।३।२।४); **प्रजापतिर्यज्ञः** (ऐत० २।१७, ४, २६); **ब्रह्म वै यज्ञः** (ऐत० ७।१३)।

नीलकण्ठ यज्ञ शब्द का निर्वचन इस प्रकार करते हैं—**'यजति जीवेशयोः संगतिं करोतीति यज्ञः'**। यह निर्वचन यज् धातु के संगतिकरण अर्थ को दृष्टि में रखकर किया गया है। उपनिषद् में कहा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ॥ —कठ० २।२२

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दा ँ सि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ —यजुः० ३१।७

इस मन्त्र में यज्ञ शब्द से परमेश्वर ही अभिप्रेत है, क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म ही से सर्वज्ञानमय वेदों की उत्पत्ति संभव है।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥ —यजुः० ३१।६

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

—यजुः० ३१।१६

उक्त दोनों मन्त्रों में जो कुछ कहा गया है, वह भगवान् को लक्ष्य करके ही कहा गया है। द्वितीय मन्त्र पर भाष्य करते हुए उव्वट ने लिखा है—

"एवं योगिनोऽपि दीपनाद्देवा यज्ञेन समाधिना नारायणाख्यं ज्ञानरूपमयजन्त ।"

होता—यास्क के अनुसार होता शब्द ह्वेञ् धातु से बनता है। तब निर्वचन होगा—'आहूयते जनैरिति होता' अर्तात् भगवान् को लोग पुकारते हैं, इसलिए वह होता कहाता है। श्रुति कहती है—**'मां हवन्ते पितरं**

१. धातु० १।७२८॥ २. श० १३।१।८।८॥
२. यह शतपथ ब्रा० के प्रमाण का अर्थ है।
३. धातु० ३।१॥

https://t.me/arshlibrary

बन्ध बन्धने[1] इस धातु से 'बन्धु' शब्द सिद्ध होता है। **'यः स्वस्मिन् चराऽचरं जगद् बध्नाति, बन्धुवद् धर्मात्मनां सुखाय सहायो वा वर्त्तते स बन्धुः'** जिसने अपने में सब लोकलोकान्तरों को नियमों से बद्ध कर रक्खा है। इसी से अपनी-अपनी परिधि वा नियम का उल्लंघन नहीं कर सकते। और सहोदर के समान सहायक है। जैसे भ्राता भाइयों का सहायकारी होता है, वैसे परमेश्वर भी पृथिव्यादि लोकों के धारण, रक्षण और सुख देने से **'बन्धु'** संज्ञक है।

पा रक्षणे[2] इस धातु से 'पिता' शब्द सिद्ध हुआ है। **'यः पाति सर्वान् स पिता'** जो सबका रक्षक, जैसे पिता अपने सन्तानों पर सदा कृपालु होकर उनकी उन्नति चाहता है, वैसे ही परमेश्वर सब जीवों की उन्नति चाहता है, इससे उसका नाम **'पिता'** है।

'यः पितृणां पिता स पितामहः' जो पिताओं का भी पिता है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'पितामह'** है।

'यः पितामहानां पिता स प्रपितामहः' जो पिताओं के पितरों का पिता है, इससे परमेश्वर का नाम **'प्रपितामह'** है।

न जन्तवः' (ऋ० १०।४८।१) अर्थात् जीव मुझे पिता के समान पुकारते हैं। **'अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्'** ऋ० १।१।१। इस मन्त्र में होता नाम से भगवान् की स्तुति की गयी है।

निम्न मन्त्र में भी ईश्वरार्थ में होता शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है—

अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।
अयं स जज्ञे ध्रुव आनिषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा वावृधानः॥ —ऋ० ६।६।४

'अयं होता' सबके द्वारा पुकारे जाने से होता कहानेवाला भगवान् 'प्रथमः' सर्वप्रथम विद्यमान था—**'समवर्त्तताग्रे'**।

बन्धु—उणादि द्वारा सिद्ध बन्धु शब्द का निर्वचन करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं —'प्रेरणा बध्नातीति बन्धुः' (१।१०)। निरुक्तकार ने भी प्रसंगवश बन्धु शब्द का निर्वचन किया है—**'बन्धुः सम्बन्धनात्'** (४।१)।

उक्त लेखों का आशय यह है कि जगत् को नियम में बाँधने तथा जगत् के जीवों का बन्धुवत् सहायक होने तथा सबसे सम्बद्ध होने से भगवान् बन्धु है। बन्धु शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग—

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥ —यजुः० ३२।४
स नः पिता जनिता स उत बन्धुः। —अथर्व० २।१।३

पिता—पितामह—प्रपितामह—निरुक्तकार ने प्रसंगवश पिता शब्द का व्याख्यान किया है। वहाँ लिखा है—**'पिता पाता वा पालयिता वा जनयिता वा'** (निरुक्त ४।१)। इससे प्रतीत होता है कि निरुक्तकार इसके मूल में **'पा रक्षणे'** धातु मानते हैं तथा जनयितृत्वेन रक्षण इसका प्रवृत्तिनिमित्त मानते हैं।

'पा पाने' धातु से इसकी रचना मानने पर निर्वचन होगा—**'पिबति जगत् संहारकाले इति पिता'** अर्थात् प्रलयकाल में सम्पूर्ण जगत् का पान कर लेने से भगवान् पिता है। यजुर्वेद का मन्त्र है—

---

१. धातु० ६।४१
२. धातु० २।४६।

https://t.me/arshlibrary

माङ्माने शब्दे च[1] इस धातु से 'माता' शब्द सिद्ध होता है। **'यो मिमीते मानयति सर्वाञ्जीवान् स माता ईश्वरः'** जैसे पूर्ण कृपायुक्त जननी अपने सन्तानों का सुख और उन्नति चाहती है वैसे परमेश्वर भी सब जीवों की बढ़ती चाहता है, इससे परमेश्वर का नाम **'माता'** है।

चर गतिभक्षणयोः[2] आङ्पूर्वक इस धातु से 'आचार्य' शब्द सिद्ध होता है। **'य आचारं ग्राहयति सर्वा विद्या बोधयति स आचार्य ईश्वरः'** जो सत्य आचार का ग्रहण करानेहारा, और सब विद्याओं की प्राप्ति का हेतु होके सब विद्या प्राप्त कराता है, इससे परमेश्वर का नाम **'आचार्य'** है।

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥ —१७।१७

जैसे एक ही व्यक्ति किसी की दृष्टि से पिता, किसी की दृष्टि से पुत्र और किसी की दृष्टि से पौत्र कहाता है, वैसे ही भिन्न-भिन्न दृष्टियों से भगवान् पिता, पितामह और प्रपितामह नाम से पुकारे जाते हैं।

वृद्धहारीत लिखते हैं—

'सर्वान् स त्राति सविता पिता च पितृतत्पिता ।
पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकारः ऋक्सामयजुरेव च ॥ —गीता ६।१७
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ॥ —गीता ११।३६
कालो ब्रह्मा पिता पितामहः । —महाभारत अनु० १७।७६

माता—प्रथम संस्करण में लिखा है— **'मा माने माङ् माने शब्दे च'** इन दो धातुओं से माता शब्द सिद्ध होता है। जैसेकि माता अपनी प्रजा का मान करती है और लाड़न, वैसे ही सब जगत् का मान और लाड़न अत्यन्त कृपा और प्रीति करने से परमेश्वर का नाम माता है।"

'मनु अवबोधने' से भी माता शब्द बनता है। तब निर्वचन होगा—**'मनुते जानातीति माता'** अर्थात् सर्वज्ञ होने से भगवान् माता कहे जाते हैं।

वेदादि शास्त्रों में अनेकत्र भगवान् को माता-पिता कहा गया है—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ । अधा ते सुम्नमीमहे ॥
—साम० उ०४।२।१३

आचार्य—निरुक्तकार ने भी आचार्य शब्द का निर्वचन किया है—**'आचार्यः कस्माद् आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा'** (१।४)। सदाचार का मार्ग दिखाने से, पदार्थों का उपदेश देने से तथा शिष्य की मनोवृत्ति का अध्ययन करने से आचार्य कहाता है।

स्वयमाचरते यस्माद् आचारे स्थापयत्यपि ।
आचिनोति च शास्त्रार्थान् यमैः सन्नियमैः सह ॥ —वा०पु० ५६।३०

जो स्वयं आचारवान् होता है और दूसरों को भी आचार की मर्यादा में रखता है, शास्त्रीय विषयों का व्याख्यान करता है, उसे आचार्य कहते हैं। भगवान् वेदोपदेश द्वारा आचार की मर्यादा का ग्राहक तथा बुद्धियों का प्रेरक है, अतः 'आचारं ग्राहयति', 'आचिनोति बुद्धिम्' ये दो निर्वचन भगवान् में भी सुसंगत हैं। आचार्य शब्द का ईश्वरार्थ में प्रयोग—

---

१. धातु० ३।६॥
२. धातु० १।३७६॥

https://t.me/arshlibrary

गु शब्दे[1] इस धातु से 'गुरु' शब्द बना है। **'यो धर्म्यान् शब्दान् गृणात्युपदिशति स 'गुरुः'। स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥** —योग० १।२६

जो सत्यधर्मप्रतिपादक, सकलविद्यायुक्त वेदों का उपदेश करता, सृष्टि की आदि में अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा और ब्रह्मादि गुरुओं का भी गुरु, और जिसका नाश कभी नहीं होता, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'गुरु'** है।

अज गतिक्षेपणयोः[3], **जनी प्रादुर्भावे**[4] इन धातुओं से 'अज' शब्द बनता है। **'योऽजति सृष्टिं प्रति सर्वान् प्रकृत्यादीन् प्रक्षिपति, जनयति कदाचिन्न जायते सोऽजः'** जो सब प्रकृति के अवयव आकाशादि भूत परमाणुओं को यथायोग्य मिलाता, शरीर के साथ जीवों का सम्बन्ध करके जन्म देता, और स्वयं कभी जन्म नहीं लेता, इससे उस ईश्वर का नाम **'अज'** है।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी॥ —अथर्व० ११।५।१६

पारस्कर गृह्य सूत्र २।२ में इन शब्दों में परमेश्वर को आचार्य बताया है—**'इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तव।**

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च। —अथर्व० ११।५।८

गुरु—वैयाकरण **'गृ निगरणे'** से भी गुरु शब्द का निर्वचन करते हैं—**'गिरत्यज्ञानमति गुरुः'** अर्थात् विद्यादान से अज्ञान का विनाशक होने से परमेश्वर गुरु है। विष्णुसहस्रनाम के अद्वैतसम्प्रदायानुसारी भाष्य के अनुसार **'सर्वविद्योपदेष्टृत्वाद् गुरुः'**—सब विद्याओं का उपदेष्टा होने से भगवान् गुरु है। विशिष्टाद्वैतवादीभाष्यकार लिखते हैं—**'वेदैः स्वाधिकारबोधनात् गुरुराचार्य इति वा'** तथा **'कालेनानवच्छेदात् सर्वेषामपि गुरुः अधिक इति वा'**। इसी की निरुक्तिव्याख्या में लिखा है—**'ब्रह्मेन्द्रवरुणादीनां गुरुः वेदोपदेशनात्'**। इस निर्वचन का मूल **'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यश्च वेदान् प्रहिणोति तस्मै'** (श्वेता० ६।१८) इस उपनिषद्वाक्य में उपलब्ध है। **'गिरति निगिलति जगत् प्रलये इति गुरुः'**—प्रलयकाल में स्वकारण में जगत् का निगरण करने से भी भगवान् गुरु है।

अज—पौराणिक दृष्टि से अज नाम ब्रह्मा का है, किन्तु विष्णु के नाभिकमल से जन्म लेने के कारण ब्रह्मा को अज नहीं कहा जा सकता। अज नाम तो कभी किसी भी रूप में जन्म न लेनेवाले परमेश्वर का ही हो सकता है। निघण्टु के टीकाकार देवराज यज्वा इसे अज धातु से ही निष्पन्न मानकर कहते हैं—**'अज गति क्षेपणयोः पचाद्यच् वीभावाभावो व्यत्ययेन'**, अर्थात् अज् से अ प्रत्यय करके अज शब्द बनता है। व्यत्यय से अज को वी आदेश नहीं होता। महाभारतकार ने इसे 'जनी' तथा 'अज' दोनों धातुओं से बना मानकर लिखा है—

न हि जातो न जायेऽहं न जनिष्ये कदाचन।
क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानां तस्मादहमजः स्मृतः॥

'अजति क्षिपत्यज्ञानमित्यजः' अर्थात् अज्ञानविनाशक होने से भगवान् अज कहाते हैं। निम्न स्थलों में अज नाम भगवद्वाची है—

---

१. धातु० ६।२६॥ २. योगदर्शन १।२६॥
३. धातु० १।१३६॥ ४. धातु० ४।४०॥

https://t.me/arshlibrary

बृह बृहि वृद्धौ[1] इन धातुओं से 'ब्रह्मा' शब्द सिद्ध होता है। **'योऽखिलं जगन्निर्माणेन बर्हति**[2] **बृंहति वर्द्धयति स ब्रह्मा'** जो सम्पूर्ण जगत् को रचके बढ़ाता है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'ब्रह्मा'** है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ॥ यह तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है[3] ॥

'सन्तीति ° सन्तः, तेषु सत्सु साधु तत्सत्यम्'; 'यज्जानाति चराऽचरं जगत्तज्ज्ञानम्'; 'न विद्यतेऽन्तोऽवधिर्मर्यादा यस्य तदनन्तम्'; 'सर्वेभ्यो बृहत्वाद् ब्रह्म' जो पदार्थ हों उनको 'सत्' कहते हैं, उनमें साधु होने से परमेश्वर का नाम **'सत्य'** है। जो चराऽचर जगत् का जाननेवाला है, इससे परमेश्वर का नाम **'ज्ञान'** है। जिसका अन्त, अवधि, मर्यादा अर्थात् इतना लम्बा-चौड़ा, छोटा-बड़ा है, ऐसा परिमाण नहीं है, इसलिए परमेश्वर का नाग **'अनन्त'** है। सबसे बड़ा होने से परमेश्वर का नाम **'ब्रह्म'** है।

शं नो अज एकपादेवोऽस्तु। —ऋक्० ७।३५।१३
अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः।
प्रिया पादानि पश्वो नि पाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहं गाः ॥ —ऋ० १।६७।३
दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। —मुण्डक० २।१।२

ब्रह्मा—इस शब्द का विवेचन पहले हो चुका है। ब्रह्मा शब्द के ईश्वरवाचक होने के कुछ अन्य प्रमाण निम्नलिखित हैं—

इन्द्रो ब्रह्मेन्द्र ऋषिरिन्द्रः पुरु पुरुहूतः।
महान्महीभिः शचीभिः ॥ —ऋ० ८।१६।७
सोमं राजानं वरुणमग्निमन्वारभामहे।
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ —साम०पू० १।१।१०।१

सत्य—**'सत्यं ब्रह्म'** (शत० १४।८।५।१)

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओं खं ब्रह्म ॥ —यजुः० ४०।१७

इस मन्त्र में आये 'सत्य' शब्द के विषय में उव्वट ने लिखा ह—

'सत्यस्याविनाशिनः पुरुषस्य.....ओमिति नामनिर्देश आकाशस्वरूपं (आकाशवत् व्यापकं) ब्रह्म ध्यायेत।'

स्कन्दस्वामी निरुक्त की व्याख्या में लिखते हैं—**'अन्यस्तु परमार्थलक्षणं ब्रह्म शाश्वतं सत्यं तदपि सत्सु विकारेषु महदादिषु तायते प्रकाशते, अस्तीति ज्ञायते इत्यर्थः'** अर्थात् सब पदार्थों में सत्वेन प्रतीयमान होने से भगवान् सत्य है।

निम्न सन्दर्भों से भी सत्य शब्द के भगवद्वाचक होने की पुष्टि होती है—

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।

---

१. धातु ०१।४८८॥

२. संस्क० २ में 'बर्हति' पाठ ही है। संस्क० ३ में भीमसेन वा ज्वालाप्रसाद संशोधकों ने उणादिकोष के 'बृंहेर्नलोपश्च' (४।१४७) सूत्र की स्मृति से 'बर्हति' के स्थान पर 'बृंहति' पाठ बना दिया। वही संस्क० ३५ तक छप रहा है। हमने '(बृह-बृहि वृद्धौ इन धातुओं से' पाठ को ध्यान में रखते हुए संस्क० २ के 'बर्हति' पाठ के आगे 'बृंहति' पद भी बढा दिया है।

३. तै० उ० ब्रह्मा० १ ॥

https://t.me/arshlibrary

देवो देवेभिरागमत् ॥ —ऋ० १।१।५
नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यः मुक्तो निरञ्जनो विभुः....नृसिंहोत्तर० ६
सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमोऽधिश्रितः ॥ —ऋ० १०।८५।१
'सत्यं ह्येव ब्रह्म' (ब्रह्म० ५।४।१) ।
'सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्' (छां० ७।१६।१)

ज्ञान—इस अवस्था में निर्वचन होगा—**'ज्ञानस्वरूपो भवति, जानाति वा चराचरं जगत् तत् ज्ञानं ब्रह्म'**। गौडपादाचार्य की कारिका है—

अकल्पकमजं ज्ञानं ज्ञेयाभिन्नं प्रचक्षते ।
ब्रह्मज्ञेयमजं नित्यमाजेनाजं विबुध्यते ॥ —३।३३

इस कारिका में गौडपाद ने अद्वैतवाद का निरूपण करते हुए यह स्वीकार किया है कि ज्ञान परमात्म का नाम है। शंकरस्वामी ने इस कारिका पर भाष्य करते हुए ज्ञान के ईश्वरवाची होने की पुष्टि में **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** आदि वाक्य उद्धृत किये हैं ।

अनन्त—इस शब्द पर सत्यार्थप्रकाश के प्रथमसंस्करण में ग्रन्थकार ने लिखा है—"जिसका अन्त नाम सीमा कभी नहीं, अर्थात् देश, काल और वस्तु परिच्छेद नहीं। जैसाकि मध्यदेश में दक्षिण देश नहीं, दक्षिण देश में मध्यदेश नहीं, भूतकाल में भविष्यत् काल नहीं और दोनों में वर्तमान काल नहीं, तैसे ही पृथिवी आकाश नहीं, आकाश पृथिवी नहीं—ऐसा भेद परमेश्वर में नहीं है। ऐसा ब्रह्म ही है, किन्तु सब देशों, सब कालों और सब वस्तुओं में अखण्ड, एकरस होने से, और कोई भी जिसका अन्त न हो सके, इससे परमेश्वर का नाम अनन्त है।"

इस प्रकार अनन्त शब्द का निर्वचन होगा—'नास्ति अन्तो यस्य स अनन्तः' । उणादिसूत्र **'हसिमृग्रिण्वामि'** (३।८३) की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—**'अमति गच्छतीत्यन्तः, न अन्तो** यस्य स अनन्तः' अर्थात् गतिरहित सर्वव्यापक होने से भगवान् अनन्त है ।

अथर्वशिरोपनिषद् में कहा है—**'अथ कस्मादुच्यते अनन्तः? यस्मादुच्चार्यमाण एव तिर्यगूर्ध्व मधस्ताच्चास्यान्तो नोपलभ्यते'** । आशय यह है कि अनन्त पद कहने से ऊपर नीचे, इधर-उधर सब ओ से अपरिच्छिन्नता का भान होता है। आपाततः इस कथन से केवल दैशिक अनन्तता का ही बोध होता किन्तु वास्तव में यहाँ दैशिक अनन्तता कालादि का भी उपलक्षण है ।

भगवान् सर्वाधार एवं सर्वाश्रय है। तब वह सब वस्तुओं में है ही। श्रुति कहती है—**'स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु'** (यजुः० ३२।८) । गीता में भी कहा है—**'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'** ग्रन्थकार की दृष्टि से वस्तुपरिच्छेदशून्यता है—एक वस्तु का सब वस्तुओं में रहना। यही बात उन्होंने वस्तुओं में अखण्ड, एकरस होने से' ऐसा लिखकर व्यक्त की है ।

वेद मे अनन्त शब्द का ईश्वरार्थ में प्रयोग—

त्रिरस्य ता परमा सन्ति सत्या स्पार्हा देवस्य जनिमान्यग्नेः ।
अनन्त अन्तः परिवीत आगाच्छुचिः शुक्रो अर्यो रोरुचानः ॥

—ऋ० ४।१।७

अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तवच्चासमन्ते ।
ते नाकपालश्चरति विचिन्वन् विद्वान् भूतमुत भव्यमस्य ॥ —ऋ०१०।८।१२

https://t.me/arshlibrary

डुदाञ् दाने[1] आङ्पूर्वक इस धातु से 'आदि' शब्द, और नञ्पूर्वक 'अनादि' शब्द सिद्ध होता है। **'यस्मात् पूर्वं नास्ति परं चास्ति स आदिरित्युच्युते**[2]**। न विद्यते आदिः कारणं यस्य सोऽनादिरीश्वरः'** जिसके पूर्व कुछ न हो और परे हो, उसको 'आदि' कहते हैं। जिसका आदिकारण कोई भी नहीं है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'अनादि'** है।

टुनदि समृद्धौ[3] 'आङ्'पूर्वक इस धातु से 'आनन्द' शब्द बनता है। **'आनन्दन्ति सर्वे मुक्ता यस्मिन्, यद्वा यः सर्वान् जीवानानन्दयति स आनन्दः'** जो आनन्दस्वरूप, जिसमें सब मुक्त जीव आनन्द को प्राप्त होते, और जो सब धर्मात्मा जीवों को आनन्दयुक्त करता है, इससे ईश्वर का नाम **'आनन्द'** है।

महाभारत शान्तिपर्व में भी कहा है—

तं चापि देवं शरणं प्रपन्नमेकान्तभावेन भजाम्यजस्रम्।
एतैरुपायैः परिशुद्धसत्वः कस्मान्न पश्येयमनन्तमेनम्॥

अनादि—ग्रन्थकार के निर्वचन का मूल श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।६) का यह सन्दर्भ है—**'स कारणं कारणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः'**। यही बात विष्णुसहस्रनाम के शांकरसम्प्रदायानुसारी भाष्य में इन शब्दों में कही है—**'आदिकारणम् अस्य न विद्यत इत्यनादिः सर्वकारणत्वात्'**, अर्थात् भगवान् का कोई कारण नहीं, किन्तु वह सबका कारण है, इससे वह अनादि है। इसमें उपनिषद् का यह वचन प्रमाण है—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥

—कठ० ३।१५

आनन्द—इन निर्वचनों के मूल में **'आनन्दमयोऽभ्यासात्'** यह वेदान्तसूत्र (१।१।१२) तथा **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** यह उपनिषद्वचन (बृहद्० ३।६।२८) प्रतीत होते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में प्रसंग है—

'यतो इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्मेति'। —तै० ३।१

जिससे ये सब भूत—प्राणी उत्पन्न होते, उत्पन्न होकर जीते और अन्त में प्रविष्ट होते हैं, उसको जानो, वह ब्रह्म है। उपनिषत्कार उत्तर देते हैं—

'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जतानि जावन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'

—तै० ३।६

अर्थात् आनन्द से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते, उत्पन्न होकर आनन्द में ही जीते और अन्ततः आनन्द में ही प्रवेश पाते हैं। इतना कहकर उपनिषत्कार निर्णय देते हैं—**'आनन्दं ब्रह्मेति व्याजानात्'** (तै० ३।६)। अर्थात् आनन्द को ब्रह्म जाने।

विष्णुसहस्रनाम के अद्वैतमतानुसारी भाष्यकार लिखते हैं—'आनन्दः स्वरूपमस्येति आनन्दः'। आनन्द स्वरूप होने से भगवान् आनन्द कहाते हैं।

सत्—छान्दोग्य० ८।३।५ का प्रमाण है—**'तद्यत्सत्तदमृतम्'**। इसपर शंकराचार्य का भाष्य है—**'तत्तत्र**

---

१. धातु० ३।६॥
२. महाभाष्य १।१।२०॥
३. धातु०१।५५॥

https://t.me/arshlibrary

अस भुवि[1] इस धातु से 'सत्' शब्द सिद्ध होता है। **'यदस्ति त्रिषु कालेषु न बाध्यते तत्सद् ब्रह्म'** जो सदा वर्त्तमान, अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान कालों में जिसका बाध न हो, उस परमेश्वर को **'सत्'** कहते हैं।

चिती संज्ञाने[2] इस धातु से 'चित्' शब्द सिद्ध होता है। **'यश्चेतति चेतयति संज्ञापयति सर्वान् सज्जनान् योगिनस्तच्चित् परं ब्रह्म'** जो चेतनस्वरूप, सब जीवों का चिताने और सत्याऽसत्य का जनानेहारा है, इसलिए उस परमात्मा का नाम **'चित्'** है। इन तीनों शब्दों के विशेषण होने से परमेश्वर को **'सच्चिदानन्दस्वरूप'** कहते हैं।

यत्सकारस्तदमृतं सद्ब्रह्मामृतवाचकत्वादमृत एव सकारस्तकारान्तो निर्दिष्टः', अर्थात् सद्ब्रह्म ही अमृतवाचक है। यजुर्वेद का प्रसिद्ध मन्त्र है—

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहासद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निद ँ सं च विचैति सर्व ँ स ओतश्च प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥ —३२।८

अर्थात्—(वेनः) ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही (गुहानिहितम्) बुद्धिरूपी गुफा में स्थित (तत्) उस ब्रह्म को (सत्) जो तीनों कालों में विद्यमान है (पश्यत्) प्रत्यक्ष अनुभव करता है—जिस ब्रह्म में सारा संसार एक आश्रय को प्राप्त होता है।

आगे कहा है—**'प्र तद्वाचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्'**। अर्थात्—'वेदधारक विद्वान् ही गुहा में सत्=सदा विद्यमान भगवान् के विषय में उपदेश कर सकता है।

भगवद्गीता में इसका विस्तारपूर्वक कथन किया है—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सत् शब्दः पार्थ युज्यते॥
ओम् तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। —गीता १७।२६,२३

चित्—भगवदर्थ में चित् शब्द का प्रयोग अथर्ववेद (१८।४।१४) में उपलब्ध है-**'ईजानश्चितमारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठाद् दिवमुत्पतिष्यन्'** अर्थात् सुख के आधार से प्रकाश की ओर उठने की इच्छा करनेवाला परमात्मभक्त सर्वाग्रणी चित्=चेतन भगवान् को प्राप्त करना चाहता है।

सच्चिदानन्द—किसी वस्तु के अस्तित्व को लक्षण तथा प्रमाण से सिद्ध किया जाता है—**'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धेः'**। लक्षण दो प्रकार का होता है, एक तटस्थलक्षण, दूसरा स्वरूपलक्षण। तटस्थ लक्षण वह है जो किसी के गुण अथवा क्रियाशक्ति द्वारा उस वस्तु का बोध कराता है। स्वरूप लक्षण वह है जो पदार्थ के यथायथ स्वरूप का वर्णन करता है। अपने अस्तित्व को खोये बिना कोई वस्तु अपने स्वरूप का परित्याग नहीं कर सकती।

जो वस्तु के साथ ही नष्ट हो, न उससे पूर्व विद्यमान हो और न पश्चात् रहे, वह वस्तु का स्वभाव कहाता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि यावत् वस्तुस्थायी अपरिवर्तनीय धर्म वस्तु का स्वभाव होता है। जैसे अग्नि का स्वभाव उष्णता और दाहकता है। जब तक अग्नि है तब तक उसका यह गुण उसमें अनिवार्य रूप से रहेगा। इसी प्रकार सत्-चित्-आनन्द परमेश्वर के स्वाभाविक गुण हैं। जब तक परमेश्वर है तब तक उसमें ये अनिवार्य रूप से बने रहेंगे।

---

१. धातु० २।५८॥
२. धातु० १।३२॥

https://t.me/arshlibrary

'यो ध्रुवोऽचलोऽविनाशी स नित्यः' जो निश्चल अविनाशी है, सो **'नित्य'** शब्दवाच्य ईश्वर है।

शुन्ध शुद्धौ[1] इस धातु से **'शुद्ध'** शब्द सिद्ध होता है। **'यः शुन्धति सर्वान् शोधयति वा स शुद्ध ईश्वरः'** जो स्वयं पवित्र, सब अशुद्धियों के पृथक्, और सबको शुद्ध करनेवाला है, इससे उस ईश्वर का नाम **'शुद्ध'** है।

बुध अवगमने[2] इस धातु से 'क्त' प्रत्यय होने से 'बुद्ध' शब्द सिद्ध होता है। **'यो बुद्धवान् सदैव ज्ञाताऽस्ति स बुद्धो जगदीश्वरः'** जो सदा सबको जाननेहारा है, इससे ईश्वर का नाम **'बुद्ध'** है।

मुच्लृ मोचने[3] इस धातु से 'मुक्त' शब्द सिद्ध होता है। **'यो मुञ्चति मोचयति वा मुमुक्षून् स मुक्तो जगदीश्वरः'** जो सर्वदा अशुद्धियों से अलग, और सब मुमुक्षुओं को क्लेश से छुड़ा देता है, इसलिए परमात्मा का नाम **'मुक्त'** है। **'अत एव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तास्वभावो जगदीश्वरः'** इसी कारण से परमेश्वर का स्वभाव नित्य शुद्ध, [बुद्ध], मुक्त है।

'जन्माद्यस्य यतः' परमात्मा का तटस्थ लक्षण है, जबकि **'सच्चिदानन्दस्वरूप'** अथवा **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** उसका स्वरूप लक्षण है। सत्, चित् और आनन्द परमात्मा के स्वाभाविक गुण हैं, जो उसमें एक-साथ रहते हैं और सदा रहते हैं। उसके सच्चिदानन्दस्वरूप को सभी आस्तिक लोग स्वीकार करते हैं—रामोत्तरतापिनी उपनिषद् में कहा है—**'एतद् ब्रह्मात्मिका सच्चिदानन्दाख्या इत्युपासितव्यम्'**। ग्रन्थकार द्वारा संस्थापित आर्यसमाज के दूसरे नियम में इसी की पुष्टि की गयी है—'ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप.....उसी की उपासना करनी योग्य है।'

नित्य—'कालत्रयसत्तावन्नित्यम्'—जो सदा से है और सदा रहेगा, अर्थात् जो सब कालों में विद्यमान हो वह नित्य कहाता है। जो काल की गति में आकर नाम-रूप आदि के परिवर्तन से भी अन्य संज्ञा को ग्रहण नहीं करता, वह नित्य है—'यत्तु कालान्तरेणापि नान्यां संज्ञामुपैति वै'। वैशेषिक दर्शन के अनुसार—**'सदकारणवन्नित्यम्'** (वै० ४।१।१) जो अपनी सत्ता के लिए किसी दूसरे कारण की अपेक्षा नहीं रखता, वह पदार्थ नित्य है। ऐसी सत्ता होने से परमात्मा नित्यशब्दवाच्य है। आर्षग्रन्थों में उसे अनेकत्र नित्य कहा है—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।

—कठ० ५।१३ ; श्वेता० ६।१३

नित्यं विभुं सर्वगतम्। मुण्डक १।१।६

गौडपादाचार्य अपनी एक कारिका में कहते हैं—

विश्वो हि स्थूलभुङ् नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्।

शुद्ध—'शुद्ध शौचे' से भी शुद्ध बन सकता है—'शुद्धयति शोधयति वा स शुद्धः' अर्थात् जो स्वयं शुद्ध है और परशोधक है, ऐसे परमात्मा की संज्ञा शुद्ध है। यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के आठवें मन्त्र में ब्रह्म के लिए शुद्ध विशेषण का प्रयोग हुआ है।

बुद्ध—प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—'..... जो सब बोधों का परमावधि नाम परम सीमा होने से परमेश्वर का नाम बुद्ध है।"

---

१. धातु० १।६०॥
२. धातु० १।५६७॥
३. धातु० ६।१३६॥

https://t.me/arshlibrary

निर् और **आङ्** पूर्वक **डुकृञ् करणे**[1] इस धातु से 'निराकार' शब्द सिद्ध होता है। **'निर्गत आकारात् स निराकारः'** जिसका आकार कोई भी नहीं, और न जो कभी शरीर धारण करता है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'निराकार'** है।

आशय यह है कि—

निरतिशयज्ञानसम्पन्नं शिक्षावधि च शासनम्।
कर्मावधि च कर्त्तव्यं स स्वयम्भूः पुनातु नः॥

'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृहद्० ३।७।२३)उपनिषद्वाक्य से भगवान् के परम ज्ञाता होने से वह बुद्ध कहाता है। नृसिंहोत्तरतापिनी उपनिषद् में कहा है—**'नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यः मुक्तो निरञ्जनो विभुरद्वयानन्दः परः प्रत्यगेकरसः'** (नृसिंह. ६)।

मुक्त—प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—"जो अपने-आप तो सदा मुक्त होय और सब मुक्त होनेवालों के मुक्ति का साक्षात् हेतु होने से परमेश्वर का नाम मुक्त है।"

इन लेखों से तात्पर्य यह है कि—

१. परमात्मा स्वयं मुक्त है, इसलिए उसे मुक्त कहते हैं। जीव के पक्ष में मुक्त शब्द सापेक्ष है, किन्तु परमात्मा के विषय में वह निरपेक्ष है।

२. स्वयं मुक्त होने के साथ-साथ वह जीवों को भी सांसारिक बन्धनों से मुक्त करता है।

प्रथम संस्करण में इतना और है—"ये सब मिलके एक ऐसा नाम हो जाएगा 'नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो जगदीश्वरः' इसी कारण से परमेश्वर का स्वभाव नित्यशुद्धबुद्धमुक्त है।"

जैसे सत्, चित् और आनन्द पृथक्-पृथक् भी परमेश्वर के नाम हैं और समुदित रूप में वह 'सच्चिदानन्द' कहाता है, वैसे ही नित्य आदि पृथक्-पृथक् भी परमेश्वर के नाम होने से समुदित रूप में वह 'नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव' कहाता है—**'नित्यः शुद्धः बुद्धः मुक्तः स्वभावो यस्य स नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः परमात्मा'**।

शंकराचार्य ने नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव की व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। वे कहते हैं—'ब्रह्म नित्य है, शुद्ध है, बुद्ध है, मुक्त है और स्वभाव है।' उपनिषत् कहती है—**'नित्यो नित्यानाम्'** (कठ० २।१३), **'अस्नाविरं शुद्धम्'** (ईश० ८), **'चेतनश्चेतनानाम्'** (कठ० २।१३), **'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि'** (छा० ७।२४।१)। इस अवस्था में सर्वपदप्रधान द्वन्द्वसमास होगा—'नित्यश्च शुद्धश्च बुद्धश्च मुक्तश्च स्वभावश्च=**नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावाः, ते सन्त्यस्येति नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः परमात्मा'**।

कोई-कोई 'मुञ्चति मोचयतीति मुक्तः' ग्रन्थकार के इस निर्वचन को अशुद्ध बताते हैं, परन्तु यह उनका भ्रम है। 'मुञ्चति' अकर्मक है और 'मोचयति' सकर्मक। इन दोनों में 'मुच' धातु से 'क्त' प्रत्यय निम्न प्रकार आता है

अकर्मक—**'गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थास जनरुहजीर्यतिभ्यश्च'** (३।४।७२), अर्थात् गत्यर्थकों, अकर्मकों और श्लिष आदि इन धातुओं में 'क्त' प्रत्यय हो जाता है।

सकर्मक—महाभाष्यकार ने **'कृत्यल्युटो बहुलम्'** (३।३।११३) पर लिखा है—'कृतो बहुलमिति वक्त० यं पादहारकाद्यर्थम्', अर्थात् कृत् प्रत्यय सारे ही बहुल करके होते हैं, नहीं तो पादहारकादि सिद्ध नहीं हो

---

१ धातु० ८।१०॥ ग्रन्थकार ने अपने यजुर्भाष्य ३।५८ में 'कृञ् करणे' का भ्वादि में भी पाठ माना है। विशेष द्र०—युधिष्ठिर मीमासक सम्पादित क्षीरतरङ्गिणी' की टिप्पणी॥

https://t.me/arshlibrary

सकते, इनको सिद्ध करने के लिए दूसरे अर्थों में भी 'कृत्' प्रत्यय हो जएँगे ।

इस प्रकार ग्रन्थकार का निर्वचन व्याकरणसम्मत होने से सर्वथा शुद्ध है ।

निराकार—प्रथम संस्करण में निराकार का निर्वचन था—'निर्गत आकारो यस्मात् स निराकारः', जबकि वर्तमान में उपलब्ध संस्करणों में निर्वचन है—'निर्गत आकारात् स निराकारः' ।

जो लोग ग्रन्थकार के निर्वचनों को व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध मानते हैं, उन्हें जानना चाहिए कि ऋषि दयानन्द का व्याकरणविषयक पाण्डित्य अद्भुत वा अपूर्व था । आजकल के वैयाकरणम्मन्य उनके सम्मुख कहीं भी नहीं ठहरते । इसकी पुष्टि हम वर्तमान में व्याकरणशास्त्र के अधिकृत विद्वान् पण्डित श्री युधिष्ठिर मीमांसक के शब्दों में करना चाहते हैं । वे लिखते हैं—

"ऋषि दयानन्द का एक विशिष्ट वचन है—**'डुकृञ् करण इत्यस्य भ्वादिगणान्तर्गतपाठात् शब्विकरणो ऽत्र गृह्यते, तनादिभिः सह पाठाद् उविकरणोऽपि '** । यजुर्वेदभाष्य ३।५८

अर्थात् 'डुकृञ् करणे' इस धातु का भ्वादिगण के मध्य पाठ होने से शब्विकरणवाला माना जाता है और तनादियों के साथ पाठ होने से उविकरणवाला भी, अर्थात् 'करति' और 'करोति' दोनों प्रयोग साधु हैं ।

आजकल पाणिनीय धातुपाठ का जो स्वरूप पठन-पाठन में प्रचलित है उसके अनुसार 'कृञ्'का भ्वादि में पाठ नहीं है, तनादि में है । स्वामी दयानन्द ने इससे सर्वथा उलटी स्थिति बताई है । उनके अनुसार 'कृञ्' का भ्वादि में पाठ है, तनादि में नहीं । 'करोति' में उविकरण तो **'तनादिकृञ्भ्य उः'** (३।१।७२) सूत्र में तनादि के साथ 'कृञ्' का पाठ होने से होता है, न कि तनादिगण में पाठ होने से ।

अब हम दयानन्द के पाठ की विवेचना करते हैं । साधारणतया देखने से तो यही विदित होता है कि दयानन्द का लेख व्याकरणशास्त्र के विरुद्ध है, परन्तु अत्यन्त गहराई से इसकी मीमांसा करने से विदित होता है कि दयानन्द का लेख ही सत्य है । सो कैसे ? यह निम्न प्रकार से प्रमाणित होता है—

(क) भ्वादिगण में 'कृञ्' का पाठ—आजकल जो पाणिनीय धातुपाठ का पाठ उपलब्ध होता है, वह सायणाचार्य द्वारा निर्धारित पाठ है । सायणाचार्य ने अपनी धातुवृत्ति में इस पाठ का विस्तार से निर्धारण किया है । उसने अनेक धातुओं को, जो पूर्वाचार्यों द्वारा विभिन्न गणों में पठित थीं, निकाल दिया, अन्य अपठितों का समावेश कर दिया । (इसके विस्तार के लिए देखिए हमारा 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग २ पृष्ठ ५६-६२) । सायण से पहले 'कृञ्' धातु भ्वादि में पठित थी । सायण ने उसे भ्वादि से हटाया, यह स्वयं उसने धातुवृत्ति पृष्ठ १६३ तथा ऋग्वेदभाष्य १।८२।१ के व्याख्यान में स्पष्ट लिखा है—**'अस्य महता प्रपञ्चेन भ्वादित्वं निराकृतम्'** । सायण से पूर्ववर्ती देव, क्षीरस्वामी, पाल्यकीर्ति , हेमचन्द्र, दशपादी-उणादिवृत्तिकार सभी इसका पाठ भ्वादि में स्वीकार करते हैं, अतः स्वामी दयानन्द का यह लिखना कि 'कृञ्' का पाठ भ्वादि में है, सर्वथा युक्त है । अब रह गया—'तनादि में नहीं है, उविकरण तनादि के साहचर्य से होता है ।' यह लेख भी सर्वथा सत्य है । यदि 'कृञ्' का पाठ तनादि में पाणिनि ने माना होता तो **'तनादिकृञ्भ्य उः'** (३।१।७९) सूत्र में 'कृञ्' का पृथक् पाठ क्यों करते ? तनादिगण में पाठ करने से उविकरण हो ही जाता । महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इस सूत्र के भाष्य में 'कृञ्' को पृथक् क्यों पढ़ा, इसपर पर्याप्त विचार किया, परन्तु वे इसका कोई कारण न बता सके । प्रतीत होता है कि पतञ्जलि से पहले ही 'कृञ्' का तनादि में प्रक्षेप हो चुका था , इसलिए वे कारण बताने में असमर्थ रहे । यह तो दयानन्द की ही सूझ है या उनके गुरुवर विरजानन्द की, जिनके द्वारा धातुपाठ के सहस्रों वर्षों से भ्रष्ट हुए वास्तविक पाठ की ओर संकेत किया गया । श्री स्वामी विरजानन्द के शिष्य हरिवंश के हाथ का लिखा हुआ

https://t.me/arshlibrary

अञ्जू व्यक्तिम्लक्षणकान्तिगतिषु[1] इस धातु से 'अञ्जन' शब्द, और 'निर्' उपसर्ग के योग से 'निरञ्जन' शब्द सिद्ध होता है। **'अञ्जनं व्यक्तिर्म्लक्षणं कुकाम इन्द्रियैः प्राप्तिश्चेत्यस्माद् यो निर्गतः पृथग्भूतः स निरञ्जनः'** जो व्यक्ति अर्थात् आकृति, म्लेच्छाचार, दुष्टकामना और चक्षुरादि इन्द्रियों के विषयों के पथ से पृथक् है, इससे ईश्वर का नाम **'निरञ्जन'** है।

धातुपाठ का एक हस्तलेख विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान होशियारपुर में सुरक्षित है (इसकी प्रतिलिपि हमारे पास भी है)। उसमें 'कृञ्' धातु का तनादिगण में पाठ नहीं है।"—अष्टोत्तरशतनाममालिका, पृ० १५८-५६

ऐसे महावैयाकरण दण्डी श्री विरजानन्द के शिष्य और स्वयं महावैयाकरण दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों में व्याकरणसम्बन्धी भूलें ढूँढना सूर्य को दीपक लेकर ढूँढने के समान है। ग्रन्थकार के दोनों निर्वचन व्याकरण की रीति से शुद्ध हैं। **'निर्गत आकारो यस्मात् सः'** इस निर्वचन से **'अनेकमन्यपदार्थे'** (अष्टा० २।२।२४) सूत्र पर पढ़ें **'प्रादिभ्यो धातुजस्योत्तरपदस्य लोपश्च या बहुव्रीहिर्वक्तव्यः'** इस वार्तिक द्वारा 'निराकार' शब्द बन जाता है। वर्तमान में प्रचलित संस्करणों में उपलब्ध **'निर्गत आकारात् स निराकारः'** अष्टाध्यायी के सूत्र **'कुगतिप्रादयः'** (२।२।१८) के वार्तिक **'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या'** से शुद्ध है। वार्तिक में दोनों स्थलों पर 'आदि' पद लगा हुआ है। इसलिए तत्वबोधिनीकार ने स्वयं इस आदि पद को दृष्टि में रखकर 'निर्गतमङ्गुलिभ्यो निरङ्गुलम्' यह एक अन्य उदाहरण दिया है।

निर्वचनों से आपाततः ऐसा प्रतीत होता है कि पहले ईश्वर का आकार था, कालान्तर में नहीं रहा—'निर्गत आकारः' अर्थात् आकार निकल गया। यह शंका सर्वथा निर्मूल है। 'गम्' धातु यहाँ प्राप्त्यर्थक है, जैसा कि **'स पर्यगात् सर्वगतः'** आदि में है। इन शब्दों का अर्थ यह कदापि नहीं होता कि परमात्मा सब जगत् में जाता है। इसका वास्तविक तर्कसंगत अर्थ यह है कि वह सदा सर्वत्र प्राप्त है—सर्वव्यापक होने से सब स्थानों को प्राप्त है। 'नि' का अर्थ 'अभाव' है, जैसा कि 'निर्मक्षिकम्' आदि प्रयोगों में है। **'निर्गत आकारो यस्मात्'** ऐसा विग्रह करने पर अर्थ होगा—'अप्राप्त है आकार जिससे' तथा 'निर्गत आकारात्' ऐसा विग्रह करने पर अर्थ होगा—'आकार से अप्राप्त'। ग्रन्थकार की दृष्टि में 'निर्गतः' का अर्थ है 'पृथग्भूतः' जैसाकि उन्होंने आगे निरञ्जन शब्द पर लिखा है। अर्थ होगा 'पृथग्भूत है आकार जिससे, अथवा 'आकार से पृथग्भूत'। दोनों का भाव एक ही है।

यजुर्वेद ४०।८ में अकायमादि शब्दों की व्याख्या करते हुए महीधर ने भी स्पष्टतः ईश्वर के निराकार एवं अजन्मा होने की घोषणा इन शब्दों में की है—**'अकायोऽशरीरः लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थः। अव्रणोऽस्नाविर इति विशेषणद्वयेन स्थूलशरीरप्रतिषेधः'**। कठोपनिषद् १।२।२२ में ईश्वर को **'अशरीरं शरीरेषु'** बताया है। स्वयं निराकार शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग मन्त्रादि में अन्वेषणीय है।

निरञ्जन—प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—**"अञ्जनं मायाऽविद्ययोर्नाम निर्गतमञ्जनं यस्मात् स निरञ्जनः'** माया नाम छल और कपट का है, क्योंकि वह पुरुष मायावी है, इससे क्या जाना जाता है कि यह छली और कपटी है। अविद्या नाम अज्ञान का है। जिसको माया और अविद्या का लेशमात्र सम्बन्ध कभी न हुआ, न है और न होगा, इससे परमेश्वर का नाम निरञ्जन है।"

आशय यह है कि माया का सम्बन्ध न होने से, आकृतिरहित होने से तथा किसी प्रकार के व्यसन आदि न होने से भगवान् निरञ्जन कहाता है।

---

१. धातु० ७।२०॥

https://t.me/arshlibrary

गण संख्याने[1] इस धातु से 'गण' शब्द सिद्ध होता है। इसके आगे 'ईश' वा 'पति' शब्द रखने से 'गणेश' और 'गणपति' शब्द सिद्ध होते हैं। **'ये प्रकृत्यादयो जडा जीवाश्च गण्यन्ते संख्यायन्ते, तेषामीशः स्वामी पतिः पालको वा'** जो प्रकृत्यादि जड़ और सब जीव प्रख्यात पदार्थों का स्वामी वा पालन करनेहारा है, इससे उस ईश्वर का नाम **'गणेश'** वा **'गणपति'** है।

'यो विश्वमीष्टे स विश्वेश्वर' जो संसार का अधिष्ठाता है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'विश्वेश्वर'** है।

'यः कूटेऽनेकविधव्यवहारे स्वस्वरूपेणैव तिष्ठति स कूटस्थः परमेश्वर' जो सब व्यवहारों में व्याप्त, और सब व्यवहारों का आधार होके भी किसी व्यवहार में अपने स्वरूप को नहीं बदलता, इससे परमेश्वर का नाम **'कूटस्थ'** है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।१६) का वाक्य है, जिसमें भगवदर्थ में निरञ्जन शब्द का प्रयोग हुआ है—**'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्'**।

गणपति—गणेश—ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। ईश्वरार्थ में गणपति शब्द का प्रयोग यजुर्वेद के निम्न मन्त्र में हुआ है—

गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे।
निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम॥ —यजुः० २३।१९

पौराणिक साहित्य में अनेकत्र गणेश नाम से भगवान् को स्मरण किया है।

विश्वम्भर-विश्वेश्वर—प्रथम संस्करण के अनुसार—

(क) 'डुभृञ् धारणपोषणयोः' विश्वपूर्वक इस धातु से विश्वम्भर शब्द सिद्ध होता है। **'यो विश्वं बिभर्त्ति धरति पुष्णाति वा विश्वम्भरो जगदीश्वरः'** जो जगत् का धारण वा पोषण करता है, इसीलिए उस परमेश्वर का नाम विश्वम्भर है। —पृ० १३

(ख) 'विश्वस्येश्वरः विश्वेश्वरः' विश्व नाम जगत् का ईश्वर होने से परमेश्वर का नाम विश्वेश्वर है। —पृ. १८

त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम्। त्वं राजा जनानाम्। —ऋक्० ८।६४।३
विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा। —अथर्व० २।१६।५
विश्वेश्वर नमस्तुभ्यं विश्वात्मा विश्वकर्मकृत्।
विश्वभुक् विश्वमायुस्त्वं विश्वक्रीडारतिः प्रभुः॥ मैत्र्यु० ५।१४

(विश्वात्मा) सम्पूर्ण जगत् के आत्मा (विश्वकर्मकृत्) सम्पूर्ण कर्मबन्धनों का नाश करनेवाले—**'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे'** (मुण्डक २।२।८) अर्थात् भगवान् के दर्शन से सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं। (विश्वभुक्) सम्पूर्ण जगत् को भोग करनेवाले=भगवान् के पक्ष में जगत् को उत्पन्न करना, उसको मर्यादा में चलाना तथा उसका लय करना ही भोग करना है। (विश्वमायुः) सम्पूर्ण विश्व को मापनेवाले अर्थात् जगत् में सर्वत्र व्याप्त=**ईशावास्यमिदं सर्वम्** (यजुः० ४०।१); (विश्वक्रीडारतिः) सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति में क्रीडारत सामर्थ्यवान् प्रभु आप विश्वेश्वर हैं। हम आपको प्रणाम करते हैं।

कूटस्थ—प्रथम संस्करण में इतना अधिक है—

'कूटे तिष्ठतीति कूटस्थः' जिसमें सब व्यवहार होय आप सब व्यवहारों में व्याप्त होय और सब व्यवहार का आधार भी होय, परन्तु जिसके स्वरूप में व्यवहार का लेशमात्र भी विकार न होने से परमेश्वर

---

१. धातु० १०।१३६॥

https://t.me/arshlibrary

जितने 'देव' शब्द के अर्थ लिखे हैं, उतने ही **'देवी'** शब्द के भी हैं। परमेश्वर के तीनों लिङ्गों में नाम हैं। जैसे—**'ब्रह्मचितिरीश्वरश्चेति'**। जब ईश्वर का विशेषण होगा तब **'देव'**, जब चिति का होगा तब **'देवी'**। इससे ईश्वर का नाम **'देवी'** है।

शक्लृ शक्तौ[1] इस धातु से 'शक्ति' शब्द बनता है। **'य सर्वं जगत् कर्तुं शक्नोति स शक्तिः'** जो सब जगत् के बनाने में समर्थ है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'शक्ति'** है।

का नाम कूटस्थ है।

'कूट उपपदपूर्वक 'ष्ठा गतिनिवृत्योः' धातु से कूटस्थ शब्द सिद्ध होता है' ग्रन्थकार की शैली के अनुसार इतना पाठ और चाहिए। कोश के अनुसार भगवान् कूटस्थ इसलिए कहाते हैं कि वे **'एकरूपतया कालव्यापकत्वं कूटत्वं तस्मिन् तिष्ठतीति कूटस्थः'** कूट के समान निर्विकार हैं।

भगवद्गीता में कहा है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥ —गीता १५।१६
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ —गीता १२।३

'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' की व्याख्या करते हुए लोकमान्य तिलक लिखते हैं—'अर्थात् इन सब भूतों के मूल (कूट) में रहनेवाले प्रकृतिरूप अव्यक्त तत्त्व को अक्षर कहते हैं। तब निर्वचन होगा—**'कूटे जगन्मूले तिष्ठतीति कूटस्थः'** अर्थात् जगत् के मूल में विद्यमान होने से भगवान् कूटस्थ कहाते हैं।

देवी—सभी वैदिक इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं कि परमेश्वर के तीनों लिङ्गों में नाम हैं। उदाहरण के लिए हम यहाँ विष्णुसहस्रनाम के टीकाकार श्री शंकराचार्य का उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—**'यत्र पुल्लिङ्गशब्दप्रयोगस्तत्र विष्णुर्विशेष्यः' यत्र स्त्रीलिङ्गशब्दस्तत्र देवता विशेष्यते, यत्र नपुंसकलिङ्ग-शब्दस्तत्र ब्रह्मेति विशेष्यते'** (श्लोक १४) अर्थात् जहाँ पुंल्लिङ्ग शब्द का प्रयोग है, वहाँ विष्णु विशेष्य है, जहाँ स्त्रीलिङ्ग शब्द है, वहाँ देवता विशेष्य है और जहाँ नपुंसकलिङ्ग शब्द है, वहाँ ब्रह्म विशेष्य है। तदनुसार जितने देव शब्द के अर्थ लिखे हैं, उतने ही देवी शब्द के भी हैं। भगवदर्थ में देवी शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है—**'देवैर्नो देव्यदितिर्निपातु'** (ऋक्० १।१०६।७) अर्थात् अदिति=अविनाशी देवी=परमेश्वर दिव्य गुणों से हमारी रक्षा करे।

शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः॥ यजुः० ३६।१२

शक्ति—प्रथम संस्करण के अनुसार—"**'शक्लृ शक्तौ' शक्नोति यया सा शक्तिः**—जो सब पदार्थों को रचने का सामर्थ्य जिसमें है, इससे परमेश्वर का नाम शक्ति है।" वर्तमान में प्रचलित संस्करण के अनुसार 'शक्लृ शक्तौ' इस धातु से शक्ति शब्द बनता है, **'यः सर्वं जगत्कर्तुं शक्नोति स शक्तिः'** जो सब जगत् को बनाने में समर्थ है, इसलिए परमेश्वर का नाम शक्ति है। प्रथम निर्वचन में 'शक्ति' उस सामर्थ्य का नाम है जिससे भगवान् सृष्टि रचते हैं और वह सामर्थ्य उनमें है, इसलिए वे शक्ति कहाते हैं। द्वितीय निर्वचन में 'क्तिन्' प्रत्यय कर्त्ता में है। श्री मीमांसक के मत में "आशीः अर्थ के परित्यागपूर्वक 'क्तिच्' (३।३।१७३) प्रत्यय भी माना जा सकता है। पूर्वत्र **'कृल्ल्युटो बहुलम्'** (३।३।११३) नियम से कर्त्ता अर्थ में क्तिन् होगा। उत्तरत्र बिना आशीः अर्थ के संज्ञा में क्तिच्।"

---

१. धातु० ५।१६॥

https://t.me/arshlibrary

श्रिञ् सेवायाम्[1] इस धातु से 'श्री' शब्द सिद्ध होता है । **'यः श्रीयते सेव्यते सर्वेण जगता विद्वद्भिर्योगिभिश्च स श्रीरीश्वरः'** जिसका सेवन सब जगत्, विद्वान् और योगीजन करते हैं, उस परमात्मा का नाम **'श्री'** है ।

लक्ष दर्शनाङ्कनयोः[2] इस धातु से 'लक्ष्मी' शब्द सिद्ध होता है । **'यो लक्षयति पश्यति अङ्कते चिह्नयति चराऽचरं जगत्, अथवा वेदैराप्तैर्योगिभिश्च यो लक्ष्यते स लक्ष्मीः सर्वप्रियेश्वरः'** जो सब चराऽचर जगत् को देखता, चिह्नित अर्थात् दृश्य बनाता, जैसे शरीर के नेत्र नासिका और वृक्ष के पत्र-पुष्प, फल-मूल; पृथिवी जल के कृष्ण, रक्त, श्वेत मृत्तिका पाषाण, चन्द्रसूर्यादि चिह्न बनाता, तथा सबको देखता, सब शोभाओं की शोभा, और जो वेदादिशास्त्र वा धार्मिक-विद्वान् योगियों का लक्ष्य अर्थात् देखने योग्य है, इससे उस परमेश्वर का नाम **'लक्ष्मी'** है ।

ऋग्वेद ४।२२।८ में 'शर्मा शशमानस्य शक्तिः' इस वाक्य में भगवदर्थ में शक्ति पद का प्रयोग हुआ है, अर्थात्—शक्त=शक्तिसम्पन्न भगवान् शान्तिशील व शान्तिदाता है ।

बह्वृचोपनिषद् में लिखा है—**'देवी ह्यग्र आसीत् सैव जगदसृजत् । अण्डजं स्वेदमुद्भिज्जं जरायुजम्, यत्किञ्चैतत् प्राणिस्थावरजङ्गमात्मं मनुष्यमजीजनत् । सैषा परा शक्तिः'** । इस सन्दर्भ में चराचर सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर को शक्ति नाम से अभिहित किया है ।

श्री—**'क्विब् वचिप्रच्छि'** आदि उणादिसूत्र (२।५७) की व्याख्या में लिखा है—**'श्रयति श्रीयते वा सा श्रीः'** यह निर्वचन भगवान् तथा शोभा, सम्पत्ति आदि सभी पर समानरूप से संगत होता है ।

अहिर्बुध्न्यसंहिता में श्री का निर्वचन तीन भिन्न धातुओं से किया है—

शृणाति निखिलान् दोषान् श्रीणाति च गुणैर्जगत् ।
श्रीयते चाखिलैर्नित्यं श्रयते च परमं पदम् ॥

श्री शब्द से आशय उससे है जो दोषों का निराकरण करे, जगत् में गुणों का परिपाक करे, सबके द्वारा आश्रयणीय हो तथा परमपद का आश्रयभूत हो । इन गुणों से युक्त होने से भगवान् का श्री नाम है ।

अश्वपूर्वां रथमध्यां हस्तिनादप्रमोदिनीम् ।
श्रियं देवीमुपह्वये श्रीर्मा देवी जुषताम् ॥ —ऋक्परि० ११।३

यहाँ कहा है कि (देवी श्री) दिव्य गुणयुक्त श्रीनामधारी भगवान् (मा जुषताम्) मेरे प्रति प्रीतिसम्पन्न हो ।

उक्थं ब्रह्मेति ..... तच्छ्रीरित्युपासति । —कौ० ब्रा० उ० २।६
श्रीर्वै वरुणः । —कौ० ब्रा० उ० १८।६

नृसिंहपूर्वतापिनीचतुर्थ्युपनिषद् में लिखा है—

या श्रीः-यश्चोंकारः-यश्च कालः-यश्च मनुः-यश्च यमः-यश्च प्राणः—एतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तुवध्वम् ।

लक्ष्मी—'लक्षेर्मुट् च' इस औणादिकसूत्र (३।१४०) की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—**'लक्षयति पश्यत्यङ्कयति वा सा लक्ष्मी'** । यह व्याख्या लोक और परमेश्वर दोनों में संगत है ।

'लक्ष' धातु के अर्थ दर्शन, अंकन तथा आलोचन हैं । ये सभी अर्थ परमेश्वर में सटीक बैठते हैं । उपनिषत् कहती है—'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृहद्०३।६।२३) । वास्तविक द्रष्टा और

---

१. धातु० १।६३८॥
२. धातु० १०।५॥

https://t.me/arshlibrary

सृ गतौ[1] इस धातु से 'सरस्', उससे **'मतुप्'** और **'ङीप्'** प्रत्यय होने से 'सरस्वती' शब्द सिद्ध होता है। **'सरो विविधं ज्ञानं विद्यते यस्यां चितौ**[2] **सा सरस्वती'** जिसको विविध विज्ञान, अर्थात् शब्द, अर्थ, सम्बन्ध प्रयोग का ज्ञान यथावत् होवे, इससे उस परमेश्वर का नाम **'सरस्वती'** है।

विज्ञाता परमेश्वर ही है, क्योंकि उससे बढ़कर कोई नहीं है। अन्यत्र (ऐत० उप० १।१।१) में लिखा है—**'स ऐक्षत इमांल्लोकान्नु सृजा इति'** अर्थात् उसने ईक्षण=आलोचन किया, इन लोकों की रचना की जाए। अंकन का अर्थ है चिह्नित करना। इस जगत् के प्रत्येक पदार्थ में उसका व्यक्तित्व निहित है, जैसे किसी कृति में उसका कर्त्ता निहित होता है। भगवान् का दर्शन करना ही परम पुरुषार्थ है। श्रुति कहती है—**'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'** (यजुः० ३१।१८)। उसका आलोचन करना ही परम लक्ष्य है। इसलिए भगवान् की लक्ष्मी संज्ञा है।

'अनादिर्भुवो लक्ष्मीः सुवीरो रुचिराङ्गदः'।

विष्णुसहस्रनाम १०१, द्रष्टव्य—महाभारत, अनु० १४६।१९४

सरस्वती—प्रथम संस्करण में 'सरस्वती' नाम की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—"सृ गतौ इससे सरस् शब्द से मतुप् और ङीप् प्रत्यय के करने से सरस्वती शब्द सिद्ध होता है। 'सरो सरस् नाम विज्ञानम्। **विज्ञानं नाम विविधं यत् ज्ञानं तत् विज्ञानम्'** सर शब्द विज्ञान का वाचक है। विविध नाम नाना प्रकार शब्द, शब्दों का प्रयोग और शब्दार्थ सम्बन्धों का यथावत् जो ज्ञान उसका नाम विज्ञान है। **'सरो नाम विज्ञानं विद्यते यस्याः सा सरस्वती'**—सर नाम विज्ञान जो अखण्डित विद्यमान है जिसको, उसका नाम सरस्वती है। ऐसा परमेश्वर ही है। इससे सरस्वती नाम परमेश्वर का है।"

निघण्टु भाष्यकार देवराज यज्वा इसका एक दूसरा ही निर्वचन करते हैं जो भगवान् की व्यापकता का द्योतक है—**'सरः प्रसरणमस्यास्तीति'** अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् जिसका प्रसार है अथवा जो सम्पूर्ण जगत् में प्रसृत है। इससे भगवान् को सरस्वती कहते हैं।

भगवदर्थ में सरस्वती शब्द का प्रयोग—

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने।
सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्॥ —ऋ० १०।१७।४

दिव्य ज्ञान की इच्छा रखनेवाले (देवयन्तः) सम्पूर्ण ज्ञान के आधार भगवान् को (सरस्वतीं) पुकारते हैं (ह्वयन्ते)।

कुछ लोग उसे वीणापुस्तकधारिणी तथा हंसवाहिनी देवीविशेष के रूप में मानते हैं, किन्तु नृसिंहोत्तरतापिनी उपनिषद् के निम्न वाक्य से स्पष्ट हो जाता है कि यह शब्द ईश्वरार्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

यश्च विष्णुः। यश्च महेश्वरः। यश्च पुरुषः। यश्चेश्वरः। या सरस्वती ..... यश्चोंकारः। एतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तुवध्वम्। ४।४

सरस्वती के पर्यायरूप में पढ़े हुए ईश्वर, महेश्वर, ओंकार आदि शब्दों से निश्चित है कि यहाँ सरस्वती शब्द परमात्मा का ही वाचक है।

सर्वशक्तिमान्—परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का सिद्धान्त सर्वमान्य है, परन्तु सर्वशक्तिमान् के अर्थों में

---

१. धातु० १।६६६॥

२. चितिशक्तावीश्वर इत्यर्थः।

https://t.me/arshlibrary

सर्वाः शक्तयो विद्यन्ते यस्मिन् स सर्वशक्तिमानीश्वरः' जो अपने कार्य करने में किसी अन्य की सहायता की इच्छा नहीं करता, अपने ही सामर्थ्य से अपने सब काम पूरा करता है, इसलिए उस परमात्मा का नाम **'सर्वशक्तिमान्'** है।

णीञ् प्रापणे[1] इस धातु से 'न्याय' शब्द सिद्ध होता है[2]। **'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः'** यह वचन न्यायसूत्रों के ऊपर वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य[3] का है। **'पक्षपातरहित्याचरणं न्यायः'** जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों की परीक्षा से सत्य-सत्य सिद्ध हो तथा पक्षपातरहित धर्मरूप आचरण है, वह **'न्याय'** कहाता है। **'न्यायं कर्तुं शीलमस्य स न्यायकारीश्वरः'** जिसका न्याय अर्थात् पक्षपातरहित धर्म करने ही का स्वभाव है, इससे उस ईश्वर का नाम **'न्यायकारी'** है।

मतभेद है। अधिसंख्य लोग इसका यह अर्थ समझते हैं कि परमेश्वर सब-कुछ कर सकता है—उसके सामर्थ्य की कोई सीमा नहीं है। ग्रन्थकार इससे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि "ईश्वर अपने काम अर्थात् (सृष्टि की) उत्पत्ति-पालन-प्रलय आदि और सब जावों के पुण्य-पाप की व्यवस्था करने में किंचित् भी किसी की सहायता नहीं लेता, अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही अपना सब काम पूर्ण कर लेता है।"

—स० प्र०, सप्तम समुल्लास।

इसका आशय यही है कि 'आपना कार्य करने में निरपेक्षता की सर्वशक्तिमत्ता है।' ऐसा न किया जाए तो 'परमात्मा अपना नाश कर सकता है या नहीं ; यदि कर सकता है तो अविनाशी या नित्य न रहकर नाशवान् या अनित्य हो जाएगा और यदि नहीं कर सकता तो सर्वशक्तिमान् नहीं हुआ' आदि अनेक शंकाएँ उठेंगी, जिनका समाधान सर्वथा अशक्य होगा। इसलिए यहाँ 'सर्व का अर्थ है 'योग्य सर्व' अर्थात् जिसमें सम्पूर्ण योग्य शक्तियाँ हैं। इस प्रकार 'अनन्त' का अर्थ होगा 'जीव' की अपेक्षा से 'अनन्त'।

मतुप् प्रत्यय प्रशंसा अर्थ में होता है। तब 'सर्वशक्तिमान्' का अर्थ होगा 'सर्वा प्रशस्ताः शक्तयो विद्यन्तेऽस्मिन्' अर्थात् जिसमें सब प्रशस्त शक्तियाँ हैं, अप्रशस्त कोई नहीं। (Well, but can you imagine God will be willing to lie, whether in wodds or in deeds, to put forth a phantom of himself.—See Plato: Republic in Five Great Dialogues, Translated by B. Jowett, P. 285) सर्वशक्तिमान् शब्द का ईश्वरार्थ में प्रयोग सर्वमान्य होने पर भी वह अन्वेषणीय है। **'इन्द्रे विश्वानि वीर्या'** (ऋ. ८।६३।६) अर्थात् भगवान् में सब शक्तियां हैं, इस रूप में अवश्य प्रमाणित है। ऋग्वेद १।५४।२ में **'अर्चा शक्राय शाकिने'** का अर्थ इस प्रकार किया है—'(अर्चा)

---

१. धातु० १।६४२॥

२. अष्टाध्यायी ३।३।३७ तथा १२२ में दो स्थानों में 'न्याय' शब्द का साधुत्व दर्शाया है। अ० ३।३।३७ में 'नि' उपसर्गपूर्वक 'इण् गतौ' धातु से, तथा अ० ३।३।१२२ में 'न्याय' शब्द निपातित है। काशिका आदि में 'नीयतेऽनेनेति न्यायः, व्युत्पत्ति दर्शाई है। इसमें 'नीयते' प्रयोग 'नि' पूर्वक 'इण्' दोनों धातुओं से सम्भव है। निपातन प्रायः अलाक्षणिक कार्यद्योतनार्थ माना जाता है, अतः हमारे विचार में यहाँ 'णीञ्' से निपातन मानना अधिक युक्त है, क्योंकि निपूर्वक इण् से पूर्व (अ० ३।३।३७) में साधुत्व दर्शा चुके हैं। निपातन में नकार से परे यकार का आगम जानना चाहिए। यदि निपातन भी निपूर्वक 'इण्' से ही मानने का आग्रह हो, तो पृषोदरादि आकृतिगण (अ० ६।३।१०८) से 'णीञ्' धातु से साधुत्व जानना चाहिए।

३. न्यायभाष्य १।१॥ यह भाष्य आचार्य चाणक्य अपर नाम कौटिल्य विरचित है, ऐसा भारतीय ऐतिहासिकों का मत है। वात्स्यायन गोत्रनाम है।

https://t.me/arshlibrary

सत्कुरु (शक्राय) समर्थाय (शाकिने) प्रशस्ताः शाकाः शक्तियुक्ता गुणाविद्यन्ते यस्मिंस्तस्मै' । गीता (११।४०) में इसे अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा है । वहाँ लिखा है—**'अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वम्'** हे भगवन् ! आप अनन्त वीर्य और विक्रमवाले हो ।

न्यायकारी—ग्रन्थकार ने जिस धातु (णीञ् प्रापणे) से इस शब्द की रचना मानी है और जिस प्रकार इसका निर्वचन किया है, उसके विषय में यह कहा जाता है कि वह पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है, क्योंकि पाणिनि ने इसे नि पूर्वक 'इण् गतौ' धातु से बनाया है । वस्तुतः आक्षेपकर्त्ताओं ने इस शब्द को उसके समग्र रूप में नहीं देखा । अष्टाध्यायी ३।३।३७ तथा ३।३।१२२ दोनों स्थलों में न्याय शब्द का साधुत्व दर्शाया है । **'परिन्योर्नीणोर्ध्रुताप्रेषयोः'** (अ० ३।३।३७) से प्रकृति, प्रत्यय तथा अर्थ का स्पष्ट निर्देश करते हुए 'नि' उपसर्गपूर्वक 'इण् गतौ' धातु से बनाया है । आगे **'अध्यायन्यायोद्यावसंहाराश्च'** (३।३।१२२) में न्याय शब्द निपातित है । यदि दोनों ही स्थलों पर नि पूर्वक 'इण् गतौ' धातु से ही न्याय शब्द की रचना अभिप्रेत होती तो निपातन करने की क्या आवश्यकता थी ?

काशिका आदि में 'नीयतेऽनेनेति न्यायः' व्युत्पत्ति दर्शाई है । इसमें 'नीयते' प्रयोग 'निपूर्वक इण्' तथा 'णीञ्' दोनों धातुओं से सम्भव है । निपातन प्रायः अलाक्षणिक कार्यद्योतनार्थ माना जाता है, अतः यहाँ 'णीञ्' से निपातन मानना अधिक युक्त है, क्योंकि नि पूर्वक इण् से पूर्व (३।३।३७) में साधुत्व दर्शा चुके हैं । निपातन में नकार से परे यकार का आगम जानना चाहिए । यदि निपातन भी नि पूर्वक 'इण्' से ही मानने का आग्रह हो, तो **'पृषोदरादीनि यथोपदिष्ट'** (६।३।१०८) से 'णीञ्' धातु से साधुत्व जानना चाहिए । इस सूत्र के अनुसार जहाँ लोप-आगम-वर्णविकार-वर्णविपर्यय आदि देखा जाए, किन्तु शास्त्र द्वारा उसका विधान न हो, ऐसे शब्दों को भी शिष्ट पुरुषों द्वारा उच्चारित होने से साधु समझना चाहिए । इस विषय में इसी सूत्र के महाभाष्य में कहा है—**'एतस्मिन्नार्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारगास्ते तत्र भवन्तः शिष्टाः'**, अर्थात् इस आर्य निवास (आर्यावर्त्त देश) में लोभरहित, बिना कारण के अर्थात् निष्काम भाव से जो किसी विद्या में पारंगत हैं, ऐसे व्यक्ति 'शिष्ट' कहाते हैं ।

धर्मशास्त्रों में धर्म का लक्षण षडङ्गवेदवित् किया है । ऐसे महाविद्वान् शिष्ट पुरुषों के द्वारा प्रयुक्त शब्दों के यथार्थ ज्ञान के लिए ही भगवान् पाणिनि ने अष्टाध्यायी बनाई । इसीलिए महाभाष्य में कहा है—'शिष्टपरिज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी' (६।३।१०७) । (आजकल के वैयाकरण महाभाष्यकार के 'शिष्टपरिज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी' नियम को न मानकर ऋषिकृत ग्रन्थों में प्रयुक्त शब्दों की विवेचना अष्टाध्यायी के आधार पर करते हैं और जो शब्द की विवेचना के नियमों से साक्षात सिद्ध नहीं होते, उन्हें अनार्ष प्रयोग अर्थात् असाधु मानते हैं । वस्तुतः यह प्रक्रिया शास्त्र-विरुद्ध है । आर्ष शब्द साधु हैं, उनका साधुत्व इसी सूत्र पर वात्स्यायन मुनिकृत भाष्य आचार्य चाणक्य, आपर नाम कौटिल्य, विरचित है, ऐसा भारतीय ऐतिहासिकों का मत है । वात्स्यायन गोत्र नाम है । (यु.मी.)

'णीञ्' धातु से इस शब्द की रचना हो सकती है, इस विषय में अन्य आचार्य भी सहमत हैं । तद्यथा-

आचार्य उदयन के प्रसिद्ध ग्रन्थ न्यायकुसुमाञ्जलि की प्रकाश नाम की प्रसिद्ध व्याख्या में न्याय शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा है—'नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेनेति न्यायः' (न्यायकुसुमञ्जलि-सोसायटी संस्करण, पृ० २) । यदि उन्हें यहाँ नि पूर्वक 'इण' धातु अभिप्रेत होती तो 'नीयते=ज्ञायतेविवक्षितार्थसिद्धिरनेनेति न्यायः' ऐसा लिखते, जैसाकि केशवमिश्ररचित तर्कभाषा की व्याख्य सारमञ्जरी में इस शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा है —'न्यायः पञ्चावयवोपपन्नं वाक्यं तन्नीयते ज्ञायते

https://t.me/arshlibrary

अनेनेति, प्राधान्येनेतत्प्रतिपाद्यते न्यायशास्त्रे' । इसलिए आचार्य का एक साथ 'नीयते' पद और फिर उसका विवरण 'प्राप्यते' स्वयं पोषण कर रहा है कि मैं 'णीञ् प्रापणे' से बना हूँ ।

विष्णुसहस्रनाम में भगवान् के नामों में 'न्याय' का भी उल्लेख है—

अग्रणीर्ग्रामणीः श्रीमान्न्यायो नेता समीरणः ।

यहाँ अग्रणी, ग्रामणी, नेता सभी एक शब्द 'णीञ्' धातु से संबद्ध हैं । अतः 'सहचरितासहचरितयोर्मध्ये सहचरितस्यैव ग्रहणम्' इस न्याय से इनके मध्य में पठित न्याय शब्द भी 'णीञ्' धातु से ही बना होना चाहिए।

शब्दकल्पद्रुमकोश शकाब्द १८०६ का संस्करण पृष्ठ ६३० पर लिखा है—'नीयन्ते प्राप्यन्ते विवक्षितार्था येनेति । णी+अध्यायन्यायोद्यावसंहराश्च (३।३।१२२) इति घञ् प्रत्ययेन निपातनात् साधु' ।

यदि ये सब समाधान न भी हों तो भी ग्रन्थकार के निर्वचन को अशुद्ध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शब्द रचना के विषय में नियम यह है कि 'व्युत्पत्तिर्हि यथाकथंचित् कर्त्तव्या उपायानमिनियमात्' । इनके आगे फिर कयट लिखते हैं—'गिरिरस्यास्तीति लोमादिषु दर्शनात् शप्रत्ययः, अन्ये त्वाहुः गिरौ गिरौ शेते इति संख्यैकवचनादिति सप्तम्यन्तात् शस् प्रत्ययः, व्युत्पत्तिर्हि यथाकथंचित् कर्त्तव्या उपायनियमात् । तदुक्तं हरिणा—

वैरवसिष्ठगिरिशास्तथैकागारिकादयः ।
कैश्चित् कथंचित् व्याख्याता निमित्तावधिसंकरैः ॥

—महाभाष्य ३।२।१५ पर कैयट

आशय यह है कि एक शब्द भिन्न-भिन्न प्रकृति-प्रत्ययों से बन सकता है, क्योंकि प्रयोजन शब्दसाधुत्व सम्पादन करना है और उसके लिए अनेक उपायों का अवलम्बन किया जा सकता है । जैसे 'गिरीशः' शब्द 'गिरौ शेते' ऐसा निर्वचन करने पर 'लोमादिपामादि' (५।२।१०) सूत्र से शन् प्रत्यय करके भी बन जाता है, जैसे रमेशः । इसी प्रकार 'संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्' (५।४।४३) सूत्र द्वारा गिरि शब्द से वीप्सा अर्थ में 'शस्' प्रत्यय करके गिरिशः शब्द बनता है । परिणाम वही कि शब्द रचना के उपाय अनेक हैं । जैसा अर्थ आपको अभीष्ट हो, तदनुसार प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना कर लीजिए और शब्द बना लीजिए । इसी अभिप्राय से निरुक्तकार ने अग्नि शब्द को विभिन्न अर्थों की दृष्टि से विभिन्न प्रकृति प्रत्ययों द्वारा विभिन्न प्रत्ययों द्वारा बनाया है । प्रसिद्ध वैयाकरण हरि ने अपने वाक्यपदीय ग्रन्थ में 'वैरवसिष्ठगिरिशाः' कारका द्वारा यही प्रतिपादित किया है । आगे भी आपने इसी पुस्तक के द्वितीय काण्ड में गो शब्द की रचना के विषय में लिखा है—

कैश्चिन्नर्वचनं भिन्नं गिरतेगर्जतेर्गमेः ।
गवतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्रानुदर्शितम् ॥ —वा० प० २।१७५

आशय यह कि आचार्यों ने गो शब्द के निर्वचन गृ, गर्ज, गम्, गु तथा गद इन भिन्न-भिन्न प्रकृतियों से किये हैं । परिणाम वही कि 'व्युत्पत्तिर्हि यथाकथंचित् कर्तव्या उपायानियमात्' । —विद्यासागर

विशा राजानमद्भुतमध्यक्षं धर्मणामिमम् । अग्निमीळे स उ श्रवत् । (ऋ० ८।४३।२४) अर्थात् समस्त संसार के राजा, धर्माध्यक्ष=न्यायकारी अद्भुत आग्रणी भगवान् की मैं पूजा करता हूँ, वही सबकी सुनता है । 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति' (वेदान्तद० २।१।३४) अर्थात् परमेश्वर में वैषम्य तथा निर्घृणता नहीं है, वह यह सृष्टि जीवों के कर्मों की अपेक्षा से करता है जैसाकि बृहदारण्यकोपनिषद् (३।२।१३) में कहा है—**'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापो वै पापेन'** अर्थात् पुण्य कर्म से पुण्य फल पाता

https://t.me/arshlibrary

दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु[1] इस धातु से 'दया' शब्द सिद्ध होता है। **'दयते ददाति जानाति गच्छति रक्षति हिनस्ति यया सा दया, बह्वी दया विद्यते यस्य स दयालुः परमेश्वर'**, जो अभय का दाता सत्य-सत्य सर्वविद्याओं का जानने, सब सज्जनों की रक्षा करने, और दुष्टों को यथायोग्य दण्ड देनेवाला है, इससे परमात्मा का नाम **'दयालु'** है।

'द्वयोर्भावो द्वाभ्यामितं सा द्विता[2] **द्वीतं वा, सैव तदेव वा द्वैतम्, न विद्यते द्वैतं द्वितीयेश्वरभावो यस्मिंस्तद् अद्वैतम्,** अर्थात् सजातीयविजातीयस्वगतभेदसून्यं ब्रह्म' दो का होना वा दो से युक्त होना वह द्विता वा द्वीत अथवा द्वैत। जो द्वैत से रहित है वह 'अद्वैत'। सजातीय जैसे मनुष्य का सजातीय दूसरा मनुष्य होता है, विजातीय जैसे मनुष्य से भिन्न जातिवाला वृक्ष, पाषाणादि, स्वगत अर्थात् शरीर में जैसे आँख, नाक, कान, अवयवों का भेद है, जैसे दूसरे स्वजातीय ईश्वर विजातीय ईश्वर वा अपने आत्मा में तत्वान्तर वस्तुओं से रहित एक परमेश्वर है, इससे परमात्मा का नाम **'अद्वैत'** है।

है, पाप से पाप। इस प्रकार परमेश्वर न्यायकारी कहाता है।

दयालु-दय' धातु के जितने अर्थ हैं, वे सब भगवान् की दयालुता में आ जाते हैं। वैयाकरण 'दयाशीलमस्येति दयालुः' ऐसा निर्वचन करते हैं। उनके अनुसार 'स्पृहिगृहिपतिदयि' (अष्टा० ३।२।१८५) सूत्र से 'दय' धातु से अलुच् प्रयय होकर दयालु पद बनता है। इसी का निर्देश यहाँ किया गया है। यही भाव हेमचन्द्र ने 'दयत' इत्येवं शीलो दयालु (अभिधानाचिन्तामणि ३।३२ टीका में) द्वारा व्यक्त किया है।

ग्रन्थकार ने यहाँ और प्रथम संस्करण में—दोनों स्थानों पर 'दया विद्यतेऽस्य स दयालुः' व्युत्पत्ति दर्शाई है। श्री मीमांसक के अनुसार 'पाणिनीय व्याकरण में 'दया' शब्द से मत्वर्थ मे 'लुच्' वा 'आलुच्' प्रत्यय का विधान नहीं मिलता। पुनरपि 'हृदयादालुरन्यतरस्याम्' इस वार्त्तिक (महाभाष्य ५।२।१२२) में दया और कृपा शब्द का भी उपसंख्यान करना चाहिए। हेमचन्द्र ने 'कृपाहृदयादालु' (चान्द्र० व्या० ७।२।४२) सूत्र में स्पष्ट ही दोनों पदों से आलुप्रत्यय का विधान किया है। चन्द्रगोमी ने तो 'निद्रातन्द्राश्रद्धादयाहृदयादालुच्' (४।२।१५७) सूत्र से उन सभी से मत्तवर्थ में आलुच् प्रत्यय का विधान किया है, जिनको पाणिनि कृदन्त मानता है। इस प्रकार ग्रन्थकार की व्युत्पत्ति व्याकरण शास्त्र के नियमानुसार सर्वथा ठीक है। 'यो मृळयति चक्रुषे चिदागो वयं स्याम वरुणे अनागाः' (ऋ० ७।८७।७) अर्थात् भगवान् पाप करनेवाले पर भी दया करता है, अतः हम भगवान् की दृष्टि में निष्पाप रहने का प्रयास करें तथापि 'दयालु' इस रूप में भगवान् का नाम अन्वेषणीय है।

अद्वैत—यह शब्द दार्शनिक क्षेत्र में विशेष महत्व रखता है। अद्वैत वेदान्त के क्षेत्र में इसका अपना विशेष ही अर्थ है। प्रस्तुत संदर्भ में इतना ही बताना अभिप्रेत है कि अन्य अनेक शब्दों की भाँति 'अद्वैत' शब्द भी परमात्मा का बाचक है। इसलिए कि उस जैसा अन्य कोई नहीं है। इसके मूल में ये दो मन्त्र प्रतीत होते हैं—

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यान्या॥

—यजुः० १७।२७

---

१. धातु० १।३२२॥

२. 'द्विता' शब्द का मुख्यार्थ है 'भेद'। ग्रन्थकार ने भी उत्तरवाक्य में यही अर्थ स्वीकार किया है। इस दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्म, जीव, प्रकृति तीन को अनादि माननेवाला दर्शन भी द्वैतवादी कहा जाता है।

https://t.me/arshlibrary

'गुण्यन्ते ये ते गुणा वा यैर्गुणयन्ति ते गुणाः, यो गुणेभ्यो निर्गतः स निर्गुण ईश्वरः' जितने सत्व, रज, तम, रूप, रस, स्पर्श, गन्धादि जड़ के गुण; अविद्या, अल्पज्ञता, राग-द्वेष और अविद्यादि क्लेश जीव के गुण हैं, उनसे जो पृथक् है। इसमें **'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'** इत्यादि उपनिषदों का प्रमाण है[1]। जो शब्द, स्पर्श, रूपादि गुणरहित है, इससे परमात्मा का नाम' **'निर्गुण'** है।

'यो गुणैः सह वर्त्तते स सगुणः' जो सबका ज्ञान, सर्वसुख, पवित्रता, अनन्तबलादि गुणों से युक्त है, इसलिए परमेश्वर का नाम **'सगुण'** है। जैसे पृथिवी गन्धादि गुणों से 'सगुण', और इच्छादि गुणों से रहित होने से 'निर्गुण' है, वैसे जगत् और जीव के गुणों से पृथक् होने से परमेश्वर **'निर्गुण'**, और सर्वज्ञादि गुणों से सहित होने से **'सगुण'** है, अर्थात् ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो सगुणता और निर्गुणता से पृथक् हो। जैसे चेतन के गुणों से पृथक् होने से जड़ पदार्थ निर्गुण, और अपने गुणों से सहित होने से 'सगुण', वैसे ही जड़ के गुणों से पृथक् होने से जीव 'निर्गुण', और इच्छादि अपने गुणों से सहित होने से 'सगुण'। ऐसे ही परमेश्वर में भी समझना चाहिए।

'अन्तर्यन्तुं नियन्तुं शीलं यस्य सोऽयमन्तर्यामी' जो सब प्राणि और अप्राणिरूप जगत् के भीतर व्यापक

न द्वितायो न तृतीयश्चतुर्थ्यो नाप्युच्यते। न पञ्चमो न षष्ठो सप्तमो
नाप्यु च्यते। नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्यु च्यते।
स एष एक एकवृदेक एव॥

—अथर्व० १३४।१६-२०

अर्थात् वह तो एक ही है—'एकवृदेक एव'। ऋग्वेद ७।३२।२३ में कहा है—

न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।

अर्थात् हे भगवन्! तुझ जैसा न कोई दिव्य है, और न कोई पार्थिव है। न कोई उत्पन्न हुआ है, न उत्पन्न होगा। वस्तुतः सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्य होने से परमात्मा अद्वैत कहाता है। अद्वैत शब्द का विसतृत विवेचन सप्तम उल्लास में अद्वैत वेदान्त के प्रसंग में किया जाएगा।

निर्गुण-सगुण—इस सम्पूर्ण लेख से यह निष्कर्ष निकलता है कि सगुण तथा निर्गुण शब्द साक्षेप हैं, निरपेक्ष नहीं अर्थात् 'निर्गुण' का अर्थ हुआ कुछ गुणों से रहित—उन गुणों से रहित जो उसमें रह नहीं सकते और 'सगुण' का अर्थ है कुछ गुणों से सहित जो उसमें रह सकते हैं। इसलिए परमेश्वर को निर्गुण भी कह सकते हैं और सगुण भी। प्रथम संस्करण में ग्रन्थकार ने ठीक लिखा है—

"कोई भी वस्तु संसार में ऐसी नहीं है, जो केवल निर्गुण अथवा सगुण होय। जैसेकि पृथिवी गन्ध आदि गुणों के योग होने से सगुण है और वही पृथिवी चेतन और आकाशादि के गुणों से रहित होने से निर्गुण भी है। वैसे ही अपने सर्वज्ञत्वादि गुणों से सदा सहित होने से परमेश्वर का नाम 'सगुण है और उत्पत्ति, स्थिति, नाश, जड़त्वादिक जगत् के गुणों से रहित होने से परमेश्वर निर्गुण भी है। वैसे सब जगहों में विचार कर लेना।"

अन्तर्यामी— उल्लिखित निर्वचन का मूल यह ब्राह्मणवाक्य है—**'वेत्थ नु त्वं काप्य! तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतान्यन्तरो यमयति'** (शत०१४।६।७।३)। इस विषय का बृहदारण्यकोपनिषद् के अन्तर्यामी ब्राह्मण में विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है, तद्यथा—

---

१. कठो० ३।१५॥

https://t.me/arshlibrary

होके सबका नियम करता है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'अन्तर्यामी'** है।

'यो धर्मे राजते स धर्मराजः' जो धर्म ही में प्रकाशमान और अधर्म से रहित, धर्म ही का प्रकाश करता है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'धर्मराज'** है।

यमु उपरमे[1] इस धातु से 'यम' शब्द सिद्ध होता है। **'यः सर्वान् प्राणिनो नियच्छति स यमः'** जो सब प्राणियों के कर्मफल देने की व्यवस्था करता, और सब अन्यायों से पृथक् रहता है, इसीलिए परमात्मा का नाम **'यम'** है।

'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।' —बृहद० ३।७।१५

अर्थात् जो सब भूतों में स्थित होता हुआ सब भूतों के अन्दर है, जिसको सब भूत नहीं जानते, सब भूत जिसका शरीर हैं, जो सब भूतों के अन्दर सबपर शासन कर रहा है, वहीं मरणरहित सबका अन्तर्यामी आत्मा है।

प्रथम संस्करम में 'जगत् के भीतर व्यापक' के स्थान पर 'जगत् के भीतर, बाहर और मध्य में सर्वत्र व्याप्त' लिखा है। इसका मूल यजुर्वेद ४०।५ अर्थात ईशोपनिषद् का यह वाक्य हो सकता है—**'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।**

धर्मराज— पौराणिक दृष्टि से धर्मराज का अपर नाम यमराज है। स्व-स्व कर्मानुसार जीवों को विभिन्न योनियों में भेजना उसका काम है। जीवों के कर्मों का लेखा-जोखा रखनेवाले चित्रगुप्त इस कार्य में उसके सहायक हैं। वैदिक सिद्धान्त के अनुसार इस प्रकार के किसी पृथक् देवता की कोई सत्ता नहीं है। भगवान् के अन्यान्य नामों की तरह धर्मराज भी उसी का एक नाम है और वह किसी की सहायता के बिना अपना यह कार्य भी करने में पूर्ण समर्थ है।

प्रथम संस्करण में लिखा है—"न्यायकारी नाम के अर्थ में धर्म शब्द की व्याख्या करदी है। उससे जान लेना **'धर्मेण राजते स धर्मराजः'** अथवा **'धर्मं राजयति प्रकाशयति स धर्मराजः'** धर्म न्याय का और न्याय पक्षपात के त्याग का नाम है। तिस धर्म से सदा प्रकाशमान होय अथवा सदा धर्म का प्रकाश करने से परमेश्वर का नाम धर्मराज है।

'अर्तिस्तुसुहुसृधृ' आदि उणादिसूत्र (१।१४०) की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— **'राजते प्राप्तो भवतीति राजा, धर्मेण राजते प्राप्तो भवतीति धर्मराजः'**

अर्थात् धर्म द्वारा प्राप्त किये जाने से भगवान् धर्मराज कहाते हैं। इस शब्द का यह निर्वचन भगवत्परक है। 'अध्यक्षं धर्म्मणाम्' (ऋ० ८।४३।२४)।

यम—यम्यते=नियम्यते जात्यायुर्भोगादिभिः जगदनेन स यमः परमेश्वरः' अर्थात् जाति, आयु और भोग द्वारा सारे संसार का नियमन करन से भगवान् यम कहाते हैं। अथवा 'नियतं फलं जीवेभ्यो यच्छतीति यमः'—जीवों को यथायोग्य कर्मफल देने से भगवान् का यम नाम है। इस निर्वचन का मूल गीता का यह वचन हो सकता है —'लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हितान् (गीता ७।२२)।निम्न मंत्रों में यम शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग उपलब्ध है —

यमो दाधार पृथिवीं यमो विश्वमिदं जागत्।
यमाय सर्वमित्तस्थे यत्प्राणाद्वायुरक्षितम् ॥

---

१. धातु० १।७१०॥

https://t.me/arshlibrary

भज सेवायाम्[1] इस धातु से 'भग', इससे **'मतुप्'** होने से 'भगवान्' शब्द सिद्ध होता है । **'भगः सकलैश्वर्यं सेवनं वा विद्यते यस्य स भगवान्'** जो समग्र ऐश्वर्य से युक्त, वा भजने के योग्य है, इसलिये उस ईश्वर का नाम **'भगवान्'** है ।

अर्थात् यम= जगत् का नियमन करनेवाले भगवान् पृथिवी आदि ग्रह-उपग्रहों को स्व-स्व कक्षा में संचालित करते हैं । वही यम जाति, आयु, भोग द्वारा इस सम्पूर्ण विश्व को धारण करते हैं । यह सम्पूर्ण चराचर जगत् 'इत्तस्थे' भगवान् के ही नियन्त्रण में स्थित है ।

सोऽर्यमा स वरूणः स रुद्रः स महादेवः ।
सोऽग्निः स सूर्यः स एव महायमः ॥ —अथर्व० १३।३।४,५
त्रिष्टुब् गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम अहिताः ।—ऋ० १०।१४।१६

अर्थात् त्रिष्टुप, गायत्री आदि सब छन्द यम में रहते हैं ।

अदाद् यमो अवसानं पृथिव्यै । —यजुः० १२।४५

अर्थात् यम= नियन्त्रणकर्त्ता भगवान् ही विस्तार=संसार का अन्त करता है ।

त्वमन्नस्त्वं पृथिवी त्वं विश्वं खमथाच्युतः । —मैत्र्यु० ५।१
वायुर्यमोऽग्निर्वरूणो शशांकः ।
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ॥ —गीता ११।३९
यश्चोंकारः..... यश्च यमः । —नृसिंहपूर्वचतुर्थ्युपनिषद्

भगवान्—प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—"भगो विद्यते यस्य स भगवान्' अनन्त ज्ञान, अनन्त वैराग्यादि नित्य गुणों से युक्त होने से परमेश्वर का नाम भगवान् है ।"

भग किसे कहते हैं, यह बताने के लिए काशिका ४।४।१३१ में लिखा है— 'श्रीकामप्रयत्नमाहात्म्य-वीर्ययशस्सु भगशब्दः', अर्थात् श्री, काम, प्रयत्न, माहात्म्य, वीर्य और यश— इन अर्थों में भग शब्द का प्रयोग होता है । ये सब पदार्थ अतिशय करके भगवान् में विद्यमान हैं, अतएव उसे भगवान् कहते हैं । विष्णुपुराण में कहा है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरण ॥ —वि० पु० ६।५०।७४

आशय यह कि ऐश्वर्य, बल, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन छह पदार्थों का नाम भग है । ये सम्पूर्ण जिसे प्राप्त हैं, वह भगवान् कहाता है ।

भगवनान् शब्द का ईश्वरार्थ में ही प्रयोग होता है, इसके लिए विष्णुपुराण में अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं । तद्यथा—

ज्ञानशक्तिबलेश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयगुणादिभिः ॥ ६।५।७६
उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति । ६।७।७८

लोक में भगवान् शब्द का प्रयोग पूजनीय के अर्थ में भी किया जाता है, जैसे छान्दोग्य में प्रसंगतः आता है— 'वेत्थ यथासौ लोको न सम्पूर्यत इति, न भगव इति, वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतौ आपः पुरुषवचसो

---

१. धातु० १।७२४

https://t.me/arshlibrary

मन ज्ञाने[1] इस धातु से 'मनु' शब्द बनता है। **'यो मन्यते स मनुः'** जो मनु अर्थात् विज्ञानशील और मानने योग्य है, इसलिए उस ईश्वर का नाम **'मनु'** है।

पॄ पालनपूरणयोः[2] इस धातु से 'पुरुष' शब्द सिद्ध हुआ है। **'यः स्वव्याप्त्या चराऽचरं जगत् पृणाति पूरयति**[3] **वा स पुरुषः'** जो [अपनी व्याप्ति से] सब [चराऽचर] जगत् में पूर्ण हो रहा है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'पुरुष'** है।

भवन्तीति, नैव भगव इति' (५।३।३)।

परन्तु लोक में यह प्रयोग मात्र औपचारिक है। मुख्यार्थ में इस शब्द का प्रयोग ईश्वर के लिए ही किया जाता है। इसका मूल वेद में है—

भग एव भगवानस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता भवेह॥

—ऋ० ७।४१।५, यजु०ः ३४।३८

सर्वव्यापी स भगवान्। —श्वेत० ३।११

पुरुष— 'पुरः कुषन्' इस उणादि सूत्र (४।७४) की व्याख्या में ग्रन्थकार ने लिखा है— 'पुरति अग्रं गच्छतीति पुरुषः' अर्थात् जो पूर्व से ही विद्यमान् है, वह पुरुष है। निरुक्तकार ने इसे तीन विभिन्न धातुओं से बना माना है— 'पूरूषः पूरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरूषमभिप्रेत्य' (निरुक्त २।३)। तब निर्वाचनों का स्वरूप होगा—

(क) **'पुरि सीदतीति पुरुषः'** यहाँ धातु 'षद्लृ' मानी गयी है, अर्थात् इन लोकों में विद्यमान होने से भगवान् पुरुष कहाता है। शतपथ में आता है—**'इमे वै लोकाः पूः'** (शत० १३।६।२।१) तै० आ० २।१ में कहा है—**'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्'**।

(ख) **'पुरि शेते इति पुरुषः'**— जो पुरी में शयन (निवास) करता है, वह पुरुष कहाता है। शरीर में निवास करने से जीवात्मा और ब्रह्माण्ड में व्याप्त होने से परमात्मा पुरुष कहाते हैं। इस निर्वचन का मूल **'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः नैतेन किञ्चनानावतं नैतेन किञ्चनासंवृतम्'** (बहद्० २।५।१८) वही पुरुष सबको बाहर से आवृत किये हुए है और वही सबको भीतर से संवृत किये हुए है (तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः—ईश० ५) —इस उपनिषद् वचन में निहित है।

(ग) 'पूरयतीति पुरुषः' यहाँ धातु 'पूरी आप्यायने' है। आप्यायन का अर्थ है तृप्ति, जैसाकि **'आप्यायितोऽहं भवद्दर्शनेन'** इत्यादि वाक्यों से प्रतीत होता है। आशय यह है कि पूर्ण परितृप्त एवं आप्तकाम होने से भगवान् पुरुष कहाता है।

निरुक्तभाष्यकार स्कन्दस्वामी इस शब्द को 'शद्लृ शातने' से भी बनाते हैं। उनका निर्वचन है— 'पुरुषादोऽस्येति पुरुषः'। अर्थात् जो मानसिक दुर्भावनाओं का शातन अर्थात् विनाश करता है, वह पुरुष कहाता है। ऐसा करनेवाला होने से भगवान् की पुरुष संज्ञा है।

विष्णुसहस्रनाम के शांकर सम्प्रदायानुसारी भाष्य में पुरुष शब्द के आठ निर्वचन दिये हैं, जो भगवान् के विभिन्न गुण-कर्मादि के द्योतक हैं—

---

१. धातु० ४।६५॥

२. धातु ६।१८॥

३. 'पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रत्य'। निरु० २।३; 'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्'। तै० आ० १०।१०॥

https://t.me/arshlibrary

(क) पुरं शरीरं, तस्मिन् शेते पुरुषः । शरीर में विद्यमान होने से भगवान् पुरुष कहाता है । भगवान् का शरीर कौन-सा है, इसे अन्तर्यामीब्राह्मण का यह वचन स्पष्ट करता है—'आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्.....', (शत० १४।५।५।३०) । आशय यह कि जो आत्मा में विद्यमान रहकर उसका नियमन कर रहा है, जिसको आत्मा नहीं जानता, आत्मा जिसका शरीर है, वही अन्तर्यामी अमृत भगवान् है । इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् ही उसका शरीर है ।

(ख) अस्तेर्व्यत्यस्ताक्षरयोगात्, आसीत् पुरा पूर्वमेवेति विग्रहं कृत्वा व्युत्पादितः पुरुषः । आशय यह कि 'पुरा पूर्व वा आसीत् इति पुरुषः' (समवर्त्तताग्रे) । भगवान् पहले से (सदा से) था, अतः उसे पुरुष कहते हैं । यह निर्वचन भगवान् की अनादिता को बता रहा है । इस निर्वचन का मूल भाष्यकार ने पूर्वमेहामासमिति तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम्' उद्धृत किया है ।

(ग) पुरुषु भूरिषु उत्कर्षशालिषु सत्त्वेषु सीदतीति पुरुषः, अर्थात् जो उत्कर्षशालियों में विद्यमान है, वह पुरुष कहाता है । इस निर्वचन का मूल है—

यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवागच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ —गीता १०।४१

(घ) पुरूणि फलानि सनोति ददातीति पुरुषः— सबको यथायोग्य कर्मों का फल देने से भगवान् पुरुष कहाता है । इसके मूल में 'जीव कर्म करने में स्वतन्त्र तथा फल भोगने में भगवान् के अधीन है' यह सिद्धान्त है ।

(ङ) पुरूणि भुवनानि संहारकाले स्यति अन्तं करोतीति पुरुषः, अर्थात् संहारकाल में जगत् का अन्त करने से भगवान् पुरुष कहाता है । 'संहारकाले च तदत्ति भूयः' यह वचन इस निर्वचन का मूल है ।

(च) पूरणात् सादनात् वा पुरुषः— पूर्णरूप से व्याप्त होने से भगवान् की पुरुष संज्ञा है । इस निर्वचन का मूल 'पूरणात् सादनाच्चैव ततोऽसौ पुरुषोत्तमः' यह भारत-वाक्य है ।

(छ) 'सर्वस्मात् पुरा सादनात्' 'सर्वपापस्य वा सादनात् पुरुषः'- सबसे पूर्व विद्यमान होने से अथवा सब पापों का उच्छेद करने से भगवान् को पुरुष कहते हैं । इस दोनों निर्वचनों का मूल है— 'स यत्पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मन औषत् तस्मात् पुरुषः' (बृहद् १।४।१) ।

(ज) पुरि शयनात् वा पुरुषः— इसका स्पष्टीकरण पूर्व किया जा चुका है ।

भगवद्गुणदर्पणभाष्य में आचार्य रङ्गनाथ लिखते हैं—

(क) पुरं प्रभूतं मोक्षरूपमानन्दं सनोतीति पुरुषः । मोक्ष का महान् अनन्द प्रदान करने से भगवान् को पुरुष कहते हैं । श्रुति कहती है—

'उतामृतत्वस्येशानः' । —ऋक्० १०।६०।२

(ख) दृष्टः सन् पुर एव सर्वान् किल्बिषान् ओषति दहतीति पुरुषः । जिसके दर्शनमात्र से सम्पूर्ण दुःख नष्ट हो जाते हैं, उसे पुरुष कहते हैं । उपनिषत् कहती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मन् दृष्टे परावरे ॥ —मुण्डक० २।२।८

महाभारत में पुरुष शब्द का निर्वचन सर्वथा भिन्नरूप से किया गया है—

परं विषहते यस्मात् तस्मात् पुरुष उच्यते । —उद्योग १३३।३५

निर्वचन का स्वरूप होगा—'परं विषहते इति पुरुषः' अर्थात् शत्रुओं का घर्षण करने से वह पुरुष कहाता है । यह निर्वचन भगवान् की दृष्टि से किया गया प्रतीत नहीं होता, परन्तु प्रकारान्तर से उसपर

https://t.me/arshlibrary

डुभृञ् धारणपोषणयोः[1] 'विश्व' पूर्वक इस धातु से 'विश्वम्भर शब्द सिद्ध होता है। **'यो विश्वं बिभर्ति धरति पुष्णाति वा स विश्वम्भरो जगदीश्वरः'** जो जगत् का धारण और पोषण करता है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'विश्वम्भर'** है।

कल संख्याने[2] इस धातु से 'काल' शब्द बना है। **'कलयति संख्याति सर्वान् पदार्थान् स कालः'** जो जगत् के सब पदार्थ और जीवों की संख्या करता है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'काल'** है।

लग सकता है। भगवदर्थ में पुरुष शब्द का प्रयोग अनेकत्र उपलब्ध है। तद्यथा—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ —ऋक्० १०।९०।२
एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पुरुषः । ३१।३
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । —यजुः० ३१।१
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । —यजुः० ३१।१८
अथ यः पुरुषस्य प्राणस्तत्साम तद्ब्रह्म तदमृतम् । —जै० उ० १।२५।१०
पुरुषो हि प्रजापतिः । —शत० ७।४।१।१५
पुरुषः प्रजापतिः । —शत० ६।२।१।२३; ७।१।१।१७

विश्वम्भर— 'विश्वेश्वर' के साथ पूर्व व्याख्यात हो चुका है।

काल— प्रथम संस्करण में लिखा है—

"कल संख्याने' इस धातु से काल शब्द सिद्ध होता है। 'कलयति सर्वं जगत् स कालः' सब जगत् की संख्या एवं परिणाम को, आदि, अन्त और मध्य को यथावत् जानने से परमेश्वर का नाम काल है। उसका काल कोई भी नहीं, वह काल का भी काल है।"

वर्तमान संस्करण में उपलब्ध निर्वचन परमेश्वर की सर्वज्ञता का द्योतक है तो प्रथम संस्करण में दिये वचन से परमेश्वर जगत् की संख्या करने के साथ-साथ उसकी उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का भी कारण है।

यहाँ 'जीवों की संख्या करता है' पर यह शंका होती है कि जब जीव अनन्त है तो उनकी संख्या का कहना सर्वथा असंगत है। वस्तुतः यह कथन जीव की अपेक्षा से है। अस्मदादि के लिए तो जीव अनन्त हैं, परन्तु परमेश्वर के सर्वज्ञ होने से वह उनकी संख्या जानता है। उनकी गणना जानने के कारण ही उसे काल कहा गया है।

अथर्ववेद के १९वें काण्ड के ५३ तथा ५४ सूक्तों में काल के महत्त्व का वर्णन किया गया है। ५४वें सूक्त का तीसरा मन्त्र इस प्रकार है—

कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत् पुरा ।
कालात् ऋचः समभवन् यजुः कालादजायत ॥

काल ने भूत तथा भविष्यत् को उत्पन्न किया। यहाँ 'च' से वर्तमान का भी ग्रहण होता है। आशय यह कि त्रिकालदर्शी भगवान् के लिए तो केवल वर्तमान काल ही है। लोकदृष्टि से कालत्रय का विभाग है। कालात्=सर्वज्ञान का आकलन करनेवाला होने से काल कहे जानेवाले भगवान् से ही ऋग्वेदादि उत्पन्न हुए। यहाँ काल को पुत्र कहे जाने से स्पष्ट है कि उसका भी कोई पिता है जिसका कि काल पुत्र है। वह पिता परमेश्वर ही

---

१. धातु० ३।५॥
२. धातु० १०।२६०॥

https://t.me/arshlibrary

शिष्लृ विशेषणे[1] इस धातु से 'शेष' शब्द सिद्ध होता है। **'यः शिष्यते स शेषः'** जो उत्पत्ति और प्रलय से शेष अर्थात् बच रहा है, इसलिए उस परमात्मा का नाम **'शेष'** है।

है। परमेश्वर से काल पैदा हुआ और काल द्वारा नियन्त्रित होकर सारी सृष्टि हुई।

प्रसंगवश निरुक्तकार ने भी काल शब्द का निर्वचन किया है—'कालः कालयतेर्गतिकर्मणः' (नि०२।२५)। आशय यह कि जो सबको भेजता रहता है, व्यतीत करता रहता है, वह काल है। 'कालयति गमयति सर्वं जगत् इति कालः परमेश्वरः' सब जगत् में गति उत्पन्न कर उसका संचालन करने से भगवान् काल कहाता है।

लोकसामान्य की दृष्टि से काल नाम है मृत्यु का। यह शब्द निरुढलाक्षणिक है, क्योंकि मनुष्य की मृत्यु किसी-न-किसी काल में ही होती है। वास्तव में काल परमेश्वर के सिवा और कोई नहीं है। उपनिषद् कहती है—

ज्ञः कालकालो गुणी सर्ववित् यः । —(श्वेत० ६।१६)
भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ —कठ० २।३।३

विष्णुसहस्रनाम के अद्वैतसम्प्रदायानुसारी भाष्य में लिखा है—'कलयति सर्वमिति कालः'। यहाँ कलयति का अर्थ 'आकलयति' है। प्रलय में सबका आकलन करने से भगवान् को काल कहते हैं। उपनिषत् कहती है—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः ।
मृत्यर्यस्योपसेचनं क ईत्था वेद यत्र सः ॥ —कठ० १।२।२४

विशिष्टाद्वैतानुसारी भाष्यकार कहते हैं— 'आत्मनि चराचरसंकलनात् कालः'।

अर्थात् संहारकाल में सबको अपने में लीन कर लेने से भगवान् काल कहाता है।

महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ लिखते हैं—'कलयित जन्ममरणप्रवाहं संवलयतीति कालः'। अर्थात् जन्म-मरण के प्रवाह को संवलित करने के कारण भगवान् काल कहाता है।

महाभारत में एक स्थान पर आया है—

नातिप्रज्ञोऽसि विप्रर्षे योत्मानं त्युक्तुमिच्छसि ।
न चापि कृत्रिमः कालः कालो हि परमेश्वरः ॥ —उद्योग० ११२।२०

इस श्लोक में स्पष्टतः 'कालो हि परमेश्वरः' कहा है। अनुशासनपर्व १७।७६ में ब्रह्मा, पिता और पितामह को काल नाम से स्मरण किया है—

कालो ब्रह्मा पिता पितामहः ।

शेष— पौराणिक दृष्टि से एक सहस्र फणवाले सर्पराज को शेष कहते हैं, जो अपने फणों पर पृथिवी को धारण किये हुए है। वस्तुतः ऐसा कोई सर्प नहीं हैं। श्रुति कहती है—**'स दाधार पृथिवीमुत द्याम्'**। अर्थात् पृथिवी आदि को धारण करनेवाला परमेश्वर ही है। प्रलयकाल में जब सृष्टि में कुछ नहीं रहता, तब भी जो बचा रहता है उसे शेष कहते हैं। वह परमेश्वर ही है। 'शेषति हिनस्ति प्रलयकाले सर्वं जगदिति शेषः— प्रलय में सबका संहार करने से भी भगवान् शेष कहाता है।

आप्त— 'आप्नोति' का अर्थ यहाँ ' व्याप्नोति' न होकर 'प्राप्नोति' है, अर्थात् जो धर्मात्माओं को प्राप्त होता है अथवा जिसे धर्मात्मा प्राप्त करना चाहते हैं, वह आप्त है और इसलिए परमात्मा आप्त कहाता

---

१. धातु० ७।१४॥

https://t.me/arshlibrary

आप्लृ व्याप्तौ[1] इस धातु से 'आप्त' शब्द सिद्ध होता है। **'यः सर्वान् धर्मात्मन आप्नोति वा सर्वैर्धर्मात्मभिराप्यते छलादिरहितः स आप्तः'** जो सत्योपदेशक, सकल-विद्यायुक्त, सब धर्मात्माओं को प्राप्त होता, और सब धर्मात्माओं से प्राप्त होने योग्य, छल-कपटादि से रहित है, इसलिए उस परमात्मा का नाम **'आप्त'** है।

डुकृञ् करणे[2] **'शम्'** पूर्वक इस धातु से 'शङ्कर' शब्द सिद्ध हुआ है। **'यः शङ्कल्याणं सुखं करोति स शङ्करः'** जो कल्याण अर्थात् सुख का करनेहारा है, इससे उस ईश्वर का नाम **'शङ्कर'** है।

है। मनुष्य उसी के पास जाना चाहते हैं जिसपर उनका विश्वास होता है और विश्वास उसी का होता है जो सत्यनिष्ठ, निष्कपट और ईमानदार होता है। इस प्रकार छलकपटादिरहित होना' आप्त शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है, व्युत्पत्ति निमित्त नहीं।

न्यायभाष्यकार कहते है—'साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः तया प्रवर्त्तत इत्याप्तः'—वस्तु के साक्षात्कार= यथार्थदर्शन का नाम आप्ति है और आप्ति द्वारा प्रवृत्त होनेवाला आप्त है। अपने-अपने विषय में सब आप्त हैं। मानव का ज्ञान यत्किंचित् अज्ञानमिश्रित रहता है। वह पूर्णज्ञानी कभी नहीं हो सकता। भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि के कारण उसमें अनाप्तता आने की आशंका बनी रहती है। भगवान् इन दोषों से परे है, अतः वह परम-आप्त है।

भगवदर्थ में आप्त शब्द का प्रयोग—

स्तुष्व वर्ष्मन् पुरुवर्त्मानं समृभ्वाणमिनतममाप्नमाप्त्यानाम्।
आ दर्शति शवसा भूर्योजाः प्र सक्षति प्रतिमानं पृथिव्याः॥

—अथर्व० ५।२।७

अर्थात्— हे शक्तिमन् जीव! अनेक व्यवहारों-(मार्गों)-वाले, प्रकाशस्वरूप आप्तों में आप्त = परमाप्त परमेश्वर की स्तुति कर। आशय यह कि भगवत्प्राप्ति के अनेक मार्ग है। धर्मात्मा सज्जन उनसे भगवान् को प्राप्त कर सकते हैं।

शंकर— सुखप्रदाता होने से भगवान् शंकर है। नीलकण्ठ इस शब्द का निर्वचन करते है— 'शङ्कानां समूहः शङ्कं तस्य रः प्रदाहकः सर्वसंशयप्रदाहकः'— सब प्रकार के संशयों का दाहक होन से भगवान् शंकर कहाते हैं। इस निर्वचन का मूल है—'छिद्यन्ते सर्वसंशयाः तस्मिन् दृष्टे परावरे' (मुण्डक० २।२।८)।

नमः शंकराय च। —(यजुः० १६।४१)।

स्कन्दपुराण में आता है—

शं करोमि सदा ध्यानात् परमं यन्निरामयम्।
भूतानामसकृत् यस्माद् तेनहं शंकरः स्मृतः॥

मैं ध्याताओं का परम कल्याण करता हूँ, अतः संकर कहाता हूँ।

महादेव— 'महतां देवः स महादेवः' पर आक्षेप यह है कि 'महतां देवः' ऐसा विग्रह करके षष्ठी समास मानने पर समानाधिकरण न रहने से 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः' (अष्टा०६।३।४६) सूत्र से आत्व न होगा। इस प्रकार प्रयोग 'महद्देव' बनेगा, न कि महादेव', अतः महादेव का ग्रन्थकारकृत विग्रह ठीक नहीं।

---

१. धातु० ५।१५॥
२. धातु० ८।१०॥

https://t.me/arshlibrary

'महत्' शब्दपूर्वक 'देव' शब्द से 'महादेव' शब्द सिद्ध होता है। **'यो महतां देवः[1] स महादेवः'** जो महान् देवों[2] का देव अर्थात् विद्वानों का भी विद्वान्, सूर्यादि पदार्थों का प्रकाशक है, इसलिए उस परमात्मा का नाम **'महादेव'** है।

प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च[3] इस धातु से 'प्रिय' शब्द सिद्ध होता है। **'यः पृणाति प्रीयते वा स प्रियः'** जो सब धर्मात्माओं, मुमुक्षुओं और शिष्टों को प्रसन्न करता, और सबको कामना के योग्य है, इसलिए उस ईश्वर का नाम **'प्रिय'** है।

वस्तुतस्तु यह समास का विग्रह नहीं है, अपितु अर्थ की ओर निर्देशमात्र है। इसमें प्राचीनाचार्यसम्मत अर्थ भी अवभासित है। विग्रह का रूप है 'महतां देवानां मध्येऽपि महान्, स चासौ देवः महादेवः'। महाभारत में बताया है— 'देवानां सुमहान् यश्च (महाभारत, अनु०१६१।८)। पूर्वाचार्य भी इस प्रकार का (महतां देवः) समास मानकर ऐसा पद बना चुके हैं। अव्यक्तोपनिषत् में ' महाविष्णु' शब्द का विग्रह करते हुए लिखा है— 'महाविष्णुमित्याह, महतां वा अयम्, महान् रोदसी व्याप्य स्थितः' (अव्यक्त २)। यहाँ स्पष्ट है कि उपनिषत्कार को महाविष्णु शब्द में 'महतां व्यापकानामपि विष्णुः व्यापकः महाविष्णुः —यह विग्रह अभीष्ट है। इसी प्रचीन शैली का अनुसरण करके ग्रन्थकार ने वैसा विग्रह किया है।

इस सन्दर्भ में श्री युधिष्ठर मीमांसक की यह टिप्पणी द्रष्टव्य है—

"यह समास का विग्रह नहीं है, अर्थ-निदर्शन है। समास समानाधिकरण तत्पुरुष ही जानना चाहिए। सामासिक विग्रह से भिन्न पदों से अर्थनिर्देश करने की प्राचीन परिपाटी है यथा—महाभाष्य १।१ आ० १ में षष्ठी तत्पुरुष 'धर्मनियमः' का अर्थ 'धर्माय नियमः' और 'वृत्तिसमवायः' का अर्थ 'वृत्तये समवायः' पदों से दर्शाया है। शस्त्रीय नियमानुसार 'विकृतिवाचक चतुर्थ्यन्त सुबन्त का प्रकृतिवाचक सुबन्त के साथ ही समास होता है।' (द्रष्टव्य—चतुर्थीबलिहितसुखरक्षितैः तदर्था—(अष्टा० २।१।३५) सूत्र के व्याख्याग्रन्थ)। यदि इससे सन्तोष न हो तो जैसा षष्ठी तत्पुरुष 'महाघास, महाकार' आदि में 'महदात्वेघासकरविशिष्टेषूपसंख्यानं पुंवद्वचनं चासमानाधिकरणार्थम्' वार्त्तिक से आत्व होता है, तद्वत् यहाँ भी जान लेना चाहिए।"

विष्णुसाहस्र नाम के अद्वैतमतानुसारी भाष्य में लिखा है— 'सर्वान् भावान् परत्यज्य आत्मज्ञानयोगैश्वर्ये महति महीयते तस्मादुच्युते महादेवः', अर्थात् आत्मज्ञान योगदि ऐशवर्यरूपी महत्त्व के कारण भगवान्

---

१. यह समास का विग्रह नहीं है, अर्थ-निदर्शन है। समास समानाधिकरण तत्पुरुष ही जानना चाहिए। सामासिक विग्रह से भिन्न पदों से अर्थनिर्देश करने की प्राचीन परिपाटी है। यथा—महाभाष्य १।१ आ० १ में षष्ठीतत्पुरुष 'धर्मनियमः' का अर्थ 'धर्माय नियमः' और 'वृत्तिसमवायः' का अर्थ 'वृत्तये समवायः' पदों से दर्शाया है। शास्त्रीय नियमानुसार 'विकृति-वाचक चतुर्थ्यन्त सुबन्त का प्रकृतिवाचक सुबन्त के साथ ही समास होता है।' द्र०—'चतुर्थी तदर्थार्थ०' (अ० २।१।३५) सूत्र के व्याख्याग्रन्थ। यदि इससे सन्तोष न हो, तो जैसे षष्ठीतत्पुरुष 'महाघास, महाकर' आदि में महादात्वे घासकर विशिष्टेषूपसंख्यानं पुंवद्वचनं चासमानाधिकरणार्थम्' वार्त्तिक से आत्व होता है, तद्वत् यहाँ भी जान लेना चाहिए।

२. यह भाषा तात्पर्यबोधक है। इसके अनुसार श्री स्वामी वेदानन्दजी ने संस्कृतपाठ में 'यो महतां देवानां देवः' पाठ परिवर्तन किया है, वह चिन्त्य है। ऐसा पाठ मानने पर एक 'देव' शब्द का लोपविधान करना होगा, और व्याकरणसम्बन्धी दोष भी तदवस्थ ही रहेगा।

३. धातु० ६।२ ॥

https://t.me/arshlibrary

भू सत्तायाम्[1] **'स्वयं'** पूर्वक इस धातु से 'स्वयम्भू' शब्द सिद्ध होता है। **'यः स्वयम्भवति स स्वयम्भूरीश्वरः'** जो आप से आप ही है, किसी से कभी उत्पन्न नहीं हुआ है, इससे उस परमात्मा का नाम **'स्वयम्भू'** है।

कु शब्दे[2] इस धातु से 'कवि' शब्द सिद्ध होता है। **'यः कौति शब्दयति सर्वा विद्याः स कविरीश्वरः'** जो सब विद्याओं का वेत्ता और वेद द्वारा उपदेष्टा है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'कवि'** है।

महादेव कहाता है।

वरदाचार्य लिखते हैं—'महान्=अभ्याधिकः पूज्यो वा, स चासौ देवः' आशय यह कि जो परम पूज्य है, इसलिए भगवान् महादेव कहाता है।

महाभारतकार कहते हैं—

देवानां सुमहान् यच्च यच्चास्य विषयो महान्।
यच्च विश्वं महत् पाति महादेवस्ततः स्मृतः॥ —महा० अनु० १६१।८

तब निर्वचन होगा—'देवानां महान्','महान् देवः विषयो यस्य' 'महत्=विश्वं दीव्यति पातीति महादेवः। अथर्ववेद १३।४।४ में लिखा है— 'स रुद्रः स महादेवः।' वही रुद्र है, वही महादेव है।

प्रिय— प्रथम संस्करण में 'प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च' इस धातु से प्रिय शब्द को सिद्ध मानकर लिखा है— 'प्रीणाति सर्वान् धर्मात्मनः अथवा प्रीयते धर्मात्मभिः स प्रियः'। वेद में निम्न स्थान पर प्रिय शब्द भगवदर्थ में प्रयुक्त है—

सहस्रधारं वृषभं पयोवृधं प्रियं देवाय जन्मने।
ऋतेन य ऋतजातो विवावृधे राजा देवं ऋतं बृहत्॥ —ऋक्० ६।७०८।२
त्वं जामिर्जनानामग्रे मित्रो असि प्रियः। साखा सखिभ्य ईड्यः॥ —ऋ० १।६५।४

स्वयम्भू— निघण्टु के व्याख्याता देवराज यज्वा लिखते हैं— 'स्वयं भवति न केनचित् सृज्यते' (निघण्टु टीका १।३।११)। अर्थात् जो स्वयं विद्यमान् है, जिसे कोई उत्पन्न नहीं करता, वह स्वयम्भू कहाता है। निम्न प्रसिद्ध मन्त्रों में इस शब्द का भगवदर्थ में प्रयोग हुआ है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तः न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥ —अथर्व० १०।८।४४
स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। —यजुः० ४०।८
स्वयम्भूरसि.....अन्वावर्ते। —यजुः० २।२६

कवि— उणादिसूत्र 'अच इः' (५।११४) की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— 'कौति शब्दयत्युपदिशति स कविः, मेधावी विद्वान् क्रान्तदर्शनो वा'। आशय यह कि सर्वविद्याओं का उपदेष्टा होने से भगवान् कवि कहाता है। आचार्य यास्क ने भी प्रसंगवश कवि शब्द का निर्वचन किया है— 'कविः मेधावी क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा।'

कवि शब्द का ईश्वरार्थ में प्रयोग—

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः। — यजुः० ४०।८
श्रुतकर्णाय कवये वेद्याय.....—अथर्व० १६।३।४

---

१. धातु० १।१॥
२. धातु० २।३५॥

https://t.me/arshlibrary

शिवु कल्याणे[1] इस धातु से 'शिव' शब्द सिद्ध होता है। **'बहुलमेतन्निदर्शनम्'**[2] इससे 'शिवु' धातु माना जाता है। जो कल्याणस्वरूप और कल्याण का करनेहारा है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'शिव'** है।

ये सौ[3] नाम परमेश्वर के लिखे हैं, परन्तु इनसे भिन्न परमात्मा के असंख्य नाम हैं, क्योंकि जैसे परमेश्वर के अनन्त गुण-कर्म-स्वभाव हैं, वैसे उसके अनन्त नाम भी हैं। उनमें से प्रत्येक गुण-कर्म और स्वभाव का एक-एक नाम है। इससे ये मेरे लिखे नाम समुद्र के सामने विन्दुवत् हैं,[4] क्योंकि वेदादिशास्त्रों में परमात्मा के असंख्य गुण-कर्म-स्वभाव व्याख्यात किये हैं। उनके[5] पढ़ने-पढ़ाने से उनका बोध हो सकता है और अन्य पदार्थों का ज्ञान भी उन्हीं को पूरा-पूरा हो सकता है, जो वेदादिशास्त्रों को पढ़ते हैं।

शिव— पूर्व व्याख्यात है।

ग्रन्थकार का कथन है— "ये सौ नाम परमेश्वर के लिखे हैं", अर्थात् यहाँ परमेश्वर के सौ नामों की व्याख्या की गयी है, परन्तु क्रमशः गणना करने पर यह संख्या एक सौ से अधिक बनती है। वस्तुतः इस विसंगति का कारण ग्रन्थकार के एतद्विषयक कतिपय सिद्धान्तों अथवा कुछ शब्दों की तात्त्विक समानता को न समझना है। आत्मा तथा परमात्मा में विशेषणमात्र का भेद है, मूलतः वे दोनों एक हैं। अत्ता, अन्नाद एकार्थक होने से एक हैं। पिता, पितामह तथा प्रपितामह का मूल एक होने से आपाततः तीन प्रतीत होने पर भी तत्त्वतः एक हैं। भिन्न लिङ्गोंवाले सरूप नामों— देव तथा देवी को ग्रन्थकार ने एक माना है। सच्चिदानन्द शब्द यद्यपि सत्, चित् तथा आनन्द इन तीन शब्दों का समुच्चय है, तथापि यह समूचा नाम ब्रह्म को सद्रूप प्रकृति तथा सच्चिद्रूप जीवों से व्यावृत करता है, अतः इसे एक ही समझना चाहिए। इसी प्रकार नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव भी चार न होकर एक ही माना जाता है। बधु तथा बुद्ध में एक ही धातु है, अर्थ भी अभिन्न है, अतः ये भी दो नाम नहीं हैं। गणपति और गणेश अर्थभेद के कारण दो हैं। गणपति का अर्थ है गण का पालक तथा गणेश का अर्थ है गण का शासक। इस रीति से सौ नाम ही बनते हैं। कुल नामों की गणना इस प्रकार है—१. ओम् २. खम् ३. ब्रह्म ४. अग्नि ५. मनु ६. प्रजापति ७. इन्द्र ८. प्राण ९. ब्रह्मा १०. विष्णु ११. रुद्र १२. शिव १३. अक्षर १४. स्वराट् १५. कालाग्नि १६. दिव्य १७. सुपर्ण १८. गरुत्मान् १९. मातरिश्वा २०. भूमि २१. अदिति २२. विराट् २३. विश्व २४. हिरण्यगर्भ २५. वायु २६. तैजस २७. ईश्वर २८. आदित्य २९. प्राज्ञ ३०. मित्र ३१ वरुण ३२. अर्यमा ३३. देवी ३४. बृहस्पति ३५. उरुक्रम ३६. सविता ३७. सूर्य ३८. आत्मा ३९. परमात्मा ४०. परमेश्वर ४१. देव ४२.

---

१. उणादि १।१५३ में 'शीङ् शये' धातु से 'वन् प्रत्ययान्त' निपातित है।

२. यह धातुपाठ १०।३३६ का सूत्र है। इस का अर्थ है—'धातुपाठ में धातुओं का निर्देशन प्रायिक है।' वृत्तिकारों ने इस सूत्र की व्याख्या में कतिपय अपठित लोकप्रयुक्त धातुओं का उदाहरण दिया है। इसी सूत्र के अनुसार ग्रन्थकार ने 'शिव' शब्द के लोकप्रसिद्ध अर्थ को लक्ष्य में रखकर उक्त धातु की कल्पना की है।

३. पुनरुक्त नामों के व्याख्यानों का परित्याग करने पर इस समुल्लास में १०८ नामों का व्याख्यान मिलता है। यदि परस्पर सम्बद्ध तथा पृथक् रूप से व्याख्यात नामों का एकीकरण किया जावे, यथा—'सत् चित् आनन्द=सच्चिदानन्द' तो यह संख्या १०० से कम हो जाती है, अतः यहाँ १०० संख्या को उपलक्षणार्थ जानना चाहिए।

४. ऋषि दयानन्दकृत इन ईश्वर-नामों की व्याख्या से प्रेरित होकर पं० सत्यदेव वासिष्ठ साङ्गवेदचतुष्टय न महाभारत के अनुशासनपर्व के अन्तर्गत विष्णुसहस्रनाम की आध्यात्मिक वैदिक व्याख्या की है। इसमें प्रति शब्द वैदिक प्रमाण दिये है। यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ चार भागों में छपा है, और रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्राप्य है।

५. अर्थात् वेदादिशास्त्रों के।

https://t.me/arshlibrary

कुबेर ४३. जल ४४. आकाश ४५. अन्न ४६. अन्नाद ४७. अत्ता ४८. नारायण ४६ वसु ५०. चन्द्र ५१. बुध ५२. मङ्गल ५३. शुक्र ५४. शनैश्चर ५५. राहु ५६. केतु ५७. यज्ञ ५८. होता ५६. बन्धु ६०. पिता ६१. पितामह ६२. प्रपितामह ६३. माता ६४. आचार्य ६५. गुरु ६६. अज ६७. सत्य ६८. ज्ञान ६६. अनन्त ७०. अनादि ७१. सत् ७२. चित् ७३. आनन्द ७४. सच्चिदानन्द ७५. नित्य ७६. शुद्ध ७७. बुद्ध ७८. मुक्त ७६. नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ८०. निराकार ८१. निरञ्जन ८२. गणपति ८३. गणेश ८४. विश्वेश्वर ८५. कूटस्थ ८६. शक्ति ८७. श्री ८८. लक्ष्मी ८६. सरस्वती ६०. सर्वशक्तिमान् ६१. न्यायकारी ६२. दयालु ६३. अद्वैत ६४. निर्गुण ६५. सगुण ६६. अन्तर्यामी ६७. धर्मराज ६८. यम ६६. भगवान् १००. विश्वम्भर १०१. पुरुष १०२. काल १०३. शेष १०४. शंकर १०५. आप्त १०६. महादेव १०७. स्वयम्भू १०८. कवि १०६. प्रिय।

इनमें से ये नाम प्रथम संस्करण में नही थे—खम्, प्रजापति, अक्षर, स्वराट्, कालाग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान, मातरिश्वा, भूमि, विश्वेश्वर, होता, आचार्य, गुरु, गणपति, श्री, यम, पुरुष, शेष, आप्त, शंकर, स्वयंभू, तथा कवि। प्रथम संस्करण में उपलब्ध ये नाम वर्तमान संस्करणों में नहीं हैं—होम, श्रोत्र, मन, वाणी, चक्षु, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, जीव, आपः, निर्भय, अद्वितीय, सर्वजगत्कर्त्ता, सूक्ष्म, स्थूल, अचिन्त्य, अप्रमेय तथा शिवशंकर। इस अन्तर के कारण मूल सिद्धान्त में किसी प्रकार की क्षति नहीं आती। ग्रन्थ के पहले और दूसरे संस्करणों में इस आशय के शब्द विद्यमान हैं कि परमेश्वर के अनन्त और असंख्य नाम हैं। पहले संस्करणों में इस प्रसंग में ये शब्द मनन करने योग्य हैं—"और जो यह लिखा है सो केवल उन वेदादिक शास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने की प्रवृत्ति के लिए लिखा है। जब सब लोग उन शास्त्रों के पठन-पाठन में प्रवृत्त होंगे और जब उन शास्त्रों को ऋषि-मुनियों के व्याख्यान की रीति से पढ़ेंगे, विचारेंगे तब सब लोगों को परमेश्वर और अन्य पदार्थों का भी यथावत् ज्ञान होगा, अन्यथा नहीं।" वेद में कहा है कि परमेश्वर अनेक नामोंवाला है, यथा—'अया धिया च गव्यया पुरुणाम्नः पुरुष्टुत। यत् सोमेसोम आभवः' (ऋक्० ८।६३।१७)। अर्थात् हे अनेक प्रकार से स्तुति किये जानेवाले ३ इसलिए 'पुरुनामन्—अनेक नामोंवाले प्रभो! तुम प्रत्येक सृष्टि में व्याप्त रहते हो और इस ज्ञानदायिनी बुद्धि और कर्म के कारण तुम सबपर अधिष्ठित हो। जो वेदों में बहुदेवों को ईश्वर मानकर उनकी पूजा का विधान मानते हैं, वे 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ० १।१६४।४६) आदि वेदवचनों पर ध्यान दें। हमने अनेकत्र नामों के आगे विष्णुसहस्रनाम का पता दिया है। ग्रन्थकार आर्षग्रन्थों को प्रमाण मानते हैं। प्रक्षिप्त अंशों को छोड़कर महर्षि वेदव्यासकृत महाभारत इसी कोटि में आता है। 'विष्णुसहस्रनाम' महाभारत के अनुशासनपर्व का एक अध्याय है। गीता की तरह महाभारत से निकलकर यह भी पृथक् ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है। उसके ग्याहरवें श्लोक में लिखा है— .

यानि नामनि गौणानि विख्यातानि महात्मनः।
ऋषिभिः परिगीतानि तानि वक्ष्यामि भूतये॥

अर्थात् जो विष्णु के गौण=गुणसम्बन्धी नाम प्रसिद्ध हैं और जिन्हें ऋषियों तथा वेदों ने गाया है, कल्याण के लिए उनको कहता हूँ। इसपर भाष्य करते हुए शंकराचार्य लिखते हैं—'यानि नामानि गौणानि गुणसम्बन्धीनि गुणयोगात् प्रवृत्तानि' अर्थात् जो नाम गुणसम्बन्धी अर्थात् गुण के योग से बने हैं। आगे बारहवें श्लोक की व्याख्या में शंकराचार्य विष्णुधर्मोत्तरपुराण का यह वचन उद्धृत करते हैं—'एकस्यैव समस्तस्य ब्रह्मणो द्विजसत्तम। नाम्नां बहुत्वं लोकानामुपकारकरं शृणु। निमित्तशक्तयो नाम्नां भेदिन्यस्तदुदीरणात्। .....यच्छक्तिर्नाम यत्तस्य तत्तस्मिन्नेव वस्तुनि', अर्थात् एक ब्रह्म के लोकोपकारी अनेक नाम सुनो। नाम की निमित्तशक्तियाँ (प्रवृत्तिनिमित्त) भेदक हैं ..... जो नाम जिस

https://t.me/arshlibrary

शक्ति=प्रवृत्तिनिमित्तवाला है, वह उसी वस्तु के निमित्त से होता है। इसके आगे संज्ञाओं के प्रवृत्तिनिमित्तों का उल्लेख करके लिखा है—'सर्वे शब्दाः परे पुंसि वर्त्तन्ते' अर्थात् सभी नाम परमपुरुष के हैं। रामानुजाचार्य ने सभी नामों को मुख्यवृत्ति से परमात्मा का वाचक मानते हुए लिखा है—'अतः सर्वशब्दानां लोकव्युत्पत्यवगततत्तत्पदार्थविशिष्टब्रह्माभिधायित्वे सिद्धम्' (पृष्ठ २०३)। अर्थात् एक शब्द लौकिक व्युत्पत्ति से ज्ञात उन-उन पदार्थों से विशिष्ट ब्रह्म के वाचक हैं, यह सिद्ध हुआ। इससे आगे पृष्ठ २०८ पर लिखा है—'जीववाचिनः शब्दाः परमात्मपर्यन्ताः, अर्थात् जीववाची शब्द परमात्मपरक हैं। पुनः पृष्ठ २१३ पर लिखा है—'सर्वे वाचकाः शब्दा अचिज्जीवविशिष्टपरमात्मन एव वाचका इति' अर्थात् सभी संज्ञा शब्द अचेतन तथा जीवों से विशिष्ट परमात्मा के ही वाचक हैं। पुनः इसी पृष्ठ पर लिखा है—'परमपुरुषः सर्वदा सर्वशब्दवाच्यः', अर्थात् सदा सब शब्दों का वाच्य परमपुरुष परमात्मा है। मध्वाचार्य अपने भाष्य के प्रारम्भ में लिखते हैं— 'स पूर्णत्वात् पुन्नाम पौरुषे सूक्त ईरितः। स एवाखिलवेदार्थः सर्वशास्त्रार्थ एव च, स एव सर्वशब्दार्थ इत्याहोपनिषत्परा'। अर्थात् वह नारायण पूर्ण होने से पुरुषसूक्त में पुरुष कहा गया है— वही सब वेदों का वाच्य है, वही सब शास्त्रों का अर्थ और सब शब्द भी उसी के वाचक हैं। यास्काचार्य ने इस भाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते, एकस्मात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।

—निरुक्त ७।४

वह एक देवता कौन है ? इसका उत्तर निरुक्त के परिशिष्ट में इस प्रकार दिया है—'अथैष महानात्मा सत्त्वलक्षणः, तत्परं, तद् ब्रह्म', अर्थात् वह महानात्मा पर (परमात्मा) है, वह ब्रह्म है।

अर्थात् एक ही परमात्मा सर्वव्यापक परमात्मा मुख्य देव है, परन्तु उस एक परमात्मदेव के सर्वशक्तिमत्वादि अनेकविध ऐश्वर्य के कारण वेदों में उसी एक की अनेक नामों से स्तुति की जाती है। (अन्यो देवाः) अन्य सब देव (एकस्या आत्मनः) एक परमात्मा के (प्रत्यङ्गानि भवन्ति) सामर्थ्यैकदेश में प्रकाशित होते हैं। इसी आधार पर ग्रन्थकार ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है—

"इस वेदभाष्य में जिस-जिस मन्त्र का पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों अर्थों का श्लेषादि अलंकार द्वारा सप्रमाण सम्भव होगा, उस-उसके दो-दो अर्थ करेंगे, परन्तु ईश्वर का एक भी मन्त्र के अर्थ में अत्यन्त त्याग नहीं होगा। किस कारण ? निमित्तकारण ईश्वर के इस कार्यजगत् में सर्वत्र व्याप्त होने और कार्य का ईश्वर के साथ सम्बन्ध होने से।"—ऋ० भा० भू० प्रतिज्ञाविषय

ग्रन्थकार मंगलाचरण के नहीं, उसकी अनार्ष, अवैदिक पद्धति के विरोधी थे। मध्यकाल में पौराणिक लेखकों ने परमात्मा के स्थान पर कल्पित देवी-देवताओं को नमस्काररूप मंगलाचरण प्रारम्भ कर दिया। यह प्रथा अनार्ष एवं अवैदिक थी, अतएव इस प्रकार के पौराणिक तथा तान्त्रिक मंगलाचरण का उन्होंने खण्डन किया। आर्षसाहित्य में ऐसा मंगलाचरण कहीं नहीं पाया जाता। आदि शंकराचार्य ने अपने वेदान्तदर्शन के भाष्य में तथाकथित मंगलाचरण नहीं किया। महर्षि गौतम तथा उनके भाष्यकार महामुनि वात्स्यायन ने भी इस प्रकार के मंगलाचरण का व्यवहार नहीं किया। 'सीतारामाभ्यां नमः' जैसे मंगलाचरणों को शास्त्रविरुद्ध होने से मिथ्या बताते हुए उन्होंने आर्षग्रन्थों में प्रयुक्त 'ओ३म्' तथा 'अथ' जैसे शब्दों के प्रयोग को शास्त्रसम्मत घोषित करते हुए तदर्थ अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

मंगलाचरणमिति—किसी शुभ कार्य अथवा ग्रन्थ आदि की रचना के प्रारम्भ में किये जानेवाले मंगलाचरण का विवेचन करना इस सूत्र का लक्ष्य है। कतिपय विद्वानों का विचार है कि इस रूप में मंगलाचरण का विवेचन नव्यन्याय के ग्रन्थों में देखा जाता है। इसलिए यहाँ सांख्य में इस प्रकार का वर्णन

https://t.me/arshlibrary

[मङ्गलाचरण-विचार]

प्रश्न—जैसे अन्य ग्रन्थकार लोग आदि, मध्य और अन्त में मङ्गलाचरण करते हैं, वैसे आपने कुछ भी न लिखा न किया।

उत्तर—ऐसा हमको करना योग्य नहीं, क्योंकि जो आदि, मध्य और अन्त में मङ्गल करेगा, तो उसके ग्रन्थ में आदि, मध्य और मध्य तथा अन्त के बीच में जो कुछ लेख होगा, वह अमङ्गल ही रहेगा। इसलिए—

'मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रुतितश्चेति' ॥

—यह सांख्यशास्त्र का वचन है[1] ॥

इसका यह अभिप्राय है कि जो न्याय, पक्षपातरहित, सत्य वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा है, उसी का यथावत् सर्वत्र और सदा आचरण करना **'मङ्गलाचरण'** कहाता है। ग्रन्थ के आरम्भ से लेके समाप्तिपर्यन्त सत्याचार का करना ही 'मङ्गलाचरण' है, न कि कहीं मङ्गल और कहीं अमङ्गल लिखना। देखिए महाशय महर्षियों के लेख को—

'यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि' ॥

—यह तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है[2] ॥

हे सन्तानो ! जो 'अनवद्य'=अनिन्दनीय अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हैं, वे ही तुमको करने योग्य हैं, अधर्मयुक्त नहीं।

सांख्यशास्त्र की प्राचीनता तथा इसे कपिल की रचना मानने में बाधक है, परन्तु यह विचार तथ्यों पर आधारित नहीं है। कार्य के प्रारम्भ में भगवान् का नामस्मरण अथवा किसी शुभकार्य (यज्ञादि) का अनुष्ठान मंगलाचरणरूप है। आर्यजाति में इस प्रकार के आचरण की प्रथा अतिप्राचीन है और यत्र-तत्र-सर्वत्र उसका उल्लेख भी मिलता है। दर्शनशास्त्रों के प्रारम्भिक सूत्रों, अन्य सूत्रग्रन्थों तथा महाभारतादि में मांगलिक पदों के प्रयोग की प्रवृत्ति और मंगलाचरण की भावना स्पष्ट उपलब्ध होती है। अतिप्राचीन काल से 'ओम्' और 'अथ' शब्द के प्रयोग को मांगलिक माना जाता रहा है। मन्त्रों का उच्चारण करते समय उनके प्रारम्भ में 'ओम्' पद का उच्चारण सदा से आवश्यक समझा जाता रहा है। पाणिनि के एक नियम (अष्टा० ८।२।८७) के अनुसार मन्त्र के प्रारम्भ में 'ओम्' पद का उच्चारण प्लुत स्वर में होना चाहिए। इसलिए कार्य के प्रारम्भ में भगवन्नामस्मरणरूप मंगलाचरण की प्रवृत्ति को नया नहीं कहा जा सकता। इसकी उपयोगिता को स्पष्ट करने के लिए कपिल ने तीन हेतुओं का उल्लेख किया है—

शिष्टाचारात्—शिष्ट पुरुषों का आचार इस बात के लिए सुन्दर उदाहरण है कि कार्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण करना चाहिए। उपनिषद्, दर्शनादि आर्षग्रन्थों में यह प्रवृत्ति आज भी प्रत्यक्ष दिखाई देती है। इससे शिष्टपुरुषों अर्थात् प्राचीन ऋषि-मुनियों के व्यवहार से इस.की पुष्टि होती है।

फलदर्शनात्—शुभकर्मों के अनुष्ठान से शुभ फलों की प्राप्ति होती है, यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। मंगलाचरण भी एक शुभ कार्य है। हम उसके फल की इच्छा रक्खें या न रक्खें, उसका फल तो

१. सांख्य० ५।१॥

२. शिक्षावल्ली अनु० ११॥

https://t.me/arshlibrary

[आधुनिक मङ्गलाचरण का खण्डन]

इसलिए जो आधुनिक ग्रन्थों में **'श्रीगणेशाय नमः'**, **'सीतारामाभ्यां नमः'**, **'राधाकृष्णाभ्यां नमः'** **'श्रीगुरुचरणारविन्दाभ्यां नमः'**, **'हनुमते नमः'**, **'दुर्गायै नमः'**, **'बटुकाय नमः'**, **'भैरवाय नमः'**, **'शिवाय नमः'**, **'सरस्वत्यै नमः'**, **'नारायणाय नमः'** इत्यादि लेख देखने में आते हैं, इनको बुद्धिमान् लोग वेद और शास्त्रों से विरुद्ध होने से मिथ्या ही समझते हैं, क्योंकि वेद और ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों में कहीं ऐसा मङ्गलाचरण देखने में नहीं आता और आर्षग्रन्थों में **'ओ३म्'** तथा **'अथ'** शब्द तो देखने में आता है[1]। देखो—

'अथ शब्दानुशासनम्'। अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते ॥

—यह व्याकरण महाभाष्य[2] ॥

'अथातो धर्मजिज्ञासा'। अथेत्यानन्तर्ये, वेदाध्ययनानन्तरम्[3] ॥

—यह पूर्वमीमांसा[4] ॥

अवश्यम्भावी है। इस प्रकार शुभ अनुष्ठान से अपने प्रारम्भ किये कार्यों के निर्बाध पूर्ण होने की हमें आशा बँधी रहती है। फलतः हमें उस कार्य को धैर्य और साहस के साथ तत्परता से पूरा करने की प्रेरणा मिलती है। यह भावना आर्यजनता में इतनी प्रबल तथा व्यापक है कि साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी (जिसके लिए 'काला अक्षर भैंस बराबर' यह उक्ति चरितार्थ हो सकती है) कोई कार्य प्रारम्भ करते समय अपने विश्वास के अनुसार भगवान् का नाम स्मरण किये बिना नहीं रहता। यह उसकी आस्तिक भावना का प्रतीक है।

श्रुतितः—श्रुति अर्थात् वेद के अध्ययनक्रम से भी इस बात की पुष्टि होती है। ऋग्वेद की प्रथम ऋचा (अग्निमीळे पुरोहितम्) ही क्या इसका ज्वलन्त उदाहरण नहीं है ? वेद इस बात का स्पष्ट आदेश भी देता है कि कार्यरम्भ में भगवन्नाम स्मरण होना चाहिए—'इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्भ चरामसि प्रभूवसो। न हि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः, सघत्क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद्वचः ॥ (ऋक्० ५।५७।४)। अर्थात्-(प्रभूवसो) हे महान् ऐश्वर्यवाले (पुरुष्टुत) बहुतों से स्तुति किये जानेवाले (ये) जो हम (त्वा) तेरा ही (प्रारम्भ) अवलम्बन करके (चरामसि) चलते हैं। (ते इमे वयं) वे ही ये हम (इन्द्र) हे इन्द्र (ते) तेरे हैं। (गिरः) हमारी वाणी,

---

१. ओङ्काराथकारौ, ओङ्कारं वेदेषु, अथकारं भाष्येषु (शु० यजुः प्रातिशाख्य १।१७-१६)॥ स० प्र० प्रथम संस्करण में ग्रन्थकार ने प्रातिशाख्य के संख्या १८, १६ के सूत्र मूल ग्रन्थ में उद्धृत किये हैं।

२. 'का वचन है' यह अध्याहार जानना चाहिए।

३. ऋषि दयानन्द ने पाठविधि (स. प्र. सं. वि., ऋ. भा. भू.) में वेद का अध्ययन प्रायः अन्त में लिखा है। स. प्र. समु. ३ में जैसे वेदान्तदर्शन के अध्ययन से पूर्व उपनिषदों का अध्ययन लिखा है, उसी प्रकार पूर्वमीमांसा के अध्ययन से पूर्व एक वेद का अध्ययन आवश्यक है। क्योंकि जैसे वेदान्त में उपनिषद्-वचनों का विवेचन किया है, उसी प्रकार पूर्वमीमांसा में वेद और ब्राह्मणग्रन्थों के वचनों की मीमांसा की गयी है। ऋषि दयानन्द ने यहाँ 'वेदाध्ययनानन्तरम्' लिखकर पूर्वमीमांसा से पूर्व न्यूनातिन्यून एक वेद का अध्ययन आवश्यक माना है। सम्भवतः इसी कारण उन्होंने पाठविधि प्रकरण में मीमांसा से पूर्व वेदाध्ययन का निर्देश करना आवश्यक नहीं समझा। यह वेदाध्ययन वेद का सस्वर स्मरणात्मक है। और आगे कहा गया वेदाध्ययन सार्थ अध्ययनरूप है, अतः विरोध भी नहीं है। वेद का स्मरणात्मक अध्ययन ही यहाँ अभिप्रेत है। यह मीमांसकों का भी मत है।

४. दर्शनशास्त्रों के उद्धरणों के अन्त में पठित शास्त्रनाम के आगे सर्वत्र 'का वचन है' ऐसा सम्बन्ध जानना चाहिए।

https://t.me/arshlibrary

'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' ।
अथेति धर्मकथनानन्तरं धर्मलक्षणं विशेषेण व्याख्यास्यामः ॥

—यह वैशेषिक दर्शन ।

'अथ योगानुशासनम्' । अथेत्ययमधिकारार्थः । —यह योगशास्त्र ।
'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः' । सांसारिकविषयभोगानन्तरं त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्यर्थः प्रयत्नः कर्त्तव्यः ॥ — यह सांख्यशास्त्र ।
'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'[1] ॥ —यह वेदान्तसूत्र है ।
'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' ॥

—यह छान्दोग्य उपनिषद् का वचन है ।

'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' ॥

—यह माण्डूक्य उपनिषद् के आरम्भ का वचन है ।

हमारी प्रार्थनाओं को (त्वदन्यः) तेरे सिवा और कोई (न हि सघत्) नहीं सुनता । (नः तद्वचः) अतः हमारी बातों को (क्षोणीः इव) पृथिवी की तरह तुम्हीं (प्रतिहर्य) प्रतिकामना करो, आकर्षण करो—सुनो ।

कपिल का यह वचन मंगलाचरण के वास्तविक स्वरूप का निर्देश भी करता है । उसके अनुसार ऐसे प्रत्येक आचरण को जो (शिष्टाचारात्) न्याय, पक्षपातरहित, (फलदर्शनात्) सत्य, तथा (श्रुतितः) वेदोक्त ईश्वरो की आज्ञा के अनुसार यथावत् सदा, सर्वदा अनुष्ठान में आवे, मंगलाचरण कहना चाहिए । किसी भी कार्य के प्रारम्भ से अवसानपर्यन्त उक्त रूप में उसका पूर्ण किया जाना मंगलाचरण का वास्तविक स्वरूप है । ग्रन्थकार को यही अभिप्रेत है ।

मंगलाचरण के प्रसंग में व्याकरण महाभाष्य का यह सन्दर्भ विवेच्य है—

"माङ्गलिकं आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते । मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि भवन्ति, आयुष्मत्पुरुषकाणि च, अध्येतारश्च सिद्धार्था वृद्धियुक्ताः ।"

—महाभाष्य १।१।१

अर्थात् मंगलाचरण की इच्छा से बड़े भारी शास्त्रसमूह की सिद्धि के लिए पाणिनि मुनि के ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'वृद्धि' शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि जिन शास्त्रों के आरम्भ में मंगलाचरण किया जाता है, वे विस्तृत होते हैं और उनके पढ़नेवाले वीर और चिरंजीवी होते हैं । उनका अर्थ सिद्ध होकर वृद्धि को प्राप्त होता है ।

इससे तो यही सिद्ध होता है कि महाभाष्यकार अष्टाध्यायी के आदि में प्रयुक्त 'वृद्धि' शब्द को ही मंगलाचरण (यदि इसे पारिभाषिक रूप में मंगलाचरण कहा जा सके) मानता है । वह किसी पौराणिक मंगलाचरण की अपेक्षा नहीं रखता । इससे तो ग्रन्थकार का पक्ष और भी पुष्ट होता है ।

यह ठीक है कि ग्रन्थकार शिव, गणेश, रुद्र, विष्णु आदि नामों को परमात्मपरक मानते हैं और व्याकरणादि के द्वारा उन्होंने वैसा ही सिद्ध भी किया है, परन्तु इन नामों से मंगलाचरण किसी भी आर्ष-ग्रन्थ में किया गया हो, इसका प्रमाण नहीं मिलता । वस्तुतः पौराणिक काल में ये नाम परमात्मा के वाचक न रहकर कल्पित देवी-देवताओं के नाम होकर रह गये थे । वेद में 'नमः शिवाय' इतना पाठ तो

---

१. इसके बाद शताब्दी-संस्करण तथा उससे आगे सभी संस्करणों में 'चतुष्टयसाधनसम्पत्यनन्तरं ब्रह्म जिज्ञास्यम्' यह पाठ बढ़ाया हुआ मिलता है । यह पाठ प्रथम संस्करण में भी नहीं है ।

https://t.me/arshlibrary

ऐसे ही अन्य ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों में **'ओ३म्'** और **'अथ'** शब्द लिखे हैं। वैसे ही **अग्नि, इट्, अग्नि, ये त्रिषप्ताः परियन्ति** ये शब्द चारों वेदों के आदि[1] में लिखे है। **'श्रीगणेशाय नमः'** इत्यादि शब्द कहीं नहीं। और जो वैदिक लोग वेद के आरम्भ में **'हरिः ओ३म्'** लिखते और पढ़ते हैं, यह पौराणिक और तान्त्रिक लोगों की मिथ्या कल्पना से सीखे हैं। वेदादिशास्त्रों में 'हरि' शब्द आदि में कहीं नहीं। इसलिए **'ओ३म्'** वा **'अथ'** शब्द ही ग्रन्थ के आदि में लिखना चाहिए।

यह किञ्चिन्मात्र ईश्वर-नामों के विषय में लिखा। इसके आगे शिक्षा के विषय में लिखा जाएगा॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे

सुभाषाविभूषित ईश्वरनामविषये प्रथमः

समुल्लासः सम्पूर्णः ॥१॥

आता है, परन्तु इतने मात्र से यह कैसे सिद्ध होता है कि इससे मंगलाचरण का विधान किया गया है। वेद में कल्याणकारी होने से परमात्मा का एक नाम शिव (शिवु कल्याणे) कहा गया है, किन्तु पौराणिक काल में वह कैलासपर्वत पर रहनेवाला बाल-बच्चोंवाला साधारण मनुष्य है। इसी प्रकार गणेश सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर का वाचक न होकर हाथी के मस्तक—सूँडवाला कार्टून बनकर रह गया है। लोगों ने ईश्वर के स्थान पर इनकी पूजा आरम्भ कर दी थी और इन्हें नमस्कार करके अपने ग्रन्थों में मंगलाचरण करने लग गये थे। इसलिए ग्रन्थकार को उनका खण्डन करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

ग्रन्थकार ने आवश्यकतानुसार सर्वत्र 'ओम्' अथवा 'अथ' का ही प्रयोग किया है। उन्होंने अनेकत्र (जैसे वेदभाष्य में अध्यायों के प्रारम्भ में) 'विश्वानि देव.' आदि मन्त्र लिखा है सही, पर वह प्रार्थनारूप है, मंगलाचरण नहीं।

अब तक सातवीं शताब्दी के जितने शिलालेख मिले हैं,उनमें कहीं भी 'श्रीगणेशाय नमः' आदि पौराणिक मंगलाचरण देखने में नहीं आया। वहाँ भी 'ओम्' और 'अथ' शब्द ही देखे गये हैं। उदाहरणार्थ—कुछ ताम्रपत्र—जो इतने पुराने भी नहीं हैं—देखें। ये कोशल के राजा रत्नदेव के हैं। उनपर तिथि चेदी संवत् ८८० (११२८ ईसवी) लिखी है। इसके आरम्भ में 'ओं नमो ब्रह्मणे' लिखा है—

निर्गुणं व्यापकं नित्यं शिवं परमकारणम्।
भावग्राह्यं परमज्योतिस्तस्मै सद्ब्रह्मणे नमः॥

---

१. ये चारों वेदों के क्रमशः उदाहरण हैं। इनमें तीन प्रारम्भिक पदों के प्रातिपदिक मात्र हैं (द्र०-क्रमशः-अग्निमीळे पुरोहितम्, इषे त्वोर्जे त्वा, अग्न आयाहि वीतये)। चौथा मन्त्र की प्रतीकरूप हैं। प्रथम संस्करण में महाभाष्य के अनुसार अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा के आदि 'शन्नो देवी' मन्त्र के 'शम्' शब्द का ही निर्देश है।

https://t.me/arshlibrary

अथ द्वितीय-समुल्लासारम्भः

अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामः

[भाग्यवान् सन्तान]

'मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद' ॥

—यह शतपथब्राह्मण का वचन है ॥

वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक, अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य्य होवे, तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है। वह कुल धन्य, वह सन्तान बड़ा भाग्यवान्, जिसके माता और पिता धार्मिक विद्वान् हों। जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुँचता है, उतना किसी से नहीं। जैसे माता सन्तानों पर जितना प्रेम और उनका हित करना चाहती है, उतना अन्य कोई नहीं करता। इसलिए

'मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद' ग्रन्थकार के अनुसार यह वचन शतपथब्राह्मण का है, परन्तु संस्कारविधि के वेदारम्भ-संस्कार में उन्होंने इसे छान्दोग्य उपनिषद् का वचन बताया है। वस्तुतः उक्त रूप में यह वचन न शतपथब्राह्मण में उपलब्ध है और न छान्दोग्य उपनिषद् में। शतपथब्राह्मण में **'मातृमान् पितृमानाचार्यवान्'** (१४।५।८।२) इतना अंश मिलता है और छान्दोग्य उपनिषद् में **'आचार्यवान् पुरुषो वेद'** (६।१४।२) इतना अंश मिलता है। प्रचलित समवेतरूप में यह कहीं उपलब्ध नहीं है।

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में ग्रन्थकार ने लिखा है—**'मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद इति श्रुतिः'**। इससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार के मत में वेद शब्द से तो केवल मन्त्रसंहितारूप चार वेदों का ही ग्रहण होता है, परन्तु श्रुति शब्द से ब्राह्मण, उपनिषद् आदि का भी बोध होता है।

संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध अध्येता ढुण्ढिराज शास्त्री ने स्वसम्पादित **'पुरुषसूक्तम्'** में एक साथ सायण, महीधर, मंगलाचार्य तथा कमलकृष्ण द्वारा किये गये भाष्यों को संकलित किया है। महर्षि दयानन्द तथा काशी की पण्डितमण्डली के बीच सन् १८६७ में 'काशीशास्त्रार्थ' के नाम से प्रसिद्ध ऐतिहासिक शास्त्रार्थ के समय वहाँ उपस्थित पचास पौराणिक विद्वानों में श्री ढुण्ढिराज शास्त्री भी एक थे। यह संकलन चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी से संवत् १९८०, तदनुसार सन् १९२३ में प्रकाशित हुआ है। इसकी भूमिका में लिखा है—

"प्रातः स्मरणीयश्रीयुत्पितृचरणसंगृहीतप्राचीनपुस्तकालयात्कृष्णयजुःशाखानुसारिमङ्गलभाष्यमुपलभ्य निधिमिवाहमत्यन्तं हर्षितः। तत्र यद्यपि मङ्गलाचार्यः कः कस्मिन् वा देशेऽभूत् कदा वा तेनेदमलेखीति स्पष्टं नोपलभ्यते, तथापि पुस्तकलेखनशैल्या दाक्षिणात्यः कश्चिद्विद्वद्वरेण्य इति—पुस्तकस्यातिजीर्णत्वाच्च त्रिशतवर्षपूर्वमेवेदं लिखितमिति च प्रतिभाति। अन्तराऽन्तरालिखितानामक्षराणामन्यथाऽर्थसंगतये

https://t.me/arshlibrary

'मातृमान्' अर्थात् **'प्रशस्ता धार्मिकी माता विद्यते यस्य स मातृमान् ।'** धन्य वह माता है कि जो गर्भाधान से लेकर जब तक पूरी विद्या न हो, तब तक सुशीलता का उपदेश करे ।

[गर्भाधान के पूर्व और पश्चात् के कर्तव्य]

माता और पिता को अति उचित है कि गर्भाधान के पूर्व, मध्य और पश्चात् मादकद्रव्य, मद्य, दुर्गन्ध,

---

व्यवस्थापनात्स्वयं भाष्यकृतैवेदं लिखितमिति कल्पनायामपि न कश्चिद् बाधः । तैत्तिरीयमन्त्रपाठानुक्रमेण व्याख्यातत्वाच्चायं कृष्णयजुःशाखीय इत्यनुमीयते ।''

अपने इस भाष्य में मंगलाचार्य ने लिखा है—

''ब्राह्मणस्य माहात्म्यमुपपादयन्ति श्रुतयः—'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य, ब्रह्मविदाप्नोति परं, मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद, ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्याद्याः ॥''

यहाँ मंगलाचार्य ने **'मातृमान्... पुरुषो वेद'** इस वाक्य को श्रुतिवचन के रूप में उद्धृत किया है । सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में ग्रन्थकार ने भी इस वाक्य को उसी रूप में उद्धृत कर **'इति श्रुतिः'** लिखा है । इस प्रकार वर्त्तमान में प्रचलित **'मातृमान्.....'** वाक्य का ग्रन्थकार से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व प्रयोग हुआ मिलता है ।

इसी प्रकार का एक प्रयोग दशम तथा एकादश समुल्लासों में हुआ है—**'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणमिच्छते'** । यहाँ इस पाठ में दो मन्त्रों के दो भाग मिले हुए हैं—**'आचार्य उपनयमानो'** भाग अथर्ववेद ११।५।३ का है और **'ब्रह्मचारिणमिच्छते'** अथर्ववेद ११।५।१७ का है । अथर्ववेद ११।५।३ में **'इच्छते'** के स्थान पर **'कृणुते'** पाठ है । अथवा यहाँ **'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते'** तथा **'आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते'** (अथर्व० ११।५।३, १७) इन दो उद्धरणों के मध्य का **'ब्रह्मचारिणं कृणुते, आचार्यो ब्रह्मचर्येण'** भाग लेखक-प्रमाद से छूट गया है । ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी एक ऐसा ही प्रयोग मिलता है—**'प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः'** । यहाँ इसे महाभाष्य का वचन कहा है, परन्तु महाभाष्य में यह वचन साक्षात् एकत्र नहीं मिलता । **'पुमान् स्त्रिया'** (पा० १।२।६७) के भाष्य में **'प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययाच्छेषो भविष्यति'** तथा **'नपुंसकमनपुंसकेन'** (पा० ३।१।१) के भाष्य में **'प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययो भवति'** पाठ उपलब्ध है । वैयाकरणों ने दोनों को मिलाकर **'प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः'** के रूप में परिभाषावचन बना दिया, क्योंकि इस परिभाषा का मूल व्याकरण महाभाष्य है और दोनों स्थलों में **'प्रधाने सम्प्रत्ययः'** शब्द विद्यमान है, अतः ग्रन्थकार ने इसे महाभाष्य के वचन के रूप में उद्धृत किया है । अन्यत्र 'प्रधानाप्रधान' में प्रधान में कार्यसम्प्रत्य में महाभाष्य का साक्षात् वचन भी उपलब्ध है, जैसे—**'प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवतीति'** (१।१।१) अर्थात् प्रधान में किया हुआ प्रयत्न ही फलवान् होता है । इससे स्पष्ट है कि अप्रधान में किया हुआ प्रयत्न फलवान् नहीं होता ।

वाल्मीकि रामायण में कहा है–

पुरुषस्येह जातस्य भवन्ति गुरवः सदा ।
आचार्यश्चैव काकुत्स्थ पिता माता च राघव ॥—अयो०१११।२
पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुरुषर्षभ ।
प्रज्ञां ददाति चाचार्यस्तस्मात् स गुरुरुच्यते ॥—अयो० १११।३

मातृमान्—'मातृमान्' का सीधा अर्थ 'मातावाला' है । **'प्रशस्ता धार्मिकी विदुषी माता विद्यते यस्य स मातृमान्'** इत्यादि अर्थ यदृच्छया आरोपित प्रतीत होता है । वस्तुतः ऐसा नहीं है । 'मातृमान्' आदि शब्द

https://t.me/arshlibrary

मतुबन्त हैं । 'मतुप्' प्रत्यय का प्रयोग किन अर्थों में होता है, इस विषय में अष्टाध्यायी के **'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्'** (५।२।९४) इस सूत्र का भाष्य करते हुए महाभाष्यकार कहते हैं—

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥

मतुप् आदि प्रत्यय प्रशंसा अर्थ में आते हैं । यह अर्थवाद है जो सर्वथा शास्त्रसम्मत एवं तर्कप्रतिष्ठित है । लोक में ऐसे अनेक प्रयोग मिलते हैं । सुश्रुत-संहिता में धाय के लिए **'कुले जाता'** विशेषण का प्रयोग हुआ है । प्रत्येक धाय किसी न किसी कुल में उत्पन्न होती है । तब **'कुले जाता'** कहने की क्या सार्थकता है ? इसे स्पष्ट करने के लिए सभी टीकाकारों ने **'कुले जाता'** का अर्थ **'श्रेष्ठकुलोत्पन्ना'** किया है । किसी-न-किसी कुल में जन्म लेने से प्रत्येक व्यक्ति कुलीन होता है । पर 'कुलीन' से 'श्रेष्ठकुलोत्पन्न' अभिप्रेत होता है । 'उदरिणी' का सीधा अर्थ है 'पेटवाली' । प्रत्येक स्त्री पेटवाली होती है । तब किसी स्त्रीविशेष को 'उदरिणी' कहने की क्या सार्थकता है ? वस्तुतः 'उदरिणी' का लक्ष्यार्थ है—ऐसी स्त्री जिसका पेट बढ़ा हुआ है । इस प्रकार 'उदरिणी' शब्द गर्भवती स्त्री का वाचक है ।

गर्भाधान से पूर्व—'माता-पिता को उचित है..... जिससे रज-वीर्य भी दोषों से रहित होकर अत्युत्तम गुणयुक्त हों' । वस्तुतः बालक के निर्माण की प्रक्रिया गर्भाधान से पूर्व आरम्भ हो जाती है । जैसे मकान बनाने से पहले उसकी योजना बनाकर उसके लिए अपेक्षित उत्तम कोटि की सामग्री का होना आवश्यक है, वैसे ही उत्तम सन्तान प्राप्त करने के लिए उसके उपादान रज-वीर्य का उत्तम कोटि का होना नितान्त आवश्यक है । चरक-संहिता (शरीरस्थान ८।३४) में लिखा है—**"यथा हि बीजमनुपतप्तं तप्तं स्वां-स्वां प्रकृतिमनुविधीयते व्रीहिर्वा व्रीहित्वं यवो वा यवत्वं तथा स्त्रीपुरुषावपि यथोक्तं हेतुविभागमनुविधीयते"** अर्थात्—जैसा भला-बुरा बीज बोया जाएगा, फल भी वैसा ही होगा । जैसे व्रीहि को बोने से व्रीहि और जौ बोने से जौ उत्पन्न होता है, वैसे ही स्त्री-पुरुष का रज-वीर्य जैसा होगा वैसी ही सन्तान होगी । उसके लिए बहुत पहले से माता-पिता के खान-पान का शुद्ध, सात्विक, आरोग्यवर्धक तथा बल-बुद्धि को बढ़ानेवाला होना आवश्यक है । यूरोप आदि देशों में यह पाया गया कि जो बच्चे अगस्त से अक्तूबर के बीच पैदा हुए उनमें अनेक विकृत बुद्धिवाले, हीन बुद्धिवाले तथा स्वल्पजीवी हुए । परीक्षण करने पर पता चला कि उन देशों में नवम्बर से जनवरी के बीच शीताधिक्य के कारण मदिरापान अधिक होता है और भोजन में भी तामस् पदार्थों की अधिकता होती है, परिणामतः इस अवधि में गर्भ में आये बालक विविध विकारों से ग्रस्त होते हैं ।

मनचाही सन्तान—जिस-जिस गुणवाली सन्तान अभीष्ट हो उसके प्राप्त करने की युक्ति बौधायन-गृह्यसूत्र (प्र०१, अ० ७) में इस प्रकार लिखी है—**"अथ यदि कामयेत—'श्रोत्रियं जनयेयम्' इति, आ-अरुन्धत्युपस्थानं कृत्वा त्रिरात्रमक्षारालवणाशिनावधश्शायिनौ ब्रह्मचारिणावासाते ॥६॥ अहतानां च वाससां परिधानं सायं प्रातश्चालंकरणमिषुप्रतोदयोश्च धारणमग्निपरिचर्या च ॥१०॥ चतुर्थ्यां पक्वहोम उपसंवेशनं च ॥११॥ अथ यदि कामयेत—'अनूचानं जनयेयम्' इति, द्वादशरात्रमेतद् व्रतं चरेत् ॥१२॥ व्रतान्ते पक्वहोमः उपसंवेशनं च ॥१५॥ अथ यदि कामयेत भ्रूणं जनयेयम् इति, चतुरो मासानेतद् व्रतं चरेत् ॥१६॥ व्रतान्ते पक्वहोम उपसंवेशनं च ॥१६॥ अथ यदि कामयेत—'देवं जनयेयम् इति' संवत्सरमेतद् व्रतं चरेत् ॥२०॥ व्रतान्ते पक्वहोम उपसंवेशनं च ॥२१॥** अर्थात् यदि यह इच्छा हो कि श्रोत्रिय को उत्पन्न करूँ तो तीन दिन तक पति-पत्नी क्षारलवणरहित भोजन करें, नीचे सोयें और ब्रह्मचर्य रखें । शुद्ध निर्दोष वस्त्रों

https://t.me/arshlibrary

रूक्ष, बुद्धिनाशक, पदार्थों को छोड़के, जो शान्ति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता से सभ्यता को प्राप्त करावें, वैसे घृत-दुग्ध-मिष्ट-अन्नपान आदि श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करें, कि जिससे रजस्-वीर्य भी दोषों से रहित होकर अत्युत्तम-गुणयुक्त हो।

[उत्तम सन्तान प्राप्त करने की विधि]

जैसा ऋतुगमन का विधि अर्थात् रजोदर्शन के पाँचवें दिवस से लेके सोलहवें दिवस तक ऋतुदान देने का समय है। उन दिनों में से प्रथम के चार दिन त्याज्य हैं। रहे १२ दिन, उनमें एकादशी और त्रयोदशी को छोड़के बाकी १० रात्रियों में गर्भाधान करना उत्तम है, और रजोदर्शन के दिन से लेके १६वीं रात्रि के पश्चात् न समागम करना। पुनः जब तक ऋतुदान का समय पूर्वोक्त न आवे तब तक और गर्भस्थिति के पश्चात् एक वर्ष तक संयुक्त न हों।

जब दोनों के शरीर में आरोग्य, परस्पर प्रसन्नता, किसी प्रकार का शोक न हो; जैसा चरक और सुश्रुत में भोजन-छादन का विधान, और मनुस्मृति में स्त्री-पुरुष की प्रसन्नता की रीति लिखी है, उसी प्रकार करें और वर्तें। गर्भाधान के पश्चात् स्त्री को बहुत सावधानी से भोजन-छादन करना चाहिए। पश्चात् एक वर्ष-पर्यन्त स्त्री पुरुष का संग न करे। बुद्धि-बल-रूप-आरोग्य-पराक्रम-शान्ति आदि गुणकारक द्रव्यों ही का सेवन स्त्री करती रहे, कि जब तक सन्तान का जन्म न हो।

का परिधान, सायं-प्रातः अलंकारधारण और इषु तथा भाले का धारण कर अग्निहोत्र करें। चौथी रात्रि पके पदार्थों का होम करें और सम्भोग करें। यदि यह इच्छा हो कि अनूचान को उत्पन्न करूँ तो बारह दिन तक इस व्रत को करें। व्रत के अन्त में पक्वहोम तथा सम्भोग और यदि यह कामना हो कि भ्रूण उत्पन्न करूँ तो चार मास इस व्रत को करें और व्रतान्त में पक्वहोम और सम्भोग और यदि यह चाहे कि देव को उत्पन्न करूँ तो एक वर्ष इस व्रत को करें। व्रतान्त में पक्वहोम और सम्भोग।

श्रोत्रिय आदि संज्ञा किनकी है, इसका विवरण भी बौधायनगृह्यसूत्र में उपलब्ध है। तदनुसार—**उपनीतमात्रो व्रतानुचारी वेदान् किंचिदधीय ब्राह्मणः ॥२॥ एकां शाखामधीय श्रोत्रियः ॥३॥ अङ्गाध्याय्यनूचानः॥४॥ कल्पाध्यायी ऋषिकल्पः ॥५॥ सूत्रप्रवचनाध्यायी भ्रूणः ॥६॥ चतुर्वेदाद् ऋषिः ॥७॥ अत ऊर्ध्वं देवः ॥८॥** [प्र० १, अ० १]। अर्थात् जिसका केवल यज्ञोपवीत हुआ है, जो ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन करता है और जिसने वेदों का कुछ भाग पढ़ा है, वह ब्राह्मण है॥ एक शाखा पढ़ने से श्रोत्रिय॥ अङ्गोंसहित पढ़ने से अनूचान॥ कल्पसहित पढ़ने से ऋषिकल्प॥ सूत्रभाष्यादि पढ़ने से भ्रूण॥ चारों वेदों के अध्ययन से ऋषि॥ इससे ऊपर देव होता है॥ इससे सिद्ध होता है कि अपेक्षित गुणों से युक्त सन्तान उत्पन्न करना गृहस्थों के अपने हाथ में है। इतिहास में भी आता है कि अपने समान गुणवान् सन्तान उत्पन्न करने के लिए श्रीकृष्ण ने उपमन्यु ऋषि के आश्रम में बारह वर्ष तक तप किया था—"**व्रतं चचारं धर्मात्मा कृष्णो द्वादशवार्षिकम्**" (महाभारत अनु० १३६।१०)। बौधायन की बात को मानवगृह्यसूत्र में इन शब्दों में कहा गया है—'**संवत्सरं ब्रह्मचर्यं चरतो द्वादशरात्रं त्रिरात्रमेकरात्रं वा**' (१।१४।४)।

ऋतुकाल—स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतुकाल सोलह रात्रि का है, अर्थात् रजोदर्शन के दिन से लेकर सोलहवें दिन तक ऋतुकाल है—'**ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडशः स्मृताः**' (मनु० ३।४६)।

निन्दित रात्रियाँ—उपर्युक्त सोलह रात्रियों में प्रथम की चार रात्रियाँ तथा एकादशी व त्रयोदशी—ये छह रात्रियाँ निन्दित हैं। शेष दश रात्रियाँ सामान्यतः ऋतुदान के लिए श्रेष्ठ हैं। इसमें मनुस्मृति ३।४७ का यह श्लोक प्रमाण है —

https://t.me/arshlibrary

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥

गर्भाधान के प्रसंग में ग्रन्थकार ने संस्कारविधि में लिखा है—"प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ रात्रि में पुरुष स्त्री का और स्त्री पुरुष का स्पर्श और स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध कभी न करे, अर्थात् उस रजस्वला के हाथ का छुआ पानी भी न पीवे, न वह स्त्री कुछ काम करे, किन्तु एकान्त में बैठी रहे, क्योंकि इन चार रात्रियों में समागम करना व्यर्थ और महारोगकारक है ।

सामान्यतः विहित १० रात्रियों में भी पौर्णमासी, अमावास्या, चतुर्दशी तथा अष्टमी में ऋतुदान निषिद्ध है । इन दिनों रतिक्रिया सर्वथा वर्जित है । इसमें मनुस्मृति के निम्न श्लोक प्रमाण हैं—

अमावस्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥—४।१२८
ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद् व्रतो रतिकाम्यया ॥—३।४५

अर्थात्—गृहस्थ द्विज को चाहिए कि वह ऋतुकाल होते हुए भी अमावस्या, अष्टमी, पूर्णिमा तथा चतुर्दशी के दिन ब्रह्मचारी रहे ।

द्वितीय श्लोक (३।४५) को उद्धृत करके ग्रन्थकार ने संस्कारविधि में लिखा है—"पुरुष सदा ऋतुकाल में स्त्री-समागम करे और अपनी स्त्री के सिवा दूसरी का सर्वदा त्याग करे । वैसे स्त्री भी अपने विवाहित पुरुष को छोड़कर अन्य पुरुषों से सदा पृथक् रहे । जो स्त्रीव्रत अर्थात् अपनी विवाहिता स्त्री से ही प्रसन्न रहता है, जैसेकि पतिव्रता स्त्री अपने विवाहित पुरुष को छोड़ दूसरे पुरुष का संग कभी नहीं करती, वह पुरुष जब ऋतुदान देना हो तब पर्वों को छोड़ देवे । इनमें स्त्री-पुरुष रतिक्रिया कभी न करें ।"

पर्वों के दिनों में समागम का निषेध इसलिए है, क्योंकि इन दिनों में विशेष यज्ञों एवं धार्मिक कृत्यों के आयोजन तथा वेदादि शास्त्रों के स्वाध्याय का विधान है—

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा ।
दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥—मनु० ४।२५

गृहस्थ प्रतिदिन दिन-रात के आदि और अन्त में अर्थात् प्रातः-सायं सन्धिवेलाओं में अग्निहोत्र करे और आधे मास के अन्त में दर्शयज्ञ अर्थात् अमावस्या का यज्ञ करे तथा इसी प्रकार मास पूर्ण होने पर पूर्णिमा के दिन पौर्णमास यज्ञ करे ।

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि ।
दर्शमस्कन्दयन्पर्व पौर्णमासं च योगतः ॥—मनु० ६।६

अर्थात्—वानप्रस्थ विधिपूर्वक दैनिक महायज्ञों को और विशेष अवसरों पर किये जानेवाले अमावस्या और पूर्णिमा आदि पर्वों पर किये जानेवाले पर्वयज्ञों को भी न छोड़ते हुए निष्ठापूर्वक किया करे ।

'वैतानिक' शब्द से विस्तृत अर्थात् विशेष अवसरों पर किये जानेवाले यज्ञ अभिप्रेत हैं । इन धार्मिक कृत्यों के पालन के अवसर पर जितेन्द्रिय रहना, संयमपूर्वक रहना आवश्यक है । अजितेन्द्रिय अवस्था में इन धार्मिक कर्मों का अनुष्ठान करने पर भी अभीष्ट फल की सिद्धि नहीं हो सकती ।

पूर्णिमा आदि में स्त्रीगमन का निषेध केवल शास्त्रोक्त नहीं है, विज्ञान-सम्मत भी है । समुद्र में सबसे

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

अधिक ज्वारभाटा पूर्णिमा में और सबसे कम अमावस्या में हुआ करता है। मध्यम ज्वारभाटा वह होता है जब जल का उतार-चढ़ाव मध्यम होता है। यह दोनों अष्टमियों का समय होता है। यह सब सूर्य और चन्द्रमा के आकर्षण-विकर्षण के नियमानुसार होता है। **'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे'** जैसे सूर्य और चन्द्रमा का प्रभाव समुद्र पर और गौणरूप में नदी-नालों, तालाबों तथा ओषधि-वनस्पति आदि पर पड़ता है,वैसे ही प्राणियों के रक्त पर भी पड़ता है, क्योंकि रक्त में जलीय अंश प्रधान है। चन्द्रमा का प्रभाव पुरुष की अपेक्षा स्त्री पर अधिक पड़ता है। उक्त तिथियों में स्त्री-पुरुष की वीर्य आदि धातुएँ विषम होती हैं, अतः यदि इन पर्वों की रात्रियों में स्त्री-सम्पर्क किया जाता है तो वैषम्यापन्न शुक्र-शोणित विकृत होकर स्वास्थ्य में विकार उत्पन्न कर देते हैं और यदि इन अवसरों पर गर्भस्थिति हो जाती है तो तज्जन्य सन्तान रक्तविकार, हृदय-दोष, प्राणशक्ति में दुर्बलता आदि रोगों से ग्रस्त हो सकती है।

ऋतुकाल में स्त्री-गमन का समय—गर्भाधान का समय अर्धरात्रि के आस-पास है। दिन में स्त्री-प्रसंग स्त्री-पुरुष और प्रकारान्तर से भावी सन्तान के शरीर और मन दोनों के लिए हानिकारक है। प्रश्नोपनिषद् में कहा है—**'अहोरात्रौ वै प्रजापतिः। तस्य अहरेव आपो रात्रिरेव रतिः। प्राणं वा एते प्रस्कन्दति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते, ब्रह्मचर्यमेव तद् यद् रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते।'** १।१३। अर्थात्—दिन और रात का जोड़ा ही प्रजापति है। उसका दिन ही प्राण है तथा रात्रि ही रति है, अतः जो दिन में सहवास करते हैं, वे सचमुच अपने प्राणों को ही क्षीण करते हैं तथा जो रात्रि में सहवास करते हैं उनका यह सहवास भी ब्रह्मचर्य ही है। दिन में, सूर्यमूलक ऊष्मा होने से, किया गया गर्भाधान प्राणों की, बल की हानि करनेवाला होता है। इसका कुफल कालान्तर में सन्तान को भी भुगतना पड़ता है, अतः माता-पिता बननेवालों को इस विषय में पूरी तरह सावधान रहना चाहिए।

पुत्र-पुत्री—चरकसंहिता (शरीरस्थान ८।६) के अनुसार—**"स्नानात् प्रभृति युग्मेष्वहः सुसंयसेतां पुत्रकामौ तौ चायुग्मेषु दुहितृकामौ"**—अर्थात् यदि पुत्र की इच्छा हो तो ऋतुस्नान के दिन से युग्म दिनों में स्त्रीगमन करे और पुत्री की इच्छा हो तो अयुग्म दिनों में स्त्रीप्रसंग करे। ६, ८, १०, १२, १४, १६ युग्म रात्रियाँ हैं और ५, ७, ६, १५ अयुग्म रात्रियाँ हैं। मनुस्मृति के अनुसार भी—

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम्॥—३।४८

इसपर टिप्पणी करते हुए ग्रन्थकार ने संस्कारविधि में लिखा है—

"जिनको पुत्र की इच्छा हो वे छठी, आठवीं, दशवीं, बारहवीं, चौदहवीं और सोलहवीं ये छह रात्रि ऋतुदान के लिए उत्तम मानें और जिनको कन्या की इच्छा हो वे पाँचवीं, सातवीं, नौवीं और पन्द्रहवीं ये चार रात्रि उत्तम समझें। इससे पुत्रार्थी युग्म रात्रियों में ऋतुदान करें। इनमें भी उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।" रात्रियाँ इसलिए लिखा है, क्योंकि दिन में स्त्रीसंग निषिद्ध है।

अग्निवेशगृह्यसूत्र (२।७।६) में लिखा है—**'षोडश्यां लभते पुत्रं ब्रह्मकीर्त्तनतादृशं तदूर्ध्वमुपयमं नास्ति कामभोगैव केवलम्"**—अर्थात् सोहलवीं रात्रि में स्त्री से समागम करने से ब्रह्मकीर्तन जैसा पुत्र मिलता है। उसके पश्चात् सन्तानार्थ स्त्रीसमागम वर्जित है। तब स्त्रीसमागम करना केवल कामचेष्टा है। गर्भाधान-सम्बन्धी इन नियमों का सम्बन्ध फलितज्योतिष से न होकर सामान्यतः आयुर्वेद से है और विशेषतः गर्भशास्त्र (Eugenics) तथा पदार्थविद्या से है। इस विषय में अष्टाङ्गहृदय (शरीरस्थान १।२७) भी द्रष्टव्य है।

आयुर्वेदशास्त्र तथा धर्मशास्त्र के इस सिद्धान्त को कितने स्पष्ट शब्दों में आधुनिक वैज्ञानिकों ने

https://t.me/arshlibrary

स्वीकार कर मान्यता प्रदान की है, यह दिल्ली के 'हिन्दुस्तान टाइम्स' ३० जून १९८९ के अंक में प्रकाशित इस समाचार से प्रमाणित है—

Boston, June 29—The odds of having a baby boy instead of a girl increase greatly if couples conceive their child late in the woman's menstrual cycle, a study shows. The research disclosed that when couples have sex two days after ovulation, which occurs midway in the monthly cycle, two thirds are boys.

The research answers a question that has puzzled philosophers and physicians for centuries whether the time of intercourse affects the sex of the child.

"The study provides strong confirmation for the theory that variations in sex proportion are associated with conceptions occuring on different days of menstrual cycles", the report said.

The study was conducted by Susan Harlapp at the Hebrew University Jerusalam and was published in Thursday's New England Journal of Medicine.

The study examined 3656 infants born to women who said they conceived on the five days around ovulation. Overall, 53% of the babies were boys. But of the 145 women who said they became pregnant two days after ovulation, 66% of the children were boys.

—Hindustan Times, Delhi, 30.6. 89

अर्थात् वैज्ञानिक सहस्रों बच्चों के बारे में खोज और परीक्षण करने के बाद इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि भारतीय मनीषियों द्वारा पुत्र-पुत्री की उत्पत्तिविषयक गर्भाधान के सन्दर्भ में नियत रात्रियों का सिद्धान्त सर्वथा विज्ञानसम्मत है ।

पुत्र-पुत्री की उत्पत्ति के प्रसंग में मनुस्मृति का यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

पुमान्पुंसकोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः ।
समेऽपुमान् पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः ॥—३।४९

पुरुष के अधिक वीर्य होने से पुत्र और स्त्री के आर्तव अधिक होने से कन्या, तुल्य होने से नपुंसक पुरुष या वन्ध्या स्त्री तथा क्षीण या अल्पवीर्य होने से गर्भ का न रहना अथवा गिर जाना होता है ।

यहाँ अधिक शब्द से मात्राधिक्य नहीं, सामर्थ्याधिक्य अभिप्रेत है । पुरुष के वीर्य में अधिक सामर्थ्य अथवा पुरुष के बीज के अधिक शक्तिशाली होने पर पुत्रोत्पत्ति होती है । पुरुष की तुलना में स्त्री-बीज के अधिक शक्तिशाली होने पर कन्या, समान शक्तिशाली होनेपर लड़के-लड़की का जोड़ा अथवा नपुंसक सन्तान होती है । मूल बात यह है कि जो शुक्राणु जितना प्रबल होगा, वह उतना ही पहले डिम्ब में प्रवेश करेगा । पुरुष-शुक्रकीट अधिक प्रबल होंगे तो वे दौड़कर पहले प्रवेश कर जाएँगे और यदि स्त्री को जन्म देनेवाले कीट प्रबल होंगे तो पहले वे प्रवेश कर जाएँगे । यहाँ भी सामर्थ्य की अधिकता ही पुत्र-पुत्री की उत्पत्ति का निर्धारण करेगी ।

पं० आत्माराम 'अमृतसरी' ने १८६७ में प्रकाशित अपनी पुस्तक में लिखा है—"क्यों कभी लड़का और कभी लड़की उत्पन्न होती है ? मेरी सम्मति में जो दोनों में अधिक बलवान् है, सन्तान उसके अनुसार होगी । यदि पुरुष का वीर्य अधिक बलवान् है तो पुत्र उत्पन्न होगा और यदि स्त्री का आर्तव अधिक बलवान् है और उसमें बल अधिक है तो कन्या होगी । यह केवल बल का प्रश्न है । यह वही नियम है जो सृष्टि में सर्वत्र पाया जाता है । यदि दो विरुद्ध शक्तियाँ परस्पर मिलें तो इनमें से जो अधिक बलवान् होगी वह अधिक प्रभावी होगी । यदि पुरुष आयु और बल में स्त्री से अधिक है तो सन्तान अधिकतर नर होगी और यदि स्त्री बल में पुरुष से अधिक है तो कन्याएँ उत्पन्न होंगी ।" पं० आत्मारामरचित संस्कारचन्द्रिका से

https://t.me/arshlibrary

आधुनिक चिकित्साविज्ञान के अनुसार पुरुष के वीर्य में दो प्रकार के शुक्राणु होते हैं—१. एक्स, २. वाई। स्त्री के रज में केवल एक्स कीटाणु होते हैं। पुरुष का वाई शुक्राणु जब स्त्री के एक्स कीटाणु से मिलता है, तब लड़का होता है और एक्स से एक्स मिलता है तब लड़की होती है। सम्भोग के पश्चात् ये शुक्राणु गर्भनलिका में दौड़कर स्त्री के डिम्ब में प्रवेश करते हैं। जो शुक्राणु पहले प्रवेश कर जाता है, वही सन्तानरूप बनता है।

गर्भाधान के बाद—गर्भाधान पितृ-ऋण के संशोधनार्थ तथा वंशपरम्परा को अविच्छिन्न रखने के लिए सन्तति के उत्पादनार्थ किया जाता है। गर्भाधान संस्कार बालक का नहीं, बालक बनाने का संस्कार है। इसमें धर्मभाव यथावत् बना रहना चाहिए। उस समय माता-पिता की शारीरिक तथा मानसिक स्थिति जैसी शुद्ध, पवित्र होगी, बालक का शरीर और मन भी वैसा ही बनेगा, अतः गर्भाधान के समय शरीर की नीरोगता के साथ-साथ माता-पिता के मन का स्वस्थ एवं धर्मान्वित होना आवश्यक है। सुश्रुतसंहिता में लिखा है—

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ।
स्त्रीपुरुषौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः॥

अर्थात्—स्त्री-पुरुष जैसे आहार-विहार तथा चेष्टा आदि से युक्त होकर परस्पर समागम करते हैं, उनकी सन्तान भी वैसी ही होती है। माता में भी जैसे संस्कार पहले से पड़े होते हैं, उसका गर्भ दोहद भी वैसा ही होता है। गर्भ का दोहद पूर्ण होने पर बालक में भी पूर्णता होती है। गर्भस्थ बालक माता के शरीर के माध्यम से ही पोषण और वृद्धि पाता है, अतः माता के खान-पान का बालक पर सीधा प्रभाव पड़ता है। जैसे माता के शरीर से बालक के पंचभौतिक शरीर का निर्माण होता है, वैसे ही उसके विचारों से उसके मन का विकास होता है। इसलिए कहा है—**माता निर्माता भवति**। माता-पिता के खान-पान का स्थिति-परिस्थिति का और एक-एक शब्द का जो उनके कान में पड़ता है, एक-एक दृश्य का जो उनकी आँखों के सामने उपस्थित होता है, एक-एक विचार का जो उनके मन में उठता है, बालक पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। आदिम तीन संस्कारों—गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन तक की अवधि में माता-पिता के बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। जब तक सन्तान माता के पेट में बढ़ रही होती है तब तक उसके शारीरिक और मानसिक विकास का दायित्व विशेषतौर पर माता के ऊपर ही होता है। जब कोई वस्तु ढल रही होती है तब उसे पहले से बनी रूपरेखा के अनुसार ढाला जा सकता है। ढलकर तैयार हो जानेपर उसे नई दिशा देना कठिन हो जाता है। सन्तानोत्पत्ति के आधारभूत विचार के सम्बन्ध में कहा है—

अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्॥

—शत० १४।६।४।८; छान्दोग्य ब्रा० १।५।१७; निरुक्त ३।४

अर्थात्—सन्तान माता-पिता के अंग-अंग का निचोड़ होती है। एक प्रकार से वह उनकी अपनी ही आत्मा होती है। आठवें महीने में स्त्री को 'दौहृद' कहा जाता है। 'दौहृद' का अर्थ है दो हृदयवाली—एक उसका अपना हृदय और एक उसके गर्भ में पलनेवाली सन्तान का हृदय। सन्तान का हृदय माता के बीज से उत्पन्न होता है और रस लाने, ले-जानेवाली धमनियों (arteries) से माता के हृदय से जुड़ा होता है। यह समय वह होता है जब सन्तान पर अपने संस्कारों की छापा डालना माता के हाथ में होता है। इस विषय में सुश्रुतसंहिता (शरीरस्थान) में लिखा है—

https://t.me/arshlibrary

येषु येषु इन्द्रियार्थेषु दौहृदे या विमानना ।
प्रजायते सुतस्यार्ति स्तस्मिन्-तस्मिन् तथैन्द्रिये ॥

गर्भवती स्त्री की जिस बात में अनिच्छा होती है, उसकी सन्तान की भी उस बात में अनिच्छा होती है और जिस बात में गर्भवती स्त्री की इच्छा रहा करती है, उस बात में उसकी सन्तान की भी इच्छा बन जाती है ।

इस प्रसंग में मनुस्मृति का यह श्लोक द्रष्टव्य है—

यादृशं भजते नारी सुतं सूते तथाविधम् ।
तस्मात् प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत् प्रयत्नतः ॥—६।६

अर्थात् गर्भवती स्त्री जिस प्रकार की तस्वीर मन में खींच लेती है, उसी प्रकार की सन्तान को जन्म देती है । इसलिए उत्तम सन्तान के लिए स्त्री को ऐसे वातावरण में रखना चाहिए जिससे सन्तान उत्तम और शुद्ध विचारोंवाली बने ।

किस प्रकार अभिमन्यु माता के गर्भ में चक्रव्यूह तोड़ने के संस्कारों को लेकर पैदा हुआ था, किस प्रकार मदालसा ने अपने पुत्रों को गर्भावस्था के संस्कारों से ब्रह्मर्षि बना दिया था, किस प्रकार नेपोलियन माँ के सैनिकों की परेड देखने के संस्कारों के कारण महान् योद्धा बन गया था और किस प्रकार माँ के संस्कारों के कारण बिस्मार्क फ्राँस का शत्रु बन गया था । ये सब उदाहरण सिद्ध करते हैं कि माँ के संस्कार सन्तान को पूर्वनिर्धारित ढाँचे में ढाल सकने में समर्थ हैं ।

चरकसंहिता (शरीरस्थान) में पुंसवन-संस्कार का वर्णन करते हुए विस्तारपूर्वक गर्भिणी के आचरण का विवेचन करते हुए लिखा है—"अगर गर्भिणी नग्न सोये या इधर-उधर घूमती फिरे तो सन्तान पागल हो सकती है । गर्भवती बहुत लड़ने-झगड़नेवाली हो तो सन्तान को मृगी हो सकती है । यदि मैथुन में रत रहती हो तो सन्तान कामुक हो सकती है । अगर निरन्तर उदास या शोकमग्न होगी तो सन्तान डरपोक, कमज़ोर और अल्पायु होगी । यदि लोभी या परधनेच्छु होगी तो सन्तान ईर्ष्यालु, चोर और कुकर्मी होगी । यदि वह क्रोध करेगी तो सन्तान क्रोधी, छली और चुग़लख़ोर होगी । यदि वह बहुत सोएगी तो सन्तान आलसी, मूर्ख और मन्दाग्निवाली होगी । यदि मीठा अधिक खाएगी तो सन्तान प्रमेही, यदि अधिक खट्टा खाएगी तो सन्तान त्वचा के रोगवाली और यदि अधिक चटपटे भोजन खाएगी तो सन्तान दुर्बल, अल्पवीर्य, बाँझ या नपुंसक होगी । सूत्र ४४ के अनुसार जिस प्रकार माता के क्रियाकलाप से सन्तान में रोग संक्रमित होते हैं, उसी प्रकार पिता के दूषित क्रियाकलाप के कारण भी दूषित सन्तान होती है । इसलिए गर्भिणी स्त्री को चाहिए कि "पहले दिन से ही हर समय प्रसन्न रहे, श्वेत वस्त्र धारण करे, शान्त मनवाली, सबका भला चाहनेवाली और देव, ब्राह्मण तथा गुरुजनों की सेवा करनेवाली हो । मलिन, हीन या विकृत अंगों को न छुए । दुर्गन्धयुक्त और बुरे दृश्यों को न देखे-सुने । सूखे-बासी, गले-सड़े अन्न का भोजन न करे । बिना विशेष काम घर से निकलना, खाली मकान में रहना, श्मशान में जाना, क्रोध करना, चिल्लाकर बोलना आदि का सर्वथा त्याग कर दे । जिन बातों से गर्भ की हानि की आशंका हो, उन सबसे दूर रहे ।" साररूप में चरकसंहिता (शरीरस्थान ८।२१) में कहा है—**"तस्मादहितानाहारविहारान् प्रजासम्पदमिच्छन्ती स्त्री विशेषेण वर्जयेत्साध्वाचाराद्यात्मानमुपचरेद्धिताभ्यामाहारविहाराभ्याम् ।"**

अर्थात्—सन्तान के हित की इच्छा करती हुई गर्भवती स्त्री अहिताहार-विहारों को त्याग देवे तथा श्रेष्ठ आचार और हित आचार-विहार से शरीर की रक्षा करती रहे ।

पितृमान्—जिस प्रकार की सन्तान की इच्छा हो उसी प्रकार की तैयारी माता-पिता को करनी

https://t.me/arshlibrary

चाहिए । मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा जिस सूक्ष्म-शरीर को लेकर चलता है, वह पहले पिता के वीर्य में पहुँचकर विकास पाता है । तत्पश्चात् माता के गर्भाशय में प्रवेश करता है । दूसरे शब्दों में बच्चा पहले पिता के गर्भ में जाता है, फिर माता के गर्भ में । भेद केवल इतना है कि माता का गर्भाशय और प्रकार का है, पिता का और प्रकार का । पिता के शरीर में वीर्यकोश पुत्र का गर्भाशय है । यही भावी सन्तान का पहला शरीर है, इसलिए वह जिस प्रकार का भोजन करेगा, वहाँ उसी प्रकार का शरीर तैयार होगा । यह तो रहा भौतिक पक्ष, परन्तु इस भौतिक शरीर पर पिता के मन का भी प्रभाव पड़ेगा । उसमें पिता के प्रत्येक विचार और कार्य की प्रतिच्छाया रहेगी, अतः पिता को सोच लेना चाहिए कि जिस प्रकार की सन्तान की उसे इच्छा है, उसी प्रकार का उसका आचरण होना चाहिए । पिता के हृदय की सारी भावनाएँ साररूप में वीर्य के उस कण में होती हैं जिसे जीव ने अपना पहला शरीर बनाया है । इसी को आधुनिक चिकित्साशास्त्र में स्पर्मेटोज़ा (Spermatoza) कहते हैं । इस प्रकार गर्भाधान का सूत्रपात स्त्रीसंयोग से पहले पिता के शरीर में हो चुका होता है । ऐतरेय उपनिषद् का निम्न वचन भी इस विषय में द्रष्टव्य है—

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति । यदेतद्रसस्तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति । तद्यथा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ॥ २।१

तात्पर्य यह है कि गर्भ पहले तो पुरुष के शरीर में होता है । यह रेतस् या वीर्य कहाता है । वीर्य ही उसका शरीर है । वहाँ वह पिता के समस्त अंगों से तेज को खींचता और अपने में धारण करता है । फिर पिता के गर्भ से गर्भाधान द्वारा माता के गर्भ में पहुँचता है । यह उसका पहला जन्म है ।

पिता के शरीर में बच्चे का शरीर एक निश्चित अवस्था से आगे नहीं बढ़ सकता, इसके लिए अधिक अवकाश व भोजन और विकास के लिए अपेक्षित समय चाहिए । यह सब उसे माता के शरीर में ही मिल सकता है, अतः पिता का कर्त्तव्य है कि वह इस धरोहर को अपने शरीर से निकालकर माता को सौंप दे । अथर्ववेद ६।११।२ में लिखा है—**'पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते'** । इस प्रत्यारोपण (Transplantation) के लिए उसे स्त्रीप्रसंग की आवश्यकता पड़ती है । इसी प्रक्रिया का नाम गर्भाधान है । अन्ततः सन्तान का जन्म माता से होता है, इसलिए उसकी 'जाया' संज्ञा है । इस प्रसंग में मनुस्मृति में लिखा है—

पतिर्भार्यां सम्प्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥ —९।८

पति वीर्यरूप में स्त्री में प्रवेश करके गर्भ बनकर (गर्भो भूत्वा) सन्तानरूप से संसार में उत्पन्न होता है । स्त्री का यही जायापन है जो इस स्त्री में सन्तानरूप से पति पुनः उत्पन्न होता है ।

'जाया' शब्द **जनी प्रादुर्भावे** (दिवा०) धातु से **'जनेर्यक्'** (उणादि० ४।१११) सूत्र से 'यक् प्रत्यय, स्त्रीलिंग में टाप् प्रत्यय होने से सिद्ध होता है । **'जायते यस्यां सा जाया'** अथवा **'जायन्ते यस्यामपत्यानि सा जाया'**=पत्नी—जिसमें सन्तान उत्पन्न होती है, वह जाया कहलाती है । जाया की यह परिभाषा पर्याप्त प्रचलित रही है । यथावत् भाव ऐतरयब्राह्मण ७।१३ की परिभाषा में द्रष्टव्य है—**"पतिर्जायां प्रविशति, गर्भो भूत्वा स मातरं तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासे जायते, तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः ।"** गोपथब्राह्मण में कहा है—**"आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्चेति तस्माज्जाया अभवंस्तज्जायानां जायात्वं यच्चासु पुरुषो जायते** । "—गो० ब्रा० पू० १।२

निरुक्त में स्पष्ट शब्दों में कहा है—**"आत्मा वै पुत्रनामासि** ।"—नि० ३।१।४

गर्भाधानोत्तर संस्कार—मनुस्मृति (२।२) में गर्भाधान संस्कार का प्रवर्त्तन करते समय **'गार्भैः'** शब्द का

https://t.me/arshlibrary

प्रयोग हुआ है। इस बहुवचनान्त प्रयोग से प्रतीत होता है कि मनु को इस शब्द से सभी गर्भसम्बन्धी या गर्भकालीन संस्कार अभिप्रेत हैं। जन्म से पहले ६-१० मास का समय गर्भस्थ बालक के निर्माण में लगता है। जातकर्म संस्कार से पूर्व गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन इन तीनों संस्कारों का विधान है। इन्हीं की संज्ञा 'गर्भ' है। प्रस्तुत प्रकरण में आनुषंगिकरूप में गर्भाधान में पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन का अन्तर्भाव है।

पुंसवन संस्कार गर्भस्थिति का निश्चय हो जाने पर दूसरे अथवा तीसरे मास में सम्पन्न होता है। पुंसवन का अर्थ है—**'पुमान् सूयते यस्माद् इति पुंसवनम्'** जिस संस्कार के द्वारा पुमान्=बलवान्, शक्तिशाली और स्वस्थ सन्तान उत्पन्न होने में सहायता मिले, वह पुंसवन संस्कार होता है। ग्रन्थकार ने पुंसवन संस्कार का प्रयोजन "पुरुषत्व की प्राप्ति अर्थात् वीर्यलाभ होना" लिखा है, जिससे 'वीर्य स्थिर रहे और दूसरा सन्तान भी उत्तम होवे'। गर्भगत शिशु की रक्षा करना एवं उसे उत्तम संस्कारों से युक्त करना ही इस संस्कार का लक्ष्य है। सुश्रुतकार ने लिखा है—

दोषाभिघातैः गर्भिण्या यो यो भागो प्रपीड्यते।
स स भाग शिशोस्तस्य गर्भस्थस्य प्रपीड्यते॥

अर्थात्—किसी भी शारीरिक दोष के कारण गर्भवती स्त्री का जो भी अंग पीड़ित होने लगता है या होता है, गर्भस्थित बालक का भी वही अंग पीड़ित होने लगता है, अतः माता को इस विषय में विशेषतः सावधान रहना चाहिए। पिता का भी यह कर्त्तव्य है कि इस अवस्था में पूर्ण संयम रक्खे और पत्नी के शरीर को किसी प्रकार का कष्ट न होने दे। शिशु की रक्षा का दायित्व समानरूप से दोनों पर है और पुंसवन संस्कार का प्रयोजन उन्हें गर्भस्थ शिशु की रक्षा और ठीक-ठीक निर्माण के लिए प्रेरणा और अपेक्षित निर्देश देना है।

पुंसवन संस्कार का प्रयोजन 'पुमान् (पुरुष) बालक की उत्पत्ति में सहायक होना' मानना युक्तियुक्त नहीं है। गर्भगत शिशु पुमान् और स्त्री दोनों हो सकते हैं और गर्भाधान से अन्त्येष्टिपर्यन्त सभी संस्कार दोनों के लिए निर्दिष्ट हैं। पुंसवन नाम में 'पुम्' शब्द लक्षणा से बल-वीर्य-पराक्रम को लक्षित करता है, यह मानना युक्त होगा। यह अर्थ उभयविध शिशु के लिए सार्थक हो सकता है। बालक-बालिका में समदृष्टि रखनेवाले ग्रन्थकार को यही अर्थ अभिप्रेत था। ऋग्वेद ३।२६।१३ का भाष्य करते हुए उन्होंने **'पुमांसम्'** का अर्थ **'पुरुषार्थयुक्तं नरम्'** और यजुर्वेद २५।४५ में **'पुंसः'** का अर्थ **'पुंस्त्वयुक्तान् पुरुषार्थिनः जनाः'** किया है। शतपथब्राह्मण (२।५।२।६) के आधार पर **'वीर्यं पुमान्'** वीर्य को पुमान् बताया है। निरुक्त में दो स्थलों पर इस शब्द की निरुक्ति दर्शाई है—**'पुमान् पुरुमना भवति पुंसतेर्वा'** (६।१४), 'पुंसः=पितॄन्' (३।५)। इससे स्पष्ट है कि उन्हें 'पुमान्' शब्द से 'पुरुष सन्तान' ही अभिप्रेत नहीं है। संस्कार के आरम्भ में जो प्रयोजन लिखा है, वह आनुषंगिक है, व्यावहारिक है।

प्रायः लोग यह समझते हैं कि पुंसवन संस्कार का विधान पुत्र की प्राप्ति (उत्पत्ति) को लक्ष्य में रखकर किया गया है। वे यह भूल जाते हैं कि पुत्र होगा या पुत्री, इसका निश्चय तो गर्भ ठहरने के साथ ही हो जाता है। गर्भ स्थिर हो जाने पर उसमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता है। पुत्र-पुत्री की उत्पत्ति में निर्णायक मुख्यतः चार कारण बताये जाते हैं —

१—स्त्री के आर्तव की अधिकता से कन्या और पुरुष के वीर्य की अधिकता से पुत्र तथा दोनों के समान होने पर नपुंसक सन्तान पैदा होती है—**'तत्र शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, आर्तवबाहुल्यात् स्त्री, साम्यादुभयोर्नपुंसकमिति।'**

https://t.me/arshlibrary

२—युग्म रात्रियों में समागम होने पर पुत्र तथा अयुग्म रात्रियों में स्त्री-समागम होने पर कन्या की उत्पत्ति होती है।

३—स्त्री के दायें डिम्ब से आये बीज (ovum) से पुत्र और बायें डिम्ब से आये बीज से कन्या की उत्पत्ति होती है।

४—पुरुष के दायें अण्डकोश से आये बीज (Sperm) से पुत्र और बायें अण्डकोश से आये बीज से कन्या होती है।

इन सबका सम्बन्ध गर्भाधान की क्रिया से है। जो कुछ हो सकता है वह गर्भाधान की क्रिया होने से पहले ही हो सकता है, बाद में कुछ नहीं हो सकता। गर्भाधान की क्रिया में स्त्री के रज के एक्स कीटाणु के साथ मिलनेवाले पुरुष के वीर्य के एक्स और वाई कीटाणु में से जो भी मिल गया उसे बदला नहीं जा सकता। इसलिए गर्भस्थ बालक का लिंग बदलने के उद्देश्य से पुंसवन संस्कार करना व्यर्थ है। आधुनिक चिकित्साविज्ञान का भी यही मत है। वेदादि शास्त्रों में अनेकत्र पुमान् सन्तान अर्थात् पुत्रलाभ की कामना की गयी है। तद्यथा—**'पुमांसं पुत्रमाधेहि'** (अथर्व० ६।१७।१०), **'पुमासं पुत्रं जनय'** (अथर्व०३।२३।३); **'दशास्यां पुत्रानाधेहि'** (ऋ० १०।८५।४५); **'पुमान् गर्भस्तवोदरे'** तथा **'पुमांसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननुजायताम्'** (सामवेदे=सामब्राह्मण १।४।८६ तथा गोभिलगृह्यसूत्र)। यहाँ सामवेद शब्द से साहचर्य लक्षण (द्रष्टव्य न्यायसूत्र वा वात्स्यायनभाष्य २।२।६१) से सामवेद का मन्त्रब्राह्मण अभिप्रेत है। लोक में भी प्रायः पुत्र की कामना देखी जाती है और पुत्रलाभ के लिए अनेक प्रकार से प्रयत्न किया जाता है। 'पुमान्' का अर्थ वीर्यवान् होता है, इसे नकारा नहीं जा सकता। **'पुमान् स्त्रिया'** पाणिनिसूत्र के अनुसार 'बालक' की भाँति 'पुत्र' को भी उभयलिंगी माना जा सकता है। तदनुसार 'पुत्र' शब्द में 'पुत्री' का अन्तर्भाव मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। तथापि सर्वत्र पुत्रोत्पत्ति की ही कामना से इन मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न लगना स्वाभाविक है।

गोपथब्राह्मण (१।३।७) में स्त्री और पुरुष में भेद दर्शाते हुए कहा है—**'पुमांसः श्मश्रुवन्तोऽश्मश्रुवः स्त्रियः'**। यहाँ 'पुमान्' शब्द स्पष्टतः पुत्र को लक्ष्य करके कहा गया है। अथर्ववेद कहता है—**"जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन्**—"(८।६।२५)। इसका भाष्य करते हुए प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् प्रो० विश्वनाथ वेदोपाध्याय ने लिखा है—"हे पिंग सर्षप (पीली सरसों)! गर्भस्थ पुमान् को स्त्रीरूप में परिणत न कर देना।" इसपर टिप्पणी में उन्होंने लिखा है—"कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि जो पुमान् था, वह कालान्तर में स्त्री घोषित होजाता है—लिंगपरिवर्तन हो जाता है।" इस सम्भावना को दूर करने के लिए यथासमय उपचार अपेक्षित है। अथर्ववेद का ही एक अन्य मन्त्र इस प्रकार है —

शमीश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्र स्त्रीष्वा भरामसि॥ ६।११।१

चतुर्वेदभाष्यकार जयदेव मीमांसाकार ने इसके भाष्य में लिखा है कि कई विद्वानों के मत में शमी वृक्ष पर उगा हुआ पीपल पुत्र उत्पन्न करने की ओषधि है। ग्रन्थकार ने आश्वलायनगृह्यसूत्र का एक वचन पुंसवन-संस्कार में उद्धृत किया है—**"अथास्यै मण्डलागारच्छायायां दक्षिणस्यां नासिकायामजीतामोषधीं नस्तः करोति।"** इसका अर्थ करते हुए उन्होंने लिखा है—"गर्भ के दूसरे या तीसरे महीने में वटवृक्ष की जटा वा उसकी पत्ती लेके स्त्री के दक्षिण नासापुट में सुंघावे और कुछ अन्य पुष्ट अर्थात् गुड़च जो गिलोय वा ब्राह्मी ओषधि खिलावे।" सामान्यतः इसकी पुष्टि करते हुए अथर्ववेद (३।२३।६) ने कहा है—**"तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः।"** अर्थात् हे नारि! वे दिव्य ओषधियाँ तेरी और तेरे गर्भ की पुत्रलाभ के

https://t.me/arshlibrary

लिए रक्षा करें।

चरकसंहिता (शरीरस्थान ८।३५-३६) के अनुसार ओषधि को दाहिने नथुने द्वारा पीने से पुत्र-प्राप्ति और बायें नथुने द्वारा पीने से कन्या-प्राप्ति होती है। लगभग यही बात सुश्रुतसंहिता (शरीरस्थान २।३४) में कही गयी है—"**लब्धगर्भायाश्च एतेषु अहःसु लक्ष्मणावटशुङ्गासहदेवीविश्वदेवानामन्यतमं क्षीरेण अभिघुट्य त्रीन् चतुरो वा बिन्दून् दद्याद् दक्षिणे नासापुटे पुत्रकामायै न च तन्निष्ठीवेत्।**" अर्थात्—जिसने गर्भधारण कर लिया है, उसके लिए इन्हीं दिनों में लक्ष्मणा, वटशुङ्गा, सहदेवी और विश्वदेवा इनमें से किसी एक ओषधि को दूध के साथ महीन पीसकर उसकी तीन वा चार बूँदें उस स्त्री की नाक के दाहिने छिद्र में डाल दे। यदि उसे पुत्र की इच्छा हो तभी ऐसा करे। स्त्री को चाहिए कि वह उस ओषधि को थूके नहीं।

पीयूषपाणि स्वामी सर्वानन्दजी सरस्वती आयुर्वेद में निष्णात हैं। उन्होंने बताया कि जिनके पुत्र नहीं होता उनकी ओषधियों से मैं चिकित्सा करता हूँ और लगभग ७५ प्रतिशत सफलता मिलती है।

इन प्रमाणों के आधार पर यह मानने में कोई बाधा नहीं प्रतीत होती कि पुत्र-पुत्री की उत्पत्ति में उपयुक्त ओषधियों का सेवन भी सहायक है। जहाँ तक युग्म-अयुग्म रात्रियों में गर्भाधान का सम्बन्ध है और इसमें वीर्य या आर्तव के सामर्थ्य की भूमिका है, वह भी इससे मिथ्या सिद्ध नहीं हो जाता। युग्म रात्रि हो किन्तु उस समय स्त्री का आर्तव प्रबल हो, इसी प्रकार अयुग्म हो किन्तु उस सयम पुरुष-वीर्य प्रबल हो तो दोनों में कौन अधिक प्रभावी होगा, निश्चितरूप से कोई नहीं जान सकता। इसी प्रकार की स्थिति स्त्री के डिम्ब और पुरुष के अण्डकोश के सम्बन्ध में भी हो सकती है। इसलिए केवल गर्भाधान के आधार पर पुत्र-पुत्री की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय नहीं किया जा सकता। यथासमय योग्य चिकित्सक का परामर्श लेना श्रेयस्कर है।

सीमन्तोन्नयन—इस संस्कार का प्रयोजन गर्भ में पल रहे बालक की बौद्धिक व मानसिक शक्तियों के विकास में सहायक होना है। इसमें उत्तरदायित्व माता पर अधिक होते हुए भी पिता का पूर्ण सहयोग अपेक्षित है। यदि बालक की माता पति की उपेक्षा अथवा दुर्व्यवहार के कारण दुःखी रहती है तो गर्भस्थ शिशु पर इसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहेगा और बालक क्रोधी या चिड़चिड़े स्वभाव का होगा। इस अवस्था में परिवार के अन्य सदस्यों का सौहार्द एवं सक्रिय सहयोग भी बालक के निर्माण में सहायक होता है। सुश्रुतसंहिता में लिखा है—"**देवता ब्राह्मणपरा शौचाचारहिते रताः। महगुणान् प्रसूयन्ते विपरीतास्तु निर्गुणान्॥**" विद्वान् ब्राह्मणों का सत्संग करनेवाली तथा शारीरिक व मानसिक पवित्रता के साथ जीवन बितानेवाली गर्भिणी स्त्री को उत्तम सन्तान उत्पन्न होती है। इससे विपरीत आचरण करनेवाली स्त्री को विपरीत गुणोंवाली सन्तान प्राप्त होती है।

संस्कारों का संक्रमण—सन्तानों में संस्कारों का संक्रमण किस प्रकार होता है, अर्थात् भिन्न-भिन्न जातियों के प्राणियों में पैतृक तथा जातीय गुण किस विधि से वंशानुवंश संक्रमित होते हैं तथा समय-समय पर जो नये गुण किसी प्राणी में उत्पन्न हो जाते हैं, उसकी क्या प्रक्रिया है, इत्यादि विषयों पर वैज्ञानिक जगत् में बड़े-बड़े अन्वेषण हो रहे हैं। वर्त्तमान में आनुवंशिक परम्परा-प्राप्ति (Heredity) के क्षेत्र में जिनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, उनमें चार्ल्स डारविन (Charles Darwin), गाल्टन (Galton) तथा वाईज़मैन (Weismann) के नाम उल्लेखनीय हैं।

डारविन की Theory of Pangenesis (1859) के अनुसार शरीर के अवयव और अंग के प्रत्येक कोष्ठ से उस-उस कोष्ठ के गुणधारी अत्यन्त सूक्ष्म भाग (जिसे उसने gemmules की संज्ञा दी है) उत्पन्न होते हैं। ये सब सूक्ष्म भाग शरीर में सन्तति-उत्पादक रजःकणों में इकट्ठे हो जाते हैं, अर्थात् एक प्रकार से रजःकण कुल शरीर की प्रतिकृतियाँ होती हैं और उनमें उसी प्रकार के शरीर को उत्पन्न करने की शक्ति

https://t.me/arshlibrary

होती है। डारविन के पश्चात् गाल्टन (१८२२-१९११) तथा जर्मनी के वाइज़मैन (१८३४-१९१४) ने (Germ Plasm Theory) के नाम से उत्पादक सिद्धान्त की स्थापना की। इसके अनुसार शरीर के प्रत्येक कोष्ठ के केन्द्रबिन्दु (Nucleus) में एक प्रकार का रंगदार पदार्थ होता है जिसे Chromatin कहते हैं। इस क्रोमेटिन में ही आनुवंशिक गुण रहते हैं। प्रोटोप्लाज़्म (Protoplasm) से आवेष्टित क्रोमेटिन का एक सूक्ष्म भाग रजःकण बनता है। गर्भधारण में मातृ-पितृ-रजकणों के कोष्ठ मिल जाते हैं। उनके केन्द्रबिन्दुओं का भी मेल हो जाता है और इन दोनों कोष्ठों का एक जोड़ कोष्ठ बनता है, जिसमें मातृ-पितृ-तत्त्व मिले रहते हैं। आनुवंशिक संस्कारों का मूलाधार यह क्रोमेटिन है। आगे चलकर जब एक कोष्ठ के दो, दो के चार और इस प्रकार जब गर्भ की वृद्धि होती है और नये-नये कोष्ठ जैसे-जैसे उत्पन्न होते जाते हैं, वैसे-वैसे उन कोष्ठों में क्रोमेटिन के नये-नये अंश भी सम्मिलित होते जाते हैं। इस प्रकार बच्चे के शरीर के सब अवयवों में यह पैतृक संस्कार का बीज पहुँच जाता है। अब क्योंकि पूर्णता को बढ़े हुए प्राणी के उत्पादक कोष्ठों द्वारा ही अगली पीढ़ी का निर्माण होता है और क्योंकि इन उत्पादक कोष्ठों के क्रोमेटिन प्रारम्भिक उत्पादक कोष्ठ के क्रोमेटिन से ही पैदा होते हैं, इसलिए हम यह स्पष्ट देख सकते हैं कि किस प्रकार उत्पादक बीज (germ plasm) की सन्ततिधारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संक्रमित होती जाती है। शरीर के भिन्न-भिन्न संस्थानों के साथ ही जो प्रसव-संस्थान (Reproductive System) के तत्त्व उत्पन्न होते हैं, वे किन्हीं अन्य कोष्ठ-समूहों से उत्पन्न न होकर सीधे अण्डे से ही उत्पन्न होते हैं। अब क्योंकि अगली सन्तति में केवल उत्पादक कोष्ठों के बीज ही संक्रमित होते हैं, इसलिए उत्पादक बीज की यह धारा उत्तरोत्तर सीधी सन्तति में संक्रमित होती रहती है। इस धारा में कहीं भी विच्छेद नहीं होता।

मेंडेल (Mendel) आस्ट्रिया का एक पादरी था। कई वर्षों तक वनस्पतियों पर किये गये अनेक परीक्षणों के आधार पर उसने पैतृक गुणों के संक्रमण से सम्बन्धित एक और नियम की खोज की। कभी-कभी एक व्यक्ति अपने पिता की अपेक्षा अपने पितामह से अधिक मिलता-जुलता देखा जाता है। कोई ऐसा उत्पादक तत्त्व होना चाहिए जो दादा से पोते या पड़पोते में चला जाता है। इस प्रकार का परिवर्त्तन तभी सम्भव है जब परिवर्तन के प्रतिनिवर्तन (Reversion) एवं एकान्तर संक्रमण (Alternative inheritence) की व्याख्या Mendel's Law तथा H.D. Vris की परिवर्त्तन की कल्पना Mutation Theory के आधार पर ही की जा सकती है।

गर्भाधान के प्रकरण में सुश्रुतसंहिता (शरीरस्थान, अध्याय ३) में लिखा है—**" तत्र स्त्रीपुंसयोः संयोगे तेजः शरीराद्वायुरुदरयति। ततस्तेजोऽनिलसन्निपातात् शुक्रं च्युतं योनिमभिप्रतिपद्यते संसृज्यते चार्तवेन। ततोऽग्निसोमसंयोगात् सृज्यमानो गर्भो गर्भाशयमनु प्रतिपद्यते।"** अर्थात्—स्त्री और पुरुष का संयोग होने पर जो गरमाई उत्पन्न होती है वह शरीर में वायु को उत्पन्न करती है। फिर उस गरमाई और वायु के मिलने से पुरुष का वीर्य निकलकर स्त्री की योनि में प्राप्त होता है और आर्तव के साथ मिलता है। फिर अग्नि (आर्तव) और सोम (वीर्य) का संयोग होने से हुआ गर्भ गर्भाशय में प्राप्त होता है। वीर्य के साथ ही जीव स्त्री के गर्भाशय में प्रवेश करता है, इसका निर्देश चरकसंहिता में मिलता है। वहाँ लिखा है—**"शुक्रशोणितजीवसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति।"**(चरक. शरीरस्थान, ४।२) अर्थात् रज-वीर्य तथा जीव का संयोग होने तथा होकर कुक्षि में प्राप्त होने का नाम गर्भ है। इसलिए जिन संस्कारों के माता-पिता होंगे उन्हीं संस्कारों से युक्त सन्तान होगी। माता-पिता के रज-वीर्य में एक ऐसा तत्त्व रहता है जो उनके शरीर तथा मन के गुणों को लेकर सन्तान में पहुँचता है। इसीलिए माता-पिता के शारीरिक तथा मानसिक गुण सन्तान में संक्रमित होते हैं। पुरुष के उत्पादक कोष्ठों को वीर्यकण (Sperms) और स्त्री के उत्पादक कोष्ठों को रजःकण (ova)

https://t.me/arshlibrary

कहते हैं। नर के उत्पादक कोष्ठ (वीर्यकण) उसके शरीर से निकलकर मादा के गर्भाशय में प्रविष्ट होकर उसके उत्पादक कोष्ठ (रजःकण) में मिल जाते हैं और इस प्रक्रिया से प्राणी का जन्म होता है। उत्पादक बीज या तत्त्व का ही अपर नाम जीन्स (genes) है। माता-पिता के रज-वीर्य से जो अनेकानेक वाहकाणु (जीन्स) सन्तान को प्राप्त होते हैं, वे ही प्राणी की शारीरिक व मानसिक रचना का आधारभूत कारण हैं।

आचार्यवान्—मनुस्मृति २।१४० के अनुसार—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥

जो यज्ञोपवीत कराके कल्पसूत्र और वेदान्तसहित शिष्य को वेद पढ़ावे, उसे आचार्य कहते हैं। यहाँ 'कल्प' से कोई ग्रन्थविशेष अभिप्रेत नहीं है, अपितु वेदोक्त यज्ञ आदि का निरूपण करनेवाली विद्या अभिप्रेत है।

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत् कदाचन ॥—मनु० २।१४४

जो गुरु या आचार्य वेदज्ञान के द्वारा दोनों कानों को भली-भाँति परिपूर्ण करता है, उसे माता-पिता के तुल्य समझना चाहिए। उससे कभी द्रोह न करे।

निरुक्तशास्त्र में महर्षि यास्क ने किसी प्राचीन ग्रन्थ से एक श्लोक उद्धृत किया है, जो मनु के उक्त श्लोक से शब्द और भावों की दृष्टि से पर्याप्त मिलता है—

आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन् ।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह ॥—२।१।४

लगभग १६ वर्ष तक अपने पास रखकर ब्रह्मचारी की शिक्षा-दीक्षा का दायित्व निभानेवाले आचार्य का महत्व दर्शाते हुए मनु ने कहा है—

उत्पादक ब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता ।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥—२।१४६

अर्थात्—जन्म देनेवाले पिता और ज्ञान देनेवाले आचार्य में आचार्यरूप पिता अधिक बड़ा और माननीय है, क्योंकि द्विज का ब्रह्मजन्म (उपनयन द्वारा दीक्षित होकर ब्रह्मज्ञान द्वारा ब्रह्मवित् होना) इस जन्म और परजन्म में स्थिर रहनेवाला है। पिता द्वारा दिया गया शरीर तो जन्म के साथ ही नष्ट हो जाता है, परन्तु ब्रह्मजन्म शाश्वत सुखदायक है। वही मुक्तिपर्यन्त इस जन्म और परजन्मों में सदा साथ रहता है। उसी के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को द्विज (**द्विर्जायते इति द्विजः**) कहा जाता है।

वर्त्तमान में पुरोहित बच्चों का उपनयन संस्कार तो करा देते हैं, परन्तु उनका सान्निध्य उन्हें प्राप्त नहीं होता। आचार्य का कर्त्तव्य है कि वह ब्रह्मचारी को अपने पास रखकर उसका पालन-पोषण इस प्रकार करे जैसे माता गर्भस्थ बालक का पालन-पोषण करती है। इस विषय में वेद का आदेश है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ —अथर्व० ११।५।३

आचार्य ब्रह्मचारी को प्रतिज्ञापूर्वक समीप रखके तीन रात्रिपर्यन्त अपने गर्भ में धारण करता है। पैदा होने (स्नातक बनने) पर उसे देखने के लिए दिव्यकोटि के लोग मिलकर जाते हैं।

https://t.me/arshlibrary

[जन्मकाल और उसके पश्चात् के कर्तव्य]

जब जन्म हो, तब अच्छे सुगन्धियुक्त जल से बालक को स्नान नाड़ी-छेदन करके, सुगन्धियुक्त घृतादि का होम*, और स्त्री को[1] भी स्नान-भोजन का यथायोग्य प्रबन्ध करे कि जिससे बालक और स्त्री का शरीर क्रमशः आरोग्य और पुष्ट होता जाए। ऐसा पदार्थ उसकी माता वा धायी खावे कि जिससे दूध में भी उत्तम गुण प्राप्त हों।

तिस्रः रात्रीः— ब्रह्मचर्यकाल रात्रि है। इस काल को ब्रह्मचारी अपने लिए अन्धकाररूप माने और आचार्य द्वारा निर्दिष्ट जीवन-मार्ग के प्रकाश में जीवन यापन करे। एक आदर्श आचार्य के गर्भाकर्षण में जो कोई विद्याभिलाषी शिष्य पहुँच जाता है, वह अवश्य ही उनसे अभिलषित विद्या को प्राप्त कर लेता है। **'तिस्रः रात्रीः'** का तत्त्वार्थ ईश्वर, जीव तथा प्रकृति-विषयक तीन प्रकार की विद्याएँ भी हैं, क्योंकि इन तीन प्रकार की विद्याओं के द्वारा ही मनुष्य आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखों से छूटकर मोक्ष-लाभ करता है।

शतपथब्राह्मण में लिखा है—

यथेमं विष्णुं यज्ञे त्रैधा व्यभजन्त—वसवः प्रातःसवनम्, रुद्राः माध्यन्दिनं सवनम्, आदित्यास्तृतीयसवनम्।

—शत०१४।१।१।१५

अर्थात्—इस विष्णु या यज्ञ को देवों ने तीन भागों में बाँटा। वसुओं ने प्रातःसवन किया, रुद्रों ने दोपहर का सवन तथा आदित्यों ने सायंकाल का सवन किया। आशय यह है कि २४ वर्ष की आयु तक विद्याध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों का समय प्रातःसवन कहाता है और उनको वसु कहा जाता है। ३६ वर्ष तक पढ़नेवालों का काल माध्यन्दिनसवन कहाता है और उन्हें रुद्र कहा जाता है। इसी प्रकार ४८ वर्ष तक पढ़नेवालों का काल सायंसवन कहाता है और उन्हें आदित्य पद से विभूषित किया जाता है।

संस्कारविधि (उपनयन-संस्कार) में ग्रन्थकार ने आचार्य का लक्षण इस प्रकार किया है—"आचार्य उसको कहते हैं कि जो सांगोपांग वेदों के शब्द-अर्थ का सम्बन्ध और क्रिया का जाननेहारा, छल-कपटरहित, अतिप्रेम से सबको विद्या का दाता, परोपकारी, तन-मन-धन से सबका सुख बढ़ाने में तत्पर, महाशय, पक्षपातरहित और सत्योपदेष्टा, सबका हितैषी, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय होवे।" आचार्य के कर्त्तव्यों का निर्देश करते हुए वेद में कहा है—

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्॥—यजुः० २।३३

इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार लिखते हैं —

ईश्वर आज्ञा देता है कि विद्वान् स्त्री-पुरुषों को चाहिए कि विद्यार्थी कुमार वा कुमारी को शिक्षा देने के लिए गर्भ के समान धारण करें। जैसे क्रम-क्रम से गर्भ के बीच देह बढ़ता है, वैसे अध्यापक लोगों को

---

* बालक के 'जन्म-समय' में 'जातकर्म-संस्कार' होता है। उसमें हवनादि वेदोक्त कर्म होते हैं, वे श्री स्वामीजी ने 'संस्कारविधि' में सविस्तर लिख दिये हैं[2]।—**समर्थदान**

---

१. को=के लिए। ग्रन्थकार 'को' विभक्ति का प्रयोग 'के लिए' तथा 'के' विभक्ति के स्थान में भी करते हैं। वैदिकभाषा में द्वितीया, चतुर्थी, षष्ठी विभक्तियों का बहुत्र समान अर्थ में प्रयोग देखा जाता है

२. इस टिप्पणी में उल्लिखित 'संस्कारविधि' का संकेत सं० वि० के प्रथम सं० की ओर है। द्वितीय परिशोधित सं० का लेखन स० प्र० द्वि० सं० के लगभग ८ मास पश्चात् आरम्भ हुआ था। वैसे टिप्पणी की युक्तता द्वितीय सं० में भी यथावत् विद्यमान है।

https://t.me/arshlibrary

प्रसूता का दूध छः दिन तक बालक को पिलावे। पश्चात् धायी पिलाया करे, परन्तु धायी को उत्तम पदार्थों का खान-पान माता-पिता करावें। जो कोई दरिद्र हों, धायी को न रख सकें, तो वे गाय वा बकरी के दूध में उत्तम ओषधि, जोकि बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य करनेहारी हों, उनको शुद्ध जल में भिजा[1] औटा-छानके दूध के समान जल मिलाके बालक को पिलावें।

जन्म के पश्चात् बालक और उसकी माता को दूसरे स्थान में जहाँ का वायु शुद्ध हो वहाँ रक्खें। सुगन्ध तथा दर्शनीय पदार्थ भी रक्खें और उस देश में भ्रमण कराना उचित है कि जहाँ का वायु शुद्ध हो और जहाँ धायी, गाय, बकरी आदि का दूध न मिल सके, वहाँ जैसा उचित समझें वैसा करें, क्योंकि प्रसूता स्त्री के शरीर के अंश से बालक का शरीर होता है, इसी से स्त्री प्रसव-समय निर्बल हो जाती है। इसलिए प्रसूता स्त्री दूध न पिलावे। दूध रोकने के लिये स्तन के छिद्र पर उस ओषधि का लेप करे, जिससे दूध स्रवित न हो। ऐसे करने से दूसरे महीने में पुनरपि युवती हो जाती है। तब तक पुरुष ब्रह्मचर्य्य से वीर्य का निग्रह रक्खे।

चाहिए कि अच्छी-अच्छी शिक्षा से ब्रह्मचारी कुमार वा कुमारी को श्रेष्ठ विद्या में वृद्धियुक्त करें तथा पालना करें। वे विद्या के योग से धर्मात्मा तथा पुरुषार्थयुक्त होकर सदा सुखी हों। यह अनुष्ठान सदैव करना चाहिए।

जिस प्रकार गर्भस्थ बालक पर माता-पिता के खान-पान, आचार-विचार आदि का प्रभाव पड़ता है, वैसे ही विद्यार्थी अध्यापकोंसहित आचार्य के आहार, विहार आदि से प्रभावित होते हैं। उनकी बोलचाल, परस्पर व्यवहार और उनकी सम्पूर्ण गतिविधियों को विद्यार्थी देखते-सुनते और उनका अनुकरण करते हैं। उनके निजी जीवन (Private Life) और सार्वजनिक जीवन (Public Life) को पृथक्-पृथक् करके देखने की आधुनिक प्रवृत्ति न शास्त्रसम्मत है, न व्यवहारसिद्ध है। अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं को मारकर भी बालक के हित की दृष्टि से जैसा अपेक्षित होता है, वैसा ही व्यवहार करने का प्रयास माता-पिता करते हैं। वैसा ही आचार्य के लिए करना आवश्यक है। ऐसे आदर्श गुरुजन ही बालक को 'मनुष्य' बनाने में समर्थ होते हैं और जिन्हें ऐसे आचार्य प्राप्त होते हैं, वे ही **'आचार्यवान्'** कहलाते हैं।

जन्म होने पर —बालक का जन्म होने पर क्या करना चाहिए, इस विषय में सुश्रुतसंहिता में लिखा है—

अथ जातस्योल्वं मुखं च सैन्धवसर्पिषा विशोध्य घृताक्तं मूर्ध्नी पिचु दद्यात् ततो नाभिनाडीमष्टांगुलमायम्य सूत्रेण बद्धा छेदयेत्तत्सूत्रैकदेशं च कुमारस्य ग्रीवायां सम्यग्बध्नीयात्॥ —१०।२०

अर्थात् जन्म के पीछे जरायु को बालक के शरीर से साफ़ करे तथा बालक को सेंधा नमक और घृत से शुद्ध करे। फिर रुई का फाहा घृत में भिगोकर तालु पर लगाये। तब नाभि-नाड़ी को आठ अंगुल नापकर सूत्र से बाँध देवे और आगे से कतर डालें और नाल में जो डोर बँधी है, उसे बालक के गले में बाँध देवे।

अथ कुमारं शीताभिरद्भिराश्वास्य जातकर्मणि कृते मधुसर्पिरनन्ता ब्राह्मीरसेन सुवर्णचूर्णमंगुल्याऽनामिकया लेह्येत्।—१०।२०

इसके अनन्तर बालक का शीतल जल से आश्वासन करके जातकर्म करे। पीछे घृत, शहद, अनन्तमूल, ब्राह्मी का रस—इनमें एक रत्तीभर सुवर्ण का चूर्ण (भस्म या वर्क) मिलाकर अंगुली से बालक को चटावे।

---

१. अर्थात् भिगोकर।

https://t.me/arshlibrary

इस प्रकार जो स्त्री वा पुरुष करेगा, उनके उत्तम सन्तान, दीर्घायु, बल, पराक्रम की वृद्धि होती ही रहेगी कि जिससे सब सन्तान उत्तम बल-पराक्रमयुक्त, दीर्घायु, धार्मिक हों। स्त्री योनिसंकोच, शोधन और पुरुष वीर्य का स्तम्भन करे। पुनः सन्तान जितने होंगे, वे भी सब उत्तम होंगे।

[पाँच वर्ष तक माता द्वारा शिक्षा]

बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे। जिससे सन्तान सभ्य हों, और किसी अङ्ग से कुचेष्टा न करने पावें। जब बोलने लगे, तब उसकी माता बालक की जिह्वा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट उच्चारण कर सके वैसा उपाय करे कि जो जिस वर्ण का स्थान-प्रयत्न, अर्थात् जैसे 'प' इसका ओष्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न, दोनों ओष्ठों को मिलाकर बोलना, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत अक्षरों को ठीक-ठीक बोल सकना। मधुर, गम्भीर, सुन्दर स्वर, अक्षर, मात्रा, पद, वाक्य, संहिता, अवसान[1] भिन्न-भिन्न श्रवण होवें।

जब वह कुछ-कुछ बोलने और समझने लगे तब सुन्दर वाणी, और बड़े-छोटे, मान्य पिता-माता, राजा, विद्वान् आदि से भाषण, उनसे वर्त्तमान और उनके पास बैठने आदि की भी शिक्षा करें। जिससे कहीं उनका अयोग्य व्यवहार न होके सर्वत्र प्रतिष्ठा हुआ करे। जैसे सन्तान जितेन्द्रिय, विद्याप्रिय और सत्संग में रुचि करें, वैसा प्रयत्न करते रहें।

व्यर्थ क्रीड़ा, रोदन-हास्य, लड़ाई, हर्ष-शोक, किसी पदार्थ में लोलुपता, ईर्ष्या-द्वेषादि न करें। उपस्थेन्द्रिय के स्पर्श और मर्दन से वीर्य की क्षीणता, नपुंसकता होती, और हस्त में दुर्गन्ध भी होता है, इससे उसका स्पर्श न करें। सदा सत्यभाषण, शौर्य, प्रसन्नवदन आंदि गुणों की प्राप्ति जिस प्रकार हो, करावें।

जन्म होने पर बालक का जातकर्म-संस्कार किया जाना चाहिए। इसकी विस्तृत विधि संस्कारविधि (ग्रन्थकाररचित) में उपलब्ध है। उसी के अन्तर्गत दो मन्त्रों (यजुः०१७।८७; ऋ० १।१६४।४६) से बच्चे को क्रमशः माता के वाम तथा दक्षिण स्तन से दूध पिलाने का विधान है।

प्रसूता माता के विषय में चरक (शरीरस्थान अध्याय ८) में लिखा है—"प्रसूता स्त्री को जब भूख लगे तो उसको उसके सामर्थ्य के अनुसार उचित मात्रा में स्नेहपान करावे और पीपलामूल, चव्य, चित्रक और सोंठ, इनका चूर्ण मिलाकर भी स्नेहपान करावे। उस स्त्री के पेट पर घृत और तेल दोनों मिलाकर चुपड़ देवे। इसके उपरान्त पेट पर लम्बा कपड़ा बाँध देवे। ऐसा करने से उसके पेट में वायु के प्रवेश का अवकाश न मिलने से विकार नहीं कर सकता। जब स्नेहपान किया हुआ हज़्म हो जाए तो फिर पीपलामूल, चव्य, चित्रक और सोंठ मिलाकर सिद्ध की हुई चिकनी यवागू पतली-सी बनाकर मात्रानुसार दोनों समय पीने को देवे। स्नेह और यवागू पान करने से पहले ही प्रसूता स्त्री को गर्म जल से परिषेक करा देना चाहिए। फिर पाँच या सात रात्रिपर्यन्त इसी नियम का पालन करे और फिर क्रम से इसको पुष्ट करता जाए।

माता द्वारा स्तन्यपान—माता द्वारा बालक को अपने स्तन से दूध पिलाये जाने के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—

"जैसे माता अपने स्तन के दूध से सन्तान की रक्षा करती है..... वैसे माता की सुशिक्षा को पाकर आत्मा पुष्ट होती है।"—ऋग्वेदभाष्य १।१६४।४६

"जैसे बालक और बछड़े माता के स्तन के दूध को पीके बढ़ते हैं ....." यजुर्वेदभाष्य २७।८७

"हे गृहस्थ पुरुष ! तू सन्तानों की माता जोकि तेरी विवाहिता स्त्री है, उस पुत्र का मान करनेवाली

---

१. संहिता = सन्धि, अवसान = विराम, पद वा वाक्य की समाप्ति।

https://t.me/arshlibrary

के लिए सब प्रकार धारण-पोषण करने योग्य गर्भ को उत्पन्न कर और वह पुत्र अपनी उस माता का दूध पीवे ।"

—यजुर्वेदभाष्य ८।५१

इस प्रकार वेद के आधार पर ग्रन्थकार ने माता के द्वारा अपना दूध पिलाकर सन्तान का पालन-पोषण किये जाने के मन्तव्य का प्रतिपादन किया है । सुश्रुतसंहिता में लिखा है—"यदि प्रमादवश जननी दूध न पिलाना चाहे तो उसे समझा-बुझाकर दूध पिलाने के लिए तैयार करे, क्योंकि **'मातुरेव पिबेत् स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये'**—अर्थात् जननी का दूध ही बालक के शरीर की पुष्टि के लिए सर्वोत्तम होता है ।

वस्तुतः जिस शरीर के तत्त्वों से बालक के शरीर का निर्माण हुआ है, उससे निःसृत दूध बालक के लिए जितना अनुकूल एवं उपयोगी होगा वैसा अन्य कोई दूध (धाय, गाय, बकरी आदि का) नहीं हो सकता । फिर, जिस स्नेह से ममतामयी माँ बालक को दूध पिलाती है, वैसा स्नेह बालक को कहाँ से मिल सकता है ? और बालक को अपनी छाती से लगाकर दूध पिलाने में वह जिस तृप्ति व आनन्द का अनुभव करती है उससे वंचित होकर कौन माता सुखी होगी ?

प्राचीन आयुर्वेदशास्त्र के अतिरिक्त आधुनिक चिकित्साविज्ञानवेत्ता भी एक स्वर से चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे हैं कि जननी की छाती से दूध पीना बालक और उसकी माता दोनों के लिए अत्यन्त हितकर है । इस सन्दर्भ में अहमदाबाद से, टाइम्स ऑफ इण्डिया के १३ जनवरी १९८९ में, प्रकाशित यह वक्तव्य द्रष्टव्य है—

"Breast feeding may help save not only the baby but also the mother from certain forms of cancer, according to two separate studies conducted by scientists separately. The studies published by the National Cancer Institute of America indicate that after being breast fed for more than six months, chances of the baby and its mother getting cancer are lowered considerably."

अर्थात्—अमरीका की नेशनल कैंसर इंस्टीट्यूट में हुए अनुसन्धान से पता चला है कि छह मास तक माता की छाती से दूध पीते रहने के बाद बालक और उसकी माता के कैंसर रोग से पीड़ित होने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है । नयी खोजों के अनुसार माता की छाती से दूध पीनेवाले बालक के पोलियो आदि रोगों से ग्रस्त होने का डर नहीं रहता । जब तक बालक दूध पीता रहता है तब तक स्त्री के गर्भवती होने की सम्भावना कम होती है ।

माता की छाती से निःसृत दूध के विकल्प के रूप में डिब्बाबन्द (Baby Food) के विज्ञापनों सम्बन्धी भारत सरकार के निम्न निर्णय से भी माता के दूध की वरीयता प्रमाणित होती है—

"The Information and Broadcasting Ministry has decided that advertisements for baby foods can be accepted by A.I.R. and Doordarshan so long as the manufacturers and distributors of these products do not promote them as partial or total substitutes for breast milk. Prof. Menon told Mr. Kalpnath Rai in a written reply."

—Indian Express, New Delhi, 24-4-90

इसके विपरीत ग्रन्थकार का निर्देश है—"प्रसूता का दूध बालक को ६ दिन तक पिलावे, पश्चात् धायी पिलाया करे.....जो कोई दरिद्र हो, धायी न रख सकें तो वे गाय वा बकरी का दूध पिलावें..... जहाँ धाय, गाय, बकरी आदि का दूध न मिल सके वहाँ जैसा उचित समझें वैसा करें ..... किन्तु प्रसूता स्त्री न पिलावे ।" प्रथम संस्करण में लिखा है—"जब जन्म होय तब उसी

https://t.me/arshlibrary

दिन अथवा दूसरे-तीसरे दिन धनाढ्य लोग और राजा लोग दासी वा अन्य स्त्री की परीक्षा करके कि उसके शरीर में रोग न होवे और दूध में भी रोग न होय, उसके पास बालक को रख देवें और वही स्त्री उसका पालन करै, परन्तु बालक की माता उस स्त्री के और बालक की शिक्षा के ऊपर दृष्टि रखै और जो असमर्थ लोग हैं, जिनको दासी वा अन्य स्त्री रखने का सामर्थ्य न होय तो छेरी अथवा गाय वा भैंसी के दूध से बालक का पोषण करैं। जहाँ छेरी आदिकों का अभाव होय वहाँ जैसा उचित हो सकै वैसा करैं, परन्तु बालकों की जो माता है सो उन्हों को दूध कभी न देवै। स्त्री का दूध देने से स्त्री का शरीर दुर्बल और क्षीण हो जाएगा। जो स्त्री प्रसूत हुई वह भी अपने शरीर की रक्षा के लिए श्रेष्ठ भोजनादिक करै जोकि औषधवत् होय जिससे फिर भी युवावस्था की नाईं उसका शरीर हो जाय।"

जहाँ चरक, सुश्रुत आदि ने विशेष अवस्थाओं में अपवादरूप में किसी-किसी के लिए धाय के दूध का विधान किया है, वहाँ ग्रन्थकार ने कारणवश अपवादरूप में किसी-किसी के लिए नहीं, अपितु सामान्यरूप से सबके लिए धाय का ही दूध पिलाने का विधान किया है और जननी या माता के अपनी सन्तान को दूध पिलाने पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया है।

अपने अनुरूप सन्तान बनाने के लिए माता का दूध ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। माता के स्तनों में दूध न होने या कम होने, माता के रुग्ण होने, असाधारण रूप से निर्बल होने अथवा उसकी मृत्यु हो जाने आदि अवस्थाओं में बालक का पालन-पोषण गाय के दूध पर होना चाहिए। यदि धाय रखना आवश्यक हो तो वह कैसी हो, इसका निर्देश करते हुए चरकसंहिता (शरीरस्थान ८।८१) में लिखा है—

"अथ ब्रूयात्—धात्रीमानयतेति, समानवर्णां यौवनावस्थां निभृतामनातुरामव्यङ्गामव्यसनामविरूपा-मजुगुप्सितां देशजातीयामक्षुद्रामक्षुद्रकर्मणीं कुले-जातां वत्सलां जीवद्वत्सां पुंवत्सां दोग्धीमप्रमत्तामर्नुच्चार-शायिनीमनन्त्यावसायिनीं कुशलोपचारां शुचिमशुचिद्वेषिणीं स्तनस्तन्यसम्पदुपेतामिति।"

अर्थात्—यदि धाय रखना आवश्यक जान पड़े तो "चिकित्सक धात्री लाने के लिए जननी के सम्बन्धियों को कहे। वह धात्री इन गुणों से युक्त होनी चाहिए—शिशु के वर्णवाली होनी चाहिए। यदि बालक गौरवर्ण है तो गौरवर्णवाली और यदि बालक श्यामवर्ण है तो श्यामवर्णवाली होनी चाहिए। अथवा यदि बालक ब्राह्मण है तो धाय भी ब्राह्मणी, यदि क्षत्रिय है तो धाय भी क्षत्रिया इत्यादि होनी चाहिए। युवती हो, विनय-सम्पन्न हो। नीरोग, सब तथा अविकृत अंगोंवाली हो। दुर्व्यसनों से मुक्त हो। घृणित न हो अर्थात् मैली-कुचैली न हो। जिस देश का बालक हो उसी देश की रहनेवाली हो। कोई नीच कर्म करनेवाली न हो। श्रेष्ठकुल में उत्पन्न हुई हो, स्नेह करनेवाली हो। जिसका बच्चा जीता हो, जिसका बच्चा पुमान् (पुरुष) हो, अर्थात् जो पुत्रवती हो। जो प्रभूत दूधवाली हो, प्रमादरहित हो। जो सोती न रहती हो, जो बच्चे के मल-मूत्र पर सोती रहनेवाली न हो। धर्म वा आचार से पतित न हो, उपचार में कुशल हो, पवित्र हो तथा स्नेह और स्तन्य (दूध) दोनों के शुभ गुणों से युक्त हो।"

धाय में अपेक्षित प्रायः इन्हीं गुणों का उल्लेख सुश्रुतसंहिता (शरीरस्थान अध्याय १०) में हुआ है। उसकी उत्थानिका में इतना विशेष है—"यदि प्रमादवश जननी दूध न पिलाना चाहे तो उसे समझा-बुझाकर दूध पिलाने के लिए तैयार करे, क्योंकि जननी का दूध ही बालक के शरीर की पुष्टि के लिए आवश्यक होता है।" स्पष्ट है कि आयुर्वेद के अनुसार नियमतः माता के स्तनों में उपलब्ध दूध से ही बालक का पालन-पोषण होना चाहिए। आपत्काल या आपात्काल में ही अपवादरूप में गाय या धाय आदि के दूध का प्रयोग करना उचित है।.....?

चरक-सुश्रुत में उल्लिखित गुणों से युक्त एक धाय का मिलना भी कठिन है। फिर, जब सभी माताएँ अपना दूध न पिलाकर धाय रक्खेंगी तो लाखों-करोड़ों की संख्या में ऐसी धायों का मिलता तो कठिन ही

https://t.me/arshlibrary

नहीं, सर्वथा असम्भव होगा। 'प्रसूता स्त्री दूध न पिलावे' परन्तु धाय भी तो प्रसूता ही होगी। माता के दूध न पिलाने का कारण उसकी निर्बलता बताई गयी है, पर प्रसूता होने के कारण धाय भी तो निर्बल होगी। यदि उत्तम पदार्थों का सेवन करने से धाय पुष्ट हो सकती है तो वैसा करने पर बालक की माता स्वस्थ एवं पुष्ट क्यों नही हो सकती ? धाय का श्रेष्ठकुलोत्पन्न होना आवश्यक बताया गया है। श्रेष्ठकुलोत्पन्न कौन स्त्री अपने बालक को उपेक्षित कर पराये बालक की धाय बनने को तैयार होगी ? धाय के लिए जीवित पुत्रवाली होना भी आवश्यक है। जो प्यार एक स्त्री नौ-दस मास तक गर्भ में पलनेवाले बच्चे को देती है, धाय से वैसा ही प्यार पराये बच्चे के लिए पाने की आशा कैसे की जा सकती है ? धाय बालक के प्रति अपने कर्त्तव्य का ठीक-ठीक पालन कर रही है या नहीं, एतदर्थ 'बालक की माता का धाय के और बालक के भी ऊपर दृष्टि रखना' आवश्यक बताया है। जिस स्त्री पर बालक का पालन-पोषण करने और तदर्थ समय पर दूध पिलाने, मल-मूत्र साफ करने, रात्रि को अपने पास सुलाने और आवश्यकता पड़ने पर औषधोपचार आदि की पूरी ज़िम्मेदारी है उसका चौबीस घण्टे बच्चे के पास रहना अपरिहार्य है। दूर रहकर वह अपने दायित्व का यथावत् पालन नहीं कर सकेगी। तब वह अपने बच्चे को भी अनिवार्यतः अपने साथ रक्खेगी। वहाँ रहते अपने पति, अपनी सन्तान आदि के प्रति अपने दायित्वों को वह कैसे निभायेगी ? यदि बच्चे को धाय के पास छोड़ा जाएगा तो बच्चे की माता 'धाय और बालक पर दृष्टि कैसे रक्खेगी ? जब इस निर्देश का पालन करने के कारण सभी स्त्रियाँ धाय रक्खेंगी तो कमला की धाय विमला, विमला की धाय सरला और सरला की धाय निर्मला..... इस प्रकार अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी। प्रत्येक स्त्री किसी-न-किसी के बच्चे को (अपने को छोड़कर) दूध पिला रही होगी। यदि अधिसंख्य लोग धाय रखने में असमर्थ होंगे तो धाय रखना सामान्य नियम न होकर किसी-किसी के लिए रह जाएगा और अधिसंख्य स्त्रियाँ प्रसूता होने के कारण निर्बल होने पर भी अपनी सन्तान को दूध पिलाने को बाध्य होंगी।

व्यवहार में देखने में आया है कि प्रसूता होने से निर्बल होकर भी सदा, सर्वत्र सभी स्त्रियाँ अपनी सन्तान को अपना दूध पिलाती आई हैं। सन्तान भी हर प्रकार से स्वस्थ होती है और कुछ ही दिनों में माता भी पूर्ववत् स्वस्थ हो जाती है और पुनरपि अनेक स्वस्थ सन्तानों को जन्म देती है। प्राणिमात्र की माँ की छातियों में दूध अपनी सन्तान के लिए ही उतरता है। उसपर और उसी पर बच्चे का अधिकार होता है।

'छठी का दूध याद आगया' 'बेटे! मेरे दूध की लाज रखना', 'जिसने माँ का दूध पिया हो, मेरे सामने तो आये' जैसी लोकोक्तियों से माता का दूध पीने, उससे प्राप्त शक्ति से चुनौतियों का सामना करने की शक्ति प्राप्त करने के साथ-साथ माँ-बेटे के भावात्मक सम्बन्ध की अभिव्यक्ति होती है। धाय के दूध से बालक का शरीर तो बन सकता है, वह उसके बौद्धिक, मानसिक व चारित्रिक विकास में सहायक नहीं हो सकता। ग्रन्थलेखक का मत वेद तथा स्वरचित वेदभाष्य में प्रतिपादित सिद्धान्तों, आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रन्थ चरक व सुश्रुत में निर्दिष्ट आदेशों, परम्पराओं द्वारा पोषित अनुभवसिद्ध, लोकप्रतिष्ठित दीर्घकालीन मान्यताओं तथा आधुनिक आयुर्विज्ञान द्वारा पुष्ट वैज्ञानिक तथ्यों के विपरीत नहीं होना चाहिए। यह भी हो सकता है कि मुद्रणकाल में अथवा लेखक [लिपिकर्त्ता] की नासमझी के कारण अन्यथा लिखा गया हो। इस दिशा में गहन अध्ययन एवं परीक्षण अपेक्षित है।

योनिसंकोच—सन्तान के उत्पन्न होने पर योनि अधिक विवृत हो जाती है। उस समय यदि अपेक्षित उपचार द्वारा योनिसंकोच कर लिया जाए तो भविष्य के लिए इसकी उपयोगिता असन्दिग्ध है। यह चिकित्साशास्त्र का विषय है। आयुर्वेद की वृद्धत्रयी में एक अष्टाङ्गहृदय (शारीरस्थान, अध्याय १) के

https://t.me/arshlibrary

[पिता द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा]

जब पाँच-पाँच वर्ष के लड़का-लड़की हों, तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करावें, **अन्यदेशीय भाषाओं के अक्षरों का भी।** उसके पश्चात्, जिनसे अच्छी शिक्षा, विद्या, धर्म, परमेश्वर, माता-पिता, आचार्य,

---

अनुसार—"**मुक्तगर्भापरां योनिं तैलेनाङ्गं च मर्दयेत्**" (६१) अर्थात् प्रसूता स्त्री की योनि से गर्भ और आमरा निकल जाए तब उसकी योनि आदि अंगों को वातनाशक तेल से चुपड़कर यथासम्भव पूर्वस्थिति में लाने का यत्न करना चाहिए। इसी प्रयोजन से ग्रन्थकार ने यहाँ इसका संकेत कर दिया है। जो लोग इस बात को लेकर ग्रन्थकार का उपहास करते हुए उनपर अश्लीलता का आक्षेप करते हैं, उनके समाधानार्थ यहाँ हम गरुडपुराण (आचारकाण्ड अ० १८०) से योनिसंकोचन का एक नुसख़ा उद्धृत करते हैं—

शंखपुष्पी वचामांसी सोमराजी च फल्गुकम् ॥६॥
माहिषं नवनीतं च त्वेकीकृत्य भिषग्वरः ।
समूलानि सपत्राणि क्षीरेणाज्येन पेषयेत् ॥७॥
गुटिकां शोधितां कृत्वा नारीयोन्यां प्रवेशयेत् ॥
दशवारं प्रसूतापि पुनः कन्या भविष्यति ॥८॥

तात्पर्य यह है कि जड़ों और पत्रों सहित शंखपुष्पी, वचामांसी, सोमराजी, फल्गु को भैंस के मक्खन के साथ इकट्ठा करके दूध-घी के साथ पीसे और गोली बनाकर स्त्री की योनि में प्रविष्ट करे तो दश बार प्रसूता हुई स्त्री कन्या के समान हो जाएगी।

ग्रन्थकार ने लिखा है—"उपस्थेन्दिय के स्पर्श और मर्दन से वीर्य की क्षीणता व नपुंसकता होती और हस्त में दुर्गन्ध होती है।" इसलिए बालक को ऐसा न करने की शिक्षा देनी चाहिए। इससे पूर्व बालक को माता द्वारा शिक्षा दिये जाने का प्रसंग है। इसलिए यह कहा जाता है कि माता का इस प्रकार की शिक्षा देना निर्लज्जता है, किन्तु पूर्वापर प्रसंग को ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ यह माता का विषय नहीं है, अर्थात् यह शिक्षा माता ही देवे, ऐसा विधान नहीं है। विवेच्य सन्दर्भ के आरम्भ में लिखा है—"बालकों को माता सदा उत्तम शिक्षा करे।" इस वाक्य में 'माता' (कर्ता) और 'करे' (क्रिया) दोनों एक वचन में हैं। फिर लिखा है —जब बोलने लगे तब उसकी माता बालक की जिह्वा जिस प्रकार कोमल होकर स्पष्ट उच्चारण कर सके वैसा उपाय करे।" इस वाक्य-रचना से स्पष्ट है कि यहाँ तक शिक्षा देना विशेषतः माता का कर्त्तव्य है। इससे आगे क्रिया बहुवचनान्त है, जिससे स्पष्ट है कि वहाँ उल्लिखित बातों की शिक्षा देना बहुतों का कर्त्तव्य है। माता-पिता की ऐसी मिथ्या लज्जा के कारण कई बार सन्तानों का सर्वनाश होते देखा गया है। बच्चे दूसरे लोगों से सुनकर वा कुसंग में पड़कर कई बुरी आदतों का शिकार हो जाते हैं। बड़े होकर उनसे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। प्रारम्भ से ही इन बातों की ओर ध्यान दिया जाए और बुरी आदतों से बचाने के लिए बच्चों को समय-समय पर टोका जाता रहे तो भविष्य में उनके लिए हितकर सिद्ध होता है। इसलिए यदि बच्चा उपस्थेन्द्रिय को हाथ लगावे तो उसके हितैषी बड़ों का कर्त्तव्य है कि उसे वैसा करने से रोकें और भविष्य में ऐसा न करने की शिक्षा देवें।

देवनागरी अक्षर—"इक्ष्वाकु के समय में लोग अक्षर, स्याही आदि लिखने की रीति को प्रचार में लाये, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि इक्ष्वाकु के समय में वेद को बिल्कुल कण्ठस्थ करने की रीति कुछ-कुछ बन्द होने लगी थी। जिस लिपि में वेद लिखे जाते थे, उसका नाम देवनागरी, ऐसा है। कारण ? देव अर्थात् विद्वान् इनका जो नगर ऐसे विद्वान् नागर लोगों ने अक्षर द्वारा अर्थ-संकेत उत्पन्न करके ग्रन्थ लिखने का

https://t.me/arshlibrary

प्रचार आरम्भ किया।" (पूना-प्रवचन—नवम)

देवनागरी वर्णमाला बड़ी पूर्ण है। प्रत्येक उच्चारण या ध्वनि के उसमें छोटे-से-छोटे खण्ड कर दिये गये हैं—जिनके फिर टुकड़े नहीं हो सकते। स्वर और व्यंजन अलग-अलग छाँटकर उन्हें बड़ी स्वाभाविक और वैज्ञानिक रीति से वर्गों में बाँटा गया है। एक ध्वनि का एक ही चिह्न है और एक चिह्न की एक ही ध्वनि है। संसार के किसी भी देश की वर्णमाला में यह पूर्णता नहीं मिलेगी। पाँच वर्ष का बालक इस लिपि को अनायास ग्रहण कर सकता है।

अन्य भाषाओं के अक्षर भी—ग्रन्थकार के मत में बालक की आरम्भिक शिक्षा उसकी अपनी मातृभाषा में होनी चाहिए। कालान्तर में वह संसार की जितनी भाषाएँ सीख सके, सीखे। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में ग्यारहवें समुल्लास में उन्होंने लिखा है—

"मुसलमान की भाषा पढ़ने में अथवा देश की कोई भाषा पढ़ने में कुछ दोष नहीं होता, किन्तु गुण ही होता है। **'अपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दज्ञाने धर्मः'** यह व्याकरण-महाभाष्य का वचन है। इसका यह अभिप्राय है कि अपशब्द का ज्ञान अवश्य करना चाहिए, अर्थात् सब देश-देशान्तर की भाषा को पढ़ना चाहिए, क्योंकि उनके पढ़ने से बहुत व्यवहारों का ज्ञान होता है। जितने देशों की भाषा जानै, उतना ही पुरुष को अधिक ज्ञान होता है।" (पृष्ठ ४६७)

पूना में उन्होंने अपने द्वादश प्रवचन में कहा है—

"देखो, विदुर, युधिष्ठिर, भीष्म आदि बहुत-सी भाषाओं के जाननेवाले थे। वे पश्चिम की बहुत-सी भाषाओं को बोल सकते थे। 'लाख' के घर का भेद विदुर ने युधिष्ठिर को बर्बर देश की भाषा में बतला दिया था। वह भाषा युधिष्ठिर को आती थी। इसके कारण पाण्डव लाख के घर में जलने से बच गये थे।"

शुद्धोच्चारण—वेदाङ्गों में प्रथम अङ्ग शिक्षा है। इसी को ग्रन्थकार ने 'वर्णोच्चारणशिक्षा' के नाम से अभिहित किया है। वर्णों के उच्चारण में वर्णों को बोलने के स्थान तथा प्रयत्न का विशेष महत्व है। कण्ठ, तालु आदि के रूप में वर्णों के बोलने के आठ स्थान हैं। **'अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च'।** शिक्षा० १३। प्रयत्न दो प्रकार का होता है। आभ्यन्तर तथा बाह्य। आभ्यन्तर प्रयत्न पाँच प्रकार का तथा बाह्य प्रयत्न ११ प्रकार का होता है। शुद्ध उच्चारण के लिए सभी वर्णों के स्थान-प्रयत्न नियत हैं। अन्यथा बोलने पर निश्चय ही अशुद्ध उच्चारण होगा। उदाहरणार्थ— स, श, ष इन तीनों वर्णों का स्थान क्रमशः दन्त, तालु व मूर्धा हैं। इसी आधार पर इनका नाम क्रमशः दन्त्य, तालव्य व मूर्धन्य है। इसका ध्यान न रखकर कुछ लोग 'शेर' को 'सेर', 'शान्ति' को 'सान्ति', 'शास्त्री' को 'सास्त्री' (सास्त्री=वह स्त्री), 'ऋषि' को 'रिसि' अथवा 'नाश' को 'नास' बोलते हैं। 'नमस्कार' को 'नमश्कार' भी बोलते देखे जाते हैं।

सामान्य व्यवहार में प्रचलित 'ज्ञान' को 'ग्यान', 'यज्ञ' को 'यग्य' बोलना अशुद्ध है। ये दोनों शब्द 'ज्ञ्+ञान' तथ 'यज्+ञ' के मेल से बने हैं, अतः इनका उच्चारण इस प्रकार होना चाहिए जिसमें उक्त दोनों ध्वनियाँ स्पष्ट सुनाई पड़ें। पुरानी पीढ़ी अथवा पौराणिक परम्परा के पण्डित **'सहस्रशीर्षा पुरुषः'** को 'सहस्रशीर्खा पुरुखः' कहते हैं, जो सर्वथा अशुद्ध है। उत्तरप्रदेशनिवासी 'स्कूल' को 'इस्कूल' और पंजाब व हरियाणानिवासी 'सकूल' बोलते हैं। उच्चारणदोष के कारण हरियाणा के शिक्षामन्त्री के मुख से 'प्रदेश' को 'परदेस' और बिहार के उपशिक्षामन्त्री के मुख से 'स्पष्ट' को 'अस्पष्ट' सुनकर लोग दाँतों तले अंगुली दबाकर रह गये। 'प्रधान', 'धर्म', 'श्रद्धा', 'परन्तु', 'प्रचोदयात्', 'परासुव', 'मन्त्र' को 'परधान', 'धरम',

https://t.me/arshlibrary

विद्वान्, अतिथि, राजा-प्रजा, कुटुम्ब, बन्धु, भगिनी, भृत्य आदि से कैसे-कैसे वर्त्तना, इन बातों के मन्त्र, श्लोक, सूत्र, गद्य-पद्य[1] भी अर्थसहित कण्ठस्थ करावें। जिससे सन्तान किसी धूर्त्त के बहकाने में न आवें। और जो-जो विद्याधर्मविरुद्ध भ्रान्तिजाल में गिरानेवाले व्यवहार हैं, उनका भी उपदेश कर दें, जिससे भूत-प्रेत आदि मिथ्या बातों का विश्वास न हो।

'सरधा', 'प्रन्तु', 'परचोदयात्', 'प्रासुव', 'मन्तर' कहना तो सामान्य बात है। इस प्रकार के अशुद्ध उच्चारण से बचने के लिए वर्णोच्चारणशिक्षा को वेदाङ्गों में प्रथम स्थान दिया है। वस्तुतः वर्णों का शुद्ध उच्चारण व्याकरण के जाने बिना सम्भव नहीं। इसीलिए कहा है—

यद्यपि नाधीषे बहु तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो माभूत् शकलं सकलं सकृत् शकृत्॥

अशुद्ध उच्चारण से निःसृत शब्द को महाभाष्यकार पतञ्जलि ने दुष्ट शब्द कहा है। इसके विपरीत स्थान और प्रयत्न के ठीक योग से उच्चारित शब्द को 'साधु' कहा है। 'दुष्टशब्द'—चाहे उदात्तादि स्वरदोष के कारण हो और चाहे किसी वर्ण के अन्यथा प्रयोग के कारण हो, वक्ता के उपहास और अपमान का कारण होता है। महाभाष्य में उसे **'वाग्वज्र'** की संज्ञा दी है। मानो दुष्ट शब्द का उच्चारण वक्ता की हत्या कर देता है। स्वजन (अपने प्रिय बन्धु) को श्वजन (कुत्ता) कहनेवाले की पिटाई हुए बिना न रहेगी। सकल शब्द सम्पूर्ण का बोधक है, किन्तु यदि उसमें दन्त्य सकार के स्थान पर तालव्य शकार का उच्चारण किया जाए तो वह खण्ड का वाचक हो जाता है। ऐसे ही 'सकृत्' और इस रूप में दन्त्य सकार के उच्चारण से 'एक बार किया' और उसी को तालव्य उच्चारण करने से विष्ठा का बोध होता है। शब्दों का उच्चारण यथावत् करने से ही ठीक-ठीक अर्थ का बोध होता है। इसलिए माता-पिता को चाहिए कि प्रारम्भ से ही बालक को शुद्ध उच्चारण की शिक्षा देने लगें। अशुद्ध उच्चारण का अभ्यास हो जाने पर ठीक करना अत्यन्त कठिन है।

शिष्टाचार—इस विषय में ग्रन्थकार ने स्वरचित व्यवहारभानु में लिखा है—"वे (माता-पिता वा आचार्य) अपने सन्तान को अच्छी भाषा बोलने, खाने-पीने, उठने-बैठने, वस्त्र धारण करने, माता-पिता आदि का मान्य करने, उनके सामने यथेष्टाचारी होने, विरुद्ध चेष्टा न करने आदि के लिए प्रयत्न से नित्यप्रति उपदेश किया करें और जैसे-जैसे उसका सामर्थ्य बढ़ता जाए वैसी-वैसी उत्तम बातें सिखाते जाएँ।..... जो अपने सामने यथा-तथा बकने, निर्लज्ज होने, व्यर्थ चेष्टा करने आदि बुरे कर्मों से हटाकर विद्या आदि शुभगुणों के लिए उपदेश नहीं करते, न तन-मन-धन लगाके उत्तम विद्या-व्यवहार का सेवन कराकर अपने सन्तानों को सदा श्रेष्ठ करते जाते हैं, वे माता-पिता और आचार्य कहाकर धन्यवाद के पात्र कभी नहीं हो सकते। जो बुरी चेष्टा देखकर लड़कों को न घुड़कते और न दण्ड देते हैं वे क्योंकर माता-पिता व आचार्य हो सकते हैं ?"

अनुकरण और जिज्ञासा—बालक में अनुकारण करने की तथा जिज्ञासा की जन्मजात दो सामान्य वृत्तियाँ होती हैं। इसलिए माता-पिता को चाहिए कि वे अपना आचरण और व्यवहार इतना पवित्र रक्खें कि उनका अनुकरण करके बालक वैसा ही पवित्रात्मा बन सके। इसी प्रकार बालक द्वारा की गयी प्रत्येक

---

१. पद्य शब्द श्लोक का वाचक होने से पुनरुक्त-सा प्रतीत होता है, परन्तु प्राचीन ग्रन्थों में श्लोक शब्द ३२ अक्षरोंवाले पद्यों के लिए ही प्रयुक्त होने से यहाँ पद्य शब्द से सभी पादबद्ध वचनों का ग्रहण जानना चाहिए।

https://t.me/arshlibrary

जिज्ञासा का समुचित उत्तर देना माता-पिता का कर्त्तव्य है। बालक की जिज्ञासा की उपेक्षा करके उसे टालना ठीक नहीं। उसकी छोटी-बड़ी प्रत्येक जिज्ञासा का समाधान होने से बालक के बौद्धिक एवं व्यावहारिक विकास में सहायता मिलती है।

शिक्षा का माध्यम—सभी शिक्षाशास्त्री इस विषय में एक मत हैं कि प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा ही होनी चाहिए, तभी विद्यार्थी की मौलिक प्रतिभा और योग्यता का विकास हो सकता है। विदेशी भाषा में मौलिक चिन्तन करना सम्भव नहीं है। अपनी स्वाभाविक भाषा में सोच-सोचकर विदेशी भाषा में अनुवाद कर-करके बोलने और लिखने में पर्याप्त समय नष्ट हो जाता है। विद्यार्थी की सम्पूर्ण शक्ति विदेशी भाषा के सीखने में लग जाती है। विषय की गहराई में जाने का उसके पास अवकाश ही नहीं रहता। भरतीय विद्यार्थी के अपने अध्ययन का आधे से अधिक समय अंग्रेजी सीखने में लगाने के बाद भी उसमें इतनी क्षमता उत्पन्न नहीं होती कि वह पाठ्यक्रम में निर्धारित विषयों को भली प्रकार हृदयङ्गम कर सके। भारत के भूतपूर्व केन्द्रीय शिक्षामन्त्री प्रोफेसर नूरुलहसन ने १८ मई १९७५ को नई दिल्ली में बाबू श्यामसुन्दरदास शताब्दी समारोह में कहा था—"हम अब भी पूरी तरह न अंग्रेजी बोल सकते हैं और न समझ सकते हैं। जब मैं अलीगढ़ यूनिवर्सिटी में इतिहास का प्राध्यापक था तो ५ मिनट अंग्रेजी में बोलकर १० मिनट तक हिन्दी में समझाता था। मानवीय (Humanities) की अपेक्षा विज्ञान (Science) को हिन्दी में पढ़ाना आसान है। ७० प्रतिशत अंक लेकर मेडिकल कालिज में प्रवेश पानेवाले विद्यार्थी Gray's Anatomy न समझ सकने के कारण फ़ेल हो जाते हैं। अंग्रेजी पढानेवालों को भी अंग्रेजी नहीं आती। सरकारी रिपोर्टों के अनुसार हमारा आधे से अधिक समय माध्यम सीखने में लग जाता है। विषय की पढाई के लिए समय बचता ही कहाँ है ?"

अंग्रेजी के द्वारा हम विदेशों—इंग्लैंड, अमरीका, रूस आदि की राजनीति, अर्थशास्त्र, वाणिज्यशास्त्र एवं समाजशास्त्र से सम्बन्धित समस्याओं से तो परिचित हो जाते हैं, पर इन्हीं विषयों से सम्बन्धित अपने देश की समस्याओं से परिचित नहीं हो पाते, परिणामतः कृषिविज्ञान आदि के सम्बन्ध में जो निष्कर्ष अमरीका आदि ने अपने देश की धरती पर परीक्षण करके निकाले हैं, वही हम अपने देश की धरती पर आरोपित करना चाहते हैं। वस्तुतः यह विकास अपनी भाषाओं को माध्यम बनाकर ही हो सकता है।

भाषा स्वयं साध्य नहीं है। वह विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम है। भाषा से जुड़े साहित्य में समाज की आत्मा—उसकी संस्कृति, सभ्यता, इतिहास, परम्परा, शिष्टाचार आदि सुरक्षित रहते हैं। हमारे देश की आध्यात्मिकता एवं नैतिकता का किसी विदेशी भाषा के साहित्य व संस्कृति से सामंजस्य नहीं होता, अतः वर्तमान शिक्षाप्रणाली में शिक्षित-दीक्षित व्यक्ति में इन गुणों का विकास होकर अपने माता-पिता, गुरुजन, परिवार, समाज या राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व की भावना का विकास नहीं हो रहा है।

ग्रन्थकार ने यहाँ हिन्दी-(आर्य)-भाषा का उल्लेख न करके देवनागरी लिपि पर बल दिया है। यह उनकी दूरदर्शिता तथा उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण का परिचायक है। देवनागरी लिपि में वे सभी गुण हैं जो एक वैज्ञानिक लिपि में होने चाहिएँ। लिपि का कार्य भावों का अंकन करना है। इस दृष्टि से संसार की कोई भी लिपि देवनागरी से अच्छी सिद्ध नहीं हो सकती। केवल देवनागरी लिपि की ही यह विशेषता है कि उच्चारण के अनुरूप उसके लिपिचिह्न हैं। रोमन में Kamini को कोई कामिनी और कमीनी दोनों प्रकार से पढ़ सकता है। देवनागरी में ऐसा दोष उपपन्न नहीं होता। अध्यापक विद्यार्थी से यदि 'वीक' लिखने को कहता है तो विद्यार्थी अध्यापक से यह जानना चाहेगा कि कौन-सा वीक लिखूँ ? सप्ताह का वाचक Week या कमज़ोर का अर्थ देनेवाला Weak। इसी प्रकार 'पीस' लिखने का आदेश मिलने पर जानना चाहेगा कि वह 'टुकड़ा' अर्थ देनेवाला piece लिखे या शान्ति का वाचक peace लिखे। 'देखना' अर्थ का

https://t.me/arshlibrary

[भूत-प्रेत शब्द का अर्थ]

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन् ।
प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुध्यति ॥ —मनु० ५।६५

अर्थः—जब गुरु का प्राणान्त हो, तब मृतक-शरीर जिसका नाम **'प्रेत'** है, उसका दाह करनेहारा शिष्य प्रेतहार अर्थात् मृतक को उठानेवालों के साथ दशवें दिन शुद्ध होता है ॥

वाचक scc लिखे या 'समुद्र' का वाचक sea । लिपि का सम्बन्ध उच्चारण से होता है, अर्थ से नहीं । देवनागरी लिपि भारत की प्रत्येक भाषा को उसके उच्चारण के अनुरूप लिखने में समर्थ है ।

देवनागरी से सभी भारतीय लिपियों की समानता के कारण प्रत्येक प्रान्त का व्यक्ति, जिसने अपनी भाषा की लिपि सीख रखी है, थोड़े-से प्रयत्न से देवनागरी सीख सकता है । यद्यपि देवनागरी लिपि उत्तर भारत में अधिक प्रचलित है, पर दक्षिण भारत में भी कुछ स्थानों पर उसके आठवीं शताब्दी में प्रचलन का प्रमाण मिलता है । दक्षिण में वह नन्दी नागरी के नाम से प्रचलित थी । संस्कृत सदा से भारत की एकता का प्रतीक रही है और भारत की प्रत्येक भाषा का व्यक्ति संस्कृत को प्रायः देवनागरी के माध्यम से ही पढ़ता है । इस प्रकार देवनागरी का प्रचलन प्रायः सम्पूर्ण देश में है । वह केवल हिन्दी की लिपि नहीं है । मराठी तो लिखी ही देवनागरी अक्षरों में जाती है । गुजराती मुख्यतः देवनागरी ही है । बंगला और पंजाबी भी देवनागरी से काफी मिलती हैं । भारत के पड़ौसी देश नेपाल की भाषा नैपाली की लिपि पूरी तरह देवनागरी ही है ।

वस्तुतः दयानन्द की दिव्यदृष्टि देवनागरी में भारत की एकता के दर्शन करती थी । भारतीय भाषाओं में इतनी समानता है कि यदि इन सबको देवनागरी लिपि में लिख दिया जाए और देवनागरी सबको पढ़ा दी जाए तो किसी भी भाषा के प्रान्त में जाकर किसी भी भारतीय को अपना काम चलाने में कठिनाई न हो । यदि रोमन जैसी ध्वनिविज्ञान (Phonatics) की दृष्टि से दोषपूर्ण लिपि पारस्परिक सम्पर्क में सुविधा उत्पन्न कर सकती है तो देवनागरी जिसमें उच्चारण के अनुसार भाषा लिखने का पूर्ण सामर्थ्य है, देश को एकता के सूत्र में क्यों नहीं बाँध सकती ?

देवनागरी का ज्ञाता प्रत्येक व्यक्ति दूसरी भाषा के साहित्य को आसानी से पढ़ सकेगा । इस प्रकार प्रत्येक भाषा का पाठक दूसरी भाषाओं में उपलब्ध साहित्य से लाभान्वित होगा । इससे विभिन्न भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलेगा और सभी भाषाओं का शब्द-भण्डार समृद्ध होगा ।

देवनागरी लिपि और आर्यभाषा (हिन्दी) के समर्थक होते हुए भी ग्रन्थकार किसी भाषा से द्वेष नहीं करते थे । जितनी अधिक भाषाएँ कोई सीख सके उतना अच्छा है । उनका भाषाविषयक दृष्टिकोण जोधपुराधीश को ८ सितम्बर १८८३ को लिखे गये पत्र से स्पष्ट हो जाता है । उन्होंने लिखा था—"महाराजकुमार को प्रथम देवनागरी भाषा (हिन्दी) और पुनः संस्कृतविद्या, जोकि सनातन आर्षग्रन्थ हैं, जिनके पढ़ने में परिश्रम कम और समय कम होवे और महालाभ हो, इन दोनों को पढ़े । पश्चात् यदि समय हो तो अंग्रेजी भी पढ़ानी चाहिए ।" इसका अभिप्राय है कि वे अंग्रेजी की अनिवार्यता और उसे शिक्षाक्रम में प्राथमिकता प्रदान किये जाने के विरोधी थे, भाषा के रूप में उसके पढ़ाये जाने के विरोधी नही थे ।

प्रेत—मनुस्मृति से उद्धृत श्लोक ग्रन्थकार ने केवल 'प्रेत' शब्द का अर्थ दर्शाने के लिए दिया है, दशरात्र में शुद्ध होना उन्हें इष्ट नहीं है । मृतक का शरीर ही 'प्रेत' कहाता है । मनुस्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार कुल्लूकभट्ट ने **'प्रेतस्य'** का अर्थ **'मृतस्य'** ही किया है । 'वेदान्तपरिभाषा' (विषयपरिच्छेद) में

https://t.me/arshlibrary

और जब उस शरीर का दाह हो चुका, तब उसका नाम **'भूत'** होता है, अर्थात् वह अमुकनामा पुरुष था। जितने उत्पन्न हों, वर्त्तमान में आके न रहें, वे भूतस्थ[1] होने से उनका नाम **'भूत'** है। ऐसा ब्रह्मा से लेके आज पर्यन्त के विद्वानों का सिद्धान्त है, परन्तु जिसको शङ्का, कुसंग, कुसंस्कार होता है, उसको भय और शङ्कारूप भूत-प्रेत, शाकिनी-डाकिनी आदि अनेक भ्रमजाल दुःखदायक होते हैं।

लिखा है—"**न चैव सुप्तस्य प्रेतादविशेषः**" अर्थात् इस दशा में सुप्त मनुष्य की प्रेत=मरे हुए से समानता नहीं है। मृतदेह का दहन कर देना ही पितृमेध है। पिण्डदान आदि का कोई संकेत उक्त श्लोक में नहीं है।

भूत-प्रेत—इस विषय में प्रथम संस्करण में इतना और लिखा है—"जब भूत-प्रेतादिकों की बात सुनके उनके हृदय में मिथ्या भय हो जाता है, तब किसी समय में अन्धकार होने से शृगाल आदि पशु-पक्षी और मूषक-मार्जार आदिक अथवा चोर वा अपने शरीर की छाया देखने से शृगाल आदिकों के भागने का शब्द सुनके अपने हृदय में पूर्व सुनने के संस्कार होने से भूत-प्रेतादिकों का अत्यन्त विश्वास होने से भयभीत होके कम्प और ज्वरादिक होते हैं।... वैद्यक शास्त्र में बहुत-से मानस रोग लिखे हैं। वे जब होते हैं तब उन्मत्त होके अन्यथा चेष्टा मनुष्य करता है। तब निर्बुद्धि लोग जानते और कहते हैं कि इसके शरीर में भूत वा प्रेत आ गया है।"

जीवात्मयुक्त शरीर की संज्ञा प्राणी है। जीवात्मा का अपर नाम शरीरी है, क्योंकि प्रलयकाल तथा मोक्षावस्था को छोड़कर वह बिना शरीर के नहीं रहता। एक शरीर का परित्याग करने पर जीव अपने कर्मानुसार दूसरे शरीर को धारण कर लेता है। एक शरीर से निकलकर दूसरे शरीर में जाने में कितना समय लगता है, इसका निर्देश करते हुए बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है—

"**तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति ॥**" ४।४।३

लोक में प्रसिद्ध है कि तृणजलायुक (सुण्डी) नाम की एक अंगुष्ठभर की छोटी-सी पिपीलिका एक तिनके के अन्तिम छोर पर पहुँचकर दूसरे तिनके पर जाने की इच्छा करती हुई प्रथम उस दूसरे तिनके को अपने अग्र भाग से दृढ़ता से पकड़कर अपने शरीर के पिछले भाग को खींचकर अग्रिम स्थान पर खींचती हुई चलती है। ठीक इसी प्रकार यह आत्मा गृहीत जीर्ण शरीर को निश्चेष्ट कर दूसरे देहरूपी आश्रय को पकड़ने के बाद ही अपने उस शरीर को छोड़ता है। स्थूलशरीर के बिना कर्तृत्व-भोक्तृत्व सम्भव नहीं, अतः असुनेता परमेश्वर की व्यवस्था में यह आत्मा तृणजलायुकावत् एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को ग्रहण कर लेता है।

ऐतरेय उपनिषद् (४।४) के अनुसार यहाँ से मरते ही पुनः शरीर धारण कर लेता है—"**स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते।**" महाभारत में कहा है—

आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्रायं कलेवरम्।
सम्भवत्येव युगपद् योनौ नास्त्यन्तराभावः ॥ —वनपर्व १८३।७७

अर्थात् आयु पूर्ण होने पर आत्मा अपने जरा-जर्जर शरीर का परित्याग करके उसी क्षण किसी दूसरे शरीर में प्रकट होता है। एक शरीर को छोड़ने और दूसरे शरीर को ग्रहण करने के मध्य में उसे क्षणभर

---

१. अर्थात् भूतकालस्थ।

https://t.me/arshlibrary

[उन्माद आदि रोगों का भूत-प्रेतादि नाम धरना]

देखो, जब कोई प्राणी मरता है, तब उसका जीव पाप-पुण्य के वश होकर परमेश्वर की व्यवस्था से सुख-दुःख के फल भोगने के अर्थ जन्मान्तर धारण करता है। क्या इस अविनाशी परमेश्वर की व्यवस्था का कोई भी नाश कर सकता है ? अज्ञानी लोग वैद्यकशास्त्र वा पदार्थविद्या के पढ़ने-सुनने और विचार से रहित होकर सन्निपातज्वरादि शारीरिक, और उन्मादादि मानस रोगों का नाम भूत-प्रेतादि धरते हैं। उनका औषध-सेवन और पथ्यादि उचित व्यवहार न करके उन धूर्त, पाखण्डी, महामूर्ख, अनाचारी, स्वार्थी, भंगी-चमार-शूद्र-म्लेच्छादि पर भी विश्वासी होकर अनेक प्रकार के ढोंग, छल-कपट, और उच्छिष्ट भोजन, डोरा-धागा आदि मिथ्या मन्त्र-यन्त्र बाँधते-बाँधवाते फिरते हैं। अपने धन का नाश, सन्तान आदि की दुर्दशा, और रोगों को बढ़ाकर दुःख देते फिरते हैं।

का समय भी नहीं लगता।

एक शरीर से निकालकर दूसरे शरीर में पहुँचानेवाला परमेश्वर है। इसलिए उसे 'असुनेता' अर्थात् प्राणों को ले-जानेवाला कहते हैं। इस प्रकार दिवंगत आत्मा को स्वेच्छापूर्वक कहीं भी विचरण करने अथवा स्वेच्छापूर्वक तथोक्त भूत-प्रेत नामवाली योनियों में जाने का अवसर ही उपपन्न नहीं होता।

यहाँ **'गुरोः प्रेतस्य'** इत्यादि श्लोक को उद्धृत करने का प्रयोजन केवल यह बताना है कि मनु के अनुसार 'प्रेत' शब्द से कोई योनिविशेष अभिप्रेत नहीं है। इसका अर्थ शव या मुर्दा शरीर है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। **'प्रेतहारैः'** का अर्थ 'प्रेत को उठानेवालों के साथ' है। यदि इससे किसी योनिविशेष का ग्रहण किया जाए तो क्या शिष्य और दूसरे लोग गुरु की उस योनि को उठाकर ले-चलेंगे ? यह अर्थ सर्वथा असंगत होगा। ऐसा अर्थ करने पर यह भी मानना पड़ेगा कि प्रत्येक गुरु को प्रेत बनना अर्थात् प्रेतयोनि में जाना पड़ता है। 'भूत' शब्द भू धातु का 'क्तान्त' रूप है, जिसका सीधा अर्थ है 'हो चुका' अर्थात् जो होकर न रहे, उसकी संज्ञा-भूत है। भूत-प्रेत आदि नामों से योनिविशेष की कल्पना धूर्त लोगों ने भोले-भाले लोगों को ठगकर अपना-अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए की है, इसकी सिद्धि मैत्र्युपनिषद् के निम्नलिखित सन्दर्भ से होती है—

अथ ये चान्ये यक्षराक्षसभूतगणपिशाचोरगग्रहादीनामर्थं पुरस्कृत्य 'शमयाम' इत्येवं ब्रुवाणा अथ ये चान्येह वृथा कषायकुण्डलिनः कापालिनोऽथ ये चान्ये ह वृथा तर्कदृष्टान्तकुहकेन्द्रजालैर्वैदिकेषु परिस्थातुमिच्छन्ति तैः न संवसेत् प्रकाशभूता वै ते तस्करा अस्वर्ग्या इति ॥ ७।८

टीका—ग्रहादीनामिति कर्मणि षष्ठी। अर्थं पुरस्कृत्य धनादिकं स्वजीवनमुद्दिश्य ये यक्षादीन् प्राणिपीडकान् शमयाम उच्चाटनादिभिर्निवारयाम इत्येवं ब्रुवाणा मन्त्रयन्त्रपरा इत्यर्थः।

अर्थात् जो लोग जनता को ठगने के लिए यक्ष, राक्षस, भूतगण, पिशाच, ग्रहादिकों की 'मन्त्र-यन्त्र द्वारा हम शान्ति करते हैं' ऐसा कहते हैं उनका संग नहीं करना चाहिए। वे चोर हैं, अस्वर्ग्य हैं।

यह ठीक है कि वेदादि शास्त्रों में इस प्रकार के मन्त्र, श्लोक आदि विद्यमान हैं, जिनमें राक्षस, पिशाच आदि का उल्लेख हुआ है। मनुस्मृति आदि अनेक आर्षग्रन्थों में राक्षस, गन्धर्व आदि का वर्णन उपलब्ध है। आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ सुश्रुत (सूत्रस्थान अध्याय ११) में भूतविद्या, असुर, राक्षस, पिशाच आदि का विस्तार से विवेचन हुआ है, परन्तु उनमें उपलब्ध वर्णन वर्त्तमान में लोगों में प्रचलित धारणाओं से मेल नहीं खाता। इसलिए उक्त नामों से प्रसिद्ध भूत, राक्षस आदि के वास्तविक स्वरूप को समझना आवश्यक है। शास्त्रों में जिन नामों से प्रायः उनका उल्लेख हुआ है, वे हैं—राक्षस, पिशाच, किमीदिन, दुर्णामा, नाष्ट्र, निशाचर, नक्तंचर, यातुधान, प्रेत आदि।

https://t.me/arshlibrary

इनके विषय में प्रायः यह विश्वास किया जाता है कि ये योनिविशेष के प्राणी हैं और इनका रूप व आकार बड़ा भयंकर होता है। उनका काम यज्ञों का विध्वंस करना और अदृश्यरूप में अन्य प्राणियों के शरीर में अनजाने प्रवेश पाकर उनका रक्तपान करके मांसभक्षण करना और अन्ततः उनके प्राण हर लेना है।

परन्तु शास्त्रों के अध्ययन से पता चलता है कि राक्षस, पिशाच आदि मानव-काया में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न करनेवाले विषैले कृमियों तथा दुष्ट मनुष्यों के सिवा कुछ नहीं हैं। ये शब्द प्रायः नीचे लिखे अर्थों के वाचक हैं—

रक्षस्—**रक्षयते अस्मात्** (अपादाने असुन्) अर्थात् इससे बचा जाता है। निरुक्तकार कहते हैं—**'रक्षो रक्षितव्यमस्माद् रहसि क्षणोतीति वा रात्रौ नक्षते इति वा'** (४।१८) इससे अपने आपको बचाना चाहिए, एकान्त में मार डालता है, रात्रि में चलता है।

पिशाचः—**पिशितमश्नाति इति**—मांस खाता है, अतः पिशाच कहाता है।

यातुधानः—**यातु (गन्ता) धीयते (अभिधीयते) इति यातुधानः**। यह चलनेवाला कहा जाता है, इससे यातुधान है। अथवा—**यातनां दुःखं दधातीत यातुधानः**—जो पीड़ा पहुँचाते हैं, वे यातुधान कहलाते हैं।

किमीदिनः—**किमिदिनीमिति चरते**—निरुक्त ६।११; **किमिदानीं किमिदानीं वर्त्तते इति रन्ध्रान्वेषणबुद्धयाचरणशीलाः** (सायण) —जो छिद्रान्वेषण बुद्धि से रहते हैं, वे किमीदिन हैं।

नक्तंचर-निशाचर—जो रात्रि में विचरण करते हैं, वे नक्तंचर या निशाचर हैं।

इन अर्थों से स्पष्ट है कि ये नाम किसी योनिविशेष के वाचक न होकर जीवों की प्रकृति के बोधक हैं।

राक्षस, पिशाच आदि क्रिमियों के नाम हैं, इसमें वेद की साक्षी है। अथर्ववेद के आठवें काण्ड का छठा सूक्त विशेषरूप से राक्षसों, पिशाचों आदि का वर्णन करता है। इस सूक्त के पहले ही मन्त्र में 'दुर्णामा' शब्द आता है। 'दुर्णामा' को सूक्त के शेष मन्त्रों में गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, यातुधान आदि कहा गया है। 'दुर्णामा' क्या है, यह निरुक्त ६।१२ में बताया है—**'दुर्णामा क्रिमिर्भवति'** अर्थात् दुर्णामा क्रिमियों को कहते हैं। इस विषय में Myths of Babylonia and Assyria by Donald A. Mackenzie में लिखा है—"Germs of diseases were depicted by lively imaginations as invisible demons who derived nourishment from the human body."

— Page 234.

अर्थात्—रोगों के क्रिमियों की अदृश्य राक्षसों के रूप में कल्पना की गयी। ये राक्षस मानव शरीर से पोषण पाते थे।

रोग के क्रिमियों का नाश करनेवाले वैद्य को वेद में 'रक्षोहा'=राक्षसों (क्रिमियों) का संहार करनेवाला कहा गया है। तद्यथा—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समितामिव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहाऽमीवचातनः॥—ऋ०१०।९७।६

अर्थात्—जिस प्रकार राजा लोग युद्ध में एकत्र होते हैं, उसी प्रकार जिसके पास सब ओषधियाँ एकत्र होती हैं, उस विद्वान् का नाम भिषग् या वैद्य होता है। वही विद्वान् राक्षसों=रोगक्रिमियों का हनन करनेवाला और इस प्रकार रोगों को दूर करनेवाला होता है।

यहाँ स्पष्ट ही वैद्य को 'रक्षोहा' कहा है। वैद्य जिन राक्षसों का नाश करता है, वे रोगोत्पादक क्रिमि ही हो सकते हैं, विशालकाय और भयंकर आकृतिवाले तथाकथित राक्षस नहीं। इसी प्रकार जिन पदार्थों

https://t.me/arshlibrary

[भूत-प्रेत-निवारणार्थ ढोंग]

जब आँख के अन्धे और गाँठ के पूरे उन दुर्बुद्धि पापी, स्वार्थियों के पास जाकर पूछते हैं कि—"महाराज! इस लड़का-लड़की, स्त्री और पुरुष को न जाने क्या हो गया है ?" तब वे बोलते हैं कि "इसके शरीर में बड़ा भूत-प्रेत, भैरव, शीतला आदि देवी आ गई है। जब तक तुम इसका उपाय न करोगे, तब तक ये न छूटेंगे, और प्राण भी ले लेंगे। जो तुम मलीदा वा इतनी भेंट दो, तो हम मन्त्र-जप-पुश्चरण से झाड़के इनको निकाल दें।" तब वे अन्धे और उनके सम्बन्धी बोलते हैं कि —"महाराज ! चाहे हमारा सर्वस्व जाओ, परन्तु इनको अच्छा कर दीजिए"। तब तो उनकी बन पड़ती है।

को 'रक्षोघ्न' कहा गया है, वे भी राक्षसों=क्रिमियों को मारनेवाले ही हैं। उनमें एक सूर्य (=इन्द्र) है जिसे अनेकत्र राक्षसों का संहार करनेवाला कहा गया है। सूर्य का प्रकाश व उसकी रश्मियाँ (Sun rays) निर्विवादरूप से क्रिमिनाशक (germicide) हैं। इसे आधुनिक विज्ञान भी स्वीकार करता है। कुछ समय के लिए नियमितरूप से सूर्याभिमुख बैठना अथवा धूप में बैठना स्वास्थ्य के लिए हितकर बताते हुए ऐसे मकान बनाने का निर्देश किया गया है, जिनमें किसी-न-किसी समय अनिवार्यरूप से धूप का प्रवेश होता हो। ऋग्वेद (१।१६१।८) में क्हा है—

उत्पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा।
अदृष्टान्त्सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्यः॥

अर्थात् समस्त अदृष्ट क्रिमियों तथा पीड़ा पहुँचानेवाले यातुधानियों (क्रिमियों) को नष्ट करता हुआ विश्व को देखनेवाला सूर्य पूर्व दिशा से उदय होता है। अथर्ववेद (२।३२।१) में कहा है—

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः।
येऽन्तः क्रिमयो गवि॥

उदय और अस्त होता हुआ सूर्य अपनी रश्मियों से अन्तरिक्ष में विद्यमान क्रिमियों (रोगाणुओं) को नष्ट कर देता है। इसी कारण घरों को पूर्वाभिमुख बनाने का निर्देश किया गया है। उदय और अस्त होते हुए सूर्य को विशेषरूप से क्रिमियों का नाश करनेवाला इसलिए कहा है कि सायं-प्रातः सूर्य की किरणें तिरछी होने के कारण घरों के कोने-कोने में प्रवेश कर जाती हैं, जबकि मध्याह्न में किरणों के सीधा पड़ने से वे घरों के भीतर तक नहीं पहुँच पातीं। प्रातःकाल सूर्यनमस्कार (आसनविशेष) का भी यही प्रयोजन है।

शतपथब्राह्मण में कहा है—**'सूर्यो हि नाष्ट्राणां रक्षसामपहन्ता'**। —१।३।४।८

अर्थात् सूर्य दुष्ट राक्षसों का नाश करनेवाला है। इसी सिद्धान्त के आधार पर सूर्यचिकित्सा का विधान किया गया है। सूर्यस्नान तथा भिन्न-भिन्न रंग की बोतलों में पानी भरकर उसे सूर्यकिरणों से प्रभावित कर उससे चिकित्सा करना सूर्यचिकित्सा के अन्तर्गत है।

अग्नि—अथर्ववेद (१।२८।१) में कहा है—**'अग्नी रक्षोहामीवचातनः'** अर्थात् अग्नि रोगनाशक और राक्षसों को मारनेवाला है। यहाँ एक साथ राक्षसों और रोगाणुओं का उल्लेख होने से स्पष्ट है कि रोग उत्पन्न करनेवाले क्रिमियों का अपर नाम राक्षस है। ब्राह्मणग्रन्थों में भी अग्नि को राक्षसों का नाशक कहा है—

अग्निर्वै ज्योती रक्षोहा। —शत० ७।४।१।३४
अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता। —शत० १।२।१।६,९
अग्निर्वै रक्षसामपहन्ता। —कौ० ८।४।१०।३

https://t.me/arshlibrary

वे धूर्त्त कहते हैं— "अच्छा, लाओ इतनी सामग्री, इतनी दक्षिणा, देवता को भेंट, और ग्रहदान कराओ।" झाँझ-मृदंग-ढोल-थाली लेके उसके सामने बजाते-गाते। और उनमें से एक पाखण्डी उन्मत्त होके नाच-कूदके कहता है—"मैं इसका प्राण ले लूँगा।" तब वे अन्धे उस भंगी-चमार आदि नीच के पगों में पड़के कहते हैं—"आप जो चाहें सो लीजिए, इसको बचाइए।" तब वह धूर्त्त बोलता है—"मैं हनुमान् हूँ। लाओ पक्की मिठाई, तेल, सिंदूर, सवामन का रोट और लाल लंगोट। मैं देवी वा भैरव हूँ। लाओ पाँच बोतल मद्य, बीस मुर्गी, पाँच बकरे, मिठाई और वस्त्र।" जब वे कहते हैं—"जो चाहो सो लो।" तब तो वह पागल बहुत नाचने-कूदने लगता है, परन्तु जो कोई बुद्धिमान् उनकी भेंट पाँच जूता, दण्डा वा चपेटा, लातें मारे, तो उसके हनुमान्, देवी और भैरव झट प्रसन्न होकर भाग जाते हैं, क्योंकि वह उनका केवल धनादि हरण करने के प्रयोजनार्थ ढोंग है।

अग्नि के सम्पर्क में आकर उबलता हुआ जल भी क्रिमियों को नष्ट कर देता है। इसलिए दूषित वस्त्रों, बर्तनों, इंजेक्शन लगानेवाली सिरिंज आदि को पानी में उबालकर क्रिमिविहीन किया जाता है।

कोई भूत-प्रेत, राक्षस, पिशाच आदि अग्नि के समीप नहीं आता—लोक में प्रचलित इस विश्वास का मूल अग्नि की यही शक्ति है जो रोगाणुओं को पूरी तरह नष्ट कर देती है। अथर्ववेद ५।२३।१३ में कितने विश्वास के साथ कहा गया है—

सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम्।
भिनद्म्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम्॥

मैं सब नर तथा मादा रोगाणुओं का मुख अग्नि से जलाता हूँ।

इसी प्रकार तैत्तिरीयब्राह्मण (३।२।३।१२; ३।२।४।२) में जल की शक्ति का बख़ान करते हुए उसे भी राक्षसों को मारनेवाला कहा है—**'आपो वै रक्षोघ्नीः'**। जलचिकित्सा में भिन्न-भिन्न रूपों में भिन्न-भिन्न प्रकार से (कटिस्नान, वाष्पस्नान, ठण्डी-गरम पट्टियाँ, एनिमा, जलनेति, गरम पानी में पैर डुबोना आदि) जल के द्वारा ही समस्त रोगों की चिकित्सा की जाती है।

कई ओषधियों को भी राक्षसों का संहार करनेवाली बताया है। ओषधियों में अपामार्ग को अनेक रोगों को दूर करनेवाला कहा गया है। अथर्ववेद में अपामार्ग के विषय में कहा है—

अग्रमेष्योषधीनां ज्योतिषेवाभिदीपयन्।
उत त्रातासि पाकस्याथो हन्तासि रक्षसः॥ ४।१६।३

जैसे सूर्य प्रकाश से प्रदीप्त रहता है वैसे तू पाक (पकने योग्य निर्बल रोगी आदि) का रक्षक है और राक्षसों का हनन करनेवाला है।

तैत्तिरीयब्राह्मण (१।७।१।८) में अपामार्ग के होम से रोगों के क्रिमिरूप राक्षसों के नाश का उल्लेख किया है—**'यदपामार्गहोमो भवति रक्षसामपहत्यै'**, अर्थात् जो अपामार्ग का होम होता है। वह क्रिमिराक्षसों के लिए होता है। कई अन्य ओषधियों की धूनि से भी क्रिमिरूप राक्षसों का नाश करके रोगों की चिकित्सा का वर्णन आयुर्वेद के ग्रन्थों में मिलता है। उत्तरकालीन ग्रन्थों में गुग्गुल की धूनी का विशेषरूप से उल्लेख हुआ है—

पित्तलो वातमूर्द्धासि स्वररोगकफापहः। रक्षोघ्नः स्वेददौर्गन्ध्ययूका कण्डूव्रतप्रणुत्॥

—भावप्रकाश खं० १।४५

अर्थात् गन्धविरोजा पित्तकारक, वात, शिर के रोग, नेत्र के रोग, स्वर व कफ़ के रोगों का नाश

https://t.me/arshlibrary

करनेवाला है। रक्षोघ्न (राक्षसों को मारनेवाला) स्वेद, दुर्गन्ध, जूँ, खुजली तथा व्रण को ठीक करता है। इसका मूल वेद में है। अथर्ववेद १६।३८।१ में कहा है—

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते।
यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते॥

उसे यक्ष्मा रोग अवरुद्ध नहीं करते और न इसे शपथ लेने की प्रवृत्ति व्याप्त करती है, जिसे गुग्गुल औषध का सुगन्ध व्यापता है। अग्नि में जलाये गये गुग्गुल के धूम्र द्वारा यक्ष्मरोग का शमन होता है। शपथ या सौगन्ध की आदत मानसिक कमज़ोरी है। गुग्गुल की गन्ध शपथ खाने की प्रवृत्ति को कम करती है।

पीली सरसों की धूनी और उसकी गन्ध भी अनेक रोगों की ओषधि है—

अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं क्रव्यादमुत रेरिहम्।
अरायांछ्वकिष्किणो बजः पिङ्गो अनीनशत्॥ —अथर्व० ८।६।६

गन्ध लेकर हिंसा करनेवाले, स्पर्शमात्र से हिंसा करनेवाले, कच्चा मांस खानेवाले, कुत्ते के सदृश झपटनेवाले को पीली सरसों नष्ट कर देती है।

गर्भसम्बन्धी रोगों के सम्बन्ध में वेद में लिखा है—

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि॥ —अथर्व० ८।६।२३

इस मन्त्र में क्रिमिरूप ऐसे पिशाचों (कच्चा मांस खानेवालों) का उल्लेख किया है जो गर्भस्थ बच्चों को खा जाते हैं, अर्थात् बच्चा रुग्ण होकर माता के गर्भ में ही मर जाता है। अथर्ववेद ८।६।२५ में इन्हीं को **'आण्डादः'** अर्थात् अण्डों=गर्भ के मूल को खा जानेवाला कहा है। अथर्ववेद ५।२६।१० में उन्हें कच्चा मांस खानेवाले, रक्त पीनेवाले और मन की शक्ति को नष्ट करनेवाले कहा है—**'क्रव्यादग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः'**। इन राक्षसों (क्रिमियों) में कुछ ऐसे होते हैं—**'ये अम्नो जातान् मारयन्ति सूतिका अनुशेरते'** (अथर्ववेद ८।६।१६) जो प्रसूता स्त्री के पास सोते हैं और नवजात बच्चों को (रोगी बनाकर) खा जाते हैं। ऋग्वेद १०।१६२।२ में बतलाया है कि ये गर्भ और योनि में प्रवेश कर जाते हैं—**'यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये'**। पुनः १०।१६२।४ में कहा है कि ये योनि के भीतर जाकर उसे चाटते हैं और इस प्रकार स्त्री को मृतवत्सा तथा वन्ध्या बना देते हैं। उसकी चिकित्सा का निर्देश निम्न मन्त्र में किया है—

यः कृणोति मृतवत्सामवतोकामिमां स्त्रियम्।
तमोषधे त्वं नाशयास्याः कमलमञ्जिवम्॥ —अथर्व० ८।६।६

जो क्रिमि इस स्त्री को मृतवत्सा (जिसकी सन्तान मृत पैदा होती हो) और अवतोका वन्ध्या (जिसका गर्भ गिर जाता है) बनाते हैं, पीली सरसों उन्हें नष्ट कर देती है और उस स्त्री के कमलरूप गर्भ को नीरोग कर देती है।

भावप्रकाश (२।३६-३७) में कूठ, ब्राह्मी, पिप्पली आदि आठ पदार्थों को घी में पकाकर अष्टमंगल घृत तैयार करने का निर्देश किया है—

दृढस्मृतिः क्षिप्रमेधा कुमारो बुद्धिमान् भवेत्।
न पिशाचो न रक्षांसि न भूता न च मातरः।
न भवन्ति कुमाराणां पिबतामष्टमंगलम्॥

https://t.me/arshlibrary

अर्थात् उक्त अष्टमंगल घृत को नित्य प्रातःकाल पीने से बालक दृढस्मृति (स्मरणशक्तिवाला) और अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धिवाला होता है। इस घृत को पीनेवाले बालकों को न पिशाच, राक्षस या भूत सताते हैं और न वह मातृदोष (माता के कारण होनेवाले रोग) से आक्रान्त होता है।

यहाँ अष्टांग घृत को तैयार करने में जिन पदार्थों की गिनती की है, वे सब ऐसी ओषधियाँ हैं जो पुष्टिकारक और मस्तिष्क को बल देनेवाली हैं। इस घृत के सेवन से जो रोग दूर होते हैं उन्हें भूत, राक्षस, पिशाच आदि नामों से पुकारा गया है। इससे स्पष्ट है कि भूत आदि नामों से अभिप्रेत रोगों (उन्हें उत्पन्न करनेवाले रोगाणुओं) को दूर करने के लिए ओषधियों के सेवन की बात कही गयी है, वर्त्तमान में प्रचलित अन्धविश्वासों के अनुसार किसी जादू-टोने या झाड़-फूँक आदि का किसी भी रूप में उल्लेख नहीं हुआ है।

श्रीकृष्ण के जीवनचरित में 'पूतना' नामक राक्षसी का उल्लेख मिलता है, जो मथुरा में बच्चों को दूध पिलाकर मार डालती थी। वस्तुतः बच्चों की मृत्यु का कारण राक्षसी न होकर उसका दूषित विषैला दूध होता था। किसी समय अत्यल्प मात्रा में दीर्घकाल तक विष खिला-खिलाकर विषकन्या तैयार की जाती थीं, जिससे सम्भोग करनेवाला पुरुष मृत्यु को प्राप्त हो जाता था। राजा लोग अपने शत्रुओं की हत्या करने में विषकन्याओं का प्रयोग करते थे। इसी प्रकार का प्रयोग पूतनारोग से ग्रस्त स्त्री के माध्यम से होता था—उसके दूध को विषाक्त करके। भावप्रकाश के खण्ड २, श्लोक ८२-९० में पूतनारोग की चिकित्सा लिखी है। वहाँ ओषधियों द्वारा ही चिकित्सा का उल्लेख हुआ है, जादू-टोने द्वारा नहीं।

कभी-कभी लोगों को असाधारण क्रियाएँ (सिर हिलाना, असम्बद्ध बातें करते जाना, निरन्तर हँसते या रोते जाना आदि) करते देखा-सुना जाता है। इसका कारण भूत-प्रेतों का चिपट जाना बताया जाता है और इसकी चिकित्सा के नाम पर स्वार्थी लोग भोली-भाली जनता को भरपेट लूटते रहते हैं। वास्तव में ये मानसिक रोग के लक्षण होते हैं। माधवनिदान में उन्माद के लक्षणों में लिखा है—

रूक्षाल्पशीताम्नविरेकधातुक्षयोपवासैरनिलोऽतिवृद्धः ।
चिन्तादि दुष्टं हृदयं प्रदूष्य बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहन्ति शीघ्रम् ॥७॥
प्रस्थानहास्य स्मितनृत्यगीतवागङ्गविक्षेपणरोदनानि ।
पारुष्यकाक्ष्यारुणवर्णताश्च जीर्णं बलं चानिलजस्य रूपम् ॥८॥

अर्थात् रूखा और ठण्डा अन्न खाने से, अल्प भोजन करने से, विरेचन अथवा वमन के मिथ्या योग से, धातुओं के क्षीण होने से, उपवास से, अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त वायु, चिन्ता और शोक आदि से पीड़ित हृदय (मन) को दूषित करके बुद्धि और स्मरणशक्ति को नष्ट कर देता है।

वातज उन्माद का रोगी अकारण हँसता, मुस्कराता, रोता, नाचता, गाता तथा बिना प्रसंग के (असम्बद्ध) बोलता है। अकारण हाथ-पैर चलाता है और रोता है। उसका शरीर रूक्ष, दुर्बल और कुछ लाल वर्ण का हो जाता है। आहार के जीर्ण होने पर रोग बढ़ता है। ये लक्षण वातज उन्माद के हैं।

इससे मिलते-जुलते रोग का आक्रमण स्त्रियों पर भी होता है, उस अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है—

वैचित्यं बुद्धिविभ्रान्तिर्हास्यं क्रन्दनमेव च ।
उच्चैः क्रोशः प्रलपनं ज्योतिर्द्वेषस्तथा भ्रमः ॥

https://t.me/arshlibrary

[ग्रह-शान्ति का ढोंग]

और जब किसी ग्रहग्रस्त ग्रहरूप ज्योतिर्विदाभास के पास जाके कहते हैं— "हे महाराज ! इसको क्या है ?" तब वे कहते हैं कि—"इसपर सूर्य्यादि क्रूर ग्रह चढ़े हैं। जो तुम इनकी शान्ति [के अर्थ] पाठ-पूजा दान कराओ, तो इसको सुख हो जाए। नहीं तो बहुत पीड़ित होकर मर जाए, तो भी आश्चर्य्य नहीं।"

औद्धत्यं श्वासकृच्छ्रं च कण्ठामाशयवेदना ।
प्राबल्यं स्पर्शशक्तेश्च क्वचिदङ्गे सदा कथा ॥
अलीकवर्त्तुलोत्थानमाकण्ठमुदरादपि ।
अत्यल्पबुद्धिर्मूर्च्छा च व्याधावस्मिन् प्रजायते ॥ ७,८,९.

(माधवनिदान में परिशिष्ट सूची के अन्तर्गत योषापस्मार)

अर्थात् चित्त की विकलता, मतिविभ्रम, हँसना, रोना, ऊँची आवाज़ से पुकारना, अण्टसण्ट बकना, उजाले से अरुचि, भ्रम, ऊधम मचाना, श्वास में कष्ट, कण्ठ और आमाशय में वेदना, स्पर्शशक्ति की प्रबलता (शरीर से कपड़ा छूते ही चीख़ पड़ना), किन्हीं अवयवों में सदा पीड़ा रहना, पेट से कण्ठ तक एक गोला-सा उठना (दौरे के समय), बुद्धि की अल्पता और मूर्च्छा आदि योषापस्मार रोग के लक्षण हैं।

ये सब कायज रोग हैं। भूत-प्रेत या देवी-देवताओं के आक्रमण की कल्पना करना निपट मूर्खता है। रोग होने के कारण इनकी चिकित्सा भी ओषधियों के द्वारा अथवा अन्य चिकित्सा द्वारा ही सम्भव है। कई धातुओं या मणियों का शरीर पर ऐसा वैद्युत प्रभाव होता है कि विशेष रोगों की चिकित्सा में उनका प्रयोग लाभप्रद होता है। जैसे कुछ धातुओं को चाँदी के साथ मिलाकर उससे बनाई गयी अँगूठी धारण करने से अर्श या बवासीर में लाभ होते देखा-सुना गया है। ऐसी अँगूठी का जादू-टोने या किसी दैवी चमत्कार से कोई सम्बन्ध नहीं होता। चिकित्सा में मनोविज्ञान का भी योगदान रहता है, इसे भी जादू नहीं समझना चाहिए।

कई लोग कहते हैं कि कभी-कभी भूत-प्रेत सम्बन्धी ऐसी घटनाएँ देखने-सुनने में आती हैं, जिनके कारण भूतों और उनके कारनामों को नकारा नहीं जा सकता और न माननेवालों को भी बरबस मानना पड़ता है, परन्तु यदि ऐसी घटनाओं की भली प्रकार जाँच-पड़ताल की जाए तो असलियत सामने आ जाती है। वस्तुतः उनके मूल में कुछ धूर्त्त लोगों की चालाकी और दूसरों की मानसिक दुर्बलता होती है। बचपन से भूत-प्रेतों की कहानियाँ सुनते-सुनते उनके संस्कार इतने गहरे हो जाते हैं कि बड़े होने और अन्यथा काफ़ी समझदार हो जाने पर भी उनका निकलना दूभर हो जाता है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि भूत-प्रेत की वास्तविक सत्ता बाह्य जगत् में न होकर उसे माननेवाले के मन में पहले से विद्यमान रहती है। तब उसे सर्वत्र भूत-ही-भूत नज़र आने लगते हैं। जिसके मन में भूत नहीं होता, उसे वह कहीं भी, कभी भी नहीं मिलता।

ज्योतिष—आकाशगत सूर्यमण्डल से सम्बन्ध रखनेवाले नक्षत्रविज्ञान को ज्योतिष (Astronomy) कहते हैं। यही ज्योतिषशास्त्र, ज्योतिर्विज्ञान या नक्षत्रविज्ञान वेद का छठा अंग है और गणित पर आधिरत होने से वह सत्यविद्याओं के अन्तर्गत है। अथर्ववेद (१२।३।२०) में तीन लोकों का निर्देश करते हुए कहा है—**'त्रयो लोकाः संमिता ब्राह्मणेन द्यौरेवासौ पृथिव्यन्तरिक्षम्'** अर्थात् ब्रह्म (वेद) को जाननेवाला ज्ञानी पुरुष द्यौ, पृथिवी, अन्तरिक्ष—इन तीनों लोकों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। ज्योतिश्शास्त्र के पारङ्गत

https://t.me/arshlibrary

उत्तर—कहिए ज्योतिर्वित् ! जैसी यह पृथिवी जड़ है, वैसे ही सूर्य्यादि लोक हैं। वे ताप और प्रकाशादि से भिन्न कुछ भी नहीं कर सकते। क्या ये चेतन हैं ? जो क्रोधित होके दुःख और शान्त होके सुख दे सकें ?

प्रश्न—क्या जो यह संसार में राजा-प्रजा सुखी-दुःखी हो रहे हैं, यह ग्रहों का फल नहीं है ?

उत्तर—नहीं, ये सब पाप-पुण्यों के फल हैं।

प्रश्न—तो क्या ज्योतिश्शास्त्र झूठा है ?

उत्तर—नहीं, जो उसमें अङ्क, बीज, रेखागणितविद्या है, वह सब सच्ची। जो फल की लीला है, वह सब झूठी है ?

विद्वान् भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि में लिखा है—

वेदास्तावद् यज्ञकर्मप्रवृता, यज्ञाः प्रोक्तास्तेषु कालाश्रयेण ।
शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्याद् वेदाङ्गत्वं ज्योतिषस्योक्तमस्मात् ॥

अर्थ—वेद यज्ञीय कर्मों का प्रवर्तक है, यज्ञ उनमें काल के आश्रय ही कहे गये हैं। इस ज्योतिषशास्त्र से क्योंकि काल का ज्ञान ठीक-ठीक होता है, इसीलिए इस शास्त्र की वेदाङ्गता स्वीकार की गयी है।

सामान्यतः प्रकाश की झलकमात्र को ज्योतिः कहते हैं, किन्तु ऋग्वेद (१०।१३६।१) में सूर्य तथा सौरमण्डल के साथ सम्पर्क रखनेवाले सभी नक्षत्रों को ज्योतिः नाम से प्रकट किया गया है। इसी से सिद्ध होता है कि आकाशगत सूर्यमण्डल से सम्बन्ध रखनेवाले नक्षत्रविज्ञान को 'ज्योतिष' कहना चाहिए।

जितने भी श्रेष्ठ कर्म हैं वे सभी वेद में यज्ञ नाम से अभिहित हैं। प्रत्येक यज्ञीय कर्म काल की किसी-न-किसी सन्धि में सम्पन्न होता है। आर्यजीवन की सन्ध्योपासना भी दिन-रात की सन्धिवेला में ही सम्पन्न होती है। काल का ज्ञान पृथिवी से सम्पर्क रखनेवाले सूर्य, चन्द्रमा आदि की गति पर निर्भर है। इसीलिए वैदिक ऋषियों ने पार्थिव पदार्थों के ज्ञान के साथ-साथ नक्षत्रविद्या का सम्पादन भी आवश्यक समझा।

ऋग्वेद (१।१६१।४७) में सूर्य की ६-६ मासवाली दोनों परिधियों के द्वारा उत्तरायण-दक्षिणायन का ज्ञान मिलता है। वहीं (१।१०५।१८) चन्द्रमा की गति से बननेवाले शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष का उल्लेख है। यजुर्वेद (१३।२५, १४।१३, १४।१५, १४।२१, १५।५७) में छहों ऋतुओं का वर्णन है। ऋग्वेद (१।१६४।११) में सूर्य की परिक्रमा करने के लिए पृथिवी का घूमना और उससे दिन-रात एवं १२ महीनों का बनना लिखा है। वहीं (१।१६४।२-१३ व ४८) संवत्सर का पूरा ब्यौरा दिया है। जिस रेखा पर पृथिवी सूर्य की परिक्रमा करती है उस रेखापथ का नाम वैदिक परिभाषा में 'वैश्वानरपथ' है। अथर्ववेद (८।८।६) में वैश्वानरपथ का निर्देश करते हुए उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों में ६-६ महीने के दिन और ६-६ महीने की रात होने का संकेत मिलता है।

ऋग्वेद (५।४०।५,६,६) में सूर्यग्रहण का वर्णन करते हुए ग्रहण की ठीक-ठीक परीक्षा करने के लिए एक तुरीय-ब्रह्म अर्थात् तुरीययन्त्र (Telescope) का भी उल्लेख मिलता है। वहीं १।११०।१८ में क्रान्तिवृत्त एवं विषुवृत्त के कोणवृत्त और १०।२६।४ में पृथिवी के अक्ष (Axis) के विषय में बताया है। अथर्ववेद (१८।८।१) में उन नक्षत्रों का वर्णन है जिनपर चन्द्रमा की गति का प्रभाव पड़ता है।

नक्षत्रविद्या के द्वारा हम नक्षत्रों की स्थिति, एक-दूसरे से दूरी और गति के आधार पर कालगणना करके ऐतिहासिक घटनाओं का कालक्रम निर्धारित कर सकते हैं। जब महाभारत-युद्ध हुआ तब

https://t.me/arshlibrary

[जन्म-पत्री-सम्बन्धी ढोंग]

प्रश्न—क्या जो यह जन्मपत्र है, सो निष्फल है ?

उत्तर—हाँ, वह 'जन्मपत्र' नहीं, किन्तु उसका नाम 'शोकपत्र' रखना चाहिए, क्योंकि जब सन्तान का जन्म होता है, तब सबको आनन्द होता है, परन्तु वह आनन्द तब तक होता है कि जब तक जन्मपत्र बनके ग्रहों का फल न सुनें।

अमुक-अमुक नक्षत्र अमुक-अमुक स्थिति में थे, उनकी यह स्थिति कब थी—इसका ज्ञान होने पर हम महाभारत-काल का निश्चय कर सकते हैं। ज्योतिषशास्त्र के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० दीनानाथ शास्त्री चुलैट ने गीता में आये **'मासानां मार्गशीर्षोऽहं ऋतुषु कुसुमाकरः'** के आधार पर ही महाभारत-काल निर्धारित किया था। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने मृगशिरा नक्षत्र की स्थिति को लक्ष्य करके वेदों का काल निर्धारित करने की कल्पना की थी। ज्योतिष की सहायता से ही हम प्रकृति (Nature) में होती रहनेवाली घटनाओं—ऋतुओं, सूर्य व चन्द्रग्रहण आदि का पूर्वानुमान कर सकते हैं।

चारों वेदों में सैकड़ों मन्त्रों में कालज्ञान के लिए पृथिवी से सम्बन्ध रखनेवाले सूर्यमण्डल आदि सभी नक्षत्रों, उनकी नियमित गतियों और उनके परिणामों पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार ज्योतिश्शास्त्र में परीक्षणों पर आधारित वैदिक सचाइयों का प्रतिपादन करनेवाले नक्षत्रविज्ञान का वेदों में विस्तृत वर्णन मिलता है। वस्तुतः नक्षत्रविद्या को जाने बिना वेद के रहस्यों को पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। इसीलिए ज्योतिष को वेदाङ्ग के रूप में मान्यता देकर उसके ज्ञान की अपेक्षा की गयी है। ज्योतिष में वसिष्ठमुनिकृत 'सूर्यसिद्धान्त' आर्षरचना होने से परम प्रमाण है।

परन्तु जैसे यह पृथिवी जड़ है वैसे ही सूर्य, चन्द्रमा, मंगल, शनि आदि भी जड़ हैं। मनुष्यों का सुखी दुःखी होना उनके अपने पाप-पुण्य के फलस्वरूप है। किसी से प्रसन्न होकर उसे सुख-समृद्धि प्रदान करने अथवा कुपित होकर उसे हानि पहुँचाने का सामर्थ्य इन जड़ पदार्थों में नहीं है। इसलिए जहाँ गणित के सिद्धान्तों पर आधारित ज्योतिश्शास्त्र सर्वथा सत्य एवं उपादेय है, वहाँ फलित ज्योतिष अन्धविश्वास पर आधारित होने के कारण बैठे-बिठाये मनुष्यों को विपत्ति में फँसानेवाला है। इस सन्दर्भ में विश्व के १८६ वैज्ञानिकों तथा ज्योतिश्शास्त्रियों (खगोलविदों) का वह वक्तव्य द्रष्टव्य है जो American Humanist Association की पत्रिका 'Humanist' के सितम्बर-अक्टूबर के अंक में प्रकाशित हुआ है। इस वक्तव्य पर हस्ताक्षर करनेवाले १८६ वैज्ञानिकों में विभिन्न विद्याओं में नोबल पुरस्कार पानेवाले १८ वैज्ञानिक (Sir Peter Medawar Linus Panling, Paul Samvelson, J.Timbergen, Wassily Leontief, George Wald, sir John Eccles etc.) सम्मिलित हैं। यह वक्तव्य नई दिल्ली से प्रकाशित Hindustan Times के १४ सितम्बर १९७५ के अंक में इस प्रकार उद्धृत हुआ है—

In ancient times people believed in the predictions and advice of astrologers because astrology was part and parcel of their magical world. They looked upon celestial objects as abodes of the gods and this intimately connected with events here on earth, they had no concept of the vast distances from the earth to the planets and the stars. Now that these distances have been calculated, we can see how infinitismally small are the gravitational and other effects produced by the distant planets and their more distant stars. It is simply a mistake to imagine that the forces exerted by the stars and planets at the time of birth can in any way shape our futures. Neither is it true that the position of distant heavenly bodies makes certain days and periods more favourable to particular kinds of actions or that the signs under which one was born determines one's compatability with other people. Such things can only contribute to the growth of irrationalism and obscurantism. We believe the time has come to challenge directly and forcefully the

https://t.me/arshlibrary

जब पुरोहित जन्मपत्र बनाने को कहता है, तब उसके माता-पिता पुरोहित से कहते हैं—"महाराज ! आप बहुत अच्छा जन्मपत्र बनाइए।" जो धनाढ्य हो तो बहुत-सी लाल-पीली रेखाओं से चित्र-विचित्र, और निर्धन हो तो साधारण रीति से जन्मपत्र बनाके सुनाने को आता है। तब उसके माँ-बाप ज्योतिषीजी के सामने बैठके कहते हैं—"इसका जन्मपत्र अच्छा तो है ?" ज्योतिषी कहता है—"जो है सो सुना देता हूँ। इसके जन्मग्रह बहुत अच्छे और मित्रग्रह भी बहुत अच्छे हैं, जिनका फल धनाढ्य और प्रतिष्ठावान् होना है। जिस सभा में जा बैठेगा, तो सबके ऊपर इसका तेज पड़ेगा। शरीर से आरोग्य और राज्यमानी होगा।" इत्यादि बातें सुनके पिता आदि बोलते हैं—"वाह-वाह ज्योतिषीजी ! आप बहुत अच्छे हैं।"

---

irrationalism and obscurantism. We believe the time has come to challenge directly and forcefully the pretensions and claims of astrological charlatans.

अर्थात् प्राचीनकाल में लोग ज्योतिषियों की भविष्यवाणियों में विश्वास करते थे, क्योंकि ज्योतिष उनके चमत्कार-जगत् का अनिवार्य अंग था। वे आकाशीय पदार्थों को देवी-देवताओं के आवास के रूप में मानते थे, जिनका धरती पर होनेवाली घटनाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध था। पृथिवी से ग्रहों, उपग्रहों तथा नक्षत्रों की इतनी दूरी का उन्हें ज्ञान न था। अब, जबकि इन दूरियों को मापा जा चुका है, यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि इतनी दूरी पर स्थित उपग्रहों तथा उनसे भी कहीं अधिक दूरी पर स्थित नक्षत्रों का आकर्षणसम्बन्धी तथा अन्य प्रभाव कितना नगण्य है। किसी व्यक्ति के जन्म के समय पड़नेवाले इन नक्षत्रों के प्रभाव की कल्पना करना भूल होगी। हमारे भविष्य के निर्धारण में इन नक्षत्रों का कोई हाथ नहीं हो सकता। यह भी सत्य नहीं है कि इन दूरस्थ आकाशीय नक्षत्रों की स्थितिविशेष के कारण किसी व्यक्ति के कार्यों अथवा उसकी गतिविधियों के लिए कुछ दिवस या वार या अवधिविशेष अनुकूल होते हैं। यह भी सत्य नहीं है कि जन्म के समय के कुछ लक्षण उसे दूसरे लोगों के अनुकूल बनाने में सहायक होते हैं। ऐसी बातें अज्ञान और अन्धविश्वासों को बढ़ावा देती हैं। हम समझते हैं कि अब समय आगया है कि ज्योतिष के नाम पर किये जानेवाले दावों को बलपूर्वक सीधी चुनौती दी जाए।

इससे स्पष्ट है कि जड़ होने से नक्षत्र किसी का हिताहित नहीं कर सकते। यदि दुर्जनतोषन्याय से उन्हें चेतन मान लिया जाए तो प्रश्न उठता है कि वे स्वेच्छा से हिताहित करते हैं या परमात्मा के आदेश से ? यदि वे स्वेच्छापूर्वक ऐसा करते हैं तो परमेश्वर की न्यायव्यस्था में हस्तक्षेप करते हैं। तब यह भी बताना होगा कि किसको सुख देना है और किसको दुःख, इसका निश्चय वे किस आधार पर करते हैं। यदि परमेश्वर की इच्छा या आज्ञा से करते हैं तो निश्चय ही कर्मफल-व्यवस्था के अनुसार करते होंगे। उस अवस्था में कर्मफल भोगे बिना छुटकारा नहीं होगा। तब शान्ति, पूजा-पाठ, दान आदि करना व्यर्थ है।

वर्त्तमान में ज्योतिष शब्द अतीत में घटी अथवा भविष्य में होनेवाली घटनाओं के लिए रूढ़ हो गया है। इस शब्द के सुनते ही मनुष्य में अपने भविष्य को जानने की इच्छा बलवती हो उठती है और वह इसके लिए जहाँ-तहाँ भागता हुआ धूर्तों के चंगुल में फँस जाता है। दीवानबहादुर एल. डी. कन्नू पिल्लै ज्योतिर्विज्ञान के अधिकृत विद्वानों में एक हैं। उनके बनाये हुए पंचांगों को प्रमाणकोटि में रक्खा जाता है। उनका निश्चित विचार है कि 'पर्याप्त समय ऐसा रहा है जब इस देश के साहित्य में फलितज्योतिष का उल्लेख नहीं मिलता है। वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण और पाणिनीय व्याकरण में इस विषय का कोई लेख नहीं है।'

सत्य सनातन वैदिक धर्म का सर्वमान्य सिद्धान्त है कि कर्मफल-भोग अवश्यम्भावी है। वेद का वचन

https://t.me/arshlibrary

ज्योतिषीजी समझते हैं कि इन बातों से कार्य सिद्ध नहीं होता। तब ज्योतिषी बोलता है कि—"ये ग्रह तो बहुत अच्छे हैं परन्तु ये ग्रह क्रूर हैं, अर्थात् फलाने-फलाने ग्रह के योग से ८ वर्ष में इसका मृत्युयोग है।" इसको सुनके माता-पितादि पुत्र के जन्म के आनन्द को छोड़के शोकसागर में डूबकर ज्योतिषीजी से कहते हैं कि—"महाराजजी ! अब हम क्या करें ?" तब ज्योतिषीजी कहते हैं—"उपाय करो।" गृहस्थ पूछे—"क्या उपाय करें ?" ज्योतिषीजी प्रस्ताव करने लगते हैं कि—"ऐसा-ऐसा दान करो, ग्रह के मन्त्र का जप कराओ और नित्य ब्राह्मणों को भोजन कराओगे, तो अनुमान है कि नवग्रहों के विघ्न हट जाएँगे'। अनुमान शब्द इसलिए है कि जो मर जाएगा, तो कहेंगे हम क्या करें। परमेश्वर के ऊपर कोई नहीं है। हमने तो बहुत-सा यत्न किया और तुमने कराया, उसके कर्म ऐसे ही थे। और जो बच जाए तो कहते हैं कि—"देखो, हमारे मन्त्र, देवता और ब्राह्मणों की कैसी शक्ति है ? तुम्हारे लड़के को बचा दिया।"

है—**'पक्वः पक्तारं पुनराविशाति'** (अथर्व० १२।३।४८)। महाभारत का कथन है—**'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'** तथा **'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि'**। क्या मन्त्र और डोरे से ज्योतिषी कर्मफल भोगने से बचा सकते हैं ? यदि हाँ, तो परमात्मा का नियम टूट जाएगा और वह अन्यायकारी हो जाएगा। यदि जन्मपत्री में लिखे को मिटाना ज्योतिषी के हाथ में है तो परमेश्वर की अपेक्षा ज्योतिषी का सामर्थ्य अधिक हो गया। फिर, यदि ज्योतिषी सब-कुछ जानते हैं और विधि के लेख को मिटाना भी उनके हाथ में है तो स्वयं उन्हें और उनके आत्मीय जनों को दुःख क्यों उठाने पड़ते हैं ? क्यों नहीं समय रहते उसका उपचार कर लेते ? पं० सूर्यनारायण व्यास फलितज्योतिष के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् थे। उनके पुत्र व भतीजे आदि सभी ज्योतिषी हैं। संवत् २०२६ विक्रमी में श्रावण पूर्णिमा के दिन उनके घर डाका पड़ा। समाचारपत्रों में प्रकाशित समाचार के अनुसार एक लाख सड़सठ हजार रुपये का माल चला गया, परन्तु ज्योतिषियों के परिवार में न किसी को पहले इसकी जानकारी हुई और न बाद में चोरों आदि का पता चला।

लाहौर में एक पण्डितजी थे जो धनीमानी लोगों के ज्योतिषी थे। एक बार वे एक धनीमानी रोगी के यहाँ पहुँचे और उसे ग्रहों की विभीषिका देकर बहुत डराया। ऊपर से स्वामी वेदानन्द तीर्थ जा पहुँचे। ज्योतिषी की बातें सुनकर उनसे पूछा—श्रीमान्जी ! आपके कथित ग्रह इनपर क्रूर क्यों हो रहे हैं ? उन्होंने कहा—इनकी कर्मगति। स्वामीजी ने पूछा—क्या कर्मगति टाली जा सकती है ? वे बोले—कर्मगति टारे न टरे। स्वामीजी ने पूछा—क्या उपाय करने से भी नहीं ? वे बोले—**'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'** अर्थात् कर्मफल तो भोगना ही पड़ता है। तब स्वामीजी ने कहा—तो फिर इनके दान आदि व्यर्थ हैं। उन्होंने गम्भीरता से कहा—सब व्यर्थ और ढोंग है, केवल खाने-पीने का ढंग है।

फलितज्योतिष के पाखण्ड होने में एक और प्रमाण है। १९४७ में देश का विभाजन होने से पूर्व लगभग ६०० छोटे-बड़े राजा थे। सभी ने ज्योतिषी पाल रक्खे थे। किसी ज्योतिषी ने अपने आश्रयदाता को नहीं बताया—अन्नदाता ! तुम्हारा राज्य तुमसे छिननेवाला है, समय रहते अपना प्रबन्ध करलो और न ही इन ज्योतिर्विदाभासों ने अपना ही कोई प्रबन्ध किया। सन् १९५५ में भाद्र-आश्विन मासों में समूचे भारत में अतिवृष्टि के कारण विनाशकारी बाढ़ आई, जिसमें लाखों लोग बेघर हो गये। हज़ारों मनुष्य इन दैवी प्रकोपों के कारण प्राण खो बैठे और न जाने कितने गाँवों का चिह्न तक मिट गया, परन्तु किसी भी ज्योतिषी से इतना न हुआ कि प्रजा को सावधान कर देते कि ऐसा भयंकर उपद्रव होनेवाला है, इसका उपाय करलो। फ़िरोज़पुर निवासी एक ज्योतिषी फलितज्योतिष का एक लेख पंजाब के दैनिक पत्रों में प्रकाशित करता था। ऐसे एक पत्र के सम्पादक को लिखना पड़ा कि हमारे ज्योतिषी स्वयं इस दैवी विपत्ति

https://t.me/arshlibrary

यहाँ यह बात होनी चाहिए कि जो इनके जप-पाठ से कुछ न हो, तो दूने-तिगुणे रुपये इन धूर्तों से ले लेने चाहिए और बच जाए, तो भी ले लेने चाहिएँ, क्योंकि जैसे ज्योतिषियों ने कहा है कि—"इसके कर्म और परमेश्वर के नियम तोड़ने का सामर्थ्य किसी का नहीं", वैसे गृहस्थ भी कहें कि—"यह अपने कर्म और परमेश्वर के नियम से बचा है, तुम्हारे करने से नहीं।"

और तीसरे[1] गुरु आदि भी पुण्यदान कराके आप ले लेते हैं। तो उसको भी वही उत्तर देना, जो ज्योतिषियों को दिया था।

[शीतला-मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र आदि का ढोंग]

अब रह गई शीतला, और मन्त्र-तन्त्र यन्त्र आदि। ये भी ऐसे ही ढोंग मचाते हैं। कोई कहता है कि

में फँस गये हैं, अतः लेख नहीं छपेगा। ज्योतिषी दूसरों का भाग्य पढ़ लेते थे, पर अपना न पढ़ सके।

यदि ज्योतिषी का काम केवल भविष्य को बता देना है तो **यद् भावी न तदभावी यदभावी न तद्भावी**—जो होना है वह होकर रहेगा और जो नहीं होना है वह कभी हो नहीं सकता—तो यह सब जानकर क्या होगा, सिवा इसके कि जो होना है, उसके होने से पहले ही से कल्पना कर-करके मनुष्य दुःखी रहने लगे। यदि जन्मपत्री के आधार पर किसी के भविष्य के विषय में यह बता दिया जाए कि तुम्हारे भाग्य में विद्या नहीं है अथवा ३८वें वर्ष में तुम्हारी मृत्यु का योग है तो यह सब जानकर उसकी मनःस्थिति क्या होगी ? जो ईश्वर को कर्मफलविधाता मानता है और फलितज्योतिष में विश्वास रखता है, वह भी जानता और मानता है कि ईश्वरीय विधान को कोई अन्यथा नहीं कर सकता। तब वह ज्योतिषी द्वारा जन्मपत्री में लिखी बातों पर विश्वास करते हुए न पढ़ना चाहेगा, न कोई बड़ा काम करेगा और जैसे-जैसे दिन बीतते जाएँगे वैसे-वैसे मृत्यु को सन्निहित जानकर ३८ वाँ वर्ष आने से पहले ही मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा। जन्मपत्री को देखकर ज्योतिषी ने जो कुछ बता दिया वह अटल है, क्योंकि ईश्वर द्वारा भाग्य में लिखे को कोई मिटा नहीं सकता। तब ज्योतिषियों द्वारा दान-दक्षिणा द्वारा उसे पलटने की बात कहना ठगी नहीं तो और क्या है ? यदि ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा आदि देकर भाग्य के लेख को मिटाना सम्भव है तो परमेश्वर भी लोक में उपलब्ध अफ़सरों की भाँति भ्रष्टाचारी सिद्ध होगा, जिससे रिश्वत और सिफारिश के बल पर फ़ैसले बदलवाये जा सकते हैं।

ओस्टन के प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता डॉ० वाल्टन फ्रैंकलिन को यह जानने की इच्छा हुई कि फलितज्योतिषवालों की बातें कहाँ तक ठीक निकलती हैं। उन्होंने अपने जन्म का वर्ष, दिन, समय, नक्षत्र आदि का ठीक-ठीक ब्यौरा लिखकर छह ज्योतिषियों को भेजा। सबसे एक ही प्रश्न किया कि मेरी शादी कब होगी ? उन ज्योतिषियों ने भिन्न-भिन्न समय बताये, किन्तु यह किसी ने नहीं बताया कि उनकी शादी तो पहले ही हो चुकी है।

कुछ ज्योतिषी कुण्डली देखकर भृगुसंहिता के आधार पर किसी का जीवनवृत्तान्त बताने का दावा करते हैं। वास्तव में वे अन्य साधनों से उनके जीवन की कुछ घटनाओं का पता लगा लेते हैं और अभ्यास के बल पर उसमें कुछ जोड़-तोड़ करके जीवनवृत्तान्त बनाकर भेज देते हैं। इसीलिए बीती हुई कुछ घटनाएँ तो सच निकलती हैं और भविष्य के विषय में बताई हुई अनेक बातें मिथ्या सिद्ध होती हैं। डलहौज़ी निवासी ठाकुर रणवीरसिंह ने भृगुसंहिता के द्वारा अपनी कुण्डली होशियारपुर से बनवाई थी, उसमें उनके

१. पूर्व जो भूत-प्रेत निकालनेवाले ओझा वा स्याने तथा ग्रहफल बतानेवाले ज्योतिषियों का वर्णन किया है, उनकी अपेक्षा से यहाँ तीसरे पद का प्रयोग हुआ है।

https://t.me/arshlibrary

चित्रपट (सिनेमा) व्यवसाय से धनलाभ की बात लिखी है। श्री रणवीरसिंह ने चित्रपट-व्यवसाय से धन कमाया, यह ठीक है, किन्तु भृगुजी के समय में तो सिनेमा का आविष्कार ही नहीं हुआ था। निश्चय ही कहीं से पता लगा लेने के कारण ऐसा लिख दिया होगा।

भृगुसंहिता भी एक बहुत बड़ा पाखण्ड है। जो-जो अपने को भृगुसंहितावाला बतलाते हैं वे अपने अतिरिक्त सबको मिथ्या बतलाते हैं। कहते हैं कि वास्तविक और प्रामाणिक भृगुसंहिता केवल हमारे पास है। यतः ये सभी अपने अतिरिक्त सबको झूठा बतलाते हैं, अतः ये सभी झूठे हैं।

तथाकथित ज्योतिषशास्त्र के अनुसार—

शनिक्षेत्रे यदा भानुः भानुक्षेत्रे यदा शनिः।
सद्य एव भवेन्मृत्युः शङ्करो यदि रक्षति॥

शनिक्षेत्र में सूर्य हो और सूर्य के क्षेत्र में शनि हो तो बालक पैदा होते ही मर जाता है, भले ही ईश्वर उसकी रक्षा करे। शनिक्षेत्र=मकर और कुम्भराशि में सूर्य दो मास रहता है और सूर्यक्षेत्र=सिंहराशि में सूर्य ढाई वर्ष रहता है। इस प्रकार तीस वर्ष में दो वर्ष ऐसे होने चाहिएँ जिनमें माघ और फाल्गुन के महीनों में संसारभर में जितने बालक पैदा हों वे सब ही मर जाएँ, परन्तु ऐसा कभी देखने-सुनने में नहीं आया।

फलितज्योतिषवालों ने प्रत्येक राशिवालों के मरने के दिन नियत कर रक्खे हैं। भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में वे भिन्न-भिन्न हैं। उनमें मुख्य हैं—

नाम राशि	जातकाभरण में बताया दिन	मानसागरी में बताया दिन
मेष	कार्तिक बदी ६, बुधवार	कार्त्तिक ४, मंगल, भरणी नक्षत्र
वृष	माघ सुदी ६, शुक्रवार, रोहिणी नक्षत्र	माघ सुदी ६ रोहिणी अर्धरात्रि, भरणी नक्षत्र
मिथुन	वैशा सुदी १२, बधु, मध्याह्न, हस्त नक्षत्र	पौष बदी ८, बुध, पहला प्रहर, आर्द्रा नक्षत्र
कर्क	माघ सुदी ६, शुक्र, रोहिणी	फाल्गुन सुदी ४, सायं
सिंह	फाल्गुन सुदी ५, सोम, मध्याह्न, जल में	श्रावण सुदी १०, रवि, पहला प्रहर
कन्या	चैत्र बदी १३, रविवार	भाद्रपद सुदी ६, बुध सायं, हस्त नक्षत्र
तुला	८५ वर्ष वैशाख बदी ८, शुक्र, आश्लेषा	वैशाख सुदी १३, शुक्र मध्याह्न, शतभिषा
वृश्चिक	ज्येष्ठ सुदी १०, बुध, मध्यरात्रि, हस्त	ज्येष्ठ बदी ११, मंगल
धन	आषाढ़ सुदी ५, शुक्र, हस्त	आषाढ़ सुदी १, गुरुवार, सायं, हस्त
मकर	श्रावण सुदी १०, मंगल, ज्येष्ठा	कार्त्तिक सुदी ५, शुक्र
कुम्भ	भाद्रपद सुदी ४, शनि, भरणी	माघ सुदी २ गुरुवार, उत्तराभाद्रपद
मीन	आश्विन सुदी २, बृहस्पति, सायं, कृत्तिका	माघ सुदी १२, गुरुवार, प्रातः, उत्तराभाद्रपद

यह आवश्यक नहीं कि उपर्युक्त तिथियों पर सदा वे ही दिन आएँ।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

इन दोनों ग्रन्थों में मरने की जो तिथियाँ लिखी हैं, वे वृषराशिवाले लोगों को छोड़कर शेष किसी की नहीं मिलतीं। यदि फलितज्योतिष नियमपूर्वक एक विद्या (Exact science) है तो दोनों ग्रन्थों में उल्लिखित तिथियों में अन्तर क्यों ? जातकाभरण के अनुसार वर्षभर में केवल ११ दिनों में ही मनुष्यों की मृत्यु का योग है, इसलिए इन्हीं दिनों में सबकी मृत्यु होनी चाहिए। शेष दिनों में कोई नहीं मरना चाहिए, परन्तु हम देखते हैं **'अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्'**—कोई दिन ऐसा नहीं जाता जब किसी की भी मृत्यु न हो।

इस प्रकार इन ग्रन्थों के अनुसार सब मनुष्यों की मृत्यु वर्ष के ११ दिन में होनी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य की उक्त १२ राशियों में से कोई-न-कोई राशि अवश्य होती है, परन्तु सारे संसार की बात जाने दें, किसी एक नगर में भी किसी एक राशि के सब मनुष्यों को मरते नहीं देखा जाता और न कोई ऐसा दिन देखा जाता है जब किसी की भी मृत्यु न हुई हो।

फिर, एक राशिवाले किन्हीं दो व्यक्तियों के जीवन में भी समानता नहीं देखी जाती। राम व रावण की, कृष्ण और कंस की, (महात्मा) मोहनदास गांधी और मुहम्मद अली जिन्ना की, अर्जुन व अश्वत्थामा की एक राशि होते हुए भी उनके गुण-कर्म-स्वभाव एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न थे। उनकी मृत्यु भी भिन्न-भिन्न कालों में हुई थी।

एक मनुष्य की कुण्डली पर एक साथ सौ ज्योतिषियों से फलादेश लिखवाकर मिलान करने पर पता चलेगा कि वे सब एक-दूसरे से भिन्न हैं। इतना ही नहीं, एक ही ज्योतिषी को कुछ मास के अन्तर से दुबारा वही पत्रिका दिखाकर फलादेश लिखवाया जाए, तो वह पहले से भिन्न होगा।

जातकाभरण में मेषराशि का फल लिखा है कि 'मेष राशिवाला धनवान्, पुत्रवान्, उदार, धार्मिक वृत्तिवाला, सुशील, राजप्रिय, सुन्दर गुणोंवाला, सदा देव, ब्राह्मणों की पूजा करनेवाला, तांबे के समान भूरी आँखोंवाला, शूरवीर, शीघ्र प्रसन्न होनेवाला, कामी और दुर्बल जानुवाला होगा।' कुल बारह राशियाँ होती हैं। इस हिसाब से मोटे तौर पर संसार की जनसंख्या के १२वें भाग की राशि मेष होगी। तो क्या इनमें से कोई भी निर्धन नहीं होता ? क्या वे सभी उदार और धर्मात्मा होते हैं ? दुर्बल जानुवाला शूरवीर कैसे हो सकता है और कामी धार्मिक वृत्तिवाला कैसे हो सकता है ? जिन ईसाई-मुसलमानों की राशि मेष होगी वे ब्राह्मणों की पूजा करनेवाले कैसे हो सकते हैं ?

ज्योतिषियों के घरों में विधुर और विधवाएँ क्यों होती हैं ? उनके घरों में सास-बहू के झगड़े क्यों होते हैं ? उनकी लड़कियाँ ससुराल में दुःख क्यों पाती हैं ?

फलितज्योतिष के अनुसार मुहूर्त्तादि निकलवाकर हिन्दुओं के यहाँ ही विवाह होते हैं। फिर उन्हीं के यहाँ सबसे अधिक विधवाएँ क्यों होती हैं ? यदि आयु निश्चित है तो नाड़ी-वेध में विवाह करने से टल क्यों जाती है ? यदि कर्मरेखा अटल है तो ज्योतिषी के पास जाने का क्या लाभ ? यदि टल नहीं सकती तो किसी प्रकार के उपाय पूछने का क्या लाभ ? यदि टल सकती है तो जन्मपत्री का लेख मिथ्या सिद्ध हो गया। फलितज्योतिष के अनुसार सब-कुछ जन्म के साथ ही निश्चित हो जाता है और निश्चय करनेवाला स्वयं भगवान् है। वही सब जन्मपत्री में लिखा होता है। उसे अन्यथा करने का सामर्थ्य किसी में नहीं। तब उसे जानकर हर समय दुःखी रहने के सिवा और क्या हो सकता है ? इसीलिए ग्रन्थकार ने जन्मपत्र को शोकपत्र कहा है।

रामायण के अनुसार राम और सीता के विवाह का मुहूर्त्त साक्षात्कृतधर्मा महर्षि वसिष्ठ ने निकाला था। राम के राजतिलक का मुहूर्त्त भी उन्होंने ही निश्चित किया था, किन्तु राम और सीता का—विशेषतः सीता का सारा जीवन दुःखों में ही बीता। वास्तव में रामायण-काल में जन्मपत्री मिलाने या मुहूर्त्तादि देखने

https://t.me/arshlibrary

की कोई साक्षी नहीं मिलती। जनक ने तो सीता का विवाह स्वयंवर से किया था। जो भी धनुष् तोड़ देता उसी के साथ सीता का विवाह हो जाता। तब जन्मपत्री मिलाने का प्रश्न ही नहीं उठता। जनक की दूसरी पुत्री उर्मिला का तथा उनके भाई कुशध्वज की दोनों कन्याओं—माण्डवी और श्रुतकीर्ति का विवाह भी वसिष्ठ और विश्वामित्र की सम्मति से महाराज दशरथ के तीन पुत्रों—लक्ष्मण, भरत, और शत्रुघ्न के साथ तत्काल एक ही दिन, एक ही समय में एक ही मण्डप में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में किया गया था। कुण्डलियाँ नहीं मिलाई गयी थीं। यदि जन्मपत्रियों का मिलाना माना जाए और वसिष्ठजी जैसे महर्षि द्वारा मुहूर्त्त का निश्चित किया जाना माना जाए तो एक ही मुहूर्त्त में सम्पन्न कार्य के भिन्न-भिन्न परिणाम क्यों निकले। सीता को वनों में भटकना पड़ा, उर्मिला को पति के रहते वियोग व दुःख सहना पड़ा और माण्डवी को भरत के अयोध्या में रहते हुए भी पतिसुख से वंचित रहना पड़ा।

आजकल प्रचलित ज्योतिष के प्रसिद्ध ग्रन्थ शीघ्रबोध आदि में वर्णित वर्ग, वर्ण, योनिगण आदि के अनुसार राम पुनर्वसुनक्षत्र —देवतागण में उत्पन्न हुए और सीता का नक्षत्र शतभिषज् है—राक्षसगण। देवता और राक्षसगण एक-दूसरे के विरोधी होने से राम और सीता में निरन्तर कलह रहनी चाहिए थी, परन्तु उन दोनों को तो दाम्पत्य जीवन का आदर्श माना जाता है।

प्रतिदिन लाखों लोग बिना मुहूर्त्त पूछे चारों दिशाओं में रेल, बस, विमान आदि से यात्रा करते हैं और प्रायः सभी अपने-अपने लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं। यदि मुहूर्त्तवाली बात सच होती तो प्रतिदिन रेलों, बसों और विमानों आदि की दुर्घटनाएँ होकर लाखों लोग मरने चाहिए थे, पर ऐसा कभी कहीं नहीं होता। नीतिकारों का कथन है—**'शुभस्य शीघ्रम्'** अर्थात् शुभकार्य को तुरन्त कर डालना चाहिए। उसमें किसी प्रकार का विलम्ब नहीं करना चाहिए। शुभ कार्य के लिए मुहूर्त्त की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि शुभकार्य स्वतः शुभ है। इसी प्रकार अशुभ कार्य के लिए भी मुहूर्त्त देखने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि जो स्वतः अशुभ है, किसी भी अवस्था में उससे शुभ परिणाम की आशा नहीं की जा सकती।

यदि शुभाशुभ कार्य में काल को कारण मान लिया जाए तो किसी भी अपराधी को दण्ड नहीं मिलना चाहिए। काल के वशीभूत होने से वह अन्यथा कर ही नहीं सकता था। वास्तव में काल नहीं, मनुष्य की अपनी बुद्धि और सामर्थ्य उसके सुख-दुःख अथवा सफलता-असफलता में कारण होते हैं। महाभारत शान्तिपर्व में लिखा है—

यदिककालेन निर्वाणं सुखं दुःखं भवाभवौ ।
भिषजो भेषजं कर्तुं कस्मादिच्छन्ति रोगिणः ॥
यदि कालेन पच्यन्ते भेषजैः किं प्रयोजनम् ।
यदि कालः प्रमाणं ते कस्माद्धर्मोऽस्ति कर्त्तृषु ॥ —अध्याय १३६
कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालस्य कारणम् ।
इति ते संशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम् ॥ —अध्याय ६६

अर्थ —यदि सुख-दुःख, जीवन-मरण काल से ही होता है तो वैद्य रोगी की चिकित्सा करने की इच्छा क्यों करते हैं? यदि काल से ही सब पकाये जाते हैं तो दवाई से क्या लाभ? यदि तू काल को ही प्रमाण मानता है तो कर्त्ता में धर्म की स्थिति क्यों है, अर्थात् किसी कर्म के लिए कर्त्ता (मनुष्य) क्यों उत्तरदायी है?

काल राजा का कारण है या राजा काल का कारण है, इसमें तुम्हें सन्देह नहीं होना चाहिए। राजा ही काल का कारण है, अर्थात् मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है। अपने कर्म ही उसके सुख-दुःख का कारण हैं।

https://t.me/arshlibrary

मुहूर्त्तसम्बन्धी अन्धविश्वास के कारण भारत को किस प्रकार हानि उठानी पड़ी, इसके केवल दो प्रमाण यहाँ प्रस्तुत हैं—

महमूद गज़नवी ने भारत पर लगातार १७ बार आक्रमण किया। वह जहाँ भी गया मुस्लिमेतरों को तलवार के घाट उतार दिया। मन्दिरों को तोड़ता, नगरों को लूटता और आग लगाता गया। सैकड़ों हिन्दुओं को दास बनाकर गज़नी में तीन-तीन पैसे में बेच डाला। अन्तिम बार उसने काठियावाड़ के प्रसिद्ध सोमनाथ मन्दिर पर आक्रमण किया। महमूद के सैनिकों की तुलना में भारतीय सेना कहीं अधिक शक्तिशाली थी, किन्तु पण्डे-पुजारियों ने अपनी सेना को यह कहकर रोके रक्खा कि अभी तुम्हारी चढ़ाई का मुहूर्त्त नहीं है। एक ने आठवाँ चन्द्रमा बताया, दूसरे ने योगिनी सामने दिखाई। किसी ने कहा कि आप लोग निश्चिन्त रहें, महादेवजी भैरव या वीरभद्र को भेज देंगे और वे सब म्लेच्छों को मार भगाएँगे। जब यवन-सेना ने चारों ओर से घेर लिया तब पुजारियों ने हाथ जोड़कर कहा कि तीन करोड़ रुपया लेलो पर हमारे मन्दिर और मूर्ति को मत तोड़ो। मुसलमानों ने उत्तर दिया, 'हम बुतपरस्त (मूर्तिपूजक) नहीं हैं, किन्तु बुतशिकन (मूर्तिभंजक) हैं।' यह कहकर उन्होंने मन्दिर की ईंट-से-ईंट बजा दी। जब ऊपर की छत टूटी तब चुम्बक-पाषाण पृथक् होने से मूर्ति गिर पड़ी। कहा जाता है कि मूर्ति तोड़ने पर उसमें अठारह करोड़ रुपये के रत्न निकले। कितने ही पण्डे-पुजारियों को गुलाम बनाकर ले गये और गज़नी के बाज़ारों में ३-३ पैसे में बेच दिया। यह थी मुहूर्त की करामात !

बख्त्यार ख़िलजी ने बंगाल पर चढ़ाई की। वहाँ का राजा ज्योतिषियों का अन्धभक्त था। उनसे पूछे बिना वह तिनका भी नहीं तोड़ता था। ख़िलजी को इस बात का पता चल गया। उसने भारी रिश्वत देकर राजज्योतिषियों को फोड़ लिया। राजज्योतिषी ने कह दिया कि अभी लड़ने का मुहूर्त्त नहीं है। लड़ेंगे तो हार जाएँगे और उपाय न देखकर राजा राज्य छोड़कर भाग गया और बख्त्यार ख़िलजी बिना लड़े बंगाल का राजा बन गया।

भारत का वर्त्तमान शासकवर्ग भी इसी प्रकार अविद्याग्रस्त है और उसकी यह अविद्या देश को पतन के गर्त में धकेल रही है।

भविष्य का ज्ञान—जो वस्तु नियम के अनुसार निश्चित हो, उसके भविष्यत्काल को जाना जा सकता है। सूर्योदय व सूर्यास्त का समय, तिथियों और ऋतुओं का परिवर्त्तन, सूर्य व चन्द्रमा का ग्रहण इत्यादि का ज्ञान मनुष्यों को होता है, क्योंकि यह सब पृथिवी, चाँद आदि की नियमित गति पर निर्भर है जो नियम के अनुसार निश्चित है और जिसमें कभी पलभर का भी अन्तर नहीं पड़ता। कारण को देखकर भविष्य के कार्य को भी जाना जा सकता है, जैसे बादलों को देखकर वर्षा होने का अनुमान, सरदी-गरमी की जाँच से आनेवाली आँधी या वर्षा का पूर्वानुमान इत्यादि, किन्तु मनुष्य द्वारा भविष्य में किये जानेवाले कर्मों के बारे में और फिर उनके फलस्वरूप होनेवाले सुख-दुःख के बारे में मनुष्य तो क्या, ईश्वर भी नहीं जान सकता। जीव कर्म करने—**कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्**—में स्वतन्त्र है। जिस कर्म के करने का मैंने संकल्प भी नहीं किया उसे ईश्वर भी नहीं जान सकता। दुर्जनतोषन्याय से यदि हम यह मान लें कि ईश्वर यह जानता है कि आज से आठवें दिन मैं चोरी करूँगा तो प्रश्न उठता है कि मैं अपने चोरी करने के संकल्प को बदल सकता हूँ या नहीं ? यदि बदल सकता हूँ तो ईश्वर का ज्ञान अन्यथा होने से वह ईश्वर नहीं रहा और यदि नहीं बदल सकता तो मेरे काम ईश्वर के ज्ञान में पहले से नियत हैं और अल्पशक्ति होने से मैं वैसा ही करने पर मजबूर हूँ। जिस काम को मैंने स्वेच्छापूर्वक नहीं किया उसका फल भी उसी को भोगना पड़ेगा जिसने वह कार्य बलपूर्वक मुझसे करवाया है। इससे सिद्ध है कि जिन बातों अर्थात् भविष्य में किये जानेवाले कर्मों को सर्वज्ञ ईश्वर भी नहीं जानता, उन्हें कोई अल्पज्ञ मनुष्य कैसे जान सकता है ? अतः

https://t.me/arshlibrary

जन्मपत्री आदि के आधार पर बतायी हुई बातों पर विश्वास नहीं करना चाहिए। यदि घुणाक्षरन्याय से कोई बात सच भी निकल जाए तो उससे सार्वभौम एवं सार्वकालिक सिद्धान्त अन्यथा नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष का अपलाप नहीं किया जा सकता। जब जन्मपत्री में लिखे को अन्यथा होते प्रत्यक्ष देख लिया तो उसपर से बड़े-बड़े ज्योतिषियों का विश्वास हिल गया। महामहोपाध्याय उपाधि से विभूषित पं० सुधाकर द्विवेदी काशी के सबसे बड़े ज्योतिषी माने जाते थे। वे काशी के गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज में ज्योतिषविभाग के अध्यक्ष और एतद्विषयक अनेक ग्रन्थों के रचयिता थे। उनके यहाँ एक कन्या का जन्म हुआ। उसका जन्म-समय आदि लिखकर उन्होंने अपने अनेक मित्रों तथा शिष्यों से उसकी जन्म-कुण्डली बनवाई। सभी ने उसकी जन्मकुण्डली बनाकर भेजी और लिखा कि कन्या का सौभाग्य अटल रहेगा। उन्होंने स्वयं भी एक जन्म-कुण्डली बनाई, उसमें भी यही लिखा था, परन्तु विवाह के ६ महीने बाद ही उनकी लाडली विधवा हो गयी। अब फलितज्योतिष से पण्डितजी का विश्वास सदा के लिए उठ गया। इतना ही नहीं, काशी के टाउनहाल में उन्होंने फलित ज्योतिष के विरुद्ध जोरदार व्याख्यान दिया और सब ज्योतिषियों को उसे सत्य सिद्ध करने का चैलेंज दिया, परन्तु जब कोई भी सामने न आया तो उन्होंने घोषणा करदी कि फलितज्योतिष पर मेरा विश्वास नहीं रहा। मैं इसे खेल समझता हूँ। ज्योतिषी लोग वाग्जाल से जनता का धन लूटते हैं।

पं० बलदेव प्रसाद सिन्धिया सरकार के ज्योतिषी थे। समूचे महाराष्ट्र में उनका सिक्का चलता था। अपनी कन्या के विवाहयोग्य होनेपर वर और कन्या की जन्मपत्रियों का अच्छी तरह मिलान करके बड़े ही शुभ मुहूर्त्त में विवाह सम्पन्न कराया, परन्तु वर्ष या महीनों की कौन कहे, कुछ ही दिनों में वह विधवा हो गयी। पण्डितजी ने सिर पीट लिया। उसी दिन फलितज्योतिष-सम्बन्धी समस्त ग्रन्थों और पंचांगों को नदी में फेंककर अपना ज्योतिष का धन्धा बन्द कर दिया। उन्होंने सोचा कि जिन शास्त्रों के आधार पर मैं अपनी प्राणप्यारी इकलौती सन्तान का भविष्य न जान सका, उनसे दूसरों के भविष्य को जानने का दावा कैसे कर सकता हूँ ?

पं० सूर्यनारायणजी व्यास उज्जैन के बहुत बड़े माने हुए ज्योतिषी थे। उन्होंने अपनी प्रिय पुत्री का विवाह जन्मपत्री मिलाकर बड़े शुभ मुहूर्त्त में किया। कुछ ही दिन पश्चात् वह विधवा हो गयी और ८५ वर्ष का लम्बा वैधव्य जीवन बिताकर परलोक सिधारी।

श्री वेदव्रत मीमांसक ने इस विषय से सम्बन्धित एक रोचक घटना का वर्णन इस प्रकार किया है—

निम्बाहेड़ा (राजस्थान) में वर्धमान प्रिंटिंग प्रेस के निकट एक विशाल हवेली में रहते हैं श्रीमान् .....। पं० बलदेव प्रसाद नामक सुप्रसिद्ध ज्योतिषी से उनकी जन्मपत्री बनवाई गयी थी, जिसमें उनके जीवन का भविष्य बताते हुए लिखा था कि आयु के ६२ वर्ष ४ महीने २१ दिन बीतने पर २२वें दिन उनकी मृत्यु हो जाएगी। इस लिखित भविष्यवाणी के अनुसार मृत्यु का समय निकट आनेपर उन्होंने माला हाथ में लेली और निरन्तर रामनाम का जप करने लगे। कुछ वर्ष पहले कुण्डली में लिखे जून १९६२ ईसवी में जब मैं किसी काम से वहाँ पहुँचा तब उनके हाथ में माला देखकर सहज जिज्ञासा से पूछ बैठा कि आप कितने वर्षों से इस प्रकार माला फिरा रहे हैं। इसके उत्तर में उन्होंने जो कुछ कहा उसका आशय यह था कि अपनी मृत्युतिथि से डरकर उसी दिन उन्होंने माला हाथ में उठाई थी, ग्यारह वर्ष हो गये, अब तक नहीं छूटी।.....

कुछ भी हो, यहाँ तो मैं सिर्फ इतना कहना चाहता हूं कि एक सुप्रसिद्ध ज्योतिषी के द्वारा घोषित मृत्युतिथि को निकले लगभग १४ वर्ष बीत चुके हैं। फिर भी अब तक (जून १९७५) श्रीमान्जी स्वस्थरूप में जीवित हैं।

https://t.me/arshlibrary

"जो हम मन्त्र पढ़के डोरा वा यन्त्र बना देवें, तो हमारे देवता और पीर उस मन्त्र-यन्त्र के प्रताप से उसको कोई विघ्न नहीं होने देते"। उनको वही उत्तर देना चाहिए कि—"क्या तुम मृत्यु, परमेश्वर के नियम और कर्मफल से भी बचा सकोगे ? तुम्हारे इस प्रकार करने से भी कितने ही लड़के मर जाते हैं, और तुम्हारे घर में भी मर जाते हैं। और क्या तुम मरण से बच सकोगे ?" तब वे कुछ भी नहीं कह सकते और वे धूर्त्त जान लेते हैं कि यहाँ हमारी दाल नहीं गलेगी।

इससे इन सब मिथ्या व्यवहारों को छोड़कर धार्मिक, सब देश के उपकारकर्त्ता, निष्कपटता से सब को विद्या पढ़ानेवाले उत्तम विद्वान् लोगों का प्रत्युपकार करना जैसा वे जगत् का उपकार करते हैं। इस काम को कभी न छोड़ना चाहिए। और जितनी लीला रसायन-मारण-मोहन-उच्चाटन-वशीकरण आदि करना कहते हैं उनको भी महापामर समझना चाहिए। इत्यादि मिथ्या बातों का उपदेश बाल्यावस्था ही में सन्तानों के हृदय में डाल दें कि जिससे स्वसन्तान किसी के भ्रमजाल में पड़के दुःख न पावें।

[वीर्य-रक्षा के लाभ, और वीर्य-नाश से हानि]

और वीर्य की रक्षा में आनन्द, और नाश करने में दुःख-प्राप्ति भी जना देनी चाहिए। जैसे—"देखो,

---

'कहीं भी सारे महाभारत में एक स्थान पर भी जन्म-पत्रिका का वर्णन नहीं आया है। इससे सिद्ध हुआ कि फलित ज्योतिष की जड़ कहीं भी आर्षविद्या में नहीं है।' (पूना-प्रवचन—छठा उपदेश)

मन्त्र-तन्त्र-डोरे—**'मत्रि गुप्तभाषणे'** से मन्त्र शब्द बना है। निरुक्त के अनुसार **'मननान्मन्त्रः'** (७।१२)मनन का फल मन्त्र है। सुविचारित जिस बात को जनसाधारण समझ नहीं पाते उसे मन्त्र, रहस्य या जादू कह देते हैं। शतपथ (६।४।१।७) में वाणी को भी मन्त्र कहते हैं—**'वाग्वै मन्त्रः'**। इससे विचार-विद्या और वाग्विद्या का नाम मन्त्र है। सहसा प्रभावकारी अनुष्ठान या प्रयोग को हम मन्त्र कहते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ अथर्ववेद के अन्तर्गत सर्पविषचिकित्सा से सम्बन्धित एक मन्त्र प्रस्तुत करते हैं—

ददिर्हि मह्यं वरुणो दिवः कविर्वचोभिरुग्रैर्नि रिणामि ते विषम्।
खातमखातमुत सक्तमग्रभमिरेव धन्वन्नि जजास ते विषम्॥ —अ० ५।१३।१०

इस मन्त्र में सर्पविष और उसकी चिकित्सा से सम्बन्धित दो महत्वपूर्ण बातें कहीं गयी हैं। एक यह कि सर्प के काटे के घाव तीन प्रकार के होते हैं—खात, अखात और सक्त। सुश्रुत आदि ग्रन्थों में इन्हें क्रमशः सर्पित, रुदित तथा सर्पांगाभिहत कहा है। जब सर्प के काटे का घाव गहरा हो—सर्पदन्त मांस में गहरे गढ़े हों, रक्त बाहर आगया हो, घाव का रंग नीला हो और आसपास सूजन हो अर्थात् साँप के काटे के पूरे लक्षण हों, तो वह 'खात' या 'सर्पित' कहाता है। जब घाव गहरा न हो और साँप के दातों का लाल-नीली रेखाओं के रूप में चिह्नमात्र हो, तो वह 'अखात' या 'रुदित' कहाता है और जब सर्प के अंगों के स्पर्श से त्वचा के ऊपर संसर्गमात्र जान पड़े तो वह 'सक्त' या 'सर्पांगाभिहत' कहाता है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात आश्वासन चिकित्सा से सम्बन्धित है। सर्पविष और उसकी चिकित्सा का वर्णन अथर्ववेद में बड़े विस्तार से मिलता है। सर्पविष को हटानेवाले सूक्तों व मन्त्रों का देवता तक्षक अर्थात् सर्प है और ऋषि गरुत्मान् अर्थात् गरुड़ के समान विष को निःसत्व करनेवाला सर्पविषचिकित्सक यौगिक नाम से है। ग्रामों में कहीं-कहीं आज भी सर्पविषचिकित्सक को गरुड़िया या गारुड़ी कहते हैं।

सभी सर्पाचार्य इस विषय में एकमत हैं कि सर्पों में ५ प्रतिशत सर्प ही ऐसे हैं, जिनके काटने से आदमी मर जाता है। इनमें भी—

https://t.me/arshlibrary

जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है, तब उसको आरोग्य-बुद्धि-बल-पराक्रम बढ़के बहुत सुख की प्राप्ति होती है। इसके रक्षण में यही रीति है कि—"विषयों की कथा, विषयिलोगों का संग, विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्तसेवन, संभाषण और स्पर्श आदि कर्म से ब्रह्मचारी लोग पृथक् रहकर उत्तम शिक्षा और पूर्ण विद्या को प्राप्त होवें। जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता, वह नपुंसक, महाकुलक्षणी; और जिसको प्रमेह रोग होता है वह दुर्बल-निस्तेज-निर्बुद्धि-उत्साह-साहस-धैर्य-बल-पराक्रमादिगुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है। जो तुम लोग सुशिक्षा और विद्या के ग्रहण, वीर्य की रक्षा करने में इस समय चूकोगे, तो पुनः इस जन्म में तुमको यह अमूल्य समय प्राप्त नहीं हो सकेगा। जब तक हम लोग गृहकर्मों के करनेवाले जीते हैं, तभी तक तुमको विद्याग्रहण और शरीर का बल बढ़ाना चाहिए।'

इसी प्रकार की अन्य-अन्य शिक्षा भी माता और पिता करें। इसीलिए 'मातृमान् पितृमान्' शब्द का ग्रहण उक्त वचन[1] में किया है अर्थात् जन्म से ५वें वर्ष तक बालकों को माता, ६ठे वर्ष से ८वें वर्ष

'तथातिवृद्धबालाभिर्दष्टमल्पविषम् ।'

'नकुलाकुलिता बाला वारिविप्रहताः ।'

'वृद्धा मुक्तत्वचो भीताः सर्पास्त्वल्पविषाः स्मृताः ।' —सुश्रुत कल्पस्थान ४।१६,३२

उपर्युक्त कारणों से असमर्थ होने के कारण सर्प अल्पविष हो जाते हैं। इन थोड़े-से सचमुच विषैले साँपों के काटने पर भी उक्त तीन प्रकार के घाव होते हैं। उनमें से सक्त या सर्पांगाभिहत सर्वथा निर्विष तथा अखात या रदित अल्पविष होते हैं। केवल खात या सर्पित ही घातक सिद्ध होते हैं, किन्तु इन तथ्यों से अपरिचित होने के कारण अधिकांश लोग सर्पदंश के भय से मर जाते हैं। जब ५ प्रतिशत से भी कम साँप विषैले हों और उनमें भी १-२ प्रतिशत ही खात या सर्पित घाव कर पाते हों तो लगभग ६८ प्रतिशत लोगों की मृत्यु का कारण सर्पविष न होकर सर्पदंश का भय ही सिद्ध होता है। ऐसी अवस्था में उन्हें यदि उनके विश्वास के अनुसार कोई चिकित्सक मिल जाए तो उनमें से अधिसंख्य मन्त्र पढ़ने अर्थात् आश्वासन मिलने मात्र से (**कुर्यादाश्वासनं बुधः**—चरक अ० २३।२१८-१६) ठीक हो जाते हैं। आश्वासन से रोगी का आधा रोग दूर हो जाता है। डूबते हुए को किसी अच्छे तैराक का यह कहना कि 'घबराना नहीं, मैं आ गया हूँ, तुझे डूबने नहीं दूँगा' डूबते मनुष्य के भीतर उत्साह की बिजली दौड़ा देता है और उसमें हाथ-पैर मारने की शक्ति आ जाती है। इसी को मन्त्रविद्या या वशीकरण कहते हैं।

वीर्यरक्षा—मनुष्य आँखों से जो कुछ देखता है, कानों से सुनता है उसी का मन से चिन्तन करता है। इन सबसे उसके जो संस्कार बनते हैं उनसे उसका चरित्र-निर्माण होता है। बचपन के संस्कार सबसे प्रबल और स्थायी होते हैं, इसलिए ग्रन्थकार ने माता-पिता को सावधान किया है। हमारे समाज का उच्च वर्ग ही नहीं, मध्यम वर्ग भी जिस प्रकार के वातावरण में जी रहा है, उसके फलस्वरूप वह अपनी प्राचीन सभ्यता, संस्कृति तथा मान्यताओं को पिछड़े वर्ग का प्रतीक मानकर क्लबों में मांस, मदिरा और रमणी में लिप्त रहने को जीवन का चरम लक्ष्य मान रहा है। धीरे-धीरे वही वातावरण घरों का बनता जा रहा है। ऐसे घरों में विलास के सभी उपकरण—टी.वी., रेडियो, वी.सी.आर. आदि सहज उपलब्ध हैं। अश्लील उपन्यास, अर्धनग्न ही नहीं नग्न स्त्रियों के चित्रों से विभूषित फिल्मी पत्रिकाएँ आदि ऐसे घरों की शोभा हैं। बच्चे और बच्चों के माता-पिता, भाई-बहन वह सब-कुछ पढ़ते, देखते-सुनते और प्रसन्न होते हैं। बाजारों में, चौराहों पर भी इसी प्रकार के दृश्य देखने को मिलते हैं। कच्ची उम्र के लड़के-लड़कियों को स्वच्छन्द विचरते, सड़कों, गलियों और पार्कों में यत्र-तत्र-सर्वत्र देखा जा सकता है। अश्लील

https://t.me/arshlibrary

तक पिता शिक्षा करे। और ६वें वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों[2] का उपनयन करके आचार्य्यकुल में, अर्थात् जहाँ पूर्ण विद्वान् और पूर्ण विदुषी स्त्री शिक्षा और विद्यादान करनेवाली हों, वहाँ लड़के और लड़कियों को भेज दें और शूद्रादिवर्ण उपनयन किये विना विद्याभ्यास के लिए गुरुकुल में भेज दें।

[सन्तानों के लालन में हानि, ताड़न में लाभ]

उन्हीं के सन्तान विद्वान्, सभ्य और सुशिक्षित होते हैं, जो पढ़ाने में सन्तानों का लाड़न कभी नहीं करते, किन्तु ताड़ना ही करते रहते हैं। इसमें व्याकरण 'महाभाष्य' (८।१।८) का प्रमाण है—

'सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः ।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः ॥'

अर्थः—जो माता-पिता और आचार्य्य सन्तान और शिष्यों का ताड़न करते हैं, वे जानों अपने सन्तान

हाव-भावों का प्रदर्शन करते हुए बारातों में सम्मिलित स्त्री-पुरुषों का शराब पीकर बैण्ड की धुन पर सड़कों पर थिरकना आम बात हो चली है। ऐसी अवस्था में वीर्यरक्षा कैसे हो सकती है ? व्यभिचार, बलात्कार, हत्याएँ, नई-नई बीमारियाँ इसका परिणाम है, जो समाज और राष्ट्र को सर्वनाश की ओर धकेल रहा है।

शूद्र का उपनयन नहीं—'शुद्रादि' में आदि पद से अतिशूद्र अथवा निषादादि अभिप्रेत हैं। जब तक बच्चे छोटे होते हैं अथवा विद्याध्ययन की समाप्ति पर उनका अपना वर्ण निश्चित नहीं हो जाता तब तक उनके सब संस्कार आदि पारिवारिक परिवेश के अनुसार ही होते हैं। द्विजों के घर में सभी संस्कार यथावत् होते रहते हैं, इसलिए वे अपनी कुल-परम्परा के अनुसार समय पर उपनयन-संस्कार कराके गुरुकुल में पढ़ने भेजेंगे। शूद्र, अतिशूद्र आदि साधारणतया अनपढ़ होते हैं। परिणामतः ब्राह्मणादि के बालकों के समान उनके बालकों का विकास नहीं हो पाता। उनके घरों में कोई कर्मकाण्ड भी नहीं होता। इसलिए वहाँ विधिवत् उपनयन संस्कार नहीं हो पाता, परन्तु इस कारण उसे पढ़ने-लिखने का अवसर भी न देना न्यायोचित नहीं है। इसलिए उपनयन के बिना भी उसे गुरुकुल में विद्याध्ययन के लिए भेजने का प्रावधान किया है। अवसर दिये जानेपर भी यदि उसे कुछ नहीं आएगा तो उसे शूद्र समझा जाएगा, अन्यथा द्विज सन्तानों की भाँति जिस वर्ण के अनुरूप उसके गुण-कर्म-स्वभाव होंगे, परीक्षोपरान्त तदनुसार उसका वर्ण घोषित कर दिया जाएगा। इसका निश्चय गुरुकुल से स्नातक बनते समय होगा—ऐसा निर्देश स्वयं ग्रन्थकार ने चतुर्थ समुल्लास में इन शब्दों में किया है—"यह गुण-कर्मों से वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष और पुरुषों की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिए।"

परन्तु यज्ञोपवीत के बिना गुरुकुल में रहते हुए शूद्र का बालक अपने प्रति हीनभावना से ग्रस्त रहेगा और यज्ञोपवीतधारी उसके द्विजकुलोत्पन्न सहाध्यायी भी उसे हेय दृष्टि से देखा करेंगे। वहाँ यह भेदभाव हमें ठीक प्रतीत नहीं होता।

दण्डव्यवस्था—दण्डव्यवस्था का विवेचन करते समय दो विचारधाराएँ हमारे सामने उभरकर आती हैं। कुछ लोग दण्ड और भय का इतना प्रयोग करते हैं कि बालक विद्यालय जाने के नाम से काँपने लगता

---

१. अर्थात् पूर्व उक्त 'मातृमान् पितृमानाचार्य०' आदि वचन।

२. सन्तान' पद बालक-बालिका दोनों का वाचक है। इसलिए बालिका का भी उपनयन यहाँ विहित जानना चाहिए।

https://t.me/arshlibrary

और शिष्यों को अपने हाथ से अमृत पिला रहे हैं, और जो सन्तानों वा शिष्यों का लाड़न करते हैं, वे अपने सन्तानों और शिष्यों को विष पिलाके नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं क्योंकि लाड़न से सन्तान और शिष्य दोषयुक्त, तथा ताड़ना से गुणयुक्त होते हैं। और सन्तान और शिष्यलोग भी ताड़ना से प्रसन्न, और लाड़न से अप्रसन्न सदा रहा करें, परन्तु माता-पिता तथा अध्यापक लोग ईर्ष्या-द्वेष से ताड़न न करें, किन्तु ऊपर से भयप्रदान और भीतर से कृपादृष्टि रक्खें।

है। इसका उसके शारीरिक स्वास्थ्य तथा मानसिक विकास दोनों पर कुप्रभाव पड़ता है। वह अपना आत्मसम्मान खो बैठता है और सबको अपना शत्रु समझने लगता है। दूसरी ओर वे माता-पिता हैं जो बच्चे के अपराध करने पर उसे हँसकर टाल देते हैं। बच्चा किसी बड़े से अशिष्ट व्यवहार कर दे या उसका अपमान करे तो उसे डाँटने की बजाय उलटा प्रसन्न होते हैं। अश्लील बातें या हावभाव करने पर, सिनेमा के गन्दे गीत गाने या नृत्य पर उसे प्रोत्साहित करते हैं। तथोक्त बड़े घरों में अध्यापक को तिरस्कारपूर्ण शब्दों में स्मरण किया जाता है, जबकि बच्चे को आदर मिलता है।

ग्रन्थकार का स्पष्ट मत है कि उन्हीं की सन्तान विद्वान्, सभ्य और सुशिक्षित होती है जो सन्तानों का लाड़न नहीं करते, किन्तु ताड़ना करते रहते हैं। वे लिखते हैं—'जब कभी बालक कोई बुरी चेष्टा करे, मलिनता, मैले वस्त्रधारण, उठने-बैठने में विपरीताचरण, निन्दा, ईर्ष्या, चोरी-जारी, अनभ्यास, आलस्य, अतिभोजन, अतिजागरण, अतिनिद्रा, व्यर्थ खेलना, इधर-उधर अण्ट-सण्ट मारना, विषय-सेवन, बुरे व्यवहारों की कथा करना व सुनना, दुष्टों के संग बैठना आदि दुष्ट व्यवहार करे तो उसे यथापराध कठिन दण्ड देवें। आचार्य लोग अपने विद्यार्थियों को विद्या और सुशिक्षा देने के लिए प्रेमभाव से अपने हाथों से ताड़ना करते हैं, क्योंकि सन्तान और विद्यार्थियों का जितना लालन करना है, उतना ही उनके लिए बिगाड़ और जितनी ताड़ना करनी है उतना ही उनके लिए सुधार है, परन्तु ऐसी ताड़ना न करें जिससे अङ्गभङ्ग वा मर्म में लगने से विद्यार्थी वा लड़के-लड़की लोग व्यथा को प्राप्त हो जाएँ।'—व्यवहारभानु

वस्तुतः दण्ड-व्यवस्था के अभाव में सारी व्यवस्था शिथिल हो जाती है और व्यक्ति को मनमानी करने का अवसर मिलता है। अपराध का दण्ड न मिलने पर अपराधी को बार-बार वैसा ही करने को प्रोत्साहन मिलता है। मनु ने **'दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः'** तुलसी ने **'भय बिन प्रीत न होय'** तथा कबीर ने **'भय पारस है जीव को'** कहकर बालकों के पालन-पोषण तथा शिक्षण में समुचित दण्डव्यवस्था की आवश्यकता पर बल दिया है। ग्रन्थकार की मान्यता है—"जो बुरी चेष्टा देखकर लड़कों को न घुड़कते और न दण्ड देते हैं, वे क्योंकर माता-पिता और आचार्य हो सकते हैं ?' —व्यवहारभानु

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आँख मूँदकर दण्डव्यवस्था लागू की जाए। अध्यापक का अपने शिष्य के साथ तादात्म्य व हित की भावना न होनेपर दण्डव्यवस्था पूर्ण फलदायी नहीं होती। वस्तुतः दण्ड तभी फलदायी होता है जब दण्ड देनेवाले के हृदय में पूर्ण हित की भावना हो और बालक या विद्यार्थी को इसका विश्वास हो। ग्रन्थकार के गुरु दण्डी स्वामी विरजानन्दजी का स्वभाव उग्र था। कभी-कभी क्रुद्ध होकर वे शिष्यों के हाथ पर लाठी भी जमा देते थे। एक बार ग्रन्थकार की भी बारी आगयी। कहते हैं लाठी की उस चोट का निशान मरणपर्यन्त उनके हाथ पर बना रहा, जिसे देखकर वे उसे गुरु का प्रसाद मानते हुए प्रसन्न हो उठते थे। उन्हें गुरु के उपकारों का स्मरण हो आता और कृतज्ञतापूर्ण आनन्द से उनके नेत्र सजल हो उठते थे। अपनी अनुभूति के आधार पर ही वे यह लिख सके कि "शिष्य लोग भी ताड़ना से प्रसन्न और लाड़न से अप्रसन्न सदा रहा करें।'

https://t.me/arshlibrary

[चोरी आदि के त्याग, और सत्याचार-ग्रहण की शिक्षा]

जैसी अन्य शिक्षा की, वैसी चोरी-जारी, आलस्य-प्रमाद, मादक-द्रव्य, मिथ्याभाषण, हिंसा-क्रूरता, ईर्ष्या-द्वेष-मोह आदि दोषों के छोड़ने, और सत्याचार के ग्रहण करने की शिक्षा करें, क्योंकि जिस पुरुष ने जिसके सामने एक बार चोरी-जारी, मिथ्याभाषणादि कर्म किया, उसकी प्रतिष्ठा उसके सामने मृत्युपर्य्यन्त नहीं होती। जैसी हानि प्रतिज्ञा मिथ्या करनेवाले की होती है, वैसी अन्य किसी की नहीं। इससे जिसके साथ जैसी प्रतिज्ञा करनी, उसके साथ वैसे ही पूरी करनी चाहिए, अर्थात् जैसे किसी ने किसी से कहा कि—'मैं तुमको वा तुम मुझसे अमुक समय में मिलूँगा वा मिलना, अथवा अमुक वस्तु अमुक समय में तुमको मैं दूँगा', इसको वैसा ही पूरी करे। नहीं तो उसकी प्रतीति[1] कोई भी न करेगा। इसलिए सदा सत्यभाषण और सत्यप्रतिज्ञायुक्त सबको होना चाहिए।

[अभिमान से हानि]

किसी को अभिमान करना योग्य नहीं, क्योंकि **'अभिमानः श्रियं हन्ति'** यह विदुरनीति का वचन है। जो अभिमान अर्थात् अहंकार है वह सब शोभा और लक्ष्मी का नाश कर देता है। इस वास्ते अभिमान करना न चाहिए।

आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता व शिक्षाशास्त्री दण्ड के औचित्य को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार इससे बालक के मन में अनेक प्रकार की कुण्ठाओं के उत्पन्न होने की सम्भावना है। यह सच है कि यदि दण्ड विवेकपूर्वक न दिया जाए तो वह दण्ड बालक के सर्वनाश का कारण बन सकता है, पर यह भी उतना ही बड़ा सत्य है कि दण्डव्यवस्था सर्वथा समाप्त हो जाए तो छात्र के उद्दण्ड एवं उच्छृंखल हो जाने की भी आशंका रहती है, अतः शास्त्रकारों ने छात्र के सुधार के लिए उसे आवश्यक माना है।

प्रतिज्ञा-पालन—प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—"प्रथम तो विचार करके प्रतिज्ञा करनी चाहिए। जब प्रतिज्ञा की तब उसका पालन यथावत् करना चाहिए। जैसा कहे, वैसा ही प्रतिज्ञा-पालन अवश्य करै, अन्यथा कभी न करै। प्रतिज्ञा की जो हानि है सो मनुष्य का महादोष है।"

प्रतिज्ञानुसार कार्य करने और यथासमय करने का अभ्यास शैशवावस्था से न कराया जाए तो भावी जीवन में वैसा करना बड़ा कठिन हो जाता है। इसके अभाव में समाज का व्यवहार नहीं चल सकता, इस विषय में ग्रन्थकार की भावना कितनी प्रबल थी, यह उन्होंने स्वरचित वेदभाष्य में अनेकत्र व्यक्त किया है। यजुर्वेद अध्याय नौ के १२वें मन्त्र के भावार्थ में वे लिखते हैं—"राजा, उसके नौकर, प्रजापुरुषों को उचित है कि अपनी प्रतिज्ञा और वाणी को कभी असत्य न होने दें। जितना कहें उतना ठीक-ठीक करें। जिसकी वाणी सब काल में सत्य होती है, वही पुरुष राज्याधिकार के योग्य होता है। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक उन राजा और प्रजा के पुरुषों का विश्वास और वे सुखों को नहीं बढ़ा सकते।" पुनः यजुर्वेद अध्याय ४० के तीसरे मन्त्र के भाष्य में उन्होंने लिखा है—"वे ही मनुष्य असुर, दैत्य, राक्षस तथा पिशाच आदि हैं जो आत्मा में और जानते, वाणी से और बोलते और करते कुछ और ही हैं और जो आत्मा, मन, वाणी और कर्म में निष्कपट एक-सा आचरण करते हैं वे देव सब जगत् को पवित्र करते हुए इस लोक और परलोक में अतुल सुख भोगते हैं।" मनुष्य का कर्त्तव्य है कि पहले भली प्रकार सोच-विचार कर कुछ कहे और तत्पश्चात् जो कहा है उसे कार्यान्वित अवश्य करे।

---

१. अर्थात् विश्वास

https://t.me/arshlibrary

[छल-कपट-कृतघ्नता से हानि]

छल, कपट वा कृतघ्नता से अपना ही हृदय दुःखित होता है, तो दूसरे की क्या कथा कहनी चाहिए ? **'छल'** और **'कपट'** उसको कहते हैं कि जो भीतर और बाहर और रख दूसरे को मोह में डाल, और दूसरे की हानि पर ध्यान न देकर स्वप्रयोजन सिद्ध करना। **'कृतघ्नता'** उसको कहते हैं कि किसी के किये हुए उपकार को न मानना।

[सामान्य व्यवहार की शिक्षा]

क्रोधादि दोष और कटुवचन को छोड़ शान्त और मधुर वचन ही बोले, और बहुत बकवाद न करे। जितना बोलना चाहिए, उससे न्यून या अधिक न बोले। बड़ों को मान्य दे, उनके सामने उठकर जाके उन्हें उच्चासन पर बैठावे। प्रथम **'नमस्ते'** करे। उनके सामने उत्तमासन पर न बैठे। सभा में वैसे स्थान पर बैठे जैसी अपनी योग्यता हो, और दूसरा कोई न उठावे। विरोध किसी से न करे। सम्पन्न होकर गुणों का

कृतघ्नता—कृतघ्नता बहुत बड़ा पाप है—इतना बड़ा कि इसका कोई प्रायश्चित्त भी सम्भव नहीं—**कृतघ्नस्य नास्ति निष्कृतिः**।

वाल्मीकि रामायण के अनुसार—

कृतार्था ह्यकृतार्थानां मित्राणां न भवन्ति ये।
तान् मृतानामपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते ॥—कि० का० ३०।७३

अर्थ—जो अपना स्वार्थ सिद्ध हो जानेपर, जिनके कार्य पूरे नहीं हुए हैं, उनकी कार्यसिद्धि में सहायक नहीं होते, उन कृतघ्न लोगों के मरने पर मांसाहारी जन्तु भी उनका मांस नहीं खाते।

यह अर्थवाद है, जिससे कृतघ्नता की पापातिशयता प्रकट होती है।

शैक्सपीयर ने अपने नाटक King Lear में कृतघ्नता का विवेचन करते हुए लिखा है—

Ingratitude ! thou marble hearted fiend, more hideous than the sea monster, when thou showest thee in a child.

कृतघ्नते! तू पाषाणहृदय राक्षस के समान है—समुद्री दानव से भी अधिक विकराल है, जब तू बालक के रूप में प्रकट होती है।

How sharper than a serpent's teeth it is to have a thankless child.

कृतघ्न सन्तान साँप के वेषैले दाँतों से भी तीव्र वेदना देनेवाली होती हैं।

Filial ingratitude, is it not like the mouth cutting the hand for lifting food to it. ?

यदि सन्तान कृतघ्न हो जाए तो यह ऐसा ही है जैसे मुँह उसमें रोटी डालनेवाले हाथ को काट ले।

सामान्य व्यवहार—

अनाहूतः प्रविशति ह्यपृष्टो बहु भाषते।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥—महा० उद्योगपर्व

जो बिना बुलाये सभा में जाए या किसी के घर में प्रविष्ट हो, उच्चासन पर बैठने की चेष्टा करे, बिना पूछे सभा में बोलता जाए, जो विश्वास के योग्य नहीं है, उस मनुष्य मे विश्वास करे वह मूढ़ और नीच मनुष्य होता है।

https://t.me/arshlibrary

यदि सभा में चला जाए तो किस प्रकार व्यवहार करे, इस विषय में मनु का निर्देश है—

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम् ।
अब्रुवन्विब्रुवन्वाऽपि नरो भवति किल्बिषी ॥ —मनु० ८।१३

मनुष्य को योग्य है कि सभा में प्रवेश न करे। यदि प्रवेश करे तो सत्य ही बोले। यदि सभा में बैठा हुआ भी असत्य बात को सुनके मौन रहे अथवा सत्य के विरुद्ध बोले तो वह अतिपापी है।

समाज में एक दूसरे के प्रति किस प्रकार व्यवहार करें, इस विषय में ग्रन्थकार ने सातवें नियम में लिखा है—"सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य वर्तना चाहिए।" समान्य नियम सबसे प्रीतिपूर्वक व्यवहार करने का है, किन्तु देश, काल और पात्र को ध्यान में रखते हुए यथायोग्य व्यवहार का भी निर्देश कर दिया गया है। पर 'यथायोग्य' को धर्म की सीमा में बाँध दिया गया है।

नमस्ते—परस्पर अभिवादन के लिए 'नमस्ते' करना ही शास्त्रसम्मत है। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत तथा पुराणादि ग्रन्थों में सर्वत्र इसी का विधान किया है। अन्य जितने भी पद वर्त्तमान में प्रचलित हैं, वे सब अशास्त्रीय एवं कपोलकल्पित हैं। हमारे पूर्वपुरुष सदा से 'नमस्ते' का ही प्रयोग करते आये हैं। अपने कथन की पुष्टि में हम यहाँ कतिपय प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

यजुर्वेद के १६वें अध्याय के दो मन्त्र इस प्रकार हैं —

नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च
नमो वृद्धाय च सवृधे च नमोऽग्र्याय च प्रथमाय च ॥३०॥
नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापरजाय च
नमो मध्यमाय चापगलभाय च नमो जघन्याय च बुध्न्याय च ॥३२॥

मन्त्रार्थ के लिए इनसे पहले एक मन्त्र के आरम्भ में आये **'नमस्ते आयुधाय'** इत्यादि के नमस्ते पद में से 'ते' का अनुकर्षण करना चाहिए। इन मन्त्रों के अन्वयार्थ से स्पष्ट है कि यहाँ छोटे, बड़े और बराबरवाले सबके लिए नमस्ते शब्द से अभिवादन का निर्देश किया गया है। महीधर और उव्वट ने भी इन मन्त्रों का अर्थ इसी प्रकार किया है। इस अध्याय के १४वें मन्त्र के अन्तर्गत 'नमस्ते' का अर्थ इस प्रकार किया है—**'नमस्ते नमोऽस्तु ते।'**

कठोपनिषद् में गुरुवर यमाचार्य नचिकेता को कहते हैं—**"नमस्ते ब्रह्मन् ! स्वस्ति मेऽस्तु।"** १।६

ब्रह्मवादिनी गार्गी महर्षि याज्ञवल्क्य का अभिवादन करती है—

"सा होवाच, नमस्ते याज्ञवल्क्याय।" शत० १४।६।८।५

राजर्षि विश्वामित्र ने ब्रह्मर्षि वसिष्ठ से उनके आश्रम से विदा होते समय कहा—

"नमस्तेऽस्तु गमिष्यामि मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा।"—वा०रा० बा० ५२।१७

शकुनि मामा अपने भानजे युधिष्ठिर से—

"ज्येष्ठो राजन् वरिष्ठोऽसि नमस्ते भरतर्षभ।" —महा० सभा० ८१।३०

श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र से—**"एतत् सर्वमनुध्याय .....नमस्ते भरतर्षभ।"** —महा० शा० प० ३३।५३

युधिष्ठिर श्रीकृष्ण से—**"नमस्ते पुण्डरीकाक्ष पुनः पुनररिंदम।"**— शा० प० ४३।३

कौसल्या अपने पुत्र राम से —**"देव देव नमस्तेऽस्तु।"** अध्यात्मराम० बाल० ३।२०

हिमवान्जी अपनी पुत्री पार्वती से—**"नमस्तेऽस्तु महादेवी नमस्ते परमेश्वरी।"** कूर्मपु० १२।२३६

नमस्ते के उत्तर में नमस्ते —

https://t.me/arshlibrary

राम उवाच—"**नमस्ते देव देवेश भक्तानामभयंकर ।**"
उत्तर में महादेव—"**श्वेतं द्वीपं स्वकं स्थानं व्रज देव नमोऽस्तु ते (नमः+ते=नमस्तेऽस्तु)।**"
—पद्मपु० सृ० ख० ४०/१५५, १३६

सावित्री—"**देव! नमोऽस्तु ते ।**"
ब्रह्माजी—"**पादयोः पतितस्तेऽहं क्षमस्वेह नमोऽस्तु ते ।**" तदेव १७।१४७-१५७
श्वसुर दक्ष अपने जामाता **महादेवजी से**—"**नमो दिक्चर्मवस्त्राय नमस्ते तीव्रतेजसे ।**"
—प० पु० सृ० ख० ५।८०

ब्रह्माजी की भूल से यज्ञ के समय उनकी धर्मपत्नी रुष्ट हो गयी । रुष्ट सावित्री को मनाने के लिए उन्होंने विष्णु और लक्ष्मी को भेजा । ब्रह्माजी की आज्ञा से वे दोनों सावित्री को मनाने गये । सावित्री ने जब उन दोनों को आते देखा तो जल्दी से खड़ी हो गयी—

'**उत्तस्थौ सत्वरा भूत्वा**'। तब विष्णुजी बोले—
"**नमस्ते देव देवेशि ब्रह्मपत्नि नमोऽस्तु ते**"।
हे ब्रह्मपत्नी सावित्रीजी ! नमस्ते ।

विष्णुजी आयु में सावित्री से बड़े और रिश्ते में श्वसुर थे और प्रभावशाली थे । इसीलिए सावित्री को मना लाने का काम ब्रह्माजी ने उन्हें और लक्ष्मी को सौंपा था, परन्तु वहाँ जाकर वे बातों में लग गये । देरी होती देख ब्रह्माजी ने शंकर और पार्वती को भेजा । शंकर ने वहाँ जाते ही सावित्री को नमस्ते की —"**दूरादेव तु रुद्रेण ब्रह्माणि चाभिवादिता, देवि नमोऽस्तु ते ।**" फिर शंकरजी ने पार्वती की ओर संकेत करते हुए कहा —"**एषा गौरी समायाता भ्रातृभार्या तवानघा ।**" तुम्हारी भाभी भी मेरे साथ तुम्हें मनाकर ले जाने के लिए आई है । —प० पु० सृ० खं०

सावित्री और गायत्री दोनों ब्रह्माजी की पत्नियाँ थी । सावित्री को महादेवजी बहन कहते हैं तो गायत्री (बहन की सपत्नी होने के नाते) भी उनकी बहन हुई । पहले भाई ने बहन को नमस्ते की थी तो अब दोनों बहनें (गायत्री व सावित्री) भाई शंकरजी का अभिवादन करते हुए कहती हैं—"**नमस्ते गिरिजानाथ**" हे पार्वतीपते! नमस्ते ।—स्कन्दपु० ब्र० खं० से० मा० ४०।३१

यह सारी कथा सर्वथा काल्पनिक है । यहाँ इसे उद्धृत करने का हमारा अभिप्राय इतना ही बताना है कि पुराणों तक में छोटे-बड़े, पति-पत्नी, श्वसुर-जामाता, भाई-बहन, गुरु-शिष्य, माता-पुत्र सभी परस्पर अभिवादन के लिए नमस्ते का ही प्रयोग करते हैं ।

गरुडपुराण में ५६ बार, देवीभागवत में ६६ बार, ब्रह्माण्ड में ६५ बार, कूर्म में ६६ बार, शिवपुराण में १४८ बार, भविष्य में २३० बार, पद्म में ३३५ बार और स्कन्द (पाँचवें खण्ड तक) ५५३ बार—इस प्रकार पुराणों में ही कुल मिलाकर कम-से-कम १७४६ बार '**नमस्ते**' का प्रयोग हुआ है ।

गृहस्थों के कर्त्तव्यकर्म का निर्देश करते हुए ग्रन्थकार ने संस्कारविधि में लिखा है—"सदा विद्यावृद्धों और वयोवृद्धों को 'नमस्ते' अर्थात् उनका मान्य किया करें । जब वे अपने समीप आवें तब उठकर मान्यपूर्वक ले अपने आसन पर बैठावें और हाथ जोड़कर आप समीप बैठें, पूछें, वे उत्तर देवें । और जब जाने लगें, तब थोड़ी दूर पीछे-पीछे जाकर नमस्ते कर विदा किया करें ।" (गृहाश्रमविधि)

इसी प्रकार पति-पत्नी के कर्त्तव्य का निरूपण करते हुए लिखा है—"जब कोई सभ्य मनुष्य विद्वानों की सभा में, वा किसी के पास जाकर नम्रतापूर्वक नमस्ते आदि करके अपनी योग्यता के अनुसार बैठके दूसरे की बात ध्यान से सुन, उसका सिद्धान्त जान, निरभिमानी होकर युक्त उत्तर-प्रत्युत्तर करता है, तब

https://t.me/arshlibrary

ग्रहण और दोषों का त्याग रक्खे। सज्जनों का संग और दुष्टों का त्याग, अपने माता-पिता और आचार्य की तन, मन और धनादि उत्तम-उत्तम पदार्थों से प्रीतिपूर्वक सेवा करे।

[सुचरित के ग्रहण और दुश्चरित के त्याग का उपदेश]

'यान्यस्माक[1] सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि'।

यह तैत्तिरीय उपनिषद् (शिक्षा० ११) का वचन है। इसका यह अभिप्राय है कि माता-पिता आचार्य्य अपने सन्तान और शिष्यों को सदा सत्य उपदेश करें और यह भी कहें कि—'जो-जो हमारे धर्मयुक्त कर्म हैं, उन-उनका ग्रहण करो और जो-जो दुष्टकर्म हों, उनका त्याग कर दिया करो'।

जो-जो सत्य जानें उन-उनका प्रकाश और प्रचार करें। किसी पाखण्डी दुष्टाचारी मनुष्य पर विश्वास न करें और जिस-जिस उत्तम कर्म के लिए माता-पिता और आचार्य्य आज्ञा देवें, उस-उसका यथेष्ट पालन करें। जैसे माता-पिता ने धर्म, विद्या, अच्छे आचरण के श्लोक, 'निघण्टु', 'निरुक्त', 'अष्टाध्यायी' अथवा

सज्जन लोग प्रसन्न होकर उसका सत्कार और जो अण्ड-बण्ड बकता, उसका तिरस्कार करते हैं"

— व्यवहारभानु, भूमिका

नमस्ते करने का प्रकार—दोनों हाथ जोड़ कर, बायें हाथ की कुहनी से हृदय को और जुड़े हुए दोनों हाथों से माथे को स्पर्श करते हुए, किंचित् नतमस्तक होकर ही 'नमस्ते' शब्द का उच्चारण करना चाहिए। मस्तिष्क बुद्धि का, हाथ शक्ति का और हृदय श्रद्धा व प्रेम का केन्द्र है। सो हृदय को स्पर्श करते हुए, हाथ जोड़ किंचित् नतमस्तक हो नमस्ते करने का अभिप्राय है—बुद्धिपूर्वक, श्रद्धा और प्रेमसहित पूरे सामर्थ्य से किसी का यथोचित अभिवादन करना। अभिवादन के रूप में छोटे बड़ों के प्रति अपनी श्रद्धा और आस्था व्यक्त करते हैं, बड़े छोटों के प्रति अपना प्यार व आशीर्वाद प्रकट करते हैं और बराबरवाले एक-दूसरे के प्रति मैत्रीभाव से सहयोग की कामना करते हैं। इसी प्रकार पुत्र माता-पिता के सामने और शिष्य गुरु के सामने आदर-सत्कार की भावना से नमन करता है तो माता-पिता और गुरुजन प्यार करने व आशीर्वाद देने के लिए झुकते हैं।

यान्यस्माकम्—माता, पिता, गुरु आदि वन्दनीय तो हैं ही, उनके आचरण का अनुगमन करना भी सामान्य धर्म है। इस धर्म का पालन किये बिना परिवार व समाज की व्यवस्था ठीक नहीं रह सकती। जब शिष्य का अध्ययन पूरा हो जाता और वह घर जाने लगता था तब उसे अन्तिम उपदेश के रूप में यह कहा जाता था -**'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव'** (तै० उ० १।११)। भीष्मपितामह युधिष्ठिर से कहते हैं— **'गुरुर्गरीयान् पितृतो मातृतश्चेति मे मतिः'** (शां० प० १०८।१७)—अर्थात् गुरू माता-पिता से भी श्रेष्ठ है।

उधर भगवान् मनु कहते हैं—

उपाध्यायान्दशाचार्यः आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ २।१४५

अर्थात् दस उपाध्यायों से आचार्य और सौ आचार्यों से पिता एवं हज़ार पिताओं से माता का गौरव अधिक है।

परन्तु ये सभी मनुष्य हैं। इनमें कोई भी निर्भ्रान्त नहीं है। अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति होने के कारण कोई हो भी नहीं सकता। **'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः'**। ऐसी स्थिति में आचार्य ने अपने शिष्यों को सावधान करते हुए कह दिया कि हमारी अच्छी बातों का ही तुमने अनुकरण करना है, अन्यों का

---

१. अर्थात् परमेश्वर के नामों के द्वारा परमेश्वर का जैसा स्वरूप दर्शाया है, उसी प्रकार.....।

https://t.me/arshlibrary

अन्य सूत्र वा वेदमन्त्र कण्ठस्थ कराये हों, उन-उनका पुनः अर्थ विद्यार्थियों को विदित करावें। जैसे प्रथम समुल्लास में परमेश्वर का व्याख्यान किया है[1], उसी प्राकर मानके उसकी उपासना करें।

जिस प्रकार आरोग्य, विद्या और बल प्राप्त हो, उसी प्रकार भोजन-छादन और व्यवहार करें-करावें, अर्थात् जितनी क्षुधा हो उससे कुछ न्यून भोजन करें। मद्य-मांसादि के सेवन से अलग रहें। अज्ञात गम्भीर जल में प्रवेश न करें। क्योंकि जलजन्तु वा किसी अन्य पदार्थ से दुःख, और जो तैरना न जाने तो डूब ही जा सकता है। **'नाविज्ञाते जलाशये'** यह मनु (४।१२६) का वचन है। 'अविज्ञात जलाशय में प्रविष्ट होके स्नानादि न करें'।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं, वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं, मनःपूतं समाचरेत्॥ —मनु० ६।४६

नहीं। महाभारत में कहा है—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम्॥

यदि कोई गुरु इस बात का विचार न करे कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए और कुपथ पर चल पड़े तो उसका शासन करना उचित है। उक्त श्लोक महाभारत में चार स्थानों में पाया जाता है (आदि० १४२।५२, उद्यो०१७६।२४, शां० ५७।७, १४०।४८)। इनमें से पहले स्थान में वही पाठ है जो हमने यहाँ दिया है। अन्य स्थानों में चौथे चरण में **'दण्डो भवति शाश्वतः'** अथवा **'परित्यागो विधीयते'** यह पाठान्तर भी है। वाल्मीकि रामायण (२।२१।१३) में जहाँ यह श्लोक है, वहाँ भी वैसा ही पाठ है जैसा ऊपर दिया गया है, इसलिए हमने यहाँ उसी को स्वीकार किया है। इस श्लोक में जिस तत्त्व का वर्णन किया गया है, उसी के आधार पर भीष्मपितामह ने परशुराम से और अर्जुन ने गुरु द्रोणाचार्य से युद्ध किया। प्रह्लाद ने जब देखा कि उसके गुरु तथा पिता उसे नास्तिकता की शिक्षा दे रहे हैं, तब उसने भी इसी निर्देश के अनुसार उनका विरोध किया। शान्तिपर्व (५५।१६) में स्वयं भीष्मपितामह श्रीकृष्ण से कहते हैं कि यद्यपि गुरु लोग पूजनीय हैं, तथापि उनको भी नीति की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए-

समयत्यागिने लुब्धान् गुरूनपि च केशव।
निहन्ति समरे पापान् क्षत्रियः स हि धर्मवित्॥

हे केशव! जो गुप्तमर्यादा, नीति अथवा शिष्टाचार को भंग करते हैं और जो लोभी या पापी हैं, उन्हें लड़ाई में मारनेवाला क्षत्रिय धर्मज्ञ कहलाता है।

इसीलिए उपनिषद् ने प्रथम **'आचार्यदेवः'** कहकर उसी के साथ कह दिया कि हमारे जो अच्छे कर्म हैं उन्हीं का अनुकरण करो, औरों का नहीं। इससे उपनिषदों का यह सिद्धान्त प्रकट होता है कि यद्यपि पिता और आचार्य को देवता के समान मानना चाहिए, तथापि यदि वे शराब पीते हैं तो पुत्र या छात्र को अपने पिता या आचार्य का अनुकरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि नीति, मर्यादा और धर्म का अधिकार माता-पिता या गुरु से अधिक होता है, परन्तु सन्तान या शिष्य **'किं कर्म किमकर्मेति'** क्या ठीक है और क्या ठीक नहीं है, इसका निश्चय कैसे करेंगे, क्योंकि—

न हि सर्वहितः कश्चिदाचारः संप्रवर्तते।
तेनैवान्यः प्रभवति सोऽपरं बाधते पुनः॥ —शां० प० २५६।१७

ऐसा आचार नहीं मिलता जो सदा सब लोगों का समान हितकारक हो। यदि किसी एक आचार को

https://t.me/arshlibrary

अर्थः— नीचे दृष्टि कर ऊँचे-नीचे स्थान को देखकर चले, वस्त्र से छानके जल पीवे। सत्य से पवित्र करके वचन बोले, मन से विचारके आचरण करे॥

[शत्रु माता तथा वैरी पिता]

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये वको यथा॥

—यह किसी कवि का वचन है[1]॥

अर्थः— वे माता और पिता अपने सन्तानों के पूर्ण वैरी हैं, जिन्होंने उनको विद्या की प्राप्ति न कराई। वे विद्वानों की सभा में वैसे तिरस्कृत और कुशोभित होते हैं, जैसे हंसों के बीच बगुला॥

[उपसंहार]

यही माता-पिता का कर्त्तव्यकर्म, परमधर्म और कीर्ति का काम है, जो अपने सन्तानों को तन-मन-धन से विद्या, धर्म, सभ्यता और उत्तमशिक्षायुक्त करना।

यह बालशिक्षा में थोड़ा-सा लिखा। इतने ही से बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेंगे। [इसके आगे ब्रह्मचर्याश्रम और गुरु-शिष्य की शिक्षा लिखी जाएगी। उसी के भीतर पढ़ने-पढ़ाने की शिक्षा भी लिखी जाएगी॥][2]

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषिते बालशिक्षाविषये द्वितीयः
समुल्लासः सम्पूर्णः॥२॥

स्वीकार किया जाए तो दूसरा उससे बढ़कर मिलता है। यदि इस दूसरे को स्वीकार किया जाए तो वह किसी तीसरे आचार का विरोध करता है। ऐसी स्थिति में तैत्तिरीयोपनिषद् ने मार्गदर्शन किया है। **'यान्यस्माकं सुचरितानि'** के साथ ही कह दिया—

"अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता अयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्त्तेरन् तथा तत्र वर्त्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता अयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्त्तेरन् तथा तेषु वर्त्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवम् चैतदुपास्यम्॥

अर्थात् अगर किसी कार्य में सन्देह उत्पन्न हो जाए, यह समझ न पड़े कि किस स्थिति में कैसे बरतना है तो जो तुम्हारे आसपास के विद्वान्, सब प्रकार से ठीक-ठीक विचार करनेवाले हों, वे जैसा कहें वैसा करना। वे लोग ऐसे होने चाहिएँ जो उस प्रकार की स्थिति में से गुज़रे हों या समस्याओं का समाधान करने के लिए नियत हों, स्वभाव से रूखे न हो और धर्मबुद्धिवाले हों। वे जैसा कहें वैसा करना। यही आदेश है, यही उपदेश है, यही वेद और उपनिषद् का सार है, यही हमारा अनुशासन है, ऐसा ही आचरण करना चाहिए।

---

१. चाणक्य-शतक ६; चाणक्य-नीति २।११ गढ़वाली-प्रेस देहरादून, सन् १९१४॥ कई संस्करणों में पाठभेद मिलता है।

२. ग्रन्थकार ने सर्वत्र प्रत्येक समुल्लास के अन्त में उत्तर समुल्लास के विषय का निर्देश किया है। तदनुसार यहां भी यह पाठ होना चाहिए। हमने इस की पूर्ति के लिए प्रथम संस्करणस्थ पंक्ति [] कोष्ठक में दे दी है।

https://t.me/arshlibrary

अथ तृतीय-समुल्लासारम्भः

अथाऽध्ययनाध्यापनविधिं व्याख्यास्यामः

[माता-पिता-आचार्य का मुख्य कर्त्तव्य]

अब तीसरे समुल्लास में पढ़ने-पढ़ाने का प्रकार लिखते हैं। सन्तानों को उत्तम विद्या-शिक्षा-गुण-कर्म्म और स्वभावरूप आभूषणों का धारण कराना माता-पिता, आचार्य्य और सम्बन्धियों का मुख्यकर्म है। सोने-चाँदी-माणिक-मोती-मूँगा आदि रत्नों से युक्त आभूषणों के धारण करने से मनुष्य का आत्मा सुभूषित कभी नहीं हो सकता, क्योंकि आभूषणों के धारण करने से केवल देहाभिमान, विषयासक्ति और चोर आदि का भय तथा मृत्यु का भी सम्भव है। संसार में देखने में आता है कि आभूषणों के योग से बालकादिकों का मृत्यु दुष्टों के हाथ से होता है।

केयूराणि न भूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वलाः,
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजाः ।
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते,
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥—नीतिशतक १५
ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमः,
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयः वित्तस्य पात्रे व्ययः ।
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता,
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम् ॥ नीतिशतक ८२

सुन्दर केयूर (भुजबन्द), चन्द्रमा के समान प्रकाशमान कण्ठहार, स्नान, चन्दनादि का लेपन, पुष्पगुच्छ, केशसज्जा आदि से मनुष्य की शोभा नहीं होती। अलंकृत तथा सुसंस्कृत वाणी ही मनुष्य का सच्चा आभूषण है। अन्य आभूषण तो धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं, एक वाणी का ही आभूषण है जो सदा चमकता रहता है।

समृद्धि की शोभा सज्जनता, शूरवीरता की वाक्-संयम, ज्ञान की शान्ति, विद्या की नम्रता, धन का सुपात्र को दान, तप की क्रोध न करना, प्रभुता की क्षमाशीलता और धर्म की निश्छल व्यवहार और इन सबकी शोभा उत्तम शील-स्वभाव है।

प्रथम श्लोक में वाणी को और द्वितीय में शील (सदाचार) को सर्वोत्तम भूषण बताया है। 'विद्या-

https://t.me/arshlibrary

[धन्य नर-नारी]

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः, सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः ।
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये, धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः ॥

अर्थः—जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता, सुन्दर शीलस्वभावयुक्त, सत्यभाषणादिनियमपालनयुक्त, और जो अभिमान अपवित्रता से रहित, अन्य की मलीनता के नाशक, सत्योपदेश, विद्यादान से संसारीजनों के दुःखों के दूर करने से सुभूषित, वेदविहितकर्मों से पराये उपकार करने में [तत्पर] रहते हैं, वे नर और नारी धन्य हैं ॥

विलासमनसः . . . . . ' यह श्लोक अलब्धमूल होने से स्वयं ग्रन्थकार की रचना प्रतीत होता है ।

विद्या—ग्रन्थकार ने अनेक स्थलों पर विद्या की परिभाषा प्रस्तुत की है । तद्यथा—

—जिससे ईश्वर से लेकर पृथिवीपर्यन्त पदार्थों का सत्य विज्ञान होकर उनसे यथायोग्य उपकार लेना होता है, उसका नाम विद्या है । जो विद्या के विपरीत है—भ्रम, अन्धकार और अज्ञानरूप है—इसलिए उसको अविद्या कहते हैं ।—आर्योद्देश्यरत्नमाला

—जिससे पदार्थों को यथावत् जानकर न्याययुक्त कर्म किये जावें वह विद्या और जिससे किसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान न होकर अन्यायरूप कर्म किये जाएँ, वह अविद्या कहाती है ।—व्यवहारभानु

—जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जानकर उससे उपकार लेके अपने और दूसरों के लिए सब सुखों को सिद्ध कर सके वह विद्या और जिससे पदार्थों के स्वरूप को उलटा जानकर अपना और पराया अनुपकार कर लेवें वह अविद्या कहाती है ।

—व्यवहारभानु

—यथाविहित ज्ञान ही विद्या है । प्रज्ञा (यथार्थज्ञान) के विरुद्ध अनेक भ्रम हैं, किन्तु विद्या में भ्रम नहीं होता ।

—उपदेशमंजरी

इस प्रकार विद्या में दो मुख्य तत्त्व हैं । प्रथम तत्त्व है ज्ञान की प्राप्ति अथवा ज्ञान का वर्द्धन । ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत विद्या की व्युत्पत्ति से यही बात प्रकट होती है—'**वेत्ति यथावत्तत्त्वपदार्थस्वरूपं यया सा विद्या, यया तत्त्वस्वरूपं न जानाति भ्रमादन्यस्मिन्नन्यन्निश्चिनोति यया साऽविद्या**'—जिससे पदार्थों का यथार्थस्वरूप बोध होवे वह विद्या और जिससे तत्त्वस्वरूप न जान पड़े, अन्य में अन्य बुद्धि होवे, वह अविद्या कहाती है ।

विद्या का दूसरा तत्त्व है—उस प्राप्त ज्ञान के आधार पर उसका मानव-जीवन के लिए उपयोग । विद्या या शिक्षा के इस तत्त्व को ग्रन्थकार ने प्रकारान्तर से इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

—जिससे मनुष्य विद्या आदि शुभ गुणों की प्राप्ति और अविद्या आदि दोषों को छोड़के सदा अनन्दित हो सके वह शिक्षा कहाती है ।

—व्यवहारभानु

—जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियता की बढ़ती होवे और अविद्यादि दोष छूटें उसको शिक्षा कहते हैं ।

—स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

इस प्रकार ग्रन्थकार के मत में विद्या या शिक्षा की परिभाषा में विद्या (ज्ञान) की प्राप्ति और उसके आधार पर मानवीय गुणों (सभ्यता, धर्म, शिष्टाचार, संयम) का होना आवश्यक है। डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार भारतसहित सारे संसार के कष्टों का कारण यह है कि शिक्षा का सम्बन्ध नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति से न रहकर केवल मस्तिष्क के विकास से रह गया है। जिस शिक्षा में हृदय और आत्मा की अवहेलना है, उसे पूर्ण नहीं माना जा सकता।

श्री अरविन्द की मान्यता है कि ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्म आर्ष-शिक्षा के मूल तत्त्व हैं। हमारा उद्देश्य होना चाहिए ऐसी उपयुक्त शिक्षा देना जिससे भावी सन्तान ज्ञानी, सत्यनिष्ठ और विनीत हो। चाहे धर्म की किसी रूप में स्पष्ट शिक्षा दी जावे या नहीं, पर ईश्वर के लिए, मानवता के लिए, देश के लिए, दूसरों के लिए और इन सबमें अपने-आपको जीवित रखने के लिए—धर्म के इस सार को प्रत्येक विद्यालय का आदर्श बनाया जाना आवश्यक है।

केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त कमीशन के अध्यक्ष डॉक्टर दौलतसिंह कोठारी के मत में विद्यालय-पाठ्यक्रम का एक गम्भीर दोष है—सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा का अभाव।

भारत के सबसे पहले शिक्षामन्त्री मौलाना अबुलकलाम आज़ाद ने स्कूल-कालिजों के पाठ्यक्रम के इस दोष को दूर करने के लिए धार्मिक शिक्षा की अनिवार्यता पर बल देते हुए देश के राज्यों के सभी शिक्षामन्त्रियों तथा विश्वविद्यालयों के कुलपतियों (Vice-Chancellors) को अपने-अपने अधीनस्थ शिक्षण-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था करने का आदेश दिया। शिक्षामन्त्रालय के सचिव प्रो० हुमायूँ कबीर के हस्ताक्षरों से जो परिपत्र सबको भेजा गया था, हम उसकी प्रतिलिपि यहाँ दे रहे हैं—

Copy of D. O. No. F-18-7/54 dated lst October 1955 from the Education Secretary, Govt. of India—

"There is a system of values which is widely recognised and respected. Without a common system of values no society can flourish and in fact the individuals constituting it tend to languish. The Sanskrit term Dharma (धर्म) brings out this essential characteristic. It is this which binds or holds together the members of a community. Steps, therefore, be taken to inculcate in the young a system of values which binds them together as members of one community. Today, there is a special need to stress this point. Not only is the urge towards the creation of new values often absent in the new generation, but it is at times looking even in a proper awareness of the rich moral and spiritual heritage which has sustained India throughout her history. The reason why India has survived inspite of poverty, hunger, disease and policical vicissitudes is her faith in values which transcend the demands of our daily experience (सत्यं शिवं सुन्दरम्) have been the principles which have governed India's destiny.

One of the main criticisms against the western system of education introduced in the last hundred and fifty years or so is that it is largely indifferent to religious values.

In educational terms this means that the development of moral and spiritual values is basic to all educational objectives. Instruction uninspired by moral and spiritual values will be inadequate as a preparation for democratic citizenship.

In the begining of the session the staff of schools and colleges may every year hold a meeting and prepare a statement of values that should guide the work of the institution for the year. Once certain values have been accepted the institution should bend all its energies to achieve the ideal in whatever is said or done within its forewalls.

https://t.me/arshlibrary

[बालकों को नवम वर्ष में गुरुकुल में भेजें]

इसलिए जब आठ वर्ष के हों, तभी लड़कों को लड़कों की, और लड़कियों को लड़कियों की शाला[1] में भेज देवें। जो अध्यापक पुरुष वा स्त्री दुष्टाचारी हों, उनसे शिक्षा न दिलावें, किन्तु जो पूर्ण विद्यायुक्त

The compositions the pupils write, the speeches they make in the debating society, the pictures they paint, the maps they draw, the social activities they organise should all be directed towords the achievement of these basic values.

The central problem of moral education is that it is more a matter of practice than theory. It is not communicated by intellectual means alone, but transmitted from one person to another by living human contacts."

संक्षेपतः इस परिपत्र में शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर पाठ्यक्रम में धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा का प्रावधान करने और तद्द्वारा विद्यार्थी के चारित्रिक एवं सांस्कृतिक विकास पर बल दिया गया है और इसके लिए अध्यापकों का स्वयं धार्मिक होना आवश्यक ठहराया गया है। वस्तुतः शिक्षा का उद्देश्य ज्ञानवृद्धि के साथ-साथ छात्रों में मानवीय व व्यावहारिक गुणों का विकास करना है। यदि विद्यार्थी में विनम्रता, कर्मठता, सत्यनिष्ठा, सेवावृत्ति, निरभिमानता, देशभक्ति आदि गुण नहीं हैं तो उसे वास्तविक अर्थों में विद्वान् वा शिक्षित होना नहीं माना जा सकता। शिक्षित मनुष्य केवल अपने लिए नहीं जीता, अपितु समाज के लिए जीता है। वह अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहकर सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझता है। स्वरचित उपर्युक्त श्लोक में ग्रन्थकार ने साररूप में इन्हीं गुणों का निर्देश किया है। इन गुणों के अभाव में विद्या फलीभूत होगी वा नहीं, यह प्रश्न उपस्थित कर उसके उत्तर में उन्होंने कहा है—

"कभी नहीं, क्योंकि विद्या का यही फल है कि जो मनुष्य को धार्मिक होना अवश्य है। जिसने विद्या के प्रकाश से अच्छा जानकर न किया और बुरा जानकर न छोड़ा तो क्या वह चोर के समान नहीं है ? क्योंकि जैसे चोर चोरी को बुरा जानता हुआ चोरी करता और साहूकारी (वाणिज्य) को अच्छी जानकर भी नहीं करता, वैसे ही जो पढ़के भी अधर्म को नहीं छोड़ता और धर्म को नहीं करता उसको विद्या का फल कैसे होगा ?" वर्त्तमान में अध्यापक का कर्त्तव्य पाठयक्रम में नियत पुस्तकों को पढ़ाने तक सीमित है। कक्षा के बाहर वह क्या करता है, इससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। आदर्श अध्यापक को इस बात की चिन्ता होनी चाहिए कि उसके पढ़ाये ज्ञान का शिष्य के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा है। इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने 'व्यवहारभानु' में लिखा है—"आचार्य समाहित होकर ऐसी रीति से विद्या और सुशिक्षा करे कि जिससे उसके आत्मा के भीतर सुनिश्चित अर्थ स्थिर होकर उत्साह बढ़ता जाए। ऐसी चेष्टा वा कर्म कभी न करें जिसको देख वा करके विद्यार्थी अधर्मयुक्त हो जावें।..... अपने आत्मा में इस बात को ध्यान में रक्खें कि जिस-जिस प्रकार से संसार में विद्या, धर्माचरण की बढ़ती और मेरे पढ़ाये मनुष्य अविद्वान् और कुशिक्षित होकर मेरी निन्दा का कारण न हो जाएँ।.....धन्य वे मनुष्य हैं जो अपने आत्मा के समान सुख में सुख और दुःख में दुःख अन्य मनुष्यों का जानकर धार्मिकता को कभी नहीं छोड़ते।"

अध्यापक की योग्यता—ग्रन्थकार ने अध्यापक के लिए आचार्य, गुरु तथा पण्डित आदि शब्दों का पर्याय से प्रयोग करते हुए कई स्थलों पर उन्हें परिभाषित किया है। आचार्य का लक्षण और उसकी योग्यता

---

१. पदेषु पदैकदेशान् (महाभाष्य १।१। आ० १) नियम के अनुसार पाठशाला=शाला।

https://t.me/arshlibrary

का विवरण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है—

—जो विद्यार्थियों को अत्यन्त प्रेम से धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षा व विद्यावान् बनाने के लिए तन-मन-धन से प्रयत्न करे, उसको आचार्य कहते हैं।

—व्यवहारभानु

—जो श्रेष्ठ आचार को ग्रहण कराके सब विद्याओं को पढ़ा देवे, उसको आचार्य कहते हैं।

—आर्योद्देश्यरत्नमाला

—जो सांगोपांग वेद-विद्याओं का अध्यापक, सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे वह आचार्य कहाता है।

—स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश

—जो अपने सत्योपदेश से हृदय के अज्ञानरूपी अन्धकार को मिटा देवे, उसको भी आचार्य कहते हैं।

—आर्योद्देश्यरत्नमाला

—आचार्य उसे कहते हैं कि जो अत्याचार को छुड़ाके अर्थों को ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है।

—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

—आचार्य उसको कहते हैं कि जो सांगोपांग वेदों के शब्द, अर्थ-सम्बन्ध और क्रिया को जाननेवाला, छल-कपटरहित, अतिप्रेम से सबको विद्यादाता, परोपकारी, तन, मन और धन से सबका सुख बढ़ाने में तत्पर, महाशय, पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेश, सबका हितैषी, धर्मात्मा और जितेन्द्रिय होवे।

इसी प्रकार गुरु व पण्डित के विषय में लिखा है—

—जो सत्य का ग्रहण करावे और असत्य को छुड़ावे वह गुरु कहाता है।

—स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश

—जिसकी वाणी सब विद्याओं में चलनेवाली, अत्यन्त अद्भुत विद्याओं की कथा को करने, विना जाने पदार्थों को तर्क से शीघ्र जानने और दूसरों को ज्ञान कराने, सुनी-विचारी विद्याओं को सदा उपस्थित रखने और जो सब विद्याओं के ग्रन्थों को अन्य मनुष्यों को शीघ्र पढ़ानेवाला मनुष्य है, वही पण्डित कहाता है।

—व्यवहारभानु

सत्यार्थप्रकाश में भी अन्यत्र (चतुर्थ समुल्लास) अध्यापक और अध्यापिकाओं के गुणों का विवेचन करते हुए लिखा है—

—जिसको आत्मज्ञान हो, जो निकम्मा और आलसी कभी न रहे, सुख-दुःख, हानि-लाभ, मानापमान, निन्दा-स्तुति में हर्ष-शोक कभी न करे, धर्म ही में नित्य निश्चित रहे, जिसके मन को उत्तम-उत्तम पदार्थ अर्थात् विषयसम्बन्धी वस्तुएँ आकृष्ट न कर सकें, वही पण्डित कहाता है।

—जो कठिन विषय को भी शीघ्र जान सके, बहुत कालपर्यन्त शास्त्रों को पढ़े, सुने और विचारे, जो कुछ जाने उसे परोपकार में प्रयुक्त करे, अपने स्वार्थ के लिए कोई काम न करे, विना पूछे या बिना योग्य समय जाने दूसरे के अर्थ में सम्मति न दे, वही प्रथम प्रज्ञान पण्डित को होना चाहिए।

—सदा धर्मयुक्त कर्मों का सेवन, अधर्मयुक्त कर्मों का त्याग, ईश्वर, वेद, सत्याचार की निन्दा न करनेवाला व ईश्वर आदि में अत्यन्त श्रद्धालु हो, यही पण्डित का कर्त्तव्य कर्म है।

Arshlibrary
https://t.me/arshlibrary

धार्मिक हों, वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं। द्विज अपने घर में लड़कों का यज्ञोपवीत, और कन्याओं का भी यथायोग्य यज्ञोवीत संस्कार करके यथोक्त आचार्य्यकुल अर्थात् अपनी-अपनी पाठशाला में भेज दें।

—जो प्राप्ति के अयोग्य की इच्छा कभी न करे, नष्ट हुए पदार्थ पर शोक न करे, आपत्काल में व्याकुल न हो, वही बुद्धिमान् पण्डित है।

—जिसकी वाणी सब विद्याओं और प्रश्नोत्तरों के करने में अति निपुण हो, जो शास्त्रों के प्रकरणों का विचित्र वक्ता, यथायोग्य तर्क और स्मृतिमान्, ग्रन्थों के यथार्थ अर्थ का शीघ्र वक्ता हो वही पण्डित कहाता है।

—जिसकी प्रज्ञा सुने हुए सत्य अर्थ के अनुकूल हो और जिसका श्रवण बुद्धि के अनुसार हो, जो कभी श्रेष्ठ धार्मिक पुरुषों की मर्यादा का छेदन न करे, वही पण्डित संज्ञा को प्राप्त होवे।

अध्यापक के गुणों का वर्णन करने के साथ-साथ ग्रन्थकार ने मूर्खों और पढ़ाने के अयोग्य अध्यापकों की पहचान इस प्रकार बताई है—

—जिसने कोई शास्त्र न पढ़ा वा सुना हो, जो बहुत घमण्डी हो, जो दरिद्र होकर बड़े-बड़े मनोरथ करनेवाला हो और बिना कर्म के पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा करनेवाला हो, उसी को बुद्धिमान् लोग मूर्ख कहते हैं।

—स०प्र० चतुर्थ समुल्लास

ऐसे अध्यापकों से शिक्षा प्राप्त न करने का आदेश देते हुए वे कहते हैं—"जहाँ ऐसे पुरुष अध्यापक, उपदेशक, गुरु और माननीय होते हैं, वहाँ अविद्या, अधर्म, असभ्यता, कलह, विरोध और फूट बढ़के दुःख ही बढ़ता जाता है।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अध्यापक में दो प्रकार के गुण व योग्यताओं का होना आवश्यक है—जहाँ वह पूर्ण विद्वान् और अपने विषय का पण्डित हो, वहाँ उसमें चरित्रगत व मानवीय गुण भी हों। आजकल अध्यापक की नियुक्ति के समय मात्र उसकी शैक्षणिक योग्यता अर्थात् परीक्षा में प्राप्त अंकों को ही महत्त्व दिया जाता है, किन्तु उसके चरित्रगत गुणों तथा मानवीय पक्ष की उपेक्षा की जाती है। अध्यापक में उदात्त गुणों की कल्पना करते हुए भी नियुक्ति के समय अथवा व्यवहार में इसपर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। ऐसी स्थिति में विद्यार्थियों से उनके भावी जीवन में सचाई, ईमानदारी, कर्त्तव्यपरायणता आदि की आशा कैसे की जा सकती है ?

यज्ञोपवीत—यद्यपि लड़के-लड़की के समान अधिकार को भारतीय समाज ने सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया है और उसे संवैधानिक मान्यता भी प्राप्त हो गयी है, तथापि समाज में ऐसे लोगों की आज भी कमी नहीं है जो धर्म के नाम पर लड़कियों को इस अधिकार से वंचित रखना चाहते हैं। अन्यथा समान अधिकार को मानते हुए भी हृदय से लड़कियों को पढ़ाने के विरुद्ध हैं। इसलिए शास्त्रीय आधार पर इसपर विचार करना आज भी असंगत नहीं है। 'कन्याओं का यथायोग्य संस्कार करके' इन शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार को लड़कों के समान लड़कियों का यज्ञोपवीत कराना अभीष्ट नहीं है, परन्तु ऐसा मानना ग्रन्थकार की भावना तथा अन्यत्र अनेक स्थलों पर व्यक्त मन्तव्यों के विपरीत होगा। द्वितीय समुल्लास में उन्होंने लिखा है—"नौवें वर्ष के आरम्भ में द्विज अपने सन्तानों का उपनयन करके .....।" 'सन्तान' शब्द उभयवाची है अर्थात् इससे पुत्र व पुत्री दोनों का ग्रहण होता है। पुनः इसी समुल्लास में कुछ आगे

https://t.me/arshlibrary

वे मनुस्मृति से **'अनेन क्रमयोगेन'** इत्यादि (मनु० २।१६४) श्लोक को उद्धृत कर उसकी व्याख्या में लिखते हैं—"इसी प्रकार से कृतोपनयन द्विज ब्रह्मचारी कुमार और ब्रह्मचारिणी कन्या..... "। इससे स्पष्ट है कि ग्रन्थकार की दृष्टि में लड़का और लड़की दोनों समानरूप से उपनयन-संस्कार के अधिकारी हैं।

वस्तुतः 'सन्तान' के समान 'बालक' शब्द भी उभयवाची है और उससे लड़का व लड़की दोनों का ग्रहण होता है। इसकी पुष्टि **'लिङ्गानां च न सर्वभाक्'** व्याकरणमहाभाष्य (४।१।६३) के इस वचन से होती है। जो लोग यह आक्षेप करते हैं कि ग्रन्थकार ने बालिका या कन्या के उपनयन और वेदारम्भ-संस्कार का उल्लेख नहीं किया, अतः कन्याओं का उपनयन नहीं होना चाहिए, उनका यह कथन ठीक नहीं है। संस्कारविधि में 'बालक' का निर्देश करके कर्ण और नासिका दोनों के वेध का विधान किया है। तो बालक शब्दमात्र से लड़के की नासिका भी छिदनी चाहिए, परन्तु नासिकावेध तो सर्वत्र लड़कियों का ही होता है, अतः स्पष्ट है कि बालक शब्द बालक-बालिका दोनों का बोधक है। स्थल, प्रकरणादि के अनुसार दोनों में से किसी एक का अथवा दोनों का ग्रहण किया जा सकता है। संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में स्पष्ट लिखा है—

"कन्या भी सुन्दर-सुन्दर वस्त्रों से शरीर को आच्छादित और यज्ञोपवीत को धारण करके विवाहशाला में आये।" उपनयन के साथ ही यज्ञ में अधिकार हो जाता है। श्रौतसूत्रादि के **'इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्'** इस आदेश से वह मन्त्र भी पढ़ती है, अतः ग्रन्थकार को कन्याओं के यज्ञोपवीत तथा वेदारम्भ दोनों संस्कार अभीष्ट हैं।

नामकरण आदि संस्कारों के अन्त में जो आशीर्वचन लिखे हैं वे सब पुंल्लिङ्ग में हैं, अतः बालिका के इन संस्कारों को करते समय पुंल्लिङ्ग शब्दों को स्त्रीलिङ्ग में बदलकर आशीर्वचन का उच्चारण करना-कराना चाहिए। जैसे—**'हे बालक ! त्वमायुष्मान् वर्चस्वी तेजस्वी श्रीमान् भूयाः'** को बालिका के आशीर्वाद में इस प्रकार पढ़ना चाहिए—**'हे बालिके! त्वमायुष्मती वर्चस्विनी तेजस्विनी श्रीमती भूयाः'**। अष्टाध्यायी के **'पुमान् स्त्रिया'** (१।२।६७) इस सूत्र के अतिरिक्त इस विषय में **'भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्'** (१।२।६८) तथा **'पिता मात्रा'** (१।२।७०) आदि सूत्र द्रष्टव्य हैं।

प्राचीन काल में स्त्रियों का यज्ञोपवीत होता था और वे लड़कों के समान ही गुरुजनों से वेदादि समस्त शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन करती थीं। निर्णयसिन्धु के तृतीय परिच्छेद में लिखा है—

पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्ययनं च वेदानां भिक्षाचर्यं तथैव च ॥

गोभिलीय गृह्यसूत्र (२।१।१६)में लिखा है—**'प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयञ्जपेत्—सोमोऽददद् गन्धर्वाय इति'**— अर्थात् कन्या को वस्त्र पहने हुए तथा यज्ञोपवीत धारण किये हुए पति के पास लाये तथा यह मन्त्र पढ़े—**सोमोऽददत्**। इससे स्पष्ट है कि विवाह के समय कन्या का उपवीत होना अनिवार्य है। हारीतसंहिता में स्त्रियों के दो भेद किये हैं—**'ब्रह्मवादिन्यः'** तथा **'सद्योवध्वः'**। पराशरसंहिता के प्रसिद्ध भाष्यकार पण्डितप्रवर मध्वाचार्य ने इसकी टीका में लिखा है—**"द्विविधा स्त्रीयो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनम् अग्निबन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे च भैक्ष्याचर्या इति। सद्योवधूनां तु उपस्थिते विवाहे कथंचिद् उपनयनं कृत्वा विवाहः कार्यः**,—अर्थात् स्त्रियाँ दो प्रकार की होती हैं—एक ब्रह्मवादिनी जिनका उपनयन होता है, जो अग्निहोत्र करती हैं, वेदाध्ययन करती हैं और अपने परिवार में भिक्षावृत्ति करती हैं और दूसरी **'सद्योवध्वः'**—जिनका शीघ्र ही विवाह होनेवाला है। इनका उपनयन कराके

https://t.me/arshlibrary

शीघ्र विवाह करा देना चाहिए। सातवीं शताब्दी के ऐतिहासिक राजा हर्षवर्धन की सभा के रत्न महाकवि बाणभट्ट ने अपने विश्वविख्यात महाकाव्य कादम्बरी में महाश्वेता का वर्णन करते हुए लिखा है—**'ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतकायाम्'**—अर्थात् जिसका शरीर ब्रह्मसूत्र धारण करने के कारण पवित्र था। ब्रह्मसूत्र यज्ञोपवीत का ही अपर नाम है। स्त्रियों के उपनयन में स्वयं वेद का प्रमाण है—**'भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता'** (ऋ० १०।१०६।४)। यज्ञोपवीत के साथ ही यज्ञ में अधिकार हो जाता है।

'यथायोग्य' के पश्चात् और **'संस्कार'** से पूर्व **'यज्ञोपवीत'** का अध्याहार कर लेना चाहिए। **'यथायोग्य'** विशेषण का तात्पर्य उपनयनसंस्कारस्थ मुण्डन, भिक्षा, वस्त्रादि प्रदान की उन विधियों से है जिनमें बालक-बालिका में परम्परागत भेद करना आवश्यक है। स्मृति-ग्रन्थों में यज्ञोपवीत के पश्चात् ब्रह्मचारी के लिए दण्ड धारण करने, भिक्षा करने तथा मृगचर्मादि धारण करने का विधान है। कन्या के लिए पर-घर से भिक्षा करना तथा अजिन धारण करना आदि वर्जित है। गोभिलगृह्यसूत्र के टीकाकार बंगाली विद्वान् महामहोपाध्याय चन्द्रकान्त तर्कालंकार ने लिखा है—**'स्वगृहे चैव कन्याया भैक्ष्यचर्या विधीयते वर्जयेदजिनं चीरं जटाधारणमेव च।'** अर्थात् कन्या के लिए अपने घर में ही भिक्षा का विधान है। वह अजिन अर्थात् मृगचर्म, चीर तथा जटा धारण न करे।

बालक के द्विज होने का विचार इतना उत्कृष्ट था कि यह वैदिक धर्म से अन्य धर्मों में भी जा पहुँचा। पारसी लोगों में जिनका उद्भव आर्यों से है, अब भी यज्ञोपवीत-संस्कार की परम्परा है। उनके यहाँ ७ से ९ वर्ष तक की आयु के बीच में 'सुदरेह कुस्ती' पहनाई जाती है। तभी उसे पारसी धर्म में प्रविष्ट माना जाता है। सुदरेह मलमल का एक अंगवस्त्र होता है और कुस्ती ऊन का बना हुआ ७२ रेशोंवाला धागा होता है।[1] अपनी पुस्तक 'Fountainhead of Religions' में पं० गंगाप्रसाद चीफ़ जज लिखते हैं—

"It is interesting to note in this connection that like the twice-born (the first three classes) among the followers of Vedic Religion, the Parsees are also enjoined to wear the sacred thread, which they call KUSTI. We quote here from the Vendidad—

"Zarathushtra asked Ahura Mazda: O Ahura Mazda ! through what is one a criminal worthy of death ?" Then said Ahura Mazada: By teaching an evil religion ? Spitoma Zarathushtra ! Whosoever during spring seasons does not put on the sacred thread (Kusti), does not recite the Gathas, does not reverence the good waters, etc."

उक्त उद्धरण का अर्थ यह है कि पारसियों के पैग़म्बर स्पित्म ज़रथुश्तर को पारसियों के भगवान् अहुरमज़्द ने कहा कि जो कुस्ती (यज्ञोपवीत) को धारण नहीं करता उसे मृत्युदण्ड दिया जाना चाहिए।

वैदिक संस्कृति में यज्ञोपवीत धारण का मन्त्र तथा पारसियों में कुस्ती धारण करने का मन्त्र एक समान अर्थ के द्योतक हैं। वैदिक संस्कृति का मन्त्र (पा०गृ० २।२।११) इस प्रकार है—

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥

अर्थात् यज्ञोपवीत परम पवित्र है, आदिकाल से यह प्रजापति के साथ रहा है, यह आयु को देनेवाला है, बल देनेवाला है—इत्यादि।

---

१. ज़रथुस्त्री (पारसी) धर्म में कर्म की प्रधानता है। गाय को पारसी लोग पवित्र मानते हैं। सफ़ेद बछड़े का लालन-पालन विशेषरूप से करते हैं। उसे 'वरस्याजी' कहा जाता है। गोमूत्र (नीरंग) का अनेक धार्मिक क्रियाओं में उपयोग होता है।

https://t.me/arshlibrary

पारसियों का मन्त्र इस प्रकार है—

'फ्राते मज़्दाओ बरत् पौरवनीम् एयाओं धनिमस्ते हर-पाये संघेम मैन्युतस्तेम् बन्धुहिम् दयेनीम् मज़्दवास्नाम् ॥' इसका अर्थ है—ऐ डोरा ! तू बहुत बड़ा है, तू बहुत उज्ज्वल है (परमं पवित्रं—शुभ्रम्), आयु और बल देनेवाला है (आयुष्यमग्र्यं) है, तुझे मज़्दा ने आरोपित किया है (प्रजापतेर्यत्सहजम्), मैं तुझे पहनता हूँ ।

उपनय का अर्थ है पास ले-जाना । विद्याध्ययन के लिए, गुरु द्वारा संस्कृत होने के लिए गुरु और शिष्य का निकटतम होना आवश्यक है । संस्कृत में शिष्य के लिए प्रयुक्त 'अन्तेवासी' शब्द अत्यन्त सार्थक है । 'अन्तेवासी' का अर्थ है (गुरु के) अन्दर बसा हुआ । वेदारम्भ-संस्कार के पश्चात् बालक के माता-पिता उसे गुरु के पास ले-जाते हैं । वहाँ वे आचार्य से प्रार्थना करते हैं—**'आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् । यथेह पुरुषोऽसत् ॥''** (यजुः० २।३३) । ब्रह्मचारी के लिए पुष्पादि की माला पहनना निषिद्ध है । इसलिए 'स्रजम्' से यहाँ माला की तरह 'यज्ञोपवीत धारण किये हुए' समझना चाहिए । माता-पिता के अनुरोध को स्वीकार करके आचार्य बालक को इस प्रकार सुरक्षित रखता और पालन-पोषण करता है, जिस प्रकार माता उसे गर्भ में सँभालकर रखती है । 'अन्तेवासी' शब्द में मानो इस मन्त्र का सार निहित है । माता साँस लेती है, गर्भस्थ बालक साँस नहीं लेता, माता भोजन करती है, बालक भोजन नहीं करता, परन्तु माता के साँस में बालक का साँस और माता के भोजन में बालक का भोजन होता है । गुरु-शिष्य के सम्बन्ध की इससे उत्कृष्ट उपमा नहीं हो सकती । अपने यजुर्भाष्य में इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार लिखते हैं—

'विद्वान् पुरुष और स्त्रियों को चाहिए कि विद्यार्थी, कुमार वा कुमारी को विद्या देने के लिए गर्भ के समान धारण करें । जैसे क्रम-क्रम से गर्भ के बीच देह बढ़ता है वैसे अध्यापक लोगों को चाहिए कि अच्छी-अच्छी शिक्षा से ब्रह्मचारी कुमार वा कुमारी को श्रेष्ठ विद्या में वृद्धियुक्त करें तथा उसका पालन करें कि वे विद्या के योग से धर्मात्मा और पुरुषार्थयुक्त होकर सदा सुखी हों । यह अनुष्ठान सदैव करना चाहिए ।'

गर्भ धारण करने की उपमा जहाँ गुरु तथा शिष्य की निकटता व एक-दूसरे के प्रति हितचिन्तन की पराकाष्ठा को सूचित करती है वहाँ यह गुरुकुलवास में पिता-पुत्र अथवा माँ-बेटे की तरह एक-दूसरे के सुख-दुःख के भागी बनने को भी प्रकट करती है ।

ग्रन्थकार ने संस्कारविधि में उपनयन-संस्कार के अन्तर्गत आश्वलायनगृह्यसूत्र से यह प्रमाण प्रस्तुत किया है—

अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत् । गर्भाष्टमे वा । एकादशे क्षत्रियम् । द्वादशे वैश्यम् । आ० गृ० १।१९।१-४

आश्वलायनगृह्यसूत्र के ये वचन मनुस्मृति २।३६ के निम्न श्लोक के अनुसार हैं—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपवीतकम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥

इस श्लोक से वर्णव्यवस्था का जन्ममूलक होना सिद्ध होता है, जबकि मनु उसे गुण-कर्म-स्वभाव पर आश्रित मानते हैं । इन शब्दों का ऊहित अर्थ करने पर इस शंका का समाधान हो जाता है । तदनुसार **ब्राह्मणस्य, क्षत्रियस्य** तथा **वैश्यस्य** का अर्थ क्रमशः ब्राह्मण का बालक, क्षत्रिय का बालक तथा वैश्य का बालक होगा । जब तक गुरुकुल में बालक की विद्या पूर्ण नहीं हो जाती और परीक्षोपरान्त आचार्य द्वारा उसका वर्ण निर्धारित नहीं होता तब तक उसे जन्मना ज्ञात वर्णस्थ मानने में कोई असामंजस्य नहीं है ।

https://t.me/arshlibrary

तत्पश्चात् उन्होंने मनुस्मृति अध्याय २ के ३७वें श्लोक को उद्धृत किया है—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥

इस श्लोक का अर्थ करते हुए वे लिखते हैं—'जिसके शीघ्र विद्या, बल और व्यवहार करने की इच्छा हो और बालक भी पढ़ने में समर्थ हो तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म वा गर्भ से पाँचवें, क्षत्रिय के लड़के का जन्म या गर्भ से छठे और वैश्य के लड़के का जन्म या गर्भ से आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करें।

इस प्रकार उन्होंने **'ब्रह्मवर्चसकामस्य विप्रस्य'** का अर्थ **'ब्रह्मवर्चस'** की इच्छा करनेवाले ब्राह्मण का, **'राज्ञो बलार्थिनः'** का अर्थ बल की इच्छा करनेवाले क्षत्रिय का तथा **'अर्थिनो वैश्यस्य'** का अर्थ-धन की इच्छा करनेवाले वैश्य का किया है।

यहाँ शंका हो सकती है कि इतने अल्पवयस्क बच्चों के लिए 'इच्छुक' शब्द सार्थक नहीं है।[1] वस्तुतः ये प्रयोग बच्चे के सन्दर्भ में माता-पिता की इच्छा व आकांक्षा के अनुरूप हैं।

प्रत्येक मनुष्य में प्रत्येक अवस्था में कुछ विशिष्ट गुण-कर्म-स्वभाव परिलक्षित होते हैं। प्रायः अपने माता-पिता से संक्रामित गुण-कर्म-स्वभाव का बीज बालकों के हृदय में होता है। यदि उन्हें उपयुक्त शिक्षा मिले तो द्विजों में तदनुरूप उनके विकास की सम्भावना अधिक रहती है। इसलिए जब तक कोई सन्तान अपने को अन्यथा सिद्ध न करदे तब तक उनका वही वर्ण माना जाता है, जो उनके माता-पिता का है, परन्तु यदि शूद्र के बालक को पढ़ाया ही न जाएगा तो उसकी उन्नति के द्वार ही बन्द हो जाएँगे, इसलिए उसे बिना यज्ञोपवीत के पाठशाला में भेजने की व्यवस्था की गयी है।

आरम्भ में माता-पिता अपनी सन्तान को जैसा बनाना चाहते हैं उसी के अनुरूप सब संस्कार करते हैं। पुनः उनकी शिक्षा-दीक्षा को परखकर वर्ण का निश्चय आचार्य करते हैं—

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजरामरा ॥ —मनु० २।१४८

मनु और तदनुयायी ग्रन्थकार ने उपनयन-संस्कार का विधान करते हुए शूद्र का उल्लेख नहीं किया है। कारण ? कोई भी अपनी सन्तान को शूद्र बनाना नहीं चाहता। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य संकल्पपूर्वक बनाये जाते हैं। शूद्र बनाया नहीं जाता, बन जाता है। जो व्यक्ति शिक्षा का अवसर दिये जाने पर भी इन तीन वर्णों में से किसी भी वर्ण के गुणों को धारण करने में असमर्थ रहता है, वह शूद्र बनकर रह जाता है। मनुस्मृति १०।४ में लिखा है—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥

विद्याध्ययनरूपी दूसरा जन्म ग्रहण करने से ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य द्विज कहलाते हैं। इस प्रकार दूसरा जन्म ग्रहण न करने से एक जाति=एक जन्मवाला शूद्र कहाता है। यह एक जन्म तो सभी का होता है—**'जन्मना जायते शूद्रः'**।

उपनयनकाल के प्रसंग में ग्रन्थकार ने लिखा है—

---

1. After some time Protestants concluded that infants—who cannot believe for themselves—should not be baptised. But Luther vigorously defended the tradition of infant baptism. —World Encyclopedia, Vol. 12, P. 532

https://t.me/arshlibrary

[गुरुकुल का स्थान और उसकी व्यवस्था]

विद्या पढ़ने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिए और वे लड़के और लड़कियों की पाठशाला दो कोश एक-दूसरे से दूर होनी चाहिएँ। जो वहाँ अध्यापिका और अध्यापक पुरुष वा भृत्य अनुचर हों, वे

वसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत्, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्, सर्वकालमित्येके ।

वहाँ इसे शतपथ का वचन कहा है, परन्तु शतपथ में यह नहीं मिलता। शत० २।१।३।५ में इससे मिलता-जुलता पाठ है, किन्तु वह अग्न्याधान प्रकरण का है, उपनयन का नहीं। गदाधर ने पारस्कर-गृह्यसूत्र १।२ की व्याख्या में **'श्रुतिः—वसन्ते ब्राह्मणमुपनयति, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्'** ऐसा पाठ उद्धृत किया है। बोधायनगृ०सू० में **'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयति, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्, वर्षासु स्थकारमिति। सर्वान् एव वा वसन्ते'** यह पाठ उद्धृत है।

वर्णविभाग में यह ऋतुएँ सकारण निर्धारित की गयी हैं। वसन्त में न भीषण सर्दी पड़ती है, न घोर गरमी। ब्राह्मण को भी ऐसी सात्त्विकता अपेक्षित है। ग्रीष्म तेजस्वी होने के कारण क्षत्रिय के अनुकूल है। शरद् ऋतु में व्यापार शुरु होता है, अतः वैश्य के लिए वह सुविधाजनक है।

'द्विज अपने घर में लड़कों का यज्ञोपवीत करके..... पाठशाला में भेज दें'—यहाँ शूद्रों के बालकों को पाठशाला में भेजे जाने के विषय में ग्रन्थकार मौन हैं। इसपर यह कहा जा सकता है कि वे विद्याध्ययन में शूद्रों को विद्याध्ययन से वंचित रखना चाहते हैं। ऐसा मानना ग्रन्थकार के अन्यत्र उपलब्ध वचनों के विपरीत है। द्वितीय समुल्लास में वे लिख आये हैं—'शूद्रादि वर्ण उपनयन किये बिना विद्याभ्यास के लिए गुरुकुल में भेज दें।' पुनः तृतीय समुल्लास में कुछ आगे चलकर सुश्रुत के प्रमाण से उन्होंने लिखा है—'शूद्र पढ़े पर उसका उपनयन न करे'। इसी समुल्लास के अन्त में उन्होंने **'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्'** इस कथन का खण्डन करते हुए बलपूर्वक स्त्रियों के साथ-साथ शूद्रों के भी, न केवल साधारणतया पढ़ने, बल्कि वेद का अध्ययन करने के अधिकार को मान्यता प्रदान की है। 'उपनयन किये बिना' की समीक्षा हम द्वितीय समुल्लास में यथास्थान कर आये हैं। अच्छा होता यदि अध्ययनाऽध्यापन विधि से सम्बन्धित इस समुल्लास के आरम्भ में अन्य वर्णों के साथ शूद्रादि के बालकों को भी गुरुकुल या पाठशाला में भेजे जाने का स्पष्ट उल्लेख रहता।

विद्यालय एकान्त में—ऋग्वेद ८।६।२८ में कहा है—**'उपह्वरे गिरीणां सङ्गथे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत।'** प्रचलित पाठ में **'सङ्गथे'** के स्थान में **'सङ्गमे'** पद का प्रयोग मिलता है। हमारा पाठ श्री सातवलेकरजी तथा श्री जयदेव मीमांसातीर्थ के अनुसार है। पर्वतों के समीप और नदियों के संगम स्थल में उत्तम बुद्धि और कर्म के योग तथा ध्यान के अभ्यास से मनुष्य ज्ञानी होता है। धारणा, ध्यान आदि के लिए पर्वतों तथा नदियों के आह्लादकारक स्थान सहायक सिद्ध होते हैं। ऐसे ही विद्याध्यन के लिए अपेक्षित चित्त की एकाग्रता के लिए इस प्रकार के एकान्त स्थान लाभदायक होते हैं। ग्रन्थकार ऐसे ही एकान्त स्थान में स्थित गुरुकुल में शिक्षा की व्यवस्था के पक्षधर हैं। यह बालक का निर्माणकाल है। इस समय उसे ऐसे स्वच्छ एवं पवित्र वातावरण की आवश्यकता होती है जो उसके शारीरिक, बौद्धिक तथा चारित्रिक विकास में सहायक हो। नगर का वातावरण अध्ययन-अध्यापन में किस प्रकार और किस सीमा तक बाधक है, यह सबके प्रत्यक्ष का विषय है। विविध प्रकार के निकृष्ट मनोरंजन के साधन, विवाहित स्त्री-पुरुषों का स्वेच्छाचार, आये दिन होनेवाली हड़तालें, जलूस व झगड़े आदि सभी छात्रों को अपनी ओर

https://t.me/arshlibrary

आकृष्ट करते रहकर उनके कार्य में बाधक सिद्ध होते हैं और उसे अपने मार्ग से विचलित करते हैं। उसके अपने घर का वातावरण भी उसपर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। समय-समय पर उसे पारिवारिक दायित्वों को भी निभाना पड़ता है।

आज हमारे समाज के तथाकथित उच्च वर्ग को पश्चिम की भौतिकवादी सभ्यता की चकाचौंध में अन्धा होने के कारण अपनी प्राचीन संस्कृति, सभ्यता, भाषा, परिवेश और परम्परा आदि सभी से घृणा है। यह वर्ग क्लबों में जाकर सुरा-सुन्दरी का सहवास प्राप्त करना ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य मान बैठा है। इनके घरों में विलास के सभी उपकरण सहज उपलब्ध हैं। नग्न स्त्रियों के चित्रोंवाली पत्रिकाएँ तथा अश्लील उपन्यास इनके घरों की शोभा हैं। इनके बच्चे अश्लील अंग्रेजी फ़िल्में देखते और अश्लील गानों की धुनों पर अश्लील हाव-भाव के साथ थिरकने में गर्व महसूस करते हैं। इस सबके फलस्वरूप निर्बाध विलास में लिप्त लोगों को पर-स्त्री अथवा पर-पुरुष से सम्बन्ध रखने तथा उनकी कन्याओं को युवकों के साथ बाँह-में-बाँह डाले घूमने में कोई संकोच नहीं होता। उससे प्रभावित और आकृष्ट होकर मध्यवर्ग का विद्यार्थी भी उनका अनुकरण करने की चेष्टा करता है। उसके चित्त में भी अपने उच्च वर्ग के सहपाठियों जैसा विलासी जीवन व्यतीत करने की तीव्र लालसा उभरती है, परन्तु साधनों के अभाव में मन मारकर रह जाता है। इन कारणों से उत्पन्न कुण्ठाओं से ग्रस्त हर किशोर एवं युवक का चित्त एवं मस्तिष्क सर्वथा अनियन्त्रित रहता है।

विवाहोत्सवों तथा खुली सड़कों पर नशे में चूर युवक-युवतियों के अश्लील भाव-भंगिमाओं के साथ होनेवाले नृत्यों, अविवाहित प्रेमी-युगलों, सहशिक्षा, आकाशवाणी से प्रसारित होनेवाले गानों तथा दूरदर्शन पर दिखाये जानेवाले कामोद्दीपक दृश्यों, विज्ञापनों, देशी-विदेशी फ़िल्मों और दीवारों पर चिपकाये गये या अन्यथा खड़े किये गये बड़े-बड़े विज्ञापनों आदि का अपरिपक्व अवस्था के छात्र-छात्राओं पर कितना दूषित प्रभाव पड़ता है—आज इसका अनुमान लगाना भी कठिन है।

मद्रास शहर के कालिजों में किये गये अध्ययन के आधार पर गुप्तरोग-विशेषज्ञ डॉ० नारायण रेड्डी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है—

Half the students have said 'love scenes in cinemas have excited them more than pornographic and other material. Half the respondents had sexual experience between the ages of 15 and 25 years. The percentage of those who had a first homosexual experiecne increased from 16 to 19 percent, with the number of female students having such an expercience being more than that of male students by 9 to 12 percent.—Indian Express New Delhi, dated 19.4. 89.

यही कारण है कि ग्रन्थकार केवल शिक्षासंस्थाओं को ही नगरों से दूर नहीं रखना चाहते, वे यह भी चाहते हैं कि उनके माता-पिता अपनी सन्तानों से और सन्तान अपने माता-पिता से न मिल सकें, और न किसी प्रकार का पत्र-व्यवहार कर सकें, जिससे विद्यार्थी सब प्रकार के आकर्षणों से दूर और चिन्ताओं से मुक्त होकर सर्वात्मना विद्याध्ययन में प्रवृत्त रहें।

यह कहा जा सकता है कि नगरों से दूर रहकर और परिवार व समाज से कटकर विद्यार्थी भावी जीवन में परिवार तथा समाज के प्रति अपने दायित्वों को नहीं निभा सकेगा। उसकी सामाजिक भावना ही नष्ट हो जाएगी, पर ग्रन्थकार ने शिक्षणसंस्था का जो स्वरूप हमारे सामने प्रस्तुत किया है, उसमें नगर व समाज से दूर रहकर भी उसकी सामाजिक भावना विलुप्त नहीं होगी। वहाँ उसे परिवार जैसा नया परिवेश मिलेगा, जिसमें आचार्य व अन्य गुरुजन उसके पितृतुल्य होंगे, संस्था उसकी माता होगी, सहपाठी

https://t.me/arshlibrary

कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्री, और पुरुषों की पाठशाला में पुरुष रहें। स्त्रियों की पाठशाला में पाँच वर्ष का लड़का, और पुरुषों की पाठशाला में पाँच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे, अर्थात् जब तक वे ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी रहें, तब तक स्त्री वा पुरुष का दर्शन-स्पर्शन-एकान्तसेवन-भाषण-विषयकथा-परस्परक्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग इन **आठ प्रकार के मैथुनों** से अलग रहें। और अध्यापक लोग उनको इन बातों से बचावें। जिससे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील-स्वभाव और आत्मा के बल से युक्त होके आनन्द को नित्य बढ़ा सकें।

उसके भाई-बन्धु तथा अन्य कर्मचारी सम्बन्धियों के समान होंगे।

वस्तुतः स्वयं गुरुकुल नाम में ही कुल या परिवार की भावना विद्यमान है। एक-दूसरे से सर्वथा अपरिचित विद्यार्थियों के बीच में रहने से जिस आत्मीयता का विकास होता है वह परिवारों या नगरों में उत्पन्न सामाजिक भावना से कहीं उदात्त होती है।

सहशिक्षा—ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत शिक्षापद्धति में सहशिक्षा (Co-education) के लिए कोई स्थान नहीं है। ब्रह्मचर्य व इन्द्रियसंयम पर ध्यान दिये बिना चरित्र का निर्माण नहीं हो सकता। यह कोरे सिद्धान्त का विषय नहीं है। इसका व्यावहारिक पक्ष कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह एक सार्वभौम एवं सार्वकालिक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि दोनों विषम लिंग एक-दूसरे के लिए आकर्षण का केन्द्र हैं, परिणामतः पारस्परिक सम्पर्क, दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप आदि के अवसर मिलने पर एक-दूसरे की ओर आकर्षित होना सर्वथा स्वाभाविक है। उस स्थिति में ब्रह्मचर्य की रक्षा कर पाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। इस मार्ग पर **'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः'**—तनिक-सी असावधानी होते ही कभी भी पैर फिसल सकता है। नीतिकारों का कहना है—

'तप्ताङ्गारसमा नारी घृतकुम्भसमः पुमान्।
तस्माद् घृतं च वह्निं च नैकत्र स्थापयेद् बुधः॥' हितोपदेश

यह किसी विकृत मस्तिष्क की बड़बड़ाहट न होकर दीर्घकालीन अनुभव पर आधारित चेतावनी है। गीता अध्याय दो में कहा है—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥६०॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥६१॥
ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥६२॥
क्रोधात् भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥६३॥

अर्थ—इन्द्रियों के दमन के लिए प्रयत्न करनेवाले विद्वान् पुरुष के मन को भी ये प्रबल इन्द्रियाँ बलात् अपनी ओर खींच लेती हैं। इसलिए इन सब इन्द्रियों को संयत करके ईश्वरपरायण होना चाहिए। जिसकी इन्द्रियाँ उसके वश में हैं, उसे स्थिरबुद्धि मानना चाहिए। ६०-६१।

https://t.me/arshlibrary

कैशोर्य अथवा यौवनावस्था में इस स्थिति में पहुँचना अत्यन्त कठिन है। साधारणतया तो—विषयों का चिन्तन करनेवाले का मन उनमें फँसता ही जाता है। विषयों में लिप्त होने से कामवासना उत्पन्न होती है। काम की तृप्ति में बाधा होनेपर उससे क्रोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध से सम्मोह अर्थात् अविवेक होता है। सम्मोह से स्मृतिभ्रम, स्मृति भ्रष्ट होने से बुद्धि का नाश और बुद्धि का नाश होनेपर सर्वनाश हो जाता है। ६२-६३।

मनुष्य का कल्याण इसी में है कि जहाँ तक हो सके आग और घी को एक-दूसरे के पास आने के अवसर न आने दे। अवसर आने पर तो—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना-
स्तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः।
अन्नं घृतदधिपयोयुतं भुञ्जन्ति ये मानवा-
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत् सागरम्॥

इस सन्दर्भ में भगवान् मनु का आदेश है—

माता स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥ —मनु० २।२१५

अर्थात्—मनुष्य को चाहिए कि माता, बहन या पुत्री के साथ भी एकान्त आसन पर न बैठे, क्योंकि बलवान् इन्द्रियाँ विद्वान् को भी अपने वश में कर लेती हैं।

पूना-प्रवचन में इस वक्तव्य का अर्थ ग्रन्थकार ने इस प्रकार किया था—'इन्द्रियाँ इतनी प्रबल हैं कि माता तथा बहन के साथ रहने में भी सावधान रहना चाहिए।'

सहशिक्षा के कारण उन्मुक्त यौनाचार कहाँ तक बढ़ा है, इसका अनुमान समय-समय पर प्रकाशित होनेवाले आँकड़ों से लगता है—

"Many parents in U.S.A. are alarmed at the growing and unlimited sexual freedom enjoyed by the teenagers. Boys and girls between the age of 13 and 19 consider virginity to be a burden in permissive society and get rid of this burden by ceasing to be virgins. After a study of the sexual habits of unmarried teenage girls, the researchers announced that half of American girls lose their virginity before they are 20. Of these 15% before they are 13, 21% before 16, 27% at 17, 37% at 18 and more than 46% at 19. More than 3/4 abortions in U.S.A. are performed on teenagers—400 in one University. Schools and colleges provide all types of personal counselling in these matters." —Times of India, 29.2.76 and Tribune, 10.11.75

"In West Germany 3000 illegal abortions daily. Some 12000 school girls between 13 and 15 years of age had babies every year. The number of non-virgin brides—90%. 80% marriages among the age group between 16 and 18 broke up after a very short time."

—Report from the Magazine for further Medical Aid, published in Tribune, 22.3.65.

In England—Illegitimate births anong British School girls below 16—

1957—1220

1963—4880

1980—3,20,000

'सोवियत संघ में गर्भपात की दर दुनिया में सबसे अधिक है। वर्ष में करीब एक करोड़ महिलाएँ

https://t.me/arshlibrary

[राजा से रङ्क तक खान-पान-वस्त्र की समानता]

पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् चार कोश दूर ग्राम वा नगर रहे। सबको तुल्य-वस्त्र-खान-पान-आसन दिये जाएँ। चाहे वह राजकुमार वा राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र के सन्तान हों, सबको तपस्वी होना चाहिए। उनके माता-पिता अपने सन्तानों से वा सन्तान अपने माता-पिताओं से न मिल सकें, और न किसी प्रकार का पत्र-व्यवहार एक-दूसरे से कर सकें। जिससे संसारी चिन्ता से रहित होकर केवल विद्या बढ़ाने की चिन्ता रक्खें। जब भ्रमण करने को जाएँ, तब उनके साथ अध्यापक रहें। जिससे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें, और न आलस्य-प्रमाद करें।

गर्भपात कराती हैं। अब वहाँ विवाह—पूर्व माँ बनना निन्दनीय नहीं रहा है।

रूस के प्रसिद्ध समाजशास्त्री वैज्ञानिक अर्नालिस ने कहा है कि 'अविवाहित युवतियों को समझ लेना चाहिए कि अविवाहित अवस्था में माँ बनना शादी की अपेक्षा ज्यादा सुखद, मधुर व मौजमस्तीवाला होता है।'

—नवभारत टाइम्स, २३ दिसम्बर १९८०

In California sexual assaults 25,902 yearly. —Caravan, New Delhi, March 1976

Rape cases in U.S.A.—1968–20,000 1973–51,000

In schools mostly never or only occasionally use contraceptives. A third of the abortions by young women teachers 1974–16,000

'दिल्ली विश्वविद्यालय में ६० प्रतिशत लड़कों और ३४ प्रतिशत लड़कियों ने कम-से-कम एक बार शराब पी है। यदा-कदा पीते रहनेवालों में ७१ प्रतिशत लड़के और २६ प्रतिशत लड़कियाँ हैं।''

—हिन्दुस्तान १-२-७२

Hindustan Times (Page 5) dated 29-11-75—

Abortions—1973–74—44,000; 1974–75—90,000

'इण्डिया टुडे' के १५ अक्तूबर १९८६ के अंक में प्रकाशित दिल्ली की स्त्रीरोग विशेषज्ञ डॉ० ज्योति पारिख के वक्तव्य के अनुसार 'नई पीढ़ी के लड़कों और लड़कियों दोनों को विवाह के पहले सेक्स का अनुभव किसी-न-किसी रूप में हो ही जाता है। डॉक्टरों का कहना है कि पिछले कुछ वर्षों में गर्भवती किशोरियों की संख्या में भारी वृद्धि हुई है। मेरे पास ६वीं और १०वीं की छात्राएँ आती रहती हैं। वे या तो गर्भवती होती हैं या फिर यह जानना चाहती हैं कि क्या उनके भावी पतियों को उनके कुमारी न होने का पता लग जाएगा ? वे गर्भनिरोध के नये तरीकों में अपनी उत्सुकता ज़ाहिर करने लगी हैं।'

दिल्ली के दैनिक नवभारत टाइम्स के ११ दिसम्बर १९८६ के अंक में प्रकाशित एक समाचार के अनुसार 'धौला कुआँ, नई दिल्ली के एक स्कूल में ६वीं के चार छात्रों ने छठी कक्षा की एक छात्रा के साथ स्कूल के शौचालय में कुकर्म किया। कुछ दिन बाद ११वीं कक्षा के दो छात्रों ने स्कूल की बस में वही कुचेष्टा की। वह उस समय खाली खड़ी थी। स्कूल के प्रबन्धक बदनामी के भय से मामले को चुपचाप निपटाने के प्रयास में हैं।'

आये दिन ऐसी कितनी ही घटनाएँ होती रहती हैं जो विभिन्न कारणों से प्रकाश में नहीं आतीं।

सहशिक्षा से होनेवाली हानियों के परिणास्वरूप अमरीका की अनेक शिक्षासंस्थाओं में छात्र-छात्राओं

https://t.me/arshlibrary

[विद्याध्ययन के विषय में राजनियम और समाजनियम]

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥ —मनु० ७।१५२ ॥

इसका अभिप्राय यह है कि इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिए कि पाँचवे अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवे। जो न भेजे वह दण्डनीय हो।

को अलग रखने की योजना बनाई जा रही है।

समानता—वर्त्तमान में हमारा समाज दो वर्गों में बँटा हुआ है—एक साधनसम्पपन्न धनिक वर्ग और दूसरा साधनहीन निर्धन वर्ग। प्रथम वर्ग प्रायः पश्चिम की भौतिकवादी सभ्यता से प्रभावित है तो दूसरा वर्ग प्राचीन भारत की अध्यात्मप्रधान संस्कृति का समर्थक है। किसी हद तक ऐसी विषमता सदा, सर्वत्र विद्यमान रही है। आज का विद्यार्थी इन दोनों के बीच में खड़ा होकर अन्तर्द्वन्द्व की भट्ठी में झुलस रहा है। एक ओर उसके भीतर ऐश्वर्यमय जीवन जीने की लालसा है तो दूसरी ओर वैसा न कर पाने की असर्मथता के कारण रोष तथा विद्रोह की भावना है। अधिकारियों के प्रति अवज्ञा का भाव और तोड़-फोड़ की प्रवृत्ति उसी असमर्थता और विद्रोह की अभिव्यक्ति है। आज समाजवाद का ढिंढोरा पीटनेवालों की आँखों के सामने विषमता की खाई दिन-प्रतिदिन चौड़ी होती जा रही है। आज की शिक्षा-प्रणाली में एक बालक मोटर में बैठकर स्कूल में जाता है और दूसरा लंगड़ाता हुआ पैदल घिसटता जाता है। एक सनमाइका जड़ित मेज-कुर्सी पर बैठकर पढ़ता है तो दूसरा फटे टाट पर बैठकर, एक प्रतिदिन टाई सहित नये प्रतीत होनेवाले वस्त्र पहनकर जाता है तो दूसरा टाई से भी कम पैसोंवाले आदि -मध्यान्तशून्य चिथड़े पहनकर, एक बिना भूख-प्यास के भी कैंटीन में जाकर दस-बीस रुपये फूँक आता है तो दूसरे के पास अपने पेट की आग बुझाने के लिए सूखे चने भी नहीं होते। संक्षेप में कहें तो एक की शिक्षा पर हज़ार-आठसौ रुपये प्रतिमास व्यय होता है और दूसरे पर कुल मिलाकर मुश्किल से दस रुपये। इस रूप में जिस राष्ट्र का निर्माण हो रहा है उसमें मात्र वक्तव्यों के आधार पर समाजवादी समाज की कल्पना कैसे की जा सकती है ? और इस प्रकार की विषमता में स्थायी सुख व शान्ति कहाँ सम्भव हो सकती है।

ग्रन्थकार द्वारा प्रतिपादित शिक्षाप्रणाली का आधार मनुष्य के निर्माणकाल में सबके लिए अवसर की समानता है। प्राचीन आश्रमव्यवस्था की सबसे बड़ी विशेषता है—सबको तुल्य खान-पान, वस्त्र व आसन दिया जाना, चाहे वह कृष्ण के समान राजकुमार हो और चाहे सुदामा के समान दरिद्र की सन्तान। यह समाजवाद का व्यावहारिक रूप है जिसकी नींव गुरुकुल में रक्खी जाती है। वहाँ न कोई सम्पन्न है, न विपन्न, न कोई छोटा है, न बड़ा। सब समानरूप से आचार्य के आश्रित हैं। वहाँ न सम्पन्न परिवार में जन्म लेने के कारण अभिमान के लिए स्थान है और न दरिद्र परिवार में जन्म लेने के कारण हीनभावना से ग्रस्त होने की आशंका। निरन्तर १६ वर्ष तक इस प्रकार के जीवन के अभ्यस्त युवकों से ही आगे चलकर समाजवाद की भावना को बल मिल सकता है। इसी के सहारे गुण-कर्म-स्वभाव पर आश्रित वर्णव्यवस्था का विकास सम्भव है।

अनिवार्यशिक्षा—**'कन्यानां सम्प्रदानम्'** इत्यादि इस मनु-वचन का कई टीकाकार इस प्रकार अर्थ करते हैं कि राजा अपने कुमारों और कन्याओं की शिक्षा और रक्षा आदि की समुचित व्यवस्था करे, परन्तु पूर्वापर प्रसंग पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ राजा के स्वकीय पारिवारिक कर्त्तव्यों का

https://t.me/arshlibrary

विधान नहीं, अपितु राष्ट्र के प्रति उसके कर्त्तव्यों का निर्देश किया गया है। राजा के लिए उसकी सारी प्रजा अपनी सन्तानवत् होती है। राजा के कर्त्तव्य का निर्देश करते हुए अथर्ववेद (११।५।१७) में कहा है—**ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति**' अर्थात् वही राजा राष्ट्र की पूर्ण रक्षा कर सकता है जो स्वयं ब्रह्मचारी हो तथा अपने राष्ट्र के युवक-युवतियों के ब्रह्मचर्य की समुचित व्यवस्था करता हो। पौराणिक मत के अनुसार तो आवश्यकता पड़ने पर विवाहार्थ राष्ट्र की कन्याओं का सम्प्रदान (कन्यादान) भी राजा का कर्त्तव्य है। संस्कार-गणपति (पृ० २५६) में लिखा है—'**अथ कन्यादातृनिर्णयः। वीरमित्रोदये नारदः—'पिता दद्यात्स्वयं कन्यां भ्राता वाऽनुमते पितुः। मातामहो मातुलश्च सकुल्यो बान्धवस्तथा। माता त्वभावे सर्वेषां प्रकृतौ यदि वर्त्तते। तस्यामप्रकृतिस्थायां कन्यां दद्युः स्वजातयः। यदा तु नैव कश्चित् स्यात्कन्या राजानमाव्रजेत्।**'

अर्थात् वीरमित्रोदय में नारद के प्रमाण से लिखा है—पिता स्वयं कन्यादान करे, अथवा पिता की अनुमति से भाई, नाना, मामा तथा अपने कुल का कोई बन्धु कन्यादान करे। इन सबके अभाव में माता कन्यादान करे, यदि वह स्वस्थ है। उसके अस्वस्थ होनेपर स्वजातिवाले कन्यादान करें। यदि कोई भी न हो तो कन्या राजा के पास जाए। राजा के पास जाने का प्रयोजन यही है कि असहाय स्थिति में वह उसके विवाह की समुचित व्यवस्था करे।

वर्त्तमान में अनाथ, अनाश्रित कन्याओं के विवाह की व्यवस्था शासन तथा अनेक स्वयंसेवी संस्थाओं एवं संगठनों द्वारा की जाती है।

शिक्षा के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए एडीसन ने लिखा है—

'संगमरमर के लिए जो उपयोगिता शिल्प की है, मानव आत्मा के लिए वही उपयोग शिक्षा का है। बहुधा अनेक दार्शनिक, सन्त, योद्धा, मनीषी, सज्जन और महापुरुष सामान्य मनुष्यों में ही ढके, मुँदे और छिपे रह जाते हैं। यदि उन्हें समुचित शिक्षा का अवसर मिले तो वे भी अपना आवरण हटाकर प्रकाश में आ सकते हैं।'

मनुष्यमात्र को अपने विकास का अवसर मिले, इसलिए ग्रन्थकार चाहते थे कि एक भी ऐसा मनुष्य न रहे जो शिक्षा प्राप्त न करे। एतदर्थ जहाँ उन्होंने सन्तान को अशिक्षित रखनेवाले माता-पिता को अपनी सन्तान का शत्रु घोषित किया, वहाँ राजा को इस प्रकार का नियम बनाने का निर्देश किया जिसके अनुसार ऐसे माता-पिता को दण्डित किया जा सके। सन्तान को न पढ़ाना दण्डनीय अपराध (Cognisable offence) माना जाए, इस बात को कहनेवाले ग्रन्थकार सम्भवतः पहले व्यक्ति थे। 'व्यवहारभानु' में अत्यन्त रोचक शैली में उन्होंने ऐसे लोगों का उपहास करते हुए लिखा है —'क्या अधर्मी से भिन्न कोई ऐसा भी मनुष्य होगा जो किसी पुरुष वा स्त्री को विद्या के पढ़ने से रोककर उसे मूर्ख रखना चाहे ?'

अनिवार्य शिक्षा—पूना में अपने प्रवचन (नवम) में ग्रन्थकार ने बताया था—'कौषीतकीय ब्राह्मण में लिखा है कि सब पुत्र और पुत्रियाँ ५ वर्ष की अवस्था में पाठशाला को भेजे जाते थे। यह एक सामाजिक नियम था, परन्तु माता-पिता इस सामाजिक नियम को तोड़ते तो राजसभा से दण्ड मिलता था। इस तरह की उन्नति का समय होते-होते शन्तनु का समय आ पहुँचा। ऐश्वर्य के नशे के कारण सहज ही आर्यावर्त्त की दशा बिगड़नी प्रारम्भ हुई और एकाएक देश में सामाजिक नियमों में विरुद्धता उत्पन्न हो गयी।'

ग्रन्थकार के समय में और उससे पूर्व भी '**स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्**' तथा '**पठितव्यं तदपि मर्तव्यं दन्तकटाकटेति किं कर्तव्यम्**' जैसे मूर्खतापूर्ण उद्घोष करके लोगों को विद्याध्ययन से विरत करनेवाले धूर्त्तों

https://t.me/arshlibrary

[उपनयन वा गायत्री-मन्त्र का उपदेश]

प्रथम लड़कों[1] का यज्ञोपवीत घर में हो, और दूसरा पाठशाला में आचार्य्यकुल में हो। पिता-माता वा अध्यापक अपने लड़का-लड़कियों को अर्थसहित **गायत्री-मन्त्र का उपदेश** कर दें। वह मन्त्र यह है—

ओं भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

—यजुः-३६।३

इस मन्त्र में जो प्रथम **'ओ३म्'** है, उसका अर्थ प्रथम समुल्लास में कर दिया है, वहीं से जान लेना। अब **तीन महाव्याहृतियों के अर्थ** संक्षेप में लिखते हैं—**'भूरिति वै प्राणः' यः प्राणयति चराऽचरं जगत् स भूः स्वयम्भूरीश्वरः**, जो सब जगत् के जीवन का आधार, प्राण से भी प्रिय और स्वयम्भू है, उस 'प्राण' का वाचक होके **'भूः'** परमेश्वर का नाम है। **'भुवरित्यपानः'—यः सर्वं दुःखमपानयति सोऽपानः**, जो सब दुःखों से रहित, जिसके सङ्ग से जीव सब दुःखों से छूट जाते हैं, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'भुवः'** है। **'स्वरिति व्यानः'—यो विविधं जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः**, जो नानाविध जगत् में व्यापक होके सबका धारण करता है, इसलिए उस परमेश्वर का नाम **'स्वः'** है। ये तीनों[2] वचन तैत्तिरीय आरण्यक (७।५) के हैं॥

गायत्री मन्त्र का अर्थः— (सवितुः) **यः सुनोत्युत्पादयति सर्वं जगत् स सविता तस्य**=जो सब जगत् का उत्पादक, और सब ऐश्वर्य का दाता है, (देवस्य) **यो दीव्यति दीव्यते वा स देवः**=जो सर्वसुखों का देनेहारा, और जिसकी प्राप्ति की कामना सब करते हैं, उस परमात्मा का जो (वरेण्यम्) **वर्त्तुमर्हम्**=स्वीकार करने योग्य अतिश्रेष्ठ (भर्गः) **शुद्धस्वरूपम्**=शुद्धस्वरुप और पवित्र करनेवाला चेतन ब्रह्मस्वरूप है, (तत्)=उसी परमात्मा के स्वरूप को हम लोग (धीमहि). **धरेमहि**=धारण करें। किस प्रयोजन के लिए? कि (यः) **जगदीश्वरः**=जो सविता देव परमात्मा (नः) **अस्माकम्**=हमारी (धियः) **बुद्धीः**= बुद्धियों को (प्रचोदयात्) **प्रेरयेत्**=प्रेरण करे, अर्थात् बुरे कामों से छुड़ाकर अच्छे कामों में प्रवृत्त करे॥

[भावार्थ]

'हे परमेश्वर! हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप[3]! हे नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव![4] [हे कृपानिधे! हे न्यायकारिन्] हे अज निरञ्जन निर्विकार! हे सर्वान्तर्यामिन्! हे सर्वाधार सर्वजगत्पितः

की कमी नहीं थी। स्त्रियों तथा शूद्रों (लगभग ६०-६५ प्रतिशत) को तो उन्होंने विद्याध्ययन से तथाकथित शास्त्रीय आधार पर वंचित कर ही दिया था। वैश्य भी अपने बच्चों को थोड़ा हिसाब-किताब करने की योग्यता हो जानेपर स्कूल से हटाकर दुकान पर बिठा देते थे। क्षत्रिय वर्ग भी पुलिस और सेना में भर्ती होने के बाद पढ़ने-पढ़ाने को व्यर्थ मानता था।

---

१. अर्थात् सन्तान=लड़का लड़की दोनों।

२. 'भूरिति वै प्राणः', 'भुवरित्यपानः', 'स्वरिति व्यानः' —ये तीनों।

३. संस्करण २ तथा उत्तरवर्त्ती कुछ संस्करणों में 'हे सच्चिदानन्दस्वरूप' ऐसा ही पाठ मिलता है। यहाँ 'अनन्त' पद लेखक वा मुद्रकप्रमाद से छूट गया है। संस्करण १ तथा आगे भाषा में 'हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप' शुद्ध पाठ होने से यही पाठ हमने स्वीकार किया है।

४. ये कोष्ठान्तर्गत पद प्रथम संस्करण में, तथा वर्त्तमान संस्करण में भाषार्थ उपलब्ध होने से बढ़ाये हैं।

https://t.me/arshlibrary

सकलजगदुत्पादक ! हे अनादे विश्वम्भर सर्वव्यापिन् ! हे करुणामृतवारिधे ! सवितुर्देवस्य तव यद्वोम्भूर्भुवः स्वर्वरेण्यं भर्गोऽस्ति, तद्वयं धीमहि दधीमहि धरेमहि ध्यायेम वा । कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह —हे भगवन् ! यः सविता देवः परमेश्वरो भवानस्माकं धियः प्रचोदयात्, स एवास्माकं पूज्य उपासनीय इष्टदेवो भवतु । नातोऽन्यं भवतुल्यं भवतोऽधिकं च कञ्चित् कदाचिन्मन्यामहे ॥'

हे मनुष्यो ! जो सब समर्थों में समर्थ, सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप, नित्यशुद्ध-नित्यबुद्ध- नित्यमुक्त-स्वभाववाला, कृपासागर, ठीक-ठीक न्याय का करनेहारा, जन्ममरणादिक्लेशरहित, आकाररहित, सबके घट-घट को जाननेवाला, सबका धर्त्ता, पिता, उत्पादक, अनादि, अन्नादि से विश्व का पोषण करनेहारा, सकल ऐश्वर्ययुक्त, जगत् का निर्माता, शुद्धस्वरूप, और जो प्राप्ति की कामना करने योग्य है, उस परमात्मा का जो शुद्ध चेतनस्वरूप है, उसी को हम धारण करें । किस प्रयोजन के लिए ? कि वह परमेश्वर हमारे आत्मा और बुद्धियों का अन्तर्यामिस्वरूप हमको दुष्टाचार, अधर्मयुक्त मार्ग से हटाके श्रेष्ठाचार सत्यमार्ग में चलावे । उसको छोड़कर दूसरे किसी वस्तु का ध्यान हम लोग नहीं करें, क्योंकि न कोई उसके तुल्य और न अधिक है । वही हमारा पिता, राजा, न्यायाधीश और सब सुखों का देनेहारा है ॥

[स्नान, आचमन और प्राणायाम]

इस प्रकार गायत्री-मन्त्र का उपदेश करके सन्ध्योपासन की जो [1]स्नान, आचमन, प्राणायाम आदि क्रिया हैं, सिखलावें । प्रथम **स्नान** इसलिए है कि जिससे शरीर के बाह्य अवयवों की शुद्धि और आरोग्य आदि होते हैं । इसमें प्रमाण—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति, मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥

—यह मनुस्मृति का श्लोक (५।१०६) है ॥

अर्थः—जल से शरीर के बाहर के अवयव, सत्याचरण से मन, विद्या और तप अर्थात् सब प्रकार के कष्ट भी सहके धर्म ही के अनुष्ठान करने से जीवात्मा, ज्ञान अर्थात् पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के विवेक से बुद्धि=दृढ़निश्चय पवित्र होता है । इससे स्नान भोजन के पूर्व अवश्य करना ॥

[प्राणायाम का लाभ]

दूसरा '**प्राणायाम**' । इसमें प्रमाण—

प्राणायामादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तराविवेकख्यातेः ॥

—यह योगशास्त्र का सूत्र है[2] ।

परिणामतः कुल मिलाकर लगभग ८० प्रतिशत प्रजा अनपढ़ रहती थी । इन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही ग्रन्थकार ने आठ वर्ष की आयु के बच्चों को घर में रखनेवालों के लिए शासकीय दण्डविधान की आवश्यकता पर बल दिया था । सिद्धान्तरूप में सहमत होते हुए भी सरकार अभी तक अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था नहीं कर सकी है ।

---

१. स्नान का सन्ध्योपासन के साथ सहभाव तो है, पर वह आचमन तथा प्राणायामादि के समान उसका अङ्ग नहीं है ।

२. योगदर्शन में '**योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः**' (२।२८) पाठ है । प्राणायाम के प्रसंग में '**ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्**' (२।५२) पाठ है ।

https://t.me/arshlibrary

अर्थः—जब मनुष्य प्राणायाम करता है, तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जब तक मुक्ति न हो, तब तक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है॥

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥

—यह मनुस्मृति (६।७१) का श्लोक है॥

अर्थः—जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट होकर शुद्ध होते हैं, वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मल हो जाते हैं॥

अद्भिर्गात्राणि—इस श्लोक की व्याख्या में संस्कारविधि में लिखा है—'किन्तु जल से ऊपर के अङ्ग पवित्र होते हैं, आत्मा और मन नहीं, मन तो सत्य बोलने और सत्य करने से शुद्ध और जीवात्मा विद्या, योगाभ्यास और धर्माचरण ही से पवित्र तथा बुद्धि ज्ञान ही से शुद्ध होती है, जल मृत्तिकादि से नहीं।'

प्राणायामादशुद्धिक्षये—योगदर्शन में इस सूत्र का पूरा पाठ इस प्रकार है— **'योगाङ्गानुष्ठानाद-शुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः'** (योग० २।२८)। योग के अङ्गों का अनुष्ठान करने से अन्तःकरण के मलों का नाश हो जानेपर विवेकख्यातिपर्यन्त ज्ञान—आत्मसाक्षात्कार का प्रकाश हो जाता है। आगे योग के आठ अङ्गों का विस्तारपूर्वक विवरण प्रस्तुत किया है। उनका अनुष्ठान करने से चित्त के अविद्या आदि क्लेशरूप मलों का नाश हो जाता है। जैसे-जैसे योग के अङ्गों पर योगी का आचरण बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे चित्त के दोष क्षीण होते जाते हैं। दोषक्षय के अनुसार आत्मज्ञान की चमक भी उत्तरोत्तर अधिक प्रकाशित व स्पष्ट होती जाती है। अन्त में ज्ञान के प्रकाश की यह वृद्धि अपने सर्वोच्च शिखर को प्राप्त कर लेती है। वह प्रकर्ष है—विवेकख्याति। प्रकृति-पुरुष के भेद का ज्ञान—प्रकृति जड़तत्व है, आत्मतत्व चेतन, अपरिणामी है—यह साक्षात् बोध आत्मा को हो जाता है। इस प्रकार योग के अङ्गों का अनुष्ठान जहाँ दोषों के वियोग का कारण है, वहाँ विवेकख्याति की प्राप्ति का भी कारण है। आचार्यों ने नौ प्रकार के कारण बताये हैं—

उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः ।
वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम् ॥

उत्पत्ति, स्थिति, अभिव्यक्ति, विकार, प्रत्यय, प्राप्ति, वियोग, अन्यत्व तथा धृति—ये नौ प्रकार के कारण हैं। योगानुष्ठान में इनमें से केवल दो कारणों का उपयोग होता है—वियोगकारण तथा प्राप्तिकारण।

वियोगकारण—जैसे कुल्हाड़ा लकड़ी के खण्डों के वियोग का कारण होता है, वैसे ही योग के अङ्गों का अनुष्ठान चित्त के दोषों के वियोग का कारण है।

प्राप्तिकारण—जैसे धर्म सुख-प्राप्ति का कारण है, ऐसे ही योगाङ्गानुष्ठान विवेख्याति की प्राप्ति का कारण है।

अशुद्धि का अर्थ केवल अज्ञान नहीं, अपितु अज्ञानमूलक कर्म और उनका संचित संस्कार है, अतः योगानुष्ठान का अर्थ है—ज्ञानमूलक कर्म का आचरण। ज्ञानमूलक कर्म द्वारा अज्ञानमूलक कर्म नष्ट होता है। उससे ज्ञान की सम्यक् ख्याति होती है। ज्ञान की ख्याति होनेपर अज्ञान नष्ट हो जाता है। अज्ञान भली-भाँति नष्ट होनेपर कैवल्य होता है। इस प्रकार कैवल्य का हेतु योगाङ्गानुष्ठान है।

वस्तुतः योग के आठ अङ्गों में अन्य सभी भावों व साधनों का अन्तर्भाव है। महाभारत (शा०प०

https://t.me/arshlibrary

३१६-३१७) में कहा है—**'वेदेषु चाष्टगुणितं योगमाहुर्मनीषिणः'**—मनीषी वेदों में योग को अष्टाङ्ग कहते हैं, अर्थात् योग का अपर नाम अष्टाङ्ग है।

दृष्टान्त—शरीर में दो प्रकार की नाड़ियाँ हैं—एक शिराएँ जो समस्त शरीर से हृदय में जाती हैं और दूसरी धमनियाँ जो हृदय से समस्त शरीर में पहुँचती हैं। समस्त शरीर के व्यापारों में प्रयोग में आने से जो रक्त अशुद्ध हो जाता है वह शिराओं द्वारा हृदय में पहुँचाया जाता है। हृदय उस अशुद्ध रक्त को शुद्ध होने के लिए फेफड़ों में भेज देता है। फेफड़े स्पंज की भाँति छोटे-छोटे असंख्य कोशों का समुदाय हैं। ये कोश एक मांसपेशी की भाँति खुलते और बन्द होते रहते हैं। जब ये कोश खुलते हैं तो एक ओर से तो हृदय से आया अशुद्ध रक्त और दूसरी ओर से श्वास के द्वारा आया शुद्ध वायु एकत्र हो जाते हैं। प्रकृति का नियम है कि जिसमें जो वस्तु नहीं होती वह दूसरी में से उसी को अपनी ओर खींचती है। इस नियम के अनुसार रक्त में से कार्बन वायु निकलकर श्वास के वायु में और श्वास के द्वारा आये वायु में से आक्सीजन निकलकर रक्त में चला जाता है। शुद्ध हुआ रक्त धमनियों द्वारा समस्त शरीर में चला जाता है और अशुद्ध वायु श्वास द्वारा बाहर निकल जाता है। यह कार्य शरीर में हर समय होता रहता है।

यदि श्वास के द्वारा पर्याप्त शुद्ध वायु फेफड़ों में न पहुँच पाये अथवा अशुद्ध वायु समस्त कोशों में से निकलकर बाहर न चला जाए तो क्या परिणाम होगा ? निश्चय ही फेफड़ों में पर्याप्त शुद्ध वायु न पहुँचने से जहाँ एक ओर खाँसी, दमा, यक्ष्मा आदि फेफड़ों से सम्बन्धित रोग उत्पन्न होंगे, वहाँ दूसरी ओर हृदय से आया अशुद्ध रक्त बिना शुद्ध हुए लौटकर सारे शरीर में चला जाएगा। इसका फल रक्त-विकार होगा। इन दुष्परिणामों से बचने के लिए आवश्यक है कि फेफड़ों को भरपूर शुद्ध वायु मिले और एक भी कोना ऐसा न रहे जहाँ वायु न पहुँचे। प्राणायाम यही काम करता है। प्राणायाम द्वारा जब श्वास बाहर रोक दिया जाता है तो कुछ समय पश्चात् ही मनुष्य के भीतर श्वास लेने की प्रबल इच्छा होती है, तब भीतर श्वास लेते समय स्वभावतः श्वास तीव्र वेग के साथ आँधी के समान फेफड़ों में पहुँचता है और जिस प्रकार आँधी का वेग नगर और घरों के भीतर सर्वत्र दूर-दूर तक प्रवेश कर जाता है, उसी प्रकार प्राणायाम करते समय वेग के साथ श्वास द्वारा लिया गया वायु फेफड़ों के एक-एक कोश तक पहुँच जाता है। ऐसी अवस्था में न फेफड़ों में कभी कोई विकार हो सकता है और न रक्त ही दूषित हो सकता है। इस प्रकार प्राणायाम शरीर और इन्द्रियों के मलों को दूर कर शुद्ध एवं स्वस्थ रखने का सर्वोत्तम उपाय है।

जिस प्रकार सोना, चाँदी आदि धातुओं के मल अग्नि से तपाये जानेपर दग्ध होकर शुद्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ग्रन्थकार ने लिखा है—'बारम्बार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन और मन के स्थिर होने से आत्मा स्थिर हो जाता है।' जिधर प्राण जाता है, सब इन्द्रियों को वहीं उसके साथ जाना पड़ता है। इसी कारण जब मनुष्य किसी गहरे विचार में मग्न होता है तो उसकी श्वास-प्रश्वास क्रिया भी निरुद्धकल्प हो जाती है। इस प्रकार के ध्यान को अंग्रेजी में निरुद्धश्वास ध्यान (Breathless attention) कहते हैं। प्राणायाम में प्रक्रिया उलटी कर दी गयी है। ध्यान से प्राणनिरोध होने के स्थान में प्राणनिरोध के द्वारा एकाग्रता की सामग्री प्रस्तुत की गयी है। यह एक साधारण-सा परीक्षण है कि जब कभी काम, क्रोध आदि का वेग मन को प्रबलता से एक ओर खींचता हो उस समय प्राण को रोकने से एक बार तो अवश्य मन वश में आ जाता है। फिर उस वशीकार को हम कहाँ तक स्थिर रख सकते हैं, यह दूसरी बात है।

https://t.me/arshlibrary

प्राणायाम की विधिः

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ —योगसूत्र १।३४

जैसे अत्यन्त वेग से वमन होकर अन्न-जल बाहर निकल जाता है, वैसे प्राण को बल से बाहर फेंककर बाहर ही यथाशक्ति रोक देवे। जब बाहर निकालना चाहे, तब मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच रक्खे तब तक प्राण बाहर रहता है। इसी प्रकार प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है। जब घबराहट हो तब धीरे-धीरे भीतर वायु को लेके [१कुछ चिर भीतर ही रोककर बाहर निकाल दे।] फिर भी वैसे ही करता जाए, जितना सामर्थ्य और इच्छा हो। और मन में **'ओ३म्'** इसका जाप करता जाए। इस प्रकार करने से आत्मा और मन की पवित्रता और स्थिरता होती है।

'प्राणायाम' चार प्रकार का होता है —एक **'बाह्यविषय'** अर्थात् बाहर ही अधिक रोकना। दूसरा **'आभ्यन्तर'** अर्थात् भीतर जितना प्राण रोका जाए, उतना रोके। तीसरा **'स्तम्भवृत्ति'** अर्थात् एक ही बार जहाँ-का-तहाँ प्राण को यथाशक्ति रोक देना। चौथा **'बाह्याभ्यन्तराक्षेपी'** अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे, तब उससे विरुद्ध उसको न निकलने देने के लिए बाहर से भीतर ले और जब बाहर से भीतर आने लगे, तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाए। ऐसे एक-दूसरे के विरुद्ध क्रिया करें, तो दोनों की गति रुककर प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियाँ भी स्वाधीन होते हैं। बल-पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र, सूक्ष्मरूप हो जाती है, कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। इससे मनुष्य-शरीर में वीर्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम, जितेन्द्रियता, सब शास्त्रों को थोड़े ही काल में समझकर उपस्थिति कर लेगा। स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करे।

[सामान्यव्यवहार की शिक्षा देवें]

भोजन-छादन, बैठने-उठने, बोलने-चालने, बड़े-छोटे से यथायोग्य व्यवहार करने का उपदेश करें।

योगदर्शन में प्राणायाम के अनुष्ठान का फल बताया है—**'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्'** (२।५२) अर्थात्—प्राणायाम के अनुष्ठान से आत्मसाक्षात्कार में बाधक परदा शिथिल हो जाता है।

प्राणसूत्रों के द्वारा शरीर के विभिन्न अङ्गों में पहुँचकर प्राण अपना कार्य सम्पादन करता है। मस्तिष्क में निवास करता हुआ आत्मा अन्तःकरण को प्रेरित करता है और अन्तःकरण प्राण, प्राणसूत्रों और ज्ञानसूत्रों के द्वारा शरीर के सब कार्यों का निर्वाह करता है। प्राणसूत्रों में विस्तृत अन्तःकरण तत्त्व को केन्द्रस्थानीय अन्तःकरण खींचकर अपने स्थान में एकत्रित कर सकता है और इसी प्रकार केन्द्रस्थानीय प्राण शरीर के सब प्राण को अपने स्थान में आकर्षित कर सकता है। इस प्रकार ज्ञान और क्रिया दोनों प्रकार के कार्य प्राण और अन्तःकरण के द्वारा ही सम्पादित होते हैं। प्राण के बिना अन्तःकरण और अन्तःकरण के बिना प्राण कोई कार्य नहीं कर सकता। फलतः प्राणों के रोकने से अन्तःकरण रुक जाएगा और उसके रुक जाने से शरीर के ज्ञान और क्रिया दोनों ही प्रकार के कार्य बन्द हो जाएँगे। इस सारे विक्षेप के हट जाने पर आत्मा अपने स्वरूप का और उसके अभ्यन्तर विद्यमान परमात्मा की शक्तियों का अनुभव कर सकेगा। यही प्राणायाम के अभ्यास से आत्मसाक्षात्कार में बाधक आवरण का शिथिल होना है।

---

१. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ आवश्यक है। इसके बिना प्राणायाम की विधि पूरी नहीं होती। द्र०—पञ्चमहायज्ञविधि, दयानन्दीय-लघुग्रन्थ-संग्रह, पृष्ठ २६६, पं० ३२। संस्कारविधि पृष्ठ २२५, पं० ६, १०।

https://t.me/arshlibrary

[सन्ध्योपासन=ब्रह्मयज्ञ की विधि]

सन्ध्योपासन, जिसको 'ब्रह्मयज्ञ'[1] भी कहते हैं। '**आचमन**' उतने जल को हथेली में लेके उसके मूल और मध्यदेश में ओष्ठ लगाके करे कि वह जल कण्ठ के नीचे हृदय तक पहुँचे, न उससे अधिक न न्यून। उससे कण्ठस्थ कफ और पित्त की निवृत्ति थोड़ी-सी होती है। पश्चात् '**मार्जन**' अर्थात् मध्यमा और अनामिका अङ्गुली के अग्रभाग से नेत्रादि अङ्गों पर जल छिड़के। उससे आलस्य दूर होता है। जो आलस्य और जल प्राप्त न हो तो न करे। पुनः समन्त्रक **प्राणायाम, मनसापरिक्रमण, उपस्थान**। पीछे परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना की रीति सिखलावे। पश्चात् '**अघमर्षण**' अर्थात् पाप करने की इच्छा भी कभी न करे। यह सन्ध्योपासन एकान्त देश में एकाग्रचित्त से करे।

प्रच्छर्दन—सूत्रगत प्राण पद का तात्पर्य यहाँ उस वायु से है जो श्वास-प्रश्वास के रूप में बाहर से भीतर शरीर में और शरीर के भीतर से बाहर की ओर नासिका-छिद्रों द्वारा फेंका जाता है। इस प्रकार वायु का बाहर-भीतर फेंकना 'प्रच्छर्दन' कहाता है। वायु को भीतर और बाहर फेंककर उसे वहीं रोक देना 'विधारण' है। वायु को भीतर से बाहर फेंकना 'रेचक' और बाहर से भीतर को फेंकना 'पूरक' कहाता है। इन दोनों क्रियाओं (रेचक और पूरक) के अनन्तर जो प्राण को वहीं रोक देना है उसका नाम 'कुम्भक' है। जब बाहर रोका जाए तो 'बाह्यकुम्भक' और जो भीतर रोका जाए तो 'आन्तरकुम्भक' कहा जाता है। इस प्रकार एक प्राणायाम तीन अंशों में पूरा होता है—रेचक, पूरक, कुम्भक। सूत्र में केवल दो पदों का प्रयोग है—प्रच्छर्दन तथा विधारण। रेचक तथा पूरक दोनों 'प्रच्छर्दन' के अन्तर्गत हैं और कुम्भक (दोनों बार का) 'विधारण' में। इस प्रकार सूत्र के दो पदों से प्राणायाम का पूरा विवरण प्रस्तुत हो जाता है।

प्रतिदिन विधिपूर्वक प्राणायाम करते रहने से चञ्चल चित्त शान्त होकर स्थिरता को प्राप्त होने लगता है। चित्त की स्थिरता के लिए प्राणायाम का महत्त्व वेद, उपनिषत्, मनु, गीता आदि (अथर्व० ११।४। ; तैत्तिरीय० ३।३; छां० १।११।५; मनु० ६।६९-७२; गीता ४।२९, ६।१०-१४) प्राचीन एवं मध्यकालीन आध्यात्मिक साहित्य में विस्तार के साथ वर्णित है। प्राण की महिमा प्राणायाम के महत्त्व को साधार स्पष्ट करती है। वस्तुतः समस्त करण अपनी प्रवृत्ति के लिए प्राण पर आश्रित रहते हैं। प्राण के नियन्त्रित होनेपर करण स्वतः नियन्त्रित एवं अनुशासित हो जाते हैं। प्राणों का नियन्त्रण प्राणायाम से होकर, साथ ही इन्द्रियाँ, मन आदि करण वृत्तियों में चंचल न रहकर स्थिरता प्राप्त कर लेते हैं।

प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—'नाभि के नीचे से अर्थात् मूलेन्द्रिय से लेके धैर्य से अपानवायु को नाभि में ले आना, नाभि से अपानवायु और समानवायु को हृदय में ले आना, हृदय में दोनों वे और तीसरा प्राण इन तीनों को बल से नासिका द्वार से बाहर आकाश में फेंक देना, अर्थात् जो वायु कुछ नासिका से निकलता है और भीतर जाता है उस सबका नाम प्राण है। उसको मूलेन्द्रिय, नाभि और उदर को ऊपर उठा ले तब तक वायु न निकले। पीछे हृदय में इकट्ठा करके, जैसाकि वमन में अन्न बाहर फेंका जाता है, वैसे उस भीतर के वायु को बाहर फेंक दे, फिर उसका ग्रहण न करै। जितना सामर्थ्य होय तब तक बाहर ही वायु को रोक रक्खै। जब चित्त में कुछ क्लेश होय तब बाहर से वायु को धीरे-धीरे भीतर ले जाए। फिर उसको वैसा ही बारम्बार २० बार भी करेगा तो उसका प्राणवायु स्थिर हो जाएगा और उसके साथ चित्त भी स्थिर होगा तथा बुद्धि और ज्ञान बढ़ेगा। बुद्धि इस प्रकार की तीव्र होगी कि बहुत

१. ब्रह्मयज्ञ के तीन भाग हैं—वेदादि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, सन्ध्योपासन, और योगाभ्यास। द्र०—आगे समु० ४ में '**स्वाध्यायेनार्चयेद् ऋषीन्**' मनुश्लोक की व्याख्या॥

https://t.me/arshlibrary

कठिन विषय को भी शीघ्र जान लेगी। शरीर में भी बल-पराक्रम बढ़ेगा और वीर्य भी स्थिर होगा तथा जितेन्द्रियता होगी, सब शास्त्रों को थोड़े काल में पढ़ लेगा।'

पञ्चमहायज्ञविधि में प्राणायाम के पश्चात् गायत्री मन्त्र से शिखा बाँधने का निर्देश किया गया है, परन्तु यह अनिवार्य नहीं है। इस विषय में ग्रन्थकार का कथन है—'इसके (प्राणायाम के) अनन्तर गायत्री मन्त्र से शिखा को बाँधकर रक्षा करे।' इसका प्रयोजन बताया है—**'इतस्ततः केशा न पतेयुः, एतदर्थं शिखाबन्धनम्।'** केश इधर-उधर न गिरें। 'सो यदि केशादि पतन न हो तो न करे।'

ब्रह्मयज्ञ—'ब्रह्मयज्ञ' का अपर नाम 'ऋषियज्ञ' है। आगे चतुर्थ समुल्लास के अन्तर्गत **'स्वाध्यायेनार्चयेद् ऋषीन्'** (मनु० ३।८१) श्लोक की व्याख्या में ग्रन्थकार ने ब्रह्मयज्ञ में सन्ध्योपासन, वेदादि शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना तथा योगाभ्यास—इन तीनों का समावेश किया है।

सन्ध्योपासन का सबसे पहला मन्त्र आचमन-मन्त्र है। मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति का आरम्भ भी शान्ति से है और उसका पर्यवसान भी शान्ति में है। जिस उद्योग से अन्त में शान्ति न मिले वह व्यर्थ है, परन्तु जो उद्योग शान्त और समाहित चित्त से न किया जाए वह कदापि सफल नहीं हो सकता। इसलिए ब्रह्म-प्राप्ति में साधनभूत ब्रह्मयज्ञ का आरम्भ भी 'शम्' नो (देवीः) से होता है और उसका समापन भी 'नमः शम्' (भवाय) से होता है। शान्ति का प्रतीक=स्थूलरूप जल है। जल का आचमन करते समय उपासक मानो अपने आपसे कह रहा है कि जिस प्रकार यह जल शरीर के मलों को दूर करके शान्ति पहुँचाता है, इसी प्रकार मैं भी शान्त एवं समाहित चित्त से सन्ध्योपासना का उपक्रम कर रहा हूँ। शतपथब्राह्मण का आरम्भ ही आचमन-क्रिया की व्याख्या से होता है। वहाँ व्रत करनेवाला मनुष्य पूर्वाभिमुख खड़ा होकर जल का स्पर्श करता है। तब याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जल का उपस्पर्शन अर्थात् आचमन क्यों किया जाता है? इसका उत्तर देते हैं—**'अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति तेन हि पूतिरन्तरतो मेध्या वाऽआपो मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति'** (शत० १।१।१।१) अर्थात् मनुष्य अपवित्र है, वह झूठ बोलता है। जल के स्पर्श से उसकी शुद्धि हो जाती है। जल शान्त एवं पवित्र है, मेधा के लिए हितकर है। यह जल का प्रतीकात्मक वर्णन समझना चाहिए, क्योंकि वेद के अनुसार **'आपः'** प्रभु का भी नाम है—**'ता आपः स प्रजापतिः'** (यजुः० ३२।१)। स्थूल जल भी ऐहिक अभीष्ट की सिद्धि में परम सहायक है। कण्ठस्थ कफ़ मन्त्रोच्चारण में बाधक होता है, उसकी निवृत्यर्थ जल परम औषध है।

इन्द्रियस्पर्श तथा मार्जन आलस्य को दूर करने में तो सहायक होता ही है, किन्तु उसका मुख्य प्रयोजन परमेश्वर के साहाय्य से इन्द्रियों तथा शरीर के अंगों की शुद्धि तथा उनकी वृत्ति और क्रिया-कलाप का निरीक्षण करते हुए चारित्रिक पवित्रता का सम्पादन करना है। स्पर्श तथा संकेत की इस प्रक्रिया की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपयोगिता निर्विवाद है। अभिमर्श (Mesmerism), आदेश (Hypnotic Suggestion), आत्म-प्रेरणा (Auto Suggestion) आदि इसी के विभिन्न रूप हैं।

समन्त्रक प्राणायाम—प्राणायाम के मन्त्र मार्जनमन्त्रों का संक्षेपमात्र हैं। इनमें मार्जनमन्त्रों की आवृत्ति है। चित्त की एकाग्रता के लिए शब्द छोटे कर दिये गये हैं। सन्ध्योपासना में प्रवृत्त व्यक्ति को अन्ततः उस अवस्था में पहुँचना है जहाँ एक ओंकार मात्र के उच्चारण से वे समस्त भावनाएँ जाग्रत् होती हैं जो आरम्भ में इतने मन्त्रकलाप से होती हैं। वह स्थिति दीर्घकाल तक निरन्तर अभ्यास के अनन्तर प्राप्त होती हैं। इसलिए प्राणायाम-मन्त्र में मार्जनमन्त्रों के आरम्भ वाक्य ही ले लिये गये हैं। ओ३म् के व्याहृतिपूर्वक अर्थचिन्तन से आत्मा व परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का साक्षात् अनुभव होने लगता है और व्याधि आदि

https://t.me/arshlibrary

(योग १।३०) चित्त का विक्षेप करनेवाले विघ्नों का नाश हो जाता है। इस प्रकार प्राणायाम द्वारा मन की चंचलता नष्ट होकर चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है और आत्मा एवं मन की स्थिति ध्यान के लिए सम्पादित होती है।

मुण्डकोपनिषद् में कहा है—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वञ्च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥ २।२।११

वस्तुतः जो उपासक **'ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्'** इस बात को समझ लेता है उसे सामने वही अमृत ब्रह्म दीखता है, ब्रह्म ही पीठ पीछे दिखाई देता है, ब्रह्म ही दक्षिण और उत्तर में दीखता है, नीचे-ऊपर भी ब्रह्म दीखता है, सब दिशाओं में ब्रह्म ही फैला दीखता है। **'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है'** की लोकोक्ति के अनुसार उसे विश्व की प्रत्येक वस्तु ब्रह्मरूप में दिखाई देने लगती है। पाँचभौतिक शरीर के द्वारा उस विराट् ब्रह्म की प्रदक्षिणा कर पाना नितान्त असम्भव है, अतः ग्रन्थकार ने इस निमित्त मनसा परिक्रमा का विधान किया है।

मनसा परिक्रमा के मन्त्रों में आलंकारिक रूप में परमेश्वर और उसके गुणों का वर्णन हुआ है। यहाँ उसके **'रक्षिता'** गुण पर विशेष बल दिया गया है। प्रत्येक दिशा मनुष्य की यात्रा की एक दिशा है। इस अनन्त यात्रा में वह सब ओर से उसके रक्षिता गुण के प्रति आश्वस्त होना चाहता है। जिसे परमेश्वर की सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता तथा न्यायकारिता पर विश्वास हो जाता है वह **'अभयं मित्रादभयममित्रात्'** की स्थिति में पहुँच जाता है और एक परमेश्वर के सहारे संसार में निर्भय विचरता है।

मनसा परिक्रमा का अर्थ है 'मन के द्वारा परिक्रमा'। मन तो सदा परिक्रमा करता रहता है। शय्या पर लेटकर आँखों को बन्द कर लेने पर भी इसकी परिक्रमा बन्द नहीं होती। उस समय भी वह अपने चारों ओर बनी हुई संस्कारों की परिधि का चक्कर काटता रहता है। सन्ध्योपासना में 'मन की' परिक्रमा नहीं, 'मन से परिक्रमा' अभीष्ट है। ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत 'मनसा परिक्रमा' शब्द का यही स्वारस्य है। ग्रन्थकार ऋषि के प्रादुर्भाव से पूर्व भी लोग सन्ध्याकाल में सूर्य की परिक्रमा किया करते थे। पृथिवी से तेरह लाख गुणा बड़े सूर्य के चारों ओर घूमना तो मनुष्य जैसे क्षुद्र प्राणी के लिए किसी प्रकार सम्भव नहीं था। इसलिए वे एक ही स्थान पर खड़े-खड़े चारों ओर घूम लिया करते थे। हो सकता है कि इस आशंका के कारण भी ऋषि को 'परिक्रमा' के साथ 'मनसा' शब्द जोड़ने की आवश्यकता प्रतीत हुई हो। ऐसा न करने पर बहुत सम्भव था कि कालान्तर में लोग, इन मन्त्रों का उच्चारण करते हुए, अपने सिर को ही छहों दिशाओं में घुमाकर परमेश्वर के प्रति अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लिया करते।

उपस्थान—उपस्थान का अर्थ है परमात्मा के पास पहुँचना। मनसा परिक्रमा की आध्यात्मिक प्रक्रिया से अन्तःकरण के मल-विक्षेप-आवरण को क्रमशः दूर करता हुआ आत्मा, जब उसे सत्त्वप्रधान और निर्मल बनाने में सफल हो जाता है और निर्विकल्प समाधि की स्थिति में पहुँच जाता है, तब सब अन्तरायों= प्रतिबन्धों के हट जाने से आत्मा अपने भीतर ही चमकते हुए सूर्य की भाँति भगवान् की विभूतियों का और स्वयं भगवान् का साक्षात्कार कर, आनन्दविभोर होता हुआ जिन कृतज्ञतापूर्ण शब्दों में प्रभु की स्तुति करता है, उसी स्तोत्र का नाम सन्ध्योपासनविधि में उपस्थान है।

अघमर्षण—अघमर्षण का अर्थ पापों का प्रक्षालन करना है। जिन तीन मन्त्रों का विनियोग ग्रन्थकार ने अघमर्षण-विधि में किया है, उनमें सृष्टि से पूर्व की अवस्था में परमात्मा के तप से किस प्रकार अति

https://t.me/arshlibrary

सूक्ष्मावस्था से स्थूलावस्था को प्राप्त होकर समस्त ब्रह्माण्ड—पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक तथा द्युलोक आदि बने, इस प्रक्रिया के सम्यग्ज्ञान से प्रत्याहार की साधना होती है। प्रभु की शक्तियों का बार-बार चिन्तन कर उनके महत्त्व से आत्मा को अभिभूत करना होता है। पाप-नाश के इसी साधन को उपासकों के हृदय में अंकित करने के लिए ग्रन्थकार ने पञ्चमहायज्ञविधि में इन मन्त्रों की आधिदैविक व्याख्या की है।

ईश्वर द्वारा रचित इस विशाल संसार को देखकर उपासक के हृदय में कुछ इस प्रकार की भावनाओं का जाग्रत् होना स्वाभाविक है—'सृष्टि-रचना की कल्पनातीत सामग्री को भगवान् ने लीलामात्र से—बात-की-बात में अनन्त रूपों और नामों के आकार में विभक्त कर दिया। उसकी शक्तियाँ अनन्त हैं। मैं तो उसके एक पत्ते की भी रचना को समझने में असमर्थ हूँ।' मनुष्य ब्रह्माण्ड के केवल एक अंश का ही प्रत्यक्ष कर पाता है, किन्तु उस थोड़े-से अंश से ही चमत्कृत होकर उसके स्रष्टा की अनन्तता का आभास या उसकी झलक पा लेता है, पर इतना विशाल जगत् भी उस स्रष्टा की तुलना में अत्यन्त तुच्छ है—सागर की तुलना में एक बूँद के समान अथवा हिमालय की तुलना में एक रजकण के समान। इन भावनाओं का बार-बार चिन्तन कर उपासक भगवान् के गुणों की ओर आकर्षित होता है और उसके अनन्त सामर्थ्य से अभिभूत होकर अपनी दुर्बलताओं को दूर करने के लिए उसका आश्रय लेने और उसकी शक्तियों से शक्तिशाली बनने का यत्न करता है। इसी प्रकार उसकी पाप की प्रवृत्ति का नाश—मर्षण होता है।

ग्रन्थकार ने इस सन्दर्भ में पञ्चमहायज्ञविधि में लिखा है—"ईश्वर सब जगत् को उत्पन्न कर सबमें व्यापक होके अन्तर्यामिरूप से सबके पाप-पुण्यों को देखता हुआ, पक्षपात छोड़के सत्य-न्याय से सबको यथावत् फल दे रहा है। ऐसा निश्चित जानके ईश्वर से भय करके सब मनुष्यों को उचित है कि मन, वचन और कर्म से पाप-कर्मों को कभी न करें। इसी का नाम 'अघमर्षण' है।"

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' फलोपभोग के बिना कर्म का क्षय नहीं होता। **'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'**। स्वयं भगवान् मनु की घोषणा है—**'न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्त्तुर्भवति निष्फलः'** यह कभी नहीं हो सकता कि कर्त्ता का किया हुआ कर्म निष्फल हो जाए।

वस्तुतः जब कोई व्यक्ति किसी निन्दनीय या अकर्त्तव्य कर्म को करके उसके कारण मन में खिन्नता अनुभव करता है तब वह, मानो उसके दण्ड के रूप में, स्वयं कष्ट अनुभव करता हुआ यह संकल्प करता है कि 'भविष्य में मैं इस प्रकार का दुष्कर्म कभी नहीं करूँगा' तो यह प्रायश्चित कहाता है—**'तपादि-साधनपूर्वकं किल्बिषनिवारणार्थं चित्तं निश्चयं प्रायश्चित्तम्'**। इससे वह आगे ऐसा न करने के लिए सावधान हो जाता है। इस प्रकार प्रायश्चित्त से पूर्वकृत पाप क्षीण नहीं होता, अपितु पापभावना क्षीण होती है। इसके फलस्वरूप मनुष्य की पापवृद्धि रुक जाती है और वह धर्म की ओर उन्मुख हो जाता है। मनुस्मृति में इसका विशदीकरण करते हुए कहा है

यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते ।
तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥
यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गर्हति ।
तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥
कृत्वा पापं हि सन्तप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते ।
नैवं कुर्यात्पुनरिति निवृत्या पूयते तु सः ॥ मनु० ११।२२८-२३०

अर्थात् अधर्मयुक्त आचरण करके जैसे-जैसे मनुष्य अपने पाप को लोगों से कहता है, वैसे-वैसे साँप की कैंचुली के समान उस अधर्म से, उस अपराधजन्य संस्कार से मुक्त होता जाता है। जैसे-जैसे उसका

https://t.me/arshlibrary

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः ।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः ॥

—यह मनुस्मृति (२।१०४) का वचन है ।

अर्थः—जंगल में अर्थात् एकान्तदेश में जा, सावधान होके जल के समीप स्थित होके नित्यकर्म को करता हुआ सावित्री अर्थात् गायत्री-मन्त्र का उच्चारण अर्थज्ञान और उसके अनुसार अपने चाल-चलन को करे, परन्तु यह जन्म से करना उत्तम है ॥

आत्मा किये हुए पाप कर्म को धिक्कारता है, वैसे-वैसे उसका शरीर उस पाप से मुक्त होता जाता है, अर्थात् बुरे कर्म को बुरा मानने से उसके प्रति ग्लानि के कारण शरीर और मन दुष्कर्म से निवृत्त हो जाते हैं । मनुष्य पाप करके, उसके लिए पश्चात्ताप करके और फिर कभी वैसा न करने का संकल्प करके पाप से (पाप-फल से नहीं) छूट जाता है ।

ग्रन्थकार ने पूना-प्रवचन में उपर्युक्त अन्तिम श्लोक को उद्धृत करके कहा था—

"अब कोई ऐसी शंका निकाल ले कि पूर्वकृत पापों का दण्ड जीव को बिना भोगे छुटकारा नहीं मिल सकता (यह हमारा मत है) तो फिर पश्चात्ताप का कोई फल नहीं है क्या ? इसका उत्तर यह है कि पश्चात्ताप से पापक्षय नहीं होता, परन्तु आगे पाप करना बन्द हो जाता है ।" इसलिए अघमर्षण का अर्थ पाप का नाश न होकर पाप की भावना या प्रवृत्ति का नाश समझना चाहिए । यह कैसे होता है, इसे लोकविश्रुत इस एक घटना से सहज ही जाना जा सकता है—

राजा मुंज ने राज्य के लोभ से अपने सहोदर भाई के पुत्र भोज को मरवाने के लिए जंगल में भेज दिया । भोज ने अन्तिम सन्देश के रूप में एक श्लोक मुंज को लिख भेजा, जो इस प्रकार था—

मान्धाता स महापतिः कृतयुगालङ्कारभूतो गतः,
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः ।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते,
नैकेनापि समं गता वसुमती नूनं त्वया यास्यति ॥

अर्थात् सत्ययुग में मान्धाता नामी बड़ा प्रतापी राजा था जो पृथिवी को अलङ्कृत करता था, वह चला गया । जिस राम ने समुद्र पर पुल बाँधा और महापराक्रमी रावण का वध किया, वह भी नहीं रहा और युधिष्ठिर जैसे बड़े-बड़े शूरवीर भी दिवंगत हुए, पर यह पृथिवी किसी के साथ नहीं गयी ! ऐसा लगता है कि तुम्हारे साथ जाएगी ।

मुंज ने पत्र पढ़ा तो आँखें खुल गयीं । बोध हुआ, हृदय-परिवर्त्तन हुआ । मन का पाप धुल गया—अघमर्षण हो गया । सारा राजपाट भोज को सौंप जंगल में तपस्या करने के लिए चला गया ।

इस प्रकार सोचने-समझनेवाले मनुष्य के पापमय विचार, संकल्प धीरे-धीरे दग्धबीजभाव को प्राप्त हो जाते हैं । इसी का नाम **'अघमर्षण'** है ।

क्रमविपर्यास—**'पञ्चमहायज्ञविधि'** (दोनों संवत् १९३२ व १९३४) तथा 'संस्कारविधि' (संवत् १९४०) में अघमर्षण कर्म का विधान मनसा परिक्रमा से पूर्व है । वर्त्तमान में यही क्रम सर्वत्र प्रचलित है । 'सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण' में मनसा परिक्रमा का निर्देश नहीं है, परन्तु उसमें भी उपस्थान के पश्चात् अघमर्षण का विधान है । यहाँ सन्ध्योपासन के मुख्य-मुख्य अंगों का वर्णन अभिप्रेत है, न कि क्रम । ग्रन्थकार के मन्तव्यानुसार सन्ध्या का क्रम इस प्रकार है—स्नान, अमन्त्रक प्राणायाम, गायत्रीमन्त्र द्वारा शिखाबन्धन

https://t.me/arshlibrary

(आवश्यकतानुसार), **'शन्नो देवीः'** मन्त्र से आचमन, अङ्गस्पर्श, मार्जन, समन्त्रक प्राणायाम, अघमर्षण, **'शन्नो देवीः'** से पुनः आचमन, मनसा परिक्रमा, उपस्थान, गायत्रीमन्त्र, ऋषिवाक्य **'हे ईश्वर दयानिधे'** से समर्पण तथा **'नमः शम्भवाय'** इत्यादि मन्त्र से नमस्कार। विशेषरूप से इसी कार्य के लिए लिखी गयी **'पञ्चमहायज्ञविधि'** में यही क्रम निर्दिष्ट है, अतः यहाँ 'अघमर्षण' से पूर्व आये **'पश्चात्'** शब्द का अर्थ **'तथा'** समझना चाहिए।

उपासना का स्थान—इस विषय में श्वेताश्वतरोपनिषद् २।१० में लिखा है—

समे शुचौ शर्करावह्निबालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।

मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गृहानियाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥

अर्थात् समतल, शुद्ध-पवित्र भूमि हो, पत्थर, रोड़े, बालु, अग्नि आदि से रहित हो, शब्द (कोलाहल) न हो, जलाश्रयादि हो। आँखों को चुभनेवाला स्थान न हो। वायु-शब्दादिशून्य गुफ़ा में आसन जमाए। गीता के छठे अध्याय के ११ से १७ तक के श्लोक इस विषय में द्रष्टव्य हैं। ११-१२ श्लोक से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि योगाभ्यास के लिए स्वस्तिक आदि आसनों पर बैठते समय नीचे बिछाये जानेवाले आसन की उपयुक्तता का ध्यान रखना चाहिए। ऐसा न होनेपर आसन लगाने का स्थान भी कष्टदायक हो सकता है। स्थान ऊँचा-नीचा, ऊबड़-खाबड़ न होना चाहिए। आसन न इतना कठोर हो कि उसके स्पर्श से अंग में चुभन हो और न इतना कोमल तथा गदीला कि जिससे आलस्य बढ़कर तन्द्रा चित्त को अभिभूत करे।

उपासना के लिए उपयुक्त स्थान का निर्देश करते हुए वेद में कहा है—

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत ॥ —यजुः० २६।१५

अर्थात् पर्वतों के समीप नदियों के संगमस्थलों में ही उपासना के अनुकूल स्थान मिल सकता है।

ब्रह्मयज्ञ के प्रसंग में सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में इतना और लिखा है—"जल के समीप जाके और जितनी प्राणायामादिक क्रिया उनको करके शून्यदेश में बैठके गायत्री को मन से यथावदुच्चारण करके एक-एक पद का अर्थ चिन्तन करके और प्राणायाम से प्राण, चित्त और इन्द्रियों की स्थिरता करके परमेश्वर की प्रार्थना और स्वरूप-विचार से उक्त रीति से उसमें मग्न हो जाए—नाम समाधिस्थ हो जाए, ऐसे ही नित्य दो बार द्विज लोग प्रातःकाल और सायंकाल करैं और एक घण्टा तो अवश्य ही करैं। इससे बहुत-सा सुख और लाभ भी होगा।"

यह जन्म से करना—इसपर महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिर मीमांसक की सत्यार्थप्रकाश के स्वसम्पादित संस्करण में टिप्पणी है—"पंचम संस्करण में पं० लेखरामजी ने 'जन्म से' के स्थान पर 'जप मन से' शोधा है। यही पाठ ३५वें संस्करण तक छप रहा है। यद्यपि यह पाठ आपाततः ठीक प्रतीत होता है, पुनरपि यहाँ 'जन्म' का अभिप्राय द्वितीय जन्म, जो आचार्य और गायत्री के योग से होता है (द्र० मनु०२।१४८) लिया जाए, तो 'जन्म से' का अभिप्राय होगा—वेदारम्भकाल से। इस प्रकार के शब्दों से कहीं-कहीं विशिष्टार्थ का ग्रहण शास्त्रों में देखा जाता है। यथा—**'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिः ऋणैः ऋणवान् जायते'** (तै० सं० ६।३।१०।५) का अर्थ वात्स्यायन मुनि ने किया है—**'जायमान इति गुणशब्दो विपर्ययेऽनधिकारात्। जायमानो ह वै ब्राह्मण इति च शब्दो गृहस्थः सम्पद्यमानो जायमान इति'**। (द्र०—न्यायभाष्य ४।१।६०)। इसी प्रकार यहाँ भी 'जन्म' शब्द का मातृजन्म अर्थ सम्भव नहीं, अतः 'द्वितीय जन्म' अर्थ जानना चाहिए। इस अर्थ में 'यह' पद से गायत्री का उच्चारण, अर्थज्ञान और तदनुसार आचरण तीनों संगृहीत

https://t.me/arshlibrary

हो जाते हैं। कतिपय शास्त्रानभिज्ञ व्यक्ति कहते हैं कि गायत्री के जप का विधान ऋषिदयानन्द ने नहीं किया। वे भूल करते हैं। यहाँ लिखा उच्चारण उपांशु अथवा मानसिक ही अभिप्रेत है और यही उच्चारण 'जप' कहा जाता है (द्र० काशिका १।२।३४)। उच्चैः उच्चारण अभिप्रेत नहीं है। मनु ने **'पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात्'** (२।१०१) में स्पष्ट गायत्री के जप का विधान किया है। यह श्लोक ग्रन्थकार द्वारा 'पञ्चमहायज्ञविधि में भी व्याख्यात है।"

अर्थज्ञान—शब्द का प्रयोजन किसी अर्थ का बोध कराना होता है। जिस शब्द से किसी अर्थ का बोध न हो, वह निरर्थक अथवा व्यर्थ कहाता है। आचारशास्त्र में निरर्थक, अपार्थक अथवा व्यर्थ शब्दों के बोलने का निषेध है। इसलिए जो व्यक्ति अर्थ को जाने बिना तोते की भाँति केवल मन्त्रों को रट लेता है, उसे कोई विशेष लाभ नहीं होता। ऐसे व्यक्ति के लिए निरुक्त (१।१८) में कहा है—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।

अर्थात्—जो वेद का पाठमात्र करता है, परन्तु अर्थ नहीं जानता, वह बिना गुणबोध के डाली, पत्ते, फूल, फल को सिर पर धारण करनेवाले वृक्ष अथवा ईंट-पत्थर का भार ढोनेवाले पशु के समान है। यहाँ कथित स्थाणु की उपमा को सुश्रुत (सूत्रस्थान अध्याय ४) में इस प्रकार स्पष्ट किया है —

यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।
एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढा खरवद् वहन्ति॥

जैसे चन्दन के भार को ढोनेवाला गधा इतना ही जानता है कि उसके ऊपर भार लदा है, यह नहीं कि उसे चन्दन जैसी अमूल्य और उपयोगी वस्तु प्राप्त है, वैसे ही अनेक शास्त्रों को पढ़कर भी अर्थज्ञान की दृष्टि से मूढ़ मनुष्य गधे की भाँति अपनी स्मृति में शब्दों का भार ही ढोते हैं, अर्थज्ञान के अभाव में उससे मिल सकनेवाली सुगन्धि से लाभान्वित नहीं हो पाते। अर्थज्ञान के बिना मन्त्रपाठ में किये गये परिश्रम को व्यर्थ बताते हुए वहीं (नि० १।१८) एक अत्यन्त मार्मिक बात कही है—

यद् गृहीतमविज्ञातं निगदनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥

जो बिना समझे ग्रहण किया जाता है—पढ़ा जाता है और पाठमात्र से उच्चरित होता है, वह पठितशास्त्र अग्निरहित स्थान में पड़ी सूखी लकड़ियों की भाँति कभी प्रज्वलित नहीं होता—ज्ञान का प्रकाश नहीं करता।

इसके विपरीत अर्थज्ञानपूर्वक मन्त्रपाठ करनेवाले के सम्बन्ध में वहीं कहा है—**'योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा'** अर्थात् जो वेद को पढ़ता और यथावत् उसका अर्थ जानता है वह ज्ञान द्वारा पापों को नष्ट कर (**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन**—गीता ४।३८) मृत्यु के उपरान्त परमसुख—मोक्ष को प्राप्त करता है।

फिर भी, जो मनुष्य मन्त्रार्थ नहीं जानता, किन्तु मन्त्रपाठ करता है, वह उसकी अपेक्षा अच्छा है जो पाठमात्र भी नहीं करता। केवल मन्त्र स्मरण कर लेने से भी मनुष्य को कुछ-न-कुछ लाभ अवश्य पहुँचता है। इसलिए महर्षि यास्क ने बिना अर्थज्ञान के मन्त्र के पाठ को पहले **'अफला=निष्फला'** वाणी कहने के बाद 'अ' को निषेधार्थक न मान अल्पार्थक मानकर **'किञ्चित्फला'** स्वीकार कर लिया।

https://t.me/arshlibrary

[देवयज्ञ की विधि]

दूसरा देवयज्ञ—जो अग्निहोत्र और विद्वानों का सङ्ग सेवादिक से होता है। सन्ध्या और अग्निहोत्र सायं-प्रातः दो ही काल में करे। दो ही रात-दिन की सन्धिवेला हैं, अन्य नहीं। न्यून-से-न्यून एक घण्टा ध्यान अवश्य करे। जैसे समाधिस्थ होकर योगी लोग परमात्मा का ध्यान करते हैं, वैसे ही सन्ध्योपासन भी किया करे।

जप चाहे गायत्रीमन्त्र का किया जाए, चाहे व्याहृतियों का और चाहे मात्र ओंकार का—ऐसा करते समय अर्थ का भावन-चिन्तन अवश्य करना चाहिए। परमेश्वर के स्वरूप को अपने ध्यान से न हटने देना उसका चिन्तन है। यही ईश्वरप्रणिधान है। योगसूत्र **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'** (१।२८) का यही अभिप्राय है।

ज्ञान का पर्यवसान कर्म है, इसलिए जानना जानने के लिए नहीं, करने के लिए होता है। शरीर में ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों एक साथ हैं। दोनों एक दूसरे की पूरक हैं। इसलिए ज्ञानी पुरुष **'यन्मनसा ध्यायते तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति'**। जैसा मन में चिन्तन करता है, वैसा ही वाणी से बोलता है और जैसा वाणी से बोलता है, वैसा ही आचरण करता है। उपासक के मन, वचन और कर्म में सामंजस्य होता है।

देवयज्ञ—देवयज्ञ का प्रचलित नाम अग्निहोत्र या होम है। सन्ध्या तथा अग्निहोत्र रात-दिन की सन्धिवेला में दो ही बार किया जाना शास्त्रसम्मत तथा युक्तिसंगत है—**'सायंप्रातः सन्ध्यामुपासीत'**—लौगाक्षि० १।२६। 'सन्ध्या' शब्द का अर्थ करते हुए ग्रन्थकार ने स्वनिर्मित **'पञ्चमहायज्ञविधिः'** अथवा **'नित्यकर्मविधिः'** में लिखा है—**'सन्ध्यायन्ति सन्ध्यायते वा परब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या'** अर्थात् भली-भाँति ध्यान करते हैं या ध्यान किया जाए परमेश्वर का जिसमें, वह सन्ध्या है। सन्ध्या कब करनी चाहिए, इस विषय में वहाँ लिखा है—**'तत्र रात्रिन्दिवयोः सन्धिवेलायामुभयोस्सन्ध्योः सर्वैर्मनुष्यैरवश्यं परमेश्वरस्यैव स्तुतिप्रार्थनोपासनाः कार्यः।'** अर्थात् रात और दिन के संयोग समय दोनों सन्ध्याओं में सब मनुष्यों को परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिए।

ग्रन्थकार का यह मत वेदादिशास्त्रसम्मत है, इसकी पुष्टि में यहाँ कतिपय प्रमाण प्रस्तुत हैं—

१. **उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि॥** हे (अग्ने) परमेश्वर (दिवे दिवे) प्रतिदिन (दोषावस्तः) सायं-प्रातः (धिया) भक्ति से (नमः) नमस्कार (भरन्तः) करते हुए (वयम्) हम (उप त्वा) आपके समीप, आपकी शरण में (आ इमसि) आते हैं।—ऋग्वेद १।१।७॥ **'वस्त इत्यहर्वाचीति स्वामिदयानन्दः सायणोऽपि'**।

२. **तस्माद् ब्राह्मणोऽहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपासीत। स ज्योतिष्याज्ज्योतिषो दर्शनात् सोऽस्याः कालः 'सा सन्ध्या, तत् सन्ध्यायाः सन्ध्यात्वम्॥** —षड्विंशब्राह्मण ४।५

ब्रह्म का उपासक रात्रि और दिवस के सन्धिसमय में नित्य उपासना करे। जो प्रकाश और अन्धकार का संयोग है, वही सन्ध्या का काल जानना और उस समय में सन्ध्योपासन की जो क्रिया करनी होती है, वही सन्ध्या है। इसी को सन्ध्योपासन कहते हैं।

३. **उद्यन्तमस्तं यान्तमादित्यमभिध्यायन् कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते।**

तै०आ० प्रपा०२० अनु० २

https://t.me/arshlibrary

जब सूर्य के उदय और अस्त का समय आवे, उसमें नित्यप्रकाशस्वरूप, आदित्य परमेश्वर की उपासना करता हुआ ब्रह्मोपासक मनुष्य ही सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है।

४. **पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात्।**
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात्॥ —मनु० २।१०१

दो घड़ी रात्रि से लेके सूर्योदयपर्यन्त प्रातः सन्ध्या और सूर्यास्त से लेके तारों के दर्शनपर्यन्त सायंकाल में सविता अर्थात् सब जगत् की उत्पत्ति करनेवाले परमेश्वर की उपासना गायत्र्यादि मन्त्रों के अर्थविचारपूर्वक नित्य करें।

५. **ब्रह्मवादिनो वदन्ति कस्माद् ब्राह्मणः सायमासीनः सन्ध्यामुपास्ते कस्मात् प्रातस्तिष्ठन्।**
षड्विंश ब्रा० ४।५

६. मनुस्मृति ने एक बार फिर स्पष्ट करते हुए कहा—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम्॥ —२।१०२

प्रातः सन्ध्या के जप से रात्रिभर की और सायं सन्ध्या से दिनभर की दुर्वासनाओं का नाश होता है।[1]

उपर्युक्त प्रमाणों से सर्वथा स्पष्ट है कि सायं-प्रातः दो काल ही सन्ध्योपासन करना शास्त्रसम्मत है। किसी-किसी का मत है कि सन्ध्या त्रिकाल—सायं, प्रातः तथा मध्याह्न करनी चाहिए। इसका विवेचन करते हुए ग्रन्थकार ने आगे चतुर्थ समुल्लास में लिखा है—

"तीन समय में सन्धि नहीं होती। प्रकाश और अन्धकार की सन्धि सायं-प्रातः दो ही वेला में होती है। जो इसको न मानकर मध्याह्नकाल में तीसरी सन्ध्या करना माने वह मध्य रात्रि में भी सन्ध्योपासन क्यों न करे? जो मध्यरात्रि में भी करना चाहे तो प्रहर-प्रहर, घड़ी-घड़ी, पल-पल और क्षण-क्षण क्यों न करे? जो ऐसा करना भी चाहे, तो हो ही नहीं सकता और किसी शास्त्र का मध्याह्न-सन्ध्या में प्रमाण भी नहीं। इसलिए दोनों कालों में सन्ध्या और अग्निहोत्र करना उचित है, तीसरे काल में नहीं।"

नियमितरूप से सन्ध्या करनेवाले साधक की उपलब्धि के विषय में भगवान् मनु का कथन है—

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः।
प्रज्ञां यशश्च कीर्त्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च॥ —मनु० ४।९४

दीर्घकाल तक सन्ध्या का अनुष्ठान करने से ऋषि लोग दीर्घायु, प्रज्ञा, यश और ब्रह्मतेज को प्राप्त करते हैं।

इसके विपरीत आचरण करनेवाले के लिए मनुजी कहते हैं—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स साधुभिर्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥ —मनु० २।१०३

अर्थात् जो मनुष्य सायं-प्रातः सन्ध्योपासन नहीं करता, उसे सज्जन पुरुष समस्त द्विजकर्म से बाहर कर दें, उससे शूद्रवत् बर्तें। इसका अनुमोदन करते हुए बोधायनधर्मसूत्र (२।४।२०) में कहा है—

1. Sleep with clean hands—either kept clean all day by integrity or washed clean at night by repentence. —Anon

https://t.me/arshlibrary

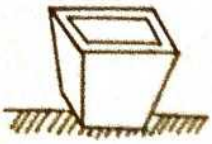

तथा सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त के पूर्व अग्निहोत्र करने का भी समय है। उसके लिए एक किसी धातु वा मट्टी की, ऊपर १२ वा १६ अङ्गुल चौकोर उतनी ही गहिरी, और नीचे ३ तीन वा ४ चार अंगुल परिमाण से वेदी इस प्रकार बनावे, अर्थात् ऊपर जितनी चौड़ी हो, उसकी चतुर्थांश नीचे चौड़ी रहें। उसमें चन्दन, पलाश वा आम्रादि के श्रेष्ठ काष्ठों के टुकड़े उसी वेदी के परिमाण से बड़े-छोटे करके उसमें रक्खे। उसके मध्य में अग्नि रखके पुनः उसपर समिधा अर्थात् पूर्वोक्त ईंधन रख दे। एक प्रोक्षणीपात्र ऐसा, और तीसरा प्रणीतापात्र इस प्रकार का, और एक इस प्रकार की आज्यस्थाली अर्थात् घृत रखने का पात्र। और चमसा ऐसा सोने-चाँदी वा काष्ठ का बनवाके प्रणीता और प्रोक्षणी में जल तथा घृतपात्र में घृत रखके घृत को तपा लेवे। प्रणीता जल रखने और प्रोक्षणी इसलिए है कि उससे हाथ धोने का जल लेना सुगम है। पश्चात् उसी घी को अच्छे प्रकार से देख लेव। फिर इन मन्त्रों से होम करे—

सायं प्रातः सदा सन्ध्यां ये विप्रा न उपासते।
कामं तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्मसु योजयेत् ॥

राजा को चाहिए कि सायं-प्रातः सन्ध्या न करनेवाले विप्र को शूद्र कार्यों में लगा दे।

पञ्चमहायज्ञविधि में तो यहाँ तक लिखा है कि ऐसे व्यक्ति को विद्या के चिह्न यज्ञोपवीत धारण करने के अधिकार से वंचित करदे और वह सेवाकर्म किया करे।

अग्निहोत्र का काल—सन्ध्या की भाँति अग्निहोत्र भी सायं-प्रातः दोनों काल करना चाहिए। सायंकाल में हुत द्रव्य प्रातःकाल तक और प्रातःकाल में हुत द्रव्य सायंकालपर्यन्त जलवायु की शुद्धि द्वारा बल, बुद्धि तथा आरोग्य प्रदान करनेवाला होता है। तैत्तिरीय आरण्यक (१०।६३।१) में लिखा है—**'अग्निहोत्रं सायंप्रातर्गृहाणां निष्कृतिः'** सायं-प्रातः अग्निहोत्र करने से घरों का उद्धार होता है।

प्रातः और सायं में कौन-से विशिष्ट काल अग्निहोत्र के लिए अभिप्रेत हैं, इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थों में निम्न संकेत किये हैं—

१. सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त से पूर्व अग्निहोत्र करने का भी समय है।—स०प्र० समु० ३

२. दिन और रात्रि की सन्धि में अर्थात् सूर्योदय और अस्त समय में परमेश्वर का ध्यान और अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए।—स०प्र० समु० ४

३. जैसे सायं-प्रातः दोनों सन्धिवेलाओं में सन्ध्योपासन करें। इसी प्रकार दोनों स्त्री-पुरुष अग्निहोत्र भी दोनों समय में नित्य किया करें।—सं०वि० (गृहाश्रम)

४. ब्रह्म का उपासक मनुष्य रात्रि और दिवस के सन्धिसमय में नित्य उपासना करें। ..... सन्ध्योपासन के पश्चात् अग्निहोत्र का समय है। —प० म० विधि

https://t.me/arshlibrary

भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥ भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा ॥ स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥ भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥

इत्यादि अग्निहोत्र के प्रत्येक मन्त्र को पढ़कर एक-एक आहुति देवे। और जो अधिक आहुति देना हो तो—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रन्तन्नऽ आ सुव ॥ —यजु० ३०।३

इस मन्त्र और पूर्वोक्त गायत्री-मन्त्र से आहुति देवे।

इन वचनों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि—

क. सन्ध्योपासना दोनों समय सन्धिवेलाओं में की जाती है।

ख. दोनों समय सन्ध्योपासना के पश्चात् ही अग्निहोत्र का समय है।

ग. प्रातःकालीन अग्निहोत्र सन्धिवेला अर्थात् उषःकाल के व्यतीत हो जाने पर सूर्योदय के पश्चात् करना चाहिए।

घ. सायंकालीन अग्निहोत्र सूर्यास्त से पूर्व करना चाहिए।

परन्तु जब सन्ध्योपासना सायं सन्धिकाल में की जाएगी और अग्निहोत्र उसके पश्चात् करना होगा, तब अग्निहोत्र सूर्यमण्डल के अस्त हो जाने पर ही हो सकता है। इस स्थिति में 'सूर्यास्त से पूर्व अग्निहोत्र का समय है' यह वचन असंगत प्रतीत होता है। इसकी संगति इस प्रकार लग सकती है, कि पूर्ण सूर्यास्त तब समझना चाहिए, जब आकाश में तारे दीखने आरम्भ हो जाएँ, क्योंकि सायंकालीन अग्निहोत्र तारादर्शन से पूर्व ही करना अभीष्ट है, अतः वह 'सूर्यास्त से पूर्व' ही कहाएगा, किन्तु सूर्यमण्डल के क्षितिज में अस्त होने के पश्चात् होगा।

प्रथम संस्करण में **'ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा.....'** आदि के स्थान में निम्न प्रकार मन्त्र लिखे हैं—

"ओं भूरग्नये स्वाहा। इदमग्नये इदन्न मम ॥ ओं भुवर्वायवे स्वाहा। इदं वायवे इदन्न मम ॥ ओं स्वरादित्याय स्वाहा। इदमादित्याय इदन्न मम ॥ ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा। इदमग्निवाय्वादित्येभ्य इदन्न मम ॥ ओं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा।"

विशेष—प्राचीन याज्ञिकप्रक्रियानुसार आहुति के पश्चात् यजमान त्याग के लिए **'इदमग्नये'** (अभिप्रेत देवता पद का प्रयोग) अथवा **'इदन्न मम'** वाक्य का प्रयोग करते हैं, अर्थात् त्याग अर्थ के बोध के लिए इनमें से एक वाक्य का प्रयोग किया जाता है, परन्तु ग्रन्थकार ने सर्वत्र **'स्वाहा'** के पश्चात् **'इदमग्नये इदन्न मम'** सदृश दोनों वाक्यों का प्रयोग किया है। इसका अभिप्राय ग्रन्थकार ने प्रथम संस्करण में इस प्रकार व्यक्त किया है—

---

१. ग्रन्थकार ने यहाँ प्रातः-सायं होम के **'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा', अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा'** आदि विशिष्ट मन्त्रों का संकेत नहीं किया है। उभयकाल में प्रयुक्त होनेवाले सामान्य मन्त्रों का ही निर्देश किया है। इसी प्रकार यहाँ तथा 'पञ्चमहायज्ञविधि' में **'इदमग्नये प्राणाय —इदं न मम'** आदि पदों का निर्देश भी नहीं मिलता है, परन्तु 'संस्कारविधि' में दिये हैं।

https://t.me/arshlibrary

'भूः' और **'प्राण'** आदि ये सब नाम परमेश्वर के हैं। इनके अर्थ कह चुके हैं। **'स्वाहा' शब्द का अर्थ यह है**—कि जैसा ज्ञान आत्मा में हो वैसा ही जीभ से बोले, विपरीत नहीं। जैसे परमेश्वर ने सब प्राणियों के सुख के अर्थ इस जगत् के पदार्थ रचे हैं, वैसे मनुष्यों को भी परोपकार करना चाहिए।

[होम से अनेक लाभ]

प्रश्न—होम से क्या उपकार होता है ?

"और जो इसमें तीन बार पाठ (१. **अग्नये स्वाहा,** २. **इदमग्नये,** ३. **इदं न मम**) है, सो प्रथम जो **'अग्नये स्वाहा'** इसका अर्थ यह है कि जो कुछ करना सो परमेश्वर के उद्देश्य से ही करना। **'इदमग्नये'** जो दूसरा पाठ है उसका यह अभिप्राय है कि सब जगत् परमेश्वर को जानने के लिए है, क्योंकि जो कार्य होता है सो कारणवाला ही होता है। **'इदं न मम'** यह जो तीसरा पाठ है, सो इस अभिप्राय से है कि यह जो जगत् है सो मेरा नहीं है, किन्तु परमेश्वर की ही रचना है। किसलिए कि हम लोगों के सुख के लिए परमेश्वर ने पदार्थ बनाये हैं। हम लोग तो भृत्यवत् हैं। परमेश्वर ही इस जगत् का स्वामी है, क्योंकि जिसका पदार्थ होता है, उसका वही स्वामी होता है।" पृष्ठ ४१

स्वाहा—निरुक्त ८।१६(२०) में 'स्वाहा' शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया है—**'स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा स्वा वाग् आहेति वा स्वं आहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा'**।

(क) प्रियवचन, मधुर वचन, कल्याणकारी वचन। **सु आह वक्ति अनेनेति स्वाहा**, सु+आह्+घञ्= स्वाह, **सुपां सुलुक्** से सब विभक्तियों को 'आ' आदेश, अतः प्रियवचन से, इत्यादि सब विभक्तियों के अर्थ स्वाहा शब्द में पाये जाएँगे। यहाँ **'ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः'** (पा० ३।४।८४) से 'ब्रू' धातु को 'आह' आदेश है। **सु आह वक्तीति स्वाहा,** एवं कर्त्ता में प्रत्यय करने पर 'स्वाहा' का अर्थ प्रियवक्ता, कल्याणवक्ता भी होगा।

(ख) सत्यभाषण, सत्यवक्ता। **'स्वा वाक् आह वक्ति अस्मिन्निति स्वाहा'**। स्वा+आह्+घञ्+ सु=स्वाहा। सत्यभाषण या सत्यवक्ता में वागिन्द्रिय अपनी हृदयस्थ वाणी कहती है, अर्थात् जो हृदय में है वही वाणी द्वारा उच्चारण किया जाता है।

(ग) अपने पदार्थ को ही अपना समझना, दूसरे के पदार्थ को ग्रहण करने की इच्छा न करना अर्थात् अपरिग्रह। **'स्वं पदार्थं प्राह वक्ति अनेन अयं वा सः स्वाहा'** स्व+आह्+घञ्+सु=स्वाहा।

(घ) सुग्रहीत हवि की आहुतियाँ देना अर्थात् सामग्री आदि को भली प्रकार स्वच्छ करके विधिपूर्वक यज्ञ करना और इसी प्रकार विधिवूर्वक यज्ञ करनेवाला। फिर सामान्यतः सत्क्रिया या सत्कर्त्ता मात्र के लिए स्वाहा शब्द प्रयुक्त होता है। **'सु आहुतं हविः जुहोति अनेन कर्मणा अयं मनुष्यो वा इति स्वाहा'** सु+आ+हु+ङ+सु=स्वाहा। आ=आहुत=गृहीत।

ग्रन्थकार ने पञ्चमहायज्ञविधि के अन्तर्गत आये **'चित्रं देवानामुदगा.....'** मन्त्र में आये **'स्वाहा'** शब्द का अर्थ विस्तार से लिखा है। यज्ञ करते हुए मन्त्र के अन्त में **'स्वाहा'** शब्द बोलने का विधान शतपथ ब्राह्मण २।२।४।६ में है—**'स प्रजापतिर्विदांचकार स्वो वै मा महिमाहेति। स स्वाहेत्याजुहोत तस्मात् स्वाहेत्याजुहोत् तस्मात् स्वाहेत्येव हूयते'**, अर्थात् प्रजापति ने जाना कि मेरी अपनी महिमा आत्मा ने मुझसे कही है, अतः उसने 'स्वाहा' कहकर होम किया। इसी कारण 'स्वाहा' कहकर होम किया जाता है।

होम से लाभ—'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' (शतपथ)। कर्मकाण्डप्रधान यजुर्वेद १।१ में परमेश्वर से इसी

https://t.me/arshlibrary

यज्ञरूप श्रेष्ठतम कर्म में प्रवृत्त करने की प्रार्थना की गयी है—**'प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे'**। अन्यत्र (यजुः० ६।२१, १८।२६, २२।३३) मनुष्य को अपना सर्वस्व यज्ञार्थ समर्पित कर जीवन को यज्ञमय बनाने की प्रेरणा की गयी है। भोजन-छादनादि से तो उसके कर्त्ता को ही सुख होता है, किन्तु सुगन्धयुक्त, पुष्टिकारक, मिष्टगुणकारक तथा रोगनाशक द्रव्यों से जो यज्ञ होता है, वह प्राणिमात्र के लिए सुखदायक होता है। इसीलिए उसे श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है। मनुस्मृति के अनुसार **'दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम्'** देवयज्ञ (अग्निहोत्र) में प्रवृत्त मनुष्य समस्त चराचर जगत् का पालन-पोषण करता है। मीमांसा (४।१।३) में **'परार्थत्वात्'** तथा ऐतरेयब्राह्मण में **'जनतायै'** (१।२) शब्दों से यज्ञ का परोपकारार्थ किया जाना स्पष्ट है। इसमें अपने-पराये, शत्रु-मित्र आदि में भेद करना सम्भव नहीं। चाहकर भी कोई अपने विरोधी पड़ोसी के घर में होम-जन्य सुगन्धि को जाने से नहीं रोक सकता।

व्यापकरूप से पृथिवी एवं अन्तरिक्ष के दोषों को दूर करते रहने का सर्वोत्तम साधन सूर्य है। अथर्ववेद (२।३२।१) में कहा है—उदय और अस्त होता हुआ सूर्य अपनी प्रखर किरणों से शरीर के भीतर-बाहर और पृथिवी पर विद्यमान कीटाणुओं को नष्ट कर देता है। उस सूक्त के शेष मन्त्रों में भी सूर्य के विविध रूप में कृमिनाशक होने का वर्णन किया गया है। उदयास्त-काल में सूर्य की किरणें पृथिवी पर तिरछी पड़ती हैं, इसलिए उदय और अस्त होते हुए सूर्य का विशेषरूप से उल्लेख किया गया है। तिरछी किरणें ही घरों के भीतर, गुफाओं में तथा वृक्षों के झुरमुटों में प्रवेश कर सकती हैं। अथर्ववेद (५।२३।३-६)में सूर्य की तेज धूप को सब प्रकार के कृमियों का नाशक बताया गया है। वृक्षादि वातावरण में विद्यमान दूषित वायु को ग्रहण कर तथा शुद्ध वायु प्रदान कर शुद्धि-कार्य में प्रवृत्त रहते हैं। सूअर, मुर्गा, मछली, कौआ, गिद्ध, सर्प आदि भी अपने-अपने ढंग से जल-थल-वायु की गन्दगी को दूर करने में सहायक हैं। यह सब ईश्वरीय व्यवस्था है।

परन्तु मलमूत्र के विसर्जन, पदार्थों के गलने-सड़ने, श्वास-प्रश्वास की क्रिया तथा वर्त्तमान में धूम्रपान, कल-कारखानों की चिमनियों से निरन्तर निकलनेवाले धुएँ एवं दूषित पदार्थों तथा यातायात आदि के कारण उत्पन्न प्रदूषण के लिए मनुष्य स्वयं उत्तरदायी है। तब उसका निवारण करना भी उसी का कर्त्तव्य है। इसका एकमात्र उपाय अग्निहोत्र है। द्युस्थानीय सूर्य का धरती पर प्रतिनिधित्व अग्नि करती है। अग्नि में पड़ते ही किसी पदार्थ का दूषण सर्वथा समाप्त हो जाता है। उसी के प्रभाव से उष्ण जल भी कृमिनाश में सहायक होता है। अग्नि में होम किये अनेक प्रकार के रोगनाशक तथा सुगन्धगुणयुक्त पदार्थों के जलने से उत्पन्न धुआँ जलवायु के दोषों अथवा विकारों को दूर करने मे अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। जहाँ होम किया जाता है उस स्थान के अन्दर वर्त्तमान अग्नि, वायु तथा सूर्य की किरणों की शक्ति बढ़ जाती है। होम की सहायता से होनेवाली वर्षा का जल भी शुद्ध होता है और उस शुद्ध जलवायु से उत्पन्न ओषधि, वनस्पति आदि भी शुद्ध अथवा निर्दोष होते हैं और मनुष्य के शरीर में जाकर उसे किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाते। इसलिए वेद ने यज्ञ की सहायता से कृषि करने का आदेश दिया है—

'कृषिश्च मे यज्ञेन कल्पताम्'। —यजुः० १८।६

होमयज्ञ के द्वारा ज्ञात, अज्ञात तथा दुःसाध्य सभी रोगों से छुटकारा मिल जाता है। कुछ रोग ऐसे होते हैं जिनका निदान नहीं हो पाता अथवा जिनके उपचार के लिए उपयुक्त ओषधि उपलब्ध नहीं हो पाती। ऐसे सभी रोगों की चिकित्सा के लिए वेद ने होमयज्ञ का विधान किया है। यज्ञ के द्वारा वेद ने जहाँ सामान्यरूप से चिकित्सा का उपदेश किया है, वहाँ विशेष द्रव्यों से रोगविशेषों की चिकित्सा का भी निर्देश

https://t.me/arshlibrary

किया है। यज्ञ द्वारा रोगनिवारण का उल्लेख चरकसंहिता, बृहन्निघण्टु आदि आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रन्थों में अनेकत्र मिलता है। गिलोय, गुग्गुल, चिरायता आदि रोगनाशक ओषधियाँ अग्नि द्वारा छिन्न-भिन्न हो सहस्रगुणा शक्ति पाकर जलवायु को शुद्ध करती हैं। यह ओषधीय प्रभाव वातावरण को प्रदूषण से मुक्त करके स्वस्थ रहने में सहायक होता है। यज्ञीय वातावरण की शान्ति, पवित्रता रोगकल्मष को दूर करने के लिए सोने में सुगन्ध का काम करते हैं। अब तो आधुनिक चिकित्साविज्ञान ने भी परीक्षण करके यज्ञ द्वारा वाय्वादि की शुद्धि होकर रोगनिवारण की वैदिक मान्यता को स्वीकार कर लिया है।

विज्ञान के अनुसार रासायनिक प्रक्रिया छोटे-छोटे पदार्थों में अधिक होती है। रासायनिक क्रियाओं में पदार्थों के अणु (Molecules) भाग लेते हैं, क्योंकि अणु अत्यन्त सूक्ष्म होता है, अतः पदार्थ जितना अधिक सूक्ष्म होगा वह क्रिया में उतनी ही जल्दी भाग लेगा एवं क्रिया तेजी से होगी। रासायनिक क्रिया ठोस एवं द्रव की अपेक्षा गैस में सबसे अधिक तेजी से होती है। इस क्रिया में केवल अणु का पृष्ठभाग ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि पदार्थ का पृष्ठ भाग अधिक होगा तो क्रिया अधिक होगी और यह तभी सम्भव है जब पदार्थ को सूक्ष्म अतिसूक्ष्म करके फैला दिया जाए। उदाहरण के लिए—यदि तेज़ाब (Hydrocloric Acid) में थोड़े-से संगमरमर (Calcium Carbonate) के टुकड़े डाल दिये जाएँ तो गैस (Carbon dioxide) निकलने लगती है, परन्तु यदि संगमरमर का चूरा डाल दिया जाए तो गैस अधिक वेग से निकलती है। रासायनिक क्रिया के लिए कणों (Particles) की पृष्ठवक्रता (surface curvature) भी कम होनी चाहिए। यदि पदार्थ के कण सूक्ष्म होंगे तो उनकी पृष्ठवक्रता भी कम होगी एवं क्रिया तेजी से होगी।

जब कोई पदार्थ अग्नि में डाला जाता है तो वह अत्यन्त सूक्ष्म होकर गैसरूप में आ जाता है, क्योंकि अग्नि के प्रभाव से पदार्थ फैलते हैं। इसके अतिरिक्त जब कण सूक्ष्म हो जाते हैं तो उसकी पृष्ठवक्रता भी कम हो जाती है। तात्पर्य यह है कि इन तीनों बातों के लिए होम अत्यन्त उपयोगी है। जब कोई पदार्थ हवन-यज्ञ में डाला जाता है तो उसकी रासायनिक शक्ति बढ़ जाती है।

यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि स्थूल पदार्थ से उसके चूर्ण में, चूर्ण से तरल में और तरल से वायु या गैसरूप में अधिक शक्ति होती है। मिर्च के खाने और आग में डालकर उसको सूँघने से यह अन्तर स्पष्ट हो जाएगा। अग्नि में डाले गये द्रव्य की शक्ति और उसका व्यापार-क्षेत्र उसके सूक्ष्म होने से अनेक गुणा बढ़ जाता है।

इस प्रसंग में ग्रन्थकार ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में लिखा है—

"जैसे दाल, शाक आदि में सुगन्ध द्रव्य और घी इन दोनों को चमचे में अग्नि में तपाके उनमें छौंक देने से वे सुगन्धित हो जाते हैं, क्योंकि उस सुगन्ध द्रव्य और घी के अणु उनको सुगन्धित करके दाल आदि पदार्थों को पुष्टि और रुचि बढ़ानेवाले कर देते हैं। वैसे ही यज्ञ से जो भाप उठता है, वह भी वायु और वृष्टि के जल को निर्दोष और सुगन्धित करके सब जगत् को सुखी करता है। इससे यह यज्ञ परोपकार के लिए ही होता है।"

—वेदविषयविचारः

सुगन्धित पदार्थ रक्खा जाए तो वे अधिक लाभकारी होंगे, ऐसा समझना भूल होगी। हम जानते हैं कि कोई पदार्थ जितना क्रियाशील गैस के रूप में होता है उतना उन पदार्थों के द्रवरूप (तेल, अर्क आदि) में नहीं होता।

जल, वायु एवं अन्न आदि की शुद्धि के लिए अन्य उपाय भी हैं। शुद्धिकरण के लिए हम कृमिनाशक

https://t.me/arshlibrary

पदार्थों (Disinfectants) और कृमिहर (Antiseptics) का प्रयोग करते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी प्रयोग में लाये जाते हैं जिनसे खाद्य पदार्थों में सड़न उत्पन्न न हो। इन्हें संरक्षक (Preservatives) कहते हैं। कृमिहर पदार्थों में प्रायः फ़िनोल, क्रियजोट और हाइड्रोजन पैराक्साइड (H_2O_2) आदि मुख्य होते हैं। ये कीटाणुओं को मारते नहीं, अपितु पदार्थों को कीटाणुओं के प्रभाव से बचाते हैं। कृमिनाशक पदार्थों में प्रायः क्लोरीन, सल्फर-डाइ-आक्साइड आदि अधिक प्रयोग में लाये जाते हैं। ये रोगों के कीटाणुओं को मारते हैं। प्रायः शहरों में यह देखा जाता है कि पानी का रंग नीला स्वच्छ न होकर कुछ भिन्न रंग का होता है। ऐसा पानी में क्लोरीन डालने से होता है। पानी की टंकी में क्लोरीन गैस मिला दी जाती है जो पानी के कीटाणुओं को मार देती है। इसी प्रकार कुओं में भी लाल दवाई नामक पदार्थ मिलाया जाता है। कुछ पदार्थ ऐसे भी होते हैं जो कृमिहर एवं कृमिनाशक दोनों के रूप में काम में लाये जाते रहे हैं, जैसे—फार्मेल्डीहाइड, परन्तु यह गुण उनकी सान्द्रता पर निर्भर करता है। यदि पदार्थ तनु (dilute) होता है तो वह कृमिहर का काम देता है, परन्तु अधिक सान्द्र (concentrated) होने पर कृमिनाशक के रूप में प्रयोग में लाया जाता है। ऐसे पदार्थों का प्रयोग करना कठिन कार्य है, क्योंकि यदि वे आवश्यकता से अधिक डाल दिये जाएँ तो हानिकारक सिद्ध हो जाते हैं। हवन-गैस के विश्लेषण से पता चलता है कि उसमें ये पदार्थ सान्द्र अवस्था में नहीं होते। वे सिर्फ़ इतनी मात्रा में होते हैं कि कीटाणुओं को मार सकें, अतः हवन-गैस खाद्य पदार्थों के उपयोगी भाग को नष्ट किये बिना अपना काम करते हैं। हवन-गैस में वे Preservatives गैस के रूप में होते हैं। वह गैस वायु के साथ मिलकर हानिकारक कीटाणुओं को नष्ट कर देती है, परन्तु आवश्यक भाग को नष्ट नहीं करती।

घर में अग्निहोत्र करने से प्रांगण या परिसर की वायु हल्की होकर बाहर निकल जाती है एवं बाहर की शुद्ध वायु घर के भीतर आ जाती है। यह बात सुगन्धित पदार्थों को घर में रखने से नहीं हो सकती।

प्रायः यह कहा जाता है कि हवन करने से कार्बन डाई आक्साईड गैस निकलती है जो मानव के लिए हानिकारक है। वास्तव में ऐसा नहीं है। हम जानते हैं कि वायु में कार्बन डाइ आक्साइड सामान्यतः .०४ प्रतिशत तक होती है। यह गैस मनुष्य के रक्त में उपस्थित गैसों में भी पाई जाती है। यह गैस अपने आप में इतनी विषैली नहीं होती। इस गैस की उपस्थिति में हानि का कारण वहाँ पर आक्सीजन की कमी होती है। साँस लेने के लिए आक्सीजन का पर्याप्त मात्रा में होना अपेक्षित है। यदि हवन करने से इतनी अधिक कार्बन डाई आक्साइड निकलती कि आक्सीजन की अपेक्षित मात्रा में कमी हो जाती तो साँस लेने में कठिनाई हो जाती तो हवन में यह दोष माना जा सकता था, परन्तु ऐसा न होने से स्पष्ट है कि हवन से पैदा होनेवाली यह गैस मनुष्य के लिए हानिकारक नहीं है। कार्बन डाई आक्साइड गैस जल में घुलनशील है, अतः हवन करते समय जो जल हवनकुण्ड के चारों और छिड़का जाता है, कुछ गैस उसमें भी घुल जाती है। यदि हवन ठीक रीति से किया जाए—समिधाएँ ठीक प्रकार की और ठीक परिमाण में डाली जाएँ और घी का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में किया जाए—तो कार्बन डाइ आक्साइड बहुत कम बनेगी।

सभी इस बात को जानते हैं कि पेड़-पौधे दिन में कार्बन डाइ आक्साइड गैस खींचते हैं और रात्रि में उसे छोड़ते हैं। यह ईश्वरीय व्यवस्था है कि जो गैस मनुष्य के लिए हानिकारक है वही पौधों का आहार होने से उनके लिए लाभदायक है। इसलिए हवन करने से जो कार्बन डाइ-आक्साइड निकलती है वह पेड़ पौधों का आहार बन जाती है। यही कारण है कि जहाँ कार्बन-डाइ-आक्साइड अधिक होती है, वहाँ

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

पैड़-पौधे अधिक और दूसरों की तुलना में अधिक अच्छे होते हैं।

किसी कार्यवस्तु का सर्वथा नाश कभी नहीं होता। अभिव्यक्तावस्था में आजाने पर जब कोई वस्तु अपने रूप का परित्याग करती है तो वह या तो रूपान्तर धारण कर लेती है या अपनी कारणावस्था में लीन हो जाती है। इस स्थिति को साधारणतया उस वस्तु का नाश समझ लिया जाता है। परिणमन के कारण उसका नाम-रूप भले ही बदलता रहे, पर उसका सर्वात्मना विनाश कभी नहीं होगा। जल का आक्सीजन-हाइड्रोजन में विभक्त होकर अदृश्य हो जाना अथवा वाष्परूप होकर उड़ जाना जल का नष्ट हो जाना नहीं, एक स्थिति से दूसरी में परिवर्त्तित हो जाना है। मोमबत्ती के जलते-जलते बुझ जाने पर भी न उसकी बत्ती नष्ट होती है और न मोम। केवल हमें उसका उस रूप में दिखाई देना बन्द हो जाता है। यदि अग्नि में जल जाने से मिर्चों का नाश हो जाता है तो क्या कारण है कि हम उस स्थान पर बहुत देर बाद तक भी खड़े नहीं रह सकते। निश्चय ही मिर्चों का अस्तित्व अपने परिवर्त्तित रूप में बना रहता है। यही बात अग्नि में पड़कर भस्म हुए पदार्थों की है। सूक्ष्मरूप में वे सदा आकाश में बने रहते हैं।

आनुषंगिक लाभ—आनुषंगिक रूप में भी यज्ञ से अनेक सांकेतिक लाभ होते हैं। जैसे **'इदन्न मम'** के बार-बार उच्चारण से त्यागवृत्ति एवं समर्पण की भावना का उदय, अहंकार का मर्दन, जलती हुई समिधाओं से अपने को खोकर कुछ पाने की प्रेरणा, ऊपर ही ऊपर उठती प्रचण्ड अग्नि ज्वाला को देखकर स्वयं ऊपर उठने की आशा को बल, अपने को स्वाहा करने पर ही प्रकाश और अमरता की प्राप्ति, संसार के कल्याणार्थ अपने को बलिदान करने का सन्देश, तेज की शिखा दबाने पर भी ऊपर की ओर ही उठना चाहती है—यह देखकर विघ्न-बाधाओं से जूझते हुए अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते जाने की प्रवृत्ति, जातीय गौरव तथा संगठन का भाव इत्यादि। जो व्यक्ति प्रतिदिन वेदी पर बैठकर आहुतियाँ डालता हुआ, भौतिक अग्नि के साथ-साथ आत्मिक ज्वाला को भी प्रदीप्त करता रहता है, वह शनैः-शनैः उन्नति तथा विकास के शिखर पर पहुँच जाता है। जिसका अग्नि के साथ सम्पर्क हो जाता है, वह ऊर्ध्वगति हो जाता है—वह ऊपर-ही-ऊपर चढ़ता जाता है। पानी सदा नीचे को बहता है, परन्तु अग्नि के सम्पर्क में आकर वह भाप बन जाता है और ऊपर की ओर उठने लगता है। मनुष्य भी परमात्मा का सान्निध्य पाकर ऊपर उठने लगता है—ऊपर-ही-ऊपर जाता है। फिर उसके पतन की आशंका नहीं रहती। जैसे यज्ञाग्नि में डाली आहुति अग्निरूप हो जाती है, वैसे ही जो ब्रह्माग्नि में अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है, उसका जीवन यज्ञमय हो जाता है। जैसे यज्ञाग्नि अरणियों के घर्षण से पैदा होती है, वैसे ही ब्रह्माग्नि तपस्या से प्रकट होती है।

इस प्रकार जो व्यक्ति अग्निहोत्र के प्रकाश से जीवन का प्रकाश करने का अभ्यासी हो जाता है, उसे मृत्यु भी कष्ट नहीं दे सकती। जिसने अपने जीवन का एक-एक क्षण अपने स्वामी की कीर्ति का विस्तार करने में लगाया हो वह तो मृत्यु के आने पर 'तेरी इच्छा पूर्ण हो' कहकर हँसते-हँसते मृत्यु को गले लगा लेगा।[1]

यह कहा जा सकता है कि यदि जल-वायु की शुद्धि करना ही अग्निहोत्र का उद्देश्य है तो यह तो बहुत सारी आग जलाकर उसमें घृत-सामग्री झोंक देने से पूरा हो सकता है। फिर यह सब आडम्बर किस लिए ? यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि अंगसंचालन के साथ किया हुआ कार्य और कथन केवल

१. महाप्रयाण के समय ग्रन्थकार के मुख से निकले अन्तिम शब्द थे —हे दयामय परमेश्वर ! तेरी यही इच्छा है। तेरी इच्छा पूर्ण हो। अहा ! मेरे प्रभु! तैंने अच्छी लीला की।'

https://t.me/arshlibrary

उत्तर—सब लोग जानते हैं कि दुर्गन्धयुक्त वायु और जल से रोग, रोग से प्राणियों को दुःख; और सुगन्धित वायु तथा जल से आरोग्य, और रोग के नष्ट होने से सुख प्राप्त होता है।

प्रश्न—चन्दनादि घिसके किसी को लगावे, वा घृतादि खाने को देवे तो बड़ा उपकार हो। अग्नि में डालके व्यर्थ नष्ट करना बुद्धिमानों का काम नहीं।

उत्तर—जो तुम पदार्थविद्या जानते, तो कभी ऐसी बात न कहते, क्योंकि किसी द्रव्य का अभाव नहीं होता[1]। देखो, जहाँ होम होता है, वहाँ से दूर देश में स्थित पुरुष के नासिका से सुगन्ध का ग्रहण होता है, वैसे दुर्गन्ध का भी। इतने ही से समझलो कि अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होके, फैलके वायु के साथ दूर देश में जाकर दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है।

प्रश्न—जब ऐसा ही है, तो केशर, कस्तूरी, सुगन्धित पुष्प और अतर आदि के घर में रखने से सुगन्धित वायु होकर सुखकारक होगा।

उत्तर—उस सुगन्ध का वह सामर्थ्य नहीं है कि गृहस्थ[2] वायु को बाहर निकालकर शुद्ध वायु को प्रवेश करा सके, क्योंकि उसमें भेदकशक्ति नहीं है। और अग्नि ही का सामर्थ्य है कि उस वायु और दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को छिन्न-भिन्न और हल्का करके, बाहर निकालकर पवित्र वायु को प्रवेश करा देता है।

प्रश्न—तो मन्त्र पढ़के होम करने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—मन्त्रों में वह व्याख्यान है कि जिससे होम करने के लाभ विदित हो जाएँ, और मन्त्रों की आवृत्ति होने से कण्ठस्थ रहें। वेद-पुस्तकों का पठन-पाठन और रक्षा भी होवे।

वाणी से निःसृत शब्दों से अधिक प्रभावशाली होता है। इसी कारण श्रव्यकाव्य की अपेक्षा दृश्यकाव्य में लोगों की रुचि अधिक होती है। बालकों को पाठ कण्ठस्थ कराने के लिए प्रायः इस पद्धति का प्रयोग किया जाता है। होम करते समय हाथों से आहुति डालते, आचमन व अंगस्पर्श करते और जल-प्रोक्षण करते हैं, आँखों से देखते और त्वचा से स्पर्श करते हैं। इस सारी प्रक्रिया के साथ वाणी से मन्त्र बोलने में रस आता है। यही कारण है कि बच्चे अपने माता-पिता के साथ बड़े चाव से यज्ञ में बैठते हैं और इस प्रकार धीरे-धीरे यज्ञ में बोले जानेवाले मन्त्र उन्हें अनायास कण्ठस्थ हो जाते हैं।

मन्त्रपाठ—मन्त्रपाठ के प्रयोजन के विषय में ग्रन्थकार ने स्वरचित 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में लिखा है—"जैसे हाथ से होम करते, आँख से देखते और त्वचा से स्पर्श करते हैं, वैसे ही वाणी से वेदमन्त्रों को भी पढ़ते हैं, क्योंकि उनके पढ़ने से वेदों की रक्षा, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना होती है तथा होम से जो-जो फल होते हैं, उनका स्मरण भी होता है। वेदमन्त्रों के बारम्बार पाठ करने से वे कण्ठस्थ भी रहते हैं तथा रक्षा भी होती है और ईश्वर का होना भी विदित होता है कि कोई नास्तिक न हो जाए। ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक ही सब कर्मों का आरम्भ करना होता है, सो वेदमन्त्रों के उच्चारण से यज्ञ में तो उसकी प्रार्थना सर्वत्र होती है। इसलिए सब उत्तम कर्म वेदमन्त्रों से ही करना उचित होता है।"
—वेदविषय विचार।

---

१. **नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।**
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ —गीता २।१६
यह वचन ग्रन्थकार ने अष्टम समुल्लास में उद्धृत किया है।

२. अर्थात् घर में स्थित=विद्यमान वायु को।

https://t.me/arshlibrary

परन्तु होम से होनेवाले फलों का स्मरण मन्त्रपाठ से तब तक नहीं हो सकता जब तक उनके अर्थों का ज्ञान न हो। इस विषय का विवेचन पहले किया जा चुका है। यहाँ पुनरावृत्ति करना उचित नहीं होगा।

अर्थज्ञान के बिना मन्त्रपाठ—तो क्या अर्थज्ञान के बिना वेदमन्त्रों का पाठ करना ही नहीं चाहिए ? करना चाहिए, क्योंकि केवल मन्त्र-स्मरण करने से भी मनुष्य को पूरा न सही, कुछ-न-कुछ लाभ अवश्य होता है। उसकी स्मृति में कल्याणी वेदवाणी के शब्द रहते हैं। कालान्तर में वह कभी अर्थज्ञान में प्रवृत्त हो सकता है। स्मृतिगत किसी मन्त्र की व्याख्या सुनते समय उसे मन्त्र से सर्वथा अपरिचित व्यक्ति की अपेक्षा अधिक आनन्द आएगा। दाक्षिणात्य ब्राह्मणों ने अर्थज्ञान के बिना वेदमन्त्रों को कण्ठस्थ कर जिस प्रकार वेदों की रक्षा की है, उसके लिए कौन उनके प्रति नतमस्तक नहीं होगा ? **'नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पम्'**। यदि उनके कण्ठ में वेद सुरक्षित न रहते तो आज कौन वेद का भाष्य करता या उनपर प्रवचन करता। यदि मन्त्रपाठ की कोई उपयोगिता न होती तो ब्राह्मणों ने अपने प्राण देकर भी वेद की रक्षा न की होती, दाक्षिणात्य ब्राह्मणों ने वेदों को कण्ठाग्र करना अपने जीवन का लक्ष्य न बनाया होता और **'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयः'** के अनुसार बिना किंचित् लाभ की आशा के वेदों के पठन-पाठन में सारा जीवन न लगाया होता। वेद की रक्षा के लिए वे जितने भी उपाय कर सकते थे, उन्होंने किये। वेदों के मूल स्वरूप को सुरक्षित रखने का सर्वोत्तम उपाय श्रवण-परम्परा को अपनाना था, अतः उन्होंने उसी को अपनाया। लेखकों के प्रमाद (तथा वर्त्तमान में मुद्रणालयों की असावधानी) के कारण, वेदों का पाठ अधिक भ्रष्ट हो सकता था। इसलिए लेखनकला का अतिप्राचीन काल से ज्ञान होनेपर भी प्राचीन भारतीयों ने प्रायः लिपिबद्ध न कर श्रवणपरम्परा से ही इसे बाद की पीढ़ियों को संक्रमित किया। कालान्तर में इस श्रवणपरम्परा के लिए कई घराने विशिष्टरूप से निर्धारित किये गये। उनमें से किन्हीं ने दो वेदों पर परिश्रम किया, किन्हों ने तीन पर और किन्हीं ने चारों पर। वे ही बाद में द्विवेदी, त्रिवेदी और चतुर्वेदी कहलाए। आज जबकि वेद मुद्रितरूप में उपलब्ध हैं, अनेक वेदपाठी इसकी युग-युग पुरानी मौखिक परम्परा का पालन कर रहे हैं। उनके मुख में वेद आज भी उसी रूप में सुरक्षित हैं, जिस रूप में कभी आदि ऋषियों ने उनका उच्चारण किया होगा। विश्व के इस अद्भुत आश्चर्य को देखकर एक पाश्चात्य विद्वान् ने आत्मविभोर होकर कहा था कि यदि वेद की सभी मुद्रित प्रतियाँ नष्ट हो जाएँ तो भी इसे ब्राह्मणों के मुख से पुनः प्राप्त किया जा सकता है। वेद के कभी नष्ट होने का प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु ब्राह्मणों के मुख में ये चारों वेद उनके अर्थज्ञान के बिना ही सुरक्षित रहे हैं। इसलिए उनसे मनुष्यसमाज पूरी तरह लाभान्वित नहीं हो सका।

केनोपनिषद् की टीका में श्री अरविन्द ने लिखा है—"मनोविज्ञान का कहना है कि चेतना का जो रूप हमारे जानने में आता है, वह केवल सतह का ऊपर-ऊपर का रूप है। अन्तश्चेतना के बहुत बड़े भाग से हम अनभिज्ञ रहते हैं। अन्तश्चेतना का यह विशाल भाग उस सबको स्मृति के कोठे में संचित कर लेता है, जो-जो मनुष्य की इन्द्रियों के सामने से गुज़रता है। यह सम्भव है कि जो कुछ हम देखते-सुनते हैं, उस सबकी ओर हमारा ध्यान बिल्कुल न जाता हो, परन्तु हमारी चेतना का वह भाग जिसे उपचेतना (Sub-conscious) कहा जाता है, हर बात को, हर घटना को अपने भीतर अंकित कर लेता है। उसके ध्यान से कुछ नहीं छूटता, छोटी-से-छोटी बात भी उसमें अंकित होकर संचित हो जाती है। उदाहरणार्थ जैसे—एक अनपढ़ नौकरानी प्रतिदिन अपने मालिक को हिब्रू भाषा में प्रार्थना करते सुनती रही। वह इस

https://t.me/arshlibrary

भाषा के सिर-पैर को बिल्कुल नहीं समझती थी। उसके मन के चेतन भाग (Conscious self) ने इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया, परन्तु उसकी उप-चेतना में इस सर्वथा अनजानी भाषा का एक-एक शब्द अंकित होता गया और मन की विकृत अवस्था में एक दिन अनजाने में ही उसने इस सबको उगल दिया। एक-एक वाक्य के सब शब्द उसके लिए सर्वथा अर्थहीन थे, वे सब उसकी उपचेतना से बाहर आ गये। इसका कारण यह है कि नौकरानी का चेतन मन जो आँख-कान आदि से काम लेता है, यद्यपि इन प्रार्थनाओं को सुनकर भी नहीं सुन रहा था, तो भी उसका उपचेतन इस सबको सुन रहा था—इतना सुन रहा था कि प्रार्थना का एक-एक शब्द उसे याद था। चेतन मन सतह पर काम करता है, उपचेतन मन चेतना के भीतर काम करता है। वर्त्तमान मनोविज्ञान ने प्रायः उसी सत्य का उद्‌घाटन किया है जिसे भारत के प्राचीन दार्शनिक अपनी भाषा में दूसरे ढंग से कहते रहे हैं।" यदि एक अनपढ़ नौकरानी द्वारा अनजाने में उपचेतन द्वारा सुने हुए सर्वथा अपरिचित भाषा के अर्थहीन शब्द इस प्रकार अंकित होकर संचित हो जाते हैं, तो एक पढ़े-लिखे व्यक्ति द्वारा कुछ-कुछ परिचित भाषा के जान-बूझकर उच्चरित मन्त्रों के संस्कारों के स्वयं उसके मन पर अंकित होकर संचित होने में क्या सन्देह हो सकता है ? जन्म-जन्मान्तर के संस्कार आत्मा पर अंकित होते रहते हैं। संस्कार से स्मरण और स्मरण से प्रवृत्ति होती है। जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों की स्मृति उद्‌बुद्ध हो जाने पर यह उपार्जित सामग्री उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

वृक्ष की पूर्ण सफलता तो इसी में है कि समय आनेपर उसमें फूल-फल लगें, किन्तु यदि किसी कारण इसमें बाधा पड़ जाए तो भी वृक्ष के बने रहने से अनेक लाभ मिलते हैं। ऐसा वृक्ष भी छाया देता है, वायु की शुद्धि में सहायक होता है, धरती को रेतीली बनने से रोकता है और अन्ततः मेज़-कुर्सी आदि बनाने के लिए अथवा ईंधन के लिए लकड़ी प्रदान करता है।

यज्ञ में मन्त्रपाठ के सन्दर्भ में वेद का निश्चित आदेश है—

उपप्रयन्तोऽध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये। आरेऽअस्मे च शृण्वते॥ —यजुः० ३।११

अर्थात् 'यज्ञ में आये हम लोग ईश्वर की उपासना के लिए मन्त्रों का उच्चारण करें। वह हमारे दूर और पास सर्वत्र सुनता है।' ग्रन्थकार ने अपने यजुर्भाष्य में इस मन्त्र के भावार्थ में लिखा है—**'मनुष्यैर्वेदमन्त्रैरीश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासना यज्ञानुष्ठानं च कर्त्तव्यम्।'**

यज्ञ में मन्त्रपाठ की अनिवार्यता का निर्देश करते हुए गीता (१७।१३) में कहा है—

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥

बिना मन्त्रपाठ किये गये यज्ञ से जल-वायु की शुद्धि आदि का प्रयोजन तो सिद्ध हो जाएगा, किन्तु वेदों का मुख्य तात्पर्य तो ईश्वराराधन में है। उसकी सिद्धि अर्थज्ञानपूर्वक मन्त्रपाठ के बिना नहीं होगी। अग्नि में घृत-सामग्री की आहुति देनेमात्र से अभ्युदय अर्थात् भौतिक सुख-सुविधाओं के लिए अपेक्षित लाभ तो मिलेंगे, परन्तु निःश्रेयस की सिद्धि नहीं होगी।

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—क्या इस होम करने के विना पाप होता है ?

उत्तर—हाँ, क्योंकि जिस मनुष्य के शरीर से जितना दुर्गन्ध उत्पन्न होके वायु और जल को बिगाड़कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियों को दुःख प्राप्त कराता है, उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है। इसलिए उस पाप के निवारणार्थ उतना सुगन्ध वा उससे अधिक वायु और जल में फैलाना चाहिए और खिलाने-पिलाने से उसी एक व्यक्ति को सुख-विशेष होता है। जितना घृत और सुगन्धादि पदार्थ एक मनुष्य खाता है, उतने द्रव्य के होम से लाखों मनुष्यों का उपकार होता है, परन्तु जो मनुष्य लोग घृतादि उत्तम पदार्थ न खावें, तो उनके शरीर और आत्मा के बल की उन्नति न हो सके। इससे अच्छे पदार्थ खिलाना-पिलाना भी चाहिए। परन्तु उससे होम अधिक करना उचित है, इसलिए होम का करना अत्यावश्यक है।

होम न करना पाप—जैसा पाप निषिद्ध कर्मों के करने में है, वैसा ही विहित कर्मों के न करने में है। अन्य देहधारी प्राणी भी प्रदूषण उत्पन्न करते हैं, किन्तु मनुष्य के बुद्धिजीवी होने से शास्त्र में धर्माधर्म का विधान उसी के लिए किया है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय करने का सामर्थ्य अन्य किसी प्राणी में नहीं है। जैसे वेद ने सत्यभाषणादि का उपदेश दिया है, वैसे ही मनुष्यों को यज्ञ करने का भी आदेश दिया है। यज्ञ न करनेवालों के लिए निन्दापरक वचन भी वेद में मिलते हैं। तद्यथा—

अयज्ञियो हतवर्चा भवति । —अथर्ववेद १२।२।३७

अयज्यानः सनकाः प्रेतिमीयुः । —ऋक्० १।३३।४

परा चिच्छीर्षा ववृजुस्त इन्द्रायज्वानो यज्वभिः स्पर्धमानाः । —ऋक्० १।३३।५

वैदिक धर्म में अग्निहोत्र के महत्त्व को दर्शानेवाला याज्ञवल्क्य तथा जनक का संवाद द्रष्टव्य है। शतपथब्राह्मण में कथित वह संवाद कुछ इस प्रकार है—

''तद्धैतज्जनको वैदेहो याज्ञवल्क्यं पप्रच्छ—वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य इति । वेद सम्राडिति । किमिति पयऽएवेति ॥१॥ यत्पयो न स्यात् केन जुहुयाऽइति । व्रीहियवाभ्यामिति । यद् व्रीहियवौ न स्यातां केन जुहुयाऽइति । या अन्या ओषधयऽइति । यदन्या ओषधयो न स्युः केन जुहुयादिति ॥२॥ यदारण्या ओषधयो न स्युः केन जुहुयादिति । वानस्पत्येन इति । यद् वानस्पत्यं न स्यात्केन जुहुयाऽइति । अद्भिरिति । यदापो न स्युः केन जुहुयाऽइति ॥३॥ स होवाच न वा इह तर्हि किञ्चनासीदथैतदहूयतैव—सत्यं श्रद्धायामिति । वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य धेनुशतं ददामीति होवाच ॥४॥''

अर्थात् जनक वैदेह ने याज्ञवल्क्य से पूछा—याज्ञवल्क्य, क्या अग्निहोत्र की सामग्री जानते हो ? उसने कहा—सम्राट् ! जानता हूँ। जनक—क्या ? याज्ञ०—दूध या घृत। जनक—यदि दूध न हो तो किससे हवन करें ? याज्ञ०—जौ और चावल से। जनक—यदि जौ और चावल न हों तो.....। याज्ञ० —जो अन्य ओषधयाँ हों, उनसे। जनक—जो अन्य ओषधियाँ न हों तो। याज्ञ०—जंगली ओषधियों से। जनक—यदि जंगली ओषधियाँ भी न हों तो। याज्ञ०—यदि वे भी न हों तो जल से। जनक—यदि जल भी न हो तो। कुछ भी न हो तो भी हवन तो करना ही चाहिए। सत्य को श्रद्धा में होम दें। इसपर जनक ने कहा—याज्ञवल्क्य, आप अग्निहोत्र के विषय में जानते हैं, अतः मैं आपको सौ गौवें देता हूँ।

ऋग्वेद ८।१०२।१६-२२ में दरिद्र मनुष्य की हवन सामग्री का अत्यन्त कारुणिक वर्णन है—**''नहि मे अस्त्यघ्न्या न स्वधितिर्वनन्वति । अथैतादृग्भरामि ते ॥ यदग्ने कानि कानिचिदा ते दारूणि दध्मसि । ता**

https://t.me/arshlibrary

[दैनिक आहुतियों की संख्या और द्रव्य-परिमाण]

प्रश्न—प्रत्येक मनुष्य कितनी आहुति करे ? और एक-एक आहुति का कितना परिमाण है ?

उत्तर—प्रत्येक मनुष्य को सोलह-सोलह[1] आहुति, और छः-छः मासे घृतादि एक-एक आहुति का परिमाण न्यून-से-न्यून चाहिए। और जो इससे अधिक करे, तो बहुत अच्छा है। इसलिए आर्यवरशिरोमणि, महाशय, ऋषि-महिर्षि, राजे-महाराजे लोग बहुत-सा होम करते और कराते थे। जब तक होम करने का प्रचार रहा, तब तक आर्य्यावर्त्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था। अब भी प्रचार हो तो वैसा ही हो जाए।

[ब्रह्मचर्य में कर्त्तव्य दो यज्ञ]

ये दो यज्ञ अर्थात् **ब्रह्मयज्ञ**—जो पढ़ना-पढ़ाना, सन्ध्योपासन, ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना करना। दूसरा **देवयज्ञ**—जो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त यज्ञ, और विद्वानों की सेवा-संग करना, परन्तु ब्रह्मचर्य में केवल ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का ही करना होता है।

जुषस्व यविष्ठ्य ॥ यदत्युपजिह्विका यद्व्रो अतिसर्पति। सर्वं तदस्तु ते घृतम् ॥ अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः। अग्निमीन्धे विवस्वभिः ॥''

अर्थात्—यद्यपि मेरे पास गौ नहीं है और न ही लकड़ी काटने के लिए कुल्हाड़ा है तो भी मैं तेरा यज्ञ करता हूँ। हे सर्वश्रेष्ठ विवेकिन् ! मैं जैसी-कैसी लकड़ियाँ लाया हूँ, उन्हीं को स्वीकार करो। मधुमक्षिका आदि का जो उच्छिष्ट बह रहा है, वह घृत हो। अग्निहोत्र करनेवाला मनुष्य बुद्धि वा क्रिया को मन से मिलाये और फिर हृदय की भावनाओं से अग्नि प्रदीप्त करे।

पूर्वोक्त शतपथ-वचन में मानो इसी का विस्तार है।

कितनी आहुतियाँ—ये सोलह आहुतियाँ एक समय में कर्त्तव्यरूप हैं या दोनों समय में ८+८ मिलाकर सोलह कर्त्तव्य हैं, इस बात को ग्रन्थकार ने कहीं स्पष्ट नहीं किया है। पं० श्री युधिष्ठिरजी के अनुसार **'पञ्चमहायज्ञविधि'** के प्रकाश में सत्यार्थप्रकाश का अभिप्राय जानना चाहिए। तदनुसार दोनों काल की ८+८ मिलाकर १६ आहुतियाँ होती हैं।

ब्राह्मणस्त्रयाणाम्—पूर्वापर प्रसंग को देखते हुए सुश्रुत के इस वचन के यहाँ उद्धृत किये जाने की कोई प्रासंगिकता प्रतीत नहीं होती। उपनयन में अधिकारानधिकार का विवेचन इसी समुल्लास के आरम्भ में हो चुका। वेदाध्ययन में अधिकारानधिकार विषय पर आगे इसी समुल्लास के अन्त में भली प्रकार विचार किया गया है। वर्णव्यवस्थानुसार कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्धारण चतुर्थ समुल्लास में किया गया है। वर्णव्यवस्था गुण-कर्म-स्वभावाश्रित है। तदनुसार कर्मकाण्ड तथा अध्यापन करना ब्राह्मण-कर्म है, यह

---

१. ये सोलह आहुतियाँ एक समय में कर्त्तव्यरूप हैं, अथवा दोनों समय में ८+८ मिलाकर १६ कर्त्तव्य हैं। यह विषय ग्रन्थकार के किसी वचन से स्पष्ट नहीं होता। हमारे विचार में 'पञ्चमहायज्ञविधि' के प्रकाश में 'सत्यार्थप्रकाश' का अभिप्राय जानना चाहिए। तदनुसार दोनों समय की ८+८ मिलाकर १६ आहुतियाँ होती हैं। जो लोग 'संस्कारविधि' के प्रकाश में एक काल में १६ आहुतियों की व्याख्या करते हैं, वह ठीक नहीं। क्योंकि ग्रन्थकार ने जब यह पंक्ति लिखी थी, तब 'संस्कारविधि' का उक्त परिशोधित संस्करण लिखा ही नहीं गया था। विशेष विचार श्री मीमांसकजी के 'वैदिक नित्यकर्म विधि' ग्रन्थ के उपोद्घात पृष्ठ ११-१३ तक देखें।

https://t.me/arshlibrary

[उपनयन कराने के अधिकारी]

ब्राह्मणस्त्रयाणां वर्णानामुपनयनं कर्त्तुमर्हति । राजन्यो द्वयस्य । वैश्यो वैश्यस्यैवेति । शूद्रमपि कुलगुणसम्पन्नं मन्त्रवर्जमनुपनीतमध्यापयेदित्येके' ॥ यह सुश्रुत के सूत्रस्थान के दूसरे अध्याय का वचन है ॥

अर्थः—ब्राह्मण तीनों वर्ण=ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य; क्षत्रिय क्षत्रिय और वैश्य; तथा वैश्य एक वैश्य

सर्ववादीसम्मत है । मन्वादि के अनुसार अध्यापन करना ब्राह्मण का कर्त्तव्य है, क्षत्रिय और वैश्य का नहीं । मनुस्मृति (१०।१) में स्पष्ट शब्दों में कहा है—

अधीयीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः ।
प्रब्रूयाद् ब्राह्मणस्त्वेषां नेतराविति निश्चयः ॥

अर्थात् तीन वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपने-अपने कर्म में स्थिर रहते हुए अध्ययन तो करें, किन्तु पढ़ाने का काम ब्राह्मण करें अन्य नहीं—यह निश्चित है । कुल्लूकभट्ट ने इस श्लोक की टीका में लिखा है—

ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णा अध्ययनानुभूतस्वकर्मानुष्ठातारो वेदं पठेयुः । एषां पुनर्मध्ये ब्राह्मण एवाध्यापनं कुर्यान्न क्षत्रियवैश्यावित्ययं निश्चयः ।

क्षत्रियादि अध्यापन के योग्य नहीं हो सकते । तलवार चलाने के अभ्यास में प्रवृत्त क्षत्रिय या कृषिकर्म में दक्ष या व्यापारबुद्धिवाले वैश्य से वेद-वेदाङ्ग में निष्णात होने की आशा कैसे की जा सकती है ?

वर्णानुक्रम के आधार पर गुरु-शिष्य का विभाजन (ब्राह्मण, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य को पढ़ा सकता है, किन्तु क्षत्रिय अध्यापक, ब्राह्मण बालक को और वैश्य अध्यापक, ब्राह्मण व क्षत्रिय बालकों को नहीं पढ़ा सकता) भी न शास्त्रसम्मत है, न तर्कसंगत है और न व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव है । निश्चय ही यह विभाजन जन्म के आधार पर अर्थात् गुरुकुल में प्रविष्ट होनेवाले बालकों के माता-पिता के वर्ण के आधार पर होगा, क्योंकि अध्येताओं के वर्ण का निर्धारण तो विद्याध्ययन की समाप्ति पर होगा ।

आधुनिक काल में मनुष्यमात्र को पढ़ने, विशेषतः वेदाध्ययन करने, का अधिकार प्रदान करने का श्रेय ग्रन्थकार ऋषि दयानन्द को है, परन्तु सुश्रुत के यहाँ उद्धृत प्रमाण से 'कुलगुणसम्पन्न' (कुलीन शुभलक्षणयुक्त—ग्रन्थकार) शूद्र को भी उपनयन धारण करने तथा वेद पढ़ने (**मन्त्रवर्जमनुपनीतम्**) आदि के अधिकार से वंचित कर दिया गया है ।

उद्धृत सन्दर्भ में **'इत्येके'** तथा भाषार्थ में 'यह मत अनेक आचार्यों का है' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह स्वयं सुश्रुत का मत नहीं है । सुश्रुत आयुर्वेदशास्त्र में प्रमाण है, धर्मशास्त्र में नहीं । इसलिए उनका **'इत्येके'** लिखकर मौन हो जाना समझ में आ सकता है, किन्तु ग्रन्थकार तो धर्मशास्त्र में आप्त पुरुष हैं । **'इत्येके'** अथवा 'यह मत अनेक आचार्यों का है' इन शब्दों से यह ध्वनि तो निकलती है कि वे इससे पूरी तरह सहमत नहीं हैं, परन्तु इस युग में **'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः** ……' का दिग्-दिगन्तर में उद्घोष करनेवाले ग्रन्थकार द्वारा उनके आधारभूत मन्तव्यों के विरोधी वचन का प्रत्याख्यान न किया जाना समझ में नहीं आता । इस प्रसंग में निम्नलिखित प्रकरण भी द्रष्टव्य है—

https://t.me/arshlibrary

ग्रन्थकार ने काशी में एक संस्कृत पाठशाला स्थापित की थी। जनता को इसकी जानकारी देने के लिए एक विज्ञापन प्रचारित किया था। यह विज्ञापन प्रथम बार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पादित तथा संचालित 'कविवचनसुधा' के आषाढ़ सुदी ६ शनि, संवत् १६३१, तदनुसार २० जून १८७४ के अंक में प्रकाशित हुआ था। वहाँ से 'बिहारबन्धु' भाग २, अंक २१, आषाढ़ सुदी १४, संवत् १६३१, तदनुसार २८ जून १८७४ में प्रकाशित हुआ। 'बिहारबन्धु' से पं० लेखरामजी ने लिया। विज्ञापन इस प्रकार था—

"एक समाचार सबको विदित हो कि आपका आर्यविद्यालय काशी में संवत् १६३० पौष मास तदनुसार दिसम्बर सन् १८७३ में केदारघाट पर जिसका आरम्भ हुआ था, वही अब मित्रपुर भैरवी मोहल्ला, मिश्र दुर्गाप्रसाद के स्थान में संवत् १६३१ मिति आषाढ़ सुदी ५ शुक्रवार, १६ जून सन् १८७४ प्रातः काल ७ बजे के उपरान्त आरम्भ होगा। इसका प्रबन्ध सब अच्छे प्रकार होगा। इसमें अध्यापक गणेश श्रोत्रिय होंगे। सो पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, पातञ्जल, सांख्य, वेदान्तदर्शन, ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक दश उपनिषद्, मनुस्मृति, कात्यायन और पारस्करकृत गृह्यसूत्र, इनको पढ़ाया जाएगा। थोड़े समय के पीछे चार वेद, चार उपवेद तथा ज्योतिष के ग्रन्थ पढ़ाये जाएँगे और एक उपवैयाकरण रहेगा। वह अष्टाध्यायी, धातुपाठगण, उणादिगण, शिक्षा और प्रातिपदिक गणपाठ—ये पाँच पाणिनिमुनिकृत और पतञ्जलिमुनिकृतभाष्य, पिङ्गलमुनिकृत छन्दोग्रन्थ, यास्कमुनिकृत निरुक्त, निघण्टु और काव्यालङ्कार सूत्रभाष्य इन सबको पढ़ना होगा। जिनको पढ़ने की इच्छा होवे, सो आकर पढ़ें। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सब पढ़ेंगे वेदपर्यन्त और शूद्र मन्त्रभाग को छोड़के सब शास्त्र पढ़ेंगे।'

—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, तृतीय संस्करण, भाग १, पृष्ठ ३४-३५

"इसमें ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य सब पढ़ेंगे वेदपर्यन्त और शूद्र मन्त्रभाग को छोड़कर सब शास्त्र पढ़ेंगे।" यह अंश विवेच्य है। शूद्र के प्रति यह भेदभाव क्यों ? सबके समान योग्यता प्राप्त तथा सकल शास्त्र निष्णात होने पर भी केवल शूद्र होने के कारण वेदाध्ययन पर प्रतिबन्ध और वह भी ऋषि दयानन्द की पाठशाला में ! इसका कारण अन्वेषणीय है।

ग्रन्थकार ने जब उक्त पाठशाला चालू की थी तब तक आर्यसमाज की स्थापना भी नहीं हो पाई थी। अपनी मान्यताओं का प्रचार करनेवाले वे अकेले थे। अपने विचारों के बीज बखेरते फिर रहे थे, फ़सल काटने का समय तो अभी बहुत दूर था। **'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्'** के उस युग में ग्रन्थकार की मान्यताओं के पोषक विद्वान्, और वह भी काशी में, मिलना अत्यन्त दुर्लभ था। शूद्रों को वेद पढ़ाने के लिए तैयार होकर पौराणिक जगत् का विरोध सहने का साहस कौन करता ? हो सकता है, ऐसी स्थिति में ग्रन्थकार ने अपना काम निकालने—पाठशाला चलाने के लिए पण्डितों से यह समझौता किया हो, 'अच्छा भाई ! वेद को छोड़कर शेष सब तो सबको पढ़ाओ'। यह केवल लोकव्यवहार की दृष्टि से था। जहाँ तक सिद्धान्त का प्रश्न है, उसपर वे अडिग थे, जैसाकि इसी समुल्लास के अन्त में 'क्या स्त्री और शूद्र भी वेद पढ़ें ? इस प्रश्न के उत्तर से स्पष्ट है।

जहाँ तक **'ब्राह्मणस्त्रयाणाम्'** सन्दर्भ का प्रश्न है, हो सकता है लिपिकर की भूल से यह अस्थान में लिखा गया हो अथवा मुद्रणकाल में असावधानी के कारण प्रक्षिप्त हो। यह समस्त प्रकरण विचारणीय है।

आजकल कन्याओं की शिक्षा का वैसा तीव्र विरोध नहीं है जैसा ग्रन्थकार के समय में था, तथापि कई

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

रुढ़िवादी लोग आज भी स्त्री-शिक्षा का विरोध करते हैं। अतएव यहाँ कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं। अष्टाध्यायी के **'इङश्च'** (३।३।२१) इस सूत्र की व्याख्या में पतञ्जलि मुनिजी लिखते हैं—**'उपेत्याधीतेऽस्याः उपाध्यायी, उपाध्याया'**, अर्थात् जिसके पास जाकर पढ़े वह स्त्री उपाध्यायी या उपाध्याया कहलाती है। यदि स्त्री पठित न हो तो उसके पास जाकर पढ़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार **'अनुपसर्जनात्'** (४।१।१४) सूत्र के भाष्य में लिखा है—**'आपिशलमधीते ब्राह्मणी आपिशला. . . . , काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी, काशकृत्स्नीमधीते ब्राह्मणी काशकृत्स्ना'** अर्थात् आपिशलि के व्याकरण को पढ़नेवाली ब्राह्मणी आपिशला. . . . , काशकृत्स्नि की बनाई काशकृत्स्नी मीमांसा को पढ़नेवाली ब्राह्मणी काशकृत्स्ना। स्पष्ट है कि स्त्रियाँ व्याकरण और मीमांसा भी पढ़ती थीं। शंकरदिग्विजय में मण्डनमिश्र की धर्मपत्नी भारती देवी के शंकराचार्य के साथ शास्त्रार्थ का वर्णन है। शंकराचार्य ने भारती देवी से शास्त्रार्थ करने से यह कहकर इनकार कर दिया कि यशस्वी जन स्त्रियों से शास्त्रार्थ नहीं करते। इसका उत्तर देते हुए भारती देवी ने प्राचीन इतिहास से प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कहा—**'अतएव गार्ग्याभिधया कलहं सह याज्ञवल्क्यमुनिराडकरोत्। जनकस्तथा सुलभयाऽबलया किममी भवन्ति न यशोधनाः ॥'** (सर्ग ६, श्लोक ६१)। अर्थात् अपने पक्ष की रक्षा और परपक्ष के खण्डन के लिए मुनिराज याज्ञवल्क्य ने गार्गी से शास्त्रार्थ किया और जनक ने सुलभा से किया। क्या ये यशस्वी न थे ? इतना ही नहीं, उन दोनों के शास्त्रार्थ का उल्लेख इन शब्दों में है—**'अथ सा कथा प्रववृते स्म तयोरुभयोः परस्परजयोत्सुकयोः। मतिचातुरीरचितशब्दझरी श्रुतिविस्मयीकृतविचक्षणयोः'** ॥६।६३ अर्थात् एक-दूसरे को जीतने के अभिलाषी उन दोनों का शास्त्रार्थ चालू हुआ जिसमें बुद्धि की चतुरता, शब्दों की गम्भीरता और श्रुतिवाक्यों के विस्मयकारक प्रमाण, ये दोनों चतुरों ने प्रस्तुत किये। यदि भारती देवी विदुषी न होती तो श्रुति के प्रमाण कैसे देती ? वेद में तो लड़के के समान ही कन्या के ब्रह्मचर्य का विधान है—**'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'** (अथर्व० ११।५।१८) अर्थात् ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करनेवाली कन्या ब्रह्मचर्य से युक्त पति को प्राप्त करे।

'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' तथा **'न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयाताम्'** जैसे मिथ्या एवं कल्पित वचनों के आधार पर शूद्रों के साथ-साथ स्त्रियों के वेदाध्ययन पर ही नहीं, अध्ययनमात्र पर प्रतिबन्ध लगाने की कुत्सित प्रवृत्ति भी यत्र-तत्र देखी जाती है, किन्तु बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है—**'अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत'** (६।४।१७) अर्थात् यदि पिता चाहता है कि मेरी पुत्री विदुषी बने तो . . . . . । इस सन्दर्भ का अर्थ करते हुए स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं—**'पाण्डित्यं गृहतन्त्रविषयमेव वेदेऽनधिकारात्'**, अर्थात् यहाँ पाण्डित्य का अर्थ घरेलू कामकाज ही है, क्योंकि उन्हें वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। आचार्य के इस कथन का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि लड़कियों को गृहविज्ञान (Home Science) पढ़ने का अधिकार है। 'पाण्डित्य' शब्द का 'गृहविज्ञान' अर्थ स्वामी शंकराचार्य की ही कल्पना है। शंकरदिग्विजय में भारती देवी के विषय में लिखा है—**'शास्त्राणि सर्वाणि षडङ्गवेदान् काव्यादिकान् वेत्ति यदत्र सर्वम्'**—अर्थात् वह छह शास्त्रों और छह अंगोंसहित चारों वेदों और सम्पूर्ण काव्यादि ग्रन्थों में निष्णात थी। इतना ही नहीं, **'तन्नास्ति न वेत्ति यदत्र बाला'** ऐसा कोई विषय नहीं था जिसका उसे ज्ञान न हो। तभी तो दिग्विजयी शंकर को शास्त्रार्थ में भारती देवी से पराजित होना पड़ा था।

पुरुषो वावेति—(पुरुषः) जीवात्मा (वाव) निश्चय ही (यज्ञः) यज्ञ है। (तस्य) उसके शरीर की आयु के (यानि) जो (चतुर्विंशतिर्वर्षाणि) २४ वर्ष हैं (तत्) वह (प्रातःसवनम्) प्रातःसवन के समान हैं, क्योंकि

https://t.me/arshlibrary

वर्ण को यज्ञोपवीत कराके पढ़ा सकता है और जो कुलीन शुभलक्षणयुक्त शूद्र हो, तो उसको मन्त्रसहिता छोड़के सब शास्त्र पढ़ावे। शूद्र पढ़े, परन्तु उसका उपनयन न करे। यह मत अनेक आचार्य्यों का है॥

[ब्रह्मचर्य का काल]

पश्चात् पाँचवें वा आठवें वर्ष से लड़के लड़कों की पाठशाला में, और लड़की लड़कियों की पाठशाला में जावें और निम्नलिखित नियमपूर्वक अध्ययन का आरम्भ करें—

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा॥ —मनु० ३।१॥

अर्थः—आठवें वर्ष से आगे छत्तीसवें वर्ष पर्यन्त, अर्थात् एक-एक वेद के साङ्गोपाङ्ग पढ़ने में बारह-बारह वर्ष मिलके छत्तीस, और आठ मिलाके चवालीस, अथवा अठारह वर्षों का ब्रह्मचर्य और आठ पूर्व के मिलके छब्बीस, वा नौ वर्ष तथा जब तक विद्या पूरी ग्रहण न कर लेवे तब तक ब्रह्मचर्य रक्खे॥

[तीन प्रकार का ब्रह्मचर्य]

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विँ[1]शतिर्वर्षाणि तत्प्रातःसवनं चतुर्विँ[1]शत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदं सर्वं वासयन्ति॥१॥

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यंदिनँ[1]सवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धव तत एत्यगदो ह भवति॥२॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिँ[1] शद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनँ[1] सवनं चतुश्चत्वारिँ[1] शदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यंदिनँ[1] सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदँ[1] सर्वँ[1] रोदयन्ति॥३॥

(गायत्रं प्रातःसवनम्) प्रातःसवन में गायत्री छन्द का प्रयोग होता है और वह (चतुर्विंशत्यक्षरा) २४ अक्षरों की होती है, अतः मनुष्य के प्रथम चौबीस वर्ष प्रातःसवन के समान हैं। (अस्य) उस यज्ञ पुरुष के (तत्) उस प्रातःसवन से (वसवः) वसु (अन्वायत्ताः) सम्बन्धित हैं। (प्राणा वाव वसवः) प्राण ही वसु हैं, क्योंकि (एते) ये (हि) ही (इदं सर्वं) इस समस्त प्राणिसमूह को (वासयन्ति) बसाते हैं। प्राणों के कारण ही तो सब जीवधारियों की स्थिति है। इस प्रातःसवन अर्थात् २४ वर्ष की अवधि में गुरु के सान्निध्य में रहकर मनुष्य ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करे॥१॥

तमिति—(एतस्मिन् वयसि) इस २४ वर्ष की अवधि के काल में (तम्) उस ब्रह्मचारी को (चेद्) यदि कोई (किञ्चित्) कुछ भी (उपतपेत्) दुःख दे अर्थात् उसके अनुष्ठान में किसी प्रकार की बाधा डाले तो (सः ब्रूयात्) वह उनसे कहे (प्राणाः वसवः) हे प्राणप्रिय वसुओ—बन्धुओ! (इदं मे) यह मेरा (प्रातः सवनम्) प्रथम प्रातःसवन समान ब्रह्मचर्यकाल है। आप मेरे इस पवित्र कार्य में बाधा न डालें, मेरे लिए (माध्यन्दिनं सवनम्) माध्यन्दिन सवन अर्थात् ४४ वर्ष के ब्रह्मचर्य को (संतनुत) विस्तृत करें अर्थात् ऐसा उपाय करें जिससे मेरा माध्यन्दिनसवन निर्विघ्न सम्पन्न हो। ऐसा यत्न करें कि आप (प्राणानां वसूनां मध्ये) प्राणप्रिय वसुओं के मध्य में (अहं यज्ञः मा विलोप्सीय) मेरा यह यज्ञ विलुप्त न हो जाए—मेरा ब्रह्मचर्यव्रत का अनुष्ठान वसु-ब्रह्मचर्य पर समाप्त न हो जाए, मैं रुद्र ब्रह्मचारी बन सकूँ। (ततः ह उद् एति) इस प्रकार

---

१. सामवेदीय ग्रन्थों में ऊपर अनुस्वर तथा ँ चिह्न दोनों का प्रयोग देखा जाता है। ग्रन्थकार ने प्रायः ँ चिह्न का प्रयोग अपने ग्रन्थों में स्वीकार किया है। द्र० —सं स्कारविधि

https://t.me/arshlibrary

की विनय-प्रार्थना से वह सर्वत्र उदय को प्राप्त होता है और (अगदः ह भवति) वह स्वस्थचित्त होकर चिन्ता- (रोग)-रहित हो जाता है ॥२॥

अथेति—(अथ) तदनन्तर (यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि) ४४ वर्ष हैं (तत्) वह (माध्यन्दिनं सवनम्) माध्यन्दिनसवन है। गुरुकुलनिवासी ब्रह्मचारी आयु के इन दिनों को तत्सवन समान अध्ययन में लगाकर ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करे। माध्यन्दिनसवन में प्रायः त्रिष्टुप् छन्दों का प्रयोग होता है। (चतुश्चत्वारिंश-दक्षरा त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप् छन्द ४४ अक्षरों का होता है, इसलिए (त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनम्) माध्यन्दिनसवन त्रैष्टुभ कहलाता है। (अस्य तद् रुद्राः अन्वायत्ताः) इस पुरुष यज्ञ के उस माध्यन्दिनसवन से रुद्र सम्बन्धित हैं—उसके अनुगामी हैं। इस प्रकार आयु के द्वितीय काल का ब्रह्मचर्य मध्यदिन का सवन है। जैसे त्रिष्टुप् का देवता रुद्र है, वैसे पुरुष की आयु के द्वितीय भाग के इस ब्रह्मचर्य का अधिष्ठाता रुद्र ब्रह्मचारी है। (प्राणा वाव रुद्राः) प्राण ही रुद्र हैं, क्योंकि (एते इदं सर्वं रोदयन्ति) ये इस प्राणिसमूह को रुलाते हैं ॥३॥

तञ्चेद्—(एतस्मिन् वयसि) इस ४४ वर्षवाले ब्रह्मचर्य की अवस्था में (तम्) उसे (चेत् किञ्चिद् उपतपेत्) यदि कोई किसी प्रकार सताये, अर्थात् उसके ब्रह्मचर्य में बाधा डाले तो (सः ब्रूयात्) वह उनसे कहे (प्राणाः रुद्राः) हे प्राणप्रिय रुद्र बन्धुओ ! (इदं मे माध्यन्दिन् सवनम्) यह मेरा माध्यन्दिनसवन है—सम्प्रति मैं मध्यम ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान कर रहा हूँ। आप ऐसा अनुग्रह करें जिससे (तृतीयसवनं सन्तनुत इति) मेरे लिए तृतीय सवन अर्थात् ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य का मार्ग प्रशस्त हो। कहीं (प्राणानां रुद्राणां मध्ये) आप प्राणप्रिय बन्धुओं और रुद्रों के बीच (अहं यज्ञः) यज्ञरूप मैं (मा विलोप्सीय) लुप्त न हो जाऊँ, अर्थात् मेरा ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान यहीं बीच में ही समाप्त न हो जाए। ऐसा ब्रह्मचारी (ततः ह उद् एति) इस विनय से सर्वत्र सत्कृत व प्रोत्साहित होता है और (अगदः ह भवति) रोगरहित—निश्चिन्त होकर ब्रह्मचर्य के प्रतिपालन में प्रवृत्त हो जाता है ॥४॥

अथ यानीति—(अथ) माध्यन्दिनसवन के अनन्तर (यानि) जो (अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि) ४८ वर्ष हैं (तत्तृतीयसवनम्) वे मानो यज्ञ का तृतीय सवन हैं। तृतीय सवन जगतीछन्दोऽन्वित होता है, क्योंकि इसमें प्रायः जगती छन्दों का प्रयोग होता है। (अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती) जगती छन्द में ४८ अक्षर होते हैं, अतः (जागतं तृतीयसवनम्) तृतीय सवन को 'जागतम्' नाम से अभिहित किया जाता है। (अस्य तद् आदित्याः अन्वायत्ताः) इस यज्ञरूप पुरुष के उस सवन में आदित्य अनुगत हैं। आदित्य कौन हैं ? (प्राणाः वाव आदित्याः) प्राण ही आदित्य हैं, क्योंकि (एते) ये प्राण ही (इदं सर्वम्) इस सबको ग्रहण करते हैं। आदित्य ब्रह्मचारी के प्राण सूर्य की भाँति शुद्ध एवं नियमित होते हैं। इसलिए पुरुष की आयु के तृतीय भाग के इस ब्रह्मचर्य का अधिष्ठाता आदित्य ब्रह्मचारी है ॥५॥

तं चेदिति—(एतस्मिन् वयसि) इस वयोऽवस्था में (तञ्चेत्) उस ब्रह्मचारी को यदि (किञ्चिद् उपतपेत्) कोई तनिक भी सताये अर्थात् उसके ब्रह्मचर्य में बाधा डाले तो (सः ब्रूयात्) वह उनसे कहे (प्राणाः आदित्या) हे प्राणप्रिय आदित्यो ! (इदं मे तृतीयसवनम्) यह मेरा तृतीय सवन है। आप लोग ऐसा उपाय करें कि जिससे (आयुः अनुसन्तनुत) मेरी आयु बढ़े। (प्राणानां आदित्यानां मध्ये अहं यज्ञः मा विलोप्सीय) मैं आप प्राणों और आदित्यों के बाच में विलुप्त न हो जाऊँ, अर्थात् आयुपर्यन्त ब्रह्मचारी रहूँ। (ततः ह उद् एति) इस विनय से उसका विस्तार होता है और वह नीरोग—त्रिविध तापों से मुक्त रहता है।

इस प्रसंग का अन्तिम सन्दर्भ इस प्रकार है—

एतद्ध स्म वैतद्विद्वानाह महीदास ऐतरेयः स किं एतदुपतपसि योऽहमनेन न।
प्रेष्यामीति स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद ॥७॥

https://t.me/arshlibrary

यह कथानक चला आ रहा है कि इतरा के पुत्र (ऐतरेय) महीदास ने यह सब जानते हुए कहा था—ऐ मेरे ब्रह्मचर्यव्रत के पालन में उपस्थित होनेवाले विघ्न ! तू मुझे क्यों सता रहा है ? मैं तेरे वश में आनेवाला नहीं हूँ। कहते हैं कि इस संकल्प से ही महीदास ११६ वर्ष तक जीवित रहा और जो इस रहस्य को जानता है वह ११६ वर्ष तक जीवित रहता है।

छान्दोग्य उपनिषद् के तृतीय पाठक के इस सोलहवें खण्ड में उपनिषत्कार ने जीवन को यज्ञ कहा है और उसका सोमयाग से समन्वय दर्शाया है। सोमयाग आदि बड़े यज्ञों में तीन समय यज्ञ होता है—प्रातः, मध्याह्न तथा सायं। इन्हीं के पारिभाषिक नाम हैं—प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन तथा तृतीयसवन। ब्रह्मचर्यकाल को भी तीन भागों में विभक्त किया गया है—वसु-ब्रह्मचर्य, रुद्र-ब्रह्मचर्य तथा आदित्य-ब्रह्मचर्य। सोमयाग का प्रातःकाल ब्रह्मचारी के वसु-ब्रह्मचर्य के काल का प्रतीक है, मध्याह्नकाल उसके रुद्र-ब्रह्मचर्य काल का प्रतीक है और तृतीयकाल आदित्य-ब्रह्मचर्य काल का। सोमयाग में भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न छन्दों का प्रयोग होता है—प्रातःसवन में गायत्री का, माध्यन्दिनसवन में त्रिष्टुप् का तथा तृतीयसवन में जगती का। इन छन्दों में क्रमशः २४, ४४, ४८ अक्षर होते हैं। सोमयाग का २४ अक्षरों का गायत्री छन्द वसु ब्रह्मचारी के २४ वर्ष के ब्रह्मचर्य का सूचक है और ४४ अक्षरों का त्रिष्टुप् छन्द रुद्र ब्रह्मचारी के ४४ वर्ष के ब्रह्मचर्य का सूचक है और ४८ अक्षरों का जगती छन्द आदित्य ब्रह्मचारी के ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य का सूचक है। इस प्रकार उपनिषत्कार ने मनुष्य के शिक्षाकालीन जीवन को एक बृहद् यज्ञ के रूप में प्रस्तुत करके उसे तीन भागों में विभक्त किया है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने जीवन को यज्ञरूप और यज्ञमय बनाकर अपने ज्ञान और आयु की वृद्धि करे। ऐतरेय महीदास के उदाहरण से प्रमाणित भी कर दिया गया है कि ब्रह्मचर्य का विधिपूर्वक पालन करनेवाला कम-से-कम ११६ वर्ष की आयु का उपभोग कर सकता है।

चार सौ वर्ष की आयु—उत्तम ब्रह्मचर्य का पालन करने से आयु को चार सौ वर्षपर्यन्त बढ़ाया जा सकता है। यजुर्भाष्य में तीसरे अध्याय के ६२वें मन्त्र का भाष्य करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—**'त्रयायुषं त्रिगुणमायुः**=तिगुणी अर्थात् तीन सौ वर्ष तथा उससे भी अधिक आयु'। भावार्थ में कहा है—**''त्र्यायुषमित्यस्य चतुरावृत्या त्रिगुणादधिकं चतुर्गुणमप्यायुः। त्रिंशतवर्षं चतुःशतवर्षं वाऽऽयुः**' 'त्र्यायुषम्' इस पद की चार बार आवृत्ति होने से तीन सौ वर्ष से अधिक चार सौ वर्ष पर्यन्त भी आयु का ग्रहण किया है। ..... आयु को हम लोग तीन सौ वा चार सौवर्ष पर्यन्त सुखपूर्वक भोगें।''

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (वेदसंज्ञाविचार) में वे लिखते हैं—'त्र्यायुषं जमदग्नेः' इत्यादि उपदेश से यह भी जाना जाता है कि मनुष्य ब्रह्मचर्यादि उत्तम नियमों से त्रिगुण, चतुर्गुण आयु कर सकता है, अर्थात् (४००) चार सौ वर्ष तक भी सुखपूर्वक जी सकता है।'' चरकसंहिता (सूत्रस्थान अध्याय २४, खण्ड ३८) में ब्रह्मचर्य को आयुष्यवर्धकों में प्रधान माना है—**'ब्रह्मचर्यमायुष्याणाम्'**।

आयु शब्द दो प्रकार का है—एक उकारान्त और दूसरा सकारान्त। उणादिकोष में **'छन्दसीणः'** (१।२) सूत्र है। इससे उकारान्त आयु शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुए ग्रन्थकार ने **'एति प्राप्नेति सर्वानिति आयुः—जीवनकालः'** अर्थ किया है। पुनः **'एतेर्णिच्च'** (२।११६) इस सूत्र से सकारान्त आयु शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए **'ईयते प्राप्यते यत्तद् आयुः, जीवनं वा'** अर्थ किया है। सामान्यरूप से कहा जा सकता है—**'जानुषातो मृत्युपर्यन्तमायुष्यम्'** अर्थात् जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त जितना काल है उसे आयु कहते हैं। आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरकसंहिता में दो स्थानों पर आयु शब्द के सम्बन्ध में लिखा है—

https://t.me/arshlibrary

१. **शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगो धारि जीवितम् ।**
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥ सूत्रस्थान १।४२

अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा का संयोग आयु कहाता है । धारि, जीवितम्, नित्यगः और अनुबन्ध इसके पर्याय हैं ।

२. **आयुश्चेतनानुवृत्तिर्जीवितमनुबन्धो धारि चेत्येकोऽर्थः** (सूत्रस्थान ३०।२२) । अर्थात् आयु, चेतनावृत्ति, जीवितम्, अनुबन्ध और धारि ये सब समानार्थक हैं । इस दृष्टि से ग्रन्थकार ने उणादिकोश में आयु का अर्थ **'जीवनम्, जीवनकालः'** किया है । यजुर्वेद के **'आयुर्मे पाहि'** (१४।१७) मन्त्रार्थ के प्रसंग में भी आयु शब्द का अर्थ **'जीवनम्'** किया है ।

मनुष्य की आयु की इयत्ता के विषय में भगवान् मनु का कथन है—**'वेदोक्तमायुरमर्त्यानाम्'** अर्थात् मनुष्य की सामान्य आयु उतनी जाननी चाहिए जितनी वेद में कही है । वैदिक साहित्य में अनेकत्र उपलब्ध वचनों में इस प्रसंग में 'सौ वर्ष' का उल्लेख मिलता है । उदाहरणार्थ—

१. **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः** । —यजुः० ४०।२

२. **शतायुर्वै पुरुषः** । —ऐतरेय ब्राह्मण

३. **पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवामशरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्** । —यजुः० ३६।२४ (**'भूयश्च शरदः शतात्'=भूयः शताच्छरदः शताद्वर्षेभ्योऽप्यधिकम्**=सौ वर्ष के उपरान्त भी—पञ्चमहायज्ञविधिः) ।

४. **जरां गच्छ परिधत्स्व वासः..... शतं च जीव शरदः सुवर्चा** । —पा०गृ० १।४।१२

५. **शतं च जीवामि शरदः पुरूचीः** । —यजुः० ३५।१५

६. छान्दोग्य उपनिषद् में पुरुष में यज्ञ का आरोप करके उपसंहार में उत्तरोत्तर ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताने से उस यज्ञ के तत्वविद् महीदास की ११६ वर्ष की आयु प्राप्त करने का विस्तृत विवरण ऊपर प्रस्तुत किया जा चुका है । वहाँ यह भी स्पष्ट कर दिया है कि अन्य लोग भी तदनुसार आचरण करने पर ११६ वर्ष की आयु प्राप्त कर सकते हैं—**प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद** ।

निघण्टु में 'शतम्' का अर्थ बहुत अथवा अनेक लिखा है—**'शतं बहुनाम'** (३।१) । सायणाचार्य ने ऋग्वेद ८।१।५ का भाष्य करते हुए लिखा है—**'शतायुर्बहुनामैतदपरिमितायुः'** । उव्वट के अनुसार शत शब्द असंख्य का वाचक है—**शतशब्दोऽसंख्यातविषयः'** (यजुः० १२।८) । यजुः० ४०।२ का भाष्य करते हुए उव्वट ने लिखा है—**'शतं समाः इत्युपलक्षणार्थम् । यावदायुः पर्यवसानमित्यर्थः'** । कतिपय विद्वानों के मत में शत शब्द मध्यम संख्यावाचक होने से समीपस्थ संख्या का भी ग्राहक है, किन्तु इससे सहस्रों तक नहीं खींचा जा सकता । मीमांसासूत्र **'नासामर्थ्यात्'** (६।७।३३) के भाष्य में कहा गया है—**'न रसायनानामेतत्सामर्थ्यं दृष्टं येन सहस्रसंवत्सरं जीवेयुः ..... कुतः ? शतायुर्वै पुरुष इत्यनुवादः'** ।

वस्तुतः सामान्यरूप से मनुष्य सौ वर्ष आयुवाला होता है । अपने उत्तम-निकृष्ट आचार-व्यवहार के आधार पर वह उसे बढ़ा-घटा सकता है । यदि ऐसा सम्भव न होता तो **'भूयश्च शरदः शतात्'** (यजुः० ३६।२७), **'भूयसीः शरदः शतात्'** (अथर्व० १९।६७।८), **'यो वै शतादूर्ध्वं जीवति स अमृतत्वमश्नुते'** (शतपथ) आदि वचनों की क्या सार्थकता थी ? तदनुसार ही ग्रन्थकार ने लिखा है—**'ब्रह्मचर्यादिनियमेन मनुष्यैरेतत् त्रिगुणमायुः कर्तुं शक्यमस्तीति गम्यते'** ऋ०भा०भू० । ग्रन्थकार की इस मान्यता की पुष्टि आर्षग्रन्थों में

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनं सवनं तृतीयसवनमनुसन्ततेति माहं प्राणानाꣳ रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥४॥

अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳ शद्वर्षाणि तत् तृतीयसवनमष्टाचत्वारिꣳ शदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनꣳ तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राण वावादित्या एते हीदꣳ सर्वमाददते ॥५॥

तं चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत् स ब्रूयात् प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसन्ततेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥६॥

—यह छान्दोग्योपनिषद् (३।१६) का वचन है।

ब्रह्मचर्य तीन प्रकार का होता है। **कनिष्ठ ब्रह्मचर्य**— जो पुरुष अन्न-रसमय देह और पुरि अर्थात् देह में शयन करनेवाला जीवात्मा यज्ञ अर्थात् अतीव शुभ गुणों से संगत और सत्कर्त्तव्य है। इसको अवश्य[1] है कि २४ वर्षपर्यन्त जितेन्द्रिय अर्थात् ब्रह्मचारी रहकर वेदादिविद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करे और विवाह करके भी लम्पटता न करे, तो उसके शरीर में प्राण बलवान् होकर सब शुभ गुणों के वास करानेवाले होते हैं ॥१॥

इस प्रथम वय में जो उसको विद्याभ्यास में सन्तप्त करे, और वह आचार्य्य वैसा ही उपदेश किया करे। और ब्रह्मचारी ऐसा निश्चय रक्खे कि जो मैं प्रथम अवस्था में ठीक-ठीक ब्रह्मचर्य्य से रहूँगा, तो मेरा शरीर और आत्मा आरोग्य, बलवान् होकें शुभ गुणों को वसानेवाले मेरे प्राण होंगे। हे मनुष्यो ! तुम इस प्रकार से सुखों का विस्तार करो, जो मैं ब्रह्मचर्य का लोप न करूँ। २४ वर्ष के पश्चात् गृहाश्रम करूँगा, तो प्रसिद्ध है कि रोगरहित रहूँगा। और आयु भी मेरी ७० वा ८० वर्ष तक रहेगी ॥२॥

मध्यम ब्रह्मचर्य यह है—जो मनुष्य ४४ वर्षपर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर वेदाभ्यास करता है, उसके प्राण, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण और आत्मा बलयुक्त होके सब दुष्टों को रुलाने और श्रेष्ठों का पालन करनेहारे होते हैं ॥३॥

उपलब्ध प्रमाणों तथा इतिहासप्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवन से होती है। ग्रन्थकार ने अन्यत्र लिखा है—

१. **आयुश्च रूपं च नाम च कीर्त्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रञ्च**। (अथर्व० १२।५।६)। इसका अर्थ किया है—'इन अच्छे नियमों से उम्र को सदा बढ़ाओ। हे स्त्री-पुरुषो ! तुम अपना जीवन बढ़ाओ'।

२. **'इहैव स्तं मा वि यौष्टम्'** ..... (अथर्व० १४।१।२२) का अर्थ—'ऋतुगामी होके वीर्य का अधिक नाश न करके सम्पूर्ण आयु, जो सौ वर्षों से कम नहीं है, उसको प्राप्त होओ।

३. अन्यथा वीर्य व्यर्थ जाता, दोनों की आयु घट जाती। —स० प्र० समु० ४

४. जिन पदार्थों से स्वास्थ्य, रोगनाश, बुद्धि, बल, पराक्रमवृद्धि और आयुवृद्धि होवे उन तण्डुलादि, गोधूम, फल, मूल का भोजन भक्ष्य कहाता है। —स०प्र० समु० १०

५. **'शतं हिमाः सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते'** (यजुः० २।२७) की व्याख्या में ग्रन्थकार ने शतपथब्राह्मण का प्रमाण दिया है—**'भूयांसि शताद् वर्षेभ्यः पुरुषो जीवति'** (शत० १।७।४।१६) और लिखा है—'सौ वर्ष तक जीवें और जितेन्द्रियता से सौ वर्ष से अधिक भी सुखपूर्वक जीवन का उपभोग करें।

६ **'आयुर्दाऽग्नेऽस्यायुर्मे देहि'** (यजुः० ३।१७)—आर्याभिविनय में इस मन्त्र की व्याख्या में लिखा है—'हे महावैद्य (परमेश्वर) ! आप आयु (उम्र) को बढ़ानेवाले हो, मुझे सुखरूप उत्तम आयु दीजिए'।

---

१. अर्थात् यह अनिवार्य है।

https://t.me/arshlibrary

जो मैं इसी प्रथम वय में जैसा आप कहते हैं, कुछ तपश्चर्या करूँ, तो मेरे ये रुद्ररूप प्राणयुक्त यह मध्यम ब्रह्मचर्य सिद्ध होगा। हे ब्रह्मचारी लोगो ! तुम इस ब्रह्मचर्य को बढ़ाओ। जैसे मैं इस ब्रह्मचर्य का लोप न करके यज्ञस्वरूप होता हूँ, और उसी आचार्य्यकुल से आता और रोगरहित होता हूँ। जैसाकि यह ब्रह्मचारी अच्छा काम करता है, वैसा तुम किया करो ॥४॥

उत्तम ब्रह्मचर्य—४८ वर्षपर्यन्त का तीसरे प्रकार का होता है। जैसे ४८ अक्षर की जगती, वैसे जो ४८ वर्षपर्यन्त यथावत् ब्रह्मचर्य करता है, उसके प्राण अनुकूल होकर सकल विद्याओं का ग्रहण करते हैं ॥५॥

---

७. **'मा मऽआयुः प्रमोषीः'** (यजुः० ४।२३) के भावार्थ में—'सब मनुष्य शुद्ध कर्म और बुद्धि से वाग् विद्या और विद्युद्विद्या को ग्रहण करके आयु को बढ़ाकर सुखी रहें'।

८. **'मा न आयुः प्रमोषीः'** (ऋ० १।१४।११) के भावार्थ में—'सर्वदा ईश्वर की आज्ञा पालन और उसके रचे हुए सूर्य आदि पदार्थों के गुणों को जानकर उनसे उपकार लेके अपनी उम्र निरन्त बढ़ानी चाहिए'।

९. **'मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः'** (ऋ० १।८६।६) इस मन्त्र में कहा है—'विद्वान् पुरुष अशुभाचरण से आयु को बीच में ही नष्ट न होने देवें और शुभ कर्मों से आयु को बढ़ावें'।

१०. **'देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे'** (ऋ० १।८६।२)—विद्वान् लोग ब्रह्मचर्यादि की सुशिक्षा से हमारी आयु को बढ़ावें।

११. **'त्वं च सोम नो वशो जीवातुं न मरामहे'** (ऋ० १।९१।६) **'वयं न अकालमृत्युं क्षणभंगदेहे प्राप्नुयाम'** हम लोग क्षणभंगुर देह में अकालमृत्यु को प्राप्त न करें।

अन्य आर्षग्रन्थों में उपलब्ध प्रमाणों से भी आयु के घटने-बढ़ने की पुष्टि होती है। तद्यथा—

१. **अभिवादनशीलस्यनित्यं वृद्धोपसेविनः ।**
चत्वारि तस्य वर्धन्त आयुर्विद्या यशो बलम् ॥ —मनु० १।१२१

२. **आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।** —मनु० ४।१२६

३. **दुराचारी हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।**
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ —मनु० ६।१५७

४. **यदि अकाले मृत्युर्न स्यात्प्रत्यक्षानुमानोपदेशाः ।**
स्यादप्रमाणानि स्युः ये प्रमाणभूताः सर्वतन्त्रेषु ॥

चरकसंहिता में भगवान् आत्रेय लिखते हैं—**'द्विविधा तु खलु भिषजो भवन्ति अग्निवेश ! प्राणानां ह्येके अभिसराः हन्तारो रोगाणां, रोगाणां ह्येके अभिसरो हन्तारः प्राणानामिति।'**—हे अग्निवेश ! दो प्रकार के वैद्य होते हैं—एक तो प्राणों को प्राप्त करानेवाले और रोगों को मारनेवाले और दूसरे रोगों को लानेवाले और प्राणों को हरनेवाले। अन्ततः अग्निवेश ने सीधा प्रश्न किया—'हे भगवन् ! आयु के काल का प्रमाण नियत है या नहीं ? भगवान् आत्रेय बोले कि हे अग्निवेश ! इस संसार में प्राणियों की आयु युक्ति की अपेक्षा रखती है। यह बात निश्चित है कि मनुष्य का जीवन हितकारी आचरण तथा चिकित्सा पर निर्भर है। इसके विपरीत अर्थात् उचित चिकित्सा न होने पर मृत्यु निश्चित है। देशकाल और आत्म-विपरीत कर्म तथा आहार-विहार सम्बन्धी विकारों से भी अकालमृत्यु होती है। यदि आयु के काल का प्रमाण नियत है तो दीर्घजीवन प्राप्त करने की इच्छा

https://t.me/arshlibrary

करनेवालों के लिए मन्त्र, औषध, मणि, मंगल, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास आदि का प्रयोजन कुछ नहीं है। ..... शत्रुसमूह, प्रवृद्ध अग्नि तथा अनेक प्रकार के विषैले सर्प आदि से बचने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि जब आयु का प्रमाण नियत ही है तो इनसे क्या भय है ?"[1]

यह सुनकर अग्निवेश बोला—हे भगवन् ! जब आयु के काल का प्रमाण नियत नहीं है तो कालमृत्यु और अकालमृत्यु कैसे होती है ? तब भगवान् आत्रेय ने समझाया कि जैसे रथ में लगा धुरा सर्वगुणसम्पन्न होने पर भी चलते-चलते समय पाकर घिसने से अन्त को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार शरीर की आयु भी प्रकृति के अनुसार यथावत् उपचर्यमाण किये जाने पर भी अपने प्रमाण के क्षीण हो जाने पर अवसान को प्राप्त हो जाती है। यही मृत्यु कालमृत्यु कहाती है और जैसे वही धुरा अधिक बोझ लादने से, ऊँचे-नीचे मार्ग पर चलने से, अपथ में जाने से, चक्रमण्डल के टूटने से, वाह्यवाहक के दोष से, अनिर्मोक्षण से, पर्यसन से अथवा अन्य अवयवों के टूट जाने से कुसमय में भंग हो जाता है, वैसे ही आयु भी बल से अधिक काम करने से, जठराग्नि के बल से अधिक भोजन करने से, अत्यन्त मैथुन करने से, उपस्थित वेगों के रोकने से, विष, अग्नि के उपताप से, चोट लगने से, सर्वथा भोजन न करने से बीच में ही विपत् को प्राप्त हो जाती है। इसी को अकालमृत्यु कहते हैं। ज्वरादि रोग भी अच्छी तरह चिकित्सा न किये जाने पर अकालमृत्यु का कारण हो जाते हैं।[2]

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः' इत्यादि मन्त्र में सौ वर्ष जीने की इच्छा का निर्देश परमेश्वर की ओर से है। यदि आयु की इयत्ता उसकी ओर से निर्धारित है और जीव में उसे घटाने-बढ़ाने का सामर्थ्य नहीं है तो परमेश्वर की ओर से उसे एतद्विषयक निर्देश दिया जाना व्यर्थ है और जीव में तदर्थ इच्छा का होना निरर्थक है। **'जिजीविषेत्'** विधिलिङ् की क्रिया है और साथ में सन्नन्त भी। जहाँ आदेश के साथ इच्छा का मेल भी अपेक्षित होता है, वहाँ क्रिया सन्नन्त होती है। इच्छा सदा अप्राप्त वस्तु के लिए होती है और बिना प्रयत्न के अभीष्ट की सिद्धि नहीं होती। प्रयत्न भी उसी के लिए होता है जिसकी प्राप्ति की सम्भावना हो। इसलिए यदि आयु का घटाना-बढ़ाना सम्भव न होता तो वेद में **'जिजीविषेच्छतँ समाः'** का निर्देश न होता। इस विवेचन से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार द्वारा निर्दिष्ट चार सौ वर्ष तक की आयु प्राप्त करना सर्वथा सम्भव है।

विदेशी यात्रियों द्वारा प्रस्तुत विवरण के अनुसार सन् १३०० ईसवी तक भारत में कुछ ऐसे विशिष्ट वर्ग थे

---

१. भगवन् ! नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं न वेति । भगवानुवाच इहाग्निवेश ! भूतानामायुर्युक्तिमपेक्षते । तस्माद्धितोपचारमूलं जीवितं, अतो विपर्ययान् मृत्युरपि च देशकालात्मगुणविपरीतानां कर्मणामाहारविकाराणाञ्च क्रियोपयोगः । यदि हि नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं स्यात् तदायुष्कामानां न मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवास-स्वत्ययनप्रणिपातगमनाद्याः क्रिया इष्टयश्च प्रयोज्येरन् । न प्रवृद्धोऽग्निर्न च विविधविषाश्रयाः सरीसृपोरगादयः । आयुषः सर्वस्य नियतकालप्रमाणत्वात् । एवं सति अनियतकालप्रमाणायुषां भगवन् ! कथं कालमृत्युरकालमृत्युर्भवतीति ।

२. तमुवाच भगवानात्रेयः —'श्रूयतामग्निवेश ! यथा यानसमायुक्तोऽक्षः प्रकृत्यैवाक्षगुणैरुपेतः स च सर्वगुणोपपन्नो वाह्यमानो यथाकालं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छेत् तथायुः शरीरोपगतं बलवत्प्रकृत्या यथावदुपचर्यमाणं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छति, स मृत्युः काले । यथा च स एवाक्षोऽतिभाराधिष्ठितत्वाद्विषमपथादपथादक्षचक्रभङ्गाद् वाह्यवाहकदोषाद् अणिमोक्षात् पर्य्यसनादनुपाङ्गाच्चान्तरा व्यसनमापद्यते तथायुरप्ययथाबलमारम्भाद्यवहरणाद् विषमाभ्यवहरणाद् विषमशरीरन्यासादतिमैथुनादसत्संश्रयादुदीर्णवेगविनिग्रहाद् विधार्यवेगाविधारणाद् भूतविषवाटवग्न्युपतापादभिघातादाहार-विवर्जनाच्चान्तरा व्यसनमापद्यते । स मृत्युरकाले । तथा ज्वरादीनप्यातङ्कान्मिथ्योपचरितानकालमृत्यून् पश्याम इति । —चरकसंहिता विमानस्थान, अध्याय ३

https://t.me/arshlibrary

जो आचार्य और माता-पिता अपने सन्तानों को प्रथम वय में विद्या और गुणग्रहण के लिए तपस्वी कर और उसी का उपदेश करें, और वे सन्तान आप-ही-आप अखण्डित ब्रह्मचर्य सेवन से तीसरे उत्तम ब्रह्मचर्य का सेवन करके पूर्ण अर्थात् चार सौ वर्ष पर्यन्त आयु को बढ़ावें, वैसे तुम भी बढ़ाओ, क्योंकि जो मनुष्य इस ब्रह्मचर्य को प्राप्त होकर लोप नहीं करते, वे सब प्रकार के रोगों से रहित होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥६॥

[शरीर की चार अवस्था]

चतस्रोऽवस्थाः शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता किञ्चित्परिहाणिश्चेति । आषोडशाद् वृद्धिः । आपञ्चविंशतेर्यौवनम् । आचत्वारिंशतः सम्पूर्णता । ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति ॥[1]

जिनकी औसत आयु १५० वर्ष से ऊपर होती थी। मार्को पोलो ने, जो भारत में १२८० ईसवी में आया और जिसने अपनी यात्रा का विवरण १३०० ईसवी में लिखा, इस विषय में लिखा है—"सब ब्राह्मण पश्चिमी प्रदेश के हैं। वे सभी व्यापारी हैं और सत्यनिष्ठ हैं। वे न मांस खाते हैं और न मदिरा-पान करते हैं। अत्यन्त पवित्र जीवन बिताते हैं। वे अपने कन्धों पर पीठ और छाती से गुजरता हुआ सूती धागा (यज्ञोपवीत) पहनते हैं। मादक द्रव्यों से दूर रहने के कारण वे दीर्घजीवी होते हैं। एक बूटी विशेष के चबाने से उनके दाँत बहुत पक्के हैं। ब्राह्मणों की एक जाति जोगी कहाती है। यह और भी अधिक दीर्घजीवी है। वे १५०-२०० वर्ष जीते हैं। वे केवल दूध और चावल का प्रयोग करते हैं। वे दिन में दो बार गन्धक और पारे का प्रयोग करते हैं और जल के सिवा कुछ नहीं पीते हैं। वे धरती पर सोते हैं और लम्बी आयु भोगते हैं।"[2]

चतस्रोऽवस्थाः—यहाँ उद्धृत पाठ सुश्रुत के वर्त्तमान में उपलब्ध संस्करणों में नहीं मिलता। सुश्रुत का एक वृद्ध पाठ भी था जिसके अनेक सन्दर्भ प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत बताये जाते हैं। आजकल सुश्रुतसंहिता में इस प्रकार पाठ मिलता है—

'वयस्तु त्रिविधं बाल्यं मध्यं वृद्धमिति। तत्रोनषोडषवर्षा बालाः। तेऽपि त्रिविधाः क्षीरपाः क्षीरान्नादा अन्नादा इति। तेषु संवत्सराः क्षीरपा द्विसंवत्सराः क्षीरान्नादाः परतोऽन्नादा इति। षोडषसप्तत्योरन्तरे मध्यं वयः। तस्य विकल्पो वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता हानिरिति। तत्र आविंशतेर्वृद्धिः, आत्रिंशतो यौवनं, आचत्वारिंशतः सर्वधात्विन्द्रियबलवीर्यसम्पूर्णता अत ऊर्ध्वमीषत्परिहाणिर्यावत्सप्ततिरिति। सप्ततेरुर्ध्वं

---

१. तुलना करो —सुश्रुत सूत्रस्थान ३५।२५॥ संप्रति उपलब्ध पाठ में भिन्नता है। सुश्रुत का एक वृद्ध पाठ भी था। वृद्ध सुश्रुत के अनेक पाठ प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं। यही पाठ स० प्र० प्र० सं० पृष्ठ १०१; संस्कारविधि सं० २ वेदारम्भसंस्कार, पृष्ठ ८३; तथा पूनाप्रवचन व्याख्यान ४ में मिलता है। सं० वि० के गर्भाधानसंस्कार में 'आचतुर्विंशतेर्यौवनम्' पाठ है, पर अर्थ 'पच्चीसवें वर्ष से' ऐसा मिलता है। सं० २ में पते में 'शरीरस्थान' पाठ है।

2. All Brahmanas come from that country on the West. They are best merchants and most truthful. They eat no flesh and drink no wine and lead a life of chastity. They wear a thread of cotton on shoulders which crosses the chest and the back. They are long lived and have capital teeth owing to a certain herb, they chew. There are other Brahmans called 'Jogi' who are longer lived. They live upto 150-200 years. They eat rice and milk only. They drink a potion of sulphur and quicksilver twice a day which leads to longevity. They fast many days and drink nothing but water. They sleep on the ground and live long.—History of Medieval Hindu India by C.V. Vaidya, Vol.III, P. 383

https://t.me/arshlibrary

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे ।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक् ॥

—यह सुश्रुत के सूत्रस्थान का वचन है ॥

अर्थः—इस शरीर की चार अवस्था हैं। एक **वृद्धि**—जो १६वें वर्ष से लेके २५वें वर्षपर्यन्त सब धातुओं की बढ़ती होती है। दूसरी **यौवन**—जो २५ वें वर्ष के अन्त और २६ वें वर्ष के आदि में युवावस्था का आरम्भ होता है। तीसरी **सम्पूर्णता**—जो पच्चीसवें वर्ष से लेके चालीसवें वर्षपर्यन्त सब धातुओं की पुष्टि होती

क्षीयमाणधात्विन्द्रियबलवीर्योत्साहमहन्यहनि वलिपलितखालित्यजुष्टं कासश्वासप्रभृतिरुपद्रवैरभिभूयमानं सर्वक्रियासु असमर्थं जीर्णागारमिव अभिवृष्टमवसीदन्तं वृद्धमाचक्षते ।' (सूत्रस्थान ३५।२५)

अर्थात् वयः तीन प्रकार का होता है—बाल्य, मध्य और वृद्ध। उनमें से १६ वर्ष से न्यून वयवाले बालक होते हैं। उनमें भी तीन भेद हैं—(१) क्षीरप=केवल दूध पीनेवाले, (२) क्षीरान्नाद=दूध और अन्न खानेवाले, (३) अन्नाद=अन्न खानेवाले। एक वर्ष की आयुवाले क्षीरप, दो वर्षवाले क्षीरान्नाद और इससे आगे अन्नाद होते हैं। सोलह और सत्तर वर्षों के बीच मध्य वय होता है। उसके चार भेद हैं—वृद्धि, यौवन, सम्पूर्णता तथा हानि। उनमें बीस वर्ष तक वृद्धि, तीस वर्ष तक यौवन, चालीस वर्ष तक सब धातुओं, इन्द्रियों के बल और वीर्य की पूर्णता। इसके बाद सत्तर वर्ष की आयु तक कुछ-कुछ घटती। सत्तर वर्ष के बाद वृद्ध कहाता है। उस अवस्था में धातुओं, इन्द्रियों के बल-वीर्य तथा उत्साह क्षीण हो रहे होते हैं। प्रतिदिन झुर्रियाँ, सफेद बाल तथा गंजापन बढ़ता है, खाँसी, दमा आदि उपद्रवों से परेशान रहता है। सभी इन्द्रियों की क्रियाओं में असमर्थ, पुराने घर की भाँति, बरस चुके बादल की भाँति नष्ट हो रहा होता है।

वर्त्तमान संस्करणों में सूत्रस्थान ३५।४६-५० में शरीर की अवस्थाओं का वर्णन इस प्रकार किया गया है—**'वयस्तु त्रिविधं बालं मध्यं वृद्धमिति। तत्रोनषोडशवर्षा बालाः। षोडशसप्तत्योरन्तरे मध्यं वयस्तस्य विकल्पो वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता हानिरिति। तत्राविंशतेर्वृद्धिरात्रिंशतो यौवनमाचत्वारिंशतः सर्वधात्विन्द्रियबल-वीर्यसम्पूर्णता। अत ऊर्ध्वमीषद् हानिर्यावत् सप्ततिरिति।'** अर्थात्—अवस्था तीन प्रकार की होती है—बाल, मध्य और वृद्ध। इनमें १६ वर्ष तक बालावस्था रहती है। १६ से ७० वर्ष तक मध्य अवस्था होती है। फिर उसके (मध्य के) ये भेद हैं—वृद्धि, यौवन, सम्पूर्णता तथा हानि। उसमें बीस वर्ष तक वृद्धि, तीस वर्ष तक यौवन, चालीस तक सम्पूर्णता अर्थात् सब धातु, उपधातु और सब इन्द्रियों और बल की सम्पूर्णता होती है। इसके बाद ७० वर्ष की अवस्था तक क्रमशः घटती होती रहती है। इसमें और पूर्वोद्धृत विवरण में विस्तारभेद है, मूलतः दोनों एक हैं।

ग्रन्थकार का लेख है—'दूसरी (यौवन) २५ वर्ष के अन्त और २६वें वर्ष के आदि में यौवन का आरम्भ होता है—तीसरी (सम्पूर्णता) जो २५वें वर्ष से ४०वें वर्ष पर्यन्त धातुओं की पुष्टि होती है।' एतदनुसार २५/२६ से ४० वर्ष के बीच दूसरी (यौवन) और तीसरी (सम्पूर्णता) दोनों अवस्थाएँ युगपत् रहती हैं। इस प्रकार ग्रन्थकार के लेख का सुश्रुत के मूल सन्दर्भ और उसके अर्थ से सामंजस्य नहीं है।

ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार के लिपिक ने यहाँ मध्यवयवाला वर्णन उद्धृत कर दिया है। दोनों के आशय में कोई विशेष अन्तर नहीं है। स्मृतियों में भी इस प्रकार के वचन मिलते हैं। यथा हारीतस्मृति में आता है—

आषोडशाद् भवेद् बालः आपञ्चत्रिंशं युवा नरः ।
मध्यमा सप्ततिर्यावत् परतो वृद्ध उच्यते ॥ —अध्याय ५

https://t.me/arshlibrary

है। चौथी **किञ्चित्परिहाणि**—जब सब साङ्गोपाङ्ग शरीरस्थ सकल धातु पुष्ट होके पूर्णता को प्राप्त होते हैं। तदनन्तर जो धातु बढ़ता है, वह शरीर में नहीं रहता, किन्तु स्वप्न-प्रस्वेदादि द्वारा बाहर निकल जाता है। वही ४०वाँ वर्ष उत्तम समय विवाह का है अर्थात् उत्तमोत्तम तो अड़तालीसवें वर्ष में विवाह करना।

[विवाहार्थी स्त्री वा पुरुष के ब्रह्मचर्यकाल की तुलना]

प्रश्न—क्या यह ब्रह्मचर्य का नियम स्त्री वा पुरुष दोनों का तुल्य ही है ?

उत्तर—नहीं। जो २५ वर्ष पर्यन्त पुरुष ब्रह्मचर्य करे तो १६ सोलह वर्षपर्यन्त कन्या; जो पुरुष ३० तीस वर्षपर्यन्त ब्रह्मचारी रहे तो स्त्री १७ वर्ष; जो पुरुष ३६ वर्ष तक रहे तो स्त्री १८ वर्ष; जो पुरुष ४० वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य करे तो स्त्री २० वर्ष; जो पुरुष ४४ वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य करे तो स्त्री २२ वर्ष; जो पुरुष ४८ वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य करे तो स्त्री २४चौबीस वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य-सेवन रक्खे, अर्थात् ४८वें वर्ष से आगे पुरुष, और २४वें वर्ष से आगे स्त्री को ब्रह्मचर्य न रखना चाहिए, परन्तु यह नियम विवाह करनेवाले पुरुष और स्त्रियों का

अथवा इसे इस प्रकार समझना चाहिए कि ग्रन्थकार ने शरीर की मध्यकालिक अवस्था का यह विभाजन वैवाहिक उपयोगिता की दृष्टि से किया है। उनके द्वारा किये गये इस सन्दर्भ के व्याख्यान से इस भावना की पुष्टि हो जाती है कि २६ से ४० वर्ष के बीच के १५ वर्ष के अन्तराल में युवावस्था का परिपाक होकर सम्पूर्णता की अवस्था प्राप्त हो जाती है। तदनन्तर धीरे-धीरे शरीर की शक्ति की क्षीणता आरम्भ हो जाती है। यही किञ्चित्-परिहाणि की अवस्था है। यह विभाजन वैवाहिक उपयोगिता की दृष्टि से किया गया है, इसकी पुष्टि अगले सन्दर्भ तथा उसके विवेचन से भी होती है।

ब्रह्मचर्य के प्रसंग में प्रथम संस्करण में इतना विशेष लिखा है—'२५ से ३० वर्ष तक न्यून-से-न्यून ब्रह्मचर्य का नियम है। इससे न्यून ब्रह्मचर्य का नियम कभी न होना चाहिए। जो कोई इससे न्यून करेगा, वह सदा रोगी, भ्रष्टबुद्धि, विद्याहीन, कुत्सित कर्मकारी ही होगा, क्योंकि जिसके धातुओं की क्षीणता और विषमता शरीर में होगी उस मनुष्य को किसी रीति से सुख न होगा और कन्याओं का २० से २४ वर्ष तक उत्तम ब्रह्मचर्याश्रम है, १६ से आगे २० वर्ष तक मध्यम ब्रह्मचर्य आश्रमकाल है। १६वें वर्ष से १७ या १८ वर्ष तक अधम ब्रह्मचर्यकाल है। १६ वर्ष से न्यून कन्याओं का ब्रह्मचर्य कभी न होना चाहिए। जो कोई कन्या १६ वर्ष से न्यून ब्रह्मचर्याश्रम करेगी वह विद्या, बुद्धि, बल, पराक्रम आदि गुणों से रहित और रोगादिक दोषों से युक्त होगी और सदा दुःखी रहेगी। इसका अर्थ यह है कि १६ वर्ष से न्यून कन्या का और २५ वर्ष से न्यून पुरुष का विवाह कभी न करना चाहिए और जो कोई इसका व्यतिक्रम करै और १६ वर्ष से पहिले कन्याओं का विवाह करै और २५ वर्ष से पहिले पुत्रों का विवाह करै, उसको राजा दण्ड दे, और उनके माता-पिता को भी[1] क्योंकि सब लोगों के सत्यव्यवहार और धर्मव्यवहार की व्यवस्था राजा ही के अधीन है। जिस देश का जो राजा होय उसी को इस व्यवस्था का पालन करना चाहिए।'

---

१. इससे प्रेरणा पाकर ऋषि दयानन्द की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा के मन्त्री दीवान हरविलास शारदा ने सन् १९२९ में केन्द्रीय धारासभा (वर्तमान में लोकसभा) से बालविवाह निरोधक कानून (गःक्षि डर्षषंज्ञ दज्ञर्षिुं क्हें) पास कराया था, जिसके अधीन १४ वर्ष से कम आयु की लड़की की और १८ वर्ष से कम आयु के लड़के का विवाह दण्डनीय अपराध घोषित किया गया। शारदा एक्ट के नाम से प्रसिद्ध यही कानून वर्तमान कानून (जुक्षं डर्षषंज्ञ क्हें) में निर्धारित क्रमशः १८ और २१ वर्ष की आयु का आधार है। शारदा एक्ट में ही बालविवाह से सम्बन्धित माता-पिता या संरक्षक को भी तीन मास की कैद तथा जुर्माने का भी प्रावधान किया गया था।

https://t.me/arshlibrary

है और जो विवाह करना ही न चाहें, वे मरणपर्यन्त ब्रह्मचारी रहते हों तो भले ही रहें, परन्तु यह काम पूर्णविद्यावाले, जितेन्द्रिय और निर्दोष योगी स्त्री और पुरुष का है। यह बड़ा कठिन काम है कि जो काम के वेग को थांभके इन्द्रियों को अपने वश में रखना।

[पढ़ने-पढ़ानेवालों के नियम]

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च॥

—यह तैत्तिरीयोपनिषद् (शिक्षा० ६) का वचन है।

अर्थः—ये पढ़ने-पढ़ानेवालों के नियम हैं—(ऋतं०) यथार्थ आचरण से पढ़ें और पढ़ावें। (सत्यं०) सत्याचार से सत्यविद्याओं को पढ़ें वा पढ़ावें। (तपः०) तपस्वी अर्थात् धर्मानुष्ठान करते हुए वेदादिशास्त्रों को पढ़ें और पढ़ावें। (दमः०) बाह्य इन्द्रियों को बुरे आचरणों से रोकके पढ़ें और पढ़ाते जाएँ। (शमः०) अर्थात् मन की वृत्ति को सब प्रकार के दोषों से हटाके पढ़ते-पढ़ाते जाएँ। (अग्नयः०) आहवनीयादि अग्नि और विद्युत् आदि को जानके पढ़ते-पढ़ाते जाएँ और (अग्निहोत्रं०) अग्निहोत्र करते हुए पठन और पाठन करें-करावें। (अतिथयः०) अतिथियों की सेवा करते हुए पढ़ें और पढ़ावें। (मानुषं०) मनुष्य-सम्बन्धी व्यवहारों को यथायोग्य करते हुए पढ़ते-पढ़ाते रहें। (प्रजा०) अर्थात् सन्तान और राज्य का पालन करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जाएँ। (प्रजन०) वीर्य की रक्षा और वृद्धि करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जाएँ। (प्रजातिः०) अर्थात् अपने सन्तान और शिष्य का पालन करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जाएँ॥

ऋतं च—मनुष्य को चाहिए कि वह जो शिक्षा प्राप्त करे उसे अपने भावी जीवन में जीवित रक्खे। उपनिषत्कार ने उसके दो उपाय बताये हैं—स्वाध्याय तथा प्रवचन। स्वाध्याय के दो अर्थ हैं—एक जो कुछ पढ़ा है, शिक्षा ग्रहण की है, उसका पाठ करते रहना, नये-नये ग्रन्थों को खोज-खोजकर उन्हें पढ़ते रहना और इस प्रकार अपने ज्ञान को बढ़ाते रहना। इसको वर्तमान में continuing education के नाम से जाना जाता है। स्वाध्याय का दूसरा अर्थ है—'स्व' का, अपने-आपका अध्ययन करना—**'आत्मानं विद्धि'**। आत्माध्ययन (Self study) द्वारा अपने जीवन का लेखा-जोखा करते रहना। स्वाध्याय के अतिरिक्त अपनी शिक्षा को न केवल बनाये रखने, प्रत्युत उसे बढ़ाने का दूसरा उपाय है—प्रवचन। मनुष्य जो कुछ जाने उसे केवल अपने तक सीमित न रखके प्रवचन द्वारा उससे दूसरों को भी लाभान्वित करे।

संसार में सर्वत्र नियम का शासन है। इसीलिए परमेश्वर को नियामक तथा विधाता (विधान के अनुसार संसार को धारण करने, उसका संचालन करनेवाला) कहते हैं। दैवी नियम को 'ऋत' कहते हैं। भगवान् का बनाया हुआ होने से वह शाश्वत, अखण्ड, सार्वभौम होता है। उसका कोई अपवाद नहीं होता। उन नियमों का पालन करते हुए स्वाध्याय और प्रवचन में सदा प्रवृत्त रहना चाहिए। 'ऋत' अर्थात् ईश्वरीय नियमों के अनुकूल नियमों की संज्ञा 'सत्य' है।

कुछ नियम देश-काल-परिस्थितियों के अनुसार सामाजिक आधार के व्यवहार के लिए बनाये जाते हैं। ये साधारण नियम होते हैं जो कभी भी बदल सकते हैं। 'ऋत' के समान ही सत्य का पालन तथा प्रवचन करना भी आवश्यक है। **'सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च'**। उपनिषदों में सत्य, ऋत और तप का अनेकत्र इकट्ठा उल्लेख मिलता है। जैसे **'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसः अध्यजायत'**। ऋत और सत्य का

https://t.me/arshlibrary

पालन करना एक प्रकार का तप है, क्योंकि ऋत और सत्य का पालन करने में अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं। जिन्हें तप के बिना पार करना बड़ा कठिन होता है। इसलिए कहा है—**'तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च'**। तप के साथ दम और शम जुड़े हुए हैं। प्रलोभनों में न पड़ना 'तप' है, उनका दमन करना 'दम' है और उनके होते हुए शान्त रहना 'शम' है। इसीलिए उपनिषद् का आदेश है—**'दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च'**। इसी प्रकरण में अग्निहोत्र, अतिथिसेवा, मानवसेवा, प्रजापालन, सन्तानोत्पत्ति, पुत्र-पौत्र का पालन आदि कर्त्तव्यों का अनुष्ठान करते हुए स्वाध्याय तथा प्रवचन में प्रवृत्त रहने का निर्देश किया गया है। प्रत्येक अवस्था में स्वाध्याय तथा प्रवचन का निर्देश किये जाने से ब्रह्मचारी के भावी जीवन में उनका असाधारण महत्त्व स्पष्ट है। इस सबमें भी सत्य, तप, स्वाध्याय तथा प्रवचन पर इतना बल दिया गया है कि यह सारा उपदेश देकर भी मानो उपनिषत्कार को सन्तोष नहीं हुआ। इसलिए उसका उपसंहार करते हुए कहते हैं—**'सत्यम् इति सत्यवचा राथीतरः, तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टः; स्वाध्यायप्रवचने एव इति नाकः मौद्गल्यः।'** अर्थात् सत्य ही सब-कुछ है, यह सत्यवाक् राथीतर का कहना है, तप ही सब-कुछ है, यह तपस्वी पौरुशिष्ट का कहना है और स्वाध्याय और प्रवचन ही सब-कुछ है, यह मुद्गल के पुत्र नाक का कहना है। —तैत्तिरीय उपनिषद्, शिक्षावल्ली, अनुवाक् ६

प्रथम संस्करण में इस सन्दर्भ की व्याख्या ग्रन्थकार ने इस प्रकार की है—

'ऋत' नाम है यथार्थ और सत्य-सत्य ज्ञान का। ब्रह्मचारी लोग और अध्यापक लोग सत्य-सत्य बात की प्रतिज्ञा करें कि सत्य-सत्य ही को मानेंगे, मिथ्या को कभी नहीं और असत्य को न सुनेंगे, न कहेंगे। स्वाध्याय नाम पढ़ना और प्रवचन नाम पढ़ाना। सत्य-सत्य पढ़ेंगे और सत्य-सत्य पढ़ावेंगे, सत्य ही कर्म करेंगे और करावेंगे। 'तप' नाम धर्मानुष्ठान का है, सदा धर्म ही करेंगे और अधर्म कभी नहीं। हम लोग जितेन्द्रिय होंगे और किसी इन्द्रिय से कभी पर-पदार्थ और परस्त्री ग्रहण नहीं करेंगे। इसका नाम 'दम' है। 'शम' नाम अधर्म की मन से भी इच्छा न करनी। 'अग्नयश्च' नाम अग्नि में जगत् के उपकार के लिए सदा हम लोग होम करेंगे, 'अग्निहोत्रञ्च' नाम अग्निहोत्र का नियम सब दिन पालेंगे। अतिथियों की सेवा सब दिन करेंगे। 'मानुषञ्च' नाम मनुष्यों में जिससे जैसा व्यवहार करना चाहिए वैसा ही करेंगे, बड़ा, छोटा और तुल्य इनको जैसा मानना चाहिए वैसा उसको मानेंगे और जिस रीति से प्रजा की उत्पत्ति करनी चाहिए प्रजा का व्यवहार और पालन जैसा करना चाहिए धर्म से वैसा ही करेंगे। 'प्रजनश्च' नाम वीर्यदान जो करेंगे सो धर्म ही से करेंगे। 'प्रजापतिश्च' नाम जैसाकि गर्भ का पालन करना चाहिए और जन्म के पीछे भी जैसा पालन करना चाहिए वैसा ही पालन उसका करेंगे, परन्तु ऋतादि करेंगे, स्वाध्याय प्रवचन का त्याग कभी नहीं करेंगे। स्वाध्याय पढ़ना, प्रवचन नाम पढ़ाना ऋतादिकों के ग्रहणपूर्वक ही स्वाध्याय और प्रवचन को सदा करना चाहिए। इसका विचार सब दिन करेंगे। इसके छोड़ने से संसार की भी बहुत-सी हानि हो जाती है। इस प्रकार से शिष्यों के प्रति पुरुष, कन्याओं को स्त्री और पुरुषों को पुरुष शिक्षा करें।"

महाभारत (शा०प० ३१६।७) में कहा है—**'वेदेषु चाष्टगुणिनं योगमाहुर्मनीषिणः'**, अर्थात् मनीषी वेदों में (वेदानुकूल) योग को अष्टांग कहते हैं। योगांगानुष्ठान का अर्थ है—ज्ञानमूलक कर्म का आचरण। ज्ञानमूलक कर्म द्वारा अज्ञानमूलक कर्म और उनके संचित संस्कारों का नाश हो जाता है। इस प्रकार योगांगों के अनुष्ठान से चित्त के अविद्यादि क्लेशरूप मलों का नाश हो जाने से चित्त निर्मल हो जाता है। चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग की सिद्धि के लिए अभ्यास और वैराग्य मुख्य साधन हैं। अभ्यास और वैराग्य

https://t.me/arshlibrary

'यम' पाँच प्रकार के होते हैं—

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ —योगसूत्र २।३०

(अहिंसा) अर्थात् वैरत्याग, (सत्य) सत्य मानना, सत्य बोलना और सत्य ही करना, (अस्तेय) अर्थात् मन-वचन-कर्म से चोरीत्याग, (ब्रह्मचर्य) अर्थात् उपस्थेन्द्रिय का संयम, (अपरिग्रह) अत्यन्त लोलुपता= स्वत्वाभिमानरहित होना, इन पाँच **यमों** का सेवन सदा करे ॥ केवल नियमों का सेवन, अर्थात्—

का अनुष्ठान यम-नियमादि के पालन से ही सम्भव है। इन आठ अंगों में अन्य सभी भाव और साधनों का अन्तर्भाव है।

यम पद **'यमु उपरमे'** धातु से सिद्ध होता है। उपरम का अर्थ निवृत्ति है। इस प्रकार यम से तात्पर्य है बाह्य विषयों की ओर से अपने आपको निवृत्त करना अर्थात् अपने आपको संयत या नियन्त्रित करना। सामाजिक व्यवहार में व्यक्ति के लिए जिन निर्देशक सिद्धान्तों का पालन करना आवश्यक है वे 'यम' के अन्तर्गत हैं। जिन कार्यों व भावनाओं को केवल व्यक्तिगत जीवन में निभाना होता है वे नियमों में परिगणित हैं। आत्मा में योग के बीज बोने के लिए यम-नियमों के द्वारा क्षेत्र का परिष्कार किया जाता है। यम-नियम का पूर्णतया पालन किये बिना चरित्र-निर्माण असम्भव है और चरित्र-निर्माण के बिना योगाभ्यास व्यर्थ है। जिनके जीवन में यम-नियम का व्यवहार नहीं, वे तथाकथित योगी केवल आत्मवंचक एवं जगवंचक ही हैं।

तत्राहिंसा०—

अहिंसा—सब प्रकार से सब काल में सब प्राणियों के साथ वैर छोड़कर प्रीतिपूर्वक वर्तना 'अहिंसा' है। मनसा, वाचा, कर्मणा किसी प्राणी को कष्ट पहुँचाना ही नहीं, अपितु उसकी भावना का भी मन में आने देना हिंसा है। इस प्रकार किसी के प्रति द्रोह, ईर्ष्या, असूया आदि की भावना का चित्त में उभरने देना भी हिंसा है। सत्य आदि अन्य सभी यम-नियम अहिंसामूलक हैं। अहिंसासिद्धि के हेतु ही उनका प्रतिपादन किया गया है। अहिंसा को अधिकाधिक निर्मल करने में ही उनका साफल्य है। अहिंसाव्रत में पूर्ण परिपाक हो जाने पर उनके सामीप्य मे प्राणिमात्र वैर त्याग देते हैं—**'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'** (योग० २।३५)। जिस प्रकार मैस्मरिज़्म द्वारा इच्छाशक्ति के सामान्य उत्कर्ष से मनुष्यों तथा पशु-पक्षियों को वश में कर अपना अनुगामी बना लिया जाता है, उसी प्रकार जिन योगियों की इच्छाशक्ति इतनी प्रबल हो चुकी होती है कि वे उसके द्वारा स्वप्रकृति से हिंसा को सर्वथा दूर कर चुके होते हैं, उनकी सन्निधि में अन्य प्राणी उनके मनोभाव से प्रभावित होकर हिंसा का परित्याग कर देते हैं। यही कारण है कि योगसिद्ध ऋषि-मुनियों के आश्रमों में सिंह और गाय एक साथ खाते-पीते व रहते तथा साँप और नेवला एक-साथ खेलते देखे-सुने जाते हैं।

सत्य—जो विषय प्रमित हुआ है चित्त और वाक्य को तदनुरूप करने की चेष्टा सत्यसाधन है। जैसा अपने ज्ञान में हो वैसा मानना, कहना और करना सत्य कहाता है। छल, प्रपञ्च या धोखा देने की भावना से कहा गया अर्धसत्य **(अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा)** भी हेय है। अर्थहीन वाक्य भी असत्य का ही रूप है। सत्य के अहिंसामूलक होने के कारण यह आवश्यक है कि कथित वचन प्राणियों के लिए हितकर हो। सत्यसाधन में मितभाषी होना सहायक होता है। कालिदास ने 'रघुवंश' में रघुकुल के लोगों के गुणों की चर्चा करते हुए लिखा है—**'सत्याय मितभाषिणाम्'**। अधिक बोलने में वाणी से अनेक असत्यवचन निकल जाते हैं। इसलिए साधक को सत्यप्रवण करने में काव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि काल्पनिक

https://t.me/arshlibrary

विषयों से विरक्त होना पड़ता है।

सत्यप्रतिष्ठाजनित फल भी इच्छाशक्ति से उत्पन्न होता है। जिसके मन तथा वाक्य सदा यथार्थविषयक होते हैं उसकी वाक्यविहित इच्छाशक्ति अमोघ हो जाती है। जिस प्रकार मनोवैज्ञानिक आधार पर हिप्नोटिज़म (कृत्रिम निद्रा) द्वारा वश्य व्यक्ति (Subject) के मन में विश्वास उत्पन्न होकर उसके रोग दूर हो जाते हैं, उसी प्रकार उत्कृष्ट इच्छाशक्ति योगी के मन में उत्पन्न हो सरल वाक्य द्वारा वाहित होकर श्रोता के मन पर आधिपत्य कर लेती है। इससे श्रोता के मन में उस वाक्य के अनुरूप भाव प्रबल हो जाते हैं। वस्तुतः सत्यप्रतिष्ठ व्यक्ति उसी बात को कहता है जो हो सकती है। सदा सत्य का उच्चारण करने की अभ्यस्त उसकी वाणी से अन्यथा वचन निकलता ही नहीं। इसलिए उसका कहा कभी व्यर्थ नहीं जाता। इस प्रकार सत्य की प्रतिष्ठा में क्रिया के फल का आश्रय होना वाणी में सिद्ध हो जाता है—**'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'** (योग० २।३६)।

अस्तेय—पर पदार्थों में इच्छा का न होना 'अस्तेय' है। जो अदत्त या धर्मतः अप्राप्य हो उसका ग्रहण अथवा जो निज स्व नहीं उसका उसके स्वामी की अनुमति के बिना ग्रहण करना 'स्तेय' है। ऐसे पदार्थ के विषय में जो निस्पृह होने का भावविशेष है, वही अस्तेय है। अचानक मिल जाने अथवा भूगर्भस्थ पदार्थ के मिल जाने से भी वह ग्राह्य नहीं हो जाता, क्योंकि निश्चय ही वह निज-स्व न होकर पर-स्व है।

चोरी की भावना का परित्याग हो जाने पर वस्तुओं के लोभ और संग्रह की प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है। ऐसी अवस्था में योगी सबका विश्वासपात्र हो जाता है। तब वह जिस वस्तु की कामना करता है, संकल्पमात्र से उसे प्राप्त हो जाती है। कहीं भी चला जाए उसे किसी वस्तु का अभाव नहीं होता। यही इच्छामात्र से सब रत्नों का उपस्थित होना है—**'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्'** (योग० २।३७)।

ब्रह्मचर्य—कामवासनाओं से सर्वात्मना बचते हुए प्रयत्नपूर्वक वीर्यरक्षा करना ब्रह्मचर्य है, किन्तु मात्र उपस्थ-संयम ब्रह्मचर्य नहीं कहाता। पूर्णरूप से वीर्यरक्षा के साथ समस्त इन्द्रियों को संयत कर विषयों को निर्बाधरूप से प्रवृत्त होने से रोकना ब्रह्मचर्य है। यदि चक्षु, रसन आदि इन्द्रियों को खुला छोड़ दिया जाए तो ये सब मिलकर वीर्यनाश का कारण बन जाती हैं। ब्रह्मचर्य की साधना में लगे व्यक्ति को सावधान करने के लिए मनुस्मृति (२।८८,९३) में लिखा है—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयम्य यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥

अर्थात् जैसे सारथि घोड़ों को नियम में रखता है, वैसे ही विद्वान् मन को खोटे कामों में खींचनेवाले विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों को यत्नपूर्वक नियन्त्रण में रक्खे, क्योंकि इन्द्रियों के वश में होके जीवात्मा बड़े-बड़े दोषों को प्राप्त होता है और जब इन्द्रियों को वश में कर लेता है तो सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। अच्छा तो यह है कि जहाँ तक हो सके इन्द्रियों को विषयों से दूर रखा जाए—

स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः ॥

https://t.me/arshlibrary

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ —योगसूत्र २।३२

(शौच) अर्थात् स्नानादि से पवित्रता, (सन्तोष) सम्यक् प्रसन्न होकर निरुद्यम रहना सन्तोष नहीं, किन्तु पुरुषार्थ जितना हो सके उतना करना, हानि-लाभ में हर्ष या शोक न करना, (तप) अर्थात् कष्टसेवन से भी धर्मयुक्त कर्मों का अनुष्ठान, (स्वाध्याय) पढ़ना-पढ़ाना, (ईश्वरप्रणिधान) ईश्वर की भक्ति-विशेष से आत्मा को अर्पित रखना, ये पाँच **'नियम'** कहाते हैं ॥

ब्रह्मचर्य-साधन में प्रवृत्त व्यक्ति को आठों प्रकार के मैथुन से बचे रहना चाहिए। स्त्री-पुरुष का एकान्तदर्शन, स्पर्शन, सेवन, विषयकथा, भाषण, क्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग—ये आठ प्रकार के मैथुन है।

जीवन का उद्देश्य है अभ्युदय तथा निःश्रेयस की सिद्धि, एतदर्थ निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन सर्वोत्तम साधन हैं।

अपरिग्रह—आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करना 'अपरिग्रह' है। प्राणधारण के लिए भोजन, शरीर ढाँपने के लिए वस्त्र तथा गर्मी, सर्दी और वर्षा से बचने के लिए मकान आवश्यक है, परन्तु इन आवश्यकताओं की पूर्ति सादे भोजन, सादे वस्त्रों और सादे ढंग से बने छोटे मकान से हो सकती है। असाधारण भोजन, बहुमूल्य वस्त्र और शानदार बंगले 'परिग्रह' की कोटि में आ जाते हैं। आवश्यकता से अधिक संग्रह करना सामाजिक अपराध है—समाज के प्रति अन्याय है। ऐसे व्यक्तियों में परदुःखकातरता एवं सहानुभूति का अभाव होता है।

योगदर्शन में अपरिग्रह की सिद्धि का फल जन्म के कथम्भाव का ज्ञान बताया है **'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः'** (योग० २।३८)। अर्थात् 'मैं पूर्वजन्म में क्या था ? किन कारणों से था ? चालू जन्म किन कारणों से हुआ ? आगे क्या और किन कारणों से बनूँगा ?' अपरिग्रह की सिद्धि को प्राप्त हुआ व्यक्ति इस प्रकार अपने जन्मों के विषय में जिज्ञासा होने पर यथार्थरूप से उन परिस्थितियों को जान लेता है, परन्तु अनावश्यक वस्तुओं के संग्रह न करने का जन्मकथा से क्या सम्बन्ध है ? यह जिज्ञासा स्वभावतः उभरती है। विचार करने पर ज्ञात होता है कि जब मनुष्य यह सोचने लगता है कि जीवन क्या है ? तब उसका ध्यान जन्म की ओर जाता है। यह जन्म-जन्मान्तर का चिन्तन परिग्रह की भावना को शिथिल कर अभ्यासी को अपरिग्रह की ओर प्रेरित करने में सहायक होता है और वह निवृत्ति-मार्ग पर अग्रसर होता है।

शौचसन्तोष०—

शौच—'शौच' का अर्थ शुद्धि या पवित्रता है। इसके दो भेद हैं—बाह्य तथा आभ्यन्तर अथवा शारीरिक और मानसिक। इसमें मनुस्मृति का प्रमाण है—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥ —५।१०९

जल से शरीर के बाहर के अवयव, सत्याचरण से मन, विद्या और तप अर्थात् धर्मानुष्ठान से आत्मा और ज्ञान अर्थात् पृथिवी से परमेश्वरपर्यन्त पदार्थों के विवेक से बुद्धि शुद्ध होती है। जल आदि से शरीर, वस्त्र और आवास को शुद्ध रखना बाह्य शौच है। मद, मान, मात्सर्य, असूया, राग-द्वेष आदि चित्तमलों का प्रक्षालन करके मन को स्वच्छ रखना आभ्यन्तर शौच है। कायिक शुद्धि मानसिक शुद्धि की पूरक है, अतः

https://t.me/arshlibrary

दोनों प्रकार का शौच समानरूप से आवश्यक है।

सन्तोष—जीवन-निर्वाह के लिए अपेक्षित जो साधन धर्मपूर्वक पुरुषार्थ से प्राप्त हों उनसे प्रसन्न रहना 'सन्तोष' कहाता है। **'अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम, दास मलूका कह गये सबके दाता राम'** ऐसा सोचकर हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहना सन्तोष नहीं, अकर्मण्यता है—**'अकर्मा दस्युः'**। तृष्णा के वशीभूत होकर आवश्यकता से अधिक अर्थसंचय में प्रवृत होना चिन्त्य है। तृष्णा के जाल में फँसा व्यक्ति फिर उससे निकल नहीं पाता। भर्तृहरि के शब्दों में **'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः'** मनुष्य का अन्त हो जाने पर भी उसकी तृष्णा बनी रहती है। अधिकतर दुःख और विविध प्रकार के क्लेश तृष्णामूलक होते हैं।

स्वामी शंकराचार्य का कथन है—**'तृष्णाक्षयः स्वर्गपदं किमस्ति'** अर्थात् जिसकी तृष्णा का अन्त हो गया उसे स्वर्ग अर्थात् सुखों का घर मिल गया। महाभारत में तो यहाँ तक कह दिया—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥ महा० शान्ति० १७४।४६

इह लोक में काम्य वस्तु का जो उपभोगजनित सुख है अथवा स्वर्ग का जो महान् सुख है, वह तृष्णाक्षयजनित सुख के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं है—**'सन्तोषः परमं सुखम्'**।

तप—धर्मानुष्ठान में सुख-दुःखादि द्वन्द्वों का सहना तप है। इस रूप में कष्टसहन का अभ्यासी होना ही तपस्वी होना है। तप दो प्रकार का होता है—कायिक और मानसिक। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, चलना-ठहरना, बोलना-मौन रहना आदि द्वन्द्वों का प्रसन्नतापूर्वक सहन करना ही कायिक या शारीरिक तप है। सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय, राग-द्वेष, आदि द्वन्द्वों को सहन करना मानसिक तप है। यह द्वन्द्व-सहन तप तभी कहा जाएगा जब वह किसी शुभ कार्य के लिए किया जाए। निष्प्रयोजन एक टाँग पर खड़े रहना, निरन्तर उठाये रखकर हाथ को सुखा देना, चिरकाल तक धूप में या जल में खड़े रहना आदि तप नहीं कहाता। धर्मानुष्ठान में बाधक द्वन्द्वों का सहन करना ही वास्तविक तप है।

स्वाध्याय—शास्त्रों का अध्ययन और ओंकार का जप 'स्वाध्याय' है।

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

स्वाध्याय से योगाभ्यास के लिए प्रेरणा मिलती है और दोनों के संयोग से परमात्मा का प्रकाश होता। परमात्मा के अनुग्रह से साहाय्य, अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण, पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से योगी मुक्तिलाभ करता है।

ईश्वरप्रणिधान—आत्मा को परमात्मा में समर्पण कर देना ईश्वरप्रणिधान है। तादात्म्यभाव से अपने आपको सर्वात्मना परमात्मा में अर्पण कर प्रणव-जपादि का निरन्तर अनुष्ठान करना ईश्वरप्रणिधान कहाता है। बाह्य व्यवहारों से चित्त को हटाकर उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते, निज की ईश्वर में और ईश्वर की निज में भावना कर योगी अपने समस्त कर्मों को ईश्वर में अर्पण कर देता है। निज को ईश्वरस्थ जानकर ही भगवान् के प्रति भक्ति का उद्रेक जाग्रत् होता है। यही भावना द्वारा भगवान् में निमग्न होना है। ईश्वरप्रणिधान समाधि का साक्षात् सहायक है, क्योंकि वह समाधि के अनुकूल भावनारूप है।

स०प्र० प्रथम संस्करण में नियमों की व्याख्या में लिखा है—

https://t.me/arshlibrary

[यम-नियमों का सब सेवन करें]

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।[1]
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥ —मनु० ४।२०४

अर्थः—यमों के विना केवल इन नियमों का सेवन न करे, किन्तु इन दोनों का सेवन किया करे। जो यमों के सेवन को छोड़के केवल नियमों का सेवन करता है, वह उन्नति को प्राप्त नहीं होता, किन्तु अधोगति अर्थात् संसार में गिरा रहता है॥

[अत्यन्त कामातुरता और निष्कामता दोनों त्याज्य]

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ —मनु० २।२

अर्थः—अत्यन्त कामातुरता और निष्कामता किसी के लिए भी श्रेष्ठ नहीं क्योंकि जो कामना न करे, तो वेदों का ज्ञान और वेदविहित यज्ञादि उत्तम कर्म किसी से न हो सकें॥ इसलिए —

"मृत्तिका और जलादिकों से बाह्य शरीर की शुद्धि और शान्त्यादि के ग्रहण से और ईर्ष्यादिकों के त्याग से चित्त की शुद्धता, इसका नाम 'शौच' है। धर्मयुक्त पुरुषार्थ करने से जितने पदार्थ प्राप्त होय उतने ही में सन्तुष्ट रहै, और पुरुषार्थ का त्याग कभी न करै, इसका नाम 'सन्तोष' है। क्षुधा, तृषा, शीत और उष्ण इत्यादिक द्वन्द्वों को सहै, इसका नाम 'तप' है। मोक्षशास्त्र और उपनिषदों का अध्ययन करै, ओंकार के अर्थ का विचार और जप करै, उसका नाम 'स्वाध्याय' है। पापकर्म कभी न करै, यथावत् पुण्य कर्मों को करके सिवाय परमेश्वर की प्राप्ति के फल की इच्छा न करै, इसका नाम 'ईश्वरप्रणिधान' है।

यमान् सेवेत—यही पाठ संस्कारविधि (वेदारम्भ-संस्कार) में भी है, परन्तु मनुस्मृति में **'न नित्यं नियमान् बुधः'** पाठ मिलता है। 'यम' मुख्यरूप से आत्मा से सम्बद्ध आचरण हैं, जबकि नियम प्रमुखतः बाह्याचरण हैं। केवल बाह्याचरणों के सेवन से व्यक्ति की आत्मिक उन्नति नहीं होती और न उसकी आत्मा में दृढ़ता आती है। बाह्याचरणवाला व्यक्ति पाखण्ड भी कर सकता है, जबकि आत्मिक आचरण में इसकी सम्भावना नहीं है। इस प्रकार केवल नियमों के पालन के स्तर तक व्यक्ति के पतन की आशंका बनी रहती है। वस्तुतः यम-नियमों में से एक की भी उपेक्षा या अवहेलना योगी को हानि पहुँचा सकती है—उसके किये-कराये पर पानी फेर सकती है। कूर्मपुराण (२।११।६६-७०) में लिखा है—

ब्रह्मचर्यमहिंसा च क्षमा शौचं दमो तपः ।
सन्तोषः सत्यमास्तिक्यं व्रताङ्गानि विशेषतः ।
एकेनाप्यथ हीनेन व्रतमस्य तु लुप्यते ॥

ब्रह्मचर्यादि में से किसी एक का अनुष्ठान न करने पर शेष सभी व्रतों का लोप हो जाता है।

स्वाध्यायेन—यहाँ 'ब्राह्मण' से वर्णव्यवस्थान्तर्गत ब्राह्मणपदवाच्य वर्णविशेष अभिप्रेत नहीं है। शरीर का कोई वर्ण होता भी नहीं। यजुर्वेद अध्याय ७, मन्त्र ४६ में **'ब्राह्मणम्'** का अर्थ ग्रन्थकार ने **'वेदेश्वरविदम्'** किया है। स्वाध्याय आदि के द्वारा ब्राह्मण बनने का अर्थ **'वेदेश्वरवित्'** बनना ही है। प्रस्तुत श्लोक का

---

१. यही पाठ संस्कारविधि वेदारम्भसंस्कार पृष्ठ १२४ में भी है। मनु० में 'न नित्यं नियमान् बुधः' ऐसा पाठ मिलता है।

https://t.me/arshlibrary

[ब्राह्मण-शरीर बनाने के साधन]

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ —मनु० २।२८

अर्थः—(स्वाध्याय) सकल विद्या पढ़ने-पढ़ाने, (व्रत) ब्रह्मचर्य, सत्यभाषणादि, नियम पालने, (होम) अग्निहोत्रादि होम, सत्य का ग्रहण, असत्य का त्याग, और सत्य विद्याओं का दान देने, (त्रैविद्येन) वेदस्थ कर्मोपासना, ज्ञान, विद्या के ग्रहण, (इज्यया) पक्षेष्ट्यादि करने, (सुतैः) सुसन्तानोत्पत्ति, (महायज्ञैः) ब्रह्म, देव, पितृ, वैश्वदेव और अतिथियों के सेवनरूप पंचमहायज्ञ, और (यज्ञैः) अग्निष्टोमादि तथा शिल्पविद्या-विज्ञानादि यज्ञों के सेवन से इस शरीर को **ब्राह्मी** अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधार रूप ब्राह्मण का शरीर बनाया जाता है। इतने साधनों के विना ब्राह्मण-शरीर नहीं बन सकता ॥

[इन्द्रियों के संयम से लाभ और असंयम से हानि]

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥ —मनु० २।८८

अर्थः—जैसे सारथि घोड़ों को नियम में रखता है, वैसे विद्वान् मन और आत्मा को खोटे कामों में खेंचनेवाले विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों के निग्रह में प्रयत्न सब प्रकार से करे, क्योंकि—

अर्थ 'ब्राह्मी' अर्थात् वेद और परमेश्वर की भक्ति का आधार किया है। संस्कारविधि में 'ब्राह्मी अर्थात् ब्रह्मसम्बन्धी' अर्थ किया है। इस प्रकार 'ब्राह्मण शरीर' से भौतिक शरीरधारी ब्राह्मण व्यक्तिविशेष का ग्रहण नहीं होता।

इन्द्रियाणाम्—इस विषय का विशदीकरण कठोपनिषद् में इस प्रकार किया है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

इन सभी श्लोकों में अलंकार द्वारा यह बतलाया है कि मनुष्य किस प्रकार अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियों को अपने अधिकार में रक्खे जिससे वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सके। कठोपनिषद् के इन श्लोकों का मूल यजुर्वेद के अन्तर्गत इस मन्त्र में उपलब्ध है—

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ३४।६

अच्छा सारथि घोड़ों को जिधर चाहता है, चलाता है। इन्द्रियों का स्वस्थ और बलिष्ठ होना जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक यह है कि इन्द्रियरूपी घोड़े इतने सधे हुए हों कि उनका एक-एक पग सारथि की इच्छानुसार पड़े। घोड़ों को नियन्त्रण में रखने के लिए सारथि को रस्सी (लगाम) की आवश्यकता होती है। वेद में ऐसी रस्सी को 'अभीशु' नाम से पुकारा गया है। 'अभीशु' का पदार्थ है—अभि= सम्मुख, इशु=ऐश्वर्यवाला, अर्थात् ऐश्वर्य को सामने रखना या सामर्थ्य की उपासना करना।

https://t.me/arshlibrary

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ —मनु० २।९३

अर्थः—जीवात्मा इन्द्रियों के वश होके निश्चित बड़े-बड़े दोषों को प्राप्त होता है और जब इन्द्रियों को अपने वश करता है, तभी सिद्धि को प्राप्त होता है ॥

[भाव की शुद्धि आवश्यक]

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥ —मनु० २।९७

जो दुष्टाचारी अजितेन्द्रिय पुरुष है, उसके वेद, त्याग, यज्ञ, नियम और तप तथा अन्य अच्छे काम कभी सिद्धि को प्राप्त नहीं होते ॥

[स्वाध्याय में अनध्याय नहीं]

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥१॥
नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत् स्मृतम् ।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्याययषट्कृतम् ॥२॥ —मनु० २।१०५,१०६

वेद के पढ़ने-पढ़ाने, सन्ध्योपासनादि पञ्च महायज्ञों के करने, और होममन्त्रों में अनध्याय-विषयक अनुरोध=आग्रह नहीं है ॥१॥

क्योंकि नित्यकर्म में अनध्याय नहीं होता । जैसे श्वास-प्रश्वास सदा लिये जाते हैं बन्द नहीं किये

मनुष्य के सारथि मन के सन्दर्भ में 'अभीशु' का अर्थ होगा—संचालन तथा नियन्त्रण में समर्थ । समर्थ सारथि वही होगा जिसमें अपनी शक्तियों का इच्छानुसार प्रयोग करने का साहस होगा । जाग्रत् तथा सुषुप्तावस्था में दूर-दूर तक दौड़ लगानेवाला मन यदि इन्द्रियों को कान पकड़कर नहीं बिठा सकता और इसके विपरीत स्वयं उनका अनुयायी बन जाता है, तो उसे सुषारथि क्या, सामान्य अर्थों में भी सारथि नहीं कहा जा सकता, अतः स्वामी आत्मा के लक्ष्य को जान, वहाँ पहुँचने के मार्ग का निश्चय कर, निर्विघ्न वहाँ पहुँचानेवाला ही सुषारथि पद का अधिकारी हो सकता है ।

वेदास्त्यागश्च—'जो अजितेन्द्रिय है उसे विप्रदुष्ट कहते हैं' (दशम समुल्लास) । 'जितेन्द्रिय उसको कहते हैं जो स्तुति सुनके हर्ष और निन्दा सुनके शोक, अच्छा स्पर्श करके सुख और दुष्ट स्पर्श से दुःख, सुन्दर रूप देखके प्रसन्न और दुष्टरूप देखके अप्रसन्न, उत्तम भोजन करके आनन्दित और निकृष्ट भोजन करके दुःखित, सुगन्ध में रुचि और दुर्गन्ध में अरुचि नहीं करता' ।—तदेव

आचारहीन को वैदिक कर्मों की फल-प्राप्ति नहीं होती—इस विषय में निर्णय अत्यन्त स्पष्ट है—

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत् ॥ —१।१०६

अभिवादनशीलस्य—अभिवादनशील व्यक्ति विनम्र होता है । उसके आदर करने के स्वभाव, विनम्रता और सेवा-शुश्रूषा, सुशीलता आदि गुणों के कारण उसकी सर्वत्र प्रशंसा होती है । इस प्रकार उसका यश

https://t.me/arshlibrary

जाते, वैसे नित्यकर्म प्रतिदिन करना चाहिए, न किसी दिन छोड़ना, क्योंकि अनध्याय में भी अग्निहोत्रादि उत्तम कर्म किया हुआ पुण्यरूप होता है। जैसे झूठ बोलने में सदा पाप और सत्य बोलने में सदा पुण्य होता है, वैसे ही बुरे कर्म करने में सदा अनध्याय और अच्छे कर्म करने में सदा स्वाध्याय ही होता है ॥२॥

[वृद्धजनों की सेवा के फल]

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्त आयुर्विद्या यशो बलम् ॥ —मनु २।१२१

जो सदा नम्र, सुशील, विद्वान् और वृद्धों की सेवा करता है, उसका आयु, विद्या, कीर्ति और बल —ये चार सदा बढ़ते हैं और जो ऐसा नहीं करते, उनके आयु आदि चार नहीं बढ़ते ॥

[वाणी और मन की शुद्धि आवश्यक]

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥१॥
यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥२॥ —मनु० २।१५६,१६०

विद्वान् और विद्यार्थियों को योग्य है कि वैरबुद्धि छोड़के सब मनुष्यों के कल्याण के मार्ग का उपदेश करें। और उपदेष्टा सदा मधुर, सुशीलतायुक्त वाणी बोलें। जो धर्म की उन्नति चाहे, वह सदा सत्य में चले, और सत्य ही का उपदेश करे ॥१॥

फैलता है। यहाँ **'उपसेविनः'** पद का प्रयोग हुआ है जिसका अभिप्राय है—वृद्धों के समीप रहकर सेवा करना। इससे उसपर सेव्य और अभिवाद्य व्यक्तियों के गुणों का प्रभाव पड़ता है। ऐसे व्यक्ति की सेवा, शुश्रूषा और विनम्रता से प्रसन्न होने से विद्वानों की स्वाभाविकरूप से उसे अधिक-से-अधिक विद्या प्रदान करने की भावना बनती है। ऐसा व्यक्ति गुरुजनों की बुद्धि में अन्तर्निहित ज्ञान को जैसे स्वतः आकृष्ट कर लेता है। विद्यावयोवृद्ध व्यक्तियों के सान्निध्य में रहने से उनके जीवन, अनुभव और व्यवहार से मिलनेवाली प्रेरणा से तन, मन की शुद्धि होकर नीरोगता, सदाचार आदि के फलस्वरूप आयु और बल की वृद्धि होती है।

अभिवादन-विधि—

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन् ।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥ —मनु० २।१२२

विप्र अपने बड़े का अभिवादन करते समय अभिवादन-सूचक शब्द के साथ 'मैं अमुकनामवाला हूँ' ऐसा कहते हुए अपना नाम बतलाये, जैसे—**'अभिवादये अहं देवदत्तः'**।

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥ —मनु० २।७२

---

१. ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा। संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥

https://t.me/arshlibrary

जिस मनुष्य के वाणी और मन शुद्ध तथा सुरक्षित सदा रहते हैं, वही सब **वेदान्त** अर्थात् सब वेदों के सिद्धान्तरूप फल को प्राप्त होता है ॥२॥

[सम्मान की इच्छा का त्याग]

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ —मनु० २।१६२

वही ब्राह्मण समग्र वेद और परमेश्वर को जानता है, जो प्रतिष्ठा से विष के तुल्य सदा डरता है, और अपमान की इच्छा अमृत के समान किया करता है ॥

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ।
गुरौ वसन संचिनुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥ —मनु० २।१६४

इसी प्रकार से कृतोपनयन द्विज ब्रह्मचारी कुमार और ब्रह्मचारिणी कन्या धीरे-धीरे वेदार्थ के ज्ञानरूप उत्तम तप को बढ़ाते चले जाएँ ॥

गुरु के चरणों का स्पर्श हाथों को अदल-बदल करके करना चाहिए अर्थात् बायें हाथ से बायें चरण का और दायें हाथ से दायें चरण का स्पर्श करना चाहिए। स्पर्शकर्त्ता का बायाँ हाथ नीचे रहकर गुरु के बायें पैर का और दायाँ हाथ बायें हाथ के ऊपर से दायें पैर का स्पर्श करे।

स.प्र. के प्रथम संस्करण में इस सन्दर्भ में मनुस्मृति २।७१[1] के आधार पर इतना विशेष लिखा है—'जब शिष्य गुरु के पास पढ़ने का नित्य आरम्भ करैं तब आदि और अन्त में गुरु को नमस्कार और पादस्पर्श करैं। जब तक पढ़ैं और गुरु के सम्मुख रहैं तब तक हाथ जोड़कर ही रहैं। इसी का नाम ब्रह्माञ्जलि है। जब गुरु उठैं तब आप ही पहिले उठै। जो आप बैठा होय और गुरु आवैं तब अपने आप उठकै सन्मुख जाके गुरु को शीघ्र ही नमस्कार करै और उत्तम आसन पर बैठावै, आप नीचे आसन पर बैठै और नम्रतापूर्वक पूछै अथवा सुनै।'

अहिंसयैव—अहिंसा का अर्थ ग्रन्थकार ने 'वैरबुद्धि का परित्याग' किया है। मनसा, वाचा, कर्मणा किसी प्राणी को कष्ट पहुँचाना ही नहीं, अपितु उसकी भावना का भी मन में न आने देना अहिंसा है। इस प्रकार किसी के प्रति द्रोह, ईर्ष्या, असूया अथवा अनिष्ट आदि की भावना का चित्त में उभरने देना भी हिंसा है। इसलिए योगदर्शन में अहिंसाधर्म का पालन करनेवाले व्यक्ति की पहचान बताते हुए कहा है—**'अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'**—अहिंसा व्रत का पूर्ण परिपाक हो जाने पर उसके सामीप्य में प्राणिमात्र वैर त्याग देते हैं। जब साधक के चित्त में किसी भी रूप में हिंसा की भावना नहीं उभरती तो उसकी संगति में सामान्य विरोधी की तो बात ही क्या, शाश्वत विरोधी प्राणी भी परस्पर वैरभाव छोड़ देते हैं। यही कारण है कि योगसिद्ध ऋषि-मुनियों के आश्रमों में सिंह और गाय एक घाट पानी पीते और सर्प तथा नेवले एक-साथ खेलते देखे-सुने जाते हैं।

यस्य वाङ्—यथाभूत अर्थयुक्त वाक्य और मन ही सत्य है। जो विषय प्रमित हुआ है, चित्त तथा वाक्य को तदनुरूप करने की चेष्टा सत्यसाधन है। जैसा अपने मन में हो वैसा ही मानना, कहना और करना सत्य कहाता है। जो लोग मन में कुछ सोचते, वाणी से कुछ कहते और व्यवहार में कुछ और ही करते

---

१. तुलना करें—वर्तमान में गुरु को प्रायः खड़े रहना होता है, जबकि विद्यार्थी आराम से कुर्सियों आदि पर बैठे रहते हैं।

https://t.me/arshlibrary

[वेदाध्ययन के त्याग से शूद्रत्व की प्राप्ति]

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ —मनु० २।१६८

जो वेद को न पढ़के अन्यत्र श्रम किया करता है, वह अपने पुत्र-पौत्रसहित शूद्रभाव को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है ॥

[ब्रह्मचारी के विशेष कर्त्तव्य]

वर्जयेन्मधुमांसञ्च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥१॥

हैं, वेद ने उन्हें आत्मघाती (**आत्महनः**—यजुः० ४०।३) कहा है। अपने यजुर्वेदभाष्य में इस मन्त्र का भाष्य करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—"जो लोग आत्मा में कुछ और जानते, वाणी से और बोलते और करते कुछ और ही हैं वे राक्षस, असुर या पिशाच हैं। इसके विपरीत जो आत्मा, मन, वाणी और कर्म में एक-सा आचरण करते हैं, वे देव कहाते हैं।" सज्जन पुरुष की यह पहचान है कि वह जो कुछ मन में सोचता है वही वाणी से कहता और कर्म से करता है।—**'यन्मनसा ध्यायते तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति।'** महाभारत में तो बड़े कठोर शब्दों में कहा है—

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥

जिसके आत्मा में कुछ हो और कहता कुछ और हो, वह कौन-सा पाप नहीं करता ? ऐसे आत्महन्ता से बढ़कर कोई चोर नहीं।

संस्कृत साहित्य में महात्मा और दुरात्मा का लक्षण करते हुए कहा है—

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ॥

अर्थात् जो मन, वचन और कर्म में एक हैं, वे महात्मा कहाते हैं। इसके विपरीत जिनके मन में कुछ, वचन में कुछ, कर्म में कुछ और होता है, वे दुरात्मा कहाते हैं। छल, प्रपञ्च या धोखा देने की भावना से कहा गया अर्धसत्य अथवा द्व्यर्थक वाक्य भी हेय है। वेदोपनिषद् की शिक्षा के अभाव में नैतिक पतन अपनी चरम सीमा की ओर बढ़ रहा है। वर्त्तमान में वे राजनेता जिन्हें अपने हृद्गत विचारों को दबाना आता है, जानबूझकर ऐसी शब्दावलि का प्रयोग करते हैं, जिसके समय आने पर आवश्यकतानुसार मनमाने अर्थ निकाले जा सकें। जो ऐसा नहीं कर सकते—अपनी बात को पलट नहीं सकते—उन्हें अयोग्य घोषित कर दिया जाता है—

ना अहल हैं वो अहले सयासत की नज़र में ।
वादों से अपने जिनको मुकरना नहीं आता ॥

'रामो द्विर्नाभिभाषते' तथा **'प्राण जाए पर वचन न जाई'** पर गर्व करनेवाले देश में अब आत्महनन को ही योग्यता और कार्य-कुशलता की कसौटी माना जाने लगा है। छल, कपट और बेईमानी आदि को Tact, Policy, Strategy, Diplomacy आदि का नाम देकर प्रतिष्ठित किया जा रहा है। झूठ के पर्याय इन

https://t.me/arshlibrary

शब्दों की आड़ में किया गया पाप भी धर्म बन जाता है, परन्तु प्रत्येक अवस्था में सत्याग्रही ग्रन्थकार ने यजुर्वेद के एक मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—**"एषा यः सत्या संवागभूत्"**—तुम लोगों की राजनीति में स्थित अच्छी वाणी सत्यस्वरूप हो। राजा, राजकर्मचारी और प्रजा पुरुषों को उचित है कि अपनी प्रतिज्ञा और वाणी को कभी असत्य न होने दें। जितना कहें उतना ठीक-ठीक करें। जिनकी वाणी सब काल में सत्य होती है वही पुरुष राज्याधिकार के योग्य होते हैं। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक उन रापुरुषों का विश्वास नहीं होता।"—यजुर्वेद ६।१२

सम्मानाद्—संस्कारविधि के अन्तर्गत संन्यासाश्रम के प्रकरण में इस श्लोक की व्याख्या में ग्रन्थकार ने लिखा है—"संन्यासी जगत् के सम्मान से विष के तुल्य डरता रहे और अमृत के समान अपमान की चाहना करता रहे, क्योंकि जो अपमान से डरता और मान की इच्छा करता है, वह प्रशंसक होकर मिथ्यावादी और पतित हो जाता है। इसलिए चाहे निन्दा चाहे प्रशंसा, चाहे मान चाहे अपमान, चाहे जीना चाहे मृत्यु, चाहे हानि चाहे लाभ हो, चाहे कोई प्रीति करे चाहे वैर बाँधे, चाहे अन्नपान, वस्त्र, उत्तम स्थान मिले वा न मिले, चाहे शीत-उष्ण कितना ही क्यों न हो, इत्यादि सबको सहन करे और अधर्म का खण्डन और धर्म का मण्डन सदा करता रहे। इससे परे उत्तम धर्म दूसरा किसी को न माने।"

सम्मान व लोकैषणा की भावना मनुष्यमात्र को संसार में फँसाती है। जब तक मनुष्य में यह भावना रहती है तब तक वह विरक्त या वीतराग नहीं हो सकता। इसी भावना से अहंकार को बल मिलता है जो ब्रह्मप्राप्ति में सबसे अधिक बाधक है। लौकेषणा के वशीभूत हुआ मनुष्य हेय-से-हेय कार्य करने में संकोच नहीं करता। इसका छूटना अत्यन्त दुष्कर कार्य है।[1] अपमान की कामना और सहिष्णुता से अहंकार क्षीण होता है। अपमान अर्थात् निन्दा को सहने से दुर्गुणों का ह्रास होकर चरित्र में निर्मलता आती है। सन्त कबीर ने अपनी वाणी में बड़े पते की बात कही है—

निन्दक नियरे राखिये आंगन कुटी छवाय।
बिन साबन पानी बिना निर्मल करे सुभाय॥

इन भावों की पुष्टि मनु० ६।४७-४८ में इन शब्दों में की गयी है—

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन ।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ —६।४७
क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥ —६।४८

अपमानजनक वचनों को सहन कर ले, कभी किसी का अपमान न करे और इस शरीर का आश्रय लेकर अर्थात् मन, वंचन और कर्म से किसी से वैर न करे। जब कहीं उपदेश या संवादादि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे अथवा निन्दा करे तो संन्यासी को उचित है कि उसपर आप क्रोध न करे, किन्तु सदा उसके कल्याणार्थ ही उपदेश करे और एक मुख के, दो नासिका के, दो आँख के और दो कान के छिद्रों में बिखरी हुई वाणी को किसी कारण से मिथ्या कभी न बोले।

इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए किस प्रकार अभ्यास करे, इसका उल्लेख निम्न श्लोकों में किया है—

1. Fame is the last infirmity of a noble mind.

https://t.me/arshlibrary

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्त्तनं गीतवादनम् ॥२॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥३॥
एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥४॥ —मनु० २।१७७-१८०

ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी मद्य, मांस, गन्ध, माला, रस, स्त्री और पुरुष का संग, सब खटाई, प्राणियों की हिंसा ॥१॥

अङ्गों का मर्दन, विना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श, आँखों में अञ्जन, जूते और छत्र का धारण, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, ईर्ष्या-द्वेष और नाच-गान, बाजा बजाना ॥२॥

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासंगाद्विनिर्गतः ॥
अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः ।
अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्ध्यते ॥ —मनु० ६।५७-५८

भिक्षा न मिलने पर दुःखी न हो और मिलने पर प्रसन्नता न अनुभव करे। न्यूनाधिक, अच्छी-बुरी भिक्षा का मोह न करके, अर्थात् जैसी-जितनी भिक्षा मिल जाए उसे ग्रहण करके केवल अपनी प्राणयात्रा को चलाने योग्य भिक्षा प्राप्त करता रहे।

इससे प्राप्त होनेवाले फल का उल्लेख मनु० २।१६३ में इस प्रकार हुआ है—

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते ।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥

अर्थात् अपमान को सहन करने का अभ्यासी मनुष्य सुखपूर्वक सोता है, सुखपूर्वक जागता है अर्थात् जाग्रदवस्था में भी सुखपूर्वक रहता है, अभिप्राय यह कि मानव को सर्वाधिक व्यथित करनेवाली मान-अपमान और उनसे उत्पन्न होनेवाली भावनाएँ उस व्यक्ति को सोते-जागते किसी अवस्था में व्यथित नहीं करतीं, वह सदा निश्चिन्त रहता है और संसार में सुखपूर्वक विचरण करता है। इसके विपरीत अपमान के कारण व्यथित होनेवाला व्यक्ति चिन्ता और शोक के कारण विनाश को प्राप्त होता है।

अनेन—श्लोक के अर्थ में **'गुरौ वसन्'** का 'गुरु के समीप अर्थात् गुरुकुल में रहते हुए' अर्थ मुद्रणकाल में छूट गया है।

योऽनधीत्य—यहाँ शंका हो सकती है कि वेदाध्ययन में परिश्रम न करनेवाले व्यक्ति के साथ उसका परिवार क्यों और कैसे शूद्रत्व को प्राप्त होता है? वस्तुतः ऐसा व्यक्ति शूद्र नहीं बन जाता अपितु 'शूद्रत्व' को प्राप्त होता है। जो व्यक्ति वेदाध्ययन में प्रवृत्त न होकर अन्य सामान्य ग्रन्थों के पठन-पाठन में अपना समय लगाएगा उसमें क्रमशः विद्वत्ता और धार्मिकता का ह्रास होता जाएगा। इस प्रकार कालान्तर में वह शूद्रत्व के स्तर पर आ जाएगा। जब परिवार का प्रमुख विद्वान् नहीं रहेगा तब उसके आश्रित छोटे-बड़े भी धीरे-धीरे शूद्रवत् व्यवहार करने लगेंगे। द्विजों का मुख्य धर्म वेदाध्ययन करना है। इस धर्म का पालन न करनेवाला शूद्र की कोटि में पहुँच जाएगा। **'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते**

https://t.me/arshlibrary

द्यूत, जिस किसी की कथा, निन्दा, मिथ्याभाषण, स्त्रियों का दर्शन, आश्रय, दूसरे की हानि आदि कुकर्मों को सदा छोड़ देवें ॥३॥

सर्वत्र एकाकी सोवें, वीर्य स्खलित कभी न करें। जो कामना से वीर्य स्खलित कर दे, तो जानो कि अपने ब्रह्मचर्य व्रत का नाश कर दिया ॥४॥

[आचार्य का शिष्य को उपदेश]

वेदमनूच्याचार्य्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति—सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥१॥ देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणास्तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ॥२-३॥ ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनो युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युर्यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः। एष आदेश एष उपदेश एष वेदोपनिषत् ॥ एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम् ॥४॥ तैत्तिरीय० शिक्षा० १।१

आचार्य्य अन्तेवासी अर्थात् अपने शिष्य और शिष्याओं को इस प्रकार उपदेश करें कि—"तू सदासत्य बोल। धर्माचार कर। प्रमादरहित होके पढ़-पढ़ा। पूर्ण ब्रह्मचर्य से समस्त विद्याओं को ग्रहण कर और आचार्य्य के लिए प्रिय धन देकर विवाह करके सन्तानोत्पत्ति कर। प्रमाद से सत्य को कभी मत छोड़। प्रमाद से धर्म का त्याग मत कर। प्रमाद से आरोग्य और चतुराई को मत छोड़। प्रमाद से उत्तम ऐश्वर्य

लोकस्तदनुवर्त्तते ॥ (गीता ३।२१)। श्रेष्ठ पुरुष जो कुछ करता है, वही अन्य साधारण मनुष्य करते हैं। वह जिसे प्रमाण मानकर करता है, लोग उसी का अनुकरण करते हैं। तदनुसार परिवार के मुखिया के शूद्रत्व को प्राप्त होने पर सारा कुटुम्ब शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है।

वर्जयेत्—इस श्लोक में मधु का अर्थ मदिरा है, मधुमक्खियों द्वारा तैयार किया गया मधु=शहद नहीं। शहद अर्थवाचक मधु को मनु अभक्ष्य पदार्थ नहीं मानते। जातकर्म संस्कार की विधि में सद्योजात बालक को उसके चटाने का विधान है—**'मन्त्रवत् प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्'** (मनु० २।४)। आश्वलायन-गृह्यसूत्र में जातकर्म में निम्न विधान वर्णित है—

'कुमारं जातं पुराऽन्यैरालम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्यनिकाषं हिरण्येन प्राशयेत्।' (१।१५।१)

अर्थात् बालक के जन्म के पश्चात् दूसरों के हाथों में देने से पूर्व उसे स्वर्णपात्र में मिलाकर सोने की शलाका से शहद और घी चटाए।

'माद्यते इति मदः' जो नशा उत्पन्न करे वह मद कहाता है। मांस के साथ इस शब्द का निषेधात्मक रूप में प्रयोग होने से इस अर्थ की पुष्टि होती है।

वेदमनूच्य—शिक्षाकाल की समाप्ति पर आचार्य शिष्य को सीख देता है—ऐसी सीख जो जीवनभर उसके काम आएगी। आजकल की भाषा में इसे दीक्षान्तभाषण (Convocation Address) कहते हैं। यह उपदेश इतना सुन्दर और व्यावहारिक दृष्टि से इतना महत्वपूर्ण है कि आजकल प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में दीक्षान्तसंस्कार के समय यही भाषण देने की परिपाटी चल पड़ी है। वेदमनूच्य—वेद की शिक्षा देकर

https://t.me/arshlibrary

की वृद्धि को मत छोड़ । प्रमाद से पढ़ने और पढाने को कभी मत छोड़ ॥१॥

देव-विद्वान् और माता-पितादि की सेवा में प्रमाद मत कर । जैसे विद्वान् का सत्कार करे, उसी प्रकार माता-पिता आचार्य्य और अतिथि की सेवा सदा किया कर । जो अनिन्दित धर्मयुक्त कर्म है, उन सत्यभाषणादि को किया कर, उनसे भिन्न मिथ्याभाषणादि कभी मत कर । जो हमारे सुचरित्र अर्थात् धर्ययुक्त कर्म हों उनका ग्रहण कर, और जो हमारे पापाचरण हों उनको कभी ग्रहण मत कर ॥

जो कोई हमारे मध्य में उत्तम विद्वान्, धर्मात्मा ब्राह्मण हैं उन्हीं के समीप बैठ, और उन्हीं का विश्वास किया कर । श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से देना, शोभा से देना, लज्जा से देना, भय से देना, और प्रतिज्ञा से भी देना चाहिए । जब कभी तुझको कर्म वा शील तथा उपासना ज्ञान में किसी प्रकार का संशय उत्पन्न हो ॥२-३॥

तो जो वे विचारशील पक्षपातरहित योगी अथवा तपस्वी, आर्द्रचित्त, धर्म की कामना करनेवाले, धर्मात्मा जन हों, जैसे वे धर्ममार्ग में वर्त्तें वैसे तू भी उसमें वर्त्ता कर । यही आदेश=आज्ञा यही उपदेश, यही वेद की उपनिषत् और यही शिक्षा है । इसी प्रकार वर्त्तना और अपना चालचलन सुधारना चाहिए ॥४॥

आचार्य अपने अन्तेवासी को उपदेश देता है—यह उपदेश अनुशासन या आदेशरूप है ।

संहिताओं का अनुसरण करते हुए तैत्तिरीय उपनिषद् ने भी सबसे पहले सत्यनिष्ठ धर्माचरण पर बल दिया है । आचार्य का निर्देश है—अब तू इस आश्रम की छोटी-सी दुनिया से निकलकर विशाल संसार में जा रहा है । वहाँ लोग तुझे समझाएँगे कि आश्रम के नियम दुनिया में नहीं चलेंगे । हर बात में सच पर डटे रहोगे तो तुम मुश्किल में पड़ जाओगे । पर, **'सत्यमेव जयते'** इसे मत भूलना । वेद में उन नियमों का, आचार-विचार का वर्णन है, जिनका पालन करने से व्यक्ति और समाज सुखी रहता है । उस धर्म का, उन मर्यादाओं का पालन करना । वंश परम्परा को मत काटना—यह उपदेश **'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्'** शतपथब्राह्मण के इस आदेश को ध्यान में रखकर दिया है । इससे पूर्व तैत्तिरीय आरण्यक के उपदेश में ही 'प्रजा-प्रजन-प्रजाति' शब्दों के प्रयोग द्वारा नियमानुसार सन्तानोत्पत्ति करने, गर्भावस्था में आवश्यक सावधानी वर्तने और सन्तानों के पालन-पोषण व शिक्षा-दीक्षा पर ध्यान देने की बात कही जा चुकी है । प्रस्तुत प्रकरण में सन्तुलित व समन्वित जीवन पर बल देते हुए माता-पिता-आचार्य-अतिथि-विद्वान् सबकी सेवा का निर्देश किया है । समाज में सब तरह के लोग हैं, उनका आदर करना और कहना मानना तुम्हारा कर्त्तव्य है तथापि उनकी मानने योग्य बात ही मानना, जो कोई किसी का निन्दित कर्म हो उसका अनुकरण मत करना । हम भी मनुष्य हैं, हमसे भी भूल हो सकती है । इसलिए हमारे भी शुभाचरण का ही अनुकरण करना, अनुचित बात हमारी भी मत मानना । ऐसी बात उसी आचार्य की वाणी से निकल सकती है जिसे अपने आचरण पर भरोसा हो । इन सबकी देवसंज्ञा है, किन्तु कोई भी पूर्ण नहीं होता, उनमें भी दोष हो सकते हैं । 'हमारे सद्विचारों तथा अनिन्द्य कर्मों को ही ग्रहण करना, हमारे दोषों की ओर ध्यान न देना' कितना व्यावहारिक तथा कल्याणकारी उपदेश है और कितने नपे-तुले शब्दों में इसे प्रस्तुत किया गया है । इसी प्रकार यह कहकर कि 'चाहे श्रद्धा से दो, चाहे अश्रद्धा से दो, चाहे लोकलाज से दो, चाहे समाज के, शासन के या अन्य किसी प्रकार के भय के कारण दो—पर दो अवश्य' दान देते रहने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है । गृहस्थ के अनेक प्रकार के झंझटों में फँसे रहने पर भी कभी सुपथ से विचलित नहीं होना चाहिए । इसी प्रकार अन्यथा व्यस्त रहने पर भी स्वाध्याय और प्रवचन में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए । फिर भी जीवन में यदा-कदा ऐसे अवसर आते रहते हैं जब मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता

https://t.me/arshlibrary

[सर्वथा कामना-त्याग की असम्भवता]

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत् कामस्य चेष्टितम् ॥ —मनु० २।४

मनुष्यों को निश्चय करना चाहिए कि निष्काम पुरुष में नेत्र का संकोच-विकाश का होना भी सर्वथा असम्भव है । इससे यह सिद्ध होता है कि जो-जो कुछ भी करता है, वह-वह चेष्टा कामना के विना नहीं है ॥

[आचार का महत्त्व]

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च ।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ॥१॥

है । साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने धर्माचरण के व्यावहारिक पक्ष को ध्यान में रखते हुए और ऐसी स्थिति की कल्पना करते हुए, उससे निकलने का मार्ग सुझाया है । दुविधा की ऐसी स्थिति आने पर अपनी शंका का समाधान पाने के लिए ऐसे व्यक्तियों के पास जाना चाहिए जो विद्वान् हों, निष्पक्ष हों, अनुभवी हों, हितैषी हों और धर्मबुद्धि हों । वे जैसा कहें, वैसा करना चाहिए । अपने उपदेश का उपसंहार करते हुए कहा गया है—यही वेद और उपनिषत् का सार है, यही हमारा आदेश है, अनुशासन है । इसी के अनुसार जीवन में आचरण करना उचित है ।

अकामस्य—न्यायदर्शन (१।१।१०) के अनुसार जीवात्मा के अस्तित्व में इच्छा का होना सबसे पहला प्रमाण है । इच्छा के बिना कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है । प्रत्येक कामना संकल्पमूलक होती है, अर्थात् प्रत्येक इच्छा संकल्प से ही उत्पन्न होती है और संकल्प-विकल्प करनेवाला मन है । इस प्रकार मन की प्रेरणा के बिना कोई कर्म नहीं होता—**'यस्मान्नऽऋते किं चन कर्म क्रियते'** (यजुः० ३४।३) । इसलिए जब आत्मा को कुछ जानने या करने की इच्छा होती है तो वह अपनी इच्छा-शक्ति के बल पर मन के भीतर आलोच्य विषय की ओर बहनेवाली विचार-तरंग को उत्पन्न करता है । यह विचार-तरंग संवेदनतन्त्रिकाओं (Sensory nerves) में से होती हुई उस इन्द्रिय के केन्द्र-बिन्दु से जा टकराती है, जिसका वह विषय होता है । इस प्रकार बाहर के विषय से सम्पर्क होते ही उसका स्वरूप लिये वह तरंग उन्हीं संवेदनतन्त्रिकाओं के मार्ग से मस्तिष्क के केन्द्र में लौटकर मन को सौंप देती है । इस प्रकार आत्मा को अपने इच्छित विषय का ज्ञान होता है । ज्ञान को प्राप्त करने पर यदि उस विषय में कोई कार्यवाही अपेक्षित होती है तो प्रेरकतन्त्रिकाओं (Motor nerves) द्वारा आवश्यक निर्देश सम्बद्ध कर्मेन्द्रिय को मिल जाता है और वह तदनुसार कर्म में प्रवृत्त हो जाती है । इस प्रकार जीवात्मा की समस्त प्रवृत्तियों का मूल इच्छा में है । इसलिए कहा जाता है—**'संकल्पमयः पुरुषः'** । जहाँ इच्छा का प्रभाव है वहाँ जीवात्मा का प्रभाव जानना चाहिए ।

आचारः—सत्यासत्य=धर्माधर्म का निर्णय करने के लिए वेद से परे कोई न्यायालय नहीं है—वही सर्वोपरि है—**'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'** । मानव के लिए जितना ज्ञान अपेक्षित है, वह वेद के रूप में उसे प्राप्त है । यथार्थ धर्म का स्वरूप वहीं से जाना जाता है । **'स्मार्त्त एव च'**—वेद के बाद स्मृति का प्रामाण्य है, किन्तु स्मृति और परम्परा का प्रामाण्य निरपेक्ष नहीं है । उसे तभी स्वीकार किया जाना चाहिए, जब वह वेदानुकूल हो । इस विषय में सब एकमत हैं, तद्यथा—

https://t.me/arshlibrary

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत् ॥२॥ —मनु० १।१०८,१०६॥

कहने, सुनने-सुनाने, पढ़ने-पढ़ाने का फल यही है कि जो वेद और वेदानुकूल स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म का आचरण करना, इसलिए धर्माचार में सदा युक्त रहे ॥१॥

क्योंकि जो धर्माचरण से रहित है, वह वेदप्रतिपादित धर्मजन्य सुखरूप फल को प्राप्त नहीं हो सकता और जो विद्या पढ़के धर्माचरण करता है, वही सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है ॥२॥

[वेद का निन्दक नास्तिक]

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ —मनु० २।२१

जो वेद और वेदानुकूल आप्त पुरुषों के किये शास्त्रों का अपमान करता है, उस वेदनिन्दक नास्तिक को जाति, पंक्ति और देश से बाह्य कर देना चाहिए, क्योंकि—

[धर्म का चतुर्विध लक्षण]

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ —मनु० २।१२ ॥

वेद, स्मृति=वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार जो सनातन अर्थात् वेद द्वारा परमेश्वर-प्रतिपादित कर्म, और अपने आत्मा में प्रिय अर्थात् जिसको आत्मा चाहता है, जैसाकि सत्यभाषण । ये **चार धर्म के लक्षण** अर्थात् इन्हीं से धर्माऽधर्म का निश्चय होता है । जो पक्षपातरहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का सर्वथा परित्यागरूप आचार है, उसी का नाम **'धर्म'** । और इससे विपरीत जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहणरूप कर्म है, उसी को **'अधर्म'** कहते हैं ॥

विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम् । —मीमांसा २।३।३
श्रुत्यनुसारिण्यः स्मृतयः प्रमाणम् । —शा० भाष्य २।१।१
श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी । —जाबालस्मृतिः
श्रुत्या सह विरोधे तु बाध्यते विषयं विना । —भविष्यपुराण
पुराणस्योपजीव्यश्च वेद एव न चापरः ।
तद्विरोधे कथं मानं तत्तत्र च भविष्यति ॥ —मध्वाचार्य

श्रुतिः स्मृतिः—मनुस्मृति में **'वेदः'** पाठ है । आगे दशम समुल्लास में **'वेदः'** पाठ ही है । प्रथम संस्करण में पृष्ठ ५७ पर भी **'वेदः'** पाठ ही मिलता है । वेद के पर्यायवाची श्रुति आदि के विषय में ग्रन्थकार ने स्वरचित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है—

''(प्रश्न)— वेद और श्रुति ये दो नाम ऋग्वेदादि संहिताओं के क्यों हुए हैं ?

(उत्तर)— अर्थभेद से, क्योंकि एक 'विद्' धातु ज्ञानार्थक है, दूसरी 'विद्' धातु सत्तार्थक है, तीसरी 'विद्लृ' का लाभ अर्थ है, चौथी 'विद्' का अर्थ विचार है । इन चार धातुओं के करण और अधिकरण कारक में 'घञ्' प्रत्यय करने से वेद शब्द सिद्ध होता है तथा 'श्रु' धातु श्रवण अर्थ में है । जिनके पढ़ने से यथार्थ

https://t.me/arshlibrary

[धर्मज्ञान में वेद परम प्रमाण]

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ —मनु० २।१३ ॥

जो पुरुष अर्थ=सुवर्णादि रत्न, और काम=स्त्रीसेवनादि में नहीं फँसते हैं, उन्हीं को धर्म का ज्ञान प्राप्त होता है । जो धर्म के ज्ञान की इच्छा करें, वे वेद द्वारा धर्म का निश्चय करें, क्योंकि धर्माऽधर्म का निश्चय विना वेद के ठीक-ठीक नहीं होता ॥

[क्षत्रिय आदि को पढ़ाने में ब्राह्मण का भी कल्याण]

इस प्रकार आचार्य्य अपने शिष्य को उपदेश करे और विशेषकर राजा इतर क्षत्रिय, वैश्य और उत्तम शूद्रजनों को भी विद्या का अभ्यास अवश्य करावे, क्योंकि जो ब्राह्मण हैं वे ही केवल विद्याभ्यास करें और क्षत्रियादि न करें, तो विद्या, धर्म, राज्य और धनादि की वृद्धि कभी नहीं हो सकती, क्योंकि ब्राह्मण तो केवल पढ़ने-पढ़ाने और क्षत्रियादि से जीविका को प्राप्त होके जीवन धारण कर सकते हैं । जीविका के अधीन और क्षत्रियादि के आज्ञादाता और यथावत् परीक्षक दण्डदाता न होने से ब्राह्मणादि सब वर्ण पाखण्ड ही में फँस जाते हैं ।

और जब क्षत्रियादि विद्वान् होते हैं, तब ब्राह्मण भी अधिक विद्याभ्यास और धर्मपथ में चलते हैं, और उन क्षत्रियादि विद्वानों के सामने पाखण्ड, झूठा व्यवहार भी नहीं कर सकते और जब क्षत्रियादि अविद्वान् होते हैं, तो वे जैसा अपने मन में आता है, वैसा ही करते-कराते हैं । इसलिए ब्राह्मण भी अपना कल्याण चाहें, तो क्षत्रियादि को वेदादिसत्यशास्त्र का अभ्यास अधिक प्रयत्न से करावें, क्योंकि क्षत्रियादि ही विद्या, धर्म, राज्य और लक्ष्मी की वृद्धि करनेहारे हैं । वे कभी भिक्षावृत्ति नहीं करते । इसलिए वे विद्या-व्यवहार में पक्षपाती भी नहीं हो सकते और जब सब वर्णों में विद्या-सुशिक्षा होती है, तब कोई भी पाखण्डरूप अधर्म-युक्त मिथ्याव्यवहार को नहीं चला सकता ।

इससे क्या सिद्ध हुआ कि क्षत्रियादि को नियम में चलानेवाले ब्राह्मण और संन्यासी, तथा ब्राह्मण और संन्यासी को सुनियम में चलानेवाले क्षत्रियादि होते हैं । इसलिए सब वर्णों के स्त्री-पुरुषों में विद्या और धर्म का प्रचार अवश्य होना चाहिए ।

[सत्याऽसत्य की पाँच प्रकार से परीक्षा]

अब जो-जो पढ़ना-पढ़ाना हो, वह-वह अच्छी प्रकार परीक्षा करके होना योग्य है । **परीक्षा पाँच प्रकार से होती है**—

विद्या का ज्ञान होता है, जिनको पढ़के विद्वान् होते हैं, जिनसे सब सुखों का लाभ होता है और जिनसे ठीक सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इससे ऋक् संहितादि का नाम वेद है । वैसे ही सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त और ब्रह्मा आदि से लेके हमलोग पर्यन्त जिससे सत्यविद्याओं को सुनते आये हैं, इससे वेदों का नाम श्रुति पड़ा है ।..... जैसे छन्द और मन्त्र ये दोनों शब्द एकार्थवाची अर्थात् संहिताभाग के नाम हैं, वैसे ही निगम और श्रुति भी वेदों के नाम हैं ।''

यद्यपि सामान्य यौगिक अर्थ की अपेक्षा से वेद शब्द का प्रयोग ज्ञान के साधनरूप ग्रन्थमात्र के लिए किया जा सकता है, तथापि पंकज, जलज आदि के समान वह श्रेष्ठतम आद्य ज्ञान के आधारभूत

https://t.me/arshlibrary

एक—जो-जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव, और वेदों से अनुकूल हो वह-वह सत्य, और उससे विरुद्ध असत्य है।

दूसरी—जो-जो सृष्टिक्रम से अनुकूल वह-वह सत्य, और जो-जो सृष्टिक्रम से विरुद्ध है वह-वह असत्य है। जैसे कोई कहे कि विना माता-पिता के योग से लड़का उत्पन्न हुआ। ऐसा कथन सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से सर्वथा असत्य है।

तीसरा—**'आप्त'** अर्थात् जो धार्मिक विद्वान्, सत्यवादी, निष्कपटियों का संग उपदेश के अनुकूल है वह-वह ग्राह्य, और जो-जो विरुद्ध वह-वह अग्राह्य है।

चौथी—अपने आत्मा की पवित्रता विद्या के अनुकूल अर्थात् जैसा अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे ही सर्वत्र समझ लेना कि—'मैं भी किसी को दुःख वा सुख दूँगा, तो वह भी अप्रसन्न और प्रसन्न होगा'।

और **पाँचवीं**—आठों **प्रमाण** अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव।

ग्रन्थविशेष के लिए ही रूढ़ हो गया है।

सत्यासत्य की परीक्षा—सत्यासत्य की परीक्षा पाँच प्रकार से की जाती है। ग्रन्थकार के अनुसार मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य को जाननेवाला है, अर्थात् आत्मा में सत्य और असत्य का विवेक करने की शक्ति है, किन्तु स्वार्थ, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों के कारण सत्य को छोड़ असत्य की ओर झुक जाता है। यदि हम सत्य को जानना चाहते हैं और हमारे मस्तिष्क के द्वार खुले हैं तो हम असंगत और तर्कहीन विचारों को छोड़कर सत्य की ओर बढ़ते जाएँगे। जब कोई व्यक्ति किसी विषय को जानना चाहता है तो उसके पक्ष-विपक्ष में प्रमाण व हेतु जुटा, गम्भीरतापूर्क मनन व चिन्तन करके किसी निर्णय पर पहुँचता है। सत्यान्वेषी का इस विषय में मार्गदर्शन करने के लिए सत्यासत्य की परख के निमित्त ग्रन्थकार ने पाँच कसौटियाँ निश्चित की हैं। पहली कसौटी है—

वेदनुकूल होना—जो ईश्वरीय ज्ञान वेद के अनुकूल है वह सत्य है। किसी भी मनुष्य के लिए पूर्णज्ञानी होना सम्भव नहीं। मानव का ज्ञान यत्किञ्चित् अज्ञानमिश्रित रहता है। ईश्वरीय ज्ञान पूर्ण एवं निर्भ्रान्त है। मनुष्य के लिए जितना ज्ञान अपेक्षित है, वह वेद के रूप में उसे प्राप्त है। उसका निरपेक्ष प्रामाण्य होने से वहाँ जो विहित है वह अनुष्ठेय है तथा जो निषिद्ध है वह त्याज्य है। यथार्थ धर्म का स्वरूप वहीं से जाना जाता है। इसलिए ब्रह्मा से जैमिनि पर्यन्त आर्यों का यह परम्परागत विश्वास रहा है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है तथा परमश्वेर ने सृष्टि के आरम्भ में वेदों का प्रकाश किया जिससे परमाणु से लेकर परमेश्वर पर्यन्त समस्त पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर अभ्युदय तथा निःश्रेयस की सिद्धि कर सकें।

बाल की खाल उतारनेवाले साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों में प्रमुख महर्षि कणाद ने **'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'** (वै०द०६।१।१) की घोषणा करने से पहले वेद का पूरी तरह अनुशीलन करने और बुद्धि की कसौटी पर परखने के बाद यह निश्चय किया कि वेद में जो भी वाक्य-रचना है, वह सब बुद्धिपूर्वक है, नित्यज्ञानमूलक है और उसमें भ्रम, प्रमाद और विप्रलिप्सा आदि दोषों की सम्भावना नहीं है। अन्यान्य दर्शनों में भी इसी प्रकार वेद का प्रामाण्य स्वीकार किया गया है। तद्यथा—

निजशक्त्याभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्। —सां० ५।५१

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्। —न्याय० २।१।६७

https://t.me/arshlibrary

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । —योग० समधिपाद २६
चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः । —मीमांसा १।१।२
शास्त्रयोनित्वात् । —वेदान्त १।१।३

उपनिषदों में जो कुछ कहा गया है वह वैदिक मान्यताओं की प्रयोगात्मक एवं दार्शनिक अभिव्यक्ति है। ईशोपनिषद् तो सीधे यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है। शेष उपनिषदों का मुख्य आधार यही उपनिषद् है। मनु ने **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**, (२।६)। कहकर वेद को धर्म का मूल मानते हुए घोषणा की—**'धर्म जिज्ञासामानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'** (२।१३) तथा **'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति'** (१२।९७)। मनुस्मृति के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण याज्ञवल्क्यस्मृति का वचन है—

न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रसनातनात्॥

अर्थात् वेदशास्त्र से बढ़कर कोई शास्त्र नहीं। अन्य सब शास्त्र सनातन वेद से ही निकले हैं।

वैदिकधर्मेतर मत-मतान्तरों के मान्य ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र-अनेकत्र वेदोक्त धर्म को मान्यता प्रदान की गयी है। दूसरी कसौटी है—

सृष्टिक्रम के अनुकूल—जो बात सृष्टिक्रम के अनुकूल है वह सत्य है, सृष्टि की रचना और उसका संचालन ईश्वरीय व्यवस्था और प्राकृतिक नियमों के अधीन है। ये सभी नियम त्रिकालाबाधित हैं। प्रत्येक पदार्थ के गुण-कर्म-स्वभाव सदा एक-से रहते हैं। अभाव से भाव की उत्पत्ति अथवा असत् का सद्भाव, कारण के बिना कार्य, विना फल भोगे कर्म का क्षय, अग्न्यादि द्वारा अपने स्वाभाविक गुणों का परित्याग, वन्ध्या के अथवा बिना माता-पिता के संयोग के सन्तानोत्पत्ति, जड़ से चैतन्य की उत्पत्ति अथवा चेतन का जड़रूप होना, जीव की सर्वज्ञता या सर्वव्यापकता अथवा ईश्वर का जीवों की भाँति शरीर धारण कर जन्म-मरण के बन्धन में पड़ना आदि सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से असत्य है।

ग्रन्थकार की इस मान्यता पर टिप्पणी करते हुए जेम्स हेस्टिंग्ज़ ने अपनी पुस्तक 'Dictionary of Religions and Ethics' में लिखा—

"Dayanand tried to make the Book of God resemble the Book of Nature." अर्थात् स्वामी दयानन्द ने ईश्वरीय पुस्तक (वेद) को प्रकृति की पुस्तक (सृष्टि) के अनुकूल सिद्ध करने का प्रयत्न किया। यदि वेद और सृष्टि दोनों एक ही सत्ता के कार्य हैं तो दोनों का परस्पर एक-दूसरे के अनुकूल होना स्वाभाविक है। ऐसा न होना आश्चर्यजनक होगा। यदि भूगोल की पुस्तक का लेखक और उसमें लगे नक्शे का बनानेवाला एक ही व्यक्ति हो तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि पुस्तक में तो दिल्ली का यमुना के किनारे पर स्थित होना लिखे और नक्शे में उसकी स्थिति गंगा के किनारे पर दिखाए? संसार में कोई भी घटना सृष्टिक्रम के विरुद्ध नहीं घट सकती, भले ही मनुष्य अल्पज्ञ होने के कारण उसकी व्याख्या न कर सके। जिन बातों को हम समझ नहीं पाते उन्हें हम जादू या चमत्कार का नाम दे देते हैं। अनेक मिथ्या विश्वासों के मूल में उनका सृष्टिक्रम के विरुद्ध होना पाया जाएगा। तीसरी कसौटी है—

आप्तोपदेश के अनुकूल—जो आप्त पुरुषों के उपदेश और आचरण के अनुकूल है वह सत्य और उसके विपरीत असत्य है। किसी कार्य में सर्वात्मना समर्पित व्यक्ति अपने सीमित क्षेत्र में अपने विषय की पूरी जानकारी रखनेवाला उस विषय में साक्षात्कृतधर्मा होने से 'आप्त' कहलाता है। जो वस्तु जैसी हो

https://t.me/arshlibrary

[प्रत्यक्षादि प्रमाणों के लक्षण]

इनमें से [प्रथम] **प्रत्यक्ष** के लक्षणादि में जो-जो सूत्र नीचे लिखेंगे, वे-वे सब न्यायशास्त्र के प्रथम और द्वितीय अध्याय के जानो—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥

—न्याय० अध्याय १। आह्निक १। सूत्र ४

जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के साथ अव्यवहित अर्थात् आवरणरहित सम्बन्ध होता है, इन्द्रियों के साथ मन का, और मन के साथ आत्मा के संयोग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको '**प्रत्यक्ष**' कहते हैं, परन्तु जो व्यपदेश्य अर्थात् संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध से उत्पन्न

उसको निश्चयपूर्वक उसी रूप में जानना 'साक्षात्कार' कहाता है। ज्ञानोपलब्धि के अनन्तर जब कोई व्यक्ति उस विषय की जानकारी दूसरे लोगों को देने लगता है तब वह उपदेष्टा है। उस रूप (उपदेष्टारूप) में उसके लिए छलादि दोषरहित, धर्मात्मा, यथार्थवक्ता एवं सदाचारी होना आवश्यक है। उसकी कथनी और करनी एक-जैसी होनी चाहिए। ऐसे अर्थात् सत्यज्ञानी, सत्यमानी, सत्यवादी और सत्यकारी, परोपकारी और पक्षपातरहित विद्वान् जिस बात को मानें सबको मन्तव्य होने से वह सत्य और उसके विपरीत असत्य है। मनुस्मृति में '**विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः**' वचन को धर्म कहकर इसी की पुष्टि की गयी है। चौथी कसौटी—

अपनी आत्मा के अनुकूल—जो अपने आत्मा को प्रिय लगे वह सत्य और इसके विपरीत असत्य है। जब आत्मा मन को और मन इन्द्रियों को किसी काम में प्रवृत्त करता है तो जीव की इच्छा, ज्ञान आदि उसी में केन्द्रित हो जाते हैं। उसी क्षण आत्मा में बुरे काम करने में भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में निर्भयता, निःशंकता और आनन्दोत्साह उठता है। वह जीवात्मा की ओर से नहीं, परमात्मा की ओर से होता है। जिस व्यक्ति का जीवन जितना शुद्ध और पवित्र होता है उसके भीतर अन्तरात्मा की यह पुकार उतनी ही मुखर होती है। इसी भाव को कालिदास ने '**सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः**' (शकु०) अर्थात् 'सन्देह की स्थिति में मनुष्य को अपने आत्मा की प्रवृत्ति को प्रमाण मानना चाहिए' कहकर व्यक्त किया है। महर्षि वेदव्यास ने भी धर्म का सार बताते हुए कहा—'**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**' अर्थात् अपने आत्मा के प्रतिकूल आचरण किसी के प्रति कभी न करें। आगे चलकर '**स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश**' के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने लिखा है—"मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे।"

सत्यासत्य के निर्णयार्थ पाँचवीं कसौटी है—

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होना—जो प्रत्यक्षादि आठ प्रमाणों से सिद्ध हो वह सत्य और इसके विपरीत असत्य है। 'प्रमाण' यह पद 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'माङ्' (मा) धातु से करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। '**प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्**' अर्थात् ज्ञान का जो करण=साधन है वह प्रमाण कहाता है। इस प्रकार जिस साधन द्वारा कोई पदार्थ निश्चितरूप से जाना जाता है, उसे प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव में आठ प्रमाण हैं। किसी विषय को जानने के लिए आठों प्रमाणों की सम्मिलितरूप में अपेक्षा नहीं होती। कहीं एक प्रमेय (ज्ञान के विषय) में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है और किसी विषय में एक ही प्रमाण का प्रवृत्त होना सम्भव होता है।

https://t.me/arshlibrary

होता है, वह, वह ज्ञान न हो। जैसा किसी ने किसी से कहा कि—'तू जल ले आ'। वह लाके उसके पास धरके बोला कि—'यह जल है' परन्तु वहाँ 'जल' इन दो अक्षरों की संज्ञा लाने वा मँगवानेवाला नहीं देख सकता है, किन्तु जिस पदार्थ का नाम 'जल' है, वही प्रत्यक्ष होता है और जो शब्द से ज्ञान उत्पन्न होता है, वह शब्दप्रमाण का विषय है। 'अव्यभिचारि' जैसे किसी ने रात्रि में खम्भे को देखके पुरुष का निश्चय कर लिया। जब दिन में उसको देखा तो रात्रि का पुरुषज्ञान नष्ट होकर स्तम्भज्ञान रहा। ऐसे विनाशी ज्ञान का नाम 'व्यभिचारी' है, सो प्रत्यक्ष नहीं कहाता। 'व्यवसायात्मक' किसी ने दूर से नदी की बालू को देखके कहा कि—'वहाँ वस्त्र सूख रहे हैं, जल है वा और कुछ है', 'वह देवदत्त खड़ा है वा यज्ञदत्त'। जब तक एक निश्चय न हो, तब तक वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है, किन्तु जो अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी और निश्चयात्मक ज्ञान है, उसी को **'प्रत्यक्ष'** कहते हैं॥

प्रत्यक्ष —बाह्य विषय के साथ सीधा सम्बन्ध न आत्मा का होता है, न मन का। चेतन होने से आत्मा ज्ञाता व अनुभविता है। मन आन्तर साधन है और चक्षु आदि इन्द्रियाँ बाह्यसाधन हैं।

आत्मा जिस विषय का प्रत्यक्ष करना चाहता है, वह आन्तर साधन मन को प्रेरित करता है। मन अभिलषित विषय को ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होकर इन्द्रिय को उस अर्थ (विषय) की ओर प्रेरित करता है। अब बाह्य विषय का सम्बन्ध बाह्य इन्द्रिय से, बाह्य इन्द्रिय का आन्तर साधन मन से और मन का आत्मा से है। आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ (विषय) के परस्पर सम्बन्ध से आत्मा बाह्य अर्थ को जान लेता है। आत्मा को बाह्य जगत् का ज्ञान इसी प्रक्रिया से होता है।

ज्ञान की प्रक्रिया में आन्तर साधनरूप मन के बिना कोई कार्य होना सम्भव नहीं। सुषुप्ति में मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध टूट जाता है। उस समय इन्द्रियों और उनके अर्थों के होते हुए भी बाह्य वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता। जाग्रदवस्था में भी एक साथ सब इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों से सन्निकर्ष होते हुए भी एक समय में सबका ज्ञान नहीं होता। जिस इन्द्रिय का मन के साथ संयोग होता है उसी इन्द्रिय के विषय का बोध होता है, किन्तु मन स्वयं जड़ है, इसलिए उसे ज्ञान नहीं हो सकता। चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों की भाँति आन्तर इन्द्रिय मन भी ज्ञानप्राप्ति में साधन है। ज्ञान तो चेतन आत्मा को ही होता है। वही मन को, मन के द्वारा इन्द्रियों को अपने-अपने काम में लगाकर उनके द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार ज्ञान के लिए आवश्यक है कि विषयों के साथ इन्द्रियों का, इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा का सन्निकर्ष हो।

आत्मा से संयुक्त मन के द्वारा प्राप्त मन—इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान निर्दोष हो, इसके लिए आवश्यक है कि वह—

१—अव्यपदेश्य हो—शब्द द्वारा किसी अर्थ का बोध कराना 'व्यपदेश' कहाता है। जिस अर्थ का बोध कराना अभीष्ट है वह 'व्यपदेश्य' कहाएगा। प्रत्यक्ष ज्ञान की पहली पहचान यह है कि वह अव्यपदेश्य हो, अर्थात् शब्द द्वारा उसका बोध कराया जा सके। प्रमाता को होनेवाला प्रत्यक्ष ज्ञान शब्दनिरपेक्ष अर्थात् अव्यपदेश्य होता है। जो व्यपदेश्य है, वह प्रत्यक्ष न होकर शब्दज्ञान है जो शब्दप्रमाण का विषय है। संज्ञा-संज्ञी के सम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान व्यपदेश्य होगा। 'जल' नामक पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है, 'ज-ल' इन दो अक्षरोंवाली संज्ञा का नहीं। यदि दो व्यक्तियों को किसी पदार्थ का उपभोग कराया जाए तो रस की अनुभूति दोनों की एक जैसी होगी—भले ही उनमें से एक उस पदार्थ के वाचक शब्द को जाननेवाला हो और दूसरा उससे सर्वथा अनभिज्ञ। अनुभूति में समानता होते हुए भी दोनों की अभिव्यक्ति भिन्न होगी।

https://t.me/arshlibrary

दूसरा अनुमान—

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टञ्च ॥

—न्याय० अ० १ । आ० १ । सू० ५

जो प्रत्यक्षपूर्वक अर्थात् जिसका कोई एक देश वा सम्पूर्ण द्रव्य किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हुआ हो, उसका दूर देश से सहचारी वा एकदेश के प्रत्यक्ष होने से अदृष्ट सहचारी वा अवयवी का ज्ञान[1] होने

अनुभूति ही प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर्गत होगी, अभिव्यक्ति नहीं । इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान में शब्द की अपेक्षा नहीं होती । वस्तुतः अनुभूत्यात्मक अर्थज्ञान का वाचक कोई ऐसा शब्द ही नहीं हो सकता जिससे उसका तद्रूप बोध कराया जा सके ।

२—**अव्यभिचारी हो**—अन्य पदार्थ में अन्य पदार्थ का ज्ञान हो जाना—जैसे झुटपुटे में टेढ़ी-मेढ़ी रस्सी को देखकर साँप समझ लेना या ग्रीष्म ऋतु में दूर तक फैले रेत को जल समझ लेना—व्यभिचारी ज्ञान कहाता है, जो पर्याप्त प्रकाश होने या निकट जाकर देखने पर नष्ट हो जाता है । जहाँ जिसका अभाव है वहाँ उसका दीखना व्यभिचारी ज्ञान है । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न होने पर भी वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं माना जा सकता । रस्सी को रस्सी और रेत को रेत जानना ही प्रत्यक्ष ज्ञान है ।

३—**व्यवसायात्मक हो**—'व्यवसाय' पद का अर्थ है क्रिया का पूर्णरूप से सम्पन्न होना । ज्ञान के क्षेत्र में इस का अर्थ है—निश्चय पर पहुँच जाना अथवा सन्देहरहित हो जाना । इस प्रकार 'व्यवसायात्मक' पद का अर्थ हुआ— निश्चयात्मक । जब तक कोई 'वह मनुष्य है वा ठूँठ, वह देवदत्त है वा यज्ञदत्त ? अथवा 'यह बालू है या जल' की द्विविधा में ग्रस्त है तब तक उसका ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न होने पर भी प्रत्यक्ष की कोटि में नहीं आएगा । संशयरहित होकर निश्चयात्मक अर्थात् व्यवसायात्मक होने पर ही वह प्रत्यक्ष ज्ञान माना जाएगा ।

गुणों का प्रत्यक्ष—इन्द्रियों द्वारा विषय के सम्पर्क से उसके सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न गुणों की अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं । जल के प्रत्यक्ष में स्पर्श से शीतलता, जिह्वा से रस, चक्षुओं से रूप व तरलता आदि की अलग-अलग अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं । अलग-अलग ये अनुभूतियाँ केवल शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि की सूचनामात्र हैं । मन में इन सब सूचनाओं के एकत्र हो जाने पर उनके संयोग-वियोग से बुद्धि उन अनुभूतियों को समवेतरूप देकर उन्हें किसी नाम से अभिहित कर देती है । इसी को विषय का प्रत्यक्ष कहते हैं । इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणी का नहीं, किन्तु गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से गुणों के साथ गुणी का भी प्रत्यक्ष मान लिया जाता है । **आशुगतित्वान्मनसः**—मन के आशुगति होने से यह प्रक्रिया इतने वेग से होती है कि हम गुणी का ही प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।

अनुमान—'अनुमान' शब्द का अर्थ है—**अनु अर्थात् प्रत्यक्षस्य पश्चान्मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्** अर्थात् जिसका कोई एक देश अथवा सम्पूर्ण द्रव्य किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हुआ हो, उसका दूरदेश से सहचारी का एकदेश (अवयव) से प्रत्यक्ष होने पर अदृष्ट सहचारी वा अवयवी का ज्ञान होने को

---

१. इस का भाव यह है —पाठकशाला में धूम और अग्नि का साहचर्य देखने के पश्चात् दूर पर्वतादि देश में सहचारी धूम के दर्शन से अदृष्ट सहचारी अग्नि का ज्ञान होता है । और एकदेश=अवयव के प्रत्यक्ष होने से अवयवों में सम्बद्ध अवयवी का ज्ञान होता है ।

https://t.me/arshlibrary

को **'अनुमान'** कहते हैं। जैसे पुत्र को देखके पिता, पर्वतादि में धूम को देखके अग्नि, जगत् में सुख-दुःख देखके पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।

वह अनुमान तीन प्रकार का है। एक—**'पूर्ववत्'** जैसे बद्दलों को देखके वर्षा, विवाह को देखके सन्तानोत्पत्ति, पढ़ते हुए विद्यार्थियों को देखके विद्या होने का निश्चय होता है, इत्यादि जहाँ-जहाँ कारण को देखके कार्य का ज्ञान हो, वह 'पूर्ववत्'। दूसरा—**'शेषवत्'** अर्थात् जहाँ कार्य को देखके कारण का ज्ञान हो। जैसे नदी के प्रवाह की बढ़ती देखके ऊपर हुई वर्षा का, पुत्र को देखके पिता का, सृष्टि को देखके अनादि-कारण का तथा कर्त्ता ईश्वर का, और सुख-दुःख को देखके पाप-पुण्य के आचरण का ज्ञान होता है, इसी को 'शेषवत्' कहते हैं। तीसरा—**'सामान्यतोदृष्ट'** जो कोई किसी का कार्य-कारण न हो, परन्तु किसी प्रकार का साधर्म्य एक-दूसरे के साथ हो। जैसे कोई भी विना चले दूसरे स्थान को नहीं जा सकता। वैसे ही दूसरों का भी स्थानान्तर में जाना विना गमन के कभी नहीं हो सकता। **'अनुमान' शब्द का अर्थ** यही है कि **'अनु अर्थात् प्रत्यक्षस्य पश्चान्मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्'** जो प्रत्यक्ष के पश्चात् उत्पन्न हो। जैसे धूम के प्रत्यक्ष देखे विना अदृष्ट अग्नि का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।

'अनुमान' कहते हैं। आग और धुएँ को एकसाथ देखने अथवा लिंगी और लिंग के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होने पर कालान्तर में एक का प्रत्यक्ष होने पर दूसरे को अनुमान से जान लिया जाता है। अनुमान के प्रयोग में निम्न प्रकार पाँच अवयवों का उपयोग किया जाता है—

१. प्रतिज्ञा—वहाँ आग है।
२. हेतु—क्योंकि वहाँ धुआँ दिखाई दे रहा है।
३. दृष्टान्त—जैसे रसोईघर में।
४. उपनय—वैसा ही यहाँ है अर्थात् धुँआ दिखाई दे रहा है।
५. निगमन—धुआँ होने से वहाँ आग अवश्य है।

इस प्रकार वर्त्तमान में धुएँ का प्रत्यक्ष होने और लिंग-लिंगी सम्बन्ध की स्मृति होने से अप्रत्यक्ष अर्थ अग्नि का अनुमान द्वारा ज्ञान हो जाता है। अनुमान तीन प्रकार का माना जाता है—

पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट।

पूर्ववत्—कार्योन्मुख कारण को देखकर जब कार्य का अनुमान होता है तब पूर्ववत् अनुमान होता है, ज़ैसे—बादलों को देखकर वर्षा होने का अनुमान। कारण सदा कार्य से पहले होता है, इसलिए इसे पूर्ववत् कहा गया है।

शेषवत्—जहाँ कार्य को देखकर कारण का अनुमान होता है, जैसे नदी में बाढ़ को देखकर ऊपर हुई वर्षा का, पुत्र को देखकर पिता का, सृष्टि को देखकर उसके रचयिता ईश्वर का और सुख-दुःख को देखकर पाप-पुण्य के आचरण का—वहाँ शेषवत् अनुमान होता है। धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान भी शेषवत् अनुमान का उदाहरण है। पूर्व विद्यमान कारण की अपेक्षा से कार्य 'शेष' समझा जाता है, अतः 'शेष' पद कार्य का बोध कराता है।

समान्यतोदृष्ट—विभिन्न प्रदेश में एकत्वेन दृष्ट व्यक्ति या पदार्थ जहाँ अदृष्ट अर्थ का अनुमान कराता है वहाँ 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान होता है। यात्रा के बिना कोई व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं पहुँच सकता। इसलिए गतवर्ष वाराणसी में देखे गये देवदत्त को आज दिल्ली में देखकर हमें उसकी यात्रा

https://t.me/arshlibrary

तीसरा उपमान—

प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ॥ —न्याय० अ० १ । आ० १ । सू० ६

जो प्रसिद्ध प्रत्यक्ष साधर्म्य से साध्य अर्थात् सिद्ध करने योग्य ज्ञान की सिद्धि करने का साधन हो, उसको **'उपमान'** कहते हैं । **'उपमीयते येन तदुपमानम्'** । जैसे किसी ने किसी भृत्य से कहा कि—'तू विष्णुमित्र को बुला ला' । वह बोला कि—'मैंने उसको कभी नहीं देखा' । उसके स्वामी ने कहा कि—'जैसा यह देवदत्त है वैसा ही वह विष्णुमित्र है' । वा 'जैसी यह गाय है वैसा[1] ही गवय अर्थात् नील गाय होता है ।' जब वह वहाँ गया, और देवदत्त के सदृश पुरुष को देख निश्चय कर लिया कि यही विष्णुमित्र है उसको ले आया । अथवा किसी जंगल में जिस पशु को गाय के तुल्य देखा, उसको निश्चय कर लिया कि इसी का नाम गवय है ॥

चौथा शब्दप्रमाण —

आप्तोपदेशः शब्दः ॥ —न्याय० अ० १ । आ० १ । सू० ७॥

(हमारे लिए अदृष्ट) का अनुमान हो जाता है । यह सामान्यतोदृष्ट का उदाहरण है । इसी प्रकार सूर्य को प्रातःकाल पूर्व में और सांयकाल पश्चिम में देखकर उसकी गति (लोकव्यवहार की भाषा के आधार पर) का अनुमान होता है । यहाँ कार्यकारणसम्बन्ध न होकर साधर्म्य के आधार पर अदृष्ट अर्थ का बोध होता है। गन्ध आदि गुणों के पृथिवी आदि अपने द्रव्यों में समवेत रहने की भाँति इच्छा, द्वेष, सुख-दुःखादि गुण भी किसी द्रव्य के आश्रित होने चाहिएँ (क्योंकि प्रत्येक गुण किसी-न-किसी द्रव्य के आश्रित होता है), इनका जो आश्रय द्रव्य है, वही आत्मा है । इस प्रकार गन्ध आदि की समानता के आधार पर इच्छा आदि गुणों से —उनके आश्रय के रूप में—आत्मा का अस्तित्व सामान्यतोदृष्ट अनुमान के आधार पर सिद्ध होता है ।

उपमान—'उपमीयते येन तदुपमानम्'—अर्थात् जिसके समान किसी का कथन किया जाए वह उपमान होता है और जिसके विषय में कथन किया जाए वह उपमेय । दो पदार्थों में सादृश्य होने पर उपमान से काम लिया जाता है ।

नीलगाय का गाय से सादृश्य बता दिये जाने पर इन चार अवयवों के प्रयोग से नीलगाय की पहचान होती है—

१. गवय नीलगाय के सादृश्य का ज्ञान ।
२. जंगल में नीलगाय का प्रत्यक्ष ।
३ पूर्वश्रुत गाय और नीलगाय की समानता की स्मृति ।
४ पशुविशेष में गाय का सादृश्य देखकर उसके नीलगाय होने का निश्चय ।

उपमान की विशेषता मनोवैज्ञानिक साम्य है, जिसे प्रसिद्ध अथवा प्रत्यक्ष साम्य की संज्ञा दी गयी है—ऐसा साधर्म्य जो उपमेय को देखते ही उसका निश्चय करा देता है ।

आप्तोपदेश—आप्त शब्द **'आप्लृ व्याप्तौ'** धातु से निष्पन्न होता है । किसी भी पदार्थ के यथार्थज्ञान का नाम **'आप्ति'** है । इसलिए किसी पदार्थ के साक्षात्कृतधर्मा पुरुष को आप्त कहते हैं । पृथिवी से

---

१. 'गवय' के कारण पुंल्लिङ्ग निर्देश है ।

https://t.me/arshlibrary

जो आप्त अर्थात् पूर्ण विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकारप्रिय, सत्यवादी, पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय पुरुष जैसा अपने आत्मा में जानता हो, और जिससे सुख पाया हो, उसी के कथन की इच्छा से प्रेरित सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेष्टा हो, अर्थात् जो पृथिवी से लेके परमेश्वरपर्यन्त पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर उपदेष्टा होता है, ऐसे पुरुष के उपदेश और पूर्ण आप्त परमेश्वर के उपदेश वेद हैं, उन्हीं को **'शब्दप्रमाण'** जानो ॥

परमेश्वरपर्यन्त में से किसी पदार्थ का यथार्थज्ञानप्राप्त पुरुष आप्तजनों की कोटि में आता है। वह जैसा अपने आत्मा में जानता है और जिससे वह स्वयं सुख पा चुका है, उसी के कथन की इच्छा से प्रेरित होकर सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेश करता है। ऐसे पुरुष का वचन ही शब्दप्रमाण माना जाता है। न्यायदर्शन (१।१।७) वात्स्यायनभाष्य में लिखा है—

आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा, साक्षात्करणम् अर्थस्याप्तिस्तया प्रवर्तत इत्याप्तः ।

अर्थात् आप्त कहलाने के लिए सत्य का साक्षात् दर्शन, उसका अनुभव व अनुष्ठान तथा मनुष्यमात्र के कल्याण की भावना से उसका उपदेष्टा होना आवश्यक है।

आप्त का लक्षण लिखने के बाद वात्स्यायन मुनि ने **'ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्'** ऐसा लिखा है। इसमें पठित ऋषि, आर्य और म्लेच्छ शब्दों की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने प्रथम संस्करण में लिखा है—

"ऋषि नाम यथार्थ मन्त्रद्रष्टा, यथार्थ पदार्थों का विचार करनेवाले। उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व में समुद्र और पश्चिम में समुद्र, इन चारों के अवधिपर्यन्त देश में रहनेवाले मनुष्यों का नाम आर्य है। इस देश से भिन्न देशों में रहनेवाले मनुष्यों का नाम म्लेच्छ है। म्लेच्छ नाम निन्दित नहीं है, किन्तु **'म्लेच्छ अव्यक्ते शब्दे'** इस धातु से म्लेच्छ शब्द सिद्ध होता है। उसका अर्थ यह है कि जिन पुरुषों के उच्चारण में वर्णों का स्पष्ट उच्चारण नहीं होता, उनका नाम म्लेच्छ है।"

जगत् में अनेक प्रकार के प्रमाण आप्त प्रमाण के आधार पर चलते हैं। यदि हम अपने पूर्वजों के कथन पर विश्वास न करते और हर पीढ़ी सब-कुछ नये सिरे से करते तो मनुष्यजाति जहाँ-की-तहाँ पड़ी रहती। आज भी हम अपने सीमित क्षेत्र में विशेष ज्ञान रखनेवाले अर्थात् साक्षात्कृतधर्मा लोगों की सहायता से अपना काम चलाते हैं, किन्तु पूर्ण आप्त केवल परमेश्वर है। इससे उसका उपदेश—वेद स्वतःप्रमाण है तथा पूर्ण, नित्य एवं निर्भ्रान्त है।

दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ भेद से शब्दप्रमाण दो प्रकार का है। शब्दप्रमाण से जाने गये जिस अर्थ को इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सके वह **'दृष्टार्थ'** है। किसी ने कहा कि मेरे घर में आम का पेड़ लगा है। वहाँ जाकर देखा तो आम का पेड़ खड़ा पाया। वक्ता का ऐसा कथन दृष्टार्थ शब्दप्रमाण के अन्तर्गत है, क्योंकि उसके कथन की पुष्टि प्रत्यक्ष प्रमाण से हो गयी। शब्दप्रमाण से जाने गये जिस अर्थ में और कोई प्रमाण प्रवृत्त न हो सके वह **'अदृष्टार्थ'** शब्दप्रमाण कहाता है। वैदिक वाङ्मय का प्रसिद्ध विधिवाक्य है—**'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'** अर्थात् स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छावाला यज्ञ करे। इस वाक्य से बोधित अर्थ को इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। यह वैदिक वाक्य अदृष्टार्थ है। लौकिक वाक्य और वैदिक वाक्य के आधार पर किये शब्द-प्रमाण के विभाग में लौकिक वाक्य **'दृष्टार्थ'** और वैदिक वाक्य **'अदृष्टार्थ'** समझने चाहिएँ। दोनों को ही प्रमाण मानना चाहिए।

https://t.me/arshlibrary

पाँचवाँ ऐतिह्य—

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ॥[1]

—न्याय० अ० २ । आ० २ । सू० १

जो **इति ह** अर्थात् इस प्रकार का था, उसने इस प्रकार किया, अर्थात् किसी के जीवन-चरित्र का नाम **'ऐतिह्य'** है ॥

छठा अर्थापत्ति—

'अर्थादापद्यते सा अर्थापत्तिः' । **केनचिदुच्यते—'सत्सु घनेषु वृष्टिः, सति कारणे कार्य्यं भवतीति' किमत्र प्रसज्यते—'असत्सु घनेषु वृष्टिरसति कारणे च कार्य्यं न भवति'** जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'बद्दल के होने से वर्षा, और कारण के होने से कार्य उत्पन्न होता है' । इससे विना कहे यह दूसरी बात सिद्ध होती है कि—'विना बद्दल वर्षा और विना कारण के कार्य्य कभी नहीं हो सकता' ॥

सातवाँ सम्भव—

'सम्भवति यस्मिन् स सम्भवः' । कोई कहे कि—'माता-पिता के विना सन्तानोत्पत्ति हुई । किसी ने मृतक जिलाये, पहाड़ उठाये, समुद्र में पत्थर तैराये, चन्द्रमा के टुकड़े किये, परमेश्वर का अवतार हुआ, मनुष्य के सींग देखे, और बन्ध्या के पुत्र और पुत्री का विवाह किया' इत्यादि सब बातें असम्भव हैं, क्योंकि ये सब बातें सृष्टिक्रम से विरुद्ध हैं । जो बात सृष्टिक्रम के अनुकूल हो, वही **'सम्भव'** है ॥

आठवाँ अभाव—

'न भवति यस्मिन् सोऽभावः' । जैसे किसी ने किसी से कहा कि—'हाथी ले आ' । उसने वहाँ हाथी का अभाव देखकर जहाँ हाथी था वहाँ से ले आया ॥

ये आठ प्रमाण हैं । इनमें से जो शब्द में ऐतिह्य, और अनुमान में अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव की गणना करें, तो चार प्रमाण रह जाते हैं ।[2]

इन पाँच प्रकार की परीक्षाओं से मनुष्य सत्याऽसत्य का निश्चय कर सकता है, अन्यथा नहीं ।

ऐतिह्य—जिन बातों को परम्परा से कहते-सुनते चले आते हैं अथवा यत्र-तत्र ग्रन्थों में जिनका उल्लेख मिलता है, ऐसे प्रवादों अथवा कथानकों की परम्परा का नाम 'ऐतिह्य' है । ऐतिह्य में प्रथम वक्ता का निर्देश नहीं रहता, इसलिए यह शब्दप्रमाण के अन्तर्गत नहीं आता ।

अर्थापत्ति—किसी के एक बात कहने से जब दूसरी बात स्वतः सिद्ध हो जाए तो वह 'अर्थापत्ति' कहाती है । यह कहने पर कि 'सत्यवादी का विश्वास किया जाता है' अथवा 'कारण के होने पर कार्य होता है' यह बिना कहे सिद्ध हो जाता है कि 'झूठे का विश्वास नहीं किया जाता' अथवा 'कारण के बिना कार्य नहीं होता' । इस प्रकार का ज्ञान 'अर्थापत्ति' प्रमाण से प्राप्त होता है ।

सम्भव—जो सृष्टिक्रम के अनुकूल है वह सम्भव और जो उसके विपरीत है वह असम्भव है ।

अभाव—पुरोवात के कारण बादलों के भारी वर्षा होनेवाले होने पर भी वर्षा का अभाव उनके विरोधी

---

१. सूत्रार्थ —ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव —इन चार के भी प्रमाण होने से प्रमाण केवल चार ही नहीं हैं। यहाँ यह सूत्र अन्य प्रमाणों का सद्भाव द्योतन करने के लिए पढ़ा है ।

२. शब्द ऐतिह्यानर्थान्तर्भावादनुमानेऽर्थापतिसम्भवाभावाऽनर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः । —न्या०अ०२ । आ० २ । सू० २

https://t.me/arshlibrary

[द्रव्य-गुणादि के ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति][1]

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्निश्रेयसम् ॥

—वैशेषिक अ० १ । आ० १ । सू० ४

जब मनुष्य धर्म के यथायोग्य अनुष्ठान करने से पवित्र होकर, 'साधर्म्य' अर्थात् जो तुल्य धर्म है, जैसा पृथिवी जड़ और जल भी जड़; वैधर्म्य' अर्थात् पृथिवी कठोर और जल कोमल । इसी प्रकार से द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छः पदार्थों के तत्वज्ञान अर्थात् स्वरूपज्ञान से 'निःश्रेयसम्'=मोक्ष को प्राप्त होता है ॥

प्रतिबन्धक 'विधारक-वात' का ज्ञान करा देता है । इस प्रकार 'अभाव' अपने विरोधी के ज्ञान का हेतु होने से प्रमाणों में गिना जाता है ।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने आठ प्रमाणों की प्रमाण संज्ञा मानी है ।

परन्तु न्यायदर्शन के उद्देशसूत्र (१।१।१) में चार प्रमाणों का उल्लेख मिलता है—**'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि'**—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द प्रमाण हैं । शिष्य शंका करता है—**'न चतुष्ट्वमेतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात्'** (२।२।१) प्रमाणों का चार मानना ठीक नहीं, क्योंकि इनके अतिरिक्त ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव तथा अभाव ये चार प्रमाण और हैं । तब प्रमाण आठ माने जाने चाहिएँ । उद्देशसूत्र में इनका निर्देश न होना ठीक नहीं । सूत्रकार आचार्य ने शंका का समाधान करते हुए कहा कि यह ठीक है कि ऐतिह्य आदि से किसी अर्थ का ज्ञान होने के कारण ये प्रमाण तो कहे जा सकते हैं, परन्तु इनको अतिरिक्त प्रमाण मानना अनावश्यक है, क्योंकि—**'शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावाऽनर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः'** (२।२।२) ऐतिह्य आदि का शब्द आदि प्रमाणों में अन्तर्भाव होने से उद्देशसूत्रगत प्रमाणनिर्देशविषयक शंका ठीक नहीं है । ऐतिह्य शब्दप्रमाण से भिन्न नहीं है । शब्द का लक्षण किया गया है—**'आप्तोपदेशः शब्दः'** । ऐतिह्य आप्त का उपदेश है, यह असम्भावित नहीं है । इसमें केवल इतना अन्तर है—ऐतिह्य में प्रवक्ता का निर्देश नहीं रहता, परन्तु इतने से उसके आप्तोपदेश होने में कोई सन्देह की बात नहीं रहती । इस प्रकार ऐतिह्य के शब्दरूप होने से उसे पृथक् नहीं पढ़ा गया।

अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव अनुमान के लक्षण से बाहर नहीं जाते । अनुमान में यही विशेषता है कि प्रत्यक्ष अर्थ से सम्बद्ध अप्रत्यक्ष अर्थ का बोध होता है । अर्थापत्ति में इसी प्रकार एक वाक्यार्थ के ज्ञान से उस विरोधी अर्थ का ज्ञान हो जाता है, जो कहा नहीं गया है । बात यह कही गयी कि 'बादलों के न होने पर वर्षा नहीं होती' । इससे अकथित विरोधी अर्थ का ज्ञान हुआ कि 'बादलों के होने पर ही वर्षा होती है' । इसमें पहला कथन हेतु और दूसरा अकथित अर्थ साध्य है । यही अनुमान का स्वरूप है । इसी प्रकार सम्भव और अभाव की व्याख्या रो उन दोनों का भी अनुमान में अन्तर्भाव हो जाता है । इसलिए न्याय के उद्देशसूत्र में और ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत विवेचन में कोई असामंजस्य अथवा किसी प्रकार का तात्त्विक भेद नहीं है ।

धर्मविशेषप्रसूतात्—(धर्मविशेषप्रसूतात्) धर्मविशेष में उत्पन्न हुए (द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवाया-

---

१. दूसरी परीक्षा सृष्टिक्रमानुकूल कही है । उसी सृष्टिक्रम का बोध कराने के लिए वैशेषिकदर्शन के अगले सूत्र अदधृत किये गये हैं ।

https://t.me/arshlibrary

[द्रव्यों की गणना]

पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥

— वै० अ० १ । आ० १ । सू० ५

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव **'द्रव्य'** हैं ॥

नाम्) द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय नामक (पदार्थानाम्) पदार्थों के (साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम्) साधर्म्य और वैधर्म्यके साथ अथवा इस प्रकार के (तत्त्वज्ञानात्) तत्त्वज्ञान से (निःश्रेयसम्) निःश्रेयस—मोक्ष प्राप्त होता है ।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय —इन छह पदार्थों के परस्पर साधर्म्य और वैधर्म्य की जानकारी के साथ, धर्मविशेष से उत्पन्न हुए—तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है । साधर्म्य और वैधर्म्य पदों में 'धर्म' पद का भाव है—विशेषता । पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए उनकी साधारण एवं असाधारण विशेषताओं को जान लेना आवश्यक है । इसी ज्ञान पर द्रव्यादि पदार्थों का यथार्थज्ञान आधारित है । इन पदार्थों में कौन-सी विशेषता किनमें समानरूप से पायी जाती है, तथा किनमें इनका वैपरीत्य रहता है, इसको यथार्थ में जान लेना द्रव्यादि-विषयक तत्त्वज्ञान है । वह तत्त्वज्ञान—जिससे निःश्रेयस की सिद्धि होती है—धर्मविशेष से उत्पन्न होता है । धर्मविशेष से उत्पन्न हुआ द्रव्यादि का तत्त्वज्ञान निःश्रेयस मार्ग में उपयोगी होता है । मानसिक शक्तियों के साध लेने पर आत्मा एक दिव्य प्रतिभा से सम्पन्न हो जाता है । आत्मा का जो चमत्कारपूर्ण सामर्थ्य अब तक सुप्त जैसी अवस्था में पड़ा था, वह इस साधना से जाग्रत् हो जाता है, और उस समय आत्मा एक दिव्य शक्ति से सम्पन्न होता है । मन को साधने की उस प्रक्रिया का नाम योग अथवा समाधि है । इस प्रक्रिया से आत्मा का जो दिव्य सामर्थ्य जाग्रत् हो जाता है, उसी को यहाँ 'धर्मविशेष' कहा गया है ।

इस अवस्था को प्राप्त हो जाने से पदार्थों की सूक्ष्म स्थिति तक का जो यथार्थ ज्ञान होता है, वही द्रव्यादि का ऐसा तत्त्वज्ञान है, जो निःश्रेयस की प्राप्ति में सहायक होता है । इसी तथ्य को सूत्र में **'धर्म-विशेषप्रसूतात्.....तत्त्वज्ञानान् निःश्रेयसम्'** इन पदों से यहाँ कहा गया है ।

वैशेषिकशास्त्र अपने रूप में विशुद्ध भौतिकी शास्त्र है, जिसमें भूततत्त्वसम्बन्धी विद्या का विवरण दिया गया है । अन्य भी अपेक्षित प्रासंगिक विवेचन है । भौतिक पदार्थों की नश्वरता का साक्षात् हो जाने पर अबये पदार्थ हमारे लिए साधनमात्र हैं, हम इनके लिए नहीं, हमें इनका दास नहीं होना चाहिए, प्रत्युत हमें महान् उद्देश्य व लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इन्हें अपना सहायक समझ उसी सीमा तक इनका उपयोग करना चाहिए—ऐसा बोध हो जाता है, तब सीधा अध्यात्म का मार्ग खुल जाता है । इस मार्ग पर प्रगति करते हुए जो महान् आत्मा अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं, ग्रन्थकार की तरह वे उस दशा में लोकोपकार की भावना से उच्चकोटि के ऐसे वाङ्मय का निर्माण कर जाते हैं, जिससे आगे आनेवाला समाज उनके अनुभवों से लाभान्वित होकर अपना मार्ग प्रशस्त कर पाता है । विविध प्रकार के शास्त्र इसी रूप में समय-समय पर बनते आये हैं और प्रकाशस्तम्भ का काम देते रहे हैं ।

पृथिव्यापस्तेजः—(पृथिवी) पृथिवी, (आपः) जल, (तेजः) अग्नि, (वायुः) वायु, (आकाशं) आकाश, (कालः) काल, (दिक्) दिशा, (आत्मा) जीवात्मा व परमात्मा, (मनः) मन (इति) ये अथवा इतने (द्रव्याणि) द्रव्य हैं ।

https://t.me/arshlibrary

[द्रव्य का लक्षण]

क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥ —वै० अ० १ । आ० १ । सू० १५

'क्रियाश्च गुणाश्च विद्यन्ते यस्मिंस्तत् क्रियागुणवत्' जिसमें क्रिया, गुण और केवल गुण भी रहें, उसको **'द्रव्य'** कहते हैं । उनमें से पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन और आत्मा ये छः द्रव्य क्रिया और गुणवाले हैं तथा आकाश, काल और दिशा ये तीन क्रियारहित गुणवाले हैं । **'समवायि=समवेतुं शीलं यस्य तत् समवायि प्राग्वृत्तित्वं कारणम्; समवायि; च तत्कारणं च समवायिकारणम्'** । **'लक्ष्यते येन तल्लक्षणम्'** । जो मिलने के स्वभावयुक्त (समवायि) कार्य से कारण पूर्वकालस्थ हो, उसी को **'द्रव्य'** कहते हैं[१] । जिससे लक्ष्य जाना जाए, जैसा आँख से रूप जाना जाता है, उसको **'लक्षण'** कहते हैं ॥

सूत्र में इनकी गणना का सूचक कोई संख्यापद नहीं है, किन्तु पृथक्-पृथक् नामोच्चारणपूर्वक बताये जाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य नौ हैं । नामों के अन्त में 'इति' पद इनके विभक्त स्वरूप को, अथवा 'ये इतने ही हैं' इस भाव को अभिव्यक्त करता है । वैशेषिक में 'आत्मा' पदबोध्य द्रव्यतत्त्व जीवात्मा और परमात्मा दोनों हैं । इनमें संख्या की दृष्टि से जीवात्मा अनन्त और परमात्मा एकमात्र द्रव्य है । अन्तिम द्रव्य मन भी संख्या की दृष्टि से अनन्त हैं । प्रत्येक जीवात्मा के साथ साधनरूप में एक मन सम्बद्ध रहता है । इसलिए जितने जीवात्मा होंगे उतने ही मन होंगे । इस प्रकार द्रव्यों की नौ संख्या केवल इनके वर्गीकरण की दृष्टि से है ।

पृथिवी आदि को वैशेषिक में द्रव्य नाम क्यों दिया गया ? गम्भीरता से विचारने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मानव की समस्त उन्नति और प्रणिमात्र के जीवन-निर्वाह का एकमात्र आधार पृथिव्यादि पदार्थ हैं । स्वयं वह प्राणी 'आत्मारूप' से इन्हीं के बीच प्रतिष्ठित है । 'द्रव्य' पद को वैशेषिक में कणाद ने पृथिवी आदि नौ वर्गीकृत तत्त्वों के लिए परिभाषित कर दिया है । इसलिए इस शास्त्र में 'द्रव्य' पद से इन्हीं का ग्रहण होगा, अन्य का नहीं ।

क्रियागुणवत्—(क्रियागुणवत्) क्रिया=कर्मों का आश्रय और गुणों का आश्रय (समवायिकारणम्) समवायिकारण (सब उत्पन्न होनेवाले कार्यों का), (इति) यह (द्रव्यलक्षणम्) द्रव्य का लक्षण—चिह्न है ।

क्रिया और गुणों का जो अधिकरण—आश्रय है, वह द्रव्य है । कर्म अर्थात् क्रिया किसी द्रव्य में हो सकती है । विभु द्रव्यों को छोड़कर शेष समस्त नित्य परमाणु आदि एवं अनित्य घट आदि द्रव्यों में क्रिया—गति आदि कर्म बराबर हुआ करते हैं । पृथिवी आदि द्रव्यों को छोड़कर गुण आदि पदार्थों में क्रिया का होना सम्भव नहीं । इस लिए जहाँ क्रिया देखी जाए, समझ लेना चाहिए—यह द्रव्य है । किसी जगह क्रिया का होना, उसके द्रव्य होने का चिह्न है ।

विभु द्रव्यों में क्रिया होना सम्भव नहीं, अतः सूत्रकार ने दूसरा अधिक व्यापक चिह्न बताया—**'गुणवत्'**—गुण का अधिकरण, गुणों का आश्रय । प्रत्येक गुण द्रव्य में आश्रित होकर आत्मलाभ करता है । द्रव्य के बिना गुण का रहना सम्भव नहीं । प्रत्येक गुण किसी-न-किसी द्रव्य में रहता है । जहाँ कहीं कोई गुण देखा जाए, समझ लेना चाहिए, इस गुण का जो आश्रय पदार्थ है, वह द्रव्य है ।

'पदार्थधर्म्मसंग्रह' नामक ग्रन्थ के द्रव्यपरिच्छेद में आचार्य प्रशस्तपाद मुनि ने किस-किस द्रव्य में

---

१. पूर्ण सन्दर्भ का भाव यह है कि 'जो क्रिया से युक्त, गुण से युक्त, और समवायिकारणवाला हो वह 'द्रव्य' कहाता है ।

https://t.me/arshlibrary

कौन-कौन-से गुण होते हैं, इसका विशद वर्णन किया है। उसके अनुसार—

पृथिवी—रूपरसगन्धस्पर्शसंख्या- परिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वसंस्कारवती ।
आपः—रूपरसद्रवत्वस्नेहसंख्या परिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वसंस्कारवत्यः ।
तेजः—रूपस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वसंस्कारवत् ।
वायुः—स्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्कारवान् ।
तत्राकाशस्य गुणाः—शब्दसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः । कालः, तस्य गुणाः संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः । दिक्, तस्यास्तु गुणाः —संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः । आत्मा, तस्य गुणाः— बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंख्यासंस्कारपरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः । मनः, तस्य गुणाः— संख्या परिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्काराः ।

अर्थात् पृथिवी में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार गुण हैं। जल में रूप, रस, द्रवत्व, स्नेह, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व तथा संस्कार गुण हैं। तेज (अग्नि) में रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और संस्कार गुण हैं। वायु में स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व और संस्कार गुण हैं। आकाश में शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग गुण हैं। काल में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग गुण हैं। दिक् (दिशा) में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग गुण हैं। आत्मा में बुद्धि (ज्ञान) सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग गुण हैं। मन में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और संस्कार गुण हैं।

किस द्रव्य में कितने गुण रहते हैं, इसका संकलन किसी विद्वान् ने निम्न श्लोक में किया है —

वायोर्नवैकादश तेजसो गुणाः, जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश ।
दिक्कालयोः पञ्च षडेव चाम्बरे, महेश्वरेऽष्टौ मनस्तथैव च ॥

वायु के नौ, तेज (अग्नि) के ग्यारह, जल, पृथिवी और जीवात्मा के चौदह-चौदह, दिशा और काल के पाँच-पाँच, आकाश में छह, परमात्मा में आठ और मन के आठ गुण माने गये हैं। इसे सरलता से समझने के लिए गुणों का क्रम इस प्रकार रक्खा जा सकता है—

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व (सांसिद्धिक, नैमित्तिक), गुरुत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार (भावना, वेग, स्थितिस्थापक), शब्द।

वायु के नौ गुण—स्पर्श से अपरत्व तक आठ और नौवाँ वेग नामक संस्कार।

तेज ११—रूप से द्रवत्व (नैमित्तिक) तक दस और ग्यारहवां वेग नामक संस्कार।

जल १४—रस से स्नेह तक तेरह और चौदहवाँ वेगस्थितिस्थापक नामक संस्कार। मध्यगत द्रवत्व (सांसिद्धिक) है।

पृथिवी १४—गन्ध से गुरुत्व तक तेरह और चौदहवाँ संस्कार (वेग, स्थितिस्थापक दोनों)। मध्यगत द्रवत्व नैमित्तिक है।

जीवात्मा १४—संख्या से विभाग तक पाँच, बुद्धि से संस्कार (भावना नामक) तक नौ।

https://t.me/arshlibrary

दिशा ५—संख्या से विभाग तक ।

काल ५—संख्या से विभाग तक ।

आकाश ६—संख्या से विभाग तक पाँच, छठा शब्द ।

महेश्वर ८—संख्या से विभाग तक पाँच, बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न ।

मन ८—संख्या से अपरत्व तक सात, आठवाँ संस्कार (वेगनामक) ।

कौन-सा गुण किन-किन द्रव्यों में रहता है, गुणों के क्रम से यह इस प्रकार समझना चाहिए—

गन्ध—केवल पृथिवी में ।

रस—पृथिवी और जल में ।

रूप—पृथिवी, जल और तेज में ।

स्पर्श—पृथिवी, जल, तेज, वायु में ।

संख्या से विभाग तक—सब द्रव्यों में ।

परत्व, अपरत्व—विभु द्रव्यों को छोड़कर शेष सब में ।

द्रवत्व—जल में (सांसिद्धिक) पृथिवी, तेज में (नैमित्तिक) ।

गुरुत्व—पृथिवी, जल में ।

स्नेह—केवल जल में ।

बुद्धि से संस्कार (भावना) तक जीवात्मा में ।

बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न—जीवात्मा, परमात्मा दोनों में ।

वेग, संस्कार—विभु द्रव्यों को छोड़कर शेष सबमें ।

स्थितिस्थापक—केवल पृथिवी में ।

शब्द—आकाश में ।

सब गुणों को दो भागों में विभक्त माना गया है—विशेष और सामान्य । विशेषगुण अपने आश्रय द्रव्य का लक्षण—चिह्न होता है । इसका निरूपण गुण-प्रसंग में किया गया है ।

किसी कार्य के आत्मलाभ के लिए उसके कारणों का पहले विद्यमान रहना आवश्यक है । यदि कारण न होगा तो कार्य का उत्पन्न होना सम्भव नहीं । इसलिए द्रव्य में क्रिया व गुण की उत्पत्ति के लिए यह आवश्यक है कि क्रिया व गुण का कारणद्रव्य क्रिया और गुण की उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान रहे । किसी भी कार्य का समवायिकारण केवल द्रव्य होता है । उत्पन्न द्रव्य के आद्य क्षण में भी उस द्रव्य में उत्पन्न होनेवाले क्रिया व गुण की समवायिकारणता विद्यमान रहती है । यदि ऐसा न हो अर्थात् उसमें क्रिया व गुण को उत्पन्न करने की क्षमता न हो तो उसमें क्रिया व गुण का उत्पन्न होना सम्भव न होगा । इसलिए 'समवायिकारण होना' द्रव्य का निर्दोष लक्षण है । ग्रन्थकार ने **'प्राग्वृत्तित्वं कारणं, समवायि च तत्कारणं च समवायिकारणम्' 'लक्ष्यते येन तल्लक्षणम्'** द्वारा इसी का निर्देश किया है ।

रूपरस—(रूपरसगन्धस्पर्शवती) रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाली (होती है) (पृथिवी) पृथिवी ।

यहाँ 'मतुप्' प्रत्यय का प्रयोग सप्तमी अर्थ में अर्थात् अधिकरण में हुआ है, षष्ठी विभक्ति के अर्थ में

https://t.me/arshlibrary

[पृथिव्यादि भूत द्रव्यों के लक्षण वा गुण]

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी ॥ —वै० अ० २। आ० १। सू० १

रूप, रस, गन्ध, स्पर्शवाली **पृथिवी** है। उनमें रूप, रस और स्पर्श अग्नि, जल और वायु के योग से हैं।

व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः ॥ —वै० अ० २। आ० २। सू० २

पृथिवी में गन्ध-गुण स्वाभाविक है। वैसे ही जल में रस, अग्नि में रूप, वायु में स्पर्श और आकाश में शब्द स्वाभाविक है॥

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः ॥ —वै० अ० २। आ० १। सू० २॥

रूप, रस और स्पर्शवान्, द्रवीभूत और कोमल '**जल**' कहाता है, परन्तु इनमें जल का रस स्वाभाविक

नहीं। इसका तात्पर्य है—रूपादि गुण पृथिवी में रहते हैं अर्थात् पृथिवी रूपादि गुणों का आश्रय है। इस आश्रयाश्रितभाव का सम्बन्ध 'समवाय' माना गया है। इस प्रकार पृथिवी समवायसम्बन्ध से रूपादि गुणों का आश्रय—आधार है। यह पृथिवी का लक्षण हुआ।

प्रस्तुत सूत्र में पृथिवी के चार गुणों का उल्लेख हुआ है। ये उसके 'विशेष गुण' हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग आदि अन्य गुण 'सामान्य गुण' हैं, क्योंकि वे अधिकतर द्रव्यों में पाये जाते हैं। विशेष गुण वे कहे जाते हैं जिनके द्वारा उनके आधार पर द्रव्य का लक्षण किया जा सके। रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श पृथिवी के विशेष गुण हैं। इनमें भी 'गन्ध' प्रधानरूप से पृथिवी का विशेष गुण है, क्योंकि यह अन्य किसी द्रव्य में नहीं रहता। इसलिए '**गन्धवती पृथिवी**' पृथिवी का यह लक्षण पूर्णरूप से अन्यनिरपेक्ष है।

व्यवस्थितः—(व्यवस्थितः) व्यवस्थित है (पृथिव्याम्) पृथिवी में (गन्धः) गन्ध।

पृथिवी में गन्धगुण विशेषरूप से अवस्थित है। केवल पृथिवी में गन्ध रहता है, और पृथिविमात्र में रहता है। पृथिवी और पार्थिव विकारों का ऐसा कोई भाग नहीं जहाँ गन्ध विद्यमान न हो। वस्तुतः गन्ध पृथिवी का स्वाभाविक गुण है, जबकि शेष गुण औपाधिक हैं, जैसे—रूप, रस और स्पर्श, अग्नि, जल और वायु के निमित्त अथवा योग से हैं। इसलिए 'गन्धवती' के समान 'रूपवती' या 'रसवती' कहकर पृथ्वी का लक्षण नहीं किया जा सकता।

रूपरसस्पर्शवत्यः—(रूपरसस्पर्शवत्यः) रूप, रस, स्पर्शवाले हैं (आपः) जल (द्रवाः) द्रव हैं (स्निग्धाः) स्निग्ध हैं। द्रवत्व गुणवाले हैं तथा स्नेह गुणवाले हैं।

इस सूत्र में जल के पाँच गुणों का उल्लेख हुआ है—रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व और स्नेह। स्नेह गुण केवल जलवृत्ति है, अतः वह जल का निरपेक्ष विशेषगुण है। स्नेह वह गुण है जिसके कारण आटा, मिट्टी, सीमेंट आदि बिखरी हुई वस्तुएँ पिण्डीभूत हो जाती हैं।

द्रवत्व गुण जल में सांसिद्धिक माना गया है। सांसिद्धिक का तात्पर्य है— जल का स्वतः द्रवरूप होना, किसी बाह्य निमित्त के कारण न होना। पृथिवी, तेज में द्रवत्व नैमित्तिक है। 'सांसिद्धिक द्रवत्व' जल के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में न रहने के कारण इसके द्वारा जल का लक्षण पूर्ण होता है। सांसिद्धिक द्रवत्व का जो समवायिकारण अथवा आश्रय है, वह जल है।

https://t.me/arshlibrary

गुण तथा रूप, स्पर्श, अग्नि और वायु के योग से है ॥

अप्सु शीतता ॥ —वै० अ० २। सू० ५

और जल में शीतलत्व गुण भी स्वाभाविक है ॥

तेजो रूपस्पर्शवत् ॥ —वै० अ० २। आ० १। सू० ३।

जो रूप और स्पर्शवाला है, वह **'तेज'** है, परन्तु इनमें रूप स्वाभाविक और स्पर्श वायु के योग से है॥

स्पर्शवान् वायुः ॥ —वै० अ० २। आ० १। सू० ४

स्पर्श गुणवाला **'वायु'** है, परन्तु इसमें भी उष्णता, शीतता, तेज और जल के योग से रहते हैं।

त आकाशे न विद्यन्ते ॥ —वै० अ० २। आ० १। सू० ५

रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श आकाश में नहीं हैं, किन्तु 'शब्द' ही **आकाश** का गुण है ॥

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम् ॥ —वै० अ० २। आ० १। सू०२०

जिसमें प्रवेश और निकलना होता है, वह **'आकाश'** का लिङ्ग है ॥

कार्य्यान्तराप्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः ॥ —वै० अ० २। आ० १। सू० २५

अन्य पृथिवी आदि कार्यों से प्रकट न होने से शब्द स्पर्शगुणवाले भूमि आदि का गुण नहीं है, किन्तु शब्द आकाश ही का गुण है ॥

अप्सु शीतता—(अप्सु) जलों में (शीतता) शीतस्पर्श (व्यवस्थित है)।

लिङ्गविपर्यास के साथ यहाँ **'व्यवस्थितः'** पद २।२।३ से अनुवृत्त समझना चाहिए। तब अर्थ होगा—जल में शीतस्पर्श उसका स्वाभाविक गुण है, किसी अन्य के सहयोग से न आने के कारण औपाधिक नहीं है। जल के अतिरिक्त यदि कहीं द्रव्य में शीतस्पर्श उपलब्ध होगा तो वहाँ उसे औपाधिक समझना चाहिए।

तेजो रूप— (तेजः) तेज अथवा अग्नि (रूपस्पर्शवत्) रूप व स्पर्शवाला है। तेज में भास्कर शुक्लरूप और उष्णस्पर्श समवेत रहते हैं। भास्कर शुक्लरूप का एवं उष्णस्पर्श का समवायिकारण अथवा आश्रय तेज है, यह तेज का लक्षण स्पष्ट होता है। तेज में इन गुणों के उद्भावन (प्रकट होना), अनुद्भावन (प्रकट न होना) के आधार पर चार परिस्थिति देखने में आती हैं। १—जहाँ रूप और स्पर्श दोनों उद्भूत रहते हैं, जैसे—सौर तेज तथा काष्ठादिप्रज्वलित अग्नि। २—जहाँ कथंचित् रूप और स्पर्श दोनों अनुद्भूत रहते हैं, जैसे मानव आदि का चक्षु—तेज। ३—जहाँ रूप उद्भूत रहता है, स्पर्श अनुद्भूत जैसे—चन्द्रमा। ४—जहाँ रूप अनुद्भूत रहता है, स्पर्श उद्भूत, जैसे—तप्त पाषाण अथवा भर्जनपात्रस्थ बालू।

स्पर्शवान्—(स्पर्शवान्) स्पर्शवाला है (वायुः) वायु।

स्पर्शगुण तीन प्रकार का अनुभूत होता है—उष्ण, शीत, अनुष्णाशीत। वायु में अनुष्णाशीत स्पर्श रहता है। इस प्रकार के स्पर्श का समवायिकारण अथवा आश्रय वायु है, यह वायु का लक्षण व स्वरूप स्पष्ट होता है।

पृथिवी, जल, तेज और वायु चार द्रव्यों के लक्षण व स्वरूप का उपर्युक्त विवरण चार सूत्रों द्वारा प्रस्तुत किया गया। वैशेषिकशास्त्र में समस्त कार्यजगत् के मूल उपादान के रूप में चार प्रकार के परमाणु माने गये हैं इन्हीं परमाणुओं से बननेवाला समस्त विश्व सकर्मा में आता है। ये परमाणु 'पृथिवी, जल,

https://t.me/arshlibrary

तेज, वायु' नाम से व्यवहृत होते हैं।

त आकाशे—(ते) वे (आकाशे) आकाश में (न) नहीं (विद्यन्ते) रहते। वे-गन्ध, रस, रूप, स्पर्श-गुण आकाश में उपलब्ध नहीं होते।

'आकाश' पद काल आदि शेष सब द्रव्यों का उपलक्षण है। आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन इन सभी द्रव्यों में रूपादि उक्त गुण नहीं रहते। केवल शब्द ही आकाश का गुण है।

पृथिव्यादि चार द्रव्यों का विवेचन करने के अनन्तर क्रमप्राप्त 'आकाश' द्रव्य का निरूपण किया जाता है—

निष्क्रमणम्—(निष्क्रमणं) बाहर निकलना, (प्रवेशनं) बाहर से भीतर जाना, (इति) इस प्रकार की क्रिया का सम्भव होना (आकाशस्य) आकाश का (लिङ्गम्) चिह्न है।

घर के भीतर-बाहर आना-जाना अथवा कहीं भी घूमना-फिरना यह क्रिया या गति ऐसे द्रव्य का अनुमान कराती है जो इन क्रियाओं के लिए अवकाश प्रदान करता है। न केवल क्रिया, प्रत्युत कोई भी मूर्त्त पदार्थ उस अवकाश के बिना आत्मलाभ करने में अक्षम रहता है, जो आकाश के अस्तित्व से प्राप्त होता है। यदि उस अवकाश को कोई एक मूर्त्त पदार्थ घेर लेता है तो उसमें दूसरे मूर्त्त पदार्थ का आना सम्भव नहीं। इस प्रकार सूक्ष्मतम मूर्त्त द्रव्यों से लेकर महान्-से-महान् मूर्त्त द्रव्यों तक की स्थिति ऐसे पदार्थ का अनुमान कराती है, जो इनके लिए अवकाश प्रदान करता है। वही द्रव्य आकाश है।

कार्यान्तर—(कार्यान्तराप्रादुर्भावात्) कार्यान्तरों (अवयवों) से प्रादुर्भूत न होने के कारण (च) और (शब्द) शब्दगुण (स्पर्शवताम्) स्पर्शवाले द्रव्यों का (अगुणः) गुण नहीं है।

स्पर्शवाले द्रव्य चार हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु। पृथिवी आदि कार्यों में गन्ध आदि गुण कारणगुणपूर्वक होते हैं। किसी कार्य—अवयवी में गन्ध, रस, रूपादि गुण उसके (अवयवी के) कारण-अवयवगत गन्ध, रस, रूपादि गुणों के समान देख जाते हैं। आम में जो गन्ध, रस आदि हैं, उनके समान जातीय गन्ध-रस आम के अवयवों में उपलब्ध हैं। अवयवगत गन्ध-रस-कार्य अवयवी आम में अपने सजातीय गन्ध-रस के आरम्भक होते हैं। शुक्लपटगत शुक्लरूप पट के कारण तन्तु-अवयवगत शुक्लरूप के समानजातीय होता है, अर्थात् तन्तुकारणगत शुक्लरूप कार्यपट में अपने समानजातीय शुक्लरूप का आरम्भक होता है। यह स्थिति—कार्यगुण कारणगुणपूर्वक होता है (२।१।२४)—इस व्यवस्था के अनुसार है। इस प्रकार पृथिवी आदि में प्रकट न होने से शब्द आकाश ही का गुण है।

अपरस्मिन्—(अपरस्मिन्) अपर में (अपरम्) अपर, (युगपत्) एक साथ (चिरम्) देर (क्षिप्रम्) जल्दी (इति) इस प्रकार (जो ज्ञान व व्यवहार होते हैं, वे) (काललिङ्गानि) काल के लक्षण हैं।

काल की न्यूनता-अधिकता सूर्यादिसम्बन्धी न्यून-अधिक गतियों पर आधारित है। जिस पिण्ड का सम्बन्ध अन्य की अपेक्षा अधिक गतियों से रहा है, वह 'पर' कहा जाएगा, दूसरा अपर। यह 'पर' भी अन्य किसी की अपेक्षा 'अपर' है। ऐसे ही एक जगह 'अपर' उस अन्य की अपेक्षा 'पर' है जिसका सम्बन्ध सूर्यादि गतियों के साथ न्यून रहा है। इस प्रकार यह सब व्यवहार जिस द्रव्य से नियमित होता है, वह 'काल' है। लोक में साधारणतया यह कहते सुना जाता है—अमुक ने साठ दीवाली या होली देखी हैं, और उसने अभी केवल तीस, उनकी कैसी समानता ? यह व्यवहार कालकृत परत्वापरत्व का बोधक है। इसलिए जहाँ परत्वापरत्व का अस्तित्व है, वह काल के अस्तित्व को लक्षित करता है।

https://t.me/arshlibrary

[काल का लक्षण]

अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि ॥ —वै० अ० २। आ० २। सू० ६

जिसमें अपर, पर, युगपत्=एकवार, चिरम्=विलम्ब, क्षिप्रम्=शीघ्र इत्यादि प्रयोग होते हैं, उसको **'काल'** कहते हैं ॥

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति ॥ —वै० अ० २। आ० २। सू० ६

जो नित्य पदार्थों में न हो और अनित्यों में हो, इसलिए कारण में ही **'काल'** संज्ञा है।

[दिक्=दिशा का लक्षण और भेद]

इत इदमिति यतस्तद् दिश्यं लिङ्गम् ॥ —वै० अ० २। आ० २। सू० १०

यहाँ से यह पूर्व-दक्षिण-पश्चिम-उत्तर ऊपर-नीचे, जिसमें यह व्यवहार होता है, उसी को **'दिशा'** कहते हैं ॥

आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची ॥ —वै० अ० २। आ० २। सू० १४

जिन अनेक क्रियाओं के सम्पन्न होने में समानता दीख रही है, वह समानता काल के कारण है। यह समानता काल के आधार पर है। जितनी देर में यह कार्य हुआ, उतनी ही देर में दूसरा हो गया, दोनों के सम्पन्न होने के काल की समानता में 'युगपत्' का व्यवहार होता है। जहाँ असमानता हो, वहाँ 'चिर' और 'क्षिप्र' का व्यवहार होता है। जहाँ देर लगे, वहाँ 'चिर', जहाँ जल्दी हो, वहाँ 'क्षिप्र'। यह जल्दी और देर का व्यवहार 'काल' पर आधारित है। यह 'काल' का लक्षण है।

नित्येष्वभावात्—(नित्येषु) नित्य पदार्थों में (अभावात्) न होने से (अनित्येषु) अनित्य पदार्थों में (भावात्) होने से (चिर, क्षिप्र, युगपत् आदि व्यवहार) (कारणे) कारण होने में (कालाख्या) काल का नाम (लिया जाता है) (इति) इस प्रकार अथवा प्रकरण की समाप्ति।

अज्ञातकर्तृक प्राचीन व्याख्या में **'भावात्'** पर्यन्त एक सूत्र और **'कारणे कालाख्येति'** यह दूसरा अतिरिक्त सूत्र माना है। चन्द्रानन्दीय व्याख्या में भी दो सूत्र हैं, पर दूसरे सूत्र में **'इति'** पद नहीं है।

आकाश, परमाणु आदि नित्य पदार्थों में—यह जल्दी हुआ, यह देर में हुआ, यह एकसाथ हुआ, यह पर है, यह अपर है—इत्यादि व्यवहार नहीं होता, परन्तु घट, पट आदि अनित्य पदार्थों में ऐसा व्यवहार होता है। इससे स्पष्ट है कि कार्यमात्र (चाहे वह कार्य द्रव्य, गुण, कर्म कुछ भी हो) के कारण में 'काल' यह नाम प्रयुक्त होता है, इसलिए कार्यमात्र का कारण काल को माना गया है।

विविध ऋतुओं के अनुसार विभिन्न वनस्पति, फूल, फल आदि का उत्पन्न होना काल के अस्तित्व का चिह्न है। वसन्त, हेमन्त आदि ऋतुएँ काल का स्वरूप हैं। इन पदों से काल का अभिव्यंजन होता है। 'इति' पद प्रकरण की समाप्ति का द्योतक समझना चाहिए।

इत इदमिति—(इतः) इधर से, यहाँ से (इदम्) यह है, (इति) इस प्रकार (का व्यवहार) (यतः) जिस (निमित्त) से (होता है) (तत्) वह (दिश्यं) दिक् का द्योतक (लिङ्गम्) लिङ्ग—लक्षण है।

लोक में सर्वत्र ऐसा व्यवहार देखा जाता है कि अमुक वस्तु इधर से उतनी दूर अथवा समीप है, इधर है या उधर है। यह व्यवहार जिस निमित्त से होता है, उस निमित्त—दिशा नामक पदार्थ—का यह लिङ्ग है। इससे दिक् नामक पदार्थ पहचाना जाता है। लोक में प्रयुक्त 'दूर' और 'समीप' पदों के अर्थ के लिए

https://t.me/arshlibrary

जिस ओर प्रथम आदित्य का संयोग हुआ, है, होगा, उसको **पूर्व दिशा** कहते हैं और जहाँ अस्त हो, उसको **पश्चिम** कहते हैं। पूर्वाभिमुख मनुष्य के दाहिनी ओर **दक्षिण**, और बाँई ओर **उत्तर** दिशा कहाती है॥

एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि॥ —वै० अ० २। आ० २। सू० १६

इससे पूर्व-दक्षिण के बीच की दिशा को **'आग्नेयी'**, दक्षिण-पश्चिम के बीच को **'नैर्ऋति'**, पश्चिम-उत्तर के बीच को **'वायवी'**, और उत्तर पूर्व के बीच को **'ऐशानी'** दिशा कहते हैं॥

[आत्मा के लिङ्ग]

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति॥ —न्याय० अ० १। आ० १। सू० १

शास्त्र में 'पर-अपर' पदों का प्रयोग होता है। जैसे कालकृत परत्वापरत्व में बड़े-छोटे का बोध होता है, वैसे ही दिक्कृत परत्वापरत्व में दूर-समीप का बोध होता है। इसी प्रकार पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर, ऊपर-नीचे आदि व्यवहार का जो निमित्त है, उसी का नाम 'दिक्' है।

आदित्यसंयोगात्—(आदित्यसंयोगात्) सूर्य के संयोग से (भूतपूर्वात्) पहले हुए-हुए (भविष्यतः) आगे होनेवाले (भूतात्) वर्त्तमान में हो रहे (च) और (प्राची) पूर्वदिशा।

सर्ग के आदिकाल से सूर्य एक निर्धारित दिशा में निकलता आया है और आगे आनेवाले काल में भी इसी प्रकार निकलता दिखाई देता रहेगा। अब वर्त्तमान में भी ऐसा ही दिखाई देता है। यह निर्धारित दिशा, जिधर सर्वप्रथम सूर्य सदा दिखाई देता है, प्राची दिशा कही जाती है। सूत्रकार ने तीनों कालों का निर्देश इसी प्रयोजन से किया कि ऐसी प्रतीति एवं व्यवहार में कभी विपर्यास नहीं होता। जिस ओर सबसे पहले सूर्य दिखाई देता है उस ओर को प्राची दिशा कहा गया। इसके ठीक उलटी ओर जब सूर्य दृष्टिगोचर होता है, वह प्रतीची—पश्चिम दिशा है—**'प्रत्यग् अञ्चति यस्यां सा'** पहले से ठीक उलटी दिशा में सूर्य प्राप्त हो वह पश्चिम दिशा है। दाएँ हाथ की ओर दक्षिण और बाएँ हाथ की ओर उत्तर—उदीची दिशा कहाती है। इसी प्रक्रिया का अवान्तर दिशाओं को समझाने के लिए सूत्रकार ने अतिदेश किया—

एतेन—(एतेन) इससे (दिगन्तरालानि) दिशाओं के अन्तराल—मध्य की अन्तर दिशाओं का (व्याख्यातानि) व्याख्यान समझ लेना चाहिए। प्राची, प्रतीची आदि दिशाओं के विवरण से उनके मध्यवर्ती अवान्तर दिशाओं को जान लेना चाहिए—

पूर्व और दक्षिण के अन्तराल की दिशा—आग्नेयी

दक्षिण और पश्चिम के अन्तराल की दिशा—नैर्ऋति

पश्चिम और उत्तर के अन्तराल की दिशा—वायवी

उत्तर और पूर्व के अन्तराल की दिशा—ऐशानी

एकमात्र दिक् (दिशा) द्रव्य के ये सब औपचारिक भेद हैं—केवल व्यवहार की सुविधा के लिए, पर इस प्रकार के अवान्तर विभागों की कोई सीमा नहीं है। व्यवहार-सिद्धि के लिए किन्हीं सीमित रेखाओं में इन्हें निर्धारित कर लिया गया है। यही दस दिशाओं के माने जाने का आधार है।

इच्छा-द्वेष—लोकव्यवहार में प्रायः देखा जाता है कि जब कोई व्यक्ति किसी पदार्थ के विषय में सुख का अनुभव करता है तो वैसे पदार्थ को पुनः देखकर उसे लेना चाहता है। रसनेन्द्रिय से गृहीत आम्र-रस का—कालान्तर में चक्षु द्वारा वैसे आम्ररस को देखकर—स्मरण हो आता है और उस फल को लेने की

https://t.me/arshlibrary

जिसमें इच्छा=राग, द्वेष=वैर, प्रयत्न= पुरुषार्थ, सुख, दुःख, ज्ञान=जानना गुण हों, वह **'जीवात्मा'** कहाता है ॥

'वैशेषिक' में इतना विशेष है—

प्राणाऽपाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तर्विकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥

—वै० अ० ३। आ० २। सू० ४॥

प्राण=भीतर से वायु को बाहर निकालना, अपान=बाहर से वायु को भीतर लेना, निमेष=आँख को नीचे ढाँकना, उन्मेष=आँख को ऊपर उठाना, जीवन=प्राण का धारण करना, मनः=मनन, विचार अर्थात् ज्ञान, गति=यथेष्ट गमन करना, इन्द्रिय=इन्द्रियों को विषयों में चलाना, उनसे विषयों का ग्रहण करना, अन्तर्विकार=क्षुधा, तृषा, ज्वर, पीड़ा आदि विकारों का होना, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न ये सब **आत्मा के लिङ्ग** अर्थात् कर्म और गुण हैं ॥

[मन का लिङ्ग]

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ॥ —न्याय० अ० १। आ० १। सू० १६

इच्छा होती है। चक्षु द्वारा फल को देखकर लेने की इच्छा उसी को होती है, जिसने पहले उसका रसास्वादन किया होता है। इससे इन दोनों इन्द्रियों के विषय को ग्रहण करनेवाला, इन दोनों इन्द्रियों से अतिरिक्त, किन्तु सम्बद्ध; जो तत्त्व है, वह आत्मा है। इस प्रकार इच्छा का होना आत्मा की सिद्धि में प्रमाण है।

ऐसे ही जिस पदार्थ के सम्बन्ध से किसी को दुःख पहुँचता है, उसके प्रति द्वेष की भावना उभरने से उससे दूर होना चाहता है और जिसके सम्बन्ध से सुख पहुँचता है, उसे देखकर उसके प्रति राग होने से उसे प्राप्त करना चाहता है। यह सब अनेक अर्थों के द्रष्टा व अनुभविता एक चेतन तत्त्व की सत्ता को स्वीकार किये बिना सम्भव नहीं। इस प्रकार सुखसाधन पदार्थों के आदान में प्रयत्न के समान दुःखसाधन पदार्थों के परित्याग में प्रयत्न भी आत्मा के अस्तित्व का लिङ्ग—लक्षण है।

विभिन्न इन्द्रियाँ अपने नियत एक-एक विषय के ग्रहण करने में समर्थ हैं। स्वयं इन्द्रियों के द्रष्टा माने जाने पर—एक देह में हुए ज्ञान का अन्य देह से प्रतिसन्धान न होने के समान—एक इन्द्रिय से ज्ञात विषय का अन्य इन्द्रिय द्वारा प्रतिसन्धान होना सम्भव नहीं। इससे अनेक विषयों के द्रष्टा एक आत्मतत्त्व का अस्तित्व सिद्ध है।

इस प्रकार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख तथा ज्ञान से देह इन्द्रिय आदि से अतिरिक्त जीवचेतन=आत्मतत्त्व का अस्तित्व सिद्ध होता है।

प्राणापान—शरीर के भीतर संचरण करनेवाला वायु ऊर्ध्वगामी और अधोगामी रहता है। नासिका-द्वार से वायु भीतर जाता और बाहर आता है। कभी-कभी अपेक्षा होने पर कुछ काल तक मुखद्वारा वायु बाहर-भीतर आता-जाता रहता है। यह सब नियमित व्यवस्था शरीर में किसी चेतन अधिष्ठाता के प्रयत्न आदि के बिना सम्भव नहीं। जड़ वायु का स्वभाव तिर्यग् गति (तिरछा चलना) रहता है, परन्तु, देह में ऊर्ध्वगामी और अधोगामी प्राण-अपान की व्यवस्था देह में चेतन आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है।

भीतर से वायु को बाहर निकालना 'प्राण' और बाहर से वायु को भीतर लेना 'अपान' कहाता है। प्राण-अपान के इन शुद्ध अर्थों को संस्करण ३ में उलटकर प्राण के स्थान पर अपान और अपान के स्थान

https://t.me/arshlibrary

पर प्राण कर दिया गया। ऐसा ही पाठ-परिवर्त्तन सप्तम समुल्लास में भी इस सूत्र की व्याख्या में कर दिया गया। दोनों स्थलों में इस प्रकार परिवर्तित पाठ १४-१५ संस्करणों तक निरन्तर छपता रहा। प्राचीन शास्त्रों से अनभिज्ञ जन ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत प्राण-अपान के अर्थों को अशुद्ध समझते रहे। ग्रन्थकार ने वर्त्तमान संस्करण में उपलब्ध अर्थ यजुर्भाष्य २२।२३, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (**शरीराद् बाह्यदेशं यो वायुर्गच्छति स प्राणः, बाह्याद् देशाच्छरीरं प्रविशति स वायुरपानः**'—वेदोक्तधर्मविषयः) तथा पत्रव्यवहार पृष्ठ ६६ (द्वितीय संस्करण) में भी लिखा है। सायण ने भी अथर्व० १८।२।४६ के भाष्य में स्पष्ट लिखा है—'**मुखनासिकाभ्यां बहिर्निस्सरन् वायुः प्राणः, अन्तर्गच्छन्नपानः**'। यही प्राचीन शास्त्रसम्मत अर्थ है। ऋषि ने इन पदों की व्याख्या योगशास्त्र के मन्तव्यों के अनुसार की है। वे स्वयं योगी थे। उन्हें 'प्राण' और 'अपान' की उन स्थितियों एवं वास्तविकताओं का अनुभव था। साधारण जन इन विषयों की जानकारी न होने से अनायास भ्रम में पड़ सकते हैं। प्राण-अपान की यही व्याख्या अन्यत्र प्राचीन एवं अर्वाचीन आचार्यों ने की है। इस निमित्त कुछ प्रसंग यहाँ उद्धृत करते हैं—

१—गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित 'कल्याण' के योगाङ्क (वर्ष १० अंक १, अगस्त १६३५) में एक लेख 'प्राणायाम' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इसके लेखक हैं—स्वामी श्री कृष्णानन्दजी। यह लेख पृष्ठ ५५४ पर आरम्भ होता है। लेखक ने प्रारम्भ में लिखा है—"हठयोग का लक्षण शास्त्रकारों ने इस प्रकार किया है—

हकारः कीर्त्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते॥

फुप्फुस में से उच्छ्वासरूप से बाहर आनेवाले वायु को 'प्राण' और 'ह' कहते हैं। उष्ण होने के कारण इसका नाम सूर्य भी है, बाहर से जो वायु श्वासरूप में भीतर फुप्फुसों में खींचा जाता है, वह 'अपान' और 'ठ' है। शीतल होने के कारण उसे 'चन्द्र' नाम भी देते हैं। इसी सूर्य और चन्द्र अर्थात् प्राण-अपान की क्रिया के नियमित संयोग को हठयोग कहते हैं। इस हठयोग का फल राजयोग की प्राप्ति है। इसलिए कहा है—**केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते।** —हठयोगप्रदीपिका १।२"

२—मैत्रायणी उपनिषद्, प्रपाठक २ की ७वीं कण्डिका में निम्नलिखित पाठ उपलब्ध होता है—"**अथ योऽयमूर्ध्वमुत्क्रामतीत्येष वाव स प्राणोऽथ योऽयमवाङ् संक्रामत्येष वाव सोऽपानः।**"

इस सन्दर्भ की उपनिषद् में ब्रह्मयोगी विरचित व्याख्या इस प्रकार उपलब्ध है—"**अथ योऽयं वायुः नासाद् ऊर्ध्वमुत्क्रमत्येष वाव स प्राणः। अथ योऽयं बाह्यनासिकारन्ध्राद् अवाङ् संक्रामति एष वाव सोऽपानः।**" [अड्यारसंस्करण]

जो वायु फुप्फुस प्रदेश से ऊपर की ओर फेंका जाता है और नासिकाद्वार से बाहर को उत्क्रमण करता है, वह 'प्राण' है, जो वायु बाहर की ओर से नासिकारन्ध्र से होकर नीचे फुप्फुसों की ओर संक्रमण करता है, वह 'अपान' है। उक्त उपनिषद् सन्दर्भ और उसकी व्याख्या का यही अभिप्राय है। इससे इतना स्पष्ट होता है कि 'श्वास' का नाम 'अपान' और 'उच्छ्वास' का नाम 'प्राण' है। इसी आशय का लेख मैत्रायणीय आरण्यक (२।६) में भी उपलब्ध होता है।

३—अथर्ववेद के प्राणसूक्त (११।४) की दो ऋचाएँ उपर्युक्त भाव को स्पष्ट करती हैं। इस सूक्त की साठवीं ऋचा इस प्रकार है—

https://t.me/arshlibrary

नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते ।
पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः .....॥

इस मन्त्र में ध्यान देने की बात यह है कि पूर्वार्द्ध के **'प्राणते'** और **'अपानते'** पदों का यथाक्रम सम्बन्ध उत्तरार्द्ध के **'पराचीनाय'** और 'प्रतीचीनाय' पदों के साथ है। चतुर्वेदभाष्यकार श्री जयदेव शर्मा विद्यालंकार ने उत्तरार्द्ध के दो पदों की व्याख्या इस प्रकार की है—

(पराचीनाय) पराङ्मुख देह से बाहर आते हुए,

(प्रतीचीनाय) अपनी तरफ़ आते हुए, देह के भीतर आते हुए।

इस व्याख्या को लक्ष्य कर इन पदों का जब हम पूर्वार्द्ध के उक्त पदों के साथ सम्बन्ध पर विचार करते हैं, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि पराङ्मुख अर्थात् देह से बाहर जाता हुआ वायु 'प्राण' है। इसी प्रकार प्रतीचीन अर्थात् बाहर से देह के भीतर की ओर आते हुए वायु का नाम 'अपान' है।

इसी सूक्त का एक और मन्त्र इस प्रकार है—

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा ।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ॥१४॥

गर्भस्थित बालक के शरीर में प्राणरूप वायुक्रिया नहीं होती। जैसे ही गर्भ परिपुष्ट होकर यथाकाल बालक-शरीर बाहर आता है, तब 'बालक उत्पन्न हुआ' ऐसा व्यवहार होता है। उसी समय बालक-देह में प्राणरूप वायुक्रिया का आरम्भ होता है। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि वायु की पहली क्रिया 'अपानति' है, उसके अनन्तर 'प्राणति' क्रिया होती है। जब तक बाहर का वायु बाह्यनासाद्वार से भीतर फुफ्फुसों में नहीं पहुँचेगा, तब तक भीतर की ओर से वायु के आने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'अपानति' वह क्रिया है जिसमें बाहर से वायु भीतर आकर फुफ्फुसों में पहुँचता है, इसी कारण उस वायुक्रिया का नाम 'अपान' है। जब वायु अन्दर फुफ्फुसों में पहुँच जाता है, तब वही वायु दूसरी क्रिया के रूप में उलट जाता है, वह क्रिया है—'प्राणति'। वह फुफ्फुसगत वायु नासाद्वार से बाहर को फेंक दी जाती है, फलतः इस क्रिया का नाम प्राण है। जब तक वायु बाहर से अन्दर नहीं जाएगा तब तक अन्दर से बाहर नहीं आ सकता। इस कारण मन्त्र में 'अपानति' 'प्राणति' इन क्रिया-पदों का क्रमिक प्रयोग इस सिद्धान्त को पुष्ट करता है कि जो वायु बाहर से भीतर जाता है, वह 'अपान' और जो भीतर से बाहर आता है, वह 'प्राण' है।

निमेष-उन्मेष—आँख की पलकों का झपकना 'निमेष' और खोलना 'उन्मेष' कहाता है। पलकों में यह नियमित चेष्टा बिना चेतन की इच्छा व प्रयत्न के सम्भव नहीं। कभी इच्छा होने पर किसी वस्तु को अपलक=एकटक देखने की भावना से निमेष-उन्मेष की क्रिया बन्द होती देखी जाती है। जड़ का स्वाभाविक धर्म होने पर ऐसा नहीं हो सकता, अतः निमेष-उन्मेष शरीर से भिन्न, किन्तु शरीर में, आत्मा के अस्तित्व के लिङ्ग हैं।

जीवन—शरीर में प्राण-धारण की स्थिति का नाम जीवन है। जीवन रहते शरीर में क्षत-संरोहण एवं भग्न संरोहण आदि देखा जाता है। खाल छिल जाने या खरोंच आदि आजाने पर आन्तर शरीर-क्रियाओं से वह भाग स्वतः ठीक हो जाता है। यह सब जीवनकाल में सम्भव है। इससे देह में देहेन्द्रियादि के अतिरिक्त चेतन आत्मतत्त्व की विद्यमानता प्रमाणित होती है।

मनोगति—इन्द्रियविशेष के साथ मन का सान्निध्य ज्ञानोत्पत्ति का निमित्त है। यह मन की गतिविशेष

https://t.me/arshlibrary

जिससे एक काल में दो पदार्थों का ग्रहण ज्ञान नहीं होता, उसको **'मन'** कहते हैं ॥

यह द्रव्य का स्वरूप और लक्षण कहा । अब 'गुणों' को कहते हैं—

[गुणों की गणना]

रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वाऽपरत्वे बुद्धयःसुखदुःखेच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ॥

वै० अ० १। आ० १। सू० ६॥

से होता है । ज्ञाता प्रणिधानपूर्वक अभिमत इन्द्रिय के प्रति मन को प्रेरित करता है । यह सब प्रेरण व निवेशन शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने पर सम्भव है । इस सम्बन्ध के छूटते ही प्राण-अपान आदि सब अन्तर्हित हो जाते हैं । इससे देह में देहातिरिक्त आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है ।

इन्द्रियान्तरविकार—एक बार आम के विशेष रूप को देखा और साथ ही रसना से उसके मधुर रस का आस्वादन किया । कालान्तर में चक्षु से देखे आम का प्रत्यक्ष होने पर आम के पूर्वास्वादित मधुर रस का स्मरण होने से मुँह में पानी आ गया । आँख और रसना दोनों भिन्न करण हैं । तब एक को दूसरे के ग्रहण किये का स्मरण कैसे हो आया ? निश्चय ही एक ऐसी सत्ता है जो दोनों के ग्राह्य विषय का अनुभव करती है । तभी चक्षु से ग्राह्यरूप को देखकर रसना से पूर्वास्वादित रस का स्मरण कर मुँह में पानी भर आता है । यह स्थिति चक्षु और रसना से अतिरिक्त दोनों विषयों के भोक्ता चेतन आत्मा की सत्ता को प्रमाणित करती है ।

सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न—सुख आदि गुण हैं । गुण सदा द्रव्याश्रित रहते हैं । पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में से ये किसी के गुण नहीं हैं । गत सूत्र में 'ज्ञान' आत्मा का गुण सिद्ध किया है । उसी प्रक्रिया से सुख आदि को आत्मा का गुण समझ लेना चाहिए । ये गुण किसी अचेतन द्रव्य के नहीं हो सकते । इसीलिए इनके आश्रयरूप में आत्मा द्रव्य की सिद्धि होती है ।

युगपज्ज्ञान—एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति न होना मन का लिङ्ग (लक्षण) है । यद्यपि स्मृति, अनुमान, शब्दप्रमाण आदि के द्वारा भी ज्ञान आत्मा को होता है, गन्ध आदि बाह्य अर्थ को जाननें के लिए साधन है—प्राण आदि इन्द्रियाँ । इन्द्रिय का अपने विषय के साथ सन्निकर्ष होने पर ही आत्मा को उस विषय का ज्ञान होता है । जिस समय एक इन्द्रिय का अपने विषय से सन्निकर्ष रहता है, उसी समय अन्य इन्द्रियों का भी अपने-अपने ग्राह्य विषय के साथ सन्निकर्ष सम्भव है । ऐसी दशा में प्रत्येक इन्द्रिय के विषय का ज्ञान एक समय में हो जाना चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं । गन्धज्ञान के समय रूपज्ञान नहीं होता । इसी प्रकार रूपज्ञान के समय अन्य इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य विषयों का ज्ञान नहीं होता । इससे निश्चय होता है कि कोई साधन है जो ज्ञान के होने में सहयोगी है—**'यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते'**, जिसके बिना कोई क्रिया नहीं होती । जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ उसका सन्निकर्ष होता है, उस समय में उसी इन्द्रिय से ग्राह्य विषय का आत्मा को ज्ञान होता है । वह सहयोगी साधन मन है । परिमाण की दृष्टि से मन अत्यन्त अणु है, इसलिए उसका अनेक इन्द्रियों से एक समय में संयोग सम्भव नहीं । इस प्रकार एक समय में अनेक ज्ञानों का न होना मन का लक्षण कहा गया है ।

कभी-कभी ऐसा होता है कि एक कार्य में गम्भीरता से लगा हुआ पुरुष अपने सामने या समीप से जानेवाले व्यक्ति को नहीं जान पाता, यद्यपि उसकी आँखों का उससे सन्निकर्ष रहता है । स्पष्ट है ऐसे

https://t.me/arshlibrary

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, [1]गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द ये **'२४ गुण'** कहाते हैं ॥

'गुण' उसको कहते हैं कि—

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् ॥

—वै० अ० १। आ० २। सू० १६॥

जो द्रव्य के आश्रय रहे, अन्य गुण का धारण न करे, संयोग और विभाग में कारण न हो, अनपेक्ष अर्थात् एक-दूसरे की अपेक्षा न करे, उसका नाम **'गुण'** है ॥

अवसरों पर मन जिस अन्य इन्द्रिय के साथ आसक्त है, उसी के ग्राह्य विषय का बोध होता है। किसी के द्वारा बार-बार पुकारे जाने पर उस पुकार को न सुन पाने का भी यही कारण है। इस प्रकार आत्मा, बाह्य ज्ञानेन्द्रिय और अर्थ का परस्पर सन्निकर्ष होने पर भी कभी ज्ञान का होना और कभी न होना —इसी तथ्य को स्पष्ट करता है कि मन को एक समय में एक से अधिक ज्ञान नहीं हो सकता।

कहा जा सकता है कि नर्त्तकी द्वारा नृत्य प्रस्तुत करने के अवसर पर कर, चरण, मुख, नेत्र, अंगुली आदि देहांगों की अनेक प्रकार की चेष्टा एक समय में अथवा एक साथ होती देखी जाती है, जो निश्चय ही ज्ञान और तदनुसारी प्रयत्नपूर्वक होती है। ऐसी दशा में ज्ञान का युगपत् न होना कैसे माना जा सकता है?

वस्तुतः नर्तकी का कर-चरणादि चालन युगपत् न होकर क्रमिक ही होता है, पर मन की गति इतनी तीव्र व चंचल होती है कि उसके क्रम को अनायास पकड़ पाना सम्भव नहीं होता है। इसी कारण अनेक चेष्टाओं के युगपत् होने का भ्रम होता है। यन्त्र का एक चक्र एक मिनट में सहस्र बार घूम जाता है, पर देखनेवाले को वह स्थिर जैसा दीखता है, यद्यपि प्रत्येक क्षण में असंख्य बार अपना स्थान-परिवर्त्तन करता है। मन की गति तो इन आशुगामी भौतिक साधनों से सहस्रों गुणा अधिक है, फलतः नर्त्तकी का अंगचालन क्रमिक रहता है, पर वह क्रम अतिसूक्ष्म व तीव्र होने से पकड़ में नहीं आता, अतः एक काल में अनेक ज्ञानों का होना भ्रममात्र है।

रूपरसगन्ध—प्रस्तुत सूत्र में रूप, रस आदि सत्रह गुणों का उल्लेख है। लोकप्रसिद्ध सात अन्य गुणों का निर्देश सूत्रगत 'च' पद से किया गया है। वे सात गुण हैं—गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द। पहले समस्त (समासयुक्त) पद से इकट्ठे चार गुणों का निर्देश किया है—रूप, रस गन्ध, स्पर्श। चारों को एक ही पद में कहने का तात्पर्य व्याख्याकार आचार्यों ने यह समझा है कि ये चारों गुण ऐसे हैं जो उसी द्रव्य में नित्य भी हैं और अनित्य भी। पृथिव्यादि परमाणु में वे गुण नित्य हैं, और कार्यरूप पृथिव्यादि में अनित्य, परन्तु इस विषय में मतभेद है।

गुरुत्व—भारीपन, द्रवत्व—पिघलापन, स्नेह—बिखरे द्रव्य या पदार्थ को पिण्डरूप बना देने की क्षमता। संस्कार के तीन अवान्तर भेद हैं—वेग, स्थितिस्थापक, भावना। हाथ से फेंका गया पत्थर, बन्दूक से निकली गोली, धनुष् से छोड़ा गया बाण एक स्थान से दूसरे स्थान पर बिना प्रयत्न के चले जाते हैं, इसमें वेग नामक संस्कारगुण निमित्त होता है। पेड़ की टहनी को झुकाकर छोड़ देने से टहनी स्वतः अपने

१. गुरुत्वादि गुण सूत्रस्थ 'च' शब्द से संगृहीत किये जाते हैं। द्र० —'च शब्दसमुच्चिताश्च गुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारादृष्ट-(धर्माधर्म)-शब्दाः सप्त'। प्रशस्तपाद-भाष्य।

https://t.me/arshlibrary

[1]**श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाऽभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः ॥**

—महाभाष्य १।१।१

जिसकी श्रोत्रों से प्राप्ति, जो बुद्धि से ग्रहण करने योग्य, और प्रयोग से प्रकाशित तथा आकाश जिसका देश है, वह '**शब्द**' कहाता है ॥

[2]नेत्र से जिसका ग्रहण हो वह **रूप**, जिह्वा से जिस मिष्टादि अनेक प्रकार का ग्रहण होता वह **रस**, नासिका से जिसका ग्रहण हो वह **गन्ध**, त्वचा से जिसका ग्रहण होता है वह **स्पर्श**, एक, द्वि इत्यादि गणना

स्थान पर पहुँच जाती है, इसका निमित्त स्थितिस्थापक नाम का संस्कार-गुण है। किसी प्रकार के कार्य या अनुष्ठान से जो प्रभाव आत्मा पर पड़ता है, वह भावना नामक संस्कार-गुण है, धर्म—पुण्यकर्म , अधर्म —पापकर्म और शब्द—प्रसिद्ध ध्वनिरूप है। सूत्र में '**संख्या**' पद बहुवचनान्त निर्दिष्ट है। यह संख्या की अनेकता या अनन्तता का द्योतक है। एकत्व संख्या केन्द्रभूत है, इसको बढ़ाते जाएँ तो उसका अन्त नहीं, घटाते जाएँ तो उसकी सीमा नहीं। इसी प्रकार '**परिमाणानि**' पद बहुचनान्त है। वस्तुतत्त्व अनन्त हैं, उनके परिमाण भी अनन्त हैं। बहुवचन इसी का संकेत करता है। '**पृथक्त्व**' गुण का एकवचन से निर्देश किया है। चाहे पृथक्त्व दो का कहा जाए अथवा अधिक का, पृथक्त्व के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। एक-दूसरे से 'अलगपना' सब जगह एक-सा रहता है।

'**संयोगविभागौ**', '**परत्वापरत्वे**', '**सुखदुःखे**', '**इच्छाद्वेषौ**' ये सब द्वन्द्व=जोड़े हैं। संयोग का अभाव वियोग है, अथवा विभाग का अभाव संयोग है, ऐसा नहीं है। इन दोनों की स्वतन्त्र व वास्तविक सत्ता है, पर दोनों एक-दूसरे से विपरीत हैं। शेष जोड़ों की भी यही स्थिति है। सूत्र में '**बुद्धयः**' पद बहुवचन में होने से वह ज्ञान की अनन्तता को अभिव्यक्त करता है। यही व्यवस्था '**प्रयत्नाः**' इस बहुवचनान्त प्रयोग की है।

द्रव्याश्रय्य—द्रव्याश्रयी जो पदार्थ स्वभावतः गुण में आश्रय पाता हो अर्थात् जो पदार्थ समवायसम्बन्ध से द्रव्याश्रित हो, वह गुण है। गुण का यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित है, क्योंकि जितने कार्यद्रव्य हैं, वे सब समवायसन्बन्ध से अपने कारणद्रव्यों में आश्रित रहते हैं। इस दोष को दूर करने के लिए सूत्रकार ने अगला पद पढ़ा—**अगुणवान्**। गुण में समवाय से गुण नहीं रहता, कार्यद्रव्य में गुण रहता है। तात्पर्य हुआ—जिस पदार्थ में समवायसम्बन्ध से गुण न रहते हों, वह गुण है। इसलिए कार्यद्रव्य द्रव्याश्रयी होता हुआ भी गुणों का आश्रय है।

संयोगविभागेष्वकारणम्—संयोग-विभाग में कारण न हो। कर्म द्रव्याश्रित है और अगुणवान् है— लक्षण गुण का किया, पर कर्म में भी घटित हो गया। इससे कर्म में अतिव्याप्ति बनी रही। इस दोष से बचाने के लिए सूत्रकार ने कहा—**संयोगविभागेषु अकारणम्**—जो द्रव्याश्रित और अगुणवान् होता हुआ, संयोग और विभाग की उत्पत्ति में कारण न हो, वह गुण है। पर संयोग-विभाग संयोगज संयोग और विभागज विभाग की उत्पत्ति में कारण हैं, इसलिए संयोग और विभाग गुण नहीं रहेंगे, पर इन्हें २४ गुणों के अन्तर्गत गुण

---

१. 'श्रोत्रोपलब्धि .....'शब्द कहाता है' इन चार पङ्क्तियों का शब्द का स्वरूपबोधक पाठ अगले 'नेत्र से जिसका ग्रहण' सन्दर्भ के अन्त में 'कोमलता-दि पाठ के पश्चात् और 'ये चौबीस गुण हैं' से पूर्व होना चाहिए, क्योंकि शब्द की गणना इसके अन्त में की है।

२. यहाँ से आगे 'रूपरसगन्धस्पर्शा.....' सूत्रगत शेष रूपादि की व्याख्या जाननी चाहिए।

https://t.me/arshlibrary

जिससे होती है वह **संख्या**, जिससे तोल अर्थात् हल्का-भारी विदित होता है वह **परिमाण**, एक-दूसरे से अलग होना वह **पृथक्त्व**, एक-दूसरे के साथ मिलना वह **संयोग**, एक-दूसरे के मिले हुए के अनेक टुकड़े होना वह **विभाग**, इससे यह परे है वह **पर**, उससे यह उरे है वह **अपर**, जिससे अच्छे-बुरे का ज्ञान होता है वह **बुद्धि**, आनन्द का नाम **सुख**, क्लेश का नाम **दुःख**, **इच्छा**=राग, **द्वेष**=विरोध **प्रयत्न**=अनेक प्रकार का बल-पुरुषार्थ, **गुरुत्व**=भारीपन, **द्रवत्व**=पिघल जाना, **स्नेह**=प्रीत और चिकनापन, **संस्कार**=दूसरे के योग से वासना का होना, **धर्म**=न्यायाचरण और कठिनत्वादि, **अधर्म**=अन्यायाचरण और कठिनता से विरुद्ध कोमलतादि ये चौबीस गुण हैं ॥

[कर्म के भेद और लक्षण]

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ॥ —वै० अ० १। आ० १। सू० ७

'उत्क्षेपण'=ऊपर को चेष्टा करना, **'अवक्षेपण'**=नीचे को चेष्टा करना, **'आकुञ्चन'**=संकोच करना, **'प्रसारण'**=फैलाना, **'गमन'** आना-जाना-घूमना आदि, इनको **'कर्म'** कहते हैं ॥

अब कर्म का लक्षण—

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणम् इति कर्मलक्षणम् ॥ —वै० अ० १। आ० १। सू० १७

'एकं द्रव्यमाश्रय आधारो यस्य तदेकद्रव्यं, न विद्यते गुणो यस्य यस्मिन् वा तदगुणं, संयोगेषु विभागेषु

नाम से अभिहित किया गया है। इस अव्याप्ति दोष को दूर करने के लिए सूत्रकार ने कहा—**'अनपेक्षः'**। तात्पर्य यह कि संयोग और विभाग की उत्पत्ति में जो अन्य की अपेक्षा न रखता हुआ कारण न हो, अर्थात् सापेक्ष कारण हो, वह गुण होगा। संयोग और विभाग संयोगज-संयोग और विभागज-विभाग की उत्पत्ति में अन्य-सापेक्ष कारण हैं, अतः वे गुण की श्रेणी में बने रहेंगे। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र के अनुसार गुण का लक्षण हुआ—द्रव्याश्रित, अगुणवान् होते हुए जो संयोग-विभागों की उत्पत्ति में अनपेक्ष अकारण हो, वह गुण है। इसका निष्कर्ष निकालकर व्याख्याकारों ने गुण का लक्षण इस रूप में किया है—द्रव्य और कर्म के अतिरिक्त जो पदार्थ सत्तासामान्य का आश्रय हो, वह गुण है।

श्रोत्रोपलब्धिः—शब्द का विवेचन करते हुए ग्रन्थकार ने **'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'** में लिखा है—**"श्रोत्रेन्द्रियेण ज्ञानं यस्य, बुद्धया नितरां ग्रहीतुं योग्यः, उच्चारणेनाभिप्रकाशितो यो यस्याकाशो देशोऽधिकरणं वर्त्तते स शब्दो भवतीति बोध्यम्**—अर्थात् कान से सुनके जिसका ग्रहण होता है, बुद्धि से जो जाना जाता है, जो वागिन्द्रिय से उच्चारण करने से प्रकाशित होता है और जिसका निवासस्थान आकाश है, उसे शब्द कहते हैं।

—(वेदानां नित्यत्वविचारः)

उत्क्षेपणम्—इच्छापूर्वक प्रयत्न द्वारा किसी वस्तु में ऊपर की ओर जो क्रिया या प्रवृत्ति होती है, वह 'उत्क्षेपण' नामक कर्म है। हाथ में लेकर गेंद फेंकी जाए तो वह उत्क्षेपण है, किन्तु यदि प्रयत्नपूर्वक नीचे की ओर फेंकने पर तीव्र आघात पाकर स्वयं ऊपर की ओर उछल जाए तो वह उत्क्षेपण न होकर सामान्य गतिरूप क्रिया होगी, क्योंकि वहाँ इच्छा का अभाव है। इसी प्रकार मूसल को ऊपर उठाकर निम्नस्थित वस्तु पर चोट करने की इच्छा से प्रयत्नपूर्वक उसे नीचे की ओर लाने की क्रिया अवक्षेपण नामक कर्म है, किन्तु यदि मूसल को ऊपर उठाकर अधर में छोड़ दिया जाए तो उसका नीचे की ओर गति करके स्वतः गिर जाना अवक्षेपण न होकर सामान्य गति या क्रिया होगी, क्योंकि उसमें इच्छापूर्वक प्रयत्न का अभाव है।

https://t.me/arshlibrary

चाऽपेक्षारहितं कारणं तत्कर्मलक्षणम्' । अथवा—**'यत् क्रियते तत्कर्म, लक्ष्यते येन तल्लक्षणम्, कर्मणो लक्षणं कर्मलक्षणम्'** एक द्रव्य के आश्रित, गुणों से रहित, संयोग और विभाग होने में जो अपेक्षारहित कारण हो, उसको **'कर्म'**[1] कहते हैं ॥

[सामान्य द्रव्य का निर्देश]

द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम् ॥ —वै० अ० १। आ० २। सू० १८

जो कार्य द्रव्य गुण और कर्म का कारण द्रव्य है, वह **सामान्य द्रव्य** है ॥

द्रव्याणां द्रव्यं कार्यं सामान्यम् । —वै० अ० १। आ० १। सू० २३

जो द्रव्यों का कार्य द्रव्य है, वह कार्यपन से सब कार्यों में सामान्य है ॥

[सामान्य विशेष]

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वञ्च सामान्यानि विशेषाश्च ॥ —वै० अ० १। आ० २। सू० ५

द्रव्यों में द्रव्यपन, गुणों में गुणपन, कर्मों में कर्मपन ये सब **सामान्य** और **विशेष** कहाते हैं, क्योंकि द्रव्यों

आकुञ्चन का अर्थ है—सिकुड़ना या सिकोड़ना । किसी वस्तु के आकार या फैलाव को थोड़े प्रदेश में सीमित करदेनेवाली क्रिया 'आकुञ्चन' और उसी को पूर्व अवस्था में ले-जानेवाली क्रिया 'प्रसारण' नामक कर्म है । हाथ की मुट्ठी बाँधना और खोलना भी आकुञ्चन और प्रसारण है ।

सूत्रगत **'गमनम्'** शब्द से पूर्वोक्त उत्क्षेपण आदि के अतिरिक्त—उन समस्त क्रियाओं का ग्रहण होता है जो द्रव्यसमुदाय में साधारणरूप से होती रहती हैं । भ्रमण (चाक या पहिए आदि का घूमना), रेचन (मल-मूत्र आदि का विसर्जन), स्पन्दन (जल आदि द्रव पदार्थों का बहते रहना), ऊर्ध्वज्वलन (अग्नि आदि का ऊपर की ओर गति करना) आदि विविध प्रकार की समस्त प्रकार की क्रियाओं का समावेश 'गमन' नामक कर्म में हो जाता है । निष्क्रमण, प्रवेशन, भीतर से बाहर, बाहर से भीतर आना-जाना, घर के एक कमरे से निकलकर दूसरे कमरे में प्रवेश करना आदि सामान्य गमन-कर्म के रूप हैं ।

एकद्रव्यमगुणम्—जब कोई क्रिया होती है, उसका आश्रय-द्रव्य केवल एक रहता है । एक क्रिया उसी काल में अनेक द्रव्यों में नहीं हो सकती । जैसे—संयोग-विभाग, द्वित्वादिसंख्या, पृथक्त्व आदि अनेक गुण अनेकद्रव्याश्रित रहते हैं, इस प्रकार कर्म (क्रिया—गति आदि) कभी अनेकाश्रित नहीं रहता । कर्म कभी गुण का आश्रय नहीं होता । यहाँ आश्रयता समवायसम्बन्ध से समझनी चाहिए ।

कुछ द्रव्य नित्य हैं, कुछ अनित्य, गुण भी नित्य-अनित्य दोनों हैं, परन्तु कर्म कभी नित्य नहीं होता । प्रत्येक क्रिया उत्पन्न होती और अपना कार्य सम्पन्न कर नष्ट होती रहती है । सूत्र के प्रथम पदों को लेकर सूत्रार्थ होगा—जो केवल एक द्रव्य में आश्रित रहता है, पर गुण नहीं है, कर्म है । तात्पर्य हुआ कि—एक द्रव्यवृत्ति गुण को छोड़कर जो पदार्थ केवल एकद्रव्याश्रित रहता है, वह कर्म है ।

---

१. यह कर्म ही पाश्चात्य साइंस के अनुसार Energy (एनर्जी) का रूप धारण करता है । यह द्रव्य से पृथक् पदार्थ नहीं, अतः आईस्टीन ने लिखा है कि भविष्य में मैटर और ऐनर्जी का भेद मिट जाएगा । भ० द०

https://t.me/arshlibrary

में द्रव्यत्व सामान्य, और गुणत्व, कर्मत्व से द्रव्यत्व विशेष है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना।

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम् ॥ —वै० अ० १। आ० २। सू० ३

सामान्य और विशेष बुद्धि की अपेक्षा से सिद्ध होते हैं। जैसे— मनुष्य व्यक्तियों में मनुष्यत्व सामान्य और पशुत्वादि से विशेष तथा स्त्रीत्व और पुरुषत्व, इनमें [1]ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व, शूद्रत्व भी विशेष हैं। इसी प्रकार सर्वत्र जानो ॥

[समवाय का लक्षण]

इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः ॥ —वै० अ० ७। आ० २। सू० २६

कारण अर्थात् अवयवों में अवयवी, कार्यों में क्रिया क्रियावान्[2], गुण गुणी, जाति व्यक्ति, कार्य्य कारण,

---

द्रव्यगुण—द्रव्य, गुण, कर्म तीनों का द्रव्य समानरूप से कारण है। द्रव्य जैसा द्रव्य का कारण है, वैसा ही गुण और कर्म का। तात्पर्य हुआ कि—किसी भी कार्यद्रव्य का समवायिकारण केवल द्रव्य होता है। प्रत्येक कार्य द्रव्य अवयवी कहा जाता है। वह अवयवी द्रव्य अपने कारणद्रव्य अवयवों में समवायसम्बन्ध से आत्मलाभ करता है, जैसे पट के अवयवतन्तु। तन्तु पट के समवायिकारण हैं। तन्तु के अवयव अंशु। अंशु तन्तु के समवायिकारण हैं, अंशु के और छोटे-छोटे रेशे उसके समवायिकारण हैं। यह कारणपरम्परा का क्रम द्वयणुक तक चला जाता है। स्थूल से द्वयणुक तक प्रत्येक इकाई अवयवी भी है और अवयव भी, परन्तु द्वयणुक के समवायिकारण दो परमाणु अपने रूप में केवल अवयव हैं। वैशेषिक में द्रव्य-विवरण पृथिवी आदि के परमाणुओं को द्रव्य मानकर प्रस्तुत किया गया है, इसलिए यहाँ पृथिवी आदि द्रव्य का परमाणु अवयवमात्र इकाई है। उसके आगे अवयवों की कल्पना इस शास्त्र का प्रतिपाद्य नहीं है।

द्रव्याणां द्रव्यं—(द्रव्याणां) अनेक द्रव्यों का, (द्रव्यं) द्रव्य, (कार्यं) कार्य, (सामान्यम्) सामान्य—एक होता है।

'सामान्य' पद का अर्थ यहाँ साधर्म्य है। यह 'एक' अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। सूत्र का 'द्रव्याणाम्' बहुवचनान्त प्रयोग कारणद्रव्य की अनेकता का बोधक है—एक से अधिक अनेक हैं, दो या अधिक। अनेक तन्तुरूप कारणद्रव्यों को संयुक्त कर पट बनाया जाता है। एकमात्र कारणद्रव्य में संयोग की सम्भावना नहीं हो सकती, अतः कारणद्रव्य का अनेक होना आवश्यक है। अनेक कारणद्रव्य अवयवों से उत्पन्न कार्यद्रव्य

---

१. ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व, शूद्रत्व जातियाँ न्याय-दर्शन प्रतिपादित जातियाँ नहीं हैं, अपितु ये वैयाकरणों की पारिभाषित जातियाँ हैं। इस विषय पर विशेष विचार ११वें समुल्लास के अन्त में 'ब्रह्मसमाज और प्रार्थनासमाज की समीक्षा' प्रकरण में जातिभेद विवेचनात्मक टिप्पणी में किया है। पाठक उसे अवश्य देखें।

२. यही पाठ सं० २ से ३२ तक मिलता है। ३४वें संस्करण से 'इसमें यह, जैसे द्रव्य में क्रिया, गुणी में गुण, व्यक्ति में जाति, अवयवों में अवयवी, कार्यों में कारण अर्थात् क्रियावान्' पाठ मिलता है। इस पाठ का आधार विवेचनीय है। ग्रन्थकार ने सूत्र का शब्दार्थ नहीं किया है। सूत्र का शब्दार्थ इस प्रकार जानना चाहिए— यह यहाँ, ऐसी प्रतीति जिस कारण से होती है, वह समवाय सम्बन्ध है। जैसे कार्य और कारण का सम्बन्ध। सूत्र में 'कार्यकारणयोः' ग्रहण उपलक्षणार्थ है। कार्यकारणरहित में भी यह सम्बन्ध जानना चाहिए। इसी लिए प्रशस्तपादभाष्य में लिखा है —'अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इहेति प्रत्ययहेतुः स समवायः', अर्थात् अविनाभाव-सम्बन्ध से रहनेवाले, आधार आधेयरूप पदार्थों का जो सम्बन्ध 'इस बुद्धि का कारण है, वह 'समवाय' कहाता है। सत्यार्थ-प्रकाशस्थ मुद्रित पाठ उक्त सूत्र एवं प्रशस्तपादभाष्य का फलितार्थ रूप है।

https://t.me/arshlibrary

अवयव अवयवी इनका नित्य सम्बन्ध होने से **समवाय** कहाता है और जो दूसरा द्रव्यों का परस्पर सम्बन्ध होता है, वह संयोग अर्थात् अनित्य सम्बन्ध है।

[साधर्म्य वैधर्म्य]

द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम् ॥ —वै० अ० १ आ० १। सू० ६॥

जो द्रव्य और गुण का समानजातीयक कार्य का आरम्भ होता है, उसको **साधर्म्य** कहते हैं। जैसे

अवयवी उनसे भिन्न है। इसी आधार पर कारण-कार्य अथवा अवयव-अवयवी का सम्बन्ध समवाय माना गया है।

यदि कार्यद्रव्य को एक अवयवीरूप नहीं माना जाता, तो लोकव्यवहार सिद्ध न हो सकेगा, यह बड़ी भारी हानि है। लोक में एक वस्तु के लाने-लेजाने, उठाने-खींचने आदि का व्यवहार 'अवयवी' के आधार पर सम्भव है। घट को किनारा पकड़ कर उठा लेते हैं, चादर को कोना पकड़कर खींच लेते हैं। यह सब उस वस्तु के एक अवयवीरूप होने से हो जाता है। यदि वह वस्तु एकरूप न हो तो घट या पट का वह अंश ही हाथ में पकड़ा रह जाना चाहिए, जो दबाया हुआ है, शेष वहीं छूट जाना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता। सूत्रकार ने **'द्रव्यम्'** एकवचन कहकर इसी अवयवी के अस्तित्व का संकेत किया है।

द्रव्यत्वं गुणत्वं—द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व सामान्य-विशेष जाति के हैं। केवल यही तीन जाति सामान्य-विशेष हों, ऐसा नहीं है। द्रव्यों में पृथिवीत्व, जलत्व आदि, गुणों में गन्धत्व, रसत्व आदि, कर्मों में उत्क्षेपणत्व, अवक्षेपणत्व आदि जातियाँ भी सामान्य-विशेष हैं। सूत्र के 'च' पद से ऐसी सब जातियों का संग्रह कर लेना चाहिए।

पृथिवीत्व की अपेक्षा द्रव्यत्व 'पर' जाति है, इस स्थिति में वह 'सामान्य' है और सत्ता की अपेक्षा 'अपर' जाति होने से 'विशेष' है। इसी प्रकार 'पृथिवीत्व' जाति घटत्व की अपेक्षा 'पर' होने से 'सामान्य' है और द्रव्यत्व की अपेक्षा 'अपर' होने से 'विशेष' है। सत्ता किसी की अवान्तर जाति नहीं है, इसलिए वह केवल 'पर सामान्य' है। इसी प्रकार घटत्व की कोई अवान्तर जाति नहीं है, इसलिए घटत्व केवल 'अपर'-सामान्य कहा जाता है।

सामान्यं विशेष—सूत्र में 'बुद्धि' पद का अर्थ ज्ञान है। जिन अनेक पदार्थों में समान जैसा ज्ञान होता है, वह ज्ञान उन पदार्थों में एक 'सामान्य' नामक धर्म का बोध कराता है। ऐसा सामान्य उस समय 'विशेष' कहा जाता है जब उसका आधारक्षेत्र विस्तृत क्षेत्र से हटकर सीमित हो जाता है। सूत्र के **'बुद्ध्यपेक्षम्'** पद का अर्थ है—बुद्धि है अपेक्षा—लक्षण—चिह्न जिसका, ऐसा 'सामान्य' होता है। अनेक में एक बुद्धि ही 'सामान्य' का बोधक है। पृथिवी आदि अनेक में 'द्रव्य' है, यह एक बुद्धि है। 'द्रव्य है' यह बुद्धि सामान्य है। इसी को जब कहा जाता है—'ये गुण नहीं हैं,' ये कर्म नहीं हैं', तब यह बुद्धिविशेष का बोधक है। इसी को अन्य शब्दों में कहा जाता है—अनुवृत्त बुद्धि 'सामान्य' और व्यावृत्त बुद्धि 'विशेष' का प्रयोजक है। एक ही 'द्रव्यत्व' धर्म समस्त द्रव्यों में समान बुद्धि का प्रयोजक है और वही धर्म द्रव्यों को गुणादि से हटाकर पृथक् रखता है। इस रूप में द्रव्यत्व 'सामान्य-विशेष' उभयात्मक जाति है।

https://t.me/arshlibrary

पृथिवी में जड़त्व धर्म और घटादिकार्योत्पादकत्व स्वसदृश धर्म है वैसे ही जल में भी जड़त्व और हिम आदि स्वसदृश कार्य का आरम्भ, पृथिवी के साथ जल का और जल के साथ पृथिवी का तुल्य धर्म है, अर्थात् **'द्रव्यगुणयोर्विजातीयारम्भकत्वं वैधर्म्यम्'** यह विदित हुआ है कि जो द्रव्य और गुण का विरुद्ध धर्म और कार्य का आरम्भ है, उसको **वैधर्म्य** कहते हैं। जैसे पृथिवी में कठिनत्व, शुष्कत्व और गन्धत्व धर्म जल से विरुद्ध, और जल का द्रवत्व, कोमलता और रसगुणयुक्तता पृथिवी से विरुद्ध है ॥

[कार्य-कारण सम्बन्ध]

कारणभावात् कार्यभावः ॥ —वै० अ० ४। आ० १। सू० ३

कारण के होने ही से कार्य होता है ॥

इहेदमिति—(इह) इस आधार में (इदम्) यह आधेय है (इति) इस प्रकार का प्रत्यय—ज्ञान—व्यवहार (यतः) जिस सम्बन्ध से (कार्यकारणयोः) कार्य और कारण में परस्पर होता है, (सः) वह (समवायः) समवायनामक सम्बन्ध है।

जिन पदार्थों में परस्पर कार्य-कारणभाव होता है, वहाँ यह बोध या व्यवहार बराबर हुआ करता है, कि इस कारण (अधिकरण) में कार्य आश्रित (आधेय) है, जैसे कपड़ा धागों में आश्रित रहता है। प्रत्येक अवयवी के कारण होते हैं वे अवयव, जिनके संयुक्त होने पर वह अवयवी बनता या उत्पन्न होता है। अवयव कारण हैं, अवयवी कार्य है। कार्य कारण में जिस सम्बन्ध से रहता है वह 'समवाय' कहा जाता है।

ऐसे केवल पाँच जोड़े हैं, जिनका परस्पर समवायसम्बन्ध रहता है। द्रव्य-गुण, द्रव्य-कर्म, अवयव-अवयवी, ये तीन जोड़े हैं। सूत्र के **'कार्यकारणयोः'** पद में प्रायः इन तीनों का ग्रहण होता है। प्रायः इसलिए कहा गया है, कतिपय द्रव्याश्रित गुण नित्य होते हैं, उनका द्रव्य के साथ कार्य-कारण भाव नहीं होता, केवल आश्रयाश्रितभाव अथवा आधाराधेयभाव रहता है। अन्य दो जोड़े हैं—व्यक्ति-जाति, अन्त्य-नित्यद्रव्यविशेष। व्यक्ति में जाति आश्रित है तथा अन्त्य नित्यद्रव्य (परमाणु) में विशेष। यहाँ भी कार्य-कारणभाव नहीं है, परन्तु उनका समवायसम्बन्ध है, इसलिए सूत्र का **'कार्यकारणयोः'** पद **'अकार्यकारणयोः'** का भी उपलक्षण माना गया है। कतिपय ऐसे युगलों में भी समवायसम्बन्ध होता है, जिनका परस्पर कार्यकारणभाव नहीं।

द्रव्यगुणयोः—जब कोई द्रव्य किसी द्रव्य को उत्पन्न करेगा, तो वह सजातीय द्रव्य को ही उत्पन्न करेगा। पृथिवी परमाणु पृथिवीत्वजातीय द्रव्य को उत्पन्न करेंगे, अन्य जलत्व जातीय आदि को नहीं। इसी प्रकार जलीय परमाणु जलत्वजातीय द्रव्य को उत्पन्न करेंगे, पृथिवीत्वजातीय आदि को नहीं। ऐसी ही व्यवस्था गुणों में देखी जाती है। जब कोई कारणगत गुण कार्यद्रव्य में किसी गुण को उत्पन्न करता है, तो वह सजातीय गुण को उत्पन्न करता है, विजातीय को नहीं। तन्तुओं का नील अथवा श्वेतरूप पट में नील अथवा श्वेतरूप को ही उत्पन्न करता है। इसको ऐसे भी समझना चाहिए कि रूप रूप को उत्पन्न करेगा, रस आदि को नहीं।

कारणभावात्—कारण जब सद्रूप में विद्यमान रहता है, तभी उससे किसी कार्य के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। कार्य की विद्यमानता प्रत्यक्ष है। तब उससे कारण के सद्भाव का अनुमान हो जाता है। जो मूलकारण है, वह भावरूप है, अभाव से भावकार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। कार्यद्रव्यों में जो गुण देखे जाते हैं, वे कारणगुणपूर्वक हैं। कारण में विद्यमान गुणों से कार्य में गुण आते अथवा उत्पन्न होते हैं। सूत्रकार ने इससे यह स्पष्ट किया कि कार्यजगत् में जो रूप, रस आदि गुण दिखाई देते हैं, वे जगत्

https://t.me/arshlibrary

न तु कार्याभावात् कारणाभावः ॥ —वै० अ० १। आ० २। सू० २

किन्तु कार्य के अभाव से कारण का अभाव नहीं होता ॥

कारणाऽभावात् कार्याऽभावः ॥ —वै० अ० १। आ० २। सू० १

कारण के न होने से कार्य कभी नहीं होता ॥

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ॥ —वै० अ० २। आ० १। सू० २४

जैसे कारण में गुण होते हैं, वैसे ही कार्य में होते हैं ॥

[कार्य-कारण सम्बन्ध]

परिणाम दो प्रकार का है —

अणुमहदिति तस्मिन् विशेषभावाद् विशेषाभावाच्च ॥ —वै अ० ७। आ० १। सू० ६

अणु=सूक्ष्म, महत्=बड़ा, जैसे त्रसरेणु लिक्षा से छोटा और द्व्यणुक से बड़ा है, तथा पहाड़ पृथिवी से छोटे और वृक्षों से बड़े हैं ॥

के मूल उपादानकारण परमाणुओं से आते हैं, अतः परमाणु इन गुणों से युक्त अर्थात् इन गुणों के आश्रय रहते हैं, यह सिद्ध होता है।

न तु—कार्य के न होने से कारण का न होना सिद्ध नहीं होता। किन्हीं पदार्थों के कार्यकारण सम्बन्ध के लिए यह आवश्यक बताया कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति से पूर्व उसके कारण का अस्तित्व अपेक्षित रहता है। यदि कारणवस्तु का अस्तित्व न होगा तो कार्य का होना असम्भव है। यदि बादल नहीं होंगे तो वर्षा नहीं होगी। इसी प्रकार यदि पति-पत्नी नहीं होंगे तो सन्तान नहीं होगी, किन्तु बादलों के होने पर भी सदा वर्षा नहीं होती और दम्पती के रहने पर भी कभी-कभी सन्तान नहीं होती। इससे बादलों या दम्पती के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता।

कारणाभावात्—कौन किसका कार्य और कौन किसका कारण है, इसकी परख के लिए यह कसौटी है—जिसके रहने पर ही जो होता है, उनमें होनेवाली वस्तु कार्य और दूसरी उसका कारण होती है। इस व्यवस्था के अनुसार यह आवश्यक है कि कार्य के आत्मलाभ से पूर्व कारण का अस्तित्व हो। फलतः कारण वह पदार्थ है, जिसका आगे परिवर्त्तन होता है। परिवर्त्तन किसी सद्वस्तु का होता है। इस कारण परिवर्त्तन के लिए उस वस्तु का पहले विद्यमान होना आवश्यक है।

प्रत्येक कार्य के अनेक कारण होते हैं। कोई समवायिकारण होते हैं, कोई असमवायि और कोई निमित्त। उदाहरण के लिए—एक कार्य पट को लीजिए। पट के समवायिकारण तन्तु हैं, असमवायिकारण तन्तुओं का परस्पर संयोग है, तन्तुवाय आदि निमित्तकारण हैं। इन कारणों में से किसी एक के अभाव में भी पट नहीं बनेगा। इसलिए वह प्रत्येक वस्तु पट का कारण है जिसके बिना पट का बनना सम्भव नहीं। यही व्यवस्था वस्तुओं के कार्य-कारणभाव को प्रमाणित करती है।

कारणगुण—पृथिवी आदि कार्यद्रव्यों में जो गन्धादि विशेष गुण देखे जाते हैं, वे कारणगत गुणों से उत्पन्न होते हैं। मिट्टी के घड़े में मिट्टी के और स्वर्ण अथवा रजत से बने आभूषणों में स्वर्ण अथवा रजत जैसे गुण पाये जाते हैं। जीवों में ब्रह्म के समान गुण नहीं पाये जाते, इसलिए उन्हें ब्रह्म से उत्पन्न अथवा उसका अंश नहीं माना जाना चाहिए।

https://t.me/arshlibrary

[सत्ता का लक्षण]

सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ॥ —वै० अ० १। आ० २। सू० ७

जो द्रव्य गुण और कर्मों में सत् शब्द अन्वित रहता है, अर्थात् **'सद् द्रव्यम्, सन् गुणः, सत्कर्म'** सत् द्रव्य, सत् गुण, सत् कर्म, अर्थात् वर्त्तमानकालवाची शब्द का अन्वय सबके साथ रहता है ॥

[महासामान्य]

भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव ॥ —वै० अ० १। २। सू० ४

जो सबके साथ अनुवर्त्तमान होने से सत्तारूप भाव है, सो **महासामान्य** कहाता है। यह क्रम भावरूप द्रव्यों का है ॥

[अभाव के ५ भेद]

और जो **अभाव** है, वह पाँच प्रकार का होता है—

क्रियागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत् ॥ —वै० अ० ६ ॥ आ० १। सू० १

जो क्रिया और गुण के विशेष निमित्त के[1] प्राक् अर्थात् पूर्व 'असत्'=न था। जैसे घट वस्त्रादि उत्पत्ति

अणुमहदिति—(अणु) अणु है यह (महत्) महत् है यह (इति) इस प्रकार एक वस्तु में जो परिमाण विषयक ज्ञान व व्यवहार होता है (तस्मिन्) उस परिमाण में (विशेषभावात्) विशेष-अपकर्ष के होने से अणु व्यवहार (विशेषभावात्) विशेष-अपकर्ष के न होने से महत् व्यवहार होता है।

लोक में ऐसा व्यवहार देखा जाता है कि बिल्व से आँवला अणु है और रत्तक (गुञ्जा-चोंटली) से आँवला महत् है। यह अणु-महत् का आपेक्षिक व्यवहार लौकिक प्रत्यक्षग्राह्य महत् में हुआ करता है। इससे अणु-महत् के वैपरीत्य का कथन युक्त प्रतीत नहीं होता। सूत्रकार ने बताया, इस प्रकार के व्यवहार के विषयपरिमाण में एक स्थल पर जो अणु-महत् व्यवहार होता है, वह उन पदार्थों की परस्पर आपेक्षिक स्थिति के आधार पर है। रत्तक, आँवला और बिल्व तीनों महत्परिमाण के आश्रय हैं, यह प्रत्यक्ष गृहीत होता है। वहाँ महत्परिमाण अपने निर्दिष्ट कारणों से उत्पन्न है। इसलिए यथार्थरूप में वहाँ अणुपरिमाण की सम्भावना नहीं, परन्तु किसी एक की अपेक्षा दूसरे में जहाँ अपकर्ष (छोटापन) है, उसमें औपचारिक रूप से अणु व्यवहार हो जाता है, परन्तु अपकर्ष की भावना होने-न-होने दोनों अवस्थाओं में महत्परिमाण वहाँ यथार्थरूप में विद्यमान रहता है।

सदिति—द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों में जिससे यह ज्ञान होता है कि ये सत् हैं, वह धर्म 'सत्तासामान्य' कहा जाता है। तात्पर्य हुआ, द्रव्यादि तीनों पदार्थों में 'सत्' प्रतीति का कारण सत्ता है। सत्तासामान्य इन तीनों पदार्थों में समवेत है, इसी कारण **'सत् द्रव्यं सन् गुणः सत् कर्म'** इत्यादि ज्ञान हो पाता है। यही सत्ता का लक्षण या स्वरूप है

१. अजमेर मुद्रित शताब्दी-संस्करण (सन् १९२५) से संस्करण ३३ तक 'निमित्त के अभाव से प्राग्' पाठ छपता रहा है। सूत्रार्थ— 'द्रव्य की उत्पत्ति में पूर्व (कारणावस्था में) क्रिया (घट है,) गुण (=लाल, पीला घड़ा) का कथन न होने से कार्य प्राक्=पहले (=कारण में) नहीं था' यह प्रागभाव कहाता है।

https://t.me/arshlibrary

के पूर्व नहीं थे, इसका नाम **'प्रागभाव'** है ॥ **दूसरा**—

सदसत् ॥ —वै० अ० ६। आ० १। सू० २

जो होके न रहै। जैसे घट उत्पन्न होके नष्ट हो जाए, यह **'प्रध्वंसाभाव'** कहाता है ॥ **तीसरा**—

सच्चासत् ॥ —वै ० अ० ६। आ० १। सू ०

जो होवे और न होवे। जैसे **'अगौरश्वोऽनश्वो गौः'** यह घोड़ा गाय नहीं और गाय घोड़ा नहीं, अर्थात् घोड़े में गाय का और गाय में घोड़े का अभाव, और गाय में गाय, घोड़े में घोड़े का भाव है। यह **'अन्योन्याभाव'** कहाता है ॥ **चौथा**—

यच्चान्यदसदतस्तदसत् ॥ —वै० अ० ६। आ० १। सू० ५

जो पूर्वोक्त तीनों अभावों से भिन्न है, उसको **'अत्यन्ताभाव'** कहते हैं। जैसे 'नरशृङ्ग' अर्थात् मनुष्य का सींग, 'खपुष्प'=आकाश का फूल, और 'वन्ध्यापुत्र'=वन्ध्या का पुत्र, इत्यादि ॥ **पाँचवाँ**—

नास्ति घटो गेह इति सतो घटस्य गेहसंसर्गप्रतिषेधः ॥ —वै० अ० ६। आ० १। सू० १०॥

घर में घड़ा नहीं अर्थात् अन्यत्र है, घर के साथ घड़े का सम्बन्ध नहीं है, [यह **'संसर्गाभाव'** कहाता है ॥] ये पाँच अभाव कहाते हैं।

भावानुवृत्तेः—सत्ता केवल सामान्य अर्थात् केवल परजाति है, क्योंकि वह अनुवृत्ति का हेतु है, व्यावृत्ति का नहीं। द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में सद्बुद्धि समानरूप से होती है, इसीलिए 'सत्ता' केवल सामान्य अथवा 'पर-जाति' कही जाती है।

क्रियागुण—कोई कार्य अपने निर्धारित कारणों से उत्पन्न होता है, अथवा कार्यरूप से प्रकाश में आता है। ऐसा नहीं है, कि प्रत्येक कार्य किसी भी कारण से उत्पन्न हो जाए। किसी कार्यविशेष को उत्पन्न करने की योग्यता अथवा क्षमता कारणविशेष में होती है। तन्तुओं में पट बनने की क्षमता है, उनसे घट नहीं बन सकता। मिट्टी से वस्त्र नहीं बन सकता, घट बन जाता है। वस्तुओं के कार्यकारणभाव की इस स्थिति को लक्ष्य कर कहा जाता है, उत्पत्ति से पूर्व कार्य अपने कारणों में कारणरूप से विद्यमान भी कार्यरूप से असत् होता है, क्योंकि कार्यदशा में जिन क्रियाओं व गुणों का उसमें व्यपदेश-कथन-व्यवहार किया जाता है, कारणदशा में उन सबका अभाव रहता है। केवल तन्तुओं से न देह ढका जाता है, न शीतातप का निवारण होता है, न मिट्टी में पानी भरा जा सकता है। उत्पत्ति से पूर्व कार्य के ऐसे अभाव को 'प्रागभाव' कहा जाता है।

प्रागभाव से अन्य एक और प्रकार का अभाव अगले सूत्र में बताया है—

सदसत्—(सत्) विद्यमान कार्य (असत्) अविद्यमान हो जाता है। उत्पन्न हो जाने पर कार्य सत् है। अपने रूप में विद्यमान घट से जलाहरण आदि कार्य होता है और वह गुण व क्रिया का आधार है, यह व्यवहार उसमें बराबर होता रहता है। ऐसे ही तन्तुओं से वस्त्र बन जाने पर उससे देहादि आवृत होते हैं और शीत, वर्षा आदि से वस्त्र द्वारा देह की रक्षा होती है। यह घट, पट आदि की कार्यावस्था सत् है। अब किसी कारण घड़ा फूटकर नष्ट हो गया। जैसे उत्पत्ति से पूर्व असत् होने से घट के क्रियागुणव्यपदेश का अभाव था, वैसी ही स्थिति घट के फूट जाने से उपस्थित हो गयी। प्रत्येक कार्यवस्तु का यही अवसान है। वस्तु के ऐसे अभाव को 'ध्वंसाभाव' कहते हैं।

सच्चासत्—प्रागभाव तथा ध्वंसाभाव से अतिरिक्त एक और अभाव है—अन्योऽन्याभाव। सच्चासत् के

https://t.me/arshlibrary

[अविद्या के हेतु]

इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या ॥ —वै० अ० ६। आ० २। सू० १०

इन्द्रियों और संस्कार के दोष से **'अविद्या'** उत्पन्न होती है ॥

तद् [1]दुष्टं ज्ञानम् ॥ —वै० अ० ६। सू० ११

जो दुष्ट अथवा विपरीत ज्ञान है, उसको **'अविद्या'** कहते हैं ॥

अदुष्टं विद्या ॥ —वै० अ० ६। आ० २। सू० १२

जो अदुष्ट अर्थात् यथार्थ ज्ञान है, उसको **'विद्या'** कहते हैं ॥

[पृथिव्यादि-गुणों के नित्य अनित्य भेद]

पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च ॥ —वै० अ० ७। आ० १। सू० २

एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम् ॥ —वै० अ० ४। आ० १। सू० ३

जो कार्यरूप पृथिव्यादि पदार्थ और उनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, गुण हैं, ये सब कार्यद्रव्यों के अनित्य होने से **अनित्य** हैं और जो इसके कारणरूप पृथिव्यादि नित्य द्रव्यों के गन्धादि गुण हैं, वे **'नित्य'** हैं ॥

अनुसार विद्यमान पदार्थ भी अभावरूप कहा जाता है। घोड़ा गाय नहीं और गाय घोड़ा नहीं, अर्थात् गाय में घोड़े का अभाव है और घोड़े में गाय का। दोनों के विद्यमान रहते हुए भी दोनों का अन्योऽन्य से भेद है। इस प्रकार एक-दूसरे से प्रत्येक वस्तु का भेदरूप अभाव 'अन्योऽन्याभाव' कहाता है।

एक अन्य प्रकार का अभाव है, जो पूर्वोक्त अभावों की सीमा में नहीं आता।

यच्चान्यदसदतस्तदसत्—सूत्रपाठ में 'अतः' पद से उसका वैकल्पिक परामर्श होता है। विकल्प से इस रूप में कि 'अतः' पद से पूर्वोक्त तीन अभावों का परामर्श हो सकता है, और पक्ष में 'सतः' का भी। तात्पर्य हुआ, पूर्वोक्त तीन अभावों से भिन्न जो एक और अभाव है, वह चौथा 'अत्यन्ताभाव' है।

'सतः' पदघटित सूत्रपाठ में 'अत्यन्ताभाव' की भावना अधिक स्पष्ट हो जाती है। 'सत्' से भिन्न—सर्वथा विपरीत—जो अभाव है, वह अत्यन्ताभाव है, जैसे—शशविषाण, नरशृङ्ग, आकाशपुष्प आदि।

नास्ति घटः—'घर में घड़ा नहीं है' इससे अन्यत्र विद्यमान घट का कथित घर में अभाव घोषित होता है। यह अत्यन्ताभाव जैसा प्रतीत होता है, परन्तु दोनों में अन्तर है। घर में घड़ा इस समय नहीं है, पर आगे-पीछे हो सकता है। पहले वहाँ घड़ा रहा हो, और अनन्तर फिर भी आ जाए, यह सम्भव है, परन्तु मनुष्य के सिर पर सींग न कभी थे, न हैं और न होंगे। इस कारण कतिपय आचार्यों ने इनका भेद स्पष्ट करने की भावना से 'घर में घड़ा नहीं है' इस अभाव को 'सामयिकाभाव' नाम दिया है—जो समयविशेष में रहता, और फिर नहीं रहता।

इन्द्रियदोषात्—वैशेषिक शास्त्र में 'अविद्या' के अन्तर्गत संशय, स्वप्न, अनध्यवसाय तथा विपर्यय चारों की गिनती होती है, परन्तु प्रकरण का विचार करते हुए यहाँ 'अविद्या' पद केवल 'विपर्यय' का बोध कराता है। विपर्यय अर्थात् मिथ्या ज्ञान इन्द्रियदोष से तथा संस्कारदोष से हुआ करता है। इन्द्रियदोष

---

१. ग्रन्थकार-निर्दिष्ट पाठ चन्द्रानन्दकृत व्याख्या (बड़ौदा से प्रकाशित) में मिलता है। अन्य व्याख्याग्रन्थों में 'दुष्टज्ञानम्' ऐसा पाठ है।

https://t.me/arshlibrary

[नित्य का लक्षण]

सदकारणवन्नित्यम् ॥ —वै० अ० ४। आ० १। सू० १॥

जो विद्यमान हो, और जिसका कारण कोई भी न हो, वह **'नित्य'** है, अर्थात् **'सत्कारणवदनित्यम्'** जो कारणवाले कार्यरूप गुण हैं, वे **'अनित्य'** कहाते हैं ॥

[लैङ्गिक ज्ञान के भेद]

अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम् ॥

—वै० अ० ६। आ० २। सू० १

है—वात, पित्त आदि शरीर के धातुओं के विकृत होने से इन्द्रियों के द्वारा अपने विषय को ग्रहण करने की क्षमता में दुर्बलता आ जाना। प्रत्येक इन्द्रिय में विभिन्न कारणों से दुर्बलता आ जाने पर विविध रोग उत्पन्न होते हैं। यही इन्द्रियदोष है। ऐसा होने पर विषय का उपयुक्त ग्रहण न होने से उसका अन्यथा—कुछ-का-कुछ ज्ञान हो जाता है। यही मिथ्याज्ञान या विपर्ययज्ञान है। संस्कारदोष से मिथ्याज्ञान उस अवस्था में होता है, जब अनुभव भ्रान्त हुआ हो और उससे भ्रान्त संस्कार हो जाए। उससे जो स्मृति आदि ज्ञान होगा, वह मिथ्या होगा।

तद् दुष्टं ज्ञानम्—सूत्र में 'तत्' पद गतसूत्र में पठित 'अविद्या' का परामर्शक है। 'अविद्या' पद स्त्रीलिङ्ग तथा 'तत्' नपुसकलिंग है, परन्तु विधेय पद ज्ञान नपुंसक होने से 'तत्' के नपुंसक प्रयोग का सामंजस्य सम्भव है। **'या अविद्या प्रागुक्ता, दुष्टं ज्ञानं तत्'**। सूत्र का तात्पर्य हुआ—जो वस्तु जैसी नहीं है, उसका वैसा दीखना अविद्या है—**'अतस्मिंस्तदिति ज्ञानमविद्या'**।

अदुष्टं विद्या—पूर्वसूत्र से 'ज्ञान' पद की अनुवृति यहाँ है। जो ज्ञान दोषरहित है वह विद्या है। इसी को प्रमा नाम से कहा जाता है। अविद्या से विपरीत होने के कारण विद्या का स्वरूप होगा—जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही जानना— **तस्मिंस्तद्बुद्धिर्विद्या**।

पृथिव्यादि—सूत्र में 'आदि' पद से जल, तेज, वायु तीन द्रव्यों का ग्रहण होता है। पृथिवी आदि चारों द्रव्य प्रत्येक दो भागों में विभक्त है—नित्य और अनित्य। परमाणुरूप पृथिवी आदि नित्य हैं—द्वयणुकादिरूप अनित्य। अपने समवायिकारण पृथिव्यादि द्रव्यों के उत्पन्न हो जाने पर उनमें रूपादि गुणों की उत्पत्ति होती है। इसलिए अनित्य पृथिव्यादि द्रव्यों में रूपादि गुणों के नित्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

एतेषु—गत सूत्र में यह कहे जाने से कि अनित्य पृथिव्यादि द्रव्यों में रहनेवाले रूपादि गुण नित्य नहीं हो सकते, अर्थापत्ति द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि नित्य द्रव्यों में रहने पर ये गुण नित्य होते हैं।

सदकारणवत्—जिस भावरूप पदार्थ का कोई कारण नहीं होता, वह नित्य कहलाता है। समस्त दृश्यादृश्य कार्यरूप जगत् अपने उपादानतत्त्व से उत्पन्न हुआ है, इसलिए वह अनित्य है। जो वस्तु अनेक अवयवों से मिलकर बनी है, वह सावयव और अनित्य है। अवयवों को तोड़ते चले जाएँ तो एक ऐसी स्थिति आ जाएगी कि फिर आगे उसी रूप में उसका टुकड़ा न किया जा सकेगा। जहाँ विभाजन क्रिया की अन्तिम सीमा है, वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयव है। इसी का नाम 'परमाणु' है। यह शब्द परम और अणु दो पदों से मिलकर बना है। परम का अर्थ है—अति और अणु का अर्थ है—छोटा। परमाणु निरवयव,

https://t.me/arshlibrary

इसका यह कार्य वा कारण है, इत्यादि समवायि, संयोगि, एकार्थसमवायि[1] और विरोधि यह चार प्रकार का **लैङ्गिक** अर्थात् लिङ्ग-लिङ्गी के सम्बन्ध से होनेवाला ज्ञान होता है। **'समवायि'**—जैसे आकाश परिमाणवाला है। **'संयोगि'**—जैसे शरीर त्वचावाला है, इत्यादि का नित्य संयोग[2] है। **'एकार्थसमवायि'**—एक अर्थ में दो का [3]रहना, जैसे कार्यरूप स्पर्श कार्य का लिङ्ग[4] अर्थात् जनानेवाला है। **'विरोधि'**—जैसे हुई वृष्टि होनेवाली वृष्टि का विरोधी लिङ्ग है॥

अविभाज्य और अविच्छेद्य द्रव्य है, अतः इसका नाश नहीं होता। यह समस्त जगत् का मूलकारण है, इसका कोई कारण नहीं, अतः वह नित्य है।

अस्येदम्—लिङ्ग द्वारा होनेवाला ज्ञान लैंगिक होता है। नियमपूर्वक साथ रहनेवाली दो वस्तुओं में से जब एक दीखती है, तब दीखनेवाली वस्तु से न दीखनेवाली का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि उन दोनों में एक दूसरी को छोड़कर नहीं रह सकती। जो दीखती है, वह लिंग है, ज्ञान का साधन है, जो जानी जाती है वह साध्य या लिंगी है।

रसोई घर में आग और धुएँ को नियम से साथ रहते देखा है, अतः कालान्तर में उठते हुए धुएँ को देखकर ओट में जलती हुई आग का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि धुआँ आग के बिना हो नहीं सकता।

यह लिंग=साधन=करण कहीं साध्य का कार्य होता है, कहीं कारण, कहीं संयोगी, कहीं विरोधी, कहीं समवायी और कहीं एकार्थसमवायी। सूत्र के **'अस्य'** पद का अर्थ है **'साध्यस्य'**, अर्थात् सर्वनाम पद 'साध्य' अर्थ का बोध कराता है। **'इदम्'** सर्वनाम 'लिंग' का बोधक है। **'कार्यम्'** आदि पद के साथ इसका अलग-अलग सम्बन्ध होगा। सूत्रार्थ है—इस साध्य का यह कार्य लिंग, इस साध्य का यह संयोगी लिंग है; इत्यादि।

नियतधर्म—व्यवस्थापूर्वक धर्मों का इकट्ठा रहना व्याप्ति है, चाहे वह (उभयोः) दोनों धर्मों का हो (वा) अथवा (एकतरस्य) दोनों में किसी एक का हो।

साध्य और साधन दोनों धर्मों का नियत साहचर्य अथवा केवल साधनधर्म का साध्य के साथ नियत साहचर्य 'व्याप्ति' है। धूम, अग्नि के बिना सम्भव नहीं, इसलिए धूम की अग्नि के साथ 'व्याप्ति' है, पर अग्नि धूम के बिना भी दग्ध अयोगोलक अथवा अंगार आदि में रहता है, इसलिए अग्नि की व्याप्ति धूम के साथ नहीं बनती, फलतः कहीं दोनों धर्मों का और कहीं एक का अव्यभिचरित साहचर्य व्याप्ति का स्वरूप है। जहाँ दोनों धर्मों का परस्पर एक-दूसरे के साथ समान साहचर्य होता है, उसे समव्याप्ति और जहाँ एक ही धर्म का साहचर्य हो, उसे विषमव्याप्ति कहा जाता है।

निजशक्ति—पदार्थ अथवा धर्मों की निज सहज शक्ति की अभिव्यक्ति ही उन वस्तुओं अथवा धर्मों का साहचर्य है। किसी वस्तु वा धर्म में यह सहज स्वाभाविक सामर्थ्य रहता है कि वह किसी का कारण वा कार्य हो अथवा प्रयोजक या प्रयोज्य हो। यह बनाने से नहीं बनती, यह वस्तुओं का अपना स्वभाव है। यही

---

१. यहाँ सूत्रस्थ 'चकार' से 'संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च' (३।१।६) सूत्र में निर्दिष्ट 'एकार्थसमवायि' का समुच्चय जानना चाहिए।

२. अर्थात् शरीर और त्वचा का सम्बन्ध यावद् द्रव्यभावी (—जब तब शरीर रहता है तब तक रहता) है।

३. यहाँ 'एक में अन्य का समवेत रहना' पाठ युक्त प्रतीत होता है।

४. एक जल में समवेत कार्यरूप उष्ण स्पर्श जल में समवेत कार्यरूप अग्नि का बोधक होता है।

https://t.me/arshlibrary

व्याप्ति—

नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः ॥
निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः ॥
आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः ॥

—सांख्यसूत्र अ० ५सू० २६, ३१, ३२॥

जो दोनों साध्य-साधन अर्थात् सिद्धि करने योग्य और जिससे सिद्ध किया जाए, उन दोनों अथवा एक साधनमात्र का निश्चित धर्म का सहचार है, उसी को '**व्याप्ति**' कहते हैं। जैसे धूम और अग्नि का सहचार है ॥२६॥

तथा व्याप्य जो धूम उसकी[1] निज शक्ति से उत्पन्न होता है अर्थात् जब देशान्तर में दूर धूम जाता है, तब विना अग्नियोग के भी धूम स्वयं रहता है। उसी का नाम '**व्याप्ति**' है, अर्थात् अग्नि के छेदन-भेदन सामर्थ्य से जलादि पदार्थ धूमरूप प्रकट होता है ॥३१॥

जैसे महतत्त्वादि में प्रकृत्यादि की व्यापकता, बुद्ध्यादि में व्याप्यता धर्म के सम्बन्ध का नाम '**व्याप्ति**' है। जैसे शक्ति आधेयरूप और शक्तिमान् आधाररूप का सम्बन्ध है ॥३२॥

[ग्रन्थों की परीक्षा करके पढ़ें-पढ़ावें]

इत्यादि शास्त्रों के प्रमाणादि से परीक्षा करके पढ़ें और पढ़ावें। अन्यथा विद्यार्थियों को सत्य-बोध कभी नहीं हो सकता। जिस-जिस ग्रन्थ को पढ़ावें, उस-उस ग्रन्थ की पूर्वोक्त प्रकार से परीक्षा करके जो-जो

वस्तुओं के साहचर्य के नाम से कहा जाता है, क्योंकि कोई कार्य अथवा प्रयोज्य अपने कारण या प्रयोजक की उपेक्षा करके अपने अस्तित्व का लाभ नहीं कर सकता। इसी साहचर्य के आधार पर एक से दूसरे का अनुमान हो जाता है।

आधेयशक्ति—व्याप्ति के विषय में पञ्चशिख का विचार है कि जैसे धूम अग्नि का अनुमापक है, इस स्थल में धूम अग्नि का कार्य है। कोई कार्य कारण के बिना अस्तित्व में नहीं आ सकता। इस प्रकार धूम का अग्नि के साथ साहचर्य अभिव्यक्त होता है, पर यह साहचर्य धूम की अपनी सहज कार्यरूप शक्ति से अन्य कुछ नहीं। इस साहचर्य में कार्यता की छाया दीखती है, क्योंकि यहाँ धूम कार्य है, इसलिए वह (साहचर्य) उसी का रूप है।

इस विषय में पञ्चशिख का यह कहना है कि कार्यता आधेयशक्ति है। व्युत्पादन द्वारा हम इस शक्ति का आधान करते हैं। जब तक किसी को यह बोध न कराया जाए, तब तक उसमें (धूम में) अग्नि की अनुमापकता नहीं आ सकती। अन्यथा अव्युत्पन्न व्यक्ति भी अनुमान करले, पर ऐसा नहीं होता। इसलिए ऐसा मानना चाहिए कि धूम में वह शक्ति सहज नहीं, प्रत्युत आधेय है। उद्बोधन द्वारा उपस्थापित कराई जाती है। उसे 'संकेत' भी कह सकते हैं।

ग्रन्थों की परीक्षा—आयुर्वेदीय चरकसंहिता, विमानस्थान अध्याय ८ के आरम्भ में पठनीय शास्त्र की परीक्षा का विशद वर्णन मिलता है। वहाँ लिखा है—"संसार में चिकित्सा-सम्बन्धी अनेकानेक शास्त्र हैं। उनमें से उसी शास्त्र का ग्रहण कर्त्तव्य है जो बड़े यशस्वी तथा धीर पुरुषों से सेवित है, जो गम्भीर आशयों

---

१. अर्थात् व्याप्य धर्म की।

https://t.me/arshlibrary

ग्रन्थ सत्य ठहरे वह-वह ग्रन्थ पढ़ावें। जो-जो ग्रन्थ इन परीक्षाओं से विरुद्ध हों, उन-उन ग्रन्थों को न पढ़ें न पढ़ावें। क्योंकि **'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः'**[1]। लक्षण—जैसाकि **'गन्धवती पृथिवी'**, जो पृथिवी है वह गन्धवाली है, ऐसे लक्षण और प्रत्यक्षादि प्रमाण इनसे सब सत्याऽसत्य और पदार्थों का निर्णय हो जाता है, इसके विना कुछ भी नहीं होता।

अथ पठनपाठनविधिः

अब **पढ़ने-पढ़ाने का प्रकार** लिखते हैं—

[वर्णोच्चारण-शिक्षा]

प्रथम पाणिनिमुनिकृत **शिक्षा**[2] जोकि सूत्ररूप है, उसकी रीति अर्थात् इस अक्षर का यह स्थान, यह प्रयत्न, यह करण है। जैसे 'प' इसका ओष्ठ स्थान, स्पृष्ट प्रयत्न और प्राण तथा जीभ की क्रिया करना 'करण' कहाता है। इसी प्रकार यथायोग्य सब अक्षरों का उच्चारण माता-पिता, आचार्य सिखलावें।

[व्याकरण—अष्टाध्यायी-महाभाष्य]

तदनन्तर **व्याकरण** अर्थात् प्रथम अष्टाध्यायी के सूत्रों का पाठ, जैसे **'वृद्धिरादैच्'** (अ० १।१।१)। फिर पदच्छेद, जैसे **'वृद्धिः आत् ऐच् वा[3] आदैच्**। फिर समास—**'आच्च ऐच्च आदैच्'**। और अर्थ, जैसे **'आदैचां वृद्धिसंज्ञा क्रियते'** अर्थात् आ ऐ औ की वृद्धिसंज्ञा की जाती है। **'तः परो यस्मात् स तपरः, तादपि परस्तपरः'** तकार जिससे परे और जो तकार से भी परे हो वह 'तपर' कहाता है। इससे क्या सिद्ध हुआ जो आकार से परे त्[4] और त् से परे ऐच् दोनों 'तपर' हैं। तपर का यह प्रयोजन है कि ह्रस्व[5] और प्लुत की वृद्धि संज्ञा न हुई।

उदाहरण—**'भागः'** यहाँ **'भज्'** धातु से **'घञ्'** प्रत्यय के परे[6] **'घ्'** **'ञ्'** की इत्संज्ञा होकर लोप हो गया। पश्चात् **'भज् अ'** यहाँ जकार के पूर्व भकारोत्तर अकार को वृद्धिसंज्ञक आकार हो गया है, तो

१. न्याय-वात्स्यायनभाष्य ३।१।२८॥

२. पाणिनिमुनिकृत शिक्षासूत्रों का एक हस्तलेख ग्रन्थकार ने उपलब्ध करके आर्यभाषा व्याख्यासहित 'वर्णोच्चारण-शिक्षा' के नाम से वि० सं० १९३६ के अन्त में छपवाया था। ग्रन्थकार को उपलब्ध हस्तलेख त्रुटित था। उसकी दूसरी प्रति प्राप्त करके हमने 'शिक्षा-सूत्राणि' संग्रह में छापा है। डा० मनमोहन घोष ने ग्रन्थकार द्वारा प्रकाशित पाणिनीय शिक्षासूत्रों को स्वसम्पादित 'पाणिनीयशिक्षा' की भूमिका में जाली सिद्ध करने का भरपूर प्रयत्न किया है। इसका उत्तर हमने 'मूल पाणिनीय शिक्षा' शीर्षक लेख ('साहित्य' पटना, वर्ष ७ अङ्क ४, सन् १९५७) में दिया है। —युधिष्ठिर मीमांसक

३. कुछ व्याख्याता 'आत्' ऐच्' दो पद मानते हैं कुछ 'आदैच्' समस्त एक पद।

४. इसका भाव यह है कि आकार से परे 'त्' होने से आकार तपर है और 'त्' से परे ऐच् होने से ऐच् भी तपर है।

५. **'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः'** (अ० १।१।६८) के नियम से सूत्रपठित 'अण्' सवर्णों के ग्राहक होते हैं। **'तपरस्तत्कालस्य'** (अ० १।१।६९) के नियम से तपर वर्ण उसी कालवाले सवर्णों का ग्रहण कराते हैं, जिस कालवाले वर्ण के साथ तकार पढ़ा गया है। यह पूर्व (१।१।६८) का अपवाद है। आकार के अण् न होने से उसमें सवर्णग्राहकता नहीं है। इस कारण आकार को तपर करने का प्रयोजन न होने से यहाँ तपर का 'ह्रस्व की वृद्धि संज्ञा नहीं हुई' यह प्रयोजन दर्शाना मन्दबुद्धियों के लिए है, ऐसा जानना चाहिए।

६. यहाँ 'प्रत्यय के धातु से परे अवस्थित हो जाने पर' यह अभिप्राय जानना चाहिए।

https://t.me/arshlibrary

'भाज्'। पुनः **'ज्'** को ग् हो [कर] अकार के साथ मिलके **'भागः'** ऐसा प्रयोग हुआ।

'अध्यायः' यहाँ अधिपूर्वक **'इङ्'** धातु के ह्रस्व इ के स्थान में **'घञ्'** प्रत्यय के परे 'ऐ' वृद्धि और उसको **'आय्'** होकर मिलके 'अध्यायः'।

'नायकः' यहाँ **'नीञ्'** धातु के दीर्घ ईकार के स्थान में **'ण्वुल्'** प्रत्यय[1] के परे 'ऐ' वृद्धि और उसको 'आय्' होकर मिलके 'नायकः'।

और **'स्तावकः'** यहाँ **'स्तु'** धातु से **'ण्वुल्'** प्रत्यय[1] होकर ह्रस्व उकार के स्थान में 'औ' वृद्धि और 'आव्' आदेश होकर अकार में मिल गया, तो 'स्तावकः'।

'कारक' **'कृञ्'** धातु से आगे **'ण्वुल्'** प्रत्यय, 'ण्' 'ल्' की इत्संज्ञा होके लोप, 'वु' के स्थान में अक आदेश, और ऋकार के स्थान में 'आर्' वृद्धि होकर **'कारकः'** सिद्ध हुआ।

जो-जो सूत्र आगे-पीछे के प्रयोग में लगें, उनका कार्य्य सब बतलाया जाए और सिलेट अथवा लकड़ी के पट्टे पर दिखला-दिखलाके कच्चा रूप धरके, जैसे—**'भज+घञ्+सु'** इस प्रकार धरके प्रथम अकार का लोप, पश्चात् घकार का, फिर ञ् का लोप होकर **'भज्+अ+सु'** ऐसा रहा। फिर [अ को आकार वृद्धि, और] 'ज्' के स्थान में 'ग्' होने से **'भाग्+सु'** पुनः अकार में मिल जाने से **'भाग+सु'** रहा। अब उकार की इत्संज्ञा, 'स्' के स्थान में 'रुँ' होकर पुनः उकार इत्संज्ञा लोप हो जाने के पश्चात् 'भागर्' ऐसा रहा। अब रेफ के स्थान में (:) विसर्जनीय होकर **'भागः'** यह रूप सिद्ध हुआ। जिस-जिस सूत्र से जो-जो कार्य होता है, उस-उसको पढ़-पढ़ाके और लिखवाकर कार्य कराता जाए। इस प्रकार पढ़ने-पढ़ाने से बहुत शीघ्र दृढ़ बोध होता है।

एक बार इसी प्रकार[2] **'अष्टाध्यायी** पढ़ाके **'धातुपाठ'** अर्थसहित और दश लकारों के रूप तथा प्रक्रियासहित सूत्रों के उत्सर्ग अर्थात् सामान्यसूत्र, जैसे—**'कर्मण्यण्'**(अ० ३।२।१) कर्म-उपपद लगा हो तो धातुमात्र से अण् प्रत्यय हो। जैसे—**'कुम्भकारः'**। पश्चात् अपवादसूत्र, जैसे—**'आतोऽनुपसर्गे कः'** (अ० ३।२। ३) उपसर्ग-भिन्न कर्म उपपद लगा हो तो आकारान्त धातु से 'क' प्रत्यय होवे, अर्थात् जो बहुव्यापक जैसाकि कर्मोपपद लगा हो तो सब धातुओं से 'अण्' प्राप्त होता है। उससे विशेष अर्थात् अल्पविषय उसी पूर्वसूत्र के विषय में से आकारान्त धातु को 'क' प्रत्यय ने ग्रहण कर लिया। जैसे उत्सर्ग के विषय में अपवादसूत्र की प्रवृत्ति होती है, वैसे अपवादसूत्र के विषय में उत्सर्गसूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे चक्रवर्त्ती राजा के राज्य में माण्डलिक और [3]भूमिवालों की प्रवृत्ति होती है, वैसे माण्डलिक राजादि के राज्य में चक्रवर्त्ती की प्रवृत्ति नहीं होती॥

इसी प्रकार पाणिनि महर्षि ने सहस्र श्लोकों[4] के बीच में अखिल शब्द, अर्थ और सम्बन्धों की विद्या

१. यहाँ भी 'कारकः' के समान [ण्वुल् के 'ण्' 'ल्' की इत्संज्ञा लोप और 'वु' के स्थान में 'अक' आदेश] जानना चाहिए।

२. ऊपर जिस प्रकार अष्टाध्यायी के पठन-पाठन का निर्देश ग्रन्थकार ने किया है, उसके अनुसार स्व० पं० श्री ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु ने अष्टाध्यायीभाष्य (प्रथमावृत्ति) नाम की व्याख्या लिखी है। इसमें सब उदाहरणों की सिद्धि भी विस्तार से दी है। यह ग्रन्थ रा०ला०क०ट्रस्ट से प्रकाशित हुआ है।

३. अर्थात् जमींदारों।

४. अष्टाध्यायी के सूत्र गद्यरूप हैं। किसी भी गद्यग्रन्थ का परिमाण दर्शाने के लिए प्राचीन परिपाटी है कि उस ग्रन्थ के अक्षरों की गिनती करके अनुष्टुप् छन्द की अक्षर संख्या ३२ से भाग देने पर जो भागफल उपलब्ध होता है, वह उस ग्रन्थ का श्लोकरूप में परिमाण माना जाता है। इस प्रकार अष्टाध्यायी के सहस्र श्लोक अर्थात् लगभग

https://t.me/arshlibrary

प्रतिपादित कर दी है। धातुपाठ के पश्चात् उणादिगण[1] के पढ़ाने में सर्व सुबन्त का विषय अच्छी प्रकार पढ़ाके, पुनः दूसरी बार शङ्का-समाधान[2] वार्तिक[3] कारिका परिभाषा की घटनापूर्वक अष्टाध्यायी की **द्वितीयानुवृत्ति**[4] पढ़ावे। तदनन्तर **महाभाष्य** पढ़ावे, अर्थात् जो बुद्धिमान्, पुरुषार्थी, निष्कपटी, विद्यावृद्धि के चाहनेवाले नित्य पढ़ें-पढ़ावें तो डेढ़ वर्ष में अष्टाध्यायी, और डेढ़ वर्ष में महाभाष्य पढ़के तीन वर्ष में पूर्ण वैयाकरण होकर वैदिक और लौकिक शब्दों का व्याकरण से बोध कर पुनः अन्य शास्त्रों को शीघ्र सहज में पढ़-पढ़ा सकते हैं, किन्तु जैसा बड़ा परिश्रम व्याकरण में करना होता है, वैसा श्रम अन्य शास्त्रों में करना नहीं पड़ता।

[अनार्ष ग्रन्थों के अध्ययन से हानि]

और जितना बोध इनके पढ़ने से तीन वर्षों में होता है, उतना बोध कुग्रन्थ अर्थात् सारस्वत चन्द्रिका कौमुदी, मनोरमादि के पढ़ने से पचास वर्षों में भी नहीं हो सकता, क्योंकि जो महाशय महर्षि लोगों ने सहजता से महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है, वैसा इन 'क्षुद्राशय' मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों में क्योंकर हो सकता है? महर्षि लोगों का आशय जहाँ तक हो सके वहाँ तक सुगम, और जिसके ग्रहण में समय थोड़ा लगे, इस प्रकार का होता है और क्षुद्राशय लोगों की मनसा[5] ऐसी होती है कि जहाँ तक बने वहाँ तक कठिन रचना करनी, जिसको बड़े परिश्रम से पढ़के अल्प लाभ उठा सकें। जैसे पहाड का खोदना कौड़ी का लाभ होना, और आर्षग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि जैसा एक गोता लगाना और बहुमूल्य मोतियों को पाना।

से युक्त है, जो 'आप्तजनों से माननीय' है, जो पुनरुक्त आदि दोषों से रहित है, जो 'ऋषिकर्तृक' है, जिनका सूत्र, भाष्य और संग्रहक्रम सुप्रणीत है, जिसका आधार उत्तम है, जिसमें सहज और प्रचलित शब्द हैं, जिसके अर्थ पुष्कल हैं, जिसके विषय यथाक्रम हैं, जिसमें अर्थतत्व का यथावत् निश्चय किया है, जो संगतार्थ, भिन्न प्रकरणों से युक्त आशु प्रबोधक हैं तथा जिसकी व्याख्या लक्षण तथा उदाहरणों के साथ की गयी है। यही सत् शास्त्र है। ऐसा ही निर्मल शास्त्र सूर्य की भाँति अज्ञानान्धकार को दूर करके सम्पूर्ण अर्थों को प्रकाशित कर देता है।"

चरकाचार्य ने जो कुछ चिकित्साशास्त्र को लक्ष्य करके कहा है वही सब अन्य शास्त्रों के सम्बन्ध में कर्त्तव्य है। इसीलिए ग्रन्थकार ने पठन-पाठनविधि के आरम्भ में सत्यासत्य का निश्चय करने में सहायक मुख्य-मुख्य सूत्रों का निर्देश करके तदनुसार ग्रन्थों की परीक्षा करना आवश्यक ठहराया है।

क्षुद्राशय—श्रीहर्ष ने अपने रचे नैषधचरित के अन्त में लिखा है—**'ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासि'** अर्थात् मैंने 'जानबूझकर' इसमें कहीं-कहीं ग्रन्थियाँ लगा दी हैं।

३२,००० अक्षर जानने चाहिएँ।

१. अर्थात् उणादिकोष=उणादिसूत्र। ग्रन्थकार ने उणादिकोष की भी अत्यन्त उपयोगी व्याख्या लिखी है।

२. साक्षात् सूत्रस्थ पदों से सम्बद्ध शङ्का-समाधानमात्र।

३. प्रयोगसिद्धि में साक्षात् सहयोगी वार्तिकमात्र।

४. अर्थात् द्वितीयावृत्ति।

५. अर्थात् मन्शा=इच्छा।

https://t.me/arshlibrary

[व्याकरण के पश्चात् पठनीय ग्रन्थ]

व्याकरण को पढ़के यास्कमुनिकृत **निघण्टु**[1] और **निरुक्त** छः वा आठ महीने में सार्थक पढ़ें और पढ़ावें। अन्य नास्तिककृत अमरकोशादि में अनेक वर्ष व्यर्थ न खोवें।

तदनन्तर पिङ्गलाचार्यकृत **छन्दोग्रन्थ**, जिससे वैदिक लौकिक छन्दों का परिज्ञान नवीन-रचना और श्लोक बनाने की रीति भी यथावत् सीखें। इस ग्रन्थ और श्लोक की रचना तथा प्रस्तार को चार महीने में सीख पढ़-पढ़ा सकते हैं। और वृत्तरत्नाकर आदि अल्पबुद्धिप्रकल्पित ग्रन्थों में अनेक वर्ष न खोवें।

[पठनीय साहित्य-ग्रन्थ]

तत्पश्चात् **मनुस्मृति, वाल्मीक**[2] **रामायण** और **महाभारत** के उद्योगपर्वान्तर्गत **विदुरनीति** आदि अच्छे-अच्छे प्रकरण, जिनसे दुष्ट व्यसन दूर हों और उत्तमता, सभ्यता प्राप्त हो। वैसे को काव्यरीति से अर्थात् पदच्छेद, पदार्थोक्ति, अन्वय, विशेष्य-विशेषण और भावार्थ को अध्यापक लोग जनावें, और विद्यार्थी लोग जानते जाएँ। इनको एक वर्ष के भीतर पढ़ लें।

निघण्टु व निरुक्त—वेदपरिज्ञानार्थ निरुक्त एक अनिवार्य वेदांग है। निरुक्त, निघण्टु का भाष्य है। यास्क से पूर्व अनेक नैरुक्त हो चुके हैं—यह निर्विवाद है। उनमें से १२ निरुक्तकारों को यास्क ने अपने ग्रन्थ में यथास्थान उद्धृत किया है। वे हैं—औपमन्यव, गार्ग्य, औदुम्बरायण, वार्ष्यायणि, आग्रायण, शाकपूणि, और्णवाभ, तैटीकि, गालव, कात्थक्य, क्रौष्टुकि तथा स्थौलाष्ठीवि। शाकपूणि को यास्क ने २० बार स्मरण किया है। बृहद्देवता में भी १० बार उसका उल्लेख मिलता है। इस सबसे ज्ञात होता है कि यास्क ने अपने पूर्व आचार्यों का अनुसरण करते हुए निरुक्त की रचना की। यास्कमुनिकृत वर्त्तमान निरुक्त जिस निघण्टु का भाष्य है, वह सम्पूर्ण उपलब्ध है। यह वैदिक कोश अथवा निघण्टु स्वयं भगवान् यास्क की ही रचना है, यह निरुक्त के पहले ही वाक्य से झलकता है। वह वाक्य है—**'समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः'**। इसका सीधा अर्थ है—(समाम्नायः) वैदिक शब्दसमूह (समाम्नातः) संग्रह किया जा चुका है (सः) वह (व्याख्यातव्यः) अब व्याख्यात किया जाना चाहिए। 'मा' धातु का प्रयोग कथन अर्थ में प्रायः होता है, जैसे—**'समौ हि शिष्टैराम्नातौ घत्स्यन्तावामयः स च'** (माघ २।१०)। अर्थात् साधुजनों ने बढ़ते हुए रोग और शत्रु को समान कहा है। इस प्रकार 'समाम्नायः' का अर्थ हुआ—सम्+आ+म्ना=किन्हीं विशेष शब्दों का किसी विशेष क्रम से संग्रह। संग्रह अर्थ में **'समाम्नाय'** शब्द का प्रयोग अन्यत्र भी मिलता है, जैसे—**'अधोरामः सावित्रः इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते। कृकवाकुः सावित्रः इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते'** (निरुक्त १२।१३) तथा **'सोऽयमक्षरसमाम्नायः'** (महाभाष्य १।१।२ आह्निक के अन्त में)।

यास्काचार्य का कथन है कि मैं वेदाध्ययनोपयोगी शब्दसमूह का संग्रह कर चुका हूँ, पर यह शब्दसंग्रह पर्यायसंग्रह नहीं है, उसकी व्याख्या अपेक्षित है। यदि यह निघण्टु यास्क से पूर्व विद्यमान होता तो आचार्य

---

१. ग्रन्थकार ने स्व-सम्पादित निघण्टु की भूमिका में भी ऐसा ही लिखा है। यास्कीय निरुक्त अ० ७ खं० १३ में निघण्टु के प्रवचन-सम्बन्ध में दो बार 'समामने' उत्तमपुरुष की क्रिया का निर्देश होने से निघण्टु का प्रवक्ता यास्क ही है, यह स्पष्ट है।

२. काशकृत्स्न-काशकृत्स्नि के समान वाल्मीक और वाल्मीकि दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं।

https://t.me/arshlibrary

[षड्दर्शन एवं उपनिषद्]

तदनन्तर **पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य** और **वेदान्त** अर्थात् जहाँ तक बन सके वहाँ तक ऋषिकृतव्याख्यासहित[1] अथवा उत्तम विद्वानों की सरल व्याख्यायुक्त छः शास्त्रों को पढ़ें-पढ़ावें, परन्तु वेदान्तसूत्रों के पढ़ने के पूर्व **ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य** और **बृहदारण्यक** इन दश उपनिषदों को पढ़ाके छः शास्त्रों के भाष्यवृत्तिसहित सूत्रों को दो वर्ष के भीतर पढ़ावें और पढ़ लेवें।

[ब्राह्मण ग्रन्थों के साथ वेदों का अध्ययन]

पश्चात् छः वर्षों के भीतर चारों ब्राह्मण अर्थात् **ऐतरेय, शतपथ, साम**[2] और **गोपथ** ब्राह्मणों के सहित चारों वेदों को स्वर, शब्द, अर्थ, सम्बन्ध तथा क्रिया-सहित[3] पढ़ाना योग्य है। इसमें प्रमाण—

[अर्थ न जाननेवाले की निन्दा और अर्थज्ञ की प्रशंसा]

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥

—यह निरुक्त (१।१८) में मन्त्र है

अर्थः—जो वेद को स्वर और पाठमात्र को पढ़के अर्थ नहीं जानता, वह जैसा वृक्ष डाली-पत्ते-फल-फूल, और अन्य पशु धान्य आदि का भार उठाता है, वैसे भारवाह अर्थात् भार का उठानेवाला है और जो वेद को पढ़ता और उनका यथावत् अर्थ जानता है, वही ज्ञान से पापों को छोड़, पवित्र धर्माचरण के प्रताप से सम्पूर्ण आनन्द को प्राप्त होके देहान्त के पश्चात् सर्वानन्द (मोक्ष) को प्राप्त होता है' ॥

लिखते—**'समाम्नायो व्याख्यायते'** अथवा **'समाम्नायो व्याख्यातव्यः'**। निघण्टु को पहले से विद्यमान माना जाए तो बीच में **'समाम्नातः'** और **'सः'** दोनों पद सर्वथा निरर्थक हो जाते हैं। **'समाम्नातः'** तथा **'सः'** दोनों का सार्थक्य उसके आसन्नभूत में प्रणीत होने में है। यास्कमुनि ने इस पद का प्रयोग ठीक उसी प्रकार किया है जैसे कोई सामान्य व्यवहार में कहे—लो भाई, इतना काम तो हो गया, अब यह करना रह गया है। यास्कीय निरुक्त अ० ७ खं० १३ में निघण्टु के प्रवचन-सम्बन्ध में दो बार **'समामने'** उत्तमपुरुष की क्रिया का निर्देश होने से निघण्टु का प्रवक्ता यास्क ही है, यह स्पष्ट है। ग्रन्थकार ने स्वसम्पादित निघण्टु की भूमिका में भी ऐसा ही लिखा है। प्रस्थानभेद के कर्त्ता महापण्डित मधुसूदन सरस्वती ने भी निघण्टु को यास्कविरचित ही कहा है।

उत त्वः—जिस प्रकार किसी विशेष समय में पत्नी के समग्र शरीर को देखने का अधिकारी एकमात्र

१. षड्दर्शनों पर ऋषिकृत भाष्यों का परिगणन आगे देखें।

२. ग्रन्थकार ने स्वीय 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में लिखा है—'सामब्राह्मणानि बहूनि सन्ति।' ये ब्राह्मण संख्या में आठ हैं।

३. सम्भवतः यहाँ 'क्रियासहित' पद से कल्पसूत्रोक्त याज्ञिककर्मसहित अध्ययन अभिप्रेत है। इस प्रकार यहाँ कल्पसूत्रों का साक्षात् अध्ययन विहित न होने पर भी कल्पसूत्रों के अध्ययन का विधान ग्रन्थकार ने कर दिया है।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं१ विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

—ऋ० म० १०। सू० ७। मं० ४

अर्थः—जो अविद्वान् हैं वे सुनते हुए नहीं सुनते, देखते हुए नहीं देखते, बोलते हुए नहीं बोलते। अर्थात् अविद्वान् लोग इस विद्यावाणी के रहस्य को नहीं जान सकते, किन्तु जो शब्द-अर्थ और सम्बन्ध का जाननेवाला है, उसके लिए विद्या जैसे सुन्दर वस्त्र-आभूषण धारण करती अपने पति की कामना करती हुई स्त्री अपने शरीर और स्वरूप का प्रकाश पति के सामने करती है, वैसे विद्या विद्वान् के लिए अपने स्वरूप का प्रकाश करती है, अविद्वानों के लिए नहीं ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

—ऋ० म० १। सू० १६४। मं० ३६॥

अर्थः—जिस व्यापक, अविनाशी, सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर में सब विद्वान् और पृथिवी-सूर्य आदि सब लोक स्थित हैं, कि जिसमें सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है, उस ब्रह्म को जो नहीं जानता, वह ऋग्वेदादि से क्या कुछ सुख को प्राप्त हो सकता है ? नहीं-नहीं, किन्तु जो वेदों को पढ़के धर्मात्मा, योगी होकर उस ब्रह्म को जानते हैं, वे सब परमेश्वर में स्थित होके मुक्तिरूपी परमानन्द को प्राप्त होते हैं। इसलिए जो कुछ पढ़ना-पढ़ाना हो, अर्थज्ञान-सहित होना चाहिए ॥

पति होता है, इसी प्रकार विधिपूर्वक वेदार्थज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् ही कोई विद्वान् वेदवाणी के पूर्ण स्वरूप को देख पाता है—उसके अन्तर्निहित रहस्यों को जान सकता है।

ऋचो अक्षरे—प्रत्येक वेदमन्त्र किसी-न-किसी देवता की स्तुति करता है, परन्तु वेदप्रतिपाद्य में सब देवता एक महादेव की ओर संकेत करते हैं। निरुक्तकार ७।४ में कहते हैं—**'महाभाग्याद्देवताया एक एवात्मा बहुधा स्तूयते'** अर्थात् देवता के अत्यन्त भाग्यशाली होने से एक ही देवता की अनेक प्रकार से स्तुति की जाती है। वह एक देवता कौन है ? इसका उत्तर देते हुए निरुक्त के परिशिष्ट में कहा है—**'अथैष महानात्मा सत्वलक्षणः, तत्परं, तद् ब्रह्म'** अर्थात् वह महानात्मा पर (परमात्मा) है, वह ब्रह्म है। **'अग्निमीळे'** कहकर ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में उसी की स्तुति का उल्लेख किया गया है। वेदाध्ययन का मुख्य प्रयोजन तो अन्ततः ईश्वर की प्राप्ति है। समस्त ऋचाएँ उसी परम सत्ता का अवबोध कराने के लिए हैं। इसलिए ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'प्रतिज्ञाविषय' में कहा है—**'नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तत्यागो भवति'**—अर्थात् वेद के एक भी मन्त्र का अर्थ करते समय ईश्वरपरक अर्थ की उपेक्षा नहीं की जा सकती। हमें वेदमन्त्रों के पास इस पवित्र भाव के साथ जाना चाहिए कि वे हमें उस अक्षरब्रह्म के पवित्र चरणों में पहुँचाने में सहायक होंगे। यदि ऐसा नहीं होता तो वेद का पढ़ना व्यर्थ है। **'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति'** का यही अभिप्राय है।

ऋषिप्रणीत ग्रन्थ—**'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः'**—किसी पदार्थ के साक्षात्कृतधर्मा पुरुष को ऋषि कहते हैं। साक्षात्कार का अर्थ है—जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप में निश्चयपूर्वक जानना। वह आप्त-पुरुष होता है। आप्तपद **'आप्लृ व्याप्तौ'** धातु से निष्पन्न होता है, जिसका भाव है—पूर्ण जानकारी। ग्रन्थकार ने आप्तपुरुष का लक्षण करते हुए लिखा है—'पूर्ण विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकारप्रिय, सत्यवादी, पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय पुरुष, जैसा अपनी आत्मा में जानता हो और जिससे सुख पाया हो उसी के कथन की

https://t.me/arshlibrary

[उपवेद]

इस प्रकार सब वेदों को पढ़के, **आयुर्वेद** अर्थात् जो चरक-सुश्रुत आदि ऋषि-मुनिप्रणीत वैद्यक-शास्त्र है, उसको अर्थ, क्रिया, शस्त्रछेदन-भेदन, लेप, चिकित्सा, निदान, औषध, पथ्य, शरीर, देश, काल और वस्तु के गुणज्ञानपूर्वक ४ चार वर्ष के भीतर पढ़ें-पढ़ावें। तदनन्तर **धनुर्वेद**[1] अर्थात् जो राजसम्बन्धी काम करना है, **इसके दो भेद**—एक निज राजपुरुष सम्बन्धी, और दूसरा प्रजासम्बन्धी होता है। राजकार्य में सब सेना के अध्यक्ष शस्त्रास्त्र-विद्या, नाना प्रकार के व्यूहों का अभ्यास, अर्थात् जिसको आजकल 'कवायद' कहते हैं, जोकि शत्रुओं से लड़ाई के समय में क्रिया करनी होती है, उनको यथावत् सीखें और जो-जो प्रजा के पालने और वृद्धि करने का प्रकार है, उनको सीखके न्यायपूर्वक सब प्रजा को प्रसन्न रक्खें। दुष्टों को यथायोग्य दण्ड, श्रेष्ठों के पालन का प्रकार सब प्रकार सीख लें। इस राजविद्या को दो-दो[2] वर्ष में सीखकर, **गान्धर्ववेद** कि जिसको **'गानविद्या'** कहते हैं, उसमें स्वर, राग-रागिणी, समय, ताल, ग्राम, तान, वादित्र, नृत्य, गीत आदि को यथावत् सीखें, परन्तु मुख्य करके सामवेद का गान वादित्रवादनपूर्वक सीखें और 'नारदसंहिता' आदि जो-जो आर्षग्रन्थ हैं, उनको पढ़ें, परन्तु भडुवे, वेश्या और विषयासक्तिकारक वैरागियों के गर्दभशब्दवत् व्यर्थ आलाप कभी न करें। **अर्थवेद** कि जिसको **'शिल्पविद्या'** कहते हैं, उसको पदार्थ-गुण-विज्ञान क्रिया -कौशल नानाविधि पदार्थों का निर्माण, पृथिवी से लेके आकाश-पर्यन्त की विद्या को यथावत् सीखके, अर्थ अर्थात् जो ऐश्वर्य को बढ़ानेवाला है उस विद्या को[3] सीखके—

[ज्योतिश्शास्त्र]

दो वर्ष में **ज्योतिश्शास्त्र** सूर्यसिद्धान्तादि, जिसमें बीजगणित, अङ्क, भूगोल, खगोल और भूगर्भविद्या है, इसको यथावत् सीखें। तत्पश्चात् सब प्रकार की हस्तक्रिया, यन्त्रकला आदि को सीखें, परन्तु जितने ग्रह-नक्षत्र, जन्मपत्र, राशि, मुहूर्त आदि के फल के विधायक ग्रन्थ हैं, उनको झूठ समझके कभी न पढ़ें और न पढ़ावें।

ऐसा प्रयत्न पढ़ने और पढ़ानेवाले करें कि जिससे तीस वा इकत्तीस वर्ष के भीतर समग्रविद्या उत्तम शिक्षा प्राप्त होके मनुष्य लोग कृतकृत्य होकर सदा आनन्द में रहें। जितनी विद्या इस रीति से तीस वा इकत्तीस[4] वर्षों में हो सकती है, उतनी अन्य प्रकार से शत वर्ष में भी नहीं हो सकती।

ऋषिप्रणीत ग्रन्थों को इसलिए पढ़ना चाहिए कि वे बड़े विद्वान्, सब शास्त्रविद् और धर्मात्मा थे[5]। और अनृषि अर्थात् जो अल्पशास्त्र पढ़े हैं, और जिनका आत्मा पक्षपातसहित है, उनके बनाये हुए ग्रन्थ भी वैसे ही हैं।

---

१. विश्वामित्र, जमदग्नि के धनुर्वेदों के कुछ भाग अब भी विभिन्न ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं।

२. राजविद्या के दो भाग पूर्व दर्शाये हैं। उन दोनों को दो-दो वर्षों में अर्थात् धनुर्वेद को ४ वर्ष में पढ़ें-पढ़ावें।

३. यहाँ समय का निर्देश सम्भवतः छूट गया है। पूर्व दो उपवेदों का काल ४-४ वर्ष कहा है। तदनुसार यहाँ भी ४ चार वर्ष जानना चाहिए। संस्कारविधि में तीन उपवेदों का ३-३ वर्ष और अर्थवेद का ६ वर्ष लिखा है।

४. 'संस्कारविधि' में कुछ भेद होनेपर भी अध्ययन काल३१ वर्ष लिखा है। कुल योग इस प्रकार जानना चाहिए—व्याकरण ३ वर्ष, निरुक्त ८ मास, पिङ्गल छन्द ४मास, साहित्य १ वर्ष, छः दर्शन २ वर्ष, चारों ब्राह्मणसहित वेद ६ वर्ष, आयुर्वेद ४ वर्ष, राजविद्या २+२=(४) वर्ष, गान्धर्ववेद [४ वर्ष], अर्थवेद [४ वर्ष], ज्योतिष २ वर्ष=३१ वर्ष कुलयोग।

५. किस प्रकार के शास्त्रग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए, इसकी विशद मीमांसा 'चरक' विमानस्थान अ० ८ खं० ३ में विस्तार से की है। उसे अवश्य देखना चाहिए।

https://t.me/arshlibrary

[षड्दर्शनों के प्रामाणिक भाष्य]

पूर्वामीमांसा पर व्यासमुनिकृत व्याख्या, वैशेषिक पर गौतममुनि कृत, न्यायसूत्र पर वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य, पतञ्जलिमुनिकृत सूत्र पर व्यासमुनिकृत भाष्य, कपिलमुनिकृत सांख्यसूत्र पर भागुरिमुनिकृत भाष्य, व्यासमुनिकृत वेदान्तसूत्र पर वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य अथवा बौधायनमुनिकृत भाष्य वृत्तिसहित पढ़ें-पढ़ावें। इत्यादि सूत्रों को कल्प[1] अङ्ग में भी गिनना चाहिए।

[स्वतःप्रमाण और परतःप्रमाण ग्रन्थ]

जैसे ऋग्यजुः, साम और अथर्व चारों वेद ईश्वरकृत हैं, वैसे ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ चारों ब्राह्मण, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निघण्टु, निरुक्त छन्द और ज्योतिष् छः वेदों के अङ्ग; मीमांसादि छः शास्त्र वेदों के उपाङ्ग; आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद ये चार वेदों के उपवेद इत्यादि सब ऋषि-मुनियों के किये ग्रन्थ हैं। इनमें भी जो-जो वेदविरुद्ध प्रतीत हो, उस-उसको छोड़ देना, क्योंकि वेद ईश्वरकृत होने से निर्भ्रान्त-स्वतःप्रमाण अर्थात् वेद का प्रमाण वेद ही से होता है। ब्राह्मणादि सब ग्रन्थ परतःप्रमाण, अर्थात् इनका प्रमाण वेदाधीन है। वेद की विशेष व्याख्या **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** में देख लीजिए, और इस ग्रन्थ में भी आगे लिखेंगे।

इच्छा से प्रेरित होकर मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेष्टा हो, वही आप्त कहाता है'। ऐसे ही आप्त पुरुषों के द्वारा प्रणीत ग्रन्थ पढ़ने चाहिएँ।

स्वतःप्रमाण-परतःप्रमाण—स्वतःप्रमाण शब्द की व्याख्या आचार्यों ने विविध प्रकार से की है। ग्रन्थकार ने यहाँ यौगिक अर्थ लिया है, पारिभाषिक नहीं। वेदों के सन्दर्भ में स्वतःप्रामाण्यविषयक अपने मन्तव्य का उल्लेख करते हुए उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के अन्त में स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश के अन्तर्गत लिखा है—'वे स्वयं प्रमाणस्वरूप हैं कि जिनका प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं। जैसे सूर्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतः प्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं, वैसे चारों वेद हैं।' 'वेदनित्यत्व' के प्रकरण में उन्होंने कहा है कि वेद के प्रामाण्य की सिद्धि के लिए अन्य प्रमाण का ग्रहण नहीं किया जाता, किन्तु अन्य शास्त्रों के प्रमाण को साक्षी के समान समझना चाहिए, क्योंकि वे स्वतःप्रमाण हैं सूर्य के समान। जैसे सूर्य स्वयं प्रकाशित होता हुआ संसार के बड़े या छोटे पर्वत आदि से लेकर त्रसरेणु पर्यन्त पदार्थों को प्रकाशित करता है, वैसे ही वेद स्वयं प्रकाशित होकर सब विद्याओं को प्रकाशित करता है। एतद्विषयक अपने मन्तव्य को वहाँ दृढ़तापूर्वक इन शब्दों में प्रस्तुत किया है—'**तत्र वेदेषु वेदानामेव प्रामाण्यं स्वीकार्यं सूर्यप्रदीपवत्**' अर्थात् वेद के विषय में जहाँ कहीं प्रमाण की आवश्यकता हो वहाँ सूर्य और दीपक के समान वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है। जैसे सूर्य और दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान होके सब द्रव्यों को प्रकाशित कर देते हैं, वैसे ही वेद भी अपने प्रकाश से प्रकाशित होके अन्य ग्रन्थों का भी प्रकाश करते हैं। उनके इस विश्वास का कारण है—वेदों का ईश्वरोक्त होना—'**ईश्वरोक्तत्वाच्चत्वारो**

---

१. यहाँ पाठ कुछ भ्रष्ट हुआ प्रतीत होता है। कल्प-संज्ञक अङ्ग में आश्वलायन आदि कृत श्रौत, गृह्य तथा धर्मसूत्रों की गणना होती है। यदि 'इत्यादि सूत्रों' से पूर्व-निर्दिष्ट दर्शनशास्त्रों का ग्रहण अभिप्रेत हो, तो यहाँ 'उपाङ्ग' शब्द का निर्देश होना चाहिए। कल्पसूत्रों के अध्ययन-अध्यापन का निर्देश ग्रन्थकार ने ब्राह्मणसहित वेद के अध्यनाध्यापनप्रकरण में 'क्रियासहित' शब्द के द्वारा परोक्षरूप से कर दिया है।

https://t.me/arshlibrary

वेदाः स्वतःप्रमाणम्' । 'वेदनित्यत्व' (ऋ०भा०भू०) प्रकरण में भी वैशेषिक तथा न्यायसूत्रों को उद्धृत करके ईश्वरोक्त होने से अथवा आप्तप्रमाण के कारण वेदों को प्रमाण बतलाया गया है । ईश्वरोक्त होने से ही वे निर्भ्रान्त माने गये हैं ।

जगत् का कर्त्ता और वेदों का प्रकाशक एक ही परमात्मा है । जगत् के वास्तविक स्वरूप को वही जान सकता है जिसने उसे बनाया है । वेद और जगत् में सामंजस्य होने अर्थात् जो कुछ है, जैसा कुछ जगत् है, उसका यथायथ वर्णन वेद में, और केवल वेद में, उपलब्ध होने से यह प्रमाणित होता है कि जो जगत् को पूर्णरूप से जानता है, वही उसका वैसा वर्णन कर सकता है । इस आधार पर वेद ईश्वरीय ज्ञान है और ईश्वरीय होने से उसका स्वतःप्रामाण्य है और इसी कारण उसमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों की सम्भावना नहीं है ।

प्रश्न यह है कि यदि ईश्वरोक्त अथवा आप्तोक्त होने से ही वेद प्रमाण हैं तो अपने प्रामाण्य के लिए वे ईश्वर पर निर्भर ठहरते हैं । तब उन्हें स्वतःप्रमाण कैसे कहा जा सकता है ? वैदिक दर्शनों में परस्पर वैमत्य मानकर ऐसा समझा जाता है कि न्याय-वैशेषिक के मत में वेद ईश्वरोक्त होने से प्रमाण हैं तो वे परतःप्रमाण हैं और पूर्वमीमांसा के अनुसार वेद नित्य तथा अपौरुषेय होने से दोषरहित हैं, अतः वे स्वतःप्रमाण हैं । ग्रन्थकार के मत में वैदिक दर्शन परस्पर विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं । उन्होंने सर्वत्र उनमें समन्वय करने का प्रयत्न किया है । न्याय-वैशेषिक की दृष्टि में वे आप्तोक्त होने से प्रमाण हैं और मीमांसा की दृष्टि में अपौरुषेय होने से प्रमाण हैं, इन दोनों मन्तव्यों में वे कोई अन्तर नहीं मानते । वस्तुतः मीमांसकों ने अपौरुषेय होने से वेदों को निर्दोष माना है और निर्दोष होने से उन्हें स्वतःप्रमाण बतलाया है । यहाँ स्वतःप्रामाण्य का अभिप्राय है—जिसके प्रमाण के लिए किसी भावात्मक प्रमाण की आवश्यकता न हो । दोषरहित होना तो भावात्मक नहीं है, अपितु अभावात्मक है, अतः वेदों को स्वतःप्रमाण कहा जा सकता है । ठीक इसी प्रकार ग्रन्थकार के मत में भी भ्रमादि दोष न होने से वेदों को स्वतःप्रमाण कहा जा सकता है । ईश्वरोक्त होना तो भ्रमादि अभाव में कारण है, वेद के प्रामाण्य में नहीं । यहाँ मीमांसक के मत से इतना ही अन्तर है कि वहाँ ईश्वरोक्त होने से वेदों को दोषरहित माना गया है और यहाँ अपौरुषेय होने से दोषरहित माना गया है । आप्त की कृति होने से वेद प्रमाण हैं अथवा अपौरुषेय होने से, इन दोनों मन्तव्यों में दोषाभाव ही प्रामाण्य का निमित्त है । इस प्रकार यहाँ न्याय तथा मीमांसकों में समन्वय हो जाता है । इस विवेचन का सार यह है कि वेदों के स्वतःप्रमाण होने में हेतु है उनका निर्भ्रान्त होना और उनके निर्भ्रान्त होने में हेतु है उनका ईश्वरोक्त अथवा अपौरुषेय होना ।

सांख्य-मत को प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार ने सांख्यदर्शन के **'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम्'** (५।५१) इस सूत्र को उद्धृत करके कहा है—'निज शक्ति से अभिव्यक्त होने से अर्थात् पुरुष के साथ रहनेवाली प्रकृति के सामर्थ्य से प्रकट होने के कारण वेदों का स्वतःप्रामाण्य तथा नित्यत्व स्वीकार किया जाना चाहिए' (वेदनित्यत्वविषयः) । सांख्यप्रवचनभाष्य (५।५१) के अनुसार इस सूत्र का अर्थ है—वेदों की जो यथार्थ बोध कराने की अपनी शक्ति है, जो मन्त्र, आयुर्वेद आदि में अभिव्यक्त होती है, उससे सभी वेदों का स्वतःप्रामाण्य सिद्ध है । सांख्यसूत्र के अनुसार वेद अपौरुषेय हैं, क्योंकि उसके कर्त्ता का अभाव है—**'न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्'** (५।४६) । यहाँ अपौरुषेयता में जो युक्ति दी गयी है वह मीमांसा के **'अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्'** के समान ही है । वस्तुतः पुरुषपद जीवात्मा और परमात्मा दोनों का वाचक है । जब यह कहा जाता है कि वेद अपौरुषेय है तो इसका सीधा अर्थ यह होता है कि वह अस्मदादिसदृश

https://t.me/arshlibrary

[पठन-पाठन में परित्याग के योग्य ग्रन्थ]

अब जो **परित्याग के योग्य ग्रन्थ** हैं उनका परिगणन संक्षेप से किया जाता है, अर्थात् जो-जो नीचे ग्रन्थ लिखेंगे, वह-वह जाल-ग्रन्थ समझना चाहिए—

व्याकरण में कातन्त्र, सारस्वत, चन्द्रिका[१], मुग्धबोध, कौमुदी[२], शेखर,[३] मनोरमादि[४]। **कोश** में अमरकोशादि; **छन्दोग्रन्थ** में वृत्तरत्नाकरादि। **शिक्षा** में 'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा'[५] इत्यादि। **ज्योतिष्** में शीघ्रबोध, मुहूर्त्तचिन्तामणि आदि; **काव्य** में नायिकाभेद, कुवलयानन्द, रघुवंश, माघ, किरातार्जुनीयादि; **मीमांसा** में धर्मसिन्धु, व्रतार्कादि, **वैशेषिक** में तर्कसंग्रहादि; **न्याय** में जागदीशी आदि; **योग** में हठप्रदीपिकादि; **सांख्य** में सांख्यतत्वकौमुद्यादि; **वेदान्त** में योगवासिष्ठ, पञ्चदश्यादि; **वैद्यक** में शार्ङ्गधरादि। स्मृतियों में मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और अन्य सब स्मृति। सब तन्त्रग्रन्थ, सब पुराण, सब उपपुराण, तुलसीदासकृत भाषारामायण, रुक्मिणीमङ्गलादि और सर्व भाषाग्रन्थ, ये सब कपोलकल्पित, मिथ्याग्रन्थ हैं।

प्रश्न—क्या इन ग्रन्थों में कुछ भी सत्य नहीं ?

उत्तर—थोड़ा सत्य तो है, परन्तु इसके साथ बहुत-सा असत्य भी है। इससे **'विषसम्पृक्तान्नवत् त्याज्याः'** जैसे अत्युत्तम अन्न विष से युक्त होने से छोड़ने योग्य होता है, वैसे ये ग्रन्थ हैं।

पुरुषप्रणीत नहीं है, क्योंकि जीवात्मा अल्पज्ञ व अल्पशक्ति होने से सर्वज्ञकल्प समस्त विद्याओं के आदिमूल वेद की रचना करने में असमर्थ है।

इस प्रकार वेद ही स्वतःप्रमाण हैं, वेद से अतिरिक्त शेष सभी ग्रन्थ परतः अर्थात् वेदानुकूल अथवा वेदाविरुद्ध होने से प्रमाण हैं।

हठयोगप्रदीपिका—इसको वेदनिन्दा के कारण त्याज्य ग्रन्थ माना गया है। उसमें एक श्लोक में कहा गया है—**'वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव। एकैव शाम्भवीमुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव'** (४।२५६)। अर्थात् वेदशास्त्र और पुराण सामान्य वेश्या के समान हैं, अकेली शाम्भवीमुद्रा सुरक्षित कुलवधू के समान है। अन्य वर्जित ग्रन्थों में भी इसी प्रकार वेदादि शास्त्रों तथा ऋषि-मुनियों की निन्दा और अवैदिक कृत्यों की प्रशंसा मिलती है।

ब्राह्मणानीति—आनन्दाश्रम से प्रकाशित आश्वलायनगृह्यसूत्र ३।३।१ में यह पाठ है—**'ब्राह्मणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरितिहासपुराणानीति'**—अर्थ में कुछ भेद नहीं है। आगे एकादश समुल्लास में पुराण-विचार-प्रसंग में इस वचन को उद्धृत करके 'यह ब्राह्मणों और सूत्रों का वचन है' ऐसा लिखा है। तैत्तिरीय आरण्यक २।६ में यह वचन उपलब्ध है। आरण्यकग्रन्थों का ब्राह्मणग्रन्थों में अन्तर्भाव माना जाता है। अन्त में **'इति'** पद उद्धरण का निर्देशक है। इस वचन में **'ब्राह्मणानि'** संज्ञी और इतिहासादि संज्ञा

---

१. चन्द्रिका=सारस्वतचन्द्रिका।
२. कौमुदी=सिद्धान्तकौमुदी, प्रक्रियाकौमुदी।
३. शेखर=लघुशब्देन्दुशेखर, बृहच्छब्देन्दुशेखर, परिभाषेन्दुशेखर।
४. मनोरमा=प्रौढमनोरमा।
५. इस श्लोक से प्रारम्भ होनेवाली तथाकथित पाणिनीय शिक्षा।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

[इतिहास-पुराण-विचार]

प्रश्न—क्या आप पुराण-इतिहास को नहीं मानते ?

उत्तर—हाँ मानते हैं, परन्तु सत्य को मानते हैं, मिथ्या को नहीं ?

प्रश्न—कौन सत्य और कौन मिथ्या है ?

उत्तर—**'ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीरिति'** ॥

—यह गृह्यसूत्रादि का वचन है ॥

जो ऐतरेय, शतपथादि ब्राह्मण लिख आये, उन्हीं के इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी पाँच नाम हैं । श्रीमद्भागवतादि का नाम पुराण नहीं ।

प्रश्न—जो त्याज्य ग्रन्थों में सत्य है, उसका ग्रहण क्यों नहीं करते ?

उत्तर—जो-जो उनमें सत्य है, सो-सो वेदादि-सत्यशास्त्रों का है, और मिथ्या उनके घर का है । वेदादि-सत्यशास्त्रों के स्वीकार में सब सत्य का ग्रहण हो जाता है । जो कोई इन मिथ्या ग्रन्थों से सत्य का ग्रहण करना चाहे, तो मिथ्या भी उसके गले लिपट जावे । इसलिए **'असत्यमिश्रं सत्यं दूरतस्त्याज्यमिति'** असत्य से युक्त ग्रन्थस्थ सत्य को भी वैसे ही छोड़ देना चाहिए, जैसे विषयुक्त अन्न को।

हैं, अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थों का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी है ।

बृहदारण्यकोपनिषद् (२।४।१०) की व्याख्या में इतिहास, पुराण आदि पदों से ब्राह्मणग्रन्थों का ग्रहण करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है—**'किं तन्निःश्वसितमिव ततो जातमित्युच्यते—यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः—चतुर्विधं मन्त्रजातम्, इतिहास इत्युर्वशीपुरुरवसोः संवादादिः—'उर्वशीहाप्सराः' इत्यादि ब्राह्मणमेव पुराणम् ।'** इस प्रकार शंकराचार्य ने इतिहास, पुराणादि शब्दों से ब्राह्मणगत विशिष्ट वचनों का निर्देश कर ब्राह्मणग्रन्थों को इतिहास, पुराण आदि का पर्याय अथवा उनके अन्तर्गत स्वीकार किया है । सायणाचार्य ने भी तैत्तिरीय आरण्यक (२।६) के उक्त वचन की व्याख्या में इतिहास-पुराण आदि शब्दों से ब्राह्मणग्रन्थों का ही निर्देश माना है । **''ब्राह्मणं चाष्टधाभिन्नम्, तद्भेदास्तु वाजसनेयिभिराम्नायन्ते इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि''** कहकर आरण्यकग्रन्थों से ही इतिहासादि के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं । इतिहास, पुराण आदि के ये लक्षण ब्राह्मणग्रन्थों में पूरी तरह घटते हैं, अतः श्रीमद्भागवतादि की पुराण संज्ञा नहीं हो सकती ।

'पुराण' शब्द के सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने अन्यत्र लिखा है—**''पुराभवं पुराभवा वा पुराभवश्च इति पुराणं पुराणी पुराणः''**—जो पुराणा पदार्थ होवे, उसे कहते हैं पुराण, सो सदा विशेषणवाची ही रहता है, तथा पुरातन, प्राचीन और प्राक्तन आदिक सब शब्द हैं तथा इनों के विरोधी विशेषणवाची नूतन, नवीन, अद्यतन, अर्वाचीन आदिक शब्द हैं । जो विशेषणवाची शब्द होते हैं, वे सब परस्पर व्यावर्त्तक होते हैं, जैसेकि यह चीज़ पुरानी है तथा यह चीज़ नवीन है । पुराण शब्द जो है सो नवीन शब्द की व्यावृत्ति कर देता है । यह पदार्थ पुराना है, अर्थात् नया नहीं, और यह पदार्थ नया है, अर्थात् पुराना नहीं । जहाँ-जहाँ वेदादिकों में पुराणादिक शब्द आते हैं, वहाँ-वहाँ इन अर्थों के वाचक ही आते हैं, अन्यथा नहीं । ऐसा ही अर्थ गौतममुनि-जी के किये सूत्रों के ऊपर जो वात्स्यानमुनि का किया भाष्य है, उसमें लिखा है—**'लोकव्यवस्थापनम् इतिहासपुराणस्य'** (४।१।६२)—वहाँ ब्राह्मणपुस्तक जो शतपथादिक, उनों का ही नाम पुराण है । तथा शंकराचार्य ने भी शारीरकभाष्य में और उपनिषद्भाष्य में ब्राह्मण और ब्रह्मविद्या का ही 'पुराण' शब्द से

https://t.me/arshlibrary

[हमारा मत वेद है]

प्रश्न—तुम्हारा क्या मत है ?

उत्तर—वेद, अर्थात् जो-जो वेद में करने और छोड़ने की शिक्षा की है, उस-उसका हम यथावत् करना-छोड़ना मानते हैं। जिसलिए वेद हमको मान्य है, इसलिए हमारा मत वेद है। ऐसा ही मानकर सब मनुष्यों को, विशेषतः आर्यों को ऐकमत्य होकर रहना चाहिए।

[छः शास्त्रों में अविरोध]

प्रश्न—जैसा सत्याऽसत्य और दूसरे ग्रन्थों का परस्पर विरोध है, वैसे अन्य शास्त्रों में भी है। जैसा सृष्टि-विषय में छः शास्त्रों का विरोध है—मीमांसा कर्म, विशेषिक काल[1], न्याय परमाणु, योग पुरुषार्थ, सांख्य प्रकृति और वेदान्त ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानता है। क्या यह विरोध नहीं है ?

उत्तर—प्रथम तो विना सांख्य और वेदान्त के दूसरे चार शास्त्रों में सृष्टि की उत्पत्ति प्रसिद्ध[2] नहीं लिखी। और इनमें विरोध भी नहीं, क्योंकि तुमको विरोधाऽविरोध का ज्ञान नहीं। मैं तुमसे पूछता हूँ कि विरोध किस स्थल में होता है ? क्या एक विषय में, अथवा भिन्न-भिन्न विषयों में ?

ग्रहण किया है। जो चाहे सो उन शास्त्रों में देख लेवै। वह इस प्रकार से कहा है कि जहाँ-जहाँ प्रश्न और उत्तरपूर्वक कथा होवै, उसका नाम 'इतिहास' है, और जहाँ-जहाँ वंशकथा होवै ब्राह्मणपुस्तकों में, उसका नाम 'पुराण' है और ऐसे जो कहते हैं कि १८ अठारह ग्रन्थों का नाम पुराण है, यह बात तो अत्यन्त अयुक्त है, क्योंकि उस बात का वेदादिक सत्यशास्त्रों में कहीं प्रमाण नहीं है और कथा भी इनों में अयुक्त ही हैं। इनों का नाम कोई पुराण रक्खै तो इनों से पूछना चाहिए कि वेद क्या नवीन हो सकते हैं ?"

—ऋषि दयानन्द के 'पत्र और विज्ञापन' भाग १, सं० ३, पृ० २१।

पौराणिक लोग पुराणों को महर्षि वेदव्यास की रचना मानते हुए कहते हैं—

द्वापरान्ते च भगवान् वेदव्यासः सत्यवतीसुतः।
तान्येव जनयामास लोकमंगलहेतवे ॥

—भविष्य० प्रतिसर्ग० ख० ४, अ० २५।

अर्थात् द्वापर के अन्त में सत्यवती के पुत्र व्यासजी ने लोककल्याण के लिए पुराणों की रचना की।

श्री वेदव्यास को पुराणों का कर्त्ता बतलानेवाले उक्त भविष्यपुराण में ही लिखा है—

रविवारे च सण्डे च फाल्गुने चैव फ़र्वरी।
षष्टिश्च सिक्स्टी ज्ञेया तदुदाहरमीदृशम् ॥ —भ०पु० प्रतिसर्ग १।५

द्वापर का अन्त हुए ३१०२ ईसापूर्व+१९६०=५०६२ वर्ष हो गये। तब तक तो इस देश में ही नहीं, संसारभर में अंग्रेजी जाननेवाला कोई भी नहीं था। भारत में अंग्रेजी जाननेवाला पहला व्यक्ति जहाँगीर के काल में सन् १७२७ ईसवी में सूरत में पहुँचा था। इस प्रकार वर्त्तमान में पुराण नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों (कम-से-कम भविष्यपुराण) की रचना का काल लगभग दो सौ वर्ष पूर्व ठहरता है।

---

१. इसी काल को श्वेताश्वतर (उप० १।२) में सृष्टि के कारणों में गिना है। कबीर सम्प्रदाय के साधु सुन्दरदास ने सुन्दरविलास में लिखा है—'और वैशेषिक काल बखाने'। भ०द०

२. अर्थात् प्रकट वा स्पष्टरूप से।

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—एक विषय में अनेकों का परस्पर विरुद्ध कथन हो, उसको '**विरोध**' कहते हैं। यहाँ भी सृष्टि एक विषय है।

उत्तर—क्या विद्या एक है वा दो ? एक है। जो एक है, तो व्याकरण, वैद्यक, ज्योतिष आदि का भिन्न-भिन्न विषय क्यों हैं ? जैसा एक विद्या में अनेक विद्या के अवयवों का एक-दूसरे से भिन्न प्रतिपादन होता है, वैसे ही सृष्टिविद्या के भिन्न-भिन्न छः अवयवों का छः शास्त्रों में प्रतिपादन करने से इनमें कुछ भी विरोध नहीं। जैसे घड़े के बनाने में कर्म, समय, मट्टी, विचार, संयोग-वियोगादि का पुरुषार्थ, प्रकृति के गुण और कुंभार कारण है, वैसे ही सृष्टि का जो कर्म[1] कारण है उसकी व्याख्या मीमांसा में, समय की व्याख्या वैशेषिक में, उपादानकारण की व्याख्या न्याय में, पुरुषार्थ की व्याख्या योग में तत्त्वों के अनुक्रम से परिगणन की व्याख्या सांख्य में, और निमित्तकारण जो परमेश्वर है, उसकी व्याख्या वेदान्तशास्त्र में है। इससे कुछ भी विरोध नहीं। जैसे वैद्यकशास्त्र में निदान, चिकित्सा, ओषधिदान और पथ्य के प्रकरण भिन्न-भिन्न कथित हैं, परन्तु सबका सिद्धान्त रोग की निवृत्ति है, वैसे ही सृष्टि के छः कारण हैं। इनमें से एक-एक कारण की व्याख्या एक-एक शास्त्रकार ने की है। इसलिए इनमें कुछ भी विरोध नहीं। इसकी विशेष व्याख्या सृष्टि-प्रकरण में कहेंगे।

इन भागवतादि पुराणों में कितना अनर्गल भरा पड़ा है, इसका विवेचन आगे एकादश समुल्लास में किया है। यहाँ पठन-पाठन का विषय होने से इतना ही बतलाना अपेक्षित था कि अनार्ष, युक्तिविरुद्ध तथा अश्लील होने से पाठ्यक्रम में इन ग्रन्थों को स्थान देना सर्वथा अनुचित है।

कर्त्तव्यकर्म—वेदानुकूल तथा वेदाविरुद्ध विहित कर्म कर्त्तव्य कर्म हैं, किन्तु वेदविरुद्ध कर्म सर्वथा निषिद्ध अर्थात् त्याज्य हैं। इसमें मीमांसा १।३।३ प्रमाण है।

छह शास्त्रों में अविरोध—प्रायः लोगों की यह धारणा है कि अन्यान्य ग्रन्थों की भाँति छह शास्त्रों में भी परस्पर विरोध है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। इस विषय में ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में अच्छा प्रकाश डाला है। वहाँ लिखा है—

"सज्जन लोगों को सत्यशास्त्रों ही का पढ़ना और पढ़ाना उचित है, जालग्रन्थों का कभी नहीं।

पूर्वपक्ष—छह शास्त्रों में भी अन्योन्यविरोध और परस्पर खण्डन देख पड़ता है। एक का दूसरे से, दूसरे का तीसरे से ऐसा ही सर्वत्र है। जैसा जालग्रन्थों में एक शास्त्र के विषय में बहुत-सी परस्पर विरुद्ध टीका और मूलग्रन्थ हैं, वैसा ही विरोध सत्यशास्त्रों में भी देख पड़ता है। जो दोष आपने जालग्रन्थों में दिया वही दोष सत्यशास्त्रों में भी आया। फिर सत्यशास्त्रों का पढ़ना और जालग्रन्थों का न पढ़ना आप कहते हैं, इसमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर—यह आप लोगों को जालग्रन्थों के पढ़ने और सुनने से भ्रान्ति हो गयी है कि सत्यशास्त्रों में भी विरोध और परस्पर खण्डन है। यह बात आप लोगों की मिथ्या ही है। देखना चाहिए कि आजकल के लोग टीका वा ग्रन्थ रचते हैं सो द्वेषबुद्धि से ही रचते हैं कि अपनी बात मिथ्या भी होय तो भी सत्य

---

१. मीमांसा में कर्मकाण्डीय यज्ञों के क्रियाकलाप का विचार किया है, साक्षात् सृष्टि के कारणरूप कर्म का विचार नहीं है यतः श्रौतयज्ञ मूलतः सृष्टि-यज्ञ के प्रतिकृतिरूप हैं, अतः इन श्रौतयज्ञों के कर्मों के सम्बन्ध में जो विचार किया गया है, वह मूलतः सृष्टि-यज्ञ-सम्बन्धी कर्म के विषय में ही जानना चाहिए। वेद में इन्हीं सृष्टियज्ञों का मुख्यतः व्याख्यान है।

https://t.me/arshlibrary

[पढ़ने-पढ़ाने में विघ्नरूप कर्म]

जो विद्या पढ़ने-पढ़ाने के विघ्न हैं, उनको छोड़ देवें। जैसा-कुसंग अर्थात् दुष्ट विषयी जनों का संग; दुष्टव्यसन जैसा मद्यादि-सेवन और वेश्यागमनादि; बाल्यावस्था में विवाह, अर्थात् पच्चीसवें वर्ष से पूर्व पुरुष और सोलहवें वर्ष से पूर्व स्त्री का विवाह हो जाना, पूर्ण ब्रह्मचर्य न होना; राजा, माता-माता और विद्वानों का प्रेम वेदादिशास्त्रों के प्रचार में न होना; अतिभोजन अतिजागरण करना; पढ़ने-पढ़ाने परीक्षा लेने वा देने में आलस्य वा कपट करना; विद्या का लाभ सर्वोपरि न समझना; ब्रह्मचर्य से बल, बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य, राज्य-धन की वृद्धि न मानना; ईश्वर का ध्यान छोड़ अन्य पाषाणादि जड़ मूर्ति के दर्शन-पूजन में व्यर्थ काल खोना; माता-पिता, अतिथि और आचार्य्य, विद्वान् इनको सत्य मूर्ति मानकर सेवा-सत्संग न करना।

वर्णाश्रम के धर्म को छोड़ 'ऊर्ध्वपुण्ड्र' त्रिपुण्ड्र, तिलक, कण्ठी, माला धारण; एकादशी' त्रयोदशी आदि व्रत करना; काश्यादि तीर्थ और राम, कृष्ण, नारायण, शिव, भगवती, गणेशादि के नामस्मरण से पाप दूर

कर देते हैं। तब सब लोग उसको कहते हैं कि वह बड़ा पण्डित है। इस प्रकार के जो धूर्त्त मनुष्य हैं, वे ही टीका वा ग्रन्थ रचते हैं, उनमें इसी प्रकार की धूर्त्तता रखते हैं। उनको जो पढ़ता वा पढ़ाता है उसकी भी बुद्धि वैसी ही भ्रष्ट हो जाती है, सो मिथ्यावाद में प्रवृत्त होता है। ..... इस दोष के होने से सत्यशास्त्रों का जो यथावत् अभिप्राय है, उसको जानते भी नहीं। इससे वे कहते हैं कि सत्यशास्त्रों में भी विरोध है, परन्तु मैं आप लोगों से कहता हूँ कि छह शास्त्रों में लेशमात्र भी परस्पर विरोध नहीं है, क्योंकि इनका विषय भिन्न-भिन्न है।"

छह दर्शनों में विरोध की बात प्रायः सृष्टिरचना के प्रसङ्ग में आती है, अतः इस विषय का विस्तृत विवेचन आगे सृष्टिविषयक अष्टम समुल्लास में किया गया है।

ऊर्ध्वपुण्ड्र—यत्कण्ठे तुलसी नास्ति ते नरा मूढमानसाः। अन्नं विष्ठा जलं मूत्रं पीयूषं रुधिरं भवेत्॥८॥ ततः सर्वेषु कालेषु कार्या तुलसीमालिका। क्षणार्द्धं तद्विहीनोऽपि विष्णुद्रोही भवेन्नरः॥६॥ ये कण्ठलग्नतुलसीनलिनाक्षमाला। ये वा ललाटफलके लसदूर्ध्वपुण्ड्राः। ये बाहुमूलपरिचिह्नितशंखचक्रास्ते वैष्णवा भुवनमाशु पवित्रयन्ति॥१॥ (रामपटल पृ० १६, १७)। **ओं योऽसौ गोपीचन्दनेन वेणुपत्राकारोर्ध्वपुण्ड्रे नासिकार्द्धकेशपर्यन्तं तिलकं द्वादशं पञ्चमं वा स्वात्मनो निर्धारयति स पुण्यवान् कृष्णस्यानुचरो भवति स लोके पूज्यो भवति॥३॥** (रामपटल पृ० ६)। **ओं ऊर्ध्वपुण्ड्रं मस्तके धारयति स महात्मा॥२॥** (रामपटल पृ० १३)।

ब्रह्मचर्यावस्था में विद्याध्ययन के प्रसंग में प्रथम संस्करण में इतना विशेष लिखा है—"जब सोलह वर्ष का पुरुष होय तब से लेके जब तक वृद्धावस्था न आवै तब तक व्यायाम करै। बहुत न करै, किन्तु ४० बैठक करै और ३० वा ४० दण्ड करै। कुछ भीत, खम्भे वा पुरुष से बल करै। फिर लोट करै। उसको भोजन से एक घण्टा पहिले करै। सब अभ्यास जब कर चुके उससे एक घण्टा पीछे भोजन करै, परन्तु दूध जो पीना होय तो अभ्यास के पीछे शीघ्र ही पीवै। उससे शरीर में रोग न होगा। जो कुछ खाया वा पीया सो सब परिपक्व हो जाएगा। सब धातुओं की वृद्धि होती है तथा वीर्य की भी अत्यन्त वृद्धि होती है। शरीर दृढ़ हो जाता है और हड्डियाँ बड़ी पुष्ट हो जाती हैं। जाठराग्नि शुद्ध, प्रदीप्त रहता है और सन्धि-से-सन्धि हाड़ों की मिली रहती है अर्थात् सब अंग सुन्दर रहते हैं, परन्तु अधिक न करना। अधिक

https://t.me/arshlibrary

होने का विश्वास; पाखण्डियों के उपदेश से विद्या पढ़ने में अश्रद्धा का होना; विद्या, धर्म, योग, परमेश्वर की उपासना के विना मिथ्या पुराणनामक भागवतादि की कथादि से मुक्ति का मनाना; लोभ से धनादि में प्रवृत्ति होकर विद्या में प्रीति न रखना, इधर-उधर व्यर्थ घूमते रहना इत्यादि मिथ्या-व्यवहारों में फँसके ब्रह्मचर्य और विद्या के लाभ से रहित होकर रोगी और मूर्ख बने रहते हैं।

आजकल के सम्प्रदायी और स्वार्थी ब्राह्मण आदि, जो दूसरों को विद्या-सत्संग से हटा और अपने जाल में फँसाके उनका तन, मन, धन नष्ट कर देते हैं, और चाहते हैं कि जो क्षत्रियादि वर्ण पढ़कर विद्वान् हो जाएँगे, तो हमारे पाखण्डजाल से छूट और हमारे छल को जानकर हमारा अपमान करेंगे इत्यादि विघ्नों को राजा और प्रजा दूर करके अपने लड़कों और लड़कियों को विद्वान् करने के लिए तन, मन, धन से प्रयत्न किया करें।

[स्त्री-शूद्रों को भी वेदाध्यन का अधिकार]

प्रश्न—क्या स्त्री और शूद्र भी वेद पढ़ें ? जो ये पढ़ेंगे तो हम फिर क्या करेंगे ? और इनके पढ़ने में प्रमाण भी नहीं है। जैसाकि यह निषेध है—**'स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः'** स्त्री और शूद्र न पढ़ें यह श्रुति है।

उत्तर—सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्यमात्र को पढ़ने का अधिकार है। तुम कुआ में पड़ो, और यह श्रुति तुम्हारी कपोल-कल्पना से हुई है। किसी प्रामाणिक ग्रन्थ की नहीं। और **सब मनुष्यों के वेदादिशास्त्र पढ़ने-सुनने के अधिकार का प्रमाण** यजुर्वेद छब्बीसवें अध्याय में दूसरा मन्त्र है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥

अर्थः—परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्यः) सब मनुष्यों के लिए (इमाम्) इस

के करने से उतने गुण न होंगे, क्योंकि सब धातु शुष्क और रूक्ष हो जाते हैं। यह बात सुश्रुत में लिखी है। जो देखना चाहै सो देख लेवै।'

'स्त्रीशूद्र का विद्याधिकार—'स्त्रीशूद्रौ'—यह वचन **'न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयाताम्'** इस रूप में 'मीमांसा-न्यायप्रकाश' के टीकाकारों ने 'रथकार का अग्न्याधान में अधिकार' प्रकरण के अन्त में उद्धृत किया है। सत्यव्रत सामश्रमी ने ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत **'यथेमां वाचं०'** इस मन्त्र का प्रामाण्य स्वीकार करते हुए स्वरचित 'ऐतरेयालोचन', पृष्ठ १७ पर लिखा है—**''शूद्रस्य वेदाधिकारे साक्षात् वेदवचनमपि प्रदर्शितं स्वामिदयानन्देन 'यथेमां वाचं .....''**। **'इमं मन्त्रं०**—तुलना करें—**पत्नीं वाचयति मेध्यामेवैनां करोति, वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेद्धोताऽध्वर्युर्वा वेदोऽसि वित्तिरसि'** (आश्व० श्रौ० १।११); **'यत्पत्नी पुरोऽनुवाक्यमनुब्रूयात्'** (तै०ब्रा० १।६।५।६); **'ज्ञाते च वाचनं न ह्यविद्वान् विहितोऽस्ति'** (मीमांसा ३।८।१३) इत्यादि प्रमाणोक्त मन्त्रवाचन पत्नी द्वारा तभी सम्भव है जब वह विदुषी, वेद पढ़ी हुई हो। **'कैकेयी'** कहाती है—**'स्मर राजन् पुरावृत्तं तस्मिन् दैवासुरे रणम्। तत्र त्वां च्यावच्छत्रुस्तव जीवितमन्तरा॥ तत्र चापि मया देव यत्वं समभिरक्षितः। जाग्रत्या यतमानायास्ततो मे प्रददौ वरौ'** ॥ (वा०रा० अयो० काण्ड, सर्ग ११।१८।१६)। अर्थात् हे राजन्! देवों तथा असुरों के संघर्ष में पहले हुए रण

https://t.me/arshlibrary

को स्मरण करो। उसमें शत्रु ने तुम्हें मार गिराया था। वहाँ भी मैंने तुम्हारी रक्षा की थी। इस प्रयत्न में जागती हुई मुझे तुमने दो वर दिये थे।

जीवात्मा के कल्याण के लिए वेदादि शास्त्रों का उपदेश है, परन्तु उनके पढ़ने और समझने का सामर्थ्य जीवात्मा को मनुष्ययोनि में पहुँचने पर ही प्राप्त होता है। अन्य योनियों में यह सामर्थ्य नहीं रहता, वे केवल भोगयोनियाँ हैं। जीवात्मा का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्मवित् होकर मोक्षलाभ करना है। यह अवसर भी उसे मनुष्ययोनि में ही मिलता है। तब, इस योनि को प्राप्त करनेवाले जीवात्माओं में से किसी को शास्त्र- ज्ञान से, और वह भी उसके पिता स्वयं भगवान् के वेदज्ञान से वंचित करना कितना बड़ा अन्याय होगा !

जैसे द्विजाति वैसे ही शूद्र और स्त्रियाँ भी परमेश्वर की उत्पादित प्रजा हैं। पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, अन्न, वनस्पति आदि जितने भी पदार्थ सृष्टि में हैं, उनके उपयोग का अधिकार सबको समान रूप से प्राप्त है। इसी प्रकार ईश्वरप्रदत्त ज्ञान वेद का अध्ययन कर तदनुकूल आचरण द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का अधिकार भी मनुष्यमात्र को है। भगवान् की दृष्टि में सब बराबर हैं। ईश्वरीय विधान में अवसर की समानता सबको सुलभ है। उससे लाभ उठाना प्रत्येक जीव के अपने सामर्थ्य पर निर्भर है।

'यथेमां वाचमित्यादि' मन्त्र के अनुसार मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ प्रदत्त वेदवाणी पर जैसा अधिकार ब्राह्मण का है, वैसा ही अन्य सबका है। मनुष्यों में सर्वोपरि आप्तपुरुष मनु हैं और मनु की दृष्टि में **'प्रमाणं परमं श्रुतिः'**—वेद से बढ़कर दूसरा कोई प्रमाण नहीं। ऐसी अवस्था में स्वयं वेद द्वारा वेदाध्ययन में मनुष्यमात्र के अधिकार की घोषणा के पश्चात् अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रह जाती। इसी के आधार पर ग्रन्थकार ने वेद का शताब्दियों से बन्द पड़ा द्वार सबके लिए खोल दिया। उनकी इस महान् क्रान्ति पर विश्वविख्यात लेखक और विचारक रोम्या रोलां (Roman Rolland) ने लिखा है—

"It was in truth an epoch making date for India when a Brahman not only acknowledged that all human beings have a right to know the Vedas, who had been previously prohibited by orthodox Brahmanas, but insisted that their study and propaganda was the duty of every Arya."

—Life of Ramakrishna by Roman Rolland. Page 59

इसका आशय यह है कि सचमुच भारत के लिए वह एक नवयुग के निर्माण का दिन था जब एक ब्राह्मण (स्वामी दयानन्द) ने केवलमात्र यह स्वीकार ही नहीं किया कि मनुष्यमात्र को वेदों को जानने का अधिकार है, जिस अधिकार से उन्हें कट्टरपन्थी ब्राह्मणों ने वंचित कर रखा था, अपितु इस बात पर बल दिया कि वेद का पढ़ना-पढ़ाना और उनका प्रचार करना प्रत्येक आर्य का धर्म है।

इस प्रकार देववाणी (ईश्वरीय ज्ञान) वेद को जनवाणी बनाने का श्रेय दयानन्द को है।

शिक्षाकाल की समाप्ति पर गुण-कर्म-स्वभाव की परीक्षा करके वर्णाधिकार का निश्चय होता है। इसलिए मन्त्रगत ब्राह्मणादि पद यहाँ गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्णों के सन्तानपरक हैं। बालक सन्तान, चाहे किसी भी वर्ण के हों, उन्हें गुरु के पास जा अध्ययन करने का समान अधिकार है। मानवसमाज का कोई वर्गविशेष उससे वंचित नहीं किया जा सकता। ग्रन्थकार के मत में मूर्ख का नाम शूद्र और अतिमूर्ख का नाम अतिशूद्र है। अतिमूर्ख को पढ़ाने अथवा वेदाध्ययन का अधिकार देने का क्या लाभ ? यह ऊसर भूमि में बीज डालने के समान है, किन्तु उक्त मन्त्र में ब्राह्मणादि के साथ शूद्रादि पदों का स्पष्ट निर्देश है। ऐसे

https://t.me/arshlibrary

स्थलों में यह ध्यान रखना चाहिए कि जब ब्राह्मणादि के लिए वेदादि के अध्ययन का उल्लेख होता है तब ब्राह्मणादि पदों का अर्थ ब्राह्मणादि कुलोत्पन्न बालक सन्तान होता है। उनमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जा सकता। अवसर मिलने पर भी यदि कोई (भले ही द्विजकुलोत्पन्न हो) उससे लाभ नहीं उठा पाता, अर्थात् पढ़ने-लिखने में असमर्थ रहता है तो उसका वह अधिकार समाप्त होकर वह स्वयं शूद्र अथवा अतिशूद्र की कोटि में आ जाता है।

अधिकार शब्द के दो अर्थ हैं—स्वत्व और योग्यता। जिस प्रकार पिता की सम्पत्ति में सभी पुत्रों का समानरूप से स्वत्वाधिकार होता है, वैसे ही परमात्मा की वेदज्ञानरूपी सम्पत्ति में उसके सभी पुत्रों—ब्राह्मण से लेकर अतिशूद्र तक—का समान अधिकार स्वतः सिद्ध है, किन्तु जिस प्रकार अपने स्वत्व का सदुपयोग करके योग्य व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को बढ़ा लेता है और अयोग्य व्यक्ति अपने उत्तराधिकार में प्राप्त धन को भी गवाँ बैठता है, उसी प्रकार अपनी योग्यता के कारण शूद्रकुलोत्पन्न होकर भी कोई व्यक्ति अवसर से लाभ उठाकर ज्ञानी बन जाता है और ब्राह्मणकुलोत्पन्न होकर भी कोई व्यक्ति अवसर से लाभ न उठाकर मूर्ख रह जाता है।

इस प्रकार **'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्'**। इसलिए जहाँ-जहाँ शास्त्रों और ग्रन्थकार की रचनाओं में शूद्रों के वेदाध्ययन के अधिकार का प्रतिपादन किया है, वहाँ उसका तात्पर्य स्वत्वपरक है और जहाँ-कहीं निषेध की बात कही गयी है वहाँ उसका तात्पर्य योग्यतापरक है। 'इस संस्था के द्वार सबके लिए खुले हैं' यह घोषणा होने पर भी उसमें प्रवेश पाने के लिए निर्धारित न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता, बौद्धिक स्तर आदि सम्बन्धी शर्तों को पूरा करना आवश्यक होता है। जाति, धर्म, लिङ्ग आदि के बाधक न होने पर भी प्रत्येक प्रवेशार्थी को उसकी योग्यता के आधार पर छोटी-बड़ी कक्षा में प्रवेश मिलता है।

अनुभवी शास्त्रकारों ने कतिपय ऐसे दोषों का निर्देश किया है जो विद्याभ्यास में बाधक होते हैं। उन दोषों से रहित बालक विद्याग्रहण के अधिकारी होते हैं। ईर्ष्या, असूया, चपलता, मद, मोह, उद्दण्डता, असत्यभाषण आदि इस प्रकार के दोष हैं, जिनके रहते विद्या प्राप्त नहीं हो सकती। आचार्य अपने अनुभव के आधार पर विद्यार्थी की परीक्षा लेता है और उसकी शैक्षणिक योग्यता तथा चरित्र से आश्वस्त हो जाने पर ही उसे शिष्यरूप में स्वीकार करता है। मनुस्मृति २।११३ में कहा है—

विद्ययैव समं कामं मर्त्तव्यं ब्रह्मवादिना ।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥

ब्रह्मवादी वेदाध्यापक भले ही विद्या को अपने साथ लेकर मर जाए, पर घोर विपत्ति में भी उसे ऊसर में न बोये, अर्थात् कुपात्र को विद्या न दे। समाज में शूद्र वही है जिसमें प्रयास करने पर भी विद्योपयोगी गुणों का विकास नहीं हो पाता। ऐसे लोगों का वर्ग शारीरिक श्रम के लिए उपयुक्त समझा जाता है। यदि इस वर्ग में कोई विशिष्ट संस्कारी आत्मा किन्हीं निमित्तों से विद्योपयोगी गुणों के उद्भावन में सफल हो जाता है तो वह अभिलषित विद्या के लिए पूर्ण अधिकारी हो जाता है। ब्राह्मण, शूद्र आदि पद गुणवाचक हैं, इनमें जाति अथवा जन्म प्रवृत्तिनिमित्त नहीं। काठकसंहिता में कहा है—

किं ब्राह्मणस्य पितरं किमु पृच्छसि मातरम् ।
श्रुतं चेदस्मिन् वेद्यं स पिता स पितामहः ॥

ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन) के **'श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च'** (१।३।३८) सूत्र से पूर्वोक्त सत्य,

https://t.me/arshlibrary

(कल्याणीम्) कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देनेहारी (वाचम्) ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का (आवदानि)उपदेश करता हूँ, वैसे तुम भी किया करो।

यहाँ कोई ऐसा **प्रश्न** करे कि—**'जन'** शब्द से द्विजों का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि स्मृत्यादि ग्रन्थों में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य ही के वेदों के पढ़ने का अधिकार लिखा है। स्त्री और शूद्रादि वर्णों का नहीं।

उत्तर—(ब्रह्मराजन्याभ्याम्) इत्यादि। देखो, परमेश्वर स्वयं कहता है कि हमने ब्राह्मण-क्षत्रिय (अर्याय) वैश्य (शूद्राय) शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्रियादि (अरणाय) और अतिशूद्रादि के लिए भी वेदों का प्रकाश किया है, अर्थात् सब मनुष्य वेदों को पढ़-पढ़ा और सुन-सुनाकर विज्ञान को बढ़ाके अच्छी बातों का ग्रहण और बुरी बातों का त्याग करके दुःखों से छूटकर आनन्द को प्राप्त हों॥

कहिए अब तुम्हारी बात मानें वा परमेश्वर की? परमेश्वर की बात अवश्य माननीय है। इतने पर भी जो कोई इसको न मानेगा, वह **'नास्तिक'** कहावेगा, क्योंकि **'नास्तिको वेदनिन्दकः'** (मनु० ५।११) वेदों का निन्दक और न माननेवाला **'नास्तिक'** कहाता है। क्या परमेश्वर शूद्रों का भला करना नहीं चाहता? क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों के पढ़ने-सुनने का शूद्रों के लिए निषेध और द्विजों के लिए विधि करे? जो परमेश्वर का अभिप्राय शूद्रादि के पढ़ाने-सुनाने का न होता, तो इनके शरीर में वाक् और श्रोत्र इन्द्रिय क्यों रचता? जैसे परमात्मा ने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सबके लिए बनाये हैं,

---

सरलता, ब्रह्मचर्यादिगुणों के न होने पर उस व्यक्ति के लिए वेदादि के पढ़ने, सुनने और उसके द्वारा अनुष्ठान का निषेध किया है। अन्य के द्वारा पढ़े जाने पर दूसरे व्यक्ति का सुनना 'श्रवण' कहा जाता है। गुरुमुख से स्वयं पढ़ना 'अध्ययन' कहाता है। अधीत के अनुसार यज्ञादिविहित कर्मों का करना 'अर्थ' कहाता है। अध्ययन के अनन्तर वेदादि के मनन से उसके सार एवं रहस्य को समझना भी अर्थ कहाता है। ब्रह्मविद्या के श्रवण आदि का उन व्यक्तियों के लिए निषेध है जिनमें पूर्वोक्त दोष विद्यमान हों। ऐसे व्यक्तियों को विद्या का दान समाज के कल्याण का हेतु न होकर उसके अनर्थ का हेतु हो सकता है। निरुक्त (२।१।४) में उद्धृत एक सन्दर्भ से यह भाव स्पष्ट हो जाता है—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

विद्या वेदज्ञ के पास आई और बोली—मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारी अमूल्य निधि हूँ। असूया करनेवाले, उद्दण्ड एवं असंयमी के लिए मुझे मत देना, जिससे में बलवती हो सकूँ। दुष्टजन विद्या का दुरुपयोग कर समाज को हानि पहुँचाने का कारण बन सकते हैं। इसी भाव को मनुस्मृति में इन शब्दों में कहा है—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीरवत्तमा॥

प्रकारान्तर से यही बात गीता (१८।६७) में इस प्रकार कही है—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

यह अध्यात्मविषयक ज्ञान ऐसे व्यक्ति को कभी नहीं देना चाहिए जो तपस्वी न हो, विद्या के प्रति

https://t.me/arshlibrary

वैसे ही वेद भी सबके लिए प्रकाशित किये हैं। और जहाँ-कहीं निषेध किया है, उसका यह अभिप्राय है कि जिसको पढ़ने-पढ़ाने से कुछ भी न आवे, वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से 'शूद्र' कहाता है। उसका पढ़ना-पढ़ाना व्यर्थ है।

[कन्याओं के ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन में प्रमाण]

और जो स्त्रियों के पढ़ने का निषेध करते हो, वह तुम्हारी मूर्खता, स्वार्थता और निर्बुद्धिता का प्रभाव है। देखो, वेद में कन्याओं के पढ़ने का प्रमाण—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ॥

—अथर्व० अ० ३। प्र० २४। का० ११। मं० १८॥[1]

जैसे लड़के ब्रह्मचर्य-सेवन से पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवती, विदुषी, अपने, अनुकूल, प्रिय, सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं, वैसे (कन्या) कुमारी (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य्य-सेवन से वेदादि-शास्त्रों को पढ़ पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवती होके, पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश, प्रिय, विद्वान् (युवानम्) पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष को (विन्दते) प्राप्त होवे। इसलिए स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिए ॥

प्रश्न—क्या स्त्रीलोग भी वेदों को पढ़ें ?

उत्तर—अवश्य। देखो, श्रौतसूत्रादि में—**'इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्'** अर्थात् स्त्री यज्ञ में इस मन्त्र को पढ़े। जो वेदादिशास्त्रों को न पढ़ी होवे, तो यज्ञ में स्वरसहित मन्त्रों का उच्चारण[2] और संस्कृतभाषण कैसे कर सके ? भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषणरूप गार्गी आदि वेदादि-शास्त्रों को पढ़के पूर्ण विदुषी हुई थीं। यह **'शतपथब्राह्मण'**[3] में स्पष्ट लिखा है।

भला जो पुरुष विद्वान् और स्त्री अविदुषी, और स्त्री विदुषी और पुरुष अविद्वान् हो, तो नित्यप्रति 'देवासुर-संग्राम' घर में मचा रहे, फिर सुख कहां ? इसलिए जो स्त्री न पढ़ें तो कन्याओं की पाठशाला में अध्यापिका क्योंकर हो सकें ? तथा राजकार्य न्यायाधीशत्वादि, गृहाश्रम का कार्य—जो पति को स्त्री और स्त्री को पति प्रसन्न रखना, घर के सब काम स्त्री के आधीन रहना—इत्यादि काम विना विद्या के अच्छे प्रकार कभी ठीक नहीं हो सकते।

देखो, आर्य्यावर्त्त के राजपुरुषों की स्त्रियाँ धनुर्वेद अर्थात् युद्धविद्या भी अच्छी प्रकार जानती थीं।

आस्थावान् न हो, आचार्य के प्रति सेवाभाव न रखता हो तथा जो परमेश्वर में आस्तिक बुद्धि न रखता हो।

अन्य उपनिषदादि वैदिक साहित्य में अनेकत्र इसी अर्थ का प्रतिपादन हुआ है। श्वेताश्वतर उपनिषद् ६।२२) में बताया—**'नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः'**। अध्यात्मशास्त्रों में प्रतिपादित यह रहस्य उसे न देना चाहिए जो शान्त न हो, उद्दण्ड हो, जो आज्ञाकारी न हो, असंयत हो तथा जो श्रद्धा न रखता हो।

---

१. सरल पता—काण्ड ११। सूक्त ५। मन्त्र १८॥

२. यज्ञ में जप-मन्त्र, न्यूङ्ख (१६ ओंकार) और सामगान के सस्वर उच्चारण का विधान है। इनसे भिन्न मन्त्र यज्ञ में एकश्रुति स्वर से बोले जाते हैं। द्र०—'यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु' (अ० १।२।३४) श्रौतसूत्रों में भी ऐसा ही विधान देखा जाता है।

३. द्र० शत० १४।६।६ गार्गी-याज्ञवल्क्य-संवाद।

https://t.me/arshlibrary

'ह्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्' (वे०१।३।२५) में स्पष्ट 'मनुष्य' शब्द का निर्देश होने से बादरायण के मत में मनुष्यमात्र का वेदाध्ययन में अधिकारी होना सिद्ध है। अन्यथा वहाँ 'मनुष्य' के स्थान पर ब्राह्मणादि पदों में से किसी का निर्देश किया जा सकता था।

इस सूत्र (१।३।३८) को न समझकर पौराणिक आचार्यों ने अपनी दूषित भावना को आरोपित कर इतना बड़ा अनर्थ कर डाला कि उसके कारण वैदिक धर्माभिमानी लोगों को सभ्य मानवसमाज में मुँह दिखाना मुश्किल हो गया। शूद्रकुल में जन्म लेने के कारण किसी के वेदाध्ययन का अधिकारी न होने का सूत्र में संकेत तक नहीं है। इतना ही नहीं, ब्रह्मसूत्र के रचयिता महर्षि वेदव्यास के साक्षात् शिष्य जैमिनि ने भी अपने मीमांसाशास्त्र में **'सर्वत्वमाधिकारिकम्'** (१।२।१६) इस सूत्र के द्वारा वेदाध्ययन में मनुष्यमात्र का अधिकार स्पष्ट स्वीकार किया है। गौतम-धर्मसूत्र (२।३।४) में लिख दिया गया—

"अथ हेति वाक्यांलकारे। उपश्रुत्य बुद्धिपूर्वमक्षरग्रहणमुपश्रवणम्। अस्य शूद्रस्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां त्रपुजतुना च द्रवीकृतेन श्रोत्रे परिपूरितव्ये। उपश्रवणशब्देन यदृच्छया ध्वनिमात्रश्रवणे न दोषः। स चेद् द्विजातिभिः सह वेदाक्षराण्युदाहरेदुच्चरेत्। तस्य जिह्वया छेद्या धारणे सति यदान्यत्रगतोऽपि स्वयमुच्चारयितुं शक्नोति ततः परश्वादिना शरीरमस्य भेद्यम्—शूद्र के (अक्षरग्रहण करने की इच्छा से) वेदपाठ सुनने पर पिघलाये गये सीसे और जस्ते से उसके कान भर दिये जाएँ। द्विजातियों के साथ वेद के अक्षरों का उच्चारण करने पर उसकी जीभ काट दी जाए तथा वेदमन्त्र धारण करने पर उसका शरीरकाट दिया जाए।" —गौतमधर्मसूत्राणि, हिन्दीव्याख्याविभूषितहरदत्तकृतमिताक्षरावृत्तिसहितानि। चौखम्भा संस्कृत सीरीज़ वाराणसी, १९६६।

सबसे अधिक आश्चर्य और खेद का विषय यह है कि इस सूत्र के मिथ्या अर्थ के प्रयोजक और प्रचारक-प्रसारक चराचर जगत् (जिसमें द्विजों के साथ शूद्र भी सम्मिलित हैं) को एक ब्रह्म का ही रूप, अंश तथा प्रतिबिम्ब माननेवाले जगद्गुरु आदि शंकराचार्य थे। उक्त सूत्र का भाष्य करते हुए उन्होंने लिखा है—**"इतश्च न शूद्रस्याधिकारः यदस्य स्मृतेः श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधो भवति। वेदश्रवणप्रतिषेधो वेदाध्ययनप्रतिषेधस्तदर्थज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते। श्रवणप्रतिषेधस्तावत् 'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्' इति। पद्भ्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम् इति। अत एवाध्ययनप्रतिषेधः यस्य हि समीपे नाध्येतव्यं भवति, स कथमश्रुतमधीयीत ? भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद इति। अतएव चार्थादथ ज्ञानानुष्ठानयोः प्रतिषेधो भवति। 'न शूद्राय मतिं दद्यात्' इति। 'द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम्' इति च।"**

अर्थात् इससे भी शूद्र का वेदाध्ययन में अधिकार नहीं है, क्योंकि स्मृति उसके श्रवण, अध्ययन और अर्थ का निषेध करती है। स्मृति में शूद्र के लिए वेद के श्रवण, अध्ययन और वेदार्थ के ज्ञान एवं अनुष्ठान का निषेध है। इसलिए समीप से वेद का श्रवण करनेवाले शूद्र के कानों को पिघले हुए सीसे और लाख से भरदे। शूद्र चलता फिरता श्मशान है, इसलिए शूद्र के समीप अध्ययन नहीं करना चाहिए। वह बिना सुने अध्ययन कैसे कर सकता है ? यदि शूद्र वेद का उच्चारण करे तो उसकी जीभ काट देनी चाहिए और यदि वेद को याद करे तो उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देने चाहिएँ। इसी हेतु से कि शूद्र के लिए अध्ययन एवं अनुष्ठान का निषेध है, ब्राह्मण को चाहिए कि शूद्र को ज्ञान न दे। अध्ययन, यज्ञ और दान का विधान केवल द्विजों के लिए है।

रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य, सायणाचार्य आदि सभी पौराणिक आचार्यों ने

https://t.me/arshlibrary

वेद के विपरीत शंकराचार्य की अवैदिक विचारधारा का ही अनुसरण किया। आर्षग्रन्थों में कहीं इसका प्रतिपादन नहीं हुआ है। शूद्रों के धर्मान्तरण के लिए बहुत हद तक शंकराचार्य और तदनुयायी आचार्य जिम्मेदार हैं।

अथर्ववेद के अन्तर्गत **'स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्'**० (१९।७१।१) इस मन्त्र में आये **'पावमानी द्विजानाम्'** इस मन्त्रांश को लक्ष्य करके कहा जाता है कि वेदमाता द्विजों को ही पवित्र करनेवाली और उन्हीं को अनेकविध ऐश्वर्य प्रदान करनेवाली है, शूद्रों के लिए उसका कोई उपयोग नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि द्विजेतर शूद्रादि का वेदाध्ययन में कोई अधिकार नहीं है। इस विषय में यह जानना आवश्यक है कि जिसका दो बार जन्म होता है वही द्विज कहाता है। एक बार माता के गर्भ से प्रत्येक मनुष्य का जन्म होता है। तदनन्तर गुरुकुल में प्रविष्ट कराते समय बालक के माता-पिता आचार्य से प्रार्थना करते हैं—**"आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्"** (यजुः० २।३३)। इस प्रकार आचार्य बालक को अपने गर्भ में धारण करता है। आचार्यकुल में रहते हुए पूर्ण विद्या प्राप्त कर जब वहाँ से स्नातक बनकर निकलता है तो उसका दूसरा जन्म हुआ कहा जाता है। तब उसकी द्विज संज्ञा होती है। इस प्रकार ज्ञानसम्पन्न द्विजसंज्ञक व्यक्ति को ही उन पदार्थों की प्राप्ति होती है, जिनका उल्लेख उक्त मन्त्र में हुआ है। विद्याप्राप्ति का अवसर पाना प्रत्येक बालक का जन्मसिद्ध मौलिक अधिकार है, किन्तु अवसर मिलने पर भी जो उससे लाभ नहीं उठाता और विद्या पूर्ण किये बिना ही गुरुकुल से भाग खड़ा होता है वह दूसरा जन्म न होने से शूद्र रह जाता है और इस प्रकार द्विजों को मिलनेवाले पदार्थों से वंचित हो जाता है। **'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः'** (तै० सं० ७।१।१।६) इत्यादि प्रसंग भी ऐसे व्यक्तियों के लिए हैं जो किसी प्रकार विधिवत् वेदाध्ययन नहीं कर पाये। वे मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण करने में असमर्थ हैं, पर यज्ञों के अवसर पर मन्त्रों के अनाप-शनाप उच्चारण का दुस्साहस करते हैं। ऐसे व्यक्तियों को मन्त्रोच्चारयिता के रूप में यज्ञों में भाग लेने का निषेध है। यह निषेध शूद्र के विद्यानधिकार का प्रयोजक नहीं है। विद्याध्ययन के लिए मनुष्यमात्र को अवसर दिया जाना सर्वथा शास्त्रसम्मत एवं युक्तिसंगत है।

यह कहा जाता है कि मधुच्छन्दा आदि वेदद्रष्टा ऋषियों की परम्परा में किसी शूद्र ऋषि का सम्भव न होने से स्पष्ट है कि ब्रह्मविद्या एवं वेदाध्ययन आदि में मनुष्यमात्र का अधिकार शास्त्रसम्मत नहीं है। वस्तुतः 'ब्राह्मण' आदि पद गुणवाचक हैं, किन्हीं विशिष्ट गुणों के वाचक होने से इन पदों का प्रयोग समाज के विभिन्न वर्गों के लिए होता है। तब जो वेदद्रष्टा है उसे शूद्र कैसे कहा जा सकता है और जो शूद्र है वह वेदद्रष्टा कैसे हो सकता है ? जो बालक गुरु या आचार्य के पास जाकर उपनीत हो, वेदादि के अध्ययन में सफल नहीं होता अथवा प्रत्येक प्रयास किये जाने पर भी अपने अध्ययनक्रम को पूरा नहीं कर पाता, वह शूद्र कहाता है। ऐसा व्यक्ति वेदद्रष्टा कैसे हो सकता है ? तथापि इससे वेदादि में उसका अधिकार नष्ट नहीं होता।

यदि शूद्र से अभिप्राय शूद्रकुलोत्पन्न व्यक्ति से ही हो तो कवष, ऐलूष आदि अनेक मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के नाम मिलते हैं, जिन्होंने शूद्रकुल में जन्म लेकर ऋषित्व को प्राप्त किया। वेद पढ़ने का अधिकार न होता तो वे वेद पढ़ते कैसे और पढ़े बिना मन्त्रार्थ का दर्शन कैसे करते ? ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के व्याख्याग्रन्थ हैं। ऐतरेयब्राह्मण का रचयिता महीदास दासीपुत्र था। शूद्रकुलोत्पन्न मतङ्गादि अनेक ऋषियों की ब्राह्मणपद-प्राप्ति तो इतिहासप्रसिद्ध है और वेदाध्ययन के बिना कोई ब्राह्मण नहीं बन सकता।

'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' जैसे मिथ्या एवं कल्पित वचनों के आधार पर शूद्रों के साथ-साथ वेदाध्ययन

https://t.me/arshlibrary

क्योंकि जो न जानती होतीं, तो कैकेयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में क्योंकर जा सकतीं, और युद्ध कर सकतीं[1] ? इसलिए ब्राह्मणी को सब विद्या और क्षत्रिया को सब विद्या और युद्ध तथा राजविद्याविशेष वैश्या को व्यवहारविद्या, और शूद्रा को पाकादि सेवा की विद्या अवश्य पढ़नी चाहिए ।

[स्त्री-पुरुषों के न्यूनतम अध्ययनीय विषय]

जैसे पुरुषों को व्याकरण धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून-से-न्यून अवश्य पढ़नी चाहिए, वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण धर्म वैद्यक गणित शिल्पविद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिए । क्योंकि इनके सीखे विना सत्याऽसत्य का निर्णय, पति आदि से अनुकूल वर्तमान[2], यथायोग्य सन्तानोत्पति का पालन-वर्द्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्यों को जैसा चाहिए वैसा करना-कराना, वैद्यक-विद्या से औषधवत् अन्न-पान बनाना और बनवाना नहीं कर सकतीं । जिससे घर में रोग कभी न आवे, और सब लोग सदा आनन्दित रहें ।

शिल्पविद्या के जाने विना घर का बनवाना; वस्त्र आभूषण आदि का बनाना-बनवाना; गणितिविद्या के विना सबका हिसाब समझना-समझाना; वेदादि-शास्त्रविद्या के विना ईश्वर और धर्म को न जानके अधर्म से कभी नहीं बच सकें । इसलिए वे ही धन्यवादार्ह और कृतकृत्य हैं कि जो अपने सन्तानों को ब्रह्मचर्य्य उत्तम शिक्षा और विद्या से शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढ़ावें । जिससे वे सन्तान माता, पिता, पति, सासु, श्वसुर, राजा, प्रजा, पड़ोसी, दूष्ट-मित्र और सन्तानादि से यथायोग्य धर्म से वर्त्तें ।

[विद्यारूपी अक्षय कोष]

यही कोश अक्षय है इसको जितना व्यय करें, उतना ही बढ़ता जाए । अन्य सब कोश व्यय करने से घट जाते हैं, और दायभागी भी निज भाग लेते हैं और विद्याकोश का चोर वा दायभागी कोई भी नहीं हो सकता[3]; । इस कोश की रक्षा और वृद्धि करनेवाला विशेष राजा और प्रजा भी हैं ।

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥ —मनु० ७।१५२

राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य्य में रखके

पर ही नहीं, अध्ययनमात्र पर प्रतिबन्ध लगाने का भी प्रयास किया जाता रहा । वस्तुतः **'यथेमां वाचमित्यादि'** मन्त्र में **'जन'** पद स्त्री-पुरुष दोनों का वाचक है । सामान्यतः शास्त्रों में विधिनिषेधपरक जो भी वचन हैं, वे स्त्री-पुरुष दोनों के लिए हैं । पाणिनि ने **'पुमान् स्त्रिया'** (१।२।६७)इस सूत्र में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । फिर द्विजपत्नी होने से भी उन्हें वेदाध्ययन का अधिकार स्वतः प्राप्त है । पूर्वकाल में स्त्रियों का उपनयनसंस्कार होता था और वे गुरुजनों से वेदों का विधिवत् अध्ययन करती थीं । निर्णयसिन्धु के तृतीय परिच्छेद में लिखा है—

पुराकाले तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते ।
अध्ययनं च वेदानां भिक्षाचर्यं तथैव च ॥

१. वा० रामायण दाक्षिणात्य सं०, अयोध्या० ६।११; ११।१८,१६॥

२. अर्थात् वर्तन=वर्ताव करना ।

३. द्र०—"न चौरहार्यं न च राजहार्यं न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि। व्यये कृते वर्धत एवं नित्यं विद्याधनं सर्वधनप्रधानम् ॥' प्रसङ्गाभरण ८ । सुभाषितरत्नभाण्डागार में 'विद्याप्रशंसा' में उद्धृत ।

https://t.me/arshlibrary

विद्वान् कराना। जो कोई इस आज्ञा को न माने, तो उसके माता-पिता को दण्ड देना, अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का वा लड़की किसी के घर में न रहने पावें, किन्तु आचार्य-कुल में रहें। जब तक समावर्त्तन का समय न आवे, तब तक विवाह न होने पावे।

[विद्या का दान सर्वश्रेष्ठ]

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम्॥ —मनु० ४।२३३।

संसार में जितने दान हैं, अर्थात् जल-अन्न-गौ-पृथिवी-वस्त्र-तिल-सुवर्ण और घृतादि, इन सब दानों से वेदविद्या का दान अतिश्रेष्ठ है॥

इसलिए जितना बन सके उतना प्रयत्न तन, मन, धन से विद्या की वृद्धि में किया करें। जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य्य, विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है, वही देश सौभाग्यवान् होता है।

यह ब्रह्मचर्य्याश्रम की शिक्षा संक्षेप से लिखी गयी। इसके आगे चौथे समुल्लास में समावर्त्तन और गृहाश्रम की शिक्षा लिखी जाएगी॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे

सुभाषाविभूषिते शिक्षाविषये तृतीयः

समुल्लासः सम्पूर्णः॥३॥

प्राचीन काल में गार्गी, मैत्रेयी आदि अनेक ब्रह्मवादिनी हो चुकी हैं। अदिति, लोपामुद्रा, सरस्वती, गायत्री, आपालात्रेयी, यमी वैवस्वती, अदितिर्वा दाक्षायणी, वागाम्भृणी, इन्द्राणी, श्रद्धा-कामायनी आदि के नाम मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के रूप में प्रसिद्ध हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य के सामने जब विद्वान् परास्त हो गये तो वाचक्नवी गार्गी ने जनक की सभा में कितने आत्मविश्वास और गर्व के साथ कहा था "**ब्राह्मणा भगवन्तो द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न वै जातु युष्माकमिमां कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेतेति।**" अर्थात् हे ब्राह्मणों! मैं याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न पूछूँगी। यदि उन्होंने उत्तर दे दिया तो आपमें से कोई इस ब्रह्मवेत्ता को न जीत सकेगा।

मण्डनमिश्र और शंकराचार्य के बीच हुए शास्त्रार्थ की अध्यक्षता मण्डनमिश्र की पत्नी भारतीदेवी ने की थी। शंकरदिग्विजय में भारतीदेवी के विषय में लिखा है—

शास्त्राणि सर्वाणि षडङ्गवेदान् काव्यादिकान् वेत्ति यदत्र सर्वम्।

अर्थात् भारतीदेवी छह शास्त्रों और छह अंगोंसहित चारों वेदों और सम्पूर्ण काव्यादि ग्रन्थों को जानती थी। इतना ही नहीं, '**तन्नास्ति न वेत्ति यदत्र बाला**'—ऐसा कोई विषय नहीं था, जिसका उसे ज्ञान न हो।

इति श्रीविद्यानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थभास्करे तृतीयः समुल्लासः सम्पूर्णः।

https://t.me/arshlibrary

अथ चतुर्थ-समुल्लासारम्भः

अथ समावर्त्तन-विवाह-गृहाश्रमविधिं वक्ष्यामः

[गृहस्थाश्रम का अधिकारी]

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥१॥ —मनु० ३।२

अर्थः— जब यथावत् ब्रह्मचर्य्य में आचार्य्यानुकूल वर्त्तकर, धर्म से चारों, तीन वा दो अथवा एक वेद को साङ्गोपाङ्ग पढ़के जिसका ब्रह्मचर्य्य खण्डित न हुआ हो, वह पुरुष वा स्त्री गृहाश्रम में प्रवेश करे ॥१॥

विवाह से अभिप्राय—'वि' उपसर्गपूर्वक 'वह प्रापणे' धातु से 'घञ्' प्रत्यय के योग से विवाह और 'उद्' उपसर्ग से इसका पर्यायवाची 'उद्वाह' शब्द बनता है। विवाह का अर्थ 'विशेष विधिपूर्वक एक-दूसरे को प्राप्त करके पारस्परिक दायित्व को वहन करना—निभाना' है। यह एक शास्त्र-सम्मत सामाजिक विधान है। इसमें स्त्री-पुरुष सुख-सुविधा हेतु और गृहस्थ के कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए दम्पती के रूप में एक-दूसरे के साथ रहने का निश्चय करते हैं और कालान्तर में सन्तानोत्पत्ति के द्वारा मानव वंश की अभिवृद्धि में सहायक होते हैं।

वेद में विवाह शब्द साक्षात् उपलब्ध नहीं है, किन्तु विवाह के मूल में जो मन्त्र पढ़ा जाता है, उसमें 'हस्तं गृभ्णामि' पद ही विवाह के तात्पर्य के द्योतक हैं। इसका अर्थ है कि पति-पत्नी का हाथ सारी आयु के लिए पकड़ता है और अपने ऊपर पूर्णरूप से उसका दायित्व लेता है। विवाह में 'हस्तं गृभ्णामि' का इतना महत्त्व है कि विवाह का दूसरा नाम 'पाणिग्रहण' प्रसिद्ध है। अन्य जातियों ने यद्यपि वैदिक धर्म को मूलरूप में त्याग दिया है तो भी इनके संस्कारों में कहीं-कहीं वैदिक रीतियों का प्रभाव दिखाई देता है।

पारसियों में विवाहकाल में वर कन्या के हाथ को पकड़ता है। इस विवाह-विधि को वे 'हाथ वरो' कहते हैं। जिसका अर्थ है—हाथ पकड़ना। यह संस्कृत का अपभ्रंश शब्द है। संस्कृत में हाथ (हस्त=हाथ) वरो (वरण=ग्रहण) होता है। इस 'हस्तवरण' या 'हाथ वरो' को ही पंजाबी में 'हथलेवा' कहते हैं। रोमन स्त्री भी विवाह के अवसर पर अपना दायाँ हाथ वर के दायें हाथ पर रखती है। इसका विवरण Encyclopaedia of Religion में 'Marriage' शीर्षक के अन्तर्गत देखा जा सकता है। पारस्करगृह्यसूत्र १।६।३ में भी पाणिग्रहण सम्बन्धी मन्त्र को विवाह का मूल माना जाता है। ऐसे ही ऋग्वेद १०।८५ के पूरे सूक्त में विवाह का ही वर्णन है।

वेदानधीत्य—गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से पूर्व ऋषियों ने ब्रह्मचर्याश्रम का विधान किया है। जिस

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः ।
स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत् प्रथमं गवा ॥२॥ —मनु० ३।३

जो स्वधर्म अर्थात् यथावत् आचार्य्य और शिष्य का धर्म है, उससे युक्त पिता, जनक वा अध्यापक से ब्रह्मदाय अर्थात् विद्यारूप भाग का ग्रहण और माला का धारण करनेवाला अपने पलंग पर बैठे हुए आचार्य्य को प्रथम गोदान से सत्कार करे। वैसे लक्षणयुक्त विद्यार्थी को भी कन्या का पिता गोदान से सत्कृत करे ॥२॥

गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ॥३॥ —मनु० ३।४॥

गुरु की आज्ञा से स्नान कर, गुरुकुल से अनुक्रमपूर्वक आके, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य अपने वर्णानुकूल सुन्दर लक्षणयुक्त कन्या से विवाह करे ॥३॥

व्यक्ति ने २४ वर्ष की अवस्था तक गुरुचरणों में बैठकर अध्ययन नहीं किया और अपने शरीर, मन और आत्मा का सर्वांगीण विकास नहीं किया उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अधिकार नहीं है। वैदिक आदर्श यह है कि जो कोई गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहे वह पहले अपने ब्रह्मचारी होने का प्रमाण प्रस्तुत करे। कन्या के विषय में भी अथर्ववेद (११।५।१८) का वचन है—**'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'**। 'अविप्लुतब्रह्मचर्य' का अर्थ है कि जो अपने ब्रह्मचर्य के भंग न होने का प्रमाण प्रस्तुत न कर सके उसके साथ कोई पिता अपने पुत्र या पुत्री का विवाह न करे।

स्रग्विणम्—कुल्लूकभट्ट ने इसका अर्थ किया है—मालयालंकृतम्। माला आदि अलंकृत करनेवाली वस्तुओं का प्रयोग करना ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध है (मनु० २।१५२), किन्तु गृहस्थेच्छुक के लिए समावर्त्तन के अवसर पर माला धारण करने का विधान है। प्रतीत होता है कि माला धारण करना गृहस्थाश्रम में प्रवेश की द्योतक परम्परा थी। शायद वही परम्परा वर्तमान में विवाह संस्कार से पूर्व वर-वधू के द्वारा परस्पर माल्यार्पण के रूप में प्रचलित है। इस प्रकार 'स्रग्वि' शब्द का प्रयोग गृहस्थ के लिए रूढ़ हो गया है।

गुरुणानुमतः—'सम्' और 'आ' उपसर्गपूर्वक 'वृत् वर्त्तने' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय के योग से समावर्त्तन शब्द निष्पन्न होता है। इसका शाब्दिक अर्थ है—वापस लौटाना। गुरु के समीप रहकर, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए वेद=वेदांग की शिक्षा प्राप्त कर गुरुकुल से घर लौटने का नाम समावर्त्तन है। यह एक संस्कार है जिसको 'स्नान' भी कहा जाता है। इसी कारण समावर्त्तन करनेवाले को 'स्नातक' कहा जाता है। स्नातक तीन प्रकार के होते हैं—

तदाह हारीतः—'त्रयः स्नातका भवन्ति विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति। यः समाप्य वेदमसमाप्य व्रतानि समावर्त्तते स विद्यास्नातकः। यः समाप्य व्रतान्यसमाप्य वेदं समावर्ततो स व्रतस्नातकः उभयं समाप्य समावर्त्तते यः स विद्याव्रतस्नातकः।'

अर्थात्—स्नातक तीन प्रकार के होते हैं—१. विद्यास्नातक—जो ब्रह्मचर्यव्रत को पूर्ण किये बिना विद्या को समाप्त करके समावर्त्तन करते हैं; २. व्रतस्नातक—जो विद्या को पूर्ण किये बिना ब्रह्मचर्यव्रत को पूर्ण करके स्नातक बनते हैं; ३. विद्याव्रतस्नातक—जो विद्या तथा ब्रह्मचर्यव्रत दोनों को पूर्ण करके स्नातक बनते हैं। विद्याव्रतस्नातक स्नातक की स्थिति शिक्षा की दृष्टि से सर्वोपरि थी। विद्याव्रतस्नातक कैसा होता है, यह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है—

https://t.me/arshlibrary

पाण्डव लोग गुरु द्रोणाचार्य के पास विद्याध्ययन कर रहे थे। एक दिन गुरुजी ने पढ़ाया—**'क्रोधं मा कुरु'** और याद करके अगले दिन सुनाने के लिए कहा। अगले दिन जब गुरुजी ने पाठ सुनाने के लिए कहा तो बारी-बारी सब ने रटा-रटाया पाठ सुना दिया, परन्तु युधिष्ठिर ने कहा कि मुझे अभी पाठ याद नहीं हुआ। जब कई दिन इसी प्रकार बीत गये तब गुरुजी ने युधिष्ठिर की भर्त्सना करते हुए जमकर उसकी पिटाई की। तब युधिष्ठिर ने नम्रतापूर्वक कहा—'गुरुजी' आप मेरे चेहरे को देखिए। यदि उसपर आपको क्रोध के लक्षण न दीखें तो समझ लीजिए कि मुझे पाठ याद हो गया, अन्यथा नहीं। इस कथानक में विद्याव्रतस्नातक का भेद छिपा है। विद्यास्नातक उसे कहते थे जो ग्रन्थों का अभ्यास कर लेता थ। व्रत स्नातक उसे कहते थे जो पढ़ने-लिखने में बहुत निपुण नहीं होता था, परन्तु अपने जीवन को पूरी तरह ब्रह्मचर्य के नियमों के अनुसार ढाल लेता था। विद्याव्रतस्नातक वह कहाता था जो अध्ययन और आचरण दोनों में समान रूप से पूर्णता प्राप्त कर लेता था और इस प्रकार शिक्षा द्वारा प्राप्त ज्ञान को जीवन में क्रियात्मक रूप से ढाल लेता था। इसी को लक्ष्य कर डॉ० राधाकृष्णन ने कहा है—Knowledge is realised experience.

शिक्षाकाल की समाप्ति पर गुरुकुल से विदा होते समय समावर्त्तन-संस्कार के अवसर पर आचार्य द्वारा स्नातक को दिया गया उपदेश (तै० उप० शिक्षावल्ली, अनु० ११, कं० १-४) अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह उपदेश ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर घर लौटने के समय दिया जाता है, इसलिए इसका प्रयोजन उन बातों का निर्देश करना है जिनकी उपेक्षा करने पर अगले गृहाश्रम में वह सुखी नहीं रह सकेगा। उपदेश का आरम्भ **'सत्यं वद, धर्मं चर'** से होता है। सत्य और धर्म पर दृढ़ रहने की बात पर बल देने के लिए आचार्य फिर एक बार इन शब्दों में उसे दुहराता है—**'सत्यान्न प्रमदितव्यम्, धर्मान्न प्रमदितव्यम्'** ताकि वह यह न समझ बैठे कि ब्रह्मचर्याश्रम की बातें वहीं के लिए होती हैं, परिवार व समाज में काम नहीं देतीं—वहाँ झूठ और पाप के बिना काम नहीं चलता। इसीलिए ग्रन्थकार ने भी यहाँ 'मिथ्याभाषणादि से बचकर सदा धर्म में वर्त्तने' पर बल दिया है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में विवाहविषय के अन्तर्गत 'सन्तानोत्पत्यादिप्रयोजनसिद्धये' लिखकर ग्रन्थकार ने सन्तानोत्पत्ति को विवाह का मुख्य प्रयोजन बताया है। तैत्तिरीय उपनिषद् के उपर्युक्त दीक्षान्त भाषण में आचार्य स्नातक को सम्बोधित करते समय अन्य बातों के समान यह भी कहता है—**'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः'** अर्थात् वंश-परम्परा को मत काट देना। इसीलिए शास्त्र का आदेश है—**'ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्;** गृहस्थमाविशेत्' इत्यादि। **गृहशब्दस्य दारवचनत्वात् कृतदारपरिग्रहो गृहस्थः**। प्राचीन वैदिक आदर्श दो आत्माओं के परस्पर विवाहबन्धन में जकड़ जाने पर ही समाप्त नहीं हो जाता। दो आत्मा अपने को एक सूत्र में इसीलिए बाँधते हैं ताकि अन्य आत्माओं को भी इस सूत्र में बाँधा जाए। इसलिए विवाह का सबसे ऊँचा आदर्श सन्तानोत्पत्ति है। वेद में जहाँ कहीं भी स्त्री-पुरुष का एक साथ वर्णन आता है, वहाँ सन्तान का उल्लेख अवश्य मिलता है। इसी उद्देश्य से यहाँ **'उद्वहेत द्विजो भार्याम्'** का निर्देश किया गया है।

सवर्णां लक्षणान्विताम्—स.प्र. प्रथम संस्करण में इतना विशेष लिखा है—'ब्राह्मण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय का क्षत्रिया, वैश्य का वैश्या तथा शूद्र का शूद्रा से विवाह होना चाहिए, क्योंकि विद्यादिक गुणवाले पुरुष से विद्यादिक गुणवाली स्त्री का विवाह होने से दोनों को अत्यन्त सुख होगा और जो उत्तम पुरुष से मूर्ख स्त्री का या पण्डिता स्त्री से मूर्ख पुरुष का विवाह होगा तो अत्यन्त क्लेश होगा, कभी सुख न होगा।'

https://t.me/arshlibrary

[विवाह-योग्य कन्या]

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥४॥ —मनु० ३।५॥

जो कन्या माता के कुल की छः पीढ़ियों में न हो, और पिता के गोत्र की न हो, उस कन्या से विवाह करना उचित है ॥४॥

यदि माता-पिता के गुण-कर्म-स्वभाव में समानता होगी तो उनसे श्रेष्ठ गुणसम्पन्न सन्तान होगी। इसके विपरीत यदि उनमें से एक भी हीन कुल का अथवा दुष्ट गुण-कर्म-स्वभाववाला होगा तो सन्तान भी वैसी ही होगी। इसका उदाहरण डॉ० राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक 'Hindu View of Life (P. 73) में दिया है। वे लिखते हैं—

"An interesting record of one Martin Kallakak appeared in 'Popular Science Siftings'—'Martin Kallakak was a young soldier in the Revloutionary War. His ancestory was excellent. But in the general laxity and abnormal social conditions of war time he forgot his noble blood. He met a physically attractive but feeble-minded girl. The result of the meeting was a feeble-minded boy. This boy grew up and married a woman who was apparently of the same low stock as himself. They produced numerous proginity.The children in turn married other of their kind, and now for six generations this strain has been multiplying. Since that night of dissipation long ago the population has augmented by 480 souls who trace their aneestory back to Martin Kallakak and the nameless girl. Of these 143 have been feeble minded, 33 have been immoral, 36 illegitimate, 3 epileptios, 3 criminals and 8 brothel keepers. The same original Martin, however, after sowing this appaling crop of wild oats, finally married a young quaker girl of splendid talents and noble ancestory. From this union there have been 496 direct descendents. Many of them have been governors, one founder of a great University, doctors, lawyere, judges, educators, land-holders and useful citizens and admirable parents prominent in every phase of social life. The last one in evidence is now a man of wealth and influence."

सारांश-मार्टिन नामक एक व्यक्ति ने दो विवाह किये—पहला एक सुन्दर किन्तु अज्ञात कुलशीला निर्बुद्धि लड़की से और दूसरा एक सुयोग्य कुलीन लड़की से। पहली पत्नी और उससे उत्पन्न सन्तति-अनुसन्तति क्रम में कुल ४८० व्यक्ति उत्पन्न हुए जो प्रायः सभी मूर्ख, चरित्रहीन, रोगी, अपराधी और वेश्यालयों के संचालक निकले। इसके विपरीत दूसरी पत्नी से उत्पन्न सन्तति क्रम में ४६६ बच्चे हुए जिनमें अधिकतर गवर्नर, डॉक्टर, वकील, जज, शिक्षाशास्त्री, उद्योगपति और विश्वविद्यालय के संस्थापक हुए।

इस विषय में मनु ने चेतावनी देते हुए लिखा है—

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः ।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम् ॥३।१४

द्विजाति लोग मोह या काम में फँसकर हीन जाति की स्त्री से विवाह करके सन्तानसहित अपने कुल को ही तेजी से शूद्रत्व की ओर ले-जाते हैं।

असपिण्डा—हिन्दू क़ानून की दो प्रणालियाँ हैं—दायभाग तथा मिताक्षरा। दायभाग प्रणाली के अनुसार पिण्ड का अर्थ है—श्राद्ध के समय पितरों को अर्पित किया जानेवाला चावलों का गोला। जो लोग एक ही पितर को पिण्ड दान कर सकें वे आपस में सपिण्ड कहाते हैं। एक ही पिता-पितामह की सन्तान

https://t.me/arshlibrary

इसका यह प्रयोजन है कि—**'परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः'** (शतपथ० १४।६।११।२।) । यह निश्चित बात है कि जैसी परोक्ष पदार्थ में प्रीति होती है, वैसी प्रत्यक्ष में नहीं । जैसे किसी ने मिश्री के गुण सुने हों और खाई न हो, तो उसका मन उसी में लगा रहता है । जैसे किसी परोक्ष व्यक्ति की प्रशंसा सुनकर मिलने की उत्कट इच्छा होती है, वैसे ही दूरस्थ अर्थात् जो अपने गोत्र व माता के कुल में निकट सम्बन्ध की न हो, उसी कन्या से वर का विवाह होना चाहिए ।

श्राद्ध के समय पिण्ड अर्पण करते हैं, इसलिए वे सपिण्ड हैं । मिताक्षरा-प्रणाली के अनुसार याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार विज्ञानेश्वर ने सपिण्ड का अर्थ किया है एक ही पिण्ड या शरीरवाले । पिता और पुत्र सपिण्ड हैं, क्योंकि पिता के शरीर=रक्त से ही पुत्र का शरीर बनता है—**'अङ्गादङ्गात् सम्भवति'** । दादा और परदादा भी सपिण्ड हैं, क्योंकि उनके रक्त से ही पोते-परपोते का शरीर बनता है । इस प्रकार सपिण्ड का अर्थ है एक ही रक्त के लोग (Consanguineous)। सपिण्ड का एक तीसरा अर्थ विख्यात विधिवेत्ता दफ़्तरी ने किया है । उनका कथन है कि सपिण्ड वे लोग होते हैं जो एक साथ भोजन करते हैं । उदाहरणार्थ—भाई-बहन तो एक साथ भोजन करते हैं, भाई-बहन की सन्तानें नहीं, क्योंकि वे बहुत देर बाद पैदा होती हैं । सपिण्ड में विवाह न करने का विधान भावनात्मक होने के साथ-साथ प्रजननिक (Eugenic) भी है । यह तो सभी जानते हैं कि अति परिचय में प्रेम नहीं रहता । इसलिए भावनात्मक दृष्टि से भाई-बहन में विवाह वर्जित है, परन्तु यह भी ठीक है कि समान रक्त की सन्तानों में उत्कृष्टता नहीं आती । इसलिए हिन्दू विवाह-व्यवस्था में इस प्रकार के विवाह का निषेध है ।

सपिण्ड में कौन-कौन आते हैं ? मिताक्षरा के अनुसार पीढ़ियों को देखते हुए समान-पूर्वज (Common ancestor) को भी इस क्रम में गिनना चाहिए और वर तथा वधू इन दोनों के माता और पिता की पीढ़ियों को देखना चाहिए । पूर्वज को छोड़ दिया जाए तो माता की ओर से पाँच पीढ़ियों में और पूर्व पुरुष को भी इस गणना में सम्मिलित किया जाए तो छह पीढ़ियों में विवाह नहीं हो सकता । यदि गणना पिता की ओर से की जाए तो पिता की सातवीं पीढ़ी के बाद विवाह हो सकता है ।

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते ।
समानोदकभावस्तु जन्मनाम्नोरवेदने ॥ —मनु० ५।६०

सातवीं पीढ़ी में सपिण्डता का सम्बन्ध छूट जाता है और कुल में उत्पन्न हुओं के नाम—जन्म स्मरण न रहें तो समानोदकता छूट जाती है ।

'समानोदकभाव' मूलार्थ में एक मुहावरा है जिसका अर्थ है—एक स्थान के जल का दूसरे स्थान के जल में मिलकर एक हो जाना । अत्यधिक घनिष्ठता की प्रतीति के लिए इसका प्रयोग किया जाता है । घनिष्ठता रहते हुए ही नाम आदि का ज्ञान बना रहता है । घनिष्ठता न रहने पर वह नहीं रहता ।

सपिण्डता तु सर्वेषां गोत्रतः साप्तपौरुषी ।
तेन मातामहादीनामेकपिण्डसम्बन्धेऽपि न सपिण्डता ॥

समानोदकत्वं पुनरस्मत्कुले अमुकनामाभूदिति जन्मनामोभयापरिज्ञाने निवर्त्तते ।—कुल्लूकभट्ट

सपिण्डता तु सर्वेषां गोत्रतः साप्तपौरुषी ।
सपिण्डता ततः पश्चात् समानोदकधर्मतः ॥—निर्णयसिन्धु

https://t.me/arshlibrary

निकट विवाह में दोष और दूर विवाह करने में गुण ये हैं—

(१) **एक**—जो बालक बाल्यावस्था से निकट रहते हैं, परस्पर क्रीड़ा, लड़ाई और प्रेम करते, एक-दूसरे के गुण, दोष, स्वभाव वा बाल्यावस्था के विपरीत आचरण जानते, और जो नंगे भी एक-दूसरे को देखते हैं, उनका परस्पर विवाह होने से प्रेम कभी नहीं हो सकता।

(२) **दूसरा**—जैसे पानी में पानी मिलने से विलक्षण गुण नहीं होता, वैसे ही एक गोत्र, पितृ वा मातृकुल में विवाह होने में धातुओं के अदल-बदल नहीं होने से उन्नति नहीं होती।

(३) **तीसरा**—जैसे दूध में मिश्री वा शुण्ठ्यादि ओषधियों के योग होने से उत्तमता होती है, वैसे ही भिन्न-गोत्र मातृ-पितृकुल से पृथक् वर्त्तमान स्त्री-पुरुषों का विवाह होना उत्तम है।

अर्थात् सभी की सपिण्डता गोत्र में सातवीं पीढ़ी तक रहती है। उसके पश्चात् धर्मपुरस्सर समानोदकता होती है।

सन् १९५५ में पारित हिन्दू विवाह अधिनियम (Hindu Marriage Act 1955) के अनुसार सपिण्डता के निषेध की सीमा कम कर दी गयी है। इस सीमा को पिता की ओर से पाँच और माता की ओर से तीन पीढ़ियों तक सीमित कर दिया गया है।

सगोत्र—भारतीय परम्परा के अनुसार विश्वामित्र, जमदग्नि, गौतम, भरद्वाज, अत्रि, वसिष्ठ और कश्यप की सन्तान **गोत्र** कही गयी हैं—

विश्वमित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमः।
अग्निर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते गोत्रकारकाः॥

इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि किसी परिवार का जो आदि प्रवर्त्तक था, जिस महापुरुष से परिवार चला उसका नाम परिवार का गोत्र बन गया और उस परिवार के जो स्त्री-पुरुष थे, वे आपस में भाई-बहन माने गये, क्योंकि भाई-बहन की शादी अनुचित प्रतीत होती है, इसलिए एक गोत्र के लड़के-लड़कियों में परस्पर विवाह वर्जित माना गया।

गोत्र के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य और बोधायन का मत है कि कालान्तर में गोत्रों की संख्या सात न रहकर हज़ारों में हो गयी। तब एक वंश परम्परा में ख़ानदान का जो प्रसिद्ध व्यक्ति हुआ, चाहे आदिकाल में हुआ, चाहे बीच के काल में हुआ, उसके नाम से गोत्र चल पड़ा—**'परम्पराप्रसिद्धं गोत्रम्'**—याज्ञवल्क्य। गोत्र-सम्बन्धी परम्परा का निष्कर्ष यह है कि जिन लोगों का आदिपुरुष एक समझा गया, वे आपस में भाई-बहन माने जाने से उनके बीच विवाह-सम्बन्ध निषिद्ध माना गया। आधुनिक विचारकों की दृष्टि से सपिण्डों में विवाह न करने का तो प्रजनिक (Eugenic) आधार है, गोत्र, प्रवर आदि में विवाह न होने का भावनात्मक आधार तो हो सकता है, उसका प्रजनिक आधार अत्यन्त शिथिल है।

जहाँ तक व्यवहार का सम्बन्ध है, हिन्दूसमाज में सपिण्ड विवाह होते रहे हैं और आज भी हो रहे हैं। उदाहरणार्थ—अर्जुन ने अपने मामा की लड़की सुभद्रा से विवाह किया जिससे उसका पुत्र अभिमन्यु उत्पन्न हुआ। यह मुमेरे-फुफेरे भाई-बहन (Maternal Cross Cousins) का विवाह था। श्रीकृष्ण के लड़के प्रद्युम्न का विवाह भी अपने मामा की लड़की रुक्मावती के साथ हुआ था। श्रीकृष्ण के पोते अनिरुद्ध ने अपने मामा की लड़की रोचना से और परीक्षित ने अपने मामा की लड़की इन्द्रावती से विवाह किया

https://t.me/arshlibrary

(४) **चौथा**—जैसे एक देश में रोगी हो, वह दूसरे देश में वायु और खान-पान के बदलने से रोगरहित होता है, वैसे ही दूरदेशस्थों के विवाह होने में उत्तमता है।

(५) **पाँचवें**—निकट सम्बन्ध करने में एक दूसरे के निकट होने में सुख-दुःख का भान और विरोध होना भी सम्भव है, दूरदेशस्थों में नहीं और दूरस्थों के विवाह में दूर-दूर प्रेम की डोरी लम्बी बढ़ जाती है, निकटस्थ विवाह में नहीं।

(६) **छठे**—दूर-दूर देश के वर्त्तमान[1] और पदार्थों की प्राप्ति भी दूर सम्बन्ध होने से सहजता से हो सकती है, निकट विवाह होने में नहीं। इसीलिए **'दुहिता दुर्हिता दूरे हिता भवतीति'** (निरु०३।४।) । कन्या का नाम **'दुहिता'** इस कारण से है कि इसका विवाह दूर देश में होने से हितकारी होता है, निकट होने में नहीं।

(७) **सातवें**—कन्या के पितृकुल में दारिद्र्य होने का भी सम्भव है, क्योंकि जब-जब कन्या पितृकुल में आवेगी, तब-तब इसको कुछ-न-कुछ देना ही होगा।

(८) **आठवाँ**—निकट होने से एक-दूसरे को अपने-अपने पितृकुल के सहाय का घमण्ड, और जब कुछ भी दोनों में वैमनस्य होगा तब स्त्री झट ही पिता के कुल में चली जाएगी। एक-दूसरे की निन्दा अधिक होगी और विरोध भी, क्योंकि प्रायः स्त्रियों का स्वभाव तीक्ष्ण और मृदु होता है। इत्यादि कारणों से पिता

था। सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) का विवाह अपने मामा की लड़की यशोधरा से हुआ था। पृथ्वीराज चौहान ने अपनी मौसी की लड़की संयुक्ता से विवाह किया था। दक्षिण भारत में मामा की लड़की से विवाह होना आम बात है। वहाँ किसी-किसी जाति (वर्ग) में भांजी और साली की लड़की के साथ विवाह करने का रिवाज है। सम्भव है, दक्षिण में सपिण्ड विवाह होने का कारण मातृसत्तात्मक परिवार (matriarchal family) की प्रथा हो।

परन्तु यह सब महाभारतकाल में हुआ जो आर्यवर्त्त (भारतवर्ष) के सांस्कृतिक तथा नैतिक पतन का काल है। शास्त्रसम्मत न होने से उस काल के कृत्यों को आदर्श नहीं माना जा सकता। वस्तुतः एक ही रक्त के सम्बन्धियों में विवाह होना हितकर नहीं है—न प्रजननिक (Eugenic) आधार पर और न भावनात्मक (Emotional) आधार पर। इसलिए ग्रन्थकार ने संस्कार-विधि में लिखा है कि जब तक दूरस्थ कुल के साथ सम्बन्ध नहीं होता, तब तक शरीर आदि की पुष्टि भी पूर्ण नहीं होती। यह बात प्रजनन-विज्ञान (Science of Eugenices) द्वारा पुष्ट पाई गयी है।

परोक्षप्रिया—यह वचन शतपथ १४।६।१।१ और ऐतरेय उपनिषद् १।३।१४ में मिलता है। **'परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः'** यह पाठ गोपथ १।१ में उपलब्ध है। शतपथ ६।१।१।२ तथा १४।१।१।१३ में 'परोक्षकामा हि देवाः' यह पाठ भी है।

यह ठीक है कि शतपथ में यह वचन विवाहप्रकरण में नहीं पढ़ा गया है, परन्तु ग्रन्थकार ने भी इसे विवाहपरक नहीं माना है। उन्होंने यहाँ मनु के वाक्य की पुष्टि में दृष्टान्तरूप में इसे उद्धृत किया है। दृष्टान्त का एक देश लिया जाता है। तदनुसार यहाँ ब्राह्मणग्रन्थ का केवल इतना अंश अपेक्षित है कि विद्वान् लोग दूरदर्शी होने के कारण परोक्ष को प्यार करते हैं। मनुष्य का दूरस्थ वस्तु के प्रति अधिक आकर्षण होता है, फलतः उसमें उसकी प्रीति अधिक होती है। इस प्रकार दूरस्थों में परस्पर विवाह अधिक प्रीति का कारण होगा।

---

१. अर्थात् वृत्त=समाचार।

https://t.me/arshlibrary

एक गोत्र, माता की छः पीढ़ी, और समीप देश में विवाह करना अच्छा नहीं ।

[विवाह-सम्बन्ध के अयोग्य कुल]

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः ।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥१॥ —मनु० ३।६

चाहे कितने ही धन-धान्य, गाय-अजा, हाथी-घोड़े, राज्य, श्री आदि से समृद्ध ये कुल हों, तो भी विवाह सम्बन्ध में **निम्नलिखित दश कुलों का त्याग** कर दे ॥१॥

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रि-कुष्ठिकुलानि च ॥२॥ —मनु० ३।७

जो कुल सत्क्रिया से हीन, सत्पुरुषों से रहित, वेदाध्ययन से विमुख, शरीर पर बड़े-बड़े लोम, अथवा बवासीर, क्षयी, दमा, खाँसी, आमाशय, मिरगी, श्वेतकुष्ठ और गलितकुष्ठयुक्त कुलों की कन्या वा वर के साथ विवाह होना न चाहिए, क्योंकि ये सब दुर्गुण और रोग विवाह करनेवाले के कुल में भी प्रविष्ट हो जाते हैं। इसलिए उत्तम कुल के लड़के और लड़कियों का आपस में विवाह होना चाहिए ॥२॥

नोद्वहेत् कपिलां कन्यां नाऽधिकाङ्गीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिङ्गलाम् ॥३॥ —मनु० ३।८

न पीले वर्णवाली, न अधिकाङ्गी अर्थात् पुरुष से लम्बी-चौड़ी, अधिक बलवाली, न रोगयुक्ता, न

दुहिता—दुर्हिता=दूरे हिता । दुर्हिता—दुहिता । यहाँ दूर अर्थ में 'दुर्' का प्रयोग किया गया है, जैसे—**'सा वा एषा देवता दूर्नाम, दूरं ह्यस्या मृत्युः'** बृहदारण्यकोपनिषद् (१।३।६) के इस वचन में मृत्यु से दूर होने के कारण प्राण का 'दुर्' नाम बताते हुए 'दुर्' को दूरार्थक माना है । इस वचन से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि कन्या का विवाह दूर देश में होना चाहिए, समीप में नहीं । अथवा 'दुह्' धातु से 'तन्' प्रत्यय और 'इडागम' (उणादि २।६५) । पुत्री पिता से सदा कुछ-न-कुछ पदार्थ दुहती=लेती रहती है । दूरस्थ देश में विवाह करने के अतिरिक्त गुण का उल्लेख करते हुए ग्रन्थकार ने स०प्र० के प्रथम संस्करण में लिखा है—'यह बात भी अवश्य होनी चाहिए कि देश-देशान्तर में विवाह होना उचित है, क्योंकि पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम देशों में रहनेवाले मनुष्यों में परस्पर विवाह के करने से प्रीति होगी और देश-देशान्तर के व्यवहार भी जाने जाएँगे । बलादिक गुण भी तुल्य होंगे और भोजन व्यवहार भी एक होगा । इससे मनुष्यों में बड़ा सुख होगा । जैसेकि पूर्व देश की कन्या और पश्चिम उत्तर देश में रहनेवाले पुरुषों से विवाह होगा तब बल-बुद्धि-पराक्रमादिक तुल्य गुण हो जाएँगे । पत्र द्वारा और आने-जाने से परस्पर प्रीति बढ़ेगी और परस्पर गुण बढ़ेगा और सब देशों के व्यवहार सब देशों के लोगों को विदित होंगे । परस्पर विरोध जो है सो नष्ट हो जाएगा । इससे मनुष्यों को बड़ा आनन्द होगा ।'

इस प्रकार दूरस्थ देशों में विवाह सम्बन्ध होने से जहाँ एक ओर देश की एकता और अखण्डता को बल मिलेगा वहाँ विश्व स्तर पर **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** और **'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्'** की भावना जाग्रत् होगी ।

नोद्वहेत—'अङ्ग' शब्द का अवयव अर्थ प्रसिद्ध है । 'अङ्गी' शरीर के लिए आता है, जैसे—'येनाङ्गविकारः' (अष्टा० २।३।२०) सूत्र में पाणिनि मुनि ने 'अङ्गी' अर्थ में 'अङ्ग' शब्द का प्रयोग

https://t.me/arshlibrary

लोमरहित, न बहुत लोमवाली, न बकवाद करनेहारी, और भूरे नेत्रवाली ॥३॥

नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥४॥ —मनु० ३।६

न ऋक्ष अर्थात् अश्विनी, भरणी, रोहिणीदेई, रेवतीबाई, चित्तरी आदि नक्षत्र नामवाली; तुलसिआ, गेंदा, गुलाबा, चम्पा, चमेली आदि वृक्ष नामवाली; गङ्गा, जमुना आदि नदी नामवाली; चाण्डाली आदि अन्त्य नामवाली; विन्ध्या, हिमालया, पार्वती आदि पर्वत नामवाली; कोकिला, मैना आदि पक्षी नामवाली; नागी, भुजङ्गा आदि सर्प नामवाली; माधोदासी, मीरादासी आदि प्रेष्य नामवाली; और भीमकुंअरी, चण्डिका, काली आदि भीषण नामवाली कन्या के साथ विवाह न करना चाहिए, क्योंकि ये नाम कुत्सित और अन्य पदार्थों के भी हैं ॥४॥

किया है। जिस अङ्ग (शरीरावयव) के द्वारा अङ्गी अर्थात् शरीर का विकार लक्षित हो, उसमें तृतीया विभक्ति आती है। महाभाष्य में पतञ्जलि मुनि लिखते हैं—'अङ्गी शब्दो समुदायशब्दः' अर्थात् अङ्ग=शरीर अवयव हैं जिस समुदाय में वह शरीर (समुदाय) अङ्गी कहाता है। 'अक्ष्णा काणः'—उदाहरण में आँख शरीरावयव के द्वारा शरीरसमुदाय का काणत्व विकार परिलक्षित होता है। इस सूत्र पर कैयट लिखते हैं—**'अङ्गान्यस्य सन्तीत्यर्थ आदित्वादच् प्रत्ययान्तोऽत्राङ्गशब्दो निर्दिष्टः ।'** तदनुसार ही ग्रन्थकार ने 'अधिकाङ्गी' शब्द के दो अर्थ किये हैं-(१) 'अधिकाङ्गीम्=**अधिकान्यंगानि यस्यास्ताम्** अर्थात् जिसके अधिक अङ्ग हों, जैसे छंगुली आदि (संस्कारविधि)। इस अर्थ में 'अधिक' शब्द विशिष्टवाची तथा 'अङ्ग' शब्द अवयववाची है। (2) 'अधिकाङ्गीम्=**अधिकं अङ्गं शरीरं यस्यास्ताम्'** अर्थात् जिसका शरीर अधिक=लम्बा-चौड़ा हो, उसको इस अर्थ में 'अधिक' अध्यारूढ=बढ़े हुए अर्थ में 'अङ्ग' शब्द समुदाय-शरीर का बोधक है। अष्टाध्यायी ५।२।७३ सूत्र में (अधिकतम) अध्यारूढ शब्द की उत्तरपद लोप और 'कन्' प्रत्यय से सिद्धि की है—**'अधिकमिति निपात्यते। अध्यारूढ शब्दस्योत्तरपदलोपः कन् च प्रत्ययो निपात्यते'** ।

'अधिक' शब्द सापेक्ष है। अधिक के लिए उससे प्रत्यय होना आवश्यक है। जैसे—शताधिकम्, सौ से ऊपर चढ़ा हुआ अर्थात् सौ से अधिक। संस्कारविधि में लिखा है—"वर के शरीर से स्त्री का शरीर पतला और पुरुष के कन्धे के तुल्य स्त्री का शरीर होना चाहिए।" सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण के अनुसार "जिस कन्या के अंग वर से अधिक होवें, अर्थात् कन्या का शरीर लम्बा-चौड़ा और वर का शरीर छोटा और दुबला-पतला होय उनका परस्पर विवाह नहीं होना चाहिए अथवा दोनों के शरीर स्थूल अथवा दोनों के कृषित होवें तब विवाह होना चाहिए। स्त्री के शरीर से पुरुष का शरीर लम्बा होना चाहिए। हाथ के कन्धे तक स्त्री का शरीर आवै, उससे अधिक स्त्री का शरीर न होना चाहिए, न्यून होय तो होय। अन्यथा गर्भ स्थिर नहीं होगा।" निरुक्त में 'अधि'शब्द का 'उपरिभाव' अर्थ भी बताया है—**'अधीत्युपरिभावमैश्वर्यं वा'** (निरुक्त १।३) अर्थात् 'अधि' शब्द ऊपर होने या ऐश्वर्य को कहता है, जैसे—'यश्चाधितिष्ठति'=परमेश्वर सबसे ऊपर है, अधिपति=सबका स्वामी है।

नर्क्षवृक्ष—बालकों का नाकरण तो जन्म से ११वें या १०१वें दिन तक कर दिया जाता है। ऊटपटांग नाम रखने के दोषी माता-पिता होते हैं। उनके दोष के कारण किसी निर्दोष कन्या को अजीवन अविवाहित रहना पड़े—यह कहाँ का न्याय है ? फिर, अन्यथा सर्वथा अनुकूल लड़की को मात्र नाम ठीक न होने के कारण कौन त्याग देगा ? किन्तु इन नामों से इस बात का संकेत अवश्य मिलता है कि इस प्रकार के नाम

https://t.me/arshlibrary

अव्यङ्गाङ्गीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनामृद्वङ्गीमुद्वहेत् स्त्रियम् ॥५॥ —मनु० ३।१०

जिसके सरल-सूधे अङ्ग हों, विरुद्ध न हों; जिसका नाम सुन्दर अर्थात् यशोदा, सुखदा आदि हो; हंस और हथिनी के तुल्य जिसकी चाल हो, सूक्ष्म लोम, केश और दाँतयुक्त; और जिसके सब अङ्ग कोमल हों, ऐसी स्त्री के साथ विवाह करना चाहिए ॥५॥

[विवाह-योग्य वय और उसके भेद]

प्रश्न—विवाह का समय और प्रकार कौन-सा अच्छा है ?

उत्तर—सोलहवें वर्ष से लेकर चौबीसवें वर्ष तक कन्या, और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीसवें वर्ष तक पुरुष का विवाह-समय उत्तम है । इसमें जो सोलह और पच्चीस में विवाह करे तो **निकृष्ट**, अठारह-बीस की स्त्री और तीस-पैंतीस वा चालीस वर्ष के पुरुष का **मध्यम**, चौबीस वर्ष की स्त्री और अड़तालीस वर्ष के पुरुष का विवाह होना **उत्तम** है ।

जिस देश में इसी प्रकार विवाह की श्रेष्ठ विधि और ब्रह्मचर्य्य व विद्याभ्यास अधिक होता है वह देश सुखी, और जिस देश में ब्रह्मचर्य-विद्याग्रहणरहित बाल्यावस्था और अयोग्यों का विवाह होता है, वह देश दुःख में डूब जाता है, क्योंकि ब्रह्मचर्य्य, विद्या के ग्रहणपूर्वक विवाह के सुधार ही से सब बातों का सुधार और बिगड़ने से बिगाड़ हो जाता है ।

[कल्पित गौरी, रोहिणी आदि संज्ञाओं का खण्डन]

प्रश्न—

अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी ।
दशवर्षा भवेत् कन्या तत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥१॥
माता चैव पिता तस्या ज्येष्ठो भ्राता तथैव च ।
त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥२॥

—ये श्लोक लघु पाराशरी ७।६८ और शीघ्रबोध १। या ५४-६५ में लिखे हैं ॥

अर्थ यह है कि—कन्या की आठवें वर्ष में गौरी, नववें वर्ष रोहिणी, दशवें वर्ष कन्या, और उसके आगे रजस्वला संज्ञा हो जाती है ॥१॥

दशवें वर्ष तक विवाह न करके रजस्वला कन्या के माता-पिता और उसका बड़ा भाई ये तीनों देखके नरक में गिरते हैं ॥२॥

रखनेवाले कुल सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत नहीं हैं । मनु को उद्धृत करते हुए इस प्रकार का उलेख करने का ग्रन्थकार का तात्पर्य इस बात पर बल देना प्रतीत होता है कि नामकरण के अवसर पर नाम का चुनाव करते समय इस बात का ध्यान रखा जाए कि नाम सार्थक हो और कहने-सुनने में भला लगनेवाला हो । यही कारण है कि विवाह के समय अनेक बार लड़कों का नाम बदल दिया जाता है । पौराणिकों में राशि आदि के अक्षर के अनुसार पहले कुछ भी नाम रख दिया जाता है और बाद में व्यवहार के लिए कोई सुन्दर-सा नाम रख लिया जाता है । गुरुकुलों में प्रवेश के समय अवश्यकतानुसार नाम बदलने की परम्परा है । अब प्रायः अच्छे नाम रक्खे जाने लगे हैं, परन्तु ग्रन्थकार के समय प्रायः निरर्थक और ऊटपटांग नाम

https://t.me/arshlibrary

उत्तर—ब्रह्मोवाच—

एकक्षणा भवेद् गौरी द्विक्षणेयं तु रोहिणी ।
त्रिक्षणा सा भवेत् कन्या ह्यत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥१॥
माता पिता तथा भ्राता मातुलो भगिनी स्वसा ।
सर्वे ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम् ॥२॥

—यह सद्योनिर्मित ब्रह्मपुराण का वचन है ॥

अर्थः—जितने समय में परमाणु एक पलटा खावे, उतने समय को **'क्षण'** कहते हैं। जब कन्या जन्मे तब एक क्षण में गौरी, दूसरे में रोहिणी, तीसरे में कन्या, और चौथे में रजस्वला हो जाती है ॥१॥

उस रजस्वला को देखके उसकी माता, पिता, भाई, मामा और बहिन सब नरक को जाते हैं ॥२॥

रक्खे जाने के कारण उन्होंने इसका निर्देश करना आवश्यक समझा।

विवाह का समय—'अष्टवर्षा भवेद् गौरी'—पौराणिकों का इस विषय में कोई निश्चित मत नहीं है, क्योंकि गौरी आदि संज्ञाएँ आठ वर्ष में नियत या निबद्ध नहीं हैं। लक्ष्मीधर ने कृत्यकल्पतरु के गार्हस्थ-काण्ड में काश्यप और भविष्यपुराण को उद्धृत करके निम्न श्लोक दिये हैं—

सप्तवर्षा भवेद् गौरी दशवर्षा तु कन्यका ।
सम्प्राप्ते द्वादशे वर्षे कुमारीत्यभिधीयते ॥ —काश्यप
अप्राप्तरजसा गौरी प्राप्ते रजसि तु रोहिणी ।
अव्यक्तव्यंजनकुचा कन्या कुचहीना तु कन्यका ॥ —भविष्य

इसी प्रकार एक और श्लोक उद्धृत किया है—

सप्तवर्षा भवेद् गौरी दशवर्षा तु नग्निका ।
द्वादशे तु भवेत् कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला ॥

द्विक्षणेयम्—प्रायः 'द्विक्षणेयन्तु' परसवर्ण पाठ है। उससे भ्रान्त होकर गोविन्दराम हासानन्द संस्करण ६ में 'द्विक्षणे यन्तु' पदच्छेद कर दिया गया। यहाँ स्पष्टता के लिए 'द्विक्षणा+इयं+तु=द्विक्षणेयं तु' पाठ छापना उचित समझा है।

वस्तुतः विवाहयोग्य आयु का निर्धारण आयुर्वेद का विषय है, क्योंकि इसमें शारीरिक विकास एवं सामर्थ्य के आधार पर उचित-अनुचित का विवेचन होता है।

वर्त्तमान में प्रचलित विवाह की आयु को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—बाल-विवाह, किशोर-विवाह तथा युवा-विवाह। बाल-विवाह से अभिप्राय किशोर अवस्था से पहले का विवाह है। बालक में किशोर अवस्था का आरम्भ तब होता है जब उसमें वीर्य बनना शुरू हो जाता है। बालिका में किशोरी अवस्था का आरम्भ तब होता है जब उसे मासिक धर्म होने लगता है। इस अवस्थ में संयोग होने से सन्तान उत्पन्न हो सकती है। इस दृष्टि से बाल-विवाह की अवस्था वह है जिसमें प्राणिशास्त्र (Biology) के अनुसार प्रजनन नहीं हो सकता। किशोरावस्था वह है जिसमें प्राणिशास्त्र की दृष्टि से प्रजनन हो सकता है, परन्तु उनका शरीर और मानसिक विकास पूर्ण न होने से उनके रज-वीर्य में परिपक्वता न आने के कारण सन्तान के जीवित व हृष्ट-पुष्ट होने की सम्भावना कम होती है, इसलिए आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रन्थ सुश्रुत के निर्माता धन्वन्तरि मुनि ने व्यवस्था दी है—

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न--ये श्लोक प्रमाण नहीं।

उत्तर--क्यों प्रमाण नहीं ? जो ब्रह्माजी के श्लोक प्रमाण नहीं तो तुम्हारे भी प्रमाण नहीं हो सकते।

प्रश्न--वाह-वाह! पराशर और काशीनाथ का भी प्रमाण नहीं करते ?

उत्तर--वाहजी वाह! क्या तुम ब्रह्माजी का प्रमाण नहीं करते ? पराशर, काशीनाथ से ब्रह्माजी बड़े नहीं हैं ? जो तुम ब्रह्माजी के श्लोकों को नहीं मानते, तो हम भी पराशर और काशीनाथ के श्लोकों को नहीं मानते।

प्रश्न--तुम्हारे श्लोक असम्भव होने से प्रमाण नहीं, क्योंकि सहस्र क्षण जन्म समय ही में बीत जाते हैं, तो विवाह कैसे हो सकता है ? और उस समय विवाह करने का कुछ फल भी नहीं दीखता।

उत्तर--जो हमारे श्लोक असम्भव हैं, तो तुम्हारे भी असम्भव हैं, क्योंकि आठ, नौ और दशवें वर्ष में भी विवाह करना निष्फल है, क्योंकि सोलहवें वर्ष के पश्चात् चौबीसवें वर्षपर्यन्त विवाह होने से पुरुष का वीर्य परिपक्व, शरीर बलिष्ठ, स्त्री का गर्भाशय पूरा, और शरीर भी बलयुक्त होने से सन्तान उत्तम होते हैं।

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्नारी तु षोडशे।
समत्वागतवीर्यौ तौ जानियात् कुशलो भिषक्॥
ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥
जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥ (सुश्रुत, शरीरस्थान १०।४६-४८

बाल-विवाह तथा किशोर-विवाह दोनों का निषेध करते हुए सुश्रुत ने न्यून-से-न्यून १६ वर्ष वयवाली स्त्री में न्यून-से-न्यून २५ वर्ष की वयवाले पुरुष के द्वारा गर्भाधान का विधान किया है। इस नियम का उल्लंघन करने पर होनेवाली स्थिति का निर्देश करते हुए उन्होंने कहा है कि कुक्षिस्थ हुआ गर्भ विपत्ति को प्राप्त होता है अर्थात् पूर्णकाल तक गर्भाशय में रहकर भी उत्पन्न नहीं होता है, अथवा उत्पन्न होने पर चिरकाल तक जीवित नहीं रहता है और रहता है तो दुर्बलेन्द्रिय होता है।

बाल-विवाह से जहाँ शरीर की धातुओं का विकास रुक जाता है, वहाँ गर्भ तथा सन्तान सम्बन्धी अनेक आशंकाएँ हो जाती हैं। जैसे--गर्भ का न ठहरना, गर्भस्राव, गर्भपात, दुर्बल सन्तान का जन्म, जन्म के बाद शीघ्र मृत्यु, सन्तान का सतत् रोगी रहना, मस्तिष्क का समुचित विकास न होना आदि।

विवाह योग्य आयु के सम्बन्ध में 'Times of India के अहमदाबाद संस्करण के ६ फरवरी १९६० के अंक में प्रकाशित यह विवरण द्रष्टव्य है--

Cochin—Dr. Raj Chowdhry, Director of Chitranjan National Cancer Research Institute, Calcutta, delivering the Platinum Jubillee lecture of the medical and veterinary sciences section of the Indian Science Congress, said,''Girls married before the age of 16 were found to develop cancer of cervix more. Also, the mother of six children has twice as much chance of suffering from this cancer than a mother of one.''

अत्यन्त प्रसिद्धि के कारण मनु ने विवाह योग्य आयु का स्पष्टतः निर्देश नहीं किया, किन्तु स्त्री के

https://t.me/arshlibrary

जैसे आठवें वर्ष की कन्या में सन्तानोत्पत्ति का होना असम्भव है, वैसे ही गौरी, रोहिणी नाम देना भी अयुक्त है। यदि गौरी कन्या न हो किन्तु काली हो, तो उसका नाम गौरी रखना व्यर्थ है। और गौरी महादेव की स्त्री, रोहिणी वासुदेव की स्त्री थी। उसको तुम पौराणिक लोग मातृ-समान मानते हो। जब कन्यामात्र में गौरी आदि की भावना करते हो, तो फिर उनसे विवाह करना कैसे सम्भव और धर्मयुक्त हो सकता है ? इसलिए तुम्हारे और हमारे दो-दो श्लोक मिथ्या ही हैं, क्योंकि जैसा हमने **ब्रह्मोवाच** करके श्लोक बना लिये हैं, वैसे वे भी पराशर आदि के नाम से बना लिये हैं। इसलिए इन सबका प्रमाण छोड़के वेदों के प्रमाण से सब काम किया करो[1]। देखो—

विवाह की आयु का संकेत **'त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत्'** इस श्लोक में उपलब्ध है। तदनुसार जब कन्या विवाह करना चाहे, तब रजस्वला होने के दिन से तीन वर्ष को छोड़के चौथे वर्ष में विवाह करे। स्त्री को मासिक धर्म प्रायः १३-१५ वर्ष की आयु में शुरू होता है। तीन वर्ष बीतने पर यह काल १६-१८ की आयु का होता है। इस प्रकार स्त्री के विवाह की आयु कम से कम १६ वर्ष ठहरती है। इससे अधिक आयु में इतने ही अनुपात में विवाह होना चाहिए, क्योंकि शरीर-रचना और सामर्थ्य की दृष्टि से १६ वर्ष की स्त्री २५ वर्ष के बराबर होती है। संस्कारविधि में ग्रन्थकार ने लिखा है-"स्त्री की आयु पुरुष की आयु से न्यून-से-न्यून ड्योढ़ी और अधिक-से-अधिक दूनी होवे।"

रजोदर्शन की आयु पूरी तरह नियत नहीं है। यदि माता-पिता या अभिभावक ध्यान रक्खें तो बालिकाएँ छोटी अवस्था में रजस्वला न हों। यदि उन्हें स्त्री-पुरुष की कामचेष्टा देखने का अवसर न मिले, एकान्त दर्शन, एकान्त सम्भाषण आदि से उन्हें दूर रखा जा सके, उत्तेजक पदार्थों का सेवन न करें, सजावट-शृंगार की भावना उत्पन्न न होने पाये, सुन्दरता का गर्व न हो, कामोत्तेजक साहित्य पढ़ने अथवा उस प्रकार के वातावरण में रहना न मिले तो कन्याएँ देर से रजस्वला होती हैं। वर्त्तमान में फ़िल्मों के कारण जो वातावरण बन रहा है और दूरदर्शन के माध्यम से प्रसारित होनेवाले परिवार-नियोजन, गर्भनिरोध, गर्भपात आदि से सम्बन्धित विज्ञापनों के देखने से जिस प्रकार की कुत्सित भावनाएँ उभर रही हैं उनसे लड़कियाँ छोटी आयु में रजस्वला होने लगी हैं। बहुधा धनी परिवारों की कन्याएँ जल्दी रजस्वला होती हैं, क्योंकि उन्हें परिश्रम नहीं करना पड़ता, भड़कीले वस्त्र पहनती हैं, सौन्दर्य प्रसाधनों के प्रयोग से उनकी शृंगारिक भावना और तज्जन्य वासना भड़कती है। अश्लील नाच-गानों से भरपूर आधुनिक पार्टियों में आलिंगन-चुम्बन आदि के वातावरण में उनका ब्रह्मचर्य कहाँ टिक सकता है ? नगरों की अपेक्षा गाँवों की लड़कियाँ देर से रजस्वला होती हैं। सभ्यता का अभिमान करनेवाली जातियों की लड़कियाँ जल्दी रजस्वला होती हैं।

यदि माता-पिता आदि अभिभावक किसी कारण विवाह न कर रहे हों तो मनुस्मृति ६।६ के अनुसार कन्या को स्वयं अपने विवाह की व्यवस्था करने का अधिकार है। वहाँ लिखा है—

अदीयमाना भर्त्तारमधिगच्छेद् यदि स्वयम् ।
नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साधिगच्छति ॥

ऐसी अवस्था में न कन्या को कोई पाप लगता है और न उसके द्वारा वरण किये गये पति को।

बालविवाह से हानियाँ—बाल-विवाह तथा किशोर-विवाह से लगभग एक जैसी हानियाँ होती हैं—

---

१. द्रष्टव्य —एतदुक्तं भवति -**'मन्त्रेणैवानुसृतं कर्म कर्त्तव्यम्'**। स्कन्द, निरुक्त टीका १।२, भाग १, पृष्ठ १६ ॥

https://t.me/arshlibrary

१. वर-वधू के स्वास्थ्य का नाश—अधपके लड़के-लड़कियाँ जब मैथुन में प्रवृत्त होते हैं तो उनके चेहरे युवावस्था में ही बुढ़ापे की झुर्रियों से मुरझा जाते हैं।

२. बाल्यावस्था में लड़के-लड़कियों का न पूरी तरह शारीरिक विकास हो पाता है, न मानसिक। ऐसे माता-पिता जो अभी स्वयं बच्चे हैं, किस तरह की सन्तान उत्पन्न करेंगे। निश्चय ही वह सन्तान अपने माता-पिता से भी निर्बल होगी।

३. सन्तान उत्पन्न करने का सारा बोझ स्त्री पर होता है। जब बच्चियों के बच्चे होते हैं तो गर्भाशय के पूर्णतया विकसित न होने के कारण वे सन्तान के प्रसव को सहन नहीं कर पातीं और अल्पायु में ही चल बसती हैं।

४. अपरिपक्वावस्था में अनियन्त्रित विषयभोग के कारण पुरुष का शरीर जर्जर हो जाता है और इस कारण वह शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार बाल-विवाह के कारण बाल-विधवाओं की संख्या में वृद्धि होती है।

५. बाल-विवाह में पति-पत्नी को एक-दूसरे को समझ-बूझकर चुनने का अवसर तो होता ही नहीं। माता-पिता ने जिसको जिसके साथ बाँध दिया, सो बाँध दिया। आगे चलकर इन बेमेल जोड़ों का जीवन निरन्तर कलह में बीतता है। इस प्रकार पारिवारिक सुख से वंचित होकर वे जैसे-तैसे दिन काटते हैं। उनकी इस दुरवस्था का प्रभाव उनकी सन्तान पर भी पड़े बिना नहीं रहता।

६. बाल-विवाह के कारण स्त्री-पुरुष को सन्तान पैदा करने का समय अधिक मिलता है जिसके कारण देश की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। जनसंख्या में वृद्धि के कारण देश का आर्थिक ढाँचा टूटने लगता है। कुपोषण के कारण जहाँ सन्तान शरीर से निर्बल होती है, वहाँ शिक्षा की समुचित व्यस्था के अभाव में निकम्मी भी होती है।

७. कच्ची उम्र में विवाह के कारण लड़के-लड़कियों की शिक्षा अधूरी रह जाती है। वे ब्रह्मचर्य काल में संयम का जीवन बिताते हुए शारीरिक और मानसिक विकास करने की बजाय भोग-विलास में लिप्त हो जाते हैं।

८. छोटी आयु में विवाह के कारण लड़का अभी तक अपने पैरों पंर खड़ा नहीं हो पाता कि परिवार बढ़ने लगता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि वह आर्थिक संकट में फँस जाता है और तरह-तरह की चिन्ताओं से ग्रस्त होकर कभी-कभी मानसिक सन्तुलन तक खो बैठता है।

वैदिक युग में बाल-विवाह नहीं होता था। वेद में स्पष्टतया लिखा है—"**ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्**" अर्थात् कन्या ब्रह्मचर्य धारण करके युवा पति को प्राप्त करती है। वैदिक काल के बाद मध्य युग आया। यह गृह्यसूत्रों और स्मृतिकारों का युग था। गृह्यसूत्रों में लिखा गया कि नग्निका कन्या का विवाह कर देना चाहिए। 'नग्निका' का अर्थ है—जब तक कन्या नंगी फिरती हो, अर्थात् जब तक उसे अपने नंगे होने का ज्ञान और तज्जन्य लज्जा का अनुभव न हो। मध्य युग के बाद वर्त्तमान युग आया। इस युग में बाल-विवाह की प्रथा अपनी चरमसीमा पर पहुँच गयी। माताएँ दुधमुँहे बच्चों के फेरे उन्हें गोद में लेकर देने लगीं। इसके विरुद्ध आर्यसमाज ने आवाज़ उठाई। सन् १८६० में बंगाल में फूलमणि नामक लड़की का १० वर्ष की अवस्था में पति से सहवास के कारण प्राणान्त हो गया। इस प्रकार की घटनाओं के कारण बालिका के विवाह की न्यूनतम आयु १२ वर्ष रखने का प्रस्ताव रखा गया। धर्म में हस्तक्षेप के

https://t.me/arshlibrary

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम् ॥ —मनु० ६।९०॥

कन्या रजस्वला हुए पीछे तीन वर्ष-पर्यन्त पति की खोज करके अपने तुल्य पति को प्राप्त होवे । जब प्रतिमास रजोदर्शन होता है, तो तीन वर्षों में ३६ बार रजस्वला हुए पश्चात् विवाह करना योग्य है, इससे पूर्व नहीं ॥

काममामरणात् तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि ।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ —मनु० ६।९८॥

चाहे लड़का-लड़की मरणपर्यन्त कुमारे रहें, परन्तु असदृश अर्थात् परस्पर विरुद्ध गुण-कर्म स्वभाववालों का विवाह कभी न होना चाहिए । इससे सिद्ध हुआ कि न पूर्वोक्त समय से प्रथम, वा असदृशों का विवाह होना योग्य है ॥

नाम पर कट्टरपन्थियों ने इसका विरोध किया, किन्तु विरोध के बावजूद १८९१ में कन्या के लिए विवाह की न्यूनतम आयु १२ वर्ष कर दी गयी । पर यह नियम कागज़ पर ही लिखा रह गया । सन् १९०१ में बड़ौदा राज्य में एक कानून द्वारा बाल-वावाह का निषेध करके लड़कों की आयु १६ वर्ष और लड़कियों की १२ वर्ष कर दी गयी । सन् १९२९ में स्वामी दयानन्द की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा के मन्त्री दीवान हरविलास शारदा ने केन्द्रीय धारासभा (वर्त्तमान में संसद्) में बाल-विवाह निरोधक अधिनियम (Child Marriage Restraint Act) प्रस्तुत किया और वे इसे स्वीकृत कराने में सफल रहे जिसके अनुसार विवाह के समय लड़के और लड़की की न्यूनतम आयु क्रमशः १८ और १४ वर्ष नियत कर दी गयी । प्रस्तावक के नाम पर यह कानून शारदा एक्ट के नाम से प्रसिद्ध हुआ । एक अप्रैल १९३० से कानून सारे देश में लागू हो गया। तदनन्तर समय-समय पर इस अधिनियम में संशोधन होते रहे । अन्ततः लड़के-लड़की की न्यूनतम आयु क्रमशः २१ और १८ वर्ष नियत कर दी गयी, परन्तु अभी तक बाल-विवाह की प्रथा पूरी तरह समाप्त नहीं हो सकी है ।

काममामरणात्—पूना-प्रवचन में ग्रन्थकार ने इस श्लोक को उद्धृत करके कहा था—इसी प्रकार मनुजी कहते हैं कि "कन्या को मरने तक चाहे वैसी ही कुमारी रक्खो, किन्तु बुरे मनुष्य के साथ विवाह न करो ।" पति-पत्नी के गुण-कर्म-स्वभाव में सादृश्य के प्रति उनका आग्रह इतना अधिक था कि संस्कार विधि में वे मनु के स्वर-में-स्वर मिलाकर कहते हैं—

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृश्याय च ।
अप्राप्तामपि तां कस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥ —मनु० ६।८८

अर्थात् माता-पिता कन्या का विवाह करना चाहें तो अति उत्कृष्ट, शुभ गुण-कर्म-स्वभाववाले कन्या के सदृश रूप-लावण्य आदि से युक्त वर को ही चाहें । वह कन्या माता की छह पीढ़ी के भीतर भी हो, तथापि उसी को कन्या देना, अन्य को न देना जिससे दोनों प्रसन्न होकर गृहाश्रम की उन्नति और उत्तम सन्तान की उत्पत्ति करें । इस सदृश गुण-कर्म-स्वभाववाले वर को पाने के लिए वे मनु ३।५ में निर्दिष्ट असपिण्डता सम्बन्धी नियम को तोड़ने के लिए तैयार हैं ।

[लड़का-लड़की की प्रसन्नता से विवाह]

https://t.me/arshlibrary

[लड़का-लड़की की प्रसन्नता से विवाह]

प्रश्न—विवाह माता-पिता के अधीन होना चाहिए, वा लड़का-लड़की के अधीन रहे ।

उत्तर—लड़का-लड़की के अधीन विवाह होना उत्तम है । जो माता-पिता विवाह करना कभी विचारें, तो भी लड़का-लड़की की प्रसन्नता के विना न होना चाहिए, क्योंकि एक-दूसरे की प्रसन्नता से विवाह होने में विरोध बहुत कम होता है और सन्तान उत्तम होते हैं । अप्रसन्नता के विवाह में नित्य क्लेश ही रहता है । विवाह में मुख्य प्रयोजन वर और कन्या का है, माता-पिता का नहीं, क्योंकि जो उनमें परस्पर प्रसन्नता रहे, तो उन्हीं को सुख, और विरोध में उन्हीं को दुःख होता है । और—

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ —मनु०३।६०

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में आनन्द-लक्ष्मी और कीर्ति निवास करती है और जहाँ विरोध-कलह होता है, वहाँ दुःख-दरिद्रता और निन्दा निवास करती है ॥

कृत्यकल्पतरु के गार्हस्थ काण्ड में कन्या के अधिकार के विषय में लिखा है—'तत्र नारदः—**यदा तु नैव कश्चित् स्यात् कन्या राजानमाव्रजेत्, अनुज्ञया तस्य वरं परीक्ष्य वरयेत्स्वयं सवर्णमनुरूपञ्च कुले रूपवयः श्रुतैः । .....सह धर्मं चरेत्तेन पुत्राश्चोत्पादयेत्ततः**' (१२।२२-२३) । अर्थात् इस (कन्या के स्वयंवर) विषय में नारद का मत है कि यदि पिता आदि कन्यादानाधिकारियों में से कोई न हो तो कन्या राजा के पास जाए और उसकी अनुमति से वर की परीक्षा करके कुल, रूप, आयु एवं ज्ञान के अनुरूप सवर्ण वर का वरण करे । उसकी सहधर्मिणी बने और उससे सन्तान उत्पन्न करे ।

पसन्द किसकी—विवाह में लड़का-लड़की की इच्छा सर्वोपरि है । वैदिक साहित्य में इस विषय में निश्चित आदेश पाया जाता है । ऋग्वेद में लिखा है—

कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण ।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जनेचित् ॥

'वधू की इच्छा करनेवाले किस पुरुष की स्त्री प्रेम करनेवाली होगी ?' इस प्रश्न को स्वयं उठाकर ऋग्वेद उत्तर देता है—(सुपेशाः) सुन्दररूपवाली वह वधू अच्छी है जो (जनेचित्) अनेक जनों में से (मित्रं स्वयं वनुते) अपने मित्र को स्वयं चुनती है । सप्तपदी के अन्तिम वाक्य में पति को सखा कहा गया है जो मित्र का पर्यायवाची है । इस मन्त्र में स्त्री को अपने लिए स्वयं पति चुनने का अधिकार दिया है । इसी को स्वयंवर कहते हैं । आज हमारे समाज में लड़का अनेक लड़कियों में से अपने लिए लड़की चुनता है, परन्तु प्राचीन काल में अपना साथी चुनने का अधिकार लड़के को नहीं, लड़की को दिया गया है । वर्त्तमान में प्रगतिशील समझे जानेवाले समाज में भी चुनने का अधिकार लड़के को ही प्राप्त है । राह चलते कहीं-कहीं लड़की से भी सहमति ले ली जाती है, परन्तु प्राचीन वैदिक आदर्श के अनुसार चुनने का अधिकर लड़की को प्राप्त था, सहमति लड़के की भी होती थी । तभी तो लड़की के घर बहुत-से विवाहेच्छु जाते थे और लड़की उनमें से किसी एक के गले में वरमाला डाल देती थी । उसी परम्परा के अनुसार सीता, दमयन्ती, द्रौपदी आदि के स्वयंवर में दूर-दूर से राजकुमार अपना-अपना भाग्य आज़माने आये थे । आजकल वर का वधू के घर चलकर जाना और वधू के घर पर ही विवाह संस्कार होना उसी स्वयंवर

https://t.me/arshlibrary

[स्वयंवर विवाह की श्रेष्ठता]

इसलिए जैसी स्वयंवर की रीति आर्य्यावर्त्त में परम्परा से चली आती है, वही विवाह उत्तम है। जब स्त्री-पुरुष विवाह करना चाहें तब विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीर का परिमाणादि यथायोग्य होना चाहिए। जब तक इनका मेल नहीं होता, तब तक विवाह में कुछ भी सुख नहीं होता और न बाल्यावस्था में विवाह करने में सुख होता है।

का आधुनिक संस्करण है, परन्तु आजकल के स्वयंवर में लड़के का हाथ ऊपर रहता है, अर्थात् लड़का चुनता है, लड़की नहीं। माता-पिता जिसके साथ चाहते हैं, लड़की को बाँध देते हैं।

चुनाव का अधिकार वेद ने लड़के को न देकर लड़की को इसलिए दिया है कि गृहस्थाश्रम की कीली स्त्री है—**गृहिणी गृहमुच्यते**। उसी के गिर्द सारा घर-परिवार घूमता है। सन्तानोत्पत्ति का कष्ट उसी को झेलना पड़ता है। अपनी स्वतन्त्र सत्ता को पति में खोकर उसे सदा के लिए पति के खूँटे से बँधकर रहना पड़ता है। जब उसपर इतनी बड़ी जिम्मेदारी है तो अपने भागीदार को चुनने का अधिकार उसी का बनता है। स्वयंवर में जो युवक आते हैं, उन्हें लड़की पसन्द है, इसमें तो उनका वहाँ आना ही प्रमाण है। इसलिए ठीक-ठीक चुनाव की जिम्मेदारी पत्नी पर ही पड़ती है।

उद्धृत मन्त्र में **'मित्रं स्वयं वनुते'** कहा गया है। स्त्री अपने 'मित्र' को स्वयं चुनती है—ऐसा मित्र जो जीवनभर उसके सुख-दुःख का साथी होगा। विवाह-संस्कार सप्तपदी की क्रिया के साथ सम्पन्न होता है। उस समय **'सखे सप्तपदी भव'** यह पढ़ा जाता है। इस प्रकार विवाह संस्कारविधि का पर्यवसान मैत्री भाव में है—ऐसा मैत्री भाव जिसकी पहचान है दो का एक हो जाना। इसलिए विवाह संस्कार के अन्त में पति-पत्नी दोनों कहते हैं—**'यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम यदेतद् हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव'**, क्योंकि यह जीवनभर का साथ है, इसलिए चुनाव के समय पूरी सावधानी वर्त्तना आवश्यक है। अतएव ग्रन्थकार ने संस्कारविधि में निर्देश किया है—'जब विवाह करने का निश्चय हो चुके, तब कन्या चतुर पुरुषों से वर की और वर चतुर पुरुषों से कन्या की परोक्ष से परीक्षा करावें, पश्चात् उत्तम विद्वान् पुरुषों की सभा करके दोनों परस्पर संवाद करें।'

प्रेम विवाह—लड़के-लड़की को अपना जीवन साथी चुनने का अधिकार अवश्य है, किन्तु इस अधिकार का प्रयोग माता-पिता के मार्गदर्शन में होना हितकर है। एक युवक एक साँवली-सलोनी षोडशी को देखकर उसपर मोहित हो जाता है। उससे पहले उनका परस्पर कोई परिचय नहीं है, परन्तु निगाह मिलते ही उसके पीछे पागल हो जाता है। यही स्थिति लड़की की हो जाती है। दोनों समझते हैं कि वे एक-दूसरे के बिना ज़िन्दा नहीं रह सकते। ऐसे युवक-युवती माता-पिता की बिल्कुल परवाह नहीं करते। परिवार की, एक-दूसरे की स्थिति की —किसी भी बात की परवाह न करके, सब बन्धनों को तोड़कर चट मँगनी पट ब्याह कर बैठते हैं। प्रेम-विवाह का आधारभूत तत्व है—प्रथम दृष्टि में प्रेम (Love at first sight) और प्रेम किसी प्रकार का बन्धन नहीं मानता, परन्तु विवाह के कुछ समय बाद प्रेम का ज्वार उतरने लगता है। जैसे पहले वे समझते थे कि वे एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते, वैसे ही अब कुछ दिन एक-साथ रहकर वे समझने लगते हैं कि वे एक-दूसरे के साथ नहीं रह सकते। विवाह से पूर्व जितना एक-दूसरे के प्रति आकर्षण था, उतनी ही घृणा हो जाती है। पाश्चात्य आदर्श है Love before marriage (विवाह से पहले प्रेम) और भारतीय आदर्श है Marriage before love (प्रेम से पहले विवाह)। प्रेम-विवाह की जन्मभूमि हैं—नाटक,

https://t.me/arshlibrary

[युवावस्था में विवाह करने में प्रमाण]

युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः ।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो३ मनसा देवयन्तः ॥१॥
—ऋ० म० ३। सू० ८। मं० ४॥

आ धेनवो धुनयन्तामशिश्वीः सबर्दुघाः शशया अप्रदुग्धाः ।
नव्यानव्या युवतयो भवन्तीर्महद्देवानामसुरत्वमेकम् ॥२॥
—ऋ० म० ३। सू ५५म० १६॥

पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषा वस्तोरुषसो जरयन्तीः ।
मिनाति श्रियं जरिमा तनूनामप्यू नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः ॥३॥
—ऋ० म० १। सू० १७६। म० १॥

अर्थ—जो पुरुष (परिवीतः) सब ओर से यज्ञोपवीत, ब्रह्मचर्य्यसेवन से उत्तम शिक्षा और विद्या से युक्त, (सुवासाः) सुन्दर वस्त्र धारण किया हुआ, ब्रह्मचर्य्ययुक्त (युवा) पूर्ण जवान होके विद्याग्रहण कर गृहाश्रम में

सिनेमा, उपन्यास आदि । विवाह से पहले प्रेम की स्थिति में युवक-युवती एक-दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं और प्रेम करने लगते हैं । यह प्रेम जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो वे विवाह कर लेते हैं । प्रकृति के नियमानुसार जल जितना ऊँचा चढ़ता है, उतने ही ज़ोर से नीचे गिरता है । चरम सीमा पर पहुँचा प्रेम धीरे-धीरे घटने लगता है और अन्ततः घृणा के रूप में बदल जाता है । प्रेम से पहले विवाह की स्थिति में विवाह के बाद प्रेम शुरू होता है और निरन्तर बढ़ता जाता है ।

भावना का जीवन एक नशे का जीवन है । नशा चढ़ता है तो उतरता भी है । प्रेम का नशा जब उतर जाता है तब उसके नशे में बाँधे हुए सपने भी टूट जाते हैं । परिणाम होता है तलाक़ या विवाह-विच्छेद। दाम्पत्य प्रेम (Conjugal love) में एक-साथ रहने से प्रेम धीरे-धीरे बढ़ता जाता है । इसमें विवाह-विच्छेद की सम्भावना कम होती है ।

लड़के-लड़की को एक-दूसरे को चुनने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए । एतदर्थ उन्हें एक-दूसरे के सम्पर्क में आकर एक-दूसरे को जानने, समझने का अवसर मिलना चाहिए, परन्तु यह सब माता-पिता की देख-रेख में होना उचित है । विवाह में शारीरिक आकर्षण से उत्पन्न प्रेम को एकमात्र आधार मानकर माता-पिता के अनुभव और समाज की हर बात की अवहेलना करके विवाह करने की प्रवृत्ति पारिवारिक एवं सामाजिक सन्तुलन की दृष्टि से श्रेयस्कर नहीं है ।

स्त्री की स्थिति—वैदिक परम्परा में स्त्री को पुरुष की अर्धांगिनी कहा जाता है । यूरोप में उसे उत्तमार्ध (Better half) कहते हैं, परन्तु उत्तमार्ध होते हुए भी उसकी स्थिति वैदिक अर्धाङ्गिनी से अच्छी नहीं है । यूरोप में कन्या के विवाह की पूरी विधि पिता द्वारा सम्पन्न की जाती है । वह न हो तो कन्या का चाचा इस कार्य को कराने में अधिकृत है, परन्तु वैदिक विवाह की विधि तब तक पूर्ण नहीं समझी जाती जब तक कन्या के पिता के साथ उसकी माता भी यज्ञवेदी पर बैठकर उसमें भागीदार नहीं होती । वस्तुतः वैदिक मर्यादा का कोई कृत्य तब तक पूर्ण नहीं माना जाता जब तक यजमान और यजमान पत्नी दोनों भाग न लें । परिवार में पत्नी की ऊँची स्थिति के परिचायक अथर्ववेद के ये मन्त्र द्रष्टव्य हैं—

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा ।
एवा त्वं सम्राज्येधि पत्युरस्तं परेत्य ॥

https://t.me/arshlibrary

(आगात्) आता है, (स उ) वही दूसरे विद्या-जन्म में (जायमानः) प्रसिद्ध होकर (श्रेयान्) अतिशय शोभायुक्त मङ्गलकारी (भवति) होता है। (स्वाध्यः) अच्छे प्रकार ध्यानयुक्त (मनसा) विज्ञान से (देवयन्तः) विद्यावृद्धि की कामनायुक्त, (धीरासः) धैर्ययुक्त (कवयः) विद्वान् लोग (तम्) उसी पुरुष को (उन्नयन्ति) उन्नतिशील करके प्रतिष्ठित करते हैं और जो ब्रह्मचर्य्य धारण, विद्या, उत्तम शिक्षा का ग्रहण किये विना अथवा बाल्यावस्था में विवाह करते हैं, वे स्त्री-पुरुष नष्ट-भ्रष्ट होकर विद्वानों में प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते ॥१॥

जो (अप्रदुग्धाः) किसी ने दुही नहीं, उन (धेनवः) गौओं के समान (अशिश्वीः) बाल्यावस्था से रहित, (सबर्दुघाः) सब प्रकार के उत्तम व्यवहारों को पूर्ण करनेहारी, (शशयाः) कुमारावस्था को उल्लंघन करनेहारी, (नव्यानव्याः) नवीन-नवीन शिक्षा और अवस्था से पूर्ण (भवन्तीः) वर्त्तमान (युवतयः) पूर्ण युवावस्थास्थ स्त्रियाँ (देवानाम्) ब्रह्मचर्य्य सुनियमों से पूर्ण विद्वानों के (एकम्) अद्वितीय (महत्) बड़े (असुरत्वम्) प्रज्ञा-शास्त्रशिक्षायुक्त, प्रज्ञा में रमण के भावार्थ को प्राप्त होती हुई, तरुण पतियों को प्राप्त होके (आ धुनयन्ताम्) गर्भ धारण करें। कभी भूलके भी बाल्यावस्था में पुरुष का मन से भी ध्यान न करें, क्योंकि यही कर्म इस लोक और परलोक के सुख का साधन है। बाल्यावस्था में विवाह से जितना पुरुष का नाश, उससे अधिक स्त्री का नाश होता है ॥२॥

जैसे (नु) शीघ्र (शश्रमाणाः) अत्यन्त श्रम करनेहारे (वृषणः) वीर्य सींचने में समर्थ, पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष (पत्नीः) युवावस्थास्थ, हृदयों को प्रिय स्त्रियों को (जगम्युः) प्राप्त होकर पूर्ण शतवर्ष वा उससे अधिक वर्ष आयु को आनन्द से भोगते, और पुत्र-पौत्रादि से संयुक्त रहते रहें, वैसे स्त्री-पुरुष सदा वर्त्तें। जैसे (पूर्वीः) पूर्व वर्त्तमान (शरदः) शरद् ऋतुओं, और (जरयन्तीः) वृद्धावस्था को प्राप्त करानेवाली

सम्राज्ञ्योधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वा ॥ —अथर्ववेद १४।१।४३,४४

जैसे समुद्र नदियों का राजा है, इसी प्रकार तू पति के घर में सम्राज्ञी अर्थात् महारानी होकर रह। तुझे तेरा श्वसुर घर की महारानी समझे और देवर तुझे महारानी समझें, तेरी ननदें तेरा शासन मानें और तेरी सास तुझे घर की महारानी समझे।

युवा सुवासः—ब्रह्मचर्य आश्रम में जिसने समुचित विद्याध्ययन में श्रम किया है उस युवती कन्या को शक्ति का संचय करनेवाला पुरुष पत्नी के रूप में ग्रहण करके गृहस्थ में प्रवेश करता है। ऐसी पत्नी में वह अपने को नया जन्म देता है और पुत्ररूप में उत्पन्न होता है। **'तद्धि जायाया जायत्वं यदस्यां जायते पुनः।'** अपने ऋग्वेद भाष्य में इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है—'कोई भी मनुष्य ब्रह्मचर्य की उत्तम शिक्षा और ब्रह्मचर्य के सेवन के बिना दीर्घायु और योग्य विद्वान् नहीं हो सकता। वह मनुष्य कहीं सत्कार पाने योग्य नहीं है। जिस मनुष्य की धार्मिक विद्वान् प्रशंसा करते हैं, वही विद्वान् है।'

आ धेनवो—अप्रदुग्धाः=अन्यैरभुक्ताः अर्थात् कुमारी कन्याएँ। अशिश्वीः=युवतियाँ। अपने ऋग्वेद-भाष्य में इस मन्त्र के भाष्य के अन्तर्गत भावार्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है—'जैसे प्रथम अवस्था में वर्त्तमान विद्या पढ़ी हुई बालाभिन्न ब्रह्मचारिणी स्त्रियाँ अपने सदृश पतियों को प्राप्त कर आनन्दित होती हैं, वैसे ही सर्ववाणियों को प्राप्त कर विद्वान् लोग सुखी होते हैं,

पूर्वीरहं—इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है—जैसे बाल्यावस्था से लेकर विदुषी स्त्रियों ने

https://t.me/arshlibrary

(उषसः) प्रातःकाल की वेलाओं को (दोषाः) रात्रि और (वस्तोः) दिन (तनूनाम्) शरीरों की (श्रियम्) शोभा को (जरिमा) अतिशय वृद्धपन बल और शोभा को (मिनाति) दूर कर देता है, वैसे (अहम्) मैं स्त्री वा पुरुष (उ) अच्छे प्रकार (अपि) निश्चय करके ब्रह्मचर्य्य से विद्या, शिक्षा, शरीर और आत्मा के बल और युवावस्था को प्राप्त होके ही विवाह करूँ। इससे विरुद्ध करना वेदविरुद्ध होने से सुखदायक विवाह कभी नहीं होता ॥३॥

जब तक इसी प्रकार ऋषि-मुनि, राजा-महाराजा, आर्य्य लोग ब्रह्मचर्य्य से विद्या पढ़के ही स्वयंवर विवाह करते थे, तब तक इस देश की सदा उन्नति होती थी। जब से यह ब्रह्मचर्य्य से विद्या का न पढ़ना, बाल्यावस्था में पराधीन अर्थात् माता-पिता के अधीन विवाह होने लगा, तब से क्रमशः आर्य्यावर्त्त देश की हानि होती चली आई है। इससे इस दुष्ट काम को छोड़के सज्जन लोग पूर्वोक्त प्रकार से स्वयंवर विवाह किया करें। सो विवाह वर्णानुक्रम से करें और वर्णव्यवस्था भी गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार होनी चाहिए।

[वर्णव्यवस्था गुण-कर्म-स्वभावानुसार]

प्रश्न—जिसके माता-पिता ब्राह्मणी-ब्राह्मण हों, वह ब्राह्मण होता है। जिसके माता-पिता अन्यवर्णस्थ हों, उनका सन्तान कभी ब्राह्मण हो सकता है ?

उत्तर —हाँ। बहुत-से हो गये, होते हैं, और होंगे भी। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् में जाबाल ऋषि अज्ञातकुल, महाभारत में विश्वामित्र क्षत्रियवर्ण और मातङ्ग ऋषि चाण्डाल कुल से ब्राह्मण हो गये थे। अब भी जो उत्तम विद्या-स्वभाववाला है, वही 'ब्राह्मण' के योग्य, और मूर्ख 'शूद्र' के योग्य होता है और वैसा ही आगे भी होगा ॥

प्रतिदिन प्रभात समय से घर के कार्य और पति की सेवा आदि कार्य किये हैं, वैसे किया है ब्रह्मचर्य जिन्होंने, उन स्त्री-पुरुषों को समस्त कार्यों का अनुष्ठान करना चाहिए।

वर्णपरिवर्तन—जाबाल ऋषि—छान्दोग्योपनिषद् (४।४।२-५) में प्रसंग है—**'सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयांचक्रे, ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि, किं गोत्रोऽहस्मीति। सा हैनमुवाच—नाहमेतद् वेद तात यद् गोत्रस्त्वमसि, बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे, साहमेतन्न वेद यद् गोत्रस्त्वमसि। जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एव जाबालो ब्रुवीथा इति। स हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति। तं होवाच—किं गोत्रो नु सोम्यासीति। स होवाच—नाहमेतद् वेद भो यद् गोत्रोऽहमस्मि। अपृच्छं मातरं सा मा प्रत्यब्रवीत् बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे, साहमेतन्न वेद यद् गोत्रस्त्वमसि, जाबाला तु नामहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति। सोऽहं सत्यकामो जाबालोऽस्मीति। तं होवाच—नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति ; समिधं सोम्याहर उप त्वा नेष्ये, न सत्यादगा इति ॥४॥'** अर्थात् सत्यकाम जाबाल ने अपनी माता जबाला से परामर्श किया—माता ! मैं ब्रह्मचर्यवास करना चाहता हूँ। तू बता मेरा गोत्र क्या है ? उसने कहा, हे तात! मैं नहीं जानती कि तेरा गोत्र क्या है ? मैंने इधर-उधर घूमते बहुतों की सेवा करते हुए तुझे प्राप्त किया है, इसलिए मैं नहीं जानती कि तेरा गोत्र क्या है। मैं तो बस इतना जानती हूँ कि मेरा नाम जबाला है और तेरा नाम सत्यकाम है। सो तू आचार्य को अपना नाम सत्यकाम जाबाल बता देना। वह सत्यकाम हारिद्रुमत गौतम के पास जाकर बोला—मैं श्रीमानों के पास ब्रह्मचर्य वास करना चाहता हूँ। उस (आचार्य) ने कहा—सोम्य, तेरा गोत्र क्या है ? उसने उत्तर दिया—महाराज मैं नहीं जानता कि मेरा गोत्र क्या है, मैंने माता से पूछा तो

https://t.me/arshlibrary

माता ने कहा ..... । अतः मैं सत्यकाम जाबाल हूँ । आचार्य ने कहा—ऐसी बात अब्राह्मण नहीं कह सकता । सोम्य ! समिधा लाओ, मैं तेरा उपनयन करूँगा । तू सत्य से विचलित नहीं हुआ ।''

काठक संहिता में लिखा है—

किं ब्राह्मणस्य पितरं किमु पृच्छसि मातरम् ।
श्रुतं चेदस्मिन् वेद्यं स पिता स पितामहः ॥

ब्राह्मण से क्यों पूछते हो कि तुम्हारे माता-पिता कौन हैं ? यदि उसमें ज्ञान और सत्य हैं तो वही उसके पिता और पितामह हैं ।

विश्वामित्र—वाल्मीकि रामायण में लिखा है—**'ब्राह्मण्यं तपसोग्रेण प्राप्तवानसि कौशिकः'** (बालकाण्ड १५।६०) । अर्थात् उग्र तप के द्वारा कौशिक (विश्वमित्र) ब्राह्मण हो गये । महाभारत में लिखा है—

भृगोर्वचनमात्रेण स च ब्रह्मर्षितां गतः ।
वीतहव्यो महाराज ब्रह्मवादित्वमेव च ॥

हे महाराज ! भृगु के वचनमात्र से (क्षत्रिय राजा) वीतहव्य ब्रह्मर्षि एवं ब्रह्मवादी हो गया । वीतहव्य का शत्रु राजा प्रतर्दन इस बात से प्रसन्न था कि उसने अपने विरोधी क्षत्रिय राजा को पनी जाति का परित्याग करके ब्राह्मण बनने को विवश कर दिया—**'स एव राजा वीर्येण स्वजातिं त्याजितो मया'** (महा० अनु० पर्व ३०।५५-५७) । इसी अध्याय के आरम्भ में युधिष्ठिर ने भीष्मपितामह से कहा—**'विश्वामित्रेण च पुरा ब्राह्मण्यं प्राप्तमिति'** अर्थात् पुराने समय में विश्वामित्र ने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था । यह कहा जा सकता है कि विश्वामित्र ने किसी जन्मान्तर में ब्राह्मणत्व प्राप्त किया होगा, क्योंकि वर्त्तमान क्षत्रिय शरीर के रहते तो वर्ण परिवर्तन नहीं हो सकता । इसका स्पष्टीकरण यहाँ अनुशासनपर्व के अन्तर्गत इस वार्तालाप से हो जाता है—युधिष्ठिर ने भीष्मपितामह से पूछा—

कथं प्राप्तं महाराज क्षत्रियेण महात्मना ।
विश्वामित्रेण धर्मात्मन् ब्राह्मणत्वं नरर्षभ ।
देहान्तरमनासाद्य कथं स ब्राह्मणोऽभवत् ॥ —अनु० ३।१,२।१७

इस प्रसंग से स्पष्ट है कि विश्वामित्र उसी शरीर के रहते क्षत्रिय से ब्राह्मण हे गये थे । इस बात की पुष्टि निम्न श्लोक से भी होती है—

ततो ब्राह्मणतां यातो विश्वामित्रो महातपः ।
क्षत्रियः सोप्यथ तथा ब्रह्मवंशस्य कारकः ॥ —अनु० ४।४८

अर्थात्—महातपस्वी विश्वामित्र क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो ब्राह्मणवंश का प्रवर्त्तक हुआ।

मातङ्ग ऋषि—

द्विजाते कस्यचित्तात तुल्यवर्णः सुतस्त्वभूत् ।
मातङ्गो नाम नाम्ना वै सर्वैः समुदिता गुणैः ॥ —महा० अनु० २७।८

अर्थात् किसी द्विज का समान वर्णवाला सर्वगुण-सम्पन्न मातंग नामक था ।

ब्राह्मण्यां वृषलेन त्वमन्तायां नापितेन च जातस्त्वमसि चाण्डालः (महा० अनु० २७।१७) । **चाण्डालयोनौ जातो हि कथं ब्राह्मण्यमाप्तवान्** (महा० अनु० ३।१६) । अर्थात् हे भरतश्रेष्ठ ! यह उचित ही है कि मतङ्ग ने चाण्डाल कुल में पैदा होकर भी ब्राह्मणत्व प्राप्त किया ।

https://t.me/arshlibrary

[ब्राह्मण-शरीर बनाने के साधन]

प्रश्न—भला जो रज-वीर्य से शरीर हुआ है, वह बदलकर दूसरे वर्ण के योग्य कैसे हो सकता है ?

उत्तर—रज-वीर्य्य के योग से ब्राह्मण-शरीर नहीं होता। किन्तु —

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ —मनु० २।२८

इसका अर्थ पूर्व कर आये हैं। अब यहाँ भी संक्षेप से कहते हैं—(स्वाध्यायेन) पढ़ने-पढ़ाने, (जपैः) विचार करने-कराने (होमैः) नानाविध होम के अनुष्ठान, (त्रैविद्येन) सम्पूर्ण वेदों को शब्द-अर्थ-सम्बन्ध स्वरोच्चारणसहित पढ़ने-पढ़ाने, (इज्यया) पौर्णमासी इष्टि आदि के करने, पूर्वोक्त विधिपूर्वक (सुतैः) धर्म से सन्तानोत्पत्ति, (महायज्ञैश्च) पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, वैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ, (यज्ञैश्च) अग्निष्टोमादि यज्ञ, विद्वानों का सङ्ग, सत्कार, सत्यभाषण, परोपकारादि सत्कर्म, और सम्पूर्ण शिल्पविद्यादि पढ़के, दुष्टाचार छोड़, श्रेष्ठाचार में वर्त्तने से (इयम्) यह (तनुः) शरीर (ब्राह्मी) ब्राह्मण का (क्रियते) किया जाता है ॥

क्या इस श्लोक को तुम नहीं मानते ? मानते हैं। फिर क्यों रज-वीर्य्य के योग से वर्णव्यवस्था मानते हो ? मैं अकेला नहीं मानता, किन्तु बहुत से लोग परम्परा से ऐसा ही मानते हैं।

वर्णपरिवर्त्तन के दो अतिरिक्त प्रमाण ग्रन्थकार ने स०प्र० के प्रथम संस्करण में दिये हैं—

"वत्स क्षत्रिय से ब्राह्मण भया और श्रवण, श्रवण का पिता श्रवण की माता वैश्य और शूद्रवर्ण से महर्षि भये।" (पृष्ठ ६६)

कुल परिवर्त्तन—सायणाचार्य ने अपने ऋग्वेदभाष्य के द्वितीय मण्डल के आरम्भ में लिखा है—**'मण्डलद्रष्टा गृत्समद ऋषिः, स च पूर्वं अंङ्गिरसकुले शुनहोत्रस्य पुत्रः यज्ञकाले असुरैर्गृहीतः इन्द्रेण मोचितः। पश्चात्तद्-वचनेनैव भृगुकुले शुनकपुत्रो गृत्समदनामा अभूत्। तथा चानुक्रमणिका—'ये आङ्गिरसः शौनहोत्रो भूत्वा भार्गवः शौनकोऽभूत् । स गृत्समदो द्वितीयं मण्डलमपश्यत् ।' तथा तस्यैव शौनकस्य ऋष्यनुक्रमणे—'त्वमग्न इति गृत्समदः शौनको भृगुता गतः शौनहोत्रः प्रकृत्या तु य आंङ्गिरस उच्यते।'**

मण्डल का द्रष्टा गृत्समद है। वह पहले आंङ्गिरस कुल में शुनहोत्र का पुत्र हुआ। यज्ञकाल में असुरों से पकड़ा गया। इन्द्र ने उसे छुड़ाया। पश्चात् उस इन्द्र के वचन से ही वह भृगुकुल में शुनक का गृत्समद नाम का पुत्र हुआ। वैसा ही अनुक्रमणिका में भी कहा है—जो आंङ्गिरस शौनहोत्र होकर भार्गव शौनक हुआ। उसी शौनक का ऋष्यनुक्रमणिका में वचन है कि 'त्वमग्ने' इससे आरम्भ होनेवाले मण्डल को भृगुता को प्राप्त हुए शुनकपुत्र गृत्समद ने देखा जो मूल में आंङ्गिरस शौनहोत्र कहा जाता है।

ऋग्वेदानुक्रमणिका का प्रणेता कात्यायन कहा जाता है और ऋष्यनुक्रमणिका शौनक प्रणीत कही जाती है। सायण ने दोनों के प्रमाण दिये हैं।

स्वाध्यायेन—रज-वीर्य के योग से किसी भी प्राणी के पाञ्चभौतिक शरीर का निर्माण होता है, किन्तु मात्र इस शरीर का नाम ब्राह्मण नहीं है। ब्रह्म पद परमेश्वर तथा वेद दोनों का वाचक है। तदनुसार वेद के अध्ययन और परमेश्वर की उपासना में तल्लीन रहते हुए विद्या आदि उत्तम गुणों से युक्त मनुष्य ब्राह्मण कहलाता है। अध्यापन का ब्राह्मण के कर्त्तव्यों में उल्लेख है, किन्तु अध्यापक माता-पिता के रज-वीर्य से बने व्यक्ति को ब्राह्मण मानकर कोई भी अपनी सन्तान को उससे पढ़वाने के लिए तैयार नहीं होगा, यदि

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—क्या तुम परम्परा का भी खण्डन करोगे ?

उत्तर—नहीं ! परन्तु तुम्हारी उलटी समझ को नहीं मानके खण्डन भी करते हैं ।

प्रश्न—हमारी उलटी और तुम्हारी सूधी समझ है, इसमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर—यही प्रमाण है कि जो तुम पाँच-सात पीढ़ियों के वर्त्तमान को सनातन व्यवहार मानते हो और हम वेद तथा सृष्टि के आरम्भ से आज-पर्यन्त की परम्परा मानते हैं । देखो, जिसका पिता श्रेष्ठ उसका पुत्र दुष्ट, और जिसका पुत्र श्रेष्ठ उसका पिता दुष्ट, तथा कहीं दोनों श्रेष्ठ वा दुष्ट देखने में आते हैं, इसलिए तुम लोग भ्रम में पड़े हो । देखो, मनु महाराज ने क्या कहा है—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥ —मनु० ४।१७८

जिस मार्ग से इसके पिता-पितामह चले हों, उस मार्ग में सन्तान भी चलें, परन्तु 'सताम्'=जो सत्पुरुष पिता-पितामह हों उन्हीं के मार्ग में चलें और जो पिता-पितामह दुष्ट हों, तो उनके मार्ग में कभी न चलें, क्योंकि उत्तम धर्मात्मा पुरुषों के मार्ग में चलने से दुःख कभी नहीं होता ।

इसको तुम मानते हो वा नहीं ? हाँ-हाँ मानते हैं । और देखो, जो परमेश्वर की प्रकाशित वेदोक्त बात है वही **सनातन**, और जो उसके विरुद्ध है वह सनातन कभी नहीं हो सकती । ऐसा ही सब लोगों को

उसने किसी विद्यालय में विद्याध्ययन करके अध्यापक के लिए अपेक्षित योग्यता प्राप्त नहीं की है । इसी प्रकार ब्राह्मण माता-पिता के रज-वीर्य के संयोग से उत्पन्न किन्तु कर्मकाण्ड से सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्ति को ब्राह्मण मानकर कोई व्यक्ति उससे विवाह-संस्कार नहीं कराएगा । इसके विपरीत वैश्य माता-पिता से उत्पन्न किन्तु किसी विश्वविद्यालय से उपाधि प्राप्त व्यक्ति को किसी गुरुकुल या कालेज का प्रधानाचार्य बनाया जा सकता है और किसी सैनिक स्कूल में शिक्षित अथवा सेना में प्रशिक्षित ब्राह्मणकुलोत्पन्न व्यक्ति को सेनापति नियुक्त किया जा सकता है । इससे स्पष्ट है कि वर्ण का निश्चायक रज-वीर्य न होकर व्यक्ति की अर्जित योग्यता है ।

सन् १८८० में काशी में वर्ण-व्यवस्था को रज-वीर्य के संयोग पर आधारित माननेवाले एक मनुष्य ने जातिभेद का प्रसंग उठाया । ग्रन्थकार ने कहा कि 'ब्राह्मणादि वर्ण जन्मगत नहीं हो सकते । यदि ऐसा हो तो एक ब्राह्मण के दो पुत्रों में से एक ईसाई और एक मुसलमान हो जाए तो क्या वे फिर भी ब्राह्मण माने जाएँगे ? यदि नहीं तो जन्म ब्राह्मणत्व कहाँ रहा ? इससे सिद्ध होता है कि जो ब्राह्मणादि उत्तम कार्य करते हैं वे ही ब्राह्मणादि होते हैं और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुण-कर्म-स्वभाववाला होवे तो उसको भी उत्तम वर्ण में और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच कर्म करे तो उसको नीच वर्ण में गिनना चाहिए ।'

येनास्य—तैत्तिरीय उपनिषद् के अन्तर्गत गुरुकुल से समावर्त्तन के अवसर पर दिये जानेवाले दीक्षान्त भाषण में आचार्य अपने शिष्य को बड़े स्पष्ट शब्दों में निर्देश करता है—

यान्यास्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ।
यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि ॥

अर्थात् जो हमारे सुचरित हैं उन्हीं के अनुसार आचरण करना, अन्यों का नहीं । जो हमारे अनिन्दित कर्म हैं उन्हीं का सेवन=अनुकरण करना, अन्यों का नहीं । वैदिक मर्यादा के अनुसार **'गुरुर्गरीयान् पितृतो मातृतश्चेति मे मतिः'** (महा० शा०प० १०८।१७) । परन्तु महाभारत में ही यह भी लिखा है—

https://t.me/arshlibrary

मानना चाहिए वा नहीं ? अवश्य चाहिए। जो ऐसा न माने, उससे कहो कि किसी का पिता दरिद्र हो और उसका पुत्र धनाढ्य होवे, तो क्या अपने पिता की दरिद्रावस्था के अभिमान से धन को फेंक देवे ? क्या जिसका पिता अन्धा हो उसका पुत्र भी अपनी आँखों को फोड़ लेवे ? जिसका पिता कुकर्मी हो क्या उसका पुत्र भी कुकर्म को ही करे ? नहीं-नहीं, किन्तु जो-जो पुरुषों[1] के उत्तम कर्म हों उनका सेवन, और दुष्ट कर्मों का त्याग कर देना सबको अत्यावश्यक है।

[जन्म से वर्णव्यवस्था में दोष]

जो कोई रज-वीर्य्य के योग से वर्णाश्रम-व्यवस्था माने, और गुण-कर्मों के योग से न माने, तो उससे पूछना चाहिए कि—'जो कोई अपने वर्ण को छोड़ नीच, अन्त्यज अथवा कृश्चीन, मुसलमान हो गया हो, उसको भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते ?' यहाँ यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिये, इसलिए वह ब्राह्मण नहीं है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जो ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं वे ही ब्राह्मणादि और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुण-कर्म-स्वभाववाला होवे तो उसको भी उत्तम वर्ण में, और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच काम करे, तो उसको नीच वर्ण में गिनना अवश्य चाहिए।

['ब्राह्मणोऽस्य-'मन्त्र का अर्थ]

प्रश्न— **ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।**
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

—यह यजुर्वेद के ३१वें अध्याय का ११वाँ मन्त्र है॥

इसका यह अर्थ है कि—ब्राह्मण ईश्वर के मुख, क्षत्रिय बाहू, वैश्य ऊरू, और शूद्र पगों से उत्पन्न हुआ है। इसलिए जैसे मुख न बाहू आदि और बाहू आदि न मुख होते हैं, इसी प्रकार ब्राह्मण न क्षत्रियादि और

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम्॥

यदि कोई गुरु (अपने से बड़ा=पूज्य) कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार न करे और सीधी राह पर न चले तो उसे अनुशासित करना चाहिए।

उक्त श्लोक महाभारत में चार स्थानों पर पाया जाता है—आ० १४२।५२, उ० १७४।२४, शा० व० ५७।७, १४०।४८। इनमें से पहले स्थान पर वही पाठ है जो हमने ऊपर दिया है, अन्यत्र चौथे चरण में **'दण्डो भवति शाश्वतः'** अथवा **'परित्यागो विधीयते'** पाठान्तर है, परन्तु वाल्मीकि रामायण (अ० २१।१३) में वैसा ही पाठ है जैसा ऊपर दिया है। इस श्लोक में जिस तत्व का वर्णन किया गया है, उसी के आधार पर भीष्मपितामह ने परशुराम से और अर्जुन ने गुरु द्रोणाचार्य से युद्ध किया था। इसी कारण जब प्रह्लाद ने देखा कि उसके गुरु उसे नास्तिकता का उपदेश दे रहे हैं तो इसी मर्यादा के अनुसार उसने अपने गुरु और पिता दोनों के विरुद्ध सत्याग्रह किया। शान्तिपर्व में स्वयं भीष्मपितामह श्रीकृष्ण से कहते हैं—

समयत्यागिने लुब्धान् गुरूनपि च केशव।
निहन्ते समरे पापान् क्षत्रियः स हि धर्मवित्॥ —५५।१६

अर्थात् जो मर्यादा, नीति अथवा शिष्टाचार का उल्लंघन करते हैं और जो लोभी या पापी हैं, उन्हें

१. अर्थात् पूर्व पुरूषों=पुरखों।

https://t.me/arshlibrary

क्षत्रियादि न ब्राह्मण हो सकते हैं ॥

उत्तर—इस मन्त्र का अर्थ जो तुमने किया, वह ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ **'पुरुष'** अर्थात् निराकार, व्यापक परमात्मा की अनुवृत्ति है । जब वह निराकार है, तो उसके मुखादि अङ्ग नहीं हो सकते । जो मुखादि अङ्गवाला हो, वह पुरुष अर्थात् व्यापक नहीं और जो व्यापक नहीं वह सर्वशक्तिमान्, जगत् का स्रष्टा-धर्त्ता-प्रलयकर्त्ता, जीवों के पुण्य-पापों की व्यवस्था करनेहारा, सर्वज्ञ अजन्मा, मृत्युरहित आदि विशेषणवाला नहीं हो सकता ।

इसलिए इसका **अर्थ** यह है कि—'जो (अस्य) पूर्ण व्यापक परमात्मा की सृष्टि में मुख के सदृश सब में मुख्य=उत्तम हो वह (ब्राह्मणः) **'ब्राह्मण'** । (बाहू) **'बाहुर्वै बलम्, बाहुर्वै वीर्यम्'** शतपथब्राह्मण । बल-वीर्य्य का **नाम बाहु** है, वह जिसमें अधिक हो सो (राजन्यः) **'क्षत्रिय'** । (ऊरू) कटि के अधो और जानु के उपरिस्थ भाग का नाम **ऊरू** है, जो सब पदार्थों और सब देशों में ऊरू के बल से जावे-आवे, प्रवेश करे वह (वैश्यः) **'वैश्य'** और (पद्भ्याम्) जो पग के अर्थात् नीचे अङ्ग के सदृश मूर्खत्वादि गुणवाला हो वह **'शूद्र'** है ॥

अन्यत्र 'शतपथब्राह्मणादि' में भी इस मन्त्र का ऐसा ही **अर्थ** किया है । जैसे—**'यस्मादेते**

युद्ध में मारनेवाला क्षत्रिय ही धर्मवित् कहाता है । तदनुसार ही ग्रन्थकार ने कुमार्गगामी पिता-पितामह आदि की लीक को छोड़कर बुद्धिपूर्वक वेदमार्ग का अनुसरण करने का निर्देश किया है ।

ब्रह्मणोऽस्य—यह ऋग्वेद के अन्तर्गत पुरुषसूक्त का ११वाँ तथा यजुर्वेद के ३१वें अध्याय का ११वाँ मन्त्र है । पुरुषसूक्त संहिताओं में तथा उनकी शाखाओं में विभिन्न संख्याओं में उपलब्ध होता है । संहिताओं के आधार पर ऋग्वेद १०।९० में 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' से लेकर 'साध्या सन्ति देवाः' तक पुरुषसूक्त षोडशृचात्मक है, यजुर्वेद अध्याय ३१ में 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' से आरम्भ होकर 'सर्वलोकं म इषाण' तक २२ ऋचात्मक है । परन्तु दोनों में ही प्रथम १६ मन्त्रों का देवता 'पुरुष' है, इसलिए 'सहस्रशीर्षा' से 'साध्या सन्ति देवाः' तक के मन्त्रों को ही पुरुषसूक्त के नाम से जाना जाता है । यजुर्वेद के २२ मन्त्रों में १६ वही हैं जो ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त में हैं, अन्तिम ६ मन्त्र ऋग्वेद में नहीं हैं । अथर्ववेद शौनकीय शाखा १९।६ में तथा पैप्पलाद शाखा ५।१ में 'सहस्रबाहुः पुरुषः' से 'जातस्य पुरुषादधि' तक षोडश ऋचात्मक है । इस प्रकार संहिताओं और उनकी शाखाओं में पुरुषसूक्त ईषद् भेद के साथ विभिन्न संख्यात्मक उपलब्ध होता है । संख्या की दृष्टि से जहाँ ऋग्वेदीय सूक्त अथर्ववेदीय सूक्त से साम्य रखता है, वहीं क्रम की दृष्टि से वह यजुर्वेदीय सूक्तानुवाक के समान है । चारों संहिताओं में उपलब्ध पुरुषसूक्त की आनुपूर्वी में भी भेद मिलता है । ऋक् संहिता में कुल १४ बार 'पुरुष' पद का प्रयोग हुआ है, जिसमें दस बार अकेले ।

इस (ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्) मन्त्र से पहला मन्त्र इस प्रकार है—

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥

एकाकी विचरनेवाले के लिए किसी प्रकार का विधान अपेक्षित नहीं होता, परन्तु मनुष्य सामाजिक प्राणी है—बहुतों के साथ रहनेवाला । जिसमें अनेक व्यक्ति मिलकर गति करते हैं, वह समाज कहाता है । वह गति मर्यादित और क्रमबद्ध होती है । **'समं अजन्ति जना यस्मिन् स समाजः'**—सम्यक् गति करनेवाले मानवसमुदाय का नाम 'समाज' है । समाज में उसके प्रत्येक व्यक्ति के लिए कर्त्तव्य और अधिकार निर्धारित

https://t.me/arshlibrary

मुख्यास्तस्मान्मुखतो ह्यसृज्यन्त'[1] इत्यादि । जिससे ये मुख्य हैं, इससे मुख से उत्पन्न हुए, ऐसा कथन संगत होता है, अर्थात् जैसा मुख सब अङ्गों में श्रेष्ठ है, वैसे पूर्ण विद्या और उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव से युक्त होने से मनुष्यजाति में उत्तम '**ब्राह्मण**' कहाता है ।

रहते हैं । इसी का नाम समाज-व्यवस्था है । उपर्युक्त मन्त्रद्वय की प्रश्नोत्तरी से स्पष्ट है कि जिस प्रकार मानवशरीर के धर्म, उसकी स्थिति और समस्त क्रियाएँ मुख आदि चार अंगों के संघटित आधार पर सिद्ध होती और चलती हैं, इसी प्रकार समाज-शरीर के धर्म, उसकी स्थिति, समस्त क्रियाएँ इन्हीं मुखादि के प्रतिनिधिभूत ब्राह्मणादि चार अंगों के संघटित आधार पर सिद्ध होती हैं और चलती हैं । इस विभाजन में प्रत्येक अंग की सीमा स्वतः निर्धारित है जिससे सबका शक्ति-सन्तुलन बना रहता है । किसी एक अंग में समूची शक्ति केन्द्रित हो जाने से समाज के कार्य में बाधा उपस्थित हो जाती है । अंगचतुष्टय की सार्थकता के कारण महर्षि वेदव्यास ने समाज-पुरुष को वर्णात्मा की संज्ञा से अभिहित किया है—

ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः ।
पादौ यस्याश्रिताः शूद्रास्तस्मै वर्णात्मने नमः ॥ —महा० शा० ४७।६८

प्रथम मन्त्र में पूछा गया था कि इस समाजरूप पुरुष का मुख क्या हुआ, बाहू कौन बनाये गये, उसके ऊरू कौन हुए और कौन उसके पाद कहे जाते हैं ? प्रश्न के इस प्रवाह में उत्तर दिया गया कि ब्राह्मण उसका मुख हुआ, क्षत्रिय उसके बाहु हुए, वैश्य उसका ऊरू हुआ और शूद्र उसके पैर हुए ।

यहाँ मुख आदि से किसी के उत्पन्न होने का कोई प्रसंग नहीं है । न तो पहले मन्त्र में प्रश्न ही इस प्रकार का पूछा गया कि किससे कौन उत्पन्न हुआ और न ही दूसरे मन्त्र नें इस प्रकार का उत्तर दिया गया । अर्थज्ञान में भ्रमोत्पादक चतुर्थ चरण के अन्तिम दो पद हैं—'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' । डॉक्टर सुधीर कुमार गुप्त तथा डॉ० निरूपण विद्यालंकार के मत में यहाँ प्रथम मन्त्र के शब्दों को दृष्टि में रखते हुए 'उच्यते' का प्रयोग भाव अर्थ में हुआ है, परन्तु उस अवस्था में 'पद्भ्यां' को पञ्चम्यन्त न मानकर तृतीयान्त मानना होगा । डॉ० रघुवीर द्वारा परिष्कृत अथर्ववेदीय पैप्पलाद शाखा के पाठान्तर में 'अजायत' क्रियापद के स्थान में 'अस्तु' पद मिलता है । इससे ज्ञात होता है कि उक्त मन्त्र में 'अजायत' पद 'अस', 'वृतु' इत्यादि धातुओं की विवक्षा में प्रयुक्त हुआ है । इसके अतिरिक्त यदि 'अजायत' क्रियापद पर विचार किया जाए तो पता चलेगा कि वेद में कई स्थानों पर 'अजायत' क्रिया '**भू**' **की वाचिका** है । यथा-सायण स्वयं अथर्ववेदभाष्य में एक स्थान पर 'अजायत' किया का अर्थ '**निवृत्ता भवति**' करते हैं —'होतारमद्य धीरजायत' । 'धीः कर्मनामैतत् । अग्निष्टोमादिलक्षणं कर्म अजायत— जायते.... निवृत्ता भवति ।' अथर्व० सायणभाष्य १८।१।२२

परन्तु ग्रन्थकार ने दोनों मन्त्रों में यत्र-तत्र-सर्वत्र 'उत्पन्नमासीत्', 'उत्पन्नो भवति', 'उत्पन्नो वर्तते' आदि क्रियाओं का प्रयोग किया है । इस प्रसंग में मन्त्रगत 'व्यकल्पयन्' तथा 'उच्येते' शब्द विचारणीय हैं । रामानुज ने 'व्यकल्पयन्' का अर्थ 'कल्पना कृतवन्तः' किया है । 'उच्येते' का अर्थ सहज ग्राह्य है । इन दोनों शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि यहाँ साक्षात् ब्रह्म के शरीरांगों से ब्राह्मणादि की उत्पत्ति की बात नहीं कही गयी है । उत्तररूप मन्त्र के भाष्य में भी ग्रन्थकार ने ब्राह्मणादि की उत्पत्ति का उल्लेख करते हुए 'मुखाद् उत्पन्नः' न कहकर 'अस्य पुरुषस्य ये विद्यादयो मुख्यगुणाः सत्योपदेशादीनि कर्माणि च सन्ति

१. तुलना करो—तै० सं० ७।१।१।४ 'तस्मादेते मुख्या मुखतो ह्यसृज्यन्त' ।

https://t.me/arshlibrary

जब परमेश्वर के निराकार होने से मुखादि अंग ही नहीं हैं, तो मुख आदि से उत्पन्न होना असम्भव है, जैसाकि बन्ध्या स्त्री के पुत्र का विवाह होना और जो मुखादि अङ्गों से ब्राह्मणादि उत्पन्न होते, तो उपादानकारण के सदृश ब्राह्मणादि की आकृति अवश्य होती। जैसा मुख का आकार गोलमोल है, वैसे ही उनके शरीर का भी गोलमोल मुखाकृति के समान होना चाहिए। क्षत्रियों के शरीर भुजा के सदृश, वैश्यों के ऊरू के तुल्य, और शूद्रों के शरीर पग के समान आकारवाले होने चाहिएँ, किन्तु ऐसा नहीं होता।

तेभ्यो ब्राह्मण आसीदुत्पन्नो भवति' कहा है। यहाँ दो बातें स्पष्ट हैं—(१) ब्राह्मणादि की उत्पत्ति उस पुरुष के देहांगों से नहीं, अपितु उसके तत्तद् गुणों से हुई है। (२) भाष्य में 'आसीत्' के पर्यायरूप में 'उत्पन्नो भवति', 'उत्पन्नमासीत्' इत्यादि क्रियापदों का प्रयोग हुआ है। 'आसीत्', 'अजायत' आदि क्रियापदों का अर्थ 'छन्दसि लुङ्लिटः' (पा० ३।४।६) इस सूत्र को ध्यान में रखकर करना चाहिए।

स्वामी भगवदाचार्य ने ठीक लिखा है—"यद्यदोत्तरवाक्ये विभक्तिः परिणामः क्रियते प्रश्नवाक्येपि तथा कर्त्तव्यः स्याद् अस्य मुखात् किमुत्पन्नमिति ? उच्येते इति क्रियापदस्य तत्सन्निहितद्विवचनप्रत्ययस्य च वैयर्थ्यं घोषितं स्यात्। किं च पुरुषं कतिधा व्यकल्पयन्निति समस्तमेव वाक्यं नैरर्थक्यमीयात्। मुखात् किमुत्पन्नमिति प्रश्न एवासमञ्जसो भवेदद्यावधि तस्य मुखाद्यवायवनामश्रवणात्।"

ग्रन्थकार द्वारा प्रयुक्त 'उत्पन्नमासीत्', 'उत्पन्नो भवति', 'उत्पन्नो वर्त्तते' इत्यादि शब्दों का 'आसीत्' से पूरी तरह सामंजस्य हो जाता है। धातुपाठ के अनुसार 'अस भुवि' और 'भू सत्तायाम्' होने से 'आसीत्' का 'उत्पन्नमासीत्' या 'उत्पन्नो भवति' अर्थ करने में कोई बाधा नहीं है। इस ऋचा के भाष्य में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र समाज में मुख, बाहु, ऊरू तथा पादस्थानीय हैं, ऐसी व्याख्या की गयी है। पद्भ्याम् शब्द को तृतीया विभक्ति का द्विवचन माना है। तृतीया विभक्ति के कारण 'तुल्य' पद के अध्याहार की संभावना है ही —'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्' (पा० २।३।७२) एवं च 'पद्भ्यां शूद्रोऽजायत' मन्त्रांश का 'पद्भ्यां तुल्यः शूद्रोऽजायत्'—'पाँवों के समान सेवादिपरायण शूद्र उत्पन्न हुआ' यह अर्थ सर्वथा संगत है। इस प्रकार की व्याख्या की पुष्टि इस ऋचा के शेष तीन चरणों के पदों विभक्ति-विनिवेश से भी होती है। तीनों चरणों में ब्राह्मण आदि वर्णवाची तथा मुखादि तथाकथित शरीरांगवाची सभी शब्द प्रथमा विभक्त्यन्त हैं। ऐसी अवस्था में 'ब्राह्मण मुख हुआ' आदि अर्थ संभव है और इन तीनों चरणों के प्रकाश में ही चतुर्थ चरण का अर्थ किया जाना ही तर्क संगत है। इस प्रकार के अर्थप्रकाश में व्याकरण शास्त्रीय व्यवस्था भी सहायक है। इस ऋचा में प्रथमोक्त ऋचा में किये गये किन्हीं प्रश्नों के उत्तरों का संकलन है, अतः उत्तरात्मक ऋचा की व्याख्या या उसके अर्थप्रपकाश में प्रश्नात्मक ऋचा की शैली का ध्यान रखना भी आवश्यक है इस लिए शास्त्र में प्रकरणशः निर्वचन का निर्देश किया गया है—**'न तु पृथक्त्वेन मन्त्राः निर्वक्तव्याः प्रकरणशः एव तु निर्वक्तव्याः'** —निरुक्त १३।१२

फिर परमेश्वर का तो कोई शरीर ही नहीं है—**'अकायमव्रणमस्नाविरम्'** (यजुः० ४०।८)। जिसका शरीर ही नहीं उसके शरीरांगों से किसी की उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता है।

'वृञ् वरणे' धातु से वरण शब्द सिद्ध होता है—**'वृणोति ब्रियते वा स वर्णः'** (उणादि० ३।१०)। जिसका स्वेच्छा से वरण=चुनाव किया जाता है उसे वरण कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह अपना मार्ग स्वयं चुने—अपने जीवन का लक्ष्य स्वयं निर्धारित करे और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करे। इस स्वयं वरण के कारण ही यास्काचार्य ने लिखा है—'वर्णो वृणोते' (निरुक्त २।१।४)। ब्राह्मणादि वर्ण इसलिए कहाते कि प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए उसका निश्चय करता है और समाज भी प्रत्येक व्यक्ति को उसके

https://t.me/arshlibrary

और जो कोई तुमसे प्रश्न करेगा कि जो-जो मुखादि से उत्पन्न हुए थे, उनकी ब्राह्मणादि संज्ञा हो, परन्तु तुम्हारी नहीं, क्योंकि जैसे और सब लोग गर्भाशय से उत्पन्न होते हैं, वैसे तुम भी होते हो। तुम मुखादि से उत्पन्न न होकर ब्राह्मणादि संज्ञा का अभिमान करते हो, तो तुमसे कुछ भी उत्तर न बन पड़ेगा, इसलिए तुम्हारा कहा अर्थ व्यर्थ है और जो हमने अर्थ किया है, वह सच्चा है।

गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार शासकीय अथवा सामाजिक व्यवस्था से अधिकार तथा अवसर प्रदान करता है। वर्णों के नामों की व्याकरणानुसारी रचना व व्युत्पत्ति से भी यह बात सिद्ध होती है कि ये शब्द गुणवाचक हैं, जातिवाचक नहीं। स्वयं नामों से ही वर्णों के कर्त्तव्यों का और कर्त्तव्यों से उनके वाचक नामों का बोध होता है। 'ब्रह्मन्' प्रातिपदिक से 'तदधीते तद्वेद' (पा० ४।२।५६) अर्थ में 'अण्' प्रत्यय के योग से ब्राह्मण शब्द बनता है। ब्रह्म शब्द परमेश्वर और वेद दोनों का वाचक है। यजुर्वेदभाष्य में ग्रन्थकार ने **'ब्राह्मणमद्य विदेयम्'** इत्यादि (७।४६) मन्त्र में 'ब्राह्मणम्' का अर्थ 'वेदेश्वरविदम्'=वेद और ईश्वर को जाननेवाला किया है। इसकी व्युत्पत्ति है—**'ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्य उपासने च सह वर्त्तमानो उत्तमगुणयुक्तः पुरुषः'** अर्थात् वेद और परमेश्वर के अध्ययन और उपासना में तल्लीन रहते हुए विद्यादि उत्तम गुणों को धारण करनेवाला ब्राह्मण कहाता है। वेद ने चारों वर्णों के कर्त्तव्यों का निर्देश करते हुए बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है—

ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम्। —यजुः०

अर्थात् वेदज्ञान को प्राप्त करने तथा उसका प्रचार करने के लिए ब्राह्मण को, रक्षा के लिए क्षत्रिय को, प्राणपोषण के लिए वैश्य को और विशेष परिश्रम के लिए शूद्र को जानो।

ब्राह्मणग्रन्थों में भी वर्णों के कर्त्तव्यों का संकेत मिलता हैं।

ब्राह्मण—ब्राह्मणो व्रतभृत् (तै० सं० १।६।७।२) ; आग्नयो ब्राह्मणः (ता० १५।४।८) ; आग्नेयो हि ब्राह्मणः (काठ० २६।१०) ; गायत्रो वै ब्राह्मणः (एते० १।२८) ; गायत्रो वै बृहस्पतिः (ता० ५।१।१५)।

क्षत्रिय—'क्षणु' हिंसा अर्थवाली धातु से 'क्त' प्रत्यय के योग से 'क्षतः' शब्द की सिद्धि होती है और 'क्षत' उपपद में 'त्रैङ्' पालन करने अर्थवाली धातु से 'अन्येष्वपि दृश्यते' (पा० ३।२।१०१) सूत्र से 'उः' प्रत्यय पूर्वपदान्त्याकार लोप होकर 'क्षत्र' शब्द बना। 'क्षत्र एव क्षत्रियः' स्वार्थ में 'इयः' होने से क्षत्रियः अथवा क्षत्रस्य अपत्यमिति क्षत्रियः। 'क्षदति रक्षति जनान् स क्षत्रियः' जो लोगों की रक्षा करता है वह क्षत्रिय है। ब्राह्मणग्रन्थों में—'क्षत्रं राजन्यः' (ऐत० ३।४, ८।२) ; 'क्षत्रस्य वा एतद्रूपम् यद् राजन्यः' (शत० १३।१।५।३) क्षत्रिय क्षत्र का ही एक रूप है, जो प्रजा का रक्षक होता है।

वैश्य—'विश्' प्रातिपदिक से अपत्यार्थ में 'यञ्' छान्दस प्रत्यय से वैश्य शब्द बना—'यो यत्र तत्र व्यवहारविद्यासु प्रविशति स क्षत्रियः' 'व्यवहारविद्या कुशलः जनो वा' जो विविध व्यावहारिक व्यापारों में प्रविष्ट रहता है या विविध विद्याओं में कुशल रहता है, वह वैश्य कहाता है। ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार **'एतद्वै वैश्यस्य समृद्धं यत् पशवः'** (ता० १८।४।६) तस्माद् बहुपशुर्वैश्यदेवो हि जगतो वैश्यः' (ता० ६।१।१०) पशुपालन से वैश्य की समृद्धि होती है, यह वैश्य का कर्त्तव्य होता है।

शूद्र—'शुच्' शोकार्थक धातु से शुचेर्दक्षश्च' (उणादि २।१६)सूत्र से 'रक्' प्रत्यय के योग से 'उकार' को दीर्घ और 'च' को 'द' होकर शूद्र शब्द सिद्ध होता है। शूद्रः=शोचनीयां शोच्याः स्थितिमापन्नो वा सेवायां साधुरविद्यादिगुणसहितो मनुष्यो वा'। शूद्र वह व्यक्ति बनता है जो अपनी विद्या में पिछड़ जाने से किसी

https://t.me/arshlibrary

प्रकार की उन्नत स्थिति को प्राप्त नहीं कर सका और इस कारण अपनी निम्न स्थिति से चिन्तित व दुःखी रहता है, किन्तु सेवाकार्य में दक्ष होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में भी यही भाव मिलता है—'असतो वा एष सम्भूतो यत् शूद्रः' (तै० ३।२।३।६) असतः —अविद्यातः। अज्ञान के कारण जिसकी निम्न स्थिति रहती है और जो केवल सेवाकार्य ही कर सकता है, वह शूद्र है। द्विज प्रयत्नपूर्वक बनाये जाते हैं। शूद्र बनाया नहीं जाता, द्विज बनने से जो रह जाता है, वह शूद्र कहाता है। शूद्र को न पढ़ने पर एक जाति कहा जाता है।

मनुस्मृति में अनेक स्थलों में ऐसे वर्णन उपलब्ध हैं जिनसे यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि मनु वर्णव्यवस्था का निर्धारण गुण-कर्म-स्वभाव से मानते हैं, जन्म से नहीं। किसी भी बालक के माता-पिता उसे अपने या अन्य किसी भी वर्ण में दीक्षित करा सकते हैं, किन्तु अन्ततः वर्ण का निश्चय शैक्षिक काल की समाप्ति पर उसके गुण-कर्म-स्वभाव, संस्कार आदि के आधार पर आचार्य करता है। बाद में कर्मों या व्यवसाय के आधार पर उसमें परिवर्त्तन हो सकता है।

सृष्टि के आदि में अनेक मनुष्य पैदा हुए। जन्म के समय तो सभी एक-जैसे थे। फिर जैसे-जैसे उनके गुण-कर्म-स्वभाव का निश्चय होता गया, वैसे-वैसे वर्ण विशेष में प्रतिष्ठित किया जाता रहा।

महाभारत के अन्तर्गत यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा—

राजन् कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा।
ब्राह्मणः केन भवति एतद् ब्रूहि सुनिश्चितम्॥

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—

शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम्।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः॥
वृत्तं यत्नेन संरक्ष्य ब्राह्मणेन विशेषतः।
अक्षीणवृतो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः।
पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः।
सर्वे व्यसिनो मूर्खाः यः क्रियावान् स पण्डितः॥

अन्यत्र कहा है—

संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः।
तस्मात् शीलं प्रधानेष्टं तत्त्वदर्शनः विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः॥

—महा० पूना, ३।११७।२६

भिन्न-भिन्न वर्णों के बीच विवाह सम्बन्ध होने पर उनसे उत्पन्न सन्तान के वर्ण का निश्चय कैसे हो? इसका समाधान करते हुए युधिष्ठिर ने बताया—उसके शील=चरित्र के अनुसार ही उसका वर्ण निर्धारित होगा।

भगवद्गीता के निम्न श्लोक में तो बड़े स्पष्ट शब्दों में इस सिद्धान्त की घोषणा की है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। —गीता ४।१३

डॉ० राधाकृष्णन ने इस श्लोक की व्याख्या में लिखा है—"The emphasis is on guna (aptitude) and karma (function) and not on birth. The Varna or order, to which we belong, is independent of sex, birth or breeding. A class determined by temperament and vocation is not a caste determined by birth and heredity."

https://t.me/arshlibrary

'**चातुर्वर्ण्यम्**—यहाँ मनुष्य के गुण-कर्म-स्वभाव पर बल दिया है, न कि जन्म या जाति पर। हमारे वर्ण का लिंग, जन्म या पैतृक परम्परा के आधार पर निर्धारण नहीं किया जा सकता।'

इस सन्दर्भ में कुछ मूढ़मति यह कल्पना करते हैं कि यदि कोई शूद्र इस जन्म में ब्राह्मणादि के गुण-कर्म-स्वभाव प्राप्त कर लेता है तो उसका अगला जन्म तत्तद् गुण-कर्म-स्वभावयुक्त कुल में होगा और तब वह ब्राह्मणादि को प्राप्त अधिकारों का उपभोग करेगा। गीता के उपर्युक्त श्लोक का यही अभिप्राय है कि भगवान् इस जन्म के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार अगला जन्म देता है। यह कल्पना उपहासास्पद होने के साथ-साथ अत्यन्त मूर्खतापूर्ण भी है। यह ऐसा ही है, जैसे शूद्रकुलोत्पन्न व्यक्ति के एम०ए० कर लेने पर यह कहा जाए कि कालिज में अध्यापक पद पर नियुक्ति के लिए तुम्हारे प्रार्थनापत्र पर अगले जन्म में विचार होगा। फिर, यदि शूद्र होने के कारण किसी को इस जन्म में पढ़ने का अधिकार नहीं मिलेगा तो वह अगले जन्म में उच्चवर्णस्थ कुल में जन्म लेने के लिए अपेक्षित गुण-कर्म-स्वभाव कैसे अर्जित करेगा? एक बात और है—इस कल्पना के अनुसार वर्त्तमान में जो भी ब्राह्मण कुलोत्पन्न मनुष्य हैं, निश्चय ही वे अपने पूर्वजन्म में ब्राह्मणोचित गुण-कर्म-स्वभाव प्राप्त जीवात्माएँ हैं, परन्तु हम देखते हैं कि वर्तमान में उनके लिए काला अक्षर भैंस बराबर है और लोगों के घरों में 'महाराज' कहलाकर चूल्हा झोंक रहे हैं। कहाँ गयी उनकी पूर्वजन्म में संचित ब्राह्मणोचित गुण-कर्म-स्वभाव की पूँजी जिसके आधार पर उन्हें वर्त्तमान में ब्राह्मणकुल में जन्म मिला? पूर्वोद्धृत विश्वामित्र, वसिष्ठ, मातंग, कवष ऐलूष आदि के उदाहरणों से स्पष्ट है कि गुण-कर्म-स्वभाव के बदलने पर इसी जन्म में न केवल वर्ण बदल जाता है, अपितु ऋषित्व तक प्राप्त हो जाता है।

ब्राह्मण की पहचान क्या है? महाभारतकार बताते हैं—

सत्यं दानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा।
तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥
शूद्रे चैतद् भवेल्लक्ष्यं द्विजे तच्च न विद्यते।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः॥ —महा० शा० १८८।४८

जिसमें सत्य, दान, अद्रोह, क्रूरता का अभाव, लज्जा, दया और तप दिखाई दें वह ब्राह्मण कहाता है। यदि ये गुण शूद्र में दिखाई दें और ब्राह्मण में न मिलें तो न ऐसा शूद्र शूद्र है और न ऐसा ब्राह्मण ब्राह्मण है। कितनी स्पष्ट घोषणा है वर्णव्यवस्था के गुण-कर्म-स्वभावाश्रित होने की।

यदि मन्वादि ऋषि और आचार्य किसी वर्ण को श्रेष्ठ और किसी को हीन मानते तो उन्हें वर्णों के कर्तव्य निश्चय करने की क्या आवश्यकता थी, क्योंकि जो व्यक्ति जन्म के आधर पर ही श्रेष्ठ या हीन माना जा रहा है, वह तो वैसा ही रहेगा, चाहे वह कर्म करे या न करे, सत्कर्म करे या दुष्कर्म करे। यतो हि शैशवावस्था और कौमार्यावस्था में भी वह वर्णों के लिए निर्धारित कर्म नहीं करता, अपितु बहुत बार विरोधी कर्म भी कर बैठता है। जब उस अवस्था में भी उसे जन्मतः ब्राह्मण या धर्म की मूर्त्ति माना जा रहा है तो बाद में कर्मों के न करने या अन्यथा करने पर भी उसका ब्राह्मणत्व नहीं नष्ट होना चाहिए, परन्तु मनुस्मृति में के सभी विधि-निषेध वचनों, व्यवस्थाओं और वर्णों के लिए निर्धारित कर्मों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु धर्म-अधर्म, कर्म और व्यवस्थाओं से ही वर्णव्यवस्था मानते हैं। यदि ऐसा न माना जाए तो मनुस्मृति तथा अन्यान्य शास्त्रों द्वारा अनुमोदित सम्पूर्ण कर्मविधान ही नष्ट हो जाएगा।

https://t.me/arshlibrary

[वर्ण-परिवर्तन में प्रमाण]

ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है। जैसा—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद् वैश्यात्तथैव च ॥ —मनु० १०।६५

जो शूद्रकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान गुण-कर्म-स्वभाववाला हो तो वह शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाए। वैसे ही जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कुल में उत्पन्न हुआ हो, और उसके गुण-कर्म-स्वभाव शूद्र के सदृश हों, तो वह शूद्र हो जाए। वैसे क्षत्रिय वा वैश्य के कुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण वा शूद्र के समान गुण-कर्म-स्वभाववाला होने से ब्राह्मण और शूद्र भी हो जाता है अर्थात् चारों वर्णों में जिस-जिस वर्ण के सदृश जो-जो पुरुष वा स्त्री हो, वह-वह उसी वर्ण में गिनी जावे ॥

वैदिक धर्म से निःसृत बौद्ध तथा जैन मतों में भी वर्णव्यवस्था को इसी रूप में स्वीकार किया गया है। तद्यथा—

न जच्चा (जन्मना) वुसलो (वृषलो) होति न जच्चा होति ब्राह्मणः ।
कम्मना (कर्मणा) वुसलो होति कम्मना होति ब्राह्मणः ॥ —धम्मपद
कम्मुणा बंभणो होई कम्मुणा होई खत्तियो ।
वइसो कम्मुणा होई खुद्दो होई कम्मुणा ॥ —महावीर स्वामी

यस्मादेते—आजकल शतपथ ब्राह्मण में यह पाठ उपलब्ध है—**'तस्मात्पुरुषात्पूर्वं ब्रह्मैवासृज्यत तदस्य तन्मुखमेवासृज्यत'**। भाव दोनों का एक है। शतपथ ३।६।१।१४ में पाठ इस प्रकार है—**'अस्यैवैतत्सर्वस्य ब्रह्म मुखं करोति तस्मादस्य सर्वस्य ब्राह्मणो मुखम्'**, अर्थात् यतः ब्रह्म=ज्ञान-विज्ञान को इस समस्त संसार का मुख बनाया है, अतएव ब्राह्मण इस समस्त जगत् का मुख है। ताण्ड्यब्राह्मण ६।१।६ में इस आशय के ये शब्द मिलते हैं—**'ब्राह्मणो मनुष्याणां मुखं तस्माद् ब्राह्मणो मुखेन वीर्यं करोति। मुखतो हि सृष्टः'**—अर्थात् ब्राह्मण मनुष्यों में मुख्य है, अतएव ब्राह्मण मुख से शक्तिप्रदर्शन करता है। इसीलिए कहा जाता है कि ब्राह्मण मुख से उत्पन्न हुआ। आग्निवेश्यगृह्यसूत्र (त्रिवांकुर विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित) के पृष्ठ १ पर टिप्पणी में सम्पादक ने श्रुति के नाम से पाठ दिया है—**'गायत्री छन्दो रथन्तरं साम ब्राह्मणो मनुष्याणाम्, अजः पशूनां तस्मादेते मुख्या मुखतो ह्यसृज्यन्त'**।

शूद्रो ब्राह्मणतामेति—मनु द्वारा प्रतिपादित वर्णव्यवस्था के सन्दर्भ में यह श्लोक बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस श्लोक के अनुसार श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ कर्मों के आधार पर शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है, अर्थात् ब्राह्मणोचित्त गुण-कर्मों के अनुरूप कोई ब्राह्मण हो तो वह ब्राह्मण रहता है और यदि कोई ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के गुणवाला हो तो वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो जाता है। इसी प्रकार शूद्रकुलोत्पन्न भी यदि मूर्ख है तो वह मूर्ख बना रहता है, किन्तु यदि वह ब्राह्मणादि के लिए अपेक्षित गुणों को धारण कर लेता है तो वह यथायोग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य बन जाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य का भी वर्ण परिवर्तन समझना चाहिए। मनु के मत में अपने लिए विहित कर्मों का पालन न करनेवाला कोई भी व्यक्ति शूद्र बन जाता है। इसमें प्रमाण हैं—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ —मनु० २।१६८

https://t.me/arshlibrary

धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥१॥
अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥२॥
—ये आपस्तम्ब २।५।११।१०,११ के सूत्र हैं ॥

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥ —मनु० २।१०३
चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते ।
योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ —महा०
यस्य कायगतं ब्रह्म मद्येनाप्लायते सकृत् ।
तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति ॥ —मनु० ११।६७
गणिकागर्भसम्भूतो वसिष्ठश्च महामतिः ।
तपसो ब्राह्मणो जातः संस्कारस्तत्र कारणम् ॥
जातो व्यासश्च कैवर्त्याः श्वपाक्यास्तु पराशरः ।
बहवो अन्येऽपि विप्रत्वं प्राप्ता ये पूर्वमद्विजाः ॥

नियत आयु तक उपवीत न होने पर द्विज बनने की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति व्रात्यसंज्ञक शूद्र कहाता है (मनु० २।३७-४०) । अन्यत्र (४।२४५) मनु कहते हैं—

उत्तमानुत्तमान्गच्छन् हीनान् हीनाँश्च वर्जयन् ।
ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेन शूद्रताम् ॥

अर्थात् उत्तमोत्तम व्यक्तियों से सम्बन्ध बढ़ाते हुए और निकृष्ट व्यक्तियों से सम्बन्ध तोड़ते हुए ब्राह्मण और अधिक श्रेष्ठता को प्राप्त करता है । इसके विपरीत व्यवहार करने से वह शूद्रत्व को प्राप्त होता है । इस श्लोक में ब्राह्मण शब्द उपलक्षण के रूप में प्रयुक्त हुआ है ।

ग्रन्थकार के जीवन की एक घटना इस प्रकार है—'एक दिन पं० गंगाप्रसादजी ने स्वामीजी के चरणों में निवेदन किया —'महाराज मैंने बहुत बड़ी संख्या को जनेऊ धारण कराये हैं ।' स्वामीजी ने उसके इस कार्य की आशीर्वादसहित स्तुति करते हुए कहा—'यज्ञोपवीत देते ही जाते हो या किसी के उतरवाते भी हो' ? उसने विनय की 'हे भगवन् ! कभी जनेऊ उतारा भी जाता है ?' स्वामीजी ने कहा—'हाँ, जो जन धर्म-कर्म हीन हो जाएँ उनके यज्ञोपवीत उतार देने चाहिएँ' । भले ही कोई ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुआ हो, पर अब शूद्र हो गया है । उसे यज्ञोपवीत धारण करने का कोई अधिकार नहीं है ।

इसके साथ ही शूद्रत्व को प्राप्त व्यक्ति यदि अपने कर्मों को सुधार लेता है तो वह पुनः अपने वर्ण को प्राप्त कर लेता है । मनु ने यह मान्यता व्रात्यसंज्ञक शूद्रों के लिए और अपने वर्ण की मर्यादा के विरुद्ध कार्य करने के कारण ब्राह्मण वर्ण से बहिष्कृत ब्राह्मणों के लिए विहित प्रायश्चित्तों में व्यक्त की है (मनु० ११।१६१-१६६) । इससे भी प्रकारान्तर से वर्णावस्था कर्मानुसार ही सिद्ध होती है ।

धर्मचर्यया—'ऐतरेयब्राह्मण २।१६ में कवष एलूष नामक व्यक्ति की घटना वर्णित है जो वर्णपरिवर्तन तथा प्रत्यावर्तन का ज्वलन्त प्रमाण है । **''ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत । ते ऋषय ऊचुः कवष ऐलूषं सोमादनयन्, दासीपुत्रः कितवोऽब्राह्मणः कथं नो मध्ये दीक्षिष्टेति । ..... स बहिर्धन्वोदूढ ह पिपासया दित्त एतदपोनप्त्रीयमपश्यत्—'अदेवत्रा ब्रह्मणे गातुरेतु इति''** ।

https://t.me/arshlibrary

अर्थ—धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम-उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जावे कि जिस-जिसके योग्य होवे ॥१॥

वैसे अधर्माचरण से पूर्व अर्थात् उत्तम वर्णवाला मनुष्य अपने से नीचे-नीचेवाले वर्ण को प्राप्त होता है। और वह उसी वर्ण में गिना जावे ॥२॥

जैसे पुरुष जिस-जिस वर्ण के योग्य होता है, वैसे ही स्त्रियों की भी वर्णव्यवस्था समझनी चाहिए। इससे क्या सिद्ध हुआ कि इस प्रकार होने से सब वर्ण अपने-अपने गुण-कर्म-स्वभावयुक्त होकर शुद्धता के साथ रहते हैं, अर्थात् ब्राह्मणकुल में कोई क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के सदृश न रहे। और क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण भी शुद्ध रहते हैं, अर्थात् वर्णसंकरता प्राप्त न होगी। इससे किसी वर्ण की निन्दा वा अयोग्यता भी न होगी।

प्रश्न—जो किसी के एक ही पुत्र वा पुत्री हो, वह दूसरे वर्ण में प्रविष्ट हो जाए, तो उसके माँ-बाप की सेवा कौन करेगा ? और वंशच्छेदन भी हो जाएगा। इसकी क्या व्यवस्था होनी चाहिए ?

उत्तर—न किसी की सेवा का भङ्ग, और न वंशच्छेदन होगा, क्योंकि उनको अपने लड़के-लड़कियों के बदले स्ववर्ण के योग्य दूसरे सन्तान विद्यासभा और राजसभा की व्यवस्था से मिलेंगे, इसलिए कुछ भी अव्यवस्था न होगी ॥

अर्थात्—ऋषि लोगों ने सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ में भाग लेने आये हुए कवष ऐलूष को ऋषियों ने सोम से वंचित कर दिया, यह सोचकर कि यह दासी का पुत्र, कपट आचरणवाला अब्राह्मण किस प्रकार हमारे बीच दीक्षित हो गया है। यज्ञ से बाहर निकाल दिये जाने पर वह कवष ऐलूष पिपासा से सन्तप्त हुआ बाहर जंगल में चला गया। वहाँ उसने 'अपोनप्त्र' देवतावाले सूक्त का अर्थदर्शन किया। तब ऋषियों ने उसे वेदार्थद्रष्टा होने के कारण पुनः अपने पास बुलाकर यज्ञ में दीक्षित किया।

१६ अप्रैल १८८१ को चौबे कन्हैयालालजी को एक पत्र में महर्षि ने लिखा— "मुसलमान आदि अन्य-मत वाले वैदिक धर्म में आवें तो वे जिस गुण और कर्मयुक्त हों उसी वर्ण में रह सकते हैं। विवाह और खान-पान आदि व्यवहार भी अपने समान वर्ण के साथ करें। इसमें किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती"।

—पत्र और विज्ञापन, पृ० २८७

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वर्णाश्रमविषय के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने लिखा है—"मनुष्यजाति के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये वर्ण कहाते हैं। वेदरीति से इनके दो भेद हैं—एक आर्य और दूसरा दस्यु। इसमें यह प्रमाण है—**'विजानीह्यान् ये च दस्यवः'** तथा **'उत शूद्र उतार्ये'**। इस मन्त्र से भी आर्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और अनार्य अनाड़ी जोकि शूद्र कहाते हैं, ये दो भाग जाने गये हैं। **'असुर्या नाम ते लोकाः'** इत्यादि मन्त्र (यजु:० ४०।३) से भी देव और असुर अर्थात् विद्वान् और मूर्ख ये ही दो भेद जाने जाते हैं और इन्हीं दोनों के विरोध को देवासुर-संग्राम कहते हैं।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार भेद गुण-कर्म-स्वभाव से किये गये हैं। इस संदर्भ को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन वर्णों को दो भागों में बाँटा गया है—(१) आर्य और (२) दस्यु। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य की गणना 'आर्य' के अन्तर्गत की गयी है और शूद्र को 'अनार्य' कहा गया है। आगे इन्हीं की 'देव' और 'असुर' संज्ञा कही गयी है। इससे अनार्य, दस्यु, शूद्र और असुर एकार्थक सिद्ध होते हैं, परन्तु वेद तथा मनुस्मृति आदि प्रामाणिक ग्रन्थ ऐसा नहीं मानते। दस्यु, दास,

https://t.me/arshlibrary

[वर्णनिश्चय का समय]

यह गुण-कर्मों से वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की सोलहवें वर्ष और पुरुषों की पच्चीसवें वर्ष की परीक्षा में नियत करनी चाहिए और इसी क्रम से अर्थात् ब्राह्मण वर्ण का ब्राह्मणी, क्षत्रिय वर्ण का क्षत्रिया, वैश्य वर्ण का वैश्या, और शूद्र वर्ण का शूद्रा के साथ विवाह होना चाहिए तभी अपने-अपने वर्णों के कर्म और परस्पर प्रीति भी यथायोग्य रहेगी।

असुर तथा अनार्य तो एकार्थक हो सकते हैं, किन्तु शूद्र को उनके साथ नहीं जोड़ा जा सकता। 'दस्यु' शब्द 'दसु उपक्षये' धातु से निष्पन्न होता है। दस्यु समाज का निर्माता नहीं विघातक होता है। उसे चोर, लुटेरा, डाकू, लम्पट आदि शब्दों से पुकारा जा सकता है। दस्युओं को समाज में अपराधी तथा दण्डनीय माना जाता है। **' वधीर्हि दस्युं धनिनं घनेन'** (ऋ० १।३३।४) इस वेदमन्त्र के नुसार धनवान् दस्यु को भी मार डालने का विधान है। इससे अगले मन्त्र में दस्यु को 'अयज्वा'=याज्ञिकों से ईर्ष्या करनेवाला और 'अव्रती' अर्थात् धार्मिक, सामाजिक तथा राजकीय नियमों का उल्लंघन करनेवाला कहा गया है। **'अवादहो दिव आ दस्युम्'** (ऋ० १।३३।७) इस मन्त्र में दस्यु को जला डालने का आदेश दिया गया है। **'विजनीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धय शासदव्रतान्'** (ऋ० १।५१।६)—यहाँ दस्युओं को नष्ट करने और वश में लाने का विधान है। **'दस्युं वकुरेणाधमन्ता'** (ऋ० १।१७७।२१) इस मन्त्र में भी दस्यु को शास्त्रास्त्र से मारने का विधान है। अन्यत्र—

हत्वी दस्यून् आर्यं वर्णमावत् । —ऋ० ३।३४।६
यथा वशं नयति दासमार्यः । —ऋ० ५।३४।६
विशोऽव तारीर्दासीः । —ऋ० ६।२५।२
यो दासं वर्णमधरं गुहाकः । —ऋ० २।१२।४
अव गिरेर्दासं शम्बरं हन् । —ऋ० ६।२६।५

इत्यादि अनेक मन्त्रों में दास या दस्यु के लिए अत्यन्त घृणित शब्दों का प्रयोग करते हुए उन्हें वश में करने और अनेक प्रकार से दण्डित करने का विधान है, क्योंकि ये समाज के शत्रु हैं। दस्यु भी असुर कहाते हैं। ऋग्वेद १।५१।५ में दस्युओं के लिए **'अधि शुप्तावजिह्वत'** विशेषण का प्रयोग हुआ है। यही भाव कौषीतकिब्राह्मण में व्यक्त हुआ है—**'असुरा वा आत्मन्यजुहवुः'** अर्थात् असुर आदि यज्ञादि परोपकार के कार्य न करके केवल अपना ही पेट पालने में प्रवृत रहते हैं। ग्रन्थकार ने भी अपने यजुर्भाष्य (४०।३) में असुर शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—'असुर्या=असुराणामिमे असुर्याः=असुषु प्राणेषु रमन्तेऽसुराः प्राणपोषणपराः'— अर्थात् जिन्हें हर समय अपने प्राणों—शरीर के पालन-पोषण की चिन्ता रहती है, वे असुर कहाते हैं।

इसके विपरीत जब हम शूद्र शब्द के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो पता चलता है कि वेदादि शास्त्रों की दृष्टि में शूद्र एक सत्पुरुष है जो दस्यु से सर्वथा भिन्न है। यजुर्वेद ३०।५ में कहा है—**'तपसे शूद्रम्'** अर्थात् शूद्र वह है जो परिश्रमी, साहसी तथा तपस्वी है। वेद में उसे सर्वत्र अन्य वर्णों की भाँति ही सम्मान की दृष्टि से देखा गया है, जैसाकि इन मन्त्रों से स्पष्ट है—

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥ —यजुः० १८।४८

https://t.me/arshlibrary

[चारों वर्णों के कर्म और गुण]

इन चारों वर्णों के कर्त्तव्य-कर्म और गुण ये हैं।

ब्राह्मण—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥१॥ —मनु० १।८८
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥२॥ —म० गी० १८।४२

ब्राह्मण के पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, दान देना-लेना, ये **छः कर्म** हैं, परन्तु **'प्रतिग्रहः प्रत्यवरः'** (मनु० १०।१०६), अर्थात् प्रतिग्रह = लेना नीच कर्म है ॥१॥

(शम) मन से बुरे काम की इच्छा भी न करनी, और उसको अधर्म में कभी प्रवृत्त न होने देना। (दम) श्रोत्र और चक्षु आदि इन्द्रियों को अन्यायाचरण से रोककर धर्म में चलाना। (तप) सदा ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय होके धर्मानुष्ठान करना। **(शौच)**—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति, मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥ —मनु ० ५।१०६

जल से बाहर के अङ्ग, सत्याचार से मन, विद्या और धर्मानुष्ठान से जीवात्मा, और ज्ञान से बुद्धि पवित्र होती है।

यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं.....तस्यावयजनमसि । —यजु:० २०।१७
प्रियं मा दर्भं कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च । —अथर्व० १९।३२।८

मनुस्मृति के एक श्लोक में कहा है—

मुखबाहूरुपज्जानां या जातयो लोके बहिः ।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥ —१०।४५

इस श्लोक के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन वर्णों से जो भिन्न हैं, वे सब दस्यु हैं। इस प्रकार स्पष्टतः यहाँ शूद्र को दस्यु से भिन्न बताया है। वह आर्यसमाज का ही अंग है जो बौद्धिक स्तर पर हीन होने से शारीरिक श्रम के द्वारा समाजसेवा में प्रवृत्त रहता है। आधुनिक सन्दर्भ में वह श्रमिकों की श्रेणी (Labour Class) के अन्तर्गत है। अन्य तीन वर्णों की अपेक्षा बौद्धिक क्षमता की दृष्टि से हीन होने पर भी उसे नितान्त निर्बुद्धि या हीन नहीं कहा जा सकता। **'उत शूद्र उतार्ये'** (अथर्व० १९।६२।१) इस मन्त्रांश को देखने से प्रतीत होता है कि यहाँ शूद्र और आर्य में भेद किया गया है, परन्तु पूरे मन्त्र को ध्यानपूर्वक पढ़ने से इस भ्रान्ति का निवारण हो जाता है। पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥

भ्रान्ति का कारण 'उतार्ये' को 'उत+अर्ये' न मानकर 'उत+आर्ये' समझ लेना है। व्याकरण की दृष्टि से दोनों ठीक हैं। परन्तु 'प्रकरणशः एव निर्वक्तव्याः' प्रकरण के अनुसार ही वेदमन्त्रों का अर्थ करना

https://t.me/arshlibrary

भीतर के रागद्वेषादि दोष और बाहर के मलों को दूर कर शुद्ध रहना, अर्थात् सत्याऽसत्य के विवेकपूर्वक सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग से निश्चय पवित्र होता है। (क्षान्ति) अर्थात् निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख, शीतोष्ण, क्षुधा-तृषा, हानि-लाभ, मानापमान आदि में हर्ष-शोक छोड़के धर्म में दृढ़निश्चय रहना। (आर्जव) कोमलता, निरभिमान, सरलता, सरलस्वभाव, रखना; कुटिलतादि दोष छोड़ देना। (ज्ञान) सब वेदादिशास्त्रों को साङ्गोपाङ्ग पढ़ने-पढ़ाने का सामर्थ्य, **'विवेक'** सत्य का निर्णय=जो वस्तु जैसा हो अर्थात् जड़ को जड़, चेतन को चेतन जानना और मानना। (विज्ञान) पृथिवी से लेके परमेश्वर-पर्यन्त पदार्थों को विशेषता से जानकर उनसे यथायोग्य उपयोग लेना। (आस्तिक्य) कभी वेद, ईश्वर, मुक्ति, पूर्व-पर-जन्म, धर्म, विद्या, सत्सङ्ग, माता-पिता-आचार्य्य और अतिथियों की सेवा को न छोड़ना, और निन्दा कभी न करना। ये **पन्द्रह[1] कर्म और गुण ब्राह्मण वर्णस्थ मनुष्यों में अवश्य होने चाहिएँ ॥२॥**

चाहिए। यहाँ प्रार्थयिता सम्पूर्ण समाज में प्रिय बनने की कामना कर रहा है। समाज चार भागों=वर्णों में विभक्त है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। मन्त्रगत देवेषु, राजसु तथा शूद्रे पद क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र के वाचक हैं। तब यहाँ चौथे वर्ण वैश्य का भी उल्लेख होना चाहिए। वही मन्त्र में 'अर्य' पद वाच्य है। अर्य शब्द ईश्वर और वैश्य दोनों का वाचक है, किन्तु प्रकरण में परिशेषन्याय से उससे वैश्य का ही ग्रहण करना चाहिए। ज्ञान में न्यूनाधिक्य की दृष्टि से भी समाज के दो भाग हो सकते हैं—विशेषरूप से पढ़े-लिखे और सामान्यरूप से पठित या अपठित। इस आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को विशिष्ट ज्ञानवान् होने से आर्य कहा जा सकता है और शूद्र को अनाड़ी। बोलचाल की भाषा में अनाड़ी शब्द से अपढ़, सीधा-सादा व्यक्ति अभिप्रेत है, दस्यु या दुष्ट नहीं।

संस्कारविधि में उपनयन-संस्कार के प्रसंग में गृह्यसूत्रों से उद्धृत वचनों की व्याख्या करते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के उपनयन संस्कार के काल का निर्देश किया गया है। उसके आधार पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि वहाँ ब्राह्मण आदि का निर्देश होने से वर्णव्यवस्था का जन्म पर आधारित होना सिद्ध होता है। वस्तुतस्तु वहाँ ब्राह्मणादि पद ब्राह्मणादि से उत्पन्न बालक को जातादि सम्बन्धरूप लक्षणा से कहते हैं। अतएव वहाँ पर मनु के 'ब्रह्मवर्चसकामस्य' इत्यादि श्लोक (२।३७) को उद्धृत करके लिखा है—'जिसकी शीघ्र विद्या, बल और व्यवहार करने की इच्छा हो, बालक भी पढ़ने में समर्थ हुए हों तो ब्राह्मण के लड़के का ..... क्षत्रिय के लड़के का ..... वैश्य के लड़के का।" इससे वहाँ स्पष्टतः ब्राह्मणादि के लड़कों का निर्देश किया है। इतना ही नहीं, यदि मनु के उक्त श्लोक में विप्र, राजा और वैश्य शब्द उनके बालक के लिए लक्षणा से प्रयुक्त न मानें तो क्या ५, ६ वा ८ वर्ष का बालक स्वयं ब्रह्मवर्चस, बल और व्यवहार की कामना कर सकता है ? मनु का अभिप्राय स्पष्ट है कि जिस ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को अपने बालक को वर्चस्वी, बलवान् या व्यावहार-कुशल बनाने की इच्छा हो, वह अपने पुत्रों का यज्ञोपवीत ५, ६ या ८ वर्ष की अवस्था में करे।

इसी प्रकार **'पयोव्रतो ब्राह्मणः'** आदि वचनों की व्याख्या में भी ब्राह्मण का लड़का, क्षत्रिय का लड़का, वैश्य का लड़का शब्दों का व्यवहार किया है।

यदि किसी को उक्त स्पष्टीकरण से सन्तोष न हो तो उसके लिए दूसरा समाधान भी है। वह है 'भावी

---

१. मनुस्मृत्युक्त ६ कर्म, और गीतोक्त ६ गुण-कर्म मिलाकर पन्द्रह गुण-कर्म कहे हैं।

https://t.me/arshlibrary

क्षत्रिय—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥१॥ —मनु० १।८९
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥२॥ —भ० गीता १८।४३

(प्रजा०) न्याय से प्रजा की रक्षा अर्थात् पक्षपात छोड़के श्रेष्ठों का सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना, सब प्रकार से सबका पालन । (दान) विद्या-धर्म की प्रवृत्ति और सुपात्रों की सेवा में धनादि पदार्थों का व्यय करना । (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञ करना । (अध्ययन) वेदादिशास्त्रों का पढ़ना और (विषयेष्व०) विषयों में न फँसकर जितेन्द्रिय रहके सदा शरीर और आत्मा से बलवान् रहना ॥१॥

(शौर्य) सैकड़ों-सहस्रों से भी युद्ध करने में अकेले को भय न होना । (तेज) सदा तेजस्वी अर्थात् दीनता-रहित, प्रगल्भ, दृढ़ रहना । (धृति) धैर्यवान् होना । (दाक्ष्यं) राजा और प्रजा-सम्बन्धी व्यवहार और सब शास्त्रों में अतिचतुर होना । (युद्धे०) युद्ध में भी दृढ़, निःशङ्क रहके उससे कभी न हटना न भागना, अर्थात् इस प्रकार से लड़ना कि जिससे निश्चित विजय होवे, आप बचे । जो भागने से वा शत्रुओं को धोखा देने से जीत होती हो तो ऐसा ही करना । (दान) दानशीलता रखना । (ईश्वरभाव) पक्षपातरहित होके सबके साथ यथायोग्य वर्त्तना, विचारके देना, प्रतिज्ञा पूरी करना, उसको कभी भङ्ग होने न देना । **ये ग्यारह**[1] **क्षत्रिय वर्ण के कर्म और गुण हैं ॥२॥**

संज्ञा' का । छोटे बछड़े को बिल्वाद (बेल का फल खानेवाला) कहते हैं । उस समय वह बिल्वफल खाने में सर्वथा असमर्थ होता है, क्योंकि उसके पूरे दाँत नहीं होते । मुर्गे के बच्चे को भी 'लम्बचूड़' (लम्बी कलगीवाला) कहते हैं, जबकि उस समय उसके कलगी होती ही नहीं । इसलिए यास्काचार्य कहते हैं—**'पश्यामः पूर्वोत्पन्नानां सत्त्वानामपरस्माद् भावान्नामधेयप्रतिलम्भमेकेषां नैकेषाम् यथा बिल्वादो लम्बचूड़कः'** (निरुक्त १।१४) । अर्थात् इस लोक में हम देखते हैं कि पूर्व उत्पन्न वस्तु का उत्तरकाल में होनेवाले भाव से किन्हीं को नामधेय की प्राप्ति होती है, किन्हीं को नहीं, जैसे—बिल्वाद, लम्बचूड़क ।

महाभाष्यकार ने इसी भाव को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'कश्चित् कंचित् तन्तुवायमाह—अस्य सूत्रस्य शाटकं वय इति । स पश्यति—यदि शाटको न वातव्यः अथ वातव्यो न शाटकः । शाटको वातव्यश्चेति विप्रतिषिद्धम् । भाविनी खल्वस्य संज्ञाऽभिप्रेता, स मन्ये वातव्यो यस्मिन्नुते शाटक इत्येतद् भवति ।'

अर्थात् कोई किसी जुलाहे को कहता है—इस सूत की धोती बुन दे । जुलाहा सोचता है—यदि यह धोती है तो बुनने योग्य नहीं, यदि बुनने योग्य है तो धोती नहीं । धोती और बुनने योग्य, ये दोनों विरोधी हैं । इस कहनेवाले को भाविनी (बुनने के बाद काम में आनेवाली) संज्ञा अभिप्रेत है, अतः इसे इस प्रकार बुनना चाहिए जिससे बुन जाने पर इसकी संज्ञा धोती हो ।

इसी प्रकार प्रकृत में भी 'उस बालक का आठवें, दसवें, बाहरवें वर्ष में उपनयन करना चाहिए' जो अध्ययन करने के पश्चात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कहावे । महाभाष्य २।२।६ में लिखा है—

---

१. मनुस्मृत्युक्त ५ कर्म, तथा गीतोक्त, गुण-कर्म मिलाकर दोनों में १२ होते हैं, परन्तु 'दान' शब्द दोनों में समान है अतः दोनों श्लोकों में निर्दिष्ट गुण-कर्म ११ ही होते हैं ।

https://t.me/arshlibrary

वैश्य—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥३॥ —मनु० १।९०

(पशुरक्षा) गाय आदि पशुओं का पालन-वर्द्धन करना, (दान) विद्या-धर्म की वृद्धि करने-कराने के लिए धनादि का व्यय करना, (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना, (अध्ययन) वेदादिशास्त्रों का पढ़ना, (वणिक्पथ) सब प्रकार के व्यापार करना, (कुसीद) एक सैकड़े में चार, छः, आठ, बारह, सोलह वा बीस आनों से अधिक ब्याज, और मूल से दूना अर्थात् एक रुपया दिया हो तो सौ वर्ष में भी दो रुपये से अधिक न लेना और न देना, (कृषि) खेती करना, —**ये सात वैश्य के गुण-कर्म हैं ॥३॥**

शूद्र—

एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥४॥ —मनु० १।९१

शूद्र को योग्य है कि निन्दा, ईर्ष्या, अभिमान आदि दोषों को छोड़के ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों की सेवा यथावत् करना और उसी से अपना जीवन-निर्वाह करना। **यही एक शूद्र का कर्म-गुण है ॥४॥**

[गुण-कर्म-स्वभावानुसार वर्णव्यवस्था से लाभ]

ये संक्षेप से वर्णों के गुण और कर्म लिखे। जिस-जिस पुरुष में जिस-जिस वर्ण के गुण-कर्म हों, उसे उस-उस वर्ण का अधिकार देना। ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं, क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोषयुक्त होंगे, तो शूद्र हो जाएँगे और सन्तान भी डरते रहेंगे कि जो हम उक्त चाल-चलन और विद्यायुक्त न होंगे, तो शूद्र होना पड़ेगा और नीच वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिए उत्साह बढ़ेगा।

तपः श्रुतं च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम् ।
तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एष सः ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र शब्द गुणसमुदाय में प्रयुक्त होते हैं। तप, श्रुत और योनि (जन्म) ये ब्राह्मण को बनानेवाले हैं। तप और श्रुत से हीन व्यक्ति ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न होने के कारण जन्म से ब्राह्मण है।

कुल विशेष में जन्म पूर्वकृत कर्मों के अनुसार मिलता है और ब्राह्मणादि कुलविशेष में जन्म उस बालक को उस कुल के अनुरूप बनाने में सहायक होता है। इसी दृष्टि से महाभाष्यकार ने योनिविशेष को भी ब्राह्मणत्व निष्पत्ति में निमित्त कहा है। गीता के अनुसार—

तत्र तं बुद्धियोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ —६।४३

इस प्रकार प्राप्त हुए जन्म में वह पूर्वजन्म के बुद्धि संस्कार को पाता है; और हे कुरुनन्दन ! यह उससे भूयः अर्थात् अधिक बुद्धि पाने का प्रयत्न करता है।

वर्णव्यवस्था—प्रकरण का समापन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—'इस प्रकार वर्णों को अपने-अपने अधिकार में प्रवृत्त करना राजा आदि सभ्यजनों का काम है।' इससे पूर्व स०प्र० के प्रथम संस्करण में उन्होंने लिखा है—"पुरुषों और कन्याओं का ब्रह्मचर्याश्रम और विद्या जब पूर्ण हो जाए तब जो देश का राजा

https://t.me/arshlibrary

[किस वर्ण को क्या अधिकार देना]

विद्या और धर्म के प्रचार का अधिकार ब्राह्मण को देना क्योंकि वे पूर्ण विद्यावान् और धार्मिक होने से उस काम को यथायोग्य कर सकते हैं। क्षत्रियों को राज्य के अधिकार देने से कभी राज्य की हानि वा विघ्न नहीं होता। पशुपालनादि का अधिकार वैश्यों ही को होना योग्य है, क्योंकि वे इस काम को अच्छे प्रकार कर सकते हैं। शूद्र को सेवा का अधिकार इसलिए है कि वह विद्यारहित, मूर्ख होने से विज्ञान-सम्बन्धी काम कुछ भी नहीं कर सकता, किन्तु शरीर के काम सब कर सकता है। इस प्रकार वर्णों को अपने-अपने अधिकार में प्रवृत्त करना राजा आदि सभ्यजनों का काम है।

विवाह के लक्षण

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ —मनु० ३।२१

विवाह आठ प्रकार का होता है—एक ब्राह्म, दूसरा दैव, तीसरा आर्ष, चौथा प्राजापत्य, पाँचवाँ आसुर, छठा गान्धर्व, सातवाँ राक्षस, आठवाँ पैशाच ॥

होय और अन्य जितने विद्वान् लोग हों वे सब उसकी परीक्षा यथावत् करें। जिस पुरुष वा कन्या में श्रेष्ठ गुण, जितेन्द्रियता, सत्यवचन, निरभिमान, उत्तम बुद्धि, पूर्णविद्या, मधुरवाणी, कृतज्ञता, विद्या और गुण के प्रकाश में अत्यन्त प्रीति, जिसमें काम-क्रोध-लोभ-मोह-भय-शोक, कृतघ्नता, छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेषादिक दोष न होवें, पूर्ण कृपा से सब लोगों का कल्याण चाहें, उसको ब्राह्मण का अधिकार देवें। और यथोक्त पूर्वोक्त गुण जिसमें होय, परन्तु विद्या कुछ न्यून होय, शूरवीरता, बल, पराक्रम ये तीन गुणवाला, जो ब्राह्मण भया उससे अधिक होय, उसको क्षत्रिय करें और थोड़ी-सी विद्या होवै, परन्तु व्यापारादिक व्यावहारों में, नाना प्रकार के शिल्पों में, देश-देशान्तर से पदार्थों को ले-आने और ले-जाने में चतुर होवै, परन्तु अत्यन्त भीरू होवै, उसको वैश्य करना चाहिए। और जो पढ़ने लगा, जिसको शिक्षा भी भई, परन्तु कुछ भी विद्या नहीं आई, उसको शूद्र बनाना चाहिए। इसी प्रकार कन्याओं की भी व्यवस्था करनी चाहिए।" (पृ० ६४)

आठ प्रकार के विवाह—मनु के अतिरिक्त नारद और याज्ञवल्क्यस्मृति में भी इन विवाहों का उल्लेख है। इनमें से पहले चार उत्तम विवाह माने गये हैं, इन्हें धर्मविवाह माना गया है। अन्तिम चार को अधम और निकृष्ट माना गया है।

ब्राह्म विवाह—

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥ —मनु० ३।२७

तदनुसार कन्या का पिता योग्य, सुशील, विद्वान् युवक को खोजकर उसे अपने घर पर आमन्त्रित करता है और धार्मिक संस्कार करके कन्या को उस वर के प्रति अर्पित करता है। इस विवाह में आवश्यक तत्त्व हैं—माता-पिता की स्वीकृति, यथाविधि विवाह-संस्कार करना तथा दहेज न देना। मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्म विवाह में केवल एक वस्त्र से अलंकृत करके कन्या देने का अभिप्राय यही हो सकता है कि आजकल की तरह लेने-देने का आडम्बर न किया जाए। वेदों में पारंगत विद्वानों से अनुमोदित होने के कारण इसका नाम ब्राह्म है।

https://t.me/arshlibrary

इन विवाहों की यह व्यवस्था[1] है कि—वर-कन्या दोनों यथावत् ब्रह्मचर्य्य से पूर्ण विद्वान्, धार्मिक और सुशील हों उनका परस्पर प्रसन्नता से विवाह होना **'ब्राह्म'** कहाता है। विस्तृत यज्ञ करने में ऋत्विक् कर्म करते हुए जामाता को अलङ्कार-युक्त कन्या का देना **'दैव'**। वर से कुछ लेके वर-कन्या का विवाह होना **'आर्ष'**। दोनों का विवाह धर्म की वृद्धि के अर्थ होना **'प्राजापत्य'**। वर और कन्या को कुछ देके विवाह होना **'आसुर'**। अनियम, असमय किसी कारण से वर-कन्या का इच्छापूर्वक परस्पर संयोग होना **'गान्धर्व'**। लड़ाई करके, बलात्कार अर्थात् छीन-झपट वा कपट से कन्या का ग्रहण करना **'राक्षस'**। शयन वा मद्यादि दी हुई=पागल कन्या से बलात्कार संयोग करना **'पैशाच'**।

इन सब विवाहों में 'ब्राह्म' विवाह **सर्वोत्कृष्ट**, 'दैव' और 'प्राजापत्य' **मध्यम**, 'आर्ष', 'आसुर' और 'गान्धर्व' **निकृष्ट**, 'राक्षस' **अधम**, और 'पैशाच' **महाभ्रष्ट** है। इसलिए यही निश्चय रखना चाहिए कि कन्या और वर का विवाह के पूर्व एकान्त में मेल न होना चाहिए, क्योंकि युवावस्था में स्त्री-पुरुष का एकान्तवास दूषणकारक है।

दैव विवाह—

यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते।
अलंकृत्य सुतादानं दैवधर्म प्रचक्षते॥ —मनु० ३।२८

विस्तृत यज्ञ में बड़े-बड़े विद्वानों को आमन्त्रित कर उसमें कर्म करानेवाले विद्वान् को वस्त्रालंकार से सुशोभित कन्या के देने को धर्मयुक्त दैव विवाह कहते हैं।

श्री अलतेकर का कहना है कि प्राचीन काल में गृहस्थ लोग समय-समय पर बड़े-बड़े यज्ञ करवाया करते थे। इन अवसरों पर अनेक पुरोहित यज्ञ करवाने के लिए आमन्त्रित किये जाते थे। सम्भव है कि यज्ञ करानेवाले यजमान को इन पुरोहितों में से कोई युवक पसन्द आ जाता हो और वह अपनी लड़की का उससे विवाह कर देता हो, क्योंकि ऐसा विवाह देवताओं की पूजा के अवसर पर होता था, इसलिए इसे दैव विवाह कहते थे।

श्री अलतेकर का यह विचार तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। यद्यपि प्रचलित टीकाओं के अनुसार 'ऋत्विक्' शब्द का प्रसिद्ध अर्थ यज्ञ करानेवाला ब्राह्मण विद्वान् ग्रहण करके उसी को कन्यादान करना 'दैव विवाह' बतलाया है, तथापि यह अर्थ मनुवचन के विरुद्ध तो है ही, प्रसंगानुकूल भी नहीं है। इससे दैव-विवाह, विवाह के उद्देश्य से आयोजित यज्ञ में यज्ञीय क्रियाओं को सम्पन्न करनेवाले ब्राह्मणों तक सीमित हो जाता है, परन्तु मनु ने ऐसा कोई विधान नहीं किया है जिससे दैव विवाह केवल कर्मकाण्डी ब्राह्मणों तक में सीमित रहता हो। वस्तुतस्तु मनु ने सब प्रकार के विवाह सभी वर्णों के लिए विहित माने हैं। आठ प्रकार के विवाहों में से किसी भी प्रकार का विवाह किसी वर्णविशेष के लिए निर्धारित नहीं किया है।

देव सात्त्विक वृत्ति के विद्वान् को कहते हैं—**देवत्वं सात्त्विका यन्ति** (मनु० १२।४०)। तदनुसार एक विद्वान् पुरुष का किसी विदुषी स्त्री से विवाह दैव विवाह है। ऋत्विक् शब्द सामान्तः यज्ञ करानेवाले विद्वान् ब्राह्मण के लिए प्रयुक्त होता है। निरुक्त में ऋत्विक् की एक व्युत्पत्ति यह भी है—'ऋतुयाजी भवतीति वा'

---

१. इस व्यवस्था के बोधक मनुस्मृति के श्लोकों को ग्रन्थकार ने 'संस्कारविधि' में उद्धृत करके उनका व्याख्यान किया है।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

(३।४।१६) ऋतौ विशेषे, अवसर-विशेषे याज्ञी=यजनशीलः याजनशीलो वा । इससे अवसर-विशेष या उद्देश्य-विशेष के लिए यज्ञ करनेवाला भी ऋत्विक् कहलाता है । इस प्रकार विवाह-प्रसंग में ऋत्विक् शब्द का अर्थ हुआ— विवाह के उद्देश्य से आयोजित यज्ञ में विवाह के निमित्त यजन करानेवाला अर्थात् क्रियाओं का सम्पादन करनेवाला विद्वान् जिसका विवाहार्थ वरण किया जाता है ।

आर्ष विवाह—वर से कुछ लेके विवाह करना 'आर्ष विवाह' कहाता है । संस्कार-विधि में ग्रन्थकार ने लिखा है—"एक गाय-बैल का जोड़ा अथवा दो जोड़े वर से लेके धर्मपूर्वक कन्यादान करना, वह आर्ष विवाह है ।" इसका आधार मनुस्मृति का यह श्लोक है—

एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मतः ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ —मनु० ३।२९

इसपर संस्कारविधि में टिप्पणी में लिखा है—'यह बात मिथ्या है, क्योंकि आगे मनुस्मृति में निषेध किया है और युक्ति के विरुद्ध भी है । इसलिए कुछ भी न ले-देकर दोनों की प्रसन्नता से पाणिग्रहण होना 'आर्ष विवाह' है । द० स० (दयानन्द सरस्वती) ।

निश्चय ही प्रक्षिप्त होने से इस श्लोक को प्रमाण कोटि में नहीं रखा जा सकता । आगे आर्ष-विवाह में गोयुगल का निषेध करते हुए लिखा है—

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत्।
अल्पोऽप्येवं महान्वाऽपि विक्रयस्तावदेव सः ॥ —मनु० ३।५३

अर्थात् कुछ लोगों ने आर्ष विवाह में बैलों के एक जोड़े का शुल्करूप में लेने का कथन किया है, वह मिथ्या ही है, क्योंकि थोड़ा हो या अधिक, धनादिक लेकर, विवाह करना कन्या को बेचना ही है ।

इससे पहले मनु०३।५१ में कह चुके हैं—

न कन्यायाः पिता विद्वान् गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि ।
गृह्णच्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥

समझदार पिता को चाहिए कि वह कन्या के विवाह में शुल्करूप तनिक-सा भी धन न ले । लोभ के कारण शुल्क लेने पर वह सन्तान को बेचनेवाला ही माना जाएगा ।

पुनः अगले श्लोक में कहते हैं—

यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः ।
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम् ॥ —मनु० ३।५४

अर्थात् कन्या के माता-पिता या सम्बन्धी जिन कन्याओं के विवाह के लिए वरपक्ष से कुछ नहीं लेते, इस प्रकार का विवाह कन्या को बेचना नहीं कहाता । ऐसा विवाह वास्तव में कन्याओं का पूजा-सत्कार करना और उनके प्रति दया और स्नेह प्रदर्शित करना है ।

३।२९ में जो गोयुगल लेने का विधान होने तथा ३।५३ में स्पष्टतः निषेध होने से स्वभावतः यह जिज्ञासा होगी कि आखिर मनु की दृष्टि में आर्ष-विवाह का लक्षण क्या है ? मनु० ३।५३ में 'केचिदाहुः' (कुछ लोग ऐसा कहते हैं) शब्दों से स्पष्ट है कि यह मनु का अपना मत नहीं है । साथ ही 'मृषैव तत्' (यह मिथ्या है) कहने से यह भी स्पष्ट है कि वह 'कुछ लोगों के इस मत' से सहमत भी नहीं हैं । वह इसे कन्या को बेचने जैसा मानते हैं । तत्काल इसी से लगता दूसरा प्रश्न उठता है कि फिर आर्ष=विवाह का लक्षण

https://t.me/arshlibrary

क्या बनता है ? मनु ने इसे स्पष्ट नहीं किया। कुल्लूकभट्ट ने इसका समाधान करने का प्रयास किया है। उनका विचार है—**'अस्माभिरित्थं व्याख्यायते—आर्षे विवाहे गोमिथुनं शुल्कमुत्कोचरूपमिति केचिदाचार्या वदन्ति। मनोस्तु मतं नेदम्, शास्त्रनियमितजातिसंख्याकं ग्रहणं न शुल्करूपं। शुल्कत्वे मूल्याल्पत्वमहत्वेऽनुपयोगिनि विक्रय एव तदा स्यात्। किन्वार्षविवाहसंपत्यै आवश्यकर्त्तव्ययागादिसिद्धये वादातुं शास्त्रीयं धर्मार्थमेव गृह्यते। अतएवार्षलक्षणश्लोके वरादादाय धर्मत इति धर्मतो धर्मार्थमिति तस्यार्थः भोगलोभे न तु धनग्रहणं शुल्करूपमशास्त्रीयम्।'**

अर्थात् कुल्लूकभट्ट के विचार में इस श्लोक में 'धर्मतः' पद पठित होने का अभिप्राय है कि विवाह में दान देने के धर्म का पालन करने के लिए गोयुगल लेना चाहिए, लालचवश नहीं। मनु० ने ३।५१-५४ में लोभवश लेने का निषेध किया है, शास्त्रनिर्दिष्ट विधि को पूरा करने के लिए विहित वस्तु को लेने का नहीं।

यह समाधान सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होता—लीपापोती लगती है। मनु की मान्यताओं को दृष्टि में रखते हुए निश्चय ही यह श्लोक प्रक्षिप्त है। इसलिए हमारे मत में ग्रन्थकार द्वारा संस्कारविधि में किया गया लक्षण ही निर्दोष है अर्थात्—'कुछ भी न ले-देकर'दोनों की प्रसन्नता से पाणिग्रहण होना 'आर्ष=विवाह' है।

प्राजापत्य विवाह—मनु० ३०।१६ में प्राजापत्य विवाह का लक्षण इस प्रकार किया है—

सहोभौ चरतः धर्ममिति वाचाऽनुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिस्मृतः॥

यज्ञशाला में विधिपूर्वक कन्या और वर को सबके सामने 'तुम दोनों मिलके गृहस्थ धर्म का पालन करो' कहकर कन्यादान करना प्राजापत्य विवाह कहाता है। इस श्लोक के पहले चरण से यह व्यंजित होता है कि यह विवाह वर-वधू दोनों के माता-पिता के स्तर पर खोज करके किया जाता है। इस विवाह में प्रधानता प्रजा अर्थात् सन्तान उत्पन्न करने को दी जाती है। इसीलिए इसे प्राजापत्य विवाह के नाम से अभिहित किया गया है। निघण्टु २।२ के अनुसार 'प्रजा अपत्य नाम' सन्तान को प्रजा कहते हैं और 'प्रजापतिः पाता वा पालयिता वा' सन्तान का पालक व रक्षक होने से पिता का नाम प्रजापति है। ब्राह्म तथा प्राजापत्य विवाह में इतनी समानता है कि कई विद्वानों के अनुसार ये दो न होकर एक ही हैं। मनुस्मृति में तो इनका अलग-अलग उल्लेख किया है, परन्तु वसिष्ठ तथा आपस्तम्ब में प्राजापत्य का उल्लेख नहीं मिलता।

आसुर विवाह—मनुस्मृति ३।३१ के अनुसार—

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते॥

वर के सम्बन्धियों तथा कन्या को यथाशक्ति धन देकर यथाविधि विवाह का सम्पादन करना आसुर विवाह कहाता है। 'स्वाच्छन्द्यात्' शब्द का यह तात्पर्य हो सकता है कि इस विवाह में माता-पिता की इच्छा प्रधान तथा वर-कन्या की इच्छा गौण होती है। देवता निःस्वार्थ, निर्वैर, परोपकारप्रिय, तप, त्याग, सहिष्णुता आदि गुणों से भरपूर होते हैं। इसके विपरीत जो अपने ही स्वार्थ व सुविधा के लिए येन-केन प्रकरेण धन बटोरने में प्रवृत्त रहते हैं वे असुर कहाते हैं। ऐसे लोगों के विवाह को आसुर विवाह कहा जाता है।

https://t.me/arshlibrary

गान्धर्व विवाह—मनुस्मृति ३।३२ में कहा है—

इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः ॥

विवाह-संस्कार के बिना अपने को पति-पत्नी मानकर स्त्री और पुरुष का एक-दुसरे की इच्छा से कामभावना से संयोग करने को गान्धर्व विवाह कहते हैं । आजकल के प्रेम-विवाह (Love Marriages) बीते दिनों के गान्धर्व विवाह ही हैं । इस प्रकार के विवाह में माता-पिता तथा सम्बन्धियों का कोई स्थान नहीं होता । कामसूत्र में गान्धर्व विवाह को आदर्श विवाह माना गया है । प्राचीन काल में गाने-बजाने में निष्णात गान्धर्व नाम की एक विशिष्ट जाति थी जो अत्यन्त कामुक थी । उनके लिए कहा गया है—'स्त्रीकामा वै गान्धर्वाः'—स्त्री की कामना गान्धर्वों की विशेषता है । सामाजिक दृष्टि से यह अनाचार या व्यभिचार का दूसरा नाम है । वर्त्तमान में इसे प्रतिष्ठित स्थान देने के लिए समाज ने इसे प्रेम-विवाह के नाम से मान्यता प्रदान कर दी है । कामवासना पर आधारित इस यौनाचार को प्राचीन स्मृतिकारों ने गान्धर्व विवाह का नाम दे दिया ।

राक्षस विवाह—निरुक्त ४।१८ में राक्षस शब्द की निरुक्ति करते हुए यास्काचार्य कहते हैं—**'रक्षः रक्षितव्यमस्माद्, रहसि क्षणोतीति वा, रात्रौ नक्षते इति वा ।** अर्थात् जिससे धन-सम्पत्ति, प्राण आदि की रक्षा करनी पड़े; जो एकान्त अवसर पाकर हानि पहुँचाता और रात्रि में लूटमार चोरी, व्यभिचार आदि दुष्कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं, वे राक्षस कहाते हैं । इस प्रकार अपने स्वार्थ-साधन के लिए दूसरों की हानि करनेवाले, दूसरों को पीड़ित करनेवाले अन्यायी, अत्याचारी, बलात्कारी स्वभाववाले, मांस-मदिरा आदि के सेवन में आनन्द लेनेवाले व्यक्ति राक्षस होते हैं । ऐसे व्यक्तियों से अनुमोदित विवाह राक्षस विवाह कहाते हैं । मनुस्मृति में राक्षस विवाह के सम्बन्ध में लिखा है

हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥ —मनु०३।३३

किसी लड़की को जबरदस्ती पकड़ लाना, या रोती-बिलखती लड़की को बलात् उठा लाना राक्षस विवाह कहाता है । युद्ध आदि में जीतकर ले-आना और लड़की की इच्छा के विरुद्ध उससे विवाह रच लेना अथवा पत्नी मान लेना भी राक्षस विवाह है ।

पैशाच विवाह—सोती हुई या नशे में उन्मत्त लड़की को दूषित करना पैशाच विवाह है । एकान्त पाकर उससे बलात्कार करना भी पैशाच विवाह के अन्तर्गत है । मनु ने ऐसे विवाह की निन्दा करते हुए इसे पापिष्ठ कहा है —

सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यथोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचाष्टमोऽधमः ॥ —मनु० ३।३४

'पिश् अवयवे' धातु से प्रत्यय होने से पिश शब्द बना । 'पिश्' उपपद से 'आङ्' पूर्वकं 'चमु अदने' धातु से 'ङ्' प्रत्ययपूर्वक पैशाच शब्द बनता है । अथवा 'पिशित्' पूर्वपद से 'अश्' धातु से अण्, इत् का लोप, मकार को चकार होकर पैशाच बनता है—**'ये पिशितं अवयवीभूतं पेशितं वा मांस रुधिरादिकं आचमन्ति भक्षयन्ति ते पैशाचाः'** । प्राणियों का कच्चा मांस खाने व रक्त पीनेवाले हिंसक, दुराचारी, अनाचारी, तमोगुणी अत्यन्त निम्न और घृणित व्यक्ति पिशाच कहाते हैं ।

https://t.me/arshlibrary

वसिष्ठ तथा आपस्तम्ब ने इस प्रकार के विवाह की विवाहों में गिनती नहीं की है। मनु का इस प्रकार के बलात्कार को भी विवाह की संज्ञा प्रदान करने का यह प्रयोजन प्रतीत होता है कि बलात्कार की शिकार निर्दोष स्त्री को भी समाज में स्थान मिलना चाहिए। इस विषय में डा० राधाकृष्णन ने लिखा है—

"Paishacha—Eight different kinds of marriages are recognised in the Hindu Law Books. But Manu did not shut his eyes to the practices of his contemporaries ..... Paishacha is a very low kind of marriage, but admitted as valid with the laudable motive of giving the injured woman the status of wife and their offspring legitimacy." —Hindu View of Life, P. 61

हिताहित विवाहों का निर्देश करते हुए मनु कहते हैं—

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितम् ।
अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहान्निबोधत ॥ —३।२०

चारों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र के परलोक में और इहलोक में हित करनेवाले तथा अहित करनेवाले इन आठ प्रकार के विवाहों को जानो। इनमें से प्रथम चार विवाहों को ही मनु ने हितकारी, उत्तम और धर्मानुकूल माना है—

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः ।
ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसम्मताः ॥ —३।३९

ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य इन चार विवाहों से जो सन्तान उत्पन्न होते हैं, वे वेदादि विद्या से तेजस्वी और आप्त पुरुषों की संगति से अत्युत्तम होते हैं।

रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः ।
पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥ —मनु० ३।४०

वे पुत्र-पुत्री सुन्दर रूप, बल-पराक्रम, शुद्धबुद्धि आदि उत्तम गुणों से युक्त, धनवान्, पुण्यकीर्त्तिमान्, पूर्णभोग के भोक्ता और धर्मात्मा होकर सौ वर्ष तक जीते हैं।

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥

शेष चार विवाहों—आसुर, गान्धर्व, राक्षस व पैशाच से उत्पन्न सन्तान निन्दित कर्मकर्त्ता, मिथ्यावादी, वेद-धर्म के द्वेषी, बड़े नीच स्वभाव के होते हैं।

अनिन्दितैः स्त्री विवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत् ॥

इस प्रकार श्रेष्ठ विवाहों से श्रेष्ठ सन्तान और निन्दित विवाहों से निन्दनीय कार्य करनेवाली सन्तान होती है। इसलिए निन्दित विवाह नहीं होने चाहिएँ।

अन्तिम चार विवाहों को मनु ने 'दुर्विवाह' के नाम से अभिहित किया है।

संस्कारविधि में इस विषय का विवेचन करने के बाद ग्रन्थकार ने लिखा है—'इसलिए मनुष्यों को योग्य है कि जिन निन्दित विवाहों से नीच प्रजा होती है उनका त्याग और जिन उत्तम विवाहों से उत्तम प्रजा होती है उनको किया करें।'

मनुस्मृति में उल्लिखित आठ विवाहों का विधान मनु द्वारा किया गया नहीं माना जाना चाहिए।

https://t.me/arshlibrary

[विवाह से पूर्व का कार्य]

परन्तु जब कन्या वा वर के विवाह का समय हो अर्थात् जब एक वर्ष वा छः महीने ब्रह्मचर्य्याश्रम और विद्या पूरी होने में शेष रहें, तब उन कन्या और कुमारों का प्रतिबिम्ब अर्थात् जिसको **'फोटोग्राफ'** कहते हैं, अथवा प्रतिकृति उतारके कन्याओं की अध्यापिकाओं के पास कुमारों की, कुमारों के अध्यापकों के पास कन्याओं की प्रतिकृति भेज देवें।

जिस-जिस का रूप मिल जाए, उस-उसके इतिहास अर्थात् जन्म से लेके उस दिन पर्यन्त जन्मचरित्र का जो पुस्तक हो, उसको अध्यापक लोग मँगवाके देखें। जब दोनों के गुण-कर्म-स्वभाव सदृश हों, तब जिस-जिसके साथ जिस-जिसका विवाह होना योग्य समझें, उस-उस पुरुष और कन्या का प्रतिबिम्ब और इतिहास कन्या और वर के हाथ में देवें और कहें कि इसमें जो तुम्हारा अभिप्राय हो, सो हमको विदित कर देना।

गान्धर्व विवाह कामवासना से प्रेरित हैं जिसमें उचितानुचित, धर्माधर्म विवेक के लिए कोई स्थान नहीं। राक्षस विवाह में कन्या का अपहरण किया जाता है। पैशाच विवाह बलात्कार द्वारा सम्बन्ध स्थापित करने का नाम है। जिन अपराधों के लिए मनु ने बड़े कठोर दण्ड का विधान किया है। उन्हें वह अपने शास्त्र में कैसे स्थान दे सकते थे ? आर्ष विवाह में निर्दिष्ट गाय-बैल का जोड़ा लिए जाने को उन्होंने कन्या विक्रय जैसा मानकर उसका निषेध किया है।

वस्तुतः मनु तथा तदनुयायी ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थों में उन विवाहों का उल्लेख कर दिया है जो किसी-न-किसी रूप में उस समय प्रचलित थे। ३।२८ में **'प्रेत्य चेह हिताहितम्'** (परलोक में और इस लोक में हित करनेवाले और अहित करनेवाले) शब्दों से अपने तात्पर्य को स्पष्ट कर दिया है। किसी भी अहितकर कर्म को लोक और परलोक में धर्म के अनुरूप नहीं माना जा सकता। वैसे निन्दित विवाह अनार्यों में प्रचलित रहे होंगे। उनका उल्लेख करके मनु ने उन्हें अधर्म घोषित कर दिया। इससे मूलभूत भावनाओं के साथ कोई असामंजस्य उपपन्न नहीं होता।

फ़ोटो—पति-पत्नी के शारीरिक गठन और गुण-कर्म-स्वभाव में जितना अधिक सादृश्य होगा, उतना ही परस्पर अधिक प्रेम होगा। सादृश्य का निश्चय करने के लिए देशकालानुसार अपेक्षित तथा उपलब्ध साधनों को अपनाया जा सकता है। परस्पर मिल-बैठकर बातचीत करने से भी एक-दूसरे की योग्यता तथा स्वभाव आदि के जानने में सहायता मिलती है। फ़ोटो से बाह्य अंगों की तुल्यता तथा जीवन-चरित से दोनों की बौद्धिक क्षमता, गुण-कर्म-स्वभाव, रुचि, प्रवृत्तिविशेष आदि का परिचय मिलता है। प्राचीन काल में स्वयंवर भी परस्पर सादृश्य का निश्चय करने का एक उपाय था।

भागवतपुराण के दशम स्कन्ध के ६२वें अध्याय में वर्णित 'उषा-परिणय' कथा के अनुसार उषा की सखी चन्द्रलेखा ने कुछ चित्र बनाकर उषा को दिखाये—

मनुजेषु च सा वृष्णीन् शूरमानकदुन्दुभिम् ।
व्यलिखत् रामकृष्णौ च प्रद्युम्नं वीक्ष्य लज्जिता ॥
अनिरुद्धं विलिखितं वीक्ष्योषावाङ्मुखी ह्रिया ।
सोऽसावसाविति प्राह स्मयमाना महापते ॥ २१-२२

अर्थात् चित्रलेखा ने मनुष्यों में से वृष्णिवंशियों के आनक, दुन्दुभि, शूर, राम (बलराम), कृष्ण के चित्र

https://t.me/arshlibrary

[विवाह कहाँ पर होवे]

जब उन दोनों का निश्चय परस्पर विवाह करने का हो जाए, तब उन दोनों का समावर्त्तन एक ही समय में होवे। जो वे दोनों अध्यापकों के सामने विवाह करना चाहें तो वहाँ, नहीं तो कन्या के माता-पिता के घर में विवाह होना योग्य है। जब वे समक्ष हों, तब उन अध्यापकों वा कन्या के माता-पिता आदि भद्र पुरुषों के सामने उन दोनों की आपस में बातचीत, शास्त्रार्थ कराना और जो कुछ गुप्त व्यवहार पूछें, सो भी सभा में लिखके एक-दूसरे के हाथ में देकर प्रश्नोत्तर कर लेवें।

जब दोनों का दृढ़ प्रेम विवाह करने में हो जाए, तब से उनके खान-पान का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिए, कि जिससे उनका शरीर, जो पूर्व ब्रह्मचर्य्य और विद्याध्ययनरूप तपश्चर्या और कष्ट से दुर्बल होता है, वह चन्द्रमा की कला के समान बढ़के पुष्ट थोड़े ही दिनों में हो जाए।

[विवाह एवं गर्भाधान]

पश्चात् जिस दिन कन्या रजस्वला होकर जब शुद्ध हो, तब वेदी और मण्डप रचके, अनेक सुगन्ध्यादि द्रव्य और घृतादि का होम तथा अनेक विद्वान् पुरुष और स्त्रियों का यथायोग्य सत्कार करें। पश्चात् जिस दिन ऋतुदान देना योग्य समझें, उसी दिन **'संस्कार-विधि'** पुस्तकस्थ विधि के अनुसार सब कर्म करके मध्यरात्रि वा दश बजे अति प्रसन्नता से सबके सामने पाणिग्रहणपूर्वक विवाह की विधि को पूरा करके एकान्त सेवन करें।

बनाये। प्रद्युम्न का चित्र देखकर उषा लज्जित हुई। अनिरुद्ध (श्रीकृष्ण के पौत्र व प्रद्युम्न के पुत्र) का चित्र देखकर उषा लज्जा से मुख नीचा करके बोली—हाँ यह वही है।

स्पष्टतः यहाँ चित्र बनाने और विवाहोत्सुका उषा को दिखाने का वर्णन है। पौराणिक स्मृतियों में वर-कन्या के परस्पर मिलने और एक-दूसरे को देखने का भी उल्लेख मिलता है। वीरमित्रोदय (संस्कारप्रकाश) में आश्वालयिनी टीका दी गयी है—

स्नातालंकृतकन्यायाः प्राङ्मुख्या प्रत्यगाननः।
ईक्षते तण्डुलस्थायाः वरस्तस्य मुखं च सा॥

अर्थात् स्नान करके अलंकृत तण्डुलस्थ प्रत्यक्ष मुख की हुई कन्या का मुख उसके सम्मुखवाला वर देखे और वह कन्या वर का मुख देखे।

स०प्र० प्रथम संस्करण में इतना विशेष लिखा है—

'विवाह में बहुत धन का व्यय करना अनुचित है, क्योंकि वह धन व्यर्थ ही जाता है। इससे बहुत राज्य नष्ट हो गये, और वैश्य लोगों का भी विवाह में धनव्यय से दिवाला निकल जाता है।'

ऋतुदान—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रतिज्ञाविषय में लिखा है—**'एतेषां संग्रहमात्रेणैव सत्योऽअर्थः प्रकाश्यते ; न चात्र किञ्चिदप्रमाणं नवीनं स्वेच्छया उच्यत इति।'** इससे स्पष्ट है कि उन्होंने अपने ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है, प्रायः प्राचीन ऋषि-मुनियों की मान्यताओं तथा परम्पराओं के आधार पर ही लिखा है। तथापि अपने स्वल्पज्ञान के कारण हमें कहीं-कहीं ऐसी बातें भी मिलती हैं जो प्राचीन ग्रन्थों में नहीं है। ऐसी अवस्था में हमारा मार्गदर्शन महर्षि जैमिनि ने किया है। प्राचीन कल्पशास्त्र (श्रौत्र-स्मार्त-गृह्यसूत्र) के प्रामाण्याप्रामाण्य के विषय में उन्होंने लिखा है—'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्' (मीमांसा १।१।३)

https://t.me/arshlibrary

अर्थात् कल्पशास्त्र की जो विधियाँ वेदवचन के विरुद्ध हैं उनकी उपेक्षा करनी चाहिए=उन्हें प्रमाण नहीं मानना चाहिए, किन्तु जिन विधियों के विरुद्ध वेदवचन उपलब्ध न हों, वहाँ अनुमान करना चाहिए कि उन्होंने उक्त विधियाँ किन वेदवचनों के आधार पर लिखी हैं ।' इस न्याय के अनुसार अनुपलभ्यमान प्रमाणमूलक शास्त्रविरुद्ध ग्रन्थकार के वचनों के सम्बन्ध में यह मानकर कि उक्त बातें भी किसी आधार पर लिखी हैं, उस आधार की खोज करनी चाहिए । हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि स्वामी दयानन्द भी उसी कोटि के आप्तपुरुष हैं जिस कोटि के गृह्यसूत्रकार । दोनों में यदि विरोध दृष्टिगत हो तो उसपर शास्त्रीय दृष्टि से विचार करना चाहिए । वह शास्त्रीय पद्धति क्या है ? इसका उत्तर महाभाष्यकार पतंजलि देते हैं—**'पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति'** (महाभाष्य १।१, ऋलृक् भाष्य) , अर्थात् वहाँ पक्षान्तर मानकर परिहार (समाधान) करना चाहिए ।

यहाँ एक पक्ष है—विवाह (पाणिग्रहण) की रात्रि में ही श्वसुरगृह (कन्या के पितृगृह में गर्भाधान करना और दूसरा पक्ष है—तीन रात्रि व्रतस्थ रहकर स्वगृह पर आकर चतुर्थ रात्रि में गर्भाधान करना । ग्रन्थकार ने यहाँ द्वितीय पक्ष को पक्षान्तररूप में स्वीकार किया है । पक्षान्तर स्वीकार करने पर भी एक शंका तदवस्थ ही रहती है, वह है 'चतुर्थी कर्मसंज्ञा' । विवाह-रात्रि में ही सहवास मानने पर चतुर्थी कर्मसंज्ञा कैसे होगी ? तीन दिन व्रतस्थ रहकर सहवास करने पर ही 'चतुर्थीकर्म' संज्ञा उपपन्न हो सकती है ।

इसका समाधान यह है कि चतुर्थी कर्म वास्तव में गर्भाधान का ही अपर नाम है । लौगाक्षीगृह्यसूत्र का भाष्यकार देवपाल विवाहकर्म के अनन्तर ब्रह्मचर्य-विधायक सूत्र 'संवत्सरं ब्रह्मचर्यम्' की उत्थानिका में लिखता है—'अथ गर्भाधानम्' (कं० ३०।१, पृष्ठ ३०३) । पारस्करगृह्यसूत्र में गर्भाधान का निर्देश विवाह के पश्चात् 'चतुर्थ्यामपररात्रे' (१।१।१) सूत्र में 'चतुर्थी' निर्देश करके किया है ।

रजस्वला होने के पश्चात् रजोदर्शन की निवृत्ति होने पर चौथी रात्रि गर्भाधान का काल माना गया है, अतः 'चतुर्थी कर्म' संज्ञा लक्षणा से गर्भाधान को ही कहती है । यदि ऐसा न माना जाए तो दूसरे मत में भी दोष आता है । जिन ग्रन्थों में चतुर्थी कर्म का उल्लेख है, उनमें भी कहा है-

'अक्षारलवणाशनौ ब्रह्मचारिणवलं कुर्वाणावधः शयिनौ स्यातम् ।
अत ऊर्ध्वं त्रिरात्रं, द्वादशरात्रं संवत्सरं चैके ऋषिर्जायते ।'
'त्रिरात्रमक्षारलवणाशिनौ स्यातामधः शयताम् ।
संवत्सरं न मिथुनमुपेयाताम्, द्वादशरात्रं त्रिरात्रमन्ततः ।' पर० गृह्य० १।८।२१

दोनों का भाव यही है कि विवाह के पीछे तीन रात्रि तक व्रतस्थ रहें । संवत्सर पर्यन्त सहवास न करें, अथवा १२ रात्रि तक, अथवा छह रात्रि तक, कम से कम ३ रात्रि तक । इन वचनों के अनुसार षड्रात्र, द्वादश रात्र और संवत्सर के पश्चात् सहवास करने पर चतुर्थी कर्म संज्ञा कैसे उपपन्न होगी । अन्ततः इन पक्षों को लक्षणा का आश्रय लेना होगा । इतना ही नहीं, काठकगृह्यसूत्र (३०।१, पृष्ठ १२७) तथा लौगाक्षीगृह्यसूत्र (कं० ३०।१, पृष्ठ ३०३) में न्यूनातिन्यूनपक्ष 'एकां वा' भी लिखा है । पर 'एकां वा' पक्ष में तो चतुर्थी कर्म संज्ञा लक्षणा से भी उपपन्न नहीं होगी, अतः स्पष्ट है कि चतुर्थी कर्म को गर्भाधान मानना ही युक्त है ।

काठक और लौगाक्षि के 'एकां वा' पक्ष में और ग्रन्थकार के 'सद्य' पक्ष में बहुत स्वल्प अन्तर है ।

सद्य पक्ष में प्रमाण—जो लोग ग्रन्थकार को आप्त पुरुष नहीं मानते, वे कह सकते हैं कि हम गृह्यसूत्रों के विपरीत स्वामी दयानन्द के कथनमात्र से सद्यः पक्ष को प्रमाण नहीं मानते । उनके लिए इस विषय में

https://t.me/arshlibrary

पुरुष-वीर्य्यस्थापन और स्त्री-वीर्याकर्षण की जो विधि है, उसी के अनुसार दोनों करें। जहाँ तक बने वहाँ तक ब्रह्मचर्य्य के वीर्य्य को व्यर्थ न जाने दें क्योंकि उस वीर्य्य वा रज से जो शरीर उत्पन्न होता है, वह अपूर्व उत्तम सन्तान होता है। जब वीर्य्य का गर्भाशय में गिरने का समय हो, उस समय स्त्री और पुरुष दोनों स्थिर और नासिका के सामने नासिका, नेत्र के सामने नेत्र अर्थात् सूधा शरीर और अत्यन्त प्रसन्नचित रहें, डिगें नहीं। पुरुष अपने शरीर को ढीला छोड़े, और स्त्री वीर्य्यप्राप्ति के समय अपानवायु को ऊपर खींचे। योनि को ऊपर संकोचकर वीर्य्य का ऊपर आकर्षण करके गर्भाशय में स्थित करे। पश्चात् दोनों शुद्ध जल से स्नान करें।[1]

हम प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। आश्वलायन के टीकाकार गार्ग्यनारायण १।७।२ की टीका में लिखते हैं—

'वैदेहेषु सद्य एव व्यवायो दृष्टः। गृह्ये ब्रह्मचारिणौ ब्रह्मचर्यं विहितम्'—१।७।२, पृष्ठ २१

अर्थात् विदेह निवासियों में सद्यः (विवाहरात्रि में ही) सहवास देखा जाता है, परन्तु गृह्यसूत्रों में तीन रात्रि-प्रर्यन्त ब्रह्मचर्य का विधान किया है।

महाभारत में द्रौपदी का पाँच पाण्डवों के साथ विवाह का वर्णन मिलता है (आदिपर्व, अ० १९८, श्लोक १३, १४)। इस प्रकरण को प्रक्षिप्त मानने पर भी इससे इतना तो स्पष्ट है कि जब यह प्रक्षेप हुआ, उस समय सद्यः सहवास की प्रथा प्रचलित थी, क्योंकि इस प्रकरण में प्रथम रात्रि में ही सहवास का उल्लेख हुआ है। महाभारत मीमांसा ग्रन्थ के लेखक चिन्तामणि विनायक वैद्य ने लिखा है—

'पहले दिन द्रौपदी के साथ युधिष्ठिर का विवाह हुआ, तब उसी रात को समागम हुआ।' धर्मशास्त्रों में भी कई स्थानों पर आता है कि 'विवाह के दिन ही पति-पत्नी का सहवास हो।' (पृष्ठ २२३, कालम १)

इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार का सद्यः सहवासपक्ष उनकी अपनी कल्पना नहीं है। प्राचीन काल में भी यह प्रथा प्रचलित थी। इसीलिए हम पक्षान्तर कल्पना द्वारा समाधान करना युक्त मानते हैं।

गर्भाधान की स्थिति—गृहस्थों के लिए गर्भाधान की विधि का निर्देश करना नितान्त आवश्यक था। इसे न जानने के कारण अनेक स्त्रियाँ सन्तान-सुख से वंचित रहती हैं। युवावस्था में कामासक्त दम्पती मैथुन के समय क्या-क्या उलट-पुलट क्रियाएँ करते हैं, इसके लिखने की आवश्यकता नहीं। इसलिए सब विद्याओं का बीजरूप से उपदेश देनेवाले जगन्नियन्ता परमात्मा ने गृहस्थों का मार्गदर्शन करने के लिए साक्षात् वेद में गर्भाधान की विधि का संकेत कर दिया। कालान्तर में इस विद्या में निष्णात आचार्यों ने उसका विकास और विशदीकरण किया। इसी शास्त्रोक्त विधि से गर्भाधान करने से अविकलांग, सुन्दर तथा हृष्ट-पुष्ट सन्तान उत्पन्न हो सकती है, अन्यथा नहीं। जो लोग ग्रन्थकार के इस लेख पर उपहास करते हैं वे अपनी शास्त्रानभिज्ञता का परिचय देते हैं। एद्विषयक कतिपय प्रमाण यहाँ प्रस्तुत हैं—

१. **तां पुरुषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति।**
या न ऊरु उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपः॥ —अथर्व. १४।२।३८

अर्थ—हे (पूषन्) पुष्टिकारक पुरुष! (यस्यां) जिसमें (मनुष्याः) मनुष्य लोग (बीजम्) वीर्य को (वपन्ति) बोते हैं, (या) जो (नः) हमारी (उशती) कामना करती हुई (ऊरु) ऊरू को (विश्रयाति) विशेषरूप से आश्रय देती है, (यस्याम्) जिसमें (उशन्तः) सन्तानों की कामना करते हुए हम (शेपः) उस्थेन्द्रिय का

---

१. यह बात रहस्य की है। इसलिए इतने ही से समग्र बातें समझ लेनी चाहिएँ। विशेष लिखना उचित नहीं। द०स०

https://t.me/arshlibrary

गर्भस्थित होने का परिज्ञान विदुषी स्त्री को तो उसी समय हो जाता है, परन्तु इसका निश्चय एक मास के पश्चात् रजस्वला न होने पर सबको हो जाता है। सोंठ, केशर, असगन्ध, छोटी इलायची और सालममिश्री डालके गर्म करके जो प्रथम ही रक्खा हुआ ठण्डा दूध है, उसको यथारुचि दोनों पीके अलग-अलग अपनी-अपनी शय्या में शयन करें। यही विधि जब-जब गर्भाधान क्रिया करें, तब-तब करना उचित है।

जब महीनेभर में रजस्वला न होने से गर्भस्थिति का निश्चय हो जाए, तब से एक वर्षपर्यन्त स्त्री-पुरुष का समागम कभी न होना चाहिए, क्योंकि ऐसा होने से सन्तान उत्तम, और पुनः दूसरा सन्तान भी वैसा ही होता है। अन्यथा वीर्य्य व्यर्थ जाता, दोनों की आयु घट जाती, और अनेक प्रकार के रोग होते हैं, परन्तु ऊपर से भाषणादि प्रेमयुक्त व्यवहार दोनों को अवश्य रखना चाहिए॥

[गर्भकाल के कर्त्तव्य]

पुरुष वीर्य्य की स्थिति, और स्त्री गर्भ की रक्षा और भोजन-छादन इस प्रकार का करे कि जिससे पुरुष का वीर्य्य स्वप्न में भी नष्ट न हो; और गर्भ में बालक का शरीर अत्युत्तम रूप-लावण्य-पुष्टि-बल-पराक्रमयुक्त होकर दशवें महीने में जन्म होवे। विशेष उसकी रक्षा चौथे महीने से और अतिविशेष आठवें महीने से आगे करनी चाहिए। कभी गर्भवती स्त्री रेचक, रूक्ष, मादक, द्रव्य, बुद्धि और बलनाशक पदार्थों के भोजनादि का सेवन न करे किन्तु घी-दूध-उत्तम चावल-गेहूँ-मूँग-उर्द आदि अन्नपान, और देशकाल का भी सेवन युक्तिपूर्वक करे। गर्भकाल में दो संस्कार, एक चौथे महीने में **'पुंसवन'**, और दूसरा आठवें महीने में **'सीमन्तोन्नयन'** विधि के अनुकूल करे।

(प्रहराम) प्रहरण करते हैं (ताम्) उस (शिवतमाम्) अतिशय कल्याण करनेहारी स्त्री को सन्तानोत्पत्ति के लिए (एरयस्व) प्रेरणा कर। —संस्कारविधि, पृष्ठ १७१

यही मन्त्र किंचिद् भेद से ऋग्वेद (१०।८५।३७) में विद्यमान हैं। सायण ने भी वहाँ इसका यही अर्थ किया है।

२. **मुखँ सदस्य शिर इत्सतेन जिह्वा पवित्रमश्विनासन्त्सरस्वती।**
चप्यं पायुर्भिषगस्य बालो बस्तिर्न शेपो हरसा तरस्वी॥

—यजुः० १६।८८

अर्थ—(मुखं) मुख को (अस्य) इस पुरुष का (शिरः) सिर (इत्) ही (सतेन) सुन्दरावयव व सिर के साथ (जिह्वा) जिससे रस ग्रहण किया जाता है (पवित्रं) पवित्र (अश्विना) स्त्री और पुरुष दोनों (आसन्) मख में (सरस्वती) ज्ञानयुक्त स्त्री (चप्यम्) शान्ति करने के (न) समान (पायुः) रक्षक (भिषक्) वैद्य (अस्य) इस रोग से (बालः) बालक के (बस्तिः) वास करने का हेतु पुरुष (न) समान (शेपः) उपस्थेन्द्रिय को (हरसा) बल से (तरस्वी) करनेहारा होता है।

भावार्थ—स्त्री-पुरुष गर्भाधान करते समय परस्पर मिल, प्रेम से पूरित होकर मुख-के-साथ मुख, आँख-के-साथ आँख, मन-के-साथ मन, शरीर के साथ शरीर का अनुसन्धान करके गर्भ का धारण करें जिससे वक्रांग सन्तान न होवे। —ग्रन्थकारकृत यजुर्भाष्य

३. शतपथ ब्राह्मण में वेद के इस विधान को स्पष्ट करते हुए लिखा है—**'अथ यामिच्छेत् गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाप्य मुखेन मुखं सन्धायापान्याभिप्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति।**

—शतपथ १४।६।४।१०

https://t.me/arshlibrary

[जातकर्म और पश्चात् के कर्त्तव्य]

जब सन्तान का जन्म हो, तब स्त्री और लड़के के शरीर की रक्षा बहुत सावधानी से करे, अर्थात् शुण्ठीपाक अथवा सौभाग्य-शुण्ठीपाक प्रथम ही बनवा रक्खे। उस समय सुगन्धियुक्त उष्ण जल, जोकि

इस श्रुति का भी यही आशय है कि गर्भाधानकर्ता दम्पती मुख के साथ मुखादि अंग को संयुक्त करके गर्भाधान करें। गर्भाधान की यही रीति बृहदारण्यकोपनिषद् (६।४।२१) में लिखी हुई है।

४. पारस्करगृह्यसूत्र में चतुर्थी कर्म (गर्भाधान) के विषय में एक मन्त्र है—'प्राणैस्ते प्राणान् सन्दधाम्यस्थिभिरस्थीनि मांसैर्मांसानि त्वचा त्वचमिति।' —पार० गृह्य०१।१

हे स्त्री ! तेरे प्राणों के साथ प्राणों को जोड़ता हूँ। अस्थियों के साथ अस्थियों को, मांसों के साथ मांसों को और त्वचा के साथ त्वचा को जोड़ता हूँ।

आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रन्थ चरक में भी यही लिखा है कि गर्भाधान के समय स्त्री को अपना शरीर सीधा रखना चाहिए—

'न च न्युब्जां पार्श्वगतां वा संसेवेत। न्युब्जाया वातो बलवान् सं योनिं पीडयति। पार्श्वगताया दक्षिणे पार्श्वे श्लेष्मा संच्युतोऽपि दधाति गर्भाशयम्। वामे पार्श्वे पित्तं तदस्या पीडितं विदहति रक्तशुक्रं तस्मादुत्ताना सती बीजं गृह्णीयात्। तस्या हि यथास्थानमवतिष्ठन्ते दोषाः। —चरकसंहिता, शरीरस्थान c/c

अर्थ—कुबड़ी हुई या करवट के साथ लेटी हुई स्त्री से संग न करे, क्योंकि कुबड़ी होकर शयन कर रही से संग करे तो वायु कुपित होकर योनि को पीड़ित करता है। दाहिनी ओर करवट से सोयी स्त्री से संग करने में उसका कफ़ गिरकर गर्भाशय को ढक लेता है। बाँई करवट से सोई हुई स्त्री से संग करने पर उसका पित्त पीड़ित होकर रुधिर और वीर्य को दूषित कर देता है। इसलिए सीधी लेटी हुई स्त्री वीर्य को ग्रहण करे, क्योंकि ऐसा करने से वात, पित्त और कफ़ अपने-अपने स्थान पर स्थिर रहते हैं।

वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, गृह्यसूत्र तथा आयुर्वेद के अध्ययन से समागम की वही विधि ठीक सिद्ध होती है, जिसका उल्लेख ग्रन्थकार ने यहाँ किया है।

स्नान—प्रथम संस्करण में इतना विशेष है—'जो स्नान न करेंगे तो उनके शरीर में रोग हो जाएँगे, क्योंकि उससे काफ़ी उष्णता होती है। इसलिए स्नान करने से वह विकार न होग और वीर्य-तेज भी बढ़ेगा। इससे इस समय स्नान अवश्य करना चाहिए।

गर्भाधान व्यर्थ होने पर—गर्भाधान से एक महीने के पश्चात् रजस्वला न हो तो निश्चित मानना चाहिए कि गर्भ स्थित हो गया है। (अन्यथा) यदि दो ऋतुकाल व्यर्थ जाएँ अर्थात् दो महीनों में दो बार गर्भाधान क्रिया निष्फल हो जाए, गर्भ स्थित न हो, तो तीसरे महीने में ऋतुकाल का समय जब आवे तब पुरुष नक्षत्रयुक्त ऋतुकाल दिवस में प्रथम ऋतुकाल उपस्थित हो, तब प्रथम प्रसूता गाय की दही दो मासा और यव के दाणों को सेकके पीसके दो मासा लेके इन दोनों को एकत्र करके, पत्नी के हाथ में देके उससे पति पूछे —किं पिबसि ? इस प्रकार तीन बार पूछे और स्त्री भी अपने पति को 'पुंसवनम्' इस वाक्य को तीन बार बोलके उत्तर देवे और उसका प्राशन करे। इस रीति से पुनः-पुनः तीन बार विधि करना तत्पश्चात् श्वेत फूलवाली सिंही (कंडारी) औषधि को जल में महीन पीसके उसका रस कपड़े में छानके पति-पत्नी की नाक के दाहिने छिद्र में सिंचन करे और पति—

https://t.me/arshlibrary

किंचित उष्ण रहा हो, उसी से स्त्री स्नान करे, और बालक को भी स्नान करावे। तत्पश्चात् नाड़ीछेदन =बालक की नाभि के जड़ में एक कोमल सूत से बाँध चार अङ्गुल छोड़के ऊपर से काट डाले। उसको ऐसा बाँधे कि जिससे शरीर से रुधिर का एक बिन्दु भी न जाने पावे।

पश्चात् उस स्थान को शुद्ध करके, उसके द्वार के भीतर सुगन्धादियुक्त घृतादि का होम करे। तत्पश्चात् सन्तान के कान में पिता **'वेदोऽसीति'** अर्थात् 'तेरा नाम वेद है' सुनाकर घी और सहत[1] को लेके सोने की शलाका से जीभ पर 'ओ३म्' अक्षर लिखकर मधु और घृत को उसी शलाका से चटवावे। पश्चात् उसकी माता को दे देवे। जो दूध पीना चाहे, तो उसकी माता पिलावे। जो उसकी माता के दूध न हो, तो किसी स्त्री की परीक्षा करके उसका दूध पिलावे। दूसरे शुद्ध कोठरी वा जहाँ का वायु शुद्ध हो, उस स्थान में सुगन्धित घी का होम प्रातः और सायङ्काल किया करे और उसी में प्रसूता स्त्री तथा बालक को रक्खे।

ओ३म् इयं ओषधी यात्रमाणा सहमाना सहस्वती ।
अस्याँ अहं बृहत्याः पुत्र पितुरिव नाम जग्रभमिति ॥ —पार० गृह्य० १।१३।१

इस मन्त्र से जगन्नियन्ता परमात्मा की प्रार्थना करके यथोक्त ऋतुदान विधि करे। यह सूत्रकार का मत है।—संस्कारविधि

नाड़ीछेदन—मधु-घृत चटाने से पूर्व नाड़ी छेदन करे। सुश्रुत (शरीरस्थान १०।६) में लिखा है—**'अथ जातस्योल्वं मुखं च सैन्धवसर्पिषा विशोध्य घृताक्तं मूर्ध्नि पिचुं दद्यात्। ततो नाभिनाडीमष्टाङ्गुलमायम्य सूत्रेण बद्धवा छेदयेत्।'** अर्थात् इसके पश्चात् उत्पन्न बालक की जेर और मुख को लवण-मिश्रित घृत से शुद्ध करे और घृत में भिगोई रूई उसके तालु पर रक्खे। तत्पश्चात् नाभि-नाड़ी अर्थात् नाल को आठ अङ्गुल प्रमाण खींचकर धागे से बाँधकर काट दे। तदनन्तर घृत-मधु चटाने का विधान है। **'अथ कुमारं शीताभिरद्भिराश्वास्य जातकर्मणि कृते मधुसर्पिरनन्ताब्राह्मीरसेन सुवर्णचूर्णमङ्गुल्यानामिकया लेहयेत्।'** अर्थात्—इसके पश्चात् बालक को शीत-जल से स्नान कराके मधु-घृत को अनन्ता-ब्राह्मी के रस के साथ सुवर्ण-चूर्ण को अनामिका अंगुली से चटाये। सुवर्ण-चूर्ण से अभिप्राय सुवर्ण शलाका ही है।

वेदोऽसि—पिता द्वारा बालक के कान में **'वेदोऽसि'** कहने का प्रयोजन बालक के मन में यह विचार संक्रमित करना कि तू ज्ञानवाला प्राणी है, अज्ञानी नहीं है। कान में कहने का अभिप्राय यह है कि कही हुई बात को सुननेवाला अपने पास सँभालकर रक्खे। गुप्तरूप से कही हुई बात अधिक प्रभावशाली होती है। मुसलमानों में भी बच्चे के पैदा होते ही उसके दोनों कानों में अज़ान पढ़ी जाती है। उसके कानों में चार बार 'अल्ला हो अकबर' का नाद सुनाया जाता है। दोनों का अभिप्राय अपनी-अपनी भावना और परम्परा के अनुसार बालक के मन में अध्यात्मिकता का भाव जाग्रत् करना है।

पिता जब बालक की जिह्वा पर 'ओम्' लिखता है तो वह अपने ऊपर इस बात की ज़िम्मेदारी लेता है कि वह बालक का पालन-पोषण और उसकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था इस प्रकार करेगा कि वह भोगवाद में लिप्त न होकर अध्यात्म के मार्ग का पथिक बनेगा। बच्चे को भी जब बड़ा होने पर इस बात का पता चलेगा तो वह भी अपने माता-पिता और समाज की आशाओं को पूरा करने का प्रयत्न करेगा। इस प्रयत्न में जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में किया गया माता-पिता का पुरुषार्थ सबसे अधिक सहायक होगा।

---

१. सहत=शहद।

https://t.me/arshlibrary

छः दिन तक माता का दूध पिये और स्त्री भी अपने शरीर के पुष्टि के अर्थ अनेक प्रकार के उत्तम भोजन करे, और योनिसंकोचादि भी करे। छठे दिन स्त्री बाहर निकले, और सन्तान के दूध पीने के लिए कोई धायी रक्खे। उसको खान-पान अच्छा करावे। वह सन्तान को दूध पिलाया करे, और पालन भी करे, परन्तु उसकी माता लड़के पर पूर्ण दृष्टि रक्खे। किसी प्रकार का अनुचित व्यवहार उसके पालन में न हो। स्त्री दूध बन्ध करने के अर्थ स्तन के अग्रभाग पर ऐसा लेप करे कि जिससे दूध स्रवित न हो। उसी प्रकार खान-पान का व्यवहार भी यथायोग्य रक्खे। पश्चात् 'नामकरणादि' संस्कार '**संस्कारविधि**' की रीति से यथाकाल करता जाए। जब स्त्री फिर रजस्वला हो, तब शुद्ध होने के पश्चात् उसी प्रकार ऋतुदान देवे।

ओम्—बालक को घृत, मधु और सुवर्ण का अवलेह बनाकर चटाने का विधान आयुर्वेदशास्त्र में किया है। संस्कारविधि में ग्रन्थकार ने घृत और मधु को 'बरोबर' मिलाने का निर्देश किया है। कहा जाता है कि आयुर्वेद के अनुसार घृत और मधु को समभाग में मिलाने से वह विष हो जाता है, इसलिए यह प्रयोग करना ठीक नहीं है। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि ग्रन्थकार ने मूलतः यहाँ 'बरोबर' शब्द लिखा है 'बराबर' नहीं। 'बरोबर' गुजराती का शब्द है जिसका अर्थ है—यथायोग्य, ठीक-ठीक या उचित अथवा नियत परिमाण या मात्रा में। यथोचित मात्रा १ तोला मधु और आधा तोला घृत अथवा घृत से तिगुना मधु हो सकता है। घी और शहद चटाने का एक और लाभ है। बच्चा जब माँ के पेट में होता है तब उसकी आँतों में एक प्रकार का मल जमा हो जाता है जिसे मेकोनियम (Meconium) कहते हैं। आजकल डाक्टर लोग इस मल को निकालने के लिए अरण्डी का तेल (Castor Oil) देते हैं, परन्तु इससे आँतें उद्वेलित हो जाती हैं। अरण्डी के तेल की तुलना में घृत और मधु का अवलेह अत्युत्तम पदार्थ है जिसे बच्चा आसानी से चाट लेता है। सुश्रुत १०।१० में लिखा है—दो तीन बूँद घी और ५-७ बूँद शहद में किंचित् स्वर्णभस्म मिलाकर अथवा सोने का वर्क घिसकर देना उपयोगी है। घी सदा गाय का ही होना चाहिए। मेकोनियम को निकालने के लिए प्रकृति ने व्यवस्था कर रक्खी है। सन्तान के उत्पन्न होते ही उसके भोजन के लिए माँ के स्तनों में दूध उत्पन्न हो जाता है। यह पहला दूध जिसे कोलोस्ट्रम (Colostrum) कहते हैं, बच्चे के पोषण में तो बहुत सहायता नहीं देता, किन्तु घृत, मधु और सुवर्ण के साथ मिलकर आँतों को साफ़ करने में सहायक होता है।

धायी—'जो (बालक की) माता के दूध न हो तो किसी स्त्री की परीक्षा करके दूध पिलावे' यहाँ इस प्रकार की विशेष स्थिति में धायी का विधान किया है। मनु १६८-१७४ में दत्तक, कृत्रिम, अपविद्ध तथा क्रीतक इन चार प्रकार के पुत्रों का उल्लेख मिलता है। इन चारों का अपनी जननी=माता के दूध से पालन नहीं होता, अपितु पुत्र बनानेवाली माता के प्रबन्ध में धायी अथवा गाय, बकरी आदि के दूध का प्रबन्ध करना पड़ता है। वाल्मीकि रामायण (अयोध्याकाण्ड, सर्ग ७) के अनुसार राम के लिए धायी की जरूरत पड़ी थी। इस विषय में द्वितीय समुल्लास में विस्तारपूर्वक विचार किया जा चुका है।

ऋतुकालाभिगामी—यहाँ पर उद्धृत दोनों (मनु ३।४५ व ३।५०) श्लोक अधूरे हैं। ३।४५ का यह पूर्वार्ध है। इसका उत्तरार्ध इस प्रकार है—

पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया।

'ब्रह्मचार्य्येव' यह ३।५० का उत्तरार्ध है। इसका पूर्वार्ध इस प्रकार है—

https://t.me/arshlibrary

[गृहस्थी होते हुए भी ब्रह्मचारी]

ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा ।
ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥ —मनु० ३।४५,५०

जो अपनी ही स्त्री से प्रसन्न और ऋतुगामी होता है, वह गृहस्थ भी ब्रह्मचारी के सदृश है ॥

[स्त्री-पुरुष परस्पर प्रसन्न रहें]

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥१॥
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसन्न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥२॥
स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥३॥ —मनु ३।६०-६२

जिस कुल में भार्य्या से भर्त्ता और पति से पत्नी अच्छे प्रकार प्रसन्न रहती है, उसी कुल में सब

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।

विवाह के कारण पत्नी के साथ समागम की अनियन्त्रित छूट नहीं मिल जाती है । मनु के स्वर में स्वर मिलाकर याज्ञवल्क्य कहते है—

ऋतावृतौ स्वदारेषु संगतिर्या विधानतः ।
ब्रह्मचर्यं तदेवोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम् ॥

ऋतुकाल में सन्तानोत्पत्ति के निमित्त स्त्री से समागम करनेवाला पुरुष गृहस्थ में रहता हुआ भी मानो ब्रह्मचारी है । शास्त्र का आदेश है—

ब्रह्मचर्यं समाप्याथ गृहधर्मं समाचरेत् ।
ऋणत्रयविमुक्त्यर्थं धर्मणोत्पादयेत् प्रजाम् ॥

अर्थात्—ब्रह्मचर्यकाल की समाप्ति पर देव, पितृ तथा ऋषिऋण से मुक्त होने के लिए मनुष्य शास्त्रीय मर्यादाओं का पालन करते हुए सन्तानोत्पत्ति करे । रेतःसंयम के बिना न सौ वर्ष की आयु हो सकती है और न सन्तान बलिष्ठ, मेधावी व चरित्रवान् बन सकती है ।

पुरुष सदा ऋतुकाल में स्त्री का समागम करे और पर-स्त्री से समागम का विचार भी मन में न आने दे । वैसे स्त्री भी अपने विवाहित पुरुष को छोड़कर अन्य पुरुषों से सदा पृथक् रहे । जो स्त्रीव्रत अर्थात् अपनी स्त्री से ही सदा प्रसन्न रहता है, जैसेकि पतिव्रता स्त्री अपने विवाहित पुरुष को छोड़ दूसरे पुरुष का संग कभी नहीं करती, वह पुरुष जब ऋतुदान करना हो, तब ऋतुदान के १६ दिनों में आनेवाले पर्वों को छोड़ देवे । इनमें स्त्री-पुरुष कभी रतिक्रिया न करें (मनु० २।४५) । जो निन्दित (निषिद्ध) रात्रियों में और भिन्न शेष दस रात्रियों में से किन्हीं आठ रात्रियों में समागम नहीं करता वह गृहस्थ में रहता हुआ भी ब्रह्मचारी है (मनु० २।५०) ।

पर-स्त्री के साथ मैथुन करना तो सदा निषिद्ध है ही, अपनी स्त्री के साथ भी आठ प्रकार के मैथुनों

https://t.me/arshlibrary

सौभाग्य और ऐश्वर्य्य निवास करते हैं। जहाँ कलह होता है, वहाँ दौर्भाग्य और दारिद्र्य स्थिर होता है ॥१॥

जो स्त्री पति से प्रीति और पति को प्रसन्न नहीं करती, तो पति के अप्रसन्न होने से काम उत्पन्न नहीं होता ॥२॥

जिस स्त्री की प्रसन्नता में सब कुल प्रसन्न होता, उसकी अप्रसन्नता में सब अप्रसन्न अर्थात् दुःखदायक हो जाता है ॥३॥

से यथासम्भव बचना चाहिए। प्रत्यक्ष सहवास से अतिरिक्त मैथुनों में वीर्य स्खलित होकर अण्डकोषों में आकर ठहर जाता है जिससे धातुदौर्बल्य, स्वप्नदोष, प्रमेह, यक्ष्मा आदि रोग हो जाते हैं।

सन्तुष्टो भार्यया—जीवात्मा के नानात्व तथा परस्पर भिन्न होने का विचार सर्वमान्य है। एक शरीर में रहनेवाले जीव की स्थिति दूसरे शरीर में रहनेवाले जीव से मेल नहीं खाती। सबका सामर्थ्य एक जैसा नहीं। **'भिन्न रुचिर्हि लोकः सर्वमेकमेव न रोचते'** सबकी अपनी-अपनी पसन्द है। परमेश्वर के सिवा पूर्ण कोई नहीं। अपने आपको अधूरा समझकर विवाह के माध्यम से अपने-आपको पूर्ण करने का प्रयत्न किया जाता है, किन्तु अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति होने के कारणं इसमें पूरी सफलता मिलना अत्यन्त कठिन है। इसलिए एक-दूसरे की त्रुटियों को पचाकर ही स्त्री-पुरुष सुखी रह सकते हैं। पूर्ण सन्तोष नाम की चीज़ संसार में दुर्लभ है।

वैदिक विवाह में व्यक्तियों के साथ-साथ सामाजिक पक्ष पर भी बल दिया जाता है। इस सन्दर्भ में डॉ० राधाकृष्णन का निम्न कथन बहुत ठीक है—

"The Hindu ideal emphasises the individual and the social aspects of the institution of marriage. Man is not a tyrant, nor is woman a slave, but both are servants of a higher ideal to which their individual inclinations are to be subordinated. Except in the pages of fiction we do not have a pair agreeing with each other in everything—tastes and temper, ideals and interests. Irreducible peculiarities there will always be, and the task of the institution of marriage is to use these differences to promote a harmonious life. Instincts and passions are the raw material which are to be worked up into an ideal whole. Though there is some choice with regard to our mates, there is a large element of chance in the best of marriages. Carve as we will that mysterious block of which our life is made, the black vein of destiny or chance, whatever we may call it, appears again and again in it. That marriage is successful which transforms a chance mate into a life compaion. Marriage is not the end of struggle, it is but the beginning of a strenuous life where we attempt to realise a large ideal by subordinating our private interests and inclinations. Service of a common ideal can bind together the most unlike individuals. Love demands its sacrifices. By restraint and endurance, we raise love to the likeness of the divine. In an ideal marriage the genuine interests of the two members are perfectly reconciled."

—The Hindu View of Life, P.60

सारांश—वैदिक विवाह में व्यक्तियों के साथ सामाजिक पक्ष पर भी बल दिया जाता है। न पुरुष को अत्याचारी कहा जा सकता है, न स्त्री को उसकी दासी माना जा सकता है। व्यावहारिक जीवन में कोई भी दम्पती ऐसे नहीं मिलेंगे जो प्रत्येक दृष्टि से एक-दूसरे से मेल खाते हों। भेद के होते हुए भी एक-दूसरे की भावनाओं का सम्मान करते हुए समन्वय और सामंजस्य के द्वारा ही दाम्पत्य जीवन सुखी हो सकता है। एक सामान्य लक्ष्य ही दोनों को जोड़े रह सकता है। प्रेम बलिदान माँगता है। संयम तथा सहिष्णुता के बिना काम नहीं चल सकता।

https://t.me/arshlibrary

[नारी सत्कार के योग्य है]

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैता पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥१॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ॥२॥

विवाह के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण हैं। एक दृष्टिकोण के अनुसार विवाह एक ठेका है जिसमें स्त्री-पुरुष एक-दूसरे की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए मानो एक सौदा करते हैं। ठेके के साथ ठेका टूटने का भाव जुड़ा रहता है। जाने-अनजाने ठेके की किसी शर्त का उल्लंघन होते ही ठेका टूट जाता है और स्त्री-पुरुष विवाह के बन्धन से छूट जाते हैं। दूसरे (वैदिक) दृष्टिकोण के अनुसार विवाह एक धार्मिक संस्कार है। एक बार सम्बन्ध हो गया तो हो गया। उसे जीवनभर निभाना होता है। जीवन-पर्यन्त एक-दूसरे के सुख-दुख में भागीदार होना पड़ता है। वह भी किसी विवशता के कारण नहीं, अपितु कर्त्तव्य भावना से प्रसन्नतापूर्वक। **'इहैव स्तम्'** (अ० १४।१।२२) विवाहयज्ञ में विनियुक्त यह मन्त्र विवाह के उच्चादर्श को दर्शाता है और पति-पत्नी के सम्बन्ध-विच्छेद का सर्वथा निषेध करता है। इस मन्त्र का अभिप्राय है—"एक-दूसरे की भली प्रकार परीक्षा करके स्वेच्छापूर्वक दाम्पत्य प्रेम में आबद्ध रहने की तुमने प्रतिज्ञा की है, उसमें जीवनभर आबद्ध रहना, क्षणिक आवेश में आकर कभी एक-दूसरे का त्याग न कर बैठना। अपने घर में रहते हुए, नाती-पोतों के साथ हँसते-खेलते, प्रमुदित मन से पूर्ण आयु को प्राप्त करना।" पाणिग्रहण के प्रथम मन्त्र (**गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः**) का उच्चारण करते हुए वर-वधू दोनों इस बात की घोषणा करते हैं कि—

१. हम दोनों का यह सम्बन्ध बनाने, हमें एक-दूसरे को सौंपने में सकल ऐश्वर्य से युक्त, न्यायकारी, सब जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता और सब जगत् को धारण करनेवाले परमेश्वर का हाथ है।

२. सभामण्डप में उपस्थित विद्वान् लोग इस सम्बन्ध के साक्षी हैं।

३. हम दोनों स्वेच्छा से वृद्धावस्था तक एक-दूसरे का साथ निभाने की प्रतिज्ञा करते हैं।

इतने पवित्र बन्धन को तोड़ना तो दूर, मन से वैसा सोचना भी पाप है। इस आचारसंहिता की अवहेलना करके कोई समाज सुखी नहीं रह सकता। वर्त्तमान में ऐसा हो रहा है। परिणामतः परिवार टूट रहे हैं और संन्तान माता-पिता के होते हुए भी अनाथ हो रही है। पति-पत्नी में मतभेद सदा रहे हैं, किन्तु आजकल की तरह तलाक़ इतना आसान नहीं था। इसका श्रेय मुख्यतः स्त्रीजाति को जाता है। परिवार की वह धुरी है। इस समय उसकी स्थिति के बारे में डॉ० राधाकृष्णन का कहना है—

"We have had sin with us from the beginning of our history, but we have recently begun to worship it. It is not very modern for a man or woman who is sick of his or her partner to take to another, but what is really modern is the new philosophy in justification of it. The woman who gives up her husband for another is idealised as a heroine who has had the courage to give up the hypocritical moral codes and false sentiments, while she who clings to her husband is a cowardly victim of conventions."

—Hindu View of Life, P. 63

अर्थात्—पाप तो हमारे साथ सदा से लगा है, किन्तु कुछ दिनों से हम उसकी पूजा करने लगे हैं। परस्पर विवाह होने पर पति-पत्नी कभी-कभी एक-दूसरे से पृथक् भी होते रहे हैं, परन्तु वर्त्तमान में उसे

https://t.me/arshlibrary

उचित ठहराने की बात नई है। आजकल पति को तलाक् देकर पुनर्विवाह करनेवाली स्त्री के साहस की सराहना करते हुए उसे वीरांगना माना जाने लगा है, जबकि पतिव्रता को रुढ़िग्रस्त मानकर उसे कायर समझा जाता है।

यत्र नार्यस्तु—पूजा का अर्थ यहाँ आदर-सम्मान है। अभिप्राय यह है कि जिस घर में स्त्रियों का समुचित आदर-सम्मान होता है वहाँ उनके प्रसन्न रहने से सारे घर का वातारवरण सुख-शान्तिमय होता है। परिवार की नाभि होने से घर की सुख-शान्ति उसी पर निर्भर करती है। माता के रूप में वह निर्मात्री है। मनुस्मृति ६।२७-२८ के अनुसार—

उत्पादमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥
अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥

हो पुरुषो ! सन्तानों की उत्पत्ति, प्रत्यक्ष उनका पालन-पोषण आदि लोक-व्यवहार का निबन्धन करनेवाली स्त्री होती है। सन्तानोत्पत्ति, धर्मकार्य, उत्तम सेवा और रति तथा अपने और परिवार के बड़ों का जितना सुख है, वह सब स्त्री के अधीन होता है। इस दायित्व को वही निभाती है। वास्तव में—

पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥ —मनु० ६।८

वीर्यरूप में पति ही स्त्री में प्रवेश करके गर्भ बनकर सन्तानरूप में जन्म लेता है। स्त्री का यही जायात्व है जो इस स्त्री में सन्तानरूप में पति पुनः उत्पन्न होता है।

इस प्रसंग में निम्न सन्दर्भ द्रष्टव्य हैं—

'पतिर्जायां प्रविशति, गर्भो भूत्वा स मातरं तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते। तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः ॥ ऐतरेयब्रा० ७।१३

आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्चेति तस्माज्जाया अभवंस्तज्जायानां जायात्वं यच्चासु पुरुषो जायते। —गोपथ ब्रा० पू० १।२

निरुक्त में भी प्रकारान्तर से पुत्र को पति का आत्मरूप बताया है—

अङ्गादङ्गात् संभवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि सं जीव शरदः शतम् ॥ —निरुक्त ३।१।४

नारी के इस महत्त्व को ध्यान में रखते हुए भगवान् मनु ने यह निर्देश किया है कि उसका सदा आदर किया करें और उसके प्रतीकरूप समय-समय पर वस्त्राभूषण से प्रसन्न किया करें।

मनु न तो स्त्री-पुरुष में कोई पक्षपातपूर्ण अन्तर करते हैं और न स्त्री को पुरुष की दासी मानते हैं। वे दोनों को एक-दूसरे का पूरक मानते हैं। इतना ही नहीं, वे दोनों को एक-दूसरे की भावनाओं का समान रूप से आदर करनेवाली बात कहते हुए भी जितना बल स्त्रियों की पूजा किये जाने पर देते हैं, उतना पुरुषों की पूजा किये जाने पर नहीं। स्त्रियों के प्रति उनके आदर का पलड़ा भारी है। उन्हें बन्धन में डालकर रखने की व्यर्थता का उल्लेख करते हुए वे स्त्रियों द्वारा स्वयं अपने विवेक से काम लेने की प्रेरणा करते हुए कहते हैं—

https://t.me/arshlibrary

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥३॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥४॥ —मनु० ३।५५-५७,५९

पिता भाई और देवर इनको[1] सत्कारपूर्वक भूषणादि से प्रसन्न रक्खें। जिनको बहुत कल्याण की इच्छा हो, वे ऐसे करें ॥१॥

जिस घर में स्त्रियों का सत्कार होता है, उसमें विद्यायुक्त पुरुष होके देव संज्ञा धराके आनन्द से क्रीड़ा करते हैं और जिस घर में स्त्रियों का सत्कार नहीं होता, वहाँ सब क्रिया निष्फल हो जाती है ॥२॥

जिस घर वा कुल में स्त्रीलोग शोकातुर होकर दुःख पाती हैं, वह कुल शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है और जिस घर वा कुल में स्त्रीलोग आनन्द से, उत्साह और प्रसन्नता से भरी हुई रहती हैं, वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है ॥३॥

इसलिए ऐश्वर्य्य की कामना करनेहारे मनुष्यों को योग्य है कि सत्कार और उत्सव के समय में भूषण, वस्त्र और भोजनादि से स्त्रियों का नित्यप्रति सत्कार करें ॥४॥

['पूजा' शब्द का अर्थ]

यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि **'पूजा'** शब्द का अर्थ सत्कार है और दिन-रात में जब-जब प्रथम मिलें वा पृथक् हों, तब-तब प्रीतिपूर्वक **'नमस्ते'** एक-दूसरे से करें।

[गृहिणी के कर्त्तव्य]

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ —मनु० ५।१५०

स्त्री को योग्य है कि अतिप्रसन्नता से घर के कामों में चतुराईयुक्त, सब पदार्थों के उत्तम संस्कार तथा घर की शुद्धि रक्खे और व्यय में अत्यन्त उदार न रहे, अर्थात् सब चीजें पवित्र और पाक इस प्रकार बनावे, जो औषधरूप होकर शरीर वा आत्मा में रोग को न आने देवे। जो-जो व्यय हो, उसका हिसाब यथावत्

न कश्चिद् योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् । —६।१०
अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः ।
आत्मानमात्मनामास्तु रक्षे युक्ताः सुरक्षिताः ॥ —६।१२

कोई भी व्यक्ति जोर-जबरदस्ती से स्त्रियों की रक्षा नहीं कर सकता। विश्वसनीय माता-पिता, पति आदि पुरुषों द्वारा घर में रोककर अर्थात् निगरानी में रक्खी हुई स्त्रियाँ भी असुरक्षित हैं—बुराईयों से नहीं बच पातीं। जो अपनी रक्षा अपने-आप करती हैं, वस्तुतः वे ही सुरक्षित हैं।

स्त्रियों तथा शूद्रों के प्रति जिन निन्दात्मक वचनों का उल्लेख यत्र-तत्र मनुस्मृति में मिलता है, वे सब समय-समय पर किये गये प्रक्षेपों के कारण हैं। उन्हें मनु के ऊपर आरोपित करना उनके प्रति घोर अन्याय है।

---

१. अर्थात् स्त्रियों को।

https://t.me/arshlibrary

रखके पति आदि को सुना दिया करे। घर के नौकर-चाकरों से यथायोग्य काम लेवे। घर के किसी काम को बिगड़ने न देवे ॥

[ये ७ पदार्थ सब स्थानों से प्राप्त करे]

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या सत्यं धर्मः शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ —मनु० २।२४०

उत्तम स्त्री, नाना प्रकार के रत्न, विद्या, सत्य, पवित्रता, श्रेष्ठ भाषण और नाना प्रकार की शिल्पविद्या अर्थात् कारीगरी सब देश तथा सब मनुष्यों से ग्रहण करे ॥

स्त्रियो रत्नान्यथो—इस विचार की पुष्टि मनुस्मृति में अनेकत्र की गयी है। उदाहरणार्थ—

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किंचित् समाचरेत् ।
तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र वाऽस्य रमेन्मनः ॥ —२।१६८

यदि स्वाश्रित स्त्री अथवा शूद्र भी कोई श्रेष्ठ कार्य करे तो उससे शिक्षालेकर उसपर आचरण करना चाहिए अथवा जिस शास्त्रोक्त कर्म में मन रमे उस श्रेष्ठ कार्य को करता रहे। यहाँ निम्न स्तर के व्यक्तियों द्वारा किये जानेवाले श्रेष्ठ आचरण का अनुकरण करने का निर्देश किया है। इसी विचार को आगे पुष्ट करते हुए अर्थवाद के रूप में कहा है—

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥२।२३८

उत्तम विद्या प्राप्ति की श्रद्धा करता हुआ मनुष्य अपने से न्यून से भी विद्या प्राप्त करे। नीच जाति से भी उत्तम धर्म को ग्रहण करे और निन्द्य कुल से भी उत्तम स्त्री को स्वीकार करले, यह नीति है —संस्कारविधि।

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम् ।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम् ॥ —२।२१४

विष से भी अमृत को ग्रहण कर लेना चाहिए और बालक से भी श्रेष्ठ आचरण सीख लेना चाहिए तथा अशुद्ध स्थान से भी स्वर्ण या वैसी मूल्यावान् वस्तु को प्राप्त कर लेना चाहिए।

यही भाव हिन्दी के निम्नलिखित दोहे का है—

उत्तम विद्या लीजिए जदपि नीच पै होय ।
परो अपावन ठौर में कंचन तजत न कोय ॥

इस मान्यता का मूल यजुर्वेद के निम्न मन्त्र (२५।१४) में उपलब्ध है—

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासः ।

अर्थात् कल्याणकारी विचार हमें सब ओर से निर्बाध आएँ।'**यद्भद्रं तन्न आसुव**'।

ग्रन्थकार जर्मनी आदि देशों में शिल्पविद्या सीखने के लिए अपने देश के लोगों को भेजना चाहते थे— द्रष्टव्य—ऋषि दयानन्द के पत्र तथा विज्ञापन।

भद्रमिति—सामान्य नियम है '**नापृष्टः ब्रूयात्**' अर्थात् जब तक कोई पूछे नहीं तब तक किसी से कुछ न कहे, किन्तु जिसका हित अभीष्ट हो उसके हित की बात पूछे जाने के बिना भी कह दे—

https://t.me/arshlibrary

[लोक में व्यवहार ऐसा करे]

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥१॥
भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद् भद्रमित्येव वा वदेत् ।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात् केनचित् सह ॥२॥ —मनु० ४।१३८,१३६

सदा प्रिय सत्य, दूसरे का हितकारक बोले । अप्रिय सत्य अर्थात् काणे को काणा न बोले । अनृत अर्थात् झूठ दूसरे को प्रसन्न करने के अर्थ न बोले ॥१॥

सदा भद्र अर्थात् सबके हितकारी वचन बोला करे । शुष्क वैर अर्थात् विना अपराध किसी के साथ विरोध वा विवाद न करे ॥२॥

[हितकारी वचन अप्रिय होने पर भी अवश्य कहे]

जो-जो दूसरे का हितकारक हो, और चाहे वह बुरा भी माने, तथापि कहे विना न रहे—

पुरुषा बहवो राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ —उद्योगपर्व विदुरनीति०

हे धृतराष्ट्र ! इस संसार में दूसरे को निरन्तर प्रसन्न करने के लिए प्रिय बोलनेवाले, प्रशंसक लोग बहुत हैं, परन्तु सुनने में अप्रिय विदित हो, और वह कल्याण करनेवाला वचन हो, उसका कहने और सुननेवाला पुरुष दुर्लभ है ॥

क्योंकि सत्पुरुषों को योग्य है कि मुख के सामने दूसरे का दोष कहना और अपना दोष सुनना, किन्तु परोक्ष में दूसरे के गुण सदा कहना और दुष्टों की यही रीति है कि सम्मुख में गुण कहना और परोक्ष में दोषों का प्रकाश करना । जब तक मनुष्य दूसरे से अपने दोष नहीं सुनता, वा कहनेवाला नहीं कहता, तब तक मनुष्य दोषों से छूटकर गुणी नहीं हो सकता ।

[निन्दा-स्तुति का लक्षण]

कभी किसी की निन्दा न करे । जैसे—**'गुणेषु दोषारोपणमसूया' अर्थात् 'दोषेषु गुणारोपणमप्यसूया'; 'गुणेषु गुणारोपणं दोषेषु दोषारोपणं च स्तुतिः'** जो गुणों में दोष, दोषों में गुण लगाना वह **'निन्दा'** और गुणों में गुण, दोषों में दोषों का कथन करना **'स्तुति'** कहाती है, अर्थात् मिथ्याभाषण का नाम **'निन्दा'** और सत्यभाषण का नाम **'स्तुति'** है ।

'ब्रुवन्वाब्रुवन्नपि यस्य नेच्छेत् पराभवम् ।' अन्धा नहीं जानता कि उसके आगे गढ़ा है, ऐसी अवस्था में बिना पूछे भी सही राह बता दे ।

पुरुषो बहवो—वास्तव में ऐसी बात जो सुनने में भी अच्छी लगे और हितकारी भी हो, मुश्किल से ही मिलती है—**'हितं मनोहारी च दुर्लभं वचः'**।

उचित यही है कि जिसमें किसी का हित जाने उसे वह बात बेखटके कह देनी चाहिए । रोग को दूर करने के लिए कड़वी दवाई पिलाने या इंजेक्शन की सुई चुभोने या आवश्यकता पड़ने पर ऑपरेशन द्वारा शरीर के किसी अंग को काटकर फेंक देने में भी संकोच नहीं करना चाहिए ।

https://t.me/arshlibrary

[वेद और शास्त्रों का नित्य स्वाध्याय करना]

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।
नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥१॥
यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥२॥ —मनु० ४।१६,२०

जो शीघ्र बुद्धि धन और हित की वृद्धि करनेहारे शास्त्र और वेद हैं, उनको नित्य सुनें और सुनावें। जो ब्रह्मचर्य्याश्रम में पढ़े हों, उनको स्त्री-पुरुष नित्य विचारा और पढ़ाया करें ॥१॥

क्योंकि जैसे-जैसे मनुष्य शास्त्रों को यथावत् जानता है, वैसे-वैसे उस विद्या का विज्ञान बढ़ता जाता, और उसी में रुचि बढ़ती रहती है ॥२॥

निन्दास्तुति—**'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्'** इत्यादि श्लोक सामान्य धर्म का प्रतिपादक है, पर **प्रियं च नानृतं चैव'** असत्यभाषण पर रोक लगाता है। यथार्थ यह है कि **'शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि'**—शत्रु के भी गुणों की प्रशंसा और गुरु के भी दोषों का कथन करने में संकोच नहीं करना चाहिए।

नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत—जीवन के अन्तिम क्षण तक स्वाध्याय न छूटे, इसका उपदेश आचार्य गृहस्थाश्रम में प्रवेश से पूर्व ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर समावर्तन-संस्कार के माध्यम से करता है—**'स्वाध्यायान्मा प्रमदः'**। मनुष्य कभी भी पूर्ण ज्ञानी नहीं होता। वेदादि शास्त्रों के अध्ययन से उसके ज्ञान में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है, इसपर बल देने के लिए भगवान् मनु अन्यत्र कहते हैं—

वेदमेसवभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः ।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥
वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥ —६।१४७-१४८

जितना भी अधिक समय लगा सके उसके अनुसार द्विज आलस्यरहित होकर वेद का ही अभ्यास करे, क्योंकि वेदाभ्यास को इस (द्विज) का सर्वोत्तम धर्म (कर्त्तव्य) कहा है, अन्य सब कर्म गौण हैं। निरन्तर वेद का अभ्यास करने से शारीरिक व आत्मिक पवित्रता से तथा तपस्या से और प्राणियों के प्रति अद्रोह या अहिंसा की भावना रखते हुए मनुष्य पूर्वजन्म की अवस्था का स्मरण कर लेता है।

यहाँ मनु ने वेदाभ्यासादि के माध्यम से पूर्वजन्मों एवं जन्म-कारणों का बोध होना कहा है। महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन (२।३६) में अपरिग्रह की सिद्धि होने पर इस उपलब्धि का उल्लेख किया है—**'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता सम्बोधः'**—इतना ही नहीं, मनु आगे कहते हैं—

पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः ।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्ते सुखमश्नुते ॥

—मनु० ४।१४६

पूर्वजन्म की अवस्था का स्मरण करते हुए फिर भी यदि वेद के अभ्यास में लगा रहे तो निरन्तर वेद का अभ्यास करने से अनन्तसुख मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार गृहस्थधर्म का पालन करनेवाला व्यक्ति भी स्वाध्याय के सहारे मनुष्य-जीवन के अन्तिम

https://t.me/arshlibrary

[दैनिक पञ्चमहायज्ञ]

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥१॥ —मनु० ४।२१
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञश्च तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥२॥ —मनु० ३।७०
स्वाध्यायेनार्चयेदर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि ।
पितॄन् श्राद्धैश्च नृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥३॥ —मनु० ३।८१

दो यज्ञ ब्रह्मचर्य्य में लिख आये वे अर्थात् एक **ऋषियज्ञ**—वेदादिशास्त्रों को पढ़ना-पढ़ाना सन्ध्योपासन, योगाभ्यास, दूसरा **देवयज्ञ**—विद्वानों का संग सेवा, पवित्रता, दिव्य गुणों का धारण, दातृत्व, विद्या की उन्नति और अग्निहोत्र करना है । ये दोनों यज्ञ सायं-प्रातः करने होते हैं ।

ध्येय ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर लेता है । मनु कहते हैं —

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन्स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ —मनु ०१२।१०२

वेद-शास्त्र के अर्थतत्त्व का ज्ञाता विद्वान् किसी भी आश्रम में रहता हुआ इसी वर्तमान में ब्रह्म-प्राप्ति में समर्थ हो जाता है ।

वेदाभ्यास के प्रसंग में यह जानना चाहिए कि पठनमात्र से लक्ष्य की प्राप्त सम्भव नहीं, जब तक मनष्यु तदनुकूल आचरण न करे । इसलिए मनु का कथन है—

अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः ।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः ॥ —१२।१०३

(अज्ञेभ्यः) अनपढ़ों से (ग्रन्थों के) पढ़नेवाले श्रेष्ठ हैं । (ग्रन्थिभ्यः) ग्रन्थ पढ़नेवालों में (धारिणः श्रेष्ठाः) ग्रन्थों का स्मरण करनेवाले श्रेष्ठ हैं । (धारिणः) ग्रन्थों को स्मरण करनेवालों से (ज्ञानिनः श्रेष्ठाः) अर्थों के जाननेवाले श्रेष्ठ हैं और (ज्ञानिनः) ज्ञानियों से (व्यवसायिनः श्रेष्ठः) पढ़े और समझे हुए को आचरण में लानेवाले श्रेष्ठ हैं ।

पञ्चमहायज्ञ

मनु ने प्रत्येक प्रकार की हिंसा को पाप माना है । अहिंसा के प्रति उनका आग्रह प्रबल है, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि मनु ने गृहस्थों के लिए जो नैत्यिक महायज्ञों का विधान किया है उसके मूल में हिंसा-निवृत्ति की भावना ही काम कर रही है ।

पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्लीपेषण्युपस्करः ।
कुण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥

अर्थात् गृहस्थ के यहाँ चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली, जल का घड़ा ये पाँच हिंसा के स्थान हैं । इनको व्यवहार में लाता हुआ मनुष्य हिंसा के पाप से बँध जाता है । जाने-अनजाने में होनेवाले इन पापों से बचने के लिए मनु ने पंचमहायज्ञों का विधान किया है—

https://t.me/arshlibrary

[सन्ध्या अग्निहोत्र का काल]

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता ॥१॥
प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता ॥२॥

—अ० का० १६ । अनु० ७ । मं० ३,४ ॥

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः
पञ्चक्लृप्ता महायज्ञा प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ —मनु० ३।६६

सभी प्रकार के लोग गृहस्थों पर निर्भर होने के कारण उन्हीं से सहायता की आशा करते हैं । इस प्रसंग में मनु कहते हैं —

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा ।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानतः ॥ —मनु० ३।८०

ऋषि-मुनि, माता-पिता , विद्वान् एवं अग्नि आदि देवता, भृत्य तथा अतिथि आदि लोग गृहस्थों से ही आशा रखते हैं । इसलिए अपने गृहस्थ-सम्बन्धी कर्त्तव्यों को समझनेवाले लोगों को चाहिए कि वे इन सबकी सहायता करें ।

ऋषियज्ञ—इत्यादि तीन श्लोकों का अर्थ छूट गया है । वह इस प्रकार है—

ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूत (बलि) यज्ञ, नृ (अतिथि) यज्ञ तथा पितृयज्ञ सदा किया करें, यथाशक्ति कभी भी इनका परित्याग न करें ॥१॥

अध्ययन अर्थात् पढ़ना-पढ़ाना ब्रह्मयज्ञ है; तर्पण (माता-पिता आदि गुरुजनों की सेवा और हर प्रकार से उन्हें तृप्त= प्रसन्न रखना) पितृयज्ञ है, होम (सायं-प्रातः हवन) करना देवयज्ञ है, पशु-पक्षियों को भोजन देना भूत (बलिवैश्वदेव) यज्ञ है और अतिथियों का सत्कार करना अतिथियज्ञ है ॥२॥ स्वाध्याय से ऋषिपूजन, यथाविधि होम से देवपूजन, श्रद्धापूर्वक गुरुजनों की सेवा से पितृपूजन, अन्नदान से मनुष्यों का तथा बलिकर्म से प्राणियों का पालन-पोषण तथा समुचित सत्कार करे ।

महर्षि मनु कहते हैं—

पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः ।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥ —मनु०३।७१

अर्थात् जो यथाशक्ति इन पाँच यज्ञों को नहीं छोड़ता वह सदा घर में रहता हुआ भी सूना आदि दोषों से लिप्त नहीं होता ।

देवयज्ञ में यहाँ पौर्णमास एवं आमावास्या के पाक्षिक यज्ञों का भी अन्तर्भाव है । इस विषय में मनुस्मृति में लिखा है—

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा ।
दर्शेन चार्धमासान्ते पौर्णमासेन चैव हि ॥ —मनु० ४।४५

अर्थात् गृहस्थ प्रतिदिन दिन-रात के आदि और अन्त में अर्थात् सायं=प्रातः सन्धिवेलाओं में अग्निहोत्र करे और आधेमास के अन्त में दर्शयज्ञ अर्थात् अमावास्या का यज्ञ करे तथा इसी प्रकार मास पूर्ण होने पर पूर्णिमा के दिन पौर्णमास यज्ञ करे ।

https://t.me/arshlibrary

तस्मादहोरात्रस्य संयोगे ब्राह्मणः सन्ध्यामुपासीत ।
उद्यन्तमस्तं यान्तमादित्यमभिध्यायन् ॥३॥ —ब्राह्मणे
न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यस्तु पश्चिमाम् ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥४॥ —मनु० २।१०३

जो सन्ध्या काल में होम होता है, वह हुतद्रव्य प्रातःकाल तक वायु-शुद्धि द्वारा सुखकारी होता है ॥१॥

जो अग्नि में प्रातः-प्रातः काल में होम किया जाता है, वह-वह हुतद्रव्य सायंकाल-पर्यन्त वायु के शुद्धि द्वारा बल-बुद्धि और आरोग्यकारक होता है ॥२॥

इसीलिए दिन और रात्रि के सन्धि में अर्थात् सूर्योदय और अस्त समय में परमेश्वर का ध्यान और अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए ॥३॥

और जो ये दोनों काम सायं और प्रातःकाल में न करे, उसको सज्जन लोग सब द्विजों के कर्मों से बाहर निकाल देवें, अर्थात् उसे शूद्रवत् समझें ॥४॥

सायं सायं—पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥ —अथर्व०१६।५५।३

अर्थ—(अग्निः) अग्रणी राजा (सायंसायं) प्रत्येक सायंकाल (नः) हमारे (गृहपतिः) गृह आदि सम्पत्तियों की रक्षा करनेवाला हो और (प्रातःप्रातः) प्रत्येक प्रातःकाल (सौमनसस्य) मानसिक प्रसन्नता का (दाता) देनेवाला हो । हे अग्रणि (वसोर्वसोः) हर प्रकार की अभीष्ट वस्तुओं के (वसुदानः एधि) देनेवाले आप हूजिए । (वयं) हम प्रजाजन (त्वां) आपको (इन्धानाः) समुज्ज्वल करते हुए आपकी कीर्ति को बढ़ाते हुए (तन्वम्) आपको तथा आपकी तनू को (पुषेम) परिपुष्ट करें ।

भावार्थ—सायंसायं=सायंकाल से लेकर प्रातःकाल तक और प्रातःप्रातः = प्रातःकाल से सायं काल तक । यह मन्त्र सायंकाल के अग्निहोत्र और उपासना का सूचक है । मन्त्रों के विविधि अर्थ हो सकते हैं —आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक । तन्वम्=राजा की तनू के सम्बन्ध में निम्नलिखित मन्त्र भी प्रकाश डालता है—

पृष्टीर्मे राष्ट्रमुदरमसौ ग्रीवाश्च श्रोणी ।
ऊरुऽअरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥ —यजुः० २०।८

ग्रन्थकार ने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है—"हे प्रजाजनो ! मेरा राष्ट्र मेरी पीठ के समान है; पेट, स्कन्ध, कण्ठप्रदेश, कटिप्रदेश, जंघा , भुजाओं का मध्यप्रदेश गोड़ के मध्यप्रदेश तथा सब ओर के मेरे अंग प्रजाजन हैं ।"

भावार्थ—जो अंग के तुल्य प्रजा को जाने वही राजा सर्वदा बढ़ता रहता है, अर्थात् राष्ट्र और प्रजाजन ही राजा की तनू है ।

प्रातःप्रातः —यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतं हिमा ऋधेम ॥ —अथर्व ०१६।५५।४

(अग्निः) अग्रणी राजा (प्रातःप्रातः) प्रत्येक प्रातःकाल (नः) हमारे (गृहपति) घर आदि सम्पत्तियों का

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—त्रिकाल सन्ध्या क्यों नहीं करना ?

उत्तर—तीन समय में सन्धि नहीं होती। प्रकाश और अन्धकार की सन्धि भी सायं-प्रातः दो ही वेला में होती है। जो इसको न मानकर मध्याह्नकाल में तीसरी सन्ध्या माने, वह मध्यरात्रि में भी सन्ध्योपासन क्यों न करे ? जो मध्यरात्रि में भी करना चाहे, तो प्रहर-प्रहर घड़ी-घड़ी पल-पल और क्षण-क्षण की भी सन्धि होती हैं, उनमें सन्ध्योपासन किया करे। जो ऐसा भी करना चाहे, तो हो ही नहीं सकता और किसी शास्त्र का मध्याह्न-सन्ध्या में प्रमाण भी नहीं, इसलिए दोनों कालों में सन्ध्या और अग्निहोत्र करना समुचित है, तीसरे काल में नहीं और जो तीनकाल होते हैं, वे भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान के भेद से हैं, सन्ध्योपासन के भेद से नहीं।

रक्षक है और (सायंसायं) प्रत्येक सायंकाल (सौमनसस्य) मानसिक प्रसन्नता का (दाता) देनेवाला है। हे अग्रणी राजन् ! (वसोः वसोः) हर प्रकार की अभीष्ट वस्तुओं के (वसुदानः) दाता आप हूजिए। (त्वा) आपको (इन्धानाः) समुज्ज्वल करते हुए, आपकी कीर्ति को बढ़ाते हुए हम (शतं हिमाः) सौ हेमन्त ऋतुओं तक (ऋधेम) बढ़ते रहें।

भावार्थ—प्रति प्रातःकाल से प्रति सायंकाल तक हमारी सम्पत्तियाँ सुरक्षित रहें और प्रति सांयकाल से प्रति प्रातःकाल तक हम प्रसन्नचित रहकर सौ वर्षों तक बढ़ते रहें। यह मन्त्र प्रातःकाल के अग्निहोत्र और उपासना का सूचक है।

ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में पञ्चमहायज्ञविषय के अन्तर्गत इन मन्त्रों के आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अर्थ करते हुए लिखा है—

"(सायंसायं) प्रतिदिन प्रातःसायं श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त (गृहपतिः) यह गृहपति अर्थात् घर और आत्मा का रक्षक (अग्निः) भौतिक अग्नि और परमेश्वर (सौमनसस्य) आरोग्य, आनन्द और (वसोर्वसोः) वसु अर्थात् धन का (दाता) देनेवाला है। इसी से परमेश्वर (वसुदानः) धनदाता प्रसिद्ध है। हे परमेश्वर ! आप हमारे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में सदा प्रकाशित (एधि) रहो। यहाँ भौतिक अग्नि अर्थ भी ग्रहण करने योग्य है। हे परमेश्वर ! जैसे पूर्वोक्त प्रकार से (वयम्) हम (त्वा) आपको (इन्धानाः) प्रकाशित करते हुए (तन्वं पुषेम) अपने शरीर से पुष्ट होते हैं, वैसे ही भौतिक अग्नि को भी (इन्धानाः) प्रकाशित करते हुए परिपुष्टि हों। 'प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो इत्यादि मन्त्र का अर्थ भी पूर्वमन्त्र के तुल्य जानो, परन्तु इसमें इतना विशेष भी है कि—अग्निहोत्र और परमेश्वर की उपासना करते हुए हम लोग (शतंहिमाः) सौ हेमन्त ऋतु व्यतीत होजाने पर्यन्त अर्थात् सौ वर्षों तक धनादि पदार्थों से (ऋधेम) वृद्धि को प्राप्त हों।

तस्मादहो— इत्यादि मन्त्र क्रमशः षड्विंश ब्राह्मण ४।५ तथा तैत्तिरीय आरण्यक (२।२) के हैं। **यतः** आरण्यक ग्रन्थों की गणना ब्राह्मणों में होती है, अतः ग्रन्थकार ने सामान्यरूप से 'ब्राह्मणों' लिख दिया है। पञ्चमहायज्ञविधि प्रथम संस्करण (संवत् १९३४) में भी 'यान्तम्' पाठ है, किन्तु मूल ग्रन्थ में 'यन्तम्' पाठ मिलता है।

न तिष्ठति—मनुस्मृति के उपलब्ध संस्करणों में प्रायः 'यस्तु पश्चिमाम्' के स्थान में 'यश्च पश्चिमाम्' तथा 'साधुभिः' के स्थान में 'शूद्रवद्' पाठ मिलता है। इस श्लोक से भी वर्णव्यवस्था का गुण-कर्म-स्वभाव पर आश्रित होना तथा शास्त्र की मर्यादा के विरुद्ध आचरण करने पर पतित होना सिद्ध है।

त्रिकाल सन्ध्या निषिद्ध—मर्यादा के विरुद्ध आचरण करना कदापि श्रेयस्कर नहीं। अग्निहोत्र तथा

https://t.me/arshlibrary

तीसरा **'पितृयज्ञ'**—अर्थात् जिसमें **देव** जो विद्वान्, **ऋषि** जो पढ़ने-पढ़ानेहारे, **पितर** जो माता-पिता आदि वृद्ध ज्ञानी और परमयोगियों की सेवा करनी। **'पितृयज्ञ' के दो भेद हैं**—एक **श्राद्ध** और दूसरा **तर्पण**। श्राद्ध अर्थात् **'श्रत्'** सत्य का नाम है, **"श्रत्सत्यं दधाति यया क्रियया सा 'श्रद्धा', श्रद्धया यत् क्रियते तच्छ्राद्धम्"** जिस क्रिया से सत्य का ग्रहण किया जाए उसको **'श्रद्धा'**, और जो श्रद्धा से कर्म किया जाए उसका नाम **'श्राद्ध'** है और **'तृप्यन्ति तर्पयन्ति येन पितॄन् तत्तर्पणम्'** जिस-जिस कर्म से तृप्त अर्थात् विद्यमान माता-पितादि पितर प्रसन्न हों और प्रसन्न किये जाएँ, उसका नाम **'तर्पण'** है, परन्तु यह जीवितों के लिए है, मृतकों के लिए नहीं।

[अथ देवतर्पणम्]

ओं ब्रह्मादयो देवास्तृप्यन्ताम् । ब्रह्मादिदेवपत्न्यस्तृप्यन्ताम् ।
ब्रह्मादिदेवसुतास्तृप्यन्ताम् । ब्रह्मादिदेवगणास्तृप्यन्ताम् ॥

इति देव तर्पणम्

सन्ध्योपासन सायं-प्रातः की सन्धिवेला में दो समय करना ही विहित है। इस विषय का विस्तृत विवेचन तृतीय समुल्लास में हो चुका है।

पितृयज्ञ—वस्तुतः पितृयज्ञ का प्रयोजन देव, माता-पिता, गुरुजन तथा ऋषि-मुनियों की सेवा करना है। पितृयज्ञ के दो रूप हैं—तर्पण व श्राद्ध **'येन कर्मणा विदुषो देवान् ऋषीन् पितॄंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति वा तत्तर्पणम्'**—जिस कार्य से विद्वान्रूप देव, ऋषि, माता-पिता आदि को सुख मिलता है वह उनका तर्पण है। इन्हीं लोगों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना उनका श्राद्ध करना है— **'यत्तेषां श्रद्धया सेवा क्रियते तच्छ्राद्धम्'।**

पञ्चमहायज्ञविधि में बताया है— **'श्रद्धया तर्पणं क्रियते विद्यमानानाम्। श्रद्धया यत्क्रियते तच्छ्राद्धम्। तृप्त्यर्थं यत्क्रियते तत्तर्पणम्।'** जो पितर विद्यमान हों, अर्थात् जो जीवित होय उनको प्रीति से सेवनादि से तृप्त करना तर्पण और श्रद्धा से प्रीतिपूर्वक सेवा करना है वह श्राद्ध कहाता है। जो सत्यविज्ञान-दान से जनों का पालन करते हैं वे पितर कहाते हैं। स० प्र० के प्रथम संस्करण में ग्रन्थकार ने लिखा है—"यथार्थ ज्ञानियों की पितृसंज्ञा है। उनको निमन्त्रण देना, तब उनसे बात भी करेगा, प्रश्न भी करेगा, उससे उनको ज्ञान का लाभ होगा।" यह श्राद्ध, तर्पण आदि कर्म, उनका आमन्त्रित होकर अपना और वार्त्तालाप द्वारा उनसे ज्ञान लाभ करना आदि सब जीवितों में ही घट सकता है दिवंगतों में नहीं। इसी से उनकी सेवा आदि भी नहीं हो सकती। बाप-दादा के नाम पर कुछ दान-पुण्य करना भी व्यर्थ है। जिनके निमित्त ब्राह्मणों के माध्यम से यह किया जाता है वह सब ब्राह्मणों के पास ही रहता है, यह प्रत्यक्ष है। बाप-दादा को वे पदार्थ इसलिए भी नहीं पहुँच सकते, क्योंकि भेजने या पहुँचानेवालों को पानेवाले का ठौर-ठिकाना ही नहीं मालूम होता। एक बात यह भी जाननी चाहिए कि कर्म करनेवाले को ही उसके फल की प्राप्ति होती है, अन्य को नहीं। इसलिए सन्तान के द्वारा किये दान-पुण्य का फल भी उन्हीं को मिलता है, बाप-दादा को कदापि नहीं।'

ब्रह्मादयो०—सम्भवतः ये वचन आश्वलायनगृह्यसूत्र ३।४ तथा पारस्करगृह्यसूत्र परिशिष्ट के आधार पर ऊहित हैं। भिन्न-भिन्न काल में देवादि शब्दों की विभिन्न परिभाषाएँ की जाती रही हैं। वस्तुतः वे

https://t.me/arshlibrary

'विद्वांसो हि देवाः' यह शतपथब्राह्मण ३।७।३।१० का वचन है। जो विद्वान् हैं उन्हीं को **'देव'** कहते हैं। जो साङ्गोपाङ्ग चार वेदों के जाननेवाले हों, उनका नाम **'ब्रह्मा'**। और जो उनसे न्यून पढ़े हों, उनका भी नाम **'देव'** अर्थात् विद्वान् है। उनके सदृश विदुषी स्त्री उनकी **'ब्रह्माणी'** और **'देवी'**, उनके तुल्य पुत्र और शिष्य, तथा उनके सदृश उनके गण अर्थात् सेवक हों, उनकी सेवा करना है, उसका नाम **'श्राद्ध'** और **'तर्पण'** है॥

[अथर्षि-तर्पणम्]

ओं मरीच्यादय ऋषयस्तृप्यन्ताम्। मरीच्याद्यृषिपत्न्यस्तृप्यन्ताम्।
मरीच्याद्यृषिसुतास्तृप्यन्ताम्। मरीच्याद्यृषिगणास्तृप्यन्ताम्॥

इति ऋषि तर्पणम्

जो ब्रह्मा के प्रपौत्र मरीचिवत् विद्वान् होकर पढ़ावें, और जो उनके सदृश विद्यायुक्त उनकी स्त्रियाँ कन्याओं को विद्यादान देवें, उनके तुल्य पुत्र और शिष्य तथा उनके समान उनके सेवक हों, उनका सेवन-सत्कार करना **'ऋषि-तर्पण'** है॥

एक-दूसरे की पूरक हैं, परस्पर विरोधी नहीं। निष्कर्ष सबका एक-सा ही है, उदाहरणार्थ यहाँ कतिपय परिभाषा दी जा रही हैं —

उपनीतमात्रो व्रतानुचारी वेदानां किञ्चिदधीत्य ब्राह्मणः। एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः। अङ्गाध्याय्यनूचानः। कल्पाध्यायी ऋषिकल्पः। सूत्रवचनाध्यायी भ्रूणः। चतुर्वेदादृषिः। अत ऊर्ध्वं देवः।

—बोधायनगृह्यसूत्र २।६

अर्थत् जिसका केवल यज्ञोपवीत हुआ हो, ऐसा ब्रह्मचर्यव्रतधारी वेदों का कुछ भाग पढ़ने से ब्राह्मण। एक सम्पूर्ण शाखा को पढ़ने से श्रोत्रिय। अङ्गों को पढ़नेवाला अनूचान। कल्प को पढ़नेवाला ऋषिकल्प। भाष्यों को पढ़नेवाला भ्रूण। चारों वेदों को जाननेवाला ऋषि। इससे आगे देव। इस प्रकार परम विद्वान् की 'देव' संज्ञा है।

ग्रन्थकार ने यजुर्भाष्य (७।४६) में 'वेदेश्वरवित्' को ब्राह्मण बताया है। मनस्मृति के अनुसार **'वेदाभ्यासात् ततः विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः'** तथा पाणिनिसूत्र 'तदधीते तद्वेद' (४।२।५६) के अनुसार वेद के ज्ञाता को ब्राह्मण कहते हैं। दोनों को मिलाकर ग्रन्थकार द्वारा निर्दिष्ट अर्थ 'वेदेश्वरवित्' निष्पन्न हो जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् (३।१।१)में लिखा है—**'तस्य ह जनकस्य विदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कः स्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम** इति' अर्थात् विदेह जनक ने जानना चाहा कि सभा में उपस्थित ब्राह्मणों में 'अनूचानतम' कौन है ? उत्तर में कहा गया—**'अतिशयेन अनूचानोऽनूचानतमः;'**। **'अतिशायने तमविष्ठनौ'** (पा० ५।३।५५)। यहाँ अतिशय अनूचान को 'अनूचानतमः'= सबसे बड़ा विद्वान् कहा है। पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ के अनुसार "आचार्यमुखान्निःसृतानि वचनानि योऽनुब्रवीतीति पश्चात् ब्रवीति सोऽनूचानः। वेदस्यानुवचनं कृतवानित्यर्थः— 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' (पा० ३।२।१०६)। यद्यपि **'सर्व एव ब्राह्मणा अनूचानाः सन्ति तथापि तारतम्यं भवत्येव।'**

पितृभ्यः पितामहेभ्यः प्रपितामहेभ्यो मातामहेभ्यो प्रमातामहेभ्यो वृद्धमातामहेभ्यश्च स्वधा (पार० परि० ३)। देवतास्तर्पयति प्रजापतिर्ब्रह्मा वेदा देवा ऋषयः (आश्व० गृ०सू०३।४।१)। इसपर नारायणवृत्ति

https://t.me/arshlibrary

—प्रजापतिरित्यारभ्य एकोनविंशद्वाक्येषु तृप्यतु तृप्यतां तृप्यन्त्विति यथार्थमुक्त्वा तर्पयेत्, अर्थात् प्रजापति से लेकर १९ वाक्यों में हर एक के साथ तृप्यतु, तृप्यतां, तृप्यन्तु आदि अर्थ के अनुसार लगा दें।

निरुक्त में देव शब्द की निरुक्ति करते हुए लिखा है —**'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः स देवता'** (निरुक्त ७।१५), अर्थात् दान देने से —प्रकाश करने से, प्रकाशित होने से, द्युस्थानीय होने से 'देव'कहाते हैं। देव को ही देवता कहा जाता है। इस प्रकार विद्याओं से प्रकाशित और विद्याओं का दान देनेवाले, दिव्य गुण एवं उत्तम आचरणवाले विद्वानों को 'देव' कहा जाता है। विद्वान् पुरूषों को देव कहते हैं, इसके प्रतिपादक अनेक वचन हैं—

विद्वांसो हि देवाः । —शत० ३।७।६।१०
ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्या देवाः । —शत० २।४।३।१४
मन्त्रसंहिता वै देवाः । —ऐत० ब्रा० १।१६
सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः 'इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति' तन्मनुष्येभ्य देवानुपैति —शत० १।१।१५

मनुस्मृति में भी ऐसे ही विद्वानों को देव कहा है। उदाहरणार्थ—

ते तमर्थमनुपृच्छन्त देवानागतमन्यवः ।
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥ —मनु ० २।१५२

ऋषि—मरीच्यादयः —मरीचिः— प्रथम मनु से उत्पन्न दस मूलपुरुषों में से एक या ब्रह्मा के दस पुत्रों में से एक, यह कश्यप का पिता था। एक स्मृतिकार—आप्टे।

'ऋषि गतौ' धातु से 'इन' प्रत्यय के योग से ऋषि शब्द निष्पन्न होता है। 'गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति'—गति के तीन अर्थ हैं—ज्ञान , गमन, और प्राप्ति। ऋषि सबसे उच्च स्तर का विद्वान् व्यक्ति, होता है। वेदमन्त्रों के अर्थ का द्रष्टा, धर्म और ईश्वर का साक्षात्कार करनेवाला आप्तपुरूष ऋषि कहलाता है। वही धर्मोपदेष्टा होता है। निरुक्तकार ने ऋषि की निरुक्ति की है —**'ऋषिर्दर्शनात्। स्तोमान् ददर्श इत्यौपमन्यवः' (निरुक्त २।११)। अर्थात्—ऋषि वेदार्थों और विद्याओं के रहस्य को प्रत्यक्ष करने-करानेवाला** होता है। औपमन्यव आचार्य का मत है कि मन्त्रद्रष्टा होने से **ऋषि** होता है।

इसी प्रकार **'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः'** अर्थात् ऋषि साक्षात्कृतधर्मा होते हैं (निरुक्त १।२०)। अथवा किसी अभाव को दूर करने के कारण विप्रलोग, अथवा किसी अनुद्घाटित सत्य को अपनी दूरदृष्टि से देख लेने के कारण विचक्षण, नृचक्षस लोग ही ऋषि बन जाते हैं। ऋषि बनाने में दूसरों को सुख पहुँचाने की इच्छा तथा दूसरों को सुख पहुँचाने के कार्य सहायक होते हैं। संक्षेप में जो मानवमात्र का हित चाहता और करता है, वह ऋषि कहाता है —

'ऋषिः स यो मनुर्हितो विप्रस्य यावयत्सुखः' (ऋ० १०।२६।५) **भद्रमिच्छन्त ऋषयः** (अथर्व० १९।४१।१), **'ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजान्'** (ऋ० १०।१५४।५) **'तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुः यः प्रथमो दक्षिणया रराध'** (ऋ० १०।१०७।६)।

अध्यापनमात्र ऋषि बनने का प्रयोजक नहीं। अध्यापकमात्र को आर्षेय नहीं कहा जा सकता। मनुस्मृति में बिना वृत्ति की आकांक्षा के पढ़ानेवाले की उपाध्याय संज्ञा है। यद्यपि पढ़ाना सामान्य कर्म है और हर पढ़ानेवाला अध्यापक (Teacher) कहलाता है, तथापि उत्तरोत्तर योग्यता और क्षमता के आधार पर वर्त्तमान में प्रचलित तारतम्य से प्राध्यापक (Lecturer), उपाचार्य (Reader) तथा आचार्य (Professor) संज्ञाएँ

https://t.me/arshlibrary

[अथ पितृ-तर्पणम्]

ओं सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम् । अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम् । बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम् । सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम् । हविर्भुजः पितरस्तृप्यन्ताम् । आज्यपाः पितरस्तृप्यन्ताम् । सुकालिनः पितरस्तृप्यन्ताम् । यमादिभ्यो नमः यमादींस्तर्पयामि । पित्रे स्वधा नमः पितरं तर्पयामि । पितामहाय स्वधा नमः पितामहं तर्पयामि । प्रपितामहाय स्वधा नमः प्रपितामहं तर्पयामि । मात्रे स्वधा नमो मातरं तर्पयामि । पितामह्यै स्वधा नमः पितामहीं तर्पयामि । प्रपितामह्यै स्वधा नमः प्रपितामहीं तर्पयामि । स्वपत्न्यै स्वाधा नमः स्वपत्नीं तर्पयामि । सम्बन्धिभ्यः स्वधा नमः सम्बन्धिनस्तर्पयामि । सगोत्रेभ्यः स्वधा नमः सगोत्रांस्तर्पयामि ॥

इति पितृ-तर्पण् ॥

नियत हैं । जिस प्रकार हर पढ़ानेवाला प्रोफ़ेसर नहीं होता , उसी प्रकार ऋषिकर्म (अध्यापन) में प्रवृत्त प्रत्येक 'आर्षेय' नहीं होता । उपर्युक्त लक्षणों से युक्त ऋषिसंज्ञक मनुष्य जब अपने ज्ञान का दूसरों में संक्रमण करता है, तभी वह 'आर्षेय' कहलाता है ।

ब्राह्मणग्रन्थों में भी ऋषि की यही विशेषताएँ बताई हैं—**'यो वै ज्ञातोऽनूचानः स ऋषिरार्षेयः'** (शत० ४।३।४।१६) । **'एते वै विप्रा यदृषयः'** (शत० १।४।२।७) ।

'अथ यदेवानुब्रवीत । तेनर्षिभ्य ऋणं जायते, तद्धयेभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः' (शत० १।७।२।३)। **'अथार्षेयं प्रावृणीते । ऋषिभ्यश्चैवेनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्यं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापादिति तस्मादार्षेयं प्रवृणीते'** (शत० १।४।५।३)।

महर्षि मनु ने भी इन्हीं विशेषताओं का उल्लेख किया है—

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न च बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥ —मनु०२।१२६
ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः ।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ —मनु०१।६४

इस विवेचन से स्पष्ट है कि पितर, देव, ऋषि स्तरविशेष पर आधारित या विशेष गुणों के आधार पर रक्खी गयी संज्ञाएँ हैं । संक्षेप में विद्या के प्रत्यक्ष दर्शन में प्रमुख गुणवाले ऋषि, आचरण में दिव्य गुणों की प्रधानता के गुणवाले विद्वान् देव और पालक व रक्षक गुणवाले वयोवृद्ध विद्वान् या पिता आदि पितरसंज्ञक हैं ।

पितृ-तर्पण—**'पालयन्ति रक्षन्ति वा ते पितरः'**—पालन-पोषण और रक्षण करनेवाले पितर कहाते हैं । गोपथब्राह्मण में लिखा है—**'देवा वा एते पितरः, स्विष्टकृतो वै पितरः'** (गो० उ० १।२४, २५) —अर्थात् सुख=सुविधाओं द्वारा पालन, पोषण करनेवाले और हितसम्पादन करनेवाले विद्वोन् लोग पितर कहाते हैं । शतपथब्राह्मण (२।१।३।४) के अनुसार **'मर्त्याः पितरः'** मनुष्य ही पितर हैं । इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि दिवंगत लोगों को पितर कहना या मानना शास्त्रविरुद्ध है । वस्तुतः माता-पिता, पितामह-आचार्य आदि ही पितर-संज्ञक हैं । मनस्मृति में जगह-जगह इन्हीं को पितर कहा है । मनु ४।२५७ में लिखा है—

महर्षिपितृदेवानां गत्वा ऽऽनृण्यं यथाविधि ।
पुत्रे सर्वं समासज्य वसेन्मध्यस्थमाश्रितः ॥

शास्त्र द्वारा निर्धारित विधि के अनुसार व्यक्ति (ब्रह्मचर्य-पालन एवं अध्ययन-अध्यापन से) ऋषि-ऋण

https://t.me/arshlibrary

'ये सोमे जगदीश्वरे पदार्थविद्यायां च सीदन्ति ते सोमसदः' जो परमात्मा और पदार्थविद्या में निपुण हों, वे **'सोमसद्'** । **'यैरग्नेर्विद्युतो विद्या गृहीता ते अग्निष्वात्ताः'** जो अग्नि अर्थात् विद्युदादि पदार्थों के जाननेवाले हों, वे **'अग्निष्वात्त'** । **'ये बर्हिषि उत्तमे व्यवहारे सीदन्ति ते बर्हिषदः'** जो उत्तम विद्यावृद्धियुक्त व्यवहार में स्थित हों, वे **'बर्हिषद्'** । **'ये सोममैश्वर्यमोषधीरसं वा पान्ति पिबन्ति वा ते सोमपाः'** जो ऐश्वर्य के रक्षक, और महौषधि-रस का पान करने से रोगरहित, और अन्य के ऐश्वर्य के रक्षक, औषधों को देके रोगनाशक हों, वे **'सोमपाः'** । **'ये हविर्होतुमत्तुमर्हं भुञ्जते भोजयन्ति वा ते हविर्भुजः'** जो मादक और हिंसाकारक द्रव्यों को छोड़के भोजन करनेहारे हों, वे **'हविर्भुज्'** । **'य आज्यं ज्ञातुं प्राप्तुं वा योग्यं रक्षन्ति वा पिबन्ति त आज्यपाः'** जो जानने के योग्य वस्तु के रक्षक, और घृत-दुग्धादि खाने और पीनेहारे हों, वे **'आज्यपाः'** । **'शोभनः कालो विद्यते येषां ते सुकालिनः'** जिनका अच्छा धर्म करने का सुखरूप समय हो, वे **'सुकालिन्'** । **'ये दुष्टान् यच्छन्ति निगृह्णन्ति ते यमा न्यायाधीशाः'** जो दुष्टों को दण्ड और श्रेष्ठों का पालन करनेहारे न्यायकारी हों, वे **'यम'** ।

को, (सन्तानोत्पत्ति तथा माता-पिता की सश्रद्ध सेवा से) पितृ-ऋण को तथा (यज्ञादि के अनुष्ठान से) देव-ऋण को चुकाकर, घर की सारी ज़िम्मेदारी पुत्र को सौंपकर (वानप्रस्थ की दीक्षा लेने से पूर्व) तटस्थ भाव से रहे अर्थात् सांसारिक व्यवहार के प्रति विरक्त होकर घर में निवास करे। यह आनृण्य की बात जीवितों के प्रसंग में ही संगत हो सकती है। मरणोपरान्त तो समस्त व्यवहार स्वतः समाप्त हो जाते हैं।

यजुर्वेद २।३४ का भाष्य करते हुए ग्रन्थकार ने भावार्थ में लिखा है—"ईश्वर आज्ञा देता है कि सब मनुष्यों को पुत्र और नौकर आदि को आज्ञा देके कहना चाहिए कि तुमको हमारे माता-पिता आदि वा विद्या देनेवाले गुरुजन प्रीति से सेवा करने योग्य हैं। जैसे उन्होंने बाल्यावस्था में तथा विद्यादान के समय में हम और तुम पाले हैं, वैसे हम लोगों को भी वे सब काल में सत्कार करने योग्य हैं जिससे हम लोगों के बीच में विद्या का नाश और कृतघ्नता आदि दोष कभी प्राप्त न हों" 'तर्पयत मे पितॄन्—मेरे पितरों (पिता-पितामह आदि) को तुम तृप्त=प्रसन्न करो। जिन पदार्थों से उनको तृप्त करो, वे पदार्थ हैं—(अमृतम्) अनेकविधरस, (घृतम्) घी, (पयः) दूध, (कीलालम्) उत्तम रीति से सम्पन्न तथा रोगनाशक अन्न तथा (परिस्रुतम्) रसभरे फल। इन सब पदार्थों से पितरों की सेवा करनी चाहिए। बृहत् पाराशरस्मृति में पितरों का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—

सोमसदोऽग्निष्वात्ता तथा बर्हिषदोऽपि वा ।
सोमपाश्च तथा विद्वांस्तथैव च हविर्भुजः ॥
आज्यपाश्च तथा वत्स तथा ह्यन्ये सुकालिनः ।
एते चान्ये च पितरः पूज्याः सर्वे द्विजातिभिः ॥७।१६७-१६८

यहाँ १२ प्रकार के पितर गिनाये गये हैं—

(१) सोमसदः (२) अग्निष्वात्ताः (३) बर्हिषदः (४) सोमपाः (५) हविर्भुजः (६) आज्यपाः (७) सुकालिनः (८) यमराजः (९) पितृ-पितामह-प्रतितामहाः (१०) मातृ-पितामही-प्रपितामह्यः (११) सगोत्राः (१२) आचार्यादिसम्बन्धिनः ।

सोमसदः— 'सोमे ईश्वरे सोमयागे वा सीदन्ति सोमगुणाश्च ते सोमसदः' —जो सोमयाग में निपुण, ईश्वर में लीन और शान्ति आदि गुणवाले हैं, वे 'सोमसद' कहाते हैं।

https://t.me/arshlibrary

अग्निष्वात्ताः—**'अग्निरीश्वरः सुष्ठुतया आत्तो गृहीतो यैस्ते यद्वा अग्नेर्गुणज्ञानात् पृथिवी= जलव्योम-यन्त्ररचनादिका पदार्थविद्या सुष्ठुतया आत्ता गृहीता यैस्ते अग्निष्वात्ताः'** अग्नि जो ईश्वर वा भौतिक अग्नि, उनके गुण ज्ञात करके जिन्होंने अच्छे प्रकार अग्निविद्या सिद्ध की है, वे 'अग्निष्वात्त' कहाते हैं।

बर्हिषदः—**'बर्हिषि सर्वोत्कृष्टे' ब्रह्मणि शमदमादिषूत्तमेषु गुणेषु वा सीदन्ति ते बर्हिषदः'** = जो सबसे उत्तम परब्रह्म में स्थिर होके शम, दम, सत्य आदि उत्तम गुणों से वर्त्तमान हैं, उनको बर्हिषद् कहते हैं।

सोमपाः—**'यज्ञेन-उत्तमौषधिरसं पिबन्ति पाययन्ति वा ते सोमपाः'** = जो यज्ञ करके सोमलता आदि उत्तम ओषधियों के रस का पान करने-करानेवाले हैं तथा जो सोमविद्या को जानते हैं, उनको 'सोमपा' कहते हैं।

हविर्भुजः—**'यज्ञेन शोधितवृष्टिजलादिकं भोक्तुं भोजयितुं वा शीलमेषां ते हविर्भुजः'**—जो अग्निहोत्रादि यज्ञ करके वायु और वृष्टि-जल की शुद्धि करके खाने-पीनेवाले हैं, उनकी संज्ञा हविर्भुज' है।

आज्यपाः— **'आज्यं घृतं यद्वा 'अज् गतिक्षेपणयोः' धात्वर्थात् आज्यं विज्ञानं तद्दानेन पान्ति रक्षन्ति पालयन्ति वा रक्षयन्ति वा विद्वांसः ते आज्यपाः'**= घृत स्निग्ध पदार्थ और विज्ञान को कहते हैं, जो उनके दान से रक्षा करनेवाले हैं, उनको 'आज्यपा' कहते हैं

सुकालिनः—**'ईश्वरविद्योपदेशकरणस्य ग्रहणस्य च शोभनो कालो येषां ते। यद्वा ईश्वरज्ञानप्राप्त्या सुखरूपः सदा कालो येषां ते 'सुकालिनः'**= मनुष्य-शरीर को प्राप्त होकर ईश्वर और सत्यविद्या के उपदेश का जिनका श्रेष्ठ समय और जो सदा उपदेश में ही वर्त्तमान हैं, उनको 'सुकालिनः' कहते हैं।

यमराजाः—**'ये पक्षपातं विहाय न्यायव्यवस्थाकर्त्तारः सन्ति ते यमराजाः'**—जो पक्षपातरहित होकर सदा सत्य-न्यायव्यवस्था करने में प्रवृत्त रहते हैं, वे 'यमराज कहाते हैं।

पितृपितामहप्रपितामहाः—(पितृ) **ये सुष्ठुतया श्रेष्ठान् विदुषो गुणान् वासयन्तः तत्र वसन्तश्च अनन्त-धनाः स्वान् जनान् धारयन्तः पोषयन्तश्च चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्याभ्यासकारिणः स्वे जनकाश्च सन्ति ते पितरः वसवः विज्ञेयाः, ईश्वरोऽपि वा'**। अर्थात् जो उत्पत्ति और पालन करे और चौबीस वर्षपयन्त ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या पढ़े, उसका नाम पिता या वसु है। (पितामह) **'ये पक्षपातरहिता दुष्टान् रोदयन्तश्चतुश्चत्वारिंशत् वर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्येण कृतविद्याभ्यासाः ते रुद्राः स्वे पितामहाश्च ग्राह्याः तथा रुद्र ईश्वरोऽपि।'** अर्थात् जो पिता का पिता हो और चवालीसवर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य से विद्याभ्यास कर पक्षपातरहित होकर दुष्टों को रुलानेवाला हो वह रुद्र है। (प्रपितामह) **आदित्यवत् उत्तमगुणप्रकाशका विद्वांसो अष्टचत्वारिंशत् वर्षेण ब्रह्मचर्येण सर्वविद्या सम्पन्नाः सूर्यवत् विद्याप्रकाशकाः त आदित्याः स्वे प्रपितामहाश्च ग्राह्याः तथा आदित्योऽविनाशीश्वरो वात्र गृह्यते'** जो पितामह का पिता हो और आदित्य के समान उत्तम गुणों का प्रकाशक, अड़तालीस वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम में विद्या पढ़के सब जगत् का उपकार करता हो उसको प्रपितामह अथवा आदित्य कहते हैं।

मातृपितामहीप्रपितामह्यः—**'पित्रादि मात्रादयः सेव्याः'**=पित्रादिकों के समान विद्यास्वभाववाली स्त्रियों की भी सेवा करनी चाहिए—माता, दादी, परदादी आदि।

सगोत्राः—**'स्वसमीपं पुत्रादयस्ते श्रद्धया पालनीयाः'**= जो समीपवर्त्ती स्वज्ञाति के वृद्ध पुरुष हैं, वे भी सेवा करने योग्य हैं।

https://t.me/arshlibrary

आचार्यादिसम्बन्धिनः—**'ये गुर्वादिसख्यन्ताः सन्ति ते हि सर्वदा सेवनीयाः'**=जो पूर्णविद्या के पढ़ानेवाले और श्वसुरादि सम्बन्धी तथा उनकी स्त्रियाँ हैं, उनकी भी यथायोग्य सेवा करनी चाहिए।

—ग्रन्थकारकृत पञ्चमहायज्ञविधि के अन्तर्गत पितृयज्ञ के आधार पर

इस प्रकार उपर्युक्त गुणोंवाले जीवित व्यक्तियों को ही पितर कहा जाता है। उन्हीं की सेवा करना पितृयज्ञ है। मृत पितरों की कल्पना मात्र भ्रान्ति है।

इस विषय में ग्रन्थकार ने पञ्चमहायज्ञीविधि में वेद से प्रमाण उद्धृत करके अपने मन्तव्य की पुष्टि की है—

'ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासः' (यजुः०१९।५, ऋग्० १०।१५।८) इत्यादि मन्त्र सोमसदादि पितरों में प्रमाण हैं। **'ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये** (यजुः० १९।४६) इत्यादि मन्त्र यमराजों में, **'पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः'** (यजुः० १९।३६) इत्यादि मन्त्र पिता-पितामह-प्रपितामहादि में तथा **'नमो वः पितरो रसाय'** (यजुः० २।३२) इत्यादि मन्त्र पितरों के सेवा-सत्कार में प्रमाण हैं। ये यजुर्वेदादि के वचन हैं। इसी आशय के वचन मनुस्मृति में उपलब्ध हैं। तद्यथा—

वसून् वदन्ति वै पितॄन् रुद्रांश्चैव पिता महान्।
प्रपितामहांचादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी॥ —मनु ३।२८४

अर्थात्—पितरों को वसु, पितामहों को रुद्र तथा प्रपितामहों को आदित्य कहते हैं।

ब्रह्मादयो—ये वचन आश्वलायन गृह्यसूत्र ३।४ व पारस्करगृहसूत्र परिशिष्ट ३ के आधार पर ऊहित प्रतीत होते हैं—

ब्रह्मणि—कई संस्करणों में 'सदृश उनकी विदुषी स्त्री ब्राह्मणी देवी और उनके' पाठ मिलता है। यह पाठ ग्रन्थकार के आशय के विरुद्ध है। 'उनकी विदुषी स्त्री' पाठ में सामान्यार्थ की बाधा होकर भार्यारूप विशेष की ब्राह्मणी और देवी संज्ञा बोधित होती है। ग्रन्थकार को मन्त्रस्थ 'पत्नी' शब्द का 'पालयित्री' सामान्य अर्थ विवक्षित है। ग्रन्थकार ने संवत् १९३१ में प्रकाशित 'पञ्चमहायज्ञविधि' में इन मन्त्रों को उद्धृत करके लिखा है—'चतुर्वेदविद्भ्यो दिव्यगुणेभ्यस्तत्स्त्रीभ्यस्तादृशीभ्य .....।' इस लेख के अनुसार चतुर्वेदविद् ब्रह्मा, दिव्यगुणसम्पन्न देवों की पत्नियाँ तथा उनके सदृश अन्य स्त्रियों का ग्रहण किया है।

'ब्रह्मन्' का स्त्रीलिङ्ग 'अन्नेभ्योः ङीप्' (पा० ४।१।५) के नियम से 'ब्रह्माणी' बनता है, परन्तु कोशकार प्रचलित प्रयोगों के आधार पर 'ब्राह्मणी' रूप दर्शाते हैं। सम्भव है, हस्तलेख में 'ब्रह्माणी' पाठ रहा हो, किन्तु लिपिकर अथवा मुद्रक ने उसे न समझकर 'ब्राह्मणी' बना दिया हो। स्वयं हमारी एक पुस्तक में 'आर्ष' शब्द से अनभिज्ञ होने के कारण मुद्रक ने उसके स्थान पर सुपरिचित सामान्य शब्द 'आर्य' बना दिया था और हमारी भूल ? को ठीक करके गर्व अनुभव किया था।

ओं सोमसदः—देव, ऋषि, पितृ-तर्पण के इन मन्त्रों को स० प्र० के प्रथम संस्करण में तीसरे समुल्लास में पृष्ठ ४२ पर उद्धृत किया है, परन्तु लेखक (लिपिकर) ने वहाँ पितृतर्पण के अन्त के दो मन्त्रों में 'मृत' पद बढ़ाकर लिख दिया—'ओं सम्बन्धिभ्यो'मृतेभ्यः' स्वधा नमः सगोत्रान् मृतांस्तर्पयामि।' इसके आगे यह भी लिख दिया—'पित्रादिकों में जो कोई जीता होय उसका तर्पण न करै और जितने मर गये होंय उनका तो अवश्य करै।' पाठ में यह गड़बड़ लिपिकर ने की है, क्योंकि सत्यार्थप्रकाश के साथ ही संवत् १९३१ में लिखी गई संस्कारविधि में ऐसा कुछ नहीं है। वहाँ 'मृत' शब्द वा मृतकश्राद्ध का बिलकुल वर्णन

https://t.me/arshlibrary

नहीं है। इसके सर्वथा विपरीत वहाँ जीवित पितरों के श्राद्ध का स्पष्ट विधान किया है— अनेन प्रमाणेन युक्त्या च विद्यमानान् विदुषः'।

अग्निष्वात्त—पौराणिकमतावलम्बी इस शब्द का अर्थ करते हैं—अग्नि ने जिन्हें अच्छी तरह से भक्षण कर लिया हो अर्थात् मर जाने पर जिनका दाहसंसकार हो गया हो। इस प्रकार वे इन मन्त्रों में मृत-पितरों का निर्देश होने से मृतकश्राद्ध को वेदसम्मत सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, परन्तु यदि यही अर्थ किया जाए तो व्याकरण की दृष्टि से 'अग्निष्वात्त' शब्द नहीं बन सकता। व्याकरणानुसार 'अद् भक्षणे' धातु के पीछे जब 'क्त' प्रत्यय आता है तब 'अदो जग्धिर्ल्यप्ति कीति' (पा० २।४।३६) इस अष्टाध्यायीसूत्र से 'जग्ध' रूप होता है। तब 'अग्निष्वात्ता' के स्थान पर 'अग्निसुजग्धाः' प्रयोग होना चाहिए था। इस दोष को जान-कर कुछ लोग इस 'अग्निष्वात्ताः' शब्द का यह अर्थ करते हैं—'अग्निना स्वात्ताः स्वादिता, अग्नि ने जिनका स्वाद ले लिया हो अर्थात् खा लिया हो। उनके मत में इस अर्थ से भी यहाँ मृतक पितरों का निर्देश सिद्ध है। इस प्रयोग में 'स्वाद आस्वादने' धातु से 'क्त' प्रत्यय करके 'स्वात्ताः' रूप निष्पन्न करते हैं, परन्तु 'स्वाद' धातु से 'क्त' प्रत्यय करने पर 'स्वादिताः' रूप बनता है, 'स्वात्ताः' नहीं। 'परिणामतः' ग्रन्थकार द्वारा किया अर्थ ही युक्तियुक्त ठहरता है। ग्रन्थकार ने 'अग्निष्वात्ता' शब्द की सिद्धि इस प्रकार की है—'अग्नि+सु+आत्ताः'। 'आङ्' उपसर्गपूर्वक 'दा' प्रत्यय किया गया है। 'आङ्' पूर्वक 'दा' धातु ग्रहण करने के अर्थ में आती है, न कि देने के अर्थ में, अतः इसका अर्थ हुआ—'सुष्ठु आत्तो गृहीतोऽग्निर्यैस्त अग्निष्वात्ताः' अर्थात् जिन्होंने अग्नि अर्थात् परमात्मा या भौतिकाग्निविद्या को अच्छी तरह प्राप्त किया है, वे 'अग्निष्वात्ताः' हैं।

यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त विग्रह के अनुसार तो 'स्वात्ताग्नयः' यह रूप होना चाहिए, 'अग्निष्वात्ताः' नहीं। वस्तुतः 'वाहिताग्न्यादिषु' (पा० २।२।३७) इस सूत्र से 'क्तान्त' को पर-निपात होने पर 'अग्निष्वात्ताः' रूप ठीक है। यहाँ कोई यह कह सकता है कि 'अग्निना स्वात्ताः स्वादिताः' में 'स्वादिताः' के स्थान में 'स्वात्ताः' आर्ष प्रयोग है, इसलिए 'अग्नि ने जिसका स्वाद लिया हो, अर्थात् 'मृतक पितर' यह अर्थ सर्वथा उपयुक्त है। इसका उत्तर यह है कि जब अन्य प्रकार से रूप की सिद्धि सम्भव हो तब उसे आर्ष प्रयोग कहकर टालना ठीक नहीं। तथापि, यदि 'दुर्जनतोषन्याय' से यह मान भी लिया जाए कि यह आर्ष प्रयोग है तब भी हमारे सिद्धान्त की हानि नहीं होती, परन्तु उस अवस्था में इसका यह अर्थ होगा कि जो व्यक्ति नित्य अग्निहोत्रादि, अग्निविद्यासम्बन्धी कार्य में संलग्न है, उसके विषय में हम यह कह सकते हैं कि तत्सहचरितोपाधि से अग्नि उसका स्वाद ले रही है। इस लाक्षणिक अर्थ से भी ग्रन्थकार के ही सिद्धान्त की पुष्टि होती है। मन्त्रगत 'अधिब्रुवन्तु' शब्द से पितरों से बोलकर उपदेश देने की प्रार्थना की गयी है। जीवित पितर ही बोलकर उपदेश दे सकते हैं।

मनु ने 'अग्निष्वात्तादि' पितरों को मरीचि की सन्तान तथा देवों के पितर कहा है, वह भी इसी अभिप्राय से कि वे पितर जीवित हैं—'अग्निष्वात्ताश्च देवानां मारीचा लोकविश्रुताः' (मनु० ३।१९५)। इसपर कुल्लूकमट्ट की टीका है—'अग्निष्वात्ता मरीचेः पुत्रा लोकविख्याताः देवानां पितरः'। मनु ने आगे कहा है—**'अग्निष्वात्तांश्च सोम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत्'** (३।१९६)। अर्थात् अग्निष्वात्त और सोम्य नाम के पितृगण ब्राह्मणों के पितर हैं। जब अग्निविद्या में निष्णात 'अग्निष्वात्त' हैं तो अग्निविद्या से भिन्न तत्सदृश वायु-जल भूगर्भादि विद्या में निष्णात 'अनग्निष्वात्ता' हैं। 'अग्निष्वात्त' पितरों से सम्बन्धित यजुर्वेद का यह मन्त्र है—

https://t.me/arshlibrary

ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशन्तन्वं कल्पयाति ॥ —१६।६०

वास्तविक अर्थ इस प्रकार है—जो पितर अग्निविद्या और अग्निविद्या से भिन्न जल आदि की विद्या के जाननेवाले है, अथवा जो दिव अर्थात् विज्ञानरूप प्रकाश के बीच में सुखभोग से आनन्दित रहते हैं, उनके हितार्थ स्वराट् अर्थात् स्वप्रकाशस्वरूप जो परमेश्वर है, वह प्राणविद्या का प्रकाश कर देता है। इसलिए हम प्रार्थना करते हैं कि हे परमेश्वर ! आप अपनी कृपासे उनके शरीर को सदा सुखी, तेजस्वी और रोग-रहित रखिए, जिससे उनके द्वारा हमें ज्ञान प्राप्त होता रहे।

इन मन्त्रों में पितरों के शरीर को नीरोग रखने की प्रार्थना से स्पष्ट है कि यहाँ जीवित पितरों का ही प्रसंग है, मृतकों का नहीं। प्रायः इसी आशय का एक मन्त्र अथर्ववेद में आया है, जो इस प्रकार है—

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
त्वं तान् वेत्थ यदि ते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम् ॥ —१८।२।३५

भावार्थ—जो अग्निहोत्र वा शिल्पविद्या सम्बन्धी अग्निविद्या में चतुर तथा जो अग्निविद्या से भिन्न विद्याओं में निष्णात्त हैं और जो विज्ञानी लोग दिव अर्थात् विज्ञानरूप प्रकाश के बीच में रहते हैं, हे सर्वज्ञ परमात्मन् ! यदि तू इनको अपनावे तो वे अन्न, जल व आनन्द को प्राप्त होते हुए इस यज्ञ का सेवन करें।

महाभारत में उपलब्ध निम्न श्लोक से भी इस अर्थ की पुष्टि होती है —

ब्राह्मणाः साग्निहोत्राश्च तथैव च निरग्नयः ।
बहवो ब्राह्मणास्तत्र परिवव्रुर्युधिष्ठरम् ॥ —वनपर्व २४।१४।१५

अर्थात् अग्निहोत्र से युक्त तथा अग्नि से रहित ब्राह्मणों ने वहाँ वन में युधिष्ठर को घेर लिया।

अग्निदग्धानग्निदग्धान् काव्यान् बर्हिषदस्तथा ।
अग्निष्वातांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत् ॥ —मनु० ३।१९९

उपर्युक्त श्लोक में अग्निष्वात्तादि सभी को ब्राह्मणों का पितर कहा है। यदि जले हुओं का नाम ही पितर है तो वे केवल ब्राह्मणों के ही पितर क्यों हैं, सबके क्यों नहीं ? फिर, अग्नि में शरीर ही जलते हैं, जीव नहीं और जले हुओं के प्रसन्न-अप्रसन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

यहाँ हम दो अन्य मन्त्रों को उद्धृत करते हैं, जिन्हें प्रायः मृतकश्राद्ध की पुष्टि में प्रस्तुत किया जाता है। पहला मन्त्र इस प्रकार है—

ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः ।
सर्वांस्तानग्न आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ —अथर्व० १८।२।३४

पौराणिकों के मत में यह मन्त्र गाड़े, फूँके, पड़े पितरों के बुलाये जाने से सम्बन्धित है, परन्तु ऐसा अर्थ सर्वथा अशुद्ध तथा युक्तिशून्य है। यह गाड़ना, फूँकना आदि शब्दों का प्रयोग जीवों के प्रसंग में तो किया नहीं जा सकता क्योंकि—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ —गीता २।२३

अब रह गये शरीर, सो नष्ट हो गये। इसलिए उनका खाने के लिए आना असम्भव है। फिर, गाड़ा

https://t.me/arshlibrary

प्रायः छोटे बच्चों को जाता है। वे किसी के पितर नहीं होते। इस मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ इस प्रकार है—

(ये) जो (निखातः) खनिज विद्या में निष्णात, (ये) जो (परोप्ताः) बीजे बोने अर्थात् कृषिविद्या में निष्णात, (ये) जो (दग्धाः) विदग्ध अर्तात् मेधावी (च ये) और जो (उद्धिताः) सबका हित करनेवाले (पितृन्) पितर है (तान् सर्वान्) उन सब पितरों को—(अग्ने) हे विद्वन् ! तू (आवह) इस पितृयज्ञ में आमन्त्रित कर (हविषे अत्तवे) ताकि वे हविष्यान्न को ग्रहण करें।

इस प्रकरण में दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः ।
अस्मिन् यज्ञे स्वधयामदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ —यजुः० १९।५८

भावार्थ—जो (सोम्यासः) चन्द्रमा के समान शान्त, शमदमादिगुणयुक्त (अग्निष्वात्ताः) अग्न्यादि पदार्थ-विद्या में निपुण (नः) हमारे (पितरः) अन्न और विद्या के दान से रक्षक जनक, अध्यापक और उपदेशक लोग हैं (ते) वे (देवयानैः) आप्त पुरूषों के आने-जाने योग्य (पथिभिः) धर्मयुक्त मार्गों से (आयन्तु) आवें तथा (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञ में (स्वधया) अन्नादि से (मदन्तः) आनन्द को प्राप्त हुए (अस्मान्) हम लोगों को (अधिब्रुवन्तु) अधिष्ठित होकर उपदेश करें और इस प्रकार हमारी रक्षा करें।

मृतक पितरों का यज्ञ में आना, भोजन करके प्रसन्न होना, यजमान को उपदेश करना और उसकी रक्षा करना सम्भव नहीं है। ये सब काम जीवित पितर ही कर सकते हैं।

पितृयज्ञ का विधान पञ्चमहायज्ञों के अन्तर्गत है। श्राद्ध दैनिक कर्म है। मनुस्मृति का आदेश है—

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।
पयोमूलफलैर्वाऽपि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ —३।८२

अर्थात् गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि माता-पिता आदि पूज्य महानुभावों का अन्नादि भोज्य पदार्थों से तथा जल, दूध और कन्द-मूल-फलादि से प्रतिदिन श्राद्ध करें परन्तु प्रचलित अर्थों में तो केवल आश्विन मास के पन्द्रह दिनों में और इन दिनों में भी एक पितर के लिए एक दिन ही श्राद्ध करते हैं। शेष ३६४ दिन वे भूखे-प्यारो पड़े रहते हैं। भला ! एक वर्ष में एक दिन के श्राद्ध से पितरों की क्या तृप्ति हो सकती है ? हाँ, दीर्घकाल तक सन्तुष्टि के उपाय महाभारत में अवश्य लिखे हैं जैसे—

द्वौ मासौ तु भवेत्तृप्तिर्मत्स्यैः पितृगणस्य च ।
त्रीन् मासानाविकेनाहुश्चतुर्मासं शशेन ह ॥
आजेन मासान् प्रीयन्ते पञ्चैव पितरो नृप ।
वराहेण तु षन्मासान् सप्त वै शाकुनेन तु ॥
मासानेकादश प्रीतिः पितृणां माहिषेण तु ।
गव्येन दत्ते श्राद्धे तु संवत्सरमिहोच्यते ॥
आनन्त्याय भवेद्दत्तं खड्गमांसं पितृक्षये ।
कालशाकं च लौहं चाप्यानन्त्यं छाग उच्यते ॥

—अनुशासनपर्व, अध्याय ८८

अर्थ—मछली के मांस से पितर दो मास तक तृप्त रहते हैं, भेड़ के मांस से तीन मास तक और खरगोश के मांस से चार मास तक। बकरे के मांस से पितरगण पांच मास तक तृप्त रहते हैं, सुअर के

https://t.me/arshlibrary

मांस से छह मास तक और पक्षियों के मांस से सात मास तक तृप्त रहते हैं, भैंसे के मांस से पितरों की तृप्ति ग्यारह मास तक और गौ के मांस से बारह मास तक होती है। गैंडे तथा लाल बकरे के मांस से अनन्त काल तक पितर तृप्त रहते हैं।

एतदनुसार अनुष्ठान करने से सदा के लिए श्राद्ध कर्म से मुक्ति मिल सकती है, किन्तु इससे तथा-कथित ब्राह्मणों के व्यवसाय की हानि अवश्यम्भावी है। शायद उन्हीं के कहने से गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित महाभारत से उपर्युक्त श्लोक निकाल दिये गये हैं।

मृतकश्राद्ध के प्रसंग में भविष्योत्तरपुराण (अध्याय ६८) में उपलब्ध ऋषिपञ्चमी कथा द्रष्टव्य है, जो इस प्रकार है—

विदर्भ देश में श्येनजित् नामक राजा राज्य करता था। उसके राज्य में सुमित्र नाम का एक ब्राह्मण रहता था उसकी स्त्री का नाम जयश्री था। वह स्त्री ऋतुकाल में बर्तनों को छूती रहती थी। कुछ दिनों के पीछे वे दोनों मर गये। ऋतु-सम्पर्क दोष के कारण सुमित्र का जन्म बैल के रूप में और जयश्री का कुतिया के रूप में हुआ। सुमित्र के बेटे का नाम सुमति तथा पुत्रवधू का नाम चन्द्रवती था। संयोगवश वे बैल तथा कुतिया अपने बेटे के घर में ही रहते थे। एक दिन सुमति ने पिता का श्राद्ध किया। सुमति बैल को लेकर खेत में हल जोतने चला गया। चन्द्रावती ने खीर बनाई। एक साँप आया और खीर में जहर डालकर चला गया। कुतिया ने यह देख लिया। उसने यह सोचकर कि इसे खाकर ब्राह्मण मर जाएँगे अपनी पुत्रवधु को दिखाकर खीर में मुँह डाल दिया। खीर को जूठी कर देने के कारण चन्द्रावती ने कुतिया को जलती लकड़ी से इतना मारा कि उसकी कमर टूट गई। खीर फिर बनाई गई। ब्राह्मणों को भरपेट भोजन खिलाया गया, किन्तु कुतिया को जूठन तक न मिली। आधी रात को कुतिया बैल के पास गई और अपनी रामकहानी सुनाकर बोली कि मैं भूख से मरी जा रही हूँ। आज तो जूठा टुकड़ा भी नहीं मिला। यह सुनकर बैल ने कहा कि यह सब पूर्वकर्मों का फल है। तेरी भूल या पाप के कारण मेरी कैसी दुर्गति हुई—

किं करोमि अशक्तोऽहं भारवाहत्वमागतः ।
अद्याहमात्मनः क्षेत्रे वाहितः सकलं दिनम् ॥४०॥
मारितश्चात्मजेनाहं मुखं बद्ध्वा बुभुक्षितः ।
वृथा श्राद्धं कृतं तेन जाताऽद्य मम कष्टता ॥४१॥

भाषार्थ—मैं क्या करूँ, बेबस हूँ। मैं बोझ-ढोनेवाला बैल बन गया। आज सारा दिन अपने ही खेत में हल वहाता रहा और मेरे अपने पुत्र ने मेरा मुख बाँधकर खूब मारा। मैं भी बहुत भूखा हूँ। इसने व्यर्थ ही श्राद्ध किया। यही कथा हूबहू पद्मपुराण (उत्तर खण्ड ६, अध्याय ७८) में मिलती है। इस कथा से स्पष्ट हो जाता है कि श्राद्ध में ब्राह्मणों को खिलाया गया भोजन पितरों को नहीं पहुँचता। भोजन करने से पहले और फिर भोजन करने के पश्चात् श्राद्ध में भोजन करनेवाले ब्राह्मण को तोलना चाहिए। यदि दोनों बार का उसका वजन एक-सा हो तो समझ लेना चाहिए कि भोजन पितरों के पास चला गया। यदि बाद का वज़न अधिक निकले तो स्पष्ट है कि वह ब्राह्मण देवता के पेट में जमा है। यदि वह भेजना चाहे तो भी नहीं भेज सकता, क्योंकि ब्राह्मण देवता को यजमान के पितर का पता मालूम नहीं होता। यदि किसी तरह चला ही जाए तो अगले जन्म में हाथी बन गया पितर ब्राह्मण द्वारा खाये गये भोजन को पाकर भी भूखा रह जाएगा और चींटी बना हुआ उसमें डूब मरेगा। यदि किसी के पिता को अफ़ीम खाने की आदत हो

https://t.me/arshlibrary

तो उसे अफ़ीम खाये बिना भोजनमात्र से तृप्ति नहीं होगी। उस अवस्था में पितरों को पहुँचानेवाले ब्राह्मण को अफ़ीम खिलानी पड़ेगी। यदि किसी के चार पुत्र हों और दूर-दूर शहरों में रहते हों। तब यदि चारों ही श्राद्ध करें तो पिताजी एक समय में चारों के यहाँ कैसे पहुँचेंगे? सशरीर आएँ तो दीखने चाहिएँ, किन्तु आज तक किसी ने अपने पितरों को आते-जाते नहीं देखा। यदि शरीर को छोड़कर आत्मा आये तो मृत जानकर सगे सम्बन्धी उसे श्मशान में ले-जाकर भस्म कर देंगे। लौटकर कहाँ रहेगा? फिर भोजन तो शरीर करता है, आत्मा नहीं, इसलिए आकर करेगा भी क्या? पहले श्राद्ध में आमन्त्रित ब्राह्मण भोजन करेगा या पितर। यदि ब्राह्मण करेगा तो पितर जूठा खाएगा और यदि पितर पहले करेगा तो ब्राह्मण को जूठा खिलाने का पाप लगेगा। इस प्रकार के अनेक छोटे-बड़े प्रश्न हैं जिनका समाधान अपेक्षित है, किन्तु समाधान मिलेगा नहीं, क्योंकि श्राद्ध की बात अपने-आपमें बिल्कुल निराधार है। यह स्वार्थी पोपों द्वारा भोले लोगों को ठगने की विद्या से अधिक कुछ नहीं। यदि एक का खाया दूसरे के पेट में पहुँचाया जा सके तो यात्रा पर जानेवाले व्यक्ति को अपने साथ पाथेय ले-जाने की आवश्यकता न रहे। वाल्मीकि रामायण में इस उपाय का उल्लेख करते हुए लिखा है—

यदि भुक्तमिहान्येन देहमन्यस्य गच्छति ।
दद्यात् प्रवसतां श्राद्धं न तत्पथ्यशनं भवेत् ॥ —अयो०१०८।१५

अर्थात् यदि दूसरे का खाया हुआ दूसरे के शरीर में चला जाए तो प्रवास में जानेवालों का भी श्राद्ध कर देना चाहिए। उसे मार्ग में भोजन की क्या आवश्यकता है? यदि यह कहा जाए कि भोजन पितरों को भले ही न पहुँचे, उनकी सन्तान द्वारा उनके नाम पर ब्राह्मणों को भोजन कराने का पुण्यफल तो उनको मिलेगा ही, तो यह भी उपपन्न नहीं होता, क्योंकि सबको अपने ही किये कर्मों का फल मिलता है, अन्यों के किये का नहीं—

न कर्मणा पितुः पुत्रः पिता वा पुत्रकर्मणा ।
मार्गेणान्येन गच्छन्ति बद्धाः सुकृतदुष्कृतैः ॥
यत्करोति शुभं कर्म तथा कर्म सुदारुणम् ।
तत्कर्त्तैव समश्नाति बान्धवानां किमत्र ह ॥
—महा० शान्ति० अ० १५३।३८, ४१

बालो युवा च वृद्धश्च यत्करोति शुभाशुभम् ।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं प्रतिपद्यते ॥ —महा० शान्ति० आ० १८१, १५

अर्थ—पिता के कर्म से पुत्र तथा पुत्र के कर्म से पिता नहीं, अपितु अपने किये पाप-पुण्यों से बँधे हुए इस मार्ग से जाते हैं। जो शुभ कर्म करता है अथवा पाप कर्म करता है, उनको करनेवाला ही भोगता है, इसमें रिश्तेदारों का कुछ लेना-देना नहीं होता। बालक, जवान, बूढ़ा जो भी शुभ-अशुभ कर्म करता है, उस-उस अवस्था में उसका फल भोगता है।

वैशेषिक दर्शन में कहा है—

आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात् । —६।१।५

अर्थात् अन्य आत्मा के गुणों का अन्य आत्मा में कारण न होने से, एक आत्मा के द्वारा अनुष्ठित कर्म का फल दूसरे आत्मा को नहीं मिल सकता।

इस सूत्र का अभिप्राय यही है कि केवल कर्त्ता को स्वकृत कर्म का फल मिलता है। ऐसा न होने

https://t.me/arshlibrary

'यः पाति स पिता' जो सन्तानों का अन्न और सत्कार से रक्षक वा जनक हो, वह **'पिता'** । **'पितुः पिता पितामहः, पितामहस्य पिता प्रपितामहः'** जो पिता का पिता हो वह **'पितामह'**; और जो पितामह का पिता हो, वह **'प्रपितामह'** । **'या मानयति सा माता'** जो अन्न और सत्कारों से सन्तानों का मान्य करे, वह **'माता'** । **'या पितुर्माता सा पितामही, पितामहस्य माता प्रपितामही'** जो पिता की माता हो वह **'पितामही,'** और जो पितामह की माता हो, वह **'प्रपितामही'** ।

अपनी स्त्री तथा भगिनि, सम्बन्धी, और एक गोत्र के तथा अन्य कोई भद्रपुरुष वा वृद्ध हों, उन सब को अत्यन्त श्रद्धा से उत्तम अन्न, वस्त्र, सुन्दर, यान आदि देकर अच्छे प्रकार जो तृप्त करना अर्थात् जिस-जिस कर्म से उनकी आत्मा तृप्त और शरीर स्वस्थ रहे, उस-उस कर्म से प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करनी, वह **श्राद्ध** और **तर्पण** कहाता है ॥

पर कृतहानि (किये कर्म का फल न मिलना) और अकृताभ्यागम (बिना किये कर्म का फल मिलना) दोषों की प्राप्ति होगी अतः अन्य योनियों में गये हुए जीवों को कुछ भी पहुँचाने की प्रार्थना या उसके लिए प्रयत्न करना ईश्वरीय नियम के विरुद्ध आचरण करना है ।

वस्तुतः चारों वेदों में न तो श्राद्ध शब्द है और न ऐसा कोई मन्त्र है जिसमें मृतक पितरों के निमित्त ब्राह्मणों को भोजन कराने से उनकी तृप्ति का उल्लेख किया हो । हाँ, जीवित पितरों अर्थात् माता-पिता, ज्ञानी, महात्मा आदि की सेवा का प्रतिपादन करनेवाले मन्त्र अवश्य मिलते हैं ।

सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण और मृतक-श्राद्ध

पौराणिक पण्डितों की मान्यता है कि स्वामी दयानन्द ने संवत् १९३२ में (सन् १८७५) प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश में मृतक-श्राद्ध का प्रतिपादन किया था, किन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् आर्यसमाजियों द्वारा लिखित तथा संवत् १९४१ (सन् १८८४) में प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश में उसका खण्डन समाविष्ट कर दिया । सनातन धर्म के मूर्धन्य विद्वान् पं० कालूराम शास्त्री ने अपनी कुख्यात पुस्तक 'आर्यसमांज की मौत' में पृष्ठ १४७ पर स्वयं लिखा है कि—

"स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश की प्रथमावृत्ति (संवत् १९३२) में मृतकों का श्राद्ध अपने आप लिखा । संवत् १९३४ में कलकत्ता में उन्होंने आशु चटर्जी से कह दिया कि वह मेरा लेख नहीं, मेरे पास रहनेवाले पण्डितों ने लिख दिया ।"

पं० कालूराम के उपर्युक्त लेख से इतना तो स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण के प्रकाशित होने के दो वर्ष पश्चात् और मृत्यु से छह वर्ष पहले कलकत्ता में सार्वजनिक रूप से कह दिया था कि प्रथम संस्करण में उपलब्ध मृतक-श्राद्ध का प्रतिपादक लेख उनका अपना न होकर दूसरे पण्डितों द्वारा प्रक्षिप्त है । तब उसे स्वामीजी का मन्तव्य बताते जाना बौद्धिक बलात्कार नहीं तो क्या है? सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण का प्रकाशन संवत् १९३२ में हुआ । उसमें उपलब्ध मृतक-श्राद्ध विषयक लेख उनका अभिमत नहीं हो सकता, यह इस बात से सिद्ध है कि वे संवत् १९३२ से बहुत पहले संवत् १९२४ से मृतक-श्राद्ध का खण्डन और जीवित पितरों के श्राद्ध का उपदेश करते आ रहे थे । उदाहरणार्थ--

(१) महर्षि के जीवन-चरित में कार्तिक संवत् १९२४ की एक घटना इस प्रकार लिखी है—

https://t.me/arshlibrary

"**बासी** में स्वामीजी ने **शफ़ीपुर** में मायाराम जाट से कहा कि जीवित पितरों का ही श्राद्ध किया करो, और इसकी पद्धति बनाकर वे पण्डित ज्वालाप्रसाद को दे गये थे।

—पृष्ठ १०८

(२) कार्तिक कृष्णपक्ष संवत् १९२९ में भागलपुर में भी ऋषि दयानन्द ने जीवित पितरों के श्राद्ध का मण्डन और मृत पितरों के श्राद्ध का खण्डन किया था।

—पृष्ठ २२०

(३) 'वेदतत्त्व-प्रकाश' नाम से प्रकाशित 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के सम्पादक प्रो० सुखदेव ने स्वीय सम्पादकीय वक्तव्य के पृष्ठ २-३ में लिखा है—

"लिखने का कार्य दूसरे पण्डितों के हाथ में होने के कारण प्रमादवश पण्डितों ने महर्षि के ग्रन्थों में अक्षम अशुद्धियाँ भी कर दीं, परिणामतः सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण में पण्डितों ने स्वेच्छानुसार मृतक-श्राद्ध एवं मांस-भक्षण का विधान कर दिया। उसी संस्करण को पढ़कर ठाकुर मुकुन्दसिंह रईस छलेसर ज़िला अलीगढ़ निवासी ने महर्षि से निवेदन किया— 'मैं पार्वण श्राद्ध कराना चाहता हूँ, उसके लिए एक बकरा भी तैयार है। आप इस श्राद्ध को कराइए।' इस पत्र को पढ़कर महर्षि के आश्चर्य का ठिकाना न रहा और उन्होंने बनारस से उत्तर दिया—

'यह संस्करण राजा जयकृष्णदास द्वारा मुद्रित हुआ है। इसमें बहुत अशुद्धियाँ हो गयी हैं। शाके १८९६ मैं मैंने जो 'पञ्चमहायज्ञविधि' प्रकाशित कराई थी, जोकि राजाजी के सत्यार्थप्रकाश से एक वर्ष पूर्व छपी थी, जब उसमें मृतक-श्राद्ध आदि का खण्डन है, तो फिर सत्यार्थप्रकाश में उसका मण्डन कैसे हो सकता है ? अतः श्राद्ध विषय में जो मृतक-श्राद्ध और मांस-विधान का वर्णन है, वह वेदविरुद्ध होने से त्याज्य है।'

इस उत्तर को पाकर ठाकुर साहब ने अपना विचार छोड़ दिया। इसके पश्चात महर्षि के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे एक विज्ञापन के द्वारा अपनी स्थिति को स्पष्ट करें, और वैसा ही उन्होंने किया भी।"

ऋषि दयानन्द का यह महत्त्वपूर्ण पत्र किसी 'पत्र-व्यवहार' में प्रकाशित नहीं हुआ। इसीलिए श्री पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने श्री प्रो० सुखदेवजी को पत्र लिखकर पूछा कि आपने ऋषि के इस पत्र का उद्धरण कहाँ से लिया तो उत्तर में उन्होंने अपने २३।१०।४८ के पत्र में लिखा। "मुकुन्दसिंहजी छलेसर निवासी के पत्र का उत्तर जो ऋषि दयानन्द ने दिया था, उसे आप वैदिक सिद्धान्त-ग्रन्थमाला' पितृयज्ञसमीक्षा पृष्ठ २८ तथा कुछ अन्य पृष्ठों पर भी देख सकते हैं। यह भास्कर प्रेस मेरठ से संवत् १९७४ वि० में प्रकाशित हुई थी।"

सत्यार्थप्रकाश में प्रक्षेप के कारण उत्पन्न भ्रान्ति का निवारण करने के लिए ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदभाष्य तथा यजुर्वेदभष्य के प्रथम तथा द्वितीय अंक, जो श्रावण तथा भाद्रपद संवत् १९३५ में छपे थे, के मुखपृष्ठ की पीठ पर छपवाया था। उसमें मृतक-श्राद्ध विषयक प्रक्षिप्त अंश के सन्दर्भ में लिखा था—

".....और जो सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ ४२ पंक्ति २ में 'पित्रादिकों में से जो कोई जीता हो, उनका तर्पण न करें, और जितने मर गये हों, उनका तो अवश्य करे'। तथा पृष्ठ ४७ पंक्ति २१ 'मरे भये पित्रादिकों का तर्पण और श्राद्ध करना है' इत्यादि तर्पण और श्राद्ध के विषय में जो छापा गया है, सो लिखने और शोधनेवालों की भूल से छप गया है। इसके स्थान में ऐसा समझना चाहिए कि—'जीवितों की

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

चौथा **'वैश्वदेव'**—अर्थात् जब भोजन सिद्ध हो, तब जो कुछ भोजनार्थ बने, उसमें से खट्टा, लवणान्न

श्रद्धा से सेवा करके नित्य तृप्त करते रहना, यह पुत्रादि का परम धर्म है। और जो-जो मर गये हों उनका नहीं करना, क्योंकि न तो कोई मनुष्य मरे हुए जीव के पास किसी पदार्थ को पहुँचा सकता है, और न मरा हुआ जीव पुत्रादि से दिये गये पदार्थों को ग्रहण कर सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीते पिता की प्रीति से सेवा करने का नाम तर्पण और श्राद्ध है, अन्य का नहीं।' इस विषय में वेदमन्त्रादिकों के प्रमाण भूमिका के ११ अङ्क के पृष्ठ २५१ से लेके १२ अङ्क के पृष्ठ २६७ तक छपा है, वहाँ देख लेना।"

—पत्र व्यवहार' पृष्ठ ६४

महिर्षि के अनन्य भक्त तथा जीवनीकार पं० देवेन्द्रनाथ ने सत्यार्थप्रकाश में पूर्वोक्त प्रक्षेप के विषय में राजा जयकृष्णदास से भी पूछा था। राजाजी ने पण्डित देवेन्द्रनाथजी से कहा था—

"सत्यार्थप्रकाश में जो मत स्वामीजी का लिखा गया, या जो कुछ पीछे से परिवर्तित हुआ, उसके लिए स्वामीजी इतने उत्तरदाता नहीं हैं। स्वामीजी को उस समय प्रूफ़ देखने का अवकाश ही नहीं था। पहले-पहल स्वामीजी सभी लोगों को अच्छा समझकर उनका विश्वास कर लेते थे। हो सकता है कि लेखक या मुद्रक द्वारा यह सब सत्यार्थप्रकाश में छप गया हो और यह भी हो सकता है कि उनका मत पीछे से परिवर्त्तित हो गया है।"—देवेन्द्रनाथ सम्पादित जीवनचरित्र, पृष्ठ २७३

जीवन-चरित्र पृष्ठ ६१६ से विदित होता है कि 'किन्ही का ऐसा भी विचार है कि 'मृत पितरों का श्राद्ध और यज्ञ में मांसादि का विधान राजा जयकृष्णदास ने लिखवा दिया था'। इस विषय में श्री युधिष्ठिर मीमांसक का कहना है कि हमें इस विचार में कुछ सत्यता प्रतीत होती है। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

महर्षि ने संवत् १६३१ में 'पञ्चमहायज्ञविधि' का प्रथम संस्करण स्वयं छपवाया था। उसके पितृतर्पण प्रकरण में लिखा है—

१. भाष्य—'गुर्वादिसख्यन्तेभ्यः। ऐषां सोमसदादीनां श्रद्धया तर्पणं कार्यं विद्यमानानाम्। श्रद्धया यत् क्रियते तत् श्राद्धम्। तृप्त्यर्थं यत् क्रियते तत् तर्पणम्।—पृष्ठ २०-२१

२. क्रोधेन..... (मनु के श्लोक उद्धृत करके) भा०—अनेन प्रमाणेन युक्त्या च विद्यमानान् विदुषः श्रद्धया सत्याचारेण तृप्तान् कुर्यादित्यभिप्रायः श्रद्धया देवान् द्विजोत्तमान् इत्युक्वात्।—पृष्ठ २१

इसमें स्पष्ट रूप से जीवितों के श्राद्ध का विधान किया है। इस पुस्तक का लेखनकाल ग्रन्थ के अन्त में इस प्रकार छपा है—

शशिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे त्वाश्विनस्य सिते दले।
प्रतिपद् रविवारे च भाष्यं वै पूर्तिमगमत्॥

अर्थात् यह ग्रन्थ आश्विन शुक्ला १ प्रतिपद् रविवार संवत् १६३१ में पूर्ण हुआ। सत्यार्थप्रकाश का लेखन आषाढ़ बदि ११ संवत् १६३१ से प्रारम्भ हुआ था। उसके लगभग ३ मास पीछे सत्यार्थप्रकाश के लेखन की समाप्ति के लगभग साथ ही 'पञ्चमहायज्ञविधि का लेखन समाप्त हुआ था। इससे स्पष्ट है कि जिस समय सत्यार्थप्रकाश लिखा जा रहा था, उस समय ऋषि दयानन्द मृत-पितरों का श्राद्ध नहीं मानते थे। निश्चय ही सत्यार्थप्रकाश के हस्तलेख में यह प्रकरण पीछे से मुद्रणकाल में मिलाया गया है और इसके लिए आगे-पीछे के कुछ पृष्ठ (जिनपर ऋषि दयानन्द के संशोधन नहीं हैं) पुनः लिखवाये गये हैं। इस दुष्कर्म में राजाजी का हाथ होने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता।

https://t.me/arshlibrary

और क्षार को छोड़के घृतमिष्टयुक्त अन्न लेकर, चूल्हे से अग्नि अलग धर निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति और भाग करे—

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।
आभ्यः कुर्य्यादेवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥ —मनु० ३।८४

जो कुछ पाकशाला में भोजनार्थ सिद्ध हो, उसका दिव्यगुणों के अर्थ उसी पाकाग्नि में निम्नलिखित मन्त्रों से विधिपूर्वक होम नित्य करे ॥

होम करने के मन्त्र—

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ सोमाय स्वाहा ॥ अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥ विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ धन्वन्तरये स्वाहा ॥ कुह्वै स्वाहा ॥ अनुमत्यै स्वाहा ॥ प्रजापतये स्वाहा ॥ सह द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा ॥ स्विष्टकृते[1] स्वाहा ॥

इन प्रत्येक मन्त्रों से एक-एक बार आहुति प्रज्वलित अग्नि में छोड़े । पश्चात् थाली अथवा भूमि में पत्ता रखके पूर्वदिशादि क्रमानुसार यथाक्रम **इन मन्त्रों से भाग रक्खे—**

ओं सानुगायेन्द्राय नमः ॥ सानुगाय यमाय नमः ॥ सानुगाय वरुणाय नमः ॥ सानुगाय सोमाय नमः ॥ मरुद्भ्यो नमः ॥ अद्भ्यो नमः ॥ वनस्पतिभ्यो नमः ॥ श्रियै नमः ॥ भद्रकाल्यै नमः ॥ ब्रह्मपतये नमः ॥ वास्तुपतये नमः ॥ विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ॥ दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥ नक्तञ्चारिभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥ सर्वात्मभूतये नमः ॥ पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ॥

बलिवैश्वदेवयज्ञ—बलिवैश्वदेवयज्ञ गृहस्थ द्वारा प्राणिमात्र के जीवन की रक्षार्थ किये जानेवाले प्रयत्न का प्रतीक है । जिस प्रकार बड़े-से-बड़े अपराधी के लिए भी जेल में रोटी, कपड़ा और मकान की व्यवस्था रहती है, उसी प्रकार अपने-अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों को प्राप्त जीवों के जीवन की रक्षार्थ प्रयत्न करना सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य का कर्त्तव्य है । वाचस्पत्यं कोश के अनुसार—

गोक्षीरं गोघृतं चैव धान्यमुद्गस्तिला यवाः ।
सामुद्रं सैन्धवं चैवाक्षारलवणं स्मृतम् ॥

नमकीन मट्टी (ऊषर या कल्लर) से बनाया हुआ नमक क्षार कहलाता है और कृत्रिम सैन्धवादि को लवण कहते हैं । अन्यत्र 'क्षार' शब्द को पारिभाषिक मानते हुए लिखा है—

हैङ्गुविका राजमाषा माषा मुद्गामसूरिका ।
लङ्क्याढ्कयाश्च निष्पावास्तिलाद्याः क्षारसंज्ञिताः ॥

—आश्व० गृ० गार्ग्यनारायण टीका १।८।१०

ये आहुतियाँ पाकाग्नि में (चूल्हे से अग्नि को अलग करके) देनी चाहिएँ । देवयज्ञ (होम) की अग्नि में बलिवैश्वदेवयज्ञ की आहुतियाँ नहीं देनी चाहिएँ ।

जिन मन्त्रों से यहाँ आहुति देने का निर्देश किया है, वे वेदोक्त मन्त्र नहीं हैं । मन्त्रसदृश वाक्यों को ही उपचार से मन्त्र कहा है । प्राचीन ऋषि कर्मकाण्ड के लिए मन्त्रों के पदों में परिवर्तन कर लिया

---

१. मनु० ३।८६ में केवल 'स्विष्टकृते' पद हैं, तथापि वह अग्नि का विशेषणरूप से प्रसिद्ध होने से विशेष्य का आक्षेप करके 'अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा' ऐसा मन्त्र होना चाहिए ।

https://t.me/arshlibrary

करते थे। ऐसे परिवर्तनयुक्त मन्त्र 'ऊह' कहलाते हैं। कर्मकाण्ड के निमित्त कुछ वाक्य परिकल्पित भी कर लिया करते थे। श्रौतसूत्रों, गृह्यसूत्रों आदि कर्मकाण्डविषयक ग्रन्थों में ऐसे अनेक वाक्य हैं। प्रायः वे वेदमूलक हैं। 'ऊह' के सम्बन्ध में महाभाष्यकार ने लिखा हैं **"ऊहः खल्वपि न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिता ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण विपरिणमयितव्याः ' (१।१।१।१) । अर्थात् ऊह भी वेद में सब लिङ्गों तथा सब विभक्तियों से युक्त नहीं पढ़े गये। यज्ञ करानेवाला यज्ञ के समय उनमें आवश्यकतानुसार** परिवर्तन कर ले अर्थात् पुल्लिग के स्थान में स्त्रीलिंग करले। इसी प्रकार विभिक्त भी बदली जा सकती है। 'अग्नये स्वाहा' इत्यादि मनुस्मृति के निम्न श्लोकों के आधार पर ऊहित हैं—

अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्च समस्तयोः ।
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च ॥
कुह्वै चैवानुमत्यै च प्रजापतय एव च ।
सहद्यावापृथिव्योश्च तथा स्विष्टकृतेऽन्ततः ॥ —मनु ० ३।८५—८६

अर्थात् पहले अग्नि, सोम, फिर उन दोनों को मिलाकर अग्निषोम, विश्वेदेव, धन्वन्तरि, कुहू, अनुमति, प्रजापति, सह द्यावापृथिवी तथा स्विष्टकृत् का होम करे। होम करने के लिए अन्त में 'स्वाहा' शब्द बोला जाता है, और जिसके साथ स्वाहा बोला जाता है, उसमें चतुर्थी विभक्ति लगाई जाती है। इसलिए ग्रन्थकार ने 'अग्नये स्वाहा' आदि लिखा है। इस सम्बन्ध में ८६वें श्लोक पर कुल्लूकभट्ट की टीका द्रष्टव्य है—

"कुह्वै...अनुमत्यै ...अग्नये...स्विष्टकृते इत्येवं स्वाहाकारान्तात् होमान्कुर्यात् । श्रुत्यन्तरेष्वग्नि विशेषणत्वेन स्विष्टकृतो विधानात् केवलं स्विष्टकृन्निर्देशेऽपि अग्निविशेषणत्वेनैव प्रयोगः ।" अर्थात् कुह्वै, अनुमत्यै....इत्यादि चतुर्थी विभक्त्यन्त बनाकर 'स्वाहा' अन्त में लगाकर होम करे। दूसरी श्रुतियों में 'स्विष्टकृत्' अग्नि का विशेषण है, अतः अकेले 'स्विष्टकृत्' पद का प्रयोग भी, अग्नि का विशेषण मानना चाहिए। 'सह द्यावापृथिविभ्यां' में प्रयुक्त 'सह' पद पञ्चमहायज्ञविधि के दोनों संस्करणों ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा संस्कारविधि के उत्तरवर्त्ती संस्करणों, में मिलता है। संस्कारविधि के संस्करण २, ३, ४ में 'सह' पद नहीं है। मनुस्मृति ३।८६ में 'सह द्यावापृथिव्योश्च' पाठ है, परन्तु वह समुच्चयार्थ है, मन्त्रावयव नहीं है।

अग्नये—प्रकाशस्वरूप परमात्मा की प्रसन्नता, उसकी आज्ञा पालन करते हुए जगत् के उपकार और भौतिक अग्नि के लिए यह आहुति सुहुत हो।

सोमाय—सब जगत् के पदार्थों को उत्पन्न करके सबको सुख देनेवाले परमात्मा की आज्ञा पालन करते हुए संसार के उपकार हेतु तथा परमेश्वर के रचे चन्द्रमा, जल और सोमलता आदि के लिए यह आहुति समर्पित है।

अग्निषोम—प्राणियों के जीवनहेतु, दुःनाशक परमेश्वर की प्रसन्नता, प्राण-अपानवायुओं की शुद्धि एवं पुष्टि के लिए यह आहुति समर्पित है।

विश्वेभ्यो—संसार को प्रकाशित करनेवाले ईश्वर के दिव्य गुणों, पृथिवी आदि पाँच तत्त्वों, समस्त विद्वानों और अन्यान्य प्राणियों के लिए यह आहुति देता हूँ।

धन्वन्तरये—मरण के दुःखों का नाश करनेवाले परमेश्वर की आज्ञा पालन करते हुए जगत् के उपकार के लिए, रोगों से छुटकारा दिलानेवाले आयुर्विज्ञान, विद्युत्, मेघ और वर्षा के लिए यह आहुति सुहुत हो।

https://t.me/arshlibrary

कुह्यै—परब्रह्म परमात्मा की संहारिणीशक्ति को स्मरण करते हुए उसकी आज्ञानुसार जगत् के उपकार के लिए चन्द्रमा और पूर्णमासी के लिए यह आहुति समर्पित है।

अनुमत्यै—परमात्मा की पालयित्री शक्ति अथवा उसकी कृपादृष्टि पाने और संसार का उपकार करने के लिए चन्द्रमा एवं पूर्णमासी के लिए यह आहुति देता हूँ।

प्रजापतये—सबके पालनहार परमेश्वर की आज्ञा का पालन करते हुए, सन्तानों की उत्तमरीति से रक्षा करने हेतु तथा पिता-पितामह आदि की प्रसन्नता के लिए यह आहुति सुहुत हो।

द्यावापृथिवी—द्युलोक और पृथिवीलोक के पदार्थों को रचने के साथ सब जीवों को सुख देनेवाले परमेश्वर की आज्ञानुसार द्यौ और पृथिवी अर्थात् लौकिक व पारलौकिक दोनों प्रकार का सुख पाने के लिए और तदर्थ अग्नि और भूमि से अपेक्षित लाभ लेने के लिए यह आहुति समर्पित है।

स्विष्कृते—अभीष्ट की प्राप्ति करानेवाले परमेश्वर की आज्ञा-पालन और परमेश्वर के रचे सृष्टिक्रमरूप यज्ञ के हेतु कार्यों में सहायता देनेवाले मित्रों के लिए यह आहुति देता हूँ।

इन मन्त्रों से पूर्वादि दिशाओं में यथाक्रम भाग रखें—

ओं सानुगायेन्द्राय नमः—इत्यादि मन्त्र (वाक्य) मनुस्मृति के ३।८७-९१ श्लोकों के आधार पर ऊहित हैं—

इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत् ॥ ८७॥
मरुद्भ्य इति द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि ।
वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत् ॥ ८८ ॥
उच्छीर्षके श्रियं कुर्याद् भद्रकाल्यै च पादतः ।
वास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत् ॥८९॥
विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत् ।
दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तञ्चरिभ्य एव च ॥९०॥
पृष्ठवास्तुनि कुर्वीति बलिं सर्वात्मभूतये ।
पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत् ॥९१॥

इन्हीं श्लोकों के आधार पर 'सानुगायेन्द्राय नमः' आदि मन्त्र (वाक्य) बनाये गये हैं। ग्रन्थकार ने 'ब्रह्मपतये नमः तथा 'वास्तुपतये नमः' दो वाक्य बनाये हैं। यह कहा जा सकता है कि जैसे ऊपर 'द्यावापृथिविभ्यां स्वाहा' बनाया है, वैसे ही यहाँ भी 'ब्रह्मवास्तुपतिभ्यां नमः ' वाक्य बनाया जाना चाहिए था। इस श्लोक पर अपनी टीका में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कुल्लूकभट्ट ने लिखा है, "द्वन्द्वनिर्देशेऽपि ब्रह्मवास्तोष्पत्योः पृथगेव देवतात्वम्। यत्र द्वन्द्वं मिलितस्य देवतात्वमपेक्षितं तत्र सहादिशब्दं करोति, यथा सहद्यावापृथिव्योश्चेति"—अर्थात् 'ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां' पद में द्वन्द्व समास होने पर भी यह एक देवता नहीं है, किन्तु दो पृथक् देवता हैं। जहाँ द्वन्द्व के द्वारा देवता बनाना होता है, वहाँ 'सह' आदि किसी शब्द को लगाते हैं जैसे 'सह द्यावापृथिवी'।

बलिप्रदानविधिक्रम

सानुगायेन्द्राय—सर्वैश्वर्ययुक्त परमेश्वर और उसके गुणों के प्रति आदर से नमन करते हैं। राजा के

https://t.me/arshlibrary

अनुगामी मन्त्री से लेकर साधारण कर्मचारी तक के हम ऋणी हैं, अतः उसके निमित्त का भाग निकालते हैं ।— इससे पूर्व

सानुगाय यमाय—पक्षपातरहित, सत्यन्याय करनेवाले परमेश्वर और उसकी सृष्टि में सत्य-न्याय करनेवालों का हम श्रद्धा से आदर करते हैं । न्यायाधीश और उसके अधीनस्थ अथवा प्रतिनिधिरूप पञ्चों आदि का सत्कार करते हैं । मृत्यु और उसके अनुचार रोग आदि के लिए वज्र प्रहार अर्थात् उनका निवारण कर दीर्घायुष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं ।—इससे दक्षिण

सानुगाय वरुणाय—विद्यादि उत्तम गुणों से युक्त, सबसे उत्तम परमात्मा और उसके भक्तजनों के प्रति हम नमन करते हैं । राजसभा में धर्माध्यक्ष और उसके सहायकों का हम आदर करते हैं । आकाश, समुद्र आदि भौतिक देवों के लिए हवि प्रदान करते हैं । नीर-क्षीर-विवेकी, सत्य को ग्रहण और असत्य के परित्याग में प्रवृत्त सज्जनों के लिए अन्नादि की व्यवस्था करते हैं ।—इससे पश्चिम

सानुगाय सोमाय—पुण्यात्माओं को आनन्दित करनेवाले परमात्मा तथा पुण्यात्माओं के प्रति हम श्रद्धापूर्वक नमन करते हैं । शान्ति स्थापित करनेवाले सेनापति और उसके सहायक सैनिकों आदि के लिए भोजनादि की व्यवस्था तथा चन्द्रमा एवं वनस्पति आदि के लिए हवि (होम) करते हैं जिससे अन्तरिक्ष की शुद्धि होकर अमृतमय जल और सुखद वायु की प्राप्ति हो ।—इससे उत्तर

मरुद्भ्यो—महाप्राण ईश्वर के लिए नमस्कार और ईश्वर के आधार से सकल विश्व को धारण करने और गति देनेवाले प्राण (जिसके रहने से जीवन और निकलने से मृत्यु होती है) की रक्षा के लिए सदा प्रयत्न करते हैं । यम-नियमों का पालन करनेवाले तपस्वियों, वानप्रस्थ मुनियों आदि को भोजन आदि प्रदान करने तथा अन्तरिक्षस्थ वायु को सुगन्धित करने का प्रयत्न करते हैं ।—इससे द्वार

अद्भ्यो—जल के समान शान्तिदायक तथा सर्वव्यापक परमेश्वर के लिए नमस्कार और नहर आदि बनानेवालों तथा जल में रहनेवाले प्राणियों के लिए भोजन देते हैं ।—इससे जल

वनस्पतिभ्यो—सब लोकों के पालक परमेश्वर और उसके गुणों के प्रति नमन करते हैं । जो वर्षा में सहायक हैं और जिनसे प्राप्त फल आदि से जगत् का उपकार होता है, उन वनों का संरक्षण करते हैं । —इससे मूसल-ऊखल

श्रियै—जो परमेश्वर सबका उपास्य तथा जिसने जगत् को शोभा प्रदान की है, उसे हम श्रद्धापूर्वक नमन करते हैं । उस परमेश्वर की उपासना से राज्यश्री की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते और शिल्पियों के लिए अन्नभाग निकालते हैं ।—इससे ईशान

भद्रकाल्यै—इहलौकिक और पारलौकिक सुख=मोक्ष प्रदान करनेवाले परमात्मा का आश्रय लेते हैं । जीवों को सुलाकर उनका कल्याण करनेवाली रात्रि का आश्रय लेते हैं ।—इससे नैर्ऋत्य

ब्रह्मपतये—सर्वविद्यावित् तथा अखिल ब्रह्माण्ड के स्वामी परमेश्वर की भक्ति और विद्याप्रचार के लिए प्रयत्न करना आवश्यक कर्त्तव्य है । वेदज्ञों और योगियों के योगक्षेम की समुचित व्यवस्था करनी चाहिए । संसार के स्वामी को नमस्कार हो ।

वास्तुपतये—वास्तुविद्याविशारदों, मन्त्रकारों , अभियन्ताओं आदि के प्रति हम नमन करते हैं ।

दिवाचरेभ्यः, नक्तञ्चारिभ्यः —दिन और रात्रि में विचरण करनेवाले समस्त प्राणियों को हम नमन करते हैं । दो प्रकार के जीव होते हैं —एक मनुष्य के लिए हितकर और दूसरे उसके अहितकर । नमः

https://t.me/arshlibrary

इन भागों को जो कोई अतिथि हो तो उसको जिमा देवे, अथवा अग्नि में छोड़ देवे। इसके अनन्तर लवणान्न अर्थात् दाल-भात-शाक-रोटी आदि लेकर **छः भाग भूमि में धरे**। इसमें प्रमाण—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम् ।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥ —मनु० ॥३।९२

इस प्रकार **'श्वभ्यो नमः, पतितेभ्यो नमः, श्वपचभ्यो नमः, पापरोगिभ्यो नमः, वायसेभ्यो नमः, कृमिभ्यो नमः'** धरकर, पश्चात् किसी दुःखी बुभुक्षित प्राणी अथवा कुत्ते, कौवे आदि को दे देवे। यहाँ **'नमः'** शब्द का अर्थ **अन्न** अर्थात् कुत्ते, पापी, चाण्डाल, पापरोगी, कौवे और कृमि अर्थात् चींटी आदि को अन्न देना॥ यह मनुस्मृति आदि की विधि है।

हवन करने का प्रयोजन यह है कि—पाकशालास्थ वायु का शुद्ध होना, और जो अज्ञात अदृष्ट जीवों की हत्या होती है, उसका प्रत्युपकार कर देना।

अब पाँचवीं **'अतिथि-सेवा'**—**'अतिथि'** उसको कहते हैं कि जिसकी कोई तिथि निश्चित न हो, अर्थात् अकस्मात् धार्मिक सत्योपदेशक, सबके उपकारार्थ सर्वत्र घूमनेवाला, पूर्ण विद्वान्, परमयोगी, संन्यासी गृहस्थ के यहाँ आवे, तो उसको प्रथम **पाद्य, अर्घ** और **आचमनीय** तीन प्रकार का जल देकर, पश्चात् आसन पर सत्कारपूर्वक बिठालकर खान-पान आदि उत्तमोत्तम पदार्थों से सेवा-शुश्रूषा करके उनको प्रसन्न

शब्द के भी दो अर्थ होंगे—एक अन्नप्रदान करना और दूसरा दूरीकरण। लाभ पहुँचानेवालों को अन्न प्रदान करने और हानि पहुँचानेवालों को दूर रखने की व्यवस्था करनी चाहिए।

सर्वात्मभूतये—चराचर जगत् में व्याप्त, सबके आत्मभूत परमेश्वर के लिए हमारा सश्रद्ध नमस्कार हो।

अतिथियज्ञ—**'अतिथीनामदृष्टपूर्वाणां गृहागतानां सपर्यणमतिथियज्ञः'**—अकस्मात् घर पर आ जानेवालों का सेवा-सत्कार अतिथियज्ञ कहाता है। मनुस्मृति के अनुसार **'अनित्यं हि स्थितो यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते'** (मनु० ३।१०२)। अथर्ववेद में कहा है **'एष वा अतिथिर्यच्छोत्रियस्तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात्'** (९।६।३)—अतिथि वेदविद् ब्राह्मण के तुल्य होता है, इसलिए उससे पहले गृहस्थ को भोजन नहीं करना चाहिए।

अतिथिसत्कार के सन्दर्भ में मनु का आदेश है—

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥
तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छद्यन्ते कदाचन ॥ ३।९९,१०१

आये हुए अतिथि के लिए यथाशक्ति आसन, जल और अन्न सत्कृत करके विधिपूर्वक दे। (अन्न न हो तो) तृणासन, विश्राम के लिए स्थान, जल और मीठा बोल—इन चार बातों की कमी तो सत्पुरुषों के घर में कभी नहीं होती।

कठोपनिषद् में अतिथि-सत्कार के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए यमाचार्य की पत्नी उनसे कहती है—

आशाप्रतीक्षे संगतं सूनृतां च इष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान् ।

https://t.me/arshlibrary

करे। पश्चात् सत्संग कर उनसे ज्ञान-विज्ञान आदि, जिनसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होवे, ऐसे-ऐसे उपदेशों का श्रवण करे और अपना चालचलन भी उनके सदुपदेशानुसार रक्खे।

समय पाके गृहस्थ और राजादि भी अतिथिवत् सत्कार करने योग्य हैं, परन्तु—

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालवृत्तिकान् शठान्।
हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥ —मनु० ४।३०

अर्थः—'पाषण्डी'=अर्थात् देवनिन्दक, वेदविरुद्ध, आचरण करनेहारे, 'विकर्मस्थ'=जो वेदविरुद्ध कर्म का कर्त्ता, मिथ्याभाषणादि युक्त, 'वैडालवृत्तिक'=जैसे विडाला छिप और स्थिर रहकर ताकता-ताकता झपट से मूषे आदि प्राणियों को मार अपना पेट भरता है, वैसे जनों का नाम वैडालवृत्तिक, 'शठ'=अर्थात् हठी दुराग्रही, अभिमानी, आप जानें नहीं औरों का कहा मानें नहीं, 'हैतुक'=कुतर्की, व्यर्थ बकनेवाले, जैसेकि आजकल के वेदान्ती बकते हैं कि 'हम ब्रह्म और जगत् मिथ्या है, वेदादिशास्त्र और ईश्वर भी कल्पित हैं' इत्यादि गपोड़ा हाँकनेवाले, 'बकवृत्ति'=जैसे बक एक पैर उठा ध्यानावस्थित के समान होकर झट मच्छी के प्राण हरके अपना स्वार्थ सिद्ध करता है, वैसे आजकल के वैरागी और खाखी आदि हठी, दुराग्रही, वेद-विरोधी हैं। ऐसों का सत्कार वाणिमात्र से भी न करना चाहिए, क्योंकि इनका सत्कार करने से ये वृद्धि को पाकर संसार को अधर्मयुक्त करते हैं। आप तो अवनति के काम करते ही हैं, परन्तु साथ में सेवक को भी अविद्यारूपी महासागर में डुबा देते हैं॥

[पञ्चमहायज्ञों का फल]

इन 'पाँच महायज्ञों का फल' यह है कि **'ब्रह्मयज्ञ'** के करने से विद्या, शिक्षा, धर्म, सभ्यता आदि शुभ गुणों की वृद्धि। **'अग्निहोत्र'** से वायु, वृष्टि-जल की शुद्धि होकर वृष्टि द्वारा संसार को सुख प्राप्त होना, अर्थात् शुद्ध वायु का श्वास-स्पर्श, खान-पान से आरोग्य, बुद्धि-बल-पराक्रम बढ़के धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष का अनुष्ठान पूरा होना। इसीलिए इसको **'देवयज्ञ'** कहते हैं।

'पितृयज्ञ' से जब माता-पिता और ज्ञानी महात्माओं की सेवा करेगा, तब उसका ज्ञान बढ़ेगा। उससे सत्याऽसत्य का निर्णय कर, सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करके सुखी रहेगा। दूसरा—कृतज्ञता अर्थात् जैसी सेवा माता-पिता और आचार्य ने सन्तान और शिष्यों की की है, उसका बदला देना उचित ही है।

'बलिवैश्वदेव' का भी फल जो पूर्व कह आये, वही है। **'अतिथियज्ञ'** जब तक उत्तम अतिथि जगत् में नहीं होते, तब तक उन्नति भी नहीं होती। उनके सब देशों में घूमने और सत्योपदेश करने से पाखण्ड की वृद्धि नहीं होती और सर्वत्र गृहस्थों को सहज से सत्य विज्ञान की प्राप्ति होती रहती है और मनुष्यमात्र

एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥

घर आये अथिति का समुचित सत्कार न होने पर मनुष्य की आशा (अज्ञात प्राप्य वस्तु की चाहना) प्रतीक्षा (ज्ञात प्राप्य वस्तु की चाहना), संगतम् (सत्संगति से प्राप्त होनेवाला फल) सूनृता (प्रिय वचन बोलने का फल), इष्ट (यज्ञ का फल) आपूर्त्त (समाज के कल्याणार्थ किये कर्मों का फल), सन्तान और पशु सभी नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार प्रेरित किये जाने पर यमाचार्य ने अपने घर पर तीन दिन तक भूखा रहनेवाले ब्राह्मण-अतिथि नचिकेता को प्रसन्न करने के लिए तीन वर माँगने के लिए कहा—

https://t.me/arshlibrary

में एक ही धर्म स्थिर रहता है। विना अतिथियों के सन्देह-निवृत्ति नहीं होती। सन्देह-निवृत्ति के विना दृढ़ निश्चय भी नहीं होता। दृढ़ निश्चय के विना सुख कहाँ ?

[गृहस्थ के सामान्य कर्त्तव्य]

ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
कायक्लेशाँश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥१॥ —मनु० ४।९२

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥ —१।१।६

इसपर नचिकेता ने यमाचार्य से पितृतोष, स्वर्ग-सुख की साधना तथा आत्मज्ञान की प्राप्ति—इन तीन वरों की याचना की।

'बिठालकर'—यह मारवाड़ी का शब्द है जिसका अर्थ है 'बिठाकर'।

'समय पाके'—पारस्करगृह्यसूत्र (१।३।१) का वचन है—'षडर्घ्या भवन्ति—आचार्य ऋत्विग्, वैवाह्यो, राजा, प्रियः, स्नातकः। प्रतिसंवत्सरान् अर्हयेयुः।'

अर्थात् आचार्य आदि का एक वर्ष के पश्चात् आने पर अर्थ से सत्कार करे।

'पाषण्डी'—लोक में प्रचलित 'पाखण्डी शब्द इसी का अपभ्रंश है। पाखण्डी के लक्षणों का विस्तार आगे उद्धृत 'धर्मध्वजी' इत्यादि श्लोकों (मनु ४।१९५,१९६) में किया है।

ब्राह्मे मुहूर्त्ते—इस प्रसंग में इससे आगे के दो श्लोक इसके पूरक हैं—

उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः ।
पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्वकाले चापरां चिरम् ॥९३॥

उठकर शौचादि दिनचर्या के आवश्यक कार्य सम्पन्न करके एकाग्रचित्त होकर प्रातःकालीन सन्ध्योपासन के लिए देर तक बैठे और उपयुक्त समय पर सायंकालीन सन्ध्या में भी उपासना करे।

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः ।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥ ९४॥

मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों ने देर तक सन्ध्योपासना करने के कारण लम्बी आयु, बुद्धि, यश, कीर्ति और ब्रह्मतेज को प्राप्त किया है।

गायत्री आदि मन्त्रों का जाप सन्ध्या है, जैसा कि मनु० २।१०४ में बताया है—

अपां समीपे नियतो नैत्यिकं विधिमास्थितः ।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः ॥

यह नैत्यिक यज्ञों एवं स्वाध्याय के अन्तर्गत आता है। स्वाध्याय से आयु, बल-तेज आदि की प्राप्ति मनु० २।८२ में वर्णित है। तुलनार्थ द्रष्टव्य है —

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं नियितं विधिना शुचिः ।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ॥

अर्थात् जो व्यक्ति (अब्दं स्वाध्यायम्) जल-वर्षक मेघस्वरूप स्वाध्याय (वेदों का अध्ययन एवं गायत्री का

https://t.me/arshlibrary

रात्रि के चौथे प्रहर अथवा चार घड़ी रात से उठे। आवश्यक कार्य करके धर्म और अर्थ, शरीर के रोगों का निदान, और परमात्मा का ध्यान करे। कभी अधर्म का आचरण न करे ॥१॥ क्योंकि—

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्त्तमानस्तु कर्त्तुर्मूलानि कृन्तति ॥२॥ —मनु० ४॥१७२

किया हुआ अधर्म कभी निष्फल नहीं होता, परन्तु जिस समय अधर्म करता है, उसी समय फल भी

जप, यज्ञ उपासना आदि) को स्वच्छपवित्र होकर विधिपूर्वक एकाग्रचित्त होकर करता है, उसके लिए यह स्वाध्याय सदा दूध, दही, घी और मधु की वर्षा करता है—प्रचुर मात्रा में प्रदान करता है।

यहाँ मनु ने निम्न वेदमन्त्र का भाव ज्यों-का-त्यों अपने शब्दों में प्रस्तुत किया है—

पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम् ।
तस्मै सरस्वती दूहे क्षीरं सर्पिः मधूदकम् ॥ —ऋ० ९।६७।३२

'स्वाध्याय' शब्द से मनु का अभिप्राय निरन्तर वेदों का सांगोपांग अध्ययन, सन्ध्योपासन और अग्निहोत्रादि से है, जैसा कि मनु ने स्वयं २।१०४-१०६ श्लोकों में स्पष्ट कर दिया है। इसके अतिरिक्त २।१६५-१६८ तथा ४।१४७-१४९ तथा ११।२४५ में भी स्पष्टतः वेदाध्ययन आदि को 'स्वाध्याय' नाम से अभिहित किया है।

प्रस्तुत श्लोक (यः स्वाध्यायमधीते०) में आलंकारिक वर्णन हुआ है। यहाँ घी, दूध और मधु को उपलक्षण या प्रतीक रूप में लिया गया है और इस वाक्य का प्रयोग मुहावरे के रूप में हुआ है। आयुर्वेद के अनुसार दूध का मुख्य गुण तृप्ति करना, दही का पुष्टि करना, घी का आयु व बल को बढ़ाना (घृतं वै आयुः, घृतं वै बलम्) तथा मधु का शरीर-दोषों को दूर करना है। इस प्रकार वेद के अनुसार स्वाध्याय से मनुष्य को शान्ति, गुण, ज्ञान और आनन्द की प्राप्ति होती है। कुछ टीकाकार 'पयो दधि घृतं मधु' से प्रतीकरूप में क्रमशः धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का ग्रहण करते हैं।

इस श्लोक में 'अब्दम्' शब्द का यौगिक प्रयोग (अपो ददाति इति अब्दम् मेघस्वरूपम्) और तदनुसार उसका अर्थ 'वर्ष' न होकर 'वृष्टिकारक मेघस्वरूप' सर्वथा उपयुक्त एवं संगत है। 'अब्दम्' का 'वर्ष' अर्थ करने पर उसका श्लोक में आये 'नित्यम्'से विरोध होगा। यदि यह माना जाए कि मात्र एक वर्ष के स्वाध्याय से ये सब लाभ सदा उपलब्ध रहते हैं तो एक वर्ष से अधिक स्वाध्याय की क्या आवश्यकता है। फिर द्विजमात्र अथवा मनुष्यमात्र के लिए स्वाध्याय का नित्य (दैनिक) कर्त्तव्यों में विधान किया गया है। तब उसे एक वर्ष में सीमित कैसे किया जा सकता है ? 'अब्द' का 'मेघ' अर्थ करने पर उसकी 'क्षरति' क्रिया-पद से भी संगति बैठ जाती है।

नाधर्मश्चरितो—इस श्लोक का अर्थ संस्कारविधि (पृष्ठ १८०) में अधिक स्पष्ट है, जो इस प्रकार है—

मनुष्य निश्चय करके जाने कि इस संसार में (गौरिव) जैसे गाय की सेवा का फल दूध आदि तत्काल प्राप्त नहीं होता वैसे ही किये हुए अधर्म का फल भी शीघ्र नहीं होता, किन्तु धीरे-धीरे अधर्मकर्त्ता के सुखों को रोकता हुआ सुख के मूलों को काट देता है (मूलानि कृन्तति)। पश्चात् अधर्मी दुःख-ही-दुःख भोगता है।

इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य प्रत्यक्ष वर्त्तमान को देखते हुए भी परोक्ष (भविष्य) की चिन्ता करता है—**परोक्षप्रिया देवाः प्रत्यक्षद्विषः**। कुछ वृक्ष (पौधे) छह महीने में फल देते हैं, जैसे गेहूँ, चना आदि। कुछ वर्ष-

https://t.me/arshlibrary

नहीं होता, इसलिए अज्ञानी लोग अधर्म से नहीं डरते तथापि निश्चय जानो कि वह अधर्माचरण धीरे-धीरे तुम्हारे सुख के मूलों को काटता चला जाता है ॥२॥

इस क्रम से—

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति ॥३॥ —मनु० ४।१७४॥

जब अधर्मात्मा मनुष्य धर्म की मर्यादा छोड़ (जैसे तालाब के बाँध को तोड़ जल चारों ओर फैल जाता है, वैसे) मिथ्याभाषण, कपट, पाखण्ड अर्थात् रक्षा करनेवाले वेदों का खण्डन और विश्वासघातादि कर्मों से पराये पदार्थों को लेकर प्रथम बढ़ता है । पश्चात् धनादि ऐश्वर्य से खान-पान, वस्त्र-आभूषण यान-स्थान मान-प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है । अन्याय से शत्रुओं को भी जीतता है । पश्चात् शीघ्र नष्ट हो जाता है । जैसे जड़ कटा हुआ वृक्ष नष्ट हो जाता है, वैसे अधर्मी नष्ट हो जाता है ॥३॥

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत् सदा ।
शिष्याँश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः ॥४॥ —मनु० ४।१७५

जो विद्वान् वेदोक्त सत्यधर्म अर्थात् पक्षपात-रहित होकर सत्य के ग्रहण और असत्य के परित्याग, न्यायरूप वेदोक्त धर्मादि, आर्य-वृत्त अर्थात् धर्म में चलते हुए के समान धर्म से शिष्यों को शिक्षा किया करे ॥४॥

[ऋत्विजादि के साथ कभी झगड़ा न करे]

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ॥१॥
मातापितृभ्यां यामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥२॥ —मनु० ४।१७६,१८०॥

'ऋत्विक्'=यज्ञ का करनेहारा, 'पुरोहित'=सदा उत्तम चालचलन की शिक्षा कारक, 'आचार्य'=विद्या पढ़ानेहारा, 'मातुल'=मामा, 'अतिथि'=अर्थात् जिसकी कोई आने-जाने की निश्चित तिथि न हो, 'संश्रित'=अपने आश्रित, 'बाल'=बालक, 'वृद्ध'=बुड्ढा, 'आतुर'=पीड़ित,

'वैद्य'=आयर्वेद का ज्ञाता, 'ज्ञाति'=स्वगोत्र वा स्ववर्णस्थ, 'सम्बन्धी'=श्वसुर आदि, 'बान्धव'=मित्र ॥१॥

'माता'= माता, पिता=पिता 'यामी'=बहिन, 'भ्राता'=भाई, 'भार्या'=स्त्री, 'दुहिता'=पुत्री, और 'दासवर्ग'=सेवक लोगों से विवाद अर्थात् विरुद्ध लड़ाई-बखेड़ा कभी न करे ॥२॥

भर में फलते हैं जैसे केला आदि और कुछ ३-४ वर्ष बाद फल देते हैं, जैसे आम, अमरूद आदि । इसी प्रकार खाये हुए पदार्थ कभी तत्काल पीड़ा का कारण बन जाते हैं और कभी उसके कारण रोग शरीर में धीरे-धीरे जड़ जमाता रहता है और कालान्तर में भयंकर रूप में प्रकट होकर मृत्यु का कारण बन जाता है । इसी प्रकार कुछ कर्मों का फल तत्काल मिल जाता है और कुछ का ईश्वरीय व्यवस्थानुसार कालान्तर अथवा जन्मान्तर में, पर मिलता अवश्य है ।

अतपास्त्वनधीयानः—यहाँ 'अनधीयानः' तथा ४।१६२ में 'अवेदवित्' का अर्थ सामान्यतः अविद्वान् या अनपढ़ नहीं है, अपितु वे व्यक्ति अभिप्रेत हैं जो वेद का निरन्तर अध्ययन-चिन्तन नहीं करते । मनु ने ब्राह्मणों

https://t.me/arshlibrary

[दान के अयोग्य]

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः ।
अम्भस्यश्मप्लवेनैव सह तेनैव मज्जति ॥१॥

—मनु० ४।१६०

एक 'अतपाः'=ब्रह्मचर्य्य-सत्यभाषणादि तपरहित, **दूसरा** 'अनधीयानः'=विना पढ़ा हुआ, **तीसरा** 'प्रतिग्रहरुचिः'=अत्यन्त धर्मार्थ दूसरों से दान लेनेवाला, ये तीनों पत्थर की नौका से समुद्र में तरने के समान अपने दुष्ट कर्मों के साथ ही दुःखसागर में डूबते हैं। वे तो डूबते ही हैं, परन्तु दाताओं को भी साथ डुबा लेते हैं ॥१॥

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम् ।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥२॥ —मनु० ४।१६३

जो धर्म से प्राप्त हुए धन का उक्त तीनों को देना है, वह दान दाता का नाश इसी जन्म और लेनेवाले का नाश परजन्म में करता है ॥२॥ जो वे ऐसे हों, तो क्या हो—

के लिए वेदों का निन्तर अध्ययन करते रहने का निर्देश ही नहीं, उसकी अनिवार्यता पर बल देते हुए कहा है—

अनभ्यासेन वेदानां आचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति ॥ —मनु० ५।४

वेदों का अभ्यास छोड़ देने से, सदाचार की मर्यादा का उल्लंघन करने से आलस्य और अन्नदोष के कारण ब्राह्मण की मृत्यु हो जाती है अर्थात् उसका ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता है। श्लोकगत 'प्रतिग्रहरुचिः' से 'प्रतिग्रहेच्छुः' अर्थात् लोभी अभिप्रेत है। अयोध्या के ब्राह्मणों का वर्णन करते हुए वाल्मीकि लिखते हैं—'दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च प्रतिग्रहे' (बाल० ६।१३) अयोध्या के ब्राह्मण देने में उदार, किन्तु लेने में संकोची थे।

प्रतिग्रह की लालसा की निन्दा करते हुए मनु में लिखा है—

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसंगं तत्र वर्जयेत् ।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मतेजः प्रशाम्यति ॥ ४।१८६

ब्राह्मण दान लेने का अधिकारी होते हुए भी दान प्राप्ति में आसक्तिभाव को छोड़ देवे, क्योंकि दान लेने की लालसा से उसका ब्राह्मतेज शीघ्र नष्ट हो जाता है।

निम्न श्लोक में मनु ने तीन प्रकार क व्यक्तियों को सम्माननीय घोषित किया है—

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे ।
न बकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥ —४।१६२

अर्थात् धर्म का पालन करनेवाले व्यक्ति को चाहिए कि वैडालव्रतिक (बिल्ली जैसे स्वभाववाले ४।१६५) को, बकव्रतिक (बगुले जैसी प्रवृत्तिवाले ४।१६६) को तथा अवेदविद् विप्र (वेद न जाननेवाला ब्राह्मण) को जल भी न दे।

इस श्लोक में १६० में वर्णित व्यक्तियों को सादृश्यमूलक दूसरी संज्ञाओं से वर्णित किया है, जैसे—

https://t.me/arshlibrary

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् ।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥३॥ —मनु० ४।१६४

जैसे पत्थर की नौका में बैठके जल में तरनेवाला डूब जाता है, वैसे अज्ञानी दाता और ग्रहीता दोनों अधोगति अर्थात् दुःख को प्राप्त होते हैं ॥३॥

पाखण्डियों के लक्षण

धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छद्मिको लोकदम्भकः ।
वैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसन्धकः ॥१॥
अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः ।
शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः ॥२॥ —मनु० ४।१६५,१६६

'धर्मध्वजी'=जो धर्म कुछ भी न करे, परन्तु धर्म के नाम से लोगों को ठगे, 'सदालुब्ध'=सर्वदा लोभ से युक्त, 'छाद्मिकः'=कपटी, 'लोकदम्भकः'=संसारी मनुष्यों के सामने अपनी बड़ाई के गपोड़े मारा करे, 'हिंस्रः'=प्राणियों का घातक, अन्य से वैरबुद्धि रखनेवाला, 'सर्वाभिसन्धकः'=सब अच्छे और बुरों से भी मेल रक्खे, उसको 'वैडालव्रतिकः' अर्थात् विडाल के समान धूर्त और नीच समझो ॥१॥

'अधोदृष्टिः'=कीर्ति के लिए नीचे दृष्टि रक्खे, 'नैष्कृतिकः'=ईर्ष्यक=किसी ने उसका पैसा-भर अपराध किया हो तो उसका बदला प्राण तक लेने को तत्पर रहे, 'स्वार्थसाधन०'=चाहे कपट, अधर्म विश्वासघात क्यों न हो, अपना प्रयोजन साधने में चतुर, 'शठः'=चाहे अपनी बात झूठी क्यों न हो, परन्तु हठ कभी न छोड़े, 'मिथ्याविनीतः=झूठमूठ ऊपर से शील-सन्तोष और साधुता दिखलावे, उसको 'बकव्रत०'=बगुले के समान नीच समझो। ऐसे-ऐसे लक्षणोंवाले पाखण्डी होते हैं। उनका विश्वास वा सेवा कभी न करे ॥२॥

[धर्मसंचय का प्रकार और धर्म का फल]

धर्मं शनैः सञ्चिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः ।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥१॥ —मनु० ४।२३८
नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारं न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥२॥ —मनु० ४।२३९
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥३॥ —मनु० ४।२४१॥

अनधीयानः=अवेदवित्, अतपाः= ढोंगी बकव्रतिक तथा प्रतिग्रहरुचिः=वैडालव्रतिक (लालची)। ये गुणों के आधार पर पर्यायवाची संज्ञाएँ हैं।

त्रिष्वपि—इस श्लोक में कुपात्र को दान देनेवाले को दान लेनेवाले की अपेक्षा अधिक पापी कहा है।

यथा प्लवेन—प्लवेनौपलेन=पत्थर की नौका से, दातृप्रतीच्छकौ=दाता और ग्रहीता दोनों, अधस्तात् निमज्जतः=अधोगति को प्राप्त होते हैं।

https://t.me/arshlibrary

एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः ।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्त्ता दोषेण लिप्यते ॥४॥ —महा० उद्योग ३३।४७॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥५॥ —मनु० ४।२४०

स्त्री और पुरुष को चाहिए कि जैसे पुत्तिका अर्थात् दीमक वल्मीक अर्थात् बाँबी को शनैः-शनैः बनाती है, वैसे सब भूतों को पीड़ा न देकर परलोक अर्थात् परजन्म के सुखार्थ धीरे-धीरे धर्म का संचय करें ॥१॥

क्योंकि परलोक में न माता, न पिता, न पुत्र, न स्त्री, न ज्ञाति सहाय कर सकते हैं, किन्तु एक धर्म ही सहायक होता है ॥२॥

जब कोई किसी का सम्बन्धी मर जाता है, उसको मट्टी के ढेले के समान भूमि में छोड़कर, पीठ दे बन्धुवर्ग विमुख होकर चले जाते हैं। कोई उसके साथ जानेवाला नहीं होता, किन्तु एक धर्म ही उसका सङ्गी होता है ॥३॥

यह भी समझ लो कि कुटुम्ब में एक पुरुष पाप करके पदार्थ लाता है, और महाजन अर्थात् सब कुटुम्ब उसको भोगता है। भोगनेवाले दोषभागी नहीं होते, किन्तु अधर्म का कर्त्ता ही दोष का भागी होता है ॥४॥

शनैः शनैः—यहाँ धीरे-धीरे से अभिप्राय सावधानी पूर्वक धर्मपालन करने से है। जैसे दीमक अपनी बाँबी को बनाते समय सावधानी बरतती है—उसे गिरने नहीं देती, इसी प्रकार मनुष्य को चाहिए कि किसी भी अवस्था में अपने को धर्म से न गिरने दे। उपनिषद् के शब्दों में धर्म का मार्ग **'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति'** (कठ० २।१४)—धर्म (कर्त्तव्य) मार्ग पर चलना छुरे की तीक्ष्ण धारा पर चलने के समान है। **'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः'** तनिक-सी असावधानी होते ही इसपर चलनेवाला गिर जाता है।

नामुत्र—'पक्वः पक्तारं पुनराविशाति' (अथर्व०१२।३।४८)। जो जैसा पकाता है उसी को वह भोगता है। परलोक में कहीं से किसी प्रकार की सहायता नहीं मिलती, वहाँ केवल धर्म ही सहायक होता है। इसलिए—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥ —भर्तृहरि, नीतिशतक ८४

चाहे कोई स्तुति करे या निन्दा, धनैश्वर्य आये या जाए, आज मृत्यु आनेवाली हो या कालान्तर में धीर पुरुष कभी भी धर्म—न्याय के पक्ष से विचलित नहीं होते।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्,
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये,
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥ —महा० उद्योग, ४०।१२-१३

अर्थ—कामना से, भय से, लोभ से, यहाँ तक कि जीवन के लिए भी धर्म का परित्याग न करे, क्योंकि धर्म नित्य है, जबकि सुख-दुःख अनित्य है। जीव नित्य है। अनित्य सुख की ख़ातिर नित्य जीव और धर्म

https://t.me/arshlibrary

का परित्याग करना कहाँ की बुद्धिमत्ता है ! 'What shall it profit a man if he gains the whole world but loses his self'. —The Bible

नीति के अनुसार **'स्वल्पाद् भूरिरक्षणम् ।'** थोड़ा खोकर भी अधिक की रक्षा करे ।

मृतं शरीरम्—इसका पूरक एक श्लोक मनुस्मृति में इस प्रकार है—

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥ —मनु० ८।१७

इस संसार में एक धर्म ही मित्र है जो मृत्यु के पश्चात् भी साथ जाता है और सब (पदार्थ या बन्धु-बान्धव) शरीर के साथ ही नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् यहीं रह जाते हैं ।

ऐसी स्थिति में राह चलते साथ लग जाने और कुछ दूर तक साथ चलनेवाले की ख़ातिर सदा साथ देनेवाले और अन्त तक साथ चलनेवाले की अवहेलना करना कदापि उचित नहीं । इसलिए ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में इस प्रकरण में लिखा है—

"सब मनुष्यों को उचित है कि अपना पालन और माता-पितादिकों का पालन धर्म से ही जितना धनादिक मिले उतने से ही व्यवहार और पालन करें, अधर्म से कभी नहीं", क्योंकि—

एकः पापानि—यहाँ ग्रन्थकार ने अपराधकर्म की दृष्टि से कर्त्ता को ही दोषी माना है । दोषभागी होने के कारण वही उस अपराध में दण्डनीय होता है । कुटुम्ब आश्रित होता है, उसे पापकर्म से लाई कमाई का कभी ज्ञान होता है और कभी नहीं भी होता । इसलिए भोक्ता होते हुए भी कर्त्ता न होने होने के कारण परिवार को उस अपराधकर्म के लिए दोषी नहीं माना गया है । प्रथम संस्करण में ग्रन्थकार ने स्पष्ट लिखा है—"जो अधर्म करेगा उसका फल वही भोगेगा और माता-पितादिक सुख का भोग करनेवाले तो हो जाएँगे, परन्तु दुःख जो पाप का फल उसमें कोई भाग न लेगा, किन्तु जिसने पाप किया वही पाप का फल भोगेगा, और कोई नहीं ।" प्रकारान्तर से **'नामुत्र हि सहायार्थं'** तथा **'मृतं शरीरं'** तथा आगे **'तस्माद्धर्मं सहायार्थं'** इन श्लोकों में भी इस बात का संकेत किया है ।

एकः प्रजायते—इस श्लोक में भी सुकृत-दुष्कृत करने पर उनके फल का भोक्ता कर्त्ता को ही माना गया है, किन्तु यदि उसके साथ अधर्म में और अधर्म से प्राप्त उसके भोगों में अन्य व्यक्ति भी सम्मिलित होते हैं तो उस अधर्म का फल उनको भी प्राप्त होता है । मनु ने यह बात निम्न श्लोक में कही है—

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु ।
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्त्तुर्भवति निष्फलः ॥ —४।१७३

अर्थात् "अधर्म का फल कर्त्ता की विद्यमानता में न हो तो पुत्रों, यदि पुत्रों के समय में न हो तो पौत्रों के समय में अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि कर्त्ता का किया हुआ कर्म निष्फल होवे ।" इन शब्दों में इसका समर्थन ग्रन्थकार ने संस्कारविधि के गृहाश्रम प्रकरण में किया है । इस प्रकार यहाँ कर्त्ता के न रहने पर उसके उत्तराधिकारियों को उसके दुष्कर्मों का भोक्ता माना गया हैं । इसमें अकृताभ्यागम दोष की प्राप्ति होती है । महाभारत में कहा है—

स्वयं कृतानि कर्माणि जातो जन्तुः प्रपद्यते ।
नाकृत्वा लभते कश्चित् किंचिदत्र प्रियाप्रियम् ॥ —शान्ति० अ० २६८

https://t.me/arshlibrary

देखिए, अकेला ही जीव जन्म और मरण को प्राप्त होता है। एक ही धर्म का फल सुख और अधर्म का जो दुःखरूप फल उसको भोगता है ॥५॥

[धर्माचरण से मुक्ति की प्राप्ति]

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः ।
धर्म्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥१॥
धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्बिषम् ।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम् ॥२॥ —मनु० ४।२४२, २४३॥

उस हेतु से परलोक अर्थात् परजन्म में सुख और इस जन्म के सहायार्थ नित्य धर्म का संचय धीरे-धीरे करता जाए, क्योंकि धर्म ही के सहाय से बड़े-बड़े दुस्तर दुःख-सागर को जीव तर सकता है ॥१॥

किन्तु जो पुरुष धर्म ही को प्रधान समझता, जिसका धर्म के अनुष्ठान से कर्त्तव्य पाप दूर हो गया

नायं परस्य सुकृतं दुष्कृतं चापि सेवते ।
करोति यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते ॥ —शान्ति० अ० २६०
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दते मातरम् ।
एवं पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति ॥ —अनु० अ०७

पैदा हुआ प्राणी स्वकृत कर्मों को प्राप्त होता है। बिना किये कोई कुछ भी प्रिय-अप्रिय को प्राप्त नहीं होता। यह जीव दूसरे के पुण्य और पाप का सेवन नहीं करता। जैसा कर्म करता है वैसा फल पाता है। जैसे हज़ारों गौवों में से बछड़ा अपनी माता को खोज लेता है, वैसे ही पूर्वकृत कर्म अपने कर्त्ता को जा पकड़ता है।

वस्तुतस्तु जहाँ दुष्कर्म को करनेवाला कर्त्ता के नाते अपराधी है, वहाँ अधर्म से प्राप्त भोगों के सेवन में जो-जो भी पुत्र-पौत्रादि पारिवारिक जन सम्मिलित होते हैं, वे भी जिस हद तक उस अधर्म में भागीदार होते हैं, उस हद तक उन्हें भी पाप का फल भोगना पड़ता है। पाप से प्राप्त भोग को भोगना भी तो दुष्कर्म है—विशेषतः तब जबकि भोक्ता को उसके पाप से प्राप्त होने का ज्ञान हो, किन्तु इसका कर्त्ता के निजी स्तर पर किये गये कर्म के भोगने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सब अपने-अपने फलभोक्ता स्वयं होते हैं।

इस प्रसंग में हिंसा के विषय में मनु का यह श्लोक द्रष्टव्य है—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥ ५।५१

अर्थात् पशु को मारने की अनुमति देनेवाला, मांस को काटनेवाला, पशु को मारनेवाला, खरीदने व बेचनेवाला, परोसनेवाला और खानेवाला—ये सब पापी कहलाते हैं। तदनुसार जैसे हिंसा के पाप में आठ प्रकार के अपराधी होते हैं वैसे ही अन्य अधर्म के कार्यों में भी वे सब पापी होते हैं जो किसी भी रूप में उससे सम्बद्ध होते हैं, इसलिए उन सभी को फल भी मिलता है। इसी न्याय से, यद्यपि सुष्कृत-दुष्कृत का भोक्ता मुख्यतः कर्त्ता होता है, उसका फल पुत्रों-पौत्रों तक को प्राप्त होना कहा गया है।

अधर्मप्रधानम् —खशरीरिणम्—आकाश जिसका शरीर है, अथवा आकाश की तरह सर्वव्यापक। प्रथम संस्करण में 'भास्वन्तं खशरीरिणम्' का अर्थ इस प्रकार किया है —'वह किस प्रकार का शरीरवाला होता

https://t.me/arshlibrary

उसको, प्रकाश-स्वरूप और आकाश जिसका शरीरवत् है, उस परलोक अर्थात् परमदर्शनीय परमात्मा को धर्म ही शीघ्र प्राप्त कराता है ॥२॥ इसलिए—

[सदाचार का फल]

दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन् ।
अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत् स्वर्गं तथाव्रतः ॥१॥
वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तान्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥२॥
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥३॥ —मनु० ४।२४६, २५६, १५६॥

सदा दृढ़कारी, कोमल-स्वभाव, जितेन्द्रिय, हिंसक-क्रूर-दुष्टाचारी पुरुषों से पृथक् रहनेहारा, धर्मात्मा मन को जीत और विद्यादि दान से सुख को प्राप्त होवे ॥१॥

परन्तु यह भी ध्यान में रक्खे कि जिस वाणी में सब अर्थ अर्थात् व्यवहार निश्चित होते हैं, वह वाणी ही उनका मूल, और वाणी ही से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं, उस वाणी को जो चोरता अर्थात् मिथ्याभाषण करता है, वह सब चोरी आदि पापों का करनेवाला है ॥२॥

इसलिए मिथ्याभाषणादिरूप अधर्म को छोड़ जो धर्माचार अर्थात् ब्रह्मचर्य्य, जितेन्द्रियता से पूर्ण आयु, और धर्माचार से उत्तम प्रजा, तथा अक्षय धन को प्राप्त होता है तथा जो धर्माचार में वर्त्तकर दुष्ट लक्षणों का नाश करता है, उसके आचरण को सदा किया करे ॥३॥ क्योंकि—

[दुराचार का फल]

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥१॥ —मनु० ४।१५७

जो दुष्टाचारी पुरुष है, वह संसार में सज्जनों के मध्य में निन्दा को प्राप्त, दुःखभागी और निरन्तर व्याधियुक्त होकर अल्पायु का भी भोगनेहारा होता है ॥१॥ इसलिए ऐसा प्रयत्न करे—

[सुख-दुःख का लक्षण]

यद्यत् परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत् सेवेत यत्नतः ॥१॥
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥२॥ --मनु० ४।१५६, १६०॥

है —भास्वन्त अर्थात् तेजोयम व ज्ञानयुक्त और आकाशवत् अदृष्ट, अच्छेद्य, काटने वा दाह करने में न आवै, ऐसा उसका शरीर होता है, जैसा योगियों का ।'

दृढ़कारी—प्रथम संस्करण में इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है—'जो कुछ धर्मकार्य अथवा धर्मयुक्त व्यवहार को करै, सो दृढ़ ही निश्चय से करै और मृदु अर्थात् अभिमानादिक दोष से रहित होय । दान्त अर्थात् जितेन्द्रिय होय और क्रूराचार अर्थात् जितने दुष्ट हैं उनका साथ कभी न करै, किन्तु

https://t.me/arshlibrary

जो-जो पराधीन कर्म हो, उस-उसका प्रयत्न से त्याग, और जो-जो स्वाधीन कर्म हो, उस-उसका प्रयत्न के साथ सेवन करे ॥१॥

क्योंकि जो-जो पराधीनता है वह-वह सब दुःख और जो-जो स्वाधीनता है वह-वह सब सुख। यही संक्षेप से **सुख** और **दुःख का लक्षण** जानना चाहिए ॥२॥

[पति-पत्नी सब कार्य सहयोग से करें]

परन्तु जो एक-दूसरे के अधीन काम है, वह-वह आधीनता से ही करना चाहिए। जैसाकि स्त्री और पुरुष का एक-दूसरे के अधीन व्यवहार, अर्थात् स्त्री-पुरुष का और पुरुष-स्त्री का परस्पर प्रियाचरण, अनुकूल रहना, व्यभिचार वा विरोध कभी न करना। पुरुष की आज्ञानुकूल घर के काम स्त्री, और बाहर के काम पुरुष के अधीन रहना, दुष्ट व्यसन में फँसने से एक-दूसरे को रोकना, अर्थात् यही निश्चय जानना कि जब विवाह होवे, तब स्त्री के हाथ पुरुष और पुरुष के हाथ स्त्री बिक चुकी, अर्थात् जो स्त्री और पुरुष के हाव-भाव नखशिखाग्रपर्यन्त जो कुछ हैं, वह वीर्य्यादि एक-दूसरे के अधीन हो जाता है। स्त्री वा पुरुष प्रसन्नता के विना कोई भी व्यवहार न करें। इनमें बड़े अप्रियकारक व्यभिचार, वेश्या-परपुरुषगमनादि काम हैं। इनको छोड़के अपने पति के साथ स्त्री और स्त्री के साथ पति सदा प्रसन्न रहें।

[ब्राह्मण-ब्राह्मणी के कर्त्तव्य]

जो ब्राह्मणवर्णस्थ हों तो पुरुष लड़कों को पढ़ावे तथा सुशिक्षिता स्त्री लड़कियों को पढ़ावे। नानाविधि उपदेश और वक्तृत्व करके उनको विद्वान् करें। स्त्री का पूजनीय देव पति, और पुरुष की पूजनीय अर्थात् सत्कार करने योग्य देवी स्त्री है। जब तक गुरुकुल में रहें, तब तक माता-पिता के समान अध्यापकों को समझें और अध्यापक अपने सन्तानों के समान शिष्यों को समझें।

[पण्डित का लक्षण]

पढ़ानेहारे अध्यापक और अध्यापिका कैसे होने चाहिएँ -

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ।
निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते ।
अनास्तिकः श्रद्दधान एतत् पण्डितलक्षणम् ॥२॥

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति,
विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।
नासम्पृष्टो ह्युपयुङ्क्ते परार्थे,
तत्प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥३॥

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥४॥

श्रेष्ठ पुरुषों का करे। दम अर्थात् जिसका मन वशीभूत होय, दान अर्थात् वेदविद्या का नित्य दान करना और अहिंस्र अर्थात् किसी से वैरबुद्धि नहीं—ऐसे ही लक्ष्यवाला पुरुष स्वर्ग—सुख को प्राप्त होता है, अन्य नहीं।'

https://t.me/arshlibrary

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान् ।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥५॥
श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा ।
असंभिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः ॥६॥

—ये सब महाभारत उद्योगपर्व विदुरप्रजागर अ० ३३।२०,२१,२७,२८,३३,३४ के श्लोक हैं ॥

अर्थः—जिसको आत्मज्ञान, सम्यक् आरम्भ अर्थात् जो निकम्मा, आलसी कभी न रहे, सुख-दुःख, हानि-लाभ, मानापमान, निन्दा-स्तुति में हर्ष-शोक कभी न करे, धर्म ही में नित्य निश्चित रहे, जिसके मन को उत्तम-उत्तम पदार्थ अर्थात् विषय-सम्बन्धी वस्तु आकर्षण न कर सकें, वही **'पण्डित'** कहाता है ॥१॥

सदा धर्मयुक्त कर्मों का सेवन, अधर्मयुक्त कामों का त्याग, ईश्वर, वेद, सत्याचार की निन्दा न करनेहारा, ईश्वर आदि में अत्यन्त श्रद्धालु हो, यही **'पण्डित'** का कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य कर्म है ॥२॥

जो कठिन विषय को भी शीघ्र जान सके, बहुत कालपर्यन्त शास्त्रों को पढ़े-सुने और विचारे, जो कुछ जाने उसको परोपकार में प्रयुक्त करे, अपने स्वार्थ के लिए कोई काम न करे, विना पूछे वा विना योग्य समय जाने दूसरे के अर्थ में सम्मति न दे, वही प्रथम प्रज्ञान **'पण्डित'** को होना चाहिए ॥३॥

जो प्राप्ति के अयोग्य की इच्छा कभी न करे, नष्ट हुए पदार्थ पर शोक न करे, आपत्काल में मोह को न प्राप्त अर्थात् व्याकुल न हो, वही बुद्धिमान् **'पण्डित'** है ॥४॥

जिसकी वाणी सब विद्याओं और प्रश्नोत्तरों के करने में अति निपुण, शास्त्रों के प्रकरणों का विचित्र वक्ता, यथायोग्य तर्क और स्मृतिमान्, ग्रन्थों के यथार्थ अर्थ का शीघ्र वक्ता हो, वही **'पण्डित'** कहाता है ॥५॥

जिसकी प्रज्ञा सुने हुए सत्य अर्थ के अनुकूल, और जिसका श्रवण बुद्धि के अनुसार हो । जो कभी आर्य अर्थात् श्रेष्ठ धार्मिक पुरुषों की मर्यादा का छेदन न करे, वही **'पण्डित'** संज्ञा को प्राप्त होवे ॥६॥

जहाँ ऐसे-ऐसे स्त्री-पुरुष पढ़ानेवाले होते हैं, वहाँ विद्या, धर्म और उत्तमाचार की वृद्धि होकर प्रतिदिन आनन्द ही बढ़ता रहता है ।

[मूढ़ के लक्षण]

पढ़ाने में अयोग्य और मूर्ख के लक्षण—

अश्रुतश्च समुन्नद्ध दरिद्रश्च महामनाः ।
अर्थांश्चाऽकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥१॥
अनाहूतः प्रविशति ह्यपृष्टो बहु भाषते ।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥२॥

—ये श्लोक भी भारत उद्योगपर्व विदुरप्रजागर अ०३३।३५,४१ के हैं ॥

अर्थः—जिसने कोई शास्त्र न पढ़ा न सुना, और जो अतीव घमण्डी, दरिद्र होकर बड़े-बड़े मनोरथ करनेहारा, विना कर्म से पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा करनेवाला हो, उसी को बुद्धिमान् लोग **'मूढ़'** कहते हैं ॥१॥

जो विना बुलाये सभा वा किसी के घर में प्रविष्ट हो उच्च आसन पर बैठना चाहै, विना पूछे सभा में बहुत-सा बके, विश्वास के अयोग्य वस्तु वा मनुष्य में विश्वास करे, वही **'मूढ़'** और सब मनुष्यों में नीच मनुष्य कहाता है ॥२॥

https://t.me/arshlibrary

जहाँ ऐसे पुरुष अध्यापक उपदेशक गुरु और माननीय होते हैं, वहाँ अविद्या, अधर्म, असभ्यता, कलह, विरोध और फूट बढ़के दुःख ही बढ़ जाता है।

[विद्यार्थियों के आठ दोष]

अब विद्यार्थियों के दोष—

आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च ।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च ॥
एते वै अष्ट दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ॥१॥
सुखार्थिनः कुतो विद्या कुतो विद्यार्थिनः सुखम् ।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ॥२॥

—ये भी विदुरप्रजागर अ० ४०।५,६ के श्लोक हैं ॥

अर्थः—आलस्य=शरीर और बुद्धि में जड़ता, नशा, मोह=किसी वस्तु में फँसावट, चपलता, और इधर-उधर की व्यर्थ कथा करना-सुनना, पढ़ते-पढ़ाते रुक जाना, अभिमानी, अत्यागी होना, ये **आठ दोष** विद्यार्थियों में होते हैं ॥१॥

जो ऐसे हैं उनको विद्या कभी नहीं आती। सुख भोगने की इच्छा करनेवाले को विद्या कहाँ ? और विद्या पढ़नेवाले को सुख कहाँ ? क्योंकि विषय-सुखार्थी विद्या को, और विद्यार्थी विषयसुख को छोड़ दे ॥२॥

[विद्या किसे प्राप्त होती है ?]

ऐसे किये विना विद्या कभी नहीं हो सकती। और ऐसे को विद्या होती है—

सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम् ।
ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन् सर्वपापान्युपासितम् ॥ —महा० अनु० ७५।३७

अर्थः— जो सदा सत्याचार में प्रवृत्त, जितेन्द्रिय, और जिनका वीर्य्य अधःस्खलित कभी न हो, उन्हीं का ब्रह्मचर्य्य सच्चा और वे ही विद्वान् होते हैं ॥

नाप्राप्यम्—अप्राप्यम्=प्राप्ति के अयोग्य अर्थात् दुर्लभ।

प्रवृत्तवाक्=धाराप्रवाह

अध्यापकों तथा विद्यार्थियों के गुण-दोषों का विवेचन द्वितीय तथा तृतीय समुल्लासों के अन्तर्गत हो चुका है। विद्यार्थियों से सम्बन्धित मनुस्मृति का एक श्लोक यहाँ विशेषतः उद्धृत किया जाता है—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥ —२।११४

विद्या ने ब्राह्मण के पास जाकर कहा—मैं तेरी निधि हूँ, मेरी रक्षा कर। असूया करनेवाले को मुझे मत दे। मेरी शक्तिमत्ता एवं सार्थकता इसी में है।

इसी भाव को किंचित् भिन्न शब्दों में निरुक्त (२।१।४) में इस प्रकार कहा है—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥

https://t.me/arshlibrary

[अध्यापक और विद्यार्थियों के कर्त्तव्य]

इसलिए शुभलक्षणयुक्त अध्यापक और विद्यार्थियों को होना चाहिए। अध्यापक लोग ऐसा यत्न किया करें, जिससे विद्यार्थी लोग सत्यवादी, सत्यमानी, सत्यकारी, सभ्यता, जितेन्द्रियता, सुशीलतादि शुभगुणयुक्त, शरीर और आत्मा का पूर्ण बल बढ़ाके समग्र वेदादिशास्त्रों में विद्वान् हों। सदा उनकी कुचेष्टा छुड़ाने में और विद्या पढ़ाने में चेष्टा किया करें और विद्यार्थी लोग सदा जितेन्द्रिय, शान्त, पढ़ानेहारों में प्रेम विचारशील, परिश्रमी होकर ऐसा पुरुषार्थ करें, जिससे पूर्ण विद्या, पूर्ण आयु, परिपूर्ण धर्म और पुरुषार्थ करना आ जाए। इत्यादि **ब्राह्मण वर्णस्थों के काम हैं।**

[क्षत्रिय और वैश्य के कर्म]

क्षत्रियों का कर्म राजधर्म में कहेंगे। **जो वैश्य हों वे** ब्रह्मचर्य्यादि से वेदादिविद्या पढ़, विवाह करके नाना देशों की भाषा, नाना प्रकार के व्यापार की रीति, उनके भाव जानना बेचना-खरीदना, द्वीप-द्वीपान्तर में जाना-आना, लाभार्थ काम का आरम्भ करना, पशुपालन और खेती की उन्नति चतुराई से करनी-करानी, धन को बढ़ाना, विद्या और धर्म की उन्नति में व्यय करना, सत्यवादी, निष्कपटी होकर सत्यता से सब व्यापार करना, सब वस्तुओं की रक्षा ऐसी करनी जिससे कोई नष्ट न होने पावे।

[शूद्र के कर्म]

शूद्र सब सेवाओं में चतुर, पाकविद्या में निपुण, अतिप्रेम से द्विजों की सेवा, और उन्हीं से अपनी उपजीविका करे और द्विज लोग इसके खान-पान, वस्त्र ,स्थान, विवाहादि में जो कुछ व्यय हो सब-कुछ देवें, अथवा मासिक कर देवें।

[चारों वर्णों के पारस्परिक कर्त्तव्य]

चारों वर्ण परस्पर प्रीति, उपकार, सज्जनता, सुख-दुःख, हानि-लाभ में ऐक्यमत्य रहकर राज्य और प्रजा की उन्नति में तन-मन-धन का व्यय करते रहें।

[स्त्री-पुरुष चिरकाल तक दूर-दूर न रहें]

स्त्री और पुरुष का वियोग कभी न होना चाहिए, क्योंकि—

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसन्दूषणानि षट् ॥ —मनु० ६।१३॥

यही बात गीता में कही है

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ —१८।६७

उपनिषदादि वैदिक साहित्य में अनेकत्र इस अर्थ का प्रतिपादन किया गया है कि अपात्र को विद्या नहीं देनी चाहिए। अध्येता अथवा जिज्ञासु में अपेक्षित गुणों का होना इतना महत्त्वपूर्ण माना गया है कि इनके न होने की अवस्था में मनुस्मृति में निर्देश किया है—

विद्ययैव समं कामं मर्त्तव्यं ब्रह्मवादिना ।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥

https://t.me/arshlibrary

अर्थः—मद्य, भाँग आदि मादक द्रव्यों का पीना, दुष्ट पुरुषों का संग, पतिवियोग, अकेली जहाँ-तहाँ व्यर्थ पाखण्डी आदि के दर्शन-मिस से फिरती रहना, और पराये घर में जाके शयन करना वा वास, ये **छः स्त्री को दूषित करनेवाले दुर्गुण हैं** और ये पुरुषों के भी हैं ॥

पति और स्त्री का **वियोग दो प्रकार का** होता है—**प्रथम** कहीं कार्यार्थ देशान्तर में जाना, और **दूसरा** मृत्यु से वियोग होना। इनमें से प्रथम का उपाय यही है कि दूर देश में यात्रार्थ जावे, तो स्त्री को भी साथ रक्खे। इसका प्रयोजन यह है कि बहुत समय तक वियोग न रहना चाहिए।

[बहु-विवाह-सम्बन्धी विचार]

प्रश्न—स्त्री और पुरुष का बहु-विवाह होना योग्य है, वा नहीं ?

उत्तर—युगपत् न। अर्थात् एक समय में नहीं।

पानं दुर्जनसंसर्गः—

स्त्री पुरुषों के परस्पर व्यवहार के सम्बन्ध में स० प्र० प्रथम संस्करम में इतना विशेष लिखा है - "और पुरुषों के वास्ते भी ऐसे बहुत से दूषण हैं —

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

माता, बहन, दुहिता नाम कन्या इनके साथ भी एकान्त में कभी निवास न करै और अत्यन्त सम्भाषण भी न करै और नेत्र से उनके स्वरूप और उनकी चेष्टा न देखे। जो कुछ उनको कहना वा सुनना होय सो नीचे दृष्टि करके कहै वा सुनै। इससे क्या आया कि जितनी व्यभिचारिणी स्त्री वा वेश्या और जितने वेश्यागामी वा परस्त्रीगामी पुरूष हैं उनसे प्रीति वा सम्भाषण अथवा उनका संग कभी न करै। इस प्रकार के दूषणों से ही पुरुष भ्रष्ट हो जाता है, क्योंकि यह जो इन्द्रियग्राम अर्थात् मन और इन्द्रियाँ हैं वे बड़े प्रबल हैं। जो कोई विद्वान् अथवा जितेन्द्रिय वा योगी हों वे भी इस प्रकार के संगों से भ्रष्ट हो जाते हैं तो साधारण जो गृहस्थ वा मूर्ख अवश्य ही नष्ट हो जाएगा। इस वास्ते स्त्री वा पुरुष सदा इन संगों से बचे रहें। और जो स्त्रियों को अत्यन्त बन्धन में रखते हैं यह भी बड़ा भ्रष्ट काम है, क्योंकि स्त्रियों को बड़ा दुःख होता है। श्रेष्ठ पुरुषों का तो दर्शन भी नहीं होता और नीच पुरुषों से भ्रष्ट हो जाती हैं। देखना चाहिए कि ईश्वर ने तो सब जीव स्वतन्त्र रचे हैं और उनको मनुष्य लोग बिना अपराध से परतन्त्र अर्थात् बन्धन में रख देते हैं। वे बड़ा पाप करते हैं। सो इस बात को सज्जन लोग कभी न करैं। यह बात मुसलमानों के राज्य में प्रवृत्त भई है, आगे न थी। कुन्ती, गान्धारी और द्रौपद्यादिक स्त्रियाँ राजसभा में जहाँ राजा लोगों की सभा होती थी वार्त्ता सम्भाषण करती थीं और अपने पति की पंखा और जलादिकों से सेवा करती थीं और गार्गी, मैत्रेयी आदि ऋषि लोगों की स्त्रियाँ भी सभा में शास्त्रार्थ करती थीं। यह बात महाभारत और बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखी है। इसको अवश्य करना चाहिए। मुसलमान लोगों का जब राज्य था तब जिस किसी की कन्या वा स्त्री को पकड़ लेते और भ्रष्ट कर देते थे। उसी दिन से श्रेष्ठ आर्यावर्त्त देशवासी लोग स्त्रियों को घर में रखने लगे और स्त्री लोग भी मुख के ऊपर वस्त्र रखने लगीं। सो इस बात को छोड़ देना चाहिए, क्योंकि इस व्यवहार में सिवाय दुःख के सुख कुछ नहीं। जैसे दाक्षिणात्य लोगों की स्त्रियाँ वस्त्र धारण करती हैं वैसे ही पहले भी था, क्योंकि कभी वस्त्र अशुद्ध नहीं रहता। सब दिन जैसे पुरुषों के वस्त्र शुद्ध रहते हैं, इससे इस प्रकार के वस्त्र धारण करना उचित है।

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—क्या समयान्तर में अनेक विवाह होना चाहिए ?

उत्तर—हाँ। जैसे—

या स्त्री त्वक्षतयोनिः स्यात् गतप्रत्यागतापि वा ।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति ॥ —मनु० ६।१७६॥

अर्थः—जिस स्त्री वा पुरुष का पाणिग्रहणमात्र संस्कार हुआ हो, और संयोग न हुआ हो, अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य्य पुरुष हों, उनका अन्य स्त्री वा पुरुष के साथ पुनर्विवाह होना चाहिए, किन्तु ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में क्षतयोनि स्त्री और क्षतवीर्य्य पुरुष का पुनर्विवाह न होना चाहिए ॥

[पुनर्विवाह में दोष और उससे बचने के उपाय]

प्रश्न—पुनर्विवाह में क्या दोष है ?

उत्तर—**पहला**—स्त्री-पुरुष में प्रेम न्यून होना, क्योंकि जब चाहे तब पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष छोड़कर दूसरे के साथ सम्बन्ध करले।

स्त्री लोगों को पति की सेवा, और तीर्थ के स्थान में सास, श्वसुर इन तीनों की सेवा उत्तम कर्म है।

पौनर्भवेन भर्त्रा— पौनर्भव का अर्थ है पुनर्भू का पति या पुत्र। पुनर्भू के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य का कथन है—'अक्षता वा सता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः' (याज्ञ० स्मृति १।६७) अर्थात् स्त्री चाहे अक्षतयोनि हो और चाहे क्षतयोनि (=पति से संभोग कर चुकी) पुनः विवाह संस्कार कराके 'पुनर्भूः' कहलाती है। मनु के प्रस्तुत श्लोक में 'भर्त्रा' पद का प्रयोग होने से 'पौनर्भ' शब्द का अर्थ 'पुनर्भूः' स्त्री का पति बनता है। मनुस्मृति का टीकाकार कुल्लूकभट्ट 'पुनः संस्कारमर्हति' का अर्थ 'पुनर्विवाहाख्यं संस्कारमर्हति' अर्थात् 'पुनर्विवाह नामक संस्कार के योग्य' करता है।

गतप्रत्यागता— भाषा में इस पद का अर्थ होने से रह गया है। पौराणिक टीकाकार इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं —'गतप्रत्यागता स्त्री वह है जिसका विवाह किसी पुरुष से हो चुका है, किन्तु वह उसका परित्याग करके किसी अन्य पुरुष से विवाह कर लेती हैं। फिर उसे भी त्याग पुनः पूर्वपति के पास आ गयी है। यदि उसने दूसरे पति से संभोग नहीं किया है तो उसका पूर्व पति से पुनर्विवाह किया जाएगा।

पुनर्विवाह—युवावस्था में विवाह होने पर किसी स्त्री का अक्षतयोनि और पुरुष का अक्षतवीर्य रहना कठिन ही नहीं, असंभव-सा है। फिर इसी समुल्लास में विवाह के प्रसंग में कहा गया है—"जिस दिन ऋतुदान देना योग्य समझें उसी दिन 'संस्कारविधि' पुस्तकस्थ विधि के अनुसार सब कर्म करके मध्यरात्रि वा दस बजे अति प्रसन्नता से सबके सामने पाणिग्रहणपूर्वक विधि को पूरी करके एकान्त सेवन करें। पुरुष वीर्यस्थापन और स्त्री वीर्याकर्षण की जो विधि है, उसी के अनुसार दोनों करें।" इस प्रकार ग्रन्थकार ने वहाँ कन्या के गृह पर ही विवाह संस्कार के तुरन्त बाद गर्भाधान का विधान किया है। ऐसी स्थिति में किसी स्त्री के अक्षतयोनि और पुरुष के अक्षतवीर्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस सबसे ग्रन्थकार का अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि किसी भी अवस्था में पुनर्विवाह नहीं होना चाहिए।

ग्रन्थकार का यह भी मन्तव्य है कि 'ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में क्षतयोनि स्त्री और क्षतवीर्य पुरुष का पुनर्विवाह न होना चाहिए।' अर्थापत्ति से इसका अर्थ यह है कि शूद्रों में ऐसे स्त्री-पुरुषों का विवाह हो सकता है। पुनर्विवाह के प्रसंग में सवर्णों और शूद्रों में यह भेदभाव विचारणीय है। समाज में लगभग एक चौथाई संख्या उपर्युक्त शूद्रों की होती है। पुनर्विवाह के भयंकर परिणामों को देखते हुए तो किसी को

https://t.me/arshlibrary

दूसरा—जब स्त्री वा पुरुष पति वा स्त्री के मरने के पश्चात् दूसरा विवाह करना चाहें, तब प्रथम स्त्री के वा पूर्व पति के पदार्थों को उड़ा ले जाना, और उनके कुटुम्बवालों का उनसे झगड़ा करना।

तीसरा—बहुत-से भद्रकुल का नाम वा चिह्न भी न रहकर उसके पदार्थ छिन्न-भिन्न हो जाना।

चौथा—पतिव्रत और स्त्रीव्रत धर्म नष्ट होना— इत्यादि दोषों के अर्थ द्विजों में पुनर्विवाह वा अनेक विवाह कभी न होना चाहिए।

प्रश्न—जब वंशच्छेदन हो जाए, तब भी उसका कुल नष्ट हो जाएगा और स्त्री-पुरुष व्यभिचारादि कर्म करके गर्भपातनादि बहुत दुष्ट कर्म करेंगे। इसलिए पुनर्विवाह होना अच्छा है।

उत्तर—नहीं-नहीं, क्योंकि जो स्त्री-पुरुष ब्रह्मचर्य्य में स्थित रहना चाहें, तो कोई भी उपद्रव न होगा। और जो कुल की परम्परा रखने के लिए किसी अपने स्वजाति का लड़का गोद ले लेंगे, तो उससे कुल चलेगा और व्यभिचार भी न होगा और जो ब्रह्मचर्य्य न रख सकें, तो नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लें।

[पुनर्विवाह और नियोग में भेद]

प्रश्न—पुनर्विवाह और नियोग में क्या भेद है ?

उत्तर—**पहला**—जैसे विवाह करने में कन्या अपने पिता का घर छोड़ पति के घर को प्राप्त होती है, और पिता से विशेष सम्बन्ध नहीं रहता और विधवा स्त्री उसी विवाहित पति के घर रहती है।

दूसरा—उसी विवाहिता स्त्री के लड़के उसी विवाहित पति के दायभागी होते हैं और विधवा स्त्री के

भी पुर्विवाह की इजाज़त नहीं होनी चाहिए। समाज के इतने बड़े वर्ग को विधवा विवाह की छूट देने का अर्थ करोड़ों लोगों का जीवन संकट में डाल देना होगा। शूद्र भी आर्य लोगों के अन्तर्गत आते हैं— आर्यों की वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत होने से **'विजानीह्यान् ये च दस्यवः'** के अनुसार जो आर्य नहीं, वे दस्यु हैं, पर शूद्रों को दस्यु नहीं माना जा सकता। तब यदि 'आर्य लोगों में विधवा-विवाह की अपेक्षा नियोग अच्छा तो वह सभी के लिए अच्छा होना चाहिए। सम्भवतः इन्हीं बातों पर विचार करके ग्रन्थकार ने अपने पूना प्रवचनों में प्रकारान्तर से सभी के लिए विधवा विवाह की छूट देकर इस विषय में द्विज और शूद्र के बीच भेदभाव को निरस्त कर दिया। अपने द्वादश उपदेश में उन्होंने कहा था—

"प्राचीन आर्यलोग पूर्ण युवावस्था पर्यन्त ब्रह्मचर्य धारण करते थे। बाल-विवाह का उस समय कोई नाम तक नहीं जानता था। विधवा विवाह का प्रचार केवल शूद्रों में था। द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में नियोग का प्रचार था। विधवा-विवाह से जो लोग विरोध करते हैं, उनकी पुष्टि करके विधवा-विवाह का खण्डन करने की मेरी इच्छा नहीं है, पर यह अवश्य कहूँगा कि ईश्वर के समीप स्त्री-पुरुष दोनों बराबर हैं, क्योंकि वह न्यायकारी है, उसमें पक्षपात का लेश नहीं है। जब पुरुषों को पुनर्विवाह की आज्ञा दे दी जावे तो स्त्रियों को पुनर्विवाह से क्यों रोका जावे ? प्राचीन आर्य लोग ज्ञानी, विचारशील और न्यायी होते थे। आजकल उनकी सन्तान अनार्य हो गई। पुरुष अपनी इच्छानुसार जितनी चाहे स्त्रियाँ कर सकता है। देश, काल, पात्र और शास्त्र का कोई बन्धन नहीं रहा। क्या यह अन्याय नहीं ? क्या यह अधर्म नहीं ?"

आज देश के सामान्य जन यही जानते और मानते हैं कि महर्षि दयानन्द द्वारा संस्थापित आर्यसमाज ने विधवा विवाह का प्रचार करके करोड़ों अभागी नारियों को नारकीय जीवन से मुक्ति दिला कर समाज और देश का महान् उपकार किया है।

https://t.me/arshlibrary

लड़के वीर्य्यदाता के न पुत्र कहलाते, न उसका गोत्र होता और न उसका स्वत्व उन लड़कों पर रहता, किन्तु वे मृत पति के पुत्र बजते, उसी का गोत्र रहता और उसी के पदार्थों के दायभागी होकर उसी के घर में रहते हैं।

तीसरा—विवाहित स्त्री-पुरुष को परस्पर सेवा और पालन करना अवश्य है और नियुक्त स्त्री-पुरुष का कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता।

चौथा—विवाहित स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध मरणपर्यन्त रहता, और नियुक्त स्त्री-पुरुष का कार्य्य के पश्चात् छूट जाता है।

पाँचवाँ—विवाहित स्त्री-पुरुष आपस में गृह के कार्यों की सिद्धि करने में यत्न किया करते, और नियुक्त स्त्री-पुरुष अपने-अपने घर के काम किया करते हैं।

नियोग

प्राणिमात्र में आत्मरक्षा के साथ-साथ अत्मविस्तार की भी स्वाभाविक वृत्ति होती है। यह विस्तार सन्तान के द्वारा होता है। सन्तान शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'तनु विस्तारे' धातु से निष्पन्न है। 'आत्मा वै जायते पुत्रः' में सन्तान के माध्यम से अपने विस्तार की भावना विद्यमान है। पुत्र के शरीर में जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता है, किन्तु उसके शरीर की रचना में पितृशरीर के अंशों का उपयोग होता है। इसी आधार पर पुत्र-पिता में अंशाशिभाव की कल्पना की जाती है और 'आत्मा वै जायते पुत्रः' सार्थक होता है। इसमें प्रमाण हैं —

पतिर्भार्यां सम्प्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥ —मनु०६।८

पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरं। तस्यां पुनर्नवो भूत्वा
दशमे मासि जायते। तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः ॥
—एतरेय ब्राह्मण३३।१

आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्चेति तस्माज्जाया
अभवंस्तज्जायानां जायात्वं यच्चासु पुरुषो जायते ॥ —गोपथ पू० १।२

अंगादंगात् संभवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥ —निरुक्त ३।१।४

विद्याध्ययन की समाप्ति पर गुरुकुल से विदा करने के अवसर पर आचार्य अपने अन्तेवासी को यह कहना नहीं भूलता—**'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः'** (तै० उप० शिक्षावल्ली अनु०११) अर्थात् अपनी वंश-परम्परा को मत काट देना। विवाह का मुख्य प्रयोजन सन्तानोत्पत्ति है। सप्तपदी विवाह संस्कार का अनिवार्य अंग है। उसके बिना विवाह सम्पन्न हुआ नहीं माना जाता। इस विधि के द्वारा दाम्पत्य जीवन में प्रवेश करते समय वर-वधू दोनों मिलकर सन्तानोत्पत्ति के लिए वचनबद्ध होते हैं—**'प्रजाभ्यः पञ्चपदी भव'**। तदनुसार—

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् ।
क्षेत्रबीजसमायोगात् सम्भवः सर्वदेहिनाम् ॥ —मनु० ६।३३

https://t.me/arshlibrary

[विवाह और नियोग के नियमों में भेद]

प्रश्न—विवाह और नियोग के नियम एक से हैं, वा पृथक-पृथक् ?

उत्तर—कुछ थोड़ा-सा भेद है। जितने पूर्व कह आये, और यह कि विवाहित स्त्री-पुरुष एक पति और एक ही स्त्री मिलके दश सन्तान तक उत्पन्न कर सकते हैं और नियुक्त स्त्री-पुरुष दो वा चार से अधिक सन्तानोत्पत्ति नहीं कर सकते, अर्थात् जैसा कुमार-कुमारी ही का विवाह होता है, वैसे जिसकी स्त्री वा पुरुष मर जाता है, उन्हीं का नियोग होता है, कुमार-कुमारी का नहीं।

जैसे विवाहित स्त्री-पुरुष सदा सङ्ग में रहते हैं, वैसे नियुक्त स्त्री-पुरुष का व्यवहार नहीं, किन्तु विना ऋतुदान के समय के एकत्र न हों। जो स्त्री अपने लिए नियोग करे, तो जब दूसरा गर्भ रहे उसी दिन से स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध छूट जाए और जो पुरुष अपने लिए करे, तो भी दूसरा गर्भ रहने से सम्बन्ध छूट जाए, परन्तु वही नियुक्त स्त्री दो-तीन वर्ष पर्यन्त उन लड़कों का पालन करके नियुक्त पुरुष को दे देवे। ऐसे एक विधवा स्त्री दो अपने लिए, और दो-दो अन्य चार नियुक्त पुरुषों के लिए सन्तान उत्पन्न कर सकती है और एक मृतस्त्रीक पुरुष भी दो अपने लिये, और दो-दो अन्य-अन्य चार विधवाओं के लिए पुत्र उत्पन्न कर सकता है। ऐसे मिलकर दश-दश सन्तानोत्पत्ति की आज्ञा वेद में है।

[दश सन्तानोत्पत्ति तक की वेद में आज्ञा]

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु ।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि ॥

—ऋ० म० १० । सू० ८५ । मं० ४५

अर्थः—हे 'मीढ्व इन्द्र'=वीर्य-सींचने में समर्थ ऐश्वर्ययुक्त पुरुष ! तू इस विवाहित स्त्री वा विधवा स्त्रियों को श्रेष्ठ पुत्र और सौभाग्ययुक्त कर। इस विवाहित स्त्री में दश पुत्र उत्पन्न कर, और ग्यारहवीं स्त्री को मान। हे स्त्री ! तू भी विवाहित पुरुष वा नियुक्त पुरुषों से दश सन्तान उत्पन्न कर, और ग्यारहवें पति को समझ ॥

इस वेद की आज्ञा से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यवर्णस्थ स्त्री और पुरुष दश-दश सन्तान से अधिक उत्पन्न न करें, क्योंकि अधिक करने से सन्तान निर्बल, निर्बुद्धि, अल्पायु होते हैं और स्त्री तथा पुरुष भी निर्बल, अल्पायु और रोगी होकर वृद्धावस्था में बहुत-से दुःख पाते हैं।

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः । —मनु० ६।६६

वंशपरम्परा को चालू रखने के लिए यह आवश्यक है, परन्तु विवाहोपरान्त कभी-कभी ऐसे कारण उपस्थित हो जाते हैं कि चाहते हुए भी वे उसमें सफल नहीं हो पाते। ऐसी असाधारण परिस्थिति में सन्तान प्राप्ति के लिए शास्त्रों ने नियोग का विधान किया है। शास्त्रसम्मत होने के साथ-साथ वह परम्परा द्वारा भी समर्थित एवं प्रतिष्ठित है।

इमा त्वमिन्द्र— इस मन्त्र के भाष्य में ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है—

"किसी आपत्कालीन अवस्था के प्राप्त होने पर एक-एक के अभाव में सन्तानोत्पत्ति के लिए दसवें पुरुषपर्यन्त नियोग करले तथा पुरुष भी विवाहित स्त्री के मरने पर सन्तान के अभाव में दसवीं पर्यन्त विधवा के साथ नियोग करे। यदि इच्छा न हो तो न करे।"

https://t.me/arshlibrary

[नियोग व्यभिचार के समान नहीं ?]

प्रश्न—यह नियोग की बात व्यभिचार के समान दीखती है।

उत्तर—जैसे विना विवाहितों का व्यभिचार होता है, वैसे विना नियुक्तों का व्यभिचार कहाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसा नियम से विवाह होनेपर व्यभिचार नहीं कहाता, तो नियमपूर्वक नियोग होने से व्यभिचार न कहावेगा। जैसे दूसरे की कन्या का दूसरे के कुमार के साथ शास्त्रोक्तविधिपूर्वक विवाह होने पर समागम में व्यभिचार वा पाप-लज्जा नहीं होती, वैसे ही वेदशास्त्रोक्त नियोग में व्यभिचार वा पाप-लज्जा न मानना चाहिए।

प्रश्न—है तो ठीक, परन्तु यह वेश्या के सदृश कर्म दीखता है।

उत्तर—नहीं, क्योंकि वेश्या के समागम में किसी निश्चित पुरुष का कोई नियम नहीं है और नियोग में विवाह के समान नियम हैं। जैसे दूसरे को लड़की देने, दूसरे के साथ समागम करने में विवाहपूर्वक लज्जा नहीं होती, वैसे ही नियोग में भी न होनी चाहिए। क्या जो व्यभिचारी पुरुष वा स्त्री होते हैं, वे विवाह होने पर भी कुकर्म से बचते हैं ?

प्रश्न—हमको नियोग की बात में पाप मालूम पड़ता है।

उत्तर—जो नियोग की बात में पाप मानते हो, तो विवाह में पाप क्यों नहीं मानते ? पाप तो नियोग के रोकने में है, क्योंकि ईश्वर के सृष्टिक्रमानुकूल स्त्री-पुरुष का स्वाभाविक व्यवहार रुक ही नहीं सकता, सिवाय वैराग्यवान्, पूर्ण विद्वान् योगियों के। क्या गर्भपातनरूप भ्रूणहत्या और विधवा स्त्री और मृत-स्त्रीक पुरुषों के महासन्ताप को पाप नहीं गिनते हो ? क्योंकि जब तक वे युवावस्था में हैं, तब तक मन में सन्तानोत्पत्ति और विषय की चाहना होनेवालों को किसी राज्यव्यवहार वा जातिव्यवहार से रुकावट होने से गुप्त-गुप्त कुकर्म बुरी चाल से होते रहते हैं।

इस व्यभिचार और कुकर्म के रोकने का एक यही श्रेष्ठ उपाय है कि जो जितेन्द्रिय रह सकें, वे विवाह वा नियोग भी न करें, तो ठीक है, परन्तु जो ऐसे नहीं हैं, उनका विवाह और आपत्काल में नियोग अवश्य होना चाहिए। इससे व्यभिचार का न्यून होना, प्रेम से उत्तम सन्तान होकर मनुष्यों की वृद्धि होना सम्भव है और गर्भहत्या सर्वथा छूट जाती है। नीच पुरुषों से उत्तम स्त्री और वेश्यादि नीच स्त्रियों से उत्तम पुरुषों का व्यभिचाररूप कुकर्म, उत्तम कुल में कलंक, वंश का उच्छेद, स्त्री-पुरुषों को सन्ताप, और गर्भहत्यादि कुकर्म विवाह और नियोग से निवृत्त होते हैं। इसलिए नियोग करना चाहिए।

[नियोग के नियम]

प्रश्न—नियोग में क्या-क्या बात होनी चाहिए ?

अथर्ववेद ने अपनी शैली में विवाह का प्रयोजन सन्तानोत्पत्ति संकेतित करते हुए कहा है—

उत यत्पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः ।
ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत स एवं पतिरेकधा ॥ —५।१७।८

अर्थात् स्त्री के यदि दस अब्राह्मण (सन्तानोत्पादन में असमर्थ) दश भी पहले पति हों तो (उस अवस्था में) यदि ब्रह्मा=प्रजापति (सन्तानोत्पादन में समर्थ पुरुष) उसका हाथ पकड़े अर्थात् विवाह करे तो वही अकेला उसका पति है। पति के लिए सन्तानोत्पत्ति में समर्थ होना आवश्यक है। ब्रह्मा और प्रजापति

https://t.me/arshlibrary

उत्तर—जैसे प्रसिद्धि से विवाह, वैसे ही प्रसिद्धि से नियोग। जिस प्रकार विवाह में भद्र पुरुषों की अनुमति, और कन्या-वर की प्रसन्नता होती है, वैसे नियोग में भी, अर्थात् जब स्त्री-पुरुष का नियोग होना हो, तब अपने कुटुम्ब में पुरुष-स्त्रियों के सामने प्रकट करें कि हम दोनों नियोग सन्तानोत्पत्ति के लिए करते हैं। जब नियोग का नियम पूरा होगा, तब हम संयोग न करेंगे। जो अन्यथा करें, तो पापी और जाति वा राज के दण्डनीय हों। महीने-महीने में एक बार गर्भाधान का काम करेंगे। गर्भ रहे पश्चात् एक वर्ष पर्यन्त पृथक् रहेंगे।

प्रश्न—नियोग अपने वर्ण में होना चाहिए, वा अन्य वर्णों के साथ भी।

उत्तर—अपने वर्ण में वा अपने से उत्तम वर्णस्थ पुरुष के साथ, अर्थात् वैश्या स्त्री वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण के साथ, क्षत्रिया क्षत्रिय और ब्राह्मण के साथ, ब्राह्मणी ब्राह्मण के साथ नियोग कर सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि वीर्य सम वा उत्तम वर्ण का होना चाहिए, अपने से नीचे के वर्ण का नहीं। स्त्री और पुरुष की सृष्टि का यही प्रयोजन है कि धर्म से अर्थात् वेदोक्त रीति से विवाह वा नियोग से सन्तानोत्पत्ति करना।

[नियोग की क्या आवश्यकता है ?]

प्रश्न—पुरुष को नियोग करने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि वह दूसरा विवाह करेगा।

उत्तर—हम लिख आये हैं कि द्विजों में स्त्री और पुरुष का एक ही बार विवाह होना वेदादिशास्त्रों में लिखा है, द्वितीय बार नहीं। कुमार और कुमारी का ही विवाह होने में न्याय, और विधवा स्त्री के साथ कुमार पुरुष और कुमारी स्त्री के साथ मृतस्त्रीक पुरुष के विवाह होने में अन्याय अर्थात् अधर्म है। जैसे विधवा स्त्री के साथ कुमार पुरुष विवाह नहीं किया चाहता, वैसे ही विवाहित स्त्री से समागम किये हुए पुरुष के साथ विवाह करने की इच्छा कुमारी भी न करेगी। जब विवाह किये पुरुष को कोई कुमारी कन्या, और विधवा स्त्री का ग्रहण कोई कुमार पुरुष न करेगा, तब पुरुष और स्त्री को नियोग करने की आवश्यकता होगी और यही धर्म है कि जैसे के साथ वैसे ही का सम्बन्ध होना चाहिए।

एकार्थक हैं। इस मन्त्र में 'पतयो दश' शब्द विशेषतः द्रष्टव्य है। ये पद ग्रन्थलेखक के किये अर्थ के पोषक हैं।

जो चाहें उनके लिए निषेध नहीं है। अथर्ववेद (६।५।२७-२८) में कहा है —

या पूर्वं पतिं वित्वा अथान्यं विन्दतेऽपरम्।
समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः॥

जो स्त्री पहले पति को प्राप्त करके पुनः उससे भिन्न पति को प्राप्त करती है, पुनः पत्नी वाली पत्नी के साथ वह दूसरा पति एक ही गृहस्थलोक में वास करने वाला हो जाता है।

ग्रन्थकार ने आगे लिखा है—"इस वेद की आज्ञा (दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेका दशं कृधि) से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णस्थ स्त्री और पुरुष दश-दश सन्तान से अधिक उत्पन्न न करें, क्योंकि अधिक करने से सन्तान निर्वल और निर्बुद्ध, आल्पायु होती है।" यहाँ शूद्रों को दस से अधिक सन्तान उत्पन्न करने की छूट दे दी गई है। क्या उनकी सन्तान निर्बल, निर्बुद्धि अल्पायु नहीं होगी ?

अथर्ववेद से उद्धृत मन्त्र में 'वित्वा' शब्द 'विदॢ लाभे' से सिद्ध है, 'विद् ज्ञाने' से नहीं। इसलिए

https://t.me/arshlibrary

[नियोग में प्रमाण]

प्रश्न—जैसा विवाह में वेदादिशास्त्रों का प्रमाण है, वैसे नियोग में प्रमाण है वा नहीं ?

उत्तर—इस विषय में बहुत प्रमाण हैं। देखो और सुनो—

कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः ।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥१॥

—ऋ० म० १० । सू० ४० । मं० २

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ॥
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥२॥

—ऋ० म० १० । सू० १८ । मं० ८

अर्थः—हे (अश्विना) स्त्री-पुरुषो ! जैसे (देवरं विधवेव) देवर को विधवा और (योषा मर्यं न) विवाहिता स्त्री अपने पति को (सधस्थे) समान स्थान शय्या में एकत्र होकर सन्तानों को (आकृणुते) सब प्रकार से उत्पन्न करती है, वैसे तुम दोनों स्त्री-पुरुष (कुहस्विद्दोषा) कहाँ रात्रि और (कुह वस्तः) कहाँ दिन में वसे थे ? (कुहाभिपित्वम्) कहाँ पदार्थों की प्राप्ति (करतः) की ? और (कुहोषतुः) किस समय कहाँ वास करते थे ? (को वां शयुत्रा) तुम्हारा शयन-स्थान कहाँ है ? तथा कौन वा किस देश के रहनेवाले हो ? ॥१॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि देश-विदेश में स्त्री पुरुष-सङ्ग ही में रहें और विवाहित पति के समान नियुक्त पति को ग्रहण करके विधवा स्त्री भी सन्तानोत्पत्ति कर लेवे।

वहाँ इसका अर्थ 'पति को प्राप्त करके' बनता है, 'पति को जानकर नहीं।

कुह स्विद्दोषा०— मन्त्रगत 'देवर' शब्द का निर्वचन करते हुए यास्काचार्य लिखते हैं —**'देवरः कस्माद् द्वितायो वर उच्यते'**। देवर को देवर क्यों कहते हैं ? इसलिए कि वह विधवा का दूसरा वर होता है। सायणाचार्य ने भी ग्रन्थकार के अर्थ की पुष्टि करते हुए निरुक्त के इस वचन को उद्धृत किया है। निरुक्त के प्रमुख टीकाकार दुर्गाचार्य ने भी 'विधवेव देवरम्' तथा 'मर्यं न योषा' की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार के सिद्धान्त की पुष्टि की है—

सायणभाष्य—हे अश्विना, अश्विनौ कुहस्वित् क्वाचित् दोषा रात्रौ भवथ इति शेषः। कुह वस्तोः क्व वा दिवा भवथः। कुह क्व वा अभिपित्वं अभिप्राप्तिं कुरुथः। कुह क्व वा ऊषतुः वसथः। किञ्च युवां वां क्व यजमानः सधस्थे सहस्थाने वेद्याख्ये आकृणुते आकुरुते। परिचारणार्थमात्मानमभिमुखी करोति। तत्र दृष्टान्तौ दर्शयति। शयुत्रा शयने विधवेव यथा मृतभर्तृका नारी देवरं भर्तृभ्रातरमभिमुखी कसेति। मर्यं न यथा च सर्वं मनुष्यं योषा सर्वा नारी सम्भोगकालेऽभिमुखीं करोति तद्वदित्यर्थः। तथा च यास्कः क्वस्विद्रात्रौ भवथः क्व दिवा क्वाभिप्राप्तिं कुरुथः क्व वसथः। को वां शयने विधवेव देवरम्। देवर कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते। विधवा विधातृका भवति विधवनाद्वा विधवनाद्वेति चर्मशिरा अपि वा धव इति मनुष्यनाम तद्वियोगाद्विधवा। देवरो दीव्यति कर्मा। मर्या मनुष्यो मरणधर्मा। योषा यौते। आकुरुते सहस्थाने (निरुक्त ३।१५) इति।

दुर्गाचार्य— शयुत्रे शयने किं विधवा इव देवरं यथा विधवा मृतभर्तृका काचित् स्त्री शयने रहस्यतितरां यत्नवती देवरमुपचरति, सह परकीयत्वात् नार्या दुराराध्यंतरो भवतीति यत्नेनोपचर्यत न तथा निजो भर्त्ता। तस्मात्तेनोपमिमीते अश्विनौ। यथा मर्यं मनुष्यं देवरं सैवमृतभर्तृका योषा आकृणुत आभिमुख्येन कुरुते। को

https://t.me/arshlibrary

['देवर' शब्द का अर्थ]

प्रश्न—यदि किसी का छोटा भाई ही न हो, तो विधवा नियोग किसके साथ करे ?

उत्तर—देवर के साथ, परन्तु **'देवर'** शब्द का अर्थ जैसा तुम समझते हो, वैसा नहीं। देखो निरुक्त में—**'देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते'** (निरु० अ० ३। खं० १५॥) **'देवर'** उसको कहते हैं कि जो विधवा का दूसरा पति होता है। चाहे छोटा भाई वा बड़ा भाई अथवा अपने वर्ण वा अपने से उत्तम वर्णवाला हो, जिससे नियोग करे, उसी का नाम **'देवर'** है।

वाम् एवम् आभिमुख्येन सधस्थे सहस्थाने समाने सहयोगिनावात्मना कृत्वा परिचचार।

भाषार्थ—हे अश्विनो! तुम दोनों रात्रि में कहाँ होते हो, दिन में कहाँ होते हो और कहाँ प्राप्ति करते हो। तुम दोनों को कौन यजमान वेदी में सेवा करने के लिए सन्मुख होता है ? यहाँ दो दृष्टान्त दिये जाते हैं। जैसे सोने के स्थान में विधवा स्त्री पति के भाई को अभिमुख करती है और जैसे सब मनुष्यों को स्त्रियाँ सम्मुख करती हैं, उसी प्रकार, इत्यादि।—सायणभाष्य

जैसे कोई विधवा स्त्री सेज पर एकान्त स्थान में यत्नपूर्वक देवर को प्रसन्न करती है, वह दूसरी स्त्री का पति होने से विधवा स्त्री को प्रसन्न करना बहुत कठिन होता है, इसलिए यत्न से प्रसन्न करती है, वैसे अपने पति को नहीं। इसलिए उससे अश्विनीकुमारों की उपमा दी है और मनुष्य देवर को वही विधवा स्त्री सम्मुख करती है, इत्यादि।—दुर्गाचार्य

'विधवेव देवरम्' यह उपमा नियोगपरक है। वर्णाश्रमधर्म में द्विजों में पुनर्विवाह वर्जित है। वह नियोग धर्म का पालन कर सकती है। इस उपमा का नियोगपरक अर्थ आचार्य विश्वरूप ने याज्ञवल्क्यस्मृति की बालक्रीड़ा टीका में किया है। ग्रन्थकार ने भी ऐसा ही अर्थ किया है। अंग्रेज़ी Widow शब्द विधवा का अपभ्रंश है। परन्तु Widower शब्द को Widow शब्द से er प्रत्यय लगा कर बना नहीं माना जाना चाहिए। यदि Widow के साथ er प्रत्यय लगा होता तो Widower का अर्थ Widow (विधवा) करनेवाला होता। इसलिए Widower शब्द 'विधुर' का अपभ्रंश हो सकता है।

'गत रात्रि आप कहाँ थे ? कल दिन में कहाँ रहे ? इत्यादि प्रश्नों का विधान शुक्रनीति (१।२६१) में पाया जाता है। वहाँ लिखा है कि राजा प्रति दो ग्रामों में एक पान्थशाला (वर्त्तमान में धर्मशाला या सराय) बनावाए और शाला का व्यवस्थापक प्रत्येक पान्थ (यात्री) से प्रश्न करे— तुम कहाँ से आये, क्यों आये, कहाँ जाना है, तुम्हारी जाति और कुल क्या है, तुम कहाँ के रहने वाले हो ? इत्यादि। 'शत्रुया' शयने, शयनवाची शत्रु से सप्तम्यर्थ में 'त्रा' (या०५।४।५६)।

'विधवा' (क) विधातृका— विधवा अर्थात् पतिविहीना। (ख) 'वि' पूर्वक 'धून्' कम्पने धातु से 'अप्' प्रत्यय और टाप। निराश्रित होने से विधवा सदा कम्पायमान रहती है। (ग) चर्मशिरा आचार्य कहता है कि 'वि' पूर्वक गत्यर्थक 'धावु' धातु से विधवा शब्द सिद्ध होता है, क्योंकि परिस्थितिवश विधवा चलायमान चित्तवाली रहती है। (घ) अथवा 'धव' शब्द मनुष्य-वाची है। उस स्वकीय मनुष्य के वियोग से वह विधवा कहलाती है। देवर-स्तुत्यर्थक 'दिव्' धातु से 'अर' प्रत्यय (उणादि ३।१३२)। पति का छोटा भाई भावज का आदर करता है, अतः उसे देवर कहा गया। इस 'देवरम्' पद का सम्बन्ध 'विधवा' और 'योषा' दोनों के साथ है, अतः यास्क ने अपने-अपने स्थान् पर 'देवर' के दो निर्वचन करते हुए इसके भिन्न अर्थ ज्ञापित किये हैं। 'विधवा' के, 'योषा' के वाह से यहाँ 'योषा' का अर्थ सुहागिन या अक्षतयोनि स्त्री है,

https://t.me/arshlibrary

एवं 'मर्य' शब्द ऐसे पुरुष के लिए विवक्षित है जिसकी विवाहिता स्त्री जीवित हो। 'योषा' के साथ 'देवर' तथा 'मर्यम्' दोनों का सम्बन्ध है।

आज कल देवर शब्द केवल पति के छोटे भाई के लिए रूढ़ हो गया है। इसका कारण कदाचित यह है कि स्त्री के विधवा हो आने पर अधिकतर मृत भाई के छोटे भाई से विवाह सम्बन्ध कर दिया जाता है। मनु ने इसका विधान इस रूप में भी किया है—

यस्य म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पति।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥ —९।६९

अर्थात् सगाई करने के बाद (और विवाह से पूर्व) जिसका पति (वस्तुतः उसकी संज्ञा वर है) मर जाए तो उस कन्या को पति का छोटा भाई उसे (विवाह विधान से) प्राप्त कर ले।

इस श्लोक से ग्रन्थकार के "जो अक्षतयोनि स्त्री विधवा हो जाए तो पति का निजी छोटा भाई भी उससे विवाह कर सकता है" इस मन्तव्य की भी पुष्टि होती है।

श्रेष्ठोपमाएँ तो संस्कृत साहित्य में भी बहुत अधिक पाई जाती हैं, पर जहाँ छोटे से बड़े को उपमाएँ दी हों, ऐसी हीनोपमाएँ संस्कृत साहित्य में उपयुक्त नहीं होतीं। वेद में उनका प्रयोग बहुत पाया जाता है। जब मनुष्य वेद का अध्ययन प्रारम्भ करता है, तब उसे लौकिक व्यवहार और संस्कृत से प्रभावित होने के कारण ऐसी हीनोपमाएँ बहुत खटकती हैं। उसके मन में यह बात जमी होती है कि उपमाएँ सदा उच्च ही होनी चाहिएँ। इसलिए वेदाध्ययन करते समय जब उससे विपरीत हीनोपमाएँ दीख पड़ती हैं तो वे उसे असंगत जान पड़ती हैं। उपमा का प्रयोजन यही होता है कि किसी वस्तु के गुण को किसी दूसरी वस्तु के गुण द्वारा स्पष्ट करके समझा सकें। यह स्पष्टता जहाँ भी हो सके, की जा सकती है— चाहे वह हीनोपमा हो, चाहे श्रेष्ठोपमा। प्रस्तुत मन्त्र पर चिन्तन करते समय इस बात को ध्यान में रखना चाहिए।

नियोग का प्रयोजन पूरा हो जाने पर नियुक्त स्त्री-पुरुष के परस्पर संयोग का निषेध करते हुए मनुस्मृति में लिखा है—

विधवायां नियोगार्थे निवृत्ते तु यथाविधि।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्त्तेयातां परस्परम्॥ —९।६३

अर्थात् विधवा स्त्री में नियोग का प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर नियुक्त स्त्री तथा नियुक्त पुरुष एक दूसरे के साथ गुरु तथा वधू के समान बर्तें।

उदीर्ष्वनारि— इस वेदमन्त्र के अर्थ में 'इस' (एतम्) शब्द से वह मृत पति अभिप्रेत है जिसको मरे कुछ समय व्यतीत हो चुका है। जीवात्मयुक्त शरीर का नाम पुरुष है। उसी से हमारा सम्बन्ध होता है। शरीर से जीवात्मा के विमुक्त होते ही वह समाप्त हो जाता है। पति के मरने के कुछ काल पश्चात् परिवार-समाज के वृद्ध विवेकी जन (पंचायत) पतिविहीना (विधवा) स्त्री को सान्त्वना देने के साथ-साथ भविष्य के लिए कर्त्तव्य-बोध कराते हुए उसे कहते हैं— "इस मृत पति को पुनर्जीवित करना या इससे सम्बन्ध बनाये रखना तेरे वश में नहीं है। इसलिए अब इसकी आशा छोड़कर अपने भविष्य की चिन्ता कर।"

इस सन्दर्भ में अथर्ववेद का यह मन्त्र भी द्रष्टव्य है—

अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम्।
अन्धेन यत् तमसा प्रावृतासीत् प्रत्के अपाचीमनयं तदेनम्॥ —९।३।३

https://t.me/arshlibrary

अर्थ— (नीयमानाम्) शव-यात्रा में ले जाई जाती हुई, और (मृतेभ्यः) मृतकों से (परि) पृथक् कर (नीयमानाम्) वापस लाई हुई (जीवां युवतिम्) जीवित युवती को (अपश्यम्) मैंने देखा है। (यत्) जोकि पहले पति की मृत्यु के कारण (अन्धेन तमसा) गहरे शोकान्धकार से (प्रावृता आसीत्) घिरी हुई थी। (तत्) इसलिए (एनाम्) इस विधवा को (प्राक्तः) शव-यात्रा में आगे बढ़ने से (अपाचीम्) पीछे की ओर (अनयम्) मैं लाया हूँ।

मन्त्र में प्रसंग 'दिधिषोः पत्युः' (१८।३।२) का है। 'परिणीयमानाम्'=परि (वर्जने)+नीयमानाम्, 'अपपरी वर्जने' (पा० १।४।८७)। 'परिणीयमानाम्' में श्लेषविधना 'नियोग विधि द्वारा पुनर्विवाहित होती हुई' भी हो सकता है। ग्रन्थकार द्वारा पुनर्विवाह अनुमोदित है, किन्तु अक्षतवीर्य पुरुष और अक्षतयोनि स्त्री का। अन्यथा उन्होंने पुनर्विवाह को शूद्रविवाह कहा है।

'वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद् वा' (पा०३।३।१३१)—वर्त्तमान के समीप— (भूत अथवा भविष्यत्)-वाले समय का वर्त्तमान की भाँति ही प्रयोग किया जाता है, व्याकरण के इस नियम के अनुसार भूतकाल के वाचक 'इस' शब्द का वर्त्तमान की भाँति प्रयोग हुआ है। इससे मृत पति के शव की विद्यमानता में बोलने या स्त्री से पूछने का भाव व्यक्त नहीं होता। कुछ समय पश्चात् ही विधवा स्त्री की इच्छा जानने के लिए पूछा जाता है कि वह ब्रह्मचारिणी रहना चाहती है या किसी रूप में दूसरा पति स्वीकार करना चाहती है?

सायणाचार्य ने भी बंगाल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता द्वारा सन् १८७२ (स्वामी दयानन्द् से पूर्व) में प्रकाशित तैत्तिरीय आरण्यक के भाष्य में इस मन्त्र का यही भाष्य किया है—

हे नारि ! त्वं गतासुं गतप्राणं एतं पतिं उपशेषे उपेत्य शयनं करोषि। उदीर्ष्व समीपादुत्तिष्ठ जीवलोकमभिजीवन्तं प्राणिसमूहमभिलक्ष्य एहि आगच्छ। त्वं हस्तग्राभस्य पाणिं ग्राहवतोः दिधिषोः पुनर्विवाहेच्छोः पत्युरेतत् जनित्वं जायात्वं अभिसम्भूय आभिमुख्येन प्राप्नुहि।

— प्रपाठक ६, अनुवाक् १, मन्त्र १४

अर्थ— हे नारि ! तू इस मरे हुए पति के पास सोई (लेटी हुई) है। इसके पास से उठ, इस जीवित समूह को देख और पुनर्विवाह की इच्छा करनेवाले, पारिणग्रहण करनेवाले पुरुष के जायात्व (पत्नीत्व) तथा जनित्व (सन्तान उत्पन्न करने) के लिए इसको प्राप्त हो— इसके-साथ संबद्ध हो।

सायणाचार्य ने यहाँ 'दिधिषोः' का अर्थ 'पुनर्विवाहेच्छोः' किया है। मनुस्मृति (३।१७३) में कहा है—

भ्रातुमृतस्य-भार्यायां यो ऽनुरज्येत कामतः ।
धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूः पतिः ॥

अर्थात् नियोग धर्म के अनुसार नियुक्त होकर भी जो मरे हुए भाई की पत्नी से काम के वशीभूत होकर संयोग करता है, वह दिधिषूपति कहाता है।

इसी प्रकार अमरकोश (काण्ड २, मनुष्यवर्ग, श्लोक २३) में लिखा है—

'पुनर्भू दिधिषूरुढा द्विस्तस्या दिधिषूः पतिः अर्थात् पहले एक की स्त्री होकर फिर किसी अन्य की भार्या होती है, उस दो बार ब्याही स्त्री के पति को 'दिधिषू' कहते हैं।

शौनककृत ऋग्विधान में इस मन्त्र का नियोग में विनियोग इस प्रकार किया—

भ्रातुर्भार्यामपुत्रस्य सन्तानार्थं मृते पतौ ।
देवरोऽन्वारुक्षन्तीम् उदीर्ष्वेतिनिवर्तयेत् ॥

https://t.me/arshlibrary

अर्थः—हे (नारी) विधवे ! तू (एतं गतासुम्) इस मरे हुए पति की आशा छोड़के (शेषे) बाकी पुरुषों में से (अभिजीवलोकम्) जीते हुए दूसरे पति को (उपैहि) प्राप्त हो। और (उदीर्ष्व) इस बात का विचार और निश्चय रख कि जो (हस्तग्राभस्य दिधिषोः) तुझ विधवा के पुनः पाणिग्रहण करनेवाले **नियुक्त पति** के सम्बन्ध के लिए नियोग होगा, तो (इदम्) यह (जनित्वम्) जना हुआ बालक उसी नियुक्त (पत्युः) पति का होगा और जो तू अपने लिए नियोग करेगी, तो यह सन्तान (तव) तेरा होगा। ऐसे निश्चययुक्त (अभि संबभूथ) हो। और नियुक्त पुरुष भी इसी नियम का पालन करे ॥२॥

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः ।
प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य ॥३॥

—अथर्व० का० १४। अनु० २। मंत्र १८॥ (१४।२।१८)

अर्थः—हे (अपतिघ्न्यदेवृघ्नि) पति और देवर को दुःख न देनेवाली स्त्री ! तू (इह) इस गृहाश्रम में (पशुभ्यः) पशुओं के लिए (शिवा) कल्याण करनेहारी, (सुयमा) अच्छे प्रकार धर्म-नियम में चलनेवाली (सुवर्चाः) रूप और सर्वशास्त्र-विद्यायुक्त, (प्रजावती) उत्तम पुत्र-पौत्रादि से सहित, (वीरसूः) शूरवीर पुत्रों को जननेवाली (देवृकामा) देवर की कामना करनेवाली (स्योना) और सुख देनेहारी, पति वा देवर को (एधि) प्राप्त होके (इमम्) इस (गार्हपत्यम्) गृहस्थसम्बन्धी (अग्निम्) अग्निहोत्र को (सपर्य) सेवन किया कर ॥३॥

'तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः' ॥ —मनु० ६।६१

ऋतुकाले तु सम्प्राप्ते घृताभ्यक्तोऽथ वाग्यतः ।
एकमुत्पादयेत् पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चनः ॥

—वर्लिन (जर्मनी) तथा मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर द्वारा प्रकाशित

अर्थ— भाई के मर जाने पर उसकी स्त्री को देवर रोने आदि से रोके और 'उदीर्ष्व नारि' इस मन्त्र को बोलकर उठाये और ऋतुकाल आने पर उसमें एक पुत्र उत्पन्न करे, दूसरा कदापि नहीं।

आश्वलायन गृह्यसूत्र, अध्याय ४, कण्डिका २, सूत्र १८ में कहा है—

तामुत्थापयेद्देवरः पतिस्थानीयोऽन्तेवासी जरद्दासो वोदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकमिति ।

इसपर नारायणीवृत्ति—

अथ पत्नीमुत्थापयेत् । कः ? देवरः परस्थानीयः स पतिस्थानीय इत्युच्यते । अनेन ज्ञायते पतिकर्तृकं कर्म (गर्भाधानं) पुंसवनादि देवरः कुर्यादिति ।

— सरस्वती यन्त्रालय कलकत्ता से श्री जीवानन्द विद्यासागर द्वारा प्रकाशित, १८६३ ई०

नियोग कर्म में प्रवृत्त होना स्त्री की इच्छा पर निर्भर करता है। इस (उदीर्ष्व०) मन्त्र का भाष्य करते हुए ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है—

"जो तेरी इच्छा हो तो दूसरे पुरुष के साथ नियोग करके सन्तानों को प्राप्त हो, नहीं तो ब्रह्मचर्य आश्रम में स्थिर होकर स्त्रियों और कन्याओं को पढ़ाया कर।" कुछ ऐसा ही संकेत पराशरस्मृति के इस श्लोक में किया गया है—

मृते भर्त्तरी या नारी ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता ।
सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥४।३१

https://t.me/arshlibrary

अर्थात् पति के मरने पर जो स्त्री ब्रह्मचर्यव्रत में स्थित रहती है, वह मरने पर ब्रह्मचारिणी की भाँति स्वर्गसुख को प्राप्त करती है ।

अदेवृघ्नि— सामान्य दृष्टि से स्वर शास्त्रानुसार मन्त्रस्थ 'अदेवृघ्नी अपतिघ्नी' पद प्रथमान्त हैं । पदकार ने भी इन्हें प्रथमान्त ही दर्शाया है । ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी यहाँ के समान सम्बोधनान्त मानकर ही व्याख्यान किया है । यहाँ दोनों पदों के समान कोटिवाले होने से अर्थात् समानाधिकरण होने पर भी पूर्व पद के सामान्य वचन न होने से 'आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत' इस सामान्य नियम से 'अदेवृघ्नि' के अविद्यमानवत् होने पर 'अपतिघ्नि' में भी आमन्त्रिताद्युदात्तत्व सम्भव है, अतः ग्रन्थकार का इन्हें आमन्त्रित पद मानना भी स्वर शास्त्रानुकूल है, ऐसा जानना चाहिए ।

इस मन्त्र में आये 'देवृकामा' का अर्थ 'देवर की कामना करनेवाली' है । कोई-कोई यहाँ 'देवृकामा' के स्थान पर 'देवकामा' पाठ की कल्पना करते हैं, परन्तु वैदिक मन्त्रालय अजमेर द्वारा प्रकाशित संस्करण में ही नहीं, सनातनधर्म यन्त्रालय, ओंकार यन्त्रालय प्रयाग तथा जर्मनी में वेबर द्वारा प्रकाशित संस्करणों में सर्वत्र 'देवृकामा' पाठ ही मिलता है । फिर, दाम्पत्य या गृहस्थ के प्रसंग में देवों की कामना करने की बात सोचना सर्वथा असंगत है ।

नियोग के सन्दर्भ में ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में एक अन्य मन्त्र की भी साक्षी प्रस्तुत की है । वह मन्त्र है—

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम् ।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥

—अथर्व० का०१८, अनु०-३ व० ३ मं०१

अर्थ— जो विधवा नारी पतिलोक अर्थात् पतिसुख की इच्छा करके नियोग किया चाहे तो वह पति के मरने पर दूसरे पति को प्राप्त हो । इस मन्त्र में परमेश्वर स्त्री और पुरुष को आज्ञा देता है कि हे पुरुष ! जो इस सनातन नियोगधर्म की रक्षा करनेवाली स्त्री है, उससे सन्तानोत्पत्ति के लिए धर्म से वीर्य दान कर, जिससे वह प्रजा से युक्त होके आनन्द में रहे । तथा स्त्री के लिए भी आज्ञा है कि जब किसी पुरुष की स्त्री मर जाए और सन्तानोत्पत्ति किया चाहे, तब स्त्री भी उस पुरुष के साथ नियोग करके उसको प्रजायुक्त करदे । इसलिए मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम मन, कर्म और शरीर से व्यभिचार कभी न करो, किन्तु धर्मपूर्वक विवाह और नियोग से सन्तानोत्पत्ति करते रहो ।

धर्माधर्म का निश्चय करने के लिए श्रुति (वेद) का प्रामाण्य सर्वोपरि हैं—

'धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' (मनु० २।१३) । वेद के पश्चात् मनुस्मृति का प्रामाण्य है । वहाँ लिखा है—

यवीयाञ्ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदि ।
समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यस्थितः ॥
हरेत्तत्र नियुक्तायां जातो पुत्रो यथौरसः ।
क्षेत्रिकस्य तु तद्बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः ॥
धनं यो बिभ्रयाद् भ्रातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च ।
सोऽपत्यं भ्रातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम् ॥

https://t.me/arshlibrary

यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ ।
यस्य यत्पैतृकं रिक्थं स तद् गृह्णीत नेतरः ॥ —मनु० ६।१२०, १४५,१४६, १६२

यदि छोटा भाई बड़े भाई की स्त्री में पुत्र पैदा करे तो समान विभाग होगा, धर्म की यही व्यवस्था है। नियोग करनेवाली में पैदा हुआ पुत्र औरस पुत्र के समान दायभागी है, वह खेतवाले का ही बीज गिना जाएगा और धर्म की सन्तान माना जाएगा। यदि कोई मनुष्य मरे हुए के धन और स्त्री को धारण करे तो भाई के लिए सन्तान पैदा करके उस भाई का धन उस सन्तान को दे दे। यदि औरस और क्षेत्रज पुत्र एक ही जायदाद के उत्तराधिकारी हो जाएँ तो जो जिसके पिता का धन है, वही उसे ग्रहण करे, दूसरा नहीं।

अन्यत्र (मनु ६।१६१) लिखा है—

द्वौ तु यौ विवदेयातां द्वाभ्यां जातौ स्त्रिया धने ।
तयोर्यद्यस्य पित्र्यं स्यात्तस्य गृह्णीत नेतरः ॥

अर्थात् एक स्त्री से दो पुरुषों द्वारा उत्पन्न बालकों में यदि धन-विषयक विवाद हो तो जिसका जो पैतृक धन है, उसे वही ले, दूसरा नहीं। इससे नियोगज सन्तान का धनाधिकार स्पष्टतः विहित है।

नियुक्तावप्यनापदि— ग्रन्थकार ने 'नियुक्तौ' और 'अनापदि' को स्वतन्त्र पद मानकर मनु के श्लोक के दो अर्थ दर्शाये है— (१) आपत्काल=सन्तान की इच्छा न होने पर अर्थात् आवश्यकता न होने पर नियोग करने से पतित हो जाते हैं। (२) नियुक्त होने पर=सन्तान हो जाने अर्थात् आवश्यकता पूरी हो जाने पर भी परस्पर समागम करते हैं, तो भी पतित हो जाते हैं, क्योंकि नियोग का प्रयोजन केवल सन्तान प्राप्ति है। प्रथम पक्ष में सन्तान की इच्छा न होने से नियोग की आवश्यकता नहीं। द्वितीय पक्ष में सन्तान हो जाने से पुनः समागम की आवश्यकता नहीं रह जाती।

नियोग का विधान करते हुए महाभारत में लिखा है —

उत्तमादेवरात् पुंसः कांक्षन्ते पुत्रमापदि ॥३४॥
अपत्यं धर्मफलदं श्रेष्ठं विन्दन्ति मानवाः ।
आत्मशुक्रादपि पृथे मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥३५॥
—महा० आदि० अ० १२०

अर्थात् आपत्तिकाल में लोग उत्तम देवर से पुत्र की इच्छा करते हैं। हे कुन्ती! स्वायम्भुव मनु का कथन है कि अपने वीर्य से पैदा हुए पुत्र से भी अधिक श्रेष्ठ फलदायक पुत्र को मनुष्य नियोगविधि से प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत ऋग्वेद ७।४।७ में 'अन्यजातम्' तथा ७।४।८ में 'अन्योदर्यः' अर्थात् अन्य के वीर्य से उत्पन्न तथा अन्य क्षेत्र में उत्पन्न सन्तान के सम्बन्ध में कहा है कि 'न मनसा उग्रभाय मन्तवै' उसे अपनाने की बात मन से भी नहीं सोचनी चाहिए। वे मन्त्र इस प्रकार हैं—

कौन पुत्र मानने योग्य है, इस विषय में अगले मन्त्र में कहा है—

न हि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ
अधा चिदोकः पुनरित्स एत्या नो वाज्यभीषाड् तु नव्यः ॥ —७।४।८

इसपर ग्रन्थकार का भाष्य—हे मनुष्यो ! जो (अरणः)रमण न करता हुआ (सुशेवः) सुन्दर मुख से युक्त (अन्योदर्य्यः) दूसरे के उदर से उत्पन्न हुआ है। (सः) वह (मनसा) अन्तःकरण से (ग्रभाय) ग्रहण के

https://t.me/arshlibrary

लिए (नि हि) नहीं (मन्तवै) मानने योग्य है। (चित् उ पुनः इत्) और फिर ही वह (औकः) घर को नहीं (एति) प्राप्त होता। (अध) इसके अनन्तर जो (नव्यः) नवीन (अभीषाड्) अच्छी सहनशील (वाजी) विज्ञानवाला (नः) हमको (आएतु) प्राप्त हो।

भावार्थ— हे मनुष्यो! अन्य गोत्र में उत्पन्न हुए बालक को पुत्र करने के लिए ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह घर आदि का दायभागी नहीं हो सकता किन्तु जो अपने शरीर से उत्पन्न वा अपने गोत्र से लिया हुआ हो वही पुत्र वा पुत्र का प्रतिनिधि होवे।

परषद्यं ह्यरणस्य रेक्णो नित्यस्य रायः पतयः स्याम ।
न शेषो अग्ने अन्य जातमस्त्यचेतानस्य मा पथो वि दुक्षः ॥ —७।४।७

इसपर यास्काचार्य का भाष्य—(अरणस्य रेक्णः परिषद्यं हि) बेगाने की सन्तान त्यक्तव्य ही है अर्थात् दूसरे की सन्तान को अपनी नहीं समझना चाहिए। (नित्यस्य रायः पतयः स्याम) इसलिए हम निश्चित स्थिर सन्तान के स्वामी हो। (अग्ने अन्यजातं शेषः न अस्ति) हे परमेश्वर ! दूसरे से उत्पन्न सन्तान हमारी नहीं होंगी। अतः हे अग्ने ! (पथः मा विदुक्षः) इस धर्मपथ से हमें च्युत मत करो, हमें औरस पुत्र प्रदान करो। — निरुक्त ३।१।३

६।४।८ पर निरुक्त भाष्य— (अरणः न हि ग्रभाय) बेगाना पुत्र कभी नहीं ग्रहण करना चाहिए। (सुशेवः उ अन्योदर्यः मनसा मन्तवै) और अत्यन्त सुखकारी होने पर भी दूसरे की स्त्री के पेट से उत्पन्न हुए पुत्र को मन से भी नहीं सोचना चाहिए कि यह मेरा पुत्र है। (अध पुनः इत् ओकः चित् एति) क्योंकि ऐसा पुत्र फिर भी अपने उसी स्थान को चला जाता है जहाँ से कि होता है।

इसपर दुर्गाचार्य— अचेतनस्य प्रमत्तस्य परितोषमात्रं भवति—'ममेदमपत्यमिति'।

अन्योदर्यः=अन्येनोदीरिताद्रेतसो जातः, अन्यजातोदरसम्भूतो स 'मनसापि न मन्तव्यो ममायमिति' किं पुनः पुत्रत्वेन परिकल्पयितव्य इति।

जयदेव— (अन्योदर्यः) दूसरे के पेट से उत्पन्न सन्तान (मनसा उ ग्रभाय मन्तवै न हि) मन से भी अपनाने की नहीं सोचनी चाहिए। परक्षेत्र में उत्पन्न हुआ पुत्र चाहे कितना ही सुन्दर हो उसे चित्त से कभी अपना न मानना चाहिए।

उपर्युक्त मन्त्रों से नियोग के द्वारा सन्तान करने का निषेध किया गया प्रतीत होता है, परन्तु निरुक्त में इन मन्त्रों का विनियोग दायभाग के प्रकरण में किया गया है। ग्रन्थकार के भाष्य में भी 'क्योंकि वह घर आदि का दायभागी नहीं हो सकता' शब्दों से यही संकेत मिलता है। यास्क ने शंका व्यक्त की है कि ऐसा पुत्र 'अध पुनः इत् ओकः चित् एति' फिर अपने उसी स्थान को चला जाता है जहाँ से वह आया होता है। इस प्रकार यहाँ दूसरे कुल में उत्पन्न बालक के गोद लिए जाने के सम्बन्ध में कथन किया गया है। गोद लेने की अवस्था में पहले से उत्पन्न (अन्यजातम्/ अन्योदर्यः) बालक को कालान्तर में अपनाया जाता है, जबकि नियोग की अवस्था में संकल्पपूर्वक अपने लिए ही उस बालक को उत्पन्न किया जाता है। दोनों अवस्थाओं में स्पष्ट भेद है।

पति के मर जाने पर उसके सती होने की प्रथा का अनुमोदन करनेवाले प्रायः ऋग्वेद के इस मन्त्र को अपने पक्ष में प्रस्तुत करते हैं—

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं विशन्तु ।
अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥ —ऋ० १०।१८।७

https://t.me/arshlibrary

जो अक्षतयोनि स्त्री विधवा हो जाए, तो पति का निज छोटा भाई भी उससे विवाह कर सकता है ॥

[नियोग की सीमा]

प्रश्न—एक स्त्री वा पुरुष कितने नियोग कर सकते हैं ? और विवाहित नियुक्त पतियों का नाम क्या होता है ?

उत्तर— सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥

—ऋ० म० १०। सू० ८५। मं० ४०॥

अर्थः— हे स्त्रि ! जो (ते) तेरा (प्रथमः) पहला विवाहित (पतिः) पति तुझको (विविदे) प्राप्त होता है, उसका नाम (सोमः) सुकुमारतादिगुणयुक्त होने से **'सोम'**, जो दूसरा नियोग से (विविदे) प्राप्त होता है वह (गन्धर्वः) एक स्त्री से सम्भोग करने से **'गन्धर्व'**, जो (तृतीय उत्तरः) दो के पश्चात् तीसरा पति होता है, वह (अग्निः) अत्युष्णतायुक्त होने से 'अग्नि' संज्ञक और जो (ते) तेरे (तुरीयः) चौथे से लेके ग्यारहवें तक नियोग से पति होते हैं, वे (मनुष्यजाः) **'मनुष्य'** नाम से कहाते हैं ॥

जैसा **(इमां त्वमिन्द्र०)** इस मन्त्र में ग्यारहवें पुरुष तक स्त्री नियोग कर सकती है, वैसे पुरुष भी ग्यारहवीं स्त्री तक नियोग कर सकता है ।

प्रश्न—'एकादश' शब्द से दश पुत्र और ग्यारहवें पति को क्यों न गिनें ?

उत्तर—जो ऐसा अर्थ करोगे, तो **'विधवेव देवरम्'; 'देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते'; 'अदेवृघ्नि'** और **'गन्धर्वो विविद उत्तरः'** इत्यादि वेदप्रमाणों से विरुद्धार्थ होगा, क्योंकि तुम्हारे अर्थ से दूसरा भी पति प्राप्त नहीं हो सकता तृतीय, चतुर्थ का तो क्या कहना !

भाषार्थ— (इमाः) ये (अविधवाः) पति से युक्त (नारी) स्त्रियाँ (सुपत्नीः) पतिव्रता बनकर (आञ्जनेन सर्पिषा) धृतादि सुगन्धित पदार्थों से सुशोभित होकर (सं विशन्तु) स्वगृह में प्रवेश करें । वे (अनश्रवः) अश्रुरहित, (अनमीवाः) रोगरहित, (सुरत्नाः) सुन्दर आभूषणादि तथा रम्य गुणोंवाली (जनयः) सन्तानों को जन्म देने में समर्थ स्त्रियाँ (अग्रे) आदरपूर्वक पहले (योनिम्)घर में (आ रोहन्तु) प्रवेश करें ।

इस मन्त्र में किसी ने जाने-अनजाने 'अग्रे' को 'अग्ने' बनाकर विधवा के पति के शव के साथ जल मरने की प्रथा को चालू किया और 'सती' नाम से उसे महिमामण्डित किया, परन्तु मन्त्रगत 'अविधवा नारीः' शब्दों से सर्वथा विस्पष्ट है कि यहाँ जो कुछ कहा गया है वह 'सधवा' (पति से युक्त) नारियों के विषय में कहा गया है । 'अग्ने' पाठ मानने पर मन्त्रगत अन्य सभी शब्द निरर्थक एवं असंगत हो जाते हैं । मैक्समूलर ने इसपर अपनी टिप्पणी में कहा है—

This is perhaps the most flagrant instance of what can be done by an unscrupulous priesthood. Here have the lives of thousands been sacrificed and financial rebellion been threatened on the authority of a passage which was mangled, mistranslated and misapplied.

अर्थात् विवेकहीन धर्म के ठेकेदार क्या कुछ कर सकते हैं, शायद यह उसका अत्यन्त ज्वलन्त उदाहरण है । एक सन्दर्भ को तोड़-मरोड़ कर उसके अशुद्ध अर्थ करके और उसका मिथ्या विनियोग करके हज़ारों की हत्या करदी गयी ।

अथर्ववेद के पूर्वोद्धृत मन्त्र में शवयात्रा में जाती हुई विधवा को मृतक के पास से हटाकर वापस लाने

https://t.me/arshlibrary

[नियोग आपद्धर्म है]

देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया ।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥१॥
ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान् वाग्रजस्त्रियम् ।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥२॥
औरसः क्षेत्रजश्चैव० ॥३॥ —मनु० ९।५९,५८,१५९

इत्यादि मनुजी ने लिखा है कि 'सपिण्ड' अर्थात् पति की छः पीढ़ियों में पति का छोटा वा बड़ा भाई, अथवा स्वजातीय तथा अपने से उत्तम जातिस्थ पुरुष से विधवा स्त्री का नियोग होना चाहिए, परन्तु जो वह मृतस्त्रीक पुरुष और विधवा स्त्री सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करती हो तो नियोग होना उचित है और जब सन्तान का सर्वथा क्षय हो, तब नियोग होवे ॥१॥

जो आपत्काल अर्थात् सन्तानों के होने की इच्छा न होने में, तथा बड़े भाई की स्त्री से छोटे का, और छोटे की स्त्री से बड़े भाई का नियोग होकर सन्तानोत्पत्ति हो जानेपर भी पुनः वे नियुक्त —आपस में समागम करें, तो पतित हो जाएँ, अर्थात् एक नियोग में दूसरे पुत्र के गर्भ रहने तक नियोग की अवधि है। इसके पश्चात् समागम न करें ॥२॥

का स्पष्ट निर्देश उपलब्ध है। वसिष्ठस्मृति में तो यहाँ तक लिखा है—

उर्ध्वं षड्भ्यो मासेभ्यः स्नात्वा श्राद्धं च पत्ये दत्त्वा विद्याकर्म गुरुयोनि-सम्बन्धान् संनिपात्य पिता भ्राता वा नियोगं कारयेत्। —वसिष्ठस्मृति, अध्याय १७

अर्थात् (विधवा होने के) छहमास पश्चात् स्नान करके पति का श्राद्ध करके, विद्या=सम्बन्धी, कर्मसम्बन्धी, योनिसम्बन्धी गुरुजनों को एकत्र कर पिता अथवा भ्राता नियोग की व्यवस्था करें। पराशरस्मृति में पति के मरने पर ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने अथवा विवाह करने का विधान किया है, किन्तु सती होने का नहीं।

इन सब प्रमाणों में पति के मरने पर विधवा स्त्री के जीवित रहकर सामान्य जीवन व्यतीत करने तथा आवश्यकतानुसार नियोग द्वारा सन्तानोत्पत्ति करने का निर्देश है। ऐसी अवस्था में विधवा स्त्री के मृतपति के शव के साथ जलकर सती हो जाना सर्वथा अशास्त्रीय एवं अमानुषिक कृत्य है।

अपने पूना प्रवचन १२ में ग्रन्थकार ने बताया था—"पाण्डु की एक रानी माद्री सती हो गयी थी। सती होने की आज्ञा वेद में नहीं है, किन्तु सती होने की कुरीति पहले-पहल पाण्डु राजा के समय से चली।" ग्रन्थकार के अनुसार महाभारत काल से लगभग एक हज़ार वर्ष पूर्व आर्यावर्त्त का पतन आरम्भ हो गया था।

सोमः प्रथमो—कतिपय पौराणिक विद्वान् इस मन्त्र का नियोग या विधवा-विवाहपरक अर्थ करना ठीक नहीं मानते। उनका कहना है कि सोम, गन्धर्व और अग्नि ये मनुष्य नहीं, देवता हैं। पहले ये तीनों कन्या को भोगते हैं, पश्चात् उसका विवाह मनुष्य के साथ होता है। उनका यहाँ तक कहना है कि 'अभुक्ता चैव सोमाद्यैः कन्यका न प्रशस्यते' अर्थात् सोमादि द्वारा न भोगी हुई कन्या विवाह के लिए उत्तम नहीं होती। नियोग तो मानवी का मानव से होता है, देव से नहीं।

वास्तव में सोम आदि मनुष्यों की संज्ञाएँ हैं। अथर्ववेद (१४।१।६) में कहा है—

https://t.me/arshlibrary

और जो दोनों के लिए नियोग हुआ हो, तो चौथे गर्भ तक, अर्थात् पूर्वोक्त रीति से **दश सन्तान** तक हो सकते हैं। पश्चात् विषयासक्ति गिनी जाती है, इससे वे पतित गिने जाते हैं। और जो विवाहित स्त्री-पुरुष भी दशवें गर्भ से अधिक समागम करें, तो कामी और निन्दित होते हैं, अर्थात् विवाह वा नियोग सन्तानों ही के अर्थ किये जाते हैं, पशुवत् काम-क्रीड़ा के लिए नहीं।

[पति के जीवित रहते भी नियोग हो सकता है]

प्रश्न—नियोग मरे पीछे ही होता है, वा जीते पति के भी ?

उत्तर—जीते भी होता है।

'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' ॥

—ऋ० म० १०॥ सू० १०। मं० १०॥

जब पति सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे, तब अपनी स्त्री को आज्ञा देवे कि—हे (सुभगे) सौभाग्य की इच्छा करनेहारी स्त्री ! तू (मत्) मुझसे (अन्यम्) दूसरे पति की (इच्छस्व) इच्छा कर, क्योंकि अब मुझसे सन्तानोत्पत्ति की आशा मत कर। तब स्त्री दूसरे से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करे, परन्तु उस विवाहित महाशय [पति] की सेवा में तत्पर रहे। वैसे ही स्त्री भी जब रोगादि दोषों से ग्रस्त होकर सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे, तब अपने पति को आज्ञा देवे कि—'हे स्वामी! आप सन्तानोत्पत्ति की इच्छा मुझसे छोड़के किसी दूसरी विधवा स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कीजिए' ॥

सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा ।
सूर्या यत्पत्ये शंसन्ती मनसा सविताददात् ॥

अर्थ— जब सोम अर्थात् वीर्यवान् पुरुष वधू की कामना से युक्त हो तो स्त्री और पुरुष दोनों एक-दूसरे का वरण करनेवाले हों। यहाँ स्पष्ट ही पुरुष सोम संज्ञक है। मन्त्रगत 'मनुष्यजाः' शब्द बहुवचनान्त है। यदि पहले तीनों—सोम, गन्धर्व और अग्नि देव होते और अन्तिम चौथा मनुष्य होता तो उसे 'मनुष्यजः' कहा गया होता, 'मनुष्यजाः' नहीं। 'मनुष्यजाः' के बहुवचनान्त होने से स्पष्ट है कि यह शब्द सोमादि चारों का परामर्शक है। इस प्रकार चारों पति मनुष्य हैं। यदि वादीतोषन्याय से सोमादि को देवसंज्ञक ही मान लिया जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि देवों में नियोग और पुनर्विवाह शास्त्रसम्मत है। फिर, मनुष्य इसका अपवाद क्यों होने लगे ?

अन्यमिच्छस्व—यह मन्त्रांश ऋग्वेद के दशम मण्डल के दशम सूक्त (=यम-यमी सूक्त) से उद्धृत है। यह प्रकरण थोड़े से परिवर्त्तन के साथ अथर्ववेद (१८।१।१-१६) में भी पाया जाता है। इस सूक्त के चार मन्त्र यास्काचार्य ने निरुक्त में दिये हैं। ग्रन्थकार ने इस सूक्त का नियोगपरक विनियोग किया है। यम-यमी सूक्त के नियोग पक्ष में यह विदित होता है कि यमी का पति जीवित है, परन्तु उससे कोई सन्तान नहीं है। प्रथम मन्त्र में यमी कह रही है— 'पितुर्नपातमादधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः' अर्थात् पितृवंश की चिन्ता करता हुआ मेरा विधाता (पति) पृथिवीस्थानीय मुझ स्त्री में प्रकृष्ट सन्तान को धारण करे। सातवें मन्त्र में यमी कहती है—

'वि चिद्वृहेव रथ्येव चक्रा' हम पति-पत्नी रथ के दोनों चक्रों के समान मिलकर प्रयत्न करें। सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ पति अपनी पत्नी यमी को निर्देश करता है—'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्'—मुझसे भिन्न दूसरे पति का वरण करके नियोग द्वारा उससे सन्तान लाभ कर। गर्भधारण के प्रयोजन से सहवास

https://t.me/arshlibrary

[नियोग में इतिहास की साक्षी]

जैसा कि पाण्डु राजा की स्त्री कुन्ती और माद्री आदि ने किया। और जैसा व्यासजी ने चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य के मर जाने के पश्चात् उन अपने भाइयों की स्त्रियों से नियोग करके अम्बिका में धृतराष्ट्र और अम्बालिका में पाण्डु, और दासी में विदुर की उत्पत्ति की इत्यादि इतिहास भी इस बात में प्रमाण हैं।

की कामना करती हुई यमी नियुक्त पति से कहती है—

"स्वयंवर— नियोग आप्त सिद्धान्त है, तदनुसार ही मैंने सन्तानोत्पत्ति के निमित्त तेरा वरण किया है। इसलिए 'जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्याम' (मन्त्र ७) जैसे मैं अपने पति के लिए जायाभाव से अपने शरीर को फैलाती हूँ वैसे ही अब तेरे लिए अपने शरीर को फैलाऊँ—अर्पित कर दूँ।

नियोग में इतिहास की साक्षी

महाभारत के अनुसार चित्रांगद अविवाहित मर गया था। विचित्रवीर्य का विवाह अम्बिका और अम्बालिका से हुआ था (आदिपर्व १०२।६५) विचित्रवीर्य की ही स्त्रियों से नियोग हुआ था, अतः 'उन अपने भाइयों की स्त्रियों से' के स्थान पर 'अपने भाई विचित्रवीर्य की स्त्रियों से' होना चाहिए। महाभारत अनु० अ० ८।२२ में लिखा है—

नारी तु पत्यभावे वै देवरं कुरुते पतिम् ।
पृथिवी ब्राह्मणालाभे क्षत्रियं कुरुते पतिम् ॥

आदिपर्व अध्याय १०६ के अनुसार सत्यवतीसुत कृष्णद्वैपायन व्यास ने विचित्रवीर्य की पत्नियों में नियोग द्वारा पाण्डु और धृतराष्ट्र को उत्पन्न किया था। मातृपक्ष से व्यास विचित्रवीर्य के ज्येष्ठ भ्राता थे और वर्ण के अनुसार ब्राह्मण होने से उत्तम वर्णस्थ थे पुनरपि अध्याय १०६, श्लोक २ में सत्यवती ने अपनी पुत्रवधू से कहा—"कौसल्ये देवरस्तेऽस्ति सोऽद्य त्वानुप्रवेक्ष्यति।" यहाँ व्यास के ज्येष्ठ होने पर भी उनके लिए देवर शब्द का प्रयोग किये जाने से 'देवर' शब्द के द्वितीय वर का वाचक होने की पुष्टि होती है।

महाभारत काल में कौरववंश में तो नियोगज सन्तानों की भरमार है—

अम्बिकाम्बालिके भार्ये प्रादाद् भ्रात्रे यवीयसे ।
भीष्मो विचित्रवीर्याय विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ —महा० आदि १०२।६५
ततो अम्बिकायां प्रथमं नियुक्तः सत्यवागृषिः ॥४॥
सम्बभूव तया सार्द्धं मातुः प्रियचिकीर्षया ॥५॥
ततस्तेनैव विधिना महर्षिस्तामपद्यत ।
अम्बालिकामथाभ्यगादृषिं दृष्ट्वा स चापि तम् ॥१५॥ —महा० आदि १०६

अर्थ— भीष्म ने विधिपूर्वक अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य के लिए अम्बिका व अम्बालिका दो पत्नियाँ दी। तत्पश्चात् व्यासमुनि ने माता को प्रसन्न करने की इच्छा से विधिवत् नियुक्त होकर पहले अम्बिका से और फिर अम्बालिका से समागम किया।

पुनः अध्याय १२३ में लिखा है—

https://t.me/arshlibrary

संयुक्ता सा हि धर्मेण योगमूर्तिधरेण ह ॥५॥
युधिष्ठिर इति ख्यातः पाण्डोः प्रथमजः सुतः ॥६॥
ततस्तथोक्ता भर्त्रा तु वायुमवाजुहाव सा ॥११॥
तस्माज्जज्ञे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ॥१४॥
एवमुक्ता ततः शक्रमाजुहाव यशस्विनी ।
अथाजगाम देवेन्द्रो जनयामास चार्जुनम् ॥३४॥

अर्थात् कुन्ती ने धर्म, वायु तथा इन्द्र नामक पुरुषों से नियोग करके क्रमशः युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन को जन्म दिया। और यह सब उसने अपने विवाहित पति पाण्डु की अनुमति से किया। यह 'तथोक्ता भर्त्रा' शब्दों से स्पष्ट है।

पाण्डु की दूसरी पत्नी माद्री ने भी नियोग द्वारा ही नकुल और सहदेव को उत्पन्न किया था। अध्याय १२४ में लिखा है —

ततो माद्री विचार्यैवं जगाम मनसाश्विनौ ॥
तावागम्य सुतौ तस्यां जनयामासतुर्यमौ ॥१६॥

हनुमान् जैसा वीर पुरुष भी नियोगज सन्तान था। जाम्बवान् हनुमान् से कहते हैं—

स त्वं केसरिणः पुत्रः क्षेत्रजो भीमविक्रमः ।
मारुतस्यौरसः पुत्रस्तेजसा चापि तत्समः ॥ —वाल्मीकि रामायण, कि० का० सर्ग ६६

हे हनुमान् ! भयंकर बलवाला तू केसरी का क्षेत्रज पुत्र है और पवन का औरस पुत्र है। तेज में तू उसके समान है।

इस प्रकार हनुमान् केसरी और उसकी पत्नी अंजना का नियोगज पुत्र था।

'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' के अनुसार केसरी की इच्छा से उसकी पत्नी अंजना में पवन द्वारा उत्पन्न था। इसलिए हनुमान् को पवनसुत कहा जाता है। बल-पराक्रम में पवन के समान होने से उसका यह नाम अधिक प्रसिद्ध है। महाभारत आदिपर्व, अध्याय १०४ में बताया है —

एवमुच्चावचैरस्त्रैर्भार्गवेण महात्मना ।
त्रिसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा ॥४॥
एवं निःक्षत्रिये लोके कृते तेन महर्षिणा ।
उत्पादितान्यापत्यानि ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥५॥
पाणिग्राहस्य तनयं इति वेदेषु निश्चितम् ।
धर्मं मनसि संस्थाप्य ब्राह्मणास्ता समभ्ययुः ॥६॥

परशुराम ने २१ बार पृथिवी को क्षत्रियरहित किया। तब वेदों के पारगामी विद्वान् ब्राह्मणों ने नियोग करके सन्तान उत्पन्न की। ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रियों की स्त्रियों में उत्पन्न किये हुए से सब क्षत्रिय हुए, क्योंकि वेद में कहा है कि जिसका क्षेत्र हो, उसी का पुत्र माना जाता है।

यहाँ छठे श्लोक में 'पाणिग्राहस्य तनयं इति वेदेषु निश्चितम्' कहा है, अर्थात् जिससे पाणिग्रहण =विवाह हुआ हो, उसी का पुत्र माना जाता है। 'उदीर्ष्व नारी' इत्यादि मन्त्र में 'हस्तग्राभस्य' पाठ है। हस्त

https://t.me/arshlibrary

प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः ।
विद्यार्थं षड् यशोर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥१॥
वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजाः ।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥२॥ —मनु० ६।७६,८१

विवाहित स्त्री, जो विवाहित पति धर्म के अर्थ परदेश गया हो तो आठ वर्ष, विद्या और कीर्ति के लिए गया हो तो छः, और धनादि-कामना के लिए गया हो तो तीन वर्ष तक बाट देखके पश्चात् नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करले। जब विवाहित पति आवे, तब नियुक्त पति छूट जावे ॥१॥

वैसे ही पुरुष के लिए भी नियम है कि वन्ध्या हो तो आठवें (विवाह से आठ वर्ष तक स्त्री को गर्भ न रहे), सन्तान होकर मर जाएँ तो दशवें, जब-जब हों तब-तब कन्या ही होवें पुत्र न हो तो ग्यारहवें वर्ष तक, और जो अप्रिय बोलनेवाली हो तो सद्यः उस स्त्री को छोड़के दूसरी स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लेवे ॥२॥

और पाणि पर्यावाची हैं इससे स्पष्ट है कि 'इति वेदेषु निश्चितम्' कहकर भीष्मजी ने 'उदीर्ष्व नारीः' इस वेद मन्त्र का प्रमाणरूप में संकेत किया है।

अन्यत्र महाभारत में नियोगज सन्तानों की उत्पत्ति का एकत्र उल्लेख इस प्रकार मिलता है —

कृष्णद्वैपायनाज्जज्ञे धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
क्षेत्रे विचित्रवीर्यस्य पाण्डुश्च महाबलः ॥
धर्मार्थकुशलो धीमान् मेधावी धूतकल्मषः ।
विदुरः शूद्रयोनौ तु जज्ञे द्वैपायनादपि ॥
पाण्डोश्च जज्ञिरे पञ्चपुत्राः देवसमा पृथक् ।
द्वयोः स्त्रियोर्गुणज्येष्ठस्तेषामासीद्युधिष्ठिरः ॥
धर्माद्युधिष्ठिरो जज्ञे मारुताच्च वृकोदरः ।
इन्द्राद् धनञ्जयः श्रीमान् सर्वशास्त्रभृतां वरः ॥
जज्ञाते रूपसम्पन्नावश्विभ्यां च यमावपि ।
नकुलः सहदेवश्च गुरुशुश्रूषणे रतौ ॥

—आदिपर्व अध्याय ६,११३-११७

अर्थात् विचित्रवीर्य के क्षेत्र (पत्नी) में द्वैपायन (व्यास) से राजा धृतराष्ट्र तथा महाबली पाण्डु उत्पन्न हुए। धर्म और अर्थ में कुशल बुद्धिमान् मेधावी, दोषरहित विदुर भी द्वैपायन से शूद्रयोनि में उत्पन्न हुए। पाण्डु की दो स्त्रियों में पृथक् देवतुल्य पाँच पुत्र उत्पन्न हुए। उन सबमें गुणों के कारण युधिष्ठिर सर्वश्रेष्ठ था। धर्म से युधिष्ठिर, मारुत से वृकोदर (भीम), इन्द्र से सब योद्धाओं में श्रेष्ठ श्रीमान् धनञ्जय (अर्जुन) उत्पन्न हुए। और अश्वियों (अश्विनीकुमारों) से सुन्दर जोड़े नकुल और सहदेव उत्पन्न हुए जो बड़े भाईयों की सेवा में लगे रहते थे।

वन्ध्याष्टमे —धर्मसिन्धु में इसे इन शब्दों में लिखा है—

अप्रजां दशमे वर्षे स्त्रीप्रजां द्वादशे त्यजेत् ।
मृतप्रजां पञ्चदशे सद्यस्त्वप्रियवादिनीम् ॥ —पृष्ठ २२०

https://t.me/arshlibrary

वैसे ही जो पुरुष अत्यन्त दुःखदायक हो, तो स्त्री को उचित है कि उसको छोड़के दूसरे पुरुष से नियोग कर सन्तानोत्पत्ति करके उसी विवाहति पति के दायभागी सन्तान कर लेवे।

इत्यादि प्रमाण और युक्तियों से स्वयंवर विवाह और नियोग से अपने-अपने कुल की उन्नति करे। जैसा **'औरस'** अर्थात् विवाहित पति से उत्पन्न हुआ पुत्र पिता के पदार्थों का स्वामी होता है, वैसे ही **'क्षेत्रज'** अर्थात् नियोग से उत्पन्न हुए पुत्र भी मृत पिता के दायभागी होते हैं।

[रज-वीर्य को अमूल्य समझें]

अब इसपर स्त्री और पुरुष को ध्यान रखना चाहिए कि वीर्य और रज को अमूल्य समझें। जो कोई इस अमूल्य पदार्थ को पर-स्त्री, वेश्या वा दुष्ट पुरुषों के सङ्ग में खोते हैं, वे महामूर्ख होते हैं, क्योंकि किसान वा माली मूर्ख होकर भी अपने खेत वा वाटिका के विना अन्यत्र बीज नहीं बोते। जबकि साधारण बीज और मूर्ख का ऐसा वर्तमान है, तो जो सर्वोत्तम मनुष्य-शरीर-रूप वृक्ष के बीज को कुक्षेत्र में खोता है, वह महामूर्ख कहाता है, क्योंकि उसका फल उसको नहीं मिलता। और—

'आत्मा वै जायते पुत्रः' ॥ यह ब्राह्मण-ग्रन्थों का वचन है।

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मासि पुत्र मा मृथाः स जीव शरदः शतम् ॥

—यह सामवेद ब्राह्मण का वचन है।

हे पुत्र! तू अङ्ग-अङ्ग से उत्पन्न हुए वीर्य से और हृदय से उत्पन्न होता है, इसलिए तू मेरा आत्मा है। मुझसे पूर्व मत मरे, किन्तु सौ वर्ष तक जी।

जिससे ऐसे-ऐसे महात्मा और महाशयों के शरीर उत्पन्न होते हैं, उसको वेश्यादि दुष्टक्षेत्र में बोना, वा दुष्ट बीज अच्छे क्षेत्र में बुवाना महापाप का काम है।

स्मृतिचन्द्रिका में लिखा है—'अप्रियवादिनीं सहवासतोऽपि त्यजेत्' (व्यवहार, पृ०५८०) अर्थात् अप्रियवादिनी के साथ सहवास भी न करे।

आत्मा वै जायते— इसका जो पता शतपथब्राह्मण का दिया है, उस स्थल में यह पाठ नहीं है। वहाँ केवल अगले 'अंगादंगात्' इत्यादि उद्धृत प्रमाण का उत्तरार्द्ध पठित है। शतपथ० १४।६।४।२६ में 'आत्मा वै पुत्रनामासि' मिलता है। सत्यार्थप्रकाश का आधारभूत माने जानेवाले द्वितीय संस्करण में यही पाठ था जो वर्तमान में प्रचलित है। तृतीय संस्करण में उक्त प्रमाण के तीसरे चरण का 'आत्मासि पुत्र मा मृथाः' हटाकर उसकी जगह 'आत्मा वै नामासि' कर दिया गया। इसके अनन्तर पंचम संस्करण में यह पाठ भूल से निकाल दिया गया। तबसे सभी संस्करणों में यही पाठ छपता चला आ रहा है जो द्वितीय संस्कारण के अनुसार है।

अङ्गादङ्गात्— ग्रन्थकार ने इसे 'सामवेद का वचन' बताया है परन्तु सामवेद में यह वचन उपलब्ध नहीं होता। निरुक्त ३।४ में भी इसे अन्यन्त्र से उद्धृत किया गया है। यह वर्त्तमान पाठ निरुक्त से अतिरिक्त शतपथ में भी मिलता है। उसका पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध यथाक्रम शतपथ में १४।६।४।८ पर तथा १४।६।४।२६ पर उपलब्ध है। वहाँ की आनुपूर्वी से स्पष्ट होता है कि उन स्थलों में भी ये सन्दर्भ कहीं और से उद्धृत किये गये हैं। निरुक्त में जहाँ इसे उद्धृत किया गया है वहाँ इसका निर्देश 'ऋक्' पद से किया है। मीमांसा के अनुसार वेद की छन्दोबद्ध रचना 'ऋक्' कही जाती है। उसमें अक्षर और पद नियत रहते हैं।

https://t.me/arshlibrary

[विवाह आवश्यक कृत्य है]

प्रश्न—विवाह क्यों करना ? क्योंकि इससे स्त्री-पुरुष को बन्धन में पड़के बहुत संकोच करना और दुःख भोगना पड़ता है। इसलिए जिसके साथ जब तक जिसकी प्रीति हो, तब तक वे मिले रहे, जब प्रीति छूट जाए, तो छोड़ देवें।

उत्तर—यह पशु-पक्षियों का व्यवहार है, मनुष्यों का नहीं। जो मनुष्यों में विवाह का नियम न रहे, तो सब गृहाश्रम के अच्छे-अच्छे व्यवहार नष्ट-भ्रष्ट हो जाएँ। कोई किसी की सेवा भी न करे और महाव्यभिचार बढ़कर सब रोगी, निर्बल और अल्पायु होकर शीघ्र-शीघ्र मर जाएँ। कोई किसी से भय वा लज्जा न करे। वृद्धावस्था में कोई किसी की सेवा भी नहीं करे, और महाव्यभिचार बढ़कर सब रोगी, निर्बल और अल्पायु होकर कुलों के कुल नष्ट हो जाएँ। कोई किसी के पदार्थों का स्वामी वा दायभागी भी न हो सके और न किसी का किसी पदार्थ पर दीर्घकाल-पर्यन्त स्वत्व रहे— इत्यादि दोषों के निवारणार्थ विवाह ही होना सर्वथा योग्य है।

प्रश्न—जब एक विवाह होगा, एक पुरुष को एक स्त्री और एक स्त्री को एक पुरुष रहेगा, तब स्त्री गर्भवती, स्थिररोगिणी अथवा पुरुष दीर्घरोगी हो, और दोनों की युवावस्था हो, रहा न जाए, तो फिर क्या करें ?

उत्तर—इसका प्रत्युत्तर नियोग-विषय में दे चुके हैं और गर्भवती स्त्री से एक वर्ष समागम न करने के समय में पुरुष वा दीर्घरोगी पुरुष की स्त्री से न रहा जाए, तो किसी से नियोग करके उसके लिए पुत्रोत्पत्ति कर दें, परन्तु वेश्यागमन वा व्यभिचार कभी न करें।

जो 'ऋक्' गाने में प्रयुक्त होती हैं, वे 'साम' कहाती हैं। सामवेद में इसी प्रकार की ऋक् हैं। उपर्युक्त प्रमाण सामवेद में उपलब्ध नहीं है, पर सामवेद के एक ब्राह्मण में उपलब्ध होता है जो 'साममन्त्र ब्राह्मण' अथवा 'मन्त्रब्राह्मण' के नाम से प्रसिद्ध है। उक्त प्रमाण को ग्रन्थकार ने संस्कारविधि में भी उद्धृत किया है। वहाँ भी यह द्वितीय संस्करण के अनुसार है। 'साममन्त्रब्राह्मण' सामवेद का होने से यहाँ 'यह सामवेद का वचन है' ऐसा लिखने में कोई असामंजस्य नहीं है।

'जहाँ तक हो .....किया करें' का मूल यह श्लोक है—

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत् प्रयत्नतः ।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥ —मनु० ७।९९

'पतितोऽपि' इत्यादि— पाराशरी स्मृति के दो पाठ हैं —लघु और वृद्ध (बृहत्) उपर्युक्त श्लोकों में से पाराशरी लघु पाठ ८।३३ में इस प्रकार उपलब्ध है—

दुःशीलोऽपि द्विजः श्रेष्ठो न शूद्रो विजितेन्द्रियः ।
कः परित्यज्य गां दुष्टां दुहेच्छीलवतीं खरीम् ॥

शब्द भेद होने पर भाव एक ही है। दूसरा श्लोक अलब्धमूल है। तृतीय श्लोक पाराशरी लघुपाठ ४।३५ में है। इन श्लोकों का अर्थ छूट गया है, जो इस प्रकार है—

पतितोऽपि—पतित भी द्विज (ब्राह्मण) श्रेष्ठ है, जितेन्द्रिय शूद्र नहीं। जैसे—दूध न देनेवाली अथवा मरखनी गाय पूज्य है, दूध देनेवाली और अच्छे स्वभाववाली गधी नहीं।

https://t.me/arshlibrary

[गृहस्थ के कुछ अन्य कर्त्तव्य]

जहाँ तक हो वहाँ तक अप्राप्त वस्तु की इच्छा, प्राप्त का रक्षण और रक्षित की वृद्धि, बढ़े हुए धन का व्यय देशोपकार करने में किया करें। सब प्रकार के अर्थात् पूर्वोक्त रीति से अपने-अपने वर्णाश्रम के व्यवहारों को अत्युत्साहपूर्वक, प्रयत्न से तन-मन-धन से सर्वदा परमार्थ किया करें। अपने माता-पिता, सासु-श्वशुर की अत्यन्त शुश्रूषा करें। मित्र और अड़ोसी-पड़ोसी, राजा, विद्वान्, वैद्य और सत्पुरुषों से प्रीति रखके, और जो दुष्ट-अधर्मी हों उनसे उपेक्षा अर्थात् द्रोह छोड़कर उनके सुधारने का यत्न करें। जहाँ तक बने वहाँ तक प्रेम से अपने सन्तानों के विद्वान् और सुशिक्षा करने-कराने में धनादि पदार्थों का व्यय करके उनको पूर्ण विद्वान् सुशिक्षायुक्त कर दे और धर्मयुक्त व्यवहार करके मोक्ष का भी साधन किया करें कि जिसकी प्राप्ति से परमानन्द भोगें और ऐसे-ऐसे श्लोकों को न मानें। जैसे—

पतितोऽपि द्विजः श्रेष्ठो न च शूद्रो जितेन्द्रियः ।
निर्दुग्धा चापि गौः पूज्या न च दुग्धवती खरी ॥१॥
अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैत्रिकम् ।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पञ्च विवर्जयेत् ॥२॥
नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ॥३॥

—ये कपोलकल्पित पाराशरी के श्लोक हैं[1]॥

अश्वालम्भं — अश्वमेध, गोमेध, संन्यास, मांसयुक्त पितृश्राद्ध तथा देवर से सन्तोनोत्पत्ति—ये पाँच कलियुक्त में निषिद्ध —त्याज्य हैं।

नष्टे मृते — पति के नष्ट (लापता) होने, मर जाने, प्रव्रजित होने (संन्यास लेने) नपुंसक होने तथा पतित (भ्रष्ट) होने पर—इन पाँच आपत्तियों में स्त्री के लिए दूसरे पति का विधान है।

पतितोऽपि— इसी प्रकार के अन्य वचन संस्कृत तथा भाषाग्रन्थों में पाये जाते हैं। ग्रन्थकार ने इसका उल्लेख पूना प्रवचनों के अन्तर्गत अपने द्वादश उपदेश में इस प्रकार किया था—

"जब (ब्राह्मणों ने) देखा कि हमारा मन्त्र चल गया और सब लोग हमारी आज्ञा को मानते है, तब इन्होंने अनेक प्रकार के व्रत, उपवास, उद्यापन, श्राद्ध और मूर्त्तिपूजा आदि वेद-विरुद्ध कर्मों में लोगों को चलाना प्रारम्भ कर दिया, जिससे अनायास अपनी आजीविका चल सके। सर्वसाधारण ब्राह्मणों से विमुख न हो जाएँ, इसलिए ऐसे-ऐसे श्लोक गढ़े गये—

---

१. पाराशरी स्मृति के लघु और वृद्ध (बृहत्) दो पाठ हैं। उपर्युक्त श्लोकों में से प्रथम श्लोक पाराशरी लघुपाठ ८।३३ में इस प्रकार मिलता है—**'दुःशीलोऽपि द्विजः श्रेष्ठो न शूद्रो विजितेन्द्रियः । कः परित्यज्य गां दुष्टां दुहेच्छीलवतीं खरीम् ॥'** शब्दभेद होनेपर भी भाव एक ही है। दूसरा श्लोक हमें उपलब्ध नहीं हुआ। तृतीय श्लोक पाराशरी लघुपाठ ४।३५ में है। स्वामी वेदानन्दजी ने अपने संस्करण में प्रथम दो श्लोकों का पता ८।३३; ४।३२ दिया है, वह अशुद्ध है। इसी प्रकार तृतीय श्लोक का पता ब्रह्मवैवर्त पु० १।४।११२, ११३ दिया है, वह भी अशुद्ध है। ये सभी सन्दर्भ अन्वेष्टव्य हैं।

https://t.me/arshlibrary

जो दुष्ट कर्मकारी द्विज को श्रेष्ठ, और श्रेष्ठ कर्मकारी शूद्र को नीच माने, तो इससे परे पक्षपात, अन्याय, अधर्म दूसरा अधिक क्या होगा ? क्या जैसे दूध देनेवाली वा न देनेवाली गाय गोपालों को पालनीय होती है, वैसे कुम्हार आदि को गधही पालनीय नहीं होती ? और यह दृष्टान्त भी विषम है, क्योंकि द्विज और शूद्र मनुष्यजाति, गाय और गधही भिन्न जाति हैं । कथञ्चित् पशुजाति से दृष्टान्त का एकदेश दार्ष्टान्त में मिल भी जावे, तो भी इसका आशय अयुक्त होने से ये श्लोक विद्वानों के माननीय कभी नहीं हो सकते ॥१॥

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मण दैवतः महत् ।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत् ॥
श्मशाने चापि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति ।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते ॥ —मनु० ६।३१७-३१८

अग्नि के दृष्टान्त से प्रकट किया है कि ब्राह्मण हो या मूर्ख, वह साक्षात् देवता है । प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार के बनावटी श्लोक डालकर और नवीन रचनाएँ करके ब्राह्मणों ने अपनी शक्ति बढ़ाई और मन्वादि स्मृतियों में भी अपने महत्त्व के वाक्य मिला दिये । यथा—

एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्त्तन्ते सर्वकर्मसु ।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवंत हि तत् ॥ —मनु० ६।३१६

निदान ब्राह्मणों को सब प्रकार के दण्ड और शासन से मुक्त कर देने के कारण सारी बुराइयाँ इन्हीं में घर कर गयीं । सदाचार लुप्त हो गया, धूर्तता और अत्याचार बढ़ गया और मूर्खता ने देश में अपना डेरा-डण्डा जमा दिया ।

इसी प्रसंग में रामचरितमानस में तुलसीदासजी की यह चौपाई द्रष्टव्य है—

पूजिये विप्र शीलगुणहीना ।
शूद्र न गुणगणज्ञानप्रवीणा ॥

इस प्रकार के कथन समाज के प्रति घोर अपराध हैं । इसी प्रकार की दूषित विचारधारा के कारण आर्य (हिन्दू) समाज क्षीण होता जा रहा है ।

अश्वालम्भम्—वेदों में अनेकत्र ऐसे वचन उपलब्ध हैं जिनमें पशुओं की रक्षा का स्पष्ट निर्देश है । यजुर्वेद के आरम्भ (१।१) में ही यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म की संज्ञा देते हुए कहा है —'पशून् पाहि,' पशुओं की रक्षा करो । इसी मन्त्र में गौ को 'अघ्न्या' (न मारने योग्य) कहा है । यजुर्वेद ६।११ में पति-पत्नी के लिए आदेश है—पशूंस्त्रायेथाम्', पशुओं की रक्षा करो । यजुर्वेद १४।८ में आदेश दिया है—'द्विपादव चतुष्पात् पाहि' अर्थात् दो पैरवालों (मनष्यादि) तथा चार पैरवाले (पश्वादि) की रक्षा करो । पशुरक्षाप्रतिपादक मन्त्रों के साथ-साथ पशुहिंसानिषेधक वचन भी यत्र-तत्र अनेकत्र मिलते हैं —

गां मा हिंसीरदितिं विराजम् । —यजुः० १३।४३
इमं मा हिंसीद्विपादं पशुम् । —यजुः० १३।४६
इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु । —यजुः० १३।४८
मा गामनागामदितिं वधिष्ट । —ऋ० ८।१०१।१५
अन्तकाय गोघातम् । —यजुः० ३०।१८

https://t.me/arshlibrary

जब अश्वालम्भ अर्थात् घोड़े को मारके अथवा गवालम्भ गाय को मारके होम करना ही वेदविहित नहीं है, तो उसका कलियुग में निषेध करना वेदविरुद्ध क्यों नहीं ? जो कलियुग में इस नीच कर्म का निषेध माना जाए, तो त्रेता आदि में विधि आ जाए। तो इसमें ऐसे दुष्ट काम का श्रेष्ठयुग में होना सर्वथा असम्भव है। और संन्यास की वेदादिशास्त्रों में विधि है, उसका निषेध करना निर्मूल है। जब मांस का निषेध है, तो सर्वदा ही निषेध है। जब देवर से पुत्रोत्पत्ति करनी वेदों में लिखी है, तो यह श्लोककर्त्ता क्यों भोंखता है ? ॥२॥

यदि नो गां हंसी यद्यश्वं यदि पूरुषम् ।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥ —अथर्व० १।१६।४
यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः ।
योऽघ्न्या भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥ —ऋग० १०।८७।१६

इन मन्त्रों में न केवल पशुमात्र की हिंसा न करने का स्पष्ट निर्देश है, अपितु पशुवध करनेवालों के लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था है।

यज्ञों में पशुहिंसा के समर्थक 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' 'प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते' (यजु० २४।२६) आदि वाक्यों को प्रमाणरूप में उद्धृत करते हैं। 'आलम्भ' शब्द का हिंसापरक अर्थ सर्वथा अज्ञानमूलक है 'आङ्' पूर्वक 'लभ्' धातु से 'आलम्भ' शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ स्पर्श करना—अच्छी तरह प्राप्त करना है। निघण्टु तथा धातुपाठादि में वधार्थक धातुओं में 'आलभ् ' का उल्लेख कहीं नहीं हुआ है। इस सन्दर्भ में मनुस्मृति अध्याय २ के निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य हैं—

वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धमाल्यं रसांस्त्रियः ।
शुक्लानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥१७७॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥ १७६॥

ब्रह्मचारी के लिए निर्दिष्ट उपर्युक्त कर्त्तव्यों के प्रसंग में हिसां का सर्वथा निषेध करनेवाले (प्राणिनां चैव हिंसनम् वर्जयेत्) श्लोकों में स्त्रियों का 'आलम्भ न करने' का अर्थ 'स्पर्श न करने ' के सिवा और क्या हो सकता है ?

अथास्य (ब्रह्मचारिणः) दक्षिणासं अधिहृदयमालभते ।

पारस्करगृह्यसूत्र (२।२।१६) के उपनयन प्रकरण के अन्तर्गत उक्त वाक्य का अर्थ है— आचार्य ब्रह्मचारी के हृदय का स्पर्श करता है। हरिहर, गदाधर आदि सभी भाष्यकारों ने 'आलभते' का अर्थ 'स्पृशति' किया है।

'वरो वध्या दक्षिणासं अधि-हृदयमालभते' विवाहप्रकरण
'कुमारं जातं पुरान्यैर्लम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्येन प्राशयेत्' । — जातकर्म

पारस्करगृह्यसूत्र के उपर्युक्त वाक्यों तथा मीमांसादर्शन (२।२।७०) की सुबोधिनीटीका में आये 'वत्सस्य समीप आनयनार्यम् आलम्भः स्पर्शे भवतीति' वाक्य में सर्वत्र आलम्भ का अर्थ स्पर्श करना है। तब 'प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते' का अर्थ 'प्रजापति (राजा) के लिए वीर पुरुषों तथा हाथियों को प्राप्त करता है' होगा। इसी प्रकार 'अग्निषोभीयं पशुमालभेत' आदि ब्राह्मण वाक्यों में भी 'आलभेत' स्पर्श अथवा

https://t.me/arshlibrary

यदि नष्ट अर्थात् पति किसी देश-देशान्तर को चला गया हो और घर में स्त्री नियोग कर लेवे, उसी समय विवाहित पति आ जाए, तो वह किस की स्त्री हो ? कोई कहे कि विवाहित पति की । हमने माना, परन्तु ऐसी व्यवस्था पाराशरी में तो नहीं लिखी । क्या स्त्री के पाँच ही आपत्काल हैं ? जो रोगी पड़ा हो, वा लड़ाई हो गई हो, इत्यादि आपत्-काल पाँच से भी अधिक हैं । इसलिए ऐसे-ऐसे श्लोकों को कभी न मानना चाहिए ॥३॥

प्राप्ति अर्थ का ही द्योतक होगा, मारने का नहीं ।

मुख्यतः यज्ञ के पर्याय मेध शब्द को अश्वमेघ, गोमेध , अजमेध पुरुषमेध आदि शब्दों में देखकर वैदिक यज्ञों में पशुहिंसा-विधान का भ्रम हुआ है । वस्तुतः वेदों में तो अश्वमेध शब्द के सिवा अन्य किसी शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है । 'मेधृ' धातु के 'मेधृसंगमनयोर्हिंसायाम्' —इस धातुपाठ के अनुसार शुद्ध बुद्धि को बढ़ाना, लोगों में एकता या प्रेम को बढ़ाना और हिंसा ये तीन अर्थ है, परन्तु जिस धर्म और समाज में अहिंसा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो वहाँ मात्र हिंसापरक अर्थ मानकर निरीह पशुओं की हत्या का विधान सर्वथा असंगत है । अश्वमेध, अजमेध तथा गोमेध को भी प्रचलित अर्थों में ग्रहण नहीं किया जा सकता । शतपथब्राह्मण (१३।१।६) में कहा है —'राष्ट्रं वा अश्वमेधः, वीर्यं वा अश्वः' —अर्थात् अश्व शब्द राष्ट्र तथा वीर्य का वाचक है । इसलिए अश्वमेध का अर्थ देशवासियों के वीर्य व बल की वृद्धि करना तथा राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिए प्रयास करना ही शास्त्रानुमोदित है । यजुर्वेद (२३।१६।४०) के जिन मन्त्रों का अश्वमेध में विनियोग करके महीधर आदि ने उनके अत्यन्त अश्लील अर्थ करके वेदों को कलंकित किया है उनमें कहीं भी अश्व की हत्या का उल्लेख नहीं है । वस्तुतः मन्त्रों के देवता (या तेनोच्यते सा देवता) गणपति, राजप्रजे, प्रजा, प्रजापति, श्री, विद्वांसः, सभासदः इत्यादि हैं । इससे स्पष्ट है कि इन मन्त्रों का प्रतिपाद्य वा वर्ण्य विषय राष्ट्र व उसकी शासन-व्यवस्था है । महाभारत के शान्तिपर्व (३।३३६) में महाराजा वसु के अश्वमेध यज्ञ का वर्णन है जिसमें उस समय के सब बड़े-बड़े ऋषियों एवं विद्वानों ने भाग लिया था । उसके विषय में वहाँ बड़ा स्पष्ट लिखा है—'न तत्र पशुघातोऽभूत्' । वहीं आगे चलकर अध्याय ३३७ में लिखा है —

अजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः ।
अजसंज्ञानि बीजानि छागान्नो हन्तुमर्हथ ।
नैषः धर्मः सतां देवाः यत्र वध्येत वै पशुः ॥

अर्थात् वैदिक साहित्य में जब अजों से यज्ञों में होम करने को कहा जाता है तो वहाँ अज नामक बीजों से तात्पर्य होता है । बकरों का वध करना उचित नहीं । पशुओं का वध करना भले आदिमियों का धर्म नहीं ।

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र-सर्वत्र गोवध महापाप माना गया है । जैसे यज्ञ की संज्ञा 'अध्वर' (हिंसारहित) है, वैसे ही गौ की संज्ञा 'अघ्न्या' (न मारने योग्य) है, अतएव वेद में तथा अन्यत्र गोहत्या करने वाले के लिए मृत्युदण्ड दिये जाने का आदेश है । ऐसी अवस्था में गोवध करके गोमेध की कल्पना भी नहीं की जा सकती । वस्तुतः गो शब्द अनेकार्थक हैं । इसलिए गोमेध के 'वाणी का संस्कार करना, धरती को कृषियोग्य बनाना, गौ से उपलब्ध होनेवाले दूध, घी आदि की वृद्धि करना तथा उपलक्षण से पशुमात्र के पालन-पोषण की व्यवस्था करना आदि' अनेक अर्थ हो सकते हैं । महाभारत में निर्णायक घोषणा है—

https://t.me/arshlibrary

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृशरौदनम् ।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु कल्पितम् ॥ —महा० शान्ति० २६५।६

भावार्थ—शराब, मछली, आसव, मांस आदि वस्तुएँ धूर्त लोगों ने यज्ञ में शामिल करदी हैं। यह सब वेदों में लिखा हुआ नहीं है। अन्यत्र—

श्रूयते हि पुराकल्पे नृणां व्रीहिमयो पशुः ।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः ॥
सुरा मत्स्याः पशोर्मांसमासवं कृशरौदनम् ।
धूर्तैः प्रवर्त्तितं यज्ञे नैतद् वेदेषु विद्यते ॥

अर्थात् पूर्वकाल में याज्ञिक लोग अन्न-पशु से ही यज्ञ करते थे। मद्यमांसादि का प्रचार तो धूर्तों ने किया है। वेदों में यह कहीं नहीं है।

विवाहसूक्त अथवा सूर्यासूक्त (ऋ०१०।८५) का तेरहवाँ मन्त्र इस प्रकार है—

सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत् ।
मघासु हन्यन्ते गावो ऽर्जुन्योः पर्युह्यते ॥

इस मन्त्र के आधार पर अनेक पाश्चात्य तथा तदनुयायी भारतीय विद्वानों ने विवाह के अवसर पर गौवों अथवा साँडों के वध की कल्पना की है। वस्तुतः इस मन्त्र के सम्यक् ज्ञान के लिए इसके पूर्वापर मन्त्रों पर विचार करना आवश्यक है। उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह वर्णन किसी लौकिक विवाह का वर्णन नहीं है, अपितु आकाशीय तत्त्वों के विवाह का आलंकारिक वर्णन है।

इन मन्त्रों में सूर्य, द्युलोक, भूमि, सोम, अश्विनौ, सविता आदि का उल्लेख है तथा सविता द्वारा सूर्या (उषा) को पति सोम के पास भेजे जाने का वर्णन है। एक मन्त्र (१५) में सूर्या के दो बारातियों (अश्विनौ) के उसके पास आने का वर्णन है और उनके रथ के दो चक्रों में एक के ही विद्यमान होने तथा दूसरे के गुह्य होने (मन्त्र १६) का उल्लेख है। इस प्रकार इन मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ भी अभिप्रेत होता है। तदनुसार सूर्या बुद्धि-शक्ति है और उसका पिता सूर्य परमपिता परमेश्वर है तथा वर सोम षोडश कलायुक्त आत्मा है। वधू के पास बारात में आने वाले दो अश्विनौ श्वासोच्छ्वास हैं, इत्यादि (प्राचीन भारत में गौमांस)।

स्वयं सायण और तदनुसारी विल्सन ने भी 'गावो हन्यन्ते' का अर्थ 'गौवें मारी जाती हैं' न करके 'गौवें हाँकी जाती हैं' किया हैं — 'मघानक्षत्रेषु गावो हन्यन्ते दण्डैः ताड्यन्ते प्रेरणार्थम्' (सायण); 'Are whipped along' (Wilson)। इस मन्त्र में 'मारने' अर्थ की भ्रान्ति का मूल कारण हन् धातु का अधिक प्रचलित अर्थ हिंसा है। प्रायः इस अर्थ को भुला दिया जाता है कि पाणिनीय धातुपाठ में इसके हिंसा तथा गति दोनों अर्थ दिये हैं (हन् हिंसागत्योः)। यह सर्वसामान्य नियम है कि जहाँ किसी पद के एक से अधिक अर्थ उपलब्ध हो, वहाँ प्रकरणानुसार संगत अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए। सूक्त पर समग्रता से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि (चाहे उसे पार्थिव विवाह के प्रसंग में ही क्यों न माना जाए) सम्पूर्ण सूक्त की भावना के अनुसार "मघा नक्षत्र में गौवें मारी जाती हैं और अर्जुनी अथवा फाल्गुनी नक्षत्र में वधू ले जाई जाती है" अर्थ की संगति नहीं होती। इस मन्त्र से पहले मन्त्र में सूर्या द्वारा मन के रथ पर आरोहण का वर्णन है — 'अनो मनस्मयं सूर्यारोहत् प्रयती पतिम्।" —ऋ०१०।८५।१२

https://t.me/arshlibrary

वस्तुतः इस मन्त्र में वधू के पतिगृहगमन का क्रम बताया है, अर्थात् सविता ने सूर्या को जो दहेज (स्त्रीधन आदि) दिया, पहले वह गया। उस स्त्रीधन के रथ के बैलों को मघा नक्षत्र में हाँका जाता है और फाल्गुनी में वधू को ले जाया जाता है। भाव यह है कि मघा नक्षत्र होते ही पूर्वा और उत्तरा— ये फाल्गुनी नक्षत्र आते हैं जो अगले दिन अथवा उससे अगले दिन के द्योतक हैं। आकाशीय सन्दर्भ में सूर्या और कुछ नहीं, सूर्य की प्रभा है जो अपने पति चन्द्रमा में जाकर वहाँ रहती है (प्राचीन भारत में गोमांस, पृ० १६४)

नष्टे मृते— पाराशरी स्मृति अनार्ष ग्रन्थ होने से ग्रन्थकार को अमान्य है। स० प्र० के प्रथम संस्करण में ग्रन्थकार ने लिखा है—

"यद्वै किञ्चन मनुरवदत् तद् भेषजं भेषजतायाः" यह ताण्ड्यमहाब्राह्मण (२३।१६।७) का वचन है। जो कुछ मनुजी ने उपदेश किया है, वह यथावत् वेदोक्त और सत्य ही है। जैसेकि रोग के नाश करने का औषध वैसा ही है यह। एक मनुस्मृति का ही वेद में प्रमाण मिलता है, और किसी स्मृति का नहीं। और सब लोगों को भी यह बात सम्मत है कि 'वेदार्थोपनिबन्धृत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्। मन्वर्थविपरीता या सा स्मृतिर्न शस्यते।' जो यह बात कहते हैं कि 'कलौ पाराशरी स्मृतिः' सो तो अत्यन्त अयुक्त है, क्योंकि द्वापर के अन्त में व्यासजी ने मनुस्मृति का ही प्रमाण लिखा है, सो क्यों लिखा ? शंकराचार्यजी ने भी मनुस्मृति का ही प्रामाण्य लिखा है।"

ग्रन्थकार को अपवादरूप में अक्षतवीर्य पुरुष तथा अक्षतयोनि स्त्री को छोड़कर द्विजों का पुनर्विवाह अमान्य है, परन्तु समाजसुधार के क्षेत्र में कार्य करते हुए आर्यसमाज ने बाल-विवाह के कारण एक-एक, दो-दो वर्ष की बाल-विधवाओं को आजीवन नारकीय जीवन बिताते देखा। अल्पायु में विधवा होनेवाली विधवाओं की संख्या सन् १६३२ में लगभग दो करोड़ थी। जीवनभर मिलनेवाली शारीरिक तथा मानसिक यातनाओं से त्राण पाने के लिए वे इस्लाम की शरण में जाने को विवश थीं। पौराणिक मतावलम्बियों को इसकी कोई चिन्ता नहीं थी। आर्यसमाज इसे सहन नहीं कर सका और आर्यसमाज के प्रवर्त्तक के प्रति पूर्ण आदरभाव रखते हुए भी विधवा-विवाह को आपद्धर्म —युगधर्म के रूप में अपनाया। कट्टरपन्थियों ने इसका प्रबल विरोध किया। तथाकथित सनातनधर्मियों को विधवा-विवाह होने से हिन्दू-धर्म का विनाश होता दीखा तो आर्यसमाज को इसके न होने में वैदिक धर्म का सर्वनाश होता दीखा। इसलिए उसने इसे शास्त्रसम्मत सिद्ध करने का बीड़ा उठाया। आर्यसमाज और सनातनधर्म के बीच विधवा-विवाह विषय पर शास्त्रार्थ होने लगे। पौराणिकों (सनातनधर्मियों) की मान्यता थी—'कलौ पाराशरी स्मृतिः' अर्थात् कलियुग में पाराशर स्मृति का ही प्रामाण्य सर्वोपरि है। इसलिए आर्यसमाज की ओर से व्याख्यानों और शास्त्रार्थों में 'उष्ट्रलष्टिकान्याय' से उन्हीं के मान्य ग्रन्थ पाराशरस्मृति से विधवा-विवाह का समर्थक यह श्लोक प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया जाता था।

पौराणिक विद्वानों का कहना है कि व्याकरण के नियम से 'पतौ' शब्द नहीं बनता, शुद्ध शब्द 'पत्यौ' है। इसलिए यहाँ 'पतिते पतौ' के स्थान पर 'पतितेऽपतौ' होना चाहिए। तब उसका अर्थ होगा— 'जो अभी पति नहीं बना, वाग्दानमात्र हुआ है, वह यदि लापता हो गया है.....इत्यादि'। पर यह श्लोक पाराशरस्मृति में ही नहीं, नारदसंहिता तथा ब्रह्मवैवर्त्तपुराण (१।४।११२, ११४) में पाया जाता है। सर्वत्र 'पतौ' शब्द ही पढ़ा गया है जिसे 'अपतौ' नहीं बनाया जा सकता। दूसरे किसी भी प्राचीन टीकाकार ने ऐसी कल्पना नहीं की। यह आर्ष प्रयोग भी हो सकता है, परन्तु वाग्दानमात्र से किसी की 'पति' संज्ञा नहीं हो जाती। कृत्यकल्पतरु के गार्हस्थ्य काण्ड में उद्धृत यमस्मृति के वचन में कहा है—

https://t.me/arshlibrary

[वेदविरुद्ध वचन अमान्य हैं]

प्रश्न—क्योंजी, तुम पराशर मुनि के वचन को भी नहीं मानते ?

उत्तर—चाहे किसी का वचन हो, परन्तु वेदविरुद्ध होने से नहीं मानते[1] और यह तो पराशर का वचन भी नहीं है, क्योंकि जैसे **ब्रह्मोवाच, वशिष्ठ उवाच, राम उवाच, शिव उवाच, विष्णुरुवाच, देव्युवाच** इत्यादि श्रेष्ठों का नाम लिखके ग्रन्थरचना इसलिए करते हैं कि सर्वमान्य के नाम से इन ग्रन्थों को सब संसार मान लेवे, और हमारी पुष्कल जीविका भी हो। इसलिए अनर्थ-गाथायुक्त ग्रन्थ बनाते हैं। **कुछ-कुछ प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़के मनुस्मृति ही वेदानुकूल है, अन्य स्मृति नहीं**। ऐसे ही अन्य जालग्रन्थों की व्यवस्था समझ लो।

नोदकेन न वा वाचा कन्यायाः पतिरुच्यते।
पाणिग्रहणसंस्कारात्पतित्वं सप्तमे पदे ॥

अर्थात् उदक (अर्घ्य, पाद्य तथा आचमनीय जल देने) से अथवा वाणी (वाग्दान) से कन्या का पति नहीं बनता, अपितु पाणिग्रहण (विवाहसंस्कार) द्वारा सप्तपदी के सातवें पद के हो चुकने पर ही 'पतित्व' प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि वाग्दानमात्र से कोई पति नहीं बन जाता। इसलिए उक्त श्लोक में जो कुछ कहा गया है वह विधिवत् विवाहित पति को लक्ष्य करके ही कहा गया है।

किसी भी कारण से सन्तान के अभाव में अन्य पुरुष या सन्तानोत्पत्ति का विचार सार्वभौम तथा सार्वकालिक है। इसी को नियोग कहते हैं। 'किराये के गर्भ' (Surrogate mother के रूप में पाश्चात्य जगत् में पनप रही प्रथा प्राचीन भारतीय नियोग पद्धति का ही आधुनिक संस्करण है। इस प्रसंग में १७ फरवरी १९८५ के Indian Express में प्रकाशित यह समाचार द्रष्टव्य है—

"One of the first recorded instances of surrogate motherhood is found in the Bible. Abraham's wife Sarah who could not concieve sent her husband to the Egyptian maid Hagar, saying, "It may be that I may obtain children from her" and Hagar bore Ismael. This is almost 4000 years ago. It is interesting to know that in Topeka, kansas (U.S.A.) there is an institute known as Hagar Institute which takes its name from the Biblical story that provides surrogate mother service."

The Lucknow edition of the Times of India, dated 18-19 th march 1989, carried an advertisement for a healtty lady of child bearing age for an educated, cultured wealthy childless couple" and it proceeded to say that the applicant will be suitably rewarded and looked after for life" and it was a "good opportnnity for a widow with children," this was obviously an advertisement for 'a surrogate mother.'

A complaint against this advertisement was refferred to the editor of the paper by a reputed social service organisation, but the management 'did not find anything really objectionable'.

—The times of India, New Delhi dated 18th December, 1989.

अंग्रेजी के सर्वाधिक प्रामाणिक कोश Oxford English Dictionary के अनुसार Surrogate शब्द का अर्थ है — 'A person that acts for or takes the place of another, a substitute' अनियमित विवाह सम्बन्ध की चुपचाप अनुमति देनेवाले पादरी की संज्ञा भी Surrogate है। कोश के अनुसार इस शब्द का यह अर्थ सन् १६०४ ईस्वी से चला आता है। इससे स्पष्ट है कि नियोग का सिद्धान्त सार्वभौम एवं सार्वकालिक है, भले ही

१. 'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्' (मीमांसा १।३।२) प्रमाण के अनुसार।

https://t.me/arshlibrary

[गृहाश्रम की श्रेष्ठता]

प्रश्न—गृहाश्रम सबसे छोटा वा बड़ा है ?

उत्तर—अपने-अपने कर्त्तव्य-कर्मों में सब बड़े हैं। परन्तु—

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥१॥
यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥२॥
यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो दानेनान्नेन[1] चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्य्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥३॥
स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥४॥ —मनु०६।९० ६;३।७७-७९

उसका व्यावहारिक रूप और उसके अवान्तर भेद देश-काल के अनुसार कुछ भी रहे हों।

दानेनान्नेन— मनस्मृति में 'ज्ञानेन्नानेन' पाठ मिलता है। मनुस्मृति के संवत् १९२६ के संस्करण में ग्रन्थकार ने 'ज्ञा' को काट कर 'दा' स्वहस्त से बनाया है। यह संस्करण वैदिक पुस्तकालय अजमेर में सुरक्षित है। प्रकरणानुसार 'दानेन' शब्द ही उपयुक्त भी है, 'ज्ञानेन' सर्वथा असंगत है।

स्वर्ग — मनु इस संसार से भिन्न किसी स्थान या लोकविशेष को स्वर्ग या नरक नहीं मानते। सुख की प्राप्त का नाम स्वर्ग और दुःख की प्राप्ति का नाम नरक है। ये दोनों समय-समय पर इसी जीवन में प्राप्त होते रहते हैं। 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' के अन्तर्गत ग्रन्थकार लिखते हैं — "स्वर्ग नाम सुख-विशेष, भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है। जो दुःखविशेष भोग और उसकी सामग्री को प्राप्त होना है, वह नरक है।"

व्याकरणशास्त्रानुसार 'स्वर्ग' शब्द 'स्वर्' उपपद में 'गम्लृ गतौ' धातु से 'प्रकरणेऽन्येष्वपि दृश्यते' अ० ३।२।४ —वार्त्तिक सूत्र से 'डः' प्रत्यय के योग से बनता है। गति के ज्ञान-गमन-प्राप्ति तीन अर्थ होते हैं। 'स्वः' सुख में गमन करना— प्रविष्ट होना अथवा सुख प्राप्ति होना ही सुख है इसी प्रकार सुख का प्राप्त होना स्वर्गलोक में जाना है। जहाँ स्वर्ग=सुख प्राप्त होता है वह स्वर्गलोक है। नरक शब्द स्वर्ग का विपरीतार्थक है। महर्षि यास्क ने भी निरुक्त में 'नरक शब्द की इसी रूप में निरुक्ति की है— 'नरकं न्यरकं नीचैर्गमनम्, इति वा' (निरुक्त १।३।११) अर्थात् अधः, पतन या अवनति का नाम नरक है।

मनु ने स्वर्ग शब्द का प्रयोग लौकिक सुख तथा मोक्ष दोनों के लिए किया है। प्रस्तुत श्लोक में अक्षयसुख अर्थात् मोक्ष के लिए 'स्वर्ग' शब्द का प्रयोग हुआ है और उसके पर्यायवाची के रूप में ऐहिक सुख के लिए सामान्य 'सुख' शब्द का प्रयोग है।

अक्षय सुख— मोक्ष या स्वर्ग के लिए 'अक्षय' 'अपरिमित' 'अपुनरावृत्ति' न च 'पुनरावर्त्तते'आदि शब्दों

---

१. यही पाठ 'सं० वि०' पृष्ठ २३६ (सं० ३) पर उद्धृत है। मनु० में 'ज्ञानेनान्नेन' पाठ है। मनु० के संवत् १९२६ के संस्करण में दयानन्द सरस्वती ने 'ज्ञा' को काटकर 'दा' स्वहस्त से बनाया है। यह संस्करण वैदिक पुस्तकालय अजमेर में सुरक्षित है।

https://t.me/arshlibrary

जैसे नदी और बड़े-बड़े नद तब तक भ्रमते[1] ही रहते हैं, जब तक समुद्र को प्राप्त नहीं होते, वैसे ही सब आश्रमी गृहस्थ ही को प्राप्त होके स्थिर होते हैं ॥१॥

[जैसे वायु के आश्रय से सब जीवों का वर्त्तमान सिद्ध होता है,][2] वैसे गृहस्थ ही के आश्रय से सब आश्रम स्थिर रहते हैं। विना इस आश्रम के किसी आश्रम का कोई व्यवहार सिद्ध नहीं होता ॥२॥

जिससे ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तीन आश्रमों को दान और अन्नादि देके प्रतिदिन गृहस्थ ही धारण करता है, इससे गृहस्थ ज्येष्ठाश्रम है अर्थात् सब व्यवहारों में धुरन्धर कहाता है ॥३॥

इसलिए जो मोक्ष और संसार के सुख की इच्छा करता हो, वह प्रयत्न से गृहाश्रम का धारण करे। जो गृहाश्रम दुर्बलेन्द्रिय अर्थात् भीरु और निर्बल पुरुषों से धारण करने के अयोग्य है, उसको अच्छे प्रकार धारण करे ॥४॥

इसलिए जितना कुछ व्यवहार संसार में है, उसका आधार गृहाश्रम है। जो यह गृहाश्रम न होता, तो सन्तानोत्पत्ति के न होने से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम कहाँ से हो सकते ? जो कोई गृहाश्रम की निन्दा करता है वह निन्दनीय है, और जो प्रशंसा करता है वही प्रशंसनीय है, परन्तु तभी गृहाश्रम में सुख होता है, जब स्त्री और पुरुष दोनों परस्पर प्रसन्न, विद्वान्, पुरुषार्थी और सब प्रकार के व्यवहारों के ज्ञाता हों। इसलिए गृहाश्रम के सुख का मुख्य कारण ब्रह्मचर्य और पूर्वोक्त स्वयंवर विवाह है।

यह संक्षेप से समावर्त्तन, विवाह और गृहाश्रम के विषय में शिक्षा लिख दी। इसके आगे वानप्रस्थ और संन्यास के विषय में लिखा जाएगा ॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे

सुभाषा-विभूषिते समावर्त्तन-विवाह-गृहाश्रमविषये

चतुर्थः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥४॥

का प्रयोग होता है। इन सबका तात्पर्य मोक्ष या स्वर्गसुख का सामान्य लौकिक सुख से वैशिष्ट्य दर्शाने मात्र से है, न कि सर्वथा नाशराहित्यद्योतन में, यह शास्त्रकारों का निश्चित मत है।

कात्यायन ने श्रौतसूत्र (२।६।१) तथा अन्यत्र भी बहुधा प्रयुक्त 'अपरिमित' शब्द का अर्थ 'अपरिमितं परिमाणाद् भूयः' (शुल्ब० १।२३) (अपरिमित अर्थात् नियत प्रमाण से अधिक) सूत्र द्वारा स्वयं बताया है। आपस्तम्बश्रौतसूत्र (२।१।१) की टीका में रुद्रदत्त ने कात्यायन के उक्त वचन को उद्धृत करके भारद्वाज मुनि का 'अपरिमितशब्दे संख्याया ऊर्ध्वमिति भारद्वाजः' वचन भी उद्धृत किया है। इस व्यवस्था के अनुसार यहाँ 'अक्षय' शब्द का अर्थ है — नष्ट होने की सामान्य सीमा से अधिक देर में नष्ट होनेवाला।

इति श्रीविद्यानन्दसरस्वती स्वामिकृते सत्यार्थभास्करे चतुर्थः समुल्लासः सम्पूर्णः।

१. अर्थात् चलते।

२. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ मूल कापी में दो स्थानों में 'वैसे' पद के कारण दृष्टिदोष से छूट गया। अतएव उपलब्ध नहीं होता। हमने यह पाठ ऋषि के शब्दों में ही 'सं० वि०' गृहाश्रमप्रकरण, पृष्ठ २३६-२३८ (सं० ३, रा० ला० कट्र०) से इन श्लोकों की व्याख्या से पूरा किया है। इस पाठ में प्रथम श्लोक के उत्तरार्ध और द्वितीय श्लोक के पूर्वार्ध की व्याख्या छूटी है।

https://t.me/arshlibrary

अथ पञ्चम-समुल्लासारम्भः

अथ वानप्रस्थ-संन्यासविधिं वक्ष्यामः

[वानप्रस्थ का काल]

ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेद्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ॥ शत० कां० १४॥

मनुष्यों को उचित है कि ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त करके गृहस्थ होकर वानप्रस्थ और वानप्रस्थ होके संन्यासी होवें, अर्थात् यह अनुक्रम से आश्रम का विधान है ॥

कुछ लोगों की मान्यता है कि वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रम दोनों अवैदिक है, क्योंकि वेद में इनका विधान नहीं है। वेद तो जीवनपर्यन्त गृहस्थ में बने रहने का आदेश करता है। वानप्रस्थ और संन्यास इसलिए भी अवैदिक हैं, क्योंकि वेदों में ये शब्द तक नहीं हैं, गार्हस्थ्य का विधान तो शास्त्रों में प्रत्यक्ष देखा जाता है। यदि गृहस्थ से अतिरिक्त अन्य कोई आश्रम शास्त्र को मान्य होता तो वेदों तथा वेदानुकूल ब्राह्मणादि आर्षग्रन्थों में उसका विधान किया गया होता। ग्रन्थकार ने स्वयं इस शंका को प्रस्तुत करके अन्यत्र इसका समाधान किया है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'ब्रह्मविद्याविषय' के प्रारम्भ में उन्होंने लिखा है— **वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति'?** वेदों में सब विद्याएँ हैं, किन्तु **'मूलोद्देशतः'** — मूलरूप में। तात्पर्य यह कि वेद में सब विद्याओं का मूल है, पर विस्तार नहीं। उसी वेदरूपी बीज को लक्ष्य में रखकर आगे ऋषि-मुनियों ने भिन्न-भिन्न विद्याओं का विस्तार करने के लिए ब्राह्मण, उपनिषद्, उपवेद, वेदांग, उपाङ्ग, गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र आदि अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया। उन्हीं मूलमन्त्रों का आशय लेकर ऋषियों ने स्मृतियों, श्रौतसूत्रों और गह्यसूत्रों में विधियों का विधान किया है। इस विषय में सम्भावित शंकाओं का समाधान करने की दृष्टि से ग्रन्थकार ने स्वरचित संस्कारविध में लिखा है —

वेदादिशास्त्रसिद्धान्तमाध्याय परमादरात् ।
आर्यैतिह्यं पुरस्कृत्य शरीरात्मविशुद्धये ॥

वेदादि शास्त्रों का परमादर भाव से चिन्तन करके आर्यों के इतिहासानुकूल शरीर और आत्मा की शुद्धि के लिए यह ग्रन्थ रचा है। इस श्लोक में ग्रन्थकार ने 'वेदादि' में वेद के साथ 'आदि' शब्द जोड़कर स्पष्ट कर दिया है कि वेदों के साथ-साथ वेदानुकुल अन्य धर्मग्रन्थों के आधार पर भी इस ग्रन्थ का निर्माण किया है। वानप्रस्थ के विषय में शतपथब्राह्मण काण्ड १४ का प्रमाण है जो यहाँ उद्धृत किया गया है। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में पृष्ठ १५४ पर यह वचन 'बृहदारण्यकश्रुति' से उद्धृत बताया गया है, जबकि संस्कारविधि के संस्करण १, पृष्ठ १३० में 'इति शतपथब्राह्मणादिप्रमाणानि' पाठ उपलब्ध है, परन्तु

https://t.me/arshlibrary

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत् स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो यथावद्विजितेन्द्रियः ॥१॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलिपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥२॥

जाबालोपनिषद्, खण्ड ४ में यह वचन इस प्रकार मिलता है—**'स होवाच याज्ञवल्क्यो ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्'** । जाबालशाखा याज्ञवल्क्यप्रोक्त वाजसनेय-संहिता (शुक्लयजुर्वेद) की है, अतः उसका जाबालब्राह्मण भी माध्यन्दिन और काण्व के समान मूलतः याज्ञवल्क्य-प्रोक्त है और शतपथ नाम से वाच्य है (काण्वब्राह्मण में १०४ अध्याय होने पर भी वह शतपथ ही कहाता है ।) जाबालोपनिषद् उसी शतपथ के अन्तर्गत बृहदारण्यक) का एक अंश हो सकती है । इस प्रकार ग्रन्थकार द्वारा इस वचन के लिए शतपथ अथवा बृहदारण्यक शब्द का प्रयोग किये जाने में कोई असामंजस्य नहीं है । संस्कारविधि के १७वे संस्करण तक शतपथब्राह्मण ही पाठ था । संस्करण १८ में जाबालोपनिषद् पाठ बनाया गया है । यही परिवर्त्तित पाठ आगे संस्करण २४ तक छपता रहा, २५ वें में पुनः शुद्ध किया गया ।

आर्षग्रन्थों में मनुस्मृति का प्रामाण्य सर्ववादीसम्मत है । ताण्ड्य महाब्राह्मण का वचन है—**'यत्किञ्चिद्वै मनुरब्रवीत्तद् भेषजं भेषजतायाः'** मनुस्मृति के अनुसार—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा ।
वनेषु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ॥ —मनु० ६।२-३

अर्थात् गृहस्थ जब देखे कि अपनी देह की खाल ढीली और केश श्वेत हो गये हैं और पुत्र का पुत्र हो गया है तो वन का आश्रय ले । वन में जाते समय पत्नी को पुत्रों के पास छोड़ दे अथवा साथ ले-जाए इस प्रकार आयु का तृतीय भाग वन में बिताए ।

वेद में भी वानप्रस्थ आश्रम का उल्लेख मिलता है, परन्तु वहाँ वानप्रस्थ के पर्यायरूप में 'मुनि' शब्द का प्रयोग हुआ है । उदाहरणार्थ —

वातस्याश्वो वायोः सखाथो देवेषितो मुनिः ।
उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः ॥ —ऋ० १०।१३६।५
मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला ।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥ —ऋ० १०।१३६।२

प्रथम मन्त्र में 'पूर्वः' तथा 'अपरः' पदों से क्रमशः वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यासाश्रम अभिप्रेत हैं । वेद में 'मुनि' शब्द वानप्रस्थ का वाचक है, यह वानप्रस्थाश्रम का वर्णन करनेवाले मनुस्मृति के छठे अध्याय में प्रयुक्त 'मुनि' शब्द से सिद्ध है—**'मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः'** (६।५); **'मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः'**; (६।१२); **'मुन्यन्नं पूर्वसञ्चितम्'** (६।१५); **'मुनिर्मूलफलाशनः'** (६।२५) । निश्चय ही वेद में मुनि शब्द से वनी का बोध होता है ।

जिस प्रकार वेद में मुनि शब्द वानप्रस्थ का बोधक है उसी प्रकार 'यति' शब्द से संन्यासी का ग्रहण

https://t.me/arshlibrary

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्यां निःक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा ॥३॥
अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥४॥
मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा ।
एतानेव महायज्ञान् निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५॥ —मनु० ६।१-५

होता है । ग्रन्थकार ने यहाँ 'यतयः, ब्रह्मणासः, विजानतः' पदों से संन्यास का उल्लेख किया है । मुख्यरूप से 'यति' शब्द संन्यासी का वाचक है—**'संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः'** (मुण्डक ३।२।६);**'एष धर्मोनुशिष्टो वो यतीनां नियतात्मनाम्'** (मनु० ६।८६) **भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति'** (मनु०६।५५) **'भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत्"** (मनु० ६।५६);**'ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा'** (मनु० ६।८७) आयु का चौथा भाग मनुष्य संन्यासी बनकर व्यतीत करे— **'चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत्'** (मनु०६।३)। उस अवस्था में संन्यासी को तीन प्रकार की एषणाओं का परित्याग करके भिक्षाचरण से रहने का आदेश है— 'पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्चोत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (शतपथ० १४।६।२।२६)।

निम्नलिखित वेदमन्त्रों में संन्यास का उल्लेख पाया जाता है—

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत ।
अत्रा समुद्र आ गूळहमा सूर्यमजभर्तन ॥ —ऋ० १०।७२।७
य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवुः ।
ममेदुग्र श्रुधी हवम् ॥ —ऋ० ८।६।१८
अपामर्थं यतीनां ब्रह्मा भवति सारथिः । —ऋ० १।१५८।६
वैश्वानराय यतये मतीनाम् । —ऋ०७।१३।१
येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते । —ऋ० ८।३।६

गृहस्थाश्रम सम्बन्धी एक प्रसिद्ध मन्त्र है—

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥ —अथर्व० १४।१।२२

इस मन्त्र के आधार पर अनेक विद्वानों का कहना है कि वेद सम्पूर्ण आयु गृहस्थ में ही रहने का आदेश देता है, अतः वानप्रस्थ तथा संन्यास-आश्रमों की परम्परा अवैदिक है । वैदिक वचनों में जहाँ अर्थ अस्पष्ट हो अथवा विरोध की प्रतीत हो, उसके स्पष्टीकरण के लिए जैमिनि ने पूर्वमीमांसा शास्त्र रचा है, अतः ऐसे विवादास्पद वचनों का अभिप्राय जानने के लिए उसका आश्रय लेना चाहिए । ब्राह्मण का एक वचन है —**'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामान् अवाप्नोति'** । यदि इसका सामान्य अर्थ लिया जाए तो पूर्णाहुति से सब कामनाएँ पूर्ण हो जाने से अन्य सब यज्ञकर्म व्यर्थ हो जाएँ, अतः जैमिनि ने 'सर्वत्वमाधिकारिकम्' (१।२।१६) इस सूत्र की रचना करके स्पष्ट कर दिया कि जिस कर्म का जितना अधिकारक्षेत्र है, तद्विषयक सर्वत्व वहाँ ग्रहण किया जाता है । 'सर्व' और 'विश्व' शब्द एकार्थक हैं, अतः **'सर्वत्वमाधिकारिकम्'** नियम के अनुसार इसका अर्थ होगा— 'इह' गृहाश्रम में रहने की जितनी अवधि है, उतने पूर्ण काल तक गृहस्थ में रहो, उसके

https://t.me/arshlibrary

अर्थ—इस प्रकार स्नातक अर्थात् ब्रह्मचर्यपूर्वक गृहाश्रम का कर्ता द्विज, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गृहाश्रम में ठहरकर निश्चितात्मा और यथावत् इन्द्रियों को जीतके वन में वसे ॥१॥

परन्तु जब गृहस्थ के शिर के केश श्वेत और त्वचा ढीली हो जाए, और लड़के का लड़का भी हो गया हो, तब वन में जाके वसे ॥२॥

ग्राम के सब आहार और वस्त्रादि सब उत्तमोत्तम पदार्थों को छोड़, पुत्रों के पास स्त्री को रख, वा अपने साथ लेके वन में निवास करे ॥३॥

मध्य पति-पत्नी का वियोग नहीं होना चाहिए ।

वानप्रस्थ तथा संन्यास का वेदविहित होना बहुत समय से विवादाहपद रहा है । भगवान् वात्स्ययान ने अपने न्यायदर्शन (४।१।६०-६२) के भाष्य में इस प्रवाद का बलपूर्वक सप्रमाण निराकरण करके संन्यास-आश्रम का प्रतिपादन किया है ।

प्रव्रज्या के लिए तीव्र वैराग्य होना अपेक्षित है । लौकिक विषयों की ओर से तीव्र वैराग्य होने पर प्रत्येक अवस्था में संन्यास लिया जा सकता है । शतपथ ब्राह्मण अथवा जाबालोपनिषद् के प्रमाण से संन्यास का विधान ऊपर उद्धृत किया गया है । उपनिषद् में आगे लिखा है—**"यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रेजत् गृहाद्वा वनाद्वा । अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्"**—यदृच्छया ब्रह्मचर्याश्रम से ही प्रव्रज्या ग्रहण करले अथवा गृहस्थ से अथवा वानप्रस्थ से । चाहे ब्रह्मचर्यव्रत का विधिवत् पालन कर रहा हो अथवा न कर रहा हो, विद्याध्ययन पूरा कर स्नातक हो चुका हो अथवा न हुआ हो, अग्निहोत्र आदि छोड़ चुका हो अथवा करता ही न हो— पर जिस दिन व्यक्ति को तीव्र वैराग्य हो जाए उसी दिन प्रव्रज्या करले । ब्रह्मचर्य से सीधे संन्यास ग्रहण करने की वरीयता (श्रेष्ठत्व)का प्रतिपादन करते हुए संस्कारविधि में **'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्'** की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है —"यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त कर विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से यथावत् उठ जाए, पक्षपातरहित होके सबका उपकार करने की इच्छा होवे और जिसको दृढ़ निश्चय हो जावे कि मैं मरणपर्ययन्त यथावत् संन्यासधर्म का निर्वाह कर सकूँगा तो वह न गृहाश्रम करे, न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम पूर्ण करके ही संन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवे ।" गृहस्थ से अतिरिक्त ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास-आश्रमों में जीवन का पर्याप्त भाग व्यतीत हो जाता है जिसका उपयोग आत्मज्ञान के लिए अनुष्ठानों में किया जाता है । प्राचीन काल में एषणाओं से छुटकारा पाकर मोक्षसाधना में प्रवृत्त होने के लिए आश्रम-व्यवस्था के अनुरूप जीवन-निर्वाह करने की परम्परा रही है । रघुकुल की परम्परा के विषय में कालिदास ने लिखा है —

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनूत्यजाम् ॥ —रघुवंश

जब रघु बूढ़ा हो गया और उसका पुत्र अज विवाह करके घर आया तो कालिदास कहता है —**'न हि कुलधूर्ये सूर्यवंश्या गृहाय'** अर्थात् यदि कुल की धुरी, कुलस्तम्भ-पुत्र विद्यमान हो तो सूर्यवंशी राजाओं के घर में बैठने की परम्परा नहीं है ।

जिस समय शकुन्तला का दुष्यन्त के साथ विवाह हो गया तो विदा होते समय उसने अपने पिता कण्व से पूछा कि अब आप मुझे कब बुलाएँगे तो ऋषि ने उत्तर दिया—

https://t.me/arshlibrary

साङ्गोपाङ्ग अग्निहोत्र को लेके ग्राम से निकल दृढ़ेन्द्रिय होकर अरण्य में जाके वसे ॥४॥

नाना प्रकार के सामा[1] आदि अन्न, सुन्दर-सुन्दर शाक, मूल, फल, फूल, कन्दादि से पूर्वोक्त पञ्चमहायज्ञों को करे और उसी से अतिथिसेवा और आप भी निर्वाह करे ॥५॥

[वानप्रस्थ के कर्तव्य]

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् दान्तो मैत्रः समाहितः ।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥१॥
अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः ।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥२॥ —मनु० ६।८, २६

स्वाध्याय अर्थात् पढ़ने-पढ़ाने में नित्य युक्त, जितात्मा, सबका मित्र, इन्द्रियों का दमनशील, विद्यादि का दान देनेहारा, और सबपर दयालु, किसी से कुछ भी पदार्थ न लेवे। इस प्रकार सदा वर्तमान करे ॥१॥

शरीर के सुख के लिए अति प्रयत्न न करे, किन्तु ब्रह्मचारी रहे, अर्थात् अपनी स्त्री साथ हो तथापि उससे विषय-चेष्टा कुछ न करे। भूमि में सोवे, अपने आश्रित वा स्वकीय पदार्थों में ममता न करे, वृक्ष के मूल में वसे ॥२॥

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी, दौष्यन्तमप्रतिरथं तनयं निवेश्य ।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं, शान्ते करिष्यासि पदं पुनराश्रमे ॥

—अभिज्ञानशाकुन्तलम् ४।२०

चक्रवर्त्ती सम्राट् की पत्नी होने के उपरान्त दुष्यन्त के अप्रतिम योद्धा पुत्र को सिंहासन पर अभिषिक्त कर तथा परिवार का उत्तरदायित्व उसे सौंपकर, वानप्रस्थ होकर फिर इस शान्त आश्रम में आकर रहना।

वस्तुतः यहाँ कण्व ने वैदिक कालीन आश्रमव्यवस्था को लक्ष्य करके यह उत्तर दिया है जिसके अनुसार पुत्र का पुत्र उत्पन्न होने पर वानप्रस्थ की दीक्षा लेकर अरण्य में निवास करना चाहिए।

सामा आदि अन्न —'सावां' नाम से प्रसिद्ध चावल को यहाँ 'सामा' कहा गया है। 'आदि' से यहाँ तत्सदृश स्वयं उत्पन्न आरण्य अन्न अभिप्रेत हैं।

स्त्री का साथ —प्रथम संस्करण में इतना विशेष लिखा है —"जो स्त्री कहे कि सेवा के वास्ते मैं चलूँगी तो संग में लेके वन को दोनों जाएँ। जो स्त्री कहे कि मैं पुत्रों के पास रहूँगी तो उसको छोड़के एकाकी जाए।'' इस प्रकार पति के वानप्रस्थ ग्रहण करने पर उसके साथ जाना, न जाना स्त्री की इच्छा पर है।

स्वाध्याये —संस्कारविधि में इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है —'वहाँ जंगल में वेदादिशास्त्रों को पढ़ने-पढ़ाने में नित्ययुक्त, मन और इन्द्रियों को जीतकर, यदि स्वस्त्री भी संग हो, उससे सेवा के सिवाय विषयसेवन अर्थात् प्रसंग कभी न करे। सबसे मित्रभाव, सावधान, नित्य देनेहारा और किसी से कुछ भी न लेवे। सब प्राणिमात्र पर अनुकम्पा=कृपा रखनेहारा होवे।'

१. 'सांवा' नाम से प्रसिद्ध चावल। आदि से 'कोदों' का ग्रहण जानना चाहिए। यहाँ सांवा आदि के समान स्वयं उत्पन्न आरण्य अन्नों का ग्रहण अभिप्रेत है।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्य्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥१॥

—मुण्ड० १ ख० २ । मं० ११

जो शान्त, विद्वान् लोग वन में तप-धर्मानुष्ठान और सत्य की श्रद्धा करके भिक्षाचरण करते हुए जङ्गल में वसते हैं, वे जहाँ नाशरहित, पूर्ण-पुरुष, हानि-लाभ-रहित परमात्मा है, वहाँ निर्मल होकर प्राणद्वार से उस परमात्मा को प्राप्त होके आनन्दित हो जाते हैं ॥१॥

अप्रयत्नः— धराशयः = कोमल सुखद बिस्तर का परित्याग करके कठोर भूमि पर शयन करे । ब्रह्मचारी=पत्नी के साथ होने पर भी विषय-चेष्टा न करे । वनस्थ को सुख-सुविधाओं में ध्यान नहीं लगाना चाहिए । तभी वह मोह-ममता से छुटकारा पा सकता है । ऐसा न करने पर विषयों की ओर प्रवृत्ति बढ़ती है । संन्यासी के प्रसंग में इस बात को दूसरे प्रकार से स्पष्ट किया है—**'भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति'**। तात्पर्य यह है कि वानप्रस्थी और संन्यासी को भिक्षा का लालच कभी न करना चाहिए । ऐसा करने पर उसके विषयों में फँस जाने की आशंका बनी रहती है ।

वृक्षमूल—कृत्यकल्पतरु के लेखक लक्ष्मीधर ने अपने ग्रन्थ के मोक्षकाण्ड में इस वृक्षमूल शब्द का अर्थ किया है **'वृक्षो वेदः तस्य मूलं प्रणवः'** अर्थात् वृक्ष का अर्थ है वेद और उसका मूल प्रणव=ओम् । तात्पर्य यह है कि वानप्रस्थाश्रमी वेदाभ्यास तथा प्रणव का ध्यान करता हुआ ब्रह्मनिष्ठ होवे ।

तपः श्रद्धे—**'भैक्षचर्यां चरन्तः'** के अनुसार वानप्रस्थ को भिक्षाचरण करते हुए वन में रहना चाहिए । इससे पूर्व मनु (६।८) में 'अनादाता' पद का अर्थ 'किसी से कुछ भी पदार्थ न लेवे' ऐसा किया है । इस प्रतीयमान परस्पर विरोध का परिहार करने के लिए यह कहा जाता है कि यह विधान संन्यासियों के लिए है, वानप्रस्थों के लिए नहीं, परन्तु यह समाधान सर्वथा असंगत है, क्योंकि यह वचन वानप्रस्थ के प्रसंग में उद्धृत हुआ है । इसमें 'उपवसन्त्यरण्ये' (जो वन में रहते हैं) कहा है । संन्यासी को तो मनु ने 'अनिकेत' (६।४३) कहा है । उसके लिए तो 'बेघर' होकर भ्रमण करते हुए उपदेश देते रहने का निर्देश किया है । अतः यह विधान वानप्रस्थों के लिए ही है । इसका समाधान यह हो सकता है कि 'वानप्रस्थ को किसी से कुछ न लेना चाहिए', यह समान्य नियम है । विशेष अवस्था में आपद्धर्म के रूप में भिक्षा ली जा सकती है, परन्तु यह भिक्षा भी वनवासियों से ली जानी चाहिए, ग्राम या नगरवासियों से नहीं—

तापसेष्वपि विप्रेषु याचिकं भैक्षमाहरेत् ।
गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥

—मनु०६।२७

जो पढ़ाने और योगाभ्यास करनेहारे तपस्वी, धर्मात्मा, विद्वान् लोग जंगल में रहते हों और जो गृहस्थ वा वानप्रस्थ वनवासी हों, जीवन-यात्रा चलाने योग्य भिक्षा उन्हीं के घरों से ग्रहण करे ।

यह श्लोक वानप्रस्थ संस्कार में संस्कारविधि में भी उद्धृत है ।

इस श्लोक पर कुल्लूकभट्ट अपनी टीका में कहते हैं —**'फलमूलासम्भवे च वानप्रस्थेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः प्राणमात्रधारणोचितं भैक्षमाहरेत्, तदभावे चान्येभ्यो गृहस्थेभ्यो द्विजेभ्यः,** अर्थात् वानप्रस्थ को यदि जंगली फल-मूल न मिल सकें और प्राण संकट में हों तभी वानप्रस्थ केवल प्राणधारण के योग्य भिक्षा तपस्वी वनवासियों, वानप्रस्थों से लेवे, उनसे भी न मिले तो अन्य वनवासी गृहस्थ द्विजों से लेवे । बहुत ही संकट की स्थिति में मनु का आदेश है— **'ग्रामादाहृत्याश्नीयादष्टौ ग्रासान् वने वसन्'** अर्थात् यदि वन में भिक्षा न

https://t.me/arshlibrary

मिले तो ग्राम से भिक्षा लाकर खाये, किन्तु आठ ग्रास से अधिक नहीं। तात्पर्य यह कि विशेष अवस्था को छोड़कर वानप्रस्थ को भिक्षा नहीं करनी चाहिए।

यहाँ भैक्षचर्या से संग्रह की प्रवृति का परित्याग करके **'यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनः'** की भावना से मात्र उदरपूर्त्ति के लिए भिक्षा द्वारा भोजन प्राप्त करना अभिप्रेत है। इस वाक्य में उपनिषद् ने उन लोगों की बात कही है जो अल्पाहारी रहकर श्रद्धापूर्वक तपस्वी जीवन व्यतीत करते हुए अव्ययात्मा पूर्ण ब्रह्म की प्राप्ति में संलग्न रहते हैं। विरजाः=मलरहित होकर स्वच्छ एवं पवित्र जीवन बताते हैं।

तपः श्रद्धे—(ये हि) जो (शान्ताः) उद्वेगशून्य (विद्वांसः) ज्ञानी (वने) वन में रहकर (भैक्षचर्यं चरन्तः) जीवन-निर्वाह करते साधना और श्रद्धा=आत्मिक साधन का (उपवसन्ति) अनुष्ठान करते हैं (ते) वे विरजाः, सब प्रकार के दोषों से छूटकर (सूर्यद्वारेण) सूर्यद्वार=प्राणद्वार से, उदान द्वारा, सुषुम्णा द्वारा वहाँ पहुँच जाते हैं (यत्र) जहाँ (सः) वह (अमृतः) अमर (अव्यात्मा) अविनाशी-अक्षर-निर्विकार (पुरुष) ब्रह्म है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (उपासना-विषय) में इसका अर्थ ग्रन्थकार ने इस प्रकार किया है—

"तपः श्रद्धे— जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उसकी आज्ञा में अत्यन्त प्रेम करके, अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदयरूपी वन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं, वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं। जो लोग धर्म के छोड़ने और धर्म के करने में दृढ़ तथा वेदादि सत्य विद्याओं में विद्वान् हैं, जो भिक्षाचर्य आदि कर्म करके संन्यास या किसी अन्य आश्रम में हैं, इस प्रकार के गुणवाले मनुष्य (सूर्यद्वार) प्रणद्वारा से परमेश्वर के सत्य राज्य में प्रवेश करके, (विरजाः) सब दोषों से छूटके, परमानन्द=मोक्ष को प्राप्त होते हैं, जहाँ कि पूर्णपूरुष सबमें भरपूर, सबसे सूक्ष्म, (अमृतः) अर्थात् अविनाशी, और जिसमें हानि-लाभ कभी नहीं होता, ऐसे परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं।"

सूर्यद्वारेण प्रयान्ति— ऐसे लोग योगाभ्यास के द्वारा सूर्यद्वार= प्राणद्वार से = सुषुम्णा नाड़ी से प्राण त्यागकर मोक्षलाभ करते हैं। इन स्थानों पर सर्वत्र सूर्य का अर्थ प्राण करना ग्रन्थकार का ऋषित्व है। जैसे बाह्य जगत् में सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र आदि हैं, वैसे ही शरीर में मेरूदण्ड में योगी महात्मा सूर्य आदि पदार्थों के अंश को जानते हैं। मेरुदण्ड के इसी सूर्यस्थान पर योगिजन प्राणों की शक्ति को नियन्त्रित करके प्राणों के द्वारा आनन्द-लाभ करते हैं, यह नहीं कि पृथिवीलोक से सूर्य-लोक में जाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। सूर्य शुद्धता तथा प्रकाश का प्रतीक है। अन्य किसी वस्तु में मलिनता की सम्भावना हो सकती है, सूर्य में नहीं। जो शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वथा शुद्ध हो जाते हैं, वे सूर्य के अर्थात् शुद्ध ज्ञान के मार्ग पर चलते हैं। संसार की किसी वस्तु में उनकी आसक्ति नहीं होती। इसलिए वे परमात्मा को प्राप्त करते हैं। यही बात प्रश्नोपनिषद् में इन शब्दों में कही—**"अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते"** (१।१०) अर्थात्—उत्तर =उत्कृष्टतम मार्ग से जानेवाले तप, ब्रह्मचर्य तथा श्रद्धा के साथ ज्ञान के द्वारा अपने स्वरूप को जानकर आदित्यलोक (ब्रह्मलोक) को प्राप्त कर लेते हैं जहाँ से उन्हें लौटना नहीं पड़ता —न पुनरावर्त्तते, ('न पुनरावर्त्तते' की व्याख्या आगे नवम समुल्लास में 'मुक्ति से पुनरावृत्ति' के प्रसंग में की गयी है)। इससे पहले मन्त्र में बताया है — **"तद्ये वै तदिष्टापूर्त्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते त एव पुनरावर्त्तन्ते एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः"** (१।९) अर्थात्—जो लोग इष्ट-आपूर्ति (यज्ञ-यागादि 'इष्ट' तथा कूप-तडाग, मन्दिर, धर्मशाला आदि का बनवाना 'आपूर्त' कहाते हैं) को ही अपना कृत्य या लक्ष्य मानते हैं और यह सब करके फल-लाभ की कामना करते हैं, वे चन्द्रलोक को प्राप्त करते हैं। चन्द्र भोग्य पदार्थों का प्रतिनिधि है। इसे 'रयिमार्ग' या 'पितृयाण' कहते

https://t.me/arshlibrary

अभ्या दधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि ।
व्रतञ्च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽअहम् ॥२॥

यजुर्वेद अध्याय २०। मन्त्र २४

है। ऐसे लोग कर्मफल के बन्धन में बँधे होने के कारण सर्वथा शुद्ध नहीं हो पाते। वे संसार को तो पा जाते हैं, अमृत को नहीं पा सकते। इसलिए जन्म-मरण के आवर्त्तमान चक्र में फँसे होने के कारण मरणोपरान्त फिर मर्त्यलोक में लौट आते हैं। जिन लोगों में त्याग की—निवृत्ति की भावना प्रबल हो जाती है, वे पितृयाण को छोड़कर देवयान का आश्रय लेते हैं। सूर्य अर्थात् ज्ञान का प्रकाश उनमें दिव्य भाव उत्पन्न करता है। चन्द्र रयि प्रधान है, इसलिए चन्द्रलोक का जीवन सकाम जीवन है—प्रेय-मार्ग है, सूर्यलोक प्राण प्रधान है, इसलिए आदित्यलोक का जीवन है— श्रेयमार्ग है। इस मार्ग से जानेवाला लौटता नहीं, मोक्ष प्राप्त कर लेता है। ऐसे लोगों का उत्तरायण छह मास नहीं, हर समय बना रहता है। तभी वे सूर्यमार्ग से जा पाते हैं।

मरणोपरान्त सूर्यद्वार से जाने की चर्चा कर्मकाण्डी और ज्ञानकाण्डी दोनों करते हैं। इस सम्बन्ध में कई ऐसे व्यक्तियों के अनुभवों का वर्णन रेमाण्ड ए० मूडी (Ramond A. Moody) ने अपनी पुस्तक 'Life After Death' में किया है जिससे इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ता है। उक्त पुस्तक के विषय में इलस्ट्रेटिड वीकली (Illustrated Weekly of India, Bombay) के ६ मई १९७६ के अंक में एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसमें ऐसे कई व्यक्तियों के अनुभव दिये गये थे जो लगभग मृत घोषित किये जा चुके थे, परन्तु कुछ देर बाद जीवित हो उठे थे। उनमें से एक व्यक्ति ने अपने मरण का अनुभव इस प्रकार बताय था—

"A pink mist began to gather around me and I floated right through the screen just as if it weren't there, and up into this crystel light an illuminating white light. It was so radiant, but it didn't my eyes. It's not any kind of light you can describe on earth. I didn't actually see a person in the halo, yet it has a special identity. It is a light of perfect understanding and perfect love."

संक्षेप में इसका अभिप्राय यह कि मरने के बाद अत्यन्त शुभ्र प्रकाश दीखता है जिसकी ओर मृत-व्यक्ति खिंचता चला जाता है। इस घटना की प्रमाणिकता के विषय में यहाँ कुछ नहीं कह सकते। किन्तु 'क्या वह व्यक्ति वैसा था जैसा इस श्लोक में वर्णित है ? सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति' और इससे पूर्व छठे श्लोक में 'सूर्यस्य रश्मिभिः यजमानं वहन्ति'। पहला मत ज्ञानकाण्डियों का है और दूसरा कर्मकाण्डियों का। दोनों ने ब्रह्मलोक पहुँचाने की बाते कही है। साक्षात्कृतधर्मा ऋषि अथवा मुक्ति से पुनरावर्त्ति प्राप्त पुरुष ही समाधान कर सकते हैं।

अभ्यादधामि—संस्कारविधि के वानप्रस्थ प्रकरण में इस मन्त्र का पूरा अर्थ इस प्रकार है — हे (व्रतपते अग्ने) व्रतपालक परमात्मन् ! (दीक्षितः) दीक्षा को प्राप्त होता हुआ (अहम्) मैं (त्वयि)तुझमें स्थिर होकर (व्रतम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का धारण (च) और उसकी सामग्री (श्रद्धाम्) सत्य की धारणा को (च) और उसके उपायों को (उपैमि) प्राप्त होता हूँ। इसलिए जैसे अग्नि में (समिधम्) समिधा को (अभ्यदधामि) धारण करता हूँ, वैसे ही विद्या और व्रत को धारण कर प्रज्वलित करता हूँ और (त्वा) तुझको अपने आत्मा में धारण करता और सदा (ईन्धे) प्रकाशित करता हूँ।

वृद्धावस्था में आकर मनुष्य की शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। अपने शरीर को स्वस्थ रखने और दीर्घायुष्य के लिए आवश्यक है कि वह गृहस्थ की चिन्ताओं से मुक्त होकर कहीं दूर जाकर धर्माधर्म और

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

वानप्रस्थ को उचित है कि—'मैं अग्नि में होम कर, दीक्षित होकर, व्रत-सत्याचरण और श्रद्धा को प्राप्त होऊँ', ऐसी इच्छा करके वानप्रस्थ हो नाना प्रकार की तपश्चर्या, सत्सङ्ग, योगाभ्यास, सुविचार से ज्ञान और पवित्रता प्राप्त करे ॥२॥

पश्चात् जब संन्यासग्रहण की इच्छा हो, तब स्त्री को पुत्रों के पास भेज देवे, फिर संन्यास ग्रहण करे ।

॥ इति संक्षेपेण वानप्रस्थविधिः ॥

सत्यासत्य के चिन्तन में प्रवृत्त हो । प्रवृत्ति के बाद निवृत्ति ही वानप्रस्थ की भावना है । भोगवाद से त्यागवाद की ओर बढ़ना वानप्रस्थ है ।

मनुष्य का स्वभाव है कि वह स्वतन्त्रता चाहता है । यदि माता-पिता घर में रहें तो उनके बहू-बेटे की स्वतन्त्रता में बाधा पड़ती है । परिणामतः बाप-बेटे में और सास-बहू में लड़ाई रहती है और आस-पास के लोग तमाशा देखते हैं । अपने समय में माँ-बाप घर के मालिक रहे । अब उचित कि घर की ज़िम्मेदारियाँ बहू-बेटे को सौंपकर घर से दूर चले जाएँ । इसी में सबका हित है ।

समाज व्यवस्था की दृष्टि से भी आवश्यक है कि पुराने लोग अपने-अपने काम से रिटायर हों, जिससे अगली पीढ़ी को काम करने का अवसर मिले—वह चाहे सरकारी या ग़ैरसरकारी नौकरी हो, व्यापार हो या राजनीति हो । वानप्रस्थ समाजसेवा का आश्रम है । जो व्यक्ति अब तक अपने और अपने परिवार के लिए जीता था, वानप्रस्थ में दीक्षित होकर वह समाज के लिए जिएगा । उसकी योग्यता, अनुभव और दक्षता समाज को समर्पित होगी ।

आश्रम-व्यवस्था मानवता के लिए अमूल्य वरदान है । मानव केवल पाञ्चभौतिक शरीर नहीं है, मन, बुद्धि और आत्मा भी है । इसलिए मानव जीवन का ध्येय भौतिक कभी नहीं हो सकता । धन, धन के लिए नहीं, धन से प्राप्य वस्तुओं के जुटाने के लिए होता है । वस्तुएँ, वस्तुओं के लिए नहीं, शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जुटाई जाती हैं । शरीर, शरीर के लिए नहीं, उपभोग का साधन भूत होता है । उपभोग भी, उपभोग के लिए नहीं, उससे होनेवाले सुख या आनन्द को पाने के लिए होता है और यह सुख या आनन्द की अनुभूति भौतिक शरीर का नहीं, अभौतिक आत्मा का विषय है । इस प्रकार जीवन का ध्येय अन्ततः अभौतिक अथवा आध्यात्मिक ठहरता है । वर्णाश्रम व्यवस्था इसी ध्येय की प्राप्ति की क्रमबद्ध योजना है । इस व्यवस्था में धन कमाने का अधिकार मर्यादित है । चार वर्णों में केवल एक वर्ण वैश्य धन कमा सकता है और वह भी चार अवस्थाओं में से केवल एक में—गृहस्थाश्रम में । वह यह भी जानता है कि अभी जो कुछ मैं कमा रहा हूँ, उसे एक-न-एक दिन मुझे छोड़ना ही है, वानप्रस्थ बनना ही है । राजा भी जानता है कि एक दिन मुझे सब-कुछ छोड़कर वन में वास करने चले जाना है —**'वार्धक्ये मुनिवृत्तीनाम्'** (रघुवंश १।८) । इस प्रकार इस व्यवस्था में सम्पत्ति के अधिकार को मर्यादित कर दिया गया है । इसमें धन ऐहिक भोग का साधनमात्र है, साध्य नहीं । जब पैसा साध्य बन जाता है, भगवान् या आराध्य बन जाता है तब न भगवान् रहता है, न मानव या मानवता । तब उसे पाने के लिए सुपथा-कुपथा में कोई अन्तर नहीं रहता । भ्रष्टाचार ही शिष्टाचार बन जाता है । वर्णाश्रम-व्यवस्था में ही समाज का समग्र सुख निहित है ।

https://t.me/arshlibrary

अथ संन्यासविधिः

[संन्यास का काल]

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा सङ्गान् परिव्रजेत् ॥ —मनु० ६।३३

इस प्रकार वन में आयु का तीसरा भाग, अर्थात् पचासवें वर्ष से पचहत्तरवें वर्ष पर्यन्त वानप्रस्थ होके, आयु के चौथे भाग में सङ्गों को छोड़के परिव्राट् अर्थात् संन्यासी हो जावे ॥

प्रश्न—गृहाश्रम और वानप्रस्थाश्रम न करके संन्यासाश्रम करे, उसको पाप होता वा नहीं ?

उत्तर—होता है, और नहीं भी होता ।

प्रश्न—यह दो प्रकार की बात क्यों कहते हो ?

उत्तर—दो प्रकार की नहीं, क्योंकि जो बाल्यावस्था में विरक्त होकर विषयों में फँसे वह महापापी और

अथ संन्यासविधिः

वैदिक ऋषियों ने मनुष्य के लिए सामान्यतः सौ वर्ष के जीवन की कल्पना की थी ।**'जीवेम शरदः शतम्'**—हर कोई सौ वर्ष तो जीना चाहता ही था, इसलिए प्रभु से अपने लिए इतने दिन जीने की प्रार्थना करता था । परमेश्वर का कहना था—सौ वर्ष जीने की इच्छा करना बुरा नहीं, किन्तु कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा करो—**'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषिच्छेतं समाः'** (यजुः० ४०।२)। तुम्हारी सौ वर्ष की यात्रा में चार पड़ाव आएँगे । वे आश्रम होंगे । 'आश्रम' शब्द कह रहा है कि ये आराम करने के लिए नहीं, अपितु निरन्तर अथक श्रम करते रहने के लिए हैं । इनमें तुम्हें कोई असुविधा नहीं होगी, क्योंकि इनमें तीन पड़ावों में तुम्हें प्रकृति माता की गोद में बिताने का अवसर मिलेगा । जीवन का तीन चौथाई भाग ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ व संन्यास खुले मैदानों, जंगलों और पहाड़ों के शुद्ध जल-वायु में बीतने के कारण तुम्हारे सौ वर्ष हँसते -खेलते निकल जाएँगे और यदि तुम परमेश्वर की आज्ञा मानते रहे तो तुम्हें ब्रह्मलोक में प्रवेश पाने में कोई कठिनाई नहीं होगी । **'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'** । सारी यात्रा की थकावट मिट जाएगी ।

इस जीवन-यात्रा का अन्तिम पड़ाव संन्यास हैं । 'संन्यास' का अर्थ है —'सं-न्यास' अर्थात् कन्धों पर पड़े बोझ को उतारकर फेंक देना । संस्कारविधि में संन्यासी की परिभाषा ग्रन्थकार ने इस प्रकार की है —"जो मोहादि आवरण, पक्षपात छोड़के विरक्त होकर सब पृथिवी में परोपकारार्थ विचरे, अर्थात् **''सम्यङ् न्यस्यन्त्यधर्माचरणानि येन वा सम्यङ् नित्यं सत्यकर्मस्वास्त उपविशति स्थरीभवति येन स संन्यासः । संन्यासो विद्यते यस्य स संन्यासी ।''**

अर्थात् जिसके द्वारा अधर्म के आचरणों को भली प्रकार दूर करते हैं, अथवा जिससे भली-भाँति नित्य सत्कर्मों में स्थिर होता है, वह संन्यास है— संन्यासवाला संन्यासी । **'न्यास इत्याहुर्मनीषिणो ब्रह्माणम्'** यह तैत्तरीयारण्यक का वचन संस्कारविधि में उद्धृत है इसका स्थूल अर्थ है—बुद्धिमान् लोग ब्रह्म को न्यास कहते हैं, अर्थात् सम्यक् प्रकार से जिसने ब्रह्म को अपना लिया है वह संन्यासी है ।

वनेषु विहृत्यैवम्— संस्कार-विधि में इस शलोक के अर्थ में लिखा है—

https://t.me/arshlibrary

जो न फँसे वह महापुण्यात्मा सत्पुरुष है ।

[संन्यास-ग्रहण के तीन पक्ष]

'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद् वनाद्वा गृहाद् वा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' ॥

—ये ब्राह्मण-ग्रन्थ के वचन हैं[1] ।

जिस दिन वैराग्य प्राप्त हो, उसी दिन ब्रह्मचर्य, घर वा वन से संन्यास ग्रहण कर लेवे ।

पहले वचन में संन्यास का **क्रमपक्ष** कहा, और इसमें विकल्प अर्थात् वानप्रस्थ न करे, गृहस्थाश्रम ही से संन्यास ग्रहण करे यह **द्वितीय पक्ष** और **तृतीय पक्ष** यह है कि जो पूर्ण विद्वान्, जितेन्द्रिय=विषयभोग की कामना से रहित, परोपकार करने की इच्छा से युक्त पुरुष हो, वह ब्रह्मचर्याश्रम ही से संन्यास लेवे और वेदों में भी **'यतयः'**, **'ब्राह्मणासः'**, **'विजानतः'** इत्यादि पदों से संन्यास का विधान है, परन्तु—

"इस प्रकार जंगलों में आयु का तीसरा भाग अर्थात् अधिक-से-अधिक २५ (पच्चीस) वर्ष अथवा न्यून-से-न्यून १२ (बारह) वर्ष तक विहार करके, आयु के चौथे भाग अर्थात् ७० (सत्तर) वर्ष के पश्चात् सब मोहादि संगों को छोड़कर संन्यासी हो जावे ।" **परिव्रजेत्** = 'परिव्रजति इति परिव्राजकः' = जो सांसारिक एषणाओं को त्यागकर लोकोपकार के लिए विचरे, वह परिव्राजक कहाता है ।

यदहरेव—ब्राह्मणग्रन्थों में भी काफी फेरफार हो चुका है । आजकल यह वचन अथर्ववेदीय जाबालोपनिषद् खण्ड ४ में मिलता है । पूरा पाठ इस प्रकार है— **"ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् । गृही भूत्वा वनी भवेत् । वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ।** यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा । अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वा ऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा, यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् । अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं पृच्छामि त्वा याज्ञवल्क्यः अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मण इति । स होवाच याज्ञवल्क्यः, इदमेवास्य तद्यज्ञोपवीतं य आत्मा ।" अर्थात्—ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृहस्थ होवे, गृहस्थ होकर वानप्रस्थ होवे । वानप्रस्थ होकर संन्यासी होवे । अथवा दूसरा प्रकार यह है कि ब्रह्मचर्य से ही संन्यासी हो जावे अथवा गृहस्थाश्रम से ही वा वानप्रस्थाश्रम से ही और पुनः यदि वह व्रती हो वा व्रतरहित हो, स्नातक हो वा अस्नातक हो अथवा जिसका अग्निहोत्र नष्ट हो चुका हो, जिस दिन उसे वैराग्य हो, उसी दिन संन्यासी हो जावे । यज्ञवल्क्य से अत्रि ने पूछा, हे याज्ञवल्क्य! मैं तुमसे पूछता हूँ कि यज्ञोपवीत से रहित मनुष्य ब्राह्मण कैसे हो सकता है ? याज्ञवल्क्य बोले—यह जो आत्मा है, वही उसका यज्ञोपवीत है । संन्यासी को संन्यास की दीक्षा लेते समय यज्ञोपवीत त्यागना पड़ता है और उधर श्रमणब्राह्मण-न्याय प्रचलित है कि ब्राह्मण संन्यासी होकर भी (और यज्ञोपवीत आदि का त्याग करके भी) ब्राह्मण रहता है । अत्रि का प्रश्न है कि बिना यज्ञोपवीत के ब्राह्मण कैसे ? याज्ञवल्क्य का उत्तर है कि आत्मा अर्थात् आत्मज्ञान ही उसका यज्ञोपवीत है । इसका संकेत संस्कारविधि में संन्यास के प्रकरण में अथर्ववेद ६।६ तथा तैत्तिरीय आरण्यक १०।६४ से उद्धृत प्रमाणों में उपलब्ध है । इस प्रकार संन्यास ग्रहण के लिए तीन विकल्प प्रस्तुत किये गये हैं —

१. अनुक्रम से ब्रह्मचर्य, गृहस्थ व वानप्रस्थ-आश्रमों का अनुष्ठान करते हुए वृद्धावस्था में पहुँचकर संन्यास की दीक्षा ले । इसे क्रम संन्यास कहते हैं ।

२. **'यदहरेव विरजेत् तदहरेव वनाद्वा गृहाद्वा'** जिस दिन वैराग्य हो जाए उसी दिन, चाहे गृहस्थ का

---

१. जाबालोपनिषद् खं० ४ में आगे-पीछे पाठ मिलता है ।

https://t.me/arshlibrary

समय भी पूरा न हुआ हो और चाहे वानप्रस्थ का अनुष्ठान न भी किया हो, गृहाश्रम से ही संन्यास ग्रहण करले, क्योंकि संन्यास में दृढ़ वैराग्य अथवा यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य हेतु है। यही आनुपूर्वी संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में है वहाँ 'इति ब्राह्मणः श्रुतिः' निर्देश किया है।

३. 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' —यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त होकर विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से उठ जावे, पक्षपातरहित होकर सबका उपकार करने की इच्छा होवे और जिसको दृढ़ निश्चय हो जावे कि मैं मरणपर्यन्त यथावत् संन्यासधर्म का निर्वाह कर सकूँगा, तो वह न गृहाश्रम करे और न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण करके ही संन्यास ग्रहण करले।

स्वयं ग्रन्थकार ने इसी प्रकार संन्यास ग्रहण किया था। उनका स्पष्ट अभिमत है कि 'जितना ब्रह्मचर्य से संन्यासी होकर जगत् को सत्यशिक्षा करके उपकार कर सकता है उतनी गृहस्थ वा वानप्रस्थ आश्रम करके संन्यासाश्रमी नहीं कर सकता।' यह प्रश्न किये जाने पर कि जो ब्रह्मचर्य से संन्यास लेगा उसका निर्वाह कठिनता से होगा और काम का रोकना भी अति कठिन है, ग्रन्थकार का उत्तर है कि जो निर्वाह न कर सके, इन्द्रियों को न रोक सके, वह ब्रह्मचर्य से संन्यास न ले, परन्तु जो रोक सके वह क्यों न ले।

यतयः—'यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत। अत्रा समुद्र आ गूळहमा सूर्यमजभर्तन' (ऋ० १०।७२।६)। अर्थात् हे (देवाः) पूर्ण विद्वान् (यतयः) संन्यासी लोगो! तुम (यथा) जैसे (अत्र समुद्रे) इस आकाश में (गूढम्) गुप्त (आ सूर्यम्) स्वयं प्रकाशस्वरूप सूर्य आदि का प्रकाशक परमात्मा है, उसको (आ अजभर्त्तन) चारों ओर से अपने आत्मा में धारण करो और आनन्दित होओ, वैसे (यत्) जो (भुवनानि) सब भुवनस्थ गृहस्थ आदि मनुष्य हैं, उनको (अपिन्वत) विद्या और उपदेश से सदा संयुक्त किया करो। यही तुम्हारा परम धर्म है।

'य इन्द्र यतयस्त्वा भृगवो ये च तुष्टुवुः। ममेदुग्र श्रुधी हवम्' (ऋ० ८।६।१८) अर्थात्—हे इन्द्र! जो यति (संन्यासी) और परिपक्व तपवाले हैं और जो तेरी स्तुति करते हैं, उन सबकी और मेरी पुकार को सुन।

ब्राह्मणस्य—'ब्राह्मणस्य' पद ऋग्वेद में केवल एक स्थान (१०।१०६।४) पर आया है—'जाया ब्राह्मणस्योपनीता'। निश्चय ही यहाँ संन्यास का प्रसंग नहीं है। अथर्ववेद में अनेकत्र यह शब्द मिलता है, किन्तु वहाँ भी कहीं संन्यास का संकेत नहीं है। यजुर्वेद तथा सामवेद में कहीं भी यह शब्द नहीं आया है। ध्वनिसाम्य के कारण लिपिकर अथवा मुद्रक की भूल के कारण ब्राह्मणासः के स्थान पर 'ब्राह्मणस्य' हो गया प्रतीत होता है। 'ब्राह्मणासः' पद ऋग्वेद ७।१०३।८ में उपलब्ध है—**'ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्मकृण्वन्तः परिवत्सरीणम्'** अर्थात्—शान्तिशील ब्रह्मवेत्ता संन्यासी ब्रह्मज्ञान को विश्वव्यापी बनाने के लिए वेद का उच्चारण करते अथवा वेद की बात करते हैं।

विजानतः—**'यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'** (यजुः० ४०।७) अर्थात् जिस समय सब भूतों पर आत्मा=परमात्मा का अधिष्ठान है, ऐसा ज्ञान होता है, तब उस विज्ञानी, समदर्शी संन्यासी को कैसा मोह, कैसा शोक?

संस्कारविधि में 'अथ वेदप्रमाणानि' शीर्षक से ऋग्वेद के नवम् मण्डल के सूक्त ११३ के १, २, ४ व ६ से ११, मण्डल १० सूक्त ७२ का मन्त्र ७ तथा अथर्ववेद के १६वें काण्ड के सूक्त ४१ के मन्त्र १ को उद्धृत किया है।

https://t.me/arshlibrary

[निरर्थक संन्यास]

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नासान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

—कठ० वल्ली २। मं० २४

जो दुराचार से पृथक् नहीं, जिसको शान्ति नहीं, जिसका आत्मा योगी नहीं, और जिसका मन शान्त नहीं है, वह संन्यास लेके भी प्रज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं होता, इसलिए—

[संन्यासी के कर्त्तव्य]

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेद् ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१॥

—कठ० वल्ली ३। मं० १३

बुद्धिमान् संन्यासी वाणी और मन को अधर्म से रोके, उनको ज्ञान और आत्मा में लगावे और उस ज्ञानस्वात्मा को परमात्मा में लगावे और उस विज्ञान को शान्तस्वरूप आत्मा में स्थिर करे ॥१॥

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥२॥

—मुण्ड० खं० २ । मं० १२

सब लौकिक भोगों को कर्म से संचित हुए देखकर ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी वैराग्य को प्राप्त होवे, क्योंकि अकृत अर्थात् न किया हुआ परमात्मा, कृत अर्थात् केवल कर्म से प्राप्त नहीं होता, इसलिए कुछ अर्पण के अर्थ हाथ में लेके वेदवित् और परमेश्वर को जाननेवाले गुरु के पास विज्ञान के लिए जावे । जाके सब सन्देहों की निवृत्ति करे ॥२॥

ना विरतः—एतदनुसार ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए आवश्यक है कि (१) मनरूपी दर्पण शुद्ध व निर्मल हो, (२) स्थिर हो, (३) आवरण रहित हो (४) ज्ञानरूपी प्रकाश से दीप्त हो और (५) शान्त अर्थात् हर प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त हो । संन्यासी का परम लक्ष्य ब्रह्म प्राप्ति है, अतः उसमें इन सभी गुणों का होना आवश्यक है ।

यच्छेत्—यहाँ वाक्=वाणी समस्त इन्द्रियों का उपलक्षणरूप है । कठोपनिषद् के प्रवक्ता यमाचार्य के अनुसार अध्यात्ममार्ग के पथिक संन्यासी के लिए आवश्यक है कि वह इन्द्रियों के पीछे चलने के स्थान में उन्हें अपने मन के नियन्त्रण में रक्खे —'यच्छेद् वाक् मनसि', मन को इधर-उधर भटकने न देकर प्रबुद्ध आत्मा के अधीन रक्खे—'तत् यच्छेत् ज्ञान-आत्मनि' और शान्त आत्मा को परमात्मा के हवाले करदे—'तत् यच्छेत् शान्त आत्मानि' । तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों को मन के अधीन, मन को बुद्धि के अधीन, बुद्धि को आत्मा के अधीन और आत्मा को परमात्मा के अधीन कर दे ।

परीक्ष्य लोकान्—ब्रह्म-प्राप्ति के लिए ब्रह्मविद्या के अधिकारी में किन गुणों का होना अपेक्षित है उपनिषद् के इस वाक्य में उनका उल्लेख करते हुए बताया है कि—

१. वह ब्रह्मविद्या में श्रद्धा रखता हो तथा वैराग्यवान् हो ।

२. सकाम कर्मों से प्राप्त होनेवाले फलों की असारता या अस्थिरता को जान चुका हो ।

https://t.me/arshlibrary

[किनका सङ्ग न करे]

परन्तु सदा **इनका सङ्ग छोड़ देवे**, कि जो—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥१॥
अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥२॥

—मुण्ड० १ । खं० २। मं० ८,९

जो अविद्या के भीतर खेल रहे, अपने को धीर और पण्डित मानते हैं, वे नीच गति को जानेहारे मूढ़, जैसे अन्धे के पीछे अन्धे दुर्दशा को प्राप्त होते हैं, वैसे दुःखों को पाते हैं ॥१॥

जो बहुधा अविद्या में रमण करनेवाले, बालबुद्धि, हम कृतार्थ हैं ऐसा मानते हैं । जिसको केवल कर्मकाण्डी लोग राग से मोहित होकर नहीं जान और जना सकते, वे आतुर होके जन्ममरणरूप दुःख में गिरते रहते हैं ॥२॥ इसलिए—

यहाँ 'अकृत' का अर्थ परमात्मा है और 'कृत' का कर्मकाण्ड, अतः 'न अस्ति अकृतः कृतेन' का अर्थ हुआ जो कर्मकाण्ड से नहीं पाया जा सकता । (तत् विज्ञानार्थम्) हाथों में समिधा लेकर किसी (ब्रह्मनिष्ठं श्रोत्रियं गुरुं अभिगच्छेत्) ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु के पास जाए ।

श्रोत्रिय—धर्मज्ञान में सुविज्ञ विद्वान् ब्राह्मण । द्रष्टव्य—

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते ।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ॥

यहाँ 'जन्मना ब्राह्मण' से सामान्य अथवा प्रचलित अर्थों में ही ब्राह्मण अभिप्रेत है । वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मणपदवाच्य पुरुष तो संस्कारों से ही बनता है । उद्धृत वचन तो श्रोत्रिय का श्रेष्ठत्व अथवा उत्कर्ष दिखाने के लिए 'समित्पाणि' गुरु के प्रति श्रद्धा एवं विनय का द्योतक है । अन्यत्र बोधायनगृह्यसूत्र (२।६) में उपलब्ध परिभाषाओं के अनुसार—

उपनीतमात्रो व्रतानुचारी वेदानां किञ्चिदधीत्य ब्राह्मणः, एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः, अङ्गाध्याय्यनूचानः, कल्पाध्यायी ऋषिकल्पः, सूत्रप्रवचनाध्यायी भ्रूणः, चतुर्वेदादृषिः, अतः ऊर्ध्वं देवः ।

अर्थात्—जिसका केवल यज्ञोपवीत हुआ हो, ऐसा ब्रह्मचर्यव्रतधारी वेदों का कुछ भाग पढ़ने से ब्राह्मण, एक सम्पूर्ण शाखा पढ़ने से श्रोत्रिय, अंगों को पढ़नेवाला अनूचान, कल्प का पढ़नेवाला ऋषिकल्प, सूत्रों और भाष्यों को पढ़नेवाला भ्रूण, चारों वेदों को पढ़ने से ऋषि, उससे आगे देव कहाता है ।

अविद्यायामन्तरे—(यथा) जैसे (अविद्यायाम्) अविद्या के (अन्तरे) बीच में (वर्त्तमानाः) वर्त्तमान (स्वयं) अपने आपको (धीराः) धीर (पण्डितम् मन्यमानाः) पण्डित=विद्वान् मानने—समझनेवाले (जंघन्यमानाः) दुःखों के मारे (मूढाः) मूढ़ पुरुष (अन्धेन) अन्धे से (नीयमानाः) ले जाए जाते हुए (अन्धाः इव) अन्धों के समान (परियन्ति) इधर-उधर भटकते हैं ।

अविद्यायां बहुधा—(बालाः) अज्ञानी पुरुष (अविद्यायाम्) अविद्या में (बहुधा) अनेक प्रकार से (वर्त्तमानाः) फँसे हुए 'वयं कृतार्थाः=हम कृतार्थ हैं' (इति) ऐसा (अभिमन्यन्ति) अभिमान करते हैं ।

https://t.me/arshlibrary

[संन्यास का फल]

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चतार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥

—मुण्ड० ३ । खं० २ । मं० ६

जो 'वेदान्त' अर्थात् परमेश्वर-प्रतिपादक वेदमन्त्रों के अर्थज्ञान और आचार में अच्छे प्रकार निश्चित संन्यासयोग से शुद्धान्तःकरण संन्यासी होते हैं, वे परमेश्वर में मुक्तिसुख को प्राप्त हो, भोग के पश्चात् जब मुक्ति में सुख की अवधि पूरी हो जाती है, तब वहाँ से छूटकर संसार में आते हैं । मुक्ति के विना दुःख का नाश नहीं होता ।

क्योंकि—

'न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' ॥

—छान्दो० ८ ।१२ ।१ ॥

जो देहधारी है, वह सुख-दुःख की प्राप्ति से पृथक् कभी नहीं रह सकता और जो शरीररहित जीवात्मा मुक्ति में सर्वव्यापक परमेश्वर के साथ शुद्ध होकर रहता है, तब उसको सांसारिक सुख-दुःख प्राप्त नहीं होता, इसलिए—

(यत्कर्मिणः) जिस कारण सकाम कर्म के करनेवाले (रागात्) फलासक्ति के कारण उसके परिणाम को (न प्रवेदयन्ति) नहीं जानते (तेन) इससे (आतुराः) दुःख से आतुर (क्षीणलोकाः) कर्मफल के क्षीण होने पर (च्यवन्ते) गिरते हैं ।

इन श्लोकों के गूढ़ार्थ को समझने के लिए इन दोनों से पहले निम्न श्लोक को समझना आवश्यक है—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो ये ऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥ मु० १।२।७

अर्थात्—यज्ञ के विषय में याज्ञिक लोग यह सब-कुछ कहते हैं जो ऊपर कहा गया है । परन्तु अंगिरा ऋषि का कथन है कि भवसागर को पार करने के लिए ये यज्ञरूप बेड़े दृढ़ नहीं हैं । ये अपरा विद्या हैं, विद्या क्या, ये अविद्या हैं । इनमें १८ प्रकार के कर्म कहे गये हैं, परन्तु ये सब प्रवर कर्म हैं । जो मूढ़ व्यक्ति इन यज्ञकर्मों को श्रेयस्कर मान-कर इनमें आनन्दित होते हैं, वे बार-बार जरा-मृत्यु के बन्धन में पड़ते हैं, मोक्षलाभ नहीं करते ।

इन वाक्यों में यज्ञों की निन्दा नहीं की गई है । सकाम यज्ञों की भी उपयोगिता है, परन्तु उपयोगी होने पर भी उनकी अपनी सीमा है । अभ्युदय अर्थात् ऐहिक जीवन की सुविधा जुटाने में वे सहायक हैं, परन्तु उनसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती । जो लोग स्वर्ग आदि की कामना से यज्ञादि सकाम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, वे कामना पूरी न होने पर आतुर=दुःखी होते हैं । 'आतुर' पद से भ्रान्त होकर अर्वाचीन लोगों ने 'आतुर संन्यास' की कल्पना कर डाली । वे समझते हैं कि संन्यास के बिना मोक्ष नहीं मिलता और संन्यास ग्रहण करने पर मोक्ष मिल जाता है । इस भ्रान्ति से प्रेरणा पाकर ऐसे लोग जब रोगादि के कारण मरण निश्चित समझ लेते हैं तो वे मृत्यु से पूर्व संन्यासी हो जाते हैं । इसी को 'आतुर संन्यासविधि' कहते हैं ।

https://t.me/arshlibrary

[त्रिविध एषणाओं का परित्याग]

'लोकैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च पुत्रैषणायाश्चोत्थायाथ भैक्षचर्यं चरन्ति' ।

—शत० १४।६।४।१

लोक में प्रतिष्ठा वा लाभ, धन से भोग वा मान्य, पुत्रादि के मोह से अलग होके संन्यासी लोग भिक्षुक होकर रात-दिन मोक्ष के साधनों में तत्पर रहते हैं ।

वेदान्तविज्ञान—(वेदान्त) वेद की ब्रह्मप्राप्ति विषयक अन्तिम शिक्षा और (विज्ञान) विज्ञान के निश्चित अर्थों को जाननेवाले और संन्यासयोग से शुद्ध अन्तःकरणवाले संन्यासी मरणोपरान्त नियत काल तक (परान्तकाले) मोक्षानन्द का उपभोग करते हैं और अवधि पूरी होने पर ही लौटते हैं ।

परामृताः—यहाँ भी नवम् समुल्लास में मुक्ति प्रकरण के समान 'परामृताः' के स्थान पर 'परामृतात्' पाठ होना चाहिए । यहाँ भाषा (वहाँ से छूटकर) इसी पाठ के अनुसार है । यह ठीक है कि मुण्डकोपनिषद् में प्रायः 'परामृताः' भी पाठ मिलता है । तथापि 'परामृतात्' पाठ अनेकत्र मिलता है । सन् १९२५ के निर्णयसागर प्रेस में छपे १०८ उपनिषदों के संकलन में भी यही पाठ मिलता है । 'परिमुच्यन्ति' क्रियापद के साथ पञ्चमी विभक्त्यन्त पद का प्रयोग ही व्याकरण सम्मत है ।

न वै सशरीरस्य—इन्द्रियादि से युक्त शरीर का प्रिय-अप्रिय अर्थात् सुख-दुःख से आक्रान्त रहना उसकी विवशता है । अशरीरी जीवात्मा को ही प्रिय-अप्रिय स्पर्श नहीं करता । मोक्षावस्था में शरीर और इन्द्रियों का अभाव मानते हैं—'अभावं बादरिराह ह्येवम्' (वेदान्त ४।४।१०) । एक देह को छोड़कर देहान्तर को ग्रहण करनेवाले शरीर के साथ उसका सूक्ष्म शरीर भी यहीं रह जाता है । मन भी सूक्ष्म शरीर का अंग है, अतः वह भी साथ नहीं जाता । मोक्षलाभ होने पर आत्मा के साथ प्राकृत शरीर, इन्द्रिय आदि का किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता, किन्तु मननात्मक शक्ति से सब कामनाओं का उपभोग करते हुए आनन्द में मग्न रहता है—'दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते' (छा० ८।१२।५) । वहाँ शरीर, इन्द्रिय आदि का अस्तित्व रहता तो 'मनसा' कहना व्यर्थ था । मन शब्द से यहाँ संकल्प-विकल्पात्मक मन न होकर आत्मा की स्वाभाविक शक्ति अभिप्रेत है । आत्मा की शक्ति की अभिव्यक्ति ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर होती है ।

लोकैषणायाश्च—शतपथ १४।६।४।१ में 'पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय' पाठ है । यही पाठ संस्कारविधि में उद्धृत है । लोकैषणादि की व्याख्या प्रथम संस्करण में विस्तारपूर्वक लिखी है, यथा—

'लोकैषणा अर्थात् लोकजन निन्दा करें वा स्तुति करें और प्रतिष्ठा करें वा अप्रतिष्ठा करें तो भी जिसके मन में कुछ हर्ष वा शोक न होय उनको तुच्छ जानके जैसे ये हर्ष-शोक के देनेवाले हैं वैसे यथावत् समझके सत्य धर्म मुक्ति अर्थात् सब दुःखों की निवृत्ति और परमेश्वर की प्राप्ति इनमें स्थिर रहके आनन्द में रहे और किसी का पक्षपात अथवा किसी से भय कभी न करे । वित्तैषणा अर्थात् धन की इच्छा और धन की प्राप्ति में प्रयत्न और लोभ कि मुझको धन अधिक होय और जितने धनाढ्य हैं उनसे धन की प्राप्ति के वास्ते बहुत प्रीति करे, द्रव्य को बड़ा पदार्थ जानके संचय करना और दरिद्रों से धन के नहीं होने से प्रीति का न करना और धनाढ्यों की स्तुति करना इन सब बातों को छोड़ना उसका नाम वित्तैषणा का त्याग है । पुत्रैषणा अर्थात् अपने पुत्रों में मोह करना वा जो सेवक लोग हैं उनसे मोह अर्थात् प्रीति करना और उनके सुख में हर्ष का होना और दुःख में शोक का होना ॥'

https://t.me/arshlibrary

'प्राजापत्यां निरुप्येष्टिं तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः प्रव्रजेत्' ॥१॥

—यजुर्वेदब्राह्मणे[1]

प्राजापत्यां निरुप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥२॥
यो दत्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात् ।
तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥३॥

—मनु० ६।३८,३९

प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति के अर्थ इष्टि अर्थात् यज्ञ करके, उसमें यज्ञोपवीत-शिखादि चिह्नों को छोड़, आहवनीयादि **पाँच अग्नियों** को प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन **पाँच प्राणों** में आरोपण करके, ब्रह्मवित् ब्राह्मण घर से निकलकर संन्यासी हो जावे ॥१,२॥

जो सब भूत=प्राणिमात्र को अभयदान देकर घर से निकलके संन्यासी होता है, उस **ब्रह्मवादी** अर्थात् परमेश्वर-प्रकाशित वेदोक्त धर्मादि विद्याओं के उपदेश करनेवाले संन्यासी के लिए प्रकाशमय अर्थात् मुक्ति का आनन्दस्वरूप लोक प्राप्त होता है ॥३॥

डा० राधाकृष्णन् ने संन्यासी के जीवन-दर्शन के विषय में लिखा है—

"The aim of the Sanyasin is not to free himself from the cares of outward life, but to attain a state of spiritiual freedom when he is not tempted by riches or honour and is not elated by sucess or depressed by failure."

—Hindu View of Life, p. 64

प्राजापत्यामिति—सर्ववेदस होम वह होता है जो संन्यास ग्रहण करने से पूर्व किया जाता है। इस अवसर पर व्यक्ति अपनी अधिकृत चलाचल समस्त सम्पत्ति का त्याग कर देता है अथवा उपयुक्त अधिकारियों को दान कर देता है। सर्ववदस होम को गृहस्थ व्यक्ति भी अपने आश्रम के अन्तराल काल में कर लिया करते हैं। कठोपनिषद् के प्रारम्भ में नचिकेता के पिता के द्वारा तथा कालिदासकृत रघुवंश के पञ्चम सर्ग की प्रारम्भिक कथा में इसके संकेत मिलते हैं। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है—

'सोऽन्यद् वृत्तमुपाकरिष्यमाणो याज्ञवल्कक्यो मैत्रेयीति होवाच । प्रव्रजिष्यन् वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति । .....उक्तानुशासनासि मैत्रेय एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज ।' —शत०१४।७।३।१,२५

एक बार अपने चालू जीवन से भिन्न जीवनचर्या को स्वीकार करने की भावना से याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को पुकारा और कहा—मैं अब इस स्थान से प्रवृज्या लेनेवाला हूँ। मैं चाहता हूँ कि अब तुम कात्यायनी के साथ रहो। मैत्रेयी ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए कहा—जिस अमृतपद को प्राप्त करने के लिए आप अपने चालू जीवन में परिवर्तन कर रहे हैं, मैं भी उसका अनुसरण क्यों न करूँ ? मुझे उसी मार्ग का उपदेश दीजिए। याज्ञवल्क्य ने तब विस्तार से आत्मज्ञान के उपायों का वर्णन किया। अन्त

---

१. न्यायसूत्र ४।१।६१-६२ के वात्स्यायनभाष्य में उद्धृत—
प्राजायत्यामिष्टिं निरुप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेत् ॥

https://t.me/arshlibrary

में याज्ञवल्क्य ने कहा—मैत्रेयि ! पूर्ण उपदेश कर दिया गया है, यही अमृतपद का स्वरूप है । इतना कहकर याज्ञवल्क्य ने प्रव्रज्या को स्वीकार किया, अर्थात् परिव्राजक हो गये ।

प्राजापत्यां निरुप्येष्टिमिति—संस्कारविधि में इस श्लोक का अर्थ ग्रन्थकार ने इस प्रकार किया है—(प्राजापत्यां सर्ववेदसदक्षिणाम् इष्टिं निरुप्य) प्रजापति परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त प्राजापत्येष्टि कि जिसमें यज्ञोपवीत और शिखा का त्याग किया जाता है (अग्नीन् आत्मनि समारोप्य) आहवनीय, गार्हपत्य तथा दाक्षिणात्य संज्ञक अग्नियों को आत्मा में समारोपित करके (ब्राह्मणः गृहात् गच्छेत्) ब्राह्मण गृहाश्रम से संन्यास लेवे ।

जब मोक्षकाम व्यक्ति को सांसारिक विषयों की ओर से तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, तब कर्मानुष्ठान के लिए आधान की गयी आहवनीय आदि अग्नियों का समारोपण उस मोक्षकाम आत्मा में कर लिया जाता है । आत्मा में आहवनीय आदि अग्नियों के समारोपण की कल्पना का तात्पर्य है—तब बाह्य अग्नि में फलोत्पादक समस्त कर्मानुष्ठानों का परित्याग, तथा केवल आत्मज्ञान सम्बन्धी अनुष्ठानों का सम्पन्न किया जाना । यह आत्मा में अग्नियों के समारोपण का विधान संन्यास ग्रहण करने के लिए होता है । जब इस प्रकार संन्यास आश्रम का ग्रहण करना सिद्ध है तो अपवर्ग का होना स्वतः सिद्ध होता है, क्योंकि संन्यासग्रहण उसी की प्राप्ति के लिए किया जाता है । वैदिक साहित्य में बताया गया है कि प्राजापत्य इष्टि का सम्पादन कर उसमें सर्ववेदस होम करने के अनन्तर कर्मकाण्ड साधक आहवनीय आदि अग्नियों का आत्मा में समारोपण कर तीव्र वैराग्ययुक्त व्यक्ति संन्यास ग्रहण करले ।

न्यायदर्शन के ४।१।६१ सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन ने लिखा है—'प्राजापत्यां निरुप्येष्टिं तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेदिति श्रूयते, तेन विजानीमः प्रजावित्तलोकैषणाभ्यो व्युत्थितस्य निवृत्ते फलार्थित्वे समारोपणं विधीयते ।' अर्थात् ब्राह्मण में आता है कि 'प्राजापत्यां प्रव्रजेत्' । इससे हम जानते हैं कि सन्तान, धन तथा मान की एषणाओं से ऊपर उठे हुए और जिसको फल की आकांक्षा भी नहीं रही,ऐसे के लिए समारोपण का विधान है । बोधायनधर्मसूत्र २।१०।१८।८ में कहा है—**'तस्य प्राणो गार्हपत्योऽपानोऽन्वाहार्यपचनो व्यान आहवनीय उदानसमानो सभ्यावसथ्यौ'**अर्थात् संन्यास का प्राण गार्हपत्य अग्नि अपान अन्वाहार्यपचन अग्नि, व्यान आहवनीय अग्नि, उदान सभ्य अग्नि और समान आवसथ्य अग्नि है ।

ऐसे प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि जो व्यक्ति पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से मुक्त हो जाते हैं और कर्मफलों की कामना से दूर हो जाते हैं, उन्हीं व्यक्तियों के आत्मा में अग्नि स्थापना की कल्पना का विधान है ।

इस श्लोक की व्याख्या में ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है—

'संन्यासी परमेश्वर देवतावाली इष्टि को करके, हृदय में यह सब-कुछ निश्चय करके, उस इष्टि (सर्ववेदस) में शिखा-सूत्र आदि का होम करके, मनस्वी होकर संन्यास ग्रहण करता है, परन्तु यह संन्यास का अधिकार उन्हीं को है जो पूर्ण विद्वान्, राग-द्वेषरहित तथा सब मनुष्यों पर उपकार की बुद्धि रखते हैं । यह अधिकार अल्पविद्यावालों को नहीं है । संन्यासियों का प्राणायाम होम, दोषों से मन तथा इन्द्रियों को रोकना तथा सत्यधर्म का अनुष्ठान ही अग्निहोत्र है, किन्तु पहले तीन आश्रमियों के अनुष्ठान करने योग्य जो कुछ भी है, चाहे वह क्रियामय न भी हो तो भी वह सब-कुछ संन्यासियों के लिए नहीं है । सत्योपदेश ही संन्यासियों का ब्रह्मयज्ञ है, ब्रह्म की उपासना करना देवयज्ञ है, विज्ञानियों की प्रतिष्ठा करना

https://t.me/arshlibrary

[संन्यासी का विशेष धर्म]

प्रश्न—संन्यासियों का क्या धर्म है ?

उत्तर—धर्म तो पक्षपातरहित-न्यायाचरण, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग,वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा का पालन, परोपकार, सत्यभाषणादि लक्षण सब आश्रमियों का अर्थात् सब मनुष्यमात्र का एक ही है, परन्तु **संन्यासी का विशेष धर्म** यह कि—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वेदद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥१॥
क्रुद्धयन्तं न प्रतिक्रुद्धयेदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥२॥

पितृयज्ञ है, अज्ञानियों को ज्ञान देना तथा सब प्राणियों पर उपकार करना, उनपर कृपा करना तथा उन्हें पीड़ा न देना ही भूतयज्ञ है और सब मनुष्यों के उपकारार्थ भ्रमण करना, निरभिमानता, सत्योपदेश करने से सब मनुष्यों का सत्कार करना अतिथियज्ञ है । संन्यासियों के लिए इस प्रकार के विज्ञान और धर्मानुष्ठानवाले ही पाँच महायज्ञ होते हैं, ऐसा जानना चाहिए, परन्तु विशेषता यह है कि एक अद्वितीय, सर्वशक्तिमान् आदि विशेषणों से युक्त परब्रह्म की उपासना तथा सत्यधर्म का अनुष्ठान करना—यह सब आश्रमियों में समान है ।

यो दत्वा—संन्यासी में सब प्राणियों के प्रति निर्वैरता होती है, इस कारण वह सबको अभयदान देता है । ब्राह्मणग्रन्थों में अभयदान की प्रतिज्ञा पुत्रैषणा आदि के परित्याग के समान ही संन्यास की दीक्षा का अंग है—

'पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता । मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु' ।

—शत० १४।६।४।१

संसार में सन्तान, धन और यश की प्राप्ति ये तीन इच्छाएँ प्रधान हैं । इन्हीं के वशीभूत होकर व्यक्ति ईर्ष्या-द्वेष आदि में फँसता है । इनसे मुक्त होकर ही वह संन्यासी बनता है । तब उससे किसी प्राणी को भय नहीं होता और उसे भी भय नहीं होता, क्योंकि—**'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'** । (योगसूत्र २।३५)।

'ब्रह्मवादी संन्यासी के लिए प्रकाशमय अर्थात् मुक्ति का आनन्दस्वरूप लोक प्राप्त होता है'—'ब्रह्म संस्थोऽमृतत्वमेति' छान्दोग्य प्रपाठक २, खण्ड २३, मन्त्र १ के इस वचन को ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में उद्धृत करके लिखा है—('ब्रह्मसंस्थः) चतुर्थो ब्रह्मसंस्थः संन्यासी (अमृतत्वम्) मोक्षं (एति) प्राप्नोति' ।

सब आश्रमी, विशेषकर संन्यासी, सबके स्वामी परमेश्वर को वेद के अध्ययन, श्रवण तथा उसकी आज्ञाओं का पालन करने से जानना चाहते हैं—यही 'ब्रह्मसंस्थ' होना है, क्योंकि 'ब्रह्म' पद ईश्वर और वेद दोनों का वाचक है । ब्रह्मचर्य, तप अर्थात् धर्मानुष्ठान, श्रद्धा अर्थात् प्रेम, यज्ञ अर्थात् नाशरहित विज्ञान या धर्म के क्रियाकाण्ड के द्वारा उस परमेश्वर को जानकर ही मुनि होता है । संन्यासी इस यथोक्त परमेश्वर को ही चाहते हुए संन्यास आश्रम को ग्रहण करते हैं । जो इस ब्रह्म की इच्छा करते हुए अत्युत्तम ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञ विद्वान् तथा दूसरों की शंका निवारण करनेवाले मनुष्य गृहाश्रम की इच्छा नहीं रखते, वे ही ज्ञानप्रकाशयुक्त यह कहते हैं कि हमें प्रजा से कुछ भी प्रयोजन नहीं, क्योंकि हमें तो परमेश्वर को पाना

https://t.me/arshlibrary

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥३॥
क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान्[1] ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥४॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च ।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥५॥
दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥६॥
फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम् ।
न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥७॥
प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधियत्कृताः ।
व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमन्तपः ॥८॥
दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥९॥
प्राणायामैर्दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥१०॥

है। इस प्रकार वे सन्तानोत्पत्ति की इच्छा, जड़-धन की प्राप्ति और उसे प्रयोग में लाने की इच्छा तथा संसार में अपनी प्रतिष्ठा की इच्छा से विरक्त होकर संन्यास ग्रहण करते है। जिसे पत्रोत्पत्ति की इच्छा होती है, उसे निश्चय ही अपनी प्रतिष्ठा की भी इच्छा होती है। जिसे एक अपनी प्रतिष्ठा की इच्छा होती है उसे पूर्व की दोनों—पुत्र तथा धन की इच्छा होती है। जिसे परमेश्वर की और मोक्ष की इच्छा होती है उसकी उपर्युक्त तीनों इच्छाएँ निवृत्त हो जाती हैं। ब्रह्मानन्दधन के बराबर लोकधन कभी नहीं हो सकता। जिसकी परमेश्वर में संस्थिति=प्रतिष्ठा होती है, उसे और कोई प्रतिष्ठा नहीं रुचती। उसका उद्देश्य केवल परोपकार तथा सत्यप्रवर्त्तन होता है।

क्लृप्तकेश—इस प्रसंग में ग्रन्थकार के जीवन की एक घटना उल्लेखनीय है—"सन् १८७३ में बड़ौदा में महर्षि एक दिन क्षौर करवा रहे थे। एक पण्डित ने आकर कहा कि संन्यासियों का धर्म तो त्याग है, आप देह-विभूषा में क्यों लगे हैं? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि यदि बाल बढ़ाने में ही त्याग है तो रीछ सबसे बड़ा त्यागी है। यह कहकर उसे उपदेश दिया कि देह की रक्षा के लिए उसे संवारना पाप नहीं है।"

—महर्षि का जीवनचरित्र भा० १, पृ० ३६१

कुसुम्भवान्=संन्यासी के कुसुम्भी या गेरुवे वस्त्र धारण करने का एक लाभ तो यह है कि इससे उसकी स्पष्ट पहचान बनती है। गेरुए रंग में रक्त को शान्त करने और खुजली आदि को दूर करने की शक्ति है। इस विषय में आयुर्वेद का मत है—

---

१. संस्करण २ में 'कुशुम्भवान्' पाठ है।

https://t.me/arshlibrary

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभिः ।
ध्यानयोगेन संपश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः ॥११॥
अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपसश्चरणैश्चोग्रैस्साधयन्तीह तत्पदम् ॥१२॥
यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः ।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥१३॥
चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः ।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः ॥१४॥

सुवर्णगैरिकं स्निग्धं मधुरं तुवरं मतम् ।
चक्षुष्यं शीतलं बल्यं व्रणरोपणकारकम् ॥
विशदं कान्तिकृत्प्रोक्तं दाहं पित्तं कफं जयेत् ।
हिक्कां रक्तरुजां जूर्तिविषं विस्फोटकं वामिम् ।
अग्निदग्धव्रणं चार्शं रक्तपित्तं च नाशयेत् ॥

—शालिग्रामनिघण्टुभूषण पृष्ठ ७३१

अर्थ—पीला गेरु स्निग्ध, मधुर, कसैला, नेत्रों को हितकारी, शीतल, बलकारक, व्रणरोपणकर्त्ता, विशद, कान्तिजनक तथा दाह, पित्त, कफ़, रक्तविकार, ज्वर, विष, विस्फोटक, वमन,अग्निदाह, व्रण, बवासीर और रक्तपित्त को हरनेवाला है ।

गेरु की दो जातियाँ हैं पीली और लाल । इनमें से पीले गेरु के गुण ऊपर दिये हैं । लाल गेरु के गुण इस प्रकार हैं—

गैरिकं द्वितीयं स्निग्धं मधुरं तुवरं मतम् ।
चक्षुष्यं दाहपित्तासृक्कफ़ हिक्काविषापहम् ॥

—तदेव पृ० ७३२

अर्थ—दूसरे प्रकार का गेरु स्निग्ध, मधुर, कसैला, नेत्रों को हितकारी तथा दाह, पित्त, कफ़, हिचकी और विष के हरनेवाला है ।

भावप्रकाश में कुसुम्भ के गुण लिखे हैं—**'कुसुम्भं वातलं कृच्छ्रकृमिपित्तकफापहम् ।'** अर्थात् कुसुम्भ वातकर्त्ता तथा मूत्रकृच्छ, रक्तपित्त और कफ़ नाशक है । इससे स्पष्ट है कि दोनों वस्तुओं का उपयोग रक्तशोधक, नेत्रों के लिए हितकर कफ़ व पित्त सम्बन्धी रोगों को दूर करनेवाला तथा त्वचा के रोगों से बचानेवाला है ।

प्राणायाम—व्याहृति=व्याहृतियाँ सात हैं—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्यम् जिनका ओंकारपूर्वक प्रयोग प्राणायाम में किया जाता है ।

धृतिःक्षमा—धर्म के इन दस लक्षणों की व्याख्या कुल्लूकभट्ट ने इस प्रकार की है—संतोषो धृतिः, परेणापकारे कृते तस्य प्रत्युपकाराचरणं क्षमा, विकारहेतुविषयसन्निधानेऽप्यविक्रियत्वं मनसो दमनं दम इति सनन्दनवचनात् । शीतातपादिद्वन्द्वसहिष्णुता दम इति गोविन्दराजः । अन्यायेन धनादिग्रहणं स्तेयं

https://t.me/arshlibrary

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥१५॥
अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गाञ्शनैः शनैः[1] ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥१६॥

—मनु० अ० ६ । ४६, ४८, ४९, ५२, ६०, ६६, ६७, ७०—७३, ७५, ८०, ९१, ९२,९१ ॥

अर्थ—जब संन्यासी मार्ग में चले, तब इधर-उधर न देखकर नीचे पृथिवी पर दृष्टि रखके चले । सदा वस्त्र से छानके जल पिये । निन्तर सत्य ही बोले । सर्वदा मन से विचारके सत्य का ग्रहण कर असत्य को छोड़ देवे ॥१॥

जब कहीं उपदेश वा संवादादि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे अथवा निन्दा करे तो संन्यासी को उचित है कि उसपर आप क्रोध न करे, किन्तु सदा उसके कल्याणार्थ उपदेश ही करे और एक मुख के, दो नासिका के, दो आँख के और दो कान के छिद्रों में बिखरी हुई वाणी को किसी कारण से मिथ्या कभी न बोले ॥२॥

अपने आत्मा और परमात्मा में स्थिर, अपेक्षारहित, मद्य-मांसादिवर्जित होकर, आत्मा ही के सहाय से सुखार्थी होकर इस संसार में धर्म और विद्या के बढ़ाने में उपदेश के लिए सदा विचरता रहे ॥३॥

केश, नख, डाढ़ी, मूँछ का छेदन करवावे । सुन्दर पात्र, दण्ड और कुसुम्भ[2] आदि से रंगे हुए वस्त्रों को ग्रहण करके, निश्चितात्मा, सब भूतों को पीड़ा न देकर सर्वत्र विचरे ॥४॥

इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक, राग-द्वेष को छोड़, सब प्राणियों से निर्वैर वर्त्तकर मोक्ष के लिए सामर्थ्य बढ़ाया करे ॥५॥

कोई संसार में उसको दूषित वा भूषित करे, तो भी जिस-किसी आश्रम में वर्त्तता हुआ पुरुष अर्थात् संन्यासी सब प्राणियों में पक्षपातरहित होकर स्वयं धर्मात्मा और अन्यों को धर्मात्मा करने में प्रयत्न किया करे और यह अपने मन में निश्चित जाने कि दण्ड, कमण्डलु और काषायवस्त्र आदि चिह्न-धारण धर्म का कारण नहीं है । मनुष्यादि प्राणियों की सत्योपदेश और विद्यादान से उन्नति करना संन्यासी का मुख्य कर्म है ॥६॥

क्योंकि यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल पीसके गदरे जल में डालने से जल का शोधक होता है, तदपि विना उसके डाले उसके नामकथन वा श्रवणमात्र से जल शुद्ध नहीं हो सकता ॥७॥

इसलिए ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मवित् संन्यासी को उचित है कि ओंकारपूर्वक सप्त व्याहृतियों से विधिपूर्वक प्राणायाम जितनी शक्ति हो उतने करे, परन्तु तीन से तो न्यून प्राणायाम कभी न करे । यही संन्यासी का परम तप है ॥८॥

तद्भिन्नमस्तेयं यथाशास्त्रं मृज्जलाभ्यां देहशोधनं शौचं विषयेभ्यश्चक्षुरादिधारणमिन्द्रियनिग्रहः शास्त्रादि-तत्त्वज्ञानं धीः, आत्मज्ञानं विद्या यथार्थसधानं सत्यं क्रोधहेतौ सत्यपि क्रोधानुत्पत्तिरक्रोधः एतद्दशविधं धर्मस्वरूपम् ॥

---

१. संस्कार विधि में भी यही पाठ है । मनु० में 'छनैः शनैः' पाठ है ।
२. संस्करण २ में कुशुम्भ पाठ है । संस्कार विधि में शुद्ध पाठ है ।

https://t.me/arshlibrary

क्योंकि जैसे अग्नि में तपाने और गलाने से धातुओं के मल नष्ट हो जाते है, वैसे ही प्राणों के निग्रह से मन आदि इन्द्रियों के दोष भस्मीभूत होते हैं ॥६॥

इसलिए संन्यासी लोग नित्यप्रति प्राणायामों से आत्मा, अन्तःकरण और इन्द्रियों के दोष, धारणाओं से पाप, प्रत्याहार से सङ्गदोष, ध्यान से अनीश्वर के गुणों अर्थात् हर्ष-शोक और अविद्यादि जीव के दोषों को भस्मीभूत करें ॥१०॥

इसी ध्यानयोग से, जो अयोगी, अविद्वानों को दुःख से जानने योग्य, छोटे-बड़े पदार्थों में परमात्मा की व्याप्ति उसको, और अपने आत्मा और अन्तर्यामी परमेश्वर की गति को देखे ॥११॥

सब भूतों से निर्वैर, इन्द्रियों के विषयों का त्याग, वेदोक्त कर्म और अत्युग्र तपश्चरण से इस संसार में मोक्ष-पद को पूर्वोक्त संन्यासी ही सिद्ध कर और करा सकते हैं, अन्य नहीं ॥१२॥

जब संन्यासी सब भावों में अर्थात् पदार्थों में निःस्पृह, कांक्षारहित, और सब बाहर-भीतर के व्यवहारों में भाव से पवित्र होता है, तभी इस देह में और मरण पाके निरन्तर सुख को प्राप्त होता है ॥१३॥

इसलिए ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासियों को योग्य है कि प्रयत्न से **दशलक्षणयुक्त** निम्नलिखित **धर्म** का सेवन करें ॥१४॥

पहिला लक्षण—(धृतिः) सदा धैर्य रखना । **दूसरा**—(क्षमा) जो कि निन्दा-स्तुति, मानापमान, हानि-लाभ आदि दुःखों में भी सहनशील रहना । **तीसरा**—(दम) मन को सदा धर्म में प्रवृत्त कर अधर्म से रोक देना, अर्थात् अधर्म करने की इच्छा भी न उठे । **चौथा**—(अस्तेय) चोरी-त्याग, अर्थात् विना आज्ञा वा छल-कपट, विश्वासघात वा किसी व्यवहार तथा वेदविरुद्ध उपदेश से परपदार्थ का ग्रहण करना **चोरी**, और उसको छोड़ देना **'साहूकारी'** कहाती है । **पाँचवाँ**—(शौच) राग-द्वेष, पक्षपात छोड़के भीतर, और जल-मृत्तिका-मार्जन आदि से बाहर की पवित्रता रखनी । **छठा**—(इन्द्रियनिग्रह) अधर्माचरणों से रोकके इन्द्रियों को धर्म ही में सदा चलाना । **सातवाँ**—(धीः) मादकद्रव्य, बुद्धिनाशक अन्य पदार्थ, दुष्टों का संग, आलस्य-प्रमाद आदि को छोड़के श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन, सत्पुरुषों का सङ्ग, योगाभ्यास से बुद्धि का बढ़ाना । **आठवाँ**—(विद्या) पृथिवी से लेके परमेश्वर-पर्यन्त पदार्थों का यथार्थज्ञान और उनसे यथायोग्य उपकार लेना विद्या, इससे विपरीत 'अविद्या' है । **नववाँ**—(सत्य) जैसा आत्मा में, वैसा मन में, जैसा मन में वैसा वाणी में, जैसा वाणी में वैसा कर्म में वर्त्तना[1] , अर्थात् जो पदार्थ जैसा हो उसको वैसा ही समझना, वैसा ही बोलना और वैसा ही करना भी । तथा **दशवाँ**—(अक्रोध) क्रोधादि दोषों को छोड़के शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना **धर्म का लक्षण** है । इस दश लक्षणयुक्त पक्षपातरहित, न्यायाचरण धर्म का सेवन चारों आश्रमवाले करें और इसी वेदोक्त धर्म ही में आप चलना, और दूसरों को समझाकर चलाना संन्यासियों का विशेष धर्म है ॥१५॥

इसी प्रकार धीरे-धीरे सब सङ्गदोषों को छोड़, हर्ष-शोकादि सब द्वन्द्वों से विमुक्त होकर संन्यासी ब्रह्म ही में अवस्थित होता है । संन्यासियों का मुख्य कर्म यही है कि सब गृहस्थादि आश्रमों को सब प्रकार के

इससे अगले श्लोक में कहा है—

दशलक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते ।
अधीत्य चानुवर्त्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम् ॥

https://t.me/arshlibrary

१. **'मानस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्'** । वृद्धचाणक्य २।६०

व्यवहारों का सत्य निश्चय करा, अधर्म-व्यवहारों से छुड़ा सब संशयों का छेदनकर सत्य-धर्मयुक्त व्यवहारों में प्रवृत्त कराया करें ॥१६॥

[संन्यास-ग्रहण का अधिकार]

प्रश्न—संन्यास ग्रहण करना ब्राह्मण ही का धर्म है, वा क्षत्रियादि का भी ?

उत्तर—ब्राह्मण ही को अधिकार है, क्योंकि जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान्, धार्मिक, परोपकारप्रिय मनुष्य है, उसी का 'ब्राह्मण' नाम है। विना पूर्ण विद्या के, धर्म, परमेश्वर की निष्ठा और वैराग्य के संन्यास ग्रहण करने में संसार का विशेष उपकार नहीं हो सकता। इसलिए लोकश्रुति है कि ब्राह्मण को ही संन्यास का अधिकार है, अन्य को नहीं। यह मनु का प्रमाण भी है—

एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः ।
पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राजधर्मं निबोधत ॥ —मनु० ६।९७

यह मनुजी महाराज कहते हैं कि—'हे ऋषियो ! यह चार प्रकार अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम करना ब्राह्मण का धर्म है। यहाँ वर्त्तमान में पुण्यस्वरूप, और शरीर छोड़े पश्चात् मुक्तिरूप अक्षय आनन्द का देनेवाला संन्यास-धर्म है इसके आगे राजाओं का धर्म मुझसे सुनो' ॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि संन्यास-ग्रहण का अधिकार मुख्य करके ब्राह्मण का है और क्षत्रियादि का ब्रह्मचर्य्याश्रम आदि का है।

अर्थात्—जो द्विज धर्म के इन दस लक्षणों का अध्ययन-मनन और पालन करते हैं वे परमगति=मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

एष वोऽभिहितः—किन्हीं विद्वानों की मान्यता है कि इस श्लोक में 'ब्राह्मण' शब्द का द्विजमात्र के उपलक्षणरूप में प्रयोग हुआ है, क्योंकि इससे पूर्व ब्राह्मणवर्ण के साथ-साथ द्विजों के चारों आश्रमों के धर्मों का उल्लेख हो चुका है। इसलिए ब्राह्मण शब्द से क्षत्रिय और वैश्य का भी ग्रहण होता है और सभी को समान रूप से संन्यास ग्रहण करने का अधिकार स्वतः प्राप्त है। यह ठीक है कि विभिन्न स्थानों पर द्विज, विप्र आदि शब्दों का ब्राह्मण के पर्यायवाची रूप में व्यवहार हुआ है, किन्तु वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत सभी वर्णों के पृथक्-पृथक् धर्मों = कर्त्तव्यों का स्पष्ट उल्लेख होने से गुण-कर्म-स्वभाव के आधार पर प्रत्येक की अपनी-अपनी पहचान है। समाज का मुखिया कौन है ? वेद का उत्तर है—**'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'**। अथर्ववेद ने इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए कहा—'ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः' (अथर्व० ५।१७।६)—ब्राह्मण ही, न क्षत्रिय और न वैश्य। भगवान् मनु कहते हैं—**'ब्रह्मणस्य चुतर्विधः धर्मः अभिहितः** और अब **'राजधर्मं निबोधत'**। ब्राह्मण का चतुर्विध धर्म बता चुके, अब राजा (क्षत्रिय) का सुनो। ब्राह्मण का धर्म चतुर्विध इसलिए कहा, क्योंकि उसी को चारों आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास में प्रवेश का अधिकार है। शेष वानप्रस्थ से आगे नहीं जा सकते।

ग्रन्थकार ने 'ही' और 'भी' के साथ प्रश्न करके और उत्तर में भी 'ही' का प्रयोग करके बिल्कुल असन्दिग्ध शब्दों में अपनी बात कह दी—

प्रश्न—संन्यास ग्रहण करना ब्राह्मण **ही** का धर्म है वा क्षत्रियादि का **भी** ?

उत्तर—ब्राह्मण **ही** को अधिकार है।

साथ ही अपने मत के पक्ष में हेतु दे दिया—'क्योंकि जो सब वर्णों में पूर्ण विद्वान्, धार्मिक परोपकार

https://t.me/arshlibrary

[संन्यासाश्रम की आवश्यकता]

प्रश्न—संन्यासग्रहण की आवश्यकता क्या है[1] ?

उत्तर—जैसे शरीर में शिर की आवश्यकता है, वैसे ही आश्रमों में संन्यासाश्रम की आवश्यकता है, क्योंकि इसके विना विद्या-धर्म कभी नहीं बढ़ सकता और दूसरे आश्रमों को विद्याग्रहण, गृहकृत्य और तपश्चर्यादि का सम्बन्ध होने से अवकाश बहुत कम मिलता है। पक्षपात छोड़कर वर्त्तना दूसरे आश्रमों को दुष्कर है। जैसा संन्यासी सर्वतोमुक्त होकर जगत् का उपकार करता है, वैसा अन्य आश्रमी नहीं कर सकता, क्योंकि संन्यासी को सत्यविद्या से पदार्थों के विज्ञान की उन्नति का जितना अवकाश मिलता है, उतना अन्य आश्रमी को नहीं मिल सकता, परन्तु जो ब्रह्मचर्य्य से संन्यासी होकर जगत् को सत्य-शिक्षा करके जितनी उन्नति कर सकता है, उतनी गृहस्थ वा वानप्रस्थ आश्रम करके संन्यासाश्रमी नहीं कर सकता।

प्रिय मनुष्य है, उसी का 'ब्राह्मण' नाम है।

यही मत ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में व्यक्त किया है—**'परन्त्वयं पूर्वविद्यावतां रागद्वेषरहितानां सर्वमनुष्योपकारबुद्धीनां संन्यासग्रहणाधिकारे भवति'** अर्थात् यह संन्यास का अधिकार उन्हीं को है जो पूर्ण विद्वान्, राग-द्वेषरहित तथा सब मनुष्यों पर उपकार की बुद्धि रखते हैं। संन्यासी का मुख्य कर्त्तव्य अध्यापन तथा उपदेश करना है। जो विद्वान् नहीं वह न अध्यापन कर सकता है, न उपदेश। इसलिए ग्रन्थकार ने 'पुर्णविद्यावताम्' के साथ 'नाल्पविद्यानाम्' का निर्देश भी आवश्यक समझा।

उत्तरोत्तर गौणिक उत्कृष्टता के आधार पर श्रेष्ठता के निदर्शनार्थ मनु ने लिखा है—

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥
ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु च कर्त्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ —मनु० १।९६-९७

अर्थ—समस्त स्थावर तथा जंगम भूतों में प्राणधारी जीव श्रेष्ठ हैं, प्राणधारी जीवों में बुद्धिजीवी पश्वादि श्रेष्ठ हैं, बुद्धिजीवी प्राणियों में मनुष्य श्रेष्ठ है, मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है, ब्राह्मणों विशिष्ठ विद्वान् श्रेष्ठ हैं, विशिष्ट विद्वानों में कर्त्तव्यनिष्ठ बुद्धि अथवा व्यवसायात्मिका बुद्धि रखनेवाले श्रेष्ठ हैं, कर्त्तव्यनिष्ठ बुद्धि रखनेवालों में तदनुकूल आचरण करनेवाले श्रेष्ठ हैं और आचरण करनेवालों में मोक्ष के अधिकारी ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ हैं। वस्तुतः इस स्तर तक पहुँचनेवाले ब्राह्मण संन्यास के अधिकारी हैं। ऐसे ही आप्त पुरुषों को संन्यास ग्रहण करके उपदेश करने का अधिकार है।

संन्यासग्रहण की आवश्यकता—ग्रन्थकार ने समाज में संन्यासी की तुलना शरीर में सिर से की है। अर्थात् शरीर में जो स्थान सिर का है, वही स्थान समाज में संन्यासी का है। चेतन तत्त्व के बिना जड़ पदार्थों में क्रिया नहीं हो सकती। पाँच भौतिक जड़ शरीर जो कुछ करता है वह चेतन आत्मा की प्रेरणा और उसके सहयोग से करता है। एक देश में स्थित आत्मा बुद्धि आदि करणों के द्वारा बाह्य अर्थों का ग्रहण करता है। शरीर की रचना उसकी इस प्रकार की प्रक्रिया में सहायक है। सारे शरीर में ज्ञानवहा नाड़ियों का जाल सूक्ष्मरूप में व्याप्त है जिसका सम्बन्ध करणों के केन्द्र मस्तिष्क के साथ-जुड़ा रहता

---

१. इस प्रश्न पर सविस्तर विचार न्यायदर्शन के ४।१।६८-६१ के वात्स्यायनभाष्य में भी किया है। भ० द०।

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—संन्यास-ग्रहण करना ईश्वर के अभिप्राय से विरुद्ध है, क्योंकि ईश्वर का अभिप्राय मनुष्यों की बढ़ती करने में है। जब गृहाश्रम नहीं करेगा, तो उससे सन्तान ही न होंगे। जब संन्यासाश्रम ही मुख्य है, और सब मनुष्य करें, तो मनुष्यों का मूलच्छेदन हो जाएगा।

उत्तर—अच्छा, विवाह करके भी बहुतों के सन्तान नहीं होते, अथवा होकर शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, फिर वह भी ईश्वर के अभिप्राय से विरुद्ध करनेवाला हुआ। जो तुम कहो कि **'यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः'**[1] यह किसी कवि का वचन है। अर्थ—'जो यत्न करने से भी कार्य्य सिद्ध न हो, तो इसमें क्या दोष, अर्थात् कोई भी नहीं'। तो हम तुमसे पूछते हैं कि गृहाश्रम से बहुत सन्तान होकर आपस में विरुद्धाचरण कर लड़ मरें, तो हानि कितनी बड़ी होती है? समझ के विरोध से लड़ाई बहुत होती है।

जब संन्यासी एक वेदोक्तधर्म के उपदेश से परस्पर प्रीति उत्पन्न करावेगा, तो लाखों मनुष्यों को बचा देगा। सहस्रों गृहस्थ के समान मनुष्यों की बढ़ती करेगा और सब मनुष्य संन्यास-ग्रहण कर ही नहीं सकते, क्योंकि सबकी विषयासक्ति कभी नहीं छूट सकेगी। जो-जो संन्यासियों के उपदेश से धार्मिक मनुष्य होगें, वे सब जानो संन्यासियों के पुत्र-तुल्य हैं।

[क्या संन्यासी कुछ भी कार्य न करें]

प्रश्न—संन्यासी लोग कहते हैं कि हमको कुछ कर्त्तव्य नहीं। अन्न-वस्त्र लेकर आनन्द में रहना। अविद्यारूप संसार से माथापच्ची क्यों करना? अपने को ब्रह्म मानकर सन्तुष्ट रहना। कोई आकर पूछे तो उसको भी वैसा ही उपदेश करना कि—'तू भी ब्रह्म है, तुझको पाप-पुण्य नहीं लगता, क्योंकि शीतोष्ण शरीर, क्षुधा-तृषा प्राण और सुख-दुःख मन का धर्म है। जगत् मिथ्या और जगत् के व्यवहार भी सब कल्पित अर्थात् झूठे हैं। इसलिए इसमें फँसना बुद्धिमानों का काम नहीं। जो कुछ पाप-पुण्य होता है, वह देह और इन्द्रियों का धर्म है आत्मा का नहीं" इत्यादि उपदेश करते हैं और आपने कुछ विलक्षण संन्यास का धर्म कहा है। अब हम किसकी बात सच्ची और किसकी झूठी मानें?

है। पैर में काँटा चुभने पर उसकी सूचना ज्ञानवहा नाड़ियों के द्वारा मस्तिष्क को मिलती है, परन्तु इन्द्रियों की भाँति मन-मस्तिष्क सभी जड़ हैं। इसलिए दर्द की अनुभूति चेतन आत्मा को होती है। दर्द होने पर आत्मा की प्रेरणा से हाथ काँटे को निकालने के लिए पैर की तरफ बढ़ता है। आँख काँटे को निकाल नहीं सकती तो रो पड़ती है। इन सब गतिविधियों का केन्द्र मस्तिष्क है जो सिर में स्थित है। जिस प्रकार शरीर का संचालन शिर के द्वारा होता है उसी प्रकार समाज का संचालन ब्राह्मण और ब्राह्मणों में भी श्रेष्ठ संन्यासी द्वारा होता है। वही समाज को ज्ञान देता है और सबको अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त करता है। जिस प्रकार सिर-मस्तिष्क में विकार आने पर शरीर की क्रियाएँ बिगड़ जाती हैं, उसी प्रकार संन्यासी के न रहने पर समाज कुमार्गगामी हो जाता है। जिस प्रकार शरीर के किसी भी अंग में कष्ट होने पर नेत्र रो देते हैं, उसी प्रकार समाज में किसी पर भी आपत्ति आने पर संन्यासी द्रवित हो उठता है।

जहाँ क्रम संन्यास में समाज की सेवा के लिए सामान्यतया २५ वर्ष का समय मिलता है वहाँ ब्रह्मचर्य से सीधे संन्यास की दीक्षा लेने पर प्रायः ७५ वर्ष का समय मिलता है। यह भी सत्य है कि चाहने पर भी अन्य आश्रमी संन्यासी के समान सत्यनिष्ठ, निष्पक्ष एवं निर्भीक नहीं हो सकते। व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं

---

१. द्र० —पञ्चतन्त्र, मित्रभेद कथा ४ में उद्धृत श्लोक २१७॥

https://t.me/arshlibrary

उत्तर—क्या उसको अच्छे कर्म भी कर्त्तव्य नहीं ? देखो—**'वैदिकैश्चैव कर्मभिः'** (६।७५), मनुजी ने वैदिक कर्म जो धर्मयुक्त सत्य कर्म हैं संन्यासियों को भी अवश्य करना लिखा है। क्या भोजन-छादनादि कर्म वे छोड़ सकेंगे ? जो ये कर्म नहीं छूट सकते, तो उत्तम कर्म छोड़ने से वे पतित और पापभागी नहीं होगें ? जब गृहस्थों से अन्न-वस्त्रादि लेते हैं, और उनका प्रत्युपकार नहीं करते, तो क्या वे महापापी नहीं होंगे ? जैसे आँख से देखना, कान से सुनना न हो, तो आँख और कान का होना व्यर्थ है, वैसे ही जो संन्यासी सत्योपदेश और वेदादि-सत्यशास्त्रों का विचार-प्रचार नहीं करते, तो वे ही जगत् में व्यर्थ भाररूप हैं और जो अविद्यारूप संसार से माथापच्ची क्यों करना आदि लिखते और कहते हैं, वैसे उपदेश करनेवाले ही मिथ्यारूप और पाप के बढ़ानेहारे पापी हैं।

[जीव और ब्रह्म एक नहीं]

जो कुछ शरीरादि से कर्म किया जाता है वह सब आत्मा ही का, और उसके फल का भोगनेवाला भी आत्मा है। जो जीव को ब्रह्म बतलाते हैं, वे अविद्या-निद्रा में सोते हैं, क्योंकि जीव अल्प[1], अल्पज्ञ और ब्रह्म सर्वव्यापक, सर्वज्ञ है। ब्रह्म नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभावयुक्त है, और जीव कभी बद्ध, कभी मुक्त रहता है। ब्रह्म को सर्वव्यापक, सर्वज्ञ होने से भ्रम वा अविद्या कभी नहीं हो सकती, और जीव को कभी विद्या और कभी अविद्या होती है। ब्रह्म जन्म-मरण-दुःख को कभी नहीं प्राप्त होता, और जीव प्राप्त होता है। इसलिए वह उनका उपदेश मिथ्या है।

सामाजिक दायित्वों के कारण उन्हें उतना समय भी नहीं मिल सकता।

सबके संन्यास लेने और इस कारण मनुष्यों की संख्या में कमी हो जाने का भय सर्वथा काल्पनिक (hypothetical) है। **'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया'** संन्यास के मार्ग पर चलना क्षुरे या उस्तरे की तीक्ष्ण धारा पर चलने के समान है। उसके लिए अर्हता की परीक्षा में विरला ही सफल हो पाता है। तीनों प्रकार की एषणाओं से मुक्त होना और यम-नियमों का पालन करते हुए निष्कलंक जीवन व्यतीत करना असंभव नहीं तो नितान्त कठिन अवश्य है।

जीव और ब्रह्म एक नहीं— इस विषय का विस्तृत विवेचन आगे सप्तम, नवम तथा एकादश समुल्लासों में किया जाएगा। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि क्योंकि 'जीव अल्प (एकदेशी) .....जीव प्राप्त होता है' इस प्रकार जीव और ब्रह्म के गुणों में समानता नहीं है, इसलिए वे दोनों एक नहीं हो सकते।

वैदिकैश्चैव कर्मभिः—यह पूरा श्लोक इस प्रकार है—

अहिंसयेन्द्रियासङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥

—मनु० ६।७५

अर्थ—(अहिंसा) सब भूतों से निर्वैर (इन्द्रिय+असंगैः) इन्द्रियों के विषयों का त्याग (वैदिकैः कर्मभिः) वेदोक्त कर्म और (उग्रैः तपश्चरणैः) अत्युग्र तपश्चरण से (इह) इस संसार में (तत्पदं साधयन्ति) मोक्षपद को पूर्वोक्त संन्यासी ही सिद्ध कर और करा सकते हैं, अन्य नहीं।

कुल्लूकभट्ट ने इस श्लोक का अर्थ करते हुए लिखा है—'काम्यकर्मता न प्रशस्तेति' अर्थात् संन्यासी के

---

1 अर्थात् एकदेशी।

https://t.me/arshlibrary

लिए सकाम कर्मों में प्रवृत्त होना निषिद्ध है। तृतीय समुल्लास के प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने स्वरचित श्लोक में कहा है—'संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये, धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः''—जो संसारी जनों के दुःखों को दूर करने से सुभूषित हैं, वेदविहित कर्मों में पराये उपकार करने में तत्पर रहते हैं, वे नर धन्य हैं। वेद के अनुसार तो ' अकर्मा दस्युः' जो निष्क्रिय है वह दस्यु है और समाज पर भाररूप है। आगे एकादश समुल्लास में लिखा है—''धर्म की प्रवृत्ति विशेष हो और जनहित करने में आवे, इसलिए यह संन्यास आश्रम है।'' संन्यासी के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने अनेकत्र उनके परोपकार में प्रवृत्त रहने का निर्देश किया है—

"संन्यासी को उचित है कि सारे जगत् में घूमे और सदुपदेश करे, यही उसका मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। पंचाशिख और शंकराचार्य का जीवन देखो। उन्हों ने सदा सदुपदेश ही किये हैं।"

'उपदेश कर अधर्म की निवृत्ति करना यह संन्यासियों का मुख्य कर्त्तव्य कर्म है। ..... मूढ़ लोग जनपद में दुराचार करके किसी आपत्ति में पड़ेंगे, सो उन्हें सदाचरण की ओर लगाना, यही चतुर्थाश्रमधारी ज्ञानी पुरुष का मुख्य काम है।"

पूना में प्रवचन करते हुए ग्रन्थकार ने कहा था—'संन्यासियों का मुख्य कर्म यही है कि सब गृहस्थ आदि आश्रमों को सब प्रकार से व्यवहारों का सत्य निश्चय करा अधर्म व्यवहारों को छुड़ा, सब संशयों का छेदन कर सत्यधर्मयुक्त व्यवहारों में प्रवृत्त कराया करें। ..... संसार को एक ओर रखके अध्ययन, उपदेश और लोक-कल्याण करने में जो सम्पूर्ण समय लगाया जावे, वह संन्यास है। गृहस्थियों को इन सब कार्यों को करने का समय नहीं मिलता और संन्यासियों को अवकाश बहुत मिलता है, बस यही मुख्य भेद है।"

"जो संन्यासी विद्याहीन, दण्ड-कमण्डलु ले भिक्षामात्र करंते फिरते हैं, जो कुछ भी वेदमार्ग की उन्नति नहीं करते, छोटी अवस्था में संन्यास लेकर घूमा करते हैं और विद्याभ्यास को छोड़ देते हैं, वे संन्यासी इधर-उधर, जल-स्थल, पाषाण आदि मूर्त्तियों का दर्शन-पूजन करते फिरते या विद्या जानकर भी मौन रहते, एकान्त देश में यथेष्ट खा-पीकर सोते पड़े रहते हैं और ईर्ष्या-द्वेष में फँसकर निन्दा-कुचेष्टा करके निर्वाह करते, काषाय वस्त्र और दण्ड-ग्रहणमात्र से अपने को कृतकृत्य समझते और सर्वोत्कृष्ट जानकर उत्तम कर्म नहीं करते, वैसे संन्यासी भी जगत् में व्यर्थ वास करते हैं और जो सब जगत् का हित साधते हैं, वे ठीक हैं।"

—श्रीमद्दयानन्दप्रकाश, पृष्ठ २१३

सन् १८७८ में प्रयाग में कुम्भ मेले में निष्क्रिय साधुओं को देखकर ग्रन्थकार ने कहा था—''परोपकार के बिना नर-जीवन मृगजीवन से उच्च नहीं है। सैकड़ों साम्प्रदायिक साधु लोग इस मेले में आये हुए हैं। ये गृहस्थों का नित्य आठ आने का पदार्थ खाकर जंगल में पड़े रहते हैं। सोचिए तो सही, इनमें और मृगों में भेद ही क्या है ? मृग भी तो इसी प्रकार किसानों के खेत नोचकर वनों में घुस जाया करते हैं। इस जीवन का लाभ ही क्या है ? यह तो पशु-पक्षियों को सहज ही उपलब्ध है।"

उसी वर्ष अमृतसर में उन्होंने निर्मले साधुओं से कहा था—"सहस्रों भारतवासी पेट-भर अन्न नहीं पाते, दाने-दाने के लिए तरसते हैं। भूख के मारे कुत्ते-बिल्ली की मौत मरते रहते हैं। देश की ऐसी शोचनीय दशा में धड़ाधड़ लोहेशाही और तूंबेशाही की क्या आवश्यकता है ? इस समय तो प्रत्येक को परिश्रम करके आजीविका चलानी चाहिए।"

—श्रीमद्दयानन्दप्रकाश, पृष्ठ ३५६

https://t.me/arshlibrary

[संन्यास-सम्बन्धी प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण]

प्रश्न—'संन्यासी सर्वकर्म-विनाशी' और अग्नि तथा धातु को स्पर्श नहीं करते —यह बात सच्ची है वा नहीं ?

उत्तर—नहीं। **'सम्यङ् नित्यमास्ते यस्मिन्, यद्वा सम्यङ् न्यस्यन्ति दुःखानि कर्माणि येन स संन्यासः, स प्रशस्तो विद्यते यस्य स संन्यासी'** जो ब्रह्म और [उसकी आज्ञा में नित्य सम्यक् उपविष्ट अर्थात् स्थित होना, वह संन्यास, और[1]] जिससे दुष्ट कर्मों का त्याग किया जाए, वह उत्तम स्वभाव जिसमें हो वह 'संन्यासी' कहाता है। इसमें सुकर्म का कर्त्ता और दुष्ट कर्मों का नाश करनेवाला 'संन्यासी' कहाता है।

[संन्यासी का होना आवश्यक है]

प्रश्न—अध्यापन और उपदेश गृहस्थ किया करते हैं, पुनः संन्यासी का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—सत्योपदेश सब आश्रमी करें और सुनें, परन्तु जितना अवकाश और निष्पक्षपातता संन्यासी को होती है, उतनी गृहस्थों को नहीं। हाँ जो ब्राह्मण हैं, उनका यही काम है कि पुरुष पुरुषों को और स्त्री स्त्रियों को सत्योपदेश किया और पढ़ाया करें। जितना भ्रमण का अवकाश संन्यासी को मिलता है, उतना गृहस्थ ब्राह्मणादिकों को कभी नहीं मिल सकता। जब ब्राह्मण वेदविरुद्ध आचरण करे, तब उनका नियन्ता संन्यासी ही होता है, इसलिए संन्यास का होना उचित है।

संन्यासी के लिए परोपकार कर्म को ग्रन्थकार कितना महत्त्व देते थे, यह उनके जीवन की एक घटना से पता चलता है। "सन् १८६८ में सोरों में एक दिन गंगाघाट पर एक साधु कमण्डलु आदि प्रक्षालन करके वस्त्र धोने में प्रवृत्त था। वह था एक घुटा हुआ मायावादी। दैवयोग से भ्रमण करते हुए स्वामीजी वहाँ जा पहुँचे। उसने स्वामीजी को सम्बोधन करके कहा—'इतने परमहंस, अवधूत होके आप खण्डन-मण्डनरूप प्रवृत्ति के जटिल जाल में क्यों उलझ रहे हो ? निर्लेप होकर क्यों नहीं विचरते ?' महर्षि मुस्कराकर बोले—'हम तो यह सब करके भी निर्लेप हैं। अब रही प्रवृत्ति की बात, सो शास्त्रीय प्रवृत्ति प्रजा-प्रेम से प्रेरित होकर सब ही को करनी उचित है।' साधुजी ने कहा—प्रजा-प्रेम का नया बखेड़ा क्यों डालते हो ? आत्मा से प्रेम करो जिसके लिए कि श्रुति पुकार रही है।' उस समय उसने याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद के भी वाक्य बोले। तब स्वामीजी ने पूछा—'महात्मन् ! आप किससे प्रेम करते हैं ?' साधु बोला—आत्मा से। स्वामीजी ने पूछा-वह प्रेममय आत्मा कहाँ है ? साधु ने कहा—वह राजा से लेकर रंक-पर्यन्त और हस्ती से लेकर कीटपर्यन्त ऊँच-नीच में सर्वत्र परिपूर्ण है। स्वामीजी बोले—जो आत्मा सबमें रमा हुआ है, क्या आप सचमुच उससे प्रेम करते हैं ? साधु ने उत्तर दिया—तो क्या हम मिथ्या वचन बोलते हैं ? तत्पश्चात् स्वामीजी ने गम्भीरता से कहा—'नहीं, आप उस महान् आत्मा से प्रेम नहीं करते। आपको अपनी भिक्षा की चिन्ता है, अपने वस्त्र उज्ज्वल करने का ध्यान है, अपने भरण-पोषण का विचार है। क्या आपने कभी उन बन्धुओं की भी चिन्ता की है जो लाखों की संख्या में भूख की चिता पर पड़े हुए रात-दिन, बारहों

---

१. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ सं० ३४-३५ में 'उसकी आज्ञा में उपविष्ट अर्थात् स्थित, और जिससे दुष्टकर्मों का त्याग किया जाए वह संन्यास और इस प्रकार कुछ आगे पीछे हैं। संस्करण २ में सम्भवतः आद्यन्त में 'और' शब्द के पाठ से लेखक-प्रमाद से प्रेस-कापी में, अथवा संशोधक के दृष्टिदोष को मुद्रण में छूट गया होगा। अतएव संस्करण २ से ३३ तक नहीं मिलता है।

https://t.me/arshlibrary

[जन-लाभार्थ संन्यासी एकत्र अधिक भी ठहरे]

प्रश्न—**'एकरात्रिं वसेद् ग्रामे'** इत्यादि वचनों से संन्यासी को एकत्र एक रात्रिमात्र रहना, अधिक निवास न करना चाहिए।

उत्तर—यह बात थोड़े-से अंश में तो अच्छी है कि एकत्र वास करने से जगत् का उपकार अधिक नहीं हो सकता और स्थानविशेष का अभिमान भी होता है, राग-द्वेष भी अधिक होता है, परन्तु जो विशेष उपकार एकत्र रहने से होता हो तो रहे। जैसे जनक राजा के यहाँ चार-चार महीने तक पञ्चशिखादि और अन्य संन्यासी कितने ही वर्षों तक निवास करते थे। और 'एकत्र न रहना' यह बात आज-कल के पाखण्डी, सम्प्रदायियों ने बनाई है, क्योंकि जो संन्यासी एकत्र अधिक रहेगा, तो हमारा पाखण्ड खण्डित होकर अधिक न बढ़ सकेगा।

महीने, भीतर-ही-भीतर जलकर राख हो रहे हैं ? उनके तन पर गले-सड़े, मैले-कुचैले चिथड़े लिपट रहे हैं। लाखों दीन-हीन ग्रामीण भेड़ों और भैंसों की भाँति गन्दे कीचड़ और कूड़ों के ढेरों से घिरे हुए गले-सड़े झोंपड़ों में दिन काट रहे हैं। महात्मन् ! यदि आत्मा से और विराट् आत्मा से प्रेम करते हैं तो अपने अंगों की भाँति उन्हें भी अपनाना होगा। अपनी भूख-प्यास की तरह उनकी भूख-प्यास की भी चिन्ता करनी होगी। भगवान् का सच्चा प्रेमी किसी से घृणा नहीं करता। यह सुनकर वह साधु स्वामीजी के चरणों पर गिर पड़ा।" इस प्रकार महर्षि के मत में संन्यासी का जीवन मानवता की सेवा के लिए होता है। वह घर-परिवार की देश-परदेश की सीमाओं को लाँघकर जन-जन की सेवा में प्रवृत्त होता है। ऐसा व्यक्ति ख़ाली कैसे बैठ सकता है ?

एकरात्रिम्—यह नारदपरिव्राजकोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के १४वें श्लोक का अंश है। इतना श्लोकांश अनेकत्र (गौतमधर्मसूत्र ३।११; संन्यासोपनिषद् अध्याय १; परमहंसपरिव्राजोपनिषद् आदि) में भी उपलब्ध है। 'एकरात्र' के स्थान में यहाँ 'एकरात्रि' पाठ में **'विभाषा समासान्तो भवति'** अथवा समासान्तविधिरनित्यः' परिभाषा से समासान्त 'टच्' का प्रभाव मानना चाहिए।

पूरा पाठ इस प्रकार है—

'एकरात्रं वसेद् ग्रामे नगरे पञ्चरात्रकम्'। —नारदपरिव्राजक
एकरात्रं वसेद् ग्रामे पत्तने तु दिनत्रयम् ।
पुरे दिनद्वयं भिक्षुर्नगरे पञ्चरात्रकम् ॥ —नारदपरिव्राजक० ४।२०-२१
ग्रामे एकरात्रं नगरे पञ्चरात्रं चतुरो मासान्वार्षिकान् वा नगरे वापि वसेत्।
—संन्यास० प्र० १
ग्राम एकरात्रं तीर्थे त्रिरात्रं पत्तने पञ्चरात्रं क्षेत्रे सप्तरात्रम्।—परमहंस०

यहाँ सर्वत्र 'पत्तन' से क़स्बे का ग्रहण होता है और 'पुर' से महानगर (जिसका विस्तार एक कोस से कम न हो) का। 'वर्षास्वेकत्र संवसेत्' इसमें सबमें एक मत हैं।

कालावधि में भिन्नता का कोई नियामक सिद्धान्त प्रतीत नहीं होता। वर्षा-सम्बन्धी निर्देश निर्विवाद है। सिद्धान्ततः परिव्राजक (परितः व्रजतीति परिव्राजकः) की गतिविधियों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता। वह स्वेच्छाचारी है—अपना कार्यक्रम बनाने में सर्वथा स्वतन्त्र। प्रकृत विषय में ग्रन्थकार का निर्देश सर्वथा संगत, तर्कप्रतिष्ठित तथा व्यवहार्य है। ग्रन्थकार द्वारा निर्दिष्ट

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

[संन्यासी को धनादि देना]

प्रश्न—**यतीनां काञ्चनं दद्यात्ताम्बूलं ब्रह्मचारिणाम् ।**
चौराणामभयं दद्यात् स नरो नरकं व्रजेत् ॥

इत्यादि वचनों का अभिप्राय यह है कि संन्यासियों को जो सुवर्ण दान दे, तो दाता नरक को प्राप्त होवे ।

स्थानविशेष के अभिमान तथा कालान्तर में राग-द्वेष की सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता । इसका संकेत नारदपरिव्राजकोपनिषद् (४।१५-१६) में किया है । तद्यथा—

द्विरात्रं न वसेद् ग्रामे भिक्षुर्यदि वसेत्तदा ।
रागादयः प्रसज्येरंस्तेनासौ नारकी भवेत् ॥

यह कोई सार्वभौम अथवा सार्वकालिक सिद्धान्त नहीं है । देश-काल-पात्र के अनुसार इसका ग्रहण किया जा सकता है ।

संन्यास के प्रसंग में मनुस्मृति का एक अन्य श्लोक विवेच्य है—

अनग्निरनिकेतः स्यात् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ —मनु० ६।४३

संस्कारविधि में इस श्लोक का अर्थ ग्रन्थकार ने इस प्रकार किया है—

वह संन्यासी (अनग्निः) आहवनीय आदि अग्नियों से रहित (अनिकेतः) स्वाभिमत घर के बिना (अन्नार्थं ग्रामाश्रयेत्) अन्न-वस्त्रादि के लिए ग्राम का आश्रय लेवे । (उपेक्षकः) दुर्जनों की उपेक्षा करता हुआ (असंकुसुकः) स्थिरबुद्धि (मुनिः) मननशील होकर (भावसमहितः) परमेश्वर में अपनी भावना का समाधान करता हुआ (स्यात्) विचरे ।

श्लोक में आये 'अनग्निः' शब्द पर **टिप्पणी करते हुए** ग्रन्थकार ने इस प्रकार टिप्पणी दी है—

"इसी पद से भ्रान्ति में पड़कर संन्यासियों का दाह नहीं करते और संन्यासी लोग अग्नि को नहीं छूते । यह पाप संन्यासियों के पीछे लग गया । यहाँ आहवनीय आदि संज्ञक अग्नियों को छोड़ना है, स्पर्श वा दाहकर्म छोड़ना नहीं है ।"

—संन्यासविधिः

संन्यासविधि—पूना में किये गये चौथे प्रवचन में ग्रन्थकार ने कहा था—"संन्यासी को आग को न छूना चाहिए, ऐसा भी कहते हैं, परन्तु मरने तक वे अपने जठराग्नि को कैसे छोड़ेंगे, क्योंकि वह तो उनमें बना ही रहेगा । आधुनिक 'विश्वेश्वरपद्धति' नामक ग्रन्थ से यह सब पाखण्ड फैला है ।"

अनिकेतो गृहशून्यः, असंकुसुकः स्थिरमतिः; मुनिर्ब्रह्ममननात् ।

कुल्लूकभट्ट

अज्ञानी लोग संन्यासियों के शव को धरती में समाधिस्थ कर देते हैं अथवा जल में प्रवाहित कर देते हैं । 'भस्मान्त ँ शरीरम्' (यजुर्वेद) के अनुसार शरीर को (चाहे किसी का हो) चिता में भस्म करना ही शास्त्रानुमोदित तथा विज्ञानसम्मत है ।

अनिकेतः—आत्मजिज्ञासु संन्यासी के लिए निवास के लिए किसी स्थान विशेष को अपना मानना उसमें

https://t.me/arshlibrary

उत्तर—यह बात भी वर्णाश्रमविरोधी, सम्प्रदायी और स्वार्थसिन्धुवाले पौराणिकों की कल्पी हुई है, क्योंकि संन्यासियों को धन मिलेगा, तो वे हमारा खण्डन बहुत कर सकेंगे, और हमारी हानि होगी, तथा वे हमारे अधीन भी न रहेंगे और जब भिक्षादि व्यवहार हमारे अधीन रहेगा, तो डरते रहेंगे। जब मूर्ख और स्वार्थियों को दान देने में अच्छा समझते हैं, तो विद्वान् और परोपकारी सन्यासियों को देने में कुछ भी दोष नहीं हो सकता। देखो—

विविधानि च रत्नानि विविक्तेषूपपादयेत्। —मनु० ११।६

नाना प्रकार के रत्न, सुवर्णादि धन 'विविक्त' अर्थात् संन्यासियों को देवें।

और वह श्लोक भी अनर्थक है, क्योंकि संन्यासियों को सुवर्ण देने से यजमान नरक को जावे, तो चाँदी, मोती, हीरा आदि देने से स्वर्ग को जाएगा।

प्रश्न—यह पण्डितजी इसका पाठ बोलते भूल गये। यह ऐसा है कि—**'यतिहस्ते धनं दद्यात्'** अर्थात् जो संन्यासियों के हाथ में धन देता है, वह नरक में जाता है।

उत्तर—यह भी वचन किसी अविद्वान् ने कपोलकल्पना से रचा है, क्योंकि जो हाथ में धन देने से दाता नरक को जाए, तो पग पर धरने वा गठरी बाँधकर देने से स्वर्ग को जाएगा। इसलिए ऐसी कल्पना मानने योग्य नहीं। हाँ, यह बात तो है कि जो संन्यासी योगक्षेम से अधिक रक्खेगा, तो चोरादि से पीड़ित और मोहित भी हो जाएगा, परन्तु जो विद्वान् है, वह अयुक्त व्यवहार कभी न करोगा, न मोह में फँसेगा, क्योंकि वह प्रथम गृहाश्रम मे अथवा ब्रह्मचर्य में सब भोग कर वा सब देख चुका है, और जो ब्रह्मचर्य से संन्यासी होता है, वह पूर्ण वैराग्ययुक्त होने से कभी नहीं फँसता।

मोह का उत्पादक बन जाता है। उसे तो जहाँ स्थान मिले वहीं निवास कर लेना चाहिए। सांख्य- दर्शन का एक सूत्र है—**'अनारम्भेऽपि परगृहे सुखी सर्पवत्'** (सां० ४।१२) साँप अपने रहने के लिए कोई स्थान नहीं बनाता। घूमता-फिरता रहता है। जहाँ अवसर पाता है, वहीं दूसरे के बनाये स्थान (बिल) में घुस पैठ कर अपना नियत समय निकाल देता है। अपने लिए मकान या मठ खड़ा करने की प्रवृत्ति संन्यासी को संसारी के स्थान पर ला पटकती है। फिर संन्यासी में और संसारी में कोई अन्तर नहीं रहता।

यतीनां काञ्चनं—लघुपाराशरी में पाठ इस प्रकार है—

यतये काञ्चनं दत्वा ताम्बूलं ब्रह्मचारिणे ।
चौरेभ्योप्यभयं दत्वा दातापि नरकं व्रजेत् ॥ —१।६०

अर्थात् संन्यासी को सुवर्ण आदिक धन का दान करने, ब्रह्मचारी को ताम्बूल पान देने और चोरों को अभयदान देने से दाता भी नकर को प्राप्त होता है।

विविधानि च रत्नानि—आजकल मनु० ११।६ में यह श्लोक इस प्रकार मिलता है—

धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् ।
वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥

'विविक्तेषूपपादयेत्' इस प्रमाण से ग्रन्थकार ने दो बातों की सिद्धि की है—

(१) 'विविक्त' शब्द से संन्यासी का ग्रहण होता है।

(२) संन्यासी को धन देना अनुचित नहीं है।

https://t.me/arshlibrary

[क्या श्राद्ध में संन्यासी का आना हानिकर है ?]

प्रश्न—लोग कहते है कि श्राद्ध में संन्यासी आवे वा जिमावे, तो उसके पितर भाग जाएँ और नरक में गिरें।

उत्तर—प्रथम तो मरे हुए पितरों का आना, और किया हुआ श्राद्ध मरे हुए पितरों को पहुँचना ही असम्भव है, और वेद और युक्तिविरुद्ध होने से मिथ्या है और जब आते ही नहीं, तो भाग कौन जाएँगे ? जब अपने पाप-पुण्य के अनुसार ईश्वर की व्यवस्था से मरण के पश्चात् जीव जन्म लेते हैं, तो उनका आना कैसे हो सकता है ? इसलिए यह भी बात पेटार्थी, पुराणी और वैरागियों की मिथ्या कल्पी हुई है। हाँ, यह तो ठीक है कि जहाँ संन्यासी जाएँगे, वहाँ यह मृतकश्राद्ध करना वेदादिशास्त्रों से विरुद्ध होने से पाखण्ड दूर भाग जाएगा।

प्रस्तुत श्लोक में आये 'विविक्त' शब्द का अर्थ कुल्लूकभट्ट ने अपनी 'मन्वर्थमुक्तावली' व्याख्या में इस प्रकार किया है—'पुत्रकलत्राद्यवसक्तेषु' अर्थात् पुत्र, पौत्र, कलत्र आदि में जिनकी आसक्ति नहीं उनमें। यहाँ प्रकारान्तर से, किन्तु स्पष्टतः, 'विविक्त' पद से संन्यासी का ग्रहण किया है। किसी गृहस्थ के विषय में इस प्रकार की अनासक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। सन् १८२५ में हाटन ने बड़े परिश्रम से लन्दन में मनुस्मृति का प्रकाशन कराया और उसपर अंग्रेजी में टीका स्वयं लिखी। उस टीका में 'विविक्त' पद पर अपनी टीका में उन्होंने लिखा—'Detached from the world' अर्थात् सांसारिक व्यवहार से उपरत=असक्त। यह गुण संन्यासी में ही घट सकता है। श्री हाटन का अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—'Let every man , according to his ability, give wealth to Brahmanas, learned in scriptures detached from the world. Such a giver shall attain heaven after death.' संस्कृत तथा अंग्रेजी दोनों व्याख्याओं से 'विविक्त' का संन्यासी अर्थ ही प्रसंगतः युक्तियुक्त है। श्लोक से यह भी स्पष्ट है कि ऐसे संन्यासियों को धन देना विहित ही नहीं, उचित भी है।

संवत् १९६२ (सन् १८३५) में छपी मनुस्मृति तथा कुल्लूकभट्ट की मन्वर्थमुक्तावली टीका सम्पादन-संशोधन काशी राजकीय संस्कृत महाविद्यालय के अध्यापक पं० नेने गोपालशास्त्री ने किया था। उसमें परिशिष्ट के रूप मे उन सैकड़ों श्लोकों की सूची दी गयी है जो मनु के नाम से अन्य ग्रन्थों में मिलते हैं, परन्तु वर्त्तमान में उपलब्ध मनुस्मृति में नहीं मिलते। साथ ही अनेक ऐसे श्लोकों का भी पता दिया है जिनमें पाठ भेद है। इस प्रकार समय-समय पर मनुस्मृति में श्लोक मिलाये भी जाते रहे हैं और निकाले भी जाते रहे हैं। बम्बई, कलकत्ता और अन्यत्र प्रकाशित मनु के विभिन्न संस्करणों के श्लोकों में भी न्यूनाधिक्य है। ऊपर दिये ११।६ श्लोक के विषय में उक्त हाटन के अनुसार यह श्लोक कलकत्ता संस्करण में है, बम्बई संस्करण में नहीं—'Only to be found in the Calcutta edition. It is not in the Bombay copy.' इतना ही नहीं वह क्षुब्ध होकर लिखता है कि क्या हम यह परिणाम निकालें कि यह एक पवित्र धोखा है—'Are we to conclude it is a pious fraud.'

कुछ विद्वानों का कहना है कि यहाँ 'विविक्त' पद से ब्राह्मण का ग्रहण करना चाहिए, संन्यासी का नहीं। इस कल्पना का प्रत्याख्यान विवेच्य श्लोक से पहले (११।४) आये श्लोक से हो जाता है जो इस प्रकार है—

सर्वरत्नानि राजा तु यथार्हं प्रतिपादयेत् ।
ब्राह्मणान् वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणाम् ॥

इसमें स्पष्ट कह दिया है कि यज्ञ करानेवाले वेद के विद्वान् ब्राह्मणों को राजा यथायोग्य सब प्रकार

https://t.me/arshlibrary

[ब्रह्मचर्य से संन्यास लेने का अधिकारी]

प्रश्न—जो ब्रह्मचर्य से संन्यास लेवेगा, उसका निवाह कठिनता से होगा और काम का रोकना भी अति कठिन है, इसलिए गृहाश्रम, वानप्रस्थ होकर जब वृद्ध हो जाए, तभी संन्यास लेना अच्छा है।

उत्तर—जो निर्वाह न कर सके, इन्द्रियों को न रोक सके, वह ब्रह्मचर्य से संन्यास न लेवे, परन्तु जो रोक सके, वह क्यों न लेवे ? जिस पुरुष ने विषय के दोष और वीर्य-संरक्षण के गुण जाने हैं, वह विषयासक्त कभी नहीं होता और उनका वीर्य विचाराग्नि का इन्धनवत् है, अर्थात् उसी में व्यय हो जाता है। जैसे वैद्य और औषधों की आवश्यकता रोगी के लिए होती है, वैरी नीरोगी के लिए नहीं। इसी प्रकार जिस पुरुष वा स्त्री का विद्या, धर्मवृद्धि और सब संसार का उपकार करना ही प्रयोजन हो, वह विवाह न करे, जैसे पञ्चशिखादि पुरुष और गार्गी आदि स्त्रियाँ हुई थीं। इसलिए संन्यासी का होना अधिकारियों को उचित है और जो अनधिकारी संन्यास ग्रहण करेगा, तो आप डूबेगा औरों को भी डुबावेगा।

[सम्राट् और परिव्राट् की तुलना]

जैसे 'सम्राट्' चक्रवर्ती राजा होता है, वैसे 'परिव्राट्' संन्यासी होता है। प्रत्युत राजा अपने देश में वा स्वसम्बन्धियों में सत्कार पाता है, और संन्यासी सर्वत्र पूजित होता है—

विद्वत्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन ।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ॥

—यह चाणक्यनीतिशास्त्र का श्लोक है।

विद्वान् और राजा की कभी तुल्यता नहीं हो सकती, क्योंकि राजा अपने राज्य ही में मान और सत्कार पाता है, और विद्वान् सर्वत्र मान और प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है।

के रत्न देवे। इस श्लोक में गृहस्थ ब्राह्मणों को दिये जानेवाले धन का निर्देश कर दिया गया, अतः इसके आगे ११।६ में परिशेषन्याय से संन्यासियों की ही दक्षिणा का विधान किया गया है।

यदि यह आग्रह हो कि आजकल के उपलभ्यन पाठ में 'विप्राः' पद है जिसका अर्थ ब्राह्मण है तो हमारा यह कहना है कि ब्राह्मणपरिव्राजकन्याय (ब्राह्मण संन्यास लेने पर भी ब्राह्मण बना रहता है) से 'विविक्तेषु' विशेषण के बल से 'विप्राः' शब्द का अर्थ 'संन्यासिनः' ही होगा। दूसरे, जिस आधार पर शंकराचार्य आदि मठाधीशों एवं अभ्यागत साधुओं को धनादि का दान किया जाता है, उसी आधार पर संन्यासी दान के पात्र क्यों नहीं ?

कुछ लोगों की मान्यता है कि संन्यासी को धातु का स्पर्श नहीं करना चाहिए। प्रथम संस्करण में ग्रन्थकार ने इसका उत्तर बड़े विनोदपूर्ण ढंग से दिया है। उन्होंने लिखा है—"धातुओं के स्पर्श के बिना किसी का निर्वाह नहीं हो सकता। 'भू' आदि धातुओं का स्पर्श भाषा वा संस्कृत बोलने में अवश्य ही करेगा और वीर्यादि सात धातुओं का भी स्पर्श निश्चित होगा। और सुवर्णादिक जितनी भी धातु हैं उनका भी स्पर्श होगा।" मुण्डन कराने में उस्तरे के रूप में भी धातु का स्पर्श बना रहेगा।

नैष्ठिक ब्रह्मचर्य—'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्'—संस्कारविधि में इसकी व्याख्या में ग्रन्थकार ने लिखा है—"यह भी ब्राह्मणग्रन्थ का वचन है। यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त होकर, विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से यथावत् उठ जावे, पक्षपातरहित होकर सबका उपकार

https://t.me/arshlibrary

[चारों आश्रमों के कर्त्तव्यों का संक्षेप से कथन]

इसलिए विद्या पढ़ने, सुशिक्षा लेने, और बलवान् होने आदि के लिए **ब्रह्मचर्य;** सब प्रकार के उत्तम व्यवहार सिद्ध करने के अर्थ **गृहस्थ;** विचार, ध्यान और विज्ञान बढ़ाने, तपश्चर्या करने के लिए **वानप्रस्थ;** और वेदादि सत्यशास्त्रों का प्रचार, धर्म-व्यवहार का ग्रहण और दुष्ट-व्यवहार के त्याग, सत्योपदेश, और सबको निःसन्देह करने आदि के लिए **संन्यासाश्रम** है, परन्तु जो इस संन्यास के मुख्य धर्म सत्योपदेशादि नहीं करते, वे पतित और नरकगामी हैं। इसरो संन्यासियों को उचित है कि सत्योपदेश, शङ्का-समाधान, वेदादि-सत्यशास्त्रों का अध्यापन, और वेदोक्त धर्म की वृद्धि प्रयत्न से करके साब संसार की उन्नति किया करें।

[वैरागी, गुसाई खाखी आदि संन्यासी नहीं]

प्रश्न—जो संन्यासी से अन्य साधु, वैरागी, गुसाई, खाखी आदि हैं, वे भी संन्यासाश्रम में गिने जाएँगे वा नहीं ?

करने की इच्छा होवे, और जिसको दृढ़-निश्चय हो जावे कि मैं मरणपर्यन्त यथावत् संन्यासधर्म का पालन कर सकूँगा तो वह न गृहाश्रम करे, न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्य को पूर्ण करके ही संन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवे।"

इस विषय में प्रथम संस्करण में उन्होंने लिखा था—'जिसको भोजन करने की इच्छा न होय उसको कोई बल से कहे कि तू अवश्य भोजन कर, तो वह बिना क्षुधा के भोजन कैसे करेगा ? किन्तु कभी न करेगा। ऐसे ही जिसको विषयभोग और संसार के व्यवहारों की इच्छा नहीं, वह विवाह और संसार के व्यवहार कैसे करेगा ? कभी न करेगा। संसार के जनों से कुछ प्रयोजन न होने से सबके मुख पर सत्य ही कहेगा। इस वास्ते जिस पुरुष को विद्या, ज्ञान, वैराग्य, पूर्ण जितेन्द्रियता होय और विषय-भोग की इच्छा न होय उसको संन्यास लेना उचित है।"

नरसिंहपुराण (५८।३७) में लिखा है-

यस्यैतानि सुगुप्तानि जिह्वोपस्थोदरं गिरा ।
संन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान् ॥

अर्थात् जिसके जिह्वा, उपस्थ, उदर, वाणी सुरक्षित हैं —वश में है वह ब्रह्मचारी ब्राह्मण विवाह न करके संन्यास ले ले। पूना में प्रवचन (४) करते हुए ग्रन्थकार ने कहा था—"जिस पुरुष को विषयसक्ति की इच्छा नहीं, भोगेच्छा भी नहीं तो उसे नया संन्यास लेने की आवश्यकता नहीं। वह तो बना-बनाया संन्यासी है।"

इसी प्रवचन में उन्होंने कहा था— [इन दिनों संन्यासियों पर बड़े-बड़े जुल्म —अत्याचार हो रहे हैं, अर्थात् संन्यासियों को वन में रहना चाहिए। एक ही बस्ती में तीन दिन से अधिक न रहे इत्यादि प्रतिबन्ध हैं।

पाप का नाश केवल दण्ड से नहीं किया जा सकता। लोगों की वृत्तियों को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करना आवश्यक है। धर्मोपदेश द्वारा यह काम संन्यासी करता है। पाप का निवारण करना राजा का कर्त्तव्य है। इस काम में राजा संन्यासियों की सहायका लेता है। इसलिए धर्मोपदेश के लिए संन्यासियों के विचरण तथा योगक्षेम की समुचित व्यवस्था करना राजा का दायित्व है। इस दायित्व को राजा अपने ऊपर लेगा तो यह देखना भी उसका कर्त्तव्य होगा कि संन्यासी के रूप में विचरण करनेवाले उपयुक्त प्रकार के धर्मोपदेशक हैं या नहीं। ऐसी अवस्था में संन्यास ग्रहण करनेवालों को राज्य की स्वीकृति प्राप्त

https://t.me/arshlibrary

उत्तर—नहीं, क्योंकि उनमें संन्यास का एक भी लक्षण नहीं। वे वेदविरुद्ध मार्ग में प्रवृत्त होकर वेद से अधिक अपने सम्प्रदाय के आचार्यों के वचन मानते, और अपने ही मत की प्रशंसा करते, मिथ्या-प्रपञ्च में फँसकर अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को अपने-अपने मत में फँसाते हैं। सुधार करना तो दूर रहा, उसके बदले में संसार को बहकाकर अधोगति को प्राप्त कराते, और अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं। इसलिए इसको संन्यासाश्रम में नहीं गिन सकते, किन्तु ये स्वार्थाश्रमी तो पक्के हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं। जो स्वयं धर्म में चलकर सब संसार को चलाते हैं, जो आप और सब संसार को इस लोक अर्थात् वर्त्तमान जन्म में, परलोक अर्थात् दूसरे जन्म में स्वर्ग अर्थात् सुख का भोग करते-कराते हैं, वे ही धर्मात्माजन संन्यासी और महात्मा हैं।

यह संक्षेप से संन्यासाश्रम की शिक्षा लिखी। अब इसके आगे 'राजप्रजाधर्म-विषय' लिखा जाएगा।

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषा-

विभूषिते वानप्रस्थसंन्यासाश्रमविषये पञ्चमः

समुल्लासः सम्पूर्णः ॥५॥

करनी होगी। संन्यास के लिए स्वीकृति देने से पूर्व राज्याधिकारी देखेंगे कि प्रार्थी ने पहले आश्रमों में अपने कर्त्तव्यों का यथावत् पालन किया है या नहीं। और संन्यासी के लिए अपेक्षित ज्ञान और तदनुकूल आचरण उसका हैं या नहीं। सब प्रकार से पात्र सिद्ध होने पर ही राज्याधिकारी उसे संन्यासी बनने की अनुमति प्रदान करेंगे। कालान्तर में संन्यासाश्रम की मर्यादा का उल्लंघन करनेवाला दण्डनीय होगा। प्राचीन काल में ऐसी व्यवस्था रही है। उदाहरणार्थ—चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में स्पष्ट लिखा है कि जो व्यक्ति संन्यास लेना चाहे उसे इसके लिए राज्याधिकारियों से स्वीकृति लेनी होगी—

पुत्रदारमप्रतिविधाय प्रव्रजतः पूर्वःसाहसदण्डः ॥३६॥ स्त्रियं च प्रव्राजयतः ॥३७॥ लुप्तव्यवायः प्रव्रजेदापृच्छ्य धर्मस्थान् ॥३८॥ —कौटिल्य अर्थशास्त्र २।१।१६

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

अथ षष्ठसमुल्लासारम्भः

अथ राजधर्मान् व्याख्यास्यामः

[क्षत्रिय का कर्त्तव्य—सबकी रक्षा]

राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः ।
सम्भवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥१॥
ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम् ॥२॥ —मनु० ७।१,२

(अथ) वर्णाश्रमव्यवस्था का विवेचन करने के अनन्तर (राजधर्मान् व्याख्यास्यामः) राजधर्मों की व्याख्या करेंगे । 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में इस विषय को प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है 'अथ राजप्रजाधर्मविषयः संक्षेपतः' । स्वयं भगवान् मनु ने इस विषय का प्रवर्त्तन 'राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि' कहकर किया है ।

प्रत्येक शब्द किसी अर्थ का वाचक या पदार्थ का द्योतक होता है । संस्कृत के शब्दों की यह विशेषता है कि उनका अर्थ उनके निजी स्वरूप में निहित होता है । वे सभी भावपूर्ण तथा किसी विचार का प्रतीक अथवा मूर्त्तरूप होते हैं और अपने विशिष्ट अर्थ के कारण ही किसी पदार्थविशेष के लिए प्रयुक्त होते हैं । जिस शब्द का जो अर्थ विवक्षित होता है, वह उसपर बलात् आरोपित नहीं होता, अपितु प्रकृति-प्रत्यय के योग से उसके मूलरूप से निःसृत होता है । वस्तुतः हमारे यहाँ 'नीति' और 'धर्म' शब्द का इतने गम्भीर अर्थों में प्रयोग किया गया है कि संसार की अन्य किसी भी भाषा में उनके पर्यायवाची शब्द नहीं मिलते । केलिफ़ोर्निया यूनिवर्सिटी के एक प्रोफेसर ने संस्कृत के कालजयी ग्रन्थ 'पञ्चतन्त्र' का अंग्रेजी में अनुवाद करते समय उसकी भूमिका में लिखा था—"Western scholarship should be ashamed that it has not been able to find an equivalent of the Sanskrit word 'Niti' (नीति). At best it can be paraphrased as 'wise conduct of life.'' जिन दिनों मौलाना अबुलकलाम आज़ाद तथा प्रोफेसर हुमाँयु कबीर क्रमशः भारत के शिक्षामन्त्री तथा शिक्षासचिव थे, तब १ अक्तूबर १९५५ को भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय की ओर से देशभर के शिक्षामन्त्रियों तथा विश्वविद्यालयों के कुलपतियों के नाम भेजे गये एक परिपत्र में सभी स्कूलों व कालिजों में धर्मशिक्षा को एक अनिवार्य विषय बनाने की प्रेरणा करते हुए कहा गया था—"There is a system of values which is recognised and respected. Without a common system of values no society can flourish and in fact the individuals constituing it tend to languish. The Sanskrit term Dharma (धर्म) brings out this essential characteristic. It is this which binds or holds together the members of a community.''

https://t.me/arshlibrary

अब मनुजी महाराज ऋषियों से कहते हैं कि—चारों वर्ण और चारों आश्रमों के व्यवहार-कथन के पश्चात् राजधर्मों को कहेंगे कि जिस प्रकार का राजा होना चाहिए और जैसे इसके होने का सम्भव तथा जैसे इसको परमसिद्धि प्राप्त होवे, उसको सब प्रकार कहते हैं ॥१॥

जैसा परम् विद्वान् ब्राह्मण होता है, वैसा विद्वान्, सुशिक्षित होकर क्षत्रिय को योग्य है कि इस सब राज्य की रक्षा न्याय से यथावत् करे ॥२॥ उसका प्रकार यह है—

इस परिपत्र के अन्तिम वाक्य में धर्म शब्द की जो व्याख्या की गयी है वह मानो महाभारत के इस श्लोक के पूर्वार्द्ध का शब्दानुवाद है—

धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स वै धर्म इति स्मृतः ॥

अरबी, फारसी व अंग्रेजी के पक्षधर इन महारथियों को धर्म का आश्रय तभी लेना पड़ा जब उन्हें अपनी भावनाओं के अनुरूप अभिव्यक्ति के लिए अन्य भाषाओं में कोई उपयुक्त शब्द नहीं मिला। धर्म शब्द का योगार्थ है—जो धारण करे। राजनीतिक नियम राष्ट्र को धारण करते हैं, इसलिए वे धर्म हैं। वस्तुतः अंग्रेजी में Caper law शब्द का जो अर्थ है वही वेद के धर्म शब्द का है। अंग्रेजी के सर्वाधिक प्रामाणिक कोश O.E.D. (Oxford English Dictionary) में Caper law शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया है—'The body of rules, whether formally enacted as binding on its members or subjects.' उधर आप्टे ने अपने संस्कृत-इंगलिश कोश में धर्म के law, ordinance, statute अर्थ दिये हैं। इस प्रकार धर्म और लॉ पर्यायवाची ठहरते हैं। हमारे सब धर्मसूत्रों, स्मृतियों आदि में सर्वत्र राज्य-नियमों के लिए धर्मशब्द ही प्रयुक्त हुआ है और जैसाकि हम आगे देखेंगे, वेद में निर्दिष्ट सभा और समिति राज्य की नियामक विधानसभाएँ (Legislatures) हैं।

संस्कृत के प्रामाणिक कोश 'वाचस्पत्यम्' तथा 'शब्दकल्पद्रुम' आदि के अनुसार **'धृ धारणे धातोः मन् प्रत्ययः। धरति लोकान् धियते वा प्रजाभिः इति धर्मः।' व्युत्पत्ति के अनुसार 'धृञ् धारणे (भ्वादि) धातोः' 'अर्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्ष्वभायावापदियक्षिनीभ्यो मन्' (उणादि० १।१४०), धियते सुखप्राप्तये सेव्यते स धर्मः, पक्षपातरहितो न्यायः** (उणादिव्याख्यायाम्)।

सत्यार्थप्रकाश के 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने लिखा है—"जो पक्षपातरहित, न्यायाचरण, सत्यभाषणादियुक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है उसको धर्म और जो पक्षपातसहित, अन्यायाचरण, मिथ्याभाषणादि ईश्वराज्ञाभंग वेदविरुद्ध है, उसको अधर्म मानता हूँ।"

'धर्म का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए, अथवा राज्य को धर्मनिरपेक्ष होना चाहिए'—यह उद्घोष 'धर्म' के गूढार्थ को न समझने के कारण किया जाता है। धर्म के जिस स्वरूप का निर्देश ग्रन्थकार ने ऊपर किया है, उसकी उपेक्षा के कारण ही आज राजनीति दूषित हो गयी है और समाज पापाचार में ग्रस्त हो गया है। यदि पुरुष में नारी के गुण आ जाएँ तो वह देवता बन जाता है। इसके विपरीत यदि नारी में पुरुष के गुण आ जाएँ तो वह कुलटा हो जाती है। इसी प्रकार यदि राजनीति में धर्म आ जाए तो वह पवित्र हो जाती है और इसके विपरीत यदि धर्म में राजनीति आ जाए तो वह मनुष्य के लिए भयानकरूप से घातक हो जाता है। जिसे आज राजनीति कहा जाता है, प्राचीन भारतीय वाङ्मय में और यहाँ उसे राजधर्म के नाम से अभिहित किया है।

यहाँ 'राजधर्म' में तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में 'राजप्रजाधर्म' में धर्म शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थों में हुआ है। कर्त्तव्य, औचित्य, व्यवहार, आचरण इन सभी भावों को इस प्रयोग में सन्निविष्ट किया गया

https://t.me/arshlibrary

[तीन सभाओं का निर्माण]

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि ॥

—ऋ० मं० ३। सू० ३८ । मं० ६

है । जैसे—राजा के बिना प्रजा की और प्रजा के बिना राजा की कल्पना नहीं की जा सकती, वैसे ही कर्त्तव्य के बिना अधिकार की और अधिकार के बिना कर्त्तव्य का व्यवहार नहीं हो सकता । इसलिए इस समुल्लास में राजा और प्रजा, उनसे सम्बन्धित सभा-समितियों के कर्त्तव्याधिकारों, प्रशासनिक स्तर पर विभिन्न राजकीय विभागों, राज्य की रक्षार्थ सेना, वित्तीय आवश्यकताओं, न्यायालयों, विदेशनीति आदि सभी विषयों का विस्तृत विवेचन हुआ है ।

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (मनु० २।६), 'वेदो धर्ममूलम्' (गौतमधर्मसूत्र १।१।२), **'स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः'** (मनु० २।७), **'वेदाः प्रमाणं लोकानाम्'** (महा० शान्ति० २७०।१)— सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल है और वेद सम्पूर्ण ज्ञान का भण्डार है ।

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥

—मनु० १२।१००

वेदशास्त्रविद् अर्थात् वेद को जाननेवाला व्यक्ति सैनापत्य अर्थात् सेनाओं का संगठन और संचालन कर सकता है, दण्डनेतृत्व अर्थात् न्यायव्यवस्था की स्थापना कर सकता है और सर्वलोकाधिपत्य अर्थात् सारे भूमण्डल के चक्रवर्ती राज्य को व्यवस्थित कर सकता है । मनु के इस श्लोक का तात्पर्य है कि वेद में राजनीति का सम्पूर्ण ज्ञान दिया गया है । इस प्रकार राजधर्म वेदमूलक है । प्रत्येक वेदमन्त्र की देवता है । **'या तेनोच्यते सा देवता'**—मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय ही उसकी देवता है । यजुर्वेद के २३वें अध्याय के मन्त्र संख्या २०, २२, २३, ३१ तो साक्षात् 'राजप्रजे' दैवत हैं । मन्त्र संख्या २१ की देवता न्यायाधीश, २८ की प्रजापति, ३० व ३२ की राजा, ३४ व ३५ की प्रजा, ३८ की सभासद तथा ४० से ४४ तक की प्रजा है । **'गणानां त्वा'** इस १६वें मन्त्र की देवता 'गणपति' (राष्ट्रपति) है, जिसमें राष्ट्रपति पद की अर्हताओं का वर्णन किया है ।

बिना शासक के शासन नहीं चल सकता । ब्रह्माण्ड का व्यवस्थित संचालन इसीलिए हो रहा है कि उसका एक संचालक है जिसको परमेश्वर आदि नामों से पुकारा जाता है । **'भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्'** (यजु:० २५।१०)—इस अखिल ब्रह्माण्ड का अधिपति प्रजापति वा राजा एक ही है । अनेक होते तो सुचारु रूप से संचालन न हो पाता । ब्रह्म का लक्षण करते हुए बादरायण (महर्षि वेदव्यास) ने वेदान्त में लिखा है—**'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च'** (४।४।१७) । इस सूत्र के भाष्य में आचार्य शंकर ने लिखा है कि जगत् की उत्पत्त्यादि तो नित्यसिद्ध ईश्वर का अधिकार है । यह कार्य तो ईश्वर मुक्तात्माओं के अधिकार में भी नहीं देता । कारण ? जीवात्मा अनेक हैं । यदि उन्हें उत्पत्यदि का अधिकार दे दे तो उनमें से कोई सृष्टि को उत्पन्न करना चाहेगा और कोई उसका संहार करना चाहेगा । इस प्रकार परस्पर विरोध के कारण सृष्टि के कार्य में बाधा पड़ेगी । इसलिए समस्त ब्रह्माण्ड में परमेश्वर का एकछत्र राज्य है । वह परमात्मा अपनी महिमा से, अपने असीम सामर्थ्य और उच्चतम गुणों के कारण इस जगत् का एकमात्र राजा है—**'महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव'** (यजु:० २५।११) ।

'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे'—जिस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक सम्राट् (परमेश्वर) का शासन

https://t.me/arshlibrary

ईश्वर उपदेश करता है कि (राजाना) राजा और प्रजा के पुरुष मिलके (विदथे) सुख-प्राप्ति और विज्ञानवृद्धिकारक राजा-प्रजा के सम्बन्धरूप व्यवहार में (त्रीणि सदांसि) तीन सभा अर्थात् विद्यार्यसभा, धर्मार्यसभा, राजार्यसभा नियत करके (पुरूणि) बहुत प्रकार के (विश्वानि) समग्र प्रजा-सम्बन्धी मनुष्यादि प्राणियों को (परिभूषथः) सब ओर से विद्या, स्वातन्त्र्य, धर्म, सुशिक्षा और धनादि से अलंकृत करें।

है—**'सम्राडसि'** (यजुः० ५।३२) वैसे ही मनुष्यसमाज में अपने-अपने सीमित क्षेत्र में शासन करनेवाले सर्वोच्च व्यक्ति को उसके गुणों के कारण राजा नाम से अभिहित किया जाता है।

ऋग्वेद ५।६६।६ में शासन को 'बहुपाय्य' अनेकों की सहायता से चलनेवाला बताया है। मनुस्मृति (७।५५) के आधार पर ग्रन्थकार ने लिखा है—'विशेष सहाय के बिना जो सुगम कर्म है वह भी एक के करने में कठिन हो जाता है। जब ऐसा है तो महान् राज्यकर्म एक से कैसे हो सकता है? इसलिए एक को राजा और एक की बुद्धि पर राज्य के कार्य का निर्भर करना बहुत ही बुरा काम है।" इसलिए—

त्रीणि सदांसि—ग्रन्थकार ने इस वेदमन्त्र को उद्धृत करके राज्यकार्य का संचालन करने के लिए तीन सभाएँ नियुक्त किये जाने का निर्देश किया है। मन्त्र में आये 'राजाना' तथा 'भूषथः' शब्दों से स्पष्ट है कि इन सभाओं की नियुक्ति का अधिकार केवल राजा को नहीं है। 'राजाना' शब्द द्विवचनान्त है—**'द्विवचनस्याकारादेशश्छान्दसः'**। क्रियापद 'भूषथः' भी द्विवचनान्त है। इस प्रकार यहाँ 'राजानौ' पद से राजा और प्रजा दोनों का ग्रहण होता है। तदनुसार ही इस मन्त्र का अर्थ करते हुए 'राजा और प्रजा के पुरुष मिलके' लिखा है। इसका तात्पर्य यह है कि ये तीन सभाएँ राजा द्वारा मनोनीत (nominated) न होकर संयुक्तरूप से राजा और प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा नियुक्त होंगी। प्रजा के पूर्ण सहयोग के बिना शासनतन्त्र सुचारु रूप से नहीं चल सकता।

वर्त्तमान में राज्यव्यवस्था या शासनतन्त्र के तीन अंग, विधायिका (Legislature), कार्यपालिका (Executive) तथा न्यायपालिका (Judiciary) माने जाते हैं। विधायिका का काम शाशन को व्यवस्थितरूप से चलाने के लिए अपेक्षित विधि-विधान तैयार करना, कार्यपालिका का काम निर्धारित विधि-विधान के अनुसार कार्य करना तथा न्यापालिका का काम दोनों को नियन्त्रित करना है। लोकतन्त्र में 'तन्त्र' का आधार लोक होता है। जब लोकवाणी की अवहेलना करके 'तन्त्र' प्रबल हो जाता है तो मूल्यों का संकट उत्पन्न हो जाता है। ग्रन्थकार ने **'त्रीणि सदांसि'** का अर्थविद्यार्य सभा, धर्मार्यसभा तथा राजार्यसभा किया है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इन्हें 'राजार्यसभा, आर्यविद्यासभा तथा आर्यधर्मसभा' नामों से अभिहित किया है। महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने ऋ०भा०भू० के स्वसम्पादित संस्करण में वहाँ टिप्पणी में लिखा है—

"उत्तरत्र 'आर्यविद्यासभा' 'आर्यधर्मसभा'पदप्रयोगदर्शनाद् भाषायां च 'आर्यराजसभा' पदनिर्देशाच्चेहापि 'आर्यराजसभा' इत्येव पाठो युक्तो भवेत्। सत्यार्थप्रकाशे षष्ठसमुल्लासे चैतन्मन्त्रव्याख्यायां 'राजार्यसभा विद्यार्यसभा धर्मार्यसभा' प्रयोगदर्शनादिह 'आर्यविद्यासभा-आर्यधर्मसभा' पदयोः स्थाने 'विद्यार्यसभा धर्मार्यसभा' पाठो वानुसन्धेयः। वयन्तूभयथापि प्रयोगदर्शनाद् आर्याणां राजा, आर्याणां विद्या, आर्याणां धर्म इत्येवं षष्ठीसमासे 'राजदन्तादिषु परम्' (पा० २।२।३१) इति नियमेन राजविद्याधर्माणां पूर्वनिपातः। 'क्वचिदपवादविषयेऽप्युपसर्गः प्रवर्त्तते' इति नियमेन 'उपसर्जनं पूर्वम्' (पा० २।२।३०) इत्युत्सर्गेण आर्यपदस्यादिप्रयोगोऽपि ज्ञेयः। एतच्च राजदन्तादिषु पठितेषु धर्मादिपदेषूभयथाऽपि प्रयोगदर्शनात् 'धर्मादिषूभयम्' इति नियमस्य स्वीकरणादपि समर्थ्यते।"

ग्रन्थकार द्वारा राज्यप्रबन्ध के लिए धर्मार्यसभा आदि के रूप में कार्यविभाजन का क्या आधार है, हम

https://t.me/arshlibrary

तं सभा च समितिश्च सेना च ॥१॥

—अथर्व० का० १५ । अनु० २ । व० ६ । मं० २ । (१५।६।२)

सभ्यं सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥२॥

—अथर्व० का० १६ । अनु० ७ । व० ५५ । मं० ६ ॥ (१६।५५।६)

नहीं कह सकते । हो सकता है, कोई प्राचीन अलभ्य ग्रन्थ उनके देखने में आया हो । यह भी हो सकता है कि यह उनकी अपनी ऊहा या सूझ हो । यहाँ तीनों सभाओं के नामों का उल्लेखमात्र हुआ है । उनकी व्याख्या ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में सूत्ररूप में उपलब्ध है । वहाँ लिखा है—"वे तीनों ये हैं—प्रथम राजप्रबन्ध के लिए एक आर्यराजसभा कि जिससे विशेष करके सब राज्यकार्य ही सिद्ध किये जाएँ; दूसरी आर्यविद्यासभा कि जिससे सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार होता जाए; तीसरी आर्यधर्मसभा कि जिससे धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे ।" जिस धर्मसभा का काम धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि करना है, निश्चय ही उससे Ecclesiastical Department या सीग़ा अमूरे मज़हबी (धर्मविभाग) अभिप्रेत नहीं है । ग्रन्थकार के मत में 'जो पक्षपातरहित न्यायाचरण सत्यभाषणादियुक्त कर्म है, वह धर्म और जो इसके विपरीत है, वह अधर्म है' (स०प्र०) अथवा 'जो पक्षपातरहित न्याय, सत्याचरण से युक्त धर्म है, तुम लोग उसी को ग्रहण करो, उससे विपरीत कभी मत चलो' (ऋ०भा०भू० वेदोक्तधर्मविषय) । इस लक्षणयुक्त धर्म की रक्षा और अधर्म का नाश करना धर्मसभा का काम है । इस प्रकार धर्मार्यसभा न्यायव्यवस्था या न्यायसभा का अपर नाम है । तदनुसार न्यायालय, जेलविभाग, सुधारगृह आदि के माध्यम से सज्जनों की रक्षा और दुष्टों का विनाश करके धर्म की स्थापना करना धर्मार्यसभा के क्षेत्र के अन्तर्गत है ।

विद्यार्यसभा के अन्तर्गत प्राथमिक स्तर से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक की शिक्षा की व्यवस्था, सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबके विकास के लिए अपेक्षित अनुसन्धान, प्रयोगशालाएँ, सांस्कृतिक कार्य, कला-कौशल, संग्रहालय, सूचना तथा प्रसारण, पुस्तकालय, प्रकाशन, खेलकूद आदि हैं ।

राजार्यसभा के अन्तर्गत गृहविभाग, विदेशविभाग, रक्षाविभाग, राजस्व, अर्थव्यवस्था, उद्योग, कृषि, यातायात, संचार आदि आ सकते हैं ।

तात्पर्य यह है कि राष्ट्र के सम्यक् शासन के लिए विविध प्रकार की सभा, समिति, परिषद् आदि का होना आवश्यक है । प्रजा के विभिन्न वर्गों के विचारों का प्रतिनिधित्व करनेवाले व्यक्तियों के दृष्टिकोण से विचार करके ही किसी बात का निर्णय होना चाहिए । कोई भी एक व्यक्ति सर्वज्ञ या सर्वगुणसम्पन्न नहीं होता । इसलिए किसी एक की बुद्धि पर निर्भर करके शासनकार्य ठीक-ठाक नहीं चल सकता । ग्रन्थकार का स्पष्ट निर्देश है कि "तीनों सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम और नियमों के अधीन सब लोग बर्तें ।" इसीलिए उन्होने ऋ०भा०भू० में आदेश दिया है—'तीन प्रकार की सभाओं को "राजा मानना चाहिए, एक मनुष्य को कभी नहीं । जहाँ एक अकेला मनुष्य राजा होता है, वहाँ निश्चितरूप से प्रजा पीड़ित होती है ।" प्रकारान्तर से इस बात को उन्होंने बार-बार कहा है ।

तं सभा च समितिश्च—यहाँ अथर्ववेद के १५वें काण्ड के ६वें सूक्त का प्रसंग है—**स विशोऽनुव्यचलत् । तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन्** ॥ १-२ अर्थात् वह (राजा) प्रजाजनों के अनुकूल चला । सभा, समिति, सेना और सुरा (सुरा=षुर=सुर (ऐश्वर्य); षु प्रसवैश्वर्ययोः=राज्यकोष) उसके अनुकूल चले । राजा अनुरोध करता है कि '**सभा च मा समितिश्चावताम्**' (अथर्व० ७।१२।१) सभा और समिति

https://t.me/arshlibrary

(तम्) उस राजधर्म को (सभा च) तीनों सभा (समितिश्च) संग्रामादि की व्यवस्था, और (सेना च) सेना मिलकर पालन करें ॥१॥

सभासद् और राजा को योग्य है कि राजा सब सभासदों को आज्ञा देवे कि—'हे (सभ्य) सभा के योग्य मुख्य सभासद् ! तू (मे) मेरी (सभाम्) सभा की धर्मयुक्त व्यवस्था का (पाहि) पालन कर और (ये च) जो (सभ्याः) सभा के योग्य (सभासदः) सभासद् हैं, वे भी सभा की व्यवस्था का पालन किया करें ॥२॥

मेरी रक्षा करें। इसके उत्तर में कहा गया है कि जो राजा प्रजाजनों की इच्छाओं का आदर करता है, उसी को सभा, समिति, सेना और राज्यकोष का सहयोग मिलता है।

सभा और समिति के विषय में अथर्ववेद ७।१२।२ में बताया है—

विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि ।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥

राजा (राष्ट्रपति) कहता है—हे सभा और समिति नामक सभाओ ! मैं जानता हूँ कि तुम नरिष्टा हो—(१) नृणां इष्टा नरिष्टा अर्थात् तुम प्रजा की हितकारिणी हो और (२) न रिष्टा=नरिष्टा=अनतिलंघ्या अर्थात् तुम्हारे निर्णय का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। इसलिए मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे सभासद् मेरे साथ एक वाणीवाले अर्थात् मिलकर विचार करनेवाले हों।

वेद (अथर्ववेद ७।१२।१) में सभा-समिति को राजा की 'दुहिता' (प्रजापतेर्दुहितरौ) बताया है और उनके सदस्यों को उसका 'पितर' कहा है। उनके (सभा-समिति के) आदेशों का राजा उल्लंघन नहीं कर सकता। इन सब बातों पर विचार करने से स्पष्ट है कि यहाँ 'दुहिता' का सामान्य अर्थ पुत्री नहीं होना चाहिए। इसलिए यहाँ दुहिता का रूढ अर्थ न लेकर उसका यौगिक अर्थ लेना होगा जो उसके धातु से प्राप्त होगा। दुहिता शब्द **'दुह प्रपूरणे'** धातु से निष्पन्न होता है। सभा और समिति राज्यसम्बन्धी कार्यों को पूरा करती हैं। इनकी सहमति के बिना राजा और उसकी सरकार कोई कार्य नहीं कर सकती। अन्तिम स्वीकृति सभा और समिति की होगी। पितर शब्द **'पा रक्षणे'** धातु से निष्पन्न होता है। उनकी योग्यता और अनुभव के कारण ही राजा चाहता है कि सभा-समिति का प्रत्येक सभासद् उसे उचित परामर्श दे (स मा उपशिक्षात्)। इसलिए वे राजा के पितर=पितृस्थानीय हैं। जब तक सभासदों का बहुमत राजा के साथ है तब तक वह सुरक्षित है, इसलिए **'पा रक्षणे'** धात्वर्थ के अनुसार वे पितर हैं और इस प्रकार उसके रक्षक हैं। जब ये सभासद् उसके पितृस्थानीय हैं तो उनसे निर्मित सभा-समिति के आदेशों का पालन करना उसका कर्त्तव्य है। इसी में उसका अपना और राष्ट्र का हित है।

कुछ विद्वान् 'दुहिता' का लोक में प्रचलित अर्थ 'पुत्री' ही करते हैं। उनके मत में सभा और समिति राजा की पुत्री के समान हैं, जिनसे वह मिलकर चलने और उसकी रक्षा करने का अनुरोध करता है। वह उनसे यह भी आशा करता है कि जब कभी वह उनसे व्यष्टि अथवा समष्टिरूप में किसी विषय में सम्मति माँगे तो वे उसे अपेक्षित जानकारी देते हुए उसे निष्पक्ष एवं सुविचारित सम्मति दिया करें। पुत्रियों को जन्म देना और उनका समुचित पालन-पोषण करके समर्थ बनाना पिता का काम है, किन्तु वे सदा उसके अधीन नहीं रहतीं। समर्थ होने पर वे अपना हिताहित समझने लगती हैं और पति की अनुव्रता हो जाती हैं। इसी प्रकार निर्वाचन-प्रक्रिया के द्वारा सभा और समिति को संगठित करना राजा का काम है। तत्पश्चात्

https://t.me/arshlibrary

सभापति के निर्देशन में विवेक द्वारा निश्चय करके राजा को दिशानिर्देश करने में वे स्वतन्त्र हैं।

सभा—समिति की उत्पत्ति और विकास—इसका विवरण अथर्ववेद के आठवें काण्ड के दसवें सूक्त में उपलब्ध है। तदनुसार—

विराड् वा इदमग्र आसीत्।
तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥१॥
सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥२॥
गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥३॥
सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् ॥८॥
यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥६॥
सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ॥१०॥
यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥११॥
सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् ॥१२॥
यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद ॥१३॥

अर्थात्—सृष्टि के प्रारम्भ में कोई शासनव्यवस्था न थी। राज्य से प्रजाशक्ति ही थी। सृष्टि के आरम्भ में इस प्रकार की अवस्था का होना स्वाभाविक था। इस अराजकता की स्थिति में लोग भयभीत होकर सोचने लगे कि क्या यही अवस्था रहेगी ? वह प्रजाशक्ति उत्क्रान्त हुई और गृहपति में परिणत हो गयी। अलग-अलग बिखरे व्यक्ति परिवार बनाकर रहने लगे और मुखिया के अधीन रहकर व्यवस्थित जीवन बिताने लगे। यह प्रजाशक्ति फिर उत्क्रान्त हुई और सभा में परिणत हो गई। प्रजाशक्ति फिर उक्रान्ति हुई और समितियों के रूप में परिणत हो गई। यह प्रजाशक्ति पुनः उत्क्रान्त हुई और आमन्त्रण में परिणत हो गयी। जो यह जानते हैं वे क्रमशः परिवार, सभा, समिति और आमन्त्रण के सभासद् होते हैं।

जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती जाती है वैसे-वैसे समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए संगठन के विभिन्न स्तर बनते जाते हैं और लोग मिल-बैठकर अपनी समस्याओं का समाधान खोजने लगते हैं। इसका पहला घटक 'सभा' है। सभा का अर्थ है—लोगों का आवश्यकतानुसार कोई निश्चय करने के उद्देश्य से समानरूप से या एक साथ चमकना अर्थात् अपने विचारों को प्रकाशित करना। 'सभा' के बाद 'समिति' की अवस्था आती है। 'समिति' शब्द का अर्थ है—'सं सम्यक् यन्ति जना निश्चयार्थं यत्र।' लोगों का किसी निश्चय के लिए सम्यक् प्रकार से जाना। 'सम्' (सम्यक्) उपसर्ग का आशय यह है कि 'रामिति' में भेजे जानेवाले लोगों की योग्यता सभा के सदस्यों की अपेक्षा अधिक होनी चाहिए।

सभा तथा समिति शब्दों की व्युत्पत्ति से इनका प्रतिनिधि संस्था होना प्रतीत होता है। सभा और समिति संसद् की निम्न और उच्च सभाओं —(Lower and upper houses)— जैसी संस्थाएँ हैं।

कतिपय विद्वानों की मान्यता के अनुसार शासन व्यवस्था सम्बन्धी उत्क्रान्ति की अन्तिम अवस्था 'आमन्त्रण' होती है। आमन्त्रण संयुक्त राष्ट्रसंघ की सार्वभौम या विश्वभर की सर्वोच्च राजसभा प्रतीत होती है। 'आमन्त्रण' शब्द से ऐसा लगता है कि यह राष्ट्रों के पारस्परिक विवादों का निपटारा करने के लिए आयोजित की जाती थी, जिसमें विभिन्न राष्ट्रों के प्रतिनिधियों को 'आमन्त्रित' किया जाता था।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

श्री स्वामी वेदानन्दजी ने स्वसम्पादित 'वेदामृत' में 'आमन्त्रण' शब्द से मन्त्रिपरिषद् या मन्त्रिमण्डल का ग्रहण किया है जो समूची राजव्यवस्था का नियमन करता है, । मन्त्रिमण्डल में राज्य के योग्यतम व्यक्तियों की नियुक्ति होनी चाहिए । तीनों सभाओं में से विभिन्न विषयों के पारंगत एवं अनुभवी लोगों को लेना चाहिए ।

यहाँ एक चुभता हुआ प्रश्न उठता है कि जब वेदों का प्रादुर्भाव सृष्टि के आरम्भ में ही हो गया था और उनमें मनुष्य के लिए अपेक्षित सम्पूर्ण ज्ञान विद्यमान था तो उनमें राज्यव्यवस्था के लिए राजसभाओं के क्रमिक विकास की बात कैसे आई ? इसमें सन्देह नहीं कि वेद में तीनों कालों का प्रयोग यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है, किन्तु त्रिकालाबाधित वेद में भूतकाल का प्रयोग कैसे सम्भव है ? इसका समाधान पाणिनि मुनि ने अष्टाध्यायी में कर दिया है । उनके मत में लौकिक भूतार्थक लकारों का प्रयोग वेद में नहीं है । उनका कहना है—**'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः'** अर्थात् इन तीनों लकारों का प्रयोग धातु का अर्थमात्र बताने के लिए किया जाता है । काशिकाकार ने इसकी व्याख्या में लिखा है—**'छन्दसि विषये धातुसम्बन्धे सर्वत्र कालेषु लुङ्लङ्लिट्प्रत्यया भवन्ति'** । महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी इसका अनुमोदन किया है, अतः इन लकारों के प्रयोग के कारण भूतकाल की क्रिया मानकर वेद में इतिहास या क्रमिक विकास की कल्पना करना व्याकरण तथा वेद दोनों के साथ अन्याय करना होगा । वस्तुतः वेद का उपदेश सार्वभौम एवं सार्वकालिक है । अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार उससे काम लिया जा सक्ता है । राजसभाओं का निर्माण मनुष्यों की संख्या, उनके पारस्परिक सम्बन्धों तथा उनकी समस्याओं अथवा परिस्थितियों की जटिलता पर निर्भर करता है । वेद का ज्ञान मिल जाने और आदर्श राज्य-व्यवस्था का ज्ञान हो जाने पर भी सृष्टि के आदि में जनसंख्या की अल्पता और इस कारण जटिलता की न्यूनता के कारण प्रारम्भ में वेद में निर्दिष्ट संविधान को उसकी समग्रता में लागू करने की आवश्यकता नहीं होगी । पर जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती जाएगी और पारस्परिक सम्बन्धों में विषमता के कारण समस्याएँ उलझती जाएँगी वैसे-वैसे समाज के विकास की अवस्था के अनुकूल राजसंस्थाओं का विकास होता जाएगा । भारत के संविधान में राज्य स्तर पर प्रत्येक प्रदेश में विधानपरिषद् तथा विधानसभा दोनों का प्रावधान होते हुए भी सब प्रदेशों में विधानपरिषद् की व्यवस्था नहीं है । राज्यों की सीमाओं तथा उनकी जनसंख्या के अनुसार विधानपरिषदों का गठन व विघटन होता रहता है । तदनुसार ही केन्द्र और राज्यों के अधिकारों की सूची में भी परिवर्तन होता जाता है ।

अथर्ववेद ७।१३।३ में 'संसद्' शब्द आया है, जो सभा (Lower House=House of representatives =लोकसभा) तथा समिति (Upper House=Council of states=राज्यसभा) दोनों का संयुक्त नाम है । ऋग्वेद १०।१२५।३ में एक अन्य शब्द का प्रयोग हुआ है—**'राष्ट्री संगमनी'** । यह शब्द भी सामान्यरूप से सभा और समिति दोनों को कहता प्रतीत होता है । 'संगमनी' शब्द में 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'गम्' धातु से अधिकरण में 'ल्युट्' प्रत्यय है । इस प्रकार 'संगमनी' शब्द का अर्थ होगा—जहाँ मिल-बैठकर विचार करने (सं गच्छध्वं सं वदध्वम्) के लिए इकट्ठे हों । मन्त्र में 'राष्ट्री' पद 'संगमनी' का विशेषण है । इस प्रकार 'राष्ट्री संगमनी' का अर्थ हुआ—जहाँ राष्ट्रभर के प्रतिनिधि इकट्ठे हों । आवश्यकता पड़ने पर सभा तथा समिति के संयुक्त अधिवेशन का प्रावधान है । उसके लिए अथर्ववेद (७।१३।१) में 'संगतेषु' शब्द का प्रयोग हुआ है । संगत शब्द का अर्थ भी एकत्र होना है । इन दोनों शब्दों के धातु और उपसर्ग एक ही हैं और अर्थ भी एक है । इस प्रकार सभाओं का सामान्यवाचक शब्द 'संगमनी', 'राष्ट्री' विशेषण के साथ राष्ट्रिय महासभा (National

https://t.me/arshlibrary

[राजवर्ग की पूर्ण स्वतन्त्रता से हानि]

इसका अभिप्राय यह है कि एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिए, किन्तु **राजा जो सभापति तदधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के अधीन, और प्रजा राजसभा के अधीन रहे।** यदि ऐसा न करोगे तो—

'राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्याद्राष्ट्री विशं घातुकः। विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशुं मन्यत इति॥

—शत० का० १३। अनु० २। ब्रा० ३॥

Assembly) का वाचक ठहरता है। अथर्ववेद ७।१२।१ में प्रयुक्त 'संविदाने' (एकमत) शब्द का अभिप्राय है कि जब तक सभा और समिति दोनों किसी प्रस्ताव को स्वीकार न करें—चाहे पृथक्-पृथक् बैठकर और चाहे संयुक्त अधिवेशन में—तब तक राजा उसे मानने के लिए बाध्य नहीं है।

ऋग्वेद १।१८।६ में सभाध्यक्ष के लिए एक पारिभाषिक या विशिष्ट नाम दिया प्रतीत होता है। ग्रन्थकार ने अपने ऋग्वेदभाष्य में 'सदसस्पति' की व्याख्या करते हुए लिखा है—**(सदसः) सीदन्ति विद्वांसो धार्मिका न्यायाधीशाः यस्मिंस्तत्सदः सभा तस्य (पतिम्) स्वामिनम्।'** इस प्रकार संसद् के अध्यक्ष (Speaker) का पर्यायवाची 'सदसस्पति' हो सकता है, क्योंकि वेद में मुख्यतः लोकसभा के लिए सभा शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'संसदः' तथा 'सदसः' दोनों के लिए षष्ठी विभक्ति के एकवचनान्त प्रयोग से सर्वथा स्पष्ट है कि सभा और समिति एक ही नियामक सभा की छोटी-बड़ी सभाएँ हैं। किसी भी महत्त्वपूर्ण विषय पर उसके पक्ष-विपक्ष में सब पहलुओं से गम्भीरतापूर्वक विचार करने की दृष्टि से सामान्य तथा विशिष्ट दो स्तरों पर विचार करना श्रेयस्कर है। इससे किसी कार्य के सहसा हो जाने पर भी रोक लगी रहती है।

जहाँ सभा का सदस्य तो कोई भी बन सकता है, वहाँ समिति के सदस्यों को एक विशेष प्रकार के आचार और विद्या की योग्यता (Moral and Intellectual Merit) के आधार पर नियुक्त किया जाना आवश्यक है। समाज में ब्राह्मण सबसे अधिक ज्ञानी और आचारवान् लोग होते हैं, अतः समिति में उनकी संख्या अधिक होनी चाहिए। इस प्रसंग में यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि वैदिक परिभाषा में आचार के धनी, निःस्वार्थ, परोपकारी और अपने विषय के तत्त्वदर्शी विद्वानों को ही ब्राह्मण कहा जाता है। ब्राह्मणत्व के साथ जन्म का कोई सम्बन्ध नहीं है।

सभ्य सभाम्—यहाँ 'सभ्याः' तथा 'सभासदः' दोनों प्रथमा विभक्ति के बहुवचनान्त हैं, किन्तु 'सभ्य' सम्बोधन में एकवचनान्त है। ऋ०भा०भू० में ग्रन्थकार ने भी इन पदों को इसी रूप में ग्रहण किया है। अनेक सभासदों के बीच में एकवचनान्त 'सभ्य' पद से सभाध्यक्ष का ग्रहण करना प्रकरणानुकूल भी है। यहाँ राजा सभाध्यक्ष से अनुरोध करता है कि तू (मे) मेरी (सभाम्) सभा की (पाहि) रक्षा कर (च) और (ये) जो (सभ्याः) सभा के योग्य (सभासदः) सभासद सभा में बैठे हैं, वे भी सभा की रक्षा करें। सभा की रक्षा करने का तात्पर्य उसके संचालन में सहयोग देना तथा उसके निर्णयों को स्वीकार करके उन्हें कार्यान्वित करना-कराना है।

राष्ट्रमेव विश्याहन्ति—वेद न केवल 'संवृत राजत्व' (Elected Monarchy) का प्रतिपादन करते हैं, प्रत्युत स्वेच्छाचारी एकतन्त्र राज्य को प्रजा के लिए सर्वथा घातक मानते हैं। इस प्रसंग में हम यहाँ यजुर्वेद के २३वें अध्याय के राजनीतिपरक मन्त्रों में से दो मन्त्र प्रस्तुत करते हैं। पहला मन्त्र इस प्रकार है—

https://t.me/arshlibrary

यकासकौ शकुन्तिकाऽऽहलगिति वञ्चति ।
आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका ॥ —यजुः० २३।२२

यजुर्वेद के मध्यकालीन भाष्यकार उवट और महीधर ने इन मन्त्रों के वास्तविक तात्पर्य को न समझकर जो अश्लील और बेहूदा अर्थ किये हैं, उन्हें पढ़कर वेद में किसी की श्रद्धा नहीं रह सकती, परन्तु जब हम शतपथब्राह्मण में और वर्त्तमान में ग्रन्थकार द्वारा किये गये वेदभाष्य में इन मन्त्रों के अर्थ पढ़ते हैं तो पता चलता है कि इन मन्त्रों में राजनीतिसम्बन्धी कितनी महत्वपूर्ण बातें कही गयी हैं । पहले हम शतपथ की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—

'(यकासकौ शकुन्तिका) विड् वै शकुन्तिका (आहलगिति वञ्चति) विशो वै राष्ट्राय वञ्चति (आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारकेति) विड् वै गभो राष्ट्रम्पसो राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ॥'
—१३।२।६।६

शतपथकार ने अपनी व्याख्या में केवल कठिन शब्दों के पर्याय दिये हैं और अन्तिम शब्दों में सम्पूर्ण मन्त्र के भाव का निर्देश कर दिया है । ग्रन्थकार ने अपनी ऋग्वेदादीभाष्यभूमिका में शतपथ की व्याख्या को इन शब्दों में स्पष्ट किया है—

'(यकासकौ शकुन्तिका) जैसे श्येन के सामने छोटी चिड़िया निर्बल होती है, उसी तरह राजा के सामने प्रजा निर्बल होती है । (आहलगिति वञ्चति) राजा लोग राज्यसुख प्रयोजन के लिए प्रजा को सदा ठगते ही रहते हैं—लूटते रहते हैं । (आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका) राजा प्रजा में रहता हुआ उसका नाश करता है और उसे अपने लिए सुख की धारिका और अपने द्वारा निगली हुई-सी—निगलने, खाने योग्य समझता है । इसलिए राजा को 'विशं घातुकः' कहते हैं, अतः एक, स्वेच्छाचारी राजा नहीं होना चाहिए । उसे सभाधीन सभाध्यक्ष होना चाहिए ।'

ऋ० भा० भू० में ग्रन्थकार ने इस मन्त्र पर जो कुछ संस्कृत लिखा है, उसी का यह हिन्दी अनुवाद है । इससे मन्त्र के प्रतिपद का अर्थ स्पष्ट नहीं होता, परन्तु अपने यजुर्वेदभाष्य में उन्होंने प्रतिपद अर्थ भी दिया है । शतपथानुसारी उस अर्थ को हम यहाँ अपने शब्दों में प्रस्तुत करते हैं—

(यका) जो (असकौ) वह प्रजा है (शकुन्तिका) वह तो एक छोटी-सी चिड़िया के समान है (इति) ऐसा मानकर (आहलक्) चारों ओर से प्रजा का विमर्दन करनेवाला राजा (वञ्चति) प्रजा के साथ कुटिलता का व्यवहार करता है । (पसः) वह राजा (गभे) प्रजा पर (आहन्ति) सब तरह से आक्रमण करता है —अत्याचार करता है । (धारका) राज्य का धारण करनेवाली प्रजा (निगल्गलीति) गलित=क्षीण हो जाती है ।

मन्त्र के शाब्दिक अर्थों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि शतपथकार ने तथा उसके आधार पर ग्रन्थकार ने इसका जो आशय व्यक्त किया है वह सर्वथा मन्त्रानुमोदित है । मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार बाज़ चिड़िया को आतंकित करता और अन्ततः नाश कर देता है, उसी प्रकार स्वच्छन्द और शक्तिशाली राजा प्रजा को तंग करता है और सभी तरह से उसका विमर्दन करता रहता है । उसके प्रति कुटिलता का व्यवहार करते हुए उसे सर्वथा क्षीण कर देता है ।

अब दूसरा मन्त्र लीजिए । मन्त्र यह है—

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशु मन्यते ।
शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति ॥ —यजुः० २३।३०

https://t.me/arshlibrary

जो प्रजा से स्वतन्त्र स्वाधीन राजवर्ग रहे, तो (राष्ट्रमेव विश्याहन्ति) राज्य में प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करे। जिसलिए अकेला राजा स्वाधीन वा उन्मत्त होके (राष्ट्री विशं घातुकः) प्रजा का नाशक होता है, अर्थात् (विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति) वह राजा प्रजा को खाये जाता (=अत्यन्त पीड़ित करता) है, इसलिए किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिए। (न पुष्टं पशुं मन्यते) जैसे सिंह वा मांसाहारी हृष्ट-पुष्ट पशु को मारकर खा लेते हैं, वैसे (राष्ट्री विशमत्ति) स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है, अर्थात् किसी की अपने से अधिक न होने देता, श्रीमान् को लूट-खूँट अन्याय से दण्ड लेके अपना प्रयोजन पूरा करेगा। इसलिए—

इसपर शतपथकार की व्याख्या इस प्रकार है—

(यद्धरिणो यवमत्ति) विड् वै यवो राष्ट्रं हरिणः विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति (न पुष्टं पशु मन्यते) तस्माद्राजा पशून् न पुष्यति (शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति) तस्माद् वैशीपुत्रं नाभिषिञ्चति।'

शतपथ की व्याख्या संक्षिप्त होते हुए भी मन्त्र का भाव समझने के लिए पर्याप्त स्पष्ट है। ग्रन्थकार ने ऋ०भा०भू० में शतपथ के आशय को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'(यद्धरिणो यवमत्ति) राज्यसम्बन्धी एक स्वेच्छाचारी राजा मृग की तरह राज्य के उत्तम पदार्थों का आहरण करता रहता है। जैसे मृग शस्य को खाकर प्रसन्न होता है वैसे ही राजा भी अपने सुख को चाहता है, अतः वह अपने सुख-प्रयोजन के लिए प्रजा को भक्ष्य बना लेता है। (न पुष्टं पशु मन्यते) जैसे मांसाहारी पुष्ट पशु को देखकर उसके मांस को खाने की इच्छा करता है, उसे बढ़ाना या जिलाना नहीं चाहता, उसी तरह एक स्वेच्छाचारी राजा अपने सुख-सम्पादन के लिए यही सोचता रहता है कि प्रजा में मुझसे अधिक कोई न हो पाये। वह प्रजा की पुष्टि नहीं करता। (शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति) जैसे कोई शूद्र, जिसकी। शूद्रा,अर्यजारा—स्वामी या वैश्य है जार जिसका ऐसी—हो गई है, पुष्टि को प्राप्त नहीं होता, वैसे ही ऐसे स्वेच्छाचारी राजा की प्रजा भी पुष्टि और वृद्धि को प्राप्त नहीं होती। इसीलिए भीरु वैशीपुत्र और मूर्ख शूद्रापुत्र को राज्याधिकार में स्थापित नहीं करना चाहिए।'

यह ग्रन्थकार के ऋ०भा०भू० स्थित संस्कृतभाष्य का हिन्दी रूपान्तर है और केवल मन्त्र के भाव की सामान्य व्याख्या है। यजुर्वेदभाष्य में ग्रन्थकार ने इसका प्रतिपद अर्थ भी किया है। जो इस प्रकार है—

'(यत्) जब राजा (हरिणः) हरिण जैसे (यवम्) खेत में उगे हुए जौ को (अत्ति) खा जाता है, वैसे ही प्रजा को खा जाता है और प्रजारूप जौ को (पुष्टं) पुष्ट (पशु) देखने योग्य (न मन्यते) नहीं मानता—उसे पुष्ट देखना नहीं चाहता तब प्रजा (पोषाय) अपनी पुष्टि के लिए (न धनायति) धन नहीं प्राप्त करती, अर्थात् स्वेच्छाचारी प्रजाभक्षक राजा के राज्य में जो धन प्राप्त होता है, वह उसकी चिरस्थायी पुष्टि का कारण नहीं होता। उपमा देते हैं—(यत्) जैसे (अर्यजारा) स्वामी या वैश्य है जार जिसका, ऐसी (शूद्रा) सेविका शूद्रस्त्री (पोषाय न धनायति) अपनी वास्तविक वृद्धि के लिए धन प्राप्त नहीं करती, अर्थात् जैसे अपनी सेविका शूद्रस्त्री पर बलात्कार करनेवाले मालिक की कृपा से शूद्रा को जो धन प्राप्त होता है, वह उसकी समृद्धि का कारण नहीं बनता।'

इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार मृग खेत को चर जाता है वैसे ही स्वेच्छाचारी राजा प्रजा की सुख-समृद्धि को चर जाता है और जैसे अनाचारी मालिक अपनी सेविका पर बलात्कार करके उसके सतीत्व का अपहरण कर लेता है, वैसे ही वह प्रजा पर अत्याचार करके प्रजा की सुख-सम्पत्ति का अपहरण

https://t.me/arshlibrary

[सभापति होने के योग्य व्यक्ति]

इन्द्रो॑ जयाति॒ न परा॑ जयाता अधि॒राजो॒ राज॑सु राजयातै ।
च॒र्कृत्य॒ ईड्यो॒ वन्द्य॑श्चोप॒सद्यो॒ नम॒स्यो॒ भ॒वे॒ह ॥१॥

—अथर्व० का० ६। अनु० १०। व० ६८। मं० १॥ (६।६८।१)

हे मनुष्यो ! जो (इह) इस मनुष्य के समुदाय में (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य का कर्त्ता, शत्रुओं को (जयाति) जीत सके (न पराजयातै) जो शत्रुओं से पराजित न हो, (राजसु) राजाओं में (अधिराजः) सर्वोपरि विराजमान (राजयातै) प्रकाशमान हो, (चर्कृत्यः) सभापति होने को अत्यन्त योग्य, (ईड्यः) प्रशंसनीय गुण कर्म-स्वभावयुक्त, (वन्द्यः) सत्करणीय, (चोपसद्यः) समीप जाने और शरण लेने योग्य, (नमस्यः) सबका माननीय (भव) होवे, उसी को सभापति राजा करे ॥१॥

कर लेता है । इसलिए वेद की सम्मति में स्वेच्छाचारी एकतन्त्र राज्य नहीं होना चाहिए ।

ऋ०भा०भू० में राजप्रजाधर्मविषय के अन्तर्गत विषय का समापन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—'राज्य के लिए एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि जहाँ एक को राजा मानते हैं, वहाँ सब प्रजा दुःखी और उसके उत्तम पदार्थों का अभाव हो जाता है । इसी से किसी की उन्नति नहीं होती ।"

इन्द्रो जयातीति—इन्द्र शब्द परमात्मा और राजा दोनों का वाचक है । जो ब्रह्माण्ड में सम्पूर्ण प्रजा का स्वामी है, वह परमात्मा है और जो धरती पर अपने अधीनस्थ प्रजा के पालन-पोषण और रक्षण की व्यवस्था करता है, वह राजा है । दोनों प्रजापति हैं, किन्तु जहाँ परमात्मा महाराजाधिराज है, वहाँ पृथिवी अथवा उसके किसी भाग का शासक मात्र राजा है । ऋ०भा०भू० में ग्रन्थकार ने इन्द्र का अर्थ **'परमेश्वरः सभाप्रबन्धो वा'** किया है । परमेश्वररूप में इन्द्र समस्त ब्रह्माण्ड के योगक्षेम की व्यवस्था करता है और सभाप्रबन्धक के रूप में राजा अपने अधीनस्थ प्रजा के ऐश्वर्य, न्याय आदि के लिए प्रयत्नशील रहता है । **'स्वकीय- सत्यप्रकाशन्यायेन'** (ऋ०भा०भू०) यह राजा के राजत्व और स्वामित्व के साथ-साथ उसकी लोकप्रियता का हेतु है । राजसूय यज्ञों की परम्परा में महाभारत (सभा० ३७।१६-२०) में शिशुपाल की यह उक्ति द्रष्टव्य है—

वयन्तु न भयादस्य कौन्तेयस्य महात्मनः ।
प्रयच्छामः करान् सर्वे न लोभान्न च सान्त्वनात् ॥
अस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः ।
करानस्मै प्रयच्छामः ..... ॥

हम भय, लोभ या सान्त्वना के कारण युधिष्ठिर को कर नहीं देते । यह धर्म में प्रवृत्त है, इसलिए कर देते हैं ।

इस (इन्द्रो जयातीति) तथा अगले (इमं देवाः) मन्त्र की व्याख्या में ग्रन्थकार ने लिखा है—"जो सबको माननीय होवे उसी को राजा करे" तथा "सम्मति करके सबके मित्र सभापति राजा को सर्वाधीश मानके सब भूगोल को शत्रु रहित करे ।" वेदादि शास्त्रों को देखने से पता चलता है कि राजा के चुनाव में किसी-न-किसी रूप में सभी प्रजाजन भाग लेते थे । वेद में प्रजाजनों के लिए 'विश' शब्द का प्रयोग किया गया है । अथर्ववेद (३।४।२) में कहा है—**'त्वां विशो वृणतां राज्याय'**—देश में रहनेवाली समस्त प्रजाएँ अपने

https://t.me/arshlibrary

ऊपर शासन करने के लिए तेरा वरण करें—तुझे चुनें। सायणाचार्य द्वारा उद्धृत श्रौत, आपस्तम्ब तथा बोधायनसूत्रों के अनुसार 'विश' का अर्थ है राष्ट्र अथवा राज्य की समस्त प्रजा। कात्यायन ने विश का अर्थ 'जाति' किया है। **'सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो यन्तु'** (अथर्व० ३।४।१)—समस्त दिशाओं के वासी तुझे आदरपूर्वक बुलाएँ।

राजा पर समस्त राज्य के योगक्षेम का उत्तरदायित्व होता है। इसलिए उसके चुनाव में छोटे-बड़े माण्डलिक राजाओं से लेकर साधारण-से-साधरण व्यक्ति तक को अपनी सम्मति देने का अधिकार है। वेद ने इस सिद्धान्त की बड़े स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है—

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये ।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥ —अथर्व० ३।५।७

राजा के निर्वाचन में भाग लेनेवाले लोगों (Electoral College) को 'राजकृतः' (राजा को बनानेवाले) कहा गया है। वैदिक समाज चार वर्णों में विभक्त है। ऐतरेयब्राह्मण (८।२८) तथा तैत्तिरीय (१।७।८) के अनुसार राजा को राज्यारोहण से पूर्व ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और अन्य (शूद्र) चारों की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक था। शतपथ (६।३।२।५) में लिखा है—

"ता अस्मा इष्टाः प्रीता एतं सर्वमनुमन्यन्ते। ताभिरनुमतः सूयते यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यते स राजा भवति, न स यस्मै न।"

अन्यत्र (शत० ५।३।५।३१-३७) तथा (५।२।३।४) में इस विषय का विस्तृत विवेचन करके कहा है कि जब तक राजा को ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा पृथिवी पर रहनेवाले सभी वर्णों तथा वर्गों का समर्थन और उनकी अनुकूलता प्राप्त न हो तब तक उसका अभिषेक नहीं हो सकता।

वैदिक काल के 'राजकृत' ब्राह्मणकाल में 'रत्नी' तथा रामायणकाल में 'राजकर्त्ता' कहलाने लगे। राम और भरत का निर्वाचन इन्हीं लोगों ने किया था। **'समेत्य राजकर्त्तारो भरतं वाक्यमब्रुवन्'** (अयोध्या० ७६।१); **'समेत्य राज्यकर्त्तारः सभामीयुः द्विजातयः'** (अयोध्या० ६७।२)। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रजा द्वारा राजा का निर्वाचन प्रत्यक्ष (Direct) न होकर प्रजा के विभिन्न वर्गों के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा होता था।

अथर्ववेद में एक मन्त्र (६।८७।१) द्वारा राजा को सावधान भी किया गया है। वहाँ कहा है—

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत् ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥

यह मन्त्र (ऋग्वेद १०।१७३।१) में भी आया है। (विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु) समस्त प्रजा तुझे हृदय से चाहे। देख, कहीं तेरे दोष से (राष्ट्रम्) राष्ट्र (त्वत्) तेरे हाथ से (मा अधिभ्रशत्) न फिसल जाए, अर्थात् जब तक प्रजा तुझे चाहेगी तभी तक तू इस पद पर रह सकेगा। अन्यथा शासन तेरे हाथ से निकल जाएगा। इससे अगले मन्त्र (६।८७।२) में भी चेतावनी दी गयी है—**'माप च्योष्ठाः'**, तू अपने पद से कभी च्युत न होना। यह कोरी धमकी नहीं है। **'राजा वै प्रकृतिरंजनात्'**—प्रजा का रंजन करने से ही राजा की यह संज्ञा है। अथर्ववेद १५।८।१ में कहा है—**'सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत'**, उसने प्रजा को प्रसन्न किया, इसलिए वह राजा कहलाया। जो अपने कार्यों से प्रजा को दुःखी या असन्तुष्ट रखता है, उसे राज्यच्युत कर दिया जाता है। महाभारत में इसी कारण राजा वेन के राज्यच्युत किये जाने का उल्लेख मिलता

https://t.me/arshlibrary

इमं देवाऽसपत्नꣳ सुवध्वं महते क्षत्रा यमहते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय ॥२॥

—यजुः० अ० ६। मं० ४०॥

हे (देवाः) विद्वानो, राजप्रजाजनो ! तुम (इमम्) इस प्रकार के पुरुष को (महते क्षत्राय) बड़े चक्रवर्तिराज्य, (महते ज्यैष्ठ्याय) सबसे बड़े होने, (महते जानराज्याय) बड़े-बड़े विद्वानों से युक्त राज्य पालने, और (इन्द्रस्येन्द्रियाय) परम ऐश्वर्ययुक्त राज्य और धन के पालने के लिए (असपत्नं सुवध्वम्) सम्मति करके सर्वत्र पक्षपातरहित, पूर्णविद्याविनययुक्त, सबके मित्र, सभापति राजा को सर्वाधीश मानके सब भूगोल को शत्रुरहित करो [॥१॥] और

[सेना उत्तम शस्त्रास्त्रों से सदा सन्नद्ध रहे]

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे ।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥

—ऋ० मं० १ । सू० ३६ । मं० २॥

है । इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं ।

मध्यकाल में स्वेच्छाकारिता नीति (Laissez faire policy) का प्रचलन था । इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार न्यूनतम कार्य करती थी—'That government is best which governs the least'. शान्तिव्यवस्था, सुरक्षाव्यवस्था, न्यायप्रक्रिया आदि बहुत थोड़े-से कार्य सरकार को करने होते थे । लोकतन्त्र के विकास के साथ कल्याण-राज्यों (Welfare states) की कल्पना का विकास हुआ और धीरे-धीरे जनता के सर्वविध कल्याण की ज़िम्मेदारी सरकार पर आ पड़ी । परिणामतः राजा के चुनाव का महत्त्व बढ़ गया ।

इमं देवा—राज्याभिषेक में विनियुक्त इस मन्त्र के अनुसार राजा की नियुक्ति इन प्रयोजनों के लिए की जाती है—क्षात्रधर्म के लिए, बड़े ऐश्वर्य के लिए, विशाल साम्राज्य के लिए, समुचित राज्यव्यवस्था के लिए, राजकीय पराक्रम के लिए और देश को बाहर-भीतर के शत्रुओं से सुरक्षित रखने के लिए । राजा के विशेषण के रूप में 'असपत्नम्' शब्द का प्रयोग हुआ है । इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि वह अजातशत्रु हो, उसका कोई विरोधी न हो अथवा वह निर्विरोध, सर्वसम्मति से चुना गया हो । अथर्ववेद के दशम काण्ड के पाँचवें सूक्त में ११ बार राजा के विशेषण के रूप में 'सपत्नहा' (शत्रुओं का संहारक) शब्द का प्रयोग हुआ है । **'वेदविदां सभासदां मध्ये यो मनुष्यः सौम्यगुणसम्पन्नः सकलविद्यायुक्तोऽस्ति स एव सभाध्यक्षत्वेन स्वीकृतः सन् राजास्तु '** (ऋ०भा०भू०) । मन्त्र में आये वाक्य **'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा'** में 'ब्राह्मणानां सोमः' निर्धारण में षष्ठी विभक्ति मानकर किया गया यह अर्थ सर्वथा युक्त है । राजा को सभाध्यक्ष के रूप में इसलिए निर्वाचित किया जाता है, क्योंकि वह विद्वान्, समस्त सभासदों में सौम्यगुणयुक्त (चन्द्रमा के समान शान्त और सबको प्रिय) एवं सकलविद्यानिष्णात है । ब्राह्मणों का सोम को राजा कहने का अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण लोग राजा को राजा मानते हुए भी अन्ततः सोम अर्थात् शान्ति और न्याययुक्त परमात्मा को ही राजा मानते हैं—**प्रजापतेः प्रजा अभूम** । इसलिए वे राजा की न्याययुक्त आज्ञाओं का ही पालन करते हैं, अनुचित, अन्याययुक्त आज्ञाओं का नहीं ।

स्थिरा वः—ऋ०भा०भू० में इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

"**इस मन्त्र में परमेश्वर सब जीवों को आशीर्वाद देता है कि हे मनुष्यो ! तुम सब काल में उत्तम बल-**

https://t.me/arshlibrary

ईश्वर उपदेश करता है कि—हे राजपुरुषो ! (वः) तुम्हारे (आयुधा) आग्नेयादि अस्त्र और शतघ्नी=तोप, भुशुण्डी=बन्दूक, धनुष-बाण, करवाल=तलवार आदि शस्त्र शत्रुओं के (पराणुदे) पराजय करने, (उत प्रतिष्कभे) और रोकने के लिए (वीळू) प्रशंसित और (स्थिरा) दृढ़ (सन्तु) हों । (युष्माकम्) और तुम्हारी (तविषी) सेना (पनीयसी) प्रशंसनीय (अस्तु) होवे कि जिससे तुम सदा वियजी होओ, परन्तु (मा मर्त्यस्य मायिनः) जो निन्दित अन्यायरूप काम करता है, उसके लिए पूर्व चीजें मत हों, अर्थात् जब तक मनुष्य धार्मिक रहते हैं, तभी तक राज्य बढ़ता रहता है, और जब दुष्टाचारी होते हैं, तब नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है ॥

वाले हो, किन्तु तुम्हारे (आयुधा) अर्थात् आग्नेयादि अस्त्र और शतघ्नी=तोप, भुशुण्डी=बन्दूक, धनुष-बाण और तलवार आदि शस्त्र सब स्थिर हों तथा (पराणुदे) मेरी कृपा से तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं के पराजय करने के योग्य होवें । (वीळू) तथा वे अत्यन्त दृढ़ और प्रशंसा करने के योग्य होवें । (उत प्रतिष्कभे) अर्थात् तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट मनुष्यों की सेना के वेग को थामने के लिए प्रबल हों । तथा (युष्माकमस्तु०) हे मनुष्यो ! तुम्हारी तविषी अर्थात् सेना अत्यन्त प्रशंसा के योग्य हो । जिससे तुम्हारा अखण्डित बल और चक्रवर्ती राज्य स्थिर होकर दुष्ट शत्रुओं का सदा पराजय होता रहे । (मा मर्त्यस्य०) परन्तु मेरा यह आशीर्वाद केवल धर्मात्मा, न्यायकारी और श्रेष्ठ मनुष्यों के लिए है और जो (मायिनः) अर्थात् कपटी, छली, अन्यायकारी और दुष्ट मनुष्य हैं, उनके लिए नहीं किन्तु ऐसे मनुष्यों का तो सदा पराजय ही होता रहेगा । इसलिए तुम लोग सदा धर्मकार्यों को ही करते रहो ।"

वस्तुतः जिस राष्ट्र के सैनिक अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग करने के लिए तैयार रहते हैं, उनके हथियार (आयुधाः शस्त्रमस्त्रमायुच्छत्रुघ्नमायुधम्—मेदिनी) सदा दृढ़ और सेना सदा प्रशंसनीय वीरकृत्यों से गौरवान्वित रहती है । ऐसी सेना (तविषी सेना बलं च—निघण्टु २।६) परमेश्वर के आशीर्वाद से (पराणुदे—परा=परे+णुद् प्रेरणे) शत्रु सेना का पराभव कर (प्रतिष्कभे स्कभि प्रतिबन्धे सौत्रो धातुः) प्रशंसा के योग्य होती है, परन्तु परमात्मा का आशीर्वाद धर्मात्मा लोगों को ही मिलता है ।

यदि दुष्टकर्मी या अन्याकारी की विजय हो जाए तो समझना चाहिए कि या तो सेना के हथियार शत्रु के हथियारों की तुलना में घटिया थे या सेना में अनैतिकता बढ़ गयी थी । इस विषय में चरकसंहिता (विमानस्थान अध्याय ३) में लिखा है—

"यदा देशनगरनिगमजनपदप्रधाना धर्ममुत्क्रम्याधर्मेण प्रजां वर्त्तयन्ति, तदाश्रितोपाश्रिताः पौरजनपदा व्यवहारोपजीविनश्च तमधर्ममभिवर्द्धयन्ति, ततः सोऽधर्मः प्रसभं धर्ममन्तर्धत्ते, ततस्तेऽन्तर्हितधर्माणो देवताभिरपि त्यज्यन्ते । तेषां तथाऽन्तर्हितधर्माणामधर्मप्रधानानामपक्रान्त देवतानामृतवो व्यापद्यन्ते । तेनापो यथाकालं देवो वर्षति न वा वर्षति विकृतं वा वर्षति । वाता न सम्यगभिवान्ति क्षितिर्व्यापद्यते सलिलान्युपशुष्यन्ति । ओषधयः स्वभावं परिहायापद्यन्ते विकृतिम् । तत उद्ध्वसन्ते जनपदाः स्पर्शाभ्यवहार्यदोषात् ।".....'तथा शस्त्रप्रभवस्याप्यधर्म एव हेतुर्भवति ।"

अर्थात्—जब देश, नगर, निगम और जनपद के अध्यक्ष धर्म को छोड़ कर अधर्म से प्रजा का पालन करते हैं तब उनके आश्रित, उपाश्रित, पुरवासी, जनपदवासी, व्यवहारोपजीवी लोग भी अधर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं, तब वह अधर्म बलपूर्वक धर्म को लुप्त कर देता है । तदन्तर उन लुप्तधर्मी मनुष्यों को देवता भी छोड़ जाते हैं । उन लुप्तधर्म, अधर्मप्रधान और देवताओं से त्यक्त मनुष्यों की ऋतु विकृत हो जाती हैं । इस कारण समय पर जल बरसता नहीं और बरसता है तो विकृत बरसता है या आवश्यकता न होने पर बरसता

https://t.me/arshlibrary

[तीनों सभाओं के अधिकारी वा सभासद् कैसे हों]

महाविद्वानों को विद्यासभाधिकारी, धार्मिक विद्वानों को धर्मसभाधिकारी, प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों को राजसभा के सभासद्, और जो उन सबमें सर्वोत्तम गुणकर्म-स्वभावयुक्त महान् पुरुष हो, उसको राजसभा का पतिरूप मानके सब प्रकार से उन्नति करें। तीनों सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम, और नियमों के अधीन सब लोग वर्तें। सबके हितकारक कामों में सम्मति करें। सर्वहित करने के लिए परतन्त्र, और धर्मयुक्त कामों में अर्थात् जो-जो निज के काम हैं उन-उन में स्वतन्त्र रहें।

[सभापति के गुण]

पुनः उस सभापति के गुण कैसे होने चाहिएँ—

इन्द्राऽनिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥१॥
तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च ।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥२॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुवेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥३॥ —मनु० ७।४।,६,७

है। वायु ठीक नहीं चलती, पृथिवी विकृत हो जाती है, जल सूख जाते हैं। औषध अपने स्वाभाविक गुणों को छोड़कर विकृत हो जाती हैं। इस प्रकार इन देश, काल, पृथिव्यादि के स्पर्श और अभ्यवहार्य दोषों से जनपद नष्ट हो जाते हैं। ..... संग्राम का कारण भी अधर्म ही है।

इन्द्रानिल—सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्य समाज की अवस्था के विषय में अथर्ववेद के अष्टम काण्ड के दशम सूक्त के प्रथम मन्त्र में लिखा है—

विराड् वा इदमग्र आसीत् ।
तस्या जातायाः । सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥

अर्थात्—पहले विराट् (वि+राज्) अवस्था थी। किसी प्रकार की कोई राज्यसंस्था न थी, किसी प्रकार का शासक और शासित का सम्बन्ध नहीं था। ऐसी अराजकता की स्थिति में सबको डर लगने लगा और वे सोचने लगे कि क्या सदा यही अवस्था रहेगी ? तब—'**शकधूमं नक्षत्राणि यद् राजानमकुर्वत**'—जिस प्रकार नक्षत्र चन्द्रमा को अपने में मुख्य बना लेते हैं, उसी प्रकार (नक्षत्राणि) नक्षत्र=निर्वीर्य, निर्बल प्रजाएँ (शकधूमम्) सबको कंपा देनेवाले पुरुष को (राजानम्) राजा (अकुर्वत) बना लेती हैं। यह वर्णन ऐतिहासिक वृत्त नहीं है, अपितु सृष्ट्युत्पत्ति का दार्शनिक रूप है। यह एक शाश्वतविचाररूप है कि मनुष्य-सृष्टि के प्रारम्भ में किस प्रकार की सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवस्था होती है। इस मन्त्र से स्पष्ट है कि राज्यव्यवस्था भयमूलक है। बीसवें काण्ड के १४वें सूक्त के प्रथम मन्त्र में बड़ा स्पष्ट कहा है—

वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद् भरन्तोऽवस्यवः ।
वाजे चित्रं हवामहे ॥

अर्थात्—हे (अपूर्व्य) अपूर्वशक्तिसम्पन्न सम्राट् (अवस्यवः) आपसे रक्षा चाहनेवाले हम प्रजाजन आपको

https://t.me/arshlibrary

वह सभेश राजा इन्द्र अर्थात् विद्युत् के समान शीघ्र ऐश्वर्यकर्त्ता, वायु के समान सबका प्राणवत् प्रिय और हृदय की बात जाननेहारा, यम=पक्षपातरहित न्यायाधीश के समान वर्त्तनेवाला, सूर्य के समान न्याय, धर्म, विद्या का प्रकाशक, अन्धकार अर्थात् अविद्या, अन्याय का निरोधक, अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करनेहारा, वरुण अर्थात् बाँधनेवाले के सदृश दुष्टों को अनेक प्रकार से बाँधनेवाला, चन्द्र के तुल्य श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्ददाता, धनाध्यक्ष के समान कोशों का पूर्ण करनेवाला सभापति होवे ॥१॥

जो सूर्यवत् प्रतापी, सबके बाहर और भीतर मनों को अपने तेज से तपानेहारा, जिसको पृथिवी में करड़ी दृष्टि से देखने को कोई भी समर्थ न हो ॥२॥

और जो अपने [प्रभाव] से अग्नि, वायु, सूर्य, सोम, धर्मप्रकाशक, धनवर्द्धक, दुष्टों का बन्धनकर्त्ता, बड़े ऐश्वर्यवाला होवे, वही **सभाध्यक्ष=सभेश होने के योग्य** होवे ॥३॥

(हवामहे) राजगद्दी पर बुलाते हैं; (त्वां भरन्तः) आपके भरण-पोषण की (कर आदि के द्वारा) व्यवस्था हम करेंगे ।

आत्मरक्षा की भावना से प्रेरित होकर ही राजा की नियुक्ति की जाती है । राजा के पर्यायवाची 'राजन्य','बाहुज' 'क्षत्रिय' (क्षतात् त्रायतेऽसौ स क्षत्रियः) आदि शब्दों से भी यही ध्वनि निकलती है । वेद के कथनानुसार क्षत्रिय का समाज में वही स्थान है जो शरीर में भुजाओं का—**'बाहू राजन्यः कृतः'**; रक्षा के लिए क्षत्रिय=राजा की शरण वैसे ही ली जाती है, जैसे ज्ञान के लिए ब्राह्मण की—**'ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यम्'** ।

ऐतरेयब्राह्मण के अनुसार राजा की उत्पत्ति विजय के निमित्त नेतृत्व की आवश्यकता का परिणाम है । उसमें बताया है कि जब इस संसार में देवों और असुरों में युद्ध हो रहा था और देवता निरन्तर परास्त हो रहे थे तो उन्होंने सोचा कि हमारा कोई राजा नहीं है, इसीलिए हम सदा हारते हैं । हम लोगों को भी कोई राजा बनाना चाहिए । ऐसा निश्चय कर उन्होंने सोम को राजा चुना और उन्होंने असुरों पर विजय प्राप्त की । **'विद्वांसो हि देवाः'**—विद्वानों के लिए भी अपना संगठन बनाना और किसी को अपना नेता नियुक्त करना उतना ही आवश्यक है जितना दूसरों के लिए ।

महाभारत के शान्तिपर्व अ० ५९ में भी भीष्मपितामह और युधिष्ठिर के बीच राजत्वविषयक वार्त्तालाप हुआ, उसमें राजा और उससे सम्बन्धित बहुत-सी बातों का अत्यन्त विशद वर्णन पाया जाता है । भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर को बताया था—प्राचीनकाल में न कोई राजा था और न कोई राज्य । कुछ समय बाद लोगों ने देखा कि केवल पारस्परिक सहयोग पर्याप्त नहीं है । लोगों ने विष्णु से परामर्श करके एक राजा निर्वाचित करना आवश्यक समझा । ..... वेणु स्वेच्छापूर्वक शासन करने लगा तो लोगों ने उसे राज्यच्युत करके मार डाला । तब लोगों ने वेणु के वंशज पृथु को राजा चुना । वह इन्द्र की भाँति रूपवान्, वचयुक्त, धनुर्धारी, वेदवेदांग का ज्ञाता और धनुर्वेद का पारदर्शी था । उस नरश्रेष्ठ को समग्र दण्डनीति का ज्ञान था । उस पृथु ने हाथ जोड़कर ऋषियों से कहा कि आप मुझे संक्षेप से बताएँ कि मैं क्या करूँ । तब उन ऋषियों ने कहा—'जो धर्मयुक्त हो वही कार्य निःशंक होकर करो । कौन प्रिय है और कौन अप्रिय, इसका विचार छोड़कर सब प्राणियों से समान व्यवहार करो । काम, क्रोध, लोभ और मान का विचार दूर से ही त्याग दो । जो मनुष्य धर्म से विचलित हो, शाश्वत धर्म का विचार करके अपने बाहुबल से उसे रोको । मन, वाणी और कर्म से यह प्रतिज्ञा करो कि आप जो कहेंगे उसे पृथिवी का वेद समझकर उसका पालन करूँगा । जो नित्यधर्म दण्डनीति में कहा है, निःशंक होकर उसका पालन करूँगा ।' पृथु ने इन

https://t.me/arshlibrary

आदेशों का पालन करने तथा अच्छी तरह शासन करने की प्रतिज्ञा की। उसने धर्म तथा वचन के अनुसार शासन किया। प्रजा उससे प्रसन्न थी, इसलिए वह राजा कहलाया—**'सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत'** (अथर्ववेद १५।८।१)। 'अरज्यत' व 'राजन्यः'— इन शब्दों से प्रतीत होता है कि वेद ने 'रञ्ज्' धातु मानी है, जिसका अर्थ 'राग' अर्थात् प्रजा से अनुराग अर्थात् प्रजारञ्जन है। उणादि ३।१०० में राजन्य पद का व्युत्पादन **'राजृ दीप्तौ'** द्वारा किया है। कालिदास ने 'राजन्' शब्द में रञ्ज धातु का प्रयोग किया है। यथा—**'राजा प्रकृतिरञ्जनात्'** (रघुवंश २।१२) ; **'राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः'** (रघुवंश ६।१२) तथा **'तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात्'** (रघुवंश ४।१२)।

इसी से मिलती जुलती, किन्तु अधिक व्यवहारोपयोगी एक और आख्यायिका शान्तिपर्व के ६७वें अध्याय में मिलती है। अराजक राष्ट्र के विषय में वहाँ लिखा है कि जहाँ कोई राजा नहीं होता वहाँ धर्म नहीं ठहरता और लोग एक-दूसरे को खाते हैं, वे अपने धन और स्त्री का भोग नहीं कर सकते। दुष्ट लोग दूसरों के धन का हरण करके प्रसन्न होते हैं। परन्तु जब उनका अपना धन हरा जाता है तो सोचते हैं कि राजा होता तो ठीक था। पापियों को भी सुख नहीं मिलता। एक का माल दो छीनते हैं तो दो का बहुत। वे स्वतन्त्र मनुष्यों को दास बनाते हैं और स्त्रियों का हरण करते हैं। इसलिए देवताओं ने प्रजापालक की स्थापना की। यदि संसार में दण्डधारी राजा न हो तो जैसे जल में बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खाती हैं, वैसे बलवान् निर्बलों को खा जाएँ। जब इस प्रकार की अवस्था हुई और प्रजा का नाश होने लगा तब सबने मिलकर निश्चय किया कि जो हममें कटुभाषी, उद्दण्ड, पर-स्त्रीगामी और दूसरे का धन हरनेवाला होगा उसे हम बहिष्कृत कर देंगे। इस प्रकार सब वर्णों में विश्वास उत्पन्न करने के लिए ऐसी प्रतिज्ञा करके वे ब्रह्मा के पास जाकर बोले कि हम लोगों में राजा न होने से हमारी बड़ी हानि हो रही है। इसलिए हमें कोई ईश्वर दीजिए जिसकी हम पूजा करें और जो हमारा परिपालन करे। ब्रह्मा ने मनु को इस काम के लिए चुना। सब लोगों ने मनु का अभिनन्दन किया। मनु ने कहा कि मैं पाप से डरता हूँ और राजकार्य है भी बड़ा कठिन, विशेषकर ऐसे मनुष्यों में जो सदा मिथ्याचार करते हैं। इसपर लोगों ने कहा कि आप डरें नहीं, पाप करनेवाला ही दण्ड भोगेगा। हम लोग आपके कोष के लिए पशुओं और स्वर्ण का ५० वाँ भाग और धान्य का दसवाँ भाग देंगे। जैसे इन्द्र के पीछे सब देवता चलते हैं, वैसे ही उत्तम शस्त्रधारी लोग आपके पीछे चलेंगे। जैसे कुबेर यक्षों की रक्षा करते हैं, वैसे ही आप हमारी रक्षा करें। राजा से रक्षित होकर प्रजा जो धर्माचरण करेगी उसका चतुर्थांश फल आपको मिलेगा। उसी धर्म से बलवान् होकर आप हमारी वैसे ही रक्षा करें जैसे देवताओं की इन्द्र करते हैं। सूर्य की भाँति शत्रुओं को तपाते हुए आप विजय के निमित्त यात्रा कीजिए और शत्रुओं को अभिभूत कीजिए, आपकी सदा जय होगी। मनु ने इसे स्वीकार किया।

इन आख्यायिकाओं से स्पष्ट है कि मात्स्यन्याय से दुःखी होकर लोगों ने राजा की आवश्यकता अनुभव की। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। समाज में जब कोई आपत्ति सिर उठाती है तब आपसे आप लोगों में यत्र-तत्र-सर्वत्र उकी चर्चा होने लगती है। वेद के शब्दों में प्रजाशक्ति उत्क्रान्त होती है। जब वह चर्चा बहुत व्यापक हो जाती है तो लोग एकत्र बैठकर उसपर विचार करने लग जाते हैं। सभा-समितियों का गठन होने लगता है। गम्भीरता से विचार करने और समस्या का हल निकालने की शक्ति हर किसी में नहीं होती, इसलिए यह काम समाज के बुद्धिजीवी लोगों पर छोड़ दिया जाता है। ये बुद्धिजीवी या समझदार लोग ही देवता कहलाते हैं और उनके विचार या चिन्तन का नाम मन्त्र है। इन

https://t.me/arshlibrary

विद्वज्जनों में जो प्रमुख होता है वह ब्रह्मा (बृहत्वाद् ब्रह्म) कहाता है। अनुगीता, अध्याय २६ में कहा है —

हिरण्यगर्भो भगवान् एष बुद्धिरिति स्मृतः ।
महानिति च योगेषु विरंचिरिति चाप्यजः ॥
महानात्मा मतिर्विष्णुः जिष्णुः शम्भुश्च वीर्यवान् ।
बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च तथा ख्यातिर्धृतिः स्मृतिः ।
पर्यायवाचकैः शब्दैः महानात्मा विभाव्यते ॥

इसी प्रकार वायुपुराण में लिखा है —

मनोमहान् मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः ।
प्रज्ञा चितिः स्मृतिः संवित् विपुरं चोच्यतेः बुधैः ॥ —वा० पु० अ० ४

मानव इतिहास के आदिकाल में एक आन्दोलन उठा। लोगों ने पारस्परिक व्यवहार के लिए आवश्यक नियम बनाये। यह भी निश्चय हुआ कि जो इन नियमों के विरुद्ध आचरण करेगा उसे समाज से बहिष्कृत कर दिया जाएगा। यह सब हो जाने पर भी सबने उस व्यवस्था का पालन नहीं किया। उद्दण्ड और उच्छृंखल लोग बलादि के मद में नियम तोड़ने लगे। इस मात्स्यन्याय से दुःखी होकर प्रजा ने ऐसे पुरुष की आवश्यकता अनुभव की, जो कानून तोड़नेवालों का दमन करके जनता द्वारा बनाये गये नियमों का बलपूर्वक पालन करा सके। समाज में जो देवता अर्थात् विद्वान् लोग थे उन्होंने परस्पर मिलकर विचार किया और इस विषय में ब्रह्मा=समाज में वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध तथा सर्वमान्य किन्तु निर्लिप्त व्यक्ति के पास जाकर उससे परामर्श करने का निश्चय किया। ब्रह्मा ने उनसे कहा कि इस कार्य के लिए मनु सर्वाधिक उपयुक्त पुरुष है। प्रजा ने वैसा ही किया। कौटिलीय अर्थशास्त्र में महामति चाणक्य ने लिखा है—

मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे ।
धान्यं षड्भागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः ॥ —अर्थशास्त्र अधि०१ कौ० १३।६-७

इस वृत्तान्त के अनुसार राजा का कर्त्तव्य है कि वह समाज को धर्म (कानून) के अनुसार व्यवस्थित करे, अपराधियों का दमन करे और प्रजा उसे निर्धारित कर दे। यहाँ एक बात ध्यान रखने की है कि प्रजा ने राजा को मनमाने नियम बनाने का अधिकार नहीं दिया, यह अधिकार उसने अपने लिए सुरक्षित रखा। प्रजा द्वारा निर्मित नियमों का प्रजा द्वारा परिपालन कराने तक ही उसके अधिकार को सीमित रखा। पाश्चात्य विचारकों ने इसे सामाजिक क़रार का नाम दिया। फ्राँस में राज्यक्रान्ति के अवसर पर रूसो के 'Social Contract' नामक ग्रन्थ का जनता पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा। इस ग्रन्थ में प्रतिपादित प्रक्रिया के अनुसार अपनी सामूहिक सुविधा के लिए व्यक्ति अपने अधिकार समाज को देते हैं। फिर समाज अपने अधिकार राजा को देता है। इस प्रकार राजा का अधिकार समाज की सहमति पर निर्भर है। वास्तविक सत्ता जनता या प्रजा की है। प्रजा पहले है, राजा पीछे। राजा और प्रजा दोनों प्रतिज्ञाबद्ध हैं। यदि राजा अपने कर्त्तव्य का ठीक-ठीक पालन नहीं करता तो प्रजा को अधिकार है कि वह उस राजा को न केवल राज्यच्युत करदे, अपितु उसके अपराध के लिए उसे दण्डित करे। महाभारतान्तर्गत आख्यायिका में वेन को मृत्युदण्ड दिये जाने का उल्लेख है। अन्य देशों में भी राजा इसी प्रकार दण्ड के भागी बनते रहे हैं और आज भी बनते हैं।

सामाजिक क़रार (Social Contract) के सिद्धान्त का वर्णन सबसे पहले अथर्ववेद (२०।१४।१) में मिलता

https://t.me/arshlibrary

है, जहाँ राजा का आह्वान करते हुए प्रजाजन कहते हैं कि रक्षा चाहनेवाले (अवस्यवः) हम लोग (वयम्) आपको, बुलाते हैं (हवामहे) और करादि के द्वारा आपके भरण-पोषण की प्रतिज्ञा करते हैं (त्वां भरन्तः)।

राजा के आठ गुण—उपर्युक्त **'इन्द्रानिल से महेन्द्रः प्रभावतः'** पर्यन्त श्लोकों में भगवान् मनु ने एक आदर्श राजा में अपेक्षित आठ गुणों का उल्लेख किया है। प्रस्तावनारूप इससे पहले श्लोक में भगवान् मनु कहते हैं—

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥३॥

इस श्लोक में राजा की आवश्यकता बतलाते हुए मनु कहते हैं कि राजा के बिना इस जगत् में सब ओर भय के कारण व्याकुलता फैल जाने पर इस सब समाज और राज्य की सुरक्षा के लिए प्रभु ने राजा नाम से अभिहित विशिष्ट पुरुष को बनाया अर्थात् प्रजाजनों को राजा बनाने की प्रेरणा की। अगले श्लोक में चमत्कार पैदा करने के लिए अलंकारयुक्त भाषा में बताया कि परमेश्वर ने (शाश्वतीः मात्रा निर्हृत्य) इनकी स्वाभाविक मात्राओं=गुणों के अंशों का सार लेकर राजा के व्यक्तित्व का निर्माण किया। 'च' से पूर्व श्लोक के 'राजानमसृजत्' क्रियापद की अनुवृत्ति है। इन गुणों की व्याख्या इस प्रकार है—

१. **इन्द्र**—जैसे इन्द्र भरपूर वर्षा करके जगत् को तृप्त करता है, वैसे राजा अपनी प्रजा को सुख की वर्षा से तृप्त करे, अर्थात् उनको सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ, ऐश्वर्य प्रदान करके सन्तुष्ट करे। **'इदि परमैश्वर्ये'** भ्वादि धातु से **'ऋज्रेन्द्राग्नवज्र** (उणादि २।२८) सूत्र से 'रन्' प्रत्यय के योग से इन्द्र शब्द सिद्ध होता है। **'इन्दतेर्वा ऐश्वर्यकर्मणः'** (निरुक्त १०।८) = ऐश्वर्यप्रदाता होने से इन्द्र कहलाता है। ७।७ में इसके पर्यायवाची रूप में 'महेन्द्र' का प्रयोग है।

२. **वायु (अनिल)**— जैसे वायु सब प्राणियों, स्थानों में प्रवि ट होकर विचरण करता है, उसी प्रकार राजा को अपने गुप्तचरों द्वारा सर्वत्र प्रविष्ट-होकर अपनी तथा शत्रु की सब बातों की जानकारी रखनी चाहिए। **'वा गतिगन्धनयोः'** अदादि धातु से **'कृवापाजि०'** (उणादि १।१) सूत्र से 'उः' प्रत्यय के योग से 'वायु' शब्द सिद्ध होता है। **' वायुर्वातेर्वर्तेर्वा स्याद् गतिकर्मणः'** (निरुक्त ११।५)। ६।३०६ में 'मारुत' का प्रयोग है।

३. **यम**—परमेश्वर की नियन्त्रक वा मारक शक्ति। जैसे परमेश्वर कर्मफल का समय आने पर अपने-पराये सबको धर्मपूर्वक अर्थात् न्यायानुसार दण्डित करता या मारता है, उसी प्रकार राजा को भी अपराध करने पर अपने-पराये का भेद न करके सबको समानरूप से दण्ड देना चाहिए और अपने वश में रखना चाहिए। ७।७ में मनु ने यम का पर्यायवाची 'धर्मराट्' ग्रहण किया है। धर्म अर्थात् न्यायपूर्वक शासन करनेवाला धर्मराट् होता है। स० प्र० के प्रथम संस्करण में 'न्यायाधीश के समान वर्त्तनेवाला' के आगे इतना विशेष लिखा है —"जैसे भरत राजा ने अपने पुत्र का स्वहस्त शिरश्छेद कर दिया था और सगर ने अपना एक पुत्र असमंजस वन में निकाल दिया था। यह बात महाभारत में विस्तार से लिखी है कि जब अपने पुत्र का पक्षपात न किया तो और का कैसे करेंगे ?" प्रथम संस्करण में 'यम' की व्याख्या में यह वाक्य बड़े महत्त्व का है — "राजा भी धन की रक्षा सदा करे जिससे राजा के ऊपर ऋण वा दरिद्र कभी न होवे। अपने वा प्रजा के ऊपर जब आपत्काल आवे तब उस धन से अपनी वा प्रजा की रक्षा कर लेवे।" इस प्रकार यहाँ ग्रन्थकार ने राजा को अपनी ओर से परामर्श दिया है कि आपात्-स्थिति (Emergency) के लिए एक सुरक्षित कोष (Reserve Fund) की व्यवस्था अवश्य करे जो आड़े वक्त में काम आ सके।

https://t.me/arshlibrary

४. **अर्क**—जैसे सूर्य अपनी किरणों द्वारा सन्तप्त किये बिना जल ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजा को कष्ट पहुँचाये बिना कर ग्रहण करे। **'अर्च पूजायाम्'** भ्वादि धातु से **'कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः'** (उणादि ३।४०) सूत्र से 'क' प्रत्यय के योग से 'अर्क' शब्द सिद्ध होता है। ६।३०५ में 'अर्क' के पर्यावाची 'आदित्य' का प्रयोग है।

५. **अग्नि**—जैसे अग्नि अशुद्धि का नाश करके शुद्धि करनेवाली होती है और तेजयुक्त करती है, उसी प्रकार राजा अपराध, हानि एवं दुष्टता करने तथा प्रजा को पीड़ित करनेवालों को प्रभावशाली ढंग से सन्तापित करनेवाला एवं दण्ड से सुधारनेवाला होवे। **'अगि गतौ'** धातु से **'अङ्गेर्नलोपश्च'** (उणादि ४।५०) सूत्र से 'निः' प्रत्यय के योग से 'अग्नि' निष्पन्न होता है।

६. **वरूण**—जैसे जल अपने तरंग या भंवररूपी पाश में प्राणियों को फँसा लेता है उसी प्रकार राजा अपराधियों और शत्रुओं को बन्धन या कारागार में डाले। **'वृञ् वरणे'** स्वादि धातु से **'कृवृदारिभ्य उनन्'** (उणादि० ३।५३) सूत्र से 'उनन्' प्रत्यय से निष्पन्न।

७. **चन्द्र**—जैसे चन्द्रमा शीतलता प्रदान करता है और पूर्णिमा के चन्द्रमा को देखकर सब प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार राजा अपनी प्रजा को शान्ति और प्रसन्नता देनेवाला हो। उसे राजा के रूप में देखकर सबको हर्ष हो। **'चदि आह्लादने दीप्तौ च'** भ्वादि धातु से **'स्फायितञ्जिवञ्चि'०** (उणादि २।१३) सूत्र से 'रक्' प्रत्यय से सिद्ध। ७।७ में पर्यावाची सोम है।

८. **वित्तेश**—७।७ और ६।३११ में इसके पर्यायवाची क्रमशः कुबेर और धरा (पृथिवी) शब्दों का ग्रहण किया है। जैसे धरती तथा धनेश परमेश्वर समानभाव से सब प्राणियों का पोषण करते हैं, उसी प्रकार राजा पक्षपातरहित होकर समानभाव से पुत्रवत् सबका पालन करे। मनु ६।३०४-३१० में राजा के अग्नि आदि होने का हेतु इस प्रकार दिया है—

वार्षिकांश्चतुरो मासान् यथेन्द्रोऽभिवर्षति ।
तथाभिवर्षेत्स्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥
अष्टौ मासान् यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः ।
तथा हरेत् करं राष्ट्रात् सम्यगर्कव्रतं हि तत् ॥
प्रविश्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः ।
तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥
यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति ।
तथा राज्ञा नियन्तव्यः सर्वस्तद्धि यमव्रतम् ॥
वरुणेन यथा पाशैर्बद्ध एव हि दृश्यते ।
तथा पापान्निगृह्णीयाद् व्रतमेताद्धि वारुणम् ॥
परिपूर्णं यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः ।
तथा प्रकृतियो यस्मिन् सचान्द्रव्रतिको नृपः ॥
प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु ।
दुष्टसामन्तहिंस्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

अर्थात्—जैसे इन्द्र चार मास अच्छी वर्षा करता है वैसे ही इन्द्रव्रत को करता हुआ राजा राष्ट्र पर कामनाओं की वर्षा करे। जैसे सूर्य आठ मास किरणों के द्वारा जल लेता है, वैसे ही राजा राष्ट्र से कर लेवे, यह उत्तम सूर्यव्रत है। सब पदार्थों में प्रविष्ट होकर जैसे वायु विचरता है, वैसे ही राजा को गुप्तचरों के द्वारा सबमें प्रविष्ट होना चाहिए, यह मारुतव्रत है। जैसे यम समय आने पर प्रिय-अप्रिय सबको नियन्त्रित करता है, वैसे ही राजा भी सबको नियन्त्रित करे, यह यमव्रत है। जैसे सब विश्व वरुण के पाशों में बँधा दीखता है वैसे ही राजा सबको दण्ड देवे, यह वरुणव्रत है। जैसे पूर्ण चन्द्र को देखकर सब प्रसन्न होते हैं, वैसे ही जिससे सब प्रजाएँ प्रसन्न हों, वह राजा चान्द्रव्रतिक है। राजा पापियों पर प्रतापयुक्त तथा नित्य तेजस्वी हो और और दुष्टों का घातक हो, यह आग्नेयव्रत है।

नारदस्मृति में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है —

कारणान्निर्निमित्तं वा यथा क्रोधवशं गतः ।
प्रजां दहति भूपालस्तदाग्निरभिधीयते ॥
यदा तेजः समालम्बेद् विजिगीषुरुदायुधः ।
अभियाति परान् राजा तदेन्द्रः समुदाहृतः ॥
विगतक्रोधसन्तापो हृष्टरूपो यदा नृपः ।
प्रजानां दर्शनंयाति सोम इत्युच्यते तदा ॥
धर्मासनगतः श्रीमान् दण्डं धत्ते यदा नृपः ।
समः सर्वेषु भूतेषु तदा वैवस्वतो यमः ॥
यदा त्वर्थिगुरून् प्राज्ञान् भृत्यादीन् पृथिवीपतिः ।
अनुगृह्णाति दानेन तदा धनद उच्यते ॥ १७।२७-३१

अर्थात् जब राजा सकारण वा अकारण क्रुद्ध होकर प्रजा को सन्तप्त करता है, तब वह अग्नि कहाता है। जब विजय का अभिलाषी होकर, हथियार उठाकर, तेजस्वी बनकर शत्रुओं पर आक्रमण करता है, तब उसे इन्द्र कहते हैं। क्रोध और सन्ताप से रहित होकर जब प्रजाओं पर प्रसन्नरूप हुआ दृष्टिगोचर होता है, तब वह सोम कहलाता है। जब राजा धर्मासन=न्यायासन पर बैठकर सब प्राणियों के प्रति समताभाव से दण्ड धारण करता है, तब वह यम है। जब सब याचकों, बड़ों, ज्ञानियों, नौकरों आदिक को दान के द्वारा अनुगृहीत करता है तब वह धनद अर्थात् कुबेर कहाता है। इसका तात्पर्य यह है कि राजा इन गुणों के कारण इस नामवाला है। यही उसका अंशहरत्व है।

मनु ६।३११ में राजा की उपमा पृथिवी से दी है —

यथा सर्वाणि भूतानि धारा धारयते समम् ।
तथा सर्वाणि भूतानि बिभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥

अर्थात् जैसे पृथिवी सब भूतों (प्राणियों) को समानरूप से धारण करती है, वैसे ही सब प्राणियों को समानरूप से धारण करनेवाले राजा का पृथिवीसम्बन्धी व्रत है। व्रत का अर्थ आचार-नियम है।

चतुर्थ समुल्लास में वर्णव्यवस्था का विवेचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि "वर्णों को अपने-अपने अधिकार में प्रवृत्त करना राजा आदि का काम है।" इस सिद्धान्त के अनुसार धर्मार्य आदि

https://t.me/arshlibrary

[सच्चा राजा=दण्ड]

सच्चा राजा कौन है—

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥१॥
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥२॥

सभाओं में प्रत्येक सभा के कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्तियों को ही तत्तत् सभा का सभासद नियुक्त किया जाना चाहिए । धर्मार्यसभा का मुख्य कार्य कानून बनाना है । त्यागी, संयमी तपस्वी, सन्तोषी और लोभ-लालच की वृत्ति से रहित, सत्यनिष्ठ तथा परोपकार के व्रती ब्राह्मण लोग जब राजसभाओं में जाकर कानून बनाएँगे तो वे कानून सभी अर्थों में धरती पर धर्मराज्य स्थापित करनेवाले होंगे । ऐसे ब्राह्मण जब सभाओं के सदस्य होगें तो स्वयं निःस्वार्थ एवं निष्पक्ष होने के कारण उनकी दृष्टि राजा और राजकर्मचारियों पर रहेगी । ऐसी स्थिति में कहीं भी अन्याय या अत्याचार नहीं होगा । वर्तमान परिप्रेक्ष्य में 'ब्राह्मण' और 'राजन्य' क्रमशः विधायिका (=धर्मसभा =Legislature) तथा कार्यपालिका (=राजसभा =Executive) के पर्याय होंगे । विधि-विधान का निर्माण सर्वविद्यानिष्णात ब्राह्मण कर सकते हैं, जबकि उसका कार्यान्वयन क्षत्रिय कर सकते हैं, जिन्हें शासन द्वारा निर्धारित नियमों का उल्लंघन करनेवालों को नियन्त्रित करने तथा आवश्यकता पड़ने पर बलप्रयोग का अधिकार और सामर्थ्य प्राप्त है । विधायिका और कार्यपालिका के परस्पर सहयोग और न्यायपालिका (Judiciary) के अनुशासन से ही शासनव्यवस्था सुचारुरूप से चल पाती है । सेना और पुलिस का अपर नाम क्षत्रिय है । डॉ० राधाकृष्णन ने ठीक लिखा है —

"Inspite of its attachment to the principle of non violence, Hindu Society made room for a group dedicated to the use of force, the kshatriyas. As long as human nature is what it is , as long as society has not reached its highest level, we require the use of force, so long as society has individuals who are hostile to all order and peace, it has to develop controls to check the anti-social elements. These anti-social forces gather together for revolt when the structure of society is shaken by war or internal dissentions."

— Hindu View of life, p . 78

तीनों सभाओं के ऐसे आदर्श सभासदों में सर्वश्रेष्ठ मानव को सभापति बनाये जाने का निर्देश ग्रन्थकार ने किया है । इसका अभिप्राय है कि राजा और प्रजा (सभा के सदस्य) मिलकर तीन सभाएँ बनाएँगे और तीनों सभाएँ मिलकर अपने में से योग्यतम पुरुष को सभापति बनाएँगी । समिति की स्वतन्त्र सत्ता है । वह भी अपने में से योग्यतम को अपना सभापति नियुक्त करेगी, परन्तु इस सभा और समिति का निर्माण कैसे होगा, इसका कोई निर्देश ग्रन्थकार ने नहीं किया ।

सभेश राजा—इससे तो राजा और सभापति दोनों एक संयुक्त पद प्रतीत होता है, परन्तु जैसाकि हम आगे देखेंगे, राजा के चुनाव की प्रक्रिया पूर्वोक्त सभेश या सभापति से बिल्कुल भिन्न है । फिर 'इन्द्राऽनिल, इत्यादि श्लोकों में जिन गुणों का उल्लेख हुआ है वे निश्चय ही राजा में उपपन्न होते हैं 'सभाध्यक्ष' या 'सभेश' में नहीं । सभा और समिति दोनों का भी एक अध्यक्ष नहीं हो सकता । इससे पूर्व **'सभ्य सभां मे**

https://t.me/arshlibrary

समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः ।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥३॥
दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन् सर्वसेतवः ।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥४॥
यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत् साधु पश्यति ॥५॥
तस्याहुः सम्प्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥६॥
तं राजा प्रणयन् सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्द्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥७॥

[कामी, मूर्ख, लोभी दण्ड धारण नहीं कर सकता]

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥८॥
सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥९॥
शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥१०॥

—मनु० ७।१७, १६, २४,—२८, ३०, ३१

पाहि' इत्यादि मन्त्र में भी राजा, सभापति (मुख्य सभासद) को सम्बोधित करता है । इससे भी राजा और सभापति दो स्वतन्त्र सत्ताएँ ठहरती हैं ।

दण्डः शास्ति—दण्ड की उपयोगिता के विषय में 'शुक्रनीतिसार' में लिखा है —

निवृत्तिरसदाचाराद् दमनं दण्डतश्च यत् ।
येन संदम्यते जन्तुरूपायो दण्ड एव सः ।
स उपायो नृपाधीनः स सर्वस्य प्रभुर्यतः ॥
जायते धर्मनिरता प्रजा दण्डभयेन च ।
करोत्याधर्षणं नैव तथा चासत्यभाषणम् ॥
क्रूराश्च मार्दवं यान्ति दुष्टा दौष्ट्यं त्यजन्ति च ।
पशवोऽपि वशं यान्ति विद्रवन्ति च दस्यवः ॥
पिशुना मूकतां यान्ति भयं यान्त्याततायिनः ।
करदाश्च भवन्त्यन्ये वित्रासं यान्ति चापरे ।
अतो दण्डधरो नित्यं स्यान्नृपो धर्मरक्षणे ॥

https://t.me/arshlibrary

जो दण्ड है वही पुरुष, राजा, — वही न्याय का प्रचारकर्त्ता, और सबका शासनकर्त्ता, वही चार वर्ण और चार आश्रमों के धर्म का प्रतिभू अर्थात् जामिन है ॥१॥

वही प्रजा का शासनकर्त्ता, सब प्रजा का रक्षक, सोते हुए प्रजास्थ मनुष्यों में जागता है, इसीलिए बुद्धिमान् लोग दण्ड ही को 'धर्म' कहते हैं ॥२॥

जो दण्ड अच्छे प्रकार विचार से धारण किया जाए, तो वह सब प्रजा को आनन्दित कर देता है और जो विना विचारे चलाया जाए, तो सब ओर से राजा का विनाश कर देता है ॥३॥

विना दण्ड के सब वर्ण दूषित, और सब मर्यादा छिन्न-भिन्न हो जाएँ । दण्ड के यथावत् न होने से सब लोगों का प्रकोप हो जावे ॥४॥

जहाँ कृष्णवर्ण, रक्तनेत्र, भयंकर पुरुष के समान पापों का नाश करनेहारा दण्ड विचरता है, वहाँ प्रजा मोह को प्राप्त न होके आनन्दित होती है, परन्तु जो दण्ड का चलानेवाला पक्षपातरहित विद्वान् हो तो ॥५॥

जो उस दण्ड का चलानेवाला सत्यवादी, विचारके करनेहारा, बुद्धिमान्, धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि करने में पण्डित राजा है, उसी को उस दण्ड का चलानेहारा विद्वान् लोग कहते हैं ॥६॥

जो दण्ड को अच्छे प्रकार राजा चलाता है, वह धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि को बढ़ाता है और जो विषय में लम्पट, टेढ़ा, ईर्ष्या करनेहारा, क्षुद्र, नीचबुद्धि न्यायाधीश राजा होता है, वह दण्ड से ही मारा जाता है ॥७॥

जब दण्ड बड़ा तेजोमय है, उसको अविद्वान्, अधर्मात्मा धारण नहीं कर सकता, तब वह दण्ड धर्म से रहित [कुटुम्बसहित] राजा ही का नाश कर देता है ॥८॥

क्योंकि जो आप्त पुरुषों के सहाय, विद्या-सुशिक्षा से रहित, विषयों में आसक्त मूढ़ है, वह न्याय से दण्ड को चलाने में समर्थ कभी नहीं हो सकता ॥९॥

और जो पवित्र-आत्मा, सत्याचार, और सत्पुरुषों का सङ्गी, यथावत् नीतिशास्त्र के अनुकूल चलनेहारा, श्रेष्ठ पुरुषों के सहाय से युक्त बुद्धिमान् है, वह न्यायरूपी दण्ड के चलाने में समर्थ होता है ॥१०॥

इसलिए—

राज्ञां सदण्डनीत्या हि सर्वे सिध्यन्त्युपक्रमाः ।
दण्ड एव हि धर्माणां शरणं परमं स्मृतम् ॥
अहिंसैवासाधुहिंसा पशुवत् श्रुतिचोदनात् ॥ —शुक्र० ४।४४,४७-४६,५१-५२

अर्थ—दण्ड के द्वारा असत् (दुष्ट) आचरण से निवृत्ति और दमन होता है, अतः जिस उपाय से मनुष्य का अच्छी प्रकार से दमन होता है, उसे 'दण्ड' कहते हैं । यह दण्ड नामक उपाय राजा के अधीन होता है, क्योंकि वही सबका स्वामी होता है ।

दण्ड के भय से प्रजा अपने-अपने धर्म में निरत रहती है तथा वह किसी दुर्बल पर आक्रमण और असत्यभाषण नहीं करती । दण्ड से क्रूर लोग कोमल बन जाते हैं और दुष्ट लोग अपनी दुष्टता को छोड़ देते हैं । पशु भी दण्ड से वश में आ जाते हैं, दस्यु—डाकू, चोर, लुटेरे भाग जाते हैं । पिशुन (चुगुलख़ोर) चुप हो जाते है, आततायी लोग भयभीत हो जाते हैं, कर न देनेवाले कर देने लगते हैं, अतः धर्म की रक्षा

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

के लिए राजा को सदा दण्ड का प्रयोग करना चाहिए।

दण्डसहित नीति का व्यवहार करने से राजा के सभी कार्य सिद्ध होते हैं, क्योंकि दण्ड ही सारे धर्मों का एकमात्र रक्षक माना गया है। वेद द्वारा विहित हिंसक पशु के वध के समान दुष्ट पुरुषों की हिंसा अहिंसा ही है। वस्तुत **'हिंसायाः हिंसा अहिंसैव हिंसाया विघातत्वात्।'**

दण्ड के विभिन्न रूप—शुक्राचार्य के मत में —

निर्भर्त्सनं चापमानोऽनशनं बन्धनं तथा।
ताडनं द्रव्यहरणं पुरान्निर्वासनांकने॥
व्यस्तक्षौरमसद्यानमङ्गच्छेदो वधस्तथा।
युद्धमेते ह्युपायाश्च दण्डऽस्यैव प्रभेदकाः॥ —शुक्र० ४।४५-४६

अर्थात् —भर्त्सना (फटकारना, धिक्कारना, डाँटना आदि), अपमान (पदावनति), भूखा रखना, बन्धन में डालना, ताड़ना देना, धन छीन लेना, देश या नगर से निष्कासित कर देना, दाग देना, सिर मुँडवा देना, गधे आदि पर चढ़ाना, किसी अङ्गको कटवा देना, प्राणदण्ड देना या युद्ध करना —ये सब दण्ड के भेद हैं।

समीक्ष्य सः —दण्डव्यवस्था अत्यन्त दुष्कर कार्य है। वह सुविचारित होना चाहिए। जितना पाप अपराधी को दण्ड न देने में है, उससे कहीं अधिक किसी निरपराध को दण्ड देने में है। शुक्राचार्य कहते हैं—

दण्ड्यस्यादण्डनान्नित्यमदण्ड्यस्य च दण्डनात्।
अतिदण्डाच्च गुणिभिस्त्यज्यते पातकी भवेत्॥ —शुक्र ४।५३

दण्ड देने योग्य व्यक्ति को दण्ड न देने से, अदण्डनीय को दण्ड देने से तथा नियमानुसार आवश्यकता से अधिक दण्ड देने से गुणीजन राजा के विरुद्ध हो जाते हैं। ऐसा करने से राजा स्वयं भी पापी हो जाता है।

किन्तु जब तक प्रजा को राजा के पक्षपातरहित होकर न्यायपूर्वक दण्ड देनेवाला होने का विश्वास नहीं होगा तब तक यह व्यवहार में नहीं आ सकेगा। इसके लिए आवश्यक है कि राजा धर्म, अर्थ और काम के यथार्थ स्वरूप को जानकर तदनुसार आचरण करनेवाला हो। राजा को चाहिए कि वह **'परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मविवर्जितौ'** तथा इस बात का ध्यान रखे कि **'अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते'**। अर्थशुचिता और जितेन्द्रियता के बिना राजा के न्यायकारी होने की आशा नहीं की जा सकती। जिसे आप्त पुरुषों का सहयोग प्राप्त नहीं और जो विषयों में आसक्त है वह शास्त्रविहित दण्डविधान को व्यावहारिक रूप देने में समर्थ नहीं हो सकता।

यत्र श्यामः — इस श्लोक में दण्ड का आलंकारिक वर्णन के आधार पर रेखाचित्र प्रस्तुत किया गया है। जैसे कोई काले रंग का क्रोधयुक्त आँखोंवाला व्यक्ति भयावह मालूम होता है, उसी तरह दण्ड भी अपराधियों को जला देनेवाला प्रतीत होना चाहिए। दण्ड इतना कठोर होना चाहिए कि उसके ध्यानमात्र से लोग काँप उठें और अपराध का विचार आते ही उससे विरत हो जाएँ।

वेदशास्त्रविदर्हति— इसका अभिप्राय यह है कि वेदादि शास्त्रों में पारंगत व्यक्ति ही राज्य का संचालन करने योग्य हो सकता है। राजधर्म का प्रतिपादन करते हुए भगवान् मनु सप्तम अध्याय के आरम्भ में लिखते हैं—

https://t.me/arshlibrary

[राजा, परिषद् और पारिषद की योग्यता]

सैनापत्यं[1] च राज्यं च दण्डनेतृत्यमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥१॥
दशावरा वा परिषद् यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्रयवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥२॥
त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत् स्याद्दशावरा ॥३॥
ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्रयवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥४॥

ब्राह्मप्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम् ॥२॥

परम विद्वान् ब्राह्मण की भाँति पूर्ण विधि के अनुसार, अर्थात् उपनयन में दीक्षित होकर समावर्त्तनकाल तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए, सुशिक्षित क्षत्रिय का कर्त्तव्य है कि सम्पूर्ण राज्य की न्यायपूर्वक रक्षा करे । दण्डनेतृत्व के सन्दर्भ में मनु० ७।३१ का पूर्वोद्धृत **'शुचिना सत्यसन्धेन'** इत्यादि श्लोक द्रष्टव्य है ।

सैनापत्यम्—यहाँ शासनव्यवस्था के चार मुख्य अंगों के सर्वोच्च अधिकारियों—राष्ट्राध्यक्षों (राजा= Head of the State), शासनाध्यक्ष (मुख्य राज्याधिकारी=Head of the Government), मुख्य न्यायाधीश (Chief Justice or Head of the Judiciary), तथा मुख्य सेनापति (Commander-in-Chief of Defence Forces) का उल्लेख करते हुए यह निर्देश किया गया है कि सब विद्याओं के पूर्ण विद्वान् होने के कारण ये चार शासन-व्यवस्था के मुख्य स्तम्भ हैं । किसी भी महत्वपूर्ण विषय में निर्णय लेते समय इन चारों का परस्पर मिलकर विचार करना और एकमत होना अनिवार्य है ।

दशावरा वा—स्वामी वेदानन्दजी के अनुसार 'दशावरा और त्रयवरा परिषदें उन राजार्यसभा, धर्मार्यसभा तथा विद्यार्यसभा से पृथक् नहीं हैं । ये परिषदें उपसमितियाँ प्रतीत होती हैं । उपर्युक्त तीन सभाओं में से जब किसी कार्यविशेष के लिए उपसमिति बनाने की अपेक्षा हो, तो वह न्यून-से-न्यून दश विद्वानों की बनाई जाए और भी संख्या न्यून करना अभिमत हो तो तीन से न्यून तो किसी भी अवस्था में न होनी चाहिए ।' इस विषय में निश्चितरूप से कुछ भी कहना कठिन है, क्योंकि उक्त तीन सभाओं का निर्देश ही वर्त्तमान में उपलब्ध किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता ।

संस्कारविधि में गृहस्थाश्रम प्रकरण के अन्तर्गत इस श्लोक की व्याख्या में ग्रन्थकार ने लिखा है—"गृहस्थ लोग राजकार्यों को सिद्ध करने में कम-से-कम दश अर्थात् ऋग्वेदज्ञ, यजुर्वेदज्ञ, सामवेदज्ञ, हैतुक (नैयायिक), तर्ककर्त्ता, नैरुक्त (निरुक्तशास्त्रज्ञ), धर्माध्यापक, ब्रह्मचारी, स्नातक और वानप्रस्थ विद्वानों अथवा अति न्यून हो तो तीन वेदवित् (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद) विद्वानों की सभा से कर्त्तव्याकर्त्तव्य, धर्म और अधर्म का जैसा निश्चय हो वैसा ही आचरण किया करें ।"

---

१. 'संस्कारविधि' संस्करण १,२,३ में भी यही पाठ है । ग्रन्थकार ने ऋग्भाष्य १।१००।६; यजुर्भाष्य ६।२ के भावार्थ; तथा ऋग्भाष्य १।३२।२ के अन्वय में भी 'सैनापत्य' शब्द का प्रयोग किया है ।

https://t.me/arshlibrary

[अकेले भी विज्ञ संन्यासी का कथन प्रमाण]

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥५॥
अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां परिषत्वं न विद्यते ॥६॥
यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्मतद्विदः ।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति ॥७॥ —मनु० १२। १००, ११०-११५ ॥

त्रैविद्य—ऋक्, यजु, साम और अथर्व—ये चारों वेदत्रयी विद्यारूप कहाते हैं। इस प्रकार त्रैविद्य अर्थात् तीन वेदों के विद्वान्, (हैतुकः) चौथा हैतुक अर्थात् कारण-अकारण का ज्ञाता, (तर्की) पांचवाँ तर्की अर्थात् न्यायशास्त्रवित्, (नैरुक्त) छठा निरुक्त का जाननेवाला, (धर्मशास्त्रवित्) सातवाँ धर्मशास्त्र का ज्ञाता, (त्रयश्चाश्रमिणः) आठवाँ ब्रह्मचारी, नौवाँ गृहस्थ और दशवाँ वानप्रस्थ इन महात्माओं की सभा होवे (सं०वि०)।

यह मन्त्रिपरिषद् या मन्त्रिमण्डल की सूची प्रतीत होती है। अन्यत्र (शुक्रनीति २।७२-७३) राजा की आठ प्रकृतियों का निर्देश इस प्रकार किया है—

अष्टप्रकृतिभिर्युक्तो नृपः कैश्चित् स्मृतः सदा ।
सुमन्त्रः पण्डितो मन्त्री प्रधानः सचिवस्तथा ॥
अमात्यप्राड्विवाकश्च तथा प्रतिनिधिः स्मृतः ॥

इसके पश्चात् आचार्य कहते हैं—

विना प्रकृतिसन्मन्त्राद्राज्यनाशो भवेद् ध्रुवम् ।
रोधनं न भवेत्तस्माद्राज्ञस्ते स्युः सुमन्त्रिणः ॥ —२।८०

इन प्रकृतियों के साथ सम्यक् विचार-विमर्श किये बिना राजा यदि कोई कार्य करता है तो निश्चय ही उसके राज्य का नाश हो जाता है। प्रकृति के बिना राजा को कुमार्ग से भी नहीं रोका जा सकता। इसलिए राजा के मन्त्री अवश्य होने चाहिएँ।

ऋग्वेदविद्—यदि किसी कारण इस दशावरा (दस सदस्यीय) परिषद् की मन्त्रणा राजा को उपलब्ध न हो सके तो मनु का निर्देश है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद के ज्ञाता—कम-से-कम इन तीन सभासदों की त्रयवरा परिषद् की व्यवस्था तो अवश्य ही प्राप्त कर ले।

वेद का निर्देश है—**'बहुपाय्ये व्याचिष्टे यतेमहि स्वराज्ये'**।

राज्य का कार्य बहुतों के सहारे चलता है, इसलिए बहुतों की सम्मति के बिना राजा को कोई कार्य नहीं करना चाहिए, तथापि मनु का लोकतन्त्र विवेकहीन नहीं है। उसमें हाथों (मतों) की संख्या की तुलना में सिर (मस्तिष्क) का महत्व अधिक है—योग्यता तथा चरित्र सर्वोपरि है। इसलिए वे कहते हैं—

एकोऽपि वेदवित्—द्विजों में उत्तम, अर्थात् चतुर्थाश्रमी संन्यासी यदि अकेला भी कोई बात कहता है तो वह सबके लिए माननीय है। लाखों-करोड़ों मूर्खों की तुलना में एक आप्तपुरुष प्रमाण है। कुल्लूकभट्ट ने इस श्लोक की टीका में लिखा है—

https://t.me/arshlibrary

सब सेना और सेनापतियों के ऊपर राज्याधिकार, दण्ड देने की व्यवस्था के सब कार्यों का आधिपत्य, और सबके ऊपर वर्तमान सर्वाधीश राज्याधिकार, इन चारों अधिकारों में **सम्पूर्ण वेदशास्त्रों में प्रवीण**[1] पूर्ण विद्यावाले, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, सुशीलजनों को स्थापित करना चाहिए, अर्थात् **मुख्य सेनापति, मुख्य राज्याधिकारी, मुख्य न्यायाधीश और प्रधान अर्थात् राजा —ये चार सब विद्याओं में पूर्ण विद्वान् होने चाहिएँ ॥१॥**

न्यून-से-न्यून दश विद्वानों, अथवा बहुत न्यून हों तो तीन विद्वानों की सभा जैसी व्यवस्था करे, उस **धर्म** अर्थात् व्यवस्था का उल्लंघन कोई भी न करे ॥२॥

इस सभा में चारों वेद, [2]हैतुक अर्थात् कारण-अकारण का ज्ञाता, न्यायशास्त्र, निरुक्त, धर्मशास्त्रादि, के वेत्ता विद्वान् सभासद् हों, परन्तु वे ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ हों तब वह सभा होवे कि जिसमें दश विद्वानों से न्यून न होने चाहिएँ ॥३॥

और जिस सभा में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद के जाननेवाले तीन सभासद् होके व्यवस्था करे, उस सभा की की हुई व्यवस्था को भी कोई उल्लंघन न करे ॥४॥

यदि एक अकेला सब वेदों का जाननेहारा, द्विजों में उत्तम संन्यासी जिस धर्म की व्यवस्था करे, वही श्रेष्ठ धर्म है, क्योंकि अज्ञानियों के सहस्रों, लाखों, करोड़ों मिलके जो कुछ व्यवस्था करें, उसको कभी न मानना चाहिए ॥५॥

'एकोऽपि वेदार्थधर्मज्ञो यं धर्मं निश्चिनुयात् प्रकृष्टो धर्मः स बोद्धव्यो न वेदानभिज्ञानां दशभिः सहस्रैरप्युक्तः । वेदविच्छब्दोऽयं वेदार्थधर्मज्ञपरः । एतच्च श्रेष्ठोपलक्षणम् । स्मृतिपुराणमीमांसान्यायशास्त्रज्ञोऽपि गुरुपरम्परोपदेशविदपि तथा । 'केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्त्तव्यो विनिर्णयः । युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते ।' तेन बहुस्मृतिज्ञोऽपि यदि सम्यक् प्रायश्चित्तादिधर्मं जानाति तदा तेनाप्येकेन धर्म उक्तः प्रकृष्टो धर्मो विज्ञेयः । अतएव यमः—

'एको द्वौ वा त्रयो वापि यं ब्रूयुर्धर्मपाठकाः । स धर्म इति विज्ञेयो नेतरेषां सहस्रशः ।'

अव्रतानाम्—यहाँ 'जातिमात्र' का अर्थ 'जन्म से' अभिप्रेत है । इससे धर्मपरिषद् की सदस्यता ऐसे व्यक्तियों के लिए प्रतिषिद्ध है जो मात्र जन्म के आधार पर अपने को श्रेष्ठ समझते हैं, किन्तु अन्यथा (गुणों के आधार पर) उसके अयोग्य हैं । कुल्लूकभट्ट ने इस श्लोक की व्याख्या में लिखा है—

''सावित्र्यादिब्रह्मचारिव्रतरहितानां, मन्त्रवेदाध्ययनरहितानां, ब्राह्मणजातिमात्रधारिणां बहूनामपि मिलितानां परिषत्वं नास्ति, धर्मनिर्णयसामर्थ्याभावात् ।''

यं वदन्ति—वेदादि शास्त्र और प्रमाणादि से अनभिज्ञ मूर्ख व्यक्तियों द्वारा कथित धर्म वास्तव में धर्म नहीं होता, क्योंकि वे धर्म के स्वरूप को यथावत् नहीं जानते । अधर्म को धर्म के रूप में विहित करने से अनेक प्रकार की अविद्याएँ और भ्रान्तियाँ पनपती हैं, फिर उनसे पाप बढ़ता है । इस प्रकार समाज दूषित होता है । फलतः **'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः'** की लोकोक्ति के अनुसार अन्धे के पीछे चलनेवाले अन्धों के समान समाज भ्रमित होकर नष्ट हो जाता है ।

---

१. ऋषियों के उपदेशानुसार कोई राजा, प्रधान-मन्त्री वा राष्ट्रपति वेदविद्या-विहीन न होना चाहिए । भ० द० ॥

२. मनु० के श्लोक में वर्त्तमान 'हैतुक' का अर्थ यहाँ छूट गया है । इसे 'संस्कारविधि' के अनुसार पूरा किया है ।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

जो ब्रह्मचर्य-सत्यभाषणादिव्रत, वेदविद्या वा विचार से रहित, जन्ममात्र से शूद्रवत् वर्त्तमान हैं, उन सहस्रों मनुष्यों के मिलने से भी सभा नहीं कहाती ॥६॥

जो अविद्यायुक्त मूर्ख, वेदों के न जाननेवाले मनुष्य जिस धर्म को कहें, उसको कभी न मानना चाहिए, क्योंकि जो मूर्खों के कहे हुए धर्म के अनुसार चलते हैं, उनके पीछे सैकड़ों प्रकार के पाप लग जाते हैं ॥७॥ इसलिए तीनों अर्थात् विद्यासभा, धर्मसभा और राजसभाओं में मूर्खों को कभी भरती न करें[1], किन्तु सदा विद्वान् और धार्मिक पुरुषों का स्थापन करें और सब लोग ऐसे हों—

[राजा और सभासद् जितेन्द्रिय होवें]

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्त्तारम्भाँश्च लोकतः ॥१॥

त्रैविद्येभ्यः—'त्रैविद्य' शब्द पर पं० श्री युधिष्ठिर मीमांसक की यह टिप्पणी द्रष्टव्य है—

"मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि ने त्रैविद्य का अर्थ किय है—**'तिसृणां विद्यानां समाहारः त्रैविद्यम्, तदधीतिनः ।'** धर्मसूत्रों में प्रयुक्त 'त्रैविद्य' का ऐसा ही अर्थ प्रायः सभी टीकाकारों ने किया है । पर यह व्याकरणशास्त्र से असिद्ध है । महाभाष्य ४।२।६० में उदाहृत 'त्रैविद्य' की व्याख्या में कैयट ने लिखा है—**'त्रयवयवा विद्या त्रिविद्या, तामधीत इति प्रत्ययः कार्यः । तिस्रो विद्या वेद इति तु क्रियमाणे द्विगोर्लुग् (अ० ४।२।१) इति लुक् प्रसंगः ।'** अर्थात् तीन अवयववाली=तीन प्रकार की विद्या ऐसा अर्थ करना उचित है । 'तीन विद्याओं का जाननेवाला' ऐसा अर्थ करने पर तद्धितार्थ में द्विगु होगा और द्विगु से उत्तर प्रत्यय का लुक् हो जाएगा, अर्थात् त्रैविद्य शब्द नहीं बनेगा।

ये तीन प्रकार की विद्याएँ हैं—दण्डनीति, आन्वीक्षिकी और अध्यात्मविद्या । वेद में इन तीनों का प्राधान्येन वर्णन होने से चारों वेद त्रिविद्या या त्रयी कहाते हैं । ऋक्, यजुः और साम का क्रमशः पद्य, गद्य और गीति अर्थ करके चारों वेदों के लिए 'त्रयी' शब्द का व्यवहार उत्तरकालीन है । उससे भी उत्तरकालीन आचार्यों ने ऋक्, यजुः, साम के पद्य, गद्य और गीति अर्थों की उपेक्षा करके त्रयी शब्द से केवल ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का ग्रहण कर अथर्ववेद को त्रयी से अलग कर दिया है । इसी भाव से आचार्य कौटिल्य ने लिखा है—**'सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयी, अथर्ववेदेतिहासवेदौ च वेदाः'** (१।३) । त्रयी के इस अवरकालीन अर्थ को मुख्य मानकर पाश्चात्य विद्वान् ऋक्, यजुः और साम इन तीन को ही प्राचीन वेद मानते हैं और अथर्ववेद को अर्वाचीन कहते हैं । कौटिल्य ने स्वमत में त्रयी को आन्वीक्षिकी और दण्डनीति से पृथक् माना है—आन्वीक्षिकी त्रयी **वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः'** (१।२) । और मानवों के मत में त्रयी, वार्ता और दण्डनीति—ये तीन विद्याएँ कही हैं—त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति मानवाः, त्रयीविशेषो ह्यान्वीक्षिकी' । (१।२) यदि यहाँ कौटिल्य का मानवों से अभिप्राय भृगुप्रोक्त मनुस्मृति के अनुयायियों से है, तब उसे अशुद्ध कहना होगा, क्योंकि मनु के उपर्युक्त श्लोक में दण्डनीति, आन्वीक्षिकी और अध्यात्म तीनों विद्याओं को या तो त्रयी के अन्तर्गत माना जा सकता है (जैसाकि हमने माना है) या तीनों को त्रयी से पृथक् मानना होगा (जैसा कि मनु के टीकाकार मानते हैं) । यह नहीं हो सकता कि समान कोटि में पढ़ी गई

---

१. मनु के श्लोक से तथा ग्रन्थकार के निर्देश से स्पष्ट है कि राज्यसभाओं आदि के लिए साम्प्रतिक लोकतान्त्रिक मानी जानेवाली चुनाव पद्धति अयुक्त है । इससे अयोग्य व्यक्ति भी राज्य सभाओं में पहुँच जाते हैं ।

https://t.me/arshlibrary

दण्डनीति, आन्वीक्षिकी और अध्यात्म-विद्याओं में से दण्डनीति को त्रयी से पृथक् माना जाए और आन्वीक्षिकी का त्रयी में अन्तर्भाव माना जाए तथा अध्यात्म की सर्वत्र उपेक्षा की जाए, अतः सम्भव है यहाँ कौटिल्य को मानवों से स्वायम्भुव के अनुयायी अभिप्रेत न हों। पुराकाल में वैवस्वत मनु तथा प्राचेतस मनु के भी धर्मशास्त्र विद्यमान थे। इनके अनेक उद्धरण धर्मशास्त्रों की प्राचीन टीकाओं में उपलब्ध होते हैं।

यदि मनुस्मृति के उपर्युक्त श्लोक में दण्डनीति, आन्वीक्षिकी और अध्यात्मविद्या को 'त्रिविद्या' से पृथक् माना जाए तो उक्त श्लोक के अर्थ में एक महान् दोष उत्पन्न हो जाता है, वह यह है—त्रिविद्या को **'त्रैविधीं'** (=वेदों के जाननेवालों) से सीखने और वार्तारम्भ को लोक से सीखने का निर्देश तो श्लोक में मिल जाता है, परन्तु दण्डनीति, आन्वीक्षिकी और अध्यात्मविद्याएँ किससे सीखी जाएँ—इसका कोई निर्देश नहीं मिलता, अतः दण्डनीति, आन्वीक्षिकी और अध्यात्मविद्या को 'त्रिविद्या' से पृथक् करना भ्रान्ति है।

इस प्रसंग में कौटिल्य की एक बात विशेषरूप से खटकती है और वह है—विद्या के प्रसंग में आध्यात्मविद्या का उल्लेख न होना। क्या राजाओं के लिए अध्यात्मविद्या आवश्यक नहीं है? यदि नहीं है तो मनु ने दण्डनीति के समान ही अध्यात्मविद्या सीखने का आदेश राजा के लिए क्यों दिया?

ग्रन्थकार द्वारा यहाँ उद्धृत श्लोकों से स्पष्ट है कि मनु की भाँति उनका विश्वास है कि वेदों में संग्राम में सेना का संचालन, राज्य का प्रबन्ध, दण्डव्यवस्था, आधिभौतिक तथा आधिदैविक पदार्थों का ज्ञान तथा अध्यात्मविद्या (=शरीर का नैरोग्य, आत्मा के स्वरूपज्ञान से सांसारिक दुःखों से निवृत्ति और परमात्मा के ज्ञान से आनन्द की प्राप्ति आदि अनेक विद्याओं का वर्णन है। मनु के **'सर्वज्ञानमयो हि सः'**, **'सर्वं वेदात् प्रसिध्यति'** तथा ग्रन्थकार के 'वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है' के आधार पर वेदों का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए कि उससे उनके सर्वज्ञानमयत्व की पुष्टि हो। इस समय संस्कृतवाङ्मय में जितने विषयों के ग्रन्थ हैं—वे सब अपने विषयों को वेदमूलक मानते हैं

आन्वीक्षिकी के मुख्य ग्रन्थ हैं गौतमीय न्यायशास्त्र तथा कणादीय वैशेषिक। कौटिल्य ने सांख्य और योग को भी आन्वीक्षिकी में गिना है-**'सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी।'**

वार्तारम्भ का अर्थ प्रायः कृषि, वाणिज्य तथा पशुपालन किया जाता है। इन सब विद्याओं के अनेक शास्त्र उपलब्ध हैं, परन्तु श्लोक में इसे 'लोकतः' सीखने का निर्देश है। इससे 'वार्ता' का अर्थ लोकाचार उपयुक्त प्रतीत होता है। यह बातचीत के द्वारा ही आता है।

इस विषय में शुक्रनीतिसार में कहा है—

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती ।
विद्याश्चतस्र एवैता अभ्यसेन्नृपतिः सदा ॥
आन्वीक्षिक्यां तर्कशास्त्रं वेदान्ताद्यं प्रतिष्ठितम् ।
त्रय्यां धर्मो ह्यधर्मश्च कामोऽकामः प्रतिष्ठितः ॥
अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ ।
वर्णाः सर्वाश्रमाश्चैव विद्यास्वासु प्रतिष्ठिताः ॥
अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।
धर्मशास्त्रपुराणानि त्रयीदं सर्वमुच्यते ॥ —शुक्र० १।१५२-१५५

https://t.me/arshlibrary

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्टेद्दिवानिशम् ।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥२॥

अन्वीक्षिकी=तर्कशास्त्र, न्यायदर्शन, त्रयी=अंगों सहित चारों वेद, वार्ता=व्यवहारशास्त्र और दण्डनीति—ये चारों विद्याएँ सनातन हैं। राजा को सदा इनका अभ्यास करना चाहिए। आन्वीक्षिकी विद्या के अन्तर्गत न्याय और वेदान्त आदि का समावेश है। वेदत्रयी में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वर्णन है। वार्ता में अर्थोपार्जन और अनर्थनिवारण के उपाय हैं। दण्डनीति में नीति-अनीति का वर्णन है। ब्राह्मण आदि चारों वर्णों और ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों के धर्म इन विद्याओं में समाविष्ट हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द—ये छह वेदाङ्ग, ऋग्, यजुः, साम और अथर्व ये चार वेद, मीमांसा, न्यायशास्त्र का विस्तार (मनुस्मृति आदि) धर्मशास्त्र और पुराण (इतिहासग्रन्थ) इन सबको 'त्रयी' कहते हैं।

इन्द्रियाणां जये—मनु ने इन्द्रियजय अर्थात् जितेन्द्रियता को राजकीय व्यवस्था का मूलाधार माना है। राजा की शिक्षा-दीक्षा, अनुशासनाभ्यास आदि सबका उद्देश्य इन्द्रियजय है। तदनुसार कौटिल्य ने भी अपने सूत्रग्रन्थ तथा अर्थशास्त्र में इसका अनेकविध प्रतिपादन किया है। चाणक्यसूत्र में कहा है—

सुखस्य मूलं धर्मः, धर्मस्य मूलमर्थः, अर्थस्य मूलं राज्यं, राज्यस्य मूलमिन्द्रियजयः। साररूप में उन्होंने कहा —"**जितात्मा सर्वार्थैः संयुज्यते**"—चा०सू० १०

इस प्रसंग में उन्होंने विस्तारपूर्वक लिखा है—

"**विद्याविनयहेतुरिन्द्रियजयः, कामक्रोधलोभमदमानहर्षत्यागात् कामः । कर्णत्वगक्षिजिह्वाघ्राणेन्द्रियाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेष्वविप्रतिपत्तिरिन्द्रियजयः । शास्त्रानुष्ठानं वा कृत्स्नं हि शास्त्रमिदमिन्द्रियजयः । तद्विरुद्धवृत्तिवश्येन्द्रियश्चातुरन्तोऽपि राजा सद्यो विनश्यति ॥**' —कौ० अर्थ०प्र० ३ अ०५

अर्थात्—विद्या और विनय का हेतु=उद्देश्य इन्द्रियजय है, अतः काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष के त्याग से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। कान, त्वचा, जिह्वा और नासिका को उनके विषयों—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि में प्रवृत्त न होने देना इन्द्रियजय कहाता है। संक्षेप में शास्त्रों में प्रतिपादित कर्तव्यों का पर्यवसान इन्द्रियजय में है। इसके विपरीत आचरण करनेवाला इन्द्रियलोलुप राजा शीघ्र नष्ट हो जाता है।

परम प्रमाण श्रुति का उद्घोष है—'**ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति**' (अथर्व० ११।५।४) अर्थात् राजा ब्रह्मचर्य के तप (जितेन्द्रियता) से राष्ट्र की रक्षा करता है। चरित्रभ्रष्ट राजा के रहते राष्ट्र कैसे सुरक्षित रह सकता है ?

सभासदों एवं राजा के सहायकों के गुणों का वर्णन करते हुए शुक्राचार्य ने कहा है—

कुलगुणशीलवृद्धाञ्छूरान् भक्तान्प्रियंवदान् ।
हितोपदेशकान्क्लेशसहान् धर्मरतान् सदा ॥
कुमार्गगं नृपमपि बुद्धयोद्धर्तुं श्रमान् शुचीन् ।
निर्मत्सरान्कामक्रोधलोभहीनान्निरालसान् ॥ २।८,६

कुल, गुण और शील से महान्, शूरवीर, राजभक्तक मधुरभाषी, हित की बात कहनेवाले, कष्ट सहनेवाले, सदा धर्म का पालन करनेवाले, कुमार्गगामी राजा को बौद्धिक कौशल से कुमार्ग से हटाने में समर्थ, पवित्र आचार-विचारवाले, मात्सर्य (ईर्ष्या=द्वेष), काम, क्रोध, लोभ और आलस्यरहित—इन गुणों से

https://t.me/arshlibrary

[१० कामज और ८ क्रोधज दुर्गुण]

दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च ।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन वियर्जयेत् ॥३॥
कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः ।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥४॥
मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परीवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्य्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥५॥

युक्त सहायकों का राजा वरण करे ।

व्यवहारविदः प्राज्ञा वृत्तशीलगुणान्विताः ।
रिपौ मित्रे समा ये च धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ॥
निरालसा जितक्रोधकामलोभाः प्रियंवदाः ।
सभ्याः सभासदः कार्या वृद्धाः सर्वासु जातिषु ॥ २।१६०-१६१

जो लोकव्यवहार में कुशल, बुद्धिमान्, सदाचार, शील आदि सद्गुणों से सुभूषित, व्यक्तिगत स्तर पर शत्रु तथा मित्र में समभाव रखनेवाले, राग-द्वेषरहित, निष्पक्ष, धर्मज्ञ, सत्यवादी, आलस्यरहित, काम, क्रोध और लोभ के विजेता, मधुरभाषी, सभा में साधु—सभी जातियों में ऐसे जो वृद्ध लोग (मुखिया=चौधरी) हैं, उन्हें निर्णयकरनेवाली सभा का सभासद् बनाना चाहिए ।

अध्याय ४, श्लोक १७ में इन्हीं गुणों को दुहराया गया है । वहाँ अन्तिम वाक्य के शब्द इस प्रकार हैं—**'राज्ञा नियोजितव्यास्ते सभ्याः सर्वासु जातिषु ।'**

तौर्यत्रिकम्—एक विशेष प्रकार के वाद्य 'तुरही' (तूर्य) को कहते हैं ।

त्रिकम्—नृत्यगीतवादित्राणि तौर्यत्रिकम्' गाना, बजाना और नाचना—इन तीन क्रियाओं के समूह को 'त्रिकम्' कहते हैं । इस प्रकार 'तौर्यत्रिकम्' का अर्थ 'वाद्यों के साथ गाना, बजाना और नाचना होता है । बहुवचनान्त 'स्त्रियः' पद के प्रयोग से मनु इस बात का संकेत कर रहे हैं कि राजा को एकपत्नीव्रत होना चाहिए अर्थात् राजा के लिए भी बहुविवाह प्रतिषिद्ध है ।

मृगया—'मृगं याति अनया सा मृगया, घञर्थे कः'=पशुओं का पीछा करना अर्थात् शिकार में प्रवृत्त होना ।

पैशुन्यमिति—पैशुन्यमविज्ञातदोषाविष्करणं, साहसं साधोर्बन्धनादिनिग्रहः, द्रोहश्छद्मवधः, ईर्ष्याऽन्यगुणासहिष्णुता, परगुणेषु दोषाविष्करणमसूया, अर्थदूषणमर्थानामपहरणं देवानामदानं च, वाक्पारुष्यमाक्रोशादि, दण्डपारुष्यं ताडनादि एषोऽष्टपरिणामो व्यसनगणः क्रोधाद् भवति । —कुल्लूकभट्ट

द्वयोरपि—इन दोनों (काम और क्रोध) से उत्पन्न अठारह प्रकार के दोषों का मूल लोभ है—**'लोभः पापस्य कारणम्'** । पञ्चतन्त्र के अनुसार **'लोभाच्च नाऽन्योस्ति रिपुः पृथिव्याम्'** —लोभ से बढ़कर कोई मनुष्य का शत्रु नहीं है । भर्तृहरि के शब्दों में **'लोभश्चेदगुणेन किम्'** ? यदि मनुष्य में लोभ है तो उसमें और किसी दुर्गुण की कमी नहीं रहेगी, क्योंकि **'लोभमूलानि पापानि'** ।

https://t.me/arshlibrary

पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥६॥
द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥७॥
पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।
एतत् कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥८॥
दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे ।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात् कष्टमेतत् त्रिकं सदा ॥९॥
सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः ।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥१०॥
व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥११॥

—मनु० ७।४३-५३

लोभेन बुद्धिश्चलति लोभो जनयते तृषाम् ।
तृषार्त्तो दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानवः ॥

लोभ से बुद्धि विचलित हो जाती है, लोभ से तृष्णा पैदा होती है, तृष्णा बढ़ने से इस लोक में और परलोक में सर्वत्र दुःख उठाता है। संसार में जितने भी पाप होते हैं—चोरी, डकैती, रिश्वत, बेईमानी, चोर-बाज़ारी, तस्करी, मिलावट, ठगी, लूटपाट, मुक़दमेबाजी, हत्या आदि सभी लोभ के कारण होते हैं।

अपि यत्सुकरम्—मनु के इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए शुक्रनीति में लिखा है—

यद्यप्यल्पतरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
पुरुषेणासहायेन किमु राज्यं महोदयम् ॥
सर्वविद्यासु कुशलो नृपो ह्यपि सुमन्त्रवित् ।
मन्त्रिभिस्तु विना मन्त्रं नैकोऽर्थं चिन्तयेत्क्वचित् ॥
सभ्याधिकारिप्रकृतिसभासत्सुमते स्थितः ।
सर्वदा स्यान्नृपः प्राज्ञः स्वमते न कदाचन ॥
प्रभुः स्वातन्त्र्यमापन्नो ह्यनर्थायैव कल्पते ।
भिन्नराष्ट्रो भवेत्सद्यो भिन्नप्रकृतिरेव च ॥

अर्थ—छोटे-से-छोटा कार्य करना अकेले मनुष्य के लिए दुष्कर कार्य होता है, फिर महान् अभ्युदयवाले राज्यकार्य को असहाय, अकेला पुरुष कैसे चला सकता है ? सभी विद्याओं में निपुण और भली-भाँति मन्त्रणा (विचार) करनेवाला भी अकेला राजा मन्त्रियों के बिना कभी किसी व्यवहार के विषय में कोई निर्णय न करे। बुद्धिमान् राजा को चाहिए कि सदा सभ्याधिकारी पुरुष (अफ़सर), प्रकृति (मन्त्री आदि) और सभासदों की सम्मति से कार्य करे, अपनी मनमानी कभी न करे। स्वेच्छाचारी राजा अनर्थ कर

Arshlibrary
https://t.me/arshlibrary

राजा और राजसभा के सभासद् तब हो सकते हैं कि जब वे चारों वेदों की कर्मोपासना, ज्ञान-विद्याओं के जाननेवालों से तीनों विद्या, सनातन दण्डनीति, न्यायविद्या, **आत्मविद्या** अर्थात् परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभावरूप को यथावत् जाननेरूप ब्रह्मविद्या, और लोक से वार्त्ताओं का आरम्भ (कहना और पूछना) सीखकर सभासद् वा सभापति हो सकें ॥१॥

सब सभासद् और सभापति इन्द्रियों को जीतके, अर्थात् अपने वश में रखके सदा धर्म में वर्त्तें और अधर्म से हटे-हटाये रहें । इसलिए रातदिन नियत समय में योगाभ्यास भी करते रहें, क्योंकि जो **जितेन्द्रिय** कि अपनी इन्द्रियों=जो मन, प्राण और शरीर [रूप] प्रजा है, इसको जीतें, उसके विना बाहर की प्रजा को अपने वश में स्थापन करने को कोई समर्थ कभी नहीं हो सकता ॥२॥

दृढ़ोत्साही होकर जो काम से दश और क्रोध से आठ दुष्ट व्यसन कि जिनमें फँसा हुआ मनुष्य कठिनता से निकल सके, उनको प्रयत्न से छोड़ और छुड़ा देवे ॥३॥

क्योंकि जो राजा काम से उत्पन्न हुए दश दुष्ट व्यसनों में फँसता है, वह अर्थ अर्थात् राज्य-धनादि और धर्म से रहित हो जाता है और जो क्रोध से उत्पन्न हुए आठ बुरे व्यसनों में फँसता है, वह शरीर से भी रहित हो जाता है ॥४॥

काम से उत्पन्न हुए व्यसन गिनाते हैं । देखो— मृगया खेलना, अक्ष अर्थात् चौपड़ खेलना, जुवा खेलनादि, दिन में सोना, काम-कथा वा दूसरे की निन्दा किया करना, स्त्रियों का अति सङ्ग, मादक द्रव्य अर्थात् मद्य, अफीम, भांग, गाँजा, चरस आदि का सेवन, गाना-बजाना, नाचना वा नाच कराना, सुनना और देखना, वृथा इधर-उधर घूमते रहना —ये दश कामोत्पन्न व्यसन हैं ॥५॥

क्रोध से उत्पन्न व्यसनों को गिनाते हैं । 'पैशुन्य'=अर्थात् चुग़ली करना, ['साहस'=] विना विचारे बलात्कार से किसी की स्त्री से बुरा काम करना, ['द्रोह'=] द्रोह रखना, ['ईर्ष्या'] दूसरे की बड़ाई वा उन्नति देखकर जला करना, ['असूया'=] दोषों में गुण, गुणों में दोषारोपण करना, ['अर्थदूषण'=] अर्थात् अधर्मयुक्त बुरे कामों में धनादि का व्यय करना, ['वाग्दण्ड'=] कठोर वचन बोलना, और ['पारुष्य'=] विना अपराध कड़ा वचन वा विशेष दण्ड देना । ये आठ दुर्गुण क्रोध से उत्पन्न होते हैं ॥६॥

जिसको सब विद्वान् लोग कामज और क्रोधजों का मूल जानते हैं, कि जिससे ये सब दुर्गुणो मनुष्य को प्राप्त होते हैं, उस लोभ को प्रयत्न से छोड़े ॥७॥

बैठता है । परिणामतः उसका राज्य शीघ्र ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है और प्रकृति (मन्त्री आदि) में फूट पड़ जाती है ।

जहाँ एक अकेला राजा स्वेच्छाचारी होकर राज्य को हानि पहुँचाता है, वहाँ अनेकजनों के मिल-बैठकर निर्णय करने से होनेवाले लाभ का उल्लेख करते हुए शुक्राचार्य कहते हैं—

पुरुषे पुरुषे भिन्नं दृश्यते बुद्धिवैभवम् ।
आप्तवाक्यैरनुभवैरागमैरनुमानतः ॥
प्रत्यक्षेण च सादृश्यैः साहसैश्च छलैर्बलैः ।
वैचित्यं व्यवहाराणामौन्नत्यं गुरुलाघवैः ॥
न हि तत्सकलं ज्ञातुं नरेणैकेन शक्यते ।
अतः सहायान्वरयेद्राजा राज्यविवृद्धये ॥ २।५-७

https://t.me/arshlibrary

काम के व्यसनों में बड़े दुर्गुण। एक—मद्यादि अर्थात् मदकारक द्रव्यों का सेवन। **दूसरा**—पासों आदि से जुआ खेलना। **तीसरा**—स्त्रियों का विशेष सङ्ग। **चौथा**—मृगया खेलना—ये चार महादुष्ट व्यसन हैं ॥८॥

और क्रोधजो में—विना अपराध दण्ड देना, कठोर वचन बोलना, और धनादि का अन्याय में खर्च करना—ये तीन क्रोध से उत्पन्न हुए बड़े दुःखदायक दोष हैं ॥९॥

जो सात दुर्गुण दोनों कामज और क्रोधज दोषों में गिने हैं, इनमें से पूर्व-पूर्व अर्थात् व्यर्थ व्यय से कठोर वचन, कठोर वचन से अन्याय से दण्ड देना, इससे मृगया खेलना, इससे स्त्रियों का अत्यन्त सङ्ग, इससे जुआ अर्थात् द्यूत करना, और इससे भी मद्यादि सेवन करना बड़ा दुष्ट व्यसन है ॥१०॥

इसमें यह निश्चय है कि दुष्ट व्यसन में फँसने से मर जाना अच्छा है, क्योंकि जो दुष्टाचारी पुरुष है, [यदि] वह अधिक जिएगा तो अधिक-अधिक पाप करके नीच-नीच गति अर्थात् अधिक-अधिक दुःख को प्राप्त होता जाएगा, और जो किसी व्यसन में नहीं फँसा, वह मर भी जाएगा तो भी सुख को प्राप्त होता जाएगा, इसलिए विशेष राजा और सब मनुष्यों को उचित है कि कभी मृगया और मद्यपानादि दुष्ट कामों में न फँसे और दुष्ट व्यसनों से पृथक् होकर धर्मयुक्त गुण-कर्म-स्वभावों में सदा वर्त्तके अच्छे-अच्छे काम किया करें ॥११॥

[मन्त्रिगण कैसे होने चाहिएँ]

राजसभासद् और मन्त्री कैसे होने चाहिए—

आप्त (यथार्थवक्ताओं के) वाक्यों से, अनुभवों से, आगम (वेदशास्त्रादि के प्रमाणों) से, अनुमान से एवं प्रत्येक मनुष्य में भिन्न-भिन्न प्रकार का बुद्धिवैभव दिखाई पड़ता है और प्रत्यक्ष प्रमाण से, सादृश्य (उपमान) से, साहस, छल और बल से व्यवहारों में जो विचित्रता तथा गुरुता एवं लघुता से जो उन्नति (किसी की अधिक, किसी की कम होने से) पाई जाती है—इन सब बातों का ज्ञान करना अकेले आदमी के लिए सम्भव नहीं है, अतः राज्य की वृद्धि के लिए राजा उत्तम सहायकों का वरण करे।

इसी कारण भारतीय संविधान में राष्ट्रपति द्वारा संसद् में कुछ सदस्यों के मनोनीत किये जाने का प्रावधान किया गया है, विज्ञान, कला आदि क्षेत्रों के विशिष्ट व्यक्ति निर्वाचन-प्रक्रिया के माध्यम से न चुने जाकर संसद् में प्रवेश पाने से वंचित रह जाते हैं, राष्ट्र को ऐसी प्रतिभाओं के ज्ञान और अनुभव का लाभ मिल सके, इसलिए राष्ट्रपति को कुछ सदस्यों को मनोनीत (Nominate) करने का अधिकार है, जिससे समस्त विद्याओं के विशेषज्ञ राष्ट्र के संचालन में अपना योगदान कर सकें।

शुक्रनीति के द्वितीय अध्याय में अमात्य, मन्त्री, सचिव, सुमन्त्र आदि की योग्यता तथा कर्त्तव्यों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है। मन्त्री, अमात्य, सुमन्त्र आदि वर्त्तमानकालिक मन्त्री, राज्यमन्त्री, उपमन्त्री आदि के पर्याय हो सकते हैं। निदर्शनार्थ यहाँ मन्त्री के कर्त्तव्यों का उल्लेख किया जाता है—

मन्त्री—

सामदानञ्च भेदश्च दण्डः केषु कदा कथम् ।
कर्त्तव्यः किं फलं तेभ्यो बहुमध्यं तथाऽल्पकम् ॥
एतत् संचिन्त्य निश्चित्य मन्त्री सर्वं निवेदयेत् ॥ ६४

https://t.me/arshlibrary

मौलान् शास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान् कुलोद्गताम्।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥१॥
अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम् ॥२॥
तैः सार्द्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम् ।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥३॥
तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् ।
समस्तानाञ्च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥४॥
अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन् प्राज्ञानवस्थितान् ।
सम्यगर्थसमाहर्तृनमात्यान् सुपरीक्षितान् ॥५॥
निवर्त्तेतास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः ।
तावतोऽतन्द्रितान् दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥६॥
तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान् दक्षान् कुलोद्गतान् ।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥७॥

मन्त्री का कर्त्तव्य है कि वह किन विषयों में कब और किस समय साम, दाम, दण्ड और भेद करना चाहिए, उससे क्या फल होगा, वह उत्तम, मध्यम और अधम कैसा होगा—इन सब बातों पर विचार करके राजा को सलाह दे ।

मौलान्—इस श्लोक की ऐसी ही व्याख्या संस्कारविधि में उपलब्ध है । पूना-प्रवचनों में भी यही बात कही गई है । सर्वत्र मन्त्रियों के स्वदेश में उत्पन्न होने पर बल दिया गया है । किसी भी अवस्था में विदेशी मूल के लोगों को मन्त्रिमण्डल का सदस्य न बनाये, न महत्वपूर्ण पदों पर उनकी नियुक्ति करे । इस नियम का उल्लंघन होने के दुष्परिणामों के सन्दर्भ में दिल्ली से प्रकाशित इण्डियन एक्सप्रेस (Indian Express) के ७ जून १९६० के अंक में प्रकाशित यह विवरण द्रष्टव्य है—

"British military commanders who were retained in India after independence, had wrongly advised the Indian Government to refer the Kashmir problem to the United Nations, thereby helping Pakistan to nternationalise the issue.

This gave Pakistan the opportunity to demand a plebiscite in Kashmir, which has given rise to the Kashmir crisis as it exists today and has forced three wars on India, according to a book 'Military leadership in India—from Vedic period to Indo-Pak wars' by Major General Rajendra Nath (PVSM).

The British Officers who were retained as commanders of independent India's defence forces tried their best to 'undo things' even after Kashmir's accession to India and had sided with the Pakistan Government during the 1947 Indo-Pak war, according to the book.

The book says that the British Commander-in-Chief in India, General Lockhart till November 27, 1947 and General Roy Boucher after that used to talk regularly with their Pakistani counterparts even while Indian and Pakistan forces were fighting in Jammu and Kashmir. It was really they who had made the bold and ingenious plan to capture Jammu and Kashmir by using Pathan tribals as well as regular Pak forces.

https://t.me/arshlibrary

The British commanders were retained in India on the advice of Lord Mountbatten on the plea to train and command the 'inexperienced' Indian army despite opposition by Sardar Patel and Indian military leaders.

The book says that even Lord Mountbatten, who was the Supreme Commander of the Indian defence forces in 1947, had 'sympathies' for Pakistan. It quotes him as having said "I must tell you honestly I wanted Kashmir to join Pakistan." New Delhi, Indian Express, June 7, 1990.

सारांश—देश के स्वतन्त्र हो जाने पर ब्रिटिश सैनिक अधिकारियों ने भारत को कश्मीर का मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ में ले जाने की सलाह दी। इससे पाकिस्तान को कश्मीर के मामले को अन्तर्राष्ट्रिय विषय बनाने में मदद मिली। इसी से पाकिस्तान को जनमतसंग्रह (plebiscite) की माँग करने का अवसर मिला और इसी के परिणामस्वरूप भारत को कश्मीर पर हुए तीन आक्रमणों का सामना करना पड़ा। कश्मीर की वर्त्तमान स्थिति विदेशी सेनाधिकारियों को देश में रखे रहने का परिणाम है। यह रहस्योद्घाटन मेजर जनरल राजेन्द्रनाथ ने अपनी पुस्तक 'Military leadership in India—from Vedic period to Indo-Pak wars' में किया है। इन अफ़सरों ने कश्मीर के भारत में मिल जाने पर भी बने-बनाये काम को बिगाड़ने का भरसक प्रयत्न किया और १९४७ में भारत-पाक युद्ध में पाकिस्तान का साथ दिया। पुस्तक के अनुसार २७ नवम्बर १९४७ तक भारत में रहे प्रधान सेनापति जनरल लॉकहार्ट और उसके बाद जनरल राय बुशेर (Ray Boucher) पाकिस्तान के सेनाध्यक्षों को भारत-पाक युद्ध के दिनों में नियमितरूप से परामर्श देते रहे— दोनों का निरन्तर सम्पर्क बना रहा। उन्होंने ही पठान क़बाइलों और पाकिस्तान की नियमित सेनाओं के द्वारा जम्मू-कश्मीर पर कब्ज़ा करने की योजना बनाई थी। सरदार पटेल और भारतीय सेनाधिकारियों के विरोध के बावजूद लार्ड माउंटबेटन ने भारतीय सेनाधिकारियों को प्रशिक्षित करने के नाम पर ब्रिटिश कमाण्डरों को रोक लिया था। पुस्तक के अनुसार लार्ड माउंटबेटन की पाकिस्तान के प्रति सहानुभूति थी। इतना ही नहीं, लार्ड माउंटबेटन ने कहा था—'सच तो यह है कि मैं कश्मीर के पाकिस्तान में विलय के पक्ष में था।'

राष्ट्र की सुरक्षा की दृष्टि से शासनव्यवस्था से सम्बद्ध लोगों के विदेशियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध वाञ्छनीय नहीं हैं।

कुल्लूकभट्ट ने 'मौलान्' का अर्थ **'पितामहक्रमेण सेवकान्'** किया है। जिस पारिवारिक अथवा सामाजिक परिवेश में मनुष्य रहता है, उससे प्रभावित हुए बिना वह नहीं रहता। मन्त्रियों की नियुक्ति तो उनके अपने गुणों के आधार पर ही होगी, परन्तु उसके गुणों का विकास करने में पीढ़ी-दर-पीढ़ी अर्थात् परम्परा से चले आ रहे पारिवारिक पेशे के महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता। जिसके बाप-दादा मन्त्री बनते आ रहे हैं, उसके एक सफल मन्त्री बनने की सम्भावना अधिक होती है, परन्तु इसे नियम नहीं बनाया जा सकता।

परीक्षितान्—नियुक्ति से पूर्व अमात्यों की पूरी तरह परीक्षा करनी चाहिए। आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में दो प्रकार की परीक्षाओं का निर्देश किया है—

(१) **प्रकटविधि**—**"तेषां जनपदमवग्रहं चाप्ततः परीक्षेत। समानविद्येभ्यः शिल्पं, शास्त्रचक्षुष्मत्तां च, कर्मारम्भेषु प्रज्ञां धारयिष्णुतां दाक्ष्यं च, कथायोगेषु वाग्मित्वं प्रागल्भ्यं प्रतिभानवत्त्वं च, आपद्युत्साहप्रभावौ क्लेशसहत्वं च, संव्यवहाराच्छौचं मैत्रतां दृढभक्तित्वं च, संवासिभ्यः शीलबलारोग्यसत्वयोगम्—अस्तम्भमचापल्यं च, प्रत्यक्षतः सम्प्रियत्वम्—अवैरित्वं च।"** प्र० ५, अ० ६

अर्थ—नियुक्ति से पूर्व राजा प्रामाणिक, सत्यवादी एवं आप्त पुरुषों के द्वारा उनके निवासस्थान और

https://t.me/arshlibrary

[सुयोग्य दूत की नियुक्ति]

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥८॥
अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित् ।
वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥९॥ —मनु० ७।५४-५७,६०-६४

स्वराज्य, स्वदेश में उत्पन्न हुए, वेदादिशास्त्रों के जाननेवाले शूरवीर, जिनका लक्ष्य अर्थात् विचार निष्फल न हो, और कुलीन, अच्छे प्रकार सुपरीक्षित सात वा आठ उत्तम धार्मिक चतुर 'सचिवान्'=अर्थात् मन्त्री करे ॥१॥

उनकी आर्थिक स्थिति की जानकारी करे। सहपाठियों के माध्यम से उनकी योग्यता तथा शास्त्रीय प्रतिभा की, नये-नये कार्य सौंपकर उनकी बुद्धि, स्मृति और चतुरता की, व्याख्यानों तथा सम्भागों द्वारा उनकी वाक्पटुता, प्रगल्भता तथा प्रतिभा की, आपत्ति प्रस्तुत करके उनके उत्साह, प्रभाव तथा सहनशक्ति की, व्यवहार से उनकी पवित्रता, मित्रता एवं दृढ़ स्वामिभक्ति की, सहवासियों तथा पड़ौसियों के माध्यम से उनके शील, बल, स्वास्थ्य, गौरव, अप्रमाद तथा स्थिरवृत्ति की जानकारी करे। उनके मधुरभाषी स्वभाव तथा द्वेषरहित स्वभाव की परीक्षा राजा स्वयं करे।

(२) **गुप्तविधि**—"मन्त्रिपुरोहितसखः सामान्येष्वधिकरणेषु स्थापयित्वामात्यानुपधाभिः शोधयेत्। ..... तत्र धर्मोपधाशुद्धान् धर्मस्थीयकण्टकशोधनेषु स्थापयेत्, अर्थोपधाशुद्धान् समाहर्तृसन्निधातृनिचयकर्मसु, कामोपधाशुद्धान् बाह्याभ्यन्तरविहाररक्षासु, भयोपधाशुद्धान्त्रासन्नकार्येषु राज्ञः। सर्वोपधाशुद्धान् मन्त्रिणः कुर्यात्। सर्वत्राशुचीन् खनिजद्रव्यहस्तिवनकर्मान्तेषूपयोजयेत्।'

अर्थात्—(१) धर्मोपधा—गुप्त धार्मिक उपायों से अमात्य के हृदय की पवित्रता की परीक्षा करना। (२) अर्थोपधा—गुप्त आर्थिक लोभ की बातों से। (३) कामोपधा—गुप्त कामसम्बन्धी आकर्षणों से। (४) भयोपधा—गुप्त भयादि प्रदर्शित करके अमात्यों के हृदय की पवित्रता की परीक्षा करे। गुप्तचरों द्वारा इतनी परीक्षाएँ करने के पश्चात् ही उस व्यक्ति को यथायोग्य अमात्यकार्य पर नियुक्त करे।

कौटिल्य के मत में धर्मपरीक्षा में पवित्र सिद्ध अमात्यों को न्यायालय में, अर्थपरीक्षा में पवित्र को कर-संग्रह और कोषसंरक्षण में, कामपरीक्षा में पवित्र को अन्तःपुर और विलासस्थानों में तथा भयपरीक्षा में पवित्र को अङ्गरक्षक के रूप में नियुक्त किया जाना चाहिए। (कौ०अ०, प्र० ५, अध्याय ६)

तैः सार्धं चिन्तयेत्—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, समाश्रय तथा द्वैधीभाव—ये छह मन्त्री के गुण माने गये हैं। इनकी व्याख्या इस प्रकार है—

याभिः क्रियाभिर्बलवान् मित्रतां याति वै रिपुः ।
सा क्रिया सन्धिरित्युक्ता विमृशेत्तां तु यत्नतः ॥

जिन क्रियाओं के द्वारा बलवान् शत्रु निश्चितरूप से मित्र बन जाए, उसे 'सन्धि' कहते हैं। राजा को इसके लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

विकर्षितः सन् वाऽधीनो भवेच्छत्रुस्तु येन वै ।
कर्मणा विग्रहस्तं तु चिन्तयेन्मन्त्रिभिर्नृपः ॥

https://t.me/arshlibrary

क्योंकि विशेष सहाय के विना जो सुगम कर्म है, वह भी एक के करने में कठिन हो जाता है। जब ऐसा है तो महान् राज्य-कर्म एक से कैसे हो सकता है ? इसलिए एक को राजा, और एक की बुद्धि पर राज्य के कार्य का निर्भर रखना बहुत ही बुरा काम है ॥२॥

इससे सभापति को उचित है कि नित्यप्रति उन राज्यकर्मों में कुशल विद्वान् मन्त्रियों के साथ सामान्य करके किसी से **'सन्धि'**=मित्रता, किसी से **'विग्रह'**=विरोध 'स्थान'=स्थिति=समय को देखके चुपचाप रहना; अपने राज्य की रक्षा करके बैठे रहना, 'समुदयम्'=जब अपना उदय अर्थात् वृद्धि हो तब दुष्ट शत्रु पर चढ़ाई करना, 'गुप्तिम्'=मूल, राजसेना, कोश आदि की रक्षा, 'लब्धप्रशमनानि'=जो-जो देश प्राप्त हो उस-उसमें शान्ति-स्थापन=उपद्रवरहित करना —इन छः गुणों का विचार नित्यप्रति किया करे ॥३॥

विचार ऐसे करना कि उन सभासदों का पृथक्-पृथक् अपना-अपना विचार और अभिप्राय को सुनकर बहुपक्षानुसार कार्यों में जो कार्य अपना और अन्य का हितकारक हो, वह करने लगना ॥४॥

अन्य भी पवित्रात्मा, बुद्धिमान्, निश्चितबुद्धि, पदार्थों के संग्रह करने में अतिचतुर, सुपरीक्षित मन्त्री करे ॥५॥

जितने मनुष्यों से राजकार्य्य सिद्ध हो सके, उतने आलस्यरहित, बलवान्, और बड़े-बड़े चतुर प्रधान पुरुषों को 'अधिकारी' अर्थात् नौकर करे ॥६॥

इनके अधीन शूरवीर, बलवान्, कुलोत्पन्न पवित्र भृत्यों को बड़े-बड़े कर्मों में, और भीरु=डरनेवालों को भीतर के कर्मों में नियुक्त करे ॥७॥

जो प्रशंसित कुल में उत्पन्न, चतुर, पवित्र, हावभाव और चेष्टा से भीतर हृदय, और भविष्यत् में होनेवाली बात को जाननेहारा, सब शास्त्रों में विशारद=चतुर है, उस **'दूत'** को भी रक्खे ॥८॥

वह ऐसा हो कि राजकाम में अत्यन्त उत्साह-प्रीतियुक्त, निष्कपटी, पवित्रात्मा, चतुर, बहुत समय की बात को भी न भूलनेवाला, देश और कालानुकूल वर्त्तमान का कर्ता, सुन्दर रूपयुक्त, निर्भय और बड़ा वक्ता हो। वही राजा का दूत होने में प्रशस्त है ॥९॥

जिस क्रिया से शत्रु को पीड़ित किया जाए अथवा अपने अधीन कर लिया जाए, उसे 'विग्रह' कहते हैं। इस विषय में राजा सदा मन्त्रियों के साथ विचार करे।

शत्रुनाशार्थगमनं यानं स्वाभीष्टसिद्धये।
स्वरक्षणं शत्रुनाशो भवेत् स्थानात्तदासनम् ॥

अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए किसी शत्रु के नाशार्थ उसपर चढ़ाई करने को 'यान' कहते हैं। जिस स्थान पर बैठे रहने से अपनी रक्षा और शत्रु का नाश सम्भव हो, अवसर की प्रतीक्षा में उस स्थान पर बैठे रहने को 'आसन' कहते हैं।

यैर्गुप्तो बलवान् भूयाद् दुर्बलोऽपि स आश्रयः।
द्वैधीभावं स्वसैन्यानां स्थापनं गुल्मगुल्मयोः ॥ —शुक्र० ४।२२३-२२६

जिसके द्वारा रक्षित होकर दुर्बल भी सबल हो जाए, किसी ऐसे राजा की शरण लेने को 'आश्रय' कहते हैं। अपनी सेना को योजनाबद्ध टुकड़ियों में बाँटकर रखना 'द्वैधीभाव' कहाता है।

सन्धि की नहीं जाती, करनी पड़ती है इसलिए—

https://t.me/arshlibrary

[अमात्य, नृप और दूत के अधिकार]

किस-किस को क्या-क्या अधिकार देना योग्य है—

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया।
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते सन्धिविपर्ययौ ॥१॥
दूत एव हि सन्धत्ते भिनत्त्येव च संहतान् ।
दूतस्तत् कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन वा न वा॥२॥
बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन परराजचिकीर्षितम् ।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद् यथात्मानं न पीडयेत् ॥३॥

बलीयसाभियुक्तस्तु नृपोऽनन्यप्रतिक्रियः ।
आपन्नः सन्धिमन्विच्छेत् कुर्वाणः कालयापनम् ॥ —शुक्र० ४।२२७

जब किसी राजा पर कोई अत्यन्त बलवान् शत्रु आक्रमण कर दे और उस समय प्रतिकार का कोई उपाय न दीख पड़े तब विपत्ति में पड़े हुए राजा को सन्धि कर लेनी चाहिए। परिस्थिति अनुकूल होने पर जैसा उचित हो वैसा करना चाहिए।

इस विषय का विशदीकरण शुक्रनीति के चतुर्थ अध्याय में किया गया है।

निवर्त्तेत—यहाँ 'इति' शब्द 'अथ' का विपरीतार्थक है। इसलिए इस श्लोक के अन्तर्गत 'इतिकर्त्तव्यता' से 'सभी राज्यकार्यों की पूर्णता' अभिप्रेत है। जितने भी अमात्यों या अधिकारियों से राज्यसंचालन के कार्य पूर्णतया सम्पन्न हो सकें, उतनों की नियुक्ति कर लेनी चाहिएं। अगले **'तेषामर्थे'** इत्यादि श्लोक में उक्त अमात्यों की सहायतार्थ अन्य सहयोगी अधिकारियों (सचिव, अतिरिक्त सचिव, संयुक्त सचिव, निदेशक, विभागाध्यक्ष आदि) की नियुक्ति का निर्देश किया गया है।

दूत एव हि—कौटिल्य ने दूत के कार्यों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

प्रेषणं सन्धिपालत्वं प्रतापो मित्रसंग्रहः ।
उपजापः सुहृद्भेदो दण्डगूढातिसारणम् ॥
बन्धुरत्नापहरणं चारज्ञानं पराक्रमः ।
समाधिमोक्षः दूतस्य कर्मयोगस्य चाश्रयः ॥ —प्र. ११, अ. १५

अर्थात्—राजा का सन्देश दूसरे राजा के पास ले-जाना और उसका अपने राजा के पास लाना, सन्धिभाव को बनाये रखना, अपने राजा के प्रताप को बढ़ाना, अधिक-से-अधिक मित्र बनाना, शत्रुपक्ष के लोगों को फोड़ना, शत्रु के मित्रों को उससे विमुख करना, कार्यरत अपने गुप्तचरों अथवा सैनिकों को समय रहते सुरक्षित निकाल लाना, शत्रु के बान्धवों और रत्न आदि का अपहरण, शत्रुदेश में कार्यरत अपने गुप्तचरों के कार्य पर दृष्टि रखना, समय पड़ने पर पराक्रम दिखाना, बन्धक रखे शत्रु-बान्धवों को शर्तों के आधार पर छोड़ना, आवश्यकतानुसार दोनों राजाओं की परस्पर भेंट कराना आदि दूत के कार्य हैं।

दूत के लिए नियत अतिरिक्त कर्त्तव्यों का निर्देश मनु ने अगले श्लोक (७।६७) में इस प्रकार किया है—

स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितैः ।
आकारमिङ्गितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥

https://t.me/arshlibrary

[दुर्गों के भेद और उनका उपयोग]

धनुर्दुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा ।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत् पुरम् ॥४॥
एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
शतं दशसहस्राणि तस्माद् दुर्गं विधीयते ॥५॥
तत् स्यादायुधसम्पन्नं धनधान्येन वाहनैः ।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥६॥
तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद् गृहमात्मनः ।
गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥७॥
तदध्यास्योद्वहेद् भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।
कुले महति सम्भूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥८॥

अर्थात् वह दूत शत्रुपक्ष के असन्तुष्ट या विरोधी लोगों में और कर्मचारियों में गुप्त संकेतों एवं चेष्टाओं से शत्रु-राजा के आकार=भाव, संकेत=हाव, चेष्टा=प्रयत्न का तथा उसके अभिलषित कार्य और इच्छाओं को जाने ।

यहाँ 'कृत्य' शब्द राजनैतिक योगरूढि है । 'कृत्य' उन लोगों को कहते हैं जो धन, स्त्री, सम्पत्ति आदि के लोभ से अपने पक्ष में किये जा सकते हैं । कौटिल्य अर्थशास्त्र में उनके चार भेद बताये हैं—**'क्रुद्धलुब्धभीतावमानितस्तु परेषां कृत्याः'** (कौ० अर्थ० प्र० ८ अ. १२) । शत्रुराज्य के जो राजा पर क्रोध रखते हैं वे 'क्रुद्धकृत्य'; जो लालची स्वभाव के हैं वे 'लुब्धकृत्य' ; जो डर के कारण दबे रहते हैं हैं, वे 'भीतकृत्य' और जो राजा से अपमानित हैं, वे "अपमानितकृत्य' कहाते हैं । दूत का यह कर्त्तव्य है कि उपर्युक्त लुब्ध और क्षुब्ध व्यक्तियों और कर्मचारियों से शत्रुराजा के गुप्त रहस्यों को जाने ।

'इङ्गितमन्यथावृत्तिः, आकृतिग्रहणमाकारः' (कौ०अ०, प्र० १०, अ०१४) । स्वाभाविक क्रियाओं के विपरीत भिन्न चेष्टाएँ 'इङ्गित' कहाती हैं और चेष्टाओं को प्रकट करनेवाले अंगोंकी आकृति 'आकार' कहाती है ।

शुक्रनीति में दूत की विशेषताओं का वर्णन करते हुए लिखा है—

इङ्गिताकारचेष्टज्ञः स्मृतिमान्देशकालवित् ।
षाड्गुण्यमन्त्रविद्वाग्मी वीतभीर्दूत इष्यते ॥ —२।८६

जो हृदयगत भाव तथा चेष्टा को समझनेवाला, प्रखर स्मरणशक्तिवाला, देशकालानुसार कर्त्तव्य कर्म को जाननेवाला, राजनीति के छह उपायों के विषय में उचित मन्त्र=विचार का जाननेवाला, बोलने में चतुर और निर्भीक होता है, वह 'दूत' कहाता है ।

छह उपाय हैं—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, समाश्रय तथा द्वैधीभाव । 'समाश्रय' का अर्थ है—सबल का आश्रय लेना तथा 'द्वैधीभाव' का तात्पर्य है—ऊपर से शत्रु से मेल रखना, किन्तु भीतर-भीतर शत्रुभाव रखना ।

पुरोहितम्—यहाँ 'वैतानिक' का अर्थ विस्तृत अर्थात् लम्बे समय तक चलनेवाला यज्ञ है तथा 'गृह्यकर्माणि' से घर के धार्मिक अनुष्ठान तथा दैनिक पंचमहायज्ञ अभिप्रेत हैं । वैतानिक यज्ञों का

https://t.me/arshlibrary

[पुरोहित और ऋत्विज् का वरण]

पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजम् ।
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च ॥६॥

—मनु० ७।६५-६८-७०, ७४-७८॥

अमात्य को दण्ड-अधिकार, दण्ड में विनय-क्रिया अर्थात् जिससे अन्यायरूप दण्ड न होने पावे। राजा के अधीन कोश और राजकार्य, तथा सभा के अधीन सब कार्य्य, और दूत के अधीन किसी से मेल वा विरोध करने का अधिकार देवे ॥१॥

दूत उसको कहते हैं कि जो फूट में मेल, और मिले हुए दुष्टों को फोड़-तोड़ देवे। दूत वह कर्म करे, जिससे शत्रुओं में फूट पड़े ॥२॥

वह सभापति और सब सभासद् वा दूत आदि यथार्थ से दूसरे विरोधी राजा के राज्य का अभिप्राय जानके वैसा यत्न करें कि जिससे अपने को पीड़ा न हो ॥३॥

इसलिए सुन्दर जंगल, धन-धान्ययुक्त देश में (धनुर्दुर्गम्) धनुर्धारी पुरुषों से गहन, (महीदुर्गम्) मिट्टी से किया हुआ, (अब्दुर्गम्) जल से घेरा हुआ (वार्क्षम्) अर्थात् चारों ओर वन् (नृदुर्गम्) चारों ओर सेना रहे, (गिरिदुर्गम्) अर्थात् चारों ओर पहाड़ों के बीच में कोट बनाके इसके मध्य में नगर बनावे ॥४॥

और नगर के चारों ओर 'प्राकार'=प्रकोट बनावे, क्योंकि उसमें स्थित हुआ एक वीर धनुर्धारी शस्त्र-युक्त पुरुष सौ के साथ, और सौ दश हज़ार के साथ युद्ध कर सकते हैं, इसलिए अवश्य दुर्ग का बनाना उचित है ॥५॥

वह दुर्ग शस्त्रास्त्र, धन-धान्य, वाहन, ब्राह्मण=जो पढ़ाने, उपदेश करनेहारे हों, शिल्पि=कारीगर, यन्त्र नाना प्रकार की कला, 'यवसेन'=चारा-घास और जल आदि से सम्पन्न अर्थात् परिपूर्ण हो ॥६॥

उसके मध्य में जल, वृक्ष, पुष्पादि, सब प्रकार से रक्षित, सब ऋतुओं में सुखकारक, श्वेतवर्ण अपने लिए घर, जिसमें सब राजकार्य्य का निर्वाह हो, वैसा बनवावे ॥७॥

इतना अर्थात् ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़के, यहाँ तक राजकाम करके, पश्चात् सौन्दर्य-रूप-गुणयुक्त, हृदय को अतिप्रिय, बड़े उत्तम कुल में उत्पन्न, सुन्दर लक्षणयुक्त अपने क्षत्रिय कुल की कन्या, जोकि अपने सदृश विद्यादि-गुण-कर्म-स्वभाव में हो, उस एक ही स्त्री के साथ विवाह करे। दूसरी सब स्त्रियों को अगम्य समझकर दृष्टि से भी न देखे ॥८॥

पुरोहित और ऋत्विज् का स्वीकार इसलिए करे कि वे अग्निहोत्र और पक्षेष्टि आदि सब राजघर के कर्म किया करें और आप सर्वदा राजकार्य में तत्पर रहे, अर्थात् यही राजा का सन्ध्योपासनादि कर्म है, जो रातदिन राजकार्य में प्रवृत्त रहना और कोई राजकाम बिगड़ने न देना ॥६॥

स्पष्टीकरण अगले ही श्लोक में इस प्रकार किया है—

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैराप्तदक्षिणैः ।
धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद् भोगान्धनानि च ॥ —मनु० ७।७६

अर्थात् राजा बहुत दक्षिणावाले अनेक यज्ञों को किया करे तथा धर्म के लिए विद्वान् ब्राह्मणों को भोग्य वस्तुएँ तथा प्रचुर धन दान किया करे।

https://t.me/arshlibrary

[विविध अध्यक्षों की नियुक्ति]

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद् बलिम् ।
स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्त्तेत पितृवन्नृषु ॥१॥
अध्यक्षान् विविधान कुर्यात् तत्रतत्र विपश्चितः ।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन् नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥२॥
आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत् ।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते ॥३॥

[संग्राम-सम्बन्धी नियम]

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः ।
न निवर्त्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥४॥
आहवेषु मिथोऽन्योऽन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।
युध्यमानाः परं शक्तया स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥५॥
न च हन्यात् स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।
न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥६॥
न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥७॥

सांवत्सरिकम्—'आप्त' और 'बलि' परम्परागत शास्त्रीय शब्द हैं। शास्त्रों में प्रयोग के आधार पर इनके अपने विशेष अर्थ रूढ़ हो गये है—

'आप्तः' शब्द **'आप्लृ व्याप्तौ'** धातु से 'क्त' प्रत्यय के योग से बना है। अपने विषय में पूर्णतः व्याप्त अर्थात् व्यापक और प्रत्यक्ष ज्ञान रखनेवाले धार्मिक व निष्पक्ष व्यक्ति को 'आप्त' कहते हैं। राजा को चाहिए कि प्रशासन के प्रत्येक विभाग में ऐसे आप्तपुरुषों को ही मुख्य अधिकारी के रूप में नियुक्त करे।

अन्न या भोजनादि में से यज्ञार्थ निकाला गया भाग या अंश 'बलि' कहाता है। जैसे—बलिवैश्वदेवयज्ञ में भोजन का कुछ भाग पशु-पक्षियों के लिए निकालकर रक्खा जाता है। यहाँ 'बलि' से प्रजा से कर के रूप में प्राप्त अन्न का छठा भाग अभिप्रेत है।

अध्यक्षान्—कौटिल्य ने अर्थशास्त्र प्र०२२, अ० ६ में अध्यक्षप्रचार नामक अधिकरण में योग्यता, शक्ति और परीक्षानुसार अनेक विभागाध्यक्षों और उपविभागाध्यक्षों का विधान किया है। अध्यक्षों के पदों का विभाजन, विभाग और उससे सम्बन्धित कार्यानुसार होना चाहिए। कौटिल्य द्वारा परिगणित कुछ अध्यक्ष हैं—

१. **सेनाध्यक्ष**—सम्पूर्ण सेनाओं का सर्वोच्च अधिकारी, २. **कोषाध्यक्ष**—खजाने का व्यवस्थापक, ३. **आकराध्यक्ष**—खानों का अध्यक्ष, ४. **अक्षयपटलाध्यक्ष**—आय-व्यय महानिरीक्षक, ५. **कोष्ठागाराध्यक्ष**—कोठारी, ६. **आयुधागाराध्यक्ष**—युद्धसामग्री का अध्यक्ष, ७. **पण्याध्यक्ष**—बाजार का नियन्त्रक अधिकारी, ८. **कुप्याध्यक्ष**—वन की वस्तुओं का निरीक्षक, ९. **स्वर्णाध्यक्ष**—सोने-चाँदी का अध्यक्ष, १०. **लोहाध्यक्ष**—लौह वस्तुओं का अध्यक्ष, ११. **सीताध्यक्ष**—कृषि विभाग या कर के रूप में प्राप्त एकत्रित धान्य का अध्यक्ष, १२.

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

नायुधव्यसनं प्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम् ।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥८॥
यस्तु भीतः परावृत्तः सङ्ग्रामे हन्यते परैः ।
भर्तुर्यद् दुष्कृतं किञ्चित् तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥९॥
यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम् ।
भर्त्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥१०॥
रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून् स्त्रियः ।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत् ॥११॥
राजश्च दद्युरुद्धारमित्येषा[1] वैदिकी श्रुतिः ।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥१२॥

—मनु० ७ । ८=०—८=२,८=७,८=६,६१—६७॥

वार्षिक कर आप्त पुरुषों के द्वारा ग्रहण करे और जो सभापतिरूप राजा आदि प्रधान पुरुष हैं, वे सब और सभा वेदानुकूल होकर प्रजा के साथ पिता के समान वर्त्तें ॥१॥

उस राज्यकार्य में विविध प्रकार के अध्यक्षों को सभा नियत करे । इनका यही देखना काम है कि जितने-जितने जिस-जिस काम में राजपुरुष हो, वे नियमानुसार वर्त्तकर यथावत् काम करते हैं वा नहीं । जो यथावत् करें तो उनका सत्कार और जो विरुद्ध करें तो उनको यथावत् काम करते हैं वा नहीं । जो यथावत् करें तो उनका सत्कार, और जो विरुद्ध करें तो उनको यथावत् दण्ड किया करें ॥२॥

सदा जो राजाओं का वेदप्रचाररूप अक्षय कोष है, इसके प्रचार के लिए जो कोई यथावत् ब्रह्मचर्य से वेदादिशास्त्रों को पढ़कर गुरुकुल से आवे, उसका सत्कार राजा और सभा यथावत् करें तथा उनका भी जिनके पढ़ाये हुए विद्वान् होवें ॥३॥

शुल्काध्यक्ष—चुंगी का अधिकारी, १३. **पातवाध्यक्ष**—तोल-नाप का नियन्त्रक अधिकारी, १४. **मानाध्यक्ष**—देशकाल के मानों का अध्यक्ष, १५. **सूनाध्यक्ष**—वधस्थान का अधिकारी, १६. **सूत्राध्यक्ष**—वस्त्र या सूत-व्यवसाय का अध्यक्ष, १७. **नगराध्यक्ष**—नगर का प्रमुख अधिकारी, १८. **नावध्यक्ष**—नौका-परिवहन का अधिकारी, १९. **गो-अध्यक्ष**—गौ आदि दुधारू पशुओं का व्यवस्थापक अधिकारी, २०. **अश्वाध्यक्ष**—अश्वशाला का अधिकारी, २१. **हस्ति-अध्यक्ष**—हस्तिशाला का अधिकारी, २२. **रथाध्यक्ष**—रथसेना का अधिकारी, २३. **पदात्पध्यक्ष**—पैदल सेना का अधिकारी, २४. **मुद्राध्यक्ष**—मुद्रा-व्यवस्था का अधिकारी, २५. **विविताध्यक्ष**—चरागाहों का अधिकारी, २६. **लवणाध्यक्ष**—टकसाल का अधिकारी, २७. **धर्माध्यक्ष**—धर्मनिर्णायक अधिकारी ।

विपश्चित्—निरुक्त ३।१५ के अनुसार **'विपश्चित् मेधावी-नाम'** अर्थात् प्रतिभाशाली विद्वान् को विपश्चित् कहते हैं । प्रतिभाशाली विद्वानों को ही विभागों का अध्यक्ष नियुक्त करना चाहिए ।

नायुधव्यसनम्—**'सतां धर्ममनुस्मरन्'**—ग्रन्थकार का निश्चित मत है कि युद्ध की समाप्ति पर

---

१. मेधातिथि ने मनुस्मृति की अपनी व्याख्या मे **'इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा ..... स (इन्द्रो) महान् भूत्वा देवता अब्रवीदुद्धारं म उद्धरत'** (ऐ० ब्रा० ३२१) वैदिक वचन उद्धृत किया है ।

https://t.me/arshlibrary

इस बात के करने से राज्य में विद्या की उन्नति होकर अत्यन्त उन्नति होती है।

जब कभी प्रजा का पालन करनेवाले राजा को कोई अपने से छोटा, तुल्य और उत्तम संग्राम में आह्वान करे, तो क्षत्रियों के धर्म का स्मरण करके संग्राम में जाने से कभी निवृत्त न हो, अर्थात् बड़ी चतुराई के साथ उनसे युद्ध करे, जिससे अपना ही विजय हो ॥४॥

जो संग्रामों में एक-दूसरे को हनन करने की इच्छा करते हुए राजा लोग, जितना सामर्थ्य हो विना डर, पीठ न दिखा युद्ध करते हैं, वे सुख को प्राप्त होते हैं। इससे विमुख कभी न हो, किन्तु कभी-कभी शत्रु को जीतने के लिए उनके सामने से छिप जाना उचित है, क्योंकि जिस प्रकार से शत्रु को जीत सकें, वैसे काम करें। जैसा सिंह क्रोध से सामने आकर शस्त्राग्नि में शीघ्र भस्म हो जाता है, वैसे मूर्खता से नष्ट-भ्रष्ट न हो जावें ॥५॥

युद्ध-समय में न इधर-उधर खड़े, न नपुंसक, न हाथ जोड़े हुए, न जिसके शिर के बाल खुल गये हों, न बैठे हुए, न 'मैं तेरे शरण हूँ' ऐसे कहनेवाले को ॥६॥

न सोते हुए, न मूर्छा को प्राप्त हुए, न नग्न हुए, न आयुध से रहित, न युद्ध करते हुओं को देखनेवालों, न शत्रु के साथी ॥७॥

न आयुध के प्रहार से पीड़ा को प्राप्त हुए, न दुःखी, न अत्यन्त घायल, न डरे हुए, और न पलायन करते हुए पुरुष को सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण करते हुए योद्धा लोग कभी मारें।

किन्तु उनको पकड़के जो अच्छे हों उन्हें बन्दीगृह में रख दे, और भोजन-आच्छादन यथावत् देवे और जो घायल हुए हों, उनकी औषधादि विधिपूर्वक करे। न उनको चिढ़ावे, न दुःख देवे। जो उनके योग्य काम हो करावे। विशेष इसपर ध्यान रखे कि स्त्री, बालक, वृद्ध और आतुर तथा शोकयुक्त पुरुषों पर शस्त्र कभी न चलावे। उनके लड़के-बालों को अपने सन्तानवत् पाले, और स्त्रियों को भी पाले। उनको अपनी बहिन और कन्या के समान समझे, कभी विषयासक्ति की दृष्टि से भी न देखे। जब राज्य अच्छे प्रकार जम जाए, और जिनमें पुनः युद्ध करने की शङ्का न हो, उनको सत्कारपूर्वक छोड़कर अपने-अपने घर वा देश को भेज देवे और जिनसे भविष्यत् काल में विघ्न होना सम्भव हो, उनको सदा कारागार में रक्खे ॥८॥

युद्धबन्दियों को मुक्त कर देना चाहिए। संसार के समस्त राष्ट्रों के सम्बन्धों के नियमन के लिए सार्वभौम संगठन द्वारा इस प्रकार का विधान आवश्यक है। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में भारत की स्वाधीनता के लिए संघर्षरत 'आज़ाद हिन्द फ़ौज' के तीन सैनिकों को अंग्रेज सरकार ने बन्दी बनाया था और उन्हें प्राणदण्ड देने का निर्णय किया था। तब दिल्ली के लालकिले में उनपर अभियोग चलाया गया। उनकी मुक्ति के लिए चलाया गया अभियान अन्तर्राष्ट्रिय महत्त्व का विषय बन गया था। उसके लिए अन्तर्राष्ट्रिय कानून का आश्रय आवश्यक जान पड़ा। अन्ततः ग्रन्थकार द्वारा इस श्लोक की व्याख्या में दी गयी व्यवस्था के अनुसार उन्हें मुक्त कर देना पड़ा।

क्षात्रधर्ममनुस्मरन्—शुक्रनीति के अनुसार—

अवमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्ठतः ।
स्वकार्यं साधयेत् प्राज्ञः कार्यध्वंसो हि मूर्खता ॥ —४।३४८

बुद्धिमान् पुरुष मान-अपमान की परवाह न करके, जैसे भी सम्भव हो, अपने कार्य को सिद्ध करे, क्योंकि अपने कार्य को बिगाड़ लेना मूर्खता है।

https://t.me/arshlibrary

और जो पलायन अर्थात् भागा और डरा हुआ भृत्य शत्रुओं से मरा जाए, वह उसके स्वामी के अपराध को प्राप्त होकर दण्डनीय होवे ॥६॥

और जो उसकी प्रतिष्ठा है, जिससे इस लोक और परलोक में सुख होनेवाला था, उसको उसका स्वामी ले लेता है। जो भागा हुआ मारा जाए, उसको कुछ भी सुख नहीं होता, उसका पुण्यफल सब नष्ट हो जाता है और उस प्रतिष्ठा को वह प्राप्त हो, जिसने धर्म से यथावत् युद्ध किया हो ॥१०॥

इस व्यवस्था को कभी न तोड़े कि जो-जो लड़ाई में जिस-जिस भृत्य वा अध्यक्ष ने रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन-धान्य, गाय आदि पशु और स्त्रियाँ, तथा अन्य प्रकार के सब द्रव्य, और घी-तेल आदि के कुप्पे जीतें हों, वही उस-उसका ग्रहण करे ॥११॥

क्षणं युद्धाय सज्जेत क्षणं चापसरेत् पुनः ।
अकस्माच्निपतेद् दूराद् दस्युवत् परितः सदा ॥ —४।३५५

राजा क्षणभर में युद्ध के लिए तैयार हो जाए तथा क्षणभर में युद्ध से पीछे हट जाए और फिर दूर से सहसा डाकुओं की भाँति चारों ओर से धावा बोल दे।

धर्मयुद्धे तु कूटे वै न सन्ति नियमा अमी ।
न युद्धं कूटसदृशं नाशनं बलवद्रिपोः ॥ —४।३४४

बालक, वृद्ध, स्त्री तथा शस्त्रहीन आदि के अवध्य होने सम्बन्धी नियम केवल धर्मयुद्ध के लिए कहे गये हैं, कूटयुद्ध के लिए नहीं। बलवान् शत्रु को नष्ट करने के लिए कूट (कपट) युद्ध से बढ़कर कोई दूसरा युद्ध नहीं है।

रामकृष्णसुरेन्द्राद्यैः कूटमेवादृतं पुरा ।
कूटेन निहतो बालिर्यवनो नमुचिस्तथा ॥ —४।३४५

प्राचीनकाल में श्रीराम, श्रीकृष्ण तथा इन्द्रादि ने भी कूटयुद्ध के द्वारा ही बालि, कालयवन और ननुचि दैत्य का संहार किया था।

इस प्रसंग में महाभारत (आदिपर्व, अ० १४०, श्लोक १०-११) में आता है—

सुविदीर्णं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम् ।
आपद्यापदि काले च कुर्वीत न विचारयेत् ॥

अर्थात्—जब-जब आपत्ति का समय आये तो निःशंक होकर तोड़-फोड़, प्रबल आक्रमण, प्रचण्ड युद्ध करे अथवा सुरक्षापूर्वक भाग जाए।

रथाश्वं हस्तिनम्—जीती हुई स्त्रियों को विजेता सैनिकों को दे देना समझ में नहीं आता। यह ग्रन्थकार की भावनाओं तथा मान्यताओं और वैदिक (आर्य) परम्परा के विपरीत है। इसी कारण आर्यसंस्कृति के उन्नायक छत्रपति शिवाजी तथा महाराणा प्रताप ने सेना द्वारा बन्दीकृत स्त्रियों को ससम्मान उनके अभिभावकों को लौटा दिया था। यहाँ ८वें श्लोक की व्याख्या में स्वयं ग्रन्थकार ने बन्दीकृत स्त्रियों को अपनी बहन और कन्या के समान समझने का निर्देश किया है, अतः यहाँ केवल श्लोकस्थ 'स्त्रियः' पद की व्याख्या में ग्रन्थकार का तात्पर्य जानना चाहिए।

'कुप्य' शब्द से कुल्लूकभट्ट ने '**सुवर्णरजतव्यतिरिक्तं ताम्रादि धनम्**' का ग्रहण किया है। कौटिल्य

https://t.me/arshlibrary

परन्तु सेनास्थ जन भी उन जीते हुए पदार्थों में से सोलहवाँ भाग राजा के देवें और राजा भी सेनास्थ योद्धाओं को उस धन में से जो सबने मिलके जीता हो, सोलहवाँ भाग देवे।

और जो कोई युद्ध में मर गया हो, उसकी स्त्री और सन्तान को उसका भाग देवे और उसकी स्त्री तथा असमर्थ लड़कों का यथावत् पालन करे। जब उसके लड़के समर्थ हो जाएँ तब उनको यथायोग्य अधिकार देवे। जो कोई अपने राज्य की वृद्धि, प्रतिष्ठा, विजय और आनन्द-वृद्धि की इच्छा रखता हो, वह इस मर्यादा का उल्लंगन कभी न करे ॥१२॥

[चार प्रकार का पुरुषार्थ]

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत् प्रयत्नतः ।
रक्षितं वर्द्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥१॥
एतच्चतुर्विधं विद्यात् पुरुषार्थप्रयोजनम् ।
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक् कुर्यादतन्द्रितः ॥२॥
अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्द्धयेद् वृद्ध्या वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥३॥

[राजा मायाचारी न होवे]

अमाययैव वर्त्तेत न कथञ्चन मायया ।
बुध्येतारिप्रयुक्तां च मायान्नित्यं स्वसंवृतः ॥४॥
नास्य छिद्रं परो विद्याच्छिद्रं विद्यात् परस्य तु ।
गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥५॥
बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥६॥

[डाकू, लुटेरों को वश में करे]

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः ।
तानानयेद् वशं सर्वान् सामादिभिरुपक्रमैः ॥७॥
यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः ।
दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छनकैर्वशमानयेत् ॥८॥
यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति ।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥९॥

अर्थशास्त्र (२।१७) में अनेक पदार्थ गिनाये हैं। ग्रन्थकार ने लोक में प्रसिद्ध 'कुप्पा' शब्द को 'कुप्य' शब्द का अपभ्रंश मानकर उनमें रखे जानेवाले 'घी, तेल' आदि अर्थ किया है।

अलब्धमिच्छेत्—'**पात्रेषु निःक्षिपेत्**'=सुपात्रों व हितकर कार्यों में लगाये।

नास्य छिद्रम्—छिद्र का अर्थ है—त्रुटि, दोष, कमज़ोरी आदि ऐसी कमी जिसके कारण शत्रु लाभ

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

[प्रजा को कभी पीड़ा न देवे]

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया ।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥१०॥
शरीरकर्षणात् प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा ।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥११॥

[सुव्यवस्थित शासन-पद्धति]

राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् ।
सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ॥१२॥
द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् ।
तथा ग्रामशतानां च कुर्य्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥१३॥
ग्रामस्याधिपतिं कुर्य्याद्दशग्रामपतिं तथा ।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥१४॥
ग्रामदोषान् समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम् ।
शंसेद् ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने ॥१५॥

उठाकर स्वयं को हानि पहुँचा सके—**'छिद्रेष्वनर्थाः बहुली भवन्ति ।'** मनु के इस श्लोक को कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र (प्रक० ११, अ० १५) में सामान्य पाठभेद के साथ उद्धृत किया है ।

एवं विजयमानस्य—'परिपन्थिनः'—'परिपन्थिन्' शब्द **'छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि'** (अष्टा० ५।२।८६) सूत्र के अनुसार वेद में निपातनरूप है । पाणिनि के अनुसार वेद में ही निपातन है किन्तु साथ-साथ संस्कृत साहित्य में भी यह प्रयोग इसी रूप में प्रचलित है । इसके अर्थ शत्रु, डाकू, लुटेरा, कार्य में बाधक आदि हैं । यहाँ तथा आगे **'यथोद्धरति'** इत्यादि श्लोकों में उक्त 'परिपन्थी' शब्द का व्यापक अर्थ है । इससे वहाँ उन असामाजिक तत्त्वों का भी ग्रहण होता है जो प्रजा के अतिरिक्त राज्य के विकास में बाधा डालते हैं, विरोध करके अराजकता फैलाते और राज्यापहरण के लिए षड्यन्त्र करके शत्रु की सहायता करते हैं ।

'मोहाद्राजा० तथा **'शरीरकर्षणात्०'** के द्वारा राजा को सावधान किया गया है कि यदि प्रजा क्षीण या निर्बल होगी तो राजा बहुत दिनों तक शासन नहीं कर सकेगा—प्रजा के हित में ही राजा का हित निहित है । 'राष्ट्रकर्षण' का अभिप्राय यह है कि यदि स्वयं राजा द्वारा, या राजपुरुषों द्वारा प्रजा का शोषण किया जाएगा या वह डाकू-लुटेरों आदि से उत्पीड़ित प्रजा की रक्षा करने में असमर्थ होगा तो उसका राज्य स्थिर नहीं रह सकेगा ।

सार्वभौम चक्रवर्ती महाराजसभा—इस या ऐसे ही किसी अन्य नाम से अभिहित किसी अन्तर्राष्ट्रिय (अन्ताराष्ट्रिय) या विश्वस्तरीय संगठन का साक्षात् विवरण न मनुस्मृति में उपलब्ध है, न ब्राह्मणग्रन्थों में और न किन्हीं राजनीतिपरक ग्रन्थों में । प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर सन् १९१८ में राष्ट्रसंघ (League of Nations) की तथा द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर संयुक्त राष्ट्रसंघ (United Nations Organisation) की

https://t.me/arshlibrary

विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् ।
शंसेद् ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥१६॥
तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्-कार्याणि चैव हि ।
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥१७॥

स्थापना की गई । किन्तु ग्रन्थकार ने इसकी कल्पना सत्यार्थप्रकाश के इस प्रकरण में सन् १८७५ में की । निश्चय ही ग्रन्थकार का यह विचार वर्त्तमान राजनीतिक चिन्तन से उधार लिया नहीं माना जा सकता । या तो यह उनकी आर्ष बुद्धि का चमत्कार है अथवा उनके चिन्तन का आधार वेद में उपलब्ध कतिपय संकेत हो सकते हैं । **'वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम'** यजुर्वेद १८।२६ का यह वचन इसका प्रेरणास्रोत हो सकता है । इस समुल्लास के अन्त में ग्रन्थकार ने इसका संकेत किया है । इस सन्दर्भ में अथर्ववेद में आये ये शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं—

'विशां पतिरेकराट् त्वं विराज । सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्ययन्तु ।' —अथर्व० ३।४।१

अर्थात्—हे राजन् ! तू समस्त प्रजाओं का 'एकराट्'=एकमात्र सर्वोपरि अधिकारी होकर विराजमान हो । तुझे (सर्वाः प्रदिशः) सम्पूर्ण दिशाओं के निवासी नियुक्त करें । यजुर्वेदभाष्यान्तर्गत एक मन्त्र (१।६) के भावार्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है—**''मनुष्यैर्द्वाभ्यां प्रयोजनाभ्यां प्रवर्त्तितव्यम् । एकमत्यन्तपुरुषार्थशरीरारोग्याभ्यां चक्रवर्त्तिराज्यश्रीप्राप्तिकरणम्, द्वितीयं सर्वा विद्याः सम्यक् पठित्वा तासां सर्वत्र प्रचारीकरणं चेति ।''** अर्थात् मनुष्य को दो प्रयोजनों से (जीवन में) प्रवृत्त होना चाहिए—एक तो अत्यन्त पुरुषार्थ और शरीर की आरोग्यता से चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्मी की प्राप्ति करना और दूसरे सब विद्याओं को अच्छी प्रकार पढ़के सर्वत्र उनका प्रचार करना ।

''आर्याभिविनय' में भी अनेक वेदमन्त्रों की व्याख्या के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने प्रार्थनारूप में 'साम्राज्य' या चक्रवर्त्तिराज्य की कामना का समावेश किया है, जैसे—''हमको भी सत्यविद्या से युक्त सुनीति देके साम्राज्याधिकारी सद्यः कीजिए'' (प्रकाश १ मन्त्र १८) ; ''चक्रवर्त्ती राज्यैश्वर्य से..... परिपूर्ण करो'' (१, ३५) ; ''हमारे लिए चक्रवर्त्ती राज्य और साम्राज्य धन को सुगम-सुख से प्राप्त कर'' (१, ४३); ''जब तक जीवें, तब तक सदा चक्रवर्त्ती राज्यादि भोग से सुखी रहें ।'' (२।१३) ; ''अखण्ड चक्रवर्त्ती राज्य के लिए हम लोगों को सदा पुष्ट कर ।'' (२, ३१) ।

ऐतरेयब्राह्मण में आया है—

'तानहमनुराज्याय साम्राज्याय भोज्याय स्वराज्याय वैराज्याय पारमेष्ठ्याय राज्याय महाराज्याधिपत्याय स्वावश्यायातिष्ठायां रोहामीति ॥' ऐत० पं० ८, अ० २, कं० ६६

अर्थ—सब लोग इस प्रकार इच्छा करके पुरुषार्थ करें कि परमेश्वर की कृपा से मैं प्रथम 'अनुराज्य' की प्राप्ति के लिए और तदन्तर माण्डलिक राजाओं के ऊपर सत्ता प्राप्ति के लिए (साम्राज्याय) सार्वभौम राज्य करने के लिए, (भोज्याय) धर्म-न्याय से राज्यपालन करते हुए उत्तम भोग के लिए, (स्वराज्याय) स्वर्ग—ऐन्द्र राज्य की प्राप्ति के लिए, (वैराज्याय) विभिन्न राजाओं के बीच शीर्षस्थ स्थान पाने के लिए, (पारमेष्ठ्याय) स्थिर राज्य के लिए, (महाराज्याय) विस्तृत राज्यसत्ता के लिए तथा (आधिपत्याय) इस प्रकार क्रमशः सबपर पूर्णाधिपत्य प्राप्त करूँ ।

https://t.me/arshlibrary

'अवरं हि राज्यं परं साम्राज्यम्' (शत० ५।१।१।१३)—छोटे-छोटे माण्डलिक राज्य 'अनुराज्य' कहाते हैं और बड़े राज्य 'साम्राज्य'। अथवा **'सम्यग् ये राजन्ते प्रकाशन्ते ते सम्राजो राजानस्तेषां भावः कर्म वा'**।

साम्राज्यवाद का एक क्षीण-सा संकेत महाभारत (सभापर्व अध्याय ३७) में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में मिलता है। अग्रपूजा के लिए जब श्रीकृष्ण का वरण किया जा रहा था तो शिशुपाल ने इसका विरोध करते हुए कहा—

वयन्तु न भयादस्य कौन्तेयस्य महात्मनः ।
प्रयच्छामः करान् सर्वे न लोभान्न च सान्त्वनात् ॥१६॥
अस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः ।
करानस्मै प्रयच्छामः सोऽयमस्मान्न मन्यते ॥२०॥

अर्थात्—हम सब लोग (राजा) इन महात्मा युधिष्ठिर को जो कर दे रहे हैं, वह भय, लोभ अथवा किसी आश्वासन के कारण नहीं। हमने तो यही समझा था कि यह धर्मात्मा सम्राट् का पद प्राप्त करना चाहता है। सो अच्छा है, किन्तु श्रीकृष्ण को अर्घ्यदान करके यह हमारा अपमान कर रहा है।

इससे स्पष्ट है कि युधिष्ठिर का साम्राज्य बलपूर्वक छोटे राज्यों को अपने अधीन करके बना साम्राज्य न होकर स्वेच्छापूर्वक एक धर्मात्मा राजा के परस्पर सहयोग की भावना से बना संगठन था, जिसमें अपनी आन्तरिक व्यवस्था में स्वतन्त्र रहते हुए सर्वहितकारी कार्यों में परस्पर परतन्त्र थे। आजकल की भाषा में इसे Empire न कहकर Confederation या Common-wealth कह सकते हैं।

मनुस्मृति के सप्तम अध्याय में राज्य-संचालन के लिए विभिन्न स्तरों पर एक से लेकर सहस्र ग्रामों तक सभाओं तथा सभागृहों के निर्माण किये जाने का उल्लेख मिलता है। ग्रन्थकार ने मनु द्वारा निर्दिष्ट क्रम को आगे बढ़ाते हुए 'महाराजसभा अर्थात् सार्वभौम चक्रवर्त्ती महाराजसभा' तक पहुँचाया है। इसी सभा को वर्त्तमान में 'संयुक्त राष्ट्रसंघ' के नाम से अभिहित किया गया है।

परन्तु इतिहास साक्षी है कि राष्ट्रसंघ (League of Nations) हिटलर के एक झटके को सहन न कर सका और सन् १९३९ में धराशायी हो गया। व्यावहारिक स्तर पर यही स्थिति वर्त्तमान संयुक्त राष्ट्रसंघ (U.N.O) की है। रूस और अमरीका में से कोई अकेला निषेधाधिकार प्राप्त होने के कारण सुरक्षापरिषद (Security Council) के किसी भी निर्णय को निरस्त कर सकता है। साधारण सभा में सर्वसम्मति से भी कोई निर्णय हो जाए तो सदस्य राष्ट्रों को उसे मानने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। जब विश्वसंगठन पर कुछ विशिष्ट सदस्य राष्ट्रों का वर्चस्व बढ़ जाता है तो विश्वसंगठन व्यर्थ हो जाता है। इस दृष्टि से ऐतरेय के प्रस्तुत सन्दर्भ में 'आधिपत्याय' तथा 'स्वावश्याय' ये दो शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। स्वायत्तता (Autonomy) के साथ जब तक प्रभुसत्ता (Sovereignty) का सामंजस्य नहीं होता तब तक दोनों में संघर्ष के अवसर आते रहेंगे। आज भी यह अनुभव किया जा रहा है कि जब तक संयुक्त राष्ट्र संघ के पास अपनी सेना नहीं होगी तब तक वह अपने निर्णयों को लागू नहीं करा सकेगा। इसलिए जब तक सदस्य राष्ट्रों पर विश्वसंघ का आधिपत्य नहीं होगा और वे उसके वश में रहकर उसके निर्देशों का पालन करने के लिए बाध्य नहीं होंगे तब तक उसका होना न होना बराबर है।

विश्वशासन के कुछ सूत्र ऋग्वेद के सप्तम तथा अष्टम मण्डल में उपलब्ध हैं—

राजा राष्ट्राणां पेशः । ७।३४।११
विश्वस्य दूतं अग्निं आहुवे । ७।१६।१

https://t.me/arshlibrary

विश्वभोजसा स दुद्रवत् स्वाहुतः । ७।१६।२
त्वं पोता विश्ववार । ७।१६।५
अस्य भुवनस्य एकराट् राजसि । ८।३७।३
यस्य ते विश्वमानुषः । ८।४५।४२
विश्वमनुषां मरुतामियक्षसि । ८।४६।१७

वेदों में अनेकत्र विश्व को भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में एकसूत्र में बाँधने के सूत्र मिलते हैं, जैसे—**'इषं च विश्वभोजसम् ।'** ऋ० ६।४८।१३ में विश्व खाद्य व कृषि संगठन (World Food and Agricultural Organisation) की स्पष्ट ध्वनि है । संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक रिपोर्ट (२४ अक्तूबर १९५५) में लिखा है—

"We know that modern techniques and modern Knowledge coupled with an adequate scheme of distribution can enable us to feed well a far larger population than anyone has heretofore considered possible. The knowledge exists. The machinery—the U.N. Food and Agricultural Organisation—is ready. And yet men starve."

आशय यह है कि संसार में इतनी खाद्यसामग्री उपलब्ध है कि उससे वर्त्तमान जनसंख्या से कहीं अधिक लोगों का पेट भरा जा सकता है । इसका वितरण करनेवाली संस्था U.N.F.A.O. भी है । फिर भी लोग भूखे मर रहे हैं ।

इससे स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ और उससे सम्बन्धित अवर संगठन अपने आपको असहाय एवं असमर्थ अनुभव करते हैं । पूर्वापेक्षया कुछ सुधार होने पर भी न्यूनाधिक स्थिति आज भी वही है । इस स्थिति में किसी भी विश्वसंगठन के सन्दर्भ में 'आधिपत्याय' तथा 'स्वावश्याय' जैसे शब्दों पर बल देना आवश्यक है ।

यहाँ "दस-दस हज़ार के दश अधिपति .....प्रतिदिन ..... सार्वभौम चक्रवर्त्ती महाराजा सभा में सब भूगोल का वर्त्तमान जनाया करें" से स्पष्ट है कि 'प्रतिदिन सब भूगोल का वर्त्तमान जनाना' तभी सम्भव है जब सम्पूर्ण विश्व आधुनिक काल की तरह तार, टेलीफोन, टेलेक्स आदि उपकरणों से नीचे से ऊपर तक एक-दूसरे से भली प्रकार जुड़ा हो ।

ऋग्वेद के १।१४।६ मन्त्र का भाष्य करते हुए भावार्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है—**"ताराख्येन यन्त्रेण संचालिता विद्युन्मनोवेगवद्वार्त्तां देशान्तरं प्रापयति ।"** अर्थात्—ताराख्य यन्त्र से चलाई हुई बिजुली मन के वेग के समान वार्त्ताओं को एक देश से दूसरे देश में पहुँचाती है ।

ग्रन्थकार के वेदभाष्य के निम्न स्थलों में भी सूचित होता है कि तारयन्त्र द्वारा समाचारों को भेजने में विद्युत् का उपयोग किया जा सकता है—

"यदि मनुष्या विद्युद्वाय्वादियोगविद्यां जानीयुस्तर्हि ते दूतवदश्ववद्दूरं यानं समाचारं च गमयितुं शक्नुयुः ।" अर्थात् जो मनुष्य बिजुली और वायु आदि के योग की विद्या को जानें तो वे दूत और घोड़े के सदृश दूर वाहन को और समाचार को पहुँचा सकें । (ऋग्भाष्य ४।७।११, भावार्थ)

"यदा मनुष्या अग्नियानेन गमनं तडिता समाचारांश्च गृह्णीयुस्तदेते सद्यः कार्याणि साद्धुं शक्नुवन्ति।" अर्थात् जब मनुष्य लोग अग्नियान से गमन और विद्युत् से समाचारों को ग्रहण करें तब ये शीघ्र कार्यों को सिद्ध कर सकते हैं । (ऋग्भाष्य ७।३।२, भावार्थ)

इंग्लैंड में पहली बार सन् १८६२ में तार द्वारा समाचार भेजा गया था । भारत में इसके बहुत देर बाद

https://t.me/arshlibrary

नगरे नगरे चैकं कुर्यात् सर्वार्थचिन्तकम् ।
उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥१८॥
[गुप्तचरों द्वारा सब वृत्तान्त जाने]

स ताननुपरिक्रामेत् सर्वानेव सदा स्वयम् ।
तेषां वृत्तं परिणयेत् सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥१९॥

इसका प्रचलन हुआ । उस समय (१८७६) तक ग्रन्थकार को इसकी कोई जानकारी नहीं रही होगी । इसलिए यहाँ उन्होंने जो कुछ लिखा है, साक्षात् वेद के आधार पर ही लिखा है ।

इस विषय में पं० युधिष्ठिर मीमांसक की टिप्पणी है—

"अनेक लोग शंका करते हैं कि स्वीमी दयानन्द सरस्वती ने पाश्चात्य विज्ञानोन्नति को देखकर 'प्राचीन भारतीयों को भी ये विद्याएँ ज्ञात थीं' ऐसे मिथ्याग्रह से तार-विद्या का यहाँ (ऋ०भा०भी०) संकेत किया है, परन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मिथ्याग्रह से ऐसा नहीं किया है। वास्तव में प्राचीन आर्यों को दूरसंवादसंचारप्रणाली ज्ञात थी, इसका स्पष्ट निर्देश शुक्रनीति नामक अति प्राचीन ग्रन्थ में उपलब्ध है। उसमें राज्यव्यवस्था के प्रकरण में लिखा है कि राजा को अपने राज्य में ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि केन्द्र को १०,००० दस सहस्र कोस (=१५००० मील=२५००० किलोमीटर) दूर हुई बात एक दिन में ज्ञात हो जाए। शुक्रनीति १।३६७ में लिखा है—**'अयुतक्रोशजां वार्त्तां हरेदेकदिनेन वै'** । यदि भारत में अतिप्राचीन काल में दूरसंवादसंचार प्रणाली विदित न होती तो शुक्राचार्य ऐसी असम्भव वार्त्ता के लिए प्रयत्न करने का विधान न करते।"

नगरे-नगरे—'यहाँ बड़े-बड़े नगरों के प्रबन्ध के लिए' जिस व्यवस्था का निर्देश किया है, वर्त्तमान में म्युनिसिपल कमेटी और टाउन-हाल उसी के अन्तर्गत आते हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्रन्थकार की दृष्टि में सारे भूमण्डल की आदर्श सुख-प्राप्ति के लिए धरती-भर के लोगों का एक सुगठित (well-knit) तथा सशक्त विश्वराज्य=सार्वभौम संगठन होना नितान्त आवश्यक है ।

आचार्य प्रियव्रत ने अपने 'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त' (भाग १, पृष्ठ १३) में अथर्ववेद (८।१०।१२-१३) में आये 'आमन्त्रण' शब्द से इसी प्रकार के संगठन का ग्रहण किया है। उनकी मान्यता के अनुसार "आमन्त्रण एक सार्वभौम राज्यसभा प्रतीत होती है। राष्ट्रों के पारस्परिक विरोधों को सुलझाने के लिए 'आमन्त्रण' की आवश्यकता होती है। 'आमन्त्रण' शब्द का अर्थ है 'निमन्त्रण देकर बुलाना' । इससे विभिन्न देशों को बुलाया जाता है—आमन्त्रित किया जाता है।" मात्र बुलाये जाने के कारण 'आमन्त्रण' का 'सार्वभौम राज्यसभा' अर्थ युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। किसी छोटे से छोटे स्थानीय संगठन की बैठक के लिए भी उसमें उपस्थित होने के लिए उसके सदस्यों को बुलाना आवश्यक होता है ।

गुप्तचर—राजा न सर्वव्यापक होता है और न सर्वान्तर्यामी । फलतः उसके सर्वद्रष्टा या सर्वज्ञ होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु बिना देखे, सुने, जाने शासन का कार्य नहीं चल सकता, इसलिए उसे सहायकों की आवश्यकता होती है। देश में कहाँ, क्या है रहा हे, राजा को इसकी जानकारी गुप्तचरों (C.I.D.) से मिलती रहती है। कहा है—

चारैः पश्यन्ति राजानः वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः ।
गावः घ्राणेन पश्यन्ति चक्षुभिरितरे जनाः ॥

https://t.me/arshlibrary

[दुष्ट राजकर्मचारियों को कठोर दण्ड]

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः ।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥२०॥
ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः ।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात् प्रवासनम् ॥२१॥

—मनु० ७।६६-१०१, १०४-१०८-११०-११७,१२०-१२४

राजा और राजसभा अलब्ध की प्राप्ति की इच्छा, और प्राप्त की पयत्न से रक्षा करे। रक्षित को बढ़ावे, और बढ़े हुए धन को वेदविद्या, धर्म का प्रचार, विद्यार्थी, वेदमार्गोपदेशक तथा असमर्थ अनाथों के पालन में लगावें ॥१॥

इस चार प्रकार के पुरुषार्थ के प्रयोजन को जाने। आलस्य छोड़कर इसका भली-भाँति नित्य अनुष्ठान करे ॥२॥

राजा लोग गुप्तचरों (की आँखों) से देखते हैं, ब्राह्मण वेदों (की सहायता) से देखते=ज्ञान प्राप्त करते हैं, गौएँ घ्राण (नासिका) से देखती=सूँघकर जानती-पहचानती हैं और सामान्य जन चर्मचक्षुओं से देखते हैं।

शुक्रनीति में गुप्तचर के लक्षण इस प्रकार कहे हैं—

शत्रुप्रजाभृत्यवृत्त विज्ञातुं कुशलाश्च ये ।
ते गूढचाराः कर्त्तव्या यथार्थश्रुतबोधकाः ॥ —२।१८२

जो शत्रु, प्रजा और भृत्यों (कर्मचारियों) के चरित्र (व्यवहार) को जानने में कुशल और जो यथार्थ (सत्य) बातों को सुनकर उन्हें ठीक-ठीक निवेदन करनेवाले हों, उन्हीं को गुप्तचर बनाना चाहिए।

राज्ञो हि—क्योंकि प्रजा की रक्षा के लिए राजा द्वारा नियुक्त राजकर्मचारी प्रायः दूसरों के धन के लालची अर्थात् रिश्वतख़ोर और ठग या धोखा करनेवाले हो जाते हैं। राजा इस प्रकार की व्यवस्था करे जिससे वे राजा और प्रजा के साथ इस प्रकार का व्यवहार न कर पाएँ।

ये कार्यिकेभ्यः—यहाँ देश से निष्कासित कर ऐसे स्थान में रखने का आदेश दिया है, जहाँ से वे लौटकर न आ सकें। भारत में अंग्रेजी शासनकाल में ऐसे अपराधियों को काला पानी (अण्डमान) भेजा जाता था। रूस में ऐसे लोगों को सायबेरिया भेजा जाता था।

यहाँ से आगे सेवानिवृत्त कर्मचारियों, अनाथों तथा विधवाओं के जीवनयापन, असहाय वृद्धों की सहायता तथा साधनहीन अन्य लोगों के योगक्षेम का प्रावधान किया गया है, जिससे राज्य में कोई दुःखी या असहाय अनुभव न करे, परन्तु 'वे भली-भाँति धनाढ्य भी हों' इससे ग्रन्थकार का क्या तात्पर्य है, यह स्पष्ट नहीं है।

यथायोग्य व्यवहार—**'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्'** की भाँति परिश्रमी तथा ईमानदार कर्मचारियों को पुरस्कृत तथा इसके विपरीत आचरण करनेवालों को तिरस्कृत नहीं किया जाएगा तो कर्मचारियों की सत्कर्म में प्रवृत्ति और दुष्कर्म से निवृत्ति नहीं होगी। इसलिए सबके साथ समान व्यवहार न होकर यथायोग्य व्यवहार होना चाहिए। प्रकारान्तर से आगे **'तीक्ष्णश्चैव'** इत्यादि श्लोक में भी इस बात

https://t.me/arshlibrary

दण्ड से अप्राप्त की प्राप्ति की इच्छा, नित्य देखने से प्राप्त की रक्षा, रक्षित की वृद्धि अर्थात् व्याजादि, से बढ़ावे, और बढ़े हुए धन को पूर्वोक्त मार्ग में नित्य व्यय करे ॥२॥

कदापि किसी के साथ छल से न वर्त्ते, किन्तु निष्कपट होकर सबसे वर्ताव रक्खे और नित्य-प्रति अपनी रक्षा करके शत्रु के किये हुए छल को जानके निवृत्त करे ॥४॥

कोई शत्रु अपने छिद्र अर्थात् निर्बलता को न जान सके, और स्वयं शत्रु के छिद्रों को जानता रहे। जैसे कछुआ अपने अङ्गों को गुप्त रखता है, वैसे शत्रु के प्रवेश करने के छिद्र को गुप्त रक्खे ॥५॥

जैसा बगुला ध्यानावस्थित होकर मच्छी के पकड़ने को ताकता है, वैसे अर्थ-संग्रह का विचार किया करे। द्रव्यादि पदार्थ और बल की वृद्धि कर शत्रु को जीतने के लिए सिंह के समान पराक्रम करे, चीता के समान छिपकर शत्रुओं को पकड़े और समीप में आये बलवान् शत्रुओं से सस्सा[1] के समान दूर भाग जाए, और पश्चात् उनको छल से पकड़े ॥६॥

इस प्रकार विजय करनेवाले सभापति के राज्य में जो परिपन्थी अर्थात् डाकू, लुटेरे हों, उनको 'साम'=मिला लेना, 'दान'=कुछ देकर, 'भेद'=फोड़-तोड़ करके वश में करे ॥७॥

और जो इनसे वश में न हों, तो अति कठिन **दण्ड** से धीरे-धीरे वश में करे ॥८॥

जैसे धान्य का निकालनेवाला छिलकों को अलग कर धान्य की रक्षा करता अर्थात् टूटने नहीं देता है, वैसे राजा डाकू-चोरों को मारे और राज्य की रक्षा करे ॥९॥

जो राजा मोह से=अविचार से अपने राज्य को दुर्बल करता है, वह राज्य और अपने बन्धु-सहित जीवने[2] से पूर्व ही शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है ॥१०॥

जैसे प्राणियों के प्राण शरीरों को कृशित करने से क्षीण हो जाते हैं, वैसे ही प्रजाओं को दुर्बल करने से राजाओं के प्राण अर्थात् बलादि बन्धुसहित नष्ट हो जाते हैं ॥११॥

इसलिए राजा और राजसभा राजकार्य्य की सिद्धि के लिए ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे राजकार्य्य यथावत् सिद्ध हों। जो राजा राज्यपालन में सब प्रकार तत्पर रहता है, उसको सुख सदा बढ़ता है ॥१२॥

इसलिए दो, तीन, पाँच और सौ ग्रामों के बीच में एक राज-स्थान रक्खे, जिसमें यथायोग्य भृत्य अर्थात् कामदार आदि राजपुरुषों को रखकर सब राज्य के कार्यों को पूर्ण करे ।१३॥

एक-एक ग्राम में एक-एक प्रधानपुरुष को रक्खे। उन्हीं दश ग्रामों के ऊपर दूसरा, उन्हीं बीस ग्रामों के ऊपर तीसरा, उन्हीं सौ ग्रामों के ऊपर चौथा, और उन्हीं सहस्र ग्रामों के ऊपर पाँचवाँ पुरुष रक्खे अर्थात् जैसे आजकल एक ग्राम में एक पटवारी, उन्हीं दश ग्रामों में एक थाना, और दो थानों पर एक बड़ा थाना, और उन पाँच थानों पर एक तहसील, और दश तहसीलों पर एक जिला नियत किया है, यह वही अपने मनु आदि धर्मशास्त्र से राजनीति का प्रकार लिया है ॥१४॥

इसी प्रकार प्रबन्ध करे, और आज्ञा देवे कि वह एक-एक ग्रामों का पति ग्रामों में नित्यप्रति जो-जो दोष उत्पन्न हों, उन-उनको गुप्तता से दश ग्राम के पति को विदित कर दे और वह दशग्रामाधिपति उसी प्रकार बीस ग्राम के स्वामी को दश ग्रामों का वर्तमान नित्यप्रति जना देवे ॥१५॥

और बीस ग्रामों का अधिपति बीस ग्रामों के वर्तमान को शतग्रामाधिपति को नित्यप्रति निवेदन करे, वैसे सौ-सौ ग्रामों के पति आप सहस्राधिपति अर्थात् हज़ार ग्रामों के स्वामी को सौ-सौ ग्रामों के वर्तमान को

---

१. अर्थात् खरगोश।

२. सं० २ में यही पाठ है। यह गुजराती एवं मारवाड़ी भाषा का प्रयोग है। भाव है—'जीवन की अवधि'।

https://t.me/arshlibrary

प्रतिदिन जनाया करे ।[1] और वे सहस्र-सहस्र के दश अधिपति दश सहस्र के अधिपति को, और दश सहस्र के दश अधिपति लक्षग्रामों की राजसभा को प्रतिदिन का वर्तमान जनाया करें और वे सब राजसभा[2] महाराजसभा अर्थात् सार्वभौमचक्रवर्ति महाराजसभा में सब भूगोल का वर्तमान जनाया करें ॥१६॥

और एक-एक दश-दश सहस्र ग्रामों पर दो सभापति वैसे करें जिनमें एक राजसभा में, और दूसरा अध्यक्ष आलस्य छोड़कर सब न्यायाधीशादि राजपुरुषों के कामों को सदा घूमकर देखते रहें ॥१५॥

बड़े-बड़े नगरों में एक-एक विचार करनेवाली सभा का सुन्दर, उच्च और विशाल जैसाकि चन्द्रमा है, वैसा एक-एक घर बनावे । उसमें बड़े-बड़े विद्यावृद्ध कि जिन्होंने विद्या से सब प्रकार की परीक्षा की हो, वे बैठकर विचार किया करें । जिन नियमों से राजा और प्रजा की उन्नति हो, वैसे-वैसे नियम और विद्या प्रकाशित किया करें ॥१८॥

जो नित्य घूमनेवाला सभापति हो, उसके अधीन सब गुप्तचर अर्थात् दूतों को रक्खे । जो राजपुरुष और भिन्न-भिन्न जाति के रहें[3], उनसे सब राज और प्रजा-पुरुषों के सब दोष और गुण गुप्तरीति से जाना करे । जिनका अपराध हो उनको दण्ड, और जिनका गुण हो उनकी प्रतिष्ठा सदा किया करे ॥१९॥

राजा जिनको प्रजा की रक्षा का अधिकार देवे, वे धार्मिक, सुपरीक्षित, विद्वान्, कुलीन हों । उनके अधीन प्रायः शठ और पर-पदार्थ हरनेवाले चोर-डाकुओं को भी नौकर रखके उनको दुष्टकर्म से बचाने के लिए राजा के नौकर करके उन्हीं रक्षा करनेवाले विद्वानों के स्वाधीन करके उनसे इस प्रजा की रक्षा यथावत् करें[4] ॥२०॥

जो राजपुरुष अन्याय से वादी-प्रतिवादी से गुप्त धन लेके पक्षपात से अन्याय करे, उसका सर्वस्व हरण करके यथायोग्य दण्ड देकर ऐसे देश में रक्खे कि जहाँ से पुनः लौटकर न आ सके, क्योंकि यदि उसको दण्ड न दिया जाए, तो उसको देखके अन्य राजपुरुष भी ऐसे दुष्ट काम करें और दण्ड दिया जाए तो बचे रहें[5] ॥

परन्तु जितने से उन राजपुरुषों का योगक्षेम भली-भाँति हो, और वे भली-भाँति धनाढ्य भी हों, उतना धन वा भूमि राज की ओर से मासिक वा वार्षिक अथवा एक बार मिला करे और जो वृद्ध हों उनको भी आधा मिला करे, परन्तु यह ध्यान में रक्खे कि जब तक वे जियें तब तक वह जीविका बनी रहे, पश्चात् नहीं, परन्तु इनके सन्तानों का सत्कार वा नौकरी उनके गुण के अनुसार अवश्य देवे और जिसके बालक जब तक समर्थ हों और उसकी स्त्री जीती हो, तो उन सबके निर्वाहार्थ राज की ओर से यथायोग्य धन मिला करे, परन्तु जो उसकी स्त्री वा लड़के कुकर्मी हो जाएँ, तो कुछ भी न मिले । ऐसी नीति राजा बराबर रक्खे ॥२१॥

---

१. यहाँ से आगे का पाठ मनु के किसी श्लोक का अर्थ नहीं है, परन्तु व्याख्यायमान श्लोक के अनुसार दशसहस्राधिपति से आगे की व्यवस्था दर्शानेवाला है ।

२. इसका अभिप्राय यह है कि—'लक्ष-लक्ष ग्रामों की वे सब राजसभाएँ' वे संख्या में चाहे कितनी ही होवें ।

३. यहाँ 'भिन्न-भिन्न जाति के गुप्तचर रहें' पाठ युक्त प्रतीत होता है ।

४. यह भाषार्थ अपराध करनेवाले लोगों के सुधार की भावना से किया गया है । श्लोक का शब्दार्थ—'राजा के द्वारा प्रजा की रक्षा के लिए रक्खे गये अधिकारी प्रायः करके पर-धन को ग्रहण करनेवाले वञ्चक होते हैं । उनसे प्रजा की रक्षा की जावे' रक्षा का उपाय अगले श्लोक में दर्शाया है ।

५. यहाँ से आगे का पाठ किसी श्लोक की व्याख्यारूप नही है । अपितु राजकर्मचारियों के वेतन, वार्धक्यवृत्ति (=पैंशन), राजकर्मचारियो के असहाय स्त्री-पुत्रों के भरण-पोषण की व्यवस्था ग्रन्थकार ने दर्शाई है ।

https://t.me/arshlibrary

[कर-ग्रहण का प्रकार]

यथा फलेन युज्येत राजा कर्त्ता च कर्मणाम् ।
तथाऽवेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत् सततं करान् ॥१॥
यथाऽल्पाऽल्पमदन्त्याऽऽद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः ।
तथाऽल्पाऽल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः ॥२॥
नोच्छिन्द्यात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया ।
उच्छिन्दन् ह्यात्मनो मूलमात्मानं ताँश्च पीडयेत् ॥३॥
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात् कार्यं वीक्ष्य महीपतिः ।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति सम्मतः ॥४॥

पर बल दिया गया है ।

कौटिल्य ने अपने समय के मूल्यस्तर (Price Index) के अनुसार राजा और उसके परिजनों से लेकर मन्त्रियों, अमात्यों, अध्यक्षों तथा निम्नस्तरीय कर्मचारियों (class IV) तक की भृति=भरणपोषण या वेतन का निर्धारण किया है । कौटिल्य के अनुसार धन और भूमि दोनों ही रूपों में भृति दी जा सकती है, परन्तु भूमि के सम्बन्ध में यह शर्त रखी है कि उसे न गिरवी रखा जा सकता है और न बेचा जा सकता है । (प्रकरण १७। अ०१)

करव्यवस्था—मनु का संसार का सबसे पहला विधिवेत्ता होना निर्विवाद है । मनु सबसे पहले राजा थे और उन्होंने प्रजा के अनुरोध पर इस शर्त पर राजा बनना स्वीकार किया था कि प्रजा कर देकर उनके तथा शासन के लिए अपेक्षित सेना तथा कर्मचारियों के वेतनादि की व्यवस्था करेगी । एक राजा के रूप में जिस प्रकार की करव्यवस्था का निर्धारण उन्होंने किया था लगभग वैसी ही आज तक चली आ रही है । इसकी पुष्टि कौटिल्य अर्थशास्त्र से उद्धृत इस वचन से होती है—

''मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजाः वैवस्वतं मनुं राजानं चक्रिरे । धान्यषड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः । तेन भृता राजानः प्रजानां योगक्षेमवहाः । तेषां किल्बिषं दण्डकरा हरन्ति, योगक्षेमवहाश्च प्रजानाम् ।'' (प्रक० ८, अ० १२)

अर्थात्—जैसे बड़ी मछली छोटी निर्बल मछली को खा जाती है, इसी प्रकार बलवान् लोगों ने निर्बलों का जीना मुश्किल कर दिया । इस अन्याय से पीड़ित हुई प्रजा ने अपनी सुरक्षा तथा कल्याण के लिए विवस्वान् के पुत्र मनु को अपना राजा बनाया । और तभी से प्रजाओं ने अपनी खेती की उपज का छठा भाग, व्यापार की आमदनी का दसवाँ तथा कुछ सुवर्ण राजा को 'कर' के रूप में देना निश्चित कर दिया । इस कर के बदले में राजाओं ने प्रजाओं की सुरक्षा तथा कल्याण का दायित्व अपने ऊपर ले लिया । इस प्रकार निर्धारित कर और दण्ड-व्यवस्था प्रजाओं के कष्टों का निवारण करने और उनका कल्याण करने में सहायक सिद्ध होती है ।

नोच्छिन्द्यात्—इस सन्दर्भ में शुक्रनीति का निम्न वाक्य द्रष्टव्य है—

मालाकार इव ग्राह्यो भागो नाङ्गारकारवत् ॥ ७।१११

अर्थात्—माली जैसे लताओं से खिली-खिली कलियों को चुनता है, वैसे ही राजा भी थोड़ा-थोड़ा कर

https://t.me/arshlibrary

[चोर डाकुओं से प्रजा की रक्षा]

एवं सर्वं विधायेदमितिकर्त्तव्यमात्मनः ।
युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥५॥
विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद् ह्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः ।
सम्पश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥६॥
क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् ।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥७॥

—मनु० ७।१२८, १२६, १३६, १४०, १४२-१४४

जैसे राजा और कर्मों का कर्त्ता राजपुरुष वा प्रजाजन सुखरूप फल से युक्त होवें, वैसे विचार करके राजा तथा राजसभा राज्य में कर-स्थापन करे ॥१॥

जैसे जौंक, बछड़ा और भमरा थोड़े-थोड़े भोग्य पदार्थ को ग्रहण करते हैं, वैसे राजा प्रजा से थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर लेवे ॥२॥

अतिलोभ से अपने वा दूसरों के सुख के मूल को उच्छिन्न अर्थात् नष्ट कदापि न करे, क्योंकि जो व्यवहार और सुख के मूल का छेदन करता है, वह अपने को और उनको पीड़ा ही देता है ॥३॥

जो महीपति कार्य को देखके तीक्ष्ण और कोमल भी होवे, वह दुष्टों पर तीक्ष्ण और श्रेष्ठों पर कोमल रहने से राजा अतिमाननीय होता है ॥४॥

ग्रहण करे। जैसे कोयला बनानेवाला सारे वृक्ष को जड़ से जलाकर एकबारगी कोयला बना डालता है, वैसे सबका सब न ले।

कर लेने का सबसे अच्छा प्रकार वह है जिसमें कर लेनेवाला कर लेले, पर कर देनेवाले को इसका पता भी न चले, अर्थात् जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों द्वारा समुद्र से जल लेता है, वैसे ही राजा कर लेने का उपाय अपनाये।

विक्रोशन्त्यः—**'राष्ट्रात् दस्युभिः ह्रियन्ते'** का अर्थ है सीमान्त में स्थित डाकुओं द्वारा एक देश की प्रजा को बलात् अपने देश में खींच ले-जाना। राजा की आवश्यकता ही रक्षा के लिए होती है। यदि वह इसमें असफल होता है तो उसका होना ही व्यर्थ है।

अपने मन से राजा एक भी काम न करे—शुक्राचार्य कहते हैं—

सर्वविद्यासु कुशलो नृपो ह्यपि सुमन्त्रवित् ।
मन्त्रिभिस्तु विना मन्त्रं नैकोऽर्थं चिन्तयेत्क्वचित् ॥ २।२
सभ्याऽधिकारिप्रकृतिसभासत् सुमते स्थितः ।
सर्वदा स्याद्नृपः प्राज्ञः स्वमते न कदाचन् ॥ २।३

सभी विद्याओं में निपुण और भली-भाँति मन्त्रणा=विचार करनेवाला भी अकेला राजा मन्त्रियों के बिना कभी किसी विषय में निर्णय न करे।

बुद्धिमान् राज को सदा सभ्याधिकारी पुरुष प्रकृति (मन्त्री आदि) और सभासदों की सम्मति से ही कार्य करना चाहिए। कभी भी अपनी मनमानी नहीं करनी चाहिए।

https://t.me/arshlibrary

इस प्रकार सब राज्य का प्रबन्ध करके सदा इसमें युक्त और प्रमाद-रहित होकर अपनी प्रजा का पालन निरन्तर करे ॥५॥

जिस भृत्यसहित देखते हुए राजा के राज्य में से डाकू लोग रोती, विलाप करती प्रजा के पदार्थ और प्राणों को हरते रहते हैं, वह राजा जानो भृत्य, अमात्यसहित मृतक है, जीता नहीं और महादुःख का पानेवाला है ॥६॥

इसलिए राजाओं का प्रजापालन ही करना परम धर्म है और जो मनुस्मृति के सप्तमाध्याय में कर लेना लिखा है, और जैसा सभा नियत[1] करे उसका भोक्ता राजा धर्म से युक्त होकर सुख पाता है। इससे विपरीत दुःख को प्राप्त होता है ॥७॥

वर्त्तमान में अधिनायकों (डिक्टेटरों) में यही दोष होता है कि वे किसी की नहीं सुनते। ग्रन्थकार ने महाराणा उदयपुर को अपने पत्र (पूर्ण संख्या ५६८) में लिखा था—राज का कार्य एक पर निर्भर न रक्खे, किन्तु राजपुरुष और प्रजापुरुष की अनुमति के अनुकूल प्रचलित करें।

सन्धिं तु— इस श्लोक के प्रचलित अर्थ इस प्रकार हैं—'सन्धि के दो भेद हैं—(१) समानयानकर्मा सन्धि और (२) असमनयानकर्मा सन्धि। तात्कालिक या भविष्य के लाभ की इच्छा से किसी दूसरे राजा से मिलकर 'यान' चढ़ाई करना 'समानयानकर्मा' सन्धि कहाती है। तात्कालिक या भविष्य के लाभ की इच्छा से किसी राजा से 'आप इधर जाइए, मैं इधर जाता हूँ' ऐसा कहकर पृथक्-पृथक् 'यान' चढ़ाई करना 'असमानयानकर्मा' सन्धि कहाती है। कुल्लूकभट्ट को भी यही अर्थ अभिमत है। परन्तु इस प्रकार के कर्म को 'सन्धि' कैसे कहा जा सकता है, अतः ग्रन्थकार द्वारा किया गया अर्थ ही संगत है। इसकी पुष्टि यहाँ श्लोक संख्या ६ से होती है।

स्वयं कृतश्च—विग्रह दो प्रकार का होता है—चाहे युद्ध के लिए निश्चित किये समय में अथवा अनिश्चित किसी भी समय में कार्य की सिद्धि के लिए स्वयं किया गया विग्रह और किसी के द्वारा मित्र राजा पर आक्रमण या हानि पहुँचाने पर मित्रराजा की रक्षा के लिए किया गया-विग्रह।

धार्मिक राजा से विरोध नहीं—'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' में ग्रन्थकार ने इस विषय में अपनी सामान्य नीति की घोषणा इन शब्दों में की है—

"अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं की, चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्त्ती, सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी हो, तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे, अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस कार्य में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु इस मनुष्यरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।"

उत्थाय पश्चिमे—इस श्लोक से लेकर श्लोक २२५ तक मनु ने राजा की सामान्य दिनचर्या का दिग्दर्शन इस प्रकार कराया है—

---

१. इससे देशकाल के अनुरूप अधिक कर लगाने का भी सभा को अधिकार है, ऐसा सूचित किया है।

https://t.me/arshlibrary

[राजा की दिनचर्या; मन्त्रियों से मन्त्रणा]

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः ।
हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत् स शुभां सभाम् ॥१॥
तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत् ।
विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत् सह मन्त्रिभिः ॥२॥

मनु-प्रोक्त राजा की दिनचर्या

	कालविशेष	कालावधि	दिन के कार्य	श्लोक
१	रात्रि का अन्तिम याम (तीन घण्टे का समय) अष्टम याम	प्रातः ४-७ तक	जागरण, नैत्यिक कार्य, संध्या-अग्निहोत्र, भोजन, आचार्य ऋत्विज् आदि विद्वानों की संगीत, उनसे अध्ययन एवं स्वाध्याय ।	७।३७, १४५ ॥
२	दिन का प्रथम याम	७-१०	प्रजासभा (दरबार) का आयोजन, उसमें प्रजा के कष्टों का श्रवण एवं समाधान । धर्मार्थकामों, राज्यमण्डल की प्रकृतियों, पञ्चवर्गों, षड्गुणों, दूतों और गुप्तचरों के करणीय कार्यों, युद्ध-सम्बन्धी योजनाओं पर मन्त्रियों-अमात्यों से गुप्त मन्त्रणा ।	७।१४७-२१५ ॥
३	द्वितीय याम (मध्याह्न)	१०-१	शस्त्रास्त्रों का अभ्यास, तत्पश्चात् स्नान, भोजन विश्राम ।	७।२१६-२२१ ॥
४	तृतीय याम	१-४	मुकद्दमों एवं राज्यसम्बन्धी कार्यों का चिन्तन ।	७।२२१
५	चतुर्थ याम	४-७	सेनाओं, शस्त्रास्त्रों, युद्धवाहनों और तैयारियों का निरीक्षण ।	७।२२२
६	पंचम याम (रात्रि संध्या काल)	७-१०	सायंकालीन नैत्यिक कार्य, संध्योपासना । गुप्तचरों, दूतों आदि के समाचार सुनना और उन्हें अग्रिम कर्त्तव्य समझाना । भोजन ।	७।२२३
७	षष्ठ याम (रात्रि)	१०-१	शयन	७।२२४
८	सप्तमयाम (रात्रि)	१-४	शयन	७।२२५

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ।
अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥३॥
यत्र मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः ।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः ॥४॥ —मनु०७।१४५, १४८॥

कौटिल्य प्रोक्त राजा की दिनचर्या

याम(पहर)	दिन के कार्य और उनकी निश्चित कालावधि
(रात्रि) अष्टम याम	जागरण, नैत्यिक एवं शास्त्रीय कर्त्तव्य, गुप्तमन्त्रणापूर्वक गुप्तचरों को प्रेषित करना ।
प्रथम याम	ऋत्विक्, आचार्य आदि की संगति, वैद्य से भेंट, रक्षाव्यवस्था और आय व्यय-व्यवस्था की जानकारी ।
द्वितीय याम (दिन)	पुरवासियों एवं जनपदवासियों के कार्यों पर विचार (राजदरबार)
तृतीय याम	आय-व्यय की सँभाल, विविध अधिकारियों की नियुक्ति आदि, याम मन्त्रिपरिषद् से परामर्श, गुप्तचरों के कार्यों का निश्चय ।
चतुर्थ याम	स्वतन्त्रतापूर्वक विहार या मन्त्रणा, सेना तथा सैन्यसामग्री-निरीक्षण ।
पंचम याम (संध्या)	सेनापति के साथ युद्धसम्बन्धी मन्त्रणा । संध्योपासना, गुप्तचरों के समाचार जानना, स्नान, भोजन ।
षष्ठ, सप्तम याम (रात्रि)	शयन

[अर्थशास्त्र, प्रकरण १४ । अ. २८]

सभा में जाकर प्रजा के कष्टों को सुने—

तत्र स्थितः—(तत्र) उस [१४५ में वर्णित] सभा में जाकर (स्थितः) बैठकर या खड़े होकर (सर्वाः प्रजाः प्रतिनन्द्य) वहाँ आई सब प्रजाओं की समस्याओं, कष्टों का संतुष्टिकारक समाधान कर उन्हें प्रसन्न करके (विसर्जयेत्) भेज दे (च) और फिर (सर्वाः प्रजाः विसृज्य) सब प्रजाओं को विसर्जित करने के बाद (मन्त्रिभिः सह मन्त्रयेत्) मन्त्रियों (७।४५) के साथ राजव्यवस्था पर विचार-विमर्श करे ॥२४६॥

ArshLibrary

https://t.me/arshlibrary

'वहां खड़ा रहकर जो प्रजाजन उपस्थित हों उनको मान्य दे और उनको छोड़कर मुख्यमन्त्री के साथ राज्यव्यवस्था का विचार करे।'' (स.प्र. छठा समु०)

राज्यसम्बन्धी मन्त्रणाओं के स्थान-

गिरिपृष्ठम्—(ततः) पश्चात् उसके साथ घूमने को चला जाए (गिरिपृष्ठम् वा रहः प्रासादम्) पर्वत की शिखर अथवा एकान्त घर (वा) वा (अरण्ये निःशलाके) जंगल जिसमें एक शलाका भी न हो वैसे एकान्त स्थान में (समारुह्य) बैठकर (अविभावितः) विरुद्ध भावना को छोड़ (मन्त्रयेत्) मन्त्री के साथ विचार करे॥१४७॥ (स.प्र. छठा समु०)

अनुशीलन :

(१) **'निःशलाके अरण्ये' का अभिप्राय**—यहाँ 'निःशलाके अरण्ये' का प्रयोग लाक्षणिक या मुहावरे के रूप में किया गया है जिसका अभिप्राय है—'ऐसा स्थान जहाँ तिनके के सदृश छोटे-से-छोटे प्राणी की या गुप्तमन्त्रणाभेदक वस्तु की उपस्थिति की संभावना न हो।

(२) **मन्त्रणास्थल के सम्बन्ध में कौटिल्य के विचार**—आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में निःशलाकापन के भाव को प्रकारान्तर से सकारण व्यक्त करते हुए मन्त्रणास्थल के विषय में लिखा है—

'तदुद्देशः संवृतः कथनामनिःस्रावी पक्षिभिरप्यनालोक्यः स्यात्। श्रूयते हि शुकसारिकाभिर्मन्त्रो भिन्नः श्वभिरन्यैश्च तिर्यग्योनिभिः।'' (प्र० २०।१४)

अर्थात् मन्त्रणा स्थल अत्यन्त सुरक्षित और गोपनीय होना चाहिए। ऐसा जहाँ पक्षी तक भी न झाँक सके (फिर मनुष्यों का तो प्रश्न ही नहीं)। क्योंकि, सुना जाता है कि पुराकाल में किसी राजा की गुप्त मन्त्रणा को तोता और मैना ने बाहर प्रकट कर दिया था। इसी प्रकार कुत्तों तथा अन्य पशु-पक्षियों के विषय में भी सुना जाता है।

ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन (पूर्ण संख्या ५६८) के अनुसार राजा की दिनचर्या के नियम

जब राजा न्याय सभा में जावे में तब दक्षिण हाथ उठाकर सब को स्वास्थ्य अभयदान देकर न्यायासन वर बैठ सर्वव्यापक यथावत् न्यायकारी अन्तर्यामी को मन से नेत्रोन्मीलन करके प्रार्थना करे कि— 'हे परमेश्वर आपकी कृपादृष्टि हो जिससे में चाहता हूँ कि कभी काम, क्रोध, मोह, भय, शोकादि के वश हो के अन्याय न करूँ। ऐसा अनुग्रह आप भी कीजिए।' परन्तु इस बात को सदा ध्यान में रक्खे कि सब कामादि और अन्याय में फँसाने वाला लोभ है। उसको अपने से और आप उससे सदा दूर रहे। उस समय न किसी का शत्रु और न किसी का मित्र तथा उदासीन बने, किन्तु समदृष्टि कि जैसा पक्षपात छोड़ परमेश्वर वा आप्तपुरुष सबके साथ वर्तता है वैसे वर्त्ते। प्रत्येक सप्ताह में गुरुवार के (दिन) ऋणदानादि में विवाद अर्थात् दिवानी का न्याय करे और रविवार के दिन साहसिकों अर्थात् फहोजदारी का न्याय करे। जब अर्थी व प्रत्यर्थी अथवा साक्षी जो कुछ स्वभाव से बोले उसपर अतीव ध्यान देकर विचार करे। और उनको कठिन से कठिन शपथ करावे। सब साक्षियों को पृथक्-पृथक् रक्खे। सीखावट की साक्षी को न माने और यह भी जना देवे कि मिथ्या बोलने, मानने और करनेवाले को इस जन्म और परजन्म में सुख व प्रतिष्ठा नहीं होती और देखो ! थोड़े से जीवन में धर्मात्मा अर्थात् सत्यावादी, सत्यमानी, सत्यकारी मनुष्य धर्मार्थ, काम, मोक्ष फलों को प्राप्त होता और मिथ्यावादी, मिथ्यामानी, अनृतकारी सर्वदा दुःख को प्राप्त

https://t.me/arshlibrary

जब पिछली प्रहर रात्रि रहे तब उठ, शौच और सावधान होकर परमेश्वर का ध्यान, अग्निहोत्र, धार्मिक विद्वानों का सत्कार, और भोजन करके भीतर सभा में प्रवेश करे ॥१॥

वहाँ खड़ा रहकर जो प्रजाजन उपस्थित हों उनको मान्य दे और उनको छोड़कर मुख्यमन्त्री के साथ राजव्यवस्था का विचार करे ॥२॥

पश्चात् उसके साथ घूमने को चला जाए। पर्वत के शिखर अथवा एकान्त घर वा जंगल जिसमें एक शलाका भी न हो, वैसे एकान्त स्थान में बैठकर विरुद्ध भावना को छोड़ मन्त्री के साथ विचार करे ॥३॥

जिस राजा के गूढ़ विचार को अन्य जन मिलकर नहीं जान सकते, अर्थात् जिसका विचार गम्भीर, शुद्ध परोपकारार्थ सदा गुप्त रहे, वह धनहीन भी राजा सब पृथिवी के राज्य करने में समर्थ होता है, इसलिए अपने मन से एक भी काम न करे कि जब तक सभासदों की अनुमति न हो[1] ॥४॥

होता है। इसलिए किसी को आत्मा और परमेश्वर का मिथ्याभाषणादि से शत्रु न बनना चाहिए। जैसा कुछ तुम्हारे आत्मा में हो वैसा ही जीभ से बोलो। जब वे कुछ भाषण करें वह सब लिपिबद्ध होवे और उनके नेत्र तथा मुखाकृति की ओर देखकर भीतर के आशय को पहिचाने। यदि कोई बड़ा ढीठ अथवा प्राड्विवाक अर्थात् बारिष्टर व वकील जो कुछ परस्पर प्रश्नोत्तर करें उसपर ध्यान देकर सुने तथा लिखे। यदि जहाँ-जहाँ पूछना उचित हो पूछे। बीच में अन्य-अन्य संवाद करके वक्र (ता) वा सरलता से प्रश्न करे। यदि इतने पर भी सत्यासत्य का निर्णय न हो तो उनपर विश्वास न करके जहाँ वह विरुद्ध कार्य हुआ हो वहाँ के सुपरीक्षित धार्मिक पुरुष और स्त्रियों की साक्षी में स्त्रीजनों से पूछकर निश्चय करे परन्तु स्त्रियों से रानी पूछे। अथवा यदि पड़दे में रक्खे तो बड़े प्रबन्ध से रखके पूछे कि कहीं उसके बदले दूसरी स्त्री न बोले। यदि सामने होवे तो न कोई उसपर दृष्टि डाले न हास्य करे और न डरावे। इतने पर भी सत्यासत्य का निर्णय न हो तो गुप्त में उनको बात करते सुन अथवा धार्मिक आप्तजन दूतों के द्वारा निश्चय करे। पश्चात् जो अपराधी हो उसको यथोयोग्य दण्ड देकर हरावे और अनपराधी का मान्य कर जितावे। जो हारे उसपर ताना न मारे, किन्तु ऐसा कहे कि देखो भाई ! मैं तुमसे ऐसे काम करने की आशा नहीं करता था। तुमने ऐसे कुल वा ऐसे के पुत्र होकर ऐसा अनुचित काम किया। इसपर मुझको बड़ा शोक है। हे भद्र ! यदि तू ऐसा काम न करता तो ऐसे दण्ड को प्राप्त क्यों होता। यदि कोई धूर्त वा आतुर बुरा शब्द बोले वा कुचेष्टा करे, सह लेना। परन्तु अपने शरीर की रक्षा सब प्रकार से करना और सबकी मानसी वा बाह्य चेष्टा को जानते रहना। चाहे कोई कितनी ही प्रार्थना करे वा क्रोड रुपैये भी देकर अन्याय कराया चाहै तो भी कभी अन्याय न करे। यही राजा के प्रताप, कीर्ति, श्री और राज्य बढ़ानेवाला कर्म है। यदि भूमि, धन, धरावट, सीमा आदि जितने विवाद लेख वचन से हों अथवा साहस मार-पीट कुवचन आदि से दूसरे को पीड़ा वा हानि पहुँचावें उनका भी न्याय यथोचित करे। जैसा मनुस्मृति के अष्टम और नवमाध्याय में न्याय-व्यवस्था १८ प्रकारों में लिखी है यथायोग्य करे। ये सब काम मध्याह्नोत्तर चार बजे तक करके कुछ ४५ पल अर्थात् १५ मिनट तक स्वस्थ होकर जिनके साथ मिलके राजप्रबन्धार्थ विचार करना चाहिए। ५। सवा (पांच) बजे तक प्रजास्थ जनों से बात करे। पश्चात् यदि प्रातः काल १० बजे भोजन किया हो और उष्णकाल हो तो शौच आदि से निवृत्त होकर ६ बजे तक भोजनादि से निवृत्त होकर

---

१. वर्तमान अधिनायको=डिक्टेटरों का यही सबसे बड़ा दोष है।

https://t.me/arshlibrary

जहाँ का शुद्ध वायु, शुद्ध देश, एकान्त हो, पैदल घूमने को जाए। यदि चलने में असमर्थ हो तो सवारी पर बैठकर घूमे, परन्तु यदि शीतकाल हो तो परमेश्वर की उपासना के पश्चात् भोजन करे। अर्थात् उष्णकाल में आठ बजे पर्यन्त भोजन के पश्चात् घूमना उपासना करनी उचित है। और शीतकाल में भी ५ बजे से ७ बजे तक भ्रमण उपासना से निवृत्त होकर साढ़े सात बजे तक भोजन कर ले। पश्चात् ४५ पल अर्थात् १५ मिनट पर्यन्त किसी से न बोले, किन्तु हस्त मुख प्रक्षालन कर लघुशंका से निवृत्त हो ताम्बूल भक्षण कर सतपद घूमके किंचित् उत्तान, दक्षिण और वामपार्श्व से लोटकर उठ-बैठे। तत्पश्चात् अर्थात् पौने आठ बजे तक दूत द्वारा स्वदेश, स्वनगर, परदेश, परराज्य के समाचार जोकि अपने और दूसरे के सम्बन्ध में हो, सुने और उसे स्वकार्यसिद्धि के लिए आज्ञा भी देवे। नौ से दश बजे तक आय व्यय आदि का वृत्तान्त सुनकर अगले दिन के लिए यथोचित प्रबन्ध करे। पश्चात् आध घण्टे में इष्ट-मित्र वा मन्त्री आदि को जोकि उस समय उपस्थित हों प्रसन्नता पूर्वक विदा करके साढ़े दश बजे शयन करे। यदि उष्णकाल हो तो १० बजे तक इन सब कामों से निवृत्त हो शयन करे। शयन एकान्त में करे और उसी समय परमेश्वर को इस लिए धन्यावाद देना कि 'हे परमेश्वर आपकी कृपा से गत अहोरात्र जैसा आनन्दपूर्वक बीता वैसे ही अग्रस्थ अहोरात्र भी आनन्दपूर्वक व्यतीत होवें। दो दिन[1] में पूर्वोक्त दो काम करने[2]। मंगल के दिन किसी राजपुरुष से वा अन्य राज्य से प्रजास्थ वा राजजन पीड़ित हुए हों उनकी बातें और तीन दिन अर्थात् बुध, शुक्र और शनैश्चर में सब राज्य की उन्नति और स्वास्थ्य के लिए प्रबन्धार्थ अकेले वा मुख्य धार्मिक स्वराज्य भक्त मंत्रियों के साथ विचार करना चाहिए।

विशेष नियम

१. जब पति और पत्नी समक्ष हों प्रसन्नतापूर्वक नमस्ते कर जिस-जिस प्रकार दोनों में प्रेम बढ़े वैसा व्यवहार करे, विरुद्ध कभी नहीं।

२. ऋतुदान के पश्चात् किंचित् ठहर स्नान कर शालव[3] मश्री, केशर आदि सुगन्धियुक्त परिपक्व दुग्ध शीतल यथारूचि पीके ताम्बूल भक्षण कर मुख प्रक्षालन करके पृथक्-पृथक् शयन करें।

३. दोनों सदा विद्या, धर्म, प्रजासुख के लिए तन-मन-धन से प्रयत्न किया करें।

४. किसी वेदविद्या-युक्ति-विरुद्ध मतमतान्तर के झगड़े में दोनों कभी न फँसे, किन्तु पक्षपात रहित न्यायाचरण वेदोक्त धर्म ही का आचरण करे और करावे।

५. अपने वा पराये राज्य में जहाँ तक शक्य हो किसी मत वाले की बहकावट से विद्या-युक्ति-विरुद्ध मत में किसी को न फँसने देवे। यदि कोई समझाने पर न माने, जो कूप में गिरना ही चाहे तो उसका अभाग्य समझना चाहिए।

६. जब बुरे बुराई नहीं छोड़ते तो भले भलाई क्यों छोड़ें ?

७. सदा सनातन वेदशास्त्र आर्य-राज, राजपुरुषों की नीति पर निश्चित रहकर इनकी उन्नति तन, मन, धन से सदा किया करे। इनसे विरुद्ध भाषाओं की प्रवृत्ति वा उन्नति न करे वा करावे, किन्तु जितना दूसरे राज्य कते सम्बन्ध में यदि वे इस भाषा को न समझ सकें उतने ही के लिए उन भाषाओं का यत्न

१. अर्थात् गुरुवार, रविवार।
२. सोमवार का निर्देश छूट गया है।
३. अर्थात् सालम मिश्री।

https://t.me/arshlibrary

[सन्धि-विग्रहादि ६ उपायों का प्रयोग]

आसनं चैव यानं च सन्धिं विग्रहमेव च ।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥१॥
सन्धिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च ।
उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥२॥
समानयानकर्मा च विपरीतरतथैव च ।
तथा त्वायतिसंयुक्तः संधिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः ॥३॥
स्वयं कृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा ।
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥४॥

रक्खे, जो वह प्रबल राज्य हो तो ।

८. कभी बिना विचारे, लिखे, नियत काल के आज्ञा न देवे । पश्चात् जैसी, जितने समय में कार्यसिद्धि करने की आज्ञा दी हो वह यथावत् नियमित समय में पूरी हुई वा नहीं उसपर ध्यान सदा रक्खे।

९. जो यथोक्त समय में आज्ञा को यथावत् प्रीति से पूरी करे उसका सत्कार करना पारितोषिक देना और उसकी उन्नति करना अति योग्य है और जो यथोचित न करें उसका अपमान दण्ड और ह्रास किये बिना कभी न छोड़े ।

१०. बिना योग्यता वा परीक्षा के किसी को बड़ा वा छोटा अधिकार न देवे, किन्तु जो धर्मात्मता से उस कार्य के करने में समर्थ हो उसी के अधीन वह कार्य सिद्ध करे वा करावे । दरिद्र वा लोभी को प्रारम्भ में बड़ा अधिकार भी न देवे और कुटुम्ब सम्बन्धी परस्पर मित्रों को भी एक अधिकार में न रक्खे ।

११. सदा वेदोक्त धर्मावलम्बी अधिकारियों पर अन्य मतावलम्बियों को अधिकार न देवे, किन्तु जिस-जिस कार्य में न्याय वा (उपदा) अर्थात् रिश्वत खाने का सम्बन्ध हो उनको छोड़ अन्य गौणाधिकारों में वैदिक धर्मावलम्बियों से कार्य सिद्ध न हो सके, रक्खे ।

१२. जो प्रीतिपूर्वक धर्मात्मता से ३० वर्ष तक राजकार्य करे उनको आधी नौकरी जब तक वे जीवें देवे । यदि संग्रामादि में जिसका मृत्यु हुआ हो उसकी स्त्री-पुत्रों को भी उसी प्रकार देवे । यावत् उनके पुत्र समर्थ न हों । जब समर्थ हों तब उनके पुत्रों को यथायोग्य अधिकार देवे, परन्तु उसकी स्त्री को योग क्षेमार्थ यथोचित जब तक वह जिये सदा दिया करे । यदि वह पांच रुपये मासिक पाता हो पूरे देवे । पुत्रों के समर्थ हुए पर स्त्री को आधा देवे ।

१३. सबके लड़के-लड़कियों को ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या-दान दिलावे ।

१४. न्यून-से-न्यून सोलहवें वर्ष कन्या और २५वें वर्ष लड़के का स्वयम्बर विवाह होने देवे, पूर्व नहीं ।

१५. अपनी सत्ता शक्ति को यथासम्भव बढ़ाता जावे, न्यून न होने देवे ।

१६. अपने अंश को न छोड़े और पराये अंश का स्वीकार कभी न करे ।

१७. संग्राम में जो सेनास्थ पुरुष जीत में शत्रुओं के पदार्थ पावें उनमें से १६वाँ भाग आप लेवे और समुदाय के जीते हुए पदार्थ में से १६वाँ भाग चाहे कितने ही क्रोड़ों रु० क्यों न हों सेना को अवश्य देवे । १५वाँ भाग आप रक्खे ।

https://t.me/arshlibrary

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया ।
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥५॥
क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात् पूर्वकृतेन वा ।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥६॥
बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये ।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥७॥
अर्थसंपादनार्थं च पीड्यमानस्य शत्रुभिः ।
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥८॥
यदाबगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः ।
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा सन्धिं समाश्रयेत् ॥९॥
यदा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम् ।
अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥१०॥

---

१८. युद्ध में जो शत्रु घायल हो उसकी रक्षा, ओषधि अवश्य करे। स्त्री बालक, वृद्ध, आतुर, भीरु, शरणागत पर शस्त्र कभी न चलावे।

१९. हारे हुए शत्रु की अप्रतिष्ठा कभी न करे, किन्तु उसका यथायोग्य मान्य रक्खे, परन्तु उसको छोड़कर स्वतन्त्रता कदाचित् न देवे।

२०. सदा प्रयत्न से अलब्ध के लाभ की इच्छा, लब्ध की सँहाल से रक्षा, रक्षित की व्याजादि से वृद्धि और बढ़े हुए पदार्थों का व्यय विद्या, धर्म, राज्य की वृद्धि इनके प्रचार और अनाथों के पालनादि शुभ व्यवहारों में करे।

२१. सर्वदा सन्तानों की शिक्षा में धन का व्यय करे, किन्तु विवाह, मृत्यु आदि में न करे।

२२. सदा दासी, वेश्यागमन, हास्य, नृत्य, भाँड चारण आदि से मिथ्या स्तुति कराने आदि व्यवहार से पृथक् रहे और अन्य को भी ऐसे प्रसंगों से सदा बचाया करे।

२३. सदा पूर्ण युवाऽवस्था में अर्थात् २५ वर्ष के उपरान्त हृद्य स्व (स) दृश्य एक स्त्री से विवाह करे और उसी से सदा ऋतुगामी रहे। यदि प्रमाद से अनेक स्त्री हों तो भी उनके साथ पक्षपात छोड़ नियमित समय में एक-सा वर्त्ते।

२४. उनमें परस्पर द्वेष उत्पन्न न होने दे, किन्तु सबको तुल्य अन्न, वस्त्राभूषण, सम्भाषणादि प्रेम व्यवहार तुल्य रक्खे और प्रेम रखवावे।

२५. उन स्त्रियों को योग्य है कि एक के पुत्र होने में सब अपने को पुत्रवती समझें तथा सब भाई भी एक के पुत्र होने में अपने को पुत्रवन्त मानें।

२६. राजा और राज्ञी का जिस-जिस कर्म से पति-पत्नी में और प्रजा में परस्पर प्रेम बढ़े उस-उस का सेवन और विपरीत का सर्वथा त्याग करे।

२७. सुपरीक्षित दूत द्वारा राज्य और राजपुरुषों की सुचेष्टा और कुचेष्टा से अपने को अभिज्ञ रक्खे। जिस-जिस यत्न से उनकी कुचेष्टा छूटें और सुचेष्टा बढ़े, वैसा यत्न सदा करे।

https://t.me/arshlibrary

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् ।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति ॥११॥
यदा तु स्यात् परिक्षीणो वाहनेन बलेन च ।
तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्नरीन् ॥१२॥
मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम् ।
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत् कार्य्यमात्मनः ॥१३॥
यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत् ।
तदा तु संश्रयेत् क्षिप्तं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥१४॥
निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद् योऽरिबलस्य च ।
उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा ॥१५॥
यदि तत्रापि संपश्येद् दोषं संश्रयकारितम् ।
सुयुद्धमेव तत्राऽपि निर्विशङ्कः समाचरेत् ॥१६॥ —मनु० ७।१६१-१७६ ॥

---

२८. अपराध में प्रजा से राजपुरुषों पर अधिक दण्ड होना चाहिए, क्योंकि बकरी के प्रमाद रोकने से सिंह का प्रमाद रोकने में अधिक प्रयत्न होना उचित है।

२९. जैसे राजा और कृषीवलादि प्रजा सुखी रहे वैसा कर-प्रबन्ध प्रजा में करे और उन्हीं कृषीवलादि को सब राज्य के सुख का मूलकारण समझ उनसे पितावत् वर्ते।

३०. जहाँ (साम) मेल (दाम)[1] कुछ दे (भेद) तोड़-फोड़ से शत्रु वश में न आवें, वहीं तण्ड प्रचरित करना चाहिए।

३१. किसी धर्मात्मा से विरोध वा लड़ाई करना न चाहे और दुष्ट से विरोध वा लड़ाई निःशंक करे।

३२. सब काम धार्मिक सभ्यों के बहुपक्षानुसार नियत करे और वह आज्ञा जोकि प्रजा के साथ सम्बन्ध रखती हो, सबमें प्रजा की संमति लेवे और सर्वत्र प्रसिद्ध करके गुण-दोष समझे। पश्चात् गुणाढ्य नियमों को नियत और दोषयुक्तों का त्याग करे।

३३. अपना वा अपने कुटुम्ब का नित्य नैमित्तिक व्यय भी नियमपूर्वक करे।

३४. जिस किसी को मासिक धन वा भूमि धर्मार्थ अथवा गुणानुसार कुछ भी देवे वह यावत् माननीय जीवे वा अन्यथा न वर्ते तावत् वह दान रहे पश्चात् नहीं।

३५. यदि पूर्वजों ने इससे विपरीताशय लेखपूर्वक किया हो और उसके कुलोत्पन्न वैसे न वर्तते हों तो भी वह दिया न दिया हो जावे, क्योंकि वह जिस समय दिया जाता है वह उत्तम काम के लिए होता है।

---

१. तु० स० प्रकाश, समु० ६, पृष्ठ २४१, पं० १६-१८ (आ० स० शताब्दी संस्करण २)। संस्कृत का शुद्ध शब्द दान है। राजधर्म प्रकरण में साम, दान, दण्ड और भेद इन चार उपायों का उल्लेख सर्वत्र मिलता है। (द्र० मनु० ७।१६८; कौ० अर्थशास्त्र अधि० ६, अ० ५, शुक्र नीति ४।२७) हिन्दी भाषा में साम के साहचर्य से दान का दाम बन गया है।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

सब राजादि राजपुरुषों को यह बात लक्ष्य में रखने योग्य है— जो **'आसन'**=स्थिरता, **'यान'**=शत्रु इने के लिए जाना, **'सन्धि'**=उनसे मेल कर लेना, **'विग्रह'**=दुष्ट शत्रुओं से लड़ाई करना, **'द्वैध'**=दो प्रकार की सेना करके स्वविजय कर लेना, **'संश्रय'**=और निर्बलता में दूसरे प्रबल राजा का आश्रय लेना, ये **छः प्रकार के कर्म** यथायोग्य कार्य को विचारकर उसमें युक्त करना चाहिए ॥१॥

राजा जो सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय दो-दो प्रकार के होते हैं, उनको यथावत् जाने ॥२॥

'सन्धि'=शत्रु से मेल अथवा उससे विपरीतता करे, परन्तु वर्तमान और भविष्यत् में करने के काम बराबर करता जाए। यह दो प्रकार का **'मेल'** कहाता है ॥३॥

'विग्रह'=कार्यसिद्धि के लिए उचित समय वा अनुचित समय में स्वयं किया, वा मित्र के अपराध करनेवाले शत्रु के साथ **'विरोध'** दो प्रकार से करना चाहिए ॥४॥

---

३६. परन्तु धर्मार्थादि के लिए जो दिया हो उसके भोक्ता अन्याय से वर्तते हों तो भी उस अंश को राजांश में न मिलावे, किन्तु कुकर्मी से छुड़ा योग्य धर्मात्मा को उसका अधिकारी करे। यदि वह भी प्रमादी हो तो पूर्वोक्त प्रकार उससे भी लेके अन्य योग्य को, यदि उसी के कुल में योग्य न हो तो देवे।

३७. यदि उनके सन्तान पितरों से अधिक योग्य हों ते उनको अयोग्य के अंश में से अधिकांश देवे और अधिक प्रतिष्ठा करे।

३८. यदि न्यायाधीश ही प्रमादी होकर अन्याय किया चाहे तो उनको राज्य और प्रजा के धार्मिक प्रधान पुरुष समझावें कि आप अन्याय मत कीजिए। यदि न मानें तो उसको पदच्युत करके जो उसी के कुल में निकट सम्बन्ध से न्यायास्पद के योग्य पुरुष हो उसको न्यायाधिकारी करें। परन्तु यह काम पक्षपात रहितता से होना उचित है, क्योंकि राज्य और विद्या तथा धर्म की वृद्धि के लिए और अधर्म की हानि के लिए सब प्रतिष्ठा है प्रमाद के अर्थ नहीं।

३९. सब राज्य के आय में से दशांश धर्मादि के लिए नियत रक्खे। उससे वेदविद्या, धर्म, सुशिक्षा की वृद्धि के लिए अध्यापक और उपदेशक प्रचरित करें। आपत्काल में राज्य और अनाथों की रक्षा भी उसी धन से करे।

४०. और राज्य से आय के नवांशों में से दो भाग स्थिर कोश, दो अंश राजकुल, तीन अंश सेना विभाग, एक अंश स्थानविशेष और एक अंश शिल्पविद्या की उन्नति के में लगावे।

४१. राज का कार्य एक पर निर्भर न रक्खे, किन्तु राजपुरुष और प्रजापुरुष की अनुमति के अनुकूल प्रचलित करें।

४२. जो राजासन पर नियत हो उसका किंचित भी अपमान कोई मन, कर्म, वचन से न करे। किन्तु जो जिस पर प्रधान हो चाहे उससे अप्रधान किसी गुण में अधिक भी क्यों न हो तथापि परमेश्वर से द्वितीय स्थान माननीय राजा और स्वामीवत् माननीय अपने-अपने प्रधान को मानें।

४३. अधिष्ठाता लोग राजाज्ञा को अपने प्राण से भी अधिक मानें, चाहे कोई कैसा ही सम्बन्धी वा मित्र क्यों न हो, परन्तु जब राजाज्ञा भंग वा उसमें आलस्य करे तब यह शत्रुवत् दण्डनीय हो जावे।

४४. प्रथम सब प्रयत्न से विचार कर सर्वहित समझके आज्ञा देनी चाहिए। पश्चात् उसको पूरी करने में पूरा ध्यान और पुरुषार्थ रक्खे।

https://t.me/arshlibrary

'यान'=अकस्मात् कोई कार्य प्राप्त होने में एकाकी वा मित्र के साथ मिलके शत्रु की ओर जाना, यह दो प्रकार का **'गमन'** कहाता है ॥५॥

['आसन'=] स्वयं किसी प्रकार क्रम से क्षीण हो जाए अर्थात् निर्बल हो जाए, अथवा मित्र के रोकने से अपने स्थान में बैठे रहना, यह दो प्रकार का **'आसन'** कहाता है ॥६॥

['द्वैध'=] कार्यसिद्धि के लिए सेनापति और सेना के दो विभाग करके विजय करना। दो प्रकार का **'द्वैध'** कहाता है ॥७॥

['संश्रय'=] एक किसी अर्थ की सिद्धि के लिए किसी बलवान् राजा वा किसी महात्मा का शरण लेना जिससे शत्रु से पीड़ित न हो। दो प्रकार का **'आश्रय'** लेना कहाता है ॥८॥

जब यह जान ले कि इस समय युद्ध करने से थोड़ी पीड़ा प्राप्त होगी, और पश्चात् करने से अपनी वृद्धि और विजय अवश्य होगा, तब शत्रु से मेल करके उचित समय तक धीरज करे ॥९॥

जब अपनी सब प्रजा वा सेना अत्यन्त प्रसन्न, उन्नतिशील और श्रेष्ठ जाने, [और] वैसे अपने को भी समझे, तभी शत्रु से विग्रह=युद्ध कर लेवे ॥१०॥

---

४५. अपने आत्मा वा शरीर को राजा वा अधिकारी न समझें, किन्तु राजनीति ही को राजा और राज्याधिकारिणी मानें।

४६. इसको निर्दोष और चलाने के लिए एक राजसमाज, दूसरा विद्यासमाज और तीसरी धर्मसमाज नियत करे।

४७. इन समाजों में राजपुरुष नियत रहें। राजपुरुष राजोन्नति और प्रजापुरुष प्रजा की वृद्धि में प्रयत्न किया करें। और तीनों समाजों के विचारानुकूल नये नियम प्रचरित किये जावें।

४८. जो-जो आज्ञा इन समाजों से निश्चित होकर प्रचरित की जाएँ उनका उलंघन कोई भी न करे। यदि करे तो वह सबका अमाननीय और दण्डनीय हो।

४९. सदा वेदादिशास्त्र, मनुस्मृति के सप्तम, अष्टम और नवम अध्याय, महाभारत के राजधर्म, आपत् धर्म और विदुरप्रजागर —विदुरनीति के शब्दार्थ सम्बन्ध और कर्त्तव्य को सब राजपुरुष जानके तदनुकूल वर्तें और इनके प्रचार में सदा प्रयत्न किया करें।

५०. जो-जो सामयिक नियम और उपनियम नियत करना होवे तो पूर्वोक्त समाज और वेदादिशास्त्रों के अनुसार निश्चित करें और करावें।

५१. यह निश्चय है कि जैसा शील, आचरण, उत्साह और पुरुषार्थ प्रधान पुरुष करता है वैसा ही इतरजन वर्तते हैं। इसलिए प्रधान पुरुषों को अत्यावश्यक है कि सदा अधर्मयुक्त कर्मों को छोड़कर न्याय-रूप धर्मकृत्यों में वर्ता करें, क्योंकि जो-जो धर्म वा अधर्म प्रधानपुरुष दृष्टान्त से इतर जनों में प्रबर्तमान होता है उसका मुख्य निमित्त प्रधान होकर फल-भागी होता है। इसलिए मुख्य पुरुषों को बहुत विचार से वर्तना चाहिए।

दिनचर्या का उपदेश

ग्रन्थकार के पं० लेखराम के संकलित जीवन चरित के अनुसार'मौलवी अब्दुल रहमान साहब, सुपरिन्टैन्डैन्ट-पुलिस-उदयपुर ने वर्णन किया कि स्वामीजी महाराज ने महाराजा सज्जनसिंहजी को एक

https://t.me/arshlibrary

जब अपने बल अर्थात् सेना को हर्ष और पुष्टियुक्त प्रसन्नभाव से जाने, और शत्रु का बल अपने से विपरीत निर्बल हो जावे, तब शत्रु की ओर युद्ध करने के लिए जावे ॥११॥

जब सेना बल-वाहन से क्षीण हो जाए, तब शत्रुओं को धीरे-धीरे प्रयत्न से शान्त करता हुआ अपने स्थान में बैठा रहे ॥१२॥

जब राजा शत्रु को अत्यन्त बलवान् जाने, तब द्विगुणा वा दो प्रकार की सेना करके अपना कार्य सिद्ध करे ॥१३॥

जब आप समझ लेवे कि अब शीघ्र [बलवान्] शत्रुओं की चढ़ाई मुझपर होगी, तभी किसी धार्मिक बलवान् राजा का आश्रय शीघ्र ले लेवे ॥१४॥

जो प्रजा और अपनी सेना और शत्रु के बल का निग्रह करे अर्थात् रोके, उसकी सेवा सब यत्नों से गुरु के सदृश नित्य किया करे ॥१५॥

बार चित्रसाल महल में छह घड़ी रात गये इस दिनचर्या का उपदेश किया था—

'दरबार तीन घड़ी रात रहे उठिए, प्रथम शौच जाकर मुँह-हाथ धो एक प्याला ठंडे पानी का पीजिए या उसके बदले तीन माशे चोब चित्रक रात को भिगोकर, प्रातः उसे निचारकर पीजिए और कहा कि इसके प्रयोग से मेरी यह अवस्था है, इसका पीना, पानी की अपेक्षा अच्छा है। फिर उस समय पासवालों को अलग करके एक घड़ी के अनुमान परमेश्वर की उपासना कीजिए और कुछ मन्त्र बतलाये परन्तु मुझे स्मरण नहीं।'

'इसके पश्चात्, प्रथम तो पैदल ही, अन्यथा घोड़े या बग्घी पर, वायुसेवनार्थ जाइए। युक्तियाँ देकर सिद्ध किया कि पेदल यात्रा बहुत लाभकारी है शेष दोनों दूसरी और तीसरी कोटि की हैं। पूरा एक घंटा तक सैर करके, मकान पर वापस आवें, परन्तु भ्रमण करते हुए मार्ग में प्रत्येक वस्तु को ध्यानपूर्वक देखते जाएँ। यह स्वभाव अर्थात प्रत्येक वस्तु को ध्यान से देखना, जीवन भर रखें। जब दरबार भ्रमण को जाएँ तो वापस आकर जिस महल में सारा दिन रहें—वहाँ घृत का हवन करावें। उसकी विधि बतलायी और लोहे का हवनकुंड बनवा दिया। उसके उन्होंने तीन लाभ बतलाये। प्रथम वायु की शुद्धि, दूसरा लाभ बतलाने के लिए एक श्लोक सुनाया जिसका अभिप्राय यह था कि हवन से केवल वायु ही शुद्ध नहीं होती प्रत्युत वर्षा आदि सब शुद्ध होते हैं। इससे महा उपकार होता है। ऐसी श्रेष्ठता से कहा कि दरबार थरथराने लगे। (किसी ने मकान पर आनकर शंका की कि दरबार जब महलों में न हों और समूर बाग में हों तो यहाँ हवन से क्या लाभ होगा ; (बाग में तो) वायु बिखर जाएगी। दरबार ने कहा कि हम स्वामीजी से पूछेंगे, तदनुसार हमारे सामने पूछा गया। इस आक्षेप के उत्तर में स्वामीजी ने युक्तिपूर्वक सिद्ध किया कि एक बाग क्या, प्रत्युत समस्त नगर को लाभ पहुँच सकता है।)

रियासत के काम में हस्तक्षेप नहीं—फिर आकर ६ बजे से पहले तक रियासत का आवश्यक काम करें। दरबार ने कहा कि मुझे विधि बतलाओ। कहा कि यह हम नहीं बतलावेंगे (हाथ के संकेत से कहा)।

फिर खाना खाएँ और खाना खाकर महल में टहलें और ११ बजे तक मनोरंजन करें। फिर एक घंटा अर्थात् १२ बजे तक यदि मन करे तो, विश्राम करें। दरबार ने कहा कि मन करने का प्रतिबन्ध क्यों लगाया? स्वामीजी ने कहा कि गर्मियों में मन करेगा और सर्दियों में नहीं।

https://t.me/arshlibrary

जिसका आश्रय लेवे उस पुरुष के कर्मों में दोष देखे, तो वहाँ भी अच्छे प्रकार युद्ध ही को निःशङ्का होकर करे ॥१६॥

जो धार्मिक राजा हो उससे विरोध कभी न करे, किन्तु उससे सदा मेल रक्खे और जो दुष्ट प्रबल हो, उसी के जीतने के लिए ये पूर्वोक्त प्रयोग करना उचित है ।

[मित्र उदासीन तथा शत्रुओं को बढ़ने न दे]

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः ।
यथास्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥१॥

दोपहर के पश्चात् ४ बजे तक न्यायलेखन आदि राज्यकार्य को करें । ४ बजे शौच (से निवृत होकर) और वस्त्र आदि बदलने के पश्चात् दरबार सवार हो जावें (व्यवस्था के निरीक्षण के लिए) और सेना, मकान, बाग, महल, नगर और सड़क आदि का निरीक्षण करें । साराँश यह है कि सवारी करते हुए महलों के अतिरिक्त, जितने कामों का करना रुचिकर हो-करें ।

दिन छुपने पर अपने महलों में आवें और उस समय उपासना के विषय में कुछ पढ़ें और विद्या की बात करें बुद्धिमानों से संगति करें और उनके वार्तालाप से लाभ उठावें, इतिहास भी सुनें । यह सब काम दो घंटे तक करें ।

इसके पश्चात् खाना खावें और खाना खाने के पश्चात् आध घंटे तक टहलें फिर रागियों की ओर संकेत करके कहा कि स्वयं टहलते जावें और उस समय ये यदि कुछ गाते हों तो सुनें परन्तु अधिक आसक्त न हो जावें ।

उस समय एक चारण अर्थात् हिन्दी कवि ने कहा कि कविता का गायन भी सुनना चाहिये या नहीं? स्वामीजी ने कहा कि हाँ; उसका सुनना और विशेषतया बहुत ही सूक्ष्म विचारोंवाले गायन सुनना आवश्यक है, परन्तु ऐसे गाने न सुनें जिनमें नायिका-भेद आदि स्त्रियों की बातें हों और हमको तो इसकी चर्चा से भी घृणा है । तत्पश्चात् सेज पर जाकर सो रहो ताकि तुमको पूर्ण नींद आवे । जहाँ तक हो सके निश्चिन्त होकर सो रहो अर्थात् चिन्ता से छूटकर, न कि उसमें डूब कर । विश्राम में बाधा न हो, पूरे ६ घण्टे तक विश्राम करो । स्त्रियों के साथ मत सोओ । नियत समय पर सप्ताह या पन्द्रह दिन में एक बार स्त्री-प्रसंग करो । जिसपर दरबार मौन रहे । यह बात दरबार ने हमारे द्वारा पूछी थी । इसके पश्चात् यह कहा कि हम तुमको बतलाएँगे । तुम्हारे यहाँ तीन ऋतु आती हैं, प्रत्येक ऋतु में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है । रईस लोग रस लेते हैं, वह हम सायंकाल कहेंगे, परन्तु मैं सायंकाल नहीं गया ! इसलिए ज्ञात नहीं ।'

'जाते समय स्वामीजी ने पूछा कि क्या दरबार इसपर आचरण करेंगे ? दरबार ने सिर हिलाकर कहा कि 'हाँ, कल से ही आरम्भ करूँगा ।' स्वामीजी ने कहा कि 'जितना दरबार आचरण करें मुझसे प्रतिदिन कहे दें । दरबार ने प्रतिज्ञा की ।''

फलतः उपदेश के पश्चात् दूसरे दिन से दरबार ने आचरण किया । तीन घड़ी रात रहे उठे । एक रियासत का इञ्जीनियर, एक मैं और एक ठाकुर मनोहरसिंह जी साथ गये । वहाँ से लौटकर प्रातः दिन निकलने के समय स्वामी के पास आये । वहाँ से स्वामीजी को लेकर महलों में आये ।

सर्वोपायैः-राजाओं को स्वाभाविक शत्रु, उदासीन व मित्र राजाओं के लक्षण शुक्रनीति में इस प्रकार बताये हैं—

https://t.me/arshlibrary

आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत् ।
अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥२॥
आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः ।
अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥३॥

आसमन्ताच्चतुर्दिक्षु सन्निकृष्टाश्च ये नृपाः ।
तत्परास्तत्परा ये ऽन्ये क्रमाद्धीनबलाख्यः ॥
शत्रूदासीनमित्राणि क्रमात्ते स्युस्तु प्राकृताः ।
अरिमित्रमुदासिनो ऽनन्तरस्तत्परः परः ॥
क्रमशो वा नृपा ज्ञेयाश्चतुर्दिक्षु तथा ऽरयः ।
स्वसमीपतरा भृत्या ह्यमात्याद्यश्च कर्षिताः ॥ ४।१।२०-२२

राजा के राज्य के चारों ओर जो समीपवर्त्ती, उनसे दूर और उनसे भी परे विद्यमान राजा होते हैं वे क्रमशः स्वाभाविक शत्रु, उदासीन और मित्र होते हैं, अर्थात् अत्यन्त समीपवर्त्ती शत्रु, उससे दूर का उदासीन और उससे दूर का मित्र का मित्र होता है। हीन बलवाले शत्रु भी निकट के, दूर के और सबसे परेवाले इसी क्रम से शत्रु, उदासीन और मित्र होते हैं। शत्रु, मित्र और उदासीन राजाओं के भी चारों दिशाओं में समीपवर्त्ती, उनसे दूर और उनसे भी परेवाले—इस क्रम से उनके भी शत्रु, मित्र और उदासीन होते हैं। इसी प्रकार चारों दिशाओं के हीन बलवाले शत्रु भी, उनके शत्रु, मित्र और उदासीन होते हैं। अपने अत्यन्त समीपवर्त्ती भृत्य तथा अमात्य (मन्त्री) आदि भी राजा के द्वारा कष्ट दिये जाने पर शत्रु हो जाते हैं।

'अनन्तरप्रकृतिशत्रुः' (चाणक्यसूत्र)—पड़ौसी राज्य को शत्रु समझना चाहिए।

मित्रं शत्रुं यथायोग्यैः कुर्यात् स्ववशवर्तिनम् ॥२५॥
उपायेन यथा व्यालो गजः सिंहो ऽपि साध्यते ।
भूमिष्ठाः स्वर्गमायान्ति वज्रं भिन्दत्युपायतः ॥ २६॥

मित्र हो या शत्रु—उन्हें यथोयोग्य उपायों से अपने वश में करना चाहिए। उपाय से क्या नहीं हो सकता ? उपाय से सर्प, हाथी और सिंह को भी वश में कर लिया जाता है। उपाय से धरती पर रहनेवाले मनुष्य स्वर्ग में पहुँच जाते हैं और उपाय से वज्र को भी विदीर्ण कर दिया जाता है।

सामैव प्रथमं श्रेष्ठं दानं तु तदनन्तरम् ।
सर्वदा भेदनं शत्रोर्दण्डनं प्राणसंशये ॥३८॥

शत्रु के लिए सर्वप्रथम सामनीति का व्यवहार करना ही श्रेष्ठ होता है। इससे कार्य सिद्ध न होने पर दान नीति का प्रयोग उचित होता है। दान से कार्य न बनने पर भेदनीति बर्तनी चाहिए। भेद के विफल होने और प्राण संकट उपस्थित होने पर दण्डनीति का प्रयोग करना चाहिए।

प्रबले ऽरौ सामदाने सामभेदै ऽधिके स्मृतौ ।
भेददण्डौ समेकार्यौ दण्डः पूज्यः प्रहीनके ॥३९॥

अत्यन्त प्रबल शत्रु के साथ साम और दान का, अपने से अधिक प्रबल शत्रु के साथ साम और भेद

https://t.me/arshlibrary

यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ।
तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः ॥४॥ —मनु० ७ । १७७-१८०॥

नीति का जाननेवाला पृथिवीपति राजा जिस प्रकार इसके मित्र, उदासीन (=मध्यस्थ) और शत्रु अधिक न हों ऐसे सब उपायों से वर्त्ते ॥१॥

सब कार्यों का वर्त्तमान में कर्त्तव्य, और भविष्यत् में जो-जो करना चाहिए, और जो-जो काम कर चुके, उन सबके यथार्थता से गुण-दोषों को विचारे ॥२॥

पश्चात् दोषों के निवारण और गुणों की स्थिरता में यत्न करे । जो राजा भविष्यत् अर्थात् आगे करनेवाले कर्मों में गुण-दोषों का ज्ञाता, वर्त्तमान में तुरन्त निश्चय का कर्त्ता, और किये हुए कार्य्यों में शेष कर्त्तव्य को जानता है, वह शत्रुओं से पराजित कभी नहीं होता ॥३॥

सब प्रकार से राजपुरुष, विशेष सभापति=राजा ऐसा प्रयत्न करे कि जिस प्रकार उन राजादिजनों के मित्र, उदासीन और शत्रु उनको वश में करके अन्यथा न करावें । ऐसे मोह[1] में कभी न फँसें । यही संक्षेप से नय अर्थात् राजनीति कहाती है ॥४॥

का, अपने बराबरवाले के साथ भेद और दण्ड का तथा अपने से हीन शत्रु के साथ केवल दण्ड का प्रयोग करना श्रेष्ठ होता है ।

मित्रे च सामदाने स्तो न कदा भेददण्डने ।
रिपोः प्रजानां सम्भेदपीडनं स्वजयाय वै ॥४०॥
रिपुप्रपीडितानां च साम्ना दानेन संग्रहः ।
गुणवतां च दुष्टानां हितं निर्वासनं सदा ॥४१॥

मित्र के लिए साम तथा दान का प्रयोग ही उचित है, उसके साथ भेद तथा दण्ड का व्यवहार कभी नहीं करना चाहिए । शत्रु की प्रजाओं के साथ मेल करके शत्रु को पीड़ा पहुँचाना अपनी विजय का कारण होता है । शत्रु से पीड़ित राजाओं को साम और दान से अपने पक्ष में मिलना चाहिए । जो दुष्ट हों उन्हें गुणवान् होने पर भी अपने देश से निष्कासित कर देना चाहिए ।

स्वप्रजानां न दण्डेन नैव भेदेन पालनम् ।
कुर्वीत सामदानाभ्यां सर्वदा यत्नमास्थितः ॥४२॥
स्वप्रजादण्डभेदैश्च भवेद्राज्यविनाशनम् ।
हीनाधिका यथा न स्युः रक्ष्यास्तथा प्रजाः ॥४३॥

राजा को अपनी प्रजाओं का भेद और दण्ड से नहीं, अपितु प्रयत्नपूर्वक सदा साम और दान से ही पालन करना चाहिए । अपनी प्रजाओं का दण्ड और भेद से पालन करने से राज्य का नाश हो जाता है । जिस प्रकार प्रजा निर्बल और प्रबल न हो, अपितु समबल में रहे, उसी प्रकार से उसका पालन करना चाहिए ।

आयतिम्—सम्पूर्ण भावी गुणदोष और वर्त्तमान समय के कर्त्तव्यों तथा अतीत में घटे हुए पर भी विचार करे कि क्या-क्या या कैसे-कैसे करने में क्या गुण-दोष निकले थे ।

---

१. अर्थात् मित्र आदि के मोह में इस प्रकार न फँसें, कि जिससे मित्रादि उनको अपनी इच्छानुसार चला सकें ।

https://t.me/arshlibrary

[युद्धार्थ प्रस्थान से पूर्व के कार्य]

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि ।
उपगृह्यास्पदं चैव चारान् सम्यग्विधाय च ॥१॥
संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम् ।
सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥२॥
शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत् ।
गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥३॥

आयत्याम्—जो भविष्य में संभावित कार्यों के गुण-दोष को जाननेवाला (अच्छे को प्रारम्भ करता है और बुरे को छोड़ देता है) और उस समय के गुण-दोषों को शीघ्र निश्चय करके काम करता है और अतीत के कार्यों के शेष कर्त्तव्य को जानता है, उसे शत्रु नहीं दबा सकता ।

अन्यथा न करा पावें—दृढ़तापूर्वक सुविचारित कार्य करे । किसी के लिहाज में या दबाव में आकर अपना निश्चय न बदले ।

संशोध्य त्रिविधं मार्गम्— यहाँ स्थल सेना के साथ-साथ नौसेना (Navy) तथा वायुसेना (Air Force) का भी उल्लेख हुआ है । ग्रन्थकार ने अपनी 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के अनतर्गत 'नौविमानादिविद्याविषय' में इसपर विस्तारपूर्वक लिखा है । 'नौ' से पानी की सतह पर चलनेवाले या पानी में डूबकर चलनेवाला जलपोत, पनडुब्बी आदि अभिप्रेत हैं, 'विमान' से तरह-तरह के व्योमयान या हवाई जहाज़ अभीष्ट हैं और 'आदि' से भूमि पर चलनेवाले रेलगाड़ी, मोटरगाड़ी, बैलगाड़ी, ट्रक आदि विविध यान गृहीत होते हैं जो यात्रा, कृषि, युद्ध आदि में काम आते हैं । इस प्रकरण में ग्रन्थकार ने वहाँ ऋग्वेद से ११ मन्त्र उद्धृत किये हैं । उनसे यानों के विषय में निम्न बाते स्पष्ट होती हैं—

१. वेद में त्रिविध यानों का वर्णन है—भूयान, जलयान तथा वायुयान । इनसे भूमि पर, जल में डूबकर या जल की सतह पर और आकाश में यात्रा की जा सकती है । आवश्यकतानुसार युद्ध में भी उनका प्रयोग किया जा सकता है ।

२. ये यान लोहा, तांबा, चाँदी आदि धातुओं से तथा इनके उपयुक्त मिश्रण द्वारा बनी धातु से बनते हैं । आवश्यकतानुसार लकड़ी भी लगाई जाती है । वे अग्नि, जल, वायु, बिजली आदि के प्रयोग से चलाये जाते हैं ।

३. जलयान ऐसे होते हैं कि उनपर पानी का कुछ प्रभाव नहीं होता । पानी से उनपर जंग आदि नहीं लगता । उनमें पानी का प्रवेश भी नहीं होता ।

४. तीनों प्रकार के यान बड़े सुदृढ़ होते हैं । वायु, लहर, ताप आदि के आघात से वे ग्रस्त नहीं होते ।

५. उनमें जलवाष्प, वायु (गैस) विद्युत् आदि का अक्षय प्रबन्ध होता है ।

६. उनमें सौ से अधिक अरित्र, चक्र, स्तम्भ, तीन सौ तक पेच, साठ कलायन्त्र आदि उपकरणों का उपयोग किया जाता है ।

https://t.me/arshlibrary

[विविध प्रकार के व्यूहों की रचना]

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा ।
वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥४॥
यतश्च भयमाशङ्केत्ततो विस्तारयेद् बलम् ।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम् ॥५॥
सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत् ।
यतश्च भयमाणङ्केत् प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम् ॥६॥
गुल्माँश्च स्थापयेदाप्तान् कृतसंज्ञान् समन्ततः ।
स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः ॥७॥

इस विषय की समाप्ति पर ग्रन्थकार ने सूचना दी है कि 'इस विषय में वेदों में बहुत मन्त्र हैं, परन्तु यहाँ थोड़ा ही लिखने से बुद्धिमान् समझ लेंगे ।'' 'भूमिकाभास्कर' में सात अतिरिक्त मन्त्र दिये गये हैं । उनपर ग्रन्थकार का ही भाष्य दिया गया है । उनसे इतनी बातें और सामने आती हैं—

१. राष्ट्र में शिल्पविद्या की उन्नति द्वारा विमान बनाकर आकाश में पक्षियों की भाँति उड़ा जा सकता है ।

२. विमान की गति मन से भी अधिक वेगवाली (मनसो जवीयान्—ऋ० १।१८३।१) की जा सकती है ।

३. तीन बन्धन, तीन चक्र और तीन धातुओं का प्रयोग कर विमान बनाये जाएँ । उनमें कलायन्त्रों को घुमाने के लिए ऋष्टियाँ भी लगी हों ।

४. विमान आदि यान चलाने के लिए उनमें यथायोग्य अग्नि विद्युत्तारयन्त्र आदि का प्रयोग किया जाना चाहिए ।

५. यान इतने बड़े हों कि उनमें प्रचुर अन्न आदि सामान भरा जा सके तथा पर्याप्त संख्या में यात्री उसमें बैठ सकें ।

६. विमानों के आघात से मेघों को प्रकम्पित करके वर्षा की जा सकती है ।

७. यानों में ऐसा प्रबन्ध हो कि विमान का विशेष स्विच दबाने से प्रकाश होते ही चालकयन्त्र काम करने लगें तथा विमान आदि यान चल पड़ें ।

इन मन्त्रों के अतिरिक्त भी ग्रन्थकार के ऋग्वेदभाष्य और यजुर्वेदभाष्य में अन्य भी बहुत से मन्त्र नौ विमानादि विद्या विषय में व्याख्यात हुए हैं । प्रायः वेदों में जहाँ-जहाँ रथ शब्द आया है, वहाँ-वहाँ अपने भाष्य में ग्रन्थकार न रथ से विमान आदि यान ही गृहीत किये हैं ।

संस्कृत में 'वी' पक्षी को कहते हैं और 'यान' का अर्थ अनुरूप या सादृश है । इसलिए विमान का अर्थ हुआ-पक्षी के सदृश । इस प्रकार जो आकाश में पक्षी के उड़ने की स्थिति को जानता है, वह विमान बना सकता है । ऋग्वेद का प्रसिद्ध मन्त्र है—

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम् । वेद नावः समुद्रियः । १।२५।७

अपने ऋग्वेदभाष्य में इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है—'जे ईश्वर ने वेदों में अन्तरिक्ष,

https://t.me/arshlibrary

संहतान् योधयेदल्पान् कामं विस्तारयेद् बहून् ।
सूच्या वजेण चैवैतान् व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् ॥८॥
स्यन्दनाश्वैः समे युध्येदनूपे नौद्विपैरतथा ।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥९॥
प्रहर्षयेद् बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक् परीक्षयेत् ।
चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन् योधयतामपि ॥ १०॥
उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् ।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥११॥
भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा ।
समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥१२॥

भू और समुद्र में आने-जानेवाले यानों की विद्या का उपदेश किया है, उसको सिद्ध करने के लिए पूर्ण विद्या, शिक्षा और हस्तक्रियाओं के कला-कौशल में कुशल मनुष्य इच्छा करता है, वही उसको बनाने में समर्थ है।

भागवत में शाल्व राजा के एक ऐसे विमान का वर्णन मिलता है जो आवश्यकतानुसार जल, थल, आकाश और पर्वत पर भी चल सकता था—

स लब्ध्वा कामगं यानं तपोधामं दुरासदम्। ययौ द्वारवतीं शाल्वो वैरं वृष्णिकृतं स्मरन्। क्वचिद् भूमौ क्वचिद् व्योम्नि गिरिशृङ्गे जले क्वचित् ॥

यह निर्विवाद है कि ग्रन्थकार के समय तक आधुनिक विज्ञान जहाज़ का आविष्कार नहीं कर पाया था। ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का लेखन क्रमशः सन् १८७५ तथा १८७६ (संवत् १९३२-३३) में किया था, परन्तु हवाई जहाज़ की पहली उड़ान उसके २७-२८ वर्ष बाद १७ दिसम्बर सन् १९०३ को आरविल राइट ने की थी और वह भी केवल १२ सैकेण्ड की थी। फिर उसी दिन उसके भाई विल्वर राइट ने ५९ सेकेण्ड की उड़ान की थी। पहला सफल हैलीकाप्टर अमरीका के ही आइगर सिकोरस्की ने सन् १९३७ में बनाया था। आजकल के समान सुविधाजनक हवाई यात्रा तो उसके बहुत समय बाद संभव हो सकी, अतः इस प्रकरण में जो कुछ कहा गया है वह विशुद्धरूप से वेदों के आधार पर ही कहा गया है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा निर्मित विमान को आकाश में उड़ता देखकर ग्रन्थकार ने वेदों से बलात् सिद्ध करने का प्रयास किया।

पूना नगर में १३ जुलाई १८७५ को अपने एक व्याख्यान में कहा था—'पूर्वकाल में भिन्न-भिन्न विद्याएँ भारतखण्ड में वेदों के कारण प्रसिद्ध थीं, जैसे विमानविद्या, अस्त्रविद्या आदि। जो लोग लड़ाई लड़ते थे उन्हें विमान रचने की विद्या भली प्रकार विदित थी। मैंने भी विमानरचना का एक पुस्तक देखा था।''

यह कौन-सा पुस्तक था, इसपर कहीं से कोई प्रकाश नहीं पड़ता। रामायण, महाभारत में तथा अन्य संस्कृत ग्रन्थों में विमान का वर्णन भरा पड़ा है। राजा भोज के 'समराङ्गणसूत्रधार' (११वीं शती) में विमान बनाने का संक्षेप में विवरण मिलता है। अभी कुछ वर्ष हुए, स्वामी ब्रह्ममुनिजी की खोज से एक अतिप्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भारद्वाजकृत विमानशास्त्र प्रकाश में आया है।

'वैदिक सम्पत्ति' के लेखक प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पण्डित रघुनन्दन शर्मा ने विमानों से सम्बन्ध रखनेवाली एक प्राचीन पुस्तक का उल्लेख किया है। भरद्वाज ऋषि की बनाई हुई इस पुस्तक का नाम

https://t.me/arshlibrary

है-'अंशुबोधिनी' । इस पुस्तक में अनेक विद्याओं का वर्णन है । प्रत्येक विद्या के लिए एक-एक अधिकरण है । इन अधिकरणों में एक विमान अधिकरण भी है । इस अधिकरण में आये 'शक्त्युद्गमोद्यष्टौ' सूत्र पर बौद्धायन ऋषि की वृत्ति इस प्रकार है—

'शक्त्यद्गमो भूतवाहो धूमयनश्शिशोद्गमः । अंशुवाहस्तारामुखो मणिवाहो मरुत्सखा । इत्यष्टकाधिकरणे वर्गाण्युक्तानि शास्वतः' ॥

यहाँ विमान की रचना और उनकी आकाश संचारी गति के आठ विभाग इस प्रकार हैं— 'शक्त्युद्गम'=बिजली से चलनेवाला, 'भूतवाह'=अग्नि, जल और वायु आदि से चलनेवाला, 'धूमयान'=वाष्प से चलनेवाला, 'शिखोद्गम'=पंचशिखी के तेल से चलनेवाला, 'अंशुवाह'= सूर्य की किरणों से चलनेवाला, 'मणिवाह'=सूर्यकान्त आदि मणियों से चलनेवाला और 'मरुत्सखा'=केवल वायु से चलनेवाला ।

वाल्मीकि रामायण में उपलब्ध 'पुष्पक विमान' के वर्णन से कौन परिचित नहीं । युद्धोपरान्त मर्यादापुरुषोत्तम राम अपने दलबल सहित इसी से अयोध्या लौटे थे—

ब्रह्माणोऽर्थे कृतं दिव्यं दिवि यद्विश्वकर्मणा ।
विमानं पुष्पकं नाम सर्वरत्नविभूषितम् ॥ —सुन्दरकाण्ड, सर्ग ६ श्लोक ११

साम्परायिककल्पेन-यह युद्धशास्त्रसम्मत विधान है । महाभारत कहता है—

मायाविन इमां मायां मायया जहि भारत ।
मायावी मायया वध्यः सत्यमेतत् युधिष्ठिर ॥ —शाल्यपर्व ३१।६

हे युधिष्ठिर ! इस मायावी दुर्योधन की माया को अपनी माया से नष्ट करो; मायावी मनुष्य माया से ही वश में आता है, यह सत्य है । इसलिए **'मायाविनं तु राजानं माययैव निकृतन्तु'** (५८।८) मायावी राजा की माया को उखाड़ फैंको । **'धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाण परमं श्रुतिः'** । धर्म के रहस्य को जाननेवालों के लिए परम प्रमाण वेद है । महाभारत (आदिपर्व ६२।१६) में कहा है—'इदं (महाभारतम्) हि वेदसम्मतं पवित्रमपि चोत्तमम्''—महाभारत में जो कुछ कहा है, वह वेदसम्मत है । इसकी पुष्टि ऋग्वेद (१।८०।७) के इस मन्त्र से होती है—**''यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्वं मायया वधीरर्चन्ननु स्वराज्यम्''**—मायावी का माया के द्वारा बध करके अपने राज्य की स्थापना करो, अर्चना करो ।

व्रजन्ति ते मूढाधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ॥ —किरातार्जुनीयम्

राम मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में प्रसिद्ध हैं । राम द्वारा मारे जाने पर जब बालि ने राम के उसको छुपकर मारने के कारण उनकी भर्त्सना की तो राम ने यह कहकर समाधान किया—

श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ ।
गृहीतौ धर्मकुशलैस्तत्तथा चरितं मया ॥ —कि.का. १८।३०

सदाचार की मर्यादा के विषय में मनु ने दो श्लोकों में इसका वर्णन किया है । मैने तदनुसार ही आचरण किया है । मनु के उन दो श्लोकों में कहा है—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ —८।३५०

https://t.me/arshlibrary

[पराजित शत्रु के साथ यथायोग्य व्यवहार करे]

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान् यथोदितान् ।
रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥१३॥
आदानमप्रियकरं दानञ्च प्रियकारकम् ।
अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥१४॥

—मनु० ७।१८४-१६२, १६४-१६६, २०३, २०४ ॥

जब राजा शत्रुओं के साथ युद्ध करने को जावे, तब अपने राज्य की रक्षा का प्रबन्ध, और यात्रा की सब सामग्री यथाविधि करके, सब सेना, यान, वाहन, शस्त्रास्त्रादि पूर्ण लेकर, सर्वत्र दूतों अर्थात् चारों ओर के समाचारों को देनेवाले पुरुषों को गुप्त स्थापन करके शत्रुओं की ओर युद्ध करने को जावे ॥१॥

तीन प्रकार के मार्ग अर्थात् एक **स्थल**=भूमि में, दूसरा **जल**=समुद्र वा नदियों में, तीसरे **आकाश-मार्गों** को शुद्ध बनाकर, भूमिमार्ग में रथ, अश्व, हाथी, जल में नौका, और आकाश में विमानादि यानों से जावे और पैदल, रथ, हाथी, घोड़े, शस्त्र-अस्त्र, और खान-पानादि सामग्री को यथावत् साथ ले, बलयुक्त पूर्ण करके किसी निमित्त को प्रसिद्ध करके शत्रु के नगर के समीप धीरे-धीरे जावे ॥२॥

जो भीतर से शत्रु से मिला हो, और अपने साथ भी ऊपर से मित्रता रक्खे, गुप्तता से शत्रु को भेद देवे, उसके आने-जाने में, उंससे बात करने में अत्यन्त सावधानी रक्खे, क्योंकि भीतर शत्रु ऊपर मित्र पुरुष को बड़ा शत्रु समझना चाहिए ॥३॥

सब राजपुरुषों को युद्ध करने की विद्या सिखावे, और आप सीखे तथा अन्य प्रजाजनों को सिखावे । जो पूर्व-शिक्षित योद्धा होते हैं, वे ही अच्छे प्रकार लड़-लड़ा[1] जानते हैं । जब शिक्षा करे, तब **'दण्डव्यूह'** = दण्ड के समान सेना को चलावे **'शकट'**=जैसा शकट अर्थात् गाड़ी के समान, **'वराह'**=जैसे सूअर एक-दूसरे के पीछे दौड़ते जाते हैं, और कभी-कभी सब मिलकर झुण्ड हो जाते हैं वैसे, **'मकर'**=जैसे मगर पानी में चलते हैं, वैसे सेना को बनावे । **'सूचीव्यूह'**=जैसे सुई का अग्रभाग सूक्ष्म पश्चात् स्थूल और उससे सूत्र स्थूल होता है, वैसी शिक्षा से सेना को बनावे । और जैसे **'गरुड़'**=नीलकण्ठ ऊपर-नीचे झपट मारता है, इस प्रकार सेना को बनाकर लड़ावे ॥४॥

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वा ऽ प्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥ ८।३५१

सारांश यह है कि क्रोधी को क्रोध से मारना क्रोध से क्रोध की लड़ाई है । इसलिए छिपकर मारने में कोई दोष नहीं है । तात्पर्य यह है कि दुष्ट राजा पर किसी भी उपाय से विजय प्राप्त करना राजा का धर्म है ।

प्रमाणानि च—रघुकुल में इसी नीति का अनुसरण किया जाता था । श्रीराम ने भी रावण को पराजित कर उसी के भाई विभीषण को लंका का राज्य लौटा दिया था । रघुकुल की ऐसी परम्परा से प्रभावित होकर 'रघुवंश' में लिखा है—'आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव' जैसे बादल पृथिवी से जल लेकर वर्षा के द्वारा उसी को लौटा देते हैं, वैसे ही सज्जनों का लेना भी देने के लिए होता है ।

---

१. अर्थात् लड़ना-लड़ाना ।

https://t.me/arshlibrary

जिधर से भय विदित हो, उसी ओर सेना को फैलावे । सब सेना के पतियों को चारों ओर रखके **'पद्मव्यूह'** अर्थात् पद्माकार चारों ओर से सेनाओं को रखके मध्य में आप रहे ॥५॥

सेनापति और बलाध्यक्ष अर्थात् आज्ञा के देने और सेना के साथ लड़ने-लड़ानेवाले वीरों को आठों दिशाओं में रक्खे । जिस ओर से लड़ाई होती हो, उसी ओर सब सेना का मुख रक्खे, परन्तु दूसरी ओर भी पक्का प्रबन्ध रक्खे, नहीं तो पीछे वा पार्श्व से शत्रु की घात होने का सम्भव होता है ॥६॥

जो गुल्म अर्थात् दृढ़ स्तम्भों के तुल्य, युद्धविद्या से सुशिक्षित, धार्मिक, स्थित होने और युद्ध करने में चतुर, भयरहित, और जिनके मन में किसी प्रकार का विकार न हो, उनको सेना के चारों ओर रक्खे ॥७॥

जो थोड़े पुरुषों से बहुतों के साथ युद्ध करना हो, तो मिलकर लड़ावे और काम पड़े तो उन्हीं को झट फैला देवे । जब नगर, दुर्ग वा शत्रु की सेना में प्रविष्ट होकर युद्ध करना हो, तब 'सूचीव्यूह' अथवा 'वज्रव्यूह'=जैसे दुधारा खड्ग दोनों ओर काट करता है, वैसे युद्ध करते जाएँ, और प्रविष्ट भी होते चलें । वैसे अनेक प्रकार के व्यूह अर्थात् सेना को बनाकर लड़ावे[1] ॥

जो सामने शतघ्नी=तोप वा भुशुण्डी=बन्दूक छूट रही हो, तो 'सर्पव्यूह'=अर्थात् सर्प के समान सोते-सोते चले जाएँ । जब तोपों के पास पहुँचें, तब उनको मार वा पकड़ तोपों का मुख शत्रु की ओर फेर उन्हीं तोपों से वा बन्दूक आदि से उन शत्रुओं को मारें । अथवा वृद्ध पुरुषों को तोपों के मुख के सामने घोड़ों पर सवार करा दौड़ावें और मारें[2] । बीच में अच्छे-अच्छे सवार रहें । एक बार धावा कर शत्रु की सेना को छिन्न-भिन्न कर पकड़ लें अथवा भगा दें ॥८॥

जो समभूमि में युद्ध करना हो तो रथ-घोड़े और पदातियों से, और जो समुद्र में युद्ध करना हो तो नौका, और थोड़े जल में हाथियों पर, वृक्ष और झाड़ी में बाण, तथा स्थल-बालू में तलवार और ढाल से युद्ध करें-करावें ॥९॥

जिस समय युद्ध होता हो, उस समय लड़नेवालों को उत्साहित और हर्षित करें । जब युद्ध बन्द हो जाए, तब जिससे शौर्य और युद्ध में उत्साह हो वैसे वक्तृत्वों से सबके चित्त को खान-पान, अस्त्र-शस्त्र सहाय और औषधादि से प्रसन्न रक्खे । व्यूह के विना लड़ाई न करे न करावे । लड़ती हुई अपनी सेना की चेष्टा को देखा करे कि ठीक-ठीक लड़ती है वा कपट रखती है ॥१०॥

किसी समय उचित समझे, तो शत्रु को चारों ओर से घेरकर रोक रक्खे और इसके राज्य को पीड़ित कर, शत्रु के चारा, अन्न, जल और ईंधन को नष्ट वा दूषित कर दे[3] ॥११॥

शुक्राचार्य ने इस विचार को बढ़ाकर एक अन्य सुझाव दिया है—

तूर्यमङ्गलघोषेण स्वकीयं परमाविशेत् ।
तत्प्रजाः पुत्रवत् सर्वाः पालनीयात्मसात्कृताः ।
नियोजयेन्मन्त्रिगणमपरे मन्त्रचिन्तने ॥ —४।३५८

---

१. यहाँ से आगे का लेख मनु के अभिप्राय को विस्तार से दर्शाने के लिए है ।

२. स्वदेश की रक्षा के लिए अति बलिदान की आवश्यकता हो, तो उस अवस्था में यह भी कर्त्तव्य है ।

३. इस और अगले श्लोक में विहित कार्य अधार्मिकों के साथ युद्ध में अपेक्षित है —**'शठे शाठ्यं समाचरेत्'**. धर्म-युद्ध में कर्तव्य नहीं है ।

https://t.me/arshlibrary

शत्रु के तालाब, नगर के प्रकोट और खाई को तोड़-फोड़ दे। रात्रि में उसको त्रास=भय देवे, और उसके जीतने का उपाय करे ॥१२॥

जीतकर उनके साथ प्रमाण अर्थात् प्रतिज्ञादि लिखा लेवे, और जो उचित समय समझे, तो उसी के वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुष को राजा कर दे, और उससे लिखा लेवे कि तुमको हमारी आज्ञा के अनुकूल अर्थात् जैसी धर्मयुक्त राजनीति है, उसके अनुसार चलके न्याय से प्रजा का पालन करना होगा। ऐसे उपदेश करे, और ऐसे पुरुष उसके पास रक्खे कि जिससे पुनः उपद्रव न हो, और जो हार जाए उसका सत्कार प्रधान पुरुषों के साथ मिलकर रत्नादि उत्तम पदार्थों के दान से करे और ऐसा न करे कि जिससे उसका योगक्षेम भी न हो। जो उसको बन्दीगृह करे, तो भी उसका सत्कार यथायोग्य रक्खे। जिससे वह हारने के शोक से रहित होकर आनन्द में रहे ॥१३॥

क्योंकि संसार में दूसरे का पदार्थ ग्रहण करना अप्रीति, और देना प्रीति का कारण है और विशेष करके समय पर उचित क्रिया करना और उस पराजित के मनोवाञ्छित पदार्थों का देना बहुत उत्तम है। और कभी उसको चिड़ावे नहीं, न हँसी और ठट्ठा करे। न उसके सामने 'हमने तुझको पराजित किया है' ऐसा भी कहे, किन्तु 'आप हमारे भाई हैं' इत्यादि मान्य प्रतिष्ठा सदा करे ॥१४॥

[लाभदायक मित्र]

हिरण्यभूमिसम्प्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते ।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥१॥
धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च ।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥२॥

[कष्टदायक शत्रु]

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च ।
कृतज्ञं धृतिमन्तञ्च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥३॥
आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता ।
स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥४॥ —मनु० ७।२०८-२११

मित्र का लक्षण यह है—राजा सुवर्ण और भूमि की प्राप्ति से वैसा नहीं बढ़ता कि जैसे निश्चल-प्रेमयुक्त, भविष्यत् की बातों को सोचने, और कार्य सिद्ध करनेवाले समर्थ मित्र अथवा दुर्बल मित्र को भी प्राप्त होके बढ़ता है ॥१॥

धर्म को जानने, और **'कृतज्ञ'** अर्थात् किये हुए उपकार को सदा माननेवाले, प्रसन्न-स्वभाव, अनुरागी, स्थिरारम्भी, लघु=छोटे भी मित्र को प्राप्त होकर प्रशंसित होता है ॥२॥

सदा इस बात को दृढ़ रक्खे कि कभी बुद्धिमान्, कुलीन, शूरवीर, चतुर, दाता, किये हुए को जाननेहारे, और धैर्यवान् पुरुष को शत्रु न बनावे, क्योंकि जो ऐसे को शत्रु बनावेगा, वह दुःख पावेगा ॥३॥

उदासीन का लक्षण—जिसमें प्रशंसित गुणयुक्तता, अच्छे-बुरे मनुष्यों का ज्ञान, शूरवीरता और करुणा भी हो, 'स्थूललक्ष्य' अर्थात् ऊपर-ऊपर की बातों को निरन्तर सुनाया करे, वह **'उदासीन'** कहाता है ॥४॥

एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मन्त्रिभिः ।
व्यायाम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥ —मनु० ७।२१६

https://t.me/arshlibrary

पूर्वोक्त प्रातःकाल के समय उठ, शौचादि सन्ध्योपासन, अग्निहोत्र कर वा करा, सब मन्त्रियों से विचार कर, सभा में जा, सब भृत्य और सेनाध्यक्षों के साथ मिल, उनको हर्षित कर, नाना प्रकार की व्यूहशिक्षा अर्थात् कवायद कर-करा, सब घोड़े-हाथी-गाय आदि के स्थान, शस्त्र और अस्त्र का कोश, तथा वेधालय और धन के कोशों को देख, सबपर दृष्टि नित्यप्रति देकर, जो कुछ उनमें खोट हों उनको निकाल, व्यायामशाला में जा व्यायाम करके, मध्याह्न समय भोजन के लिए 'अन्तःपुर' अर्थात् पत्नी आदि के निवासस्थान में प्रवेश करे, और भोजन सुपरीक्षित बुद्धि-बल-पराक्रम-वर्द्धक, रोगविनाशक, अनेक प्रकार के अन्न-व्यंजन-पान आदि, सुगन्धित, मिष्टादि अनेक रसयुक्त उत्तम करे कि जिससे सदा सुखी रहे। इस प्रकार सब राज्य के कार्य्यों की उन्नति किया करे।

प्रजा से कर लेने का प्रकार

पञ्चाशद् भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा॥ —मनु० ७।१३०॥

जो व्यापार करनेवाले वा शिल्पी को सुवर्ण और चाँदी का जितना लाभ हो उसमें से पचासवाँ भाग, चावल आदि अन्नों में छठा, आठवाँ वा बारहवाँ भाग लिया करे और जो धन[1] लेवे, तो भी उस प्रकार से लेवे कि जिससे किसान आदि खाने-पीने और धन से रहित होकर दुःख न पावें।

गुणीसुनीतिर्नव्योऽपि परिपाल्यस्तु पूर्ववत्।
प्राचीनैः सह तं कार्ये ह्यनूभूय नियोजयेत्॥ —५।२२

अर्थात्—जीते हुए राज्य में मन्त्रचिन्तन (सलाह देने के लिए) के लिए पुराने मन्त्रिमण्डल को हटाकर नया मन्त्रिमण्डल नियुक्त कर दे। अथवा-यदि नवीन अधिकारी गुणवान् और नीतिमान् हो तो उसका भी प्राचीन अधिकारियों की भाँति ही आदर-सम्मान करना चाहिए। नवीन अधिकारी की भली-भाँति परीक्षा करने के पश्चात् उसे प्राचीनों के साथ राजकार्य में नियुक्त करना चाहिए।

अथवा वर्त्तमान में प्रचलित पद्धति का अनुसरण करते हुए कुछ पर्यवेक्षक (Observers) छोड़ देने चाहिएँ जो सामान्य स्थिति होने तक वहाँ ठहरें और राजकार्य पर दृष्टि रक्खें और समय-समय पर राजा को वस्तुस्थिति से अवगत करते रहें।

राजाओं के राजा किसान आदि— कुछ लोगों का विचार हो सकता है कि ग्रन्थकार ने यह विचार कार्ल मार्कस से लिया है, किन्तु उनका ऐसा सोचना ठीक नहीं है। कार्ल मार्कस के ग्रन्थ 'कैपिटल' (Das Capital) का अंग्रेजी में अनुवाद पहली बार सन् १८८७ ईसवी में, अर्थात् ग्रन्थकार की मृत्यु के चार वर्ष बाद हुआ था, जबकि सत्यार्थप्रकाश की रचना सन् १८७५ में हो चुकी थी। ग्रन्थकार के समय तो भारत में मार्क्स के विचारों की लेशमात्र भी चर्चा नहीं थी। इसलिए उनके विचारों का मार्क्स से प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। अथर्ववेद में कई स्थानों में (३।४।२ तथा ३।५।६-७) राजा के निर्वाचित किये जाने का उल्लेख है। राजा की शक्ति का स्रोत प्रजा है। यजुर्वेद (१०।२८) में कहा है—**'इन्द्रो ऽ सि विशौजाः'** अर्थात् हे राजन्! तेरा बल तेरी प्रजा है।

---

१. अर्थात् अन्न न लेकर कर-रूप में रुपया लेवे।

https://t.me/arshlibrary

[राजा और प्रजा का सम्बन्ध]

क्योंकि प्रजा के धनाढ्य, आरोग्य, खान-पान आदि से सम्पन्न रहने पर राजा की बड़ी उन्नति होती है। प्रजा को अपने सन्तान के सदृश सुख देवे, और प्रजा अपने पिता के सदृश राजा और राजपुरुषों को जाने। यह बात ठीक है कि **राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करनेवाले हैं, और राजा उनका रक्षक** है। जो प्रजा न हो तो राजा किसका और राजा न हो तो प्रजा किसकी कहावे? दोनों अपने-अपने काम में स्वतन्त्र, और मिले हुए प्रीतियुक्त काम में परतन्त्र रहें। प्रजा की साधारण सम्मति के विरुद्ध राजा वा राजपुरुष न हों। राजा की आज्ञा के विरुद्ध राजपुरुष वा प्रजा न चले। यह राजा का राजकीय निज काम, अर्थात् जिसको 'पोलिटिकल' कहते हैं, संक्षेप से कह दिया। अब जो विशेष देखना चाहे, वह **चारों वेद, मनुस्मृति, शुक्रनीति, महाभारतादि** में देखकर निश्चय करे।

[विवाद के १८ स्थान और उनका निर्णय]

और जो प्रजा का न्याय करना है, वह व्यवहार 'मनुस्मृति' के अष्टम और नवमाध्याय आदि की रीति से करना चाहिए, परन्तु यहाँ भी संक्षेप में लिखते हैं—

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः ।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक् पृथक् ॥१॥

प्रत्यहम्—यहाँ 'पृथक्' पदों से तात्पर्य है कि राजा-अठारह प्रकार के विवादों में, अनेक प्रकार के विवाद से सम्बन्धित विशिष्ट विद्वानों (Experts) के साथ पृथक्-पृथक् बैठकर विचारोपरान्त निर्णय करे। इन विशिष्ट विद्वानों से निर्मित आयोगों या समितियों को आवश्यकतानुसार नियम बनाने का अधिकार दिया गया है जिससे न्याय-प्रक्रिया में बाधा न पड़े।

(तेषाम्) उन (१८ मार्गों) में १. (ऋणादानम्) किसी से ऋण लेने-देने के विवाद—४।१७-१७८; २. (निक्षेप) धरोहर अर्थात् किसी के पास पदार्थ धरा है, पर माँगने पर वापस न मिले—८।१७६-१६६; ३. (अस्वामिविक्रय) दूसरे के पदार्थ को दूसरा बैच दे—८।१६७-२०५; ४. (संभूय च समुत्थानम्) मिल-मिलाकर किसी पर अत्याचार करना—८।१०६-२१३; ५. (दत्तस्य अनयकर्म) दिये हुये पदार्थ को न देना—८।२१२-२१३; ६. (वेतनस्य च अदानम्) वेतन में से लेना या कम देना; ७. (संविदः च व्यातिक्रमः) प्रतिज्ञा के विरुद्ध आचरण—८।२१८-२२१; ८. (क्रय-विक्रय-अनुशयः) लेन-देन में झगड़ा—८।२२६-२४४; १०. (सीमाविवादधर्मः) सीमा का विवाद—८।२४५-२६५; ११-१२. (पारुष्ये दण्डवाचिके) कठोर दण्ड देना—८।२७८-३००, कठोर वचन बोलना—८।२६६-२७७; १३. (स्तेयम्) चोरी-डाका—८।३०१-३४३; १४. (साहसमेव) किसी काम को बलात् करना—८।३४४-३५१; १५. (स्त्रीसंग्रहणम्) किसी की स्त्री या पुरुष का व्याभिचार का होना—८।३५२-३५७; १६. (स्त्रीपुम् धर्मः) स्त्री और पुरुष के धर्म में व्यतिक्रम होना—९।१-१०२; १७. (विभागः) दायभाग सम्बन्धी विवाद—९।१०३-२१६; १८. (द्यूतम्-आह्वय एव च) द्यूत अर्थात् जड़ पदार्थ और (आह्व्य)समाह्वय अर्थात् चेतन को दाव पर धरकर जुआ खेलना—९।२२०-२५० —अष्टादश एतानि —ये अठारह प्रकार के (व्यवहारस्थितौ पादानि) परस्पर विरुद्ध व्यवहार के स्थान हैं। ४ से ७

इन विवादों का निर्णय करना राजा का काम है, परन्तु—

यदा स्वयं न कुर्यात् नृपतिः कार्यदर्शनम् ।
तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ ८।६

https://t.me/arshlibrary

तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः ।
सम्भूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥२॥
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः ।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥३॥
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके ।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसङ्ग्रहणमेव च ॥४॥
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च ।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थितावि‍ह ॥५॥
ऐषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम् ।
धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात् कार्यविनिर्णयम् ॥६॥

[कभी भी धर्म का हनन न होने पावे]

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥७॥
[1]सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समंजसम् ।
अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी ॥८॥

यदि किसी कारण या कार्य की अधिकता से राजा स्वयं निर्णय करने की स्थिति में न हो तो किसी अन्य धार्मिक विद्वान् को इस कार्य के लिए नियुक्त कर दे ।

सभां वा न—श्लोकान्तर्गत 'किल्बिषम्', 'दुष्कृतम्', 'एनः', 'पापम्', 'अधर्म' आदि शब्द मनुस्मृति में स्थान-स्थान पर आते हैं । प्रायः इनका अर्थ निन्दा, दोष या बुराई होता है । 'राजा स्तेनस्य किल्बिषम्' का अर्थ यह नहीं करना चाहिए कि चोर का पाप राजा को लग जाता है । इसका तात्पर्य इतना ही है कि यदि राजा अपराधी को समुचित दण्ड देने में असमर्थ रहता है तो राजा का अपयश होता है । निरुक्तकार ने इसी अर्थ को अपनी व्युत्पत्ति के द्वारा पुष्ट किया है—'किल्बिषम्'=किलभिदम्, कीर्त्तिमस्य भिनत्तीति अर्थात् जो मनुष्य की कीर्त्ति का नाश करे वह किल्बिष कहाता है । प्रस्तुत श्लोक में उन लोगों की बात कही गई है जो अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करते । पापी होने से यहाँ अभिप्राय दोषभागी होता है । अंग्रेजी के यशस्वी लेखक जी. के. चेस्टरटन ने अपने एक निबन्ध 'A piece of chalk' में लिखा है— 'As white is not the absence of black, virtue is not the absence of white'. अर्थात् जैसे कोई वस्तु काली न होने से सफेद नहीं कहला सकती, वैसे ही कोई व्यक्ति बुरा नहीं है, इतने मात्र से वह भला नहीं बन जाता । ट्रक से चोट खाकर सड़क पर घायल पड़े व्यक्ति का अपराधी तो ट्रकवाला है, किन्तु जो लोग उसे उस अवस्था में पड़ा

---

१. यही पाठ संस्कार विधि में उद्धृत है । मेधातिथि ने उक्त पाठ की जो व्याख्या की है उसका भाव इस प्रकार है—'राजसभा के व्यवहार देखने का अधिकार किसी को नहीं देना चाहिए । यदि किसी को अधिकार मिल गया हो, तो यथार्थ कहना चाहिए, अर्थात् भाषण में अनधिकृत को भी अयुक्त विचार प्रकट करनेवाले सभ्यों के मध्य मौन नहीं रहना चाहिए ।' यह आदेश नारदीय मनुस्मृति (३।२) में दिया है —'नियुक्तोऽनियोक्तो वा धर्मज्ञो वक्तुमर्हति ।'

https://t.me/arshlibrary

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥६॥
धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥१०॥
वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥११॥
एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समन्नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥१२॥
पादोऽधर्मस्य कर्त्तारं पादः साक्षिणमृच्छति ।
पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति ॥१३॥
राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः ।
एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ॥१४॥

—मनु० ८। ३-८, १२-१६॥

सभा, राजा और राजपुरुष सब लोग देशाचार और शास्त्र-व्यवहार हेतुओं से निम्नलिखित अठारह विवादास्पद मार्गों में विवादयुक्त कर्मों का निर्णय प्रतिदिन किया करें और जो-जो नियम शास्त्रोक्त न पावें, और उनके होने की आवश्यकता जानें तो उत्तमोत्तम नियम बाँधें कि जिससे राजा और प्रजा की उन्नति हो ॥१॥

अठारह मार्ग ये हैं—उनमें से १. (ऋणादान) किसी से ऋण लेने-देने का विवाद । २. (निक्षेप) धरावट, अर्थात् किसी ने किसी के पास पदार्थ धरा हो और माँगने पर न देना । ३. (अस्वामिविक्रय) दूसरे के पदार्थ को दूसरा बेच लेवे । ४. (संभूय च समुत्थानम्) मिल-मिलाके किसी पर अत्याचार करना । ५. (दत्तस्यानपकर्म च) दिये हुए पदार्थ का न देना ॥२॥

६. (वेतनस्यैव चादानम्) वेतन अर्थात् किसी की नौकरी में से ले-लेना वा कम कर देना अथवा न देना । ७. (संविदश्च व्यतिक्रमः) प्रतिज्ञा से विरुद्ध वर्तना । ८. (क्रयविक्रयानुशयः) अर्थात् लेन-देन में झगड़ा होना । ९. (विवादः स्वामि०) पशु के स्वामी और पालनेवाले का झगड़ा ॥३॥

१०. सीमा का विवाद । ११. किसी को कठोर दण्ड देना १२. कठोर वाणी का बोलना । १३. चोरी-डाका मारना । १४. किसी काम को बलात्कार से करना । १५. किसी की स्त्री वा पुरुष का व्यभिचार होना ॥४॥

१६. स्त्री और पुरुष के धर्म में व्यतिक्रम होना । १७. **विभाग** अर्थात् दायभाग में वाद उठना । १८. द्यूत अर्थात् जड़ पदार्थ और समाह्वय अर्थात् चेतन को दाव में धरके जुआ खेलना —ये अठारह प्रकार के परस्पर **विरुद्ध व्यवहार के स्थान** हैं ॥५॥

देखकर भी अनदेखा कर जाते हैं, वे भी एक हद तक दोषी माने जाएँगे । दण्डनीय न होने पर भी वे अपयश के भागी तो होंगे ही । यशस्वी वह होगा जो उसे कन्धे पर डालकर हस्पताल पहुँचाएगा । इसी प्रकार जो व्यक्ति अन्याय व अत्याचार को होता देखकर भी मौन धारण किये रहते हैं वे भी पापी होते हैं, क्योंकि वे अपने धर्म का पालन नहीं करते ।

पादोऽधर्मस्य—जिस प्रकार मांसभक्षण के प्रसंग में अनुमन्ता, विशसिता, निहन्ता, क्रय-विक्रयी,

https://t.me/arshlibrary

इन व्यवहारों में बहुत-से विवाद करनेवाले पुरुषों के न्याय को सनातनधर्म का आश्रय करके किया करे, अर्थात् किसी का पक्षपात कभी न करे ॥६॥

जिस सभा में अधर्म से घायल होकर धर्म उपस्थित होता है, जो उसका शल्य अर्थात् तीरवत् धर्म के कलङ्क को निकालना, और अधर्म का छेदन नहीं करते, अर्थात् धर्मी को मान और अधर्मी को दण्ड नहीं मिलता, उस सभा में जितने सभासद् हैं, वे सब घायल के समान समझे जाते हैं ॥७॥

धार्मिक मनुष्य को योग्य है कि सभा में कभी प्रवेश न करे और जो प्रवेश किया हो तो सत्य ही बोले। जो कोई सभा में अन्याय होते हुए देखकर मौन रहे, अथवा सत्य-न्याय के विरुद्ध बोले, वह महापापी होता है ॥८॥

जिस सभा में अधर्म से धर्म, असत्य से सत्य सब सभासदों के देखते हुए मारा जाता है, उस सभा में सब मृतक के समान हैं, जानो उनमें कोई भी नहीं जीता ॥९॥

मरा हुआ धर्म मारनेवाले का नाश, और रक्षित किया हुआ धर्म रक्षक की रक्षा करता है, इसलिए धर्म का हनन कभी न करना। इस डर से कि मारा हुआ धर्म कभी हमको न मार डाले ॥१०॥

जो सब ऐश्वर्यों के देने और सुखों की वर्षा करनेवाला धर्म है, जो उसका लोप करता है, उसी को विद्वान् लोग '**वृषल**' अर्थात् शूद्र और नीच जानते हैं, इसलिए किसी मनुष्य को धर्म का लोप करना उचित नहीं ॥११॥

इस संसार में एक धर्म ही सुहृद् है, जो मृत्यु के पश्चात् भी साथ चलता है, और सब पदार्थ वा सङ्गी शरीर के नाश के साथ ही नाश को प्राप्त होते हैं, अर्थात् सबका सङ्ग छूट जाता है, परन्तु धर्म का सङ्ग कभी नहीं छूटता ॥१२॥

जब राजसभा में पक्षपात से अन्याय किया जाता है, वहाँ अधर्म के चार विभाग हो जाते हैं। उनमें से एक अधर्म के कर्त्ता, दूसरा साक्षी, तीसरा सभासदों, और चौथा पाद अधर्मी सभा के सभापति=राजा को प्राप्त होता है ॥१३॥

जिस सभा में निन्दा के योग्य की निन्दा, स्तुति के योग्य की स्तुति, दण्ड के योग्य को दण्ड, और मान्य के योग्य का मान्य होता है, वहाँ राजा और सब सभासद् पाप से रहित और पवित्र हो जाते हैं। पाप के कर्त्ता ही को पाप प्राप्त होता है ॥१४॥

[साक्षी कैसे व्यक्ति होने चाहिएँ]

अब साक्षी कैसे करने चाहिएँ—

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्य्याः कार्येषु साक्षिणः ।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीताँस्तु वर्जयेत् ॥१॥

संस्कर्त्ता, उपहर्त्ता तथा खादक सभी पापी होते हैं, उसी प्रकार राजसभा में पक्षपात से होनेवाले अन्याय में अधर्म का कर्त्ता, साक्षी और राजा न्यूनाधिक सभी पाप के भागी होते हैं।

इसके विपरीत जिस सभा में सबके साथ यथायोग्य व्यवहार होता है वहाँ राजा और सभासद सभी निष्पाप या निर्दोष हो जाते हैं, केवल अपराध करनेवाला ही पाप का भागी होता है।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः ।
शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥२॥
साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च ।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥३॥
बहुत्वं परिगृह्णीयात् साक्षिद्वैधे नराऽधिपः ।
समेषु तु गुणोत्कृष्टान् गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥४॥

[दो प्रकार के साक्षी]

समक्षदर्शनात् साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति ।
तत्र सत्यं ब्रुवन् साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥५॥
साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद् विब्रुवन्नार्य्यसंसदि ।
अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥६॥
स्वभावेनैव यद् ब्रूयुस्तद् ग्राह्यं व्यावहारिकम् ।
अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥७॥

साक्षी शब्द का अर्थ—'सहपूर्वक' 'अक्षि' से 'इनिः' प्रत्यय अथवा साक्षात् अव्यय से 'साक्षाद्द्रष्टरिसंज्ञाम्' (अष्टा० ५।२।९१) से 'इनिः' प्रत्यय होकर 'सक्षिन्' शब्द सिद्ध होता है । 'साक्षिन्यः साक्षात् कर्त्ता=साक्षाद् द्रष्टा यः सः साक्षी' । इस प्रकार साक्षी शब्द के अर्थ और व्युत्पत्ति से यह स्पष्ट होता है कि वस्तुतः साक्षी वही होता है जो उस बात या घटना का प्रत्यक्ष द्रष्टा होता है । श्लोक में 'आप्ताः' विशेषण से भी इसी भाव की पुष्टि होती है ।

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्री—इस श्लोक में वर्णानुक्रम से साक्षियों का प्रावधान किया है । यही नियम स्त्रियों की साक्षी में—स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्री—में अपनाया गया है । यदि साक्षी के लिए उसका प्रत्यक्षद्रष्टा होना आवश्यक है तो घटना के समय वहाँ जो भी उपस्थित होगा उसी की साक्ष्य का प्रमाण्य होगा । एक ब्राह्मण और दूसरा क्षत्रिय इन दोनों में विवाद होने पर वैश्य की साक्षी का कोई अर्थ नहीं होगा, यद्यपि वह घटना का साक्षात् द्रष्टा होगा । बलात्कार के समय चीख़ती-चिल्लाती स्त्री के अतिरिक्त कोई अन्य स्त्री वहाँ नहीं रही होगी । ऐसी अवस्था में स्त्री साक्षी कहाँ से आये ? साक्षी के लिए वर्णभेद या लिङ्ग भेद का रहस्य अन्वेषणीय है । कुल्लूकभट्ट ने इस श्लोक के भाष्य में अपनी ओर से इतना लिख दिया है—'उक्तलक्षणसजातीयसाक्ष्यसंभवे विजाजातीया अपि साक्षिणो भवन्ति' । अतएव याज्ञवल्क्यः 'यथाजाति यथावर्णं सर्वे सर्वेषु वा स्मृताः' ।

शुक्रनीति (४।५।६) के अनुसार-

नैकः पश्येच्च कार्याणि वादिनोः शृणुयाद्वचः ।
रहसि च नृपः प्राज्ञः सभ्याश्चैव कदाचन ॥

बुद्धिमान् राजा अकेला एकान्त में वादी-प्रतिवादी के कार्यों (मुकदमों) को कभी न देखे और न उनकी बातों को सुने । इसी प्रकार शासनाधिकारी भी चुपचाप अकेला अभियोगों का निर्णय न करे ।

https://t.me/arshlibrary

[न्यायाधीश और वकील द्वारा साक्षी से पूछताछ]

सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ ।
प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिनाऽनेन सान्त्वयन् ॥८॥
यद् द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिन् चेष्टितं मिथः ।
तद् ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥९॥
सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् ।
इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥१०॥

[साक्षी सदा सत्य ही बोले]

सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्द्धते ।
तस्मात् सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥११॥
आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः ।
मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥१२॥
यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते ।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥१३॥
एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण ! मन्यसे ।
मुनिः नित्यं स्थितस्ते ह्यद्येषः पुण्यपापेक्षिता ॥१४॥
—मनु० ८।६३,६८,७२-७५,७८-८१,८३, ८४,९६, ९१॥

निर्णायक समिति (जूरी) के गुण-

व्यवहारविदः प्राज्ञा वृत्तशीलगुणान्विताः ।
रिपौ मित्रे समा ये च धर्मज्ञाः सत्यवादिनः ॥
निरालसा जितक्रोधकामलोभाः प्रियंवदाः ।
राज्ञा नियोजितव्यास्ते सभ्याः सर्वासु जातिषु ॥ —शुक्र० ४।५।१६-१७

व्यवहारकुशल, विद्वान्, चरित्रवान्, शील और गुणों से युक्त शत्रु और मित्र के साथ समान व्यवहार करनेवाले, धर्म के मर्म को जाननेवाले, सत्यवादी, आलस्यरहित, काम, क्रोध और लोभ को जाननेवाले तथा मधुरभाषी इन गुणों से युक्त सभी वर्णों के लोगों में से निर्णायक=जूरी का सदस्य नियुक्त किया जाए।

प्राड्विवाक का अर्थ—वादी-प्रतिवादी से पूछने के कारण वह 'प्राड्' कहाता है और उसपर गम्भीरता से विचार करने के कारण 'विवाक' कहाता है। वही 'प्राड्विवाक' सभ्यों के साथ मिलकर धर्माधर्म विचार करता है—

प्रत्यक्षं वादयेत् साक्ष्यं न परोक्षं कदाचन ।
नाङ्गीकरोति यः साक्ष्यं दण्ड्यः स्याद् देशितो यदि ॥ ४।५।१८६

वादी और प्रतिवादी के समक्ष में ही साक्षी की गवाही लेनी चाहिए, परोक्ष में कभी नहीं।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

सब वर्णों में धार्मिक, विद्वान्, निष्कटी, सब प्रकार धर्म को जाननेवाले, लोभरहित, सत्यवादी को न्यायव्यवस्था में साक्षी करे, इससे विपरीतों को कभी न करे ॥१॥

स्त्रियों की साक्षी स्त्री, द्विजों के द्विज, शूद्रों के शूद्र, और अन्त्यजों के अन्त्यज साक्षी हों ॥२॥

जितने बलात्कार काम=चोरी, व्यभिचार, कठोरवचन, दण्डनिपातनरूप अपराध हैं, उनमें साक्षी की परीक्षा न करे और अत्यावश्यक भी न समझे, क्योंकि ये काम सब गुप्त होते हैं ॥३॥

प्राड्विवाक का कार्य—शुक्रनीति (२।६५-६७) के अनुसार प्राड्विवाक का कर्त्तव्य है कि—

साक्षिभिर्लिखितैर्भोगैश्छलैर्भूतैश्च मानुषान् ।
स्वानुत्पादितसंप्राप्तव्यवहारान्विचिन्त्य च ॥
दिव्यसंसाधनाद्वापि केषुं किं साधनं परम् ।
युक्तिप्रत्यक्षानुमानोपमानैर्लोकशास्त्रतः ॥
बहुसम्मतसंसिद्धान्विनिश्चित्य सभास्थितः ।
ससभ्यः प्राड्विवाकस्तु नृपं सम्बोधयेत्सदा ॥

वह सभा में स्थित हो सभ्यों (जूरी के सदस्यों) के साथ मिलकर साक्षियों द्वारा प्रस्तुत सत्य या छल से युक्त मनुष्यों को तथा अपनी इच्छा से पैदा किये हुए अथवा यथार्थरूप से स्थापित किये गये (मिथ्या और सत्य) विवादों को विचारकर उनमें से किसी की साक्षी या लेख के अभाव में दिव्य साधनों (मेधाबुद्धि आदि) से एवं किसी का बहुत लोगों की सम्मति से और किसमें कौन-सा प्रमाण ठीक होगा इसका प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा लोकशास्त्र से विचारकर जो निर्णय हो, उसे राजा से निवेदन करे ।

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी—ग्रन्थकार ने आगे सातवें समुल्लास में लिखा है—'जब आत्मा मन तथा मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता या चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि की अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय जीव के इच्छा, ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाते हैं । उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरा काम करने में भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशंकता और आनन्दोत्साह उठता है । इसी प्रकार आत्मा का साक्षी आत्मा होता है । इसलिए गीता में कहा है—

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव आत्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ —गीता ६।५

अर्थात अपनी आत्मा का अवमूल्यन न करे—उसको पतित ने करे, क्योंकि आत्मा ही अपना बन्धु है और पतित होने पर आत्मा ही अपना शत्रु है ।

एको ऽ हमास्मि-न्याधीश के सामने साक्षी देनेवाले व्यक्ति को सत्य बोलने की प्रेरणा करते हुए कहा है कि 'हे भलेमानस ! यदि तू यह समझता है कि यहाँ तू अकेला है और इसलिए तुझे देखने-सुननेवाला कोई नहीं है तो तू भूल कर रहा है । तेरे भले-बुरे को देखनेवाला वह सर्वज्ञ परमात्मा सदा तेरे हृदय में अवस्थित रहता है । वह तेरे समस्त मनोभावों को जानता है । इसलिए तू उसके विपरीत कुछ मत करना ।' अथर्ववेद में यही बात इन शब्दों में कही है—

यस्तिष्ठति यश्चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥—अथर्ववेद ४।१६।२

https://t.me/arshlibrary

दोनों ओर के साक्षियों में से बहुपक्षानुसार, तुल्य साक्षियों में उत्तमगुणी पुरुष की साक्षी के अनुकूल और जो दोनों के साक्षी उत्तमगुणी और तुल्य हों तो द्विजोत्तम अर्थात् ऋषि-महर्षि और यतियों की साक्षी के अनुसार न्याय करे ॥४॥

दो प्रकार के साक्षी होना सिद्ध होता है। **एक**—साक्षात् देखने, और **दूसरा**—सुनने से। जब सभा में पूछें तब जो साक्षी सत्य बोलें, वे धर्महीन और दण्ड के योग्य न होवें और जो साक्षी मिथ्या बोलें, वे यथायोग्य दण्डनीय हों ॥५॥

जो राजसभा वा किसी उत्तम पुरुषों की सभा में साक्षी देखने और सुनने से विरुद्ध बोले, तो वह **'अवाङ्नरक'** अर्थात् जिह्वा के छेदन से दुःखरूप नरक को वर्त्तमान समय में प्राप्त होवे और मरे पश्चात् सुख से हीन हो जाए ॥६॥

साक्षी के उस वचन को मानना कि जो स्वभाव ही से व्यवहारसम्बन्धी बोले और [1]इससे भिन्न सिखाये हुए जो-जो वचन बोले, उस-उसको न्यायाधीश व्यर्थ समझे ॥७॥

जब 'अर्थी'=वादी और 'प्रत्यर्थी'=प्रतिवादी के सामने सभा के समीप प्राप्त हुए साक्षियों को न्यायाधीश और प्राड्विवाक अर्थात् वकील वा बैरिस्टर शान्तिपूर्वक इस प्रकार से पूछें—॥८॥

हे साक्षिलोगो ! इस कार्य में इन दोनों के परस्पर कर्मों में जो तुम जानते हो, उसको सत्य के साथ बोलो, क्योंकि तुम्हारी इस कार्य में साक्षी है ॥९॥

जो साक्षी सत्य बोलता है, वह जन्मान्तर में उत्तम जन्म और उत्तम लोकान्तरों में जन्म को प्राप्त होके सुख भोगता है। इस जन्म वा परजन्म में उत्तम कीर्ति को प्राप्त होता है, क्योंकि जो यह वाणी है, वही वेदों में सत्कार और तिरस्कार का कारण लिखी है। जो सत्य बोलता है, वह प्रतिष्ठित और मिथ्यावादी निन्दित होता है ॥१०॥

सत्य बोलने से साक्षी पवित्र होता, और सत्य ही बोलने से धर्म बढ़ता है। इससे सब वर्णों में साक्षियों को सत्य ही बोलना योग्य है ॥११॥

आत्मा का साक्षी आत्मा, और आत्मा की गति आत्मा है। इसको जानके हे पुरुष ! तू सब मनुष्यों का उत्तम साक्षी अपने आत्मा का अपमान मत कर अर्थात् सत्यभाषण जोकि तेरे आत्मा-मन-वाणी में है वह **'सत्य'** और जो इससे विपरीत है, वह **'मिथ्याभाषण'** है ॥१२॥

जिस बोलते हुए पुरुष का विद्वान् **'क्षेत्रज्ञ'** अर्थात् शरीर का जाननेहारा आत्मा भीतर शङ्का को प्राप्त नहीं होता, उससे भिन्न विद्वान् लोग किसी को उत्तम पुरुष नहीं जानते ॥१३॥

हे कल्याण की इच्छा करनेहारे पुरुष ! जो 'तू मैं अकेला हूँ' ऐसा अपने आत्मा में जानकर मिथ्या बोलता है, सो ठीक नहीं है, किन्तु जो दूसरा तेरे हृदय में अन्तर्यामिरूप से परमेश्वर पुण्य-पाप का देखनेवाला मुनि स्थित है, उस परमात्मा से डरकर सदा सत्य बोला कर ॥१४॥

अर्थात् जो खड़ा है, जो चलता है, जो दूसरे को ठगता है, जो छिपकर कहीं जाता है, जो दूसरों पर अत्याचार करता है और जो दो पुरुष मिलकर गुप्त मन्त्रणा करते हैं, उन सब बातों को तीसरी परमात्मा जानता है।

---

१. सं० २ में 'सिखाये हुए इससे भिन्न जो-जो' यह पाठ व्यतिक्र से है।

https://t.me/arshlibrary

[लोभादिवश झूठे साक्ष्य पर विविध दण्ड]

लोभान्मोहाद् भयान्मैत्रात् कामात् क्रोधात्तथैव च ।
अज्ञानाद् बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥१॥
एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ।
तस्य दण्डविशेषाँतु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥२॥
लोभात् सहस्रदण्ड्यस्तु मोहात् पूर्वन्तु साहसम् ।
भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्ड्यौ मैत्रात् पूर्वं चतुर्गुणम् ॥३॥
कामाद् दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम् ।
अज्ञानाद् द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ॥४॥

[दण्ड के दश स्थान]

उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् ।
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥५॥
अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः ।
साराऽपराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥६॥

लोभात्सहस्रम् इत्यादि श्लोक से 'उपस्थमुदरम्' इत्यादि पाँचवें श्लोक तक में वर्णित दण्डमात्रा का आधार मनु ८।१३३८ है, तदनुसार—

पणानां द्वेशते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः ।
मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः ॥

अर्थात—ढाई सौ पैसे प्रथम साहस का दण्ड है । पाँच सौ मध्यम और हज़ार पैसे उत्तम । इस न्याय से लोभ से झूठी साक्ष्य देनेवाले से पन्द्रह रुपये दस आने, मोह से झूठी साक्ष्य देनेवाले से पहला साहस अर्थात् ढाई सौ पैसे=तीन रुपये साढ़े चौदह आने, भय के कारण मिथ्या साक्ष्य देनेवाले से दो मध्यम अर्थात् सहस्र पैसे=पन्द्रह रुपये दस आने, कामना से मिथ्या साक्षी देनेवाले से पूर्व साहस का दस गुणा अर्थात् २५०० पैसे=उनतालीस रुपये एक आना, क्रोध से मिथ्या साक्ष्य देनेवाले से तीन हजार पैसे=छयालीस रुपये चौदह आने, अज्ञान से साक्ष्य देनेवाले से दो सौ पैसे अर्थात् तीन रुपये, आठ आने, बालपन के कारण मिथ्या साक्ष्य देनेवाले से एक सौ पैसे अर्थात् एक रुपया नौ आने दण्ड लेवे ।

ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार के पास मनुस्मृति का ऐसा संस्करण या हस्तलेख रहा होगा जिसमें किसी अन्य प्रकार का पाठ था । वर्तमान में उपलभ्यमान पाठ के अनुसार दण्डमात्रा का लेखा वही बनता है जो हमने यहाँ दिया है ।

कौटिल्य के मतानुसार साहसों की सीमा एक निर्धारित संख्या में नहीं, अपितु एक साहस से दूसरे साहस तक की सारी संख्या उस संख्या में परिगणित मानी गयी है । उनके मतानुसार—२५० पण का पूर्व साहस, २५१ से ५०० तक का मध्यम साहस, ५०१ से १००० पण तक उत्तम साहस माना जाएगा । आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में इनको कुछ भेद के साथ इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'४८ से २०० पण तक प्रथम

https://t.me/arshlibrary

[अधर्मयुक्त दण्ड किसी पर कभी न करे]

अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम् ।
अस्वर्ग्यञ्च परत्रापि तस्मात्तत् परिवर्जयेत् ॥७॥
अदण्ड्यान्दण्डयन्राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥८॥

[दण्डदान का क्रम]

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम् ।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥६॥

—मनु० ८।११८-१२१, १२५-१२६॥

जो लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध, अज्ञान और बालकपन से साक्षी देवे, वह मिथ्या समझी जावे ॥१॥

इनमें से किसी स्थान में साक्षी झूठ बोले, उसको वक्ष्यमाण अनेकविध दण्ड किया करे ॥२॥

जो लोभ से झूठी साक्षी देवे तो उससे १५॥=)पन्द्रह रुपये दश आने[1] दण्ड लेवे। जो मोह से झूठी साक्षी देवे उससे ३=) तीन रुपये दो आने[2] दण्ड लेवे। जो भय से मिथ्या साक्षी देवे उससे ६।) सवा छः रुपये[3] दण्ड लेवे और जो पुरुष मित्रता से झूठी साक्षी देवे, उससे १२॥) साढ़े बारह रुपये[4] दण्ड लेवे ॥४॥

जो पुरुष कामना से मिथ्या साक्षी देवे उससे २५) पच्चीस रुपये[5] दण्ड लेवे। जो पुरुष क्रोध से झूठी साक्षी देवे उससे ४६।॥=) छयालीस रुपये चौदह आने[6] दण्ड लेवे। जो पुरुष अज्ञानता से झूठी साक्षी देवे उससे ६) छह रुपये[7] दण्ड लेवे और जो बालकपन में मिथ्या साक्षी देवे तो उससे १॥—) एक रुपया नौ आने

---

१. यह धन का निर्देश श्लोक मे पठित 'सहस्र' पद का अर्थ १००० पैसे, और एक रुपये में ६४ पैसे (पुराने व्यवहारानुसार) की गणना से दिया है। आगे भी ऐसा ही जानें।

२. मनु के **'पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः'** (८।१३८) श्लोक के अनुसार २५० पैसे अर्थात् ३॥।=)॥ तीन रूपये साढ़े चौदह आने दण्ड देना चाहिए। प्रतीत होता है यहाँ उक्त श्लोक में पठित **'सार्धे'** का अभिप्राय गणना में छूट गया है। केवल २०० पैसे अर्थात् ३=) लिखा गया।

३. यहाँ भी पूर्व भूल के कारण अशुद्धि हुई है। मनु० के **'मध्यमः' पञ्च विज्ञेयः'** (८।१३८) के अनुसार ५०० पैसे मध्यम अर्थात् ७॥।—) सात रुपये तेरह आने दण्ड होता है। **द्वौ मध्यमौ** का अर्थ होगा १००० पैसे, अर्थात् १५॥=) पन्द्रह रुपये दस आने। यही संख्या यहाँ होनी चाहिए।

४. यहाँ भी पूर्व भूल के कारण ३=) का चतुर्गुण १२॥) साढ़े बारह रुपया लिखा गया है, जबकि २५० का चतुर्गुण १००० पैसे, अर्थात् १५॥=) पन्द्रह रुपये दश आने होना चाहिए।

५. यहाँ पूर्व दण्ड को दुगुना कर देने से भूल हुई है। मनु० के श्लोकानुसार प्रथम साहस दण्ड २५० पैसे का दस गुणा २५०० पैसे, अर्थात् ३६—) उन्तालीस रुपया एक आना दण्ड होना चाहिए।

६. 'परं' का अर्थ उत्तम साहस दण्ड १००० पैसे के अनुसार यह ठीक है। मेधातिथि ने पक्षान्तर में 'परं' का अर्थ प्रकृत प्रथम साहस दण्ड से उत्तर अर्थात् मध्यम साहस दण्ड दर्शाया है। तदनुसार **५००×३=१५०० पैसा अर्थात्२३।=)** तेईस रुपये सात आने होता है।

७. यहाँ भी **'द्वे शते पूर्णे** के अनुसार २०० पैसे अर्थात ३=) तीन रुपये दो आने दण्ड होना चाहिए। यहाँ भी सं० ३४ में 'छः रुपये' के स्थान में '३=)' (तीन रुपये दो आने) पाठ संशोधक ने बनाया है।

https://t.me/arshlibrary

दण्ड लेवे ॥४॥

दण्ड के उपस्थेन्द्रिय, उदर, जिह्वा, हाथ, पग, आँख, नाक कान, धन और देह ये **दश स्थान** हैं कि जिनपर दण्ड दिया जाता है ॥५॥

परन्तु जो-जो दण्ड लिखा है और लिखेंगे, जैसे लोभ से साक्षी देने में पन्द्रह रुपये दश आने दण्ड लिखा है, परन्तु जो अन्त्यन्त निर्धन हो तो उससे कम, और धनाढ्य हो तो उससे दूना, तिगुना और चौगुना तक भी ले लेवे, अर्थात् जैसा देश, जैसा काल और जैसा पुरुष हो, उसका जैसा अपराध हो वैसा ही दण्ड करे ॥६॥

क्योंकि इस संसार में जो अधर्म से दण्ड करना है, वह पूर्व प्रतिष्ठा, वर्तमान और भविष्यत् में होनेवाली कीर्ति का नाश करनेहारा है, और परजन्म में भी दुःखदायक होता है, इसलिए अधर्मयुक्त दण्ड किसी पर न करे ॥७॥

जो राजा दण्डनीयों को तो न दण्ड और अदण्डनीयों को दण्ड देता है, अर्थात् दण्ड देने योग्य को छोड़ देता और जिसको दण्ड देना न चाहिए उसको दण्ड देता है, वह जीता हुआ बड़ी निंदा को, और मरे पीछे बड़े दुःख को प्राप्त होता है। इसलिए जो अपराध करे उसको सजा दण्ड देवे और अनपराधी को दण्ड कभी न देवे ॥८॥

प्रथम वाणी का दण्ड अर्थात् उसकी 'निन्दा', **दूसरा** 'धिक् दण्ड अर्थात् तुझको धिक्कार है, तूने ऐसा बुरा काम क्यों किया ? **तीसरा** उससे 'धन लेना' और **चौथा** 'वध' दण्ड अर्थात् उसको कोड़ा वा बैंत से मारना वा शिर काट देना ॥९॥

[प्रत्येक अपराधी को दण्ड मिले]

येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते ।
तत्तदेव हरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥१॥
पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥२॥

[अधिकारीभेद से दण्डभेद]

कार्षापणं भवेद् दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ।
तत्र राजा भवेद् दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥३॥

साहस, २०० से ५०० पण तक मध्यम साहस, ५०० से १००० पण तक उत्तम साहस का दण्ड कहाता है'' (प्रक. ७४, अ. १७)।

शुक्रनीति ४।५३ में कहा है—

दण्ड्यस्यादण्डनान्नित्यमदण्ड्यस्य च दण्डनात् ।
अतिदण्डाच्च गुणिभिस्त्यज्यते पातकी भवेत् ॥

दण्ड देने योग्य व्यक्ति को दण्ड न देने से, अदण्डनीय को दण्ड देने से और आवश्यकता से अधिक दण्ड देने से गुणीजन राजा का परित्याग कर देते हैं और इस प्रकार करने से राजा स्वयं भी पापी हो जाता है।

कार्षापणं भवेद्दण्ड्यः—उदयपुरनरेश महाराजा सज्जनसिंह को दिनचर्यासम्बन्धी उपदेश करते हुए

https://t.me/arshlibrary

अष्टापाद्यन्तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम् ।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत् क्षत्रियस्य च ॥४॥
ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत् ।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः ॥५॥
ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम् ।
नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥६॥

[बलात् प्रजापीडक को कठोरतम दण्ड]

वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः ।
साहसस्य नरः कर्त्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥७॥
साहसे वर्त्तमानन्तु यो मर्षयति पार्थिवः ।
स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥८॥
न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात् ।
समुत्सृजेत् साहसिकान् सर्वभूतभयावहान् ॥९॥
गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥१०॥
आततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तन्मन्युमृच्छति ॥११॥

[अतीव श्रेष्ठ शासक]

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् ।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक् ॥१२॥

—मनु० ८।३३४-३३८, ३४४-३४७, ३५०,३५१,३८६॥

चोर जिस प्रकार जिस-जिस अङ्ग से मनुष्यों में विरुद्ध चेष्टा करता है, उस-उस अङ्ग को सब मनुष्यों की शिक्षा के लिए, राजा हरण अर्थात् छेदन करदे ॥१॥

ग्रन्थकार ने निर्देश किया था—'अपराध में प्रजा से राजा को अधिक दण्ड देना चाहिए। बकरी का प्रमाद रोकने से सिंह का प्रमाद रोकने में अधिक यत्न होना चाहिए। यह निश्चय है कि जैसा शील, आचरण, उत्साह और पुरुषार्थ प्रधान पुरुष करता है वैसा ही इतर जन वर्त्तते हैं'' (ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन-पूर्ण संख्या ५६८)। इसलिए जैसे-जैसे राजपुरुषों का पद बड़ा हो वैसे-वैसे उसके दण्ड का माप बड़ा होना चाहिए। ज्ञान की दृष्टि से ब्राह्मण सबसे अधिक दण्ड का भागी है।

यस्य स्तेनः—इस प्रकार के एक राजा अश्वपति का उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् में मिलता है। अश्वपति की घोषणा प्रसिद्ध है—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥

https://t.me/arshlibrary

चाहे पिता, आचार्य, मित्र, स्त्री, पुत्र, और पुरोहित क्यों न हो, जो स्वधर्म में स्थित नहीं रहता वह राजा का अदण्ड्य नहीं होता, अर्थात् जब राजा न्यायासन पर बैठ न्याय करे, तब किसी का पक्षपात न करे, किन्तु यथोचित दण्ड देवे ॥२॥

जिस अपराध में साधारण मनुष्य पर एक पैसा दण्ड हो, उसी अपराध से राजा को सहस्र पैसा दण्ड होवे, अर्थात् साधारण मनुष्य से राजा को सहस्र गुणा दण्ड होना चाहिए[1]।

मन्त्री अर्थात् राजा के दीवान को आठ सौ गुणा, उससे न्यून को सात सौ गुणा, और उससे भी न्यून को छह सौ गुणा। इसी प्रकार उत्तर-उत्तर, अर्थात् जो एक छोटे-से छोटा भृत्य अर्थात् चपरासी है, उसको आठ गुणे दण्ड से कम न होना चाहिए, क्योंकि यदि प्रजापुरुषों से राजपुरुषों को अधिक दण्ड न होवे, तो राजपुरुष प्रजापुरुषों का नाश कर देवें। जैसे सिंह अधिक और बकरी थोड़े दण्ड से ही वश में आ जाती है, इसलिए राजा से लेकर छोटे-से-छोटे भृत्यपर्यन्त राजपुरुषों को अपराध में प्रजापुरुषों से अधिक दण्ड होना चाहिए ॥३॥

वैसे **ही जो कुछ विवेकी होकर चोरी करे,** उस शूद्र को चोरी से आठ गुणा, वैश्य को सोलह गुणा, क्षत्रिय को बत्तीस गुणा ॥४॥

ब्राह्मण को चौंसठ गुणा वा सौगुणा, अथवा एक सौ अट्ठाइस गुणा दण्ड होना चाहिए, अर्थात् जिसका जितना ज्ञान और जितनी प्रतिष्ठा अधिक हो, उसको अपराध में उतना ही अधिक दण्ड होना चाहिए ॥५॥

राज्य के अधिकारी, धर्म और ऐश्वर्य की इच्छा करनेवाला राजा बलात्कार के काम करनेवाले डाकुओं को दण्ड देने में एक क्षण भी देर न करे ॥६॥

साहसिक पुरुष का लक्षण—जो दुष्ट वचन बोलने, चोरी करने, विना अपराध के दण्ड देनेवाले से भी [अधिक] बलात्कार के काम करनेवाला है, वह अतीव पापी, दुष्ट है ॥७॥

जो राजा साहस में वर्त्तमान पुरुष को दण्ड न देकर सहन करता है, वह राजा शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है, और राज्य में द्वेष भी उठता है ॥८॥

न मित्रता, न पुष्कल धन की प्राप्ति से भी राजा सब प्राणियों को दुःख देनेवाले साहसिक मनुष्य को बन्धन-छेदन किये विना कभी छोड़े ॥९॥

चाहे गुरु हो, चाहे पुत्रादि बालक हों, चाहे पिता आदि वृद्ध, चाहे ब्राह्मण, और चाहे बहुत शास्त्रों का श्रोता क्यों न हो, जो धर्म को छोड़ अधर्म में वर्त्तमान, दूसरे को विना अपराध मारनेवाले हैं, उनको विना विचारे मार डालना, अर्थात् मारके पश्चात् विचार करना चाहिए ॥१०॥

दुष्ट पुरुषों के मारने में हन्ता को पाप नहीं होता, चाहे प्रसिद्ध मारे चाहे अप्रसिद्ध, क्योंकि क्रोधी को क्रोध से मारना जानो क्रोध से क्रोध की लड़ाई है ॥११॥

जिस राजा के राज्य में न चोर, न पर-स्त्री-गामी, न दुष्ट वचन का बोलनेहारा, न साहसिक डाकू, और न दण्डघ्न अर्थात् राजा की आज्ञा का भंग करनेवाला है, वह राजा अतीव श्रेष्ठ है ॥१२॥

यह व्यवहारसिद्ध है कि कठोर दण्ड के बिना प्रजा को अनुशासित करना दुष्कर है। भ्रष्टाचार के द्वारा एक लाख रुपया कमानेवाले को जब तक दस लाख रुपये दण्ड नहीं दिया जाएगा तब तक वह बेईमानी से कमाना नहीं छोड़ेगा।

---

१. यहाँ से आगे का लेख ग्रन्थकार ने मनुस्मृति के भाव को स्पष्ट करने के लिए लिखा है।

https://t.me/arshlibrary

[व्यभिचारियों को कठोर दण्ड]

भर्तारं लंघयेद् या स्त्री स्वज्ञातिगुणदर्पिता ।
तां श्वभिः खादयेद् राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥१॥
पुमांसं दाहयेत् पापं शयने तप्त आयसे ।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥२॥

[जलीय मार्गों पर कराधान]

दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो[1] भवेत् ।
नदीतीरेषु तद्विद्यात् समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥३॥

[राजा के दैनिक काम]

अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च ।
आयव्ययौ च नियतावाकरान् कोषमेव च ॥४॥
एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान् समापयन् ।
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥५॥

—मनु० ८।३७१, ३७२, ४०६, ४१६, ४२०॥

जो स्त्री अपनी जातिगुण के घमण्ड से पति को छोड़ व्यभिचार करे, उसको बहुत स्त्री और पुरुषों के सामने जीती हुई को कुत्तों से राजा कटवाकर मरवा डाले ॥१॥

उसी प्रकार जो अपनी स्त्री को छोड़के पर-स्त्री वा वेश्यागमन करे, उस पापी को लोहे के पलङ्ग को अग्नि से तपाके, लाल कर, उसपर सुलाके जीते को बहुत पुरुषों के सम्मुख भस्म कर देवे ॥२॥

[कामी राजा तथा न्यायाधीश भी दण्डित हों]

प्रश्न—जो राजा वा राणी अथवा न्यायाधीश वा उसकी स्त्री व्यभिचारादि कुकर्म करे, तो उसको कौन दण्ड देवे ?

उत्तर—सभा । और उनको तो प्रजापुरुषों से भी अधिक दण्ड होना चाहिए ।

प्रश्न—राजादि उनसे दण्ड क्यों ग्रहण करेंगे ?

उत्तर—राजा भी एक पुण्यात्मा, भाग्यशाली मनुष्य है । जब उसी को दण्ड न दिया जाए, और वह दण्ड ग्रहण न करे, तो दूसरे मनुष्य दण्ड को क्यों मानेंगे ? और जब सब प्रजा और प्रधान राज्याधिकारी और सभा धार्मिकता से दण्ड देना चाहें, तो अकेला राजा क्या कर सकता है ? जो ऐसी व्यवस्था न हो, तो राजा, प्रधान और सब समर्थ पुरुष अन्याय में डूबकर न्याय-धर्म को डुबोके सब प्रजा का नाश कर आप भी नष्ट हो जाएँ, अर्थात् उस श्लोक के अर्थ का स्मरण करो कि, 'न्याययुक्त दण्ड ही का नाम राजा और धर्म है । जो उसका लोप करता है, उससे नीच पुरुष दूसरा कौन होगा ?'

प्रश्न—यह कड़ा दण्ड होना उचित नहीं, क्योंकि मनुष्य किसी अङ्ग का बनानेहारा वा मरे हुए को जिलानेवाला नहीं है, इसलिए ऐसा दण्ड न देना चाहिए ।

---

१. तरः=तरकरः (=नौका-सम्बन्धी कर) ।

https://t.me/arshlibrary

उत्तर—जो इसको कड़ा दण्ड जानते हैं, वे राजनीति को नहीं समझते, क्योंकि एक पुरुष को इस प्रकार दण्ड होने से सब लोग बुरे काम करने से अलग रहेंगे और बुरे काम को छोड़कर धर्म-मार्ग में स्थित रहेंगे। सच पूछो तो यही है कि एक राई-भर भी यह दण्ड सबके भाग में न आवेगा और जो सुगम दण्ड दिया जाए, तो दुष्ट काम बहुत बढ़कर होने लगें। वह जिसको तुम सुगम दण्ड कहते हो, वह करोड़ों गुणा अधिक होने से करोड़ों गुणा कठिन होता है, क्योंकि जब बहुत मनुष्य दुष्ट कर्म करेंगे, तब थोड़ा-थोड़ा दण्ड भी दिया तो बहुत देना पड़ेगा अर्थात् जैसे एक को मनभर दण्ड और दूसरे को पावभर, तो पावभर अधिक एक मन दण्ड होता है। तो प्रत्येक मनुष्य के भाग में आध पाव बीस सेर दण्ड पड़ा। तो ऐसे सुगम दण्ड को दुष्ट लोग क्या समझते हैं? जैसे एक को मन और सहस्र मनुष्यों को पाव-पाव दण्ड हुआ तो सवा छः मन मनुष्य जाति पर दण्ड होने से अधिक और यही कड़ा, तथा वह एक मन दण्ड न्यून और सुगम होता है।

जो लम्बे मार्ग में, समुद्र की खाड़ियों वा नदी तथा बड़े नदों में, जितना लम्बा देश [और जैसा काल=ग्रीष्म, वर्षा आदि] हो उतना कर स्थापन करे और महासमुद्र में निश्चित कर स्थापन नहीं हो सकता, किन्तु जैसा अनुकूल देखे कि जिससे राजा और बड़े-बड़े नौकाओं के समुद्र में चलानेवाले दोनों लाभयुक्त हों, वैसी व्यवस्था करे।

परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि जो कहते हैं कि प्रथम जहाज़ नहीं चलते थे, वे झूठे हैं और देश-देशान्तर, द्वीप-द्वीपान्तरों में नौका से जानेवाले अपने प्रजास्थ पुरुषों की सर्वत्र रक्षा कर उनको किसी प्रकार का दुःख न होने देवे ॥३॥

राजा प्रतिदिन कर्मों की समाप्तियों को, हाथी, घोड़े आदि वाहनों को, नियत लाभ और खरच, 'आकर'=रत्नादिकों की खानें और 'कोष'=खजाने को देखा करे ॥४॥

राजा इस प्रकार सब व्यवहारों को यथावत् समाप्त करता-कराता हुआ सब पापों को छुड़ाके परमगति=मोक्षसुख को प्राप्त होता है ॥५॥

[अनुक्त विषयों में राजसभा नियम बनावे]

प्रश्न—संस्कृतविद्या में पूरी-पूरी राजनीति है, वा अधूरी ?

उत्तर—पूरी है, क्योंकि जो-जो भूगोल में राजनीति चली और चलेगी, वह सब संस्कृतविद्या से ली है। और जिनका प्रत्यक्ष लेख नहीं है, उनके लिए—**'प्रत्यहं लोकदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः'** मनु० ८।३। जो-जो नियम राजा और प्रजा के सुखकारक और धर्मयुक्त समझें, उन-उन नियमों को पूर्णविद्वानों की राजसभा बाँधा करे।

[बाल तथा बहुविवाह सर्वथा बन्द हों]

परन्तु इसपर नित्य ध्यान रक्खें कि जहाँ तक बन सके, वहाँ तक बाल्यावस्था में विवाह न करने देवें। युवावस्था में भी विना प्रसन्नता के विवाह न करना-कराना और न करने देना। ब्रह्मचर्य का यथावत् सेवन करना-कराना। व्यभिचार और बहु-विवाह को बन्द करें कि जिससे शरीर और आत्मा में पूर्ण बल सदा रहे, क्योंकि जो केवल आत्मा का बल अर्थात् विद्या-ज्ञान बढ़ाते जाएँ और शरीर का बल न बढ़ावें, तो एक ही बलवान् पुरुष सैकड़ों ज्ञानी और विद्वानों को जीत सकता है और जो केवल शरीर ही का बल बढ़ाया जाए आत्मा का नहीं, तो भी राज्यपालन की उत्तम व्यवस्था विना विद्या के कभी नहीं हो सकती। विना व्यवस्था के सब आपस में ही फूट-टूट, विरोध, लड़ाई-झगड़ा करके नष्ट-भ्रष्ट हो जाएँ, इसलिए सर्वदा शरीर और आत्मा के बल को बढ़ाते रहना चाहिए।

https://t.me/arshlibrary

[व्यभिचार और विषयासक्ति का त्याग]

जैसा बल और बुद्धि का नाशक-व्यवहार व्यभिचार और अतिविषयासक्ति है, वैसा और कोई नहीं है। विशेषतः क्षत्रियों को दृढ़ाङ्ग और बलयुक्त होना चाहिए, क्योंकि जब वे ही विषयासक्त होंगे, तो राज्यधर्म ही नष्ट हो जाएगा।

[जैसा राजा वैसी उसकी प्रजा]

और इसपर भी ध्यान रखना चाहिए कि **'यथा राजा तथा प्रजा'**[1] जैसे राजा होता है, वैसी ही उसकी प्रजा होती है, इसलिए राजा और राजपुरुषों को अति उचित है कि कभी दुष्टाचार न करें, किन्तु सब दिन धर्म-न्याय से वर्त्तकर सबके सुधार का दृष्टान्त बनें।

यह संक्षेप से राजधर्म का वर्णन यहाँ किया है। विशेष **वेद**, **मनुस्मृति** के सप्तम-अष्टम-नवम अध्याय में, और **शुक्रनीति** तथा विदुरप्रजागर और **महाभारत शान्तिपर्व** के राजधर्म और आपद्धर्म आदि पुस्तकों में देखकर पूर्ण राजनीति को धारण करके **माण्डलिक अथवा सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य करें** और यही समझें कि— **'वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम'** यह यजुर्वेद[2] का वचन है। हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा, और परमात्मा हमारा राजा हम उसके किंकर=भृत्यवत् हैं। वह कृपा करके अपनी सृष्टि में हमको राज्याधिकारी करे, और हमारे हाथ से अपने सत्य-न्याय की प्रवृत्ति करावे।

अब आगे ईश्वर और वेद-विषय में लिखा जाएगा॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे

सुभाषाविभूषिते राजधर्मविषये षष्ठः

समुल्लासः सम्पूर्णः ॥६॥

वयं प्रजापतेः— यह यजुर्वेद (१८।२६) का वचन है जिसमें 'वयम्' पद अध्याहृत है। साम्राज्यवाद के नाम से ही लोगों को घृणा है। वास्तव में उसका वर्त्तमान रूप इतना घिनौना है कि उससे घृणा हो जाना स्वाभाविक है। उसका काम निर्बल राष्ट्रों का शोषण और उत्पीड़न है, किन्तु ग्रन्थकार द्वारा प्रतिपादित मनुष्यमात्र के लिए कल्याणकारी है। ऐसे साम्राज्य का सम्राट् अपने-आपको परमेश्वर का प्रतिनिधि न मानकर उसका 'किंकर या भृत्य' मानता है। गुरुगोविन्दसिंह के **'हम हैं परम पुरुष के दासा'** इन शब्दों में वही पवित्र भावना है। अपने को सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी परमेश्वर का नौकर माननेवाला क्या कभी अन्याय, अत्याचार, शोषण अथवा दमन करने का साहस कर सकता है? वह तो अपने स्वामी को प्रसन्न करने के लिए सदा उसकी सन्तान=प्रजा को सुखी करने के लिए प्रयत्नशील रहेगा। वास्तविक अर्थों को भूल जाने पर भी रुढ़ि के रूप में यह भावना हिन्दू राज्यों में 'राज्य के देवता' (जैसे उदयपुर में एकलिंग महादेव) के रूप में आज भी विद्यमान है।

---

१. चाणक्य नीतिदर्पण १३।८॥ (भार्गव पुस्तकालय, काशी)।

२. यजुः० १८।२६॥ 'वयं' पद अध्याहृत है।

ArshLibrary

https://t.me/arshlibrary

अथ सप्तमसमुल्लासारम्भः

[अथेश्वरवेदविषयं व्याख्यास्यामः]

[ईश्वर के गुणों का वर्णन]

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥१॥

—ऋ० मं० १ । सूक्त १६४ । मं० ३९ ॥

ऋचो अक्षरे—इस मन्त्र पर ग्रन्थकार का भाष्य—

(ऋचः) ऋग्वेदादेः (अक्षरे) नाशरहिते (परमे) प्रकृष्टे (व्योमन्) व्योम्नि व्यापके परमेश्वरे (यस्मिन्) (देवाः) पृथिवीसूर्यलोकादयः (अधि) (विश्वे) सर्वे (निषीदन्ति) (यः) (तत्) ब्रह्म (न वेद) न जानाति (किम्) ऋचा (वेदचतुष्टयेन) (करिष्यति) (ये) (इत्) एव (तत्) (विदुः) जानन्ति (ते) (इमे) (समासते) सम्यगासते ।

यह ऋचा अक्षर-ब्रह्म की है । यास्काचार्य ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

(**ऋचः यस्मिन् परमे व्योमन् अक्षरे**) ऋग्वेदादि से प्रतिपादित जिस सर्वोत्कृष्ट ओम्-वाच्य ब्रह्म में (**विश्वे देवा अधिनिषेदुः**) सूर्य, चन्द्र आदि सब देव आधेयरूप से स्थित हैं, (**यः तत् न वेद**) जो उसे नहीं जानता (**ऋचा किं करिष्यति**) वह ऋग्वेदादि से क्या करेगा ? अर्थात् उसको वेदाध्ययन से क्या लाभ होगा ? (**ये तत् विदुः**) परन्तु जो उस अक्षर को जानते हैं (**ते इमे इत् समासते**) वे विद्वान् ऋग्वेदादि के द्वारा ओम् पदवाच्य ब्रह्म को प्राप्त करते हैं ।

विद्वानों ने अक्षर के भिन्न-भिन्न तीन अर्थ माने हैं—

(१) शाकपूणि कहता है कि ओम् पदवाच्य ब्रह्म 'अक्षर' है । ऋग्वेदादि सब इसी सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वरक्षक अक्षर में स्थित हैं और इसीलिए नाना देवतावाले सब मन्त्रों का वर्ण्य विषय यही 'अक्षर' है, अर्थात् ओम् पदवाच्य ब्रह्म ही चारों वेदों का प्रतिपाद्य है । अतएव अग्नि, वायु, आदित्य, अश्विनौ आदि सब देवताओं से एक वही अभिप्रेत है । ब्राह्मण में कहा है कि यह ओम् पदवाच्य ब्रह्म ही वह अक्षर है जो सम्पूर्ण त्रयीविद्या का प्रतिनिधिरूप है ।

इसी प्रकार कठोपनिषद् में कहा है—**''सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति..... तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्'', एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम् । एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।** —कठ० १५-१६

https://t.me/arshlibrary

एवं अक्षर को ओम् पदवाच्य मानकर मन्त्रार्थ कर दिया गया ॥१०॥

आदित्य इति पुत्रः शाकपूणेः । एषर्ग् भवति, यदेनमर्चन्ति । तस्य यदन्यन्मन्त्रेभ्यस्तदक्षरं भवति । रश्मयोऽत्र देवा उच्यन्ते, य एतस्मिन्नधिनिषण्णाः—इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—**शरीरमत्र ऋगुच्यते, यदनेनार्चन्ति । तस्य यदविनाशिधर्म तदक्षरं भवति । इन्द्रियाण्यत्र देवा उच्यन्ते, यान्यस्मिन्नधिनिषण्णानि**—इत्यात्मप्रवादाः ॥११॥

(२) शाकपूणि का पुत्र 'अक्षर' का अर्थ आदित्य करता है । यह आदित्य ही ऋक् है, यतः इसकी पूजा करते हैं । इसी तरह 'ऋच्' धातु से आदित्यवाची 'अर्क' शब्द सिद्ध होता है । उस आदित्य का जो अवयवों से भिन्न सम्पूर्ण रूप है, वह 'अक्षर' है । एवं इससे विदित होता है कि प्रस्तुत मन्त्र में आदित्यावयव 'ऋक्' हैं, और आदित्य 'अक्षर' है । इस पक्ष में 'देव' रश्मियाँ है । एवं मन्त्रार्थ इस प्रकार होगा—

(**यस्मिन् परमे व्योमन् अक्षरे**) जिस उत्कृष्ट और सर्वरक्षक आदित्य में (**ऋचः विश्वे देवाः उपनिषेदुः**) सम्पूर्ण आदित्यावयव और सब रश्मियाँ अधिनिहित हैं, अर्थात् जिस आदित्य का प्रकाश तथा ताप आदि अपना है, और जिसमें चन्द्रादि लोकों की प्रकाशक किरणें विद्यमान हैं, (**यः तत् न वेद**) जो उस आदित्य के विज्ञान को नहीं जानता (**ऋचा किं करिष्यति**) वह आदित्यावयव से क्या करेगा ? अर्थात् वह सूर्य के प्रकाश और ताप आदि से कोई विशेष लाभ नहीं उठा सकता । (**ये तत् विदुः**) अपितु जो विद्वान् उस आदित्य को जानते हैं, (**ते इमे समासते**) वे रोग आदिकों से रहित होकर सम्यक्तया चिरकाल तक जीवित रहते हैं । यह मन्त्र का अधिदैवत अर्थ है ।

(३) अध्यात्म में अर्थ इस प्रकार होगा—जिस उत्कृष्ट और सर्वरक्षक जीवात्मा में सब मनुष्य—शरीर और सब इन्द्रियाँ अधिनिहित हैं, जो उस आत्मा को नहीं जानता, वह इस शरीर को धारण करके क्या करेगा ? अर्थात्—ऐसे मूढ मनुष्य का शरीरधारण करना नितान्त निष्फल है, परन्तु जो इस आत्मा को जानते हैं वे जन्म-मरण के आवर्त्तमान चक्र से छूटकर मोक्षलाभ करते हैं ।

इस पक्ष में मनुष्य शरीर 'ऋक्' कहलाता है, क्योंकि इसी के द्वारा परमेश्वर की उपासना की जा सकती है, अन्य किसी प्राणिशरीर से नहीं । उस शरीर का सम्बन्धी जो अविनाशी धर्मवाला है, वह 'अक्षर' है और इन्द्रियाँ 'देव' कहलाती हैं । यह पक्ष आत्मवादियों का है ॥११॥ **'अक्षरं न क्षरति क्षीयते वाऽक्षरं भवति ।'**

अपने ऋग्वेदभाष्य में इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार लिखते हैं—

"जो सब वेदों का परम प्रमेय पदार्थरूप और वेदों से प्रतिपाद्य ब्रह्म और जीव तथा कार्यकारणरूप जगत् है, इन सबका आधार अर्थात् ठहरने का स्थान आकाशवत् व्यापक परमात्मा और जीव तथा कार्यकारणरूप जगत् व्याप्य है, इसी से सब जीव आदि पदार्थ परमेश्वर में निवास करते हैं और जो वेदों को पढ़के इस प्रमेय को नहीं जानते वे वेदों से कुछ भी फल नहीं पाते और जो वेदों को पढ़के, जीव, कार्यकारणरूप जगत् और ब्रह्म को गुण-कर्म-स्वभाव से जानते हैं, वे सब धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध कर आनन्द प्राप्त करते हैं ।"

प्रत्येक वेदमन्त्र किसी-न-किसी देवता की स्तुति करता है, परन्तु वेदप्रतिपाद्य ये सब देवता एक महादेव की ओर संकेत करती हैं । निरुक्तकार कहते हैं—

"**महाभाग्याद्देवताया एक एवात्मा बहुधा स्तूयते**" (७।४)—अर्थात् देवता के अत्यन्त भाग्यशाली होने

https://t.me/arshlibrary

से एक ही देवता की अनेक प्रकार से स्तुति की जाती है। वह एक देवता कौन है ? इसका उत्तर देते हुए निरुक्त के परिशिष्ट में कहा है—**''अथैष महानात्मा सत्त्वलक्षणः तत्परं तद् ब्रह्म''**—अर्थात् वह महानात्मा पर (परमात्मा) है, वह ब्रह्म है। **'अग्निमीळे'** कहकर ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में उसी की स्तुति का उल्लेख हुआ है। वेदाध्ययन का मुख्य प्रयोजन तो अन्ततः ईश्वर-प्राप्ति है। समस्त ऋचाएँ उसी परम सत्ता का अवबोध कराने के लिए हैं। इसलिए ग्रन्थकार ने ऋ०भा०भू० के 'प्रतिज्ञाविषय' में कहा है—**'नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तत्यागो भवति'** —अर्थात् वेद के एक भी मन्त्र में उसके ईश्वरपरक अर्थ की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। हमें वेदमन्त्रों के पास इस पवित्र भाव के साथ जाना चाहिए कि वे हमें उस 'अक्षर' ब्रह्म के पवित्र चरणों में पहुँचाने में सहायक होंगे। यदि ऐसा नहीं होता तो वेद का पढ़ना व्यर्थ है। **'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति'** का यही अभिप्राय है।

एकेश्वरवाद—ईश्वर एक है—वह अद्वैत अर्थात् अद्वितीय है। अथर्ववेद (१३।४) में इसकी स्पष्ट घोषणा करते हुए कहा गया है—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। स एष एक एकवृदेक एव॥ (१६-२०)

अर्थात्—न वह दूसरा है,न तीसरा, न चौथा, न पाँचवाँ, न छठा, न सातवाँ, न आठवाँ, न नवाँ और न दसवाँ—वह तो एक ही है, सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्य वह एक ही है।

इसी प्रकार ऋग्वेद में उसके एक—अद्वितीय होने का उल्लेख करते हुए कहा गया है—**'न त्वदन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते'** (ऋक्० ७।३२-३३) अर्थात् हे भगवन् ! तुम जैसा न कोई दिव्य है और न पार्थिव है, न कोई हुआ है और न होगा।

परन्तु एक होने पर भी प्रकरणान्तर्गत उसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। इसमें ऋग्वेद (१।१६४।४६) की साक्षी है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

एक अग्निरूप ब्रह्म को विद्वान् लोग इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा आदि अनेक नामों से पुकारते हैं।

यजुर्वेद ३२।१ भी इसमें प्रमाण है। वहाँ कहा है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

वह पूर्णपुरुष ब्रह्म, अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, अप् तथा प्रजापति है।

ऐतरेयब्राह्मण (२।४१) के अनुसार भी **'चन्द्रमा वै ब्रह्म'** ब्रह्म का ही नाम चन्द्रमा है। मैत्रायण्युपनिषद् (६।८) में कहा है—

एष हि खल्वात्मेशानः शम्भुर्भवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसृड् हिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शान्तो विष्णुर्नारायणोऽर्कः सविता धाता सम्राडिन्द्र इन्दुरिति।

वह परमात्मा ही ईशान, शम्भु, भव, रुद्र, प्रजापति, विश्वसृट्, हिरण्यगर्भ, सत्य, प्राण, हंस, शान्त,

https://t.me/arshlibrary

विष्णु , नारायण, अर्क, सविता, धाता, सम्राट्, इन्द्र और इन्दु है ।

'सूर्यशतनाम' में भी **'इन्द्रो विवस्वान्, दीप्तांशुः शुचिः सौरिः शनैश्चरः'** कहकर इन्द्र, विवस्वान् आदि पदों से एक परमात्मा का उल्लेख किया है ।

कठोपनिषद् (५।८) के अनुसार **'तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते'** वही शुक्र, वही ब्रह्म और वही अमृत कहाता है ।

कैवल्योपनिषद् में भी आया है—

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्सोऽक्षरस्स परमः स्वराट् स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः (५।८)। वही ब्रह्मा है, वही विष्णु, रुद्र, शिव, अक्षर, परम और स्वराट् है ।

जैसे ऋग्वेद ने कहा —**'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** वैसे ही विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१२३।१३) ने अन्त में कह दिया—**'सर्वाण्येतानि नामानि परस्य ब्रह्मणः'** अर्थात्—ये सब नाम परब्रह्म के हैं ।

देव—ऋ०भा०भू० में 'वेदविषयविचार' के अन्तर्गत 'देव' शब्द का व्याख्यान ग्रन्थकार ने इस प्रकार किया है—

'देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा' (निरुक्त ७।१५) । दान देने से देव नाम पड़ता है और दान कहते हैं किसी वस्तु के विषय में अपने स्वामिपन को छोड़ते हुए दूसरे के स्वामिपन को उत्पन्न करना । दीपन कहते हैं प्रकाश करने को, द्योतन कहते हैं सत्योपदेश को । इनमें से दान का दाता मुख्य एक ईश्वर ही है जिसने जगत् को सब पदार्थ दे रक्खे हैं, तथा विद्वान् मनुष्य भी विद्यादि पदार्थों के देनेवाले होने से देव कहाते हैं । (दीपन) अर्थात् सब मूर्त्तिमान् द्रव्यों का प्रकाश करने से सूर्यादि लोकों का नाम देव है । (द्योतन) अर्थात् माता, पिता, आचार्य और अतिथि भी पालन, विद्या और सत्योपदेशादि के करने से देव कहाते हैं । वैसे ही सूर्यादि लोकों का भी जो प्रकाश करनेवाला है सो ही ईश्वर सब मनुष्यों को उपासना करने के योग्य इष्टदेव है, अन्य कोई नहीं । इसमें कठोपनिषद् का प्रमाण है कि—

'सूर्य, चन्द्रमा, तारे, बिजली और अग्नि ये सब परमेश्वर का प्रकाश नहीं कर सकते किन्तु इन सबका प्रकाश करनेवाला एक वही है, क्योंकि परमेश्वर के प्रकाश से ही सूर्य आदि सब जगत् प्रकाशित हो रहा है ।' इसमें यह जानना चाहिए कि ईश्वर से भिन्न कोई पदार्थ स्वतन्त्र प्रकाश करनेवाला नहीं है, इससे एक परमेश्वर ही मुख्य देव है ।

यास्क के अनुसार **'एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति'**—ये सब देव उस एक परम सत्ता या तत्त्व के विविध अङ्गों का प्रतिनिधित्व करते हुए अन्ततः एक ही परम सत्य का अवबोध कराते हैं । जिसमें जितना गुण है उसमें उतना ही देवत्व है । उन गुणों का उपयोग कर उनसे लाभ उठाना उनकी पूजा है, क्योंकि ये सब व्यवहारोपयोगी देवता हैं । उपास्यदेव तो केवल एक महादेव ही है जो अनेक शक्तियों के माध्यम से विविध रूप में इस लोक में व्याप्त है ।

बहुदेवतावाद के सन्दर्भ में बृहदारण्यकोपनिषद् (३।९) के अन्तर्गत विदग्ध और याज्ञवल्क्य का संवाद बड़ा महत्त्वपूर्ण है । विदग्ध ने पूछा—हे याज्ञवल्क्य ! संसार में देवता कितने मानने चाहिए ? याज्ञवल्क्य ने पहले तो कहा ३, फिर कहा ३०० और फिर कहा—३३०३ । इसपर असन्तुष्ट होकर विदग्ध ने फिर पूछा । याज्ञवल्क्य ने कहा ३३ । एक बार फिर पूछे जाने पर याज्ञवल्क्य ने पहले कहा ६, फिर कहा ३, फिर कहा २ । विदग्ध ने

https://t.me/arshlibrary

अन्तिम बार प्रश्न किया तो याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—एक। तब विदग्ध ने सबके नाम पूछे। याज्ञवल्क्य ने बताया कि ३३०३ की बड़ी संख्या तो देवों की और महादेव की संख्या बढ़ाने के लिए कही जाती है—'महिमान एव एषाम्'। वास्तव में ईश्वर एक ही है। तब विदग्ध ने पूछा—**'कतम एको देवः'** ? वह एक देव कौन है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—**'स ब्रह्म त्यदित्याचक्षते'** वह ब्रह्म है और 'वह' कहकर उसका बोध होता है। उसी एक महादेव के लिए यास्काचार्य ने लिखा है—**'महाभाग्यादेवताया एक एवात्मा बहुधा स्तूयते'** और उसी के लिए वेद ने कहा—**'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।'**

त्रयस्त्रिंशता०—तेंतीस देवताओं का संकेत करनेवाला यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

त्रयस्त्रिंशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत्। —यजुः० १४।३१

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—(प्रजापतिः) प्रजा का रक्षक (परमेष्ठी) सर्वव्यापक परमेश्वर (अधिपतिः) अधिष्ठाता (आसीत्) है। उसी के प्रभाव से (भूतानि) प्रकृति के परिणाम महत्तत्त्व के उपद्रव (अशाम्यन्) शान्त होते हैं। उस ईश्वर की महाभूतों के (त्रयस्त्रिंशता) तेंतीस गुणों से (अस्तुवत) स्तुति करो।

एतद्विषयक कुछ अन्य प्रमाण इस प्रकार हैं—

ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्। विदन्नह द्वितासनन्॥ —ऋ० ८।२८।१

अर्थ—(त्रिंशति) तीस और उससे (परः) अधिक (त्रयः) तीन अर्थात् तेंतीस (ये देवासः) जो देव हैं वे (बर्हिः) मेरे अन्तःकरण में (आसदन्) आसीन हों। वे (द्विता) सत् और असत् दोनों प्रकार का ज्ञान (विदन्) प्राप्त करें और (अह) निश्चितरूप से (असनन्) सुख देनेवाले हों।

इस मन्त्र का सायणाचार्यकृत अर्थ कि —'ये तेंतीस देवता हमारे यज्ञ में आकर कुशासनों पर बैठ हमारी हवि स्वीकार करें आदि' सर्वथा असंगत तथा हास्यास्पद है। पृथिवी आदि जड़ देवता न हमारे दिये आसनों पर समा सकते हैं और न भोजन कर सकते हैं।

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा।
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ॥
यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवानेके ब्रह्मविदो विदुः॥ —अथर्व० १०।७।२३,२७

अर्थ—(त्रयस्त्रिंशद् देवाः) तेंतीस देवता (यस्य निधिम्) जिसकी निधि की (सर्वदा रक्षन्ति) सदा रक्षा करते हैं, (तम् निधिम्) उस निधि को (अद्य) आज तक (कः वेद) कोई नहीं जान सका (यम्) जिस निधि की (देवाः) हे देवो (अभिरक्षथ) तुम रक्षा करते हो।

[निधि=जगत्। इस जगत् के रहस्य को कोई नहीं जानता। अथवा निधि=वेद। इसके रहस्य को भी आज तक किसी ने नहीं जाना। यथा—**'निधिपाः'** वेदनिधि का रक्षक ब्रह्मचारी (निरुक्त २।२।३,४) ॥२३॥]

(यस्य अङ्गे) जिसके शरीर में (त्रयस्त्रिंशद् देवाः) तेंतीस देवता (गात्रा=गात्राणि) अवयव के समान (विभेजिरे) बँटे हुए हैं (तान्) उन (त्रयस्त्रिंशद् देवान्) तेंतीस देवताओं को (एके) कोई-कोई (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी ही (विदुः) जानते हैं।

वेदों में अनेकत्र देवताओं की तेंतीस संख्या उपलब्ध है, परन्तु इनके नामों का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता। पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ और पं० आर्यमुनि ने अपने ऋग्वेदभाष्य में ऋग्वेद के पूर्वोद्धृत मन्त्र

https://t.me/arshlibrary

(८।२८।१) का अर्थ करते हुए लिखा है कि "ये तेंतीस देव इन्द्रिय हैं—हस्त, पाद, मूत्रेन्द्रिय, मलेन्द्रिय और मुख ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ और नेत्र, कर्ण, घ्राण, रसना और त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और मन एकादश इन्द्रिय कहलाती है। उत्तम, मध्यम और अधम भेद से ये तीन प्रकार के देव ही तेंतीस प्रकार के हैं। इनको वश में रखने व उचित कर्म में लगाने से ही मानव योगी, ऋषि, मुनि, कवि और विद्वान् होता है।"

यजुर्वेद के मन्त्र का व्याख्यान शतपथब्राह्मण (८।४।३।१६) में उपलब्ध है। वहाँ इन तेंतीस की गणना इस प्रकार की गयी है—**'त्रयस्त्रिंशतास्तुवत दशहस्त्यांगुलयो दशपाद्या दश प्राणा द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयस्त्रिंशः'**। हाथ-पैरों की बीस अंगुलियों, दश प्राणों, दो प्रतिष्ठा (चरणों) और एक आत्मा से स्तुति करो। यही शरीर के मुख्य घटक हैं। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड के भी ३३ घटक कहे जाते हैं। शतपथ के इस भाष्य से यजुर्भाष्य में ग्रन्थकर्त्ता का अर्थ भिन्न होते हुए भी उनमें परस्पर विरोध नहीं है। **'अनेकार्थका हि मन्त्राः'**—एक ही मन्त्र के अनेक अर्थ हो सकते हैं। किसी विषय में अनेकविध व्याख्यान विरोध नहीं कहलाता। आगे शतपथ में (१४।६।९) नामोल्लेखपूर्वक ३३ देवताओं की गिनती की है, जो ग्रन्थकार को सर्वथा मान्य है।

३३ देवताओं के सम्बन्ध में सर्वाधिक प्रामाणिक बृहदारण्यकोपनिषद् का वह सन्दर्भ यह है—

"महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्वेव देवा इति। कतमे ते त्रयस्त्रिंशदिति ? अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादश आदित्याः, त एकत्रिंशत्, इन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशत् इति॥ कतमे वसव इति ? अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि च, एते वसवः। एतेषु हीदं वसु सर्वं हितमिति, तस्माद् वसव इति॥ कतमे रुद्रा इति ? दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः। ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्ति, अथ रोदयन्ति। तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति॥ कतम आदित्या इति ? द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य, एते आदित्याः, एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति। ते यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति॥ कतम इन्द्रः, कतमः प्रजापतिरिति ? स्तनयित्नुरेवेन्द्रः, यज्ञः प्रजापतिरिति॥"
अर्थात्—ये उनकी महत्ताप्रदर्शक हैं। देव तो तेंतीस ही हैं। (प्रश्न) वे तेंतीस कौन-से हैं ? (उत्तर) आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य— ये इकतीस, प्रजापति और इन्द्र मिलकर तेंतीस। (प्रश्न) वसु कौन से हैं ? (उत्तर) अग्नि, पृथिवी (पृथिवी का अर्थ जलसहित पृथिवी है, अतः 'पृथिवी' के आगे 'जल' न होकर 'द्यौ' होना चाहिए। इसी प्रकार 'आकाश' के स्थान में 'अन्तरिक्ष' होना चाहिए। हमने ऊपर मूल पाठ में वैसा ही कर दिया है। ऐसा बृहदारण्यक के उद्धृत सन्दर्भ के अनुकूल है, उसमें 'जल' और 'आकाश' नहीं हैं।] वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र ये आठ वसु हैं। यतः इनमें सब वसु, धन और वास रक्खा है, अतः ये वसु हैं। (प्रश्न)—रुद्र कौन हैं ? (उत्तर) —देह में ये दस प्राण और ग्याहरवाँ आत्मा। ये जब मरणधर्मा शरीर से निकलते हैं तो ये रुलाते हैं, यतः ये रुलाते हैं, अतः रुद्र कहाते हैं। (प्रश्न) —आदित्य कौन हैं ? (उत्तर) —संवत्सर के जो १२ मास हैं, वही आदित्य हैं। ये ही सबको ले-जाते हैं, यतः ये सबको ले-जाते हैं, अतः आदित्य कहाते हैं। (प्रश्न) —इन्द्र कौन है और प्रजापति कौन है ? (उत्तर)— बिजली इन्द्र है, प्रजापति यज्ञ है। यहाँ पृथिवी की भाँति अन्य लोक-लोकान्तरों में भी प्राणियों के बसने की बात कही गयी है, इसका विस्तृत विवेचन अष्टम समुल्लास के अन्त में किया गया है।

रुद्र=प्राण—शरीरगत प्राण बाह्य वायु के आहार से पुष्ट होकर ही जीवन का पोषक है। यदि इसे अपने उत्पादनकारणरूप बाह्य वायु का आहार न मिले तो यह अपने उपादान से मिलने के लिए बाहर

https://t.me/arshlibrary

निकलने के लिए छटपटाने लगता है। प्राण जीवन का मूल आधार है और शरीर में इसके रहते ही भोग और अपवर्ग का सम्पादन सम्भव है। शरीर की सब चेष्टाएँ प्राण पर अवलम्बित हैं। सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रियों के सब व्यापार बन्द हो जाने पर भी प्राण अपना कार्य करता रहता है। सबके सो जाने पर भी वह जागता रहता है—**'ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार'** (अथर्व० ११।४।२५)। वायु की परिणत होती हुई एक अवस्था का नाम प्राण है। मानवशरीर में स्थानभेद से प्राण की दस विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति होती है और स्थानभेदानुकूल ही वह कार्य करता है। प्राण की अपनी ये अवस्थाएँ ही **'पञ्चप्राण'** और उनकी भी परिणत अवस्थाएँ **'उपप्राण'** हैं। प्राण और उपप्राण ये सब मिलकर शरीर में जीवन का प्रसार करते रहते हैं। शरीरगत प्राण का उपादानकारण वायु महाभूत है। उसी के शरीर में प्राणभाव को प्राप्त होने पर शेषभूत उपादान के रूप में सहकारी बनते हैं। पञ्चप्राण के स्थानभेद के सम्बन्ध में कहा है—

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः।
उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः॥

प्राण-अपान का वर्णन करते हुए वेद में लिखा है—

प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते।
यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते॥ —अथर्व० ११।४।१३

प्राण और अपान इन दोनों को वेद में 'व्रीहि' और 'यव' नाम से पुकारा है और जीवनप्रद होने से प्राण की 'अनड्वान्' संज्ञा है। यव में प्राण स्थित हैं और अपान व्रीहि कहाता है। यवरूप प्राणशक्ति शरीर को बनाये रखती है और व्रीहिरूप अपान शक्ति उसे बढ़ाती व पुष्ट करती है।

शरीर में हृदयस्थ प्राण सर्वोपरि हैं। इसी के नेतृत्व में फुफ्फुस और हृदय ठीक-ठीक कार्य करते हैं कारणशरीर और आत्मा की संयुक्त शक्ति का यही मुख्य आधार है। इसके अभाव में स्थूल शरीर का अस्तित्व नहीं रह सकता, अतः इस देहरूपी नगरी में हृदयस्थ प्राणों का सबसे अधिक महत्त्व है।

प्राण द्वारा सम्पादित श्वसन क्रिया ही बालक को जीवित रखती है। इसी से शरीर में चेतना बनी रहती है। वही शरीर के अंग-प्रत्यंग की पूर्ण वृद्धि का कारण बनता है। ज्यों-ज्यों शरीर के अंगों का विकास होता जाता है त्यों-त्यों यह प्राण समस्त शरीर में विभिन्न कार्यों के अनुकूल विभक्त होता जाता है। शरीर में कार्यभेद से मुख्य प्राण ही दस प्रकार का हो जाता है। स्थानभेद और कार्यभेद से अपेक्षित क्रियाओं को करते हुए इसकी दस संज्ञाएँ हो जाती हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय। जब तक शरीर में प्राण रहता है तब तक इसमें जीवन बना रहता है। इसकी उपस्थिति में ही मांसल शरीर को जीवित माना जाता है। प्राण के अभाव में शरीर से दुर्गन्ध आने लगती है। साधारणतया बाहर से भीतर वायु लेने को प्राण तथा भीतर से वायु को बाहर निकालने को अपान समझा जाता है। इसके वितरीत ग्रन्थकार ने भीतर से वायु को बाहर निकालने को प्राण और बाहर से वायु को भीतर लेने को अपान माना है (देखें यजुर्भाष्य २२।२।२३; रा०ला०क० ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित ऋ०भा०भू० पृष्ठ ११७ तथा पत्रव्यवहार (द्वि०सं० पृष्ठ ६६)। प्राचीन शास्त्रों से अपिरिचित जन ग्रन्थकार के इन अर्थों को अशुद्ध मानते हैं! मैत्रायणी आरण्यक में स्पष्ट लिखा है—

'योऽयमूर्ध्वमाक्रामत्येष वाव स प्राणः, अथ योऽयमवाङ् संक्रामत्येष वाव सोऽपानः' (२।६)। इसी अर्थ को सायणाचार्य ने अपने अथर्ववेद (१८।२।४६) के भाष्य में माना है—**'मुखनासिकाभ्यां बहिर्निस्सरन् वायुः**

https://t.me/arshlibrary

प्राणः अन्तर्गच्छन्नपानः' । यही प्राचीन वाङ्मयसम्मत है ।

अपानः—मानवशरीर में अपानवायु का स्थान नाभि से लेकर गुदापर्यन्त है । इसके सब कार्य प्रधानरूप से गुदापर्यन्त और गौणरूप से पादपर्यन्त होते हैं । उपस्थ और गुदा इन्द्रियाँ इसी अपान के आश्रित रहकर अपना कार्य करती हैं । गर्भस्थ बालक का पोषण भी इसी अपान प्राण के द्वारा होता है । गुर्दे भी इसी अपान के द्वारा अपना कार्य करते हैं । मल-मूत्र और रज-वीर्य का विसर्जन भी इसी के द्वारा होता है । कुण्डिलिनी शक्ति का निवास भी इसी अपान प्राण में है । अपान में पृथिवी तत्व मिला रहने से इसमें गुरुत्व धर्म आ जाता है । इसी कारण मल-मूत्र, रज-वीर्य तथा गर्भस्थ बालक का विसर्जन नीचे की ओर होता है ।

समान—नाभिस्थ होकर सर्वत्र शरीर में रस पहुँचानेवाला समान प्राण है । इसका स्थान नाभिस्थ गर्त है । पाचनशक्ति के लिए यह परमावश्यक है । सभी खाद्य-पेय पदार्थों के सार को समान प्राण ही सब ग्रन्थियों में विभक्त करता है । ऊपर व नीचे के समान प्राण मिलकर सब प्रकार के जीवन का निर्माण व रक्षण करते हैं । इन्हीं के द्वारा सर्वत्र आहार पहुँचाया जाता है । समान प्राण अपने आश्रित ग्रन्थियों की सहायता से कई प्रकार के रसों का निर्माण कर शरीर को प्रदान करता है । अग्नि, जल, वायु आदि जिनका सेवन हम मुख, नासिका आदि से करते हैं, उन्हें ग्रहण करके सम्बन्धित ग्रन्थियों द्वारा उनका सारतत्व लेकर सम्पूर्ण शरीर में विभक्त कर देता है । यह यकृत् में क्षार का निर्माण करता है, आमाशय में खाद्य तथा पेय पदार्थों को मिलाकर पीसता और तरल बनाकर पक्वाशय में उनका परिपाक करता है और अन्ततः रस और मल के रूप में परिणत करके छोटी और बड़ी आँतों में बाँट देता है । यदि समान प्राण ठीक-ठीक कार्य न करे और आवश्यक आहार न मिले तो थोड़ी देर में मृत्यु हो जाना अवश्यम्भावी है ।

उदान—कण्ठ से आविर्भूत होकर सिर में प्रविष्ट होनेवाले प्राण का नाम उदान है । ग्रन्थकार के मत में कण्ठस्थ अन्न-पान इसी के द्वारा खींचा जाकर बल-पराक्रम बढ़ाने में सहायक होता है ।

स्पन्दयत्यधरं वक्त्रं गात्रनेत्रप्रकोपनः ।
उद्वेजयति मर्माणि उदानो नाम मारुतः ॥

कण्ठ के माध्यम से जो कार्य होते हैं वे सब उदान के द्वारा ही होते हैं । सिर और वक्षस्थल से उदान का विशेष सम्बन्ध है, क्योंकि यह उनके कार्यों में सहायक रहता है । यह प्राण का उत्कर्षण करके श्वसन क्रिया कराता है । उदान के गमनागमन के अभाव में चेतन आत्मा भी निष्क्रिय हो जाता है । चेतना की अनुभूति इसी के द्वारा होती है । हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध भी यही बनाये रखता है । उपप्राणों को बल और नीचे के प्राणों को शक्ति भी यही प्रदान करता है । बाहर के पदार्थों को निगलने और अन्दर से धकेलकर बाहर फैंकने की शक्ति भी इसी में है । थूक को अन्दर ले जाना, बाहर दूर फैंकना, वमन करना, आमाशय से वमन को ऊपर ले जाना, प्राण को हृदय तक आकर्षित करना, हृदय से मस्तिष्क तक प्राण को ले-जाना, हृदय की ज्योति को मस्तिष्क में और मस्तिष्क की ज्योति को हृदय में ले-जाना—ये सब इसी के कार्य हैं । पाँचों उपप्राण इसी शक्ति से कार्य करते हैं । इसी के द्वारा शरीर में ज्योति का संचार होता है । इसपर अधिकार हो जाने से योगी को भूख, प्यास, निद्रा आदि नहीं सतातीं । स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीरों का पारस्परिक सम्बन्ध यही स्थापित किये रहता है ।

व्यान—शरीर की रचना में सर्वप्रथम आकाश भूत सहकारी बनता है । आकाश से व्याप्त शरीर के सभी भागों में व्यानरूप प्राण समा जाता है और शरीरभर में सर्वत्र अपना कार्य सम्पादन करता है । समस्त

https://t.me/arshlibrary

शरीर में व्याप्त होने से ही उसकी 'व्यान' संज्ञा है। शरीर में चेष्टा आदि कर्म जीव इसी के द्वारा करता है। यह ज्ञानवाहक, कर्म या गतिवाहक सूक्ष्म तन्तुओं या नाड़ियों को गति प्रदान करता है। प्राण के साथ मिलकर यह नाड़ियों में कम्पन, धड़कन, प्राण और रक्त का संचार करता रहता है। यह समस्त प्राणों-उपप्राणों के कार्यों में सहायक रहकर कार्य करता है। जब सूक्ष्म शरीर आकाश में गमन करता है तो व्यान ही उसे गति प्रदान करता है।

नाग—नाग उपप्राण का निवास मुख में है। उद्‌गार (डकार) और हिचकी पैदा करना इसका काम है। प्राण का मुख द्वारा निकलना ही उद्‌गार है। जब खान-पान ठीक रहता है और पाचनशक्ति सामान्य रहती है तब नाग प्राण की प्रधानता नहीं रहती। उस समय यह शान्त रहता है। आमाशय में खराबी हो जाने पर जब वायु या प्राण को वहाँ भ्रमण हेतु अपेक्षित स्थान नहीं मिलता तो वह बाहर निकलना चाहता है। उसके निकलने के दो ही द्वार हैं—मुख और गुदा। जो वायु मुख से निकलता है वह डकार और जो गुदा से निकलता है वह अपानवायु कहाता है। इस प्रकार उदरदोष के कारण यह विकराल रूप धारण करके उद्‌गार और हिचकी को उत्पन्न करता है। उदान प्राण के साथ इसका विशेष सम्बन्ध है। उद्‌गार और हिचकी के समय यह प्राण को कम्पायमान कर देता है। जब यह अधिक कुपित हो जाता है तब इसका विशेष प्रभाव हृदय से मस्तिष्क तक पड़ता है। उद्‌गार के समय यह नीचे से उदान को भी खींच लाता है और हिचकी के समय यह मनुष्य को परेशान कर देता है।

कूर्म—इस प्राण का निवास नेत्र में है। यह पलकों को खोलने और बन्द करने का कार्य करता है। इसके धर्म संकोच और विकास हैं। निमेषोन्मेष-काल में यह नेत्रों में संकोच और विकास करता रहता है। इसके ये स्वाभाविक धर्म नाग प्राण में देखने में आते हैं। अन्य प्राणों और उपप्राणों से यह निमेषोन्मेष का कर्म भिन्न प्रकार का है और विशेष भी है। त्राटक काल में ये धर्म विशेष प्रयत्न द्वारा प्रसुप्त-से हो जाते हैं और निद्रा, स्वप्न या समाधि की अवस्था में स्थगित रहते हैं। जाग्रदावस्था में ये अपना कार्य निरन्तर करते रहते हैं।

कृकल—कृकल उपप्राण का निवास कण्ठ में है। इसका मुख्य कार्य जम्भाई लाना है। यह आलस्य और प्रमाद को दूर करती है। कण्ठ और मुख का विस्तार करती है। कभी-कभी स्मरणमात्र से जम्भाई आने लगती है। कभी-कभी दूसरों को जम्भाई लेते देखकर भी। आलस्य और प्रमाद के समय विशेषरूप से जम्भाई आती है। कण्ठकूप में विशेष संयम द्वारा यथोचित अभ्यास करने से भूख-प्यास की निवृत्ति होती है। कृकल प्राण के प्रदेश में उदान प्राण का स्थान है। समाधि की अवस्था में जम्भाई का क्षोभ नहीं रहता। उदान के सहयोग से यह शान्त रहता है।

देवदत्त—यह नासिकास्थानीय है। इसका कार्य मुख्यतया छींक लाना है। छींक आने से मस्तिष्क हल्का हो जाता है। कण्ठ और मस्तिष्क का रेशा निकल जाता है और सुख अनुभव होता है, किन्तु इसकी अति परेशानी का कारण बन जाती है। देवदत्त प्राण श्वास-प्रश्वास की गति में सहायक होता है। धारणा, ध्यान और समाधि में विक्षेप नहीं होने देता तथा मस्तिष्क को शुद्ध, पवित्र और हल्का बनाए रखता है।

धनञ्जय—यह सर्वदेहव्यापी है और क्षोभ पैदा करनेवाला है। चोट लगने पर सूजन हो जाना धनञ्जय उपप्राण का ही कार्य है। सर्वव्यापी होने से धनञ्जय त्वचा के साथ संयुक्त रहता है। शरीर के भीतर की मांसपेशियों की तथा नस-नाड़ियों में भी यह रहता है, क्योंकि इन सबपर स्पर्श की प्रतीति होती है और आधि-व्याधि या आघात से इनमें शोथ भी हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि धनञ्जय प्राण समूचे शरीर में व्याप्त

https://t.me/arshlibrary

है। धनञ्जय के कारण शरीर में क्षोभ जीवनकाल में ही होता है। मृत्यु होते ही धनञ्जय समस्त प्राणों-उपप्राणों के साथ शरीर से निकल जाता है, अतः मृत शरीर में शोथ होना या उसका फूल जाना बाह्य वायु अथवा गर्मी के कारण हो सकता है। कौषीतकि उपनिषद् में स्पष्ट कहा है—**'सह ह्येतावस्मिञ्छरीरे वसतः सहोत्क्रामतः'** (कौ० ब्रा० उप० ३।४)। आत्मा और प्राणसमूह शरीर में साथ रहते और साथ ही उत्क्रमण करते हैं।

जब आत्मा शरीर से विदा होता है तो प्राण शरीर से उत्क्रमण करते हैं। हमारे शरीर में ७२ करोड़ ७२ लाख नाड़ियां हैं—**'हृदि ह्येषात्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रति शाखानाडीसहस्राणि भवन्ति'** (प्रश्न उप० ३।६) अर्थात् १०१X१००X७२०००=७२७२००००० । इन्हीं नाड़ियों से प्राण संचरण करते हैं। मरणवेला में जब प्राण इन नाड़ियों में से एक साथ निकलते हैं तो समूचे शरीर में एक विचित्र प्रकार का तनाव पैदा होता है। शरीर का एक-एक अंग-प्रत्यंग टूटने लगता है। ऐसे समय में असह्य वेदना का अनुभव होना अवश्यम्भावी है—मानों सहस्रों बिच्छू एकसाथ काट रहे हों। उस समय प्राणी भीतर-ही-भीतर रोता है। कभी-कभी आँसुओं की एक-दो बूँदें आँखों से निकलती भी देखी जाती हैं। जब मृत्यु के कारण घर-द्वार, धन-सम्पत्ति, बाल-बच्चे, सगे-सम्बन्धी यहाँ तक कि जन्म के साथी शरीर आदि सभी को एक साथ छोड़ना पड़ रहा हो तो मरणोन्मुख प्राणी के कष्ट की सहज ही कल्पना की जा सकती है। उस अवस्था में मनुष्य चिल्ला उठता है—**'प्राण ! मा मत् पर्यावृतः'** (अथर्व० ११।४।२६)—हे प्राण ! मुझसे दूर मत हो। जब किसी के घनिष्ठ मित्र, सम्बन्धी या सन्तान की मृत्यु होती है तो उसपर दुःख का पहाड़ टूट पड़ता है। तब सभी बुरी तरह रोते-बिलखते रह जाते हैं। जब एक के वियोग में सबकी यह हालत होती है तो सबके वियोग में एक की क्या हालत होती होगी ? यह मृत्यु-भय का क्लेश, न केवल मानव में अपितु कृमि-कीट-पतंग आदि क्षुद्र जन्तुओं तक में समानरूप से विद्यमान रहता है। जैसे ही किसी के सामने मृत्यु का संकट आता है, वैसे ही वह उससे बचने की चेष्टा में प्रवृत्त हो जाता है। अतएव प्राणों तथा जीव की 'रुद्र' संज्ञा है—**'रुदिर् अश्रुविमोचने'** (धातुपाठ) **'रोदेर्णिलुक् च** (उणादि० २।२२) —**रुद्राश्च एकादश स्मृताः। पापिनो रोदयतीति ईश्वरः** (उणादि० २।२२ ग्रन्थकार)। ग्यारहवें रुद्र जीवात्मा पर इसी समुल्लास में आगे विचार किया है।

'आङ्' पूर्वक **'दा'** धातु से **'यक्'** प्रत्ययान्त **'आदित्य'** शब्द सिद्ध होता है। पाणिनि सूत्र ७।४।४६ से **'दद्'** आदेश होता है। निरुक्त २।१३ में आदित्य शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा है—**'आदित्यः कस्मात् ? आदत्ते रसान्, आदत्ते भासं ज्योतिषाम्, आदीप्तो भवति।' 'सूर्य अदितेः पुत्रः'** अदिति अर्थात् अविनाशी प्रकृति या ईश्वर का पुत्र कहाता है। सूर्योदय होने पर अन्य नक्षत्रों की ज्योतियाँ हरण कर ली जाती हैं। पृथिवी पर के रस आग्नेय प्रभाव से सूक्ष्म होकर रश्मियों के साथ रश्मिसंहार के समय आदित्यमण्डल में पहुँचते हैं। रश्मिसमूह ही **'हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति'** (ऋक्० १।१६४।४७)—विशेष ऋतु में रश्मिविशेष द्यौः की ओर आपः के वसन पहने उड़ते हैं। सौराग्नि अपां गर्भ है। ग्रहों आदि के अपने-अपने रश्मि हैं। उन रश्मियों को दिन के समय आदित्य ले-जाता है। यह आदित्य चारों ओर से दीप्त है। आपः कण इसमें ताप और ज्योति की माया रचते रहते हैं। रश्मिचक्र में विभिन्न स्थितियों के कारण मास और ऋतु बनते हैं, जो क्रमशः स्थावर-जङ्गम सबकी आयु का ग्रहण करते जाते हैं।

शतपथ में प्रश्न है कि इन्द्र कौन है, प्रजापति कौन है—**'कतम इन्द्रः, कतमः प्रजापतिरिति'** ? उत्तर है—स्तनयित्नु ही इन्द्र है और यज्ञ प्रजापति है—**'स्तनयित्नुरेव इन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति'**। फिर प्रश्न हुआ—स्तनयित्नु कौन है—**'कतमः स्तनयित्नुः'** ? उत्तर मिला—बिजली—**'अशनिरिति'**। पुनः प्रश्न

https://t.me/arshlibrary

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥२॥

—यजुः० अ० ४० । मं० १ ॥

हुआ-यज्ञ कौन है—**'कतमो यज्ञः'** ? उत्तर मिला—पशु यज्ञ है—**'पशव इति'** । इस प्रश्नोत्तर को ग्रन्थकार ने सरलरूप में लिया है । यज्ञ और पशु के प्रजापति होने में यह हेतु है कि ये प्रजा का पालन-पोषण करते हुए उसके योग-क्षेम में सहायक हैं । इस प्रकार गौणवृत्या (परम्परा से) पशुओं का भी प्रजापतित्व उपपन्न है, क्योंकि प्रजापति और पशु दोनों को यज्ञरूप माना है । **'स्तनयित्नुरेव इन्द्रः'** में अवधारणार्थक 'एव' पद का पाठ होने से स्पष्ट है कि उसका अर्थ बिजली ही है ।

ऋ०भा०भू० में इस प्रसंग में ग्रन्थकार ने लिखा है—"ऐसे ही इन्द्र नाम बिजुली का है, क्योंकि वह उत्तम ऐश्वर्य की विद्या का मुख्य हेतु है और यज्ञ को प्रजापति इसलिए कहते हैं कि उससे वायु और वृष्टिजल की शुद्धि द्वारा प्रजा का पालन होता है तथा पशुओं की 'यज्ञ' संज्ञा होने का यह कारण है कि उनसे भी प्रजा का जीवन होता है । ये सब मिलके अपने-अपने दिव्य गुणों से तेंतीस देव कहाते हैं ।"

स्वर्गस्थ किसी शरीरधारी देवता का यहाँ कोई प्रकरण नहीं है । वस्तुतः ग्रन्थकार ने देवता शब्द को केवल परमेश्वरवाचक नहीं माना है । इन्द्र शब्द का लगभग ७८ बार अर्थ किया है, किन्तु परमेश्वरपरक बहुत कम बार । अग्नि का अर्थ २५० बार किया है, जिसमें दो तिहाई अर्थ विज्ञानपरक हैं । इसी प्रकार वरुण के ३८ अर्थों में ईश्वरपरक अर्थ ५-७ बार से अधिक नहीं है । निःश्रेयस के साथ-साथ अभ्युदय का हेतु होने से वेद के आधिदैविक अथवा आधिभौतिक अर्थ होना स्वाभाविक है ।

महाभारत (अनुशासनपर्व अध्याय १५०) में रुद्रों, आदित्यों एवं वसुओं के नाम इस प्रकार दिये हैं—**'अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी चापराजितः । ऋतश्च पितृरूपश्च त्रयम्बकश्च महेश्वरः ॥१२॥ वृषाकपिश्च शम्भुश्च हवनोऽथेश्वरस्तथा । एकादशैते प्रथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः ॥१३॥ अंशोभगश्च मित्रश्च वरुणश्च जलेश्वरः । तथा धातार्यमा चैव जयन्तो भास्करस्तथा ॥१४॥ त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो द्वादशो विष्णुरुच्यते ॥१५ पू०॥ धरो ध्रुवश्च सोमश्च सावित्रोऽथानिलोऽनलः ॥१६ उ०॥ प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः** ॥१७ पू०॥ अर्थात्—एकपाद्, अज, अहिर्बुध्न्य, पिनाकी, अपराजित, ऋत, पितृरूप, त्रयम्बक, महेश्वर, वृषाकपि, शम्भु, हवन और ईश्वर ये ग्यारह संसार में लोकेश्वर प्रसिद्ध हैं । अंश, भग, मित्र, जलेश्वर, वरुण, धाता, अर्यमा, जयन्त, भास्कर, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र और बारहवाँ विष्णु आदित्य है । धर, ध्रुव, सोम, सावित्री, वायु, अग्नि, प्रत्यूष तथा प्रभास ये आठ वसु कहे जाते हैं । वसु आदि के सम्बन्ध में इस प्रकार की कल्पना बहुत पीछे की है । प्रमाणरूप में प्रायः बृहदारण्यकोपनिषद् का कथन ही मान्य है ।

ईशावास्यम्—(जगत्याम्) नित्य परिवर्त्तनशील जगत् में (यत्किञ्च) जो कुछ भी (जगत्) चराचर वस्तु है (इदं सर्वम्) प्रकृति से पृथिवीपर्यन्त सब (ईशा) सर्वशक्तिमान् ईश्वर से (वास्यम्) अच्छादित एवं व्याप्त है । (तेन) इसलिए (त्यक्तेन) त्यागभाव से (भुञ्जीथाः) पदार्थों का उपभोग करो । (मा गृधः) लोभ मत करो । (धनं) धन, (कस्यस्वित्) सोचो, किसका है ? अथवा किसी (कस्य=कस्यापि) किसी के भी (धनम्) धन का (मा गृधः) लोभ मत करो ।

अपने यजुर्वेदभाष्य में इस मन्त्र (४०।१) का भाष्य करते हुए उसके भावार्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है—

https://t.me/arshlibrary

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि सं जयामि शश्वतः ।
मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे वि भजामि भोजनम् ॥३॥
—ऋ० मं० १०। सू० ४८ । मं० १ ॥

अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदा चन ।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ॥४॥
—ऋ० मं० १० । सू० ४८ । मं० ५ ॥

अहं दां गृणते पूर्व्यं वस्वहं ब्रह्म कृणवं मह्यं वर्धनम् ।
अहं भुवं यजमानस्य चोदिताऽयज्वनः साक्षि विश्वस्मिन् भरे ॥५॥
—ऋ० म० १०। सू० ४६। मं० १॥

(ऋचो अक्षरे०) इस मन्त्र का अर्थ ब्रह्मचर्याश्रम की शिक्षा में लिख चुके हैं, अर्थात् जो सब दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव-विद्यायुक्त और जिसमें पृथिवी, सूर्य्यादि लोक स्थित हैं, और जो आकाश के समान व्यापक, सब देवों का देव परमेश्वर है, उसको जो मनुष्य न जानते, न मानते और उसका ध्यान नहीं करते, वे नास्तिक, मन्दमति सदा दुःखसागर में डूबे ही रहते हैं, इसलिए सर्वदा उसी को जानकर सब मनुष्य सुखी होते हैं ।

जो मनुष्य ईश्वर से डरते हैं कि यह हमको सदा सब ओर से देखता है, यह जगत् ईश्वर से व्याप्त और सर्वत्र ईश्वर विद्यमान है, इस प्रकार व्यापक अन्तर्यामी परमात्मा का निश्चय करके अन्याय के आचरण से किसी का कुछ भी द्रव्य ग्रहण नहीं किया चाहते वे धर्मात्मा होकर इस लोक में सुख और परलोक में मुक्तिरूपी सुख को प्राप्त करके सदा आनन्द में रहें ।

अहं भुवम्—(अहम्) मैं परमात्मा (वसुनः) मुक्तों के नितान्त वासस्थान मोक्ष का (पूर्व्यः) पुरातन (पतिः) स्वामी हूँ (अहम्) मैं ही (धनानि) लौकिक धनों को (शाश्वतः) बहुतेरे जीवगणों को उनकी तृप्ति के लिए (संजयामि) संरक्षित रखता हूँ । (जन्तवः) मनुष्यादि प्राणी [जीवाः=मनुष्याः (**मनुष्या वै जन्तवः**—शत० ६।३।१।३२)] (माम्) मुझको (पितरं न) पिता के समान (हवन्ते) पुकारते हैं—आमन्त्रित करते हैं (अहम्) मैं (दाशुषे) दानशील=अन्यों को देनेवाले के लिए अथवा आत्मसमर्पण करनेवाले के लिए (भोजनं विभजामि) समस्त ऐश्वर्य व मोक्षसुख प्रदान करता हूँ ।

अहमिन्द्रः—(अहम्) मैं (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् हूँ (न पराजिग्ये) कभी पराजय को प्राप्त नहीं होता (इद्धनं न) मेरे पास अध्यात्मधन की कभी कमी नहीं होती (न कदाचन मृत्यवे अवतस्थे) मैं कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता । (सुन्वन्तः) धनादि लौकिक ऐश्वर्य सुख तथा उपासनारस का निष्पादन करते हुए तुम (वसु) विज्ञानादि धन को (मा सोममित्) मुझसे माँगो । (पूरवः) हे मनुष्यो—'**पूरवः मनुष्यनाम** (मे सख्ये न रिषाथन) मेरी मित्रता में तुम कभी हिंसित नहीं हो सकते—दुःखी नहीं हो सकते ।

ऋग्वेदभाष्य में इस मन्त्र के भावार्थ में लिखा है—

ऐश्वर्यवान् परमात्मा के यहाँ अध्यात्मधन की कमी नहीं होती, क्योंकि वह अमर है, इसलिए उसका अध्यात्म ऐश्वर्य भी अमर है । उपासनारस समर्पित करनेवाले उस धन की याचना करें और उसकी मित्रता के लिए यत्न करें तो कभी निराश नहीं होंगे ।

अहं दां गृणते—(अहम्) मैं (गृणते) स्तुति करनेवाले को (पूर्व्यं वसु दाम्) सनातन ऐश्वर्य और निवास

https://t.me/arshlibrary

[क्या वेद में अनेक ईश्वर कहे हैं ?]

प्रश्न—वेद में ईश्वर अनेक हैं, इस बात को तुम मानते हो वा नहीं ?

उत्तर—नहीं मानते, क्योंकि चारों वेदों में ऐसा कहीं नहीं लिखा जिससे अनेक ईश्वर सिद्ध हों, किन्तु यह तो लिखा है कि ईश्वर एक है।

['देवता' का अभिप्राय, और ३३ देवों की गणना]

प्रश्न—वेदों में जो अनेक देवता लिखे हैं, उसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—**'देवता'** दिव्यगुणों से युक्त होने के कारण कहाते हैं, जैसीकि पृथिवी, परन्तु इसको कहीं ईश्वर वा उपासनीय नहीं माना है। देखो इसी मन्त्र में कि—'जिसमें सब देवता स्थित हैं, वह जानने और उपासना करने योग्य ईश्वर है।' यह उनकी भूल है जो 'देवता' शब्द से ईश्वर का ग्रहण करते हैं। परमेश्वर देवों का देव होने से **'महादेव'** इसीलिए कहाता है कि वही सब जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयकर्ता, न्यायाधीश, अधिष्ठाता है।

जो **'त्रयस्त्रिंशता'** इत्यादि वेदों में प्रमाण हैं, इसकी व्याख्या शतपथ में की है कि—**'तेंतीस देव'** अर्थात् पृथिवी, द्यौ, अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, चन्द्रमा, सूर्य्य और नक्षत्र सब सृष्टि के निवासस्थान होने से ये **आठ वसु**। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा ये **'ग्यारह रुद्र'** इसलिए कहाते हैं कि जब शरीर को छोड़ते हैं, तब रोदन करानेवाले होते हैं। संवत्सर के बारह महीने **'बारह आदित्य'** इसलिए हैं कि ये सबकी आयु को लेते जाते हैं। बिजली का नाम **'इन्द्र'** इस हेतु से है कि [वह] परम ऐश्वर्य का हेतु है। यज्ञ को **'प्रजापति'** कहने का कारण यह है कि जिससे वायु, वृष्टि, जल, ओषधी[1] की शुद्धि, विद्वानों का सत्कार और नाना प्रकार की शिल्पविद्या से प्रजा का पालन होता है।

ये तेंतीस पदार्थ पूर्वोक्त गुणों के योग से **'देव'** कहाते हैं। इनका स्वामी और सबसे बड़ा होने से परमात्मा चौंतीसवाँ उपास्य देव शतपथ के चौदहवें काण्ड में स्पष्ट लिखा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी लिखा है। जो ये इन शास्त्रों को देखते तो वेदों में अनेक ईश्वर माननेरूप भ्रमजाल में गिरकर क्यों बहकते ?॥१॥

हे मनुष्य! जो कुछ इस संसार में जगत् है, उस सबमें व्याप्त होकर जो उसका नियन्ता है, वह ईश्वर कहाता है। उससे डरकर तू अन्याय से किसी के धन की आकांक्षा मत कर। उस अन्याय के त्याग और न्यायाचरणरूप धर्म से अपने आत्मा से आनन्द को भोग ॥२॥

ईश्वर सबको उपदेश करता है कि—हे मनुष्यो ! मैं ईश्वर सबके पूर्व विद्यमान, सब जगत् का पति

के योग्य लोक, मोक्ष या ज्ञान प्रदान करता हूँ। (अहं ब्रह्म कृणवम्) मैं परम ब्रह्मज्ञान, वेद और इस महान् जगत् को उत्पन्न करता हूँ। (मह्यं वर्धनम्) यह समस्त वेद मेरी ही महिमा वा वृद्धि करनेवाला है। (अहं यजमानस्य चोदिता) मैं ही यज्ञ, दान और सत्संग करनेवाले को सन्मार्ग में प्रवृत्त करनेवाला हूँ। मैं (विश्वस्मिन् भरे) समस्त युद्ध में (अयज्वनः) न देनेवाले अयज्ञशील जनों को (साक्षि) अभिभूत-दण्डित करता हूँ।

---

१. 'कृदिकारादक्तिनः' इस गणसूत्र (द्र०—४।१।४५) से ङीष् प्रत्यय भी होता है।

https://t.me/arshlibrary

हूँ। मैं सनातन, जगत्कारण और सब धनों का विजय करनेवाला और दाता हूँ। मुझ ही को सब जीव जैसे पिता को सन्तान पुकारते हैं, वैसे पुकारें। मैं सबको सुख देनेहारे जगत् के लिए नाना प्रकार के भोजनों का विभाग पालन के लिए करता हूँ ॥३॥

मैं परमैश्वर्य्यवान्, सूर्य के सदृश सब जगत् का प्रकाशक हूँ। कभी पराजय को प्राप्त नहीं होता, और न कभी मृत्यु को प्राप्त होता हूँ। मैं ही जगद्-रूप धन का निर्माता हूँ। जब जगत् की उत्पत्ति करनेवाले मुझ ही को जानो। हे जीवो ! ऐश्वर्यप्राप्ति के यत्न करते हुए तुम लोग विज्ञानादि धन को मुझसे माँगो, और तुम लोग मेरी मित्रता से अलग मत होओ ॥४॥

हे मनुष्यो ! मैं सत्यभाषणरूप स्तुति करनेवाले मनुष्य को सनातन ज्ञानादि धन को देता हूँ। मैं **'ब्रह्म'** अर्थात् वेद का प्रकाश करनेहारा, और मुझको वह वेद यथावत् कहता, उससे मैं सबके ज्ञान को बढ़ाता, मैं सत्पुरुष का प्रेरक, यज्ञ करनेहारे को फलप्रदाता, और इस विश्व में जो कुछ है, उस सब कार्य का बनाने और धारण करनेवाला हूँ, इसलिए तुम लोग मुझको छोड़ किसी दूसरे को मेरे स्थान में मत पूजो, मत मानो और मत जानो ॥५॥

हिरण्गर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥६॥

—यह यजुर्वेद (१३।४) का मन्त्र है।

हे मनुष्यो ! जो सृष्टि के पूर्व सब सूर्य्यादि तेजवाले लोकों का उत्पत्ति-स्थान, आधार, और जो कुछ उत्पन्न हुआ था, है और होगा उसका स्वामी था, है और होगा, वह पृथ्वी से लेके सूर्यलोकपर्यन्त सृष्टि को बनाके धारण कर रहा है। उस सुखस्वरूप परमात्मा ही की भक्ति जैसे हम करें, वैसे तुम लोग भी करो ॥६॥

भावार्थ—परमात्मा की स्तुति करनेवाला शाश्वत सुख=मोक्ष को प्राप्त करता है। वेद परमात्मा के गुणों का वर्णन करता है। नास्तिक जन जीवन में सुख से वंचित रहते हैं।

हिरण्यगर्भ—इस मन्त्र में आया 'हिरण्यगर्भ' शब्द अत्यन्त सारगर्भित है। यह समस्त पद ईश्वर और प्रकृति के लिए प्रयुक्त संयुक्त पद है, जिसका सीधा अर्थ है—'प्रकृति को अपने गर्भ में धारण करनेवाला। प्रलयावस्था में प्रकृति परमात्मा के भीतर समाई रहती है। व्यवहार में न होने के कारण सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व यह प्रकृति अव्यक्त दशा में अदृश्य रहती है। सृष्टि से पूर्व प्रलयकाल में ब्रह्म अकेला नहीं, प्रकृति के साथ रहता है, किन्तु उसे अपने भीतर समेटे हुए। यदि उस समय प्रकृति का अभाव होता तो सर्गकाल में कहाँ से आजाती ? उसी हिरण्यगर्भ परमेश्वर ने सर्गकाल में पृथिवी, द्यौ आदि को धारण कर रक्खा है। प्रलयकाल में जो अव्यक्त रहता है, सर्गकाल में वह नामरूपात्मक होकर व्यक्त हो जाता है—**'नासतो विद्यते भावः'**—अभाव से भावरूप नहीं होता। जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है, सृष्टि का उत्पत्तिकर्त्ता परमेश्वर एक ही है—**'पतिरेक आसीत्।'**

ईश्वरसिद्धि में प्रत्यक्षादि प्रमाण—

प्रत्यक्ष का स्वरूप—सामान्यतया विषयवस्तु के इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान की 'प्रत्यक्ष' संज्ञा है। परमेश्वर इन्द्रियातीत है अर्थात् इन्द्रियों का विषय नहीं है। तब उसे प्रत्यक्षप्रमाण से कैसे सिद्ध किया जा सकता है ? अनुमान के दो प्रसिद्ध भेद हैं—

१. **पूर्ववत्**—जब कार्योन्मुख कारण को देखकर कार्य का अनुमान होता है तो वह पूर्ववत् अनुमान

https://t.me/arshlibrary

[ईश्वर-सिद्धि में प्रत्यक्षादि प्रमाण]

प्रश्न—आप ईश्वर-ईश्वर कहते हो, परन्तु उसकी सिद्धि किस प्रकार करते हो ?

उत्तर—सब प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ।

प्रश्न—ईश्वर में प्रत्यक्षादि प्रमाण कभी नहीं घट सकते ।

उत्तर—**इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥**

—यह गौतममहर्षिकृत न्यायदर्शन का सूत्र (१।१।४) है ।

जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण और मन का, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख-दुःख, सत्यासत्य विषयों के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको **'प्रत्यक्ष'** कहते हैं, परन्तु वह निर्भ्रम हो ।

होता है । जैसे बादलों को देखकर वर्षा का अनुमान । कारण सदा कार्य से पहले होता है, इसलिए उसे पूर्ववत् कहते हैं । यहाँ 'बादल' (कारण) पहले और 'वर्षा' (कार्य) बाद में है ।

२. **शेषवत् अनुमान**—कार्य को देखकर कारण का अनुमान होना 'शेषवत्' अनुमान होता है, जैसे वर्षा को देखकर बादलों का, पुत्र को देखकर पिता का, धुएँ को देखकर अग्नि का और इसी प्रकार वाटिका को देखकर माली का अनुमान । पूर्व विद्यमान कारण की अपेक्षा से कार्य 'शेष' समझा जाता है, अतः 'शेष' पद कार्य का बोध कराता है । ईश्वरसिद्धि में शेषवत् अनुमान का प्रयोग होता है ।

न्यादर्शन के अगले (१।१।५) सूत्र में कहा है—**'अथ तत् (प्रत्यक्ष) पूर्वकमनुमानम्'** अर्थात्—प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान होता है । इससे स्पष्ट है कि जिसका प्रत्यक्ष नहीं उसका न अनुमान हो सकता है और न उपमान ।

अतएव प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती । यहाँ सबसे पहले 'प्रत्यक्ष' (Perception) के स्वरूप को ठीक-ठीक जानना आवश्यक है । जैसाकि पहले कहा जा चुका है, सामान्यतया विषयवस्तु के इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को उसका प्रत्यक्ष होना माना जाता है । वस्तुतः इन्द्रियों द्वारा गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणी का नहीं । इन्द्रियों द्वारा विषय के सम्पर्क से भिन्न-भिन्न अनुभूतियाँ (Sensations) होती हैं, जैसे जल के प्रत्यक्ष में स्पर्श से शीतलता, जिह्वा से रस, चक्षुओं से रूप व तरलता आदि की अलग-अलग अनुभूतियाँ होती हैं । अलग-अलग होनेवाली अनुभूतियाँ केवल शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध की सूचनामात्र हैं । मन में इन सब सूचनाओं के एकत्र हो जानेपर उनके संयोग-वियोग द्वारा बुद्धि उन अनुभूतियों को समवेतरूप देकर उन्हें किसी नाम से अभिहित कर देती है । इसी को विषय का प्रत्यक्ष होना कहते हैं । इससे स्पष्ट है कि किसी विषयवस्तु के इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उसके गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणी का नहीं । गुण-गुणी का समवायसम्बन्ध या अविनाभाव होने से गुणों के साथ गुणी का प्रत्यक्ष मान लिया जाता है । मन के आशुगति होने से यह प्रक्रिया इतने वेग से होती है कि हम गुणी का ही प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।

'अनुमान' का शब्दार्थ है—**'अनु अर्थात् प्रत्यक्षस्य पश्चान्मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्'** । अर्थात्—जिसका कोई एक देश अथवा 'सम्पूर्ण द्रव्य किसी काल में प्रत्यक्ष हुआ हो, कालान्तर में उसके एक देश या अवयव का प्रत्यक्ष होने पर अदृष्ट सहचारी या अवयवी का ज्ञान होजाने को अनुमान कहते हैं । **'क्षित्यादिकं कर्तृजन्यं, कार्यत्वात् घटादिवत्'** । हमने कुम्भकार द्वारा घड़ा बनाया जाता देखा है । हमने यह भी देखा है कि मिट्टी के होते हुए भी कुम्भकार के बिना घड़ा नहीं बनता । कालान्तर में जब भी हम घड़ा

https://t.me/arshlibrary

अब विचारना चाहिए कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है गुणी का नहीं[1] । जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथिवी उसका आत्मा-युक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है, वैसे इस प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है ।

और जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है, उस समय जीव की इच्छा-ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाता है । उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शङ्का और लज्जा, तथा अच्छे कामों के करने में अभय, निःशङ्कता और आनन्दोत्साह उठता है वह जीवात्मा की ओर से नहीं, किन्तु परमात्मा की ओर से है ।

देखते हैं तो उसके बनानेवाले किसी-न-किसी कुम्भकार का अनुमान कर लेते हैं और क्योंकि प्रत्यक्ष के बिना अनुमान सम्भव नहीं, इसलिए घड़े को देखने से कुम्भकार का प्रत्यक्ष हो जाता है ।

जिस प्रकार भौतिक जगत् में गुणों को देखकर गुणी का प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार ईश्वर के लिंगों को देखकर लिंगी का प्रत्यक्ष होता है । सृष्टि की विशालता, सुव्यवस्था, कार्य-कारण-शृंखला, नियमबद्धता, प्रयोजनवत्ता आदि को प्रत्यक्ष देखकर उसके रचयिता या नियामक परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है । सृष्टि के रचयिता तथा व्यवस्था की सत्ता को नकारना ऐसा ही है जैसा बगीचे की शोभा तथा उसके सौन्दर्य की सराहना करना, परन्तु माली की सत्ता को स्वीकार न करना । सृष्टि का संचालन कर रहे नियमों में से किसी नियम का ज्यों ही वैज्ञानिकों को पता चलता है, त्यों ही वह नियम चिल्लाकर कहता है—'मैं तो पहले से विद्यमान था, मेरा निर्माता ईश्वर है, तुमने तो मुझे बस खोज निकाला है । इससे तुम्हें अपनी अज्ञता या अल्पज्ञता का एक और प्रमाण मिल गया है ।''

उपमान—**'उपमीयते येन तदुपमानम्'** । प्रत्यक्ष साधर्म्य से साध्य की सिद्धि करने के साधन को 'उपमान' कहते हैं । साधर्म्य=सादृश्य के बिना उपमान नहीं हो सकता । ईश्वर अद्वितीय है—उसके सदृश अन्य कोई नहीं, अतः ईश्वर की सिद्धि में उपमान प्रमाण नहीं घटता । प्रथम संस्करण में लिखा है—'उपमान प्रमाण तो परमेश्वर में नहीं हो सकता, क्योंकि परमेश्वर के सदृश कोई पदार्थ नहीं जिसकी उपमा परमेश्वर में हो सके, परन्तु परमेश्वर की उपमा परमेश्वर में ही हो सकती है । ऐसा जगत् में व्यवहार देखने में आता है कि आपके तुल्य आप ही हैं । वैसे हम लोग भी कह सकते हैं कि परमेश्वर के तुल्य परमेश्वर ही है, और कोई नहीं ।''

सृष्टि के रहस्यों को जानने में मनुष्य की असमर्थता का उल्लेख करते हुए आधुनिक युग के सबसे बड़े वैज्ञानिक प्रो० आइंस्टीन ने अपने समय के प्रसिद्ध वैज्ञानिक मैक्स प्लांक (Max Plank) की पुस्तक 'Where is Science going?' की भूमिका में लिखा है—

"The supreme task of the physicist is the discovery of the most general elementary laws from which the world picture can be logically deduced. But there is no logical way to the discovery of these elementary laws. There is only the way of intuition."

अर्थात्—'भौतिकविज्ञानी का मुख्य कार्य उन मूलभूत सिद्धान्तों की खोज करना है जिनसे सृष्टिरचना

---

१. नैयायिकों में दो मत हैं । एक केवल गुण का प्रत्यक्ष मानते हैं, और दूसरे गुण-गुणी दोनों का । ग्रन्थकार ने प्रथम पक्ष का आश्रयण किया है ।

https://t.me/arshlibrary

का तर्कशास्त्रीय ज्ञान प्राप्त हो सके, किन्तु उन नियमों को जानने के लिए कोई तर्कशास्त्रीय उपाय नहीं है, अन्तःप्रेरणा (intuition) के द्वारा ही उन्हें जाना जा सकता है।' भारत के मनीषियों ने यह ज्ञान अन्तःप्रेरणा (आत्मसाक्षात्कार) के द्वारा ही जाना था।

ईश्वरसिद्धि में ग्रन्थकार ने यहाँ दूसरी युक्ति दी है—ज्ञानादि गुणों का प्रत्यक्ष होना। मानवबुद्धि जड़ होने से किसी अन्य की प्रेरणा की अपेक्षा रखती है। मनुष्य को स्वतः ज्ञान प्राप्त नहीं होता। आरम्भ में गुरु से ज्ञान प्राप्त हो जाए तो वह अपने अनुभव, चिन्तन, संवेदन और बुद्धि के द्वारा उस ज्ञान का विकास कर सकता है। समाजशास्त्री भी यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य, जैसे भी हो, समाज (जिसमें उसके माता-पिता आदि भी सम्मिलित हैं) से ज्ञान ग्रहण करता है। यदि आज भी किसी मानव को समाज से पृथक् कर दिया जाए तो उसका व्यवहार पशुवत् होगा। समय-समय पर जो परीक्षण किये गये हैं उनसे यही पता चलता है कि यदि किसी बालक को पैदा होते ही अपने माता-पिता और मानवसमाज से पृथक् करके जंगल में पशुओं के बीच छोड़ दिया जाए तो वह पशुओं की भाँति ही व्यवहार करेगा। वैसे ही चले-फिरेगा और वैसी ही बोली बोलेगा। प्रकृति के सिवा उस मानवशिशु में और उन पशुओं में कोई अन्तर नहीं होगा। जब यह निश्चय हो गया कि मनुष्य किसी के सिखाये बिना कुछ नहीं सीख सकता तो प्रश्न उठता है कि पहली पीढ़ी के मानवों ने जीवन का व्यवहार किससे सीखा होगा? जिस प्रकार वर्त्तमान में हमने अपने माता-पिता से ज्ञान प्राप्त किया है, वैसे ही हमारे माता-पिता ने अपने माता-पिता से और उन्होंने अपने माता-पिता आदि से ज्ञान प्राप्त किया होगा। यह क्रम चलते-चलते जब सृष्टि के आदि में अमैथुनी सृष्टि तक पहुँचेगा, जहाँ पृथिवी पर मानव की सर्वप्रथम प्रादुर्भूत पीढ़ी मिलेगी, तब निश्चय ही परमेश्वर से अतिरिक्त अन्य कोई शिक्षक नहीं मिलेगा, अतः मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ परमेश्वर द्वारा अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न मनुष्यों को नैमित्तिक ज्ञान का मिलना सर्वथा युक्तियुक्त है। उन मनुष्यों के द्वारा अपनी सन्तति अथवा शिष्यों में ज्ञान का संक्रमण हुआ। वही क्रम अब तक चला आ रहा है। इस प्रकार आज संसार में जितना भी ज्ञान है, उस सबका आदिमूल परमेश्वर है। इसीलिए महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में उसे **'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' कहा है।**

ईश्वरीय प्रेरणा—ईश्वरसिद्धि में तीसरी युक्ति धर्माधर्म में प्रवृत्ति-निवृत्ति की प्रेरणा है। जो आचरण किया जा रहा है, वह अच्छा है या बुरा, कर्त्तव्य है या अकर्त्तव्य—ऐसे विवेचनापूर्ण तथ्य का स्पष्ट होना प्रेरणा का स्वरूप कहा जा सकता है। प्रत्येक मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसके भीतर कोई ऐसा मार्गदर्शक बैठा है जो भले-बुरे का ज्ञान कराता रहता है। यह मार्गदर्शक हृदयस्थ परमात्मा है—**'एष प्रजापतिर्यद् ब्रह्म'** (बृहद० ५।३।१)। यह दूसरी बात है कि हम अपने मार्गदर्शक के संकेत को समझें या न समझें और समझकर भी उसे मानें या न मानें। घड़ी तो टिक-टिक करती रहती है। यह हो सकता है कि उसके आस-पास शोर होने पर वह हमें सुनाई न दे। तब भी, यदि पास आकर और कान लगाकर सुनने का प्रयत्न किया जाए तो वह सुनाई दे जाती है। विषय-वासनाओं की तुमुल ध्वनि के कारण लोक में 'हृदय की पुकार' या 'अन्तरात्मा की आवाज़' कहानेवाली हृदयस्थित आत्मा के भीतर विराजमान अन्तर्यामी नियन्ता परमेश्वर की प्रेरणा को हम सुन नहीं पाते, पर इसमें सन्देह नहीं कि बुरी-से-बुरी अवस्था में भी और कभी उसपर ध्यान न देनेवाला व्यक्ति भी यदि चाहे तो अपने भीतर कान लगाकर उस आवाज़ को सुन सकता है। बड़े-से-बड़े पापी के मन में भी दुष्कर्म करते समय भय, शंका और लज्जा का अनुभव हुए बिना नहीं रहता। डॉ० राधाकृष्णन ने इस सन्दर्भ में कहा है—

https://t.me/arshlibrary

The sinner in the lowest depths of degradation has the light in him which he cannot put out though he may try to stifle it and turn away from it. God holds us, fallen though we may be, by the roots of our being and is ready to send his rays of light into our dark and rebellious hearts. —Hindu View of Life.

अर्थात्—बड़े-से-बड़े पापी के मन में भी एक ज्योति दिखाई देती है, जिसकी वह उपेक्षा भले ही करदे, किन्तु उसे वह बुझा नहीं सकता। हम कितने ही पतित क्यों न हों, परमेश्वर हमें सँभालता है और हमारे अँधेरे तथा विद्रोही मन में भी अपने प्रकाश की किरणें डाले बिना नहीं रहता।

मनुष्य का मन तो पानी की तरह सदा नीचे की ओर, पतन की ओर जाने के लिए तैयार रहता है। जीवात्मा तो इस विषय में तटस्थ रहता है, प्रायः मन के पीछे-पीछे चलता है। तब यह उत्थान की ओर बढ़ने की प्रेरणा उसमें कहाँ से आती है ? निश्चय ही यह ईश्वरीय प्रेरणा से होता है। परम दार्शनिक, वैयाकरण, साहित्यकार तथा योगी भर्तृहरि ने ईश्वरसिद्धि में जिसे अकाट्य प्रमाण माना है वह है—**'स्वानुभूत्येकमानाय'**—अर्थात् ईश्वर की सत्ता का एकमात्र प्रमाण अपनी अनुभूति है। यही अनुभूति महापुरुषों को विपरीत परिस्थितियों का सामना करने की शक्ति प्रदान करती है।

धर्माधर्म को परखने की इस कसौटी का प्रयोग अपने समय में हिन्दी के सर्वाधिक लोकप्रिय उपन्यासकार देवकीनन्दन खत्री ने अपने उपन्यास 'काजर की कोठरी' में एक संवाद के माध्यम से इस प्रकार किया है—

सरला—'अगर मैं कोई शास्त्र नहीं भी पढ़ी तो भी शास्त्र के असल मर्म को अपनी माता की कृपा से अच्छी तरह समझती हूँ। उसने मुझे एक ऐसा लटका बता दिया है जिससे धर्मशास्त्र का रहस्य मालूम हो गया है। उसने मुझे कहा था कि बेटी ! जो बात चित्त को बुरी मालूम हो या जिस बात के ध्यान से दिल में ज़रा भी झटका हो अथवा जिस बात से लज्जा का कुछ भी सम्बन्ध हो अर्थात् जिसके कहने में लज्जित होना पड़े, उसके विषय में समझ रक्खो कि शास्त्र में कहीं-न-कहीं उसकी मनाही ज़रूर लिखी होगी।'

परमात्मा की सिद्धि में एक अतिरिक्त हेतु है—कर्मफलभोग। पूर्वकृत कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का भोग प्रत्यक्ष है। जड़ होने से कर्म स्वयं फल नहीं दे सकते। कर्म तो यह भी नहीं पहचानते कि हम किसके कर्म हैं। ऐसी अवस्था में जिस किसी के साथ उनका सम्बन्ध होजाने से कर्मसंकर हो जाएगा। फलतः अन्य के कर्म अन्य को भोगने पड़ेंगे। अराजकता की ऐसी स्थिति में **'कृतहानि'** (करनेवालों को फल न मिलना) और **'अकृताभ्यागम'** (न करनेवाले को फल मिलना) दोषों की प्राप्ति होगी।

अल्पज्ञ होने से जीव अपने कर्मों को यथावत् नहीं जान सकता और अल्पशक्ति होने के कारण अनन्त जीवों के अनन्त कर्मों का लेखा-जोखा रखकर तदनुसार फल की व्यवस्था करना भी उसकी शक्ति से बाहर है। कर्म करनेवाले जीव का इतना सामर्थ्य भी नहीं कि वह उन सब साधनों तथा सामग्री को जुटा सके जो फलोपभोग के लिए अपेक्षित है। सृष्टिरचना का प्रयोजन पूर्वजन्मों के कर्मों के फलोपभोग के लिए समुचित भूमि तैयार करना है, जिसका विस्तार प्रत्येक व्यक्ति के लिए पीछे की ओर अनेक जन्मों तथा विभिन्न योनियों तक जाता है। चेतनारहित प्रकृति न तो प्रकृति की अपनी व्याख्या है, न जगत् का विषयनिष्ठ पक्ष है और न कर्म के विधान की क्रिया है। जब मनुष्य यह देखता है कि किस प्रकार यह पृथिवी अनेक प्रकार के कर्मों के फलों के लिए उपयुक्त सिद्ध होती है और किस तरह यह शरीर कार्य करता है, जिसमें अन्दर-बाहर भिन्न-भिन्न भागों की उचित व्यवस्था प्रस्तुत की गयी है और जिसका निर्माण

https://t.me/arshlibrary

और जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है, उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं। जब परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है, तो अनुमानादि से परमेश्वर के ज्ञान होने में क्या सन्देह है ? क्योंकि कार्य्य को देखके कारण का अनुमान होता है।

[ईश्वर का व्यापकत्व]

प्रश्न—ईश्वर व्यापक है, वा किसी देश-विशेष में रहता है ?

उत्तर—व्यापक है, क्योंकि जो एक देश में रहता तो सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता सबका स्रष्टा सबका धर्त्ता और प्रलयकर्त्ता नहीं हो सकता। अप्राप्त देश में कर्त्ता की क्रिया का होना असम्भव है।

भिन्न-भिन्न जातियों के अनुकूल किया गया है, जिससे यह विविध कर्मों के फलोपभोग का उचित साधन बन सके, तो यह कैसे माना जा सकता है कि यह सब व्यवस्था किसी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सत्ता के नियमन तथा निर्देश के बिना सम्भव है ?

यदि केवल कर्म ही फलोपभोग के लिए शरीरधारण में निमित्त होते तो कोई भी जीव निकृष्ट योनियों में और मनुष्ययोनि में भी किसी दरिद्र के यहाँ जन्म न लेता। अपने अशुभ कर्मों का फल कोई भी नहीं भोगना चाहता, यदि कर्म प्रतिबन्धक हों तो भी। जैसे कोई अपराधी अपराध करके स्वयं बन्दीगृह में जाना नहीं चाहता, अपितु राजकीय व्यवस्था के अनुसार बलात् धकेला जाता है, वैसे ही कर्मफल की यथार्थ व्यवस्था तब तक नहीं हो सकती जब तक जीवेतर कोई शक्ति इस कार्य को न करे। **'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'** (योगसूत्र) कर्मफल भोगने के लिए साधनरूप इस सृष्टि की रचना ईश्वर के अधीन है। यदि कोई जीव-विशेष इस सृष्टि का रचयिता होता तो वह ऐसी ही वस्तुओं को बनाता जो उसके अनुकूल होतीं—जन्म-मरण, वृद्धावस्था, रोग आदि विरुद्ध वस्तुओं को कभी न बनाता। कोई भी स्वतन्त्र मनुष्य अपने लिए कारागार बनाकर उसमें अपने आप नहीं जा बैठेगा—**'न कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागारमात्मनः कृत्वाऽनुप्रविशति'** (ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य २।१।२१)।

Cp. Descartes :—"If I were myself the author of my being, I should have bestowed on myself every perfection of which I possess the idea." —Meditation, p. 3.

'दोनों का प्रत्यक्ष'—यहाँ दोनों से 'स्व-आत्मा' और 'परम-आत्मा' अभिप्रेत हैं। कार्य को देखकर कारण का शेषवत् अनुमान होता है।

ईश्वर सर्वव्यापक है—परब्रह्म परमात्मा विश्व के कण-कण में व्याप्त है। उसके लिए अनेक स्थलों पर **'सर्वव्यापी'** तथा **'सर्वगत'** पदों का प्रयोग हुआ है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (१।१६) में कहा गया है कि **'सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्'** परमात्मा दूध में घी की भाँति अदृष्टरूप में सृष्टि में समाया है। यजुर्वेद (३२।८) में बताया है—**'स ओतःप्रोतश्च विभूः प्रजासु'** वह परमात्मा सर्वव्यापक होने से सब प्रजाओं में ओत-प्रोत है। ऋग्वेद (१०।६०।१) के अनुसार **'स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठत्'** वह पृथिवी आदि लोक-लोकान्तरों को सब ओर से घेरे हुए है। **'वस्'** धातु का **'वसने'** तथा **'आच्छादने'** दो अर्थों में प्रयोग होता है। इन दोनें अर्थों को व्यक्त करते हुए यजुर्वेद (४०।५) में कहा है—**'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः'** वह परमात्मा सब पदार्थों के भीतर भी विद्यमान है और बाहर भी। गीता में भी उसे **'बहिरन्तश्च भूतानाम्'** बताया है। मुण्डकोपनिषद् (१।१।६) में **'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्म्'** अत्यन्त सूक्ष्म, विभु और नित्य कहा है।

https://t.me/arshlibrary

सर फ्रांसिस यंग हसबैण्ड (Sir Francis Young Husband) के अनुसार—

'The Universe is a living universe, dominated by the power of the holy spirit whose body is the universe we see with our eyes.' अर्थात् यह सृष्टि एक पवित्र आत्मा की शक्ति द्वारा नियन्त्रित जीती-जागती सृष्टि है। यह जगत् परमेश्वर का शरीर है, जिसे हम अपनी आँखों से देख रहे हैं।

यत्किञ्च जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥

समस्त ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी दिखाई या सुनाई दे रहा है, वह सभी परमात्मा से व्याप्त है। वस्तुतः जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु आकाश में है और प्रत्येक वस्तु में आकाश है, उसी प्रकार ईश्वर वस्तुमात्र में व्याप्त है। मुण्डक २।२।११ में कहा है—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वञ्च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

अर्थात्—यह सब ब्रह्म ही है—आगे ब्रह्म है, पीछे ब्रह्म है, दायें, बायें, नीचे, ऊपर सर्वत्र ब्रह्म ही फैला हुआ है। ज्ञानी को सर्वत्र ब्रह्म ही दिखाई देता है—**'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है'**।

यजुर्वेद ४०।८ में परमेश्वर को सब ओर गया हुआ—पहुँचा हुआ कहा है। **'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्'**—उस परमेश्वर के सहस्रों (सहस्रमसंख्यानि) सिर, सहस्रों आँखें और सहस्रों पैर हैं। (ऋक्० १०।६०१; यजुः० ३१।१; साम० ६१७; अथर्व० १९।६।१; श्वेत० ३।१४; तै०आ० ३।१२।१) एतदनुसार ही श्वेत० ३।३ में कहा है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः॥

अर्थात् सब ओर उसकी आँखे हैं, सब ओर मुख हैं और सब ओर बाहु हैं। वह एक ईश्वर अपनी बाहुओं और पंखों से पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक को सँभाले हुए है।

'तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन' (कठ० २।२।८) सब लोक-लोकान्तर उसी में प्रतिष्ठित हैं—आश्रित हैं, कोई भी उसे लाँघकर बाहर नहीं जा सकता।

इन और ऐसे ही अन्य अनेक प्रमाणों से ईश्वर की सर्वव्यापकता सिद्ध है। यजुर्वेद ४०।४ में काव्यात्मकरूप में परमात्मा की व्यापकता का वर्णन करते हुए कहा है—**'अनेजत्'** परमात्मा हिलता नहीं, गति नहीं करता। गति का अर्थ है देश, काल अथवा कारणत्व में परिवर्तन। सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा देश, काल व कारणत्व के बन्धन से परे सर्वथा निरपेक्ष पूर्ण सत्ता है, अतः उसमें गति सम्भव नहीं। गति का सिद्धान्त है—'A thing does not move where it is; it cannot move where it is not; it moves from where it is to where it is not. अर्थात्—कोई वस्तु न वहाँ गति करती है जहाँ वह होती है और न वहाँ जहाँ वह नहीं होती। जहाँ कोई वस्तु होती है वहाँ से जहाँ वह नहीं होती वहाँ को गति करती है। छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है—**'स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वम्'** (७।२५।१)। अर्थात् वह परमात्मा नीचे है, ऊपर है, आगे है, पीछे है, दक्षिण में है, उत्तर में है—वही सर्वत्र है। परमात्मा गति इसलिए नहीं करता कि कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ वह न हो। दूसरे शब्दों में, कोई स्थान उससे ख़ाली नहीं, इसलिए उसके हिलने का प्रश्न ही नहीं उठता। **'अधजल गगरी छलकत जाय'**

https://t.me/arshlibrary

इस लोकोक्ति में इसी सिद्धान्त की पुष्टि की है। बोरी में अनाज भरते समय उसे बार-बार हिलाकर भरते हैं। जब हिलाने पर भीतर से नहीं हिलती तो समझ लिया जाता है कि वह पूरी तरह भर गयी है, अब उसमें ख़ाली जगह न रहने से और अनाज नहीं डाला जा सकता।

परमेश्वर अनादिकाल से सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कार्य करता आ रहा है। यह सब उसकी सर्वव्यापकता के कारण है। एकदेश में अवस्थित होनेपर उसका सम्बन्ध समस्त संसार के साथ न रह सकेगा। विश्व के संचालन और नियन्त्रण के लिए उसका सर्वदेशी होना आवश्यक है। उसके बिना वह अपने कर्त्तव्य कर्मों को ठीक-ठीक करने में असमर्थ हो जाएगा, क्योंकि जहाँ कर्त्ता स्वयं विद्यमान नहीं होता वहाँ उसकी क्रिया नहीं होती। एकदेशी होने पर सारे ब्रह्माण्ड की रचना तो क्या, उसका ज्ञान भी असम्भव हो जाएगा। ईश्वर को एकदेशी माननेवालों को क्षीरसागर में वास करनेवाले भगवान् विष्णु के सहायक के रूप में चतुर्मुख ब्रह्मा और कैलासवासी शिव की कल्पना करनी पड़ी। जब इतने से काम न चला तो छोटे-बड़े अनेक सहायकों (मन्त्री, राज्यमन्त्री, उपमन्त्री, आयुक्त, निदेशक आदि) को नियुक्त करना पड़ा। विशेषसंवाददाता, जनसम्पर्क अधिकारी अथवा सूचना एवं प्रसारणमन्त्री के रूप में नारद, शिक्षामन्त्री के रूप में सरस्वती, प्रधान न्यायाधीश के रूप में यमराज, सिंचाई व बिजली आदि के लिए इन्द्र, गुप्तचर विभाग के निदेशक के रूप में वरुण, जेलविभाग के प्रमुख के रूप में रुद्र, वित्तमन्त्री के रूप में कुबेर और कोषाध्यक्ष के रूप में लक्ष्मी, प्रधान सेनापति के पद पर कार्त्तिकेय आदि को भिन्न-भिन्न कार्य सौंपने पड़े। इसी प्रकार खुदा को चौथे और सातवें आसमान पर माननेवाले मुसलमानों और ईसाइयों को फ़रिश्तों की सृष्टि करनी पड़ी। जो सर्वव्यापी नहीं, वह न सर्वज्ञ हो सकता है और न सर्वशक्तिमान् और जो सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् नहीं, वह स्वतः सृष्टिसम्बन्धी कार्यों का सम्पादन नहीं कर सकता। दूसरों की सहायता से होनेवाले कार्य पूर्ण निर्दोष नहीं हो सकते।

यहाँ एक शंका उपस्थित होती है कि जब परमात्मा भीतर-बाहर (**तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः**) और दूर-पास (**तद्दूरे तद्वन्तिके**) सर्वत्र विद्यमान है तो कोई उसे जहाँ चाहे मिल सकता है। सर्वत्र व्याप्त होने से परमेश्वर मूर्त्ति में भी तो है फिर मूर्त्तिपूजा में विद्यमान परमेश्वर की पूजा में क्या आपत्ति है ? आपाततः ठीक प्रतीत होनेपर भी यह बात वैसी नहीं है। दो सत्ताओं का मेल वहीं सम्भव है जहाँ दोनों विद्यमान हों। सैकड़ों मील दौड़नेवाली रेलगाड़ी में जहाँ चाहे नहीं बैठा जा सकता। गाड़ी में बैठने के लिए स्टेशन पर जाना पड़ता है, क्योंकि वही ऐसा स्थान है जहाँ गाड़ी भी खड़ी होती है और सवारियाँ भी। सर्वव्यापक होने से परमात्मा तो सर्वत्र विद्यमान है, किन्तु एकदेशी होने से जीवात्मा सर्वत्र विद्यमान नहीं है। जहाँ परमात्मा और जीवात्मा दोनों विद्यमान हों ऐसा एकमात्र स्थान मनुष्य का हृदय है—'**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**' तथा '**हृदि ह्येष आत्मा**', अतः परमात्मा के सर्वव्यापक होनेपर भी जीवात्मा को परमात्मा का साक्षात्कार वहीं हो सकता है।

जिस प्रकार अपना काम करने के लिए परमेश्वर के लिए उसका सर्वव्यापक होना अनिवार्य है, उसी प्रकार जीवात्मा के लिए भी उसका सर्वव्यापक एवं सर्वान्तर्यामी होना उपयोगी है। पाप से डरनेवाले मनुष्य विरले ही होते हैं। आमतौर पर लोग पाप से नहीं, पापी समझे जाने से डरते हैं। वस्तुतः पाप से नहीं अपराध (शासकीय व्यवस्था के अधीन दण्डनीय कर्म) से डरते हैं। जहाँ देखनेवाला कोई न हो वहाँ अपने कर्त्तव्य से विचलित होकर कोई पाप कर बैठना साधारण बात है। अपराध से नहीं, अपराध करते हुए पकड़े जाने से बचने की कोशिश की जाती है। यही कारण है कि मनुष्य पापाचरण के लिए एकान्त की खोज

https://t.me/arshlibrary

[ईश्वर दयालु और न्यायकारी है]

प्रश्न—परमेश्वर दयालु और न्यायकारी है, वा नहीं ?

उत्तर— है ।

प्रश्न—ये दोनों गुण परस्पर विरुद्ध हैं । जो न्याय करे तो दया और दया करे तो न्याय छूट जाए, क्योंकि 'न्याय' उसको कहते हैं कि जो कर्मों के अनुसार न अधिक न न्यून सुख-दुःख पहुँचाना और 'दया' उसको कहते हैं कि जो अपराधी को विना दण्ड दिये छोड़ देना ॥

[न्याय और दया शब्दों पर विचार]

उत्तर—न्याय और दया का नाममात्र ही भेद है, क्योंकि जो न्याय से प्रयोजन सिद्ध होता है, वही दया से । दण्ड देने का प्रयोजन है कि मनुष्य अपराध करने से बन्द होकर दुःखों को प्राप्त न हो । वही **'दया'** कहाती है जो पराये दुःखों का छुड़ाना और जैसा अर्थ दया और न्याय का तुमने किया, वह ठीक नहीं, क्योंकि जिसने जैसा, जितना बुरा कर्म किया हो, उसको उतना, वैसा ही दण्ड देना चाहिए, उसी का नाम **'न्याय'** है ।

और जो अपराधी को दण्ड न दिया जाए, तो दया का नाश हो जाए, क्योंकि एक अपराधी डाकू को छोड़ देने से सहस्रों धर्मात्मा पुरुषों को दुःख देना है । जब एक के छोड़ने में सहस्रों मनुष्यों को दुःख प्राप्त होता है, तब वह दया किस प्रकार हो सकती है ? दया वही है कि उस डाकू को मार देने से अन्य सहस्रों मनुष्यों पर दया प्रकाशित होती है ।

करता है । यदि उसे अपने मन में यह दृढ़ विश्वास हो जाए कि सृष्टि का संचालक व व्यवस्थापक परमात्मा सर्वव्यापक—सर्वान्तर्यामी होने से सर्वद्रष्टा और सर्वशक्तिमान् है तो वह पाप से डरने लगे ।

दयालु व न्यायकारी—मन में सबको सुखी करने की इच्छा और उसकी पूर्त्यर्थ प्रयत्न करना 'दया' है और बाह्य चेष्टा अर्थात् दण्डव्यवस्था करना **'न्याय'** है । जीवों के कल्याणार्थ संसार में नाना प्रकार के पदार्थ उत्पन्न करना; दूसरे शब्दों में, जीवों के भोग और अपवर्ग की प्राप्ति में साधनभूत सृष्टि की उत्पत्ति (**भोगापवर्गार्थं दृश्यम्**—योगसूत्र) करना और यथावत् उसका संचालन करना परमेश्वर की 'दया' है और पूर्वकृत कर्मों के अनुसार संसारस्थ प्राणियों के सुख-दुःख के तारतम्य की व्यवस्था करना उसका 'न्याय' है ।

परमेश्वर का एक नाम **'यम'** है । **'यः सर्वान् प्राणिनो नियच्छति स यमः'** जो सब प्राणियों के कर्मफल की व्यवस्था करता है और सब अन्यायों से पृथक् रहता है, इसलिए परमात्मा की 'यम' संज्ञा है । सृष्टि के कण-कण में व्याप्त होकर समस्त चराचर जगत् का नियमन करने में सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही समर्थ है । विश्व में सजीव-निर्जीव, दृश्य-अदृश्य, गोचर-अगोचर जो कुछ है, सब उसके नियमों में आबद्ध है । सृष्टि का निर्माण, विकास और विनाश—सब-कुछ ईश्वरीय नियमों के अन्तर्गत आबाध गति से चल रहा है । इस प्रकार समस्त कार्य-कारण के नियमन करने से वह 'यम' कहाता है । यह केवल मृत्यु के देवता का नाम नहीं है । हाँ, मृत्यु भी उसके नियमों के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है । श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—नियमन करनेवालों में मैं यम हूँ—**'यमः संयतामहम्'** (गीता १०।२९) । संसार में नियमों की और नियमों से भी अधिक नियामकों की भरमार है, फिर भी सर्वत्र नियमों

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—फिर दया और न्याय दो शब्द क्यों हुए ? क्योंकि उन दोनों का अर्थ एक ही होता है, तो दो शब्दों का होना व्यर्थ है, इसलिए एक शब्द का रहना तो अच्छा था। इससे क्या विदित होता है कि दया और न्याय का एक प्रयोजन नहीं है।

उत्तर—क्या एक अर्थ के अनेक नाम[1], और एक नाम के अनेक अर्थ नहीं होते ?

प्रश्न—होते हैं।

उत्तर—तो पुनः तुमको शङ्का क्यों हुई ?

प्रश्न—संसार में सुनते हैं, इसलिए।

उत्तर—संसार में तो सच्चा-झूठा दोनों सुनने में आता है, परन्तु उसका विचार से निश्चय करना अपना काम है। देखो, ईश्वर की पूर्ण दया तो यह है कि जिसने सब जीवों के प्रयोजन सिद्ध होने के अर्थ जगत् में सकल पदार्थ उत्पन्न करके दान दे रक्खे हैं। इससे भिन्न दूसरी बड़ी दया कौन-सी है ? अब न्याय का फल प्रत्यक्ष दीखता है कि सुख-दुःख की व्यवस्था अधिक और न्यूनता से फल को प्रकाशित कर रही है[2]। **इन दोनों का इतना ही भेद है** कि जो मन में सबको सुख होने और दुःख छूटने की इच्छा और क्रिया करना है वह **'दया'** और बाह्य चेष्टा अर्थात् बन्धन-छेदनादि यथावत् दण्ड देना **'न्याय'** कहाता है। दोनों का एक ही प्रयोजन यह है कि सबको पाप और दुःखों से पृथक् कर देना।

[ईश्वर निराकार है, साकार नहीं]

प्रश्न—ईश्वर साकार है, वा निराकार ?

उत्तर—निराकार, क्योंकि जो साकार होता तो व्यापक नहीं हो सकता। जब व्यापक न होता तो सर्वज्ञादिगुण भी ईश्वर में न घट सकते, क्योंकि परिमित वस्तु में गुण-कर्म-स्वभाव भी परिमित रहते हैं, तथा शीतोष्ण, क्षुधा-तृषा और रोग-दोष, छेदन-भेदन आदि से रहित नहीं हो सकता। इससे यही निश्चित

का उल्लंघन होता है। जिनके लिए नियम बनते हैं वे तो उल्लंघन करते ही हैं, जो नियम बनाते हैं वे भी उनसे पीछे नहीं रहते। मनुष्यकृत नियमों की यही गति है। जो निर्बल होता है, वह दण्डित होता है; जो बलवान् होता है वह न केवल बच निकलता है, अपितु नियमों की व्याख्या भी अपने अनुकूल करा लेता है। ऐसी अवस्था में न्याय के अभाव में समाज कैसे सुखी रह सकता है। व्यक्तिशः भले ही किसी पर दया हो जाए, समष्टिरूप में समाज अपने आपको पीड़ित तथा दलित अनुभव करता है। ईश्वर के बनाये नियम सार्वभौम तथा सार्वकालिक होते हैं। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा की व्यवस्था में वे निष्पक्षभाव से सबपर समानरूप से लागू होते हैं। स्वयं परमात्मा भी उन नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता। इस दया और न्याय की व्यवस्था में परस्पर विरोध नहीं हो सकता।

निराकार—वेदादि समस्त आर्षग्रन्थों में ईश्वर को निराकार माना गया है। यजुर्वेद ४०।८ में उसे

---

१. यह लौकिक भाषा की दृष्टि से कहा है। वैदिकभाषा में एकार्थक प्रतीत होनेवाले शब्द भी स्वगत वैशिष्ट्य को लेकर विशिष्टार्थ के वाचक होते हैं।

२. इसका अभिप्राय यह है कि —अधिकता और न्यूनता से होनेवाली सुख-दुःख की व्यवस्था ईश्वरीय न्याय के फल को प्रकाशित कर रही है, अर्थात् संसारस्थ प्राणियों में जो सुख-दुःख का तारतम्य है, वह उनके पूर्वकृत कर्मों का फल है। इसे ईश्वर ने अपने न्यायानुसार दिया है।

https://t.me/arshlibrary

है कि ईश्वर निराकार है। जो साकार हो तो उसके नाक, कान, आँख आदि अवयवों का बनानेहारा दूसरा होना चाहिए, क्योंकि जो संयोग से उत्पन्न होता है, उसको संयुक्त करनेवाला-निराकार चेतन अवश्य होना चाहिए।

जो कोई यहाँ ऐसा कहे कि ईश्वर ने स्वेच्छा से आप-ही-आप अपना शरीर बना लिया, तो भी यही सिद्ध हुआ कि शरीर बनने के पूर्व निराकार था, इसलिए परमात्मा कभी शरीर धारण नहीं करता, किन्तु निराकार होने से सब जगत् को सूक्ष्म कारणों से स्थूलाकार बना देता है।

स्पष्टरूप से **'अकाय'** अथवा शरीररहित कहा गया है। **'अकाय'** कह देने के बाद **'अव्रणमस्नाविरम्'** (व्रण तथा नस-नाड़ियों से रहित) कहने की क्या आवश्यकता थी—इसका स्पष्टीकरण करते हुए उव्वट ने अपने भाष्य में लिखा है—**'अव्रणमस्नाविरमिति पुनरुक्तान्यभ्यासे भूंयासमर्थं मन्यन्त इत्यदोषः'** अर्थात् बलपूर्वक निरूपण करने की भावना से की गयी पुनरुक्ति में कोई दोष नहीं है। महीधर ने भी यास्काचार्य के **'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते'** (निरुक्त १०।४२) को उद्धृत करके **'अकायमव्रणमस्नाविरमिति पुनरुक्तिरर्थातिशय-द्योतनाय'** अर्थातिशय व्यक्त करने के उद्देश्य से की गयी पुनरक्ति को निर्दोष माना है। दोनों भाष्यकारों ने **'अकायत्वादेव शुद्धमनुपहतं सत्वरजस्तमोभिरपापविद्धं क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टम्'** अकायम् होने के कारण ही परमेश्वर को शुद्ध अर्थात्—सत्वरजस्तम के भाव से असम्पृक्त तथा योगदर्शन (स०पा० २४) के अनुसार अविद्यादि क्लेश, कुशल-अकुशल, इष्ट-अनिष्ट और मिश्र फलदायक कर्मों की वासना से रहित कहा है। महीधर ने ईश्वर के अशरीरी होने का बलपूर्वक प्रतिपादन करते हुए कहा है—**'अकायोऽशरीरः लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थः। अव्रणोऽस्नाविर इति विशेणद्वयेन स्थूलशरीरप्रतिषेधः'** अर्थात् 'अकाय' के साथ 'अव्रण' और **'अस्नाविर'** इन दो विशेषण पदों के लगने से ईश्वर के साकार होने का पूरी तरह निषेध हो जाता है। कठोपनिषद् (१।२।२२) में परमेश्वर को **'अशरीरं शरीरेषु'** लोगों के शरीरों में रहते हुए भी शरीररहित कहा है। मुण्डक (१।१।६) में अक्षर ब्रह्म का वर्णन करते हुए कहा है कि वह 'अदृश्य है, इन्द्रियों से अग्राह्य है, उसका न कोई गोत्र है, न वर्ण है, न उसके हाथ पाँव या आँख-कान हैं, अर्थात् वह सर्वथा निरवयव है, वह नित्य और सर्वत्र व्याप्त है, सबमें अन्तर्निविष्ट है, अतिसूक्ष्म है, अव्यय है और समस्त भूतों—चराचर जगत् का कारण है। उसे धीर पुरुष देखते व जानते हैं।'

गीता में कहा है—**'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में वास करता है। इसी प्रकार उपनिषद् में उसे **'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा'** (श्वेत० ६।११) बताया है। हाड़-मांस से बने पुतले का सर्वव्यापी होना असम्भव है और सर्वव्यापी न होने पर वह सर्वज्ञ या सर्वनियन्ता नहीं रह सकता। देहधारी मनुष्यों का शासनक्षेत्र सीमित होता है। समस्त ब्रह्माण्ड की तुलना में तो बड़े-से-बड़ा साम्राज्य भी एक अणु से अधिक नहीं होगा। फिर भी देहधारी मनुष्य की शासनव्यवस्था न पूर्ण होती है और न निर्दोष। देहधारी कितना ही महान् और शक्तिशाली क्यों न हो, उसके सामर्थ्य की सीमा कहीं-न-कहीं अवश्य होगी। यह निर्विवाद है कि शरीरी चेतन परिमित शक्ति के अनुसार सीमित रचना करने और उसकी व्यवस्था करने में समर्थ हो सकता है। विश्व की विशालता को देखते हुए किसी शरीरधारी एकदेशी द्वारा उसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होने की कल्पना नहीं की जा सकती।

यदि परमात्मा को शरीरी माना जाएगा तो उसे एकदेशी भी मानना होगा। एकदेश में अवस्थित

https://t.me/arshlibrary

होनेपर सारे संसार से उसका सम्बन्ध नहीं रहेगा। उस अवस्था में वह अनन्त विश्व का न संचालन कर सकेगा और न अनन्त जीवात्माओं के कर्मफल की व्यवस्था कर सकेगा। अथर्ववेद में कहा है—

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।
द्वौ सन्निषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥ —४।१६।२

अर्थात्—जो मनुष्य खड़ा है या चलता है या जो दूसरों को ठगता है, जो छिपकर कुछ करता है या किसी पर अत्याचार करता है और जब दो आदमी मिलकर, एक-साथ बैठकर गुप्त मन्त्रणा करते हैं, उसे भी तीसरे वरुण भगवान् जानते हैं।

मनुस्मृति (८।९१) में न्यायाधीश के सन्मुख साक्षी देनेवाले व्यक्ति के लिए कहा गया है—

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे ।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥

साक्षी के प्रति सच बोलने की प्रेरणा देते हुए कहा जा रहा है—हे भलेमानस ! जो तू अपने आपको यह समझता है कि यहाँ अकेला मैं ही हूँ, मेरे किये को कोई नहीं देखता या जानता, ऐसा तू मत समझ। बुराई-भलाई का समझनेवाला वह सर्वज्ञ परमात्मा सदा तेरे हृदय में अवस्थित रहता है। तेरे समस्त मनोभावों को वह जानता है, उसके विपरीत कुछ मत कहना।

न्यायाधीश के सम्मुख साक्षी देनेवाला देहधारी जीवात्मा है और जीवात्मसम्बन्धी हृदयदेश में पुण्य-पाप का द्रष्टा सर्वज्ञ (मुनि) परमात्मा है। शरीरी, एकदेशी ईश्वर यह सब कैसे कर सकता है ?

शरीरी होने पर ईश्वर इन्द्रियों से युक्त होगा। इन्द्रियों से युक्त शरीर भोगादि के लिए होता है। पञ्चभूतों से निर्मित शरीर सब प्रकार के द्वन्द्वों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा। जिस प्रकार शरीरधारी जीव आचरण करता है, वैसे ही ईश्वर को भी करना होगा। इससे ब्रह्म विकारी होकर अपने सच्चिदानन्द-स्वरूप को खो बैठेगा।

ईश्वर को प्रकृति का अधिष्ठाता माना गया है; किन्तु जब वह स्वयं अपने अस्तित्व=शरीर के लिए उसपर अवलम्बित और उसके विकारों से प्रभावित होगा तो वह उसका नियामक होने का दावा कैसे कर सकेगा ? सावयव ईश्वर नित्य नहीं हो सकता।

यह कहा जा सकता है कि शास्त्रों में ईश्वर के देहांगों का वर्णन पाये जाने से ईश्वर का सावयव शरीर होना सिद्ध होता है। तद्यथा—**'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'** (ऋ० १०।९०।१); **'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्'** (अथर्व० १३।२।२६); **'सर्वतो मुखः'** (यजुः० ३२।४); **'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्'** (श्वेता० ३।१६) इत्यादि वाक्यों में अनेकशः ईश्वर के शरीरांगों का वर्णन उपलब्ध है। इस सन्दर्भ में अथर्ववेद (१०।७।३२-३४) में ब्रह्म के विराट् रूप का यह वर्णन द्रष्टव्य है—

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

https://t.me/arshlibrary

['सर्वशक्तिमान्' शब्द का अर्थ]

प्रश्न—ईश्वर 'सर्वशक्तिमान्' है, वा नहीं ?

उत्तर—है, परन्तु जैसा तुम 'सर्वशक्तिमान्' शब्द का अर्थ जानते हो, वैसा नहीं, किन्तु **'सर्वशक्तिमान्'** शब्द का यही अर्थ है कि ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदि, और सब जीवों के पुण्य-पाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में किंचित् भी किसी की सहायता नहीं लेता अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही अपना सब काम पूर्ण कर लेता है।

प्रश्न—हम तो ऐसा मानते हैं कि ईश्वर चाहे सो करे, क्योंकि उसके ऊपर दूसरा कोई नहीं है।

उत्तर—वह क्या चाहता है ? जो तुम कहो कि सब-कुछ चाहता और कर सकता है, तो हम तुमसे पूछते हैं कि परमेश्वर अपने को मार, अनेक ईश्वर बना, स्वयं अविद्वान् होकर चोरी, व्यभिचारादि पापकर्म कर और दुःखी भी हो सकता है ? जैसे ये काम ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव से विरुद्ध हैं, तो जो तुम्हारा कहना है कि 'वह सब-कुछ कर सकता है' यह कभी नहीं घट सकता, इसलिए 'सर्वशक्तिमान्' शब्द का अर्थ जो हमने कहा, वही ठीक है।

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

भूमि जिसका पैर है, अन्तरिक्ष पेट और द्यौ सिर है, सूर्य तथा पुनः पुनः नवीन होता हुआ चन्द्रमा जिसके नेत्र हैं, अग्नि को जिसने अपना मुख बनाया है, वायु जिसके प्राण-अपान हैं और आकाश जिसके चक्षु हैं, दिशाओं को जिसने व्यवहारसाधन बनाया है, उस सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म के लिए नमस्कार है।

इसी से मिलता-जुलता वर्णन मुण्डकोपनिषद् में पाया जाता है—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥ १।१।४

तेजोमय द्युलोक जिसका सिर है, चन्द्र-सूर्य जिसके नेत्र हैं, दिशा श्रोत्र, और वेद वाणी हैं, वायु प्राण एवं विश्व हृदय है तथा पृथिवी पैर है—वह समस्त जगत् का आत्मा है।

परन्तु इस समूचे वर्णन को ध्यानपूर्वक देखने के बाद कौन कह सकता है कि यहाँ ब्रह्म के प्राकृतिक वस्तुभूत सिर, पैर, हाथ, आँख आदि का उल्लेख है। वेदादि शास्त्रों में जहाँ कहीं भी इस प्रकार का कथन है वह परमात्मा के काल्पनिक विराट् रूप का वर्णन है, जिसका अभिप्राय औपचारिक अथवा आलंकारिक रूप में उसकी सर्वव्यापकता, सर्वान्तर्यामिता एवं सर्वशक्तिमत्ता को प्रकट करनामात्र है। 'सहस्र' पद यहाँ अनेक अथवा असंख्य का वाचक है। उसके सहस्र सिर, पैर, आँख आदि का कथन उसकी अनन्त शक्ति का द्योतक है। प्रकृति अथवा समस्त प्राकृतिक जगत् की उसके शरीर के रूप में कल्पना करना सर्वथा औपचारिक है। इससे परमात्मा का शरीरी होना सिद्ध नहीं होता।

सर्वशक्तिमान् का अर्थ—परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, पर **'सर्वशक्तिमान्'** का यह अर्थ नहीं कि वह जो चाहे कर सकता है। यह ठीक है कि उसके ऊपर कोई नहीं है, तथापि यह समझ लेना कि वह जो करे सो न्याय है, भूल होगी। वह वैधानिक सम्राट् (Constitutional Head) है, जो संविधान के अन्दर रहते हुए शासन करता है। उसे अपने पूर्वघोषित नियमों का उल्लंघन करने अथवा यदृच्छया उनमें संशोधन-

https://t.me/arshlibrary

[ईश्वर अनादि है]

प्रश्न—परमेश्वर सादि है, वा अनादि ?

उत्तर—अनादि, अर्थात् जिसका आदि कोई कारण वा समय न हो, उसको **'अनादि'** कहते हैं। इत्यादि सब अर्थ प्रथम समुल्लास में कर दिया है, देख लीजिए।

परिवर्धन करने का अधिकार नहीं है। अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में बलेदवाचार्य ने **'सर्वधर्मोपपत्तेश्च'** (२।१।३७) इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि इस सूत्र का यही अभिप्राय है कि परमात्मा पूर्ण न्यायकारी होते हुए भी 'अपने भक्तों पर विशेष अनुग्रह कर सकता है' (राधाकृष्णन्—ब्रह्मसूत्र)। ऐसे परमात्मा को लौकिक प्रशासकों से अच्छा नहीं माना जा सकता। जीवात्मा के कर्म-स्वातन्त्र्य को छीनकर उसे अपनी इच्छानुसार कर्म करने, कृतहानि या अकृताभ्यागम का विचार किये बिना कर्मफल देने जैसे मनमाने कार्य करने की उसे छूट नहीं है।

वस्तुतः अपने गुण-कर्म-स्वभाव तथा सृष्टिक्रम के विरुद्ध वह कुछ नहीं कर सकता। कारण के बिना कार्य, अभाव से भाव की उत्पत्ति आदि ऐसे अनेक कार्य हैं जिन्हें वह नहीं कर सकता। असम्भव को सम्भव करना उसकी शक्ति से बाहर है। ईसाई सन्त और विचारक सेंट थामस ने लिखा है—

He cannot undo the past, commit sin, make another God or make himself not exist.

—Burtrand Russel : History of Western Philosophy, p.480.

अर्थात्—परमेश्वर भूतकाल को नष्ट नहीं कर सकता। न वह स्वयं पाप में प्रवृत्त हो सकता है, न पाप कर सकता है और न अपने आप को मारकर दूसरा ईश्वर बना सकता है।

प्लेटो का कथन है—

Well, but can you imagine God will be willing to lie, whether in words or deeds or to put forth a phantom of himself ?

—See Plato : Republic in Five Great Dialogues, translated by B. Jowett p. 285.

अर्थात्—परमात्मा मिथ्याचरण नहीं कर सकता—न कथन में, न व्यवहार में। न वह अपनी जगह कोई नकली भगवान् (अपनी छायारूप) बना सकता है।

सोलहवीं शताब्दी में ईसाइयत के सुधारवादी आन्दोलन के प्रवर्त्तक मार्टन लूथर के शिष्य इंग्लैण्ड के पादरी एंसलम ने पूछा था—'Can God restore virginity to a prostitute?' क्या परमात्मा एक वेश्या को कुँआरी बना सकता है ? अन्य अनेक ऐसे प्रश्न हैं जो इसी प्रकार पूछे जा सकते हैं और जिनका उत्तर 'हाँ' में कभी नहीं हो सकता—

'Can God produce a stone which be cannot lift or can he construct a triangle whose any two sides together should be shorter than the third ?'

अर्थात्—क्या परमात्मा ऐसा पत्थर बना सकता है जिसे वह उठा न सके अथवा क्या वह ऐसा त्रिभुज बना सकता है जिसकी कोई दो भुजाएँ मिलकर तीसरी से छोटी हों ?

परमात्मा अलादीन के लैम्प की तरह सब-कुछ नहीं कर सकता। न वह जादूगर बनकर सूर्य को जहाँ चाहे रोक सकता है और न बन्दूक की गोली को चलने के बाद बीच में रोक देने जैसे तमाशे कर सकता है। परमात्मा के सर्वशक्तिमान् होने का अर्थ है कि जो उसके स्वाभाविक कर्म हैं—जैसे सृष्टि की

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—परमेश्वर क्या चाहता है ?

उत्तर—सबकी भलाई, और सबके लिए सुख चाहता है, परन्तु स्वतन्त्रता के साथ किसी को विना पाप किये पराधीन नहीं करता ।

[ईश्वर-स्तुति-प्रार्थनोपासना का फल]

प्रश्न—परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना और उपासना करनी चाहिए, वा नहीं ?

उत्तर—करनी चाहिए ।

प्रश्न—क्या स्तुति आदि करने से ईश्वर अपना नियम छोड़ स्तुति-प्रार्थना करनेवाले का पाप छुड़ा देगा ?

उत्तर—नहीं ।

प्रश्न— तो फिर स्तुति-प्रार्थना क्यों करना ?

उत्तर—उनके करने का फल अन्य ही है ।

प्रश्न—क्या है ?

उत्तर—**स्तुति** से—ईश्वर में प्रीति, उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव का सुधारना । **प्रार्थना** से—निरभिमानता, उत्साह और सहाय का मिलना । **उपासना** से—परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होना ।

उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करना या जीवों के कर्मफल की व्यवस्था करना—उनके करने में उसे किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं है, इन्हें वह अपने स्वभावगत सामर्थ्य से कर सकता है ।

अनादि-अनन्त—परमेश्वर अनादि-अनुत्पन्न है, क्योंकि वह नित्य है । जो अनादि है, वह अनिवार्यतः अनन्त है और जो अनादि-अनन्त है वही नित्य है । नित्य होने से वह अपनी सत्ता के लिए किसी कारण की अपेक्षा नहीं रखता—**'सदकारणवन्नित्यम्'** (वैशेषिक ४।१।१) ।

परमेश्वर की चाह—**'स नः पितेव सूनवे'** (ऋ० १।१।६) वह परमात्मा हमारे लिए वैसा है जैसा पुत्र के लिए पिता । इसलिए जैसे पिता सदा पुत्र की भलाई और सुख चाहता है, वैसे ही परमात्मा स्वसन्तानसदृश मनुष्यमात्र की भलाई और सुख चाहता है । अतएव वह **(नः स्वस्तये)** हमारे कल्याण के लिए **(सूपायनो भव)** उत्तम पदार्थ और सुख का साधनरूप ज्ञान प्रदान करता है । इस प्रकार वह मनुष्यों को उत्तम शिक्षा के द्वारा शुभ गुणों से युक्त करके उन्हें श्रेष्ठ कर्म करने योग्य बना देता है । इन श्रेष्ठ कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य सुख पाने योग्य हो जाता है । परमेश्वर हमारे पिता के समान है, यह बात सदा स्मरण रखने की है । बच्चे के रोगी होने पर माँ-बाप उसके हाथ पकड़कर उसके मुँह में जबर्दस्ती दवाई डालते हैं, या डॉक्टर इंजेक्शन लगाता है अथवा अपराधी को दण्डित करके शासन उसे वैसा न करने की शिक्षा देता है तो आपाततः शत्रु प्रतीत होनेवाले ये लोग हित की दृष्टि से ऐसा करते हैं, परन्तु नासमझी के कारण बालक इस भावना का विपरीत अर्थ लगाता है । इसी प्रकार जब मनुष्य दुःख या कष्ट से पीड़ित होता है तो आसानी से यह नहीं समझ पाता कि यह सब अन्ततः उसके सुख के लिए किया जा रहा है—'Affliction is not sent in vain by the merciful Father who loves us all.'

स्तुति-प्रार्थनोपासना—भक्ति शब्द **'भज् सेवायाम्'** धातु से निष्पन्न होता है । सेवा के लिए दो तत्त्वों का

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

[स्तुति के दो भेद=सगुण और निर्गुण स्तुति]

प्रश्न—इसको स्पष्ट करके समझाओ ।

उत्तर—जैसे **ईश्वर की स्तुति**—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविर ँ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥१॥

—यजुः० अ० ४० । मं० ८ ॥

होना अनिवार्य है—एक सेवक और दूसरा सेव्य । भक्ति के लिए भक्त और भगवान् की, उपासना के लिए उपासक और उपास्य की, प्रार्थना के लिए प्रार्थयिता और प्रार्थना की और स्तुति के लिए स्तोता और स्तुत्य की आवश्यकता है । अद्वैतवाद में एक ही तत्व माना जाता है—**'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति'** । वेद की दृष्टि से जीवात्मा और परमात्मा पृथक्-पृथक् दो तत्त्व हैं । जीवात्मा सेवक है तो परमात्मा सेव्य, जीवात्मा भक्त और उपासक है तो परमात्मा भगवान् और उपास्य है । जीवात्मा प्रार्थयिता है तो परमात्मा प्रार्थनीय । इसी प्रकार जीवात्मा स्तोता है तो परमात्मा स्तुत्य । इसलिए अद्वैतवादी भक्तों को भी विवश होकर स्वीकार करना पड़ा—

पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे ।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम् ॥

इस प्रकार भक्ति के तीन मुख्य अंग हैं—स्तुति, प्रार्थना और उपासना । 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में ग्रन्थकार ने 'याचना' और 'समर्पण' ये दो और माने हैं । सामान्यतः 'याचना' का 'प्रार्थना' में और 'समर्पण' का 'उपासना' में अन्तर्भाव है, तथापि इनपर यथास्थान विस्तार से विचार किया जाएगा । वेदमन्त्रों के अध्ययन से पता चलता है कि प्रायः मन्त्रों में स्तुति और प्रार्थना का युगपत् समावेश है । ऐसे मन्त्र बहुत थोड़े हैं जिनमें केवल स्तुति है, प्रार्थना नहीं या जिनमें केवल प्रार्थना है, स्तुति नहीं । यास्क ने निरुक्त में इस भावना को इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—

अथापि स्तुतिरेव भवति नाशीर्वादः । 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्' इति यथैतस्मिन्सूक्ते । अथाप्याशीरेव न स्तुतिः । 'सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासं सुवर्चा मुखेन सुश्रुत्कर्णाभ्यां भूयासम्' इति । तदेतद् बहुलमाध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु । —७।१।३

अर्थात्—किन्हीं मन्त्रों में केवल स्तुति है, आशीर्वाद (प्रार्थना) नहीं (**आङ् शासु इच्छायाम्**) जैसेकि ऋग्वेद १।३२ में । यह सूक्त १५ ऋचाओं का है । उन सबमें इन्द्र की स्तुति ही वर्णित है, किसी प्रकार की प्रार्थना नहीं की गयी है और कई स्थानों में आशीर्वाद (प्रार्थना) ही है, स्तुति नहीं, परन्तु मन्त्रों की सामान्य स्थिति यही है कि उनमें स्तुति और प्रार्थना का एकत्र वर्णन है ।

सायणाचार्य तथा तदनुयायी विद्वान् वेदों का प्रायः यज्ञपरक अर्थ करते हैं, परन्तु यज्ञ में स्तुति आदि सबका समावेश है । यज्ञपरक अर्थों में भाव्यमान देव की पूजा की जाती है अर्थात् उसके गुणों का वर्णन किया जाता है, उसकी स्तुति की जाती है तथा उससे अभीष्ट पदार्थों की प्रार्थना और याचना की जाती है । यज्ञ में उस भाव्यमान देव का आह्वान किया जाता है, उसका सान्निध्य प्राप्त किया जाता है । यही उपासना है । उपासना का अर्थ है अपने अभीष्ट देवता के समीप बैठना । समीप बैठने को ही संगति या सत्संग कहते हैं (**यज् संगतिकरणे**) । इसी प्रकार यज्ञ में समर्पण भी किया जाता है । यह समर्पण है भगवान् के प्रति अपनी वस्तुओं

https://t.me/arshlibrary

वह परमात्मा सबमें व्यापक, शीघ्रकारी और अनन्त बलवान्, जो शुद्ध, सर्वज्ञ, सबका अन्तर्यामी, सर्वोपरि विराजमान, सनातन, स्वयंसिद्ध परमेश्वर अपनी जीवरूप सनातन, अनादि प्रजा को अपनी सनातन विद्या से यथावत् अर्थों का बोध वेद द्वारा कराता है, यह **'सगुण-स्तुति'** अर्थात् जिस-जिस गुण से सहित परमेश्वर की स्तुति करना वह सगुण। और **'अकाय'**=अर्थात् वह कभी शरीर-धारण वा जन्म नहीं लेता, जिसमें छिद्र नहीं होता, नाड़ी आदि के बन्धन में नहीं आता, और कभी पापाचरण नहीं करता, जिसमें क्लेश, दुःख, अज्ञान कभी नहीं होता, इत्यादि जिस-जिस राग-द्वेषादि गुण से पृथक् मानकर परमेश्वर की स्तुति करना है, वह **'निर्गुण-स्तुति'** है।

का समर्पण, अपने शरीर, मन तथा इन्द्रियों का और अन्त में आत्मा का समर्पण। इस प्रकार वेदों के याज्ञिक अर्थों में भी स्तुति आदि भक्ति के सभी अंगों का समावेश हो जाता है।

स्तुति—शास्त्र में 'स्तुति' का अर्थ लोक में प्रचलित अर्थ (प्रशंसा, सराहना, गुणगान आदि) से भिन्न है। वस्तुतः **'दोषेषु गुणारोपणमसूया'** दोषों में गुणों को आरोपित करना 'असूया' है। इसी प्रकार **'गुणेषु दोषारोपणमप्यसूया'** गुणों में दोषों को आरोपित करना भी 'असूया' है। **'गुणेषु गुणारोपणं दोषेषु दोषारोपणं च स्तुतिः'**—गुणों-में-गुणों का और दोषों-में-दोषों का आरोपण करना अर्थात् जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही कहना स्तुति है। 'परमेश्वर जो चाहे कर सकता है' अथवा 'वह सब-कुछ कर सकता है' कहना परमेश्वर की स्तुति करना नहीं है। अपितु 'परमेश्वर अपने गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार अपने सब काम बिना किसी की सहायता के कर सकता है' कहना ही उसकी स्तुति करना है। इस प्रकार परमेश्वर के गुणों का चिन्तन व स्तवन करना स्तुति है। स्तुति तीन प्रकार से की जाती है—मानसिक ध्यान व जप द्वारा, मौखिक उच्चारण द्वारा तथा संगीत द्वारा। उत्तम स्तुति वह है जो उपासक को अमरता के पथ का पथिक बना दे।

सगुण-निर्गुण भेद से स्तुति दो प्रकार की है। जो गुण परमेश्वर में हैं उनसे युक्त मानकर उसकी स्तुति करना **'सगुण'** स्तुति है। जैसे—**'एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः'** निश्चय ही वह परमात्मा सब दिशाओं में व्याप्त और प्रसिद्ध है, वही **'हिरण्यगर्भ'** है। **'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्**—उसी ने पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक आदि को धारण किया हुआ है। **'धामानि वेद भुवनानि विश्वा'** वह सब लोक-लोकान्तारों को जाननेवाला है। इसी प्रकार **'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्'** (माण्डूक्य ६)—वह परमात्मा सर्वेश्वर, सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी है। वह सबका ठिकाना और सब भूतों की उत्पत्ति एवं लय का आधार है। जो गुण ईश्वर में नहीं हैं, उनसे पृथक् मानकर उसकी स्तुति करना **'निर्गुण'** स्तुति है। जैसे— **'तदक्षरमकायमव्रणमस्नाविरमस्थूलमह्रस्वमलौहित-मगन्धमरसमचक्षुकमश्रोत्रममुखमच्छायमनाकाशम्'**, अर्थात् वह ब्रह्म अविनाशी, अकाय, अव्रण, अस्नाविर, अस्थूल, न ह्रस्व, न दीर्घ, न रंगवाला, गन्ध-रस-चक्षु-श्रोत्र-मुख से रहित, छाया के बिना और आकाश से भिन्न है।

स पर्यगा०—(सः) वह परमात्मा (परि-अगात्) चारों ओर पहुँचा हुआ अर्थात् सर्वव्यापक (शुक्रम्) अत्यन्त उज्ज्वल (अकायम्) शरीररहित (अव्रणम्) व्रण या क्षत से रहित (अस्नाविरम्) नस-नाड़ियों से रहित (शुद्धम्) निर्मल (अपापविद्धम्) सर्वथा निष्पाप (कविः) क्रान्तदर्शी (मनीषी) पूर्णज्ञानी (परिभूः) दुष्टों का पराभव करनेवाला (स्वयम्भूः) स्वयंसिद्ध, अजन्मा (शाश्वतीभ्यः) सनातन=नित्य (समाभ्यः) प्रजाओं के लिए (याथातथ्यतः) ठीक-ठीक (अर्थान्) **कर्त्तव्य पदार्थों** का (व्यदधात्) विधान करता है।

https://t.me/arshlibrary

किसी व्यक्ति या पदार्थ के गुणों को जानकर उसका सान्निध्य प्राप्त करने की इच्छा उभरती है। स्तुति करने से ईश्वर में प्रीति होकर स्वयं को वैसा बनाने— उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म, स्वभाव को प्रभावित करने=सुधारने की प्रेरणा मिलती है। मनुष्य के किसी भी कर्म—कायिक, वाचिक, मानसिक—का संस्कार उसके आत्मा पर पड़े बिना नहीं रहता। शास्त्रों में जहाँ **'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिः'** कानों से भद्र सुनने और आँखों से भद्र देखने का आदेश है, वहाँ **'वाचं वदत भद्रया'** वाणी से भद्र बोलने की प्रेरणा की गयी है। अर्थ की भावना करते हुए बार-बार परमेश्वर को दयालु, न्यायकारी, निष्पाप कहते रहने से मनुष्य को स्वयं भी वैसा बनने की प्रेरणा मिलती है—**'रसरी आवत जात ते सिल पर परत निसान'**।

परन्तु ईश्वर की स्तुति करने का पूर्ण लाभ तभी है जब स्तुति करनेवाला ईश्वर के गुणों को अपनाने—यथासम्भव उन्हें अपने अन्दर धारण करने का प्रयास करे। **'अपापविद्धम्'** कहते हुए पापों से बचने का यत्न करे। **'सर्वाधार'** कहते हुए असहायों की सहायता किया करे। **'न्यायकारी'** कहते हुए जहाँ भी और जिस-किसी भी स्थिति में हो, सदा, सर्वत्र सबके साथ न्याययुक्त व्यवहार करे। **'दयालु'** कहते हुए यदि वह किसी भी प्राणी को पीड़ा पहुँचाता है तो वह उस मुसलमान से अच्छा नहीं जो 'बिस्मिल्ला-अर्रहमानर्रहीम' का पाठ करते हुए खुदा को 'रहमान' और 'रहीम' भी कहता जाता है और बकरे की गर्दन पर छुरी भी चलाता जाता है। चरित्र में सुधार लाये बिना भाण्ड के समान परमात्मा का गुण-कीर्तन करना टेपरिकार्डर की ध्वनिमात्र है।

स्तुति आदि करने से किसी के पाप क्षमा नहीं होते। प्रारब्ध कर्म का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं हो सकता—**'नाभुक्तं क्षीयते कर्म'**। अपने इस नियम को परमेश्वर स्तुति करनेवाले अपने भक्त के लिए शिथिल नहीं कर सकता। खुशामदियों से घिरे हुए शासकों के समान यदि परमेश्वर अपनी स्तुति सुनकर अपराधियों के पाप क्षमा करने लगे तो उसकी न्याय-व्यवस्था चौपट हो जाए। वस्तुतः परमेश्वर तटस्थ भाव से जीवों का साक्षी रहते हुए सर्वथा न्याय-परायण है।

वेद का आदेश है—**'तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः सत्यस्य। युवानमद्रोघवाचं सुशेवम्'** (अथर्ववेद ६।१।२)। अर्थात्—हे उपासक! तू उसी की स्तुति किया कर जो तेरे हृदय-सागर के अन्दर विद्यमान है, जो सत्य का प्रेरक है, सदा सशक्त है, जिसकी वेदवाणी द्वेषादि दुर्भावनाओं के परित्याग का उपदेश देती है और जो सदा उत्तम गुणों का प्रदाता है।

ईश्वर से अतिरिक्त अन्य किसी की स्तुति-निषेध करते हुए वेद में कहा है—

'मा चिदन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत। इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत॥' (अथर्व० २०।८५।१)। अर्थात् हे उपासक मित्रो! किसी अन्य की विविध स्तुतियाँ मत किया करो। परमेश्वर से अतिरिक्त किसी की स्तुति करके विनाश को प्राप्त मत होओ। भक्तिरस के पैदा हो जानेपर, मिलकर, सुखों की वर्षा करनेवाले परमेश्वर की ही स्तुति सदा किया करो और वैदिक सूक्तों का बार-बार उच्चारण किया करो।

प्रार्थना से निरभिमानता आती है और परमेश्वर से उत्साह और साहाय्य की प्राप्ति होती है। माँगा उससे जाता है जिसके पास कोई वस्तु होती है और माँगता वह है जिसके पास उसका अभाव होता है। उस स्थिति में माँगनेवाले में हीनता का भाव उदय होता है, इससे उसका अहंकार नष्ट हो जाता है। किसी के आगे हाथ पसारते ही आँखें नीची हो जाती हैं। सब-कुछ प्राप्त कर लेने के बाद भी जब मनुष्य अहोरात्र

https://t.me/arshlibrary

इससे अपने गुण-कर्म-स्वभाव भी तद्वत् करना। जैसे वह न्यायकारी है, तो आप भी न्यायकारी होवे और जो केवल भाँड के समान परमेश्वर के गुण-कीर्तन करता जाता, और अपने चरित्र नहीं सुधारता, उसका स्तुति करना व्यर्थ है।

प्रार्थना—

[कैसी प्रार्थना करनी चाहिए]

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधायाऽग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥१॥

—यजुः० ३२।१४॥

के आरम्भ में अर्थात् सायं-प्रातः **'हिरण्यगर्भ'** के सामने नतमस्तक होकर **'धियो यो नः प्रचोदयात्'**, **'स नो वसून्याभर'**, **'बलं मे धेहि'**—कभी बुद्धि की माँग करता है, कभी धन की और कभी बल की, तो अभिमान कहाँ ठहर सकता है ? इसके साथ ही जब उसे इस बात का विश्वास हो जाता है कि आवश्यकता होनेपर उसे कहीं से सहायता मिल सकती है तो वह द्विगुणित उत्साह के साथ आगे बढ़ता है। गिरने लगूँगा तो पुकार करनेपर कोई मुझे सँभाल लेगा, यह विचार ही उसे बड़े-से-बड़े काम में हाथ डालने का साहस प्रदान करेगा। **'यस्ते वष्टि ववक्षि तत्'** (ऋ० ८।४५।६)—प्रार्थी तुझसे जो चाहता है, पा लेता है, इत्यादि वचनों से इसकी पुष्टि होती है। इस प्रकार प्रार्थना से अभिमान का नाश होता है, आत्मा में आर्द्रता आती है, गुण ग्रहण करने की शक्ति बढ़ती है और आगे बढ़ने में सहायता मिलती है।

यां मेधाम्—इस मन्त्र में मेधा नाम से अभिहित धारणावती बुद्धि के लिए प्रार्थना की गयी है। **'मेधृ संगमे'** धातु से मेधा शब्द निष्पन्न होता है। **'मेधा आशुग्रहणे'** के रूप में भी यह परिभाषित है। निरुक्त (३।१६) में कहा है—**'मेधाबुद्धिः मतौ धीयते'**। आप्त पुरुष, निष्णात विद्वान् तथा अनुभवी वृद्धजन इसी के द्वारा सदसत् का विवेचन करने में समर्थ होते हैं। इसलिए वे अहर्निश इसी का सेवन करते हैं। इस मन्त्र के द्वारा उपासक प्रकाशस्वरूप परमात्मा से उसी बुद्धि को पाने की प्रार्थना करता है। प्रकारान्तर से वह अपने प्रभु से देवगण और पितरों को भी ऐसी प्रेरणा करने की प्रार्थना करता है कि वे उसे भी अपने ज्ञान और अनुभव द्वारा अपने समान मेधावी बनने में उसकी सहायता करें। देव (विद्वान्) तथा महादेव (परमेश्वर) प्रत्यक्षरूप में न किसी की रक्षा करते हैं और न किसी को दण्ड देते हैं—

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यं हि रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संयोजयन्ति तम्॥ —महाभारत

मेधा का एक अपर अर्थ है—धन (**मेधा धननाम** निरुक्त २।१०)। यजुर्वेद (३२।१३) में कहा है **'सनिं मेधामयासिषम्'**। **'सनि'** शब्द **'षणु दाने'** **'षण् संभक्तौ'** से निष्पन्न है। धन का 'सनि' विशेषण दान की योग्यता का संकेत करता है। ग्रन्थकार ने अपने वेदभाष्य में इस मन्त्र के माध्यम से दोनों की प्रार्थना करते हुए मन्त्र के भावार्थ में लिखा है—

'मनुष्याः परमेश्वरमुपास्याप्तं विद्वांसं संसेव्य शुद्धं विज्ञानं धर्मजं धनं च प्राप्तुमिच्छेयुरन्यांश्चैवं प्रापयेयुः'—मनुष्यों का कर्त्तव्य है कि वे परमेश्वर की उपासना और विद्वानों की संगति द्वारा पवित्र ज्ञान और धर्माचरण करते हुए धन की इच्छा करें और फिर दूसरों को भी दोनों चीजें प्राप्त कराएँ। धन बुरा नहीं, उपादेय होने से उसे प्राप्त करना आवश्यक है, किन्तु अपवित्र धन अग्राह्य एवं त्याज्य है। **'श्रेष्ठं नो**

https://t.me/arshlibrary

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि बलमसि बलं मयि धेह्योज स्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥२॥

—यजुः० अ० १९ । मं० ९

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंङ्कल्पमस्तु ॥३॥

द्रविणम्' तथा **'अग्ने नय सुपथा राये'** इत्यादि श्रुतिवचन इसमें प्रमाण हैं । इस मन्त्र की व्याख्या में **'स्वाहा'** शब्द के निरुक्तकार द्वारा किये गये अर्थों को देखकर ग्रन्थकार द्वारा किया गया विशदीकरण मननयोग्य है और **'स्वाहा'** शब्द का उच्चारण करते समय उसे सदा ध्यान में रखना चाहिए ।

बुद्धि की याचना करते हुए इस मन्त्र में परमेश्वर को **'अग्नि'** नाम से सम्बोधित किया है । शतपथ (१।६।२।१०) में अग्नि को देवों का 'सुहृदयतमः'—विद्वानों में सबसे उत्तम हृदयवाला कहा है । वहीं अन्यत्र (१।१।१।२) **'अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः'** कहा है और उसे देवों का रक्षक बताया है । शाकपूणि आचार्य ने **'णीञ्'**—नी प्रापणे शब्द से इसकी निष्पत्ति की है । इस प्रकार अग्नि शब्द परमात्मा के विशेष गुणों का द्योतक है । उन गुणों से युक्त परमात्मा से बुद्धि की याचना करना सर्वथा उपयुक्त है । इससे यह भी प्रतीत होता है कि सद्बुद्धि और शुद्ध साधनों से प्राप्त धन परमात्मा की कृपा के बिना नहीं मिलते ।

तेजोऽसि—इस मन्त्र की देवता सोम है । परमात्मा का सोमरूप आनन्द, अमृत और उत्पादन का देवता है । उसमें तेज आदि गुण अनन्तरूप में विद्यमान हैं । उन्हीं गुणों की प्राप्त्यर्थ यहाँ प्रार्थना की गयी है । सहनशक्ति बढ़ने से शारीरिक बल में वृद्धि होती है तथा द्वन्द्वों को सहन करने का सामर्थ्य बढ़ता है । मनन द्वारा क्रोध को मन्यु में रूपान्तरित करने से मानसिक वीर्य बढ़ता है । वैयक्तिक क्षति से उत्पन्न क्रोध में से स्वार्थ के अंश को निकालकर केवल दुष्टता के प्रति रोष का नाम मन्यु है । अभ्यास द्वारा वीर्य के बाह्य प्रस्रवण को अन्तःस्रवित करने से अथवा ऊर्ध्वरेता होने से ओज उत्पन्न होता है । यह ओज ही आत्मा में तेजस्विता उत्पन्न करता है ।

आत्मा में ऋजुता धारण करने से सत्य का तेज=श्रद्धा (तेज एव श्रद्धा—शत० ११।३।१।१) बढ़ता है । मन में विवेक को स्फूर्त करने से क्रोध, मन्यु में रूपान्तरित होता है । शीतोष्ण, सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि द्वन्द्वों को सहन करने से शरीर तथा आत्मा में जीवन में आनेवाली बड़ी-से-बड़ी विपत्तियों का सामना करने की शक्ति बनी रहती है । तेज, वीर्य [**वि+ईर प्रेरणे**] 'वीर्यप्रभावे शुक्रे च तेजः सामर्थ्योऽपि' (मेदिनी), **'वीर विक्रान्तौ, वीरयति स्वधारकम्'** (अमर), सर्वाङ्गस्फूर्ति (ग्रन्थकार)] और बल (**बल संवरणे सञ्चरणे च**) कारण हैं और तेज, मन्यु तथा सह परिणाम हैं । तेजस्वी व्यक्ति ही ओजस्वी, वीर्यवान् तथा मनस्वी बनता है और बलवान् ही सहनशील (षह् मर्षणे । 'क्षमू सहने' से क्षमा शब्द बनता है—जो सह सकता है वही क्षमा कर सकता है) होता है । 'अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण' (यजुः० ३।१७) में की गयी अव्यक्त प्रार्थना को इस मन्त्र में व्यक्त रूप दिया गया है । मनुष्य को जिस तत्त्व, गुण या पदार्थ की कामना हो प्रभु को उसी तत्त्वरूप में या पदार्थ के स्वामी के रूप में सम्बोधित करके प्रार्थना करनी चाहिए । आनन्दस्वरूप कहकर उससे बल की अथवा मेधावी नाम से स्मरण करके उससे अन्न की प्रार्थना करना असंगत होने से व्यर्थ होगी ।

https://t.me/arshlibrary

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥४॥
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्नऽऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥५॥
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥६॥

ग्रन्थकारकृत यजुर्वेदभाष्य में इन मन्त्रों का पदार्थ तथा भावार्थ इस प्रकर उपलब्ध है—

यज्जाग्रत् इति—पदार्थः—हे जगदीश्वर ! आपकी कृपा से (यत्) जो (दैवम्) आत्मा में रहने व जीवात्मा का साधन (दूरङ्गमम्) दूर जाने, मनुष्य को दूर-दूर तक ले-जाने व अनेक पदार्थों का ग्रहण करनेवाला (ज्योतिषाम्) शब्द आदि विषयों के प्रकाशक श्रोत्र आदि इन्द्रियों को (ज्योतिः) प्रवृत्त करनेहारा (एकम्) एक (जाग्रतः) जाग्रदवस्था में (दूरम्) दूर-दूर (उत्-एति) भागता है (उ) और (तत्) जो (सुप्तस्य) सोते हुए का (तथा, एव) उसी प्रकार (एति) भीतर अन्तःकरण में जाता है (तत् मे मनः) वह मेरा मन संकल्प-विकल्पात्मक मन (शिवसंकल्पमस्तु) कल्याणकारक धर्मविषयक इच्छावाला हो ।

भावार्थः—जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा का सेवन और विद्वान् का संग करके अनेकविध सामर्थ्ययुक्त मन को शुद्ध करते हैं, जो जाग्रदवस्था में विस्तृत व्यवहारवाला है वही मन सुषुप्ति अवस्था में शान्त होता है । जो वेगवाले पदार्थों में अतिवेगवान् ज्ञान का साधन होने से इन्द्रियों के प्रवर्तक मन को वश में करते हैं, वे अशुभ व्यवहार को छोड़ शुभ व्यवहार में मन को प्रवृत्त कर सकते हैं ।

येन कर्माणीति—पदार्थः—हे परमेश्वर ! जब आपके संग से (येन) जिस (अपसः) सदा कर्म-धर्मनिष्ठ (मनीषिणः) मन का दमन करनेवाले (धीराः) ध्यान करनेवाले बुद्धिमान् लोग (यज्ञे) अग्निहोत्रादि वा धर्मसंयुक्त व्यवहार वा योगयज्ञ में और (विदथेषु) विज्ञानसम्बन्धी और युद्धादि व्यवहारों में (कर्माणि) अत्यन्त इष्टकर्मों को (कृण्वन्ति) करते हैं (यत्) जो (अपूर्वम्) सर्वोत्तम गुण-कर्मस्वभाववाला (प्रजानाम्) प्राणिमात्र के (अन्तः) हृदय में (यक्षम्) पूजनीय वा संगत एकीभूत हो रहा है (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन—मनन से विचार करना रूप मन (शिवसंकल्पमस्तु) धर्मेष्ठ होवे ।

भावार्थः—मनुष्यों को चाहिए कि परमेश्वर की उपासना, सुन्दर विचार, विद्या और सत्संग से अपने अन्तःकरण को अधर्माचरण से निवृत्त कर धर्म के आचरण में प्रवृत्त करें ।

यत्प्रज्ञानमिति—पदार्थः—हे जगदीश्वर ! आपके जताने से (यत्) जो (प्रज्ञानम्) विशेषकर ज्ञान का उत्पादक बुद्धिरूप (उत) और भी (चेतः) स्मृति का साधन (धृतिः) धैर्यस्वरूप (यत् च) और जो लज्जादि कर्मों का हेतु (प्रजासु) मनुष्यों के (अन्तः) अन्तःकरण में आत्मा का साथी होने से (अमृतम्) नाशरहित (ज्योतिः) प्रकाशरूप (यस्माद् ऋते) जिसके बिना (किम्-चन) कोई भी (कर्म) काम (न क्रियते) नहीं किया जाता (तत् मे) वह मुझ जीवात्मा का (मनः) सब कर्मों का साधनरूप मन (शिवसंकल्पम्) कल्याणकारी परमात्मा में इच्छा रखनेवाला (अस्तु) हो ।

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो अन्तःकरण, बुद्धि, चित्त और अहंकाररूप वृत्तिवाला होने से चार प्रकार से भीतर प्रकाश करनेवाला, प्राणियों के सब कर्मों का साधक अविनाशी मन है, उसको न्याय और सत्याचरण में प्रवृत्त कर पक्षपात, अन्याय और अधर्माचरण से तुम लोग निवृत्त करो ।

https://t.me/arshlibrary

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥७॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥८॥

—यजुः० अ० ३४ । मं० १,२,३,४,५,६

येनेदमिति—पदार्थः—हे मनुष्यो ! (येन) जिस (अमृतेन) नाशरहित परमात्मा के साथ युक्त होनेवाले मन से (भूतम्) व्यतीत हुआ (भुवनम्) वर्त्तमानकालसम्बन्धी और (भविष्यत्) होनेवाला (सर्वम् इदम्) यह सब त्रिकालस्थ वस्तुमात्र (परिगृहीतम्) सब ओर से गृहीत होता अर्थात् जाना जाता है (येन) जिससे (सप्तहोता) (ग्रन्थकार ने 'सप्तहोता' से यहाँ (स०प्र० में) 'पाँच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और आत्मायुक्त मन' का ग्रहण किया है, जबकि यजुर्वेदभाष्य में 'सात मनुष्य होता वा पाँच प्राण, छठा जीवात्मा और सातवाँ अव्यक्त' को माना है । स्वामी आत्मानन्दजी ने 'मन, प्राण और ज्ञानेन्द्रियों' का ग्रहण किया है । सात मनुष्य होता वा पाँच प्राण छठा जीवात्मा और अव्यक्त सातवाँ ये सात जिसमें लेने-देनेवाले हों वह (यज्ञः) अग्निष्टोमादि वा विज्ञानरूप व्यवहार (तायते) विस्तार किया जाता है (तत् मे मनः) वह मेरा योगयुक्त चित्त (शिवसङ्कल्पम्) मोक्षरूप संकल्पवाला (अस्तु) होवे ।

भावार्थः—हे मनुष्यो ! जो चित्त योगाभ्यास के साधन और उपसाधनों से सिद्ध हुआ, भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालों का ज्ञाता सब सृष्टि का जाननेवाला कर्म, उपासना और ज्ञान का साधक है, उसको सदा ही कल्याण में प्रिय करो ।

यस्मिन्निति—पदार्थः—(यस्मिन्) जिस मन में (रथनाभाविव अराः) जैसे रथ के पहिए के बीच के काष्ठ में अरे लगे होते हैं वैसे (ऋचः साम यजूंषि) ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद (प्रतिष्ठिताः) सब ओर से स्थित और (यस्मिन्) जिसमें अथर्ववेद स्थित है (यस्मिन्) जिसमें (प्रजानाम्) प्राणियों का (सर्वम्) समग्र (चित्तम्) सर्वपदार्थसम्बन्धी ज्ञान (ओतम्) सूत में मणियों के समान संयुक्त है (तत् मे मनः) वह मेरा मन (शिवसंकल्पमस्तु) कल्याणकारी वेदादि सत्यशास्त्रों के प्रचाररूप संकल्पवाला हो ।

भावार्थः—इस मन्त्र में उपमा और वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । हे मनुष्यो ! तुम लोगों को चाहिए कि जिस मन के स्वस्थ रहने में ही वेदादि विद्याओं का आधार और जिसमें सब व्यवहारों का ज्ञान एकत्र होता है, उस अन्तःकरण को विद्या और धर्म के आचरण से पवित्र करो ।

सुषारथिरिति—पदार्थः—(यत्) जो मन (सुषारथिः) जैसे सुन्दर चतुर सारथि (अश्वानिव) लगाम से घोड़ों को सब ओर से चलाता है, वैसे (मनुष्यान्) मनुष्यादि प्राणियों को (नेनीयते) शीघ्र-शीघ्र इधर-उधर घुमाता है और (अभीषुभिः) जैसे रस्सियों से (वाजिन इव) वेगवाले घोड़ों को सारथि वश में करता है वैसे नियम में रखता (यत्) जो (हृत्प्रतिष्ठम्) हृदय में स्थित (अजिरम्) विषयादि में प्रेरक वा वृद्धावस्थारहित और (जविष्ठम्) अत्यन्त वेगवान् है (तत्) वह (मे मनः) मेरा मन (शिवसंकल्पम्) मंगलमय नियम में इष्ट (अस्तु) होवे ।

भावार्थः—इस मन्त्र में दो उपमालङ्कार हैं । जो मनुष्य जिस पदार्थ में आसक्त है, वही बल से सारथि घोड़ों को जैसे वैसे प्राणियों को ले-जाता और लगाम से सारथि घोड़ों को जैसे वैसे वश में रखता, सब मूर्खजन जिसके अनुकूल वर्तते और विद्वान् अपने वश में करते हैं जो शुद्ध हुआ सुखकारी और अशुद्ध

https://t.me/arshlibrary

हे अग्ने अर्थात् प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! आपकी कृपा से जिस बुद्धि की उपासना विद्वान्, ज्ञानी और योगी लोग करते हैं, उसी बुद्धि से युक्त हमको इसी वर्त्तमान समय में बुद्धिमान् आप कीजिए ॥१॥

आप प्रकाशस्वरूप हैं, कृपा कर मुझमें भी प्रकाश-स्थापन कीजिए । आप अनन्त पराक्रमयुक्त हैं, इसलिए मुझमें भी अपने कृपा-कटाक्ष से पूर्ण पराक्रम धरिए । आप अनन्तसामर्थ्ययुक्त हैं, इसलिए मुझको भी पूर्ण सामर्थ्य दीजिए । आप दुष्ट काम और दुष्टों पर क्रोधकारी हैं, मुझको भी वैसा ही कीजिए । आप निन्दा-स्तुति और स्व अपराधियों का सहन करनेवाले हैं, कृपा से मुझको भी वैसा ही कीजिए ॥२॥

हे दयानिधे ! आपकी कृपा से [जो] मेरा मन [जागते हुए] जगत् में दूर-दूर जाता, दिव्यगुणयुक्त रहता है, और वही सोते हुए मेरा मन सुषुप्ति को प्राप्त होता, वा स्वप्न में दूर-दूर जाने के समान व्यवहार करता, सब प्रकाशकों का प्रकाशक, एक, वह मेरा मन शिवसङ्कल्प, अर्थात् अपने और दूसरे प्राणियों के अर्थ कल्याण का सङ्कल्प करनेहारा होवे । किसी की हानि करने की इच्छायुक्त कभी न होवे ॥३॥

हे सर्वान्तर्यामी ! जिससे कर्म करनेहारे धैर्ययुक्त विद्वान् लोग यज्ञ और युद्धादि में कर्म करते हैं, जो अपूर्व सामर्थ्ययुक्त , पूजनीय और प्रजा के भीतर रहनेवाला है, वह मेरा मन धर्म करने की इच्छायुक्त होकर अधर्म को सर्वथा छोड़ देवे ॥४॥

हुआ दुःखदायी, जो जीता हुआ सिद्धि को और न जीता हुआ असिद्धि को देता है, वह मन मनुष्यों को अपने वश में रखना चाहिए ।

इन मन्त्रों में निहित गूढार्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ स्वामी आत्मानन्दजी महाराज का किया अर्थ भी प्रस्तुत कर रहे हैं, जो इस प्रकार है—

यज्जाग्रतो—(यत्) जो (जाग्रतः) जागते हुए का (दूरम्) दूर—बाह्य विषय में (उदैति) उदय होता है (तत्-उ) और वही (सुप्तस्य) सोते हुए का (तथैव) उसी प्रकार (दूरङ्गमम्) दूर-संस्कार देश में गया हुआ (उत्-एति) उदित होता है (तत् मे) वह मेरा (ज्योतिषाम् एकं ज्योतिः) इन्द्रियरूपी प्रकाशों का एक प्रकाश (दैवं मनः) दैव मन (शिवसंकल्पम्) शुभ विचारोंवाला (अस्तु) हो ।

येन कर्माण्यपसो—(मनीषिणः) बुद्धिमान् और (अपसः) कर्मनिष्ठ, धीर विद्वान् (येन) जिसके द्वारा (यज्ञे विदथेषु) यज्ञ और ज्ञानयज्ञों में (कर्माणि) कर्म (कृण्वन्ति) करते हैं (यत्) जो (अन्तः प्रजानाम्) अन्दर पैदा होनेवाले तत्त्वों में (अपूर्वम्) विचित्र तत्त्व है, (तत् मे) वह मेरा (यक्षम् मनः) यक्ष मन (शिवसंल्पमस्तु) शुभ विचारोंवाला हो ।

यत्प्रज्ञानम्—(यत्) जो (अन्तः ज्योतिः) अन्दर प्रकाशरूप है (तत्) वह (प्रज्ञानं मनः) मेरा बुद्धिरूप मन (यत्-प्रजासु) जो उत्पन्न होनेवालों में (अमृतम्) अमर है, अर्थात् जिसपर अंकित होनेवाले चित्र अमिट हैं (तत् मे चेतः मनः) वह मेरा चित्तरूपी मन (यस्मात् ऋते) जिसके बिना (किञ्चन कर्म) कोई भी काम (न क्रियते) नहीं होता (तत् मे) वह मेरा (धृतिः मनः) धृति मन (शिवसंकल्पमस्तु) शुभ विचारोंवाला होवे ।

येनेदं भूतम्—(इदम्) यह (भूतम्) भूत (भुवनम्) वर्तमान (भविष्यत्) भावी (येन अमृतेन) जिस अमृत ने (परिगृहीतम्) चारों ओर से गृहीत किया है, (येन) जिसके द्वारा (सप्तहोता) सात ऋत्विजों से संचालित (यज्ञः) ज्ञानयज्ञ (तायते) रचाया जा रहा है (तत् मे) वह मेरा (अमृतं मनः) अमर प्रत्यग्भान मन (शिवसंकल्पमस्तु) शुभ विचारोंवाला हो ।

विशेष—यह मन धृति का ही अवान्तर भेद है, अतः इसे विशेष नाम नहीं दिया गया । अमृत पद भी

https://t.me/arshlibrary

जो उत्कृष्ट-ज्ञान और दूसरे को चितानेहारा, निश्चयात्मकवृत्ति है, और जो प्रजाओं में भीतर प्रकाशयुक्त और नाशरहित है, जिसके विना कोई कुछ भी कर्म नहीं कर सकता, वह मेरा मन शुद्ध गुणों की इच्छा करके दुष्ट गुणों से पृथक् रहे ॥५॥

हे जगदीश्वर ! जिससे सब योगी लोग इन सब भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान व्यवहारों को जानते, जो नाशरहित जीवात्मा को परमात्मा के साथ मिलाके सब प्रकार त्रिकालज्ञ करता है, जिसमें ज्ञान और क्रिया है, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और आत्मायुक्त रहता है, उस योगरूप यज्ञ को जिससे बढ़ाते हैं, वह मेरा मन योग-विज्ञानयुक्त होकर अविद्यादि क्लेशों से पृथक् रहे ॥६॥

हे परमविद्वन् परमेश्वर ! आपकी कृपा से [जिस] मेरे मन में जैसे रथ के मध्य धुरा में आरा लगे रहते हैं, वेसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और जिसमें अथर्ववेद भी प्रतिष्ठित होता है और जिसमें सर्वज्ञ, सर्वव्यापक प्रजा का साक्षी चित्त-चेतन विदित होता है, वह मेरा मन अविद्या का अभाव कर विद्याप्रिय सदा रहे ॥७॥

हे सर्वनियन्ता ईश्वर! जो मेरा मन रस्सी से घोड़ों के समान अथवा घोड़ों के नियन्ता सारथी के तुल्य मनुष्यों को अत्यन्त इधर-उधर डुलाता है, जो हृदय में प्रतिष्ठित, गतिमान् और अत्यन्त वेगवाला है, वह [मेरा मन] सब इन्द्रयों को अधर्माचरण से रोकके धर्मपथ में सदा चलाया करे। ऐसी कृपा मुझपर कीजिए ॥८॥

इसके विशेषणरूप में आया है। मन का यह भेद आत्मा के ज्ञान का धृति मन में विकास होने से बना है। आत्मा का ज्ञान अमर है, अतः अमृत विशेषण आया है। यह मन ज्ञान का प्रकाश करनेवाला है, अतः इसका नाम प्रत्यग्भान किया गया है। (यस्मिन्नृचः—(यस्मिन्) जिसमें (ऋचः साम यजूंषि) ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के ज्ञान (रथनाभौ) रथ की नाभि में (अराः इव) अरों की तरह (प्रतिष्ठिताः) स्थिर हैं, (यस्मिन्) जिसमें (प्रजानाम्) प्रजाओं का (सर्वचित्तम्) सारा चित्तमण्डल (ओतम्) ओत-प्रोत है (तत् मे मनः) वह मेरा विश्वभान मन (शिवसंकल्पमस्तु) शुभ विचारोंवाला हो।

विशेष—यह मन भी धृति मन का ही अवान्तर भेद है, अतः इसका नाम मन्त्र में नहीं आया। मन का यह भेद धृति में भगवान् के ज्ञान के विकास से प्रकट हुआ है। यही कारण है कि इसमें सब वेदों के ज्ञान के विकास की प्रतिष्ठा बताई है। पहले मन्त्र में आत्मा के ज्ञान के विकास की प्रतिष्ठा बतलाई थी, अतः वहाँ सब चित्तों के साथ उसका सम्बन्ध प्रकट नहीं किया था, क्योंकि अपनी आत्मा केवल अपने ही चित्त के साथ सम्बद्ध है, परन्तु इस मन्त्र में मन में भगवान् के ज्ञान की प्रतिष्ठा का वर्णन है और भगवान् का ज्ञान सर्वत्र विद्यमान है, अतः इसके साथ सब चित्तों का सम्बन्ध प्रकट किया गया है। इसीलिए धृति मन के इस भेद का नामकरण विश्वभान किया है।

सुषारथिः—(सुषारथिः) जैसे अच्छा सारथि (अश्वान्) घोड़ों को (इव) उसी प्रकार (यत्) जो वशीकरण मन (मनुष्यान्) मनुष्यों को (नेनीयते) भली प्रकार आगे ले-जाता है (यत्) और जो (अजिरम्) जीर्ण न होनेवाला (जविष्ठम्) और अत्यन्त वेगवाला (अभीषुभिः) रस्सियों से (वाजिन इव) जैसे घोड़े ठहर जाते हैं वैसे ही (हृत्प्रतिष्ठम्) हृदय में ठहरा हुआ है (तत् मे मनः) वह मेरा मन (शिवसंकल्पमस्तु) शुभ विचारोंवाला हो।

विशेष—जो मनुष्य भगवान के ज्ञान और उसकी उपासना में बहुत आगे बढ़ जाता है, उसके मन में ज्ञान के साथ-साथ दूसरों को अपने पीछे चलाने की भी शक्ति उत्पन्न हो जाती है। स्वयं किसी को अपने

https://t.me/arshlibrary

पीछे चलने की प्रेरणा नहीं करता, प्रत्युत लोग अपने-आप उसके विचारों के अनुरूप चलने लगते हैं। यह आकर्षण की शक्ति उसमें शुद्ध विचारों के विकास का परिणाम होती है, इसीलिए इस चित्त का नाम वशीकरण रक्खा गया है।

मन्त्रों के ऋषि का नाम शिवसंकल्प है। **'ऋषिर्दर्शनात्'**—निरुक्तकार के इस वचन के अनुसार मन्त्रार्थ का दर्शन करके मन्त्र में निहित भावना को अपने जीवन में चरितार्थ करनेवाले व्यक्ति को उस मन्त्र का ऋषि माना जाता है। कालान्तर में उस ऋषि का सांस्कारिक नाम लुप्त हो जाता है और मन्त्र की भावना के अनुसार प्रचलित नाम से ही वह जाना जाने लगता है। ऋग्वेद का सूक्त १०।१६० अपने ऋषि अघमर्षण के नाम से विख्यात है। उन मन्त्रों की भावना से प्रेरणा लेकर बुद्धिपूर्वक व्यवहार को अपने जीवन में चरितार्थ कर दूसरों को भी उसका उपदेश देनेवाले ऋषि का नाम मेधातिथि प्रसिद्ध हो गया। कण्वगोत्र में उत्पन्न होने अथवा इस नाम के गुरु का शिष्य होने के कारण वह मेधातिथि काण्व कहलाने लगा। कालान्तर में उसका सांस्कृतिक नाम विस्मृत हो गया और उपाधिधारी नाम शेष रह गया।

चन्द्रमा की उत्पत्ति मन से हुई मानी जाती है—**'चन्द्रमा मनसो जातः'** ऐतरेय उपनिषद् में कहा है—**'चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्'** (२।४) अर्थात् चन्द्रमा मन होकर हृदय में प्रविष्ट हो गया। इससे स्पष्ट है कि मन और चन्द्रमा का उपादान एक ही है। यह भी स्पष्ट है कि जिस महत्तत्त्व से इन दोनों की रचना हुई है, वह चन्द्रमा की भाँति प्रकाशमान् तत्त्व है। इसीलिए मन को **'ज्योतिषां ज्योतिः'** कहा है। जन्म-जन्मान्तर में आत्मा के साथ रहनेवाला मन शरीर और आत्मा दोनों से भिन्न है। **'संकल्प-विकल्पात्मकं मनः'**—मन का काम संकल्प-विकल्प करना है। यदि मनुष्य संकल्प-विकल्प की प्रक्रिया को देख सकता है तो देखनेवाला आत्मा इससे भिन्न है। इन्द्रियाँ, मस्तिष्क और मन आदि सभी आत्मा के साधन हैं। इनमें कोई भी ऐसा नहीं जो चेतनावान् हो और पदार्थों का अनुभव कर सकता हो। अतः आत्मा और इन सब साधनों का सम्बन्ध स्वामी और सेवक का अथवा साधक और साधन का है।

आत्मा को अपने कर्मफल का उपभोग करने के लिए बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखना पड़ता है, क्योंकि विषयरूप भोगसामग्री बाह्य जगत् में ही उपलब्ध है। उसी की प्राप्ति-अप्राप्ति अथवा विपरीत प्राप्ति से उसे सुख-दुःख होता है। आत्मा शरीर के भीतर रहता है, बाहर उसकी गति नहीं। इसलिए बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखने के लिए उसे किसी सम्पर्क अधिकारी की आवश्यकता पड़ती है। अभौतिक आत्मा को भौतिक शरीर से काम लेने के लिए ऐसे सहायक की आवश्यकता है जिसमें दोनों के गुण हों, अर्थात् आत्मा की तरह अभौतिक हो और शरीर की भाँति भौतिक हो। तभी वह सफलतापूर्वक मध्यस्थ या सम्पर्क-अधिकारी का काम कर सकता है। स्थूल भूतों का विकार न होने से मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार इन चारों का संश्लिष्ट रूप इतना सूक्ष्म है कि देखा नहीं जा सकता, इसलिए वह सर्वथा अभौतिक है, परन्तु क्योंकि वह सूक्ष्म प्रकृति के अंशों से बना है, इसलिए वह भौतिक (प्रकृति का विकार) है। इस प्रकार वह अभौतिक होने से आत्मा के निकट है और भौतिक होने से इन्द्रियों के निकट है, अतः वह आत्मा व शरीर दोनों के बीच मध्यस्थ का कार्य कर सकता है। इसी मध्यस्थ अथवा सम्पर्क-अधिकारी का नाम 'मन' है, परन्तु मन भी शरीर से बाहर नहीं जा सकता। कार्यालय के भीतर बैठे-बैठे कार्य-सम्पादन के लिए उसे सहायकों की आवश्यकता होती है—ऐसे सहायकों की जो बहिर्मुख होने के कारण बाह्य जगत् से सम्पर्क स्थापित कर दूर-दूर जाकर वहाँ से जानकारी प्राप्त करके मन तक पहुँचा सकें। इन्हीं का नाम इन्द्रिय है। प्रकाशमान और विषयों के प्रकाश का साधन होने से इन्द्रियों को 'देव' कहते हैं, इन देवों का नियामक होने से मन

https://t.me/arshlibrary

को 'दैव' कहते हैं। प्रकाश का अपर नाम ज्ञान है, अतः ज्ञान को उत्पन्न करने की ऐश्वर्य शक्ति से युक्त करणों को भी इन्द्रिय कहते हैं, क्योंकि ऐश्वर्यवाले की संज्ञा 'इन्द्र' (इदि परमैश्वर्ये) है। इन्द्रियों का स्वामी होने से आत्मा का भी एक नाम इन्द्र है। समस्त इन्द्रियाँ आत्मा अर्थात् इन्द्र का ही काम करती हैं, इसलिए भी इनका नाम इन्द्रिय है।

ज्ञान, चेतना और स्मृति सब इसी मन के आश्रित हैं। तीनों कार्यों का ज्ञान इसी के द्वारा होता है। ऋचाएँ, साम और यजूंषि सब इसी में समाहित हैं। इसलिए इसके बिना कुछ भी करना सम्भव नहीं। इस प्रकार अनन्त दिव्यशक्तियों से सम्पन्न होने के कारण भी इसे 'दैव' कहते हैं।

शरीरयुक्त आत्मा की साधारणतया तीन अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति। जिस अवस्था में मन तथा इन्द्रियों के द्वारा आत्मा का विषयों से सम्पर्क रहता है उसे 'जाग्रत्' अवस्था कहते हैं। स्वप्न में आत्मा का मन से सम्पर्क रहता है। जो संस्कार जाग्रत् दशा में मन पर पड़ते हैं, वही निद्राकाल में उठ खड़े होते हैं। इसी का नाम 'स्वप्न' है। स्वप्न तथा जाग्रत् का द्रष्टा तो एक ही आत्मा है। जाग्रत् अवस्था में ज्ञान प्राप्त करनेवाली समूची यन्त्रयोजना काम करती रहती है और हम मन तथा इन्द्रियों के द्वारा पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करते रहते हैं। स्वप्न अवस्था में समस्त इन्द्रियाँ विश्राम करती हैं और केवल मन सक्रिय रहता है। जाग्रत् में उपलब्ध ज्ञान का विषय—प्रमेय पदार्थ सम्मुख उपस्थित रहता है, इसलिए वह अनुभवरूप है। स्वप्न में विषय—पदार्थ की विद्यमानता अपेक्षित नहीं होती, इसलिए वह स्मृतिरूप है।

जाग्रत् तथा स्वप्न अवस्थाएँ अपने-अपने स्थान पर दोनों यथार्थ हैं, परन्तु जहाँ जाग्रत् अवस्था के अनुभूत पदार्थ सबके एक-जैसे होते हैं, वहाँ स्वप्नावस्था के अनुभव सबके भिन्न-भिन्न होते हैं। दो व्यक्ति एक समय में एक घटना को देखते हैं। यदि यही घटना स्मृतिरूप में स्वप्न में दीख पड़े तो यह आवश्यक नहीं कि दोनों के स्वप्नावस्था के अनुभव एकजैसे हों। यदि स्वप्न में मुझे साँप उड़ते दिखाई पड़ें तो यह आवश्यक नहीं कि मेरे आस-पास सो रहे लोगों को भी वैसी ही प्रतीति हो। इसलिए कहा गया है—

The objects of working experiences are common to us all , but those of dreaming are the private property of the dreamer.

आशय यह है कि जहाँ जाग्रदवस्था में अनुभूत पदार्थ सबके एक समान होते हैं, वहाँ स्वप्नावस्था में जाने गये पदार्थ स्वप्नद्रष्टा की निजी सम्पत्ति होते हैं—उनपर किसी अन्य का अधिकार नहीं होता। दिन में तो मन बाह्येन्द्रियों की सहायता से दर्शन आदि का ज्ञान कराता है, किन्तु रात्रि में उनके बिना ही देश-काल का अतिक्रमण करके दूर-दूर तक जाता और वहाँ का ज्ञान कराता है। स्वप्न में पदार्थों का वास्तविक अस्तित्व न होकर केवल प्रतीतिमात्र इसलिए माना जाता है कि वहाँ अर्थ का अभिव्यञ्जन पूर्णरूप (कात्स्न्र्यरूप) से नहीं हो पाता। पूर्णरूप से न होने का तात्पर्य है—किसी वस्तु का उचित देश व काल में उचित निमित्तों से न होना।

संकल्प-विकल्प से तो मन को कोई रोक नहीं सकता। इसलिए उसे शिवसंकल्प करने की प्रार्थना इन मन्त्रों में की गयी है। 'संकल्पमयः पुरुषः'—मनुष्य जैसा संकल्प करता है, वैसा ही मन बन जाता है। कल्पवृक्ष के विषय में कहा जाता है कि उसके नीचे बैठकर मनचाही वस्तु मिल जाती है। वस्तुतः यह मन ही वह तत्त्व है जिसकी कल्पवृक्ष के रूप में कल्पना की गयी है।

बाह्यान्तर इन्द्रियों के बीच में मन उभयात्मक है, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों दोनों के साथ

https://t.me/arshlibrary

उसका सम्बन्ध है। मन के सहयोग के बिना कोई भी इन्द्रिय अपने विषय में प्रवृत्त नहीं होती। जब आत्मा को बाह्य जगत् के जानने की इच्छा होती है तो वह अपनी शक्ति के बल पर मन के भीतर आलोच्य विषय की ओर बहनेवाली विचारतरंग को उत्पन्न करता है। ये विचारतरंग संवेदनतन्त्रिकाओं = ज्ञानतन्तुओं (Sensory nerves) में से होती हुई उस इन्द्रिय के केन्द्रबिन्दु से जा टकराती है, जिसका वह विषय होता है। इस प्रकार बाहर के विषय से सम्पर्क होते ही उपलब्ध सामग्री लिये वह तरंग उन्हें संवेदनतन्त्रिकाओं के मार्ग से मस्तिष्क के केन्द्र में लौटकर मन को सौंप देती है और इस प्रकार मन को अपने इच्छित विषय का ज्ञान हो जाता है। ज्ञान प्राप्त करनेपर यदि उस विषय में कोई कार्यवाही अपेक्षित होती है तो प्रेरक तन्त्रिकाओं = क्रियातन्तुओं (Motor nerves) द्वारा आवश्यक निर्देश सम्बद्ध कर्मेन्द्रिय को मिल जाता है और वह तदनुसार कर्म में प्रवृत्त हो जाती है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सूचना के आधार पर यदि मन संकल्प-विकल्प में फँस जाता है तो कर्मेन्द्रियों को आदेश देने से पहले बुद्धि से परामर्श कर लेता है। दोनों अवस्थाओं में मन कार्य करता है, अतः वह उभयात्मक कहाता है।

मन हृदय में रहकर काम करता है। सूक्तान्तर्गत मन्त्रों में उसके दो भाग किये गये हैं—दैव तथा यक्ष। दैव मन का पाँचों ज्ञानेन्द्रियों पर अधिकार है, अतः सब ज्ञानेन्द्रियाँ उसी के नियन्त्रण में रहकर कार्य करती हैं। जिस इन्द्रिय का जो विषय है, उसका उसी से सन्निकर्ष होता है। इन्द्रियाँ भौतिक हैं, भूतों से इनकी यथावत् उत्पत्ति होती है, जैसे—पृथिवी से घ्राण का, अग्नि से चक्षु का ....। अतः प्रत्येक इन्द्रिय अपने आधारभूत तत्त्व के अर्थ को ही ग्रहण करती है, अन्य को नहीं। इसी कारण चक्षु का शब्द से अथवा नासिका का रूप से सम्पर्क होना असम्भव है। मन के संयोग के बिना कोई इन्द्रिय अपने विषय में प्रवृत्त नहीं होती, पर कभी-कभी किसी विषय का अपनी इन्द्रिय पर प्रबल आघात मन की प्रेरणा न होनेपर भी विषय से सम्पर्क कर उसे जानने के लिए इन्द्रिय को विवश कर देता है। जैसे—सुषुप्तावस्था में किसी मनुष्य को मेघगर्जन सुनने की कोई इच्छा नहीं हो रही। न उस अवस्था में मन कोई कार्य कर रहा है, परन्तु अचानक ही मेघ के भयानक गर्जन, और बिजली की कड़क की ध्वनि उसके कान से टकरा कर उसे सुनने के लिए विवश कर देती है। ऐसी अवस्था में भी यह नहीं कहा जा सकता कि मन के संयोग के बिना इन्द्रिय अपने कर्म में प्रवृत्त हो गयी। वस्तुतः यह संयोग और इसकी प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म तथा त्वरित होती है कि हम उसे अनुभव नहीं कर पाते। बाह्याभ्यान्तर विषयों का प्रत्यक्ष करने के लिए दैव मन जैसे जाग्रत् अवस्था में इन्द्रियों की सहायता से कार्य करता है, वैसे ही सोते समय स्वप्नावस्था में भी आन्तर इन्द्रिय के रूप में संस्काररूपी चित्रों का प्रत्यक्ष करता है।

कर्मेन्द्रियों का अधिष्ठाता होने से उनके द्वारा होनेवाले सारे कार्य यक्ष मन के नियन्त्रण में होते हैं। दैव मन तथा उसके अधीनस्थ इन्द्रियाँ सत्त्वगुणप्रधान तत्त्वों से बनी हैं। यक्ष मन में रजोगुणप्रधान है और उसके अधीनस्थ कर्मेन्द्रियों का निर्माण भी रजोगुण प्रधान भूतों से हुआ है। अपनी इच्छाशक्ति के बलपर ही यक्ष मन कर्मेन्द्रियों को अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त करता है। इन्द्रियों की तुलना में मन कहीं अधिक सूक्ष्म तथा शक्तिशाली है। वह आत्मा के निकट भी है, अतः स्वयं जड़ होते हुए भी आत्मा के चैतन्य प्रभाव को ग्रहण कर चेतन की भाँति कर्म करना प्रारम्भ कर देता है। इन्द्रियों तक उसकी पहुँच है, अतः उन्हें प्रेरित कर आत्मा की इच्छाओं को पूर्ण करने में समर्थ है। मन की अपेक्षा इन्द्रियाँ स्थूल हैं, अतः आत्मा के चैतन्य के प्रभाव को ग्रहण करने में असमर्थ हैं, परन्तु प्राणतन्तुओं के द्वारा मन की दी हुई गति को तत्काल ग्रहण कर कर्म में प्रवृत्त हो जाती हैं। आत्मा की इच्छा होने पर मन के आदेश से पैर चलने लगते हैं, वाणी

https://t.me/arshlibrary

बोलने लगती है, आँखों से आँसू बहने लगते हैं, पायु तथा उपस्थ मल बाहर फैंकने लगते हैं।

जिस प्रकार दैव मन को भीतर के अनुभवों और कार्यों में बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं होती, उसी प्रकार भीतर की क्रियाओं के करने में यक्ष मन को भी इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए विचारार्थ भीतर प्रश्नोत्तर करते हुए वह वाणी के बिना ही बोलता रहता है और बिना पैरों के चलकर कहीं पहुँच जाता है।

सामान्य कार्यों के अतिरिक्त मनुष्य अपने जीवन में यज्ञादि के जितने अनुष्ठान करता है उनमें उनका यही मन यक्ष अथवा यजमान बनता है। **'येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति'**—बुद्धिमान् कर्मनिष्ठ विद्वान् जिसके द्वारा कर्मयज्ञों का अनुष्ठान करते हैं, वह यक्ष मन ही है। जिस कर्मयज्ञ का यजमान मन है उसका द्रष्टव्य ब्रह्मा आत्मा और ऋत्विक् इन्द्रियाँ हैं। इस सन्दर्भ में गीता (३।७) का यह श्लोक द्रष्टव्य है—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

अर्थात्—जो इन्द्रियों को मन के वशीभूत कर और आसक्ति का परित्याग कर कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग को आरम्भ करता है, वह सर्वश्रेष्ठ है।

इस प्रकार आत्मा के एक लिङ्ग ज्ञान का साधन दैव मन है तो उसके दूसरे लिङ्ग प्रयत्न का साधन यक्ष मन है।

सुषुप्ति की अवस्था में मन कार्य करना बन्द कर देता है और मन के बिना कुछ हो नहीं सकता। तब फिर उस अवस्था में हो रहे कार्य कैसे होते हैं? यह ठीक है कि सुषुप्ति में अपनी सहायक इन्द्रियोंसहित मन, बुद्धि, चित्त आदि सभी तमोगुण से अभिभूत हो अपना-अपना काम बन्द कर देते हैं, सब शिथिल होकर—थककर सो जाते हैं, चित्त के संस्कारों का व्यापार भी स्वप्नावस्था तक बन्द रहता है, गाढ़निद्रा में पहुँचने पर शान्त हो जाता है, किन्तु उस अवस्था में भी रक्तसंचार, हृदय का स्पन्दन, प्राणों का संचालन, नियत समयपर आँख खुल जाना आदि बहुत-सी क्रियाएँ अव्यक्तरूप में होती रहती हैं। कभी-कभी जब हम बुद्धि से किसी विषय में निर्णय नहीं कर पाते तो थककर या तंग आकर विचार करना छोड़ देते हैं, परन्तु प्रातःकाल होते ही हम देखते हैं कि जिस विषय में हम जाग्रत् अवस्था में भगीरथ प्रयत्न करने पर भी कोई निश्चय नहीं कर पाये थे वह हमें हस्तामलकवत् प्राप्त हो गया। कभी-कभी जाग्रत् अवस्था में भी ऐसा होता है कि जब हम किसी विषय का परित्याग कर विषयान्तर पर विचार कर रहे होते हैं तो प्रयत्न करने पर भी याद न आनेवाली बात बैठे-बिठाये अपने-आप याद आ जाती है, बिना बुलाये आ टपकती है। हम प्रातः ४ बजे उठना चाहते हैं। संकल्प करके सो जाते हैं। ठीक ४ बजे बिना घड़ी का अलार्म बजे हमारी आँख खुल जाती है—मानो हमें किसी ने हाथ पकड़कर उठा दिया हो। तो क्या यह सब किसी के बिना किये हो जाता है। नहीं, यह ऐसी सत्ता है जिसके बिना कुछ नहीं हो सकता। जब गाढ़ निद्रा में तमोगुण की वृत्ति बुद्धि और चित्तसहित दैव तथा यक्ष मन को हाथ-पैर बाँधकर सुला देती है, तब आवश्यक कार्यों में मन का 'धृति' नामक विभाग प्रवृत्त होता है। रात्रिसेवा (Night service) के लिए यह स्थायीरूप से नियुक्त है। जब निद्रा के कारण व्यापृत मन की शक्तियाँ शिथिल होकर शान्त हो जाती हैं और विघ्नडालने-वाला कोई नहीं रहता तो धृति मन को एकान्त में एकाग्र होकर चिन्तन-मनन करने का अवसर मिल जाता है और इस कारण तत्काल समस्या का समाधान हो जाता है। जड़ होते हुए भी अलार्म घड़ी की भाँति धृति मन अपने भीतर प्रवाहित तरंग के कारण नियत समय पर अपना कार्य करने का अभ्यस्त है।

https://t.me/arshlibrary

धृति मन का यह सब कार्य आत्मा के नियन्त्रण में हुआ करता है, परन्तु स्वयं आत्मा को इसका पता नहीं रहता। पता रहता तो निश्चिन्त होकर सो न सकता और प्रातः काल उठने पर 'आज तो सोने में बड़ा आनन्द आया' न कह सकता। जैसे किसी मनुष्य को पैर हिलाते रहने या कागज लपेटते रहने की आदत पड़ जाती है। वह यह क्रिया करता रहता है, किन्तु उसे इसका अनुभव नहीं होता। ठीक उसी प्रकार आत्मा के धृति मन से अपने नियन्त्रण में कार्य करते हुए भी उसे यह पता नहीं रहता कि ये क्रियाएँ मैं ही करा रहा हूँ। उसके ये कार्य चिरकाल अभ्यास के कारण स्वाभाविकरूप से होते रहते हैं। कम्प्यूटर की भाँति धृति मन को आत्मा ने कुछ स्थायी निर्देश दे रक्खे हैं और वह तदनुसार कार्य करता रहता है। उसे हर समय आदेश देने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

सारथि मन—अच्छा सारथि घोड़ों को जिधर चाहता है, चलाता है। इन्द्रियों का स्वस्थ और बलिष्ठ होना जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक यह है कि इन्द्रियरूपी घोड़े इतने सधे हुए हों कि उनका एक-एक पैर सारथि की इच्छानुसार पड़े। घोड़ों को नियन्त्रण में रखने के लिए सारथि को रस्सी की आवश्यकता पड़ती है। वेद में ऐसी रस्सी को **'अभीषु'** नाम से पुकारा गया है। **'अभीषु'** का पदार्थ है—अभि=सम्मुख—इशु=ऐश्वर्यवाला अर्थात् ऐश्वर्य को सामने रखना या सामर्थ्य की उपासना करना। मनुष्य के सारथि मन के सन्दर्भ में 'अभीषु' का अर्थ होगा—संचालन तथा नियन्त्रण में समर्थ। समर्थ सारथि वही होगा जिसमें अपनी इच्छानुसार अपनी शक्तियों का प्रयोग करने का साहस होगा। जाग्रत् तथा सुषुप्तावस्था में दूर-दूर तक दौड़ लगानेवाले मन को यदि आत्मा अपने वश में नहीं रख सकता और मन इन्द्रियों के कान नहीं ऐंठ सकता तो मोक्षमार्ग की यात्रा सुखद नहीं हो सकती, अतः स्वामी आत्मा के लक्ष्य को जान, वहाँ पहुँचने के मार्ग का निश्चय कर, निर्विघ्न यथास्थान पहुँचानेवाला ही **'सुषारथि'** पद का अधिकारी होगा।

जविष्ठ मन—भौतिक जगत् में प्रकाश की गति सबसे अधिक मानी जाती है। एक सैकेण्ड में एक लाख छयासी हज़ार मील, किन्तु मन की गति का गणित की भाषा में निश्चय करना असम्भव है। इसीलिए उसके लिए आतिशय्यबोधक **'जविष्ठ'** पद का प्रयोग हुआ है। जविष्ठ मन बड़ी-से-बड़ी बाधा आनेपर भी कार्यसिद्धि से पहले नहीं रुकेगा। मनस्वी व्यक्ति ही **'कार्यं वा साधयेयं शरीरं वा पातयेयम्'** जैसी घोषणा करने का साहस कर सकेगा। यही जविष्ठ मन स्वेच्छाचारी हो जानेपर मनुष्य को क्षणभर में मृत्यु के मुख में धकेल देगा। यम-नियमादि के द्वारा इसकी वृत्तियों को वश में करके इसे शिवसंकल्प बना देना ही योग है।

इन्द्रियों के शिथिल, निष्क्रिय अथवा नष्ट हो जानेपर भी मन की सत्ता यथायथ बनी रहती है। शरीर के बूढ़ा हो जानेपर भी मन जवान बना रहता है। **'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा'** भर्तृहरि के इस कथन में प्रकारान्तर से मन के **'अजिर'** होने की व्याख्या है।

मन की त्रिकालज्ञता—उपर्युक्त चतुर्थ मन्त्र में मन को भूत, भविष्यत् और वर्तमान सब पदार्थों को ग्रहण करनेवाला बताया है। यह ठीक है कि जड़ होने के कारण मन में ज्ञान नहीं है और अल्पज्ञ होने के कारण आत्मा भी त्रिकालज्ञ नहीं है, किन्तु आत्मा एक ऐसा तत्त्व है जो अल्पज्ञ होते हुए भी अपने भीतर ज्ञान के विशाल भण्डार का संग्रह करने का सामर्थ्य रखता है और उसके संसर्ग से अथवा उसका साधन होने के कारण मन को उस ज्ञान से सम्बद्ध माना जा सकता है। जो आज क-ख-ग भी नहीं पहचानता, एक दिन आता है जब वह पूछे जानेपर यह बता देता है कि आज से दस वर्ष पूर्व सूर्यग्रहण कब हुआ था और यह भी कि आज से दस वर्ष बाद कब होगा। इसी प्रकार अन्य ग्रहों की गति और उनके उदयास्त

https://t.me/arshlibrary

अग्ने नय सुपथा रायेऽअस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमऽउक्तिं विधेम ॥६॥

—यजुः० अ० ४० । मं० १६ ॥

हे सुख के दाता, स्वप्रकाशस्वरूप, सबको जाननेहारे परमात्मन्! आप हमको श्रेष्ठमार्ग से सम्पूर्ण प्रज्ञानों को प्राप्त कराइए और जो हममें कुटिल पापाचरण-रूप मार्ग है, उससे पृथक् कीजिए इसीलिए हम लोग नम्रतापूर्वक आपकी बहुत-सी स्तुति करते हैं कि आप हमको पवित्र करें ॥६॥

की व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में भी यथार्थ उत्तर दे सकता है। इसी प्रकार के ज्ञान के आधार पर वह भविष्यत् की योजनाएँ बनाता है। स्वाध्याय, अनुभव, परीक्षण तथा ज्ञानियों के संसर्ग से आत्मा का ज्ञान बढ़ता हुआ नित्यप्रति देखा जाता है। ज्ञानी आत्माओं की अपेक्षा परमात्मा का ज्ञान अनन्त है। सत्त्वगुण प्रधान होनेपर जब जीवात्मा को परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है तो वह अपने ज्ञान को न जाने कितना बढ़ा लेता है। उस अवस्था में त्रिकालज्ञ, त्रिकालदर्शी परम पुरुष का ज्ञान जीवात्मा को अपनी शक्ति से सम्पन्न करने लगता है। जब साधारण मनुष्य स्वामी के निकट होने पर उसके ऐश्वर्य को अपना कहने लगता है तो मुक्तिपर्यन्त आत्मा का साथ देनेवाले मन को तादात्म्यभाव से त्रिकालज्ञ कह दिया जाए तो विशेष आपत्ति की बात नहीं।

परन्तु उस अवस्था में भी जीवात्मा परमात्मा के समान अनन्त ज्ञान का भण्डार नहीं बन सकता। परमात्मा के अनन्त ज्ञान को प्राप्त करने की न उसे आवश्यकता है और न उसे ग्रहण करने की क्षमता, अतः जीवात्मा को उतना ही ज्ञान प्राप्त होता है जितने की उसके जीवन में उपयोगिता सम्भव है। मन्त्र में **'भूतं भुवनं भविष्यत्'** से **'इदम्'** पद जोड़े जाने से वे ही पदार्थ अभिप्रेत हैं जो जीवात्मा के सन्निहित हैं। यजुर्वेद (३८।२६) का यह मन्त्र इस बात को स्पष्ट कर देता है—

यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे ।
तावन्तमिन्द्र ते ग्रहमूर्जा गृह्णाम्यक्षितं मयि गृह्णाम्यक्षितम् ॥

इस मन्त्र में प्रयुक्त दो शब्द—ऊर्जा तथा तावन्तम्—बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। 'ऊर्जा' पद से दो भाव झलकते हैं—एक तो यह कि जीवात्मा कह रहा है कि मेरी शक्ति इतने ही पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने तक सीमित है और दूसरा यह कि मैंने अपने सत्त्वगुणप्रधान मन की ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति को जाग्रत् कर लिया है। **'तावन्तम्'** भी पदार्थों की उस मर्यादा को प्रकट कर रहा है जितनी मात्रा में भूलोक और द्युलोक के पदार्थों के ज्ञान की उसे अपेक्षा है।

अग्ने नयेति—(अग्ने) हे अग्निस्वरूप परमेश्वर (राये) धन तथा सम्पूर्ण ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (अस्मान्) हमें (सुपथा) सन्मार्ग से (नय) ले-चलिए। (देव) हे दिव्य गुणों के स्वामी परमेश्वर ! आप (वयुनानि) हमारे समस्त कर्मों को (विद्वान्) जानते हैं। (अस्मत्) हमसे (जुहुराणम्) कुटिलता को तथा (एनः) पापों को (युयोधि) दूर भगा दीजिए। हम आपके प्रति (भूयिष्ठाम्) अत्यधिक (नम उक्तिम्) नमन के वचन (विधेम) कहते हैं।

अपने यजुर्वेदभाष्य में इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार लिखते हैं—'जो सत्यभाव से परमेश्वर की उपासना करते, यथाशक्ति उसकी आज्ञा का पालन करते और सर्वोपरि सत्कार के योग्य परमात्मा को मानते हैं, उनको दयालु ईश्वर पापाचरण-मार्ग से पृथक् कर धर्मयुक्त मार्ग में चलाके, विज्ञान देकर धर्म,

https://t.me/arshlibrary

मा नो महान्तमुत मा नोऽअर्भकं मा नऽउक्षन्तमुत मा न उक्षितम् ।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ॥१०॥

—यजुः० अ० १६ । मं० १५

हे **'रुद्र'**=दुष्टों को पाप के दुःखस्वरूप फल को देके रुलानेवाले परमेश्वर ! आप हमारे छोटे-बड़े जन, गर्भ, माता-पिता और प्रिय बन्धुवर्ग तथा उनके शरीरों का हनन करने के लिए प्रेरित मत कीजिए । ऐसे मार्ग से हमको चलाइए जिससे हम आपके दण्डनीय न हों ॥१०॥

असतो मा सद् गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमयेति ॥११॥

—शतपथ ब्रा० १४।३।१।३०

हे परमगुरो परमात्मन् ! आप हमको असत् मार्ग से पृथक् कर सन्मार्ग में प्राप्त कीजिए । अविद्यान्धकार को छुड़ाके विद्यारूप सूर्य को प्राप्त कीजिए और मृत्यु-रोग से पृथक् करके मोक्ष के आनन्दरूप अमृत को प्राप्त कीजिए ॥११॥

अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध करने के लिए समर्थ करता है । इससे एक अद्वितीय ईश्वर को छोड़ किसी की उपासना न करें ।'

मन्त्र में धन के लिए **'रयि'** शब्द का प्रयोग हुआ है जो **'रा दाने'** से निष्पन्न है । जो धन अपने पास रखने के लिए नहीं, अपितु देने के लिए कमाया जाता है वही **'रयि'** कहाता है । ऐसे धन के साथ **'आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव'** (रघुवंश) की भावना जुड़ी होती है और इस भावना के रहते कोई कुपथ से धन कमाने की नहीं सोचेगा । पापाचरण से हटाने का अर्थ पाप के प्रति मन में भय, शंका और लज्जा की भावना पैदा कर जीवात्मा को सावधान करना है, बलात् हटाना नहीं, क्योंकि वैसा करना उसके कर्म स्वातन्त्र्य में बाधा डालना होगा ।

मा नो महान्तमिति—यजुर्वेदभाष्य में ग्रन्थकार ने इस मन्त्र का पदार्थ इस प्रकार किया है—

हे (रुद्र) युद्ध की सेना के अधिकारी विद्वान् पुरुष ! आप (नः) हमारे (महान्तम्) उत्तम गुणों से युक्त पूज्य पुरुष को (मा) मत (उत) और (अर्भकम्) छोटे, क्षुद्र पुरुष को (मा) मत (नः) हमारे (उक्षन्तम्) गर्भाधान करनेहारे को (मा) मत (उत) और (नः) हमारे (उक्षितम्) गर्भ को (मा) मत (नः) हमारे (पितरम्) पालन करनेहारे पिता को (मा) मत (उत) और (नः) हमारी (मातरम्) मान्य करनेहारी माता को भी (मा) मत (वधीः) मारिए और (नः) हमारे (प्रियाः) स्त्री आदि के प्यारे (तन्वः) शरीरों को (मा) मत (रीरिषः) मारिए ।

इसके भावार्थ में वे लिखते हैं—योद्धा लोगों को चाहिए कि युद्ध के समय वृद्धों, बालकों, युद्ध से हटनेवालों, गर्भों, योद्धाओं के माता-पिताओं, सब स्त्रियों, युद्ध देखने वा प्रबन्ध करनेवालों और दूतों को न मारें, किन्तु शत्रुओं के सम्बन्धी मनुष्यों को सदा वश में रक्खें ।

यहाँ स०प्र० में रुद्ररूप परमेश्वर को सम्बोधन किया है और वेदभाष्य के अन्तर्गत रुद्ररूप सेनापति को सम्बोधन किया गया है । तात्पर्य उभयत्र समान है ।

असतो मेति—बृहदारण्यकोपनिषद् (१।३।२८) में एक आख्यायिका के माध्यम से इन वाक्यों का अर्थ इस प्रकार किया गया है—

"यदाहासतो मा सद्गमयेति मृत्युर्वा असत्सदमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह तमसो मा

https://t.me/arshlibrary

अर्थात् जिस-जिस गुण से युक्त परमेश्वर को मान तथा उन गुणों को अपने में धारण कराने के लिए और जिस-जिस दोष वा दुर्गुण से परमेश्वर और अपने को भी पृथक् मानके परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है, वह विधि-निषेधमुख होने से **'सगुण-निर्गुण-प्रार्थना'** कहाती है।

जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है, उसको वैसा ही वर्त्तमान करना चाहिए, अर्थात् जैसे सर्वोत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिए परमेश्वर की प्रार्थना करे, उसके लिए जितना अपने से प्रयत्न हो सके उतना किया करे, अर्थात् अपने पुरुषार्थ के उपरान्त प्रार्थना करनी योग्य है।

[ऐसी प्रार्थना कभी न करे]

ऐसी प्रार्थना कभी न करनी चाहिए और न परमेश्वर उसको स्वीकार करता है कि जैसे—'हे परमेश्वर! आप मेरे शत्रुओं का नाश, मुझको सबसे बड़ा, मेरी ही प्रतिष्ठा और मेरे अधीन सब हो जाएँ' इत्यादि, क्योंकि जब दोनों शत्रु एक-दूसरे के नाश के लिए प्रार्थना करें तो क्या परमेश्वर दोनों का नाश कर दे ? जो कोई कहे कि जिसका प्रेम अधिक, उसकी प्रार्थना सफल हो जावे। तब हम कह सकते हैं कि जिसका प्रेम न्यून हो, उसके शत्रु का भी न्यून नाश होना चाहिए। ऐसी मूर्खता की प्रार्थना करते-करते कोई ऐसी भी प्रार्थना करेगा—हे परमेश्वर ! आप हमको रोटी बनाकर खिलाइए। मेरे मकान में झाड़ू लगाइए, वस्त्र धो दीजिए और खेती-बाड़ी भी कीजिए।

[पुरुषार्थी की ही प्रार्थना सफल होती है]

इस प्रकार जो परमेश्वर के भरोसे आलसी होकर बैठे रहते हैं, वे महामूर्ख हैं, क्योंकि जो परमेश्वर की पुरुषार्थ करने की आज्ञा है, उसको जो कोई तोड़ेगा वह सुख कभी न पावेगा। जैसे—

ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतं मृत्योर्मामृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह मृत्योर्माऽमृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्ति''।

अर्थात्—जब कोई **'असतो मा सद्गमय'** कहता है तो वह वास्तव में **'मृत्योर्माऽमृतं गमय'** ही कहता है, क्योंकि 'असत्' मृत्यु है और 'सत्' अमृत है। इस प्रकार उसके कहने का अभिप्राय यही होता कि मुझे अमृत प्रदान करो। जब वह **'तमसो मा ज्योतिर्गमय'** कहता है तब भी वास्तव में वह **'मृत्योर्माऽमृतं गमय'** ही कहता है, क्योंकि 'तम' मृत्यु है और 'ज्योति' अमृत है। उसके कहने का अभिप्राय यही होता है कि मुझे अमृत प्रदान करो। **'मृत्योर्माऽमृतं गमय'** का अर्थ तो स्पष्ट ही है कि मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले-चलो।

जिस-जिस गुण से युक्त परमेश्वर को मान तथा उसके गुणों को अपने में धारण कराने के लिए प्रार्थना की जाती है, वह विधिमुख होने से सगुण प्रार्थना कहाती है। इसी प्रकार जिस-जिस दोष अथवा दुर्गुण से ईश्वर को पृथक् मानकर अपने को भी उनसे दूर रखने की प्रार्थना की जाती है, वह निषेधमुख होने से निर्गुण प्रार्थना कहाती है। इस प्रकार शुभ गुणों को ग्रहण करने की प्रार्थना **'सगुण'** और दोषों से छुड़ाने के लिए ईश्वर की सहायता चाहना निर्गुण प्रार्थना कहाती है। **'दुरितानि परासुव'** तथा **'भद्रमासुव'** एक ही मन्त्र में क्रमशः निर्गुण तथा सगुण प्रार्थना के उदाहरण हैं।

पानी तैरने में उसी की सहायता करता है जो स्वयं हाथ-पैर मारता है। इसी प्रकार पुरुषार्थपूर्वक की गयी प्रार्थना ही सफल होती है। जो प्रार्थनाभर करके आलसियों की तरह **'होई है वही जो राम रचि राखा।**

https://t.me/arshlibrary

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ॥

—यजुः० अ० ४० । मं० २

परमेश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्य सौ वर्ष पर्यन्त, अर्थात् जब तक जीवे तब तक कर्म करता हुआ ही जीने की इच्छा करे, आलसी कभी न हो ।

देखो, सृष्टि के बीच में जितने प्राणी हैं अथवा अप्राणी, वे सब अपने-अपने कर्म और यत्न करते ही रहते हैं । जैसे पिपीलिका आदि सदा प्रयत्न करते, पृथिवी आदि सदा घूमते, और वृक्ष आदि सदा बढ़ते-घटते रहते हैं । वैसे यह दृष्टान्त मनुष्यों को भी ग्रहण करना योग्य है । जैसे पुरुषार्थ करते हुए पुरुष का सहाय दूसरा भी करता है, वैसे धर्म से पुरुषार्थी पुरुष का सहाय ईश्वर भी करता है ।

जैसे काम करनेवाले पुरुष को भृत्य करते हैं, और अन्य आलसी को नहीं । देखने की इच्छा करने और नेत्रवाले को दिखलाते हैं, अन्धे को नहीं । इसी प्रकार परमेश्वर भी सबके उपकार करने की प्रार्थना में सहायक होता है, हानिकारक कर्म में नहीं । जो कोई 'गुड़ मीठा है' ऐसा कहता ही है, उसको गुड़ प्राप्त वा उसको स्वाद प्राप्त कभी नहीं होता और जो यत्न करता है, उसको शीघ्र वा विलम्ब से गुड़ मिल ही जाता है ।

को करि जतन बढ़ावै साखा' इस विश्वास के साथ परमेश्वर के सहारे बैठा रहता है, वह बैठा ही रह जाता है और जो साथ-साथ प्रयत्न भी करता है, वह देर-सवेर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है ।

कुर्वन्नेवेह—यह संसार है—**संसरति**, निरन्तर चलता रहता है । जगत् है—गति करता रहता है । कार्लाइल के शब्दों में—'What is this universe, but an infinite conjugation of the verb 'to do'. अर्थात् यह संसार **'कृ'** (करना) धातु से निष्पन्न विविध क्रिया पदों का प्रदर्शन है । मनुष्य इसी संसार का अंग है । जब सारी मशीन चल रही हो तो ऐसा कौन-सा पुर्ज़ा है जो न चले । सतत गतिशील संसार में किसी के निष्क्रिय या अकर्मण्य रहने की कल्पना ही नहीं की जा सकती । स्वयं परमेश्वर की क्रियाशीलता का चित्रण करते हुए किसी ने लिखा है—

"God is eternally busy. He is not loafing on his throne till the day of judgement. He is pumping at your heart, operating in the laboratory of your stomach, directing infinite atoms of matter, painting the lilies, whirling the stars, pushing up the seeds. My father worketh hitherto and I work.

—Great Thoughts, April, 1933.

अर्थात्—परमात्मा हर समय काम में लगा रहता है । वह न्याय के दिन तक खाली बैठा रहनेवाला नहीं है । वह तुम्हारे हृदय में रक्तसंचालन में प्रवृत्त रहता है, तुम्हारे पेट की रसायनशाला में काम करता है, प्रकृति के परमाणुओं का संयोजन करता है, फूलों में रंग भरता है, बीजों को अंकुरित करता है, नक्षत्रों का संचालन करता है । मेरा पिता काम में लगा रहता है तो मैं काम क्यों न करूँ ?

मनुष्य स्वयं कुछ न करे और दूसरे से—परमेश्वर से आशा करे कि वह उसकी इच्छानुसार कार्य करता रहे—यह व्यवहार्य नहीं है ।

परन्तु पुरुषार्थी को भी सत्कर्म में ही ईश्वर की सहायता मिलती है । वह सबकी भलाई चाहता है, इसलिए किसी दुष्कर्म में सफल होने की इच्छा से की गयी प्रार्थना में ईश्वरीय सहायता पाने की आशा नहीं करनी चाहिए । परस्पर विरोधी दो व्यक्ति यदि एक-दूसरे के अहित की कामना से प्रार्थना करें तो दोनों की प्रार्थना सुनने का अर्थ होगा—दोनों का अहित । ऐसी अवांछनीय प्रार्थनाएँ परमेश्वर कभी नहीं

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

अब तीसरी **उपासना**—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयन्तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

—यह उपनिषद् का वचन है[1] ॥

जिस पुरुष के समाधियोग से अविद्यादि मल नष्ट हो गये हैं, आत्मस्थ होकर परमात्मा में चित्त जिसने लगाया है, उसको जो परमात्मा के योग का सुख होता है, वह वाणी से कहा नहीं जा सकता, क्योंकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्तःकरण से ग्रहण करता है ।

[उपासना का अर्थ और उसके अङ्ग]

'उपासना' शब्द का अर्थ समीपस्थ होना है । अष्टाङ्गयोग से परमात्मा के समीपस्थ होने और उसको सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामिरूप से प्रत्यक्ष करने के लिए जो-जो काम करना होता है, वह-वह सब करना चाहिए । अर्थात्—

सुनता । पुरुषार्थपूर्वक, शुभकर्मों में सफलता के लिए की गयी प्रार्थना स्वीकार हो सकती है ।

उपासना—'उपासना' शब्द का प्रयोग वेदों में हुआ है, परन्तु बहुत कम । **'य आत्मदा बलदा'** इत्यादि (यजुर्वेद २५।१३) प्रार्थना के इस प्रसिद्ध मन्त्र में **'उपासते'** शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अभिप्राय 'उपासना' पद के अभिप्राय से मिलता है । सामवेद तथा ऋग्वेद में भी **'उपासते'** शब्द इसी उपासना के अर्थ के साथ समानता रखता प्रतीत होता है । यथा **'इन्द्रं जातमुपासते'** (साम० पू० प्र० २, द० २। मं० १ तथा ऋग्वेद १०।१५३।१) अथर्ववेद में भी **'उपासते'** शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका उपासना शब्द के साथ अतिशय साम्य है, जैसे—**'यो देवमुत्तरावन्तमुपासाते सनातनम्'**—१०।८।२२ ।

परन्तु वेदों में 'उपासना' के अभिप्राय के साथ सर्वाधिक समता रखनेवाला शब्द **'उपस्थान'** है । 'उपस्थान' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है । यजुर्वेद के **'उपस्थाय.....अभिसंविवेश'** (३२।११) का अर्थ यह है कि ब्रह्मज्ञानी व्यक्ति ब्रह्म का उपस्थान कर अपने आत्मस्वरूप द्वारा ब्रह्मात्मा में सम्पूर्णरूप से प्रवेश पा जाता है । **'अभिसंविवेश'** पद अत्यन्त समीपस्थ स्थिति का उत्कर्ष प्रतीत होता है—मानो ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म की गोद में ही छिपा है । **'उपसद्'**, **'आसद्'**, **'निसद्'** आदि शब्दों को लेकर भी वेद में **'उपासना'** की खोज करना आवश्यक है

उपासना का अभिप्राय है—समीप स्थिति (उप=समीप; आसना=**आस उपवेशने**), अर्थात् उपासक उपासनाकाल में ब्रह्म को अपने समीप और अपने को ब्रह्म के समीप स्थित हुआ जाने । ऐसी भावना बनाकर परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए । उपासनाकाल में उपासक अपने मन को परमेश्वर में स्थित रक्खे । उस अवस्था में उसपर बहुत कुछ परमात्मा के गुण कर्म-स्वभाव का प्रभाव हो जाता है । उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है और परमेश्वर के सान्निध्य से नित्यप्रति ज्ञान बढ़ाकर मुक्ति तक पहुँच जाता है ।

परमेश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप है, जीव केवल सच्चित् है । **'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी**

---

१. मैत्रायण्यु० प्र० ४ । खं० ४ । वचन ६॥ तथा मैत्रायणीय आरण्यक ६।३४॥ वहाँ प्रथम पाद में 'समाधिनिर्धौमलस्य' पाठ है ।

https://t.me/arshlibrary

भवति'—परमेश्वर आनन्दस्वरूप है,उसके सान्निध्य से जीवात्मा को भी आनन्द की प्राप्ति हो जाती है।

उपासना—'**उपास्यतेऽनया इत्युपासना**' अर्थात् जिससे परमात्मा के समीप ठहरा जाए उसे उपासना कहते हैं। तो क्या परमात्मा जीवात्मा से दूर है ? वेद में जिसे सबके बाहर-भीतर व्याप्त बताया है (**तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः**) ;उपनिषदों में जिसे '**सर्वभूतान्तरमात्मा**' और गीता में सबके हृदय में वास करनेवाला (**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**) कहा है। वह कब किसी से दूर हो सकता है, जो उसके पास जाने का प्रश्न उठे ? इस सन्दर्भ में यजुर्वेद (४०।५) में आये '**तद्दूरे तद्वन्तिके**' शब्द विचारणीय हैं। तदनुसार ईश्वर दूर भी है और पास भी है। एक-साथ किसी वस्तु के दूर और पास कहने में परस्पर विरोध का आभास है। वस्तुतः अज्ञान के कारण पास पड़ी वस्तु भी दूर हो जाती है। यही कारण है कि परमेश्वर को सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी माननेवाले भी उसे अपने भीतर न पाकर दूरस्थ नगरों, पहाड़ों और जंगलों में ढूँढते फिरते हैं। जो परमात्मा हरिद्वार में रहनेवालों को हरिद्वार में न मिलकर काशी में मिलता है, वही परमात्मा काशीवालों को काशी में न मिलकर हरिद्वार में मिलता है। वहाँ पहुँचकर भी वे उससे (अपने पिता से) सीधा सम्पर्क नहीं कर पाते, अपितु बिचौलिए पुजारियों के अनुग्रह से उनकी पेट-पूजा कर और मुँहमाँगी दक्षिणा (रिश्वत) देकर नियत समय में ही अपने इष्टदेव का सामीप्यलाभ करने में सफल हो पाते हैं। इस प्रकार परमात्मा अज्ञानियों से दूर और ज्ञानियों के समीप रहता है। इतना ही नहीं, सदोष अन्तःकरण के कारण उसमें व्याप्त परमेश्वर की प्रतीति नहीं होती। उपनिषद् के अनुसार तो '**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः**'—परमेश्वर उसी को मिलता है जिसे वह वरण करता है। परमेश्वर उसी का वरण करता है जो उसका समानधर्म होता है—'**समानशीलव्यसनेषु सख्यम्**', अतः जिस अंश में उपासक के गुण-कर्म-स्वभाव परमेश्वर के अनुरूप होते हैं, उसी अंश में उसे परमेश्वर का सामीप्य-लाभ होता है।

अष्टाङ्गयोग—'**यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि**' ।—योगसूत्र२।२९

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि —ये आठ योग के अङ्ग हैं। इनमें सभी भाव वा साधनों का अन्तर्भाव हो जाता है। इनका अनुष्ठान करने से चित्त के अविद्यादि क्लेशरूप सभी मलों का नाश हो जाता है। जैसे-जैसे योग के अङ्गों पर उपासक का आचरण बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे चित्त के दोष क्षीण होते जाते हैं। दोषक्षय के अनुसार आत्मज्ञान की चमक भी उत्तरोत्तर अधिक प्रकाशित व स्पष्ट होती जाती है। अन्त में ज्ञान के प्रकाश की यह वृद्धि अपने सर्वोच्च प्रकर्ष को प्राप्त कर लेती है। यह प्रकर्ष है—विवेकख्याति। प्रकृति-पुरुष के भेद का ज्ञान—प्रकृति जड़ तत्त्व है; आत्मतत्त्व चेतन अपरिणामी है—यह साक्षात् बोध आत्मा को हो जाता है। इस प्रकार योग के अङ्गों का अनुष्ठान जहाँ दोषों के वियोग का कारण है, वहाँ विवेकख्याति की प्राप्ति का भी साधन है।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तत्सिद्धिः—चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग की सिद्धि के लिए अभ्यास और वैराग्य मुख्य साधन हैं। इनका अनुष्ठान यम-नियमादि के पालन से सम्भव है। '**यम**' पद '**यम उपरमे**' धातु से निष्पन्न है। उपरम का अर्थ निवृत्ति है। इस प्रकार यम से तात्पर्य है—बाह्य विषयों की ओर से अपने आपको निवृत्त करना, अर्थात् अपने आपको संयत और नियन्त्रित करना। सामाजिक व्यवहार में व्यक्ति के लिए जिन निर्देशक सिद्धान्तों का पालन करना आवश्यक है, वे '**यम**' के अन्तर्गत हैं। जिन भावनाओं व कार्यों को केवल व्यक्तिगत जीवन में निभाना होता है वे '**नियमों**' में परिगणित हैं। आत्मा में बीज बोने के लिए यम-नियमों के द्वारा क्षेत्र का परिष्कार किया जाता है। इनका पूर्णतया पालन किये बिना चरित्र-निर्माण

https://t.me/arshlibrary

तत्राऽहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥

इत्यादि[1] सूत्र पातञ्जल योगशास्त्र के हैं।

जो उपासना का आरम्भ करना चाहे, उसके लिए यही आरम्भ है कि वह किसी से वैर न रक्खे, सर्वदा सबसे प्रीति करे। सत्य बोले मिथ्या कभी न बोले। चोरी न करे, सत्य-व्यवहार करे। जितेन्द्रिय हो, लम्पट न हो और निरभिमानी हो, अभिमान कभी न करे। ये पाँच प्रकार के **'यम'** मिलके **'उपासनायोग का प्रथम अङ्ग'** है।

असम्भव है और चरित्र-निर्माण के बिना योगाभ्यास व्यर्थ है। जिनके जीवन में यम-नियमों का व्यवहार नहीं वे तथाकथित योगी केवल आत्मवंचक वा जगवंचक हैं।

यम— तत्र-अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः। —योगसूत्र साधनपाद ३०।

अहिंसा—सब प्रकार से सब काल में, सब प्राणियों के साथ वैर का त्याग करके प्रीतिपूर्वक वर्त्तना 'अहिंसा' है। मनसा-वाचा-कर्मणा किसी प्राणी को कष्ट पहुँचाना ही नहीं, अपितु उसकी भावना तक का मन में न आने देना 'अहिंसा' है। इस प्रकार किसी के प्रति द्रोह, ईर्ष्या, असूया आदि की भावना को चित्त में उभरने देना भी हिंसा है। सत्य आदि सभी यम-नियम अहिंसामूलक हैं। अहिंसासिद्धि के लिए ही उनका प्रतिपादन किया गया है। अहिंसा को अधिकाधिक निर्मल करने में ही उनका साफल्य है। यम-नियमों में अहिंसा के प्राधान्य का उल्लेख करने के लिए आचार्य पञ्चशिख ने कहा—**'स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसादिनि दानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति।'** अर्थात् ब्रह्मवित् जैसे-जैसे व्रतों का अनुष्ठान करते हैं वैसे-वैसे (उन व्रतों द्वारा) प्रमादकृत हिंसामूलक कर्मों से हटते हुए अहिंसा को निर्मल कर देते हैं, अर्थात् ब्रह्मवित् व्यक्ति के समस्त आचरण अहिंसा को निर्मल कर देते हैं।

अहिंसाव्रत में पूर्ण परिपाक होनेपर उसके सामीप्य में प्राणिमात्र वैर त्याग देते हैं। जिस प्रकार मैस्मेरिज़म द्वारा इच्छाशक्ति के सामान्य उत्कर्ष से मनुष्यों तथा पशु-पक्षियों को वश में करके अपना अनुयायी बना लिया जाता है, उसी प्रकार जिन योगियों की इच्छाशक्ति इतनी प्रबल हो चुकी होती है कि वे उनके द्वारा स्वप्रकृति में हिंसा को सर्वथा दूर कर चुके होते हैं, उनकी सन्निधि में वन्य प्राणी उनके मनोभावों से भावित होकर हिंसा का परित्याग कर देते हैं। जब उपासक अहिंसाधर्म में दृढ़ हो जाता है तो मन-वचन-कर्म द्वारा किसी भी रूप में उसके चित्त में हिंसा की भावना नहीं उभरती। उस अवस्था में उसकी संगति में, सामान्य विरोधी की तो बात ही क्या, शाश्वत विरोधी प्राणी भी वैरभाव छोड़ देते हैं। यही कारण है कि योगसिद्धि ऋषि-मुनियों के आश्रमों में सिंह और गाय एक साथ रहते, खाते-पीते और साँप-नेवला साथ-साथ खेलते देखे-सुने जाते हैं।

सत्य—जो विषय प्रमित हुआ है, चित्त तथा वाक्य को तदनुरूप करने की चेष्टा सत्यसाधन है। जैसा अपने ज्ञान में हो वैसा ही मानना, कहना और करना **'सत्य'** कहाता है। छल, प्रपंच या धोखा देने की भावना से कहा गया अर्धसत्य (**नरो वा कुंजरो वा**) भी हेय है। अर्थहीन वाक्य भी असत्य का ही रूप है। सत्य के भी अहिंसामूलक होने के कारण यह आवश्यक है कि कथित वचन प्राणियों के लिए हितकारक हो। सत्यसाधन में मितभाषी होना सहायक होता है। रघुवंशियों के गुणों की चर्चा करते हुए कालिदास ने

---

१. अर्थात् यह तथा अगला दोनों सूत्र साधनपाद के ३०,३२ सूत्र हैं। सूत्र ३० में पठित तत्र' पद को कई विद्वान् व्यासभाष्य का पाठ मानते हैं।

https://t.me/arshlibrary

रघुवंश में लिखा है—**'सत्याय मितभाषिणाम्'** अर्थात् सत्यनिष्ठ होने के लिए वे मितभाषी होते थे। अधिक बोलनेवाले की वाणी से अनजाने ही अनेक असत्य वाक्य निकल जाते हैं। इसलिए मन को सत्यप्रवण करने में काव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि कल्पनाप्रधान विषयों से विरक्त रहना अभीष्ट है।

सत्यप्रतिष्ठाजनित फल भी इच्छाशक्ति से उत्पन्न होता है। जिसके वाक्य तथा मन यथार्थविषयक होते हैं। उसकी वाक्यवाहित इच्छाशक्ति अमोघ हो जाती है। जिस प्रकार मनोवैज्ञानिक आधार पर हिप्नाटिज़म (कृत्रिम निद्रा) द्वारा वश्य व्यक्ति के मन में अचल विश्वास उत्पन्न होकर उसके रोग दूर हो जाते हैं, उसी प्रकार उत्कृष्ट इच्छाशक्ति योगी के मन में उत्पन्न हो, सरल सत्यवाक्य द्वारा वाहित होकर श्रोता के मन पर आधिपत्य कर लेती है। इससे श्रोता के मन में उस वाक्य के अनुरूप भाव प्रबल हो जाते हैं। इस प्रक्रिया के अनुसार यदि योगी किसी पापी को कह दे—**'तू धार्मिक हो जा'** तो निश्चय ही वह धार्मिक हो जाएगा, अर्थात् अधर्म के मार्ग को छोड़कर धर्म में प्रवृत्त हो जाएगा। ऋषि दयानन्द ने महात्मा अमीचन्द जैसे अत्यन्त निकृष्ट, भ्रष्ट और पतित व्यक्ति को इतना ही कहा था—'अमीचन्द हो तो तुम हीरे, पर कीचड़ में पड़े हो'। योगी के मुँह से निकले इस एक वाक्य से रातभर में अमीचन्द की काया पलट हो गयी और वह **'भक्त अमीचन्द'** हो गया। वस्तुतः सत्यनिष्ठ योगी उसी बात को कहता है जो हो सकती है। सदा सत्यभाषण की अभ्यस्त उसकी वाणी से अन्यथा वचन निकलता ही नहीं, इसलिए उनका कहा कभी व्यर्थ नहीं जाता। सत्यनिष्ठ योगी अपनी क्षमता के बहिर्भूत अथवा असम्भव संकल्प कभी नहीं करता।

वाणी के प्रयोग का अर्थ यह है कि जो अपने मन में हो, वह श्रोता के मन में संक्रमित होकर उसे मालूम हो जाए, अतः वाणी को सार्थक बनाने के लिए पाँच बातें आवश्यक हैं—

(१) **'न वञ्चिता'**—वाणी ऐसी हो कि उसके प्रयोग से किसी को धोखा न हो। **'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा'** अर्थात् अश्वत्थामा मारा गया (मनुष्य या हाथी)। युधिष्ठिर की इस वाणी से आचार्य द्रोण को अपने पुत्र के मारे जाने का धोखा हुआ, अतः यह असत्य भाषण है।

(२) **'न भ्रान्ता'**—ऐसी वाणी न बोले जिसके विषय में अभी स्वयं वक्ता ही भ्रम में हो। स्वयं भ्रान्ति-विषयक वाणी का प्रयोग करने से अपना विचार दूसरे को यथार्थरूप में नहीं समझाया जा सकता, अतः यह भी असत्यरूप है।

(३) **'न प्रतिपत्तिबन्ध्या'**—अपनी बात को ऐसी भाषा में न कहे जिसे दूसरा अच्छी तरह न समझता हो, क्योंकि इस प्रकार भी अपनी बात दूसरे में संक्रान्त नहीं की जा सकती, अतः ऐसी वाणी का प्रयोग भी असत्य की परिभाषा के अन्तर्गत आता है।

(४) **'न द्व्यर्थका'**—ऐसा वाक्य भी नहीं बोलना चाहिए, जिनके दो अर्थ निकाले जा सकते हों। यह प्रच्छन्न असत्य है।

(५) सत्य ऐसा बोलना चाहिए जिससे प्राणिमात्र का कल्याण हो। ऐसा सत्य जिसके बोलने से सबकी या बहुतों की हानि होती हो, आपाततः सत्य दीखने पर भी पाप हो जाता है, जिसका फल दुःख होता है।

अस्तेय—जो अदत्त है या धर्मतः अप्राप्य है उसका ग्रहण या जो निज स्व नहीं है, उसका उसके स्वामी की अनुमति के बिना ग्रहण करना **'स्तेय'** है। ऐसे पदार्थ के विषय में जो निःस्पृह होने का भावविशेष है, वही **'अस्तेय'** है। अचानक मिल जाने अथवा भूगर्भस्थ पदार्थ के मिल जाने से भी वह पदार्थ ग्राह्य नहीं हो जाता, क्योंकि वह निजस्व न होकर परस्व है। जिस पदार्थ पर दूसरे का अधिकार है उसे

https://t.me/arshlibrary

ग्रहण करना तो दूर, ग्रहण करने की लालसा भी नहीं करनी चाहिए—**'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'** । लालसा ही आगे चलकर स्तेय का रूप धारण कर लेती है । इस सबका पूर्ण त्याग ही अस्तेय है ।

चोरी की भावना का त्याग हो जानेपर वस्तुओं के लोभ और संग्रह की प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है । ऐसी अवस्था में योगी सबका विश्वासपात्र हो जाता है । तब जिस वस्तु को भी वह चाहता है, संकल्पमात्र से उसे प्राप्त हो जाती है । कहीं भी चला जाए, उसे किसी वस्तु का अभाव नहीं होता । इस प्रकार दूसरों का स्वत्वाधिकार होनेपर भी सब प्रकार की सम्पदाओं का उपयोगाधिकार मिल जाने से सब-कुछ उसी का हो जाता है । यही सिद्धास्तेय योगी के पास सब रत्नों का उपस्थित होना है । यही उसकी सिद्धि का चिह्न है ।

ब्रह्मचर्य—मात्र उपस्थसंयम ब्रह्मचर्य नहीं कहाता । पूर्णरूप से वीर्यरक्षा के साथ अन्य समस्त इन्द्रियों को संयत कर विषयों में निर्बाधरूप से प्रवृत्त होने से रोकना ब्रह्मचर्य है । यदि चक्षु आदि इन्द्रियों को खुला छोड़ दिया जाए तो वे सब मिलकर वीर्यनाश का कारण बन जाती हैं, अतः किसी भी इन्द्रिय की उसके विषय में प्रवृत्ति को न उभरने देना ब्रह्मचर्यपालन के लिए आवश्यक है । मुण्डकोपनिषद् (३।१।५) में कहा है—**'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्'** ब्रह्मचर्य का पालन न करनेवाले को आत्मसाक्षात्कार कभी नहीं हो पाता । यह पथ अत्यन्त दुर्गम है । पूर्णसंयमी पुरुष ही इसे पार कर पाता है । इस साधना में लगे उपासक को सावधान करने के लिए मनुस्मृति (२।९३) में लिखा है—

इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयः ।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥

इन्द्रियों के वश में होकर जीवात्मा बड़े-बड़े दोषों को प्राप्त होता है और जब वह इन्द्रियों को वश में कर लेता है तो सिद्धि को प्राप्त होता है । इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः ॥

ब्रह्मचर्य में अवस्थित व्यक्ति को आठों प्रकार के मैथुन से बचना चाहिए । स्त्री (पुरुष) का परस्पर एकान्तदर्शन, स्पर्शन, विषयकथा, संभाषण, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग —यह आठ प्रकार का मैथुन है । इस सन्दर्भ में गीता का यह श्लोक (६।१७) द्रष्टव्य है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

अर्थात् जिसका आहार-विहार नियमित है, कर्मों का आचरण नपा-तुला है और सोना-जागना परिमित है, उसी के लिए यह योगाभ्यास दुःखनाशक और सुखावह होता है ।

ब्रह्मचर्य के दुर्दान्त शत्रु—काम का समूल उन्मूलन ब्रह्मचर्यपालन से ही सम्भव है । इतिहास साक्षी है कि साधकों को योगभ्रष्ट करने में सबसे बड़ा हाथ इसी का रहा है, अतः योगमार्ग को निष्कंटक बनाने के लिए ब्रह्मचर्यपालन सर्वोत्तम उपाय है ।

अपरिग्रह—देहरक्षा के निमित्त अपेक्षित भोग्य पदार्थों से अतिरिक्त वस्तुओं का संग्रह न करना

https://t.me/arshlibrary

अपरिग्रह है। प्राणधारण के लिए भोजन, तन ढाँपने के लिए वस्त्र तथा सर्दी-गर्मी-बरसात से बचने के लिए मकान आदि आवश्यक हैं, परन्तु इन आवश्यकताओं की पूर्ति सादे भोजन, सादे वस्त्रों और सादे ढंग से बने छोटे-से मकान से भी हो सकती है। असाधारण भोजन, बहुमूल्य वस्त्र और आलीशान बंगले 'परिग्रह' की कोटि में आजाते हैं। योगी के लिए अपरिग्रह पर इतना बल इसलिए दिया गया है कि यदि वह अनावश्यक संग्रह में लगा रहा तो उसकी वृत्तियाँ तो बहिर्मुखी होंगी ही, उसका सारा जीवन इसी में पूरा हो जाएगा। योगसाधना के लिए अवसर कहाँ रहेगा।

अपरिग्रह का एक सामाजिक पक्ष भी है। इस दृष्टि से अपरिग्रह का आंशिक पालन सद्गृहस्थियों द्वारा किया जाना भी वांछनीय है। इसके न होनेपर भोग्य सामग्री का कुछ एक स्थानों पर आवश्यकता से अधिक जमा हो जाना सम्भव है। परिमाणतः साधारण जनता के लिए उसमें कमी आ जाना अवश्यम्भावी है। इससे समाज में विषमता और तज्जन्य असन्तोष का फैलना स्वाभाविक है। सामाजिक हित की दृष्टि से तो—

यावत् भ्रियते जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनः।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनः दण्डमर्हति॥ —भागवत०

A wise man will desire no more than what he can get justly, use soberly, distribute cheerfully and leave contentedly.—Anon.

आवश्यकता से अधिक वस्तु रखना समाज के प्रति अन्याय और इसलिए दण्डनीय अपराध है। ऐसे व्यक्तियों में परदुःखकातरता एवं सहानुभूति का अभाव होता है। आवश्यकता से अधिक द्रव्य का स्वामी होकर उसे परार्थ में न लगाना स्वार्थपरता है जो पशुवृत्ति का परिचायक है। **'त्यागाय संभृतार्थानाम्'** (रघुवंश) रघुवंशी त्याग—दान के लिए संग्रह करते थे। **'आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव'**—बादलों की भाँति उनका लेना देने के लिए होता है। इन गुणों के कारण वे योगावस्था में ही प्राणों का विसर्जन करते थे—**'योगेनान्ते तनूत्यजाम्'** योगी का लक्ष्य निःस्वार्थता की चरम सीमा है, अतः जीवनयापन के लिए नितान्त आवश्यक उपभोग्य वस्तुओं के अतिरिक्त परिग्रह (परि=परितः—चारों ओर से ग्रहण करने की भावना) उनकी योगसिद्धि में बाधक है।

अपरिग्रह के अभाव से भोग्य विषयों में तुच्छता का ज्ञान होनेपर, 'शरीर भी परिग्रहस्वरूप है' ऐसा जान पड़ता है। देह को स्वच्छ, स्वस्थ और नीरोग रखने के लिए अपेक्षित दिनचर्या की उपेक्षा करके जब मनुष्य उसके बाह्य रूप को सजाने-संवारने में लग जाता है तब वह देहविषयक परिग्रह का दोषी होता है। जब विषय और शरीर से मन का अलगाव होता है और मनुष्य विषयासक्ति को छोड़कर जितेन्द्रिय होता है, तब उसे जन्मकथन्तासम्बोध अर्थात् जन्मजन्मान्तरविषयक ज्ञान होता है। विषय तथा शरीर का घनिष्ठताजनित मोह ही पूर्वापर ज्ञान का प्रतिबन्धक है। शरीर को सम्यक् स्थिर तथा निश्चेष्ट रखने पर जिस प्रकार दूरदर्शनादि ज्ञान होते हैं, उसी प्रकार भोग्यविषय के साथ शरीर परिग्रह है—ऐसी ख्याति होने पर आत्मा के पृथक्त्व का बोध होने तथा शरीर मोह से ऊपर उठ जाने के कारण मनुष्य सोचने लगता है—'जीवन क्या है ? मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? क्यों आया हूँ ? पूर्वजन्म में क्या था ? आगे क्या होगा ? क्या करने से मेरा कल्याण होगा ?' इत्यादि। इसी को योगदर्शन में जन्मकथन्तासम्बोध' कहा है। इस प्रकार भौतिक पदार्थों के 'श्वोभाव' होने से परिग्रह से निवृत्ति होकर अपरिग्रह के स्थिर होनेपर जन्मविषयक समस्याओं तथा उनके समाधान का साक्षात्कार हो जाता है।

https://t.me/arshlibrary

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ —योग सू०

राग-द्वेष छोड़ भीतर, और जलादि से बाहर पवित्र रहे। धर्म से पुरुषार्थ करने से लाभ में न प्रसन्नता और हानि में न अप्रसन्नता करे। प्रसन्न होकर आलस्य छोड़ सदा पुरुषार्थ किया करे। सदा दुःख-सुखों का सहन और धर्म ही का अनुष्ठान करे, अधर्म का नहीं। सर्वदा सत्यशास्त्रों को पढ़े-पढ़ावे, सत्पुरुषों का सङ्ग करे। और **'ओ३म्'** इस एक परमात्मा के नाम का अर्थ-विचार करे। नित्यप्रति जप किया करे। अपने आत्मा को परमेश्वर की आज्ञानुकूल समर्पित कर देवे। इन पाँच प्रकार के **'नियमों'** को मिलाके **'उपासनायोग का दूसरा अङ्ग'** कहाता है, इसके आगे छह अङ्ग **योगशास्त्र** वा **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**+में देख लेवें [1]।

ये यम जाति, देश, काल और सीमा से रहित सार्वभौम महाव्रत हैं। अहिंसा आदि यमों का सदा सर्वत्र यावज्जीवन पालन करना चाहिए। किसी भी अवस्था में अपवादरूप इनके अनुष्ठान में शैथिल्य अथवा स्थगन वांछनीय नहीं है, परन्तु सामान्य जन समाज, वातावरण तथा अन्य बाधाओं से अभिभूत होकर उन्हें जाति, देश, काल, शपथ व प्रतिज्ञा तथा सुनिर्धारित नियम आदि से सीमित कर लेते हैं मछियारे द्वारा मछली मारने तक अपनी हिंसा को सीमित कर अन्य जाति (प्राणी) की हिंसा न करना **'जात्यवच्छिन्न'** अहिंसा है। तीर्थस्थान में हिंसा न करना 'देशावच्छिन्न' (देशविशेष में सीमित) अहिंसा है। पूर्णमासी या एकादशी के दिन हिंसा न करना **'कालावच्छिन्न'** अहिंसा है। किसी प्रयोजनविशेषविषयक प्रतिज्ञा या शपथ को छोड़कर अन्यत्र अहिंसक रहना **'समयावच्छिन्न'** अहिंसा है। इसके विपरीत कभी, कहीं, किसी भी कारण से किसी की भी हिंसा न करना **'जातिदेशकालसमयानवच्छिन्न'** अहिंसा है। इसी प्रकार केवल गौ-ब्राह्मण की रक्षार्थ असत्य भाषण को छोड़ अन्यथा असत्य भाषण न करना **'जात्यवच्छिन्न'** सत्य; अन्यत्र असत्य भाषण करते रहने पर भी धर्मस्थान में असत्य न बोलना **'देशावच्छिन्न'** सत्य है। चतुर्दशी आदि के दिन असत्य न बोलना **'कालावच्छिन्न'** सत्य तथा प्रयोजनविशेष के कारण असत्याचरण करना, अन्यथा नहीं, **'समयावच्छिन्न'** सत्य है। इसके विपरीत कभी, कहीं, किसी कारण, किसी के भी निमित्त असत्याचरण न करना **'जातिदेशकालसमयानवच्छिन्न'** सत्य है। इसी प्रकार शेष यमों के विषय में भी अवच्छेद तथा अनवच्छेद का भेद जानना चाहिए।

यमों का पालन करना यद्यपि मनुष्यमात्र के लिए श्रेयस्कर है, योगमार्ग पर चलनेवाले के लिए तो उनका अनुष्ठान अनिवार्य है। साधारण गृहस्थों के लिए विशेष परिस्थितियों में आंशिक छूट मिल भी जाए तो भी संन्यासी, यति अथवा योगमार्ग के पथिक के लिए तो ये सार्वभौम महाव्रत हैं, अतः उनके लिए इनका पालन करना सर्वथा अनिवार्य है।

नियम—शौच—'शौच' पद का अर्थ शुद्धि या पवित्रता है। इसके दो भेद हैं—बाह्य तथा आभ्यन्तर अथवा शारीरिक तथा मानसिक। इसमें मनुस्मृति (५।१०६) का प्रमाण है—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥

+ **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के उपासना विषय में इसका वर्णन है।**

---

१. योगविद्या के लिए ऋषि दयानन्द के योगविद्या के शिष्य स्वामी लक्ष्मणानन्दकृत ध्यानयोगप्रकाश' ग्रन्थ विशेषरूप से पठनीय है। यह ग्रन्थ रालाकट्रस्ट ने प्रकाशित किया है।

https://t.me/arshlibrary

जल से शरीर के बाहर के अवयव, सत्याचरण से मन, विद्या और तप अर्थात् कष्ट सहकर भी धर्मानुष्ठान से आत्मा तथा ज्ञान अर्थात् पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के विवेक से बुद्धि शुद्ध होती है।

जलादि से शरीर, वस्त्र तथा आवास आदि को शुद्ध रखना बाह्य शौच है। मद, मात्सर्य, असूया, राग-द्वेष आदि मलों का प्रक्षालन कर मन को स्वच्छ रखना आभ्यन्तर शौच है। अशुचि व्यक्ति का चित्त मलिन तथा शरीर योगाभ्यास में अपेक्षित कर्मण्यता से शून्य रहता है, अतः दोनों प्रकार का शौच समानरूप से आवश्यक है। शरीर और मन दोनों की शुद्धि में आहार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अमेध्य आहार द्वारा शरीर में **अशुचि** जाने से शरीर ही दूषित नहीं होता, मन में भी मलिन भाव उभरते हैं। गले-सड़े, दुर्गन्धित, मादक तथा अस्वाभाविकरूप से शरीरयन्त्र के लिए उत्तेजक पदार्थ अमेध्य कहे जाते हैं। मादक द्रव्य के सेवन से चित्त में स्थिरता तथा हिंसा से प्राप्त पदार्थों के सेवन से शान्ति कभी नहीं आ सकती। अंग्रेजी के एक कवि एडविन अर्नल्ड (Edwin Arnold) ने 'The light of Asia' नाम से काव्यरूप में महात्मा बुद्ध की जीवनी लिखी है। एक स्थान पर उसने लिखा है—

"To live on death and seek peace of mind,

What a folly I find in mankind."

मनुष्य हिंसा (से प्राप्त मांस) पर जिये और मानसिक शान्ति पाने की आशा करे, इससे बड़ी मूर्खता की बात क्या होगी ? ऐसे अमेध्य पदार्थों का सेवन उसके वशीकरण में बाधक होने से उसके योग के शत्रु हैं। चरकसंहिता (चिकित्सास्थान २४।५२-५४) में ठीक कहा है—

प्रेत्य चेह च यच्छ्रेयस्तथा मोक्षे च यत्परम्।
मनः समाधौ तत्सर्वमायत्तं सर्वदेहिनाम्॥
मद्येन मनसश्चायं संक्षोभः क्रियते महान्।
श्रेयोभिर्विप्रयुज्यन्ते मदान्धाः मद्यलालसाः॥

अर्थात्—परलोक में और इहलोक में जो हितकर और परम श्रेय है वह सब मनुष्य को मन की समाधि द्वारा ही प्राप्त होता है, परन्तु मद्य से मन में अत्यन्त क्षोभ हो जाता है, अतः मद्य से जो अन्धा है तथा मद्य में जिसकी लालसा है उसे मोक्ष कभी नहीं मिलता।

जल, मिट्टी तथा विशिष्ट यौगिक क्रियाओं द्वारा निरन्तर शरीर की शुद्धि करते रहनेपर भी जब योगाभ्यासी शरीर को अशुद्ध ही पाता है तो स्वभावतः उसमें अनासक्ति तथा उपेक्षा के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे कामदोषदर्शी की शरीरमात्र में प्रीति न रहने से अन्य व्यक्तियों के साथ संसर्ग की भी इच्छा नहीं रहती। जब वह शरीर और उसके अंगों की रचना के विषय में चिन्तन करता है तो वह शंकराचार्य के शब्दों में **'त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंकुलं'** तथा **'मूत्रपुरीषाभ्याम्'** पूर्ण पाता है और अन्त में निश्चय कर डालता है—**'रजस्वलमनित्यं च भूतवासमिमं त्यजेत्'**।

कायिक शुद्धि मानसिक शुद्धि की पूरक है। अन्यों के साथ संसर्ग न रहने से संसर्गजनित अनेक दोष दूर हो जाते हैं। तब चित्त की शुद्धि की ओर अग्रसर होनेपर राग, द्वेष, क्रोध, असूया आदि मलों के प्रक्षालन से सत्त्वबुद्धि अर्थात् मन की निर्मलता होती है। अन्तःकरण की निर्मलता से सौमनस्य अर्थात् मानसिक प्रीति का लाभ होता है। सौमनस्य से प्रणवादि के जप तथा ध्यान में एकाग्रता आती है। एकाग्रता से विषयों

https://t.me/arshlibrary

में इतस्ततः विचरण करनेवाली इन्द्रियाँ बँध-सी जाती हैं। इन्द्रियों के विषयों से उपरत हो जानेपर आत्मदर्शन सुलभ हो जाता है।

सन्तोष—सन्निहित साधन से अधिक साधन के ग्रहण में इच्छा न होना अथवा जीवननिर्वाह के लिए अपेक्षित जो साधन धर्मपूर्वक पुरुषार्थ से प्राप्त हों उनमें प्रसन्न रहना सन्तोष कहाता है। **'अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम। दास मलूका कह गये सबके दाता राम'**। ऐसा सोचकर हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहने का नाम सन्तोष नहीं, अकर्मण्यता है। तृष्णा के वशीभूत होकर आवश्यकता से अधिक अर्थसंचय में प्रवृत्त रहना योगाभ्यास में बाधक है। तृष्णा के जाल में फँसा व्यक्ति फिर उससे निकल नहीं सकता। भर्तृहरि के शब्दों में **'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः'**।

समस्त दुःख और विविध प्रकार के क्लेश तृष्णामूलक होते हैं। अपनी अपेक्षित और मर्यादित उपलब्धि में सन्तुष्ट रहनेवाले व्यक्ति को तृष्णाजन्य दुःख पीड़ित नहीं करते। ऐसे ही प्रसंग में ययाति ने अपने पुत्र पुरु से कहा था—

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यताम्।
तां तृष्णां संत्यजन् प्राज्ञः सुखेनैवाभिपूर्यते॥

दुर्मति व्यक्तियों के द्वारा जो छोड़ी नहीं जाती, व्यक्ति के बूढ़ा होनेपर भी जिसे बुढ़ापा नहीं आता, प्रत्युत अग्नि में घी डालनेपर अग्नि की भाँति बढ़ती ही जाती है—ऐसी तृष्णा को छोड़ता हुआ बुद्धिमान् व्यक्ति अनुपम सुख से भर जाता है। अन्यत्र कहा है—

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥

जो सुख सन्तोषरूपी अमृत का पान करनेवाले शान्तचित्त मनुष्यों को प्राप्त है, वह धन के लिए इधर-उधर भटकनेवालों को कैसे मिल सकता है? वस्तुतः **'सर्वत्र सम्पदस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम्। उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मास्तृतैव भूः॥'** जैसे पैर में जूता पहन लेनेवाले के लिए मानो सारी धरती चमड़े से ढक जाती है, वैसे ही सन्तुष्टमन व्यक्ति के लिए सब कहीं की सम्पदा मानो उसकी अपनी ही हो जाती है। शंकराचार्य का कथन है—**'तृष्णाक्षयः स्वर्गपदं किमस्ति'**? अर्थात् जिसकी तृष्णा का अन्त हो गया उसे स्वर्ग—सुखों का घर मिल गया। महाभारत (शान्ति० १७४।४६) में तो यहाँ तक कहा है—

यच्चकामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

इहलोक में काम्यवस्तु का जो उपभोगजनित सुख है, अथवा स्वर्ग का जो महान् सुख है वह तृष्णाक्षयजनित सुख के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं है। 'सन्तोष' नियम की स्थिरता होने पर योगाभ्यासी आत्मज्ञान के लिए निर्बाध प्रयत्नशील बना रहता है।

तप—अल्पमात्र दुःख से जो घबराते हैं उनके द्वारा योगसिद्धि की आशा नहीं। शरीर के कष्टसहिष्णु होने एवं शारीरिक सुख एवं भौतिक सुविधाओं के अभाव में मन विकृत न होने पर ही योगसिद्धि सम्भव है। योगानुष्ठान के लिए स्वस्थ, नीरोग तथा स्वच्छ शरीर का होना आवश्यक है। कायिक, वाचिक तथा मनसिक भेद से तीन प्रकार का तप होता है। भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय के चौदहवें से उन्नीसवें श्लोक तक में शरीर तथा इन्द्रियों के तप का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। यहाँ संकेतरूप में वह प्रस्तुत है—

https://t.me/arshlibrary

कायिक—देवता, ब्राह्मण=वेदज्ञाता, गुरु एवं माता-पिता आदि मान्य वृद्धजनों तथा विद्वानों की पूजा करना, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा का एकनिष्ठा से पालन करना—यह सब कायिक अथवा शारीरिक तप है ।

वाचिक—किसी के मन में उद्वेग पैदा न करनेवाला, सत्य, प्रिय व हितकारी भाषण, आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन तथा कर्त्तव्य कर्मों का निरन्तर अनुष्ठान वाचिक तप है ।

मानसिक—मन को प्रसन्न रखना, कैसी भी परिस्थिति होने पर अन्तःकरण में क्षोभ या विषाद को न आने देना, सौम्य, शान्त तथा सरल भाव से सद्व्यवहार करना, मुनियों के समान मन को संयत रखते हुए कार्य करना आदि मानस तप कहाता है ।

योगाभ्यासी तथा साधारण जन भी परमश्रद्धा के साथ निष्कामभाव से ऐसा अनुष्ठान करता है तब वह तप सात्त्विक होता है । ऐसा तप शरीर, वाणी और मन की दिव्य शक्तियों को उद्दीप्त करता है । शरीर के सर्वथा स्वस्थ हो जाने का नाम **'कायसिद्धि'** और दूरवर्त्ती तथा निकटवर्त्ती शब्दादि विषयों के यथार्थ ग्रहण करने की शक्ति का नाम **'इन्द्रियसिद्धि'** है । तप के द्वारा अशुद्धि का क्षय होनेपर शरीर और इन्द्रिय इस प्रकार सध जाते हैं कि उनके द्वारा योगाभ्यास में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित होने की आशंका नहीं रहती । तपोऽनुष्ठान से शरीर हल्का, स्फूर्तिमान् तथा निरालस बना रहने से योगाभ्यास में अधिक समय तक आसीन रहने के लिए अनुकूल रहता है । अपने विषयों की ओर आकृष्ट न रहना इन्द्रियों की अशुद्धि के क्षय का सूचक है । विषयों से निरस्त होनेपर इन्द्रियों की शक्ति उभरने लगती है । सुख-दुःख, हानि-लाभ, गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास आदि द्वन्द्वों को सहन करने की शक्ति मिलती है ।

स्वाध्याय—मोक्षविधायक वेदादि शास्त्रों का अध्ययन तथा ओंकार का जप **'स्वाध्याय'** कहाता है—

स्वाध्यायाद् योगमासीद् योगात् स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥

स्वाध्याय से योगाभ्यास के लिए प्रेरणा मिलती है और योग से स्वाध्याय को । फिर दोनों के संयोग से योगी के हृदय में परमात्मा का प्रकाश होता है । इसलिए परमात्मा में मन का स्थित होना स्वाध्यायसिद्धि का चिह्न है । स्वाध्यायस्थैर्य होनेपर बहुत समय तक मन्त्र तथा मन्त्रार्थभावना अविच्छिन्न रहती है । परिणामतः अनेक बार स्वाध्यायी के मस्तिष्क में अभिलषित अर्थ आकस्मिकरूप से अवतरित हो जाते हैं । ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई दिव्यात्मा आकर उस अर्थ को बता गया हो । स्वाध्यायशील व्यक्ति का दिव्य पुरुष=परमात्मा से सम्बन्ध होने से ही ऐसा होता है । ऐसे स्वाध्यायशील योगी के मस्तिष्क (भावनाओं) में देव, ऋषि एवं सिद्ध आत्मा दर्शन देते जाने जाते हैं । किसी भी ग्रन्थ में पढ़ते समय उसके रचयिता ऋषि के सदाचरण एवं गुणों पर प्रकाश पड़ता है । वस्तुतः यह उनका दर्शन है । इस प्रकार परमेश्वर के अनुग्रह से ऋषि-मुनियों के मार्गदर्शन में अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण, पुरुषार्थ, और प्रेम के सम्प्रयोग से योगी मुक्तिलाभ करता है ।

ईश्वरप्रणिधान—अपने आप को और अपने द्वारा किये जानेवाले कार्यों को सर्वात्मना ईश्वरार्पण कर देना **'ईश्वरप्रणिधान'** है । ऐसा करने से योगी अपने-आपको महत्त्व न देकर समर्पण की भावना से परिनिष्ठित रहते हुए अतिशय निःशंक एवं सब प्रकार की बाधाओं से सुरक्षित अनुभव करता है । उसका चित्त पूर्णरूप से समाहित तथा प्रसादयुक्त बना रहता है । यह स्थिति परम-लक्ष्य आत्मसाक्षात्काररूप समाधि

https://t.me/arshlibrary

को प्राप्त करने के लिए अनुकूल रहती है। वस्तुतः जब उपासक सर्वात्मना संसार से विरक्त होकर सब भावनाओं को भगवान् में निहित कर देता है, तब व्युत्थानभूमि की चित्तवृत्तियों के उद्भव की सम्भावना नहीं रहती। इसी को प्रभु का प्रसाद कहा गया है—भक्त की भावनाओं को जाननेवाला भगवान् उसका अभिलषित उसे प्रदान कर देता है।

अन्यान्य यम—नियम दूसरे प्रकार से समाधिसिद्धि में सहायक होते हैं, पर ईश्वरप्रणिधान समाधि में साक्षात् सहायक है, क्योंकि वह समाधि के अनुकूल भावनास्वरूप है। यही भावना शरीर को निश्चल (आसनस्थ) करती है और इन्द्रियों को विषयविरत (प्रत्याहृत) करती है। तत्पश्चात् क्रमागत धारणा तथा ध्यान के रूप में परिपक्व होकर अन्ततः समाधि में परिणत हो जाती है, परन्तु यदि ईश्वरप्रणिधान ही समाधिसिद्धि का सरलतम और श्रेष्ठतम हेतु है तो अन्यान्य योगाङ्गों की क्या आवश्यकता है? वस्तुतः असंयम अनियमित दौड़ने-फिरने से या विषयजनित विक्षेपकाल में समाधि नहीं लग सकती। समाधि का अर्थ ही ध्यान की प्रगाढ़ अवस्था है और ध्यान में धारणा की एकतानता, अतः समाधिसिद्धि कहने से समस्त योगाङ्ग स्वतः कथित हो जाते हैं।

सभी यम-नियमों का पालन करना चाहिए, इस विषय में मनु का प्रमाण है—

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥ —मनु० ४।२०४

यमों की उपेक्षा करके केवल नियमों का सेवन न करे। जो ऐसा करता है, वह अधोगति को प्राप्त होता है। वस्तुतः यम-नियमों में से एक की भी उपेक्षा या अवहेलना योगी को हानि पहुँचा सकती है—उसके किये-कराये पर पानी फेर सकती है।

योग के अवशिष्ट अंग—(३) आसन—पूर्ण आस्था के साथ यम-नियमों का पालन करनेपर भी जबतक आसन सिद्ध नहीं होता तबतक योगक्रियाओं व साधनों का सुविधापूर्वक अनुष्ठान नहीं हो पाता। जिसके स्थिर होनेपर सुख का अनुभव हो, कहीं कोई व्यथा न हो, शरीर के अधिक समय तक निश्चल बने रहने में अनुकूलता बनी रहे, वही **'आसन'** कहाता है—**'स्थिरसुखमासनम्'** (योग २।४६)। **'स्थिरता'** का अर्थ है—देह में कहीं चंचलता का न उभरना और 'सुख' का तात्पर्य है—अभिमत आसन पर पर्याप्त समय तक बैठे रहने में किसी अंग में पीड़ा का अनुभव न होना। जिसमें किसी प्रकार की व्यथा या कष्ट अनुभव हो या शरीर में अस्थैर्य की सम्भावना रहे वह योगाङ्गभूत आसन नहीं है। आसन से बैठने का स्थान भी ऊँचा-नीचा या ऊबड़-खाबड़ न होकर समतल होना चाहिए। बिछाने का आसन भी उपयुक्त होना चाहिए न इतना गदीला कि आलस्य बढ़कर निद्रा चित्त को अभिभूत कर ले और न इतना खुरदरा कि उसके स्पर्श से अंगों में चुभन या दुखन हो। आसनों की संख्या पर्याप्त है, जिनका वर्णन हठयोग के ग्रन्थों में तथा आसनसम्बन्धी पुस्तकों में उपलब्ध है। व्यासभाष्य में जिन पद्मासनादि का उल्लेख हुआ है उनकी व्याख्या करते हुए वाचस्पतिमिश्र ने इन आसनों का विवरण प्रस्तुत किया है—पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रयासन, पर्यङ्कासन, क्रौञ्चनिषदासन, हस्तिनिषदासन, उष्ट्रनिषदासन तथा समसंस्थासन। जिस व्यक्ति को जो आसन अनुकूल हो उसी का निरन्तर अभ्यास करते हुए स्थिरता प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए, किन्तु प्रत्येक स्थिति में **'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समे शरीरम्'** (श्वेत० २।८) वक्ष, ग्रीवा और सिर को उन्नत करते हुए मेरुदण्ड या रीढ़ को सीधा रखना चाहिए। आसन की स्थिरतासिद्धि के लिए युक्ताहार-विहार अत्यन्त आवश्यक है। अस्वस्थ व्यक्ति के लिए आसनसिद्धि अत्यन्त दुष्कर है।

https://t.me/arshlibrary

आसन, यम-नियमों की भाँति, योग का स्वतन्त्र अंग नहीं है। यम-नियमों का अनुष्ठान तो सदा—हर समय किया जाता है, परन्तु आसनों का अनुष्ठान प्राणायामादि के समय किया जाता है। प्राणायामादि में सहायक होने के कारण ही आसन भी योग का अंग है। आसनसिद्धि किये बिना प्राणायाम का सुविधापूर्वक किया जाना सम्भव नहीं है।

सुख-दुःख, भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी के कारण मनुष्य को पीड़ा होती है। पीड़ा एक प्रकार की चंचलता है। स्थिरता द्वारा चंचलता अभिभूत होती है। आसनस्थैर्य के कारण शरीर शून्यवत् होने से उसकी सहिष्णुता बढ़ती है। सहनशक्ति का विकास होनेपर सुख-दुःख आदि द्वन्द्व योगी को पीड़ित नहीं कर सकते। आसनजयी की यह स्थिति योगाभ्यास के नैरन्तर्य में बड़ी सहायक होती है।

(४) **प्राणायाम**—क्रियाओं के यथार्थ अनुष्ठान के लिए प्राण का परिष्कार आवश्यक है, जो प्राणायाम के द्वारा होता है। **'बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः'** बाह्य वायु का आचमन करना अर्थात् भीतर लेना **'श्वास'** तथा **'कौष्ठ्यस्य वायोः निःस्सारणं प्रश्वासः'** कोठे की वायु को बाहर निकालना **'प्रश्वास'** है। इन दोनों की स्वाभाविक गति में विच्छेद—रुकावट डाल देना **'प्राणायाम'** है। श्वास-प्रश्वास नियमितरूप में बिना व्यवधान के चलते रहते हैं। प्राण अर्थात् श्वास-प्रश्वास की क्रिया की समाप्ति तो जीवन की समाप्ति है, अतः श्वास-प्रश्वास की गति को सर्वथा नहीं रोका जा सकता, उसमें अन्तर डाला जा सकता है। इस प्रक्रिया से श्वास-प्रश्वासरूप प्राण बन्द न होकर उसका आयाम—विस्तार होता है। उसमें श्वास-प्रश्वास की अवधि बढ़ जाती है। अनेक श्वास-प्रश्वास का एक बन जाता है। अभ्यास करते-करते सौ साँसों की जगह एक ही साँस लेकर काम चल जाता है। गीता में योग की एक परिभाषा **'योगः कर्मसु कौशलम्'** कही है। एकाग्रता के बिना कुशलता नहीं आ सकती—यह हमारे दैनिक व्यवहार में प्रत्यक्ष है। जब हम किसी गहन चिन्तन में निमग्न होते हैं अथवा किसी विषय में तन्मय होकर देखना-सुनना चाहते हैं तो हमारी श्वास-प्रश्वास क्रिया अनायास निरुद्ध हो जाती है। यही चित्त की एकाग्रता है, जिसे प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय प्राणायाम है। योग के आठ अंगों में पहले पाँच बहिरंग तथा अन्तिम तीन अन्तरंग बताये गये हैं। प्राणायाम को उन तीन अन्तरंग अंगों के अनुष्ठान की एक प्रकार की आधारशिला समझना चाहिए, अतः जिस प्राणरोध के साथ चित्त को रुद्ध या एकाग्र किया जाता है, वास्तव में वही योगाङ्ग प्राणायाम है, तुलना करें—

"Ethical preparation (यम-नियम), bodily posture (आसन), breath control (प्राणायाम) and abstraction of the senses from their natural function (प्रत्याहार) are accessaries to the yoga, and elements in it. These represent the stage of purgation, while Dharna and Dhyan illumination and Samadhi union."

—*Radha krishnan : Indian Philosophy, P. 357.*

प्राणायामगत चित्तस्थैर्य ही धारावाही क्रम से परिवर्धित होकर समाधि के रूप में परिणत होता है। चित्तबन्धन की चेष्टा न करके केवल श्वास-प्रश्वास का अभ्यास करने से चित्तस्थैर्य प्राप्त नहीं होता। फलतः चित्त की स्थिरता तथा निर्विषयता का उत्कर्ष न होनेपर वह योगाङ्गभूत प्राणायाम न होकर केवल तमाशा है। मृत्तिका (गढ़े) के भीतर प्रोथित होकर और इस प्रकार लोगों को तमाशा दिखाकर पैसा कमानेवाले योगी नहीं होते, न उनकी तथाकथित समाधि ही योगसमाधि होती है। प्राणरोध समाधि का योग से कुछ लेना-देना नहीं है। वह केवल प्रदर्शन है, योग के नाम पर लूट से अधिक कुछ नहीं।

प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से प्रकाश—आत्मसाक्षाद्रूप विवेकज्ञान का आवरण शिथिल हो जाता

https://t.me/arshlibrary

है। जबतक चित्त अज्ञान-व्यामोह से अभिभूत रहता है तबतक वह आत्मा व अनात्मा के भेद को प्रकाशित करने मे असमर्थ रहता है। वह आत्मगत व्यामोह उसे विवेकज्ञान के विरोधी वैषयिक कर्मों में लगाये रहता है। प्राणायाम का निरन्तर अभ्यास करते हुए योगी के वे कर्म क्षीण हो जाते हैं।

(५) **प्रत्याहार**—अपने विषयों से सम्बन्ध न रखनेपर इन्द्रियों का चित्त की स्थिति के अनुरूप होजाना **'प्रत्याहार'** है। इन्द्रियों का नेता मन या चित्त है। इसके सहयोग या आदेश के बिना बाह्य इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क रहनेपर भी उन विषयों का ज्ञान नहीं होता। जब यम-नियमादि के अनुष्ठान से संस्कृत हुआ चित्त ही उनसे विमुख हो जाता है तो इन्द्रियाँ अपने आप शिथिल हो जाती हैं। प्रत्याहार में चित्त की इच्छा ही प्रधान होती है। जैसे समस्त मधुमक्खियाँ अपनी रानी मधुमक्खी का अनुगमन करती हैं—उसके साथ उड़ती और बैठती हैं, उसी प्रकार प्रत्याहार में इन्द्रियाँ चित्त की अनुगामिनी बनी रहती हैं। चित्त के विषयलोलुप होनेपर उनमें प्रवृत्ति होती और चित्त के निरुद्ध हो जाने पर निरुद्ध हो जाती हैं। इस प्रकार देह और प्राण दोनों के परिष्कृत हो जानेपर बाह्य इन्द्रियाँ अपने ग्राह्य विषयों से असम्पृक्त रहकर चित्त के अनुरूप-जैसी हो जाती हैं। प्रत्येक इन्द्रिय का अपने विषय से आहरण हो जाने से ही योग का यह स्तर प्रत्याहार कहाता है। यह स्थिति आ जानेपर इन्द्रियों के जय अथवा उनको अपने वश में करने के लिए अन्य किसी उपाय की अपेक्षा नहीं रह जाती। **'प्रत्याहार'** योग के बहिरंग भाग का अन्तिम स्तर है। द्रष्टव्य—

"The Chinese philosopher, Lao Tze' asked—'Who is there who can make the muddy water clear?' and himself answered—'If you leave it alone, it will become clear of itself.' Pratyahara (प्रत्याहार) or withdrawl of the senses from their outward function, answers to the process of introversion in modern psychology. The mind must be shut against all impressions from outside."

—*Radhakrishanan: Indian philosoply, p. 357.*

'प्रत्याहार' के विषय में ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है—"'प्रत्याहार' उसका नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है, तब इन्द्रियों का जीतना अपने-आप हो जाता है, क्योंकि मन ही इन्द्रियों को चलानेवाला है। तब वह मनुष्य जितेन्द्रिय होके जहाँ अपने मन को ठहराना या चलाना चाहे, उसी में ठहरा और चला सकता है। फिर उसको ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में ही प्रीति होती है, असत्य में कभी नहीं।" प्रत्याहार से इन्द्रियाँ पूर्णतया वश में हो जाती हैं। प्रत्याहार की सिद्धि हो जानेपर इन्द्रियों में वह शक्ति नहीं रह जाती जिससे वे आत्मा को बलात् विषयों की ओर खींचकर ले-जा सकें। उस अवस्था में वे **'प्रमाथीनि'** नहीं रहतीं और **'हरन्ति प्रसभं मनः'** बीते काल की बात हो जाती है।

कतिपय विद्वानों का मत है कि शब्दादि विषयों में आसक्ति का अभाव ही इन्द्रियजय है। कुछ लोग वेदनिर्दिष्ट विषयों में प्रवृत्ति तथा निषिद्ध से निवृत्ति को इन्द्रियजय मानते हैं। ऐसे लोग भी हैं जो पराधीन न होकर स्वेच्छा से विषयों में प्रवृत्ति को इन्द्रियजय कहते हैं। कुछ आचार्यों के मत में राग-द्वेष के भाव में सुख-दुःख का अनुभव न करते हुए तटस्थ भाव से विषयभोग करना इन्द्रिजय है। वस्तुतः यह सब इन्द्रियलौल्य है और परमार्थ के लिए विघ्नरूप है। इन्द्रियों की परमावश्यता (ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्—योग० २।५५) यही है कि वे किसी भी अवस्था में विषयों में प्रवृत्त न हों। जिसने अग्निदाह को जान लिया वह भूलकर भी अग्नि में हाथ डालने की इच्छा नहीं करेगा—न आसक्ति से और न अनासक्तभाव से, न स्वतन्त्रभाव से स्वामी बनकर और न परतन्त्रभाव से दास बनकर। विषयों के साथ भोगभावना से सम्बन्ध

https://t.me/arshlibrary

चाहे वह किसी भी रुप में हो, मनुष्य को कभी भी पतित कर सकता है। उसकी आशंका बराबर बनी रहती है। प्रत्याहारजनित इन्द्रियजय ही योगियों के लिए उपादेय है। चित्त के एकाग्र होने पर इन्द्रिय द्वारा विषय का बोध नहीं हो पाता—यही स्थिति इन्द्रियों की परमावश्यता है।

(६) **धारणा**—देह के किसी अंगविशेष अथवा किसी लक्ष्यविशेष में चित्त को बाँध देना अर्थात् केन्द्रित कर देना **'धारणा'** है। प्रत्याहार के अभ्यास के फलस्वरूप चित्त की एकाग्रता का आरम्भ हो जाता है। धारणा, ध्यान और समाधि के रूप में उसमें अभिवृद्धि तथा पूर्णता प्राप्त होती है। प्राणायाम आदि में भी धारणा का अभ्यास होता है, परन्तु वहाँ धारणा की मुख्यता न होकर मात्र भावना होती है। धारणा और ध्यान के रूप में इस भावना का विकास होता है। जिस चित्तबन्ध में केवल उसी देश का (जिसमें चित्त को बद्ध किया गया है) ज्ञान रहता है और जब प्रत्याहृत इन्द्रियसमूह स्वविषय का ग्रहण नहीं करते तब प्रत्याहारमूलक वैसी धारणा ही समाधि की अंगभूत धारणा होती है। अल्प समय तक चित्त का एकाग्र होना प्रत्याहार में भी है, परन्तु वहाँ मुख्यतः इसी बात पर बल होता है कि इन्द्रियाँ चित्त की अनुगामिनी हों। धारणा के निमित्त नियत लक्ष्यविशेष को एकाग्र भाव से देखते हुए अधिकाधिक काल तक उसी की चित्तवृत्ति को प्रवाहित करते हुए चित्त को वहीं बाँधे रखना चाहिए। देखते-देखते कुछ समय बाद आँखें स्वतः बन्द हो जाती हैं, किन्तु चित्त में उसी की वृत्ति प्रवाहित रहती है। इसमें जल्दी या न्यूनाधिक समय के अन्तर से विषयान्तर वृत्ति उभरती रहती है। उसको हटाने और चित्त को लक्ष्य पर बाँधे रहने के लिए निरन्तर अभ्यास—साधना आवश्यक है।

(७) **ध्यान**—उस लक्ष्यप्रदेश में प्रत्यय (ज्ञानवृत्ति) की एकाग्रता **'ध्यान'** कहाती है। चित्तवृत्ति का नाम **'प्रत्यय'** तथा प्रयत्नों के एकरस प्रवाह का नाम **'एकतानता'** है। योगी के चित्त में ध्येयमात्र को विषय करनेवाली विजातीय वृत्तियों के व्यवधान से रहित जो सजातीय वृत्तियों की एकतानता उदय होती है, उसी का नाम ध्यान है। धारणा में प्रत्यय या ज्ञानवृत्ति खण्डित धारा के रूप में प्रवाहित रहती है। अभ्यासबल से जब वह अखण्डधारा का रूप धारण कर लेती है तब उसे ध्यान कहते हैं। यह चित्तस्थैर्य की अवस्था-विशेष है। ध्यानशक्ति उत्पन्न होनेपर साधक किसी भी विषय को लेकर ध्यान कर सकते हैं, परन्तु योगानुष्ठान के सन्दर्भ में विषयान्तर से सर्वथा असम्पृक्त एकमात्र ध्येय परमेश्वर है। जहाँ धारणा में चित्त की एकाग्रता के लिए कोई भी लक्ष्य निर्धारित किया जा सकता है, वहाँ ध्यान में चित्त की अशेष वृत्तियाँ आत्मचिन्तन—केवल आत्मचिन्तन में प्रवृत्त रहती हैं। आत्मचिन्तन की इस निर्बाध स्थिति में साधक अपने आपको भूल जाता है और ईश्वर को छोड़ अन्य किसी भी पदार्थ—न बाह्य न आन्तर, का स्मरण न करते हुए तादात्म्यभाव से उसी अन्तर्यामी के स्वरूप में मग्न हो जाता है। इसी का नाम ध्यान है।

(८) **समाधि**—अपनी ध्यानात्मक स्थिति से रहित, केवल ध्येयरूप से प्रतीत होनेवाले उक्त ध्यान का ही नाम समाधि है। वस्तुतः ध्यान के चरम उत्कर्ष का नाम समाधि है, जो चित्तस्थैर्य की सर्वोत्तम अवस्था है। चित्त की जिस एकाग्र अवस्था में ध्याता-ध्येय-ध्यान तीनों की प्रतीति होती है उसे ध्यान कहते हैं। उस स्थिति में ध्याता अनुभव करता है कि मैं अमुक का ध्यान कर रहा हूँ। ध्यान जब **'अर्थमात्रनिर्भास'** होता है, अर्थात् ध्याता ध्यान में इतना लीन हो जाता है, अथवा ध्यान जब इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि उसमें केवल ध्येय की ही ख्याति होती रहती है तब वह समाधिरूप हो जाता है। यद्यपि ध्यान उस समय विद्यमान रहता है (क्योंकि ध्यान ही में तो ध्येय भासता है) तथापि ध्याता को उसकी प्रतीति नहीं होती। ध्यान के होते हुए भी उसकी प्रतीति न होना स्वरूपशून्य के समान है। तात्पर्य यह है कि जब साधक को अपनी

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

जब उपासना करना चाहे, तब एकान्त शुद्ध देश में जाकर, आसन लगा, प्राणायाम कर, बाह्य विषयों से इन्द्रियों को रोक, मन को नाभिप्रदेश में, वा हृदय, कण्ठ, नेत्र, शिखा अथवा पीठ के मध्य हाड़ में किसी स्थान[1] पर स्थिर कर अपने आत्मा और परमात्मा का विवेचन करके परमात्मा में मग्न होकर संयमी होवे ।

सत्ता विस्मृत हो जाती है और केवल ध्येय-विषयक सत्ता—आत्मतत्त्व ही की उपलब्धि होती है, अर्थात् जब ध्येय से अपना पृथक्त्व प्रतीत नहीं होता, ध्येय विषय पर ऐसा चित्तस्थैर्य समाधि कहाता है । समाधि-दशा में ध्याता और ध्येय, उपासक और उपास्य अथवा भक्त और भगवान् में कोई भेद नहीं रहता । तात्स्थ्योपाधि से वे एक हो जाते हैं । सांख्यदर्शन में समाधि-अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है—**'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता'**—अर्थात् मोक्ष के समान समाधि में भी ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है । वस्तुतः समाधि के द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार तथा परमार्थ प्राप्ति-सिद्धि सम्भव है ।

उपासना का स्थान—उपासना के लिए उपयुक्त स्थान के विषय में श्वेताश्वतरोपनिषद् में लिखा है—

समे शुचौ शर्करावह्निबालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥ —२।१०

समतल, शुद्ध-पवित्र भूमि हो, पत्थर, रोड़े, अग्नि, रेत आदि से रहित हो, शोर न हो, जलाश्रय आदि हो । आँखों को चुभनेवाला स्थान न हो । वायु, शब्दादिशून्य गुफ़ा में आसन जमाए । इस विषय में गीता के छठे अध्याय में ११ से १७ तक के श्लोक द्रष्टव्य हैं । श्लोक ११-१२ से यह स्पष्ट है कि योगाभ्यास के लिए स्वस्तिक आदि आसनों से बैठते समय नीचे बिछानेवाले आसन की उपयुक्तता का ध्यान रखना चाहिए । ऐसा न होनेपर आसन लगाने का स्थान भी कष्टप्रद हो सकता है । स्थान ऊँचा-नीचा, ऊबड़-खाबड़ नहीं होना चाहिए । बिछाने का आसन मृदु हो, जिसके स्पर्श से अंग में चुभन या दुःखन न हो ऐसा आसन अधिक गदीला भी न हो; अन्यथा आलस्य बढ़कर तन्द्रा चित्त को अभिभूत कर सकती है । चौदहवें श्लोक में **'युक्त आसीत मत्परः'** पद योगसूत्र २।४७ के **'अनन्तसमापत्ति'** साधन का संकेत करते प्रतीत होते हैं । संयत होकर अनन्त परमात्मा का ध्यान करता हुआ आसन लगाकर बैठे । इस प्रकार अनन्त के ध्यान से अनन्त की स्थिरता से योगी का तादात्म्य अनुभूत होनेपर वह स्थिरता उपासना में प्रतिघटित होने लगती है ।

ध्यान की स्थिति—इस विषय में योगदर्शन (३।१) के भाष्य में लिखा है—**'नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्ध्नि-ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्रे इत्येवमादिषु देशेषु'** अर्थात् नाभिचक्र, हृदयकमल, मूर्धज्योति, नासिका के अग्रभाग, जिह्वा के अग्रभाग इत्यादि स्थानों में ध्यान लगाना चाहिए । ये सब स्थान तो शरीर में ही है इसलिए उपासक को ध्यान लगाने के लिए शरीर से बाहर किसी स्थानविशेष की सर्वथैव आवश्यकता नहीं है । महाभारत (शान्ति० ३००) में लिखा है—

नाभ्यां कण्ठे च शीर्षे च हृदि वक्षसि पार्श्वयोः ।
दर्शने श्रवणे चापि घ्राणे चामितविक्रम ॥

---

१. **नाभ्यां कण्ठे च शीर्षे च हृदि वक्षसि पार्श्वयोः । दर्शने श्रवणे चाऽपि घ्राणे चामितविक्रम ॥**
स्थानेष्वेतेषु यो योगी महाव्रतसमाहितः ।आत्मना सूक्ष्ममात्मानं युङ्क्ते सम्यग् विशाम्पते ॥महा० शान्ति० ३००।३६, ४०
इसपर व्यासभाष्य २।१ भी दृष्टव्य है ।

https://t.me/arshlibrary

[उपासना के दो भेद और उसका फल]

जब इन साधनों को करता है, तब उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है। नित्यप्रति ज्ञान-विज्ञान बढ़ाकर मुक्ति तक पहुँच जाता है। जो आठ प्रहर में एक घड़ीभर भी इस प्रकार ध्यान करता है, वह सदा उन्नति को प्राप्त हो जाता है।

वहाँ सर्वज्ञादि गुणों के साथ परमेश्वर की उपासना करनी **'सगुण'** और राग, द्वेष, रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि गुणों से पृथक् मान अतिसूक्ष्म आत्मा के भीतर-बाहर व्यापक परमेश्वर में दृढ़ स्थित हो जाना **'निर्गुणोपासना'** कहाती है।

इसका फल—जैसे शीत से आतुर पुरुष का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है, वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष-दुःख छूटकर परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव पवित्र हो जाते हैं। इसलिए परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना अवश्य करनी चाहिए।

[ईश्वर का गुण भूल जाना कृतघ्नता है]

इससे इसका फल पृथक् होगा[1], परन्तु आत्मा का बल इतना बढ़ेगा कि वह पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी न घबरावेगा और सबको सहन कर सकेगा। क्या यह छोटी बात है? और जो परमेश्वर

स्थानेष्वेतेषु यो योगी महाव्रतसमाहितः।
आत्मना सूक्ष्मात्मानं युङ्क्ते सम्यग् विशांपते॥

अर्थात्—हे अमितविक्रम! हे राजन्! योगी महाव्रत में सावधान होकर नाभि, कण्ठ, सिर, हृदय, छाती, दो पहलुओं, नेत्र, श्रोत्र, नासिका—इन स्थानों में अपने आत्मा के साथ सूक्ष्मात्मा=परमात्मा को युक्त करता है।

ज्ञान से मुक्ति—संसार में प्राकृत कारणों से आवेष्टित रहता हुआ आत्मा सदा साँसारिक भोगों में आसक्त रहता है, पर जब कभी किन्हीं कारणों से उसकी अध्यात्मभावना जाग्रत् होती है—उसकी वृत्ति बाह्य विषयों से हटकर अन्तर की ओर झुक जाती है तब आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए व्याकुल हो जाता है और इन्द्रियसंयमपूर्वक समाधिलाभ के लिए प्रयत्नशील होता है, तब दृढ़ एवं निरन्तर अभ्यास से समाधिलाभ के अनन्तर अपने शुद्ध चेतनस्वरूप को साक्षात् अनुभव करता है। यही आत्मा के अपवर्ग की स्थिति है।

उपासना से बल—जैसे खूँटे के बलपर बछड़ा कूदता है, वैसे ही बड़े आदमी के पास उठने-बैठनेवाला साधारण मनुष्य भी किसी की परवाह नहीं करता। ऐसे ही पुलिस का सिपाही सरकार के बल पर बड़े-से-बड़े आदमी को पकड़कर ले-जाता है। समय पर जान-पहचान काम देती है, तो नित्यप्रति परमेश्वर की उपासना करनेवाला व्यक्ति कष्ट से क्यों घबरायेगा? उसे बड़े साहब का आश्रय जो मिला हुआ है।

कृतघ्नता—कृतघ्नता इतना बड़ा पाप है के उसका कोई प्रायश्चित्त नहीं है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार—

---

१. अर्थात् उपासना का फल स्तुति-प्रार्थना के फल से पृथक् होगा।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

की स्तुति, प्रार्थना और उपासना नहीं करता, वह कृतघ्न और महामूर्ख भी होता है, क्योंकि जिस परमात्मा ने इस जगत् के सब पदार्थ जीवों को सुख के लिए दे रक्खे हैं, उसका गुण भूल जाना, ईश्वर ही को न मानना कृतघ्नता और मूर्खता है ।

[हस्तादि से रहित ईश्वर काम कैसे करता है ?]

प्रश्न—जब परमेश्वर के श्रोत्र-नेत्रादि इन्द्रियाँ नहीं हैं, फिर वह इन्द्रियों का काम कैसे कर सकता है ?

उत्तर —

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥१॥

—यह श्वेता० उपनिषद् ३।१९ का वचन है ।

परमेश्वर के हाथ नहीं, परन्तु अपनी शक्तिरूप हाथ से सबका रचन-ग्रहण करता; पग नहीं, परन्तु व्यापक होने से सबसे अधिक वेगवान्, चक्षु का गोलक नहीं, परन्तु सबको यथावत् देखता; श्रोत्र नहीं, तथापि सबकी बातें सुनता; अन्तःकरण नहीं, परन्तु सब जगत् को जानता है और उसको अवधिसहित जाननेवाला कोई भी नहीं । उसी को सनातन सबसे श्रेष्ठ, सबमें पूर्ण होने से **'पुरुष'** कहते हैं, । वह इन्द्रियों और अन्तःकरण से होनेवाले सब काम अपने सामर्थ्य से करता है ॥१॥

कृतार्था ह्यकृतार्थानां मित्राणां न भवन्ति ये ।
तान् मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते ॥

मांसाहारी पशु-पक्षी भी कृतघ्न मनुष्य के शव को नहीं खाते ।

सेन्द्रिय कर्तृत्ववाद—हाथ-पैर, श्रोत्रादि तो उपलक्षणमात्र हैं । प्रश्नकर्त्ता के अनुसार कर्त्ता का शरीरी होना आवश्यक है, क्योंकि **'चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्'**, अर्थात् हाथ, पैर आदि अवयवों और इन्द्रियों के समुदाय का नाम ही शरीर है ।

प्रश्नकर्त्ता का कहना है कि यदि ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता माना जाएगा तो उसमें शरीर का सम्बन्ध अवश्य मानना पड़ेगा, क्योंकि कर्त्ता के साथ शरीर की व्याप्ति है—

'यद्यत्कार्यं तत्तत्शरीरमत्कर्तृजन्यं कार्यत्वाद् घटादिवत् ।'

अर्थात्—जितने कार्य हैं वे सब शरीरी कर्त्ता से ही होते हैं, कार्य होने से, जैसे घड़ा । कुम्हार शरीर के द्वारा ही घड़े को बनाता है, बिना शरीर के नहीं । इसी प्रकार यदि ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता माना जाए तो वह हाथ-पैर आदि अवयवों और श्रोत्र-नेत्र आदि इन्द्रियों से युक्त शरीरधारी होना चाहिए ।

वस्तुतस्तु चेतन ब्रह्म को अपने कार्य-सम्पादन के लिए करणों की आवश्यकता नहीं होती । इन्द्रियों की साधनरूप में आवश्यकता अपने से बाहर कार्य करने के लिए होती है । दूसरों तक अपनी बात पहुँचाने के लिए वाणी की आवश्यकता होती है, किन्तु अपने-आपसे बात करने के लिए नहीं । कोई जहाँ नहीं होता, वहाँ पहुँचने के लिए उसे पैरों की अपेक्षा होती है । अपने से बाहर पड़ी वस्तु को उठाने के लिए हाथ चाहिएँ, स्वयं हाथ को उठाने के लिए नहीं । परमेश्वर तो सर्वव्यापक होने से सृष्टि के कण-कण में विद्यमान है । सम्पूर्ण जगत् उसके अन्तर्गत है, इसलिए अपने से बाहर उसे कुछ नहीं करना पड़ता । फिर उसे शरीर या शरीराङ्गों की आवश्यकता क्यों होगी ? श्वेताश्वतरोपनिषद् (३।१७) तथा गीता (१३।१४) में

https://t.me/arshlibrary

उसे **'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्'** कहा है। पुनः श्वेत० ३।१६ में उसका विशदीकरण करते हुए लिखा है—

'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।' अर्थात् उसके हाथ-पैर न होनेपर भी वह सर्वत्र प्राप्त है, आँखें न होनेपर भी सब-कुछ देखता है और कान न होनेपर भी सब-कुछ सुनता है ;

इसी भाव को महाकवि तुलसीदास ने अपने शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है—

बिनु पग चलै सुनै बिनु काना । कर बिनु कर्म करै विध नाना ॥
आननरहित सकल रस भोगी । बिनु वाणी वक्ता बड़ योगी ॥

'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' (यजुः० ४०।५) अर्थात् वह परमेश्वर सबके अन्दर-बाहर ओत-प्रोत है। इसलिए उसे अपने से बाहर कुछ भी क्रिया नहीं करनी पड़ती। फिर उसे करणों (इन्द्रियों) की अपेक्षा क्यों हो ? यजुर्वेद (४०।४) में कहा है कि ईश्वर हिलता नहीं है—**'अनेजत्'** तथा **'तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्'** (स्थिर रहते हुए भी दूसरे दौड़नेवालों से आगे निकल जाता है), क्योंकि जहाँ दौड़कर पहुँचना है, वहाँ वह 'पूर्वमर्षत्' सर्वव्यापक होने से पहले से ही पहुँचा हुआ है। वेद में जो ब्रह्म को **'सहस्रशीर्ष'**, 'सहीस्राक्ष' 'सहस्रपात्' अर्थात् अनन्त शिरों, नेत्रों तथा पैरोंवाला कहा गया है वह उसकी अन्तर्हित विविध शक्तियों का द्योतक है। बाह्य इन्द्रियों तथा अवयवों के न होते हुए भी सर्वान्तर्यामी होने के कारण वह सब शक्तियों का स्रोत है।

यदि परमात्मा शरीरी होगा तो वह एकदेशी हो जाएगा। एकदेश में अवस्थित हो जानेपर उसका समस्त संसार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न रह सकेगा, जो विश्व के संचालन व नियन्त्रण के लिए नितान्त आवश्यक है। देहधारी कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, उसके सामर्थ्य की सीमा कहीं-न-कहीं अवश्य होगी। विश्व की विशालता को देखते हुए यह असम्भव है कि कोई शरीरधारी एकदेशी उसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय कर सके।

यदि शरीर के बिना कोई रचना नहीं हो सकती तो शरीरधारी परमेश्वर के आँख, कान आदि बनाकर उसे शरीरी बनानेवाला उससे भिन्न कोई और शरीरधारी पुरुष होना चाहिए। फिर उस पुरुष की रचना करनेवाला उससे भिन्न कोई और शरीरी पुरुष होना चाहिए। इस प्रकार करते-करते अनवस्था दोष आ जाएगा। यह निर्विवाद है कि जो शरीर जिस पुरुष से सम्बद्ध होता है उसका निर्माता वह स्वयं नहीं हो सकता।

इसपर कोई कह सकता है कि 'कोई पुरुष स्वयं अपने शरीर का निर्माता नहीं हो सकता' अस्मदादि के लिए ठीक हो सकता है; किन्तु सर्वशक्तिमान् परमेश्वर पर यह नियम लागू नहीं होता। यदि दुर्जनतोषन्याय से यह मान लिया जाए कि परमेश्वर ने स्वयं अपना शरीर बना लिया होगा तो भी शरीरधारण करने से पूर्व उसका अकाय या अशरीरी होना स्वतः सिद्ध है। फिर, यदि ब्रह्मपुरुष अपने शरीर की रचना स्वयं शरीरी हुए बिना कर सकता है तो बिना शरीर के जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय क्यों नहीं कर सकता ?

किसी तत्त्व के पिण्ड का विभाग करते-करते जो अन्तिम खण्ड या कण है, दृश्यमान् जगत् की रचना के समय वही उसका मूलतत्त्व है, जिसे 'परमाणु' नाम से अभिहित किया गया है। ऐसे ही परमाणुओं से सृष्टि का निर्माण होता है। इतने सूक्ष्मतम परमाणु को हाथ से (और वह भी कल्पनातीत विशाल ब्रह्माण्ड

https://t.me/arshlibrary

[ईश्वर निष्क्रिय और निर्गुण नहीं]

प्रश्न—उसको बहुत से मनुष्य निष्क्रिय और निर्गुण कहते हैं ।

उत्तर —

न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

—यह श्वेता० उपनिषद् ६।८ का वचन है ॥

परमात्मा से कोई तद्रूप कार्य, और उसको करण अर्थात् साधकतम[1] दूसरा अपेक्षित नहीं । न कोई उसके तुल्य और न अधिक है । सर्वोत्तम शक्ति अर्थात् जिसमें अनन्तज्ञान, अनन्तबल और अनन्तक्रिया है, वह स्वाभाविक अर्थात् सहज उसमें सुनी जाती है ।

की रचना के लिए उपयुक्त स्थूलकाय ब्रह्मपुरुष के) पकड़ने की कल्पना भी नहीं की जा सकती । तब उसके द्वारा संयोग-वियोग की क्रिया कैसे सम्भव होगी ? निश्चय ही उनके संयोग-वियोग के द्वारा सृष्टि का निर्माण करनेवाली चेतन सत्ता का परमाणुओं के भीतर व्याप्त होना आवश्यक है । ऐसी सत्ता शरीरी नहीं हो सकती ।

बालक के शरीर का निर्माण कौन करता है ? इसके उत्तर में कहा जाएगा—माता, परन्तु माता आँखों को कैसे बना सकती है, जबकि वह बनी-बनाई आँखों में कोई दोष हो जानेपर उसे ठीक करना भी नहीं जानती । यदि कहा जाए—प्रकृति, तो वह जड़ होने और ज्ञानरहित होने से नहीं बना सकती । यदि यह माना जाए कि माता के गर्भ में स्थित आत्मा ने बनाई, तो वह शरीरी नहीं है । वस्तुतः माता गर्भस्थ भ्रूण के पोषण में सहायक है । चेतन आत्मा और जड़ प्रकृति के सहयोग से शरीर का निर्माण करनेवाला तो सर्वव्यापक निराकार ईश्वर ही है । ईश्वर तो प्रकृति और जीवात्मा के सहयोग से माता के शरीर के बिना भी बना सकता है । जरायुज योनियों में तो बच्चा माता के गर्भ में बनता भी है, किन्तु अण्डजों में तो बाहर आनेपर बिना किसी अवयव के लगाये ईश्वर के सामर्थ्य से बच्चा बन जाता है ।

निष्क्रिय व निर्गुण—ब्रह्म का लक्षण करते हुए ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन) में बताया है—**'जन्माद्यस्य यतः'** (१।१।२) अर्थात् जिससे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है वह ब्रह्म है । सभी आस्तिक दर्शन एक-स्वर से ईश्वर को सृष्टि का निमित्तकारण मानते हैं । तैत्तिरीय उपनिषद् (१।३) में लिखा है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति ।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म ॥

अर्थात्—निश्चित ही यह प्राणि-अप्राणिरूप जगत् जिससे उत्पन्न होता है, उत्पन्न होकर जिसके आश्रय में यह स्थिर रहता=जीता है और जिसमें यह प्रलयकाल में विलीन होता है, वह ब्रह्म है—उसी को जानो ।

यही भाव वेद के नासदीयसूक्त (ऋ० १०।१२९।७) में इन शब्दों में प्रस्फुट किया है—

'इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न ।'

आचार्य शंकर ने अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में लिखा है—**''तद् ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थिति-**

---

१. द्र०—**'साधकतम करणम्'** । अष्टा० १।४।४२॥

https://t.me/arshlibrary

जो परमेश्वर निष्क्रिय होता तो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति प्रलय न कर सकता। इसलिए वह विभू तथापि चेतन होने से उसमें क्रिया भी है।

प्रश्न—जब वह क्रिया करता होगा, तब अन्तवाली क्रिया होती होगी, वा अनन्त ?

उत्तर—जितने देश-काल में क्रिया करनी उचित समझता है, उतने ही देश-काल में क्रिया करता है, न अधिक न न्यून, क्योंकि वह विद्वान् है।

[ईश्वर का स्वरूप]

प्रश्न—परमेश्वर अपना अन्त जानता है, वा नहीं ?

उत्तर—परमात्मा पूर्ण ज्ञानी है, क्योंकि **'ज्ञान'** उसको कहते हैं कि जिससे ज्यों-का-त्यों जाना जाए, अर्थात् जो पदार्थ जिस प्रकार का हो, उसको उसी प्रकार का जानने का नाम **'ज्ञान'** है। परमेश्वर अनन्त है, तो उसको अनन्त ही जानना ज्ञान, उससे विरुद्ध अज्ञान अर्थात् अनन्त को सान्त और सान्त को अनन्त जानना **'भ्रम'** कहाता है। **'यथार्थदर्शनं ज्ञानमिति'** जिसका जैसा गुण-कर्म-स्वभाव हो, उस पदार्थ को वैसा ही जानकर मानना ही **'ज्ञान और विज्ञान'** कहाता है, उल्टा अज्ञान। इसलिए—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ —योगसू० १।२४

जो अविद्यादि क्लेश, कुशल-अकुशल, इष्ट-अनिष्ट और मिश्र फलदायक कर्मों की वासना से रहित है, वह सब जीवों से विशेष **'ईश्वर'** कहाता है।

प्रलयकारणं वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते'' (१।१।४)। अर्थात् वेदान्तशास्त्र में सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण बताया है। आगे चलकर उन्होंने एक बार फिर लिखा है—**''सर्ववेदान्तेषु सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वेन ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वात्''** (१।२।६)

जिस ब्रह्म के ऊपर इतने विशाल ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करने, उसका संचालन करने, असंख्य जीवों के कर्मफल की व्यवस्था करने और अन्ततः प्रलय करने का दायित्व हो वह 'निष्क्रिय' कैसे हो सकता है ?

परन्तु ६।१।११ का भाष्य करते हुए आचार्य शंकर को अद्वैतवाद की याद आ गयी और उन्होंने लिख डाला—

'द्विरूपं ब्रह्मावगम्यते—नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्।'

अर्थात्—ब्रह्म के दो रूप हैं—एक नामरूपविकारभेद की उपाधिवाला और दूसरा सब प्रकार की उपाधियों से मुक्त।

एक परब्रह्म है जो सर्वथा निर्गुण है। वह सत्तामात्र है। दूसरा अपर ब्रह्म है जो माया की उपाधि के कारण बन जाता है। यह दूसरी प्रकार का ब्रह्म ईश्वर कहाता है। परब्रह्म की अपेक्षा यह घटिया स्तर का ब्रह्म है। शांकरमत के अनुसार परब्रह्म सर्वथा निष्क्रिय है, इसलिए वह न सृष्टि को उत्पन्न करता, न धारण करता और न उसका विलय करता है, परन्तु शंकर की यह कल्पना, न शास्त्रसम्मत है और न तर्क संगत। मोक्षलाभ के लिए जिस ब्रह्म को जानने की इच्छा की गयी (अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा-१।१।१) उसका-परिचय सूत्रकार यह कहकर देते हैं कि ब्रह्म वह है जिससे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है (**जन्माद्यस्य यतः**—१।१।२) और जो समस्त ज्ञान का आदिस्रोत है—(**शास्त्रयोनित्वात्**—१।१।३)। ऐसा ईश्वर निष्क्रिय कैसे हो सकता है ? ब्रह्म के इस प्रकार के दो रूपों का संकेत तक वेदादिशास्त्रों में कहीं नहीं

https://t.me/arshlibrary

मिलता। यह मात्र शंकर के मस्तिष्क की उपज है। कोई भी चेतन पदार्थ निष्क्रिय नहीं हो सकता। इसलिए ईश्वर के चेतन होने से भी उसके निष्क्रिय होने की कल्पना नहीं की जा सकती।

सगुण-निर्गुण—सगुण का अर्थ प्रायः साकार तथा निर्गुण का अर्थ निराकार माना जाता है। ऐसा मानना सर्वथा अशास्त्रीय है। यह नितान्त भ्रान्त धारणा पर आधारित है। निराकार तत्त्व भी सगुण हो सकता है—जैसे निराकार आकाश का गुण शब्द है। ब्रह्मवादी ब्रह्म को निर्गुण कहते हैं और जब तक वह मायोपाधि से ईश्वर नहीं बन जाता तब तक वे ब्रह्म में किसी गुण का अध्यारोप नहीं करते। इस भ्रान्ति का कारण 'सगुण' और 'निर्गुण' के अर्थ को ठीक प्रकार से न समझना है। संसार में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जिसमें केवल सगुणता या केवल निर्गुणता हो। अपने-अपने स्वाभाविक गुणों से सहित और विरोधी गुणों से रहित होने से सभी पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं। इस प्रकार एक ही पदार्थ में एक ही समय में सगुणता और निर्गुणता दोनों रहती हैं, जैसे—पृथिवी गन्धादि गुणों के कारण सगुण और इच्छादि गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण है। इसी प्रकार चेतन के गुणों से रहित होने से जड़ पदार्थ 'निर्गुण' तथा अपने गुणों से युक्त होने से 'सगुण' हैं तथा जड़ के गुणों से पृथक् होने से जीव 'निर्गुण' और इच्छा-ज्ञानादि गुणों से युक्त होने से 'सगुण' है।

ऐसे ही ईश्वर भी जगत् के जड़त्व और जीव की अल्पज्ञता, राग-द्वेषादि से रहित होने के कारण 'निर्गुण' है। कठोपनिषद् (३।२५) में ईश्वर के निर्गुण रूप का निरूपण करते हुए उसे **'अशब्दमस्पर्शमरूप-मव्ययम्'**—शब्द, स्पर्श, रूपादि से रहित बताया है। यही ईश्वर का 'निर्गुण' होना है। इसके विपरीत सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी होने और पवित्रता, दयालुता तथा अनन्त ज्ञान, अनन्त बल तथा अनन्त क्रिया से युक्त होने से ईश्वर सगुण है।

सगुण का अर्थ साकार नहीं माना जा सकता है, क्योंकि सभी सच्छास्त्रों में ईश्वर के साकार या मूर्त होने का निषेध है।

ज्ञान का लक्षण—जो पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही जानने का नाम 'ज्ञान' है। इन्द्रियाँ बाह्यजगत् का ज्ञान करानेवाले अधिकरण हैं, किन्तु उनकी सीमा गुणों तक है। द्रव्यों की यथार्थता का दर्शन कराने में वे अंशतः सफल होती हैं, किन्तु सधी हुई योगबुद्धि पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जानने में समर्थ हो जाती है। साधारण बुद्धि के सामने आनेवाला ज्ञान बाहरी आवरणमात्र होता है, जिसे भेदकर योगबुद्धि तत्त्व के यथार्थस्वरूप का दर्शन कर पाती है। साधारण बुद्धि के लिए स्वर्ण पीले रंग की एक बहुमूल्य धातुमात्र है, सामान्य वैज्ञानिक के लिए वह परमाणुओं का संघात है, किन्तु एक महान् वैज्ञानिक के लिए उसी स्वर्ण के परमाणु इलेक्ट्रॉन, प्रोटोन और न्यूट्रॉन की निश्चित संख्यावाले हैं, जिनमें परिवर्तन करने पर स्वर्ण के परमाणुओं को किसी अन्य तत्त्व के परमाणुओं में बदला जा सकता है। जीव की अल्पज्ञता यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि में बाधक है। स्वरूप से अल्पज्ञ होने के कारण जीवात्मा सब-कुछ तो जान नहीं सकता, परन्तु बहुत कुछ जान लेता है, इसलिए, परमाणु से परमेश्वरपर्यन्त समस्त पदार्थों के यथार्थज्ञान साधन में प्रवृत्त रहना उसका परम पुरुषार्थ है। गीता में **'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं ज्ञानम्'** (१३।११) अर्थात् तत्त्वज्ञान के विषयों (ईश्वर, जीव व प्रकृति) के साक्षात्कार को 'ज्ञान' कहा है।

क्लेशकर्म—(क्लेश-कर्म-विपाक-आशयैः) क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशयों से (**अपरामृष्टः**) असम्पृक्त—अछूता (**पुरुषविशेषः**) पुरुषविशेष=विशेष चेतन तत्त्व (**ईश्वरः**) ईश्वर है।

जैसे **'प्रकृति'** पद जड़ तत्त्व का बोधक है, इसी प्रकार **'पुरुष'** पद चेतन तत्त्व को अभिव्यक्त करता

https://t.me/arshlibrary

[क्या कपिलाचार्य अनीश्वरवादी हैं ?]

प्रश्न— **ईश्वारासिद्धेः ॥१॥**
प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ॥२॥
सम्बन्धाभावान्नानुमानम् ॥३॥

—सांख्यसू० १।९२, ५।१०,११॥

प्रत्यक्ष से घट सकते ईश्वर की सिद्धि नहीं होती ॥१॥

क्योंकि जब उसकी सिद्धि में प्रत्यक्ष ही नहीं, तो अनुमानादि प्रमाण नहीं हो सकता ॥२॥

और व्याप्ति-सम्बन्ध न होने से अनुमान भी नहीं हो सकता। पुनः प्रत्यक्षानुमान के न होने से शब्द प्रमाण आदि भी नहीं घट सकते। इस कारण ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती ॥३॥

उत्तर—यहाँ ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, और न ईश्वर जगत् का उपादानकारण है, और पुरुष से विलक्षण अर्थात् सर्वत्र पूर्ण होने से परमात्मा का नाम **'पुरुष'** और शरीर में शयन करने से जीव का भी नाम **'पुरुष'** है, क्योंकि इसी प्रकरण में कहा है—

है। चेतनरूप में 'पुरुष' पद जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों का वाचक है। जीवात्मरूप में एक साधारण चेतन प्रत्येक मानव, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि में पृथक्-पृथक् विद्यमान है। इनके अतिरिक्त एक असाधारण चेतन है। वह **'पुरुषविशेष'** कहाता है। उसी की संज्ञा **'ईश्वर'** है। जीवात्मा चेतन संसार में आकर कर्म करने में स्वतन्त्र है और **'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'**—प्रभु ने सृष्टि की रचना उसी के भोग और अपवर्ग की प्राप्ति के साधनरूप में की है। इसी के निमित्त जीवात्मा बार-बार देह धारण करता है, क्योंकि **'भोगायतनं शरीरम्'** कर्मफलभोग उसके बिना सम्भव नहीं। वस्तुतः **'कर्मैव देहारम्भकारणम्'**—देहधारण का कारण ही कर्म है, किन्तु ईश्वर अविद्यादि क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासना से रहित है। इसलिए वह प्रकृति उपादान जड़तत्त्व से जगद्रचना केवल जीवात्मपुरुषों के लिए करता है, अपने लिए नहीं। इसलिए वह **'पुरुषविशेष'** है। यह विशेषता उसके नाम ईश्वर 'पद' से भी अभिव्यक्त होती है। उसका अर्थ है—ऐश्वर्ययुक्त। वह ऐश्वर्य उसके सर्वशक्तिमान् और सर्वान्तर्यामी होने में निहित है। संख्या की दृष्टि से जीवात्मचेतन अनेक हैं, ईश्वरपदवाच्य चेतन एक है।

ईश्वरासिद्धेः—निर्विवादरूप से कपिलमुनि सांख्य के प्रवक्ता थे। उनके अनन्तर सांख्यपरम्परा में अनेक विद्वान् हुए। उनमें से कुछ ने कपिल से अपना मतभेद भी व्यक्त किया है। उनमें मुख्य थे आचार्य वार्षगण्य। वे प्रकृति की प्रवृत्ति में चेतन-प्रेरणा की अपेक्षा नहीं मानते। उनकी यह मान्यता जगत् में ईश्वर के नियन्त्रण को हटा देती है। भारतीय साहित्य पर सांख्य के प्रभाव का लाभ उठाने की भावना से अनीश्वरवादी बौद्धों ने सांख्य के नाम पर वार्षगण्य की इस मान्यता का प्रचार किया। कालान्तर में सांख्य के साथ सम्बद्ध होने के कारण यह मान्यता कपिल पर आरोपित हो गयी। इसी मान्यता से अभिभूत होने के कारण सांख्य के **'ईश्वरासिद्धेः'** इस सूत्र का अनर्थ करके कपिल पर अनीश्वरवादी होने का ठप्पा लगा दिया गया।

सांख्यसूत्रों के अन्तर्गत ही **'स हि सर्ववित् सर्वकर्ता'** (३।५६) इस सूत्र के अनुसार सृष्टि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों तक में व्याप्त होकर समस्त जगत् की रचना करके उसका नियन्त्रण करनेवाला परमेश्वर है। जगत् के उपादानभूत ईश्वर में विश्वास न करके उसके निमित्तकारण के रूप में जगत् के

https://t.me/arshlibrary

प्रधानशक्तियोगाच्चेत् सङ्गापत्तिः ॥१॥
सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम् ॥२॥
श्रुतिरपि प्रधानकार्य्यत्वस्य ॥३॥ —सांख्यसू० ५।८,९,१२

यदि पुरुष को प्रधानशक्ति का योग हो, तो पुरुष में सङ्गापत्ति हो जाए, अर्थात् जैसे प्रकृति सूक्ष्म से मिलकर कार्यरूप में सङ्गत हुई है, वैसे परमेश्वर भी स्थूल हो जाए, इसलिए परमेश्वर जगत् का उपादानकारण नहीं, किन्तु निमित्तकारण है ॥१॥

जो चेतन से जगत् की उत्पत्ति हो, तो जैसा परमेश्वर समग्रैश्वर्ययुक्त है, वैसा संसार में भी सर्वैश्वर्य का योग होना चाहिए, सो नहीं है, इसलिए परमेश्वर जगत् का उपादानकारण नहीं, किन्तु निमित्तकारण है ॥२॥

क्योंकि उपनिषद् भी प्रधान ही को जगत् का उपादानकारण कहती है ॥३॥ जैसे—

नियन्ता तथा अधिष्ठाता ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए कपिलाचार्य निर्णायक घोषणा करते हैं— **'ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा'** (३।५७), अर्थात् इस प्रकार के (जगत् के निमित्तकारण के रूप में) ईश्वर की सिद्धि स्पष्ट है।

परमर्षि के रूप में प्रतिष्ठित कपिल क्या इतने भ्रान्त थे जो एक ही साँस में उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व और नास्तित्व दोनों को कह डाला। वस्तुतः इन उल्लेखों में ईश्वर के अधिष्ठातृत्व का प्रतिपादन करते हुए उसकी उपादानता का प्रत्याख्यान किया गया है। प्रस्तुत प्रकरण में इसी स्थापना के आधार पर विषय का प्रतिपादन हुआ है। वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर ऐसे संकेत मिलते हैं जिनके आधार पर चेतन ईश्वर के जगत् का उपादान होने की भ्रान्ति होना सम्भव है। आचार्य सूत्रकार ने इस भ्रान्ति को निरस्त करने के लिए कहा कि जगत् का उपादानभूत ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता।

कतिपय आधुनिक विद्वान् तो इस आधार पर कपिल को अनीश्वरवादी कहते हैं कि वह ईश्वर को जगत् का उपादानकारण नहीं मानता, पर यह तो **'उलटा चोर कोतवाल को डाँटे'** वाली बात है। वास्तव में अनीश्वरवादी तो वे लोग हैं जो ईश्वर को जगत् का उपादानकारण मानकर उसके सच्चिदानन्दस्वरूप को विकृत कर अचेतन प्रकृति को ईश्वर का नाम दे देते हैं और इस तरह प्रकारान्तर से उसकी सत्ता को नकारते हैं।

प्रकरणान्तर्गत यहाँ उद्धृत सूत्रों पर सांख्यदर्शन में उपलब्ध क्रम में भाष्यरूप विवेचन प्रस्तुत किया जाता है—

प्रधानशक्तियोगाच्चेत् संगापत्तिः—यह कहा जा सकता है कि यदि जगत् का मूल उपादान प्रकृति है और ईश्वर उसमें प्रेरणात्मक सहयोग देता है, तब उस प्रकृतिरूप प्रधानशक्ति के सहयोग से ईश्वर में आंशिक उपादानता स्वीकार की जानी चाहिए। अभिप्राय यह है कि जब ईश्वर और प्रकृति दोनों के सहयोग से जगद्रचना होती है, तब प्रकृति के समान ईश्वर में भी उपादानता स्वीकार करने में क्या आपत्ति है ?

कपिलाचार्य का कहना है कि (प्रधानशक्तियोगात्) प्रकृतिरूप उपादानकारण के सहयोग से (चेत्) यदि ईश्वर को उपादान माना जाए, तो (संगापत्तिः) उसमें संगदोष की प्राप्ति होगी। ईश्वर एक ऐसी शक्ति है जिसे अपना कार्य करने में अन्य किसी के सहयोग की अपेक्षा नहीं। इसलिए यदि ईश्वर को जगत् का उपादान माना जाता है और उसमें प्रकृति को उसका सहयोगी स्वीकार किया जाता है तो उसके

https://t.me/arshlibrary

पूर्णशक्तिरूप की हानि होकर उसमें संग—साहाय्यरूप की प्राप्ति होती है। 'संग' पद का अर्थ संघात भी है, और संघात परिणाम का फल है। इसलिए परिणामिनी प्रकृति के समान ईश्वर को भी जगत् का उपादान मानने पर परिणामी मानना होगा। वस्तुस्थिति यह है कि ईश्वर का कार्य प्रकृति-उपादान का नियन्त्रण करना मात्र है और अपने इस कार्य को सम्पन्न करने में उसे अन्य किसी का सहयोग अपेक्षित नहीं, अतएव प्रकृति के समान जगद्रचना में ईश्वर की उपादानता का प्रश्न नहीं उठता।

सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम्—यदि ईश्वर की उपादानता मानने पर संगदोष की प्राप्ति होती है तो यही क्यों न मान लिया जाए कि केवल ईश्वर अपनी सत्ता से ही समस्त जगत् की रचना कर देता है अर्थात् पूर्णरूप से एकमात्र परमेश्वर को ही जगत् का मूल उपादान क्यों न मान लिया जाए ?

सूत्रकार का उत्तर है कि (सत्तामात्रात्) केवल अपनी सत्ता से (चेत्) यदि [ईश्वर उपादान हो तो] (सर्वैश्वर्यम्) सब जगत् ईश्वर का रूप होना चाहिए।

'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः'—इस न्याय के अनुसार यदि ईश्वर अपनी सत्ता से—अपने स्वरूप से ही समस्त जगत् को उत्पन्न कर देता है तो, मूल उपादान के समान यह समस्त संसार भी पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त होना चाहिए, अर्थात् जिस प्रकार ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, दयालु, अजन्मा, अजर, अमर, नित्य, पवित्र और सृष्टि का नियन्ता है, वैसा ही जगत् को होना चाहिए, परन्तु दृश्यमान जगत् में इन अवस्थाओं का सर्वथा अभाव है, अतः ईश्वर को जगत् का उपादान नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त यदि ईश्वर को जगत् का उपादान माना जाएगा तो उसे परिणामी स्वीकार करना होगा। परिणामी तत्त्व अनिवार्यतः विकारी होगा। विकारी होने से वह अनित्य तथा परिवर्तनशील होगा। दृश्यमान जगत् जड़-अचेतनरूप है। ईश्वर केवल चेतन सत्ता है। चेतन अपरिणामी होता है और अचेतन परिणामी, इसलिए अचेतन परिणामी जगत् का मूल उपादान चेतन, अपरिणामी ईश्वर कदापि नहीं हो सकता।

अगले दो सूत्रों में भी सूत्रकार ने चेतन के परिणाम का प्रत्याख्यान किया है—

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः—(प्रमाणाभावात्) प्रमाण न होने से (तत्सिद्धिः) चेतन-परिणाम की सिद्धि (न) नहीं हो सकती। यद्यपि सूत्र में साधारण **'प्रमाण'** पद का निर्देश है, परन्तु अगले सूत्र में **'अनुमान'** का प्रसंग होने से इस सूत्र में 'प्रमाण' पद केवल प्रत्यक्ष का अतिदेश करता है। अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव में अर्थात् लोक में कहीं भी ऐसा न देखे जाने से कि चेतन अचेतनरूप में परिणत होता है, चेतन के परिणाम की सिद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार जड़ जगत् के रूप में परिणत होनेवाले अर्थात् जगत् के उपादानभूत चेतन ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता।

सम्बन्धाभावान्नानुमानम्—(सम्बन्धाभावात्) व्याप्ति न होने से (अनुमानम्) अनुमान (न) नहीं। उक्त अर्थ की सिद्धि में जब प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, तब व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध का ग्रहण न होने से, अनुमान भी उस अर्थ को सिद्ध करने में असमर्थ होगा। लोक में देखा जाता है कि घट और कुण्डल आदि अपने सजातीय मृत्पिण्ड तथा कनकपिण्ड आदि के ही कार्य होते हैं। इसी प्रकार त्रिगुणात्मक जड़ जगत् सत्व-रजस्-तमोरूप जड़ प्रकृति का ही परिणाम हो सकता है, चेतन तत्त्व ईश्वर का नहीं।

श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य—(श्रुतिः) वेद (अपि) भी [जगत् को] (प्रधानकार्यत्वस्य) प्रकृति के कार्य होने का [उल्लेख करता है]।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरुपाः ॥

—यह शवेताश्वतर उपनिषद् (४।५) का वचन है।

जो जन्मरहित सत्व-रज-तमोगुणरूप प्रकृति है, वही स्वरूपाकार से बहुत प्रजारूप हो जाती है, अर्थात् प्रकृति परिणामिनी होने से अवस्थान्तर हो जाती है, और पुरुष अपरिणामी होने से वह अवस्थान्तर होकर दूसरे रूप में कभी नहीं प्राप्त होता, सदा कूटस्थ, निर्विकार रहता है, इसलिए जो कोई कपिलाचार्य को अनीश्वरवादी कहता है, जानो वही अनीश्वरवादी है, कपिलाचार्य नहीं।

श्रुति अर्थात् वेद, उपनिषदादि शब्दप्रमाण से भी यह प्रमाणित होता है समस्त जड़ जगत् प्रधान (त्रिगुणात्मक प्रकृति) का ही कार्य है। ग्रन्थकार द्वारा यहाँ उद्धृत 'अजामेकाम्' उपनिषद् (श्वेत० ४।५) से अतिरिक्त **'द्वा सुपर्णा'** (ऋ० १।१६४।२०) **'अपाङ् प्राङेति'** (ऋ० १।१६४।३८)। **'आनीदवातं स्वधया तदेकम्'** (ऋ० १०।१२६।२३) **'त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्'** (अथर्व० १०।८।४३) इत्यादि अनेक श्रुतिवचनों में प्रकृति की उपादानकारणता का स्पष्ट एवं विशद वर्णन उपलब्ध है। सूत्र में **'अपि'** पद इस अर्थ की पुष्टि के लिए अनुमान आदि प्रमाणों का संग्राहक है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तथा वेदादि शास्त्रवचनों के आधार पर ईश्वरसम्बन्धी इस प्रसंग में यह निर्धारित किया गया है कि जगत् का उपादानकारण जड़ प्रकृति है, परमात्मा नहीं। परमात्मा केवल निमित्तकारण है, एवं जगत् का नियन्ता व अधिष्ठाता है। वही कर्माध्यक्ष के रूप में जीवों के कर्मों का फल-प्रदाता है। निष्कर्ष यह है कि महर्षि कपिल ने अपने दर्शन में जगत् के उपादानभूत ईश्वर को असिद्ध बताया है (सा० १।५७) किन्तु जगत् के नियन्ता व अधिष्ठाता ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है (सा० ३।५६-५७)। कई व्याख्याकारों के द्वारा किये गये इन सूत्रों के अर्थ सांख्यसिद्धान्तों को सूक्ष्मता तथा गम्भीरता से न समझने के कारण केवल कल्पनाप्रसूत हैं।

अजामेकाम्—(लोहित) लाल (शुक्ल) सफेद तथा (कृष्ण) काले रंग की एक **'अजा'** है जो अपने ही रूप-रंगवाली [सरूपा, न कि स्वरूपा] अनेक प्रजाओं का सर्जन कर रही है। एक **'अज'** है जो उस 'अजा' से प्रीति करता (जुषमाणः) और उसका उपभोग करता है (अनुशेते)। (अजोऽन्यः) एक दूसरा **'अज'** है जो [एनां भुक्तभोगाम्] उस भुक्तभोगा (अजाम्) 'अजा' को (जहाति) छोड़ देता है अर्थात् उसका उपभोग नहीं करता है। 'अज' का अर्थ है अ+ज=जो पैदा न हो, अजन्मा, अनादि एवं नित्य हो। तीन 'अज' अर्थात् अनादि=नित्य हैं—एक भोग्य अर्थात् सत्व (शुक्ल)—रजस् (लोहित) तथा तमस् (कृष्ण) रूपी प्रकृति; दूसरा उसके भोगनेवाला अज अर्थात् जीवात्मा और तीसरा न भोगनेवाला अज अर्थात् परमात्मा। जीवात्मा प्रकृति में रम जाता है, परमात्मा नहीं रमता। ऋग्वेद १।१६४।२० के समान ही उपनिषद् के इस सन्दर्भ में प्रकृति के उपादानत्व पर बल देते हुए जीवात्मा के भोक्ता और परमात्मा के उन दोनों के नियन्ता होने की मान्यता का प्रतिपादन किया गया है। विकारी तथा परिणामिनी होने के कारण प्रकृति अपने जैसी [सरूपाः—स्वरूपाः] (बह्वीः प्रजाः) बहुत सी प्रजाओं=वस्तुओं को उत्पन्न करती है, परन्तु निर्विकार परमात्मा सदा एकरूप बना रहता है।

शंकर का कथन है कि मन्त्र में प्रकृति का स्पष्ट वर्णन न होने से यहाँ **'अजा'** पद प्रकृति का नहीं, अपितु बकरी का वाचक है, किन्तु उनकी यह मान्यता युक्ति-युक्त नहीं है। प्रथम तो प्रस्तुत प्रकरण में बकरी की कोई प्रासांगिकता नहीं है। फिर, ऐसा मानने पर **'भुक्तभोगा' 'अनुशेते' 'जहात्येनाम्'** और दो 'अजों' के वाचक 'अज' आदि पदों की संगति नहीं लगेगी। 'अजा' के साथ

https://t.me/arshlibrary

[अन्य शास्त्रों में ईश्वर का प्रतिपादन]

तथा मीमांसा का 'धर्म-धर्मी' से, 'ईश्वर' से वैशेषिक, और न्याय भी 'आत्मा' शब्द से अनीश्वरवादी नहीं, क्योंकि सर्वज्ञत्वादिधर्मयुक्त, और **'अतति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा'** जो सर्वत्र व्यापक और सर्वज्ञादिधर्मयुक्त सब जीवों का आत्मा है, उसको मीमांसा, वैशेषिक और न्याय ईश्वर मानते हैं।

[ईश्वर कभी अवतार नहीं लेता]

प्रश्न—ईश्वर अवतार लेता है, वा नहीं ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि **'अज एकपात्'** **'स पर्यगाच्छुक्रमकायम्'** ये यजुर्वेद (३४।५३, ४०।८) के वचन हैं। इत्यादि वचनों से सिद्ध है कि परमेश्वर जन्म नहीं लेता।

विशेषणपद भी ऐसे और इतने हैं कि उनके रहते 'प्रकृति' से भिन्न कुछ अर्थ हो ही नहीं सकता। प्रलयकाल में प्रकृति साम्यावस्था में होने के कारण निर्विकार रहती है, सर्गकाल में अवस्थान्तर को प्राप्त होकर विविधरूप धारण कर लेती है।

मीमांसाशास्त्र में धर्म-धर्मी अथवा द्रव्य-गुण का विवेचन हुआ है, अतः उसके रचयिता जैमिनि अनीश्वरवादी नहीं हैं। जीवात्मा तो एकदेशी-अल्पज्ञ है, किन्तु न्याय और वैशेषिक में जिस आत्मा का व्याख्यान किया गया है, वह सर्वव्यापक तथा सर्वज्ञ है। इन गुणों से युक्त परमात्मा ही है। इसलिए उन दर्शनों के रचयिता गौतम तथा कणाद निश्चितरूप से आस्तिक थे। ग्रन्थकार के यह सब कहने का अभिप्राय यह सिद्ध करना है कि छहों शास्त्रों के रचयिता समानरूप से आस्तिक अर्थात् ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखनेवाले थे, अनीश्वरवादी कोई नहीं थे।

ईश्वर अवतार नहीं लेता—ईश्वर की पहचान बताते हुए योगदर्शन में क्हा है 'क्लेशकर्मविपाकाशयैर-परामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (१।२४)। इसपर व्यासभाष्य—**'अविद्यादयः क्लेशाः कुशलाकुशलानि कर्माणि। तत्फलं विपाकः। तदनुगुणा वासना आशयः। यो हि अनेन भोगेन अपरामृष्टः असम्पृक्तः स पुरुषविशेष ईश्वरः।'**

अर्थात्—अविद्यादि क्लेश, कुशल तथा अकुशल कर्म, उनके अनुकूल वासना, कर्मों का फल विपाक—जिसको इस भोग का सम्बन्ध तीन काल में न हो, वह पुरुषविशेष ईश्वर है, क्योंकि देहधारी में ये बातें अवश्य होती हैं, इसलिए परमेश्वर देहधारी नहीं हो सकता।

न्यायदर्शन (१।१।२) में तत्वज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर मोक्षलाभ का क्रमिक वर्णन करते हुए लिखा है—

'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तराऽपाये तदनन्तरापायादपवर्गः'।

अर्थात्—'दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान के **'उत्तरोत्तरापाये'** उत्तर-उत्तर के—अगले-अगले के नष्ट हो जानेपर **'तदनन्तरापायात्'** उसके अनन्तर के अव्यवहित पूर्व के नाश हो जाने से **'अपवर्गः'** मोक्षलाभ होता है। दुःखादि के क्रम में उत्तर अर्थात् अगला पदार्थ अपने से पहले का कारण है। इस प्रकार दुःख का कारण जन्म, जन्म का कारण प्रवृत्ति, प्रवृत्ति का कारण दोष और दोषों का कारण मिथ्याज्ञान है। मिथ्याज्ञान के कारण ही अन्ततः परमेश्वर को राम के रूप में अवतार लेना पड़ा, यह स्वयं श्रीराम के वक्तव्य से प्रमाणित है। श्रीराम कहते हैं—

https://t.me/arshlibrary

न मद्विधो दुष्कृतकर्मकारी मन्ये द्वितीयोऽस्ति वसुन्धरायाम् ।
शोकानुशोको हि परम्पराया मामेति भिन्दन् हृदयं मनश्च ॥

—वा०रा०अ० १०।२

मेरे जैसा कोई दूसरा दुष्टकर्म करनेवाला नहीं है। एक के बाद एक शोक मुझे पीड़ित कर रहा है।

पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि पापानि कर्माण्यसकृत् कृतानि ।
तेषां मयाद्यापतितो विपाको दुःखेन दुःखं यदहं विशामि ॥ —१०।४

निश्चय ही पूर्वजन्म में मैंने बहुत बड़े पाप किये थे जिनके फलस्वरूप मुझे एक के बाद एक दुःख मिल रहा है।

राज्यप्रणाशः स्वजनैर्वियोगः पितुर्विनाशो जननीवियोगः ।
सर्वाणि मे लक्ष्मण शोकवेगमापूरयन्ति प्रविचिन्तितानि ॥ —६३।५

उसी पापकर्म के फल से मेरा राज्य नष्ट हुआ, माता से वियोग हुआ, स्वजनों से विछोह हुआ, पिता की मृत्यु हुई। हे लक्ष्मण ! ये सब दुःख मेरे शोक को बढ़ा रहे हैं।

सर्वं तु दुःखं मम लक्ष्मणेदं शान्तं शरीरे वनमेत्य क्लेशम् ।
सीतावियोगात् पुनरभ्युदीर्णं काष्ठैरिवाग्निः सहसोपदीप्तः ॥—६३।६

हे लक्ष्मण ! वन में आकर मेरा यह सब दुःख शान्त हो गया था, किन्तु सीता के वियोग से यह फिर से प्रदीप्त हो गया है।

युद्ध में लक्ष्मण के मरणासन्न प्रतीत होनेपर एक बार फिर राम कहते हैं—

किं मया दुष्कृतं कर्म कृतमन्यत्र जन्मनि ।
येन मे धार्मिको भ्राता निहतश्चाग्रतः स्थितः ॥ —वा० रा० युद्ध० १०१।२०

पूर्वजन्म में मैंने ऐसा कौन-सा दुष्कर्म किया था जिसके कारण मेरा धर्मात्मा भाई मेरे सामने मरा पड़ा है।

अपने-आपको ईश्वर जानने और माननेवाला व्यक्ति इस प्रकार की बातें कदापि नहीं कह सकता। वेद कहता है कि परमेश्वर **'अपापविद्धम्'** (यजुः० ४०।८) है, अर्थात् परमात्मा कोई पाप नहीं करता। योगदर्शन के अनुसार उसे कर्मफल भोगना नहीं पड़ता, परन्तु श्रीराम स्वयं कहते हैं कि मैं अपने पूर्वजन्म में किये पापों का फल भोग रहा हूँ। तब यह कैसे माना जा सकता है कि राम के रूप में स्वयं भगवान् अवतरित हुए थे।

अवतारवाद वेदविरुद्ध—वेदविरुद्ध होने से ईश्वर के शरीरधारी के रूप में अवतरित होने की कल्पना नहीं की जा सकती। यजुर्वेद (४०।८) में ईश्वर को **'अकायमव्रणमस्नाविरम्'** और स्वयम्भूः नाम से पुकारा गया है। अष्टाध्यायी के **'निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः'** (३।३।४१) इस सूत्र से **'काय'** शब्द निवास, चिति और शरीर आदि अर्थों में सिद्ध किया है। इसलिए **'अकाय'** का अर्थ शरीररहित ही है। शंकराचार्यसहित सभी प्राचीन भाष्यकारों ने **'अकायम्'** का अर्थ **'लिङ्गशरीरवर्जितम्'** किया है। लिंगशरीर (**सप्तदशैकं लिंगम्**—सा० ३।६) अठारह घटक पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच तन्मात्र, मन, बुद्धि और अहंकार) अवयवोंवाला होता है। इस प्रकार **'अकाय'** कह देने से ईश्वर के सूक्ष्मशरीर का निषेध हो जाता

https://t.me/arshlibrary

है। इन्हीं आचार्यों के अनुसार 'अव्रण' और 'अस्नाविर' कहने से उसके शरीर का भी निषेध हो जाता है। 'स्वयम्भू' का अर्थ भी महीधर ने 'स्वयं होने या जन्म लेनेवाना' न करके **'स्वयंभूः स नित्यः ईश्वरः'** 'नित्य' किया है—जन्म लेने और उस अवस्था में अनिवार्यतः मरनेवाले (**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः**—गीता) की **'नित्य'** संज्ञा नहीं हो सकती। ऋग्वेद ४।१।११ में ईश्वर को **'अपादशीर्षा'** 'सिर और पैर से रहित' तथा १।१५२।३ में **'अपादेति पद्वतीनाम्'** अर्थात् पैरवालों में बिना पैरवाला बताया है।

''अजो न क्षां दाधार पृथिवीं ततस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः।''

—(ऋ० १।६७।३)

'अजः' अजन्मा परमेश्वर पृथिवी व द्युलोक को धारण करता है।

'शं नो अज एकपादेवः' (ऋ० ७।३५।१३) में भी परमेश्वर को 'अज' अर्थात् कभी जन्म न लेनेवाला बताया है। यही बात 'उत नोऽहिर्बुध्न्यःशृणोत्वज एकपात्' (ऋ० ६।५०।१४) में कही है। यहाँ 'एकपात्'= एक पैर से चलनेवाले अर्थात् लंगड़े परमात्मा का प्रसंग नहीं है। 'एकपात्' का रहस्य यजुर्वेद (३१।३,४) के निम्न मन्त्रों से पता चलता है। वहाँ कहा है—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।

अर्थात् उस ब्रह्मपुरुष का एक भाग समस्त भूत हैं और तीन पाद दिव्यलोक में हैं। उसका तीन भाग जगत् से ऊपर या बाहर है, मात्र एक भाग यहाँ है।

यह गणित की नहीं उपचार की भाषा है। ईश्वर निरवयव एवं अखण्ड है। इसलिए एक पाद या तीन पाद का यह अर्थ करना उपहासास्पद होगा कि ईश्वर के चार पाद या चार भाग हैं जिसमें से एक पाद सृष्टि है और तीन पाद द्युलोक। संस्कृत अथवा वैदिक साहित्य में किसी वस्तु का चतुष्पाद् कहा जाना उसके पूर्णत्व का द्योतक है। प्रस्तुत वर्णन सर्वथा औपचारिक है और केवल इतने भाव को प्रकट करता है कि इतना विशाल जगत् भी उसकी तुलना में अत्यन्त तुच्छ है। यही कारण है कि परमेश्वर इसका नियन्त्रण करने में समर्थ है। जन्म-मरण के बन्धन में आनेवाले पञ्चभौतिक शरीरधारी एकदेशी परमेश्वर के लिए इसका याथातथ्य नियमन करना सम्भव नहीं। अभिधा से इसका अर्थ करनेपर परमेश्वर चौपाया बन जाता है। यह अर्थ किसी को मान्य नहीं होगा। प्रकारान्तर से यहाँ परमात्मा की सर्वव्यापकता का निर्देश किया गया है। उष्ट्रयष्टिकान्याय से इस मन्त्र का महीधर का भाष्य द्रष्टव्य है—

''अस्य पुरुषस्य विश्वा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्त्तीनि प्राणिजातानि पादश्चतुर्थांशः। अस्यावशिष्टत्रिपात्स्वरूपम् अमृतं विनाशरहितं तद् दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाशे स्वरूपेऽवतिष्ठत इति शेषः। यद्यपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इत्याम्नातस्य परब्रह्मण इयत्ता अभावात् पादनिरूपयितुमशक्यं तथापि जगदिदं ब्रह्म रूपापेक्षयाल्पमिति विवक्षितत्वात्पादत्वोपन्यासः।''

अर्थात्—ब्रह्म की इयत्ता—सीमा नहीं है। फिर भी ब्रह्म की तुलना में जगत् की तुच्छता दिखाने के लिए ही इस रूपक का सहारा लिया गया है।

यजुर्वेद के ३१वें अध्याय का १९वाँ मन्त्र इस प्रकार है—

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥

https://t.me/arshlibrary

इस मन्त्र पर ग्रन्थकार का भाष्य इस प्रकार है—(प्रजापतिः) प्रजापालको जगदीश्वरः (चरति) (गर्भे) गर्भस्थे जीवात्मनि (अन्तः) हृदि (अजायमानः) स्वरूपेणानुत्पन्नः सन् (बहुधा) बहुप्रकारैः (वि) विशेषण (जायते) प्रकटो भवति । (तस्य) प्रजापतेः (योनिम्) स्वरूपं (परि) सर्वतः) (पश्यन्ति) प्रेक्षन्ते (धीराः) ध्यानवन्तः । (तस्मिन्) जगदीश्वरे (ह) प्रसिद्धम् (तस्थुः) तिष्ठन्ति (भुवनानि) भवन्ति येषु तानि लोकजातानि (विश्वा) सर्वाणि ।

महीधरभाष्यम्—यः सर्वात्मा प्रजापतिः अन्तर्हृदि स्थितः सन् गर्भे चरति गर्भमध्ये प्रविशति । यश्चाजायमानोऽनुत्पद्यमानो नित्यः सन् कार्यकारणरूपेण प्रपञ्चरुपेण उत्पद्यते ब्रह्मविदस्तस्य स्वरूपं पश्यन्ति भूता जातानि तस्मिन्नेव कारणात्मनि सर्वं तदात्मकमेव इत्यर्थः ।

भाषार्थ—सबके हृदय में विद्यमान वह प्रजापति गर्भस्थ जीवों के भीतर प्रविष्ट होता है और (अजायमानः=अनुत्पद्यमानः) बिना उत्पन्न हुए अनेक रूपों में व्यक्त होता है । वह कूटस्थ नित्य है । **'सर्वं तदात्मकमेव'** समस्त जगत् उसी ब्रह्म का रूप है । इस मन्त्र के भाष्य में तो महीधर ने अवतारवाद की जड़ ही काट दी । जब सम्पूर्ण जगत् ही ब्रह्मरूप है तो उसके अवतार का अर्थ ही क्या रहा । कौन कहाँ आएगा? महीधर ने उसे नित्य कहा है । यदि ईश्वर जन्म लेगा तो मरेगा भी अवश्य, क्योंकि **'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः'**—जो पैदा होता है, वह मरता अवश्य है—गीता । अवतारवादी पौराणिक महीधर के विरुद्ध **'अजायमानः'** का अर्थ **'जायमानः'** करते हैं । अपने श्रीभाष्य में रामानुजाचार्य ने भी **'अजायमान'** पद माना है, **'जायमान'** नहीं ।

सर्वव्यापी होने से भी परमेश्वर का सृष्टि में आना-जाना नहीं बनता । आना-जाना वहाँ होता है जहाँ कोई पहले से न हो । जैसे आकाश अनन्त और सर्वव्यापक होने से कहीं आता-जाता नहीं, वैसे ही अनन्त और सर्वव्यापक होने से परमात्मा का कहीं आना सिद्ध नहीं होता । फिर, **'यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्'** इत्यादि (अथर्व० १०।७।३२-३४) के अनुसार 'भूमि जिसका पैर है, अन्तरिक्ष जिसका उदर और द्यौ सिर है —'इतने विशाल आकारवाला (उपचार से) ब्रह्म किसी नारी के सीमित गर्भ में कैसे समा सकता है और गर्भ में आया कहाँ से ? सर्वव्यापी होते हुए भी क्या वह पहले से गर्भ में नहीं था और माता के गर्भ से जन्म लेने के पश्चात् गर्भ में नहीं रहेगा ? वस्तुतः उसका किसी के गर्भ में आना या उससे बाहर निकलना सर्वथा असम्भव है, क्योंकि **'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः'** वह सदा से गर्भ के भीतर भी विद्यमान रहता है और बाहर भी । तात्स्थ्योपाधि से 'गर्भ' का अर्थ गर्भस्थ जीव है, जैसे **'मञ्चाः क्रोशन्ति'** में **'मञ्चाः'** का अर्थ **'मञ्चस्थपुरुषाः'** होता है ।

'परमात्मा गर्भ में आता है' यह सिद्ध करने के लिए अकाट्य प्रमाण के रूप में प्रायः यह मन्त्र उपस्थित किया जाता है—

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥

—यजुः० ३२।४

उव्वट के अनुसार इसका अर्थ है—

एष एव देवः प्रदिशः दिशाश्च सर्वा अनुव्याप्य वर्त्तते तिर्यगूर्ध्वमधश्चेति । पूर्वो ह जातः अनादिनिधनः संभूतः । स उ गर्भे अन्तः स एव च मातुरुदरे अन्तर्गर्भे व्यवतिष्ठते । स एव जातः स एव जनिष्यमाणः तदुक्तं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत प्रतिपदार्थमज्जनः । हे जनाः सर्वतोऽक्षि शिरो ग्रीवा

https://t.me/arshlibrary

पाणिपादः अचिन्त्यशक्तिरित्यर्थः ।

अर्थात्—वह देव ऊपर-नीचे सब दिशाओं में व्यापक है, अनादिनिधन है, वही माता के गर्भ में विद्यमान है, वही हुआ है, होगा अर्थात् सब संसार ब्रह्म है । वह अचिन्त्यशक्ति है । इस मन्त्र के भाष्य में उव्वट ने भी अवताखाद का मूलोच्छेद कर दिया । जब सारा संसार ब्रह्म है तो रावण, कंस, राम और कृष्ण के रूप में सब ब्रह्म ही हैं । तब कौन साधु और कौन दुष्ट । कौन किसके संहार के लिए अवतार लेगा ।

पौराणिक मतानुसार जीवात्मा मुक्त होनेपर सदा के लिए जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है । परमेश्वर तो शुद्धबुद्धमुक्तनित्यस्वभाव है । जो नित्य मुक्त है उसके जन्म का तो प्रश्न ही नहीं उठता ।

गर्भ—प्रायः गर्भ शब्द को देखकर लोग भ्रम में पड़ जाते हैं, अतः यहाँ इस शब्द पर विस्तार से विचार करना उचित होगा ।

यजुर्वेद के ३७वें अध्याय का १४वाँ मन्त्र है—

'गर्भो देवानां पिता मतीनां पतिः प्रजानाम् ।
सं देवो देवेन सवित्रा गत सं सूर्येण रोचते ॥'

महीधरभाष्यम्—**'देवो दीप्यमानो महावीरो देवेन सह संगच्छते । देवानां दीप्तानां रश्मीनां दृश्यमानानां सर्वेषां वा ग्रहीता एष वै गर्भो देवोनां य एष तपति एष हीदं सर्वं संगृभ्णाति एतेनेदं सर्वः गृभीतमेष उ प्रवर्ग्यः ॥'** श० १।४।१।२

वह परमेश्वर वा सूर्य सब देवों का—दृश्यमान पदार्थों का गर्भ ग्रहण करनेवाला है । यहाँ परमेश्वर या सूर्य का नाम गर्भग्रहीता है । **'गर्भ इवान्तः स्थितः परमेश्वरः'** (ग्रन्थकार)।

'गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे गिरत्यनर्थानिति' (निरुक्त १०।२३) ।

परमेश्वर अनर्थों को नष्ट करता है, अतः उसको गर्भ कहते हैं ।

'गर्भं स्तुत्यं वन्दनीयम्' । अ० ३।१०।१२

भगवान् को गर्भ इसलिए भी कहते हैं कि वह वन्दनीय है—स्तुति के योग्य है ।

'गर्भोऽअस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्य अग्ने गर्भोऽअपामसि ॥' —(यजुः० १२।३८)

हे जीव ! तू ओषधि, वनस्पति सब भूतों का गर्भ अर्थात् सबको ग्रहण करनेवाला है ।

'विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भ आ रोदसी अपृणाज्जायमानः ।
वीडुं चिदद्रिमभिनत् परायञ्जना यदग्निमयजन्त पञ्च ।' यजुः० १२।२३

इसपर महीधरभाष्य—**'भूतजातस्य वाय्वात्मजा गर्भः स हि प्राणभावेन भूतानाम् अन्तः संचरति ।'** यहाँ अग्नि अर्थ में गर्भ पद प्रयुक्त हुआ है ।

'कृष्णस्य गर्भजगतोऽतिभरावसन्नं पार्ष्णिप्रहारपरिरुग्णफणातपत्रम् ।
दृष्ट्वा हि माद्यमुपसेदुरमुष्य पत्न्य आर्त्ताः श्लथद् वसनभूषणकेशबन्धाः ।
—भागवत १०।१६।३१

जिस कृष्ण के गर्भमध्य में सम्पूर्ण संसार है । यहाँ गर्भ का अर्थ मध्य है ।

https://t.me/arshlibrary

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि 'गर्भ' शब्द का परमात्मा, जीवात्मा, अग्नि, वायु, मध्य आदि अर्थों में भी प्रयोग होता है, अतः गर्भ शब्द को देखते ही अवतार की कल्पना कर लेना युक्तियुक्त नहीं है। जिन मन्त्रों में **'गर्भे अन्तः'** शब्द आता है उनमें 'परमात्मा में सब है और सबमें परमात्मा है' इस प्रकार वर्णन करते हुए परमात्मा की सर्वव्यापकता पर ही बल दिया गया है। इसी मन्त्र में आये वह 'सब दिशाओं में व्याप्त है' शब्दों से परमेश्वर के कहीं आने-जाने की आवश्यकता का प्रकारान्तर से निषेध कर दिया गया है।

वेद का कथन है—**'परिपश्यन्ति धीराः'**—परमेश्वर के स्वरूप को धीरपुरुष ही देखते हैं। मनुष्य (राम, कृष्ण आदि), पशु (मत्स्य, कूर्म आदि) तथा मनुष्य-पशु के संयुक्त रूप (नृसिंह) में तो परमेश्वर को करोड़ों मनुष्यों (वानरों, भालुओं तथा पशु-पक्षियों तक) ने देखा था। फिर वेद ने उसके धीर पुरुषों द्वारा देखे जाने की बात क्यों कही ? राम और कृष्ण को तो रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद, खर, दूषण, कंस, केशी, मधु आदि राक्षसों और ताड़का, शूर्पणखा, पूतना जैसी राक्षसियों तक ने देखा था। निश्चय ही इस मन्त्र में ईश्वर के शरीरधारण करके अवतरित होने का उल्लेख नहीं है। **'परिपश्यन्ति धीराः'** से ईश्वर का किसी भी दशा में साकार रूप का निषेध करते हुए यह कहा गया है कि उसे चर्मचक्षुओं से नहीं देखा जा सकता—

'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्'। (कठ० ६।६)—उस ब्रह्म का कोई रूप नहीं है, इसलिए उसे इन आँखों से नहीं देखा जा सकता। **'न तत्र चक्षुर्गच्छति'** (केन० १।३)। **'न मांसचक्षुषा द्रष्टुं ब्रह्मभूतः स शक्यते'** (विष्णुपुराण ६।६)। यजुर्वेद ३२।२ का भाष्य करते हुए उव्वट और महीधर दोनों ने स्पष्ट घोषणा की है—**'न ह्यसौ प्रत्यक्षादीनां विषयः'**—(भौतिक पदार्थों की भाँति) ईश्वर प्रत्यक्षादि का विषय नहीं है। देवीभागवतपुराण (स्कन्ध ३, अ० ७) में लिखा है—

निर्गुणस्य मुने रूपं न भवेद् दृष्टिगोचरम्।
दृश्यं च नश्वरं यस्मादरूपं दृश्यते कथम्॥

निर्गुण (पौराणिक मत में निर्गुण का अर्थ निराकार है) का रूप दृष्टिगोचर नहीं होता, अरूप का दर्शन कैसे हो सकता है ? जो दृश्य है—दिखाई देता है, वह तो नश्वर है। नश्वर ईश्वर कैसे हो सकता है ? वह तो अविनाशी है।

तब धीर पुरुष चारों ओर कैसे देखते हैं ? इसके उत्तर में स्वयं कठोपनिषद् ने ही कह दिया—

'हृदा मनीषी मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।' —६।६

मनीषी लोग उसे मन से ध्यान करने पर आत्मा में देख पाते हैं। जो मनुष्य उसकी सर्वव्यापकता को अनुभव कर लेता है, वह भावाभिभूत होकर कह उठता है—

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥

यह कहा जा सकता है कि जीव भी तो स्वरूप से अजन्मा है, किन्तु फिर भी तरह-तरह के शरीर धारण करता है। ऐसे ही परमात्मा भी स्वरूप से अजन्मा होते हुए भी जन्मधारण करता है, किन्तु यह तर्क यहाँ असंगत है, क्योंकि प्रथम तो जहाँ परमात्मा को **'अजन्मा'** कहा है, वहाँ उसे **'अकायम्'** **'अव्रणम्'** तथा **'अस्नाविरम्'** अर्थात् अशरीरी तथा नस-नाड़ी से रहित भी कहा है, परन्तु जीवात्मा के विषय में ऐसा कुछ नहीं कहा गया है। दूसरे जहाँ जीव को अनेकत्र शुभाशुभ कर्मों का फल भोगनेवाला कहा है (और शरीर

https://t.me/arshlibrary

के बिना कर्मफल-भोग सम्पन्न नहीं होता—(**भोगायतनं शरीरम्**) वहाँ परमात्मा को '**क्लेशकर्मविपाकाशय**' से अपरामृष्ट—अछूता बताया है, इसलिए उसे कर्मफल भोगने के लिए शरीरधारण करना अपेक्षित नहीं है। तीसरे जहाँ जीव अणुपरिमाण एकदेशी होने से किसी शरीर में समा सकता है, वहाँ परमेश्वर विभु सर्वव्यापी होने से किसी काया में नहीं समा सकता। चौथे, जीव का एकदेशी होने से गर्भ में आना-जाना कहा जा सकता है, किन्तु परमेश्वर के सर्वव्यापक होने से कहीं आना-जाना नहीं कहा जा सकता। कोई स्थान—वह गर्भ हो या जगत्—ऐसा नहीं, जहाँ वह सदा विद्यमान न हो, इसलिए उसके एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः जीव की भाँति परमेश्वर का जन्म नहीं माना जा सकता।

ऋग्वेद के जिस अन्य मन्त्र (६।४७।१८) में ईश्वरावतार की कल्पना की गयी है, वह इस प्रकार है—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश ॥

इन्द्र शब्द का निर्वचन ब्राह्मण इस प्रकार करता है—क्योंकि विद्वानों ने इन्द्रियों के द्वारा मुख्य प्राण को तेजस्वी बनाया, अतः मुख्य प्राण का नाम 'इन्द्र' है। अथवा, यतः विद्वानों ने इन्द्रियों के द्वारा जीवात्मा को तेजस्वी बनाया, अतः जीवात्मा का नाम इन्द्र है, अर्थात् प्राण व जीवात्मा के कारण ही इन्द्रियों की अवस्थिति है, अतः इन इन्द्रियों के स्वामी को इन्द्र कहते हैं। मन्त्रगत '**हरयः**' पद '**इन्द्रियाणि हयानाहुः**' (कठ० ३।४) का स्मरण कराता है। इसी प्रकार '**शता**' पद से शरीर में विस्तृत असंख्य नस-नाड़ियों का बोध होता है। इस प्रकार इस मन्त्र में प्राण और इन्द्रियों से युक्त भौतिक देह के स्वामी आत्मा का प्रसंग है, न कि परमात्मा का, यह सब-कुछ जीवात्मा के स्वरूपबोध के लिए है। इस जीवात्मा के निर्देशानुसार ही यह शरीर अपने समस्त कार्यों का सम्पादन करता है। कर्मों के अनुसार जीवात्मा जिस-जिस शरीर में जाता है तदनुरूप ही स्वभाव और चेष्टाओंवाला हो जाता है। मनुष्यशरीर में आकर इसकी चेष्टाएँ मनुष्य की-सी होती हैं तो पशु-पक्षी की योनि पाकर तदनुरूप चेष्टा करने लगता है। यह बहुरूपिया जीवात्मा है, परमात्मा का इससे कुछ लेना-देना नहीं।

'इन्द्र' नाम बिजली का भी है। इस अर्थ का निर्देश करते हुए ग्रन्थकार ने इस मन्त्र के भावार्थ में लिखा है—'जैसे बिजली पदार्थ के प्रति तद्रूप, वैसे ही जीव शरीर-शरीर के प्रति तत्स्वभाव का होता है। पंखे में आकर बिजली हवा देने लगती है तो हीटर में आकर वही गर्मी पहुँचाने का साधन या माध्यम बन जाती है। चक्की में प्रविष्ट होकर वह आटा पीसने लगती है तो रेल के इंजन में आते ही दौड़ने लगती है। विभिन्न योनियों को प्राप्त जीवात्मा की भी यही स्थिति है।

अवतारवाद की सिद्धि में अथर्ववेद का यह मन्त्र भी प्रस्तुत किया जाता है—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥

—अथर्व० १०।८।२७

इस मन्त्र से बलात् अवतारवाद को सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है, जबकि इसमें स्पष्ट तौर पर मानवयोनिप्राप्त किसी भी जीव की मात्र सामान्य चेष्टाओं का वर्णन है। इसका सीधा अर्थ है—

तू कभी स्त्री बन जाता है और कभी पुरुष। कभी लड़की बनता है, कभी लड़का। तू ही कभी बूढ़ा होकर लठिया के सहारे चलता है। तू विविध योनियों में जन्म लेता और विविध प्रकार की चेष्टाएँ करता है।

https://t.me/arshlibrary

'इदं विष्णुर्विचक्रमे' (यजुः० ५।१५) इत्यादि मन्त्र में विष्णु के वामनावतार का वर्णन हुआ बताया जाता है, जबकि वास्तव में इसमें परमात्मा के तीन प्रकार के जगत् को बनाकर आकाश में स्थिर रखने के एक वैज्ञानिक तथ्य का निरूपण किया गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

''इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे स्वाहा।''

'विष्णुः परमात्मा' (स्कन्द—निरुक्तटीका, भाग २, पृष्ठ ५५) ; **'विष्णुर्व्यापक इति'** शत्रुघ्नाचार्यो मन्त्रार्थदीपिकायाम्, पृष्ठ ६; 'विष्णुर्भगवानिति', पृष्ठ ४७; 'विष्णुर्व्यापक इति' लौगाक्षिगृह्यसूत्रे, ४७।

पदार्थः—(विष्णुः) जो सबमें व्यापक जगदीश्वर जो कुछ (इदम्) यह जगत् है, उसको (विचक्रमे) रचता हुआ इस प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष जगत् को (त्रेधा) तीन प्रकार का (निदधे) धारण करता है। (अस्य) इस प्रकाशवान्, प्रकाशरहित और अदृश्य तीन प्रकार के परमाणु आदि रूप (स्वाहा) अच्छे प्रकार देखने-दिखलाने योग्य जगत् का ग्रहण करता हुआ इस (समूढम्) अच्छे प्रकार विचार करके कथन करने योग्य अदृश्य (पदम्) जगत् को (पांसुरे) अन्तरिक्ष में स्थापित करता है, वही सब मनुष्यों को उत्तम रीति से सेवने योग्य है।

इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है—''परमेश्वर ने जिस प्रथम' प्रकाशवाले सूर्यादि, दूसरा' प्रकाशरहित पृथिवी आदि और जो तीसरा' परमाणु आदि अदृश्य जगत् है, उस सबको कारण से रचकर अन्तरिक्ष में स्थापन किया है, उनमें से ओषधि आदि पृथिवी में, प्रकाश आदि सूर्यलोक में और परमाणु आदि आकाश **और इस सब जगत् को प्राणों के शिर में स्थापित किया है।** इस [संस्कृत में] लिखे हुए शतपथ के प्रमाण से **'गय'** शब्द से प्राणों का ग्रहण किया है। इसमें महीधर जो कहता है कि त्रिविक्रम अर्थात् वामनावतार को धारण करके जगत् को रचा है, यह उसका कहना सर्वथा मिथ्या है।''

निरुक्तकार ने भी इस मन्त्र में वामनावतार का ग्रहण नहीं किया है। यास्काचार्य लिखते हैं—''यदिदं किंच तद्विक्रमते विष्णुः, त्रिधा निधत्ते पदं पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः, समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः। समूढमस्य पांसुरे प्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यते, अपि वोपमार्थे स्यात् समूढमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यत इति। पांसवः सूयन्त इति वा, पन्नाः शेरत इति वा, पिंशनीया भवन्तीति वा॥''

—निरुक्त १२।१६

विष्णु=मध्यकालीन सूर्य, **'विष्लृ व्याप्तौ'**, **'विश प्रवेशने'** या **'वि'** पूर्वक **'अशूङ् व्याप्तौ'** **'णु'** प्रत्यय और किद्भाव (उणादि० ३।३६)। मध्यकालीन आदित्य सर्वत्र व्याप्त होता है और सर्वत्र प्रविष्ट होता है।

विचक्रमे=विक्रमते; विष्णुपद=अन्तरिक्ष मध्य जिसमें कि मध्याह्नकालीन आदित्य की स्थिति है। एवं 'विष्णुपद' का मुख्य अर्थ यद्यपि अन्तरिक्षमध्य है, परन्तु सामान्यतः अन्तरिक्ष के लिए प्रयुक्त होता है। 'गयशिरम्'=मकानों की छत, निघण्टु में 'गय' पद गृहवाची पठित है। मध्याह्नकाल में आदित्य सम्पूर्ण मकानों के ठीक ऊपर देदीप्यमान होता है।

अर्थ—**(इदं विष्णुर्विचक्रमे)** यह मध्याह्नकालीन सूर्य, इस भूतल पर जो कुछ यह है, उस सबमें विक्रम दर्शाता है, अर्थात् भूमि के प्रत्येक पदार्थ को पूरी तरह तपाता है। **(त्रेधा पदं निदधे)** यह पृथिवी में, अन्तरिक्ष में और द्युलोक में—एवं तीन प्रकार से प्रकाश-किरण को धारण करता है, अर्थात्—यह विष्णु आदित्य उपर्युक्त तीनों लोकों को पूर्णतया प्रकाशित करता है। **(अस्य पांसुरे समूढम्)** इस आदित्य की एक किरण अन्तरिक्ष में गुप्त है, अर्थात् दृष्टिगोचर नहीं होती।

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न— **यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।**
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ —भ० गी० ४।७

श्री कृष्णजी कहते हैं कि—'जब-जब धर्म का लोप होता है, तब-तब मैं शरीर धारण करता हूँ ॥

उत्तर—यह बात वेदविरूद्ध होने से प्रमाण नहीं, और ऐसा हो सकता है कि श्रीकृष्ण धर्मात्माओं और धर्म की रक्षा करना चाहते थे कि मैं युग-युग में जन्म लेके श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों का नाश करूँ, तो कुछ दोष नहीं, क्योंकि **'परोपकाराय सतां विभूतयः'**[1] परोपकार के लिए सत्पुरुषों का तन-मन-धन होता है तथापि इससे श्रीकृष्ण ईश्वर नहीं हो सकते ।

उपनिषदों में अवतारवाद का निषेध—

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥ —मुण्डक० २।१।२

वह परमेश्वर अमूर्त्त, भीतर-बाहर व्यापक, अजन्मा, प्राणरहित, मनरहित और शुद्ध है । तथाकथित अवतरित ब्रह्म इन गुणों से युक्त नहीं होता ।

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात् ।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥
—श्वेत० ३।२१

वह पुरुष अजर, अमर, सर्वव्यापक, विभु व नित्य है । ब्रह्मवादी कहते हैं कि वह जन्म नहीं लेता । यहाँ अवतार का स्पष्ट निषेध है । **'यत्तददृश्यम्'** इत्यादि (मुण्डक० १।७) तथा **'न संदृशे तिष्ठति'** (कठ०६।९) पर पहले विचार किया जा चुका है ।

यदा यदा हि—यह गीता के चतुर्थ अध्याय का सातवाँ श्लोक है । इसका पूरक आठवाँ श्लोक है जो इस प्रकार है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

अर्थ—हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन ! जब-जब धर्म की ग्लानि=अवनति और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं 'आत्मानं'=अपने को उत्पन्न करता हूँ । सज्जनों की रक्षा और दुष्टों के नाश के लिए और धर्म को फिर से प्रतिष्ठित करने के लिए मैं समय-समय पर जन्म लेता रहता हूँ । तुलना करें—

यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पापम्नः ।
तदा तु भगवान् ईश आत्मानं सृज्यते हरिः ॥ —भागवत ६।२४।५६

इन श्लोकों में 'धर्म' शब्द का परम्परागत रूढ़ अर्थों में प्रयोग न होकर वर्णाश्रमव्यवस्था, न्याय और नीति आदि सबका उसमें समावेश है । इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि जब संसार में अन्याय, अत्याचार, अनीति, दुष्टता में वृद्धि होकर सज्जनों को कष्ट होने लगता है और दुष्टों का दबदबा बढ़ जाता है तब परमात्मा अपने द्वारा उत्पन्न और संचालित संसार को सुव्यवस्थित कर उसका कल्याण करने में समर्थ,

---

१. पूरा श्लोक इस प्रकार है — 'मूलं भुजङ्गैः शिखरे विहङ्गैः शाखाः प्लवङ्गैः कुसुमानि भृंगैः । आश्चर्यमेतत् खुल चन्दनस्य, परोपकाराय सतां विभूतयः' ॥ —कस्यचित् कवेः

https://t.me/arshlibrary

ज्ञानवान्, तेजस्वी और पराक्रमी विशिष्ट पुरुषों को भेजकर समाज की बिगड़ी दशा को ठीक कर दिया करते हैं। ऐसे असाधारण पुरुषों को सामान्यजन अवतारी पुरुषों के नाम से अभिहित करने लगते हैं।

इसी बात को डॉ० राधाकृष्णन ने इस प्रकार लिखा है—

Avatar means descent, one who has descended. The Divine comes to the earthly plane to raise it to a higher status. God descends when man rises. The purpose of the avatar is to inaugurate a new world, a new dharma. By his teaching and example, he shows how a human being can raise himself to a higher grade of life. The issue between right and wrong is a decisive one. God works on the right side. Love and mercy are ultimately more powerful than hatred and cruelty. Dharma will conquer adharma, truth will conquer falsehood, the power behind death, disease and sin will be overthrown by the reality which is Being, Intelligence and Bliss (सच्चिदानन्दस्वरुप).

Dharma literally means mode of being. It is the essential nature of a being that determines its mode of behaviour. So long as our conduct is in confirmity with our essential nature, we are acting in a right way. Adharma is non-conformity to our nature. If the harmony of the world is derived from the conformity of all beings to their respective natures, the disharmony of the world is due to their non-conformity. God does not stand aside when we abuse our freedom and cause disequilibrium. He does not simply wind up the world, set it on the right track and then let it jog along by itself. His loving hand is steering it all the time.

The conception of dharma is a development of the idea of rit (ऋत) which connotes cosmic as well as moral order in the Rigveda. The rit (ऋत) which gives logical significance and ethical elevation to the world is under the protection of Varuna. The God of the Gita (X1, 18) is the upholder of righteousness 'Shashvatadharmagoapta' (शाश्वतधर्मगोप्ता), not a God beyond good and evil, remote and unconcerned with man's struggle with righteousness.

—*Bhagwadgita, P.155.*

गीता के उपदेष्टा योगिराज कृष्ण और सम्पादक वेदों के प्रगल्भ विद्वान् महर्षि वेदव्यास हैं। यह भी निर्विवाद है कि गीता महाभारत का अंग है, किन्तु वर्त्तमान में प्रचलित महाभारत और गीता महर्षि वेदव्यास की रचना नहीं हैं, अर्थात् वर्तमान महाभारत और गीता, जैसे व्यासजी की लेखनी से निकले थे, वैसे आज हमारे सामने नहीं हैं। विश्वविख्यात गवेषक चिन्तामणि वैद्य ने महाभारत के तीन कर्ता माने हैं—व्यास, वैशम्पायन और सौति। उनके विवेचन के अनुसार महाभारतयुद्ध की समाप्ति पर व्यासजी ने 'जय' नामक ग्रन्थ बनाया था, जैसाकि महाभारत के पहले श्लोक में लिखा है—

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

'जय' शब्द का अर्थ यहाँ महाभारत नाम इतिहास ही है। आगे चलकर कहा है—'जयो नामेतिहासोऽयम्' इत्यादि। 'जय' नामक ग्रन्थ के श्लोकों की संख्या कितनी थी, यह निश्चय करने के लिए कोई निश्चित आधार न मिलने से इस विषय में उन्होंने अपनी कोई सम्मति प्रकट नहीं की। इसके बाद वैशम्पायन ने कुछ बढ़ाकर उसे 'भारत' बना दिया। 'भारत' की श्लोकसंख्या वैद्यजी ने २४ हजार मानी है। उनका यह अनुमान आदिपर्व में सौति की अनुक्रमणिका के आधार पर है। शेष ७६ हज़ारा आख्यानों के श्लोक बतलाकर सम्पूर्ण महाभारत की श्लोक-संख्या एक लाख लिखी है। वैद्यजी का अनुमान है कि ये ७६ हज़ार श्लोक सौति ने रचकर मिलाये। तभी से बड़ा हो जाने के कारण इसका नाम महाभारत

https://t.me/arshlibrary

हुआ। ग्रन्थकार के अनुसार राजा भोज के समय महाभारत में ३० हज़ार से अधिक श्लोक नहीं थे। सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में उन्होंने लिखा है—"व्यासजी ने चार सहस्र चार सौ और उनके शिष्यों ने पाँच सहस्र छह सौ श्लोकयुक्त अर्थात् सब दश सहस्र श्लोकों के परिमाण भारत बनाया था। वह महाराजा विक्रमादित्य के समय में बीस सहस्र महाराजा भोज कहते हैं कि मेरे पिताजी के समय में पच्चीस और अब मेरी आधी उमर में तीस सहस्र श्लोकयुक्त महाभारत का पुस्तक मिलता है। —यह बात राजा भोज के बनाये 'संजीवनी' नामक इतिहास में लिखी है कि जो ग्वालियर राज्य के भिंड नामक नगर के तिवाड़ी ब्राह्मणों के घर में है जिसको लखुना के रावसाहब और उनके गुमाश्ते रामदयाल चौबेजी ने अपनी आँख से देखा है।" ग्रन्थकार ने यह भी लिखा है कि "शंकराचार्य के तीन सौ वर्ष के पश्चात् उज्जैन नगरी में विक्रमादित्य राजा कुछ प्रतापी हुआ। .....विक्रमादित्य के पाँच सौ वर्ष के पश्चात् राजा भोज हुआ।' इस प्रकार राजा भोज का काल आज से २०४६-५००=१५४६ वर्ष ठहरता है। तदनुसार सौति का काल राजा भोज के बाद आता है। इस प्रकार वर्त्तमान 'महाभारत' का रचनाकाल आज से १५४६ वर्ष से पीछे नहीं जा सकता। इस कालगणना से सौति से पूर्वकालीन वैशम्पायन द्वारा रचित २४ हज़ार श्लोकयुक्त 'भारत' का भी सामंजस्य हो जाता है।

सौति कथावाचक थे। महाभारत के सब या अधिसंख्य श्लोक उन्हीं के लिखे हो सकते हैं। मनोरंजन के लिए कल्पित आख्यानों की रचना करते समय सिद्धान्त गौण या सर्वथा उपेक्षित हो जाता है। इसलिए उनका तर्क की कसौटी पर खरा उतरना आवश्यक नहीं। ऐसे असंगत तथा शास्त्रविरोधी प्रसंगों के लिए सौति को भी निश्चितरूप से ज़िम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। इस सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि विभिन्न कालों में साम्प्रदायिक लोग भी प्रक्षेप करते रहे हैं। ऐसा भी प्रतीत होता है कि लोग महाभारत में जहाँ अपने अनुकूल विचारों को डालते रहे हैं, वहाँ अपने प्रतिकूल विचारों को निकालते भी रहे हैं। यही कारण है कि सौति के काल से आज तक महाभारत की श्लोकसंख्या मोटे तौर पर एक लाख ही मानी जाती रही है। वैसे विभिन्न संस्करणों में श्लोकों की संख्या में ४ से १५ हज़ार तक का न्यूनाधिक्य मिलता है। जब सम्पूर्ण महाभारत में प्रक्षेप होता रहा है तो उसका एक अध्याय 'गीता' उससे अछूता कैसे रह सकता था ?

महर्षि वेदव्यास जैसे गम्भीर विद्वान् द्वारा सम्पादित योगिराज कृष्ण जैसे प्रौढ़ वक्ता के उपदेश में परस्पर विरोधी तथा सर्वथा असंगत विचारों के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए। फिर भी, वर्त्तमान गीता में ये दोष यत्र-तत्र-सर्वत्र पाये जाते हैं। वर्त्तमान में उपलब्ध गीता का कितना बड़ा भाग प्रक्षिप्त है, इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि वैष्णव सम्प्रदाय, जिसकी ओर से प्रक्षेपों की भरमार है, महाभारत के समय में था ही नहीं।

एक बात और। व्यासजी ने महाभारत को अपने हाथ से नहीं लिखा था। इस कार्य के लिए उन्होंने उस समय के सर्वश्रेष्ठ आशुलिपिक (Stenotypist) की सेवाएँ प्राप्त कीं। व्यासजी के उस लेखक-सहायक का नाम था—गणेश। गणेश ने व्यासजी का लेखक बनना इस शर्त पर स्वीकार किया कि लिखते समय मेरी लेखनी क्षणभर के लिए भी रुकने न पाये। यदि ऐसा हुआ तो मैं लिखने का काम तत्काल बन्द कर दूँगा, व्यासजी ने गणेश की यह शर्त स्वीकार कर ली, किन्तु अपनी ओर से एक शर्त गणेश पर लगा दी। व्यासजी ने कहा—बिना समझे एक भी अक्षर न लिखना होगा। गणेशजी ने **'ओम्'** कहकर स्वीकार कर लिया और लेखक बन गये। गणेश बड़ी तेज़ी से लिखते जाते थे। व्यासजी को कभी-कभी सोचने

https://t.me/arshlibrary

के लिए रुकने की आवश्यकता अनुभव होती तो वे बीच-बीच में ऐसा अटपटा श्लोक बोल देते थे, जिसको समझने के लिए गणेशजी को ठहरना पड़ जाता था। वे श्लोक ऐसे होते थे, जिनका अर्थ बाहर से दूसरा मालूम पड़ता था और भीतर से कुछ और। इस बीच व्यासजी बहुत-से श्लोक बना लेते थे। इस विषय में व्यास जी ने लिखा है—

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा॥

इस ग्रन्थ में आठ हज़ार आठ सौ श्लोक ऐसे हैं जिनका अर्थ मैं समझता हूँ और शुकदेव (व्यासपुत्र) समझते हैं। संजय समझते हैं या नहीं, इसमें सन्देह है।

तच्छ्लोककूटमद्यापि ग्रथितं सुदृढं मुने।
भेत्तुं न शक्यतेऽर्थस्य गूढत्वात् प्रश्रितस्य च॥

ये कूट श्लोक इतने गुथे हुए और गम्भीरार्थक हैं कि आज भी उनका रहस्यभेदन कठिन है, क्योंकि उनका अर्थ भी गूढ़ है और शब्द भी योगवृत्ति और रूढ़वृत्ति आदि रचनावैचित्र्य के कारण गम्भीर हैं।

इस प्रकार महाभारत में एक लाख श्लोक हैं, जो तीन विद्वानों द्वारा रचित होने के साथ न जाने कितने अज्ञात लेखकों द्वारा प्रक्षिप्त हैं। व्यासजी ने जानबूझकर ऐसे श्लोक लिखे हैं (और उनकी संख्या नौ हज़ार के लगभग है) जिनके अर्थ स्पष्ट नहीं हैं, उसमें जो कुछ भी लिखा है, उसका प्रामाण्य अतिशय सन्दिग्ध है, उसका अधिकांश अनार्ष है, कल्पित है, वेदविरुद्ध है, और परस्पर विरुद्ध है—प्रसंगोपात्त नहीं है। ऐसी स्थिति में महाभारतान्तर्गत सत्यासत्यमिश्रित सामग्री में से सत्य खोज निकालना और फिर उसे प्रमाणित करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

युद्ध की जिस स्थिति में गीता का उपदेश दिया गया था, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वर्त्तमान गीता का अधिकांश निश्चितरूप से प्रक्षिप्त है। गीता का प्रथम अध्याय विवरणात्मक भूमिकारूप है। युद्ध की विभीषिका और उसके सम्भावित दुष्परिणामों का उल्लेख करके उद्विग्नमना अर्जुन चुपचाप बैठ गया। तदनन्तर उसकी शंकाओं का समाधान करना श्रीकृष्ण का काम था और वह उन्होंने कर दिया। यह समाधान गीता के द्वितीय अध्याय के प्रथम ३८ श्लोकों तथा कतिपय अन्य श्लोकों तक सीमित है। इसमें पाँच-सात मिनट का समय लगा होगा। सात सौ श्लोकों में निहित ज्ञान-विज्ञान की बातों के लिए न उचित स्थान था और न वे अवसरोचित बातें थीं। अर्जुन का खान-पान, ज्ञान, भक्ति, दान-पुण्य, यज्ञ, योगाभ्यास, मोक्षलाभ, सृष्ट्युत्पत्ति, वर्णाश्रम-व्यवस्था आदि के विषय में प्रश्न उठाना और श्रीकृष्ण का उन प्रश्नों का उत्तर देना वहाँ सर्वथा अप्रासंगिक था। ये सब शान्तिकाल में अवकाश के समय एकान्त स्थान में गुरु-शिष्य परम्परा में बैठकर विवेचन के विषय थे। वैसा ही हुआ भी होगा। अथवा वह किसी के द्वारा विविधविषयविभूषित संकलन हो सकता है, जिसे उपयोगी जानकर कालान्तर में गीता में अनुस्यूत कर दिया गया होगा। यही कारण है कि गीता में परस्पर विरोधी, प्रसंगविरुद्ध तथा निर्हेतुक पुनरावृत्त वक्तव्यों की भरमार है। योगिराज कृष्ण जैसे प्रौढ़ वक्ता के उपदेश में पुनरुक्ति और विरोध ढूँढने पर भी नहीं मिलना चाहिए। फिर उस उपदेश के व्यासजी जैसे साक्षात्कृतधर्मा ऋषि द्वारा सम्पादित होनेपर तो सोने में सुगन्धि आजानी चाहिए, परन्तु फिर भी गीता में ये दोष पाये जाते हैं। फलतः उसमें प्रस्तुत वाक्यों की सूक्ष्मेक्षिका से समीक्षा करनी चाहिए।

https://t.me/arshlibrary

विवेच्य श्लोक चतुर्थ अध्याय के हैं। स्वामी आत्मानन्दजी महाराज ने **'वैदिक गीता'** नाम से प्रस्तुत गीताभाष्य में लिखा है—

"चतुर्थ अध्याय के आरम्भ से लेकर २५ श्लोक प्रक्षिप्त हैं। दूसरे अध्याय के अड़तीसवें श्लोक से लेकर कर्मयोग का प्रकरण चला है और छठे अध्याय के चौथे श्लोक तक चला गया है। चतुर्थ अध्याय का प्रथम श्लोक यह है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ ४।१

इस अविनाशी योग को मैंने विवस्वान् को, विवस्वान् ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को कहा था। आगे चलकर कहा है—

स एवायं मया ते ऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ॥ ४।३

अर्थात् वही यह पुराना योग मैंने तुझे आज कहा है।

इस श्लोक से यह प्रतीत होता है कि कर्मयोग का प्रकरण समाप्त हो चुका, परन्तु कर्मयोग का प्रसंग अभी समाप्त नहीं हुआ, दूर तक चला गया है। बीच में अर्जुन ने प्रश्न कर दिया था कि मनुष्य न चाहते हुए भी पाप क्यों कर बैठता है—उसका उत्तर देकर चतुर्थ अध्याय के १६वें श्लोक में उसी प्रकरण को फिर आरम्भ कर दिया गया है—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ ४।१६

अर्थ—क्या कर्म है और क्या अकर्म है, इस विषय में विद्वान् लोगों को भी भ्रान्ति हो जाती है। मैं तुझे वह कर्म बतलाऊँगा जिसे जानकर तू अमङ्गल से छूट जाए।

इस प्रकार यह प्रकरण निरन्तर चल रहा है। इसके बीच में इसकी समाप्ति की सूचना से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये श्लोक प्रक्षिप्त हैं, यहाँ के नहीं हैं। यदि ये मूल लेखक की रचना होते तो वह इन्हें प्रकरण के अन्त में लिखता।

आगे चलकर चौथे श्लोक में अर्जुन ने प्रश्न किया है कि आपके और विवस्वान् के काल में तो बड़ा अन्तर है, फिर आपने विवस्वान् को यह योग कैसे बतलाया ?

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४।४

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण ने बतलाया—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥४।५

हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म व्यतीत हो चुके हैं, मैं उन सब जन्मों को जानता हूँ, परन्तु तू नहीं जानता।

यहाँ श्रीकृष्ण ने अर्जुन के समान ही अपने बार-बार जन्म लेने की बात कही है। यदि वे अपने आपको ईश्वर का अवतार मानते तो कहते कि तू तो जीवात्मा होने के कारण बार-बार जन्म लेता रहता है, परन्तु

https://t.me/arshlibrary

मैं आवश्यकता होने पर कभी-कभी जन्म लेता हूँ। निश्चय ही श्रीकृष्ण ने यहाँ अपने आपको जीवात्मा (परन्तु योगी) के रूप में प्रस्तुत किया है। आगे सातवें श्लोक में **'तदात्मानं सृजाम्यहम्'** में **'अहम्'** का अर्थ **'विशिष्ट जीवात्मपुरुष'** ही लेना प्रकरणानुकूल तर्कसंगत होगा।

आठवें श्लोक का उत्तरार्द्ध है—**'धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे'**। पर यहीं पर प्रक्षेपक महोदय ने बस नहीं कर दी। आगे चलकर भगवान् की उपासना और उसके फल बतलाने आरम्भ कर दिये हैं। इससे भी आगे बढ़कर उन्होंने श्रीकृष्ण से चारों वर्णों की गुण-कर्मानुसार सृष्टि कराई है। इस प्रकार इस सारे प्रकरण को एक अजायबघर बनाकर रख दिया है, जिसमें कलाकृतियों के अपने-आप में सुन्दर होते हुए भी उनके संयोजन में न कोई तारतम्य है और न व्यवस्था। फलतः उनसे किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती।

गीता के इन श्लोकों में जिस आधारभूत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है वह यह है कि जब भी समाज, देश या विश्व में अनिष्टकारी शक्तियाँ प्रबल हो जाती हैं तो उनका दमन करके धर्म व न्याय की स्थापना और दुष्टों का दलन करके सज्जनों की रक्षा में समर्थ शक्तियाँ जिस असाधारण पुरुष में साकार हो उठती हैं, उसके अलौकिक कार्यों से चमत्कृत होकर साधारण जन उसे ईश्वर, अवतार, पैग़म्बर आदि नामों से पुकारने लगते हैं। इस प्रकार के दिव्यगुणसम्पन्न महापुरुष समय-समय पर इस संसार में आते रहते (अवतरित होते) रहते हैं। इसी अर्थ की पुष्टि **'आत्मानं सृजाम्यहम्'** के पूरक **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** (गीता ७।१८) से होती है। इस प्रकार **'आत्मानं सृजाम्यहम्'** का अर्थ **'आत्मानं ज्ञानिनं वा सर्जयाम्यहम्'** करना तर्कसंगत होगा। यह गीता से गीता का अर्थ करना होगा।

यदि समाजशास्त्र की दृष्टि से उक्त श्लोक की व्याख्या की जाए तो उसमें एक ऐसे सार्वभौम एवं सार्वकालिक सत्य का उद्घाटन है, जिससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। कोई भी महापुरुष जन्मजात महापुरुष नहीं होता। उसे महापुरुष बनाने में उसके समय की परिस्थितियों का बहुत बड़ा हाथ होता है। जितनी तीव्र क्रिया होगी उतनी तीव्र प्रतिक्रिया होगी, यह विज्ञान का सिद्धान्त है। भारत के चहुँमुखी अधःपतन का ही यह परिणाम था कि उसमें दयानन्द, गांधी और तिलक जैसी विभूतियों ने जन्म लिया। जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म का अभ्युत्थान होता है अर्थात् जब-जब किसी जाति का बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से अधःपतन हो जाता है, तब-तब उसमें ऐसे महापुरुष पैदा होते हैं जो उसे पतन के गर्त से निकालकर उन्नति के शिखर पर ले-जाने का प्रयास करते हैं। कुछ ऐसी ही परिस्थितियाँ थीं जिनमें श्रीकृष्ण का जन्म और पालन-पोषण हुआ था। जिसके जन्म से पहले उसके माता-पिता को जेल के सीखचों में बन्द कर दिया गया हो, जिसे अपने पालन-पोषण और संरक्षण के लिए पराश्रित रहना पड़ा हो और जिसने चारों ओर इसी प्रकार की विनाशलीला देखी हो, उसका विद्रोही मन **'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्'** का दृढ़ संकल्प करके अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना के लिए अपने आपको सर्वात्मना समर्पित क्यों नहीं करेगा ? और ऐसे महापुरुष को क्यों नहीं लोग अपने सिर पर बिठाएँगे—उसे देवतुल्य क्यों नहीं मानेंगे ?

ब्रह्मलोक में रहनेवाला मुक्तात्मा अप्रतिहतगति होता है। छान्दोग्योपनिषद् (७।२५।२) में कहा है—**'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति'** अर्थात् मोक्षदशा में जीव इच्छानुसार सब लोकों में संचरण करता है। योग के एक अंग **'अपरिग्रह'** की सिद्धि हो जानेपर योगी अपने पूर्वजन्म, चालू जन्म तथा आगे होनेवाले जन्म के कारणों को यथायथ जान लेता है। मैं पूर्वजन्म में क्या था ? किन कारणों से था ? चालू जन्म किन

https://t.me/arshlibrary

कारणों से हुआ ? आगे मैं क्या होऊँगा और किन कारणों से होऊँगा ? इस प्रकार अपरिग्रह की सिद्धि को प्राप्त हुआ योगी पहले, अगले और मध्य के अपने जन्मों के विषय में जिज्ञासा होनेपर यथार्थरूप से उन स्थितियों को जान लेता है। योगदर्शन के **'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः'** (२।३९) पर व्यासभाष्य में लिखा है—**''अस्य भवति। कोऽहमासम्, कथमहमासम्, किंस्विदिदम्, कथंस्विदिदम्, के वा भविष्यामः, कथं वा भविष्याम इति; एवमस्य पूर्वान्तपरान्तमध्येष्वात्मभावजिज्ञासा स्वरूपेणोपावर्तते।''** इसका नाम **'जन्मकथन्तासम्बोध'** है।

महापुरुष विश्वकल्याण के लिए यह कामनाकर सकते हैं कि विश्वकल्याण के लिए मैं बार-बार जन्म लूँ, क्योंकि **'परोपकराय सतां विभूतयः'**। पर यह जन्म जीवात्माओं का होता है, परमात्मा का कभी नहीं। गीता में जहाँ-जहाँ श्रीकृष्ण ने अपने योगबल और योगविभूति तथा सामर्थ्य को लक्ष्य में रखकर अपने विषय में जो बातें कही हैं, वे साधारण मनुष्य नहीं कर सकते परमात्मरूप का भ्रम उत्पन्न करनेवाले अथवा आपाततः ईश्वरवाची होने की प्रतीति करानेवाले **'अहम्'** पद का प्रयोग लक्षणा, तात्स्थ्योपाधि अथवा तत्सहचरितोपाधि से ब्रह्मस्थ मुक्तात्मा के लिए किया गया समझना चाहिए। सारी गीता में न कहीं अवतार शब्द है और न 'ईश्वर का अवतार होता है' इसका स्पष्टतः प्रतिपादक कोई वाक्य है।

अवतारवाद व विकासवाद

प्राणिजगत् के प्रादुर्भाव की विकासवादी कल्पना बड़ी रोचक है। अतीत में आधुनिकता की खोज करनेवालों के अनुसार भारतीयों के लिए विकासवाद की मान्यता कोई नई बात नहीं है। संसार के विभिन्न प्राणियों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इस प्रश्न पर हमारे दार्शनिक और तत्त्ववेत्ता बहुत प्राचीनकाल से विचार करते आये हैं। उनके अनुसार मत्स्यावतार, कूर्मावतार, वराहावतार, नृसिंहावतार आदि के रूप में पौराणिक अवतारवाद के माध्यम से विकासवाद की कल्पना को सन्तुलित करने का प्रयास किया गया है। तदनुसार पहले जलचर, फिर उभयचर, तत्पश्चात् स्थलचर, फिर छोटे-छोटे प्राणी और अन्ततः मनुष्य की उत्पत्ति होना सिद्ध होता है। नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण आदि के रूप में ईश्वर अवतार से प्रतीकरूप में मनुष्यजाति के क्रमिक विकास का संकेत मिलता है। वस्तुतस्तु अवतारों की कल्पना में प्राणिसृष्टि के विकास को नहीं ढूँढा जा सकता, क्योंकि जिस कालखण्ड में मत्स्यावतार आदि की कल्पना की गई, उससे बहुत पहले से मानव की तथा अन्यान्य प्राणियों की विद्यमानता सिद्ध है।

अवतार किस लिये ?

कहा जाता है कि राक्षसराज रावण और कंस जैसे पापियों को मारने के लिए ईश्वर को अवतार लेना पड़ता है। कैसी बचकानी-सी बात है। सोचने की बात है कि किसी चीज़ को बनाना आसान होता है या बिगाड़ना। जिस इमारत को सैकड़ों मज़दूर मिलकर महीनों परिश्रम करके बनाते हैं, उसी को आवश्यकता पड़ने पर थोड़े-से मज़दूर कुछ ही दिनों में गिरा सकते हैं। स्पष्ट है, बनाने की अपेक्षा बिगाड़ना आसान है। रावण आदि को बनाने=पैदा करने के लिए यदि ईश्वर को अवतार लेना नहीं पड़ा तो उन्हें मारने के लिए अवतार लेने की आवश्यकता क्यों पड़ती। जो परमात्मा संकल्पमात्र से इतने विशाल ब्रह्माण्ड की रचना करने में समर्थ है, उसे यदि एक-दो व्यक्तियों का नाश करने के लिए अवतार लेना पड़े, अमरलोक से मृत्युलोक में आना पड़े तो इससे ईश्वर का नहीं, रावणादि का गौरव बढ़ता है। उस अवस्था में **'सर्वशक्तिमान्'** की उपाधि राम-कृष्ण से छीनकर रावण-कंस को दे देना न्याय्य होगा।

https://t.me/arshlibrary

गीता के अनुसार ईश्वर का अवतार होता है—**'धर्मसंस्थापनार्थाय, साधूनां परित्राणाय तथा दुष्कृतां विनाशाय'**, परन्तु पुराणों (जहाँ अवतारवाद की कल्पना की गई है) में ईश्वर के अन्यान्य अवतारों के क्रियाकलापों का जो विवरण मिलता है, उससे चार बातों का पता चलता है—

१. ईश्वर अपनी इच्छा से अवतार नहीं लेता, वैसा बनने के लिए उसे विवश किया जाता है।

२. उसे पूर्वजन्म में किये कर्मों का फल भोगने के लिए जन्म लेना पड़ता है।

३. पहले से **स्थापित धर्म को विस्थापित**=उखाड़ फैंकने और धर्माचरण में प्रवृत्त लोगों को अधर्म में प्रवृत्त करने में उसकी विशेष रुचि होती है।

४. उनका अपना चरित्र प्रायः भ्रष्ट होता है।

भगवान् विष्णु कहते हैं—

न कस्यापि प्रियो लोके तिर्यग्योनिषु संभवः ।
नाभवं स्वेच्छया वाहं वराहादिषु योनिषु ॥ —दे० १।५७
विहाय लक्ष्म्या सह संविहारं यो याति मत्स्यादिषु हीनयोनिषु ।
शय्यां च त्यक्त्वा गरुडासनस्य करोति युद्धं विपुलं स्वतन्त्रः ॥ —१।५८

संसार में किसी को वराह आदि योनियों में जाना पसन्द नहीं। फिर, मैं इन योनियों में क्यों जाता। यह सब मेरे पापों का फल है॥

यदि मैं स्वतन्त्र होता तो लक्ष्मी के साथ विहार को छोड़कर मछली आदि हीन योनियों में क्यों जाता तथा सुखशय्या (गरुड़ासन) को छोड़कर युद्धादि क्यों करता ?

कौलो वाऽथ सिंहो वा वामनो वाऽभवं कुतः ।
जमदग्निसुतः कस्मात् संभवेयं पितामहः ॥३८॥
नृशंसं वा कथं कर्म कृतवानस्मि भूतले ।
क्षत्रजैस्तु ह्रदान् सर्वान् पूरयेयं कथं पुनः ॥३८॥
क्षत्रियान् हतवानस्मि निर्दयो गर्भगानपि ॥४०॥

यदि मैं स्वतन्त्र होता तब वराह आदि योनियों में क्यों जाता ? वामनावतार के रूप में छल क्यों करता ? परशुराम बनकर क्षत्रियों के नाशरूपी कुकर्म में क्यों प्रवृत्त होता ?

अवश्यमेव कर्माणि भोक्तव्यानीति निश्चयः ।
देवैर्मनुष्यैरसुरैर्यक्षगन्धर्वकिन्नरैः ॥
कर्मैव हि महाराज देहारम्भस्य कारणम् ॥ ६।१०।१५-१६
कर्मक्षये जन्मनाशः प्राणिनां नात्र संशयः ।
ब्रह्माविष्णुस्तथा रुद्रः रुद्राद्याश्च सुरास्तथा ॥१८॥
दानवा यक्षगन्धर्वाः सर्वकर्मवशाः किल ।
अन्यथा देहसम्बन्धं कथं भवति भूतले ॥१९॥

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—जो ऐसा है, तो संसार में चौबीस ईश्वर के अवतार होते हैं, और इनको अवतार क्यों मानते हैं ?

उत्तर—वेदार्थ के न जानने, सम्प्रदायी लोगों के बहकाने, और अपने आप अविद्वान् होने से भ्रमजाल में फँसके ऐसी-ऐसी अप्रामाणिक बातें करते और मानते हैं ।

प्रश्न—जो ईश्वर अवतार न लेवे, तो कंस-रावणादि दुष्टों का नाश कैसे हो सके ?

उत्तर—प्रथम जो जन्मा है, वह अवश्य मृत्यु को प्राप्त होता है । जो ईश्वर अवतार= शरीर धारण किये विना जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करता है, उसके सामने कंस और रावणादि एक कीड़ी के समान भी नहीं । वह सर्वव्यापक होने से कंस, रावणादि के शरीरों में भी परिपूर्ण हो रहा है । जब चाहे उसी समय मर्मच्छेदन कर नाश कर सकता है । भला इस अनन्त-गुण-कर्म-स्वभावयुक्त परमात्मा को एक क्षुद्र जीव के मारने के लिए जन्म-मरणयुक्त कहनेवाले को मूर्खपन से अन्य कुछ विशेष उपमा मिल सकती है ?

और जो कोई कहे कि भक्तजनों के उद्धार करने के लिए जन्म लेता है, तो भी सत्य नहीं, क्योंकि जो भक्तजन ईश्वर की आज्ञानुकूल चलते हैं, उनके उद्धार करने का पूरा सामर्थ्य ईश्वर में है । क्या ईश्वर के पृथिवी, सूर्य, चन्द्रादि जगत् को बनाने, धारण और प्रलय करनेरूप कर्मों से कंस-रावणादि का वध और गोवर्धनादि पर्वतों का उठाना बड़े कर्म हैं ? जो कोई इस सृष्टि में परमेश्वर के कर्मों का विचार करे, तो **'न भूतो न भविष्यति'**[1] ईश्वर के सदृश कोई न है न होगा ।

पापं करोति मनुजस्तथा देवादयोऽपि ते ।
तथा नारायणो राजन् नरश्च धर्मजावुभौ ॥३१॥
वासुदेवोऽपि संजातः कारागारेऽतिसंकटे ।
नीतोऽसौ वासुदेवेन नन्दगोपस्य गोकुलम् ॥३५॥
जगाम द्वारवत्यां च म्लेच्छराज्यभयात्तदा ।
एवं ते कथिता राजन् कर्मणो गहनागतिः ॥
वासुदेवोऽपि व्याधस्य बाणेन निधनं गतः ॥४१॥

कृतकर्मों का फल अवश्यमेव भोगना पड़ता है । मनुष्य, देवता आदि सब कर्मफल भोगते हैं, क्योंकि देह का कारण ही कर्म हैं **(भोगापवर्गार्थं दृश्यम्)** । जगत् की रचना, जिसमें मनुष्य की देह भी शामिल है पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने और अन्ततः मोक्ष प्राप्त करने के लिए हुई है । ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कृष्ण आदि ने जो कर्म किये थे उन्हीं का फल भोगने के लिए शरीरधारण करना पड़ा । पाप के फलस्वरूप ही वसुदेव और उनके पुत्र वासुदेव कृष्ण को कारागार का कष्ट भोगना पड़ा और कृष्ण को पालन-पोषण के लिए माता-पिता से दूर गोकुल ले-जाना पड़ा । जरासंध के भय से द्वारिका भागना पड़ा और दुष्कर्मों के कारण ही व्याध के बाण से मृत्यु को प्राप्त हुए ।

रामावातार

श्रीराम मर्यादापुरुषोत्तम थे—आदर्श चरित्र के स्वामी, किन्तु अवतार माने जाने के कारण जो छीछालेदर उनकी हुई उसका विवरण शिवपुराण में दिया है । तदनुसार वृन्दा के शाप से श्रीरामचन्द्र का

---

१. इस चरण को समस्या के रूप में रखकर भिन्न-भिन्न कवियों ने इस की भिन्न-भिन्न प्रकार से पूर्ति की है । द्र०द्व समयोचित-पद्यामालिका' निर्णयसागर प्रेस, सन् १६२४, पृष्ठ ३४ ।

https://t.me/arshlibrary

और युक्ति से भी ईश्वर का जन्म सिद्ध नहीं होता। जैसे कोई, अनन्त आकाश को कहे कि 'गर्भ में आया वा मूठी में धर लिया' ऐसा कहना कभी सच नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश अनन्त और सबमें व्यापक है। इससे न आकाश बाहर आता और न भीतर जाता। वैसे ही अनन्त, सर्वव्यापक परमात्मा के होने से उसका आना-जाना कभी सिद्ध नहीं हो सकता। जाना वा आना वहाँ हो सकता है, जहाँ न हो। क्या परमेश्वर गर्भ में व्यापक नहीं था जो कहीं से आया? और बाहर नहीं था जो भीतर से निकला? ऐसा ईश्वर के विषय में कहना और मानना विद्याहीनों के सिवाय कौन कह और मान सकेगा? इसलिए परमेश्वर का जाना-आना, जन्म-मरण कभी सिद्ध नहीं हो सकता।

इसलिए 'ईसा' आदि भी ईश्वर के अवतार नहीं, ऐसा समझ लेना, क्योंकि, राग-द्वेष, क्षुधा-तृषा, भय-शोक, दुःख-सुख, जन्म-मरण आदि गुणयुक्त होने से वे मनुष्य थे।

जन्म हुआ। वह कथा इस प्रकार है—

"विष्णु ने माया के दो बन्दरों की सहायता से वृन्दा को छलकर उससे मैथुन करके उसका सतीत्व भंग किया। मैथुन के अन्त में वृन्दा को पता चला कि यह तो विष्णु है। तब वृन्दा ने विष्णु को शाप दिया—

हे नराधम दैत्यारे परधर्मविदूषक। गृहणीष्व शठ महत्तं शापं सर्वविषोल्वणम्॥
यौ त्वया मायया ख्यातौ स्वकीयौ दर्शितौ मम। तावेव राक्षसौ भूत्वा भार्यां तव हरिष्यतः॥
त्वं चापि भार्यादुःखार्तो वने कपिसहायवान्। भ्रम सर्पेश्वरेणायं यस्ते शिष्यत्वमागतः॥

—शिव० रुद्र० २, युद्धखण्ड ५, अध्याय २३।४३-४५

अर्थ—हे महापापी! राक्षसों के शत्रु! दूसरों के धर्म का नाश करनेवाले! मेरे दिये हुए तीक्ष्ण विष के समान शाप को ग्रहण कर। अपनी माया से प्रकट किये अपने जिन दो साथियों को तूने मुझे दिखाया वही दोनों राक्षस बनकर तेरी पत्नी को हरेंगे। तू भी अपनी पत्नी के दुःख से व्याकुल हुआ जंगल में बन्दरों की सहायता से अपने इस शिष्य शेषनाग के साथ फिरेगा।"

पुराण के इस लेख से स्पष्ट है कि राम का तथाकथित अवतार वृन्दा के शाप के अनुसार स्वकृतपाप का फल भोगने के लिए हुआ था, स्वेच्छापूर्वक धर्म की स्थापना अथवा सज्जनों की रक्षा और दुष्टों के संहार के लिए नहीं।

कृष्णावतार

इसी प्रकार कृष्ण का जन्म गोलोक में राधा द्वारा दिये गये शाप के कारण हुआ था। ब्रह्मवैवर्तपुराण में उसकी कथा के अन्त में राधा द्वारा दिये शाप का वर्णन इस प्रकार किया है—

हे कृष्ण वृजाकान्त गच्छ मम पुरतो हरे। कथं दुनोषि मां लोल रतिचौरातिलम्पट॥५६॥
शीघ्रं पद्मावतीं गच्छ रत्नमालां मनोरमाम्। अथवा वनमालां वा रूपेणाप्रतिमां व्रज॥६०॥
हे नदीकान्त देवेश देवानां च गुरोर्गुरो। मया ज्ञातोऽसि भद्रं ते गच्छ गच्छ ममाश्रमात्॥६१॥
शश्वते मानुषाणां च व्यवहारस्य लम्पट। लभतां मानुषीं योनिं गोलोकाद् व्रज भारतम्॥६२॥
हे सुशीले शशिकले हे पद्मावति माधवि। निवार्यतां च धूर्तोऽयं किमस्यात्र प्रयोजनम्॥६३॥

—ब्रह्मवैवर्त० कृष्णजन्मखण्ड ४, पूर्वार्द्ध, अध्याय ३

अर्थ—हे कृष्ण! हे हरे! हे वृजा के प्यारे! मेरे सामने से चला जा। मुझे क्यों दुःख देता है?

https://t.me/arshlibrary

हे अतिलम्पट ! शीघ्र पद्मावती के पास जा, अथवा सुन्दरी रत्नमाला के पास जा अथवा अनुपम रूपवती वनमाला के पास जा। हे वृजा के प्यारे ! मैंने तुझे जान लिया है। तेरा कल्याण हो। जा-जा, मेरे आश्रम से चला जा, क्योंकि तू साधारण मानवों की तरह मैथुन करने में लम्पट है, अतः तू मनुष्ययोनि को प्राप्त हो=देवलोक से चला था। हे सुशीले, शशिकले, पद्मावति, माधवि ! यह धूर्त्त है। इसे यहाँ से निकालो। ऐसे धूर्त्त का यहाँ क्या काम है ?

इस विवरण से स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण को लम्पट होने के कारण देवलोक से निकाला गया था और उसके व्यभिचारी या परस्त्रीगामी होने के कारण मानवलोक में आना पड़ा था, गीता के अनुसार धर्मसंस्थापन आदि के सदुद्देश्य से प्रेरित होकर नहीं।

विष्णु=राम-कृष्ण लीला

भ्रातृणां दैत्यमुख्यानां हतानां दारुणे युधि। स्त्रियो हत्वा तु पाताले चिक्रीड च मुमोद च ॥
त्रेता युगे रामरूपे विष्णुः संप्राप्य जानकीम्। नो तृप्तः स्त्रीविलासानां वित्तस्य च सुतस्य च ॥
रेतः संप्रेषणाच्चापि प्रोषितस्य स्त्रियामपि। तस्मात् कलियुगे भूमौ गृहीत्वा जन्म केशवः ॥
वसुदेवस्य देवक्यां मथुरायां महाबलः। बालस्तु गोपकन्याभिर्वने क्रीडां चकार सः ॥
दशलक्षाणि पुत्राणां गोपालानां ससर्ज ह। यस्तु यौवनाक्रान्तो रुक्मिणीं प्रददर्श ह ॥
विवाहयित्वा पुत्रांश्च प्रद्युम्नाद्यांश्च निर्ममे। तथापि नरकं दैत्यं प्राग्ज्योतिषमतिबलात् ॥
हत्वा स्त्रीणां सहस्राणि षोडशैव जहार सः। तासां रतिफलं भुक्त्वा पुत्राणां नवतिं तथा ॥
सहस्राणि ससृजांशु मत्स्ये चांदं महाद्भुतम्। स्त्रीणां तथापि नो तृप्तो दिव्यानां तु रतेर्यदा ॥
तदा राधा स्त्रियं कांचिन्निशि धैर्यादधर्षयत्। तथापि परनारीणां लम्पटो नित्यमेव हि ॥

— शि०ध०अ० ६।६१-६६

अर्थ—भगवान् विष्णु राक्षसों को मारकर उनकी स्त्रियों को पाताल में ले-गया तथा उनसे क्रीडा वा आमोद-प्रमोद किया। त्रेतायुग में रामावतार लेकर जानकी से विवाह किया, किन्तु स्त्रियों से तृप्त नहीं हुए और वन में जाने के कारण गर्भाधान यथेष्ट नहीं कर सके। इसलिए कलियुग में कृष्ण का अवतार धारण किया और बचपन में गोपियों से क्रीडा करके दस लाख लड़के उत्पन्न किये। तब भी तृप्त न हुए। तब युवा होकर रुक्मिणी से विवाह करके प्रद्युम्न आदि सन्तानें उत्पन्न कीं। पुनरपि तृप्त न हुए। तब नरकासुर को मारकर १६ हज़ार स्त्रियाँ लाये तथा ६० हज़ार पुत्र उत्पन्न किये। फिर भी तृप्त न हुए। तब राधा नाम की एक स्त्री को पकड़ लाये। इतना होनेपर भी भगवान् परनारियों का लम्पट है।

यहाँ कितने स्पष्ट शब्दों में इस बात का वर्णन है कि राम, कृष्ण आदि के रूप में विष्णु के सब अवतार कामेच्छा की पूर्त्ति तथा सन्तानोत्पत्ति के लिए होते रहे हैं।

राम का विषाद

न ज्ञातवान् मृगं तत्र मायया विहितस्तदा। वारितोऽपि नमत्यर्थं मोहितः प्राकृतैर्गुणैः ॥
अन्यायेन हतो बाली शापाच्चैव निवारितः। बद्धोऽहं नागपाशैश्च लक्ष्मणश्च ममानुजः ॥
वराटिकाऽपि पित्रा मे न दत्ता वननिर्गमे। पदातिरसहायोऽहं धनहीनश्च निर्गतः ॥

https://t.me/arshlibrary

[ईश्वर पापों को कभी क्षमा नहीं करता]

प्रश्न—ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा करता है, वा नहीं ?

एवं रामावतारेऽपि दुःखं प्राप्तं निरन्तरम् । परतन्त्रेण मे नूनं स्वतन्त्रः को भवेत्तदा ॥

—दे० ४।२४।४४, ४७, ५२, ५८

अर्थ—रामावतार में मैंने यह भी न जाना कि यह मारीच है या हिरण है। अन्याय से मैंने बाली को मारा, मैं तथा लक्ष्मण नागफाँस में फँस गये। पिता ने मुझे एक कौड़ी की सहायता भी नहीं की, धन-हीन, दीन मैं जंगल में फिरता रहा। इस प्रकार राम के रूप में मैंने अनेक कष्ट भोगे। यदि मैं स्वतन्त्र होता तो इतने दुःख क्यों भोगता ? इसी प्रकार शिव आदि कोई भी स्वतन्त्र नहीं हैं।

बुद्धावतार

शतकोटिमिता दैत्या धर्मात्मानो निवासिनः । गृहीत्वा यज्ञभागं च देवतुल्या बभूविरे ॥
बौद्धस्वरूपस्त्वयं जातः कलौ प्राप्ते भयानके । वेदधर्मपरान् विप्रान् मोहयामास वीर्यवान् ॥
निर्वेदा कर्मरहितास्त्रिवर्णा तामसारे । तस्मिन्नेव काले तु कलिना संस्मृतो हरिः ॥
कलेर्वै प्रथमे चरणे वेदमार्गे विनाशितः ॥

—भ०प्र०अ० १८ खं० ४

अर्थ—सौ करोड़ दैत्य, बड़े धर्मात्मा, वेद पढ़नेवाले, तपस्वी देवों के तुल्य, वेदमार्गावलम्बी धर्मपरायण थे। भगवान् ने बुद्ध का अवतार लेकर वेद के विरुद्ध उपदेश देकर नास्तिक बना दिया तथा वेदमार्ग से हटा दिया।

पहले वेदानुयायियों को बौद्ध बना दिया। फिर भगवान् ने शंकर के रूप में अवतार लेकर बौद्ध धर्म का नाश किया। रामविवाह के अवसर पर राम के द्वारा शिवधनुष के तोड़े जानेपर परशुराम के रूप में राम से झगड़ा किया। राम और परशुराम दोनों ईश्वर का अवतार थे। एक ही समय में ईश्वर ने दो अवतार धारण किये। दोनों एक दूसरे को न पहचान पाये। लक्ष्मण शेषनाग का अवतार थे जिसपर विष्णु भगवान् शयन करते हैं। उसे न रामरूप विष्णु ने पहचाना न परशुरामरूप विष्णु ने। ईश्वर के सभी अवतारों की करतूतों से भरे पड़े हैं पुराण। उनको पढ़कर यही कहना पड़ता है कि ईश्वर ने अवतार लेकर कभी कोई भला काम नहीं किया, अतः गीता के विवेच्य श्लोक **'यदा यदा हि'** इत्यादि में जो कुछ कहा गया है वह प्रक्षिप्त भी है और मिथ्या भी और यदि उसे सत्य माना ही जाए तो उसका ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत अर्थ मान्य होना चाहिए। वस्तुतः अवतारवाद की कल्पना न शास्त्रसम्मत है और न तर्कसंगत।

पाप क्षमा नहीं—महाभारत में कहा है—

येषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रपेदिरे ।
तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः-पुनः ॥

अर्थात्—पूर्व सृष्टि में जिस-जिस प्राणी ने जो-जो कर्म किये होंगे, फिर वे ही कर्म उसे बार-बार यथापूर्व प्राप्त होते रहते हैं। जब अभुक्त कर्म इतनी दूर तक पीछा करते हैं तो इसी जन्म में किये पापों से बिना भोगे निवृत्ति पा लेना कैसे सम्भव हो सकता है ? 'कृतकर्म का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता'—अपने इस नियम को परमेश्वर स्तुति करनेवाले अपने भक्तों के लिए शिथिल नहीं कर सकता।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

उत्तर—नहीं, क्योंकि जो पाप क्षमा करे, तो उसका न्याय नष्ट हो जाए और सब मनुष्य महापापी हो जाएँ, क्योंकि क्षमा की बात सुन ही के उनको पाप करने में निर्भयता और उत्साह हो जाए। जैसे राजा अपराध को क्षमा कर दे, तो वे उत्साहपूर्वक अधिक-अधिक बड़े-बड़े पाप करें, क्योंकि राजा अपना अपराध क्षमा कर देगा और उनको भी भरोसा हो जाए कि राजा से हम हाथ जोड़ने आदि चेष्टा कर अपने अपराध छुड़ा लेंगे और जो अपराध नहीं करते, वे भी अपराध करने से न डरकर पाप करने में प्रवृत्त हो जाएँगे। इसलिए सब कर्मों का फल यथावत् देना ही ईश्वर का काम है, क्षमा करना नहीं।

[जीव का स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य]

प्रश्न—जीव स्वतन्त्र है, वा परतन्त्र ?

उत्तर—अपने कर्त्तव्य कर्मों में स्वतन्त्र, और ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र है। **'स्वतन्त्रः कर्ता'** यह पाणिनीय व्याकरण का सूत्र (१।४।५४) है, जो स्वतन्त्र अर्थात् स्वाधीन है, वही कर्त्ता है॥

यदि वह पापों को क्षमा करने लगे तो उसका न्याय नष्ट हो जाए और सब मनुष्य पापी हो जाएँ। हाथ-पैर जोड़ने से परमात्मा अपराधियों को छोड़ देता है, यह जानने पर लोग निःशंक होकर पाप में प्रवृत्त होंगे। ऐसी अवस्था में परमेश्वर लौकिक शासकों के समान हो जाएगा। जो उसकी स्तुति (चमचागीरी या खुशामद) करेंगे वे उसके अपने होंगे। उनके प्रति उसका व्यवहार दया और सहानुभूति का होगा। इसके विपरीत जो उसकी स्तुत्यादि नहीं करेंगे, उनके प्रति वह वैरभाव नहीं तो, कम-से-कम उपेक्षा का भाव तो रखेगा ही। तब वह **'समोऽहं सर्वभूतेषु'**—सब प्राणियों के लिए एकजैसा नहीं रहेगा। अपनों का उपकार करना परोक्षरूप से अपने पर उपकार करना ही है। इसी में स्वार्थ निहित है। इस स्वार्थ के कारण परमात्मा खुशामदियों से घिरे हुए शासक के समान होगा, जिसमें राग-द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि सब दोष होंगे। इस प्रकार के जगन्नियन्ता परमेश्वर से न्याय की आशा कैसे की जा सकती है। वस्तुतः परमेश्वर तटस्थ भाव से सब जीवों के कर्मों का साक्षी रहते हुए ही न्यायपरायण हो सकता है और है। उसके व्यवहार में दया और न्याय का विलक्षण सम्मिश्रण अथवा समन्वय, है।

सामान्यतः मनुष्य दण्ड के भय से अपराध करने से डरते हैं। यदि यह विश्वास हो जाए कि अपराध करने पर पकड़े नहीं जाएँगे और पकड़े भी गये तो बिना दण्ड पाये छूट जाएँगे तो अधिसंख्य मनुष्य दुष्कर्मों=अपराधों के अभ्यस्त हो जाएँगे। किसी पीर-पैग़म्बर पर ईमान लाने से कृतकर्मों का दण्ड पाये बिना उनसे कोई नहीं छूट सकता।

जीव का स्वातन्त्र्य—ज्ञातृत्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व जीव के स्वाभाविक गुण हैं। पाणिनि के अनुसार **'स्वतन्त्रः कर्ता'** (अष्टा० १।४।५४)—कर्ता वह है जो **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्'** करने, न करने अथवा उल्टा करने में स्वतन्त्र है और स्वतन्त्र वह है जिसका शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरण उसके अधीन हैं। इस प्रकार अपने सामर्थ्यानुसार कर्म करने में जीव पूर्णरूप से स्वतन्त्र है। अपने बस की बात हो तो पुरुषार्थ ठीक है, परन्तु जहाँ रत्तीभर भी सत्ता और इच्छा नहीं रह जाती वहाँ हल में जोते हुए बैलों की तरह दास्य भाव से चलते रहने के सिवा और क्या हो सकता है ? **'बुद्धिः कर्मानुसारिणी'** का तात्पर्य है कि वर्त्तमान समय में हम जो कुछ करते हैं वह प्रारब्ध कर्मों (संचित कर्मों में से जिनका भोग शुरू हो गया है) का ही परिणाम है। मनुष्य की इच्छा और बुद्धि जो आज हो रही है वह कल के कर्मों का फल है तथा कल जो बुद्धि हुई थी वह परसों के कर्मों का फल था। इस कारण-परम्परा का अन्त कहीं नहीं होगा और

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—**'स्वतन्त्र'** किसको कहते हैं ?

उत्तर—जिसके अधीन शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरणादि हों । जो स्वतन्त्र न हो, तो उसको पाप-पुण्य का फल प्राप्त कभी नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे भृत्य स्वामी और सेना सेनाध्यक्ष की आज्ञा अथवा प्रेरणा से युद्ध में अनेक पुरुषों को मारके भी अपराधी नहीं होते, वैसे परमेश्वर की प्रेरणा और आधीनता से काम सिद्ध हों तो जीव को पाप वा पुण्य न लगे । उस फल का भागी भी[1] प्रेरक परमेश्वर होवे । नरक-स्वर्ग अर्थात् दुःख-सुख की प्राप्ति भी परमेश्वर को होवे ।

यह मानना पड़ेगा कि अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता । तब तो मनुष्य की दशा वही होगी जो नदी के प्रवाह में बहती हुई लकड़ी की होती है । प्रवाह उसे जिधर खींच ले-जाएगा उसे चुपचाप चले जाना होगा । इससे यही निष्पन्न होता है कि मनुष्य किसी भी कार्य को करने में स्वतन्त्र नहीं है । फ़िर मनुष्य में और मनुष्य द्वारा संचालित मशीन में क्या अन्तर रहेगा ?

किन्तु ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न तो चेतन आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं । इसलिए वह ज्ञानपूर्वक इच्छानुसार कर्म करने में स्वतन्त्र है । ऐसा न मानने का अर्थ होगा कि जीवात्मा अपने स्वाभाविक गुणों को खो बैठा । तब उसका अस्तित्व ही कहाँ रहा ? अनादि-अनन्त जीव के विषय में ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता । मनुष्य के अन्तःकरण की प्रवृत्ति से भी जीव का कर्मस्वातन्त्र्य सिद्ध होता है । प्रत्येक मनुष्य अपने मन में यही सोचता है कि मैं अपने हाथ से होनेवाले कार्यों की भलाई-बुराई सोचकर उन्हें अपनी इच्छानुसार करूँ या न करूँ । यदि मनुष्य को किसी कार्य को करने या न करने की स्वतन्त्रता नहीं है तो उसे यह कहना ही व्यर्थ है कि अमुक कार्य करना चाहिए, अमुक नहीं, किन्तु ऐसा कहा जाता है ।

वेदादि शास्त्रों में विधिनि-षेधात्मक अर्थ जीवात्मा को लक्ष्य करके कहे गये हैं । उनका अधिष्ठाता होने से वह कर्ता है—**'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ।'** श्वेत० उप० (५।७) में बताया—**'गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव चोपभोक्ता'**, संसारी जीवात्मा फल-प्राप्ति के लिए कर्मों का कर्ता है । प्रश्नोपनिषद् (४।९) में तो बहुत स्पष्ट कह दिया गया—**'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः'**, यह जीवात्मा पुरुष द्रष्टा, श्रोता, कर्ता आदि है । यदि वह कर्ता न होता तो उसके लिए कर्मों का विधान व निषेध असंगत होता । वेदादि शास्त्रों के अनेक वचन इसके पोषक हैं—**'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्'** (यजुः० ४०।२); **'त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्वद्धनम्'** (यजुः० ४०।१); **'अक्षैर्मा दीव्यः'** (ऋ० १०।३४।१३); **'पशून्पाहि'** (यजुः० १।१); **'सत्यं वद धर्मं चर'** (तै० २।११);**'ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्'** (मनु० ४।१२) इत्यादि सन्दर्भों में अनेकत्र जीवात्मा के लिए **'किं कर्म किमकर्मेति'** का विधान है । विहित कर्मों के अनुष्ठान तथा निषिद्ध कर्मों के परित्याग का विधान होने से स्पष्ट है कि कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है ।

कर्ता ही भोक्ता है, यह न्यायसंगत है । यदि जीवात्मा में स्वतन्त्र कर्तृत्व नहीं है तो उसमें भोक्तृत्व भी नहीं होगा । श्री अरविन्द ने एक स्थान पर लिखा है—

"Learn than to be the instrument of God. Let theyself be as a leaf in the tempest; as a sword that strikes and the arrow that leaps to its target. The sword does not choose where it shall strike, the arrow does not ask wither it shall be driven."

—*Essay on the Superman*

---

१. अर्थात् कर्मफल का भागी भी ।

https://t.me/arshlibrary

जैसे किसी मनुष्य ने शस्त्र-विशेष से किसी को मार डाला, तो वही मारनेवाला पकड़ा जाता है, और वही दण्ड पाता है। शस्त्र नहीं, वैसे ही पराधीन जीव पाप-पुण्य का भागी नहीं हो सकता। इसलिए अपने सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में जीव स्वतन्त्र, परन्तु जब वह पाप कर चुकता है, तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर पाप के फल भोगता है। इसलिए कर्म करने में जीव स्वतन्त्र, और पाप के दुःखरूप फल भोगने में परतन्त्र होता है।

अर्थात् 'अपने आपको परमात्मा का साधनमात्र समझो। तुम्हारी स्थिति आँधी में उड़ते पत्ते, काटनेवाली तलवार या अपने लक्ष्य की ओर जाते तीर के समान है। तलवार यह निर्णय नहीं करती कि उसे किसको काटना है और न तीर ही अपने लक्ष्य को निर्धारित करता है।' यदि श्री अरविन्द की बात ठीक हो तो मनुष्य का सारा दायित्व ही समाप्त हो जाएगा। तलवार और तीर दोनों ही अचेतन तत्त्व है—न उनमें ज्ञान है और न इच्छा। राग-द्वेष का भी उनमें अभाव है। इसलिए उनको लक्ष्य करके कही हुई बात चेतन जीवात्मपुरुष के विषय में लागू नहीं हो सकती। यह भी स्पष्ट है कि तलवार या तीर से हत्या हो जाने पर तलवार या तीर को अपराधी घोषित कर फाँसी पर नहीं चढ़ाया जाता, अपितु उनके प्रयोक्ता चेतन मनुष्य को ही दण्ड दिया जाता है। श्री अरविन्द की मान्यता के अनुसार तो संसार में भला-बुरा जो कुछ भी हो रहा है, उस सबके लिए परमेश्वर ही उत्तरदायी है। तब तो न्यायव्यवस्था का कुछ भी अर्थ नहीं रहता, परन्तु यह यथार्थ के विपरीत है। जीवात्मा, परमात्मा के हाथ का खिलौना नहीं है। वह इच्छा, सुख-दुःख, राग-द्वेष, प्रयत्न आदि गुणों से युक्त चेतन तत्त्व है, अतः उसकी स्वतन्त्र सत्ता है और स्वतन्त्र कर्ता होने के कारण अपने कार्यों के लिए पूर्णरूपेण उत्तरदायी है। वेदादि शास्त्रों में विधि-निषेधात्मक वाक्य जीवात्मा को लक्ष्य करके कहे गये हैं।

कर्मस्वातन्त्र्य के मौलिक अधिकार से वंचित होकर जीव यदि परमात्मा की अधीनता में रहकर सब काम उसकी इच्छानुसार करनेपर बाध्य होगा तो पाप-पुण्य के फल का भागी भी परमात्मा ही होगा, जीवात्मा नहीं। शासन के आदेश से फाँसी देनेवाले जल्लाद को हत्या का अपराधी नहीं माना जाता। **'केनापि दैवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि'** के सिद्धान्त को यदि स्वीकार कर लिया जाए तो कभी किसी को दण्ड न मिले। यदि यह मान लिया जाए कि अपराध करने या न करने में मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है, अपितु जैसा परमात्मा चाहता है वैसा उसे करना पड़ता है तो अपराधी न्यायालय में जाकर रामचरितमानस से—

राम कीन्ह चाहहिं सोई होई। करत अन्यथा अस नहिं कोई।
जोहि जस रघुपति करहिं जब। सो तस तेहि छन होइ।
जाको प्रभु दारुण दुख देहीं। ताकी मति पहले हर लेहीं॥

यह प्रमाण उद्धृत करके दण्ड पाने से बच जाया करें, किन्तु कोई इस तर्क को स्वीकार नहीं करेगा।

यदि जीव अपनी इच्छा से कर्म न करके, जैसा परमात्मा कराये वैसा ही किया करे तो संसार में कहीं पाप न रहे। परमेश्वर स्वयं **'शुद्धमपापविद्धम्'** (यजुः० ४०।८) शुद्ध एवं निष्पाप है। वह कभी नहीं चाहेगा कि उसकी प्रजा में कोई पाप करे। जीव स्वतन्त्र किन्तु अल्पज्ञ होने से ही पाप में प्रवृत्त होता है।

किन्तु शास्त्रों में अनेकत्र ऐसे वचन भी मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि समस्त सृष्टि का संचालन ईश्वर के हाथों में है, अतः जो होता है, उसी के आदेश से होता है। तद्यथा—

https://t.me/arshlibrary

ऋग्वेद (१०।१२१।३) में कहा है—**'य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः'** ईश्वर समस्त प्राणियों पर शासन करता है। **'सविता देवः प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे'** (यजुः० १।१) परमेश्वर हमें श्रेष्ठतम कर्मों में प्रवृत्त करे। माध्यन्दिनशाखीय शतपथब्राह्मण (१४।६।७) में लिखा है—**'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तर आत्मानमन्तरो यमयति'** जो आत्मा से भिन्न, आत्मा में रहता हुआ आत्मा का नियन्त्रण करता है। इसी प्रकार श्वेता० उप० (६।६) में लिखा है—**'धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम'**—धर्म की ओर लानेवाले, पाप से हटानेवाले, समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी, जगत् के आश्रय परमेश्वर को जानो। इस प्रकार के उद्धरणों से प्रतीत होता है कि समस्त प्राणियों का नियन्त्रण करते हुए परमेश्वर ही जीवों की धर्म में प्रवृत्ति और पाप से निवृत्ति करता है, किन्तु जीवात्मा के कर्मस्वातन्त्र्यविषयक आधारभूत सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में इन उद्धरणों पर विचार करनेपर पता लगता है कि इस प्रकार के वाक्य मात्र प्रेरणामूलक हैं। इस प्रकार की ईश्वरीय प्रेरणा से जीवात्मा की स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं आती। प्रेरयिता से प्रेरणा पाकर भी कर्ता की स्वतन्त्रता में व्याघात नहीं आता। प्रेरयिता स्वयं कुछ नहीं करता। कर्म के व्यापार एवं सम्पादन में करनेवाला स्वतन्त्र है। जीवात्मा परमात्मा के हाथों की कठपुतली नहीं। फलतः जीवात्मा की प्रवृत्तियों में परमेश्वर की आन्तर-प्रेरणा होने पर भी आत्मा का स्वेच्छापूर्वक कार्य करने का अधिकार अक्षुण्ण बना रहता है। परमात्मा कर्त्तव्याकर्त्तव्य की दृष्टि से जीवात्मा का मार्गदर्शन कर सकता है, उस मार्ग पर चलने के लिए उसे विवश नहीं कर सकता।

गीता के १८वें अध्याय के ६०वें श्लोक में आये **'कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्'** शब्दों को लेकर यह सिद्ध करने का यत्न किया जाता है कि इच्छा न होते हुए भी विवश होकर मनुष्य को कर्मविशेष में प्रवृत्त होना पड़ता है। ऐसा पूर्वापर प्रसंग को न देखकर किया जाता है। इसी श्लोक के पहले पद में **'स्वेन स्वभावजेन कर्मणा निबद्धः'** की बात कही गयी है और इसी अध्याय के श्लोक ४३ में क्षत्रिय होने के कारण अर्जुन का स्वाभवज कर्म **'युद्धे चापलायनम्'** शस्त्रप्रहार के समय युद्ध से न भागना बताया गया है। यहाँ श्रीकृष्ण ने अपने ढंग से अर्जुन को पलायन न करके युद्ध में प्रवृत्त होने की प्रेरणा की है। इस सन्दर्भ में गीता (३।३६) का निम्न श्लोक भी द्रष्टव्य है, जिसके आधार पर जीव के कर्म करने में स्वतन्त्र न होने की पुष्टि की जाती है—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

अर्थात् इच्छा न होनेपर भी मनुष्य बलात् धकेला हुआ पाप करता है, किन्तु यहाँ पर भी अर्जुन के **'केन प्रयुक्तः'** इस प्रश्न का उत्तर देते हुए **मया प्रयुक्तः** या **ईश्वरेण प्रयुक्तः** न कहकर रजोगुण से उत्पन्न काम, क्रोध आदि को मनुष्य के पापकर्म में प्रवृत्त होने का कारण बताया गया है। गीता की भावना उसी के **'विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु'** (१८।६३) शब्दों से स्पष्ट हो जाती है। श्रीकृष्ण को जो कहना था, कह दिया और अन्त में 'इसपर पूरी तरह विचार करके जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा कर' कहकर प्रकारान्तर से ईश्वर के मात्र प्रेरयिता होने तथा जीव के अपनी इच्छानुसार कार्य करने में स्वतन्त्र होने के सिद्धान्त पर मुहर लगा दी।

डॉ० राधाकृष्णन ने ठीक लिखा है—

At a time when people are doing devil's work under divine sanction and consoling themselves by attributing everything to God's will, the principle of Karma insisted on the primacy of the ethical and

https://t.me/arshlibrary

[जीव ईश्वरजन्य नहीं, वह कर्म करने में स्वतन्त्र है]

प्रश्न— जो परमेश्वर जीव को न बनाता और सामर्थ्य न देता, तो जीव कुछ भी न कर सकता। इसलिए परमेश्वर की प्रेरणा ही से जीव कर्म करता है।

उत्तर— जीव उत्पन्न कभी न हुआ, आनादि है। जैसा ईश्वर और जगत् का उपादान कारण नित्य हैं। और जीव का शरीर तथा इन्द्रियों के गोलक परमेश्वर के बनाये हुए हैं, परन्तु वे सब जीव के आधीन हैं। जो कोई मन-कर्म-वचन से पाप-पुण्य करता है, वहीं भोगता है ईश्वर नहीं। जैसे किसी ने पहाड़ से लोहा निकाला, उस लोहे को किसी व्यापारी ने लिया। उसकी दुकान से लोहार नें ले तलवार बनाई। उससे किसी सिपाही ने तलवार ले ली, फिर उससे किसी को मार डाला। अब यहाँ जैसे वह लोहे को उत्पन्न करने, उससे लेने, तलवार बनानेवाले और तलवार को पकड़कर राजा दण्ड नहीं देता, किन्तु जिसने तलवार से मारा वहीं दण्ड पाता है, इसी प्रकार शरीरादि की उत्पत्ति करनेवाला परमेश्वर उसके कर्मों का भोक्ता नहीं होता, किन्तु जीव को भुगानेवाला होता है।

---

identified **God with the rule of law. karma** is not a mechanical principle, but a spiritual necessity. God is its supervisor, 'Karmadhyaksha'———. To the Hindu (who believes that the world is divine and everything is God) ethical rules are meaningless. If everything is God, there is no excuse for our interfering with the sacred duties of the pickpocket and the **perjurer**."

—*Radhakrishnan : Hindu View of Life P. 50, 52*

अर्थात् जब लोग शैतान के काम कर रहे हों और ईश्वरीय इच्छा व व्यवस्था के नाम पर सब-कुछ ईश्वर के मत्थे मढ़ रहे हों तब कर्मसिद्धान्त परमात्मा को संवैधानिक शासक के रूप में प्रतिष्ठित कर नैतिकता पर बल देता है। कर्म कोई यान्त्रिक क्रिया नहीं, आध्यात्मिक आवश्यकता है। परमात्मा कर्मों का प्रेक्षक—कर्माध्यक्ष है। ..... हिन्दू के लिए (जो यह मानता है कि जगत् ब्रह्मरूप है और जो कुछ होता है वह ईश्वर के लिए होता है) नैतिक मूल्यों का कोई अर्थ नहीं और एक जेबकतरे या मिथ्या साक्षी देनेवाले के पवित्र कृत्यों में हस्तक्षेप करने का कोई कारण (अधिकार) नहीं है।

जीव की उत्पत्ति—जैसे पृथिव्यादि की उत्पत्ति-प्रलय के विषय में अनेक शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध हैं, वैसे जीवात्मा के ईश्वर द्वारा उत्पन्न किये जाने का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इसके विपरीत उसके उत्पाद-विनाश का प्रतिषेध कर उसका नित्यत्व सिद्ध करनेवाले प्रमाण यत्र-तत्र-सर्वत्र देखने में आते हैं। बृहद्०उप० में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं—**'अविनाशी वा अरे अयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा'** (४।५।१४)।

प्रत्येक शरीर में जीवात्मा नाम के एक तत्त्व का अनुभव किया जाता है। ब्रह्म प्रकृति-उपादान से जगत् की रचना करता है। जीवात्मा का प्रादुर्भाव भी कहीं-न-कहीं से होना चाहिए। इस आधारपर कहा जा सकता है कि जिस प्रकार ईश्वर हमारे हाथ-पैर, आँख-कान आदि बनाकर शरीर की रचना करता है, हो सकता है, उसी प्रकार किसी उपादान से जीवात्मा को भी बनाता हो। बादरायण कहते हैं—**'नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः'** (वे०द० २।३।१७)। नित्य होने से आत्मा की उत्पत्ति असम्भव है। जब उत्पत्ति असम्भव है तो उसके उत्पत्तिकर्त्ता का प्रश्न ही नहीं उठता। जगत् में जो कुछ परिणाम है, सब जड़ प्रकृति का है। जड़ का परिणाम जड़ ही हो सकता है, चेतन नहीं। प्राणियों को प्राप्त देह जड़ है, इसलिए प्राकृत तत्त्वों से उसकी रचना सम्भव है। जीवात्मा चेतन तत्त्व है, इसलिए देह की भाँति जीवात्मा प्रकृति का परिणाम नहीं हो सकता। वस्तुतः कोई चेतन तत्त्व न किसी का कार्य हो सकता है और न

https://t.me/arshlibrary

जो परमेश्वर कर्म कराता होता, तो कोई जीव पाप नहीं करता, क्योंकि परमेश्वर पवित्र और धार्मिक होन से किसी जीव को पाप करने में प्रेरणा नहीं करता। इसलिए जीव अपने काम करने में स्वतन्त्र है। जैसे जीव अपने कामों के करने में स्वतन्त्र है, वैसे ही परमेश्वर भी अपने कामों के करने में स्वतन्त्र है।

किसी का उपादानकारण। जीवात्मा को उत्पन्न न करनेपर भी परमात्मा उसका नियन्ता और अधिष्ठाता इसलिए कहाता है कि वह उसके कर्मफल का नियामक है और उसके भोगापवर्ग के लिए जगत् की रचना करता है।

जीवों के भोगापवर्ग की व्यवस्था करना ईश्वर का काम है, उन्हें उत्पन्न करना नहीं। जिनके भोगापवर्ग के लिए सृष्टि की रचना अपेक्षित है, यदि उन जीवों का अस्तित्व ही नहीं था तो सृष्टिरचना की आवश्यकता क्या थी ? पहले भोक्ता जीवों को उत्पन्न करना और फिर उनके भोगापवर्ग के लिए सृष्टिरचना करना कहाँ की बुद्धिमत्ता थी ? फिर, जीवों की उत्पत्ति कार्य है जो कारण के बिना सम्भव नहीं। जीवों की उत्पत्ति में कारण क्या होगा ? जीव के न होनेपर दो ही पदार्थ शेष रह जाते हैं—ईश्वर और प्रकृति। जड़ प्रकृति से चेतन तत्व जीव की उत्पत्ति असम्भव है। इसी प्रकार सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं नित्यमुक्त परमेश्वर से एकदेशी, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति एवं जन्म-मरण के बन्धन में पड़नेवाले जीव की उत्पत्ति सम्भव नहीं। दूसरे, कार्य से कारण पहले होता है। ईश्वर को कारण और जीव को उसका कार्य मानने पर दोनों का एक साथ होना नहीं बनता, परन्तु वेदादि शास्त्र दोनों को **'सयुजा सखाया'** मानते हैं। आचार्य शंकर ने अपने मुण्डकोपनिषद्भाष्य में लिखा है—**'सर्वदा युक्तौ समानाख्यानौ आत्मेश्वरौ'**। यदि दुर्जनतोषन्याय से जीव का परमेश्वर द्वारा उत्पन्न होना माना जाएगा तो उसका विनाश भी मानना पड़ेगा और उत्पाद-विनाश होने से उसका अनित्य होना मानना होगा, जिसका आदि होगा उसका अन्त अवश्य होगा। जो उत्पन्न होगा वह एक दिन मरेगा अवश्य। इसलिए जैसे परेश्वर द्वारा बनाये गये हमारे शरीर का अन्त होता है, उसी तरह उसके बनाये गये आत्मा का भी अन्त मानना होगा, परन्तु सभी शास्त्र एक स्वर से उसे अनादि-अनन्त कहते हैं। तद्यथा—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत॥
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ —गीता २।१८,२०

अर्थ—देह तो अन्तवाले हैं, किन्तु उनमें निवास करनेवाला देही नित्य एवं अविनाशी है। न यह कभी उत्पन्न होता है और न कभी मरता है। ऐसा भी नहीं कि यह (एक बार) होकर न रहे। यह तो अजन्मा, शाश्वत और पुरातन है। शरीर का वध हो जाए तो भी यह नहीं मरता।

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते। —छान्दोग्य० ६।११।३

अर्थ—शरीर के न रहनेपर भी वह बना रहता है। देह भस्म हो जाता है, जीव नहीं।

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ। —श्वेत० १।९

जड़ (प्रकृति) तथा चेतन (जीव)—एक शासक और दूसरा शासित—दोनों ही अजन्मा हैं।

न जायते म्रियते वा विपश्चित्। —कठ० २।१८ वह आत्मा न कभी जन्मता है और न कभी मरता है।

न वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः।

—बृहद्०उप० ४।३।१८

https://t.me/arshlibrary

न जीवस्योत्पत्तिप्रलयौ स्तः, शास्त्रफलसम्बन्धोपपत्तेः । शरीरानुविनाशिनि हि जीवे शरीरान्तरगतेष्टानिष्टप्राप्तिः । परिहारार्थौ विधिप्रतिषेधावनर्थकौ स्याताम्

—(ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २।३।१६)

जब वह जीवात्मा पुरुष-शरीर से युक्त होता है तो वह जन्मा हुआ कहा जाता है और जब वह शरीर से उत्क्रमण करता है तब मरा हुआ कहलाता है। इस प्रकार जीवात्मा में जन्म-मरण का व्यवहार देह के संयोग-वियोग के आधार पर होता है।

शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में लिखा है—"जीव के उत्पत्ति-विनाश नहीं होते। यदि शरीर के साथ जीव भी नष्ट हो जाए तो दूसरे शरीर में इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति का परिहार कैसे हो ? और शास्त्र में जो विधि-निषेधात्मक उपदेश हैं, वे व्यर्थ हो जाएँ। इसलिए यदि कहीं जीव की उत्पत्ति-विनाश का उल्लेख पाया जाए तो उसे शरीर की अपेक्षा से ही मानना चाहिए।"

जिस प्रकार भाव का अभाव या विनाश सम्भव नहीं, उसी प्रकार अभाव से भाव की उत्पत्ति सम्भव नहीं। यदि वर्त्तमान में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है तो उसका अनादि-अनन्त होना स्वतः सिद्ध है। यदि 'हम हैं' सत्य है तो 'हम थे' और 'हम होंगे' भी उतना ही सत्य है। इस संसार में ऐसा कोई नहीं है जो कभी इससे पहले यहाँ आया न हो और न यहाँ से जाने के बाद कभी लौटेगा। मोक्षप्राप्तिपर्यन्त उसका यहाँ आना-जाना निरन्तर बना रहता है।

बाइबल के अनुसार जीवात्मा परमेश्वर का बनाया हुआ है। परमेश्वर ने धरती की मिट्टी से एक पुतला बनाया और उसने उसमें अपनी रूह फूँक दी। इस प्रकार जीता-जागता मनुष्य बन गया—"And the Lord God formed man out of dust and breathed into his nostrils the breath of life, and man became a living soul."

—The Bible : Genesis, II, 7.

ईश्वर जन्म के समय प्रत्येक प्राणी के लिए एक नई आत्मा को उत्पन्न करता है—"The soul is not transmitted with the semen but is created afresh with each man."

—Bertrand Russell : History of Western Philosophy, P. 480

ईसाई प्रचारक सन्त थामस के अनुसार जीवात्मा अमर है, किन्तु नित्य नहीं है। नित्य वह है जिसकी सत्ता त्रिकालाबाधित हो। ईसाईमत में जीवात्मा उत्पन्न तो होता है, किन्तु मरता नहीं। उसका आदि है, पर अन्त नहीं। इस विषय में डेकार्टे पर भी ईसाईमत का आंशिक प्रभाव मालूम पड़ता है—"Descarte admitted three substances :—God, mind and matter. It is true that even for him God was, in a sense, more substancial than mind, since he had created them and could, if he so chose, annihilate them."

—Ibid, p. 594

इस प्रकार डेकार्टे ईश्वर, जीव और प्रकृति—इन तीनों की पृथक्-पृथक् सत्ता मानता है, परन्तु उसका मत है कि जीव व प्रकृति ईश्वर के बनाये हैं और, यदि वह चाहे तो, वह उन्हें नष्ट भी कर सकता है। इस प्रकार परमात्मा ही एकमात्र तत्त्व ठहरता है। जीव और प्रकृति उसकी कृति हैं और अस्तित्व के लिए परमात्मा की इच्छा पर आश्रित हैं। कुरान के अनुसार भी आदिम पुरुष आदम की उत्पत्ति भी बाइबल के आदिम पुरुष की भाँति ही हुई थी (कुरान, अलहिजरा, आयत २८-२९)। एक बार उत्पन्न होने के बाद जीव कभी मरता नहीं। मृत्यु के बाद न्याय के दिन तक कब्र में पड़ा रहता है—हवालात या under trials की

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

तरह। बाद में कर्मों के अनुसार फल भोगने के लिए अनन्तकाल तक स्वर्ग अथवा नरक में पड़ा रहता है। तर्कशास्त्र के अनुसार जिसका आदि है वह अनन्त नहीं हो सकता। ईसाईयत और इसलाम के अनुसार यदि शरीर के साथ उसकी आत्मा की उत्पत्ति मानी जाएगी तो शरीर के अन्त के साथ आत्मा का अन्त भी मानना होगा, परन्तु आत्मा को सभी अविनाशी मानते हैं। अविनाशी माननेपर उसे अनुत्पन्न भी मानना होगा। न एक किनारे की नदी होती है और न एक सिरे की रस्सी की कल्पना की जा सकती है। तुलना करें है—

Life is real, life is earnest,
And the grave is not its goal.
Dust thou art, to dust returnest,
Was not spoken of the soul.

उत्पन्न पदार्थ परिणामी होता है और प्रत्येक परिणामी संघात में अवस्थित रहता है। संघात में विकार होते रहते हैं, किन्तु जीवात्मा अविकारी है (**असङ्गोऽयं पुरुषः सां०**—१।१५) और अविकारी होने के कारण उसका अनुत्पन्न होना सिद्ध है। यदि जीवात्मा को उत्पन्न हुआ माना जाएगा तो उसकी उत्पत्ति के लिए कालविशेष की भी कल्पना अपेक्षित होगी। फिर उस कालविशेष में जीवों की उत्पत्ति के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्धारण करना होगा। बैठे-बिठाये परमेश्वर को क्या सूझी कि उसने असंख्य जीवों की सृष्टि कर डाली ? पूर्णरूप ब्रह्म को अपने भीतर कौन-सी कमी जान पड़ी जिसे पूरा करने के लिए उसे जीवों की सृष्टि करनी पड़ गयी ? जब जीव नहीं थे तो उनके भोगापवर्ग के लिए अपेक्षित सृष्टि भी नहीं थी। उस अवस्था में '**जन्माद्यस्य यतः**' (ब्रह्मसूत्र १।१।२) सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय के निमित्तकारण के रूप में कथित ब्रह्म के लक्षण का क्या अर्थ होगा ? किसके लिए ईक्षण द्वारा प्रकृति को नामरूपात्मक जगत् के रूप में परिणत करता होगा ? कर्माध्यक्ष के रूप में वह किनके कर्मों की व्यवस्था करता होगा ? किसपर दया करता होगा और किसका न्याय करता होगा ? वस्तुतः जीवों के न रहने की दशा में परमात्मा अन्यथासिद्ध हो जाएगा।

जीव अपनी स्वभावगत अल्पज्ञता आदि के कारण पाप-पुण्य में प्रवृत्त होता है। यदि परमेश्वर जीव को बनाता तो अपने जैसा बनाता (बनाना चाहिए था) जिससे संसार में सब कहीं '**सत्यं शिवं सुन्दरम्**' का साम्राज्य होता। न कहीं अज्ञान होता, न अज्ञान के कारण पाप और न उसके फलस्वरूप दुःख। बाइबल ने कह तो दिया—'God made man in his own image' अर्थात् परमेश्वर ने मनुष्य को अपने जैसा बनाया, किन्तु यदि यह सत्य होता तो संसार में किसी भी रूप में भ्रष्टाचार न दीख पड़ता। इन सब समस्याओं का समाधान परमात्मा से भिन्न जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानकर ही होता है।

जीव की उत्पत्ति के सन्दर्भ में प्रथम संस्करण में इतना विशेष लिखा है—

'**प्रश्न**—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु इन चारों के मिलने से चेतन भी उसमें होता है। जब वे पृथक्-पृथक् हो जाते हैं तब सब कला बिगड़ जाती है। फिर उसमें कुछ नहीं रहता। इससे जगत् का रचनेवाला कोई नहीं। आप-में-आप ही जगत् और जीव होता है।

उत्तर—आप भी इन चारों को मिलाके जीव और जीव के जितने गुण उनको देखला देवैं। सो कभी न देख पड़ेंगे, क्योंकि पहिले ही सब स्थूलभूतों में सब सूक्ष्मभूत मिले रहे हैं। फिर उनमें ज्ञानादिक गुण क्यों नहीं देख पड़ते ? इससे जीव पदार्थ इन भूतों से भिन्न ही है जिसके ये गुण हैं।'

https://t.me/arshlibrary

[जीव और ईश्वर का स्वरूप तथा गुण-कर्म-स्वभाव]

प्रश्न-जीव और ईश्वर का स्वरूप गुण-कर्म और स्वभाव कैसा है?

उत्तर- दोनों चेतनस्वरूप हैं। स्वभाव दोनों का पवित्र, अविनाशी और धार्मिकता आदि है, परन्तु परमेश्वर के सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति-प्रलय, सबको नियम में रखना, जीवों को पाप-पुण्यों के फल देना आदि धर्मयुक्त कर्म हैं। और जीव के सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन, शिल्पविद्या आदि अच्छे-बुरे कर्म हैं। ईश्वर के नित्यज्ञान, आनन्द, अनन्तबल आदि गुण हैं। और जीव के—

'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति' ॥

—न्यायसू० १।१।१०॥

'प्राणापाननिमेषोन्मेष जीवनमनोगतीन्द्रियान्तर्विकाराः
सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥ —वैशेषिकसूत्र० ३।२।४

'इच्छा' = पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा, 'द्वेष'= दुःखादि की अनिच्छा वैर, 'प्रयत्न'= पुरुषार्थ बल, 'सुख'= आनन्द, 'दुःख'= विलाप, अप्रसन्नता, 'ज्ञान'= विवेक पहिचानना ये तुल्य हैं, परन्तु वैशेषिक में 'प्राण'= प्राणवायु को बाहर निकालना, 'अपान'= प्राण को ओबाहर से भीतर को लेना, 'निमेष' = आँख को मींचना, 'उन्मेष'= आँख को खोलना, 'जीवन'= प्राण का धारण करना 'मन'= निश्चय, स्मरण और अहंकार करना, 'गति'= चलना, 'इन्द्रिय'= सब इन्द्रियों का चलाना, 'अन्तर्विकार'= भिन्न-भिन्न क्षुधा-तृषा हर्ष-शोकादियुक्त होना ये विशेष हैं। ये जीवात्मा के गुण परमात्मा के गुणों से भिन्न हैं। इन्हीं से आत्मा की प्रतीति करनी, क्योंकि वह स्थूल नहीं है॥

महर्षि वेदव्यास ने स्वरचित ब्रह्मसूत्र में लिखा है—

'व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत्' —(३।३।५४)

प्राणी का शरीर पञ्चभूतों का संघात है। भूतों का मूल उपादानतत्व सर्वथा जड़ है। भूतों का विश्लेषण करनेपर किसी भी मूल तत्त्व में चेतना की प्रतीति नहीं होती। जब उनमें से प्रत्येक में चैतन्य का अभाव है तो उनके संघात में चैतन्य कहाँ से आ जाएगा ? चैतन्य शरीर से भिन्न चेतन सत्ता (जीवात्मा) के कारण है। जब तक शरीर में जीवात्मा रहता है, तभी तक शरीर में क्रिया होती है। जीवात्मा के शरीर से निकलते ही, शरीर के ज्यों-के-त्यों रहनेपर भी, उसके अंग-प्रत्यंग में होनेवाली समस्त क्रियाओं का लोप हो जाता है। यदि जीवचेतन के बिना क्रिया सम्भव होती तो मृतदेह में भी वह ज्यों-की-त्यों बनी रहती। जिसके संयोग से चेतनता और वियोग से जड़ता आती है, वही जीवात्मा है, क्योंकि जिसके होने से जो हो, और न रहने से न हो, वे गुण उसी के होते हैं। जिस प्रकार अचेतन तत्त्वों से बने शरीर में जीवात्मा के बिना किसी प्रकार की क्रिया नहीं होती, उसी प्रकार परमात्मा के बिना जड़ प्रकृति से बने जगत् में उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय किसी भी प्रकार का कार्य नहीं हो सकता।

न्याय और वैशेषिक से उद्धृत जीव के लिङ्ग विषयक सूत्रों की व्याख्या तृतीय समुल्लास में की जा चुकी है। इन सूत्रों में जो कुछ कहा गया है वह जीवात्मा का स्वरूप-लक्षण नहीं है। ये लिंगमात्र हैं अर्थात् इनके द्वारा शरीर में अवस्थित जीवात्मा की पहचान होती है। इनके अभाव में प्राणी को मृत समझ लिया जाता है अर्थात् जब ये नहीं दिखाई पड़ते तो 'शरीर से जीव निकल गया' ऐसा निश्चय हो जाता है। प्रथम संस्करण में न्यायसूत्र की व्याख्या में इतना और लिखा है—"इच्छा—किसी प्रकार की चाहना। जिसके गुणों को जानता है उसकी प्राप्ति की चाहना करता है। जिसमें दोषों को जानता है उसमें द्वेष अर्थात् चाहना

https://t.me/arshlibrary

जब तक आत्मा देह में होता है, तभी तक ये गुण प्रकाशित रहते हैं। और जब शरीर छोड़ चला जाता है, तब ये गुण शरीर में नहीं रहते। जिसके होने से जो हों और न होने से न हों, वे गुण उसी के होते हैं। जैसे दीप और सूर्यादि के न होने से प्रकाशादि का न होना और होने से होना है, वैसे ही जीव और परमात्मा का विज्ञान गुण द्वारा होता है।

[ईश्वर के त्रिकालदर्शित्व की मीमांसा]

प्रश्न— परमेश्वर त्रिकालदर्शी है, इससे भविष्यत् की बातें जाता है। वह जैसा निश्चय करेगा, जीव वैसा ही करेगा। इससे जीब स्वतन्त्र नहीं। और जीव को ईश्वर दण्ड भी नहीं दे सकता, क्योंकि जैसा ईश्वर ने अपने ज्ञान से निश्चित किया है, वैसा ही जीव करता है।

उत्तर— ईश्वर को 'त्रिकालदर्शी' कहना मूर्खता का काम है, क्योंकि जो होकर न रहे वह **'भूतकाल'**, और न होके होवे वह **'भविष्यत्काल'** कहाता है। क्या परमेश्वर को कोई ज्ञान होके नहीं रहता तथा न होके होता है ? इसलिए परमेश्वर का ज्ञान सदा एकरस अखण्डित वर्त्तमान रहता है। भूत-भविष्ययत् जीवों के लिए है। हाँ, जीवों के कर्म की अपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर में है, स्वतः नहीं। जैसा स्वतन्त्रता से जीव करता है, वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है। और जैसा ईश्वर जानता है, वैसा जीव करता है, अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान के ज्ञान और फल देने में ईश्वर स्वतन्त्र और जीव किञ्चित् वर्त्तमान और कर्म करने में स्वतन्त्र है। ईश्वर का अनादि ज्ञान होने से जैसा कर्म का ज्ञान है वैसा ही दणड देने का भी ज्ञान आनादि है। दोनों ज्ञान उसके सत्य हैं। क्या कर्मज्ञान सच्चा और दण्डज्ञान मिथ्या कभी हो सकता है ? इसलिए इसमें कोई भी दोष नहीं आता।

नहीं करता। प्रयत्न नाना प्रकार की शिल्पविद्या से पदार्थों का रचना, शरीर तथा भार का उठाना, इसका नाम प्रयत्न है। सुख नाम अनुकूल का चाहना और जानना (**अनुकूलवेदनीयं सुखम्**) दुःख प्रतिकूल का जानना और छोड़ने की इच्छा करना (**प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्**)। ज्ञान जैसा जो पदार्थ है उसका तत्त्वपर्यन्त यथावत् विवेक करना। इसका नाम जीव है। ये गुण पृथिव्यादिक जड़ों के नहीं, किन्तु जीव के ही हैं।" इसी प्रकरण के अन्तर्गत दो अन्य उद्धरण द्रष्टव्य हैं—

१. "(मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) ये चार मिलके अन्तःकरण कहाता है। इससे जीव भीतर मनोराज्य करता है। ये चारों एक ही हैं, परन्तु व्यापारभेद से चार भिन्न-भिन्न नाम हैं।" पृ० २३१

२. "४ अन्तःकरण, १० इन्द्रियाँ, ५ मुख्य प्राण, ५ उपप्राण—ये २४ तत्व मिलके लिंगशरीर कहाता हैं। कोई उपप्राण को नहीं मानता, उसके मत में १६ होते हैं। और कोई पाँच सूक्ष्मभूत जो परमाणुरूप हैं, और पूर्वोक्त चार भेद अन्तःकरण के इन नव तत्वों का लिंगशरीर कहता है।"

ईश्वर की त्रिकालज्ञता—काल सूर्य के भ्रमण का फलमात्र है। यदि सूर्य न हो तो भूत-भविष्यत् बिल्कुल न हों, केवल वर्तमान ही रहे, क्योंकि परमात्मा एकरस है, अतः इसका ज्ञान और क्रिया नित्य हैं। परिणामतः उसका प्रत्येक काम अनवच्छिन्नरूप से होता रहता है। 'जैसा स्वतन्त्रता से जीव करता है वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है और जैसा ईश्वर जानता है वैसा जीव करता है' का तात्पर्य है कि जीव का कर्म करना, और ईश्वर का उसको जानना, एक साथ होता है, आगे-पीछे नहीं, अर्थात् न तो यह कि जीव पूर्वकाल में कर्म करे और ईश्वर उसे उत्तरकाल में जाने और न यह कि ईश्वर पूर्वकाल में जान लेता है और फिर जीव उत्तरकाल में कर्म करता है; तथा जब जीव ने कर्म नहीं किया तब उस कर्म की

https://t.me/arshlibrary

[जीव और ईश्वर का सम्बन्ध]

प्रश्न—जीव शरीर में भिन्न विभु है, वा परिच्छिन्न ?

उत्तर—परिच्छिन्न । जो विभु होता तो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, मरण-जन्म, संयोग-वियोग, जाना-आना कभी नहीं हो सकता । इसलिए जीव का स्वरूप अल्पज्ञ अल्प अर्थात् सूक्ष्म है[1] । और परमेश्वर अतीव

सत्ता नहीं है और स्वतन्त्र होने से जीव कर्म करे या न करे, इस कारण कर्म की सत्ता भविष्यत् काल में भी नियत नहीं है, तब वर्तमान और भविष्यत् दोनों कालों में अनियत कर्मसत्ता को यदि ईश्वर नियत जाने वा माने तो ईश्वर पर अन्यथाज्ञानी होने का दोष आता है और यह कहना कि भविष्यत् कर्मों के न जानने से ईश्वर में अज्ञान या अल्पज्ञा आती है, ठीक नहीं है, क्योंकि जो कर्म न तो हुए और न भविष्यत् में नियत हैं, वे यथार्थ में अवस्तु हैं । तब अवस्तु को अवस्तु ही जानना ज्ञान है और अवस्तु को वस्तु या वस्तु को अवस्तु जानना अविद्या है ।

वस्तुतः भूत, वर्तमान और भविष्यत्—काल के ये तीन विभाग—केवल सापेक्षिक सत्ताएँ (Relative terms) हैं । मुझे अपने घर की छत पर चढ़कर जितनी दूर का प्रदेश दिखाई देता है, वायुयान में बैठे व्यक्ति को उसकी अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत प्रदेश दिखाई देता है और उपग्रह में बैठकर अन्तरिक्ष की यात्रा कर रहे व्यक्ति को सारी पृथिवी एक साथ दीख जाती है । जैसे समीप और दूर की परिभाषाएँ सापेक्ष हैं, वैसे ही भूत और भविष्य की परिभाषाएँ भी सापेक्ष हैं । देश (Space) की दृष्टि से जिसे समीप और दूर कहते हैं, काल (time) की दृष्टि से उसी को भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् कहते हैं ।

दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण करनेपर काल के उक्त तीनों खण्डों का अस्तित्व सिद्ध करना कठिन हो जाएगा । जो वर्तमान बीत चुका है, वह भूत है । इसी प्रकार जो वर्तमान आनेवाला है वह भविष्यत् है । इस तरह भूत और भविष्यत् दोनों वर्तमान पर आधारित हैं । वर्तमान की सत्ता कहाँ है ? वर्तमान का कुछ अंश भूत है और कुछ अंश भविष्यत् । हमारे कहते-कहते वर्तमान का क्षण फिसलकर भूत और भविष्यत् की कोटि में पहुँच जाता है, अर्थात् वर्तमान, वर्तमान नहीं रहता । इसलिए दार्शनिकों का कहना है कि वर्तमान की अपनी सत्ता नहीं है—बस भूत और भविष्यत् के बीच की रेखा वर्तमान है और यह विभाजक रेखा इतनी क्षीण है कि इसे कोई पकड़ नहीं सकता । जब वर्तमान की यह दशा है तो उसपर आधारित भूत और भविष्यत् कहाँ टिक पाएँगे ? इसलिए कहना चाहिए कि काल अखण्ड और एकरस है । भूत और भविष्यत् की परिभाषाएँ केवल अल्पज्ञ जीव के व्यवहार के लिए हैं । स्वतः परमात्मा के लिए त्रिकाल नहीं हैं—केवल एक ही महाकाल है और वह उसके लिए वर्तमान ही है ।

जीवात्मा परिच्छिन्न (अणुपरिमाण) है—परिमाण तीन प्रकार के माने जाते हैं—विभु, मध्यम और अणु । जो सर्वत्र व्याप्त हो वह विभु, जो शरीरमात्र में व्याप्त हो वह मध्यमपरिमाण तथा जो नियत स्थान में वर्तमान हो वह अणुपरिमाण कहाता है ।

जीवात्मपुरुष परिच्छिन्न, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति एवं अणुपरिमाण है । मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट कहा है—**'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः** (मु ० ३।१।६), अर्थात् यह 'अणु' आत्मा शुद्ध अन्तःकरण द्वारा जानने योग्य है । आत्मा के माप का उल्लेख मिलने से भी उसके अणु होने की पुष्टि होती है । जीव के अणुत्व का उल्लेख करते हुए अथर्ववेद में कहा है—

---

१. द्र०—'प्रज्ञानं ब्रह्म तत्त्वमसि अयमात्मान्तर्याम्यमृतः । अहं ब्रह्मास्मीति महावाक्यैः प्रतिपादितमर्थम्।' हयग्रीवोपनिषद् ॥१॥

https://t.me/arshlibrary

सूक्ष्मात्सूक्ष्मतर अनन्त, सर्वज्ञ और सर्वव्यापकस्वरूप है। इसीलिए जीव और परमेश्वर का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है।

प्रश्न— जिस जगह में एक वस्तु होती है, उस जगह में दूसरी वस्तु नहीं रह सकती। इसलिए जीव और ईश्वर का संयोग-सम्बन्ध हो सकता है, व्याप्य-व्यापक नहीं।

उत्तर— यह नियम समान आकारवाले पादर्थों में घट सकता है, असमानाकृति में नहीं। जैसे लोहा स्थूल और अग्नि सूक्ष्म होता है, इस कारण से लोहे में विद्युत् अग्नि व्यापक होकर एक ही अवकाश में दोनों रहते हैं। वैसे जीव परमेश्वर से स्थूल और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म होने से परमेश्वर व्यापक और जीव व्याप्य है। जैसे यह व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध जीव ईश्वर का है, वैसे ही सेव्य-सेवक, आधाराधेय, स्वामी-भृत्य, राजा-प्रजा और पिता-पुत्र आदि भी सम्बन्ध है।

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया॥ —अथर्व० १०।८।२५

अर्थात्—जीवात्मा बाल से भी सूक्ष्म है और एक (प्रकृति) है जो दीखती नहीं। इन दोनों में व्याप्त जो देवता है, वही मुझे प्रिय है। इस मन्त्र में कथित जीव को स्पष्ट करते हुए श्वेता० उप० में कहा है—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥ —श्वेत० ५।६

अर्थात्—बाल के अग्रभाग के सौ भाग किये जाएँ, फिर उनमें से एक भाग के सौ भाग किये जाएँ तो उनमें से एक भाग के बराबर जीव का परिमाण है और वह मुक्ति के लिए समर्थ है। उपनिषदों में अनेकत्र (कठ० ४।१२, १३; ६।१७; श्वेता० ५।८) जीवात्मा को अंगूठे के बराबर (अंगुष्ठमात्रः पुरुषः) बताया है। अंगूठे के बराबर कहने का यह अभिप्राय नहीं कि जीवात्मा अंगूठे के परिमाणवाला है। शरीर में जिस स्थान पर जीवात्मा रहता है उसकी रचना अंगूठे जैसी होने के कारण तात्स्थ्योपाधि से ऐसा कह दिया है; तथापि किसी सम्भावित भ्रान्ति का निवारण कर देने के उद्देश्य से **'अंगुष्ठमात्र'** के साथ ही **'आराग्रमात्र'** (सुई की नोक के बराबर) कह दिया। वस्तुतः ये वाक्य जीवात्मा के किसी नियत परिमाण का निर्देश न करके उसके अत्यन्त सूक्ष्म होने का बोध कराने के लिए कहे गये हैं।

आत्मा के अणुपरिमाण होने से यह स्वतः सिद्ध है कि वह शरीर में किसी नियत स्थान पर रहता है। वह कौन-सा स्थान है? जिन साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने आत्मा का प्रत्यक्ष किया है, उन्होंने आत्मा, हृदयदेश में स्थित बताया है। जीवात्मा का यह स्थान शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर निश्चित है। प्रश्नोपनिषद् में कहा है—**'हृदि ह्येष आत्मा'**। यह आत्मा निश्चितरूप से हृदय में निवास करता है। सायणाचार्य ने अपने अथर्ववेदभाष्य (१६।६।५) में लिखा है **'हृदयं हि आत्मनिवासस्थानम्'**। इसी प्रकार उपनिषदों में अनेकत्र जीवात्मा के अणु होने और हृदयदेश में निवास करने का वर्णन मिलता है—

स वा एष आत्मा हृदि। —छां० ८।३।३

कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः

—बृहद्० ४।३।७

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि।

—अथर्ववेद १६।३।५

https://t.me/arshlibrary

इन्द्रियों के गोलक स्थूलशरीर का अंग हैं, जबकि उनकी शक्ति का स्रोत हृदयस्थित आत्मा में निहित है, किन्तु जिस हृदय में आत्मा का वास है, वह रक्त का आक्षेप-प्रक्षेप करनेवाला हृदय नहीं, अपितु वह मस्तिष्कगत प्रदेश है, जिसका वर्णन अथर्ववेद (१०।२।३१-३३) में किया गया है। सुश्रुत में लिखा है—

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम् ।
तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनम् ॥ —शरीर० ४।३४

अर्थात्—'हे सुश्रुत ! देहियों का चेतनास्थान हृदय कहा जाता है। वह हृदय जब तमस् से अभिभूत हो जाता है तो देही निद्रावस्था में प्रवेश करता है।'

रक्त का प्रक्षेप करनेवाला हृदय तो जाग्रत् और सुषुप्ति दोनों अवस्थाओं में अनवरत अपना काम करता रहता है, अतः उसके तमस् से अभिभूत होकर निद्रा का प्रयोजन बनने का प्रश्न ही नहीं है। निश्चय ही इस हृदय का स्थान मस्तिष्क में है। जिस प्रकार सामान्य हृदय तीन कार्य करता है—अर्थात् **'ह्र'** से **हरति=शरीर** से अशुद्ध रक्त को लेता, **'द'** से **ददाति=फेफड़ों** द्वारा शुद्ध करके शरीर को देता और इस उद्देश्य से हर समय **'य'** से **याति**=गति करता रहता है, उसी प्रकार मस्तिष्क ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त करता, तदनुसार कार्य करने के लिए कर्मेन्द्रियों को आदेश देता और इस उद्देश्य से सदा गति करता रहता है। ज्ञानतन्तुओं का केन्द्र मस्तिष्क में होने से वहीं आत्मा का वास है जहाँ से वह सम्पूर्ण शरीर का नियन्त्रण करता है। जीवात्मा का शरीर से निकल जाना मृत्यु है। चिकित्साशास्त्र के अनुसार मनुष्य की मृत्यु रक्तक्षेपक हृदय की गति बन्द हो जाने के साथ न होकर मस्तिष्क के काम बन्द करनेपर होती है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि आत्मा का आवास मस्तिष्कगत हृदय अथवा ब्रह्मगुहा में है।

महाभारत (वनपर्व १८१।२२) के अनुसार—

स आत्मा पुरुषव्याघ्र भ्रुवोरन्तरमाश्रितः । बुद्धिं द्रव्येषु सृजति विविधेषु परावराम् ॥

अर्थात्—हे पुरुषसिंह ! वह आत्मा दोनों भौंहों के बीच स्थित होकर उत्तम, अधम बुद्धि को भिन्न-भिन्न द्रव्यों की ओर प्रेरित करता है।

सांख्य के प्राचीन सन्दर्भ और जीवसम्बन्धी अन्य विवेचनाओं के आधार पर सांख्य के मूलभूत आचार्यों का यही मत बनता है कि जीव परिच्छिन्न है। पातञ्जल योगदर्शन (१।३६) के व्यासभाष्य में उद्धृत पञ्चशिख के मतानुसार भी जीवात्मा अणुपरिमाण है और सर्वाधिक सूक्ष्म है—**'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्याऽस्मीत्येवं तावत्सम्प्रजानीते'**। न्यायदर्शन में, यद्यपि स्पष्टरूप से आत्मा के अणुपरिमाण होने का उल्लेख नहीं मिलता, तथापि वहाँ प्रकारान्तर से आत्मा के एकदेशी होने की पुष्टि होती है। न्यायदर्शन में एक समय में एक से अधिक इन्द्रिय से काम लेना और इस प्रकार एक से अधिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करना मन के सामर्थ्य से बाहर है। जब आत्मा किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो वह मन से संयुक्त होता है और मन को ज्ञेय विषय से सम्बद्ध इन्द्रिय से जोड़ता है। इस ज्ञानप्रक्रिया की संगति जीवात्मा को परिच्छिन्न मानकर ही लग सकती है। यदि आत्मा समूचे शरीर में व्यापक हो तो मन आदि के साथ उसका सम्पर्क सदा बना रहे और ज्ञानप्रक्रिया समाप्त होकर समस्त ज्ञान एक साथ सम्भव हों, परन्तु यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकता। वेदान्तानुयायी सम्प्रदाय एवं शंकर तथा शांकर मत के विद्वान् जीवात्मा को अपनी स्थिति में अथवा स्वरूप से अणु मानते हैं, किन्तु उनके सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

वस्तुतः ब्रह्म से अतिरिक्त तत्व न होकर, उसका अपना रूप है। अतएव इस दृष्टि से वे उसे विभु मानते हैं।

मध्यम परिमाण होनेपर प्रत्येक शरीर के साथ जीव का परिमाण बदलेगा। इस प्रकार जीव का अपना कोई परिमाण न रहेगा जिस शरीर में जाएगा उसी के बराबर उसका परिमाण हो जाएगा। जैन दार्शनिकों ने जीव को मध्यमपरिमाण स्वीकार किया है, अर्थात् शरीर के अनुरूप जीव का परिमाण माना है। एतदनुसार हाथी के शरीर में जीव हाथी जितना विशाल और चींटी के शरीर में चींटी जितना सूक्ष्म होता है। छोटे-बड़े शरीरों के अनुरूप आत्मा को मध्यमपरिमाण माननेपर उसमें संकोच-विकास होने से वह अनित्य हो जाएगा। यदि जीव का परिमाण शरीर के अनुसार होगा तो मनुष्य के शरीर में ही जन्म के समय छोटा होगा और जैसे-जैसे शरीर का विकास होता जाएगा, वैसे-वैसे शरीर में जीवात्मा का फैलाव होता जाएगा। बच्चे का जीव छोटा और युवा का बड़ा होगा, कृशकाय का छोटा और स्थूलकाय पहलवान का जीव बड़ा होगा। इससे जीव सावयव हो जाएगा, क्योंकि निरवयव पदार्थ में घटना-बढ़ना नहीं हो सकता। सावयव होनेपर अवयवों के संयोग-वियोग के कारण जीव विकारी हो जाएगा। जो पदार्थ विकारी अथवा परिवर्तनशील होगा, वह नाशवान् होगा अतः जीव को मध्यम-परिमाण मानने पर उसे नश्वर मानना होगा। मैं छोटे कमरे में भी रह सकता हूँ और बड़े में भी। हाँ, यह आवश्यक है कि वह कमरा मेरे शरीर से बड़ा और मेरा शरीर कमरे से छोटा हो। अणुपरिमाण होने से जीव चींटी और हाथी दोनों के शरीर में रह सकता है। ऐसा न मानकर जीव को शरीरपरिमाणी माननेपर हाथी का जीव चींटी के शरीर में कैसे समाएगा और चींटी का जीव हाथी के शरीर में कैसे कार्य करेगा ? जीव को मध्यमपरिमाण मानने पर पुनर्जन्म की व्यवस्था न हो सकेगी।

जीवात्मा के विभु होने की स्थिति में 'कौन शरीर किस आत्मा का है' यह निश्चय कैसे हो सकेगा, क्योंकि सब विभु सब शरीरों में वर्तमान रहेंगे। परिणामतः कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि की सारी व्यवस्था चौपट हो जाएगी। जीवात्मा को विभु अर्थात् सर्वव्यापक माननेपर जीवात्मा के शास्त्र में वर्णित उत्क्रान्ति, गति, आगति आदि धर्मों का सामंजस्य न हो सकेगा। **'पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः'** (न्याय० १।१।१६)—होकर समस्त जीवात्मा का एक देह को छोड़कर देहान्तर में जाना सिद्ध है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है—

'तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः।'

—बृहद्० ४।४।२

अर्थात्—अपने उस चेतनस्वरूप के साथ यह आत्मा चक्षु से, मूर्धा से और शरीर के अन्य भागों से निकल जाता है। मुण्डक० (१।२।११) के अनुसार **'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति'**—आत्मज्ञानी पुरुष निर्दोष होकर सूर्यद्वार से चले जाते हैं। कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् में भी जीवात्मा की गति का वर्णन उपलब्ध है—'स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति'—कौ०ब्रा०उ० ३।४—अर्थात् सूक्ष्मशरीर में परिवेष्टित जीवात्मा जब इस शरीर से निकलता है तो सब करणों के साथ ही निकलता है। अथर्ववेद (१६।६८।१) का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने **'अव्यसः'** शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है—**'अव्यसः=अव्यापकस्य परिच्छिन्नस्य जीवात्मनः'**—अव्यापक परिच्छिन्न जीवात्मा का। इस प्रकार उत्क्रान्ति, गति और आगति के प्रमाणों से आत्मा का परिच्छिन्न अथवा अणु-परिमाण होना सिद्ध है।

गति का नियम है कि कोई वस्तु जहाँ वह है वहाँ से जहाँ वह नहीं है वहाँ को गति कर सकती है। गति-विधान का यह नियम एकदेशी (परिच्छिन्न) वस्तु में ही घट सकता है, सर्वव्यापक (विभु) में

https://t.me/arshlibrary

नहीं। जब पक्षाघात हो जाता है तो तन्तुसम्बन्ध में विकार आ जाने से प्रभावित क्षेत्र में काँटा चुभना अनुभव नहीं होता। यदि आत्मा विभु होता तो पक्षाघात होने का कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए था। जीवात्मा के विभु होने का अर्थ होगा कि जीवात्मा आकाश की तरह सर्वत्र ओत-प्रोत है। तब एक ही आत्मा सर्वत्र वर्तमान होने से सब शरीरों में वर्तमान होगा और सब जीवों के सुख-दुःख और समस्त क्रियाओं में समानता होगी। उस अवस्था में जन्म-मरण, संयोग-वियोग कुछ भी न होगा, परन्तु यह सब प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। ये सब युक्तियाँ और प्रमाण आत्मा के अणु-परिमाण होन को सिद्ध करते हैं।

इस परिच्छिन्न जीव की सब शक्तियाँ शरीर में स्थित प्राण आदि के साथ संयुक्त होकर कार्य करती हैं। एकदेश में स्थित आत्मा बुद्धि आदि करणों द्वारा बाह्य अर्थों का ग्रहण करता है। शरीर की रचना इस प्रक्रिया में पूर्ण सहायक है। सारे शरीर में ज्ञानवहा नाड़ियों का जाल सूक्ष्मरूप में व्याप्त है, जिसका सम्बन्ध करणों के केन्द्र के साथ जुड़ा रहता है। यह केन्द्र आत्मा के निवासस्थान मस्तिष्कगत हृदयदेश में है। इन साधनों के द्वारा एकदेशस्थ आत्मा देहव्यापी अनुभव प्राप्त कर लेता है; दीपक की भाँति अपनी शक्ति से समस्त शक्ति का नियमन करता है। जिस प्रकार शरीर के अंग में सम्पृक्त चन्दनबिन्दु ज्ञानवहा नाड़ियों के समस्त शरीर में व्याप्त होने के कारण समस्त देह में नवीन चेतना, शैत्य तथा आह्लाद उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार देह के एक देश में विद्यमान आत्मा सर्वाङ्ग में संवेदना का ग्रहण करता है। शंकर इस दृष्टान्त का प्रत्याख्यान यह कहकर करते हैं कि काँटा भी तो, जिसके ऊपर कोई व्यक्ति चलता है, सारे शरीर की संवेदन-शक्ति के साथ सम्बद्ध है। फिर भी दुःख केवल पैर के तलवे में ही अनुभव होता है, सारे शरीर में नहीं। ऐसा कहते हुए शंकर यह भूल जाते हैं कि पैर केवल काँटा चुभने का स्थान है। दर्द की अनुभूति का स्थान पैर नहीं, हृदयदेश है जहाँ स्वयं आत्मा बैठा है। शरीर के समस्त अवयवों तथा इन्द्रियों की भाँति पैर जड़ है। जड़ को दर्द की अनुभूति कैसे सम्भव है? इसलिए, जैसे वायु के सहयोग से मनुष्य तीव्र गन्धवाले दूरस्थ पदार्थ से प्राप्त गन्ध का अनुभव करता है, वैसे ही हृदयदेश में बैठा आत्मा अपने साधनों द्वारा पैर में लगे काँटे की अनुभूति करता है।

जैसे एक स्थान पर रक्खे दीपक की शिखा बहुत छोटी होते हुए भी अपने प्रकाश से अनेक पदार्थों को आलोकित करती है अथवा जैसे **एकत्र** स्थित सूर्य अपनी रश्मियों के द्वारा संसार को आलोकित करता है, उसी प्रकार देह में **एकत्र** स्थित अणुपरिमाण आत्मा अपने विभिन्न करणों=साधनों के द्वारा समस्त देह को सचेत एवं सक्रिय बनाये रखता और शरीर में व्याप्त सुख-दुःख का अनुभव करता है।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ —गीता १३।३३

लोक में जैसे एकत्र स्थित राजा सचिव आदि अपने सहायकों के द्वारा अपने विस्तृत राज्य का संचालन करता है और सब प्रकार की जानकारी रखते हुए उसपर शासन करता है, वैसे ही हृदय में स्थित जीवात्मा समूचे देह की व्यवस्था करता है। इस प्रकार समझने पर जीवात्मा को अणु-परिमाण मानने में कोई बाधा नहीं आती।

प्रज्ञानं ब्रह्म—जैसे ब्रह्म आनन्द का आश्रय न होकर आनन्दस्वरूप है, वैसे ही वह ज्ञान—चेतना का आश्रय न होकर ज्ञानस्वरूप है, अर्थात् चैतन्यस्वरूपता ही ब्रह्म है। इससे पहले (ऐत० ३।१) हृदय, मन, मेधा, स्मृति आदि की गणना करके कहा गया था—**'सर्वाणि एव एतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति'** अर्थात् ये सब प्रज्ञान, चेतना या आत्मा (Consciousness) के ही नाम या स्वरूप हैं। अब परमात्मा के लिए

https://t.me/arshlibrary

[ये वाक्य जीव ब्रह्म की एकता के बोधक नहीं]

प्रश्न- जो पृथक् -प्रथक् हैं, तो-

प्रज्ञानं ब्रह्म ॥१॥ —ऐत० उप० ३।५।३ **अहं ब्रह्मास्मि ॥२॥** —बृहदा० १।४।१०

तत्त्वमसि ॥३॥ —छां ६।८।७ **अयमात्मा ब्रह्म ॥४॥** —माण्डू० २

वेदों के इन महावाक्यों[1] का अर्थ क्या है ?

उत्तर—ये वेदवाक्य ही नहीं हैं, किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों के वचन हैं। और इनका नाम 'महावाक्य' कहीं शत्यशास्त्रों में नहीं लिखा, अर्थात् (अहम्) मैं (ब्रह्म) अर्थात् ब्रह्मस्थ (अस्मि) हूँ। यहाँ तात्स्थ्योपाधि है। जैसे— मञ्चाः क्रोशन्ति—मचान पुकारते हैं। मचान जड़ है, उनमें पुकारने का सामर्थ्य नहीं, इसलिए मञ्चस्थ मनुष्य पुकारते हैं[2] इसी प्रकार यहाँ भी जानना।

कोई कहे कि 'ब्रह्मस्थ सब पदार्थ हैं, पुनः जीव को ब्रह्मस्थ कहने में क्या विशेष है' इसका उत्तर यह है कि सब पदार्थ ब्रह्मस्थ हैं, परन्तु जैसा साधर्म्य-युक्त निकटस्थ जीव है, वैसा अन्य नहीं और जीव को ब्रह्म का ज्ञान और मुक्ति में वह ब्रह्म के साक्षात्सम्बन्ध में रहता है, इसलिए जीव का ब्रह्म के साथ 'तात्स्थ्य वा तत्सहचरितोपाधि' अर्थात् ब्रह्म का सहचारी जीव है। इससे जीव और ब्रह्म एक नहीं जैसे कोई किसी से कहे कि मैं और यह एक हैं, अर्थात् अविरोधी हैं, वैसे जो जीव समाधिस्थ हो परमेश्वर में प्रेमबद्ध होकर निमग्न होता है, वह कह सकता है कि मैं और ब्रह्म एक अर्थात् अविरोधी एक अवकाशस्थ हैं। जो जीव परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाग के अनुकूल अपने गुण-कर्म-स्वभाव करता है, वही साधर्म्य से ब्रह्म के साथ एकता कह सकता है ॥२॥

कहा **'प्रज्ञानं ब्रह्म'**। उपनिषत्कार ने आत्मा तथा परमात्मा दोनों को प्रज्ञान का नाम दिया है। **'प्रज्ञानं ब्रह्म'**, **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै० २।१), **'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'** (श्वेता० ६।११) इत्यादि सन्दर्भ ब्रह्म के ज्ञानस्वरूप होने को प्रमाणित करते है। जहाँ अन्य की अपेक्षा से उसके ज्ञान का वर्णन है, उसे अन्यापेक्ष होने का कारण औपचारिक समझना चाहिए।

अहं ब्रह्मास्मि—बृहदारण्यकोपनिषद् (१।४।१०) के अन्तर्गत **'अहं ब्रह्मास्मि'** (मैं ब्रह्म हूँ) को जीवात्मा की उक्ति समझकर ही उसे जीव-ब्रह्म के ऐकात्म्य का प्रतिपादक माना जाता है। वास्तव में यह वाक्य ब्रह्म के संकल्परूप में कहा गया है। यह पूरा सन्दर्भ इस प्रकार है—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, तदात्मानमेवावेत्—अहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत्सर्वमभवत्।

अर्थात्—सर्ग से पूर्व केवल यह ब्रह्म था। उसने अपने आपको जाना कि मैं ब्रह्म हूँ। वही इस समस्त कार्यजगत् का उत्पादक है। इसी सन्दर्भ में आगे कहा गया है कि आज भी जो इस तथ्य को जान लेता है, वह वही हो जाता है, अर्थात् वह आनन्द से आप्लावित हो जाता है। इसके विपरीत जो उपासक, यह समझकर कि उपास्य अन्य है और इस प्रकार अन्य की उपासना करता है वह यथार्थतत्व को नहीं जानता। इस सारे सन्दर्भ को ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट हो जाता है कि **'अहं ब्रह्मास्मि'** कहनेवाला वह **(तत्)** है जो सर्ग से पूर्व विद्यमान था **(इदमग्र आसीत्)** निश्चय ही सर्ग से पूर्व सबको अपने अन्दर धारण

---

१. द्र०—**प्रज्ञानं ब्रह्म तत्वमसि अयमात्मान्तर्याम्यमृतः अहं ब्रह्मस्मीति महावाक्यैः प्रतिपादितमर्थम्**..।—हयग्रीवोपनिषद् १॥

२. 'तात्स्थ्य' वा 'तत्सहचरितोपाधि' के सम्बन्ध में विशेष न्यायाभाष्य २।२।६१ देखें।

https://t.me/arshlibrary

[तत्वमसि' वाक्य पर विचार]

प्रश्न—अच्छा तो इसका अर्थ कैसा करोगे—(तत्) ब्रह्म (त्वम्) तू जीव (असि) है। हे जीव (त्वम्) तू (तत्) वह ब्रह्म (असि) है।

करनेवाला परमात्मा वर्तमान था (**हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे**—यजुः० १३।४)। उपनिषत्कार ने अपनी विशिष्ट शैली के अनुसार यह वाक्य (**अहं ब्रह्मास्मि**) उसी ब्रह्म के द्वारा कहलवाया है। स्वयं उपासक जीवात्मा को यहाँ उपास्य ब्रह्म के रूप में नहीं कहा गया। वस्तुतः **'अहं ब्रह्मास्मि'** का वक्ता स्वयं ब्रह्म है।

यदि इस वाक्य को जीवात्मा की उक्ति माना जाए तो वह मात्र औपचारिक कथन होगा। ऐसी भावना किसी वाक्य या वाक्यांश से आपाततः प्रतीत हो तो उसे अतिशय भक्ति का उद्रेक जानकर औपचारिक समझना चाहिए, वास्तविक नहीं। अनेकत्र ऐसे वर्णनों में उपासक द्वारा ब्रह्म को माता, पिता, भ्राता, सखा आदि के रूप में सम्बोधित किया गया है, जिसे यथार्थ नहीं माना जा सकता।

प्रायः सुना जाता है—**'मञ्चाः क्रोशन्ति'** अर्थात् मञ्च पुकारते हैं। मञ्च तो जड़ हैं, उनमें पुकारने का सामर्थ्य कहाँ ? इसलिए मञ्च का अर्थ यहाँ **'मञ्चस्थपुरुषाः'** किया जाता है। जीव का ब्रह्म से साहचर्य तथा संयोगसम्बन्ध है। जिस प्रकार प्रायः—एक साथ रहने और सहयोग करनेवाले दो व्यक्तियों को लोग 'दो शरीर, एक प्राण' अथवा 'वे दोनों एक हैं' कह देते हैं, इसी प्रकार जब जीवात्मा परमेश्वर का-सा गुण-कर्म-स्वभाव बनाकर समाधि अवस्था में उसका साक्षात्कार करते हुए ब्रह्मानन्द से आप्लावित होता है तब वह और ब्रह्म एक अथवा अविरोधी हो जाते हैं, परन्तु इससे यह समझ लेना कि जीव और ब्रह्म एक हैं अथवा ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा की अपनी कोई सत्ता नहीं, युक्तियुक्त नहीं होगा। यह वाक्य ब्रह्म के साथ जीवात्मा के अत्यधिक अथवा अव्यवहित सान्निध्य का द्योतक हो सकता है, इससे अधिक कुछ नहीं। इस प्रकार विचार करनेपर **'अहं ब्रह्मास्मि'** का अर्थ **'अहं ब्रह्मस्थोऽस्मि'** मानकर करना चहिए।

तत्त्वमसि—छान्दोग्योपनिषद् (६।८।६) के अन्तर्गत **'तत्त्वमसि'** को जीव और ब्रह्म के एकत्व अथवा तादात्म्यसिद्धि में अकाट्य प्रमाण समझा जाता है। इस वाक्य को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करके इसका विवेचन किया जाता है—

पूर्वपक्ष—**'तत्त्वमसि'** कथन से जीव और ब्रह्म का ऐकात्म्य सिद्ध है। दोनों में तादात्म्यभाव है। भेद कल्पित है जो उपाधिजन्य है। उस उपाधि का नाश होते ही जीवात्मा अपने स्वरूप को प्राप्त होकर अपने को ब्रह्म मानने लगता है। 'तत्त्वमसि' का यही आशय है। आचार्य अपने शिष्य को कहते हैं—**'त्वं तत् (ब्रह्म) असि'**। सामने बैठे हुए शरीर, इन्द्रियादि से युक्त तुम (**त्वम्**) परोक्ष सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म (**तत्**) हो (**असि**)। परस्पर विरुद्ध धर्मों से युक्त होते हुए भी 'त्वम्' और 'तत्' एक कैसे हो सकते हैं ? साधक इसको समझने का प्रयास करता है तो आचार्य स्पष्ट करते हैं कि तुम दोनों में तात्त्विक भेद नहीं है। 'त्वम्' और 'तत्' में चैतन्य गुण समान है, शेष गुण उपाधि के कारण कल्पित हैं। इसलिए उनका कोई महत्त्व नहीं है। अतएव जब आचार्य कहते हैं **'त्वं तत् असि'** तो उनके कहने का यही अभिप्राय है कि 'त्वम्' का चैतन्य और 'तत्' का चैतन्य एक ही हैं। तुच्छ एवं आरोपित भेदक गुणों का परित्याग कर देने पर एक चैतन्य दूसरे चैतन्य से भिन्न नहीं है। **'जहत्-अजहत् लक्षणा'** से इसका यही अर्थ है

'मुख्यार्थबाधे लक्षणा'—'लक्षणा' शब्द की एक प्रकार की वृत्ति है। जब अभिधावृत्ति से किसी अर्थ का बोध नहीं होता तब उससे सम्बद्ध दूसरे अर्थ का बोध करानेवाली वृत्ति 'लक्षणा' कहाती है। जैसे—'गंगायां

https://t.me/arshlibrary

उत्तर—तुम 'तत्' शब्द से क्या लेते हो ?

प्रश्न—'ब्रह्म ।

उत्तर—ब्रह्मपद की अनुवृत्ति कहाँ से लाये ?

प्रश्न—**'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'** इस पूर्व वाक्य से ।

उत्तर—तुमने इस छान्दोग्य उपनिषद् का दर्शन भी नहीं किया । जो वह देखी होती, तो वहाँ 'ब्रह्म' शब्द का पाठ ही नहीं है । ऐसा झूठ क्यों कहते ? किन्तु 'छान्दोग्य' में तो—**'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'** ऐसा पाठ है । वहाँ 'ब्रह्म' शब्द नहीं ।

घोषः' का अभिधावृत्ति से कोई समन्वित अर्थ नहीं बनता । तब लक्षणावृत्ति से 'गंगायां' का अर्थ 'गंगा की धारा' न करके 'गंगा का तीर' किया जाता है । यहाँ गंगा शब्द के मुख्य अर्थ का परित्याग करके अर्थ की संगति बिठाई जाती है । इसे **'जहत्'** लक्षणा कहते हैं, किन्तु जब लक्षणा द्वारा अर्थ करते हुए मुख्यार्थ का भी बोध होता है, तब वह **'अजहत् लक्षणा'** कहाती है । जैसे—**'शोणो धावति'** (लाल रंग दौड़ता है) । इस वाक्य का **मात्र** मुख्यार्थ से कोई समन्वित अर्थ नहीं निकलता, क्योंकि लाल रंग जड़ होने से दौड़ नहीं सकता । इसलिए लक्षणा के द्वारा 'शोणः' का अर्थ 'लाल रंग का घोड़ा' किया जाता है । यहाँ मुख्यार्थ का ग्रहण भी अपेक्षित है, अर्थात् घोड़े के साथ-साथ लाल रंग भी दौड़ता है । यह **'अजहत् लक्षणा'** कहाती है । इस प्रकार जहाँ 'छोड़ा भी जाए और न भी छोड़ा जाए' अर्थात् विरुद्ध धर्म का परित्याग और समान धर्म का ग्रहण किया जाए वहाँ **'जहत्-अजहत्'** लक्षणा द्वारा अर्थ किया जाता है ।

उत्तरपक्ष—परन्तु उपनिषद् के पूरे प्रसंग को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ शरीर व आत्मा के भेद को दिखाने के लिए **'तत्त्वमसि'** कथन किया गया है । छान्दोग्य के छठे अध्याय के आरम्भ में वर्णन है कि आरुणि उद्दालक का पुत्र श्वेतकेतु जब गुरुकुल से अपना अध्ययन समाप्त करके लौटा तो पिता को अपना पुत्र कुछ अभिमानी जान पड़ा । आरुणि समझ गये कि लड़के ने शब्दमात्र को जाना है, आत्मतत्व को—अपने स्वरूप को नहीं समझा । तब अपने देहादि पर गर्व करनेवाले श्वेतकेतु को यह समझाने का प्रयास किया कि तू प्राकृत देहादि के समान जड़ न होकर ब्रह्म के समान चेतन तत्त्व है । जिस प्रकार ब्रह्माण्ड में यथार्थ सत्ता शरीर की नहीं, आत्मा की है । देहादि की रचना अचेतनरूप है, त्रिगुणात्मक है, जबकि आत्मा चेतन एवं त्रिगुणातीत है । आत्मस्वरूप को स्पष्ट करने के लिए, अनेक उदाहरण प्रस्तुत करके, अनात्मरूप में **'तत्वमसि'** का जो अर्थ यहाँ किया गया है, वह उसे उपनिषद् के अन्तर्गत सम्बद्ध वाक्य से काटकर तथा पूर्वापर प्रसंग से पृथक् करके किया गया है । छान्दोग्य के इस पूरे प्रसंग को देखने-पर स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ 'तत्' पद 'ब्रह्म' का परामर्शक नहीं है । इस तथ्य का बोध होते ही इस वाक्य का जीव-ब्रह्म के भेदाभेद-विवेचन से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता । इस प्रसंग के ग्यारहवें खण्ड में चेतन-अचेतन के भेद का स्पष्ट वर्णन है । इस अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए समस्त प्रकरण में जो वाक्य बार-बार आया है, वह इस प्रकार है—

स य एषोऽणिमा, ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यं, स आत्मा, तत्वमसि श्वेतकेतो । —छां० ६।८।७

अर्थात्—'यह जो सूक्ष्म है, यह सब जगत् आत्मा के लिए है, वह सत्य है, वह आत्मा है । हे श्वेतकेतो! तुम वही आत्मा हो ।' स्थूल से सूक्ष्मपर्यन्त अवस्था का निर्देश कर आत्मतत्त्व को उससे भी सूक्ष्म बताया है । जगत् की रचना जीवों के भोगापवर्ग की सिद्धि के लिए की गई है । अतएव स्थूल से सूक्ष्म तक

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—तो आप तच्छब्द से क्या लेते हैं ?

उत्तर—**'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति'** ॥ —छान्दो०

वह परमात्मा जानने योग्य है, जो यह अत्यन्त सूक्ष्म और इस सब जगत् और जीव का आत्मा है। वही सत्यस्वरूप और अपना आत्मा आप ही है। हे श्वेतकेतो प्रियपुत्र ! **'तदात्मकस्तदन्तर्यामी त्वमसि'** उस परमात्मा अन्तर्यामी से तू युक्त है ॥

जितना सद्रूप जड़ तत्त्व है, वह सब आत्मा के लिए है। स्थूल-सूक्ष्मशरीर, इन्द्रियाँ तथा अन्य भौतिक पदार्थ आत्मा के लिए मात्र साधनरूप हैं। देहादि सब विकारी हैं। जो अविकारी है वही सत्य है और वह आत्मा है। हे श्वेतकेतो ! तुम वही आत्मा हो। जिस प्रकार जीव के निकल जानेपर हरा-भरा वृक्ष सूख जाता है, उसी प्रकार जीव के निकल जानेपर यह शरीर मृत कहा जाता है, किन्तु जीवात्मा नहीं मरता, वह अमर है, अपरिणामी है। हे श्वेतकेतो ! वही आत्मा सत्य है, तुम वही हो। जब तक कोई व्यक्ति इस तथ्य को नहीं जान लेता, तब तक अज्ञान में रहता है। जब उसे जान लेता है, तब कोई सांसारिक ताप उसे नहीं सताता।

इस समस्त प्रकरण में **'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'** पद विचारणीय हैं। प्रकरणानुसार **'ऐतदात्म्यम्'** का निर्वचन इस प्रकार किया जाना युक्तियुक्त है—**'एतस्मै आत्मने इति एतदात्म, तदेवैतदात्म्यम्'**। यहाँ **'इदं सर्वम्'** पदों से जिस वस्तुतत्त्व का निर्देश किया जा रहा है, उसका विशेषण है—**'ऐतदात्म्यम्'**। इसका अर्थ होगा—यह सब आत्मा के लिए है।

शंकराचार्य का मत है कि यहाँ **'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'** इन पदों के आधारपर जो कुछ यह जगत् दीख रहा है, उसे आत्म-(ब्रह्म)-रूप मानकर श्वेतकेतु को कहा गया है कि तू वही (ब्रह्म) है। इस दृष्टि से 'ऐतदात्म्यम्' का निर्वचन इस प्रकार किया जाता है—**'एष चासौ आत्मा इति एतदात्म, तदेव ऐतदात्म्यम्'**। इस निर्वचन के अनुसार ही **'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'** का अर्थ किया जाता है—यह सब जगत् आत्मा ही है। इस अर्थ के अनुसार ब्रह्म तथा जगत् में अभेद सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। तदनुसार यदि 'जगत्' का निर्देश करके श्वेतकेतु को कहा गया है कि तू वही है, तो उसे जगत् के समान जड़रूप आत्मा बताया जा रहा है। आत्मा को जड़ कैसे माना जा सकता है ? नवीन वेदान्ती **'तत्'** पद से ब्रह्म का ग्रहण करते हैं और इस प्रकार **'तत्त्वमसि'** का अर्थ (त्वम्) तू (तत्) ब्रह्म (**असि**) है' करते हैं, किन्तु इस सारे प्रकरण में कहीं भी ब्रह्म का उल्लेख नहीं है। यदि कहीं आस-पास भी होता तो **'तत्'** पद ब्रह्म का परामर्शक हो सकता था अथवा यहाँ ब्रह्म का अध्याहार किया जा सकता था। सन्दर्भान्तर्गत बार-बार आया **'अणिमा'** पद भी यहाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैसाकि युक्ति तथा प्रमाणों से सिद्ध है, परमात्मा सर्वत्र व्याप्त होने से विभु है। इसके विपरीत जीव का एकदेशी होने से अणुपरिमाण (परिच्छिन्न) होना शास्त्रसम्मत तथा तर्कप्रतिष्ठित है। **'ऐतदात्म्यमिदम्'** की व्याख्या के लिए यहाँ जितने भी उदाहरण दिये गये हैं, उन सबमें जड़ तथा चेतन का भेद दर्शाया गया है। इसलिए **'ऐतदात्म्यमिदम्'** पद के प्रचलित अर्थ के युक्तियुक्त न होने से उसके आधार पर **'तत्त्वमसि'** से जीव तथा ब्रह्म का तादात्म्य उपपन्न नहीं होता।

छान्दोग्य के छठे प्रपाठक के आठवें खण्ड से अध्याय की समाप्ति तक विभिन्न उदाहरणों द्वारा आत्मतत्व को समझाने का प्रयास किया है। इन उदाहरणों में स्थूल से सूक्ष्मपर्यन्त अवस्था का निर्देश किरके आत्मतत्व को उनसे भी सूक्ष्म कहा है। उन सभी प्रसंगों के अन्त में बार-बार कहा है कि वह

https://t.me/arshlibrary

यही अर्थ उपनिषदों से अविरुद्ध है। क्योंकि—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् ।
आत्मनोऽन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

—यह बृहदारण्यक का वचन है ॥

महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी से कहते हैं कि—'हे मैत्रेयि ! जो परमेश्वर आत्मा अर्थात् जीव में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है। जिसको मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मेरे में व्यापक है। जिस परमेश्वर का जीवात्मा शरीर, अर्थात् जैसे शरीर में जीव रहता है, वैसे ही जीव में परमेश्वर व्यापक है। जीवात्मा से भिन्न रहकर जीव के पाप-पुण्यों का साक्षी होकर उनके फल जीवों को देकर नियम में रखता है। वही अविनाशीस्वरूप तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा अर्थात् तेरे भीतर व्यापक है, उसको तू जान।' इत्यादि वचनों का क्या कई अन्यथा अर्थ कर सकता है ? [॥३॥]

['अयमात्मा ब्रह्म' वाक्य पर विचार]

'अयमात्मा ब्रह्म'=अर्थात् समाधि-दशा में जब योगी को परमेश्वर प्रत्यक्ष होता है, तब वह कहता है कि—'यह जो मेरे में व्यापक है, वही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है'। इसीलिए जो आजकल के वेदान्ती जीव-ब्रह्म की एकता करते हैं, वे वेदान्तशास्त्र को नहीं जानते [॥४॥]

आत्मतत्व अत्यन्त सूक्ष्म है। उसी के लिए यह सब जगत् है। जगत् परिणामी है, हेय है वह आत्मा नहीं है। आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए इस प्रसंग में देहादि समस्त जड़ जगत् को भिन्न पक्ष में रखकर उससे अतिरिक्त तत्व को आत्मा बताया है जो चेतनतत्व है।

इस सारे सन्दर्भ में अचेतन से अतिरिक्त चेतन आत्मा के अस्तित्व की स्थापना करके श्वेतकेतु को यह समझाने का प्रयास किया है कि जिस सुन्दर, सुडौल, बलिष्ठ शरीर पर तुम्हें इतना गर्व है, तुम वह शरीर नहीं हो—उससे परे आत्मतत्व हो। उसने प्राकृत जगत् से परे आत्मतत्व को समझा और उसको निमित्त बनाकर इस मार्ग पर चलनेवाले प्रत्येक जिज्ञासु को उद्दालक ने अध्यात्मतत्व का चिरन्तन उपदेश दिया। छान्दोग्य के प्रकृत प्रसंग का यही अभिप्राय है। आत्मा को ब्रह्मरूप बताने की यहाँ कोई भावना नहीं है।

अयमात्मा ब्रह्म—यह वाक्य माण्डूक्योपनिषद् के दूसरे मन्त्र का अंश है। इससे पूर्व उपनिषद् के पहले मन्त्र में कहा गया है—

'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम् । भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ।' माण्डूक्य १

अर्थात्—**'ओम्'** यह एक अक्षर है। उसी का यह सब विस्तार है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान सब ओंकार ही है और जो इसके अतिरिक्त तीन काल से बाहर है, वह भी ओंकार ही है। अतएव माण्डूक्य में आद्योपान्त उसी ओंकार का विस्तृत विवेचन हुआ है। दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

सर्वं ह्येतद् ब्रह्म । अयमात्मा ब्रह्म । सोऽयमात्मा चतुष्पात् ।

इसका सीधा अर्थ इस प्रकार है—(**हि**) निश्चय से (**एतत् सर्वं**) यह सब (**ब्रह्म**) ब्रह्म है। (**अयम्**) यह (**आत्मा**) आत्मा (**चतुष्पात्**) चतुष्पात् है।

https://t.me/arshlibrary

इस सन्दर्भ में जो कुछ कहा गया है, वह ब्रह्म को ही लक्ष्य करके कहा गया है। उपर्युक्त व्याख्या से तीन बातें स्पष्ट होती हैं—

१. यह सब (**ब्रह्माण्ड**) ब्रह्म है।

२. यह आत्मा ब्रह्म है।

३. इस आत्मा के चार पाद हैं।

'आत्मा' शब्द सामान्यतया जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों का वाचक है। **'प्रकरणश एव निर्वक्तव्याः'** यास्क के इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थ का निश्चायक प्रकरण होता है। पूर्वापर प्रसंग तथा प्रस्तुत सन्दर्भ को देखते हुए **'अयमात्मा ब्रह्म'** इस वाक्य में **'आप्लृ व्याप्तौ'** से निष्पन्न **'आत्मा'** अपने धात्वर्थ के अनुसार ब्रह्म के विशेषणरूप में सर्वव्यापक अर्थ का वाचक है। जिस प्रकार **'ओं खं ब्रह्म'** का अर्थ 'परमेश्वर आकाश है' न होकर 'परमेश्वर आकाशवत् व्यापक है' है, उसी प्रकार **'अयमात्मा ब्रह्म'** का अर्थ 'यह आत्मा सर्वव्यापक तत्त्व (ब्रह्म) महान् है' अथवा 'यह ब्रह्म सर्वव्यापक (आत्मा) है' होगा। इसी प्रकार **'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म'** का अर्थ 'यह सब (ब्रह्माण्ड) ब्रह्म है' न होकर तात्स्थ्योपाधि से 'यह ब्रह्माण्ड ब्रह्मस्थ है' होगा। यदि यहाँ 'आत्मा' को 'जीवात्मा' का वाचक मानकर **'अयमात्मा ब्रह्म'** का अर्थ **'यह जीवात्मा ब्रह्म है'** किया जाएगा तो अगले वाक्य **'सोऽयमात्मा चतुष्पात्'** का अर्थ भी 'यह आत्मा (जीवात्मा) चतुष्पात् है' करना होगा। यह सर्वथा असंगत होगा। जो आत्मा ब्रह्म है वही (सोऽयम्) चतुष्पात् है। यह 'चतुष्पात्' जीवात्मा कभी नहीं हो सकता। यह ब्रह्म ही है, इस बात को आगे आठवें मन्त्र में सर्वथा स्पष्ट कर दिया गया है। वहाँ कहा है—**'सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकार-मकार इति।'** अर्थात् वह यह आत्मा अक्षर में अधिष्ठित है और वह अक्षर ओंकार है और वह ओंकार मात्राओं में अधिष्ठित है। पाद मात्रा हैं, मात्रा पाद हैं और वे मात्रा अकार, उकार और मकार हैं, अर्थात् ब्रह्म के चार पाद ओंकार की चार मात्राएँ हैं और ओंकार की चार मात्राएँ ही ब्रह्म के चार पाद हैं। माण्डूक्य का लक्ष्य ब्रह्म तथा ओंकार का तादात्म्य बताना है, ब्रह्म और जीव का अभेद सिद्ध करना नहीं।

यदि इस वाक्य का जीवात्मपरक अर्थ करना ही अभीष्ट हो तो यह **'तात्स्थ्योपाधि'** अथवा **'तत्सहचरितोपाधि'** से कहा गया भक्तिभाव के अतिरेक का द्योतक है। समाधिदशा में जब योगी को ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है तो वह भावविभोर होकर कह उठता है—**'अयमात्मा ब्रह्म'** अर्थात् जो मेरे भीतर व्यापक है वही ब्रह्म सर्वव्यापक है। आनन्दोल्लास के क्षणों में कहा गया यह वचन अपने उपास्य का प्रत्यक्षानुभवविधायक वाक्य है। "जैसे इस शरीर में व्यापक होने से मैं इस शरीर का आत्मा हूँ, वैसे ही मेरी आत्मा में व्यापक होने से वह ब्रह्म मेरी आत्मा है।" तथापि व्याप्यव्यापक भाव से दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं।

सदेव सोम्येदमग्र०—इस वाक्य पर विस्तारपूर्वक विचार इसी समुल्लास में आगे किया गया है।

स य एषः—इसपर **'तत्वमसि'** के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है।

य आत्मनि तिष्ठन्०—यह माध्यन्दिनीय शतपथब्राह्मण (१४।६।७।३०) का वचन है। बृहद० उप० (३।७।२२) में आत्मा शब्द का प्रयोग न होकर विज्ञान शब्द का प्रयोग हुआ है। वहाँ **'य विज्ञाने तिष्ठन्०'** में विज्ञान पद का प्रयोग जीवात्मा के लिए हुआ है। अर्थ दोनों जगह समान है। यहाँ अन्तर्यामी अमृत आत्मा को **'आत्मनो अन्तरः'** कहकर स्पष्टरूप में जीवात्मा से भिन्न बताया है। वह उपासक है और

https://t.me/arshlibrary

[क्या ईश्वर ही जीवरूप में शरीर में प्रविष्ट है ?]

प्रश्न—

अनेनात्मना जीवेनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि ॥१॥

—छा० ६।३।२॥

तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् [॥२॥]

परमेश्वर कहता है कि मैं जगत् और शरीर को रचकर जगत् में व्यापक और जीवरूप होके शरीर में प्रविष्ट होता हुआ नाम और रूप की व्याख्या करूँ ॥१॥

अन्तर्यामी परमात्मा उसके लिए उपास्य है। प्रकरण के अनुसार याज्ञवल्क्य जनक की सभा में उपस्थित जनों के माध्यम से सभी जिज्ञासुओं के लिए अन्तर्यामी आत्मा (ब्रह्म) का उपदेश कर रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि यहाँ उपासक जीव से भिन्न उपास्यरूप में ब्रह्म का वर्णन है।

अनेनात्मना० तथा तत्सृष्ट्वा०—छान्दोग्य तथा तैत्तिरीय उपनिषदों में उपलब्ध इन वचनों के आधार पर ब्रह्म के जीवरूप होने का कथन किया जाता है। **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** के अनुसार जगत् को उत्पन्न करके फिर वही ब्रह्म जीवरूप होकर उसमें प्रविष्ट हो गया और **'अनेनात्मना जीवेनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'** के अनुसार उसने जगत् और शरीरों को रचकर उनमें जीवरूप में प्रविष्ट होकर नामरूप दिया। इन वचनों से उपनिषदों के अनुसार जीव और ब्रह्म की एकता प्रमाणित है।

वस्तुतः उपनिषदों की इन उक्तियों में 'अनु' (पश्चात्) उपसर्ग पर ध्यान देने से सारी भ्रान्ति दूर हो जाती है। 'प्रवेश' के पश्चात् 'अनुप्रवेश' होने से स्पष्ट है कि पहले एक प्रविष्ट हुआ, तत्पश्चात् दूसरा। पहले और पीछे प्रविष्ट होने से उनका 'द्वैत'—दो होना स्वयंसिद्ध है। **'शरीरं प्रविष्टो जीवः, जीवमनुप्रविष्ट ईश्वरः'**—अर्थात् अपनी व्यवस्था के अनुसार शरीर में जीव को प्रविष्ट कराके परमेश्वर जीव के भीतर अनुप्रविष्ट होता है। सहार्थ में तृतीया विभक्ति है—**'अनेन जीवात्मना शरीरं प्रविष्टेन सह तं जीवमनुप्रविश्याहमीश्वरो नामरूपे व्याकरवाणीत्यन्वयः'**। इस प्रकार व्याप्य-व्यापक भाव से प्रवेश करनेवाला तथा जिसमें वह प्रविष्ट होता है, उन दोनों का अलग-अलग होना निश्चित है। यहाँ भी यह सब औपचारिकरूप में ही कथित समझना चाहिए। अन्यथा सदा से सर्वत्र व्याप्त परमेश्वर के कहीं प्रवेश-अनुप्रवेश का प्रश्न ही नहीं उठता।

भागत्यागलक्षणा—इसको समझने के लिए शब्द की शक्ति अर्थात् अर्थप्रकाशनसामर्थ्य को समझना आवश्यक है। आलङ्कारिक एवं दार्शनिक विद्वान् शब्द की तीन प्रकार की शक्ति मानते हैं—१. अभिधा, २. लक्षणा तथा ३. व्यञ्जना। जिस अर्थ में जो शब्द प्रसिद्ध है उसको उसी अर्थ में प्रयुक्त करना **'अभिधा'** वृत्ति से होता है। यह कोष, उपमान, समीप्य, आप्तोपदेश, आप्तव्यवहार आदि कई प्रकार से सम्भावित होती है। **'मुख्यार्थबाधे लक्षणा'**—जहाँ मुख्यार्थ का बाध हो अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ की सम्भावना न हो, जिस शक्ति के द्वारा उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ की प्रतीति हो, उसे लक्षणा कहते हैं। 'गधा' शब्द से 'गधा' नाम से प्रसिद्ध पशुविशेष का ग्रहण अभिधावृत्ति से होता है। परन्तु 'गधा' का 'मूर्ख' अर्थ लक्षणावृत्ति से जाना जाता है। दोनों तीरों के मध्य में प्रवहमान जलधारा में कोई मकान नहीं ठहर सकता। इसलिए 'नदी में घर है' इस वाक्य में 'नदी' का अर्थ या तो नदी का तीर करना होगा अथवा नदी के बीच स्थित कोई टापू करना होगा। 'नदी' शब्द का यह अर्थ लक्षणावृत्ति से ही जाना जाता है। प्रसिद्ध वाक्य **'मञ्चाः क्रोशन्ति'**

https://t.me/arshlibrary

परमेश्वर उस जगत् और शरीर को बनाकर उसमें वही प्रविष्ट हुआ ॥२॥

इत्यादि श्रुतियों का अर्थ दूसरा कैसे कर सकोगे ?

उत्तर—जो तुम पद, पदार्थ और वाक्यार्थ जानते, तो ऐसा अनर्थ कभी न करते, क्योंकि यहाँ ऐसा समझो—'एक प्रवेश और दूसरा अनुप्रवेश' अर्थात् पश्चात् प्रवेश कहाता है। परमेश्वर शरीर में प्रविष्ट हुए जीवों के साथ अनुप्रविष्ट के समान होकर वेद द्वारा सब नामरूपदि की विद्या को प्रकट करता है, और शरीर में जीव को प्रवेश करा आप जीव के भीतर अनुप्रविष्ट हो रहा है। जो तुम 'अनु' शब्द का अर्थ जानते, तो वैसा विपरीत अर्थ कभी न करते।

में 'मञ्चाः' का अर्थ 'मञ्चस्थपुरुषाः' लक्षणार्थ है। आलंकारिकों ने लक्षणा के ८० भेद माने हैं, परन्तु उसके तीन मुख्य भेद सर्वमान्य हैं—१. अजहल्लक्षणा, २. जहल्लक्षणा तथा ३. जहदजहल्लक्षणा। पहली **'जहल्लक्षणा'** वह लक्षणा है जिससे पद अपने मुख्य अर्थ के असम्भव होनेपर भी उसका त्याग न करे, वरन् अधिक का ग्रहण करे। जैसे **'मञ्चाः क्रोशन्ति'** में 'मञ्चाः' का अर्थ मंच पर बैठे मनुष्य किया जाता है, क्योंकि जड़ होने से मञ्च का चिल्लाना असम्भव है। इस अर्थ में मचान का अपना अर्थ भी विद्यमान है, साथ ही उससे अधिक 'मनुष्य' अर्थ का निवेश हो गया। **'श्वेतः धावति'** में 'श्वेत' पद से 'श्वेत घोड़े' या 'श्वेत कुत्ते' का ग्रहण करना भी 'अजहल्लक्षणा' का उदाहरण है। दूसरी **'जहल्लक्षणा'** वह है जिसमें मुख्यार्थ का सर्वथा त्याग कर दिया गया हो। जैसे—'नदी में घर है' वाक्य में नदी पद के प्रवहमान जलधारा अर्थ का सर्वथा त्याग होकर तत्सम्बन्धी तीर या टापू अर्थ लिया जाता है। तीसरी 'जहदजहल्लक्षणा' वह है जिसमें मुख्यार्थ का कुछ त्याग हो और कुछ न हो। देवदत्त से मिलने के लिए कोई व्यक्ति उसके घर गया। वहाँ वह मिला नहीं। निराश होकर वह लौट गया। मार्ग में कुछ दूर चलनेपर उसे देवदत्त कहीं बैठा मिल गया। वहाँ उसे देखकर वह व्यक्ति बोला—'यह वही देवदत्त है'। 'यह' पद वर्त्तमानकाल में समीपस्थ वस्तु का वाचक है। इसके विपरीत 'वह' पद बीते समय और दूरस्थ वस्तु का वाचक है। न वर्त्तमान और अतीत एक हो सकते हैं और न समीपस्थ और दूरस्थ एक हो सकते हैं। इसलिए आपाततः 'यह वही देवदत्त है' वाक्य निरर्थक प्रतीत होता है। इस कारण 'यह' और 'वही' के वाच्य अर्थों में से काल और देश भाग का त्यागकर वस्तुसामान्य अर्थ को नहीं त्यागते, इससे अन्वय बन जाता है, इसी को नवीन वेदान्ती **'भागत्यागलक्षणा'** कहते हैं।

प्रसंग न होने से यहाँ व्यंजनावृत्ति की चर्चा नहीं करते। **'भागत्यागलक्षणा'** को समझ लेने पर ग्रन्थकार द्वारा पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत वेदान्ती का कथन स्पष्ट हो जाता है।

उपाधि—स्वभाव का नाश कभी नहीं होता। वायु को कभी ठण्डा और कभी गरम किया जा सकता है, क्योंकि शीतलता या उष्णता वायु का स्वाभाविक गुण नहीं है, परन्तु अग्नि को ठण्डा नहीं किया जा सकता, क्योंकि दाहकता उसका स्वाभाविक गुण है। शंकराचार्य श्रुति को स्वतः प्रमाण मानते हैं, फिर भी कहते हैं कि सैंकड़ों श्रुतिवाक्य भी अग्नि को ठण्डा नहीं कर सकते। क्योंकि **'न ह्युपाधियोगादप्यान्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः सम्भवति'** (शांकर वेदान्तभाष्य—३।२।११)। इसी प्रकार अल्पज्ञता के कारण जीव तो उपाधिग्रस्त हो सकता है, परन्तु स्वभाव से सर्वज्ञ, ज्ञानस्वरूप ब्रह्म को उपाधि नहीं लग सकती। ग्रन्थकार का प्रश्न है कि उपाधि नित्य है या अनित्य ? यदि वह अनित्य है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्रह्म को उपाधि कब से लगी ? यदि यह माना जाए कि ब्रह्म तो पहले से था, कालान्तर में किसी समय

https://t.me/arshlibrary

['चेतन' मात्र साधर्म्य से जीव और ब्रह्म एक नहीं]

प्रश्न—**'सोऽयं देवत्तो य उष्णकाले काश्यां दृष्टः, स इदानीं प्रावृट्समये मथुरायां दृश्यते'** अर्थात् जो देवदत्त मैंने उष्णकाल में काशी में देखा था, उसी को वर्षा-समय में मथुरा में देखता हूँ। यहाँ काशीदेश उष्णकाल को छोड़कर शरीरमात्र में लक्ष्य करके देवदत्त लक्षित होता है। वैसे इस 'भागत्यागलक्षणा' से ईश्वर का परोक्ष देश काल माया उपाधि और जीव का यह देश काल अविद्या और अल्पज्ञता उपाधि छोड़ चेतनमात्र में लक्ष्य देने से एक ही ब्रह्म वस्तु दोनों में लक्षित होता है। इस 'भागत्यागलक्षणा' अर्थात् कुछ ग्रहण करना और कुछ छोड़ देना—जैसा सर्वज्ञत्वादि वाच्यार्थ ईश्वर का और अल्पज्ञत्वादि वाच्यार्थ जीव का छोड़कर चेतनमात्र लक्ष्यार्थ का ग्रहण करने से 'अद्वैत' सिद्ध होता है। यहाँ क्या कह सकोगे ?

उत्तर—प्रथम तुम जीव और ईश्वर को नित्य मानते हो, वा अनित्य ?

प्रश्न—इन दोनों को उपाधिजन्य कल्पित होने से अनित्य मानते हैं।

उत्तर—उस उपाधि को नित्य मानते हो, वा अनित्य ?

[नवीन वेदान्तियों के ६ अनादि पदार्थों का खण्डन]

प्रश्न—हमारे मत में—

जीवेशौ च विशुद्धा चिद्विभेदस्तु तयोर्द्वयोः ।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः ॥१॥
कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः ।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ॥२॥

—ये 'संक्षेपशारीरक'[1] और 'शारीरकभाष्य' में कारिका हैं ॥

वह उपाधिग्रस्त हो गया—तो पहले उपाधि कहाँ थी ? कहीं-न-कहीं होगी तो अवश्य। न होती तो कहाँ से आजाती ? अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जब वह पहले से थी तो किसके आश्रित थी ? गुण होने से उसका अधिष्ठान द्रव्य कोई-न-कोई अवश्य रहा होगा। अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कोई चेतन द्रव्य है नहीं। तब अनिवार्यतः उपाधि ब्रह्म के आश्रित थी। परिणामतः जब ब्रह्म अनादि है तो उसके गुण उपाधि का अनादि होना स्वतः सिद्ध है। अनादि होने से वह अनन्त भी हो गयी और अनाद्यनन्त होने से वह नित्य हो गयी। इस प्रकार उपाधि के ब्रह्माश्रित तथा नित्य होने से ब्रह्म सदा उपाधिग्रस्त रहेगा। तब उपाधिजन्य जीव और ईश्वर अनित्य कैसे हो सकते हैं ?

जीवेशौ०—उद्धृत श्लोकों में पहला अच्युत ग्रन्थमाला काशी से प्रकाशित 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' पृष्ठ ६३

१. प्रथम श्लोक 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' (अच्युत ग्रन्थमाला काशी) के पृष्ठ ६३ पर टिप्पणी में दिया है (स्वामी वेदा०)। 'वेदान्तसिद्धान्तादर्श' में पाठ इस प्रकार है—'जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा। अविद्या तच्चितोर्योगो वेदान्ते षडनादयः ॥' 'अद्वैतसिद्धि दृष्टिसृष्ट्युत्पत्ति प्रकरण में यही पाठ अभियुक्त वचन के नाम से उद्धृत है। यहाँ शब्दभेदमात्र है, अर्थ समान है। द्वितीय श्लोक 'अनुभूतिप्रकाश' अ० १, श्लोक ६१ में देखें। 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' (परिच्छेद १, जीवेशस्वरूपविचार) में लिखा है—संक्षेपशारीरके तु—'कार्योपधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः'।

https://t.me/arshlibrary

हम वेदान्ती छः पदार्थों अर्थात् एक जीव, दूसरा ईश्वर, तीसरा ब्रह्म, चौथा जीव और ईश्वर का विशेष भेद, पाँचवाँ अविद्या= अज्ञान और छठा अविद्या और चेतन का योग इनको अनादि मानते हैं ॥१॥

परन्तु एक ब्रह्म अनादि अनन्त, और अन्य पाँच अनादि सान्त हैं, जैसेकि प्रागभाव होता है। जब तक अज्ञान रहता है, तब तक ये पाँच रहते हैं और इन पाँच की आदि विदित नहीं होती इसलिए अनादि; और ज्ञान होने के पश्चात् नष्ट हो जाते हैं, इसलिए शान्त अर्थात् नाशवाले कहाते हैं ॥२॥

पर टिप्पणी में उद्धृत है। **'वेदान्तसिद्धान्तादर्श'** में पाठ इस प्रकार दिया है—

जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा ।
अविद्या तच्चितोर्योगो वेदान्ते षडनादयः ॥

अद्वैतसिद्धि के दृष्टि-सृष्ट्युत्पत्ति प्रकरण में यही पाठ 'अभियुक्तवचन' के नाम से उद्धृत है। द्वितीय श्लोक 'अनुभूतिप्रकाश' अध्याय १, श्लोक ६१ में देखें। 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' (परि० १, जीवेश-स्वरूप विचार) में लिखा है—**''संक्षेपशारीरके तु कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।''**

प्रागभाव—वस्तु की उत्पत्ति से पूर्व अभाव। उत्पत्ति से पूर्व उस घट का अभाव अनादिकाल से है, किन्तु घट की उत्पत्ति के साथ उस घटप्रागभाव का अन्त हो जाता है, अतः प्रागभाव अनादि-सान्त हो सकता है।

नवीन वेदान्तियों के अभिमत छह तत्वों का विश्लेषण करनेपर मूलरूप तत्व दो ही रह जाते हैं—एक ब्रह्म और दूसरा अविद्या। प्रथम तो पाँच तत्वों को अनादि-सान्त मानना तर्कशास्त्र के सर्वमान्य सिद्धान्त के विरुद्ध है। जिसका अन्त होता है, उसका आदि अवश्य होता है और जिसका आदि होता है उसका अन्त अवश्य होता है—**'अन्तवत्वे सत्यादिमत्वप्रसंग आदिमत्वे सत्यन्तवत्वप्रसंगः'**। इस न्याय के अनुसार जिसका आदि नहीं है उसका अन्त नहीं हो सकता। तदनुसार वेदान्तियों के पाँच पदार्थ यदि अनादि हैं तो सान्त और यदि सान्त हों तो अनादि कभी नहीं हो सकते। यदि, दुर्जनतोषन्याय से वेदान्तियों के कथनानुसार उनके छह पदार्थों को अनादि मान लिया जाए तो उनका अनन्त होना अनिवार्य है। अनादि-अनन्त होने से वे नित्य अवश्य होंगे। इस प्रकार जीव व प्रकृति का निषेध करते-करते वेदान्तियों को तीन की जगह छह तत्व मानने को विवश होना पड़ेगा। तब उनका अद्वैतवाद अथवा एकमात्र ब्रह्म की यथार्थता का सिद्धान्त धरा रह जाएगा। शंकर और शांकर सम्प्रदाय के आचार्यों ने छह अनादि को स्वीकार करके यह सिद्ध कर दिया कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की भी सत्ता है।

कारणोपाधि ईश्वर है, अर्थात् जब शुद्ध चेतन ब्रह्म कारणरूप उपाधि से उपाहित होता है, तब वह ईश्वर कहाता है। इसी प्रकार कार्योपाधि से उपाहित होनेपर शुद्ध चेतन ब्रह्म की संज्ञा जीव होती है। इस प्रकार अद्वैतमत में अविद्या के योग के बिना जीवमाया के योग के बिना ईश्वर नहीं बनता। अनादि वस्तु किसी कारण से उत्पन्न नहीं होती। यदि वह वस्तुतः किसी कारण का परिणाम है तो वह अनादि नहीं हो सकती। इस प्रकार कारण से उत्पन्न होने के कारण ईश्वर तथा जीव अनादि नहीं रहते। इन दोनों का चेतन पद में अन्तर्भाव होने से भी इनकी पृथक् गणना करना व्यर्थ है। जब ईश्वर और जीव ही अनादि नहीं रहे तो इन दोनों का विशेष भेद कैसे अनादि रहेगा? यह ठीक है कि ईश्वर और जीव का भेद अनादि है—दोनों सदा से एक-दूसरे से पृथक् अपना अस्तित्व रखते हैं। पर यह भेद इसीलिए है कि दोनों अनुत्पन्न हैं और दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है, अर्थात् वे स्वरूप से अनादि हैं, तथापि इस भेद को एक अतिरिक्त तत्व

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

मानकर उसकी पृथक् गणना करना सर्वथा असंगत है। यही स्थिति **'तच्चितोर्योगः'** अर्थात् अविद्या और चेतन के योग की है। वस्तुतः वह किसी अतिरिक्त पदार्थ के रूप में उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार शुद्ध ब्रह्म और अविद्या दो ही पदार्थ बचे रह जाते हैं। इनमें अविद्या अनेक दोषों का घर है। इस प्रकार वेदान्त में एकमात्र ब्रह्म ही अनादि पदार्थ रह जाता है, परन्तु वह अविद्या का साथ नहीं छोड़ सकता। शुद्ध चेतन ब्रह्म के साथ अनादि अविद्या तत्व को स्वीकार करना स्वयं इस बात को स्पष्ट कर देता है कि केवल चेतन ब्रह्म समस्त चेतन-अचेतन जगत् की सृष्टि करने में असमर्थ है। चेतन ब्रह्म अचेतन जगत् का उपादान नहीं हो सकता और न अनेकविध वैधर्म्य के कारण जीवरूप हो सकता है। इसलिए अद्वैतवाद को व्यावहारिक रीति से सक्षम बनाने के लिए अविद्या की कल्पना करना आवश्यक समझा गया। अविद्या का ही अपर नाम माया है, जो त्रिगुणात्मक प्रकृति से अतिरिक्त कुछ नहीं है।

आश्चर्य की बात यह है कि एक शुद्ध ब्रह्म को छोड़कर अन्य पाँचों को वेदान्ती 'मायिक' अर्थात् मायाकृत मानते हैं। जैसे 'कायिक' शब्द के अर्थ काया से उत्पन्न वस्तु के हैं, वैसे ही व्याकरण की रीति से मायिक शब्द के अर्थ माया से उत्पन्न वस्तु के हैं, परन्तु ये लोग व्याकरण की उपेक्षा करके मनमाने अर्थ करते और अद्वैतवाद के नामपर वेदान्तसूत्रों की भावना के विपरीत उनका भाष्य करके कल्पना-जगत् की सृष्टि करते हैं। तीन अनादि तत्वों को छोड़कर, ब्रह्म और ईश्वर के नाम से दो-दो ईश्वरों, अविद्या, माया, अविद्या व चेतन का योग आदि के अनादित्व का नाम तक वेदान्तसूत्रों में कहीं नहीं मिलता।

कार्योपाधिरयम्—यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्रह्म को अपने अज्ञानी होने का ज्ञान है या नहीं ? यदि उसे अपने अज्ञानी होने का पता है तो अज्ञानी होने का अर्थ क्या है ? यह कहना कि एक अज्ञानी पुरुष को अपने अज्ञानी होने का पता है—सर्वथा हास्यास्पद और मूर्खतापूर्ण है। और यदि उसे अपने अज्ञानी होने का पता नहीं है तो वह ब्रह्म कहाने का अधिकारी नहीं है। इस प्रकार अद्वैतवाद मात्र शब्दजाल बनकर रह जाता है। कार्य के अध्यास के परिणामस्वरूप ईश्वर की सिद्धि तभी हो सकती है जब हम नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव ब्रह्म में अज्ञान की कल्पना करें। किसी भी अवस्था में कार्यरूप होनेपर ब्रह्म परिणामी तथा अज्ञानी हो जाएगा, किन्तु ब्रह्म के अज्ञानी होने की कल्पना कैसे की जा सकती है ?

यदि अज्ञान के कारण ब्रह्म परिणामी होगा तो ब्रह्म के साथ अज्ञान भी नित्य हो जाएगा। ज्ञान का अभाव और मिथ्याज्ञान दोनों अज्ञानरूप हैं। प्रत्येक अवस्था में अज्ञान गुण है जो किसी द्रव्य के आश्रित रहेगा। यदि ब्रह्म में अज्ञान होगा तो गुण-गुणी का समवायसम्बन्ध होने से न वह ब्रह्म को छोड़ सकेगा और न ब्रह्म उसको। ब्रह्म नित्य है, इसलिए उसका गुण होने से अज्ञान भी नित्य हो जाएगा। अविद्योपाधि के नित्य तथा ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्म सदा उपाधिग्रस्त और परिणामतः अज्ञानी रहेगा। इस प्रकार अविद्या के कारण जन्म-मरण के बन्धन में रहनेवाले अथवा जीवरूप ब्रह्म को उपदेश देने का क्या लाभ ? इस प्रकार ब्रह्म और जीव को तत्त्वतः एक माननेपर भेद का और तत्त्वतः भिन्न माननेपर एकत्व का उपदेश देना व्यर्थ है। गीता ने कितने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ —गीता २।१२

अर्थात् ऐसा कोई समय न था जब मैं या तू या ये राजा लोग नहीं थे और न कोई ऐसा समय होगा जब हम सब नहीं रहेंगे। गीता के इस श्लोक पर टीका करते हुए रामानुज ने लिखा है—"जिस प्रकार परमेश्वर नित्य है उसी प्रकार सब जीवात्मा नित्य हैं। जीवों का सर्वेश्वर परमात्मा से और जीवात्माओं का

https://t.me/arshlibrary

उत्तर—यह तुम्हारे दोनों श्लोक अशुद्ध हैं, क्योंकि अविद्या के योग के विना जीव, और माया के योग के विना ईश्वर तुम्हारे मत में सिद्ध नहीं हो सकता। इससे 'तच्चितोर्योगः' जो छठा पदार्थ तुमने गिना है, वह नहीं रहा, क्योंकि वह अविद्या माया जीव ईश्वर में चरितार्थ हो गया। और ब्रह्म माया और अविद्या के योग के विना ईश्वर नहीं बनता। फिर ईश्वर को अविद्या और ब्रह्म से पृथक् गिनना व्यर्थ है। इसलिए दो ही पदार्थ अर्थात् ब्रह्म और अविद्या तुम्हारे मत में सिद्ध हो सकते हैं, छः नहीं।

तथा आपका प्रथम कार्योपाधि-कारणोपाधि से जीव और ईश्वर का सिद्ध करना तब हो सकता है कि जब अनन्त नित्य शुद्ध-बुद्ध मुक्त-स्वभाव सर्वव्यापक ब्रह्म में अज्ञान सिद्ध करें। जो उसके एक देश में स्वाश्रय और स्वविषयक अज्ञान अनादि सर्वत्र मानोगे, तो सब ब्रह्म शुद्ध नहीं हो सकता, और जब एक देश में अज्ञान मानोगे, तो वह परिच्छिन्न होने से इधर-उधर आता-जाता रहेगा। जहाँ-जहाँ जाएगा वहाँ-वहाँ का ब्रह्म अज्ञानी, और जिस-जिस देश को छोड़ता जाएगा उस-उस देश का ब्रह्म ज्ञानी होता रहेगा। तो किसी देश के ब्रह्म को अनादि शुद्ध ज्ञानयुक्त न कह सकोगे। और जो अज्ञान की सीमा में ब्रह्म है, वह अज्ञान को जानेगा। बाहर और भीतर के ब्रह्म के टुकड़े हो जाएँगे। जो कहो कि टुकड़ा हो जाओ, ब्रह्म की क्या हानि ? तो अखण्ड नहीं, और जो अखण्ड है तो अज्ञानी नहीं। तथा ज्ञान के अभाव वा विपरीत ज्ञान भी गुण होने से किसी द्रव्य के साथ नित्य सम्बन्ध से रहेगा यदि ऐसा है तो समवायसम्बन्ध होने से अनित्य कभी नहीं हो सकता।

परस्पर एक दूसरे से भेद यथार्थ है। अज्ञानमोहित अर्जुन के प्रति अज्ञाननिवृत्ति के लिए पारमार्थिकरूप में जीवात्माओं की नित्यता का उपदेश करते समय 'अहम्, त्वम्, वयम्, इमे सर्वे' (मैं, तू, हम, ये सब) इन सब पदों का प्रयोग इसी प्रयोजन से किया गया है।'

अन्तःकरणोपाधि—जीवात्मा को ब्रह्म का आभास या प्रतिबिम्ब माननेपर ब्रह्म के प्रतिबिम्ब की कल्पना अन्तःकरण में की जाती है। अन्तःकरण में ब्रह्म के उसी प्रदेश का आभास होगा जो उससे सम्बद्ध है। परिच्छिन्न अन्तःकरण जिस देह से सम्बद्ध है, वह देह निरन्तर गतिशील रहता है। अन्तःकरण भी उसके साथ-साथ देशान्तर में जाता रहता है, परन्तु ब्रह्म अथवा ब्रह्म से अभिन्न जीवात्मा में गति का होना सम्भव नहीं, क्योंकि कूटस्थ होने से ब्रह्म सदा, सर्वत्र, समानरूप से विद्यमान है। अन्तःकरण के साथ-साथ आभास बदलता रहेगा, क्योंकि ब्रह्म स्वरूप से अचल एवं अखण्ड है और अन्तःकरण परिच्छिन्न अर्थात् एकदेशी होने से चलायमान तथा खण्ड-खण्ड है। इसलिए जैसे छाता जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ आवरण होने से छाया और जहाँ-जहाँ से हटता जाता है, वहाँ-वहाँ आवरण हट जाने से धूप होती रहती है, वैसे ही जहाँ-जहाँ अन्तःकरण जाएगा वहाँ-वहाँ का ब्रह्म अज्ञानी और जिस-जिस देश को छोड़ता जाएगा, वहाँ-वहाँ का ज्ञानी होता रहेगा। इस प्रकार सर्वव्यापक और स्वरूपतः पवित्र ब्रह्म को अन्तःकरण बिगाड़ते रहेंगे। परिणामतः अन्तःकरण की उपाधि के योग से ब्रह्म को जीवरूप माननेपर नित्यशुद्ध-बुद्धमुक्तस्वभाव ब्रह्म सदा दूषित होता रहेगा और जिस प्रकार शरीर के किसी भी भाग में पीड़ा होने पर सारे शरीर में वेदना होती है, वैसे ही किसी एक अन्तःकरण में अनुभव होनेवाले सुख-दुःख, अज्ञान आदि से सम्पूर्ण ब्रह्म अभिभूत होगा। और जब सम्पूर्ण ब्रह्म दुःखी होगा तो उसका जीवभूत कोई भी अंश सुखी नहीं होगा, सब समानरूप से दुःखी होंगे। यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से ब्रह्म के अन्तःकरणोपाधि से जीवरूप होने की कल्पना नितान्त मिथ्या है।

फिर, चिदाभास अपने ब्राह्मरूप को कैसे भूल सकता है ? वह किसी जड़ या अचेतन पदार्थ का नहीं,

https://t.me/arshlibrary

और जैसे शरीर के एक देश में फोड़ा होने से सर्वत्र दुःख फैल जाता है, वैसे ही एक देश में अज्ञान-सुख-दुःख-क्लेशों की उपलब्धि होने से सब ब्रह्म दुःखादि के अनुभव से[1] युक्त होगा, और सब ब्रह्म को शुद्ध न कह सकोगे। वैसे ही कार्योपाधि अर्थात् अन्तःकरण की उपाधि के योग से ब्रह्म को जीव मानोगे, तो हम पूछते हैं कि ब्रह्म व्यापक है वा परिच्छिन्न ? जो कहो व्यापक और उपाधि परिच्छिन्न है, अर्थात् एक देशी और पृथक्-पृथक् हैं, तो अन्तःकरण चलता फिरता है वा नहीं ?

[2]**उत्तर**—चलता फिरता है।

[3]**प्रश्न**—अन्तःकरण के साथ ब्रह्म भी चलता फिरता है, वा स्थिर रहता है ?

[4]**उत्तर**—स्थिर रहता है।

प्रश्न—जब अन्तःकरण जिस-जिस देश को छोड़ता है उस-उस देश का ब्रह्म अज्ञानरहित, और जिस-जिस देश को प्राप्त होता है उस-उस देश का शुद्ध ब्रह्म अज्ञानी होता होगा। वैसे क्षण में ज्ञानी और अज्ञानी ब्रह्म होता रहेगा। इससे मोक्ष और बन्ध भी क्षणभङ्ग होगा। और जैसे अन्य के देखे का अन्य स्मरण नहीं कर सकता, वैसे कल की देखी-सुनी हुई वस्तु वा बात का ज्ञान नहीं रह सकता, क्योंकि जिस समय देखा सुना था वह दूसरा देश और दूसरा काल, जिस समय स्मरण करता वह दूसरा देश और दूसरा काल है।

जो कहो कि ब्रह्म एक है। तो सर्वज्ञ क्यों नहीं ? जो कहो कि अन्तःकरण भिन्न-भिन्न हैं, इससे वह भी भिन्न-भिन्न हो जाता होगा। तो वह[5] जड़ है, उसमें ज्ञान नहीं हो सकता। जो कहो कि न केवल ब्रह्म और न केवल अन्तःकरण को ज्ञान होता है, किन्तु अन्तःकरणस्थ चिदाभास को ज्ञान होता है। तो भी चेतन ही को अन्तःकरण द्वारा ज्ञान हुआ, तो वह नेत्र[6] द्वारा अल्प-अल्पज्ञ क्यों है ? इसलिए कारणोपाधि और कार्योपाधि के योग से ब्रह्म जीव और ईश्वर नहीं बना सकोगे।

किन्तु ईश्वर नाम ब्रह्म का है, और ब्रह्म से भिन्न अनादि, अनुत्पन्न और अमृतस्वरूप जीव का नाम जीव है। जो तुम कहो कि जीव चिदाभास का नाम है, तो वह क्षणभङ्ग होने से नष्ट हो जाएगा तो मोक्ष का सुख कौन भोगेगा' इसलिए ब्रह्म जीव और जीव ब्रह्म कभी न हुआ, न है और न होगा।

अपितु सच्चिदानन्दस्वरूप का प्रतिबिम्ब या आभास है। चिदाभास के सिद्धान्त के अनुसार, यदि ब्रह्म अपने स्वरूप को भूलकर, एक स्थान पर जन्म मरण के बन्धन में आ जाता है तो अज्ञान के सर्वत्र व्याप्त हो जाने से सम्पूर्ण ब्रह्म जन्म-मरण के आवर्तमान चक्र में आये बिना न रहेगा। प्रत्येक जीव के ब्रह्मरूप हो जाने

---

१. 'युक्त...वैसे' यह पाठ सं० ३४ में है। सं० २ से यह पाछ छूटा हुआ है। इस छूट का कारण 'से' और 'वैसे' में समानाक्षर 'से' सम्बन्धी दृष्टि-दोष ही है। सं०३४ में इस पाठ से पूर्व 'अनुभव' के आगे 'से' पद छूटा है।
२. पूर्व सिद्धान्ती के उत्तर के अन्त में प्रश्न का निर्देश है, अतः यह उत्तर वेदान्ती का है।
३. यह प्रश्न सिद्धान्ती का है।
४. यह उत्तर वेदान्ती का है।
५. वह अर्थात् अन्तःकरण।
६. उपलक्षक इन्द्रियमात्र को जानना चाहिए।

https://t.me/arshlibrary

['अद्वैत' शब्द का अर्थ और उसकी सिद्धि]

प्रश्न—तो **'सदैव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'** —छान्दो० । अद्वैतसिद्धि कैसी होगी' हमारे मत में तो ब्रह्म से पृथक् कोई सजातीय, विजातीय और स्वगत अवयवों के भेद न होने से एक ब्रह्म ही सिद्ध होता है । जब जीव दूसरा है तो अद्वैतसिद्धि कैसे हो सकती है ?

से किसी एक जीव द्वारा किये गये कर्म और उनके फलोपभोग की व्यवस्था नहीं हो सकेगी, क्योंकि अभेदरूप से वे सब एक ब्रह्म हैं । अन्तःकरण चलायमान है, अतः चिदाभास क्षणभंगुर है । देखनेवाला अन्य होगा तो उसके उत्तराधिकारी को उसकी प्रत्यभिज्ञा या अनुस्मृति कैसे होगी ? इसी प्रकार अभेदविचार से करनेवाला अन्य और भोगनेवाला अन्य होगा । वस्तुतः ईश्वर ब्रह्म के अनेक नामों में से एक है, ब्रह्म से भिन्न उसकी पृथक् सत्ता नहीं है, जबकि प्रत्येक जीव की ब्रह्म से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता है ।

सदेव सोम्येदमग्र०—अथर्ववेद का प्रसिद्ध मन्त्र है—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते । न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते । नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ..... स एष एक एकवृदेक एव ॥

परमेश्वर के एक और अद्वितीय होने का जैसा स्पष्ट तथा निर्भ्रान्त वर्णन इन मन्त्रों में है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा । सजातीय, विजातीय एवं स्वगतभेद से शून्य होने से उससे भिन्न, उसके समान या उससे बड़ी सत्ता का सर्वथा निषेध है । विभिन्न सम्प्रदायोंवाले परमेश्वर का जैसा वर्णन करते हैं, उससे वह दूसरा, तीसरा, चौथा आदि प्रतीत होने लगता है । उपर्युक्त मन्त्र में **'एक'** शब्द का तीन बार प्रयोग होने से उसके किसी भी रूप में एक से अधिक होने का बलपूर्वक निषेध कर दिया गया है । प्रकारान्तर से इसके द्वारा उसके प्रतिनिधिरूप किसी अवतार आदि की पूजा का भी स्पष्ट निषेध हो जाता है । विवेच्य सन्दर्भ में ब्रह्म को **'एकमेवाद्वितीयम्'** कहकर उपनिषत्कार ने मानो अथर्ववेद के उक्त मन्त्र को सूत्रबद्ध कर दिया है । सजातीय, विजातीय तथा स्वगतभेद से शून्य होने के कारण परमात्मा एक है । एक वृक्ष अन्य वृक्षों का सजातीय और पत्थरों का विजातीय है तथा एक ही वृक्ष में उसके पत्तों, फलों और शाखाओं में विविधता का भेद उसका स्वगतभेद है । इसी प्रकार एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का सजातीय तथा पश्वादि का विजातीय है । एक ही शरीर में आँख, नाक, कान, हाथ, पैर आदि विभिन्न अंगों में जो भेद है, वह स्वगतभेद है । जीवात्मा, परमात्मा का सजातीय है, क्योंकि दोनों चेतन हैं और अनेक बातों में एक दूसरे के समान हैं । फिर भी परमात्मा का अपना वैशिष्ट्य है जिसके कारण वह जीवात्मा से भिन्न है । जहाँ जीवात्मा अनेक हैं, वहाँ परमात्मा एक है । कोई भी परमात्मा के समान नहीं । इसलिए ब्रह्म अथवा परमेश्वर एक है—अद्वितीय है । ब्रह्म के समान प्रकृति सत् है और नित्य है, किन्तु जड़ और परिणामिनी है । इसके विपरीत ब्रह्म चेतन एवं अपरिणामी है । इस प्रकार विजातीय प्रकृति से उसका वैशिष्ट्य होने से ब्रह्म अद्वितीय है । ब्रह्म निरवयव एवं अखण्ड है, इसलिए उसमें स्वगतभेद भी नहीं है । इस दृष्टि से भी वह अद्वितीय है । इस प्रकार उपनिषदों में **'एकमेवाद्वितीयम्'** में **'अद्वितीय'** से ब्रह्म का एक तथा अन्य पदार्थों से उसका विलक्षण होना सिद्ध है, किन्तु इससे ब्रह्मेतर अन्य पदार्थों का निषेध उपपन्न नहीं होता, अर्थात् उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ब्रह्म से भिन्न पृथिवी आदि जड़ पदार्थों तथा मनुष्य, पश्वादि चेतन पदार्थों का अस्तित्व ही नहीं है ।

समूचे शरीर में एक ही आत्मा है जो उसका संचालन व नियन्त्रण करता है । इसी कारण शरीर का

https://t.me/arshlibrary

उत्तर—इस भ्रम में पड़ क्यों डरते हो ? 'विशेष्य-विशेषण' विद्या का ज्ञान करो कि उसका क्या फल है ? जो कहो कि—'व्यावर्त्तकं विशेषणं भवतीति' विशेषण भेदकारक होता है, तो इतना और भी मानो कि —'प्रवर्त्तकं प्रकाशकमपि विशेषणं भवतीति' विशेषण प्रवर्त्तक और प्रकाशक भी होता है। तो समझो कि अद्वैत विशेषण ब्रह्म का है। इसमें व्यावर्त्तक धर्म यह है कि अद्वैत वस्तु अर्थात् जो अनेक जीव और तत्व हैं, उनसे ब्रह्म को पृथक् करता है। और विशेषण का प्रकाशक धर्म यह है कि—ब्रह्म के एक होने की प्रवृति करता है। जैसे—'अस्मिन्नगरेऽद्वितीयो धनाढ्यो देवदत्तः; अस्यां सेनायामद्वितीयः शूरवीरो विक्रमसिंहः' किसी ने किसी से कहा कि इस नगर में अद्वितीय धनाढ्य देवदत्त, और इस सेना में अद्वितीय शूरवीर विक्रमसिंह है। इससे क्या सिद्ध हुआ कि देवदत्त के सदृश इस नगर में दूसरा धनाढ्य, और इस सेना में विक्रमसिंह के समान दूसरा शूरवीर नहीं है, न्यून तो हैं और पृथिवी आदि जड़ पदार्थ, पश्वादि प्राणी और वृक्षादि भी हैं, उनका निषेध नहीं हो सकता। वैसे ही ब्रह्म के सदृश जीव वा प्रकृति नहीं है, किन्तु न्यून तो हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म सदा एक है, और जीव तथा प्रकृतिस्थ तत्त्व अनेक हैं। उनसे भिन्न कर ब्रह्म के एकत्व को सिद्ध करनेहारा 'अद्वैत्' वा ' अद्वितीय' विशेषण है। इससे जीव वा प्रकृति का और कार्य्यरूप जगत् का अभाव और निषेध नहीं हो सकता, किन्तु ये सब हैं, परन्तु ब्रह्म के तुल्य नहीं। इससे न अद्वैतसिद्धि और न द्वैतसिद्धि की हानि होती है। घबराहट में मत पड़ो, सोचो और समझो।

कार्य अबाध गति से चलता है। इतने विशाल और विलक्षण संसार का व्यवस्थितरूप में संचालन इसीलिए सम्भव है, क्योंकि उसका स्वामी तथा नियामक **'एकमेवाद्वितीयम्'** ब्रह्म—**'पतिरेकः'** है। यदि शरीर में एक से अधिक जीवात्मा तथा ब्रह्माण्ड में एक से अधिक परमात्मा होते तो पौराणिक ब्रह्मा, विष्णु, महादेव की तरह आपस में लड़ मरते और अराजकता की स्थिति हो जाती।

अद्वैतसिद्धि—वस्तुतः 'द्वैत' न हो तो 'अद्वैत' की भी सिद्ध-सम्भव न हो सके। 'अद्वैत' पद 'द्वैत' का 'नञ्' (निषेध) के साथ समास होने से निष्पन्न होता है। इसलिए 'अद्वैत' के समझने-कहने के लिए 'द्वैत' को स्वीकार करना अनिवार्य है। 'अद्वैत' शब्द का अर्थ है—**'द्वयोर्भावो द्विता, द्वितैव द्वैतम्, न विद्यते द्वैतं यस्मिंस्तद् अद्वैतम्'**। 'द्वि' शब्द की प्रवृत्ति कारणभाव का नाम है 'द्विता' अर्थात् 'द्वि' शब्द की प्रवृत्ति का कारण है—भेद। बिना भेद के 'द्वि' शब्द की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः 'द्विता' का मुख्य अर्थ हुआ—भेद। 'द्विता' से स्वार्थ में 'अण्' होकर 'द्वैत' निष्पन्न होता है 'द्विता'='द्वैत' भेद नहीं है जिसमें वह 'अद्वैत' हुआ अर्थात् सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदशून्य=अद्वितीय ब्रह्म। इस प्रकार 'द्वैत' का प्रतिषेध ही 'अद्वैत' है। 'द्वैत' के प्रतिषेध के लिए पहले 'द्वैत' की सत्ता माननी होगी क्योंकि 'अद्वैत' का प्रादुर्भाव 'द्वैत' के बिना सम्भव नहीं।

अद्वैतवादियों के मत में यदि ब्रह्म से अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ नहीं है तो द्विताद्वैत की सिद्धि कैसे होगी ? और उसके अभाव में अद्वैत कहाँ रहेगा और कैसे ब्रह्म का विशेषण बनेगा ? यदि मिथ्या प्रपञ्चरूप जगत्स्थ पदार्थों की दृष्टि से सिद्धि मानी जाएगी तो मिथ्या की अपेक्षा से होनेवाला द्वैत भी मिथ्या होगा। तब उस मिथ्या द्वैत के अभाव या निषेध का द्योतन करनेवाला अद्वैत भी मिथ्या सिद्ध होगा। फिर वह मिथ्या विशेषण सद् ब्रह्म का कैसे हो सकता है ? इस प्रकार 'अद्वैत' शब्द ही बता रहा है कि कहीं 'द्वैत' = भेद सत्यरूप से अवश्य विद्यमान है और उस सत्य द्वैत=भेद के अभाव का ही निर्देश 'अद्वैत' शब्द से होता है। इस प्रकार 'अद्वैत' शब्द ब्रह्म के विशेषण के रूप में उसके साजात्य, वैजात्य, स्वगतभेदशून्य

https://t.me/arshlibrary

[साधारण से साधर्म्य से एकता नहीं होती]

प्रश्न—ब्रह्म के सत् चित् आनन्द, और जीव के अस्ति, भाति, प्रियरूप से एकता होती है, फिर क्यों खण्डन करते हो ।

उत्तर—किञ्चित साधर्म्य मिनलने से एकता नहीं हो सकती है जैसे पृथिवी जड़, दृश्य है, वैसे जल, अग्नि आदि भी जड़ और दृश्य हैं, इतने से एकता नहीं होती और इनमें वैधर्म्य=भेकारक अर्थात् विरुद्ध धर्म, जैसे—गन्ध, रूक्षता, काठिन्य आदि गुण पृथिवी, और रस, द्रवत्व, कोमलत्वादि धर्म जल, और रूप, दाहकत्वादि धर्म अग्नि के होने से एकता नहीं ।

जैसे मनुष्य और कीड़ी आँख से देखते, मुख से खाते और पग से चलते हैं, तथापि मनुष्य की आकृति दो पद और कीड़ी की आकृति अनेक पग आदि भिन्न होने से एकता नहीं होती । वैसे परमेश्वर के अनन्तज्ञान, आनन्द, बल, क्रिया, निर्भ्रान्तित्व और व्यापकता जीव से, और जीव के अल्पज्ञान, अल्पबल अल्पस्वरूप, सब भ्रान्तित्व और परिच्छिन्नतादि गुण ब्रह्म से भिन्न होने से जीव और परमेश्वर एक नहीं, क्योंकि इनका स्वरूप भी (परमेश्वर अतिसूक्ष्म और जीव उससे कुछ स्थूल होने से) भिन्न है ।

होने से उसके अद्वितीय होने का द्योतक है । इससे जीव का अभाव या निषेध सिद्ध नहीं होता ।

साधर्म्य-वैधर्म्य—ब्रह्म और जीव के चेतन और कुछ अन्य गुणों में समान होते हुए भी दोनों एक नहीं हो सकते, क्योंकि वैधर्म्य=भेदकारक अर्थात् विरुद्ध धर्मों का होना उनकी एकता में बाधक है । चीनी और नमक के रंग में समानता होनेपर भी चीनी की मिठास और नमक का खारापन चीनी का काम नमक से और नमक का काम चीनी से लिये जाने में बाधक है, अतः थोड़ी समानता पाये जाने से पदार्थों में अभिन्नता नहीं हो सकती । इसी प्रकार किंचित् साधर्म्य होनेपर भी वैधर्म्य के कारण जीव ब्रह्म न कभी एक थे, न हैं और न होंगे ।

द्वितीयाद्वै भयं भवति—बृहद्० उप० १।४।२ में यह पूरा सन्दर्भ इस प्रकार है—

''सोऽबिभेत् तस्मादेकाकी बिभेति स स हायमीक्षांचक्रे यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति । तत एवास्य भयं वीयाय कस्माद्ध्यभेष्यद् द्वितीयाद्वै भयं भवति ॥

अर्थ—यह जीवात्मा अकेला ही था तथापि (सः अबिभेत्) वह डरने लगा (तस्मात् एकाकी बिभेति) इसी हेतु आज भी अकेला आदमी डरता है (स अयं ह) सो यह भयभीत आत्मा (ईक्षांचक्रे) ईक्षण अर्थात् विचार करने लगा (यद् मत् अन्यत् नास्ति) कि मुझसे अन्य तो यहाँ कोई है ही नहीं, (कस्मात् नु बिभेमि इति) फिर मैं क्यों डर रहा हूँ ? इस प्रकार जब उसने विचारा तो उसका भय चला गया । अब भय का निराकरण करते हैं कि (द्वितीयाद् वै भयं भवति) दूसरे आदमी से भय होता है । पर दूसरा कोई था नहीं । तब (कस्माद् हि अभेष्यत्) क्यों डरेगा ?

पहले कहा—**'एकाकी बिभेति'**—अकेला डरता है । फिर कहा—**'द्वितीयाद् वै भयं भवति'** दूसरे से भय होता है । यदि दूसरे से भय होता है तो पहले क्यों डरता था जब दूसरा कोई था ही नहीं । इसी प्रकार पहले अकेला था तो डरता था । फिर जब उसका अकेलापन दूर हो गया तो दूसरे से क्यों डरने लगा ? इस रहस्य को समझने के लिए उपनिषदों की शैली को हृदयङ्गम करना आवश्यक है ।

दर्शन में बुद्धितत्व प्रधान होता है, काव्य में रागात्मक तत्त्व । उपनिषद् में भावात्मक तत्त्व की प्रधानता होने से उनकी शैली में अलंकारिता और रहस्यात्मकता होने के कारण लक्षणा तथा व्यंजना का प्राचुर्य

https://t.me/arshlibrary

[भय का कारण अद्वैत बुद्धि]

प्रश्न—

'अथोदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति' । —तै. उप. ब्रह्म० ७

'द्वितीयाद् वै भयं भवति' ॥ —यह बृहदारण्यक (१।४।२) का वचन है ।

[**अर्थः**—] जो ब्रह्म और जीव में थोड़ा भी भेद करता है, उसको भय प्राप्त होता है, क्योंकि दूसरे ही से भय होता है ॥

उत्तर—इसका [1]अर्थ यह नहीं है, किन्तु जो जीव परमेश्वर का निषेध, वा किसी एक देश-काल में परिच्छिन्न परमात्मा को माने, वा उसकी आज्ञा और गुण-कर्म-स्वभाव से विरुद्ध होवे, अथवा किसी दूसरे मनुष्य से वैर करे, उसको भय प्राप्त होता है, क्योंकि 'द्वितीय बुद्धि' अर्थात् ईश्वर का मुझसे कुछ सम्बन्ध नहीं, तथा किसी मनुष्य से कहे कि तुझको मैं कुछ नहीं समझता, तू मेरा कुछ भी नहीं कर सकता, वा किसी की हानि करता और दुःख देता जाए, तो उसको उनसे भय होता है । और सब प्रकार का अविरोध हो, तो वे एक कहाते हैं । जैसा संसार में कहते हैं कि देवदत्त, यज्ञदत्त और विष्णुमित्र एक हैं, अर्थात् अविरुद्ध हैं । विरोध न रहने से सुख, और विरोध से दुःख प्राप्त होता है ।

है । परिणामतः दर्शनों तथा उपनिषदों में वस्तु का प्रस्तुतिकरण एक दूसरे से भिन्न है । जब विशुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों को काव्य का रूप दिया जाता है तो अभिव्यक्ति भावप्रधान हो जाती है । जब मनुष्य त्रिगुणात्मक प्रकृति के बन्धनों से छूटकर सारे संसार को अपना घर समझने लगता है (**यत्र विश्वं भवत्येक-नीडम्**—यजुः०३२।८) उस अवस्था में उसका प्राणिमात्र से ऐकात्म्य-सा हो जाता है । तब वह हार की मणियों के परस्पर भिन्न-भिन्न होते हुए भी उनमें अनुस्यूत सूत्र के समान सृष्टि के वैविध्य में ओत-प्रोत एक आत्मा का दर्शन करने लगता है । तब उसके लिए कोई दूसरा--पराया नहीं रह जाता । किसी से राग-द्वेष न होने के कारण न वह किसी से डरता है और न कोई उससे डरता है । **'द्वितीयाद् वै भयम् भवति'** का यही अभिप्राय है ।

ईश्वर में इच्छा—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप है । अथर्ववेद (१०।८।४४) में उसे **'अकामः ..... रसेन तृप्तः कुतश्चन नोनः'** अर्थात् स्वार्थकामना से रहित, आनन्द से तृप्त तथा हर प्रकार से पूर्ण (कहीं से न्यून नहीं) कहा गया है । फिर जगद्रचना किस लिए ? **'न हि प्रयोजनमनभिसन्धाय प्रेक्षावन्तः प्रवर्त्तन्ते'**—कोई भी समझदार मनुष्य बिना प्रयोजन के किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता ।

वस्तुत प्रयोजन अपना और पराया दो प्रकार का होता है । कुछ पुरुषार्थ मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति अथवा सुख-समृद्धि के लिए करता है और कुछ दूसरों के लिए । परोपकारप्रिय चेतन स्वभाव से परसेवा-निरत होता है । अनेक निरीह, निष्काम एवं निःस्पृह व्यक्ति दूसरों की सुख-सुविधाओं के लिए कार्य में प्रवृत्त होते हैं । वहाँ निजी प्रयोजन प्रायः कुछ नहीं रहता । जहाँ लोग अपने रहने के लिए मकान बनवाते हैं वहाँ दूसरों की सुविधा के लिए भी निर्माण करवाते हैं । जहाँ लोग अपने घर में नल लगवाते हैं या कुँआ बनवाते हैं वहाँ राजमार्गों तथा सार्वजनिक स्थानों पर दूसरों की प्यास बुझाने के लिए भी कुएँ बनवाते हैं । सार्वजनिक औषधालयों, विद्यालयों, पुस्तकालयों आदि के बनवाने में भी लोग इसी भावना से प्रवृत्त होते

---

१. 'अर्थ यह...जीव' इस पाठ के स्थान में 'अर्थ यह नहीं है कि जो जीव' यह पाठ है ।

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—ब्रह्म और जीव की सदा एकता अनेकता रहती है, वा कभी दोनों मिलके एक भी हेते हैं, वा नहीं ?

उत्तर—अभी इसके पूर्व कुछ उत्तर दे दिया है, परन्तु साधर्म्य अन्वयभाव से एकता होती है। जैसे आकाश से मूर्त्त द्रव्य जड़त्व होने से, और कभी पृथक् न रहने से एकता। और आकाश के विभु, सूक्ष्म, अरूप अनन्त आदि गुण, और मूर्त्त के परिच्छिन्न, दृश्यत्व आदि वैधर्म्य से भेद होता है, अर्थात् जैसे पृथिव्यादि द्रव्य आकाश से भिन्न कभी नहीं रहते, क्योंकि 'अन्वय' अर्थात् अवकाश के विना मूर्त्त द्रव्य कभी नहीं रह सकता, और 'व्यतिरेक' अर्थात् स्वरूप से भिन्न होने से पृथक्ता है। वैसे ब्रह्म के व्यापक होने से जीव और पृथिवी आदि द्रव्य उससे अलग नहीं रहते, और स्वरूप से एक भी नहीं होते।

जैसे घर के बनाने के पूर्व भिन्न-भिन्न देश में मट्टी, लकड़ी और लोहा आदि पदार्थ आकाश ही में रहते हैं। जब घर बन गया तब भी आकाश में है, और जब वह नष्ट हो गया, अर्थात् उस घर के सब अवयव भिन्न-भिन्न देश में प्राप्त हो गये, तब भी आकाश में हैं, अर्थात् तीन काल में आकाश से भिन्न नहीं हो सकते। और स्वरूप से भिन्न होने से न कभी एक थे, न हैं और न कभी होंगे। इसी प्रकार जीव तथा सब संसार के पदार्थ परमेश्वर में व्याप्त होने से परमात्मा से तीनों कालों में अभिन्न और स्वरूप से भिन्न होने से एक कभी नहीं होते। आजकल के वेदान्तियों की दृष्टि काणे पुरुष के समान अन्वय की ओर पड़के व्यतिरेकभाक से छूट विरुद्ध हो गई है। कोई भी ऐसा द्रव्य नहीं है कि जिसमें सगुण-निर्गुणता, अन्वय-व्यतिरेक, साधर्म्य-वैधर्म्य और विशेष्य-विशेषण भाव न हो।

[ईश्वर सगुण भी है, और निर्गुण भी]

प्रश्न—परमेश्वर सगुण है, वा निर्गुण ?

उत्तर—दोनों प्रकार है।

हैं। उनका ऐसा स्वभाव बन जाता है। ईश्वर में किसी प्रकार की अपूर्णता नहीं है, न ही उसकी कोई अतृप्त इच्छा है। इसलिए ईश्वर के पक्ष में किसी प्रकार के प्रयोजन का निर्देश नहीं किया जा सकता। सृष्टि रचना का उद्देश्य जीवों के पूर्वकृत कर्मों के फलोपभोग के लिए समुचित सामग्री उपस्थित करना है। जिस प्रकार राजा अपनी प्रजा के हिताहित का विचार करके अपेक्षित व्यवस्था करता है, उसी प्रकार प्रजापति परमेश्वर प्राणियों के हिताहित का विचार करके सृष्टिनिर्माण की व्यवस्था करता है।

वेद ईश्वर से प्रकाशित हुए

यस्मादृचो अपातक्षन्०—इस मन्त्र का भाग 'कतमः स्विदेव सः' इस सूक्त के कई मन्त्रों में आता है। इसका पदपाठ है—**'कतमः, स्वित्, एव, सः'**। ग्रन्थकार ने यह मन्त्र ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (वेदोत्पत्तिविषय व ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषय) तथा पञ्चमहायज्ञविधि में भी उद्धृत किया है। ऋ०भा०भू० में उपलब्ध व्याख्यान को देखकर लगता है कि ग्रन्थाकार को **'कतमः स्विद् देवः सः'** पाठ मान्य है। वहाँ इस मन्त्र की व्याख्या में ग्रन्थकार ने लिखा है—

"(यस्मादृचो अपा०) जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है उसी से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद (अथर्वाङ्गिरसः) अथर्ववेद, ये चारों उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार रूपकालंकार से वेदों की उत्पत्ति का प्रकाश ईश्वर करता है कि अथर्ववेद मेरे मुख के समतुल्य, सामवेद लोमों के समान, यजुर्वेद

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—भला एक मियान में दो तलवार कभी रह सकती हैं ? एक पदार्थ में सगुणता और निर्गुणता कैसे रह सकती है ?

उत्तर—जैसे जड़ के रूपादि गुण हैं, और चेतन के ज्ञानादि गुण जड़ में नहीं हैं, वैसे चेतन में इच्छादि गुण हैं, और रूपादि जड़ के गुण नहीं हैं, इसलिए **यद् गुणैस्सह वर्त्तमानं तत् 'सगुणम्'; गुणेभ्यो यन्निर्गतं पृथग्भूतं तत् 'निर्गुणम्'** जो गुणों से सहित वह **'सगुण'** और गुणों से रहित वह **'निर्गुण'** कहाता है। अपने-अपने स्वाभाविक गुणों से सहित, और दूसरे विरोधी के गुणों से रहित होने से सब पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं। कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है कि जिसमें केवल निर्गुणता वा केवल सगुणता हो, किन्तु एक ही में सगुणता और निर्गुणता सदा रहती है। वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त-ज्ञान-बलादि गुणों से सहित होने से **'सगुण'** और रूपादि जड़ के तथा द्वेषादि जीव के गुणों से पृथक् होने से **'निर्गुण'** कहाता है।

[निराकार को निर्गुण और साकार को सगुण कहना ठीक नहीं]

प्रश्न—संसार में निराकार को निर्गुण, और साकार को सगुण कहते हैं, अर्थात् जब परमेश्वर जन्म नहीं लेता तब **'निर्गुण'**, और जब अवतार लेता है तब **'सगुण'** कहाता है।

उत्तर—यह कल्पना केवल अज्ञानी और अविद्वानों की है। जिनको विद्या नहीं होती, वे पशु के समान यथा-तथा बड़ाया करते हैं। जैसे सन्निपात ज्वरयुक्त मनुष्य अण्डबण्ड बकता है, वैसे ही अविद्वानों के कहे वा लेख को व्यर्थ समझना चाहिए।

[ईश्वर न रागी है, और न विरक्त]

प्रश्न—परमेश्वर रागी है, वा विरक्त ?

उत्तर—दोनों में नहीं, क्योंकि 'राग' अपने से भिन्न उत्तम पदार्थों में होता है। सो परमेश्वर से कोई पदार्थ पृथक् वा उत्तम नहीं है, इसलिए उसमें राग का सम्भव नहीं और जो प्राप्त को छोड़ देवे, उसको 'विरक्त' कहते हैं। ईश्वर व्यापक होने से किसी पदार्थ को छोड़ ही नहीं सकता, इसलिए **'विरक्त'** भी नहीं।

[ईश्वर में इच्छा का संभव नहीं]

प्रश्न—ईश्वर में इच्छा है, वा नहीं ?

उत्तर—वैसी इच्छा नहीं। [जैसी जीवों में देखी जाती है।]

क्योंकि **इच्छा** भी अप्राप्त, उत्तम और जिसकी प्राप्ति से सुख-विशेष होवे [उसकी होती है]। तो ईश्वर में इच्छा [कैसे] हो सके ? न उसे कोई अप्राप्त पदार्थ, और न कोई उससे उत्तम है और पूर्णसुखयुक्त होने से सुख की अभिलाषा भी उसे नहीं है। इसलिए ईश्वर में इच्छा का तो सम्भव नहीं, किन्तु **'ईक्षण'** अर्थात् जो सब प्रकार की विद्या का दर्शन, और सब सृष्टि का करना कहाता है, वह **'ईक्षण'** है। इत्यादि संक्षिप्त विषयों से ही सज्जन लोग बहुत विस्तरण कर लेंगे।

हृदय के समान और ऋग्वेद प्राण की नाई है। (ब्रूहि कतमः स्विद् एव सः) कि चारों वेद जिससे उत्पन्न हुए हैं, सो कौन-सा देव है, उसको तुम मुझसे कहो ? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि (स्कम्भं तं०) जो सब जगत् का धारणकर्त्ता परमेश्वर है, उसका नाम स्कम्भ है। उसी को तुम वेदों का कर्त्ता जानो और यह भी

https://t.me/arshlibrary

[वेद ईश्वर से प्रकाशित हुए]

अब संक्षेप से ईश्वर का विषय लिखकर वेद का विषय लिखते हैं—

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम् स्कम्भ तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ [१॥]

—अथर्व०कां० १० । प्रपा २३ । अनु० ४। मं० २०(१०।७।२०)

[**अर्थः—**] जिस परमात्मा से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद प्रकाशित हुए हैं, वह कौन-सा देव है ? इसका उत्तर—जो सबको उत्पन्न करके धारण कर रहा है, वह परमात्मा है [॥१॥]

स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥२॥

जो स्वयम्भू, सर्वव्यापक, शुद्ध, सनातन, निराकर परमेश्वर है, वह सनातन जीवरूप प्रजा के कल्याणार्थ यथावत् रीतिपूर्वक वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेश करता है [॥२॥]

प्रश्न—परमेश्वर को आप निराकार मानते हो, वा साकार ?

उत्तर—निराकार मानते हैं ।

जानो कि उसको छोड़के मनुष्यों को उपासना करने के योग्य दूसरा कोई इष्टदेव नहीं है, क्योंकि ऐसा अभागा मनुष्य कौन है जो वेदों के कर्ता, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को छोड़के दूसरे को परमेश्वर मानके उपासना करे ।"

इस मन्त्र में यजुः और ऋक् के रूपक के विषय में कुछ नहीं कहा है । पुनरपि ग्रन्थकार ने इनके रूपकों का सम्बन्ध अथर्ववेद ६।६।१-२ के **'परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्यम् । सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते'** मन्त्रों के आधार पर दर्शाया है । इसमें यजुः का हृदयत्व तो स्पष्ट है, परन्तु ऋक् का प्राणत्व स्पष्ट निर्दिष्ट नहीं है । मन्त्र में ऋक् के साथ **'अनूक्य'** शब्द का निर्देश है । सायण ने **'अनूक्य'** का अर्थ **'अस्थिसन्धि'** किया है, परन्तु यह अर्थ **'परूंषि'** से गतार्थ मानकर ग्रन्थकार ने **'अनूक्य'** शब्द का **'अनूच्यते समवाप्यते इति'** ऐसा यौगिक अर्थ मानकर 'प्राण' अर्थ स्वीकार किया प्रतीत होता है ।

'यस्मादृचोऽपातक्षन्' इस मन्त्र में **'अपातक्षन्'** तथा **'अपाकषन्'** दोनों ही क्रियाओं से सामान्यतया वेदों के प्रादुर्भाव का अर्थ ही अभीष्ट है । **'अपातक्षन्'** क्रिया से समुत्पन्न ऋग्वेद के मन्त्रों में स्तुति विद्याओं की सूक्ष्मता द्योतित है । **'अपाकषन्'** क्रिया से सत्कर्मबोधक यजुर्वेद के ज्ञान के कषण में व्यवहार का परीक्षण सूचित होता है । इस प्रकार यहाँ अनेक धातुओं का प्रयोग विशिष्ट अर्थ के द्वारा विभिन्न विद्याओं के द्योतन के लिए है । एक ही अर्थ में विभिन्न धातुओं का और अनेकार्थवाची एक धातु का प्रयोग वेद में काव्यसौष्ठव-प्रदर्शन के लिए है । परमात्मा के द्वारा चारों वेदों की उत्पत्ति में किसी प्रकार का भेद नहीं है । काटने के अर्थ में तक्षण और छीलने के अर्थ में कषण यहाँ संगत नहीं । ब्रह्म में अंशांशिभावकल्पना व्यर्थ है । जिस प्रकार काटना और छीलना काष्ठ में सम्भव है, उस प्रकार परमात्मा में नहीं हो सकता । कूटस्थ तथा निरवयव परमात्मा में तक्षणादि क्रिया सम्भव नहीं । ब्रह्म सृष्टि का निमित्तकारण है, निमित्तोपादानकारण नहीं, अतः ब्रह्म के अंशरूप में वेदों के प्रादुर्भाव की कल्पना नहीं हो सकती ।

स्कम्भ (स्कम्भ+घञ्) का अर्थ है टेक । हिन्दी का खम्भा शब्द इसी स्कम्भ से विकसित हुआ प्रतीत होता है, अतः यहाँ लाक्षणिकरूप से स्कम्भ का अर्थ है आलम्ब या आधार । आप्टे ने अपने कोश में इसका एक अर्थ परमेश्वर किया है । उस ईश्वर से वेद का प्रादुर्भाव होने से वही उसका आलम्ब या आधार

https://t.me/arshlibrary

है। यहाँ वेद से केवल मन्त्रसंहिता से तात्पर्य है। उसमें ब्राह्मणग्रन्थों का अन्तर्भाव नहीं है, क्योंकि वे तो वेदों के व्याख्यानग्रन्थ हैं। व्याख्यानग्रन्थ कभी मूलग्रन्थ नहीं होता। सायणाचार्य ने काण्वसंहिताभाष्य में कितना स्पष्ट कहा है—**'तत्र शतपथब्राह्मणस्य व्याख्यानरूपत्वाद् व्याख्येयमन्त्रप्रतिपादकः संहिताग्रन्थः पूर्वभवित्वात् प्रथमो भवति'** —अर्थात् शतपथब्राह्मण मन्त्रों का व्याख्यानरूप है, व्याख्येयमन्त्रों का प्रतिपादक संहिताग्रन्थ है, जो पूर्व होने के कारण प्रथम है। इस प्रकार व्याख्येय और व्याख्यानग्रन्थ की एकरूपता तथा एककालिकता न होने से ब्राह्मणग्रन्थ वेद नहीं।

वेदान्तसूत्र (**शास्त्रयोनित्वात्**—१।१।३) के भाष्य में शंकराचार्य ने लिखा है—**'महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति'**—अर्थात् अनेक विद्या स्थानों से सम्पन्न दीपक के समान सब अर्थों का प्रकाश करने में समर्थ महान् ऋग्वेदादिशास्त्र का योनि (कारण) ब्रह्म है। ऐसे ऋग्वेदादिरूप सर्वगुणसम्पन्न शास्त्र की उत्पत्ति सर्वज्ञ को छोड़कर अन्य किसी से सम्भव नहीं। **'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्'** (गीता ३।१५) की व्याख्या में शंकर लिखते हैं—**'अक्षरं ब्रह्म परमात्मा समुद्भवो यस्य तदक्षरसमुद्भवं ब्रह्म वेद इत्यर्थः'** अर्थात् अक्षर (परमात्मा) उत्पत्तिस्थान है जिसका ऐसा ब्रह्म अर्थात् वेद परमात्मा से उत्पन्न हुआ। वस्तुतः वेद की न उत्पत्ति होती है, न विनाश। मात्र अभिव्यक्ति और कारण (ब्रह्म) में विलय होता है। वेदान्तसूत्र **'अतएव च नित्यत्वम्'** (१।३।२६) का भाष्य करते हुए शंकर ने महाभारत से निम्न श्लोक उद्धृत किया है—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा ॥
सेतिहासाननित्येतिहासयुक्तानित्यर्थः।

'पूर्वे कल्पे ये वेदास्त एव परमात्ममूर्तेर्ब्रह्मणः सर्वज्ञस्य स्मृत्यारूढास्तानेव कल्पादौ अग्निवायुरविभ्य आचकर्ष।' **मनु० १।२३, कुल्लूकभट्टटीका।**

अर्थात्—जो पूर्वकल्प में थे, वे ही वर्त्तमान कल्प के आदि में अग्नि आदि ऋषियों से प्रादुर्भूत हुए।

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ —गीता ८।१८

सृष्टिरचना की सारी व्यवस्थाएँ प्रत्येक सर्ग में समान रहती हैं। स्वयं भगवान् की घोषणा है—**'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्'** (ऋग्० १०।१९०।३)। परमेश्वर ने सूर्य और चन्द्रमा को पूर्वकल्प के समान बनाया है। यहाँ सूर्य और चन्द्रमा उपलक्षणार्थ हैं। महाप्रलय के अनन्तर जब सर्ग की आवृत्ति होती है—पुनः सृष्टिरचना होती है तो वह पहली सृष्टि के समान होती है। जब सृष्टि पहले जैसी होगी तो उसका विधान कैसे भिन्न हो सकता है? वास्तव में वेदों के ईश्वर में अविच्छिन्नरूप से स्थित होने से प्रलयकाल में भी वेदज्ञान के प्रलय न होने के कारण स्वरूपनित्यता है। प्रलय सृष्टि की होती है, ईश्वर की नहीं। ईश्वर का ज्ञान सदा बना रहता है। इसीलिए मेधातिथि कहते हैं—**''नैव वेदाः प्रलीयन्ते महाप्रलयेऽपि'। न्यायभाष्यकार का कथन है—'मन्वन्तरयुगान्तरेषु चातीतानागतेषु सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाविच्छेदो वेदानां नित्यत्वम्'** अर्थात् अतीत या अनागत मन्वन्तर वा युगान्तरों से वेद अविच्छिन्न चले आ रहे हैं। योगदर्शन के भाष्यकार व्यासमुनि **'तस्य वाचकः प्रणवः'** (योग० १।२७) की व्याख्या में कहते

https://t.me/arshlibrary

हैं—**'सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते'** अर्थात् प्रत्येक सर्ग में उसी वाच्यवाचक शक्ति के आधारपर संकेत किया जाता है। ईश्वरीय ज्ञान प्रकृति की विकृतिरूप सृष्टि की अपेक्षा नहीं रखता। **'न हि छन्दांसि क्रियन्ते नित्यानि छन्दांसि'**—अनादि परम्परा से प्राप्त होने के कारण वेदों के स्वतन्त्ररूप से बनाये जाने का व्यवहार नहीं किया जाता। उन्हें नित्य मानकर **'अनादिनिधना वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा'**—परमात्मा द्वारा निर्मित न कहकर **'उत्सृष्ट'** कहने का यही अभिप्राय है कि वेद उत्पन्न नहीं होते, प्रत्युत जो प्रलयकाल में व्यवहृत न होने से अव्यक्त हो जाते हैं, वे ही सर्गकाल में व्यक्त हो जाते हैं।

'ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः (ऋ० १।१६४।३६)—जिस अविनाशी परमात्मा में सर्वविद्यामय ऋगादि चारों वेद और सूर्यादि लोक स्थित हैं, इस प्रमाण से स्पष्ट है कि परमेश्वर के ज्ञान में वे वेद सदा वर्त्तमान रहते हैं। सर्गकाल में उनका प्रादुर्भाव तथा प्रलयकाल में अपने कारण (ब्रह्म) में विलय होने से तिरोभाव होता है। पुस्तकादि के रूप में अनित्य होनेपर भी ज्ञान के रूप में वेदों की नित्यता अक्षत है।

स्वयंभूः—यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नविरँ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

—यजुः० ४०।८

इस मन्त्र में परमात्मा की एक संज्ञा **'कवि'** है। **'कु शब्दे'** इस धातु से कवि शब्द सिद्ध होता है। परमात्मा सृष्टि के आदि में वेद के द्वारा सब विद्याओं का उपदेष्टा होने से कवि कहाता है। उणादिसूत्र **'अच इः'** (४।११४) की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि मेधावी, विद्वान्, क्रान्तदर्शी और सब विद्याओं का उपदेष्टा होने के कारण परमात्मा की कवि संज्ञा है—**'कौति शब्दयति उपदिशति स कविः—मेधावी विद्वान् क्रान्तदर्शनो वा।'** आचार्य यास्क ने भी प्रसंगवश कवि शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा है—**'कविः मेधावी क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा'**—निरुक्त १२।७—मेधावी को कवि इसलिए कहते हैं, क्योंकि वह क्रान्तदर्शी होता है। निरुक्त के व्याख्याकारों ने कवि का अर्थ सर्वज्ञ किया है—**'क्रान्तं दूरगतदर्शनं प्रकाशस्य विज्ञानस्य, अवगन्ता वा सर्वस्य ज्ञाता।'** सर्वद्राष्टा होने से भगवान् कवि है। बृहद्० उप० में इसी अर्थ का ग्रहण करके कहा है कि उस ईश्वर के सिवा कोई विज्ञाता=सर्वज्ञ नहीं है—**'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता'** (बृहद्० ३।७।२३)। एक निर्वचन के अनुसार क्रान्त अर्थात् अतीत-अनागत का ज्ञाता होने से भगवान् कवि कहाता है—**'क्रान्तं वेत्तीति कविः'**। यजुर्वेद के प्रायः सभी भाष्यकारों ने यही निर्वचन किया है।

उस महाकवि के काव्य के सम्बन्ध में अथर्ववेद (१०।८।३२) में कहा है—**'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति'** अर्थात् प्रभु का काव्य न नष्ट होता है और न पुराना पड़ता है। उस काव्य के दो रूप हैं—एक शब्दरूप जिसे वेद कहते हैं और दूसरा अर्थरूप जिसे जगत् कहते हैं। एक ही काव्य के दो पृष्ठ हैं—एक पर पद अंकित हैं और दूसरे पर पदार्थ। पहला **'न ममार न जीर्यति'**—अजर-अमर है, जबकि दूसरा नित्य परिवर्त्तनशील।

वेद के ईश्वरीय रचना होने में कणाद ने यह तर्क दिया है कि धर्मपदवाच्य पदार्थों के रूप में विस्तृत जगत् जिस प्रक्रिया से अभिव्यक्त किया जाता है, उसका विवरण उसी रूप में वेदों में पाया जाता है। यह

https://t.me/arshlibrary

[जीवों को अन्तर्यामीरूप से वेदोपदेश]

प्रश्न—जब निराकार है, तो वेद-विद्या का उपदेश विना मुख के वर्णोच्चारण कैसे हो सका होगा ? क्योंकि वर्णों के उच्चारण में तालवादिस्थान, जिह्वा का प्रयत्न अवश्य होना चाहिए ।

उत्तर—परमेश्वर के सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक होने से जीवों को अपनी व्याप्ति से वेद-विद्या के उपदेश करने में कुछ भी मुखादि की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि मुख-जिह्वा से वर्णोच्चारण अपने से भिन्न को बोध होने के लिए किया जाता है, कुछ अपने लिए नहीं, क्योंकि मुख-जिह्वा के व्यापार करे विना ही मन में अनेक व्यवहारों का विचार और शब्दोच्चारण होता रहता है । कानों को अङ्गुलियों से मूँदके देखो कि विना मुख-जिह्वा-तालवादि स्थानों के कैसे-कैसे शब्द हो रहे हैं । वैसे जीवों को अन्तर्यामिरूप से उपदेश किया है, किन्तु केवल दूसरे को समझाने के लिए उच्चारण करने की आवश्यकता है ।

मान लेनेपर कि इस नामरूपात्मक जगत् का रचयिता परमेश्वर है, यह मानना होगा कि इसकी प्रक्रिया को भी वही जानता है, न बनानेवाला मानव नहीं । इससे स्पष्ट है कि ईश्वररचित जगत् और उसकी अभिव्यक्ति की प्रक्रियाओं का यथायथ वर्णन वेद में उपलब्ध है । जैसे एक शिल्पी किसी यन्त्र का अथवा एक वैद्य किसी ओषधि का निर्माण करता है और उसका विवरण देने के लिए एक ग्रन्थ की रचना करता है तो दोनों में सामंजस्य होनेपर यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि दोनों एक ही व्यक्ति की रचनाएँ हैं । वैसे ही वेद ब्रह्म का सिद्धान्तज्ञान है और सृष्टि उसकी प्रायोगिक (Practical) रचना है । विश्व की नामरूपात्मक रचना उभयविध रचना का एकमात्र कर्त्ता ब्रह्म है । अतएव दोनों में पूर्ण सामंजस्य है । शास्त्र से सृष्टिरचना का बोध होता है और प्रतिभाशाली मानव के द्वारा सृष्टिरचना की जानकारी से शास्त्र की परीक्षा होती है । दोनों में पूर्ण सामंजस्य होने से स्पष्ट हो जाता है कि वेद में कोई बात सृष्टिक्रम के विपरीत नहीं है । इसी आधारपर ग्रन्थकार ने लिखा है कि स्वयम्भू परमेश्वर अपनी सनातन प्रजा (जीवों) के लिए 'यथावत् रीति' से (याथातथ्य) वेद द्वारा सब विद्याओं का प्रकाश करता है ।

'स्वयं' पूर्वक **'भू सत्तायाम्'** धातु से **'स्वयम्भू'** शब्द सिद्ध होता है । जो आपसे आप है—अपनी सत्ता या अस्तित्व के लिए किसी अन्य पर आश्रित नहीं, वह स्वयम्भू कहाता है । निघण्टु के व्याख्याता देवराज यज्वा इस शब्द पर लिखते हैं—**'स्वयं भवति न केनचित् सृज्यते'** (निघण्टुटीका १।३।११)—जिसे कोई उत्पन्न नहीं करता, वह स्वयं ही है, इसलिए स्वयम्भू है ।

निराकार ईश्वर से वेदज्ञान का संक्रमण

भाषा विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम है । वाणी से शब्दोच्चारण की आवश्यकता अपने से भिन्न व्यक्ति को बोध कराने के लिए होती है, अर्थात् जब उपदेश्य और उपदेष्टा में दूरी हो तो भाव-संक्रमण के लिए वर्णोच्चारण की अपेक्षा होती है, परन्तु जब अपने-आपसे बात करनी होती है, अर्थात् जब हम चुपचाप बैठकर किसी विषय का चिन्तन करते हैं तो उस समय के संकल्प-विकल्प अथवा प्रश्नोत्तर की शृंखला में कण्ठ-तालु-जिह्वा आदि के व्यापार के बिना ही हमारे मन में सूक्ष्मरूप में भाषा बोली जा रही होती है । वह मन-ही-मन बोली जा रही सूक्ष्म भाषा हमारे द्वारा बोली जानेवाली स्थूल भाषा के संस्कारों के स्मृतिरूप होती है । सृष्टि के आदि में जब परमात्मा ऋषियों को वेद का ज्ञान देता है तो अन्तर्यामी होने के कारण वहाँ विद्यमान होता हुआ उनकी आत्मा में वेद और उसकी भाषा के संस्कार डालकर उन्हें उद्बुद्ध कर देता है । तब अर्थों को जानते हुए उस शब्दराशि को वे ऐसे ही उच्चारण करने लगते हैं जैसे कोई व्यक्ति

https://t.me/arshlibrary

पूर्वाभ्यस्त वाक्यों को निद्रा से जागकर उच्चारण करता है। यह समस्त प्रक्रिया जीवात्मा के मस्तिष्कगत हृदयप्रदेश में होती है। वहीं पर स्थित परमेश्वर से जीवात्मा को यह प्रेरणा प्राप्त होती है, अतः शब्दों के उच्चारण द्वारा उपदेश की आवश्यकता नहीं पड़ती।

एक आत्मा के द्वारा दूसरी आत्मा में भावों का इस प्रकार संक्रमण किया जाना कोई अलौकिक प्रक्रिया (Process) नहीं है। मैस्मेरिज़म (Mesmerism) एक अत्यन्त निम्न स्तर की सिद्धि है। ध्यान की एकाग्रता द्वारा किसी व्यक्ति को प्रभावित करनेवाली इस विद्या को जाननेवाला अपनी संकल्पशक्ति से दूसरे व्यक्ति को मैस्मेरिज़म द्वारा अपने वश में करके उससे जो चाहे करा सकता है। इस प्रक्रिया द्वारा मैस्मेरिज़म करनेवाला अपनी भाषा को दूसरे के मन में संक्रमित कर देता है। इस प्रकार जिस भाषा को प्रयोजक जानता है, उसे वह उससे सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्ति से बुलवा सकता है। कालिज के अनपढ़ चपरासी से अंग्रेजी और जर्मन भाषा में भाषण कराते देखा गया है। जब एक सामान्य जन अभ्यास के द्वारा मनोबल से अपनी सुप्त शक्तियों को जाग्रत् करके अपने विशिष्ट सामर्थ्य से अपने से भिन्न व्यक्ति के मन में अपनी भाषा और भावों को संक्रमित कर सकता है और प्रभावित व्यक्ति प्रयोजक अथवा संक्राता की इच्छानुसार व्यवहार करने को विवश हो जाता है तो जीवात्मा में स्थित सर्वान्तर्यामी तथा सर्वशक्तिमान् परमात्मा के द्वारा तो ज्ञान का संक्रमण करना अनायास ही सर्वथा सम्भव है। फिर, सर्ग के आदि में जिन चार ऋषियों की आत्मा में वह ज्ञान का संक्रमण करता है, वे तो विशिष्ट संस्कारी आत्मा होते हैं, मानो वेद को प्रकट करने के लिए ही माध्यम के रूप में उनका प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार अपना ज्ञान देने के लिए सर्वान्तर्यामी परमेश्वर को मुख, जिह्वा आदि अवयवों की आवश्यकता नहीं पड़ती।

जैसे परमेश्वर बया नामक चिड़िया को सुन्दर घोंसला बनाने का ज्ञान देता है; जैसे वह मधुमक्खी को अनेक कोष्ठयुक्त छत्ता बनाने और शहद बनाने की रासायनिक प्रक्रिया का ज्ञान देता है; जैसे वह मछली और बछड़े को तैरना और बन्दर को उछलना-कूदना सिखाता है, मोर को नाचना और नवजात शिशु को स्तनपान करना सिखाता है, वैसे ही वह मनुष्य को उसके लिए अपेक्षित वेदरूपी ज्ञान प्रदान करता है।

इन्द्रियों—हाथ-पैर के न होते हुए भी निराकार (अशरीरी) पमेश्वर सृष्टि की रचना करता है। साधनरूप में हाथ, पैर आदि अंगों की आवश्यकता अपने से बाहर क्रिया करने के लिए होती है। सारा ब्रह्माण्ड उस विराट् प्रभु के विराट् शरीर में स्थित है और वह प्रभु भी सबके भीतर ओत-प्रोत है। जो सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् प्रभु अपने असीम सामर्थ्य से बिना हाथ-पैर के अनन्त ब्रह्माण्ड की रचना कर सकता है, उसके लिए बिना वाणी के ऋषियों के मस्तिष्क में ज्ञान का संक्रमण करना अत्यन्त साधारण बात है।

आगमशास्त्रों के अनुसार वाणी के चार रूप हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इनमें **'परा'** तो आत्मा की मुख्य शक्तिरूप है, उसका कोई स्वरूप निश्चित नहीं किया जा सकता। **'पश्यन्ती'** वह वाक् है जिसमें शब्द और अर्थ एक रूप में रहते हैं, दोनों का विभाग नहीं होता। उसे केवल प्रकाशरूप कहकर वर्णन किया गया है। **'मध्यमा'** में शब्द और अर्थ का विभाग होता है, किन्तु शब्द मन-ही-मन मँडराते रहते हैं, कण्ठ-तालु आदि का कोई व्यापार नहीं होता और न उन शब्दों को कोई सुन सकता है। लोक में इसे मन-ही-मन बात करना कहते हैं। चौथी 'वैखरी' कहलाती है। यह दो भागों में विभक्त है—एक **'उपांशु'** भाषण अर्थात् काना-फूँसी और दूसरा 'उच्चैः स्वर' का भाषण जिसे सब कोई सुन सकते हैं। इनमें परा, पश्यन्ती और मध्यमा में कण्ठ-तालु का व्यापार अपेक्षित नहीं होता। ईश्वर की वाणी मुखर नहीं होती।

https://t.me/arshlibrary

जिन ऋषियों के मन राजस्-तामस् वृत्तियों से असम्पृक्त होते हैं वे जब अपने निर्मल, स्वच्छ, निर्दोष चित्त को परमेश्वर की सर्वज्ञता में 'तत्स्थ' करते हैं तो उनके स्फटिकमणितुल्य चित्त में परमेश्वर का ज्ञान अंकित होता चला जाता है। इस प्रकार मध्यमा वाक् द्वारा वेद उन ऋषियों को प्राप्त हुए। परमेश्वर को बोलने के लिए न वाणी की आवश्यकता हुई और न ऋषियों को सुनने के लिए कानों की। ऋषियों ने वैखरी वाणी द्वारा वेदों को लोक में प्रसारित कर दिया। ऋग्वेद (१०।७१।३) में कहा है—**'तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्'** अर्थात् ऋषियों में प्रविष्ट वाणी को मनुष्यों ने ग्रहण किया।

अविद्या और मोह के आवरण का नाश होनेपर, जब आत्मशक्ति का पूर्ण विकास होता है तब परमात्मा की ज्योति के प्रकाश में आत्मा द्वारा आनन्द-कोष की प्राप्ति होनेपर ज्ञानमयी परा वाणी की शब्दानुभूति होती है। उसके आगे पश्यन्ती, फिर मध्यमा और अन्त में वैखरी वाणी का रूप उद्भूत होता है। अनन्त एकरस जगद्व्यापी परमात्मा में परा-वाणीरूप वेदमन्त्र सदा वर्त्तमान रहते हैं। परमात्मा से मिलनेपर जीवात्मा योग में उसके स्वाभाविक गुण आनन्द में लीन परा-वाणी की अनुभूति करते हैं। इसकी पुष्टि करते हुए आचार्य शंकर ने वेदान्तभाष्य में लिखा है—'अभीष्ट अर्थ का अनुष्ठान करता हुआ मनुष्य उस अर्थ के वाचक शब्द को पहले स्मरण करके फिर उसका अनुष्ठान करता है—यह हम सबको प्रत्यक्ष है। प्रजापति स्रष्टा को भी सृष्टि के पूर्व वैदिक शब्द प्रकट हुए थे। तत्पश्चात् तदनुसार अर्थों की सृष्टि की, ऐसा प्रतीत होता है। इसलिए ताल्वादि की सहायता के बिना ही शब्द की अनुभूति हुई—यह मत सयुक्तिक और सप्रमाण है।

अग्नेर्वा ऋग्वेदः—शतपथब्राह्मणान्तर्गत यह पूरा सन्दर्भ इस प्रकार है—

''प्रजापतिर्वाऽइदमग्रऽआसीत्। एकऽएव सोऽकामयत स्यां प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्माच्छ्रान्तात्तेपानात्त्रयो लोकाऽअसृज्यन्त पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौः ॥१॥

स इमांस्त्रींल्लोकानभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतींष्यजायन्ताग्निर्योऽयं पवते सूर्यः ॥२॥

सऽइमन्नि त्रीणि ज्योतींष्यभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदाऽअजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः ॥३॥

स इमांस्त्रीन्वेदानभितताप। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त भूरित्यृग्वेदाद् भुवऽइति यजुर्वेदात्स्वरिति सामवेदात्तदृग्वेदेनैव होत्रमकुर्वत यजुर्वेदेनाध्वर्यवं सामवेदेनोद्गीथं यदेव त्रय्यै विद्यायै शुक्रं तेन ब्रह्मत्वमथोच्चक्राम [६।१५।८।६-४]

अर्थ—वह अकेला, प्रजापति ही था। उसने चाहा कि मैं सन्तानवाला हो जाऊँ। उसने श्रम किया, तप किया। उसके श्रम और तप से तीन लोक उत्पन्न हुए—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ ॥१॥ उसने इन तीन लोकों को तपाया। उन तपे हुओं से तीन ज्योतियाँ उत्पन्न हुईं—पहली अग्नि, दूसरी वह जो बहती है, वायु और सूर्य ॥२॥ उसने इन तीन ज्योतियों को तपाया। उन तपे हुओं से तीन वेद उत्पन्न हुए—अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, सूर्य से सामवेद ॥३॥ उसने इन तीन वेदों को तपाया। उन तपे हुओं से तीन शुक्र उत्पन्न हुए—ऋग्वेद से भूः, यजुर्वेद से भुवः, सामवेद से स्वः। ऋग्वेद से होत्र को बनाया, यजुर्वेद से अध्वर्यव को, सामवेद से उद्गीथ को। त्रयी विद्या में जो शुक्र था उससे ब्रह्मत्व निकला ॥४॥

इस प्रकार सृष्टिरचना के मध्य मानवोत्पत्ति के साथ ही परमेश्वर ने अग्नि, वायु, आदित्य तथा अङ्गिरा के माध्यम से चारों वेदों का प्रकाश किया। अग्नि आदि नामों से अभिहित भौतिक पदार्थों का

https://t.me/arshlibrary

जब परमेश्वर निराकार, सर्वव्यापक है, तो अपनी अखिल वेदविद्या का उपदेश जीवस्थ स्वरूप से जीवात्मा में प्रकाशित कर देता है, फिर वह मनुष्य अपने मुख से उच्चारण करके दूसरे को सुनाता है इसलिए ईश्वर में यह दोष नहीं आ सकता।

[किनके आत्मा में और कब वेदों का प्रकाश हुआ]

प्रश्न—किनके आत्मा में कब वेदों का प्रकाश किया ?

उत्तर—**'अग्नेर्वा ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः'** ॥ —शत० ११।५।८।३

प्रथम सृष्टि की आदि में परमात्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य तथा अङ्गिरा इन ऋषियों[1] के आत्मा में एक-एक वेद का प्रकाश किया ॥

[चार ऋषियों से ब्रह्मा को वेद प्राप्त हुए]

प्रश्न—'यो वे ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' ।

—यह उपनिषद् (श्वेता० ६।१८) का वचन है।

इस वचन से ब्रह्माजी के हृदय में वेदों का उपदेश किया है। फिर अग्न्यादि ऋषियों के आत्मा में क्यों कहा ?

ग्रहण करके उनमें अलौकिक देवत्व की कल्पना करना युक्तियुक्त नहीं होगा, क्योंकि जड़ पदार्थ ज्ञान के ग्रहण करने, उसका व्याख्यान तथा प्रवचन करने और उसका दूसरों में संक्रमण करने में सर्वथा असमर्थ हैं। काव्यशास्त्र का सिद्धान्त है—**'मुख्यार्थबाधे लक्षणा'**—जहाँ, मुख्य, प्रसिद्ध अर्थात् अभिधार्थ सम्भव नहीं होता, वहाँ लक्षणा से काम लिया जाता है। जो अर्थ जिस शब्द या पद का वाच्य नहीं है, उस अर्थ के लिए भी विशेष कारण से उसका प्रयोग होता है। वेद के शब्द यौगिक (धातुज) अथवा योगरूढ़ हैं। इस बात को ध्यान में रखकर ही उनके अर्थ किये जाने चाहिएँ। अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा ईश्वरीय प्रेरणा से उसके ज्ञान को प्राप्त करनेवाले मानवदेहधारी विशिष्ट जीव थे। इस विषय में सायणाचार्य ने अपने ऋग्वेदभाष्य की उपक्रमणिका में लिखा है—**'जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात्'** अर्थात् सायण ने भी अग्नि, वायु आदि को जीवविशेष ही माना है।

'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वेत० ६।१८) के आधार पर कहा जाता है कि सृष्टि के आदि में वेदों का प्रकाश ब्रह्माजी के हृदय में किया था और ब्रह्माजी से अग्नि आदि ऋषियों ने प्राप्त किया था। इस प्रसंग में ग्रन्थकार द्वारा मनुस्मृति से उद्धृत श्लोक विवेच्य हैं। मनुस्मृति के अन्यान्य संस्करणों में प्रायः **'त्रयं ब्रह्मा सनातनम्'** पाठ मिलता है, जबकि ग्रन्थकार ने यहाँ भी और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी **'त्रयं ब्रह्म सनातनम्'** पाठ दिया है, परन्तु अर्थ उभयत्र 'ब्रह्मा' पाठानुसारी है। उद्धृत श्लोक में प्रथमाविभक्त्यन्त कर्त्ता **'ब्रह्मा'** है। और **'अग्निवायुरविभ्यः'** पञ्चम्यन्त प्रयोग है। इससे 'ब्रह्मा ने' 'अग्नि आदि से', न कि 'अग्नि आदि ने' 'ब्रह्मा से' अर्थ बिल्कुल स्पष्ट है। और फिर चतुर्मुख ब्रह्मा का तो यहाँ दूर तक प्रसंग नहीं है।

इस प्रसंग में ग्रन्थकार का निम्न वक्तव्य द्रष्टव्य है—

---

१. सायणाचार्य ने भी 'ऋग्भाष्योपक्रमणिका' में उक्त वचन को उद्धृत करके अग्नि, वायु, सूर्य=आदित्य को जीवविशेष कहा है—'जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैर्वेदानामुत्पादितत्वात्'।

https://t.me/arshlibrary

उत्तर—ब्रह्मा के आत्मा में अग्नि आदि के द्वारा स्थापित कराया। देखो मनुस्मृति में क्या लिखा है—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म[1] सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥

—मनु० १।२३

जिस परमात्मा ने आदिसृष्टि में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि आदि चारों महर्षियों के द्वारा चारों वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये और उस ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा से ऋग्, यजुः, साम और अथर्ववेद का ग्रहण किया।

प्रश्न—उन चारों ही में वेदों का प्रकाश किया अन्य में नहीं, इससे ईश्वर पक्षपाती होता है।

उत्तर—वे ही चार सब जीवों से अधिक पवित्रात्मा थे। अन्य उनके सदृश नहीं थे, इसलिए पवित्र विद्या का प्रकाश उन्हीं में किया।

"वेदोत्पत्ति ब्रह्मा से हुई, ऐसा आजकल के पण्डित कहते हैं। परन्तु भाई ! इसमें उनकी भूल है, क्योंकि मनुजी ने लिखा है कि ब्रह्माजी ने अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा इन चार ऋषियों से वेद सीख फिर आगे वेद का प्रचार किया। ब्रह्माजी का चतुर्मुख ऐसा नाम है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सचमुच उनके चार ही मुख होंगे। यदि सत्य में ऐसे चार मुख होते तो फिर ब्रह्माजी को सचमुच बड़ा ही दुःख हुआ होता और फिर बेचारे सुख से कैसे सोते ? तो ऐसा नहीं है, किन्तु **'चत्वारो वेदा मुखे यस्य इति चतुर्मुखः'** ऐसा समास करना चाहिए। प्रथमारम्भ में ईश्वरज्ञान से इन चार ऋषियों के ज्ञान में वेद प्रकाशित हुए और ब्रह्माजी ने उनसे सीखे और पश्चात् उन्होंने सारी दुनियाभर में फैलाये और उनसे मनुष्यों को ज्ञान प्राप्त हुआ। अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा इन चार ऋषियों को वेद प्रथम प्राप्त हुए। इसपर कोई कहेगा कि आदि में ये चार ऋषि ही क्यों थे, अधिक क्यों न थे, तो ये शंकाएँ पाँच या तीन होते, तब भी बनी रहतीं।" —पूनाप्रवचन ५, १३ जुलाई १८७५।

मनु और शतपथब्राह्मण के पूर्वोद्धृत वचनों में ऋग्, यजुः, और साम नाम से तीन वेदों का वर्णन किया, जबकि चार वेदों का होना प्रसिद्ध है। इसमें क्या रहस्य है ? वस्तुतस्तु वेद चार ही है। मनु का ऋग्, यजुः, सामरूप वेदत्रयी सप्रयोजन है। यज्ञ में विनियोगार्थ, जैसाकि उसके 'यज्ञसिद्ध्यर्थम्' शब्दों से स्पष्ट है, वेदों को तीन कहा गया है। ऋक्सर्वानुक्रमणी के भाष्य में षड्गुरुशिष्य ने भी लिखा है—

विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते ।
ऋग्यजुःसामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये ॥

शतपथ के वचन में भी ऋग्, यजुः, साम त्रयीविद्या की दृष्टि से कथन है। अथर्ववेद भी चतुर्थ वेद है। उक्त दोनों बातों के लिए प्रमाण है—

त्रयीविद्यामवेक्षेत वेदेषूक्तामथाङ्गतः ।
ऋक्सामवर्णाक्षरतो यजुषोऽथर्वणस्तथा ॥ —महा० शान्ति १३५

अर्थात्—ऋग्, यजुः, साम और अथर्व वेद चार हैं, पर इनमें त्रयीविद्या का प्रतिपादन है। यह बात महाभारत में ही नहीं है, ब्राह्मणग्रन्थों में भी त्रयीविद्या का उल्लेख मिलता है।

---

१. मनु० में 'ब्रह्मा' पाठान्तर भी है। ग्रन्थकार ने यहाँ तथा 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' (पृष्ठ २१.२२) में इस श्लोक का जो अर्थ किया है, वह 'ब्रह्मा' पाठानुसारी है। दोनों ग्रन्थों में उद्धृत पाठ में 'ब्रह्म' शब्द ही है।

https://t.me/arshlibrary

अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियत इति त्रय्या विद्ययेति ॥ —ऐत० ब्रा० २५।८

इसी प्रकार—

तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था । गीतिषु सामाख्या । शेषे यजुःशब्दः ॥—मीमांसा २।१।३५-३७

अतः शतपथ के उक्त वचन में ऋग्, यजुः, साम का कथन त्रयीविद्या की दृष्टि से ही किया गया है। अन्यत्र उसी शतपथब्राह्मण में अथर्ववेदसहित चारों वेदों का वर्णन आया है—

एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ।

—शत० १४।५।४।१०; बृहद्०उप० ४।५।४।११

यस्मादृचो० इत्यादि के अतिरिक्त प्रमाण—

विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम् ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः ॥ —अथर्व० ११।८।२३
तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन् । —अथर्व० १५।६।८

ब्रह्म नाम अथर्ववेद का है, इसमें प्रमाण है—

चत्वारो वा इमे वेदाः ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः । —गोपथ०पूर्व०१।१६
ऋग्वेद एव भर्गो यजुर्वेद एव महः सामवेद एव यशो ब्रह्मवेद एव सर्वम् ।

—गोपथ ५।१६

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दा ꣳ सि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ।

—ऋग्० १०।६०।६; अथर्व० १६।६।१३; यजुः० ३१।६

अथर्ववेद के लिए पूर्वप्रयुक्त अथर्वाङ्गिरस् और ब्रह्म शब्द के समान यहाँ ऋग्० यजुः०, साम के साथ छन्द शब्द अथर्ववेद के लिए आया है। अथर्ववेद के लिए छन्दांसि का प्रयोग बृहद्० उप० में भी हुआ है—**'यदिदं किंचर्चो यजूंषि सामानि च्छन्दांसि'** (बृहद्० १।२।५)। ऋग्वेद व यजुर्वेद दोनों में उक्त मन्त्र उपलब्ध होने से अथर्ववेद का उनका समकालीन होना स्वतः सिद्ध है।

शाखाग्रन्थों में भी अनेकत्र चार वेदों का उल्लेख हुआ है। तद्यथा—

ऋग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति अथर्वभिर्जपन्ति ।

—काठक० ४०।७

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम् । —छान्दोग्य० ७।१।२
तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः । —मुण्डक० १।१।५
चत्वारि शृङ्गा वेदा वा एता उक्ताः । —निरुक्त

चरणव्यूह, गृह्यसूत्रों में वेद चार हैं—

यत्र यदुक्तं चातुर्वद्यं चत्वारो वेदा विज्ञाता भवन्ति । ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदश्चेति ।

चरणव्यूहपरिशिष्ट १।२।३

जुहोति पृथिव्यै ऋग्वेदाय यजुर्वेदाय सामवेदाय अथर्ववेदाय ।

—वैखानसगृह्य० २।१२

https://t.me/arshlibrary

ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदश्च पाण्डव ।
अथर्ववेदश्च तथा सर्वशास्त्राणि चैव हि ॥ —महा० सभा० ११।३२

'वेद तीन हैं', उपर्युक्त प्रमाणों के रहते यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए । इस विषय में अधिक विस्तृत जानकारी के लिए हमारे 'वेद-मीमांसा' तथा 'भूमिका-भास्कर भाग १' ग्रन्थों के अन्तर्गत 'वेदाविर्भाव' विषय को देखें ।

वेद सदा से चार हैं—भट्टभास्कर ने 'तैत्तिरीयसंहिताभाष्य' में, दुर्गाचार्य ने निरुक्त (१।२०) की टीका में तथा महीधर ने यजुर्वेदभाष्य के प्रारम्भ में भागवतपुराण के बारहवें स्कन्ध के छठे अध्याय के आधार पर लिखा है कि ब्रह्मा से परम्परा द्वारा प्राप्त वेद के चार विभाग महर्षि वेदव्यास ने किये । विष्णुपुराण (३।६) में कहा है—**'आद्य एको यजुर्वेदश्चतुर्धा व्यकल्पयत्'** अर्थात् आदिकाल में यजुर्वेद ही था । उसके चार विभाग वेदव्यास ने किये । अग्निपुराण में भी लिखा है—

आद्यो वेदश्चतुष्पादः शतसाहस्रसम्मितः ।
एक आसीद् यजुर्वेदस्तं चतुर्धा व्यकल्पयत् ॥

अर्थात् चार भागों में विभक्त होने से पूर्व एक यजुर्वेद था जिसमें शतसाहस्र अर्थात् एक लाख मन्त्र थे । मत्स्यपुराण (१४४।१०) तथा विष्णुपुराण (३।३।१६) ने भी इसका अनुमोदन किया है ।

परन्तु स्वयं वेदों, वेदोत्तर तथा महाभारतपूर्व वाङ्मय और अन्य आप्त वचनों से प्रमाणित है कि सृष्टि के आदि में ही एक साथ चारों वेदों का प्रादुर्भाव हुआ था । वेदव्यास द्वारा वेद के चार विभाग किये जाने की कल्पना अयुक्त तथा सर्वथा असंगत है । व्यास के पूर्व उपनिषद् तथा ब्राह्मणग्रन्थ अस्तित्व में आ चुके थे और उनमें वेदों की शाखाओं तथा उन शाखाओं में प्रक्षेपों तक का वर्णन मिलता है । जिस यजुर्वेद के व्यास द्वारा चार भागों में विभक्त किये जाने की बात कही जाती है, उसी का मन्त्र है—

'सुपर्णोऽसि गरुत्मान् - - - - - स्तोम आत्मा छन्दांस्यङ्गानि यजूंषि नाम । साम ते तनूः ।
—यजुः० १२।४

यह मन्त्र कई स्थानों पर आया है, जैसे—शत० ६।७।२।६; तै०सं० ४।१।१०।५; मै०ब्रा०सं० १६।८; शांखायगृह्य० १।२२।१५

यजुर्वेद का ही एक अन्य मन्त्र है—**'ऋचो नामास्मि यजूंषि नामास्मि सामानि नामास्मि ।**
—यजुः० १८।६७

जब स्वयं यजुर्वेद बार-बार चारों वेदों के नाम ले रहा है तब 'प्रारम्भ में एक यजुर्वेद था, कालान्तर में उसके चार भाग हुए' जैसी बात कैसे मानी जा सकती है ? 'वेदमीमांसा' में जिन प्रमाणों को हमने अपने मत की पुष्टि में प्रस्तुत किया है, वे निर्विवादरूप से महाभारतकाल से पहले के हैं । उनके होते हुए वेदव्यास द्वारा एक वेद के चार किये जाने की बात सर्वथा असंगत है ।

चतुष्पाद् वेद—जिस प्रकार सिर, हाथ, पैर, पेट आदि सब मिलकर एक शरीर होता है और आत्मा, बुद्धि, मन व स्थूलशरीर मिलकर एक शरीर कहाता है, वैसे ही चारों वेद मिलकर एक वेद (ज्ञान) कहाते हैं । इसी रूप में वे चतुष्पाद् हैं । ज्ञान की दृष्टि से चारों वेदों में एकता है, परन्तु जैसे शरीर में प्रत्येक अंग और प्रत्येक अन्तःकरण की अपनी सत्ता और विशेषता है, वैसे ही प्रत्येक वेद की अपनी सत्त्वरूप विशेषता है, जिसके कारण प्रत्येक वेद का अन्य वेदों की अपेक्षा स्वतन्त्र अस्तित्व है ।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

यह हो सकता है वेदव्यास ने अपने समय में भिन्न-भिन्न बहुत-सी शाखाएँ बन जाने के कारण ब्राह्मण और श्रौतसूत्र आदि का निश्चय कर दिया हो कि किस-किस शाखा का कौन-सा ब्राह्मण है। यह भी सम्भव है कि उन्होंने शाखाओं का प्रवचन और व्याख्यान किया हो और इस प्रकार वे वेदों का प्रचार व प्रसार करने में विशेष सहायक रहे हों। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में इस विषयम में ग्रन्थकार ने लिखा है—

"यह बात (कि वेदव्यास ने वेद रचे हैं) मिथ्या है, क्योंकि व्यासजी ने भी वेद पढ़े थे और उनका पितामह पराशर, उसका पितामह शक्ति और प्रपितामह वशिष्ठ और बृहस्पति आदि ने भी पढ़े थे। जो व्यास ने बनाये होते तो वे कैसे पढ़ते, क्योंकि व्यासजी तो बहुत पीछे भये हैं और जो उनका वेदव्यास नाम पड़ा है वह इस रीति से पड़ा है कि उन्होंने वेदों को पढ़के और पढ़ाये हैं जिससे सब जगत् में वेदों का पठन और पाठन फैलाया और वेदों में उनकी बुद्धि विशाल थी कि यथावत् शब्द, अर्थ और सम्बन्ध से वेदों को जानते थे। सो इनका नाम वेदव्यास रक्खा गया।"

अग्नि आदि को ही वेदज्ञान क्यों ? सृष्टि के आदि में परमेश्वर ने ब्रह्मवित् अग्नि आदि नामक परम पवित्र आत्माओं में ऋग्वेदादि का प्रकाश किया। इस विषय में ऋग्वेद (१०।७१।१) में कहा है—

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥

सृष्टि के आदि में पदार्थों के नामरूप को ग्रहण करते हुए ऋषियों के हृदय में बृहस्पति ने अपनी श्रेष्ठ वाणी को प्रेरित किया। हृदयगत प्रेरणा के लिए किसी के मुख से सुनना आवश्यक नहीं होता—**'स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते'**—हृदय में हुई प्रेरणा को शुद्धान्तःकरणवाला व्यक्ति अनायास ही ग्रहण कर लेता है। अग्नि आदि ऋषि जिनका परमेश्वर ने अपने ज्ञान के संक्रमण के लिए वरण किया, वे मोक्ष की अवधि में दीर्घकाल तक उसी में लीन रहकर लौटनेवाले विशिष्ट जीव थे। अतएव इस महान् कार्य के लिए सर्वश्रेष्ठ माध्यम थे। ईश्वर में प्रणिधान (स्थिति) होने से उनके अन्तःकरणों के दीप्त होनेपर परमेश्वर के योग के द्वारा प्रत्यक्ष हो जाने से वेदों का प्रकाश हुआ, अर्थात् निर्मल बुद्धि के ज्ञानग्राहक स्वाभाविक गुण के कारण वेद ऋषियों के आत्मा में संक्रान्त (प्रतिभासित) हुए।

वेदाविर्भाव के विषय में एक यह कल्पना है कि सृष्टि के आदि में केवल एक विद्वान् को सम्पूर्ण वेद का ज्ञान मिला था, जिसका नाम अग्नि था। उनकी कल्पना का आधार ऋग्वेद का यह मन्त्र है—

अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥ —५।४४।१५

इस मन्त्र के अनुसार ऋचाएँ, सामगान आदि एक अग्नि को ही प्राप्त होते हैं जो जागता रहता है, परन्तु यहाँ अग्नि किसी व्यक्तिविशेष का नाम नहीं है। अग्नि शब्द अनेकार्थवाची है। शतपथब्राह्मण के अनुसार—**आत्मैवाग्निः** (६।७।१।२०); **अग्निर्वै देवानां सुहृदयतमः** (१।६।२।१०); **अग्निर्वै सर्वेषां पाप्मनापहन्ता** (७।३।२।१६); **अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः** (१।१।१।२); **अग्निर्वा आयुष्मान्** (१३।८।४।८)।

मन्त्रार्थ इस प्रकार है—'जो जागता रहता है, ऋग्वेद के मन्त्र अर्थात् उत्तम स्तुति, अर्चना, सत्कार आदि भी उसी को चाहते हैं, जो अविद्यारूपी निद्रा से जाग उठता है, उसी को सामवेद के गान या सबके समान व्यवहार प्राप्त होते हैं। जो अग्नि के सदृश वर्त्तमान जाग्रत् होता है, उसको भी सामवेद कहे विज्ञान प्राप्त होते हैं।"

https://t.me/arshlibrary

[वेदों का प्रकाश संस्कृत में ही क्यों ?]

प्रश्न—किसी देशभाषा में वेदों का प्रकाश न करके संस्कृत में क्यों किया ?

उत्तर—जो किसी देश-भाषा में प्रकाश करता, तो ईश्वर पक्षपाती हो जाता, क्योंकि जिस देश की भाषा में प्रकाश करता उनको सुगमता, और विदेशियों को कठिनता वेदों के पढ़ने-पढ़ाने की होती। इसलिए संस्कृत ही में प्रकाश किया, जो किसी देश की भाषा नहीं। और वेदभाषा अन्य सब भाषाओं का कारण है[1], उसी में वेदों का प्रकाश किया। जैसे ईश्वर की पृथिवी आदि सृष्टि सब देश और देशवालों के लिए एक-सी और सब शिल्पविद्या का कारण है, वैसे परमेश्वर की विद्या की भाषा भी एक-सी होनी चाहिए, कि सब देशवालों को पढ़ने-पढ़ाने में तुल्य परिश्रम होने से ईश्वर पक्षपाती नहीं होता और सब भाषाओं का कारण भी है।

इस प्रकार के अर्थ के साथ वेदमन्त्र की संगति बैठकर उसका भाव स्पष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जो विद्वान् जागता रहता है वही सम्पूर्ण वेद के तत्व को यथावत् जानता है, आलसी या प्रमादी नहीं।

संस्कृत में क्यों ? वेद का ज्ञान किसी देश या जातिविशेष के लिए नहीं है, इसलिए परमेश्वर ने वेदों का प्रकाश किसी देशविशेष या जातिविशेष की भाषा में न देकर विश्वभाषा संस्कृत में दिया। संस्कृत का संसारभर की भाषाओं का मूल होना प्रायः निर्विवाद है।

विश्व की प्राचीन एवं अर्वाचीन भाषाओं का अध्ययन करनेवाले विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इटेलियन, फ्रैंच, इंग्लिश, जर्मन, स्पेनिश, केल्टिक, टयोटोनिक, ग्रीक, लेटिन, लिथुनियन, अल्बेनियन आदि यूरोपियन भाषाओं, जेन्द, पर्शियन, पश्तो, बलूची, कुर्द व आर्मिनियन आदि एशियन भाषाओं और हिन्दी, पंजाबी, बंगला, उड़िया, असमिया, गुजराती, मराठी, तेलगु, कन्नड़, तमिल, मलयालम, कश्मीरी, सिन्धी आदि भाषाओं का मूल एक ही है। इन सब भाषाओं में शब्दकोश और व्याकरण की भी आश्चर्यजनक समानता है। इसका कारण यही हो सकता है कि इन विविध भाषाओं के बोलनेवालों के पूर्वज किसी अत्यन्त प्राचीन कालखण्ड में किसी एक स्थान पर रहते थे और एक भाषा बोलते थे। कालान्तर में जब वे अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त होकर विविध प्रदेशों में बस गये, तो उनकी भाषा विविध रूपों में विकसित होती गयी। पर मूलतः एक होने के कारण वह समानता बनी रही जो आज हमें आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। जिस प्रकार गुजराती, मराठी, बंगला आदि विविध भारतीय भाषाओं का उद्भव संस्कृत से हुआ है, वैसे ही यूरोप और एशिया की विभिन्न भाषाओं का स्रोत भी संस्कृत है। तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के जनक बॉप ने कहा था—'मैं नहीं मानता कि ग्रीक, लेटिन और दूसरी यूरोपीय भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं - - - - इसकी अपेक्षा मैं यह मानना अधिक उचित समझता हूँ कि ये सभी भाषाएँ किसी एक ही मूल भाषा के विविध रूप हैं जिसे संस्कृत ने अधिक अविकलरूप में सुरक्षित रक्खा है।' निश्चय ही, यहाँ जाने-अनजाने बॉप ने मूल 'वैदिक भाषा' की ओर संकेत किया है।

जब मूलतः एक भाषा थी तो उसके बोलनेवाले भी एक वर्ग या एक जाति के लोग रहे होंगे। उनके संचलन या बिखराव से ही उस भाषा का क्षेत्र विस्तार और कालान्तर में प्रभावक्षेत्र में प्रव्रजित होनेवाले

---

१. इस विषय का विस्तार से प्रतिपादन ग्रन्थकार ने स०प्र० प्रथम संस्करण के इसी समुल्लास में, तथा पूना के पाँचवें व्याख्यान (पूना-प्रवचन पृ० ३६ रालाकट्र० सं०) में किया है। इस विषय में वेदवाणी 'वेदाङ्क' संवत् २०१७ में श्री मीमांसकजी का 'भाषाविज्ञान और स्वामी दयानन्द' लेख भी देखें।

https://t.me/arshlibrary

जनों के अनुरूप ही उस भाषा का विकास हुआ होगा। जब यह बात सत्य है कि अटलाण्टिक महासागर के समुद्रतट से भारत के विस्तृत क्षेत्र में जो भाषाएँ बोली जाती हैं उन सबका एक ही उद्गम है, तो साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि उनके बोलनेवाले लोग एक ही विशाल समुदाय के अंग हैं जो अत्यन्त प्राचीनकाल में एक ही स्थानपर निवास करते थे। विलसन ने विष्णुपुराण के अंग्रेजी की भूमिका में लिखा है कि सब भाषाओं के मूल में संस्कृत होने से संसार के सभी राष्ट्रों के एक ही स्थान से निकलकर यत्र-तत्र सर्वत्र फैलने का निश्चय होता है—

"The affinities of the Sanskrit language prove a common origin of the now widely scattered nations amongst whose dialects they are traceable and render it unquestionable that they must have all spread abroad from some centrical spot in that part of the globe first inhabited by mankind."

—*Vishnu Purana, Oxford, 1864*

भारत, ईरान, यूरोप आदि के निवासी जाति की दृष्टि से एक हैं और उनके रूप-रंग, भाषा आदि में जो अन्तर दिखाई देता है, उसका कारण जल-वायु की भिन्नता और चिरकाल से एक-दूसरे से दूर रहना ही है। मैक्समूलर के अनुसार—

"There was a time when the first ancestors of the Indians, the Persians, the Greeks, the Romans, the Slaves, the Celts, and the Germans were living together within the same enclosures, nay, under the same roof." Maxmullar Lectures on science and Religion, First Series, P. 211-12

"एक समय था जब भारतीयों, ईरानियों, यूनानियों, रोमनों, रूसियों, कैल्टों (वेल्स व पश्चिमी फ्राँस के निवासी) और जर्मनों के पूर्वज एक चारदीवारी के अन्दर ही नहीं, एक छत के नीचे रहते थे।" भाषासाम्य ऐसी प्रत्यक्ष बात है जिसे झुठलाया नहीं जा सकता था। फलतः यह एक सामान्य सिद्धान्त बन गया कि जिनकी भाषाएँ मातृस्वरूपा वैदिक भाषा [प्रायः यह माना जाता रहा है कि सब भाषाओं की जननी संस्कृत है, परन्तु अनेक विद्वानों का मत है कि संस्कृत अपने समय की सदृश भाषाओं की माता नहीं, बहन है। इन सब भाषाओं की जननी अति प्राचीनकाल की कोई भाषा रही होगी जो अब कहीं नहीं बोली जाती। वह वेदों की समसामयिक वैदिक भाषा ही हो सकती है। दूर तक गहराई में जाकर खोज करनेपर इस मत की पुष्टि होती है—भाष्यकार] से निकली हैं, उनके पूर्वज एक ही थे, अर्थात् किसी समय वे सब एक ही साथ रहते थे और सबकी एक ही भाषा थी। कालान्तर में वे इतस्ततः बिखर गये। परिणामतः एक-दूसरे से दूर हो जाने के कारण धीरे-धीरे भाषाओं में अन्तर पड़ता गया। कालान्तर में वह इतना बढ़ गया कि उसने साम्य को दबा-सा दिया, परन्तु स्थूलशरीर के बदल जाने पर अदृश्यरूप सूक्ष्मशरीर, कारणशरीर व लिंगशरीर अभी भी वैसा ही बना हुआ है। (इसके लिए देखें: हमारी 'आर्यों का आदिदेश और उनकी सभ्यता' पृष्ठ ६४-६८)। यह सब जानने के बाद कौन कह सकता है कि वेदों का संस्कृत में प्रकाश करके परमेश्वर ने किसी देश या जाति के प्रति पक्षपात या अन्याय किया है ?

भाषा के विषय में प्रथम संस्करण के अन्तर्गत ग्रन्थकार का निम्न लेख द्रष्टव्य है—

प्रश्न—वेद संस्कृतभाषा में क्यों रचे ? क्या ईश्वर की भाषा संस्कृत ही है ? जो देशभाषा में रचते तो सब मनुष्य परिश्रम के बिना वेदों को समझ लेते। और संस्कृत जानने के हेतु व्याकरणादिक सामग्री पढ़नी चाहिए। इसके बिना वेदों का अर्थ कभी मालूम न होगा।

https://t.me/arshlibrary

उत्तर—संस्कृत में इस हेतु वेद रचे हैं कि छोटे पुस्तक में सब विद्या आजाएँ और जो भाषा में रचते तो बड़े-बड़े ग्रन्थ हो जाते और एक देश ही का उपकार होता, सब देशों का नहीं। और जितनी देशभाषा हैं उनमें रचते तब तो पुस्तकों का कारोबार (व्यवहार) ही न होता। इस्से परमेश्वर ने सर्वज्ञ (सबके लिए सुबोध) भाषा में वेद रचे हैं कि किसी देश की भाषा न रहै और सब भाषा जिस्से निकलें, क्योंकि संस्कृत किसी देश की भाषा नहीं जैसे ईश्वर किसी देश का नहीं, किन्तु सब देशों का स्वामी है। वैसे ही संस्कृत भाषा है कि किसी एक देश की नहीं।

प्रश्न—देवलोक और आर्यावर्त्त देश की प्रथम भाषा संस्कृत थी। इसी को मुसलमान लोग जिन्न भाषा कहते हैं, क्योंकि जैसी प्रवृत्ति संस्कृत की पहिले आर्यावर्त्त में थी वैसी किसी देश में न थी। जिस देश में कुछ प्रवृत्ति भई होगी सो आर्यावर्त्त ही से भई होगी। अब भी आर्यावर्त्त में अन्य देशों से संस्कृत की अधिक प्रवृत्ति है। इस्से यह निश्चय होता है कि संस्कृतभाषा आर्यावर्त्त की मुख्य भाषा थी।

उत्तर—यह देवलोक की भाषा नहीं, क्योंकि **'बृहस्पतिः प्रवक्ता इन्द्रश्चाध्येता'**—यह महाभाष्य का वचन है। इन्द्र ने बृहस्पति से संस्कृत पढ़ी और बृहस्पति ने अंगिरा प्रजापति से, उन्ने मनु से, मनु ने विराट् से, विराट् ने ब्रह्मा से, ब्रह्मा ने हिरण्यगर्भादिक देवों से, उन्ने ईश्वर से। जो देवलोक की भाषा होती तो क्यों पढ़ते और पढ़ाते, क्योंकि देशभाषा तो परस्पर व्यवहार से आ जाती है। इस्से देवलोक की भाषा संस्कृत नहीं और जब ब्रह्मादिकों की भाषा नहीं तो आर्यावर्त्त देशवालों की कैसे होगी ? कभी नहीं। परन्तु ऐसा जाना जाता है कि आर्यावर्त्त देश में प्रवृत्ति पहले अधिक थी। सब ऋषि, मुनि और राजा लोग आर्यावर्त्तदेशवासी लोगों ने परम्परा से संस्कृत पढ़ा और पढ़ाया है। इस्से आर्यावर्त्तदेश की भी संस्कृतभाषा नहीं और मुसलमान लोग इसको जिन्न भाषा कहते हैं सो तो केवल ईर्ष्या में कहते हैं, जैसेकि आर्यावर्त्तदेशवासियों का नाम हिन्दू रख दिया। सो यह संस्कृत जिन्न भाषा भी नहीं। जिन्न तो भूत, प्रेत, पिशाचों ही का नाम है। भूत, प्रेत और पिशाच होते ही नहीं। इससे यह बात अत्यन्त मिथ्या है, क्योंकि उनको ऐसी पदार्थविद्या और धर्माधर्मविवेक की बुद्धि ही नहीं। फिर ये संस्कृतविद्या सर्वोत्तम को कैसे कह सकते वा रच सकते हैं। और रचते होते तो अन्य देशों में भी रच लेते तथा किसी पुरुष से अब भी कहते। इस्से ऐसी बात सज्जन लोगों को न मानना चाहिए।

प्रश्न—देशभाषा भिन्न-भिन्न कैसे बन गयीं और किससे बन गयीं ?

उत्तर—सब देशभाषाओं का मूल संस्कृत है। जब संस्कृत बिगड़ती है, तब 'अपभ्रंश' कहाता है। फिर अपभ्रंश से देशभाषा होती है। जैसे 'घट' शब्द से घड़ा, 'घृत' शब्द से घी, 'दुग्ध' शब्द से दूध, 'नवनीत' शब्द से नैनू (नौनी), 'अक्षि' शब्द से आँख, 'कर्ण' शब्द से कान, 'नासिका' शब्द से नाक, 'जिह्वा' शब्द से जीभ, 'मातृ' शब्द से मदर, 'यूयम्' शब्द से यू, 'वयम्' शब्द से वी इत्यादिक जान लेना। और एक पदार्थ के अनेक नाम हैं, जैसे कि 'गौ' नाम गाय का, ग्मा, ज्मा, क्षमा इत्यादि ये २१ नाम पृथिवी के हैं। सो भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न २१ नामों से भिन्न-भिन्न अपभ्रंश होने से भिन्न-भिन्न भाषा बन जाती है। और एक नाम अनेक अर्थों का होता है, जैसे सिंह, वानर, घोड़ा, सूर्य, मनुष्य, देव और चोर इत्यादि का नाम 'हरि' है। इस्से भी भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न भाषा होती है। क्योंकि किसी देश में 'सिंह' नाम से उस पशु का व्यवहार किया। किसी देश में हरि शब्द से वानर का ग्रहण किया, किसी देश में हरि से घोड़े का ग्रहण किया, किसी देश में हरि से सूर्य लिया, किसी देश में हरि शब्द से चोर को लिया। इस

https://t.me/arshlibrary

[वेदों के ईश्वरकर्तृत्व में प्रमाण]

प्रश्न—वेद ईश्वरकृत हैं, अन्यकृत नहीं, इसमें क्या प्रमाण ?

उत्तर—जैसा ईश्वर पवित्र, सर्वविद्यावित्, शुद्धगुणकर्मस्वभाव, न्यायकारी, दयालु आदि गुणवाला है, वैसे जिस पुस्तक में ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल कथन हो वह ईश्वरकृत, अन्य नहीं और जिसमें सृष्टिक्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण, आप्तों के और पवित्रात्मा के व्यवहार से विरूद्ध कथन न हो वह ईश्वरोक्त । जैसा ईश्वर का निर्भ्रम ज्ञान वैसा जिस पुस्तक में भ्रान्तिरहित ज्ञान का प्रतिपादन हो वह ईश्वरोक्त । जैसा परमेश्वर है और जैसा सृष्टिक्रम रक्खा है, वैसा ही ईश्वर, सृष्टि, कार्य-कारण और जीव का प्रतिपादन जिसमें होवे, और जो प्रत्यक्षादि प्रमाण-विषयों से अविरुद्ध, शुद्धात्मा के स्वभाव से विरुद्ध न हो, वह परमेश्वरोक्त पुस्तक होता है । इस प्रकार के वेद हैं, अन्य बाइबल, कुरान आदि पुस्तकें नहीं । इसकी स्पष्ट व्याख्या बाइबल और कुरान के प्रकरण में तेरहवें और चौदहवें समुल्लास में की जाएगी ।

हेतु से देशभाषा भिन्न-भिन्न हो गई और मनुष्यों के उच्चारणभेद से भी भिन्न-भिन्न भाषा हो जाती है । जैसे—'ज्ञ्' ये दोनों अकार से मिलने से 'ज्ञ' अक्षर होता है । सो आजकल इसका लेख 'ज्ञ' ऐसा हो गया है । इस एक अक्षर के अन्यथा उच्चारण से तीन भेद हो गये हैं । गुजराती लोग 'गकार' और 'नकार' का उच्चारण करते हैं । महाराष्ट्रिक दाक्षिणात्य लोग दकार और नकार का उच्चारण करते हैं । तथा बंगाली लोग तालव्य श, मूर्धन्य ष और दन्त्य स इन तीनों के स्थान में तालव्य शकार का उच्चारण करते हैं । मध्य और पश्चिम देशवाले तीनों के स्थान में दन्त्य सकार का ही उच्चारण करते हैं । किसी की जीभ कठिन होती है, तो वह शब्दों का अन्यथा उच्चारण करता है । दाक्षिणात्य लोगों ने घी का नाम 'तूपर' रख लिया और उत्तर देश पर्वतवासियों न घी का नाम चोखा रख लिया । गुजरातियों ने चावल का नाम चोखा रख लिया । इस्से भी देश-देशान्तर की भाषा भिन्न-भिन्न हो गयी । इसी प्रकार अन्य कारणों का भी विचार कर लेना ।" पृष्ठ २५०-५२

वेदों का ईश्वरकर्त्तृत्व—किसी भी संगठन अथवा समाज संचालन करने के लिए उसके संविधान का होना अनिवार्य है, अतः संगठन के साथ-साथ ही उसके नियमोपनियम बनाये जाते हैं, जिनका पालन करना उससे सम्बद्ध व्यक्तियों के लिए आवश्यक होता है । जब साधारण व्यक्ति भी विधि-विधान के बिना छोटे-से समाज का संचालन नहीं करता तो यह कैसे सम्भव है कि ईश्वर सृष्टि तो बना दे, परन्तु जिसके भोगापवर्ग के लिए सृष्टि की रचना की उस मनुष्य को उस सृष्टि के विषय में कोई जानकारी न दे । आदि सृष्टि में जब पहले-पहले मनुष्य का इस पृथिवी पर आविर्भाव हुआ तो वह सर्वथा अनभिज्ञ था । सृष्टि में उसे बहुत कुछ देखने को मिला, किन्तु विविध पदार्थों के न वह नाम जानता था, न उनके गुण-दोषों को जानता था और न उनके उपयोग के विषय में उसे कुछ पता था । अपने शरीर तक के विषय में वह कुछ नहीं जानता था, वह अकेला नहीं था, बहुतों के साथ था, परन्तु किसके साथ कैसे व्यवहार करे—एतद्विषयक ज्ञान से भी वह सर्वथा शून्य था । ऐसी अवस्था में सृष्टि के रचयिता एवं संचालक परमात्मा का कर्त्तव्य था कि वह मनुष्य को प्रत्येक पदार्थ के नाम, गुण तथा उपयोग के विषय में पूरी जानकारी दे और यहाँ रहने के लिए अपेक्षित समस्त नियमों से अवगत करे । स्वयं कट्टर इसाई होनेपर भी प्रो० मैक्समूलर ने इस युक्ति को अपनी पुस्तक 'Science and Religion' में इस प्रकार व्यक्त किया

ArshLibrary

https://t.me/arshlibrary

है—

"If there is a God who has created heaven and earth, it will be unjust on his part if he deprives millions of his sons, born before Moses, of his divine Knowledge. Reason and comparative study of religions declares that God gives his knowledge from his first appearance on earth."

अर्थात् यदि धरती और आकाश का रचयिता कोई ईश्वर है तो उसके लिए यह अन्यायपूर्ण होगा कि वह मूसा से पूर्व उत्पन्न अपने करोड़ों पुत्रों को अपने ज्ञान से वंचित रक्खे। तर्क और धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन दोनों घोषित करते हैं कि परमेश्वर अपना ज्ञान सृष्टि के आदि में सब मनुष्यों के कल्याणार्थ प्रदान करता है।

इस प्रकार सृष्टि में चराचर जगत् के संचालन, धारण, पोषण आदि के लिए अपेक्षित विधान का निर्माण करना अनिवार्य था। इसी में उसके 'विधाता' (विधायक=विधान बनानेवाला) नाम की सार्थकता थी। मनुष्यमात्र के प्रति पक्षपातरहित समानव्यवहार की दृष्टि से यह भी आवश्यक था कि ऐसा विधान सृष्टि के आरम्भ में बने, अतः परमेश्वर ने सृष्टि की उत्पत्ति के साथ ही वेद के रूप में अपेक्षित ज्ञान का प्रकाश किया। महाभारत (शान्ति० २३२।२४) में वेदव्यास कहते हैं—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वा प्रवृत्तयः॥

सृष्टि के आदि में स्वयम्भू परमात्मा से ऐसी दिव्यवाणी का प्रादुर्भाव हुआ जो नित्य है और जिससे संसार में सब प्रकार की प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ।

जो लोग वेद का सृष्टि के आरम्भ में प्रादुर्भूत होना नहीं मानते वे भी इतना तो मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं कि कोई भी धर्मग्रन्थ वेद से पुराना नहीं है, यह निर्विवाद है।

ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान में अविनाभावसम्बन्ध है अर्थात् वे तीनों एक साथ रहते हैं। प्रत्येक अवस्था में आत्मा को ज्ञाता स्वीकार किया जाता है। ज्ञाता के मान लेने पर ज्ञेय (चराचर जगत्) भी स्वीकार करना होगा, क्योंकि यदि जानने को कुछ नहीं है तो ज्ञाता अन्यथासिद्ध है। इन दोनों (ज्ञाता व ज्ञेय) की स्वीकृति में तीसरा ज्ञान स्वतः सिद्ध है। इस प्रक्रिया में ज्ञान, ज्ञाता का अनुषङ्गी है। इसलिए सृष्टि के आरम्भ में ज्ञाता मनुष्य के आविर्भाव के साथ ही वेदज्ञान का आविर्भाव सर्वथा अनिवार्य एवं स्वाभाविक है। यजुर्वेद में कहा है—

यस्मिन्नृचः सामयजू ँषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

—यजुः० ३४।५

अर्थात् मनुष्य के आत्मा में सम्पूर्ण वेदज्ञान विद्यमान है, परन्तु उसकी अनुभूति एवं अभिव्यक्ति रजोगुण तथा तमोगुण का आवरण हटने और आवश्यक नैमित्तिक उद्बोधन होनेपर ही होती है।

https://t.me/arshlibrary

भीरतीय वैचारिक परम्परा का यह निष्कर्ष है कि वेद अपौरुषेय हैं, अस्मदादि किसी मनुष्य—चाहे वह ऋषिकोटि का ही क्यों न हो—की रचना नहीं है। ब्राह्मण, उपनिषद्, स्मृति, दर्शन, रामायण, महाभारत आदि सब एक स्वर से इस मान्यता के पोषक हैं। वेदों की अन्तःसाक्षी हम पहले ही उपस्थित कर चुके हैं। अब हम इसकी पुष्टि में कुछ तर्क प्रस्तुत करते हैं—

जो वस्तु बनाई जाती है उसके कर्त्ता का स्मरण किसी-न-किसी रूप में अवश्य होता है, किन्तु वेद के कर्त्ता का स्मरण अभ्रान्तरूप में आज तक किसी को नहीं हुआ। इससे सिद्ध है कि वेद का कर्त्ता कोई मनुष्य नहीं है। यदि होता तो उसका स्मरण अवश्य होता। कदाचित् यह कहा जाए कि ऐसे बहुत से भवन, कूप आदि मिलेंगे जिनके बनानेवाले का किसी को स्मरण नहीं, किन्तु फिर भी उन्हें स्वतः निर्मित नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार शब्दसमूहरूप का भी कोई-न-कोई कर्त्ता अवश्य रहा होगा। इसका समाधान यह है कि जीर्ण-शीर्ण भवन आदि के कर्त्ता का स्मरण आज न होनेपर भी कभी-न-कभी, किसी-न-किसी को किसी-न-किसी रूप में अवश्य रहा होगा, किन्तु वेद के कर्त्ता का स्मरण कभी किसी को रहा हो—ऐसा पता नहीं चलता। मीमांसादर्शन की व्याख्या तन्त्रवार्त्तिक (पृष्ठ १०१) में भट्टकुमारिल ने कहा है—'**कर्तुः स्मरणाभावादपौरुषेया वेदाः**' अर्थात् कर्त्ता का स्मरण न होने से वेद अपौरुषेय हैं। सांख्यदर्शन के रचयिता महर्षि कपिन ने भी यही बात कही है —'**न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्**' (सां०द० ५।४६), अर्थात् वेद का कर्त्ता आज तक उत्पादित नहीं हुआ, इसलिए वेद किसी मनुष्य के बनाये हुए नहीं हैं। इस विषय में एक अन्य हेतु देते हैं—

मुक्त तथा अमुक्त दोनों ही वेद की रचना करने में असमर्थ हैं। अमुक्त जीव तो भ्रम, प्रमाद और विप्रलिप्सा आदि दोषों से युक्त होने के कारण '**सर्वज्ञानमय**' वेद की रचना करने के योग्य नहीं हैं। ब्रह्मनिष्ठ मुक्त जीव भी स्वभाव से अल्पज्ञ होने के कारण उसकी रचना करने में सक्षम नहीं है। फिर, मुक्तावस्था में तो जीव ब्रह्मानन्द में लीन हुआ आनन्द का उपभोगमात्र करता है। उस अवस्था में उसका कर्तृत्व तिरोहित रहता है।

प्रत्येक ग्रन्थ किसी-न-किसी की रचना होता है। तब वेदरूप ग्रन्थ अकस्मात् कहीं से आविर्भूत हो गये, यह कैसे माना जा सकता है। सृष्टि-प्रलय की व्यवस्था अनुमान तथा शब्दप्रमाणों से सिद्ध है, फिर उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है ? जबकि जगत् का परिवर्त्तनशील होना प्रत्यक्ष है। तब '**न कदाचिदनीदृशं जगत्**' (जगत् सदा से इसी रूप में चल रहा है), यह सिद्धान्त कैसे ठहर सकता है ? जब एक बार प्रलय होनेपर फिर से वेद प्रकट होंगे तो उनका कोई-न-कोई कारण तो अवश्य मानना होगा। अतः यही सिद्धान्त युक्तिसंगत ठहरता है कि जिस प्रकार जगन्नियन्ता परमात्मा ने सब जगत् को बनाया उसी प्रकार उसने वेदों को प्रादुर्भूत कर उनके द्वारा जगत् को शिक्षित किया। '**बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे**'—वेदों की रचना बुद्धिपूर्वक की गयी प्रतीत होती है, इसलिए किसी बुद्धिमान् सत्ता को ही उनका कारण मानना होगा। तब सकलबुद्धिनिधान परमेश्वर ही उनका कारण हो सकता है। प्रति कल्प में जब-जब सृष्टि होती है तब-तब वेद इसी रूप में प्रादुर्भूत होते हैं। किसी प्रकार का परिवर्त्तन न होने के कारण वेदों के बनाये जाने का व्यवहार नहीं किया जाता। '**अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा**' में परमात्मा द्वारा 'निर्मिता' न कहकर 'उत्सृष्टा' (प्रकट कि ये गये) कहने का यही अभिप्राय है कि नित्य वाणीरूप वेदों को परमात्मा ने प्रकाशित किया। भगवद्गीता (३।१५) की व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है—

https://t.me/arshlibrary

"कर्म (ब्रह्मोद्भवम्) ब्रह्म वेदः स उद्भवः कारणं यस्य तत्कर्म ब्रह्मोद्भवम् । ब्रह्म पुनर्वेदाख्यम् (अक्षरसमुद्भवम्) अक्षरं ब्रह्म परमात्मा समुद्भवो यस्य तदक्षरसमुद्भवं ब्रह्म वेद इत्यर्थः ।"

तात्पर्य यह है कि कर्म की उत्पत्ति वेद से और वेद की उत्पत्ति परमात्मा से है। आनन्दतीर्थ, रामानुज आदि ने भी प्रायः इन्हीं अर्थों में वेदों के ब्रह्मनिःश्वसित होने का प्रतिपादन किया है।

ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करके यह बात सहज ही समझ में आ जाती है कि उससे प्रादुर्भूत ज्ञान में स्वयं उसके स्वरूप (गुण-कर्म-स्वभाव) का वर्णन 'याथातथ्य'—जैसा वह है, वैसा ही होना चाहिए। यह कैसे सम्भव है कि स्वयं परमेश्वर ही अपनी रचना में अपना यथायथ वर्णन न करे। ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, निर्विकार, न्यायकारी, अजन्मा आदि (जैसाकि यजुर्वेद के ४०वें अध्याय के ८वें मन्त्र में और आर्यसमाज के दूसरे नियम में वर्णित है) है। जिस धर्मग्रन्थ में इससे विपरीत ईश्वर के स्वरूप का वर्णन है, वह ईश्वरप्रदत्त होने का दावा नहीं कर सकता। वेद ही इस कसौटी पर खरा उतरता है।

सृष्टि की रचना और उसका संचालन ईश्वरीय व्यवस्था तथा प्राकृतिक नियमों के अधीन है। वे सभी नियम त्रिकालाबाधित हैं। प्रत्येक पदार्थ के गुण-कर्म-स्वभाव सदा एक-से रहते हैं। अभाव से भाव की उत्पत्ति, कारण के बिना कार्य, अग्नि आदि द्रव्यों का अपने स्वाभाविक गुणों का परित्याग, बिना माता-पिता के संयोग के सन्तानोत्पत्ति, बिना कर्मफल भोगे कृतकर्म का क्षय, जड़ से चैतन्य की उत्पत्ति, जीव की सर्वज्ञता, ईश्वर का जीवों की भाँति जन्म-मरण के बन्धन में पड़ना, पृथिवी का चपटी होना, राहु द्वारा ग्रसे जाने के कारण सूर्य और चन्द्र को ग्रहण लगना, सूर्य को जब चाहे और जहाँ चाहे रोक देना इत्यादि सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से मिथ्या हैं। **'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'**—वेद में जो कुछ है, बुद्धिपूर्वक है। उसमें सृष्टिक्रम के विरुद्ध कुछ नहीं है। हो भी कैसे सकता है, जबकि सृष्टि और वेद दोनों एक ही ईश्वर की रचना हैं।

जेम्स हेस्टिंग्ज ने अपने सन्दर्भग्रन्थ 'Encyclopaedia of Religion and Ethics' में लिखा है—"Swami Dayananda tried to make the Book of God resemble the Book of Nature." अर्थात् स्वामी दयानन्द ने ईश्वरीय पुस्तक (वेद) को प्रकृति की पुस्तक (सृष्टि) के अनुकूल सिद्ध करने का यत्न किया। वास्तव में यदि वेद और सृष्टि दोनों एक ही सत्ता के कार्य हैं तो दोनों में सामंजस्य होना स्वाभाविक तथा अनिवार्य है। ऐसा होना नहीं, प्रत्युत न होना आश्चर्यजनक होगा। यदि भूगोल की पुस्तक का लेखक और उसमें लगे मानचित्र (नक़शे) का बनानेवाला एक ही व्यक्ति हो तो यह कैसे हो सकता है कि मानचित्र में तो दिल्ली को यमुना के किनारे स्थित दिखाये और पुस्तक के पृष्ठों में उसे सतलुज के किनारे स्थित लिखे। संसार में कोई भी घटना सृष्टिक्रम के विरुद्ध नहीं घट सकती, भले ही अपनी अल्पज्ञता के कारण हम उसकी व्याख्या न कर सकें।

इंग्लैंड के मनीषी डब्ल्यू०डी० ब्राउन ने वेद की इस विशेषता का निरूपण करते हुए अपनी पुस्तक 'Superiority of Vedic Religion' में लिखा है—

"Vedic Religion is thoroughly secientific where science and religion meet hand in hand. Here theology is based on science and philosophy."

अर्थात् वैदिक धर्म पूर्णतया वैज्ञानिक धर्म हैं, जहाँ विज्ञान और धर्म हाथ-में-हाथ डालकर अर्थात् सहयोगी बनकर चलते हैं। यहाँ धर्म विज्ञान और दर्शन पर आधारित हैं।

https://t.me/arshlibrary

लुई जैकालियट नामक विद्वान् ने मत-मतान्तरों के सृष्टि-उत्पत्तिविषयक मन्तव्यों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद लिखा—

"Astonishing fact ! The Hindu Revelation, Veda, is of all revelations the only one whose ideas are in perfect harmony with modern science."

—The Bible in India, Vol. II, Ch. I.

अर्थात् आश्चर्यजनक तथ्य है कि एकमात्र हिन्दुओं का ईश्वरीय ज्ञान वेद ही है, जिसके सृष्टिरचना विषयक सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान की मान्यताओं के अनुरूप हैं।

वैदिक धर्म के सिद्धान्तों तथा मान्यताओं के वैज्ञानिक आधार के कारण ही भारत में वैज्ञानिकों पर वैसे अत्याचार कभी नहीं हुए जैसे बाइबल आदि को ईश्वरीय ज्ञान माननेवाले यूरोप में पृथिवी को गोल कहने और अनेक लोकों की सत्ता माननेवाले गैलिलियो और ब्रूनो आदि वैज्ञानिकों पर हुए और जिनका विस्तृत वर्णन डॉ० विलियम ड्रेप ने अपनी पुस्तक 'History of the conflict between Science and Religion' में किया है।

मानव का ज्ञान यत्किंचित् अज्ञानमिश्रित रहता है, अतः वह निर्भ्रान्त नहीं हो सकता। ईश्वर में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों की सम्भावना नहीं, अतः साक्षात्कृत धर्मा ऋषियों के आत्मा में सीधे परमेश्वर की प्रेरणा से प्राप्त ज्ञान भी इन दोषों से मुक्त होना चाहिए। वेद में जो वाक्यरचना है, पद व पदसमूह की आनुपूर्वी है, वह सब बुद्धिपूर्वक है। वेद के इस रूप में भ्रम, प्रमाद आदि की सम्भावना नहीं हो सकती। निर्भ्रान्त परमेश्वर से प्रादुर्भूत होने के कारण वह निर्भ्रान्त है।

बाइबल का परमेश्वर स्वयं भ्रम, प्रमाद आदि दोषों से आक्रान्त है। इसलिए उसे अपनी भूलों पर पश्चात्ताप करना पड़ता है। Genesis के छठे अध्याय में सृष्टि में मनुष्य के उत्पन्न करने पर परमेश्वर के पश्चात्ताप करने का वर्णन है—

"And it repented the Lord that he made man on the earth and it grieved him at his heart. And the Lord said—'I will destroy man whom I have created, from the face of the earth; for it repented me that I have made him."

इससे पहले लिखा है—"God made man in his own image." अर्थात् परमेश्वर ने मनुष्य को अपने जैसा बनाया। जिसे उसने अपने जैसा बनाया उसे देखकर भी उसे इतना दुःख हुआ कि तत्काल उसे नष्ट कर देने की घोषणा कर डाली। नीतिकारों का कथन है—**'विषवृक्षमपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्।'** किन्तु परमेश्वर अपनी जिस वृति को (वह भी ऐसी जिसे उसने अपने जैसा बनाया था) नष्ट करने को तैयार हो गया, वह कितनी बुरी रही होगी। भ्रम, प्रमाद, लिप्सा आदि से ग्रस्त होने के कारण ही बाइबल के परमेश्वर को अपने किये पर पछताना पड़ा। ईश्वरीय ज्ञान होने का दावा करनेवाले प्रायः सभी ग्रन्थ इसी प्रकार की बातों से भरे पड़े हैं। यही उनके मानवीय रचना होने का प्रमाण है। सदसद्विवेक में मनुष्य की अन्तरात्मा का महत्वपूर्ण योगदान है। **'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः'** आदि अनेकत्र उपलब्ध प्रमाणों से मनःसाक्षी की उपयोगिता स्पष्ट है, परन्तु उसे पर्याप्त अथवा अन्तिम नहीं माना जा सकता। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न रूप में उत्पन्न संवेदन या अनुभव अच्छे-बुरे या पाप-पुण्य का एक समान मापदण्ड निर्धारित नहीं कर सकते, क्योंकि मनुष्य होने के नाते उनके वे अनुभव भ्रम, प्रमाद आदि दोषों से मुक्त नहीं हो सकते। ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण केवल वेद ही इस कसौटी पर खरा उतरता है।

https://t.me/arshlibrary

पूर्ण एवं नित्य परमेश्वर से प्रादुर्भूत ज्ञान भी नैसर्गिक ज्ञान का बोधक होने से पूर्ण व नित्य होना चाहिए। आदिकवि सर्वज्ञ व मनीषी है, अतः सर्ग के आदि में समूचे ज्ञान का एकसाथ आविर्भाव होना ही तर्कानुमोदित है। परमेश्वर के एकरस होने से उसका ज्ञान भी एकरस या अपरिवर्त्तनशील होगा। यदि उसे समय-समय पर बदलते रहना पड़े तो ईश्वर में अज्ञान तथा अपूर्णता का दोष प्राप्त होगा। समय-समय पर मन्त्र-प्रकाश या आयत नाज़िल होते रहने की बात उसे मनुष्य जैसा अल्पज्ञ तथा भ्रान्त बना देगी। मनुष्यों की समय-समय की आवश्यकताओं तथा तदनुसार अपनी भूलों के परिमार्जन पर ही यह कल्पना आश्रित है, परन्तु अल्पज्ञों का उदाहरण सर्वज्ञ पर नहीं घटाया जा सकता। मनुष्य द्वारा स्थापित तथा संचालित संसद् अथवा विधानसभाएँ नई-नई परिस्थितियों से निपटने के लिए अपने बनाये क़ानूनों में संशोधन-परिवर्धन करती रहती हैं—पुराने क़ानूनों को निरस्त कर नये क़ानून बनाती रहती हैं। यह सब जीव की अल्पज्ञता के कारण होता है। त्रिकालदर्शी होने से परमेश्वर को परिस्थितियों के अनुरूप अपने नियमों में परिवर्त्तन नहीं करना पड़ता। मनुस्मृति (१२।९६) में कहा है—

उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च॥

वेद से भिन्न अनेक ग्रन्थ बनते हैं और नष्ट होते रहते हैं। वे सब अर्वाक्काल (प्राचीन परम्परा के विपरीत) होने से निष्फल और मिथ्या होते हैं। परन्तु **'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'**—परमेश्वर का काव्य वेद न कभी पुराना पड़ता है और न नष्ट होता है।

वेद के सिद्धान्तों में कालभेद से किसी प्रकार का उलटफेर करना नहीं पड़ता। मनुष्य का ज्ञान बदलता रहता है। भूल प्रतीत होनेपर वैज्ञानिकों को स्वयं अपनी मान्यताएँ बदलते देखा गया है। बड़े-बड़े विज्ञानवेत्ताओं ने कठोर परिश्रम करके वर्षों के अनुसन्धान के फलस्वरूप जो सिद्धान्त स्थिर किये उन्हें आगे आनेवाले वैज्ञानिकों ने बदल डाला। डार्विन के विकासवाद (Evolution) अथवा फ्रायड के मनोविश्लेषण (Psycho-analysis) का आज वह स्वरूप नहीं रहा जो उन्होंने मूलतः निर्धारित किया था। यही अवस्था आइंस्टीन के सापेक्षवाद (Theory of Relativity) की है, परन्तु ईश्वर में भ्रमादि दोषों के न होने से उसके ज्ञान वेद में आज तक कोई भूल नहीं निकली। जहाँ-जहाँ आधुनिक विज्ञान ने वैदिक सिद्धान्तों से मतभेद दिखाकर संघर्ष किया वहाँ-वहाँ घूम-फिरकर आधुनिक विज्ञान को ही वैदिक सिद्धान्त को स्वीकार करना पड़ा। उसके अनेक उदाहरण हैं। निदर्शनार्थ यहाँ दो-चार उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं—

१. आधुनिक विज्ञान ने पहले अपने कल्पित ऑक्सीजन, हाइड्रोजन आदि को मूलतत्त्व माना। अन्वेषण से उनकी संख्या बढ़ती गई—६५-६३-.....। किन्तु अब विज्ञान के मत में शताधिक तत्त्व मौलिक नहीं, जन्य हैं। मौलिक तत्त्व तो तीन ही रह गये—इलेक्ट्रॉन, प्रोटोन और न्यूट्रॉन जो हमारे सत्त्व, रजस् व तमस् के अपर नाम हैं।

२. सृष्टि की अब तक की आयु के विषय में भी मतभेद रहा। वेदोक्त युगप्रक्रिया के अनुसार सृष्टि कुछ कम दो अरब वर्ष पुरानी मानी जाती है। पाश्चात्यों के धर्मग्रन्थ केवल ५००० वर्ष पुरानी बताते थे। विज्ञान भी पहले बहुत थोड़ी बताता था, परन्तु भूगर्भविज्ञान ने उसकी आँखें खोल दीं। अब पाश्चात्य वैज्ञानिक भी क्रमशः दो अरब वर्ष तक पहुँच गये हैं, परन्तु भारतीय शास्त्रों की भाँति वे वर्ष, मास, दिन आदि की पूरी-पूरी गणना अभी तक नहीं कर पाये। उसमें अभी न जाने कितना समय लगेगा।

३. वैदिक विज्ञान शब्द को आकाश का गुण मानता है। पाश्चात्य विज्ञान अभी तक उसे वायु का

https://t.me/arshlibrary

गुण सिद्ध करने में लगा रहा, परन्तु रेडियो के आविष्कार ने उसकी थ्यूरी बदल दी। आज वे मान गये कि जितने काल में जितनी दूर शब्द पहुँचता है, वायु की गति उतनी नहीं। अब शब्द को ईथर या स्पेस का गुण माना जाने लगा है। ईथर और स्पेस दोनों ही हमारे यहाँ आकाश शब्द के अन्तर्गत हैं।

४. वृक्ष, लता आदि को विज्ञान पहले चेतन नहीं मानता था। वेदादि शास्त्र सदा से इन्हें चेतन मानकर जीव की भोगयोनि मानते रहे हैं। स्वनामधन्य जगदीशचन्द्र वसु ने वैज्ञानिक परीक्षणों के द्वारा वृक्षादि में प्राणसत्ता सिद्ध कर वैदिक विज्ञान को मान्यता प्रदान की।

५. पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने सूर्यमण्डल में रहनेवाले कालेपन को अभी-अभी जाना है, परन्तु वैदिक विद्वान् वेदों के माध्यम से इस रहस्य को आदिकाल से ही जानते हैं। आदित्यमण्डल के मध्य भाग में कालापन होने से वेदों में आदित्य को बहुधा **'कृष्ण'** नाम से पुकारा गया है, जैसे—**'कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम्'** (ऋ० १।७६।२)। यहाँ कृष्ण शब्द से आदित्यरूप अग्नि का निर्देश है। जैमिनिब्राह्मण में कहा है—**असावेव संवत्सरो योऽसौ तपति। तस्य यद् भाति तत् संवत्, यन्मध्ये कृष्णं मण्डलं तत्सर इत्यधिदैवतम्'** (जै० ब्रा० २।२८) अर्थात् जो यह तपता है, वह संवत्सर है। उसमें जो प्रकाश करनेवाला भाग है वह संवत् है और जो बीच में कृष्ण भाग है, वह सर है। आदित्यमण्डल में रहनेवाले ये काले धब्बे चलते रहने से सर्प कहाते हैं। इन सर्पों के कारण ही ताण्ड्यब्राह्मण (२५।१५।४) में **'सर्प्या वा आदित्याः'** कहा है।

वेद के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण हैं। पश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार वेद मानवीय मस्तिष्क की प्रारम्भिक चेतना की अटपटी उक्तियाँ हैं। उनमें न परस्पर कोई संगति है और न सुलझे हुए विचारों की स्थापना। वे धार्मिक विश्वासों के विजड़ित पोथे हैं जिनका अधिकांश बुद्धिगम्य नहीं है। मानवजाति के सीखतड़ बच्चे जिस आश्चर्य से जगत् को देखते हैं उसी की छाया वेदमन्त्रों में है। इसी सूत्र को पकड़कर पिछले सौ-सवा-सौ वर्षों से वेदों के अनेक भाष्य और व्याख्याग्रन्थ पश्चिमी विद्वानों द्वारा लिखे गये। अपने देश में भी उनके मानसपुत्र वैदिक विद्वान् भी इन्हीं अर्थों में रुचि लेते हैं। उनके लिए ब्राह्मणग्रन्थों में की गयी वेद की व्याख्या अधिकांश में अनास्था की वस्तु है। इसके विपरीत भारतीय परम्परागत दृष्टि वेद को सम्पूर्ण ज्ञान की शब्दमयी अभिव्यक्ति के रूप में देखती हुई घोषणा करती है—

भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति। —मनु० १२।९७

भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान का आधार वेद है। सायणाचार्य ने अनपे तैत्तिरीयसंहिता-भाष्य के उपोद्घात् में कहा है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

अर्थात् प्रत्यक्ष से या अनुमान से जो अर्थ नहीं जाना जाता, वह वेदों से अवश्य जाना जाता है। यही वेदों का वेदत्व है।

इस प्रकार सब तरह के अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि का स्रोत वेद है। जब ईश्वर सर्वज्ञ है और वेद उस सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा मानवमात्र के कल्याणार्थ प्रदत्त ज्ञान है तो वह उसके लिए अपेक्षित पूर्ण ज्ञान होना ही चाहिए। उसकी अपूर्णता स्वयं वेदत्व का ही विघात करेगी। मनु का तो स्पष्ट मत है—**'स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः'** (मनु० २।७), अर्थात् वेद में सब धर्म अर्थात् विद्याओं का विधान किया है, क्योंकि वेद सम्पूर्ण विद्याओं का कोष है। दूसरे शब्दों में समस्त विद्याएँ और ज्ञान वेद में हैं वेद

https://t.me/arshlibrary

को **'सर्वज्ञानमय'** कहा जा सकता है। यास्काचार्य ने वेद की विशेषता बताते हुए कहा—**'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे'** (नि० १।२)। अल्पज्ञ होने से मनुष्य की विद्या तो अनित्य है, परन्तु नित्य परमेश्वर का ज्ञान होने से वेद सम्पूर्ण कर्मों का बोधक है। आज हम भले ही इस बात को सर्वांश में सिद्ध न कर सकें, किन्तु वेद में समस्त विद्याएँ होनी चाहिएँ, इसका बाध तो कोई नहीं कर सकता।

वाचस्पतिमिश्र ने वेद को लौकिक तथा पारलौकिक सुख के साधनों का मूल बताते हुए लिखा—**'तथा चाभ्युदयनिःश्रेयसोपदेशपरोऽपि वेदराशिरीश्वरप्रणीतस्तद्बुद्धिसत्वप्रकाशादेव भवितुमर्हति।'**

'शास्त्रयोनित्वात्' वेदान्तदर्शन के इस सूत्र (१।१।३) की व्याख्या में आचार्य शंकर लिखते हैं—**'महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्था द्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म।'** अर्थात् अनेक विद्याओं से परिपूर्ण प्रदीप के समान सब पदार्थों का प्रकाश करनेवाले महान् ऋग्वेदादि शास्त्र का कारण (आदिमूल) ब्रह्म है।

याज्ञवल्क्यस्मृति का वचन है—

न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात्सनातनात्॥

'समस्त शास्त्रों का मूल वेद है'—याज्ञवल्क्यस्मृति का यह वचन अक्षरशः सत्य है। वैदिक वाङ्मय के जितने भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं, सभी किसी-न-किसी रूप में वेद से जुड़े हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण निरुक्त, छन्द और ज्योतिषविषयक समस्त ग्रन्थ वेदाङ्गों के अन्तर्गत हैं। विज्ञान और दर्शनविषयक हमारे महान् ग्रन्थ न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त और मीमांसा वेद के उपांग कहाते हैं। आयुर्वेद, धनुर्वेद, अर्थवेद, और गन्धर्ववेद का नाम ही उपवेद है। समस्त उपनिषद् ईशोपनिषद् का विस्तार हैं और ईशोपनिषद् यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय ही है। ब्राह्मणादि तो हैं ही वेद के व्याख्यानग्रन्थ। श्रौत तथा गृह्यादिसूत्र वेद द्वारा निर्दिष्ट कर्मकाण्ड में सहायक ग्रन्थ हैं। इन मुख्य ग्रन्थों में व्यावहारिक तथा पारमार्थिक सभी विद्याओं का समावेश हो जाता है। व्यक्ति, परिवार, समाज, पशु-पक्षी-पालन, कृषि, सिंचाई, वर्षा, उद्योग-धन्धे, यातायात, ओषधि एवं चिकित्साविज्ञान, भौतिकी, रसायनशास्त्र, जीवविज्ञान, वनस्पतिशास्त्र, ज्योतिष, गणित, अन्तरिक्षविज्ञान, राजनीति, शस्त्रविद्या, सैन्यसंचालन, ऋतुविज्ञान, शिक्षा, भूगर्भविद्या, भाषाविज्ञान आदि एक भी ऐसा विषय नहीं जिसका ज्ञान मनुष्य के वैयक्तिक अथवा सामूहिक तथा ऐहिक अथवा पारलौकिक जीवन के लिए आवश्यक हो और वेद में उपलब्ध न हो।

पूर्वपक्ष—वेद में निहित ज्ञान के सम्बन्ध में यह कहा जाता है—**'सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः'**—अर्थात् वेद में सब धर्म अर्थात् नियमों का प्रतिपादन किया गया है, क्योंकि वेद सम्पूर्ण ज्ञान का स्रोत है। दूसरे शब्दों में वेद में समस्त विज्ञान व विद्याएँ हैं। इसीलिए वेद को **'सर्वज्ञानमय'** कहा गया है, परन्तु यह मान्यता अक्षरशः या पूरी तरह युक्तिसंगत नहीं है। किसी भी विशेषज्ञ आचार्य द्वारा जब किसी विषय का प्रतिपादन करने के लिए किसी ग्रन्थ की रचना की जाती है तो रचना के यथासम्भव सर्वांगपूर्ण होनेपर भी रचयिता का ज्ञान अवश्य ही उसकी अपेक्षा अधिक रहता है। पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी व्याकरणशास्त्र का अद्भुत ग्रन्थ है। तब भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें पाणिनिमुनि का सम्पूर्ण ज्ञान आ गया है। फिर प्रभु का ज्ञान तो उसी के समान अनन्त है। वह ऋग्वेदादि चार पुस्तकों में कैसे समा सकता है? **'अनन्ता वै वेदाः'**—ज्ञान अनन्त है। उसे किसी सीमा में नहीं बाँधा जा सकता, अतः यही समझना चाहिए कि सृष्टि के आदि में मनुष्य को जो ज्ञान मिला, वह ईश्वर का पूर्ण ज्ञान न होकर उसका एक

https://t.me/arshlibrary

अंशमात्र है। चार संहिताओं को जो वेद कहा जाता है, उसका यह अभिप्राय नहीं कि वेद इतना ही है। इसमें **'अनन्ता वै वेदाः'** यह प्रमाण तो है ही, विचार करने पर भी यही समझ में आता है कि ज्ञान को किसी सीमा में, अर्थात् चार पुस्तकों में नहीं बाँधा जा सकता।

उत्तरपक्ष—यह ठीक है कि ऋग्वेदादि शास्त्र जिनका ऋषियों ने व्याख्यानरूप अनेक शाखाओं में विस्तार किया, वे सर्वज्ञ ब्रह्म के अनन्त ज्ञान का एक अंश ही हैं। वेद को सर्वज्ञानमय कहने का अभिप्राय यही है कि वेद में निर्दिष्ट ज्ञान जीव की अपेक्षा से सम्पूर्ण है। ज्ञानी पुरुषों के संसर्ग से अज्ञानी आत्मा का ज्ञान बढ़ता है। परमेश्वर द्वारा प्रदत्त वेदरूपी ज्ञान से तथा उसके साक्षात्कार से जीव के ज्ञान का विकास होता है, परन्तु अल्पज्ञ होने के कारण वह परमेश्वर के समान अनन्त ज्ञान का भण्डार नहीं बन सकता। परमेश्वर के अनन्त ज्ञान को प्राप्त करने का न उसमें सामर्थ्य है और न उसे उसकी आवश्यकता है तथापि अपने अभ्युदय और निःश्रेयस के लिए जीव को जितने ज्ञान की आवश्यकता है, उसकी अपेक्षा से वेद का ज्ञान पूर्ण है। इस विषय का स्पष्टीकरण यजुर्वेद में किया है—

यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे।
तावन्तमिन्द्र ते ग्रह्मूर्जा गृह्णाम्यक्षितं मयि गृह्णाम्यिक्षितम्॥

—यजुः० ३८।२६

इस मन्त्र में आया हुआ **'तावन्तम्'** पद पदार्थों की उस मर्यादा को प्रकट कर रहा है जितनी मात्रा में उनका ज्ञान आत्मा को होता है। भूलोक और द्युलोक में पदार्थों से उसका सम्बन्ध है, अतः उतना ही ज्ञान उसके लिए अपेक्षित था और वह उसे वेद के रूप में दे दिया गया। **'अनन्ता वै वेदाः'** में अनन्त पद का प्रयोग औपचारिक भी हो सकता है—**'अनन्तसुखिवत्'**। वेद शब्द से यहाँ समस्त वैदिक साहित्य भी अभिप्रेत हो सकता है, क्योंकि इस वचन के कथन के समय तक वेद के व्याख्यान—शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदांग, उपांग, उपवेद, श्रौत, गृह्यसूत्र आदि के रूप में विशाल साहित्य का निर्माण हो चुका था और यह प्रवाह अनवरत चालू था, परन्तु वेद संख्या में चार नहीं, अनन्त हैं, **'अनन्ता वै वेदाः'** का यह अर्थ कभी नहीं किया गया।

स्वामी दयानन्द की 'वेदों में विज्ञानविषयक मान्यताओं' का विवेचन करते हुए योगी अरविन्द ने अपने निबन्ध "Dayananda and the Veda" में लिखा है—

"There is nothing fantastic in Dayananda's idea that Veda contains truths of science as well as truth of religion. I will even add my own conviction that Veda contains the other truths of science which the modern world does not at all possess; and in that case, he has rather understated than overstated the depth and range of Vedic wisdom."

अर्थात् दयानन्द की इस धारणा में कि वेदों में धर्म और विज्ञान दोनों की सचाइयाँ पाई जाती हैं, कोई भी उपहासास्पद या कल्पनामूलक बात नहीं है। मैं इसके साथ अपनी भी धारणा जोड़ देना चाहता हूँ कि वेदों में विज्ञान की वे सचाइयाँ भी पाई जाती हैं, जिन्हें आधुनिक विज्ञान अभी तक नहीं जान पाया है। ऐसी अवस्था में स्वामी दयानन्द ने वैदिक ज्ञान की गम्भीरता के विषय में अतिशयोक्ति से नहीं, न्यूनोक्ति से ही काम लिया है।

अमरीकन विदुषी श्रीमती ह्वीलर विल्लौक्स (Mrs. Wheeler Willox) ने इस विषय में अपने उद्‌गार इन शब्दों में व्यक्त किये हैं—

https://t.me/arshlibrary

"It (India) is the land of the great Vedas—the most remarkable works, containing not only religious ideas for perfect life but also facts which science has since proved true. Electricity, Radium, Electrons, Airships, all seem to be known to the seers who found the Vedas."

यह भारत उन महान् वेदों की भूमि है जो अद्भुत ग्रन्थ हैं, जिनमें पूर्ण जीवन के लिए न केवल उपयोगी धार्मिक सिद्धान्त बताये गये हैं, अपितु इन तथ्यों का भी प्रतिपादन किया गया है जिन्हें विज्ञान ने सत्यापित किया है। बिजली, रेडियम, इलेक्ट्रॉन, वायुयान आदि सभी कुछ वेदों के द्रष्टा ऋषियों को ज्ञात प्रतीत होता है।

महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री नारायण भवानीराव पावगी ने अपने ग्रन्थ 'Vedic India—Mother of Parliament' में वेद के विषय में लिखा है—

"The vedas are the fountain head of knowledge, the prime source of inspiration nay, the grand repository of divine wisdom and even eternal truths."

अर्थात् वेद सम्पूर्ण ज्ञान का आदिस्रोत, ईश्वरीय प्रेरणा का मुख्य आधार, यहाँ तक कि दिव्य बुद्धि तथा नित्य सत्य का महान् भण्डार है।

अपने दूसरे विश्वविख्यात ग्रन्थ 'Vedic Fathers of Geology' में श्री पावगी ने **'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा'** (ऋग्० १०।१२१।१), **'या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा'** (ऋग्० १०।९७।१), **'स प्राचीनान् पर्वतान् दृंहदोजसाऽधराचीनमकृणोदपामपः'** (ऋग्० २१६६१५); **'यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपितॉं अरम्णात्** (ऋग्० २।१२।२) इत्यादि मन्त्रों के आधार पर वेदों में भूगर्भविद्या का मूल बताते हुए लिखा है—

"I may take this opportunity to remind the reader, without any fear of contradiction, that the Vedas contain many things not yet known to anybody, as they form a mine of inexhaustible literary wealth that has still remained unexplored."

अर्थात् मैं बिना किसी प्रत्याख्यान के भय के पाठकों को याद कराना चाहता हूँ कि वेदों में ऐसी बहुत-सी बातें हैं जिनका अभी तक किसी को ज्ञान नहीं। वे उस साहित्यिक पूँजी की अक्षय खान है जो अभी तक अज्ञात है।

बम्बई के सुप्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर वी०जी० रेले ने वेदों में जीवविज्ञान का विस्तृत वर्णन पाकर अपने बहुचर्चित ग्रन्थ 'The Vedic Gods' में लिखा—

"Our present anatomical knowledge of the nervous system tallies so accurately with the literal description of the world given in the Rigveda that a question arises in the mind whether the Vedas are really religious books or whether they are books on anatomy and physiology of the nervous system, without the thorough knowledge of which psychological deductions and philosophical speculations cannot be correctly made."

अर्थात् हमारा आजकल का नाड़ी-संस्थान का रचनासम्बन्धी ज्ञान ऋग्वेद के जगद्विषयक वर्णनों से इतना मेल खाता है कि मन में प्रश्न उठता है कि क्या वेद वास्तव में धर्मग्रन्थ हैं या वे शरीरविज्ञान और नाड़ीसंस्थान के रचनाविषयक ग्रन्थ हैं, जिन्हें पूरी तरह जाने बिना मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक स्थापनाओं को ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता।

श्री पन्यम नारायण गौड़ ने अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'Introduction to the Message of the 20th Century'

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

में इस बात को सप्रमाण सिद्ध किया है कि वेदों में भौतिकी तथा रसायनशास्त्र के तत्व स्पष्टतया पाये जाते हैं। पुस्तक के मुखपृष्ठ पर ही पुस्तक के नाम के साथ उसके नाम का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है —"Containing a new method for the interpretation of the Vedas and experimental data proving that the Vedas are treatises on exact sciences." अर्थात् इस पुस्तक में वेदों की क्रमबद्ध व्याख्या की नई प्रणाली बताई गयी है और इस बात को सिद्ध किया गया है कि वेद शुद्ध वैज्ञानिक ग्रन्थ हैं।

बाइबल आदि की तरह वेद मत या सम्प्रदायविशेष के प्रतिपादक अथवा रूढ़ अर्थों में धार्मिक ग्रन्थ नहीं हैं। वैदिक धर्म में भौतिक तथा नैतिक जगत् में कार्य करनेवाले सब अचल नियमों का, जिन्हें वेद में ऋत और सत्य नाम से पुकारा गया है, समावेश है। चराचर जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय और मनुष्य के आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक जीवन से सम्बन्धित सभी विषयों का प्रतिपादन वेदों में पाया जाता है।

ईश्वरीय ज्ञान देश-काल से परिच्छिन्न नहीं होता। वह सदा एकरूप अनादि और अनन्त है। यदि ऐसा न होता तो यह मनुष्यमात्र का पथप्रदर्शक नहीं हो सकता था। जो ज्ञान किसी देश व काल में सीमित रह जाता है, वह ईश्वरीय ज्ञान होने का दावा नहीं कर सकता। देशभेद व कालभेद उन पदार्थों में आश्रय पाता है जो कभी और कहीं उद्भव में आते हैं। वेद शाश्वत ब्रह्म का रूप हैं। सर्गकाल में भी उसकी उत्पत्ति नहीं, केवल अभिव्यक्ति होती है। इसी प्रकार प्रलयकाल में उसका विनाश नहीं, कारण ब्रह्म में विलय होता है। देश-काल से असम्पृक्त ब्रह्म का ज्ञान वेद उसी के समान नित्य है।

वेदों में अनेक पद ऐसे मिलते हैं जिनसे उनमें ऐतिहासिक तथा भौगोलिक वर्णन होने का भ्रम होता है। ऐसे शब्दों से व्यक्तिविशेष या स्थानविशेष की प्रतीति होने के दो कारण हैं। मनुस्मृति का वचन है—**'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे'** अर्थात् मनुष्यों ने अपने तथा अपने व्यवहार में आनेवाले पदार्थों के नाम वेदों में से चुन-चुनकर रख लिये। कानपुर में किन्हीं पं० वेणीमाधव के चार पुत्र थे। उन्होंने उनके नाम राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न रख लिये। तीन चार वर्ष पहले की बात है बम्बई में घूमते हुए हमने एक मकान के बाहर उसके नामपट्ट पर 'रामायणम्' लिखा देखा। उत्सुकतावश पूछनेपर पता चला कि यह फिल्मजगत् के जाने-माने अभिनेता शत्रुघ्न सिन्हा का मकान है। उसके शेष भाइयों के नाम भी राम, लक्ष्मण और भरत हैं। उनमें से एक के दो बच्चों के नाम भी लव-कुश हैं। स्पष्ट है कि नाम इन परिवारों से रामायण में नहीं गये, अपितु रामायण से इन परिवारों में आये। तात्पर्य यह कि वेदों में ये शब्द पहले से थे। बाद में लोग शब्दों के अर्थ के अनुरूप उनका अपने लिए प्रयोग करने लगे। जैसे—जो सबको मित्रभाव से देखे या जिसे सब लोग अपना मित्र समझें, ऐसे किसी भी व्यक्ति की संज्ञा **'विश्वामित्र'** हो सकती है। वेद में इस शब्द का प्रयोग इन्हीं अर्थों का वाचक है। कालान्तर में किसी व्यक्तिविशेष को ऐसा जानकर उसको इस नाम से पुकारने लगे। **'अयोध्या'** शब्द का अर्थ अजेय (invincible) है। बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित अजेय किसी भी नगरी का नाम अयोध्या रक्खा जा सकता है। युद्ध में स्थिर (डटा रहनेवाला) व्यक्ति अपना नाम युधिष्ठिर रख सकता है।

वेद में अनित्य इतिहास नहीं—इस विषय में यास्काचार्य की स्पष्ट घोषणा है कि वेदों में अनेकत्र आलंकारिक या औपचारिक वर्णन हैं। वेदविषयक इस सिद्धान्त को न समझने के कारण ही वेदों में व्यक्ति अथवा स्थानविशेष का उल्लेख होने की प्रतीति होती है। इस विषय का युक्ति-प्रमाणपुरस्सर विस्तृत विवेचन हमने अपनी **'वेदमीमांसा'** में वेदार्थप्रक्रिया प्रकरण में किया है।

https://t.me/arshlibrary

[विना ईश्वरीय ज्ञान के स्वतः विद्वत्ता सम्भव नहीं]

प्रश्न—वेद की ईश्वर से होने की आवश्यकता कुछ भी नहीं, क्योंकि मनुष्य लोग क्रमशः ज्ञान बढ़ाते जाकर पश्चात् पुस्तक भी बना लेंगे ।

उत्तर—कभी नहीं बना सकते, क्योंकि विना कारण के कार्योत्पत्ति का होना असम्भव है । जैसे जङ्गली मनुष्य सृष्टि को देखकर भी विद्वान् नहीं होते, और जब उनको कोई शिक्षक मिल जाए तो विद्वान् हो जाते हैं । और अब भी किसी से पढ़े विना कोई भी विद्वान् नहीं होता । इस प्रकार जो परमात्मा उन आदि सृष्टि के ऋषियों को वेदविद्या न पढ़ाता, और वे अन्य को न पढ़ाते तो सब लोग अविद्वान् रह जाते । जैसे किसी के बालक को जन्म से एकान्त देश, अविद्वानों वा पशुओं के संग में रख देवें, तो वह जैसा सङ्ग है, वैसा ही हो जाएगा । इसका दृष्टान्त जङ्गली भील आदि हैं ।

उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर वेद ही ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध होता है । अन्य कोई भी धर्मग्रन्थ इन कसौटियों पर खरा नहीं उतरता ।

ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता

मानवबुद्धि जड़ होने से किसी अन्य की प्रेरणा की अपेक्षा रखती है । बुद्धि एक जन्मजात शक्ति है, किन्तु ज्ञान अर्जित सम्पत्ति है । मनुष्य को स्वतः ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती । उसे आरम्भ में गुरु-ज्ञान प्राप्त हो जाए तो वह अपने अनुभव, चिन्तन, संवेदन और बुद्धि के द्वारा उस ज्ञान का विकास कर सकता है, अर्थात् पशुओं की भाँति केवल स्वाभाविक ज्ञान के आश्रित न रहकर वह नैमित्तिक ज्ञान के सहारे ज्ञान की सीढ़ी पर चढ़ते चले जाने में समर्थ हो जाता है । मनुष्ययोनि की यही विशेषता है । इसी व्यवस्था में मनुष्ययोनि की सार्थकता है । यही ऐसी योनि है जिसमें रहकर जीव को विकास का अवसर मिलता है, परन्तु यह विकास स्वतः नहीं होता । समुचित साधनों के रूप में नैमित्तिक ज्ञान के द्वारा ही सम्भव होता है । इसी को लक्ष्य कर शास्त्रों में कहा है—**'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'**—अर्थात् माता, पिता तथा आचार्य की सहायता से ही मनुष्य ज्ञानवान् होता है ।

अफ्रीका में गृहीतजन्म हब्शीपुत्र को इंग्लैण्ड में लाकर वहीं किसी गृहस्थ में रखकर उसका पालन-पोषण किया जाए तो वह अंग्रेजों की भाँति व्यवहार करेगा । इसके विपरीत यदि किसी अंग्रेज बालक का अफ्रीका के किसी हब्शी के घर में रखकर पालन-पोषण किया जाए तो वह हब्शियों जैसा व्यवहार करेगा । गुजरात में उत्पन्न बालक गुजराती और बंगाल में उत्पन्न बालक बंगला बोलता है । इस सबका कारण यही है कि जहाँ जिसको जैसा सीखने का अवसर मिलता है वह वैसा ही सीखता और व्यवहार करने लगता है । जंगली जातियों में ही नहीं, आधुनिक सभ्य सुशिक्षित समाज में भी किसी बड़े-से-बड़े विद्वान् का बालक भी बिना पढ़े विद्वान् नहीं बन जाता ।

स्वाभाविक ज्ञान की दृष्टि से मनुष्य पशुओं से पीछे है । पशु को तैरना सिखाना नहीं पड़ता, परन्तु तैरने की कौन कहे, जब तक अंगुली पकड़कर चलाया न जाता तब तक मनुष्य का बालक चल भी नहीं सकता ।

स्वाभाविक ज्ञान नैमित्तिक ज्ञान की प्राप्ति में सहायक तो हो सकता है, किन्तु स्वयं विकसित होकर मनुष्य के व्यवहारादि के लिए पर्याप्त नहीं हो सकता । स्वाभाविक ज्ञान से युक्त बच्चों को भी पढ़ने के लिए

https://t.me/arshlibrary

जबतक आर्यावर्त्त देश से शिक्षा नहीं गई थी, तबतक मिस्र, यूनान और यूरोप देश आदिस्थ मनुष्यों में कुछ भी विद्या नहीं हुई थी। और इंग्लैण्ड के कुलूम्बस आदि पुरुष अमेरिका में जब तक नहीं गये थ, तब तक वे सहस्रों, लाखों, क्रोड़ो[1] वर्षों से मूर्ख अर्थात् विद्याहीन थे। पुनः सुशिक्षा के पाने से विद्वान् हो गये हैं। वैसे ही परमात्मा से सृष्टि की आदि में विद्या-शिक्षा की प्राप्ति से उत्तरोत्तर काल में विद्वान् होते आये।

अध्यापक के पास जाना पड़ता है। यदि मात्र स्वाभाविक ज्ञान के सहारे मनुष्य अपने अनुभव से ज्ञान प्राप्त कर सकता तो जंगलों में रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति बिना पढ़े ही कभी-न-कभी गणित या व्याकरण का आचार्य, डॉक्टर, इंजीनियर और विज्ञानवेत्ता बन गया होता, परन्तु अफ्रीका, अमरीका और आस्ट्रेलिया के द्वीपों में जहाँ शिक्षा की व्यवस्था नहीं है, हज़ारों-लाखों वर्षों से बसे हुए हब्शी लोग आज भी पशुवत् जीवन व्यतीत कर रहे हैं। भारत में भी सुदूर पर्वतीय प्रदेशों और जंगलों में रह रही भील, सन्थाल, नागा आदि जातियाँ आज तक असभ्य बनी हैं। कौन कह सकता है कि उनमें चेतना या संवेदना का सर्वथा अभाव है। यदि स्वभाव से मनुष्य उन्नति कर सकता तो उनकी दशा अब तक ज्यों-की-त्यों क्यों बनी रहती? दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि जैसे-जैसे शिक्षित और सभ्य देशों के लोग इन पिछड़े क्षेत्रों में पहुँचकर स्कूल आदि की व्यवस्था करते जाते हैं, वैसे-वैसे वे लोग शिक्षित होते चले जाते हैं। जो काम स्वतः लाखों वर्षों में न हो पाया, प्रयत्न करनेपर वह कुछ ही वर्षों में हो गया।

समाजशास्त्री भी यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य, जैसे भी हो, समाज से ज्ञान ग्रहण करता है। इसीलिए यदि आज भी किसी मानव को समाज से पृथक् कर दिया जाए तो वह सर्वथा अज्ञ रह जाएगा और उसका व्यवहार पशुवत् होगा। समय-समय पर जो परीक्षण किये गये हैं उनसे यही पता चला कि यदि किसी बालक को पैदा होते ही अपने माता-पिता और मानवसमाज से पृथक् करके जंगल में पशुओं के बीच छोड़ दिया जाए तो वह पशुओं की भाँति ही व्यवहार करेगा। वैसे ही चले-फिरेगा और वैसी ही बोली बोलेगा। आकृति के सिवा उस मानवशिशु में और उन पशुओं में कोई अन्तर नहीं होगा। जन्म के तत्काल बाद से भेड़ियों की माँद में पलनेवाले रामू और कमला की कहानी तो देशभर में चर्चा का विषय बनी रही। ये बच्चे भेड़ियों की तरह चारों हाथों-पैरों से चलते थे, उन्हीं की तरह कच्चा मांस खाते थे, और बोलने के नाम पर उन्हीं की तरह गुर्राते थे। मानवसमाज से दूर पशुओं के बीच रहकर वे पशु ही बन गये थे।

आहार-निद्रा-भय-मैथुन तथा आत्मसंरक्षण विषयक पशु-जगत् का कार्य नैसर्गिक ज्ञान से चल सकता है; परन्तु धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जिसके जीवन का लक्ष्य है, वह मनुष्य नैमित्तिक ज्ञान के बिना आगे नहीं बढ़ सकता। विकासवाद के अनुसार मनुष्य की बुद्धि ज्ञान व अनुभव के द्वारा धीरे-धीरे विकसित होकर स्वतः ज्ञान-प्राप्ति में समर्थ हो जाती है। यह कहा जाता है कि यद्यपि एक मनुष्य अपने जीवनकाल में स्वतः ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, तथापि वंशानुक्रम से धीरे-धीरे विकास करता हुआ ज्ञान का संचय कर लेगा। साधारण दृष्टि से देखनेपर यह बात ठीक-सी प्रतीत होती है, परन्तु गहराई से विचार करने पर इसका खोखलापन स्पष्ट हो जाता है।

---

१. यह अतिशयोक्ति है, इसका तात्पर्य 'चिरकाल' से है, क्योंकि ग्रन्थकार ने स्वयं ११वें समुल्लास के आरम्भ में महाराजा युधिष्ठिर के राजसूययज्ञ में अमेरिका के राजा अर्जुनपुत्र बभ्रुवाहन का सम्मिलित होना लिखा है। उस समय अमेरिका देशवासी ज्ञान-विज्ञान से युक्त थे, अन्यथा सहस्रों कोसों का सागर पार करके भारत में कैसे पहुँचते?

https://t.me/arshlibrary

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् । —योगसू० १।२६॥

जैसे वर्त्तमान समय में हम लोग अध्यापकों से पढ़ ही के विद्वान् होते हैं, वैसे परमेश्वर सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए अग्नि आदि ऋषियों का गुरु अर्थात् पढ़ानेहारा है, क्योंकि जैसे जीव सुषुप्ति और प्रलय में ज्ञानरहित हो जाते हैं, वैसा परमेश्वर नहीं होता । उसका ज्ञान नित्य है । इसलिए यह निश्चित जानना चाहिए कि विना निमित्त से नैमित्तिक अर्थ सिद्ध कभी नहीं होता ।

दीपक पर पतंगा आता है और जल जाता है । जब से दीपक और पतंगा हैं तभी से ऐसा होता आ रहा है । पतंगों के लाखों-करोड़ों वर्षों के अनुभव ने उन्हें वह ज्ञान नहीं दिया जिससे वे भविष्य में जलने से बच जाते । सिखाने से तो सर्कस में बन्दर, हाथी, घोड़े आदि पशु कई प्रकार के करतब दिखाते हैं, परन्तु स्वतन्त्ररूप में उनका आचरण आज भी वैसा ही है जैसा लाखों वर्ष पहले था । मनुष्योचित व्यवहार का प्रदर्शन करने में दक्ष चिंपाजी भी चिड़ियाघर में आकर ही कुछ सीख पाता है, और यह भी प्रशिक्षक के द्वारा । पशुजगत् में ही नहीं, मानवजगत् में भी यही नियम काम कर रहा है । कोई परिवार चाहे कितना ही शिक्षित और ज्ञानी हो और कितनी ही पीढ़ियों से उसमें शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन चला आ रहा हो, उस परिवार की सन्तति भी बिना स्वयं पढ़े-लिखे विद्वान् बन जाए, यह सम्भव नहीं । ज्ञान का यदि क्रमिक विकास होता तो भावी सन्तति में वह स्वतः संक्रमित होता रहता । यदि कहीं दो सहोदर भाइयों में एक की शिक्षा की समुचित व्यवस्था कर दी जाए और दूसरा उस शैक्षिक व्यवस्था से वंचित रहे तो दूसरा एक ही वंश-परंपरा में सगा भाई होनेपर भी मूर्ख रह जाएगा । ज्ञान-प्राप्ति का नैमित्तिक साधनों पर अवलम्बित रहना ही इसमें कारण है ।

यदि जीवात्मा स्वाभावतः उन्नति करता होता तो सृष्टयुत्पत्ति के लाखों-करोड़ों वर्ष बीतनेपर अब तक ज्ञान की पराकाष्ठा हो गयी होती । स्कूल-कालिज होते भी तो कभी के बन्द हो गये होते । बहुत-से सर्वज्ञ हो गये होते, किन्तु वास्तविकता यह है कि यदि आज भी बच्चों को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाए तो वे उन्नति के स्थान पर अवनति करने लगेंगे । ऊपर चढ़ने की भाँति उन्नति, परिश्रम और तपस्या माँगती है और मनुष्य उससे बचना चाहता है, क्योंकि वह स्वभाव से सरलता व सुगमता चाहता है । वर्त्तमान युग की तथाकथित उन्नति मानवगुणों के विकास का नहीं, उसके सुख, सुगमता और सरलता का इतिहास है । वस्तुतः मानवीय गुणों का ह्रास हो रहा है । आदि मानव आज के मनुष्य से मानवीय सामर्थ्य में अधिक उन्नत था, यह निर्विवाद है । इसकी साक्षी किसी ऐसे मानवीय व्यवहार में ढूँढी जा सकती है जिसका आदि मानव में होना प्रमाणित हो और जो आज भी विद्यमान हो । वह है भाषाविज्ञान । वैदिक भाषा संस्कृत से और संस्कृत भाषा ग्रीक और लैटिन आदि भाषाओं से अधिक सक्षम, विविध उच्चारणों को अंकित करने में अधिक समर्थ है और अधिक गठित भी । वर्त्तमान भाषाएँ उच्चारण करने में सुगम और स्मरण करने में सुसाध्य तो हैं, परन्तु न तो उनमें प्राचीन भाषाओं का-सा लालित्य है, न भावाभिव्यक्ति की क्षमता और न थोड़े शब्दों में बहुत कुछ कहने का सामर्थ्य । आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से आज की तुलना में आदिमानव कहीं अधिक उन्नत था ।

जब यह निश्चय हो गया कि मनुष्य किसी के सिखाये बिना कुछ नहीं सीख सकता तो प्रश्न उठता है कि पहली पीढ़ी के मानवों ने जीवन का व्यवहार किससे सीखा होगा ? जिस प्रकार वर्त्तमान में हमने माता-पिता आदि से ज्ञान प्राप्त किया है वैसे ही हमारे माता-पिता आदि ने अपने माता-पिता आदि से और उन्होंने भी अपने माता-पिता आदि से ज्ञान प्राप्त किया होगा । यह क्रम चलते-चलते जब सृष्टि के

https://t.me/arshlibrary

[अग्नि आदि को वेदार्थ किसने जनाया]

प्रश्न—वेद संस्कृतभाषा में प्रकाशित हुए, और वे अग्नि आदि ऋषि लोग उस संस्कृतभाषा को नहीं जानते थे, फिर वेदों का अर्थ उन्होंने कैसे जाना ?

आदिकाल में अमैथुनी सृष्टि तक पहुँचेगा, जहाँ पृथिवी पर मानव की सर्वप्रथम प्रादुर्भूत पीढ़ी मिलेगी, तब निश्चय ही परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई शिक्षक नहीं मिलेगा, अतः मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ परमेश्वर द्वारा अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न मनुष्यों को वेद के रूप में नैमित्तिक ज्ञान का मिलना सर्वथा युक्तियुक्त है। उन मनुष्यों द्वारा अपनी सन्तति अथवा शिष्यों में ज्ञान का संक्रमण हुआ। यही क्रम अब तक चला आ रहा है। इस प्रकार संसार में आज जितना भी ज्ञान है, उसका आदिमूल परमेश्वर ही ठहरता है। इसीलिए महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगदर्शन में **'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'** कहकर परमात्मा को गुरुओं का गुरु बताया है। योगदर्शन के इस सूत्र का आशय यही है कि आदिकाल में जब सर्वप्रथम मानवों का आविर्भाव हुआ तो उनके मार्गदर्शन के लिए आवश्यक सब बातें परमगुरु परमात्मा ने उनके आत्मा में स्फूर्त कर दीं। इसी ज्ञानराशि को वेद नाम से अभिहित किया गया है।

कोलम्बस—ग्रन्थकार ने उसे इंग्लैंड का लिखा है, जबकि श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने उसे पुर्तगाल का बताया है। वास्तव में वह इटली का था और अमरीका की खोज उसने स्पेन की सहायता से की थी। हम यहाँ उसके प्रामाणिक जीवनवृत्त से आवश्यक अंश उद्धृत कर रहे हैं—

"Christopher Columbus was born in a humble woolcomber's home at Genoa, a port of Italy about 1446. How could he give effect to his dream of reaching India. Who would provide ships and men ? Genoa could not. Portugal after long disappointment and delay failed him. He sent an offer to Henry VII to carry out his project for England. He offered the same terms to France . Poor Columbus spent his time following the court from place to place. The scholars instead of discussing geograply sought to prove that Columbus was denying the teachings of the Bible. The thought that if there were people on the other side of the world . they must be upside down. The rulers of Spain at last gave him three little ships and sent him sailing on Agust-3, 1492. On the morning of October 12, 1492, knelt and kissed the ground and took possession in the name of the King and Queen of Spain."

—Arthur Mee : The Book of knowledge, P. 1016.

इस विवरण से स्पष्ट है कि कोलम्बस का न इंग्लैंड से कोई वास्ता था, न पुर्तगाल से।

वेदार्थज्ञान—ऋचाओं के आविर्भाव के साथ अन्तःप्रेरणा से ही ऋषियों को उनके अर्थ का उद्बोधन हुआ। यहाँ अर्थ पद से पदार्थ का ग्रहण होता है। पदार्थ ही शब्द का अर्थ है। पद वेद में थे, पदों के अर्थ=पदार्थ सृष्टि में थे। उन पदार्थों के अस्तित्व में आने पर उनके वाचक शब्द ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार उच्चारित हुए। उस उद्बोधन के आधार पर ही ऋषियों ने सृष्टि में उपलब्ध पदार्थों का नामकरण किया। वेद के मूल शब्द यौगिक थे। अब वे योगरूढ़ होने लगे। जब तक शब्द यौगिक या योगरूढ़ि रहते हैं तब तक उनके अर्थ बहुव्यापी होते हैं। कालान्तर में वे शब्द पारिभाषिक बनते गये और अनेक अर्थों में रूढ़ि बन गये।

ऋषियों की आत्मा में शब्दमय ज्ञान हुआ—**'अन्योऽन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या'** (अथर्व० ३।३०।१) अर्थात् आपस में तुम ऐसे प्यार करो जैसे गाय अपने सद्योजात बच्चे से करती है। इन शब्दों के साथ ही

https://t.me/arshlibrary

उत्तर—परमेश्वर ने जनाया, और धर्मात्मा, योगी, महर्षि लोग जब-जब जिस-जिसके अर्थ को जानने की इच्छा करके ध्यानावस्थित हो परमेश्वर के स्वरूप में समाधिस्थ हुए, तब-तब परमात्मा ने अभीष्ट मन्त्रों के अर्थ जनाये। जब बहुतों के आत्माओं में वेदार्थ-प्रकाश हुआ, तब ऋषि-मुनियों ने वह अर्थ और ऋषि-मुनियों के इतिहासपूर्वक ग्रन्थ बनाये। उनका नाम **'ब्राह्मण'** अर्थात् ब्रह्म जो वेद उसका व्याख्यान ग्रन्थ होने से **'ब्राह्मण'**[1] नाम हुआ और—

ऋषियों की आत्मा में बछड़े को प्यार करती हुई गाय का चित्र भी अंकित हो गया। जिस प्रकार एक इंजीनियर पहले अपने मन में किसी मकान या पुल का चित्र बना लेता है और फिर उस चित्र के आधार पर वैसे ही मकान या पुल का निर्माण कर लेता है, उसी प्रकार वेद के शब्दों से सूचित होनेवाले विभिन्न पदार्थों के, परमात्मा द्वारा अपने मन में पैदा किये गये चित्रों के आधार पर आदिसृष्टि के ऋषियों ने उन-उन पदार्थों की रचना कर डाली।

कृषिसम्बन्धी अथर्ववेद ३।१७ तथा ऋग्वेद १०।१०१।३ से छह मन्त्रों का उपदेश देते समय परमात्मा ने ऋषियों के मन में इन मन्त्रों से सूचित होनेवाले पदार्थों के चित्र उत्पन्न कर दिये। हल तथा उसका जुआ, बैल के गले में पड़नेवाले जोत, हल में जुती हुई बैलों की जोड़ी, खेत में बोया हुआ बीज, खेत में खड़ी हुई खेती, दराँती और उससे काटी जाती हुई फसल, बैलों से गाहना और फिर छाज में डालकर उड़ाना आदि सब पदार्थों और उनसे होनेवाली क्रियाओं के चित्र ऋषियों ने मन में उत्पन्न हुए। आदिम ऋषियों ने फिर यह सब-कुछ दूसरों को सिखा दिया। इस प्रकार एक-दूसरे से सीखने की परम्परा चल पड़ी। इस प्रकार आरम्भ में परमेश्वर द्वारा ज्ञान का प्रवाह चालू कर देने पर मनुष्यों की बुद्धि का विकास होता गया। कालान्तर में अपने अनुभव और ज्ञान के आधार पर नये-नये पदार्थ भी बनाने लग गये। अन्ततः ब्राह्मण आदि के रूप में व्याख्याग्रन्थ रचे गये। 'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता' (निरुक्त १०।१०)। मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषि की रुचि स्वदृष्ट मन्त्रार्थ को समझाने के लिए उसे कथा से संयुक्त करने में होती है। तदनुसार ही यास्क ने यत्र-तत्र मन्त्रार्थ के साथ **'अत्रेतिहासमाचक्षते'** लिखकर इस बात का संकेत किया है। इसी भाव से भगवान् वेदव्यास ने **'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'** में **'समुपबृंहयेत्'** पद का निर्देश किया है, किन्तु **'इतिहासवचनमिदं प्रतिभाति, इतिहासे च विधौ सति आदिमत्तादोषो वेदे प्रसज्येत'** (मीमांसायाम्—भाष्यकार शबरस्वामी) अर्थात् यह इतिहास जैसा प्रतीत होता है (वास्तव में इतिहास नहीं होता)। यदि वास्तव में इतिहास माना जाए तो वेद को सादि अथवा अनित्य मानना होगा।

ऋषि मन्त्रार्थद्रष्टा—मन्त्रों के साथ निर्दिष्ट ऋषि मन्त्रार्थद्रष्टा हैं, मन्त्रकर्त्ता नहीं। मन्त्रकर्त्ता (रचयिता) माननेपर वेदों का अपौरुषेयत्व नष्ट हो जाएगा। प्राचीनकाल से मनीषिजन मन्त्रोंपर विचार करते आ रहे हैं। लौकिक लाभ के प्रलोभन से अनुपहतचित्त जिन मनीषियों ने अपने मनन-चिन्तन के द्वारा समय-समय पर मन्त्रगत धर्म (तत्त्व) का दर्शन (साक्षात्) किया उनका कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करने के लिए उनके नामों को तत्तत् मन्त्रों के साथ जोड़ दिया गया।

'दूसरों को पढ़ाना भी'—इसपर पं० युधिष्ठिर मीमांसक की टिप्पणी है—

"जिन ऋषियों को वेदार्थ (मन्त्रार्थ) दर्शन हुआ उनके दो भेद हैं। एक—जिनसे पहले मन्त्रार्थ का प्रकाशन अन्य ने नहीं किया। और पूर्व ऋषियों द्वारा अर्थ-प्रकाशन कर देनेपर भी जिन्होंने पुनः दर्शन करके पढ़ाया। इसी दृष्टि से कई सूक्तों और मन्त्रों के एक से अधिक ऋषियों का निर्देश मिलता है।

---

१. **ब्रह्मणो वेदस्य व्याख्यानानि ब्राह्मणानि। 'तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः'** (अष्टा० ४।३।६६) से अण्।

https://t.me/arshlibrary

'ऋषयो मन्त्रदृष्टयः; मन्त्रान् सम्प्रादुः'[1] । —निरु० ७।२

जिस-जिस मन्त्रार्थ का दर्शन जिस-जिस ऋषि को हुआ, और प्रथम ही जिसके पहिले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था, किया और दूसरों को पढाया भी, इसलिए अद्यावधि उस-उस मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा आता है । जो कोई ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता बतलावें, उनको मिथ्यावादी समझें । वे तो मन्त्रों के अर्थ-प्रकाशक हैं ।

अथवा—यह भी भाव हो सकता है कि कई ऐसे भी ऋषि हो सकते हैं, जिन्होंने प्रथम दर्शन तो किया, परन्तु लोक में अर्थ-प्रकाशन नहीं किया । गोपथब्राह्मण उ० ६।१ में लिखा है—**'तान् वा एतान् सम्पातान् विश्वामित्रः प्रथममपश्यत्—'एवा त्यामिन्द्र वजिन्'** (ऋ० ४।१६) **तान् विश्वामित्रेण दृष्टान् वामदेवोऽसृजत् ।'**

मन्त्रार्थ का अध्यापक भी ऋषि होता है—ताण्ड्य ब्रा० १३।३।२४ में शिशु आंगिरस के विषय में लिखा है—**'ते देवाऽब्रुवन् एष (शिशुरांगिरसः) वाव नो पिता यो मन्त्रकृत्'** । यही प्रकरण मनु० में भी है—

अध्यापयामास वै पितॄन् शिशुरांगिरसः कविः ।
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ॥ २।१५१, १५३

यहाँ अध्यापन करनेवाले शिशु आङ्गिरस को मन्त्रद्रष्टा कहा है ।

वेदों के अनुक्रमणीग्रन्थों में किस मन्त्र का कौन ऋषि है, इसका निर्देश किया है ।

'ऋषयो मन्त्रदृष्टयः, मन्त्रान् सम्प्रादुः'—यह पाठ दो उद्धरणों का एकीकरणरूप है । **'ऋषयो मन्त्रदृष्टयः'** की तुलना करें—**'ऋषीणां मन्त्रदृष्टयः'** निरुक्त ७।२ के साथ, तथा **'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो मुनिः संल्लीनमानसः'** लक्षण के साथ । **'मन्त्रान् सम्प्रादुः'** निरुक्त १।२० । कुल्लूकभट्ट ने ठीक ही क्हा है—**'ब्रह्माद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मारका न तु कारकाः'** । अर्थात्—ब्रह्मा से लेकर सभी ऋषि वेदों का स्मरण करानेवाले हैं, उनके बनानेवाले नहीं । मन्त्रों पर लिखे ये नाम मन्त्रों के समान अनादि अथवा नित्य नहीं है । सूक्तों अथवा मन्त्रों के ऊपर नाम लिखना परम्परागत है ।

रचना के बीच अपना नाम डालने की शैली या प्रवृत्ति प्राचीन संस्कृतसाहित्य में किसी भी काल में नहीं रही । यदि वेद में ऐसी प्रवृत्ति होती तो पश्चाद्वर्त्ती साहित्य में इसका अनुकरण सर्वत्र नहीं तो अनेकत्र अवश्य किया जाता । हिन्दी-कविता में यह व्यवस्था अवश्य है परन्तु वहाँ कवि का नाम अनर्थक वा असम्बद्ध-सा रहता है । वेदमन्त्रों में ऋषिनाम समझे जानेवाले पद मन्त्र का अनिवार्य या सार्थक अंग होते हैं । उन्हें छोड़कर मन्त्र का अर्थ पूरा नहीं होता, क्योंकि ऋषिनाम प्रतीत होनेवाले वे शब्द वास्तव में सामान्य नाम अथवा गुणवाचक शब्द हैं, न कि विशिष्ट नाम ।

पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि जिस सूक्त वा ऋचा के आरम्भ में जिस ऋषि का नाम अंकित है वही उस सूक्त का रचयिता है और जैसे वर्त्तमान में लेखक का नाम लेख या पुस्तक पर अंकित होता है, वैसे ही सूक्त वा मन्त्रों के रचयिताओं के नाम उन-उन मन्त्रों या सूक्तों पर अंकित हैं । इस मान्यता के अनुसार अनेक ऋषियों द्वारा रचित सूक्तों और मन्त्रों के संकलन का नाम ही वेद है ।

परन्तु यह धारणा नितान्त मिथ्या है । ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता (रचयिता) माननेपर ऐसे आक्षेपों का

---

१. यह पाठ दो उद्धरणों का एकीकरणरूप है । **'ऋषयो मन्त्रदृष्टयः'** की तुलना करें—**'ऋषीणां मन्त्रदृष्टयः'** निरुक्त ७।२ के साथ, तथा **'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो मुनिः संल्लीनमानसः'** लक्षण के साथ । **'मन्त्रान् सम्प्रादुः'** निरुक्त १।२०।।

https://t.me/arshlibrary

[वेद-संज्ञा-विचार]

प्रश्न—वेद किन ग्रन्थों का नाम है ?

उत्तर—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व मन्त्रसंहिताओं का, अन्य का नहीं ।

सामना करना होगा जिनका समाधान सम्भव न होगा । उदाहरणार्थ—

१. अनेक मन्त्र ऐसे हैं जिनके कई-कई ऋषि हैं । दो-दो, चार-चार ऋषियोंवाले तो सैकड़ों मन्त्र हैं । ऋग्वेद ६।१०७ के 'सप्तर्षयः' सात ऋषि बताये गये हैं । ऋग्वेद (६।६६।१६) के 'अग्न आयूंषि' ..... मन्त्र में **'शतं वैखानसा ऋषयः'** सौ वानप्रस्थ ऋषि हैं । इसका तात्पर्य यह है कि २४ अक्षरों के गायत्री छन्द के इस मन्त्र को सौ ऋषियों ने मिलकर बनाया । ऋग्वेद के ८वें मण्डल के तीन मन्त्रोंवाले सूक्त ३४ को 'सहस्रसंख्यका ऋषयः' एक हज़ार ऋषियों ने मिलकर बनाया होगा । मन्त्र के अर्थ को जानने उसका विनियोग और प्रचार करनेवाले तो हज़ार व्यक्ति भी हो सकते हैं, परन्तु एक मन्त्र के सौ ऋषियों द्वारा बनाये जाने की कल्पना सर्वथा असंगत और उपहासास्पद होगी ।

२. ऐसे भी अनेक मन्त्र है जो एक से अधिक वेदों में पाये जाते हैं । परन्तु भिन्न-भिन्न वेदों में उनके भिन्न-भिन्न ऋषि हैं । उदाहरणार्थ—'अग्ने नय सुयथा राये.....। यह प्रसिद्ध मन्त्र ऋग्वेद १।१८९।१ में भी है और यजुर्वेद ४०।१६ में भी । परन्तु ऋग्वेदान्तर्गत उसका ऋषि अगस्त्य है और यजुर्वेद में उसका ऋषि दीर्घतमा है । तो क्या यजुर्वेद के ऋषि ने ऋग्वेद का मन्त्र चुराकर उसे अपने नाम से प्रसिद्ध कर दिया?

३. ऐसे मन्त्र भी हैं जो एक ही वेद में एक से अधिक बार आये हैं । उदाहरणार्थ—'इडा सरस्वती मही' इस मन्त्र का ऋषि ऋग्वेद १।१३।१६ में मेधातिथि काण्व है, परन्तु ५।५।८ में इसी मन्त्र का ऋषि बहुश्रुत आत्रेय है । एक ही मन्त्र को पहले एक ऋषि बनाये और फिर उसी को ज्यों-का-त्यों दूसरा ऋषि बनाये—यह कैसे व्यावहारिक है ?

४. ऐसे मन्त्र भी हैं जिनके ऋषि और देवता एक ही नामवाले अथवा मिलते-जुलते नामवाले हैं । ऋग्वेद १०।१२४।२-४ का देवता भी 'अग्नि' है और ऋषि भी 'अग्नि' । ऋग्वेद के ही १०।९७ सूक्त का देवता **'औषधिस्तुतिः'** है और ऋषि **'भिषक्'** अर्थात् वैद्य है । क्या मन्त्ररचयिता अपनी ही स्तुति के मन्त्र बनाते हैं ।

इन सब बातों पर विचार करके ही ग्रन्थकार ने लिखा है कि "जो कोई ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता बतलावें उनको मिथ्यावादी समझें । वे तो मन्त्रों के अर्थ-प्रकाशक हैं ।" उपर्युक्त समस्त आपत्तियों का समाधान ऋषियों को मन्त्रार्थद्रष्टा, व्याख्याता अथवा प्रवक्ता मानकर होता है ।

वेद किन ग्रन्थों का नाम—वेदपदवाच्य ग्रन्थों के विषय में बहुत काल से विवाद रहा है । वेद की महत्ता के कारण लोगों ने मनमाने साहित्य को वेद नाम से अभिहित किया है । प्रायः लोग मन्त्रसंहिताओं (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद) को ही वेद मानते हैं, किन्तु कुछ लोग वेदों के व्याख्यानरूप ब्राह्मणग्रन्थों का भी वेद में समावेश करते हैं । कुछ ऐसे भी हैं जो कल्पसूत्र, मीमांसासूत्र और वेदांगों (विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः षडङ्गमेके—पा०गृ० २।६।५-६) का भी वेदत्व स्वीकार करते हैं । आरण्यक और उपनिषदों का ब्राह्मणग्रन्थों में आविर्भाव माने जाने तथा कल्पसूत्रों और मीमांसा आदि के पारस्करगृह्यसूत्र के कतिपय व्याख्याताओं द्वारा ही माने जाने से ब्राह्मणग्रन्थों का ही वेदपदवाच्य होना विवादास्पद रह जाता है । जब हम यह जानना चाहते हैं कि वह कौन-सा वाक्यसमूह है जो आदिकाल से आज तक ईश्वरप्रदत्त अथवा

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—'**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्** इत्यादि कात्यायनादिकृत 'प्रतिज्ञासूत्रादि' का अर्थ क्या करोगे ?

उत्तर—देखो, संहिता-पुस्तक के आरम्भ वा अध्याय की समाप्ति में वेद शब्द सनातन से लिखा आता है और ब्राह्मण पुस्तक के आरम्भ वा अध्याय की रामाप्ति में कहीं नहीं लिखा और निरुक्त में—

'इत्यपि निगमो भवति । इति च ब्राह्मम्' —५।३।४

'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' ॥ —यह पाणिनीय (४।२।६६) सूत्र है

इससे भी स्पष्ट विदित होता है कि वेद मन्त्रभाग और ब्राह्मण व्याख्याभाग है । इसमें जो विशेष देखना चाहें, तो मेरी बनाई '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' में देख लीजिए । वहाँ अनेकशः प्रमाणों से विरुद्ध होने से यह 'कात्यायन' का वचन सत्य नहीं हो सकता, ऐसा ही सिद्ध किया गया है, क्योंकि जो मानें तो वेद सनातन कभी नहीं हो सकें, क्योंकि ब्राह्मण-पुस्तकों में बहुत-से ऋषि-महर्षि और राजादि के इतिहास लिखे हैं । और इतिहास जिसका हो, उसके जन्म के पश्चात् लिखा जाता है । वह ग्रन्थ भी उसके जन्मे पश्चात् होता है वेदों में किसी का इतिहास नहीं, किन्तु जिस-जिस शब्द से विद्या का बोध होवे, उस-उस शब्द का प्रयोग किया है । किसी विशेष मनुष्य की संज्ञा वा विशेष कथा का प्रसंग वेदों में नहीं ।

[वेदों की शाखा]

प्रश्न—वेदों की कितनी शाखा हैं ?

उत्तर—ग्यारह सौ सत्ताईस ।

अपौरुषेय नाम से प्रसिद्ध रहा है तो समस्त वैदिक साहित्य एक स्वर से कहता है—'**ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदोऽप्याथर्वणः**' ।

'**यत्परः शब्दः स मुख्यार्थः**'—इस न्याय से शब्द का जो स्वाभाविक अर्थ होता है वह किसी को बताना नहीं पड़ता । अपरिभाषित होने से वह मुख्य होता है । जो किसी वचनविशेष द्वारा परिभाषित अथवा न्यादर्शन (२।२।६१) में निर्दिष्ट साहचर्यादि निमित्तों से प्राप्त विशेषार्थ होता है, वह गौण होता है । परिभाषित अर्थ कभी मुख्य या स्वाभाविक नहीं होता, क्योंकि स्वाभाविक होने पर परिभाषा की आवश्यकता नहीं होती । ऋग्-यजुः-साम-अथर्वसंहिताओं के वेदत्वप्रतिपादनार्थ आज तक किसी ने प्रयास नहीं किया । इन संहिताओं का अध्येता या श्रोता अनायास ही कहता है कि मैं ऋग्वेद या यजुर्वेद आदि का अध्ययन कर रहा हूँ, परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों व उपनिषदादि का अध्येता साधारणतया ब्राह्मण या उपनिषद् के अध्ययन की बात कहता है अथवा नामनिर्देशपुरःसर ऐतरेयब्राह्मण या कठोपनिषद् के अध्ययन की बात कहता है । वेद के व्याख्यानग्रन्थ होते हुए भी शतपथ अथवा ऐतरेयब्राह्मण का अध्येता कभी नहीं कहता कि वह शतपथवेद अथवा ऐतरेयवेद का अध्ययन कर रहा है, अतः '**वेद**' पद का स्वाभाविक एवं अपरिभाषित वाच्यार्थ मन्त्रसंहिता ही हैं ब्राह्मणादि ग्रन्थ नहीं ।

'**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**'—यह सूत्र या उसका वचनान्तर ऋग्वेद, शुक्लयजुर्वेद तथा सामवेद से सम्बद्ध श्रौतसूत्रों में कहीं नहीं मिलता । केवल कृष्णयजुःशाखा के आपस्तम्ब, सत्याषाढ, बौधायन आदि श्रौतसूत्रों में ही उपलब्ध होता है । ऋग्वेद और सामवेद की जितनी शाखाएँ उपलब्ध हैं, उनमें ब्राह्मण का लेशमात्र भी सम्मिश्रण नहीं है । कुछ लोग शुक्लयजुर्वेद की काण्व तथा माध्यन्दिनसंहिताओं में ब्राह्मण का संमिश्रण मानते हैं । इस मान्यता का आधार कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध वर्त्तमान यजुःसर्वानुक्रमसूत्र हैं, जो स्वयं अप्रामाणिक हैं । प्राचीन आचार्यों के मत में शुक्लयजुः की दोनों संहिताओं में कोई भाग ऐसा नहीं

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—शाखा क्या कहाती हैं ?

उत्तर—व्याख्यान को शाखा कहते हैं ।

[क्या शाखाएँ वेद का अवयव हैं ?]

प्रश्न—संसार में विद्वान् वेद के अवयवभूत विभागों को शाखा मानते हैं ?

उत्तर—तनिक-सा विचार करो, तो ठीक, क्योंकि जितनी शाखा हैं, वे **आश्वलायन** आदि ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हैं, और मन्त्रसंहिता परमेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हैं । जैसे चारों वेदों को परमेश्वरकृत मानते हैं, वैसे 'आश्वलायनी' आदि शाखाओं को उस-उस ऋषिकृत मानते हैं और सब शाखाओं में मन्त्रों की प्रतीक धरके व्याख्यान करते है । जैसे **तैत्तिरीय शाखा** में **'इषे त्वोर्जे त्वेति'** इत्यादि प्रतीकें धरके व्याख्यान किया है और वेदसंहिताओं में किसी की प्रतीक नहीं धरी, इसलिए परमेश्वरकृत चारों वेद मूल वृक्ष, और आश्वलायनादि सब शाखा ऋषि-मुनिकृत हैं, परमेश्वरकृत नहीं ।

जो इस विषय की विशेष व्याख्या देखना चाहें, वे **'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'** में देख लेवें । जैसे माता-पिता अपने सन्तानों पर कृपादृष्टि कर उन्नति चाहते हैं, वैसे ही परमात्मा ने सब मनुष्यों पर कृपा करके वेदों को प्रकाशित किया है, जिससे मनुष्य अविद्यान्धकार, भ्रमजाल से छूटकर, विद्याविज्ञानरूप सूर्य को प्राप्त होकर अत्यानन्द में रहें और विद्या तथा सुखों की वृद्धि करते जाएँ ।

है जो ब्राह्मणपदवाच्य हो । शुक्लयजुः की काण्वसंहिता का प्रसिद्ध भाष्यकार आनन्दबोध भी तथाकथित ब्राह्मणभाग को मन्त्र नाम से स्मरण करता हुआ उनके ऋषि, देवता तथा छन्दों का निर्देश करता है । ऋषि, देवता, छन्द आदि का निर्देश मन्त्रों में ही होता है—यह सब आचार्यों का मत है ।

वस्तुतः कात्यायनश्रौतसूत्रों में यह वचन कहीं नहीं है । कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध प्रतिज्ञापरिशिष्ट में यह अवश्य मिलता है । कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध दो प्रतिज्ञापरिशिष्ट हैं—एक श्रौतसूत्र से सम्बद्ध और दूसरा प्रातिशाख्य से । उनमें से प्रातिशाख्य से सम्बद्ध परिशिष्ट में यह सूत्र मिलता है, श्रौतसूत्र से सम्बद्ध में नहीं । वस्तुतः इस परिशिष्ट का कात्यायनकृत होना ही सन्दिग्ध है । यदि यह कात्यायनसम्मत होता तो आपस्तम्ब आदि श्रौतसूत्रों के समान उनके श्रौतसूत्रसम्बद्ध परिशिष्ट में होता, न कि प्रातिशाख्यसम्बद्ध में । वहाँ न होने से प्रतीत होता है कि कात्यायन को ब्राह्मणों का वेदत्व इष्ट नहीं है । कात्यायन आदि के नाम से उद्धृत वाक्यों में **'नामधेयम्'**, **'आचक्षते'**, **'आहुः'** पद प्रकट करते हैं कि ब्राह्मणग्रन्थ स्वतः वेदवाच्य नहीं हैं, किसी आवश्यकता की पूर्त्यर्थ यह परिभाषा गढ़ी है ।

यहाँ सत्यार्थप्रकाश में ग्रन्थकार का लेख है—"वहाँ (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में) अनेकशः प्रमाणों से विरुद्ध होने से यह 'कात्यायन' का वचन नहीं हो सकता ।" इससे स्पष्ट होता है कि ग्रन्थकार इसे कात्यायन का वचन नहीं मानते । किन्तु ऋ०भा०भू० (वेदसंज्ञाविचार) में वे लिखते हैं—"एक कात्यायन को छोड़कर किसी अन्य ऋषि ने उनके वेद होने में साक्षी नहीं दी है "—(कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायाम-स्वीकृत्वात्) । इसका अभिप्राय है कि उन्होंने इसे कात्यायन का वचन माना है । वस्तुतः उन्होंने दुर्जनतोषन्याय से इसे कात्यायन का वचन मानकर यह पंक्ति लिखी है ।

ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थों में आपस्तम्बकल्प के वचन अनेकत्र उद्धृत किये हैं । इससे कतिपय विद्वानों के इस कथन का प्रत्याख्यान हो जाता है कि उन्होंने कृष्णयजुः के श्रौतसूत्र नहीं देखे थे । इसलिए उनके (ग्रन्थकार) के "एक कात्यायन को छोड़के अन्य किसी ऋषि ने उनके (ब्राह्मणग्रन्थों के) वेद होने में साक्षी

https://t.me/arshlibrary

नहीं दी है" कथन से विशेष अभिप्राय सूचित होता है। वह इस प्रकार है—'कृष्णयजुः की शाखाओं में मन्त्र और ब्राह्मण का मिश्रण प्रत्यक्ष होने से उन शाखाओं के सूत्रकारों ने अपने श्रौतसूत्र के परिभाषाप्रकरण में मन्त्रब्राह्मण की पारिभाषिक वेदसंज्ञा कही है, क्योंकि पारिभाषिक संज्ञाएँ उसी ग्रन्थ के लिए प्रमाण होती हैं जिसमें वे पढ़ी जाती हैं। इस प्रकार इस सूत्र में कही गयी वेदसंज्ञा सामान्यरूप से ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा का विधान नहीं कर सकती।

इससे पूर्व अनेकत्र उद्धृत प्रमाणों से सिद्ध है कि स्वयं ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद्, व्याकरण, निरुक्त, मनुस्मृति आदि किसी ने भी कहीं अपने वेद होने का दावा नहीं किया है। आनुषङ्गिकरूप में यहाँ हम कुछ अन्य युक्तियाँ मात्र चार मन्त्रसंहिताओं की वेदसंज्ञा होने के पक्ष में प्रस्तुत करते हैं—

१. वेद ईश्वरीय ज्ञान है, जबकि ब्राह्मणादि मनुष्यकृत ग्रन्थ हैं।

२. वेदों का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि में हुआ, जबकि ब्राह्मणादि समय-समय पर रचे गये।

३. यज्ञों में वेदमन्त्रों का ही प्रयोग होता है, ब्राह्मणवचनों का नहीं।

४. वेदमन्त्रों की संख्या नियित है—ऋग्वेद १०५२२, यजुर्वेद १९७५, सामवेद १८७५, अथर्ववेद ५९७७; कुल योग २०३४९। इसके लिए अनुक्रमणिका है। शतपथब्राह्मण में भी ऋचाओं का परिमाण निर्धारित है। यदि ब्राह्मणों को भी वेद माना जाए तो यह संख्या कहीं अधिक हो जाए, परन्तु उसका उल्लेख कहीं नहीं मिलता। वेदों के अक्षरों का परिमाण ८ लाख चौंसठ हज़ार निर्धारित है। यदि ब्राह्मणादि का वेदों में अन्तर्भाव होता तो वेद के अक्षरों की संख्या कहीं अधिक होती।

५. यदि ब्राह्मणग्रन्थों को वेद माना जाएगा तो उनके कालान्तर में प्रादुर्भूत होने से आदिसृष्टि में प्रादुर्भूत वेद का पूरक मानना होगा। इससे वेदों के अपूर्ण होने से ईश्वर की पूर्णता और सर्वज्ञता पर भी प्रश्नचिह्न लग जाएगा।

६. वेद आज भी उसी रूप में सुरक्षित हैं जिस रूप में कभी आदि ऋषियों ने उनका उच्चारण किया होगा। वेद के एक-एक अक्षर, मात्रा, स्वर और पौर्वापर्य की रक्षार्थ क्रम, जटा, माला आदि के रूप में अनेक-विध पाठों की व्यवस्था की गयी। ब्राह्मणग्रन्थों के लिए ऐसा कोई प्रयास नहीं हुआ।

७. पाठकाल में वेदमन्त्रों का उदात्तानुदात्तस्वरित भेद से त्रैस्वर्य पाठ होता है—ऐसा व्याकरण आदि शास्त्रों तथा स्मृतियों का कथन है। यज्ञ के समय ये मन्त्र न्यूङ्ख साम को छोड़कर एकश्रुति से पढ़े जाते हैं। एकश्रुति को ही तान कहा जाता है। अष्टाध्यायी (१।२।३४), कात्यायनश्रौतसूत्र (१।७।१८-१९), यजुः-प्रतिशाख्य तथा मीमांसा (६।२।७) में इस पक्ष को स्थापित किया है, परन्तु मीमांसादर्शन (१२।३।१७) में जैमिनि ने ब्राह्मणों का भाषिक स्वर माना है। इसपर मीमांसा के सर्वमान्य भाष्यकार शबरस्वामी ने कहा है—**'भाषास्वरो ब्राह्मणे प्रवृत्तः'** इस स्वरभेद से वेद और ब्राह्मण का भेद स्वयंसिद्ध है।

८. वेदों के प्रत्येक मन्त्र के ऋषि, देवता, छन्द तथा स्वर नियत हैं। बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणी आदि में तथा अन्यत्र कहीं भी ब्राह्मग्रन्थों के लिए इस प्रकार का विधान नहीं मिलता। यदि ब्राह्मणग्रन्थों का वेद में समावेश होता तो वेदमन्त्रों के समान उनके भी ऋषि, देवता आदि नियत किये गये होते। इसी प्रकार जैसे वेदों के उपवेद ब्राह्मण आदि हैं, वैसे ही ब्राह्मणग्रन्थों के वेद माने जाने की स्थिति में उनके भी उपवेद तथा अन्य ब्राह्मण होते। ऐसा न होने से भी वेदों से ब्राह्मणों का भेद स्पष्ट है।

९. यजुःप्रातिशाख्य में वेद तथा ब्राह्मणों में भेद को स्पष्ट करते हुए लिखा है—**'ओंकारं वेदेषु**

https://t.me/arshlibrary

अथकारं भाष्येषु' अर्थात् वेद के आरम्भ में **'ओ३म्'** का उच्चारण किया जाता है तथा उनके भाष्यरूप ब्राह्मणग्रन्थों में **'अथ'** का प्रयोग होता है। इससे अतिरिक्त भी याज्ञिक प्रक्रिया में कहा गया है कि जब अध्वर्यु वेदमन्त्र बोले तो होता **'प्रतिगर'** (हुंकार) के रूप में **'ओ३म्'** का उच्चारण करे और वेदेतर वचनों के प्रतिगर के रूप में **'तथेति'** बोले। यहाँ भी वेद से ब्राह्मण का भेद स्पष्ट है।

१०. **'छन्दो ब्राह्मणानि'**—'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (अष्टा० ४।३।१०५) इस वचन में कल्प और ब्राह्मण दो ग्रन्थों के नाम है। यज्ञ में वेदमन्त्रों के विवरण-अर्थवाद-विनियोग को वर्णन करनेवाला ग्रन्थ ब्राह्मण कहलाता है और उसकी वैनियोगिक विधि को विशदरूप से बतानेवाला ग्रन्थ कल्प है। निरुक्त १३।७ में कहा है—**'मन्त्रब्राह्मणकल्पैः'**—मन्त्र, ब्राह्मण, कल्प के द्वारा यज्ञ सम्पन्न होता है। यज्ञ में मन्त्र पढ़े जाते हैं, ब्राह्मण द्वारा मन्त्रों का विवरण अर्थवाद विनियोग किया जाता है और कल्प से वैनियोगिक विधि विशदरूप में बताई जाती है। इस प्रकार अष्टाध्यायी आदि ग्रन्थों में मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प इन तीन शब्दों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। अब लीजिए—'छन्दो ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि' (अष्टा०. ४।२।६६)। यहाँ **'छन्द'** और **'ब्राह्मण'** ये दो कहे गये हैं। इस प्रकार यहाँ छन्द अलग वस्तु है और ब्राह्मण अलग वस्तु है। इस सूत्र पर व्याकरणशास्त्रमर्मज्ञ पं० युधिष्ठिर मीमांसक की टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है। जो इस प्रकार है—

"बहुत से व्याख्याता पाणिनीय सूत्र में **'छन्द'** और **'ब्राह्मण'** दो पदों का प्रयोग **'गोबलीवर्दन्याय'** से मानते हैं, परन्तु नागेशभट्ट कैयट द्वारा उद्धृत उक्त न्याय का खण्डन करते हुए लिखता है—**'वस्तुतो गायत्र्यादिछन्दोबद्धेषु मन्त्रेष्वेव छन्दस्त्वमिति बोधयितुं तत्र ब्राह्मणग्रहणम्'**। (अर्थात् वस्तुतः गायत्र्यादि छन्दोबद्ध मन्त्रों में ही छन्दः पद की प्रवृत्ति को बताने के लिए ही इस सूत्र में 'ब्राह्मण' पद का ग्रहण किया है।) महाभाष्यप्रदीपोद्योत १।३।१०, निर्णयसागर सं० पृष्ठ १४३"

'ब्रह्म' वेद का पर्यायवाची शब्द है। **'ब्रह्मणो वेदस्य व्याख्यानानि ब्राह्मणानि। तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः'** (अष्टा० ४।३।६६) से अण्। महाभाष्यकार पतञ्जलि की स्पष्ट घोषणा है—**'ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि वेदव्याख्यानानि ब्राह्मणानि'**—अर्थात् ब्राह्मण महर्षियों ने वेद के व्याख्यानरूप ब्राह्मणग्रन्थों की रचना की। व्याख्येय और व्याख्यान में साहचर्य होनेपर भी दोनों एक नहीं हो सकते। व्याख्येय वेद साध्य है, व्याख्यानरूप ब्राह्मण साधन हैं। साध्य एक होनेपर भी साधन अनेक हो सकते हैं। फिर, साधन की आवश्यकता तभी तक रहती है जब तक साध्य की प्राप्ति नहीं होती। मूल के समझ लेने-पर टीका की आवश्यकता नहीं रहती। मनुष्योक्त ब्राह्मणग्रन्थों को ईश्वरोक्त वेद नहीं माना जा सकता।

वेदशाखा—ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण (१८७५) के पृष्ठ ३३२ पर इस प्रकरण में लिखा है—

"इससे जो वेद पुस्तक हैं, वे सब शाखाओं के मूल हैं। और शाखा व्याख्यानों की नाईं ब्रह्मादिक ऋषि-मुनि के किये हैं। जैसे—**'मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य'** ऐसा पाठ शुक्लयजुर्वेद (२।१३) में है और तैत्तिरीय शाखा (१।५।३।२) में **'मनो ज्योतिर्जुषतामाज्यम्'** ऐसा पाठ है। **'जूति'** जो मन का विशेषण था, सो **'ज्योति'** शब्द से स्पष्टार्थ हो गया। इसी प्रकार **'आज्यस्य'** में कर्म में षष्ठी है, यह **'आज्यम्'** शब्द से स्पष्ट हो गया।"

इस प्रकार पाठादि में परिवर्त्तन करके जो अपूर्व प्रवचन किया जाता है वह शाखा का रूप धारण कर लेता है, जैसे—तैत्तिरीय, काठक, काण्व, मैत्रायणी आदि संहिताएँ। शाखाओं के प्रवचनकर्त्ताओं ने पाठान्तरमात्र करके-क्लिष्ट या अस्पष्टार्थक शब्द के स्थान पर स्पष्टार्थक शब्द का प्रयोग करके मन्त्र के

https://t.me/arshlibrary

भाव को व्यक्त करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार शाखाएँ बनती गयीं। जिस प्रकार शाखाकारों ने मन्त्रगत पाठ में परिवर्त्तन करके मन्त्रपद का व्याख्यान किया है, उसके कुछ उदाहरण पं० भगवद्दत्तजी ने स्वरचित 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १, द्वि० सं०, पृष्ठ १७८-७६ पर दिये हैं।

प्रसिद्ध वैयाकरण कैयट लिखते हैं—**'चरणशब्दाऽध्ययनवचनः'** अर्थात् चरण (शाखा) शब्द अध्ययन वाचक है। चरण और शाखा आदि शब्द वेदों की पठन-पाठनशैली के ही वाचक हैं, वेदों के विभाग के बोधक नहीं। शाखातत्त्व पर विचार करते हुए वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् सत्यव्रत सामश्रमी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ऐतरेयालोचन' में लिखते हैं—**'तत्त्वतो न हि वेदशाखा वृक्षशाखेव नापि नदीशाखेव प्रत्युताध्येतृभेदात् सम्प्रदायभेदजन्याध्यनविशेषरूपैव'**, अर्थात्—वेद की शाखाएँ न तो वृक्ष की शाखाओं की भाँति हैं और न नदी की शाखाओं की भाँति। प्रत्युत वे पठन-पाठनभेद से सम्प्रदायजन्य अध्ययन का ही विशेष रूप हैं।

शाखा शब्द का व्यवहार मूलग्रन्थों में बिना किसी परिवर्त्तन या परिवर्द्धन के उसके पदपाठ कर देने मात्र से भी पदकार का नाम उस संहिता के साथ जुड़ जाता है। इसका उदाहरण ऋग्वेद की शाकलसंहिता है। शाकल्य ने संहितापाठ में कोई परिवर्त्तन या परिवर्द्धन नहीं किया। पदपाठ का कर्त्ता होनेमात्र से ऋक्-संहिता के साथ उसका नाम संयुक्त हो गया और उसका शाकलसंहिता या शाकलशाखा नाम से व्यवहार होने लगा।

शाखाएँ दो प्रकार की हैं—एक मन्त्रात्मक और दूसरी मन्त्र-ब्राह्मणमिश्रित। दोनों प्रकार की शाखाओं के मन्त्रों में शब्दभेद से प्रवचन द्वारा व्याख्यान किया जाता है। ब्राह्मणग्रन्थों की भाँति शाखाओं में भी मन्त्रों के प्रतीक रख-रखकर वेदों का व्याख्यान किया जाता है। इस प्रकार शाखाएँ व्याख्यानरूप हैं, वेद व्याख्येय हैं। दोनों एक नहीं हो सकते।

शाखाओं की संख्या—अपने मूलरूप में ११३१ शाखाओं में से अब केवल १० उपलब्ध हैं—ऋग्वेद की शाकल, यजुर्वेद की काण्व, तैत्तिरीय, माध्यन्दिनी व मैत्रायणी, सामवेद की जैमिनि, राणायनि व कौथुम, अथर्ववेद की शौनक व पिप्पलाद। भारत और नेपाल दोनों में कुल मिलाकर अब १७५० पण्डित और ६५० शिष्य रह गये हैं। मैत्रायणी शाखा के केवल ३ पण्डित, शौनक व जैमिनि का १ पण्डित व तीन शिष्य. पिप्पलाद शाखा का नेपाल में १ पण्डित और शौनक शाखा का सिनौर में केवल १ पण्डित शेष है। १९६३ में कांची कामकोटिपीठ के जगद्गुरु स्वामी चन्द्रशेखरानन्द सरस्वती ने 'वेदरक्षणनिधिट्रस्ट' की स्थापना की है। ट्रस्ट का उद्देश्य प्रारम्भ में उन शाखाओं के अध्ययन के लिए पाठशालाओं का संचालन करना है जिनके जल्दी ही लुप्त हो जाने की आशंका है। अभी तक ट्रस्ट ने ऋग्वेद में ५०, शुक्लयजुर्वेद में ५, कृष्णयजुर्वेद में ७०, अथर्ववेद में ३ तथा सामवेद की **कौथुमा** शाखा में २० अध्येता तैयार किये हैं। वेदों को सुरक्षित रखने के लिए इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों की भी सहायता ली जा रही है। राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान तथा तिरुमल तिरुपति देवस्थान पहले ही कुछ मन्त्रों के पाठ को टेपरिकॉर्ड कर चुके हैं। यह सब प्रयत्न वेद के शरीर को=शब्दों को सुरक्षित करने के लिए है। इस तोतारटन्त का भी अपना महत्त्व है। **'नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पम्'**—जड़ ही न होगी तो फूल-पत्ते कहाँ से आएँगे ? किन्तु यह न भूलना चाहिए कि बीज बोने का अन्तिम ध्येय फल प्राप्त करना है जो वेदार्थ के बिना सम्भव नहीं—**'वाचः फलमर्थः'**, परन्तु यदि वह अर्थ सारहीन=दिशाहीन होगा तो वह वेद और वैदिक वाङ्मय के विषय में अनेक भ्रान्त धारणाओं को उत्पन्न करके (जैसाकि ग्रन्थकार के प्रादुर्भाव से पूर्व शताब्दियों तक होता रहा और अब भी यत्र-तत्र हो रहा है) उसके सम्बन्ध में हमारी—संसार की—पवित्र एवं उदात्त भावनाओं को रौंदकर वेद के दिव्य रूप को

https://t.me/arshlibrary

[वेद की नित्यता-अनित्यता पर विचार]

प्रश्न—वेद नित्य हैं, वा अनित्य ?

उत्तर—नित्य हैं, क्योंकि परमेश्वर के नित्य होने से उसके ज्ञानादि गुण भी नित्य हैं। जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुण-कर्म-स्वभाव नित्य, और अनित्य द्रव्य के अनित्य होते हैं।

प्रश्न— क्या यह पुस्तक भी नित्य है ?

उत्तर— नहीं, क्योंकि पुस्तक तो पत्र और स्याही का बना है। वह नित्य कैसे हो सकता है ? किन्तु जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध हैं, वे नित्य हैं।

[सर्वज्ञ ईश्वर के विना वेदों की रचना सम्भव नहीं]

प्रश्न—ईश्वर ने उन ऋषियों को ज्ञान दिया होगा, और उस ज्ञान से उन लोगों ने वेद बना लिये होंगे ?

उत्तर—ज्ञान ज्ञेय के विना नहीं होता। गायत्र्यादि छन्द, षड्जादि और उदात्ताऽनुदात्तादि स्वर के ज्ञानपूर्वक गायत्र्यादि छन्दों के निर्माण करने में सर्वज्ञ के विना किसी का सामर्थ्य नहीं है कि इस प्रकार

धूमिल कर उसे हेय बना देगा।

वेदों का नित्यत्व—वेद शब्दरूप है, अतः वेद का नित्यत्व शब्द के नित्यत्व पर निर्भर करता है। ऐसी अवस्था में शब्द का नित्यत्व विवेच्य है। गुण-गुणी आदि अयुतसिद्ध हैं। अयुतसिद्ध में समवायसम्बन्ध होता है। शब्द की गणना गुणों के अन्तर्गत है। गुणी द्रव्य होता है। नौ द्रव्यों में आकाश भी एक द्रव्य है। परिशेषानुमान से शब्द आकाश का गुण है। जब गुणी आकाश नित्य है तो उसका गुण अर्थात् शब्द कैसे अनित्य कैसे हो सकता है ? मीमांसादर्शन (१।१।१५) में शब्द के आकाश की भाँति नित्य तथा व्यापक होने का उपपादन करने के लिए कहा है—**'आदित्यवद्यौगपद्यम्'** अर्थात् एक शब्द का सूर्य की भाँति अनेक देशों में एक ही समय में होना शब्द के व्यापकत्व में प्रमाण है। ऐसा न होता तो दिल्ली या लन्दन से रेडियो द्वारा प्रसारित शब्द एक ही समय में संसारभर में कैसे सुना जाता ?

शब्दों का समूह वाक्य होता है। ईश्वरीय ज्ञान की शब्दमयी अभिव्यक्ति होने से वेद के वर्ण, शब्द और वाक्य सभी नित्य हैं। वेदस्थ शब्दार्थसम्बन्ध परमात्मा के ज्ञान में स्थित होने से नित्य है। ईश्वर के एकरस होने से उसकी विद्या भी अखण्ड और एकरस बनी रहती है। उसमें एक अक्षर का भी विपर्यय नहीं होता। चारों वेदों की संहिताओं में शब्द, पद, अक्षरादि का जो क्रम वर्त्तमान में है, वैसा ही पहले था और वैसा ही आगे रहेगा। नई सृष्टि में पूर्वकल्प के समान ही वेदों का प्रकाश होता है। इस प्रकार वृद्धि, क्षय और विपर्यय न होने से वेदों का नित्यत्व सिद्ध है।

पुस्तकों का निर्माण काग़ज, स्याही आदि से होता है। ये सभी पदार्थ तथा लेखन-मुद्रण की क्रिया मनुष्यकृत है और देशकालावच्छिन्न होने से नाशवान् है, अतः पुस्तक के नाशवान् होने से वेदज्ञान अनित्य नहीं हो सकता।

हमारा मत—वेद हैं—

वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः। —भागवत् ६।१।४०

वेदो धर्ममूलम्। —गौतमधर्मसूत्र १।१।२

https://t.me/arshlibrary

का सर्वज्ञानयुक्त शास्त्र बना सकें। हाँ, वेद को पढ़ने के पश्चात् व्याकरण, निरुक्त और छन्द आदि ग्रन्थ ऋषि-मुनियों ने विद्याओं के प्रकाश के लिए किये हैं। जो परमात्मा वेदों का प्रकाश न करे, तो कोई कुछ भी न बना सके। इसलिए वेद परमेश्वरोक्त हैं, इन्हीं के अनुसार सब लोगों को चलना चाहिए और जो कोई किसी से पूछे कि तुम्हारा क्या मत है ? तो यही उत्तर देना है कि हमारा मत वेद अर्थात् जो कुछ वेदों में कहा है, हम उसको मानते हैं। अब इसके आगे सृष्टि के विषय में लिखेंगे। यह संक्षेप से ईश्वर और वेदविषय में व्याख्यान किया है ॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे

सुभाषाविभूषित ईश्वरवेदविषये सप्तमः

समुल्लासः सम्पूर्णः ॥७॥

धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। —मनु० २।१३
वेदाः प्रमाणं लोकानाम्। —महा० शान्ति० २७०।१
यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्त्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ —मनु० २।७

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

अथाष्टमसमुल्लासारम्भः

अथ सृष्ट्युत्पत्तिस्थितिप्रलयविषयान् व्याख्यास्यामः

[ब्रह्म से जगदुत्पत्ति में प्रमाण]

इयं विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥१॥
—ऋ० मं० १० । सूक्त १२६ । मं० ७

तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥२॥
—ऋ० मं०१०। सूक्त १२६ । मं० ३

इयं विसृष्टिः—उपर्युक्त प्रथम दो मन्त्र नासदीय सूक्त (ऋग्वेद १०।१२६) से लिये गये हैं। वेद के जिन प्रसंगों में सृष्टिरचना का निर्देश किया गया है, उनमें नासदीय सूक्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पूरा सूक्त इस प्रकार है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥१॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥२॥
तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥३॥
कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् ।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥५॥
को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥६॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥७॥
—ऋ.अ. ८ । अ.७ । व. १७

https://t.me/arshlibrary

सूक्त के प्रथम तीन मन्त्रों में प्रलयकाल की अवस्था का वर्णन है। वहाँ लिखा है (तदानीं) सर्गकाल से पूर्व, प्रलय अवस्था में सब-कुछ (असत् आसीत्) 'असत्' था, (न) ऐसी बात नहीं है। उस समय (सत्) 'सत्' (नो आसीत्) नहीं था, क्योंकि (रजः) ये दृश्यमान लोक-लोकान्तर और (यत्) जो उनसे (परो व्योमा) परे व्यवहार्य आकाश (नो) न था। (किम् आवरीवः) कहीं कोई आवरण करनेवाला नहीं था। (कुह कस्य शर्मन्) यह सब कहाँ, किसके भोग के लिए किया जाए जब उस समय कोई भोक्ता नहीं था। जब लोक-लोकान्तर, भोक्ता, भोक्ता के आवरक तत्त्व और पृथिव्यादि भूत नहीं थे, तब (गहनं) गहरा (गभीरं) गम्भीर (अम्भः) समुद्र (किम्) कैसे (आसीत्) हो सकता था ?

यह प्रथम ऋचा का शब्दार्थ है। द्वितीय ऋचा में इसी प्रसंग को प्रवृत्त रखते हुए अन्त में बताया गया है कि उस समय किस प्रकार की सत्ता थी। वहाँ लिखा है—(तर्हि) उस समय (मृत्युः) मृत्यु (नासीत्) नहीं थी, (अमृतं) अमृत (न) नहीं था, (रात्र्याः) रात्रि और (अह्नः) दिन का (प्रकेतः) कोई चिह्न (न आसीत्) नहीं था। (एकं स्वधया) स्वधाके साथ केवल एक (अवातं) निर्दोष चेतनसत्ता (आनीत्) अवस्थित थी। (तस्मात्) उससे (परः) उत्कृष्ट (अन्यत् ह) और (न किञ्चन) कोई नहीं (आस) है, अर्थात् वह सर्वोत्कृष्ट चेतन सत्ता है।

यह द्वितीय ऋचा का शब्दार्थ है। इसके उत्तरार्ध में प्रतिपादित अर्थ को और अधिक स्फुट करके प्रलयकाल की अवस्था को स्पष्ट किया है, तथा अन्त में प्रलयकाल के अनन्तर होनेवाले सर्ग की ओर निर्देश किया गया है। वहाँ लिखा है—(इदं सर्वं) यह सब दृश्यमान जगत् (अग्रे) सृष्टि के पूर्वकाल में (अप्रकेतं) प्रत्येक चिह्न से रहित (सलिलं) कारण के साथ अविभागापन्न (आः) था। (तमः) वह मूल कारण भी, (तमसा) अन्धकार से (गूढं) आवृत (आसीत्) था। दूसरे शब्दों में (यत्) जो (तुच्छ्येन) कारण ने (आभु) कार्य को (अपिहितं) अपने अन्दर छिपाया हुआ (आसीत्) था (तत् एकम्) कारण के साथ एकीभूत वह जगत् (महिना) सर्गकाल में तेजोमय चेतना की महिमा से (अजायत) उत्पन्न हो जाता है। तृतीय ऋचा का यह शब्दार्थ है।

चतुर्थ ऋचा में प्रथम संकेतित आदिसर्ग का अधिक स्पष्ट वर्णन है। ऋचा के प्रत्येक पद के साथ, अर्थ को निम्न रीति पर समझना चाहिए—(अग्रे) आदि सर्गकाल में, (अधि) परमात्मा में, (यत्) जो, (कामः) संकल्प (समवर्त्तत) होता है, (तत्) वही, (मनसः) जगत् का, (प्रथमं) पहला (रेतः) कारण (आसीत) है। (कावयः) क्रान्तदर्शी ऋषि (हृदि) अपने अन्तःकरण में (प्रतीष्या) विचारकर अथवा विचारपूर्ण (मनीषा) बुद्धि के द्वारा, (असति) अव्यक्त में, (सतः) व्यक्त के, (बन्धुम्) सम्बन्ध को, (निरविन्दन्) जान जाते हैं। यह चतुर्थ ऋचा का शब्दार्थ है

पञ्चम ऋचा के द्वारा आदिसर्ग के सम्बन्ध में और अधिक प्रकाश डाला गया है। वहाँ लिखा है—(एषाम्) इनका (रश्मिः) जाल, (विततः) सहसा विस्तृत (तिरश्चीनः) मध्य में (आसीत्) हो जाता है। (अधः स्वित्) अथवा नीचे (उपरि स्वित्) अथवा ऊपर, (रेतोधाः) प्रेरणा के आधारभूत मूलतत्त्व (आसन्) होते हैं, और (महिमानः) ये महान् लोक-लोकान्तर (आसन्) हो जाते हैं। (स्वधा) मूलतत्त्वरूप प्रकृति (अवस्तात्) अपकृष्ट, और (प्रयतिः) नियन्ता (परस्तात्) उत्कृष्ट।

पञ्चम ऋचा का यह शब्दार्थ है। इस प्रकार प्रस्तुत सूक्त की पाँच ऋचाओं के द्वारा प्रलय और आदिसर्ग के सम्बन्ध में कतिपय निर्देश किये गये हैं, जिनसे इस रहस्यमयी विश्व-पहेली पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। फिर भी इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए छठी ऋचा के द्वारा उसी अर्थ को प्रथम प्रश्नरूप में उपस्थित करके सातवीं ऋचा में इसका उत्तर दिया गया है। छठी ऋचा में लिखा है—(इयं) यह (विसृष्टिः) विविध सृष्टि, (कुतः) कहाँ-कहाँ से (आजाता) उत्पन्न होती है ? (को अद्धा) कौन इसको (वेद) वास्तविकरूप में जानता है ? और (कः)

https://t.me/arshlibrary

कौन (इह) इस विषय में (प्रवोचत्) कथन करता है ? (देवाः) इस विषय में गम्भीर विचार करनेवाले विद्वान्, (अस्य विसर्जनेन अर्वाक्) इस सर्गकाल के अनन्तर होते हैं। (अथ) इसलिए यह (यतः) जहाँ से (आबभूव) उत्पन्न होती है, इसको (कः) कौन (वेद) जानता है ?

सूक्त की अन्तिम सातवीं ऋचा में इसका उत्तर देते हुए कहा है—(इयम्) यह (विसृष्टिः) विविध सृष्टि (यतः) जहाँ से (आबभूव) उत्पन्न होती है, (यदि वा) और जिसके द्वारा (दधे) धारण की जाती है, (यदि वा न) और अन्त में जब यह नहीं रहती, अर्थात् अपने कारण में लीन हो जाती है, (अस्य) इस सबका (यः) जो (अध्यक्षः) अध्यक्ष—नियन्ता (परमे व्योमन्) सर्वव्यापक परमात्मा है (सो अङ्ग) वह इसकी वास्तविकता को (वेद) जानता है। (यदि वा न) और जब यह जगत् नहीं रहता, अर्थात् कारण में लीन होकर प्रलय अवस्था में रहता है, उसको भी (वेद) जानता है।

प्रलयावस्था में सब-कुछ अभावरूप नहीं हो जाता। उसकी कुछ सत्ता अवश्य रहती है, परन्तु वह ऐसी सत्ता नहीं होती जैसी सर्गकाल में देखी जाती है, अर्थात् सर्गकाल के समान लोक-लोकान्तर, भोक्ता आत्मा, उसके सुख-दुःख आदि उपभोग के साधन देह आदि, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथिवी, पर्वत, समुद्र आदि उस समय नहीं थे। यह सब 'नो सदासीत्' का व्याख्यान है। अभिप्राय यह कि 'सत्' पद का प्रयोग यहाँ 'व्यक्त' जगत् के लिए हुआ है। चौथी ऋचा में भी 'सत्' पद का प्रयोग 'व्यक्त' के अर्थों में हुआ है।

'सत्' का निषेध तो समझ में आता है, किन्तु 'सत्' और 'असत्' दोनों का एक साथ निषेध कैसे सम्भव है ? उधर छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है—"कुछ लोग कहते हैं कि पहले एकमात्र 'असत्' ही रहता है। उस 'असत्' (अभाव) से 'सत्' (भाव) हो जाता है। हे सौम्य ! ऐसा कैसे हो सकता है ? असत् से सत् कैसे हो सकता है ? इसलिए हे सौम्य ! पहले सत् ही था।" वहीं पर अन्यत्र कहा है कि पहले असत् ही था। सत् और असत् परस्पर-विरोधी हैं। दोनों एक साथ कैसे रह सकते हैं ? इतना ही नहीं, उपनिषद् ने एकत्र ही **'असदेवेदमग्र आसीत् तत्सदासीत्'** भी कह दिया। इस प्रकार जहाँ श्रुति (वेद) सत् और असत् दोनों का निषेध करती है, वहाँ उपनिषत्कार दोनों का एक साथ उपपादन करते हैं। इस लिए यहाँ सत् और असत् दोनों का निषेध होने से आपाततः **'सदसद्विलक्षण'** तत्त्व की खोज में प्रवृत्त होना स्वतः ऋचाओं के पूर्वापर प्रसंग को देखते हुए सर्वथा असंगत है। विष्णुपुराण में जहाँ प्रकृति-पुरुष (जीवात्मा) तथा परमात्मा का वर्णन है, वहाँ प्रकृति के स्वरूप का उल्लेख इन शब्दों में किया है—"ऋषियों ने 'प्रधान' नामक जो जगत् का अव्यक्त कारण कहा है, वही सूक्ष्म प्रकृति है। वह नित्य तथा सद्रूप एवं असद्रूप है।"[1]

इस उलझन का कारण 'असत्' को 'अभाव' का पर्याय समझना है। वस्तुतः 'सत्' व्याकृतनामरूप अवस्था का वाचक है और 'असत्' अव्याकृतनामरूप अवस्था का। जब तक सृष्टि उत्पन्न नहीं होती तब तक सूक्ष्मरूप होने के कारण अव्यक्त अथवा अदृश्य रहती है। प्रकृति का त्रिगुणात्मक अर्थात् कारणरूप में सदा विद्यमान रहना 'सद्रूप' कहाता है और कार्यरूप में न रहना 'असद्रूप'। ऋग्वेद में उस अवस्था का वर्णन **'तम आसीत्तमसा गूढमग्रे'** कहकर किया है। प्रलयदशा में मूलकारण=तमः अन्धकार से=तमसा आवृत्त रहता है। उस अवस्था में समस्त दृश्यादृश्य जगत् प्रत्येक चिह्न से रहित कारण के रूप में अविभागापन्न रहता है। दूसरे शब्दों में प्रलयदशा में कार्य का अस्तित्व न रहकर केवल कारणतत्त्व अवस्थित रहता है। ऋग्वेद के इसी भाव का विशदीकरण मनुस्मृति में इस प्रकार किया है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥—मनु० १।५

---

१. **अव्यक्तकारणं यत्तत् प्रधानमृषिसत्तमैः । प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदसदात्मकम् ॥** —वि.पु. १।२।१६

तुलना करें—निःसत्तासतं निःसदसन्निरसदव्यक्तलिङ्गम् ।—योगसूत्र व्यासभाष्य २।१६

https://t.me/arshlibrary

अर्थात् सृष्टि से पहले यह जगत् तमोभूत (कारणरूप) होने से न किसी के जानने, न तर्क में लाने और न प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य होता है। समस्त व्याकृत जगत् कारण में लीन होने से ज्ञेय नहीं था, इसीलिए कहा गया कि 'सत्' नहीं था, परन्तु यदि कुछ न होता तो कालान्तर में कहाँ से आ जाता ? वह कारणरूप में विद्यमान था, इसलिए कहा गया कि **'असत्'** नहीं था। विष्णुपुराण में जगत्सर्ग से पूर्व प्रलयदशा का वर्णन इन शब्दों में किया है—

नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत् तमो ज्योतिरभूच्च नान्यत् ।
श्रोत्रादिबुद्ध्यानुपलभ्यमेकं प्राधानिकं ब्रह्म पुमांस्तदासीत् ॥—१।२।२३

अर्थात् प्रलयकाल में दिन-रात, द्यु, भूमि आदि कुछ भी न था। उस समय श्रोत्रादि इन्द्रियों से उपलब्ध न होनेवाला प्रधान (प्रकृति), ब्रह्म तथा पुरुष (जीव) ही था। विष्णुपुराण के इस वर्णन में ऋग्वेद के प्रस्तुत नासदीय सूक्त की ध्वनि है। टीकाकार श्रीधर स्वामी ने प्रस्तुत श्लोक के अन्तिम चरण की व्याख्या करते हुए लिखा है कि प्रलयकाल में परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति—इन तीनों तत्त्वों का अस्तित्व था—"प्राधानिकं प्रधानमेव प्राधानिकं ब्रह्म च पुमांश्चेति त्रयमेव तदा प्रलय आसीत्।" प्रकृति का कार्यरूप जगत् उस समय नहीं था। मूलतः प्रकृति शब्द, स्पर्शादि व्यक्त रूपों से रहित है। कारणावस्था में रहते हुए वह केवल त्रिगुणात्मक है। यही उसका वास्तविक स्वरूप है। विष्णुपुराण के उक्त सन्दर्भ में २१वें श्लोक में **'त्रिगुणं तज्जगद्योनिः'** कहकर स्पष्ट कर दिया कि सृष्टि का उपादानकारण त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति है, चेतन ब्रह्म नहीं। शंकराचार्य को भी स्वीकार करना पड़ा—

"नह्ययमत्यन्तासत्त्वाभिप्रायेण प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासद्व्यपदेशः । किं तर्हि ? व्याकृतनाम रूपत्वाद् धर्मादव्याकृतनामरूपत्वं धर्मान्तरं तेन धर्मान्तेणायमसद्व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः सत एव ।"

—शा.भा. २।१।१७

अर्थात् कार्य को उत्पत्ति से पूर्व असत् कहना अत्यन्ताभाव के अभिप्राय से नहीं है। केवल नाम और रूप के अव्याकृत होने के कारण है। उत्पत्ति से पूर्व कार्य के नामरूप अव्याकृत रहते हैं, उत्पत्ति के पश्चात् व्यक्त होते हैं। उत्पत्ति से पूर्व कार्य कारणरूप में विद्यमान रहता है।

विवेच्य सूक्त के द्वितीय मन्त्र में सदसत् के अतिरिक्त जिन वस्तुओं के अस्तित्व को नकारा गया है, उनमें मुख्य हैं—मृत्यु, अमृत, प्रकाश और अन्धकार में भेद तथा प्राण। इसका कारण था कारणावस्था में होने से जगत् में किसी प्रकार का व्यवहार सम्भव न होना। ऐतरेय उपनिषद् में कहा है—**"आत्मा वै इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चन मिषत्।"** —ऐत० २।१ अर्थात् सर्ग से पूर्व एक परमात्मा था, अन्य कोई वस्तु गति में नहीं थी, वस्तुतः सर्ग से पूर्व प्रलयावस्था में जब किसी का जन्म ही नहीं हुआ था तो मृत्यु कैसे होती ? इसलिए मृत्यु नहीं थी। उस अवस्था में जब न कोई जन्म लेता था और न मरता था तो मृत्यु से छुटकारा पाकर मोक्षलाभ करने का प्रश्न ही नहीं था। इसलिए अमृत नहीं था। सर्गकाल में जिन पदार्थों के कारण काल के दिन और रात विभाग होते हैं, वे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि प्रलयकाल में नहीं थे। दिन और रात के 'प्रकेत' वे ही हैं, जिनके होने से दिन और रात अस्तित्व में आते हैं। इस प्रकार जब अभी सूर्य की सृष्टि नहीं हुई थी तब प्रकाश और अन्धकार में भेद कैसे हो सकता था ? इसी प्रकार जब तक जीवात्मा ने कोई शरीर धारण नहीं किया था, तब तक उसे प्राण की अपेक्षा क्यों होती ? इसलिए प्राण नहीं था।

सर्ग से पूर्व प्रलयकाल में भी ब्रह्म से अतिरिक्त जिन दो वस्तुओं के विद्यमान होने का निर्देश सूक्त में स्पष्टरूप से उपलब्ध है, वे हैं —**'स्वधा'** तथा **'रेतोधाः'**। वेद में स्वधा, अदिति, वृक्ष आदि नामों से जगत् के मूल उपादानतत्त्व का निर्देश हुआ है। जगत्सर्ग से पूर्व प्रलयकाल में भी परमेश्वर अकेला नहीं था। **'आनीदवातं स्वधया तदेकम्'** में तृतीया विभक्त्यन्त 'स्वधा' पद के प्रयोग से स्पष्ट है कि प्रलयकाल में भी ब्रह्म के साथ-साथ प्रकृति की

https://t.me/arshlibrary

स्वतन्त्र सत्ता थी। प्रकृति के साथ (स्वधया) ही ब्रह्म विद्यमान था। एक क्रिया के साथ दो पदार्थों का समान सम्बन्ध होने पर अप्रधान (पदार्थ) के साथ तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता है। इससे उन पदार्थों के दो निश्चित होने के साथ-साथ यह भी स्वतः सिद्ध है कि उन दोनों में एक मुख्य, प्रधान अथवा उत्कृष्ट है और तृतीयान्त दूसरा अप्रधान अथवा अपकृष्ट है। अचेतन, चेतन के अधीन और उसके द्वारा नियन्त्रित होता है, अतः दोनों तत्त्वों में चेतन ब्रह्म उत्कृष्ट (परः) है और अचेतन स्वधा (प्रकृति) अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए भी ब्रह्म के अधीन होने से उसकी अपेक्षा अपकृष्ट है। उस (प्रलय) अवस्था में स्वधा का विद्यमान रहना यह प्रकट करता है कि समस्त कार्य तब केवल अपने उपादान-कारण में अवस्थित रहता है। यही बात **'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'** (ऋ० १।१२१।१) में कही गयी है। प्रकृति परमेश्वर के गर्भ में थी। उसे व्यक्त करके उसी के सहयोग से उसने सृष्टि की रचना की। गीता में कहा है—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः। तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

—गीता १४।३-४

अर्थात् मेरे अधीन जो उपादानकारण प्रकृति है, उसमें मैं गर्भ को धारण कराता हूँ। सब प्राणियों की उत्पत्ति इसी से होती है। सब योनियों में जो मूर्त्तियाँ उत्पन्न होती हैं, प्रकृति उनका उपादानकारण है और मैं बीज देनेवाला पिता हूँ। इस प्रकार प्रकृतिरूपी माता और परमात्मरूपी पिता के संयोग से सृष्टिरचना होती है। 'महद् ब्रह्म' से यहाँ प्रकृति अभिप्रेत है। मूल उपादान होने से प्रकृति समस्त कार्यसमूह से बड़ी है। इसीलिए उसे 'महत्' कहा गया है और कार्यरूप में वृद्धि का कारण होने से ब्रह्म। इस प्रकार महद्ब्रह्म प्रकृति का वाचक है।[1] प्रकारान्तर से इन श्लोकों में निमित्तकारण के रूप में परमात्मा का और उपादानकारण के रूप में प्रकृति का उपपादान किया है।

सूक्तगत पञ्चम ऋचा मे आये 'रेतोधा आसन्' पदों से यह भी स्पष्ट है कि 'स्वधाः' के अतिरिक्त 'रेतोधाः'—रेतस् को धारण करनेवाले जीवात्मा भी सर्ग से पूर्व विद्यमान थे। सायणाचार्य ने प्रकृत मन्त्र के भाष्य में लिखा है—**'रेतसो बीजभूतस्य कर्मणो विधातारः भोक्तारश्च जीवा आसन्।'** इस विवेचन से स्पष्ट है कि सर्गकाल में ब्रह्म स्वयं जीवरूप में परिणत नहीं हुआ, ब्रह्म के साथ जीव पहले से विद्यमान थे। बहुवचनान्त 'रेतोधाः' से यह भी स्पष्ट है कि ये जीव संख्या में अनेक या असंख्य थे। प्रलय के पश्चात् और सर्ग से पूर्व शरीरधारी न होने के कारण प्रलयकाल में जीवों की नामरूप पहचान नहीं की जा सकती। उस अवधि में वे मूर्च्छित अथवा सुषुप्ति की अवस्था में निष्क्रिय पड़े रहते हैं। जगत्सर्ग में अव्यक्त न रहकर सब-कुछ व्यक्त हो जाता है। प्रकृति अनेकविध नामरूप धारण करने लगती है। जीवात्माएँ अपने-अपने कर्मों के अनुसार भौतिक शरीरों में प्रविष्ट होती हैं और इस प्रकार सृष्टिक्रम चालू रहता है।

सर्गकाल में उपलब्ध अनेक वस्तुओं का निषेध प्रकारान्तर से प्रलयकाल की अवस्था का संकेत करने के लिए किया गया है। प्रकृति तब भी विद्यमान थी, परन्तु सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण वह ज्ञेय नहीं थी। अन्ततः परमात्मा ने ईक्षण किया (**तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेयेति**—छा० ६।२।३) और उसकी पूर्वकल्पना के अनुसार सृष्टि बन गयी (यथापूर्वमकल्पयत्।—ऋ० १०।१६०।३) —

परन्तु सूक्त के द्वितीय मन्त्र के अन्तर्गत **'तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास'** शब्दों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सृष्टि से पूर्व ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं था। इसलिए यह सारा जगत् मात्र ईश्वर से

१. महद्योनि अर्थात् प्रकृति मेरी योनि है—तिलक : गीतारहस्य, १४।३
Great Brahma (Prakriti) is my womb. —Radhakrishnan : Gita, 14.3

https://t.me/arshlibrary

उत्पन्न हुआ है। यह विचारधारा शास्त्र के मर्म को न समझने के कारण उत्पन्न हुई है। यहाँ जीवात्मा तथा प्रकृति के अस्तित्व को नकारा नहीं गया है। वस्तुतः इस सूक्त में जगत् के कारणों में से परब्रह्मरूप निमित्तकारण की प्रधानता दिखाने का प्रयास किया गया है। जड़ उपादान की तुलना में चेतन निमित्त का आसन निश्चय ही ऊँचा है। मिट्टी की अपेक्षा कुम्हार बड़ा है। घड़ा बनने से पूर्व घड़े का ज्ञान कुम्हार के मस्तिष्क में रहता है। मिट्टी को हाथ लगाने से पहले वह अपने मस्तिष्क में चित्रण कर लेता है। निमित्तकारण की यह प्रधानता इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र में आये **'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव'** शब्दों से स्पष्ट है। मीमांसादर्शन के 'प्रशंसासूत्र' (१।४।२६) में **'अयज्ञो वा एष असामा', 'अपशवो वा अन्ये गोऽश्वेभ्यः, पशवो वा गोऽश्वाः'** इत्यादि वाक्यों पर विचार करते समय स्पष्ट कर दिया गया है कि अन्यान्य पशुओं की तुलना में गो आदि की और इसी प्रकार अन्यान्य यज्ञों की तुलना में विधेय सामयुक्त यज्ञ की प्रशंसा के लिए ही अन्य पशुओं को 'अपशु' और अन्य यज्ञों को 'अयज्ञ' कहा गया है। यह स्तुति अर्थवाद है, अर्थात् यहाँ अभीष्ट की केवल स्तुति की गयी है। ऐसे स्तुतिवाक्य अभीष्ट के प्रति श्रद्धान्वित कर अनुष्ठान में प्रवृत्त करते हैं, अतः ये विधिवाक्य नहीं होते। इसी प्रकार प्रकृत सूक्त में **'नासदासीन्नो सदासीत्'** इत्यादि में सत्-असत् का निर्देश कर तथा **'तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास'** जैसे शब्दों का प्रयोग करके ब्रह्म की उत्पादक शक्ति की प्रशंसा प्रधानतत्त्व द्योतन के लिए है, न कि सत् प्रकृति आदि के निषेध के लिए। मीमांसकों का न्याय है—**"न हि निन्दा निन्दितुं प्रवर्त्ततेऽपितु स्तोतुम्'**। इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए—**'न हि सदादिप्रतिषेधस्तान् प्रतिषेद्धुं प्रवृत्तः, अपितु परब्रह्मप्रशंसयितुं तस्य प्रधानत्वं द्योतयितुं वा'।**

लोकमान्य तिलक ने इस ऋचा में 'परः' पद का अर्थ 'इससे परे' किया है, अर्थात् ब्रह्मचेतन के परे अन्य कुछ भी न था। वस्तुतः चेतन परमात्मा के प्रसंग में 'परः' पद का यह अर्थ संगत नहीं जंचता, क्योंकि वह चेतन सर्वत्र एकसमान व्याप्त है। कोई देश उसका भेदक अथवा व्यवच्छेदक नहीं कहा जा सकता। तब उसमें उरे-परे का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए 'पर' पद का अर्थ यहाँ उत्कृष्ट ही युक्ति-युक्त है।

तृतीय ऋचा में जगत् के मूल उपादानकारण के लिए 'तमस्' शब्द का प्रयोग हुआ है। साधारणतया गुणत्रय (सत्त्व-रजस्-तमस्) की साम्यावस्था को ही प्रकृति उपादान के रूप में स्वीकार किया जाता है, परन्तु सांख्यग्रन्थों में यत्र-तत्र केवल 'तमस्' पद से भी प्रकृति का ग्रहण किया गया है। उदाहरणार्थ—

(क) **तम एव खल्विदमग्र आसीत् तस्मिंस्तमसि क्षेत्रज्ञोऽभिवर्त्तते प्रथमम्। तम इति उच्यते प्रकृतिः, पुरुषः क्षेत्रज्ञः।** (माठरवृत्ति ७१ आर्या की अवतरणिका)। यहाँ प्रकृति को तमस् और पुरुष को क्षेत्रज्ञ कहा है।

(ख) **तथा प्रकृतिपर्यायाः**—अव्यक्तं, ब्रह्म, अक्षरं, क्षेत्रं, तमः, माया, ब्राह्मी, अविद्या, प्रकृतिः, शाक्तिः, अजा इत्यादयः'। (सांख्यसंग्रह के अन्तर्गत तत्त्वयाथार्थ्यदीपन, तत्त्वसमाससूत्र की भावागणेशकृत व्याख्या, पृ० ५२ पंक्ति ४) यहाँ पर प्रकृति के अनेक पर्यायों में 'तमस्' का उल्लेख हुआ है।

(ग) **'सांख्यास्तु—तमः शब्देन प्रधानं साम्यापन्नं गुणत्रयमुच्यमुच्यमानमिच्छन्ति। ते हि परमार्षं सूत्रमधीयते—"तम एव खल्विदमग्र आसीत्। तस्मिंस्तमसि क्षेत्रज्ञ एव प्रथमोऽध्यवर्त्तत" इति'** (निरुक्त दुर्गवृत्ति, ७।३) यहाँ पर दुर्ग ने तमस् पद का अर्थ सांख्यानुसार साम्यावस्थापन्न गुणत्रयरूप प्रधान बताया है। अगले परमार्षसूत्र की, उपर्युक्त माठरवृत्ति से तुलना करें।

(घ) **तमश्चास्मिन् पक्षे प्रकृत्यव्यक्तादिपर्यायं प्रधानमुच्यते**। (निरुक्त पर स्कन्दस्वामी की व्याख्या,७।३)

इसका मूल आधार वेद का यह तथा इसके समान अन्य प्रयोग कहे जा सकते हैं—

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्' (यजुः० ३१।१८) इस मन्त्र में 'तमस्' से परे तेजोमय पुरुष (परब्रह्म) का वर्णन किया गया है। यहाँ भी 'तमस्' पद से प्रकृति का ग्रहण होता है।

https://t.me/arshlibrary

विवेच्य ऋचा में 'तमसा' पद में 'तमस्' पद का अर्थ अन्धकार है। भौतिक प्रकाश का कोई साधन न होने से प्रलयकाल में यह सम्पूर्ण कार्यजगत् अपने मूलकारणों में लीन होने के कारण अन्धकार से आवृत्त था।

इस ऋचा में 'सलिल' पद का अर्थ विचारणीय है। लोक में यह पद जल का वाचक है, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में यह अर्थ सर्वथा असंगत है, क्योंकि प्रलयकाल में जल का अस्तित्व नहीं होता, यहाँ उसके अस्तित्व का कथन कैसे हो सकता है ? 'सलिल' पद गत्यर्थक 'सल्' धातु से औणादिक (१।५४) **इलच्** प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है, जिसका अर्थ होता है—कारण के साथ संगत होना, अर्थात् कारण के रूप में पहुँच जाना। प्रस्तुत ऋचा में यह पद 'सर्वमिदम्' का विशेषण अथवा विधेय है। **'इदम् सर्वम्'** से उपलक्षित इस सम्पूर्ण दृश्यादृश्य जगत् को मन्त्र प्रलयकाल में **'अप्रकेतं सलिलम्'** बताता है। यह वह अवस्था है जब सर्गकाल का कोई चिह्न अवशिष्ट नहीं रहता, क्योंकि कार्यजगत् अपने कारण में लीन हो जाता है। कार्य का कारण में लीन हो जाना ही 'सलिल' पद का अर्थ है। सायण से अति प्राचीन दुर्गाचार्य ने निरुक्त (७।३) की वृत्ति में इस ऋचा की व्याख्या करते हुए 'सलिलं' का अर्थ 'सद्भावे लीनं' अर्थात् सद्रूप कारण में लीन किया है। निरुक्त के एक अन्य प्राचीन टीकाकार स्कन्दस्वामी ने भी इस पद का ऐसा ही अर्थ किया है। वह लिखता है—

'सलिलं, सति—सत्तालक्षणे कारणात्मनि लीनम्।'

इसी प्रकार सांख्यसप्तति की व्याख्या युक्तिदीपिका (५०वीं आर्या की व्याख्या) में सलिल पद का यही अर्थ किया है। वहाँ लिखा है—**'कथं पुनरेतत् सलिलम् ? सत्युपादाने विकारो लीयत इति'**। अपने इस अर्थ की पुष्टि के लिए व्याख्याकार ने प्राचीन शास्त्र का एक प्रमाण इस प्रकार उद्धृत किया है-**"तथा च कृत्वा शास्त्रमाह—'सलिलं सलिलमिति वैकारिकोपनिपातमेवाधिकुरुते, सति तस्मिन् लीयते जगत्' इति"**। यह प्रमाणवाक्य पञ्चशिख का है।

प्रलयकाल में कार्यजगत् अपने कारणरूप में विद्यमान रहता है, इस बात को प्रस्तुत ऋचा के तृतीय चरण में, कार्यकारणभाव का ध्यान रखते हुए कहा गया है—**'तुच्छ्येन आभु अपिहितं यदासीत्'**। यहाँ 'तुच्छ्य' पद कारण और 'आभु' पद कार्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस पद में 'आ' उपसर्ग और 'भू' धातु है, जिसका अर्थ होता है—होना या उत्पन्न होना। इसका सम्मिलित अर्थ होगा—**आ समन्तात् भवति उत्पद्यत इति आभु**। इस प्रकार निश्चितरूप से 'आभु' पद का अर्थ 'कार्य' किया जा सकता है। इसलिए ऋचा के तृतीय चरण का अर्थ हुआ—कारण से ढका हुआ या कारण में छिपा हुआ कार्य। इस ऋचा के अन्तिम चरण में प्रलयकाल के अनन्तर होनेवाले सर्ग का आभास दिया गया है। **'तपस्तन्महिन जायतैकम्'** इन शब्दों से स्पष्ट है कि प्रलयदशा में मूल उपादानकारण के साथ एकीभूत हुआ जगत् तेजोमय ब्रह्म की महिमा अर्थात् संकल्पात्मक प्रेरणा के द्वारा पुनः उत्पन्न हो जाता है। तात्पर्य यह कि जिस दृश्यमान कार्यजगत् को मूल उपादानकारण ने अपने भीतर छिपाया हुआ था, वह सर्गकाल में परमात्मा की प्रेरणा से कारणरूप से कार्यरूप में आ जाता है। इस प्रकार नासदीय सूक्त की प्रथम तीन ऋचाओं द्वारा, प्रलयकाल की अवस्था का स्पष्ट वर्णन करने के अनन्तर अन्तिम पदों से आदिसर्ग का आभास दिया गया है।

चतुर्थ ऋचा के अनुसार अव्यक्त को व्यक्तरूप में आने के लिए, परमात्मसंकल्प प्रथम कारण है। अव्यक्त मूल उपादान अचेतन होने के कारण स्वतः सर्गोन्मुख प्रकृति के लिए सर्वथा असमर्थ है। यद्यपि मूल उपादान ही परिणत होकर व्यक्त कार्यजगद्रूप में उपस्थित होता है, परन्तु वह परिणाम उस समय तक सम्भव नहीं, जब तक नियन्ता अचेतन उसे प्रवृत्ति के लिए प्रेरित न करे। इसीलिए प्रस्तुत ऋचा में चेतन के संकल्प अथवा प्रेरणा को जगत्सर्ग का प्रथम अर्थात् मुख्य कारण कहा गया है। उस अव्यक्त मूल उपादानकारण से किस प्रकार व्यक्त जगत् बन जाता है, इस रहस्य को क्रान्तदर्शी विद्वान् जान पाते हैं।

https://t.me/arshlibrary

जगत्सर्ग में नियन्ता चेतन और अव्यक्त अचेतन दोनों अपेक्षित हैं। अचेतन व्यक्त कार्यजगत् के लिए जितनी अपेक्षा अचेतन अव्यक्त मूल उपादान की है, उसकी प्रेरणा के लिए उससे कहीं अधिक अपेक्षा चेतन संकल्प की है। प्रस्तुत ऋचा के आधार पर अचेतन और चेतन दोनों की भिन्न सत्ता का स्वीकार करना आवश्यक है। चेतन से अचेतन अथवा अचेतन से चेतन की सृष्टि होना न शास्त्रसम्मत है, न तर्कसंगत। इसलिए जिन व्याख्याकारों ने इस ऋचा के आधार पर यह समझाने का यत्न किया है कि परमात्मा स्वयं परिणत होकर कार्यरूप जगत् बन जाता है, वे वस्तुस्थिति से बहुत दूर जा पड़े हैं।

आदिकाल में जब सर्ग होने लगता है, तब उसमें कितना समय लग जाता है अथवा उसका क्या क्रम होता है, इस अर्थ की ओर पञ्चम ऋचा संकेत करती है। सर्वोत्कृष्ट चेतन की प्रेरणा के अनन्तर सम्पूर्ण लोक-लोकान्तर अपनी स्थिति में आ जाते हैं। पहले मध्य लोक बने, अथवा अधोलोक अथवा ऊर्ध्वलोक, इस बात को नहीं कहा जा सकता। वह अज्ञेय काल है। प्रकृति के अनन्तानन्त मूलतत्त्वों में, चेतन की प्रेरणा से सर्गोन्मुख प्रवृत्ति होने पर अखिल लोक-लोकान्तर प्रकाश में आ जाते हैं। इनका अन्तरालवर्त्ती पूर्ण क्रमिक विकास अशक्य-कथन है, क्योंकि उसका अस्तित्व कल्पनातीत है। ऋचा में 'महिमानः' पद कार्यरूप इस दृश्यादृश्य समस्त जगतके लिए प्रयुक्त हुआ है। ऋचा के अन्तिम चरण में, सर्गकाल के उपसंहाररूप में, चेतन और अचेतन की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट कर दिया गया है। स्वधा=अचेतन प्रकृति अपकृष्ट (**अवस्तात्**) है, तथा उसका नियन्ता चेतन उत्कृष्ट (**परस्तात्**) है; क्योंकि चेतन की प्रेरणा के बिना अचेतन प्रकृति कुछ नहीं कर सकती। यद्यपि जगत् का मूल उपादान होने से प्रकृति उसका मुख्य साधन है, तथापि चेतन की उत्कृष्टता के कारण चतुर्थ ऋचा में चेतन संकल्प को जगत् का प्रथम=मुख्य कारण कहा गया है। इसी आधार पर अनेक स्थलों पर औपचारिकरूप से चेतन को जगत् का मूलकारण कह दिया गया है।

चतुर्थ ऋचा में कहा गया है कि क्रान्तदर्शी ऋषियों ने इस व्यक्त और अव्यक्त के सम्बन्ध को समझा, परन्तु ऋषियों के अल्पज्ञ होने के कारण, यह अधिक सम्भव है कि उनका ज्ञान भ्रम, प्रमादादि से अभिभूत हो। फिर उस अवस्था (प्रलयकाल) में तो उनका ऐसा अस्तित्व ही न था, जिससे वे तत्कालीन स्थितियों को साक्षात् जान पाते। इस प्रकार यह विश्व-पहेली का रहस्य, रहस्य ही बना रह जाता है और इसकी आश्चर्यपूर्ण स्थितियों को सम्मुख पाकर सहसा यह प्रश्न उठ खड़ा होता है—क्या कोई इसके वास्तविक रहस्य को समझनेवाला है? इस प्रश्न का उत्तर अन्तिम ऋचा में दिया गया है।

सर्वव्यापक परमात्मचेतन इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तथा उसकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि अवस्थाओं का अध्यक्ष अर्थात् नियन्ता है। इन तीनों अवस्थाओं के निर्देश के लिए ऋचा में तीन पृथक् वाक्य इस प्रकार हैं—**यत आबभूव** (उत्पत्ति), **यदि वा दधे** (स्थिति), **यदि वा न** (प्रलय)। इसी बात को तैत्तिरीय उपनिषद् (२।१) में इन शब्दों में कहा है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म॥

यह प्राणि-अप्राणिरूप जगत् जिससे उत्पन्न होता, उत्पन्न होकर जिसके आश्रय जीता और जिसके द्वारा अन्त में लीन होता है, उसको जानने की इच्छा करो—वह ब्रह्म है। सम्भवतः वेद और उपनिषद् के इसी अभिप्राय को महर्षि वेदव्यास ने **'जन्माद्यस्य यतः'** (वे० द० १।१।२) के रूप में सूत्रबद्ध किया है। यहाँ यह स्पष्ट है कि जिसकी उत्पत्ति आदि होती है, वह जगत् है और जो उससे भिन्न है, वह उसकी उत्पत्ति आदि में निमित्तकारण है। जो इन स्थितियों का नियामक है, वही उनको जान सकता है—**सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद**। यहाँ **'यदि वा न'** का अर्थ है —जब यह जगत् नहीं रहता, अर्थात् कारण में लीन होकर प्रलय अवस्था में रहता है।

https://t.me/arshlibrary

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥

—ऋ० म० १० । सूक्त १२१ । मं० १

इस प्रकार नासदीय सूक्त में उपादानरूप प्रकृति, उसके भोक्ता जीदात्मा और सबके नियामक परमात्मा—इन तीनों अनादि सत्ताओं का स्पष्ट वर्णन किया है। ईश्वर विश्वसम्बन्धी व्यवस्था के अन्दर इस विश्व को इसके परम आधार के रूप में धारण करता है, प्रलय होने पर समेटकर अपने भीतर धारण किये रहता है और आगामी सर्गकाल में इसे पुनः अव्यक्त से व्यक्त कर देता है। अनादिकाल से यह क्रम चलता आया है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा। रामानुज के अनुसार "प्रकृति तथा जीव पूर्णतः परमात्मा के अधीन हैं, जो अन्तर्यामिरूप में समस्त जड़-चेतन का नियमन करता है। अनादिकाल से इनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है और किसी भी अवस्था में उनका ब्रह्म में विलय (अन्त) नहीं होता। प्रलयकाल में जब वे अपना नाम-रूप खोकर कारणावस्था को प्राप्त होते हैं, तब भी परमात्मा बीजरूप में प्रकृति तथा जीवों को अपने भीतर धारण किये रहता है।[1] प्रलय के बाद जगत्सर्ग होने पर अव्यक्त प्रकृति इन्द्रियों का विषय बन जाती है और जीवात्मा अपने-अपने कर्मों के अनुरूप देह धारण करके पूर्वजन्म में किये कर्मों का फलोपभोग करने और भविष्य के लिए कर्म करने में प्रवृत्त हो जाते हैं।

निश्चय ही, परमेश्वर द्वारा बार-बार निर्मित जगत् मिथ्या नहीं हो सकता। जो है ही नहीं, उसकी उत्पत्ति और प्रलय का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए उसे मिथ्या कहना मिथ्या है।

हिरण्यगर्भः—इस मन्त्र में आया 'हिरण्यगर्भ' शब्द अत्यन्त सारगर्भित है। यह समस्त पद ईश्वर तथा प्रकृति के लिए प्रयुक्त संयुक्त पद है, जिसका सीधा अर्थ है—'हिरण्यगर्भ (प्रकृति) को अपने गर्भ में धारण करनेवाला।' प्रलयावस्था में प्रकृति परमात्मा के भीतर समाई रहती है। व्यवहार में न होने से सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व यह प्रकृति अव्यक्त दशा में अदृश्य रहती है। सर्ग से पूर्व प्रलयकाल में ब्रह्म अकेला नहीं, प्रकृति को अपने भीतर समेटे हुए बना रहता है। यदि उस काल में प्रकृति का अभाव होता तो सर्गकाल में वह कहाँ से आ जाती ? उसी हिरण्यगर्भ परमेश्वर ने सर्गकाल में 'पृथिवी-द्यौ' आदि को धारण कर रक्खा है। उसी के लिए अन्यत्र कहा गया है—**'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व स्तभितं येन नाकः। योऽअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥'**—यजुः० ३२।६

१. Ramanuja takes his stand on the Antaryamin Brahmana (B. 4.3.7) which says that within all elements, all sense organs, all souls there dwells an inward ruler whose bodies these, elements sense organs and souls are. Brahman comprises within himself all elements of plurality, matter with its various modifications and souls of different classes and degrees. They are entirely dependent on and subservient to the Lord who pervades and rules things, material and inmaterial as their inmost self, antaryamin. Their individual existence has been there from all eternity and will never be entirely resolved into Brahma. They exist in two different periodically alternating conditions. In pralaya state, which occurs at the end of each world-period, when Brahman is said to be in a causal condition, Karanavastha, distinctions of names and forms disappear. Matter is unmanifested, avyakta, the individual souls are not attached to bodies and their intelligence is in a state of contraction, samkocha. Even then brahman contains within itself matter and souls in a bija (बीज) or seed condition. when, owing o an act of **volition** on the part of the Lord, pralaya is succeeded by creation, unmanifested matter becomes gross and evident to the senses and the souls enter into connection with meterial bodies corresponding with their accumulated merit and demerit and their intelligence undergoes expansion, vikasa. Cause and effect are different names of direrent conditions or changes, parinama.

— Radhakrishnan: Brahmasutra. P. 53-54

https://t.me/arshlibrary

न्यूटन के आगमन से पूर्व विज्ञान के क्षेत्र में यह प्रमुख प्रश्न था कि सूर्य बिना किसी माध्यम के किसी ग्रह आदि को कैसे आकृष्ट कर सकता है। न्यूटन के ही समकालीन प्रमुख दार्शनिक जान लॉक (John Locke) की मान्यता थी कि कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थ से टकराये बिना न उसमें गति पैदा कर सकता है और न उसके सम्पर्क में आये बिना उसे प्रभावित कर सकता है, पर न्यूटन ने युक्ति और प्रमाणों से सिद्ध कर दिखाया कि निराकार होकर भी विभिन्न तरंगें चलकर अन्य पदार्थों को प्रभावित करती हैं। बाद में यह तथ्य भी सामने आया कि विद्युच्चुम्बकीय तरंगें निर्वात में भी, एकदम शून्य आकाश में महावेग से चलकर दूरस्थ पदार्थों को प्रभावित करती हैं। सूर्य द्वारा अन्य लोकों को आकर्षित करने का यही आधार है। अथर्ववेद के एक सूक्त (१०।७) में बार-बार यह पूछा गया कि वह खम्भा बताओ जिसके सहारे यह समस्त विश्व टिका है—**'स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः'**। इसके उत्तर में बताया गया—वह परब्रह्म परमेश्वर है। अन्ततः लॉक को स्वीकार करना पड़ा कि 'जो कुछ हमारी समझ से परे है, वह परमात्मा की शक्ति से बाहर नहीं।' यह **'स दाधार'** इस वैदिक सिद्धान्त की विजय थी।

शास्त्रों में ब्रह्म के लिए अनेकत्र **'पति'** और उसके पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग हुआ है। ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन) में **'पत्यादिशब्देभ्यः'** (१।३।४३) सूत्र के द्वारा जीव-ब्रह्म का भेद बताते हुए यह कहा गया है कि यदि ब्रह्म और जीव में अभेद होता तो ब्रह्म के समान जीव के लिए भी जगत्पति, भूताधिपति, प्रजापति, सर्वेश्वर, सर्वेशान जैसे विशेषणों का प्रयोग होता। सृष्ट्युत्पत्ति आदि के सन्दर्भ में यहाँ **'पतिरेक आसीत्'** में 'एकः' पद अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वेदान्तदर्शन के रचयिता महर्षि वेदव्यास ने एक सूत्र (४।४।१७) और उसपर अपने भाष्य द्वारा शंकराचार्य, रामानुज आदि ने स्पष्ट कर दिया है कि मोक्षदशा में भी जब जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है, परमेश्वर जीवात्माओं को सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का अधिकार नहीं देता, क्योंकि उसे भय है कि जीवात्माओं के अनेक होने से उनमें परस्पर मतभेद होने से झगड़ा होगा। कोई सृष्टि को बनाना या बनाये रखना चाहेगा और कोई उसका संहार करना चाहेगा—**"जगद्व्यापारे एतेषामनैकमत्ये कस्यचित् स्थित्यभिप्रायः कस्यचित् संहाराभिप्राय इत्येवं विरोधोऽपि कदाचित् स्यात्।"** इसलिए यदि संसार के एक से अधिक पति (स्वामी—संचालक) होते तो अराजकता हुए बिना न रहती।

वेदों में अनेक प्रसंग ऐसे हैं जिनमें सृष्टिविद्याविषयक वर्णन मिलता है। ऊपर नासदीय सूक्त का विवेचन हो चुका है। **अस्यवामीय सूक्त** (ऋ० १।१६४; अथर्व० ६।६) तथा पुरुषसूक्त (ऋ०१०।६०; यजुः०३१; अथर्व० १९।६; साम० पूर्वार्चिक) दो अन्य सूक्त हैं जिनमें जगत्सर्ग का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। वेद के इन सूक्तों में अत्यन्त रहस्यपूर्ण, रुचिकर एवं आकर्षक रीति पर जगत्सर्ग का विवरण प्रस्तुत किया गया है। दर्शनशास्त्र द्वारा प्रतिपाद्य विषय के रूप में मूलतत्वविषयक जितनी विचारधाराएँ आज तक संसार में जानी गयी हैं, संक्षेप में उन्हें तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. जड़ और चेतन दो प्रकार के मूलतत्व हैं। दोनों की पृथक् एवं स्वतन्त्र सत्ता होने पर इनके परस्पर सहयोग से ही सर्ग आदि जगत्कार्य सम्भव है।

२. केवल जड़ एकमात्र तत्व है। चेतन नाम की पृथक् एवं स्वतन्त्र सत्ता रखनेवाली कोई वस्तु नहीं है। जड़ तत्व ही अवस्थाविशेष में आकर अपने मूलरूप से इतना भिन्न प्रतीत होने लगता है कि उसे चेतन कह दिया जाता है।

३. केवल चेतन एकमात्र तत्व है। चेतन से अतिरिक्त अन्य कोई तत्व अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखता। यह जो जड़ जगत् दृष्टिगोचर हो रहा है, इसकी वास्तविक स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, मूलचेतन तत्व ही लीलावश इस रूप में भासता है।

पहली विचारधारा वैदिक है, जिसका स्पष्ट संकेत एवं निर्देश वेद के अनेक सूक्तों व मन्त्रों में उपलब्ध

https://t.me/arshlibrary

पुरुषऽएवेदꣳ सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥४॥—यजुः अ० ३१ मं० २

होता है । वेद के **अस्यवामीय सूक्त** के मन्त्र इस विषय में गम्भीरतापूर्वक विचारणीय हैं । वे जगत्सर्ग-विषयक पुष्कल सामग्री प्रस्तुत करते हैं । इस सूक्त की प्रथम ऋचा में काव्यात्मक शब्दों में तीन अनादि तत्वों का वर्णन किया है—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यशनः ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥

अर्थात् वह परमात्मा सर्वातिशयी अनादि तत्व है जो सबका सेवनीय है, एवं समस्त जगत् का स्रष्टा है । उसका साथी एक और समान वर्ग है जो इस जगत् का भोक्ता है । वह मध्यम है, क्योंकि उसकी स्थिति परमात्मा और प्रकृति दोनों के मध्यगत है । वह जीवात्मवर्ग है । जगत्सर्ग में परमात्मा सर्वातिशायी निमित्त है, जीवात्मा अपने कर्मों द्वारा सर्ग में निमित्त रहते हैं । परमात्मा केवल निमित्त है, पर जीवात्मा जगत् के भोक्ता भी हैं । इसी कारण जीवात्मवर्ग 'मध्यम' है । अनादि चेतन तथा कर्मों द्वारा विशिष्ट जगद्रचना में निमित्त होने से यह परमात्मा का भ्राता अर्थात् साथी है । कर्त्ता-भोक्ता के रूप में अभ्यागत यह आत्मा जब अपनी प्रवृत्तियों को परमात्मा की ओर झुका लेता है, तब इसमें दिव्य भावनाओं का उद्रेक रहता है । ऐसा समाज देवों का समाज अथवा दैवीसर्ग कहा जाता है । पर भोगलिप्सा से जब इसका झुकाव प्रकृति एवं विषयों की ओर हो जाता है, तब आत्मा की ऐसी प्रवृत्तियों को आसुरी कहा जाता है । केवल प्रकृति का उपासक ऐसा समाज आसुरसर्ग कहलाता है ।

परमात्मा का तीसरा साथी **'घृतपृष्ठ'** है । यह पद तीसरे अनादि तत्व का बोधक है । वह तत्त्व है—जगत् का मूल उपादान जड़ प्रकृति । 'घृत' पद वेद में उदक का वाचक माना जाता है । यह अपने कार्यशरीर का उपलक्षण है—रयि एवं प्राण अथवा तरल रज-वीर्य के रूप में यह शरीर का कारण होता है । 'पृष्ठ' पद 'स्पृश्' धातु से बना है (निरुक्त ३।४) । इसका अर्थ होता है—स्पर्श करना अथवा भोग करना । जीवात्मा स्थूल शरीर के द्वारा ही प्रकृति के सम्पर्क में आता है, अर्थात् प्रकृति का भोग करता है । इस प्रकार 'घृतपृष्ठ' पद आत्मा की भोग्यभूत प्रकृति का वाचक है । भोक्ता होने के कारण ही परमात्मा के मध्यम भ्राता को **'अश्नः'** बताया है । प्राणिमात्र का रक्षण-पोषण इस तीसरे साथी प्रकृति के द्वारा होता है । इसलिए इसे **'विश्पति'** ('विश्' का अर्थ है प्रजा, उनका पालक विश्पति) कहा गया है । प्रकृति का एक पर्याय **'अदिति'** है, जिसके सात पुत्रों का संकेत **अदितिसूक्त** (ऋ. १०।७२) में उपलब्ध होता है । विश्व ब्रह्माण्ड का सातों लोकों में समावेश है । ये सब प्रकृति का विकार हैं । इसलिए यहाँ तृतीय भ्राता को **'सप्तपुत्र'** कहा है ।

अस्यवामीय सूक्त की प्रसिद्ध **'द्वा सुपर्णा'** इत्यादि बीसवीं ऋचा में स्पष्टरूप से तीन अनादि तत्त्वों का वर्णन है । वहाँ चेतनतत्व को भोक्ता और अभोक्ता दो रूपों में वर्णन किया है । परमात्मा को वहाँ 'अनश्न' अर्थात् अभोक्ता कहा है । इसी आधार पर प्रथम ऋचा में भोक्ता आत्मा को 'अश्नः' कहा गया है । जगत् के मूल उपादान प्रकृति का वर्णन 'वृक्ष' पद से हुआ है । इस प्रकार यहाँ चेतन और अचेतन (जड़) रूप में दो प्रकार के अनादि तत्व हैं । परमात्मा (अभोक्ता) और जीवात्मा (भोक्ता) दो चेतन हैं । इनकी स्थिति अपने रूप में सर्वथा पृथक् है । इनसे अतिरिक्त है—जड़तत्व, मूल उपादान तथा जीवात्मवर्ग का भोग्य ।

पुरुष एवेदम्—जिस प्रकार अदृश्य सत्ता के लिए अदस् शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार

https://t.me/arshlibrary

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति ।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म ॥५॥

—तैत्तिरीयोपनि० भृगु० १॥

हे 'अङ्ग=मनुष्य ! जिससे यह विविध सृष्टि प्रकाशित हुई है, जो धारण और प्रलय करता है । जो इस जगत् का स्वामी, जिस व्यापक में यह सब जगत् उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय को प्राप्त होता है, सो परमात्मा है । उसको तू जान, और दूसरे को सृष्टिकर्त्ता मत मान ॥१॥

यह सब जगत् सृष्टि के पहिले अन्धकार से आवृत, रात्रिरूप में जानने के अयोग्य, आकाशरूप सब जगत्, तथा तुच्छ अर्थात् अनन्त परमेश्वर के सन्मुख एकदेशी आच्छादित था । पश्चात् परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य से कारणरूप से कार्यरूप कर दिया ॥२॥

दृश्यमान सत्ता=जगत् के लिए 'इदम्' का प्रयोग किया जाता है । यजुर्वेद (४०।१) में **'यत्किञ्च जगत्यां जगत्'** के साथ **'इदं सर्वम्'** का प्रयोग हुआ है । तदनुसार ही ग्रन्थकार ने 'इदम्' शब्द से 'वर्तमानस्थ जगत्' का तथा 'सर्वम्' से 'सब' का ग्रहण किया है । 'इदम्' से 'प्रत्यक्ष' का और 'प्रत्यक्ष' से 'इन्द्रियगोचर' पदार्थ अभिप्रेत है । भट्टभास्कर ने 'इदं सर्वम्' का अर्थ किया है—**'इदं प्रत्यक्षेण दृश्यमानं व्यक्तस्थावर जंगमात्मकं यद् वर्तमानं सर्वं यच्च भूतमतीतं यच्च भाव्यं भविष्यत् तदेतत्सर्वम्'** (तै.आ. पर पु.सू. भाष्य)। मंगलाचार्य के अनुसार **'इदं सर्वं शब्दवाच्यं चराचरं जगत्'** (मंगलाचार्यकृत पुरुषसूक्तभाष्य)। कुछ विद्वान् इसी भाव को अन्य प्रकार से प्रकट करते हैं । वे 'इदम्' से अभिप्राय लेते हैं—'जो काल में आबद्ध है' और 'सर्वम्' का अर्थ 'सब-कुछ' करते हैं । रामानुजाचार्य लिखते हैं—**'इदं यद् वर्तमानकालीनं यद् भूतमतीतकालीनं यच्च भविष्यत्कालीनं तत्सर्वम्'** (पुरुषसूक्तभाष्य) । इसी प्रकार उव्वट 'इदम्' से वर्तमान काल का अध्याहार करते हैं, इस तरह 'इदं सर्वम्' से 'कालत्रय' का अभिप्राय लेते हैं । इस सम्पूर्ण विवेचन से प्रतीत होता है कि 'इदं सर्वम्' काल में आबद्ध प्रकृतितत्व तथा उसका भोक्ता जीवात्म-तत्व है । इसमें वर्त्तमान काल के कार्यजगत् तथा भूत व भविष्यत् काल के कारणजगत् दोनों का समावेश है । प्रकारान्तर से यहाँ प्रकृति और जीवात्म-पुरुष के नित्यत्व का प्रतिपादन हुआ है—'कालत्रयसत्तावन्नित्यम्'। 'पुरुष एवेदं सर्वम्' में आपाततः सर्वात्मवाद अथवा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की प्रतीति होती है, परन्तु वस्तुतः यहाँ प्रकारान्तर से परमेश्वर का नित्यत्व तथा सर्वव्यापकत्व प्रतिपादित हुआ है । जैसे **'मञ्चाः क्रोशन्ति'** में 'मञ्चाः' का अर्थ 'मञ्चस्थपुरुषाः' होता है, वैसे ही यहाँ तात्स्थ्योपाधि से **'पुरुष एवेदं सर्वम्'** का अर्थ **'सर्वमिदं पुरुषस्थितमेव'** है । यही अर्थ युक्तियुक्त है । यदि 'सब जगत् पुरुष=परमेश्वर ही है' ऐसा अर्थ करके दोनों में तादात्म्य माना जाएगा तो जगत् की उपासना में ही क्या दोष होगा ? इसके अतिरिक्त सब जगत् को ब्रह्मरूप मानकर उसकी उत्पत्ति आदि का कथन निरर्थक होगा ।

यतो वा इमानि—इस उपनिषद् वचन के अनुसार परमेश्वर जगत् की उत्पत्ति-स्थिति और प्रलय का निमित्तकारण है, परन्तु कई आचार्य इसके आधार पर ब्रह्म को सृष्टि का उपादानकारण सिद्ध करने का प्रयास करते हैं । भारत के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार—

T.U. (3.1) speaks of that from which (यतः) these beings are born etc. This indicates the material cause of the world.

—Radhakrishnan : Brahmasutra.

यद्यपि इस विषय का सम्बन्ध जितना भाषाशास्त्र या व्याकरणशास्त्र से है, उतना दर्शनशास्त्र से नहीं । परन्तु इसके महत्व को देखते हुए इसका विवेचन आवश्यक है । ऐसे विद्वानों का कहना है कि

https://t.me/arshlibrary

हे मनुष्यो ! जो सब सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों का आधार, और जो यह जगत् हुआ, है, और होगा उसका एक अद्वितीय पति परमात्मा इस जगत् की उत्पत्ति के पूर्व विद्यमान था और जिसने पृथिवी से लेके सूर्य-पर्यन्त जगत् को उत्पन्न किया है, उस परमात्मा देव की प्रेम से भक्ति किया करें ॥३॥

हे मनुष्यो ! जो सबमें पूर्ण पुरुष, और जो नाशरहित कारण और जीव का स्वामी, जो पृथिव्यादि जड़ और जीव से अतिरिक्त है, वही पुरुष इस सब भूत, भविष्यत् और वर्तमानस्थ जगत् को बनानेवाला है ॥४॥

जिस परमात्मा की रचना से ये सब पृथिव्यादि भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे जीवते और जिसमें प्रलय को प्राप्त होते है, वह ब्रह्म है । उसके जानने की इच्छा करो ॥५॥

'जन्माद्यस्य यतः'॥ —शारीरक सू० अ० १। पा० १ सं० २

जिससे इस जगत् का जन्म, स्थिति और प्रलय होता है, वही ब्रह्म जानने योग्य है ॥

'जायते' क्रिया का योग होने पर जिस कारणभूत वस्तु में पञ्चमी विभक्ति अर्थात् अपादानकारक (Ablative case) होता है वह उपादानकारण होता है, अर्थात् जायमान वस्तु के उपादानकारण में पञ्चमी विभक्ति होती है । अष्टाध्यायी के जिस सूत्र को इसकी पुष्टि में प्रस्तुत किया जाता है वह है—**'जनिकर्तुः प्रकृतिः'** (१।४।३०) परन्तु सभी आचार्य इस विषय में एकमत नहीं हैं । उनका कहना है कि कारणमात्र में पञ्चमी का प्रयोग होता है, केवल उपादानकारण में नहीं । स्वयं पाणिनि ने इस सूत्र से पूर्व पाँच सूत्रों में अन्य कारणों में पञ्चमी विभक्ति के प्रयोग का विधान किया है । वेद और लोक में अनेकत्र ऐसे प्रयोग मिलते हैं । उदाहरणार्थ—

'तस्मादश्वा अजायन्त' (यजुः० ३१।८) । **'यस्मादृचोऽपातक्षन्'** (अथर्व० १०।७।२०) । **'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ..... यजुस्तस्मादजायत'** (यजुः० ३१।७) । **'आदित्याज्जायते वृष्टिः'** (मनु० ३।७६) । **'पुत्रात् प्रमोदो जायते'** । **'सुधनाज्जायते सुखम्'** । **'संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते, क्रोधात् भवति सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृति विभ्रमः । स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति'** (गीता २।६२-६३) । यहाँ सर्वत्र पञ्चमी है, तथापि पञ्चम्यन्त पदों से किसी उपादानतत्व का ग्रहण नहीं किया जा सकता । आदित्य को वृष्टि का, पुत्र को हर्ष का, परमेश्वर को वेदों का अथवा बुद्धनाश को मनुष्य के नाश का उपादान कैसे कहा जा सकता है ? ये केवल इन जायमान वस्तुओं के निमित्त हैं, अर्थात् कारणकारक का काम देते हैं । फिर, संस्कृत में (विशेषतः वैदिक साहित्य में) कारकव्यत्यय के बाहुल्य से भी विद्वान् परिचित हैं । ऐसी स्थिति में उपनिषद् का प्रस्तुत सन्दर्भ ब्रह्म को सृष्टि का उपादानकारण सिद्ध करने में सहायक नहीं हो सकता ।

जन्माद्यस्य यतः—वेदान्तदर्शन का आरम्भ ब्रह्मजिज्ञासा से होता है—**'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** (वे० द० १।१।१) । ब्रह्म को जानने की इच्छा उसी को होगी जो उसे नहीं जानता । सर्वज्ञ ब्रह्म स्वयं अपने को जानने की इच्छा करे—यह अपने-आपमें कितना उपहासास्पद है । वास्तव में जिज्ञासु और जिज्ञास्य अथवा ज्ञाता और ज्ञेय एक नहीं हो सकते । इससे स्पष्ट है कि ब्रह्म को जानने की इच्छा करनेवाला ब्रह्म से भिन्न कोई और है । प्रकृति के जड़ होने से उसके जिज्ञासु होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, अतः चेतन, किन्तु अल्पज्ञ, जीव ही ब्रह्म का जिज्ञासु हो सकता है ।

सूत्रकार ने जिज्ञास्य ब्रह्म की पहचान—उसका लक्षण कहा—**'जन्माद्यस्य यतः'** (वे० द० १।१।२)—(यतः) जिससे (अस्य) इस जगत् का (जन्मादि) उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय होता है, वह ब्रह्म है ।

लक्षण दो प्रकार का होता है—स्वरूपलक्षण व तटस्थलक्षण । स्वरूपलक्षण पदार्थ के याथायथ स्वरूप

https://t.me/arshlibrary

[परमेश्वर जगत् का निमित्तकारण है, उपादानकारण नहीं]

प्रश्न—यह जगत् परमेश्वर से उत्पन्न हुआ है, वा अन्य से ?

उत्तर—निमित्तकारण परमात्मा से उत्पन्न हुआ है, परन्तु इसका उपादानकारण प्रकृति है ।

प्रश्न—क्या प्रकृति परमेश्वर ने उत्पन्न नहीं की ?

उत्तर—नहीं । वह अनादि है ।

प्रश्न—अनादि किसको कहते, और कितने पदार्थ अनादि हैं ?

उत्तर—जिसका आदि कोई कारण वा समय न हो उसको 'अनादि' कहते हैं । ईश्वर, जीव और जगत् का कारण, ये तीन अनादि हैं ।

[ईश्वर, जीव और प्रकृति के अनादित्व में प्रमाण]

प्रश्न—इसमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
त्योरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥१॥

—ऋ० म० १। सू० १६४। मं० २०

शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥२॥

—यजुः० अ० ४०। मं० ८

का निर्देश करता है । **'सच्चिदानन्दस्वरूप' 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्'** ब्रह्म का स्वरूपलक्षण है । तटस्थलक्षण किसी के गुण अथवा क्रियाशक्ति द्वारा अन्य वस्तुओं के साथ उसके सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए उस वस्तु का बोध कराता है । **'जन्माद्यस्य यतः'** ब्रह्म का तटस्थलक्षण है । नवीनवेदान्त ब्रह्म में कर्तृत्व नहीं मानता— **'कर्तृत्वानुपपत्तेः'** (शा० भा० १।१।४) । तथापि शंकर ने अनेक स्थलों पर ब्रह्म का स्रष्टा होना स्वीकार किया है । वेदान्तदर्शन के आरम्भ में ही उन्होंने लिखा है—**'तद् ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयकारणं वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते ।'** (शा० भा० १।१।४) अर्थात् वेदान्तशास्त्र में सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण बताया है । आगे चलकर एक बार फिर उन्होंने लिखा है—**'सर्ववेदान्तेषु सृष्टिस्थितिसंहारकारणत्वेन ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वात्'** (शा० भा० १।२।६) । अर्थात् सब वेदान्तों में प्रसिद्ध है कि ईश्वर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाला है । इस प्रकार ईश्वर का सृष्टि का रचयिता होना सर्वथा प्रमाणित है । जगत् को मिथ्या या भ्रान्ति मानने का अर्थ होगा कि सृष्टि की रचना मात्र भ्रान्ति की रचना है, उसे धारण करना भ्रान्ति को बनाए रखना है और उसकी प्रलय भ्रान्ति का अन्त है, इस प्रकार ब्रह्म भ्रान्ति की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण सिद्ध होगा । यदि शंकराचार्य की भाँति वेदव्यास जगत् को मिथ्या मानते तो वह ब्रह्म को असत् अथवा भ्रान्ति का जनक कहकर उसे बदनाम न करते ।

अनादि—जिसका आदि कोई कारण या समय न हो वह अनादि है । जो अनादि है वह अनुत्पन्न है वह अनन्त-अविनाशी अर्थात् नित्य है । नित्य होने से वह अपनी सत्ता के लिए किसी कारण की अपेक्षा नहीं रखता—'सदकारणवन्नित्यम्' (वै० द० ४।१।१) । लोक-लोकान्तर में जितने पदार्थ हैं वे किसी-न-किसी का परिणाम हैं, अर्थात् कभी-न-कभी, कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी कारण से उत्पन्न हैं और जो वस्तु बनती

https://t.me/arshlibrary

(द्वा) जो ब्रह्म और जीव दोनों (सुपर्णा) चेतनता और पालनादि गुणों से सदृश, (सयुजा) व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त, (सखाया) परस्पर मित्रतायुक्त, सनातन, अनादि हैं और (समानम्) वैसा ही (वृक्षम्) अनादि मूलरूप कारण, और शाखारूप कार्ययुक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय में छिन्न-भिन्न हो जाता है, वह तीसरा अनादि पदार्थ । इन तीनों के गुण-कर्म और स्वभाव भी अनादि हैं । (तयोरन्यः) इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव है, वह इस वृक्षरूप संसार में पापपुण्यरूप फलों को (स्वाद्वत्ति) अच्छे प्रकार भोगता है । और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को (अनश्नन्) न भोगता हुआ चारों ओर अर्थात् भीतर-बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है । जीव से ईश्वर, ईश्वर से जीव और दोनों से प्रकृति भिन्न-स्वरूप है । ये तीनों अनादि हैं ॥१॥

(शाश्वती०) अर्थात् अनादि, सनातन जीवरूप प्रजा के लिए वेद द्वारा परमात्मा ने सब विद्याओं का बोध किया है ॥२॥

है, वह सावयव होने से विकारी एवं अनित्य होती है । इसलिए जो भावरूप पदार्थ उत्पन्न नहीं होता वही अनादि कहाता है और त्रिकालाबाधित होने से वह नित्य होता है । सृष्टि में ऐसे तीन पदार्थ हैं—ईश्वर, जीव और प्रकृति । इसमें ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त (१।१६४) का बीसवाँ मन्त्र प्रमाण है—

द्वा सुपर्णा—इस मन्त्र को मुण्डक (३।१।१) तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् (४।६) में ज्यों-का-त्यों उद्धृत करके वेदानुकूल ईश्वर, जीव और प्रकृति के अनादित्व का प्रतिपादन किया गया है । इस मन्त्र में स्पष्टरूप से वृक्ष के रूप में प्रकृति का, पाप-पुण्यरूप फलों का भोग करनेवाले के रूप में जीवात्मा का तथा केवल साक्षीरूप में ईश्वर का कथन करके ईश्वर, जीव तथा प्रकृति के अनादित्व का प्रतिपादन किया है । वेद के प्रति शंकराचार्य की आस्था अवश्य थी, परन्तु वेद पर उन्होंने कभी कुछ लिखा हो, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता । वस्तुतः उनका कार्यक्षेत्र प्रस्थानत्रयी—गीता-उपनिषद्-वेदान्तदर्शन तक ही सीमित रहा । मुण्डकोपनिषद् के अन्तर्गत इस मन्त्र का भाष्य करते हुए शंकराचार्य ने **'सयुजौ सदैव सर्वदा युक्तौ (सखायौ) समानाख्यानौ आत्मेश्वरौ'** लिखकर ईश्वर के समान जीव का अनादित्व स्वीकार किया है । आगे उन्होंने लिखा है—**'तयोः परिष्वक्तयोः (अन्यः) एकः (पिप्पलं) कर्मनिष्पन्नं सुखदुःखलक्षणं फलं (स्वाद्वत्ति) स्वादु भक्षयति । (अन्यः) इतर ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सर्वज्ञः सर्वसत्वोपाधिरीश्वरः (अनश्नन्) न अश्नाति । प्रेरयित्वा ह्यसौ उभयोर्भोज्यभोक्त्रोर्नित्यसाक्षित्वसत्तामात्रेण स अनश्नन् (अभिचाकशीति) पश्यत्येव केवलम् ।'**

इस प्रकार इस मन्त्र के भाष्य में शंकराचार्य ने भोक्ता जीव, भोग्य प्रकृति और दोनों के द्रष्टा एवं प्रेरक ईश्वर तीनों की स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन किया है । **'आत्मेश्वरौ'** इस समस्त पद में **'जीवो ब्रह्मैव नापरः'** का स्पष्ट निषेध है । स्वामी शंकराचार्य द्वारा यत्र-तत्र-अनेकत्र प्रयुक्त **'लिंगोपाधि', 'मायोपाधि'** जैसे शब्दो का मन्त्र में संकेत तक नहीं है ।

सायणाचार्य के पूर्ववर्त्ती स्वामी आत्मानन्द ने इस मन्त्र का भाष्य करते हुए लिखा है—**"द्वौ साधूनभ्युदयनिःश्रेयसपक्षान् बिभ्रतौ जीवपरमात्मानौ । तयोर्मध्ये (एकः) जीवः (पिप्पलं) बहुदोषयुक्तमपि कर्मफलं स्वादुकृत्वा (अत्ति) स्वादिति । (अन्यः) परः परमात्मा (अनश्नन्) अभुञ्जानोऽपि अभितः प्रत्यर्थं प्रकाशते ।"** इस प्रकार स्वामी आत्मानन्दकृतभाष्य के अनुसार भी ऋग्वेदादि में आया यह मन्त्र स्पष्टतः जीवेश्वरप्रकृति-भेद का प्रतिपादन करते हुए इन तीन सत्ताओं के अनादित्व की घोषणा कर रहा है ।

https://t.me/arshlibrary

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥३॥

—यह उपनिषद् (श्वेता० ४।५) का वचन है।

प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों अज, अर्थात् जिनका जन्म कभी नहीं होता, और न कभी ये जन्म लेते, अर्थात् ये तीन सब जगत् के कारण हैं, इनका कारण कोई नहीं। इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फँसता है और उसमें परमात्मा न फँसता और न उसका भोग करता है ॥३॥

[प्रकृति का स्वरूप]

ईश्वर और जीव का लक्षण ईश्वर-विषय में कह आये। अब **प्रकृति का लक्षण** लिखते हैं —

'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहंकारत् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः' । —सांख्यसू० १।६१

अजामेकाम्—श्वेताश्वतर उपनिषद् के इस मन्त्र में इसी बात को काव्यात्मक शैली में कहा गया है—लाल, सफ़ेद और काले रंग की एक 'अजा' है जो अपने ही रंग-रूपवाली अनेक अजाओं का सर्जन करती है। एक 'अज' है जो उस अजा से प्रीति करता और उसका उपभोग करता है। एक दूसरा 'अज' है जो उस भुक्तभोगा अजा को छोड़ देता है अर्थात् उसका उपभोग नहीं करता। 'अज' का अर्थ है अ+ज=जो पैदा न हो—अजन्मा-अनादि एवं नित्य हो। तीन अज हैं—एक भोग्य=सत्त्व-रजस्-तमस्रूप प्रकृति, दूसरा भोगनेवाला अज अर्थात् जीवात्मा और तीसरा न भोगनेवाला अज अर्थात् परमात्मा। जीवात्मा प्रकृति में रम जाता है, परमात्मा नहीं रमता। ऋग्वेद १।१६४।२० के समान ही इस मन्त्र में भी ईश्वर-जीव-प्रकृति के अनादित्व तथा उनकी स्वतन्त्र सत्ता का स्पष्ट वर्णन है।

श्री शंकराचार्य का कथन है कि मन्त्र में प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख न होने से यहाँ 'अजा' पद प्रकृति का नहीं अपितु बकरी का वाचक है, किन्तु उनकी यह मान्यता सर्वथा असंगत है। प्रथम तो प्रस्तुत प्रकरण में बकरी का कोई स्थान नहीं है। फिर, ऐसा मानने पर **'अज' 'भुक्तभोगा' 'अनुशेते'** तथा **'जहात्येनाम्'** आदि पदों की संगति नहीं लगेगी। 'अजा' के साथ विशेषण भी ऐसे और इतने हैं कि उनका बकरी के साथ सामंजस्य नहीं हो सकता।

मुण्डकोपनिषद् में उद्धृत उक्त वेदमन्त्र की शंकर द्वारा की गयी व्याख्या के रूप में दिया निम्न मन्त्र भी समानरूप से महत्वपूर्ण है—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यति अन्यमीशं अस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥

—मुण्डक० ३।२

अर्थात्—अनादि नित्य जीव प्रकृतिरूपी वृक्ष के भोग में निमग्न मोह के कारण शोक करने लगता है, किन्तु जब वह उसी वृक्ष के ऊपर निर्लिप्त भाव से बैठे अन्य अर्थात् भिन्न आनन्दस्वरूप परमेश्वर को देखता और उसकी महिमा को अनुभव करता है तब शोकरहित हो जाता है।

यदि वास्तव में जीव ब्रह्म का ही रूप होता तो वह किसी भी अवस्था में मोह, अज्ञान, दुःख आदि से त्रस्त न होता। मन्त्र में **'मुह्यमानः पुरुषः'** तथा **'अन्यमीशम्'** पदों के रहते नवीनवेदान्तियों का जीवेश्वर का अभेद सिद्ध करने की चेष्टा करना व्यर्थ की खेंचातानी है।

सत्त्वरजस्तमसाम्—सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन प्रकार के मूलतत्त्व हैं। इनकी साम्यावस्था का

https://t.me/arshlibrary

'सत्व'=शुद्ध, 'रजः'=मध्य, तमः=जाड्य अर्थात् जड़ता तीन वस्तु मिलाकर जो एक संघात है, उसका नाम **'प्रकृति'** है। उससे महत्व बुद्धि, उससे अहंकार, उससे **पाँच तन्मात्रा सूक्ष्मभूत**, और दश इन्द्रियाँ तथा ग्यारहवाँ मन, पाँच तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पाँच भूत, ये चौबीस और पच्चीसवाँ पुरुष अर्थात् जीव और परमेश्वर है ॥

इनमें से प्रकृति अविकारिणी, और महत्व, अहङ्कार तथा पाँच सूक्ष्मभूत प्रकृति का कार्य, और इन्द्रियाँ, मन तथा स्थूलभूतों का कारण हैं। पुरूष न किसी की प्रकृति=उपादानकारण, और न किसी का. कार्य्य है।

[जगत् का उपादानकारण प्रकृति है, ब्रह्म नहीं]

प्रश्न—

सदेव सोम्येदमग्र आसीत् (छा० ६।२।१।)॥१॥ **असद्वा इदमग्र आसीत्** (तै० उप० ब्रह्म० ७)॥२॥
आत्मा वा इदमग्र आसीत् (बृहद्० १।४।१) ॥३॥ **ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्** (शत० ११।१।११।१) ॥४॥

—ये उपनिषदों के वचन हैं ॥

हे श्वेतकेतो ! यह जगत् सृष्टि के पूर्व सत् ॥१॥ असत् ॥२॥ आत्मा ॥३॥ और ब्रह्मरूप था ॥४॥

नाम प्रकृति है, अर्थात् जब तक ये तत्व कार्यरूप में परिणत नहीं होते, प्रत्युत अपने मूलरूप में अवस्थित रहते हैं, तब तक इनका नाम 'प्रकृति' है। इस प्रकार समस्त कार्य की कारणरूप अवस्था प्रकृति कहाती है। कार्यमात्र का यही मूल उपादान होने से गौणरूप में भले ही इसे एक कहा जाए, पर प्रकृति नाम का एक व्यक्तिरूप में कोई तत्त्व नहीं है। समस्त वैषम्य अथवा द्वन्द्व विकृति अवस्था में ही सम्भव हो सकते हैं, इसलिए प्रकृतिस्वरूप को साम्यावस्था कहकर स्पष्ट किया है।

इस प्रकार मूलतत्व तीन वर्ग में विभक्त है। संख्या में वह अनन्त है। जब चेतन की प्रेरणा से उसमें क्षोभ होता है, तब वे मूलतत्त्व कार्योन्मुख हो जाते हैं, अर्थात् कार्यरूप में परिणत होने के लिए तत्पर हो जाते हैं। तब उसकी अवस्था साम्य न होकर वैषम्य की ओर अग्रसर हो जाती है। तब उसका जो प्रथम परिणाम है, उसका नाम 'महत्' होता है। इसी को बुद्धिकहते हैं।

'महत्' या बुद्धि से 'अहंकार', अहंकार से पञ्चतन्मात्र और दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ। तामस अहंकार से पाँच तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्मभूत और सात्विक अहंकार से आन्तर तथा बाह्य दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। आन्तर इन्द्रिय केवल एक 'मन' है तथा बाह्य इन्द्रिय दस हैं, जो दो वर्गों में विभक्त हैं—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। श्रोत्र, त्वक् चक्षु, रसन, घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं तथा वाक् पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। तन्मात्र अर्थात् सूक्ष्म-भूतों से स्थूल-भूतों की उत्पत्ति होती है। दृश्यमान पृथिवी आदि को स्थूलभूत कहते हैं। इनमें मूल प्रकृति केवल उपादान तथा महत् आदि तेईस पदार्थ उसके विकार हैं। ये चौबीस अचेतन जगत् हैं। इसके अतिरिक्त पुरुष अर्थात् चेतन तत्त्व है। इस प्रकार चौबीस अचेतन और पच्चीसवाँ पुरुष चेतन है। चेतन तत्त्व भी दो वर्गों में विभक्त है—एक परमात्मा और दूसरा जीवात्मा। परमात्मा एक है तथा जीवात्मा अनेक, अर्थात् संख्या की दृष्टि से अनन्त। ये हैं, वे समस्त तत्त्व, जिनके वास्तविक स्वरूप को पहचानकर अचेतन तथा चेतन के भेद का साक्षात्कार करना है।

सदेव सोम्येदम्—इन वाक्यों में सदसत् के विधि-निषेध का रहस्य शास्त्र के मर्म को न समझने के कारण उत्पन्न होता है। छान्दोग्य (६।२।१-२) में एक साथ कहा है—**'असदेवेदमग्र आसीत्'** तथा **'सत्त्वेव इदमग्र आसीत्'**। एक साँस में दोनों बातें कह दीं। पहले कहा 'असत् ही था', फिर कह दिया 'सत् ही

https://t.me/arshlibrary

पश्चात्—

'तदैक्षत बहुः स्यां प्रजायेयेति' (छा० ६।२।) ॥१॥
'सोऽकामयत बहुः स्यां प्रजायेयेति' ॥२॥

—यह तैत्तिरीयोपनिषद् (ब्रह्म० ६) का वचन है ॥

वही परमात्मा अपनी इच्छा से बहुरूप हो गया है ॥१,२॥

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन' ॥३॥

—यह भी उपनिषद् का वचन है ॥[1]

जो यह जगत् है, वह सब निश्चय करके ब्रह्म है। उसमें दूसरे नाना प्रकार के पदार्थ कुछ भी नहीं, किन्तु सब ब्रह्मरूप हैं ॥३॥

उत्तर—क्यों इन वचनों का अनर्थ करते हो ? क्योंकि उन्हीं उपनिषदों में—

था'। तत्पश्चात् स्पष्ट भी कर दिया—**'कथमसतः सज्जायेत'** अर्थात् यदि पहले 'असत्' ही होता तो बाद में उससे 'सत्' कैसे हो जाता ? **'नासतो विद्यते भावः'** (गीता)। फिर पहले क्यों कहा था—'असत् ही था'? बात समाप्त करते हुए ऋषि ने कह दिया—**'सत्येव सोम्येदमग्र आसीत्'**। वस्तुतः 'सत्' और 'असत्' से 'भाव' और 'अभाव' नहीं, व्यक्त और अव्यक्त अभिप्रेत है। प्रलयावस्था में सब अभावरूप नहीं हो जाता, कारण में लीन हो जाने से अव्यक्त हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि उद्धृत वाक्यों में 'सत्' और 'असत्' पदों का प्रयोग 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' के अर्थों में हुआ है।

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ —गीता ८।१८

अर्थात् ब्रह्मदेव के दिन का आरम्भ होने (सर्गोत्पत्ति होने) पर अव्यक्त से सब व्यक्त पदार्थ निर्मित होते हैं और रात्रि (प्रलयकाल) आने पर उसी अव्यक्त में लीन हो जाते हैं।

At the beginning of day, all manifested things come from the unmanifested and at the coming of night they merge in that same, called the unmanifested. Here unmanifested is Prakriti.

—Radhakrishnan.

इस श्लोक पर टिप्पणी करते हुए लोकमान्य तिलक लिखते हैं—"यहाँ 'अव्यक्त' का अर्थ परब्रह्म नहीं है, क्योंकि आगे बीसवें श्लोक में स्पष्ट बतला दिया है कि ब्रह्मरूपी 'अव्यक्त' इस अठारहवें श्लोक में वर्णित 'अव्यक्त' शब्द से सांख्यों की 'प्रकृति' अभिप्रेत है। बीसवें श्लोक में वह ब्रह्म का वाचक है।" इस प्रकार गीताकार के मत में स्वयं ब्रह्म जगद्रूप में परिणत नहीं होता। इस दृश्यमान जगत् के रूप में जो मूलतत्त्व परिणत होता है, वह त्रिगुणात्मक प्रकृति ही है।

यह सब जगत्—'यह सब जगत्...अभाव न था' इस वाक्य को अस्पष्टार्थ कहा जाता है। इसके अभिमत अर्थ को स्पष्ट करने और समझने के लिए इसमें से दो अवान्तर वाक्यांशों का विभाजन करना होगा। इस वाक्य में से 'और जीवात्मा ब्रह्म' इन पदों को अलग रख लीजिए। फिर शेष वाक्य को पढ़िए। वह इस प्रकार होगा—'यह सब जगत् सृष्टि से पूर्व असत् के सदृश और प्रकृति में लीन होकर

---

१. यह किसी प्रामाणिक उपनिषद् का वचन नहीं है। इसीलिए जैन आचार्यों ने भी लिखा है—**कृत्रिमेणाप्यागमेन तस्यैव प्रतिपादनात्। उक्तं च—'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंञ्चन'**। स्याद्वादमञ्जरी टीका श्लोक १३, पृष्ठ १०३, पूना सं०। अर्थात् 'सर्वं वै०' यह बनावटी वचन है।

https://t.me/arshlibrary

'[एवमेव खलु] सोम्याऽन्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छ, अद्भिस्सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ, तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ, सन्मूलाः सोम्येमाः [सर्वाः] प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' ॥

—छान्दोग्य उपनि० ६।८।४

हे श्वेतकेतो ! अन्नरूप पृथिवीकार्य से जलरूप मूलकारण को तू जान । कार्यरूप जल से तेजोरूप मूल, और तेजोरूप कार्य से सद्रूपकारण जो नित्य प्रकृति है उसको जान । यही सत्यस्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल घर और स्थिति का स्थान है । यह सब जगत् सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश, ब्रह्म और प्रकृति में लीन होकर वर्त्तमान था, अभाव न था ॥

और जो **'सर्वं खलु०'** यह वचन ऐसा है जैसाकि **'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुड़बां जोड़ा'** ऐसी लीला का है ।

क्योंकि—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' ॥ —छान्दोग्य० ३।१४।१॥

वर्त्तमान था, अभाव न था ।' इतना वाक्य एक पूरे अर्थ को व्यक्त करता है । जगत् जो अब हमारे सामने विद्यमान है, सृष्टि के पूर्व अर्थात् प्रलयावस्था में यह असत् के सदृश था, सर्वथा असत् नहीं था । कारण यह है कि यह प्रकृति में लीन हुआ विद्यमान था अर्थात् कारणरूप में विद्यमान था । इससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार ने कार्य-कारणभाव में सत्कार्य सिद्धान्त को स्वीकार किया है । प्रलयकाल में जगद्रूप कार्य कारणरूप में विद्यमान रहता है, उसका सर्वथा अभाव नहीं होता ।

जो पद उक्त वाक्य में से अलग करके रक्खे हैं, वे भी दो अवान्तर वाक्यों को बनाते हैं—१. 'और जीवात्मा वर्तमान था' । २. 'ब्रह्म वर्तमान था' । तात्पर्य यह है कि प्रलयावस्था में प्रकृति के साथ जीवात्मा और परमात्मा भी वर्तमान थे—**'आनीदवातं स्वधया तदेकम्'—'रेतोधाः आसन्'** (नासदीय सूक्त) । इस प्रकार उक्त पंक्ति से ग्रन्थकार ने उस अवस्था में तीन अनादि पदार्थों की सत्ता को स्पष्ट किया है तथा प्रकारान्तर से इस मन्तव्य का प्रत्याख्यान किया है जो उस अवस्था में एकमात्र ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते हैं और शेष जीव तथा प्रकृति का उद्भव उसी से मानते हैं ।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म—यह पूरा सन्दर्भ इस प्रकार है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत । अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिंल्लोके भवति, प्रेत्य भवति । स क्रतुं कुर्वीत ॥

इसका सीधा अर्थ है—"यह सब ब्रह्म ही है (सर्वं खलु इदं ब्रह्म) । तज्ज+तल्ल+तदन् (तज्जलान् इति) अर्थात् उसी (ईश्वर) में सब उत्पन्न होता, उसी में लीन होता और उसी में प्राण धारण करता है । ऐसा जानकर (शान्त उपासीत) शान्त होकर उसी की उपासना करे । (अथ खलु) अब निश्चय (क्रतुमयः पुरुषः) मनुष्य वासनामय है अर्थात् जैसा वह विचार करता है वैसा ही बन जाता है । (यथा क्रतुः अस्मिन् लोके पुरुषः भवति) जैसी वासना इस लोक में होती है (तथा इतः प्रेत्य भवति) वैसी ही यहाँ से मरने के बाद की योनि में होती है । (सः क्रतुं कुर्वीत) इसलिए वह (उत्तम) कर्म करे ।

यहाँ स्पष्ट ही उपासना का प्रकरण है । किसी का स्वयं अपनी उपासना करना कितना अटपटा लगता है । उपास्य और उपासक एक नहीं हो सकते । उपासक जीव को उपास्य ब्रह्म की उपासना का उपदेश देते हुए जहाँ वासनामय बताकर शान्तभाव से ब्रह्म की उपासना करने के लिए कहा गया है वहाँ ब्रह्म को सर्वव्यापक बताते हुए उसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का निमित्तकारण कहा गया

https://t.me/arshlibrary

और—**'नेह नानास्ति किंचन'** ॥ यह कठवल्ली ४।११ का वचन है ॥

जैसे शरीर के अङ्ग जब तक शरीर के साथ रहते हैं तब तक काम के, और अलग होने से निकम्मे हो जाते हैं, वैसे ही प्रकरणस्थ वाक्य **'सार्थक'**, और प्रकरण से अलग करने वा किसी अन्य के साथ जोड़ने से **'अनर्थक'** हो जाते हैं। सुनो, इनका अर्थ यह है—

"हे जीव ! तू ब्रह्म की उपासना कर जिस ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है। जिसके बनाने और धारण से यह सब जगत् विद्यमान हुआ है, वा ब्रह्म से सहचरित है। उसको छोड़ दूसरे की उपासना न करनी। इस चेतनमात्र, अखण्डैकरस ब्रह्मरूप में नाना वस्तुओं का मेल नहीं है, किन्तु ये सब पृथक्-पृथक् स्वरूप में परमेश्वर के आधार में स्थित हैं।

है। तात्स्थ्योपाधि से **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** का अर्थ है—यह सब जगत् 'ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्मस्थ है। साहचर्य तथा अगले-पिछले प्रकरण और अभिप्राय को देखते हुए 'इदं' शब्द का अन्वय 'सर्वम्' के साथ न होकर ब्रह्म के साथ ही हो सकता है। जैसे—'इदं सर्वं घृतम्' का अर्थ है—यह सब घृत है, इसमें किसी अन्य वस्तु का मिश्रण नहीं है, इसी प्रकार **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** का अर्थ है कि यह सब 'शुद्ध ब्रह्म' **(शुद्धमपापविद्धम्)** है। इस चेतन अखण्डैकरस ब्रह्म में माया, अविद्या आदि कुछ नहीं है। 'तज्जलान्' का सीधा अर्थ है कि वह ब्रह्म अपने भीतर सूक्ष्मरूप में स्थित कारणरूप प्रकृति से सर्गकाल में सृष्टि को उत्पन्न कर, स्थितिकाल में उसे धारण करता तथा प्रलयकाल में पूर्व की भाँति समेटकर पुनः अपने भीतर धारण कर लेता है। उपास्य के रूप में ब्रह्म, उपासक के रूप में जीव (पुरुष) तथा कार्यरूप जगत् तीनों का एक साथ उल्लेख होने से यह मन्त्र स्पष्ट ही द्वैतवाद (त्रैतवाद) का प्रतिपादक है।

नेह नानास्ति—वह ब्रह्म अनेकरूप नहीं है। सर्वत्र एक ही ब्रह्म व्याप्त है। इससे पहले मन्त्र में कठोपनिषत्कार ने बताया कि जो यह समझता है कि वह मन्दिर-गिरजे में है या चौथे-सातवें आसमान पर है, या कैलास पर्वत पर या क्षीरसागर में है, वह जीवन-मरण के आवर्त्तमान चक्रमें फँस जाता है—**'य इह नाना इव पश्यति मृत्योः स मृत्युम् आप्नोति'**।

तीन अनादि पदार्थों के मानने पर जगद्रचना की व्याख्या सर्वाधिक निर्दोष की जा सकती है। कारण यह है कि लोक में किसी रचना के हेतु तीन प्रकार के देखे जाते हैं। सृष्टिरचना में तीन कारण हैं—निमित्त, उपादान व साधारण। जिसके बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने, दूसरों को प्रकारान्तर से बनादे, उसे 'निमित्तकारण' कहते हैं। प्रकृति से सृष्टि को बनानेवाला परमात्मा मुख्य निमित्तकारण है, विकृति अर्थात् परमात्मा की बनाई सृष्टि—पृथिवी, जल, कोयला, लोहा, पर्वत, समुद्र, नदियाँ आदि में से पदार्थों को लेकर अनेकविध नामरूप देनेवाला जीवात्मा साधारण निमित्तकारण है। निमित्तकारण स्वयं अपरिणामी रहकर अपने से भिन्न पदार्थों को नाम-रूप प्रदान करता है। अवस्थान्तर को प्राप्त होकर बनने-बिगड़नेवाला उपादानकारण कहाता है। उपादान के बिना कोई वस्तु बन नहीं सकती। उसी से नाम-रूप की सिद्धि होती है। निमित्त और उपादान के अतिरिक्त अन्य अपेक्षित साधन साधारणकारण कहाते हैं। घड़े के बनने में कुम्हार निमित्त कारण, मिट्टी उपादानकारण तथा दण्ड, चक्र, दिशा, काल आदि साधारणकारण हैं।

But now O Lord ! We are the clay and thou our potter and we are all the world of thy hand.

—The Bible, Isaiah, 61.8

इस प्रकार किसी भी वस्तु को कार्यरूप में आने के लिए तीन बातों का होना आवश्यक है—(१) नाम-रूप देनेवाली चेतन सत्ता, जो स्वयं अपरिणामी रहकर परिणमन करने में समर्थ हो, (२) मूल उपादान

https://t.me/arshlibrary

[जगत् की उत्पत्ति में तीन कारण]

प्रश्न—जगत् के कारण कितने होते हैं ?

उत्तर—तीन । एक निमित्त, दूसरा उपादान, तीसरा साधारण । **'निमित्तकारण'** उसको कहते हैं कि जिसके बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने । आप स्वयं बने नहीं, दूसरे को प्रकारान्तर बना देवे । दूसरा **'उपादानकारण'** उसको कहते हैं, जिसके विना कुछ न बने । वही अवस्थान्तररूप होके बने और बिगड़े भी । तीसरा **'साधारणकारण'** उसको कहते हैं कि जो बनाने में साधन और साधारण निमित्त हो ।

निमित्त कारण दो प्रकार के हैं । एक—सब सृष्टि को कारण से बनाने, धारने और प्रलय करने, तथा सबकी व्यवस्था रखनेवाला मुख्य निमित्तकारण **परमात्मा । दूसरा**—परमेश्वर की सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्यान्तर बनानेवाला साधारण निमित्तकारण **'जीव'**।

जो स्वयं तो कार्यरूप में परिणत न हो सके किन्तु किसी चेतनसत्ता द्वारा प्रभावित होने पर नाम-रूप धारण कर सके । (३) वे साधन जो जड़ होने से न तो निमित्तकारण के समान कुछ बना सकें, न स्वयं कुछ बन सकें, किन्तु जिनके सहयोग के बिना नाम-रूप न दिये जा सकें ।

सृष्टिरचना में परमेश्वर निमित्तकारण है, प्रकृति वह उपादान है जिसे विभिन्न नाम-रूप देकर वह सृष्टि का निर्माण करता है और जीवात्मा वह चेतन सत्ता है जिसके लिए सृष्टि की रचना की जाती है । ऐसा कोई समय नहीं था जब इनमें से किसी एक का भी अभाव रहा हो और न कोई ऐसा समय होगा जब इनमें से कोई एक न रहेगा । ये तीनों सदा से हैं और सदा रहेंगे ।

सृष्टि की रचना भोग और अपवर्ग के लिए है—**भोगापवर्गार्थं दृश्यम्** (योग० २।१८) । यदि भोग्य है तो उसका भोक्ता होना आवश्यक है । भोग्य और भोक्ता के होने पर भोग्य को प्रस्तुत करने और दोनों का नियमन करनेवाली सत्ता का होना आवश्यक है । किसी पदार्थ का उपादानकारण अचेतन तत्त्व होता है । चेतन तत्त्व केवल भोक्ता या कर्त्ता हो सकता है । ईश्वर की प्रेरणा से प्रकृति का परिणामरूप जगत्सर्ग जीवात्मा के भोग के लिए होता है । इस प्रकार परमात्मा केवल प्रकृति का नियन्ता और जीवात्मा उसका भोक्ता है । श्वेताश्वतर उपनिषद् (१।१२) में इन तीन कारणों एवं सत्ताओं का उल्लेख **'भोग्यं भोक्तृ प्रेरयितारञ्च'** कहकर किया है ।

The eternal trinity is the basis of all creation. It answers the three questions : creation by whom, creation for whom and creation whence ?

—Dr. Satya Prakash : Man and his Religion. P. 29.

Reality is not one, but two. Here two means more than one.

—C.E.M. Joad : Matter, Life and Value. P. 71

उपादानकारण—सृष्टिरचना में उपादानकारण प्रकृति है । **'प्रक्रियते अनयेति प्रकृतिः'**—जिससे कोई पदार्थ बनाया जाए उसे प्रकृति कहते हैं । कार्यावस्था में आने पर वह नाम-रूप को धारण करती और विकृति कहाती है । 'प्रकृति' शब्द ही इस बात को सिद्ध करता है कि जगत् का मूलभूत उपादानकारण प्रकृति है ।

जगत् का निमित्तकारण ब्रह्म अभौतिक एवं अपरिणामी है । उपादान जब तक विकृत न हो तब तक कार्यरूप नहीं हो सकता—कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता । अतएव जगत् का उपादान वही हो सकता है जो विकारी हो । संसार में कर्त्ता को विकृत होते नहीं देखा जाता । सोना बिना गले या मुड़े कंगन नहीं

https://t.me/arshlibrary

उपादानकारण—प्रकृति, परमाणु, जिसको सब संसार के बनाने की सामग्री कहते हैं। वह जड़ होने से आप-से-आप न बन और न बिगड़ सकती है, किन्तु दूसरे के बनाने से बनती और बिगाड़ने से बिगड़ती है। **कहीं-कहीं जड़ के निमित्त से जड़ भी बन और बिगड़ भी जाता है।** जैसे परमेश्वर के रचित बीज पृथिवी में गिरने और जल पाने से वृक्षाकार हो जाते हैं, और अग्नि आदि जड़ के संयोग से बिगड़ भी जाते हैं, परन्तु इनका नियमपूर्वक बनना वा बिगड़ना परमेश्वर और जीव क अधीन है।

जब कोई वस्तु बनाई जाती है, तब जिन-जिन साधनों से अर्थात्, ज्ञान, दर्शन, बल, हाथ और नाना प्रकार के साधन, और दिशा, काल और आकाश वे **साधारण कारण**। जैसे घड़े को बनानेवाला कुम्हार निमित्त, मिट्टी उपादान और दण्ड-चक्र, दिशा, काल, आकाश, प्रकाश, आँख, हाथ, ज्ञान, क्रिया आदि **साधारण कारण होते हैं**। इन तीन कारणों के विना कोई भी वस्तु नहीं बन सकती, और न बिगड़ सकती है।

बन सकता। इसी प्रकार मिट्टी बिना रूपान्तर के घड़ा नहीं बन सकती, परन्तु कंगन या घड़ा बनाने के बाद भी सुनार या कुम्हार में किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं देखा जाता। इसी प्रकार जुलाहे को कपड़ा बनते या बढ़ई को मेज़ बनते नहीं देखा गया। फिर परमेश्वर ही इसका अपवाद कैसे हो सकता है? ऐसा मानना सृष्टिक्रम के विरुद्ध होगा।

जगत् की उपादानकारणता में प्रकृति के साथ अन्य किसी की साझेदारी नहीं है। शंकराचार्य के अनुयायियों ने 'परिणाम' के साथ कल्पनामूलक 'विवर्त्त' को खड़ा करके इस तथ्य पर परदा डालने का प्रयत्न किया, परन्तु प्रयास करने पर भी वह ब्रह्म से भिन्न प्रकृति अथवा माया (**मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्**—श्वेता०) नामक तत्त्व की उपादानकारणता को न हटा सके। यदि प्रकृति के सहयोग के लिए ब्रह्म स्वयं ही जगद्रूप में प्रकट होता तो उसमें परिणामित्व आदि दोषों की प्राप्ति होती और **'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः'** इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म के अनुरूप होता।

'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' (वे० द० १।४।२३) इस सूत्र से स्पष्ट है कि प्रकृति उपादान से ही परब्रह्म इस जगत् की रचना करता है। कठोपनिषद् (५।८) में कहा है —**'स एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः'** अर्थात् सोते हुओं में जागनेवाले चेतन ने संकल्प के अनुसार इस संसार का निर्माण किया। निर्माता द्वारा यह संकल्पूर्वक निर्माण प्रकृति उपादान के बिना सम्भव नहीं। जगन्नियन्ता का संकल्प नित्यज्ञानरूप है। ज्ञान निश्चितरूप से किसी विषय की अपेक्षा रखता है। इस संकल्परूप ज्ञान का विषय वह प्रकृतितत्त्व है जिसे निर्माता जगद्रूप में परिणत करता है। सर्ग से पूर्व न केवल ब्रह्म जागता रहता है, वह सुप्त प्रकृति को प्रेरित कर जगद्रूय में परिणत करता है। जगत् की उत्पत्ति में प्रेरयिता अथवा निर्माता के रूप में जैसे ब्रह्म निमित्तकारण है वैसे ही प्रकृति उसका उपादानकारण है। यदि प्रकृति को कारण न माना जाए तो इस प्रतिज्ञावाक्य की अनुकूलता नहीं रहेगी।

प्रकृति—सत्त्व (शुद्ध) रजस् (मध्य) तमस् (जाड्य) ये तीन प्रकार के मूल तत्त्व हैं। साम्यावस्था में इनके संघात का नाम प्रकृति है। कार्यमात्र के उपादानकारण की मूलभूत स्थिति यही सत्त्वरजस्तमोरूप प्रकृति है, अर्थात् जब तक ये तत्त्व कार्यरूप में अवस्थित रहते हैं, तभी तक इनका नाम प्रकृति है। इनमें विकृति अथवा वैषम्य आने पर नामरूपयुक्त सृष्टि बनती है। समस्त वैषम्य अथवा द्वन्द्व विकृति अवस्था में सम्भव हैं, इसलिए प्रकृतिस्वरूप को साम्यावस्था में कहकर स्पष्ट किया है। विकृति का ही अपर नाम कार्यावस्था है। प्रकृति के त्रिगुणात्मक होने से उसका कार्य जगत् में त्रिगुणात्मक है—

https://t.me/arshlibrary

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात् त्रिभिर्गुणैः ॥ —गीता १८।४०

अर्थात् पृथिवीलोक, द्युलोक आदि में कहीं कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, जो प्रकृति के तीन गुणों से परे हो। कूर्मपुराण उत्तरार्ध के कुछ अध्याय 'ईश्वरगीता' के नाम से जाने जाते हैं। वहाँ (२।२।११) परमात्मा को प्रकृति और पुरुष दोनों से भिन्न कहा है। प्रपञ्च और परमात्मा का तमः-प्रकाश के समान भेद निरूपित किया है। प्रकृति और पुरुष को छाया और आतप के समान परस्पर भिन्न कहा है। इस भेद का कारण प्रकृति का जड़ और पुरुष का चेतन होना है। 'ईश्वरगीता' में प्रकृति का स्वरूप निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है—

सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयमुदाहृतम् ।
साम्यावस्थितिमेतेषामव्यक्तं प्रकृतिं विदुः ॥ कूर्म० २१।७।२६

अर्थात्—सत्त्व, रजस् तथा तमस् तीन गुण कहे जाते हैं। इन तीनों गुणों की साम्यावस्था को अव्यक्त प्रकृति के नाम से जाना जाता है। अन्तिम चरण में सांख्यदर्शन (१।२।६) के **'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः'** इस सूत्र को किंचिद् भिन्न शब्दों में कह दिया है। कार्यमात्र का मूल उपादान होने से भले ही इसे एक कह दिया जा, पर प्रकृति नाम का एक व्यक्तिरूप में कोई तत्त्व नहीं है। प्रकृति की विभिन्न विशेषताओं के आधार पर उसे अनेक नामों से पुकारा जाता है—जैसे प्रकृति, अदिति, प्रधान, स्वधा, अव्यक्त, अजा, तमस्, वृक्ष, परिणामिनी, प्रसवधर्मिणी, अक्षर, क्षेत्र, ब्रह्म, माया, अविद्या आदि, तथापि उसे मुख्यतः प्रकृति और प्रधान इन दो नामों से पुकारा जाता है। 'प्रधान' पद अपने निर्वचन के आधार पर मुख्यरूप से प्रलयावस्था की ओर संकेत करता है। जो सब जगत् का आधार है (**प्रधीयते**—सांख्यप्रवचनभाष्य) और जिसमें सब जगत् लीन हो जाता है, वह प्रधान है—**'प्रकर्षेण अन्तर्लीयते सर्वं जगत् यस्मिंस्तत्'**। जगत् की दृश्यमान अवस्था का आधार सर्ग है और उसका द्योतन 'प्रकृति' पद से होता है, इसलिए सर्वाधिक प्रचलित नाम यही है। धातु और प्रत्यय के आधार पर 'प्रकृति' पद का अर्थ होगा—**'प्रकर्षेण क्रियते जगदनया इति प्रकृतिः'** अर्थात् जिससे सब जगत् की रचना होती है, वह 'प्रकृति' है।

भारतीय दर्शन में सत्त्व, रजस् और तमस् को मूल तत्त्व माना है। समस्त जड़ जगत् मूलतः इन्हीं तत्त्वों से मिलकर बना है। सांख्यकारिका (१२) में इस सन्दर्भ में लिखा है—

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥

सत्त्व (शुद्ध) प्रीतिरूप है। प्रीति का अर्थ है—दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करना। इसके विपरीत रजस् (मध्य) अप्रीतिरूप है और इस कारण वह दूर हटाने की प्रवृत्ति रखता है। तीसरा तमस् (जाड्य) विषादरूप है, अर्थात् न प्रीतिरूप और न अप्रीतिरुप। प्रलयकाल में बाह्य क्रिया की अनुपस्थिति का यह अर्थ नहीं कि कार्य करने की प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है। व्यक्त होने की प्रवृत्ति (सत्त्व) और क्रियाशीलता (रजस्) अव्यक्त तथा निष्क्रियता (तमस्) की प्रवृत्तियों से प्रतिबद्ध रहती हैं। 'सत्त्व, रजस् और तमस्' इन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग प्रधानपक्ष को लक्ष्य करके किया जाता है, एकान्तिक अथवा अनन्य-स्वरूप को लक्ष्य करके नहीं। भौतिक जड़ पदार्थों में तमोगुण प्रधान है और सत्त्व तथा रजस् गौण। गतिमान् पदार्थों में रजोगुण प्रधान होता है, अन्य गुण प्रच्छन्न।

आधुनिक विज्ञान समस्त विश्व का उपादानकारण इलेक्ट्रॉन, प्रोटोन और न्यूट्रॉन नामक तीन तत्त्वों को मानता है। प्रोटोन (A unit constituent of matter, associated with (or consisiting of) an invariable charge

https://t.me/arshlibrary

[क्या ईश्वर जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है ?]

प्रश्न—नवीन वेदान्ती लोग केवल परमेश्वर ही को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण[1] मानते हैं—

'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' —यह मुण्डक उपनिषद् १।१।७ का वचन है ॥

जैसे मकरी बाहर से कोई पदार्थ नहीं लेती, अपने ही में से तन्तु निकाल जाला बनाकर आप ही उसमें खेलती है, वैसे ब्रह्म अपने में से जगत् को बना आप जगदाकार बन आप ही क्रीड़ा कर रहा है ॥

सो ब्रह्म इच्छा और कामना करता हुआ कि—'मैं बहुरूप अर्थात् जगदाकार हो जाऊँ' संकल्पमात्र से सब जगद्रूप बन गया, क्योंकि—

---

of positive electricity) आकर्षण शक्ति का पुञ्ज है। इसके विपरीत इलेक्ट्रॉन (The smallest supposed component of matter, associated with (or consisting of) an invariable charge of negative electricity) आकर्षणरूप है। पहला दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करता है, जबकि दूसरा अपने अपकर्षण (दूर करने या हटाने) में प्रवृत्त रहता है। साधारणतया इन्हें पॉजिटिव और नेगेटिव (Positive and Negative) पावर कहा जाता है। तीसरे तत्त्व न्यूट्रॉन (An electrically neutral particle consstting of an electron and a proton in close association) में ये दोनों बातें नहीं होतीं। समस्त विश्व के मूल में ये ही तीन तत्त्व हैं, जिनसे उसका निर्माण होता है।

इस सन्तुलन का यह अभिप्राय नहीं कि 'सत्त्व-रजस्-तमस्' क्रमशः पूर्णतया प्रोटोन-इलेक्ट्रॉन-न्यूट्रॉन हैं, किन्तु मूलतत्त्वविषयक चिन्तन में आधुनिक विज्ञान और भारतीय दर्शन दोनों में पर्याप्त समानता है। इस सन्तुलन के आधार पर इतना तो कहा जा सकता है कि आधुनिक विज्ञान ने जो आज कहा है उसे भारतीय मनीषियों—तत्त्वज्ञ ऋषियों ने बहुत पहले कह दिया था। यह भी सम्भव है कि भारतीय दार्शनिकों का चिन्तन उससे भी परे मूल चिन्तन की ओर हो।

आधुनिक विज्ञान की मान्यता है कि न केवल एक ऊर्जा दूसरी ऊर्जा में परिवर्तित हो जाती है, अपितु ऊर्जा (Energy) को वस्तु-तत्त्व (Matter) के रूप में और वस्तु-तत्त्व को ऊर्जा के रूप में भी परिवर्तित किया जा सकता है। यदि यह ठीक है तो निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि ऊर्जा और वस्तुतत्त्व (Energy and Matter) का मूल उपादानतत्त्व एक ही है अथवा मूल में वे दोनों एक हैं।

यथोर्णनाभिः—नवीनवेदान्तियों की मान्यता है कि जगत् के निमित्त तथा उपादानकारणों को अलग मानना आवश्यक नहीं है। एक ब्रह्म ही स्वयं अपने से ही जगत् को उत्पन्न कर देता है, उसे अन्य उपादान की अपेक्षा नहीं है। लोक में ऐसे दृष्टान्त देखे जाते हैं। मकड़ी अपने आपसे ही जाला बुन देती है, बाहर से उसे कोई सामान जुटाना नहीं पड़ता। इसी प्रकार ब्रह्म प्रकृति-उपादान के बिना ही अपने से ही सृष्टि की रचना कर देता है। इस प्रकार एक ही तत्त्व के निमित्त तथा उपादानकारण होने को 'निमित्तोपादानकारण' कहते हैं।

यह बात पहले विस्तारपूर्वक कही जा चुकी है कि विकारी हुए बिना उपादान से रचना नहीं हो सकती। यदि ब्रह्म अपने से जगत् को बनाएगा तो वह विकारी या परिणामी अवश्य होगा। दूसरी बात यह है कि चेतन ब्रह्म का परिणाम जड़ जगत् कैसे हो जाता ? क्योंकि कारण के विशेष गुण कार्य में अवश्य

---

१. अर्थात् निमित्त और उपादानकारण का भिन्न-भिन्न न होना।

https://t.me/arshlibrary

आते हैं। या तो जगत् भी चेतन होता या उपादानकारण ब्रह्म जड़ होता, पर न जगत् चेतन है और न ईश्वर जड़। इसलिए ईश्वर को किसी भी रूप में जगत् का उपादानकारण नहीं माना जा सकता।

ब्रह्म-उपादान से जगत् की उत्पत्ति में मकड़ी आदि के दृष्टान्त अद्वैतमत की सिद्धि में बाधक हैं, साधक नहीं। विवेच्य मन्त्र इस प्रकार है—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यां ओषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथा ऽक्षरात् संभवतीह विश्वम्॥ —मुण्डक० १।१।७

अर्थात जैसे मकड़ी तन्तुजाल का सर्जन करती है और अपने भीतर समेट लेती है, जैसे पृथिवी में ओषधियाँ होती हैं और जैसे जीवित पुरुष से केशलोम प्रकट होते हैं, वैसे ही अक्षर ब्रह्म से यह विश्व प्रादुर्भूत होता है। आपाततः यह मन्त्र अभिन्ननिमित्तोदानकारण की मान्यता का प्रतिपादक मालूम होता है, परन्तु तनिक-सा विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः यहाँ इन दृष्टान्तों द्वारा जगत् के निमित्त तथा उपादानकारणों का अलग-अलग होना ही बताया गया है। इस मन्त्र में आये **'यथा' 'तथा'** और **'सतः पुरुषात्'** पदों पर ध्यान देने पर यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। मन्त्र में कहा गया है कि 'जैसे मकड़ी तन्तुजाल को बनाती और संहारती है 'वैसे ही' ब्रह्म से जगत् का प्रादुर्भाव होता है।' मकड़ी तन्तुजाल को कैसे बनाती है ? यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि मकड़ी से तन्तुजाल तभी तक बनता है जब तक वह जीवित रहती है। न मृत शरीर से तन्तुजाल बनते देखा गया है और न शरीर से निकलने के बाद शरीररहित आत्मा को कहीं जाल बनाते देखा गया है। स्पष्ट है कि मकड़ी की चेतना स्वयं तन्तुजाल में परिणत नहीं होती, चेतना के वहाँ रहते प्राकृत देह के अवयव ही तन्तुजाल में परिणत होते रहते हैं। इस प्रकार तन्तुजाल की उत्पत्ति में मकड़ी का शरीर जड़ उपादान और उसमें व्याप्त जीवात्मा निमित्तकारण है। वैसे ही ब्रह्म अपने भीतर व्याप्त सूक्ष्मभूत प्रकृति (हिरण्यगर्भ=गर्भ में प्रकृति को धारण करनेवाला) से अपने ईक्षण द्वारा स्थूल सृष्टि की रचना करता है। यह परमात्मा की विशेषता है कि जहाँ अन्य निमित्तकारण (मनुष्यादि) रचना करके अपनी रचना से पृथक् हो जाते हैं, वहाँ परमात्मा अपनी रचना में व्याप्य-व्यापक भाव से सदा वर्तमान रहता है। दूसरा दृष्टान्त पृथिवी से ओषधि आदि की उत्पत्ति से सम्बन्धित है। यहाँ भी यह स्पष्ट है कि ओषधि-वनस्पति आदि के उपादानतत्त्व उनके बीज होते हैं। पृथिवी का आश्रय पाकर ऊष्मा, जल आदि के निमित्त से वे बीज ही अंकुरित होते हैं। न बिना बीज के वनस्पति आदि की उत्पत्ति होती है और न पृथिवी, जल आदि के बिना। तीसरा दृष्टान्त यह है कि **'यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि'** जैसे पुरुष के रहते केशलोमादि प्रकट होते हैं। देहावयव ही केश, नख आदि के रूप में परिणत होने से ये सब देह के विकार हैं, देह में बैठे जीवात्मा के नहीं। **'सतः पुरुषात्'** कहने से बिल्कुल स्पष्ट है कि देह से केशादि का प्रादुर्भाव तभी तक सम्भव है जब तक देह में जीवात्मा अधिष्ठित है। मृत देह से कुछ नहीं निकलता।

इस सन्दर्भ का प्रत्येक दृष्टान्त इस तथ्य की पुष्टि करता है कि न चेतन तत्त्व स्वतः किसी रूप में परिणत होता है और न चेतन तत्त्व की प्रेरणा के बिना जड़ प्रकृति कार्यरूप में परिणत होती है। परमात्मा इन्द्रियातीत, अव्यय, अपरिणामी तथा अदृश्य है। उपादानकारण अव्यय, अपरिणामी नहीं होता। कार्यरूप में आते ही वह दृश्य आदि धर्मवाला हो जाता है। प्रकृति में ऐसा सम्भव होने से वही जगत् का उपादान कारण है। ब्रह्म ऐसा कभी नहीं हो सकता, अतः वह केवल निमित्तकारण है।

आदावन्ते—प्रथम तो जो प्रत्यक्ष है, जिसे प्रमाता प्रमाणों से जानता और प्राप्त होता है, वह अन्यथा

https://t.me/arshlibrary

'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' ॥ —यह माण्डूक्योपनिषद् पर कारिका ३१ है। जो प्रथम न हो, अन्त में न रहे, वह वर्त्तमान में भी नहीं है ॥

किन्तु सृष्टि की आदि में जगत् न था, ब्रह्म था। प्रलय के अन्त में संसार न रहेगा और केवल ब्रह्म रहेगा। तो वर्त्तमान में सब जगत् ब्रह्म क्यों नहीं ?

उत्तर—जो तुम्हारे कहने के अनुसार जगत् का उपादानकारण ब्रह्म होवे, तो वह परिणामी, अवस्थान्तरयुक्त, विकारी हो जावे और उपादानकारण के गुण-कर्म-स्वभाव कार्य में आते हैं—

'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः' ॥ —वैशेषिक सू० २।१।२४

उपादानकारण के सदृश कार्य में गुण होते हैं।

नहीं हो सकता। वर्तमान में जगत् का अस्तित्व है—यह प्रत्यक्ष होने से स्वतः सिद्ध है। यदि कोई पदार्थ वर्त्तमान में है ही नहीं तो उसके विषय में यह कैसे कहा जा सकता है कि वह पहले नहीं था या फिर नहीं रहेगा। उसके पहले न होने या फिर न रहने की उक्ति ही इस बात का प्रमाण है कि वह इस समय है। 'यहाँ घड़ा नहीं था और कुछ समय बाद नहीं रहेगा' कहने से स्पष्ट है कि वह इस समय यहाँ हैं। यह ठीक है कि संयोगज पदार्थ संयोग से पहले नहीं होता और वियोग के बाद नहीं रहता, किन्तु संयोग होता ही विद्यमान सत् पदार्थों का है, अभाव का नहीं। जो पदार्थ है ही नहीं उसके संयोग अथवा वियोग का प्रश्न ही नहीं उठता। ईश्वर के सामर्थ्य में जगत् पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा। यह अवश्य है कि सृष्टि से पूर्व प्रलय-काल में और सृष्टि के अन्त अर्थात् प्रलयकाल आरम्भ होने से जब तक पुनः सृष्टिरचना न होगी तब तक उपादाकारण प्रकृति के साम्यावस्था में रहने से वह उसकी अव्यक्त दशा है, जबकि वर्त्तमान में वह व्यक्त है।

प्रत्यक्ष का अपलाप नहीं हो सकता। मैं आज से ८० वर्ष पूर्व नहीं था और एक दिन ऐसा भी आएगा जब मैं नहीं रहूँगा। इसलिए यह कौन मान सकता है कि मैं आज भी नहीं हूँ। कार्य और कारण दोनों के सत्य होने पर भी कार्य की अपेक्षा कारण अधिक सत्य और स्थायी होता है। निमित्तकारण के रूप में नित्य, किन्तु अपरिणामी, परमेश्वर तथा उपादानकारण के रूप में नित्य, किन्तु परिणामी, प्रकृति की अपेक्षा से नित्य परिवर्तनशील नामरूपात्मक जगत् को मिथ्या कहा जा सकता है, किन्तु यह कथन मात्र औपचारिक होगा, वास्तविक नहीं। आनुभविक जगत् अपने आप में सत् होते हुए भी ब्रह्म की तुलना में या उसकी अपेक्षा से असत् या अयथार्थ अथवा **'श्वोभावः'** कह दिया जाता है।

कारणगुणपूर्वकः—कारण के गुण के अनुरूप ही कार्य में गुण देखे जाते हैं। दाल को चटपटा बनाने के लिए दाल में मिर्च डाली जाती है, क्योंकि उसमें चटपटापन है। हलवे को मीठा बनाने के लिए उसमें चीनी डाली जाती है, क्योंकि उसमें मिठास होती है। सोने का टुकड़ा मिट्टी के घड़े का कारण नहीं बन सकता। पानी को कितना भी बिलोएँ, उसमें से मक्खन नहीं निकल सकता। जो गुण कारण में नहीं हैं, यदि वे कार्य में आ जाएँ तो कार्य की उत्पत्ति के लिए किसी नियत कारण की अपेक्षा न हो। यह असत् से सत् की उत्पत्ति के समान होगा, किन्तु यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं कि कोई वस्तु अपने से सर्वथा भिन्न गुणवाली वस्तु के रूप में परिणत हो सके। न यथार्थ का कारण अयथार्थ हो सकता है और न अयथार्थ का कारण यथार्थ। सत्य ब्रह्म से मिथ्या जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। ईश्वर जगत् का उपादानकारण नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों के स्वभाव में अन्तर है, अर्थात् कारण और कार्य एक दूसरे से विलक्षण हैं। जगत् अशुद्ध एवं अधार्मिक है, इसलिए **शुद्धमपापविद्धिम्** ब्रह्म उसका उपादान नहीं हो

https://t.me/arshlibrary

तो ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप, जगत् कार्यरूप से असत्, जड़ और आनन्दरहित। ब्रह्म अज और जगत् उत्पन्न हुआ है। ब्रह्म अदृश्य और जगत् दृश्य है। ब्रह्म अखण्ड और जगत् खण्डरूप है। जो ब्रह्म से पृथिव्यादि कार्य उत्पन्न होवें, तो पृथिव्यादि कार्य्य के जड़ादि गुण ब्रह्म में भी होवें, अर्थात् जैसे पृथिव्यादि जड़ हैं, वैसा ब्रह्म भी जड़ हो जाए और जैसा परमेश्वर चेतन है, वैसा पृथिव्यादि कार्य भी चेतन होना चाहिए।

और जो मकरी का दृष्टान्त दिया, वह तुम्हारे मत का साधक नहीं किन्तु बाधक है, क्योंकि वह जड़रूप शरीर तन्तु का उपादान और जीवात्मा निमित्तकारण है और यह भी परमात्मा की अद्भुत रचना का प्रभाव है, क्योंकि अन्य जन्तु के शरीर से जीव तन्तु नहीं निकाल सकता। वैसे ही व्यापक ब्रह्म ने अपने भीतर व्याप्य प्रकृति और परमाणु कारण से स्थूल जगत् को बनाकर, बाहर स्थूलरूप कर आप उसी में व्यापक होके साक्षीभूत आनन्दमय हो रहा है।

और जो परमात्मा ने **'ईक्षण'** अर्थात् दर्शन=विचार और कामना की कि मैं सब जगत् को बनाकर प्रसिद्ध होऊँ, अर्थात् जब जगत् उत्पन्न होता है, तभी जीवों के विचार-ज्ञान-ध्यान-उपदेश-श्रवण में परमेश्वर प्रसिद्ध, और बहुत स्थूल पदार्थों में सह वर्त्तमान होता है। जब प्रलय होता है, तब परमेश्वर और मुक्त लोगों को छोड़के उसको कोई नहीं जानता।

और जो वह कारिका है, वह भ्रममूलक है, क्योंकि प्रलय में जगत् प्रसिद्ध नहीं था। और सृष्टि के अन्त अर्थात् प्रलय के आरम्भ से जब तक दूसरी वार सृष्टि न होगी, तब तक भी जगत् का कारण सूक्ष्म होकर अप्रसिद्ध रहता है। क्योंकि—

'तम॑ आसी॒त्तम॑सा गू॒ळ्हमग्रे॑' ॥१॥

—यह ऋग्वेद १०।१२९।३ का वचन है॥

सकता। शंकर का कहना है कि अचेतन पदार्थ चेतन प्राणियों से जन्म लेते हैं, जैसे केश और नाखून चेतन मनुष्य से जन्म लेते हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि केश, नख आदि के रूप में देहावयव ही परिणत होते हैं, चेतन जीवात्मा नहीं।

किसी कार्य के प्रादुर्भाव के लिए किन्हीं नियत वस्तुओं का उपादान होने से यह प्रमाणित होता है कि कार्य की उत्पत्ति से पूर्व हम उनमें नियत कार्य के उत्पाद की क्षमता स्वीकार करते हैं। यदि ऐसा न माना जाए तो वस्त्र-निर्माण के लिए तन्तुओं का ग्रहण न किया जाए। फलतः कार्य-कारण-भाव-सम्बन्ध के लिए यह व्यवस्था है कि कारण-वस्तु के न रहने पर कार्य का होना सम्भव नहीं। कार्य को उसकी उत्पत्ति से पूर्व 'असत्' कहना उसके अत्यन्त सत्त्व का द्योतक नहीं है। केवल नाम और रूप के अव्यक्त होने से ऐसा कहा जाता है। यदि दूध में दही बनने की या मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता न हो तो कोई उनसे दही या घड़ा बनाने का प्रयास क्यों करे? वस्तुतः घड़े के बनने का ज्ञान कुम्हार की बुद्धि में सदा वर्त्तमान रहता है और कारण-तत्वों में कार्योत्पाद की क्षमता बराबर बनी रहती है।

तम आसीत्—जब तक सृष्टि उत्पन्न नहीं होती तब तक सूक्ष्मरूप होने के कारण अव्यक्त अथवा अदृश्य रहती है। प्रकृति का त्रिगुणात्मक अर्थात् कारणरूप में सदा विद्यमान रहना **'सद्रूप'** कहाता है और कार्यरूप में न रहना **'असद्रूप'**। ऋग्वेद में उस अवस्था का वर्णन **'तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे'** कहकर किया है। प्रलय दशा में (अग्रे) मूलकारण (तमः) अन्धकार से (तमसा) आवृत्त (गूढम्) रहता है। उस अवस्था में दृश्यादृश्य जगत् प्रत्येक चिह्न से रहित कारण के साथ अविभागापन्न रहता है। दूसरे शब्दों में

https://t.me/arshlibrary

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥२॥ —मनु० १।५॥

यह सब जगत् सृष्टि के पहिले प्रलय में अन्धकार से आवृत=आच्छादित था, और प्रलयारम्भ के पश्चात् भी वैसा ही होता है। उस समय न किसी के जानने, न तर्क में लाने, और न प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य था और न होगा, किन्तु वर्तमान में जाना जाता है, और प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त जानने के योग्य होता और यथावत् उपलब्ध है ॥१,२॥

पुनः उस कारिकाकार ने वर्त्तमान में भी जगत् का अभाव लिखा, सो सर्वथा अप्रमाण है, क्योंकि जिसको प्रमाता प्रमाणों से जानता और प्राप्त होता है, वह अन्यथा कभी नहीं हो सकता।

[सृष्टि-रचना का प्रयोजन]

प्रश्न—जगत् के बनाने में परमेश्वर का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—नहीं बनाने में क्या प्रयोजन है ?

प्रश्न—जो न बनाता तो आनन्द में बना रहता और जीवों को भी सुख-दुःख प्राप्त न होता।

उत्तर—यह आलसी और दरिद्र लोगों की बातें हैं, पुरुषार्थी की नहीं और जीवों को प्रलय में क्या सुख वा दुःख है ? जो सृष्टि के सुख-दुःख की तुलना की जाए, तो सुख कई गुना अधिक होता और बहुत-से पवित्रात्मा जीव मुक्ति के साधन कर मोक्ष के आनन्द को भी प्राप्त होते हैं। प्रलय में निकम्मे जैसे सुषुप्ति में पड़े रहते हैं, वैसे रहते हैं। और प्रलय के पूर्व सृष्टि में जीवों के किये पाप-पुण्य कर्मों का फल ईश्वर कैसे दे सकता, और जीव क्योंकर भोग सकते ?

प्रलयदशा में कार्य का अस्तित्व न रहकर केवल कारणतत्त्व अवस्थित रहता है। ऋग्वेद (नासदीय सूक्त) के इसी भाव का विशदीकरण मनुस्मृति में इस प्रकार किया है—

आसीदिदं तमोभूतम्—सृष्टि से पूर्व यह जगत् कारणरूप होने से ज्ञेय नहीं थ, परन्तु यदि कुछ न होता तो कालान्तर में कहाँ से आ जाता ? कारणरूप में तत्त्वतः विद्यमान था। **'प्रसुप्तमिव'**—तुलना करें—

In solitude where Being signless dwelt,
And all the universe still dormant lay,
In selfishness one Being was exempt,
From I or thouness, and apart from all duality.

—Encyclopaedia of Religion and Ethics, P. 16-17

सृष्टिरचना का प्रयोजन—संसार में प्रत्येक वस्तु या घटना का कोई प्रयोजन होता है। विश्व की रचना विविध रूपों में है और सबका एक विशिष्ट प्रयोजन है, भले ही हम उसे समझ न पाएँ। प्रयोजन ही नियमों को सार्थक बनाता है। वस्तुतः प्रयोजन का निश्चय हो जाने पर ही तदर्थ अपेक्षित नियम बनते हैं।

प्रयोजन का तात्पर्य है—अर्थ, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ किसी उपयोग के लिए बना है। मनुष्यों के नेत्रों का अर्थ है देखना। यदि बाहर पदार्थ न होते तो नेत्रों का होना व्यर्थ था। यदि कोई देखनेवाला न होता या देखने के लिए आँखें न होतीं तो पदार्थों का होना व्यर्थ था। इस प्रकार शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध न

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

जो तुमसे कोई पूछे कि आँख के होने में क्या प्रयोजन है ? तो तुम यही कहोगे कि देखना । तो जो ईश्वर में जगत् की रचना करने का विज्ञान, बल और क्रिया है, उसका क्या प्रयोजन ? विना जगत् की उत्पत्ति करने के दूसरा कुछ भी न कह सकोगे ? और परमात्मा के न्याय, धारण, दया आदि गुण भी तभी सार्थक हो सकते हैं, जब जगत् को बनावे । उसका अनन्त सामर्थ्य जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय और व्यवस्था करने ही से सफल है । जैसे नेत्र का स्वाभाविक गुण देखना है, वैसे परमेश्वर का स्वाभाविक गुण जगत् की उत्पत्ति करके सब जीवों को असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना है ।

होते तो उनकी ग्राहक इन्द्रियों नेत्र, श्रोत्र, त्वक्, रसना, घ्राण आदि का होना व्यर्थ था । इन्द्रियों के अभाव में इन्द्रियार्थ का होना निष्फल था ।

प्रयोजन कामनामूलक होता है । ब्रह्म में किसी प्रकार की अपूर्णता नहीं है । जगद्रचना में ईश्वर का कोई स्वार्थ सम्भव नहीं, क्योंकि शास्त्र में उसे आप्तकाम एवं आनन्दस्वरूप कहा गया है । इसलिए उसके किसी निजी प्रयोजन को खोजना उसकी पूर्णता को चुनौती देना है । **'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः'** को फलोपभोग की अपेक्षा नहीं । उसके लिए जगत् किस काम का ? इन्द्रियविहीन प्रकृति परार्थ है, क्योंकि अचेतन प्रकृति स्वयं अपना भोग्य नहीं हो सकती । तब परमात्मा से भिन्न चेतन सत्ता जीव राज्य सञ्चालन के लिए अपेक्षित व्यवस्थाएँ करता है, उसी प्रकार परमेश्वर प्राणियों के हिताहित का विचार करके के लिए ही भोग्य अपेक्षित है । जीवात्मा संसार में आकर अपने भोग और अपवर्ग का सम्पादन करता है । जड़ प्रकृति में यह सामर्थ्य नहीं कि वह असंख्य जीवों के हिताहित का विचार करके तदनुसार अपने को प्रवृत्त कर सके । अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति जीव भी इसकी व्यवस्था करने में असमर्थ है । इसलिए जैसे राजा अपनी प्रजा के हिताहित का विचार करके, सृष्टि निर्माण की व्यवस्था करता है । इसी प्रकार परमेश्वर द्वारा सृष्टिरचना का प्रयोजन जीवों के पूर्वजन्मों में किये कर्मों के फलोपभोग तथा मोक्षलाभ के लिए समुचित व्यवस्था करना है । परमेश्वर का यह कार्य उसकी स्वभावगत विशेषता है । इसमें कभी कोई अन्तर या विपर्यास आने की सम्भावना नहीं है । सृष्टिरचना के द्वारा ही परमात्मा का बोध होता है और इस बोध के द्वारा ही जीव जन्म-मरण के बन्धन से छूटकर मोक्षलाभ करता है ।

ग्रन्थकार ने सृष्टिरचना का एक उद्देश्य परमात्मा के दया, न्याय आदि गुणों की सार्थकता बताया है, परन्तु संसार में व्याप्त दुःख को देखते हुए यह कैसे माना जा सकता है कि परमात्मा ने जीवों पर कोई अनुग्रह किया है । यदि जीवात्माओं के हित और उनपर दया के प्रयोजन से ईश्वर जगत् की रचना करता तो उसे सुखमय बनाता, पर आनन्दस्वरूप परमेश्वर द्वारा निर्मित संसार अनेकविध दुःखों का घर है । उसमें सुख कहाँ है ? जिधर देखो, दुःख-ही-दुःख है । यह कैसी दया है ? **'शरीरं व्याधिमन्दिरम्'**—जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त दुःख-ही-दुःख भोगने पड़ते हैं । सारा जीवन त्रिविध (आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक) दुःखों से छुटकारा पाने के प्रयास में ही बीत जाता है—**'त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त-पुरुषार्थः'** (सांख्य १।१) । दुःख न होता तो कपिलमुनि ऐसी बात क्यों कहते ? एक दुःख से मनुष्य छूट नहीं पाता कि दूसरा मुँह बाये सामने आ खड़ा होता है—

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य ।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे छिद्रेष्वनर्थाः बहुली भवन्ति ॥

—हितोपदेश १।१६३

बौद्धमत में विश्व के आधारभूत पाँच स्कन्ध माने गये हैं—संज्ञा, रूप, विज्ञान, वेदना और संस्कार ।

https://t.me/arshlibrary

[कारण सदा कार्य से पूर्व होता है]

प्रश्न—बीज पहले है, वा वृक्ष

उत्तर—बीज, क्योंकि बीज, हेतु, निदान, निमित्त और कारण इत्यादि शब्द एकार्थवाचक हैं। कारण का नाम बीज होने से [वह] कार्य के प्रथम ही होता है।

ये पाँचों स्कन्ध दुःखात्मक हैं, इसलिए बौद्ध और बौद्धों की भाँति अनेक सम्प्रदाय और उनके प्रवर्त्तक संसार को दुःखरूप मानकर इससे पलायन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करते हैं।

वस्तुतस्तु यह विचार एकान्तिक है। आनन्दस्वरूप की कृति—सृष्टि में दुःख-ही-दुःख हो, सुख कहीं हो ही नहीं, यह कैसे सम्भव है ? दुःख के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता है, परन्तु सुख-दुःख के सापेक्ष होने से सुख का अस्तित्व माने बिना दुःख की कल्पना नहीं की जा सकती। मनुष्य का स्वभाव है कि वह सुख को बड़ी जल्दी भूल जाता है, जबकि दुःख की स्मृति देर तक बनाए रखता है। सुख में बीते महीने क्षणभर में बीत गये लगते हैं, किन्तु दुःख की रात बहुत लम्बी जान पड़ती है। वस्तुतः संसार में सुख-दुःख दोनों हैं। सुख भोग में भी है और अपवर्ग में भी। भोगरूप सुख में दुःख का सम्मिश्रण रहता है, जबकि अपवर्ग का सुख विशुद्ध आनन्दमय है, अतः अपवर्ग की अपेक्षा भोग हेय है और भोग की अपेक्षा अपवर्ग ग्राह्य है। भोग को अपवर्ग के साधन के रूप में अपनानेवाले के लिए संसार दुःखरूप नहीं रह जाता। दुःख का कारण संसार नहीं, अपितु उसके यथार्थ स्वरूप को न समझना है। परमात्मा ने तो अनन्त विभूतियाँ जीवात्मा के लिए प्रस्तुत कर दी हैं। आत्मा का यह अपना प्रयास है कि वह उनका सदुपयोग करे या दुरुपयोग। सुख-दुःख तो आत्मा की अपनी कमाई है। उसे ब्रह्म पर आरोपित करना अपने आपको धोखे में रखना है। जगत् की रचना का प्रयोजन तो प्राणियों पर अनुग्रह ही है।

जीवात्मा की संसार में प्रवृत्ति होने से भी संसार दुःखरूप नहीं है। प्रत्येक प्राणी सुख जानकर उसमें प्रवृत्त होता और दुःख जानकर उससे विरत होता है—**'दुःखादुद्विजते लोकः सर्वस्य सुखमीप्सितम्'**। संसार में जीवों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दीख पड़ती है। कोई भी व्यक्ति संसार को छोड़ना नहीं चाहता। अत्यन्त दुःखी और जीवन से निराश व्यक्ति भी यहाँ बना रहना चाहता है। **'अहो महीयसी जन्तोर्जीविताशा बलीयसी'**—जीवों में जीने की आशा बड़ी बलवती होती है। किसी विद्वान् ने तो यहाँ तक कह दिया कि मनुष्य इन्द्रपद के बदले भी शरीर का त्याग करना नहीं चाहता—**'देही देहं त्यक्त्वा ऐन्द्रपदमपि न वाञ्छति'**। जहाँ शरीर दुःखों का कारण है, वहाँ सुख और आनन्द की प्राप्ति का भी साधन है। मानवशरीर प्राप्त होने पर ही जीवात्मा उन साधनों का अनुष्ठान करने में समर्थ होता है, जिनके फलस्वरूप आनन्द की प्राप्ति सम्भव है। यदि संसार में दुःख-ही-दुःख होता तो उसमें किसी की प्रवृत्ति क्यों होती ? किन्तु हम देखते हैं कि मनुष्य अधिक-से-अधिक काल तक संसार के पदार्थों का उपभोग करते रहने के उद्देश्य से अपने आयुष्य को बढ़ाने, शरीर को स्वस्थ रखने तथा सुखोपभोग की सामग्री जुटाने के लिए अपेक्षित साधनोपायों के चिन्तन में सदा प्रवृत्त रहता है। **'जीवेम शरदः शतम्'** से सन्तुष्ट न होकर **'भूयश्च शरदः शतात्'**—सौ वर्ष से भी अधिक काल तक जीते रहने की कामना करता है। मरणासन्न अवस्था को प्राप्त होने तथा असह्य कष्ट को अनुभव करते हुए भी येन-केन-प्रकारेण मौत को भगाकर कुछ और समय तक यहाँ बने रहने के लिए हाथ-पैर मारता है। ऐसा क्यों ? इसलिए कि उसे विश्वास है कि संसार में दुःख की तुलना में सुख की मात्रा कहीं अधिक है।

बीज पहले—कुछ ऐसे सिद्धान्त होते हैं जो सर्वमान्य होने से बिना ननु-नच के स्वीकार कर लिये

https://t.me/arshlibrary

[सर्वशक्तिमान्' का वास्तविक अर्थ]

प्रश्न—जब परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है तो वह कारण और जीव को भी उत्पन्न कर सकता है। जो नहीं कर सकता तो सर्वशक्तिमान् भी नहीं रह सकता।

जाते हैं। 'कारण पहले होता है, कार्य पीछे' एक ऐसा ही सिद्धान्त है। इसी को इस रूप में भी कह सकते हैं कि बीज पहले होता है, वृक्ष उसके बाद में। हम अपने सामने पेड़ से बीज और बीज से पेड़ होता देखते हैं। तब इनमें से पहले किसको कहें और पीछे किसको ? सर्ग के आदि में सबसे पहले एक पीपल के पेड़ ने भूमि को फोड़कर जन्म लिया। कालान्तर में बड़ा हो जाने पर उसपर फल लगे। उनसे अनेक पीपल के पेड़ पैदा हुए और इस प्रकार **साजात्य** प्रजनन की प्रक्रिया चालू हो गयी। प्रश्न यह है कि सबसे पहले पीपल का पेड़ किस बीज से पैदा हुआ होगा, क्योंकि उससे पहले पीपल का पेड़ न होने से बीज कहाँ से आया ? तब यही कहना होगा कि सबसे पहला पीपल बिना बीज के पैदा हुआ था, किन्तु बिना बीज के अंकुर नहीं उग सकता—कारण के बिना कार्य कैसे हो सकता है ? फिर सबसे पहले उगनेवाले पीपल का बीज कैसे बना और किसने बनाया ?

एक बात निश्चित है कि पीपल का पेड़ सन्तति—प्रजनन के लिए जो बीज देता है, उनमें अंकुर को उत्पन्न करनेवाले सब तत्त्व प्रकृति से आते हैं। ये तत्त्व प्रकृति में सदा से विद्यमान रहते हैं। जब तक चालू सर्गकाल की प्रक्रिया आरम्भ नहीं होती तब तक प्रकृति के नियम व व्यवस्था उस प्रक्रिया को स्वतः पूरा करते हैं। सबसे पहले उगनेवाले पीपल के बीज का निर्माण ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार प्रकृति के गर्भ में स्वतः होता है। बीज के अन्दर अंकुरप्रजननशक्ति जिन भौतिक अथवा प्राकृत तत्त्वों में आहित है, उन तत्त्वों का विश्लेषण करके उन्हें पहचानने में हम भले ही सफल हो जाएँ, पर उन तत्त्वों को अपेक्षित मात्रा में संकलित करके अंकुरोत्पादनशक्तिसम्पन्न बीज का निर्माण करने में सर्वथा असमर्थ हैं। वे अंकुरजनक भौतिक तत्त्व जब प्रकृतिगर्भ में संकलित हुए होंगे तब एक खोल में संपिण्डित जैसे रहे होंगे। अंकुरजनन की अनुकूल अवस्था आने तक प्रकृति द्वारा उनका पोषण होता रहा। जब वह अवस्था पूर्णता को पहुँच गयी, तब खोल फटा और अंकुर ने धीरे-धीरे भूमि में से सिर बाहर निकाला। हो सकता है उस बीज की संरचना कुछ ऐसी ही रही हो, जैसी आज वृक्ष से प्राप्त होनेवाले बीज की होती है। इस सन्दर्भ में गीता के निम्न दो श्लोक द्रष्टव्य हैं—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवं सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ १४।३-४

भाषार्थ—मेरे अधीन उपादानकारण जो प्रकृति है, उसमें मैं गर्भधारण करता हूँ। सब प्राणियों की उत्पत्ति उसी से होती है। सब योनियों में जो मूर्त्तियाँ होती हैं, प्रकृति उनका उपादानकारण है और मैं बीज डालनेवाला पिता हूँ। यहाँ **'महद् ब्रह्म'** प्रकृति का वाचक है। राधाकृष्णन का यह कहना सर्वथा उपयुक्त है—'महद् ब्रह्म' or 'Prakriti is my womb'.

इस प्रकार अमैथुनी सृष्टि में परमेश्वर ही प्राकृत तत्त्वों से बीजों का निर्माण करता है। मैथुनी सृष्टि में उन बीजों से उत्पन्न पेड़ों से प्राप्त होनेवाले बीजों से पेड़ पैदा होने लगते हैं। इस प्रकार ग्रन्थकार का वृक्ष से पहले बीज के होने की बात कहना विज्ञानसम्मत एवं तर्कसंगत है।

सर्वशक्तिमान्—परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता पर इससे पूर्व सप्तम समुल्लास में भी विचार हो चुका

https://t.me/arshlibrary

उत्तर—'सर्वशक्तिमान्' का शब्दार्थ पूर्व लिख आये हैं, परन्तु क्या 'सर्वशक्तिमान्' वह कहाता है कि जो असम्भव बात को भी कर सके ? जो कोई असम्भव बात अर्थात् जैसे कारण के विना कार्य को कर सकता है, तो विना कारण दूसरे ईश्वर की उत्पत्ति कर, और स्वयं मृत्यु को प्राप्त, जड़, दुःखी, अन्यायकारी, अपवित्र और कुकर्मी आदि हो सकता है वा नहीं ? जो स्वाभाविक नियम अर्थात् जैसा अग्नि उष्ण, जल शीतल और पृथिव्यादि सब जड़ों को विपरीत गुणवाले ईश्वर भी नहीं कर सकता। और ईश्वर के नियम सत्य और पूरे हैं, इसलिए परिवर्त्तन नहीं कर सकता। इसिलए **'सर्वशक्तिमान्'** का अर्थ इतना ही है कि परमात्मा विना किसी की सहाय के अपने सब कार्य पूर्ण कर सकता है।

[ईश्वर निराकार है, साकार नहीं]

प्रश्न—ईश्वर साकार है, वा निराकार ? जो निराकार हो तो विना हाथ आदि साधनों के जगत् को न बना सकेगा और साकार है, तो कोई दोष नहीं आता।

है। पौराणिकमतावलम्बी ईश्वर के सर्वशक्तिमान् होने का अर्थ **'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्'** समर्थ मानते हैं। उनकी देखा-देखी कुरानी तथा किरानी भी वैसा ही मानने लगे। जब ईसाई या मुसलमान ईसामसीह या मुहम्मद साहब पर ईमान लाने की बात करते हैं तो इसका तात्पर्य यह होता है कि पैग़म्बर के सिफारिश करने पर खुदा ईमानवालों के गुनाह माफ़ कर देता है, क्योंकि वह जो चाहे कर सकता है—वह गुनहगारों को माफ़ भी कर सकता है और बेगुनाहों को सज़ा भी दे सकता है। अहमदी या क़ादियानी सम्प्रदाय के इमाम साहब का कहना था कि जब हम मामूली इन्सान किसी की ग़लती को माफ कर सकते हैं तो 'अल्लाहो अकबर'—हमसे बड़ा खुदा क्यों नहीं कर सकता ? वे यह नहीं समझते कि ईश्वर का बड़प्पन क़ानून—सृष्टि के नियमों को तोड़ने में नहीं, बल्कि स्वयं उनका पालन करने और दूसरों से पालन करवाने में है। यदि नियामक ही नियमों का उल्लंघन करने लगे तो वह नियामक क्हाँ रहा ? ऐसी स्थिति में Cosmos के स्थान पर बहुत बड़ा Chaos उपस्थित हो जाएगा।

सृष्टि के आदि में स्वयं ईश्वर ने जो संविधान बना दिया, उसका उल्लंघन न स्वयं ईश्वर कर सकता है और न उसकी प्रजा। परमेश्वर कोई मदारी या जादूगर नहीं है, जो दिन को रात बना दे और रात को दिन या अमृत को विष बना दे और विष को अमृत। सृष्टिक्रम या स्वनिर्मित संविधान के विपरीत कुछ भी कर सकने में वह सर्वथा असमर्थ है।

निराकार द्वारा सृष्टिरचना—अनन्त विश्व की रचना करनेवाला निराकार ही सम्भव है। जहाँ ईश्वर को निराकार माना गया है वहाँ उसे सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् भी कहा गया है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है सर्वशक्तिमान् का इतना ही तात्पर्य है कि संविधान के अन्तर्गत जगद्रचना का जो कार्य वह करता है, उसके करने में वह अन्य किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता। वह अपने असीम सामर्थ्य द्वारा मूल उपादान जड़ प्रकृति को प्रेरित करता है। उसकी अनन्त सामर्थ्ययुक्त व्यवस्था सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों में सर्वत्र व्याप्त है। अल्पज्ञ, अल्पशक्ति जीवात्मा को किसी कार्य को सम्पन्न करने के लिए अन्तरंग साधन— करण (मन,बुद्धि आदि) तथा बाह्य साधन देह एवं देहावयवों की अपेक्षा होती है। इसलिए लोक में देखी गयी स्थूल व्यवस्था के अनुसार ऐश्वरी सृष्टि के विषय में ऊहा करना उपयुक्त नहीं होगा।

यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए तो जीवात्मा द्वारा की जानेवाली प्रेरणाओं में उस स्थिति को पकड़ा जा सकता है, जहाँ किसी साकार सहयोग की अपेक्षा नहीं जानी जाती। कल्पना कीजिए आप कुर्सी पर बैठे हैं, मेज आपके सामने है, मेज पर आपका हाथ निश्चेष्ट रक्खा हुआ है, उससे कुछ दूर मेज के

https://t.me/arshlibrary

उत्तर—ईश्वर निराकार है। जो साकार अर्थात् शरीरयुक्त है वह ईश्वर नहीं, क्योंकि वह परिमित शक्तियुक्त, देश-काल वस्तुओं में परिच्छिन्न, क्षुधा-तृषा, छेदन-भेदन शीतोष्ण ज्वर-पीड़ादि सहित होवे। उसमें जीव के विना ईश्वर के गुण कभी नहीं घट सकते। जैसे तुम और हम साकार अर्थात् शरीरधारी हैं, इससे त्रसरेणु-अणु-परमाणु और प्रकृति को अपने वश में नहीं ला सकते हैं, वैसे ही स्थूल देहधारी परमेश्वर भी उन सूक्ष्म पदार्थों से स्थूल जगत् नहीं बना सकता। जो परमेश्वर भौतिक इन्द्रियगोलक, हस्तपादादि अवयवों से रहित है, परन्तु उसकी अनन्त शक्ति, बल, पराक्रम हैं। [वह] उनसे सब काम करता है, जो जीव और प्रकृति से कभी न हो सकते। जब वह प्रकृति से भी सूक्ष्म और उनमें[1] व्यापक है, तभी उनको पकड़कर जगदाकार कर देता है।

प्रश्न—जैसे मनुष्यादि के माँ-बाप साकार है, उनका सन्तान भी साकार होता है, जो ये निराकार होते, तो इनके लड़के भी निराकार होते। वैसे परमेश्वर निराकार हो ते उसका बनाया जगत् भी निराकार होना चाहिए।

उत्तर— यह तुम्हारा प्रश्न लड़के के समान है, क्योंकि हम अभी कह चुके हैं कि परमेश्वर जगत् का उपादानकारण नहीं, किन्तु निमित्तकारण है और जो स्थूल[2] होता है, वह प्रकृति और परमाणु जगत् का उपादानकारण है और वे सर्वथा निराकार नहीं, किन्तु परमेश्वर से स्थूल और अन्य कार्य से सूक्ष्म आकार रखते हैं।

[असम्भव कार्य ईश्वर भी नहीं कर सकता]

प्रश्न—क्या कारण के विना परमेश्वर कार्य को नहीं कर सकता ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि जिसका अभाव अर्थात् जो वर्तमान नहीं है, उसका भाव=वर्त्तमान होना सर्वथा

कोने पर क़लम रक्खी है, आप उसे उठाकर कुछ लिखना चाहते हैं। आपकी इस इच्छा के साथ ही हाथ में हरकत होती है, वह ऊपर उठता है और अंगुलियों में क़लम पकड़कर फिर पहली जगह आ टिकता है। हाथ में उठने के लिए जो क्रिया हुई, वह एक प्रेरणा का फल है। देह के भीतर बैठे चेतन आत्मा से यह प्रेरणा प्राप्त होती है। प्रेरणा देने की सीमा में चैतन्य के अतिरिक्त किसी अन्य साकार सहयोगी का समावेश नहीं है। यहाँ केवल चेतन आत्मा प्रेरणा कर रहा है, जो निराकार है। इससे स्पष्ट होता है कि चैतन्य एक ऐसा तत्व है जिसे किसी अन्य साकार सहयोगी की अपेक्षा नहीं होती। जीवचेतन की शक्ति जैसे अति सीमित है, ऐसे ब्रह्मचेतन की शक्ति असीमित है। जैसे जीवचेतन देह में प्रेरणा प्रदान करता है, ऐसे परमेश्वर अनन्तसामर्थ्ययुक्त होने से अनन्त विश्व को प्रेरित करता है। फलतः अनन्त विश्व की रचना के लिए निरपेक्ष निराकार चैतन्य सर्वथा सक्षम है।

साकार-निराकार—इस विषय पर सप्तम समुल्लास में विचार हो चुका है।

कारण के बिना कार्य नहीं—वैशेषिकदर्शन का सूत्र है—**'कारणाभावात्कार्याभावः'** (१।२।१)—कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता है, अर्थात् कारण के होने पर ही कार्य की उपलब्धि सम्भव है। कारणविशेष से कार्यविशेष का प्रादुर्भाव होता है। जिसके होने पर कोई कार्य होता है और न होने पर नहीं होता, वह कारण कहाता है। इस नियम के अनुसार कार्य की सम्पन्नता के लिए आवश्यक है कि कारण पहले से

---

१. 'उनमें' अर्थात् सूक्ष्म पदार्थों में।

२. यहाँ प्रकृति को परमात्मा की दृष्टि से स्थूल कहा है, इन्द्रियगोचरता अभिप्रेत नहीं है। देखो—अगला वाक्य।

https://t.me/arshlibrary

असम्भव है। जैसे कोई गपोड़ हाँक दे कि मैंने वन्ध्या के पुत्र और पुत्री का विवाह देखा। वह नरशृंग का धनुष धारण किये और दोनों खपुष्प की माला पहिरे हुए थे। मृगतृष्णिका के जल में स्नान करते, और गन्धर्वनगर में रहते थे। वहाँ बद्दल के विना वर्षा, पृथिवी के विना सब अन्नों की उत्पत्ति आदि होती थी। वैसे ही कारण के विना कार्य का होना असम्भव है। जैसे कोई कहे कि **'मम मातापितरौ न स्तोऽहमेवमेव जातः। मम मुखे जिह्वा नास्ति वदामि च'** अर्थात् मेरे माता-पिता न थे, ऐसे ही मैं उत्पन्न हुआ हूँ। मेरे मुख में जीभ नहीं है, परन्तु बोलता हूँ। बिल में सर्प न था, निकल आया। मैं कहीं नहीं था, ये भी कहीं न थे, और हम सब जने आये हैं। ऐसी असम्भव बात प्रमत्तगीत अर्थात् पागल लोगों की है।

[कारण का कारण नहीं होता]

प्रश्न—जो कारण के विना कार्य नहीं होता, तो कारण का कारण कौन है ?

उत्तर—जो केवल कारणरूप ही हैं, वे कार्य किसी के नहीं होते और जो किसी का कारण और किसी का कार्य होता है, वह दूसरा[1] कहाता है। जैसे पृथिवी घर आदि का कारण और जल आदि का कार्य होता है, परन्तु जो आदिकारण प्रकृति है, वह अनादि है।

मूले मूलाभावादमूलं मूलम् ॥ —सांख्यसू० १।६७

मूल का मूल अर्थात् कारण का कारण नहीं होता। इससे अकारण सब कार्यों का कारण होता है॥

क्योंकि किसी कार्य के आरम्भ समय के पूर्व तीनों कारण अवश्य होते हैं। वैसे कपड़े बनाने के पूर्व तन्तुवाय, रुई का सूत और नलिका आदि पूर्व वर्त्तमान होने से वस्त्र बनता है, जैसे जगत् की उत्पत्ति के पूर्व परमेश्वर, प्रकृति, काल और आकाश तथा जीवों के अनादि होने से इस जगत् की उत्पत्ति होती है। यदि इनमें से एक भी न हो तो जगत् भी न हो।

विद्यमान हो। फलतः कारण वह पदार्थ है जिसका आगे परिवर्तन होता है। परिवर्तन सद्वस्तु में सम्भव है—**'नासतो विद्यते भावः'** (गीता)।

मूले मूलाभावात्—(मूले) मूल में (मूलाभावात्) मूल के अभाव में (अमूलं) मूलरहित है (मूलम्) मूल। कार्य-कारण-सम्बन्ध के लिए आवश्यक है कि कारणवस्तु के न होने पर कार्य होना सम्भव न हो। इसलिए प्रत्येक कार्य का कारण खोजा जाता है, क्योंकि कार्यकारणरूप इस जगत् में प्रत्येक कार्य अपने कारण पर आश्रित है। जो किसी का कारण और किसी का कार्य होता है, वह प्रकृति-विकृति कहाता है। सूत वस्त्र का कारण है, किन्तु रुई का कार्य। इसी प्रकार आटा रोटी का कारण है, किन्तु गेहूँ का कार्य और ईटें मकान का कारण हैं, किन्तु मिट्टी का कार्य। उत्पन्न पदार्थ का कोई उपादान-कारण अवश्य होना चाहिए। इसलिए कार्यजगत् अपने उपादानकारण पार्थिवादि परमाणुओं के अस्तित्व में प्रमाण है। परन्तु जो केवल कारणरूप है वह किसी का कार्य नहीं होता। जो किसी का कारण हो और स्वयं किसी का कार्य, वह मूलकारण नहीं कहाता। भावरूप पदार्थ जिसका कोई कारण न हो, नित्य कहाता है—**'सदकारणवन्नित्यम्'** (वैशे० ४।१।१)। सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था में प्रकृति जगत् का आदि अथवा मूलकारण है। समस्त चराचर **अचेतन** जगत् के मूलकारण सत्त्व-रजस्-तमस् हैं। अखिल विश्व इनका परिणाम है, किन्तु ये किसी का परिणाम नहीं हैं। यदि इनका भी कोई उपादानकारण माना जाएगा तो

१. अर्थात् प्रकृति-विकृति।

https://t.me/arshlibrary

[सृष्टि-रचना-विषयक विविध मतों पर विचार]

अत्र नास्तिका आहुः —

शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य ॥१॥—सांख्यसू० १।४४॥
अभावाद् भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ॥२॥
ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ॥३॥
अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात् ॥४॥
सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ॥५॥
सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् ॥६॥
सर्वं पृथग् भावलक्षणपृथक्त्वात् ॥७॥
सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ॥८॥

—न्यायसू० अ० ४। आह्निक १। सूत्र १४, १६, २२, २५, २६, ३४, ३७, ३६

[शून्य ही एकमात्र पदार्थ नहीं]

यहाँ नास्तिक लोग ऐसा कहते हैं कि—

पहिला नास्तिक —शून्य ही एक पदार्थ है। सृष्टि के पूर्व शून्य था, अन्त में शून्य होगा, क्योंकि जो भाव है अर्थात् वर्त्तमान पदार्थ है, उसका अभाव होकर शून्य हो जाएगा।

उत्तर—शून्य आकाश, अदृश्य, अवकाश और बिन्दु को भी कहते हैं। शून्य जड़ पदार्थ है। इस शून्य में सब पदार्थ अदृश्य रहते हैं। जैसे एक बिन्दु से रेखा, रेखाओं से वर्तुलाकार होने से भूमि पर्वतादि ईश्वर की रचना से बनते हैं और शून्य का जाननेवाला शून्य नहीं होता ॥१॥

उसका भी कोई अन्य उपादान मानना होगा। इस प्रकार इस कारण-परम्परा का कहीं अन्त नहीं होगा और अनवस्थादोष की प्राप्ति होगी। जबकि प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई कारण होता है, प्रकृति का कोई कारण नहीं, क्योंकि सब कार्यों का मूलकारण अकारण होता है।

शून्यं तत्त्वम्—केवल शून्य वस्तुभूत तत्व है, क्योंकि जिस वस्तु का भाव है, जिसको कहा जाता है कि 'यह है' वह सब वस्तुसमूह नाश होनेवाला है, क्योंकि नाश होना वस्तुमात्र का धर्म है। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि आज जो वस्तु है, कल नहीं रहती, होने से पहले भी नहीं थी। इसी तरह आज जो नहीं है, कल होगी, वह भी आगे नहीं रहेगी। प्रत्येक वस्तु अभाव से होकर अभाव में लीन हो जाती है। फलतः अभाव ही वास्तविक तत्त्व है, उसी का नाम शून्य है।

उत्तर—प्रत्येक वस्तु का धर्म है—विनाश होना, यह कथन मिथ्या है। जो वस्तु निरवयव हैं, जिनके उत्पाद या विनाश का कोई कारण नहीं, उनके विनाश की बात सर्वथा निराधार है। कोई घटना बिना कारण हो जाना सम्भव नहीं और प्रत्येक वस्तु की सिद्धि के लिए प्रमाण चाहिए। शून्यमात्र तत्त्व है, इसकी सिद्धि के लिए यदि प्रमाण उपस्थित किया जाता है तो इससे ही शून्यवाद का खण्डन हो जाता है, क्योंकि जो प्रमाण साधक है, वह शून्य नहीं कहा जा सकता। यदि कोई प्रमाण शून्य की सिद्धि में नहीं है तो शून्य स्वतः असिद्ध हो गया। यदि शून्य को स्वतः सिद्ध मानते हो तो जो वस्तु स्वतः सिद्ध है उसका अस्तित्व कर लिया गया। तब वह विनाशशील अभाव या शून्य कैसे होगा ? इसलिए यह कहना कि अभाव से भाव हो जाता है, या सब शून्य है, सर्वथा अप्रामाणिक एवं निराधार है।

https://t.me/arshlibrary

[अभाव से भाव की उत्पनत्ति नहीं होती]

दूसरा नास्तिक —अभाव से भाव की उत्पत्ति है। जैसे बीज का मर्दन किये विना अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता और बीज को तोड़कर देखें, तो अङ्कुर का अभाव है। जब प्रथम अङ्कुर नहीं दीखता था तो अभाव से उत्पत्ति हुई।

उत्तर—जो बीज का उपमर्दन करता है, वह प्रथम ही बीज में था। जो न होता, तो उससे उत्पन्न कभी नहीं होता ॥२॥

[कर्मानुसार ही फल मिलता है]

तीसरा नास्तिक कहता है कि — कर्मों का फल पुरुष के कर्म करने से नहीं प्राप्त होता। कितने ही कर्म निष्फल दीखने में आते हैं। इसलिए अनुमान किया जाता है कि कर्मों का फल प्राप्त होना ईश्वर के अधीन है। जिस कर्म का फल ईश्वर देना चाहे, देता है। जिस कर्म का फल देना नहीं चाहता, नहीं देता। इस बात से कर्मफल ईश्वराधीन है।

उत्तर—जो कर्म का फल ईश्वराधीन हो, तो विना कर्म किये ईश्वर फल क्यों नहीं देता ? इसलिए जैसा कर्म मनुष्य करता है, वैसा ही फल ईश्वर देता है। इससे ईश्वर स्वतन्त्र[1] होकर पुरुष को कर्म का फल नहीं दे सकता, किन्तु जैसा कर्म जीव करता है, वैसा ही फल ईश्वर देता है ॥३॥

दूसरा नास्तिक—अभावाद् भावोत्पत्तिः—(अभावात्) अभाव से (भावोत्पत्तिः) भावपदार्थ की उत्पत्ति होती है (न) नहीं (अनुपमृद्य) उपमर्द—विनाश किये बिना (प्रादुर्भावात्) प्रादुर्भाव से कार्य की उत्पत्ति होने से।

बीज को अंकुर का कारण कहा जाता है, परन्तु जब तक बीज अपनी स्थिति में होता है, अंकुर उत्पन्न नहीं होता। बीज को मिट्टी में मिला देने पर जब वह अपने स्वरूप को छोड़ देता है—गल-सड़ जाता है, तब अंकुर फूटता है। इससे स्पष्ट होता है कि अंकुर का कारण बीज न होकर बीजाभाव है। इससे अभाव से भाव की उत्पत्ति सिद्ध होती है।

उत्तर—यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति हो सकती है तो उत्पन्न होने के लिए बीज की आवश्यकता ही क्या है ? बीज का न होना या गलकर नष्ट हो जाना—दोनों अवस्थाओं में बीज का अभाव समान है। तब बिना बीज के अथवा गले-सड़े, घुने हुए या जले हुए बीज से भी अंकुर उत्पन्न हो जाना चाहिए। इतना ही नहीं, एक पौधे के बीज से दूसरे पौधे की—आम की गुठली से जामुन की उत्पत्ति हो जानी चाहिए, परन्तु ऐसा होता नहीं। लोकोक्ति प्रसिद्ध है—'बोये पेड़ बबूल के आम कहाँ से खाय ? वस्तुतः नष्ट बीज से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती। बीज का गलना उसका नष्ट होना नहीं, अंकुर की उत्पत्ति के लिए अवस्थान्तर को प्राप्त होनामात्र है। अभाव से भाव की उत्पत्ति होना सम्भव नहीं।

तीसरा नास्तिक—ईश्वरः कारणम्—मनुष्य अपने कर्मों का फल अवश्य प्राप्त कर लेता हो, ऐसी बात नहीं है। फलप्राप्ति की सिद्धि ईश्वराधीन है। फलसिद्धि का कार्य जिस ईश्वर के अधीन है, उसी को कार्यमात्र का कारण मानना चाहिए।

---

१. अर्थात् स्वेच्छापूर्वक।

https://t.me/arshlibrary

[बिना कारण के कार्य नहीं होता]

चौथा नास्तिक कहता है कि — विना निमित्त के पदार्थों की उत्पत्ति होती है। जैसाकि बबूल आदि वृक्षों के काँटे तीक्ष्ण अणिवाले देखने में आते हैं। इससे विदित होता है कि जब-जब सृष्टि का आरम्भ होता है, तब-तब शरीरादि पदार्थ विना निमित्त के होते हैं।

उत्तर—जिससे पदार्थ उत्पन्न होता है, वही उसका निमित्त है। विना कंटकी वृक्ष के काँटे उत्पन्न क्यों नहीं होते ? ॥४॥

[सब पदार्थ अनित्य नहीं हैं]

पाँचवाँ नास्तिक कहाता है कि—सब पदार्थ उत्पत्ति और विनाशवाले हैं, इसलिए सब अनित्य हैं—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः ।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥

—यह किसी ग्रन्थ[1] का श्लोक है।

उत्तर—यदि फल मात्र ईश्वर की इच्छा के अधीन हो तो ईश्वर को **'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं'** समर्थ मानकर बिना कर्म किये ही फल प्राप्ति हो जानी चाहिए, किन्तु ऐसा होने लगे तो अकृताभ्यागमदोष होगा—शास्त्रमर्यादा के विपरीत बिना कर्म किये मनमाने फल की प्राप्ति होना। इसके अतिरिक्त मनुष्यों की फलप्राप्ति में न्यूनाधिक्य होने से परमेश्वर पर स्वेच्छाचारिता—अन्याय एवं पक्षपात का दोष आरोपित होगा। वस्तुतः जड़ होने से कर्म स्वयं फल नहीं दे सकते और उनका कर्ता जीव अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति होने से न तो स्वकृत कर्मों के फलोपभोग के लिए अपेक्षित भोग्य पदार्थों की व्यवस्था कर सकता है और न उनका ठीक-ठीक लेखा-जोखा कर सकता है और न पापकर्मों के फलस्वरूप मिलनेवाले दुःख को स्वेच्छा से ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार न ईश्वर बिना कर्मों के फल दे सकता है और न कर्म बिना ईश्वर के फल दे सकते हैं। इसलिए ईश्वर जो जैसा करता है, उसे वैसा फल देता है।

चौथा नास्तिक—अनिमित्ततः—काँटों की तीक्ष्णता, पर्वतों में होनेवाली धातुओं की विविधता, पत्थरों का चिकनापन आदि का कोई निमित्त नहीं दीखता। इसलिए जैसे बिना निमित्त के इन पदार्थों की रचना हो जाती है, वैसे ही मनुष्यादि प्राणियों के शरीर भी बिना किसी ईश्वर या कर्मफल आदि के निमित्त के स्वभाव से ही उत्पन्न हो जाते हैं।

उत्तर—जो उपादान होता है, वही उत्पन्न कार्य का निमित्त होता है। यदि बिना निमित्तकारण के उत्पत्ति का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाए तो बबूल से क्यों, आम के पेड़ से भी काँटे उत्पन्न हो जाने चाहिएँ। बबूल से काँटे, आम-से-आम और जामुन-से-जामुन उत्पन्न होने से स्पष्ट है कि इन सबके अपने-अपने निमित्तविशेष हैं। इससे बिना निमित्तकारण के कार्योत्पत्ति की कल्पना सर्वथा मिथ्या है।

पाँचवाँ नास्तिक—सर्वमनित्यम्—जो वस्तु होकर न रहे वह अनित्य कहाती है। जो उत्पत्ति से पूर्व न

---

१. अष्टावक्रगीता, श्लोक ५। भ०द० ॥ शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध 'ब्रह्मनामावली-स्तोत्र' (श्लोक २०) में इस प्रकार पाठ है—

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ब्रह्मैव जीवो नापरः ।
अनेन वेद्यं सच्छास्त्रमिति वेदान्तडिण्डिमः ॥'

https://t.me/arshlibrary

नवीन वेदान्ती लोग पाँचवें नास्तिक की कोटि में हैं, क्योंकि वे ऐसा कहते हैं कि क्रोड़ों ग्रन्थों का यह सिद्धान्त है कि ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या और जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं।

उत्तर—जो सबकी अनित्यता नित्य है, तो सब अनित्य नहीं हो सकता।

प्रश्न—सबकी अनित्यता भी अनित्य है। जैसे अग्नि काष्ठों को नष्ट कर आप भी नष्ट हो जाता है।

उत्तर—जो यथावत् उपलब्ध होता है उसका वर्त्तमान में अभाव, और परमसूक्ष्म कारण को अनित्य कहना कभी नहीं हो सकता। जो वेदान्ती लोग ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं, तो ब्रह्म के सत्य होने से उसका कार्य असत्य कभी नहीं हो सकता। जो स्वप्न-रज्जु-सर्पादिवत् कल्पित कहें, तो भी नहीं बन सकता, क्योंकि कल्पना गुण है। गुण से द्रव्य नहीं और गुण द्रव्य से पृथक् नहीं रह सकता। जब कल्पना का कर्त्ता नित्य है, तो उसकी कल्पना भी नित्य होनी चाहिए। नहीं तो उसको भी अनित्य मानो।

जैसे स्वप्न विना देखे-सुने कभी नहीं आता। जो जाग्रत् अर्थात् वर्त्तमान समय में सत्य पदार्थ है, उसके साक्षात् सम्बन्ध से प्रत्यक्षादि ज्ञान होनेपर संस्कार अर्थात् उसका वासनारूप ज्ञान आत्मा में स्थिर होता है। स्वप्न में उन्हीं को प्रत्यक्ष देखता है। जैसे सुषुप्ति होने से बाह्य पदार्थों के ज्ञान के अभाव में भी बाह्य पदार्थ विद्यमान रहते हैं, वैसे प्रलय में भी कारण द्रव्य वर्त्तमान रहता है। जो संस्कार के विना स्वप्न होवे, तो जन्मान्ध को भी रूप का स्वप्न होवे। इसलिए वहाँ उनका ज्ञानमात्र है, और बाहर सब पदार्थ वर्त्तमान है।

हो और नाश के पश्चात् न रहे, वह अनित्य है। उत्पत्ति से पहले पदार्थ नहीं होता और कालान्तर में उसका विनाश हुए बिना नहीं रहता। उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का नियम सृष्टि में सर्वत्र व्याप्त है। इस प्रकार जो कभी हो, कभी न हो वह अनित्य कहाता है। संसार में शरीरादि कुछ पदार्थ भौतिक हैं और बुद्धि, सुख-दुःखादि अभौतिक। ये दोनों ही प्रकार के पदार्थ उत्पत्ति और विनाशवाले होने से अनित्य हैं।

उत्तर—अनित्यता के नित्य होने से सब अनित्य नहीं रहते। 'सब अनित्य हैं', इस कथन से यह परिणाम स्पष्ट है कि सब पदार्थों में विद्यमान अनित्यता सदा बनी रहती है। यदि सबकी अनित्यता सदा बनी रहती है तो वह नित्य हो गयी।

उसके नित्य होने से यह कथन असंगत हो गया कि सब अनित्य हैं। यदि अनित्यता को अनित्य माना जाता है, तो अनित्य होने के कारण उसके न रहने पर सब नित्य माना जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में सर्वानित्यवाद को प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

श्लोकार्धेन—पं० भगवद्दत्त के अनुसार यह अष्टावक्रगीता का श्लोक है। शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध 'ब्रह्मनामावलीस्तोत्र' (श्लोक २०) में इस प्रकार पाठ है—

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।
अनेन वेद्यं सच्छास्त्रमिति वेदान्तडिण्डिमः॥

किसी भी वस्तु का सत्य होना उसके साधक प्रमाणों के होने तथा बाधक प्रमाणों के न होने पर निर्भर करता है। इस रूप में जगत् एक यथार्थ सत्ता है। उसे मिथ्या कहना असंगत है। त्रिगुणात्मक प्रकृति के मूल उपादानतत्त्वों से जीवात्माओं के भोग तथा अपवर्ग की सिद्धि के लिए जगत् का प्रादुर्भाव हुआ है। चेतन आत्मतत्त्व तथा प्रकृति दोनों सत्य हैं—नित्य हैं। तब उन दोनों से मिलकर बना संसार कैसे मिथ्या हो सकता है? मूल उपादान से उत्पन्न होने के कारण जगत् की वास्तविकता का अपलाप नहीं किया जा

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—जैसे जाग्रत् के पदार्थ स्वप्न में और दोनों के सुषुप्ति में अनित्य हो जाते हैं, वैसे जाग्रत् के पदार्थों को भी स्वप्न के तुल्य मानना चाहिए।

उत्तर—ऐसा कभी नहीं मान सकते, क्योंकि स्वप्न और सुषुप्ति में बाह्य पदार्थों का अज्ञानमात्र होता है, अभाव नहीं। जैसे किसी के पीछे की ओर बहुत-से पदार्थ अदृष्ट रहते हैं, उनका अभाव नहीं होता, वैसे ही स्वप्न और सुषुप्ति की बात है। इसलिए जो पूर्व कह आये कि ब्रह्म, जीव और जगत् का कारण अनादि नित्य हैं, वही सत्य है ॥५॥

सकता। जब उपादान सत्य है तो उसका विकार नश्वर भले ही हो, उसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता। वेद व वैदिक साहित्य में अदिति, स्वधा, त्रिधातु आदि के रूप में मूल उपादान प्रकृति के सत्य होने का स्पष्ट उल्लेख है। उससे उत्पन्न जगत् के लिए भी **'यदिदं किञ्च तत्सत्यमित्याचक्षते'** (तै० आ० ८।६) इत्यादि वाक्य उसके सत्य होने की घोषणा कर रहे हैं। फिर नवीनवेदान्ती तो ब्रह्म को जगत् का निमित्तोपादानकारण मानते हैं। तब सत्य ब्रह्म से उद्भूत जगत् कैसे मिथ्या हो सकता है? यदि संसार सचमुच मिथ्या हो, तो उस व्यक्ति को जिसे उसके मिथ्या होने का ज्ञान हो चुका है, उसकी विद्यमानता का आभास नहीं होना चाहिए। कोई भी समझदार व्यक्ति मदारी के तमाशे को देखकर भ्रमित नहीं होता। किसी पदार्थ के प्रत्यक्ष होने का ज्ञान और उसके यथार्थ न होने का ज्ञान एक साथ नहीं रह सकते। भ्रम कभी-कभी और किसी-किसी को होता है। इसलिए संसार के यथार्थताविषयक विश्वास की व्यापकता को देखते हुए उसे मिथ्या नहीं माना जा सकता।

जीव और ब्रह्म के वैधर्म्य=भेदकारक अर्थात् विरुद्ध धर्मों को देखते हुए दोनों को एक नहीं माना जा सकता। परमेश्वर का अनन्त ज्ञान और बल तथा निर्भ्रान्तित्व जीव से और जीव के अल्पज्ञान, अल्पबल, भ्रान्तित्व आदि गुण परमेश्वर से भिन्न हैं। जीवात्मा परिच्छिन्न अर्थात् अणु-परिमाण है, जबकि परमात्मा विभु अर्थात् सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी है। ब्रह्म नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव है, जबकि जीव शुद्ध, चेतन, अपरिणामी होते हुए भी कभी बद्ध और कभी मुक्त रहता तथा कर्मफल भोगने के लिए बार-बार शरीर धारण करता है। जीव और ब्रह्म का भेद स्पष्ट करते हुए शंकर कहते हैं—

'नन्वीश्वरोऽपि शरीरे भवति, सत्यम्। शरीरे भवति न तु शरीर एव भवति।
जीवस्तु शरीर एव भवति, तस्य भोगाधिष्ठानाच्छरीरादन्यत्र वृत्त्यभावात् ॥' —शा० भा०१।२।३

अर्थात्—ईश्वर भी शरीर में है, यह ठीक है, परन्तु शरीर में ही है, ऐसा नहीं अर्थात् शरीर से बाहर भी है, किन्तु जीव तो शरीर में ही है (अर्थात् बाहर नहीं)। ईश्वर की भाँति शरीर से बाहर जीव की वृत्ति नहीं जाती। शरीर उसके भोग का अधिष्ठान है। दोनों में इतना अन्तर होते हुए यह कैसे माना जा सकता है—**'जीवो ब्रह्मैव नापरः'**।

इसपर सर्वानित्यत्ववादी कहता है—लोक में देखा जाता है कि आग अपने दाह्य पदार्थों को जलाकर अन्त में बुझ जाती है। इसी प्रकार सबकी अनित्यता सबको विनष्ट कर—अनित्य बनाकर अन्त में स्वयं विनष्ट हो जाती है। अन्त में सूत्रकार अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—**'नित्यस्याप्रत्याख्यानं यथोपलब्धिव्यवस्थानात्'** (न्याय० ४।१।२८)। इसका भाव यह है कि नित्य का निराकरण सर्वथा अनुपपन्न है, अप्रामाणिक है, क्योंकि जो पदार्थ जैसा उपलब्ध होता है, उसी के अनुसार उसकी व्यवस्था की जानी चाहिए। जो पदार्थ प्रमाण के अनुसार उत्पत्ति-विनाशधर्मक उपलब्ध होता है, उसे अनित्य माना जाना चाहिए। इसके विपरीत प्रमाण द्वारा जो ऐसा नहीं जाना जाता, उसे नित्य मानना होगा।

https://t.me/arshlibrary

[उत्पत्तिमान् पदार्थ नित्य नहीं होता]

छठा नास्तिक कहता है कि—पाँच भूतों के नित्य होने से सब जगत् नित्य है।

उत्तर—यह बात सत्य नहीं, क्योंकि जिन पदार्थों का उत्पत्ति और विनाश का कारण देखने में आता है, वह सब नित्य हों तो सब स्थूल जगत् तथा शरीर, घटपटादि पदार्थों को उत्पन्न और विनष्ट होते देखते ही हैं, इससे कार्य को नित्य नहीं मान सकते ॥६॥

[पृथक्-पृथक् पदार्थों में एक पदार्थ भी है]

सातवाँ नास्तिक कहता है कि—सब पदार्थ पृथक्-पृथक् हैं, कोई एक पदार्थ नहीं है। जिस-जिस पदार्थ को हम देखते हैं, उनमें दूसरा एक पदार्थ कोई भी नहीं दीखता।

उत्तर—अवयवों में अवयवी, वर्त्तमानकाल, आकाश, परमात्मा और जाति पृथक्-पृथक् पदार्थ-समूहों में एक-एक हैं। उनसे पृथक् कोई पदार्थ नहीं हो सकता। इसलिए सब पृथक् पदार्थ नहीं, किन्तु स्वरूप से पृथक्-पृथक् हैं, और पृथक्-पृथक् पदार्थों में एक पदार्थ भी है ॥७॥

परमसूक्ष्म परमाणुरूप में पृथिवी आदि भूत, आकाश, काल, दिशा आत्मा, मन ये सब द्रव्य तथा इनमें समवेत (समवायसम्बन्ध से रहनेवाले) कतिपय गुण (परमाणु—परिमाण, परममहत्परिमाण, नित्यद्रव्यवृत्ति-संयोग—परमाणुद्वयसंयोग को छोड़कर—आदि) एवं सामान्य, विशेष, समवाय ये पदार्थ किसी प्रमाण से उत्पत्तिविनाशधर्मक नहीं जाने जाते। इसलिए ये सब पदार्थ नित्य हैं। फलतः सब पदार्थों को बिना किसी प्रमाण के अनित्य नहीं कह सकते।

मिथ्या कल्पना करनेवाला मिथ्याचारी होता है। सत्यस्वरूप, सत्यकाम तथा सत्यसंकल्प परमात्मा मिथ्याचारी नहीं हो सकता। **'विपर्ययो मिथ्याज्ञानम्' जिसकी वस्तु के यथार्थरूप में स्थिति न हो, ऐसे मिथ्याज्ञान का नाम 'विपर्यय'** है। शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार **'बन्धो विपर्ययात्'** (सां० ३।२४) 'विपर्यय' अर्थात् मिथ्याज्ञान बन्धन का हेतु है। इस प्रकार ब्रह्म में जगत् की मिथ्या कल्पना करके नित्यशुद्धबुद्ध मुक्तस्वभाव परमात्मा स्वयं बन्धन में पड़ जाएगा। जब स्वयं ईश्वर ही बन्धन में आ गया तो और किसी की मुक्ति का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

छठा नास्तिक—सर्वं नित्यम्—कारणरूप में पञ्चभूत नित्य हैं। किसी प्रमाण से इनका नाश सिद्ध नहीं होता। समस्त जगत् इन्हीं पाँच भूतों से मिलकर बना है। जब पञ्चभूतरूप कारण नित्य हैं तो फिर उनके कार्य अनित्य कैसे हो सकते हैं।

उत्तर—प्रत्यक्ष का अपलाप नहीं होता। जिन पदार्थों के उत्पत्ति-विनाश का कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उपलब्ध है, उन्हें नित्य कैसे माना जा सकता है? सब स्थूल जगत्—शरीर, घटपटादि को उत्पन्न और नष्ट होते देखा जाता है जिससे उनका अनित्य होना सिद्ध है, अतः पदार्थमात्र को नित्य नहीं माना जा सकता।

शास्त्रों में अनेकत्र भौतिक जगत् को कहीं 'सत्' और कहीं 'असत्' कहा गया है। वस्तुतः 'सत्' और 'असत्' दोनों सापेक्षिक हैं। शरीर तथा संसार दोनों सत् हैं, परन्तु अन्त तक न शरीर रहता है, न संसार। उपनिषत्कारों ने शरीर को 'सत्' माना परन्तु आत्मा की दृष्टि से और आत्मा की अपेक्षा से उसे 'असत्' कहा। इसी प्रकार उन्होंने संसार को 'सत्' माना, किन्तु विश्वात्मा की अपेक्षा उसे असत् माना।

सातवाँ नास्तिक—सर्वं पृथक्—भावलक्षणों के पृथक् होने से सब पदार्थ पृथक् और अनेक हैं। जगत्

https://t.me/arshlibrary

[सब पदार्थ अभावरूप नहीं हो सकते]

आठववाँ नास्तिक कहता है कि—सब पदार्थों में इतरेतर अभाव की सिद्धि होने से सब अभावरूप हैं। जैसे—**'अनश्वो गौः; अगौरश्वः'** गाय घोड़ा नहीं, और घोड़ा गाय नहीं। इसलिए सबको अभावरूप मानना चाहिए।

उत्तर—सब पदार्थों में इतरेतराभाव का योग हो, परन्तु **'गवि गौरश्वेऽश्वो भावरूपो वर्तत एव'** गाय में गाय और घोड़े में घोड़े का भाव ही है, अभाव कभी नहीं हो सकता। जो पदार्थों का भाव न हो, तो इतरेतराभाव भी किसमें कहा जावे ? ॥८॥

के सब पदार्थ नानारूप हैं—पृथक्-पृथक् और अनेक। व्यवहार में आनेवाली किसी वस्तु की एक सत्ता नहीं, क्योंकि भाव के लक्षण अलग-अलग हैं। सूत्र का 'भाव' पद प्रत्येक उस वस्तुपद का बोधक है, जो अपनी स्वतन्त्र इकाई रखता है। 'लक्षण' पद उसके स्वरूप एवं उसके वाचक पद का बोध कराता है। प्रत्येक पदार्थ अनेक अवयवों का समुदायमात्र है, जो अवयव अपनी सत्ता में स्वयं स्वतन्त्र हैं। प्रत्येक भाव (सदात्मक पदार्थ) का अपना निजी स्वरूप तथा अभिधान (नाम) है।

उत्तर—स्वरूप से पृथक्-पृथक् पदार्थों में भी पदार्थ की एकता निष्पन्न होने से उक्त कथन ठीक नहीं। अनेक अवयवों तथा विविध पदवाच्य साधनरूप अर्थों से एक घट उत्पन्न होता है। यह घट नानारूप न होकर एक इकाई है। वह केवल परमाणुसमूह नहीं है। परमाणु अतीन्द्रिय होने से उसका प्रत्यक्ष किसी इन्द्रिय से नहीं होता। परन्तु घट आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है। भाव का लक्षण जो संज्ञा है उसका नियम एक अवयवी में देखा जाता है। अनेक लक्षणों से एक भाव की सिद्धि होती है। अनेक गुण और भिन्न-भिन्न अवयव मिलकर एक गुणी या अवयवी को सिद्ध करते हैं। अवयवी से जो काम सिद्ध होता है, वह उसके अवयवों से सिद्ध नहीं हो सकता। घड़े में पानी भरा जा सकता है, मिट्टी के परमाणुओं में नहीं। इससे सिद्ध है कि अनेक लक्षणों से युक्त एक भाव, अनेक गुणों से सम्बन्ध एक गुणी और अनेक अवयवों से एक अवयवी सिद्ध होता है। यदि अवयवी कोई एक अतिरिक्त तत्व नहीं है तो उनके लिए 'अवयव' पद का प्रयोग असंगत होगा। अवयव किसी अवयवी के ही कारणतत्वों को ही कहा जा सकता है। यदि अवयवी एक इकाई नहीं तो कारणतत्व किसके अवयव कहाएँगे ? 'अवयवसमूह' कहकर अवयवी की इकाई का निषेध नहीं किया जा सकता। इसलिए स्वरूप से पृथक्-पृथक् पदार्थों में एक पदार्थ अवगत होता है।

आठवाँ नास्तिक—सर्वमभावः—भावों में अन्योन्याभाव की सिद्धि से सब अभाव है। प्रत्येक भाव का उससे अतिरिक्त समस्त भावों में अभाव रहता है। जैसे घड़े में वस्त्रादि का, वस्त्र में घड़े आदि का अभाव है। गौ का अश्वादि समस्त पदार्थों में और अश्वादि समस्त पदार्थों का गौ में अभाव है। जब भावों में एक दूसरे का अभाव सिद्ध है तो सबका अभाव क्यों न मान लिया जाए ?

उत्तर—यदि सब पदार्थों का अभाव है, अर्थात् यदि कुछ है ही नहीं तो एक दूसरे में इतरेतराभाव—एक में दूसरे के अभाव की बात ही कैसे कही जा सकती है ? जब न गाय कोई पदार्थ है और न घोड़ा तो 'गाय घोड़ा नहीं' या 'घोड़ा गाय नहीं'—यह प्रयोग कैसे हो सकता है ? वस्तुतः 'सर्व' पद अनेक भावपदार्थों की सम्पूर्णता का वाचक है और 'अभाव' भावरूपपदार्थ के प्रतिषेध को कहता है। ये दोनों पद परस्पर विरोधी पद का निर्देश करते हैं। इस प्रकार परस्पर विरोधी होने से यह प्रतिज्ञा वाक्य ही असंगत है।

https://t.me/arshlibrary

[स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति नहीं]

नववाँ नास्तिक कहता है कि—स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति होती है। जैसे पानी, अन्न एकत्र हो सड़ने से कृमि उत्पन्न होते हैं, और बीज पृथिवी-जल के मिलने से घास, वृक्षादि और पाषाणादि उत्पन्न होते हैं। जैसे समुद्र-वायु के योग से तरंग, और तरंगों से समुद्रफेन, हल्दी-चूना और नींबू के रस मिलाने से रोरी बन जाती है, वैसे सब जगत् तत्त्वों के स्वभाव-गुणों से उत्पन्न हुआ है। इसका बनानेवाला कोई भी नहीं।

उत्तर—जो स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति होवे, तो विनाश कभी न होवे और जो विनाश भी स्वभाव से मानो, तो उत्पत्ति न होगी और जो युगपात् दोनों स्वभाव द्रव्यों में मानोगे, तो उत्पत्ति और विनाश की व्यवस्था कभी न हो सकेगी। और जो निमित्त के होने से उत्पत्ति और नाश मानोगे, तो निमित्त को उत्पत्ति और विनाश होनेवाले द्रव्यों से पृथक् मानना पड़ेगा। जो स्वभाव ही से उत्पत्ति और विनाश होता, तो एक समय ही में उत्पत्ति और विनाश का होना सम्भव नहीं। जो स्वभाव से उत्पन्न होता हो, तो इस भूगोल के निकट में दूसरा भूगोल, चन्द्र-सूर्य आदि उत्पन्न क्यों नहीं होते ?

इसके अतिरिक्त इसमें प्रतिज्ञा और हेतु का परस्पर विरोध है तो तर्कशास्त्रसम्मत न होने से अशुद्ध है। **'सर्वमभावः'** इस प्रतिज्ञा वाक्य में भावरूप का प्रतिषेध किया गया है। इसके अनुसार यदि 'सब अभाव है तो हेतु में **'भावेषु'** पद का भाव निराधार हो जाता है। भाव कुछ है नहीं तो 'भावेषु' कथन किस आधार पर ? यदि हेतु पद को स्वीकार कर 'भाव' का अस्तित्व माना जाता है तो 'सर्वमभावः' यह प्रतिज्ञा मिथ्या हो जाती है। इस प्रकार ये प्रतिज्ञा और हेतु परस्पर विरुद्ध होने से त्याज्य है। इसलिए सबको अभाव कहना सर्वथा अनुपपन्न है।

संसार में जितने पदार्थ हैं, वे सब अपने भाव से वर्तमान हैं। उनमें अपने से भिन्न पदार्थों का भाव न होना उनके अपने भाव का निषेधक न होकर साधक है। यदि सबका अभाव है तो गाय-में-गाय का और घोड़े-में-घोड़े का अभाव क्यों नहीं कहा जाता ? जब वादी गौ को गवात्मना सत् और अश्वात्मना असत् कहता है तो गौ का स्वभाव—स्वरूप से अर्थात् गवात्मरूप से अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार अश्वात्मना अश्व का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार सब पदार्थों में अपना रूप होने से अभाव किसी का नहीं हो सकता।

नववाँ नास्तिक—न स्वभावसिद्धिः—कोई वस्तु स्वरूप से अवस्थित नहीं होती। इसलिए दूसरे की अपेक्षा के बिना स्वतः किसी भाव की सिद्धि नहीं होती।

वादी का कहना है कि प्रकृति का ऐसा स्वभाव है कि वह जगद्रूप में परिणत हो जाती है। इसके लिए किसी चेतन की प्रेरणा की अपेक्षा नहीं। किसी वस्तु के स्वभाव में कोई बाधा नहीं डाली जा सकती। दूध स्वयमेव दही में परिणत हो जाता है। गाय आदि पशु घास खाते हैं। वह घास स्वयं दूध में परिणत हो जाती है। चुम्बक बिना किसी चेतन प्रेरणा के लोहे को आकर्षित करता है। इसी प्रकार प्रकृति के परमाणु स्वभाव से ही जगद्रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इनमें किसी चेतन की प्रेरणा के लिए कोई अवसर नहीं।

वस्तुतस्तु बाह्य निमित्त के बिना यह सम्भव नहीं। दूध का दही में परिणाम स्वतः नहीं होता। यदि दूध को आप-ही-आप दही बनने को छोड़ दिया जाए तो कालान्तर में वह विकृत भले ही हो जाए, दही के रूप में परिणत नहीं होगा। दूध के दधिरूप में परिणत होने के लिए उसे ठीक तरह से उबालना,

https://t.me/arshlibrary

और जिस-जिसके योग से जो-जो उत्पन्न होता है, वह-वह ईश्वर के उत्पन्न किये हुए बीज-अन्न-जलादि के संयोग से घास, वृक्ष और कृमि आदि उत्पन्न होते हैं, विना उनके नहीं। जैसे हल्दी, चूना और नींबू का रस दूर-दूर देश से आकर आप नहीं मिलते, किसी के मिलाने से मिलते हैं। उसमें भी यथायोग्य मिलाने से रोरी होती है, अधिक, न्यून वा अन्यथा करने से रोरी नहीं होती। वैसे ही प्रकृति-परमाणुओं को ज्ञान और युक्ति से परमेश्वर के मिलाये बिना जड़ पदार्थ स्वयं कुछ भी कार्यसिद्धि के लिए विशेष पदार्थ नहीं बन सकते, इसलिए स्वभावादि से सृष्टि नहीं होती, किन्तु परमेश्वर की रचना से होती है ॥६॥

यथासमय उचित मात्रा में उसमें जामन देना और अनुकूल तापमान में सुरक्षित रखना आवश्यक है। यह सब प्रक्रिया चेतन के सहयोग के बिना सम्भव नहीं। यदि घास आदि स्वतः दूध के रूप में परिणत हो सकते तो संसार में दूध की नदियाँ बहती दिखाई पड़तीं। गाय का खाया घास-पात यदि स्वतः दूध के रूप में परिणत हो जाता है, तो बैल आदि का खाया खाद्य भी दूध के रूप में परिणत हो जाना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता। गाय में भी ऐसा केवल प्रसूतावस्था में ही होता है। मनुष्यों में भी यही व्यवस्था देखी जाती है। स्त्री-पुरुष दोनों का एक-जैसा खाद्य होने पर भी जहाँ पुरुष के शरीर में उससे केवल रक्त बनता है, वहाँ स्त्री के शरीर में पहुँचकर वही खाद्य रक्त और दूध दोनों के रूप में परिणत होता है। इस प्रकार स्तनपायी मादा प्राणियों में तथा विशेष अवस्था में ही खाद्य का परिणाम दूध होता है और वह भी जीवित अवस्था में ही। यह स्थिति विचारशील व्यक्ति को यह मानने पर बाध्य करती है कि यह एक ईश्वरीय व्यवस्था है जो नियमितरूप से संसार में देखने में आती है। किसी जड़ वस्तु का स्वभाव सदा एक-सा रहता है। चुम्बक सदा लोहे को आकृष्ट करता है, अन्य किसी वस्तु को नहीं। फिर, आकृष्ट करने के अतिरिक्त वह और कुछ नहीं कर सकता, किन्तु जड़ उपादानतत्व विविध रूपों में परिणत हुआ है, इसके लिए चुम्बक के स्वभाव की तुलना करना व्यर्थ है। किसी चेतन सत्ता के द्वारा ज्ञानपूर्वक की गयी क्रिया के बिना अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो सकती। रक्खा हुआ आटा सड़ जाएगा, किन्तु स्वतः रोटी, पूरी, परांठा, मठरी आदि के रूप में परिणत नहीं होगा। घुणाक्षरन्याय से लकड़ी में एकाध अक्षर भले ही बन जाए, किसी महाकाव्य की रचना नहीं हो सकती। आकाश में उड़ते बादलों में किसी आकारविशेष की क्षणिक प्रतीति हो सकती है, किन्तु जीते-जागते प्राणियों की सृष्टि नहीं हो सकती। इससे निश्चय होता है कि चेतन-सहयोग के बिना, केवल जड़ उपादानतत्व से उसका ऐसा स्वभाव मानकर—व्यवस्थित जगत् की रचना सिद्ध नहीं हो सकती।

यदि दुर्जनतोषन्याय से जड़ उपादानतत्व में स्वतः प्रवृत्ति मान ली जाए तो उसमें निवृत्ति असम्भव होगी। जड़तत्व का स्वभाव सदा एक-सा रहता है। यदि परमाणुओं का स्वभाव संयुक्त होने का है तो स्वभाव से उत्पत्ति होने पर यान्त्रिक क्रिया की भाँति सदा उत्पत्ति ही होती रहेगी, विनाश कभी नहीं होगा। तब संसार सदा इसी रूप में बना रहना चाहिए। जगत् की सर्ग के विपरीत प्रलयावस्था कभी नहीं आनी चाहिए। यदि उपादानतत्व केवल प्रवृत्तिस्वभाव होने से किसी चेतन व्यवस्थापक की अपेक्षा नहीं रखता तो जड़ होने से वह स्वतः अपने प्रवृत्ति-स्वभाव का परित्याग नहीं कर सकता, किन्तु संसार में बनी हुई वस्तुओं को बिगड़ते देखा जाता है। केवल चेतनतत्व में यह सामर्थ्य रहता है कि वह इच्छानुसार विपरीत क्रिया को उत्पन्न कर दे।

यदि परमाणुओं का स्वभाव विकर्षण का होगा तो स्वभाव से विनाश होते रहने पर उत्पत्ति कभी नहीं

https://t.me/arshlibrary

होगी, किन्तु पदार्थों को बनते देखा जाता है।

यदि परमाणुओं में कुछ का स्वभाव संयोग का और कुछ का वियोग का माना जाए तो यदि संयोग-स्वभाववाले परमाणुओं की संख्या अधिक होगी तो सदा उत्पत्ति-ही-उत्पत्ति होगी और यदि वियोग गुणवाले परमाणुओं की शक्ति अधिक होगी तो सदा विनाश-ही-विनाश होगा। यदि प्रत्येक परमाणु में दोनों स्वभाव युगपत् माने जाएँ (यद्यपि एक धर्मी में दो विरुद्ध धर्म एक काल में नहीं रह सकते) तो भी उत्पत्ति और विनाश की व्यवस्था न हो सकेगी, क्योंकि उत्पत्ति तथा विनाश दोनों का एक समय में प्रत्यक्ष होता है।

उत्पत्ति और विनाश—उपादानतत्त्व की ये दो परस्पर विपरीत अवस्थाएँ हैं। प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप क्रियाओं को उत्पन्न करना चेतन का धर्म देखा जाता है। जगत् में बनना और बिगड़ना दोनों देखे जाते हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने मूल से प्रेरणा पाकर कार्यरूप में परिणत होता और समय आने पर पुनः उसी में विलीन हो जाता है। समुद्र से प्राप्त जल से मेघ बनता और मेघ से बरसकर जल पुनः समुद्र में जा मिलता है। यह क्रम जैसे पृथक्-पृथक् पिण्डों में देखने में आता है, वैसे ही ब्रह्माण्ड की मर्यादा में भी देखने में आता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति का समय और मर्यादापूर्वक व्यवहार में आना जड़ प्रकृति द्वारा असम्भव है। प्रकृति का स्वतन्त्र धर्म या प्रवृत्ति हो सकती है या निवृत्ति। संसार सर्वथा स्वतन्त्र अर्थात् चेतन-निरपेक्ष हो तो उसकी गति यान्त्रिक (mechanical) होनी चाहिए—सृष्टि-ही-सृष्टि होती जाए या प्रलय-ही-प्रलय। सृष्टि होते-होते प्रलय या प्रलय होते-होते सृष्टि की प्रवृत्ति स्वतः नहीं हो सकती। उसके लिए किसी नियामक चेतनसत्ता का होना अनिवार्य है।

वस्तुतः शून्यवाद, अभाववाद, सर्वानित्यत्ववाद, भूतनित्यत्ववाद, पृथक्त्ववाद, इतरेतराभाववाद, स्वभाववाद आदि वादों के आधार पर सृष्टि की पूर्ण व्याख्या होना सम्भव नहीं। ये सब एकदेशी अवैदिक वाद हैं। जगत् की यथार्थ विद्यमानता पहले दोनों वादों को ठुकरा देती है। जो वस्तु उत्पन्न होती है, निश्चित ही वह अपने कारणों से उत्पन्न होगी। यह अलग बात है कि हम उन कारणों को जान सकें या न जान सकें। सब वस्तु अनित्य हैं अथवा भूत नित्य हैं, इसलिए सब वस्तु नित्य हैं, ये कथन अपने आप में ही मिथ्या हैं। किसी वस्तु का नित्य या अनित्य होना विशिष्ट निमित्तों पर आधारित है। उत्पन्न होने-वाली वस्तु अनित्य तथा उत्पाद-विनाश से रहित वस्तु नित्य कही जाती है, यह एक व्यवस्था है। प्रत्येक वस्तु न नित्य हो सकती है, न अनित्य।

पृथक्त्ववाद आधुनिक रसायनशास्त्र से पर्याप्त सीमा तक मेल खाता है। रसायनशास्त्र के अनुसार आज तक ऐसे एक सौ दो पदार्थों का पता लगा चुका है, जो मूलरूप में एक-दूसरे से पृथक् हैं, एक-दूसरे में किसी का कोई अंश नहीं है। भविष्य में और भी ऐसे अनेक पदार्थों कां पता लग जाने की सम्भावना है। सोना, चाँदी, लोहा, तांबा, पारा, गन्धक, जस्ता, सीसा, कैल्शियम, ऑक्सीजन, हाईड्रोजन, नाइट्रोजन, कार्बन, सिलिकन, आर्सेनिक, फास्फोरस, एल्यूमिनियम, प्लैटिनम आदि सब ऐसे पदार्थ हैं जो सर्वथा एक-दूसरे से पृथक् हैं। किसी-में-किसी का कोई अंश नहीं है, पर भौतिकी विज्ञान ने ही इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है कि ये सब किन्हीं मूलतत्त्वों के सम्मिश्रण से बने हैं। वे मूलतत्व प्रोटोन, इलेक्ट्रॉन और न्यूट्रॉन हैं। भारतीय दार्शनिक चिन्तन के अनुसार इन्हें यथाक्रम सत्त्व, रजस्, तमस् के वर्ग में समझा जा सकता है। अन्यथा इन पदार्थों में से प्रत्येक में आकाश, काल एवं परमात्मा आदि का विद्यमान रहना अनिवार्य है। इसलिए स्वरूप से इनके पृथक्-पृथक् रहते भी इनमें अन्य पदार्थों का अस्तित्व रहता है। पदार्थों के इतरेतराभाव से सब पदार्थों का अभाव बताना प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। गाय घोड़ा नहीं, घोड़ा गाय

https://t.me/arshlibrary

[यह जगत् अनादि नहीं]

प्रश्न—इस जगत् का कर्त्ता न था न है और न होगा; किन्तु अनादिकाल से यह जैसा का वैसा बना है, न कभी इसकी उत्पत्ति हुई और न कभी विनाश होगा।[1]

उत्तर—बिना कर्त्ता के कोई भी क्रिया वा क्रियाजन्य पदार्थ नहीं बन सकता। जिन पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग-विशेष से रचना दीखती है, वे अनादि कभी नहीं हो सकते। और जो संयोग से बनता है, वह संयोग से पूर्व नहीं होता, और वियोग के अन्त में नहीं रहता। जो तुम इसको न मानो, तो कठिन-से-कठिन पाषाण, हीरा और फौलाद आदि तोड़, टुकड़े कर गला वा भस्म कर देखो कि इनमें परमाणु पृथक्-पृथक् मिले हैं वा नहीं ? जो मिले हैं तो वे समय पाकर अलग-अलग भी अवश्य होते हैं।

नहीं, इसलिए न गाय है, न घोड़ा—ऐसा कथन सर्वथा विचारशून्य है। यद्यपि गाय घोड़ा नहीं है पर गाय, गाय तो है। इसी प्रकार घोड़ा गाय नहीं है, पर घोड़ा, घोड़ा तो है। उनके अपने अस्तित्व को कैसे नकारा या झुठलाया जा सकता है ? 'स्वभाव' से जगत् की उत्पत्ति कहने का क्या तात्पर्य है, यह विचारणीय है। 'स्वभाव' में 'स्व' पद का क्या अर्थ है ? यदि 'स्व' पद मूलकारण को कहता है, तो इस पदमात्र के कहने से कोई अन्तर नहीं आता। अपने मूलकारण से जगत् उत्पन्न होता है, यह यथार्थ है।

जिस प्रकार अचेतन तत्त्वों से बने शरीर में चेतन जीवात्मा के बिना कोई क्रिया नहीं होती, उसी प्रकार परमात्मा के बिना जड़ प्रकृति से बने जगत् में उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय किसी प्रकार का कार्य नहीं हो सकता। क्रिया तो अचेतन में ही होती है, किन्तु उसका पैदा करनेवाला चेतन ही होता है। स्वचालित यन्त्रों में क्रिया अपने आप होती रहती है, किन्तु स्वचालित यन्त्र में वैसी क्रिया की व्यवस्था करनेवाला कारीगर चेतन ही होता है। उसमें विकार आ जाने पर उसी की शरण में जाना पड़ता है। इसी तरह अचेतन सूर्य और पृथिवी आदि में साक्षात् क्रिया होती दिखाई देती है, तो भी उनमें उस क्रिया का कारण परमात्मा ही होता है। सृष्टि के आदि में स्विच दबाकर गति देनेवाला वही होता है। उसी की आदि प्रेरणा के कारण वे सब सर्गकाल में कार्य करते रहते हैं।

वर्तमानरूप में अवस्थित जगत् को अनादि या नित्य नहीं माना जा सकता। जागतिक वस्तुओं में परिणाम व परिवर्त्तन अथवा उत्पाद-विनाश बराबर देखा जाता है, जो इसके बने हुए होने को सिद्ध करता है। इसी रूप में जगत् को अनादि कहना प्रमाणविरुद्ध है। पृथिव्यादि पदार्थ अवयवसंयोग से बने परीक्षा द्वारा प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। जो निरन्तर बन-बिगड़ रहा है उसे अनादि कैसे कहा जा सकता है ? परिवर्तनशील अनादि-अनुत्पन्न नहीं हो सकता। जो अनादि नहीं, वह अनन्त भी नहीं हो सकता।

ईश्वर का विकास नहीं—यदि जीवात्मा ही सिद्धावस्था को प्राप्त करके सृष्टिरचना में समर्थ हो सकता है तो जीवात्मा को भी तो योगाभ्यास द्वारा सिद्धावस्था को प्राप्त करने के लिए संसार की आवश्यकता है। जीवविशेष के प्रादुर्भाव से पूर्व जगत् विद्यमान था। उस जगत् की रचना जिसने की, वही परमात्मा था (है)। जीवात्मा स्वरूप से अल्पज्ञ व अल्पशक्ति है। वह कितना ही योगाभ्यास करे, ईश्वर के सदृश सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् नहीं हो सकता और जो इन गुणों से युक्त नहीं वह इतने विशाल ब्रह्माण्ड की रचना नहीं कर सकता।

---

१. यह मत जैनियों तथा नवीन मीमांसकों का है।

https://t.me/arshlibrary

[जीव कभी ईश्वर नहीं हो सकता]

प्रश्न—अनादि ईश्वर कोई नहीं, किन्तु जो योगाभ्यास से अणिमादि ऐश्वर्य को प्राप्त होकर सर्वज्ञादि-गुणयुक्त केवलज्ञानी होता है, वही जीव परमेश्वर कहाता है।[1]

उत्तर—जो अनादि ईश्वर जगत् का स्रष्टा न हो, तो साधनों से सिद्ध होनेवाले जीवों का आधार जीवनरूप जगत्, शरीर और इन्द्रियों के गोलक कैसे बनते ? इनके विना जीव साधन नहीं कर सकता। जब साधन न होते, तो सिद्ध कहाँ से होता ? जीव चाहे जैसे साधन कर सिद्ध होवे, तो भी ईश्वर की जो स्वयं सनातन अनादि सिद्धि हैं, जिसमें अनन्त सिद्धि हैं, उसके तुल्य कोई भी जीव नहीं हो सकता, क्योंकि जीव का परम अवधि तक ज्ञान बढ़े, तो भी परमित ज्ञान और सामर्थ्यवाला होता है। अनन्त ज्ञान और सामर्थ्यवाला कभी नहीं हो सकता। देखो कोई भी योगी[2] आज तक ईश्वरकृत सृष्टिक्रम को बदलनेहारा नहीं हुआ है, और न होगा। जैसा अनादिसिद्ध परमेश्वर ने नेत्र से देखने और कानों से सुनने का निबन्ध किया है, इसको कोई भी योगी बदल नहीं सकता, अतः जीव ईश्वर कभी नहीं हो सकता।

[प्रतिकल्प सृष्टि की समानता]

प्रश्न—कल्प-कल्पान्तर में ईश्वर सृष्टि विलक्षण-विलक्षण बनाता है, अथवा एक-सी ?

उत्तर—जैसीकि अब है, वैसी पहले थी और आगे होगी। भेद नहीं करता।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥

—ऋ०म० १०। सू० १९०। मं० ३

धाता=परमेश्वर ने जैसे पूर्व कल्प में सूर्य-चन्द्र, विद्युत्, पृथिवी, अन्तरिक्ष आदि बनाये थे, वैसे ही अब बनाये हैं, और आगे भी वैसे ही बनावेगा॥

वर्तमान सृष्टि अनादि नहीं—प्रकृति का विकार होने से संसार परिणामी है। इस तरह वह बनता भी है और बिगड़ता भी है। इस रूप में इसकी दो स्थितियाँ हैं—सर्ग और प्रलय। ये एक-दूसरे के अनन्तर पर्याय से आवर्तमान रहती हैं। सत् से असत् और असत् से सत् नहीं होता—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'**। संसार का अस्तित्व प्रत्यक्ष है—वह 'सत्' है तो वह पहले भी रहा होगा और आगे भी रहेगा, परन्तु उसका सदा अपने वर्तमानरूप में बना रहना आवश्यक नहीं। इस प्रकार सृष्टि प्रवाह से अनादि है। संसार का अत्यन्त उच्छेद हो जाए तो ईश्वर में सृष्टिकर्तृत्व आदि गुणों का अभाव हो जाए। इस प्रकार जैसे जगत् के तीन कारण—ईश्वर, जीव और प्रकृति स्वरूप से अनादि हैं और जैसे इनके अपने-अपने गुण-कर्म-स्वभाव (ईश्वर का सृष्टिकर्तृत्वादि, जीव का कर्मफलभोक्तृत्वादि) अनादि हैं, वैसे ही सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रवाह से अनादि हैं। अनन्तकाल तक ऐसे ही चलते रहेंगे।

प्रत्येक दिन और रात्रि का आदि और अन्त देखने में आता है, परन्तु दिन के पूर्व रात और रात के पूर्व दिन तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन निरन्तर चले आते हैं। इस क्रम का न आदि है

१. यह मत भी जैनियों का है।

२. यह पद प्रकरणानुरोध से आवश्यक है। योगदर्शन व्यासभाष्य में अणिमादिसिद्धि-सम्पन्न योगी के जो ऐसे कार्य करने का उल्लेख है, वह केवल उनकी शक्ति-अतिशयता का प्रशंसापरक अर्थवादमात्र है।

https://t.me/arshlibrary

इसलिए परमेश्वर के काम विना भूल-चूक के होने से सदा एक-से ही हुआ करते हैं। जो अल्पज्ञ और जिसका ज्ञान वृद्धि-क्षय को प्राप्त होता है, उसी के काम में भूल-चूक होती है, ईश्वर के काम में नहीं।

[सृष्टि के विषय में शास्त्रों में विरोध नहीं]

प्रश्न—सृष्टि-विषय में वेदादिशास्त्रों का अविरोध है, वा विरोध ?

उत्तर—अविरोध है।

प्रश्न—जो अविरोध है, तो—

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः॥'

—यह तैत्तिरीय उपनिषद् ब्रह्मा०१ का वचन है॥

और न अन्त। इसी प्रकार प्रत्येक सृष्टि और प्रलय का अन्त तो होता रहता है, किन्तु सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि तथा सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि का चक्र अनवरत चला आता है। इस क्रम का न कभी आदि था और न कभी अन्त होगा।

सूर्याचन्द्रमसौ—जो अल्पज्ञ है और इस कारण जिसके ज्ञान में न्यूनाधिक्य होता रहता है, उसी के काम में भूल-चूक होने से उसे उसमें संशोधन, परिवर्धन करना पड़ता है। परमेश्वर के पूर्ण तथा निर्भ्रान्त होने से उसके सभी कार्य पूर्ण तथा निर्दोष होते हैं। यजुर्वेद (४०।८) में ईश्वर द्वारा सृष्टिरचना के सन्दर्भ मे कहा है—**'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्'** अर्थात् परमेश्वर सब पदार्थों का यथायथ विधान करता है।

शास्त्रों में अविरोध—वेदादि शास्त्र परस्पर विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं। प्रत्येक कार्य अनेक कारणों से होता है। यह अनेकशः स्पष्ट हो चुका है कि कार्यमात्र के तीन कारण हुआ करते हैं—निमित्त, उपादान और साधारण। न्यायादि दर्शनों में जगत् के विभिन्न कारणों का वर्णन है और उसके लिए अन्य उपयोगी विधियों का। प्रत्येक वस्तु की सिद्धि के लिए किसी भी स्तर पर हमें प्रमाणों का आश्रय लेना पड़ता है, इस स्थिति का कोई दर्शन विरोध नहीं करता। तत्वविषयक जिज्ञासा होने पर प्रारम्भ में शिक्षा का उपक्रम वहीं से होता है, जिसका प्रतिपादन वैशेषिकदर्शन करता है। तत्वों के स्थूल-सूक्ष्म साधारण स्वरूप और उनके गुण-धर्मों की जानकारी पर ही आगे तत्वों की अतिसूक्ष्म अवस्थाओं को जानने—समझने की प्रवृत्ति एवं क्षमता का होना सम्भव है। प्रमाण और बाह्य प्रमेय का विषय न्याय-वैशेषिकदर्शनों में प्रतिपादित किया गया है। तत्वों की उन अवस्थाओं और चेतन-अचेतन रूप में उनके विश्लेषण को सांख्य प्रस्तुत करता है। चेतन-अचेतन के भेद का साक्षात्कार करने की प्रक्रियाओं का योग में वर्णन है। इन प्रक्रियाओं के मुख्य साधनभूत मन की जिन विविध अवस्थाओं के विश्लेषण का योग में वर्णन है, वह मनोविज्ञान की विभिन्न दशाओं का केन्द्रभूत आधार है। समाज के कर्तव्याकर्तव्यों का वर्णन वेदान्त में है। यह ज्ञानसाधन कार्यक्रम भारतीय संस्कृति के अनुसार वर्णाश्रम-धर्मों एवं कर्तव्यों के रूप में पूर्णतया व्यवस्थित है। इन उद्देश्यों के रूप में कहीं किसी का किसी के साथ विरोध का उद्भावन अकल्पनीय है। दर्शनों में जिन तत्वों का निरूपण किया है, सृष्टिरचना में एक-दूसरे के पूरक होकर वे तत्व पहले कहे तीन कारणों में अन्तर्हित अथवा समाविष्ट हैं, इनमें विरोध का कहीं अवकाश नहीं।

जब तक एक ही विषय में परस्पर विरोधी मत व्यक्त न किये जाएँ, तब तक उनमें विरोध उपपन्न नहीं होता। तीन विद्वान् ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति नाम से तत्तद् विषय का विवेचन करनेवाले तीन ग्रन्थों की

https://t.me/arshlibrary

उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश=अवकाश, अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था, उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न-सा होता है। वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि विना आकाश के प्रकृति-परमाणु कहाँ ठहर सकें ? आकाश के पश्चात् वायु , वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है ॥

यहाँ आकाशादि क्रम से, और छान्दोग्य में अग्न्यादि, ऐतरेय में जलादि क्रम से सृष्टि हुई, ऐसा कहा है। वेदों में कहीं पुरुष, कहीं हिरण्यगर्भ आदि से, मीमांसा में कर्म, वैशेषिक में काल, न्याय में परमाणु, योग में पुरुषार्थ, सांख्य में प्रकृति और वेदान्त में ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। अब किसको सच्चा और किसको झूठा मानें ?

उत्तर—इसमें सब सच्चे, कोई झूठा नहीं। झूठा वह है जो विपरीत समझता है, क्योंकि परमेश्वर निमित्त और प्रकृति जगत् का उपादानकारण है। जब महाप्रलय होता है, उसके पश्चात् आकाशादिक्रम और जब आकाश और वायु का प्रलय नहीं होता और अग्न्यादि का होता है, तब अग्न्यादि क्रम से। और जब विद्युत् अग्नि का भी नाश नहीं होता, तब जलक्रम से सृष्टि होती है, अर्थात् जिस-जिस प्रलय में जहाँ-जहाँ तक प्रलय होता है, वहाँ-वहाँ से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। पुरुष और हिरण्यगर्भादि प्रथम समुल्लास में लिख भी आये हैं, वे सब नाम परमेश्वर के हैं।

रचना करते हैं। जब तक ईश्वर-विषयक ग्रन्थ में जीवात्मा तथा प्रकृति का, जीवात्मविषयक ग्रन्थ में ईश्वर और प्रकृति का और इसी प्रकार प्रकृति विषयक ग्रन्थ में ईश्वर और जीवात्मा का निषेध न हो तब तक उन्हें एक-दूसरे का विरोधी नहीं कहा जा सकता। एक ही विषय की तीन शाखाओं के विवेचन द्वारा सृष्टिविषय का विशदीकरण करनेवाले ये तीनों ग्रन्थ एक-दूसरे के पूरक माने जाएँगे। भौतिकी (Physics) के अन्तर्गत Sound, Heat, Electricity आदि विषयों पर लिखे तीन ग्रन्थ परस्पर विरोधी न होकर पूरक होंगे। सृष्टि की उत्पत्यादि के विषय में यही स्थिति छह दर्शनों की है।

तस्माद्वा—इस सन्दर्भसम्बन्धी प्रश्न के उत्तर के अन्तर्गत 'जब महाप्रलय होता है' और तत्पश्चात् 'जिस-जिस प्रलय में जहाँ-जहाँ तक प्रलय होता है' इन वाक्यों से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार महाप्रलय के अतिरिक्त अवान्तर या खण्डप्रलय मानते हैं। महाप्रलय सर्ग के चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष बीतने के बाद होती है और अवान्तर प्रलय प्रतिमन्वन्तर होती है। दो मन्वन्तरों के बीच सन्धिकाल का निर्देश शास्त्रों ने किया है। महाप्रलय में सब-कुछ मूलकारण में विलीन हो जाता है, जबकि अवान्तरप्रलय में सीमित विलय होता है। जिस प्रलय में जहाँ तक प्रलय हो जाता है, उससे अगले स्तर से सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इसी कारण कहीं आकाश से और कहीं जल आदि से उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है, परन्तु भिन्न-भिन्न शास्त्रों में भिन्न-भिन्न स्तरों का उल्लेख न करके ग्रन्थकार के मतानुसार सर्वत्र सामान्य नियम कि 'जहाँ-जहाँ तक प्रलय होता है वहाँ-वहाँ से सृष्टि की उत्पत्ति होती है' क्यों नहीं कहा गया, यह विचारणीय है।

श्री पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक के अनुसार ईश्वर द्वारा वेद का ज्ञान सृष्टि के आदि में दिया जाता है। अवान्तर प्रलय के पश्चात् सुप्तप्रबुद्धन्याय से ऋषियों को वेद का स्मरण स्वयं हो जाता है। पं० भगवद्दत्त के अनुसार 'इन अवान्तर प्रलयों में पूर्वसृष्टि का मानव-इतिहास भी लुप्त हो जाता है, अतः मानवसृष्टि का मानव-इतिहास गत अवान्तर प्रलय से उत्तरकाल का है।'

https://t.me/arshlibrary

परन्तु **'विरोध'** उसको कहते हैं कि एक कार्य में एक ही विषय पर विरुद्धवाद होवे। छः शास्त्रों में अविरोध देखो इस प्रकार है। **मीमांसा में**—'ऐसा कोई भी कार्य जगत् में नहीं होता कि जिसके बनाने में कर्मचेष्टा न की जाए'। **वैशेषिक में**—'समय न लगे विना बने ही नहीं'। **न्याय में**—'उपादान-कारण न होने से कुछ भी नहीं बन सकता'। **योग में**—'विद्या, ज्ञान, विचार न किया जाए तो नहीं बन सकता'। **सांख्य में**—'तत्वों का मेल न होने से नहीं बन सकता'। और **वेदान्त में**—बनानेवाला न बनावे तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न हो न सके'। इसलिए सृष्टि छः कारणों से बनती है। उन छः कारणों की व्याख्या एक-एक की एक-एक शास्त्र में है। इसलिए उनमें विरोध कुछ भी नहीं। जैसे छः पुरुष मिलके एक छप्पर उठाकर भित्तियों पर धरें, वैसे ही सृष्टिरूप कार्य की व्याख्या छः शास्त्रकारों ने मिलकर पूरी की है।

जैसे पाँच अन्धे और एक मन्ददृष्टि को किसी ने हाथी का एक-एक देश बतलाया। उनसे पूछा कि हाथी कैसा है ? उनमें से एक ने कहा—खम्बे, दूसरे ने कहा—सूप, तीसरे ने कहा—मूसल, चौथे ने कहा—झाड़ू, पाँचवें ने कहा—चौतरा, और छठे ने कहा—काला-काला चार खम्भों के ऊपर कुछ भैंसा-सा आकारवाला है। इसी प्रकार आजकल के अनार्ष, नवीन ग्रन्थों के पढ़ने और प्राकृतभाषावालों ने ऋषिप्रणीत ग्रन्थ न पढ़कर, नवीन क्षुद्रबुद्धिकल्पित संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के ग्रन्थ पढ़कर, एक-दूसरे की निन्दा में तत्पर होके झूठा झगड़ा मचाया है। इनका कथन बुद्धिमानों के वा अन्य के मानने योग्य नहीं, क्योंकि जो अन्धों के पीछे अन्धे चलें, तो दुःख क्यों न पावें ? वैसे ही आजकल के अल्पविद्यायुक्त, स्वार्थी, इन्द्रियाराम पुरुषों की लीला संसार का नाश करनेवाली है।

[कारण और कार्य तथा 'सृष्टि' का विवेचन]

प्रश्न—जब कारण के विना कार्य नहीं होता, तो कारण का कारण क्यों नहीं ?

उत्तर—अरे भोले भाइयो ! कुछ अपनी बुद्धि को काम में क्यों नहीं लाते ? देखो, संसार में दो ही पदार्थ होते हैं—एक कारण, दूसरा कार्य। जो कारण है वह कार्य नहीं, और जिस समय कार्य है वह कारण नहीं। जब तक मनुष्य सृष्टि को यथावत् नहीं समझता, तब तक उसको यथावत् ज्ञान प्राप्त नहीं होता[1]—

आकाशः सम्भूतः—वस्तुतः आकाश उत्पन्न नहीं होता। उत्पन्न होनेवाला पदार्थ सदा सावयव, परिच्छिन्न तथा नाशवान् होता है, जबकि आकाश निरवयव, व्यापक तथा अविनाशी है। यदि आकाश न हो तो प्रकृति तथा परमाणु कहाँ ठहरें ? इसलिए आकाश सदा विद्यमान रहता है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती। प्रलयदशा में मूल उपादानतत्वों से जो आकाश भरा रहता है, सर्गदशा आने पर मूलतत्वों के जगद्रूप में परिणत हो जाने से वह प्रकट-जैसा हो जाता है। यह प्रकट होना ही उत्पन्न होना कह दिया जाता है। उत्पन्न होनेवाले समस्त पदार्थों का आकाश के साथ सम्बन्ध सदा बना रहता है। इस सम्बन्ध के कारण प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति का उपचार आकाश में हो जाता है। जीना-मरना देह का धर्म है, परन्तु व्यवहार में हम सदा 'देवदत्त मर गया' कहते हैं। शरीर के सम्बन्ध से नित्य आत्मा में यह व्यवहार गौणरूप से होता है। आकाश का उत्पन्न होना भी इसी प्रकार उपचार से या गौणरूप से कह दिया जाता है।

१. **'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'** (यजुः० ३१।१८) में आधिदैविक पक्षानुसार विराट् पुरुष, प्रजापति, हिरण्यगर्भ आदि अनेक नामवाला प्रकृति का विकाररूप जो महद् अण्ड है, उसके और उससे उत्पन्न कार्यजगत् के ज्ञान से ही मृत्यु से अतिक्रमण=अमृतत्व-प्राप्ति का निर्देश किया है।

https://t.me/arshlibrary

'नित्यायाः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थायाः प्रकृतेरुत्पन्नानां परमसूक्ष्माणां पृथक्-पृथग्वर्त्तमानानां तत्त्वपरमाणूनां प्रथमः संयोगारम्भः, संयोगविशेषादवस्थान्तरस्य स्थूलाकारप्राप्तिः सृष्टिरुच्यते ॥'

अनादि नित्यस्वरूप सत्त्व-रजस् और तमोगुणों की एकावस्थारूप प्रकृति से उत्पन्न जो परमसूक्ष्म पृथक्-पृथक् तत्त्वावयव विद्यमान हैं, उन्हीं का प्रथम ही जो संयोग का आरम्भ है, उन संयोगविशेषों से अवस्थान्तर=दूसरी-दूसरी अवस्था को सूक्ष्म से स्थूल-स्थूल बनते-बनाते विचित्ररूप बनी है। इसी से यह संसर्ग होने से **'सृष्टि'** कहाती है।

भला जो प्रथम संयोग में मिलने और मिलानेवाला पदार्थ है, जो संयोग का आदि और वियोग का अन्त, अर्थात् जिसका विभाग नहीं हो सकता, उसको **'कारण'** कहते हैं और जो संयोग के पीछे बनता और वियोग के पश्चात् वैसा नहीं रहता वह **'कार्य'** कहाता है। जो उस कारण का कारण, कार्य का कार्य, कर्त्ता का कर्त्ता, साधन का साधन और साध्य का साध्य कहता है, वह देखता हुआ अन्धा, सुनता बहिरा और जानता हुआ मूढ है। क्या आँख की आँख, दीपक का दीपक, और सूर्य का सूर्य कभी हो सकता है? जो जिससे उत्पन्न होता है वह **'कारण'**, और जो उत्पन्न होता है वह **'कार्य'** और जो कारण को कार्यरूप बनानेहारा है वह **'कर्त्ता'** कहता है।

कारण का कारण क्यों नहीं—इसपर विचार पूर्व पृष्ठों में हो चुका है।

नित्यायाः सत्त्वरजस्तमसाम्—इस सन्दर्भ पर आचार्य उदयवीर शास्त्री की टिप्पणी है—

"इस आनुपूर्वी में यह सन्दर्भ आज तक कहीं अन्यत्र उपलब्ध नहीं हो सका। लेखक की प्रणाली के अनुसार यहाँ सन्दर्भ के पहले या पीछे ऐसा कोई संकेत नहीं किया गया जिससे प्रस्तुत सन्दर्भ के उद्धरण होने का आभास हो सके, जबकि ग्रन्थ में प्रायः सर्वत्र उद्धृत सन्दर्भों के लिए मूलग्रन्थ के विषय में संकेत उपलब्ध होते हैं। इससे प्रतीत होता है कि इस विषय के शास्त्रप्रतिपादित सिद्धान्त को ध्यान में रखकर ऋषि ने स्वयं इस सन्दर्भ की रचना की है। इस सन्दर्भ के तीन भाग हैं—

१. सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है।

२. प्रकृति से परमसूक्ष्मतत्त्व परमाणुओं की उत्पत्ति होती है, जो अपने-अपने रूप में पृथक्-पृथक् विद्यमान रहते हैं।

३. उन परमसूक्ष्मतत्त्वों का परस्पर संयोग होकर विभिन्न तत्त्वों के इस प्रकार अन्योऽन्यमिथुन से विविध रचना के क्रमानुसार स्थूलाकार जगत् प्रकट में आ जाता है।

इस सन्दर्भ के विषय में कुछ सैद्धान्तिक आपत्ति उठाई जाती हैं, जो इस प्रकार हैं—

(क) यहाँ परमाणुतत्त्वों को प्रकृति से उत्पन्न बताया गया है, जबकि न्याय-वैशेषिक में इन्हें नित्य माना गया है।

(ख) यद्यपि ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश में प्रकृति को जगत् का उपादानकारण बताया है, पर अनेक स्थलों में प्रकृति के साथ उपादानकारणरूप में परमाणु का भी उल्लेख किया है। शास्त्रों में प्रकृति और परमाणु दोनों का विभिन्न रूप में वर्णन है; इसका सामंजस्य कैसे?

प्रथम इस सन्दर्भ द्वारा प्रतिपादित अर्थ की प्रामाणिकता पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है। सांख्य और वैशेषिक के इन सिद्धान्तों में परस्पर विरोध प्रतीत होता है, जब सांख्य प्रकृति से और वैशेषिक परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन करता है।

वस्तुतः यदि गम्भीरतापूर्वक इस विषय पर विचार किया जाए तो यह आपाततः प्रतीयमान विरोध

https://t.me/arshlibrary

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ —भगवद्गीता २।१६

कभी असत् का भाव=वर्त्तमान, और सत् का अभाव=अवर्त्तमान नहीं होता । इन दोनों का निर्णय तत्त्वदर्शी[1] लोगों ने जाना है ॥

लुप्तप्राय हो जाता है । न्याय-वैशेषिक में जगत् के उपादान पृथिव्यादि परमाणुओं को 'सविशेष' माना गया है । तात्पर्य यह है कि दृश्यमान स्थूल पृथिव्यादि में जो गन्धादि गुण देखे जाते हैं, वे सब उन-उन परमाणुओं में भी विद्यमान रहते हैं, पर सांख्यप्रतिपादित सर्ग-प्रक्रिया में सविशेष सृष्टि का प्रादुर्भाव पर्याप्त अनन्तर काल में आता है । सांख्य-योग के व्याख्याग्रन्थों में इसका स्पष्ट वर्णन उपलब्ध होता है कि पृथिव्यादि परमाणुओं की उत्पत्ति तन्मात्रों से होती है । तन्मात्रों तक सृष्टि अविशेष रहती है, उनसे सविशेष सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है, जिसके सर्वप्रथम तत्त्व पृथिव्यादि परमाणु हैं । आगे समस्त भूत-भौतिक-सृष्टि सविशेष रचना है ।

तन्मात्रों से पृथिव्यादि परमाणुओं की उत्पत्ति के विषय में वाचस्पति मिश्र का निम्न निर्दिष्ट लेख द्रष्टव्य है, योगदर्शनसूत्र (१।४४) के व्यासभाष्य की भूमिका में वह लिखता है—

'पार्थिवस्य परमाणोर्गन्धतन्मात्रप्रधानेभ्यः पञ्चतन्मात्रेभ्य उत्पत्तिः, एवमप्यस्य परमाणोर्गन्धतन्मात्र-वर्जितेभ्यो रसतन्मात्रप्रधानेभ्यश्चतुर्भ्यः । एवं तैजसस्य परमाणोर्गन्धरसतन्मात्ररहितेभ्यो रूपतन्मात्र प्रधानेभ्यस्त्रिभ्यः । एवं वायवीयस्य परमाणोर्गन्धादितन्मात्रहीनाभ्यां स्पर्शप्रधानाभ्यां स्पर्शशब्दतन्मात्राभ्यां, एवं नाभसस्य शब्दतन्मात्रादेवैकस्मात् ।'

अभिप्राय है कि पाँचों तन्मात्रों से पृथिवी की उत्पत्ति होती है, पर उनमें गन्धतन्मात्र की अधिकता रहती है । इसी प्रकार गन्धतन्मात्र को छोड़कर शेष चार तन्मात्रों से जलीय परमाणु परिणत हो जाते हैं, पर उन तन्मात्रों में रसतन्मात्र की अधिकता रहती है । ऐसे ही गन्ध और रसतन्मात्र को छोड़कर शेष तीन तन्मात्र अन्योन्यमिथुन होकर तैजस परमाणुओं के रूप में परिणत हो जाते हैं, पर उनमें रूपतन्मात्रों की अधिकता रहती है । इसी प्रकार शेष दो तन्मात्रों से वायवीय परमाणु उत्पन्न होते हैं, पर उनमें स्पर्श- तन्मात्रों की अधिकता रहती है । आकाशतत्त्व का परिणाम केवल शब्दतन्मात्रों से होता है ।

इसी आशय का सन्दर्भ सांख्यसप्तति की अति प्राचीन टीका माठरवृत्ति में उपलब्ध होता है । २२वीं कारिका की व्याख्या में पाठ है—

'तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशः, स्पर्शतन्मात्राद् वायुः, रूपतन्मात्रात्तेजः, रसतन्मात्रादापः, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी, इत्यादि क्रमेण पूर्वपूर्वानुप्रवेशेनैकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणानि आकाशादिपृथिवीपर्यन्तानि महाभूतानीति सृष्टिक्रमः' ।

पुनः ३८वीं आर्या की व्याख्या में पाठ है—

'शब्दादिभ्य पञ्चभ्य आकाशादीनि पञ्चमहाभूतानि
पूर्वपूर्वानुप्रवेशादेक द्वित्रिचतुष्पञ्चगुणान्युत्पद्यन्ते'।

इनका अभिप्राय यही है कि शब्दतन्मात्र से आकाश परिणत होता है । स्पर्शतन्मात्रप्रधान शब्दस्पर्शतन्मात्र से वायु, एवं रूपतन्मात्रप्रधान शब्दस्पर्शरूपतन्मात्र से तेज, इसी प्रकार आगे समझना

१. तत्त्वदर्शी=जो तत्त्वों का अर्थात् परमाणुओं अथवा प्रकृति का साक्षात्कार करते हैं । —भ०द०

https://t.me/arshlibrary

अन्य पक्षपाती आग्रही मलीनात्मा अविद्वान् लोग इस बात को सहज में कैसे जान सकते हैं ? क्योंकि जो मनुष्य विद्वान्, सत्संगी होकर पूरा विचार नहीं करता, वह सदा भ्रमजाल में पड़ा रहता है। धन्य वे पुरुष हैं कि जो सब विद्याओं के सिद्धान्तों को जानते हैं, और जानने के लिए परिश्रम करते हैं। जानकर औरों को निष्कपटता से जनाते हैं, इससे जो कोई कारण के विना सृष्टि मानता है, वह कुछ भी नहीं जानता।

चाहिए। इस परिणाम में सर्वप्रथम स्पर्शादितन्मात्रों से जो तत्व परिणत होता है, वह वायवीय आदि परमाणुरूप में होता है। उसके अनन्तर उनसे समानजातीय स्थूलभूत एवं अन्य भौतिक जगत् की उत्पत्ति होती है।

योगदर्शन के व्यासभाष्य में अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर प्रसंगवश इस अर्थ को स्पष्ट किया है कि तन्मात्रों से पृथिव्यादि परमाणुरूप में सूक्ष्मभूतों की उत्पत्ति होकर उनसे स्थूलभूत परिणत होते हैं। योगदर्शन के (१।४५) सूत्र की व्याख्या में लिखा है—

'पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः, आप्यस्य रसतन्मात्रं, तैजसस्य रूपतन्मात्रं, वायवीयस्य स्पर्शतन्मात्रं, आकाशस्य शब्दतन्मात्रमिति, तेषामहङ्कारः'।

अर्थात्—पार्थिव परमाणु से सूक्ष्म विषय है गन्धतन्मात्र, क्योंकि वह पार्थिव परमाणु का कारण है। अन्य तैजस आदि परमाणुओं के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। तन्मात्रों की अपेक्षा अहंकार और भी सूक्ष्म विषय है, क्योंकि वह तन्मात्रों का कारण है। इस विषय में व्यासभाष्य के ३।४४ तथा ४।१४ ये स्थल भी द्रष्टव्य हैं।

इन सब आधारों पर यह स्पष्ट होता है कि समस्त जगत् का मूल उपादानकारण प्रकृति है। प्रकृति से अध्यात्मसृष्टिरचना के अनन्तर जब अधिभूत सृष्टि का आरम्भ होता है तो उसमें सर्वप्रथम तन्मात्रों का परिणाम होता है, तन्मात्रों से पृथिव्यादि परमाणुरूप में उन सूक्ष्मभूतों की उत्पत्ति होती है। अनन्तर सूक्ष्मभूतों से स्थूलभूत एवं अन्य भौतिक जगत् परिणत होता है। ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश में उपादानकारण रूप से जहाँ 'प्रकृति' के साथ 'परमाणु' पद का भी प्रयोग किया है, वहाँ ऋषि का यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि जगत् का मूल उपादान तो प्रकृति ही है, परन्तु जब प्रकृति के द्वारा भौतिक जगत् की रचना होने लगती है, तब सर्वप्रथम पृथिव्यादि परमाणुरूप में ही रचना होती है। वह भौतिक जगत् का सर्वप्रथम कार्य है। प्रकृति से परमाणु-रचना द्वारा ही स्थूल भौतिक जगत् परिणत होता है। इसी भाव को प्रकट करने के लिए ऋषि ने यत्र-तत्र प्रकृति के साथ परमाणु पद का प्रयोग किया है। यहाँ शास्त्रीय पारस्परिक विरोध अथवा अन्य किसी भावना का सन्निवेश नहीं है।

जहाँ तक परमाणु को नित्य मानने का प्रश्न है, यह ठीक है कि इस रूप में पृथिव्यादि परमाणुतत्व यद्यपि अनित्य हैं—अनेक तत्वों के सम्मिश्रण हैं, फिर भी गौतम-कणाद ने इनको नित्य कहा है। इसका कारण यह है कि जहाँ पर इनको मूल तत्त्व कहकर वर्णन किया गया है, वहाँ इन्हें नित्य कहना ही चाहिए, क्योंकि वहाँ उनसे पूर्व की व्याख्या नहीं की गयी है।

इसकी अधिक स्पष्टता के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि नव्य नैयायिकों में अनेक आचार्य सूक्ष्म परमाणु से स्थूल द्रव्य की उत्पत्ति की न्याय-वैशेषिकाभिमत विशिष्ट व्याख्या की उपेक्षा करके त्रसरेणु से ही जगत्सर्ग का आरम्भ मान लेते हैं, सूक्ष्म से स्थूल की उत्पत्ति कैसे होती है, इस झमेले में पड़ना ही नहीं चाहा और स्थूल जगत् के सबसे छोटे कण त्रसरेणु को मूल उपादान मानकर जगत् की व्याख्या प्रस्तुत

https://t.me/arshlibrary

की है और उसको नित्य तत्त्व कहा है। कारण यह है कि उन्होंने अपने विवेचन-क्षेत्र को यहीं तक सीमित रक्खा है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार इसका और अधिक स्पष्ट उदाहरण दिया जा सकता है। आधुनिक रसायनशास्त्र में पहले १०२ तत्त्व माने जाते थे। रसायनशास्त्र इनको नित्य मूलतत्त्व स्वीकार करता था, पर वस्तुस्थिति में ये समस्त तत्त्व सम्मिश्रण थे। जबसे इनका भौतिकीशास्त्र में प्रवेश हुआ है तब से इनकी संख्या केवल तीन रह गयी है—प्रोटोन, इलेक्ट्रॉन और न्यूट्रॉन। ऐसा होने पर भी इन शास्त्रों की मान्यताओं में कोई असामंजस्य नहीं है, क्योंकि इनके विवेचन का अपना-अपना क्षेत्र है, यद्यपि यह समस्त विवेचन जगत्सर्गविषयक है। ठीक यही स्थिति न्याय-वैशेषिक और सांख्य-योग के विवेचन की समझनी चाहिए। फलतः सत्यार्थप्रकाशस्थित विवेच्य सन्दर्भ के विषय में जो आपत्ति उठाई जाती हैं, वे निराधार हैं।

सन्दर्भ का प्रथम भाग ऋषि ने साक्षात् सांख्यदर्शन के सूत्र **'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः'** के आधार पर प्रस्तुत किया है। द्वितीय अंश एतद्विषयक मूल तथा व्याख्या-ग्रन्थों पर आधारित है और तृतीय अंश का आधार सांख्यादि शास्त्रों के वे कथन हैं जहाँ प्रकृति से विकार अथवा जगद्रचना की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है।

इस विवेचन से प्रकृति—परमाणुभेद, परमाणु का नित्यानित्यवाद तथा सांख्य-वैशेषिक में परस्पर भेद आदि सभी आपत्तियों का समाधान हो जाता है।

'गुण' नामकरण का आधार—विभिन्न शास्त्रों—व्याकरण, राजनीतिशास्त्र, गणित, वै० दर्शन आदि में इस पद का प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है। मूलतत्त्वों के 'गुण' नामकरण का आधार सांख्य का एक सिद्धान्त है, जो जगद्रचना की वास्तविक प्रक्रिया के अनुसार निर्णीत किया गया है। वह सिद्धान्त है—जगत्-सर्ग में मूलतत्त्वों की अन्योन्यमिथुनवृत्तिता का स्वभाव। जब जगत् की रचना होने लगती है अथवा मूलतत्त्व विकारोन्मुख होने लगते हैं तब वे एक-दूसरे में वर्त्तुलाकार गुथे हुए रहकर अपना कार्य चालू रखते हैं, यह उनका स्वभाव है। कपिल ने मूलतत्त्वों के स्वरूप का निरूपण प्रीति, अप्रीति और विषाद पदों से किया है। जगद्रचना-काल में ये एक-दूसरे के साथ गुथे रहते हैं। जब हम सन अथवा जूट या इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं के रेशों (तन्तुओं) को इकट्ठा कर लपेट के साथ उन्हें दुहरा-तिहरा कर देते हैं, उनकी उस अवस्था को 'गुणित' अथवा 'गुणीकृत' या 'गुणीभूत' कहा जाता है। कदाचित् इसी आधार पर संस्कृत में रस्सी का नाम 'गुण' है। लगभग यही स्थिति रचनाकाल में मूलतत्त्वों की होती है।

यह कहना यहाँ अप्रासांगिक न होगा कि अथर्ववेद में मूलतत्त्वों के लिए इस पद का प्रयोग हुआ है—**'त्रिभिर्गुणैरावृतम्'** (१०।८।४३)। इस पद के व्याख्यान में सत्व, रजस्, तमस् के अन्योऽन्यमिथुनवृत्ति होने की ध्वनि प्रस्फुटित होती है।

कार्यावस्था में जो अविभाज्य है उसकी पृथिवी परमाणु आदि संज्ञा है। किसी पदार्थ का छोटे-से-छोटा अवयव, जिसके आगे टुकड़े न हो सकें, परमाणु कहाता है। पृथिवी अथवा किसी पार्थिव पदार्थ का विश्लेषण या विभाग करते-करते जब हम सूक्ष्मातिसूक्ष्म ऐसे कण पर पहुँच जाते हैं जिसमें पृथिवीत्व बना रहता है, वह पृथिवी का मूल परमाणु है। परमाणु में परिधि और व्यास होता है और जिसमें परिधि और व्यास है, वह अन्तिम तत्त्व नहीं है, क्योंकि उसके आगे और भी विघटन हो सकता है। जब तक वह एकमात्र नहीं हो जाता तब तक कटता चला जाता है। फिर भी उसे अविभाज्य इसलिए कहा

https://t.me/arshlibrary

जाता है कि उस अवस्था में अर्थात् कार्यावस्था को खोये बिना उसके और टुकड़े नहीं किये जा सकते। पृथिवी के परमाणु का और आगे विश्लेषण अथवा विखण्डन तो किया जा सकता है, किन्तु तब उसमें पृथिवीत्व नहीं रहेगा, प्रत्युत वह अपने मूल कारणों के रूप में बिखर जाएगा। पृथिवीत्व की प्रतीति न रहने पर उसकी कार्यगत विशेषता समाप्त हो जाएगी। तब उसकी संज्ञा 'अविशेष' अथवा 'तन्मात्र' हो जाएगी जो अन्ततः सत्त्व, रजस् और तमस् के रूप में एकमात्र हो मूलकारणावस्था को प्राप्त हो जाएगा। जलादि के परमाणुओं के विषय मे भी यही स्थिति है। इन्हें 'तन्मात्र' इसलिए कहते हैं, क्योंकि ये अन्य किसी भी तत्व से अमिश्रित रहते हैं और 'अविशेष' इसलिए क्योंकि इनमें किसी भी प्रकार की बाह्य विशेषता अर्थात् कार्यगत विशेषता नहीं रहती। प्रकृति की कार्यावस्था में परमाणु ही सृष्टि का उपादान है। परमाणु से नीचे कार्यसृष्टि की रचना सम्भव नहीं। इसलिए कार्यावस्था में प्रकृति का सूक्ष्मतम अवयव होने और स्थूलाकार सृष्टि की उत्पत्ति में कारण होने से द्रव्य की परमाणु अवस्था को भी प्रकृति अथवा मूल उपादान कहा जाता है। न्याय-वैशेषिक ने प्राकृत तन्मात्रों से परिणत सूक्ष्मभूत की अवस्था तक विचार प्रस्तुत किया, जबकि सांख्य ने प्रकृति की मूलावस्था तक पहुँचने का प्रयास किया, अर्थात् जहाँ से सांख्य मूल जड़ तत्व की खोज में सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम सृष्टि के क्रम की ओर गया, वहीं से न्याय-वैशेषिक ने स्थूल सृष्टि का क्रम दिखाया। इस प्रकार सभी एक-दूसरे के पूरक हैं।

प्रकृति से विकृति की अवस्था में आने पर उसका प्रथम विकार अथवा परिणाम 'महत्' कहाता है। उस 'महत्' से अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार भेद का सिद्धान्त है, अतः उससे प्रकृति में पृथक्ता का भाव उत्पन्न होता है। अहंकार से पञ्चतन्मात्र तथा इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्मतत्वों का ग्रहण इन्द्रियों से नहीं होता, किन्तु पृथिवी आदि स्थूल तत्त्व इन्द्रियगोचर हैं। इसलिए इनके अस्तित्व से उनके उपादान तन्मात्र तत्त्वों के अस्तित्व का अनुमान होता है।

ग्रन्थकार के अनुसार "साठ परमाणुओं के संघात का नाम अणु है, दो अणु का एक द्वयणुक वायु है, तीन द्वयणुक का अग्नि, चार द्वयणुक का जल और पांच द्वयणुक की पृथिवी है, अर्थात् तीन द्वयणुक का त्रसरेणु और उसका दूना होने से पृथिवी आदि दृश्य पदार्थ होते हैं। इसी प्रकार क्रम से मिलाकर भूगोल आदि परमेश्वर ने बनाये हैं।" एक अणु=६० परमाणु, द्वयणुक=२×६०=१२० परमाणु, त्रसरेणु=३ ×१२० =३६० परमाणु, त्रिसरेणु का दुगुना २×३६०=७२० परमाणु। इस प्रकार किसी द्रव्य पदार्थ के दृश्यरूप में आने के लिए न्यूनातिन्यून ७२० परमाणुओं का संघात अनिवार्य है। फिर उनके संयोग विशेष से प्रथमतः कोई तत्त्व बनकर सूक्ष्म रो स्थूल, स्थूलतर, स्थूलतम बनता जाता है।

जो पंचभूत दृष्टिगोचर होते हैं वे सब संयुक्त हैं। उनमें जो स्थूल हैं, उनमें सुक्ष्म के गुण रहते हैं। पृथिवी उनसे स्थूल है, इसलिए उसमें सब भूतों के रहने से उन सब भूतों का पृथिवी में प्रत्यक्ष होता है। पंचभूतों में सूक्ष्मतम आकाश है। आकाश की उत्पत्ति नहीं होती। वह विभु एवं नित्य है। फिर भी जब **'आकाशः सम्भूतः'** कहा जाता है तो इसका इतना ही अभिप्राय होता है कि उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश—अवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैला हुआ था, उसको इकट्ठा करने से आकाश उत्पन्न हुआ-सा दीखता है।

https://t.me/arshlibrary

[सृष्टि की रचना]

जब सृष्टि का समय आता है, तब परमात्मा उन परम सूक्ष्म पदार्थों को इकट्ठा करता है। उसकी प्रथम अवस्था में जो परम सूक्ष्म प्रकृतिरूप कारण से कुछ स्थूल होता है उसका नाम महत्व, और जो उससे कुछ स्थूल होता है उसका नाम अहंकार, और अहंकार से भिन्न-भिन्न पाँच सूक्ष्मभूत, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण ये पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ, वाक् हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा ये पाँच कर्म इन्द्रियाँ हैं, और ग्यारहवाँ मन कुछ स्थूल उत्पन्न होता है। और उन पञ्चतन्मात्राओं से अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त होते हुए क्रम से पाँच स्थूलभूत, जिनको हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं उत्पन्न होते हैं। उनसे नाना प्रकार की ओषधियाँ वृक्ष आदि, उनसे अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर होता है, परन्तु आदि सृष्टि मैथुनी नहीं होती, क्योंकि जब स्त्री-पुरुषों के शरीर परमात्मा बनाकर उनमें जीवों का संयोग कर देता है, तदनन्तर मैथुनी सृष्टि चलती है।

सृष्टि का प्रादुर्भाव

सृष्टि की रचना जीव के भोग और अपवर्ग के लिए की गयी है—**'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'** (योग २।१८)। जीव का भोगादि शरीर के बिना सम्भव नहीं—**'भोगायतनं शरीरम्'**। इसलिए सृष्टिक्रम को चालू करने के लिए जीवों के पास देह का होना नितान्त आवश्यक है। अशरीर अवस्था में जीव उनका निर्माण करने में असमर्थ है। इसलिए योनिज तथा अयोनिज दो प्रकार के शरीरों की व्यवस्था की गयी है। सर्ग का चालू काल ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार संचालित होता है और अयोनिज शरीरों का निर्माण होता है। इसलिए इसे ऐश्वरी सृष्टि कहते हैं। तत्पश्चात् साजात्य प्रजनन का क्रम चालू होता है। जो कार्य पहले प्राकृतिक व्यवस्थाओं के अनुसार जीव से अतिरिक्त सत्ता के द्वारा होता था, वह अब नर-मादा के संयोग से होकर योनिज शरीरों की सृष्टि के रूप में स्वयं प्राणियों द्वारा होने लगता है। आरम्भ में साँचा बनना कठिन होता है। साँचा तैयार हो जाने पर उसके अनुरूप वस्तुओं का निर्माण करने में विशेष कठिनाई नहीं होती। आदि सृष्टि में अनेकानेक शरीरों के रूप में सांचे बनाना ईश्वर का काम था। तदनन्तर उन साँचों में ढाल-ढाल कर नित नये शरीर बनाते रहना जीवों का काम है।

प्रजनन की विधाओं को साधारणरूप में चार भागों में बाँटा गया है—जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज। इन चार वर्गों में प्राणिमात्र का समावेश हो जाता है। स्वेदज अथवा ऊष्मज वर्ग में सूक्ष्म कृमि, कीट आदि की गणना की जाती है। इनके देह अपने उपादानकारणों में एक विशेष सीमित ऊष्मा की प्राप्ति पर विशिष्ट आकृतियों के रूप में उभर आते हैं। ये देह अति सूक्ष्म स्थिति से लगकर चक्षु द्वारा दृश्य तथा कुछ स्थूल स्थिति तक रहते हैं। सम्भवतः इनमें अनेक देह इतने सूक्ष्म हों जिनको हम बाह्य यन्त्रों की सहायता से भी चक्षुओं द्वारा न देख सकते हों। ऐसे सभी दृश्यादृश्य देहों की रचना ऊष्मा के उपयुक्त स्तर पर पहुँचने से उनके उपादानतत्त्वों से पूर्ण हो जाती है।

उद्भिज्जों में पीपल के पेड़ के उदाहरण से आदि सृष्टि में उसके पैदा होने की प्रक्रिया का 'बीज पहले या वृक्ष पहले' प्रसंग में उल्लेख किया जा चुका है। उद्भिज्ज-वर्ग के अनन्तर अण्डज-वर्ग आता है। इस वर्ग में पक्षी और सरीसृप जाति के प्राणि आते हैं। सरीसृप जातियाँ जल-स्थल दोनों में पाई जाती हैं। इस वर्ग के प्राणियों का भ्रूण एक विशेष प्रकार के खोल में सुरक्षित रहता है। मातृगर्भ में उपयुक्त पोषण प्राप्त करके गर्भ से बाहर भी कुछ काल तक कोशयुक्त रहता हुआ पुष्ट होता है। भ्रूण का अपेक्षित परिपाक

https://t.me/arshlibrary

देखो ! शरीर में किस प्रकार की ज्ञानपूर्वक सृष्टि रची है कि जिसको विद्वान् लोग देखकर आश्चर्य मानते हैं। भीतर हाड़ों का जोड़, नाड़ियों का बन्धन, मांस का लेपन, चमड़ी का ढक्कन, प्लीहा, यकृत् फेफड़ा, पंखाकला का स्थापन, जीव का संयोजन, शिरोरूप मूलरचन, लोम-नखादि का स्थापन, आँख की अतीव सूक्ष्म शिरा का तारवत् ग्रन्थन, इन्द्रियों के मार्गों का प्रकाशन, जीव के जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्था के भोगने के लिए स्थान-विशेषों का निर्माण, सब धातु का विभागकरण, कला-कौशल-स्थापनादि[1] अद्भुत सृष्टि को विना परमेश्वर के कौन कर सकता है ?

होने पर खोल फटता है और बच्चा निकल आता है। इस वर्ग में उत्पत्तिकाल की दृष्टि से कुछ अधिक बड़े देहवाले प्राणियों का समावेश है। कुछ काल तक भ्रूण का गर्भ से बाहर भी पोषण होता है, इसलिए इस वर्ग के भ्रूण का खोल अपेक्षाकृत कठोर होता है।

अण्डज वर्ग के आगे बड़ी देहवाला जरायुज वर्ग है, जिसमें मानवसहित समस्त प्राणियों का समावेश है। भ्रूण के कोश में परिपोषण की प्राकृत व्यवस्था इस वर्ग में भी समान है। मातृगर्भ में भ्रूण पूर्णांग होने तक जरायु में परिवेष्टित रहता है। स्निग्ध, सुदृढ़ चमड़े-जैसे पदार्थ की थैली को जरायु कहते हैं। पूर्णांग होने पर इसको भेदकर ही भ्रूण मातृगर्भ से बाहर आता है। विभिन्न प्राणियों में भ्रूण के परिपोषण और पूर्णांग होने तक की व्यवस्था में थोड़ा-बहुत अन्तर देखा जाता है, पर भ्रूण की सुरक्षा तथा उपयुक्त पुष्टि एवं वृद्धि तक के लिए उसका परिवेष्टित कोश में रहना समान है। यह एक ऐसी नियत व्यवस्था है जो प्राणी के प्रादुर्भाव की आद्यस्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालती है।

योनिज-अयोनिज

गर्भाशय से देह के बाहर आने के मार्ग का तथा देहोत्पत्ति में सहायक स्थानविशेष का नाम 'योनि' है। इस प्रकार से उत्पन्न होनेवाले देह योनिज कहाते हैं। सर्ग के आदिकाल में जब सर्वप्रथम देही का शरीर प्रकाश में आता है तब नर-नारी का परस्पर सम्पर्क नहीं होता, क्योंकि इसमें देह के शरीर से बाहर निकलने अथवा गर्भस्थिति में सहायक होनेवाले मार्ग=योनि का उपयोग नहीं होता, इसलिए यह देहरचना या देहसृष्टि अयोनिज कहाती है। इसी को अमैथुनी सृष्टि कहते हैं। सर्गादिकाल में मुक्ति की अवधि समाप्त होने पर मानवशरीर धारण करनेवाले जीवों, उत्कृष्ट धर्मविशेष का पालन करनेवाले ऋषि-मुनियों तथा अन्य समस्त प्राणियों के देह इसी श्रेणी में आते हैं। प्रशस्तपाद ने वैशेषिकदर्शन के अपने भाष्य में लिखा है—**'तत्रायोनिजमनपेक्षितं शुक्रशोणितं देवर्षीणां शरीरं धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते'** अर्थात् देवों और ऋषियों के शरीर शुक्रशोणित के बिना ही परमाणुओं से उत्पन्न होते हैं। रज-वीर्य भी तो अन्ततः परमाणुओं एवं मूलतः सत्त्व, रजस्, तमस् का ही विकार हैं। यजुर्वेद (३१।६) में लिखा है—**"तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये"** अर्थात् आदि सृष्टि में परमात्मा से देव, ऋषि और साध्य आप-ही-आप उत्पन्न हो गये।

यदि माता-पिता के संयोग से ही सृष्टि मानी जाए तो अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी। यह ऐश्वरी सृष्टि कहाती है, क्योंकि उस समस्त सृष्टि के निमित्तकारण के रूप में ईश्वर ही विद्यमान होता है। उसकी प्राकृत व्यवस्थाओं के अनुसार रज-वीर्य के मूलतत्त्वों के किसी विशिष्ट खोल आदि में इकट्ठा होने पर देहरचना आरम्भ हो जाती है और पुष्ट होने पर यथासमय उनके खोल फट जाते हैं और इस प्रकार

---

१. इसका भाव यह है कि सब धातुओं का विभाजन और उनका कलाकौशल से स्थापनादि। अथवा धातुओं का विभाग करनेवाली जो कलाएँ=शरीरावयव उनका कौशल से स्थापनादि।

https://t.me/arshlibrary

इसके अतिरिक्त नाना प्रकार के रत्न, धातु से जड़ित भूमि, विविध प्रकार के वटवृक्ष आदि के बीजों में अति सूक्ष्म-रचना, असंख्य हरित, श्वेत, पीत, कृष्ण, चित्र, मध्यरूपों से युक्त पत्र, पुष्प, फल, मूल, निर्माण, मिष्ट, क्षार, कटुक, कषाय, तिक्त, अम्लादि विविध रस, सुगन्धादियुक्त पत्र, पुष्प, फल, अन्न, कन्द-मूलादि रचन, अनेकानेक क्रोड़ों भूगोल, सूर्य-चन्द्रादि लोकनिर्माण, धारण, भ्रामण, नियमों में रखना आदि परमेश्वर के विना कोई भी नहीं कर सकता ।

बने-बनाये शरीर बाहर आ जाते हैं ।

उद्भिज्ज में वृक्ष, लता, वनस्पति आते हैं, जो पृथिवी फोड़कर बाहर निकलते हैं । ये देह सर्ग के चालू काल में भी इसी प्रकार बनते रहते हैं । वृक्षों में जीवन है, इस तथ्य को प्राचीन आचार्यों ने स्वीकार किया है । आधुनिक वैज्ञानिक परीक्षणों के आधार पर भी इसकी पुष्टि हुई है । वृक्षों में भग्नक्षतसंरोहण और साजात्य प्रजनन को देखकर भी उनमें जीवन का होना सिद्ध होता है, परन्तु वृक्षादि में चेष्टाश्रयता और इन्द्रियाश्रयता के स्पष्ट न होने से उनमें शरीर-व्यवहार नहीं होता ।

सृष्टि चाहे मैथुनी हो या अमैथुनी, प्राणियों के शरीरों की रचना परमेश्वर सदा माता-पिता के द्वारा ही करता है । दोनों में अन्तर केवल इतना है कि आदिसृष्टि में जननी यह भूमि होती है और वीर्यसंस्थापक सूर्य । ऋग्वेद में कहा है —**'द्यौर्मे पिता जनिता माता पृथिवी महीयम्'** (ऋ० १।१६४।३३), अर्थात् सृष्टि के आदिकाल में प्राणियों के शरीर का उत्पाद पिता रूप में सूर्य था और माता के रूप में यह विशाला पृथिवी, परमात्मा ने पृथिवी और सूर्य दोनों के रज-वीर्य के संमिश्रण से प्राणियों के शरीरों को बनाया । जैसे इस समय बालक माता के गर्भ या जरायु में पड़ा माता के आहार में से रस लेकर बनता और विकसित होता है, वैसे ही आदिसृष्टि में पृथिवीरूपी माता के गर्भ में बनता रहता है । गीता में कहा है—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥—गीता १४।३

अर्थात् मेरे अधीन जो प्रकृति (महद् ब्रह्म) है उसमें मैं गर्भ धारण कराता हूँ । यहाँ **'महद् ब्रह्म'** योनि-स्थानीय है और परमेश्वर पितृस्थानीय है । इस प्रकार प्रकृतिरूपी माता और परमात्मारूपी पिता के संयोग से सृष्टिरचना होती है । ब्रह्म पद ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों का वाचक है । वेद में 'ज्येष्ठ ब्रह्म', 'इदं ब्रह्म' और 'महद् ब्रह्म' से क्रमशः ईश्वर, जीव और प्रकृति का बोध होता है । केवल 'ब्रह्म' पद प्रायः ईश्वर और वेद का वाचक है । प्रस्तुत सन्दर्भ में 'महद् ब्रह्म' का प्रयोग प्रकृति के लिए हुआ है । मूल उपादान के रूप में प्रकृति समस्त कार्यसमूह से बड़ी है, इसीलिए उसके विशेषणरूप में 'महत्' पद का प्रयोग हुआ है । प्रकारान्तर से गीता के इस श्लोक में निमित्तकारण के रूप में परमात्मा का और उपादनकारण के रूप में प्रकृति का उपपादन हुआ है ।

रज-वीर्य भी तो अन्ततः परमाणुओं एवं मूलतः सत्त्व-रजस्-तमस् का ही विकार हैं । **प्राणी के प्रजनन की जिस स्थिति को मैथुनी सृष्टि में नर-मादा का संयोग प्रस्तुत करता है, अमैथुनी सष्टि में वह स्थिति प्राकृत नियमों व व्यवस्थाओं के अनुसार प्रकृति के गर्भ में प्रस्तुत हो जाती है ?** वर्तमान में वैज्ञानिकों द्वारा ट्यूब में मानवशरीर के निर्माण के लिए किया जा रहा प्रयत्न इसी प्रक्रिया का द्योतक है ।

पुरुष के वीर्य के स्त्री के गर्भाशय में रज के साथ ठहर जाने से गर्भ का जन्म होता है । यदि कोई पदार्थवेत्ता उन तत्त्वों को पूरी तरह जान ले, जो वीर्य में हैं तो वह स्वतन्त्ररूप से वीर्य बना सकता है । उस अवस्था में पुरुष के वीर्य की आवश्यकता नहीं रहेगी । इसी प्रकार यदि कोई जान ले कि गर्भाशय में कितने अंश की गर्मी वीर्यपोषक रहती है तो वह स्वतन्त्र गर्भाशय बना सकता है । फिर वायु और बिजली

https://t.me/arshlibrary

जब कोई किसी पदार्थ को देखता है, तो दो प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है—एक जैसा वह पदार्थ है, और दूसरा उसमें रचना देखकर बनानेवाले का ज्ञान होता है। जैसे किसी पुरुष ने सुन्दर आभूषण जंगल में पाया। देखा तो विदित हुआ कि वह सुवर्ण का है, और किसी बुद्धिमान् कारीगर ने बनाया है। इसी प्रकार यह नाना प्रकार की सृष्टि में विविध रचना बनानेवाले परमेश्वर को सिद्ध करती है।

[सृष्टि की आदि में मनुष्योत्पत्ति कब और कैसे]

प्रश्न—मनुष्य की सृष्टि प्रथम हुई, वा पृथिवी आदि की ?

द्वारा इन दोनों को मिलाकर एक गर्भ का रूप दे सकता है। यदि वह गर्भ को सुरक्षित रख सके तो उसमें से समय पर बच्चा निकल सकता है। देहोत्पत्ति की यह प्रक्रिया सर्वथा युक्तियुक्त होती है, परन्तु कोई भी मनुष्य पूर्णज्ञानी न होने से ऐसा कर नहीं सकता। हाँ, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक तथा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के लिए यह कोई कठिन कार्य नहीं, उसकी व्यवस्था में आज भी यह सब हो रहा है।

एक ओर प्रकृति बीज बनाती है तो उसी समय दूसरी ओर निकट या कुछ दूरी पर गर्भाशय बनाती है। पवन या तितलियों को एक स्थल से बीज लेकर उड़ते और उन स्थलों में पहुँचाते देखा जा सकता है, जो गर्भाशय का काम दे सकें। इससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि आदिकाल में जब बीज की उत्पत्ति हुई तो उसी समय गर्भाशय भी बनाये गये होंगे। बीज को धारण करने के लिए गर्भाशय आज भी तैयार किये जाते हैं। गेहूँ बोने के लिए भूमि ही योनि, क्षेत्र या गर्भाशय का काम देती है। यदि बीज को सपाट भूमि पर डाल दिया जाए तो या तो वह उगेगा नहीं और यदि उग गया तो चलेगा नहीं और कुछ चला तो फलेगा नहीं। इसलिए बीज डालने से पहले भूमि को हल चलाकर या खोदकर इस योग्य बनाते हैं। तब अन्दर की मिट्टी में बीज डालकर ऊपर की मिट्टी से ढक देते हैं। इस प्रकार बीज को गर्भाशय में पड़ गया समझना चाहिए। गर्भाशय में दो विशेषताएँ हैं—एक यह कि वह बीज धारण करने के लिए खुलता है, दूसरे, बीज धारण कर लेने के पश्चात् बन्द हो जाता है। भूमि को खोदना मानो भूमिरूपी गर्भाशय को खोलना है और फिर मिट्टी डालकर उसे ढक देना मानो गर्भाशय को बन्द कर देना है। सृष्टि के आदि में एक ओर परमेश्वर की प्रेरणा से अनेकानेक प्राणियों को जन्म देने योग्य वीर्य का भण्डार तैयार होता है और दूसरी ओर भूमि में अनेक गर्भाशय तैयार होते हैं। इन गर्भाशयों में प्रविष्ट वीर्य गर्भरूप हो विकसित होने लगता है और एक दिन गर्भाशय की थैली फटने पर प्राणी बाहर आ जाता है।

नासतो विद्यते भावः—'सत्' से 'असत्' और 'असत्' से 'सत्' कभी नहीं होता। जो संसार में आज तक विद्यमान है, उसका सत् होना निश्चित है। वस्तुतः किसी कार्यवस्तु का सर्वथा नाश नहीं होता और न अभाव से उसकी उत्पत्ति होती है। अभिव्यक्त अवस्था में आने पर जब वह अपने नाम-रूप का परित्याग करती है तो या तो वह रूपान्तर धारण कर लेती है या अपनी कारणावस्था में चली जाती है। इसी स्थिति को साधारणतया उस कार्यवस्तु के नाश का नाम दे दिया जाता है—**'नाशः कारणलयः'**, परन्तु उत्पत्ति से पहले और विलय के पीछे भी उसका अस्तित्व अपने कारण में बराबर बना रहता है।

पृथिव्यादि की सृष्टि पहले—भोग्य के पश्चात् भोक्ता होता है। इस व्यवस्था के अनुसार पहले प्राणी के प्रादुर्भाव से पूर्व पृथिवी, जल, वायु, लता, ओषधि, वनस्पति, फल, फूल आदि खाद्य पदार्थ तथा सूर्य, चन्द्रमा आदि अन्य साधन उपलब्ध थे। इनके बिना प्राणिमात्र के लिए धरती पर रहना सम्भव न था। यजुर्वेद (३१।६) के अनुसार **'संभृतं पृषदाज्यं पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्याग्राम्याश्च ये'** अर्थात् परमेश्वर ने

https://t.me/arshlibrary

उत्तर—पृथिवी आदि की, क्योंकि पृथिव्यादि के विना मनुष्य की स्थिति और पालन नहीं हो सकता ।

पहले दध्यादि भोग्य पदार्थों तथा वायु में गमन करनेवाले पक्षियों, व्याघ्रादि बनैले पशुओं तथा नगरों एवं ग्रामों में रहनेवाले गाय, घोड़े आदि पशुओं को उत्पन्न किया । इस प्रकार जड़ जगत् की रचना पूरी होने पर चेतन जगत् की और चेतन जगत् में भी क्रमशः सादी, क्लिष्ट और क्लिष्टतम प्राणियों की सृष्टि हुई । अन्त में **"तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये"** (यजुः० ३१।९) देव, ऋषि आदि कोटि के मनुष्य उत्पन्न हुए ।

सब योनियों की स्वतन्त्र सृष्टि— परमेश्वर सृष्टि का रचयिता, नियामक तथा प्रेरक है । उसी ने विविध नामरूपयुक्त प्राणियों की रचना की है । आज जो लाखों प्रकार के देहधारी प्राणी दिखाई दे रहे हैं—कृमि से हाथी और मनुष्यपर्यन्त—सब सृष्टि के आदि से इसी रूप में चले आ रहे हैं । सभी की स्वतन्त्र सत्ता है । मूल में किसी एक योनि की शाखा-प्रशाखा नहीं हैं । (यजुर्वेद (३१।८) में स्पष्ट लिखा है—

तस्मादश्वाऽजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाताऽअजावयः ॥

अर्थात् घोड़े आदि दो जबाड़ोंवाले, गौ आदि एक जबाड़ेवाले, बकरी, भेड़ आदि सब पशु **'तस्मादजायन्त'** उसी परमात्मा से उत्पन्न हुए । इस प्रकार यहाँ सर्ग के आदि में अमैथुनी सृष्टि में ही विभिन्न योनियों में एक-दूसरे की अपेक्षारहित प्राणिमात्र की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है ।

इसके विपरीत आधुनिक विचारधारा के सब प्रकार के जीविति प्राणी एक ही जाति के आद्य वंशजों से सन्तति-उपसन्तति द्वारा उत्पन्न होते हैं । इस मत के अनुसार सर्वप्रथम एक कोश के प्राणी का प्रादुर्भाव हुआ । धीरे-धीरे उसी के विलक्षण परिणामस्वरूप अनेकानेक कोशयुक्त देहों का प्रादुर्भाव हो गया । यह मत विकासवाद के नाम से प्रसिद्ध है । आगे के कुछ पृष्ठों में इसपर विचार किया गया है ।

विकासवाद

भारत के इतिहास में विकृतियों का एक प्रमुख कारण विकासवाद या सतत प्रगतिवाद का भ्रामक मत है । आधुनिक काल में विकासवाद एक महत्त्वपूर्ण शास्त्र है । वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दोनों ही विचारधाराओं में उसका प्रवेश हो गया है । वैज्ञानिक विचारधारा में प्राणियों की विभिन्न जातियों की उत्पत्ति में विकासवाद को मान्यता दी जाती है, और ऐतिहासिक विचारधारा में मानवी बुद्धि के विकास अथवा ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि में विकासवाद को आधार माना जाता है । साधारण दृष्टि से देखने पर यह बात ठीक-सी प्रतीत होती है, परन्तु गहराई से विचार करने पर इसका खोखलापन स्पष्ट हो जाता है ।

विकासवाद के अनुसार प्राणी अथवा जीवन-तत्त्व का प्रथम आविर्भाव जलों में उद्भिज्ज के रूप में हुआ । पहले जल-मिट्टी-वायु आदि के संयोग से एक प्रकार की सूक्ष्म काई बनी । उसी से पुनः जल-वायु का विलक्षण प्रभाव प्राप्त कर समस्त जलीय तथा पृथिवी के तृण, वीरुध, लता, गुल्म, ओषधि, वनस्पति तथा विविध वृक्षों आदि का क्रमशः विकास हुआ । कालान्तर में इसी मूल जीव-बीज से सर्वप्रथम जल में ही एक दूसरी जीवनशाखा चली । आरम्भ में अमीबा (Amaeba=एक कोश का प्राणी) की भाँति के सूक्ष्म जलजन्तु हुए । धीरे-धीरे जलीय कीट, मछली, मेंढक, कछुआ, वराह, रीछ, बन्दर, वनमानुष आदि विभिन्न प्राणिस्तरों को पार करता तथा विकसित होता हुआ मनुष्य बन गया । आदिकालीन एक कोश के प्राणी से

https://t.me/arshlibrary

मनुष्य तक पहुँचने के लिए मध्य में जीवन के न जाने कितने स्तर पार किये गये। तब कहीं लाखों-करोड़ों वर्षों में मनुष्य अपने वर्तमान रूप में आया।

इस विचार के अनुसार यदि हम मनुष्य की उत्पत्ति एक करोड़ वर्ष पूर्व मानें और हैकल की 'History of Creation' के पृष्ठ २६५ में लिखी हुई प्राणियों की कड़ियों के बाद मनुष्य की उत्पत्ति मानें और प्रत्येक कड़ी को एक करोड़ वर्ष का समय दें तो प्रथम प्राणी की उत्पत्ति से मनुष्य की उत्पत्ति तक लगभग बाईस करोड़ वर्ष होते हैं। लोकमान्य तिलक के 'गीतारहस्य' में डॉक्टर गैडो (Gadaw) की साक्षी से लिखा है कि 'मछली से मनुष्य होने में ५३ लाख ७५ हजार पीढ़ियाँ बीतीं'। इतनी ही पीढ़ियाँ अमीबा से मछली होने में बीती होंगी, अर्थात् अमीबा से आज तक लगभग एक करोड़ पीढ़ियाँ बीत चुकीं। कोई पीढ़ी एक दिन और कोई सौ वर्ष जीती है। यदि सबका औसत २५ वर्ष मान लें तो इस हिसाब से भी प्राणियों के प्रादुर्भाव को आज २५ करोड़ वर्ष होते हैं। यह भी माना जाता है कि पृथिवी के हो चुकने के करोड़ों वर्ष बाद प्राणी हुए और प्राणियों की उत्पत्ति से आज तक २५ करोड़ वर्ष हो गये। इस प्रकार यह अवधि विकासवादियों की निश्चित की गयी अवधि (दस करोड़ वर्ष) से बहुत आगे निकल गयी है।

आद्यकालिक प्राणिरचना को क्रमिक विकास के सिद्धान्त पर माननेवाले विद्वानों ने इस बात पर विचार किया है कि एकमात्र मूल से अनेक शाखा-प्रशाखाओं में बँटकर विभिन्न योनियों के रूप में जीवन कैसे पहुँच जाता है। उनका कहना है कि प्राणी की इच्छा और आवश्यकता ऐसी स्थितियाँ हैं जो उसके विकास और परिवर्तन का कारण बनती हैं। प्राणरक्षा की भावना प्राणिमात्र में नैसर्गिक है। उस भावना से विवश होकर प्राणी को जो क्रिया बारम्बार करनी पड़ती है, धीरे-धीरे उसमें उस शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है और फिर धीरे-धीरे क्रिया को करने में समर्थ अंग का विकास हो जाता है। दूसरी ओर प्राणरक्षा के लिए जिस क्रिया की आवश्यकता नहीं रहती, उनका अभ्यास नहीं रहता। अभ्यास न रहने से वह अंग अशक्त हो जाता है और अन्त में एक दिन उसका लोप हो जाता है। भोजन के लिए प्रयत्न तथा प्राकृतिक संघर्ष एवं शत्रुओं से रक्षा के लिए प्राणी को अनेक परिवर्तनों में से गुजरना पड़ता है। उनमें से जो अपने को परिस्थिति के अनुकूल बना सके, वे बच गये। जो उन संघर्षों में अपने को आवश्यकतानुसार परिवर्तित न कर सके, वे नष्ट हो गये। इन्हीं कारणों से शरीर में धीरे-धीरे परिवर्तन होता रहा और प्राणी विभिन्न योनियों में बँट गया। आधुनिक विकासवाद के अनुसार प्राणी के क्रमिक विकास में उसकी आवश्कताजन्य इच्छा तथा उसको पूरा करने के लिए किये गये चिरकालीन अभ्यास के परिणामस्वरूप होनेवाले आकृति-परिवर्तन के उदाहरण के रूप में अफ्रीका के मरुदेश में पाये जानेवाले लम्बी गर्दनवाले जिराफ़ नामक पशु का उल्लेख किया जाता है। कहते हैं, यह पहले ऐसा नहीं था, जैसा आज देखा जाता है। जिराफ़ ने जब वृक्षों पर नीचे के पत्ते खा लिये तो ऊपर के पत्ते खाने की इच्छा हुई। अपनी इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए वह गर्दन उठा-उठाकर प्रयत्न करने लगा। चिरकाल तक ऐसा करते रहने से उसकी गर्दन लम्बी हो गयी।

परन्तु परिस्थिति के अनुरूप आवश्यकतावश आकृति-परिवर्तन की मान्यता युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती। बकरी जब नीचे के पत्ते चुग लेती है तब तने पर या टहनियों पर अगले पैर टिकाकर पत्ते चुग लेती है। लाखों वर्षों से वह इसी तरह अपना पेट भरती आ रही है, परन्तु आज तक न उसकी गर्दन बढ़ी, न उसका अगला भाग लम्बा हुआ, और न उसके लिए चारे की कमी हुई। यहाँ यह भी विचारणीय है कि गर्दन बढ़ाने के बजाय जिराफ़ में बन्दर की तरह पेड़ पर चढ़ने की प्रवृत्ति का विकास क्यों नहीं हुआ? न जाने कब से मनुष्य उत्तरी ध्रुव तथा ग्रीनलैंड जैसे शीतप्रधान देशों में बसा हुआ है, किन्तु शीत से बचने

https://t.me/arshlibrary

की इच्छा तथा आवश्यकता के होते हुए भी उसके शरीर पर रीछ जैसे बाल पैदा नहीं हुए। इतना ही नहीं, जैसे लम्बे बाल राजस्थान की तपती मरुभूमि में रहनेवाली भेड़ के होते हैं, वैसे ही हिमालय के शीतप्रधान देश में रहनेवाली भेड़ के होते हैं। अफ्रीका के अति उष्ण प्रदेशों में दीर्घरोमा रीछ और रोमरहित गैंडा एक साथ रहते हैं। अपने ही देश में एक जैसी परिस्थिति में रहनेवाली गाय और भैंस में इसके विपरीत अन्तर देखा जाता है। भैंस का चर्म पतला, चिकना और लघु-रोम होता है। इसके विपरीत गाय का चर्म अपेक्षाकृत कठोर और रोमबहुल होता है। विकासवाद के अनुसार आत्मरक्षा की भावना के कारण हरिण, चीतल, नीलगाय आदि अनेक प्रकार के जंगली पशुओं में नर के सींग होते हैं, मादा के नहीं। क्या आत्मरक्षा के लिए सींगों की आवश्यकता नर को ही होती है, मादा को नहीं ? जंगली पशुओं की अपेक्षा मनुष्य द्वारा पालित व सुरक्षित गाय-भैंस आदि को कम खतरा होता है फिर क्या कारण है कि उनमें नर-मादा दोनों के सींग होते हैं। फिर, कोयल के मधुर कण्ठ और मोर के सुन्दर पंखों का प्राणरक्षा से क्या सम्बन्ध है ? फिर भी ये दोनों गुण अपने-अपने स्थान पर विद्यमान हैं। कौए को क्या अपनी काँव-काँव अच्छी लगती होगी और मोर के सुन्दर पंख देखकर क्या मोरनी को ईर्ष्या नहीं होती होगी ?

भाई और बहन एक ही परिस्थिति में उत्पन्न होते हैं और बढ़ते हैं, पर बहन के मुँह पर दाढ़ी-मूँछ का नाम भी नहीं होता। हाथी और हथिनी एक ही परिस्थिति में रहते है, पर हथिनी के मुँह में बाहर को निकले बड़े दाँत नहीं होते। 'हाथी के दाँत खाने के और दिखाने के और' हाथी पर ही लागू होता है, हथिनी पर नहीं। मोर और मयूरी और इसी प्रकार मुर्गा और मुर्गी एक ही परिस्थिति में उत्पन्न होते, पलते और बढ़ते हैं, पर मयूरी और मुर्गी के वे सुन्दर पर और कलगी नहीं होते, जो मोर और मुर्गे के होते हैं।

भारत में व्याघ्र, सिंह व हाथी होते हैं, पर इंगलैण्ड आदि देशों में नहीं होते। जिराफ़ अफ्रीका में, कंगारू आस्ट्रेलिया में और मोर भारत में होता है। यूरोपवासियों द्वारा वहाँ पहुँचाए जाने से पहले आस्ट्रेलिया में खरगोश नहीं होता था। स्पष्ट है कि जब तक कोई प्राणी कहीं न पहुँचे और सन्तति का विस्तार न करे, तब तक कोई प्राणी आप-ही-आप वहाँ पैदा नहीं होता।

मनुष्यों को छोड़कर जितने प्राणी हैं, उनके बालों में, पैदा होने से मृत्युपर्यन्त किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं होता। जो गाय जिस रंग की होती है, आजीवन उसी रंग की रहती है, परन्तु न चाहते हुए भी मनुष्य के बाल रंग बदलते रहते हैं। जितने पशु हैं, पानी में डालते ही तैरने लगते हैं। मनुष्य का तथाकथित पूर्वज बन्दर भी पैदा होते ही तैरने लग जाता है। यहाँ तक कि राजस्थान की वह भैंस भी, जिसने जीवन में कभी तालाब के दर्शन भी नहीं किये होते, अवसर मिलने पर झट तैरने लग जाती है, परन्तु सदा नदी या समुद्र के तट पर रहनेवाला मल्लाह का बेटा भी तैरना सीखे बिना नहीं तैर सकता। प्राणरक्षा की भावना के होते हुए भी जंगली मनुष्यों के सिर में सींग नहीं निकले और न नदी के किनारे रहनेवाले लोगों में स्वतः तैरने की शक्ति का विकास हुआ। अनादिकाल से कछुआ पृथिवी पर चलता आ रहा है, किन्तु उसके पेट की कोमलता में अन्तर नहीं आया। दूसरी ओर उसकी पीठ पत्थर की तरह कठोर है, जबकि वह एक दिन भी धरती पर रगड़ी नहीं गयी। विकासवाद के अनुसार इसके विपरीत होना चाहिए था। प्राणिमात्र में आत्मरक्षा की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। यह प्रवृत्ति पतंगे में भी होनी चाहिए। दीपशिखा के सम्पर्क में आते ही वह जल जाता है। न जाने कब से जलता आ रहा है, परन्तु उसने कभी भी उससे बचने का प्रयास नहीं किया। इसके लिए उसे कोई विशेष प्रयत्न भी नहीं करना पड़ता। दीपशिखा से तनिक दूर रहने का अभ्यासमात्र करना था, किन्तु लाखों, करोड़ों वर्षों में वह इतना भी नहीं कर पाया।

https://t.me/arshlibrary

मनुष्य को विकासक्रम में अन्तिम—श्रेष्ठतम प्राणी माना जाता है। तब मनुष्य की तुलना में चींटी जैसे क्षुद्र प्राणी को वर्षा का और कुत्ते जैसे निकृष्ट प्राणी को भूकम्प का पूर्वानुमान कैसे हो जाता है ? प्रशासनिक योग्यता की दृष्टि से मधुमक्खी को आदर्श क्यों माना जाता है ? प्रत्येक प्राणी अधिक-से-अधिक काल तक जीना चाहता है। विकास के किसी भी स्तर पर उसने इस इच्छा का परित्याग नहीं किया होगा। तब, मनुष्य की अपेक्षा कहीं निम्न स्तर के प्राणी कछुआ, साँप आदि क्यों दीर्घजीवी होते हैं ? थोड़े काल में अधिक मार्ग तय करने के लिए मनुष्य मोटरों, वायुयानों आदि का आविष्कार और विकास कर रहा है, तब, उसने चीते की तेज गति को छोड़ना कब चाहा होगा ? कुत्ते की घ्राण-शक्ति और गृध्र की दूरदृष्टि को भी उसने जानबूझकर खोना कभी नहीं चाहा होगा। अनुपयोगी जानकर उसने उनकी उपेक्षा कर दी होती, तो आज अपराधियों को पकड़ने के लिए कुत्तों की सहायता क्यों लेता ?

बया नामक छोटी-सी चिड़िया जैसा सुन्दर घर बनाती है, वैसा मनुष्य से केवल एक पीढ़ी नीचे माना जानेवाला बन्दर नहीं बना सकता, पर यह भी सत्य है कि जैसा घर वह लाखों-करोड़ों वर्ष पहले बनाती थी, आज भी वैसा ही बनाती है। मकड़ी जाला बनाती है। मधुमक्खी छत्ता बनाती है और फूलों से पराग लाकर और उसे मधु बनाकर उसमें एकत्र करती है, किन्तु इन्होंने ये कलाएँ किसी से सीखी नहीं, ये उनके अपने आविष्कार भी नहीं हैं। उन्होंने ये अपनी कलाएँ अन्य प्राणियों को सिखाई भी नहीं। जिसको जो आता है और जैसा आता है, वह उसे उसी रूप में करता आ रहा है।

लामार्क नामक विद्वान् ने चूहों की दुमें काटकर बिना दुम के चूहे पैदा करने चाहे। चूहों की अनेक पीढ़ियों तक वह ऐसा करता रहा। पर बिना पूँछ के चूहे पैदा न हुए। हिन्दुओं के लड़के-लड़कियाँ लाखों वर्षों से कान छिदवाते आ रहे हैं; हज़रत इब्राहिम के समय से यहूदी और मुसलमान ख़तना कराते आ रहे हैं, चीनी स्त्रियाँ न जाने कब से पैर छोटे करने का प्रयास कर रही हैं, परन्तु न हिन्दुओं के घरों में कनछिदे बच्चे पैदा हुए, न मुसलमानों के यहाँ ख़तना की हुई सन्तान पैदा हुई और न चीनी घरों में छोटे पैरोंवाली लड़कियाँ पैदा हुई।

मोटर आदि का, विकासक्रम में उपलब्ध, अन्तिम रूप (Latest Model) ही बनता है। जब मनुष्य जैसा सर्वोत्कृष्ट प्राणी तैयार हो गया तो निचले स्तर के सभी पशु-पक्षियों का सर्वथा लोप हो जाना चाहिए था, परन्तु हम देखते हैं कि आज भी मछली-से-मछली, भेड़-से-भेड़ और कुत्ते-से-कुत्ते ही पैदा हो रहे हैं। यहाँ तक कि जिस बन्दर से मनुष्य बना कहा जाता है, उससे भी बन्दर ही पैदा हो रहे हैं, मनुष्य नहीं। फिर, विकास तो विकास है, उसकी कोई अन्तिम सीमा नहीं आ सकती। तो फिर, विकास का क्रम कैसे रुक गया ? मनुष्य से आगे अन्य कुछ क्यों नहीं बना ?

इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं, जो विकासवाद द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के व्यतिक्रम को स्पष्ट करते हैं। वस्तुतः जो योनियाँ जिस प्रकार की हैं, वे सदा से वैसी ही हैं और भविष्य में वैसी ही बनी रहेंगी। आवश्यकता, तन्मूलक इच्छा, अभ्यास एवं वातावरण या परिस्थिति के कारण उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं। अत्यन्त प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों में अनेक जातियाँ नष्ट भले ही हो जाएँ, पर उनमें ऐसा परिवर्तन नहीं हो सकता, जो उनकी नैसर्गिक जाति को बदल डाले। इन सब बातों से प्रमाणित होता है कि आदिम मनुष्यों ने हीनमस्तिष्क प्राणियों से विकसित होकर उन्नति नहीं की, प्रत्युत वे परमात्मा की विशिष्ट रचना थे और आज के उत्तम मस्तिष्कों की अपेक्षा अधिक उन्नत एवं विकसित थे।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—सृष्टि की आदि में एक वा अनेक मनुष्य उत्पन्न किये थे, वा क्या ?

उत्तर—अनेक, क्योंकि जिन जीवों के कर्म ऐश्वरी सृष्टि में उत्पन्न होने के थे, उनका जन्म सृष्टि की आदि में ईश्वर देता है, क्योंकि **'मनुष्या ऋषयश्च ये; ततो मनुष्या अजायन्त'** यह यजुर्वेद और उसके ब्राह्मण में लिखा है। इस प्रमाण से यही निश्चय है कि आदि में अनेक अर्थात् सैकड़ों-सहस्रों मनुष्य उत्पन्न हुए और सृष्टि में देखने से भी यही निश्चित होता है कि मनुष्य अनेक माँ-बाप के सन्तान हैं।

विज्ञान कहता है कि सर्वप्रथम एक कोश का प्राणी उत्पन्न हुआ, पर इस समस्या का समाधान विज्ञान आज तक नहीं कर पाया कि एक कोश का प्राणी कैसे हो गया ? अमीबा नाम का प्राणी एक कोश का देह है। ठीक वही देह अनेकानेक संख्या में मिलकर अन्य अनेक कोशयुक्त प्राणिदेह की रचना करते हैं, ऐसा विज्ञान के लिए भी सिद्ध करना कठिन है। यदि एक कोश का प्राणी आप-ही-आप उत्पन्न हो सकता है, अथवा जिस अन्तर्व्याप्त शक्ति के प्रभाव से एक सेल (Cell) का अमीबा उत्पन्न हो सकता है, उसी शक्ति से मनुष्य-शरीर की रचना होने में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। वनस्पतिशास्त्र के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् डॉक्टर बीरबल साहनी से पूछा गया—"आप कहते हैं कि आरम्भ में एक सेल के जीवित प्राणी थे, उनसे उन्नति करके बड़े-बड़े प्राणी बन गये। आप यह भी कहते हैं कि आरम्भ में बहुत थोड़ा ज्ञान था, धीरे-धीरे उन्नति होते हुए ज्ञान उस अवस्था को पहुँच गया जिसको विज्ञान आज पहुँचा हुआ है। तब आप यह तो बताइए कि—"Wherefrom did life come in the very beginning and wherefrom did knowledge come in the very beginning ?" अर्थात् प्रारम्भ में जीवन कहाँ से आया और प्रारम्भ में ज्ञान कहाँ से आया ? क्योंकि जीवन शून्य से उत्पन्न हो गया, यह नहीं माना जा सकता।" डॉक्टर साहनी ने उत्तर में कहा, "इसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं कि आरम्भ में जीवन या ज्ञान कहाँ से आया। हम इस बात को स्वीकार करके चलते हैं कि आरम्भ में कुछ जीवन भी था और कुछ ज्ञान भी था—"With this we are not concerned as to where from life came in the very beginning or wherefrom knowledge came in the very beginning. We are to take it for granted that there was some life in the beginning of the world and there was knowledge also in the beginning of the world and by slow progress it increased." इससे स्पष्ट है कि विकासवाद, जिसका इतना शोर है और जिसे अर्धशिक्षित जन अन्तिमेत्थम् के रूप में मानते चले जा रहे हैं, युक्ति के सामने नहीं ठहर सकता। सच तो यह है कि जब जड़ पदार्थों में स्वयं संचालन (self direction) तथा सम्प्रयोग (Co-ordination) की शक्ति है ही नहीं, तो विकासवाद के सिद्धान्तानुसार अरबों वर्षों में भी जड़ परमाणुओं में इस प्रकार संचालन कि अन्ततोगत्वा जीवित प्राणियों का विकास हो सके, असम्भव है। इसी प्रकार यद्यपि मानव में ज्ञान का विकास उसकी चिन्तन-शक्ति के साहचर्य से होता है तथापि जो कुछ ज्ञान वह प्राप्त करता है, उसका आदिमूल वह स्वयं नहीं है।

मानव-बुद्धि जड़ होने से किसी अन्य से प्रेरणा की अपेक्षा रखती है। बुद्धि एक जन्मजात शक्ति है, किन्तु ज्ञान अर्जित सम्पत्ति है। मनुष्य को स्वतः ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती।

अनेक पैदा हुए—जिन जीवों के कर्म अमैथुनी सृष्टि में पैदा होने के थे, वे सभी सृष्टि के आदि में हुए। सृष्टि को देखने से यह भी निश्चय होता है कि सब मनुष्य एक माँ-बाप की सन्तान नहीं हैं। अन्य प्राणियों के सम्बन्ध में भी यही बात है। मुण्डकोपनिषद् (२।१।७) में पाठ है—**'तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः**

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—आदिसृष्टि[1] में मनुष्य आदि की बाल्य, युवा वा वृद्धावस्था में सृष्टि हुई थी, अथवा तीनों में ?

उत्तर—युवावस्था में, क्योंकि जो बालक उत्पन्न करता, तो उनके पालन के लिए दूसरे मनुष्य आवश्यक होते और जो वृद्धावस्था में बनाता तो मैथुनी सृष्टि न होती। इसलिए युवावस्था में सृष्टि की है।

साध्या मनुष्याः पशवो वयाँसि', अर्थात् परमात्मा ने बहुत-से देव, ज्ञानी, साध्य, मनुष्य तथा पशु-पक्षी उत्पन्न किये। अन्यत्र (यजुः० ३१।६ व ३१।८) में भी सभी पदों के बहुवचनान्त होने से स्पष्ट है कि सृष्टि के आदि में सभी प्राणियों के अनेक जोड़े उत्पन्न हुए। इसी कारण सृष्टि में इतना वैविध्य दीख पड़ता है। उपनिषद् के यहाँ उद्धृत सन्दर्भ में पशु-पक्षियों के अतिरिक्त तीन कोटि के उच्च जीव अभिप्रेत हैं। जो पूर्वजन्म में साधना कर चुकने के कारण दिव्य गुणों को प्राप्त कर उत्पन्न हुए, वे 'देव' कहलाये। जिन्होंने साधना द्वारा इस जन्म में दिव्य गुण प्राप्त किये वे 'साध्य' और जो साधारण गुणोंवाले हैं, वे 'मनुष्य' कहलाये। ये मनुष्यों की ही तीन श्रेणियाँ हैं। निश्चय ही इनमें से प्रत्येक की पर्याप्त संख्या रही होगी। सृष्टि के आदि में विभिन्न वर्गों के प्राणियों की उत्पत्ति का एक साथ उल्लेख होने से यह स्पष्ट है कि सब पृथक् और स्वतन्त्र जातियाँ थीं—कोई किसी का विकसित रूप नहीं था।

उत्पत्ति युवावस्था में—सृष्टि के आदि में प्राणी (विशेषतः मनुष्य) युवावस्था में उत्पन्न हुए। बालक उत्पन्न होते तो उनके पालन-पोषण के लिए अन्य समर्थ प्राणियों की अपेक्षा होती, किन्तु अमैथुनी सृष्टि में सर्वप्रथम उत्पन्न होने के कारण उनसे पहले किसी अन्य के होने का प्रश्न नहीं उठता। नौ-दस मास माता के गर्भ में संवर्धित होकर जन्म लेने के बाद भी मानव-शिशु इतना असहाय होता है कि वह स्वतः अपना पालन-पोषण व संरक्षण करने में समर्थ नहीं होता। यदि वृद्धावस्था में प्राणी का जन्म हो तो वह आगे साजात्यप्रजनन में असमर्थ होगा, अतः आदि सृष्टि में प्राणी का प्रादुर्भाव देह की ऐसी स्थिति में सम्भव है जब वह अपने पालन-पोषण व संरक्षण के लिए परमुखापेक्षी न हो तथा मैथुनी सृष्टि में नियमानुसार साजात्यप्रजनन में समर्थ हो। जहाँ तक मानव की उत्पत्ति का सम्बन्ध है, वह स्थिति २२-२३ वर्ष की अवस्था के आसपास होनी चाहिए। बोस्टन नगर के स्मिथसोनियन इंस्टीट्यूट के विज्ञान-विभाग के अध्यक्ष डॉ० क्लार्क के अनुसार 'Man appeared able to think, walk and defend himself' मनुष्य का प्रादुर्भाव ऐसी स्थिति में हुआ, जब वह चल सकता था, सोच सकता थ और अपनी रक्षा कर सकता था।

पशु-पक्षियों की सन्तान जन्म के कुछ ही दिनों के बाद अपना जीवन-निर्वाह करने में समर्थ हो जाती है। उनका बहुत-सा काम नैसर्गिक ज्ञान और सामर्थ्य के सहारे चलता है। मनुष्य के समान उन्हें बहुत सी बातें सीखनी नहीं पड़तीं। इसलिए आदिकाल में भी जन्म के समय उनका युवावस्था में पैदा होना आवश्यक नहीं।

---

१. सृष्टेरादिः आदिसृष्टिः सृष्ट्यादिर्वा। **'धर्मादिषूभयम्'** (अ० २।२।३१ वा०) से दोनों का पूर्वनिपात होता है। अर्थ होगा—सृष्टि की आदि। पाणिनी ने भी **आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च** (३।४।७१) में **'कर्मण आदौ'** अर्थ में **'आदिकर्मणि'** पद का निर्देश किया है। ग्रन्थकार ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में इसी अर्थ में 'आदिसृष्टि' शब्द का बहुधा तथा क्वचित् 'सृष्ट्यादि' का प्रयोग किया है। दोनों प्रयोग व्याकरण के उक्त नियम से साधु हैं।

https://t.me/arshlibrary

[सृष्टि प्रवाह से अनादि है]

प्रश्न—कभी सृष्टि का प्रारम्भ है, वा नहीं ?

उत्तर—नहीं। जैसे दिन के पूर्व रात और रात के पूर्व दिन, तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन बराबर चला आता है, इसी प्रकार सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि, तथा सृष्टि के पीछे प्रलय और प्रलय के पीछे सृष्टि अनादिकाल से चक्र चला आता है। इसकी आदि वा अन्त नहीं, किन्तु जैसे दिन वा रात का आरम्भ और अन्त देखने में आता है, उसी प्रकार सृष्टि और प्रलय का आदि और अन्त होता रहता है, क्योंकि जैसे परमात्मा, जीव और जगत् का उपादानकारण, तीन स्वरूप से अनादि हैं, वैसे जगत् की उत्पत्ति-स्थिति और प्रलय प्रवाह से अनादि है।

जैसे नदी का प्रवाह वैसा ही दीखता है, कभी सूख जाता, कभी नहीं दीखता, फिर बरसात में दीखता और उष्णकाल में नहीं दीखता। ऐसे व्यवहारों को **'प्रवाहरूप'** जानना चाहिए। जैसे परमेश्वर के गुण कर्म-स्वभाव अनादि हैं, वैसे ही उसके जगत् की उत्पत्ति-प्रलय करना भी अनादि हैं। जैसे कभी ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव का आरम्भ और अन्त नहीं, इसी प्रकार उसके कर्त्तव्य-कर्मों का भी आरम्भ और अन्त नहीं।

[कर्मानुसार विविध योनियाँ]

प्रश्न—ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्य जन्म, किन्हीं को सिंहादि क्रूर जन्म, किन्हीं को हरिण-गाय आदि पशु, किन्हीं को वृक्षादि, कृमि, कीट, पतंगादि जन्म दिये हैं। इससे परमात्मा में पक्षपात आता है।

उत्तर—पक्षपात नहीं आता, क्योंकि उन जीवों के पूर्व सृष्टि में किये हुए कर्मानुसार व्यवस्था करने से। कर्म के विना जन्म देता, तो पक्षपात आता।

प्रवाह से अनादि—सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रवाह से अनादि हैं। प्रकृति का विकार होने से संसार परिणामी है। इस प्रकार वह बनता भी है और बिगड़ता भी है। इस रूप में उसकी दो स्थितियाँ हैं—सर्ग और प्रलय। ये एक दूसरे के अनन्तर आवर्तमान रहती हैं। संसार का अस्तित्व प्रत्यक्ष है। **'कथमसतः सज्जायते'** (छान्दोग्य०) तथा **'नासतो विद्यते भावः'** (गीता)। इसलिए यदि पहले न रहा होता तो कहाँ से आ जाता ? इसी प्रकार **'नाभावो विद्यते सतः'** जो है, वह मिट नहीं सकता। इसलिए वह आगे भी रहेगा, परन्तु वह सदा अपने वर्त्तमानरूप में नहीं बना रहेगा। इस प्रकार सृष्टि प्रवाह से अनादि और अनन्त है। जगत् के तीन कारण—ईश्वर, जीव और प्रकृति स्वरूप से अनादि हैं और इनके गुण-कर्म-स्वभाव भी अनादि हैं। ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व आदि गुण स्वाभाविक हैं। यदि संसार का अत्यन्त उच्छेद हो जाए तो उसके इस गुण का भी उच्छेद हो जाए। गुण-गुणी में समवाय सम्बन्ध होता है। एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता। ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व आदि गुणों का नाश हो जाने पर स्वयं ईश्वर का अस्तित्व ही संकट में पड़ जाएगा। इसलिए दिन के बाद रात और रात के बाद दिन के क्रम की भाँति सृष्टि की उत्पत्ति तथा प्रलय के पर्याय से आवर्तमान रहने से सृष्टि का प्रवाह से अनादित्व सर्वथा उपपन्न है।

आर्य और दस्यु—पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार ऋग्वेद में आये आर्य तथा दास या दस्यु जैसे शब्द

https://t.me/arshlibrary

[मनुष्यों की प्रथम सृष्टि]

प्रश्न—मनुष्यों की आदि-सृष्टि किस स्थल में हुई ?

उत्तर—त्रिविष्टप अर्थात् जिसको 'तिब्बत' कहते हैं ।

प्रश्न—आदिसृष्टि में एक जाति थी, वा अनेक ?

उत्तर—एक मनुष्य जाति थी । पश्चात् **'विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवः'**

—यह ऋग्वेद (१।५१।८) का वचन है ।

श्रेष्ठों का नाम **'आर्य'** विद्वान्, देव, और दुष्टों के **'दस्यु'** अर्थात् डाकू, मूर्ख नाम होने से **आर्य** और **दस्यु** दो नाम हुए । **'उत शूद्र उतार्ये'** वह अथर्ववेद (१६।६२।१) का वचन है । आर्यों में पूर्वोक्त प्रकार से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार भेद हुए । द्विज=विद्वानों का नाम **'आर्य'** और मूर्खों[1] का नाम **शूद्र** और **'अनार्य'** अर्थात् अनाड़ी नाम हुआ ।

भिन्न-भिन्न जातियों के बोधक हैं । उनका कहना है कि आर्यलोग भारत के मूल निवासी नहीं हैं । यहाँ के आदिवासी तो कोल, द्रविड़, भील, सन्थाल आदि हैं, जिन्हें वेद में दास या दस्यु के नाम से अभिहित किया गया है । आर्यों का धर्म, सभ्यता, रंग-रूप, आकृति, भाषा सब-कुछ भिन्न थे । यहाँ के आदिवासियों के साथ उनका सदा युद्ध हुआ करता था । वे प्रायः आदिवासियों पर विजय प्राप्त करके उन्हें अपना दास बना लेते थे । अंग्रेजी राज्य की जड़ें मज़बूत करने और अन्ततः भारतीयों को ईसाई बनाने के उद्देश्य से ही इस प्रकार की भ्रान्तियाँ फैलाई गयीं । वस्तुतस्तु जिस भाषा और साहित्य से आर्य शब्द लिया गया है, उसमें कहीं भी इस शब्द का प्रयोग जाति के अर्थ में नहीं मिलता । आर्य और दस्यु दोनों गुणवाचक शब्द हैं । आर्यत्व प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करने की वस्तु है, जाति की भाँति स्वतः प्राप्त होनेवाली नहीं—**'कृतेन हि भवेदार्यः'** मनुष्य अपने चरित्र एवं आचरण से आर्यत्व को प्राप्त करता है । श्री अरविन्द का निश्चित मत है कि 'ऋग्वेद में जिस युद्ध और विजय का उल्लेख हुआ है, वह कोई भौतिक युद्ध या लूटमार नहीं, बल्कि आध्यात्मिक संघर्ष और आध्यात्मिक विजय है । मनुष्यों की आदिसृष्टि, आर्यों के आदिदेश, आर्यावर्त्त आदि के सम्बन्ध में ग्रन्थकार का मत कितना युक्तियुक्त है, इसे सिद्ध करने के लिए हमने यहाँ इसपर विस्तारपूर्वक विचार किया है । (और अधिक जानकारी के लिए देखें हमारी पुस्तक 'आर्यों का आदि देश और उनकी सभ्यता।)

विकासवाद के प्रसंग में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि संसार में जितने प्राणी हैं, वे अनादि काल से अपने वर्त्तमान रूप में हैं । भौगोलिक विभागशास्त्र के अनुसार द्वीप-द्वीपान्तर में बसे प्राणी, जो शारीरिक भेद के साथ अलग-अलग प्रतीत होते हैं, कभी एक भूमिभाग से जुड़े रहने के कारण एक ही माता-पिता से उत्पन्न हुए थे—आस्ट्रेलिया का दीर्घकाय घोड़ा नेपाल का छोटा टट्टू एक ही पूर्वज की सन्तान हैं । रूप वैचित्र्य भले ही हो, पर एक जाति दो भिन्न मार्गों से विकसित होकर एक रूप में नहीं आई । यह कभी नहीं हुआ कि बंगाल के मोर, ऊँट, हाथी, चीता, कौवा और साँप होते हुए विकसित हुए हों और गुजरात के मोर, चींटी, नेवला, लोमड़ी, बिल्ली से गिरगिट होते हुए मोर बने हों और अब दोनों देशों के मोरों में परस्पर यौनसम्बन्ध होने से उनके सन्तान होने लगी हो । अलग-अलग कई वंशों से किसी प्राणी का

---

१. मूर्ख अर्थात् अविद्वान् ।

https://t.me/arshlibrary

विकास नहीं हुआ, प्रत्युत सब एक ही पिता की सन्तान हैं। जो हाल अन्य प्राणियों का है, वही मनुष्य का भी समझना चाहिए।

बिना बीज के जड़ और निर्जीव रेत से वृक्षों के अंकुर नहीं फूटते। बीज भी आप-ही-आप नहीं निकलता, किन्तु खोज करके लाया जाता है और अनुकूल स्थान में बोया जाता है—जहाँ जलवायु पौधे के अनुकूल होता है, उसका खाद्य बहुतायत से मिलता है और जहाँ आँधी-ओले से उसे सुरक्षित रक्खा जा सकता है। माली पहले एक क्यारी में पौध तैयार करता है। फिर वहाँ से पौधे ले-लेकर यथास्थान सारी फुलवारी में रोपता है और आवश्यकतानुसार बाहर भी भेजता है। तात्पर्य यह कि बीज सर्वत्र नहीं पैदा होता, एक ही स्थान से सर्वत्र फैलता है। इसी बीज-क्षेत्र न्याय के अनुसार मनुष्य भी पहले किसी एक ही स्थान पर पैदा हुआ और फिर संसारभर में फैल गया। प्रारम्भ में मनुष्य भी किसी ऐसे स्थान पर पैदा हुआ होगा जहाँ का जलवायु उसके अनुकूल हो, खाद्य सामग्री सुलभ हो और जहाँ वह अधिक-से-अधिक सुरक्षित रह सके। मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी, वनस्पति आदि के लिए भी ऐसा ही स्थान उपयुक्त होगा। इस प्रकार आदि सृष्टि के लिए स्थान वह उपयुक्त होगा—

(१) जो संसार में सबसे ऊँचा हो, (२) जहाँ सर्दी और गर्मी जुड़ती हों, (३) जहाँ मनुष्य के खाद्य फल वनस्पति प्रचुरता से उपलब्ध हों, (४) जिसके आसपास सब रूप-रंगों के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण हो और (५) जिसका नाम सबके स्मरण का विषय हो।

ये सभी लक्षण हिमालय पर घटते हैं—

(१) हिमालय निर्विवादरूप से सबसे ऊँचा है। कहते हैं कि पहले सम्पूर्ण पृथिवी जलमग्न थी। उस जल से सबसे पहले वही भूमि निकली, उसी में वनस्पति उत्पन्न हुई और उसी पर सबसे पहले मनुष्यादि प्राणियों की सृष्टि हुई।

(२) संसार में ऋतुएँ चाहे कितनी कही जाएँ, पर सर्दी और गर्मी दो उनमें मुख्य हैं। यही कारण है कि समस्त भूमण्डल में सर्द और गर्म दो ही प्रकार के देश कहे जाते हैं। कुछ प्रदेश दोनों के मिश्रण से बने पाये जाते हैं, तो भी दो में से एक की प्रधानता रहती है। कश्मीर, नेपाल, भूटान और तिब्बत आदि देश बसे हुए हैं। इनके निवासी कहते हैं कि वहीं सर्दी और गर्मी मिलती हैं। इसलिए मानव-सृष्टि के लिए हिमालय ही सर्वाधिक उपयुक्त स्थान ठहरता है। वैज्ञानिकों के अनुसार मनुष्य के आदि युग में मानसरोवर के आसपास का क्षेत्र शीतोष्ण जलवायु से युक्त था। भारतीय साहित्य में भी इसका उल्लेख मिलता है।

(३) मनुष्य का स्वाभाविक प्रधान खाद्य दूध और फल है—**पयः पशूनां रसमोषधीनाम्**। दूध पशुओं से और फल वृक्षों से मिलते हैं। जब मनुष्य दूध और फल के बिना और पशु वनस्पति के बिना नहीं रह सकते तो मनुष्य ऐसे देश में उत्पन्न नहीं हो सकता जहाँ ये पदार्थ उपलब्ध न हों। विकासवाद के अनुसार भी वह ऐसे स्थान में पैदा नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य से पहले वहाँ बन्दर होना चाहिए और बन्दर निश्चित रूप से फलाहारी है। हिमालय ऐसा स्थान है जहाँ मनुष्य के लिए अपेक्षित समस्त पदार्थ सहज उपलब्ध हैं।

कतिपय विद्वानों ने ध्रुव प्रदेश को मनुष्यजाति का उत्पत्ति-स्थान माना है। बहुत दिन हुए, वार्न साहब ने 'Paradise Found or the Cradle of Human Race at the North Pole' नाम की एक पुस्तक लिखी, जिसमें उन्होंने आदि मानव-सृष्टि का उत्पत्ति-स्थान उत्तरी ध्रुव प्रदेश बताया था। इसी पुस्तक के आधार पर लोकमान्य तिलक ने 'Arctic Home in the Vedas' लिखी, जिसमें उन्होंने ध्रुव प्रदेश को ही आर्यों का मूल निवास स्थान सिद्ध किया था, परन्तु जब डॉ० काला ने बताया कि तीन लाख वर्ष में पृथिवी की केन्द्रच्युति

https://t.me/arshlibrary

तीन बार हुई है और उत्तर ध्रुव प्रदेश में तीन बार हिमपात का तूफ़ान भी आया है, तब से यह माना जाने लगा है कि ऐसे स्थान में मानवजाति की आदि सृष्टि नहीं हो सकती। ध्रुव प्रदेश में वनस्पति भी नहीं होती। मनुष्य की खाल पर ध्रुवीय पशुओं के समान लम्बे बाल भी नहीं होते। इसके विपरीत पसीना निकलनेवाले छोटे-छोटे रोम होते हैं। इसलिए वह अतिशीत प्रदेश में रहनेवाला प्राणी नहीं है। पूना के पावगी साहब ने यह भी अच्छी तरह सिद्ध कर दिया कि ध्रुव प्रदेश में मनुष्य सम्बन्धी जो चिह्न पाये गये हैं, उनसे पता चलता है कि वहाँ मनुष्य तब पहुँचा है जब अन्यत्र रहते हुए वह काफी उन्नति कर चुका था। इन सब तथ्यों के होते हुए उत्तर ध्रुव में आदिकाल में मनुष्योत्पत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती।

(४) मूल स्थान के पास ऐसी विस्तृत भूमि होनी चाहिए जहाँ सब रंग-रूपों के विकास की स्थिति हो और जहाँ रहकर मनुष्य संसारभर में रहने की योग्यता प्राप्त करके पृथिवी में सर्वत्र फैल सके। हिमालय के साथ लगता भारत ऐसा देश है जहाँ सब छहों ऋतुएँ वर्तमान रहती हैं। इस सर्वगुणसम्पन्न देश में सब रंग-रूप के आदमी निवास करते हैं। ऐसे देश के सामीप्य के कारण भी यही प्रतीत होता है कि हिमालय पर ही मनुष्यों की आदि सृष्टि हुई।

(५) सभी देशों में बसनेवाले लोगों को किसी-न-किसी रूप में हिमालय की स्मृति बनी हुई है। भारतीय आर्यों को हिमालय से और ईरानी आर्यों को भारत से आने की स्मृति आज भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। चरकसंहिता के प्रमाण से सिद्ध है कि आर्यलोग हिमालय से ही भारत में आये थे और बीमार होकर एक बार फिर अपने मूलनिवास हिमालय को लौट गये थे। इतना ही नहीं, कुछ समय बाद उनके फिर लौटकर भारत में बसने का भी उल्लेख मिलता है। चरकसंहिता (चिकित्सास्थान ४।३) में लिखा है—

ऋषयः खलु कदाचिच्छालीना यायावराश्च ग्राम्यौषध्याहाराः सन्तः साम्पन्निका मन्दचेष्टाश्च नातिकल्याश्च प्रायेण बभूवुः। ते सर्वा समितिकर्त्तव्यतानामसमर्थाः सन्तो ग्राम्यवासकृतमात्मदोषं मत्वा पूर्वनिवासमपगतग्राम्यदोषं शिवं पुण्यमुदारं मेध्यमगम्यसुकृतिभिर्गङ्गाप्रभवममरगन्धर्व-किन्नरानुचरितमनेक रत्ननिचयमचिन्त्याद्भुतप्रभवं ब्रह्मर्षिसिद्धचरणानुचरितं दिव्यतीर्थैषधिप्रभवमतिशरण्यं हिमवन्तममराधिपति-गुप्तं जग्मुर्भृग्वङ्गिरोऽत्रिवसिष्ठकश्यपागस्त्यपुलस्त्यवामदेवासितगौतमप्रभृतयो महर्षयः॥

बहुत दिन तक आर्य लोग हिमालय पर रहे। फिर उन्होंने हिमालय से उतरकर भूमि तलाश की। जिस रास्ते से वे आये उस रास्ते का नाम उन्होंने हरद्वार रक्खा। यहाँ आकर वे कुछ दिन तो रहे, पर जलवायु, खानपान आदि के दोष से बीमार होकर फिर अपने मूलनिवास हिमालय को लौट गये, परन्तु कुछ काल पश्चात् वे फिर वहाँ आये। अबकी बार उन्होंने यहाँ के जंगलों को काटकर देश को बसनेयोग्य बनाया और हरद्वार, कुरुक्षेत्र और सरस्वती नदी से लेकर सदानीरा तक जंगलों को जलाकर वहाँ बस गये और इस आबाद क्षेत्र का नाम आर्यावर्त्त रक्खा।[1]

मैक्समूलर का कहना है कि ईरानियों के पूर्वज ईरान पहुँचने से पहले भारत में बसे थे और यहाँ से ईरान गये थे।[2] इसका एक कारण अवेस्ता में कतिपय ऐसे शब्दों का पाया जाना है जो संस्कृत में नहीं

१. तर्हि विदेघो माथवऽआस। सरस्वत्यां स तत एव प्राङ् दहन्नभीयायेमां पृथिवीं तं गोतमश्च राहूगणो विदेघश्च माथवः पश्चाद्दहन्तमन्वीयतुः। स इमाः सर्वा नदीरतिददाह, सादनीरेत्युत्तराद् गिरेर्निर्धावति तां हैव नातिददाह तां ह स्म तां पुरा ब्राह्मणा न तरन्त्यनतिदग्धाऽग्निना वैश्वानरेणेति। —शतपथ १।४।१।१४

2. Chips from a German Workshop, 1967, P. 85-86.

https://t.me/arshlibrary

आर्यों का भारत में आगमन]

प्रश्न—फिर वे यहाँ कैसे आये ?

उत्तर—जब आर्य और दस्युओं में, अर्थात् विद्वान् जो देव, अविद्वान् जो असुर, उनमें सदा लड़ाई-बखेड़ा हुआ किया। जब बहुत उपद्रव होने लगा, तब आर्यलोग सब भूगोल में उत्तम इस भूमि के खण्ड को जानकर यहीं आकर वसे। इसी से इस देश का नाम **'आर्य्यावर्त्त'** हुआ।

मिलते, पर ईरान से आगे की भाषाओं में मिलते हैं। व्याख्यासहित उन शब्दों की सूचि भी मैक्समूलर ने दी है।[1] ईरान में पढ़ाई जानेवाली पुस्तकों से भी आर्यों के ईरान में जाकर बसने की पुष्टि होती है। वहाँ लिखा है—कुछ हज़ार साल पहले आर्यलोग हिमालय से[2] उतरकर आये और यहाँ का जलवायु अनुकूल जानकर यहाँ बस गये। ईरान के बादशाह सदा अपने नाम के साथ 'आर्यमेहर' की उपाधि लगाते रहे हैं। फ़ारसी में 'मेहर' सूर्य को कहते हैं। ईरान के लोग अपने को सूर्यवंशी आर्य मानते रहे हैं।

ईरानी साहित्य तथा पुराणों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि असुरों और उनकी भाषा का मूल भारत ही था। स्वयं अवेस्ता में त्वष्टा के वशंजों को 'आर्यव्रज' (आर्यावर्त्त=आर्यनवेजो—Airyana Vaejo= आर्यनिवास) से पलायन का उल्लेख मिलता है कि किस प्रकार देवों के भय से ईरानी १६ देशों में मारे-मारे फिरते रहे। सर्वप्रथम उनका निवास आर्यावर्त्त=आर्यवीजो=आर्यनवेजो ही में था। यहीं से उन्होंने अन्य देशों को प्रस्थान किया। अनेक जातियाँ हिमालय के दूसरे नाम 'मेरु' का स्मरण भिन्न-भिन्न नामों से करती हैं—भारतीय आर्य 'मेरु', जेन्दभाषावाले 'मौरु', यूनानवाले 'मेरोस', दक्षिण तुर्किस्तानवाले 'मेरुव', मिस्रवाले 'मेरई' और असीरियावाले 'मोरुरव' कहते हैं।

(५) हिमालय पर प्राणियों के शरीरांश बहुतायत से पाये जाते हैं। पृथिवी पर ऐसा कोई स्थान नहीं है जो हिमालयस्थित प्राणियों के शेषांगों से अधिक पुराने चिह्न दे सके। इससे प्रमाणित होता है कि हिमालय पर मनुष्य से पहले उत्पन्न होनेवाले और उसके जीवन के आधार वृक्ष और गौ आदि पशु पूर्वातिपूर्व काल में उत्पन्न हो गये थे, अतएव हिमालय आदिसृष्टि उत्पन्न करने की पूर्ण योग्यता रखता है। भारत के प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् अविनाशचन्द्र दास ने ऋग्वैदिक इण्डिया में लिखा है—"आर्यों का आदिदेश कश्मीर ही है।"[3] एक बहुत बड़े शिक्षाशास्त्री की साक्षी से टेलर ने लिखा है—"मनुष्यजाति की जन्मभूमि स्वर्गतुल्य कश्मीर ही है।"[4] आर्यों के विशुद्ध रूप-रंग के लोग कश्मीर में आज भी बसते हैं। आदि मनुष्य और आर्य

---

1. Maxmueller : Selected Essays on Language, Mythology and Religion, 1881, P. 227-78.

२. चन्द हज़ार साल पेश जमाना माजीरा बजुर्गी अज़ निज़ाद आर्या अज़ कोहहाय कफ़ काज़ गुज़िश्तः बर सर ज़मीने की इमरोज़ मस्कने मास्त क़दम निहादन्द। ब चूं आबो हवाय ई सर ज़मीरा मुआफ़िक तब'अ खुद याफ्तन्द दरीं जा मस्कने गुज़ीदन्र ब आंरा बनाम खेश ईरान ख़यादन्द। —देखो—जुग़राफ़िया पंज क़िताअ बनाम तदरीस रहसल पंजुम इब्तदाई, सफ़ा ७८; कालम १, मतब अ दरसनहि तिहरान, सन् हिजरी १३०६, सीन अव्वल व चहारम अज़ तर्फ़ विज़ारत मुआरिफ़ व शरशुदः।

3. That this mountaneous Country (Kashmere) and the plains of Saptasindhu were the Cradle of Aryan race. —Rigvedic India, P. 155

Adelung, the father of comparative philology, placed the cradle of mankind in the valley of Kashmere which he identified with paradise. —Tailors Origin of the Aryans, P. 9

https://t.me/arshlibrary

एक ही हैं। इसलिए बलपूर्वक कहा जा सकता है कि आदिसृष्टि हिमालय पर हुई। नाना पावगी ने अपने खोजपूर्ण ग्रन्थ 'आर्यावर्त्ततील आर्यांची जन्मभूमि' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि हिमालय ही हमारे देवताओं का आदिकालिक जन्मस्थान है।[1] इसी प्रकार दास बाबू ने लिखा है "वेद में जो उत्तर की ओर के नक्षत्रों का वर्णन है, उससे ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषियों ने उन्हें कश्मीर और हिमालय के ऊँचे पहाड़ों से ही देखा था।"[2]

आर्यों के आदिदेश के रूप में सप्तसिन्धव की कल्पना करनेवाले विद्वानों ने सरस्वती की घाटी से लेकर सिन्धु तक के प्रदेश को तथा उससे भी पर्याप्त पश्चिम तक के प्रदेश को आदिदेश बताया है, पर इसमें भी सात नदियों के भाग को मुख्य मानकर विचार करें तो सरस्वती से सिन्धु तक के प्रदेश में आर्यों की बस्तियाँ रही होंगी, ऐसा मानना होगा। जब पानी बरसता है तो वह नदियों में बहता ही है। कहीं भी देखकर सामान्यरूप से सब जगह बहने का कथन किया जा सकता है। तब, जैसाकि सम्पूर्णानन्दजी कहते हैं, किसी एक स्थान पर रहते हुए व्यक्ति के लिए आकाश से मूसलाधार बरसते पानी का 'सात' नदियों में बहना दृग्विषय कैसे हो सकता है ? या तो उस प्रदेश में जितनी नदियाँ थीं, सबको ठीक-ठीक गिनकर उतनी संख्या का निर्देश किया जाना चाहिए था अथवा सामान्यरूप से कहने पर संख्या का निर्देश अनपेक्षित था। विशिष्ट संख्या का निर्देश ऐसे स्थान का निर्देश करता है जहाँ सात नदियाँ एक-दूसरे के आसपास बहती हों। तभी बादलों का गरजना, बिजली का कड़कना और बरसते जल का सप्तसिन्धुओं (सात नदियों) में बहना किसी का दृग्विषय हो सकता है। ऐसा स्थान कहाँ है ? सरस्वती से सिन्धु तक फैले प्रदेश का—जिसमें पंजाब व कश्मीर सम्मिलित हैं—उससे सामंजस्य नहीं हो सकता।

हिमालय नाम से अभिहित भूभाग पर्याप्त विस्तृत है। इसमें आर्यों अथवा मानव का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव कहाँ हुआ; इसका निश्चय करना आसान नहीं। इतने समस्त विस्तृत प्रदेश में मानव का प्रादुर्भाव होना सम्भव नहीं लगता। वेद के आधार पर सप्तसिन्धव की कल्पना इसी भावना से की जाती है कि वह आर्यों का सर्वप्रथम निवासस्थान है। यदि यह कहा जाए कि वेदों का वर्णन उस समय का है, जब आर्य इतने विस्तृत प्रदेश में फैल गये थे, तब इतने प्रदेश को आदिदेश नहीं कहा जा सकता। आदिदेश उसी को कहना ठीक होगा, जहाँ सर्वप्रथम आर्यमानव का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रदेश का विस्तार अपेक्षाकृत काफ़ी छोटा होना चाहिए।

सर्वप्रथम जिस देश में आर्यजन अथवा मानव का प्रादुर्भाव हुआ या जिसे उनका मूल अभिजन कहना चाहिए, प्राचीन भारतीय साहित्य में उसका नाम 'देवलोक' बताया है। **'उत्तरो वै देवलोकः ..... उत्तरयैव देवलोकमवरुन्धे'** (शतपथ १२।६।३।७)—उत्तर ही देवलोक है, उत्तर दिशा में ही देवलोक को सीमित करता हूँ। सायण ने अपने अथर्ववेद (१९।३६।८) के भाष्य में लिखा है—**"हिमवच्छरप्रदेशेव स्वर्गभूमिरिति प्रसिद्धः।"** कोशों में स्वर्ग और त्रिविष्टप पर्यायवाची पढ़े हैं। यह उत्तर दिग्विभाग का वही

१. या प्रमाणें सदरीं नमूद केलेल्या सर्वप्रमाणांवरून, हा हिमाचल आमच्या देवादिकांचीही जन्मभूमि होऊन राहिला आहे, असें वाचकांच्या लक्ष्यांत सहजी येईल।—आ.आ. जन्मभूमि, पृ. २७२।

2. On the other hand, if it refers to the constellation of 'Ursha major' which is most prominent in the northern parts of India and particularly in the high table-land north of Kashmere and the peaks of Himalaya from which the Vedic bardmay have made his observations, it is not unnatural for him to describe it as placed high above the horizon. —Rigvedic India, P. 376

https://t.me/arshlibrary

[आर्यावर्त्त की प्राचीन सीमा]

प्रश्न— आर्य्यावर्त्त की अवधि कहाँ तक है ?

उत्तर— **आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।**
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्य्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ॥१॥
सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशमार्य्यावर्त्त[1] प्रचक्षते ॥२॥ —मनु० २।२२

प्रदेश है जहाँ कैलास मानसरोवर के आसपास सात नदियों का उद्गम स्थान है । वाल्मीकि रामायण (बालकाण्ड ४३।११-१४) तथा महाभारत में कई स्थालों पर बिन्दुसर का तथा उससे निकलनेवाली सात नदियों का उल्लेख हुआ है । मानसरोवर का ही पूर्व अथवा अपर नाम बिन्दुसर प्रतीत होता है, परन्तु इस प्रदेश का सप्तसिन्धु नाम कभी नहीं रहा । जब हम वर्तमान हिमालय के विस्तृत मध्य भाग पर दृष्टि डालते हैं तो हमें छोटी सीमाओं में ही एक प्रदेश दिखाई देता है, जहाँ सात बड़ी नदियाँ अधिक-से-अधिक समीप हैं । उत्तर भारत की सात बड़ी नदियों का उद्गम हिमालय के एक थोड़े से भाग में सीमित है । वे सात नदियाँ हैं—सिन्धु, सतलुज, सरस्वती, गंगा, यमुना, शारदा (पर्वतीय भीतरी भागों में 'काली' नाम से प्रसिद्ध) और ब्रह्मपुत्र । इन नदियों के उद्गमस्थानों की अधिक-से-अधिक दूरी वर्तमान काल में लगभग १५० मील के भीतर सीमित है । यदि सिन्धु से लगाकर ब्रह्मपुत्र तक प्रत्येक नदी के उद्गमस्थान को छूते हुए एक रेखा खींची जाए तो उसकी आकृति घोड़े के नाल जैसी बन जाएगी । प्राचीनतम काल में वहाँ छोटा-सा समुद्र अथवा पर्याप्त बड़ा सर रहा होगा । भारतीय साहित्य में उसी का नाम बिन्दुसर या ब्रह्मसर मिलता है । वर्तमान में यही प्रदेश मानसरोवर और उसके आसपास का क्षेत्र है । हिमालय के उतने प्रदेश में उत्तर भारत की सात बड़ी नदियों के उद्गमस्थान हैं, जिनका जल पूर्वी और पश्चिमी समुद्र में जाकर गिरता है । अब भले ही वहाँ ऐसी बड़ी झील न हो जिसे हम ऊपर से देख सकें, परन्तु उस प्रदेश की धरती में अनन्त जलराशि के भण्डार हैं, जिससे उक्त नदियों के स्रोत सूख नहीं पाते ।

अनन्तर काल में भौगोलिक उथल-पुथल के कारण उस प्रदेश की परिस्थिति में बड़ा भारी अन्तर आया । सरस्वती के प्रवाह की दिशा बदल गयी और कुछ दूर चलकर वह गंगा में विलीन हो गयी । इस प्रकार कैलास-मानसरोवर के आसपास के क्षेत्र में ही मानवजाति का प्रादुर्भाव हुआ । वही आर्यों का मूल अभिजन था । कालान्तर में वहीं से आर्यजन बढ़ते-बढ़ते हिमलाय की निम्न पर्वतश्रेणियों के पश्चिमी और दक्षिणी मैदान प्रदेश में आ गये । तब उन प्रदेशों के आर्यावर्त्त एवं भारतवर्ष आदि नाम प्रचलित हुए । प्राचीनकाल में ही कभी आर्यावर्त्त के अवान्तर प्रदेश ब्रह्मावर्त्त, ब्रह्मर्षि देश आदि नामों से प्रसिद्ध हुए ।[2]

हिमालय से उतरकर आर्यलोग सीधे वर्तमान में भारत नाम से अभिहित भूखण्ड में आकर बस गये। जिस रास्ते से वे यहाँ आये उस रास्ते का नाम उन्होंने हरद्वार रक्खा । अपने इस निवासस्थान का नाम उन्होंने आर्यावर्त्त या ब्रह्मावर्त्त रक्खा । मनुस्मृति २।२ में आर्यावर्त्त की सीमाओं का इस प्रकार निर्देश किया गया है—

आ समुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ॥

---

१. मनु० में **'ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते'** है । २. मनुस्मृति २।१७-२२, पातंजल व्याकरणमहाभाष्य २।४।१० व ६।३।१०६ ।

https://t.me/arshlibrary

उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व और पश्चिम में समुद्र ॥१॥ तथा सरस्वती, पश्चिम में अटक नदी; पूर्व में दृषद्वती, जो नेपाल के पूर्व भाग पहाड़ से निकलके बंगाल के आसाम के पूर्व और ब्रह्मा के पश्चिम ओर होकर दक्षिण के समुद्र में मिली है, जिसको 'ब्रह्मपुत्रा' कहते हैं, और जो उत्तर के पहाड़ों से निकलके दक्षिण के समुद्र की खाड़ी में आकर मिली है। हिमालय की मध्यरेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वर-पर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने देश हैं, उन सबको 'आर्य्यावर्त्त' इसलिए कहते हैं कि यह आर्य्यावर्त्त देव अर्थात् विद्वानों ने बसाया और आर्यजनों के निवास करने से **'आर्य्यावर्त्त'** कहाया है ॥२॥

अर्थात्—पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र-पर्यन्त विद्यमान उत्तर में हिमालय और दक्षिण में स्थित विन्ध्याचल का मध्यवर्ती देश है, उसे विद्वान् लोग आर्यावर्त्त कहते हैं। सत्यार्थप्रकाश के आठवें समुल्लास में इस श्लोक का निर्देश कर आर्यावर्त्त की सीमाओं का निर्धारण करते हुए स्वामी दयानन्द ने लिखा है—"हिमालय की मध्य रेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वरपर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने प्रदेश हैं, उन सबको आर्यावर्त्त इसलिए कहते हैं कि यह आर्यावर्त्त देश देवों और विद्वानों ने बसाया और आर्यजनों के निवास करने से आर्यावर्त्त कहाया।" आजकल विन्ध्याचल को उत्तर और दक्षिण भारत को पृथक् करनेवाला पर्वत माना जाता है। वास्तव में यह पूर्वी और पश्चिमी घाट नामक पर्वतमाला का नाम है। तभी ग्रन्थकार ने 'रामेश्वरपर्यन्त' शब्दों का प्रयोग किया है। इसमें वाल्मीकि रामायण की यह साक्षी है—

हृष्टपक्षिगणाकीर्णः कन्दरान्तरकूटवान् ।
दक्षिणस्योदधेस्तीरे विन्ध्योऽयमिति निश्चयः ॥

—कि० का० ६०।७

अर्थात्—प्रसन्न पक्षियों के झुण्डों से भरपूर कन्दराओं से परिपूर्ण दक्षिण समुद्र के तट पर यह निश्चित ही विन्ध्याचल है।

इससे स्पष्ट है कि पुरातन काल में विन्ध्याचल उस पर्वतमाला का नाम था, जिसे आजकल पूर्वी घाट व पश्चिमी घाट कहते हैं।

वराहमिहिर ने अपनी बृहत्संहिता (अध्याय ४) में लिखा है—

भारतवर्षे मध्यात्प्रागादिविभाजिताः देशाः ।
अथ दक्षिणेन लङ्काकालाजिनसौरिकीर्णतालीकटाः ॥

अर्थात्—भारतवर्ष में मध्य से पूर्वादिदेशों का विभाग है और दक्षिण में लंका, कालाजिन, सौरिकीर्ण तथा कालीकट देश हैं। बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र में भारतवर्ष के विषय में लिखा है—

सहस्रयोजनो बदरिकासेत्वन्तः । द्वारिकादिपुरुषोत्तमसालग्रामान्तः सप्तशतयोजनः । तत्रापि रैवतकविन्ध्यसह्यकुमारमलयश्रीपर्वतपरियात्राः सप्त कुलाचलाः । गंगा सरस्वती कालिन्दी गोदावरी कावेरी ताम्रपर्णी कृतमालाः कुलनद्यश्च ॥—७६।८२

अर्थात्—बदरिका से लेकर सेतुबन्ध (रामेश्वर) तक हज़ार योजन है। द्वारिका से लेकर पुरुषोत्तम सालग्राम (पुरी) तक सात सौ योजन है। उसमें रैवतक, विन्ध्य, सह्य, कुमार, मलय, श्रीपर्वत तथा पारियात्र ये सात कुलपर्वत हैं, और गंगा, सरस्वती, कालिन्दी, गोदावरी, कावेरी, ताम्रपर्णी तथा कृतमाला कुल सात नदियाँ हैं। इसपर विचार करने से ज्ञात होता है कि आर्यावर्त्त की सीमा कहाँ तक है। इस प्रकार आर्यावर्त्त और भारत अभिन्न हैं, एक हैं।

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—प्रथम इस देश का नाम क्या था ? और इसमें कौन वसते थे ?

उत्तर—इसके पूर्व इस देश का नाम कोई भी नहीं था और न कोई आर्यों के पूर्व इस देश में वसते थे, क्योंकि आर्यलोग सृष्टि की आदि में कुछ काल के पश्चात् तिब्बत से सूधे इसी देश में आकर वसे थे ।

मनुस्मृति (२।१७) में ब्रह्मावर्त्त देश की सीमा बताते हुए लिखा है—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ॥

यहाँ सरस्वती और दृषद्वती नदियों को 'देवनदी' कहा है, जो देवलोक से निःसृत होने का संकेत करता है । वहीं ब्रह्मावर्त्त प्रदेश को 'देवनिर्मित' कहा गया है, जो इस बात का संकेत कर रहा है कि 'देवलोक' (कैलास-मानसरोवर) से फैलते-फैलते जो आर्य (देव) यहाँ बस गये थे, उन्हीं के द्वारा यह प्रदेश बसाया गया है । यह उसके प्रति आदरभाव व प्रतिष्ठा का द्योतक है ।

ब्रह्मावर्त्त की सीमाओं का निर्धारण करने के लिए सरस्वती और दृषद्वती नदियों की स्थिति के सम्बन्ध में विवेचन आवश्यक है । नन्दूलाल दे ने 'प्राचीन और मध्यकालिक भारत का भौगोलोकि कोश' नामक पुस्तक में सरस्वती के विषय में लिखा है—"सरस्वती नदी शिवालक की पहाड़ियों से निकलती और 'आदबद्री' के पास—जिसे हिन्दू पवित्र मानते हैं—समतल भूमि पर प्रवेश करती है । यह नदी छलौर गाँव के पास कुछ दूर तक रेत में अदृश्य हो गयी है । भवानीपुर के पास फिर दिखाई देती है । इसी प्रकार बालछप्पर के पास फिर अदृश्य होकर बरखेड़ा में फिर दिखने लगती है और पेहोवा के पास उरनई में मारकण्डा नदी के साथ मिल जाती है । आगे भी इसका नाम सरस्वती रहता है, और अन्त में यह घग्घर में मिल जाती है ।"[1]

सरस्वती अपने अविरल प्रवाहकाल में जिस पश्चिमी समुद्र में मिलती थी, उसका उत्तर-पश्चिमी संकीर्ण तट वर्तमान राजस्थान के उत्तर-पश्चिमी सीमा भागों तक रहा, यह भौगोलिक परिस्थितियों से स्पष्ट होता है । उस समय राजस्थान का यह प्रदेश समुद्रजल से आप्लावित था और अरब सागर से मिला हुआ था । इस समुद्र का उत्तर-पश्चिमी तट वर्तमान भूगोल के अनुसार उस स्थान के आसपास था जहाँ बीकानेर, बहावलपुर एवं भटिण्डा आदि की सीमाएँ आपस में मिलती हैं । सरस्वती तटवर्ती निवासियों के लिए यही पश्चिमी समुद्र था, जहाँ सरस्वती समुद्र में मिलती थी । प्राचीन वाङ्मय में इस प्रदेश का 'विनशन' नाम से अनेकत्र उल्लेख हुआ है ।[2] महाभारत के वर्णनों से यह निश्चय होता है कि सरस्वती नदी सीधी समुद्र में जाकर मिलती थी—

ततो गत्वा सरस्वत्याः सागरस्य च संगमे ।

—महा० वन० ८०।६३

---

1. The river Sarsawati rises in the hills of Sirmoor and emerges into the plains at Ad Badri, deemed sacred by the Hindus. It disappears for a time in the sands near the village Chhalaur and reappears near Bhawanipur. At Umai near Pehove it is joined by the Markanda, and the united river bearing the name of Sarswati ultimately joins the Ghaggar.

२. ताण्ड्य० २५।१०।१।१६; महा० वन० ८२।१११, ८४।११२; मनु० २।२१ ।

https://t.me/arshlibrary

समुद्रं पश्चिमं गत्वा सरस्वत्यब्धिसंगमम् ।
आराध्यत देवेशं ततः कान्तिमवाप्स्यसि ॥

—महा० शल्य० ३६।३३

जब सरस्वती की जलधारा निरन्तर प्रवाहित हो रही थी, उस समय वर्तमान राजस्थान का अधिकांश भाग समुद्रजल से आप्लावित था।[1] ऐसी स्थिति में वर्तमान राजस्थान के उत्तर-पश्चिमी भाग के समुद्रतट में कहीं सरस्वती आकर मिलती थी, जिसका उपर्युक्त पंक्तियों में उल्लेख हुआ है। महाभारत के वर्णनों से स्पष्ट है कि महाभारत-युद्ध से बहुत पहले सरस्वती विलीन हो चुकी थी। सरस्वती के नष्ट होने का उल्लेख शतपथब्राह्मण (१।४।१।१७) में उपलब्ध है।

सरस्वती के समान दृषद्वती भी आज एक अपरिचित-सी नदी है। अनेक विद्वानों ने इस विषय में अपने विभिन्न विचार प्रकट किये हैं। आजकल भारत की उपलभ्यमान नदियों के नामों में दृषद्वती नाम किसी का नहीं पाया जाता। या तो वह भी सरस्वती की तरह नष्ट हो गयी है, या उसके किसी दूसरे नाम के अधिक प्रसिद्ध है। जाने से उसका नाम विस्मृत हो गया है। अर्थात् उसका अस्तित्व तो है, किन्तु किसी अपर नाम से जाना जाता है।

नन्दूलाल दे ने घग्घर नदी को दृषद्वती बताया है जो शिमले की पहाड़ियों से निकलकर अम्बाला और सरहिन्द होती हुई राजस्थान की मरुभूमि में अन्तर्हित हो जाती है।[2] परन्तु महाभारत के वर्णनों के अनुसार दृषद्वती नदी सरस्वती से दक्षिण-पूर्व की ओर होनी चहिए। वहाँ सरस्वती से दक्षिण और दृषद्वती से उत्तर की ओर कुरुक्षेत्र में निवास करना स्वर्गसमान बताया है।[3] यह उल्लेख तभी सम्भव है जब सरस्वती से दक्षिण-पूर्व की ओर दृषद्वती की स्थिति मानी जाए। वर्त्तमान घग्घर नदी की स्थिति उक्त सरस्वती से पश्चिम की ओर है। ऐसी स्थिति में घग्घर को दृषद्वती मानना असंगत होगा। मैकडानल और कीथ द्वारा संगृहीत 'वैदिक इण्डैक्स' में बताया गया है कि दृषद्वती कुछ दूर तक सरस्वती के बराबर बहकर उसमें

१. अन्य भौगोलिक आधारों के अतिरिक्त इसमें सुपुष्ट प्रमाण यह है कि इस विशाल क्षेत्र में अनेक झीलें ऐसी पाई जाती हैं जिनका जल समुद्र के समान खारा है। जिनसे लाखों मन नमक प्रतिवर्ष तैयार होता है। इनमें सबसे बड़ी झील सांभर है, जिसकी अधिक-से-अधिक लम्बाई २० मील और चौड़ाई दो से सात मील तक हो जाती है। पूरी भर जाने पर इसका क्षेत्रफल ६० वर्गमील के लगभग रहता है। केवल इसी झील में प्रतिवर्ष ३५ लाख मन से अधिक नमक तैयार किया जाता है। यह झील कभी के जयपुर और जोधपुर राज्यों की सीमा पर है। इसके अतिरिक्त डीडवाना, पंचभद्रा, छापर, लूणकरनसर और काणोद आदि स्थानों में अनेक छोटी-बड़ी झीलें हैं, जिनमें समुद्री जल के भण्डार हैं। इससे प्रतीत होता है कि अत्यन्त प्राचीन काल में यह प्रदेश समुद्री जल से आप्लावित था। कभी आकस्मिक उग्र भौगोलिक परिवर्त्तन से समुद्र उछलकर पीछे हट गया, पर यत्र-तत्र उसका प्रभाव बना रह गया।

२. दृषद्वती—The Ghaggar which flowed through Ambala and Sirhind, now lost in the sands of Rajputana. —Elphinston and Tod quoted in Geographical Dictionary by Nandu Lal De.

३. **दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्युत्तरेण च। ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे॥** महा० वनपर्व ८१।४, पद्मपुराण आदिखण्ड (२८।८६) में इस प्रकार पाठ है—**दक्षिणेन सरस्वत्या उत्तरेण सरस्वतीम्। ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे॥** इस पाठ का महाभारत के पाठ से कोई विरोध नहीं है। इसका अभिप्राय केवल इतना है कि सरस्वती के दोनो तटों का प्रदेश (कुरुक्षेत्र)स्वर्ग के समान है।

https://t.me/arshlibrary

मिल जाती है।[1] परन्तु यह स्पष्ट नहीं होता कि सरस्वती नदी के किस किनारे की ओर अथवा किस दिशा में दृषद्वती बहती थी।

महाभारत में उपलब्ध संकेतों के अनुसार वर्तमान गंगा का नाम दृषद्वती था। एक नदी के दो नाम होने में कोई असामंजस्य नहीं है। ऋग्वेद में उल्लिखित आर्जीकीया और विपाट् दोनों नाम विद्वानों ने वर्तमान व्यास नदी के माने हैं। कालान्तर में आर्जीकीया नाम तो बिल्कुल ही जाता रहा तथा विपाट् (विपाश) का विकृत नाम व्यास आज भी चल रहा है। इसी प्रकार दृषद्वती नाम तो भुला दिया गया और उसका अपर नाम गंगा प्रसिद्धि प्राप्त करता गया। परन्तु जिस अत्यन्त प्राचीन काल में गंगा का नाम दृषद्वती था, उस समय गंगा का स्रोत, ऐसा नहीं था, जैसा आज है। तब अवश्य यमुना के आगे गंगा (दृषद्वती) सरस्वती की सहायक नदी रही होगी।

महाभारत (शान्तिपर्व, अध्याय १५८) में वर्णन है कि युद्ध समाप्त होने पर युधिष्ठिर बन्धुबान्धवों तथा इष्ट-मित्रों के नष्ट हो जाने से खिन्न होकर राज्यपालन के स्थान पर संन्यास लेने को तैयार हो गया, पर अपने भाइयों तथा श्रीकृष्ण आदि के समझाने पर अन्ततः हस्तिनापुर जाकर उसने अपना राज्य सँभाल लिया। तब प्रजा की अनुमति से राज्याभिषिक्त हो युधिष्ठिर श्रीकृष्ण की प्रेरणा से भीष्म के पास राजनीति का उपदेश लेने के लिए अपने भाइयों तथा कृष्ण आदि के साथ जाता है। ये सब व्यक्ति उसी दिन सायंकाल को हस्तिनापुर लौट आते हैं। अगले दिन प्रातःकाल फिर भीष्म के पास उपदेश लेने के लिए जाते हैं। उसी दिन सायंकाल को पुनः वापस आने पर सब व्यक्तियों के दृषद्वती में स्नान करने और वहीं पर सन्ध्योपासन आदि के अनन्तर हस्तिनापुर लौट आने का उल्लेख है—

श्व इदानीं स्वसन्देहं प्रक्ष्यामि त्वां पितामह ।
उपैति सविता ह्यस्तं रसमापीय पार्थिवम् ॥
ततो द्विजातीनभिवाद्य केशवः कृपश्च ते चैव युधिष्ठिरादयः ।
प्रदक्षिणीकृत्य महानदीसुतं ततो रथानारुरुहुर्मुदान्विताः ॥
दृषद्वतीं चाप्यवगाह्य सुव्रताः कृतोदकार्थाः कृतजप्य मङ्गलाः ।
उपास्य सन्ध्यां विधिवत्परंतपास्ततः पुरं ते विविशुर्गजाह्वयम् ॥

—महा० शान्ति० ५८।२८-३०

इस प्रसंग में ध्यान देने की बात यह है कि इस वर्णन के अनुसार भीष्म के समीप से जल देने के अनन्तर हस्तिनापुर के समीप वे सब लोग आकर दृषद्वती में स्नानादि करते हैं। यात्रा की थकावट को दूर करने के लिए निवास पर या निवास के समीप आकर स्नान करना उचित प्रतीत होता है। इससे यह धारणा दृढ़ होती है कि हस्तिनापुर के निकटतम कहीं दृषद्वती नदी होनी चाहिए। वर्तमान मेरठ जिले के अन्तर्गत मवाना तहसील में हस्तिनापुर नामक स्थान को कौरवों की तत्कालीन राजधानी मानने पर यह निश्चय होता है कि गंगा का ही दूसरा नाम दृषद्वती था, क्योंकि हस्तिनापुर इसी नदी के दाहिने तट पर बसा है।

महाभारतकाल में, वर्त्तमान कुरुक्षेत्र उपनगर (कस्बा) और उसके आसपास का प्रदेश ही कुरुक्षेत्र न था, प्रत्युत यह एक पर्याप्त विस्तृत क्षेत्र का नाम रहा होगा। युधिष्ठिर आदि का प्रतिदिन प्रातःकाल भीष्म

१. दृषद्वती—Stony is the name of a river which flows into the Sarsvati after running for a time parallel to it.

https://t.me/arshlibrary

के पास उपदेश के लिए जाना और सायंकाल तक हस्तिनापुर लौट आना इस बात को प्रकट करता है कि भीष्म के शरविद्ध हो जाने के अनन्तर चिकित्सा के लिए तत्कालीन कुरुक्षेत्र प्रान्त के अन्तर्गत हस्तिनापुर से बहुत दूर नहीं रक्खा गया होगा। वर्तमान कुरुक्षेत्र नगर और हस्तिनापुर का अन्तर लगभग सौ मील है। निश्चित रथमार्गों से आने-जाने पर और अधिक पड़ेगा। प्रतिदिन इतनी दूर रथों या घोड़ों पर आने-जाने पर शिक्षाग्रहण करने में पर्याप्त समय लगता होगा। भीष्म की मृत्यु हो जाने पर उनके निवास के समीप ही चिता बनाए जाने का उल्लेख महाभारत में है। वहीं पर भीष्म पितामह का दाहसंस्कार किया गया। दाह के अनन्तरसमीप ही गंगा में जाकर स्नान आदि करने का उल्लेख किया गया है।[1] इससे ज्ञात होता है कि जहाँ शरशय्या पर भीष्म लेटे थे, वह स्थान गंगा से बहुत दूर नहीं था। महाभारत के इस प्रसंग में दृषद्वती नाम का उल्लेख नहीं है, गंगा व भागीरथी आदि पदों का प्रयोग है।

इसी प्रकार महाभारत में अन्यत्र (वन० ८१।६५-६६) दृषद्वती और कौशिकी नामक नदियों के संगम का उल्लेख मिलता है—

कौशिक्याः संगमे यस्तु दृषद्वत्याश्च भारत।
स्नाति वै नियताहारः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

उक्त श्लोक में कौशिकी और दृषद्वती नदियों के संगम-स्थल में स्नान करने के माहात्म्य का उल्लेख है। कौशिकी बिहार की कोसी नदी है, जो नेपाल के पर्वतीय प्रदेश से चलकर उत्तर से सीधी दक्षिण को बहती हुई हज़ारीबाग के पास गंगा में मिलती है। यहाँ दृषद्वती नाम से गंगा का ही उल्लेख किया गया है। ऋषिकेश और हरद्वार के बीच गंगा से प्रतिवर्ष लाखों टन पत्थर निकालकर ढोया जाता है, और यह काम हज़ार-लाखों साल से चला आता है। दृषद्वती (Stony) नाम का यही कारण है। सरस्वती और दृषद्वती का उद्गम स्थान 'देवलोक' होने के कारण इनको 'देवनदी' कहा गया है। हिमालय के सर्वोच्च शिखर को अपने भीतर समेटता हुआ ऊपर उत्तर की ओर का कैलास-मानसरोवर का विस्तृत भूभाग पुराणों में देवलोक नाम से अभिहित किया गया है।

जब से यह मान्यता जोर पकड़ने लगी है कि भारतीय आर्यों के किसी भी प्राचीन ग्रन्थ से, उनकी किसी कथा-कहानी से या उनकी किसी भी बात से यह नहीं पाया जाता कि वे किसी गैर देश से आये, तब से आर्यों के मूल देश के कश्मीर तथा हिमालय के आसपास होने की मान्यता बल पकड़ रही है।

महाभारत में लिखा है —

हिमालयाभिधानोऽयं ख्यातो लोकेषु पावनः। अर्धयोजनविस्तारः पञ्चयोजनमायतः ॥
परिमण्डलयोर्मध्ये मेरुरुत्तमपर्वतः। ततः सर्वाः समुत्पन्ना वृत्तयो द्विजसत्तम ॥
ऐरावती वितस्ता च विशाला देविका कुहू। प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ ॥

अर्थात्—संसार में पवित्र हिमालय है। इसमें आधा योजन चौड़ा और पाँच योजन घेरेवाला 'मेरु' है, जहाँ मनुष्यों की उत्पत्ति हुई। यहीं से ऐरावती, वितस्ता, विशाला, देविका और कुहू आदि नदियाँ निकलती हैं। इन प्रमाणों में हिमालय के मेरु प्रदेश में आदि सृष्टि होने का वर्णन है। इससे भी अधिक पुष्ट प्रमाण हमें इस विषय में मिले हैं, जिनसे अमैथुनी सृष्टि के हिमालय में होने का निश्चय होता है। जिस मेरु स्थान का महाभारत के उक्त श्लोकों में निर्देश किया गया है, उसी के पास **'देविका पश्चिमे पार्श्वे मानसं सिद्ध-सेवितम्'** अर्थात् देविका के निवास के पश्चिमी किनारे पर 'मानस' है। यह मानस अब एक झील है जो तिब्बत के अन्तर्गत है। स्वामी दयानन्द ने सन् १८७५ में सत्यार्थप्रकाश में लिखा था—"मनुष्यों की

१. अनुशासनपर्व, अध्याय १६६।६७

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

आदिसृष्टि त्रिविष्टप अर्थात् तिब्बत में हुई और आर्यलोग सृष्टि के आदि में कुछ काल पश्चात् तिब्बत से सूधे इसी देश (भारत) में आकर बसे। इसके पूर्व इस देश का कोई भी नाम नहीं था, और न कोई आर्यों के पूर्व इस देश में बसते थे।"

इस अध्याय में जो कुछ कहा गया है उससे स्वामी दयानन्द के कथन की पूरी तरह पुष्टि होती है। सम्भवतः इसी भावना से प्रेरित होकर मैक्समूलर ने लिखा है—"यह निश्चित हो चुका है कि हम सब पूर्व से ही आये हैं। इतना ही नहीं, हमारे जीवन की जितनी भी प्रमुख और महत्त्वपूर्ण बातें हैं, सबकी सब हमें पूर्व से ही मिली हैं। ऐसी स्थिति में जब हम पूर्व की ओर जाएँ तभी हमें यह सोचना चाहिए कि पुरानी स्मृतियों को संजोए हम अपने पुराने घर की ओर जा रहे हैं।"[1]

फ्रांस के महान् सन्त एवं विचारक क्रूजे (Cruiser) ने बलपूर्वक लिखा है—"यदि कोई देश वास्तव में मनुष्यजाति का पालक होने अथवा उस आदि सभ्यता का, जिसने विकसित होकर संसार के कोने-कोने में ज्ञान का प्रसार किया, स्रोत होने का दावा कर सकता है, तो निश्चय ही वह देश भारत है।"[2] क्रूजे की इस भारत-स्तुति का कारण स्पष्ट करते हुए विलियम दुराँ (William Durant) ने कहा है—"भारत मनुष्य-जाति की मातृभूमि और संस्कृत यूरोपियन भाषाओं की जननी है, वह हमारे दर्शन की जननी है, अरबों के माध्यम से हमारे गणित की जननी, बुद्ध के माध्यम से ईसाइयत में निहित आदर्शों की जननी, ग्राम-पंचायत के माध्यम से स्वायत्त शासन और लोकतन्त्र की जननी। वास्तव में भारतमाता अनेक रूपों में हम सबकी जननी है।"[3] इस प्रकार जिस भारत को विश्वभर का आदिदेश होने का गौरव प्राप्त है, उसका आर्यों का आदिदेश होना तो स्वतः सिद्ध है।

देश का प्राचीनतम नाम—एक देश को छोड़कर दूसरे देश में बसनेवाली जातियों को शताब्दियों तक अपनी मूल की स्मृति बनी रहती है। भारत में बसे हुए पारसियों को लगभग एक हज़ार वर्ष बीत जाने पर भी अपने मूल स्थान की स्मृति बनी हुई है। प्राचीन मिस्र देशवासियों तथा फिनिशियनों को अपने-अपने मूल के देशों का स्मरण है, भले ही वे उनकी ठीक-ठीक स्मृति न बता सकें, परन्तु वैदिक आर्यों को भारत के बाहर अपने मूल-निवास की कोई स्मृति नहीं है। वे सदा से इसी देश को अपना देश मानते आये हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि अपने-आपको यहाँ के मूल-निवासी कहनेवाले द्रविड़ों आदि की भाषा में अन्य सब-कुछ होते हुए भी इस देश का नाम आर्यावर्त्त ही है। आर्यों (हिन्दुओं) के किसी भी मांगलिक कार्य के आरम्भ में परम्परागत स्तोत्र (संकल्प) का उच्चारण (**आर्यावर्त्ते भरतखण्डे**) इत्यादि शब्दों से होता है। आर्यावर्त्त से पुराना नाम इस देश का कहीं नहीं मिलता।

---

1. We all come from the East—all that we value most has come to us from the East, and 'old home' full of memories, if only we can read them.—India : What Can it Teach us ? p. 29

2. If there is a country which can rightly claim the honour of being the cradle of human race or at least the scene of primitive civilisation, the sucessive developments of which carried into all parts of the ancient world, and even beyond, the blessings of knowledge which is the second life of man, that country assuredly is India.

3. India was the Motherland of our race and Sanskrit the Mother of Europeon languages; she was the Mother of our philosophy; Mother, through the Arabs, of much of our mathematics; Mother, through the Budha, of the ideals embodied in Christianity; Mother, through the village community, of self-government and democracy. Mother India is in many ways the mother of us all.

https://t.me/arshlibrary

वैदिक साहित्य प्राचीनतम साहित्य है। यदि आर्य लोग बाहर से आकर यहाँ बसे तो क्या कारण है कि जहाँ कहीं से भी वे आये, उस देश में उनका साहित्य उपलब्ध नहीं होता। वहाँ उसके कुछ अंश तो मिलने चाहिए थे। यह कहना कि आर्यों के मस्तिष्क का विकास यहाँ आकर हुआ, युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता। इसकी अपेक्षा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि भारतस्थित आर्यों में से ही कुछ लोग बाहर गये। वे ऐसे साधारण लोग थे जिनका सांस्कृतिक विकास साधारण स्तर का था, अतः वहाँ जाकर बसे लोगों को वे उच्च स्तर का साहित्य व संस्कृति नहीं दे सके।

संस्कृत सभी भारतीय भाषाओं का स्रोत है। दक्षिण भारत (जहाँ के लोगों को आर्यों के आने से पहले यहाँ का मूल निवासी बताया जाता है) की भाषाओं में ६५ से ६० प्रतिशत शब्द संस्कृत के हैं। यदि संस्कृत बाहर से आकर यहाँ बसनेवाले लोगों की भाषा है तो उनके आने से बहुत पहले से ही बसे हुए यहाँ के मूल निवासियों की भाषा में ६५ से ६० प्रतिशत संस्कृत शब्द कहाँ से आ गये ?

हमारे पास इस बात के पुष्ट प्रमाण हैं कि आर्यलोग इस देश के मूल निवासी हैं और उनसे पहले यहाँ और कोई जाति नहीं रहती थी। जहाँ कहीं भी मनुष्यों का वास होता है, उस भूखण्ड को किसी-न-किसी नाम से अवश्य जाना जाता है। आर्यों के आने (?) से पूर्व यदि यहाँ द्रविड़ों का वास रहा होता तो उनकी भाषा और साहित्य में इस देश का कोई-न-कोई नाम अवश्य उपलब्ध होता। इस प्रकार कोई संकेत न पाये जाने से सुस्पष्ट है कि आर्यों के इस देश पर आक्रमण की बात सर्वथा कपोलकल्पित है। इस देश का सबसे प्राचीन नाम आर्यावर्त्त है, क्योंकि आदिकाल से यहाँ के निवासी आर्य थे।

पाश्चात्यों के अनुसार ऋग्वेद ईश्वरप्रदत्त ज्ञान न होकर भारत में आकर बस गये आर्यों की रचना है। संसार में कौन ऐसी जाति है जिसने अपने साहित्य में अपनी विजय की गौरव-गाथा न लिखी हो। रामायण में राम की लंका पर विजय का और महाभारत में पाण्डवों की कौरवों पर विजय का विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है। फिर, क्या कारण है कि आर्यों ने द्रविड़ों पर अपनी विजय का उल्लेख ऋग्वेद जैसे महान् ग्रन्थ में नहीं किया ? इससे भी स्पष्ट है कि न आर्य बाहर से आये और न यहाँ के तथाकथित मूल निवासी द्रविड़ों से उनका कोई संघर्ष हुआ। यह 'फूट डालो और राज्य करो' (Divide and Rule) की नीति को अपनानेवाले विदेशी शासकों की कूटनीतिक चाल थी।

यूरोप की किसी भाषा में आर्य शब्द का कोई विकृत रूप देखने में नहीं आता। यदि वहाँ कहीं आर्यों का मूल स्थान रहा होता तो उनकी भाषा में 'आर्य' से मिलता-जुलता कोई शब्द अवश्य मिलता।

ग्रन्थकार के स्वर-में-स्वर मिलाकर निष्पक्ष पाश्चात्य विद्वान् म्यूर ने कहा है—

"I must, however, begin with the candid admission that, so far as I know, none of the Sanskrit books,not even the most ancient, contains any distinct reference or allusion to the foreign origin of Aryans. There is no evidence or indication in the Rigveda of the words Dasa, Dasyan, Asura etc. having been used for non-Aryans or original inhabitants of India."

—Muir : Original Sanskrit Texts, Val. II

अर्थात् यह निश्चित है कि किसी भी संस्कृतग्रन्थ में, चाहे वह कितना ही पुराना क्यों न हो, आर्यों के विदेशमूलक होने का उल्लेख नहीं मिलता है। ऋग्वेद में जिन दास, दस्यु एवं असुर जैसे नामों का उल्लेख है, वे अनार्यमूलक अर्थात् आदिम जातियों के लिए प्रयुक्त किये गये हों—इस प्रकार का कोई प्रमाण या संकेत उपलब्ध नहीं है।

विश्व विख्यात इतिहासविद् एलफशटन ने भी ग्रन्थकार के मन्तव्य की इन शब्दों में पुष्टि की है—

https://t.me/arshlibrary

"Neither in the code of Manu, nor in the Vedas, nor in any book which is older then the code of Manu, is there any allusion to the Aryan's prior residence in any country outside India."

—Elphinston : History of India, Vol. I

अर्थात्—न मनुस्मृति में, न वेदों में और न मनुस्मृति से पूर्वकालीन किसी अन्य ग्रन्थ में (भारत में आने से पूर्व) आर्यों के भारत से बाहर अन्य किसी देश में रहने का उल्लेख है।

T. Burrow जैसे विश्व विख्यात पुरातत्त्ववेत्ता ने लिखा है—

"The Aryan invasion of India is recorded in no written document and it cannot be traced archaeologically."—Quoted from 'The Early Aryans', published by Clarandon Press, Oxford 1975.

अर्थात्—आर्यों के भारत पर आक्रमण का न कोई प्रमाण है और न इसे पुरातत्त्व की सहायता से सिद्ध किया जा सकता है।

इस प्रसंग में प्रायः सिन्धुघाटी की हड़प्पा संस्कृति का राग अलापा जाता है। हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ों में इस निमित्त किये गये उत्खनन (Excavations) में उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह दावा किया जाता रहा है कि यह इस देश की प्राचीनतम संस्कृति है। इसके पतन के बाद ही यहाँ आर्यों का आगमन हुआ था। इस विषय में हम अपनी ओर से कुछ न कहकर मोहनजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त एक सील मुद्रा की फोटोस्टेट प्रतिकृति दे रहे हैं, जो स्वयं अपनी कहानी कहती प्रतीत होती है—

Photostat or plate no. CXII, Seal no. 387 from the excavations at Mohenjo-daro (From Mohenjo-daro and the Indus Civilization, edited by Sir John Marshall, Cambridge, 1931)

यहाँ एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे दिखाई दे रहे हैं जिनमें से एक फल खा रहा है, जबकि दूसरा केवल देख रहा है।

ऋग्वेद का एक मन्त्र इस प्रकार है—

https://t.me/arshlibrary

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥—ऋ० १।१६४।२०

इस मन्त्र का भाव यह है कि एक (संसाररूपी) वृक्ष पर दो (लगभग एक जैसे) पक्षी बैठे हैं। उनमें एक उसका भोग कर रहा है, जबकि दूसरा बिना उसको भोगे उसका निरीक्षणमात्र कर रहा है।

स्पष्ट है कि मोहनजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त चित्र में जो कुछ दिखाया गया है, उसका आधार ऋग्वेद का उपर्युक्त मन्त्र है। यह निर्विवाद है कि संसार में ऋग्वेद से पुरानी कोई पुस्तक नहीं है। कलाकार द्वारा बनाये गये चित्र से पहले ऋग्वेद का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। मोहनजोदड़ो की खुदाई में इस चित्र के पाये जाने से वेदों का (कम-से-कम ऋग्वेद का) तथाकथित हड़प्पा संस्कृति से पूर्ववर्त्ती होना सिद्ध है। वेद आर्यों के ग्रन्थ हैं, इसलिए सबसे पूर्व आर्यों का होना प्रमाणित है।

इसी प्रसंग में (Indian Express, New Delhi, 3-8-85) में प्रकाशित यह विवरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

"Dr. Vishnu Shridhar Vakankar, former Head of the Archaeology Department of Vikram (Ujjain) University, claimed here on Thursday that he had successfuly made a break through in solving the mystery of the writing of the seals found in the Indus Valley Civilization of Harappa and Mohanjodaro. He claimed that the Indus Valley civilization was original to India and its roots are found in the Aryan Civilization.

He challanged foreign claims that the Indian Valley Civilization was non-Aryan by stating that recent results were based on computers."

डॉ० वाकणकर ने अपने दूसरे वक्तव्य में, जो 'Times of India (Ahmedabad, 22-12-85) में प्रकाशित हुआ, कहा—"His survey (conducted by 30 experts drawn from different disciplines like archaeology, geology, history, folklore etc.) when completed might even drastically change the popular conception among historions that Aryans invaded India from Central Asia, etc."

अर्थात्—विक्रम (उज्जैन) विश्वविद्यालय में पुरातत्त्वविभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ० विष्णुश्रीधर वाकणकर ने ३० विशेषज्ञों के सहयोग से सिन्धु घाटी की सभ्यता से सम्बन्धित सामग्री का २० वर्ष तक अध्ययन करके यह सिद्ध किया है कि हड़प्पा की सभ्यता का मूल आर्यसभ्यता में था, अर्थात् हड़प्पा सभ्यता से आर्यसभ्यता पुरानी थी। उनके मत में हड़प्पा आर्यसभ्यता का ही अंग थी। यह निष्कर्ष उन्होंने कम्प्यूटर की सहायता से निकाला था। डॉ० वाकणकर का यह भी कहना है कि जब उनकी खोज का काम पूरा हो जाएगा तो वह आर्यों के विदेशी आक्रान्ता होने की मान्यता को मिथ्या सिद्ध कर देंगे।

कुछ वर्ष हुए यूनेस्को के तत्त्वावधान में होनेवाली एक अन्तर्राष्ट्रिय गोष्ठी में भारत सरकार का प्रतिनिधित्व करनेवाले सात सदस्यीय दल ने एकमत से आर्यों के ईरान से आकर भारत में बसने विषयक मान्यता का प्रतिवाद किया था। इस सन्दर्भ में Hindustan Times के ३१ अक्तूबर १९७७ के अंक में प्रकाशित यह विवरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

"There is no conclusive evidence of Aryan immigration into India from outside, according to Indian historians, linguists and archaeologists who participated in the international seminar in Dushambe, the capital of Soviet Republic of Tajikistan. Dr. N.R. Banerjee, Director of National museum and a member of the Indian delegation, said that Indian scholors made out this point at the seminar and the papers presented by them were very much appreciated. The seminar was held under the **aegies** of UNESCO to discuss the problem of ethnic **movement** during the second millenium B.C. Ninety delegates from the Sovet union, West Germany, Iran,

https://t.me/arshlibrary

[आर्य-दस्यु-युद्ध]

प्रश्न—कोई कहते हैं कि ये लोग ईरान से आये। इसी से इन लोगों का नाम 'आर्य' हुआ है। इसके पूर्व यहाँ जंगली लोग वसते थे कि जिनको असुर और राक्षस कहते थे। आर्यलोग अपने को देवता बतलाते थे और उनका जब संग्राम हुआ, उसका नाम 'देवासुर-संग्राम' कथाओं में ठहराया।

उत्तर—यह बात सर्वथा झूठ है, क्योंकि—

वि जानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान् ॥

—ऋ० म० १। सू० ५१। मं० ८

उत शूद्र उतार्ये[1] ॥ अथर्ववेद यह का प्रमाण है।

यह लिख चुके हैं कि **'आर्य'** नाम धार्मिक, विद्वान् आप्त पुरुषों का, और इनसे विपरीत जनों का नाम 'दस्यु' अर्थात् डाकू, दुष्ट, अधार्मिक और अविद्वान् है। तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य द्विजों का नाम 'आर्य' और शूद्र का नाम **'अनार्य्य'** अर्थात् अनाड़ी है ॥

Pakistan and India attended. The Seven member delegation was led by Prof. B.B. Lal, Director of Advanced studies. It was pointed out by Indian scholars that the archaeological material associated with Aryans in different regions and periods in India did not show any links with archaeological survival of Aryans in Afghanistan, Iran and Central Asia."

तात्पर्य यह है कि पुरातत्व के आधार पर इस बात की कोई साक्षी नहीं मिली, जिससे आर्यों का कहीं बाहर—ईरान, अफ़गानिस्तान, या मध्य एशिया से आकर भारत पर बलात् अधिकार कर यहाँ बस जाना सिद्ध हो।

विजानीह्यार्यान्—(बर्हिष्मते) उत्तम सुखादि गुणों के उत्पन्न करनेवाले व्यवहार की सिद्धि के लिए (आर्यान्) सर्वोपकारक धार्मिक विद्वान् मनुष्यों को (विजानीहि) जानो और (ये) जो (दस्यवः) परपीड़ा करनेवाले अधर्मी दुष्ट मनुष्य हैं, उनको (रन्धय) मारो।

इस प्रकार इस मन्त्र में आर्य पद दस्यु के विलोम अर्थ में आया है और दस्युओं के लिए विशेषणरूप में 'अव्रत' शब्द का प्रयोग हुआ है। वस्तुतः वेदों में जहाँ कहीं भी आर्य शब्द आया है, सर्वत्र शुभ गुणों से युक्त मनुष्य का वाचक है।

'उत शूद्रे उतार्ये' अथर्ववेद का यह पूरा मन्त्र इस प्रकार है—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ —अथर्व० १९।६२।१

इस मन्त्र के साथ निम्न दो मन्त्रों पर भी विचार करना उपयोगी होगा—

प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च ।
यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते ॥ —अथर्व० १९।३२।८

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्या शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥ —यजुः० २६।२

इन तीनों मन्त्रों में समाज के चार वर्ग—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का वर्णन किया गया है। यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र का स्पष्ट शब्दों में निर्देश किया है। तब निश्चय ही परिशेषन्याय से 'अर्य' पद परवर्ती वैश्य के स्थान पर आया है। 'उत+अर्ये', 'च+अर्याय' तथा 'अर्य' शब्द प्राप्त होता है। पाणिनि ने

https://t.me/arshlibrary

जब वेद ऐसे कहता है, तो दूसरे विदेशियों के कपोलकल्पित कथन को बुद्धिमान् लोग कभी नहीं मान सकते। और 'देवासुरसंग्राम' में आर्यावर्त्तीय अर्जुन[1] तथा महाराजा दशरथ[2] आदि, हिमालय पहाड़ में आर्य और दस्यु, म्लेच्छ असुरों का जो युद्ध हुआ था, उसमें देव अर्थात् आर्यों की रक्षा और असुरों के पराजय करने को सहायक हुए थे।

इससे यही सिद्ध होता है कि आर्यावर्त्त के बाहर चारों ओर जो हिमालय के पूर्व-आग्नेय, दक्षिण-नैर्ऋत्य, पश्चिम-वायव्य, उत्तर-ईशान देश में मनुष्य रहते हैं, उन्हीं का नाम **'असुर'** सिद्ध होता है, क्योंकि जब-जब हिमालय प्रदेशस्थ आर्यों पर लड़ने को चढ़ाई करते थे, तब-तब यहाँ के राजा-महाराजा लोग उन्हीं उत्तर आदि देशों में आर्यों के सहायक होते थे और जो श्री रामचन्द्रजी से दक्षिण में युद्ध हुआ है, उसका नाम 'देवासुर-संग्राम' नहीं है, किन्तु उसको **राम-रावण अथवा आर्य और राक्षसों का संग्राम** कहते हैं।

किसी संस्कृतग्रन्थ में वा इतिहास में नहीं लिखा कि आर्यलोग ईरान से आये, और यहाँ के जंगलियों को लड़कर, जय पाके, निकालके इस देश के राजा हुए। पुनः विदेशियों का लेख माननीय कैसे हो सकता है ? और—

आर्यवाचो म्लेच्छवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः[3] ॥१॥ —मनु० १०।४५
म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥२॥ —मनु० २।२३

जो आर्यावर्त्त देश से भिन्न देश हैं, वे **'दस्युदेश'** और **म्लेच्छदेश'** कहाते हैं। इससे भी यह सिद्ध होता है कि आर्यावर्त्त से भिन्न पूर्व देश से लेकर ईरान, उत्तर, वायव्य और पश्चिम देशों में रहनेवालों का नाम **'दस्यु'** और **'म्लेच्छ'** तथा **'असुर'** है।[4] और नैर्ऋत्य, दक्षिण तथा आग्नेय दिशाओं में आर्यावर्त्त देश से भिन्न देशों में रहनेवाले मनुष्यों का नाम **'राक्षस'** है। अब भी देख लो, हबशी लोगों का स्वरूप भयंकर जैसा राक्षसों का वर्णन किया है, वैसा ही दीख पड़ता है।

अष्टाध्यायी (३।१।१०३) में कहा है—**'अर्यः स्वामिवैश्ययोः'**। अन्यथा अर्थ करने पर प्रथम तो चार वर्णों में से शूद्र वर्ण का लोप हो जाएगा, दूसरे 'आर्य' और 'शूद्र' को दो विभिन्न जातियों के रूप में ग्रहण किया जाएगा। यदि आर्य एक जाति मानी जाएगी तो ब्राह्मण, राजन्य (क्षत्रिय) और शूद्र को आर्यों से अतिरिक्त भिन्न जाति मानना होगा।

आर्यवाचः—यह पूरा श्लोक इस प्रकार है—

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥. —मनु० १०।४५

---

१. अर्जुन ने इन्द्र की आज्ञा से उसके शत्रु निवातकवच नामक दानवों से युद्ध किया था। द्र०—महा० वनपर्व अ० १६८।७१ से अध्याय १७५ तक।
२. द्र० वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड सर्ग ११, श्लोक १८॥
३. मनु० १०।४५॥ वहाँ **'म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः'** पाठ है।
४. ये म्लेच्छ देश ही उत्तरकालीन इतिहास में दैत्य और दानवदेश कहाये। इनपर दिति और दनु माताओं के सन्तानों का राज्य रहा। इन्हें ही 'असुर-देश' कहते हैं। म०द०
५. असीरिया' इन्हीं असुरों का देश था।

https://t.me/arshlibrary

और आर्यावर्त्त की सूध पर नीचे रहनेवालों का नाम **'नाग'** और उस देश का नाम **'पाताल'** इसलिए कहते हैं कि वह देश आर्यावर्त्तीय मनुष्यों के पाद अर्थात् पग के तले है। और उनके नागवंशी अर्थात् नाग नामवाले पुरुष के वंश के राजा होते थे। उसी की उलोपी राजकन्या से अर्जुन का विवाह हुआ था अर्थात् इक्ष्वाकु से लेकर कौरव-पाण्डव तक[1] सर्वभूगोल में आर्यों का राज्य और वेदों का थोड़ा-थोड़ा प्रचार

अर्थ—(लोके) लोक में (मुख-बाहु-ऊरु-पत्-जानाम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों से (बहिः) श्रेष्ठकर्म न करने के कारण बहिष्कृत जो जातियाँ हैं (म्लेच्छवाचः च आर्यवाचः) चाहे वे म्लेच्छ भाषाएँ बोलती हों या आर्यभाषाएँ (ते सर्वे) वे सब (दस्यवः स्मृताः) 'दस्यु' कहलाती हैं।

मद्रास यूनिवर्सिटी के श्री वी.आर. रामचन्द्र दीक्षितार ने २६-३० नवम्बर १६४० को मद्रास यूनिवर्सिटी में दो महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिये थे, जो ऐडियार लायब्रेरी से १६४७ में 'Origin and Spread of the Tamils' नामक पुस्तकरूप में प्रकाशित हुए। श्री दीक्षितार ने लिखा है—

"The fact is that the Dasyus were not non-Aryans. The theory that the Dasyus-Dravadians inhabited the Panjab and the Ganges Valley at the time of the so called Aryan invasion of India and, overcome by the latter, they fled to South India and adopted it as their home cannot stand."

—Origin and spread of Tamils by V. R. Ramchandra Dikshitar, P. 14.

सत्य तो यह है कि (जातीय भेद की दृष्टि से) दस्यु आर्येतर नहीं थे। यह मत कि दस्यु और द्रविड़ लोग पंजाब और गंगा की घाटी में रहते थे और जब आर्यों ने आक्रमण किया तो आर्यों से पराजित होकर दक्षिण की ओर भाग गये और उसी को अपना घर बना लिया—युक्तियुक्त नहीं है।

म्यूर महोदय ने भी इसी मत का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

"I have gone over the names of Dasyus or Asuras mentioned in the Rigveda with a view of discovering whether any of them could be regarded as of non-Aryan or indigenous origin, but I have not observed what appeared to be of this character".

—Origenal Sanskrit Texts, Vol.II, P-387

अर्थात् मैंने ऋग्वेद में आये दस्यु और असुर नामों पर इस दृष्टि से विचार किया कि उनमें से किसी को अनार्यों या मूल निवासियों से उत्पन्न समझा जा सकता है? किन्तु मुझे इसका कोई प्रमाण नहीं मिला।

सुप्रसिद्ध दाक्षिणात्य विद्वान् प्रिंसपल पी.टी. श्री निवास अय्यङ्गर ने अपनी पुस्तक 'Dravadian Studies' में लिखा है—

"The Aryas and Dasyus are referred to not as indicating different races. These word refer to cult and not to race. The Dasyas are without rites, fireless, non-sacrificers, without prayers, without rites etc. Thus the difference between the Aryas and Dasyas is not of race, but of cult."

अर्थात् आर्य और दस्युओं के भेद को जातिय न मानकर गुण-कर्म-स्वभाव पर आश्रित मानना ठीक है।

उनके इस वक्तव्य का आधार ऋग्वेद का यह मन्त्र प्रतीत होता है—

---

१ भारत के प्राचीन इतिहास पर ग्रन्थकार ने पूना में ६ व्याख्यान दिये थे। द्र० पूना-प्रवचन, प्रवचनसंख्या ८-१३।

https://t.me/arshlibrary

आर्यावर्त्त से भिन्न देशों में भी रहा। तथा इसमें यह प्रमाण है कि ब्रह्मा का पुत्र विराट्, विराट् का मनु, मनु के मरीच्यादि दश, इनके स्वायंभुवादि सात राजा, और उनके सन्तान इक्ष्वाकु आदि राजा, जो आर्यावर्त्त के प्रथम राजा हुए, जिन्होंने यह आर्यावर्त्त बसाया है।[1]

[भारत में विदेशी शासन का कारण]

अब अभाग्योदय से, और आर्यों के आलस्य-प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहानी, किन्तु आर्यावर्त्त में आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है, सो भी विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है, तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है।

अन्यव्रतममानुषमयज्यानमदेवयुवम् ।
अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युं पर्वतः ॥ —ऋ०८।७०।११

यहाँ दस्यु के विशेषण (अन्यव्रतम्) सत्य, अहिंसा, परोपकार आदि से विरुद्ध संकल्पवाला (अमानुषम्) मानवीय व्यवहार न करनेवाला (अदेवयुवम्) दिव्य गुणों से युक्त विद्वानों की कामना न करनेवाला इत्यादि कहे हैं। इनसे किसी जाति या वर्ग विशेष के प्रति घृणा या विद्वेष की प्रतीति नहीं होती।

विराट्—'स विराजमसृजत्प्रभुः' (मनु० १।३२), अर्थात् ब्रह्मा ने विराट को उत्पन्न किया। मनुजी पुनः कहते हैं—

तपस्तप्त्वासृजद् यं तु स स्वयं पुरुषो विराट् ।
तं मां विज्ञाय सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः ॥ —मनु०१।३३

अर्थात्—तप तपकर विराट् पुरुष ने जिसको बनाया है, हे ब्राह्मणो ! वह मुझे जानो। मैं इस समस्त संसार का रचयिता हूँ।

मनु के दस पुत्र या प्रजापतियों की उत्पत्ति—

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम् ।
प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥ —मनु० १।३५

अर्थात्—मरीचि, अत्रि, अंगिर, पुलस्त्य, पुलह क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु तथा नारद।

स्वारोचिश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा ।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च ॥ —मनु० १।६२

अर्थात्—स्वारोचिः, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, महातेजस्वी वैवस्वत—

स्वायंभुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः ।
स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्याऽऽयुश्चराचरम् ॥ —मनु० १।६३

तथा स्वायंभुव इन सात महातेजस्वी मनुष्यों ने अपने-अपने सृष्टिकाल में इस समस्त चराचर जगत् को उत्पन्न करके उसका पालन किया।

'अन्य देशों में.....पादाक्रान्त हो रहा है "—गुप्त वंश के शासनकाल में वर्त्तमान इंडोनेशिया तक आर्यों का राज्य था। लंका, ब्रह्मदेश (बर्मा), स्याम (थाईलैण्ड) ईरान, ईराक़, अफ़ग़ानिस्तान आदि तक भारत के अधीन थे। ग्रन्थकार उन दिनों की याद करके दुःखी मन से कह रहे हैं—'जो कुछ है वह भी विदेशियों

---

१ द्र०—पूना-प्रवचन, प्रवचन ८।

https://t.me/arshlibrary

[स्वराज्य की महत्ता]

'कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह-रहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है, परन्तु भिन्न-भिन्न भाषा, पृथक्-पृथक् शिक्षा, अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है। विना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है। इसलिए जो कुछ वेदादिशास्त्रों में व्यवस्था वा इतिहास लिखे हैं, उसी का मान्य करना भद्रपुरुषों का काम है।'

द्वारा पादाक्रान्त हो रहा है'। यहाँ 'जो कुछ है' से देसी रियासतें, अभिप्रेत हैं। यद्यपि इन रियासतों पर भी ए०जी०जी० (Agent to the Governor General) के द्वारा ब्रिटिश सरकार का, अंकुश था, तथापि कुछ अंशों में वे स्वतन्त्र ही थे। इसमें सन्देह नहीं कि देश की जनता का एक बहुत बड़ा भाग इन रियासतों में रहता था। इसलिए रियासतों में सुधार होने पर देश का सुधार करने में बहुत बड़ी सहायता मिल सकती थी। उदयपुर में रहते श्री मोहनलाल विष्णुलालपाण्ड्या से उन्होंने कहा था—"मैं चाहता हूँ कि देश के राजे-महाराजे अपने शासन में सुधार और संशोधन कर लें। अपने राज्य में धर्म, भाषा और भावों में एकता पैदा कर लें। फिर भारतभर में, आप सुधार हो जाएगा

ग्रन्थकार की दृष्टि में भारत में **विदेशी राज्य का सबसे बड़ा कारण** 'परस्पर का विरोध' था। दशम समुल्लास में लिखा है—"विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मतभेद आदि हैं .... जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं तभी (बिल्लियों के झगड़े में बन्दर की भांति—भा०) तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है।" आपस की फूट से ग्रन्थकार का हृदय अत्यन्त दुखी था। रह-रहकर कई स्थलों में उन्होंने उसका उल्लेख किया है—"आपस की फूट से कौरव, पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया, परन्तु अब तक भी यही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाके दुःख-सागर में डुबा मारेगा। उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्र-हत्यारे, स्वदेश-विनाशक, नीच के मार्ग में आर्यलोग, अब तक भी चलकर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह राजरोग हम आर्यों में से नष्ट हो जावे।" कितना मार्मिक चित्रण है आपस की फूट का और उसके कारण से हमारी एक हज़ार वर्ष की दासता का।

स्वराज्य का महत्व—भारत में अंग्रेज़ व्यापारी बन कर आये। व्यापार के लिए उन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की। धीरे-धीरे यही कम्पनी भारत में अंग्रेज़ी राज्य का आधार बन गई। उसकी अपनी सेना थी। इस सेना और भारतीय रियासतों के परस्पर संघर्ष के फलस्वरूप किसी भी एक पक्ष के सैनिक-बल की सहायता से वह देश पर अधिकार करती गई। १८४६ में पंजाब की विजय के साथ उसका यह अभियान पूरा हो गया और समूचे देश में यूनियन जैक फहराने लगा, परन्तु विज्ञान का नियम है—'To every action there is an equal and opposite reaction' अर्थात् प्रत्येक क्रिया की उतनी ही ज़ोरदार और विरोधी प्रतिक्रिया होती है। भारतीयों के भीतर विद्रोह की आग सुलगने लगी, और १० मई १८५७ को ज्वाला बनकर भड़क उठी और देश के कोने-कोने में फैल गई। परन्तु कुछ ही दिनों में यह आग ठण्डी पड़ गई और भारतीय खून का घूंट पीकर रह गये। इस क्रिया की प्रतिक्रिया भी अवश्यभावी थी। ब्रिटिश सरकार ने कूटनीति का सहारा लिया। महारानी विकटोरिया ने एक घोषणापत्र (Proclamation) जारी किया।

https://t.me/arshlibrary

उसकी भाषा बड़ी लुभावनी थी। पर एक व्यक्ति इस कूटनातिक चाल को भाँप गया। उसने घोषणा की कि 'मतमतान्तर.... विदेशियों का राज्य सुखदायक नहीं होता।'

सुराज्य भी स्वराज्य का विकल्प नहीं होता—'Good government is no substitute for self-government.' इसके उद्घोषक ग्रन्थकार दयानन्द ने अपनी प्रार्थना पुस्तक (Prayer book) 'आर्याभिविनय' के माध्यम से अपने अनुयायियों को आदेश दिया कि वे प्रतिदिन प्रार्थना किया करें कि "अन्य देशवासी राजा हमारे देश में न हों तथा हम पराधीन कभी न रहें।" भारत के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि यह पूरी तरह वही घोषणा थी जिसके द्वारा ८ अगस्त १६२६ को महात्मा गांधी ने 'भारत छोड़ो' और ३१ दिसम्बर १६२६ को लाहौर में उसके लिए संघर्ष करने की घोषणा की थी। इससे पूर्व १६१६ में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम उसे लेकर रहेंगे' इस उद्घोष के साथ भारतीय जनता का युद्ध के लिए आह्वान किया था। इससे पूर्व १६०६ में दादाभाई नौरोजी उच्चारण किया था। किन्तु स्वामी दयानन्द ने १८७५ में जब स्वराज्य का विचार भी किसी के मस्तिष्क में भी नहीं उपजा या पूर्ण स्वराज्य ही नहीं, चक्रवर्ती साम्राज्य की घोषणा की थी। आज जबकि अँग्रेज़ भारत छोड़ कर जा चुके हैं और हम स्वाधीनता का रसास्वादन कर रहे हैं तो कितने लोग हैं जो यह जानते हैं कि एक बार एक अंग्रेज़ कलक्टर ने स्वामीजी (ग्रन्थकार का भाषण सुनने के बाद कहा था कि "यदि आपके भाषण पर लोग चलने लग जाएँ तो इसका परिणाम यह होगा कि हमें अपना बधना बोरिया बाँधना पड़ेगा।"

ग्रन्थकार के वचनों तथा भावनाओं का गम्भीर अध्ययन करनेवाले १६११ की जनसंख्या के अध्यक्ष मिस्टर ब्लण्ट ने लिखा था—

"Dayanand was not merely a religions reformer, he was also a great patriot. It would be fair to say that with him religious reform was a mere means to national reform."

—Consus Report of 1911, Vol. XV, Part I, Chap. IV, P. 135

अर्थात् दयानन्द केवल सुधारक नहीं थे, वे एक महान् देशभक्त भी थे। यह कहना ठीक ही होगा कि उन्होंने धार्मिक सुधार को राष्ट्रिय सुधार के साधनरूप में ही अपनाया था।

ग्रन्थकार की स्वराज्यसम्बन्धी भावना का आधार वेद थे। अथर्ववेद १०।७।३१ के अनुसार स्वराज्य के सम्बन्ध में कहा है—**'यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम्'**—जिससे बढ़कर संसार में कुछ नहीं है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ८०वें सूक्त में १६ मन्त्र हैं। प्रत्येक मन्त्र के अन्त में कहा है— **'अर्चन्ननु स्वराज्यम्'**—हम स्वराज्य की अर्चना करें। ऋग्वेद (५।६६।६) में कहा है—'हम अनेक लोगों की सहायता से चलनेवाले (लोकतन्त्रात्मक) स्वराज्य के लिए यत्न करें'।

एकता के साधन—राष्ट्र की एकता के लिए यहाँ मुख्यतः तीन बातों पर बल दिया है—परस्पर विचारों के आदान-प्रदान के लिए एक भाषा, वैचारिक एकता के लिए एक-सी शिक्षापद्धति, तथा समान आचारसंहिता। विरोध तो मानसिक रोग है। मानसिक रोग को शान्त करने में बाह्य उपचारों से सहायता भले ही मिल जाए किन्तु वे रोग को नष्ट नहीं कर सकते। उनसे पथ्य का काम लिया जा सकता है, ओषधि का नहीं। ग्रन्थकार ने आगे दशम समुल्लास में लिखा है—"खाना-पीना एक होने से सुधार नहीं हो सकता, जब तक बुरी बातें नहीं छोड़ते, अच्छी बातें नहीं करते, तब तक बढ़ती के बदले हानि होती है।" प्रतिदिन होनेवाली घटनाएँ ग्रन्थकार के इस कथन को पुष्ट करती हैं। बिरादरी के आधार पर रोटी-बेटी एक रखनेवालों में सिर फुटौवल होता है। एक ही थाली में भोजन करनेवाले सहोदरों में झगड़े होते हैं। यूरोप आदि में रोटी-बेटी के विषय में कोई भेद-भाव नहीं है। तिस पर भी वहाँ परस्पर झगड़ों

https://t.me/arshlibrary

[सृष्टि-उत्पत्ति का काल]

प्रश्न—जगत् की उत्पत्ति में कितना समय व्यतीत हुआ ?[1]

उत्तर—एक अरब छानवे क्रोड़ कई लाख और कई सहस्र वर्ष जगत् की उत्पत्ति और वेदों के प्रकाश होने में हुए हैं। इसका स्पष्ट व्याख्यान मेरी बनाई भूमिका* में लिखा है, देख लीजिए। इत्यादि प्रकार सृष्टि के बनाने और बनने में हैं।

का अभाव नहीं है। ग्रन्थकार लिखते हैं—"जब तक एक मन, एक हानि-लाभ, एक सुख-दुःख न मानें तब तक उन्नति होना बहुत कठिन है।————जब सर्वभूगोल में वेदोक्त एक मत था, उसी में सबकी निष्ठा थी और एक-दूसरे का सुख-दुःख, हानि-लाभ आपस में समान समझते थे, तभी भूगोल में सुख था। अब बहुत-से मत वाले होने से बहु-सा दुःख और विरोध बढ़ गया है। इसका निवारण करना बुद्धिमानों का काम है। परमात्मा सबके मन में सत्य मत का ऐसा अंकुर डाले कि जिससे मिथ्या मत शीघ्र ही प्रलय को प्राप्त हों। इसमें सब बुद्धिमान् लोग विचारकर विरोधभाव छोड़के आनन्द को बढ़ावें।"

एक दिन श्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने ग्रन्थकार से पूछा कि "भगवन् ! भारत का पूर्ण हित कब होगा ? यहाँ जातीय उन्नति कब होगी ?" ग्रन्थकार ने उत्तर दिया—"एक धर्म, एक भाषा और एक लक्ष्य बनाये बिना भारत का पूर्ण हित और जातीय उन्नति का होना दुष्कर है। सब उन्नतियों का केन्द्रस्थान ऐक्य है। जहाँ भाषा, भाव और भावना में एकता आ जाए, वहाँ, सागर में नदियों की भाँति, सारे सुख एक-एक करके प्रवेश करने लगते हैं।"

एकता का व्यापारस्थल मन है, इसलिए वेद के एकता (संगठन) सूक्त में **'समानं मनः', 'समानो मन्त्रः', 'समानमस्तु वो मनः', 'सं वो मनांसि जानताम्', 'समाना हृदयानि वः', 'समानी व आकूतिः'** इत्यादि पर इतना बल दिया है।

थियोसोफिस्ट नेता मैडम ब्लेवत्सकी के ८ अक्तूबर १८८० के पत्र के उत्तर में ग्रन्थकार ने अपने २३ नवम्बर १८८० के पत्र में लिखा था—"अन्य देशियों के समाज में मित्रता और स्नेह वैसा कभी नहीं हो सकता, जैसाकि स्वदेशियों के समाज में होता है—यह बात मैंने उस समय भी कही थी, अब भी कहता हूँ और आगे भी कहूँगा, परन्तु ऊपर की बात मैंने जिस प्रसंग पर कही थी वह यह है कि **'असिद्धं बहिरंगमन्तरंगे'** अर्थात् जिसका देश एक है, भाषा एक है, जन्म और सहवास एक है, जिनके विवाहादि सम्बन्ध परस्पर होते हैं, उनको परस्पर जितना लाभ होता है, उनकी परस्पर जितनी प्रीति होती है, उतना लाभ और उन्नति भिन्न देशवासियों से नहीं हो सकती। देखिए, केवल भाषा का ही भेद होने पर मुझको और यूरोपियन महाशयों को परस्पर उपकार करने में कितनी कठिनता होती है।"

सृष्टि तथा वेदोत्पत्ति का काल—ग्रन्थकार ने लिखा है—"इसका स्पष्ट व्याख्यान मेरी बनाई भूमिका (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदोत्पत्तिविषय) में लिखा है, देख लीजिए।" सो हम यहाँ ऋ.भा.भू. से एतद्विषयक लेख को अविकलरूप में उद्धृतकर उसपर अपना भाष्य प्रस्तुत कर रहे हैं। यतः यह विवाद

---

* ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदोत्पत्ति—विषय को देखो। द०स०

---

१. यहाँ प्रश्न अधूरा है। उत्तर में दो विषयों का निर्देश किया है। एक—सृष्टि को उत्पन्न हुए कितना समय व्यतीत हुआ ? और दूसरा—सृष्टि कैसे बनी ? इस कारण यहाँ प्रश्न का स्वरूप इस प्रकार होना चहिए—'जगत् की उत्पत्ति में कितना समय व्यतीत हुआ ? [और यह जगत् किस प्रकार बना ?] यहाँ कोष्ठान्तर्गत पाठ छूट गया प्रतीत होता है।

https://t.me/arshlibrary

और यह भी है कि सबसे सूक्ष्म टुकड़ा अर्थात् जो काटा नहीं जाता उसका नाम परमाणु, साठ परमाणुओं के मिले हुए का नाम अणु, दो अणु का एक द्व्यणुक जो स्थूल वायु है, तीन द्व्यणुक का अग्नि, चार द्व्यणुक का जल, पाँच द्व्यणुक की पृथिवी, अर्थात् तीन द्व्यणुक का त्रसरेणु, और उसका दूना होने से पृथिवी आदि दृश्य पदार्थ होते हैं। इसी प्रकार क्रम से मिलकर भूगोलादि परमात्मा ने बनाये हैं।

का विषय है, अतः हमने इसका विस्तृत विवेचन किया है। पहले ऊपर संस्कृत तथा आर्यभाषा में ग्रन्थकार का लेख है, नीचे हमारा भाष्य है। इस सबसे पाठकों को अपना मत बनाने अथवा और अधिक विचार करने में सहायता मिलेगी।

वेदानामुत्पत्तौ कियन्ति वर्षाणि व्यतीतानि ?

अत्रोच्यते—एको वृन्दः, षण्णवतिः कोटयोऽष्टौ लक्षाणि, द्विपञ्चाशत्सहस्राणि, नवशतानि, षट्सप्ततिश्चैतावन्ति १९६०८५२६७६ वर्षाणि व्यतीतानि, सप्तसप्ततितमोऽयं संवत्सरो वर्त्तते[1] इति वेदितव्यम्। एतावन्त्येव वर्षाणि वर्त्तमानकल्पसृष्टेश्चेति। कथं विज्ञायते ह्येतावन्त्येव वर्षाणि व्यतीतानीति ?

अत्राह—अस्यां वर्तमानायां सृष्टौ वैवस्वतस्य सप्तमस्यास्य मन्वन्तरस्येदानीं वर्तमानत्वादस्मात् पूर्वं षण्णां मन्वन्तराणां व्यतीतत्वाच्चेति। तद्यथा—स्वायम्भवः स्वारोचिष औत्तमिस्तामसो रैवतश्चाक्षुषो वैवश्वतस्चेति सप्तैते मनवस्तथा सावर्ण्यादय आगामिनः सप्त च, एते मिलित्वा १४ चतुर्दशैव भवन्ति। तत्रैकसप्ततिश्चतुर्युगानि ह्येकैकस्य मनोः परिमाणं भवति। ते चैकस्मिन् ब्राह्मदिने १४ चतुर्दशभुक्तभोगा भवन्ति। एकसहस्रं १००० चतुर्युगानि ब्राह्मदिनस्य परिमाणं भवति। ब्राह्म्यं रात्रेरपि तावदेव परिमाणं विज्ञेयम्। सृष्टेर्वर्तमानस्य दिनसंज्ञास्ति, प्रलयस्य च रात्रिसंज्ञेति। अस्मिन् ब्राह्मदिने षट् मनवस्तु व्यतीताः सप्तमस्य वैवस्वतस्य वर्तमानस्य मनोरष्टाविंशतितमोऽयं कलिर्वर्तते। तत्रास्य वर्तमानस्य कलियुगस्यैतावन्ति ४९७६ चत्वारिसहस्राणि, नवशतानि, षट्सप्ततिश्च वर्षाणि तु गतानि, सप्तसप्ततिमोऽयं संवत्सरो वर्त्तते। यमार्या विक्रमस्यैकोनविंशतिशतं त्रयस्त्रिंशत्तमोत्तरं[2] (१९३३) संवत्सरं वदन्ति। अत्र विषये प्रमाणम्—

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः। एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥१॥
चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम्। तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः ॥२॥
इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु। एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥३॥
यदेतत् परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्। एतद् द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥४॥
दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया। ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावती रात्रिरेव च ॥५॥
तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः। रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥६॥
यत्प्राग्द्वादशसाहस्रमुदितं वैदिकं युगम्। तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥७॥
मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च। क्रीडन्निव तत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥८॥

—मनु० अध्याये १।६८-७३, ७९-८०

कालस्य परिमाणार्थं ब्राह्माहोरात्रादयः सुगमबोधार्थाः संज्ञाः क्रियन्ते। यतः सहजतया जगदुत्पत्तिप्रलययोर्वर्षाणां वेदोत्पत्तेश्च परिगणनं भवेत्। मन्वन्तरपर्य्यावृत्तौ सृष्टेर्नैमित्तिकगुणानामपि पर्य्यावर्त्तनं किंचित् किंचिद्भवत्यतो मन्वन्तरसंज्ञा क्रियते। अत्रैवं संख्यातव्यम्—

---

१. मनु में 'तावतीं रात्रिमेव च' पाठ भी मिलता है।
२. १९३३ तमे वैक्रमाब्दे।

https://t.me/arshlibrary

एकं दश शतं चैव सहस्रमयुतं तथा ।
लक्षं च नियुतं चैव कोटिरर्बुदमेव च ॥१॥
वृन्दः खर्वो निखर्वश्च शङ्खः पद्मं च सागरः । अन्त्यं मध्यं पराद्धं च दशवृद्ध्या यथाक्रमम् ॥२॥[1]

इति सूर्यसिद्धान्तादिषु संख्यायते । अनया रीत्या वर्षादिगणना कार्येति । **'सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि'** (यः० अ० १५, मं० ६५) **'सर्वं वै सहस्रं सर्वस्य दातासि'** (श० कां० ७ अ० ५)[2] । सर्वस्य जगतः सहस्रमिति नामास्ति, कालस्य चानेन सहस्रमहायुगसंख्यया परिमितस्य दिनस्य नक्तस्य च ब्रह्माण्डस्य प्रमा परिमाणस्य कर्ता परमेश्वरोऽस्ति । मन्त्रस्यास्य सामान्यार्थे वर्तमानत्वात् सर्वमभिवदतीति । एवमेवाग्रेऽपि योजनीयम् । ज्योतिषशास्त्रे प्रतिदिनचर्याऽभिहिताऽऽर्य्यैः क्षणमारभ्य कल्पकल्पान्तस्य गणितविद्यया स्पष्टं परिगणनं कृतम्, अद्यपर्यन्तमपि क्रियते, प्रतिदिनमुच्चार्यते, ज्ञायते च, अतः कारणादियं व्यवस्थैव सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकर्त्तुं योग्यास्ति, नान्येति निश्चयः । कुतो ह्यार्यैर्नित्यम् **'ओं तत्सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीयप्रहरार्द्धे वैवस्वते मन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणेऽमुकसंवत्सरायनर्तुमासदिनक्षत्रलग्नमुहूर्तेऽत्रेदं कृतं क्रियते च'**[3] इत्याबालवृद्धैः प्रत्यहं विदितत्वाद्, इतिहासस्यास्य सर्वत्रार्य्यावर्त्तदेशे वर्तमानत्वात् सर्वत्रैकरसत्वाद् अशक्येयं व्यवस्था केनापि विचालयितुमिति विज्ञायताम् । अन्यद्युगव्याख्यानमग्रे करिष्यते, तत्र द्रष्टव्यम् ।

वेदों के नित्य होने से वेदोत्पत्तिकाल से यहाँ वेदों के वर्तमान सर्ग में प्रादुर्भूत होने का काल अभिप्रेत है । ग्रन्थकार ने सृष्ट्युत्पत्ति तथा वेदोत्पत्ति का एक ही काल माना है । इसलिए यहाँ सृष्ट्युत्पत्ति से मानवोत्पत्ति अभिप्रेत है । वेद की आवश्यकता मनुष्य के लिए है, पशु-पक्षी या जड़ जगत् के लिए नहीं । ब्राह्मदिन का आरम्भ तो उसी क्षण से हो जाता है जबसे परमाणुओं का संयोगविशेष प्रारम्भ होता है, किन्तु व्यावहारिक संवत् मानवोत्पत्ति से आरम्भ होता है । सृष्ट्युत्पत्ति की प्रक्रिया आरम्भ होने के पश्चात् मानव की उत्पत्ति होने तक पर्याप्त समय लगा होगा । सृष्टिरचना का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश (समु० ८) में लिखा है—"परम सूक्ष्म तत्वों का प्रथम ही जो संयोगारम्भ है, संयोगविशेषों से अवस्थान्तर दूसरी अवस्था को, सूक्ष्म से स्थूल-स्थूल बनते-बनते विचित्र रूप बनी है । इसी से यह संसर्ग होने से सृष्टि कहलाती है ।" 'बनते-बनते बनी' इन शब्दों से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार के मत में यह विराट्, विचित्र तथा वैविध्यपूर्ण सृष्टि मुसलमानों के अनुसार 'कुन' (होजा) शब्द का उच्चारण होते ही पलभर में बनकर खड़ी नहीं हुई ।

जैवी सृष्टि से पूर्व जीव के लिए अपेक्षित सामग्री का होना आवश्यक था । ग्रन्थकार ने इसका संकेत सत्यार्थप्रकाश (समु० ८) में किया है । वहाँ "मनुष्य की सृष्टि पहले हुई या पृथिवी आदि की ?" इस प्रश्न के उत्तर में लिखा है 'पृथिवी आदि की, क्योंकि पृथिवी आदि के बिना मनुष्य की स्थिति और पालन नहीं हो सकता ।" इस व्यवस्था के अनुसार पहले वनस्पति, फिर पश्वादि (कृमि से हस्ती पर्यन्त) और अन्त में मनुष्य उत्पन्न हुए । प्राणी के प्रादुर्भाव से पूर्व इस धरती पर वायु, जल, लता, ओषधि, वनस्पति, फल, मूल आदि खाद्य पदार्थ तथा सूर्य, चन्द्रमा आदि अन्य आवश्यक साधन उपलब्ध थे । इनके बिना प्राणिमात्र के लिए धरती पर रहना सम्भव न था । यजुर्वेद (३१।६) के अनुसार **'संभृतं पृषदाज्यम् । पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये'** अर्थात् परमेश्वर ने पहले दध्यादि भोग्य पदार्थों तथा वायु में गमन करनेवाले पक्षियों, सिंह-व्याघ्रादि वनैले पशुओं और नगरों तथा गाँवों में रहनेवाले गाय, घोड़े आदि पशुओं को उत्पन्न

१. अनुपलब्धम् ।
२. शत० ७।४।२।१३
३. प्रतिदिनमार्यावर्ते ब्राह्मणैः सन्ध्यादिकर्मसु पठ्यमानः संकल्प इह संक्षेपेणोदाहृतः ।

https://t.me/arshlibrary

किया। इस प्रकार जड़ जगत् की रचना पूर्ण होने पर चेतन जगत् की और चेतन में भी क्रमशः सादी, क्लिष्ट और क्लिष्टतम प्राणियों की सृष्टि हुई। पशु-पक्षी का जीवन नैसर्गिक ज्ञान से चल सकता था। मनुष्य का काम केवल नैसर्गिक ज्ञान के सहारे नहीं चल सकता था। उसे वेद के रूप में ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार मानवसृष्टि और वेदोत्पत्ति का एक ही काल ठहरता है।

भाषार्थ—प्रश्न—वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष हो गये हैं ?

उत्तर—एक वृन्द, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हजार, नव सौ छहत्तर अर्थात् (१९६०८५२६७६) वर्ष वेदों की और जगत् की उत्पत्ति में बीत गये हैं और यह संवत् ७७ सतहत्तरवाँ वर्त रहा है।

प्रश्न—यह कैसे निश्चय हो कि इतने ही वर्ष वेद और जगत् की उत्पत्ति में बीत गये हैं।

उत्तर—यह जो वर्त्तमान सृष्टि है, इसमें सातवें (७) वैवस्वत मनु का वर्तमान है, इससे पूर्व छह मन्वन्तर हो चुके हैं। स्वायम्भव १, स्वारोचिष २, औत्तमि ३, तामस ४, रैवत ५, चाक्षुष ६, ये छह तो बीत गये हैं और ७ सातवाँ वैवस्वत वर्त रहा है और सावर्णि आदि ७ सात मन्वन्तर आगे भोगेंगे। ये सब मिलके १४ चौदह मन्तन्तर होते हैं और एकहत्तर चतुर्युगियों का नाम मन्वन्तर धरा गया है। सो उसकी गणना इस प्रकार से है कि (१७२८०००) सत्रह लाख, अट्ठाईस हज़ार वर्षों का नाम सत्ययुग रक्खा है (१२९६०००) बारह लाख, छानवे हज़ार वर्षो का नाम त्रेता। (८६४०००) आठ लाख, चौंसठ हज़ार वर्षों का नाम द्वापर और (४३२०००) चार लाख, बत्तीस हज़ार वर्षों का नाम कलियुग रक्खा है तथा आर्यों ने एक क्षण और निमेष से लेके एक वर्ष पर्यन्त भी काल की सूक्ष्म और स्थूल संज्ञा बाँधी है। और इन चारों युगों के (४३२००००) तितालीस लाख, बीस हज़ार वर्ष होते हैं, जिनका चतुर्युगी नाम है। एकहत्तर (७१) चतुर्युगियों के अर्थात् (३०९७२००००) तीस करोड़, सरसठ लाख, बीस हज़ार वर्षों की एक मन्वन्तर संज्ञा की है, और ऐसे-ऐसे छह मन्वन्तर मिलकर अर्थात् (१८४०३२००००) एक अरब, चौरासी करोड़, तीन लाख, बीस हज़ार वर्ष व्यतीत हुए, और सातवें मन्वन्तर के भोग में यह (२८) अट्ठाईसवीं चतुर्युगी है। इस चतुर्युगी में कलियुग के (४९७६) चार हज़ार, नवसौ, छहत्तर वर्षों का तो भोग हो चुका है और बाकी (४२७०२४) चार लाख, सत्ताईस हज़ार, चौबीस वर्षों का भोग होनेवाला है। जानना चाहिए कि (१२०५३२९७६) बारह करोड़, पाँच लाख, बत्तीस हज़ार, नवसौ, छहत्तर वर्ष तो वैवस्वत मनु के भोग हो चुके हैं और (१८९१८७०२४) अठारह करोड़, एकसठ लाख, सत्तासी हज़ार, चौबीस वर्ष भोगने के बाकी रहे हैं। इनमें से यह वर्तमान वर्ष (७७) सतहत्तरहवाँ है, जिसको आर्यलोग विक्रम का (१९३३) उन्नीस सौ तेतीसवाँ संवत् कहते हैं।

जो पूर्व चतुर्युगी लिख आये हैं, उन एक हज़ार चतुर्युगियों की ब्राह्मदिन संज्ञा रक्खी है और उतनी ही चतुर्युगियों की रात्रिसंज्ञा जाननी चाहिए। सो सृष्टि की उत्पत्ति करके हज़ार चतुर्युगी पर्यन्त ईश्वर इसको बना रखता है, इसी का नाम "ब्राह्मदिन" रक्खा है, और हज़ार चतुर्युगी पर्यन्त सृष्टि को मिटाके प्रलय अर्थात् कारण में लीन रखता है, उसका नाम "ब्राह्मरात्रि" रक्खा है अर्थात् सृष्टि के वर्तमान होने का नाम दिन और प्रलय होने का नाम रात्रि है। यह जो वर्तमान ब्राह्मदिन है इसके (१९६०८५२६७६) एक अरब, छानवे करोड़, आठ लाख, बावन हज़ार, नवसौ, छहत्तर वर्ष इस सृष्टि की तथा वेदों की उत्पत्ति में भी व्यतीत हुए हैं, और (२३३३२२७०२४) दो अरब, तेतीस करोड़, बत्तीस लाख, सत्ताईस हज़ार, चौबीस वर्ष इस सृष्टि को भोग करने के बाकी रहे हैं। इनमें से अन्त का यह चौबीसवाँ वर्ष भोग रहा है। आगे आनेवाले भोग के वर्षों में से एक-एक घटाते जाना और गतवर्षों में क्रम से एक-एक वर्ष मिलाते जाना चाहिए, जैसे आज पर्यन्त घटाते-बढ़ाते आये हैं।

ब्राह्मदिन और ब्राह्मरात्रि अर्थात् ब्रह्म जो परमेश्वर उसने संसार के वर्तमान और प्रलय की संज्ञा की

https://t.me/arshlibrary

है इसीलिए इनका नाम ब्राह्मदिन और ब्राह्मरात्रि है। इसी प्रकरण में मनुस्मृति के श्लोक साक्षी के लिए लिख चुके हैं, सो देख लेना। इन श्लोकों में दैववर्षों की गणना की है, अर्थात् चारों युगों के बारह हज़ार (१२०००) वर्षों की "दैवयुग" संज्ञा की है। इसी प्रकार असंख्यात मन्वन्तरों में कि जिनकी संख्या नहीं हो सकती अनेक बार सृष्टि हो चुकी है, अनेक बार होगी। सो इस सृष्टि को सदा से सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर सहज स्वभाव से रचता, पालन और प्रलय करता है और सदा ऐसे ही करेगा।

क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति, वर्तमान, प्रलय और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों को मनुष्य लोग सुख से गिन लें, इसीलिए यह ब्राह्मदिन आदि संज्ञा बाँधी है और मन्वन्तर के परिवर्त्तन में सृष्टि के नैमितिक गुणों का भी कुछ परिवर्तन होता है इसीलिए मन्वन्तर संज्ञा बाँधी है। वर्तमान सृष्टि की कल्प संज्ञा और प्रलय की विकल्प संज्ञा की है।

और इन वर्षों की गणना इस प्रकार से करना चाहिए कि (**एकं दश शतं चैव०**) एक (१), दश (१०), शत (१००), हज़ार (१०००), दश हज़ार (१००००), लाख (१०००००), नियुत (१०००००), करोड़ (१००००००), अर्बुद (१०००००००), वृन्द (१०००००००००), खर्व (१००००००००००), निखर्व (१०००००००००००), शंख (१००००००००००००), पद्म की (१००००००००००००००), और पराद्ध्र्य (१०००००००००००००००), और दश दश गुणा बढ़ाकर इसी गणित की सूर्यसिद्धान्त आदि ज्योतिषग्रन्थों में गिनती की है।

(सहस्रस्य प्र०) सब संसार की सहस्र संज्ञा है तथा पूर्वोक्त ब्राह्मदिन और रात्रि की भी सहस्र संज्ञा की जाती है, क्योंकि यह मन्त्र सामान्य अर्थ में वर्तमान है। सो हे परमेश्वर ! आप इस हज़ार चतुर्युगी का दिन और रात्रि को प्रमाण अर्थात् निर्माण करनेवाले हो।

इसी प्रकार ज्योतिषशास्त्र में यथावत् वर्षों की संख्या आर्यलोगों ने गिनी है सो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके आज पर्यन्त दिन-दिन गिनते और क्षण से लेके कल्पान्त की गणितविद्या को प्रसिद्ध करते चले आते हैं, अर्थात् परम्परा से सुनते-सुनाते, लिखते-लिखाते और पढ़ते-पढ़ाते आज पर्यन्त हम लोग चले आते हैं। यही व्यवस्था सृष्टि और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की ठीक है, और सब मनुष्यों को इसी को ग्रहण करना योग्य है, क्योंकि आर्यलोग नित्यप्रति **'ओं तत् सत्'** परमेश्वर के इन तीन नामों का प्रथम उच्चारण करके कार्यों का आरम्भ और परमेश्वर का ही नित्य धन्यवाद करते चले आते हैं कि आनन्द में आज पर्यन्त परमेश्वर की सृष्टि और हम लोग बने हुए हैं और बहीखाते की नाईं लिखते-लिखाते, पढ़ते-पढ़ाते चले आये हैं कि पूर्वोक्त ब्राह्मदिन के दूसरे प्रहर के ऊपर मध्याह्न के निकट दिन आया है, और जितने वर्ष वैवस्वत मनु के भोग होने को बाकी हैं, उतने ही मध्याह्न में रहे हैं, इसीलिए यह लेख है—(**श्रीब्रह्मणो द्वितीये प्रहरार्द्धे०**)।

यह वैवस्वत मनु का वर्तमान है, इसके भोग में यह (२८) अट्ठाईसवाँ कलियुग है। कलियुग के प्रथम चरण का भोग हो रहा है तथा वर्ष, ऋतु, अयन, मास, पक्ष, दिन, नक्षत्र, मुहूर्त्त, लग्न और पल आदि समय में हमने फलाना काम किया था और करते हैं, अर्थात् जैसे विक्रम के संवत् १९३३ फाल्गुण मास, कृष्णपक्ष षष्ठी, शनिवार के दिन चतुर्थ प्रहर के आरम्भ में यह[1] बात हमने लिखी है। इसी प्रकार से सब व्यवहार आर्यलोग बालक से वृद्धपर्यन्त करते और जानते चले आये हैं। जैसे बहीखाते में मिती डालते हैं, वैसे ही महीना और वर्ष बढ़ाते-घटाते चले जाते हैं। इसी प्रकार आर्य्यलोग तिथिपत्र[2] में भी वर्ष, मास और दिन

१. अर्थात् वेदोत्पत्ति की कालगणना।

२. अर्थात् पञ्चांग।

https://t.me/arshlibrary

आदि लिखते चले आते हैं और यही इतिहास आज पर्य्यन्त सब आर्यावर्त्त देश में एक-सा वर्तमान हो रहा है[1] और सब पुस्तकों[2] में भी इस विषय में एक ही प्रकार का लेख पाया जाता है, किसी प्रकार का इस विषय में विरोध नहीं है। इसीलिए इसको अन्यथा करने में किसी का सामर्थ्य नहीं हो सकता, क्योंकि जो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके बराबर मिती, वार लिखते न आते तो इस गिनती का हिसाब ठीक-ठीक आर्य्यलोगों को भी जानना कठिन होता, अन्य मनुष्यों का तो क्या ही कहना है और इससे यह भी सिद्ध होता है कि सृष्टि के आरम्भ से लेके आज पर्यन्त आर्य्यलोग ही बड़े-बड़े विद्वान् और सभ्य होते चले आये हैं।

जब जैन और मुसलमान आदि लोग इस देश के इतिहास और विद्यापुस्तकों का नाश करने लगे, तब आर्य्यलोगों ने सृष्टि के गणित का इतिहास कण्ठस्थ कर लिया, और जो पुस्तक शास्त्र के बच गये हैं उनमें और उनके अनुसार जो वार्षिक पञ्चाङ्गपत्र बनते जाते हैं, इनमें भी मिती से मिती बराबर लिखी चली आती है। इसको अन्यथा कोई नहीं कर सकता।

यह वृत्तान्त इतिहास का इसलिए लिखा है कि पूर्वापर काल का प्रमाण यथावत् सबको विदित रहे और सृष्टि की उत्पत्ति, प्रलय तथा वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की गिनती में किसी प्रकार का भ्रम किसी को न हो। सो यह बड़ा उत्तम काम है। इसको सब लोग यथावत् जान लेवें, परन्तु इस उत्तम व्यवहार को लोगों ने टका कमाने के लिए बिगाड़ रक्खा है, यह शोक की बात है। और टके के लोभ ने भी जो इसके पुस्तक व्यवहार को बना रक्खा, नष्ट न होने दिया, यह बड़े हर्ष की बात है। जो चारों युगों के चार भेद और उनके वर्षों की घट-बढ़ संख्या क्यों हुई है, इसकी व्याख्या आगे करेंगे, वहाँ देख लेना चाहिए, यहाँ इसका प्रसंग नहीं है इसलिए नहीं लिखा।

एतावता कथनेनैवाध्यापकैर्विलसनमोक्षमूलरादिभिर्यूरोपाख्यखण्डस्थैर्मनुष्यरचितो वेदोऽस्ति, श्रुतिर्नास्तीति यदुक्तं, यच्चोक्तं चतुर्विंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशच्च शतानि वर्षाणि वेदोत्पत्तौ व्यतीतानीति, तत्सर्वं भ्रममूलमस्तीति वेद्यम्। तथैव प्राकृतभाषया व्याख्यानकारिभिरप्येवमुक्तं तदपि भ्रान्तमेवास्तीति च॥

इति वेदोत्पत्तिविचारः।

भाषार्थ—इससे जो अध्यापक विलसन साहेब और अध्यापक मोक्षमूलर साहेब आदि यूरोपखण्डवासी विद्वानों ने बात कही है कि वेद मनुष्य के रचे हैं किन्तु श्रुति नहीं है, उनकी यह बात ठीक नहीं है। और दूसरी यह है—कोई कहता है (२४००) चौबीस सौ वर्ष वेदों की उत्पत्ति को हुए, कोई (२६००) उनतीस सौ वर्ष, कोई (३०००) तीन हज़ार वर्ष और कोई कहता है (३१००) एकतीस सौ वर्ष वेदों को उत्पन्न हुए बीते हैं, उनकी यह भी बात झूठी है। इसी प्रकार जिन-जिनने अपनी-अपनी देश भाषाओं में अन्यथा व्याख्यान वेदों के विषय में किया है, उन-उनका भी व्याख्यान मिथ्या है, क्योंकि उन लोगों ने हम आर्य्यलोगों की नित्यप्रति की दिनचर्या का लेख और संकल्पपठन विद्या को भी यथावत् न सुना और न विचारा है। नहीं तो इतने ही विचार से यह भ्रम उनको नहीं होता। इससे यह जानना अवश्य चाहिए कि वेदों की उत्पत्ति परमेश्वर से ही हुई है, और जितने वर्ष अभी ऊपर गिन आये हैं उतने ही वर्ष वेदों और जगत् की उत्पत्ति में भी हो चुके हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जैसा प्रथम लिख आये हैं, जब पर्यन्त हज़ार चतुर्युगी व्यतीत

१. अर्थात् सर्वत्र देश में एक-सा ही पाठ पढ़ा जाता है।

२. समस्त पञ्चांगरूपी पुस्तकों में भी यही कालगणना लिखी जाती है।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

न हो चुकेंगी तब पर्यन्त ईश्वरोक्त वेद का पुस्तक, यह जगत् और हम सब मनुष्य लोग भी ईश्वर के अनुग्रह से सदा वर्तमान रहेंगे ॥[1]

इति वेदोत्पत्तिविचारः

यह कहा जा सकता है कि यहाँ सृष्टि की उत्पत्ति का प्रसंग ही नहीं है। प्रकरण का शीर्षक है—**'अथ वेदोत्पत्तिविषयः'** और प्रश्न भी **'वेदानामुत्पत्तौ कियन्ति वर्षाणि व्यतीतानि ?'** है। वेदोत्पत्ति संवत् को बलात् सृष्टिसंवत् मानना असंगत है, परन्तु इसके लिए यदि कोई दोषी है तो स्वयं ग्रन्थकार जिन्होंने उत्तर में यह कह दिया—**'एतावन्त्येव वर्षाणि वर्तमानकल्पसृष्टेश्च'**। जब तक इस वाक्यांश को प्रक्षिप्त सिद्ध न किया जाए तब तक यहाँ वेदोत्पत्तिकाल के साथ सृष्ट्युत्पत्तिकाल भी उपपन्न रहेगा। वस्तुतः ग्रन्थकार दोनों को एक मानते थे, इसलिए उन्होंने ऐसा कहा। जैसाकि हम आगे देखेंगे उन्होंने सत्यार्थप्रकाश (समु० ८) में केवल जगत् की उत्पत्तिविषयक प्रश्न के उत्तर में भी यही संवत् लिखा है।

इस सन्दर्भ में ग्रन्थकार का "सो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके—पढ़ते-पढ़ाते चले आये हैं।" तथा "बहीखाते में—कहना ही क्या है ?" यह लेख विचारणीय है। वर्षों की गिनती करते जाने और बहीखाते की तरह लिखने-पढ़ने का काम मनुष्य ही कर सकता था। इस लेख से यह भी स्पष्ट है कि सृष्ट्युत्पत्ति के साथ ही कालगणना आरम्भ हो गयी। इससे भी मानवोत्पत्ति तथा वेदोत्पत्ति का एक ही काल सिद्ध होता है।

---

१. इस भाषा के लेख से यह भ्रान्ति होती है कि ग्रन्थकार प्रति मन्वन्तर अवान्तर प्रलय नहीं मानते, परन्तु यह ध्यान रहे कि यह लेख संस्कृत भाषा में नहीं है।

रहा अवान्तर प्रलय का प्रश्न। इस विषय में ग्रन्थकार का मत स्पष्ट है। वे महाप्रलय और अवान्तर प्रलय दोनों मानते हैं। इसके लिए सत्यार्थप्रकाश का निम्न सन्दर्भ देखना चाहिए—

"जब महाप्रलय होता है उसके पश्चात् आकाशादि क्रम अर्थात् जब आकाश और वायु का प्रलय नहीं होता और अग्न्यादि का होता है तब अग्न्यादि क्रम से और जब विद्युत् अग्नि का भी नाश नहीं होता तब जल क्रम से सृष्टि होती है अर्थात् जिस-जिस प्रलय में जहाँ-जहाँ तक प्रलय होता है वहाँ-वहाँ से सृष्टि की उत्पत्ति होती है।"

—सत्यार्थ प्र. समु. ८, पृष्ठ २३१ सं. ८

यहाँ स्पष्ट ही महाप्रलय और खण्डप्रलय का वर्णन ग्रन्थकार ने किया है। 'जहाँ-जहँ तक प्रलय होता है वहाँ-वहाँ से सृष्टि उत्पत्ति होती है' वाक्य अवान्तर प्रलय वा खण्डप्रलय का ही बोधक है। महाप्रलय में तो सम्पूर्ण स्थूल जगत् का लय हो जाता है। प्रकृति साम्यावस्था तक पहुँच जाती है। महाप्रलय और अवान्तर प्रलय मे वेदोत्पत्ति की प्रक्रिया में शास्त्रकारों ने भेद माना है। महाप्रलय के पीछे ऋषियों के हृदय में परमेश्वर द्वारा वेद प्रेरित होते हैं और अवान्तर प्रलय के पश्चात् सुप्तप्रबुद्धन्याय से वेदों का प्रकाश होता है, अर्थात् मनुष्य जिस ज्ञान से युक्त रात्रि में सोता है वह ज्ञान उसे दूसरे दिन प्रातः उठने पर भी प्राप्त होता है। इसी प्रकार मन्वन्तर के अन्त में जिनको वेदों का ज्ञान था वह ज्ञान उन्हें अगले मन्वन्तर के आरम्भ में स्वतः प्राप्त होता है। महाप्रलय की स्थिति पुनर्जन्म के सदृश होती है। जैसे पुनर्जन्म में माता-पिता आदि से पुनः ज्ञान ग्रहण करना पड़ता है, वैसे ही महाप्रलय के पश्चात् सृष्टि के आरम्भ में नये रूप में परमेश्वर से ज्ञान प्राप्ति की अपेक्षा होती है।

—यु०मी०

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

रोज़नामचे की भाँति हम इसमें हर रोज़ एक दिन बढ़ाते चले आये हैं और घण्टे, दिन, सप्ताह, मास, वर्ष से लेकर युगों, चतुर्युगियों तथा मन्वन्तरों में काल को विभक्त कर हिसाब करते आये हैं, अतः युगों की गणना के द्वारा निर्धारित सृष्टिसंवत् ऐतिहासिक होने के कारण प्रामाणिक एवं सर्वथा विश्वसनीय है और मनुष्य की जन्मतिथि नियत करने का एकमात्र विश्वसनीय साधन है। हमें वैज्ञानिक उपकरणों तथा परीक्षणों द्वारा उसका निश्चय करने की आवश्यकता नहीं है। जिनकी जन्म-पत्री या स्कूल का सार्टिफ़िकेट नहीं होता, या जिनका नाम-पता नगरपालिका के रिकार्ड (जन्म-मृत्यु-पंजिका) में नहीं मिलता उसी की आयु का निश्चय करने के लिए आयुर्वैज्ञानिक परीक्षण की आवश्यकता होती है।

सत्यार्थप्रकाश (समु० ८) में हम पढ़ते हैं—

प्रश्न—जगत् की उत्पत्ति में कितना समय व्यतीत हुआ ?

उत्तर—एक अरब छानवे करोड़, कई लाख और कई सहस्र वर्ष जगत् की उत्पत्ति और वेदों का प्रकाश होने में हुए हैं।"

वहाँ वेदोत्पत्ति का प्रसंग न होने पर भी सृष्ट्युत्पत्ति का वही काल निर्धारित किया है जो ऋ०भा०भू० में वेदोत्पत्ति के प्रकरण में दिया है और यह भी लिखा है कि "इसका व्याख्यान मेरी बनाई हुई 'भूमिका' में लिखा है, देख लीजिए।" ऋ०भा०भू० में प्रश्न वेदोत्पत्तिकाल के विषय में था, परन्तु उत्तर वेदोत्पत्ति तथा सृष्ट्युत्पत्ति दोनों को लक्ष्य कर दिया गया। सत्यार्थप्रकाश में प्रश्न सृष्ट्युत्पत्ति को लक्ष्य कर पूछा गया, परन्तु उत्तर में सृष्टि तथा वेद दोनों का काल बताया गया। इससे तीन बातें बिल्कुल स्पष्ट हैं—

१. ग्रन्थकर्ता के मत में सृष्ट्युत्पत्ति तथा वेदोत्पत्ति का एक ही काल है।

२. सृष्ट्युत्पत्ति से मानवोत्पत्ति अभिप्रेत है।

३. प्रत्येक अवस्था में ग्रन्थकार को एक अरब छानवे करोड़ कई लाख और कई सहस्र वर्ष सृष्टि-संवत् के रूप में अभिमत हैं।

परन्तु भुक्तकाल १९६०८५२६७६ और भोग्यकाल २३३३२२७०२४ वर्ष मानकर दोनों का योग करने पर सृष्टि की पूर्ण आयु ४२६४०८०००० वर्ष बनती है, जबकि एक कल्प या ब्राह्मदिन में ४३२०००००० वर्ष होते हैं।

वस्तुतः सृष्ट्युत्पत्ति का काल वह है जब सृष्टिरचना का क्रम पूरा हो जाता है। 'अमुक मकान कब बना ?' इस प्रश्न के उत्तर में उस दिन का निर्देश किया जाता है जिस दिन मकान बनकर तैयार होता है, उस दिन का नहीं जब वह बनना शुरू होता है। बनकर तैयार होने पर ही गृहस्वामी उसमें प्रवेश करता है। जिस प्रकार आत्मा का शरीर से वियुक्त होना मृत्यु है, उसी प्रकार शरीर से आत्मा का संयुक्त होना जन्म कहाता है। ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार आत्मा योनि के द्वारा गर्भाशय में स्थित हो दस मास तक (ऋ० ५।७८।८-९; अथर्व० १।११।६) वहाँ पूर्ण विकास पाने के बाद बाहर आता है। उसी को जन्म लेना कहते हैं। यद्यपि शरीर से आत्मा का संयोग ९-१० मास पूर्व हो चुका होता है, तथापि पूर्ण विकास को प्राप्त होकर बाहर आने को ही बालक का जन्मकाल माना जाता है। मानव की आयु गर्भावस्था से नहीं, जन्मदिन से ही मानी जाती है। दिन का आरम्भ सूर्योदय से माना जाता है। यद्यपि अर्धरात्रि से ही शनैः-शनैः सूर्य का प्रकाश आरम्भ हो जाता है और एक डेढ़ घण्टा पहले तो पर्याप्त प्रकाश हो जाता है, तथापि पूर्ण प्रकाश होने पर अर्थात् सूर्य के उदय=दर्शन होने पर ही दिन का आरम्भ माना जाता है। इसी प्रकार मानवोत्पत्ति के साथ सृष्टिरचना पूर्ण होने के समकाल सृष्ट्युत्पत्ति का काल माना जाता है। इस प्रकार यद्यपि परमेश्वर के ईक्षण द्वारा क्षोभ होने पर जब प्रकृति की साम्यावस्था भंग होकर वह व्यक्तावस्था की ओर

https://t.me/arshlibrary

अग्रसर होती है तो सृष्ट्युत्पत्ति की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है, तथापि सृष्ट्युत्पत्ति तभी मानी जाती है जब मानवोत्पत्ति के साथ सृष्टि की रचना पूर्ण हो जाती है। इसी न्याय से सृष्ट्युत्पत्ति और वेदोत्पत्ति का काल एक माना गया है।

परन्तु, जैसाकि पहले कहा गया है, सृष्ट्युत्पत्ति का काल एक अरब छानवे करोड़ आदि मानने पर सृष्टि की कुल आयु ४२६४०८०००० वर्ष बनती है, जबकि इसका ४३२०००००० वर्ष होना सर्वसम्मत है। इन दोनों की संख्याओं में २५६२०००० का अन्तर है जो ६ चतुर्युगियों के काल के बराबर है (४३२०००० x ६ = २५६२०००)। एक ब्राह्मदिन का परिमाण १००० चतुर्युगी है। ब्राह्मदिन में १४ मन्वन्तर होते हैं और एक मन्वन्तर में ७१ चतुर्युगी होती हैं। इस प्रकार एक ब्राह्मदिन में ६६४ (१४ x ७१ = ६६४) चतुर्युगी होती हैं। इस प्रकार भी ६ चतुर्युगियों का सामंजस्य अपेक्षित है। यहीं पर विद्वानों में मतभेद है। एक पक्ष ६ चतुर्युगियों के बराबर काल को प्रारम्भ में जड़सृष्टि की रचना में लगाता है और दूसरा पक्ष सृष्टिसंवत् १९७२९४९०७६ मानकर इस समस्या का समाधान करता है और १४ मन्वन्तरों के सन्धिकाल में ६ चतुर्युगियों के बराबर समय का समावेश करता है।

'मानवोत्पत्ति से पूर्व जगत् की रचना में ६ चतुर्युगियों के बराबर समय लगता है' इस मान्यता का पोषक कहीं कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यह कहा जा सकता है कि ग्रन्थकार का यह लिखना कि 'एक ब्राह्मदिन में १४ मन्वन्तर (=६६४ चतुर्युगियाँ) 'भोग्यकाल हैं' यह संकेत करता है कि यह काल भोक्ता जीवों की अपेक्षा से है। जब जैवी सृष्टि से पूर्व भोग्य सामग्री का होना निर्विवाद है और उसकी रचना में पर्याप्त समय भी अपेक्षित है तो उसमें ६ चतुर्युगियों के बराबर समय लगना सम्भव है। इस प्रकार यह मत अपेक्षित प्रमाण उपलब्ध न होने पर भी तर्कसंगत कहा जा सकता है।

एक अरब सत्तानवें करोड़ कई लाख कई सहस्र वर्ष सृष्टिसंवत् माननेवाले विद्वानों का मुख्य आधार 'सूर्यसिद्धान्त' है। वहाँ लिखा है—

युगानां सप्ततिः चैका मन्वन्तरमिहोच्यते। कृताब्दसंख्यया तस्यान्ते सन्धिः प्रोक्तो जलप्लवः॥
ससन्धयस्ते मनवः कल्पे ज्ञेयाश्चतुर्दशः। कृतप्रमाणः कल्पादौ सन्धिः पञ्चदशः स्मृतः॥
कल्पादस्माच्च मनवः षड्व्यतीताः ससन्धयः। वैवस्वतस्य च मनोर्युगानां त्रिघनो गतः॥

—सूर्यसिद्धान्त १।१८, १६, २२

अर्थात्—इकहत्तर चतुर्युगियों का एक मन्वन्तर होता है। उसके अन्त में सत्ययुग की अवधि के वर्षों (१७२८०००) के समान एक सन्धिकाल होता है। इस प्रकार की १५ सन्धियों सहित १४ मन्वन्तर एक कल्प या सृष्टि में होते हैं।

सूर्यसिद्धान्त के प्रमाण के आधार पर कहा जा सकता है कि गणना करनेवाले ने भुक्त और भोग्य मन्वन्तरों की वर्षसंख्याओं का ही योग किया है। इस गणना में भुक्तकाल में ७ तथा भोग्यकाल में ८ सन्धियों का काल जोड़ना रह गया है। ग्रन्थकार के मतानुसार ब्राह्मदिन में १००० चतुर्युग होते हैं। यह भी निर्विवाद है कि एक मन्वन्तर में ७१ चतुर्युग होते हैं। इस प्रकार १४ मन्वन्तरों में (७१x१४) कुल ६६४ चतुर्युग बनते हैं। यहाँ प्रत्यक्ष ६ चतुर्युगों की न्यूनता है। यह ६ चतुर्युग परिमित काल सूर्यसिद्धान्त आदि आर्षग्रन्थों के अनुसार एक कल्प की १५ सन्धियाँ हैं। एक मन्वन्तर सन्धि का काल कृतयुग (१७२८००० वर्ष के बराबर होता है। इस सन्धिकाल को १५ से गुणा करने पर सन्धिकाल के कुल २५६२०००० वर्ष होते हैं। यह काल अवशिष्ट ६ चतुर्युगों के ४३२०००० x ६ = २५६२०००० वर्ष के बराबर ही होता है। इस प्रकार ७१ चतुर्युग

https://t.me/arshlibrary

परिमाण के १४ मन्वन्तरों की ६६४ चतुर्युग संख्या में १५ सन्धियों के ६ चतुर्युग काल को जोड़ने से ब्राह्मदिन की १००० चतुर्युग संख्या उपपन्न हो जाती है।

इस प्रकार उपरिनिर्दिष्ट व्यतीत १९६०८५२९७६ वर्ष संख्या में विगत ७ सन्धियों के (एक सन्धिकाल १७२८००० x ७ = १२०९६००० वर्ष जोड़ने से विगत वेदोत्पत्ति या विगत सृष्टि का शुद्धकाल (१९६०८५२९७६+१२०९६००० =) १९७२९४८९७६ वर्ष उपपन्न होता है। इसी प्रकार भोग्यकाल की २३३३२२७०२४ की वर्ष संख्या में भोग्य काल की ८ सन्धियों की १३८२४००० वर्ष संख्या जोड़ने से शुद्ध भोग्य काल की २३४७०५१०२४ वर्ष संख्या उपलब्ध होती है। अन्ततः शुद्ध भोग्य काल में शुद्ध भुक्तकाल जोड़ने से ४३२०००००० वर्ष का कल्प या ब्राह्मदिन सिद्ध हो जाता है। अन्यथा १५ सन्धियों का काल न जोड़ने पर न तो १००० चतुर्युगों की संख्या पूरी होती है और न कल्प या ब्राह्मदिन की नियत वर्ष संख्या उपलब्ध होती है।

इस मत के विरोधियों का कहना है कि यह ठीक है कि ग्रन्थकार ने सूर्यसिद्धान्त की गिनती ज्योतिष के प्रामाणिक ग्रन्थों में की है, परन्तु वह वसिष्ठमुनिकृत सूर्यसिद्धान्त है (**ज्योतिषं वसिष्ठाद्युक्तम्**) जो अब उपलब्ध नहीं है। सन्धिकाल को मानकर सृष्टि की आयु निकालने की बात मयासुररचित सूर्यसिद्धान्त में लिखी है। इसलिए वह मान्य नहीं है।

वेदोत्पत्तिकाल के सन्दर्भ में ग्रन्थकार ने मनुस्मृति के श्लोकों के बाद सूर्यसिद्धान्त से दो श्लोक उद्धृत किये हैं—**'इति सूर्यसिद्धान्तादिषु संख्यायते।'** वर्तमान में प्राप्य मयासुररचित सूर्यसिद्धान्त में ये श्लोक हैं नहीं और वसिष्ठमुनिकृत सूर्यसिद्धान्त का लोप हो चुका है। फिर, ग्रन्थकार ने ये श्लोक कहाँ से उद्धृत किये ? खोज करने पर पता चला कि ये दोनों श्लोक ब्रह्माण्डपुराण के हैं। इन श्लोकों को **'शब्दकल्पद्रुम'** तथा **'वाचस्पत्यभिधान'** नामक कोशों में 'संख्या' शब्द के अन्तर्गत ब्रह्माण्ड पुराण के नाम से उद्धृत किया गया है। वहाँ द्वितीय श्लोक के द्वितीय पाद में **'शंखः पद्मं च'** के स्थान पर **'शंखपद्मौ'** पाठ मिलता है। ऋ०भा०भू० में 'ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषय' के अन्तर्गत वसिष्ठादि विरचित ज्योतिष ग्रन्थ को प्रामाणिक तथा **'शीघ्रबोध'** व **'मुहूर्तचिन्तामणि'** आदि को अप्रामाणिक माना है। मयासुररचित सूर्यसिद्धान्त का कहीं विधान नहीं तो निषेध भी नहीं किया है, पर पुराणों की सर्वत्र घोर निन्दा करते हुए भी ग्रन्थकार ने ब्रह्माण्डपुराण का वचन प्रमाणरूप में उद्धृत किया है, परन्तु उन्होंने इसे सूर्यसिद्धान्त मूलक बताया है—यह अन्वेष्य है।

वेदोत्पत्तिकालसम्बन्धी प्रश्न का उत्तर ग्रन्थकार ने एक दो शब्दों में न देकर विस्तारपूर्वक सारा हिसाब फैलाकर एक अरब छानवे करोड़ इत्यादि निश्चित किया है। इतने महत्त्वपूर्ण विषय का विवेचन करते हुए गणित की प्रक्रिया में किसी भी स्तर पर इस विसंगति की ओर ग्रन्थकार का ध्यान नहीं गया—यह बात भी समझ में नहीं आती।

कुछ विद्वानों के मत में तीन चतुर्युगियों का काल भुक्तकाल से पहले और तीन चतुर्युगियों का काल भोग्यकाल के बाद जोड़कर छह चतुर्युगियों के अन्तर की समस्या का समाधान हो जाता है, परन्तु इस मान्यता का पोषक न कोई प्रमाण उपलब्ध है और न यह युक्तिसंगत है। इसके समर्थम में एक वेदमन्त्र प्रस्तुत किया जाता है जो इस प्रकार है—

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद (१०।९७।१) तथा यजुर्वेद (१२।७५) में आता है। इसके आधार पर कहा जाता है कि

https://t.me/arshlibrary

वनस्पतियाँ मनुष्योत्पत्ति से तीन दिव्ययुग (महायुग) पूर्व उत्पन्न हुई थीं, परन्तु इस मन्त्र का यह अर्थ किसी भी वेदभाष्यकार ने नहीं किया। महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेद के दसवें मण्डल का भाष्य नहीं किया, परन्तु यजुर्वेद के १२वें अध्याय में उन्होंने इस मन्त्र का भाष्य किया है। वहाँ उन्होंने संस्कृत और हिन्दी में पदार्थ करने के अनन्तर भावार्थ में लिखा है—

"मनुष्य— जो पृथिवी और जल में ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं जब वे तीन वर्ष पुरानी हो जाती हैं तब उन्हें ग्रहण करके वैद्यकशास्त्र की विधि से सेवन करते हैं। वे सेवन की हुई सब मर्मस्थानों में व्याप्त होकर रोगों को हटाकर शारीरिक सुखों को शीघ्र उत्पन्न करती हैं।"

ग्रन्थकार ने अपने यजुर्भाष्य में इस मन्त्र का ऋषि **'भिषक्'** और देवता (प्रतिपाद्य विषय) **'वैद्य'** बताते हुए लिखा है—

"मनुष्यैरवश्यमौषधसेवनं कृत्वाऽरोगैर्वर्तितव्यमित्याह ।"

ऋग्वेद में इस मन्त्र का ऋषि 'भिषगाथर्वणः' **तथा देवता** 'ओषधीस्तुतिः' लिखा है। स्पष्ट है कि इस मन्त्र का सम्बन्ध वैद्य, ओषधि तथा रोगोपचार से है। वेदोत्पत्तिकाल (=सृष्ट्युत्पत्तिकाल) का निर्धारण करने में इसका विनियोग या उपयोग नहीं किया जा सकता।

ग्रन्थकार की मान्यता है कि २३३३२२७०२४ वर्ष इस सृष्टि को भोग करने बाकी हैं। इस वाक्य से स्पष्ट है कि यह समय भोगकाल का है। इतने वर्ष बीतते ही सृष्टि का अन्त हो जाएगा। ग्रन्थकार ने यह भी लिखा है—"जब पर्यन्त हज़ार चतुर्युगी व्यतीत न हो चुकेंगी तब तक ईश्वरोक्त वेद का पुस्तक, यह जगत् और हम सब मनुष्य लोग भी ईश्वर के अनुग्रह से सदा वर्तमान रहेंगे।" इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य, उसके भोग्य जगत् तथा उसके लिए अपेक्षित ज्ञान सबका एक साथ अन्त होगा अर्थात् सर्गकाल अथवा ब्राह्मदिन का अवसान हो जाएगा। ऐसी अवस्था में बाद में तीन चतुर्युगियों के जोड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता।

सृष्टिसंवत् अभी तक विवाद का विषय बना हुआ है। पूर्वाग्रह से मुक्त होकर सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने की पवित्र भावना से मिल बैठकर **(सं गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्)** इस विषय पर विचार करना विद्वानों का कर्त्तव्य है।

'वेदोत्पत्तिविषय' के अन्तिम भाषाभाग से **'ओं तत्सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीयप्रहरार्द्धे'** आदि संकल्पपाठ की प्रतीक देकर कालनिर्देश का उदाहरण देते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है—"अर्थात् जैसे विक्रम संवत् १९३३ फाल्गुन मास, कृष्णपक्ष षष्ठी शनिवार के दिन चतुर्थ प्रहर के आरम्भ में यह बात हमने लिखी है।" 'यह बात' से यहाँ 'वेदोत्पत्तिकाल निर्धारण' अभिप्रेत है। ऐसा निर्देश प्रस्तुत प्रसंग के संस्कृत लेख में नहीं है। इससे पूर्व ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के आरम्भ में ग्रन्थलेखनसम्बन्धी श्लोक में लिखा है—

कालरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे भाद्रमासे सिते दले ।
प्रतिपद्यादित्यवारे भाष्यारम्भः कृतो मया ॥

अर्थात् विक्रम के संवत् १९३३ भाद्रमास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा रविवार (२० अगस्त १८७६) के दिन मैंने वेदभाष्य का आरम्भ किया है। यहाँ वेदभाष्य का अर्थ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका नामक ग्रन्थविशेष है।

ग्रन्थ प्रारम्भ करने के और प्रस्तुत भाषाभागीय लेख में साढ़े पाँच महीने से पाँच दिन अधिक का अन्तर है। इससे यह समझ लिया जाता है कि इतना समय ग्रन्थकार को ग्रन्थ लिखना आरम्भ करने से 'वेदोत्पत्तिविषय' तक लिखने में लगा। इसका तात्पर्य यह है कि उन्हें २०-२५ पृष्ठ लिखने में लगभग छह मास लगे। यह ठीक नहीं है, वास्तव में ग्रन्थकार ने पहले सम्पूर्ण ग्रन्थ संस्कृत में लिखकर पूरा किया

https://t.me/arshlibrary

[पृथिवी का धारक परमात्मा, शेष तथा उक्षा का सत्यार्थ]

प्रश्न—इसका धारण कौन करता है ? **कोई** कहता है—शेष, अर्थात् सहस्र फणवाले सर्प के शिर पर

जिसमें साढ़े पाँच मास लगे । उसके अनन्तर उन्होंने भाषाभाग लिखाना प्रारम्भ किया । भाषाभागीय कालनिर्देशन प्रसंग तक पहुँचने में पाँच-छह दिन और लगे होंगे । इस प्रकार निर्दिष्ट काल, प्रारम्भ से लेकर वेदोत्पत्तिविषय तक लिखने का न होकर, पहले सम्पूर्ण ग्रन्थ के संस्कृत में लिखे जाने और तदनन्तर प्रारम्भ से लेकर भाषाभागीय काल निर्देशन प्रसंग तक भाषा में लिखे जाने तक का है, क्योंकि यह भाषालेखन-काल है, अतः इस निर्देशन का संस्कृत में न होना स्वाभाविक है ।

पहले सम्पूर्ण ग्रन्थ संस्कृत में ही लिखा गया, इसमें ग्रन्थ के भीतर ही प्रमाण उपलब्ध हैं, जैसे—

१. उपासनाप्रकरण में **'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम्'** इत्यादि सन्दर्भ के आगे **'एषां विवरणं प्राकृतभाषायां वक्ष्यते'** यह लिखा है ।

२. पुनः **'नाविरतो दुश्चरिता०'** इत्यादि संस्कृतभाग की समाप्ति पर लिखा है—**'अस्य सर्वस्य भाषायामभिप्रायः प्रकाशयिष्यते ।'**

इससे सिद्ध है कि संस्कृतभाग लिखा जाने के अनन्तर ही भाषार्थ लिखा गया है । यदि संस्कृत के साथ भाषार्थ लिखा गया होता तो यहाँ भविष्यत्काल की क्रिया के वाचक **'वक्ष्यते'** और **'प्रकाशयिष्यते'** न लिखकर वर्तमानकालिकक्रिया का प्रयोग करते ।

भूमिका के संस्कृतलेखन के अनन्तर भाषालेखन के प्रारम्भ का काल विक्रम संवत् १६३३, फाल्गुन मास, कृष्णपक्ष प्रारम्भ होने के साथ बताया है । तत्पश्चात् ऋग्वेदभाष्य के प्रारम्भ होने का काल विक्रम संवत् १६३४, मार्गशीर्ष, शुक्लपक्ष, षष्ठी तिथि, मंगलवार लिखा है । इस प्रकार भूमिका के भाषालेखन के प्रारम्भकाल और ऋग्वेदभाष्य के प्रारम्भकाल में लगभग साढ़े नौ मास का अन्तर है । इतना समय भूमिका का भाषाभाष्य लिखने में लगा प्रतीत नहीं होता । यह सम्भव है कि इस अन्तराल काल में कुछ समय भाषाभाष्य पूरा करने में लगा हो और शेष अन्यान्य व्यस्तताओं में बीता हो । ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के महत्त्व को देखते हुए ग्रन्थकार ने उसमें कई बार परिवर्धन व परिष्करण किया । परोपकारिणी सभा के संग्रह में भूमिका के छह हस्तलेख विद्यमान हैं, जो उत्तरोत्तर परिष्कृत वा परिवर्धित हुए हैं । भाषाभाष्य पूरा होने के अनन्तर कुछ समय इन परिवर्धित तथा परिष्कृत हस्तलेखों के तैयार होने में भी अवश्य लगा होगा ।

ऋग्वेदभाष्य प्रारम्भकाल विक्रम संवत् १६३४ मार्गशीर्ष शुक्ला, षष्ठी मंगलवार है । यजुर्वेदभाष्य प्रारम्भकाल विक्रम संवत् १६३४, पौष शुक्ला त्रयोदशी, गुरुवार लिखा है । इससे ज्ञात होता है कि ऋग्वेदभाष्य प्रारम्भ करने के लगभग सवा महीने के बाद यजुर्वेदभाष्य भी प्रारम्भ हो गया था । दोनों वेदों के भाष्य साथ-साथ चलते रहे । अल्पकलेवर होने से यजुर्वेदभाष्य यथासमय पूर्ण हो गया । ऋग्वेदभाष्य चलता रहा ।

यजुर्वेदभाष्य के अन्त में भाष्यसमाप्तिकालद्योतक पंक्ति मुद्रित है—**'विक्रमी संवत् १६३६, मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा, शनिवार ।'** इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यजुर्वेदभाष्य पूरा होने में लगभग पाँच वर्ष लगे। इसके अनन्तर ऋषि का जीवन लगभग ग्यारह मास और रहा । ऋग्वेदभाष्य सप्तम मण्डल, ६१ सूक्त की दूसरी ऋचा तक हो पाया था कि विक्रम संवत् १६४०, कार्त्तिक अमावास्या (३० अक्तूबर. १८८३) को ऋषि का परलोकवास हो गया ।

सृष्टि का धारक—प्रलयकाल में समस्त भौतिक जगत् अपने मूलकारण सत्त्वरजस्तमोरूप प्रकृति में

https://t.me/arshlibrary

पृथिवी है। **दूसरा** कहता है कि—बैल के सींग पर। **तीसरा** कहता है—किसी पर नहीं। **चौथा** कहता है कि—वायु के आधार पर। **पाँचवाँ** कहता है—सूर्य के आकर्षण से खैंची हुई अपने ठिकाने पर स्थित। **छठा** कहता है कि—पृथिवी भारी होने से नीचे-नीचे आकाश में चली जाती है, इत्यादि में किस बात को सत्य मानें ?

उत्तर—जो शेष, सर्प और बैल के सींग पर धरी हुई पृथिवी स्थित बतलाता है, उसको पूछना चाहिए कि सर्प और बैल के माँ-बाप के जन्म-समय किसपर थी ? तथा सर्प और बैल आदि किसपर हैं ? बैलवाले मुसलमान तो चुप ही कर जाएँगे, परन्तु सर्पवाले कहेंगे कि सर्प कूर्म पर, कूर्म जल पर, जल अग्नि पर, अग्नि वायु पर, और वायु आकाश में ठहरा है। उनसे पूछना चाहिए कि ये सब किसपर हैं ? तो अवश्य कहेंगे परमेश्वर पर।

जब उनसे कोई पूछेगा कि शेष और बैल किस का बच्चा है ? कहेंगे शेष कश्यप कद्रू और बैल गाय का। कश्यप मरीची का, मरीची मनु का, मनु विराट् का और विराट् ब्रह्मा का पुत्र, ब्रह्मा आदि सृष्टि का था। जब शेष का जन्म न हुआ था, उसके पहले पाँच पीढ़ी हो चुकी हैं, तब किसने धारण की थी ? अर्थात् कश्यप के जन्म-समय में पृथिवी किसपर थी ? तो 'तेरी भी चुप मेरी भी चुप', और लड़ने लग जाएँगे।

इसका सच्चा अभिप्राय यह है कि जो 'बाकी' रहता है, उसको **'शेष'** कहते हैं। सो किसी कवि ने **'शेषाधारा पृथिवीत्युक्तम्'** ऐसा कहा कि 'शेष' के आधार पृथिवी है। दूसरे ने उसके अभिप्राय को न समझकर सर्प की मिथ्या कल्पना कर ली। परन्तु जिसलिए परमेश्वर उत्पत्ति और प्रलय से 'बाकी अर्थात् पृथक् रहता है, इसी से उसको **'शेष'** कहते हैं, और उसी के आधार पृथिवी है।

'सत्येनोत्तभिता भूमिः'। —यह ऋग्वेद (१०।८५।१) का वचन है।

'सत्य' अर्थात् जो त्रैकाल्याबाध्य, जिसका कभी नाश नहीं होता, उस परमेश्वर ने भूमि, आदित्य और सब लोकों का धारण किया है॥

'उक्षा दाधार पृथिवीमुत द्याम्'। —यह भी ऋग्वेद का वचन है।[1]

इसी **'उक्षा'** शब्द को देखकर किसी ने बैल का ग्रहण किया होगा। क्योंकि **'उक्षा'** बैल का नाम भी है, परन्तु उस मूढ़ को यह विदित न हुआ कि इतने बड़े भूगोल के धारण करने का सामर्थ्य बैल में कहाँ से आवेगा ? इसलिए **'उक्षा'** वर्षा द्वारा भूगोल के सेचन करने से सूर्य का नाम है। उसने अपने आकर्षण

विलीन हो जाता है और समस्त जीव अपने-अपने शरीर का परित्याग करके मूर्च्छित जैसे सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। तब केवल परमात्मा बचा रह जाता है। इसलिए उसका नाम 'शेष' है। जो प्रलयकाल में बचा रह जाता है उसी के लिए कहा है कि सर्गकाल में **'समवर्त्तताग्रे'** अर्थात् जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व वर्त्तमान था। जो प्रलयकाल में सबके पीछे बचा रह गया था, सर्गकाल में सबसे पहले वही होगा। वही द्यौः, पृथिवी तथा अन्तरिक्ष को धारण किये रहता है। (यजुः० ३२।६)। वह **'हिरण्यगर्भ'** कहाता है, क्योंकि प्रलयकाल में वह प्रकृति की अव्यक्तावस्था में उसे धारण किये रहता है। **'शेषाधारा पृथिवी'** में पृथिवी समस्त भौतिक जगत् का उपलक्षण है।

१ ऋग्वेद में **'उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति'** (१०।३१।८) यह पाठ है। अथर्ववेद में **'अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम्'** (४।११।१) यह पाठ है।

https://t.me/arshlibrary

से पृथिवी को धारण किया है, परन्तु सूर्यादि का धारण करनेवाला विना परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं है।

[सब लोक-लोकान्तरों का धारक ईश्वर ही है]

प्रश्न—इतने-इतने बड़े भूगोलों को परमेश्वर कैसे धारण कर सकता होगा ?

उत्तर—जैसे अनन्त आकाश के सामने बड़े-बड़े भूगोल कुछ भी अर्थात् समुद्र के आगे जल के छोटे कण के तुल्य भी नहीं है, वैसे अनन्त परमेश्वर के सामने असंख्यात लोक एक परमाणु के तुल्य भी नहीं कह सकते। वह बाहर भीतर सर्वत्र व्यापक, अर्थात् **'विभूः प्रजासु'** यह यजुर्वेद का वचन है। वह परमात्मा सब प्रजाओं में व्यापक होकर सबका धारण कर रहा है। जो वह ईसाई, मुसलमान, पुराणियों के कथनानुसार विभू[1] न होता, तो इस सब सृष्टि का धारण कभी न कर सकता, क्योंकि बिना प्राप्ति के किसी को कोई धारण नहीं कर सकता।

कोई कहे कि ये सब लोक परस्पर आकर्षण से धारित होंगे, पुनः परमेश्वर के धारण करने की क्या अपेक्षा है ? उनको यह उत्तर देना चाहिए कि यह सृष्टि अनन्त है वा सान्त ? जो अनन्त कहे, तो आकारवाली वस्तु अनन्त कभी नहीं हो सकती। और जो सान्त कहैं, तो उनके पर-भाग सीमा अर्थात् जिसके परे कोई भी दूसरा लोक नहीं है, वहाँ किसके आकर्षण से धारण होगा ? जैसे **समष्टि** और **व्यष्टि** अर्थात् जब सब समुदाय का नाम वन रखते हैं, तो **समष्टि** कहाता है और एक-एक वृक्षादि को भिन्न-भिन्न गणना करें, तो **व्यष्टि** कहाता है, वैसे सब भूगोलों को समष्टि गिनकर जगत् कहें, तो सब जगत् का धारण और आकर्षण का कर्त्ता विना परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं। इसलिए जो सब जगत् को रचता है, वही—

'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्'। —यह यजुर्वेद (१३।४) का वचन है।

जो पृथिव्यादि प्रकाशरहित लोकलोकान्तर पदार्थ तथा सूर्यादि प्रकाशसहित लोक और पदार्थों का रचन-धारण परमात्मा करता है, जो सबमें व्यापक हो रहा है, वह सब जगत् का कर्त्ता और धारण करनेवाला है॥

[पृथिवी का सूर्य के चारों ओर भ्रमण]

प्रश्न—पृथिव्यादि लोक घूमते हैं, वा स्थिर हैं ?

उत्तर—घूमते हैं।

प्रश्न—कितने ही लोग कहते हैं कि सूर्य घूमता है, और पृथिवी नहीं घूमती। दूसरे कहते हैं कि पृथिवी घूमती है, सूर्य नहीं घूमता। इसमें सत्य क्या माना जाए।

उत्तर—ये दोनों आधे झूठे हैं, क्योंकि वेद में लिखा है कि—

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः।
पितरं च प्रयन्त्स्वः॥ —यजुः० अ० ३। मं० ६॥

पृथिवी आदि का घूमना—इस विषय को कुछ अधिक विस्तारपूर्वक ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखा है। यहाँ हम उस अंश को वहाँ से उद्धृत कर उसपर अपनी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं।

---

१ 'विभु' समानार्थक 'विभू' स्वतन्त्र शब्द है।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः

अथेदं विचार्य्यते पृथिव्यादयो लोका भ्रमन्त्याहोस्विन्नेति ? अत्रोच्यते—वेदादिशास्त्रोक्तरीत्या पृथिव्यादयो लोकाः सर्वे भ्रमन्त्येव । तत्र पृथिव्यादिभ्रमणविषये प्रमाणम्—

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥१॥

—यजुः० अ०३।मं.६

भाष्यम्—अस्याभिप्रायः—'आयं गौ'रित्यादिमन्त्रेषु पृथिव्यादयो हि सर्वे लोका भ्रमन्त्येवेति विज्ञेयम् ।

(आयं गौः) अयं गौः[1] पृथिवीलोकः सूर्यश्चन्द्रोऽन्यो लोको वा पृश्निमन्तरिक्षमाक्रमीदाक्रमणं कुर्वन् सन् गच्छतीति, तथान्येऽपि । तत्र पृथिवी मातरं समुद्रजलमसदत् समुद्रजलं प्राप्ता सती, तथा (स्वः) सूर्यं पितरमग्निमयं च पुरः पूर्वं पूर्वं प्रयन् सन् सूर्य्यस्य परितो याति । एवमेव सूर्य्यो वायुं पितरमाकाशं मातरं च, तथा चन्द्रोऽग्निं पितरमपो मातरं प्रति चेति योजनीयम् । अत्र प्रमाणानि—

गौः ग्मा, ज्मेत्याद्येकविंशतिषु पृथिवीनामसु गौरिति पठितं यास्ककृते निघण्टौ[2] ।

तथा च—स्वः, पृश्निः नाक इति षट्सु साधारणनामसु ॥[3] पृश्निरित्यन्तरिक्षस्य नामोक्तं निरुक्ते ।[4] **'गौरिति पृथिव्या नामधेयं, यद् दूरं गता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति ।'** —निरु०अ० २ । खं० ५

'गौरादित्यो भवति, गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे, अथ द्यौर्यत् पृथिव्या अधि दूरं गता भवति, यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति ॥'—निरु० अ० २ । खं० १४

'सूर्य्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति, सोऽपि गौरुच्यते ॥'—निरु० अ० २ । खं० ६

'स्वरादित्यो भवति ॥'—निरु० अ० २ खं० १४

गच्छति प्रतिक्षणं भ्रमति या सा गौः पृथिवी । **'अद्भ्यः पृथिवी'**ति तैत्तिरीयोपनिषदि । यस्माद् यज्जायते सोऽर्थस्तस्य मातापितृवद् भवति, तथा स्वःशब्देनादित्यस्य ग्रहणात् पितुर्विशेषणत्वाद् आदित्योऽस्याः पितृवदिति निश्चीयते । यद् दूरं गता, दूरंदूरं सूर्य्याद् गच्छतीति विज्ञेयम् । एवमेव सर्वे लोकाः स्वस्य स्वस्य कक्षायां वाय्वात्मनेश्वरसत्तया च धारिताः सन्तो भ्रमन्तीति सिद्धान्तो बोध्यः ॥१॥

भाषार्थ—अब सृष्टिविद्याविषय के पश्चात् पृथिवी आदि लोक घूमते हैं वा नहीं, इस विषय में लिखा

---

१. मन्त्रे 'अयं गौः' इति पुंल्लिङ्गनिर्देशो लोकशब्दापेक्षया ज्ञेयः । तेन पुंल्लिंगप्रयोगात् पृथिव्याः परिभ्रमणे नास्य मन्त्रस्य प्रमाणं सम्भवतीति यत्कैश्चिद् उच्यते, तदपाकृतं भवति । एतदेव चाभिप्रेत्य ग्रन्थकृताऽपि विशेषतः **'पृथिव्यादयो हि सर्वे लोका भ्रमन्त्येव'** इत्युक्तम् ।

२. निघण्टु १।१॥ यास्कीयनिरुक्तस्य व्याख्येयरूपो निघण्टुरपि यास्कप्रोक्त एवेति ग्रन्थकारस्य मतम् । साम्प्रतिका बहवो विद्वांसो निघण्टुमिमं यास्कप्रोक्तं न मन्यन्ते । एतेषां मतस्यनिराकरणं पण्डित-भगवद्दतेन 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' ग्रन्थस्य 'वेदों के भाष्यकार' नाम्नि भागे विस्तरेण कृतम् (पृष्ठ १८१-१६५), तत्तत्रैव द्रष्टव्यम् ।

३. निघण्टु १।४ ॥

४. पृश्निरन्तरिक्षस्य नामेति निरुक्ते न क्वचित् साक्षात् पठ्यते, तथापि पूर्वोद्धृतस्य निघण्टुपाठस्य व्याख्याने (२।१३-१४) स्वरादय आदित्यस्य० दिवश्च साधारणनामानीत्युक्तम् यास्केन । तत्र 'दिव्' शब्देनान्तरिक्षं गृह्यते इति भगवद्दयानन्दस्य मतम् । तथैव च भगवता स्ववेदभाष्ये बहुत्र पृश्निशब्दस्यान्तरिक्षरूपो ऽर्थो व्याख्यातम् । निघण्टौ स्वरादिभ्यः साधारणनामभ्यः (१।४) प्राक् अन्तरिक्षनामानि पठ्यन्ते । तस्माद् आदित्येन सह साधारणनामत्वेन 'दिव्'शब्देन अन्तरिक्षस्यापि ग्रहणं सम्भवति ।

https://t.me/arshlibrary

अर्थात् यह भूगोल जल के सहित सूर्य के चारों ओर घूमता जाता है। इसलिए भूमि घूमा करती है ॥

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥

—यजुः० अ० ३३ । मं० ४३॥

जो **'सविता'** अर्थात् सूर्य वर्षादि का कर्त्ता, प्रकाशस्वरूप, तेजोमय, रमणीयस्वरूप के साथ वर्त्तमान, सब प्राणि-अप्राणियों में अमृतरूप वृष्टि वा किरण द्वारा अमृत का प्रवेश करा, और सब मूर्तिमान् द्रव्यों को

जाता है। इसमें यह सिद्धान्त है कि वेदशास्त्रों के प्रमाण और युक्ति से भी पृथिवी और सूर्य आदि सब लोक घूमते हैं। इस विषय में यह प्रमाण है--

(आयं गौः०) गौ नाम है पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमादि लोकों का। अपनी-अपनी परिधि में, वे सब अन्तरिक्ष के मध्य में, सदा घूमते रहते हैं। परन्तु जो जल है, सो पृथिवी की माता के समान है, क्योंकि पृथिवी, जल के परमाणुओं के साथ अपने परमाणुओं के संयोग से ही उत्पन्न हुई है और मेघमण्डल के जल के बीच में गर्भ के समान सदा रहती है और सूर्य उसके पिता के समान है, इससे सूर्य के चारों ओर घूमती है। इसी प्रकार सूर्य का पिता वायु और आकाश माता तथा चन्द्रमा का अग्नि पिता और जल माता। उसके प्रति वे घूमते हैं। इसी प्रकार से सब लोक अपनी कक्षा में सदा घूमते हैं।

इस विषय का संस्कृत में निघण्टु का प्रमाण लिखा है, उसको देख लेना। इसी प्रकार सूत्रात्मा जो वायु है, उसके आधार और आकर्षण से सब लोकों का धारण और भ्रामण होता है, तथा परमेश्वर अपने सामर्थ्य से पृथिवी आदि सब लोकों का धारण, भ्रामण और पालन कर रहा है ॥१॥

या गौर्वर्तनिं पर्य्येति निष्कृतं पयो दुहाना व्रतनीरवारतः ।
साप्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशद्धविषा विवस्वते ॥२॥

—ऋ.अ. ८ । अ. २ । व. १० मं. १

भाष्यम्—(या गौर्वर्तनिं०[2]) या पूर्वोक्ता गौर्वर्तनिं स्वकीयमार्गं (अवारतः) निरन्तरं भ्रमती सती, पर्य्येति विवस्वतेऽर्थात् सूर्यस्य परितः सर्वतः स्वस्वमार्गं गच्छति। (निष्कृतं) कथंभूतं मार्गम् ? तत्तद्गमनार्थमीश्वरेण निष्कृतं निष्पादितम्। (पयो दुहाना) अवारतो निरन्तरं पयो दुहानाऽनेकरसफलादिभिः प्राणिनः प्रपूरयती, तथा (व्रतनीः) व्रतं स्वकीयभ्रमणादिसत्यनियमं प्रापयन्ती। (सा प्र०) दाशुषे दानकर्त्रे, श्रेष्ठकर्मकारिणे, देवेभ्यो विद्वद्भ्यश्च, हविषा हविर्दानेन सर्वाणि सुखानि दाशत् ददाति। किं कुर्वती ? प्रब्रुवाणा सर्वप्राणिनां व्यक्तवाण्या हेतुभूता सतीयं वर्तत इति ॥२॥

भाषार्थ—(या गौर्व०) जिस-जिसका नाम 'गौ' कह आये हैं, सो-सो लोक अपने-अपने मार्ग में घूमता और पृथिवी अपनी कक्षा में सूर्य के चारों ओर घूमती है अर्थात् परमेश्वर ने जिस-जिसके घूमने के लिए जो-जो मार्ग निष्कृत अर्थात् निश्चय किया है, उस-उस मार्ग में सब लोक घूमते हैं। (पयो दुहाना०) वह

---

१. अर्थात् सूर्यमण्डल।

२. अयं मन्त्रः प्राच्यान्येन पृथिवीभ्रमणमाचष्टे 'या गौः' इति स्त्रीलिंग निर्देशात्। इयं पृथिवी सूर्यस्य परितो भ्रमति, न सूर्योऽस्याः परित इत्यस्यार्थस्य निर्देश आचार्यवर्यैः श्रीपण्डितब्रह्मदत्तजिज्ञासुभिः स्वकीये यजुर्वेदभाष्यविवरणे 'आयं गौः' (३।६) मन्त्रव्याख्याने विस्तरेण विहितः। स तत्रैव द्रष्टव्यः।

https://t.me/arshlibrary

दिखलाता हुआ, सब लोकों के साथ आकर्षण गुण से सह वर्त्तमान, अपनी परिधि में घूमता रहता है, किन्तु किसी लोक के चारों ओर नहीं घूमता ॥

वैसे ही एक-एक ब्रह्माण्ड[1] में एक सूर्य प्रकाशक, और दूसरे सब लोक-लोकान्तर प्रकाश्य हैं। जैसे—

'दिवि सोमो अधि श्रितः' । —अथर्व० का० १४। अनु० १। मं० १॥

जैसे यह चन्द्रलोक सूर्य से प्रकाशित होता है, वैसे ही पृथिव्यादि लोक भी सूर्य के प्रकाश ही से प्रकाशित होते हैं, परन्तु रात और दिन सर्वदा वर्त्तमान रहते हैं, क्योंकि पृथिव्यादि लोक का घूमकर जितना भाग सूर्य के सामने आता है उतने में दिन, और जितना पृष्ठ में अर्थात् आड़ में होता जाता है तो उतने में रात, अर्थात् उदय-अस्त, सन्ध्या-मध्याह्न, मध्यरात्रि आदि जितने कालावयव हैं, वे देशदेशान्तरों में सदा

गौ अनेक प्रकार के रस, फल, फूल, तृण और अन्नादि पदार्थों से सब प्राणियों के निरन्तर पूर्ण करती है। तथा अपने-अपने घूमने के मार्ग में सब लोक सदा घूमते-घूमते नियम ही से प्राप्त हो रहे हैं। (सा प्रब्रुवाणा०) जो विद्यादि उत्तम गुणों का देनेवाला परमेश्वर है, उसी के जानने के लिए सब जगत् दृष्टान्त है और जो विद्वान् लोग हैं उनको उत्तम पदार्थों के दान से अनेक सुखों को भूमि देती और पृथिवी, सूर्य, वायु और चन्द्रमादि गौ ही सब प्राणियों की वाणी का निमित्त भी है ॥२॥

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ ।
तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥३॥

—ऋ०अ०६।अ०४।व०१३।

भाष्यम्—त्वं सोम० अस्याभिप्रायः—अस्मिन् मन्त्रे चन्द्रलोकः पृथिवीमनुभ्रमतीत्ययं विशेषोऽस्ति ।

अयं सोमश्चन्द्रलोकः पितृभिः पितृवत् पालकैर्गुणैः सह संविदानः सम्यग् ज्ञातः सन् भूमिमनुभ्रमति । कदाचित् सूर्य्यपृथिव्योर्मध्येऽपि भ्रमन् सन्नागच्छतीत्यर्थः । अस्यार्थं भाष्यकरणसमये स्पष्टतया वक्ष्यामि ।

तथा 'द्यावापृथिवी एजेते' इति मन्त्रवर्णार्थाद् द्यौः, सूर्य्यः, पृथिवी च भ्रमतश्चलत इत्यर्थः। अर्थात् स्वस्यां स्वस्यां कक्षायां सर्वे लोका भ्रमन्तीति सिद्धम् ॥

॥ इति पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः संक्षेपतः ॥

भाषा—(त्वं सोम०) इस मन्त्र में यह बात है कि चन्द्रलोक पृथिवी के चारों ओर घूमता है। कभी-कभी सूर्य और पृथिवी के बीच में भी आ जाता है। इस मन्त्र का अर्थ अच्छी तरह से भाष्य में करेंगे।

तथा (द्यावापृथिवी) यह बहुत मन्त्रों में पाठ है कि द्यौः नाम प्रकाश करनेवाले सूर्य आदि लोक और जो प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोक हैं, वे सब अपनी-अपनी कक्षा में सदा घूमते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि सब लोक भ्रमण करते हैं ॥३॥

॥ इति संक्षेपतः पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः ॥

वैदिक संहिताओं में ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है, परन्तु वह सब इतने रहस्यपूर्ण व आलंकारिक ढंग से लिखा गया है कि आज के युग में उस पद्धति को जानना व समझना अत्यन्त कठिन है, और अब यदि उन उपलब्धियों पर आज के विद्वान् एकमत नहीं हो पाते तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। जिन बातों को आज का विज्ञान जान पाया है, वे ही नहीं, अपितु जिनको अभी तक वह नहीं जान पाया है, वे भी वेदों में विद्यमान हैं।

ऋग्वेद (१।११५।१; २।४०।४) में विश्व को तीन लोकों में विभक्त किया गया है—पृथिवी अन्तरिक्ष तथा

https://t.me/arshlibrary

वर्त्तमान रहते हैं, अर्थात् जब आर्यावर्त्त में सूर्योदय होता है, उस समय पाताल अर्थात् 'अमेरिका' में अस्त होता है और जब आर्यावर्त्त में अस्त होता है, तब पाताल देश में उदय होता है। जब आर्यावर्त्त में मध्य दिन वा मध्य रात है, उसी समय पाताल देश में मध्य रात और मध्य दिन रहता है।

[पृथिवी के भ्रमण में हेतु]

जो लोग कहते हैं कि सूर्य घूमता और पृथिवी नहीं घूमती, वे सब अज्ञ हैं, क्योंकि जो ऐसा होता तो कई सहस्र वर्ष के दिन और रात होते, अर्थात् सूर्य का नाम **'ब्रघ्न'**[1] है। वह पृथिवी से लाखों गुना बड़ा और क्रोड़ों कोश दूर है। जैसे राई के सामने पहाड़ घूमे तो बहुत देर लगती, और राई के घूमने में बहुत समय नहीं लगता, वैसे ही पृथिवी के घूमने से यथायोग्य दिन-रात होता है, सूर्य के घूमने से नहीं और जो

द्यौः। इसके पश्चात् पुनः प्रत्येक के तीन भाग किये हैं। आकाश (अन्तरिक्ष) का सम्बन्ध बादल, विद्युत्, वायु से है तथा सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह और तारों का सम्बन्ध द्युलोक से है। पृथिवी की द्युलोक से दूरी अलग-अलग ग्रन्थों में अलग-अलग ढंग से बताई गयी है।

ऋग्वेद में पृथिवी का आकार वर्तुलाकार कहा गया है (१।३३।८) और बताया गया है कि पृथिवी अपने आप हवा में स्वतन्त्ररूप से विद्यमान है (४।५३।३)। शतपथब्राह्मण ने इसे स्पष्टरूप से **'परिमण्डल'** संज्ञा दी है। पृथिवी के विस्तार के विषय में भी कल्पना की गयी है। प्रो० तारकेश्वर भट्टाचार्य तथा डॉ० एकेन्द्रनाथ घोष का मत है कि वेद में पृथिवी की दोनों गतियों—पृथिवी का अपनी धुरी पर तथा सूर्य के चारों ओर कक्षागति (Axial Rotation, Orbital Rotation) के प्रमाण उपलब्ध हैं। ये गतियाँ सूर्य के कारण उत्पन्न हुई हैं। लुडविग ने बहुत पहले बताया था कि ऋग्वेद में इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूम रही है। ऋग्वेद (७।५८।२) में लिखा है कि पृथिवी की दोनों प्रकार की गति के कारण ही सूर्य दिन, रात, मास और वर्ष बनानेवाला है। ऋतुओं का जनक भी वही है। वायु को गति देनेवाला भी वही है (ऐत० ब्रा० २।७)। वहाँ यह भी लिखा है कि सूर्य न कभी उदय होता है और न अस्त। पृथिवी की गति के कारण ही वैसा प्रतीत होता है।

ऋग्वेद (१।४१।४) के अनुसार वरुण ने सूर्य के लिए मार्ग निर्मित किया है जिसे 'ऋत' कहते हैं। उसी के निमित्त से वहाँ आदित्य ब्रह्मचारी के मार्ग का निर्देश किया है। यहीं राशिचक्रसम्बन्धी पट्टी (Zoadical Belt) का उल्लेख है। लुडविग का विचार है कि ऋग्वेद में रविमार्ग का पृथिवी की भूमध्य रेखा (१।११०।२ तथा धुरी (१०।८६।४) के साथ सम्बन्ध का वर्णन है। मोटे तौर पर सूर्य (पृथिवी) की वार्षिक गति दो अर्द्धभागों—उत्तरायण और दक्षिणायन में विभाजित है। रविमार्ग (Ecliptic) बारह भागों या बारह राशिचक्रों में विभाजित है। परिणामस्वरूप एक वर्ष में बारह महीने होते हैं। सूर्य प्रत्येक महीने में पृथक्-पृथक् राशि से गुज़रता है। प्रत्येक राशि से गुज़रता हुआ सूर्य पृथक्-पृथक् नामों से पुकारा जाता है जिससे बारह आदित्यों की परिकल्पना की गयी है।

'आयं गौरिति' मन्त्र के शब्दार्थ में निम्न प्रमाण हैं—यास्कीय निघण्टु में 'गौ' शब्द पृथिवी के पर्यायवाची शब्दों में पढ़ा गया है। निरुक्त में **'गौ'** का अर्थ **'पृथिवी'** इसलिए पढ़ा गया है, क्योंकि (क) सूर्य से दूर-दूर गति करती है। (ख) अथवा इसमें सब प्राणी गति करते हैं। निरुक्त में 'सूर्य' का नाम भी 'गौ' लिखा है, क्योंकि यह (क) रसों को ले-जाता है, और (ख) स्वयं अन्तरिक्ष में गति करता है।

---

१ ***'असौ वा आदित्यो ब्रघ्नः'***। —शत० १३।२।६।१॥

https://t.me/arshlibrary

इसी प्रकार निरुक्त में **'द्युलोक'** का नाम भी **'गौ'** आया है, क्योंकि वह (क) पृथिवी से बहुत दूर गया हुआ है, (ख) और इसमें सूर्यादि ज्योतिर्मय लोक गति करते हैं। निरुक्त में **'स्वः'** नाम भी आदित्य का आया है, क्योंकि वह (क) पूर्णतया अन्धकार को दूर भगानेवाला है, (ख) वह रसों के ग्रहणार्थ गया हुआ है, (ग) चन्द्र तथा पृथिव्यादिक ज्योतिर्लोकों के प्रकाश के प्रति गया हुआ है अर्थात् उन्हें प्रकाशित करता है, (घ) दीप्ति से संगत है अर्थात् वह दीप्तिमान् है। निरुक्त में **'पृश्नि'** नाम अन्तरिक्ष का आया है, क्योंकि उसमें सूर्यादि ज्योतिर्मय लोक रहते हैं।

पृथिवीभ्रमण के पोषक प्रमाण वैदिक वाङ्मय में प्रचुरता से उपलब्ध हैं। जैसे—

१. **यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि।**
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि॥

—अथर्व० १२।१।५२

'वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता'—वार्षिक गति से (वर्षभर में) पृथिवी सूर्य के चारों ओर चक्र काटकर लौट आती है। **'अहोरात्रे विहिते'** प्रतिदिन की गति भी इसी से सिद्ध है।

२. **प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुर्न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे।**
बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आ विवेश॥

—ऋ०८।१०१।१४

सूर्य बहुत बड़ा है और सबके मध्य में स्थित है। पृथिव्यादि उसके चारों ओर घूमते हैं।

३. ऋग्वेद (१०।२२।१४) में बिना हाथ-पाँव के पृथिवी सूर्य के चारों ओर प्रदक्षिणा करती है—ऐसा प्रतिपादन किया है।

४. यजुर्वेद ८।६ में लिखा है-

अहं परस्तादहमवस्ताद् यदन्तरिक्षं तदु मे पिताऽभूत्।
अहं सूर्यमुभयतो ददर्शाहं देवानां परमं गुहा यत्॥

मैं सूर्य को दोनों ओर देखता हूँ, पूर्व भी तथा पश्चिम भी अर्थात् सूर्य पूर्व या पश्चिम जाता है या घूमता है, यह बात नहीं। अपितु वह घूमता है, ऐसा मैं समझता हूँ। घूमते देखना या प्रतीत होना मेरे दृष्टिदोष से सम्बन्ध रखता है, वस्तुतः सूर्य घूमता नहीं।

५. यह पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूमती है। इसके पिछले आधे भाग में सदा अन्धकार तथा सामने आधे भाग में सदा प्रकाश बना रहता है। बीच में सब पदार्थ हैं। यह पृथिवी माता के समान सबकी रक्षा करती है।

—ऋग्वेद १।१६४।१७

६. सूर्य चक्र को पैदा करता है, अर्थात् सूर्य पृथिवी आदि के चक्रोत्पन्न होने में हेतु है, स्वयं चक्र नहीं करता।

वेद के समान ही ब्राह्मणग्रन्थों से भी पृथिवी का सूर्य के चारों ओर घूमना सिद्ध है। ऐतरेयब्राह्मण अध्याय १४, खण्ड ६ तथा गोपथब्राह्मण उत्तरार्द्ध ४।१० में स्पष्ट लिखा है—"यह सूर्य न कभी उदय होता है न अस्त। उसे जो पश्चिम में अस्त या पूर्व में उदय होना मानते हैं, वे अपने आपको भूल में डाल रहे हैं।"

वेद की इस (ब्राह्मणोक्त) व्याख्या के अनुसार तो इस विषय में कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता। आदित्य-गति माननेवालों के लिए ही 'सूर्य पश्चिम में जाकर अस्त हो गया अथवा अब पूर्वदिशा में उदय

https://t.me/arshlibrary

हो रहा है'—मुख्यवृत्ति से ऐसा व्यवहार हो सकता है। पृथिवीभ्रमणवादी तो गाड़ी में बैठे पीछे दौड़ते हुए वृक्षों को 'वृक्ष दौड़ रहे हैं' इस व्यवहार के समान उपचार से ही कहते हैं, न कि वस्तुतः। उनका ऐसा कहना उपचार से बनता है या अज्ञानवश। इससे वृक्षों का दौड़ना सिद्ध नहीं हो जाता।

महान् ज्योतिषाचार्य आर्यभट्ट ने भी पृथिवीभ्रमण की पुष्टि की है। 'आर्यसिद्धान्त' में आये 'अनुलोमगतिर्नौस्थः,' का अभिप्राय यह है कि जैसे चलती हुई नाव में बैठे मनुष्य को नाव स्थिर और किनारे के पेड़, घर आदि उल्टी दिशा में चलते हुए दिखाई पड़ते हैं, इसी प्रकार नक्षत्रचक्र अचल होने पर भी घूमनेवाली पृथिवी पर रहनेवाले मनुष्य को पश्चिम की ओर घूमता हुआ देख पड़ता है। 'आर्यसिद्धान्त' में आगे लिखा है—"सूर्यादि सब नक्षत्र स्थिर हैं, पृथिवी ही बार-बार अपनी धुरी पर घूमकर प्रतिदिवस इनके उदयास्त का सम्पादन करती है।"

पृथिवी का सूर्य के चारों ओर घूमना प्रत्यक्ष है। जब कोई पदार्थ घूमता है तो उसका वेग अपने केन्द्रस्थान (ठीक बीच) की अपेक्षा दूरतर स्थान में अधिक होता है। इसीलिए यदि कोई वस्तु बहुत ऊँचे स्थान (मीनार आदि) से गिराई जाए तो वह वस्तु कुछ दूर पूर्वांश में गिरेगी, जहाँ से गिराई गयी है, उस स्थान के ठीक नीचे नहीं। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि पृथिवी पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती है।

ग्रन्थकार ने जो **'आयं गौः'** इस मन्त्र के व्याख्यान में अन्य लोकों का भ्रमण कहा है, वह गो शब्द से भूगोलादि के उपलक्षण से तथा **'अयं'** इस पुल्लिग-प्रयोग से सब ठीक है। वहाँ सूर्य का अपनी कक्षा में तथा अन्यों का सूर्य के चारों ओर भ्रमण यथाक्रम समझना चाहिए।[1]

'पृथिवीसूक्त' के नाम से प्रसिद्ध अथर्ववेद के १२वें काण्ड के पहले सूक्त में विस्तारपूर्वक बताया है कि

१. सूर्य अपनी धुरी पर एकचक्कर २५ दिन, ६ घण्टे ७ मिनट में पूरा करता है। इस विषय में विस्तार से जानने के लिए पं० श्री ब्रह्मदत्तजिज्ञासु द्वारा सम्पादित महर्षि दयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य, प्रथम भाग में इस मन्त्र का भाष्य देखें।

"Once men thought that the sun remained perfectly still, while the planets and their moons moved round them. But we have learned that that is not true. The sun has two movements. Like the earth, the sun spins, or rotates, upon itself, and in the same direction as the earth. Thus, we can notice a sun-spot appear at one side of the sun, travel across its face, disappear for several days, and then reappear where we saw it first. But, besides this movement of rotation, the sun has a movement of translation, as it is called—that is, an actual bodily movement from place to place.

We do not doubt that all other stars are in motion too. It used to be impossible to see any sort of arrangement or order in the movements of the sun and the other stars. But now a German astronomer, Professor Kapteyn and others following him seem to have shown that the stars consist of two great hosts, which are streaming through or past each other in opposite directions and at different speeeds, and they think that our sun belongs to one of these groups of stars. Of cours, where the sun moves he carries all his family with him—planets, moons, comets and so on together with everything that is born and borne upon them; but neither astronomer nor other scientist can say where the sun is carrying us, nor what the result will some day be."

—The Book of Knowledge P. 1678

https://t.me/arshlibrary

सूर्य को स्थिर कहते हैं, वे ज्योतिर्विद्यावित् नहीं, क्योंकि यदि सूर्य न घूमता होता, तो एक राशि=स्थान से दूसरी राशि अर्थात् स्थान को प्राप्त न होता और गुरु पदार्थ विना घूमे आकाश में नियत स्थान पर कभी नहीं रह सकता।

और जो जैनी कहते हैं कि पृथिवी घूमती नहीं, किन्तु नीचे-नीचे चली जाती है, और दो सूर्य और दो चन्द्र केवल जम्बूद्वीप में बतलाते हैं, वे तो गहरी भांग के नशे में निमग्न हैं, क्योंकि जो नीचे-नीचे चली जाती, तो चारों और वायु के चक्र न बनने से पृथिवी छिन्न-भिन्न होती और निम्नस्थलों में रहनेवालों को

पृथिवी हम सबकी माता है और इस नाते हमारा सब प्रकार से पालन-पोषण करते हुए अनेक प्रकार का ऐश्वर्य प्रदान करती है।

यह सर्वविदित है कि चन्द्रमा पृथिवी के चारों और घूमता है। घूमते हुए जब कभी वह पृथिवी और सूर्य के बीच में आ जाता है तो चन्द्रमा की ओट में हो जाने से कुछ काल के लिए सूर्य पृथिवी से दिखाई देना बन्द हो जाता है। इसी को सूर्यग्रहण कहा जाता है। चन्द्रमा के पृथिवी के चारों ओर और पृथिवी के सूर्य के चारों ओर घूमने से ही यह स्थिति आती है।

तैत्तिरीयब्राह्मण (५।२।१) से प्रतीत होता है कि वैदिक काल के ज्योतिषियों ने बिना किसी यन्त्र की सहायता के अपनी नंगी आँखों से सूर्य के साथ उदित और अस्त होनेवाले तारों की सहायता से सूर्य की गति का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। ऋग्वेद (५।४०।६) में तुरीय उपकरण की सहायता से सूर्य के पूर्ण ग्रहण के निरीक्षण का उल्लेख मिलता है। प्राचीन आर्य सूर्यग्रहण के आरम्भ, अवधि तथा समाप्तिकाल की गणना कर सकते थे। अथर्ववेद (१९।६।१०) के अनुसार सूर्यग्रहण राहु द्वारा लगा करता है। सूर्यग्रहण का कारण चन्द्रमा होता है।

सूर्य की ऊर्जा से ही पृथिवी पर जीवन है। पृथिवी के लगभग ७० प्रतिशत क्षेत्र में जल है। सूर्य की ऊर्जा और पृथिवी के जल से वाष्प बनती है, जो आकाश में जाकर मेघमण्डल का रूप धारण करती है, जिससे वर्षा होती है। इसी से अनेक प्रकार के रस, फल, फूल, तृण, अन्नादि पृथिवी पर उत्पन्न होकर प्राणियों का भरण-पोषण करते हैं। इसलिए पृथिवी के लिए सूर्य पिता के समान है। सूर्य की पूर्ण ऊर्जा की बहुत कम मात्रा पृथिवी पर पहुँचती है। सूर्य के भीतर एक सैकिण्ड में जितनी ऊर्जा पैदा होती है उसका भी जीव अपने करोड़ों वर्षों के जीवन में उपयोग नहीं कर सके हैं। यदि सूर्य के अन्दर कोयला होता तो कुछ ही वर्षों में जलकर समाप्त हो गया होता। इससे पता चलता है कि सूर्य की ऊर्जा का स्रोत कुछ और है। सूर्य से प्रति सैकण्ड ४० लाख टन के द्रव्यमान के परिमाण में ऊर्जा निकलकर आकाश में विकिरण हो रही है। सूर्य के अन्दर विभिन्न तत्त्वों के परमाणु हैं। उनमें हाइड्रोजन गैस के परमाणु सबसे अधिक हैं। हाइड्रोजन के परमाणुओं का संयोग होता है तो ऊर्जा उत्पन्न होती है और एक दूसरा तत्त्व हीलियम पैदा हो जाता है। इन परमाणुओं का विघटन होने पर फिर ऊर्जा पैदा होती है। इस प्रकार परमाणुओं के संयोग और वियोग से पर्याप्त मात्रा में ऊर्जा पैदा होती है। यह क्रिया निरन्तर चलती रहती है। इस क्रिया को **'नाभिकीय चैन क्रिया'** कहते हैं। परिकलनों के आधार पर सूर्य के प्रकाशमण्डल का औसत तापक्रम ६३००° सेण्टीग्रड है। सूर्य के प्रकाशमण्डल के चारों ओर जो द्रव्य वर्णमण्डल और किरीट के रूप में है उसका तापमान भी ३०००° के बराबर है। इतने ऊँचे तापक्रम पर कोई भी द्रव्य ठोस अथवा द्रव अवस्था में नहीं रह सकता, अतः सूर्य में वह अवश्य ही वाष्परूप में परिणत हो गया होता। सूर्य वाष्प अथवा वायुरूप में है। इसी से वायु को सूर्य का पिता कहा है। इन सब लोकों को नियमपूर्वक अपने-अपने मार्ग में चलानेवाली शक्ति का नाम परमेश्वर है, जिसमें सब शक्तियाँ केन्द्रित हैं।

https://t.me/arshlibrary

लगभग ४५० वर्ष पूर्व तक पाश्चात्य लोग यही मानते थे कि पृथिवी स्थिर है और सूर्य उसके चारों ओर घूमता है। यह सिद्धान्त भूकेन्द्रित था। ईसाई मत की मान्यताएँ इसी आधार पर टिकी थीं। जिन वैज्ञानिकों ने इस मान्यता का विरोध किया उन्हें कठोर यातनाएँ सहनी पड़ीं, परन्तु गैलिलियो, कैपलर और कापरनिक्स आदि वैज्ञानिकों की साहसपूर्ण खोजों के प्रकाश में आने के बाद ईसाई धर्मगुरुओं को विवश होकर मानना पड़ा कि यह जगत् सूर्यकेन्द्रित है और पृथिवी आदि ग्रह सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते हैं। सन् १६१७ तक यही समझा जाता था कि सूर्य तारों से पूर्ण इस विश्व के केन्द्र में है। आधुनिक खोजों से पता चला है कि यह सम्पूर्ण विश्व उत्केन्द्र स्थिति में है।

इस ब्रह्माण्ड में सूर्य का अपना एक परिवार है, जिसे सौरमण्डल कहते हैं। इस परिवार में ६ ग्रह हैं जो सूर्य की दीर्घ वृत्ताकार परिधि में परिक्रमा करते हैं। ३० उपग्रह हैं जो अपने-अपने ग्रहों के गिर्द घूमते हैं। चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह है और इसका भौगोलीय परिकाल २९$\frac{१}{२}$ दिन है। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि सब अपनी-अपनी धुरी पर लट्टू की तरह घूमते हैं, परन्तु सबका घूर्णनकाल अलग-अलग है।

असंख्य तारों के समूह को अंग्रेजी में गैलेक्सी या मिल्की वे (Galaxy or Milki way) कहते हैं। हमारे यहाँ इसे आकाशगंगा के नाम से अभिहित किया गया है। सप्त-ऋषि आदि की तरह सूर्य भी एक तारा होने से हमारी आकाशगंगा का सदस्य है। आकाश में कुछ ऐसी वस्तुएँ भी हैं जो बादल के टुकड़ों के समान दिखाई पड़ती हैं। इन्हें नीहारिका कहते हैं। ये भी हमारी आकाशगंगा के समान असंख्य तारों का समूह हैं। इस तरह की अनगिनत निहारिकाएँ इस ब्रह्माण्ड में हैं। आकाशगंगा के अन्दर के सारे पिण्ड आकाशगंगा के नाभिकीय केन्द्र का चक्कर लगाते रहते हैं।

सूर्य १५० मील प्रति सैकण्ड की गति से वृत्ताकार पथ में आकाशगंगा के केन्द्र की परिक्रमा करता है। अपनी धुरी पर सूर्य २७ दिनों में एक चक्कर पूरा करता है जिसका प्रमाण सूर्य की सतह पर पाये जानेवाले धब्बे हैं जो सूर्य के पश्चिमी भाग से उसके पूर्वी भाग की ओर चलते प्रतीत होते हैं। वास्तव में ये धब्बे अपनी जगह पर बने रहते हैं, परन्तु सूर्य में घूर्णन गति के कारण घूमते से प्रतीत होते हैं। इस प्रकार सभी लोक-लोकान्तर चलायमान हैं।

यूरोप में १७वीं शताब्दी के आरम्भ में जब इटली के प्रसिद्ध वैज्ञानिक गैलिलियो (Galileo) ने यह कहा था कि पृथिवी सूर्य के गिर्द घूमती है तो धार्मिक लोगों ने उसके विरुद्ध आन्दोलन किया, क्योंकि बाइबल के अनुसार पृथिवी के गिर्द सूर्य परिक्रमा करता है। इसे अपराध मानकर दण्ड दिया गया और उसके फलस्वरूप उसे जेल में रहना पड़ा। इसी प्रकार जब उसने सूर्य में धब्बे होने की बात कही तो लोगों ने कहा कि या तो गैलिलियो की आँखों में दोष है या उसकी दूरबीन (Telescope) ख़राब है। जिस ईश्वर ने सृष्टि बनाई, यदि बाइबल में उसी का दिया ज्ञान होता तो सृष्टिक्रम के विरुद्ध बातें न लिखी होतीं। ईश्वरीय ज्ञान की कसौटी पर वेद ही खरा उतरता है।[1]

एतेषु हीदम्—'सब पदार्थ इन्हीं में बसते हैं और ये ही सबके निवास करने के स्थान हैं' का अभिप्राय यह है कि जिन लोकों में मानवादि प्राणी नहीं हैं, वे भी वास का हेतु अर्थात् बसाने में सहायक होने के

1. What Galileo taught appeared to the members of the Inquisition to be in direct contradiction to the Bible, which spoke of the Sun rising and setting. We know now that the sun does not really rise and set, but that the earth goes round. But the men who tried Galileo did not know this, and in their belief the Bible was to be taken in its literal sense in all departments of human knowledge. They could not bring themselves to agree with Galileo when the old man urged, with some humour and cleverness, that the Bible was intended to teach how to go to heaven, and not how the heavens go. As a result of this trial, Galileo was condemned as 'vehemently suspected of heresy' and was ordered to be imprisoned.—The Book of knowledge, page 3612

https://t.me/arshlibrary

वायु का स्पर्श न होता, नीचेवालों को अधिक होता, और एक-सी वायु की गति होती। दो सूर्य, चन्द्र होते तो रात और कृष्णपक्ष का होना ही नष्ट-भ्रष्ट होता। इसलिए एक भूमि[1] के पास एक चन्द्र और अनेक चन्द्र तथा अनेक भूमियों के मध्य में एक सूर्य रहता है।

[अन्य लोकों में भी प्राणी है]

प्रश्न—सूर्य-चन्द्र और तारे क्या वस्तु हैं? और उनमें मनुष्यादि सृष्टि है, वा नहीं?

उत्तर—ये सब भूगोल लोक, और इनमें मनुष्यादि प्रजा भी रहती है। क्योंकि—

'एतेषु हीद ँ सर्वं वसु हितमेते हीद ँ सर्वं वासयन्ते, तद्यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति' ॥

—शत० का० १४।६।६।४

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, नक्षत्र और सूर्य इनका **'वसु'** नाम इसलिए है कि इन्हीं में सब पदार्थ और प्रजा वसती हैं, और ये ही सबको वसाते हैं। जिसलिए वास के=निवास करने के घर हैं, इसलिए इनका नाम **'वसु'** है ॥

जब पृथिवी के समान सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र वसु है, पश्चात् उनमें इसी प्रकार प्रजा के होने में क्या

कारण 'वसु' कहाते हैं। यथा—चन्द्रमा में प्राणियों का वास न होने पर भी वह पृथिवीलोक के प्राणियों के जीवन-निर्वाह में सहायक है। **'सोम ओषधिनामधिपतिः'**—चन्द्रमा के कारण ही ओषधि-वनस्पति आदि में रस उत्पन्न होता है और इस प्रकार वह अन्न, फल आदि प्रदान करके प्राणियों को बसाता है। सूर्य अग्निरूप है। इस कारण पाञ्चभौतिक शरीरधारी प्राणियों का उसमें बसना सम्भव प्रतीत नहीं होता। तथापि वह सूर्य समस्त चराचर जगत् के जीवन का हेतु है—**'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'**। सूर्य न हो तो वर्षा के अभाव में न पीने को जल मिले, न अन्न आदि उत्पन्न हों और न साँस लेने के लिए शुद्ध वातावरण हो। इस प्रकार वस्तुमात्र इन वसुओं में निहित हैं। पृथिवी का एक नाम 'वसुधा' भी है। प्राणियों को अन्न, जल, तेल, कोयला और अनेक प्रकार की धातु आदि सब-कुछ उसी से मिलता है। इस प्रकार इन्हीं वस्तुओं के आश्रय से जीव बसते हैं।

न्यायदर्शन (३।१।२७) के भाष्य में वात्स्यायन मुनि लिखते हैं—**'आप्यतैजसवायव्यानि लोकान्तरे शरीराणि'** अर्थात् लोकान्तर में जल, अग्नि और वायु के शरीर होते हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि लोकान्तर में केवल अग्नि, जल अथवा वायु के शरीर होते हैं अपितु उसका यह अर्थ है कि लोकान्तर में अग्नि, वायु, जलतत्वप्रधान आग्नेय, जलीय तथा वायव्य शरीर होते हैं, जैसे पृथिवी लोक में पृथिवीतत्त्व-प्रधान पार्थिव शरीर। इसका यह अर्थ नहीं कि हमारे शरीर केवल पृथिवी से बने हैं और उनमें अग्नि, जल, वायु का अत्यन्ताभाव है। जैसे पृथिवी पर रहने के कारण हमारे शरीरों में पृथिवीतत्त्व प्रधान है, वैसे ही नभचर प्राणियों के शरीर में वायुतत्त्व प्रधान तथा जलचरों के शरीरों में जलतत्व प्रधान तथा गर्म देश में रहनेवाले प्राणियों के शरीरों में अग्नितत्त्व प्रधान होता है, दूसरे तत्त्व गौणरूप से विद्यमान रहते हैं।

इसी के अनुसार अन्यान्य लोकों में आग्नेय (तैजस), जलीय, वायव्य शरीरों की सम्भावना हो सकती है। उनमें से यदि कहीं जलीय आदि शरीरों का होना सम्भव है, वहाँ भी अन्य भूतों के संयोग-सहयोग को

---

१ यहाँ 'भूमि' शब्द ग्रह का वाचक है, और 'चन्द्र' उपग्रह का। किसी-किसी ग्रह के एक से अधिक भी उपग्रह हैं।

https://t.me/arshlibrary

सन्देह ? और जैसे परमेश्वर का यह छोटा-सा लोक मनुष्यादि सृष्टि से भरा हुआ है, तो क्या ये सब लोक शून्य होंगे ? परमेश्वर का कोई भी काम निष्प्रयोजन नहीं होता। तो क्या इतने असंख्य लोकों में मनुष्यादि सृष्टि न हो, तो सफल कभी हो सकता है ? इसलिए सर्वत्र मनुष्यादि सृष्टि है।

[लोकान्तरों के प्राणियों में आकृति-भेद सम्भव]

प्रश्न—जैसे इस देश में मनुष्यादि सृष्टि की आकृति, अवयव है, वैसे ही अन्य लोकों में भी होंगी, वा विपरीत ?

उत्तर—कुछ-कुछ आकृति में भेद होने का सम्भव है। जैसे इस देश में चीन, हबशी और आर्यावर्त्त यूरोप में अवयव, रंग-रूप और आकृति का भी थोड़ा-थोड़ा भेद होता है, इसी प्रकार लोक-लोकान्तरों में भी भेद होते हैं, परन्तु जिस जाति की जैसी सृष्टि इस देश में है, वैसी जाति ही की सृष्टि अन्य लोकों में भी है। जिस-जिस शरीर के प्रदेश में नेत्रादि अंग हैं, उसी-उसी प्रदेश में लोकान्तर में भी उसी जाति के अवयव भी वैसे ही होते हैं। क्योंकि—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥

—ऋ० म० १० । सू० १९०। मं० ३

नकारा नहीं जा सकता। पुरुष के भोग, अपवर्ग आदि प्रयोजन जहाँ, जिस रूप में सम्पन्न होने सम्भव हों, उसी के अनुकूल शरीर आदि की रचना उपयुक्त रहती है।

आम धारणा यह है कि आधुनिक विज्ञान पृथिवी से अतिरिक्त लोकों में जैवी सृष्टि के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, परन्तु अद्यतन अध्ययन एवं अनुसन्धानों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि अभी तक अन्य लोकों में जैवी सृष्टि होने का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिला है, तथापि वहाँ जीवन की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। इस सन्दर्भ में कैलिफ़ोर्निया के Pasadena नगर में सम्पन्न अन्तरिक्ष वैज्ञानिकों तथा खगोलशास्त्रियों की गोष्ठी का यह विवरण द्रष्टव्य है—

"Scientists searching for intelligent life in outer space say the odds, if not the evidence tell them extraterrestrials exist. 'I would be willing to bet one hundred dollars that between now and the time I die, we'll find evidence of intelligent life', said Al Hibbs, a retired space scientist at the National Aeronautics and Space Administration's jet propulsion laboratary.

Carl Sagan, a famous Cornell University astronomer said that "in a universe of 100 billion galaxies, each of which has a few hundred billion stars, the idea that our sun is the only star with an inhabited planet is laughable. Where do we come off to imagine we are the only kind of life in the Universe ?", he asked.

The speakers agreed that there has as yet to be a single confirmed report of an unidentified flying object, or U.F.O. from another planet, but most of them said they believed intelligent life must exist beyond earth.

Because there is evidence planets may exist around a dozen nearly stars and because the chemical evolution that produced life on earth exists throughout the known universe, the probability for intelligent life elsewhere is 100 percent, said Frank Drake, Dean of Natural Sciences at the University of Calafornia's Santa Cruz campus. Drake said it is possible extraterrestrial tourists view earth as 'a zoo'. They are already here but choose not to reveal their presence.

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

'धाता'=परमात्मा ने जिस प्रकार के सूर्य, चन्द्र, द्यौ, भूमि, अन्तरिक्ष और तत्रस्थ सुखविशेष पदार्थ पूर्वकल्प में रचे थे, वैसे ही इस कल्प अर्थात् इस सृष्टि में रचे हैं तथा सब लोक-लोकान्तरों में भी बनाये हैं। भेद किंचिन्मात्र नहीं होता॥

[वेदों का प्रकाश अन्य लोकों में भी]

प्रश्न—जिन वेदों का इस लोक में प्रकाश है, उन्हीं का उन लोकों में भी प्रकाश है, वा नहीं ?

"We are, as best we can tell, the result of completely normal processes. Therefore life should be abundant in the universe", said Drake who is also President of the Search for Extraterrestrial Intelligence Institute, a NASA—Funded effort to search from radio signals for alien civilizations.

According to Drake in our galaxy alone, 'once a year a new species of intelligent creatures emerges."—Indian Express, 7.4.1987

Life possible on Jupiter

There could be life forms on the moon of Jupiter and Saturn, even though the conditions prevailing there were drastically different from those of Earth, according to the Director of Indian Institute of Astrophysics, Bangalore, Dr. J.C. Bhattacharya.

Talking to P.T.I. Dr. Bhattacharya said it would be erroneous to assume that life forms could exist only in an Earth-like atmosphere where the content of oxygen was a plenty and the temperature moderate.

For instance, even on Earth, there were some micro-organisms which thrived in total absence of oxygen like the titanus virus which lived in anerobic conditions.

"In Galapagos island near Pacific Ocean, there are places where the temperature of water is as high as 350° C and even in such places becterias have been found to survive, Dr. Bhattacharya added."

Dr. Bhattacharya, alongwith over 300 space scientists, were in the city recently in connection with a national space science symposium, organised by the Indian Space Research Organisation (ISRO) and the Nagpur University on 16.3.90

इस प्रसंग में दिल्ली से प्रकाशित 'नवभारत टाइम्स' के २४ मार्च १९९० के अंक में प्रकाशित यह विवरण भी द्रष्टव्य है—

हमारी दुनिया यह नहीं मानती कि उसके अलावा और भी दुनिया हैं। पृथिवी का आदमी अपनी दुनिया से इतना आश्वस्त है कि वह अन्य ग्रहों या आकाशगंगाओं पर बुद्धिमान् प्राणियों की मौजूदगी की बात पर विश्वास ही नहीं कर सकता। वह सोचता है कि ऐसा कैसे हो सकता है कि उस जैसे आदमी या उससे भी अधिक बुद्धिमान् प्राणी अन्यत्र हो सकते हैं। लेकिन वैज्ञानिकों की दुनिया में आएँ तो हमें विश्वास होने लगता है कि हाँ, अन्यत्र भी प्राणी हो सकते हैं।

हमारी पृथिवी पर आई उड़नतश्तरियों और उनमें से निकले प्राणियों की बात हम यहाँ नहीं लेते, हालाँकि ग्रहों पर जीवन की सचाई का यह एक शक्तिशाली मुद्दा हो सकता है। अनेक लोगों ने इन अजीब प्राणियों को देखा है, लेकिन अभी तक ये आमने-सामने नहीं हुए हैं। इसलिए कह नहीं सकते कि इनमें कितनी बुद्धि है और ये किस हाड़-मांस के बने हैं।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

अब तो खगोलविदों ने ऐसे विशाल रेडियो-टेलिस्कोप फिट कर दिये हैं कि वे अन्य ग्रहों से आये सन्देशों को पकड़ सकते हैं। अमेरिका की राष्ट्रिय अन्तरिक्ष एजेंसी 'नासा' तथा केलिफोर्निया के कुछ इंजीनियरों का कहना है कि अन्य ग्रहों पर बुद्धिमान् प्राणियों की खोज का काम जारी रखना चाहिए, चाहे इसमें सफलता की सम्भावनाएँ कम ही क्यों न हों। दूर अन्तरिक्ष में सभ्यताओं के सन्देश प्राप्त करने के लिए हमें पूरी तरह तैयार रहना चाहिए। नासा ने कहा है कि सन्देश प्राप्त करने या 'सुनने' के असली प्रयत्न कोलम्बस दिवस (अक्टूबर १९९२) पर शुरू होंगे। उस समय क्रिस्टोफर कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज की ५००वीं वर्षगाँठ मनाई जाएगी। अन्य ग्रहों के प्राणियों की खोज के काम में दस साल लगेंगे और इसपर कम-से-कम नौ करोड़ ५० लाख डॉलर खर्च आएगा। कोलम्बस समारोह से पहले भूलोक के अलावा बुद्धिमान् प्राणियों की खोज का कार्यक्रम 'सेटी' कई साल से चल रहा है। अब इस कार्यक्रम में तेजी शुरू हो गयी है। समय-समय पर पूरे आकाश का 'स्कैनिंग' किया जा रहा है। उस संकेत की तलाश है जो पृथिवी के आदमी को दगा दे रहा है। पता नहीं कब पकड़ में आ जाए।

सान फ्रांसिस्को से दक्षिण में सिलिकन घाटी में नासा के एम्स रिसर्च सेंटर में 'सेटी' का सदरमुकाम है। प्रोजेक्ट की निर्देशिका डॉ० जिल टारटर का कहना है—'यह महत्त्वपूर्ण है कि इस देश को अन्य ग्रहों के प्राणियों की खोज के लिए कुछ करना चाहिए।' जिल कहती हैं कि हम अरबों फ्रीक्वेंसी में से किसी पर सन्देश सुन सकते हैं। यदि कोई सन्देश सुना गया तो ब्रह्माण्डीय प्राणियों से बात करना मुश्किल नहीं होगा। उनकी भाषा समझ ली जाएगी, क्योंकि भाषाओं के सैकड़ों स्वरूप तैयार कर लिए गये हैं। रेडियो सन्देश प्रकाश की गति से जाते हैं, फिर भी हमारे सौरमण्डल के पास के किसी पिंड से संकेत के आने-जाने में दस वर्ष लग जाएँगे।

एक बात बड़ी अजीब है। वैज्ञानिक कहते हैं हमें अभी तक कोई संकेत नहीं मिला है, लेकिन यह भी नहीं मानना चाहिए कि अन्य ग्रहों पर प्राणी नहीं होंगे। अभी यन्त्रों को ठोका-बजाया जा रहा है और देखा जा रहा है कि उन्हें कैसे इस्तेमाल किया जाए। एक यन्त्र-प्रणाली ऐसी है, जो एक साथ एक करोड़ चैनलों पर सन्देश ग्रहण कर सकती है। इसमें एक बहुचैनल वर्णक्रम विश्लेषक लगा है। इस यन्त्र को मोहावे रेगिस्तान में नासा के गोल्ड स्टोन टोही केन्द्र से जोड़ दिया गया है, जहाँ २६ मीटर व्यास का डिश ऐंटीना लगा है। यदि कोई संकेत पकड़ में आ जाता है तो यह किसी विकसित सभ्यता का सन्देश हो सकता है जो किसी अन्य प्राणी की तलाश में अपना सन्देश भेज रही है। वे कह सकते हैं—'सुनो मैं यहाँ हूँ, सुनो, सुनो—।' हो सकता है यह कोई जटिल सन्देश हो, जो मानवीय मस्तिष्क या सबसे विकसित कंप्यूटर की समझ से भी बाहर हो।

अनेक वर्षों से वैज्ञानिक मानते आये हैं कि पृथिवी के अलावा भी बुद्धिमान् प्राणी हैं। खगोल विद्या ने हमें पाठ पढ़ाया है कि साधारण कार्बन-आधारित अणु सारे ब्रह्माण्ड में फैले हुए हैं। पृथिवी पर जीवन के ऐसे ही रासायनिक निर्माण-अणु हैं। कहा जाता है कि हमारी आकाशगंगा में ही बुद्धिमान् प्रजातियों की संख्या एक से एक करोड़ तक हो सकती है। लेकिन यह गणना करना मुश्किल हो रहा है कि इनमें से कौन सी प्रजाति कब तक उतनी विकसित होती है जब वह संकेत भेज सकती है। अभी यह भी नहीं मालूम कि इन प्रजातियों का अलग-अलग जीवनकाल कितना है।

सवाल उठ सकता है कि अब तक आकाशगंगा की जीवित विकसित सभ्यताओं ने अपनी तकनीकी प्रगति के आधार पर हमें संकेत क्यों नहीं भेजे? यदि भेजे होते तो हमें अवश्य मिलते। हो सकता है कि आकाशगंगा की

https://t.me/arshlibrary

उत्तर—उन्हीं का है। जैसे एक राजा की राज्यव्यवस्था नीति सब देशों में समान होती है, उसी प्रकार परमात्मा राजराजेश्वर की वेदोक्त नीति अपने-अपने सृष्टिरूप सब राज्य में एक-सी है।

[जीव और प्रकृति ईश्वर के अधीन हैं]

प्रश्न—जब ये जीव और प्रकृतिस्थ तत्त्व अनादि और ईश्वर के बनाये नहीं हैं, तो ईश्वर का अधिकार भी इनपर न होना चाहिए, क्योंकि सब स्वतन्त्र हुए।

उत्तर—जैसे राजा और प्रजा समकाल में होते हैं, और राजा के अधीन प्रजा होती है, वैसे परमेश्वर के अधीन जीव और जड़ पदार्थ हैं। जब परमेश्वर सब सृष्टि का बनाने, जीवों के कर्मफलों के देने, सब का यथावत् रक्षक और अनन्त सामर्थ्यवाला है, तो अल्पसामर्थ्य जीव और जड़ पदार्थ उसके अधीन क्यों न हों ? इसलिए जीव कर्म करने में स्वतन्त्र, परन्तु कर्मों के फल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र हैं। वैसे ही वह सर्वशक्तिमान् सृष्टि संहार और पालन सब विश्व का करता है।

इसके आगे विद्या-अविद्या, बन्ध और मोक्ष के विषय में लिखा जाएगा। यह आठवाँ समुल्लास पूरा हुआ ॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे

सुभाषाविभूषिते सृष्ट्युत्पत्तिस्थितिप्रलयविषयेऽष्टमः

समुल्लासः सम्पूर्ण ॥८॥

ये शक्तियाँ पृथिवी के आदमी को अपने सम्पर्क से दूर रख रही हैं। हो सकता है कि उनकी संचार प्रणाली रेडियो नहीं है, कोई और प्रणाली है जो मानवीय वैज्ञानिकों की कल्पना से परे है।

अब अन्य सभ्यताओं की खोज के लिए यह दशक महत्त्वपूर्ण माना जा रहा है। यदि हमसे अधिक विकसित सभ्यताओं के चिह्न मिल गये तो आदमी का अहम् दूर हो जाएगा। वह मान लेगा कि उसकी दुनिया के अलावा और भी दुनिया है।

ईश्वर का अधिकार—**'महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव'** (यजुः० २३।३)—**स्वमहिम्ना एव जगतो राजा बभूव** अर्थात् परमेश्वर अपनी महिमा=अनन्त सामर्थ्य के कारण जगत् का स्वामी है। जीव अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, परिच्छिन्न तथा राग-द्वेष से युक्त है। इसकी तुलना में ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक तथा निर्विकार है। ईश्वर सच्चिदानन्द है जबकि जीव केवल सच्चित् है। इस प्रकार अपने गुणोत्कर्ष के कारण परमेश्वर जीवों तथा जड़ पदार्थों का अधिपति है। जैसे राजा और प्रजा बहुत बातों में समान होते हैं तो भी अपने सामर्थ्याधिक्य के कारण राजा प्रजा पर शासन करता है। वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त सामर्थ्य से सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करता तथा असंख्य जीवों की यथावत् रक्षा करता तथा उनके कर्मफल की समुचित व्यवस्था करता है। इसी कारण उसे ब्रह्म=बड़ा कहते हैं।

https://t.me/arshlibrary

अथ नवमसमुल्लासारम्भः

अथ विद्याऽविद्याबन्धमोक्षविषयान् व्याख्यास्यामः

[विद्या और कर्म से मोक्ष की प्राप्ति]

विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

—यजुः० अ० ४० । मं० १४

जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ-ही-साथ जानता है, वह '**अविद्या**' अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तरके '**विद्या**' अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है ॥

विद्यां चाविद्यां च—इस मन्त्र के गूढार्थ को समझने के लिए इससे पहले के दो मन्त्रों और उनमें निहितार्थों का जानना आवश्यक है । वे मन्त्र इस प्रकार हैं—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥
अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदेवाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥

इन तीनों मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है—

(ये) जो (अविद्याम्) प्रकृतिविद्या अथवा कर्म की (उपासते) उपासना करते हैं वे (अन्धन्तमः) घोर अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं । (ततः) उससे भी (भूय इव) अधिक अन्धकार में (ते) वे (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं (ये उ) जो केवल (विद्यायाम्) विद्या अर्थात् शब्दार्थसम्बन्धज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या में (रताः) लीन रहते हैं ।

(विद्यया) केवल ब्रह्मज्ञान अथवा ज्ञानमात्र से प्राप्त होनेवाला फल (अन्यदेव) कुछ और (आहुः) कहते हैं, (अविद्यया) प्रकृतिविद्या अथवा कर्म से मिलनेवाला फल (अन्यदेव) कुछ और ही (आहुः) बताते हैं । (इति) ऐसा (धीराणाम्) उन विद्वानों से (शुश्रुम) हमने सुना है (ये) जिन्होंने (नः) हमारे लिए (तत्) इसकी (विचचक्षिरे) व्याख्या की है ।

(विद्याम्) ज्ञान अथवा आत्मविद्या को (च) और (अविद्याम्) प्रकृतिविद्या अथवा कर्म को (यः) जो मनुष्य (तद् उभयं सह) उन दोनों को साथ-साथ (वेद) जानता है, (सः) वह (अविद्यया) अविद्या से (मृत्युम्)मृत्यु को (तीर्त्वा) पार करके (विद्यया) विद्या से (अमृतम्) मोक्ष को (अश्नुत) प्राप्त करता है ।

यहाँ प्रथम मन्त्र में विद्या और अविद्या के पार्थक्य से जो फलश्रुति कही है उससे स्पष्ट प्रतीत होता

https://t.me/arshlibrary

है कि अविद्या से विद्या कहीं अधिक निकृष्ट कोटि की वस्तु है, क्योंकि उसका फल अधिक अँधेरे में गिरना बताया है। आपाततः देखने से यह तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता, अतएव यहाँ पहले विद्या और अविद्या के स्वरूप का विवेचन आवश्यक है।

'विद्या' ज्ञान का पर्याय है, यह निर्विवाद है। 'अविद्या' के दो अर्थ हो सकते हैं—एक पारिभाषिक और दूसरा यौगिक। दर्शनों में प्रायः अविद्या का पारिभाषिक अर्थ मिथ्याज्ञान लिया जाता है, जैसे—**'इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या, तद् दुष्टं ज्ञानम्'** (वैशे० ६।२।१०, ११)। प्रस्तुत मन्त्रों में अविद्या का यह पारिभाषिक अर्थ अभिप्रेत नहीं जान पड़ता। यह अर्थ अभीष्ट होता तो सब अनर्थों की जड़ 'अविद्या' को मृत्यु से पार करनेवाला न कहा गया होता। मिथ्याज्ञान या विपर्यय को तो बन्धन में डालनेवाला कहा गया है—**'बन्धो विपर्ययत्'** (सांख्य० ३।२४)।

'अविद्या' का यौगिक अर्थ है—विद्या से भिन्न अर्थात् जो यथार्थ ज्ञान नहीं है। जो विद्या या ज्ञान नहीं है, वह क्या है ? 'अविद्या' का अर्थ विद्या का अभाव नहीं हो सकता। वस्तुतः विद्या के अभाव के अर्थ में अविद्या शब्द का प्रयोग सम्भव नहीं, क्योंकि अभाव की न उपासना हो सकती है और न अभाव की उपासना से मृत्यु को तरनेवाली बात तर्कसंगत हो सकती है। अविद्या शब्द का वही अर्थ करना होगा जो शब्दार्थ की दृष्टि से भी ठीक हो और प्रकरणसंगत भी हो।

यजुर्वेद के ४०वें अध्याय का देवता या प्रतिपाद्य 'आत्मा' है। आत्मा ईश्वर और जीव दोनों का वाचक है। इसलिए इस अध्याय को आत्माध्याय, ब्रह्माध्याय, आत्मसूक्त, ब्रह्मसूक्त, ईशसूक्त आदि नामों से अभिहित किया जाता है। पृथक् रूप में ईशोपनिषद् (जो यजुर्वेद की काण्वशाखा का चालीसवाँ अध्याय है) इसका प्रसिद्ध नाम है। इस नाम का गूढ़ार्थ भी यही है कि इसमें ईश की विद्या=ब्रह्मविद्या का निरूपण हुआ है। शुक्लयजुर्वेद की संहिता होने से इसे वाजसनेयीसंहितोपनिषद् भी कह दिया जाता है।

वेदार्थ करने में वेदाङ्ग परम सहायक हैं और, जैसाकि महाभाष्य का कथन है, वेदांगों में व्याकरण मुख्य है—**'षडङ्गेषु प्रधानं व्याकरणम्'**। और जब प्रधानता का निश्चय हो जाए तो उसी के अनुसार कार्य करना चाहिए—**'प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः'** (महाभाष्य ३।१।१)। वैसा करने पर ही सफलता मिलती है—**'प्रधाने च कृतः प्रयत्नः फलवान् भवति।'** एवं 'अविद्या' का अर्थ निर्धारित करने में व्याकरण की व्यवस्था जाननी चाहिए। अविद्या शब्द में दो समास हो सकते हैं—बहुव्रीहि और नञ्तत्पुरुष। बहुव्रीहि समासवाला अविद्या शब्द **'नास्ति विद्या—यथार्थज्ञानं यस्यां सा'** अर्थात् जिसमें यथार्थज्ञान नहीं है, उस उल्टे ज्ञान को कहता है। आगे योगसूत्रस्थ अविद्या के लक्षण में बहुव्रीहि समास अभिप्रेत है। बहुव्रीहि समासवाला यह अर्थ प्रस्तुत मन्त्रों में अभीष्ट नहीं है, यह हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं। आद्युदात्त होने से मन्त्रगत 'अविद्या' शब्द में नञ्तत्पुरुष समास है—न विद्या=अविद्या। व्याकरणमहाभाष्य के अनुसार नञ्तत्पुरुष उत्तरपद का निषेध करते हुए तत्सदृश अर्थ का बोधक होता है—**'नञ्वियुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः'** (महाभाष्य ३।१।१२)। जैसे—**'अब्राह्मण को लाओ'** ऐसा कहने पर ब्राह्मण से भिन्न, किन्तु ब्राह्मण-सदृश, क्षत्रियादि को लाया जाता है, गाय-भैंस या मिट्टी के ढेले को नहीं। इसी प्रकार 'अनश्वमानय' ऐसा आदेश मिलने पर अश्वसदृश सवारी के योग्य चतुष्पाद् प्राणी को लाया जाता है। इस प्रकार 'अविद्या' का कुछ ऐसा अर्थ होना चाहिए जो विद्यासदृश तो हो, पर विद्या न हो।

वस्तुतः उपर्युक्त तीनों मन्त्रों को एक साथ पढ़े बिना न उनकी संगति लग सकती है और न उनसे अभीष्ट की सिद्धि हो सकती है। ६वें मन्त्र में विद्या और अविद्या दोनों को अनर्थकारी बताया है। इस प्रकार वहाँ विद्या और अविद्या दोनों की ही निन्दा की गयी प्रतीत होती है, परन्तु ११वें मन्त्र तक पहुँचने पर स्थिति

https://t.me/arshlibrary

[बन्ध के कारणभूत 'अविद्या' का लक्षण]

'**अविद्या**' का लक्षण—

'**अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या**' ॥

—यह योगसूत्र २।५ का वचन है ॥

जो अनित्य संसार और देहादि में नित्य, अर्थात् जो कार्य-जगत् देखा-सुना जाता है, वह सदा रहेगा, सदा रो है, और योगबल से यही देवों का शरीर सदा रहता है, वैसी विपरीत बुद्धि होना **अविद्या का प्रथम भाग** है। 'अशुचि' अर्थात् मलमय स्त्र्यादि के शरीर, और मिथ्याभाषण, चोरी आदि अपवित्र में पवित्र-बुद्धि **दूसरा**। अत्यन्त विषयसेवनरूप दुःख में सुख-बुद्धि आदि **तीसरा**। अनात्मा में आत्मबुद्धि करना **अविद्या का चौथा भाग** है। यह चार प्रकार का विपरीत ज्ञान '**अविद्या**' कहाती है ॥

[विद्या का लक्षण]

इससे विपरीत अर्थात् अनित्य में अनित्य और नित्य में नित्य, अपवित्र में अपवित्र और पवित्र में पवित्र, दुःख में दुःख और सुख में सुख, अनात्मा में अनात्मा और आत्मा में आत्मा का ज्ञान होना '**विद्या**' है, अर्थात् '**वेत्ति यथावत् तत्त्वपदार्थस्वरूपं यया सा विद्या**'। '**यया तत्त्वस्वरूपं न जानाति भ्रमादन्यस्मिन्नन्यन्निश्चिनोति यया साऽविद्या**' जिससे पदार्थों का यथार्थ रूप बोध होवे वह '**विद्या**', और जिससे तत्त्वस्वरूप न जान पड़े, अन्य में अन्य बुद्धि होवे, वह '**अविद्या**' कहाती है।

[मन्त्रस्थ 'अविद्या' शब्द का अर्थ]

अर्थात् कर्म और उपासना '**अविद्या**' इसलिए है कि यह बाह्य और अन्तर क्रियाविशेष का नाम है, ज्ञानविशेष नहीं। इसी से मन्त्र में कहा है कि विना शुद्ध कर्म और परमेश्वर की उपासना के मृत्यु-दुःख से पार कोई नहीं होता, अर्थात् पवित्र कर्म, पवित्रोपासना और पवित्र ज्ञान ही से मुक्ति, और अपवित्र मिथ्याभाषणादि कर्म, पाषाणमूर्त्यादि की उपासना और मिथ्याज्ञान से बन्ध होता है। कोई भी मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म, उपासना और ज्ञान से रहित नहीं होता। इसलिए धर्मयुक्त सत्यभाषणादि कर्म करना और मिथ्याभाषणादि अधर्म को छोड़ देना ही मुक्ति का साधन है।

बदल जाती है। वहाँ अविद्या को मृत्यु से पार करनेवाला और विद्या को मोक्ष प्राप्त करनेवाला बताया है अर्थात् दोनों को उपयोगी बताकर दोनों की स्तुति की गयी है। यदि दोनों में दोष होता तो दोनों के मिल जाने पर तो वह दुगुना हो जाता। इससे स्पष्ट है कि यहाँ निन्दा निन्दा के लिए नहीं, अपितु स्तुत्य की स्तुति करने के लिए की गयी है। तब यह अविद्या क्या है जो विद्या के साथ मिलकर हितकर हो जाती है ? शास्त्रों में विद्या और कर्म का सहभाव कहा है—'**तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च**' (बृहद्० उप० ४।४।२ व निरुक्त १४।७)। इस प्रकार यहाँ अविद्या शब्द से विद्या से भिन्न तत्सदृश 'कर्म' का ग्रहण होता है। तब विद्या और अविद्या परस्पर विरोधी न रहकर एक दूसरे के पूरक बन जाते हैं और ग्रन्थकार के शब्दों में मनुष्य 'अविद्या' अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तरके विद्या अर्थात् यथार्थज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है। वस्तुतः वैदिक धर्म अथ से लेकर इति पर्यन्त ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मक है।

अनित्याशुचि—जैसाकि पहले कहा जा चुका है, यहाँ 'अविद्या' के लक्षण में बहुव्रीहिसमास अभिप्रेत है। '**अतस्मिंस्तद्बुद्धिरविद्या**'—जो वस्तु जैसी है उसे वैसी न समझकर अन्यथा अर्थात् उसके

https://t.me/arshlibrary

विपरीत समझना अविद्या है। सूत्रान्तर्गत ख्याति पद का अर्थ है—ज्ञान अर्थात् जानना या समझना। इस पद का सम्बन्ध नित्य, शुचि तथा सुख पदों के साथ भी जान लेना चाहिए। सूत्र में 'अविद्या' शब्द लक्ष्य है, शेष सब लक्षण। इसके दो भाग हैं—एक सप्तम्यन्त —'**अनित्या०.....नात्मसु**' और दूसरा प्रथमान्त—'**नित्य.....आत्मख्यातिः**'। इन दोनों भागों में जो पद हैं वे यथाक्रम एक-दूसरे के विरोधी अर्थ को कहते हैं, जैसे—अनित्य-नित्य, अशुचि-शुचि, सुख-दुःख, अनात्मा-आत्मा।

मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म के बिना नहीं रहता—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ —गीता ३।५

मुक्ति निमित्त से—वस्तु का स्वभाव उसका अपना रूप है। स्वभाव के न रहने पर वस्तु का अस्तित्व ही नहीं रहता। अग्नि का स्वभाव उष्णता है। उष्णता न रहने पर उसका अस्तित्व ही मिट जाएगा। यदि जीव को स्वभाव से बद्ध माना जाएगा तो कभी मुक्त नहीं होगा। इसी प्रकार यदि वह स्वभाव से मुक्त माना जाएगा तो कभी बद्ध नहीं होगा। मुक्ति के पूर्व बन्धन होना आवश्यक है, क्योंकि यदि कोई बँधा हुआ नहीं है तो छूटने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार बन्धन में आने से पूर्व मुक्ति आवश्यक है, क्योंकि जो मुक्त नहीं उसके बाँधने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार मुक्ति और बन्धन दोनों शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि जीव स्वभाव से न बद्ध है, न मुक्त।

कोई जीवात्मा जन्म-मरण के चक्र में कब से आया? यदि अनादि काल से है तो वह अनन्त काल तक इसमें फँसा रहेगा। तब मोक्ष सम्भव न होगा। क्या इस चक्र में पड़ने से पहले जीव मुक्त था? यदि भविष्य में मुक्ति सम्भव है तो अतीत में भी कभी-न-कभी अवश्य मुक्त रहा होगा। निश्चय ही दो बार मोक्ष के अन्तरल में जन्म-मरण का चक्र और दो जन्म-मरण के चक्रों के अन्तराल में मोक्ष की अवस्था माननी होगी। इस प्रकार बन्धन और मोक्ष का भी एक विराट् चक्र स्वीकार करना होगा। जीवात्मा स्वतः शुद्ध है, किन्तु वह अल्पज्ञ और कर्म करने में स्वतन्त्र है। इस कारण वह कभी प्रकृति के साथ जुड़ जाता है और कभी ब्रह्म के साथ। जब प्रकृति की ओर प्रवृत्त होता है तो बन्धन में पड़ जाता है और जब ब्रह्म की ओर उन्मुख होता है तो मोक्ष प्राप्त कर लेता है। साधनों से सिद्ध हुआ पदार्थ नित्य नहीं होता। जैसे धूल-मिट्टी लगने से वस्त्र मैला हो जाता है और जल से धोने से स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही मोह, मिथ्यात्वादि हेतुओं से राग-द्वेष के कारण जीव बन्धन में पड़ता और विवेक तथा शुद्धाचरण से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार जीव निमित्त से बद्ध और मुक्त होता है।

यदि जीव को स्वभाव से बद्ध माना जाएगा तो उसके लिए मोक्ष पाने के निमित्त कुछ भी करना आवश्यक न होगा, क्योंकि स्वाभाव से बद्ध आत्मा का मोक्ष सम्भव न होने से उसे उपदेश देना व्यर्थ होगा। असम्भव कार्य के लिए किसी को कहने अथवा उसके सम्पादन के लिए प्रयास करने का कोई लाभ नहीं। गुण, गुणी के आश्रित होने से स्वाभाविक गुण का तब तक नाश नहीं हो सकता जब तक गुणी विद्यमान है। जीवात्मा नित्य है, अतः यदि बन्धन उसका स्वाभाविक गुण होगा तो सदा उसके साथ रहेगा। जो सदा रहनेवाला है उसे हटाने के लिए विधि-निषेध का निर्देश करना व्यर्थ है।

यद्यात्मा मलिनोऽस्वच्छो विकारी स्यात् स्वभावतः।
न हि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपि॥

यदि आत्मा स्वभाव से मैला, गंदला तथा विकारयुक्त है तो जन्म-जन्मान्तर तक यत्न करने पर भी उसकी मुक्ति नहीं होगी, किन्तु अनादि काल से मनुष्य में मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा, तदर्थ प्रयत्न, आप्तपुरुषों

https://t.me/arshlibrary

[बन्ध-मोक्ष विषयक नवीन वेदान्त-मत की समीक्षा]

प्रश्न—मुक्ति किसको प्राप्त नहीं होती ?
उत्तर—जो बद्ध है ।
प्रश्न—बद्ध कौन है ?
उत्तर—जो अधर्म-अज्ञान में फँसा हुआ जीव है ।
प्रश्न—बन्ध और मोक्ष स्वभाव से होता है, वा निमित्त से ?
उत्तर—निमित्त से, क्योंकि जो स्वभाव से होता, तो बन्ध और मुक्ति की निवृत्ति कभी नहीं होती ।
प्रश्न—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्तिरित्येषा परमार्थता ॥

—यह श्लोक माण्डूक्योपनिषद् २।३२ पर है ।

जीव ब्रह्म होने से वस्तुतः जीव का निरोध अर्थात् न कभी आवरण में आया, न जन्म लेता, न बद्ध है और न साधक अर्थात् न कुछ साधना करनेहारा है । न छूटने की इच्छा करता, और न इसकी कभी मुक्ति है, क्योंकि जब परमार्थ से बद्ध ही नहीं हुआ, तो मुक्ति क्या ?

उत्तर—यह नवीन वेदान्तियों का कहना, सत्य नहीं, क्योंकि जीव का स्वरूप अल्प होने से आवरण में आता, शरीर के साथ प्रकट होनेरूप जन्म लेता, पापरूप कर्मों के फल-भोगरूप बन्धन में फँसता, उसके छुड़ाने का साधन करता, दुःख से छूटने की इच्छा करता, और दुःखों से छूटकर परमानन्द परमेश्वर को प्राप्त होकर मुक्ति को भी भोगता है ।

[आत्मा के निर्लेपत्व का खण्डन]

प्रश्न—ये सब धर्म देह और अन्तःकरण के हैं, जीव के नहीं, क्योंकि जीव तो पाप-पुण्य से रहित साक्षी-मात्र है । शीतोष्णादि शरीरादि के धर्म हैं, आत्मा निर्लेप है ।

उत्तर—देह और अन्तःकरण जड़ हैं, उनको शीतोष्ण-प्राप्ति और भोग नहीं है । जो चेतन मनुष्यादि

तथा शास्त्रों का उपदेश आदि सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं । इन सबके होते हुए जीवात्मा को न स्वभाव से बद्ध माना जा सकता है, न मुक्त ।

अल्प—जीव ज्ञानसामर्थ्य और परिमाण आदि की दृष्टि से परमात्मा की अपेक्षा अल्प है । 'उसको स्पर्श करता' अर्थात् शरीर धारण करता है, तभी उस शरीर को.....।

अन्तःकरकरणचतुष्टय—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार एक-दूसरे से पृथक् अथवा स्वतन्त्र तत्व नहीं हैं, अपितु एक मन की विभिन्नशक्तियुक्त कार्य करने की स्थितिविशेष के बोधक हैं । विभिन्न कार्यों के सम्पादन के लिए एक कार्यालय के विभिन्न विभागों की भाँति उसके विभिन्न नाम पड़ गये हैं, अर्थात् मन मननात्मक स्थिति (संकल्प-विकल्प), बुद्धि = विवेचनात्मक स्थिति (निश्चय), चित्त = चेतनात्मक स्थिति (स्मरण) और अहंकार=स्व की स्थिति (अभिमान अथवा धृति) । मनस्तत्व का एक भाग ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त कर कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म में प्रवृत्त होता है । इसे 'मन' कहते हैं । इसी मनस्तत्व के दूसरे भाग को, जो मस्तिष्क में रहकर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान की यथार्थता का निश्चय कर तदनुसार आवश्यक कार्य करने का आदेश देता है, 'बुद्धि' कहते हैं । इसी अन्तःकरण के एक भाग में

https://t.me/arshlibrary

प्राणी उसका स्पर्श करता है[1], उसी को शीत-उष्ण का भान और भोग होता है। वैसे प्राण भी जड़ हैं, न उनको भूख न पिपासा, किन्तु प्राणवाले जीव को क्षुधा-तृषा लगती है। वैसे ही मन भी जड़ है, न उसको हर्ष न शोक हो सकता है, किन्तु मन से हर्ष-शोक, दुःख-सुख का भोग जीव करता है। जैसे बहिष्करण श्रोत्रादि—इन्द्रियों से अच्छे-बुरे शब्दादि-विषयों का ग्रहण करके जीव सुखी-दुःखी होता है, वैसे ही अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार से संकल्प-विकल्प, निश्चय, स्मरण और अभिमान का करनेवाला जीव दण्ड और मान्य का भागी होता है।

जैसे तलवार से मारनेवाला दण्डनीय होता है तलवार नहीं होती, वैसे ही देहेन्द्रिय, अन्तःकरण और प्राणरूप साधनों से अच्छे-बुरे कर्मों का कर्त्ता जीव सुख-दुःख का भोक्ता है। जीव कर्मों का साक्षी नहीं किन्तु कर्त्ता-भोक्ता है। कर्मों का साक्षी तो एक अद्वितीय परमात्मा है। जो कर्म करनेवाला जीव है, वही कर्मों में लिप्त होता है; वह ईश्वर साक्षी नहीं।

ज्ञानक्षेत्र के अनुभव तथा कर्मक्षेत्र के संस्कार अंकित होते हैं और समय आने पर स्मृति रूप में उभरते रहते हैं। अन्तःकरण का यह भाग 'चित्त' कहाता है। ये तीन विभाग व्यापृत मन के हैं, क्योंकि इसकी क्रियाएँ आत्मा के नियन्त्रण में प्रकटरूप से होती रहती हैं। इसीलिए इसे उद्‌बुद्ध मन भी कहते हैं। इसी मनोमय तत्त्व अथवा अन्तःकरण का चौथा भाग 'धृति' अथवा अहंकार कहाता है। इस विभाग द्वारा वे सब कार्य किये जाते हैं जिनका आत्मा को प्रत्यक्षरूप में ज्ञान नहीं होता। आत्मा से एक बार स्थायी आदेश (Standing instructions) मिल जाने के पश्चात् अभ्यास के कारण ये कार्य स्वतः होते रहते हैं। हर समय आदेश लेते रहना नहीं पड़ता। इस प्रकार **'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'**—एक ही मन के विभिन्न कार्यों में हेतु होने से उसे विभिन्न नामों से पुकारा जाता है।

आत्मा को अपने कर्मफल का उपभोग करने के लिए बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखना पड़ता है, क्योंकि विषयरूप भोगसामग्री बाह्य जगत् में उपलब्ध है। उसी की प्राप्ति-अप्राप्ति अथवा विपरीत प्राप्ति से सुख-दुःख प्राप्त होता है। आत्मा शरीर के भीतर रहता है। बाहर उसकी गति रहती है। इसलिए उसे बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखने के लिए सम्पर्क अधिकारी की आवश्यता पड़ती है। अभौतिक आत्मा को भौतिक शरीर से काम लेने के लिए एक ऐसे सहायक तत्व की आवश्यकता है जिसमें दोनों के गुण हों, अर्थात् जो आत्मा की भाँति अभौतिक और शरीर की भाँति भौतिक हो, तभी वह सफलतापूर्वक मध्यस्थ अथवा सम्पर्क अधिकारी का कार्य कर सकता है। स्थूलभूतों का विकार न होने से मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार का संश्लिष्ट रूप इतना सूक्ष्म है कि देखा नहीं जा सकता। इसलिए वह सर्वथा अभौतिक है, परन्तु क्योंकि वह सूक्ष्म प्रकृति के अंशों से बना है, इसलिए वह (भौतिक) प्रकृति का विकार है। इस प्रकार अभौतिक होने के कारण वह आत्मा के निकट है और भौतिक होने के कारण इन्द्रियों के निकट है। इस कारण वह आत्मा और शरीर दोनों के बीच माध्यम का काम कर सकता है। इसी मध्यस्थ अथवा सम्पर्क अधिरकारी को 'मन' कहते हैं, परन्तु मन भी शरीर से बाहर नहीं जा सकता। कार्यालय के भीतर बैठे-बैठे कार्यसम्पादन के लिए उसे भी ऐसे सहायकों की अपेक्षा होती है जो बहिर्मुख होने के कारण बाह्य जगत् से सीधा सम्बन्ध रखते हों। इन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं। पंचभूतों से उत्पन्न न होने पर भी भूतों के गुणों का ग्रहण कराने के कारण इन्द्रियाँ भौतिक कहाती हैं।

---

१. उसका स्पर्श करता, अर्थात् उस शरीर से युक्त होता है, तभी उस शरीर को.....

https://t.me/arshlibrary

[जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब नहीं]

प्रश्न—जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। जैसे दर्पण के टूटने-फूटने से बिम्ब की कुछ हानि नहीं होती, इसी प्रकार अन्तःकरण में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जीव तब तक है कि जब तक वह अन्तःकरणोपाधि है। जब अन्तःकरण नष्ट हो गया, तब जीव मुक्त है।

उत्तर—यह बालकपन की बात है, क्योंकि प्रतिबिम्ब साकार का साकार में होता है। जैसे मुख और दर्पण आकारवाले हैं, और पृथक् भी हैं। जो पृथक् न हों, तो भी प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। ब्रह्म निराकार, सर्वव्यापक होने से उसका प्रतिबिम्ब ही नहीं हो सकता।

भोक्ता—मूल प्रकृति से लेकर पंचभूतपर्यन्त जितने तत्व हैं, सब जड़ प्रकृति के परिणाम हैं। इन्हीं में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार हैं। अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी मन प्रकृति का ही विकार है। द्रष्टा, कर्त्ता और भोक्ता होने के लिए चेतना चाहिए। जो वस्तु भौतिक है वह चेतन नहीं हो सकती, अतः मन के अस्तित्व की कल्पना ज्ञान के साधन के रूप में की गयी है, ज्ञाता के रूप में नहीं।

आत्मा प्रकृति के विकास का परिणाम नहीं है। उसकी स्वतन्त्र सत्ता है। आत्मा चेतना का आश्रय है। आत्मा के अत्यन्त निकट होने से मन, इन्द्रिय आदि में भी चेतना की चमक उत्पन्न हो जाती है। तत्वतः इनका निर्माण प्रकृति से होने के कारण ये भौतिक एवं जड़ हैं। इनमें जो चेतना की झलक दीख पड़ती है वह आत्मा के सान्निध्य—उसकी समीपता के कारण है—जैसे स्फटिक मणि में समीपस्थ फूल का रंग अथवा लोहे में चुम्बक की शक्ति।

अन्तःकरण के द्वारा जितने ज्ञान तथा अनुभव होते हैं उन सबका कर्त्ता आत्मा है। अन्तःकरण इन्द्रियाँ तथा मस्तिष्क जड़ होने से साधनमात्र हैं, जिनका उपयोग आत्मा करता है। ये ज्ञान के साधन हैं, ज्ञाता नहीं। इन्द्रियों तथा मन में प्रकाश है अवश्य परन्तु वैसा नहीं जिसे चैतन्य कहा जा सके। सूर्य में प्रकाश है और वह अपने प्रकाश से वृक्ष को प्रकाशित भी कर देता है, परन्तु जड़ होने से यह नहीं जानता कि 'यह वृक्ष है'। इसी प्रकार मन और इन्द्रियाँ संसार के पदार्थों को प्रकाशित तो कर देती हैं, परन्तु उन्हें जान नहीं पातीं। जानने की शक्ति जीव में है, जिसमें स्वयं अपना प्रकाश अथवा चैतन्य है। सूर्य के प्रकाश में चक्षु के द्वारा वृक्ष को देखकर जीवात्मा कहता है—'यह वृक्ष है'। ऐसा न सूर्य कह सकता है और न चक्षु, क्योंकि अनुभव का आश्रय जो आत्मा का चैतन्य है, वह न सूर्य में है और न चक्षु में।

चेतन होने से जीवात्मा ही देहेन्द्रिय तथा अन्तःकरणादि साधनों के द्वारा कर्त्ता और भोक्ता है—**'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः'** (कठ०)। जैसे श्रोत्रादि बहिष्करणों से अच्छे-बुरे शब्दादि विषयों को ग्रहण करके जीव सुखी-दुःखी होता है वैसे ही अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के द्वारा संकल्प-विकल्प, निश्चय, स्मरण तथा अभिमान का करनेवाला जीवात्मा ही पाप-पुण्य का कर्त्ता तथा उनके फलस्वरूप सुख-दुःख का भोक्ता होता है। वही शीतोष्ण, क्षुधा-तृषा तथा हर्ष-शोक को अनुभव करता है। जिस प्रकार तलवार का मारनेवाला दण्डनीय होता है, तलवार नहीं, उसी प्रकार देहेन्द्रिय, अन्तःकरण और प्राणरूप साधनों से पाप-पुण्य का कर्त्ता जीव ही सुख-दुःख का भोक्ता है, जड़ अन्तःकरणादि नहीं।

प्रतिबिम्ब—अद्वैतवादियों के अनुसार ब्रह्म और जीव में भेद की प्रतीति अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान के कारण है, वस्तुतः दोनों एक हैं। जिस प्रकार जल के भीतर होनेवाले सूर्य और चन्द्रमा प्रतिबिम्बमात्र हैं, यथार्थ नहीं हैं, अथवा जिस प्रकार अनेक दर्पणों में एक ही मुख अनेकरूप में दिखाई पड़ता है, इसी प्रकार

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—देखो, गम्भीर स्वच्छ जल में निराकार और व्यापक आकाश का आभास पड़ता है। इसी प्रकार स्वच्छ अन्तःकरण में परमात्मा का आभास है। इसलिए इसको '**चिदाभास**' कहते हैं।

उत्तर—यह बालबुद्धि का मिथ्या प्रलाप है, क्योंकि आकाश दृश्य नहीं, तो उसको आँख से कोई भी क्योंकर देख सकता है ?

प्रश्न—यह जो ऊपर को नीला और धूँधलापन दीखता है, वह आकाश नीला दीखता है वा नहीं ?

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—तो वह क्या है ?

उत्तर—अलग-अलग पृथिवी, जल और अग्नि के त्रसरेणु दीखते हैं। उसमें जो नीलता दीखती है वह अधिक जल, जोकि वर्षता है, सो वही नील दीखता है, जो धूँधलापन दीखता है, वह पृथिवी से धूली उड़कर वायु में घूमती है, वह दीखती है और उसी का प्रतिबिम्ब जल वा दर्पण में दीखता है, आकाश का कभी नहीं।

जीवात्माएँ एक ही यथार्थसत्ता के प्रतिबिम्बमात्र हैं। यथार्थसत्ता तो केवल ब्रह्म है। **'अन्तःकरणेषु प्रतिबिम्बं जीवचैतन्यम्'**—वेदान्तपरिभाषा।

प्रतिबिम्बविषयक अलंकार की शाब्दिक व्याख्या करें तो हमें एक ज्योतिर्मय वस्तु की आवश्यकता है, दूसरी वह वस्तु जिसके ऊपर छाया डाली जाएगी और एक तीसरी वस्तु जो प्रकाश को बीच में रोकती है। इस प्रकार प्रतिबिम्ब के लिए एक वास्तविक अस्तित्व रखनेवाले माध्यम की आवश्यकता है, जो विक्षेपक से भिन्न हो। एक आकृतिविहीन वस्तु प्रतिबिम्ब नहीं डाल सकती। सूर्य अथवा मुख आदि का दृष्टान्त इस प्रसंग में अन्यथासिद्ध है, क्योंकि ये पदार्थ स्थूल, सावयव, सरूप हैं। सूर्य व जल और इसी प्रकार मुख व दर्पण सभी आकारवाले हैं। इसलिए साकार सूर्य का साकार जल में और साकार दर्पण में साकार मुख का प्रतिबिम्ब सम्भव है। सर्वथा निरवयव, नीरूप ब्रह्म का प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त प्रतिबिम्ब अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का हो सकता है। यदि जीवात्मा प्रतिबिम्ब है तो वह वस्तु जिसका वह प्रतिबिम्ब है, प्रक्षेपक से भिन्न होनी चाहिए। यदि ब्रह्म से भिन्न कोई सत्ता है ही नहीं तो प्रतिबिम्ब किसमें होगा ?

बोलचाल के आकाश को दार्शनिक आकाश का पर्याय मानकर इस प्रतिपत्ति की स्थापना करना सर्वथा असंगत है कि निराकार आकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता देखा जाता है। वस्तुतस्तु आकाश में रूप-स्पर्शादि नहीं हैं। इसलिए वह नेत्रादि इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता। दार्शनिक आकाश एक द्रव्य है जो निराकार एवं सर्वव्यापी है। सामान्यतया जिसे आकाश कहा जाता है, वह वास्तव में आकाश न होकर दूर तक फैले अग्नि, जल और पृथिवी के त्रसरेणुओं का संघातमात्र है। जल में उसी की छाया पड़ती है। नीला-नीला मेहराब सा दीखनेवाला दार्शनिक आकाश नहीं है। वह तो सर्वथा निराकार व्यापक तत्त्व है। न वह किसी को दीख सकता है और न उसका प्रतिबिम्ब पड़ सकता है।

आकाश के नीला दीखने की व्याख्या हमारे समय में सबसे पहले टिण्डाल (Tyndal) ने की। उसने बताया कि जब सूर्य के प्रकाश की किरणें (तरंगें) वायु में स्थित सूक्ष्म परमाणुओं से टकराती हैं तो प्रकाश का ध्रुवीकरण हो जाता है। उसी को बोलचाल में आकाश का नाम दे दिया जाता है और जल में अथवा दर्पण में उसी का प्रतिबिम्ब पड़ता है।

घटाकाशादि—घटाकाश आदि के महदाकाश से अनन्यत्व का दृष्टान्त ईश्वर के सम्बन्ध में नहीं घटता। जैसे घट आदि के निमित्त से आकाश के भाग हो जाते हैं वैसे ब्रह्म के नहीं हो सकते। उपनिषदों

https://t.me/arshlibrary

[उपाधिभेद से ब्रह्म के ईश्वर और जीव नाम नहीं]

प्रश्न—जैसे घटाकाश, मठाकाश, मेघाकाश और महदाकाश के भेद व्यवहार में होते हैं, वैसे ब्रह्म के ब्रह्माण्ड और अन्तःकरण उपाधि के भेद से ईश्वर और जीव नाम होता है। जब घटादि नष्ट हो जाते हैं, तब महाकाश ही कहाता है।

उत्तर—यह भी बात अविद्वानों की है, क्योंकि आकाश कभी छिन्न-भिन्न नहीं होता। व्यवहार में भी 'घड़ा लाओ' इत्यादि व्यवहार होते हैं। कोई नहीं कहता कि घड़े का आकाश लाओ। इसलिए यह बात ठीक नहीं।

[ब्रह्म के कारण अन्तःकरणों में चैतन्य नहीं]

प्रश्न—जैसे समुद्र के बीच में मच्छी, कीड़े और आकाश के बीच में पक्षी आदि घूमते हैं, वैसे ही चिदाकाश ब्रह्म में सब अन्तःकरण घूमते हैं। वे स्वयं तो जड़ हैं, परन्तु सर्वव्यापक परमात्मा की सत्ता से, जैसाकि अग्नि से लोहा उष्ण होता है, वैसे चेतन हो रहे हैं। जैसे वे चलते-फिरते और आकाश तथा ब्रह्म निश्चल है, वैसे जीव को ब्रह्म मानने में कोई दोष नहीं।

उत्तर—यह भी तुम्हारा दृष्टान्त सत्य नहीं, क्योंकि जो सर्वव्यापी ब्रह्म अन्तःकरणों में प्रकाशमान होकर जीव होता है, तो सर्वज्ञादि गुण उसमें होते हैं वा नहीं? जो कहो कि आवरण होने से सर्वज्ञता नहीं होती, तो कहो कि ब्रह्म आवृत्त और खण्डित है वा अखण्डित? जो कहो कि अखण्डित है, तो बीच में कोई भी पड़दा नहीं डाल सकता। जब पड़दा नहीं, तो सर्वज्ञता क्यों नहीं?

जो कहो कि अपने स्वरूप को भूलकर अन्तःकरण के साथ चलता-सा है, स्वरूप से नहीं। जब स्वयं नहीं चलता, तो अन्तःकरण जितना-जितना पूर्व-प्राप्त देश छोड़ता और आगे-आगे जहाँ-जहाँ सरकता जाएगा, वहाँ-वहाँ का ब्रह्म भ्रान्त, अज्ञानी होता जाएगा और जितना-जितना छूटता जाएगा, वहाँ-वहाँ का ज्ञानी, पवित्र और मुक्त होता जाएगा। इसी प्रकार सर्वत्र सृष्टि के ब्रह्म को अन्तःकरण बिगाड़ा करेंगे और बन्ध-मुक्ति भी क्षण-क्षण में हुआ करेगी। तुम्हारे कहे प्रमाणे जो वैसा होता, तो किसी जीव को पूर्व देखे-सुने का स्मरण न होता, क्योंकि जिस ब्रह्म ने देखा वह नहीं रहा। इसलिए ब्रह्म जीव और जीव ब्रह्म एक कभी नहीं होता, सदा पृथक्-पृथक् हैं।

में जहाँ कहीं आकाश से ब्रह्म की उपमा दी गयी है, वहाँ विभुत्व के सम्बन्ध से है, न कि उपाधि के प्रसंग में। आकाश जड़ है। घटाकाश को स्वयं यह ज्ञान नहीं कि मैं उपाधि के कारण तंग आ गया हूँ। केवल दूसरे लोग ऐसा समझ बैठते हैं, परन्तु ब्रह्म तो चेतन तथा सर्वज्ञ है। उसे स्वयं यह अनुभव क्यों नहीं होता कि मैं विभु हूँ और अन्तःकरण के कारण परिच्छिन्न हो गया हूँ। घड़े की दीवारें अपने भीतर के आकाश के किसी गुण को तिरोहित नहीं कर पातीं। फिर अन्तःकरण की उपाधि ब्रह्म के स्वाभाविक गुणों—सर्वज्ञता, पवित्रता, आनन्द आदि को कैसे तिरोहित कर सकती हैं? घड़े की दीवारें सत्य होने पर भी आकाश के गुणों को दबाने में असमर्थ हैं तो अन्तःकरण की मायावी उपाधियाँ ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को कैसे दबा सकती हैं? जीव के अल्पज्ञ होने से उसका शरीर की सीमाओं से प्रभावित होना तो समझ में आ सकता है, किन्तु सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की विवशता समझ में नहीं आती। वस्तुतः आकाश कभी छिन्न-भिन्न नहीं होता। व्यवहार में हम 'घड़ा' तो कहते हैं, 'घड़े का आकाश' नहीं कहते। इसी प्रकार हम 'अन्तःकरण' और 'ब्रह्म' तो कहते हैं, परन्तु 'अन्तःकरण ब्रह्म' कभी नहीं कहते। यदि घट, मठ, मेघ

https://t.me/arshlibrary

आदि की उपाधियों से आकाश के भिन्न-भिन्न भासित होने की भाँत अन्तःकरण भेद से ब्रह्म का भिन्न-भिन्न होना माना जाए तो भी जैसे घट आदि आकाश से और आकाश घट आदि से भिन्न हैं, वैसे ही ब्रह्म को अन्तःकरणों से और अन्तःकरणों को ब्रह्म से भिन्न मानना पड़ेगा। इस प्रकार व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से दो स्वतन्त्र सत्ताएँ माननी पड़ेंगी। जो व्याप्य है वही जीव कहाता है। इस प्रकार अन्तःकरणों में व्यापक होते हुए भी ब्रह्म अन्तःकरणाकार न होकर उनसे सर्वथा भिन्न है।

बड़े-से-बड़ा ज्ञानी अथवा अद्वैतवादी भी अपने को बन्धन में जानता और उससे मुक्त होने की चेष्टा करता है और दूसरों को भी तदर्थ प्रेरित करता है। प्रत्येक देहधारी अपने को अल्पज्ञ, अल्पशक्ति तथा अविद्यादि क्लेशों से अभिभूत जीव के रूप में देखता है। **'अहं ब्रह्मास्मि'** की रट लगानेवाले भी सामान्य जनों की तरह व्यवहार करते हैं, क्योंकि उन्हें अपने जीव होने का पूर्ण विश्वास है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि केवल अज्ञानी पुरुष ही परमात्मा को जीवरूप में देखते हैं। घड़ा जड़ पदार्थ है, उसमें कोई कूड़ा-करकट भर सकता है। उसके दूषित आकाश का प्रभाव दूसरे घड़ों के आकाश पर नहीं पड़ता। परन्तु ब्रह्म तो **'चेतनश्चेतनानाम्'** है, जबकि उसे विभक्त करनेवाले अन्तःकरण जड़ हैं। इसलिए उस ब्रह्म के एक भाग को सुखी या दुःखी करने का सामर्थ्य किसमें हो सकता है? सत्य तो यह है कि जितने भी तथाकथित अन्तःकरणाऽकार ब्रह्म हैं, देहधारी होने के कारण सभी त्रिविध दुःखों से सन्तप्त हैं और ऐसा इसलिए है कि वे सब वास्तव में जीव हैं। यदि मिट्टी से बने वास्तविक घड़ा आदि न होते तो अज्ञानी जीव को भी घटाकाश आदि के व्यापक आकाश से भिन्न होने का भ्रम न होता और यदि ब्रह्म की भाँति आकाश ही एकमात्र सत्ता होती और वह होती भी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् तो वह कभी अपने को घट, करक, गिरिगुहा आदि की उपाधि में न डालती। फिर, जब ईश्वर से अतिरिक्त जीव नाम की कोई सत्ता ही नहीं तो मिथ्या बुद्धि का आश्रय ब्रह्म से इतर कौन हो सकता है? किन्तु यह स्थिति अद्वैतवादी को भी मान्य नहीं, अतएव जीव की ब्रह्म से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता मानकर ही समस्त शंकाओं एवं समस्याओं का समाधान सम्भव है।

अग्नि से लोहे के गर्म होने के समान यदि सर्वव्यापी ब्रह्म अन्तःकरणों में प्रकाशमान होकर जीव बना होता तो परमेश्वर के समान प्रत्येक जीव में सर्वज्ञत्व आदि गुण पाये जाते, परन्तु देखने में ऐसा नहीं आता। यदि यह कहा जाए कि अन्तःकरणों की भिन्नता के कारण सर्वज्ञता नहीं आती तो ब्रह्म का विघटित होना मानना पड़ेगा। अन्तःकरण स्वयं जड़ हैं, उनमें ज्ञान नहीं हो सकता। यदि यह माना जाए कि केवल ब्रह्म को या केवल अन्तःकरण को ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत अन्तःकरणस्थ चिदाभास को ज्ञान होता है तो भी अन्तःकरण के द्वारा चेतन को ही ज्ञान की प्राप्ति होगी।

यदि आवरण को सर्वज्ञता में बाधक माना जाए तो आवरण के कारण ब्रह्म खण्डित हो जाएगा, क्योंकि आवरण सदा दो के बीच में होता है। आवरण के दोनों ओर कुछ-न-कुछ होना अनिवार्य है। अतएव जब तक ब्रह्म के दो भाग न किये जाएँ अथवा ब्रह्म से अतिरिक्त कम-से-कम एक अन्य तत्व (जीव) की सत्ता न मानी जाए तब तक तीसरे आवरण का प्रश्न ही नहीं उठता। मोक्ष के सन्दर्भ में जब हम यथार्थदर्शन में बाधक आवरण की बात करते हैं तो हम तत्वत्रय की सत्ता को स्वीकार करते हैं—यथार्थसत्ता के रूप में ब्रह्म की, द्रष्टा के रूप में जीव की तथा आवरण के रूप में प्रकृति की। जब जीव प्रकृति से पराङ्मुख होकर परमात्मा की ओर प्रवृत्त होता है तब उसे मोक्षलाभ होता है। इस प्रकार माया या अविद्या के आवरण की कल्पना अद्वैतवाद के विरुद्ध त्रिवाद की सिद्धि में सहायक है।

https://t.me/arshlibrary

[ब्रह्म में अध्यारोप का खण्डन]

प्रश्न—यह सब अध्यारोपमात्र है, अर्थात् अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का स्थापन करना **'अध्यारोप'** कहाता है। वैसे ही ब्रह्म वस्तु में सब जगत् और इसके व्यवहार का अध्यारोप करने से जिज्ञासु को बोध कराना होता है, वास्तव में सब ब्रह्म ही है।

प्रश्न[1]—अध्यारोप का करनेवाला कौन है ?

उत्तर—जीव

प्रश्न—जीव किसको कहते है ?

उत्तर—अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन को।

प्रश्न—अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन दूसरा है, वा वही ब्रह्म ?

उत्तर—वही ब्रह्म है।

प्रश्न—तो क्या ब्रह्म ही ने अपने में जगत की झूठी कल्पना कर ली ?

उत्तर—हो, ब्रह्म की इससे क्या हानि ?

अध्यारोप—अन्य वस्तु में अन्य की प्रतीति करना अध्यारोप या अध्यास कहाता है, जैसे—रज्जु में सर्प की, सीप में चाँदी की अथवा बालू में जल की। दूसरे शब्दों में यह **'अन्यथाख्याति'** अर्थात् अन्य वस्तु में अन्य वस्तु की प्रतीति है। यह ऐसा ज्ञान है जिसका कालान्तर में प्रत्याख्यान हो जाता है। इसलिए यह अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान है। प्रचलित भाषा में इसे भ्रम या भ्रान्ति कहते हैं। जब हम भूल से रस्सी को साँप समझ बैठते हैं और यह निर्णय कर लेते हैं कि 'यह साँप है' तो हमारे समक्ष दो अवयव होते हैं —एक 'यह' (रस्सी) जो इन्द्रियों के सामने है और एक 'वह' (साँप) जिसे हम 'यह' कहते हैं। पिछला उस वृत्ति या आकृति का वर्णन करता है जिसके रूप में हम प्रस्तुत वस्तु का बोध करते हैं। निर्णय पर पहुँचने में भूल व्याख्या के अवयव के कारण है, अथवा उसके कारण है जिसे हमारा विचार ऊपर से आरोपित करता है। 'यह' का अवयव अथवा जो कुछ वस्तुतः हमारे सामने रहता है, भ्रान्ति होने के पश्चात् भी विद्यमान है, केवल दूसरे अवयव 'साँप' का लोप हो जाता है।

वास्तविक सत्य और असत्य होने का बोध अनन्तर काल में होनेवाली परीक्षा पर आधारित है। जैसे रज्जु में सर्प है, वैसे ही कभी-कभी सर्प में रस्सी का भ्रम भी हो जाता है। इसलिए यदि वह हमारी कल्पना के अनुरूप है तो वह ज्ञान सत्य है। यदि वह हमारी कल्पना के विपरीत है अर्थात् रज्जु के स्थान पर सर्प और सर्प के स्थान पर रज्जु सिद्ध होता है तो वह मिथ्या है। तात्पर्य यह है कि 'सर्प है' या 'रज्जु है' यह ज्ञान सर्वत्र-सर्वदा असत्य नहीं होता। सादृश्य एवं प्रकाश न्यून होने से उत्पन्न भ्रम का निवारण अपेक्षित प्रकाश होने पर हो जाता है। वस्तुतः अविरोध (अबाध) का भाव ही सत्य की कसौटी है, अर्थात् ऐसा ज्ञान जिसके विरोध में कुछ न हो, वही सत्य है—**'अबाधितार्थविषयज्ञानत्वम्'** (वेदान्तपरिभाषा), **'अबाधितानधिगतासन्दिग्धबोधजनकत्वं हि प्रमाणत्वं प्रमाणानाम्'** (भामती १।१।४)। एक बोध केवल इसलिए यथार्थ नहीं है कि वह किसी पदार्थ को उसी रूप में प्रस्तुत करता है जिस रूप में वह वस्तुतः है और न वह केवल इसलिए असत्य है कि वह वस्तु को अन्य रूप में प्रस्तुत करता है, किन्तु वह इसलिए यथार्थ है कि अन्त में जाकर इसके विषय का निराकरण हो गया। सीधी छड़ी जल में पड़ी झुकी हुई प्रतीत होती है।

---

१. यहाँ से आगे ६ प्रश्न उत्तरपक्ष के हैं, और उत्तर नवीन वेदान्ती के हैं।

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—जो मिथ्या कल्पना करता है, क्या वह झूठा नहीं होता ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि जो मन, वाणी से कल्पित वा कथित है, वह सब झूठा है।

प्रश्न—फिर मन, वाणी से झूठी कल्पना करने और मिथ्या बोलनेवाला ब्रह्म कल्पित और मिथ्यावादी हुआ वा नहीं ?

उत्तर—हो, हमको इष्टापत्ति है।

वाह रे झूठे वेदान्तियो ! तुमने सत्यस्वरूप, सत्यकाम, सत्यसंकल्प, परमात्मा को मिथ्याचारी कर दिया। क्या यह तुम्हारी दुर्गति का कारण नहीं है ? किस उपनिषद्, सूत्र वा वेद में लिखा है कि परमेश्वर मिथ्यासंकल्प[1] और मिथ्यावादी है ? क्योंकि जैसे किसी चोर ने कोतवाल को दण्ड दिया अर्थात् **'उलटि चोर कोतवाल को दण्डे'** इस कहानी के सदृश तुम्हारी बात हुई। यह तो बात उचित है कि कोतवाल चोर को दण्डे, परन्तु यह बात विपरीत है कि चोर कोतवाल को दण्ड देवे। वैसे ही तुम मिथ्यासंकल्प और मिथ्यावादी होकर वही अपना दोष ब्रह्म में व्यर्थ लगाते हो। जो ब्रह्म मिथ्याज्ञानी, मिथ्यावीदी, मिथ्याकारी होवे, तो सब अनन्त ब्रह्म वैसा ही हो जाए, क्योंकि वह एकरस है, सत्यस्वरूप, सत्यमानी, सत्यावादी और सत्यकारी है। ये सब दोष तुम्हारे हैं, ब्रह्म के नहीं।

जल के अन्दर उसका टेढ़ापन आँख के लिए उतना ही यथार्थ है जितना स्पर्शेन्द्रिय के लिए उसका सीधापन, किन्तु स्पर्श आँख के मिथ्या निर्णय को सुधार देता है।

शंकराचार्य ने अध्यारोप के प्रसंग में रज्जु-सर्प के दृष्टान्त से विश्व की पहेली को समझाने का प्रयास किया था, परन्तु सुलझने के स्थान पर वह और उलझकर रह गयी। राधाकृष्णन ने इस प्रसंग में लिखा है—

'Why does the rope appear as a snake ?' is a question which school boys raise and philosophers fail to answer., Indian Philosophy, Vol. II, P. 570

अर्थात्—'रज्जु सर्प कैसे प्रतीत होती है' ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसे स्कूल के लड़के उठाते हैं और दार्शनिक उत्तर देने में असफल होते हैं। वस्तुतः अध्यारोप के स्वरूप को न समझकर ही इस दृष्टान्त का दुरुपयोग हुआ है। **'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः'**—पूर्वदृष्ट का अन्यत्र आभास स्मृतिरूप है। अध्यारोप या अध्यास के लिए तीन बातें आवश्यक हैं —पूर्वदृष्ट, उसकी स्मृति और परत्र। हमने कभी वास्तविक सर्प को प्रत्यक्ष देखा—यह हमारा 'पूर्वदृष्ट' है। हमारे भीतर उसका संस्कार रहा जो समय पाकर 'स्मृतिरूप' होकर आगया। वर्तमान में रज्जु 'परत्र' जिसमें पूर्वदृष्ट की स्मृति के कारण सर्प का आभास हुआ। रज्जु में सर्प का भ्रम तभी सम्भव है जब देखनेवाले ने, वहाँ न सही, कहीं-न-कहीं, कभी-न-कभी वास्तविक सर्प देख रक्खा हो। तब सर्प को असत् या अवस्तु नहीं माना जा सकता। यदि कभी-न-कभी और कहीं-न-कहीं सर्प का सद्भाव न होता तो **'नासतो विद्यते भावः'** इस न्याय के अनुसार कहाँ से आ जाता ? तब न उसका संस्कार रहता और न उसकी स्मृति। एक व्यक्ति एक स्थान पर था, वहाँ से अन्यत्र चले जाने पर उसे असत् या मिथ्या नहीं क्हा जा सकता।

ईश्वरीय कल्पना—यदि जगत् को कल्पनामात्र माना जाए तो भी कल्पना के करनेवाले ब्रह्म के नित्य होने से उसकी कल्पना जगत् का नित्य और इस प्रकार सत्य होना स्वतः सिद्ध है। यदि यह जगत् भ्रान्ति है तो इस भ्रान्ति को अन्य वस्तु में अन्य को आरोपित करनेवाला ब्रह्म है। इस प्रकार के कल्पित जगत्

---

१. यहाँ 'मिथ्यासंकल्प' में बहुव्रीहि समास जानना चाहिए, अर्थात् मिथ्या है संकल्प जिसका वह परमेश्वर।

https://t.me/arshlibrary

जिसको तुम विद्या कहते हो वह अविद्या है और तुम्हारा अध्यारोप भी मिथ्या है, क्योंकि आप ब्रह्म न होकर अपने को ब्रह्म और ब्रह्म को जीव मानना यह मिथ्याज्ञान नहीं तो क्या है ? जो सर्वव्यापक है वह परिच्छिन्न, अज्ञान[1] नहीं होता और बन्ध में कभी नहीं गिरता, क्योंकि अज्ञान परिच्छिन्न, एकदेशी, अल्प, अल्पज्ञ जीव होता है, सर्वज्ञ सर्वव्यापी ब्रह्म नहीं ।

[मुक्ति और बन्ध का विवेचन]

अब मुक्ति और बन्ध का वर्णन करते हैं–

प्रश्न—मुक्ति किसको कहते हैं ?

उत्तर—**'मुञ्चन्ति पृथग्भवन्ति जना यस्यां सा मुक्तिः'**, जिसमें छूट जाना हो, उसका नाम **'मुक्ति'** है ।

प्रश्न—किससे छूट जाना ?

उत्तर—जिससे छूटने की इच्छा सब जीव करते हैं ।

का विचार हमारा अपना नहीं है, अपितु ब्रह्म द्वारा हमारे मस्तिष्कों में डाला गया है । यदि कल्पना ही जगत् का कारण है तो यह कल्पना सार्वभौम एवं सार्वकालिक है । ऐसी स्थिति में भ्रान्ति और यथार्थ में भेद करना सम्भव नहीं । इसलिए जगत् को कल्पना या भ्रान्तिमात्र बताना संगत नहीं है ।

जिस प्रकार 'असत्' से 'सत्' की उत्पत्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार सत् का अभाव नहीं हो सकता—**'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता) । यदि एकमात्र ब्रह्म से ही जगत् की उत्पत्ति मानी जाए अर्थात् ब्रह्म को ही सृष्टि का उपादानकारण माना जाए अथवा ब्रह्म को ही जगद्रूप में परिणत माना जाए तो भी जगत् मिथ्या नहीं हो सकता । जैसे ब्रह्मरूप नित्य है वैसे ही जगद्रूप नित्य है । दोनों के नित्य होने पर एक सत्य है ओर दूसरा मिथ्या—ऐसा भेद नहीं किया जा सकता । वस्तुतः जगत् को परिणाम मानने पर ये दोनों अवस्थाएँ—ब्रह्मरूप व जगद्रूप—ब्रह्म की ही मानी जाएँगी । तब ब्रह्म के सत्य होने पर दोनों अवस्थाएँ समान-रूप से सत्य होंगी । **'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः'**—तात्त्विक दृष्टि से कार्य में वही गुण होते हैं जो उसके कारण में, अतः यदि **'ब्रह्म सत्यम्'** है अर्थात् जगत् का कारणरूप ब्रह्म सत्य है तो उसका कार्यरूप जगत् मिथ्या नहीं हो सकता । अद्वैतमत के अनुसार, यदि कार्य का कारण से अनन्यत्व है तो कारण के सत्य होने पर उसके कार्य को मिथ्या कैसे कहा जा सकता है ? मैक्समूलर ने ठीक लिखा है—

"Brahma, though himself immaterial, is said to be the material cause of the world. And yet the world, of which he is the cause, is considered unreal, while at the same time cause and effect are held to be identical in substance. If cause and effect be realy identical, how could unreal world be the effect of real Brahma ?"

कारणरूप ब्रह्म का कार्यरूप जगत् से अनन्यत्व मानने पर यदि जगत् को मिथ्या कहा जाएगा तो स्वयं ब्रह्म मिथ्या हो जाएगा, किन्तु ब्रह्म का सत्य होना निर्विवाद है, इसलिए उसके कार्यरूप जगत् का सत्य होना स्वतः सिद्ध है ।

मुक्ति का प्रयोजन—**'दुःखादुद्विजते लोकः सर्वस्य सुखमीप्सितम्'**—प्राणिमात्र दुःख से छुटकारा चाहता है । दुःख के समस्त प्रकारों का तीन वर्ग में समावेश किया गया है—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक । आध्यात्मिक दुःख वह है जो अपने आन्तरिक कारणों से उत्पन्न होता है । शरीर के वात-पित्त-कफ़ आदि की विषमता तथा काम-क्रोध, लोभ, ईर्ष्या आदि मनोविकारों से उत्पन्न होनेवाले दुःख

---

१. अर्थात् अज्ञानी ।

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—किससे छूटने की इच्छा करते हैं ?

उत्तर—दुःख से ।

प्रश्न—छूटकर किसको प्राप्त होते, और कहाँ रहते हैं ।

उत्तर—सुख को प्राप्त होते, और ब्रह्म में रहते हैं ।

[मुक्ति और बन्ध के कारण]

प्रश्न—मुक्ति और बन्ध किन-किन बातों से होता है ?

उत्तर—परमेश्वर की आज्ञा पालने, अधर्म-अविद्या-कुसंग-कुसंस्कार, बुरे व्यसनों से अलग रहने, और सत्यभाषण, परोपकार, विद्या, पक्षपातरहित, न्याय-धर्म की वृद्धि करने, पूर्वोक्त प्रकार से परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना और उपासना अर्थात् योगाभ्यास करने, विद्या पढ़ने-पढ़ाने, और धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनों को करने, और जो कुछ करे वह सब पक्षपातरहित न्यायधर्मानुसार ही करे, इत्यादि साधनों से मुक्ति, और इनसे विपरीत ईश्वराज्ञा-भंग करने आदि काम से बन्ध होता है ।

आध्यात्मिक दुःख हैं । आधिभौतिक दुःख वह होता है जो हमें दूसरे प्राणियों के द्वारा प्राप्त होता है । वर्षा, धूप, आँधी, भूकम्प आदि दैवी आपदाओं के कारण होनेवाला दुःख आधिदैविक दुःख कहाता है । सांख्यदर्शन मोक्षशास्त्र है । उसके पहले सूत्र में मोक्ष के स्वरूप का उल्लेख करते हुए कहा है—**'त्रिविध-दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः'** —तीन प्रकार (आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक) के दुःखों की अतिशय निवृत्ति मोक्ष है ।

विभिन्न साम्प्रदायिक आचार्यों ने अपवर्ग या मोक्ष का विविध रूपों में उल्लेख किया है । तद्यथा—

चार्वाक—मृत्यु अर्थात् देह का नष्ट होना ।

माध्यमिक (शून्यवादी बौद्ध)—विज्ञानरूप आत्मा का उच्छेद होना ।

योगाचार (आदि अन्य बौद्ध)—समस्त दुःख-वासनाओं का उच्छेद होने पर विषयाकार विज्ञानसन्तति का उदय न होना ।

शांकर वेदान्त—जीवात्मा का अपने सच्चिदानन्दरूप में एकाकार हो जाना ।

मोक्ष का अर्थ केवल दुःखों से छूट जाना नहीं, अपितु दुःखों से छूटकर मोक्षसुख की प्राप्ति करना है । दुःखों का कारण शरीर है । यदि केवल दुःखों से छुटकारा ही मोक्ष माना जाए तो **'कारणाऽभावात् कार्याभावः'** शरीर के छूट जाने अर्थात् मृत्यु हो जाने को मोक्ष समझ लेना चाहिए । गाढ़ निद्रा में दुःखों की अनुभूति नहीं होती, किन्तु वस्तुतः सुषुप्ति में दुःखों का मात्र तिरोभाव होता है, अत्यन्ताभाव नहीं । उस अवस्था में न दुःखों का भान होता है, न सुखों का, किन्तु मोक्ष दुःख के अभाव का ही नहीं, सुख के भाव का नाम है, पर दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति के बिना सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं, अतः मोक्ष का वास्तविक स्वरूप दुःख की निवृत्ति होकर आनन्द की प्राप्ति है, परन्तु मानव-शरीर प्राप्त होने पर ही मनुष्य उन साधनों का अनुष्ठान करने में समर्थ हो पाता है, जिनके फलस्वरूप आनन्दप्राप्ति सम्भव है ।

सांसारिक साधनों से भी दुःखों से छुटकारा मिल जाता है, किन्तु वह अधिक काल के लिए नहीं होता, न उनमें नैरन्तर्य की स्थिति आ पाती है, क्योंकि—

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य ।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति ॥

अर्थात् जितने समय के लिए कोई दुःख दूर होता है, उसके अन्तराल में दूसरा दुःख आ खडा होता

https://t.me/arshlibrary

[मुक्ति में जीव का ब्रह्म में लय नहीं]

प्रश्न—मुक्ति में जीव का लय होता है, वा विद्यमान रहता है ?

उत्तर—विद्यमान रहता है ।

प्रश्न—कहाँ रहता है ?

उत्तर—ब्रह्म में ।

प्रश्न—ब्रह्म कहाँ है ? और वह मुक्त जीव एक ठिकाने रहता है, वा स्वेच्छाचारी होकर सर्वत्र विचरता है ?

उत्तर—जो ब्रह्म सर्वत्र पूर्ण है, उसी में मुक्त जीव अव्याहतगति अर्थात् उसको कहीं रुकावट नहीं । विज्ञान आनन्दपूर्वक स्वतन्त्र विचरता है ।

है, अतः मोक्ष की अवस्था वह मानी जाएगी जिसमें तीनों प्रकार के दुःखों की अधिक-से-अधिक समय के लिए निवृत्ति हो और उसमें नैरन्तर्य की अवस्था बनी रहे ।

मुक्ति में जीव की स्थिति—छान्दोग्योपनिषद् (८।१२।३) में कहा है—**"स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते"**—जीवात्मा कभी भी अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करता । वह जो कुछ करता है, अपने स्वरूप में स्थित रहकर करता है । तैत्तिरीय उपनिषद् में बताया है—**'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'** (२।७)—ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, उसे पाकर जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है । उस अवस्था में वह **"शृण्वन् श्रोत्रं भवति . . . मन्वानो मनो भवति ।"** जब सुनना, देखना, सूँघना चाहता है तब संकल्प से वैसा कर सकता है ।

ग्रन्थकार ने इस उद्धरण के पते में केवल 'शतपथ काण्ड १४' लिखा है । पं० भगवद्दत्तजी ने स्वसम्पादित संस्करण में 'काण्ड १४' के आगे कोष्ठक में [२।२।१७] पाठ बढ़ाया है । परन्तु न यह पता प्रपाठक के अनुसार ठीक है और न अध्याय के अनुसार । स्वामी वेदानन्दजी द्वारा सम्पादित संस्करण में लिखा है—"आजकल मुद्रित उपनिषदों में यह पाठ इस प्रकार मिलता है —

"प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति, वदन् वाक् , पश्यंश्चक्षुः, शृण्वञ्छ्रोत्रं, मन्वानो मनस्, तस्यैतानि कर्म्मनामानि" । पता इसका भी 'शत० १४।२।२।१७' ही दिया है परन्तु वहाँ ऐसा कुछ नहीं है । हो सकता है, किसी अनुपलब्ध संस्करण में ये पाठ रहे हों । अर्थ में कोई अन्तर नहीं ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चितेति ॥

—तै० उ० ब्रह्मबल्ली १।१

अर्थात्—हृदयाकाश में स्थित अविनाशी, चेतनस्वरूप तथा सर्वव्यापक ब्रह्म को जो जान लेता है, वह ब्रह्म का साथी हो जाता है और साथी रहते हुए सब प्रकार से तृप्त रहता है । परन्तु—

लय नहीं होता—तत्वज्ञान से अविद्या का नाश होने पर जीव मोक्षलाभ करता है । वह स्वरूप से अविनाशी है । ब्रह्म की भाँति जीव अनादि तत्व है । अनादि होने से वह अनन्त है । लोप, विलय या नाश होने पर वह सान्त हो जाएगा और सान्त होने पर वह अनादि नहीं रहेगा । अनादि न रहने पर किसी के द्वारा निर्मित होगा । निर्मित होने पर वह सावयव होगा और उसका कोई उपादान भी होगा । इस प्रकार जीव का सारा स्वरूप बिगड़ जाएगा । यदि मोक्ष का अर्थ मर जाना है तो इसके लिए जन्म-जन्मान्तर तक प्रयत्न करते रहना कहाँ की बुद्धिमत्ता है ? यदि मोक्षावस्था में दुःखों के साथ-साथ आत्मा का भी नाश हो जाना है तो उसे पाने का क्या लाभ ? यह तो 'न मर्ज़ रहा, न मरीज़'—वाली बात हुई । मोक्ष पानेवाला

https://t.me/arshlibrary

[मुक्ति में जीव स्वाभाविक शक्तियों से आनन्द भोगता है]

प्रश्न—मुक्त जीव का स्थूलशरीर होता है, वा नहीं ?
उत्तर—नहीं रहता ।
प्रश्न—फिर वह सुख अर्थात् आनन्द-भोग कैसे करता है ?

ही न रहा तो मोक्षलाभ किसे हुआ ? ऐसे मोक्ष को दुःखों का नाश या निवृत्ति न कहकर जीव का उच्छेद अथवा आत्महत्या की चेष्टा कहना अधिक उपयुक्त होगा ।

मुण्डकोपनिषद् ३।२।८ में लिखा है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

अर्थात्—जैसे नदियाँ बहती-बहती नाम-रूप को छोड़कर समुद्र में जा मिलती हैं, वैसे ही विद्वान् पुरुष नाम और रूप से छूटकर परात्परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है । यहाँ नदियों के समुद्र में मिल जाने से समझा जाता है कि परमात्मा को प्राप्त होने पर जीवात्मा का अस्तित्व समाप्त हो जाता है । यथार्थ में ऐसा नहीं है । प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं—एक उस वस्तु का बाह्यरूप—उसका आकार-प्रकार, रंग-रूपादि और दूसरा उसकी आन्तरिक सत्ता जिसे वस्तुतत्व कहते हैं । नाम रूप शरीर के होते हैं, जीव के नहीं । शरीर के नाम रूप ही जीव का बाह्यरूप है । उन्हीं को छोड़ने की बात यहाँ पर कही गयी है । उपनिषद् का भाव यह है कि जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में मिलने के पश्चात् अपना गंगा-यमुना नाम खो बैठती हैं उसी प्रकार मुक्त जीव अपने बाह्यरूप—शरीर और यज्ञदत्त, देवदत्त आदि नामों को छोड़कर ईश्वर को प्राप्त होता है ।

यद्यपि नदियों का नामरूप नहीं रहता तथापि समुद्र में मिलने पर भी उसका वस्तुतत्व जल नष्ट नहीं होता । वह समुद्र में मिलकर उसके जल की मात्रा को बढ़ा देता है । जल नष्ट हो गया होता तो ऐसा न होता । इसी प्रकार अपने नाम रूप को खोकर भी मुक्त जीव का वस्तुतत्व (आत्मा) नष्ट नहीं होता । वह परमेश्वर के साथी के रूप में सदा वर्त्तमान रहता है ।

मुक्तात्मा का ठिकाना—ऋग्वेद (६।११३।६) में कहा है—**"यत्रानुकामं चरणं ..... तत्र माममृतं कृधि"** अर्थात् जहाँ मुक्तात्मा विचरण करते हैं, वहाँ मुझे भी मुक्त करदे । वस्तुतः मोक्षकाल में जीवात्मा कामचारी होता है । ग्रन्थकार ने उसे अव्याहतगति कहा है ।

मुक्तात्मा का शरीर नहीं—त्रिविध दुःखों से छूटने का नाम मोक्ष है, किन्तु शरीर के रहते यह सम्भव नहीं । छान्दोग्य (८।१२।१) में कहा है—**"सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यामाप्तः"**—इन्द्रियादि से युक्त शरीर का प्रिय-अप्रिय अर्थात् सांसारिक सुख-दुःखों से घिरे रहना अनिवार्य है । मोक्षावस्था में इनका पूर्ण उच्छेद (अत्यन्त निवृत्ति) हो जाता है । फलतः उस दशा में स्थूल शरीर का होना सम्भव नहीं । इसलिए उपनिषद् में कहा—**"अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः"** अर्थात् मोक्षदशा में अशरीर जीवात्मा को प्रिय-अप्रिय स्पर्श नहीं करते । वहाँ प्राकृत शरीर, इन्द्रिय आदि का आत्मा के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता, परन्तु मननात्मक शुद्ध संकल्पमय शरीर तथा प्राण और इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति बराबर बनी रहती है । छान्दोग्य के अनुसार ही **"मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते"** (८।१२।)—मुक्तात्मा मन से अर्थात् मननात्मक शक्ति से ही सब कामनाओं का उपभोग करते हुए आनन्द में मग्न रहता है ।

संकल्प से आनन्दभोग—आनन्द की अनुभूति मुक्तात्मा का ऐश्वर्य-भोग है । आत्मा का यह संकल्प

https://t.me/arshlibrary

उत्तर—उसके सत्यसंकल्पादि स्वाभाविक गुण सामर्थ्य सब रहते हैं, भौतिक संग नहीं रहता। जैसे—

'शृण्वन् श्रोत्रं भवति, स्पर्शयन् त्वग्भवति, पश्यन् चक्षुर्भवति, रसयन् रसना भवति, जिघ्रन् घ्राणं भवति, मन्वानो मनो भवति, बोधयन् बुद्धिर्भवति चेतयँश्चित्तम्भवत्यहङ्कुर्वाणोऽहंकारो भवति' ॥

—शतपथ कां० १४ ॥[1]

मोक्ष में भौतिक शरीर वा इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ नहीं रहते, किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के संकल्प से चक्षु, स्वाद के अर्थ रसना, गन्ध के लिए घ्राण, संकल्प-विकल्प करने के समय मन, निश्चय करने के लिए बुद्धि, स्मरण करने के लिए चित्त, और अहंकार के अर्थ अहंकाररूप अपनी स्व-शक्ति से जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है, और संकल्पमात्र शरीर होता है। जैसे शरीर के आधार रहकर इन्द्रियों के गोलक के द्वारा जीव स्वकार्य करता है, वैसे अपनी शक्ति से मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है।

[चौबीस प्रकार के जीव के सामर्थ्य]

प्रश्न—उसकी शक्ति कै प्रकार की, और कितनी है ?

उत्तर—मुख्य एक प्रकार की शक्ति है, परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भय, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन, और गन्धग्रहण तथा ज्ञान इन **२४ चौबीस प्रकार के सामर्थ्ययुक्त जीव है।** इससे मुक्ति में भी आनन्द की प्राप्ति भोग करता है।

स्वसामर्थ्यरूप है, जिसकी अभिव्यक्ति ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर होती है। वेदान्तसूत्र (४।४।८) में कहा है—**'संकल्पादेव तच्छ्रुते'** अर्थात् श्रुति से प्रमाणित है कि मुक्तात्मा की कामना संकल्पमात्र से सिद्ध हो जाती है। सूत्र में प्रयुक्त 'एव' पद से स्पष्ट है कि संकल्प के अतिरिक्त उसे शरीर-इन्द्रियादि किसी साधन की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु यह संकल्प अन्तःकरण की संकल्पात्मक वृत्ति न होकर उससे सर्वथा भिन्न आत्मा की अनुभूति है। इसी सन्दर्भ में छान्दोग्य (८।२।१०) में कहा है—**"यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते"** अर्थात् जिस प्रदेश व कामना की वह अभिलाषा करता है वह उसके संकल्पमात्र से उद्भूत हो जाती है। उससे सम्पन्न होकर वह आनन्दित रहता है। इसकी व्याख्या करते हुए बताया है कि मोक्ष में भौतिक शरीर व इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ न रहने पर वह जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के लिए चक्षु, स्वाद के लिए रसना, निश्चय के लिए बुद्धि और स्मरण के लिए चित्त हो जाता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि मोक्ष में श्रोत्रादि इन्द्रियाँ प्रादुर्भूत हो जाती हैं। इसका तात्पर्य इतना ही है कि मुक्तात्मा अपने शक्तिरूप संकल्प से भावना के अनुरूप वैसा अनुभव करने लगता है।

अभावमिति०—इस सूत्र से पूर्व ग्रन्थकार मुक्तात्मा के ब्रह्म में लय होने का खण्डन कर रहे हैं। निश्चय ही अपने विलयविरोधी मत की पुष्टि में उन्होंने यह प्रमाण दिया है। इस बात को ध्यान में रखते हुए सूत्र का अर्थ यह बनता है कि बादरि (पराशर) मोक्षदशा में मन, प्राणों तथा इन्द्रियों का अभाव मानते हैं, अर्थात् आत्मा तथा मनस् का लय नहीं मानते। मोक्षप्रकरणों में यथावसर 'मनस्' पद से आत्मा की

---

१. अनुपलब्धमूल। भ० द० संस्करण में यहाँ 'का० १४' के आगे कोष्ठक में [२।२।१७] पाठ बढ़ाया है। न यह पता प्रपाठक के अनुसार ठीक है, और न अध्याय के अनुसार। टिप्पणी में 'शतपथ के पाठ से तुलना करो' का भी अभिप्राय ज्ञात नहीं होता।

https://t.me/arshlibrary

जो मुक्ति में जीव का लय होता, तो मुक्ति का सुख कौन भोगता ? और जो जीव के नाश ही को मुक्ति समझते हैं, वे तो महामूढ़ हैं, क्योंकि मुक्ति जीव की यह है कि दुःखों से छूटकर आनन्दस्वरूप, सर्वव्यापक, अनन्त परमेश्वर में जीव का आनन्द में रहना। देखो वेदान्त शरीरक सूत्रों में—

[मुक्ति में जीव तथा मन आदि का अस्तित्व]

अभावं वादरिराह ह्येवम् ॥४।४।११॥

जो वादरि व्यासजी का पिता है, वह मुक्ति में जीव का, और उसके साथ मन का भाव मानता है। अर्थात् जीव और मन का लय पराशर जी नहीं मानते और इससे भिन्न इन्द्रिय आदि पदार्थों का अभाव हो जाता है। वैसे ही—

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥४।४।११॥

और जैमिनि आचार्य मुक्त पुरुष का मन के समान सूक्ष्मशरीर, इन्द्रियों और प्राण आदि को भी विद्यमान मानते हैं, अभाव नहीं ॥

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥४।४।१२॥

व्यास मुनि मुक्ति में भाव और अभाव इन दोनों को मानते हैं अर्थात् शुद्धसामर्थ्ययुक्त जीव मुक्ति में बना रहता है, अपवित्रता, पापाचरण, दुःख-अज्ञानादि का अभाव मानते हैं ॥

स्वाभाविक शक्ति अभिप्रेत है, संकल्प-विकल्पात्मक मन नहीं। मोक्ष में सुख-दुःख नहीं रहते, इसलिए आवश्यक है कि वहाँ इन्द्रियादि न हों। यदि वहाँ इन्द्रियादि का अस्तित्व होता तो 'मनसा' कहना व्यर्थ हो जाता है।

भावमिति०—यहाँ 'मन के समान सूक्ष्म शरीर' से तात्पर्य शुद्ध संकल्पशक्ति तथा इन्द्रियों से अभिप्राय इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति से है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ग्रन्थकार ने लिखा है—'वैसे ही शुद्ध संकल्पमय शरीर तथा प्राण और इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति भी बराबर बनी रहती है। सामान्य अर्थों में इन्द्रियों और प्राणों की मुक्तिदशा में विद्यमानता कोई नहीं मानता। जैमिनि भी मोक्षदशा में जीव का भाव मानते है, लक्ष्य नहीं।

द्वादशाहवदिति०—सूत्रगत 'द्वादशाहवद्' पद का अर्थ रह गया है। ऋ.भा.भू. में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—"जैसे वानप्रस्थ आश्रम में बारह दिन का प्राजापत्यादि व्रत करना होता है। उसमें थोड़ा भोजन करने से क्षुधा का थोड़ा अभाव और पूर्ण भोजन न करने से कुछ भाव भी बना रहता है।" सूत्रकार बादरायण द्वादशाह की तरह दोनों मानता है। शास्त्र मोक्ष में आत्मा के साथ शरीर-इन्द्रिय आदि का सहयोग नहीं बतलाता, यह ठीक है और यह भी ठीक है कि उस दशा में जीवात्मा विविध ऐश्वर्य भोग सकता है। शास्त्र के दोनों कथन आपाततः परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। वस्तुतः ऐसा नहीं है। केवल इतना समझ लेना है कि आत्मा का ऐश्वर्यभोग अथवा ऐश्वर्यानुभव संकल्पमात्र से होता है। वह संकल्प आत्मा का स्वसामर्थ्यरूप है। उसी के द्वारा आत्मा यथाकाम ऐश्वर्यानुभूति कर सकता है। इसके लिए उस दशा में इन्द्रियादि सर्वथा अनपेक्षित हैं। शास्त्र में जैसे मोक्षदशा को स्पष्टतः अशरीर बताया है (छां. ८।१२।१), वैसे सशरीर व सेन्द्रिय होने का कहीं उल्लेख नहीं है। प्रस्तुत प्रसंग (छां. ७।२६।२) में भी ऐसा कोई निर्देश नहीं है। अशरीर होते हुए अनेकविध ऐश्वर्यानुभूति की सम्भावना का शास्त्रीय निर्देश ऐसे ही समझना चाहिए, जैसे 'द्वादशाह' इष्टि के विषय में सत्र और अहीन दोनों प्रकार का निर्देश है।

'द्वादशाह' संज्ञक क्रतु सत्र और असत्र अर्थात् अहीन दोनों प्रकार का होता है। बौधायनश्रौतसूत्र (११।३) के अनुसार **'द्विरात्रप्रभृतयोऽहीना द्वादशाहपर्यन्तः'**—जो याग दो दिन से लेकर बारह दिन तक

https://t.me/arshlibrary

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥

—यह उपनिषद् २।३।१० का वचन है ॥

जब शुद्धमनयुक्त पाँच ज्ञानेन्द्रिय जीव के साथ रहती हैं, और बुद्धि का निश्चय स्थिर होता है, उसको परमगति अर्थात् **'मोक्ष'** कहते हैं ॥

किये जाते हैं, वे 'अहीन' कहाते हैं। **'द्वादशाहः प्रभृतीनि सत्राणि'** (बौ० श्रौ० ११।४)—बारह दिनों में अथवा उससे अधिक दिनों में सम्पन्न होनवाले यज्ञ 'सत्र' कहाते हैं, क्योंकि पूर्वोक्त (बौ० श्रौ० ११।३-४) के अनुसार 'द्वादशाह' इष्टि की सत्र और अहीन दोनों में गिनती हो जाती है, इसलिए कात्यायनश्रौतसूत्र (१२।१।४) में बताया है—**'द्वादशाहः सत्रमहीनश्च'**। इस प्रकार मोक्ष में आत्मा के अशरीर होने पर भी संकल्पमात्र से ऐश्वर्यानुभूति के आधार पर उसे सशरीर अथवा सेन्द्रिय कहना चाहें तो भले ही कह लें, पर वहाँ प्राकृतिक शरीर—इन्द्रिय आदि का आत्मा के साथ किसी तरह का सम्बन्ध नहीं रहता, यह निश्चित है।

'शुद्ध सामर्थ्ययुक्त जीव मुक्ति में बना रहता है' इन शब्दों से स्पष्ट है कि वेदान्तदर्शन के इन सूत्रों के उद्धरण ग्रन्थकार ने मोक्षावस्था में जीव के लय न होने के प्रमाण में दिये हैं। तदनुसार किया गया अर्थ ही युक्तियुक्त है।

यदा पञ्चेति—ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्त करनेवाली हैं, अतः साध्य-साधन में अभेदोपचार से उन्हें ज्ञान कहा गया है। परमगति मोक्ष का पर्याय है। मोक्ष में सूक्ष्मशरीर नहीं रहता, किन्तु यहाँ ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि की सत्ता बनी हुई है, अतः यह जीवन्मुक्ति की अवस्था का वर्णन है। विदेह-मुक्ति इससे उत्तरावस्था है। उसकी प्राप्ति में यह साधनरूप है। यहाँ भी साध्य-साधन में अभेदोपचार से जीवन्मुक्ति को विदेहमुक्ति=परमगति अर्थात् मोक्षनाम से अभिहित किया है। मुक्ति मनुष्य को जीवनकाल में ही प्राप्त होती है। मुक्ति का अर्थ है—अब आगे और जन्म न होना। इसलिए यदि जीवन में मुक्ति प्राप्त न हो तो मरने के बाद तो उसकी प्राप्ति के साधन उपलब्ध न रहने से तदर्थ कोई प्रयत्न सम्भव न होगा। जीवन्मुक्त की स्थिति उस व्यक्ति के समान होती है जिसे योग्यता के आधार पर उपयुक्त अधिकारी मानकर नियुक्तिपत्र दे दिया गया हो किन्तु पदभार सँभालने के लिए नियत तिथि पर पहुँचना शेष हो, जैसे 'You have been selected for the post, but you will be considered on duty from the date of joining, after relinquishing charge of your present post.' जीवन्मुक्त आत्मा एकत्र स्थित होता हुआ, योगाभ्यास से शुद्धान्तःकरण के द्वारा आनन्दानुभूति के साथ अनेक दैहिक व्यापार करने में समर्थ रहता है। जीवन्मुक्त दशा में यद्यपि आनन्दानुभूति के लिए शरीर-इन्द्रियादि का कोई उपयोग नहीं होता, फिर भी जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी उठते-बैठते, खाते-पीते, आते-जाते साधारण दैहिक व्यापार करते हुए भी आनन्द की अनुभूति में लीन रहता है। वस्तुतः जीवन्मुक्त से अभिप्राय है परम मोक्ष का पूर्ण अधिकारी—जिसे मोक्षप्राप्ति के लिए अब कुछ और करना शेष नहीं रहा। सांख्यदर्शन (५।७६) में कहा है—**'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता'** अर्थात् समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में ब्रह्मरूपता—त्रिविध दुःखों से निवृत्ति होकर आनन्दानुभूति होती है। सुषुप्ति की मुक्ति शरीरसहित, किन्तु ज्ञानरहित होती है; समाधि और जीवन्मुक्त की मुक्ति शरीरसहित और ज्ञानसहित होती है; मरने के पश्चात् मुक्ति शरीररहित और ज्ञानसहित होती है। यह तभी प्राप्त होती है जब कोई पहले समाधि और जीवन्मुक्त दशा को प्राप्त कर लेता है।

https://t.me/arshlibrary

य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः सर्वाश्च लोकानाप्नोति सर्वाश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति

—छां० ८।७।१

स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥
य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वाश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ॥ —छां० ८।१२। ५,६
मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्याऽमृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥

—छान्दो० ८।१२।१

स वा एष—यह पूरा वाक्य इस प्रकार है—

अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा । मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते । —छां० ८।१२।५

(अथ यः वेद) अब जो यह सोचता है कि (इदं मन्वानि) इसपर चिन्तन-मनन करूँ (इति स आत्मा) ऐसा जाननेवाला तो आत्मा है । (मनः) मन तो (अस्य) जीवात्मा का (दैवं चक्षुः) दिव्य चक्षु=ज्ञानसाधन है । (सः वै एषः) वह ही यह आत्मा (एतेन दैवेन चक्षुषा मनसा) इस दिव्य नेत्र मन से (एतान् कामान्) इन काम्य भोगों को (पश्यन्) देखता हुआ (रमते) विचरण करता है ।

मोक्षावस्था में न स्थूल शरीर रहता है और न सूक्ष्म । मन तथा इन्द्रियाँ भी प्राकृत एवं जड़ होने से यहीं रह जाते हैं । तब शुद्ध संकल्प से जीवात्मा को मन प्राप्त होता है । देवों=इन्द्रियों का स्वामी होने से मन की दैव संज्ञा है (**यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवम्**) । इसी से इसको **'दैवचक्षुः'** कहा जाता है । यह भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों कालों के विषय को मनन करने मे समर्थ है । आत्मस्वरूप में स्थित आकाश की तरह निर्मल मुक्तावस्था में इसी के द्वारा सब कामनाओं का भोक्ता होता है । सूर्य के प्रकाश में जैसे सब कुछ प्रत्यक्ष दीख पड़ता है, वैसे ही ब्रह्म में रमण करता हुआ आत्मा मुक्ति के सब सुखों को अनुभव करता है ।

य एतं इति—उस अवस्था में भी मुक्तात्मा परमात्मा की उपासना करते हैं, जिसके फलस्वरूप सब लोक-लोकान्तर उनके वश में होते हैं । इसलिए ब्रह्मलोक में स्थित मुक्तात्मा को संकल्पमात्र से समस्त कामनाएँ और लोक प्राप्त होते हैं । ब्रह्म तो सर्वव्यापक है । छान्दोग्य (७।२५।२) में कहा है—**"तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति"**—अर्थात् वह इच्छानुसार सब लोको में संचरण करता है । संचरण अथवा गति का अर्थ है किसी पदार्थ का 'जहाँ वह है वहाँ से, जहाँ वह नहीं है, वहाँ को जाना—'A thing moves from where it is to where it is not'. ' संचरण का कथन असंगत है । निश्चय ही उपनिषद् का यह कथन मुक्तात्मा के लिए है जिसे इतने अंश में ब्रह्मरूपता प्राप्त होती है कि वह अव्याहतगति हो जाता है, अर्थात् जहाँ चाहे जा सकता है । संचरण का कथन किये जाने से यह स्वतः सिद्ध है कि मुक्तावस्था में भी वह सर्वव्यापक नहीं हो जाता और 'स्वेन रूपेण' ही गति करता है । उपनिषद् के उक्त कथन से जहाँ यह प्रमाणित होता है कि मुक्तात्मा मोक्षदशा में जहाँ चाहे बेरोक-टोक जा सकता है, वहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वह अपने स्वरूप को खोकर ब्रह्मरूप नहीं हो जाता, ब्रह्मस्थ अवश्य हो जाता है ।

मघवन्निति—(मघवन्) हे इन्द्र (इदं शरीरम्) यह शरीर (वै) निश्चय ही (मर्त्यम्) मरणधर्मा है । इसी

https://t.me/arshlibrary

जो परमात्मा अपहतपाप्मा, सर्व-पाप-जरा-मृत्यु-शोक-क्षुधा-पिपासा से रहित, सत्यकाम, सत्यसंकल्प है, उसकी खोज और उसी को जानने की इच्छा करनी चाहिए। जिस परमात्मा के सम्बन्ध से मुक्त जीव सब लोकों और सब कामों को प्राप्त होता है। जो परमात्मा को जानके मोक्ष के साधन और अपने को शुद्ध करना जानता है॥

सो यह मुक्ति को प्राप्त जीव शुद्ध दिव्यनेत्र और शुद्ध मन से कामों को देखता, प्राप्त होता हुआ रमण करता है॥ जो ये ब्रह्मलोक अर्थात् दर्शनीय परमात्मा में स्थित होके मोक्षसुख को भोगते हैं और इसी परमात्मा का जोकि सबका अन्तर्यामी आत्मा है, उसकी उपासना मुक्ति की प्राप्ति करनेवाले विद्वान् लोग करते हैं। उससे उनको सब लोक और सब काम प्राप्त होते हैं, अर्थात् जो-जो संकल्प करते हैं, वह-वह लोक और वह-वह काम प्राप्त होता है। और वे मुक्त जीव स्थूलशरीर छोड़कर **संकल्पमय शरीर** से आकाश में परमेश्वर में विचरते हैं, क्योंकि जो शरीरवाले होते हैं, वे सांसारिक दुःख से रहित नहीं हो सकते॥

जैसे इन्द्र से प्रजापति ने कहा कि—'हे परमपूजित धनयुक्त पुरुष ! यह स्थूल शरीर मरणधर्मा है। और जैसे सिंह के मुख में बकरी होवे, वैसे यह शरीर मृत्यु के मुख के बीच है। सो शरीर इस मरण और शरीररहित जीवात्मा का निवासस्थान है। इसीलिए यह जीव सुख और दुःख से सदा ग्रस्त रहता है। क्योंकि शरीरसहित जीव की सांसारिक प्रसन्नता की निवृत्ति होती ही है और जो शरीररहित मुक्त जीवात्मा ब्रह्म में रहता है, उसको सांसारिक सुख-दुःख का स्पर्श भी नहीं होता, किन्तु सदा आनन्द में रहता है'॥

कारण यह (मृत्युना) मृत्यु से (आत्तम्) गृहीत है (तत्) वह शरीर (अमृतस्य) अमर नहीं है। (अशरीरस्य आत्मनः) अशरीरी जीवात्मा का (अधिष्ठानम्) भोगाधिष्ठान है। इसी हेतु (सशरीरः) शरीरोपाधिसहित जीवात्मा (प्रियाप्रियाभ्याम्) सुख और दुःख से (आत्तः) गृहीत है, क्योंकि (सशरीरस्य सतः) शरीरोपाधि-विशिष्ट जीवात्मा के रहते (प्रियाप्रिययोः) सुख-दुःख का (न वै अपहतिः) नाश नहीं (अस्ति) होता। किन्तु (अशरीरम्) शरीररहित (सन्तम्) विद्यमान आत्मा को (प्रियाप्रिये) सुख-दुःख (न वाव) कदापि नहीं (स्पृशतः) स्पर्श=प्रभावित करते।

पत्र और विज्ञापन (ग्रन्थकार के पत्रों का संग्रह, पं० भगवद्दत्तजी बी.ए. द्वारा सम्पादित) के पृष्ठ ३५८ पर जीव के विषय में वर्णन करते हुए लेख है—"हाँ, मुक्तावस्था में जिस ओर उसका ज्ञान होगा उस दूरस्थ पदार्थ को भी अपने ज्ञान से जान लेता है। नहीं तो **'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्'** इस न्यायशास्त्र के सूत्र का अर्थ ही नहीं घट सकेगा। जो एक क्षण में एक पदार्थ को जाने, अनेक को नहीं, उसी को मन कहते हैं। वही मन मुक्तावस्था में भी रह जाता है।" इससे प्रतीत होता है कि ऋषि ने मुक्तावस्था में जीव के अस्तित्व को स्वीकार किया है, परन्तु सत्यार्थप्रकाश के प्रस्तुत प्रकरण में इससे विपरीत भाव प्रकट किया है।

गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर 'पत्र और विज्ञापन' के उक्त सन्दर्भ से यह अर्थ निकलता है कि ऋषि का यह लेख आत्मा की जीवन्मुक्त अवस्था के विषय में है। दूर और समीप का व्यवहार स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के सम्पर्क में अधिक सम्भव है। फिर न्यायसूत्र की संगति का जो उल्लेख है, वह इस बात को अत्यन्त स्पष्ट कर देता है कि यह वर्णन उस अवस्था का है, जब मन बाह्य इन्द्रियों के साथ सम्पर्क के द्वारा ज्ञान के ग्रहण करने में साधन बनता है। इसका अभिप्राय यह है कि पूर्णयोगी आत्मज्ञानी भी मन, इन्द्रिय आदि साधनों के द्वारा एककाल में एक ही विषय को ग्रहण कर सकता है। न्यायसूत्र की संगति का प्रश्न उसी अवस्था में उठता है, जब आत्मा पूर्ण समाधि द्वारा आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर चुका है,

https://t.me/arshlibrary

[मुक्ति से पुनरावृत्ति]

प्रश्न—जीव मुक्ति को प्राप्त होकर पुनः जन्म-मरणरूप दुःख में कभी आते हैं, वा नहीं ? क्योंकि—

'न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तत इति' ॥ —उपनिषद्-वचनम् ॥ छा० ८।१५।१

'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' ॥ —शारीरकसूत्र वे० ४।४।२२

'यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम' ॥ —भगवद्गीता १५।६

इत्यादि वचनों से विदित होता है कि मुक्ति वही है कि जिससे निवृत्त होकर पुनः संसार में कभी नहीं आता ।

पर शरीर के साथ उसका सम्बन्ध अभी बना हुआ है । आत्मा की यह अवस्था जीवन्मुक्त की ही सम्भव हो सकती है । फलतः यह सन्दर्भ इसी अवस्था के विषय में उल्लेख करता है, सत्यार्थप्रकाश के वाक्यों के साथ इसके विरोध की कल्पना निराधार है । यहाँ का मुक्तिविषयक वर्णन शरीरादिरहित आत्मा की मोक्षावस्था का है । **'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते'** इत्यादि कठोपनिषद् के सन्दर्भ की व्याख्या में परमगति अर्थात् मोक्ष का वर्णन है, परन्तु वहाँ भी मोक्ष में जीव के साथ शुद्ध मनयुक्त पाँच ज्ञानेन्द्रियों का वर्णन होने से स्पष्ट है कि यह भी जीवन्मुक्ति का वर्णन है ।

बन्ध और मोक्ष पर्यायक्रम से होते हैं । संसार में नित्य ही बन्धन के पश्चात् मुक्ति और मुक्ति के पश्चात् बन्धन देखा जाता है । दैनिक काम-काज से निवृत्त होकर प्रत्येक मनुष्य गहरी नींद में चला जाता है । उस अवस्था में बाह्यविषयों से असम्पृक्त होने के कारण उसके दुःखों का तिरोभाव हो जाता है । इसी आधार पर सुषुप्ति की अवस्था को मोक्षावस्था के सदृश माना जाता है । प्रातःकाल होते ही वह पुनः सांसारिक व्यवहाररूप बन्धन में पड़ जाता है । इस प्रकार बन्धन के पश्चात् मुक्ति और मुक्ति के पश्चात् बन्धन का होना प्रत्यक्ष है । जैसे सुषुप्ति के बाद जागरण और जागरण के बाद सुषुप्ति तथा दिन के बाद रात्रि और रात्रि के बाद दिन का आना अवश्यम्भावी है, वैसे ही मुक्ति के पश्चात् बन्धन और बन्धन के पश्चात् प्रयत्न करने पर मुक्ति का आना अनिवार्य है । जिस प्रकार एक देह को छोड़कर देहान्तर को ग्रहण करने का क्रम निरन्तर चलता रहता है, उसी प्रकार बन्ध के पश्चात् मोक्ष और मोक्ष के पश्चात् बन्ध का क्रम भी निरन्तर बना रहता है । दो मुक्तियों के अन्तराल में बन्धन और दो बन्धनों के अन्तराल में मुक्ति का यह सिलसिला अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा ।

इस सन्दर्भ में दो में से एक स्थिति का होना आवश्यक है—या तो जीवात्मा अनादि काल से जन्म-मरण के बन्धन में पड़ा चला आ रहा है, या किसी कालविशेष में इस चक्र का प्रारम्भ हुआ । यदि इस चक्र को अनादि माना जाए तो बन्धन आत्मा का स्वाभाविक गुण हो जाएगा; उस अवस्था में न कभी उसका अन्त होगा और न मोक्ष की सिद्धि सम्भव होगी, क्योंकि जिस भावरूप पदार्थ का आदि नहीं, उसका अन्त भी नहीं । तब, मोक्ष की सिद्धि के निमित्त अनिवार्यतः यही मानना होगा कि जन्म-मरण का क्रम किसी नियत काल में प्रारम्भ हुआ । किसी नियत काल में प्रारम्भ होने अर्थात् जीवात्मा के बन्धन में आने से पूर्व उसका मुक्त होना आवश्यक है, क्योंकि यदि मुक्त न होता तो बन्धन में पड़ने का प्रश्न ही कैसे उठता ? इस प्रकार यह प्रमाणित हो जाता है कि जो जीवात्मा इस समय बन्धन में है और भविष्य में कभी मुक्त होगा, वह जन्म-मरण के वर्त्तमान क्रम के चालू होने से पूर्व मुक्त था । इस आधार पर वर्त्तमान बन्धन का दो मुक्तियों के अन्तराल में आना स्वतः सिद्ध है । यदि वर्त्तमान बन्धन से पूर्व की मुक्तावस्था के पश्चात् जीवात्मा बन्धन में पड़ सकता था तो कोई कारण नहीं कि वर्त्तमान बन्धन के पश्चात् प्राप्त होनेवाली मुक्ति

https://t.me/arshlibrary

के बाद बन्धन में नहीं आएगा। जो नीचे गिरकर ऊपर उठ सकता है, वह ऊपर उठकर नीचे भी गिर सकता है। यह कदापि नहीं हो सकता कि बन्धन से मुक्ति में तो चला जाए, किन्तु मुक्ति से बन्धन में न आए। इस प्रकार दो मुक्तियों के बीच बन्धन और दो बन्धनों के बीच मुक्ति के क्रम का न कभी आदि था, न अन्त होगा। न सदा बन्धन रहेगा, न मुक्ति।

यह कहा जा सकता है कि जब मुक्ति से लौटकर आना निश्चित है तो उसके लिए इतना प्रयास क्यों किया जाए? जन्म-जन्मान्तर की अनवरत साधना के फलस्वरूप मोक्षलाभ होता है। इतना श्रमसाध्य होने पर भी यदि मोक्ष अनित्य है तो उसके लिए इतना श्रम क्यों? परन्तु यह जानते हुए भी कि जीवन क्षणभंगुर है, क्या हम जीते रहने के लिए प्रयत्न नहीं करते? इतना ही नहीं, यह जानते हुए भी कि प्रातःकाल भोजन करने पर कुछ घण्टों के बाद ही भूख फिर सताने लगती है, हम क्षुधानिवृत्ति के साधनों से उपराम नहीं होते, अपितु उसके निवारणार्थ अपेक्षित साधनोपायों को जुटाने में प्रवृत्त रहते हैं। जब हम क्षणिक सुखों की प्राप्ति के लिए किये गये श्रम को व्यर्थ नहीं समझते तो इकतीस नील दस खरब चालीस अरब वर्षों तक रहनेवाले मोक्षसुख के लिये किये गये श्रम को व्यर्थ कैसे माना जा सकता है?

प्रश्न—जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाना मोक्ष है, अतः मुक्तात्मा के फिर से जन्म-मरण के चक्र में फँसने का प्रश्न नहीं रहता। उपनिषद् आदि ग्रन्थों में अनेकत्र इसके पोषक प्रमाण उपलब्ध हैं जिनमें स्पष्ट शब्दों में मुक्ति से पुनरावृत्ति का निषेध किया है। जैसे—

१. **तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।** —न्याय० १।१।२२
२. **त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।** —सांख्य० १।१
३. **अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्।** —वे० ४।४।२२
४. **तेषां न पुनरावृत्तिः।** —बृहद्० ६।२।१५
५. **तस्मान्न पुनरावर्त्तते।** —प्रश्न० १।१०
६. **यस्माद् भूयो न जायते।** —कठो० ३।१०
७. **स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्त्तते।** —छां० ८।१५।१
८. **एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्त्तन्ते।** —छां० ४।१५।५
९. **यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते।** —गीता० १५।६

उत्तर—जिसका आदि है उसका अन्त अनिवार्य है। जैसे एक किनारे की नदी की कल्पना नहीं की जा सकती, वैसे ही मुक्ति भी ऐसी नहीं हो सकती जिसका आदि तो है, पर अन्त कभी नहीं होगा। वस्तुतः पूर्वोद्धृत वचनों में मुक्ति से पुनरावृत्ति के सिद्धान्त का किंचित् भी विरोध नहीं है। प्राचीन ऋषियों के कथन की शैली को ठीक-ठीक न समझकर अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

मीमांसा के **'न हि निन्दा निन्दितुं प्रवर्त्ततेऽपितु विधेयं स्तोतुम्'**—इस न्याय का अन्यत्र व्याख्यासहित उल्लेख हो चुका है। तदनुसार **'अपशवो वाऽन्ये गो-अश्वेभ्यः'** इत्यादि वाक्य को गो-अश्व से भिन्न पशुओं के पशुत्वाभव के प्रख्यापन में तात्पर्य नहीं है, अपितु अन्य पशुओं की अपेक्षा गो-अश्व की प्रशंसा करनामात्र अभीष्ट है। इसी प्रकार **'न च पुनरावर्त्तते'** आदि का तात्पर्य मुक्ति से पुनरावृत्ति के निषेध में नहीं है, अपितु मुक्ति के पूर्णकाल-पर्यन्त जीव मुक्ति में रहता है, अर्थात् बीच में नहीं लौटता—यह तात्पर्य है। दर्शन, उपनिषद्, गीता आदि में जहाँ कहीं इस प्रकार के वाक्य मिलें वहाँ उनका यही अभिप्राय समझना चाहिए।

मीमांसा के **'सर्वत्वमाधिकारिकम्'** (१।२।१६) इस सूत्र के अनुसार इसे दूसरे रूप में भी समझा जा

https://t.me/arshlibrary

उत्तर—यह बात ठीक नहीं क्योंकि वेद में इस बात का निषेध किया है—

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥१॥
अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम ।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥२॥

—ऋ० म० १। सू० २४ । म० १-२॥

'इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः' ॥३॥ —सांख्य सू० १।१६०

प्रश्न—हम लोग किसका नाम पवित्र जानें ? कौन नाशरहित पदार्थों के मध्य में वर्त्तमान देव सदा प्रकाशस्वरूप है, जो हमको मुक्ति का सुख भुगाकर पुनः इस संसार में जन्म देता और माता तथा पिता का दर्शन कराता है ? ॥१॥

उत्तर—हम इस स्वप्रकाशस्वरूप, अनादि, सदामुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जानें, जो हमको मुक्ति में आनन्द भुगाकर पृथिवी में पुनः माता-पिता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता-पिता का दर्शन कराता है । वही परमात्मा मुक्ति की व्यवस्था करता सबका स्वामी है ॥२॥

सकता है । ब्राह्मण-वचन है—**'पूर्णाहुत्या सर्वान् लोकानवाप्नोति सर्वान् लोकान् जयति'** इसपर विचार करके **'सर्वत्वमाधिकारिकम्'** सूत्र से समाधान किया है कि पूर्णाहुति से प्राप्त जितना फल है, उतना ही सर्वत्र यहाँ विवक्षित है । मीमांसा के इस अधिकरण के अनुसार उपर्युक्त वचनों का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए—"उक्त वचनों में जो पुनरावर्त्तन का निषेध किया है, वह आत्यान्तिक निषेध न होकर प्रकृत मुक्ति-विषय से सम्बद्ध है अर्थात् मुक्ति का जितना काल शास्त्रों में लिखा है उस काल के मध्य मुक्त जीव का संसार में पुनरावर्त्तन नहीं होता; कभी पुनरावर्त्तन नहीं होता, यह अभिप्रेत नहीं है ।

यह आवश्यक नहीं कि 'अत्यन्त' पद सर्वत्र नितान्त अन्तहीनता का वाचक हो । **'नाभावो विद्यते सतः'** सत् का अभाव नहीं होता । किसी पदार्थ का प्रादुर्भाव अथवा तिरोभाव होता है, उत्पत्ति या विनाश नहीं । **'अत्यन्त' दुःखमत्यन्तं सुखं वास्य वर्त्तते'** का इतना ही तात्पर्य है कि इस मनुष्य को अत्यधिक दुःख वा सुख है । महाकवि कालिदास जब **"कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा । नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण"** में अत्यन्त शब्द का प्रयोग करते हैं तो उनका अभिप्राय सुख-दुःख के नैरन्तर्य से होता है । न्याय तथा सांख्यदर्शन के उक्त सूत्रों में 'अत्यन्त' पद अतिशय का बोधक है उसका अभिप्राय 'बहुत काल तक' से अधिक कुछ नहीं ।

आचार्य शंकर ने छान्दोग्य उपनिषद् के उक्त सन्दर्भ (८।१५।१) की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "जब तक ब्रह्मलोक में स्थिति है तब तक जीव वहीं रहता है, अवधि की समाप्ति से पूर्व नहीं लौटता ।"[1] ब्रह्म तो अनादि है, ब्रह्मलोक भी सदा वर्त्तमान रहता है, अतः ब्रह्मलोक की आयु का तो प्रश्न ही नहीं उठता । ब्रह्म का प्राप्त होना ही जीव द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति है, अतः यहाँ **'यावदायुषम्'** शब्द ब्रह्मलोक में जीव के रहने की अवधि के लिए आया है । शंकर की व्याख्या से स्पष्ट है कि जब तक ब्रह्मलोक में स्थिति का काल है, तब तक मुक्त आत्मा का प्रत्यावर्त्तन नहीं होता, किन्तु स्थितिकाल की समाप्ति पर आवर्त्तन में कोई बाधा नहीं । छान्दोग्य के द्वितीय सन्दर्भ (४।१५।५) की व्याख्या में भी शंकराचार्य ने इसी भाव को स्पष्ट करते हुए कहा कि "देवयान से ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए ज्ञानी आत्मा इस मानव-आवर्त्त

---

१. यावद् ब्रह्मलोकस्थितिः तावत्तत्रैव तिष्ठति, प्राक्ततो नावर्त्तत इत्यर्थः ।

https://t.me/arshlibrary

जैसे इस समय बन्ध मुक्त जीव हैं, वैसे ही सर्वदा रहते हैं। अत्यन्त विच्छेद बन्ध मुक्ति का कभी नहीं होता। किन्तु बन्ध और मुक्ति सदा नहीं रहती ॥३॥

प्रश्न— **'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः'** ॥ —न्याय० १।१।२२

'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' ॥

—न्यायसू० १।१।२

जो दुःख का अत्यन्त विच्छेद होता है, वही **'मुक्ति'** कहाती है ॥

क्योंकि जब मिथ्याज्ञान=अविद्या, लोभादि दोष, विषय— दुष्ट-व्यसनों में प्रवृत्ति, जन्म और दुःख का उत्तर-उत्तर के छूटने से पूर्व-पूर्व के निवृत्त होने ही से मोक्ष होता है, जोकि सदा बना रहता है ॥

उत्तर—यह आवश्यक नहीं है कि **'अत्यन्त'** शब्द अत्यन्ताभाव ही का नाम होवे। जैसे **'अत्यन्तं दुःखमत्यन्तं सुखं वास्य वर्त्तते'** बहुत दुःख और बहुत सुख इस मनुष्य को है। इससे यही विदित होता है कि इसको बहुत सुख वा दुःख है। इसी प्रकार यहाँ भी 'अत्यन्त' शब्द का अर्थ जानना चाहिए।

(मनुसम्बन्धी सर्ग अथवा मानुषी मैथुनी सृष्टि) में नहीं लौटते।"[1] इसकी टीका करते हुए आनन्दगिरि ने कहा कि "यहाँ जो 'इमम्' विशेषण है इससे ज्ञात होता है कि मुक्तात्मा इस कल्प नें नहीं लौटता, किन्तु कालान्तर में लौटता है।"[2] छान्दोग्य (५।१०) का भाष्य करते हुए शंकराचार्य पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—"एक श्रुति कहती है कि ब्रह्म को प्राप्त हुआ जीव लौटता है, दूसरी श्रुति कहती है कि कल्प में नहीं लौटता—क्या इनमें परस्पर विरोध नहीं है ?" इसका समाधान करते हुए वे कहते हैं कि "यहाँ 'इमम्' विशेषण से स्पष्ट है कि मात्र इस कल्प में पुनरावृत्ति का निषेध किया है।"[3]

पुनः बृहद्० के अन्तर्गत **'ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति न तेषां पुनरावृत्तिः'** (६।२।१५) का भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा—'अनेकसंवत्सर पर्यन्त वहाँ निवास करते हैं। अर्थात् ब्रह्मा के अनेक कल्पों तक वहाँ रहते हैं। ब्रह्मलोक को प्राप्त कर उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती।"[4] शंकराचार्य ने यहाँ **'संवत्सरानेकान्'** (अनेक वर्ष) तथा 'अनेकान् कल्पान् (अनेक कल्प) कहकर मुक्ति के नियत कालविशेष का स्पष्ट निर्देश कर दिया। वर्षों और कल्पों से निर्दिष्ट मुक्ति निरवधि नहीं हो सकती। तब 'न लौटने' का अर्थ 'अवधि में न लौटने' के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकता। इसी सन्दर्भ में आचार्य शंकर आगे कहते हैं—**'अस्मिन् संसारे न पुनरागनम्'** ('इह' इति शाखापाठात् अर्थात् दूसरी शाखा में 'इह' पाठ से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मलोक को प्राप्त जीवों का प्रत्यागमन) 'इस' संसार में नहीं होता। उपर्युक्त पाठ यजुर्वेदीय काण्व शाखा के शतपथब्राह्मण के अन्तर्गत बृहदारण्यकोपनिषद् का है, परन्तु वाजसनेयिशाखा के शतपथब्राह्मण (१४।६।१।१८) में **'तेषामिह न पुनरावृत्तिः'** यह 'इह' पदघटित पाठ है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए शंकराचार्य लिखते हैं कि "यदि मुक्तात्मा का कभी न लौटना अभिप्रेत हो, तो 'इह' पद का प्रयोग

---

१. एतेन प्रतिपद्यमाना गच्छन्तो ब्रह्मेमं मानवं मनोसम्बन्धिनं मनोः सृष्टिलक्षणमावर्त्तं नावर्तन्ते।

२. इममिति विशेषणादनावृत्तिरस्मिन् कल्पे कल्पान्तर एवावृत्तिरिति सूच्यते।

३. न च पुनरावर्त्तन्त इतीमं मानवमावर्त्तन्त इत्यादि श्रुतिविरोध इति। इमं मानवमिति विशेषणात् तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्तीति।

४. पराः परावृतः प्रकृष्टाः समा संवत्सरानेकान् वसन्ति। ब्रह्मणोऽनेकान् कल्पान् वसन्तीत्यर्थः। तेषां ब्रह्मलोक गतानां नास्ति पुनरावृत्तिः॥

https://t.me/arshlibrary

[मुक्ति का काल]

प्रश्न—जो मुक्ति से भी जीव फिर आता है, तो वह कितने समय तक मुक्ति में रहता है ?

उत्तर—**'ते ब्रह्मलोके ह परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे ॥'**

—यह मुण्डक उपनिषद् ३।२।६ का वचन है ॥

वे मुक्त जीव मुक्ति में प्राप्त होके ब्रह्म में आनन्द को तब तक भोगके पुनः महाकल्प के पश्चात् मुक्ति-सुख को छोड़के संसार में आते हैं ॥

इसकी संख्या यह है कि तैंतालीस लाख बीस सहस्र वर्षों की एक चतुर्युगी, दो सहस्र चतुर्युगियों का एक अहोरात्र, ऐसे तीस अहोरात्रों का एक महीना, ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष, ऐसे शत वर्षों का **'परान्तकाल'** होता है । इसको गणित की रीति से यथावत् समझ लीजिए । इतना समय मुक्ति में सुख भोगने का है ।

[मुक्ति से पुनरावृत्ति न होने में अनेक दोष]

प्रश्न—सब संसार और ग्रन्थकारों का यही मत है कि जिससे पुनः जन्म-मरण में कभी न आवें ।

उत्तर—यह बात कभी नहीं हो सकती, क्योंकि प्रथम तो जीव का सामर्थ्य, शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं, पुनः उसका फल अनन्त कैसे हो सकता है ? अनन्त आनन्द को भोगने का असीम सामर्थ्य कर्म और साधन जीवों में नहीं । इसलिए अनन्त सुख नहीं भोग सकते । जिनके साधन अनित्य हैं, उनका फल नित्य कभी नहीं हो सकता और जो मुक्ति में से कोई भी लौटकर जीव इस संसार में न आवे, तो संसार का उच्छेद अर्थात् जीव निश्शेष हो जाने चाहिएँ ।

प्रश्न—जितने जीव मुक्त होते हैं, उतने ईश्वर नये उत्पन्न करके संसार में रख देता है, इसलिए निश्शेष नहीं होते ।

उत्तर—जो ऐसा होवे, तो जीव अनित्य हो जाएँ, क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका नाश अवश्य होता है । फिर तुम्हारे मतानुसार मुक्ति पाकर भी विनष्ट हो जाएँ, तो मुक्ति अनित्य हो गयी और मुक्ति के स्थान में बहुत-सा भीड़-भड़क्का हो जाएगा, क्योंकि वहाँ आगम अधिक और व्यय कुछ भी नहीं होने से बढ़ती का पारावार न रहेगा ।

व्यर्थ हो जाए ।"[1] इस प्रसंग का उपसंहार करते हुए शंकराचार्य ने लिखा कि "इस कल्प के अनन्तर पुनरावृत्ति जानी जाती है ।[2] इस प्रकार दर्शनों, उपनिषदों और उनपर आधारित गीता आदि ग्रन्थों में जहाँ-जहाँ मुक्ति से अनावृत्ति का प्रसंग मिले, वहाँ-वहाँ 'मुक्ति के लिए नियत अवधि में पुनरावृत्ति नहीं होती' यही तात्पर्य समझना चाहिए ।

वेदान्तदर्शन **'अनावृत्तिः शब्दात्'** (४।४।२२) का अर्थ भी यही समझना चाहिए कि शब्दप्रमाण से 'मुक्ति की अवधि में' अनावृत्ति सिद्ध है । अनावृत्ति का जो अर्थ श्रुति को मान्य है, वही ब्रह्मसूत्र को भी स्वीकार्य है, अर्थात् मुक्ति की नियत अवधि में, अथवा इस कल्प में, अथवा इस मानुषी (मैथुनी) सृष्टि में मुक्तात्मा का पुनरागमन नहीं होता । लोक में किसी व्यक्ति को सेवा में स्थिर या स्थायी करने का यह अर्थ कदापि नहीं होता कि अब वह मृत्युपर्यन्त सेवा से मुक्त नहीं किया जाएगा । इसका तात्पर्य इतना ही होता है कि

---

१. यदि हि नावर्त्तन्त एवं इह ग्रहणमनर्थकमेव स्यात् ।

२. तस्मादस्मात्कल्पादूर्ध्वं आवृतिर्गम्यते ।

https://t.me/arshlibrary

और दुःख के अनुभव के विना सुख कुछ भी नहीं हो सकता। जैसे कटु न हो तो मधुर क्या, जो मधुर न हो तो कटु क्या कहावे ? क्योंकि एक स्वाद के एक रस के विरुद्ध होने से दोनों की परीक्षा होती है। जैसे कोई मनुष्य मीठा=मधुर ही खाता-पीता जाए, उसको वैसा सुख नहीं होता, जैसा सब प्रकार के रसों के भोगनेवाले को होता है।

और जो ईश्वर अन्तवाले कर्मों का अनन्त फल देवे, तो उसका न्याय नष्ट हो जाए। जो जितना भार उठा सके, उतना उसपर धरना बुद्धिमानों का काम है। जैसे एक मन भर उठानवाले के शिर पर दश मन धरने से भार धरनेवाले की निन्दा होती है, वैसे अल्पज्ञ, अल्पसामर्थ्यवाले जीव पर **अनन्त सुख** का भार धरना ईश्वर के लिए ठीक नहीं।

उसे सेवानिवृत्ति के लिए नियत आयु (५५-६०) से पूर्व नहीं हटाया जा सकेगा। इसी प्रकार आजीवन कारावास का अभिप्राय यही होता है कि दण्डित व्यक्ति को आजीवन कारावास की नियत अवधि (प्रायः २० वर्ष) तक कारागर में रहना होगा, यह नहीं कि अब वह मृत्युपर्यन्त कभी जेल से बाहर नहीं आएगा।

शब्दप्रमाण की दृष्टि से वेद का प्रामाण्य सर्वोपरि है, अतः इस सन्दर्भ में ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत मन्त्र द्रष्टव्य हैं—

'प्रमाणं परमं श्रुतिः'—वेद के इन मन्त्रों में मुक्तात्माओं की पुनरावृत्ति का स्पष्ट उल्लेख है।

अवतारवाद में विश्वास रखनेवाले के मत में तो स्वयं परमेश्वर अनेक बार शरीर धारण करके पृथिवी पर अवतरित होते हैं। यदि स्वरूपतः कभी जन्म न लेनेवाला, नित्यमुक्त परमात्मा समय-समय पर शरीर धारण कर सकता है तो असंख्य बार जन्म-मरण के चक्र में फँसनेवाले जीवात्मा का मनुष्यरूप में पुनर्जन्म क्यों नहीं हो सकता ? अद्वैतवाद के अनुसार जन्म-मरण के चक्र में फँसने से पूर्व वर्त्तमान शरीरधारी जीवात्मा ब्रह्म ही था अथवा ब्रह्म में लीन था। कारण कुछ भी रहा हो, एक समय आया जब वह जीवरूप होकर अथवा ब्रह्म के अंश के रूप में शरीर धारण करके संसार में आ गया और जन्म-मरण के आवर्त्तमान चक्र में फँस गया। जब एक बार ऐसा हो गया तो फिर क्यों नहीं हो सकता ? इस प्रकार अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार भी मुक्त जीव के मोक्ष से प्रत्यावर्त्तन की सम्भावना बनी रहती है।

मोक्ष से प्रत्यागमन मानने पर जीव-ब्रह्म के ऐकात्म्य का सिद्धान्त स्वतः खण्डित हो जाता है। यदि अविद्योपाधि के कारण ही जीवात्मा का अस्तित्व है और उसके दूर हो जाने पर तथाकथित जीव ब्रह्मरूप हो जाता है, तो उसका पुनः जीवरूप होकर देहधारण करना कैसे संगत हो सकता है ? जो नदियाँ एक बार समुद्र में मिल जाती हैं वे फिर कभी उससे बाहर निकलकर नहीं बहतीं। यदि साक्षात्कार होने पर जीवात्मा का सरित्सागरवत् ब्रह्म में विलय हो जाना अथवा उसके साथ तादात्म्य हो जाना मोक्ष है तो उसका बार-बार जीवरूप में देहधारण करना सम्भव नहीं। जो बार-बार अविद्या में ग्रस्त होकर शरीर धारण करता है और मुक्त हो जाने पर भी संसार में लौट आता है, वह जीव ही हो सकता है, ब्रह्म नहीं। मुक्ति से पुनरावृत्ति के साथ **'जीवो ब्रह्मैव नापरः'** का सामञ्जस्य नहीं हो सकता।

यदि आत्माओं की बराबर मुक्ति होती रहे और उनमें से कोई कभी लौटकर न आये, तो एक दिन संसार का उच्छेद हो जाएगा, क्योंकि चाहे कितना ही बड़ा धनकोष क्यों न हो, निरन्तर कम-ही-कम होने पर कभी-न-कभी समाप्त हो जाता है, किन्तु आज तक संसार का अत्यन्त उच्छेद नहीं हुआ। प्रवाह से अनादि सृष्टि की रचना प्रत्येक कल्प में होती है। यह क्रम अनादि काल से अनन्त काल तक निर्बाधरूप

---

१. यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम्।

https://t.me/arshlibrary

और जो परमेश्वर नये जीव उत्पन्न करता है, तो जिस कारण से उत्पन्न होते हैं, वह चुक जाएगा, क्योंकि चाहे कितना ही बड़ा धनकोश हो, परन्तु जिसमें व्यय है और आय नहीं, उसका कभी-न-कभी दिवाला निकल ही जाता है। इसलिए यही व्यवस्था ठीक है कि मुक्ति में जाना, वहाँ से पुनः आना ही अच्छा है। क्या थोड़े से कारागार से जन्म-कारागार दण्डवाले प्राणी अथवा फाँसी को कोई अच्छा मानता है ? जब वहाँ से आना ही न हो, तो जन्म-कारागार से इतना ही अन्तर है कि वहाँ मजूरी नहीं करनी पड़ती और ब्रह्म में लय होना समुद्र में डूब मरना है।

[जीव ईश्वर के सदृश कभी नहीं होता]

प्रश्न—जैसे परमेश्वर नित्यमुक्त, पूर्ण सुखी है, वैसे ही जीव भी नित्यमुक्त और सुखी रहेगा, तो कोई भी दोष नहीं आवेगा।

से चलता रहता है। प्रयोजन के बिना प्रवृत्ति नहीं होती। प्रयोजन का लक्षण है—जिस अर्थ को लक्ष्य कर कोई प्रवृत्त होता है वह अर्थ प्रयोजन कहाता है। इस प्रकार परमेश्वर द्वारा बार-बार सृष्टि-रचना का भी कोई-न-कोई प्रयोजन है। वह प्रयोजन **'तच्च भोगापवर्गार्थं पुरुषस्य'** इस सूत्र में स्पष्ट कर दिया गया है। स्पष्ट है कि जीव के निमित्त ही बार-बार सृष्टि की रचना होती है। तब, यदि सृष्टि प्रवाह से अनादि है तो जीवात्मा की मुक्ति भी प्रवाह से अनादि माननी होगी। जीव के मोक्ष में जाकर प्रत्यावर्त्तन होने में ही यह सम्भव है।

यह कहा जा सकता है कि सृष्टि के लिए जीव की अपेक्षा है—इस तर्क से मुक्तात्माओं के मुक्ति से पुनरावर्त्तन की आवश्यकता सिद्ध नहीं होती। जीवात्माओं के न लौटने पर संसार का उच्छेद नहीं होगा, क्योंकि मुक्तात्माओं के स्थान पर नये जीव उत्पन्न करके सृष्टिक्रम को चालू रक्खा जा सकता है। सर्वशक्तिमान् होने से परमेश्वर ऐसा करने में समर्थ है, परन्तु परमेश्वर के सर्वशक्तिमान् होने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह जो चाहे कर सकता है। 'सर्वशक्तिमान्' होने का इतना ही तात्पर्य है कि परमेश्वर को अपने कर्त्तव्य कर्मों को करने में अन्य किसी के साहाय्य की अपेक्षा नहीं होती। जीवों के भोगापवर्ग की व्यवस्था करना परमेश्वर का काम है, जीवों को उत्पन्न करना नहीं। यदि दुर्जनतोषन्याय से परमेश्वर द्वारा जीवों का उत्पन्न होना मान लिया जाए तो इन जीवों का अनादि न होने से अनित्य होना स्वतः सिद्ध है, क्योंकि जो उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है और जब जीव ही अनित्य हो गया तो उसकी मुक्ति कैसे नित्य होगी ? फिर, जीवों की उत्पत्ति में कारण क्या होगा ? जीव के न रहने पर दो ही पदार्थ शेष रह गये—ईश्वर और प्रकृति। सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं नित्यमुक्त परमेश्वर में से एकदेशी, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति एवं जन्म-मरण के बन्धन में पड़नेवाले जीव की उत्पत्ति की कल्पना कैसे की जा सकती है ? इसी प्रकार जड़ प्रकृति से चेतन तत्त्व जीव की उत्पत्ति भी असम्भव है। वस्तुतः अनुच्छित्तिधर्मा-अविनाशी जीव की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

जीव ईश्वर के सदृश नहीं

राग-द्वेषादि से युक्त होकार कालान्तर में मुक्त हुआ जीव नित्यशुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव परमेश्वर के सदृश कैसे हो सकता है ? मुक्त हो जाने पर भी जीव अल्पज्ञ और परिमित गुणकर्मस्वभाववाला ही रहेगा। वह सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् कभी नहीं हो सकता। ब्रह्म तो स्वभाव से आनन्दस्वरूप है, जबकि जीवात्मा निमित्त से आनन्दमय होता है। जैसी स्थिति अग्नि के सम्पर्क से प्रकाश-उष्णतायुक्त एवं रक्तवर्ण

https://t.me/arshlibrary

उत्तर—परमेश्वर अनन्तस्वरूप-सामर्थ्य-गुण-कर्म-स्वभाववाला है, इसलिए वह कभी अविद्या और दुःख-बन्धन में नहीं गिर सकता। **जीव मुक्त होकर भी** शुद्धस्वरूप अल्पज्ञ और परिमित गुण, कर्म, स्वभाववाला ही रहता है, वह परमेश्वर के सदृश कभी नहीं होता।

[मुक्ति जन्म-मरण के सदृश नहीं]

प्रश्न—जब ऐसी बात है, तो मुक्ति भी जन्म-मरण के सदृश है। इसलिए श्रम करना व्यर्थ है।

उत्तर—मुक्ति जन्म-मरण के सदृश नहीं, क्योंकि जब तक ३६,००० (छत्तीसःसहस्र) वार उत्पत्ति और प्रलय का जितना समय होता है, उतने समय पर्यन्त जीवों को मुक्ति के आनन्द में रहना, दुःख का न होना क्या छोटी बात है ? जब आज खाते-पीते हो, कल भूख लगनेवाली है, पुनः इसका उपाय क्यों करते हो ? जब क्षुधा-तृषा, क्षुद्र धन, राज्य-प्रतिष्ठा, स्त्री-सन्तान आदि के लिए उपाय करना आवश्यक है, तो मुक्ति के लिए क्यों न करना ? जैसे मरना अवश्य है, तो भी जीवन का उपाय किया जाता है, वैसे ही मुक्ति से लौटकर जन्म में आना है, तथापि उसका उपाय करना अत्यावश्यक है।

बने लोहे की होती है, वैसी ही ब्रह्म के सम्पर्क से आनन्दयुक्त जीव की है। कुछ काल के लिए लोहा रक्तवर्ण हो जाता है, किन्तु यह उसका स्वभाव नहीं बन जाता। इसी प्रकार जीव कुछ काल तक आनन्दयुक्त हो जाने पर भी वह आनन्दस्वरूप नहीं हो जाता। जो निमित्त से आनन्दमय है, वह नित्य आनन्दस्वरूप के समान कैसे हो सकता है ? **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'** को लेकर कोई यह कहे कि ब्रह्म को जाननेवाला सचमुच ब्रह्म हो जाता है तो भी यहाँ **'भवति'** (हो जाता है) क्रियापद से स्पष्ट है कि ब्रह्मवित् पहले ब्रह्म नहीं था, अब हुआ। एक 'है' दूसरा 'होता है'। 'है' से नित्य का बोध होता है, 'होता है' से अनित्य का। नित्य और अनित्य में सादृश्य कैसे सम्भव है। शंकर और रामानुज दोनों के मत में सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तथा सर्वेश्वरत्वादि गुण जीवात्मा को मुक्ति में भी प्राप्त नहीं हो सकते। दोनो में ऐकात्म्य अथवा सादृश्य कभी नहीं हो सकता।

मुक्ति का काल

छत्तीस सहस्र बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय में लगनेवाले समय के बराबर मुक्ति की अवधि होती है। एक बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय होने में आठ अरब चौंसठ करोड़ वर्ष लगते हैं। इस प्रकार छत्तीस सहस्र बार सृष्टि की उत्पत्ति-प्रलय में ३१ नील, १० खरब, ४० अरब वर्ष लगेंगे। इसे दूसरी तरह से भी समझा जा सकता है। ४३ लाख २० हज़ार वर्षों की एक चतुर्युगी, दो हज़ार चतुर्युगियों का एक (ब्राह्म) अहोरात्र, ऐसे ३० अहोरात्रों का एक मास, ऐसे १२ मासों का एक वर्ष और ऐसे सौ वर्षों का एक परान्तकाल होता है। इतने काल तक किसी प्रकार का दुःख न होकर आनन्द-ही-आनन्द में रहना छोटी बात नहीं है। इसे जन्म-मरण के सदृश कैसे कहा जा सकता है ?

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' जो उत्पन्न हुआ है, समय आने पर उसकी मृत्यु निश्चित है—यह जानते हुए भी मनुष्य जीना चाहता है और तदर्थ प्रयत्न करता है। खाने के कुछ समय पश्चात् भूख फिर लगेगी —यह जानते हुए भी मनुष्य बार-बार भोजन करता है। तब मुक्ति में इतने दीर्घकाल तक दुःखों से छूटकर आनन्दोपभोग करना क्या साधारण बात है कि उसके लिए प्रयास न किया जाए ?

मुक्ति के साधन—विवेक, वैराग्य, षट्कसम्पत्ति तथा मुमुक्षुत्व—ये चार मुक्ति के साधन हैं। 'विवेक' के अन्तर्गत पाँच कोषों की व्याख्या के अनन्तर तीन अवस्थाओं का उल्लेख करके तीन प्रकार के शरीरों का वर्णन किया गया है, परन्तु इसी प्रसंग में तीसरे कारण शरीर की व्याख्या के अनन्तर एक और 'चौथे' शरीर

https://t.me/arshlibrary

[साधन-चतुष्टय' अर्थात् मुक्ति के चार साधन]

प्रश्न—मुक्ति के क्या साधन हैं ?

उत्तर—कुछ साधन तो प्रथम लिख आये हैं । परन्तु विशेष उपाय ये हैं— जो मुक्ति चाहे वह जीवन्मुक्त अर्थात् जिन मिथ्याभाषणादि पापकर्मों का फल दुःख है, उनको छोड़ सुखरूप फल को देनेवाले सत्यभाषणादि धर्माचरण अवश्य करे । जो कोई दुःख को छुड़ाना और सुख को प्राप्त होना चाहे, वह अधर्म को छोड़ धर्म अवश्य करे, क्योंकि दुःख का पापाचरण और सुख का धर्माचरण मूल कारण है ।

का उल्लेख करना असामंजस्यपूर्ण प्रतीत होता है । इसलिए स्वामी वेदानन्दजी ने स्वसम्पादित सत्यार्थप्रकाश में 'चौथा तुरीय शरीर वह कहाता है' इस वाक्य में 'शरीर' पद के स्थान पर अवस्था पद रखने और उसकी व्याख्या 'तीन शरीर हैं' इस वाक्य से पूर्व लिखी जाने की सम्मति दी है । फिर भी 'शरीर' पद के स्थान पर 'अवस्था' पद रख देने से असामंजस्य वैसा ही बना रहता है, क्योंकि मूलग्रन्थकार ने स्वयं पहले 'तीन अवस्था' कही हैं, तब चार का वर्णन कैसे ? प्रतीत होता है, टिप्पणीकार का ध्यान माण्डूक्य उपनिषद् में वर्णित आत्मा की चार अवस्थाओं की ओर गया है, वहाँ जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं के वर्णन के अनन्तर एक और अवस्था का वर्णन है, जिसको 'चतुर्थ' अर्थात् 'तुरीय' अवस्था कहा जाता है ।

इसपर विचार करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि यह प्रकरण मुक्ति के विशेष उपाय बताने के लिए प्रारम्भ किया गया है । इस प्रसंग में ऋषि ने ऐसे चार उपाय बताये हैं—विवेक, वैराग्य, षट्कसम्पत्ति और मुमुक्षुता । प्रथम विवेक के वर्णन में यह सब पाँच कोश, तीन अवस्था और तीन शरीरों का उल्लेख हुआ है । ग्रन्थकार यह बताना चाहता है, कि जीवात्मा इन कोश आदि से सर्वथा पृथक् तत्व है, यह जान लेना मोक्षमार्गी व्यक्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है । आत्मा चेतन तत्व है और ये जड़ हैं और उसी की विशिष्ट स्थिति को प्रकट करते हैं, आत्मा को इनसे पृथक् जानना, मोक्ष मार्ग पर चलने के लिए सर्वप्रथम उपाय है । इसी का नाम 'विवेक' है, अर्थात् आत्मा को कोशादि से विविक्त रूप में जान लेना । प्रस्तुत प्रसंग का निगमन करते हुए ऋषि ने स्वयं लिखा है 'इन सब कोश, अवस्थाओं से जीव पृथक् हैं' और आगे लगभग दस पंक्तियों में इसी का विवरण है । अभिप्राय यह है कि कोश, अवस्था आदि मुमुक्षु आत्मा के लिए हेय कोटि में हैं, वे आत्मा का उपादेय रूप नहीं, परन्तु माण्डूक्योपनिषद् में जिस चतुर्थ अवस्था का वर्णन है, वह मोक्ष का स्वरूप है, उसकी प्राप्ति तो आत्मा का लक्ष्य है । विवेक की व्याख्या में आत्मा को उन्हीं अवस्थाओं से पृथक् बताना अपेक्षित है, जो आत्मा के बन्ध का स्वरूप है, ऐसी स्थिति में यहाँ आत्मा की तीन अवस्थाओं का ही वर्णन अपेक्षित था, जैसा कि मूलग्रन्थकार ने किया है ।

इसके अतिरिक्त स्वयं ऋषि का लेख इस बात को पुष्ट करता है कि 'शरीर' पद के स्थान पर 'अवस्था' पद की कल्पना नहीं की जा सकती । 'तुरीय शरीर' के वर्णन का मूलपाठ इस प्रकार है—'चौथा तुरीय शरीर वह कहाता है, जिसमें समाधि से परमात्मा के आनन्दस्वरूप में मग्न जीव होते हैं । इसी समाधिसंस्कारजन्य शुद्ध शरीर का पराक्रम मुक्ति में भी यथावत् सहायक रहता है ।' यदि पहले वाक्य में 'शरीर' पद के स्थान पर, 'अवस्था' पद रख दिया जाए, तो यह दूसरा वाक्य असंगत हो जाएगा, जो उसी अर्थ का अतिदेश कर रहा है । इसलिए 'चौथा तुरीय शरीर वह कहाता है' इस वाक्य में 'शरीर' पद के स्थान पर 'अवस्था' पद रखना सर्वथा अनेपक्षित है । तब इसका विवेचन होना चाहिए, कि 'तीन शरीर हैं' कहकर चौथे शरीर का वर्णन किस आधार पर किया गया है ।

वस्तुतः ऋषि ने तीन शरीरों का ही वर्णन किया है—स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर तथा कारणशरीर ।

https://t.me/arshlibrary

[मुक्ति का प्रथम साधन-विवेक]

सत्पुरुषों के संग से **'विवेक'** अर्थात् सत्याऽसत्य, धर्माऽधर्म, कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य का निश्चय अवश्य करे, पृथक्-पृथक् जाने। और शरीर अर्थात् जीव **पञ्चकोशों** का विवेचन करे -

[पञ्चकोश—] एक **'अन्नमय'**—जो त्वचा से लेकर अस्थि-पर्यन्त का समुदाय पृथिवीमय है। दूसरा **'प्राणमय'**—जिसमें 'प्राण' अर्थात् जो भीतर से बाहर जाता; 'अपान' जो बाहर से भीतर आता; 'समान' जो नाभिस्थ होकर सर्वत्र शरीर में रस पहुँचाता; 'उदान' जिससे कण्ठस्थ अन्न-पान खैंचा जाता और बल पराक्रम होता है; 'व्यान' जिससे सब शरीर में चेष्टा आदि कर्म जीव करता है। तीसरा **'मनोमय'**—जिसमें मन के साथ अहङ्कार, वाक् पाद, पाणि, पायु और उपस्थ पाँच कर्म इन्द्रियाँ हैं। चौथा **'विज्ञानमय'**—जिसमें बुद्धि, चित्त, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका —ये पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ, जिनसे जीव ज्ञानादि व्यवहार करता है। पाँचवा **'आनन्दमयकोश'**— जिसमें प्रीति, प्रसन्नता, न्यून आनन्द, अधिकानन्द, आनन्द और आनन्द का आधार कारणरूप प्रकृति है। ये **पाँच कोश** कहाते हैं। इन्हीं से जीव सब प्रकार के कर्म, उपासना और ज्ञानादि व्यवहारों को करता है।

सूक्ष्मशरीर के दो भेद बताये हैं—एक भौतिक दूसरा अभौतिक। अभौतिक सूक्ष्मशरीर के विषय में ऋषि का लेख इस प्रकार है—'दूसरा स्वाभाविक जो जीव के स्वाभाविक गुणरूप हैं। यह दूसरा अभौतिक शरीर मुक्ति में भी रहता है। इसी से जीव मुक्ति में सुख को भोगता है।' इस वर्णन की 'तुरीयशरीर' के वर्णन के साथ तुलना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋषि ने सूक्ष्मशरीर के अभौतिक भेद को ही 'तुरीय शरीर' के रूप में पृथक् भी वर्णित कर दिया है, इस प्रकार यह शरीर का अतिरिक्त भेद नहीं है, सूक्ष्मशरीर के द्वितीय भेद का यह विवरणमात्र है।

गम्भीरतापूर्वक विवेचन से यह ज्ञात होता है, कि अन्य शरीर के समान यह कोई अतिरिक्त शरीर नहीं है; यह आत्मा का स्वाभाविक गुणरूप है, अर्थात् आत्मा के स्वरूप से यह कोई भिन्न वस्तु नहीं। यह गुणरूप सामर्थ्य आत्मा में स्वाभाविक है, अर्थात् यह आत्मा का स्वरूप ही है, पर इसका प्रादुर्भाव आत्म-साक्षात्कार होने पर सम्भव है। इसीलिए ऋषि ने इसको 'समाधिसंस्कारजन्य शुद्ध शरीर' पदों से व्यवहृत किया है। यही आत्मरूप अतिशय सामर्थ्य मोक्ष के आनन्द को प्राप्त कराने में साधन है। ऋषि ने अनेक स्थलों पर आत्मा की इसी स्थिति का 'संकल्पमात्र शरीर' अथवा संकल्पमय पदों से उल्लेख किया है, तथा इसी का आत्मा की अनेक शक्ति के रूप में वर्णन है। ऋषि ने मुक्त आत्मा के विषय में लिखा है—"(पूर्व०) मुक्त जीव का स्थूलशरीर होता है वा नहीं ? (उत्तर० 'उसके सत्यसंकल्पादि स्वाभाविक गुण सामर्थ्य सब रहते हैं, ... इससे मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है।'

इन सब विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि जैसे स्थूल आदि शरीर जड़तत्व हैं और आत्मा से अतिरिक्त हैं; 'तुरीयशरीर' ऐसा नहीं है; वह आत्मा की ही एक विशेष स्थिति है, जो आत्मसाक्षात्कार होने पर प्रकाश में आती है, व्यवहार के लिए उसी स्थिति का वर्णन 'तुरीयशरीर' अथवा 'अभौतिक शरीर'आदि के रूप में ऋषियों ने किया है। इस प्रकार सत्यार्थप्रकाश का यह शरीर सम्बन्धी वर्णन स्पष्ट हो जाता है, इसमें कोई असामञ्जस्य नहीं है।

सूक्ष्मशरीर का वर्णन इस प्रकार किया गया है—"दूसरा पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि—इन सत्तरह तत्वों का समुदाय 'सूक्ष्मशरीर' कहाता है।" यहाँ सूक्ष्मशरीर के घटक अवयव सत्तरह गिनाये गये हैं, यह निरूपण वेदान्तशास्त्रीय ग्रन्थों के अनुसार है। सांख्य-ग्रन्थों में सूक्ष्मशरीर के

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

तीन अवस्था हैं—एक **'जाग्रत'**; दूसरी—**'स्वप्न'**; और तीसरी—**'सुषुप्ति'** अवस्था कहाती है।

तीन शरीर हैं—एक **'स्थूल'** जो यह दीखता है। दूसरा- **पाँच प्राण**, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि इन सत्तरह तत्वों का समुदाय **'सूक्ष्मशरीर'** कहाता है। यह सूक्ष्मशरीर जन्म-मरणादि में भी जीव के साथ रहता है। **इसके दो भेद हैं**— एक **भौतिक** अर्थात् जो सूक्ष्मभूतों के अंशों से बना है। दूसरा **स्वाभाविक,** जो जीव के स्वाभाविक गुणरूप हैं। यह दूसरा **'अभौतिक'** शरीर मुक्ति में भी रहता है। इसी से जीव मुक्ति में सुख को भोगता है। तीसरा **'कारण'**—जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढ़निद्रा होती है। वह प्रकृति रूप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवों के लिए एक है। चौथा **'तुरीय'** शरीर —वह कहाता है, जिसमें समाधि से परमात्मा के आनन्दस्वरूप में मग्न जीव होते है। इसी समाधि-संस्कारजन्य शुद्ध शरीर का पराक्रम मुक्ति में भी यथावत् सहायक रहता है।

घटक अवयव—दस बाह्य इन्द्रिय (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय), तीन अन्तःकरण—मन, अहंकार, बुद्धि और पाँच सूक्ष्मभूत मिलाकर—अठारह बताये हैं, अहंकार का बुद्धि में समावेश कर लेने से इनकी सत्तरह संख्या भी कतिपय आचार्यों ने मानी है। जैसाकि प्रस्तुत ग्रन्थकार ने स्वीकार किया है।

सांख्य में पाँच प्राणों की अतिरिक्त गणना इस शरीर के घटक अवयवों में नहीं की गयी, पाँच ज्ञानेन्द्रियों के साथ पाँच कर्मेन्द्रियों को मिलाकर दस बाह्य करण तथा तीन अन्तःकरणों को लेकर—तेरह करण और पाँच सूक्ष्मभूत को सूक्ष्मशरीर का घटक माना गया है। प्राण वस्तुतः समस्त करणों के सामान्य वृत्तिमात्र हैं। जैसे चक्षु का विशेष व्यापार 'दर्शन' एवं त्वक् आदि का 'स्पर्शन' आदि हैं। इसी प्रकार समस्त करणों का सामान्य व्यापार प्राण हैं, स्थूलशरीर में करणों की विद्यमानता में ही प्राणरूप व्यापार अपने अस्तित्व का लाभ करता है। सूक्ष्मशरीर एक प्रकार से जीवात्मा का आवेष्टन है, जब जीवात्मा स्थूलशरीर को छोड़ जाता है, तब भी वह सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित रहता है। परन्तु अपान, व्यान, उदान आदि के रूप में प्राणों का अस्तित्व केवल स्थूलशरीर के साथ सम्बन्ध रहने की अवस्था में रहता है तब आत्मा द्वारा सूक्ष्म शरीर परित्याग कर देने पर प्राण, अपान आदि के रूप में विद्यमान प्राण का अस्तित्व न रहने से सूक्ष्मशरीर के घटक अवयवरूप में इनका माना जाना सम्भव नहीं है, क्योंकि जीवात्मा स्थूलशरीर की अविद्यमानता में भी सूक्ष्मशरीर से आवेष्टित रहता है, आत्मा के साथ यह आवेष्टन आदिसर्ग से प्रलयपर्यन्त अथवा आत्मसाक्षात्कारपर्यन्त सम्बद्ध रहता है। सूक्ष्मशरीर के घटक अवयवों में जहाँ प्राणों का उल्लेख है, वहाँ भी वृत्ति से वृत्तिमान् का कथन मान लेने पर इन लेखों में विरोध की आशंका करना व्यर्थ होगा।

तीसरे 'कारणशरीर' का लक्षण इस प्रकार किया है—'तीसरा 'कारण' जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है, वह प्रकृतिरूप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवों के लिए एक है।'

पाँच कोष और तीन शरीरों का वर्णन आत्मा की बन्ध-स्थिति को स्पष्ट करता है। शरीरों में तीसरा 'कारणशरीर' है, जिसका वर्णन ऊपर की पंक्तियों में किया गया है। कारणशरीर के सम्बन्ध में यहाँ तीन बातें बताई गयीं—

१. जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है।
२. वह (कारणशरीर) प्रकृतिरूप होने से सर्वत्र विभु है।
३. सब जीवों के लिए एक है।

इस वर्णन के आधार पर 'कारणशरीर' के स्वरूप अथवा स्थिति का पूर्णरूप से स्पष्टीकरण नहीं हो पाता—विशेषरूप से यह बात—कि 'कारणशरीर' प्रकृतिरूप है, विभु है और सब जीवों के लिए एक है और

https://t.me/arshlibrary

इन सब कोश और अवस्थाओं से जीव पृथक् है, क्योंकि यह सब को विदित है कि अवस्थाओं से जीव पृथक् है, क्योंकि जब मृत्यु होता है, तब सब कोई कहते हैं कि जीव निकल गया। यही जीव सबका प्रेरक सबका धर्त्ता, साक्षी, कर्त्ता-भोक्ता कहाता है। जो कोई ऐसा कहे कि जीव कर्त्ता-भोक्ता नहीं, तो उसको जानो कि वह अज्ञानी, अविवेकी है, क्योंकि विना जीव के जो ये सब जड़ पदार्थ हैं, इनको सुख-दुःख का भोग वा पाप-पुण्य-कर्तृत्व कभी नहीं हो सकता। हाँ, इनके सम्बन्ध से जीव पाप-पुण्यों का कर्त्ता और सुख-दुःखों का भोक्ता है।

भी अधिक जिज्ञासा में डाल देती है। ऐसे शरीर का क्या स्वरूप होगा, परिच्छिन्न आत्मा के लिए उसका किस प्रकार उपयोग होगा ? क्या वह शरीर प्रकृतिरूप होने से महाप्रलयकाल में भी बना रहता है ? इत्यादि अनेक प्रकार के प्रश्न जिज्ञासु पाठक के सम्मुख उपस्थित होते हैं। इन सब बातों को ध्यान में रखकर हमें यह सन्दर्भ समझने का यत्न करना चाहिए।

'कारणशरीर' के सम्बन्ध में ऋषि ने जो उपर्युक्त तीन बातें प्रस्तुत की हैं, यथाक्रम प्रत्येक के विषय में यहाँ प्रकाश डालने से पूर्व हमें यह जान लेना अत्यन्त अपेक्षित है, कि 'कारणशरीर' के विषय में अन्य प्राचीन आचार्यों का क्या विचार है ? सम्भवतः इस बात की जानकारी हमें ऋषि के उक्त सन्दर्भ को समझ लेने में पर्याप्त सहायक होगी।

स्थूलशरीर के अतिरिक्त जिन अन्य शरीरों का वर्णन विविध ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, उनके तीन नाम पाये जाते हैं—सूक्ष्मशरीर, लिंगशरीर और कारणशरीर। सूक्ष्मशरीर का वर्णन ऋषि ने स्वयं यहीं पिछली पंक्तियों में किया है। वहाँ सूक्ष्मशरीर के सत्रह घटक अवयवों का उल्लेख है, इस विषय को अभी पिछली टिप्पणी में अपेक्षित रूप से स्पष्ट कर दिया गया है। उसके अनुसार कतिपय आचार्यों ने सूक्ष्मशरीर के घटक अवयवों की संख्या अठारह मानी है, जो अहंकार का बुद्धि में समावेश मान लेने से यहाँ सत्रह बताई गई है। उन अवयवों में तेरह करण (दस बाह्यकरण—पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा पाँच कर्मेन्द्रिय और तीन अन्तःकरणमन—मन, अहंकार, बुद्धि) और पाँच तन्मात्र अथवा सूक्ष्मभूत हैं। इनमें तेरह करणों की रचना 'अध्यात्मसृष्टि' कही जाती है, जिसका आत्मा के साथ अधिकाधिक समीप सम्पर्क रहता है। तन्मात्र की रचना अधिभूतसृष्टि है, जो समस्त स्थूल जगत् का मूल अथवा आदिरूप है। अध्यात्मसृष्टि में अन्तिम रचना बाह्यकरणों (दस इन्द्रियों) की है। अधिभूत जगत् के साथ सीधा सम्पर्क इन्हीं करणों अथवा इन्द्रियों का रहता है। यदि ये अन्तरालवर्ती इन्द्रियरूप करण अथवा साधन न हों, तो आत्मा का बाह्य जगत् के साथ कोई सम्पर्क नहीं रहता और न आत्मा को इनके बिना बाह्य जगत् का किसी प्रकार का ज्ञान हो पाता है। यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि बाह्य जगत् के साथ आत्मा का सम्पर्क इन करणों के द्वारा ही सम्भव होता है, और ये करण अपने व्यापार द्वारा इस बात के ज्ञापक होते हैं, कि इन सबके पीछे एक चेतन तत्त्व आत्मा बैठा हुआ है, क्योंकि अस्तित्व में ही स्थूलशरीर के आश्रय से इनका व्यापार (भोग आदि का प्रस्तुत करना) सम्भव हो सकता है। इसीलिए इन करणों को 'लिंग' कहा जाता है, ये छिपे हुए आत्मतत्त्व के अस्तित्व का बोधन करा देते हैं (**लीनमन्तर्हितमर्थं गमयतीति लिंगम्**)। इस प्रकार सूक्ष्मशरीर के घटक इन तेरह अवयवों (तेरह करणों) का 'लिंग' नाम से भी व्यवहार होता है। शेष पाँच अवयव जो तन्मात्र अथवा सूक्ष्मभूतरूप हैं, उनकी ऐसी स्थिति नहीं है। इसके अतिरिक्त ये पाँच तन्मात्र, सूक्ष्मशरीर की रचना में उपादानतत्व का कार्य करते हैं, अर्थात् ये (तन्मात्र या सूक्ष्मभूत) सूक्ष्मशरीर की रचना के लिए मूल प्रकृतिरूप हैं। इसका अभिप्राय यह है कि सूक्ष्मशरीर की रचना पाँच तन्मात्र से होती है। उन अठारह

https://t.me/arshlibrary

जब इन्द्रियाँ अर्थों में, मन इन्द्रियों, और आत्मा मन के साथ संयुक्त होकर प्राणों को प्रेरणा करके अच्छे वा बुरे कर्मों में लगाता है, तभी वह बहिर्मुख हो जाता है। उसी समय भीतर से आनन्द, उत्साह, निर्भयता, और बुरे कर्मों में भय, शङ्का, लज्जा उत्पन्न होती है। वह अन्तर्यामी परमात्मा की शिक्षा है। जो कोई इस शिक्षा के अनुकूल वर्त्तता है, वही मुक्तिजन्य सुखों को प्राप्त होता है और जो विपरीत वर्त्तता है, वह बन्धजन्य दुःख भोगता है।

अवयवों में ये आधारभूत हैं और शेष तेरह करण आधेय हैं, अर्थात् पञ्चतन्मात्रपरिणत आधारभूत सूक्ष्मशरीर में ये तेरह आश्रित होकर रहते हैं। इस प्रकार सूक्ष्मशरीर के अठारह अवयव दो भागों में विभक्त हैं—

१. लिंग, आश्रित अथवा आधेयभूत तत्त्व तेरह करण।

२. अलिंग, आश्रय अथवा आधारभूत तत्त्व, शरीर के उपादान-प्रकृति पाँच तन्मात्र अथवा सूक्ष्मभूत।

इसी आधार पर सूक्ष्मशरीर के प्रथम भाग को 'लिंगशरीर' तथा द्वितीय भाग को 'कारणशरीर' भी कहा जाता है, क्योंकि वह भाग इस शरीर में उपादानकारणरूप अथवा प्रकृतिरूप से उपस्थित है, इसी सूक्ष्म-शरीर का जब करणों की प्रधानता को दृष्टि में रखकर निर्देश किया जाता है, तब उसके लिए 'लिंगशरीर' पद का भी प्रयोग आचार्य करते हैं, और जब व्यवहार में तन्मात्र की प्रधानता अपेक्षित होती है, तब इसे 'कारणशरीर' नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है।

प्रस्तुत प्रसंग में ऋषि ने 'कारणशरीर' का जो वर्णन किया है, उसके साथ इसका सन्तुलन करना अपेक्षित है, जिससे यह निश्चय हो सके, कि यहाँ जो 'कारणशरीर' का वर्णन किया गया है, वह यही सम्भव हो सकता है या नहीं ? ऋषि ने 'कारणशरीर' की उपर्युक्त तीन विशेषता बताई हैं। पहली का स्वरूप है—'जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है।' अब देखना चाहिए, कि सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा का स्वरूप अथवा उसकी स्थिति क्या है ?

इस विचार को समस्त आचार्य एकमत से स्वीकार करते हैं, कि सुषुप्ति अवस्था में इन्द्रियों और बुद्धि का अथवा समस्त करणों का विशेष व्यापार कोई नहीं रहता। इन्द्रियों के विशेष व्यापार हैं—जैसे चक्षु का देखना, श्रोत्र का सुनना, मन का संकल्प करना, बुद्धि का निश्चय करना आदि; सुषुप्ति में इन सब व्यापारों अथवा वृत्तियों का अभाव रहता है। पर इन समस्त करणों का सामान्य व्यापार 'प्राण' हैं, वह व्यापार बराबर बना रहता है, सुषुप्ति अवस्था भी उसमें बाधक नहीं होती, क्योंकि तन्मात्र-रूप 'कारणशरीर' समस्त करणों का मुख्य आधार है, उस अवस्था में करणों का अपने गोलकों के साथ सम्बन्ध न रहकर वे अपने आश्रयभूत शरीर (तन्मात्ररूप, कारणशरीर) में अवस्थित रहते हैं। यह अवस्थिति करणों की विशेष वृत्ति (विशेष व्यापार) की अवरोधक है। यही अवस्था सुषुप्ति की है। इस प्रकार गोलकों से हटकर अपने आश्रयभूत शरीर में करणों का अवरुद्ध रहना सुषुप्ति का प्रयोजक है। इसी बात को ऋषि ने इन शब्दों में लिखा है—'जिसमें' सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है। ऐसा शरीर 'कारणशरीर' कहाता है।

दूसरी विशेषता इस शरीर की ऋषि ने बताई, कि 'वह प्रकृतिरूप होने से सर्वत्र विभु' है। यह अभी स्पष्ट किया गया है, कि उपर्युक्त सूक्ष्मशरीर में पाँच 'तन्मात्र' उस शरीर के उपादानभूत अथवा प्रकृतिरूप तत्त्व हैं। इसीलिए वे अन्य तेरह करणरूप अवयवों के आधार हैं, यही कारण है कि ऋषि ने इस शरीर को प्रकृतिरूप बताया है। 'विभु' कहने का यही तात्पर्य है, कि वह शरीर प्रत्येक उस स्थान में रहता है, जहाँ आत्मा का अस्तित्व है। वस्तुतः यह आत्मा का एक नियत आवेष्टन है, जो ईश्वर की प्रेरणा आदि निमित्तों से सृष्टि के प्रारम्भ में ही प्रत्येक आत्मा के साथ आबद्ध हो जाता है और प्रलयकालपर्यन्त उसकी वही स्थिति बनी रहती है। इस प्रकार प्रलयकाल के प्रारम्भ में अथवा सर्ग के अन्तरालकाल में भी

https://t.me/arshlibrary

इस प्रकार जो पृथिवी से लेकर परमेश्वर-पर्यन्त पदार्थों को गुण-कर्म स्वभाव से जानकर उसकी आज्ञा-पालन और उपासना में तत्पर होना, उससे विरुद्ध न चलना सृष्टि से उपकार लेना वह 'विवेक' कहाता है। यह मुक्ति का प्रथम साधन है।

आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर आत्मा को उससे छुटकारा मिलता है। साक्षात्कृतधर्मा आत्मा मोक्ष में चले जाते हैं, शेष आत्मा प्रलयकाल में सुप्त के समान अन्धकारमय अवस्था में रहते हैं। पुनः सर्गकाल उपस्थित होने पर पहले के समान सूक्ष्मशरीरों से आवेष्टित हो जाते हैं और संसारचक्र पूर्ववत् चालू रहता है। इस चक्र-परिवर्त्तन में प्रत्येक जीव न जाने कहाँ से कहाँ जाता है। इस प्रकार अनन्त जीवात्माओं से यह अखिल ब्रह्माण्ड भरा हुआ है। जहाँ आत्मा है, वहाँ सूक्ष्मशरीर अवश्य है, क्योंकि सूक्ष्मशरीर में आधारभूत तत्व 'तन्मात्र' हैं, इसी आशय से 'कारणशरीर' रूप में उनको 'विभु' कह दिया गया है। इसका यह अभिप्राय कदापि न समझना चाहिए, कि वह शरीर व्यक्तिरूप से सर्वत्र व्यापक है, ऐसे शरीर की कल्पना किया जाना अशक्य है।

इसी कारण वह 'सब जीवों के लिए एक है' इस तीसरी विशेषता के बताये जाने में प्रयुक्त 'एक' पद का अर्थ 'समान' है। इसका अभिप्राय यह है, कि प्रत्येक जीवात्मात्र के साथ जो सूक्ष्मशरीर उसके आवेष्टनरूप में आबद्ध हैं, वे सब रचना की दृष्टि से सर्वथा समान हैं। व्यक्तिरूप से भेद होने पर भी उनकी रचना व स्थिति में ईश्वरीय रचना है, इसमें भौतिक सम्बन्ध से अनुप्रेरित जीवात्माओं का कोई सहयोग नहीं रहता। स्थूलशरीर की रचना में जीवात्माओं का सहयोग रहता है, प्रत्येक जाति के शरीरों में यद्यपि प्रायः समानता रहती है, पर उनके अवयवभेद के कारण उन शरीरों को एक दूसरे से भिन्नरूप में स्पष्टतया पहचाना जा सकता है, और समस्त लोक-व्यवहार इस आधार पर चलता है। यह बात सूक्ष्मशरीरों की रचना में नहीं रहती, क्योंकि उनमें इस प्रकार का भेद अभिलक्षित नहीं होता, इसी कारण उनकी इस समानता को 'एक' पद से कह दिया गया है। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि वह शरीर सब जीवों का एक व्यक्तिरूप है, अर्थात् सब जीवों का व्यक्तिरूप से एकमात्र वही शरीर होता है। फलतः इस समस्त सन्तुलन से अब निर्बाधरूप में इस परिणाम पर पहुँचा जा सकता है, कि ऋषि ने 'कारणशरीर' का जो वर्णन किया है, वह वही 'कारणशरीर' सम्भव हो सकता है, जिसका विवरण ऊपर की पंक्तियों में दिया गया है। सत्यार्थप्रकारश की इन पंक्तियों का ऐसा ही अभिप्राय समझना उपयुक्त होगा।

यहाँ यह आशंका की जा सकती है, कि यदि सूक्ष्मशरीरों की रचना सर्वथा समान है, तो इन्द्रिय, मन, बुद्धि भी सब आत्माओं के साथ समान होने चाहिएँ, उनकी रचना में किसी प्रकार का भेद माना जाना अयुक्त होगा, परन्तु इसके विपरीत लोक में यह प्रत्यक्ष रूप से देखा जाता है कि सब मानवों अथवा सब प्राणियों में इन्द्रिय, मन, बुद्धि की स्थिति समान नहीं होती। इन आधारों पर विभिन्न जातियों और प्रत्येक व्यक्ति में कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य देखा जाता है।

इस विषय में गम्भीरता से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि संसार में जो इन्द्रिय, बुद्धि आदि के आधार पर भेद देखा जाता है, उसका आधार इन्द्रियादि के गोलक हैं, स्वतः इन्द्रियों की रचना या स्थिति ऐसी नहीं है। जब किसी इन्द्रिय के कार्य या व्यापार में कोई न्यूनता, बाधा अथवा शिथिलता देखी जाती है, तब लोक में इन्द्रिय की दुर्बलता या बिगाड़ का जो व्यवहार होता है, वह वस्तुतः गोलक की दुर्बलता या शिथिलता है। गोलक शरीर का वह अंग है, जिसके द्वारा इन्द्रिय अपने व्यापार को सम्पन्न

https://t.me/arshlibrary

[मुक्ति का द्वितीय साधन]

दूसरा साधन **'वैराग्य'**—अर्थात् जो विवेक से सत्याऽसत्य को जाना हो, उसमें से सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का त्याग करना 'वैराग्य' है।

[मुक्ति का तृतीय साधन]

तत्पश्चात् तीसरा साधन **'षट्क-सम्पत्ति'**—अर्थात् छः प्रकार के कर्म करना। एक **'शम'**—जिससे

करती है, गोलक के विकृत होने पर अनेक भौतिक अथवा यौगिक क्रियारूप साधनों से उनको विकार रहित बनाये जाने का प्रयत्न बराबर किया जा सकता है।

शरीर की यह रचना बड़ी अद्भुत एवं आश्चर्यजनक है। इसमें अनेक ऐसी ग्रन्थियाँ और संस्थान हैं, जो ऐसे रसों का निर्माण करते हैं, जिनसे समस्त अंगों को पोषण मिलता है, और इन्द्रियाँ तथा बुद्धि आदि भी अपने व्यापार को सम्पन्न करने में निर्बाध एवं समर्थ रहती हैं। अन्तःकरण के व्यापार को सुसम्पन्न एवं सुचारुरूप में संचालित रखने के लिए विशेष रसों के निर्माण में ज्ञानग्रन्थि अथवा भाग्यग्रन्थि (पिट्युटरी बॉडी) और चुल्लिकाग्रन्थि (थाईरायड् ग्लेण्ड्स्) का सहयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। इन ग्रन्थियों के किसी प्रकार के भी विकार व्यक्ति के बुद्धिमान्य आदि की न्यूनाधिकता को प्रकट कर देते हैं। फलतः यह भेद करणों के रचनाभेद पर आश्रित न रहकर उनके गोलकों अथवा उनके व्यापार में सहायक शरीरांगों पर आधारित रहता है। इस प्रकार करणों में किसी प्रकार के रचनाभेद की कल्पना निराधार है और उनका यह अतिसमान अथवा एकरूप निर्माण ही उन्हें एक कह देने का आधार है।

ऋषि ने 'तुरीयशरीर' का जो वर्णन किया है, इस विषय में पहले लिखा जा चुका है, कि यह सूक्ष्मशरीर के ऋषिप्रदर्शित अभौतिक भेद का विवरणमात्र है, अथवा उसको अतिरिक्त दिखाने के लिए चौथी संख्या पर दिया गया है। तीन शरीरों के वर्णन की प्रतिज्ञा कर ऋषि ने जो तीन शरीरों (स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर, कारणशरीर) का वर्णन किया है, वह आत्मा की बन्ध स्थिति के द्योतक तीन शरीर हैं। उनमें सूक्ष्मशरीर चाहे लिंगशरीर नाम से व्यवहृत हो अथवा कारणशरीर नाम से, वह भौतिक अथवा प्राकृत है, और आत्मा की बन्धस्थिति का द्योतक है, केवल सूक्ष्मता की साधारण समानता के आधार पर ऋषि ने अभौतिक भेद के रूप में शरीर नाम से आत्मा की उस स्थिति का उल्लेख कर दिया है, जो स्थिति वस्तुतः मुक्त आत्मा की है। निश्चित ही वह आत्मा की बन्ध स्थिति नहीं है। सूक्ष्मशरीर के प्रसंग में इस प्रकार अनायास उसका उल्लेख हो जाने पर सम्भवतः इसी कारण ऋषि ने 'तुरीयशरीर' के रूप में उसका पृथक् वर्णन किया है। क्योंकि वे तीन शरीर आत्मा की बन्ध स्थिति के द्योतक हैं, यदि केवल उनके वर्णन के मध्य में यह वर्णन रहता, तो इसमें अप्रासंगिक होने की आशंका की जा सकती थी, इसलिए आत्मा की बन्ध स्थिति के द्योतक उन तीन शरीरों का वर्णन करने के अनन्तर आत्मा की स्थिति का 'तुरीयशरीर' के रूप में वर्णन कर दिया गया है, जहाँ वह बन्ध स्थिति से बाहर है, और मोक्ष-आनन्द का अनुभव करता है।

षट्कसम्पत्ति—**'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धान्वितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्'** (शत० १४।७।२।८) अर्थात् इसलिए ऐसा ज्ञानी शान्त (शमवाला), दान्त (दान्तवाला), उपरत (उपरतिवाला), तितिक्षु (तितिक्षावाला) तथा श्रद्धायुक्त होकर आत्मा में परमात्मा का और परमात्मा में आत्मा के दर्शन करे। बृहदारण्यक (४।४।२३) में लिखा है—**'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति'**। अर्थ पूर्वोद्धृत सन्दर्भ जैसा है। शतपथ में 'समाधान' का वर्णन नहीं है, क्योंकि वह इन पाँच

https://t.me/arshlibrary

अपने आत्मा और अन्तःकरण को अधर्माचरण से हटाकर धर्माचरण में सदा प्रवृत्त रखना। दूसरा **'दम'**—जिससे श्रोत्रादि इन्द्रियों और शरीर को व्यभिचारादि बुरे कर्मों से हटाकर जितेन्द्रियत्वादि शुभ कर्मों में प्रवृत्त रखना। तीसरा **'उपरति'**—जिससे दुष्ट कर्म करनेवाले पुरुषों से सदा दूर रहना। चौथा **'तितिक्षा'**— चाहे निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ कितना ही क्यों न हो, परन्तु हर्ष-शोक को छोड़ मुक्तिसाधनों में सदा लगे रहना। पाँचवाँ **'श्रद्धा'**—जो वेदादिसत्यशास्त्र और इनके बोध से पूर्ण आप्त विद्वान्, सत्योपदेष्टा महाशयों के वचनों पर विश्वास करना। छठा **'समाधान'**—चित्त की एकाग्रता —ये छः मिलकर 'साधन तीसरा' कहाता है।

[मुक्ति का चतुर्थ साधन]

चौथा [साधन] **'मुमुक्षुत्व'**—अर्थात् जैसे क्षुधा-तृषातुर को सिवाय अन्नजल के दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता, वैसे विना मुक्ति के साधन और मुक्ति के दूसरे में प्रीति न होना, ये चार साधन हैं।

[अनुबन्ध-चतुष्टय]

और चार अनुबन्ध अर्थात् साधनों के पश्चात् ये कर्म करने होते हैं—

प्रथम **'अधिकारी'**— इनमें से जो इन चार साधनों से युक्त पुरुष होता है, वही मोक्ष का 'अधिकारी' होता है।

दूसरा **'सम्बन्ध'**—ब्रह्म की प्राप्तिरूप मुक्ति प्रतिपाद्य और वेदादिशास्त्र प्रतिपादक को यथावत् समझकर अन्वित करना।

तीसरा **'विषयी'**—सब शास्त्रों का प्रतिपादन विषय ब्रह्म, उसकी प्राप्तिरूप विषयवाले पुरुष का नाम 'विषयी' है।

चौथा **'प्रयोजन'**—सब दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द को प्राप्त होकर मुक्तिसुख का होना, ये **'चार अनुबन्ध'** कहाते हैं।

[श्रवण-चतुष्टय]

तदनन्तर **'श्रवणचतुष्टय'**। एक **'श्रवण'**— जब कोई विद्वान् उपदेश करे, तब शान्त, ध्यान देकर सुनना। विशेष ब्रह्मविद्या के सुनने में अत्यन्त ध्यान देना चाहिए, क्योंकि यह सब विद्याओं में सूक्ष्म विद्या है।

सुनकर दूसरा **'मनन'** एकान्त देश में बैठके सुने हुए का विचार करना। जिस बात में शङ्का हो पुनः पूछना और सुनते समय भी वक्ता और श्रोता उचित समझें तो पूछना और समाधान करना।

तीसरा **'निदिध्यासन'**—जब सुनने और मनन करने से निःसन्देह हो जाए, तब समाधिस्थ होकर उस बात को देखना-समझना कि वह जैसा सुना था, विचारा था, वैसा ही है वा नहीं, ध्यान-योग से देखना।

चौथा **'साक्षात्कार'**—अर्थात् जैसा पदार्थ का स्वरूप, गुण और स्वभाव हो, वैसा याथातथ्य जान लेना। यह **'श्रवणचतुष्टय'** कहाता है।

का फल है। बृहद० में श्रद्धा का उल्लेख नहीं है, क्योंकि इसके बिना शेष पाँच का अनुष्ठान सम्भव नहीं। वेदान्तदर्शन (३।४।२७) में कहा है—**'शमदमाद्युपेतस्स्यात्'**।

मैत्री—**'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्'** (योग० १।३३)-

https://t.me/arshlibrary

[मुक्ति के अन्य साधन]

सदा **'तमोगुण'**=अर्थात् क्रोध मलीनता, आलस्य, प्रमाद आदि, **'रजोगुण'**=अर्थात् ईर्ष्या-द्वेष, काम, अभिमान, विक्षेप आदि दोषों से अलग होके, **'सत्त्व'**=अर्थात् शान्त-प्रकृति, पवित्रता, विद्या-विचार आदि गुणों को धारण करे। **'मैत्री'**=सुखीजनों में मित्रता, **'करुणा'**=दुःखीजनों पर दया, **'मुदिता'**=पुण्यात्माओं से हर्षित होना, **'उपेक्षा'**=दुष्टात्माओं में न प्रीति और न वैर करना। नित्यप्रति न्यून-से-न्यून दो घण्टा पर्यन्त मुमुक्षु ध्यान अवश्य करे। जिससे भीतर के मन आदि पदार्थ साक्षात् हों।

[आत्मा शरीर से पृथक् है]

देखो, अपने चेतनस्वरूप हैं, इसी से ज्ञानस्वरूप और मन के साक्षी हैं, क्योंकि जब मन शान्त, चञ्चल, आनन्दित वा विषादयुक्त होता है, उसको यथावत् देखते हैं। वैसे ही इन्द्रियाँ प्राण आदि का ज्ञाता, पूर्वदृष्ट का स्मरणकर्त्ता, और एक काल में अनेक पदार्थों के वेत्ता[1], धारणाकर्षणकर्त्ता, और सबसे पृथक् हैं।[2] जो पृथक् न होते तो स्वतन्त्रकर्त्ता इनके प्रेरक अधिष्ठाता कभी नहीं हो सकते।

मैत्री, दया, मुदिता (हर्ष) और उपेक्षा की, सुख, दुःख, पुण्य, पाप विषयोंवाले व्यक्तियों के प्रति भावना से चित्त को साधक प्रसन्न-स्वच्छ-निर्मल रक्खे। इससे राग, द्वेष, ईर्ष्या, असूया आदि चित्त-मलों को दूर करने में सहायता मिलती है।

इन्द्रियाँ, प्राण आदि का ज्ञाता, पूर्वदृष्ट का स्मरणकर्त्ता—आपाततः नेत्रादि बाह्येन्द्रियों तथा आन्तरेन्द्रिय मन को द्रष्टा, श्रोता, स्मरणकर्त्ता आदि माना जाता है, परन्तु ये सब तो साधनमात्र हैं। वास्तव में तो ये सब चेतन आत्मा के धर्म हैं, भौतिक इन्द्रियों के नहीं। यही कारण है कि नेत्रों से आम के रूप को देखकर ही उसके स्वाद और गन्ध का ज्ञान हो जाता है, जबकि ये रसना तथा घ्राण से ज्ञेय हैं। इस विषय में न्यायदर्शन के निम्न सूत्र द्रष्टव्य हैं—३।१।१२, १४, १५

एक काल में अनेक पदार्थों के वेत्ता—यह सर्ववादीसम्मत है कि मन और इस कारण आत्मा एक काल में एक अर्थ को ही जान सकता है। इसमें **'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्'** (न्याय० १।१।१६ तथा पूर्वनिर्दिष्ट ३।१।१२, १४, १५) प्रमाण हैं। मन का एक समय में एक से अधिक अर्थों का ग्रहण न कर सकना उसकी सत्ता में हेतु है। इसलिए यहाँ पाठ कुछ इस प्रकार होना चाहिए—'एक काल में अनेक इन्द्रियों से एक अर्थ का वेत्ता'। इसमें न्यायदर्शन ३।१।१ का प्रमाण है—**'दर्शनस्पर्शाभ्यामेकार्थग्रहणात्'**—लोक में व्यवहार में यह देखा जाता है कि एक इन्द्रिय द्वारा गृहीत अर्थ अन्य इन्द्रिय द्वारा गृहीत होता है। एक व्यक्ति अनुभव करता है—जिस आम को मैंने चक्षु से देखा उसी को हाथ में लेकर त्वक् से छू रहा हूँ और उसी को रसनेन्द्रिय से चख रहा हूँ। यहाँ देखने, छूने और चखने का विषय एक है तथा इनका कर्त्ता भी एक है जो विभिन्न इन्द्रियों द्वारा गृहीत ज्ञान का प्रतिसन्धान करता है; कोई एक इन्द्रय कर्ता हो तो विभिन्न

---

१. यहाँ पाठ कुछ भ्रष्ट हुआ है। शास्त्रकारों का सिद्धान्त है कि एक काल में आत्मा एक अर्थ को ही जान सकता है। **'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्'** (न्याय १।१।१६,) के अनुसार मन की सत्ता का यही हेतु है, अतः हमारे विचार में यहाँ पाठ इस प्रकार होना चाहिए— 'एक काल में अनेक इन्द्रियों से एक अर्थ का वेत्ता।' इसमें न्यायदर्शन ३।१।१ का प्रमाण है—**'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्**

२. द्र०—'शरीरदाहे पातकाभावात्'। न्यायदर्शन ३।१।४॥ यह मृत शरीर की दृष्टि से है, यतः उससे आत्मा पृथक् हो गया, अतः उसके दाह में पातक नहीं होता।

https://t.me/arshlibrary

[पाँच प्रकार के क्लेश]

अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः[1] ॥

—योगशास्त्रे पादे २ सू० ३

इनमें, से 'अविद्या' का स्वरूप कह आये । पृथक् वर्त्तमान बुद्धि को आत्मा से भिन्न न समझना **'अस्मिता'**[2], सुख में प्रीति **'राग'**, दुःख में अप्रीति **'द्वेष'**, और सब प्राणिमात्र को यह इच्छा सदा रहती है कि मैं सदा शरीरस्थ रहूँ, मरूँ नहीं, मृत्यु-दुःख से त्रास **'अभिनिवेश'** कहाता है । इन **'पाँच क्लेशों'** को योगाभ्यास और विज्ञान से छुड़ाके ब्रह्म को प्राप्त होके मुक्ति के परमानन्द को भोगना चाहिए ।

[तथाकथित मुक्तियों की आलोचना]

प्रश्न—जैसी मुक्ति आप मानते हैं, वैसी अन्य कोई नहीं मानता । देखो, जैनी लोग मोक्षशिला वा[3] शिवपुर में जाके चुपचाप बैठे रहना । ईसाई चौथा आसमान, जिसमें विवाह, लड़ाई, बाजे-गाजे, वस्त्रादिधारण से आनन्द भोगना । वैसे ही मुसलमान सातवें आसमान, वाममार्गी श्रीपुर, शैव कैलाश, वैष्णव वैकुण्ठ, और गोकुलिये गोसाईं गोलोक आदि में जाके उत्तम स्त्री, अन्न-पान, वस्त्र, स्थान आदि को प्राप्त होकर आनन्द में रहने को मुक्ति मानते हैं ।

ज्ञानों का एकत्र प्रतिसन्धान होना असम्भव है । इसलिए विभिन्न इन्द्रियों द्वारा गृहीत एक विषय के विभिन्न ज्ञानों का प्रतिसन्धान (Co-ordination) करनेवाला इन्द्रियों से अतिरिक्त एक चेतन तत्त्व होना चाहिए—वही आत्मतत्व है ।

अविद्या—इससे पूर्व यजुर्वेद (४०।१४) मन्त्र का उल्लेख करके विद्या और अविद्या के द्वारा क्रमशः मोक्ष और ऐहिक सुख की प्राप्ति होना बताया है । समुल्लास के प्रारम्भ में ही स्वयं ग्रन्थकार ने 'अविद्या अर्थात् कर्मोपासना' लिखा है और इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—"कर्म और उपासना अविद्या इसलिए है कि यह बाह्य और आन्तर क्रियाविशेष का नाम है, ज्ञानविशेष नहीं ।"'अविद्या का स्वरूप कह आये' से स्पष्ट है कि यहाँ पूर्वकथित अर्थ ही विवक्षित है । 'अविद्या' पद के अर्थ 'कर्मोपासना' में समस्त वर्णाश्रमधर्म और विविध अधिभूतविषयक जानकारी का समावेश हो जाता है । संसार में जीवन को सुखमय बनाने के जितने साधन हैं, वे सब इसी के अन्तर्गत हैं । उनके अनुष्ठान से भावना का शुद्ध एवं पवित्र होना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा ये अनुष्ठान जीवन को सुखमय न बनाकर दुःख एवं विनाश के कारण बन जाते हैं । पवित्रता के साथ अनुष्ठित ये साधन संसार में तो जीवन को सुखमय बनाते ही हैं, उसके अतिरिक्त वे अध्यात्ममार्ग में प्रवृत्त साधक को जीवन्मुक्त करके मोक्षलाभ करने में सहायक होते हैं ।

शास्त्रों में प्रायः अध्यात्मविषयक जानकारी के लिए 'ज्ञान' तथा अधिभूतविषयक जानकारी के लिए ान' पद का प्रयोग होता है । प्रस्तुत मन्त्र में 'विद्या' और 'अविद्या' पद यथाक्रम इन्हीं अर्थों को कहते । इसी कारण 'अविद्या' (सांसरिक) दुःख से पार उतरने के लिए नौका के समान है और 'विद्या' भवसागर के पार ले-जाकर मोक्षधाम में प्रवेश करने के लिए है । प्रस्तुत प्रसंग में योगसूत्र-प्रतिपादित 'अविद्या' उपर्युक्त मन्त्रार्थ में असंगत है ।

---

१. कहीं-कहीं सूत्र में 'पञ्च' शब्द नहीं मिलता है ।

२. सं० २ में 'अभिनिवेश' अपपाठ है ।

३. 'मोक्षशिला वा शिवपुर' का निर्देश आगे बाहरवें समुल्लास में 'जैनों की मुक्ति का वर्णन, प्रकरण में किया है ।

https://t.me/arshlibrary

पौराणिक लोग **'सालोक्य'** = ईश्वर के लोक में निवास, **'सानुज्य'** = छोटे भाई के सदृश ईश्वर के साथ रहना। **'सारूप्य'** = जैसी उपासनीय देव की आकृति है वैसा बन जाना, **'सामीप्य'** = सेवक के समान ईश्वर के समीप रहना, **'सायुज्य'** = ईश्वर से संयुक्त हो जाना —ये चार प्रकार की मुक्ति मानते हैं। वेदान्ती लोग ब्रह्म में लय होने को मोक्ष समझते हैं।

उत्तर—जैनी १२ बाहरवें, ईसाई १३ तेरहवें, और १४ चौदहवें समुल्लास में मुसलमानों की मुक्ति आदि विषय विशेष कर लिखेंगे। जो वाममार्गी श्रीपुर में जाकर लक्ष्मी के सदृश स्त्रियाँ मिलना, मद्य-मांसादि खाना-पीना, रङ्ग-राग भोग करना मानते हैं, वह यहाँ से कुछ विशेष नहीं। वैसे ही महादेव और विष्णु के सदृश आकृतिवाले, पार्वती और लक्ष्मी के सदृश स्त्रीयुक्त होकर आनन्द भोगना यहाँ के धनाढ्य राजाओं से अधिक इतना ही लिखते हैं कि—'वहाँ रोग न होंगे, और युवावस्था सदा रहेगी'। यह उनकी बात मिथ्या है, क्योंकि जहाँ भोग वहाँ रोग, और जहाँ रोग वहाँ वृद्धावस्था अवश्य होती है।

चार प्रकार की मुक्ति—'सालोक्य', 'सानुज्य', 'सारूप्य', 'सामीप्य' तथा 'सायुज्य' कुल पाँच प्रकार की मुक्तियों का 'ये चार प्रकार की मुक्ति मानते हैं' इस वाक्य से सामंजस्य नहीं होता। आगे 'उत्तर' में 'सारूप्य' का उल्लेख न होने से मुक्ति चार प्रकार की ही रह जाती है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार पौराणिक 'सारूप्य' का निर्देश करते हैं, 'सानुज्य' का नहीं। स्वामी वेदानन्दजी ने नारायणशतक की टीका में श्रीमद्भागवत का श्लोक उद्धृत करके लिखा है—"**"सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णाति विना मत्सेवनं जनाः। इति मुक्ते पाञ्चविध्यं श्रीभागवतोक्तं, तत्र एकत्वस्य सायुज्यमुक्तेः भक्तैरनादराच्चतत्र इत्युक्तम्"**" (पृ० ३८, ३६, श्लोक ४३ की टीका) अर्थात् सालोक्य, सार्ष्टि (सानुज्य), सामीप्य, सारूप्य तथा एकत्व (सायुज्य) रूप में दी जाती हुई मुक्तियों को लोग मेरी सेवा के बिना ग्रहण नहीं करते। इस प्रकार श्रीभागवत के अनुसार मुक्ति के पाँच प्रकार हैं तथा सायुज्य (एकत्व) रूप मुक्ति के प्रति भक्तों का अनादर होने से (नारायणशतक के मूल श्लोक में) 'चार मुक्तियाँ' ऐसा कहा है।

ग्रन्थकार ने स्वरचित 'वेदविरुद्धमतखण्डन' में 'सारूप्य' से भिन्न चार प्रकार की मुक्तियों का ही निर्देश किया है। इस प्रसंग में ग्रन्थकार के वहाँ के लेख को हम यहाँ अविकलरूप में उद्धृत कर रहे हैं—

"चार प्रकार की मुक्ति का क्या अर्थ करते हो ? एक लोक में जीव और ईश्वर का निवास होना 'सालोक्य मुक्ति' इत्यादि अर्थ लेते हैं—यह मानना तुम्हारा ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर के रचे और नियत किये लोक में सब जीवों का निवास होने से स्वयमेव गदहे आदि की भी वह (सालोक्य) मुक्ति सिद्ध है और सब पदार्थों में अन्तर्यामिरूप से व्यापक होने से ईश्वर सबके समीप में वर्त्तमान है, इससे 'सामीप्य' मुक्ति भी स्वतः सिद्ध है। और 'सानुज्य' मुक्ति भी सब जीवों को स्वतः सिद्ध ही है, क्योंकि अनन्त चेतन ईश्वर की अपेक्षा जीवों में अन्तवाली चेतनता होने से जीव अल्पज्ञादि गुणवाले हैं। और 'सायुज्य' मुक्ति भी सब जीवों को साधारण सिद्ध ही है, क्योंकि ईश्वर के सर्वत्र व्यापक होने से और सब जीवों के उसमें व्याप्य होने से व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध स्वतः सिद्ध ही है। इसलिए यह चार प्रकार की मुक्ति मानना व्यर्थ ही है।

जब यह मुक्ति मानना व्यर्थ हुआ तो अब कैसी मुक्ति मानोगे ? यदि कहो कि वैकुण्ठ, गोलोक और कैलासादि के निवास को मुक्ति मानते हैं तो यह भी तुम्हारा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ पराधीन होने से ही दुःख प्राप्त होगा तो दुःख को मुक्ति नहीं कहा जाता। वेद और युक्ति से सिद्धान्त यही है कि मुक्ति एक ही है, अन्य नहीं। जैसे यथावत् जो विद्या, विज्ञान और धर्म का यथावत् अनुष्ठान करने के पश्चात्

https://t.me/arshlibrary

और पौराणिकों से पूछना चाहिए कि जैसी तुम्हारी चार प्रकार मुक्ति है, वैसी तो कृमि-कीट-पतङ्ग-पश्वादिकों की भी स्वतःसिद्ध=प्राप्त है, क्योंकि ये जितने लोक हैं, वे सब ईश्वर के हैं। इन्हीं में सब जीव रहते हैं, इसलिए **'सालोक्य'** मुक्ति सबको अनायास प्राप्त है। **'सामीप्य'** ईश्वर सर्वत्र व्याप्त होने से सब उसके समीप हैं, इसलिए **'सामीप्य'** मुक्ति भी स्वतः सिद्ध है। **'सानुज्य'** जीव ईश्वर से सब प्रकार छोटा और चेतन होने से स्वतः बन्धुवत् है, इससे **'सानुज्य'** मुक्ति भी विना प्रयत्न के सिद्ध है और सब जीव सर्वव्यापक परमात्मा में व्याप्य होने से संयुक्त हैं, इससे **'सायुज्य'** मुक्ति भी स्वतः सिद्ध है। और जो अन्य साधारण नास्तिक[1] लोग मरने से तत्वों में तत्व मिलकर परममुक्ति मानते हैं, वह तो कुत्ते, गदहे आदि को भी प्राप्त है।

ये मुक्तियाँ नहीं हैं, किन्तु एक प्रकार का बन्धन है, क्योंकि ये लोग शिवपुर वा मोक्षशिला, चौथे आसमान, सातवें आसमान, श्रीपुर, कैलाश, वैकुण्ठ, गोलोक को एकदेश में स्थानविशेष मानते हैं। जो वे उन स्थानों से पृथक् हों, तो मुक्ति छूट जाए, इसलिए जैसे १२ बारह पत्थर के भीतर[2] दृष्टिबन्ध[3] होते हैं, उसके समान बन्धन में होंगे। मुक्ति तो यही है कि जहाँ इच्छा हो वहाँ विचरे, कहीं अटके नहीं। न भय, न शङ्का, न दुःख होवे।

जो जन्म है वह **उत्पत्ति** और मरना **प्रलय** कहा है, समय पर जन्म लेते हैं।

[पूर्व जन्मों का स्मरण क्यों नहीं होता]

प्रश्न—जन्म एक है, वा अनेक ?

उत्तर—अनेक।

निर्भ्रान्त ब्रह्म को जानना, उससे सर्वज्ञ ईश्वर के सब आनन्द की प्राप्ति से जन्म-मरणादि सब दुःखों की निवृत्ति और ईश्वर के आनन्द के साथ सदैव अवस्थिति 'मुक्ति' कहाती है। इससे आपकी मानी मुक्ति मिथ्या ही है, यह निश्चय जानो।''

ईसाइयों की मुक्ति में विवाहादि—योहन्ना से प्रकाशित 'सुसमाचार' नामक इंजील के अध्याय १६, पायत ७ में स्वर्ग में मेम्ना (ईसा) के विवाह होने का उल्लेख है। यथा—"और मेम्ना का विवाह आ पहुँचा और उसकी स्त्री ने अपने को तैयार किया है"। इसके १२।६ में स्वर्ग में युद्ध का उल्लेख है, यथा—"और स्वर्ग में युद्ध हुआ।'' मीखायेल और उसके दूत अजगर से लड़े और अजगर और उसके दूत लड़े"। बाजे के लिए योहन्ना ८।७ आदि में देखो।

पुनर्जन्म

देहदात्मनो निष्क्रमणं मृत्युः ॥१॥

शरीर से जीवात्मा का निकल जाना मृत्यु है।

चालू शरीर में प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त होने पर शरीर का पतन हो जाता है। तब केवल देह का नाश हो जाता है, आत्मा देह को छोड़ जाता है। देह का प्रत्येक अंग अपने कारण में लय हो जाता है—**'सूर्यं चक्षुर्गच्छतु'** (ऋ० १०।१६।३) किन्तु आत्मा बना रहता है, क्योंकि वह **'अनुच्छित्तिधर्मा'** होने से **'न**

---

१. चारवाक आदि मतानुयायी।

२. नगर की बाहरी-सीमा-निदर्शक पत्थर। यह एक प्रकार का मुहावरा है। राजस्थान में प्रायः प्रयुक्त होता रहा है।

३. अर्थात् नज़रबन्द।

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—जो अनेक हों, तो पूर्वजन्म और मृत्यु की बातों का स्मरण क्यों नहीं ?

उत्तर—जीव अल्पज्ञ है, त्रिकालदर्शी नहीं, इसलिए स्मरण नहीं रहता। और जिस मन से ज्ञान करता है, वह भी एक समय में दो ज्ञान नहीं कर सकता। भला पूर्व जन्म की बात तो दूर रहने दीजिए, इसी देह में जब गर्भ में जीव था, शरीर बना, पश्चात् जन्मा, पाँचवें वर्ष से पूर्व तक जो-जो बातें हुई हैं, उनका स्मरण क्यों नहीं कर सकता ? और जाग्रत् वा स्वप्न में बहुत-सा व्यवहार प्रत्यक्ष में करके जब सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है, तब जाग्रत् आदि व्यवहार का स्मरण क्यों नहीं कर सकता ?

हन्यते हन्यमाने शरीरे' शरीर के नाश होने पर भी नहीं मरता। बस समय आने पर शरीर को छोड़कर चल देता है। इस प्रकार आत्मा का शरीर से वियुक्त होना ही मृत्यु है ॥१॥

इसी प्रकार—

संयोगश्च जन्म ॥२॥

(आत्मा का शरीर से) संयुक्त होना जन्म है।

जब शरीर का प्रत्येक अंग अपने कारण में लय हो जाता है तो आत्मा आकाशस्थ वायु में चला जाता है—**'सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा'** (ऋ० १०।१६।३) फलभोग के कारण प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जाने पर संचित में से फलोन्मुख कर्माशय फिर सामने आ जाता है। इस प्रकार पूर्वजन्मों में किये पाप-पुण्य के फल भोगने के स्वभाव से युक्त आत्मा, पूर्वशरीर को छोड़कर वायु में गया हुआ, जल, वायु, प्राण आदि के माध्यम से वीर्य में प्रविष्ट हो जाता है। तदन्तर ईश्वर की प्रेरणा से योनि के द्वारा गर्भाशय में स्थित हो, दस मास तक (ऋ० ५।७८।८।६, अथर्व० १।११।६) वहाँ पूर्ण विकास पाने के बाद बाहर आता है। इसी को जीवात्मा का जन्म लेना कहते हैं। शरीर से संयुक्त होकर जीवात्मा के जन्म लेने के सम्बन्ध में ऋग्वेद (५।७८।६) का यह मन्त्र द्रष्टव्य है—

दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि ।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि ॥

दस मास तक माता के भीतर रहकर प्राणों को धारण किये हुए जीव जीवित माता के गर्भ से सुखपूर्वक निकले ॥२॥

पुनर्जन्म की परिभाषा कहते हैं—

प्रेत्यभावः पुनरुत्पत्तिः ॥३॥

यहाँ से जाकर फिर होना पुनर्जन्म है।

जिस शरीर को जीवात्मा एक बार छोड़ देता है उसे फिर प्राप्त नहीं कर सकता। इस प्रकार एक देह को छोड़कर देहान्तरप्राप्ति को पुनर्जन्म कहते हैं। मोक्ष-प्राप्ति होने पर निश्चित समय के अन्तराल को छोड़कर एक देह का परित्याग कर देहान्तर को ग्रहण करने का क्रम निरन्तर चलता रहता है। जन्म-मरण के इस सिलसिले का न कोई आदि है, न अन्त ॥३॥

जन्म-मरण के अनुक्रम का कारण बताते हुए कहा—

पुनर्जन्मसिद्धिः आत्मनित्यत्वात् ॥४॥

आत्मा के नित्य होने से पुनर्जन्म की सिद्धि होती है।

आत्मा को नित्य मानने पर ही शरीरों को छोड़ने और ग्रहण करने का अनुक्रम सम्भव है। यदि आत्मा अनित्य होता तो शरीर के साथ ही नष्ट होनेवाली वस्तु फिर से अस्तित्व में नहीं आ सकती। याज्ञवल्क्य ने प्रश्न किया—**'मर्त्यः स्विन् मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति'** (बृहद० ३।६।२८) जब वृक्ष को काट

https://t.me/arshlibrary

और तुमसे कोई पूछे कि बारह वर्ष के पूर्व तेरहवें वर्ष के पाँचवें महीने के नवमें दिन दश बजे पर पहिली मिनट में तुमने क्या किया था ? तुम्हारा मुख, हाथ, कान, नेत्र, शरीर किस ओर, किस प्रकार का था ? और मन में क्या विचार था ? तो कुछ न बता सकोगे। जब इसी शरीर में ऐसा है तो पूर्वजन्म की बातों के स्मरण में शङ्का करनी केवल लड़केपन की बत है और जो स्मरण नहीं होता है, इसी में जीव सुखी है। नहीं तो सब जन्मों के दुःखों को देख-देख दुःखित होकर मर जाता। जो कोई पूर्व और पीछे जन्म के वर्त्तमान को जानना चाहे, तो भी नहीं जान सकता, क्योंकि जीव का ज्ञान और स्वरूप अल्प है। यह बात ईश्वर के जानने योग्य है, जीव के नहीं।

गिराते हैं तो वह अपने मूल से फिर उठ खड़ा होता है, परन्तु जब मृत्यु पुरुष को काट गिराती है तो वह किस मूल से फिर उठ खड़ा होता है ? जब किसी से उत्तर न बन पड़ा तो स्वयं याज्ञवल्क्य ने कहा—वह मूल आत्मा है जो स्वरूप से कभी उत्पन्न नहीं होता और सदा बना रहता है। **"सस्यमिव पच्यते मर्त्यः सस्यमिवाजायते पुनः"** (कठ० १।६) मनुष्य अन्न की तरह पैदा होता, बढ़ता, नष्ट होता और पुनः उत्पन्न होता है ॥४॥

वेदादिशास्त्रों में भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है—

शास्त्रवचनाच्च ॥५॥

शास्त्रों के वचनों से भी पुनर्जन्म सिद्ध है।

वैदिक धर्म और उसकी शाखा-प्रशाखा के प्रमाणग्रन्थों में सर्वत्र पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। जैसे—

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा ।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ॥ —अथर्व० ११।४।१४

मनुष्य गर्भ के अन्दर साँस लेता है और छोड़ता है। हे प्राण ! जब तू उस गर्भस्थ बालक को परिपुष्ट कर देता है तो वह फिर उत्पन्न होता है।

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् ।
पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन् ।
वैश्वानरोऽदब्धस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥ —यजुः० ४।१५

मुझे मन फिर से प्राप्त हुआ है, प्राण भी फिर से मिला है, मेरा देहयुक्त आत्मा भी फिर से मिला है, मुझे आँख और कान फिर से मिले हैं। अतएव मेरा जीवन मुझे फिर से मिला है। सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वरक्षक और पापों से बचानेवाला भगवान् दुराचार और पाप से हमें बचाए।

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव ॥ —अथर्व० ७।६७।१

मुझे इन्द्रियों का सामर्थ्य अर्थात् मनुष्यदेह बार-बार प्राप्त हो। मन, जीव और देह तथा धन व ब्रह्मज्ञान भी बार-बार प्राप्त हो। अग्निहोत्रादि में समर्थ हम लोग जैसे पूर्वजन्मों म शुभ गुण धारण करनेवाली बुद्धि, उत्तम शरीर और इन्द्रियों के स्वामी थे, वैसे ही इस जन्म में भी हों।

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि ।
धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत ॥

—अथर्व० ५।१।२

https://t.me/arshlibrary

[पूर्वजन्म के विस्मृत कर्मों का फल देना निरर्थक नहीं]

प्रश्न—जब जीव को पूर्व का ज्ञान नहीं, और ईश्वर इसको दण्ड देता है, तो जीव का सुधार नहीं हो सकता, क्योंकि जब उसको ज्ञान हो कि हमने अमुक काम किया था, उसी का यह फल है, तभी वे पाप-कर्मों से बच सके।

उत्तर[1]—तुम ज्ञान के प्रकार का मानते हो ?

प्रश्न[2]—प्रत्यक्षादि प्रमाणों से आठ प्रकार का।

उत्तर—तो जब तुम जन्म से लेकर समय-समय में प्राप्त राज, धन, बुद्धि, विद्या, दारिद्र्य, निर्बुद्धि मूर्खता आदि सुख-दुःख संसार में देखकर पूर्वजन्म का ज्ञान क्यों नहीं करते ? जैसे एक अवैद्य और एक वैद्य को कोई रोग हो, उसका निदान अर्थात् कारण वैद्य जान लेता और अविद्वान[3] नहीं जान सकता। उसने वैद्यक विद्या पढ़ी है, और दूसरे ने नहीं, परन्तु ज्वारादि रोग के होने से अवैद्य भी इतना जान सकता है कि मुझ से कोई कुपथ्य हो गया है, जिससे मुझे यह रोग हुआ है। वैसे ही जगत् में विचित्र सुख-दुःख आदि की घटती-बढ़ती देखके पूर्वजन्म का अनुमान क्यों नहीं जान लेते ?

जो प्रथम विद्यमान जीव अपने शरीर-धारण के कारणरूप कर्मों को प्राप्त करता है और उन कर्मों से नाना प्रकार के शरीर धारण करता है और देह-धारण करने की इच्छा से प्रथम गर्भ में प्रविष्ट होता है और वही बिना उपदेश की हुई वाणी को अपने पूर्वजन्म के संस्कारों से जानता है।

मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः ।
नानायोनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै ॥
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः ।
मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥
अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः ॥

—निरुक्त अ० १३।१६।१,२,७

मैं मरकर पैदा हुआ, पैदा होकर फिर मरा, अनेक योनियों में मैंने जन्म लिया। अनेक प्रकार के मैंने भोजन किये, अनेक स्तनों से मैंने दूध पिया। अनेक प्रकार के माता-पिता और मित्रों को देखा। गर्भ में नीचे सिर और ऊपर पैर इत्यादि नाना प्रकार की पीड़ाओं को सहन करके अनेक जन्मों को धारण किया।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि अन्यानि संयाति नवानि देही ॥ —गीता २।२२

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये धारण कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को त्यागकर दूसरे नये शरीर को धारण कर लेता है।

महाभारत में एक स्थान पर (शां० पर्व १५।५६) एक घर को छोड़कर दूसरे घर में जाने का दृष्टान्त पाया जाता है। एक अमेरिकन लेखक ने यही कल्पना पुस्तक पर नई जिल्द बाँधने का दृष्टान्त देकर भी व्यक्त की है। गीता में ही अन्यत्र (२।१३) कहा है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

---

१. यह सिद्धान्ती का वचन है। २. यह पूर्वपक्षी का वचन है। ३. अविद्वान् अर्थात् अवैद्य।

https://t.me/arshlibrary

और जो पूर्वजन्म को न मानोगे, तो परमेश्वर पक्षपाती हो जाता है, क्योंकि विना पाप के दारिद्र्यादि दुःख, और विना पूर्वसञ्चित पुण्य के राज्य, धनाढ्यता और बुद्धिमत्ता उसको क्यों दी ? और पूर्वजन्म के पाप-पुण्य के अनुसार दुःख-सुख के देने से परमेश्वर न्यायकारी यथावत् रहता है ।

प्रश्न—एक जन्म होने से भी परमेश्वर न्यायकारी हो सकता है । जैसे सर्वोपरि राजा जो करे सो न्याय । जैसे माली अपने उपवन में छोटे और बड़े वृक्ष लगाता, किसी को काटता, उखाड़ता और किसी की रक्षा करता, बढ़ाता है । जिसकी जो वस्तु है, उसको वह चाहे जैसे रक्खे । उसके ऊपर कोई भी दूसरा न्याय करनेवाला नहीं, जो उसको दण्ड दे सके, वा ईश्वर किसी से डरे ।

उत्तर—परमात्मा जिसलिए न्याय चाहता करता, अन्याय कभी नहीं करता, इसीलिए वह पूजनीय और बड़ा है । जो न्याय-विरुद्ध करे, वह ईश्वर ही नहीं । जैसे माली युक्ति के विना मार्ग वा अस्थान में वृक्ष लगाने, न काटने योग्य को काटने, अयोग्य को बढ़ाने, योग्य को न बढ़ाने से दूषित होता है, इसी प्रकार विना कारण के करने से ईश्वर को दोष लगे ।

जैसे शरीर धारण करने पर जीवात्मा को इस देह में बचपन, जवानी और बुढ़ापा प्राप्त होता है वैसे ही (मरने पर) दूसरा शरीर प्राप्त हो जाता है ।

बौद्ध लोग यद्यपि आत्मा को नित्य नहीं मानते तथापि वैदिक धर्म में वर्णित पुनर्जन्म की कल्पना को उन्होंने अपने धर्म में पूरी तरह अपनाया है । इस्लाम और ईसाईमत के अनुयायी यद्यपि पुनर्जन्म के सिद्धान्त को नहीं मानते, तथापि उनके मान्य ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र पुनर्जन्म के सिद्धान्त के पोषक वचन उपलब्ध हैं । यूरोप आदि देशों के भी महान् दार्शनिक और कवि इसे निकाल नहीं पाये । बीसवीं शताब्दी में 'ईश्वर मर गया' का नारा देनेवाले निरीश्वरवादी जर्मन दार्शनिक नित्शे को भी पुनर्जन्म को स्वीकार करना पड़ा । उसने लिखा—"कर्मशक्ति के जो रूपान्तर हमेशा हुआ करते हैं, वे मर्यादित हैं और काल अनन्त है । इसलिए कहना पड़ता है कि एक बार जो नामरूप हो चुके हैं, वही फिर भी यथापूर्व कभी-न-कभी अवश्य उत्पन्न होते हैं और इसी से कर्मचक्र केवल आधिभौतिक दृष्टि से सिद्ध हो जाता है । यह कल्पना या उपपत्ति मुझे अपनी स्फूर्ति से मालूम हुई है ।" (Complete works of Nitetsche Vol. XVI P. 235-236) मैक्समूलर ने भी मरणोपरान्त आत्मा के सूक्ष्मशरीर के साथ एक नाड़ी के रास्ते हृदय से निकल जाने और अपने कर्मों के अनुसार अगला जन्म धारण करने की बात कही है ॥५॥

पुनर्जन्म न मानने से ईश्वर की न्याय व्यवस्था नष्ट हो जाएगी—

पापपुण्ययोर्विपाकार्थं पूर्वापरजन्मधारणम् ॥६॥

पाप-पुण्य के विपाक के लिए पूर्वापर जन्म धारण करना आवश्यक है ।

जीव शाश्वत अर्थात् नित्य है और उसके कर्म भी प्रवाह से नित्य है । कर्ता और कर्म का नित्य सम्बन्ध है 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' प्राणी कर्म से बँधा हुआ है । **'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'** (गीता ३।५) बिना कर्म किये कोई मनुष्य पलभर भी नहीं रह सकता और बिना भोगे कर्म का क्षय नहीं होता । पूर्वापर जन्म न मानने से **'कृतहानि'** तथा **'अकृताभ्यागम'** का दोष आता और ईश्वर भी 'नैर्घृण्य' एवं 'वैषम्य' का दोषी बनता है । जो लोग परजन्म नहीं मानते उनके गले कृतहानि का दोष पड़ता है; क्योंकि परजन्म न होने से मृत्यु से पूर्व किये गये कर्म बिना फल दिये रह जाएँगे जबकि प्राणिमात्र को सिद्धान्ततः अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता ही है—**'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'** । इसीलिए 'कृतहानि' दोष से बचने के लिए परजन्म का मानना आवश्यक है । कर्म किये बिना सुख-दुःखरूप फल का पाना

https://t.me/arshlibrary

परमेश्वर के लिए न्याययुक्त काम करना आवश्यक है, क्योंकि वह स्वभाव से पवित्र और न्यायकारी है। जो उन्मत्त के समान काम करे, तो जगत् के श्रेष्ठ न्यायधीश से भी न्यून और अप्रतिष्ठित होवे। क्या इस जगत् में विना योग्यता के उत्तम काम किये प्रतिष्ठा, और दुष्ट काम किये विना दण्ड देनेवाला निन्दनीय अप्रतिष्ठित नहीं होता ? इसलिए ईश्वर अन्याय नहीं करता, इसी से किसी से नहीं डरता।

[कर्मानुसार ही भोगादि]

प्रश्न—परमात्मा ने प्रथम ही से जिसके लिए जितना देना विचारा है उतना देता, और जितना काम करना है, उतना करता है।

उत्तर—उसका विचार जीवों के कर्मानुसार होता है, अन्यथा नहीं। जो अन्यथा हो, तो वही अपराधी अन्यायकारी होवे।

'अकृताभ्यागम' दोष कहाता है। पूर्वजन्म न मानने से यह दोष उत्पन्न होता है। एक आत्मा अत्यन्त सुखसम्पन्न परिवार में जन्म लेकर समस्त ऐश्वर्यों का भोग करता और दूसरा दरिद्र की सन्तान बनकर जीवनभर दर-दर की ठोकरें खाता है। ऐसा क्यों ? पूर्वजन्म है नहीं जिसमें उन्होंने पाप-पुण्य किये हों। तो फिर, बैठे-बिठाये बिना कर्म किये एक को पुरस्कार और दूसरे को दण्ड क्यों ? बिना कारण के कार्य हो नहीं सकता। इसलिए इस दोष के निवारणार्थ पूर्वजन्म का मानना अनिवार्य है। इसी प्रकार **'नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः'**—परमेश्वर न किसी के पाप को लेता है, न पुण्य को; अपितु सबको अपने-अपने कर्मों के अनुसार फल देता है। तब यदि पूर्वजन्म न माना जाए (जिसमें उसने पाप किया हो) तो बिना अपराध के किसी को दण्ड देना उसपर अत्याचार करना है— यही नैर्घृण्य है। संसार में व्याप्त वैषम्य भी इस सन्दर्भ में चिन्त्य है। कोई सुखी है तो कोई दुःखी। यदि यह निर्हेतुक है तो ऐसा करनेवाला न दयालु है, न न्यायकारी। पुण्यकर्म के बिना सुख देना और पापकर्म के बिना दुःखरूप फल देना—दोनों ही अनुचित हैं। इन सब दोषों का एकमात्र समाधान पूर्वापर जन्म मानने से होता है। पूर्वजन्म के कर्मों का फल भोगने के लिए वर्त्तमान जन्म मानने से अकृताभ्यागम दोष की निवृत्ति हो जाती है और परजन्म मानने से वहाँ इस जन्म के कर्मों का फल भोगे जाने से कृतहानि दोष नहीं रहता। ऐसे ही कर्मानुसार सुख-दुःख की व्यवस्था होने से ईश्वर न्यायकारी सिद्ध होकर उसमें नैर्घृण्य तथा वैषम्य दोष नहीं रहते ॥६॥

पुनर्जन्म की सिद्धि में एक अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

उद्यानार्थञ्च ॥७॥

उन्नति के लिए भी।

यदि इसी जन्म को पहला और अन्तिम जन्म माना जाए तो जीवन का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। यदि हमें यह विश्वास हो जाए कि इस देह के साथ एक दिन हमारा भी अन्त हो जाएगा तो हमें इस जीवन के साथ क्या लगाव रह जाएगा ? परिणामतः नैतिक मूल्यों का ह्रास होगा। फिर तो सच्चाई, ईमानदारी, न्याय, प्रेम, त्याग आदि की उपेक्षा करके **'यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्'** के अनुसार जीवन बिताना ही श्रेयस्कर होगा। अल्पज्ञ होने से जीव से इस जन्म में न जाने कितनी भूलें होंगी। पुनर्जन्म न मानने पर उन्हें सुधार करके अपने को पहले से अच्छा बनाने का अवसर ही नहीं रहता। एक कक्षा में रहते हुए एक वर्ष में जो पढ़ लिया सो पढ़ लिया। परीक्षा में असफल होने पर दुबारा पढ़ने का अवसर नहीं और सफल होने पर और आगे पढ़ने का अवसर नहीं। एक ही जन्म में किये कर्मों

https://t.me/arshlibrary

प्रश्न—बड़े छोटों को एकसा ही सुख-दुःख है। बड़ों को बड़ी चिन्ता और छोटों को छोटी। जैसे किसी साहूकार का विवाद राजघर में लाख रुपये का हो, तो वह अपने घर से पालकी में बैठकर कचहरी में उष्णकाल में जाता हो। बाजार में होके उसको जाता देखकर अज्ञानी लोग कहते हैं कि—'देखो, पुण्य-पाप का फल। एक पालकी में आनन्दपूर्वक बैठा है, और दूसर विना जूते पहिरे ऊपर नीचे से तप्यमान होते हुए पालकी को उठाकर ले जाते हैं' परन्तु बुद्धिमान् लोग इसमें यह जानते हैं कि जैसे-जैसे कचहरी निकट आती जाती है, वैसे-वैसे साहूकार को बड़ा शोक और सन्देह बढ़ता जाता, और कहारों को आनन्द होता जाता है। जब कचहरी में पहुँचते हैं, तब सेठजी इधर-उधर जाने का विचार करते हैं कि प्राड्विवाक् (वकील) के पास जाऊँ वा सरिश्तेदार के पास ? आज हारूँगा वा जीतूँगा, न जाने क्या होगा ? और कहार लोग तमाखू पीते, परस्पर बातें-चीतें करते हुए प्रसन्न होकर आनन्द में सो जाते हैं। जो वह जीत जाए तो कुछ सुख, और हार जाए तो सेठजी दुःखसागर में डूब जाए और वे कहार जैसे-के-वैसे रहते हैं।

का फल भोगते रहने के लिए सदा के लिए नरक में छोड़ देना कहाँ का न्याय है ? और मनुष्य जीवन का लक्ष्य तो इतना महान् है कि एक जन्म में उसे पाना नितान्त असम्भव है। इसीलिए गीता में कहा—**'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'** (६।४५) जन्म-जन्मान्तर की साधना के बाद कहीं मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अर्जुन ने जिज्ञासा की कि योगसिद्धि के लिए प्रयत्नशील कोई व्यक्ति यदि सिद्धि पाने से पहले ही काल का ग्रास बन जाए तो क्या होगा ? श्रीकृष्ण ने समाधान किया कि उसका इस जन्मका पुरुषार्थ व्यर्थ नहीं होगा। आत्मा अमर होने से इस जन्म के संस्कार ज्यों-के-त्यों बने रहेंगे और इस जन्म में जहाँ उसका अभ्यास छूटा है वहाँ से आगे प्रारम्भ करने के लिए उसे फिर अवसर मिलेगा। इतना ही नहीं, उसे अनुकूल परिस्थितियाँ देने के लिए—

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्॥ —गीता ६।४१, ४२

उसका जन्म श्रेष्ठ कुल में होगा। **'नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः'** (मनु० ४।१३७) एक बार की असफलता से निराश नहीं होना चाहिए। यह तभी सोचा जा सकता है जब फिर भी अवसर मिलना निश्चित हो। ईश्वरीय व्यवस्था में पूर्ण सफलता—मोक्ष की प्राप्ति होने तक बार-बार अवसर मिलता है। इसी से जीवन में उत्साह और शुभ कर्मों में प्रवृत्ति को बल मिलेगा। मनुष्य हँसते-हँसते मृत्यु का आलिंगन करेगा, जब उसे विश्वास होगा कि पुराने कपड़े इसलिए उतारे जा रहे हैं कि नये पहनाये जा सकें या एक स्तन से उसे (बालक को) इसलिए हटाया जा रहा है कि दूसरे स्तन से लगाया जा सके॥७॥

जैसे कर्मफल भोगने के लिए पुनर्जन्म होना आवश्यक है वैसे ही पुनर्जन्म के लिए पूर्वजन्म में किये कर्मों का होना अनिवार्य है, क्योंकि—

पूर्वकृतफलानुबन्धाज्जात्यायुर्भोगाः॥८॥

पहले किये कर्मों के फलस्वरूप ही जाति, आयु और भोग होते हैं।

कोई घटना अकारण नहीं घटती। कर्म ही जाति, आयु और भोग में कारण है, अतः जो जाति, आयु अथवा भोग इस जन्म के कर्मफलरूप नहीं हैं उनका कारण प्राग्भवीय अदृष्टजन्मवेदनीय कर्म होगा। ईश्वर स्वेच्छाचारी नहीं है। संसार में वैचित्र्य एवं वैविध्य तो प्रत्यक्ष है, किन्तु वह अव्यवस्थित न होकर किसी

https://t.me/arshlibrary

इसी प्रकार जब राजा सुन्दर, कोमल बिछौने में सोता तो है तो भी शीघ्र निद्रा नहीं आती। और मजूर कंकर, पत्थर और मट्टी, ऊँचे-नीचे स्थल पर सोता है, उसको झट ही निद्रा आती है। ऐसे ही सर्वत्र समझो।

उत्तर—यह समझ अज्ञानियों की है। क्या किसी साहूकार से कहें कि तू कहार बन जा, और कहार से कहें कि तू साहूकार बन जा, तो साहूकार कभी कहार बनना नहीं, और कहार साहूकार बनना चाहते हैं। जो सुख-दुःख बराबर होता, तो अपनी-अपनी अवस्था छोड़ नीच और ऊँच बनना दोनों न चाहते।

देखो, एक जीव विद्वान्, पुण्यात्मा, श्रीमान् राजा की राणी के गर्भ में आता, और दूसरा महादरिद्र घसियारी के गर्भ में आता है। एक को गर्भ से लेकर सर्वथा सुख, और दूसरे को सब प्रकार दुःख मिलता है। एक जब जन्मता है, तब सुन्दर सुगन्धियुक्त जलादि से स्नान, युक्ति से नड़ीछेदन, दुग्धपानदि यथायोग्य प्राप्त होते हैं। जब वह दूध पीना चाहता है, तो उसके साथ मिश्री आदि मिलाकर यथेष्ट मिलता है। उसको प्रसन्न रखने के लिए नौकर-चाकर खिलौना, सवारी, उत्तम स्थानों में भ्रमण, और लाड़ से आनन्द प्राप्त होता है। दूसरे का जन्म जङ्गल में होता, स्नान के लिए जल भी नहीं मिलता। जब दूध पीना चाहता, तब दूध के बदले में घूँसा-थपेड़ा आदि से पीटा जाता है। अत्यन्त आर्त्तस्वर से रोता है, कोई नहीं पूछता। इत्यादि जीवों को विना पूर्वजन्म के पुण्य-पाप के सुख-दुःख होने से परमेश्वर पर दोष आता है।

विधि-विधान के अनुसार है। माली उपवन का व्यवस्थापक होते हुए भी किसी युक्ति से ही वृक्ष लगाता, काटता और उनका संवर्धन करता है। संसार में स्पष्ट दृष्टिगोचर होनेवाला स्थितिभेद संग-प्रसंग भेद से हुआ नहीं माना जा सकता, क्योंकि संग-प्रसंग भेद की कल्पना जहाँ नहीं की जा सकती ऐसी जो माता के उदर की स्थिति है वह भी सबके लिए समान नहीं होती। पेट में होते हुए भी एक जीव के लिए सुख होता है और दूसरा वहीं क्लेश पाता है। एक धर्मात्मा के पेट से जन्म लेता और दूसरा पापी के पेट से। ईश्वर न्यायकारी होने से पक्षपात नहीं कर सकता, अतः जात्यायुर्भोगात्मक भेद का कारण आत्मा के अपने कर्म ही हो सकते हैं।

जन्म का नाम 'जाति' है—जैसे मनुष्य, गौ, घोड़ा, कीट, पतंग, पक्षी आदि। उस देहविशेष का स्थिति काल 'आयु' कहाता है। सुख-दुःख के हेतु विषयों की प्राप्ति का नाम 'भोग' है। इन तीनों का कारण पूर्वजन्म में किये कर्म हैं। यदि ऐसा न होता तो समस्त आत्माओं की स्थिति एक समान होती। जैसे शरीर की उत्पत्ति में कर्म निमित्त हैं वैसे ही शरीरविशेष के साथ संयुक्त होने अर्थात् योनिविशेष में जन्म लेने में भी पूर्वजन्मकृत कर्म ही कारण हैं। इसीलिए एक आत्मा को मनुष्य का, दूसरे को हाथी का, तीसरे को शेर का, चौथे को चिड़िया का और पाँचवें को चींटी का शरीर मिलता है। इसी प्रकार एक के जन्म लेते ही मर जाने, दूसरे के ३५ वर्ष तक जीवित रहने और तीसरे के सौ वर्ष पार कर जाने में भी पहले जन्म के किये कर्म ही कारण हैं। एक जीव रानी के गर्भ में आता है और दूसरा घसियारी के। राजपुत्र को गर्भकाल में भी सुख, जन्मते समय सुख और आगे भी जीवनभर सुख ही प्राप्त होता है। जब वह पैदा होता है तब सुन्दर सुगन्धियुक्त जलादि से स्नान, युक्ति से नाड़ी-छेदन आदि होता है। जब दूध पीना चाहता है, अविलम्ब यथेष्ट मिलता है। उसे प्रसन्न रखने के लिए चारों ओर नौकर-चाकर खड़े रहते हैं। दूसरे का जन्म जंगल में होता है। जन्मते समय किसी प्रकार की सुविधा नहीं। बाल्यावस्था में यथेष्ट खानपान का

https://t.me/arshlibrary

दूसरा—जैसे विना किये कर्मों के सुख-दुःख मिलते हैं, तो आगे नरक-स्वर्ग भी न होना चाहिए क्योंकि जैसे परमेश्वर ने इस समय विना कर्मों के सुख-दुःख दिया है, वैसे मरे पीछे भी जिसको चाहेगा उसको स्वर्ग में, और जिसको चाहे नरक में भेज देगा। पुनः सब जीव अधर्मयुक्त हो जाएँगे, धर्म क्यों करें ? क्योंकि धर्म का फल मिलने में सन्देह है। परमेश्वर के हाथ है, जैसी उसकी प्रसन्नता होगी वैसा करेगा, तो पापकर्मों में भय न होकर संसार में पाप की वृद्धि और धर्म का क्षय हो जाएगा। इसलिए पूर्वजन्म के पुण्य-पाप के अनुसार वर्त्तमान जन्म और वर्त्तमान तथा पूर्वजन्म के कर्मानुसार भविष्यत् जन्म होते हैं।

अभाव और जीवनभर की ठोकरें। इस सुख-दुःख का कारण भी पूर्वजन्म के कर्म ही हैं। इतना ही नहीं—एक आत्मा के धनी परिवार में जन्म लेने किन्तु विकृतांग अथवा अस्वस्थ होने के कारण यथेच्छ भोग करने में असमर्थ होने और दूसरे के स्वस्थ शरीर के स्वामी होकर भी निर्धन परिवार में जन्म लेने के कारण भूख से तड़प-तड़पकर मर जाने में भी पूर्वजन्म के कर्म कारण हैं। एक के मनुष्य-योनि में जन्म लेकर भी पशुओं का-सा जीवन व्यतीत करने को विवश होने और दूसरे के कुत्ते की देह में जन्म लेकर भी मोटरों में सैर करने, मनचाहा भोजन करने और गोद में बैठकर दुलराये जाने में भी आत्मा के सुकृत और दुष्कृत कर्म ही निमित्त हैं। यह ठीक है कि **'कर्मणो गहना गतिः'** कर्मगति बड़ी गहन और विचित्र है, किन्तु इतना निश्चित है कि जिस प्रकार हम एक ही धरती में से एक-सी परिस्थितियों में कहीं आम, कहीं गुलाब, कहीं मटर और कहीं गेहूँ आदि को अंकुरित होता देख सहज ही जान लेते हैं कि यह सब अन्तर बीजों में निहित अन्तर के कारण है, वैसे ही प्राणियों के देह, आयु और भोगों में अन्तर देखकर उनसे संयुक्त आत्माओं के पूर्वकर्मों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है, अतः जन्मादि सम्बन्धी विशेषताओं के नियामक अपने-अपने विशेष कर्म ही हैं। यह भी देखा गया है कि जिनकी जाति अथवा प्रसव (**समानप्रसवात्मिका जातिः**—न्याय २।२।६८) समान होता है उनकी आयु प्रायः समान होती है और जिनका प्रसव तथा आयु समान होते हैं उनका भोग भी प्रायः समान होता है। जाति, आयु और भोग की प्राप्ति में पूर्वजन्म के कर्मों के स्थानपर ईश्वर की इच्छा या अनुग्रह को कारण मान लिया जाए तो ईश्वर तो अन्यायकारी सिद्ध होगा ही, जीवों की भी धर्म में प्रवृत्ति न होकर संसार में पाप की वृद्धि होगी।

सूत्रान्तर्गत 'जाति' शब्द से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का ग्रहण नहीं होता। महाभाष्य में अष्टाध्यायी के ४।१।६३ सूत्र में प्रयुक्त 'जाति' शब्द की व्याख्या करते हुए 'जाति' का निम्न लक्षण लिखा है—

आकृतिग्रहणा जातिर्लिंगानां च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह ॥

इसकी व्याख्या करते हुए कैयट ने लिखा—**'आकृतिर्ग्रहणं यस्याः सा आकृतिग्रहणा अवयवसन्निवेशव्यङ्ग्येत्यर्थः। एतेन गोत्व अश्वत्वादिर्जातिर्लक्षिता, ब्राह्मणत्वादिस्तु न संगृहीता। ब्राह्मणक्षत्रियादीनां संस्थानस्य सदृशत्वादिति'**।

इसका तात्पर्य यह है कि जिसका आकृति=शरीर-अवयव-रचनाविशेष से ज्ञान होता है वह 'जाति' है। जैसे—गोत्व, अश्वत्वादि। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के शरीर-अवयव-रचना में समानता होने से ब्राह्मण आदि का 'जाति' शब्द से ग्रहण नहीं होता।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि ब्राह्मणादि आकृतिमात्र से ज्ञेय उस प्रकार की मुख्य जाति नहीं है। **'समानप्रसवात्मिका जातिः'** (न्याय २।२।६८) इस सूत्र का तात्पर्य भी 'आकृतिग्रहणा' जाति से ही है। यतः ब्राह्मणादि सामान्य जातिलक्षण से जातिवाचक नहीं हैं, अतः ये शास्त्रीय पारिभाषिक जाति होने से मनुष्य-

https://t.me/arshlibrary

[प्राणिमात्र में जीव की समानता]

प्रश्न—मनुष्य और अन्य पश्वादि के शरीर में जीव एक-सा है, वा भिन्न-भिन्न जाति के ?
उत्तर—जीव एक-से हैं, परन्तु पाप-पुण्य के योग से मलिन और पवित्र होते हैं ।

[पाप-पुण्य के कारण विभिन्न योनियों की प्राप्ति]

प्रश्न—मनुष्य का जीव पश्वादि में और पश्वादि का मनुष्य के शरीर में, और स्त्री का पुरुष के और पुरुष का स्त्री के शरीर में जाता-आता है, वा नहीं ?

उत्तर—हाँ, जाता-आता है । क्योंकि जब पाप बढ़ जाता और पुण्य न्यून होता है, तब मनुष्य का जीव पश्वादि नीच शरीर, और जब धर्म अधिक तथा अधर्म न्यून होता है, तब देव अर्थात् विद्वानों का शरीर मिलता । और जब पुण्य-पाप बराबर होता है तब साधारण मनुष्य-जन्म होता है । इसमें भी पुण्य-पाप के उत्तम, मध्यम और निकृष्ट होने से मनुष्यादि में भी उत्तम, निकृष्ट शरीरादि सामग्रीवाले होते हैं । और जब अधिक पाप का फल पश्वादि शरीर में भोग लिया है, पुनः पाप-पुण्य के तुल्य रहने से मनुष्य-शरीर में आता, और पुण्य के फल भोगकर फिर भी मध्यस्थ मनुष्य के शरीर में आता है ।

जाति के अन्तर्गत विशेष जाति हैं । इसी से इसे सामान्य विशेषात्मक जाति कहते हैं । वस्तुतः ब्राह्मणादि जातिवाचक न होकर वर्णवाचक शब्द हैं ॥८॥

आगे किस प्रकार के कर्म करने से किस प्रकार के शरीर मिलते हैं—इसका वर्गीकरण करते हैं—

अधर्माद्धर्मपरिवृद्धौ देवानां शरीराणि ॥९॥

अधर्म से धर्म अधिक होने पर देवों का शरीर ।

जिनकी मानसिक स्थिति सात्विक होती है और इस कारण जिनका पाप न्यून और पुण्य अधिक होता है उन्हें देवों (**विद्वांसो हि देवाः**—शत०) का शरीर मिलता है । यह शरीर उन वीतराग पुरुषों का समझना चाहिए जो फल की अभिलाषा छोड़कर केवल कर्म का अनुष्ठान करने में तत्पर रहते हैं । इस भावना से कार्य करनेवाले यतियों, ब्रह्मचारियों तथा ऐश्वरी सृष्टि में जन्म लेनेवाले ऋषियों का इस कोटि में समावेश समझना चाहिए ॥९॥

पापपुण्ययोः समत्वे मानुषाणाम् ॥१०॥

पाप-पुण्य समान होने पर मनुष्यों का ।

जब इसी जन्म में पाप-पुण्य बराबर हों तो सीधे और जब पाप की अपेक्षा पुण्य अधिक हों अथवा पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक हों तो यथास्थिति उन्हें देवों अथवा पश्वादि के शरीरों में भोगकर जब पाप-पुण्य बराबर हो जाएँ तो फिर साधारण मनुष्य का जन्म मिलता है । इसमें भी पाप-पुण्य के उत्तम-मध्यम-निकृष्ट होने पर मनुष्ययोनि में भी उत्तम-मध्यम-निकृष्ट शरीर मिलता है । उभययोनि होने से इस देह में रहकर जीव पूर्वकृत कर्मों के फलों को भोगते हुए अन्य अनुष्ठानों में तत्पर रहता है ॥१०॥

पुण्यतो दुरितबाहुल्ये पश्वादीनाम् ॥११॥

पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक होने पर पश्वादि का ।

जब पुण्य की अपेक्षा पाप का आधिक्य हो तो पशु, पक्षी, कृमि, कीट, पतंग आदि का शरीर मिलता है । यहाँ भी पापों की निकृष्टता की अपेक्षा से न्यूनाधिक निकृष्ट शरीरों की व्यवस्था है । पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के लिए ही ऐसा शरीर मिलता है । इसमें रहते हुए जीव यत्किंचित् जो कर्म करता है वह केवल

https://t.me/arshlibrary

जब शरीर से निकलता है उसी का नाम **'मृत्यु'**, और शरीर के साथ संयोग होने का नाम **'जन्म'** है। जब शरीर छोड़ता, तब यमालय अर्थात् आकाशस्थ वायु में रहता है, क्योंकि **'यमेन वायुना'**। वेद में लिखा है कि **'यम'** नाम वायु का है, गरुडपुराण का कल्पित **'यम'** नहीं। इसका विशेष खण्डन-मण्डन ग्यारहवें समुल्लास में लिखेंगे। पश्चात् **'धर्मराज'** अर्थात् परमेश्वर उस जीव के पाप-पुण्यानुसार जन्म देता है।

वह वायु, अन्न, जल अथवा शरीर के छिद्र द्वारा दूसरे के शरीर में ईश्वर की प्रेरणा से प्रविष्ट होता है। जो प्रविष्ट होकर क्रमशः वीर्य में जा, गर्भ में स्थित हो शरीर धारण कर बाहर आता है। जो स्त्री के शरीर धारण करने योग्य कर्म हों तो स्त्री, और पुरुष के शरीर धारण करने योग्य कर्म हों तो पुरुष के शरीर में प्रवेश करता है। और नपुंसक गर्भ की स्थिति के समय स्त्री-पुरुष के शरीर में सम्बन्ध करके रजवीर्य के बराबर होने से होता है।

इसी प्रकार नाना प्रकार जन्म-मरण में तब तक जीव पड़ा रहता है कि जब तक उत्तम कर्मोपासना-ज्ञान को करके मुक्ति को नहीं पाता, क्योंकि उत्तम कर्मादि करने से मनुष्यों में उत्तम जन्म और मुक्ति में महाकल्पपर्यन्त जन्म-मरण-दुःखों से रहित होकर आनन्द में रहता है।

भोगसम्पादन के लिए होता है। उससे किसी प्रकार का संस्कार या वासना उत्पन्न न होने से आगे चलकर उसका विपाक नहीं होता।

मिस्र देश की गुफ़ाओं में मिले शिलालेखों में पुनर्जन्म से सम्बधित एक शिलालेख में लिखा है—

"ईश्वर और मनुष्य में इतना अन्तर है कि एक अर्थात् मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर में फँसता है, दूसरा अर्थात् ईश्वर नहीं—(इस कथन में वेदोक्त **'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्योऽभिचाकशीति'** का भाव स्पष्ट है। अंग्रेजी में कहावत है—Man on earth is God subject to death while God in heaven is man free from death' अर्थात् मनुष्य, जन्म-मरण के चक्र में फँसा हुआ ईश्वर है और ईश्वर इस चक्र से मुक्त मनुष्य है। ईश्वर और जीव के भेद की यह चमत्कारपूर्ण काव्यात्मक अभिव्यक्ति है)। पुनर्जन्म के चक्कर में फँसी आत्माएँ कीट, मत्स्य, पशु, पक्षी तथा मनुष्य के क्रम में से गुज़रती हैं तथा विपरीत क्रम में भी जन्म लेती हैं। पापी आत्माओं को पाप का फल भोगने के लिए पशुजन्म मिलता है।"

इस प्रकार मनुष्य का जीव पश्वादि में, पश्वादि का मनुष्य में, स्त्री का पुरुष में और पुरुष का स्त्री में आता-जाता रहता है। जीव परिच्छिनन्न (अणुपरिमाण) है। इसलिए वह परमाणु में भी रह सकता है। छोटे-बड़े शरीरों के अनुसार आत्मा को मध्यमपरिमाण मानने पर (जैनमतानुसार) उसमें संकोच-विकास होने से वह अनित्य हो जाएगा। यदि जीव का परिमाण शरीर के बराबर हो तो मनुष्य शरीर में ही वह जन्म के समय छोटा और स्थूलकाय आदि व्यक्ति का शरीर बड़ा होगा। इससे जीव अवयवी होगा, क्योंकि निरवयव पदार्थ का शरीरों के अनुसार घटना-बढ़ना नहीं हो सकता। सावयव होने पर अवयवों के संकोच-विकास के कारण जीव विकारी हो जाएगा। अणु-परिमाण जीव चींटी में भी रह सकता है और हाथी के शरीर में भी। ऐसा न मानकर जीव को शरीर-परिमाणी मानने पर हाथी का जीव चींटी के शरीर में कैसे समाएगा ? यही स्थिति बड़ के विशाल शरीर से निकलकर छोटे से पौधे में जाने में होगी। इसलिए पुनर्जन्म के सन्दर्भ में विशेषतः जीव को अणु-परिमाण मानना होगा—न महत्परिमाण और न मध्यम-परिमाण ॥११॥

पापातिशये स्थावराणाम् ॥१२॥

अतिशय पाप करने पर स्थावरों (वृक्षादि) का शरीर मिलता है।

https://t.me/arshlibrary

मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों से यह प्रमाणित है कि कर्मानुसार भोगादि के लिए जीव को स्थावर शरीर भी मिल सकता है। मनुस्मृति (१२-६) में स्पष्ट कहा है—**"शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः"** अर्थात् शरीर द्वारा किये गये पाप कर्मों के कारण प्राणी वृक्ष, गुल्म, लता आदि स्थावर योनियों को प्राप्त होता है। अथर्ववेद (१।३२।१) में **'वीरुधः प्राणन्ति'** कहकर वनस्पति आदि में चेतना के अस्तित्व को स्वीकार किया है। अथर्ववेद (८।७।६) तथा छान्दोग्य (६।११।३) में भी इस प्रकार के संकेत मिलते हैं ॥१२॥

न तत्र सुखदुःखानुभूतिः बाह्यसम्बन्धाभावात् ॥१३॥

बाह्य व्यवहार के अभाव में वहाँ सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती।

आत्मा को सुख-दुःख का अनुभव करानेवाले अन्तःकरण का बाह्य जगत् से सीधा सम्बन्ध नहीं होता। सांख्यदर्शन (५।२७) के अनुसार **"पञ्चावयवयोगात् सुखसंवित्तिः"**—पाँच ज्ञानेन्द्रियों का अपने विषयों से सम्बन्ध होने पर ही जीवात्मा को सुख-दुःख की अनुभूति होती है। बाह्यावयवों का अपने विषयों से सम्बन्ध न होने के कारण ही सुषुप्ति अथवा मूर्च्छितावस्था में प्राणी को सुख-दुःख की प्राप्ति नहीं होती। कर्णेन्द्रिय के व्यर्थ हो जाने पर गाली मिलने पर भी सम्बद्ध व्यक्ति को बुरा नहीं लगता, पीनस रोग से ग्रस्त व्यक्ति पर दुर्गन्ध का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, अन्धे को न सौन्दर्य के प्रति आकर्षण होता और न कुरूपता के कारण विकर्षण। इस प्रकार यद्यपि प्राकृत नियम व व्यवस्था के अनुसार वनस्पति-जगत् में वृद्धि, ह्रास, विकास, बढ़ना-घटना एवं साजात्य प्रजनन आदि क्रियाएँ अन्य प्राणियों के समान देखी जाती हैं तथापि बाह्यावयवों के अभाव में वहाँ सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती ॥१३॥

कर्मों का फल कब तक मिलता रहता है—अगले सूत्र में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—

सति मूले तद्विपाकः ॥१४॥

मूलकारण के रहने तक फल मिलता है।

पत्तों और शाखाओं के बार-बार काट देने पर भी वृक्ष यथासमय फिर पूर्ववत् अंकुरित हो पुष्पित-पल्लवित हो जाता है। ऐसा तब तक होता रहता है जब तक उसकी जड़ बनी रहती है।

कर्मों का मूल क्लेश—**'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः'** (योग०२।३) हैं। जब तक धर्माधर्मरूप कर्माशय के मूल कारण अविद्यादि क्लेशों का नाश नहीं होता तब तक उनका विपाक होता रहता है। जिस प्रकार तुषरहित दग्धबीजभाव चावल में अंकुरित होने का सामर्थ्य नहीं रहता अथवा मूल के काट दिये जाने पर वृक्ष की शाखाओं में फूल-फल नहीं उगते उसी प्रकार विवेक-ज्ञान द्वारा उक्त क्लेशों के नष्ट हो जाने पर कर्माशय फल का आरम्भक नहीं रहता। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक कर्मफल भोगने के लिए बार-बार जन्म लेते रहना पड़ता है, क्योंकि **'कर्मैव देहारम्भस्य कारणम्'**—कर्म ही शरीर की उत्पत्ति में कारण हैं ॥१४॥

पुनर्जन्म की सिद्धि में कुछ और हेतु प्रस्तुत करते हैं—

सामर्थ्यभेदात् ॥१५॥

सामर्थ्य भेद के कारण।

प्रत्येक जीव का सामर्थ्य दूसरों से भिन्न है। एक ही माँ-बाप के दो पुत्रों को अध्ययन के लिए एक ही गुरु के पास भेजा जाता है। दोनों में एक ही रक्त है। खान-पान तथा रहन-सहन की व्यवस्था में भी पूर्ण समानता है। इतने पर भी देखा जाता है कि एक इतना मूढ़ है कि बार-बार समझाने पर भी उसकी समझ में कुछ नहीं आता जबकि दूसरे की धारणाशक्ति इतनी अच्छी है कि संकेतमात्र से सब समझ जाता है। उसे पढ़ाते समय ऐसा लगता है कि जैसे उसे कोई नई बात नहीं बताई-सिखाई जा रही है अपितु

https://t.me/arshlibrary

वह पहले पढ़े हुए की आवृत्तिमात्र कर रहा है। एक ओर जहाँ संसार में निपट मूर्खों की कमी नहीं वहाँ दूसरी ओर चार वर्ष की आयु में ही सम्पूर्ण गीता सुना डालनेवाले अथवा वेद मन्त्रों के अर्थ करनेवाले बालक भी देखने को मिलते हैं। जिन घटनाओं को देखकर भी लोग अनदेखा कर देते हैं उनसे प्रेरणा पाकर न्यूटन, बुद्ध, दयानन्द, जेम्सवाट और रामानुज जैसी आत्माएँ संसार को चमत्कृत कर देती हैं। महाराजा भोज के दरबार में चार ऐसे पण्डितों के होने का उल्लेख मिलता है जिनमें से एक को एक बार, दूसरे को दो बार, तीसरे को तीन बार और चौथे को चार बार सुनकर श्लोक याद हो जाते थे। इस बुद्धि-भेद का कारण इस जन्म में कुछ भी नहीं है। ईश्वर ने ऐसा कर दिया—यह मानें तो ईश्वर पक्षपाती ठहरता है। परिस्थितियों को ही मनुष्य के विकास में कारण माननेवाले बालक-बालक और मनुष्य-मनुष्य में पाये जानेवाले इस अन्तर की व्याख्या नहीं कर सकते। मात्र ३२ वर्ष की आयु पानेवाले शंकराचार्य की महान् उपलब्धियाँ उनके उसी जन्म के पुरुषार्थ का परिणाम नहीं मानीं जा सकतीं। ७-८ वर्ष की आयु में ही काव्यरचना करनेवाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और वड्स्वर्थ को कब किसने कविता करना सिखा दिया ? पूर्वजन्मार्जित पाप-पुण्य के अनुसार ही यह सब व्यवस्था है—ऐसा माने बिना इसकी व्याख्या सम्भव नहीं। प्रारम्भ से ही किसी विशिष्ट विषय में रुचि अथवा प्रवृत्ति में भी पूर्वजन्म का अभ्यास ही कारण है। एक जन्म की अभ्यस्त बुद्धि ही अगले जन्म में प्रतिभा (intuition or genius) बन जाती है ॥१५॥

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥१६॥

मरने के बाद (पूर्वजन्म के) आहार के अभ्यास के कारण (जातमात्र बालक को) स्तन्य की अभिलाषा से।

जीव के शरीर की चेष्टा होने से पूर्व प्रथम प्रत्यक्ष होता है, फिर आत्मा पर संस्कार होता है, तदनन्तर स्मृति होती है। स्मृति होने से किसी कार्य में प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है। माता के उदर से बाहर आते ही बालक श्वास लेने या रोने लगता है। माता का स्तन खींचकर दूध पीने लगता है। पूर्व संस्कारों के बिना यह प्रवृत्ति कहाँ से आई ? उसे कब, कौन बता गया कि दूध कहाँ है और कैसे मुँह चलाकर पिया जाता है। उसे दूध पीते देखकर यही आभास होता है कि वह सारी प्रक्रिया से भली-भाँति पहले से ही परिचित है। पेट भरने पर स्तन को स्वयं छोड़कर अलग हो जाता है। यह निवृत्तिभाव भी कहाँ से आया? एक दिन के बालक को जिसने अभी अच्छी तरह आँखें भी नहीं खोलीं, माता किसी भी प्रकार की शिक्षा देने में असमर्थ है। स्पष्ट है कि बालक के भीतर स्थित आत्मा को पहले की ही कुछ स्मृति है। उसी के सहारे वह अपना काम चला रहा है। इस जन्म में जिसने अभी आहार का अभ्यास नहीं किया उस जातमात्र बालक का भूख से पीड़ित होने पर आहार के अभ्यास और उसके स्मरण के बिना स्तन्यपान की अभिलाषा को हाथ-पैर मारकर और रो-रोकर प्रकट करना सम्भव नहीं हो सकता। पूर्व देह में रहते हुए आत्मा के तद्विषयक अभ्यास और उसकी स्मृति ही बालक की इस प्रवृत्ति में कारण हैं ॥१६॥

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षशोकभयसम्प्रतिपत्तेः ॥१७॥

पूर्वजन्म के अभ्यास की स्मृति के कारण सद्योजात बालक के हर्ष, शोक, भय आदि प्रकट होने की सम्भावना से।

बालक के जन्म लेने के अनन्तर उसके व्यवहार में पहले कुछ सप्ताहों में कुछ ऐसी विचित्रता दिखाई देती है जो उसके बड़े हो जाने पर नहीं रहती। सोते-सोते बालक कभी मुस्कराने लगता है, कभी दुःखी-सा होकर मुँह बनाने लगता है और कभी डर के मारे काँप उठता है या चीख पड़ता है। स्वप्नावस्था में किसी स्मृति के कारण ही ऐसा होता है। बिना किसी वस्तु को देखे या अनुभव किये उसकी स्मृति नहीं

https://t.me/arshlibrary

हो सकती। स्वप्नावस्था में भी वही देखा, सुना या अनुभव किया जाता है जो पहले कभी जाग्रदवस्था में देखा, सुना या अनुभव किया होता है। इस जन्म में अभी तक बालक ने सुख, दुःख या भय के कारणों को अनुभव ही नहीं किया। बाह्य जगत् में अभी उसका इन्द्रियार्थसन्निष्कर्ष आरम्भ नहीं हुआ। ऐसी अवस्था में पूर्वजन्म के अभ्यास की स्मृति के सिवाय सद्योजात बालक की हर्ष, शोक अथवा भय की अभिव्यक्ति का और कोई कारण नहीं हो सकता ॥१७॥

मरणभयदर्शनाच्च ॥१८॥

और मृत्यु का भय देखे जाने से।

कृमि से लेकर मनुष्य पर्यन्त सभी प्राणी मृत्यु से डरते हैं। जिस प्रकार अत्यन्त मूढ़ में यह क्लेश रहता है उसी प्रकार शास्त्रज्ञ विद्वान् में भी देखा जाता है। कुशल और अकुशल दोनों में ही यह भावना समानरूप से एवं सहजभाव से रहती है। कोई विषय पहले अनुभूत होने पर ही बाद में उसकी स्मृति हो सकती है। अनुभव होने पर वह विषय चित्त में आहित रहता है और उसका पुनः बोध ही स्मृति होती है। मरण-भय आदि की स्मृति देखी जाती है। इस जन्म में मरण-भय अनुभूत हुआ नहीं है। यदि वह पूर्वजन्म में अनुभव न हुआ होता तो उसका संस्कार संचित न होता। संस्कार के बिना स्मृति न होती। स्मृति के बिना भय न होता। जिसने पहले कभी मरणत्रास का अनुभव न किया हो वह **'मा न भूवं भूयासम्'** (मैं मरूँ नहीं, मैं जीवित रहूँ) ऐसी इच्छा नहीं कर सकता। इस प्रकार अमर होने पर भी मरणत्रास से अभिभूत होने से आत्मा के पूर्वजन्म का होना सिद्ध होता है।

'मृत्योर्माऽमृतं गमय' (मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो), **'यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः'** (जिसकी छाया—आश्रय में अमरता है, अन्यथा मृत्यु), **'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति'** (उसे जानकर ही मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है) तथा **'मृत्युं तीर्त्वाऽमृतमश्नुते'** (मृत्यु को पार करके अमरत्व की प्राप्ति) आदि श्रुतिवचनों से सहज ही पुनर्जन्म की भी सिद्धि होती है। **'हेयं दुःखमनागतम्'** (यो० २।१६) अनागत—भविष्यत् दुःख त्याज्य होता है। भूत दुःखभोग से निवृत्त हो चुका है और वर्तमान दुःख भोगारूढ़ होने से समय पाकर स्वयं निवृत्त हो जाएगा। इसलिए विचारशील मनुष्य आनेवाले दुःखकी निवृत्ति के लिए ही प्रयत्न करता है। इस जन्म में तो मृत्यु निश्चित है, अतः उससे बचने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। निश्चय ही इसके बाद होनेवाली किसी और मृत्यु से भयभीत होकर उससे बचने के लिए मनुष्य पुरुषार्थ करता है। दूसरी मृत्यु तभी होगी जब पहले दूसरा जन्म होगा। इस जन्म में होनेवाली मृत्यु के अनन्तर मोक्ष तो किसी-किसी को ही मिलेगा। अधिसंख्य आत्माएँ तो आवागमन-बार-बार मृत्यु के चंगुल में फँसी रहेंगी। इसी से बचने के लिए यह अमरता अथवा मुक्ति के लिए लालायित है। इस प्रकार मरणत्रास से जैसे पूर्वजन्म की सिद्धि होती है, वैसे ही पुनर्जन्म की भी ॥१८॥

सर्वग्राह्यत्वादप्यस्य ॥१९॥

इस (पुनर्जन्म) के सभी के द्वारा मान्य होने से भी।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त इतना युक्तियुक्त है कि संसार का कोई भी मनीषी—दार्शनिक, कवि, वैज्ञानिक—इसे स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता। दार्शनिक क्षेत्र में पाश्चात्य देशों में यूनान का स्थान सबसे ऊँचा है। विश्व के बड़े-बड़े दार्शनिक वहाँ हुए हैं और सभी ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। प्लेटो का प्रत्ययवाद भी इस स्थापना का साक्षी है कि 'आत्मा शरीर से पुराना है'। उसके मत में आत्मा इस जन्म में जो भी ज्ञान प्राप्त करता है वस्तुतः वह पूर्वजन्मों के अनुभवों की आवृत्तिमात्र है—'ज्ञान केवल स्मरण है' (To know is to remember)। प्लेटो की ही दो अन्य सूक्तियाँ हैं—

https://t.me/arshlibrary

'आत्मा अपना चोला सदा बदलता रहता है' (The soul always weaves her garment anew.)

'आत्मा में बार-बार जन्म लेने की स्वाभाविक शक्ति विद्यमान है' (The soul has a natural strength which will hold out and be born many times.)

पिथेगोरस ने लिखा—'अविनाशी आत्मा मृत्यु के अनन्तर मनुष्य या पशुयोनि में जन्म लेता है' (All things are but altered. Nothing dies and here and there the unbodied spirit flies, by time and force or sickness dispossessed and lodges where it lights in man or beast.)

प्लैटो के सुयोग्य किन्तु प्रतिद्वन्द्वी शिष्य अरस्तू (Aristotal) की मान्यता है कि आत्मा नित्य और भौतिक शरीर से भिन्न (Something divine and immortal) है। वह समस्त जगत् का छायाचित्र (Microcosm) है जो पशु, कीट, वनस्पति, मनुष्य आदि योनियों में से गुज़रकर उस-उस योनि का अनुभव एकत्र करता जाता है।

एम्पीडोक्लीज़ ने पुनर्जन्म का आधार सांख्यदर्शन (**नावस्तुनो सिद्धिः**—१।४३) तथा गीता (**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**) के अनुसार आत्मा के नित्यत्व को ही माना। पुनर्जन्म में विश्वास के कारण ही वह मांसभोजन से भी घृणा करता था—"There sprang up in Empedoclese from the belief in transmigration of souls a dislike to flesh as food." (Calcutta Review, Vol. LXii, p. 97)

पुनर्जन्म के सन्दर्भ में प्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूम का कहना है—"Metempsychosis is the only theory to which philosophy can hearken, since what is incorruptible is ungenerable" अर्थात् दर्शनशास्त्र को पुनर्जन्म का सिद्धान्त मानना पड़ेगा, क्योंकि जो अनन्त (अविनाशी) है, वह अनादि (अनुत्पन्न) है।

फ्राँस के लैसिंग ने तर्क दिया कि "मनुष्य का स्वभावतः पापी होना (जैसाकि बाइबल मानती है) तभी स्वीकार किया जा सकता है जबकि पुनर्जन्म को माना जाए। अन्यथा पाप कहाँ से आया ? यदि कहो कि ईश्वर ने मनुष्य के साथ लगा दिया तो ईश्वर भी पापी ठहरता है।" काण्ट ने अपने समस्त दर्शन-शास्त्र की नींव आचारशास्त्र के ऊपर रक्खी। वह कहता है—"धर्म का सम्बन्ध सुख के साथ है और अधर्म का दुःख के साथ, किन्तु हम देखते हैं कि इस जगत् में दुर्जन पुरुष फूलते-फलते हैं तथा सज्जन दुःख पाते हैं। यदि कोई न्यायकारी ईश्वर जगत् का अधिष्ठाता है तो वह अवश्य ही भविष्य में दुष्टों को दुःख का भोग और सज्जनों को सुख का भोग कराएगा।"

स्पीनोज़ा हेगल आदि ने भी आत्मा की नित्यता तथा पुनर्जन्म को स्पष्ट तौर पर स्वीकार किया है।

आधुनिक काल के महान् दार्शनिक आइकन (Eucken) का कहना है कि जीवन की सबसे पुष्ट व्याख्या वह है जो मनुष्य को प्राकृतिक जगत् से उठाकर परमात्मा की ओर ले जाए और यह भी बताए कि उन्नति का क्षेत्र केवल इसी जन्म तक सीमित नहीं है अपितु भविष्य के जन्मों तक फैला है। काण्ट के स्वर में स्वर मिलाते हुए आइकन ने भी कहा —"If this does not happen in the present life, then it must happen in a future life. The more detailed elaboration of this conception has struck different paths. One such path was the doctrine of transmigration of soul."

—Eucken's Essays, p. 106

ईसाई लोग (मुसलमान भी) आत्मा की उत्पत्ति तो मानते हैं, किन्तु नाश नहीं मानते। ट्रिनिटी कालेज कैम्ब्रिज में दर्शनशास्त्र के आचार्य प्रोफैसर मैकटेगर्ट ने अपनी पुस्तक (Human immortality and pre-existence) 'आत्मा की अमरता और पूर्वसत्ता' में इस विषय का विवेचन करते हुए लिखा—"यदि प्रत्येक

https://t.me/arshlibrary

आत्मा बनाया गया तो प्रश्न होता है कि किस लिए बनाया गया। यदि प्रत्येक आत्मा नवीन उत्पन्न किया जाता है तो उसके उत्पन्न करने की क्या आवश्यकता पड़ गयी। संसार तो उसकी उत्पत्ति से पूर्व भी चल रहा था—"

"If the universe got on without me for a hundred years, what reasons could be given for denying that it might get on without me a hundred years more."

यदि आत्मा को अनन्त मानते हो तो अनादि भी मानो। और आत्मा को अनादि और अनन्त मान लेने पर यह भी मानना पड़ेगा कि प्रारम्भ से ही आत्माएँ अनेक हैं—कोई किसी से पैदा नहीं होती। तब, जिस कारण वर्त्तमान जन्म हुआ उसी कारण से जन्मान्तर भी होंगे।

प्रकृति के महान् कवि वड्स्वर्थ ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'बाल्यकाल की स्मृतियों में अमरता का संकेत' (Intimation of immortality from recollections of early childhood) में पुनर्जन्म की इन शब्दों में व्याख्या की है—

Our birth is but a sleep and a forgetting,
The soul that rises with us, our life's star—
Hath had its setting elsewhere,
And cometh from afar.

जिस प्रकार तारे छिपकर फिर निकल आते हैं, इसी प्रकार आत्मा एक शरीर को छोड़कर बहुत दूर कहीं दूसरा जन्म धारण कर लेता है। अपनी एक और कविता "The Primrose of the Rock" में पुरुषों तथा अन्य वनस्पतियों की परिवर्त्तनशील अवस्था को देखकर वह विश्वास प्रकट करता है कि मनुष्य के जीवन में भी इसी प्रकार मुरझाने के बाद पुनर्जन्म होता है—

Sin-blighted though we are, we too,
The reasoning soul of man,
From our oblivious winter called,
Shall rise and breathe again.

टेनीसन कहता है—

And when we muse and brook,
And ebb into a former life,
We say, all this hath been before,
Although I know not in what time or place,
Me thought that I had often met with you.

हमें ठीक तरह याद भले ही न हो कि पूर्वजन्मों में कब, कहाँ मिले किन्तु यह निश्चित है कि हम एक दूसरे से अनेक बार मिले हैं।

अमरीका के महान् सन्त साहित्यकार तथा दार्शनिक इमर्सन अपना अनुभव बताते हैं—'We wake and find ourselves on a stair. There are other stairs below us which we seem to have ascended; there are stairs above us, many a one which go upward and out of sight.'

बहुत-सी सीढ़ियाँ हमसे नीचे हैं जिन्हें हम चढ़ चुके हैं और बहुत-सी हमसे ऊपर हैं जिनपर हमें अभी चढ़ना है।

https://t.me/arshlibrary

वर्त्तमान युग में इंग्लैंड में ऋषिकल्प समझे जानेवाले एडवर्ड कारपेण्टर ने अपने ग्रन्थ 'The Drama of love and hatred—a study of human evolution and transmigration' में लिखा कि 'जो मनुष्य इस पृथिवी पर जन्म धारण करता है वह इस जगत् के लिए कोई सर्वथा नवीन आत्मा नहीं होता।'

आशावाद का एकमात्र आश्रय पुनर्जन्म का सिद्धान्त है—इस तथ्य की कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भावात्मक अभिव्यक्ति करते हुए लिखा—

'The child cries out when from the right breast the mother takes it away, in the very next moment to find in the left one its consolation.'

जब माता बच्चे को एक स्तन से हटाती है तो बच्चा चिल्लाता है, किन्तु ज्यों ही अगले क्षण वह उसे दूसरे स्तन से चिपटा लेती है, वह शान्त हो जाता है ॥१६॥

विपक्षी शंका करता है कि यदि पुनर्जन्म होता है तो पूर्वजन्म की स्मृति क्यों नहीं रहती ? इस शंका का समाधान करते हैं—

संस्कारदौर्बल्याद् विस्मरणम् ॥२०॥

संस्कारों की निर्बलता के कारण (पूर्वजन्म की) स्मृति नहीं रहती।

संस्कारों की निर्बलता के दो कारण होते हैं—एक तो ज्ञान के समय ही उनकी गहरी छाप न पड़ना और दूसरा आवश्यकता न होने के कारण उनके बार-बार न उभरने से शिथिल हो जाना। दो जन्मों के बीच का अन्तराल भी संस्कारों को निर्बल कर देता है। व्यवस्थानुसार कुछ जीव शीघ्र ही दूसरे शरीर में पहुँच जाते हैं। ऐसे जीवों के संस्कारों के सर्वथा शिथिल न होने के कारण उन्हें पूर्वजन्म की अनेक बातें याद रह जाती हैं। आयु के बढ़ने के साथ-साथ यह स्मृति शिथिल होती जाती है, परन्तु जो आत्माएँ दूसरे शरीर को देर से ग्रहण कर पाती हैं, भिन्न-भिन्न प्रकार के वायुमण्डलों में लम्बी यात्रा के कारण उनके संस्कार निर्बल पड़ जाने के कारण उन्हें पिछले जन्म की बातें भूल जाती हैं ॥२०॥

पूर्वजन्म का स्मरण न होने में एक अन्य हेतु देते हैं—

उद्बोधकाभावाद्वा ॥२१॥

उद्बोधक कारण के अभाव में भी (स्मरण नहीं होता)।

अन्तःकरण में जन्म-जन्मान्तर के अनेक संस्कार पड़े रहते हैं, परन्तु उपयुक्त उद्बोधक के अभाव में उनकी स्मृति नहीं होती। स्मरण उन्हीं का होता है जिनके उद्बोधक उपस्थित हो जाते हैं। इसी जन्म में कई वर्ष पूर्व देखे गये व्यक्ति अथवा घटना की स्मृति तब तक नहीं हो पाती जब तक कोई उपयुक्त उद्बोधक उपस्थित नहीं कर दिया जाता। इस जन्म में पूर्वजन्म के संस्कारों का उद्बोधक न रहने से उनका स्मरण नहीं रहता ॥२१॥

इसी विषय में एक और हेतु प्रस्तुत करते हैं—

निमित्ताभावाच्च ॥२२॥

और निमित्त न रहने से।

जीव का ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक स्वाभाविक और दूसरा नैमित्तिक। स्वाभाविक ज्ञान नित्य होता है किन्तु नैमित्तिक ज्ञान में न्यूनाधिक्य होता रहता है। अग्नि का स्वाभाविक गुण उसकी दाहक शक्ति है। यह गुण उसके परमाणुओं तक में रहता है। इसलिए उसका यह निज धर्म उसे कभी नहीं छोड़ता। इस प्रकार अग्नि की दाहक शक्ति का ज्ञान स्वाभाविक ज्ञान है। जल में शीतलताविषयक ज्ञान स्वाभाविक है। फिर भी अग्नि के संयोग के कारण जल में उष्णता का धर्म उत्पन्न हो जाता है और वियोग होने से

https://t.me/arshlibrary

नहीं रहता है। इसलिए जल के उष्ण होने का ज्ञान नैमित्तिक है। इसी प्रकार जीव को—'मैं हूँ' अर्थात् अपने अस्तित्व का जो ज्ञान है वह स्वाभाविक है, परन्तु नेत्रादि इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होनेवाला ज्ञान नैमित्तिक है। यह नैमित्तिक ज्ञान तीन कारणों से उत्पन्न होता है—देश, काल और वस्तु। इन तीनों का जैसा-जैसा सम्बन्ध होता है वैस-वैसे संस्कार आत्मा पर पड़ते हैं। जैसे-जैसे ये निमित्त हटते जाते हैं वैसे-वैसे इस नैमित्तिक ज्ञान में कमी आती जाती है अर्थात् पूर्व जन्मदेश, काल और शरीर का वियोग होने से उस समय का नैमित्तिक ज्ञान नहीं रहता।

जीव अल्पज्ञ है, त्रिकालदर्शी नहीं। परिमित सामर्थ्यवाला होने से उसके आत्मा में अनेक जन्मों के सभी संस्कार नहीं रह सकते, अतएव पूर्वजन्म के अनुभवों के आवश्यक अंश (जिनके बिना जीवनयात्रा सम्भव नहीं) छोड़कर शेष वहीं रह जाते हैं। फिर, **'युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्'** (न्याय० १।१।१६) ज्ञान का स्वभाव ऐसा है कि वह अयुगपद् क्रम से होता है अर्थात् एक समय में आत्मा में एक से अधिक ज्ञान स्फुरित नहीं हो सकते। इसलिए भी पूर्वजन्म के ज्ञान का स्फुरण आत्मा को नहीं होता। मन का स्वभाव भी ऐसा होता है कि वह सन्निहित पदार्थ के विषय में राग-द्वेष उत्पन्न करता है। सान्निध्य छूटने से उसे विस्मरण हो जाता है। फिर पूर्व जन्मावस्था में यदि आत्मा को दूरगत पदार्थविषयक विस्मरण होता है तो इसमें क्या आश्चर्य है ? ॥२२॥

तो क्या किसी भी अवस्था में पूर्व जन्म का ज्ञान नहीं हो सकता ? इस जिज्ञासा का समाधान करते हैं—

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजन्मज्ञानम् ॥२३॥

संस्कारों का साक्षात्कार होने से पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।

जिससे स्मृति, राग, द्वेष तथा सुख-दुःख प्राप्त होते हैं उस वासना-विशेष तथा धर्माधर्मरूप अदृष्ट का नाम 'संस्कार' है अर्थात् स्मृति एवं राग-द्वेष की जनक चित्त में रहनेवाली वासना और सुख-दुःखरूप भोग के जनक धर्माधर्मरूप प्रारब्ध कर्म—इन दोनों को संस्कार कहते हैं। जो योगी संयम के द्वारा उक्त दोनों प्रकार के संस्कारों को साक्षात् कर लेता है, उसे पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। जिन संस्कारों से पूर्व अनुभव किये हुए पदार्थों में स्मृति, इच्छा तथा द्वेष उत्पन्न होता है उन्हें 'वासना' और जिनसे जन्म, आयु तथा भोग की प्राप्ति होती है उन्हें धर्माधर्म कहते हैं। ये दोनों प्रकार के संस्कार जिस जाति के होते हैं उसी के समान पदार्थों की स्मृति तथा प्राप्ति आदि के हेतु होते हैं। इसलिए संयम द्वारा उक्त संस्कारों का साक्षात्कार हो जाने से योगी को अपने पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। योगी होने के कारण ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतपः ॥—गीता ४।५

जीवात्मा के अनादि होने के कारण तुम्हारे और मेरे दोनों के ही अनेक जन्म हो चुके हैं। अपने योग व सामर्थ्य से मैं उन्हें जानता हूँ किन्तु तू नहीं जानता।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (योग० १।२) चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहते हैं। जब मनुष्य बाह्य विषयों से चित्त को हटाकर भीतर केन्द्रित करता है तो संस्कारों और संस्कारजन्य जन्मों का यथावत् स्मरण हो सकता है, किन्तु इस कार्य के लिए वांछनीय संयम और अभ्यास दीर्घकाल तक, निरन्तर और श्रद्धापूर्वक करना आवश्यक है। इसी को स्पष्ट करने के लिए योगदर्शन (१।२४) में कहा गया—**'स तु दीर्घकाल-**

https://t.me/arshlibrary

नैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः' । यहाँ 'दीर्घकाल' से तात्पर्य जीवनपर्यन्त, 'नैरन्तर्य' से निरपवाद तथा 'सत्कार' से ब्रह्मचर्यानुष्ठान है—

मनुस्मृति (४।१४८, १४९) में भी इसी संयम और एकाग्रता को पूर्वजन्म-स्मरण का साधक बताया है—

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥
पौर्विकीं संस्मरन् जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः ।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥

'क्या योगी के अतिरिक्त किसी अन्य को भी पूर्वजन्म का स्मरण हो सकता है' इसका उत्तर देते हैं—

मुक्तात्मनश्च तथैव ॥२४॥

इसी प्रकार मुक्तात्माओं को भी ।

जिसे धनञ्जय वायु का ज्ञान हो जाता है और जिसकी आत्मा उसमें संचार करती है तथा जिसके आत्मा से पूर्वजन्म के संस्कार निकल चुके हैं, जिसके आत्मा को स्थायी शान्ति प्राप्त हो चुकी है और जिसे अत्यन्त पवित्रता, स्थिरता और ज्ञानोन्नति की पहचान हो चुकी है, ऐसे योगी को परमानन्द प्राप्त होता है । ऐसे मुक्त पुरुषों को देश-काल-वस्तु परिच्छेद का युगपद् ज्ञान होता है । उन्हें युगपद् ज्ञान की बाधा नहीं होती ।

मुक्त और बद्ध जीवों का अन्तर बताते हुए प्रशस्तपादाचार्य ने वैशेषिकदर्शन के भाष्य में लिखा है—

"शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजञ्च । योनिजशरीरो हि महता गर्भवासादिदुःखप्रबन्धेन विलुप्तसंस्कारो जन्मान्तरानुभूतस्य सर्वस्य न स्मरति । ऋषयः प्रजापतयो मनवस्तु मानसा अयोनिजशरीरविशिष्टाः दृढसम्बन्धिनो दृढसंस्काराः कल्पान्तरा भूतं सर्वमेव शब्दार्थव्यवहारं सुप्तप्रतिबुद्धवत्प्रतिसन्दधते ।"

योनिज और अयोनिज भेद से दो प्रकार का शरीर होता है । साधारण योनिज प्राणियों को गर्भवासादि का दुःख सहन करना पड़ता है, अतएव उनके लिए पुनर्जन्म और वर्त्तमान जन्म के मध्य बड़ा अन्तर पड़ जाने से सब-कुछ स्मरण नहीं रहता । सृष्टि के आदि में जो लोग उत्पन्न होते हैं वे अमैथुनी सृष्टि में होते हैं । उन्हें गर्भवास का कष्ट नहीं सहना पड़ता, अतएव वे लोग अपने पूर्वजन्म के ज्ञान का स्मरण करने में समर्थ हैं । उनकी अवस्था सोकर उठे मनुष्य के समान होती है, जिसे सोने से पहले की बातें प्रायः स्मरण रहती हैं ॥२४॥

तो क्या मात्र स्मृति न रहने से पूर्वजन्म का निषेध हो सकता है ?

न तु स्मृत्यभावात्प्रतिषेधो वर्त्तमानजन्मन्यनुभूतस्यापि विस्मरणात् ॥२५॥

स्मृति न रहने से पूर्वजन्म का निषेध नहीं होता, वर्त्तमान जन्म की घटनाओं और व्यवहारों का विस्मरण हो जाने से ।

पूर्वजन्म में हमारा आत्मा जिन साधनों से सम्पन्न था उन निमित्तरूप साधनों के इस जन्म में न होने से यदि पूर्वजन्म का स्मरण नहीं होता तो कुछ भी आश्चर्य का विषय नहीं है । जबकि हम देखते हैं कि हमें वर्त्तमान जन्म में देखे, सुने और अनुभव में आये व्यवहारों और घटनाक्रम में से भी बहुत कम का स्मरण है । इसी देह में जब गर्भ में जीव था, शरीर बना, पश्चात् जन्मा । फिर पाँच वर्ष की आयु तक बहुत कुछ कहा, किया और भोगा, किन्तु कालान्तर में वह सब भूल गया । आज कुछ भी स्मरण नहीं है । तो क्या इससे यह मान लिया जाएगा कि न वह कभी गर्भ में था, न कभी उत्पन्न हुआ और न कभी उसका बचपन रहा ? इसके बाद भी जो कुछ हुआ उसका बहुत थोड़ा अंश हमारी स्मृति में शेष है । फिर भी भूले हुए

https://t.me/arshlibrary

की वास्तविकता को नकारा नहीं जा सकता। हम यह भी देखते हैं कि जाग्रदावस्था में जिन बातों का स्मरण होता है उनका निद्रा में सर्वथा विस्मरण हो जाता है और आगे जागने के बाद भी उनमें से बहुतों का विस्मरण हो जाता है। फिर, दो जन्मों के बीच तो मृत्यु आ जाती है और मृत्यु होना महाव्यावृत अन्धकार में गिरना है। वस्तुतः विस्मृति के बिना स्मृति हो ही नहीं सकती। पुराने और अनावश्यक को छोड़ते जाना तथा नये एवं उपयोगी को ग्रहण करते जाना ही अच्छी स्मृति का लक्षण है, अतः पूर्वजन्म की स्मृति न होने से उसके होने में सन्देह नहीं किया जा सकता ॥२५॥

किन्तु पूर्वजन्म की स्मृति बिल्कुल न रहती हो ऐसी बात नहीं है—

न हि स्मृतेरत्यन्ताभावः ॥२६॥

निश्चय ही स्मृति का अत्यन्ताभाव नहीं होता।

इससे पूर्व सूत्र १०, ११, १२, १३ में स्पष्ट किया जा चुका है कि बालक को पूर्वजन्म की स्मृति होने से ही वह पालने में पड़ा-पड़ा हँसता, रोता, दुःखी होता और भयभीत होकर चीख पड़ता है। धीरे-धीरे वह नये अनुभव प्राप्त करता जाता है। फिर भी पूर्वजन्म में अनुभूत मरण-भय को नहीं भूल पाता। ४-५ वर्ष की आयु का बालक जिसने इस जीवन में अभी कुछ नहीं जाना वह जब धाराप्रवाह संस्कृत में गीता के श्लोकों या वेदमन्त्रों की झड़ी लगा देता है अथवा दूर तक एक भी फ्रेंच या अन्य किसी भाषा के जानने-वाले के न होने पर भी विदेशी भाषा में धाराप्रवाह भाषण देने लगता है तो यह पूर्वजन्म की स्मृति का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं तो और क्या है? आये दिन पत्र-पत्रिकाओं में उन बालकों की चर्चा होती है जो अपने पूर्वजन्म के विषय में पूरी-पूरी जानकारी देते हैं और खोज करने पर वह सत्य प्रमाणित होती हैं। योगियों तथा मुक्तात्माओं द्वारा पूर्वजन्म के स्मरण का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, अतः यदि पूर्वजन्म की स्मृति को ही पूर्वजन्म में होने में प्रमाण माना जाए तो वह भी सर्वथा सिद्ध है ॥२६॥

फिर एक शंका उपस्थित होती है—

नातः शुद्धिर्न्यायश्चेति स्मृत्यभावात् ॥२७॥

स्मृति के अभाव में न न्याय होगा, और न सुधार।

ईश्वर पूर्वजन्म में किये कर्मों के फलस्वरूप सुख-दुःख तो देता है किन्तु उन कर्मों से जीव को अवगत नहीं कराता। अपराधी को अपराध बताये बिना और उसे स्पष्टीकरण का अवसर दिये बिना दण्ड देना घोर अन्याय है। इसके अतिरिक्त दण्ड का उद्देश्य अपराधी को भविष्य में वैसे अपराध से विरत करके उसका सुधार करना और सत्कर्मी को पुरस्कृत कर शुभ कर्मों में अधिकाधिक प्रवृत्त करना होता है, किन्तु सम्बद्ध व्यक्ति को कर्मों का ज्ञान न होने से इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती, अतः स्मृति के अभाव में कर्मफल देना न न्याय है, न उपयोगी ॥२७॥

अगले सूत्र में इस शंका का समाधान किया है—

नीचोच्चसुखिदुःखिदर्शनादभीष्टसिद्धिः ॥२८॥

नीच-ऊँच तथा सुख-दुःख को देखने से अभीष्ट की सिद्धि है।

संसार में कोई सुखी है तो कोई दुःखी, कोई विद्वान् है तो कोई मूर्ख, कोई धनी है तो कोई निर्धन। यह सब प्रत्यक्ष देखा जाता है। हम यह भी जानते हैं कि कारण के बिना कार्य नहीं होता। इस प्रकार सुख-दुःखादि के रूप में कार्य को प्रत्यक्ष देखकर उनके कारण पाप-पुण्य का शेषवत् अनुमान द्वारा निश्चय हो जाता है। यह ठीक है कि जहाँ विद्वान् पुरुष कारण और कार्य दोनों का यथावत् निश्चय करने में समर्थ होता है वहाँ सामान्य जन कार्य को ठीक जानता हुआ भी उसके कारण का यथावत् निश्चय नहीं

https://t.me/arshlibrary

कर पाता। रोग से ग्रस्त होने पर प्रत्येक रोगी उसका प्रत्यक्ष अनुभव करता है। वह यह भी जानता है कि इस रोग का कारण कोई-न-कोई कुपथ्य है। कुपथ्यों का भी उसे पर्याप्त ज्ञान होता है, किन्तु किस कुपथ्य विशेष से कौन-सा रोग होता है, वह इतना नहीं जानता। इसके विपरीत चिकित्सा-शास्त्र में निष्णात वैद्य रोगी के समान रोगरूपी कार्य का प्रत्यक्ष करने के साथ-साथ उसके कारणविशेष का भी यथावत् निश्चय कर लेता है। इसी प्रकार जगत् में व्याप्त सुख-दुःख और विषमता को देखकर सब कोई उनके कारण पाप-पुण्य का अनुमान कर लेते हैं। क्या पाप है और क्या पुण्य तथा पाप का फल दुःख और पुण्य का फल सुख होता है—यह भी सब जानते हैं। केवल इतना नहीं जानते कि किस कर्मविशेष का कौन-सा फल होता है। तब सब प्रकार के दुष्कर्मों से दूर रहकर सत्कर्मों में ही प्रवृत्त रहने से जीव का सुधार सहज सम्भव है। इसी प्रकार यह निश्चय होने से कि ईश्वर न्यायकारी है इसलिए वह अकारण किसी को सुखी-दुःखी नहीं बना सकता, उसकी न्यायव्यवस्था में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। सर्वज्ञ होने के कारण उसे अपराधी से स्पष्टीकरण की भी अपेक्षा नहीं होती। वह जीव के विषय में—उसकी अन्तःस्थिति, परिस्थिति, अल्पज्ञता तथा अल्पशक्ति आदि के विषय में इतना जानता है कि जितना जीव स्वयं नहीं जानता। इस प्रकार ईश्वर की न्याय-बुद्धि में आस्था रखने और कार्य-कारणभाव को जानने से पूर्वजन्म के कर्मों को ठीक-ठाक न जानने पर भी प्रयोजन की सिद्धि सम्भव है ॥२८॥

पूर्वजन्म की स्मृति न रहने में ही जीव का कल्याण है—इसका प्रतिपादन करते हैं—

आत्महितार्थं विस्मरणम् ॥२९॥

भूल जाने में जीव का हित है।

पूर्वजन्मों का स्मरण न रहने से ही जीव सुखी है। परमकारुणिक परमात्मा की यह असीम कृपा है कि हमें पूर्वजन्म के घटनाक्रम का स्मरण नहीं होता। अन्यथा जीव पूर्वजन्मों की याद कर-करके मर जाता। दुःखद योनियों एवं घटनाओं को स्मरण करके अपने वर्तमान जीवन में विष घोल लेता और अच्छे दिनों की याद कर-करके सदा रोया करता। वस्तुतः यदि साधारण मनुष्य को अपने पूर्वजन्मों की स्मृति बनी रहती तो पुनर्जन्म का उद्देश्य ही पूरा न हो पाता। उसका हित इसी में है कि वह अतीत को भूलकर अपने को नई परिस्थितियों के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करे। जब कोई मरता है तो इस जन्म का सार अपने साथ ले-जाता है और अनावश्यक अंश यहाँ छोड़ जाता है। इस सार को ही संस्कार कहते हैं। यही संस्कार अगले जन्म में आत्मा के साथ जाते हैं। आत्मा पर पड़े नाना प्रकार के इन संस्कारों के सहारे ही वह अपने भावी जीवन का निर्माण करता है। जन्म जन्मान्तर की यदि सारी बातें याद रह जाएँ तो उनके बोझ को ढोते फिरना आत्मा के लिए दुःसाध्य हो जाए। यदि सब-कुछ याद रह जाए तो पूर्वजन्मों के शत्रुओं से बदला लेने के घात-प्रतिघात में लगा रहे। पुरानी समृद्धि को ललचाई आँखों से देख-देखकर ईर्ष्यालु हो हड़पने की चेष्टा किया करे। बेटे-पोतों के मोह में उनसे लिपट-लिपट कर रोता रहे। निश्चय ही अधिकांश लोगों का जीवन दुःखमय हो जाए। इस प्रकार मोक्ष-प्राप्ति के साधनोपायों में न लगकर दुर्लभ मानवजीवन को व्यर्थ गँवा बैठे, अतएव पुरानी बातों को स्वतः भूल जाने की व्यवस्था करके परमेश्वर ने जीवों का कल्याण ही किया है ॥२९॥

अब कर्मफलोपभोग के लिए जन्म-जन्मान्तर की व्यवस्था का प्रतिपादन करते हैं—

अनेकं कर्मैकजन्मकारणम् ॥३०॥

अनेक कर्म एक जन्म का निष्पादन करते हैं।

https://t.me/arshlibrary

कर्मों के उपभोग के विषय में चार कल्पनाएँ सम्भव हैं—

१. एक कर्म एक ही जन्म का कारण होता है ।

२. एक कर्म अनेक जन्मों का सम्पादन करता है ।

३. अनेक कर्म अनेक जन्मों का कारण बनते हैं ।

४. अनेक कर्म एक ही जन्म का निष्पादन करते हैं ।

एक कर्म एक ही जन्म का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि अनादिकाल से संचित, असंख्य अवशिष्ट कर्मों तथा वर्त्तमान कर्मों के जो फल हैं उनके क्रम का अनियम होने से कर्माचरण में कोई आश्वासन नहीं रहता । एक-एक कर्म के लिए एक-एक जन्म होगा तो अनन्त कर्मों के भोग का पर्याय कैसे आएगा ?

एक कर्माशय अनेक जन्मों का कारण भी नहीं हो सकता, क्योंकि अनेक कर्मों में से यदि एक-एक कर्म ही अनेक जन्मों का निष्पादक हो जाए तो अवशिष्ट कर्मों के लिए फलदान का समय ही न रहेगा ।

अनेक कर्म अनेक जन्मों का सम्पादन भी नहीं कर सकते, क्योंकि अनेक जन्म एक साथ तो हो ही नहीं सकते । यदि क्रम से होना माना जाए तो पूर्वोक्त दोष आता है ।

अतः अनेक कर्म मिलकर एक ही जन्म निष्पन्न करते हैं । जिन कर्माशयों से एक जन्म होता है वही जन्म उनसे आयु पाता है और आयुष्काल में उन्हीं से सुख-दुःख का उपभोग करता है । इस प्रकार जाति, आयु और भोग के रूप में कर्माशय त्रिविपाक है ॥३०॥

पुनर्जन्म के रूप में प्राप्त होनेवाली योनियों का वर्गीकरण करते हैं—

कर्मभोगोभययोनिभेदात्त्रिधा व्यवस्था ॥३१॥

कर्म, भोग तथा उभय योनि के भेद से तीन प्रकार की व्यवस्था है ।

योनियाँ तीन प्रकार की हैं । एक कर्मयोनि—जिसमें जीव के पूर्व कर्म शेष न रहने से कर्मों का विपाक नहीं होता । वह केवल भविष्य के लिए कर्म करते हैं । दूसरी भोगयोनि—इसमें जीव केवल पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के लिए आता है । तीसरी उभययोनि—इसमें जीव पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के साथ भविष्य के लिए कर्म भी करता रहता है । यह वर्गीकरण प्राधान्य की दृष्टि से किया गया है । प्रयत्न गुणवाला होने से जीव भोगयोनि में भी कुछ-न-कुछ अवश्य करता है, क्योंकि बिना कर्म के तो भोग भी सम्पन्न नहीं होता । किन्तु विधि-निषेध से मुक्त होने के कारण भोगयोनि में किये गये कर्मों से फलोत्पादक अन्य संस्कार या वासना उत्पन्न नहीं होते । इसलिए ऐसे कर्मों का कोई महत्त्व नहीं है । इसी प्रकार कर्मदेह में भी भोग होता है, क्योंकि देह रक्षा के लिए उपयुक्त खान-पान, वस्त्रादि की व्यवस्था तो करनी पड़ती है, किन्तु यह भोग कर्म-विपाक के रूप में नहीं होता, अतः जो देह मुख्यरूप से जिसलिए मिलता है उसी के आधार पर उसका वर्गीकरण किया जाता है । पूर्वकृत कर्मों के फलोपभोग के साथ जहाँ ऐसे कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है जो वासना, संस्कार आदि को जन्म देने के कारण आये भोग को प्रस्तुत करते हैं, वह उभययोनि कहलाती है ॥३१॥

कर्मयोनिर्मुक्तात्मनाम् ॥३२॥

मुक्तात्मा को (मुक्ति से लौटने पर) कर्मयोनि मिलती है ।

कर्म शेष न होने से मुक्तात्माएँ सृष्टि के आदि में प्रकट होनेवाले वेदप्रवक्ता ऋषियों तथा अन्य देव-पुरुषों के रूप में कर्मयोनि में जन्म लेती हैं । अयोनिज होने के कारण उन्हें गर्भवासादि का दुःख भी नहीं सहना पड़ता ॥३२॥

भोगयोनिः पश्वादीनाम् ॥३३॥

https://t.me/arshlibrary

पशु आदि भोगयोनि हैं ।

पशु, पक्षी, कृमि, कीट, पतंग, स्थावर आदि भोगयोनि हैं । जीवनयापन के लिए उन्हें भी कुछ-न-कुछ करना पड़ता है, परन्तु उनके ये कर्म मात्र नैसर्गिक क्रियाएँ हैं । उनका विपाक नहीं होता ॥३३॥

उभययोनिस्तु मानवानाम् ॥३४॥

किन्तु मनुष्य उभययोनि है ।

एक मनुष्ययोनि ही ऐसी है जिसमें रहता हुआ जीव अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सिद्धि कर सकता है । इसीलिए अन्य योनियों में पाप-पुण्य के फल भोगकर बार-बार इस योनि में आता है । इसी योनि में संचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण तीनों प्रकार के कर्मों का निष्पादन सम्भव है । इसी में **'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'** सार्थक होता है । मोक्षप्राप्ति में साधनरूप होने से इसे सर्वोत्कृष्ट योनि माना गया है । पाप-पुण्य केवल मनुष्य-जन्म में ही सम्भव है ॥३४॥

एक शरीर से निकालकर दूसरे शरीर में डालने की व्यवस्था कौन करता है—अगले सूत्र में इसका प्रतिपादन किया है—

असुनेता परमेश्वरः ॥३५॥

प्राणों को (एक से दूसरे शरीर में) ले-जानेवाला परमेश्वर है ।

जड़ होने से कर्म स्वयं फल नहीं दे सकते । जीव अपनी इच्छा से श्रेष्ठ योनियों में तो चला जाएगा किन्तु निकृष्ट योनियों में जाना कभी नहीं चाहेगा । वहाँ उसे बलात् धकेलना होगा । अल्पज्ञ होने के कारण वह ठीक-ठीक निश्चय भी नहीं कर पाएगा, अतः उसे एक शरीर से छुड़ाकर दूसरे में भेजना ईश्वरीय व्यवस्था में ही सम्भव है । इस विषय में श्रुति के अनेक वचन प्रमाण हैं । उदाहरणार्थ—

असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्र तिरा न आयुः ।
रारन्धि नः सूर्यस्य सन्दृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व ॥
असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम् ।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति ॥

—ऋग्वेद १०।५६।५, ६

यहाँ पुनर्जन्म के प्रसंग में परमेश्वर को 'असुनीते' (प्राणों को ले-जानेवाला) नाम से पुकारकर उससे उत्तम जन्म और भोगादि के साधन प्रदान करने की प्रार्थना की गयी है ॥३५॥

देहान्तरप्राप्ति कब—जीवात्मा अपने प्राणादि सहचरों तथा विद्या-कर्म-पूर्वप्रज्ञारूप तीन प्रकार के पाथेय को साथ लेकर एक देह से दूसरे देह को किस प्रकार प्राप्त करता है, इस बात को बृहदारण्यकोपनिषद् (४।४।३) में एक दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति ।" (सुंडी) नाम की एक अंगुष्ठभर की छोटी-सी पिपीलिका एक तिनके के अन्तिम छोर पर पहुँच एक दूसरे तिनके पर जाने की इच्छा करती हुई प्रथम उस दूसरे तिनके को अपने अग्रिम भाग से दृढ़ता से पकड़कर अपने शरीर के पिछले भाग को खींचकर अग्रिम स्थान पर रखती हुई चलती है । ठीक इसी प्रकार यह आत्मा गृहीत जीर्ण शरीर को निश्चेष्ट कर, स्त्री-पुत्र-मित्रादिकों के वियोगजनित शोक की उपेक्षा करके दूसरे देहरूपी आश्रय को पकड़ने के बाद ही अपने उस शरीर को छोड़ता है । स्थूल शरीर के बिना कर्तृत्व-भोक्तृत्व सम्भव नहीं, अतः असुनेता ईश्वर की व्यवस्था में यह आत्मा तृणजलायुकावत् एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को ग्रहण करता है ।

https://t.me/arshlibrary

ऐतरेय उपनिषद् (४।४) के अनुसार यहाँ से मरते ही पुनः जन्म ले लेता है—

'स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते' ।

महाभारत में लिखा है—

आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्रायं कलेवरम् ।
सम्भवत्येव युगपद् योनौ नास्त्यन्तराभावः ॥ वनपर्व १८३।७७

अर्थात्—आयु पूर्ण होने पर आत्मा अपने जराजर्जर शरीर का त्याग करके उसी क्षण किसी दूसरी योनि (शरीर) में प्रकट होता है । एक शरीर को छोड़ने और दूसरे को ग्रहण करने के मध्य में क्षणभर के लिए भी असंसारी नहीं होता ।

तथापि एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश करने में कुछ-न-कुछ समय तो लगता ही है । क्योंकि कोई भी कार्य काल के बिना नहीं हो सकता, परन्तु यह समय इतना थोड़ा होता है कि समय की नाप-तोल करने के लिए मनुष्य ने समय के जो विभाग (घड़ी, पल, मुहुर्त्तादि) किये हैं उनमें यह कभी नहीं आता । इसलिए उसका निर्देश सम्भव नहीं ।

१२ दिन के बाद पैदा होने की कल्पना भ्रमात्मक है । इस प्रसंग में यजुर्वेद का निम्न मन्त्र विवेच्य है—

सविता प्रथमेऽहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीये आदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमा पञ्चम ऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे । मित्रो नवमे वरुणो दशम इन्द्र एकादशे विश्वेदेवा द्वादशे ॥ —यजुः० ३६।६

इस मन्त्र के भावार्थ में ग्रन्थकार ने लिखा है—**'यदेमे जीवाः शरीरं त्यजन्ति तदा .....किंचित कालं भ्रमणं कृत्वा'** । यदि यहाँ एक शरीर को छोड़कर दूसरे में प्रवेश करने से पहले जीवात्मा के भ्रमण की अवधि १२ दिन निर्दिष्ट होती तो **'किंचित् कालं भ्रमणं कृत्वा'** क्यों कहा जाता ? वस्तुतः यहाँ 'किंचित् काल' से 'तत्काल' अथवा 'नाममात्र' काल अभिप्रेत है । इस मन्त्र पर ग्रन्थकार के दिये भावार्थ में लिपिकर के प्रमाद से वाक्यविन्यास अयथास्थान हो गया प्रतीत होता है । यथास्थान कर देने पर शुद्धरूप में कुछ इस प्रकार बनता है—

"हे मनुष्याः ! यदेमे जीवाः शरीरं त्यजन्ति तदा किञ्चित् कालं भ्रमणं कृत्वा स्वकर्मानुयोगेन गर्भाशयं गत्वा सूर्यप्रकाशादीन् पदार्थान् प्राप्य शरीरं धृत्वा जायन्ते तदैव पुण्यपापकर्मणां सुखदुःखानि फलानि भुङ्क्ते ॥"

वस्तुतः इस मन्त्र में मरणोपरान्त जीवात्मा के भ्रमण की बात न होकर गर्भाशय में प्रविष्ट जीव की भ्रूणावस्था अर्थात् उसके क्रमिक विकास का वर्णन किया है । गर्भस्थित भ्रूण को प्रथम दिन सूर्य, दूसरे दिन अग्नि, तीसरे दिन वायु, चौथे दिन मास, पाँचवें दिन चन्द्रमा, छठे दिन ऋतु, सातवें दिन मरुद्गण अथवा मनुष्यादि प्राणी, आठवें दिन बृहस्पति या सूत्रात्मावायु, नवें दिन प्राण, दसवें दिन उदान, ग्याहरवें दिन विद्युत् तथा बारहवें दिन समस्त उत्तम दिव्य गुण प्राप्त होते हैं ।

गर्भाशय में जीव की भ्रूणावस्था में प्रतिदिन के क्रम से सविता आदि देवों से शक्तियाँ प्राप्त होती हैं । पुनः उसका विकास उत्तरोत्तर उक्त देवों की शक्तियाँ करती हैं । आयुर्वेदशास्त्र के प्रामाणिक ग्रन्थ चरकसंहिता के गर्भप्रकरण में भौतिक देवों से प्राप्त होनेवाली शक्तियों के सन्दर्भ में लिखा है—**"यावन्तो हि लोके भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे— । लोके प्रजापतिरन्तरात्मनो विभूतिः पुरुषे सत्त्वं यस्त्विन्द्रो लोके पुरुषेऽहङ्कारः सः आदित्यस्त्वादानं रुद्रो रोषः सोमः प्रसादः वसवः सुखम्, अश्विनौ कान्तिः मरुदुत्साहः विश्वेदेवाः सर्वेन्द्रियाणि च तमो मोहः ज्योतिर्ज्ञानं यथा लोकस्य सर्गादिस्तथा गर्भाधानम्"** (चरक, शरीरस्थान ५।६) । अर्थात्—जितने भी लोक में विशेष पदार्थ देवरूप से हैं, उतने पुरुष शरीर में

https://t.me/arshlibrary

[मुक्ति अनेक जन्मों के प्रयत्न से]

प्रश्न—मुक्ति एक जन्म में होती है, वा अनेक जन्मों में ?
उत्तर—अनेक जन्मों में । क्योंकि—

हैं, जैसे—लोक में प्रजापति है वैसे शरीर में बुद्धि है, लोक में जो इन्द्र है शरीर में वह अहंकार, लोक में जो आदित्य वह शरीर में आदान—रसादान शक्ति, लोक में जो रुद्र वह शरीर में रोष, लोक में जो सोम वह शरीर में शान्तभाव, लोक में जो वसु वह शरीर में सुख, लोक में जो विश्वेदेव वे शरीर में समस्त इन्द्रियाँ ..... जिस प्रकार लोक में सर्गादि हैं, वह शरीर में गर्भाधान है । इस प्रकार वहाँ बारह समान नामों तथा पर्याय नामों से गर्भ में देवों का नाम दर्शाया है ।

यह कल्पना कि मरने के बाद आत्मा यमलोक में जाता है, सर्वथा मिथ्या है । इस कल्पना का आधार गरुड़पुराण आदि में यमलोक का वर्णन है, परन्तु यह बात वेदों में आये 'यम' शब्द को न समझने के कारण हुई है । वेदों में यम शब्द अनेकार्थवाची है । प्रस्तुत सन्दर्भ में उसका अर्थ है—नियमन करनेवाला, अनुशासन में रखनेवाला ।

वेद में जिसे 'असुनेता' कहा गया है, वही यम है—कर्मव्यवस्था के अनुसार एक शरीर से छुड़ाकर दूसरे शरीर में पहुँचानेवाला ।

गर्भाधान—बृहदारण्यकोपनिषद् (६।४।१) में बताया है—

एषा वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामोषधय ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः ॥

महाभूतों का रस पृथिवी है, पृथिवी का रस जल है, जलों का रस ओषधि, ओषधियों का रस पुष्प, पुष्पों का रस फल, फलों का रस पुरुष और पुरुष का रस वीर्य है ।

यही बात तै०उप० में इस प्रकार कही गयी है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ॥

—ब्रह्मवल्ली १।१

इस वीर्य के स्त्री के शरीर में प्रविष्ट होने से गर्भधारण होकर पुरुष का जन्म होता है । इस विषय का विवेचन द्वितीय समुल्लास के आरम्भ में द्रष्टव्य है ।

मुक्ति अनेक जन्मों के फलस्वरूप—मुक्ति के लिए अपेक्षित साधनों का अभ्यास दीर्घकाल तक करना पड़ता है और वह भी इस प्रकार कि उसमें नैरन्तर्य बना रहे अर्थात् अन्तराल में कभी उसका विच्छेद न होने पाये । श्रद्धापूर्वक अनुष्ठित यह अभ्यास अनेक जन्मों तक करना पड़ता है । तब कहीं मोक्ष प्राप्त होता है । इसमें जीवन्मुक्त श्रीकृष्ण का निम्न वचन प्रमाण है—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् । —गीता ६।४५

मुक्ति में ज्ञान की नाप-तोल नहीं होती, 'इसलिए जितना ज्ञान अधिक होता है' में ज्ञान की न्यूनाधिकता का निर्देश साधारणरूप में किया गया समझना चाहिए । इसी प्रकार आगे की पंक्ति में मीमांसा के **'सर्वत्वमाधिकारिकम्'** (१।२।१६) के न्यायानुसार 'पूर्णज्ञानी' का तात्पर्य 'जीव का जितना ज्ञान बढ़ सकता है' उतने की पूर्णता से है । अन्यथा 'पूर्णज्ञानी' तो परमेश्वर से अतिरिक्त कोई नहीं हो सकता ।

स्वर्ग-नरक—स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश तथा आर्योद्देश्यरत्नमाला (१४, १५) के अनुसार 'सुख-विशेष'

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ —मुण्ड० २।२।१८

जब इस जीव के हृदय की अविद्या-अज्ञानरूपी गाँठ कट जाती, सब संशय छिन्न होते, और दुष्ट कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं, तभी उस परमात्मा, जोकि अपने आत्मा के भीतर और बाहर व्याप रहा है, उसमें निवास करता है ।

[मुक्ति में जीव का ब्रह्म में लय नहीं होता]

प्रश्न—मुक्ति में परमेश्वर में जीव मिल जाता है, वा पृथक् रहता है ?

उत्तर—पृथक् रहता है, क्योंकि जो मिल जाए, तो मुक्ति का सुख कौन भोगे ? और मुक्ति के जितने साधन हैं, वे सब निष्फल हो जावें । वह मुक्ति तो नहीं, किन्तु जीव का प्रलय जानना चाहिए । जो जीव परमेश्वर की आज्ञापालन, उत्तम कर्म, सत्सङ्ग, योगाभ्यास पूर्वोक्त सब साधन करता है, वही मुक्ति को पाता है ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ॥ —तै० आ० व० १।१

जो जीवात्मा अपनी बुद्धि और आत्मा में स्थित सत्य ज्ञान और अनन्त आनन्दस्वरूप परमात्मा को जानता है, वह उस व्यापकरूप ब्रह्म में स्थित होके उस **'विपश्चित्'**=अनन्तविद्यायुक्त ब्रह्म के साथ सब कामों को प्राप्त होता है, अर्थात् जिस-जिस आनन्द की कामना करता है, उस-उस आनन्द को प्राप्त होता है । यही **'मुक्ति'** कहाती है ।

[विना शरीर के स्वशक्ति से आनन्द का भोग]

प्रश्न—जैसे शरीर के विना सांसारिक सुख नहीं भोग सकता, वैसे मुक्ति में विना शरीर आनन्द कैसे भोग सकेगा ?

उत्तर—इसका समाधान पूर्व कह आये हैं और इतना अधिक सुनो— जैसे सांसारिक सुख शरीर के आधार से भोगता है, वैसे परमेश्वर के आधार मुक्ति के आनन्द को जीवात्मा भोगता है । वह मुक्त जीव अनन्त, व्यापक ब्रह्म में स्वच्छन्द घूमता, शुद्ध ज्ञान से सब सृष्टि को देखता, अन्य मुक्तों के साथ मिलता, सृष्टि-विद्या को क्रम से देखता हुआ सब लोक-लोकान्तरों में, अर्थात् जितने ये लोक दीखते हैं और नहीं दीखते, उन सबमें घूमता है । वह सब पदार्थों को, जोकि उसके ज्ञान के आगे हैं, देखता है । जितना ज्ञान अधिक होता है, उसको उतना ही आनन्द अधिक होता है ।

[स्वर्ग-नरक की व्याख्या]

मुक्ति में जीवात्मा निर्मल होने से पूर्ण ज्ञानी होकर उसको सब सन्निहित पदार्थों का भान यथावत् होता है । यही सुखविशेष **'स्वर्ग'** और विषयतृष्णा में फँसकर दुःखविशेष भोग करना 'नरक' कहाता है । **'स्वः' सुख का नाम है, 'स्वः सुखं गच्छति यस्मिन् स स्वर्गः', 'अतो विपरीतो दुःखभोगो यस्मिन् स नरक इति'** जो सांसारिक सुख है वह **'सामान्य स्वर्ग'**, और जो परमेश्वर की प्राप्ति से आनन्द है, वही 'विशेष स्वर्ग' कहाता है ।

भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का नाम 'स्वर्ग' तथा 'दुःख-विशेष' भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का नाम 'नरक' है ।

https://t.me/arshlibrary

सब जीव स्वभाव से सुख-प्राप्ति की इच्छा करते और दुःख का वियोग होना चाहते हैं, परन्तु जब तक धर्म नहीं करते और पाप नहीं छोड़ते, तब तक उनको सुख का मिलना और दुःख का छूटना न होगा, क्योंकि जिसका कारण अर्थात् मूल होता है, वह नष्ट कभी नहीं होता। जैसे—**'छिन्नेमूले वृक्षो नश्यति, तथा पापे क्षीणे दुःखं नश्यति'**। जैसे मूल कट जाने से वृक्ष नष्ट होता है वैसे पाप को छोड़ने से दुःख नष्ट होता है।

[पाप-पुण्य की गति; सत्वादि के लक्षण वा प्रतीति]

देखो ! मनुस्मृति में पाप और पुण्य की बहुत प्रकार की गति—

मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाऽशुभम् ।
वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥१॥
शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।
वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥२॥
यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते ।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥३॥
तत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम् ।
एतद् व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥४॥
तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत् ।
प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् ॥५॥
यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।
तद्रजोऽप्रतिपं विद्यात् सततं हारि देहिनाम् ॥६॥
यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥७॥
त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः ।
अग्र्यो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥८॥
वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्विकं गुणलक्षणम् ॥९॥
आरम्भरुचिताऽधैर्य्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।
विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥१०॥
लोभः स्वप्नो धृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता ।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥११॥
यत्कर्म कृत्वा कुर्वंश्च करिष्यंश्चैव लज्जति ।
तज्ज्ञेयं विदुषा सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥१२॥
येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम् ।
न च शोचत्यसम्पत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥१३॥
यत्सर्वेणेच्छति ज्ञातुं यन्न लज्जति चाचरन् ।
येन तुष्यति चात्मास्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥१४॥
तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते ।
सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रैष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥१५॥

—मनु० अ० १२।८, ६२, ५-३३, ३५-३८॥

https://t.me/arshlibrary

अर्थात् मनुष्य इस प्रकार अपने श्रेष्ठ, मध्य और निकृष्ट स्वभाव को जानकर उत्तम स्वभाव का ग्रहण, मध्य और निकृष्ट का त्याग करे। और यह भी निश्चय जाने कि यह जीव मन से जिस शुभ वा अशुभ कर्म को करता है उसको मन, वाणी से किये को वाणी, और शरीर से किये को शरीर से अर्थात् सुख-दुःख को भोगता है ॥१॥

जो नर शरीर से चोरी, परस्त्रीगमन, श्रेष्ठों को मारने आदि दुष्ट कर्म करता है, **उसको वृक्षादि स्थावर का जन्म,** वाणी से किये पापकर्मों से पक्षी और मृगादि, तथा मन से किये दुष्ट कर्मों से चाण्डाल आदि का शरीर मिलता है ॥२॥

जो गुण इन जीवों के देह में अधिकता से वर्त्तता है, वह गुण उस जीव को अपने सदृश कर देता है ॥३॥

जब आत्मा में ज्ञान हो तब सत्त्व, जब अज्ञान रहे तब तम, और जब राग-द्वेष में आत्मा लगे तब रजोगुण जानना चाहिए। ये तीन प्रकृति के गुण सब संसारस्थ पदार्थों में व्याप्त होकर रहते हैं ॥४॥

उसका विवेक इस प्रकार करना चाहिए कि जब आत्मा में प्रसन्नता, मन प्रसन्न, प्रशान्त के सदृश शुद्धभानयुक्त वर्त्ते, तब समझना कि सत्त्वगुण प्रधान, और रजोगुण तथा तमोगुण अप्रधान हैं ॥५॥

जब आत्मा और मन दुःखसंयुक्त, प्रसन्नता-रहित, विषय में इधर-उधर गमन-आगमन में लगे, तब समझना कि रजोगुण प्रधान, सत्त्व-गुण और तमोगुण अप्रधान हैं ॥६॥

जब मोह अर्थात् सांसारिक पदार्थों में फँसा हुआ आत्मा और मन हो, जब आत्मा और मन में कुछ विवेक न रहे, विषयों में आसक्त, तर्क-वितर्क-रहित, जानने योग्य न हो, तब निश्चय समझना चाहिए कि इस समय मुझमें तमोगुण प्रधान, और सत्त्वगुण तथा रजोगुण अप्रधान हैं ॥७॥

अब जो इन तीन गुणों का उत्तम, मध्यम और निकृष्ट फलोदय होता है, उसको पूर्णभाव से कहते हैं ॥८॥

जो वेदों का अभ्यास, ज्ञान की वृद्धि, पवित्रता की इच्छा, इन्द्रियों का निग्रह, धर्मक्रिया, और आत्मा का चिन्तन होता है, यही सत्त्वगुण का लक्षण है ॥९॥

जब रजोगुण का उदय, सत्त्व और तमोगुण का अन्तर्भाव होता है, तब आरम्भ में रुचिता, धैर्यत्याग, असत् कर्मों का ग्रहण, निरन्तर विषयों की सेवा में प्रीति होती है, तभी समझना कि रजोगुण प्रधानता से मुझमें वर्त्त रहा है ॥१०॥

जब तमोगुण का उदय और दोनों का अन्तर्भाव होता है, तब अत्यन्त लोभ अर्थात् सब पापों का मूल बढ़ता, अत्यन्त आलस्य और निद्रा, धैर्य का नाश, क्रूरता का होना, **नास्तिक्य** अर्थात् वेद और ईश्वर में श्रद्धा का न रहना, भिन्न-भिन्न अन्तःकरण की वृत्ति और एकाग्रता का अभाव, जिस किसी से याचना, और प्रमाद अर्थात् किन्हीं व्यसनों में फँसना होवे, तब तमोगुण का लक्षण विद्वान् को जानने योग्य है ॥११॥

तथा जब अपना आत्मा जिस कर्म को करके, करता हुआ और करने की इच्छा से लज्जा, शङ्का और भय को प्राप्त होवे, तब जानो कि मुझमें प्रवृद्ध तमोगुण है ॥१२॥

जिस कर्म से इस लोक में जीवात्मा पुष्कल प्रसिद्धि चाहता, दरिद्रता होने में भी चारण, भाट आदि को दान देना नहीं छोड़ता, तब समझना कि मुझमें रजोगुण प्रबल है ॥१३॥

और जब मनुष्य का आत्मा सबसे जानने को चाहे, गुण ग्रहण करता जाए, अच्छे कर्मों में लज्जा न करे, और जिस कर्म से आत्मा प्रसन्न होवे अर्थात् धर्मचरण ही में रुचि रहे, तब समझना कि मुझमें सत्त्वगुण प्रबल है ॥१४॥

तमोगुण का लक्षण काम, रजोगुण का अर्थ-संग्रह की इच्छा और सत्त्वगुण का लक्षण धर्म-सेवा करना है, परन्तु तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण स सत्त्वगुण श्रेष्ठ है ॥१५॥

https://t.me/arshlibrary

[किस-किस गुण से कौन-कौन योनि प्राप्ति होती है]

अब जिस-जिस गुण से जिस-जिस गति को जीव प्राप्त होता है, उस-उसको आगे लिखते हैं[1]—

देवत्वं सात्विका यान्ति मनुष्यत्वञ्च राजसाः ।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥१॥
स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाश्च[2] कच्छपाः ।
पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः ॥२॥
हस्तिनश्च तुरङ्गाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिताः ।
सिंहा[3] व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥३॥
चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिकाः ।
रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसीषूत्तमा गतिः ॥४॥
झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शस्त्रवृत्तयः ।
द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥५॥
राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः ।
वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥६॥
गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये ।
तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः ॥७॥

देवत्वम्—पाप-पुण्य के फलस्वरूप होनेवाली योनियों के निर्देशक ये सभी श्लोक मनुस्मृति के १२वें अध्याय से उद्धृत हैं। इन श्लोकों में महर्षियों द्वारा भृगु से प्रश्न और भृगु द्वारा उनका उत्तर देने का वर्णन होने से ये मनु प्रोक्त न होकर भृगु से भी परवर्त्ती किसी अन्य व्यक्ति द्वारा रचकर संकलित किये गये प्रतीत होते हैं, अतएव इनका प्रामाण्य सन्दिग्ध है। इनका मूल तथा आधार विद्वज्जनों द्वारा अन्वेष्य है। इन श्लोकों में निर्दिष्ट कर्मफल-व्यवस्था के ग्रन्थकार द्वारा मान्य होने का कोई स्पष्ट संकेत भी उपलब्ध नहीं है। इन्हें यहाँ उद्धृत करने में ग्रन्थकार का तात्पर्य इस विषय में एक सम्भावित रूपरेखा प्रस्तुत करना-भर प्रतीत होता है।

योगः—वृत्तिनिरोध का अर्थ है किसी एक इच्छित विषय में चित्त को स्थिर रखना अर्थात् अपनी इच्छा के अनुसार चित्त को एक स्थान पर केन्द्रित करना योग कहाता है। जब चित्त में स्थैर्यशक्ति उत्पन्न होती है तब किसी भी लक्ष्य में उसे स्थिर किया जा सकता है। स्थिरता की चरम सीमा ही समाधि है। चित्त शब्द का अर्थ यहाँ अन्तःकरण है और यह सत्त्व-रज़स्-तमस् रूप प्रकृति का परिणाम होने से त्रिगुणात्मक है। इसी के बाह्याभ्यान्तर व्यापार को वृत्ति कहते हैं। चित्त इनमें से किसी-न-किसी वृत्ति से व्याप्त रहता है। इन वृत्तयों के क्रम का निरोध होना 'योग' है।

तदा द्रष्टुः—तब, अर्थात् जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है और समस्त वृत्तियाँ बाह्य विषयों से

---

१. द्र०—**येन यस्तु गुणेनैषां संसारान् प्रतिपद्यते । तान्समासेन वक्षामि सर्वस्यास्य यथाक्रमम् ॥** —मनु० १२।३३

२. मनुस्मृति में 'सर्पाः सकच्छपाः पाठ है।

३. द्वि० सं० में 'हिंस्रा' पाठ है, पर आर्य-भाषार्थ में 'सिंह' है, अतः ऋषि को भी 'सिंह' पाठ अभिप्रेत था। लिपिकर की अनवधानता से 'हिंस्र' लिखा गया प्रतीत होता है। —भ० द०

https://t.me/arshlibrary

तापसा यतयो विप्रा ये च वैमानिका गणाः ।
नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्विकी गतिः ॥८॥
यज्वान ऋषयो देवा वेदा ज्योतींषि वत्सराः ।
पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्विकी गतिः ॥९॥
ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च ।
उत्तमां सात्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥१०॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्यासेवनेन च ।
पापान् संयान्ति संसारानविद्वांसो नराधमाः ॥११॥

—मनु० १२।४०, ४२-५०, ५२॥

जो मनुष्य सात्विक हैं वे देव अर्थात् विद्वान्, जो रजोगुणी होते हैं वे मध्यम मनुष्य, और जो तमोगुणयुक्त होते हैं वे नीच गति को प्राप्त होते हैं ॥१॥

जो अत्यन्त तमोगुणी हैं वे स्थावर वृक्षादि, कृमि, कीट, मत्स्य, सर्प्प, कच्छप, पशु और मृग के जन्म को प्राप्त होते हैं ॥२॥

जो मध्यम तमोगुणी हैं, वे हाथी, घोड़ा, शूद्र, म्लेच्छ, निन्दित कर्म करनेहारे, सिंह, व्याघ्र, वराह अर्थात् शूकर के जन्म को प्राप्त होते हैं ॥३॥

जो उत्तम तमोगुणी हैं, वे चारण (जो कि कवित्त दोहा आदि बनाकर मनुष्यों की प्रशंसा करते हैं), सुन्दर पक्षी, दांभिक पुरुष अर्थात् अपने मुख से अपनी प्रशंसा करनेहारे, राक्षस=जो हिंसक पिशाच अनाचारी अर्थात् मद्यादि के आहारकर्त्ता और मलिन रहते हैं, वह उत्तम तमोगुण के कर्म का फल है ॥४॥

जो अधम रजोगुणी हैं, वे 'झल्लाः' अर्थात् तलवार आदि से मारने वा कुदार आदि से खोदनेहारे, 'मल्लाह' अर्थात् नौका आदि के चलानेवाले, नट जो बाँस आदि पर कला, कूदना, चढ़ना-उतरना आदि करते हैं, शस्त्रधारी भृत्य और मद्य पीने में आसक्त हों, ऐसे जन्म नीच रजोगुण का फल है ॥५॥

जो मध्यम रजोगुणी होते हैं, वे राजा, क्षत्रियवर्णस्थ राजाओं के पुरोहित, वादविवाद करनवाले, दूत, प्राड्विवाक (वकील वारिस्टर), युद्ध-विभाग के अध्यक्ष के जन्म पाते हैं ॥६॥

जो उत्तम रजोगुणी है वे गन्धर्व (गानेवाले), गुह्यक (वादित्र बजानेहारे), यक्ष (धनाढ्य), विद्वानों के सेवक, और अप्सरा अर्थात् जो उत्तम रूपवाली स्त्री उसका जन्म पाते हैं ॥७॥

जो तपस्वी, यति=संन्यासी, वेदपाठी विमान के चलानेवाले, ज्योतिषी और दैत्य अर्थात् देहपोषक मनुष्य होते हैं, उनको प्रथम सत्वगुण के कर्म का फल जनो ॥८॥

जो मध्यम सत्त्वगुणयुक्त होकर कर्म करते हैं, वे जीव यज्ञकर्ता, वेदार्थवित् विद्वान्, वेद, विद्युत् आदि और कालविद्या के ज्ञाता, रक्षक ज्ञानी और **'साध्य'**=कार्यसिद्धि के लिए सेवन करने योग्य अध्यापक का जन्म पाते हैं ॥९॥

जो उत्तम सत्वगुणयुक्त होके उत्तमकर्म करते हैं, वे 'ब्रह्मा'=सब वेदों का वेत्ता, 'विश्वसृज'=सब सृष्टिक्रम विद्या को जानकर विविध विमानादि यानों को बनानेहारे, धार्मिक, सर्वोत्तम बुद्धियुक्त, और अव्यक्त के जन्म और प्रकृतिवशित्व सिद्धि को प्राप्त होते हैं ॥१०॥

जो इन्द्रियों के वश होकर विषयी, धर्म को छोड़कर अधर्म करनेहारे अविद्वान् हैं, वे मनुष्यों में नीच जन बुरे-बुरे दुःखरूप जन्म को पाते हैं ॥११॥

इस प्रकार सत्व, रज और तमोगुणयुक्त वेग से जिस-जिस प्रकार का कर्म जीव करता है, उस-उस को उसी-उसी प्रकार फल प्राप्त होता है ।

https://t.me/arshlibrary

[चित्तवृत्ति का निरोध]

जो मुक्त होना चाहते हैं वे गुणातीत अर्थात् सब गुणों के स्वभावों में न फँसकर महायोगी होके मुक्ति का साधन करें, क्योंकि—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥१॥
तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥२॥

—ये योगशास्त्र पातञ्जल १।२,३ के सूत्र हैं ॥

मनुष्य रजोगुण-तमोगुणयुक्त कर्मों से मन को रोक, शुद्ध सत्वगुणयुक्त हो पश्चात् उसका निरोध कर 'एकाग्र' अर्थात् एक परमात्मा और नाभि, हृदय, कण्ठ, नेत्र और नासिका के अग्रभाग में चित्त को ठहरा रखना निरुद्ध अर्थात् सब ओर से मन की वृत्ति को रोकना ॥१॥

जब चित्ति एकाग्र और निरुद्ध होता है, तब सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति होती है ॥२॥ इत्यादि साधन मुक्ति के लिए करे । और—

'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः' ॥ सांख्य० १।१

जो **आध्यात्मिक** अर्थात् शरीर-सम्बन्धी पीड़ा, **आधिभौतिक** जो दूसरे प्राणियों से दुःखित होना, आधिदैविक जो अतिवृष्टि, अतिताप, अतिशीत, मन, इन्द्रियों की चञ्चलता से होता है । इस त्रिविध दुःख को छुड़ाकर मुक्ति पाना अत्यन्त पुरुषार्थ है ॥

इसके आगे आचार-अनाचार और भक्ष्याऽभक्ष्य का विषय लिखेंगे ॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनिर्मिते सत्यार्थप्रकाशे

सुभाषाविभूषिते विद्याऽविद्याबन्धमोक्षविषये

नवमः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥९॥

हटकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं तो चित्त अपने कारणरूप प्रकृति में लीन हो जाता है और जीवात्मा का प्रकृति और प्राकृत पदार्थों से सम्बन्ध नहीं रहता । उस अवस्था में वह अपने चेतनस्वरूप से परमेश्वर में स्थिर हो जाता है ।

अथ त्रिविध०—मानवजीवन का सर्वोत्कृष्ट, सर्वातिशायी प्रयोजन अपवर्ग की प्राप्ति है । इसलिए इसे सांख्यदर्शन में अत्यन्त पुरुषार्थ कहा है । इसी का अपर नाम मोक्ष है । सांख्यकार यदि जीवात्मा को ब्रह्मरूप मानते तो पहले ही सूत्र में उसे त्रिविध दुःखों से निवृत्ति का निर्देश न करते । समस्त शास्त्र ईश्वर प्राप्ति के द्वारा मोक्षसाधन के निमित्त आवश्यक विधि-निषेधात्मक वाक्यों से भरे पड़े हैं, क्योंकि पुरुषार्थ-चतुष्टय (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) का पर्यवसान मोक्ष-प्राप्ति में है ।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

अथ दशमसमुल्लासारम्भः

अथाऽऽचाराऽनाचारभक्ष्याऽभक्ष्यविषयान् व्याख्यास्यामः

[आचार-अनाचार का लक्षण]

अब जो धर्मयुक्त कामों का आचरण, सुशीलता, सत्पुरुषों का सङ्ग, और सद्विद्या के ग्रहण में रुचि आदि **'आचार'**, और इनसे विपरीत **'अनाचार'** कहाता है,उसको लिखते हैं—

[वेदोक्त धर्म का सेवन]

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ॥१॥
कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥२॥
सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसंभवाः ।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः ॥३॥
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥४॥

आचार और विचार में साध्य-साधन सम्बन्ध है। विचार का सम्बन्ध बुद्धि के साथ है और आचार का जीवन के साथ। जानना जानने के लिए नहीं, करने के लिए होता है, अर्थात् ज्ञान का पर्यवसान कर्म में है। आचार एक व्यापक शब्द है। इसी से आचार्य शब्द निष्पन्न होता है। केवल पुस्तकस्थ विद्या पढ़ाने और परीक्षा पास करानेवाले शिक्षक या अध्यापक कहला सकते हैं, पर आचार्य नहीं। आचार्य का मुख्य कर्त्तव्य शिष्य को आचारवान् बनाना है—**'आचारं ग्रहयतीति आचार्यः'**।

भगवान् मनु का कथन है—**आचारः परमो (प्रथमो) धर्मः'** ।(मनु ० १।१०८) इतना ही नहीं, उनका कहना है—

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलभाग्भवेत् ॥ —मनु० १।१०९

अर्थात् धर्माचरण से च्युत द्विज वेदप्रतिपादित सुखरूप फल को प्राप्त नहीं होता और जो धर्माचरण करता है वह समस्त सुखों को पाने का अधिकारी होता है।

मनु ने इस श्लोक की मान्यता की पुष्टि यत्र-तत्र अनेक श्लोकों में भी की है। तद्यथा—

https://t.me/arshlibrary

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥५॥
सर्वन्तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा ।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेत वै ॥६॥
श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥७॥
श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥८॥
योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥९॥
वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥१०॥
अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥११॥
वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्य्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥१२॥
केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥१३॥

—मनु० २।१-४, ६, ८, ११-१३, २६, ६५ ॥

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥
वेदास्त्यागाश्च यज्ञाश्च नियमांश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥

इन श्लोकों से स्पष्ट है कि आचारहीन व्यक्ति को उक्त वेदोक्त कर्मों में सफलता नहीं मिलती, आचारवान् को ही मिलती है। महामति चाणक्य का सूत्र है—**'सुखस्य मूलं धर्मः'** अर्थात् सुख का मूल धर्म है। मानो मनु के निम्न श्लोक में इसी का व्याख्यान उपलब्ध है—

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ —मनु० १।११०

अर्थात् (एवम्) इस प्रकार (आचारतः) धर्माचरण से ही (धर्मस्य गतिम्) धर्म की प्राप्ति एवं अभिवृद्धि को (दृष्ट्वा) देखकर (मुनयः) मुनियों ने (सर्वस्य तपसः मूलम्) सब तपस्याओं का श्रेष्ठ मूलाधार (आचारम्) धर्माचरण को ही (जगृहुः) स्वीकार किया है।

तब इस आचाररूप धर्म का स्वरूप अथवा लक्षण क्या है ? ग्रन्थकार द्वारा यहाँ मनुस्मृति से उद्धृत श्लोकों में इसी का विवेचन किया है। इस विवेचन का सार इन्हीं में से एक—निम्न श्लोक में उपलब्ध है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ —मनु० २।१२

https://t.me/arshlibrary

मनुष्यों को सदा इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि जिसका सेवन रोग-द्वेषरहित विद्वान् लोग नित्य करें, जिसको हृदय अर्थात् आत्मा से सत्यकर्त्तव्य जानें, वही धर्म माननीय और करणीय है ॥१॥

क्योंकि इस संसार में अत्यन्त कामात्मता और निष्कामता श्रेष्ठ नहीं है। वेदार्थ ज्ञान और वेदोक्त कर्म, ये सब कामना ही से सिद्ध होते हैं ॥२॥

जो कोई कहे कि मैं निरिच्छ और निष्काम हूँ वा हो जाऊँ, तो वह कभी नहीं हो सकता, क्योंकि सब काम अर्थात् यज्ञ, सत्यभाषणादि व्रत यम-नियमरूपी धर्म सङ्कल्प ही से बनते हैं ॥३॥

क्योंकि जो-जो हस्त, पाद, नेत्र, मन आदि चलाये जाते हैं, वे सब कामना ही से चलते हैं। जो इच्छा न हो, तो आँख का खोलना और मीचना भी नहीं हो सकता ॥४॥

इसलिए सम्पूर्ण वेद, मनुस्मृति तथा ऋषिप्रणीत शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार, और जिस-जिस कर्म में अपना आत्मा प्रसन्न रहे अर्थात् भय, शङ्का, लज्जा जिसमें न हो, उन कर्मों का सेवन करना उचित है। देखो, जब कोई मिथ्याभाषण चोरी आदि की इच्छा करता है, तभी उसके आत्मा में भय, शङ्का, लज्जा अवश्य उत्पन्न होती है। इसलिए वह कर्म करने योग्य नहीं ॥५॥

अर्थात्—वेद, स्मृति, सत्पुरुषों का आचरण तथा अपने आत्मा के ज्ञान से अविरुद्ध प्रियाचरण ये चार धर्म के लक्षण हैं, अर्थात् इन्हीं से धर्म लक्षित होता है।

यहाँ उद्धृत श्लोकों में **'विद्वद्भिः सेवितः सद्भिः'** (सदाचारः), **'हृदयेनाभ्यनुज्ञातः'** (स्वस्य च प्रियमात्मनः), **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** (वेदः), **'स्मृतिशीले'** (स्मृति) **'आचारश्चैव साधूनाम्'** (सदाचारः), **'आत्मनस्तुष्टिः'** (स्वस्य च प्रियमात्मनः); **'श्रुतिप्रामाण्यतः'** (वेद), **'श्रुतिस्मृत्युदितम्'** (वेद व स्मृति); **'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः'** (वेद), **'धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः'** (स्मृतिः); **'नास्तिको वेदनिन्दकः'** (वेद); **'प्रमाणं परमं श्रुतिः'** (वेद) तथा **'वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैः'** (वेद)—इत्यादि वाक्यों के द्वारा इन्हीं चार आधारभूत लक्षणों का निर्देश किया गया है। मनुस्मृति में अन्यत्र भी अनेकत्र एकैकशः अथवा समवेतरूप में इनका संकेत उपलब्ध है।

मनुस्मृति तथा अन्य शास्त्रों में भी अनेकत्र वेद और श्रुति शब्दों का प्रयोग मिलता है। इस विषय में ग्रन्थकार ने ऋ०भा०भूमिका में लिखा है—

"**प्रश्न**—वेद और श्रुति ये दो नाम ऋग्वेदादिसंहिताओं के क्यों हुए हैं ?

उत्तर—अर्थभेद से, क्योंकि एक **विद्** धातु ज्ञानार्थक है, दूसरी—धातु सत्तार्थक है, तीसरी **विदॢ** का अर्थ लाभ है, चौथी विद् धातु का अर्थ विचार है। इन चार धातुओं से करण और अधिकरणकारक में 'घञ्' प्रत्यय करने से वेद शब्द सिद्ध होता है। तथा **श्रु** धातु श्रवण अर्थ में है। जिनके पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिनको पढ़के विद्वान् होते हैं, जिनसे सब सुखों का लाभ होता है और जिनसे ठीक-ठीक सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इससे ऋक् संहिता आदि का नाम वेद है। वैसे ही सृष्टि के आरम्भ से आज पर्यन्त और ब्रह्मा आदि से लेके हम लोग पर्यन्त जिससे सब विद्याओं को सुनते आये हैं, इससे वेदों का नाम श्रुति पड़ा है। ..... जैसे छन्द और मन्त्र ये दोनों शब्द एकार्थवाची अर्थात् संहिता-भाग के नाम हैं, वैसे ही निगम और श्रुति भी वेदों के नाम हैं।"

वेद ईश्वरीय ज्ञान है और ईश्वर निर्भ्रान्त है, अतः उसका ज्ञान भी निर्भ्रान्त होने से स्वतःप्रमाण है। स्वतःप्रमाण होने से **'प्रमाणं परमं श्रुतिः'**। स्मृतिग्रन्थ वेदों में पारंगत ऋषि-मुनियों की रचना है। जीव अल्पज्ञ है, इस कारण उसकी रचना में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा की सम्भावना है, अतः जीवकृत होने से

https://t.me/arshlibrary

मनुष्य सम्पूर्ण शास्त्र, वेद, सत्पुरुषों का आचार, अपने आत्मा के अविरुद्ध अच्छे प्रकार विचार कर ज्ञाननेत्र से देख करके श्रुतिप्रमाण से स्वात्मानुकुल धर्म में प्रवेश करे ॥६॥

क्योंकि जो मनुष्य वेदोक्त धर्म और जो वेद से अविरुद्ध स्मृत्युक्त धर्म का अनुष्ठान करता है, वह इस लोक में कीर्त्ति और मरके सर्वोत्तम सुख को प्राप्त होता है ॥७॥

'श्रुति' वेद और **'स्मृति'** धर्मशास्त्र को कहते हैं। इनसे सब कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य का निश्चय करना चाहिए ॥८॥

जो कोई मनुष्य वेद और वेदानुकूल आप्तग्रन्थों का अपमान करे, उसको श्रेष्ठ लोग जातिबाह्य कर दें, क्योंकि जो वेद की निन्दा करता है, वही **'नास्तिक'** कहाता है ॥९॥

इसलिए वेद, स्मृति, सत्पुरुषों का आचार, और अपने आत्मा के ज्ञान से अविरुद्ध प्रियाचरण —ये **चार धर्म के लक्षण,** अर्थात् इन्हीं से धर्म लक्षित होता है ॥१०॥

स्मृतिग्रन्थ परतःप्रमाण हैं, अर्थात् वे वहीं तक प्रमाण है जहाँ तक वेदानुकूल हों। जाबालस्मृति में लिखा है—**'श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी'**। जिन बातों के सम्बन्ध में वेद में कोई स्पष्ट निर्देश उपलब्ध न हो, उनके विषय में आप्तपुरुष देश-काल-परिस्थिति के अनुसार नियम बना सकते हैं, परन्तु उनका वेदाविरोधी होना आवश्यक है, अर्थात् उनमें ऐसा कुछ नहीं होना चाहिए जो वेद की आधारभूत मान्यताओं के विपरीत हो। सदाचार का तीसरा मापदण्ड वेद तथा वेदानुकूल स्मृतियों के जानने और तदनुसार व्यवहार करनेवाले सत्पुरुषों का आचरण है। जिन कामों के विषय में न वेद में स्पष्ट निर्देश हो और न वेदानुकूल निर्मित स्मृतियों में, उनके विषय में जो काम महापुरुषों के आचरण के अनुकूल होगा वही धर्म माना जाएगा और इसके विपरीत अधर्म। धर्म का चौथा स्रोत 'आत्मा की सन्तुष्टि' या 'आत्मा का प्रिय' कार्य है। यहाँ हर किसी के प्रिय को धर्म की कोटि में नहीं रक्खा जा सकता। वेदानुकूल आचरण करनेवाले, धार्मिक, पवित्रात्मा विद्वानों की उनकी अपनी आत्मा की सन्तुष्टि, प्रसन्नता और प्रियता के अनुकूल जो कार्य हैं, वही धर्म है। इस विषय में महाकवि कालिदास की यह उक्ति द्रष्टव्य है—

सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ।

एतदनुसार सज्जन पुरुषों के अन्तःकरण में उद्भूत विचार को ही प्रमाणकोटि में रक्खा जाता है। मनु ने जहाँ-जहाँ आत्मा की सन्तुष्टि की बातें कही हैं, वे द्विजों के धर्माधर्म के प्रसंग में हैं, उनसे इतर निम्नस्तरीय व्यक्तियों के लिए नहीं। हाँ, जिस कार्य में आत्मा को भय, शंका, लज्जा आदि का अनुभव नहीं होता, ऐसे कर्म अवश्य आत्मा के प्रिय कर्म कहे जा सकते हैं, इससे विपरीत कर्म आत्मा के प्रिय नहीं माने जा सकते।

योऽवमन्येत—जो (हेतुशास्त्राश्रयात्) तर्कशास्त्र के आश्रय से वेद और धर्मशास्त्र का अपमान करता है, श्रेष्ठ पुरुषों को योग्य है कि उसे समाज से बहिष्कृत कर दें। वेद की निन्दा करनेवाला नास्तिक होता है।

मनु तथा अन्य आचार्य धर्माधर्म का निश्चय करने में तर्क को प्रमाण मानते हैं। निरुक्तशास्त्र (परिशिष्ट ११।१३) में तर्क को ऋषिस्थानीय माना है। उसे वेदमन्त्रों के अर्थ का निश्चायक बतलाया है। मनु तो यहाँ तक कहते हैं कि—**'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः'** (१२।१०६) अर्थात् जो तर्क से अनुसन्धान करता है वही धर्म के तत्त्व को समझता है, अन्य नहीं। इसलिए जब मनु **'हेतुशास्त्राश्रय'** अर्थात् तर्क का निषेध करते हैं तो उनका अभिप्राय 'तर्क' से नहीं, 'कुतर्क' से है। विवेच्य श्लोक में **'अवमन्येत'**

https://t.me/arshlibrary

परन्तु जो द्रव्यों के लोभ और काम अर्थात् विषय-सेवा में फँसा हुआ नहीं होता, उसी को धर्म का ज्ञान होता है। जो धर्म को जानने की इच्छा करें, उनके लिए वेद ही परम प्रमाण है ॥११॥

इसी से सब मनुष्यों को उचित है कि वेदोक्त पुण्यरूप कर्मों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने सन्तानों का निषेकादि संस्कार करें, जो इस जन्म वा परजन्म में पवित्रकरने वाला है ॥१२॥

ब्राह्मण के सोलहवें, क्षत्रिय के बाईसवें, और वैश्य के चौबीसवें वर्ष में केशान्तकर्म=क्षौर-मुण्डन हो जाना चाहिए, अर्थात् इस विधि के पश्चात् केवल शिखा को रखके अन्य डाढ़ी-मुँछ और शिर के बाल सदा मुँडवाते रहना चाहिए, अर्थात् पुनः कभी न रखना और जो शीतप्रधानदेश हो तो कामचार है, चाहै जितने केश रक्खे। और जो अति उष्ण देश हो, तो सब शिखासहित छेदन करा देना चाहिए, क्योंकि शिर में बाल रहने से उष्णता अधिक होती है, और उससे बुद्धि कम हो जाती है। डाढ़ी-मूँछ रखने से भोजन-पान अच्छे प्रकार नहीं होता, और उच्छिष्ट भी बालों में रह जाता है ॥१३॥

क्रियापद का प्रयोग किया है जिससे उनका भाव यह है कि तर्कशास्त्र की आड़ में जल्प, वितण्डा आदि कुतर्क के द्वारा जो शास्त्र का अपमान करते हैं वे वेदनिन्दक समाज में रहने योग्य नहीं। ऋषियों ने जहाँ तर्क को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है, वहाँ तर्क करने का अधिकार किसे है, यह भी निर्धारित कर दिया है। तदनुसार तत्त्वज्ञानी, शास्त्रवेत्ता तथा सत्यान्वेषण में प्रवृत्त व्यक्ति को ही तर्क करने का अधिकार है।

अर्थकामेषु—अर्थ और काम पुरुषार्थचतुष्टय के अन्तर्गत होने से उनका निषेध नहीं किया जा सकता। दोष आसक्ति में है। पूना में दिये गये अपने प्रवचनों में एक दिन ग्रन्थकार ने कहा था कि "जो मनुष्य सांसारिक विषयों में फँसे हुए हैं, उन्हें धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता। धर्म के जिज्ञासुओं (अभिलाषियों) के लिए ही वेद परम प्रमाण है।"

केशान्तः—मनुस्मृति (२।२१६) के अनुसार—

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित् ॥

ब्रह्मचारी चाहे तो सब केश मुँडवाकर रहे, चाहे सब केश रक्खे रहे अथवा केवल शिखा रखकर, शेष केश मुँडवाकर रहे। इस ब्रह्मचारी को किसी निवासस्थान में रहते सूर्य न तो अस्त हो, न कभी उदय हो अर्थात् प्रमाद के कारण उसके निवासस्थान पर रहते-रहते सूर्य अस्त नहीं होना चाहिए और न ही सोते-सोते सूर्योदय होना चाहिए, अपितु उससे पूर्व ही सन्ध्योपासन आदि नित्य कर्मों के लिए वन-प्रदेश में निकल जाना चाहिए (२।७६, ७८, ७७, ७६)

मुण्डो जटिलः शिखी (लौगाक्षिगृह्य० १।२५) अर्थात् चाहे मूँड मुँडवाये, वा जटा रक्खे अथवा शिखा रक्खे। **मुण्डाः शिखारहिताः** (लौगाक्षिगृह्य० ४०।४) अर्थात् मुण्ड का अर्थ है शिखारहित।

चरकसंहिता (सूत्रस्थान ८।१६) के अनुसार कम-से-कम एक पक्ष में तीन बार दाढ़ी-मूँछ तथा शिर के बाल कटवाते रहना चाहिए।

वशे कृत्वा०—युक्ताहारविहार—इस सन्दर्भ में गीता का निम्न श्लोक द्रष्टव्य है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ ६।१७

अर्थात् जिसका आहार-विहार नियमित है, जिसकी चेष्टाएँ नियमित हैं, जिसका सोना-जागना नियमित है, योगाभ्यास से उसके सब दुःख दूर हो जाते हैं।

https://t.me/arshlibrary

[मनुष्यों के कुछ विशेष कर्तव्य]

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ॥१॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥२॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥३॥
वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥४॥
वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥५॥
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥६॥
नापृष्टः कस्याचद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥७॥
वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥८॥
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥९॥
न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥१०॥
विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥११॥
न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥१२॥
यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥१३॥
अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥१४॥

—मनु० २।८८,९३,९४,९७,१००,९८,११०,१३६,१५३-१५७,१५६॥

मनुष्य का यही मुख्य आचार है कि जो इन्द्रियाँ चित को हरण करनेवाले विषयों में प्रवृत्त कराती हैं, उनको रोकने में प्रयत्न करे। जैसे घोड़े को सारथी रोककर शुद्ध मार्ग में चलाता है, इस प्रकार इनको अपने वश में करके अधर्ममार्ग से हटाके धर्ममार्ग में सदा चलाया करे ॥१॥

क्योंकि इन्द्रियों को विषयासक्ति और अधर्म में चलाने से मनुष्य निश्चित दोष को प्राप्त होता है और जब इनको जीतकर धर्म में चलाता है, तभी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त होता है ॥२॥

यह निश्चय है कि जैसे अग्नि में इन्धन और घी डालने से बढ़ता जाता, वैसे ही कामों के उपभोग से काम शान्त कभी नहीं होता, किन्तु बढ़ता ही जाता है। इसलिए मनुष्य को विषयासक्त कभी न होना चाहिए ॥३॥

https://t.me/arshlibrary

जो अजितेन्द्रिय पुरुष है, उसको **'विप्रदुष्ट'** कहते हैं। उसके करने से न वेदज्ञान, न त्याग, न यज्ञ, न नियम और न धर्माचरण सिद्धि को प्राप्त होते हैं, किन्तु ये सब जितेन्द्रिय, धार्मिकजन को सिद्ध होते हैं ॥४॥

इसलिए पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और ग्यारहवें मन को अपने वश में करके, युक्ताहारविहार योग से शरीर की रक्षा करता हुआ सब अर्थों को सिद्ध करे ॥५॥

'जितेन्द्रिय' उसको कहते हैं कि जो स्तुति सुनके हर्ष, और निन्दा सुनके शोक, अच्छा स्पर्श करके सुख, और दुष्ट स्पर्श से दुःख, सुन्दर रूप देखके प्रसन्न, और दुष्ट रूप देख अप्रसन्न, उत्तम भोजन करके आनन्दित, और निकृष्ट भोजन करके दुःखित, सुगन्ध में रुचि और दुर्गन्ध में अरुचि नहीं करता ॥६॥

कभी विना पूछे वा अन्याय से पूछनेवाले को कि जो कपट से पूछता हो, उसको उत्तर न देवे। उनके सामने बुद्धिमान् जड़ के समान रहे। हाँ, जो निष्कपट और जिज्ञासु हों, उनको विना पूछे भी उपदेश करे ॥७॥

एक धन, दूसरे बन्धु=कुटुम्ब-कुल, तीसरी अवस्था, चौथा उत्तम कर्म और पाँचवीं श्रेष्ठ विद्या, ये पाँच मान्य के स्थान हैं, परन्तु धन से उत्तम बन्धु, बन्धु से अधिक अवस्था, अवस्था से श्रेष्ठ कर्म, और कर्म से पवित्र विद्यावाले उत्तरोत्तर अधिक माननीय हैं ॥८॥

क्योंकि चाहे सौ वर्ष का भी पुरुष हो, परन्तु जो विद्या-विज्ञानरहित है वह **'बालक'**, और जो विद्या-विज्ञान का दाता है उस बालक को भी **'वृद्ध'** मानना चाहिए, क्योंकि सब शास्त्र, आप्त विद्वान् अज्ञानी को **'बालक'** और ज्ञानी को **'पिता'** कहते हैं ॥९॥

अधिक वर्षों के बीतने, श्वेत बाल के होने, अधिक धन से, और बड़े कुटुम्बके होने से वृद्ध नहीं होता, किन्तु ऋषि-महात्माओं का यही निश्चय है कि जो हमारे बीच में विद्या विज्ञान में अधिक है, वही **'वृद्ध'** पुरुष कहाता है ॥१०॥

ब्राह्मण ज्ञान से, क्षत्रिय बल से, वैश्य धन-धान्य से, और शूद्र जन्म अर्थात् अधिक आयु से वृद्ध होता है ॥११॥

शिर के बाल श्वेत होने से बुड्ढा नहीं होता, किन्तु जो युवा विद्या पढ़ा हुआ है, उसी को विद्वान् लोग बड़ा जानते हैं ॥१२॥

और जो विद्या नहीं पढ़ा है, वह जैसा काष्ठ का हाथी, चमड़े का मृग होता है, वैसा अविद्वान् मनुष्य जगत् में नाममात्र मनुष्य कहाता है ॥१३॥

इसलिए विद्या पढ़, विद्वान्, धर्मात्मा होकर निर्वैरता से सब प्राणियों के कल्याण का उपदेश करे और उपदेश में वाणी मधुर और कोमल बोले। जो सत्योपदेश से धर्म की वृद्धि और अधर्म का नाश करते हैं, वे पुरुष धन्य हैं ॥१४॥

नित्य स्नान करे, वस्त्र, अन्न-पान, स्थान सब शुद्ध रक्खे, क्योंकि इनके शुद्ध होने में चित्त की शुद्धि और आरोग्यता प्राप्त होकर पुरुषार्थ बढ़ता है। शौच उतना करना योग्य है कि जितने से मल, दुर्गन्ध दूर हो जाए।

[आचार की महत्ता]

'आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च' ॥ —मनु० १।१०८

जो सत्यभाषणादि कर्मों का आचरण करना है, वही वेद और स्मृति में कहा हुआ 'आचार' है ॥

मा नो वधीः पितरं मोत मातरम् ॥ —यजुः० १६।१५

मा नो वधीः—हमारे माता-पिता को मत मार।

https://t.me/arshlibrary

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ —अथर्व० ११।५।३
मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव ॥
—तै० आ० ७।११

माता, पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा करना **'देवपूजा'** कहाती है ॥

और जिस-जिस कर्म से जगत् का उपकार हो, वह-वह कर्म करना और हानिकारक छोड़ देना ही मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य कर्म है । कभी नास्तिक, लम्पट, विश्वासघाती, मिथ्यावादी, स्वार्थी, कपटी, छली आदि दुष्ट मनुष्यों का सङ्ग न करे । 'आप्त' जो सत्यवादी, धर्मात्मा, परोपकारप्रिय जन हैं, उनका सदा संग करने ही क नाम **'श्रेष्ठाचार'** है ।

[क्या विदेशगमन से आचार का नाश होता है ?]

प्रश्न—आर्यावर्त्त देशवासियों का आर्यावर्त्त देश से भिन्न-भिन्न देशों में जाने से आचार नष्ट हो जाता है, वा नहीं ?

उत्तर—यह बात मिथ्या है, क्योंकि जो बाहर-भीतर की पवित्रता करनी, सत्यभाषणादि आचरण करना है, वह जहाँ-कहीं करेगा आचार और धर्मभ्रष्ट कभी न होगा और जो आर्यावर्त्त में रहकर भी दुष्टाचार करेगा, वही धर्म और आचारभ्रष्ट कहावेगा ।

[देश-देशान्तर में जाने-आने में प्रमाण]

जो ऐसा ही होता, तो—

मेरोर्हरेश्च द्वे वर्षे वर्षं हैमवतं ततः ।
क्रमेणैव समागम्य भारतं वर्षमासदत् ॥१॥
स दृष्ट्वा विविधान् देशान् चीनहूणनिषेवितान् ॥२॥
—ये श्लोक भारत, शान्तिपर्व (३२५।१४-१५) मोक्षधर्म में व्यासशुक-संवाद में हैं ॥

आचार्य उपनयमानो०—यहाँ पूरा पाठ **'आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः'** (११।५।३) **'आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते'** (११।५।१७) इस प्रकार बनता है । पूरे सन्दर्भ का अर्थ इस प्रकार है—आचार्य उपनयन करता हुआ ब्रह्मचारी शिष्य की कामना करता है । आचार्य ब्रह्मचारी को अपने गर्भ में धारण करता है । गर्भ में धारण करने का अर्थ माता बनना है । आचार्य का व्यवहार विद्यार्थी के साथ ऐसा होना चाहिए जैसा माता का अपने गर्भस्थ बालक के साथ होता है । जैसे गर्भिणी की तनिक-सी असावधानी से गर्भस्थ बालक का बहुत अनिष्ट हो सकता है, वैसे ही आचार्य के आचार-विचार का थोड़ा-सा दोष भी बालक के जीवन में विकार उत्पन्न कर देता है और जैसे माता की प्रत्येक चेष्टा का गर्भस्थ बालक पर प्रभाव पड़ता है, वैसे ही आचार्य के क्रियाकलाप से ब्रह्मचारी प्रभावित होता है । इसलिए आचार्य को गर्भिणी की भाँति सावधान रहना चाहिए ।

मातृदेवो भव—इत्यादि तीनों उद्धृत वचनों को ग्रन्थकार ने ग्याहरवें समुल्लास में 'पंचायतन-पूजा' के प्रकरण में भी उद्धृत किया है । तात्पर्य यह है कि माता, पिता, आचार्य तथा अतिथि इन को देवों के समान पूज्य मानना चाहिए ।

मेरोर्हरेश्च—यह निश्चित है कि वर्तमान में उपलब्ध महाभारत का लगभग ६० प्रतिशत भाग प्रक्षिप्त है और जिस प्रकरण में से यहाँ उद्धृत श्लोक लिये गये हैं वह इतना कल्पनाप्रसूत, अश्लील, असम्बद्ध एवं

https://t.me/arshlibrary

अर्थात् एक समय व्यासजी अपने पुत्र शुक और शिष्य-सहित **'पाताल'** अर्थात् जिसको इस समय 'अमेरिका' कहते हैं, उसमें निवास करते थे। शुकाचार्य ने पिता से एक प्रश्न पूछा कि आत्मविद्या इतनी ही है वा अधिक ? व्यासजी ने जानकर उस बात का प्रत्युत्तर न दिया, क्योंकि उस बात का उपदेश कर चुके थे। दूसरे की साक्षी के लिए अपने पुत्र शुक से कहा कि—'हे पुत्र! तू मिथिलापुरी में जाकर यही प्रश्न जनक राजा से कर। वह इसका यथायोग्य उत्तर देगा'।

पिता का वचन सुनकर शुकाचार्य पाताल से मिथिलापुरी की ओर चले। प्रथम मेरु अर्थात् हिमालय से ईशान उत्तर और वायव्य दिशा में जो देश वसते हैं, उनका नाम **हरिवर्ष** था, अर्थात् हरि कहते हैं बन्दर को, उस देश के मनुष्य अब भी रक्तमुख अर्थात् वानर के समान भूरे नेत्रवाले होते हैं। जिन देशों का नाम इस समय **'यूरोप'** है, उन्हीं को संस्कृत में **'हरिवर्ष'** कहते थे। उन देशों को देखते हुए और जिनको हूण 'यहूदी' भी कहते हैं, उन देशों को देखकर चीन में आये। चीन से हिमालय और हिमालय से मिथिलापुरी को आये॥

और श्रीकृष्ण तथा अर्जुन पाताल में **'अश्वतरी'** अर्थात् जिसको अग्नियान नौका कहते हैं, उसपर बैठके पाताल में जाके महाराजा युधिष्ठिर के यज्ञ में उद्दालक ऋषि को ले आये थे। धृतराष्ट्र का विवाह **'गांधार'** जिसको **'कंधार'** कहते हैं, वहाँ की राजपुत्री से हुआ। माद्री पाण्डु की स्त्री **'ईरान'** के राजा की कन्या थी और अर्जुन का विवाह **पाताल** में जिसको 'अमेरिका' कहते हैं, वहाँ के राजा की लड़की उलोपी के साथ हुआ था। जो देश-देशान्तर द्वीप-द्वीपान्तर में न जाते होते, तो ये सब बातें क्योंकर हो सकतीं?

उपहासास्पद है कि उसपर समग्रता से विचार करना सम्भव नहीं, परन्तु इससे इतना अवश्य ध्वनित होता है कि जिस-किसी भी कालखण्ड में इन श्लोकों की रचना हुई है, उस समय विदेशयात्रा का प्रचलन था। सम्भवतः यही प्रमाणित करना ग्रन्थकार को अभीष्ट था। वेदों में अनेक मन्त्रों में जलपोतों, वायुयानों आदि के निर्माण तथा संचालन का उल्लेख होने से स्पष्ट है कि अनादिकाल से देश-विदेश में यात्रा करना शास्त्रसम्मत तथा तर्कसंगत है। आगे ११वें समुल्लास के आरम्भ में ग्रन्थकार ने लिखा है—"आर्यावर्त्त देश ही सच्चा पारसमणि है कि जिसको लोहेरूप दरिद्र विदेशी छूते ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।" पौराणिकों द्वारा विदेशयात्रा को पाप घोषित करने का परिणाम यह हुआ कि विदेशी तो भारत के सम्पर्क में आकर धनाढ्य होते गये और हम पारसमणि होते हुए भी दरिद्र होते गये। वे हमारे यहाँ आकर और तरह-तरह की विद्याएँ सीखकर अपने देशवासियों को लाभान्वित करते रहे और हम कूपमण्डूक बनकर जो कुछ हम जानते थे उसे भी भूलते गये। एक समय था जब हमारे पास सब प्रकार के आयुध थे। फिर एक दिन वह समय आया जब राणा सांगा को अत्यन्त पराक्रमी होते हुए भी पराजय का मुँह देखना पड़ा, क्योंकि उसकी सेना के तीर और तलवार बाबर की तोपों के गोलों का सामना न कर सके। संसार में तोपों का आविष्कार हो गया था। तब यदि वह बाबर को सुलभ हो सकती थी तो राणा सांगा को क्यों नहीं हो सकती थी ? पर तथाकथित धर्म के ठेकेदारों ने धर्म के नाम पर उनके हाथ-पैर बाँधकर डाल दिये थे। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण (सन् १८७५) में चतुर्थ समुल्लास में अन्तर्देशीय विवाहों का अनुमोदन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा—

"यह बात भी अवश्य होनी चाहिए कि देश-देशान्तर से विवाह का होना उचित है, क्योंकि पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम देशों में रहनेवाले मनुष्यों में परस्पर विवाह करने से प्रीति होगी और देश-देशान्तरों के व्यवहार भी जाने जाएँगे। बलादिक गुण भी तुल्य होंगे और भोजन-व्यवहार भी एक ही होगा। इससे मनुष्यों

https://t.me/arshlibrary

मनुस्मृति (८।४०६) में जो समुद्र में जानेवाली नौका पर कर लेना लिखा है, वह भी आर्यावर्त्त से द्वीपान्तर में जाने के कारण है और जब महाराजा युधिष्ठर ने राजसूय यज्ञ किया था, उसमें सब भूगोल के राजाओं को बुलाने को निमन्त्रण देने के लिए भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव चारों दिशाओं में गये थे। जो दोष मानते होते, तो कभी न जाते। सो प्रथम आर्यावर्त्तदेशीय लोग व्यापार, राजकार्य और भ्रमण के लिए सब भूगोल में घूमते थे।

[देश-देशान्तर में जाने-आने से अनेक लाभ]

और जो आजकल छूतछात और धर्म नष्ट होने की शङ्का है, वह केवल मूर्खों के बहकाने और अज्ञान बढ़ने से है। जो मनुष्यों के समागम, रीति-भाँति देखने, अपना राज्य और व्यवहार बढ़ाने से निर्भय, शूरवीर होने लगते और अच्छे व्यवहार का ग्रहण, बुरी बातों के छोड़ने में तत्पर होके बड़े ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं। भला जो महाभ्रष्ट म्लेच्छकुलोत्पन्न वेश्या आदि के समागम से आचारभ्रष्ट, धर्महीन नहीं होते, किन्तु देश-देशान्तर के उत्तम पुरुषों के साथ समागम में छूत और दोष मानते हैं, यह केवल मूर्खता की बात नहीं तो क्या है ?

[अनार्यों से व्यवहार और गुणग्रहण में कोई दोष नहीं]

हाँ, इतना कारण तो है कि जो लोग मांसभक्षण और मद्यपान करते हैं, उनके शरीर और वीर्यादि धातु भी दुर्गन्धादि से दूषित होते हैं। इसलिए उनके सङ्ग करने से आर्यों को भी यह कुलक्षण न लग जाएँ, यह तो ठीक है, परन्तु इनसे व्यवहार और गुणग्रहण करने में कोई भी दोष वा पाप नहीं है, किन्तु इनके मद्यपानादि दोषों को छोड़ गुणों को ग्रहण करें, तो कुछ भी हानि नहीं। जब इनके स्पर्श और देखने से भी मूर्ख जन पाप गिनते हैं, इसी से उनसे युद्ध कभी नहीं कर सकते, क्योंकि युद्ध में उनको देखना और स्पर्श होना अवश्य है।

[पाखण्ड-खण्डन सीखकर ही विदेशों में जावें]

सज्जन लोगों को राग-द्वेष, अन्याय, मिथ्याभाषणादि दोषों को छोड़ निर्वैर, प्रीति, परोपकार, सज्जनतादि का धारण करना उत्तम 'आचार' है। और यह भी समझ लें कि धर्म हमारे आत्मा और कर्त्तव्य के साथ है। जब हम अच्छे काम करते हैं, तो हमको देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर जाने में कुछ भी दोष नहीं लग सकता। दोष तो पाप के काम करने में लगते हैं। हाँ, इतना अवश्य चाहिए कि वेदोक्त धर्म का निश्चय और पाखण्डमत का खण्डन करना अवश्य सीख लें, जिससे कोई हमको झूठा निश्चय न करा सके।

[देश-देशान्तर में व्यापार किये विना उन्नति नहीं होती]

क्या विना देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में राज्य वा व्यापार किये स्वदेश की उन्नति कभी हो

को बड़ा सुख होगा, जैसेकि पूर्व-दक्षिण देश की कन्या और पश्चिम-उत्तर देश के पुरुषों से विवाह जब होगा और पश्चिम-उत्तर देश के मनुष्यों की कन्या और पूर्व तथा दक्षिण देश में रहनेवाले पुरुषों से विवाह होगा तब बल-बुद्धि-पराक्रमादिक तुल्यगुण हो जाएँगे। पत्र द्वारा और आने-जाने से परस्पर प्रीति बढ़ेगी और परस्पर गुण ग्रहण होगा और सब देशों के व्यवहार सब देशों के मनुष्यों को विदित होंगे। परस्पर जो विरोध है सो नष्ट हो जाएगा। इससे मनुष्यों को बड़ा आनन्द होगा।"

देश-देशान्तर में व्यापार—देश की आर्थिक स्थिति पर ग्रन्थकार ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया।

https://t.me/arshlibrary

सकती है ? जब स्वदेश ही में स्वदेशी लोग व्यवहार करते, और परदेशी स्वदेश में व्यवहार वा राज्य करें, तो सिवाय दारिद्र्य और दुःख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता ।

[पाखण्डियों की झूठी आशङ्का]

पाखण्डी लोग यह समझते हैं कि जो हम इनको विद्या पढ़ावेंगे, और देश-देशान्तर में जाने की आज्ञा देवेंगे, तो ये बुद्धिमान् होकर हमारे पाखण्ड-जाल में न फँसने से हमारी प्रतिष्ठा और जीविका नष्ट हो जावेगी । इसलिए भोजन-छादन में बखेड़ा डालते हैं कि वे दूसरे देश में न जा सकें । हाँ, इतना अवश्य चाहिए कि मद्य-मांस का ग्रहण कदापि भूलकर भी न करें ।

[युद्ध के समय का आचार-अनाचार]

क्या सब बुद्धिमानों ने यह निश्चय नहीं किया है कि राजपुरुषों का युद्धसमय में भी चौका लगाकर रसोई बनाके खाना, अवश्य पराजय का हेतु है ? किन्तु क्षत्रिय लोगों का युद्ध में एक हाथ से रोटी खाते, जल पीते जाना, और दूसरे हाथ से सत्रुओं को घोड़े, हाथी, रथ पर चढ़ वा पैदल होके मारते जाना, अपना विजय करना ही 'आचार', और पराजित होना **'अनाचार'** है ।

[चौके के चक्कर में देश को नष्ट कर दिया]

इसी मूढ़ता से इन लोगों ने चौका लगाते-लगाते, विरोध करते-कराते सब स्वतन्त्र्य, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर हाथ-पर-हाथ धरे बैठे हैं, और इच्छा करते हैं कि कुछ पदार्थ मिले तो पकाकार खावें, परन्तु वैसा न होने पर जानो सब आर्यावर्त्त देशभर में चौका लगाके सर्वथा नष्ट कर दिया है ।

[भोजन-स्थान वा पाकशाला की शुद्धि आवश्यक]

हाँ, जहाँ भोजन करें उस स्थान को धोने, लेपन करने, झाड़ू लगाने, कूड़ा-कर्कट दूर करने में प्रयत्न अवश्य करना चाहिए । न कि मुसलमान वा ईसाइयों के समान भ्रष्ट पाकशाला करना ।

विदेशियों के भारत में व्यापार करने और भारतीयों के विदेशों में व्यापार न करने को वह देश की दरिद्रता का मूलकारण समझते थे । इसका उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए किसी समय श्रीमती सरोजिनी नायडू ने लिखा था—"इंग्लैंड में रूई पैदा नहीं होती । इसलिए वह रूई भारत से खरीदता है और इंग्लैंड में उसका वस्त्र बनाकर भारत में उसे बेचता है । एक रूपये में बिकनेवाले वस्त्र में लगी रूई के दो पैसे भारत को मिलते हैं और ६२ पैसे इंग्लैंड में रह जाते हैं ।" (उन दिनों एक रूपये के ६४ पैसे होते थे) । इसलिए ग्रन्थकार राष्ट्र के आर्थिक विकास, व्यापक दृष्टिकोण तथा सर्वांगीण उन्नति के लिए विदेशों के साथ व्यापार करना तथा इस निमित्त उनसे सन्धियाँ करना आवश्यक समझते थे । उस काल में समुद्र-यात्रा से धर्मभ्रष्ट हो जाने के फलस्वरूप स्थापित वर्जनाओं की निन्दा करते हुए पूना में दिये गये एक प्रवचन में उन्होंने कहा था—"देशाटन में अड़ंगा लगाना मूर्खता है । इतना ही नहीं, अपने हाथों अपने देश का सर्वनाश करना है ।" देश-देशान्तर-व्यापार को दृष्टि में रखकर ही उन्होंने व्यापारियों को प्रत्येक देश की भाषा सीखने का निर्देश किया (संस्कृतवाक्यप्रबोध) । ग्रन्थकार ने अपने वेदभाष्य में यत्र-तत्र-अनेकत्र व्यापार के अन्तर्देशीय स्वरूप का निर्धारण करते हुए राजा को व्यापारियों के लिए अपेक्षित सुविधाएँ प्रदान

https://t.me/arshlibrary

[सखरी-निखरी का पाखण्ड]

प्रश्न—सखरी-निखरी क्या है ?

उत्तर—**'सखरी'** जो जल आदि में अन्न पकाये जाते और जो घी-दूध में पकाते हैं वह **'निखरी'** अर्थात् चोखी। यह भी इन धूर्तों का चलाया हुआ पाखण्ड है, क्योंकि जिसमें घी अधिक लगे उसके खाने में स्वाद, और उदर में चिकना पदार्थ अधिक जावे, इसीलिए यह प्रपञ्च रचा है। नहीं तो जो अग्नि वा काल से पका हुआ पदार्थ वह **'पक्का'**, और न पका हुआ **'कच्चा'** है। जो पक्का खाना और कच्चा न खाना है, यह भी सर्वत्र ठीक नहीं, क्योंकि चणे आदि कच्चे[1] भी खाये जाते हैं।

करने का निर्देश किया है। **'व्यापारे वसति लक्ष-मीः'** इस नीति का अनुसरण करते हुए ग्रन्थकार ने यजुर्भाष्य (१६।४२) में लिखा है—"धन की कामना करनेवाले नौकादि यानों में शिक्षित मल्लाह आदि को रखकर समुद्रादि के इस पार उस पार आ-जाके देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में व्यवहार से धन की उन्नति करें।"

शिल्प, उद्योग तथा आयात-निर्यात का व्यापार में महत्त्वपूर्ण स्थान है। तृतीय समुल्लास में शिक्षानीति के अन्तर्गत राजधर्म से सम्बन्धित 'धनुर्वेद' के पश्चात् अथर्ववेद के उपवेद 'अर्थवेद' का उल्लेख हुआ है। अर्थवेद ही शिल्पशास्त्र है। ग्रन्थकार ने उसे छह वर्ष के भीतर पढ़कर तार, विमान, भूगर्भादि विद्याओं को जानने का उपदेश दिया है। वह उपदेश देकर ही नहीं रह गये, शिल्पोन्नति-हेतु तकनीकी प्रशिक्षण के लिए उन्होंने भारतीय युवकों को विदेश भेजने की व्यावहारिक योजना भी बनाई। उनकी जीवनी के प्रामाणिक लेखक श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने इस प्रसंग में ग्रन्थकार की मानसिक दशा का वर्णन करते हुए लिखा है—"जब वह (दयानन्द) देखता था कि भारत के शिल्पजीवी लोग बड़ी दुर्दशा में दिन काटते हैं, भारत की कारीगरी दिन-प्रतिदिन लुप्त होती जा रही है, दूसरी ओर विदेशी शिल्पी नये-नये आविष्कार कर रहे हैं, हिन्दुओं के घर विदेशी वस्तुओं से सजे हुए और प्रतिष्ठा के पात्र समझे जा रहे हैं, तब वह सर्वत्यागी संन्यासी महात्मा हिन्दुओं पर आक्षेपमात्र करके ही चुप नहीं रह जाता है, बल्कि एक शोकातुर मनुष्य के समान उसे अत्यन्त दुःख होता था।"—देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय : महर्षि दयानन्द का जीवनचरित।

ग्रन्थकार कला-कौशल के प्रशिक्षण हेतु प्रशिक्षण-विद्यालय की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे। (पत्र तथा विज्ञापन, भाग १, पृ० ४५०)। वे यह भी चाहते थे कि कुछ युवकों को कला-कौशल सीखने के लिए जर्मनी भेज दिया जाए (वही पृ० ३७६) इस निमित्त उनका जर्मनी के प्रो० जी० वाईज़ से पत्राचार भी हुआ। प्रो० वाईज़ ने २७ जून १८८० से १७ अक्तूबर १८८० ईसवी तक ६ पत्र ग्रन्थकार को लिखे। उन्होंने भारतीय युवकों को जर्मनी में पोलिटिकल इकोनोमी, स्टैनोग्राफी, बढ़ईगीरी, लोहे का काम, कपड़े की रंगाई, घड़ी-साज़ी आदि का प्रशिक्षण देने के लिए सहमति प्रदान कर दी थी (वही तथा भाग ३, पृ० ८७, ६४, ६५-६८), परन्तु, क्योंकि ग्रन्थकार अपने अन्तरतम से विशुद्धतः जनतान्त्रिक पद्धति के पक्षधर थे, उन्होंने इस योजना को लाला मूलराज आदि सहयोगियों की समिति में विचारार्थ प्रस्तुत कर दिया, जहाँ अन्ततः अस्वीकृत कर दिया गया (वही भाग १, पृ० ४०३)। जब इसकी सूचना प्रो० वाईज़ को दी गयी तो उसने १० अक्तूबर १८८० को लिखे अपने पत्र में ग्रन्थकार से उक्त समिति के निर्णय की उपेक्षा करके युवकों को जर्मनी भेजने का आग्रह करते हुए लिखा कि आप कमेटी की परवाह न करें। बहुमत सदा ही बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय नहीं करता, चाहे उसमें का प्रत्येक सदस्य चतुर तथा तर्कपूर्ण ही क्यों न हो। यह कहावत भी है

---

१. कच्चे चने भिगोकर, अथवा हरे चने कच्चे।

https://t.me/arshlibrary

[रसोई कौन बनाये ?]

प्रश्न—द्विज अपने हाथ से रसोई बनाके खावें, वा शूद्र के हाथ की बनाई खावें ?

उत्तर—शूद्र के हाथ की बनाई खावें, क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वेश्य वर्णस्थ स्त्री-पुरुष विद्या पढ़ाने, राज्य-पालन, और पशुपालन, खेती और व्यापार के काम में तत्पर रहें और शूद्र के पात्र तथा उसके घर का पका हुआ अन्न आपत्काल के विना न खावें। सुनो प्रमाण—

कि कई सारे रसोइए भोजन को बिगाड़ देते हैं। थोड़े दिन बाद कमेटी अपनी राय बदल भी सकती है और वह आप तथा मुझसे सहमत भी हो सकती है। जो धन उच्चतर शिक्षा पर व्यय किया जाता है, वह फैंका हुआ नहीं माना जाएगा, अतः आप अपने छात्रों को मेरे पास भेजने में संकोच न करें। हम उन्हें आपकी शर्तों पर ही ले लेंगे (वेदवाणी, वर्ष ४१, अंक ४, फरवरी १९८६ पृ० ८०)। परन्तु न तो ग्रन्थकार ने अपने जनतान्त्रिक निर्णय को अन्यथा किया और न समिति ने अपना निर्णय बदला। परिणामतः भारतीय युवक तकनीकी प्रशिक्षण के लिए जर्मनी न जा सके।

पं० श्री युधिष्ठिर मीमांसक का विचार है कि कमेटी के सदस्य हरिश्चन्द्र चिन्तामणि, मुंशी बख़्तावर सिंह, मुंशी इन्द्रमणि आदि ने अंग्रेजों के धन के प्रलोभनवश और लाला मूलराज ने अंग्रेजों के एजेंट होने के कारण सरकारी दबाव के कारण ग्रन्थकार की योजना को विफल करने के लिए ऐसा निर्णय दिया। यहाँ दो बातें विचारणीय हैं—प्रथम तो ग्रन्थकार मनु के इस सिद्धान्त को माननेवाले थे कि यदि 'एक अकेला सब वेदों का जाननेवाला, द्विजों में उत्तम संन्यासी जिस धर्म की व्यवस्था करे वही श्रेष्ठ है ..... (मनु० १२।१३), और दूसरे वे इस चण्डाल-चौकड़ी से भली प्रकार परिचित थे, ऐसी दशा में उन्होंने स्वतः स्फूर्त्त तथा प्रो० वाइज़ जैसे सुविज्ञ द्वारा अनुमोदित योजना का परित्याग क्यों कर दिया ? इस घटना-क्रम का अन्वेषण अपेक्षित है। इस योजना के असफल हो जानेपर भी ग्रन्थकार की प्रेरणा से शीघ्र ही एक शिल्पादि विद्यालय की स्थापना की गई। १६ मार्च १८८३ को आर्यसमाज लाहौर के मन्त्री जवाहरसिंह द्वारा निम्नलिखित विज्ञापन प्रसारित किया गया—

"येक परम हर्ष की बात है कि हमारी समाज से येक शिल्पादि विद्यालय खुलनेवाला है। येह हमारे देश में पहली बात होगी। बिजली, तार, रेल आदि कारीगरी सब सिखाई जायेंगी। सब असबाब विलायत से मंगवाया जायेगा। पुना यह बात आप पर विदित होगी कि यहाँ पर लड़कीओं का सकूल है, १ बरस व्यतीत हो गया, अब तीस लड़की पढ़ती हैं। सकूल समाज के मन्दर के अन्दर है। हिन्दी में पढ़ाई होती है अर दसताने जुराब अरु गलुबन्द बुनती हैं। अर कसीदा काढ़ती हैं। प्रीक्षा पूर्वक इनाम भी दिये जाते हैं।" आश्चर्य की बात है कि अत्यधिक व्यस्त होते हुए भी ग्रन्थकार ने दानापुर के ठाकुरदास नामक घड़ीसाज से घड़ी बनाने की कला सीखी थी (Radhey Shyam : Contribution of Arya Samaj in the making of modern India, P. 218)।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि राष्ट्र के आर्थिक विकास की नींव को सुदृढ़ करने में ग्रन्थकार की शिल्प एवं उद्योग के क्षेत्र में कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। योगाभ्यास के द्वारा मोक्षलाभ प्राप्त करने के लिए निकले एक वीतराग संन्यासी द्वारा देश की आर्थिक उन्नति के लिए किया गया यह प्रयास वस्तुतः आश्चर्यजनक है।

रसोई बनाना शूद्र का काम—इस प्रसंग में प्रथम संस्करण में लिखा है—"रसोई के बनाने में बड़ा परिश्रम होता है और काल भी बहुत जाता है। इससे रसोई आदिक सेवा का शूद्र को ही अधिकार है।

https://t.me/arshlibrary

'आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्त्तारः स्युः' ।

—यह आपस्तम्ब २।२।४।४ का सूत्र है ।

आर्यों के घर में **'शूद्र'** अर्थात् मूर्ख स्त्री-पुरुष पाकादि-सेवा करें ।

परन्तु वे शरीर वस्त्र आदि से पवित्र रहैं । आर्यों के घर में जब रसोई बनावें, तब मुख बाँधके बनावें, क्योंकि उनके मुख से उच्छिष्ट और निकला हुआ श्वास भी अन्न में न पड़े । आठवें दिन क्षौर नखछेदन करावें । प्रतिदिन स्नान करके पाक बनाया करें । आर्यों को खिलाके आप खावें ।

[मीठा-मीठी गड़प, कड़वा-कड़वा थू]

प्रश्न—शूद्र के छुए हुए पके अन्न के खाने में जब दोष लगाते हैं, तो उसके हाथ का बनाया कैसे खा सकते हैं ?

उत्तर—यह बात कपोलकल्पित झूठी है, क्योंकि जिन्होंने गुड़ चीनी, घृत, दूध, पिसान, शाक, फल-फूल खाया, उन्होंने जानों सब जगत् भर के हाथ का बनाया और उच्छिष्ट खा लिया, क्योंकि जब शूद्र, चमार, भङ्गी, मुसलमान, ईसाई आदि लोग खेतों में से ईख को काटते, छीलते, पीलकर रस निकालते हैं, तब मलमूत्रोत्सर्ग करके उन्हीं विना धोये हाथों से छूते, उठाते-धरते, आधा साँठा चूस रस पीके आधा उसी में डाल देते, और रस पकाते समय उस रस में रोटी भी पकाकर खाते हैं ।

जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हैं वे तो विद्यादि प्रचार, प्रजा का धर्म से रक्षण, व्यापार और नाना प्रकार के शिल्प इनकी उन्नति ही में पुरुषार्थ करैं, क्योंकि जो बुद्धि और विद्यायुक्त हैं उनको सेवा करना उचित नहीं । रसोई आदिक जो सेवा मूर्ख पुरुष जो शूद्र उसी का अधिकार है, क्योंकि अग्नि के सामने बैठना, बर्तन माँजना अन्न को शुद्ध करना, नाना प्रकार के पदार्थ बनाना इसमें बड़ा परिश्रम जाता है । इस काम के करने में विद्वान् की विद्या नष्ट हो जाए, इससे यह काम शूद्र ही का है ।"

शूद्र के घर का न खाये—लोकोक्ति के अनुसार 'जैसा खाये अन्न वैसा होवे मन ।' चारों वर्णों का खान-पान, रहन-सहन आदि अपने-अपने गुण-कर्म-स्वभाव के अनुरूप होता है । क्षत्रिय के रजोगुणी भोजन से सात्विक ब्राह्मण नहीं बन सकता । इसी प्रकार तमोगुणी शूद्र के भोजन से सत्त्वगुणप्रधान ब्राह्मण और रजोगुण-प्रधान क्षत्रिय नहीं बन सकता । भोजनानुसार ही पात्रादि होते हैं । ब्राह्मण के घर में कुशासन तथा कदली और पलाश आदि की व्यवस्था होगी । क्षत्रिय के घर में राजसी ठाठ होंगे । अपवादों को छोड़कर शूद्र के घर में प्रायः पुरानी हाँडी आदि में पके और उसी से मिलते-जुलते अस्वच्छ पात्र में लाये गये भोजन को खाकर द्विज की सात्विक वा राजसी वृत्ति को आघात लगे बिना नहीं रहेगा । इसी भावना से ग्रन्थकार ने इस बात का उल्लेख किया है ।

आर्याधिष्ठिता०—यह आपस्तम्बधर्मसूत्र प्रपा० २, पटल २, खण्ड ४ के चतुर्थ सूत्र का पाठ है । मूर्ख से तो कोई भी काम नहीं कराना चाहिए और रसोई का काम तो मूर्ख को कदापि नहीं सौंपना चाहिए । इसलिए यहाँ 'मूर्ख' शब्द का अर्थ 'अनपढ़' समझना चाहिए । भोजन के अनुरूप ही मुख से गन्ध निकलती है । शूद्र के घर में खाये जानेवाले भोजन के दुर्गन्धयुक्त होने की सम्भावना के कारण ही उसके मुख पर कपड़ा बाँधने का निर्देश किया है ।

क्षौरादि—इस विषय में बौधायन धर्मशास्त्र प्रश्न १, अ० ५, सूत्र ८६ के अनुसार **'शूद्राणामार्याधिष्ठिता-नामर्धमासि मासि वा वपनम्'** मास में एक बार या दो बार क्षौर, नखछेदनादि कराना चाहिए । चरकसंहिता सूत्रस्थान ८।१६ में पक्ष (१५ दिन) में तीन बार अर्थात् पाँचवें दिन क्षौर आदि का विधान किया है । ग्रन्थकार

https://t.me/arshlibrary

जब चीनी बनाते हैं, तब पुराने जूते कि जिसके तले में विष्ठा, मूत्र, गोबर, धूली लगी रहती है, उन्हीं जूतों से उसको रगड़ते हैं। दूध में अपने घर के उच्छिष्ट पात्रों का जल डालते, उसी में घृतादि रखते, और आटा पीसने के समय भी वैसे ही उच्छिष्ट हाथों से उठाते, और पसीना भी आटे में टपकता जाता है, इत्यादि और फल-मूल-कन्द में भी ऐसी ही लीला होती है। जब इन पदार्थों को खाया, तो जानो सब के हाथ का खा लिया।

[क्या अदृष्ट में दोष नहीं ?]

प्रश्न—फल-मूल-कन्द और रस इत्यादि अदृष्ट में दोष नहीं मानते।

उत्तर—वाहजी वाह ! सत्य है कि जो ऐसा उत्तर न देते तो क्या धूल-राख खाते ? गुड़-शक्कर मीठी लगती, दूध-घी पुष्टि करता है, इसीलिए यह मतलबसिन्धु क्या नहीं रचा है ? अच्छा जो अदृष्ट में दोष नहीं' तो भङ्गी वा मुसलमान अपने हाथों से दूसरे स्थान में बनाकर तुमको आके देवे, तो खा लोगे वा नहीं ? जो कहो कि नहीं, तो अदृष्ट में भी दोष है। हाँ, मुसलमान, ईसाई आदि मद्य-मांसाहारियों के हाथ के खाने में आर्यों को भी मद्य-मांसादि खाना-पीना अपराध पीछे लग पड़ता है, परन्तु आपस में आर्यों का एक भोजन होने में कोई भी दोष नहीं दीखता।

ने मध्यम मार्ग अपनाकर ८वें दिन क्षौरादि का निर्देश किया है। इस प्रकरण का इतना ही तात्पर्य प्रतीत होता है कि शुद्ध, स्वच्छ मनुष्य के हाथ शुद्ध-स्वच्छ बर्तनों में बना और परोसा गया भोजन ही खाना चाहिए, चाहे वह कोई भी मनुष्य हो।

यहाँ यह कहा जाता है कि शूद्रस्तरीय व्यक्ति सम्पन्न घरों में विविध प्रकार के व्यंजन नहीं बना सकता, क्योंकि वह पाकविद्या में निपुण नहीं होता। मनु ने लिखा है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ —२।१६८

अर्थात् जो द्विज वेदाध्ययन में प्रवृत्त न होकर अन्यत्र अर्थात् अन्य कार्यों में श्रम करता है, उसकी शूद्र संज्ञा है। ऐसा व्यक्ति वेदशास्त्र में पारंगत न होकर पाकविद्या में निष्णात हो सकता है। 'आर्याधिष्ठिताः' का अर्थ है आर्यों के निरीक्षण अथवा मार्गदर्शन (Supervision) में काम करनेवाले। इसलिए सूत्रकार का कथन है—**'आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्त्तारः स्युः।'** गृहस्थ महिलाएँ अपनी देखरेख में नौकरों से सब प्रकार के काम (जिनमें रसोई बनाना भी शामिल है) कराती हैं, यह सबके अनुभव का विषय है। पानी भरकर लाना, बर्तन माँजना, कपड़े धोना तो अब सामान्य गृहस्थों के यहाँ भी नौकरों (शूद्रों) का ही काम हो गया है। फिर शूद्र के लाये जल से उसी के हाथों से माँजे-धोये गये बर्तनों में बनाये और परोसे गये भोजन को अछूत मानने में क्या तुक है ?

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आर्यसमाज का अंग होने से शास्त्रानुसार प्रायः मांसाहारी नहीं होते, जबकि म्लेच्छ, चाण्डाल, मुसलमान, ईसाई आदि आर्यमर्यादा के विपरीत आचरण करने से प्रायः मद्य-मांसाहारी होते हैं। जैसा भेद ब्राह्मण और चाण्डाल में है, वैसा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में आपस में नहीं, इसलिए शूद्र के पाक का वर्जित न करना और चाण्डालादि (जिनका शरीर प्रायः अभक्ष्य पदार्थों के परमाणुओं से बना होता है) के पाक का वर्जित करना सर्वथा युक्तियुक्त है।

यहाँ लिखा है—'आर्यों को खिलाके आप (पाचक) खावें।' इसके विपरीत 'पञ्चमहायज्ञविधि' (बलिवैश्वदेवयज्ञ के अन्त में) में लिखा है-"माता, पिता, आचार्य, अतिथि, पुत्र, भृत्यादिकों को भोजन कराके

https://t.me/arshlibrary

[केवल खाना-पीना ही एक होने से सुधार न होगा]

जबतक एक मत, एक हानि-लाभ, एक सुख-दुःख परस्पर न मानें, तबतक उन्नति होना बहुत कठिन है, परन्तु केवल खाना-पीना ही एक होने से सुधार नहीं हो सकता, किन्तु जबतक बुरी बातें नहीं छोड़ते, और अच्छी बातें नहीं करते, तबतक बढ़ती के बदले हानि होती है।

[विदेशियों के राज्य होने के कारण]

विदेशियो के आर्यावर्त्त में राज्य होने के कारण-आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना-पढ़ना, वा बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्याभाषाणादि कुलक्षण, वेदविद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं। जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं, तभी तीसरा विदेशी आकर पञ्च बन बैठता है।

[आपस की फूट का फल]

क्या तुम लोग महाभारत की बातें, जो पाँच सहस्र वर्ष के पहिले हुई थीं, उनको भी भूल गये ? देखो, महाभारत-युद्ध में सब लोग लड़ाई में सवारियों पर खाते-पीते थे। आपस की फूट से कौरव पाण्डव और यादवों का सत्यानाश हो गया, सो तो हो गया, परन्तु **अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा, वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ाकर दुःखसागर में डुबा मारेगा ? उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्रहत्यारे, स्वदेशविनाशक नीच के दुष्टमार्ग में आर्य लोग अब तक भी चलकर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह राजरोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाए।**

पश्चात् गृहस्थ को भोजन करना चाहिए।" 'पञ्चमहायज्ञविधि' की रचना विशेषतः यज्ञों का विधान करने के लिए हुई है, इसलिए हमारी सम्मति में इस प्रसंग में उसका कथन मान्य होना चाहिए।

खान-पान एक होने से एकता नहीं हो सकती। प्रतिदिन होनेवाली घटनाएँ ग्रन्थकार के इस कथन को पुष्ट करती हैं। एक ही थाली में भोजन करनेवाले सहोदरों में झगड़े होते हैं। बिरादरी के आधार पर रोटी-बेटी एक होने पर भी लोगों में सिर फुटौवल होता है। कौरव-पाण्डवों के बीच खान-पान के आधार पर कोई मतभेद नहीं था। सन् १६२५ में कोकोनाडा में महात्मा गांधी की अध्यक्षता में हुए कांग्रेस-अधिवेशन के अवसर पर हिन्दुओं और मुसलमानों ने एक ही गिलास से एक-दूसरे का जूठा पानी पिया, किन्तु फिर भी एकता के स्थान पर एक-दूसरे के प्रति घृणा में वृद्धि ही हुई। इस घृणा का पर्यवसान अन्ततः १९४७ में देश के विभाजन में हुआ। वर्त्तमान में भारतीय संविधान के अनुसार छुआछूत दण्डनीय अपराध है। क्लबों होटलों और ढाबों में सबके साथ समान व्यवहार होता है। रेलवे-स्टेशनों पर हिन्दू-पानी, मुस्लिम-पानी की आवाज़ लगना कभी का बन्द हो चुका। पंजाब में हिन्दुओं और सिखों में विवाहसम्बन्ध बेरोक-टोक होते रहे। यह सब-कुछ होने पर भी कौन कह सकता है कि आज देश में पहले की अपेक्षा अधिक एकता है ?

महाभारत का समय—ईसा से ३१०२ वर्ष पूर्व द्वापर का अन्त तथा कलिसंवत् का प्रारम्भ हुआ। युधिष्ठिर ने ३८ वर्ष राज्य किया। ३१०२ में ३८ जोड़ने पर युधिष्ठिर-संवत् का प्रारम्भकाल ३१४० वर्ष होगा। यही महाभारत-युद्ध की समाप्ति का काल है। इस प्रकार आज से ३१४०+१९६०=५१३० वर्ष पूर्व महाभारत का युद्ध हुआ था। विस्तृत जानकारी के लिए देखें—चिन्तामणि वैद्यकृत 'महाभारत-मीमांसा' तथा पं०

https://t.me/arshlibrary

[भक्ष्याऽभक्ष्य के दो भेद]

भक्ष्याभक्ष्य दो प्रकार का होता है। एक—**धर्मशास्त्रोक्त**, दूसरा—**वैद्यकशास्त्रोक्त**। जैसे धर्मशास्त्र में—

'अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च' ॥ —मनु० ५।५॥

द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को मलीन विष्ठा-मूत्रादि के संसर्ग से उत्पन्न हुए शाक-फल-मूलादि न खाना चाहिए।

'वर्जयेन्मधुमांसं च'। —मनु० २।१७७

जैसे अनेक प्रकार के मद्य गांजा भाँग अफीम आदि। जो-जो—

'बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारी तदुच्यते'। —शार्ङ्गधर आ० ४, श्लोक २५

बुद्धि का नाश करनेवाले पदार्थ हैं, उनका सेवन कभी न करें। और जितने अन्न सड़े-बिगड़े, दुर्गन्धादि से दूषित, अच्छे प्रकार न बने हुए, और मद्य-मांसाहारी म्लेच्छ कि जिनका शरीर मद्य-मांस के परमाणुओं ही से पूरित है, उसके हाथ का न खावें॥

भगवद्दत्तकृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' पृ० २१२। पाश्चात्यों द्वारा निर्धारित काल ईसा से १४०० वर्ष पूर्व कल्पनाप्रसूत है।

भक्ष्याभक्ष्य-मीमांसा—मनुष्य के शरीर की बनावट, उसके दाँत और आँतों को देखकर डॉक्टरों ने निर्णय किया है कि मनुष्य की स्वाभाविक खुराक फल ही है। डॉक्टर लुई कुन्हें के हवाले से पूज्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि मनुष्य का स्वाभाविक भोजन फल, फूल और कन्द आदि हैं। स्वाभाविक भोजन के छोड़ने ही से हम लोग विविध भाँति के रोगों से पीड़ित हो रहे हैं। अभ्यास से मनुष्यों ने अपनी इन्द्रियों की स्वाभाविक शक्ति को ऐसा बिगाड़ा है कि जिस वस्तु को देखकर हमें घृणा होनी चाहिए, उसे ही हम प्रसन्नतापूर्वक खाते हैं। इस विषय में पशु ही हमसे अच्छे हैं। जो पशु घास खाते हैं वे मांस की तरफ देखते भी नहीं और जो मांस खाते हैं, वे घास की ओर दृष्टिपात भी नहीं करते। इसी प्रकार फल और कन्द आदि के खानेवाले जीव भी उन पदार्थों को छोड़कर घासपात नहीं खाते और प्यास लगने पर भी सोडावाटर और मद्य नहीं पीते, परन्तु मनुष्य एक विलक्षण पशु है। वह घास-पात, फल-फूल, मांस-मदिरा, सभी उदरस्थ कर जाता है। फिर भला उसका शरीर क्यों न रोगों का घर बन जावे? भोजन के अनुसार स्थलचर पशुओं के तीन भेद हैं—मांसभक्षी, वनस्पतिभक्षी, और फलभक्षी। बिल्ली, कुत्ता और सिंह आदि जितने हिंस्र जन्तु हैं, वे सब मांसभक्षी हैं। उनका स्वाभाविक भोजन मांस ही है। इसीलिए उनके दाँत लम्बे, नुकीले और दूर-दूर होते हैं। इस प्रकार के दाँतों से ये जीव मांस को फाड़कर निगल जाते हैं। उनके दाँतों की रचना से यह सूचित होता है कि ईश्वर ने इन्हें मांस खाने के ही लिए वैसे दाँत दिये हैं। गाय, बैल, भैंस, बकरी आदि जीव वनस्पतिभक्षी हैं। इसीलिए ईश्वर ने उनके दाँत ऐसे बनाये हैं, जिससे वे इन दाँतों से घास को सहज ही काट सकें। उनके दाँतों की रचना ही उनके वनस्पतिभक्षी होने का प्रमाण है, किन्तु मनुष्य के दाँत न तो मांसभक्षी पशुओं से मिलते हैं और न घासभक्षी पशुओं से ही। उनकी बनावट ठीक वैसी ही है, जैसी बन्दर आदि फलभोगी जीवों की होती है। इसलिए यह बात निर्विवाद है, निर्भान्त है और निःसंशय है कि ईश्वर ने मनुष्यों के दाँत फल खाने ही के लिए बनाये हैं, परन्तु हम लोग जब उनसे मांस और मछली काटने लगे हैं, आगरे की दालमोठ और लखनऊ की रेवड़ी तोड़ने लगे हैं, इसपर भी कोई नीरोग होने का दावा कर सकता है।

मांसभक्षी जीवों का मेदा छोटा और गोल होता है। उनके शरीर से उनकी अँतड़ियाँ ३ से लेकर ५

https://t.me/arshlibrary

[गाय आदि की हिंसा से हानि, और रक्षा से लाभ]

जिसमें उपकारक प्राणियों की हिंसा होती है[1], इसलिए मांस का भक्षण कदापि न करें, अर्थात् जैसे एक गाय के शरीर से दूध, घी, बैल-गाय उत्पन्न होने से एक पीढ़ी में चार लाख पचहत्तर सहस्र छः सौ मनुष्यों को सुख पहुँचता है, वैसे पशुओं को न मारें न मारने दें। जैसे किसी गाय से बीस सेर, किसी से दो सेर दूध प्रतिदिन होवे, उसका मध्य भाग ग्यारह सेर प्रत्येक गाय से दूध होता है। कोई गाय अठारह और कोई छः महीने तक दूध देती है। उसका भी मध्य भाग बारह महीने हुए। अब प्रत्येक गाय के जन्मभर के दूध से २४,६६० (चौबीस सहस्र नौ सौ साठ) मनुष्य एक बार में तृप्त हो सकते हैं।

गुणा तक अधिक लम्बी होती हैं। वनस्पतिभक्षी पशुओं का मेदा बहुत बड़ा होता है। वे खाते भी अधिक हैं। उनकी अन्तड़ियाँ उनके शरीर से २० से लेकर २८ गुणा तक अधिक लम्बी होती हैं। अब रहे फलभक्षी जीव। उनका मेदा मांसभक्षी जीवों के मेदे से अधिक चौड़ा होता है और उनकी अन्तड़ियाँ उनके शरीर से १० से लेकर१२ गुणा तक अधिक लम्बी होती हैं। अब इन तीनों प्रकार के जीवों में मनुष्य का मिलान कीजिए। सिर से लेकर रीढ की हड्डी के छोर तक मनुष्य की लम्बाई १ से २ फुट तक होती है और मनुष्य की अन्तड़ियों की लम्बाई १६ से २८ फुट तक होती है, अर्थात् उनकी लम्बाई शरीर (सिर से लेके रीढ के छोर तक) की लम्बाई से १० से १२ गुणा तक अधिक हुई। यहाँ भी फलभक्षी पशुओं से मनुष्यों की समता मिली। शरीर के अनुसार मनुष्य की अन्तड़ियाँ फल खानेवाले पशुओं ही की-सी निकलीं। अतएव मनुष्य के फलभक्षी होने का यह दूसरा प्रमाण हुआ।

इसी तरह 'Odontography' नामी ग्रन्थ के पृष्ठ ४७१ में प्रोफेसर Owen कहते हैं कि मनुष्यों के दाँत वनमानुष और बन्दरों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं और इनका भोजन फल, अन्न एवं मेवा एक ही प्रकार का है। इन चौपायों और मनुष्यों के दाँत-सम्बन्धी सादृश्य से विदित होता है कि सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों के लिए स्वाभाविक भोजन फल ही निर्माण किया गया था। इसी सम्बन्ध में लिनाकुस (Linnacus) कहते हैं कि फल, मूल मनुष्यों के लिए अत्यन्त हितकर भोजन है, जो चौपायों से प्रकाशित होता है, तथा जंगली मनुष्य और लंगूरों के सादृश्य एवं उनके मुख, पेट और हाथों की बनावट से भी प्रकट है। इसी तरह डॉक्टर एब्रामाउस्की, जो एक प्रसिद्ध चिकित्सक हैं और जिन्होंने सब रोगों की एक ही सहज दवा निकाली है, लिखते हैं कि हम जो पका हुआ, रँधा हुआ, भुना हुआ, कृत्रिम भोजन करते हैं वह हमारे लिए बहुत ही अस्वाभाविक है। हमारे शरीर के बढ़ने तथा पुष्टि पाने के लिए प्रायः ऐन्द्रिक पदार्थों (Organic Matter) की ही आवश्यकता होती है। फलों तथा अनाजों में वह बहुतायत से विद्यमान रहता है, किन्तु यदि फलों तथा अनाजों को अग्नि में पकाया जावे तो उनका बहुत-सा ऐन्द्रिक अंश पृथक् हो जाता है। शेष पदार्थ न केवल मुश्किल से पचनेवाला ही होता है, किन्तु पचकर हमारे शरीर के लिए कुछ लाभ भी नहीं दे सकता। जब ऐसा भोजन करने में बहुत-सा अनुपयोगी पदार्थ हमारे शरीर में घर कर लेता है, तब अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है। प्रायः सभी आन्तरिक रोगों की उत्पत्ति इसी निकम्मे पदार्थ के एकत्रित हो जाने से होती है, अतः इन सब रोगों का एक यही इलाज है कि किसी प्रकार वह अनुपयोगी पदार्थ हमारे शरीर से निकल जाए और नया प्रवेश न करे। ऐसा होते ही वे रोग स्वयं ही नष्ट हो जाएँगे। इसीलिए प्रायः नई सम्मति के चिकित्सक लोग भी रोगियों से उपवास करवाते हैं। उन्हें कई दिन तक सिवा गर्म पानी के और कुछ नहीं देते। यह ओषधि प्रायः बड़ी लाभदायक सिद्ध हुई है। यथाशक्ति उपवास से प्रायः रोग

---

१. यह प्रकरण ग्रन्थकार ने 'गोकरुणानिधि' ग्रन्थ में अति विस्तार से लिखा है।

https://t.me/arshlibrary

उसके छः बछियाँ छः बछड़े होते हैं। उनमें से दो मर जाएँ तो भी दश रहे। उनमें से पाँच, बछिड़ियों के जन्मभर के दूध को मिलाकर १,२४,८०० एक लाख चौबीस सहस्र आठ सौ मनुष्य तृप्त हो सकते हैं। अब रहे पाँच बैल, वे जन्मभर में ५००० पाँच सहस्र मन अन्न न्यून-से-न्यून उत्पन्न कर सकते हैं। उस अन्न में से प्रत्येक मनुष्य तीन पाव खावे, तो अढ़ाई लाख मनुष्यों की तृप्ति होती है। दूध और अन्न मिलाकर ३, ७४, ८०० तीन लाख चौहत्तर सहस्र आठ सौ मनुष्य तृप्त होते हैं। दोनों संख्या मिलके एक गाय की एक पीढ़ी में ४, ७५, ६०० चार लाख पचहत्तर सहस्र छः सौ[1] मनुष्य एक बार पालित होते हैं और पीढ़ी-पर-पीढ़ी बढ़ाकर लेखा करें, तो असंख्यात मनुष्यों का पालन होता है।

दूर हो जाता है, किन्तु ओषधि के करने में एक डर यह है कि कभी बहुत दिन तक शरीर को आधारभूत पदार्थ न मिलने से रोगी इतना निर्बल हो जाता है कि वृद्धि होने की जगह धीरे-धीरे क्षय का राज्य हो जाता है, और रोगी थोड़े ही दिनों में मृत्यु का ग्रास बन जाता है। इसलिए खाली उपवास के स्थान में फलोपवास अधिक उपयोगी है, क्योंकि फलों के खाने से कोई अनुपयोगी पदार्थ शरीर में नहीं घुसता और बल प्राप्त होता है, रोग नष्ट हो जाता है और शक्ति नहीं घटती।"[2]

इन विदेशीय प्रमाणों से भी सिद्ध होता है कि मनुष्य की आदिम और मौलिक खूराक फल ही है और फलों के सेवन से मनुष्य कभी बीमार तो होता ही नहीं, प्रत्युत यदि बीमार हो भी तो अच्छा हो जाता है और सुदृढ़ तथा दीर्घजीवी हो जाता है। इसीलिए आर्यों ने अपनी मूल सभ्यता में फल और दूध ही को स्थान दिया है और कृषि को तथा कृषि से उत्पन्न होनेवाले अन्नों को आपत्काल में खाने की व्यवस्था की है। व्रतों और उपवासों में फलाहार की महिमा से तथा आर्यरिवाजों और आर्यसभ्यता में पिरोई हुई विशेषताओं से यही सूचित होता है कि आर्यों का आहार सात्विक ही है, जिसमें फल दूध, और घृत की ही प्रधानता है।

राम, लक्ष्मण, भरत और सीता फलाहार करके ही तपस्वी जीवन निर्वाह करते थे। गुहराज के आतिथ्य करने पर रामचन्द्र कहते हैं कि—

कुशचीराजिनधरं फलमूलाशनं च माम्।
विधिप्रणिहितं धर्मे तापसं वनगोचरम्॥

—वाल्मीकि रा० आयोध्या० ५०।४४

अर्थात् मैं कुशचीर पहने हुए, तापस भेष और मुनियों के धर्म में स्थित केवल फल-फूल ही खाकर रहता हूँ। भरत ने भी कहा है कि—

चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरोम्यहम्।
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन॥ —वाल्मीकि रा० अयोध्या० ५०

अर्थात् में भी चौदह वर्ष तक जटा धारण करके और फल-मूल ही खाकर रहूँगा।

---

१. यहाँ संख्या में भूल है। शुद्ध संख्या ३६६७६० तीन लाख निन्यानवें सहस्र सातसौ साठ होनी चाहिए। यथा—गाय की पाँच बछियाओं के दूध से १२४८० मनुष्य एक बार में तृप्त होते हैं, ५ बैलों से उपजाये अन्न से २५०००० अढ़ाई लाख मनुष्य पालित होते हैं। दोनों (५ बछियों+५ बैल) को मिलाकर दूध अन्न से ३७४८०० मनुष्यों तृप्त होते हैं। इस में प्रथम गाय के दूध से पालित २४६६० चौबीस सहस्र नौ सौ साठ संख्या मिलाई जाए, तो योग ३७४८००+२४६६०=३६६७६० बनता है। इस प्रकार यहाँ योग में ७५८४० संख्या का भेद प्रत्यक्ष है। इका कारण चिन्त्य है।

2. Linnasi Amoonitales Academical, Vol. X, P.8

https://t.me/arshlibrary

लक्ष्मण भी कहते हैं कि—

आहरिष्यामि ते नित्यं फूलानि च फलानि च ।
वन्यानि च तथान्यानि स्वाहार्हाणि तपस्विनाम् ॥

—वाल्मीकि रा. आयोध्या. ३१।२६

अर्थात् आपके लिए तपस्वियों के से वन्य पदार्थ लाकर दूँगा और मैं भी फल-फूल-ही खाकर रहूँगा। इसी तरह अयोध्याकाण्ड २७।१६ के अनुसार सीताजी भी कहती हैं कि—

'फलमूलाशना नित्या भविष्यामि न संशयः ।'

अर्थात् मैं सदैव फल-मूल ही खाकर रहूँगी, इसमें सन्देह नहीं।

इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि चौदह वर्ष तक फूल-फल खाकर वृद्ध नहीं किन्तु जवान आदमी भी रह सकते थे और बड़े-बड़े योद्धाओं के साथ युद्ध करके विजय प्राप्त करते थे। अब भी युक्तप्रान्त के बैसवाडे में आम की फसल पर तीन महीने केवल आमों को ही खाकर लोग पहलवानी करते हैं। कहने का मतलब यह है, कि आर्यसभ्यता के उच्चादर्श के अनुसार मनुष्य की खुराक फल, फूल, दूध, दही ही है। अन्न तो यज्ञशेष पुरोडाश ही के नाम से खाया जाता था। पर जब खेती बढ़ी और जंगलों का नाश हुआ तब लोग अन्नवाली ज़मीन का आश्रय करने लगे। कलियुग का वर्णन करते हुए महाभारत वनपर्व अध्याय १६० में लिखा है कि—

ये यवान्ना जनपदा गोधूमान्नास्तथैव च ।
तान् देशान् संश्रयिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते ॥

अर्थात् जिन देशों में यव और गेहूँ आदि विशेषरूप से उत्पन्न होते हैं, कलियुग के लोग उन्हीं देशों का आश्रय लेंगे। इससे ज्ञात होता है कि दूसरे युगों में लोग उन देशों का आश्रय लेते थे, जहाँ फूल-फल ही अधिक हों, अन्न नहीं। यही कारण है कि हिन्दूजगत् में फलाहार की अब तक जितनी प्रतिष्ठा है, उतनी दूसरे खद्य की नहीं है। फलाहार एक प्रकार का महान् उच्च आचरण और तप समझा जाता है। यही नहीं, किन्तु जितने व्रत, शुभ अनुष्ठान अर्थात् सतोगुणी कार्य हैं, सबमें फलाहार ही का विधान है। इसका भाव स्पष्ट है कि फलाहार सात्त्विक आहार है। इसलिए सतोगुणी अनुष्ठानों में उसका उपयोग होता है। इसी से हम बलपूर्वक कहते हैं कि आर्य-भोजन फलाहार ही है। इस आर्य-भोजन की अधिक प्रतिष्ठा का कारण यह है कि फलाहार कामचेष्टा का भी प्रतिषेधक है। कोई मनुष्य यदि ब्रह्मचारी रहना चाहे, तो उसे फलाहार ही करना चाहिए। फलाहार से कामचेष्टा कम हो जाती है। इसलिए विधवा स्त्रियों को फलाहार के द्वारा काम को शरीर में ही शोषण करने के लिए मनु भगवान् ने विधान किया है[1]। इसके अतिरिक्त फल और फूलों[2] से मनुष्य का सारा जीवन निर्विघ्नता से बीत सकता है। आज भी साल के तीन मास हमारे अवध के वैसवारा प्रान्त में आम, महुवा और जामुन से ही काटे जाते हैं। ज्येष्ठ से भाद्रमास तक, आम, महुवा और जामुन के कारण बहुत-से घरों में चूल्हा जलता ही नहीं है, पर कोई भूख से व्याकुल या दुर्बल दिखलाई नहीं पड़ता। यह तो हुई आर्यशास्त्र और आर्यावर्त्त की बात। अब हम दूसरे देश के प्रमाणों से भी दिखलाना चाहते हैं कि फलहारी लोग कितने बलवान्, परिश्रमी और दीर्घकाय होते हैं। एक ही प्रकार फलों को खाकर मनुष्य की शारीरिक अवस्था का वर्णन करते हुए सीरिया प्रान्त के अस्सद याकूब

१. **कामं तु क्षपयेदेहं पुष्पमूलफलैः शुभैः । ननु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥ (मनुस्मृति)**
२. शास्त्रों में फूलों के खाने का वर्णन है। फूलों में महुवा एक विशेष लाभदायक फूल है।

https://t.me/arshlibrary

कयात नामी एक विद्वान् ने अपने भाषण में कहा है कि मैं लेबेनन पर्वत पर गया था। वहाँ मैंने मनुष्यों को राक्षसों की भाँति बलवान् और चंचल देखा। ये लोग केवल खजूर पर ही निर्वाह करते हैं। इनमें से अनेक की आयु एक सौ दश वर्ष की थी।[1]

इस वर्णन से ज्ञात होता है कि जब एक प्रकार के फल से इतना लाभ है, तो नाना प्रकार के फलाहार से बहुत बड़ा लाभ सम्भव है। अतएव स्पष्ट है कि मनुष्य फलों के द्वारा अच्छी प्रकार निर्वाह कर सकता है और फलाहार से दीर्घायु, दीर्घकाय और बलवान् भी हो सकता है। जो लोग समझते हैं क फलाहार से मेहनत करने की ताकत नहीं रह जाती, वे भी ग़लती पर हैं। सन् १९०२ में जर्मन के विटसनटाइड नामक स्थान में अन्तरजातीय पैदल दौड़ हुई थी। यह दौड़ ड्रस्डन से बर्लिन तक १२४॥ मील लम्बी थी। दौड़नेवाले सब ३२ आदमी थे। मौसम गर्मी (अर्थात् १८वीं मई सन् १९०२) का था। दौड़नेवाले ड्रस्डन से ७॥ बजे निकले। इनमें कुछ फलाहारी, कुछ शाकाहारी और कुछ मांसाहारी थे। शाकान्नाहारियों में बर्लिन का प्रसिद्ध चलनेवाला कार्लमान भी था। बर्लिन में जो सबसे पहिले पहुँचनेवाले ६ मनुष्य थे, वे तो शाकान्न और फलाहारी ही थे। इनमें कार्लमान प्रथम था। कार्लमान ने २६ घण्टे और ५८ मिनट में यात्रा समाप्त की थी। दौड़ की समाप्ति पर वह बिल्कुल तरोताज़ा था, किन्तु बड़े-बड़े प्रसिद्ध मांसाहारी पहलवान थकावट से चकनाचूर होकर पहुँचे थे। यह घटना बतलाती है कि मनुष्य मांसाहारी नहीं प्रत्युत फलाहारी है।

यज्ञों में पशुबलि का विधान होने के नामपर प्राचीन आर्यों के मांसाहारी होने की कल्पना की गयी है। यह नितान्त मिथ्या है।

व्याकरणानुसार यज्ञ शब्द **यज** धातु से नङ् प्रत्यय होकर बनता है। यज धातु के देवपूजा, दान और संगतिकरण ये तीन अर्थ हैं—**'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु'**। तदनुसार संसार में जितने भी शुभ और उपयोगी कर्म हैं, उन सबको यज्ञ कहते हैं। शतपथब्राह्मण (१।७।४५) के अनुसार यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है—**'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'**। इसका अभिप्राय यह है कि जितने श्रेष्ठ कर्म हैं, उनकी संज्ञा यज्ञ है। यज्ञ से समस्त, प्रकृति, समस्त मनुष्य, पशु-पक्षी और समस्त कीट-पतंगों की समानरूप से तुष्टि होती है। अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त आर्यों के सम्पूर्ण क्रियाकलाप यज्ञ के अन्तर्गत हैं। मनुस्मृति में कहा है—**"दैवकर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम्"** (३।७५)। अर्थात् यज्ञ में प्रवृत्त मनुष्य सम्पूर्ण चराचर जगत् का पालन-पोषण करता है। अग्निहोत्र से जलवायु की शुद्धि होकर भक्ष्य पदार्थों की शुद्धि एवं पुष्टि होती है और इस प्रकार यज्ञ से सबका कल्याण होता है। ऐसे सर्वहितकारी कृत्य में किसी प्रकार की हिंसा की कल्पना नहीं की जा सकती। फिर भी आम धारणा यह बनी हुई है कि प्राचीन काल में यज्ञों में पशुबलि दी जाती थी। इस भ्रान्ति का मुख्य कारण वेदों के वास्तविक अर्थों को न समझना है।

बहुत दिन हुए, भारत के प्रसिद्ध विद्वान्, दार्शनिक व शिक्षाशास्त्री डॉ० सम्पूर्णानन्द ने 'गणेश' नाम का एक खोजपूर्ण ग्रन्थ लिखा। उसमें 'श्रुति में गणेश' शीर्षक अध्याय में **'गणानां त्वा..... गर्भधम्'** (यजुः० २३।१९) इस मन्त्र का महीधर और उव्वट के भाष्य के अनुसार अर्थ देकर उन्होंने लिखा —"इस अर्थ को देखकर आश्चर्य होता है, परन्तु दूसरा अर्थ करना सम्भव नहीं।" इस अर्थ और उससे होनेवाले

१. Assad Yakoob Kayat, a native Syrian, in a speech at Exeter Hall (16th May 1838) remarked that he had lately visited Mount Lebanon, where he found the people as large as giants and very strong and active. They lived almost entirely on dates and there were many among them one hundred and ten years of age.

—Fruits and Farinacea

https://t.me/arshlibrary

कृत्य को अत्यन्त अश्लील और बीभत्स मानते हुए उसकी भर्त्सना की, परन्तु 'दूसरा अर्थ करना सम्भव नहीं' लिखकर इस सबके लिए उन्होंने वेद को ही दोषी ठहराया। तब हमने अपने पत्र दिनाँक ६ फरवरी १९५१ में उन्हें लिखा—"आप महीधर और उव्वट के अर्थ को अश्लील और बेहूदा मानते हुए उसे प्रामाणिक मानते हैं। यदि आप वेदों को महीधर और उव्वट के चश्मे से देखेंगे तो वेदों में सर्वत्र हिंसा, व्यभिचार, चोरी, जुआ, मद्यपान आदि सब-कुछ मिलेगा। तब आपके ही ग्रन्थों में यत्र-तत्र उपलब्ध वेदों के स्तुतिपरक वचनों का उनके साथ कैसे सामंजस्य होगा ? जहाँ तक महीधर आदि के वेदार्थ का सम्बन्ध है, उसका आधार वैदिक व्याकरण व कोश न होकर प्रचलित लौकिक संस्कृत के व्याकरण व कोश हैं। फलतः अनेक स्थलों पर अर्थ का अनर्थ हो गया है। खेद है कि आप जैसे मनीषी भी उनके भ्रमजाल में फँस गये और आपने यहाँ तक लिख डाला कि इस मन्त्र का दूसरा अर्थ सम्भव नहीं।

यह ठीक है कि शतपथब्राह्मण में यह मन्त्र अश्वमेध के प्रसंग में आया है, परन्तु वहीं (शतपथ में) **'अश्वमेध'** का निर्वचन करते हुए लिखा है—**'राष्ट्रं वा अश्वमेधः'** अर्थात् राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिए योजनाबद्ध प्रयास करने को अश्वमेध कहते हैं। इस सन्दर्भ में महीधर का किया अश्लील और हिंसापरक अर्थ कैसे फिट बैठ सकता है ? वेद के प्रत्येक मन्त्र की देवता या प्रतिपाद्य विषय होता है। इस मन्त्र (**गणानां त्वा गणपतिं हवामहे**) की देवता 'गणपति' है और इससे आगे पीछे के मन्त्रों की देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय राजा, प्रजा, राजप्रजे, सभासद्, न्यायाधीश आदि हैं। इसका अभिप्राय यह है कि इन मन्त्रों में जो कुछ कहा गया है, उसका सम्बन्ध देश की शासन-व्यवस्था से है। वहाँ 'गणपति' पद राष्ट्रपति का पर्याय है। गणतन्त्र या गणराज्य के सर्वोच्च शासक को राष्ट्रपति की जगह गणपति नाम देना अधिक सार्थक है। वस्तुतः प्रसंग प्राप्त इस मन्त्र में राष्ट्रपति में अपेक्षित गुणों या योग्यताओं का उल्लेख हुआ है।" तदनुसार हमने इस मन्त्र का पूरा अर्थ उन्हें लिख भेजा।

श्री सम्पूर्णानन्दजी ने अपने पत्र दिनांक १५ फरवरी १९५१ में लिखा—"यह मन्त्र राजप्रजे दैवत हो सकता है और उसका अर्थ भी वह हो सकता है जो आपने लिखा है, परन्तु जब मुझे उन प्रथाओं और मान्यताओं का खण्डन करना होता है जो आज सनातनधर्मावलम्बी लोगों में प्रचलित हैं तो मैं उनके सामने उन्हीं पुस्तकों को रखता हूँ जिनको वे प्रमाण मानते हैं और उन्हीं अर्थों को रखता हूँ जिन्हें वे स्वीकार करते हैं। मेरे तर्क का रूप यह है—मेरी निजी सम्मति कुछ भी हो, पर आप लोग उव्वट और महीधर के भाष्य को प्रमाण मानते हैं। उन दोनों ने इसे अश्वदैवत माना है और अश्वमेध की एक विशेष क्रिया में उसका विनियोग किया है, अतः आपके माने आचार्यों के अनुसार यह मन्त्र गणेशदैवत नहीं हो सकता, क्योंकि आप भी गणेश को अश्व का पर्यायवाची नहीं मानते, अतः आपके माने हुए प्रमाणों के अनुसार भी वेद गणेश के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता।"

यहाँ तक तो ठीक था, परन्तु जहाँ उन्होंने वेदों में वर्त्तमान में प्रचलित गणेशपूजन को अपने ढंग पर अवैदिक सिद्ध किया वहाँ प्रसंग न होने पर भी इतना और लिख दिया—"अनेक प्रमाणों के आधार पर मैं ऐसा मानता हूँ कि वैदिक काल में भी मद्य-मांस आदि का व्यवहार होता था, और पशुबलि भी होती थी।" परन्तु अपनी मान्यता की पुष्टि में उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। सच तो यह है कि शतशः प्रमाणों से यह सिद्ध है कि न आर्य लोग मांस-मदिरा का प्रयोग करते थे और न यज्ञों में किसी प्रकार की हिंसा होती थी।

संसार के सभी धर्मग्रन्थ इस बात की पुष्टि करते हैं कि सृष्टि के आदिकाल में मानवों का भोजन कन्द-मूल-फल और कृषि द्वारा उत्पन्न अन्नादि ही था। दुर्जनतोषन्याय से, यदि विकासवाद के अनुसार, यह

https://t.me/arshlibrary

मान लिया जाए कि विकासक्रम में मनुष्य की उत्पत्ति बन्दर से हुई तो इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि हमारे पूर्वज पहले तो फलाहारी थे ही, आज भी मांसाहारी नहीं हैं। जितने निरामिषभोजी पशु हैं, वे भूखे मर जाएँगे, पर मांस नहीं खाएँगे। वस्तुतः मनुष्य स्वभावतः मांसाहारी नहीं हो सकता, क्योंकि उसके दाँतों और आँतों की बनावट मांसाहारी जीवों के समान नहीं है। मांसाहारी भी इस रूप में निरामिषभोजी हैं कि वे प्रायः निरामिषभोजी पशुओं का ही मांस खाते हैं, मांसाहारी पशुओं का नहीं।

यज्ञ के पर्याय अथवा कहीं-कहीं विशेषण के रूप में **अध्वर** शब्द का प्रयोग चारों वेदों में सैकड़ों स्थानों पर पाया जाता है। उदाहरणार्थ—

ऋग्वेद—१।१।४ ; १।१।८ ; १।१४।२१ ; १।१६।१ ; १।४४।१३ ; १।७४।१ ; १।६३।१२ ; १।१०१।८ ; १।१२८।४; १।१३५।३ ; १।१५१।३ व ७ ; २।२।५ ; ३।१७।५ ; ३।२०।१ व ५ ; ३।२४।२ ; ३।५४।१२ ; ४।२।१० ; ४।६।६ ; ४।१५।२ ; ४।३७।१ ; ५।४।८ ; ५।२८।३ व ६ ; ५।४४।५ ; ६।२।३ ; ६।१६।२ ; ७।३।१ ; ७।४।१६; ८।३।५ व ७; ८।२७।१; ८।२७।२३; ८।४६।१८; ८।५०।५; ८।६६।१ ; ८।७०।२ ; ८।७१।१२ ; ८।६३।२३ ; ६।६७।१; १०।७७।८ ; १०।२२।७ ।

यजुर्वेद में अध्वर शब्द का प्रयोग कम-से-कम ४३ स्थानों पर मिलता है।

उदाहरणार्थ—२।४ ; ३।११ ; ६।२३ ; ६।२५ ; १५।३८ ; २६।२६ ।

सामवेद में अध्वर शब्द का प्रयोग निम्नांकित तथा अन्य सैकड़ों मन्त्रों में पाया जाता है—पूर्वार्चिक—१।२।६ ; १।३।१ ; १।३।१२ ; २।२।६ ; १।६।७ उत्तरार्चिक—६।३।४।२, ६।३।५।१ ।

अथर्ववेद में उदारणतः ये मन्त्र द्रष्टव्य हैं—१।४।२ ; २।२४।३ ; ५।१२।२; ३।१६।६ ; १८।२।२ ; १६।४२।४।

निघण्टु पठित **'ध्वृ'** धातु हिंसार्थक है। 'अध्वर' में उसका निषेध है, अर्थात् 'नञ् पूर्वक ध्वृ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होकर अध्वर शब्द निष्पन्न हुआ है। अध्वर शब्द का निर्वचन करते हुए यास्काचार्य ने लिखा है—

अध्वर इति यज्ञनाम—ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः । —(निरुक्त १८।८)

अर्थात् यज्ञ का नाम अध्वर है, जिसका अर्थ हिंसारहित कर्म है।

इस प्रकार यज्ञवाची अध्वर शब्द से स्पष्ट है कि यज्ञों में किसी प्रकार की हिंसा नहीं हो सकती। यज्ञ में पशु-वध होने पर 'अध्वर' शब्द सार्थक नहीं हो सकता।

वेदों में अनेकत्र ऐसे वचन उपलब्ध हैं, जिनमें स्पष्टतः पशुरक्षा का निर्देश किया है। यजुर्वेद के प्रारम्भ (१।१) में ही यज्ञ को श्रेष्ठतम कर्म की संज्ञा देते हुए कहा है—**'पशून् पाहि'**, पशुओं की रक्षा करो। इसी मन्त्र में गौ को **'अघ्न्या'** (न मारने योग्य) कहा है। यजुर्वेद ६।११ में पति-पत्नी के लिए आदेश है—**'पशूंस्त्रायेथाम्'** पशुओं की रक्षा करो। वहीं १४।८ में कहा है—**'द्विपादव चतुष्पात् पाहि'** अर्थात् दो पैरोंवाले (मनुष्यादि) तथा चार पैरोंवाले (पश्वादि) की रक्षा करो।

पशुरक्षाप्रतिपादक मन्त्रों के साथ-साथ पशुहिंसानिषेधक वाक्य भी यत्र-तत्र-अनेकत्र मिलते हैं। उदारणतः—

मा गामनागामदितिं वधिष्ट । —ऋ० ८।१०१।१५

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः ।
योऽघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥ —ऋ० १०।८७।१६

जो राक्षस मनुष्य के मांस और घोड़े आदि पशुओं के मांस से प्रसन्न होता है, हे अग्ने (परमात्मन्)! आप उसका शिरश्छेद कर दें।

https://t.me/arshlibrary

ऋग्वेद में गोवध को मनुष्यवध जैसा अपराध घोषित करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति यह अपराध करता है, उसे प्राणदण्ड दिया जाना चाहिए—

आरे गोहा नृहा वधो वोऽस्तु .....। —ऋ० ७।५६।१७
आरे ते गोघ्नमुत पूरुषघ्नम् । —ऋ० १।११४।१०

इसी प्रकार अथर्ववेद में गौ, अश्व और पुरुष का हनन करनेवालों को समानरूप से गोली से उड़ा देने का आदेश दिया गया है—

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम् ।
तं त्वा सीसेन विध्यामः .....॥ —अथर्व० १।१६।४

यजुर्वेद में पशुओं के मारे जानेपर प्रतिबन्ध लगाते हुए कहा है—

मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः । —यजुः० १२।३२
इमां मा हिंसीर्द्विपादं पशुम् । —१३।४७
मा मा हिंसीरदितिं विराजम् । —१३।४३
घृतं दुहानामदितिं जनाय ..... मा हिंसीः । —१३।४६
अन्तकाय गोघातम् । —३०।४८
इमं मां हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु । —१३।४८

अथर्ववेद मांस और अण्डा खानेवालों का नाश करने की आज्ञा देता है—

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः ।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥ —अथर्व० ८।६।२४

मांसाहार को सुरापान, जुआ खेलने और व्यभिचार करने के समान पाप समझा गया है—

यथा मांस यथा सुरा यथा अक्षा अधि देवने ।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ॥ —अथर्व० ६।७०।१

अर्थात् जैसा मांस, जैसा मद्य और जैसा जुआ है, उसी प्रकार पुरुष का मन स्त्री में (लीन होने पर) मारा जाता है।

इसके विपरीत पशुओं से होनेवाले लाभों का वर्णन वेदों में इन शब्दों में मिलता है—

पुष्टिं पशूनां परि जग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम् ।
पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नि यच्छात् ॥
—अथर्व० १६।३१।५

मैं पशुओं से पुष्टि लेता हूँ, द्विपदों और चतुष्पदों से भी पुष्टि लेता हूँ और उनसे धान्य भी लेता हूँ। पशुओं से दूध, ओषधियों (वृक्षादि) से रस लेता हूँ।

पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ । —अथर्व० ४।२७।३

गौओं से दूध, ओषधियों से रस और घोड़ों से (यात्रा में) वेग कवि लोग प्राप्त करते हैं

आहरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं रसम् । —अथर्व० २।२६।५

मैं गौओं से दूध लेता हूँ तथा (भूमि) से धान्य तथा रस लेता हूँ।

संसिचामि गवां क्षीर समाज्येन बलं रसम् । —अथर्व० २।२६।४

मैं गौओं से दूध-सिञ्चन करता हूँ तथा घी से बलवर्धक रस लेता हूँ।

उपर्युक्त वेदमन्त्र पुकार-पुकारकर कह रहे हैं कि वैदिक आर्य न यज्ञों में पशुहिंसा करते थे और न

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

मांसाहार करते थे।

वेदों, उनके व्याख्यानग्रन्थ ब्राह्मणों तथा श्रौतसूत्रों में अनेकत्र **संज्ञपन, अवदान, आलम्भ** तथा **मेध** शब्दों का प्रयोग हुआ है। जिनका अर्थ 'मारना' मानकर वैदिक साहित्य में सैकड़ों स्थानों पर स्पष्टतः हिंसारहित कर्म के वाचक **'अध्वर'** नाम से अभिहित यज्ञों में पशुबलि के विधान की कल्पना कर ली गयी है। **'संज्ञपन'** शब्द सम् पूर्वक णिजन्त **ज्ञा** धातु से ल्युट् प्रत्यय होकर बनता है। **'देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते'** आदि शतशः प्रमाणों से सिद्ध है कि सम् पूर्वक ज्ञा धातु का अर्थ परिचय, प्रेम, सम्यक् ज्ञान आदि हैं। अथर्ववेद (६।७४।१-२) के निम्नलिखित मन्त्रों में **संज्ञपन** तथा **संज्ञपयामि** आदि पदों का प्रयोग हुआ है। प्रकरण से स्पष्ट है कि इन शब्दों का अर्थ वहाँ ज्ञान देना-दिलाना या मेल कराना है—

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता।
सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत्॥
संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः।
अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः॥

अर्थात्—तुम्हारे शरीर मिले हुए हों, मन सम्पृक्त हों, व्रत एक-जैसे हों। ब्रह्मणस्पति कल्याणमय प्रभु ने तुम्हें एकत्र किया है। तुम्हारे मनों में मिलकर ज्ञान उत्पन्न हो, हृदयों में प्रेम हो। प्रभु के नाम से किये श्रम का फल मैं तुम्हें उत्तम ज्ञान प्राप्त कराता हूँ।

इसी प्रकार शतपथ में एक आख्यायिका है, जिसमें मन और वाणी के बीच बड़प्पन के लिए किये गये झगड़े का उल्लेख है। उसमें अन्त में कहा है—

अथ ह वागुवाच। अहमेव त्वच्छ्रेयस्यस्मि यद् वै त्वं वेत्थाहं तद् विज्ञापयाम्यहं संज्ञपयामीति।

—१।४।५।१०

वाणी कहती है—बड़ी तो मैं ही हूँ। तुझे तो ज्ञान है। तेरा वह ज्ञान किस काम का? जो कुछ तू जानता है, उसे प्रकट तो मैं करती हूँ। मैं ही उसे दूसरों को अच्छी तरह जनाती हूँ—**संज्ञपयामि**।

प्रायः अग्नीषोम के प्रकरण में संज्ञपन का अर्थ बकरे को काटना किया जाता है। संज्ञपन का अर्थ सम्यक् ज्ञान करना तो है ही, यदि कथञ्चित् दुर्जनतोषन्याय से उसका अतिरिक्त अर्थ काटना भी मान लिया जाए तो भी 'सैन्धवमानय' की तरह जो अर्थ प्रकरणसंगत होगा, वही माना जाएगा। अग्नीषोम में पशुसंज्ञपन के पश्चात् **'वाचं ते शुन्धामि, ... चरित्रांस्ते शुन्धामि, वाक् त आप्यायताम्** आदि जितने भी शब्द हैं, सम्यक् ज्ञान के अधिक अनुकूल हैं। **'चरित्रांस्ते शुन्धामि'** (तेरा चरित्र सुधारता हूँ) की संगति पशुवध में नहीं, पशुप्रकृति, मूढ़ बालकादि को सम्यक् ज्ञान कराने में ही हो सकती है।

यज्ञों में पशुहिंसा की मान्यता के समर्थक **'अग्निषोमीयं पशुमालभेत प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते'** (यजुः० २४।२६) आदि वाक्यों को उद्धृत करते हैं। आलम्भ का हिंसापरक अर्थ सर्वथा अज्ञानमूलक है। चरक (चिकित्सास्थान १६।४) में लिखा है—**"आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभुवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म।"** अर्थात् आदिकाल में यज्ञों में पशु इकट्ठे किये जाते थे, मारे नहीं जाते थे।

चरक के इस पाठ में **'समालभनीया'** तथा **'समालम्भनीया'** पदों के प्रयोग से स्पष्ट है कि **'आलभन'** और **'आलम्भन'** ये दो स्वतन्त्र शब्द हैं। **'लभ'** और **'लम्भ'** इनकी दो स्वतन्त्र धातुएँ हैं। आङ् पूर्वक 'लभ' का अर्थ प्राप्त करना या स्पर्श करना है और आङ् पूर्वक 'लम्भ' का अर्थ मारना है। वेद और वैदिक वाङ्मय में जहाँ-जहाँ पशुयज्ञों का वर्णन मिलता है, वहाँ सर्वत्र **'आलभते'** क्रिया का प्रयोग है और उससे पशु का प्राप्त करना या स्पर्श करना अभिप्रेत है, मारना नहीं।

https://t.me/arshlibrary

पशुयज्ञों की संज्ञा **'पशुबन्ध'** है, पशुवध नहीं। इससे स्पष्ट है कि यज्ञ के अवसर पर पशुओं की प्रदर्शनी के निमित्त पशुओं को यूप से बाँधा-भर जाता था। पशुयागों में यदि पशुओं का वध अभिप्रेत होता तो उनकी संज्ञा पशुवध होनी चाहिए थी। निघण्टु अथवा धातुपाठादि में वधार्थक धातुओं में **'आलभ्'** का उल्लेख कहीं नहीं हुआ है।

इस सन्दर्भ में मनुस्मृति अध्याय २ में निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य हैं—

वर्जयेन्मधुमांसं च गन्धमाल्यं रसान् स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥१७७॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥१७६॥
स्त्रीप्रेक्षणालम्भने मैथुनशंकायाम् । —गौतमधर्मसूत्र २।२२

ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों के प्रसंग में हिंसा का सर्वथा निषेध करनेवाले श्लोकों में स्त्रियों का आलम्भन न करने का अर्थ स्त्रियों का स्पर्श करने के सिवा और क्या हो सकता है? प्राणिमात्र की हिंसा का निषेध करने के बाद स्त्रियों के वध का निर्देश कैसे संगत हो सकता है?

अथास्य (ब्रह्मचारिणः) दक्षिणांसमधि हृदयमालभते । —पा० गृह्यसूत्र

पारस्कारगृह्यसूत्र (२।२।१६) के उपनयन प्रकरण के अन्तर्गत उक्त वाक्य का अर्थ है—आचार्य ब्रह्मचारी के हृदय का स्पर्श करता है। हरिहर, गदाधर आदि सभी भाष्यकारों ने **'आलभते'** का अर्थ **'स्पृशति'** किया है।

आलभेतासकृद्दीनः करेण च शिरोरुहान् । —सुश्रुत, कल्पस्थान १।१६
वरो वध्वा दक्षिणांसं अधि हृदयमालभते । —विवाहप्रकरण
कुमारं जातं पुरान्यैर्लम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्येन आशयेत् ।
—जातकर्म, पा० गृह्यसूत्र

पारस्करगृह्यसूत्र के उपर्युक्त वाक्यों तथा मीमांसाशास्त्र (२।२।७०) की सुबोधिनी टीका में आये **'वत्सस्य समीप आनयनार्थम् आलम्भः स्पर्शो भवति'** वाक्य में **'आलम्भ'** का अर्थ स्पर्श करना है। तब **'प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते'** का अर्थ 'प्रजापति (राजा) के लिए हाथी प्राप्त करता है' करना होगा। इसी प्रकार **'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत'** आदि ब्राह्मणवाक्यों में भी **'आलभेत'** स्पर्श अथवा प्राप्ति का ही द्योतक होगा, न कि मारने का।

'अवदान' शब्द **'डुदाञ् दाने, दो अवखण्डने, देङ् रक्षणे'** आदि धातुओं से सिद्ध होता है तथा यज्ञ में भिन्न-भिन्न निमित्तक हवि के लिए प्रयुक्त होता है। वर्तमान मीमांसक लोग इसे **'दो अवखण्डने'** से निष्पन्न मानकर पशु के विभिन्न अंगों को काट-काटकर यज्ञाग्नि में होम करते हैं, परन्तु शतपथब्राह्मण के उपज्ञाता याज्ञवल्क्य स्वयं इस शब्द को 'देङ् रक्षणे' से निष्पन्न मानते हैं। यह सन्दर्भ (शत० का० १ अ० ७) में आये **'तदेनांस्तदवदयते'** से स्पष्ट है। याज्ञवल्क्य कहते हैं—**'तदेनांस्तदवदयते तस्माद्यत्किंचनाग्नौ जुह्वति तदवदानं नाम'**—अर्थात् आहुतियों का नाम 'अवदान' इसलिए है, क्योंकि वे रक्षा करती हैं—ऋण के बन्धन से बचाती हैं।

मुख्यतः यज्ञ के पर्याय मेध शब्द को अश्वमेध, गोमेध, अजमेध, पुरुषमेध आदि शब्दों में देखकर वैदिक यज्ञों में पशुहिंसा-विधान का भ्रम होता है। वस्तुतः वेदों में तो अश्वमेध शब्द को छोड़कर अन्य किसी शब्द का प्रयोग ही नहीं हुआ है। **'मेधृ'** धातु के **'मेधृ संगमे हिंसायां च'** इस धातुपाठ के अनुसार

https://t.me/arshlibrary

शुद्ध बुद्धि को बढ़ाना, लोगों में एकता या प्रेम को बढ़ाना और हिंसा—ये तीन अर्थ हैं, परन्तु जिस धर्म और समाज में अहिंसा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त हो, वहाँ मात्र हिंसापरक अर्थ मानकर निरीह पशुओं की हत्या के विधान की कल्पना करना सर्वथा असंगत है।

पुरुषमेध, पुरुषयज्ञ तथा **नृयज्ञ** तीनों पर्यायवाची हैं। मनुस्मृति में नृयज्ञ की व्याख्या **'नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्'** (मनु० ३।७०) कहकर की गयी है। नृयज्ञ वा नरमेध यज्ञ में मनुष्य की बलि देना अभिप्रेत न होकर उत्तम विद्वानों की पूजा करना है। **मेधृ** धातु के संगमनार्थ को लेकर मनुष्यों को उत्तम कार्य करने के लिए संगठित करना भी नृमेध के अन्तर्गत है। सामवेद के कुछ मन्त्रों का ऋषि (मन्त्रार्थद्रष्टा) नृमेध है। निश्चय ही वह मनुष्यों की बलि चढ़ानेवाला नहीं हो सकता। मनुष्यों में संगतिकरण या मेलमिलाप बढ़ानेवाले की संज्ञा नृमेध हो सकती है।

अश्वमेध, अजमेध तथा गोमेध को भी प्रचलित अर्थों में ग्रहण नहीं किया जा सकता। शतपथ (१३।१।१६) में कहा है—**'राष्ट्रं वा अश्वमेधः, 'वीर्यं वा अश्वः'**, अर्थात् अश्व शब्द राष्ट्र तथा वीर्य का वाचक है। तब अश्वमेध का अर्थ देशवासियों के बल व वीर्य की वृद्धि करना तथा राष्ट्र के सर्वांगीण विकास के लिए प्रयास करना ही शास्त्रानुमोदित है। यजुर्वेद (२३।१६-४०) के जिन मन्त्रों का अश्वमेध में विनियोग करके महीधरादि ने उनके अत्यन्त अश्लील अर्थ करके वेदों को कलंकित किया है, उनमें कहीं भी अश्व की हत्या का उल्लेख नहीं है। वस्तुतः इन मन्त्रों के देवता **गणपति, राजप्रजे, प्रजा, श्री, विद्वांसः, सभासदः** आदि हैं। इससे स्पष्ट है कि इन मन्त्रों का वर्ण्यविषय राष्ट्र और उसकी शासन-व्यवस्था है। महाभारत के शान्तिपर्व (३।३३६) में राजा वसु के अश्वमेध का वर्णन है, जिसमें उस समय के सब बड़े-बड़े ऋषियों एवं विद्वानों ने भाग लिया था। उसके सम्बन्ध में बड़े स्पष्ट शब्दों में लिखा है—**'न तत्र पशुघातोऽभूत्'**। वहीं आगे चलकर अध्याय ३३७ में अजमेध के विषय में लिखा है—

अजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः ।
अजसंज्ञानि बीजानि छागान्नो हन्तुमर्हथ ।
नैष धर्मः सतां देवा यत्र वध्येत वै पशुः ॥

अर्थात् वैदिक साहित्य में जब अजों से यज्ञों में होम करने को कहा जाता है तो वहाँ अज नामक बीजों से तात्पर्य होता है, बकरों का वध करना ठीक नहीं। पशुओं की हत्या करना भले आदमियों का धर्म नहीं है।

वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र-सर्वत्र गोवध को महापाप माना है। जैसे यज्ञ की संज्ञा **'अध्वर'** (हिंसारहित) है, वैसे ही गौ की **'अघ्न्या'** (न मारने योग्य) है। अतएव वेद में तथा अन्यत्र गोवध करनेवाले के लिए प्राणदण्ड दिये जाने का आदेश है। ऐसी अवस्था में गोमेध के नाम पर गौ की हत्या करने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। वस्तुतः गौ शब्द अनेकार्थवाची है। इसलिए गोमेध के 'वाणी का संस्कार करना, धरती को कृषियोग्य बनाना, गौ से उपलब्ध होनेवाले घी, दूध आदि की वृद्धि करना तथा उपलक्षण से पशुमात्र के पालन-पोषण की समुचित व्यवस्था, आदि अनेक अर्थ हो सकते हैं। अंग्रेजी में Agriculture शब्द का अर्थ 'The science and art of cultivating the soil' है। ज़न्दभाषा का गोमेज आर्यों के गोमेध शब्द का ही अपभ्रंश है। पारसी धर्म में खेती करना धर्म समझा जाता है, अतः खेती से सम्बन्ध रखनेवाले समस्त क्रियाकलाप का नाम गोमेज है।[1] कृषि के लिए समय-समय पर वर्षा होना आवश्यक है। देवयज्ञ इसमें परम सहायक है। इसलिए आर्यों का जीवन यज्ञमय था।

१. The Parsi religion enjoins agriculture as religious duty and this is the whole meaning of Gomez.
—Essays on the sacred language, writers and religion.

https://t.me/arshlibrary

यज्ञ के प्रसंग में जहाँ-कहीं पशु शब्द से सम्बन्ध रखनेवाले नाम आये हैं, उन सबका तात्पर्य अन्न से है, चतुष्पाद् पशु से नहीं। वेदों में अन्नमय पशु के होम का ही विधान है। द्व्यर्थक शब्दों से जो भ्रम हो सकता है, उसका निराकरण वेदों तथा अन्य ग्रन्थों ने स्वयं कर दिया है। अथर्ववेद (१८।४।३२) में लिखा है—

धाना धेनुरभवद्वत्सोऽस्यास्तिलोऽभवत् ।

अर्थात् धान ही धेनु है और तिल उसके बछड़े हैं। धान अनेक प्रकार के होते हैं, अतः अनेक धानों के नाम भी बता दिये गये हैं। अथर्ववेद में लिखा है—

एनीर्धाना हरिणीः श्येनीरस्या कृष्णा धाना रोहिणीर्धेनवस्ते । तिलवत्सा ऊर्जमस्मै ॥

—अथर्व० १८।४।३४

अर्थात् हरिणी, श्येनी, कृष्णा, और रोहिणी आदि धान, धेनु हैं। इनके तिलरूपी बछड़े हमें बल दें। इसी प्रकार मांस आदि शब्दों के विषय में अथर्ववेद में लिखा है—

अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषा । अथर्व० ११।३।५

श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम् । अथर्व० ११।३।७

अर्थात् चावल के कण अश्व हैं, चावल गौ हैं, भूसी मशक है। चावलों का श्याम भाग मांस और लाल भाग रुधिर है।

अन्य सैकड़ों शब्द ऐसे हैं जो आपाततः पशुओं के नाम प्रतीत होते हैं, परन्तु आयुर्वेद के ग्रन्थों में वे पशुसंज्ञक नाम तथा अवयव वनस्पतियों तथा विशेष ओषधियों के वाचक हैं। इतना ही नहीं, वेद के व्याख्यानग्रन्थों=ब्राह्मणों (प्रक्षिप्त अंशों को छोड़कर) ने भी कतिपय द्व्यर्थक शब्दों का निर्वचन किया है। उदाहणतः शतपथब्राह्मण के अनुसार—

यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति ।
यदाप आनयति अथ त्वग् भवति ॥
यदा स यौत्यथ मांसं भवति ।
एषा वा संपद्याहुः पांक्तः पशुरिति ॥

अर्थात् आटे की लोम संज्ञा है, पानी मिलने पर वह चर्म कहलाता है और गूँधे जाने पर उसकी संज्ञा मांस होती है। इस प्रकार पके हुए पदार्थ का नाम पशु है। महाभारत में निर्णायक घोषणा है—

श्रूयते हि पुरा कल्पे नृणां व्रीहिमयो पशुः ।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः ॥
सुरा मत्स्याः पशोर्मांसमासवं कृशरौदनम् ।
धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञे नैतद् वेदेषु विद्यते ॥

अर्थात् पूर्वकाल में याज्ञिक लोग अन्न-पशु से ही यज्ञ करते थे। **मद्य-मांसादि** का प्रचार तो धूर्तों ने किया है, वेदों में यह कहीं नहीं है।

वेदों में यज्ञ के पर्यायवी किसी भी शब्द के अर्थ से पशुवध या किसी प्रकार की हिंसा का संकेत नहीं मिलता, जबकि अध्वर शब्द से स्पष्टतः यज्ञ में हिंसा का निषेध सूचित होता है। यज्ञ में **'अध्वर्युः'** नाम से एक नियुक्ति भी इसलिए की जाती है कि वह यज्ञ में कायिक, वाचिक अथवा मानसिक किसी भी प्रकार की हिंसा न होने दे—**अध्वर्युः अहिंसं यज्ञमिच्छुः**। इतना ही नहीं, यज्ञवेदी में जल से परिपूर्ण तीन परिखाएँ इसलिए बनाई जाती हैं कि कोई कीड़े-मकौड़े भी अग्नि में गिरकर न जलने पाएँ।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

क्या अहिंसा के सिद्धान्त का कठोरता से पालन करनेवाला समाज, वेदों में मांसाहार के विरुद्ध अकाट्य प्रमाणों के होते हुए, अपने सदस्यों को मांसाहार की अनुमति दे सकता था ? फिर भी समझदार लोगों में यह धारणा बनी हुई है कि प्राचीन आर्य लोग मांसाहारी थे। समझदार लोगों से तात्पर्य यहाँ उन लोगों से है जो पढ़े-लिखे हैं, समाज में प्रतिष्ठित हैं, किन्तु जिन्हें मूलग्रन्थ पढ़ने का अवसर नहीं मिला है या वैदिक भाषा पर जिन्हें अधिकार नहीं है। ऐसे लोग अपनी भ्रान्त धारणाओं को बलात् वेदों पर आरोपित करने की चेष्टा करते हैं। ऋग्वेद (१०।८५।१३) का प्रसिद्ध मन्त्र है—

सूर्याया वहतुः प्रगात्सविता यमत्रासृजत्।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते॥

'हन्' धातु का प्रसिद्ध अर्थ हिंसा=वध करना या मारना है, परन्तु पाणिनि के अनुसार इसके निम्नलिखित अर्थ भी हैं—

गति—(जाना, चलाना, प्रेरित करना आदि)।

ज्ञान—(जानना, समझाना, परिचित होना आदि)।

प्राप्ति—(पाना, प्राप्त करना, पहुँचाना आदि)।

उपर्युक्त अर्थों के अतिरिक्त **'हन्'** धातु का प्रयोग इन अर्थों में भी होता है—गुणा करना, रक्षा करना, उठाना, ताड़ना, दुःख पहुँचाना, बाधा पहुँचाना, स्पर्श करना, दूर हटाना आदि।

दुर्भाग्य से प्रायः सभी पाश्चात्य विद्वानों ने इसका 'मारना या वध करना' अर्थ ही लिया है और इस प्रकार अर्थ का अनर्थ कर डाला है। वैदिक इण्डेक्स (खण्ड २, पृष्ठ १४५) में लिखा है—"विवाह-संस्कार के बाद भोजन के लिए बैलों को क़त्ल किया जाता था।"[1]

उक्त मन्त्र का सम्बन्ध सूर्या के विवाह नामक आख्यान से माना जाता है। यह आख्यान भले ही अस्पष्ट हो, परन्तु यह निश्चित है कि मन्त्रान्तर्गत **'सूर्या'** और **'गावः'** इत्यादि सभी पद अलौकिक तत्वों के बोधक हैं। समूचे सूक्त के अध्ययन तथा पूर्वापर प्रसंग को देखते हुए विवेच्य मन्त्र में गोवध की कल्पना नहीं की जा सकती। **'अघासु हन्यन्ते गावः'** का अर्थ करते हुए सायणाचार्य ने लिखा है कि सविता के द्वारा सूर्या के विवाह में दी गयी गौएँ मघा नक्षत्र में सूर्या के प्रति सोम के घर की ओर प्रेरित की जाती हैं। यहाँ **'हन्'** धातु का अर्थ 'मारना' न होकर 'प्रेरित करना' है। वस्तुतः इस मन्त्र में सूर्य की सुषुम्णा रश्मियों के चन्द्रमा के साथ विवाह (मिलन) का आलंकारिक वर्णन है। अथवा मघा नक्षत्र (माघ मास) में सूर्य की किरणें मारी जाती हैं=मन्द पड़ जाती हैं और अर्जुनी नक्षत्र (फाल्गुन मास) में फिर चमक उठती हैं। यहाँ **'गावो हन्यन्ते'** का अभिप्राय गोवध कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वेदों में सैकड़ों स्थानों पर गौ को **'अघ्न्या=अहन्तव्या'** कहा गया है।

वैदिक भाषा की एक विशेषता यह है कि यहाँ 'कृत्स्न' (सम्पूर्ण वस्तु) के परिचायक शब्द द्वारा उसके अन्वंगों (कृत्स्न से उत्पन्न उसके भागों) का भी बोध होता है।[2] सिद्धान्ततः इस बात को 'वैदिक इण्डेक्स' (खण्ड २, पृष्ठ २३४) में इन शब्दों में स्वीकार किया है—"गो शब्द गौ से बने पदार्थों के लिए भी प्रयुक्त होता है। गो शब्द प्रायः दूध के लिए आता है, कहीं-कहीं पशु के मांस के लिए भी आता है। कई जगह गो शब्द का अर्थ गोचर्म भी है जिसे धनुष् की डोरी, गुलेल, चाबुक की रस्सी, लगाम या रथ के किसी भाग

१. The marriage ceremony was followed by the slaying of oxen, clearly for food.

२. 'अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवत्रिगमा भवन्ति 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' इति पयसः"।—निरुक्त २।२।३।

https://t.me/arshlibrary

को बाँधने के लिए एक रस्सी आदि के रूप में बरता जाता है।"[1] यह जानते और मानते हुए भी वे यह लिखने में संकोच नहीं करते कि "मृतक के दाहसंस्कार के लिए एक अनिवार्य कार्य के रूप में गोवध आवश्यक होता था, क्योंकि गोमांस से मृतक के शरीर को ढका जाता था।"[2] इस धारणा की पुष्टि में यहाँ ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र को उद्धृत किया गया है—

अग्नेर्वर्म परि गोभिर्व्ययस्व सं प्रोर्णुष्व पीवसा मेदसा च ।
नेत्वा धृष्णुर्हरसा जर्हृषाणो दधृग्विधक्ष्यन्पर्यङ्खयाते ॥ —१०।१६।७

यहाँ गो शब्द से तात्पर्य गौ से उत्पन्न पदार्थ घी से है, परन्तु सायण ने गोचर्म अर्थ करके मन्त्रार्थ को विकृत कर दिया है। मन्त्र का देवता अग्नि है, इसलिए यहाँ अग्निदेव के रूप में चिता की अग्नि अभिप्रेत है, जो मृत शरीर को जलाती है। 'गो' शब्द का अर्थ गोचर्म किये जाने में मन्त्र के शब्दों से कोई प्रमाण नहीं मिलता। **'अग्नेर्वर्म परिगोभिर्व्ययस्व'** का अर्थ है कि मृतक के शरीर को गोघृत से उत्पन्न अग्नि की ज्वालारूपी कवच से अच्छी तरह ढक दो जिससे वह अच्छी तरह जल जाए। ऋग्वेद का यह मन्त्र अथर्ववेद १८।२।५८ में भी आया है। इस मन्त्र का भावार्थ करते हुए श्री सातवलेकरजी ने लिखा है "मुर्दे को जलाते हुए घी पर्याप्त मात्रा में डालना चाहिए ताकि अग्नि खूब जोर से प्रज्वलित होकर उसे पूरी तरह जला दे। यास्क ने निरुक्त २।२।३ में उद्धृत **'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्'** (ऋक्० ६।४६।४) का अर्थ 'गोदुग्ध के साथ सोमरस को पकाओ' लिखा है।

ऋग्वेद के निम्नलिखित दो मन्त्रों में बैल को पकाने का उल्लेख हुआ कहा जाता है—

१. **अमा ते तुम्रं वृषभं पचानि तीव्रं सुतं पञ्चदशं नि षिञ्चम्।** —१०।२७।२
२. **पचन्ति ते वृषभाँ अत्सि तेषां पृक्षेण यन्मघवन्हूयमानः।** —१०।२८।३

वस्तुतः **'वृषभम्'** और **'पचन्ति'** का अर्थ सर्वत्र 'बैल' और 'पकाना' ही नहीं होता। वेद में वृषभ शब्द कई स्थानों पर **'मेघ'** और **'नरपुंगव'** अथवा समर्थ पुरुष के अर्थों में भी प्रयुक्त हुआ है। निरुक्त (६।२२।१) में इसकी निरुक्ति की गयी है—वर्षणात् **वृषभः** अर्थात् वर्षा के कारण मेघ को 'वृषभ' कहा जाता है। **'पच्'** धातु का अर्थ आगपर रखकर राँधना ही नहीं है। हिन्दी में भी 'कान पक गये', 'बाल पक गये', 'फ़सल पक गयी' आदि वाक्यों में पक (पच्) धातु का अर्थ 'आगपर रखकर राँधना' नहीं है। उपनिषदों में **'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते'** (कठ०१।६), **'अग्नेनाभिषिक्ताः पचन्तीमे प्राणाः'** (मैत्र्युपनिषद् ६।१२) इत्यादि वाक्यों में भी 'पच्' का अर्थ 'आग पर राँधना' नहीं है। प्रकरणानुसार इसका अर्थ पुष्ट करना, परिपक्वता (परिणति=परिपाक) को प्राप्त करना, आत्मशक्ति को बढ़ाना, उसका विकास करना आदि भी है।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, वेदविषयक अनेक भ्रान्तियों का कारण लौकिक और वैदिक भाषा में भेद न करना है। लोक में **'उक्षा'** शब्द का अर्थ बैल है, परन्तु निरुक्त (१।४) में उक्षा 'शब्द' की निरुक्ति इस प्रकार की गयी है—**"उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः उक्षन्तमुदकेनेति वा"** अर्थात् **'उक्ष'** धातु से, जिसका अर्थ वृद्धि करना और सिंचन करना है, उक्षा शब्द निष्पन्न होता है, क्योंकि मेघ पृथिवी का सिंचन करके

---

१. The term Go (गो) is often applied to express the products of the cow. This frequently means milk, but rarely the flesh of the animal. In many passages it designates leather used as the material of various objects as a bow string or a sling or tongs to fasten parts of the chariot or reins of the lash of a whip.

२. The ritual of the cremation of the dead required the slaughter of a cow as an essential part, the flesh being used to envelop the dead body. —Ibid. P. 147.

https://t.me/arshlibrary

ओषधियों की वृद्धि करता है, इस कारण मेघ को भी **'उक्षा'** कहते हैं। वेद के शब्द यौगिक हैं, यौगिक के स्थान पर रूढ़ अर्थ लेकर ही ग्रिफ़िथ आदि ने प्राचीन (वैदिक कालीन) आर्यों के गोभक्षक होने का दुष्प्रचार कर दिया।

अथर्ववेद ६।६।३६ में सूक्त का देवता अतिथि-सत्कार है। वहाँ **'एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात्'** में मांस भोजन को स्वादिष्ट बताया गया कहा जाता है। इस मन्त्र के पूर्व का प्रसंग यह है कि अतिथि को भोजन कराने से पूर्व गृहस्थ को स्वयं भोजन नहीं करना चाहिए। मांस शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार **'मांसं माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन् सीदतीति वा'** (निरुक्त ४।१।३)—'मन को प्रिय लगनेवाला कोई भी उत्तम मनभावना पदार्थ' यह अर्थ लिया जा सकता है। शतपथब्राह्मण (११।७) में **'एतद्ध वै परममन्नाद्यं यन्मांसम्'** कहा है और अमरकोश, हेमचन्द्र, मेदिनी, शब्दार्थकौस्तुभ आदि संस्कृत कोशों में 'परमान्नं तु पायसम्' खीर के लिए पायस शब्द का प्रयोग हुआ है। दक्षिण भारत में अभी तक खीर को परमान्न कहा जाता है।

'अतिथिग्व' शब्द का अर्थ **'अतिथीन् प्रति सेवार्थं गच्छन्'** अर्थात् अतिथियों की सेवा के लिए जानेवाले हैं। 'वैदिक एज' में श्री कन्हैयालाल मुंशी ने इसका अर्थ 'अतिथियों को गोमांस परोसनेवाला' कर दिया, परन्तु इसके लिए उन्होंने एक भी प्रमाण नहीं दिया। सायणाचार्य और महर्षि दयानन्द ने **'अतिथिग्व'** का वही अर्थ किया है जो यहाँ हमने दिया है। मोनियर विलियम्स ने अपनी Sanskrit English Dictionary में इस शब्द का अर्थ 'To whom guests should go' किया है। ब्लूमफील्ड ने उसका अर्थ 'Presenting cows to guests' किया है।

मांसाहारी स्वभाव से हिंसक—

Dr. D.C. JAIN M.B.B.S., M.D., D.M.,
Head of the Deptt. of Neurology,Safdarjung Hospital, New Delhi
And
Dr. S.K. SHARMA,SENIOR SCIENTIFIC OFFICER
Deptt. of Neurology,All India Institute of Medical Sciences,
New Delhi

Write—

मांसाहारसे उत्तेजनात्मक (मारकाट की) प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है।

MEAT-EATING ENCOURAGES AGGRESSIVE BEHAVIOUR

(Paper was read in the national Seminar, held in Vigyan Bhawan, New Delhi on 13-4-1984)

The canine animals are violent. They are cruel whereas the herbivorous animals like horse, elephant are very powerful but at the same time very docile and peaceful. By these examples, it becomes clear that the strength of herbivorous animals is not less than the carnivorous animals.

The strange behaviour of carnivorous is well known to everyone. They eat away their own siblings during the period of hunger. Cats, bitches, lioness eat away their own young ones during the period of hunger, whereas the herbivorous animals like cow, buffalo etc. are not known to behave in such a manner in the period of hunger crisis. It looks very apparent that the aggressive behaviour of carnivorous animals is related to their food intake. Same must be true amongst the human beings.

Mechanism of action of such behaviour appears to be through the neuro-endocrinal numeral disturbances. The neuro excitatry substances must be getting released by such animal food substances.

Arshlibrary
https://t.me/arshlibrary

[गाय की विशेषता]

इससे भिन्न बैल गाड़ी, सवारी, भार उठाने आदि कर्मों से मनुष्यों के बड़े उपकारक होते हैं तथा वैसे गाय दूध में अधिक उपकारक होती है। परन्तु जैसे बेल उपकारक होते हैं वैसे भैंसे भी हैं। परन्तु गाय के दूध घी से जितने बुद्धिवृद्धि से लाभ होते हैं, उतने भैंस के दूध-घी से नहीं। इससे मुख्योपाकारक आर्यों ने गाय को गिना है। और जो कोई अन्य विद्वान् होगा, वह भी इसी प्रकार समझेगा[1]।

[अन्य प्राणियों से लाभ]

बकरी के दूध से २५६२० पच्चीस सहस्र नौ सौ बीस आदमियों का पालन होता है। वैसे हाथी, घोड़ों, ऊँट, भेड़, गदहे[2] आदि से भी बड़े उपकार होते हैं। इन पशुओं को मारनेवालों को सब मनुष्यों की हत्या करनेवाले जानिएगा।

[गोहत्या विदेशियों के शासनम से आरम्भ हुई]

देखो, जब आर्यों का राज्य था, तब ये महोपकारक गाय आदि पशु नहीं मारे जाते थे। तभी आर्य्यावर्त्त वा अन्य भूगोल के देशों में बड़े आनन्द में मनुष्यादि प्राणी वर्त्तते थे, क्योंकि दूध-घी, बैल आदि पशुओं की बहुताई होने से अन्न रस पुष्कल प्राप्त होते थे। जब से विदेशी मांसाहारी इस देश में आके गौ आदि पशुओं के मारनेवाले मद्यपायी राज्याऽधिकारी हुए हैं, तब से क्रमशः आर्यों के दुःख की बढ़ती होती जाती है, क्योंकि **'नष्टे मूले नैव फलं न पुष्पम्'** (वृद्धचाणक्य १०।१३)। जब वृक्ष का मूल ही काट किया जाए, तो फल-फूल कहाँ से हों ?

Vegetarian nutrition is the basis of all degnified moral life. It maintains the equilibrium of the body and mind. **Non-vegetarian food on the other hand spoils the equilibrium of body and mind and makes the man impulsive and emotional. His understanding is clouded by emotional feeling and he may indulge in immoral activities.** Therefore vegetarian nutrition has not only moral aspects in abundance but it is the sole basis of moral life.

Mental health of the person also depends upon the type of food which he is consuming. For example, the food substances which are excitant to the nervous system makes the person restless, violent, where as the food which is derived from plant food has a tranquilling action. **Animal food makes the person restless and aggressive.**

अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि एडविन आर्नल्ड (Edwin Arnold) ने 'The Light of Asia' नाम से महात्मा बुद्ध की छन्दोबद्ध जीवनी लिखी है। संसारभर में व्याप्त हिंसा को लक्ष्य करके उसने एक स्थान पर कहा है—

To live on death and seek peace of mind,
What a folly I find in mankind.

मनुष्य कितना मूर्ख है जो मृत्यु (हिंसा से प्राप्त भोजन) पर जीवित रहकर मन की शान्ति खोज रहा

---

१. आधुनिक वैज्ञानिक इस बात पर चकित हैं कि प्रत्येक पशु के मांस वा दुग्ध में संखिया का अंश पाया जाता है। गाय के मांस में भी संखिया का अंश उपलब्ध होता है, परन्तु उसके दुग्ध में आज तक संखिया का अंश उपलब्ध नहीं हुआ। इस से भी गाय के दुग्ध का वैशिष्ट्य प्रत्यक्ष है।

२. शीतला=चेचक रोग में गदही का दूध रामबाण औषध है।

https://t.me/arshlibrary

[व्याघ्रादि से गौ आदि पशुओं की रक्षा]

प्रश्न—जो सभी अहिंसक हो जाएँ, तो व्याघ्रादि पशु इतने बढ़ जाएँ कि सब गाय आदि पशुओं को मार खाएँ।

उत्तर—यह राजपुरुषों का काम है कि जो हानिकारक पशु वा मनुष्य हों उनको दण्ड देवें, और प्राण से भी वियुक्त करदें।

[मारे गये हिंस्र पशुओं के मांस का क्या करें ?]

प्रश्न—फिर क्या उनका मांस फेंक दें ?

उत्तर—चाहे फेंक दें, चाहे कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिला देवें वा जला देवें अथवा को मांसाहारी खावे, तो भी संसार की कुछ हानि नहीं होती, किन्तु उस मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है।

[भक्ष्य-अभक्ष्य की परिभाषा]

जितना हिंसा और चोरी, विश्वासघात, छल-कपट आदि से पदार्थों को प्राप्त होकर भोग करना है, वह **'अभक्ष्य'** और अहिंसा, धर्मादि कर्मों से प्राप्त होकर भोजनादि करना 'भक्ष्य' है।

[वैधकशास्त्रोक्त भक्ष्याऽभक्ष्य]

जिन पदार्थों से स्वास्थ्य, रोगनाश, बुद्धि-बलपराक्रम-वृद्धि और आयुवृद्धि होवे, उन तण्डुलादि, गोधूम, फल-मूल, कन्द, दूध-घी, मिष्टादि पदार्थों का सेवन यथायोग्य पाक मेल करके यथोचित समय पर मिताहार भोजन करना सब 'भक्ष्य' कहाता है। जितने पदार्थ अपनी प्रकृति से विरुद्ध विकार करनेवाले हैं, उन-उनका सर्वथा त्याग करना और जो-जो जिस-जिसके लिए विहित हैं, उन-उन पदार्थों का ग्रहण करना यह भी 'भक्ष्य' है।

है। **'एकस्य क्षणिका प्रीतिरेकः प्राणैर्विमुच्यते'** जो अपने ज़रा से मज़े के लिए दूसरे की जान लेने में संकोच नहीं करते, ऐसे मनुष्यों से भरे संसार में सुख-शान्ति कहाँ हो सकती है ? मनु ने इस दुष्कर्म की जघन्यता के कारण लिखा है—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः॥ —मनु० ५।५१

(अनुमन्ता) मारने की अनुमति देनेवाला (विशसिता) मांस काटनेवाला, (निहन्ता) पशु की हत्या करनेवाला (क्रय-विक्रयी) मांस ख़रीदने और बेचनेवाला (संस्कर्त्ता) पकानेवाला (उपहर्त्ता) परोसनेवाला (च) और (खादकः) खानेवाला—ये सभी हत्यारे और पापी हैं। ये सभी दण्डनीय हैं—फाँसी, आजीवन कारावास, दस साल ..... छह महीने—अपने-अपने अपराध के अनुरूप सभी को फल भोगना पड़ेगा—इसी जन्म में अथवा जन्मान्तर में। हिंसक की हिंसा अहिंसा है, क्योंकि वह हिंसा का नाश है।

आयुर्वेदोक्त भक्ष्याभक्ष्य—वैद्यकशास्त्र में अनेक स्थलों में विभिन्न प्रकार के मांसों के गुण दोषों के आधार पर रोगियों के लिए मांसाहार का निर्देश किया गया है। औषध या पथ्यापथ्य के रूप में यह विधान मांसाहारियों के लिए किया गया है। आयुर्वेदशास्त्र तो मनुष्यमात्र के लिए है, अतः वहाँ यह व्यवस्था अधिकारी-भेद से जाननी चाहिए। वह धर्माधर्म की दृष्टि से नहीं, रोगी-विशेष के हिताहित की दृष्टि से विशुद्ध वैज्ञानिक अथवा रासायनिक आधार पर है। धर्मशास्त्र से अविरुद्ध आयुर्वेदोक्त भोजन सर्वश्रेष्ठ है।

https://t.me/arshlibrary

मुनिवर गुरुदत्त विद्यार्थी विज्ञान के पण्डित थे। रोगी होनेपर जब उनसे कहा गया कि मांसाहार से आप को रोग से मुक्ति मिल सकती है, तो उन्होंने पूछा—क्या फिर मैं कभी नहीं मरूँगा ? सकारात्मक उत्तर न मिलने पर उन्होंने कहा—यदि मरना अनिवार्य है तो कुछ दिन जीने के लिए किसी और के प्राण क्यों लूँ ?

FOOD VALUE CHART

पौष्टिक तत्त्वतुलनात्मक चार्ट

भारत सरकार द्वारा प्रकाशित

नाम पदार्थ Name of Food Stuff	प्रोटीन Protein	चिकनाई Fat	खनिज लवण Mineral	कार्बोहाइड्रेट्स Carbo-hydrates	कैलशियम Calcium	फास-फोरस Phos-phorus	लोहा Iron Units	कैलोरी Calories per
	%	%	%	%	%	%		% Grs
शाकाहारी खाद्य Vegetarian Foods (प्रत्येक 100 Grams में)								
Green Gram मूंग	२४.०	१.३	३.६	५६.६	०.१४	०.२८	८.४	३३४
Black Gram उड़द	२४.०	१.४	३.४	६०.३	०.२०	०.३७	६.८	३५०
Red Gram अरहर (तूअर)	२२.३	१.७	३.६	५७.२	०.१४	०.२६	८.८	३३३
Lentil मसूर	२५.१	०.७	२.१	५६.७	०.१३	०.२५	२.०	३४६
Peas मटर	२२.६	१.४	२.३	६३.५	०.०३	०.३६	५.०	३५८
Bengal Gram चना	२२.५	५.२	२.२	५८.६	०.०७	०.३१	८.६	३७२
Cow Gram लोभिया (चौला)	२४.६	०.७	३.२	५५.७	०.०७	०.४६	३.८	३२७
Soya Beans सोयाबीन	४३.२	१६.५	४.६	२०.६	०.२४	०.६६	११.५	४३२
Almond बादाम	२०.८	५८.६	२.६	१०.५	०.२३	०.४६	३.५	६५५
Cashewnut काजू	२१.२	४६.६	२.४	२२.३	०.०५	०.४५	५.४	५६६
Coconut नारियल	४.५	४१.६	१.०	१३.०	०.०१	०.२४	१.७	४४४
Gingelly तिल	१८.३	४३.३	५.२	२५.२	१.४४	०.५७	१०.५	५६४
Groundnut मूंगफली	३१.५	३६.८	२.३	१६.३	०.०५	०.३४	१.६	५४६
Pistochionut पिस्ता	१६.८	५३.५	२.८	१६.२	०.१४	०.४३	१३.७	६२६
Walnut अखरोट	१५.६	६४.५	१.८	११.०	०.१०	०.३८	४.८	६८७
Cumin जीरा	१८.७	१५.०	५.८	३६.६	१.०८	०.४६	३१.०	३५६
Kandanthippli पीपल	६.४	२.३	४.८	६५.८	१.२३	०.१६	६२.१	३१०
Fenugreek मेथी	२६.२	५.८	३.०	४४.१	०.१६	०.३७	१४.१	३३३
Cheese पनीर	२४.१	२५.१	४.२	६.३	०.७६	०.५२	२.१	३४८
Ghee घी	—	६८.०	—	—	—	—	—	६००
Skimmed milk Pwoder स्प्रेटा दूध पाउडर	३८.३	०.१	६.८	५१.०	१.३७	१.००	१.०४	३५७

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

मांसाहारी खाद्य Flesh Foods (प्रत्येक १०० ग्राम में)

Egg अण्डा	१३.३	१३.३	.१६	—	०.०६	०.२२	२.१	१७३
Fish मछली	२२.६	०.६	०.८	—	०.०२	०.१६	०.६	६१
Mutton बकरी का मांस	१८.५	१३.३	१.३	—	०.१५	०.१५	२.५	१६४
Pork सुअर का मांस	१८.७	४.४	१.०	—	०.०३	०.२	२.३	११४
Beef गाय का मांस	२२.६	२.६	१.०	—	०.०१	०.१६	०.८	११४

अण्डों से हार्ट अटैक

EGGS CAUSE MOSTLY FATAL HEART ATTACKS

(The Hindustan Times, Dt. Oct. 19, 1985, Page-5, Column-4)

Prof. Michael Brown and Prof. Josef Goldstein of U.S.A. winneres of Noble Prize for Meicine in 1985 recommend a diet free of eggs and saturated animal fats to avoid atherosclerosis which causes fatal heart attacks. They have found a direct relationship between fatty diet and atherosclerosis. Atherosclerosis is caused by accumulation of cholesterol on the walls of arteries supplying blood to heart muscles. Over the years, the deposition narrows the channel until a clot suddenly forms, inhibiting blood supply starving the heart muscles of oxygen and causing a heart attack, mostly fatel, they say. Cholesterol—the fatty alcohol, is carried within certain particles circulating in the blood. Called low-density-lipoproteins (LDL).

अमेरिका में पिछले वर्ष १९८५ में, मैडिसन के अन्दर नोबल प्राइज़ के विजेता प्रो० माइकल ब्राउन और जोसफ गोल्डस्टीन ने अपने मैडिकल रासायनिक विश्लेषणों (Medical Chemical Analysis) द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि अण्डे-मांस आदि खाने से घातक हार्ट अटैक (Fatal Heart Attack) पैदा होता है। क्योंकि अण्डों और मांस में कोलेस्टरोल नामक विष की मात्रा बहुत अधिक पाई जाती है। यह चिकना अल्कोहल होता है जो दिल को रक्त पहुँचानेवाली धमनियों (Arteries) में धीरे-धीरे जमा होकर उनको सुकेड़ लेता है और एक दिन अचानक धमनियों (arteries) का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इस तरह दिल को खून मिलना बन्द हो जाता है और वह व्यक्ति तुरन्त हार्टफेल से निश्चितरूप से मर ही जाता है। इस असाध्य रोग का अभी तक कोई इलाज़ नहीं निकला है।

American Dr. Ketherine Nimmo, D.C.R.N., Oceano, Califomia (U.S.A.) लिखते हैं—

An egg contains about 4 grains of cholesterol. When eggs are eaten, the cholesterol content of the blood rises and the tendeny towards the development of gall stones, heart troubles, brain and kidney diseases increases.

वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा यह सिद्ध हो गया है कि एक अण्डे में लगभग ४ ग्रेन कोलेस्टरोल नामक भयानक तत्व पाया गया है। कोलेस्टरोल की इतनी अधिक मात्रा के कारण अण्डे दिल की बीमारी, हाई ब्लडप्रैशर, धमनियों में ज़ख्म, गुरदों की बीमारी, पित्त की थैली में पथरी आदि रोग पैदा करते हैं।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

(नवभारत टाइम्स, दि० ११ सितम्बर, १९८५ पृष्ठ १, कालम ८ पर छपा)

INSTITUTE OF HEALTH AND NUTRITION

All India Institute of Medical Sciences, New Delhi

की

नयी खोज

अण्डे खाने से कैंसर

EGG-EATING MAY CAUSE CANCER

प्रत्येक १० में से ९ अण्डों में कैंसर पैदा करनेवाले डी.डी.टी. विष के अंश पाये गये हैं।

D.D.T Poison, which is found in nine eggs out of every ten eggs, may cause cancer—a fatal disease. What the hens eat, is mixed with D.D.T. poison and thus their eggs contain D.D.T. poison. Relation between D.D.T. and cancer is well established now-a-days.

Moreover vegetarian diet is quite useful for health while non vegetatian diet is absolutely harmful to health. Therefore, for the sake of health everyone should give up eating of eggs, fish and meat.

अण्डे का कैंसर के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। कारण—मुर्गियाँ जो चारा खाती हैं, उसमें वातावरण प्रदूषण के कारण कुछ डी.डी.टी. विष अण्डों में आ जाता है।

इस बात का प्रमाण है कि डी.डी.टी. विष तथा अन्य कीटनाशक पदार्थ कैंसर उत्पन्न करने में योगदान दे सकते हैं। इस तरह अण्डे खाने से कैंसर उत्पन्न हो सकता है।

आधुनिक मैडिकल खोजों ने यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि आमिष भोजन की अपेक्षा निरामिष भोजन निश्चयपूर्वक गुणकारी तथा हानिरहित होता है, अतः स्वास्थ्य चाहनेवालों को सामिष आहार—अण्डा, मछली, मांस को छोड़कर शाकाहार ही करना चाहिए।

The Indian Council of Medical Research, New Delhi

की

नई खोज

NEW MEDICAL RESEARCH

अण्डे, मछली, व मांस खाने से आँतों में अनेक रोग

EATING EGGS, FISH & MEAT

CAUSES SEVERAL INTESTINAL DISEASES

(Speech given in the world conference, New Delhi on 31st October 1985)

ABSTRACT

Prof. Ramalinga Swamy, chief of the Indian Council of Medical Research, said that the developing countries should not copy the western style of diet. People in many western countries have realised that eating mutton or other non-vegetarian food was not good. The Proliferation of intestinal diseases was the

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

direct result of too much meat being consumed. The cult of vegetarianism was gaining ground in the west, he added.

अर्थात् भारतवासियों के लिए यूरोप, अमेरिका आदि पश्चिमी देशों के खानपान की अन्धाधुन्ध नकल करके अपने खानपान में मांस, शराब आदि का प्रयोग करना, सर्वथा अनुचित है। अब तो बहुत सारे पश्चिमी देश, यह अच्छी तरह से समझ गये हैं कि बकरे का या सूअर का या गाय का मांस अथवा किसी भी प्रकार का सामिष आहार (अण्डे, मछली, मांस का भोजन) स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त हानिकारक है। मैडिकल साइंस ने अण्डे, मछली, मांस का, अन्तड़ियों के रोगों के साथ गहरा सम्बन्ध बताया है। पश्चिम में शाकाहार बढ़ता जा रहा है जबकि भारत में घटता जा रहा है—यह दुर्भाग्य का तथा बड़े खेद का विषय है। मानव को अपने स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए मांसाहार का त्याग कर शाकाहार अपनाना चाहिए।

A GREAT MEDICAL AUTHORITY OF AMERICA

Dr. ALVIN E. ADAMSA M.D.

MEDICAL DIRECTOR

WILLIAMSPORT NURSING HOME, WASHINGTON

की

नई खोज

New Medical Scientific Research

मछली व मांस खाने से आँतों में कैंसर

EATING FISH and MEAT MAY CAUSE

COLON CANCER

It was brought into the notice that colon cancer is likely to be produced by meat-eating which include fish, beef and pork. Cancer relationship with the animal food is related to low fibre contents in it.

Meat in the diet is now suspected by many Scientists to be a major cause of cancer of the colon. With a high meat diet the transit time of food through the gastrointestinal system is prolonged. Waste matter which should be eliminated promptly remains in contact with the rectal tissue for long periods of time. Cancer causing compounds may be formed by chemical reactions or as by products of bacterial motabolism. These chemicals may initiate cancer in the colan wall. Cancer is the number two killer in U.S.A. and colon cancer is the most common cause of cancer deaths. 75% of all colon cancer occur within the last six inches of the colon where faeces are stored.

सारांश—आज बहुत-से वैज्ञानिकों ने आँतों के कैंसर का मुख्य कारण, मछली, भेड़, बकरी, सूअर, गाय आदि के मांस-भक्षण को बताया है, क्योंकि इनमें भोजन-तन्तुओं (Dietary Fibres) की बहुत कमी होने के कारण मांस खानेवालों को प्रायः कब्ज रहता है, इस कारण मलाशय में मल लम्बे अरसे तक रहने के कारण—रासायनिक प्रक्रिया से तथा ख़तरनाक कीटाणुओं की संख्या वृद्धि से कैंसर पैदा करनेवाले तत्त्व उत्पन्न होते हैं, जो आन्तों के अन्तिम ६" भाग में कैंसर का रोग पैदा करते हैं।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

[सहभोजन में दोष]

प्रश्न—एक साथ खाने में कुछ दोष है, वा नहीं ?

उत्तर—दोष है, क्योंकि एक के साथ दूसरे का स्वभाव और प्रकृति नहीं मिलती। जैसे कुष्ठी आदि के साथ खाने से अच्छे मनुष्य का भी रुधिर बिगड़ जाता है, वैसे दूसरे के साथ खाने में भी कुछ बिगाड़ ही होता है, सुधार नहीं। इसीलिए—

नोच्छिष्टं कस्यचिद् दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा ।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत् ॥ —मनु० २।५६

न किसी को अपना जूठा पदार्थ दे, न किसी के भोजन के बीच आप खावे। न अधिक भोजन करे, और न उच्छिष्ट अर्थात् भोजन किये पश्चित् हाथ-मुख धोये विना कहीं इधर-उधर जाए।

[उच्छिष्ट' शब्द का अर्थ]

प्रश्न—'गुरोरुच्छिष्टभोजनम्'[1] इस वाक्य का क्या अर्थ होगा ?

उत्तर—इसका यह अर्थ है कि गुरु के भोजन किये पश्चात् जो पृथक् अन्न शुद्ध स्थित है, उसका भोजन करना, अर्थात् गुरु को प्रथम भोजन कराके पश्चात् शिष्य को भोजन करना चाहिए।

[उच्छिष्ट' पर विशेष विचार]

प्रश्न—जो उच्छिष्टमात्र का निषेध है, तो मक्खियों का उच्छिष्ट सहत, बछड़े का उच्छिष्ट दूध, और एक ग्रास खाने के पश्चात् अपना भी उच्छिष्ट होता है। पुनः उसको भी न खाना चाहिए।

उत्तर—सहत कथनमात्र ही उच्छिष्ट होता है, परन्तु वह बहुत-सी ओषधियों का सार होने से ग्राह्य है। बछड़ा अपनी माँ के बाहिर का दूध पीता है, भीतर के दूध को नहीं पी सकता, इसलिए उच्छिष्ट नहीं। परन्तु बछड़े के पिये पश्चात् जल से उसकी माँ के स्तन धोकर शुद्ध पात्र में दोहना चाहिए और अपना उच्छिष्ट अपने को विकारकारक नहीं होता।

Dr. D.C. JAIN M.B.B.S., M.D., D.M.,

शाकाहारी अण्डे-एक भ्रामक प्रचार

VEGETARIAN EGGS—A MISCONCEPTION

Misconception is being intentionally created by some Poultry farms by the name of so called 'Vegetarian eggs'. In fact they are not produced by any plant like vegetable-milk or ghee. Each and every egg is produced by a hen or a duck.

कुछ पॉल्टरी फार्मों (मुर्गीखानों) द्वारा आम जनता में यह भ्रान्ति फैलाई जा रही है कि फार्म के अण्डों को शाकाहारी एवं स्वास्थ्यदायक माना जाए। यह प्रचार एकदम झूठा एवं सर्वथा निराधार है, क्योंकि अण्डे कभी पेड़ से पैदा ही नहीं होते और न ही उन्हें कहीं पर वनस्पति घी या तेल की तरह तैयार किया जाता है, वास्तव में वे तो हमेशा मुर्गी या बतख के पेट से ही पैदा होते हैं तथा अनेक रोगों को पैदा करने के कारण हानिकारक हैं।

---

१. द्र०—'गुरोरुच्छिष्टमन्नं यो भक्षयेद् भक्तिभावतः'। प्राणतोषिणी पृ० १८६, जीवानन्द संस्करण।

https://t.me/arshlibrary

देखो, स्वभाव से यह बात सिद्ध है कि किसी का उच्छिष्ट कोई भी न खावे। जैसे अपने मुख, नाक, कान, आँख, उपस्थ और गुह्येन्द्रियों के मलमूत्रादि के स्पर्श में घृणा नहीं होती, वैसे किसी दूसरे के मलमूत्र के स्पर्श में होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह व्यवहार सृष्टिक्रम से विपरीत ही[1] है, इसलिए मनुष्यमात्र को उचित है कि किसी का उच्छिष्ट न खावें ?

प्रश्न—भला स्त्री-पुरुष भी परस्पर उच्छिष्ट न खावें ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि उनके भी शरीरों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है।

प्रश्न—कहोजी ! मनुष्यमात्र के हाथ की की-हुई रसोई, उस अन्न के खाने में क्या दोष है ? क्योंकि ब्राह्मण से लेके चाण्डाल-पर्यन्त के शरीर हाड़-चमड़े के हैं और जैसा रुधिर ब्राह्मण के शरीर में है, वैसा ही चाण्डाल आदि के। पुनः मनुष्यमात्र के हाथ की पकी हुई रसोई के खाने में क्या दोष है ?

उत्तर—दोष है। क्योंकि जिन उत्तम पदार्थों के खाने-पीने से ब्राह्मण और ब्राह्मणी के शरीर में दुर्गन्ध आदि दोषरहित रज-वीर्य उत्पन्न होता है, वैसा चाण्डाल और चाण्डाली के शरीर में नहीं, क्योंकि चाण्डाल का शरीर दुर्गन्ध के परमाणुओं से भरा हुआ होता है वैसा ब्राह्मणादि वर्णों का नहीं। इसलिए ब्राह्मिणादि उत्तमवर्णों के हाथ का खाना, और चाण्डालादि नीच, भङ्गी, चमार आदि का न खाना।

भला जब कोई तुमसे पूछेगा कि जैसा चमड़े का शरीर माता, सास, बहिन कन्या, पुत्रवधू का है, वैसा ही अपनी स्त्री का भी है। तो या माता आदि स्त्रियों के साथ भी स्वस्त्री के समान वर्तोगे ? तब तुमको संकुचित होकर चुप ही रहना पड़ेगा। जैसे उत्तम अन्न हाथ और मुख से खाया जाता है, वैसे दुर्गन्ध भी खाया जा सकता है तो क्या मलादि भी खाओगे ? क्या ऐसा भी कोई हो सकता है ?

[गोबर से चौका लगाने के लाभ]

प्रश्न—जो गाय के गोबर से चौका लगाते हो, तो अपने गोबर से क्यों नहीं लगाते ? और गोबर के चौक में जाने से चौका अशुद्ध क्यों नहीं होता ?

उत्तर—गाय के गोबर से वैसा दुर्गन्ध नहीं होता, जैसाकि मनुष्य के मल से। गोबर चिक्कना होने से शीघ्र नहीं उखड़ता, न कपड़ा बिगड़ता, न मलीन होता है। जैसा मिट्टी से मैल चढ़ता है, वैसा सूखे गोबर से नहीं होता। मट्टी और गोबर से जिस स्थान का लेपन करते हैं, वह देखने में अति सुन्दर होता है। और जहाँ रसोई बनती है, वहाँ भोजनादि करने से घी, मिष्ट और उच्छिष्ट भी गिरता है। उससे मक्खी कीड़ी आदि बहुत-से जीव मलिन स्थान के रहने से आते हैं। जो उसमें झाड़ू लेपनादि से शुद्धि प्रतिदिन न की जाए, तो जानो पाखाने के समान वह स्थान हो जाता है, इसलिए प्रतिदिन गोबर, मिट्टी, झाड़ू से सर्वथा शुद्ध रखना। और जो पक्का मकान हो तो जल से धोकर शुद्ध रखना चाहिए, इससे पूर्वोक्त दोषों की निवृत्ति हो जाती है।

जैसे मियाँजी के रसोई के स्थान में कहीं कोयला, कहीं राख, कहीं लकड़ी, कहीं फूटी हाँडी, कहीं जूठी रकेबी, कहीं हाड़गोड़ पड़े रहते हैं, और मक्खियों का तो क्या कहना ? वह स्थान ऐसा बुरा लगता है कि जो कोई श्रेष्ठ मनुष्य जाकर बैठे, तो उसे वान्त होने का भी सम्भव है और उस दुर्गन्ध स्थान के समान ही वही स्थान दीखता है। भला, जो कोई इनसे पूछे की यदि गोबर से चौका लगाने में तो तुम दोष गिनते हो, परन्तु चूल्हे में कण्डे जलाने, उसकी आग से तमाकू पीने, घर की भीति पर लेपन करने आदि से भी मियाँजी का चौका भ्रष्ट हो जाता होगा, इसमें क्या सन्देह ?

---

१. इस वाक्य में 'यह व्यवहार' पदों से प्रकरण-प्राप्त 'दूसरे का उच्छिष्ट खाना' रूप व्यवहार की ओर संकेत है।

https://t.me/arshlibrary

[भोजन स्वच्छ स्थान में बैठकर करें]

प्रश्न—चौके में बैठके भोजन करना अच्छा, वा बाहर बैठके ?

उत्तर—जहाँ पर अच्छा, रमणीय, सुन्दर स्थान दीखे, वहाँ भोजन करना चाहिए, परन्तु आवश्यक युद्धादिकों में तो घोड़े आदि यानों पर बैठके वा खड़े-खड़े भी खाना-पीना अत्यन्त उचित है ।

[आर्यों द्वारा शुद्ध रीति से बनाया भोजन भोज्य है]

प्रश्न—क्या अपने ही हाथ का खाना, और दूसरे के हाथ का नहीं ?

उत्तर—जो आर्यों में शुद्ध रीति से बनावे, तो बराबर सब आर्यों के हाथ का खाने में कुछ भी हानि नहीं, क्योंकि जो ब्राह्मणादि वर्णस्थ स्त्री-पुरुष रसोई बनाने, चौका देने, वर्त्तन-भाँडे माँजने आदि बखेड़ों में पड़े रहें, तो विद्यादि शुभ गुणों की वृद्धि कभी नहीं हो सके ।

[भोजन-सम्बन्धी प्राचीन आर्यों का व्यवहार]

देखो ! महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भूगोल के राजा-ऋषि-महर्षि आये थे । एक ही पाकशाला से भोजन किया करते थे । जब से ईसाई, मुसलमान आदि के मत-मतान्तर चले, आपस में वैर-विरोध हुआ उन्होंने मद्यपान गोमांसादि का खाना-पीना स्वीकार किया । उसी समय से भोजनादि में बखेड़ा हो गया ।

देखो, काबुल, कंधार, ईरान, अमेरिका, यूरोप आदि देशों के राजाओं की कन्या गान्धारी, माद्री, उलोपी आदि के साथ आर्य्यावर्त्तदेशीय राजा लोग विवाह आदि व्यवहार करते थे। शकुनि आदि कौरव-पाण्डवों के साथ खाते-पीथे थे, कुछ विरोध नहीं करते थे, क्योंकि उस समय सर्वभूगोल में वेदोक्त एक मत था, उसी में सबकी निष्ठा थी और एक-दूसरे का सुख-दुःख, हानि-लाभ आपस में अपने समान समझते थे तभी भूगोल में सुख था। अब तो बहुत-से मत वाले होने से बहुत-सा दुःख और विरोध बढ़ गया है। इसका निवारण करना बुद्धिमानों का काम है।

परमात्मा सबके मन में सत्य मत का ऐसा अङ्कुर डाले कि जिससे मिथ्या मत शीघ्र ही प्रलय को प्राप्त हों । इसमें सब विद्वान् लोग विचारकर विरोधभाव छोड़के आनन्द को बढ़ावें ।

[पूर्वार्ध-उत्तरार्ध का सम्बन्ध]

यह थोड़ा सा आचार-अनाचार भक्ष्याऽभक्ष्य विषय में लिखा । इस ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध इसी दशवें समुल्लास के साथ पूरा हो गया । इन समुल्लासों में विशेष खण्डन-मण्डन इसलिए नहीं लिखा कि जब तक मनुष्य सत्याऽसत्य के विचार में कुछ भी सामर्थ्य न बढ़ाते, तब तक स्थूल और सूक्ष्म खण्डनों के अभिप्राय को नहीं समझ सकते । इसलिए प्रथम सबको सत्य शिक्षा का उपदेश करके, अब उत्तरार्द्ध अर्थात् जिसमें चार समुल्लास हैं, उसमें विशेष खण्डन-मण्डन लिखेंगे ।

[उत्तरार्द्ध के समुल्लासों का विभाग]

इन चारों में से प्रथम समुल्लास में आर्यावर्त्तीय मत-मतान्तर, दूसरे में जैनियों के, तीसरे में ईसाइयों, और चौथे में मुसलमानों के मत-मतान्तरों के खण्डन-मण्डन के विषय में लिखेंगे । और पश्चात् चौदहवें समुल्लास के अन्त में स्वमत भी दिखालाया जाएगा । जो कोई विशेष खण्डन-मण्डन देखना चाहैं, वे इन चारों समुल्लासों में देखें ।

Arshlibrary

https://t.me/arshlibrary

[ग्रन्थकार की पाठकों से अभ्यर्थना]

परन्तु सामान्य करके कहीं-कहीं दश समुल्लासों मे भी कुछ थोड़ा-सा खण्डन-मण्डन किया है। इन चौदह समुल्लासों को पक्षपात छोड़ न्याय-दृष्टि से जो देखेगा, उसके आत्मा में सत्य अर्थ का प्रकाश होकर आनन्द होगा और जो हठ-दुराग्रह और ईर्ष्या से देखे-सुनेगा, उसको इस ग्रन्थ का अभिप्राय यथार्थ विदित होना बहुत कठिन है। इसलिए जो कोई इसको यथावत् न विचारेगा वह इसका अभिप्राय न पाकर गोता खाया करेगा और विद्वानों का यही काम है कि सत्याऽसत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण असत्य का त्याग करके परम आनन्दित होते हैं। वे ही गुणग्राहक पुरुष विद्वान् होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप फलों को प्राप्त होकर प्रसन्न रहते हैं॥

इति श्रमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे
सुभाषाविभूषित आचाराऽनाचारभक्ष्याऽभक्ष्यविषये
दशमः समुल्लासः सम्पूर्णः ॥१०॥
समाप्तोऽयं पूर्वार्द्धः

चरक ऋषि ने भक्ष्याभक्ष्य के सन्दर्भ में कहा है—**'हितभुक्, मितभुक्, ऋतभुक्'**—स्वस्थ मनुष्य के लिए आवश्यक है कि वह (१) अपने शरीर की प्रकृति के अनुकूल भोजन करे, (२) आवश्यकता से अधिक भोजन न करे, (३) ईमानदारी से कमाया हुआ भोजन करे—**'अग्ने नय सुपथा राये'**।

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥ —मनु० २।५७

अधिक भोजन करना, स्वास्थ्यनाशक, आयुनाशक, सुखनाशक, अहितकर और लोगों द्वारा निन्दित माना गया है, इसलिए उसका अर्थात् अधिक भोजन का परित्याग कर देवे।

सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण केवल १२ समुल्लासों का छपा था। इस कारण कुछ लोगों का यह कहना है कि १३वाँ और १४वाँ समुल्लास आर्यों ने ग्रन्थकार के निधन के पश्चात् लिखकर मिला दिये। किन्तु प्रथम संस्करण में ही दशम समुल्लास के अन्त में उपलब्ध ग्रन्थकार के लेख को पढ़ने पर यह शंका निर्मूल हो जाती है। वहाँ लिखा है—

"ए दश समुल्लास सिक्षा के विषय में लिखे। इसके आगे आर्यावर्त्तवासी मनुष्य, जैन, मुसल्मान और अंग्रेजों के आचार-अनाचार सत्यासत्यमतमतान्तर के खण्डन-मण्डन के विषय में लिखेंगे। इनमें से प्रथम समुल्लास में आर्यावर्त्तवासी मनुष्यों के मतमतान्तर के खण्डन और मण्डन के विषय में लिखा जाएगा। दूसरे समुल्लास में जैनमत के खण्डन और मण्डन के विषय में लिखा जाएगा। तीसरे में मुसलमानों के मत के विषय में खण्डन-मण्डन लिखेंगे और चौथे में अंग्रेजों के मत के खण्डन और मण्डन के विषय में लिखा जाएगा। सो जो देखा चाहैं खण्डन और मण्डन की युक्ति उन चारों समुल्लासों में देख लेवैं। दस समुल्लास तक खण्डन व मण्डन नहीं लिखा, क्योंकि जब तक बुद्धि मनुष्यों की सत्यासत्यविवेकयुक्त नहीं हो जाती तब तक सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग में समर्थ नहीं होते। इस हेतु ग्रन्थ के पूर्व भाग में सत्य-सत्य मनुष्यों के हित के हेतु शिक्षा लिखी और इस ग्रन्थ के उत्तरभाग में सत्य मत का मण्डन और असत्य मत का खण्डन लिखेंगे। संस्कृत में रचना करते तो सब मनुष्यों के समझ में नहीं आता, इस हेतु भाषा में किया गया।"

इससे स्पष्ट है कि प्रथम संस्करण में भी लिखे चौदह समुल्लास ही गये थे, छपे भले ही बारह थे। हाँ, एक बात का भेद अवश्य है—प्रथम संस्करण में तेरहवें में मुसल्मान-मत का खण्डन-मण्डन और चौदहवें में अंग्रेजों (ईसाइयों) के मत का विवेचन था। आजकल तेरहवें में ईसाई-मत और चौदहवें में इस्लाम की समीक्षा है। इन मतों के प्रादुर्भाव के ऐतिहासिक क्रम को देखते हुए यह युक्तिसंगत है।

हम यहाँ प्रथम संस्करण में दशम समुल्लास के अन्तिम पृष्ठ ३०७ की फोटोस्टेट (प्रतिकृति) दे रहे हैं—

https://t.me/arshlibrary

मसेफिरभोजनमेंकैसेभेदहोगा यहभेदथोड़े दिनसेचलाहै कि जबसेनानाप्रकारकेमतमतान्तरचले औरमनुष्यकीबुद्धिमेंपरस्पर विरोधहोनेसे प्रीतिनष्टहोगई वैरहोगया इससे कोईकिसीका उपकारमें चितनहींदेता औरअपने देशकेमनुष्योंके उपकारकेहेतु कोईप्रवृत्तनहोताकिन्तुअपने२ मतलबमेंरहतेहैं सोभीकानाग होताजाताहै यहबड़ाअनाचारहै औरतथाविचारसेशुद्धपदार्थक खानेसे किसीकाइहलोक वाधर्मबिगड़तानहीं परन्तुविद्याऔर विचारकेनहोनेसे इनबखेड़ मेंमनुष्यलोगपड़केसदादुःखीरहते हैं औरजोपरस्परगुणग्रहणकरैं तोसुखीहोजांय औरदेखनाचाहिए किसमयकेऊपरभोजनभीं प्राप्तहोताहै भोजनकेपात्रोंको उठाकेलादेफिरतेहैं बैलोंकोनांईदरिद्रलोग औरधनाढ्यलोगबहुतरसोईदार आदिकसाथमेंरहतेहैं उसमेंव्यर्थधन बहुतखर्च होजाताहै इत्यादिकमव्यवहार बुद्धिमानलोगविचारलें युक्तव्यवहारकरैं अयुक्तकभीनहीं एतत्समुल्लासमिच्छाके विषयमेंलिखे इसकेआगेआर्यावर्तवासीमनुष्य जैनमुसल्मान औरअंगरेजोंकेआचारअनाचार सत्यासत्यमतमतान्तरकेखण्डन औरमण्डनकेविषयमेंलिखेंगे इनमेंसेप्रथमसमुल्लासमें आर्यावर्तवासी मनुष्योंकेमतमतान्तरके खण्डनऔरमण्डनकेविषयमेंलिखाजायगा दूसरेसमुल्लासमेंजैनमतके खण्डनऔरमण्डनकेविषयमें लिखा जायगा तीसरेमेंमुसल्मानोंकेमतकेविषयमें खण्डनऔरमण्डन लिखेगें औरचौथेमेंअंगरेजोंकेमतमें खण्डनऔरमण्डनकेविषय मेंलिखाजायगा सोजोदेखाचाहै खण्डनऔरमण्डनकोयुक्तिउन चारोंसमुल्लासोंमेंदेखले इससमुल्लासमतकखण्डन वामण्डननहीं लिखा क्योंकिजबतकबुद्धिमनुष्योंकी सत्यासत्यविवेकयुक्तनहींहै।-तो तबत कसत्यके ग्रहण औरअसत्यके त्याग करनेमेंसमर्थ नहीं होते इसहेतुग्रन्थकेपूर्वभागमेंसत्य२ मनुष्योंकेहितकेहेतुशिक्षालिखी औरइसग्रन्थकेउत्तरभागमें सत्यमतकामण्डनऔरअसत्यम-

https://t.me/arshlibrary